ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक १०

श्रीमद् अकलंकदेवविरचितम्

तत्त्वार्थवार्तिकम्

[राजवार्तिकम्]

हिन्दीसारसहितम्

प्रथमो भागः

सम्पादन-अनुवाद
प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ

पंचम संस्करण : १९९९ □ मूल्य : ११०.०० रुपये

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९; वीर नि. सं. २४७०; विक्रम सं. २०००; १८ फरवरी १९४४)

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृति में
स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी स्व० श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

ग्रन्थमाला सम्पादक : (प्रथम संस्करण)

डॉ. हीरालाल जैन एवं डॉ. आ. ने. उपाध्ये

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

१८, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११० ००३

मुद्रक : विकास ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११० ०३२

© भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

JNANPITH MOORTIDEVI JAIN GRANTHAMALA : Sanskrit Grantha NO. 10

TATTVĀRTHA-VĀRTIKA

[Rājavārtika]

of

ŚRI AKALAṄKADEVA

PART—1

Edited with Hindi Translation, Introduction, appendices, variant readings, comparative notes etc.

by

Prof. MAHENDRA KUMAR JAIN, Nyayacharya

BHARATIYA JNANPITH

Fifth Edition : 1999 □ **Price : Rs 110.00**

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9; Vira N. Sam. 2470; Vikrama Sam. 2000; 18th Feb. 1944)

MOORTIDEVI JAINA GRANTHAMALA

FOUNDED BY
Late Sahu Shanti Prasad Jain
In Memory of his late Mother Smt. Moortidevi
and
promoted by his benevolent wife
late Smt. Rama Jain

In this Granthamala critieally edited Jain agamic, philosophical, puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc., are being published in original form with their translations in modern languages.

Also being published are catalogues of Jain bhandaras, inscriptions, studies on art and architecture by competent scholars and also popular Jain literature.

General editors : (First edition)

Dr. Hiralal Jain & Dr. A.N. Upadhye

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at : Vikas Offset, Naveen Shahdara, Delhi-110 032

© All Rights Reserved by Bharatiya Jnanpith.

प्रधान सम्पादकीय

आचार्य भट्ट अकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिक का प्रथम संस्करण दो जिल्दों में भारतीय ज्ञानपीठ से १९५३–५७ में प्रकाशित हुआ था। (स्व.) पं. महेन्द्रकुमार जैन ने इसका सम्पादन किया था।

भट्ट अकलंक एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् थे। उनके सम्बन्ध में हमने 'न्यायकुमुदचन्द्र' के प्रथम भाग की प्रस्तावना में विस्तार से प्रकाश डाला है। स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन के पश्चात् उन्हीं की प्रभावक कृतियों ने जैन वाङ्मय को समृद्ध बनाया था। उन्हें जैन न्याय के सर्जक कहे जाने का सौभाग्य प्राप्त है। उनके नाम के आधार पर जैन न्याय को अकलंक-न्याय भी कहा गया है।

प्रभाचन्द्र के गद्य 'कथाकोश', ब्रह्मचारी नेमिदत्त के 'कथाकोश' और कन्नड़ भाषा के 'राजबलिकथे' ग्रन्थों में अकलंक की कथाएँ मिलती हैं। 'कथाकोश' के अनुसार, अकलंक की जन्मभूमि मान्यखेट थी और वहाँ के राजा प्रभुतुंग के मन्त्री पुरुषोत्तम के वे पुत्र थे। अकलंक के 'तत्त्वार्थवार्तिक' के प्रथम अध्याय के अन्त में एक श्लोक पाया जाता है। उसमें उन्हें लघुहव्व नृपति का पुत्र कहा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वे दक्षिण भारत के निवासी थे। कथाओं में दिये गये नगरों के नामों से भी इसका समर्थन होता है।

'राजबलिकथे' आदि के आधार पर राइस सा. ने अकलंक देव का जीवन-वृत्तान्त लिखा था।[1] उन्होंने लिखा है कि जिस समय कांची में बौद्धों ने जैनधर्म की प्रगति को रोक दिया था, उस समय अकलंक, निकलंक ने गुप्तरीति से बौद्धगुरु से पढ़ना शुरू किया था। गुरु को उन पर सन्देह हो गया और उन्हें मारने का निश्चय किया तो दोनों भाग निकले। निकलंक मारे गये और अकलंक बच गये। उन्होंने दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्य पद सुशोभित किया। उस समय अनेक मतों के आचार्य बौद्धों से वाद-विवाद में हारकर दुःखी हो रहे थे। उनमें से वीरशैव सम्प्रदाय के लोग आचार्य अकलंक देव के पास आये और उनसे सब हाल कहा। इस पर अकलंक देव ने शास्त्रार्थ में बौद्धों पर विजय प्राप्त करने का निश्चय किया।

शास्त्रार्थ में हारने पर बौद्ध बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने अपने राजा हिमशीतल को इस बात के लिए उत्तेजित किया कि अकलंक को इस शर्त के साथ उनसे वाद करने को बुलाया जाये कि जो कोई वाद में हारे उसके सम्प्रदाय के सारे लोग कोल्हु में पिलवा दिये जायें। उस वाद में जैनों की विजय हुई। राजा ने बौद्धों को कोल्हु में पिलवा देने की आज्ञा दे दी, परन्तु अकलंक की प्रार्थना पर वे सब बौद्ध सीलोन के एक नगर कैंडी को निर्वासित कर दिये गये।

हिमशीतल की सभा में अकलंक के शास्त्रार्थ और बौद्धों की देवी तारा की पराजय का उल्लेख श्रवणबेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति में भी है। उसमें राजा साहसतुंग की सभा में अकलंक के जाने का और वहाँ आत्मश्लाघा करने का भी वर्णन है। प्रशस्ति के श्लोक इस प्रकार हैं–

तारा येन विनिर्जिता घटकुटी-गूढ़ावतारा समं
बौद्धैर्यो धृत-पीठ-पीडित-कुदृग्देवार्थ-सेवाञ्जलिः।
प्रायश्चित्तमिवाङ्घ्रिवारिज-रजःस्नानं च यस्याचरद्
दोषाणां सुगतस्स कस्य विषयो देवाकलङ्कः कृती ॥

1. जैन हितैषी, भाग 11, अंक 7-8 में भट्टाकलंक नामक लेख।

चूर्णिः—यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविद्याविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते—

राजन् साहसतुंग सन्ति बहवः श्वेतातपत्राः नृपाः
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः ॥१॥

राजन् ! सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध—
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पण्डितानाम्।
नोचेदेषोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महान्तो
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात् ॥२॥

नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्धचया मया।
राज्ञः श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगतः (स घटः) पादेन विस्फोटितः ॥३॥

अर्थात्—जिसने गुप्तरूप से घट में अवतारित तारादेवी को बोद्धों सहित परास्त किया, सिहासन के भाग से पीडित मिथ्यादृष्टि देवों ने भी जिसकी सेवा की, और मानो अपने दोषों का प्रायश्चित्त करने के लिए ही बौद्धों ने जिसके चरण-कमल की रज में स्नान किया, उस कृति अकलंक की प्रशंसा कौन नहीं कर सकता है ?'

सुना जाता है कि उन्होंने अपने असाधारण निरवद्य पाण्डित्य का वर्णन इस प्रकार किया था—

'राजन् साहसतुंग! श्वेतछत्र के धारण करनेवाले राजा बहुत से हैं, किन्तु आपके समान रणविजयी और दानी राजा दुर्लभ हैं। इसी तरह पण्डित तो बहुत से हैं, किन्तु मेरे समान नानाशास्त्रों के जाननेवाले कवि, वादी और वाग्मी इस काल में नहीं हैं। राजन्, जिस प्रकार समस्त शत्रुओं के अभिमान को नष्ट करने में आपका चातुर्य प्रसिद्ध है, उसी प्रकार विद्वानों के मद को जड़मूल से उखाड़ फेकने में मैं पृथ्वी पर ख्यात हूँ। यदि ऐसा नहीं है तो आपकी सभा में बहुत से विद्वान् मौजूद हैं; उनमें से यदि किसी की शक्ति हो और वह समस्त शास्त्रों का पारगामी हो तो मुझसे शास्त्रार्थ करे।

राजा हिमशीतल की सभा में समस्त विद्वानों को जीतकर मैंने तारादेवी के घड़े को पैर से फोड़ दिया। सो किसी अहंकार या द्वेष की भावना से मैंने ऐसा नहीं किया, किन्तु नैरात्म्यवाद के प्रचार से जनता को नष्ट होते देखकर करुणा-बुद्धि से ही मुझे वैसा करना पड़ा।'

उक्त प्रशस्ति का 'तारा येन विनिर्जिता' आदि श्लोक तो प्रशस्तिकार का ही रचा हुआ प्रतीत होता है। किन्तु शेष तीन पद्य पुरातन हैं और प्रशस्तिकार ने उन्हें जनश्रुति के आधार पर प्रशस्ति में सम्मिलित किया है। इससे कथाओं में वर्णित अकलंक के शास्त्रार्थ की कथा-प्रशस्ति-लेखन का समय शक सं. १०५० से भी प्राचीन प्रमाणित होता है।

श्रवणबेलगोल के एक अन्य शिलालेख में भी अकलंक का स्मरण इस प्रकार किया गया है—

भट्टाकलङ्कगोऽकृत सौगतादिदुर्वाक्यपङ्कैः सकलङ्कभूतम्।
जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलङ्कमेव ॥२१॥

—विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख नं. १०५

अर्थात्—बौद्ध आदि दार्शनिकों के मिथ्या उपदेशरूपी पंक से सकलंक हुए जगत् को मानो, अपने नाम को सार्थक बनाने के लिए ही, भट्टाकलंक ने अकलंक कर दिया।

कुछ ग्रन्थकारों ने भी अकलंक को बौद्ध-विजेता के रूप में स्मरण किया है। वादिराज सूरि अपने 'पार्श्वनाथचरित' (शक सं. ९४८) में लिखते हैं—

'तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलङ्कधीः।
जगद् द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः ॥

अर्थात्—वे तार्किक अकलंक जयवन्त हों, जिन्होंने जगत् की वस्तुओं के अपहर्ता अर्थात् शून्यवादी बौद्ध दस्युओं को दण्ड दिया।

'पाण्डवपुराण' में तारादेवी के घड़े को पैर से ठुकराने का उल्लेख इस प्रकार है—

'अकलङ्कोऽकलङ्कः स कलौ कलयतु श्रुतम्।
पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता ॥'

अर्थात्—कलिकाल में वे कलंक रहित अकलंक श्रुत को भूषित करें, जिन्होंने घट में बैठी हुई माया-रूपधारिणी देवी को पैर से ठुकराया। 'हनुमच्चरित' में कहा है—

'अकलङ्कगुरुर्जीयादकलङ्कपदेश्वरः।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः ॥'

अर्थात्—अकलंक पद के स्वामी वे अकलंक गुरु जयवन्त हों, जो बौद्धों की बुद्धि को वैधव्य की दीक्षा देनेवाले गुरु कहे जाते हैं।

अकलंकदेव रचित 'न्यायविनिश्चय' के टीकाकार वादिराज ने उन्हें 'तार्किकलोकमस्तकमणि' लिखा है। अकलंकदेव के 'लघीयस्त्रय' पर 'न्यायकुमुदचन्द्र' के रचयिता प्रभाचन्द्र ने उन्हें इतर मतावलम्बी वादीरूपी गजेन्द्रों का दर्प नष्ट करनेवाला सिंह बतलाया है। 'अष्टसहस्री' के टिप्पणकार लघु समन्तभद्र ने उन्हें 'सकलतार्किक-चूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलंकदेवः' लिखकर उनके प्रति अपनी गहरी श्रद्धा प्रकट की है।

ग्रन्थकार अकलंक

उक्त प्रकार से भट्टाकलंक के वैदुष्य का परिचय प्राचीन उल्लेखों से मिलता है। यह परिचय साक्षात् न होकर परम्परा से है। उनके अगाध पाण्डित्य और अनुपम वैदुष्य तथा प्रौढ़ लेखनी का परिचय तो उनकी कृतियों से मिलता है। उन्होंने अपने मौलिक ग्रन्थों पर भाष्य भी रचे हैं। फिर भी वे इतने दुरूह और जटिल हैं कि उनके टीकाकारों को भी उनका व्याख्यान करने में अपनी असमर्थता प्रकट करना पड़ी है। अकलंक के व्याख्याकार भी कोई साधारण विद्वान् नहीं थे। वे थे—जैनन्याय के मूर्धन्य विद्वान् अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, वादिराज और प्रभाचन्द्र।

अकलंक के 'सिद्धि-विनिश्चय' ग्रन्थ की टीका प्रारम्भ करते हुए अनन्तवीर्य लिखते हैं—

'देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतद् परं भुवि ॥'

अर्थात्—यह बड़े अचरज की बात है कि अनन्तवीर्य (अनन्त शक्तिशाली) भी अकलंक देव के पदों को पूरी तरह व्यक्त करना नहीं जानता।

अकलंक के 'न्यायविनिश्चय' पर विवरण लिखते हुए वादिराज लिखते हैं–

'गूढमर्थमकलङ्कवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम्।
व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाक् दीपवर्तिरनिशं पदे-पदे ॥'

अर्थात्–अकलंक की वाङ्मयरूपी अगाध भूमि में निहित गूढ़ आशय को अनन्तवीर्य की वचनरूपी दीपशिखा रात-दिन पद-पद पर उसके जानने को इच्छुक जनों के लिए व्यक्त करती है।

अकलंकदेव की कृतियाँ दो प्रकार की हैं–एक, पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों पर भाष्यरूप, और दूसरी स्वतन्त्र। प्रथम प्रकार की दो रचनाएँ हैं–'तत्त्वार्थवार्तिक' और 'अष्टशती'। द्वितीय प्रकार की रचनाएँ हैं–'सभाष्य लघीयस्त्रय', 'न्यायविनिश्चय', 'सिद्धिविनिश्चय', 'प्रमाणसंग्रह'। ये सभी प्रकाशित हो चुकी हैं। सभी मौलिक रचनाएँ जैनन्याय या जैन प्रमाणशास्त्र से सम्बद्ध हैं। जैन प्रमाणशास्त्र एक तरह से अकलंकदेव की ही देन है। उन्होंने ही उसका संवर्धन-सम्पोषण किया है। अकलंकदेव के पहले पात्रकेसरी, श्रीदत्त आदि कई जैनाचार्य हुए, जिन्होंने 'त्रिलक्षणकदर्थन', 'जल्पनिर्णय' आदि ग्रन्थ रचकर जैनन्याय का विकास किया था। किन्तु उनका साहित्य उपलब्ध न होने से उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना सम्भव नहीं है। अतः उपलब्ध साहित्य के आधार पर स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर ने जैनन्याय का जो शिलान्यास किया, उसी पर अकलंकदेव ने जैनन्याय का भव्य प्रासाद निर्माण किया।

तत्त्वार्थवार्तिक (सभाष्य)

अकलंकदेव रचित 'तत्त्वार्थवार्तिक' आपके सामने है। यह 'तत्त्वार्थसूत्र' पर रचा गया महान् ग्रन्थ है। इसी से इसका नाम तत्त्वार्थवार्तिक है जो ग्रन्थकार ने आद्य मंगलश्लोक में स्वयं दिया है। 'तत्त्वार्थसूत्र' की प्रथम टीका 'सर्वार्थसिद्धि' है जो पूज्यपाद देवनन्दी रचित है। इस टीका की अनेक पंक्तियाँ 'तत्त्वार्थवार्तिक' रूप में पायी जाने से यह स्पष्ट है कि अकलकंदेव ने उसका भी आश्रय लिया है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। दूसरा पाठ जो श्वेताम्बर मान्य है उसका स्वोपज्ञ भाष्य भी है जिसे श्वेताम्बर सूत्रकारकृत मानते हैं। यह पाठ भी अकलंकदेव के सामने रहा है; क्योंकि उन्होंने स्थान-स्थान पर उसकी आलोचना की है।

चूँकि 'तत्त्वार्थसूत्र' में दस अध्याय हैं अतः 'तत्त्वार्थवार्तिक' में भी दस अध्याय हैं और दोंनों का विषय भी समान है; किन्तु अकलंकदेव तो प्रखर दार्शनिक थे, अतः प्रथम और पंचम अध्याय उनकी दार्शनिक समीक्षा और मन्तव्यों से ओत-प्रोत हैं। प्रथम सूत्र की व्याख्या में ही नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध-दर्शन के मोक्ष और संसार के कारणों की समीक्षा की है। जहाँ भी दार्शनिक चर्चा का प्रसंग आया है, वहाँ अकलंकदेव की तार्किक सरणि के दर्शन होते हैं। इस तरह यह सैद्धान्तिक ग्रन्थ दर्शनशास्त्र का एक अपूर्व ग्रन्थ बन गया है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि 'तत्त्वार्थवार्तिक' में सैद्धान्तिक विवेचन नहीं है या कम है, प्रसंगानुसार उसकी चर्चा है। जैन सिद्धान्तों के जिज्ञासु इस एक ही ग्रन्थ के स्वाध्याय से अनेक शास्त्रों का रहस्य हृदयंगम कर सकते हैं। उन्हें इसमें ऐसी भी अनेक चर्चाएँ मिलेंगी जो अन्यत्र नहीं हैं।

प्रथम अध्याय के ७वें सूत्र की व्याख्या में अजीवादि तत्त्वों के साथ निर्देश, स्वामित्व आदि की योजना, २०वें सूत्र की व्याख्या में द्वादशांग के विषयों का परिचय, २१–२२वें सूत्र की व्याख्या में अवधिज्ञान का वर्णन, इसी प्रकार दूसरे अध्याय के ७वें सूत्र की व्याख्या में सान्निपातिक भावों का विवेचन है, जो अन्यत्र नहीं है। तीसरे अध्याय में अधोलोक तथा मध्यलोक का और चौथे अध्याय में ऊर्ध्वलोक का बड़े विस्तार से निरूपण किया गया है।

अकलंकदेव के सामने 'षट्खण्डागम' उपस्थित था तथा वे उसके विशेषज्ञ थे; यह बात 'तत्त्वार्थवार्तिक' में आगत उद्धरणों से स्पष्ट है। 'षट्खण्डागम' के प्रथम खण्ड जीवस्थान का नामोल्लेख आगम और आर्ष विशेषण के साथ आया है।

सूत्र १/२१/७ में लिखा है–'आगमे जीवस्थानादौ।' इसी प्रकार सूत्र २/४६ में लिखा है–'आह चोदकः जीवस्थाने योगभंगे' इत्यादि।

पाँचवें अध्याय के सूत्र ३७ की व्याख्या में लिखा है–'तदुक्तंमार्षे वर्गणायां बन्धविधाने'। यहाँ 'षट्खण्डगम' के वर्गणाखण्ड के बन्धन अनुयोगद्वार के अन्तर्गत द्रव्यबन्ध की प्ररूपणा के सूत्र ३२–३३ का निर्देश किया है और लिखा है कि 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'बन्धेऽधिकौ पारिणामकौ' सूत्र उसी के अनुसार रचा गया है।

इसी प्रकार, नौवें अध्याय के ७वें सूत्र के अन्तर्गत चौदह मार्गणा का कथन 'षट्खण्डागम' की सत्प्ररूपणा का अनुगामी है।

अनेकान्तवाद के तो अकलंकदेव महापण्डित ही थे। इसी से प्रायः सूत्रस्थ विवादों का निराकरण अनेकान्त के आधार पर किया गया है। इतना ही नहीं, प्रथम अध्याय के 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र की व्याख्या में सप्तभंगी का और चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत अनेकान्तवाद का बहुत विस्तार से विवेचन है।

इस प्रकार 'तत्त्वार्थवार्तिक' तत्त्वार्थसूत्र पर एक मौलिक भाष्य है।

अकलंकदेव का समय

'अकलंकचरित' में एक श्लोक इस प्रकार पाया जाता है–

'विक्रमार्कशकाब्दीय-शत-सप्त-प्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥'

इसमें कहा है कि विक्रमार्क शक संवत् ७०० में अकलंक यति का बौद्धों के साथ महान् शास्त्रार्थ हुआ।

'इन्सक्रिप्शन्स एट श्रवणबेलगोला' के दूसरे संस्करण की भूमिका में आर. नरसिंहाचार्य ने उक्त श्लोक उद्धृत किया है और उसका अर्थ विक्रम संवत् ७०० ही किया, तथा यही काल उचित प्रतीत होता है; किन्तु कुछ विद्वान् इसे शक संवत् ७०० अर्थात् वि. सं. ८३५ लेते हैं जो उचित प्रतीत नहीं होता।

(स्व.) डॉ. हीरालाल जी ने धवला टीका की समाप्ति का काल शक सं. ७३८ निश्चित किया है और उसकी रचना का प्रारम्भकाल शक सं. ७१४ माना है। धवला टीका के प्रारम्भ में ही अकलंकदेव के 'तत्त्वार्थवार्तिक' के उद्धरण तत्त्वार्थभाष्य नाम से मिलते हैं।[1] यदि अकलंक का समय शक सं. ७०० माना जाता है तो वे एक तरह से धवला टीकाकार वीरसेन के दीर्घ समकालीन ठहरते हैं। ऐसी स्थिति में उस काल में उनकी कृति के उद्धरण धवला में पाया जाना सम्भव नहीं हैं; क्योंकि ग्रन्थ ही ख्याति समय-सापेक्ष होती है।

इसके सिवाय धवला में 'इति' के अनेक अर्थ बतलाने के लिए एक श्लोक उद्धृत किया है जो धनंजयकृत 'अनेकार्थ नाममाला' का है। इसी नाममाला में 'प्रमाणमकलङ्कस्य' लिखकर अकलंक के प्रमाण, पूज्यपाद के लक्षण तथा धनंजय के 'द्विसंधानकाव्य' को अपश्चिम कहा है। अर्थात् उनके समान बाद में ऐसा कोई नहीं लिख सका।

इसका मतलब हुआ कि धवलाकार के पूर्ववर्ती धनंजय कवि के समय में अकलंकदेव के प्रमाणशास्त्र की

१. 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये'–षट्खं. पु. १, पृष्ठ. १०४

सुख्याति फैल चुकी थी। अतः यदि अकलंक का समय शक सं. ७०० माना जाता है तो यह सम्भव नहीं है। उनके शास्त्रार्थ का समय विक्रम संवत् ७०० ही होना चाहिए।

श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरि के दार्शनिक प्रकरणों पर अकलंक का प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी 'अनेकान्त जयपताका' और अकलंक के 'तत्त्वार्थवार्तिक' के कई स्थल परस्पर में मेल खाते हैं। बौद्धों के प्रत्यक्ष के लक्षण[1] कल्पनापोढ की निराकरण शैली और भाव में 'तत्त्वार्थवार्तिक' में विहित निराकरण की स्पष्ट झलक है तथा अकलंक की 'अष्टशती'[2] का भी अनुसरण उसमें पाया जाता है। एक स्थल पर तो 'इति अकलंक न्यायानुसारि चेतोहरं वचः' स्पष्ट लिखा है।[3] हरिभद्रसूरि का समय विक्रम संवत् ७५७–८२० निश्चित है। अतः अकलंक का समय इससे पूर्व होना चाहिए।

श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन गणि ने तत्त्वार्थ-भाष्य की टीका में अकलंकदेव के 'सिद्धि-विनिश्चय' का तो उल्लेख किया ही है, 'तत्त्वार्थवार्तिक' के कई दार्शनिक मन्तव्यों को भी अपनाया है। सूत्र ५.२४ की व्याख्या में अकलंकदेव ने प्रतिबिम्ब का विचार किया है, गणिजी ने भी उसी स्थल पर उसकी चर्चा की है। 'तत्त्वार्थवार्तिक' में ४.४२ सूत्र की व्याख्या में सप्तभंगी का वर्णन करते हुए काल, आत्मा आदि की जो चर्चा की है गाणिजी ने भी ५.३२ की व्याख्या में उसे थोड़े से शाब्दिक परिवर्तन के साथ सम्मिलित किया है। ४.४२ सूत्र की ही व्याख्या के अन्त में अकलंकदेव ने विकलादेश में सप्तभंगी का प्रतिपादन करते हुए जो प्रचित, अप्रचित तथा अर्थनय और शब्दनय का उल्लेख करते हुए नययोजना की है, गणिजी ने ५.३१ की व्याख्या में वह सब सम्मिलित कर लिया है। अतः अकलंकदेव गणिजी के पूर्ववर्ती थे। गणिजी का समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। अतः अकलंक को आठवीं शताब्दी का विद्वान् न मानकर ईसा की सातवीं शताब्दी का विद्वान् मानना चाहिए।

('तत्त्वार्थवार्तिक' के प्रथम संस्करण में उस समय ग्रन्थ-सम्पादक (स्व.) पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य से प्रस्तावना प्राप्त नहीं हो सकी होगी, अतः इसके पुनर्मुद्रण के अवसर पर यह बहुत आवश्यक हो गया कि इसका प्रधान सम्पादकीय कुछ इस प्रकार का हो जो प्रस्तावना का भी कार्य करे। यही प्रयास यहाँ पर किया गया है।)

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

---

१. अनेका. ज. २०२ और तत्त्वार्थ. ३६
२. अष्टासहस्री सं. पृ. ११६, और अने. ज ४.१२२
३. अनेका. ज. पृ. २५३

तत्त्वार्थवार्तिक

विषय-सूची

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
प्रथम अध्याय		
मंगलाचरण	१	२६५
सूत्रकारने मार्गका ही क्यों उपदेश दिया ?	१	२६५
मोक्षका अस्तित्व निरूपण	२	२६५
बन्धका कारण बतलाकर ही मोक्षका कारण बतलाना इष्ट है	२	२६६
मोक्षमार्गका स्वरूप	३	२६६
सम्यग्दर्शनका स्वरूप	३	२६६
सम्यक्चारित्रका स्वरूप	४	२६७
सम्यग्ज्ञान आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति	४	२६७
आत्मा और ज्ञान आदिका एकान्ततः भेदाभेद पक्षका खण्डन और कथंचिद्भेदाभेद पक्षका स्थापन	४	२६७
समवायसम्बन्धका निषेध	६	२६८
पर्याय और पर्यायीमें कथंचिद्भेदाभेद का निरूपण	७	२६९
सूत्रस्थ ज्ञानादि पदोंका पौर्वापर्य विचार	९	२६९
मोक्षके स्वरूपका वर्णन	१०	२६९
मार्गशब्दकी व्युत्पत्ति	१०	२६९
सांख्य, वैशेषिक, न्याय तथा बौद्धमत-सम्मत मोक्षकारणका खण्डन करके जैन मतानुसार सम्यग्दर्शनादिकी मोक्ष-कारणताका निरूपण	११	२७१
ज्ञानसे ही मुक्ति होती है इस मतका खण्डन	१४	२७३
ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति होनेसे उनके एकत्वका परिहार	१६	२७४
ज्ञान और चारित्रमें कालभेद न होनेसे उनमें अभेद है इस मतका परिहार	१७	२७४
सम्यग्दर्शनादिमें लक्षणभेदसे वे मिलकर एक मार्ग नहीं हो सकते इस शंकाका समाधान	१७	२७५
सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें अविनाभावका निरूपण	१७	२७५
सम्यग्दर्शनका लक्षण	१९	२७६
सम्यक् शब्दकी निरुक्ति और उसका अर्थ	१९	२७६
दर्शन शब्दके अर्थका विचार	१९	२७६
तत्त्व शब्दके अर्थका निरूपण	१९	२७६
तत्त्वार्थ और श्रद्धान शब्दकी निरुक्ति व अर्थनिरूपण	१९	२७६
'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्रमें 'तत्त्व' और 'अर्थ' पदके ग्रहणकी सार्थकता	२०	२७७
श्रद्धानका अर्थ इच्छा माननेपर दोषापत्ति	२१	२७८
सम्यग्दर्शनके भेद और उनका लक्षण	२२	२७८
सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रकार	२२	२७८
निसर्ग और अधिगम शब्दकी निरुक्ति	२२	२७८
सम्यग्दर्शनके निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद माननेपर आनेवाले दोषोंका परिहार	२२	२७८
सूत्रमें आये हुए 'तत्' शब्दकी सार्थकता	२४	२७९

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
जीवादि सात पदार्थोंका निर्देश	**२४**	**२७९**
जीवादि सात पदार्थ ही क्यों कहे इसका कारण	२४	२८०
आस्रव आदिकका जीव और अजीवमें अन्तर्भाव हो जानेपर भी उनके पृथक् ग्रहणका प्रयोजन	२५	२८०
जीव आदि शब्दोंका निर्वचन	२५	२८०
जीवादि पदार्थोंका लक्षण निर्देश	२६	२८१
सूत्रमें जीवादि पदोंके यथाक्रम रखनेकी सार्थकता	२७	२८१
'तत्त्व' शब्दके साथ जीवादि पदोंके समानाधिकरणका विचार	२७	२८२
जीवादि तत्त्वोंके संव्यवहारके लिए निक्षेप प्रक्रियाका निरूपण	२८	२८२
नाम आदि निक्षेपोंका लक्षण	२८	२८२
नाम और स्थापनाके एकत्वकी आशंका का परिहार	२९	२८२
द्रव्य और भावकी एकताकी आशंका का परिहार	२९	२८३
नाम आदि पदोंके पौर्वापर्यका निरूपण	३०	२८३
एक शब्दार्थके नाम आदि चार निक्षेप माननेमें आनेवाले दोषोंका निराकरण	३०	२८३
द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकमें नाम आदि निक्षेपोंके अन्तर्भाव हो जानेके कारण उनके पुनः उल्लेखसे होनेवाले पुनरुक्ति दोषका निराकरण	३२	२८४
सूत्रमें आये हुए 'तत्' शब्दकी सफलता	३३	२८४
तत्त्वाधिगम के उपाय	**३३**	**२८४**
सूत्रमें 'प्रमाण' शब्दके पहले रखनेका कारण	३३	२८४
अधिगम हेतु भेद	३३	२८५
सप्तभंगीका लक्षण तथा उसका स्वरूप	३३	२८५
अनेकान्तमें विधिप्रतिषेधकल्पनाकी सिद्धि	३५	२८७
अनेकान्तका निरूपण न तो छल है और न संशयका हेतु है इस बातका समर्थन	३६	२८७
जीवादि पदार्थोंके अधिगमके अन्य उपाय	**३८**	**२८८**
निर्देश आदि पदोंके क्रम-निर्देशका कारण व उनका स्वरूप निर्देश	३८	२८८

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
जीव पदार्थमें दो नयका अवलम्बन लेकर निर्देश आदिकी योजना	३८	२८८
अजीव आदिमें निर्देश आदिकी योजना	३९	२८९
जीवादिके अधिगमके अन्य उपाय	**४१**	**२९१**
'सत्' शब्दका अर्थ	४१	२९१
सूत्रमें आये हुए 'सत्' आदि पदोंका पौर्वापर्यविचार व स्वरूपनिर्देश	४१	२९१
निर्देश आदि पदोंसे सत् आदि पदोंको भिन्न रखनेकी सार्थकता	४२	२९२
सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद	**४४**	**२९३**
सूत्रमें आये हुए मति आदि शब्दोंकी व्युत्पति	४४	२९३
अन्य मतोंमें ज्ञान शब्दकी करण आदि साधनोंमें सिद्धि नहीं होती इसका प्रतिपादन	४५	२९४
मति आदि पदोंके पौर्वापर्य क्रमका निरूपण	४७	२९६
मति और श्रुतके एकत्वका निराकरण	४८	२९७
श्रुतज्ञानके स्वरूपका निर्देश व शंका-समाधान	४८	२९७
मति आदि ज्ञान दो प्रमाणोंमें विभक्त हैं इस बातका निर्देश	**४९**	**२९७**
'प्रमाण' शब्दकी निरुक्ति व उसका स्वरूप निर्देश	४९	२९७
प्रमाणके फलका निर्देश	५०	२९८
ज्ञाता और प्रमाणमें सर्वथा भेद है इस मतका खण्डन	५०	२९८
सन्निकर्ष प्रमाण है इस मतका खण्डन	५१	२९९
मति और श्रुतमें परोक्षत्वकी व्यवस्था	**५२**	**३००**
आद्य शब्दका अर्थ	५२	३००
परोक्ष शब्दका अर्थ और उसकी प्रमाणता	५२	३००
अवधि आदि ज्ञान प्रत्यक्ष हैं	**५३**	**३००**
प्रत्यक्षका लक्षण	५३	३००
अन्य द्वारा प्रत्यक्ष तथा परोक्षके माने गये लक्षणोंका निराकरण	५३	३०१
मतिज्ञानके नामान्तर	**५७**	**३०४**
मति आदि नामान्तरोंका मति शब्द के साथ अभेदार्थ कथन तथा उस विषयमें शंका-समाधान	५७	३०४
मति ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण	**५९**	**३०५**
इन्द्रिय और अनिन्द्रिय शब्दका अर्थ	५९	३०५

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
सूत्रमें आये हुए 'तत्' पदकी सार्थकता	५९	३०६
मतिज्ञानके अवग्रह आदि चार भेद	**६०**	**३०६**
अवग्रह आदिके लक्षण व आनुपूर्वी निरूपणकी सार्थकता	६०	३०६
अवग्रह तथा ईहा ज्ञानकी अप्रमाणता का निराकरण	६०	३०६
अवाय शब्दके समान अपाय शब्दकी सार्थकता	६१	३०७
दर्शन और अवग्रहमें भेद	६१	३०७
अवग्रह आदिके कार्यभेदका निरूपण	६१	३०७
अवग्रह आदि किन अर्थोंके होते हैं ?	**६२**	**३०८**
युक्ति पूर्वक बहु आदि शब्दोंका अर्थ	६२	३०८
बहु आदिको प्रारम्भमें रखनेका कारण	६३	३०९
इन्द्रिय और मनके आलम्बनसे बहु आदिककी योजना	६३	३०९
बहु बहुविध आदि शब्दोंके अर्थमें भेद	६४	३०९
ये बहु आदि भेद पदार्थके हैं	**६५**	**३१०**
अवग्रहकी विशेषता	**६६**	**३१०**
व्यंजनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता	**६७**	**३११**
चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं	६७	३११
मनके अनिन्द्रियत्व तथा अननिन्द्रियत्वका विचार	६९	३१३
मतिज्ञानका विषय	७०	३१३
श्रुतज्ञानका विवेचन	**७०**	**३१४**
श्रुतज्ञानके अङ्ग प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य ये दो मूल भेद तथा इनके उत्तर भेदोंका विवेचन	७२	३१५
भवप्रत्यय अवधिज्ञान और उसके स्वामीका निर्देश	**७९**	**३१९**
देवों और नारकियोंके द्रव्य, क्षेत्र आदिकी अपेक्षा अवधिज्ञानका निरूपण	८०	३२०
क्षयोपशमनिमित्तक अवधि व उसके स्वामीका विचार	**८१**	**३२१**
अवधिज्ञानके अनुगामी आदि भेदों का विवेचन	**८१**	**३२१**
प्रकारान्तरसे अवधिज्ञानके देशावधि आदि तीन भेद तथा उनके जघन्य आदि भेदोंका तारतम्य	८१	३२१
मनःपर्ययज्ञान और उसके भेद	**८३**	**३२३**

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
ऋजु आदिका लक्षण तथा मनः-पर्ययके अर्थका विचार	८३	३२३
ऋजुमति तथा विपुलमतिके भेद	८४	३२४
दोनों मनःपर्ययज्ञानोंकी परस्पर विशेषता	**८५**	**३२४**
अवधि तथा मनःपर्ययज्ञानकी परस्पर विशेषता	**८६**	**३२४**
मनःपर्ययज्ञान किनके होता है ?	८६	३२५
मति और श्रुतका विषय	**८७**	**३२५**
अवधिज्ञानका विषय	**८८**	**३२६**
मनःपर्ययज्ञानका विषय	**८८**	**३२६**
केवलज्ञानका विषय	**८८**	**३२६**
द्रव्य और पर्यायका विवेचन	८८	३२६
एक ही आत्मामें एक साथ कितने ज्ञान होते हैं ?	**९०**	**३२७**
सूत्रस्थ पदोंका तात्पर्य एवं ज्ञान सम्बन्धी विशेष विचार	९०	३२७
मति, श्रुत और अवधि विपर्यय भी होते हैं	**९१**	**३२८**
विपर्यय होनेका हेतु निर्देश	९१	३२८
ये तीन ज्ञान विपर्यय क्यों हैं इस बातका विवेचन	**९२**	**३२८**
अन्य मतवालोंके द्वारा मानी गई पदार्थ व्यवस्था विपर्ययका कारण	९३	३२९
भेदपूर्वक नयोंका कथन	**९४**	**३३०**
नयका लक्षण व उसके दो मूल भेद	९४	३३०
सातों नयोंका लक्षणपूर्वक विस्तृत विवेचन	९५	३३०
सात नयोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता व पूर्व पूर्वहेतुताका विचार	९९	३३४

द्वितीय अध्याय

जीवके औपशमिक आदि भावोंका कथन	**१००**	**३३६**
औपशमिक आदि पदोंका अर्थ व उनका क्रमनिर्देश	१००	३३६
औपशमिक आदि भावोंके भेद	**१०३**	**३३७**
द्वि आदि शब्दोंका भेद शब्दके साथ तथा द्वि आदि शब्दोंका परस्पर सम्बन्ध कथन	१०३	३३७
औपशमिक भावके भेद	**१०४**	**३३८**
औपशमिक सम्यक्त्वका लक्षण	१०४	३३८

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
कर्मके उपशम होनेका कारण काल-लब्धि आदि	१०४	३३८
औपशमिक चारित्रका स्वरूप और सम्यक्त्व तथा चारित्रका पौर्वापर्य विचार	१०५	३३९
क्षायिक भावके भेद तथा उनके लक्षण	**१०५**	**३३९**
अभयदान आदि कार्य सिद्धोंमें क्यों नहीं होते ?	१०६	३४०
मिश्र भावके भेद	**१०६**	**३४०**
सूत्रगत पदोंका परस्पर सम्बन्ध कथन	१०६	३४०
क्षयोपशमका स्वरूप	१०६	३४१
स्पर्धकका लक्षण	१०७	३४१
क्षायोपशमिक भावके भेदोंका विशेष विचार	१०७	३४१
संज्ञित्व आदि भावोंका अन्तर्भाव	१०८	३४२
औदयिक भावके भेद	**१०७**	**३४२**
औदयिक भावके गति आदि भेदोंका स्वरूप	१०८	३४२
पारिणामिक भावके भेद	**११०**	**३४३**
जीवत्व आदिके पारिणामिकत्वका समर्थन व उनका स्वरूप	११०	३४३
'च' शब्दकी सार्थकता	१११	३४४
अस्तित्व आदि भाव अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं, इसलिए उनका सूत्रमें संग्रह नहीं किया इसका विचार	१११	३४४
सान्निपातिक भावका मिश्र भावमें अन्तर्भाव	११४	३४५
औपशमिक आदि भाव आत्माके ही परिणाम हैं	११६	३४७
अमूर्त आत्मा भी कर्मसे बद्ध है	११७	३४७
जीवका लक्षण उपयोग	**११८**	**३४८**
हेतुके भेद	११८	३४८
लक्षण विचार	११९	३४८
तादात्म्यस्वरूप उपयोग आत्माका लक्षण कैसे हो सकता है इस शंकाका परिहार	११९	३४९
आत्माके अभावमें दिखाई गई युक्तिका खण्डन	१२१	३५०
उपयोगके भेद-प्रभेद	**१२३**	**३५२**
उपयोगके साकार और अनाकार ये दो भेद	१२३	३५२
सूत्रस्थ पदोंका पौर्वापर्य विचार	१२४	३५२
जीवके संसारी और मुक्त दो भेद	**१२३**	**३५२**
सूत्रमें आये हुए पदोंका अर्थ	१२४	३५३
'च' शब्दकी सार्थकता	१२५	३५३
संसारी जीवके समनस्क और अमनस्क भेद	**१२५**	**३५३**
सूत्रगत पदोंका तात्पर्य	१२५	३५३
'समनस्कामनस्काः' पृथक् सूत्र बनाने का तात्पर्य	१२५	३५३
संसारीके त्रस और स्थावर भेद	**१२६**	**३५४**
त्रस शब्दका तात्पर्य	१२६	३५४
स्थावर शब्दका अर्थ	१२६	३५४
सूत्रस्थ पदोंका पौर्वापर्यविचार	१२७	३५४
स्थावरके पाँच भेद	**१२७**	**३५४**
पृथिवी आदि प्रत्येकके चार भेद	१२७	३५४
सूत्रस्थ पदोंका पौर्वापर्य विचार	१२७	३५४
त्रस कौन हैं ?	**१२८**	**३५५**
सूत्रस्थ शब्दोंका तात्पर्य विवेचन	१२८	३५५
द्वीन्द्रिय आदिमें किसके कितने प्राण हैं	१२९	३५५
इन्द्रियोंकी संख्या	**१२९**	**३५५**
इन्द्रिय शब्दका अर्थ	१२९	३५५
मन इन्द्रिय न होनेका कारण	१२९	३५५
यहाँ इन्द्रिय शब्द द्वारा कर्मेन्द्रियोंका ग्रहण नहीं किया	१२९	३५६
प्रत्येक इन्द्रिय दो दो प्रकारकी है	**१३०**	**३५६**
द्रव्येन्द्रियके दो भेद	**१३०**	**३५६**
निर्वृत्तिका लक्षण व उसके भेद	१३०	३५६
उपकरणका लक्षण व उसके भेद	१३०	३५६
भावेन्द्रियके दो भेद	**१३०**	**३५६**
लब्धिका लक्षण	१३०	३५१
उपयोगका लक्षण	१३०	३५६
उपयोग इन्द्रिय क्यों है इसका विचार	१३०	३५६
पाँच इन्द्रियोंके नाम	**१३१**	**३५७**
इन्द्रियोंके नामोंकी व्युत्पत्ति	१३१	३५७
पहले स्पर्शन अनन्तर रसना इत्यादि क्रमसे कथन करनेका कारण	१३१	३५७
ये इन्द्रियाँ परस्पर और आत्मासे कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं	१३२	३५७
इन्द्रियोंका विषय	**१३२**	**३५८**
सूत्रस्थ शब्दोंकी व्युत्पत्ति	१३२	३५८
पौर्वापर्य विचार	१३३	३५८
पृथिवी आदिमें किसमें कितने गुण हैं इसका विचार	१३३	३५८
ये स्पर्शादिक परस्पर और आत्मासे कथञ्चित् अभिन्न हैं	१३३	३५८
मनका विषय	**१३४**	**३५९**
श्रुत श्रोत्र इन्द्रियका विषय नहीं है	१३४	३५९
वनस्पत्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय है	**१३४**	**३५९**
सूत्रस्थ पदोंका विशेष खुलासा	१३४	३५९
कृमि आदि जीवोंके एक एक इन्द्रिय अधिक है	**१३५**	**३५९**
सूत्रस्थ पदोंका विचार	१३५	३५९
समनस्क शब्दका व्याख्यान	१३६	३६०
संज्ञा शब्दका अर्थ	१३६	३६०
विग्रह गतिमें जीवके कर्मयोग होता है	**१३६**	**३६०**
विग्रह पदका अर्थ	१३६	३६०
कर्म शब्दका अर्थ	१३७	३६०
योग शब्दका अर्थ	१३७	३६०
जीवकी गति श्रेणीके अनुसार होती है	**१३७**	**३६०**
मुक्त जीवकी गति	**१३८**	**३६१**
संसारी जीवोंकी विग्रहगति कितने समयवाली है	**१३९**	**३६१**
सूत्रस्थ पदोंका स्पष्टीकरण	१३९	३६१
जीवकी चार गतियोंके नाम और उनका समय	१३९	३६१
अविग्रहवाली गतिका कालनिर्धारण	**१३९**	**३६१**
आत्मा क्रियावान् है इसकी सिद्धि	१३९	३६१
जीव कितने कालतक अनाहारक रहता है	**१४०**	**३६२**
आहारका लक्षण	१४०	३६२
विग्रहगतिमें आहारका ग्रहण क्यों नहीं होता	१४०	३६२
किस गतिमें किस समय जीव आहार ग्रहण करता है	१४०	३६२
जन्मके भेद	**१४०**	**३६२**
सम्मूर्च्छन आदि शब्दोंके अर्थ	१४०	३६२
पौर्वापर्यपर विचार	१४०	३६२
जन्मके अनेक भेद क्यों हैं इसका कारण	१४१	३६२
योनियोंके सचित्त आदि नौ भेद	**१४१**	**३६३**
सचित्त आदि शब्दोंका अर्थ	१४१	३६३
सूत्रस्थ 'च' शब्दकी सार्थकता	१४१	३६३
सूत्रमें आये हुए 'एकशः' और 'तत्' पदकी सार्थकता	१४२	३६३
योनि और जन्ममें भेद है	१४२	३६३
सचित्त आदि पदोंके पौर्वापर्यका विचार	१४२	३६३
किन जीवोंके कौन योनि होती हैं इस बातका निर्देश	१४३	३६३
उत्तर योनियाँ चौरासी लाख हैं इस बातका कथन	१४३	३६३
गर्भ जन्म किन जीवोंके होता है	**१४३**	**३६४**
जरायुज आदि शब्दोंका तात्पर्य	१४३	३६४
पोतज शब्द न रखनेका कारण	१४४	३६४
जरायुज आदिके पौर्वापर्यका विचार	१४४	३६४
उपपाद जन्म किन जीवोंके होता है	**१४५**	**३६४**
देवादि गतिके उदयसे जन्म भिन्न है	१४५	३६४
सम्मूर्च्छन जन्म किन जीवोंके होता है	**१४५**	**३६५**
शरीरके पाँच भेद	**१४५**	**३६५**
शरीर शब्दका अर्थ	१४५	३६५
औदारिक आदि पदोंकी व्युत्पत्ति तथा उनका अर्थ	१४६	३६५
सब शरीर कार्मण क्यों नहीं हैं इस बातका स्पष्टीकरण	१४६	३६५
कार्मण शरीरके अस्तित्वकी सिद्धि	१४६	३६५
औदारिक आदि पदोंके पौर्वापर्यका विचार	१४७	३६६
औदारिक आदि शरीरोंके यथाक्रम सूक्ष्मत्वका कथन	**१४७**	**३६६**
तैजसके पूर्वके शरीरोंके प्रदेशोंका विचार	**१४७**	**३६६**
प्रकृतमें प्रदेश शब्दका अर्थ	१४७	३६६
असंख्येय शब्दका अर्थ	१४७	३६३
उत्तरोत्तर शरीरोंके प्रदेश असंख्यात गुणे होनेसे वे महापरिमाण वाले क्यों नहीं हैं इस बातका निर्देश	१४८	३६६
अन्तिम दो शरीरोंके प्रदेशोंका विचार	**१४८**	**३६६**
तैजस और कार्मण शरीरकी इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि न होनेका कारण	१४८	३६७

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
अन्तिम शरीरके अप्रतिघातित्व का समर्थन	१४९	३६७
प्रतीघातका अर्थ	१४९	३६७
यहाँ तैजस और कार्मण शरीर ही अप्रतीघाती क्यों कहे इसका कारण	१४९	३६७
अन्तके दो शरीर अनादि सम्बन्ध वाले हैं	१४९	३६७
सूत्रमें आये हुए 'च' शब्दका तात्पर्य	१४९	३६७
शरीर सम्बन्धको सर्वथा सादि माननेमें दोष	१४९	३६७
शरीर सम्बन्धको सर्वथा अनादि माननेमें दोष	१४९	३६७
अन्तके दो शरीर किनके होते हैं	१५०	३६७
एक जीवके एक साथ कितने शरीर होते हैं इसका कथन	१५०	३६७
एक जीवके वैक्रियिक और आहारक एक साथ नहीं होते इस बातका कथन	१५०	३६८
अन्तिम शरीर निरुपभोग है	१५१	३६८
उपभोग शब्दका अर्थ	१५१	३६८
तैजस शरीरका उपभोग प्रकरणमें विचार क्यों नहीं किया	१५१	३६८
औदारिक शरीर किस जन्मसे उत्पन्न होता है इसका निरूपण	१५१	३६८
वैक्रियिक शरीर किस जन्मसे उत्पन्न होता है इसका कथन	१५१	३६८
वैक्रियिक शरीर लब्धिप्रत्यय भी है	१५१	३६८
लब्धिका अर्थ	१५१	३६८
सब शरीर वैक्रियिक क्यों नहीं हैं ? इस बातका विचार	१५२	३६८
तैजस शरीर लब्धिज है	१५२	३६९
आहारक शरीरका स्वरूप	१५२	३६९
सूत्रमें आये हुए पदोंका विचार	१५२	३६९
सूत्रमें आये हुए 'च' शब्दकी सार्थकता	१५२	३६९
संज्ञा आदिके द्वारा सब शरीरोंका परस्पर भेद-प्रदर्शन	१५३	३६९
कौन गतिके जीव नपुंसक होते हैं	१५६	३७१
नपुंसक होनेका कारण	१५६	३७१
देव नपुंसक नहीं होते	१५६	३७१
शेष गतिके जीव तीन वेदवाले होते हैं	१५६	३७२
तीनों वेदोंकी उत्पत्तिके कारण	१५७	३७२
वेद अर्थात् लिङ्गके भेद और उनका अर्थ	१५७	३७२
अकाल मृत्युका नियम	१५७	३७२
सूत्रस्थ औपपादिक आदि पदोंका अर्थ	१५७	३७२

तृतीय अध्याय

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
सात नरक भूमियोंका नाम निर्देश व उनका आधार	१५९	३७३
सूत्रस्थ पदोंका साफल्य प्रदर्शन	१५९	३७३
सातों भूमियोंकी मुटाई	१६०	३७३
'पृथुतराः' श्वेताम्बर पाठका खण्डन	१६१	३७४
सातों भूमियोंमें नरक संख्या	१६१	३७४
नरकोंका निश्चित स्थान व उनके इन्द्रक आदि भेद तथा प्रत्येक भूमिमें प्रस्तार विचार व उनके नाम	१६२	३७४
प्रत्येक भूमिमें इन्द्रक आदि नरकोंकी गहराई	१६३	३७५
नारकी अशुभतर लेश्या आदिवाले होते हैं	१६३	३७५
सूत्रस्थ पदोंके अनुसार लेश्यादिका विशेष खुलासा	१६३	३७५
नारकियोंको एक दूसरेके द्वारा दिये जानेवाले दुखोंका वर्णन	१६४	३७६
प्रारम्भकी तीन भूमियोंमें संक्लिष्ट असुरों द्वारा दिये गये दुख	१६५	३७६
सूत्रस्थ पदोंका तात्पर्य	१६५	३७६
क्रमसे नरकोंमें जीवोंकी उत्कृष्ट आयु का वर्णन	१६६	३७७
सूत्रस्थ शब्दोंका परस्पर सम्बन्ध	१६६	३७७
रत्नप्रभा आदिमें प्रति प्रस्तार जघन्य स्थितिका वर्णन	१६७	३७७
प्रति प्रस्तार आयु लानेका करणसूत्र	१६८	३७८
नरकोंमें उत्पत्तिका विरहकाल	१६८	३७८
नरकमें कौन जीव कहांतक उत्पन्न होते हैं	१६८	३७८
किस नरकसे आकर जीव किस अवस्थाको प्राप्त होते हैं और किस अवस्थाको नहीं प्राप्त होते	१६८	३७८
द्वीप और समुद्रोंके नाम	१६९	३७९
जम्बू द्वीप संज्ञाका कारण	१६९	३७९
लवणोद संज्ञाका कारण	१६९	३७९
द्वीप और समुद्रोंका विष्कम्भ आदि	१७०	३८०
सूत्रमें आये हुए पदोंकी सार्थकता	१७०	३८०
जम्बूद्वीपका वर्णन	१७०	३८०
सात क्षेत्रोंका नाम निर्देश	१७१	३८०
प्रथम क्षेत्रका नाम भरत क्यों पड़ा ?	१७१	३८०
भरत क्षेत्र कहां है और उसके छह खण्ड कैसे होते हैं ?	१७१	३८०
विजयार्द्ध अर्थात् रजताद्रिका वर्णन	१७१	३८१
हैमवत आदि क्षेत्र कहां हैं और उनमें क्या-क्या विशेषता है ?	१७२	३८१
विदेहक्षेत्रके भेद तथा उनका विशेष वर्णन	१७३	३८२
मेरुपर्वत कहां है और उसका अवगाह व व्यास आदि कितना है इस बातका विशेष विचार	१७७	३८२
रम्यक आदि क्षेत्र कहां हैं और उनमें क्या विशेषता है ?	१८१	३८२
हिमवान् आदि पर्वतोंके नाम	१८२	३८३
हिमवान् आदि शब्दोंका अर्थ तथा उनकी स्थिति	१८२	३८३
पर्वतोंका रङ्ग	१८४	३८४
पर्वतोंकी अन्य विशेषताएँ	१८४	३८४
पर्वतोंके ऊपर छह सरोवरोंका वर्णन	१८४	३८४
प्रथम सरोवरके आयाम और विष्कम्भ का वर्णन	१८४	३८४
प्रथम सरोवरके अवगाहका निर्देश	१८५	३८४
प्रथम सरोवरके बीचके पुष्करका परिमाण	१८५	३८५
अन्य सरोवर व उनके पुष्करोंके परिमाणका विवेचन	१८५	३८५
सूत्रमें आये हुए 'तद्द्विगुणद्विगुणाः' पदकी सार्थकता	१८६	३८५
सरोवरोंमें रहनेवाली देवियोंके नाम व उनकी अन्य विशेषताएँ	१८६	३८५
चौदह नदियोंके नाम व उनका स्थान-निर्देश	१८७	३८६
दो-दो नदियोंमें प्रथम नदीका पूर्व समुद्र गमन निरूपण	१८७	३८६
दो-दो नदियोंमें द्वितीय नदीका पश्चिम समुद्राभिमुख गमन	१८७	३८६
गंगा, सिन्धु आदि नदियोंका पद्मह्रद आदि सरोवरोंसे उत्पत्तिका वर्णन	१८७	३८६
गंगा, सिन्धु आदि नदियोंकी परिवार-नदियोंका वर्णन	१९०	३८७
भरतक्षेत्रका विस्तार	१९०	३८८
विदेह पर्यन्त पर्वतों व क्षेत्रोंका विस्तार	१९०	३८८
उत्तरके क्षेत्र आदि दक्षिणके क्षेत्र आदिके समान हैं	१९१	३८८
भरत व ऐरावतमें काल विचार	१९१	३८८
वृद्धि और ह्रास किनका होता है इसका विचार	१९१	३८८
अवसर्पिणी व उत्सर्पिणीका लक्षण	१९१	३८८
कालके छः भेद व उनका परिमाण	१९२	३८८
अन्य भूमियाँ अवस्थित हैं	१९२	३८९
हैमवतक हारिवर्षक और दैवकुरवक मनुष्योंकी आयुका वर्णन	१९२	३८९
उक्त मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई व आहारका नियम	१९२	३८९
दक्षिणके क्षेत्रोंमें स्थित मनुष्योंके समान उत्तरके क्षेत्रोंमें स्थितमनुष्य हैं	१९२	३८९
विदेह क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु	१९२	३८९
विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई व आहारका नियम	१९२	३८९
भरतक्षेत्रके विष्कम्भका प्रकारान्तरसे वर्णन	१९३	३८९
लवण समुद्रका विष्कम्भ व मध्यमें जलकी ऊँचाईका परिमाण	१९३	३८९
चार महापातालोंका व अन्य पातालों का वर्णन	१९३	३८९
जलको धारण करनेवाले नागोंका व उनके आवासोंका वर्णन	१९४	३९०
गौतम द्वीपका वर्णन	१९४	३९०
लवण समुद्र कहाँ कितना गहरा है	१९४	३९०
सब समुद्रोंके पानीका स्वाद	१९४	३९०
जलचर जीव किन समुद्रोंमें हैं आदि	१९४	३९०
धातकीखण्डका वर्णन	१९४	३९०
धातकीखण्डमें भरत आदि क्षेत्रोंके विष्कम्भ आदिका निरूपण	१९५	३९०
पुष्करार्ध द्वीपका वर्णन	१९६	३९१
'च' शब्दकी सार्थकता	१९६	३९१
पुष्करार्धमें भरत आदि क्षेत्रोंके विष्कम्भ आदिका वर्णन	१९६	३९५

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
पुष्करार्ध संज्ञाका कारण	१९७	३९१
मानुषोत्तरके पूर्व ही मनुष्योंका निवास है	**१९७**	**३९१**
किस प्रकारके मनुष्य मनुष्यलोकके बाहर पाये जाते हैं इस बातका विचार	१९८	३९१
नन्दीश्वर द्वीपका वर्णन	१९८	३९१
कुण्डलवर द्वीपका वर्णन	१९९	३९१
मनुष्योंके दो भेद आर्य और म्लेच्छ	**२००**	**३९२**
आर्योंके भेद व उनके लक्षण	२००	३९२
ऋद्धिप्राप्त आर्योंके भेद-प्रभेद व उनका स्वरूप	२००	३९२
ऋद्धिप्राप्त आर्योंके भेद-प्रभेद व उनका स्वरूप	२०१	३९२
म्लेच्छोंके भेद व उनका वर्णन	२०४	३९५
कौन-कौन क्षेत्र कर्मभूमि हैं इसका कथन	**२०४**	**३९५**
कर्म शब्दका अर्थ	२०४	३९५
मनुष्योंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु का वर्णन	**२०५**	**३९५**
प्रमाणके भेद	२०५	३९६
लौकिक प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०६	३९६
लोकोत्तर प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०६	३९६
द्रव्य प्रमाणके भेद व उनका विचार	२०७	३९६
संख्या प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०६	३९६
उपमान प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०७	३९८
पल्यके भेद तथा उनका वर्णन	२०७	३९८
क्षेत्र प्रमाणके भेद	२०८	३९९
काल प्रमाणका वर्णन	२०९	३९९
भाव प्रमाणके भेद	२०९	३९९
तिर्यग्योनिजोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु	**२०९**	**३९९**
तिर्यग्योनि शब्दका अर्थ	२०९	३९९
तिर्यञ्चोंके भेद तथा उनकी उत्कृष्ट भवस्थितिका वर्णन	२०९	३९९
भवस्थिति और कायस्थितिकी विशेषता	२१०	४००
तिर्यञ्चोंकी कायस्थिति	२१०	४००

चतुर्थ अध्याय

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
देवोंके चार भेद	**२११**	**४०१**
देव शब्दका अर्थ	२११	४०१
निकाय शब्दका अर्थ	२११	४०१
आदिके तीन निकायोंमें लेश्या विचार	**२११**	**४०१**
भवनवासी आदि निकायोंके अवान्तर भेद	**२१२**	**४०१**
प्रत्येक अवान्तर भेदके इन्द्र आदि दस भेद	२१२	४०१
इन्द्र आदिका स्वरूप	२१२	४०१
व्यन्तर और ज्योतिष्क निकायोंमें त्रायस्त्रिंश तथा लोकपालको छोड़ कर आठ भेद	**२१३**	**४०२**
भवनवासी और व्यन्तर देवोंके अवान्तर प्रत्येक भेदमें दो दो इन्द्रका कथन	**२१३**	**४०२**
भवनवासी और व्यन्तर इन्द्रोंके नाम	२१४	४०२
ऐशान कल्पतकके देवोंमें प्रवीचार का विचार	**२१४**	**४०२**
शेष कल्पवासी देवोंमें प्रवीचारका विचार	२१४	४०३
कल्पातीत देवोंमें अप्रवीचारका कथन	**२१५**	**४२०**
भवनवासी देवोंके भेद	**२१६**	**४०३**
भवनवासी शब्दका अर्थ	२१६	४०३
असुर संज्ञाका कारण युद्ध नहीं है	२१६	४०३
कुमार शब्दकी सार्थकता	२१६	४०४
भवनवासी देवोंका निवासस्थान व उनके वैभवका वर्णन	२१६	४०४
व्यन्तर देवोंके भेद	**२१७**	**४०४**
व्यन्तर शब्दका अर्थ	२१७	४०४
किन्नर आदि संज्ञाओंका कथन	२१७	४०४
व्यन्तर देवोंका निवासस्थान	२१७	४०५
ज्योतिष्क देवोंके भेद	**२१८**	**४०५**
ज्योतिष्क शब्दका अर्थ	२१८	४०५
सूर्य आदि शब्दोंका पौर्वापर्य विचार	२१८	४०५
ज्योतिष्क देवोंका निवास-स्थान	२१९	४०५
ज्योतिष्कोंके विमान आदि वैभवका वर्णन	२१९	४०५
मनुष्यलोकमें ज्योतिष्कोंका गमन विचार	**२२०**	**४०६**
ज्योतिष्क विमानोंके गमन करनेका कारण	२२०	४०६
ढाई द्वीपमें और उसके बाहर सूर्य चन्द्र आदि कितने हैं	२२०	४०६
इस सम्बन्धी अन्य आवश्यक जानकारी	२२०	४०६
ज्योतिषियोंकी गतिसे दिन-रात आदि व्यवहारकालका कथन	**२२१**	**४०७**
मुख्य कालकी सिद्धि	२२२	४०८
अस्तिकायोंमें कालके स्वीकार न करने का कारण	२२२	४०८
मनुष्यलोकके बाहर ज्योतिषियोंकी अवस्थिति	**२२२**	**४०८**
चतुर्थ निकायका नाम निर्देश	**२२१**	**४०८**
वैमानिक शब्दका अर्थ तथा विमानोंके भेद	२२२	४०८
वैमानिक देवोंके भेद	**२२३**	**४०८**
वैमानिक देवोंके निवासस्थान ऊपर हैं	२२३	४०८
वैमानिक देवोंके सौधर्म आदि स्थानों के नाम	**२२३**	**४०९**
सौधर्म आदि शब्दोंकी कल्प संज्ञाका कारण	२२४	४०९
सर्वार्थसिद्धि शब्दको पृथक् ग्रहण करने का कारण	२२४	४०९
ग्रैवेयक आदिको पृथक् ग्रहण करनेका कारण	२२४	४०९
नव पदको पृथक् ग्रहण करनेका कारण	२२४	४०९
'उपर्युपरि' पदके साथ दो दो कल्पों का सम्बन्ध है	२२५	४०९
सोलह कल्पोंमें इन्द्र विचार	२२५	४०९
'आनतप्राणतयोः' व 'आरणाच्युतयोः' पदोंको पृथक् रखनेका कारण	२२५	४०९
सौधर्म आदि स्वर्गोंके स्थान, विमान प्रस्तार, देव परिषद् तथा देवताओंकी आयु आदिका विस्तृत वर्णन	२२५	४०९
स्थिति प्रभाव आदिसे उत्तरोत्तर देवों की विशेषता	**२३५**	**४१०**
स्थिति आदि शब्दोंका अर्थ	२३५	४१०
देवोंकी गति आदि आगे आगे हीन है	**२३६**	**४१०**
गति आदि शब्दोंका अर्थ	२३६	४१०
गति आदि शब्दोंका पौर्वापर्य विचार	२३६	४११
देवोंके उत्तरोत्तर अभिमान-हीनतामें युक्ति	२३६	४११
सौधर्म आदि कल्पोंमें लेश्याका कथन	**२३७**	**४११**
पाठान्तरका निर्देश	२३८	४१२
निर्देश, वर्ण और परिणाम आदिके द्वारा लेश्याकी सिद्धि	२३८	४१२
ग्रैवेयकसे पहलेतक कल्प संज्ञाका कथन	**२४१**	**४१४**
छह निकाय और सात निकाय देवोंका चार निकाय देवोंमें अन्तर्भाव हो जाता है	२४२	४१५
लौकान्तिक देवोंका स्थान	**२४२**	**४१५**
लौकान्तिक शब्दका अर्थ	२४२	४१५
लौकान्तिक देवोंके भेद	**२४३**	**४१५**
'च' शब्दसे सारस्वत तथा आदित्य आदिके मध्यवर्ती देवोंके नाम और विस्तारपूर्वक उनका वर्णन	२४३	४१५
विजय आदि विमानोंमें द्विचरमत्वका कथन	**२४४**	**४१६**
द्विचरम शब्दका अर्थ व शंका समाधान	२४४	४१६
अर्थविरोधका परिहार	२४४	४१६
औपपादिक मनुष्योंसे इतर तिर्यञ्च हैं इसका कथन	**२४५**	**४१७**
सूत्रस्थ 'शेष' पदका स्पष्टीकरण	२४५	४१७
तिर्यग्योनि शब्दका अर्थ	२४५	४१७
तिर्यञ्च सर्वलोकमें निवास करते हैं इसका कथन	२४५	४१७
भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन	**२४६**	**४१७**
सौधर्म और ऐशान देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति	**२४६**	**४१७**
'अधिके' पदका अध्याहार सहस्रार कल्पतक होता है	२४६	४१७
सानत्कुमार तथा माहेन्द्र कल्पके देवों को उत्कृष्ट स्थिति	**२४६**	**४१७**
ब्रह्मलोकसे लेकर अच्युत पर्यन्त देवों की उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन	**२४७**	**४१८**
सूत्रमें आये हुए 'तु' शब्दकी सार्थकता	२४७	४१८
अच्युतसे ऊपरके विमानोंकी उत्कृष्ट स्थिति	**२४७**	**४१८**

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
सूत्रमें सर्वार्थसिद्धि पदको पृथक् ग्रहण करनेका कारण	२४७	४१८
सौधर्म और ऐशान देवोंकी जघन्य स्थिति	२४७	४१८
अन्य देवोंकी जघन्य स्थिति	२४८	४१८
द्वितीय आदि नरकोंकी जघन्य स्थिति का वर्णन	२४८	४१८
प्रथम नरककी जघन्य स्थिति	२४८	४१९
भवनवासी देवोंकी जघन्य स्थिति	२४९	४१९
व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति	२४९	४१९
व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४९	४१९
ज्योतिषियोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४९	४१९
ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति	२४९	४१९
ज्योतिष्क देवोंके चन्द्र आदि भेदोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४९	४१९
लौकान्तिकोंकी स्थितिका वर्णन	२५०	४१९
एक जीवपदार्थ नाना रूप है इस बात का विविध युक्तियों द्वारा समर्थन	२५०	४१९
अनेकात्मक एक जीवका ज्ञान कराने वाला शब्द दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है	२५२	४२१
वे क्रम और यौगपद्य कालादिके भेदकी मुख्यता और गौणतासे होते हैं	२५२	४२१
सकलादेश और विकलादेशका अर्थ	२५२	४२२
सकलादेशमें सप्तभङ्गीकी संघटना	२५३	४२२
सात भङ्ग ही क्यों होते हैं इस बातका विचार	२५३	४२२
'स्यादस्त्येव जीवः' भङ्गका स्पष्टीकरण	२५३	४२३
'स्यादस्त्येव जीवः' यह भङ्ग पर्याप्त है, अन्य भङ्गोंकी क्या आवश्यकता इस शंकाका परिहार व अन्य उपयोगी शंका-समाधान	२५३	४२३
काल आत्म रूप आदिके द्वारा विचार	२५७	४२५
शेष भङ्गोंका विचार व शंका-समाधान	२५९	४२७

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितं

तत्त्वार्थवार्तिकम्

प्रणम्य सर्वविज्ञानमहास्पदमुरुश्रियम् ।
[1]निर्धूतकल्मषं वीरं वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्तिकम् ॥१॥

श्रेयोमार्गप्रतिपित्सात्मद्रव्यप्रसिद्धेः ।१। उपयोगस्वभावस्यात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रसिद्धौ सत्यां तन्मार्गप्रतिपित्सोत्पद्यते । कथम् ?

चिकित्साविशेष[2]प्रतिपत्तिवत् ।२। यथा व्याधिनिवृत्तिजफलश्रेयसां योक्ष्यमाणस्य चिकित्स्यस्य प्रसिद्धौ चिकित्सामार्गविशेषप्रतिपित्सोत्पद्यते तथा आत्मद्रव्यप्रसिद्धौ श्रेयोमार्गप्रतिपित्सेति । तस्मात् स्वाधीयसी मोक्षमार्गव्याख्या स्वायम्भवीति । किञ्च,

सर्वार्थप्रधानत्वात् ।३। संसारिणः पुरुषस्य सर्वेष्वर्थेषु मोक्षः प्रधानम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति तस्मात्तन्मार्गोपदेशः कार्यः तदर्थत्वात् ।

मोक्षोपदेशः पुरुषार्थप्रधानत्वादिति चेत्; न; जिज्ञासमानार्थिप्रश्नापेक्षिप्रतिवचनसद्भावात् ।४। आह मोक्षोपदेश एव कार्यो न मार्गोपदेशः । कस्मात् ? पुरुषार्थप्रधानत्वात् । सर्वश्रेयोभ्यः पुंसो मोक्ष एव परं श्रेयः आत्यन्तिकानुपमश्रेयस्त्वादिति; तन्न; जिज्ञासमानार्थिप्रश्नापेक्षिप्रतिवचनसद्भावात् । योऽसौ [3]मोक्षेणार्थी जिज्ञासमानः स मार्गमेव पृष्टवान् न मोक्षम्, अतस्तन्मार्गोपदेश एव न्याय्यः ।

मोक्षमेव कस्मान्नाप्राक्षीदिति चेत् ? न; कार्यविशेषसम्प्रतिपत्तेः ।५। स्यादेतत्–अयं प्रष्टा मोक्षमेव कस्मान्न पृष्टवान् कैमर्थक्यान्मार्गं पृष्टवानिति ? तन्न; कार्यविशेषसम्प्रतिपत्तेः । मोक्षकार्यं प्रति सर्वेषां सद्वादिनां [4]सम्प्रतिपत्तेर्न कारणं प्रति ।

कारणं तु प्रति विप्रतिपत्तिः, पाटलिपुत्रमार्गविप्रतिपत्तिवत् ।६। यथा केचित् पुरुषा नानादिग्भागापेक्षिषु मार्गेषु विप्रतिपद्यन्ते न पाटलिपुत्रे प्राप्तव्ये, तथा मोक्षकार्यं प्रतिपद्य तदर्थमादृताः सर्वे सद्वादिनस्तत्कारणेषु[5] विप्रतिपद्यन्ते । तद्यथा, [6]केचित्तावदाहुः–ज्ञानादेव मोक्ष इति । [7]अपर आहुः–ज्ञानवैराग्याभ्यामिति । पदार्थावबोधो ज्ञानम्, विषयसुखानभिष्वङ्गलक्षणं वैराग्यमिति । [8]अपर आहुः–क्रियात एव मोक्ष इति *"**नित्यकर्महेतुकं निर्वाणम्**" [ ] इति वचनात् । किञ्च,

---

१ निर्धौत– मु०, आ०, ब०, द० । २ –षप्रवृत्ति– मु०, आ०, ब०, द० । ३ मोक्षेणार्थि जि– मु०, आ०, ब०, द० । ४ सम्प्रतिपत्तिनं मु०, आ०, ब०, द० । ५ ज्ञानचारित्रादिषु –सम्पा० । ६ नैयायिकाः –सम्पा० । ७ योगदर्शनिनः –सम्पा० । ८ मीमांसकाः –सम्पा० ।

पराभिप्रायनिवृत्त्यशक्यत्वात् ।७। न च परस्य प्रष्टुः प्रश्नाभिप्रायोऽस्मदादिभिः शक्यो निवर्तयितुं 'मा प्राक्षीर्मार्गं मोक्षं पृच्छ' इति[१], भिन्नरुचित्वाल्लोकस्य ।

कल्पनाभेदात्तद्विप्रतिपत्तिरिति चेत्; न; कर्मविप्रमोक्षसामान्यात् ।८। आह– न मोक्षं प्रति सम्प्रतिपत्तिरस्ति किन्तु विप्रतिपत्तिरेव । कस्मात् ? कल्पनाभेदात् । [२]अन्येऽन्यथालक्षणं मोक्षं परिकल्पयन्ति–'रूपवेदनासंज्ञा[३]संस्कार[४]विज्ञानपञ्चकस्कन्धनिरोधादभावो मोक्षः' इति । 'गुणपुरुषान्तरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्षः' इत्यपरे[५]। 'बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारनवात्मगुणात्यन्तोच्छेदो मोक्षः' इत्यन्ये[६]। तस्मात् कल्पनाभेदात् मोक्षं प्रति विप्रतिपत्तिरिति; तन्न; कर्मविप्रमोक्षसामान्यात् । सर्वेषां हि प्रवादिनां यां तामवस्थां प्राप्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष एव मोक्षोऽभिप्रेत इति आस्माकीनसमयाविरोधात् मोक्षकार्यं प्रति सम्प्रतिपत्तिः ।

कार्यविशेषोपलम्भात् कारणान्वेषणप्रवृत्तिरिति चेत्; न; अनुमानतस्तत्सिद्धेर्घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिवत् ।९। आह–कार्यविशेषमुपलभ्य लौकिकाः कारणान्वेषणं प्रति आद्रियन्ते यथा ज्वरादिरोगदर्शनात्तत्कारणान्वेषणे भिषक् प्रवर्तते चिकित्साप्रसिद्धचर्थं तथा मोक्षदर्शनात्तत्कारणान्वेषणं न्याय्यम् । न चासौ दृश्यते, तस्मान्मोक्षकारणान्वेषणाभाव इति; तन्न; अनुमानतस्तत्सिद्धेः । प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्यापि मोक्षकार्यस्यानुमानत उपलब्धौ मोक्षकारणान्वेषणं युक्तं घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिवत् । यथा बलीवर्दपरिभ्रमणापादितारगर्तभ्रान्ति घटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां बलीवर्दपरिभ्रमणाभावे चारगर्तभ्रान्त्यभावाद् घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्ति च प्रत्यक्षत उपलभ्य सामान्यतोदृष्टादनुमानाद् बलीवर्दतुल्यकर्मोदयापादितां चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्ति शारीरमानसविविधवेदनाघटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां प्रत्यक्षत उपलभ्य ज्ञानदर्शनचारि-[७]त्राग्निनिर्दग्धस्य कर्मण उदयाभावे चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्त्यभावात् संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्त्या भवितव्यमित्यनुमीयते । यासौ संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिः स एव मोक्ष इति । तस्मादनुमानतो मोक्षकार्यसिद्धेरध्यवस्यामो मोक्षकारणान्वेषणं न्याय्यमिति । किञ्च,

सर्वशिष्टसम्प्रतिपत्तेः ।१०। सर्वे शिष्टाः प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्यापि मोक्षकार्यस्यानुमानादस्तित्वमभ्युपेत्य प्रतिनियतमोक्षकारणेषु प्रयतन्ते । किञ्च,

आगमात्तत्प्रतिपत्तेः ।११। प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानोऽपि मोक्षः आगमादस्तीति निश्चीयते । कथम् ?

सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणवत् ।१२। यथा सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणममुष्यां वेलायाम् अमुना वर्णेन अमुना [८]दिग्विभागेन सर्वग्रासि नवेत्येवमादि सांवत्सरैरप्रत्यक्षमपि आगमाज्ज्ञायते तथा मोक्षोऽपीति । किञ्च,

स्वसमयविरोधात्[९] ।१३। 'अप्रत्यक्षत्वात् मोक्षो नास्ति' इति यस्य मतं तस्य स्व-[१०]समयविरोधो भवति । सर्वे हि समयवादिनो मोक्षादीनर्थानप्रत्यक्षानभिवाञ्छन्ति ।

बन्धकारणानिर्देशादयुक्तमिति चेत्; न; मिथ्यादर्शनादिवचनात् ।१४। स्यादेतत्–अन्यत्र[११]

१ –ति चेन्न भि– मु०, आ०, ब०, द० । २ बौद्धाः । "प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः।" –प्रमाणवार्तिकाल० १।४५ । ३ निमित्तोद्ग्रहणात्मकं विकल्पविज्ञानम् –सम्पा० । ४ रागद्वेषादि –सम्पा० । ५ सांख्याः । "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" –योगसू० १।३ । ६ वैशेषिकाः । "नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।" –प्रश० व्यो० पृ० ६३८ । ७ –त्राग्निर्द –मु०, आ०, ब०, द० । ८ दिग्भागेन मु०, आ०, ब०, द० । ९ –विरोधः मु०, आ०, ब०, द० । १० आगमविरोधः –सम्पा० । ११ सांख्यादिशास्त्रेषु –सम्पा० ।

बन्धकारणनिर्देशः कृतः *"**विपर्ययाद् बन्धः**" [सांख्य का० ४४] इत्यादिः[१], इह तु न कृतः, ततो मोक्षकारणनिर्देशस्यायुक्तिरिति; तन्न; मिथ्यादर्शनादिवचनात् । वक्ष्यते एतत्–*"**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।**" [त० सू०८।१] इति ।

बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य प्राक् तत्कारणनिर्देश इति चेत्; न, आश्वासनार्थत्वात् ।१५। स्यादारेका–प्राङ् मोक्षकारणनिर्देशाद् बन्धकारणनिर्देशो न्याय्यः यतो बन्धपूर्वको मोक्ष इति; तन्न; आश्वासनार्थत्वात् । कथम् ?

बन्धनबद्धवत् ।१६। यथा कारान्धनबद्धः प्राणी बन्धकारणश्रवणाद् बिभेति मोक्षकारणश्रवणादाश्वसिति, तथा अनादिसंसारकारावरुद्ध आत्मा प्रथममेव बन्धकारणश्रवणात् मा भैषीत् मोक्षकारणश्रवणाच्च कथमाश्वासं यायादिति प्रथमं बन्धकारणमनुक्त्वा मोक्षकारणोपदेशः कृतः । किञ्च,

मिथ्यावादिप्रणीतमोक्षकारणनिराकरणार्थं वा ।१७। मिथ्यावादिप्रणीतैकद्विमोक्षकारणनिराकरणार्थोऽयमार्हतो मोक्षकारणनिर्देश आदौ कृतः, 'त्रयमेतत् संगतं मोक्षमार्गो नैकशो द्विशो वा' इति ।

अतो विपर्ययमात्रप्रभवां संसारप्रक्रियां परिकल्प्य ज्ञानविशेषात्तद्विनिवृत्तिरित्येवमाद्यनेकमिथ्यावादिप्रणीतमतनिवृत्तये त्रैविध्यविजृम्भितमोक्षकारणप्रदर्शनार्थमाह—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥ [२]इति ।

अपरे 'आरातीयपुरुष[३]शक्त्यपेक्षत्वात्सिद्धान्तप्रक्रियाऽविष्करणार्थं मोक्षकारणनिर्देशसम्बन्धेन शास्त्रानुपूर्वीं रचयितुमन्विच्छन् इदमवोचत्' इत्याचक्षते । नात्र शिष्याचार्यसम्बन्धो विवक्षितः । किन्तु संसारसागर[४]निमग्नानेकप्राणिगणाभ्युज्जिहीर्षां प्रत्यागूर्णः[५] 'अन्तरेण मोक्षमार्गोपदेशं हितोपदेशो [६]दुःष्प्रापः' इति निश्चित्य मोक्षमार्गं व्याचिख्यासुरिदमाह[७] ।

प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यजनितव्यापारं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।१। प्रणिधानम् उपयोगः परिणामः[८] इत्यनर्थान्तरम् । [९]येनार्थोऽर्थान्तराद्विशेष्यते यो वाऽर्थान्तरगतात्पर्यायाद्[१०] विशिष्यते स विशेषः, विशिष्टिर्वा विशेषः, प्रणिधानमेव विशेषः प्रणिधानविशेषः, प्रणिधानस्य वा विशेषः प्रणिधानविशेषः[११]। आहितम् आत्मसात्कृतं परिगृहीतम् इत्यनर्थान्तरम् । विधयुक्तगतप्रकाराः समानार्थाः । निसर्गाधिगमभेदाद् द्वौ विधावस्येति द्विविधम्, द्विविधस्य भावः कर्म वा द्वैविध्यम् । प्रणिधानविशेषेणाहितं प्रणिधानविशेषाहितम् । प्रणिधानविशेषाहितं द्वैविध्यमस्य प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यम् । जनितः प्रादुर्भावितः, व्यापृतिर्व्यापारः अर्थप्रापणसमर्थः क्रियाप्रयोगः । जनितो व्यापारोऽस्य जनितव्यापारम् । कश्चास्य व्यापारः ? इह अन्तर्दर्शनमोहोपशमक्षयक्षयोपशमपर्यायपरिणामाद् बाह्यपरिणामकारणापादिताद् आत्मनो जीवादिपदार्थविचारविषयोऽधिगमो निसर्गश्च व्यापारः । प्रणिधानविशेषा-

१ –दि इ –मु०, आ०, ब०, द० । २ 'इति' नास्ति आ० । ३ –ष सव्यपेक्ष–ता० । ४ –गरेनि ता०, श्र०, द० । ५ उद्यतः । ६ तुलना–"नर्ते च मोक्षमार्गाद् हितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।" –त० भा० का० ३१ । ७ तत्र सम्यग्दर्शनस्य कारणभेदलक्षणानां वक्ष्यमाणत्वादिह उद्देशमात्रमाह । ८ विशुद्धमध्यवसायमित्यर्थः । ९ सास्नादिमत्त्वादिना गवादिः अश्वादेः । १० केसरादेः । ११ परोपदेशानपेक्षत्वमितियावत् ।

हितद्वैविध्यमेव जनितव्यापारं प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यजनितव्यापारं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अस्यार्थं उत्तरत्र वक्ष्यते ।

[1]नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम् ।२। नयौ च प्रमाणे च नयप्रमाणानि, तेषां विकल्पाः नयप्रमाणविकल्पाः । द्वौ नयौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च, द्वे प्रमाणे प्रत्यक्षं परोक्षं च, तेषां विकल्पा नैगमादयो मत्यादयश्च वक्ष्यन्ते । पूर्वशब्दस्तत्कारणवाची । नयप्रमाणविकल्पपूर्वको नयप्रमाणविकल्पहेतुक इत्यर्थः । येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था अवस्थिताः तेन तेनावगमः जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम् । मोहसंशयविपर्ययनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम् ।

[2]संसारकारणविनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो [3]बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः[4] सम्यक्चारित्रम् ।३। संसारः पञ्चविधः द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरिवर्तनभेदात् । तस्य कारणं कर्म अष्टविधम्, तस्य विशेषेणात्यन्तिकी निवृत्तिः संसारकारणविनिवृत्तिः, तां प्रत्यागूर्णस्योद्यतस्य, ज्ञानवत इति प्रशंसायां मतुः, यथा रूपवानिति प्रशंसायुक्तस्य सत्ता कथ्यते । नहि कस्यचिद्रूपं नास्ति, प्रशस्तं तु नास्ति, तथा ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानवानिति प्रशंसायुक्तस्य सत्ता कथ्यते । न कस्यचिज्ज्ञानं नास्ति सर्व एवात्मा ज्ञानवान् चैतन्यात्, मिथ्यादर्शनोदये विपरीतार्थग्राहित्वात् मिथ्यादृष्टिरज्ञः, तदभावे याथात्म्येनार्थविभावनात् सम्यग्दृष्टिः प्रशस्तज्ञानः, तस्य ज्ञानवतः । क्रिया क्रियान्तराद्विशिष्यते येन स विशेषः, विशिष्टिर्वा विशेषः । स द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । बाह्यो वाचिकः कायिकश्च बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, आभ्यन्तरो मानसः छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात् , तस्योपरमः सम्यक्चारित्रमित्युच्यते[5] । स पुनः परमोत्कृष्टो भवति वीतरागेषु यथाख्यातचारित्रसंज्ञकः । आरातीयेषु संयतासंयतादिषु सूक्ष्मसाम्परायिकान्तेषु प्रकर्षाप्रकर्षयोगी भवति ।

ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं कर्मसाधनश्चारित्रशब्दः ।४। ज्ञानं दर्शनमिति करणसाधनावेतौ शब्दौ, *"**करणाधिकरणयोः**" [जैने० २।४।९९] इति युटो विधानात् । कर्मसाधनश्चारित्रशब्दः *"**भूवदिगृभ्यो णित्रश्चरेर्वृत्ते**" [उणादि० ४।१७७-७८] इति कर्मणि विधानात् । ज्ञानदर्शनशक्तिविशेषशुद्धिसन्निधाने जीवादीनर्थानात्मा जानाति पश्यति वा येन तज्ज्ञानं दर्शनं च । चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमसद्भावे चर्यते तदिति चारित्रम् ।

कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवदिति चेत्; नः तत्परिणामादग्निवत् ।५। स्यादारेका—ज्ञानदर्शनयोरात्मद्रव्याद्अन्यत्वम्, कस्मात् ? दृष्टत्वात् देवदत्तपरशुवदिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्परिणामादग्निवत् । यथा बाह्यद्रव्यादिपञ्चतयहेतुसन्निधाने सति आभ्यन्तरपरिणामवशात् तेजस्कायिकनामकर्मोदयाविर्भावितौष्ण्यपर्याय आत्मा

---

१ तथैव निर्देक्ष्यमाणत्वात् सम्यग्ज्ञानलक्षणमिह निरुक्तिलभ्यं व्याचष्टे । २ सम्यक्चारित्रं निरुक्तिगम्यलक्षणमाह । ३ विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रमित्युच्यमाने शीर्षोपहारादिषु स्वशीर्षादिद्रव्यनिवृत्तिः सम्यक्त्वादिस्वगुणनिवृत्तिश्च तन्माभूदिति क्रियाग्रहणम् । ४ बहिःक्रियायाः कायवाग्योगरूपाया एव आभ्यन्तरक्रियाया एव वा मनोयोगरूपाया विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रं माभूदिति क्रियाया बाह्याभ्यन्तरविशेषणम् । लाभाद्यर्थं तदृशक्रियाविनिवृत्तिरपि (तन्माभूदिति संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्येति वचनम्) नापि मिथ्यादृशः सा तद् भवति इति ज्ञानवत इति वचनात् । सम्यग्विशेषणादिह ज्ञानाश्रयता संसारकारण विनिवृत्तिता च लभ्यते । चारित्रशब्दात् बहिरभ्यन्तरक्रियाविनिवृत्तिता सम्यक्चारित्रस्य सिद्धा तदभावे तद्भावानुपपत्तेः । ५ –त्रमुच्यते ता०, आ०, ब०, द० । ६ तैज– मु० ।

तत्परिणामादग्निव्यपदेशभाग् भवति, स एवम्भूतनयवक्तव्यतया उष्णपर्यायादनन्यः, तथा एवम्भूतनयवक्तव्यवशाज्[1] ज्ञानदर्शनपर्यायपरिणत आत्मैव ज्ञानं[2] दर्शनं च तत्स्वाभाव्यात् ।

अतत्स्वाभाव्येऽनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत् ।६। यथा अग्निरुष्णपर्यायेणान्यद्रव्यासाधारणेनावधार्यते 'अयमग्निः' इति, स चेत्तत्स्वभावो न भवेत् प्रतिविशिष्टासाधारणपर्यायाभावादग्नेरनवधारणप्रसङ्गः । तथा आत्मनोऽपि ज्ञानादन्यत्वेऽनवधारणम्, यतोऽयमन्यद्रव्यासाधारणज्ञानपर्यायः तत्स्वभावात्, ततोऽन्यो द्रव्यार्थादेशात् । स चेन्न ज्ञानस्वभावः सत्येवमज्ञः स्यात्, ततश्चास्यानवधारणप्रसङ्गः ।

अर्थान्तरात् संप्रत्यय इति चेत्; न; उभयासत्त्वात् ।७। स्यादेतत्—अन्यत्वे सत्यपि नानवधारणम् । कुतः ? यस्मादर्थान्तरात् संप्रत्ययः नीलीद्रव्यसम्बन्धाच्छाटीपटकम्बलादिषु नीलसम्प्रत्ययवत् । यथा अर्थान्तरभूतेन नीलीद्रव्येण [3]सम्बद्धत्वाच्छाटीपटकम्बलादिषु नीलसम्प्रत्ययः तथा अर्थान्तरभूतोष्णगुणसमवायादुष्णोऽग्निः, आत्मा[4]चार्थान्तरभूतज्ञानगुणसमवायाज् ज्ञ इति; तन्न; किं कारणम् ? उभयासत्त्वात् । दण्डदण्डिवत्[5]। यथा दण्डसम्बन्धात् प्राग्दण्डी जात्यादिभिर्लक्षणैः स्वतः सिद्धत्वात् सन्,[6] दण्डोऽपि प्राग्दण्डिसम्बन्धाद्वृत्तद्राघिमादिना लक्षणेन स्वतः सिद्धत्वात् सन्, [7]अतो दण्डयोगाद्दण्डीत्येतन्न्याय्यम्, तथा नीलद्रव्ययोगाच्छाटचादि नीलमित्येतन्न्याय्यम्, तथोष्णगुणयोगान्न प्रागग्नेरन्यद्विशेषलक्षणं सद्भावस्य प्रख्यापकमस्तीति असन्नग्निः, उष्णस्यापि प्रागग्नियोगादसत्त्वं निराश्रयगुणाभावात् । न चासतोः सम्बन्धो दृष्ट इष्टो वा । आत्मनोऽपि ज्ञानगुणयोगात् प्रागसत्त्वं विशेषलक्षणाभावात् । ज्ञानस्याप्यात्मद्रव्यसंबन्धात् प्रागसत्त्वं निराश्रयगुणाभावात् । नचासतोः सम्बन्धो दृष्ट इष्टो वा । तस्मादुभयासत्त्वान्नार्थान्तरात् संप्रत्ययः । किञ्च,

उभयथाप्यसद्भावात् ।८। कथम् ?

[8]सर्वासद्वादिवत् ।९। इदमस्ति[9]त्वं प्रष्टव्यः—उष्णगुणोगात् प्रागग्ना उष्ण इति ज्ञानं[10] स्याद्वा, न वेति ? यदि प्रागुष्णगुणयोगादग्नावुष्ण इति ज्ञानं[10] स्यात्; कैमर्थक्यादुष्णगुणयोगः प्रार्थ्यते ? अथ नास्ति; अतोऽप्युष्णज्ञानाभावात्, अनुष्णस्वभावस्याग्नेः उष्णगुणयोगादुष्ण इति व्यपदेशाभावः[11] । किञ्च,

अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसङ्गात् ।१०। कथम् ?

सर्वसत्प्रतिपक्षवादिवत् ।११। यथा यद्युष्णगुणयोगादग्निरुष्णः; अथोष्णगुणः, केन योगादुष्णः ? स्वभावादिति चेत्; अग्नौ कोऽपरितोषः ? उष्णत्वादुष्णगुणस्योष्णत्वमिति चेत्; उष्णत्वस्योष्णत्व कुतः ? स्वत एवेति चेत्; अग्नौ कोऽपरितोषः ? अथाग्नेरुष्णत्वं स्वत एव मासिधदिति उष्णत्वस्याप्यन्यदुष्णत्वमस्ति तस्याप्यन्यदित्यनवस्था । अथानवस्था माभूदिति स्वत एवोष्णत्वस्योष्णत्वम्, ननु प्रतिज्ञाहानिः 'अर्थान्तरात् संप्रत्ययः' इति । तथा यदि ज्ञानगुणयोगादात्मा ज्ञः, अथ ज्ञानगुणः केन योगात् ? स्वभावादिति चेत्; आत्मनि कोऽपरितोषः । ज्ञानत्वाज्ज्ञानगुणस्य ज्ञानव्यपदेश इति चेत्; ज्ञानत्वस्य ज्ञानत्वं कुतः ? स्वत एवेति चेत्; आत्मनि कोऽपरितोषः ? अथात्मनो ज्ञत्वं स्वत

१–क्तव्यतावशा–मु०, आ०, ब०, द० । २ –नं च दर्शनं मु०, आ०, ब०, द० । ३ सम्बन्ध–आ०, ब०, मु० । ४ वार्था–मु०, आ०, ब० । ५ व्यतिरेकदृष्टान्तोऽयम् । ६ स दण्डो मु०, आ०, ब० । ७ सतो मु०, आ०, ब० । ८ सर्वसद्वादि– श्र० । ९ इदमस्तित्वं मु०, आ०, ब० । 'इदं त्वं प्रष्टव्योऽसि' इत्यर्थः– सम्पा० । १० –नं कै– मु०, आ०, ब०, द० । ११ –भावात् किञ्च ता०, मु०, आ०, ब०, द० ।

एव मासिधदिति ज्ञानत्वस्याप्यन्यज्ज्ञानत्वमस्ति [1]तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यदित्यनवस्था। अथानवस्था माभूदिति स्वत एव ज्ञानत्वस्य ज्ञानत्वमिष्टं ननु प्रतिज्ञाहानिः 'अर्थान्तरात् संप्रत्ययः' इति। किञ्च,

तत्परिणामाभावात्।१२। यथा दण्डसंबन्धेऽपि दण्डिनो न दण्डपरिणामः दण्डिव्यपदेशमात्रप्रतिलम्भात्, तथा उष्णगुणस्योष्णत्वसामान्यविशेषसंबन्धे नोष्णत्वं गुण-सामान्य-विशेषपदार्थभेदात्, अत 'उष्णत्ववानुष्णगुणः' इत्यासक्तं न तु 'उष्णः' इति। तथोष्णगुणसंबन्धेऽप्यग्नेर्नोष्णत्वं द्रव्य-गुणपदार्थभेदात्, अत 'उष्णवानग्निः' इत्यासक्तं न तु स्वयम् 'उष्णः' इति।

समवायादिति चेत्; नः प्रतिनियमाभावात्।१३। स्यान्मतम्–समवायो नामायुतसिद्धलक्षणः संबन्ध इहेदंबुद्धयभिधानप्रवृत्तिहेतुः तेनैकत्वमिव[2] नीतानां व्यपदेशो भवति–उष्णत्वसमवायादुष्णो गुणः, उष्णगुणसमवायाच्चाग्निरुष्ण इति; तन्न; कुतः ? प्रतिनियमाभावात्। उष्णत्वोष्णगुणयोः अग्न्युष्णयोश्चान्यत्वे कोऽयं प्रतिविशिष्टो नियमो यदुष्णगुणस्याग्नावेव समवायो नाप्सु, शीतगुणस्य चाप्स्वेव समवायो नाग्नौ। उष्णत्वस्य चोष्णगुणेनैव समवायो न शीतादिगुणान्तरेणेति। [3]तद्येन विशेषेणायं प्रतिनियम इष्यते न तं पश्यामः। अत एव द्रव्यपरिणाम एवौष्ण्यमिति सिद्धं नान्यस्तत्प्रतिनियमहेतुरस्ति। स्वभावो हेतुरिति चेत्; तत एव तत्परिणामसिद्धिः[4]। किञ्च,

समवायाभावो वृत्त्यन्तराभावात्।१४। नास्ति तत्परिकल्पितः समवायः। कुतः ? वृत्त्यन्तराभावात्। यथा गुणादीनां पदार्थानां द्रव्ये समवायसंबन्धाद्वृत्तिरिष्टा तथा समवायः पदार्थान्तरं भूत्वा केन संबन्धेन द्रव्यादिषु वर्त्स्यति समवायान्तराभावात् ? एक एव हि समवायः *"**तत्त्वं भावेन [5]व्याख्यातम्**" [वैशे० ७।२।२८] इति वचनात्। न च संयोगेन वृत्तिः युतसिद्धयभावात्, युतसिद्धानामप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः। न चान्यः संबन्धः संयोगसमवायविलक्षणोऽस्ति येन समवायस्य द्रव्यादिषु वृत्तिः स्यात्। अतः समवायिभिरनभिसंबन्धात् नास्ति[6] खरविषाणवत् समवायः।

प्राप्तित्वात् प्राप्त्यन्तराभाव इति चेत्; न; व्यभिचारात्।१५। स्यान्मतम्–द्रव्यादीनि प्राप्तिमन्ति अतस्तेषां यया कयाचित् प्राप्त्या भवितव्यम्, समवायस्तु प्राप्तिर्न प्राप्तिमान्, अतः प्राप्त्यन्तराभावेऽपि स्वत एव प्राप्नोतीति; तच्च न; कस्मात् ? व्यभिचारात्। यथा संयोगः प्राप्तिरपि सन् प्राप्त्यन्तरेण समवायेन वर्तते तथा समवायस्यापि स्यादिति।

प्रदीपवदिति चेत्; नः तत्परिणामादनन्यत्वसिद्धेः।१६। स्यादेतत्–यथा प्रदीपः प्रदीपान्तरमनपेक्षमाण आत्मानं प्रकाशयति घटादींश्च, तथा समवायः संबन्धान्तरापेक्षामन्तरेणात्मनश्च द्रव्यादिषु वृत्तिहेतुर्द्रव्यादीनां च परस्परत इति; तन्न; कुतः ? तत्परिणामादनन्यत्वसिद्धेः। यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाशपरिणामात् प्रकाशात्मनोऽनन्यः प्रकाशान्तरं नापेक्षते, अन्यथा प्रकाशात्मनोऽन्यत्वे प्रदीपस्याप्रदीपत्वप्रसङ्गः, यतो न प्रकाशात्मानं [6]प्रोज्झ्यान्यः प्रदीपोस्ति, तथा न द्रव्यादन्ये गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः सन्ति द्रव्यस्यैवोभयपरिणामकारणापेक्षस्य गुणः कर्म

१ तस्याप्यन्यदि–आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २–वानी–मु०। ३ तस्माद्येन मु०, आ०, ब०, द०। ४ –सिद्धेः ता०। ५ "व्याख्यातमिति शेषः। तत्त्वमेकत्वं, भावेन सत्तया व्याख्यातम्। यथैका सत्ता सर्वत्र सद्बुद्धिप्रवर्तिका तथैक एव समवायः सर्वत्र समवेतबुद्धिप्रवर्तकः स्वलिङ्गाविशेषात् विशेषालिङ्गाभावाच्च" –वैशे० उप०। ६ प्रोह्यान्यः मु०, आ०, ब०।

सामान्यं विशेषः समवाय इत्येवमादिपर्यायान्तरेण परिणामः। यथा प्रदीपः स्वलक्षणप्रसिद्धो घटादिभ्योऽन्यो नैवं समवायः स्वलक्षणप्रसिद्धः द्रव्यादन्योऽस्ति, द्रव्यस्यैव गुणादि-पर्यायपरिणामात्। तस्मान्न प्रदीपवत् समवायसिद्धिः। अन्यथा च द्रव्यादन्यत्वे गुणादीनां द्रव्यस्याद्रव्यत्वप्रसङ्गो यतो न गुणादिपर्यायान् प्रोज्झ्यान्यद् द्रव्यमस्ति। यदि वा गुणादीन् प्रोज्झ्य द्रव्यं केनचिदन्येन स्वविशेषेण प्रसिद्धं यद् गुणादिभिः सम्बध्यते स विशेष उच्यताम् ? यतो न गुणादिपरित्यागेनान्यो द्रव्यस्य विशेषः स्वतः प्रसिद्धोऽस्ति। अतो द्रव्यपरिणामा एव गुणादय [1]इति सिद्धम्। किञ्च,

[2]विशेषविज्ञानाभावात्।१७। यस्य युतायुतसिद्धार्थग्राहकं विज्ञानमेकमस्ति तस्य अयुतसिद्धानां समवायः युतसिद्धानां संयोग इति स्याद्विशेषविज्ञानम्, भवतस्तु [3]क्षणिकैकार्थविषयत्वाज्ज्ञानानां तद्विशेषविज्ञानाभावः, तदभावात्तद्विवेकाभावः।

संस्कारादिति चेत्; न; तस्यापि तादात्म्यात्।१८। स्यादेतत्–ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च संस्कारोऽस्ति, तस्यादः सामर्थ्यमिति; तन्न; कुतः ? तस्यापि तादात्म्यात्। एकार्थग्राहिज्ञानजस्य[4] संस्कारस्य चैकार्थग्राहिज्ञानहेतुत्वात्, अनेकार्थग्राहिज्ञानाभावाच्चानेकार्थग्राहिज्ञानसंस्काराभावः, तस्मात् पूर्वोक्तो दोषस्तदवस्थ एव।

अथवा, अयमर्थः–'कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवदिति चेत्; न; तत्परिणामादग्निवदिति। यथा अग्निरग्निस्वभावादन्यो दहन्[5]–दाहक्रियायाः कर्ता। किंकरणो दहति ? तत्परिणामादग्न्यात्मैव करणम्, तथा आत्मा ज्ञस्वभावत्वात् ज्ञानादन्यः, तत्परिणामादर्थान् जानन् ज्ञानक्रियायाः कर्ता। किंकरणो जानाति ? तत्परिणामात् तदेव ज्ञानं करणत्वेन विवक्ष्यते। अन्यथा 'चाऽतत्स्वाभाव्ये अनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत्' इत्येवमादिवाक्यार्थविवरणं दहनस्वभावापेक्षया योज्यम्। किञ्च,

अनेकान्तात् पर्यायपर्यायिणोरर्थान्तरभावस्य घटादिवत्।१९। यथा घटकपालशकलशर्करादीनां नयद्वयार्पणाभेदात् स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम्। कथम् ? इह पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् पर्यायार्थानर्पणात् मृद्रूपद्रव्याजीवानुपयोगादिद्रव्यार्थार्पणात् स्यादेकत्वम्, यतो घटकपालादयो मृद्रूपद्रव्यार्थं न जहति। तेषामेव द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् द्रव्यार्थानर्पणात् कारणविशेषापादितभेदपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यतोऽन्यो घटपर्यायः अन्यश्च कपालादिपर्यायः, तथा मृदो घटादिपर्यायाणां च स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम्। कथम् ? तत्परिणामात् स्यादेकत्वम्, यतो मृद्रूपमेव उभयपरिणामकारणवशाद् घटकपालादिपर्यायपरिणतं तद्व्यपदेशभाग् भवति, नान्या मृत् नान्ये घटादयो मृद्रूपव्यतिरिक्तघटादिपर्यायाभावात्। पर्यायि-पर्यायभेदाच्च स्यादन्यत्वम्, यतः पर्यायि मृद्द्रव्यं पर्याया घटादयः। तथा आत्मनोऽपि ज्ञानादिपर्यायाणां च स्यादेकत्वं स्यान्नानात्वम्। कथम् ? पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् पर्यायार्थानर्पणात् अनादिपारिणामिकचैतन्य[6]जीवद्रव्यादिद्रव्यार्थार्पणात् स्यादेकत्वम्, यतो ज्ञानादयोऽनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्यादिद्रव्यार्थं न जहति। तेषामेव द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् द्रव्यार्थानर्पणात् कारणविशेषापादितभेदपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यतोऽन्यो ज्ञानपर्यायोऽन्ये च दर्शनादिपर्यायाः, तथा आत्मनो ज्ञानादिपर्या-

१ इति प्रति– मु०। २ विशेषपरिज्ञा–मु०, आ०, ब०, द०। ३ क्षणिकम् एकार्थविषयञ्च ज्ञानं यतः। ४ –नस्य संस्का– आ०, ब०, मु०, द०। ५ कोऽर्थः। ६ वा त– मु०, आ०, ब०, द०। ७ –जीवद्रव्यार्था– मु०, आ०, ब०, द०।

यणां च स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम् । कथम् ? तत्परिणामादेशात् स्यादेकत्वम्, यत आत्मैवोभयपरिणामकारणवशात् ज्ञानादिपर्यायपरिणतो ज्ञानादिव्यपदेशभाग् भवति, नान्य आत्मा नान्ये ज्ञानादयः आत्मद्रव्यव्यतिरिक्तज्ञानादिपर्यायाभावात् । पर्यायिपर्यायभेदाच्च स्यादन्यत्वम्, यतः पर्यायी आत्मा पर्याया ज्ञानादयः । तस्मादेकत्वान्यत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तेः तत्परिणामत्वेऽपि करणभावो युक्तः ।

इतरथा हि एकार्थपर्यायादन्यत्वप्राप्तिर्वृक्षवत् ।२०। यस्यैकान्तिकं कर्तृकरणयोरन्यत्वं तस्यैकार्थपर्यायादन्यत्वं प्राप्तम् । कथम्? वृक्षवत् । यथा 'प्रासादं करोति परश्वादिभिः' इत्यत्र कर्तृकरणयोरन्यत्वं तथा 'भज्यते वृक्षः शाखाभारेण' इत्येकस्य वृक्षस्य शाखाभारार्थपर्यायादन्यत्वं प्राप्तम्, [1]न चादोऽस्ति, यतो न शाखाभारादृते अन्यो वृक्षः । न च शाखाभारादन्यो वृक्षो न भवतीति 'भज्यते वृक्षः शाखाभारेण' इति एकार्थपर्यायात्मकः करणनिर्देशो न [2]भवति ? तथा नात्मद्रव्यादृते अन्यज्ज्ञानम् । न चात्मद्रव्यादृते नान्यज्ज्ञानमिति 'जानात्यनेनार्थानात्मा' इत्येकार्थपर्यायात्मकं करणं न भवति ? किञ्च,

करणस्योभयथोपपत्तेर्द्रव्यस्य मूर्तिमदमूर्तिभेदवत् ।२१। यथा द्रव्यस्य मूर्तिमदमूर्तिभेदादेकान्तपरिग्रहो नास्ति—पुद्गलद्रव्यं मूर्तिमत्, धर्माधर्माकाशकाला अमूर्तयः, आत्मा [3]चामूर्तिः द्रव्यार्थादेशात् न पर्यायार्थादेशात्,'तस्यानादिकार्मणशरीरसंबन्धात् । तथा करणं द्वेधा—विभक्ताऽविभक्तकर्तृकभेदात् । कर्तुरन्यद्विभक्तकर्तृकं यथा 'परशुना छिनत्ति देवदत्तः' इति । कर्तुरनन्यदविभक्तकर्तृकं यथा 'अग्निरिन्धनं दहत्यौष्ण्येन[4]' इति । तथा 'आत्मा ज्ञानेनार्थान् जानाति' इत्यविभक्तकर्तृकं करणम् । किञ्च,

दृष्टान्ताच्च कुशूलस्वातन्त्र्यवत् ।२२। यथा 'भिनत्ति कुशूलं देवदत्तः' इत्यत्र कुशूलो यदा भिदिक्रियायाः सुकरतया स्वातन्त्र्येण विवक्षितः स्वयमेवात्मानं भिनत्ति इति, तदा 'किं करणोऽसावात्मानं भिनत्ति' इति विवक्षायां कुशूलात्मैव करणत्वेनोपादीयते । तथा आत्मैव ज्ञाता करणं च भवति । किञ्च,

एकार्थपर्यायविशेषोपपत्तेरिन्द्रादिव्यपदेशवत् ।२३। इहैकस्यार्थस्य अनेक[5]पर्यायविशेषोपपत्तिर्दृष्टा । न चास्य तेभ्यः पर्यायेभ्योऽन्यत्वम् । कथम् ? इन्द्रादिव्यपदेशवत् । यथैकस्य देवराजार्थस्य इन्द्रशक्रपुरन्दराद्यनेकव्यञ्जनपर्यायविशेषोपपत्तिः । नच देवराजस्य इन्द्रशक्रपुरन्दरा[6]दिपर्यायेभ्योऽन्यत्वम् । न चानन्यत्वात् येनायमिन्द्रस्तेनैव शक्रः पुरन्दरो वा, येन वा शक्रस्तेनैवेन्द्रः पुरन्दरो वा, येन वा पुरन्दरस्तेनैवेन्द्रः शक्रो वा । कथम् ? इह यत इन्द्रादीनां प्रतिनियतव्यञ्जनपर्यायोपपत्तिः—इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इति । न चेन्दनशकनपूर्दारणव्यञ्जनपर्यायभेदात् देवराज इन्द्रः शक्रः पुरन्दरो वा न भवति । भवत्येव । तथैकस्य आत्मनो ज्ञानादिपर्यायविशेषोपपत्तिः, तस्मादेकार्थपर्यायविशेषोपपत्तेः नान्यत्वमात्मद्रव्यादेकान्तेन ज्ञानादीनाम् ।

कर्तृसाधनत्वाद्वा दोषाभावः ।२४। अथवा, नेमौ ज्ञानदर्शनशब्दौ करणसाधनौ । किं तर्हि ? कर्तृसाधनौ । तथा चारित्रशब्दोऽपि न कर्मसाधनः । किं तर्हि ? कर्तृसाधनः । कथम् ? एवम्भूतनयवशात् । ज्ञानदर्शनचारित्राणि आत्मैवेष्टः, अतस्तत्परिणामाज्ज्ञानादिपरिणत आत्मैव

१ न वादोऽस्ति ता० । २ भवन्तीति आ०, ब०, द०,मु० । ३ चामूर्तः आ०, ब, द ०, मु०, ता० । ४ –ष्णेनेति आ० । ५–कत्वप– श्र० । ७ –रपर्या– श्र० ।

जानातीति ज्ञानम्, पश्यतीति दर्शनम्, चरतीति चारित्रम् । अतो [1]य उक्तः—'कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनाम्' इति दोषः; स न भवति ।

लक्षणाभाव इति चेत्; न; बाहुलकात् ।२५। स्यादेतत्—न लक्षणमस्ति कर्तरि युटो विधायकमिति; तन्न; कुतः ? बाहुलकात् *"युड् व्याबहुलम्" [जैने० २।३।९४] इति कर्तरि युट् णित्रश्च यत्र विहिताः ततोऽन्यत्रापि दृश्यन्ते—[2]त्या भावकर्मणोर्विहिताः करणादिष्वपि भवन्ति—स्नात्यनेन स्नानीयश्चूर्णः, ददात्यस्मै इति दानीयोऽतिथिः, समावर्तन्ते तस्मादिति समावर्तनीयो गुरुः । करणाधिकरणयोर्युडुक्तः कर्मादिष्वपि दृश्यते—निरदति तदिति निरदनम्, प्रस्कन्दति तस्मादिति प्रस्कन्दनम् । अथवा,

भावसाधना ज्ञानादिशब्दाः तत्त्वकथनात् दात्रस्य करणव्यपदेशवत् ।२६। यथौदासीन्येनावस्थितमच्छिन्दत्तृणादि दात्रं करणमिति व्यपदिश्यते, तथौदासीन्येनावस्थितानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि प्रतिनियतज्ञानदर्शनचरणक्रियाव्यापारं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि कथ्यन्ते—कोऽसौ मोक्षमार्गः ? ज्ञानदर्शनचारित्राणि—ज्ञातिर्ज्ञानम्, दृष्टिर्दर्शनम्, चरणं चारित्रमिति । क्रियाव्यापृतानां तु ज्ञानादीनां कर्त्रादिकारकव्यवहारः ।

व्यक्तिभेदादयुक्तमिति चेत्; न; एकार्थे शब्दान्यत्वाद् व्यक्तिभेदगतेः ।२७। स्यादेतत्—'ज्ञानमात्मा'इत्ययुक्तम् । कस्मात् ? व्यक्तिभेदात्, अभिधेयवल्लिङ्गसंख्ये भवतोऽभिधानस्येति'ज्ञान आत्मा' इति प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? एकार्थे शब्दान्यत्वाद् व्यक्तिभेदगतेः—एकस्मिन्नप्यर्थे शब्दभेदाद् व्यक्तिभेदा दृश्यन्ते, यथा 'गेहं कुटी मठः, पुष्यः तारका नक्षत्रम्' इति, एवं 'ज्ञानमात्मा' इत्यपि स्यात् ।

ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यं तत्पूर्वकत्वाद्दर्शनस्य ।२८। आह—इह ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यम् । कुतः ? तत्पूर्वकत्वाद्दर्शनस्य, यतः पदार्थतत्त्वोपलब्धिपूर्वकं श्रद्धानम् ।

अल्पाच्तरत्वाच्च ।२९। दर्शनात् ज्ञानमल्पाच्तरम्, अतश्च पूर्वं वाच्यम् ।

नः उभयोर्युगपत्प्रवृत्तेः,[3] प्रकाशप्रतापवत् ।३०। नैष दोषः । कुतः ? उभयोर्युगपत्प्रवृत्तेः । कथम् ? प्रकाशप्रतापवत् । यथा सवितुर्घनपटलावरणविगमे प्रतापप्रकाशप्रवृत्तिर्युगपद् भवति तथा ज्ञानदर्शनयोर्युगपदात्मलाभः । तद्यथा—यदा दर्शनमोहस्योपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति तदैव तस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति ।

दर्शनस्यैवाभ्यर्हितत्वात् ।३१। यदप्युक्तम्—'अल्पाच्तरत्वाज्ज्ञानस्य पूर्वनिपातः' इति; तदसत्; कस्मात् ? दर्शनस्यैव अभ्यर्हितत्वात् । ज्ञानाद्दर्शनमेवाभ्यर्हितम्, दर्शनसन्निधाने सत्यज्ञानस्यापि ज्ञानभावात्, ज्ञात्वाप्यश्रद्दधतस्तदभावात् ।

मध्ये ज्ञानवचनम्, ज्ञानपूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ।३२। यतो जीवादिपदार्थतत्त्वज्ञानसन्निधाने सति [4]चारित्रमोहस्योपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा कर्मादानहेतुक्रियाविशेषोपरमश्चारित्रपरिणामो भवति, ततश्चारित्रस्य ज्ञानपूर्वकत्वात् ज्ञानं पूर्वं प्रयुक्तम् ।

इतरेतरयोगे द्वन्द्वः, मार्गं प्रति परस्परापेक्षाणां प्राधान्यात् ।३३। अयमितरेतरयोगे द्वन्द्वो दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्राणीति । कुतः ? मार्गं प्रति परस्परापेक्षाणां प्राधान्यात् ।

१ यदुक्तं क–श्र०, ता०, मू० । २ व्याभाव–आ०, ब०, द०, मु० । त्याः इति प्रत्यया इत्यर्थः । –श्र० टि०, ता० टि० । ३ प्रतापप्रकाशवत् मु०, आ०, ब०, द०, । ४ चारित्रमोहोप–मु०, आ०, ब० ।

सर्वपदार्थप्रधानत्वाद् बहुवचनान्तः ।३४। यथा प्लक्षन्यग्रोधपलाशा इति अस्त्यादिसमानकालक्रियाणां प्लक्षादीनां परस्परापेक्षाणामितरेतरयोगे द्वन्द्वः सर्वपदार्थप्रधानत्वात् बहुवचनान्तः, तथा दर्शनज्ञानचारित्राणामस्त्यादिसमानकालक्रियाणां परस्परापेक्षाणामितरेतरयोगे द्वन्द्वः सर्वपदार्थप्रधानत्वाद् बहुवचनान्तः । यतस्त्रयाणामपि दर्शनादीनां [1]सहितानां परस्परापेक्षाणां मोक्षमार्गत्वं प्रति प्राधान्यं नैकस्य न द्वयोः ।

प्रत्येकं सम्यग्विशेषणपरिसमाप्तिर्भुजिवत् ।३५। यथा 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्ताम्' इति भुजिः प्रत्येकं परिसमाप्यते, तथा प्रशंसावचनस्य सम्यक्शब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धो दर्शनादिभिः–सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति ।

पूर्वपदसामानाधिकरण्यात् तद्व्यक्तिवचनप्रसङ्ग इति चेत्; नः मोक्षोपायस्यात्मप्रधानत्वात् ।३६। स्यादेतद्–दर्शनादिभिः सामानाधिकरण्यात् तद्व्यक्तिवचने मोक्षमार्गस्य प्राप्नुत इति; तन्न; किं कारणम् ? मोक्षोपायस्य आत्मप्रधानत्वात् । यो मोक्षमार्गो मोक्षोपायस्तस्य आत्मा स्वभावः [2]येनात्मना येन स्वभावेन मोक्षमार्ग उच्यते, स दर्शनज्ञानचारित्राणा सर्वेषामविशिष्ट एकः पुल्लिङ्गश्च तस्य प्राधान्यात् सत्यपि सामानाधिकरण्ये न तद्वचक्तिवचनप्राप्तिः, यथा 'साधवः प्रमाणम्' इति ।

आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्षः ।३७। 'मोक्ष असने' इत्येतस्य घञ् भावसाधनो मोक्षणं मोक्षः असनं क्षेपणमित्यर्थः, स आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते ।

मृजेः शुद्धिकर्मणो मार्ग इवार्थाभ्यन्तरीकरणात् ।३८। मृष्टः शुद्धोऽसाविति मार्गः, मार्ग इव मार्गः । क उपमार्थः ? यथा स्थाणुकण्टकोपलशर्करादिदोषरहितेन मार्गेण मार्गगाः सुखमभिप्रेतस्थानं गच्छन्ति, तथा मिथ्यादर्शनाऽसंयमादिदोषरहितेन व्यंशेन श्रेयोमार्गेण सुखं मोक्षं गच्छन्ति ।

अन्वेषणक्रियस्य वा करणत्वोपपत्तेः ।३९। अथवा, 'मार्ग अन्वेषणे' इत्यस्य मार्गः सिध्यति । कुतः? सम्यग्दर्शनादीनां करणत्वोपपत्तेः । मोक्षो येन मार्ग्यते स मोक्षमार्ग इति ।

युक्त्यनभिधानादमार्ग इति चेत्; न; मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमानां प्रत्यनीकत्वादौषधवत् ।४०। स्यादेतत्, नात्र युक्तिरुक्ता–'सम्यग्दर्शनादित्रयमित्थं मोक्षमार्गः' इति,अतोऽस्य मार्गत्वं नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमानां प्रत्यनीकत्वात् । कथम् ? औषधवत् । यथा वातादिकारोद्भूतरोगाणां निदान[3]प्रत्यनीकं स्निग्धरूक्षाद्यौषधमुच्छेदकारणम्, तथा मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमादीनां निदानप्रत्यनीकं सम्यग्दर्शनाद्यौषधमुच्छेदकारणम् ।

इति तत्त्वार्थवार्त्तिके[4] व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये प्रथममाह्निकम्[5] ॥ १ ॥

---

१ संहतानां मु० । २ येनात्मीयेन स्वभावेन स भो–मु०, आ०, ब० । येनात्माना येन स्वभावेन स भो– द०, श्र० । ३ आदिकारणं वातादि । ४ –कव्या– ब०, ता० । सूत्राणामनुपपत्तिचोदनातत्परिहारो विशेषाभिधानञ्चेति वार्तिकलक्षणम् । ५ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे शास्त्रलक्षणव्याख्यानावसरे आह्निकलक्षणमप्युक्तम्– वर्णात्मकं हि पदम्, पदसमुदायविशेषः सूत्रम्, सूत्रसमूहः प्रकरणम्, प्रकरणसमितिराह्निकम् । आह्निकसंघातोऽध्यायः, अध्यायसमुदायः शास्त्रमिति ।

विपर्ययाद् बन्धस्यात्मलाभे सति ज्ञानादेव तद्विनिवृत्तेस्त्रित्वानुपपत्तिः ।४१। अत्र कश्चिदाह–विपर्ययाद् बन्धस्यात्मलाभो भवति तदभावात्तत्त्वज्ञाने सति [1]बन्धविनिवृत्तिर्भवति । कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति । बन्धनिवृत्तिरेव च मोक्षः । अतो मोक्षमार्गस्य त्रित्वं नोपपद्यते ।

प्रतिज्ञामात्रमिति चेत्; न; सर्वेषामविसंवादात् ।४२। स्यादेतत्–प्रतिज्ञामात्रमेतत्–'विपर्ययाद् बन्धो भवति' इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वेषामविसंवादात् । नात्र [2]प्रवादिनो विसंवदन्ते । तद्यथा––

'धर्मेण गमनम्[3]' इत्यादिवचनमेकेषाम् ।४३। *'**धर्मेण गमनमूर्ध्वम्**' [सांख्यका० ४४] भवति-अष्टसु ब्राह्मयसौम्यप्राजापत्यैन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपिशाचेषु । *'**गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण**' अधर्मेण खलु षट्सु स्थानेषु मानुषपशुमृगमत्स्यसरीसृपस्थावरेषु गमनम् । *'**ज्ञानेन चापवर्गो**' यदास्य रजस्तमसोर्गुणभावात् सत्त्वस्य प्राधान्यात् [4]प्रकृतिपुरुषान्तरपरिज्ञानमाविर्भवति तेनापवर्गः । *'**विपर्ययादिष्यते बन्धः**'' योऽस्याव्यक्तमहदहङ्कारतन्मात्रसंज्ञास्वष्टासु प्रकृतिषु अनात्मीयासु आहङ्कारिकेषु वैकारिकेषु चेन्द्रियेषु आत्मत्वाभिमानः स विपर्ययः, तस्माद् बन्ध इत्येकेषां वचनम् ।

तथा अनात्मीयेष्वात्माभिमानविपर्ययात्[5] तस्य शब्दाद्युपलब्धिरादिः गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्तः । 'यावदस्याविभक्तः प्रत्ययः–श्रोत्रादीन्द्रियवृत्तिषु श्रवणादिषु 'अहं श्रोता' इत्येवमादिः, पाञ्चभौतिके च शिरःपाण्यादिसमूहे शरीरे 'अहं पुरुषः' इति प्रत्ययो भवति, तावदप्रतिबुद्ध[6]त्वात् संसारः । गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्तः, यदा पुरुषवर्जं सर्वं प्रकृतिकृतं त्रिगुणमचेतनं भोग्यमिति जानाति भोक्तारमकर्तारं चेतनं च पुरुषमन्यं प्रधानादवैति अचेतनांश्च गुणान् तदा तस्य गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्तः संसारस्य । इति ज्ञानान्मोक्षो विपर्ययाद् बन्ध इत्येकेषाम् ।

इच्छाद्वेषाभ्यामपरेषाम्[10] ।४४। इच्छाद्वेषपूर्विका [11]धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिस्ताभ्यां सुखदुःखं तत इच्छाद्वेषौ । न च विमोहस्य तौ मिथ्यादर्शनाभावात् । मोहश्चाज्ञानम् । विमोहस्य यतेः षट्पदार्थतत्त्वज्ञस्य वैराग्यवतः सुखदुःखेच्छाद्वेषाभावः, इच्छाद्वेषाभावाद्धर्माधर्माभावः, तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च, स मोक्षः, तयोर्धर्माधर्मयोरभावे भवत्यपवर्गः । कथम् ? प्रदीपोपरमे प्रकाशाभाववत् । यद्धि यद्भावं प्रतीत्यात्मानं प्रतिलभते तत्तस्योपरमात्तिरोभावं याति तद्यथा प्रदीपोपरमात् प्रकाशाभावः । बन्धश्चादृष्टाद् भवति, कथम् ? अधर्मसंज्ञादृष्टादज्ञानं भवति, अज्ञानाच्च मोहः,[12] मोहवत् इच्छाद्वेषौ जायेते, इच्छाद्वेषाभ्यां धर्माधर्मौ, स [13]एष बन्धः, अतः संसारस्य प्रसूतिः । तस्माद् भवत्यदृष्टाभावे संयोगाभावः । कतरस्य संयोगस्याभावः ? जीवनसंज्ञकस्य । धर्माधर्मापेक्षः सदेहस्यात्मनो मनसा संयोगो जीवनम्,[14] तस्य धर्माधर्मयोरभावादभावोऽप्रादुर्भावश्च प्रत्यग्रशरीरस्यात्यन्तमभावः[15] स मोक्षः । कथमभावो

---

१ बन्धनिवृ –आ०, ब०, द०, ता०, मु० । २ प्रतिवा– आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ३ गमनमूर्ध्वमि– आ०, ब०, मु० । "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण । ज्ञानेन चापवर्गः विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥" –सांख्यका० ४४ । ४ सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानम् । ५–स्यावक्तव्यम– आ०, ब०, मु० । ६ बन्ध इत्येकेषां वचनमित्यत्रापि योज्यम् । ७ ज्ञानम् । ८ यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे इत्यवधौ । ९ अज्ञानात् । १० वैशेषिकाणाम् –सम्पा० । "इच्छा द्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः ।" –वैशे० सू० ६।२।१४ । द्रष्टव्यम् –प्रश० भा० पृ० १४४-४५ । ११ धर्माधर्मप्रवृ– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १२ अन्यथादर्शनम् । १३ एव मु०, आ०, ब० । १४ सञ्जायपुरुषमानससंयोगो धर्माद्यपेक्षो जीवनमिति प्रतिपादनात् । १५ –त्यन्ताभावः आ०, ब०, द० मु० ।

धर्माधर्मयोः ? अनागतानुत्पत्ति-सञ्चितनिरोधाभ्याम् । अनागतानुत्पत्तिः संचितनिरोधश्च द्विविधोऽभावः । तत्रानागतानुत्पत्तिस्तावत् धर्माधर्मयोः –शरीरेन्द्रियमनोव्यतिरिक्तात्मदर्शनाद् अकुशलस्या[1]धर्मस्यानुत्पत्तिः तत्साधनानां पारवर्जनात्, धर्मस्यापि तत्साधनानामनभिसम्बन्धात्, नानभिसंहितं कर्म बध्नातीति । संचितनिरोधोऽपि–तदुद्वेगपरिखेदफलादधर्मनाशः, तस्मात् संसारादुद्वेगः । शरीरतत्त्वावलोकनात् शीतोष्णशोकादिनिमित्तं शरीरपरिखेदं प्रदाया-धर्मोऽतिरिच्यते । भोगदोषदर्शनात् षण्णां च पदार्थानां तत्त्वविनिर्णयात् प्रीतिमारभ्य धर्मस्य विनाशः, अतो मोक्ष इत्यपरेषां दर्शनम् ।

'दुःखादिनिवृत्तिः' इत्यन्येषाम्[2] ।४५। *"**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्निःश्रेयसाधिगमः**" [न्यायसू० १।१।२] इत्यन्येषां दर्शनम् । पाठं प्रत्युत्तरं मिथ्या-ज्ञानम् । सर्वेषामुत्तरस्य तत्त्वज्ञानान्निवृत्तौ यस्तदनन्तरोऽर्थस्तस्य निवृत्तिः । कश्चासौ ? दोषः, स हि मिथ्याज्ञानादनन्तरः तत्कार्यत्वात् । स चोत्तरः [3]प्रवृत्तेः, प्रवृत्तिश्चानन्तरा तत्कार्य-त्वात्, ततो दोषाभावे प्रवृत्त्यभावः । प्रवृत्तिरप्युत्तरा जन्मनः, प्रवृत्तेरभावाज्जन्माभावः तत्कार्य-त्वात् । तथा जन्मोत्तरं दुःखात्, अतो जन्माभावाद् दुःखनिवृत्तिः । तन्निवृत्तौ [4]च आत्यन्तिकः सुखदुःखानुपभोगो निःश्रेयसमिति ।

'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' इत्यादिवचनं केषाञ्चित्[5] । ४६। अविद्या विपर्ययात्मिका, सर्व-

---

१ श्र० प्रतौ 'अधर्मस्य' इति पदम् 'अकुशलस्य' इति पदस्य टिप्पणभूतम् । २ नैयायिकानाम् । ३ धर्माधर्मरूपायाः । ४ य आ–आ०, ब०, द०, मु० । ५ बौद्धानाम् । "तत्र प्रतीत्यसमुत्पादः शालिस्तम्ब-सूत्रेऽभिहितः । तत्र आध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धनः कतमः यदिदम्– अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः यावज्जातिप्रत्ययं जरामरणमिति...।" –शिक्षासमुच्चय पृ० २१६ । "तद्यथोक्तमार्यशालिस्तम्ब-सूत्रे– एवमुक्ते मैत्रेयो बोधिसत्त्वो महासत्त्व आयुष्मन्तं शारिपुत्रमेतदवोचत् । यदुक्तं भगवता धर्मस्वामिना सर्वज्ञेन । यो भिक्षवः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति स धर्मं पश्यति । यो धर्मं पश्यति स बुद्धं पश्यति । तत्र कतमः प्रतीत्यसमुत्पादो नाम । यदिदमविद्याप्रत्ययाः संस्काराः । संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्, नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्, उपादानप्रत्ययो भवः, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्ययाः जरामरणशोकपरिदेवदुःख-दौर्मनस्यादयः ।.....तत्राविद्या कतमा एतेषामेव षण्णां धातूनां यैकसंज्ञा, पिण्डसंज्ञा, नित्यसंज्ञा, ध्रुवसंज्ञा, शाश्वतसंज्ञा, सुखसंज्ञा, आत्मसंज्ञा, सत्त्वसंज्ञा, जीवसंज्ञा, जन्तुसंज्ञा, मनुजसंज्ञा, मानवसंज्ञा, अहङ्कारमम-कारसंज्ञा, एवमादिविविधमज्ञानमियमुच्यते अविद्या । एवमविद्यायां सत्यां विषयेषु रागद्वेषमोहाः प्रवर्त्तन्ते, तत्र ये रागद्वेषमोहा विषयेषु अमी अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इत्युच्यन्ते । वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञानम् । चत्वारि महाभूतानि च उपादानानि रूपम् ऐकध्यरूपम्, विज्ञानसम्भूताश्चत्वारोऽरूपिणः स्कन्धा नाम, तन्नामरूपम् । नामरूपसन्निःसृतानि इन्द्रियाणि षडायतनम् । त्रयाणां धर्माणां सन्निपातः स्पर्शः । स्पर्शा-नुभवो वेदना । वेदनाध्यवसानं तृष्णा । तृष्णावैपुल्यमुपादानम् । उपादाननिर्जातं पुनर्भवजनकं कर्म भवः । भवहेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः । जात्यभिनिर्वृत्तानां स्कन्धानां परिपाको जरा । स्कन्धविनाशो मरण-मिति ।" –बोधिचर्या० पं० पृ० ३६८ । शिक्षासमु० पृ० २२२ । माध्यमिकका० पृ० ५६४ । मध्यान्तवि० सू० टी० पृ० ४२ । "पुनरपरं तत्त्वेऽप्रतिपत्तिः मिथ्याप्रतिपत्तिः अज्ञानम् अविद्या । एवम् अविद्यायां सत्यां त्रिविधाः संस्कारा अभिनिवर्तन्ते– पुण्योपगा अपुण्योपगा आनिञ्ज्योपगाश्च इमे उच्यन्ते अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इति । तत्र पुण्योपगानां संस्काराणां पुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, अपुण्योपगानां संस्काराणाम् अपुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, आनिञ्ज्योपगानां संस्काराणाम् आनिञ्ज्योपगमे च विज्ञानं भवति । इदमुच्यते संस्कारप्रत्ययं विज्ञानमिति । एवं नामरूपम् । नामरूपविवृद्धया षड्भिः आयतनद्वारैः कृत्यक्रिया प्रवर्त्तते, तत् नामरूपप्रत्ययं षडायतनमुच्यते.....।" –शिक्षासमु० पृ० २२३ ।

भावेष्वनित्य।[1]नात्माशुचिदुःखेषु नित्यसात्मकशुचिसुखाभिमानरूपा । [2]तत्प्रत्ययाः संस्कारा इत्यादिवचनं केषाञ्चित् । के पुनस्ते संस्काराः ? रागादयः[3] । ते च त्रिधा[4]पुण्यापुण्यानेज्य-[5] संस्काराः, यत इदमुच्यते अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः । वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञान[6]मिति । तत्र पुण्योपगानां संस्काराणां पुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, अपुण्योपगानां संस्काराणामपुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, आनेज्योपगानां संस्काराणामानेज्योपगमे च विज्ञानं भवति, यत इदमुच्यते संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम् । विज्ञानसंभूताश्चत्वारः स्कन्धा नाम, चत्वारि महाभूतानि रूपम्, नाम च [7]रूपं च नामरूपमिति । यत इदमुच्यते विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम् । नामरूपसन्निहि-तानीन्द्रियाणि षडायतनमिति । नामरूपवृद्धया षड्भिरायतनद्वारैः कृत्यं क्रिया च प्रजायते इति नामरूपप्रत्ययं षडायतनमुच्यते । त्रयाणां धर्माणां सन्निपातः स्पर्शः । केषाम् त्रयाणाम् ? विषयेन्द्रियविज्ञानानाम्, संगतिः स्पर्शः । षड्भ्य आयतनेभ्यः षट् स्पर्शकायाः प्रवर्तन्त इति षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः । स्पर्शानुभवनं[8] वेदना । यज्जातीयः स्पर्शो भवति तज्जातीया वेदना प्रवर्तत इतीदमुच्यते स्पर्शप्रत्यया वेदनेति । वेदनाध्यवसाना तृष्णा । यतस्तान् वेदनाविशेषा-नास्वादयत्यभिनन्दयत्यध्यवस्यति तृष्यति[9] सा वेदनाप्रत्यया तृष्णोच्यते । तृष्णावैपुल्यमुपादानम् । सा मे प्रिया सानुरागेति भवेन्नित्यमपरित्यागो भूयो भूयश्च प्रार्थना, तदुच्यते तृष्णाप्रत्यय-मुपादानमिति । उपाददाननिमित्तं पुनर्भवजनकं कर्म भवः, एवं प्रार्थयमानः पुनर्भवजनकं कर्म समुत्थापयति कायेन मनसा वाचा । तद्धेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः । जातिस्कन्धपरिपाको जरा । जात्यभिनिर्वृत्तानां स्कन्धानामपचयः परिपाकः, परिपाकाद्विनाशो भवति तन्मरणम् । तदेव[10]जातिप्रत्ययं जरामरणमुच्यते। [11]एवमयं द्वादशाङ्गः प्रतीत्यसमुत्पादोऽन्योन्यहेतुकः। तत्र सर्व-भावेष्वविपरीतदर्शनं विद्या । यत्सर्वभावेष्वनित्यानात्मकाशुचिदुःखेषु अनित्यानात्मकाशुचिदुःख-दर्शनं सा विद्या । ततो मोक्षः । कथम् ?अविद्याया विद्यातो निवृत्तिः, अविद्यानिवृत्तेः संस्कार-निरोधः, संस्कारनिरोधाद्विज्ञाननिरोधः, एवमुत्तरेष्वपीति । तदेवमविद्यातो बन्धो भवति विद्यातश्च मोक्ष इति ।

मिथ्यादर्शनादेरिति[12] **मतं भवताम्** ।४७। *"**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**" [त० सू० ८।१] इति भवतामार्हतानामपि मतम् । पदार्थविपरीताभिनिवेशश्रद्धानं मिथ्या-दर्शनम्, विपरीताभिनिवेशश्च मोहात् , मोहश्चाज्ञानमित्यज्ञानाद् बन्धः । अतो मिथ्यादर्शनमा-दिर्बन्धस्य । सामायिकमात्रप्रतिपत्तेश्च *"**अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः**"[ ] इति[13] वचनात्, सामायिकं च ज्ञानम्, अतः आर्हतानामपि ज्ञानान्मोक्ष इत्यविसंवादात् त्रितयमोक्ष मार्गकल्पना न युक्ता । किञ्च,

दृष्टान्तसामर्थ्याद् वणिक्स्वप्रियैकपुत्रवत् ।४८। [14]"तद्यथा वणिक् स्वप्रियैकपुत्रसदृशविग्रहं

---

१ –नित्यानात्मकाशु –आ०, ब०, मु० । २ अविद्याकारणकाः । ३ आदिशब्देन उपेक्षोपादीयते । ४ त्रिष्ठाः द०, ता०, श्र० । ५ औदासीन्य । ६ विकल्पज्ञानमित्यर्थः । ७ नाम च रूपनाम च नाम– मु० । ८ –भवने वे– श्र० । ९ –व्यतीति आ०, ब०, द०, मु० । १० तदेवं जा– आ०, ब०, द०, मु० । ११ अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं नामरूपप्रत्ययं षडायतनम् षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः स्पर्शप्रत्यया वेदना वेदनाप्रत्यया तृष्णा तृष्णाप्रत्ययमुपादानम् उपादानप्रत्ययो भवः भवप्रत्यया जातिः जातिप्रत्ययं जरामरणमिति द्वादशाङ्गं प्रतीत्यसमुत्पाद इति । १२–नादिरिति मु० । १३ "श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः" –तत्त्वार्थभा० सम्बन्धका० २७ । १४ यथा मु० ।

गजेनावमृद्यमानं बालमुपलभ्यातिदुःखाभिभवमूर्च्छया गतप्राण इवाभवत्, विनिवृत्तकायादिक्रियस्य चास्य कुशलसुहृद्भिरुपायपूर्वकं प्रत्याहितप्राणवृत्तेः स्वपुत्र एव दर्शनविषयमुपनीते 'अयं मम पुत्रः' इत्याविर्भूतं ततत्त्वज्ञानस्य स्वपुत्रसादृश्योद्भूतमिथ्याज्ञानजनितं दुःखं तदभूतपूर्वमिवाभवत् । एवमज्ञानाद् बन्धः केवलाच्च ज्ञानान्मोक्ष इति ।

न वा नान्तरीयकत्वाद् रसायनवत् ।४९। न वा एष दोषः । किं कारणम् ? नान्तरीयकत्वात्, नहि त्रितयमन्तरेण मोक्षप्राप्तिरस्ति । कथम् ? रसायनवत् । यथा न रसायनज्ञानादेव रसायनफलेन[1] अभिसंबन्धः रसायनश्रद्धानक्रियाभावात्, यदि वा रसायनज्ञानमात्रादेव रसायनफलसंबन्धः कस्यचिद् दृष्टः सोऽभिधीयताम् ? न चासावस्ति । न च रसायनक्रियामात्रादेव;[2] ज्ञानश्रद्धानाभावात् । न च [3]श्रद्धानमात्रादेव; रसायनज्ञानपूर्वक्रियासेवनाभावात् । अतो रसायनज्ञानश्रद्धानक्रियासेवनोपेतस्य तत्फलेनाभिसंबन्ध इति निःप्रतिद्वन्द्वमेतत् । तथा न मोक्षमार्गज्ञानादेव मोक्षेणाभिसंबन्धो दर्शनचारित्राभावात् । न च श्रद्धानादेव; मोक्षमार्ग[4]ज्ञानपूर्वक्रियानुष्ठानाभावात् । न च क्रियामात्रादेव; ज्ञानश्रद्धानाभावात् । यतः क्रिया ज्ञानश्रद्धानरहिता निःफलेति । यदि च ज्ञानमात्रादेव क्वचिदर्थसिद्धिर्दृष्टा साभिधीयताम् ? न चासावस्ति । अतो मोक्षमार्गत्रितयकल्पना ज्यायसीति । **'अनन्ताः सामायिकसिद्धाः'** इत्येतदपि त्रितयमेव साधयति । कथम् ? ज्ञस्वभावस्यात्मनस्तत्त्वं श्रद्दधानस्य सामायिकचारित्रोपपत्तेः । समय एकत्वमभेद इत्यनर्थान्तरम्, समय एव सामायिकं चारित्रं सर्वसावद्यनिवृत्तिरिति अभेदेन संग्रहादिति । उक्तञ्च—

*"हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया ।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः ॥१॥
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति ।
अन्धश्च पङ्गुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥२॥" [ ] इति ।

ज्ञानादेव मोक्ष इति चेत्; अनवस्थानादुपदेशाभावः ।५०। यस्य ज्ञानादेव मोक्षः तस्यानवस्थानादुपदेशाभावः । यथा प्रदीपस्य तमोनिवृत्तिहेतुत्वात् प्रदीपे सति न मुहूर्तमपि तमोऽवतिष्ठते । नह्येतदस्ति 'प्रदीपश्च नाम ज्वलति तमश्चावतिष्ठते' इति । तथा [5]'आत्मपरस्वरूपावबोधाविर्भावानन्तरमेव आप्तस्य मोक्षः स्यात् । न ह्येतद्युक्तिमत् 'ज्ञानं च नाम मोक्षस्य कारणमस्ति न च मोक्षः' इति । ततो ज्ञानानन्तरमेवाप्तस्य शरीरेन्द्रियवृत्त्यादि[6]निवृत्तेः प्रवचनोपदेशाभावः ।

संस्काराक्षयादवस्थानादुपदेश इति चेत्; न; प्रतिज्ञातविरोधात् ।५१। स्यादेतत्यावदस्य संस्कारा न क्षीयन्ते तावदवस्थानमित्युपदेश उपपन्न इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतिज्ञातविरोधात् । यद्युत्पन्नज्ञानोऽपि संस्कारक्षयापेक्षत्वादवतिष्ठते न मुच्यते, न तर्हि ज्ञानादेव मोक्षः । कुतः ? संस्कारक्षयात् । इति यत्प्रतिज्ञातम्—*"**ज्ञानेन चापवर्गः**" [सांख्यका० ४४] इति तद्विरोधः । किञ्च,

उभयथा दोषोपपत्तेः ।५२। इदमिह संप्रधार्यम्—संस्कारक्षयस्य ज्ञानं वा हेतुः स्यात्, अन्यो वेति ? यदि ज्ञानम्; ननु ज्ञानादेव संस्कारनिरोध इति प्रवचनोपदेशाभावः । अथान्यः; स कोऽन्यो भवितुमर्हति अन्यतश्चारित्रात्, इति पुनरपि प्रतिज्ञातविरोध इति । किञ्च,

---

१ आरोग्येण । २ तत्फलेनाभिसम्बन्धः एवमुत्तरत्रापि । ३ न च रसायनश्रद्धान— मु,० आ०, ब०, द० । ४ मार्गोज्ञा— मु० । ५ आत्मस्वरूपा— मु०, आ०, ब०, द०, । ६ इच्छावाक्प्रवृत्यादि ।

प्रव्रज्याद्यनुष्ठानाभावप्रसङ्गश्च ।५३। यदि ज्ञानादेव मोक्षः, ननु ज्ञान एव यत्नः कार्य्यः, शिरस्तुण्डमुण्डन-काषायाम्बरधारणादिलक्षणप्रव्रज्या-यम-नियम-भावनाद्यभावप्रसङ्गः स्यात् ।

ज्ञानवैराग्यकल्पनायामपि ।५४। किम् ? 'अवस्थानाभावादुपदेशाभावः' इत्यादि । पदार्थपरिज्ञाने सति विषयानभिष्वङ्गलक्षणे च वैराग्य आप्तस्य तत्क्षण एव मोक्षोपपत्तेः[1] । किञ्च,

नित्यानित्यैकान्तावधारणे तत्कारणासंभवः ।५५। नित्या एवार्था अनित्या एव वेत्येकान्तावधारणे तत्कारणा सम्भवः तत्कारणस्य [2]ज्ञानस्य वैराग्यस्य वाऽसंभवः । तद्यथा—

नित्यत्वैकान्ते विक्रियाभावाद् ज्ञानवैराग्याभावः ।५६। विक्रिया द्विविधा—ज्ञानादिविपरिणामलक्षणा, देशान्तरसंक्रमरूपा च । येषां नित्य एवात्मा सर्वगतश्चेति दर्शनम्, तेषामुभयथापि सा नास्ति । ततश्चतुष्टय[3]त्रयद्वयसन्निकर्षजविज्ञानाभावाद् वैराग्यपरिणामाभावाच्च पूर्वापरकालतुल्यवृत्तेरात्मन आकाशस्येव मोक्षाभावः । समवायादिति चेत्; न; तस्य प्रत्याख्यातत्वात् ।

क्षणिकैकान्तेऽप्यवस्थानाभावात् ज्ञानवैराग्यभावनाभावः ।५७। येषां मतम्—*"**क्षणिकाः सर्वसंस्काराः**" [ ] इति[4]; तेषामप्युत्पत्त्यनन्तरं[5] विनाशे सति ज्ञानादीनामवस्थानं नास्ति । नच तेभ्योऽन्यदवस्थास्तु वस्तु विद्यते । अतस्तदभावाज्ज्ञानवैराग्यभावनाभावः । तत एवोत्पत्त्यनन्तरं निरन्वयविनाशाभ्युपगमात् परस्पर[6]संश्लेषाभावे निमित्तनैमित्तिकव्यवहारापह्नवाद् 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' इत्येवमादि विरुध्यते । सन्तानादिकल्पनायां वा अन्यत्वानन्यत्वयोरनेकदोषानुषङ्गः[7] ।

विपर्ययाभावः प्रागनुपलब्धेः उपलब्धौ वा बन्धाभावः ।५८। इह लोके प्रागनुभूतस्थाणुपुरुषविशेषस्य प्रकाशाभावात् अभिभवात् करणकलमाद्वा 'विशेषानुपलब्धौ विपर्ययो दृष्टः । न चावनितलभवनसंभूतस्य प्रागप्रतीततदन्तरस्य विपर्ययप्रत्ययो भवति । नच तथा अनादौ संसारेऽनभिव्यक्तशक्तेः पुरुषस्य गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरस्ति, अतः प्रागनुपलब्धेर्नास्ति विपर्ययः । तथा सर्वभावेष्वनित्यानात्मकाशुचिदुःखेषु नित्यसात्मकशुचिसुखरूपेण विपर्ययो नास्ति, प्रागननुभूतविशेषत्वात् । यदि वा क्वचिदप्रसिद्धसामान्यविशेषस्य कस्यचिद्विपर्ययो दृष्टः सोऽभिधीयताम् ? न चोच्यते अतो विपर्ययाभावाद् बन्धाभावः । तत्र यदुक्तम्—'विपर्ययाद् बन्धः' इति तद् व्याहन्यते । अथ प्राक् तद्विशेषोपलब्धिरभ्युपगम्यते; ननु तदेव तद्धेतुकेन मोक्षेण भवितव्यमिति बन्धाभावः स्यात् । किञ्च,

प्रत्यर्थवशवर्तित्वाच्च ।५९। 'विपर्ययाभावः' इत्यनुवर्तते । येषां दर्शनं प्रत्यर्थवशवर्ति विज्ञानमिति तेषां पुरुषविषयं विज्ञानं न स्थाणुमवगृह्णाति, स्थाणुविषयं च यद्विज्ञानं न तत्पुरुषमवबुध्यते, अतः परस्परविषयसंक्रमाभावान्न संशयो न विपर्ययः, तथा सर्वेषु पदार्थे-

---

१ तर्हि सयोगकेवलिनः । २ ज्ञानवैराग्यस्यासंभ— आ०, ब०, द०, मु० । ३ आत्ममनः इन्द्रियार्थसम्प्रयोगात् घटादिज्ञानं चतुष्टयसन्निकर्षजम् । आत्ममनःसुखाद्यर्थसम्बन्धाज्जायमानं सुखादिज्ञानं त्रयसन्निकर्षजम् । आत्ममनःसम्प्रयोगाज्जायमानमात्मज्ञानं द्वयसन्निकर्षजम् —सम्पा० । ४ "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्थिराणां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥" इति पूर्णः श्लोकः सम्पा० । ५ —नन्तरवि— श्र०, ता० । ६ —रं सं—आ०, ब०, द० मु०— । ७.....प्रकल्पितम् । सन्तानिव्यतिरेकेण यतः काचिन्न सन्ततिः । व्यतिरेकेऽपि नित्यत्वं सन्तानस्य यदीष्यते । प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात् क्षणिकैकान्तवादिनाम् । क्षणिकत्वेऽपि सन्तानपक्षनिक्षिप्तदूषणम् । कृतनाशादिकं तस्य सर्वमेव प्रसज्यत इति । ८ कोटरादि ।

ष्वनेकार्थग्रहणैकविज्ञानाभावात् असति विपर्यये बन्धाभावः । तत एव पदार्थविशेषानुपलब्धेर्मोक्षाभावः । नह्येकार्थग्राहि विज्ञानं तदन्तरमवच्छिनत्ति ।

ज्ञानदर्शनयोर्युगपत्प्रवृत्तेरेकत्वमिति चेत्; न; तत्त्वावायश्रद्धानभेदात् तापप्रकाशवत् ।६०। स्यादेतद्—ज्ञानदर्शनयोरेकत्वम् । कुतः ? युगपत्प्रवृत्तेरिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्त्वावायश्रद्धानभेदात् । कथम् ? तापप्रकाशवत् । यथा तापप्रकाशयोर्युगपदात्मलाभेऽपि दाहद्योतनसामर्थ्यभेदान्नैकत्वम्, तथा ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वावायश्रद्धानभेदान्नैकत्वम् । तत्त्वस्य ह्यवगमो ज्ञानम्, श्रद्धानं दर्शनमिति ।

दृष्टविरोधाच्च[1] ।६१। यस्य मतं युगपदात्मलाभ एकत्वे हेतुरिति तस्य दृष्टविरोध आपद्यते । दृष्टं हि गोविषाणादीनां युगपदुत्पद्यमानानामपि नानात्वम् ।

उभयनयसद्भावे अन्यतरस्याश्रितत्वाद्वा रूपादिपरिणामवत् ।६२। उभयनयसद्भावे अन्यतरस्याश्रितत्वाद्वा न दोषः । कथम् ? रूपादिपरिणामवत् । यथा परमाण्वादिपुद्गलद्रव्याणां बाह्याभ्यन्तर[2]परिणामकारणापादिते युगपद् रूपादिपरिणामेऽपि न रूपादीनामेकत्वं तथा ज्ञानदर्शनयोरपि ।

अथवा, उभयनयसद्भावेऽन्यतरस्याश्रितत्वात् । यथा रूपादिपरिणामानां द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोरन्यतरगुणप्रधानभावार्पणात् स्यादेकत्वं स्यान्नानात्वम् । कथम् ? इह पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् पर्यायार्थनिर्पणात् अनादिपारिणामिकपुद्गलद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, यथा रूपपर्यायः पुद्गलद्रव्यं तथा रसादयोऽपि द्रव्यार्थादेशात् पुद्गलद्रव्यम् । तेषामेव द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् द्रव्यार्थनिर्पणात् प्रतिनियतरूपादिपर्यायार्थनार्पितानां स्यादन्यत्वम्, यतोऽन्यो रूपपर्यायः अन्ये च रसादयः । तथा ज्ञानदर्शनयोरनेन विधिना अनादिपारिणामिकचैतन्यजीव[3]द्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, यतो द्रव्यार्थादेशाद् यथा ज्ञानपर्याय आत्मद्रव्यं तथा दर्शनमपि । तयोरेव प्रतिनियतज्ञानदर्शनपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यस्मादन्यो ज्ञानपर्यायोऽन्यश्च दर्शनपर्यायः ।

ज्ञानचारित्रयोरकालभेदादेकत्वम् अगम्यावबोधवदिति चेत्; न; आशूत्पत्तौ सूक्ष्मकालाप्रतिपत्तेः उत्पलपत्रशतव्यधनवत् ।६३। स्यादेतत्—ज्ञानचारित्रयोरेकत्वम् । कस्मात् ? अकालभेदात् । कथम् ? अगम्यावबोधवत् । यथा केनचित् मोहोदयापादिताऽन्याङ्गनाभिसरणोत्सुकमतिना पुंसा मेघोदयोद्भूतबहलान्धकारायां रात्रौ वीथ्यन्तराले [4]मातृपुंश्चली 'स्वाभिलषिता' इति स्पृष्टा, तदैव विद्युता च विद्योतितम् । तेन द्योतेन 'मातेयम्' इति तस्य ज्ञानं यदोत्पन्नं तदैव अगम्यावबोधाद् अगम्यागमननिवृत्तिः, न अगम्यावबोध-अगम्यागमननिवृत्त्योः कालभेदोऽस्ति । तथा यदैव ज्ञानावरणक्षयोपशमाज्जीवेषु ज्ञानं 'जीवाः' इत्याविर्भवति, तदैव 'ते न हिंस्याः' इति जीवे हिंसाप्रत्ययस्य[5] निवृत्तिः, निवृत्तिश्च चारित्रम् । न च जीवज्ञान—हिंसानिवृत्त्योः कालभेदोऽस्तीति; तन्न; किं कारणम् ? आशूत्पत्तौ सूक्ष्मकालाप्रतिपत्तेः । तत्राप्यस्त्येव कालभेदः सौक्ष्म्यात्तु न प्रतीयते । कथम् ? उत्पलपत्रशतव्यधनवत् । यथा उत्पलपत्रशतव्यधनक्रम आसंख्येयसमयिकः सर्वज्ञप्रत्यक्षोऽतिसूक्ष्मोऽस्ति न तु विभाव्यते छद्मस्थैः, यतो यावदेकमुत्पलपत्रमासश्छित्त्वा द्वितीयं छिनत्ति तावदसंख्येयाः समया अतीता इति कालसूक्ष्मोपदेशः । तथा अन्योऽगम्यावबोधकालः, अन्यश्च निवृत्तिकालः ।

१ —रोधात् तस्य भा० १ । २ —रकार —श्र० । ३ जीवादिद्रव्या —ता० । ४ निन्द्ये पाषाणकेनेति समासः । ५ कारणस्य ।

अर्थभेदाच्च ।६४। किम् ? 'नैकत्वम्' इति वर्तते । 'ज्ञानस्य तत्त्वावबोधोऽर्थः, चारित्रस्य कर्मादानहेतुक्रियाविशेषोपरमोऽर्थः' इत्यतो नानात्वम् ।

कालभेदाभावो नार्थाभेदहेतुः गतिजात्यादिवत् ।६५। न[1]कालभेदाभावोऽर्थाभेदहेतुर्न्याय्यः । कथम् ? गतिजात्यादिवत् । यथा यदैव देवदत्तजन्म तदैव मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिशरीरवर्णगन्धादीनां जन्म, नान्यो देवदत्तजन्मकालः, अन्यश्च मनुष्यगत्यादिपर्यायजन्मकालः । न चैककालत्वात् मनुष्यगत्यादीनामेकत्वम् । यस्य पुनः कालभेदाभाव एकत्वहेतुरिष्टः तस्य मनुष्यगत्यादिपर्यायाणामेकत्वप्रसङ्गः । न चेष्यते, अतो न कालभेदाभावाज्ज्ञानचारित्रयोरेकत्वम् ।

उक्तं च ।६६। किमुक्तम् ? 'उभयनयसद्भावात् स्यादेकत्वं स्यान्नानात्वम्' इति ।

लक्षणभेदात्तेषामेकमार्गत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; परस्परसंसर्गे सत्येकत्वं प्रदीपवत् ।६७। स्यादेतत्—तेषां सम्यग्दर्शनादीनामेकमार्गत्वं नोपपद्यते । कुतः ? लक्षणभेदात् । नहि भिन्नलक्षणानामेकत्वं युज्यते । ततस्त्रयोऽमी मोक्षमार्गाः प्रसक्ता इति; तन्न; किंकारणम् ? परस्परसंसर्गे सत्येकत्वम् । कथम् ? प्रदीपवत् । यथा परस्परविलक्षणवर्तिस्नेहानलार्थानां बाह्याभ्यन्तरपरिणामकारणापादितसंयोगपर्यायाणां [2]समुदयो भवत्येकः प्रदीपो न त्रयः, तथा परस्परविलक्षणसम्यग्दर्शनादित्रयसमुदये भवत्येको मोक्षमार्गो न त्रयः । किञ्च,

सर्वेषामविसंवादात् ।६८। विलक्षणानामेकत्वावाप्तौ न प्रतिवादिनो विसंवदन्ते । [3]केचित्तावदाहुः—[4]"प्रसादलाघवशोषतापावरणसादनादिभिन्नलक्षणानां सत्त्वरजस्तमसां साम्ये प्रधानमेकम्, न तेषां त्रित्वात् प्रधानस्य त्रैविध्यमिति । [5]अपर आहुः—कक्खडतादीनां[6] चतुर्णां भूतानां भौतिकानां च वर्णादीनां विलक्षणानां समुदय एको रूपपरमाणुः, न तेषां भेदात् परमाणोरनेकत्वम् । तथा रागादीनां धर्माणां प्रमाणप्रमेयाधिगमरूपाणां च विलक्षणानां समुदय एकं विज्ञानम्, न तेषां भेदाद्विज्ञानभेद इति । [7]इतर आहुः—चित्राणां तन्तूनां समुदयश्चित्रपट एकः, न तेषां भेदात्पटस्य भेद इति । तद्वदिहापि सम्यग्दर्शनादीनां भिन्नलक्षणानां समुदय एको मोक्षमार्ग इति को विरोधः ?

एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् ।६९। एषां सम्यग्दर्शनादीनां पूर्वस्य लाभे [8]भजनीयमुत्तरं वेदितव्यम् ।

उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः ।७०। उत्तरस्य तु लाभे नियतः पूर्वलाभो द्रष्टव्यः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां पाठं प्रति पूर्वत्वमुत्तरत्वं च । पूर्वस्य सम्यग्दर्शनस्य लाभे ज्ञानमुत्तरं भजनीयम्, उत्तरज्ञानलाभे तु नियतः पूर्वसम्यग्दर्शनलाभः । तथा पूर्वज्ञानलाभे उत्तरं चारित्रं भजनीयम्, उत्तरचारित्रलाभे तु नियतः सम्यग्दर्शनज्ञानलाभः ।

तदनुपपत्तिः, अज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गात् ।७१। 'पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्' इत्येतस्याऽनुपपत्तिः । कुतः ? अज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गात् । यदि पूर्वसम्यग्दर्शनलाभे उत्तरज्ञानलाभो भजनीयः, ननु [9]ज्ञानाभावादज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गः । किञ्च ।

१ कालभेदाभावः अर्थभेद— ता० । कालभेदाभावः नार्थाभेद श्र० । २ समुदये भ—आ०, ब०, द०, मु० । ३ सांख्याः । ४ "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टवदुद्भकं चलं च रजः । गुरुवरणकमेव तमः साम्यावस्था भवेत् प्रकृतिः ॥" सांख्यका० १३ । ५ बौद्धाः । ६ काकवडता—मु० । कावखडता—आ०, ब०, द० । कर्कशतेति पाठान्तरम् । तुलना—"यत्किञ्चिद् बाह्यं कक्खटत्वं खरगतमनुपात्तम्, अयमुच्यते बाह्यः पृथिवीधातुः" —शिक्षासमु० पृ० २४५ । ७ वैशेषिकाः । ८ विकल्पनीयम् । ९ ज्ञानालाभाद —श्र० ।

अनुपलब्धस्वतत्त्वेऽर्थे श्रद्धानानुपपत्तिः अविज्ञातफलरसोपयोगवत् ।७२। यथा नाविज्ञाते फले 'तद्रसोपयोगः अमुष्य फलस्य[1] च सन्निष्पादयिता' इति श्रद्धानमस्ति, तथा नाविज्ञातेषु जीवादिषु श्रद्धानमस्तीति श्रद्धानाभावः स्यात् । किञ्च,

आत्मस्वरूपाभावप्रसङ्गात् ।७३। यदि सम्यग्दर्शनलाभे ज्ञानं[2] भजनीयत्वाद् असत, विरोधात् मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सम्यग्ज्ञानस्य चाभावाज्ज्ञानोपयोगाभाव आत्मनः प्रसक्तः । ततश्च लक्षणाभावाल्लक्ष्यस्यात्मनोऽप्यभावः स्यात्, तदभावाच्च मोक्षमार्गपरीक्षा व्यर्थेति ।

न वा; यावति ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते तावतोऽसंभवान्नयापेक्षं वचनम् ।७४। न वा एष दोषः । किं कारणम् ? यावति ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते तावतोऽसंभवान्नयापेक्षमिदं वचनम् 'भजनीयमुत्तरम्' इति । [3]क्व च ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते ? श्रुतकेवलयोः, यतः श्रुतकेवलज्ञानग्राही शब्दनयः श्रुतकेवले एवेच्छति नान्यज्ज्ञानम् अपरिपूर्णत्वादिति । [4]तदपेक्ष्य संपूर्णद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वलक्षणं श्रुतं केवलं च भजनीयमुक्तम् । तथा पूर्वसम्यग्दर्शनलाभे देशचारित्रं संयतासंयतस्य, सर्वचारित्रं[5] च प्रमत्तादारभ्य सूक्ष्मसाम्परायान्तानां यच्च यावच्च नियमादस्ति, संपूर्णं यथाख्यातचारित्रं तु भजनीयम् ।

पूर्वसम्यग्दर्शनज्ञानलाभे भजनीयमुत्तरमिति चेत्; न; निर्देशस्याऽगमकत्वात् ।७५। स्यादेतत्–नाज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गोऽस्ति । कुतः ? पूर्वसम्यग्दर्शनज्ञानलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयमित्यभिसम्बन्धादिति; तन्न; किं कारणम् ? निर्देशस्यागमकत्वात् । युक्तोऽयमर्थो न तु तस्य निर्देशो गमकः,[6] 'पूर्वस्य लाभे' इति 'पूर्वयोः' इति हि वक्तव्यं स्यात् । अथ सामान्यनिर्देशादुभयगतिः कल्प्यते; नैवं शक्यम्; व्यवस्थाविशेषस्य विवक्षितत्वात् । इतरथा हि [7]उत्तरेऽपि तथा प्रक्लृप्तौ तद्दोषाननिवृत्तिः स्यात् । तस्मात्पूर्वोक्त एवार्थो नयापेक्षं वचनमिति । अथवा, क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य [8]लाभे क्षायिकं सम्यग्ज्ञानं भजनीयम् । अथवा, युगपदात्मलाभे साहचर्यादुभयोरपि पूर्वत्वम्, यथा साहचर्यात् पर्वतनारदयोः, पर्वतग्रहणेन नारदस्य ग्रहणं नारदग्रहणेन वा पर्वतस्य[9] तथा सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य [10]वा अन्यतरस्यात्मलाभे चरित्रमुत्तरं भजनीयम् ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके [11]व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥२॥

---

१ आरोग्यलक्षणस्य । –स्य रसं संपादयतेति आ०, ब०, द०, मु० । २ ज्ञानं भजनीयत्वादसिद्धिरो–द० । ज्ञानस्य भजनीयत्वादसिद्धिरो –श्र० । ३ क्वचन ज्ञा–आ०, ब०, द०, मु० । ४ तदपेक्ष आ०, ब०, द०, मु० । तदपेक्ष्यं श्र०, ता० । ५ –त्रं प्र–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ ज्ञापकः । ७ उत्तरे हि तथा श्र० । उत्तरमित्यस्मिन् सामान्यकल्पनायां सत्याम् । ८ –र्शनलाभे आ०, ब०, ता०, द०, मु० । ९ –स्य ग्रहणं तथा आ०, ब०, ता०, द० । १० –स्यान्य– आ०, ब०, ता०, द०, मु०, श्र० । ११ –कव्या–आ०, द०, ज०, मु० ।

अमीषां मोक्षकारणसामान्ये सत्यविशिष्टानां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमाह––

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

सम्यगिति कोऽयं शब्दः ?

सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः क्वचन्तो वा ।१। सम्यगित्ययं निपातः प्रशंसार्थो वेदितव्यः सर्वेषां प्रशस्तरूपगतिजातिकुलायुर्विज्ञानादीनाम् आभ्युदयिकानां मोक्षस्य च प्रधानकारणत्वात् । प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । ननु च *"**सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः**" [ ]इति वचनात् प्रशंसार्थाभाव इति; तन्न; अनेकार्थत्वान्निपातानाम् । अथवा, सम्यगिति तत्त्वार्थो निपातः, तत्त्वं दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । अविपरीतार्थविषयं तत्त्वमित्युच्यते । अथवा, क्वचन्तोऽयं शब्दः, समञ्चतीति सम्यक् । यथा[1]ऽर्थोऽवस्थितस्तथैवावगच्छतीत्यर्थः । अथ किमिदं दर्शनमिति ?

करणादिसाधनो दर्शनशब्दः उक्तः ।२। दृशेः करणादिसाधने युटि दर्शनशब्दो व्याख्यातः ।

दृशेरालोकार्थत्वादभिप्रेतार्थासंप्रत्यय इति चेत्; न; अनेकार्थत्वात् ।३। स्यादेतत्–दृशिरयमालोकार्थे वर्त्तते । आलोकश्चेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिः, नचासाविहाभिप्रेतः श्रद्धानमिष्टम्, न तस्यार्थस्य [2]संप्रत्ययोऽस्तीति । तन्न; किं कारणम् ? अनेकार्थत्वात्, इह श्रद्धानमिष्टमभिसंबध्यते । कथं पुनर्ज्ञायते आलोक इह नेष्टः श्रद्धानमिष्टमिति[3] ? अत उत्तरं पठति–

मोक्षकारणप्रकरणाच्छ्रद्धानगतिः ।४। मोक्षकारणं प्रकृतम् । तत्त्वार्थविषयं श्रद्धानं मोक्षस्य कारणं नालोक [4]इत्यतः प्रकरणाच्छ्रद्धा[5]नस्यार्थस्य गतिर्भवति ।

अथ तत्त्वमित्यनेन किं प्रत्याय्यते ?

प्रकृत्यपेक्षत्वात् प्रत्ययस्य [6]भावसामान्यसंप्रत्ययः तत्त्ववचनात् ।५। तदित्येषा प्रकृतिः सामान्याभिधायिनी सर्वनामत्वात् । प्रत्ययश्च भावे उत्पद्यते । कस्य भावे ? तदित्यनेन योऽर्थ उच्यते । कश्चासौ ? सर्वोऽर्थः । अतस्तदपेक्षत्वाद्भावस्य भावसामान्यमुच्यते तत्त्वशब्देन । योऽर्थो यथा अवस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः ।

तत्त्वेनार्यत इति तत्त्वार्थः ।६। अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थः, तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः । येन भावेनार्थो व्यवस्थितस्तेन भावेनार्थस्य ग्रहणं यत्सन्निधानाद्भवति[7] तत्सम्यग्दर्शनम् ।

श्रद्धानशब्दस्य करणादिसाधनत्वं पूर्ववत् ।७। यथा दर्शनशब्दस्य करणादिसाधनत्वं व्याख्यातं तथा श्रद्धानशब्दस्यापि वेदितव्यम् ।

स त्वात्मपरिणामः ।८। स तु [8]श्रद्धानशब्दवाच्योऽर्थः करणादिव्यपदेशभाग् आत्मपरिणामो वेदितव्यः ।

वक्ष्यमाणनिर्देशादिसूत्रविवरणात् पुद्गलद्रव्यसंप्रत्यय इति चेत्; न; आत्मपरिणामेऽपि[9] तदुपपत्तेः ।९। स्यादेतत्–वक्ष्यमाणनिर्देशादिसूत्रविवरणात् पुद्गलद्रव्यस्य संप्रत्ययः प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम् ? आत्मपरिणामेऽपि तदुपपत्तेः । किं तत्त्वार्थश्रद्धानम् ? आत्मपरिणामः । कस्य ? आत्मन इत्येवमादि ।

---

१ अर्थो व्यव–मु०, आ०, ब०, द० । २ निश्चयः । ३ –ष्ट इति ता०, श्र०, । ४ इत्यर्थः ता०, श्र० । ५ –नगतिर्भ–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ सत्तासामान्यनिश्चयः । ७ आत्मनः । ८ श्रद्धानवा–ता० । ९ –मे तदु –श्र० ।

कर्माभिधायित्वेप्यदोष इति चेत्; न; मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विवक्षितत्वात् ।१०। स्यादेतत्–सम्यक्त्वकर्मपुद्गलाभिधायित्वेप्यदोष इति; तन्न; किं कारणम् ? मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विवक्षितत्वात् । औपशमिकादिसम्यग्दर्शनमात्मपरिणामत्वात् मोक्षकारणत्वेन विवक्ष्यते न च सम्यक्त्वकर्मपर्यायः, पौद्गलिकत्वेऽस्य परपर्यायत्वात् ।

स्वपरनिमित्तत्वादुत्पादस्येति चेत्; न; उपकरणमात्रत्वात् ।११। स्यादेतत्–स्वपरनिमित्त उत्पादो दृष्टो यथा घटस्योत्पादो मृन्निमित्तो दण्डादिनिमित्तश्च, तथा सम्यग्दर्शनोत्पाद आत्मनिमित्तः सम्यक्त्वपुद्गलनिमित्तश्च, तस्मात्तस्यापि मोक्षकारणत्वमुपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? उपकरणमात्रत्वात् । उपकरणमात्रं हि बाह्यसाधनम् । किञ्च,

आत्मपरिणामादेव तद्प्रसङ्घातात् ।१२। यदिदं दर्शनमोहाख्यं कर्म तदात्मगुणघाति, कुतश्चिदात्मपरिणामादेवोपक्षीणशक्तिकं सम्यक्त्वाख्यां लभते । अतो न तदात्मपरिणामस्य प्रधानं कारणम्, आत्मैव स्वशक्त्या दर्शनपर्यायेणोत्पद्यत इति तस्यैव मोक्षकारणत्वं युक्तम् । किञ्च,

अहेयत्वात् स्वधर्मस्य ।१३। न हीयते न परित्यज्यत इत्यहेयोऽयमाभ्यन्तर आत्मनः सम्यक्त्वपरिणामः, यतः सत्याभ्यन्तरे आत्मनः सम्यक्त्वपरिणामे नियमेनात्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति । बाह्यस्तु हेयः कर्मपुद्गलः, तमन्तरेणापि क्षायिकसम्यक्त्वपरिणामात् । किञ्च,

प्रधानत्वात् ।१४। आभ्यन्तर आत्मीयः सम्यग्दर्शनपरिणामः प्रधानम्, सति तस्मिन् बाह्यस्योपग्राहकत्वात् । अतो बाह्य आभ्यन्तरस्योपग्राहकः [2]पारार्थ्येन वर्तत इत्यप्रधानम् । किञ्च,

प्रत्यासत्तेः ।१५। प्रत्यासन्नं हि कारणमात्मपरिणामो मोक्षस्य तादात्म्येनाविर्भावात्, नतु सम्यक्त्वं कर्म, विप्रकृष्टान्तरत्वात् तादात्म्ये[3]नाऽपरिणामाच्च । तस्मात् अहेयत्वात् प्रधानत्वात् प्रत्यासत्तेश्च मोक्षस्य कारणमात्मपरिणामो युक्तो न कर्मेति ।

अल्पबहुत्वकल्पनाविरोध इति चेत्; न; उपशमाद्यपेक्षस्य सम्यग्दर्शनत्रयस्यैव तदुपपत्तेः ।१६। स्यादेतत्–सम्यग्दर्शनस्यात्मपरिणामत्वे अल्पबहुत्वकल्पनाविरोध इति; तन्न; किं कारणम् ? उपशमाद्यपेक्षस्य सम्यग्दर्शनत्रयस्यैव तदुपपत्तेः । सर्वेषु[4] स्तोका उपशमसम्यग्दृष्टयः । ससारिणः क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । सिद्धाः क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणा इति । तस्मात् सम्यग्दर्शनमात्मपरिणामं श्रेयोऽभिमुखमध्यवस्यामः ।

तत्त्वाग्रहणम्, अर्थश्रद्धानमित्यस्तु लघुत्वात् ।१७। कश्चिदाह–तत्त्वग्रहणमनर्थकम्, अर्थश्रद्धानमित्येवास्तु । कुतः ? लघुत्वादिति ।

नः सर्वार्थप्रसङ्गात् ।१८। नैतद्युक्तम्; कुतः? सर्वार्थप्रसङ्गात् । तत्त्वग्रहणादृते मिथ्यावादिप्रणीतेषु सर्वार्थेषु श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति ।

सन्देहाच्च, अर्थशब्दस्याऽनेकार्थत्वात् ।१९। अर्थशब्दोऽर्थमनेकार्थः–क्वचिद् द्रव्यगुणकर्मसु वर्तते *"**अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु**" [वैशे० ७।२।३] इति वचनात् । क्वचित् प्रयोजने वर्तते 'किमर्थमिहागमनं भवतः ?' किं प्रयोजनमिति । क्वचिद्धने वर्तते अर्थवानयं देवदत्तः

१ –देवापक्षीण–आ०, ब०, द०, मु० । २ परेऽर्थे–मु०,आ०, ब०, द० । परोऽर्थे भा० २ । ३ –स्येनैवापरि–आ०, ब०, द०, मु० । ४ तदुक्तम्–संखावलिहिदपल्ला खइया तत्तो य वेदगुवसमया । आवलि-असंखगुणिदा असंखगुणहीणया कमसो । (गो० जी०, गा० ६५७) इति ।

धनवानिति । क्वचिदभिधेये वर्तते शब्दार्थसंबन्ध इति । एवमर्थशब्दस्यानेकार्थाभिधायित्वे सन्देहः–'कस्यार्थस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इति ?

सर्वानुग्रहाददोष इति चेत्; न; असदर्थविषयत्वात् ।२०। स्यादेतत्–नायं दोषः सर्वार्थप्रसङ्ग इति, अस्तु सर्वार्थविषयं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, तथा सति सर्वानुग्रहः कृतो भवति । कश्चेदानीं भवतो मत्सरः सर्वो लोकोऽभ्युदये न युज्यतामिति ? तन्न; किंकारणम् ? असदर्थविषयत्वात् । न खलु कश्चिन्नो मत्सरः । असदर्थविषयं हि तच्छ्रद्धानं संसारकारणमिति । अतः सर्वानुग्रहार्थमेव तत्त्वेन विशिष्यते ।

अर्थग्रहणादेव तत्सिद्धिरिति चेत्; न; विपरीतग्रहणदर्शनात् ।२१। स्यादेतत्–अर्यत इत्यर्थो निश्चीयत इत्यर्थः । न च मिथ्यावादिप्रणीता अर्थाः;[1]असत्त्वात् । तस्मादर्थग्रहणादेव तत्त्वसंप्रत्ययात् नार्थस्तत्त्वग्रहणेनेति; तन्त्र; किं कारणम् ? विपरीतग्रहणदर्शनात् । यथा पित्तोदयाकुलितकरणः पुमान् मधुररसं कटुकं मन्यते, तथात्मा मिथ्याकर्मोदयदोषाद् अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वाऽनित्यत्वाऽन्यत्वाऽनन्यत्वाद्येकान्तरूपेण मिथ्या अध्यवस्यति । अतः तन्निराकरणार्थं तत्त्वग्रहणमिति

अर्थग्रहणं किमर्थम् ? ननु [2]'तत्त्वान्येवार्थः' इत्यर्थानां तत्त्वसामानाधिकरण्यात् तत्त्ववचनेनैव संप्रत्ययः सिद्धः ? उच्यते––

अर्थग्रहणमव्यभिचारार्थम् ।२२। अर्थं ग्रहणं क्रियते अव्यभिचारार्थम् ।

तत्त्वमिति श्रद्धानमिति चेत्; एकान्तनिश्चितेऽपि प्रसङ्गः ।२३। यदि 'तत्त्वमिति श्रद्धानं तत्त्वश्रद्धानम्' इत्युच्यते; एकान्तनिश्चितेऽपि प्राप्नोति । एकान्तवादिनोऽपि हि 'नास्त्यात्मा' इत्येवामादि 'तत्त्वम्' इति श्रद्दधति ।

तत्त्वस्य श्रद्धानमिति चेत्; भावमात्रप्रसङ्गः ।२४। यदि 'तत्त्वस्य श्रद्धानं तत्त्वश्रद्धानम्' इत्युच्यते; भावमात्रप्रसङ्गः स्यात् । तत्त्वं भावः सामान्यमिति केचित्[3] कथयन्ति । द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिसामान्यं द्रव्यादिभ्योऽर्थान्तरम्, तस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति । न हि द्रव्यादिभ्योऽन्यत् सामान्यं युक्तिमदिति परीक्षितमेतत्[4] ।

अथवा, तत्त्वमेकत्वमित्यर्थः *"**पुरुष एवेदं सर्वम्**"[ऋग्० ८।४।१७] इत्यादि, तस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति । नचादो युक्तम्, [5]क्रियाकारकभेदलोपप्रसङ्गादिति ।

तत्त्वेन श्रद्धानमिति चेत्; कस्य [6]कस्मिन्वेति प्रश्ननिवृत्तिः ।२५। यदि 'तत्त्वेन श्रद्धानम्' इत्युच्यते; कस्य कस्मिन्वेति प्रश्नो न विनिवर्तते । तस्मात् सूक्तम्–'अर्थग्रहणमव्यभिचारार्थम्' इति ।

[7]इच्छाश्रद्धानमित्यपरे ।२६। इच्छा श्रद्धानमित्यपरे वर्णयन्ति ।

तदयुक्तम्, मिथ्यादृष्टेरपि प्रसङ्गात् ।२७। यतो मिथ्यादृष्टयो बाहुश्रुत्यप्रचिख्यापः

१ अतत्त्वात् आ०, ब०, मु० । २ भावेन भाववतोऽभिधानं तदव्यतिरेकादिति मत्वा भावस्तत्त्वं भाववानर्थः । ३ वैशेषिकाः । ४ 'अर्थान्तरात्संप्रत्ययः' इत्यादि प्राक् प्रबन्धेन । ५ तथा चोक्तं स्वामिना–अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते । कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ।। (आप्तमी० २।१) इति । ६ कस्मिन्निति श्र० । ७ इच्छाश्रद्धानमित्यपरे वर्णयन्ति आ०, ब०, मु०, द० ।

यिषया अर्हन्मतविजिगीषया वा[1]अर्हन्मतमधीयन्ते । नचेच्छामन्तरेण अध्ययनमस्ति, अतस्तेषामपि सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति । इत्ययुक्तमुक्तम्–'इच्छा श्रद्धानम्' इति ।

केवलिनि सम्यक्त्वाभावप्रसङ्गाच्च ।२८। यदि च, इच्छा सम्यक्त्वम्, इच्छा च लोभपर्यायः, न च क्षीणमोहे केवलिनि लोभोऽस्ति, तदभावादिच्छाभाव इति सम्यक्त्वाभावः स्यात् । तस्मात् यद्भावात् यथाभूतमर्थं गृह्णात्यात्मा तत् सम्यग्दर्शनमिति प्रत्येतव्यम् ।

तद् द्विविधं सरागवीतरागविकल्पात् ।२९। एतत्सम्यग्दर्शनं द्विविधम् । कुतः ? सराग-[2]वीतरागविकल्पात् ।

प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणं प्रथमम् ।३०। रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः । संसाराद्भीरुता संवेगः । सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा । जीवादयोऽर्था [3]यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम् । एतैरभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं सरागसम्यक्त्वमित्युच्यते ।

[4]आत्मविशुद्धिमात्रमितरत् ।३१। सप्तानां कर्मप्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते[5]। अत्र पूर्वं साधनं भवति, उत्तरं साधनं साध्यं च ।

अथैतत्सम्यग्दर्शनं जीवादिपदार्थविषयं कथमुत्पद्यत इति ? अत आह––

तन्निसर्गादधिगमाद् वा ॥३॥

निसर्ग इति कोऽयं शब्दः ? निपूर्वात् सृजेर्भावसाधनो घञ्, निसर्जनं निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः । अथाधिगम इति कः? अधिपूर्वाद् गमेर्भावसाधनोऽच्, अधिगमनमधिगमः । तयोर्हेतुत्वेन निर्देशो निसर्गादधिगमादिति[6] । [7]कस्याः ? क्रियायाः । का च क्रिया ? 'उत्पद्यते' इत्यध्याह्रियते, सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम् । तदेतत्सम्यग्दर्शनं निसर्गादधिगमाद्वा उत्पद्यत इति ।

कश्चिदाह–

सम्यग्दर्शनद्वैविध्यकल्पनानुपपत्तिः; अनुपलब्धतत्त्वस्य श्रद्धानाभावात् रसायनवत् ।१। द्विविधं सम्यग्दर्शनमिति कल्पना नोपपद्यते । कुतः ? अनुपलब्धतत्त्वस्य श्रद्धानाभावात्, कथम् ? रसायनवत् । यथा अत्यन्तपरोक्षरसायनत[8]स्वफलस्य[9] न रसायने श्रद्धानं दृष्टम्, तथा अनधिगतजीवादितत्त्वस्य न तत्र श्रद्धानमिति नैसर्गिकसम्यग्दर्शनाभावः ।

[10]शूद्रवेदभक्तिवदिति चेत्; नः वैषम्यात् ।२। स्यादेतत्–यथा शूद्रस्याऽनधिगतवेदार्थस्य वेदार्थे [11]आत्यन्तिकी भक्तिः,तथाऽनुपलब्धजीवादितत्त्वस्य श्रद्धानमिति; तन्न; किं कारणम् ? वैषम्यात् । युज्यते शूद्रस्य भारतादिश्रवणात् तज्ज्ञवचनानुवृत्त्यादिभिश्च वेदार्थभक्तिः, नासौ नैसर्गिकी । इह तु नैसर्गिकी रुचिरिष्टेति वैषम्यम् । अथवा, सम्यक्त्वाधिकारात् जीवादिपदार्थतत्त्वोपलब्धिपूर्वकेण सम्यग्दर्शनेन मोक्षकारणेनेह भवितव्यम्, न च शूद्रस्य तादृशं श्रद्धानमिति वैषम्यम् ।

---

१ आर्हतमतमभिधीयते–आ०, ब०, द०, मु० । आर्हतमधीयन्ते ता० । २ –विराग –श्र० । ३ यथास्वभावैः आ०, ब०, मु० । ४ आत्मश्च –श्र० । ५ –ते पू–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ हेतुः । ७ कस्य क्रि–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ स्वरूप । ९ आरोग्य । १० अत्राचार्याभिप्रायानभिज्ञः कश्चिज्जैनाभासः तं प्रत्युत्तरं ददाति, तमप्याचार्यः प्रतिषेधयति । ११ आत्यन्तिकभ- आ०, ब०, द०, मु० ।

मणिग्रहणवदिति चेत्; न; [1]प्रत्यक्षोपलब्धिसद्भावात् ।३। स्यादेतत्–यथा अनधिगतमणिविशेषस्यापि पुंसो मणिग्रहणं भवति तस्य च फलं दृष्टम्, तथा अनधिगतजीवादितत्त्वस्यापि तत्त्वग्रहणं भवति तस्य च फलं [2]भवतीति तन्नैसर्गिकं दर्शनमिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रत्यक्षोपलब्धिसद्भावात् । नात्यन्तपरोक्षं मणिं गृह्णाति किन्तु प्रत्यक्षत उपलभ्य गृह्णाति । [3]वीर्यविशेषं तु न प्रतिपद्यते, अतोऽस्य अनुपलब्धमणिविशेषस्यापि प्रत्यक्षदर्शनाद् ग्रहणं न्याय्यम् । अत्यन्तपरोक्षे तु जीवादितत्त्वे कथमस्य निसर्गजसम्यग्दर्शनसिद्धिः ? सामान्याधिगमे तु अधिगमसम्यग्दर्शनमेवेति ।

तापप्रकाशवत् युगपदुत्पत्तेरभ्युपगमाच्च ।४। किम् ? 'निसर्गजसम्यग्दर्शनाभावः' [4]इत्यनुवर्तते । यदा अस्य सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते तदैव प्राक्तनं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं च [5]सम्यक्त्वेन परणमतीत्यधिगमजमेव तद्भवति । यस्य ज्ञानात् प्राग् दर्शनं स्यात् तस्य नैसर्गिकं स्यात् । तच्चाऽनिष्टमिति । उच्यते––

उभयत्र तुल्ये अन्तरङ्गहेतौ बाह्योपदेशापेक्षाऽनपेक्षभेदाद् भेदः ।५। उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरङ्गो हेतुस्तुल्यः दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा, तस्मिन् सति यद् बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्, यत् परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं तदुत्तरम्, इत्यनयोरयं भेदः ।

अपरोपदेशपूर्वके निसर्गाभिप्रायो लोकवत् ।६। यथा लोके हरिशार्दूलवृकभुजगादयो निसर्गतः [6]क्रौर्यशौर्याहारादिसंप्रतिपत्तौ वर्तन्त इत्युच्यन्ते । नचासावाकस्मिकी कर्मनिमित्तत्वात् । अनाकस्मिक्यपि सती नैसर्गिकी भवति, परोपदेशाभावात् । तथेहाप्यपरोपदेशपूर्वके निसर्गाभिप्रायः । अपर आह––

भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः ।७। यदि अवधृतमोक्षकालात् प्रागधिगमसम्यक्त्वबलात् मोक्षः स्यात् स्यादधिगमसम्यग्दर्शनस्य साफल्यम् । न चादोऽस्ति । अतः कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ, स निसर्गजसम्यक्त्वादेव सिद्ध इति ।

न, विवक्षितापरिज्ञानात् ।८। नैतद्युक्तम् । कुतः ? विवक्षिताऽपरिज्ञानात् । सम्यग्दर्शनादित्रयान्मोक्ष उक्तः । तत्र यत्प्रथमं[7] तत् 'कुत उत्पद्यते' इत्युक्ते 'निसर्गादधिगमाद्वा' इत्ययमर्थोऽत्र विवक्षितः । यदि सम्यग्दर्शनादेव[8] केवलान्निसर्गजादधिगमजाद्वा ज्ञानचारित्ररहितान्मोक्ष इष्टः स्यात्, तत इदं युक्तं स्यात्–'भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः' इति । नचायमर्थोऽत्र विवक्षितः ।

अथवा, यथा कुरुक्षेत्रे क्वचित् कनकं बाह्यपौरुषेयप्रयत्नाभावात् जायते,[10] तथा बाह्यपुरुषोपदेशपूर्वकजीवाद्यधिगममन्तरेण यज्जायते तन्निसर्गजम् । यथा कनकाश्मः[11] विध्युपायज्ञपुरुषप्रयोगापेक्षः[12] कनकभावमापद्यते,तथा यत् सम्यग्दर्शनं[13]विध्युपायज्ञमनुष्यसंपर्काज्जीवादिपदार्थतत्त्वाधिगमापेक्षमुत्पद्यते तदधिगम[14]सम्यग्दर्शनम् इत्ययमर्थो विवक्षितः, नचान्यतरस्याभाव इति । अतो विवक्षितापरिज्ञानात् न सम्यगुक्तम्–'अधिगमाभावः' इति ।

---

१ प्रत्यक्षेणोप –आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ भवति त –श्र० । ३ विपर्ययविशे –आ०, ब०, द०, ु०। ४ इति वर्तते श्र० । ५ समीचीनत्वेन । ६ –त्र दर्श–आ०, ब०, द०, ु०, ता० । ७ क्रौर्यशौर्याशौर्याहारा–आ०, ब०, द०, मु० । ८ सम्यग्दर्शनम् । ९ निसर्गादधिगमाद्वा ता०, श्र०, मू० । १० ज्ञायते मू०, ता० । ११ –श्मवि–आ०, द०, मु० । १२ –क्षक–आ०, द०, मु० । १३–नवि आ०, ब०, द०, मु० । –नविशुद्धचुपा–ता० । १४ –गमजल–आ०, ब०, मु० ।

कालानियमाच्च निर्जरायाः ।९। यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति । केचिद् भव्याः संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति । ततश्च न युक्तम्–'भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः' इति ।

चोदनानुपपत्तेश्च ।१०। सर्वस्येयं चोदना नोपपद्यते । ज्ञानात् क्रियाया द्वयात् त्रितयाच्च मोक्षमाचक्षाणस्य सर्वस्य नेदं युक्तम्–'भव्यस्य कालेन मोक्षः' इति । यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात्, बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात् ।

तदित्यनन्तरनिर्देशार्थम् ।११। 'तत्' इत्येतदनन्तरस्य सम्यग्दर्शनस्य निर्देशार्थं क्रियते । ननु तत्प्रकृतम्, अन्तरेणापि तद्वचनं सिद्धम्;

इतरथा हि मार्गसम्बन्धप्रसङ्गः ।१२। अक्रियमाणे हि तद्वचने मोक्षमार्गोऽपि प्रकृतः तेनाभिसंबन्धः प्रसज्येत । ततो निसर्गमात्रेणापि मोक्षमार्गलाभ उक्तः स्यात् । बाहुश्रुत्यप्रचिख्यापयिषया च मोक्षमार्गाधिगममात्रादेव मिथ्यादृष्टीनामपि मोक्षः स्यात् । [1]ननु च *"**अनन्तरस्य वा विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा**" [पा० म० १।२।४७] इत्यनन्तरत्वात् सम्यग्दर्शनेनैव संबन्धो न्याय्यः । [2][इति चेत्; न;] *"**प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः**" [ ] इति मार्ग एव संबध्येत । तस्मात्तद्वचनं क्रियते विस्पष्टार्थम् ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये तृतीयमाह्निकं[3] समाप्तम् ॥३॥

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम् । अथ 'किं तत्त्वम्' इति ? अत इदमाह–

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

किमर्थमेषामुपादानम् ? ननु द्रव्यमित्येव[4] वक्तव्यं तद्भेदा हि सर्वे[5] पदार्था भवन्तीति ? अत[6] उत्तरं पठति–

एकाद्यनन्तविकल्पोपपत्तौ विनेयाशयवशान्मध्यमाभिधानम् ।१। एको द्वौ त्रयः संख्येया असंख्येया अनन्ता इति पदार्था भिद्यन्ते । तत्रैकः पदार्थो भवति, [7]*"**एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्**" [ ]इति वचनात् । द्वौ पदार्थौ, जीवाजीवभेदात् । त्रयः पदार्था [8]अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात् । एवमुत्तरे[9] च [10]वचनविकल्पापेक्षया असंख्येया ज्ञानज्ञेयविकल्पापेक्षया असंख्येया अनन्ताश्च भवन्ति । तत्र विनेयाशयवशात् पदार्थनिरूपणाभेद इति मध्यमेन क्रमेणाभिधानं कृतम् । अतिसंक्षेपे सुमेधसामेव प्रतिपत्तिः स्याद् अतिप्रपञ्चे [11]चाचिरेण संप्रतिपत्तिर्न स्यादिति । कश्चिदाह–

---

१ तर्हि । २ इति चेन्न । ३ कं । ता०, आ०, ब०, द०, मु० । ४ –त्येवंव–ता०, द० । ५ अस्मिन् । ६ सत्ता सकलपदार्था सविश्वरूपा ह्यनन्तपर्याया । स्थितिभङ्गोदयसहिता सप्रतिपक्षा भवेदेका । (पंचा० गा० ८) । ७ बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचकाः । तुल्या बोधादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ॥ (आप्तमी० श्लोक ८५) इति स्वामिभिः प्रोक्तम् । ८ –रे व–ता० । ९ शब्द । १० चातिचिरेण आ०, ब०, द०, मु० ।

जीवाजीवयोरन्यतरत्रैवान्तर्भावाद् आस्रवादीनामनुपदेशः ।२। आस्रवो हि जीवो वा स्यात्, अजीवो वा ? यदि जीवः; [1]जीवेऽन्तर्भाव इति । अथाऽजीवः; अजीवे । एवं संवरादयोऽपि । तस्मादेषामनुपदेशः–अनर्थक उपदेशोऽनुपदेशः ।

न वा; परस्परोपश्लेषे संसारप्रवृत्तितदुपरमप्रधानकारणप्रतिपादनार्थत्वात् ।३। न वाऽनर्थक उपदेशः । कुतः ? जीवाजीवयोः परस्परोपश्लेषे सति संसारप्रवृत्तितदुपरमप्रधानकारणप्रतिपादनार्थत्वात् । इह मोक्षमार्गः प्रकृतः, तस्य फलमवश्यं मोक्षो निर्देष्टव्यः । 'स कस्य'इति जीव उपात्तः । स च संसारपूर्वकः । स च सत्यजीवे जीवस्य भवति, इत्यजीव उपात्तः । तयोश्च परस्परोपश्लेषः संसारः । तत्प्रधानहेतू आस्रवो बन्धश्चेत्युपात्तौ । तदुपरमस्य मोक्षस्य प्रधानहेतू संवरनिर्जरे इत्युपादानं तयोः । एवमेषां [2]निर्ज्ञानं सति [3]प्राप्तव्यमोक्षस्य निर्ज्ञानं भवतीति । दृश्यते सामान्ये अन्तर्भूतस्यापि विशेषस्य पृथगुपादानं प्रयोजनार्थम्, क्षत्रिया आयाताः सूरवर्माऽपीति ।

उभयथापि [4]चोदनानुपपत्तिः ।४। यो जीवाजीवयोरन्तर्भावात् आस्रवादीनामनुपदेशं चोदयति, तस्योभयथापि चोदना नोपपद्यते । कथम् ? आस्रवादीनि जीवाजीवाभ्यां पृथगुपलभ्य वा चोदयेत्, अनुपलभ्य वा ? यदि पृथगुपलभ्य; अत एव ततोऽर्थान्तरत्वं सिद्धम् । [5]अथाऽनुपलभ्य; अनुपलम्भादेव चोदनाभावः । किञ्च, जीवाजीवाभ्यां पृथक्सिद्धान् वा चोदयेत्, असिद्धान् वा ? यदि सिद्धांश्चोदयेत्; अत एवाऽर्थान्तरभावः । अथाऽसिद्धांश्चोदयति; कथमत्रान्तर्भावश्चोद्यते ? न हि खरविषाणादीनामन्तर्भावश्चोदनार्हः ।

अनेकान्ताच्च ।५। 'चोदनानुपपत्तिः' इति वर्तते । कथम् ? द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्गुणप्रधानभावेन अर्पणानर्पण[6]भेदात् जीवाजीवयोरास्रवादीनां स्यादन्तर्भावः स्यादनन्तर्भावः । पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थानर्पणात् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादिद्रव्यार्थार्पणाद् आस्रवादीनां स्याज्जीवेऽजीवे वान्तर्भावः । तथा द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थार्पणाद् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादिद्रव्यार्थाऽनर्पणाद् आस्रवादीनां जीवाजीवयोः स्यादनन्तर्भावः । [7]तदपेक्षया स्यादुपदेशोऽर्थवान् ।

तेषां निर्वचनलक्षणक्रमहेत्वभिधानम् ।६। तेषां जीवादीनां पृथगुपदेशे प्रयोजनमुक्तम् । इदानीं निर्वचनलक्षणक्रमहेत्वभिधानं कर्तव्यम् । तदुच्यते–

त्रिकालविषयजीवनानुभवनात् जीवः ।७। दशसु प्राणेषु यथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् 'जीवति, अजीवीत्, जीविष्यति' इति वा जीवः । तथा सति सिद्धानामपि जीवत्वं सिद्धं जीवितपूर्वत्वात् । संप्रति न जीवन्ति सिद्धाः, भूतपूर्वगत्या जीवत्वमेषाम् इत्यौपचारिकत्वं स्यात्, मुख्यं चेष्यते; नैष दोषः; भावप्राणज्ञानदर्शनानुभवनात् सांप्रतिकमपि जीवत्वमस्ति । अथवा रूढिशब्दोऽयम् । रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थेवेति कादाचित्कं जीवनमपेक्ष्य सर्वदा वर्तते गोशब्दवत् ।

तद्विपर्ययोऽजीवः ।८। यस्य जीवनमुक्तलक्षणं नास्त्यसौ तद्विपर्ययाद् अजीव इत्युच्यते ।

---

१ जीवेऽन्तर्भवति आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ विज्ञाने ता० । ३ प्राप्यस्य मो– आ०, ब०, द०, ज०, मु०, ता० । ४ प्रश्नानुपपत्तिः । ५ अथवाऽनुप –श्र० । ६ –र्पणाभे–मु०, ब० । ७ पर्यायापेक्षया ।

आस्रवत्यनेन आस्रवणमात्रं वा आस्रवः ।९। येन कर्मास्रवति यद्वा आस्रवणमात्रं वा स आस्रवः ।

[2]बध्यतेऽनेन [3]बन्धनमात्रं वा बन्धः ।१०। बध्यते येन अस्वतन्त्रीक्रियते येन, अस्वतन्त्रीकरणमात्रं वा बन्धः ।

संव्रियतेऽनेन संवरणमात्रं वा संवरः ।११। येन संव्रियते येन संरुध्यते, संरोधनमात्रं वा संवरः ।

निर्जीर्यते यया निर्जरणमात्रं वा निर्जरा ।१२। निर्जीयते निरस्यते यया, निरसनमात्रं वा निर्जरा ।

मोक्ष्यते येन मोक्षणमात्रं वा मोक्षः ।१३। मोक्ष्यते अस्यते येन असनमात्रं वा मोक्षः । एतेषामितरेतरयोगे[4] द्वन्द्वः । उक्तं निर्वचनम् । इदानीं लक्षणमुच्यते–

चेतनास्वभावत्वात्तद्विकल्पलक्षणो जीवः ।१४। जीवस्वभावश्चेतना, यत इतरेभ्यो द्रव्येभ्यो भिद्यते । तद्विकल्पा ज्ञानादयः । यत्सन्निधानादात्मा ज्ञाता द्रष्टा कर्ता भोक्ता च भवति तल्लक्षणो जीवः ।

तद्विपरीतत्वादजीवस्तदभावलक्षणः ।१५। तद्विपरीतत्वात् अचेतनस्वभावत्वात् ज्ञानादीनामभावो यस्य लक्षणं सोऽजीवः । कथमभावो "निरुपाख्यो वस्तुनो लक्षणं भवति? अभावोऽपि वस्तुधर्मो हेत्वङ्गत्वादेः[5] भाववत्[6] । अतोऽसौ[7] लक्षणं युज्यते । स हि यदि वस्तुनो लक्षणं न स्यात् सर्वसङ्करः स्यात् । यद्येवं वनस्पत्यादीनामजीवत्वं प्राप्नोति तदभावात् । ज्ञानादीनां हि प्रवृत्तित उपलब्धिः, न च तेषां तत्पूर्विका प्रवृत्तिरस्ति हिताहितप्राप्तिपरिवर्जनाभावात् । उक्तं च–

*"बुद्धिपूर्वा क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् ।
मन्यते बुद्धिसद्भावः सा न येषु न तेषु धीः ॥" [सन्ताना० सि० श्लो० १] इति[8]।

नैषः दोषः; तेषामपि ज्ञानादयः सन्ति सर्वज्ञप्रत्यक्षाः, इतरेषामागमगम्याः । आहारलाभालाभयोः पुष्टि[10]म्लानादिदर्शनेन[11] युक्तिगम्याश्च । अण्डगर्भस्थमूर्च्छितादिषु सत्यपि जीवत्वे तत्पूर्वकप्रवृत्त्यभावात् हेतुव्यभिचारः ।

पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रवः ।१६। पुण्यपापलक्षणस्य कर्मण [12]आगमनद्वारमास्रव इत्युच्यते । आस्रव इवास्रवः । क उपमार्थः ? यथा महोदधेः सलिलमापगामुखैरहरहरापूर्यते, तथा मिथ्यादर्शनादिद्वारानुप्रविष्टैः कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यत[13] इति मिथ्यादर्शनादि द्वारमास्रवः ।

आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बन्धः ।१७। मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययोपनीतानां कर्मप्रदेशानाम् आत्मप्रदेशानां च परस्परानुप्रवेशलक्षणो बन्धः । बन्ध इव बन्धः । क उपमार्थः ?

---

१ –णमास्रवः ता०, द०। २ बध्यतेऽस्वतन्त्रीक्रियते येन भा० २। ३ बन्धमात्रं ता०। ४ आविर्भूतावयवभेद इतरेतरः, तिरोहितावयवभेदः समाहारः। ५ निःस्वभावः। ६ यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रदे इत्यभावः अग्निरूपवस्तुधर्मः। ७ यत्र धूमस्तत्राग्निः यथा महानस इति (वत्)। ८ अभावः। ९ तुलना– "बुद्धिपूर्वा क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात्। ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्॥"– सिद्धिवि० द्वि० परि०। १० –म्लान्यादि–आ०, ब०, द०, मु०। ११ –ने यु–ता०, श्र०। १२ आगमद्वा–आ०, ब०, द०। १३ पूर्यते श्र०।

यथा निगडादिद्रव्यबन्धनबद्धो देवदत्तोऽस्वतन्त्रत्वाद् अभिप्रेतदेशगमनाद्यभावाद् अतिदुःखी भवति, तथा आत्मा कर्मबन्धनबद्धः पारतन्त्र्यात् शारीरमानसदुःखाभ्यर्दितो भवति ।

आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः ।१८। पूर्वोक्तानामास्रवद्वाराणां शुभपरिणामवशान्निरोधः संवरः । संवर इव संवरः । क उपमार्थः ? यथा सुगुप्तसुसंवृतद्वारकवाट[1]पुरं सुरक्षितं दुरासदमरातिभिर्भवति, तथा सुगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रात्मनः सुसंवृतेन्द्रियकषाययोगस्य अभिनवकर्मागमद्वारसंवरणात् संवरः ।

एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा ।१९। उपात्तस्य कर्मणः तपोविशेषसन्निधाने सत्येकदेशसंक्षयलक्षणा निर्जरा । निर्जरैव निर्जरा । क उपमार्थः ? यथा मन्त्रौषधबलान्निर्जीर्णवीर्यविपाकं विषं न दोषप्रदं तथा सविपाकाऽविपाकनिर्जराप्रत्ययतपोविशेषेण निर्जीर्णरसं कर्म न संसारफलप्रदम् ।

कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः ।२०। सम्यग्दर्शनादिहेतुप्रयोगप्रकर्षे सति कृत्स्नस्य कर्मणश्चतुर्विधबन्धवियोगो मोक्षः । मोक्ष इव मोक्षः । क उपमार्थः ? यथा निगडादिद्रव्यमोक्षात् सति स्वातन्त्र्ये अभिप्रेतप्रदेशगमनादेः पुमान् सुखी भवति, तथा कृत्स्नकर्मवियोगे सति स्वाधीनात्यन्तिकज्ञानदर्शनानुपमसुख[2] आत्मा भवति । लक्षणमुक्तम् । इदानीं क्रमहेतुरुच्यते–

तादर्थ्यात् परिस्पन्दस्य आदौ जीवग्रहणम् ।२१। योऽयं मोक्षमार्गतत्त्वाविष्करणपरिस्पन्दः स आत्मार्थः, तस्य मोक्षपर्यायपरिणामात् । यो वा जीवाद्युपदेशपरिस्पन्दः स आत्मार्थः, तस्योपयोगस्वाभाव्ये सति ग्राहकत्वात् । अत आदौ जीवग्रहणम् ।

तदनुग्रहार्थत्वात् तदनन्तरमजीवाभिधानम् ।२२। यतः शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिनोपकारेणाऽजीव आत्मानमनुगृह्णाति, अतस्तदनन्तरमजीवाभिधानम् ।

तदुभयाधीनत्वात् तत्समीपे आस्रवग्रहणम् ।२३। यत आत्मकर्मणोः परस्पराश्लेषे सत्यास्रवप्रसिद्धिर्भवति, अतस्तत्समीपे आस्रवग्रहणम् ।

तत्पूर्वकत्वाद् बन्धस्य ततः परं बन्धवचनम् ।२४। यत आस्रवपूर्वको बन्धः, ततः परं वचनं तस्य क्रियते ।

संवृतस्य बन्धाभावात् तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं संवरवचनम् ।२५। यतः संवृतस्यात्मनो बन्धो नास्ति ततस्तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं तदनन्तरं संवरवचनम् ।

संवरे सति निर्जरोपपत्तेस्तदन्तिके[3] निर्जरावचनम् ।२६। यतः संवरपूर्विका निर्जरा ततस्तदन्तिके निर्जरावचनम् ।

अन्ते [4]प्राप्यत्वात् मोक्षस्यान्ते वचनम् ।२७। निर्जीर्णेषु कर्मस्वन्ते मोक्षः प्राप्यत इत्यन्ते वचनम् ।

पुण्यपापपदार्थोपसंख्यानमिति चेत्; न; आस्रवे बन्धे वा अन्तर्भावात् ।२८। स्यादेतत्–पुण्यपापपदार्थयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम् अन्यैरप्युक्तत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? आस्रवे बन्धे वा अन्तर्भावात्, यत आस्रवो बन्धश्च पुण्यपापात्मकः ।

तत्त्वशब्दस्य भाववाचित्वात् जीवादिभिः सामानाधिकरण्याऽनुपपत्तिः ।२९। तत्त्वशब्दो भाववाचीति व्याख्यातमेतत् । अतस्तस्य जीवादिभिर्द्रव्यवचनैः समानाधिकरण्यं नोपपद्यते ।

---

१ –कपाटं आ०, ब०, द०, मु०। २ - सुखमात्मानुभवति आ०, ब०, द०, मु०। ३ तदनन्तरे नि- आ०, ब०, द०, मु०। ४ प्राप्तत्वा–ता०, श्र०, मू०।

न वा, अव्यतिरेकात्[1] तद्भावसिद्धेः ।३०। [2]न वा एष दोषः। किं कारणम् ? अव्यतिरेकात्तद्भावसिद्धेः। न हि द्रव्याद् व्यतिरिक्तो भावोऽस्ति अतस्तद्भावेनाऽध्यारोप्यते यथा 'ज्ञानमेवात्मा' इति। यदि तद्भावोऽध्यारोप्यते तल्लिङ्गसंख्यानुवृत्तिः प्राप्नोति ?

तल्लिङ्गसंख्यानुवृत्तौ चोक्तम् ।३१। किमुक्तम् ? 'न, उ[3]पात्तव्यक्तिवचनत्वात्' इति।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये चतुर्थमाह्निकम् ॥४॥

एवं संज्ञास्वालक्षण्यादिभिरुद्दिष्टानां जीवादीनां संव्यवहारविशेषव्यभि[4]चारनिवृत्त्यर्थमाह–

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

नीयते गम्यतेऽनेनार्थः, नमति वाऽर्थमभिमुखीकरोतीति नाम। स्थाप्यते प्रतिनिधीयतेऽसाविति स्थापना[5]। द्रोष्यते गम्यते गुणैः,द्रोष्यति गमिष्यति गुणानिति वा द्रव्यम्। भवनं भवतीति वा भावः। नामादीनामितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः। नामस्थापनाद्रव्यभावैर्नामस्थापनाद्रव्यभावतः। *"आद्यादित्वात्" [जैने० वा० ४।२।४९] *"दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि" [जैने० ४।१।७९] इति वा तसिः। न्यसनं न्यस्यत इति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थः। तेषां[6] न्यासस्तन्न्यासः। एतेषां नामादीनां किं लक्षणमिति ? अत्रोच्यते–

निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम ।१। निमित्ता[7]दन्यन्निमित्तं निमित्तान्तरम्, तदनपेक्ष्य[8] क्रियमाणा संज्ञा नामेत्युच्यते। यथा परमैश्वर्यलक्षणेन्दनक्रियानिमित्तान्तरानपेक्षं कस्यचित् 'इन्द्रः' इति नाम। तथा जीवनक्रियानपेक्षं श्रद्धानक्रियानपेक्षं वा कस्यचित् 'जीवः सम्यग्दर्शनम्' इति वा नाम।

सोऽयमित्यभिसंबन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना ।२। यथा परमैश्वर्यलक्षणो यः शचीपतिरिन्द्रः, 'सोऽयम्' इत्यन्यवस्तु प्रतिनिधीयमानं स्थापना भवति। एवं 'जीव इति वा सम्यग्दर्शनम्'[9] इति वा अक्षनिक्षेपादिषु[10] 'सोऽयम्' इति व्यवस्थापनामात्रं स्थापना।

अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम् ।३। यद् भाविपरिणामप्राप्तिं प्रति योग्यतामादधानं तद् द्रव्यमित्युच्यते।

[11]अतद्भावं वा ।४। अथवा, अतद्भावं वा द्रव्यमित्युच्यते। यथेन्द्रार्थमानीतं काष्ठमिन्द्रप्रतिमापर्यायप्राप्ति प्रत्यभिमुखम् 'इन्द्रः' इत्युच्यते, तथा [12]जीव-सम्यग्दर्शनपर्यायप्राप्ति प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यं द्रव्यजीवो द्रव्यसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते। युक्तं तावत् सम्यग्दर्शनप्राप्तिं प्रति गृहीताभिमुख्यमिति, अतत्परिणामस्य जीवस्य संभवात्, इदं त्वयुक्तम्–जीवनपर्यायप्राप्तिं

१ अभेदात्। २ नवा न दोषः ता०। ३ विशेषणविशेष्यसम्बन्धे सत्यपि शब्दशक्तिव्यपेक्षया उपात्तलिङ्गसंख्याव्यतिक्रमो न भवतीत्यर्थः। ४ अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च निक्षेपविधिना शब्दार्थः प्रस्तीर्यत इत्यर्थः। ५ – गम्यते आ०, ब०, द०, मु०, मू०। ६ सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनाञ्च। ७ –दन्यन्निमित्तान्त–आ०, ब०, द०, मु०। ८ जातिद्रव्यक्रियागुणाः निमित्तम्, तानपेक्ष्य। द्रव्यं द्विविधम् विषाणादिकं समवायिद्रव्यम्, घण्टादिकं संयोगिद्रव्यम्। ९ –नमित्यक्ष–आ०, ब०, द०, मु०। १० आदिशब्देन काष्ठपुस्तचित्रादि गृह्यते। ११ अतद्भवं मु०। १२ जीवनस–ता०, मू०।

प्रति गृहीताभिमुख्यमिति। कुतः ? सदा [1]तत्परिणामात्। यदि न स्यात्; प्रागजीवः प्राप्नोति। नैष दोषः; मनुष्यजीवादिविशेषापेक्षया स व्यपदेशो वेदितव्यः।

तद्द्विविधम्–आगम-नोआगमभेदात् ।५। तदेतद् द्रव्यं द्विविधम्। कुतः ?आगम–नोआगमभेदात्। आगमद्रव्यजीवः नोआगमद्रव्यजीवः, आगमद्रव्यसम्यग्दर्शनं नोआगमद्रव्यसम्यग्दर्शनमिति च।

अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञाय्यात्मा आगमः ।६। अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञायी[2] आत्मा आगमद्रव्यमित्युच्यते।

इतरत् त्रिविधम्–ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात् ।७। इतरन्नोआगमद्रव्यं त्रैविध्यमास्कन्दति। कुतः ? ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात्। ज्ञातुर्यच्छरीरं[3] त्रिकालगोचरं तज्ज्ञायकशरीरम्। [4]जीवन-सम्यग्दर्शनपरिणामप्राप्ति [5]प्रत्यभिमुखं द्रव्यं भावीत्युच्यते। तद्व्यतिरिक्तं कर्म–नोकर्मविकल्पम्[6]।

वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः ।८। वर्तमानेन तेन[7] जीवन-सम्यग्दर्शनपर्यायेणोपलक्षितं द्रव्यं भावजीवो भावसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते। यथा इन्द्रनामकर्मोदयापादितेन्दनक्रियापर्यायपरिणत आत्मा भावेन्द्रः।

स द्विविधः पूर्ववत् ।९। स एष भावो द्विविधो वेदितव्यः पूर्ववत् आगम-नोआगमभेदात्।

तत्प्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमः ।१०। जीवादिप्राभृतविषयेणोपयोगेनाविष्ट आत्मा आगमतो [8]भावजीवो भावसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते।

जीवनादिपर्यायाविष्टोऽन्यः ।११। जीवनादिपर्यायेणाऽऽविष्ट आत्माऽन्यो नोआगमतो भाव इत्युच्यते।

नामस्थापनयोरेकत्वं संज्ञाकर्माऽविशेषादिति चेत्; न; आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्वात् स्थापनायाम् ।१२। स्यान्मतम्–नामस्थापनयोरेकत्वम्। कुतः ? संज्ञाकर्माविशेषात्। यतो नाम्नि स्थापनायां च संज्ञाकरणं समानम्, न ह्यकृते नाम्नि स्थाप्यत इति। तच्च न; कुतः ? आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्वात् स्थापनायाम्। यथा अर्हदिन्द्रस्कन्देश्वरादिप्रतिमासु आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्वं जनस्य, न तथा परिभाषिते वर्तते। ततोऽन्यत्वमनयोः।

द्रव्यभावयोरेकत्वम् अव्यतिरेकादिति चेत्; न; कथञ्चित् संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदात् तद्भेदसिद्धेः ।१३। स्यादारेका–द्रव्यभावयोस्तद्व्यतिरेकात् [9]तदव्यतिरेकात्। नहि द्रव्यव्यतिरेकेण भाव उपलभ्यते भावव्यतिरेकेण वा द्रव्यम्, अतोऽनयोरेकत्वमिति। तच्च न; कुतः ? संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदात् तद्भेदसिद्धेः। इह ययोः संज्ञास्वालक्षण्यादिकृतो भेदः तयोर्नानात्वमुपलभ्यते तथा [10]द्रव्यभावयोरपीति। कश्चिदाह–

१ तत्परिणामो यदि आ०, ब०, द०, मु०। २ –ज्ञाय्यागम–आ०, ब०, द०, मु०। ३ ज्ञातुः शरीरं त्रिधा–भूत-वर्तमान-भविष्यद्भेदात्। भूतमपि त्रिधा च्युतं च्यावितं त्यक्तञ्चेति। पक्वफलमिव स्वयमेव आयुषः क्षयेण पतितं च्युतम्। कदलीघातेन पतितं च्यावितम्। त्यक्तं पुनस्त्रिधा–भक्तप्रत्याख्यान-इङ्गिनी–प्रायोपगमनमरणैः। ४ अनागत। ५ प्रत्यनभिमु–ता०। ६ ...द्विविधं कर्मनोकर्मभेदेन, जीवादिप्राभृतविषयेणोपयोगेन परिणतजीवेनार्जिततीर्थकारादिशुभप्रकृतिस्वरूपं कर्म नोआगमद्रव्यकर्म। एवं नोकर्म–नोआगमद्रव्यनोकर्म–शरीरोपोचयापचयनिमित्तपुद्गलद्रव्यस्यानेकरूपत्वात्। ७ तेन तेन जी– आ०, ब०, द०, मु०। ८ आगमभावजीव इत्यर्थः, स्थानिप्यकर्माधारे इत्यपादानम्। ९ भविष्यत्परिणामाभिमुखम् अतीतपरिणामं वा वस्तु द्रव्यम्, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति स्वालक्षण्याद् भेदः।

द्रव्यस्यादौ वचनं न्याय्यं तत्पूर्वकत्वान्नामादीनाम् ।१४। द्रव्यस्यादौ वचनं न्याय्यम् । कुतः ? तत्पूर्वकत्वान्नामादीनाम् । सतो हि संज्ञिनो नामादिभिर्भवितव्यमिति; नैष दोषः;

संव्यवहारहेतुत्वात् संज्ञायाः पूर्ववचनम् ।१५। संव्यवहारहेतुत्वात् संज्ञायाः पूर्ववचनं क्रियते । सर्वो हि लोकसंव्यवहारः संज्ञापूर्वकः तदात्मकत्वात्, तदनात्मकत्वे वस्तुव्यवहारविच्छेदः । तदात्मकत्वाच्च स्तुतिनिन्दयो रागद्वेषप्रवृत्तिः सिद्धा ।

ततः स्थापनावचनम्, आहितनामकस्य स्थापनोपपत्तेः ।१६। ततः परं स्थापना विधीयते । कुतः ? आहितनामकस्य स्थापनोपपत्तेः । आहितनामकस्य 'सोऽयम्' इति किञ्चित् प्रतिनिधीयते ।

द्रव्यभावयोः [1]पूर्वपरन्यासः पूर्वोत्तरकालवृत्तित्वात् ।१७। द्रव्यभावयोः पूर्वपरन्यासः क्रियते । किं कारणम् ? पूर्वोत्तरकालवृत्तित्वात् । पूर्वकालविषयं[2] हि द्रव्यम् । उत्तरकालभावी भाव इति ।

[3]तत्त्वप्रत्यासत्तिप्रकर्षाऽप्रकर्षभेदाद्वा तत्क्रमः ।१८। अथवा, तत्त्वप्रत्यासत्तेः प्रकर्षाप्रकर्षभेदात्तेषां नामादीनामुद्दिष्टः क्रमो वेदितव्यः । तत्त्वं भावः प्रधानम्, तदर्थानीतराणि, तत्र प्रत्यासत्तेस्तत्समीपे द्रव्यं प्रयुक्तं तद्भावापत्तेः । ततः पूर्वं स्थापनोपादानम्, अतद्भावेऽपि तद्भावं प्रति प्रधानहेतुत्वात् । ततः पूर्वं नामोपादानम् भावं प्रति विप्रकृष्टत्वात्[4] ।

नामादिचतुष्टयाभावो विरोधात् ।१९। अत्राह–नामादिचतुष्टयस्याभावः । कुतः ? विरोधात् । एकस्य शब्दार्थस्य नामादिचतुष्टयं विरुध्यते । यथा नामैकं नामैव, न स्थापना । अथ नाम स्थापना इष्यते न नामेदं नाम । स्थापना तर्हि; न चेयं स्थापना, नामेदम् । अतो[5] नामार्थ एको विरोधान्न स्थापना । तथैकस्य जीवादेरर्थस्य सम्यग्दर्शनादेर्वा विरोधान्नामाद्यभाव इति ।

न वा; सर्वेषां संव्यवहारं प्रत्यविरोधात् ।२०। न वैष दोषः । किं कारणम् ? सर्वेषाम् संव्यवहारं प्रत्यविरोधात् । लोके हि सर्वैर्नामादिभिर्दृष्टः संव्यवहारः । इन्द्रो देवदत्तः इति नाम । प्रतिमादिषु चेन्द्र इति स्थापना । इन्द्रार्थे च काष्ठे द्रव्ये इन्द्रसंव्यवहारः 'इन्द्र आनीतः' इति वचनात् । अनागतपरिणामे [6]चार्थे द्रव्यसंव्यवहारो लोके दृष्टः– [7]द्रव्यमयं माणवकः, आचार्यः श्रेष्ठी वैयाकरणो राजा वा भविष्यतीति व्यवहारदर्शनात् । शचीपतौ च भावे इन्द्र इति । न च विरोधः । किञ्च,

अभिहितानवबोधात् ।२१। 'यथा नामैकं नामैवेष्यते न स्थापना' इत्याचक्षाणेन त्वया अभिहितानवबोधः[8] प्रकटीक्रियते । यतो नैवमाचक्ष्महे–'नामैव स्थापना' इति, किन्तु एकस्यार्थस्य नामस्थापनाद्रव्यभावैर्न्यासः इत्याचक्ष्महे ।

अनेकान्ताच्च ।२२। नैतदेकान्तेन [9]प्रतिजानीमहे–नामैव स्थापना भवतीति न वा, स्थापना वा नाम भवति नेति च । कथम् ?

मनुष्यब्राह्मणवत् ।२३। यथा ब्राह्मणः स्यान्मनुष्यो ब्राह्मणस्य मनुष्यजात्यात्मकत्वात् । मनुष्यस्तु ब्राह्मणः स्यान्न वा,मनुष्यस्य ब्राह्मणजात्यादिपर्यायात्मकत्वादर्शनात्[10] । तथा स्थापना-स्यान्नाम, अकृतनाम्नः स्थापनानुपपत्तेः । नाम तु स्थापना स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात् ।

---

१ पूर्वापर– आ०, ब०, मु० । २ –यं द्र– श्र० । ३ भाव । ४ अतिदूरत्वात् । ५ यतो श्र० । ६ वार्थे आ०, ब०, मू०, मु० । ७ योग्योऽयं बालः –सम्पा० । ८ अज्ञत्वम् । ९ प्रतिज्ञां कुर्महे । १० –नाच्च तथा आ०, ब०, द०, मु० ।

तथा द्रव्यं स्याद्भावः, [1]भावद्रव्यार्थादेशात् न भावपर्यायार्थादेशाद् द्रव्यम्[2] । भावस्तु द्रव्यं स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात् । किञ्च,

अतस्तत्सिद्धेः ।२४। यत एव नामादिचतुष्टयस्य विरोधं भवानाचष्टे अत एव नाभावः[3] । कथम् ? इह योऽयं सहानवस्थानलक्षणो विरोधो वध्यघातकवत्[4] स सतामर्थानां भवति नाऽसतां [5]काकोलूक-छायातपवत्, न काकदन्त-खरविषाणयोर्विरोधोऽसत्त्वात् । किञ्च,

नामाद्यात्मकत्वाऽनात्मकत्वे विरोधस्याऽविरोधकत्वात् ।२५। यो नामादिचतुष्टयस्य विरोधः स नामाद्यात्मको वा स्यात्, न वा ? उभयथा च विरोधाभावः । यदि नामाद्यात्मकः; नासौ विरोधको नामाद्यात्मवत् । अथ तदात्मकोऽपि विरोधो नामादीनां विरोधकः; नामाद्यात्मापि विरोधकः स्यात्, ततो नामादीनामभावाद्विरोध एव न स्यात् । अथ न नामाद्यात्मकः; एवमपि नामादीनां नासौ विरोधकोऽर्थान्तरत्वात् । [6]अथ अर्थान्तरभावेऽपि विरोधकत्वमिष्यते; सर्वेषां पदार्थानां परस्परतो नित्यं विरोधः स्यात् । न चासावस्तीति । अतो विरोधाभावः ।

तादगुण्याद् भावस्य प्रामाण्यमिति चेत्; नः इतरव्यवहारनिवृत्तेः ।२६। स्यादेतत्–तादगुण्याद् भाव एव प्रमाणं न नामादिः । स जीवनादिर्गुणो यस्य स तद्गुणः, तस्य भावस्तादगुण्यम्, अतो भाव एव प्रमाणं न नामादिः, तादगुण्याभावादिति; तन्न; किं कारणम् ? इतरव्यवहारनिवृत्तेः । एवं हि सति नामाद्याश्रयो व्यवहारो निवर्तेत । स चास्तीति । अतो न भावस्यैव प्रामाण्यम् ।

उपचारादिति चेत्; न; तद्गुणाभावात् ।२७। स्यादेतत्–यद्यपि भावस्यैव प्रामाण्यं तथापि[7] नामादिव्यवहारो न निवर्तते । कुतः ? उपचारात्, माणवके सिंहशब्दव्यवहारवदिति । तन्न; किं कारणम् ? तद्गुणाभावात् । युज्यते माणवके सिंहशब्दव्यवहारः क्रौर्यशौर्यादिगुणैकदेशयोगात्, इह तु नामादिषु जीवनादिगुणैकदेशो न कश्चिदप्यस्तीत्युपचाराभावाद् व्यवहारनिवृत्तिः स्यादेव ।

मुख्यसंप्रत्ययप्रसङ्गाच्च ।२८। यद्युपचारान्नामादिव्यवहारः स्यात्, *"**गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः**" [पात० महा० ८।३।८२] इति मुख्यस्यैव संप्रत्ययः स्यान्न नामादीनाम् । यतस्त्वर्थप्रकरणादिविशेषलिङ्गाभावे सर्वत्र संप्रत्ययः [8]अविशिष्टः कृतसंगतेर्भवति, अतो न नामादिषूपचाराद् व्यवहारः ।

*"**कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवति**" [पात० महा० १।१।२२] **इति चेत्; न; उभयगतिदर्शनात् ।२९।** स्यादेतत्–कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवतीति लोके । तद्यथा 'गोपालकमानय कटेजकमानय' इति, यस्यैषा संज्ञा भवति स आनीयते, न यो गाः पालयति यो वा कटे जातः । एवमिहापि यस्यैषा 'जीवादिः' इति संज्ञा कृता तस्यैव संप्रत्ययः स्यान्नेतरेषामिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयगतिदर्शनात् । लोके ह्यर्थात् प्रकरणाद्वा कृत्रिमे संप्रत्ययः स्यात् अर्थो वाऽस्यैवंसंज्ञकेन भवति, प्रकृतं वा तत्र भवति 'इदमेवंसंज्ञकेन कर्तव्यम्' इति, [9]अर्थात् प्रकरणाद्वा लोके संप्रत्ययो भवति । [10]अङ्ग [11]हि भवान्,

---

१ भावस्थं द्रव्यं भावद्रव्यं तदेवार्थः तस्यादेशस्तस्मात् । २ 'द्रव्यम्' इति पदधर्मिकं भाति –सम्पा० । ३ विरोधः – ता० टि० । ४ –कवच्च सता– आ०, बु०, द०, मु०, ता०, श्र० । ५ –लूकवच्छाया– मु०, आ०, ब० । ६ अर्था– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ तथा ना– ता०, श्र० । ८ विशेषरहितः । ९ अतश्चार्था– ता०, आ०, ब०, द०, मु० । १० अङ्गेति प्रियत्वामान्त्रणे । ११ कष्टम् ।

[1]ग्राम्यं [2]पांशुलपादकमप्रकरणज्ञमागतं ब्रवीतु–'गोपालकमानय कटेजकमानय' इति, [3]उभयगतिस्तस्य भविष्यति । किञ्च,

अनेकान्तात् ।३०। नायमेकान्तः कृत्रिममेवेदं न कृत्रिममेवेति । किं तर्हि ? अनेकान्तः । [4]नाम सामान्यापेक्षया स्यादकृत्रिमं विशेषापेक्षया कृत्रिमम् । एवं स्थापनादयश्चेति । ततः किम् ? ***"कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययः"** इत्यस्याभावः । किञ्च,

नयद्वयविषयत्वात् ।३१। द्वौ नयौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च, तयोर्विषयो नामादिन्यासः । तत्र नामस्थापनाद्रव्याणि [5]प्राच्यस्य, सामान्यात्मकत्वात् । पाश्चात्यस्य भावः, परिणतिप्रधानत्वात् । ततः किम् ? ***"गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः"** **"कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययः"** इति च न भवति । प्रतिविषयं नयभेदात् ।

द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकान्तर्भावान्नामादीनां तयोश्च नयशब्दाभिधेयत्वात् पौनरुक्त्यप्रसङ्गः ।३२। यतो नामस्थापनाद्रव्याणि द्रव्यार्थिकस्य, भावः पर्यायार्थिकस्येत्युक्तम्, ततो नामादीनां नयान्तर्भावात्, नयविकल्पानां च वक्ष्यमाणत्वात् पौनरुक्त्यं प्राप्नोति ।

न वा; विनेयमतिभेदाधीनत्वाद् द्व्यादिनयविकल्पनिरूपणस्य ।३३। न वा एष दोषः । किं कारणम् ? विनेयमतिभेदाधीनत्वाद् द्व्यादिनयविकल्पनिरूपणस्य । ये सुमेधसो विनेयास्तेषां द्वाभ्यामेव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यां सर्वनयवक्तव्यार्थप्रतिपत्तिः तदन्तर्भावात् । ये त्वतो मन्दमेधसः तेषां [6]द्व्यादिनयविकल्पनिरूपणम् । अतो विशेषोपपत्तेर्नामादीनामपुनरुक्तत्वम् ।

तच्छब्दाऽग्रहणं प्रकृतत्वात् ।३४। सम्यग्दर्शनादित्रयस्य प्रकृतत्वादेव नामादिन्यासाभि-[7]संबन्धः । ततस्तच्छब्दस्य ग्रहणमनर्थकम् ।

प्रत्यासन्नत्वाज्जीवादिषु प्रसङ्ग इति चेत्; न; सम्यग्दर्शनविषयत्वात् ।३५। स्यादेतत्–तच्छब्दाद् विना प्रत्यासन्ना जीवादयस्तेषामेव न्यासाभिसंबन्धो भवेत् न सम्यग्दर्शनादीनाम् । कुतः ? ***"अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा"** [पात० महा० १।२।४७] इति; तन्न; किं कारणम् ? सम्यग्दर्शनविषयत्वात् । सम्यग्दर्शनादित्रयस्य प्राधान्येनोपदेशः तदर्थत्वाच्छास्त्रारम्भस्य, सम्यग्दर्शनादिविषयत्वेन तु जीवादीनां गुणभूतत्वेनोपदेशः । अतस्तच्छब्दादृतेऽपि सम्यग्दर्शनादित्रयस्य प्राधान्यात् नामादिन्यासेनाभिसंबन्धो युक्तः ।

विशेषातिदिष्टत्वाच्च ।३६। जीवादयः सम्यग्दर्शनविषयत्वेन विशेषेणातिदिष्टाः प्रकृतं सम्यग्दर्शनादित्रयं न बाधिष्यन्ते ***"विशेषातिदिष्टाः प्रकृतं न बाधन्ते"** [ ] इति ।

सर्वभावाधिगमार्थं तु ।३७। सर्वेषां भावानां जीवाजीवादीनामप्रधानानां प्रधानानां च सम्यग्दर्शनादीनाम् अधिगमार्थं[8] तर्हि तच्छब्दग्रहणम् । इतरथा हि प्रधानाभिसंबन्ध एव स्यात् ।

एवमजीवादिषु ज्ञानचारित्रयोश्च नामादिन्यासविकल्पो योजयितव्यः ।

अधिकृतानामेव सम्यग्दर्शनादिजीवादीनां पदार्थानाम् अभिधानाभिधेयसंव्यवहाराऽव्यभिचाराय नामादिभिर्निक्षिप्तानां तत्त्वाधिगमहेतुर्वक्तव्य इति । अत आह–

---

१ ग्राम्यन् श्र० । २ प्राघूर्णकमित्यर्थः । पांशुलखुरपाद– आ०, ब०, द०, मु० । पांशुखुरपा– भा० २ । ३ गोपालकस्य गोःपालयितुश्च परिज्ञानम् । ४ अनादिसम्बन्ध/इन्द्र इति । ५ द्रव्यार्थिकस्य । ६ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशब्द । ७ –सम्बन्धस्त – आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ –र्थं तच्छ– ता० ।

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

प्रमाणे च नयाश्च प्रमाणनयाः, तैरधिगमो भवति सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनाम् । प्रमाणनया वक्ष्यमाणलक्षणाः । ननु च नयशब्दस्या[1]ल्पाच्तरत्वात् पूर्वनिपातेन भवितव्यम् ?

अभ्यर्हितत्वात् प्रमाणशब्दस्य पूर्वनिपातः ।१। ***"अभ्यर्हितं पूर्वम् निपतति"** [पात० महा० २।२।३४] इति प्रमाणशब्दस्य पूर्वनिपातो वेदितव्यः । कथमभ्यर्हितत्वम् ?

प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तेर्व्यवहारहेतुत्वादभ्यर्हः ।२। यतः प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तिर्व्यवहारहेतुर्भवति नान्येषु अतोऽस्याभ्यर्हितत्वम् ।

समुदायाऽवयवविषयत्वाद्वा ।३। अथवा, समुदायविषयं प्रमाणम् अवयवविषया नया इति प्रमाणस्याभ्यर्हितत्वम् । तथा चोक्तम्– ***"सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः"** [ ] इति ।

अधिगमहेतुर्द्विविधः ।४। [अधिगमहेतुर्द्विविधः] स्वाधिगमहेतुः, पराधिगमहेतुश्च । स्वाधिगमहेतुर्ज्ञानात्मकः प्रमाणनयविकल्पः, पराधिगमहेतुर्वचनात्मकः । तेन श्रुताख्येन प्रमाणेन स्याद्वादनयसंस्कृतेन प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गीमन्तो जीवादयः पदार्था अधिगमयितव्याः ।

अत्राह–केयं सप्तभङ्गी इति ? अत्रोच्यते–

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभङ्गी ।५। एकस्मिन् वस्तुनि[2] प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाऽविरुद्धा विधिप्रतिषेधविकल्पना[3] सप्तभङ्गी विज्ञेया । तद्यथा–स्याद् घटः, स्यादघटः, स्याद् घटश्चाऽघटश्च, स्यादवक्तव्यः, स्याद् घटश्चाऽवक्तव्यश्च, स्यादघटश्चावक्तव्यश्च, स्याद् घटश्चाऽघटश्चाऽवक्तव्यश्चेति अर्पितानर्पितनयसिद्धेर्निरूपयितव्या ।

तत्र स्वात्मना स्याद् घटः, परात्मना स्यादघटः । को वा घटस्य स्वात्मा को वा परात्मा ? घटबुद्ध्यभिधानप्रवृत्तिलिङ्गः स्वात्मा, यत्र तयोरप्रवृत्तिः स परात्मा पटादिः । स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थाप्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम् । यदि स्वस्मिन् पटाद्यात्मव्यावृत्तिविपरणतिर्न स्यात् सर्वात्मना घट इति व्यपदिश्येत । अथ [4]परात्मना व्यावृत्तावपि स्वात्मोपादानविपरणतिर्न स्यात् खरविषाणवदवस्त्वेव स्यात् ।

अथवा, नामस्थापनाद्रव्यभावेषु यो विवक्षितः स स्वात्मा, इतरः परात्मा । तत्र विवक्षितात्मना घटः, नेतरात्मना । यदीतरात्मनापि घटः स्यात् विवक्षितात्मना वाऽघटः; नामादिव्यवहारोच्छेदः स्यात् ।

अथवा, तत्र विवक्षितघटशब्दवाच्यसादृश्यसामान्यसंबन्धिषु कस्मिंश्चिद् घटविशेषे परिगृहीते प्रतिनियतो यः संस्थानादिः स स्वात्मा, इतरः परात्मा । तत्र प्रतिनियतेन रूपेण घटः नेतरेण । यदीतरात्मकः स्यात्; एकघटमात्रप्रसङ्गः । ततः सामान्याश्रयो व्यवहारो विनश्येत् ।

अथवा, तस्मिन्नेव घटविशेषे कालान्तरावस्थायिनि पूर्वोत्तरकुशूलान्तकपालाद्यवस्थाकलापः परात्मा, तदन्तरालवर्ती स्वात्मा । स तेनैव घटः तत्कर्मगुणव्यपदेशदर्शनात्,

---

१ –ल्पाक्षर– मु० । २ –नि अविरोधेन प्र– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –धकल्पना आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ परात्मव्यावृ–श्र० ।

नेतरात्मना। यदि हि कुशूलान्तकपालाद्यात्मनापि घटः स्यात्; घटावस्थायामपि तदुपलब्धिर्भवेत्,[१] उत्पत्तिविनाशार्थं पुरुषप्रयत्नफलाभावश्चानुषज्येत। अथान्तरालवर्तिपर्यायात्मनाप्यघटः स्यात्; घटकृत्यं फलं नोपलभ्येत।

अथवा, प्रतिक्षणं द्रव्यपरिणामोपचयापचयभेदादर्थान्तरत्वोपपत्तेः ऋजुसूत्रनयापेक्षया प्रत्युत्पन्नघटस्वभावः स्वात्मा, घटपर्याय एवातीतोऽनागतश्च परात्मा। तेन प्रत्युत्पन्नस्वभावेन सता स घटः नेतरणासता, तथोपलब्ध्यनुपलब्धिसद्भावात्। इतरथा हि प्रत्युत्पन्नवदतीतानागतात्मनापि घटत्वे एकसमयमात्रमेव सर्वं स्यात्, अतीतानागतवद्वा प्रत्युत्पन्नाभावे घटाश्रयव्यवहाराभाव [२]आपद्येत विनष्टानुत्पन्नघटव्यवहाराभाववत्।

अथवा, तस्मिन् प्रत्युत्पन्नविषये रूपादिसमुदये परस्परोपकार[३]वर्तिनि पृथुबुध्नाद्याकारः स्वात्मा, इतरः परात्मा। तेन पृथुबुध्नाद्याकारेण स घटोऽस्ति नेतरेण; घटव्यवहारस्य तद्भावे भावात् तदभावे[४] चाऽभावात्। यदि हि पृथुबुध्नाद्यात्मनापि घटो न स्यात्; स एव न स्यात्। अथेतरात्मनापि घटः स्यात्; तदाकारशून्येऽपि घटव्यवहारः प्राप्नुयात्।

अथवा, रूपादिसन्निवेशविशेषः संस्थानम्। तत्र 'चक्षुषा घटो गृह्यते' इत्यस्मिन् व्यवहारे रूपमुखेन घटो गृह्यत इति रूपं स्वात्मा, रसादिः परात्मा। स घटो रूपेणास्ति नेतरेण रसादिना; प्रतिनियतकरणग्राह्यत्वात्। अथ हि 'चक्षुषा घटो गृह्यते' इत्यत्र रसादिरपि घट इति गृह्येत; सर्वेषां रूपत्वप्रसङ्गः, ततश्च करणान्तरकल्पनाऽनर्थिका। यदि वा रसादिवद्रूपमपि घट इति न गृह्येत; चक्षुर्विषयताऽस्य न स्यात्।

अथवा, शब्दभेदे ध्रुवोऽर्थभेद इति घटकुटादिशब्दानामप्यर्थभेदः—घटनाद् घटः कौटिल्यात् कुट इति तत्क्रियापरिणतिलक्षण[५] एव तस्य शब्दस्य वृत्तिर्युक्ता। तत्र घटनक्रियाविषयकर्तृभावः स्वात्मा, इतरः परमात्मा। तत्राद्येन घटः नेतरेण, तथार्थसम[६]भिरोहणात्। यदि च घटनक्रियापरणतिमुखेनाप्यघटः स्यात्; तद्व्यवहारनिवृत्तिः स्यात्। यदि वा [७]इतरव्यपेक्षयापि घटः स्यात्, पटादिष्वपि तत्क्रियाविरहितेषु तच्छब्दवृत्तिः स्यात्, एकशब्दवाच्यत्वं वा वस्तुनः।

अथवा, घटशब्दप्रयोगानन्तरमुत्पद्यमान उपयोगाकारः स्वात्मा अहेयत्वादन्तरङ्गत्वाच्च। बाह्यो घटाकारः परात्मा तदभावेऽपि घटव्यवहारदर्शनात्। स घट उपयोगाकारेणास्ति नान्येन। यदि हि उपयोगाकारात्मनाऽप्यघटः स्यात्; वक्तृश्रोतृहेतुफलभूतोपयोगघटाकाराभावात् तदधीनो व्यवहारो विनाशमाप्नुयात्। इतरोऽसन्निहितोऽपि यदि घटः स्यात्; पटादीनामपि स्याद् घटत्वप्रसङ्गः।

अथवा, चैतन्यशक्तेर्द्वावाकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः। तत्र ज्ञेयाकारः स्वात्मा, तन्मूलत्वाद् घटव्यवहारस्य। ज्ञानाकारः परात्मा, सर्वसाधारणत्वात्। स घटो ज्ञेयाकारेणास्ति नान्यथा। यदि ज्ञेयाकारेणाप्यघटः स्यात्; तदाश्रयेतिकर्तव्यतानिरासः स्यात्। अथ हि ज्ञानाकारेणापि घटः स्यात्; पटादि[८]ज्ञानाकारकालेऽपि तत्सन्निधानाद् घटव्यहारवृत्तिः प्रसज्येत।

---

१ –त् तदुत्प– मु०, ता०। २ आपद्यते मु०, आ०, ब०, द०। ३ –वर्तिपृथु–श्र०। ४ –वेऽभा– मु०, आ०, ब०, द०। ५ –तिक्षण आ०, ब०, द०, मु०। ६ –समीपरो –श्र०। ७ चेतर–मु०, आ०, ब०, द०। ८ –ज्ञानकालेऽपि आ०, ब०, द०. मु०।

उक्तैः प्रकारैरर्पितं घटत्वमघटत्वं च परस्परतो न भिन्नम्। यदि भिद्येत; सामानाधिकरण्येन तद्बुद्ध्यभिधानवृत्तिर्न स्याद् घटपटवत्। ततश्चेतरतराविनाभावे उभयोरप्यभावात् तदाश्रयव्यवहारापह्नवः कृतः स्यात्। अतस्तदुभयात्मकोऽसौ क्रमेण तच्छब्दवाच्यतामास्कन्दन् 'स्याद् घटश्चाघटश्च' इत्युच्यते। यदि तदुभयात्मकं वस्तु घट इत्येवोच्येत; इतरात्माऽसंग्रहादतत्त्वमेव स्यात्। अथाघट एवेत्युच्यते; घटात्मानुपादानाद् अनृतमेव स्यात्, न वस्तु तावदेवेति। नचान्यः शब्दः तदुभयात्मावस्थतत्त्वाभिधायी विद्यते, अतोऽसौ घटो वचनगोचरातीतत्वात् 'स्यादवक्तव्यः' इत्युच्यते। [१]घटात्मार्पणामुखेन उक्तावक्तव्यस्वरूपनिरूपणेन चादिश्यमानः स एवार्थ इति 'स्याद् घटश्चावक्तव्यश्च'। निरूपिताऽघटभङ्गसङ्गेन प्रदर्शितावक्तव्यवर्त्मना चापदेश्यः स एवार्थ इति 'स्यादघटश्चावक्तव्यश्च'। तदुभयाभिधानक्रमाक्रमार्पणावशाद् आविर्भूततद्व्यपदेशः स एवार्थः 'स्याद् घटश्चाघटश्चावक्तव्यश्च भवति'।

एवमियं सप्तभङ्गी जीवादिषु सम्यग्दर्शनादिषु च द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयार्पणाभेदाद्योजयितव्या। तत्र [२]द्रव्यार्थैकान्तोऽनिश्चिततत्त्वः [३]'अतत्तदेव' इत्यवधारणाद् उन्मत्तवत्। [४]पर्यायार्थैकान्तोऽपि तथैव, 'अतद्वस्तु [५]तदेव' (तद्वस्तु अतदेव)इत्यवधारणादुन्मत्तवत्। स्याद्वादो निश्चितार्थः अपेक्षितयाथातथ्यवस्तुवादित्वात् अनुन्मत्तवचनवत्। अवक्तव्यैकान्तोऽप्यसद्वादः, स्ववचनविरोधात् सदा [६]मौनवृत्तिकवत्। अमृषार्थः स्यादवक्तव्यवादः वक्तव्यावक्तव्यवादित्वात् सत्येतरवचनविशेषज्ञवादवत्।

[७]अनेकान्ते तदभावादव्याप्तिरिति चेत्; न; तत्रापि तदुपपत्तेः ।६। स्यादेतत्—अनेकान्ते सा विधिप्रतिषेधविकल्पना नास्ति। यदि स्यात्; यदा अनेकान्तो न भवति तदैकान्तदोषानुषङ्गो भवेत् अनवस्थाप्रसङ्गश्च। ततस्तत्र[८] अनेकान्तत्वमेव[९], इति सा सप्तभङ्गी व्याप्तमती न भवतीति; तन्न; किं कारणम्? तत्रापि तदुपपत्तेः। स्यादेकान्तः, स्यादनेकान्तः, स्यादुभयः स्यादवक्तव्यः, स्यादेकान्तश्चावक्तव्यश्च, स्यादनेकान्तश्चावक्तव्यश्च, स्यादेकान्तश्चानेकान्तश्चावक्तव्यश्चेति। तत्कथमिति चेत्? उच्यते—

प्रमाणनयार्पणाभेदात् ।७। एकान्तो द्विविधः—सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति। अनेकान्तोऽपि द्विविधः—सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः। एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवण[१०]प्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः। एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः। तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्याऽनेकान्तः। तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्। नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्। यद्यनेकान्तोऽनेकान्त एव स्यान्नैकान्तो भवेत्; एकान्ताभावात् तत्समूहात्मकस्य तस्याप्यभावः स्यात्, शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत्। यदि चैकान्त एव स्यात्; तदविनाभाविशेषनिराकरणादात्मलोपे सर्वलोपः स्यात्। एवमुत्तरे च भङ्गा योजयितव्याः।

---

१ घटार्थार्प–ता०। २ द्रव्यार्थिकैकान्तः आ०, ब०, द०, मु०। ३ वस्तुनस्तदतत्स्वभावत्वं तदेवेत्यवधृतं सदुन्मत्तप्रलपितमिव भवेत्–द० टि०। ४ पर्यायार्थिकैका–आ०, ब०, मु०। ५ अतदेव–श्र०। ६ यावज्जीवमहं मौनीत्यादिवत् स्ववचनविरोधोपपत्तेः। ७ अनेकान्तेऽनेकान्तत्वं न व्याप्नोति अतस्तत्र सप्तभङ्गी व्याप्तिमती न स्यात्; तन्न तत्रापि संभवात् –द० टि०। ८ अनेकान्ते। ९ व्यभिचारित्वम्। १० –प्रणीति–श्र०।

छलमात्रमनेकान्त इति चेत्; नः छललक्षणाभावात् ।८। स्यान्मतम्–'त देवास्ति तदेव नास्ति तदेव नित्यं तदेवानित्यम्' इति चानेकान्तप्ररूपणं छलमात्रमिति; तन्न; कुतः ? छललक्षणाभावात्। छलस्य हि लक्षणमुक्तम् *"**वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्**" [न्यायसू० १।२।१०] इति। यथा 'नवकम्बलोऽयम्' इत्यविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पनम् 'नवास्य कम्बला न चत्वार इति, नवो वास्य कम्बलो न पुराणः' इति नवकम्बलः। न तथा अनेकान्तवादः। यत [1]उभयनयगुणप्रधानभावापादितार्पितानर्पितव्यवहारसिद्धिविशेषबललाभप्रापितयुक्तिपुष्कलार्थः अनेकान्तवादः।

संशयहेतुरिति चेत्; न; विशेषलक्षणोपलब्धेः ।९। स्यान्मतम्–संशयहेतुरनेकान्तवादः। कथम्? एकत्राधारे विरोधिनोऽनेकस्यासंभवात्। आगमश्चैवं प्रवृत्तः–*"**एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्**" [ ] इति। किमागमप्रामाण्यादस्ति वा नास्ति वा नित्यं वा अनित्यं वेति ? तच्च न; कस्मात् ? विशेषलक्षणोपलब्धेः। इह सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च[2] संशयः। तद्यथा स्थाणुपुरुषोचिते देशे नातिप्रकाशान्धकारकलुषायां वेलायामूर्ध्वत्वमात्रं सारूप्यं पश्यतो वक्रकोटर[3]वयो[4]निलयनादीन् स्थाणुगतान् विशेषान् [5]वस्त्रसंयमन-शिरःकण्डूयन-शिखाबन्धनादीन् पुरुषगतांश्चाऽनुपलभमानस्य तेषां[6] च स्मरतः संशय उत्पद्यते, नच तद्वदनेकान्तवादे विशेषानुपलब्धिः, यतः [7]स्वरूपाद्यादेशवशीकृता विशेषा उक्ता व्यक्ताः [8]प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते। ततो 'विशेषोपलब्धेर्न संशयहेतुः' इति यदगदिष्म तत्सम्यग्निरजैष्म[9]।

एवमपि संशयः। कथम् ? इदं [10]तावदसि प्रष्टव्यः–एषामस्तित्वादीनां धर्माणां साधकाः प्रतिनियता हेतवः [11]सन्ति वा, न वा ? यदि न सन्ति; [12]विप्रतिपन्नप्रतिपादनासंभवः। अथ सन्ति; एकत्र [13]विरुद्धसाधनहेतुसन्निधाने सति भवितव्यं संशयेनेति ? उच्यते–

विरोधाभावात् संशयाभावः ।१०। यदि विरोधोऽभविष्यत्[14] संशयोऽजनिष्यत्। न च विरोधो नयोपनीतानां धर्माणामस्ति। कुतः ?

अर्पणाभेदादविरोधः [15]पितापुत्रादिसम्बन्धवत् ।११। उक्तादर्पणाभेदाद् एकत्राऽविरोधेनावरोधो[16] धर्माणां पितापुत्रादिसबन्धवत्। तद्यथा–एकस्य देवदत्तस्य जातिकुलरूपसंज्ञाव्यपदेशविशिष्टस्य 'पिता पुत्रो भ्राता भागिनेयः' इत्येवंप्रकाराः संबन्धा जन्यजनकत्वादिशक्त्यर्पणाभेदान्न विरुध्यन्ते। न हचेकापेक्षया पितेति शेषापेक्षयापि पिता भवति, शेषापेक्षया वा पुत्रादिव्यपदेशार्हं इति उक्तापेक्षयापि पुत्रादिव्यपदेशभाक्। न च पितापुत्रादिकृतं संबन्धबहुत्वं देवदत्तस्यैकत्वेन विरुध्यते। तद्वदस्तित्वादयोऽपि[17] न यान्ति विरोधमेकत्र।

---

१ उभयगुण–आ०, ब०, द०, मु०। २ धारणाबलोद्भूता अतीतार्थविषया तदिति परामर्शिनी स्मृतिः। तुलना–वैशे० सू० २।२।१७। ३ –र विशेषवयो–आ०, ब०, द०, मु०। ४ पक्षिस्थान। नीड इत्यर्थः –सम्पा०। ५ वस्त्रसंयमन– आ०, ब०, द०, मु०। ६ स्मरतेः कर्मणि षष्ठी प्रयोक्तव्येति– द० टि०। ७ स्वपराद्या– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ८ प्रत्यर्थमुप– आ०, ब०, द०, मु०। ९ –र वैष्म आ०, ब०, द०, मु०। १० तावदस्ति प्र– आ०, ब०, द०, मु०। ११ स्युर्वा ता०, श्र०, म०, द०, ब०, ज०–। १२ वादि। १३ 'साध्यविपर्ययव्याप्तस्तु विरुद्धः, स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वात् घटवत्। कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन व्याप्तं यतो यत्कृतकं तदनित्यमिति, अतो विरुद्धं कृतकत्वम्' इत्यभिप्रायो न वाच्योऽत्र किन्तु विरुद्धानां नित्यानित्यत्वादिधर्माणां साधनं स एव हेतुरिति वक्तव्यम्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्, नित्यः शब्दः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् व्योमवदिति, अन्यथा हेत्वाभासप्रसङ्गः प्रसज्येत। १४ तिङन्निमित्तेऽवृत्तौ भूते च लृङ। १५ पितृपुत्रादि– आ०, ब०, मु०। १६ स्वीकारः। १७ –त्वादयो न आ०, ब०, द०, मु०।

सपक्षासपक्षापेक्षोपलक्षितसत्त्वासत्त्वादिभेदोपचितैकधर्मत्वद्वा ।१२। अथवा, [1]सपक्षाऽ[2]सपक्षापेक्षयोपलक्षितानां सत्त्वासत्त्वादीनां भेदानामाधारेण[3] पक्ष[4]धर्मेणैकेन तुल्यं सर्वद्रव्यम्। निरपेक्षयोर्हचैकत्र वादिप्रतिवादिप्रयोगापेक्षया[5] संशय उक्तः, इतरथा हि पक्षधर्मेऽपि संशयः कल्प्येत।

एकस्य हेतोः साधकदूषकत्वाऽविसंवादवद्वा ।१३। अथैवमुपपत्त्याऽविरोधे प्रतिपादितेऽपि मिथ्यादर्शनाभिनिवेशात्तत्त्वं न प्रतिपद्यते यस्तं प्रति सार्वलौकिकहेतुवादमाश्रित्योच्यते–इह [6]स्वपक्षमर्यादानतिक्रमेण [7]न्यायधर्ममनुपालयता वादिना अभिप्रेतप्रतिज्ञार्थसिद्धिमाशंसता [8]हेत्वनुपदेशे [9]"सर्वाभिलषितार्थसिद्धिः प्रतिज्ञामात्रादेव मा प्रापत्' इत्यतिप्रसङ्गदोषनिवृत्तये यो हेतुरुपदिश्यते स साधको दूषकश्च–स्वपक्षं साधयति परपक्षं दूषयति। न तौ साधनदूषणार्थौ हेतोरन्यौ भवतः। नचानन्यत्वमस्तीति कृत्वा येन साधकस्तेन दूषको येन वा दूषकस्तेन साधकः। न तयोः संकरो विरोधो वा। एवं सर्वार्थेषु विरोधदोषमपनुदन्ती विसर्पत्यनेकान्तप्रक्रियेति।

सर्वप्रवाद्यविप्रतिपत्तेश्च ।१४। नात्र प्रतिवादिनो विसंवदन्ते एकमनेकात्मकमिति। केचित्[10] तावदाहुः–'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्' इति। तेषां प्रसादलाघवशोषतापावरणसादनादिभिन्नस्वभावानां प्रधानात्मना[11] मिथश्च न विरोधः। अथ मन्येथाः 'न प्रधानं नामैकं गुणेभ्योऽर्थान्तरभूतमस्ति, किन्तु त एव गुणाः साम्यमापन्नाः प्रधानाख्यां लभन्ते' इति; यद्येवं [12]भूमा प्रधानस्य स्यात्। स्यादेतत्–तेषां समुदयः प्रधानमेकमिति; अत एवाविरोधः सिद्धः गुणानामवयवानां समुदायस्य च।

अपरे[13] मन्यन्ते–'अनुवृत्तिविनिवृत्तिबुद्ध्यभिधानलक्षणः सामान्यविशेषः' इति। तेषां च सामान्यमेव विशेषः [14]सामान्यविशेषः इत्येकस्यात्मन उभयात्मकं न विरुध्यते।

अपर[15] आहुः–'वर्णादिपरमाणुसमुदयो रूपपरमाणुः' इति। तेषां [16]कक्खडत्वादिभिन्नलक्षणानां [17]रूपात्मना [18]मिथश्च न विरोधः। अथ मतम् 'न परमाणुर्नामैकोऽस्ति बाह्यः, किन्तु [19]विज्ञानमेव तदाकारपरिणतं परमाणुव्यपदेशार्हम्' इत्युच्यते; अत्रापि ग्राहक-विषयाभास[20]संवित्ति[21]शक्तित्रयाकाराधिकरणस्यैकस्याभ्युपगमान्न विरोधः[22]।

किञ्च, [23]सर्वेषामेव तेषां पूर्वोत्तरकालभाव्यवस्थाविशेषार्पणाभेदादेकस्य[23] कार्यकारणशक्तिसमन्वयो न विरोधस्यास्पदमित्यविरोधसिद्धिः।

एवं प्रमाणनयैरधिगतानां जीवादीनां पुनरप्यधिगमोपायान्तरप्रदर्शनार्थमाह–

---

१ महानस। २ महाह्रद। ३ पर्वत। ४ हेतुना। ५ शब्दो नित्य उतानित्य इति। एको ब्रूते शब्दो नित्य इति अपरोऽनित्य इति। तयोर्विप्रतिपत्त्या मध्यस्थस्य पुंसो भवति संशयः–किमयं शब्दो नित्य उतानित्य इति। ६ स्वदर्शनसीमा। ७ अनुमान। ८ हेत्वनपदेशे आ०, ब०, द०, भा० १, भा० २। ९ सर्वेषां वादिनाम्। १० सांख्याः। ११ एकेन। प्रधानात्मनां आ०, ब०, मु०, द०। १२ बहुत्वम्– ता० टि०। १३ वैशेषिकाः। १४ सामान्यविशेषाः पृथिवीत्वादयः अपरसामान्यात्मकाः। १५ बौद्धाः। १६ काकवडत्वा– आ०, ब०, द०, मु०। कर्कश। पृथ्व्यादीनाम्– ता० टि०। १७ रूपात्मनां आ०, ब०, द०, मु०। १८ वर्णादीनाम्। १९ ज्ञान –श्र०। २० आकार इत्यर्थः –सम्पा०। आभासशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ग्राहकाकारो विषयाकारश्चेति। २१ संवेदन। २२ वादिनां लौकिकानाञ्च। २३ पदार्थस्य। २४ –धः सिद्धः आ०, ब०, द०, मु०।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

के पुनरिमे निर्देशादयः ? निर्देशोऽर्थात्मावधारणम्[१] । स्वामित्वमाधिपत्यम् । साधनं [२]कारणम् । अधिकरणं प्रतिष्ठा । स्थितिः कालकृता व्यवस्था । विधानं प्रकारः । 'अधिगमः' इत्यनुवर्तते । एतैरेतेभ्यो वा अधिगमः, [३]पूर्ववत्तसिः । केषामधिगमः ? जीवादीनां सम्यग्दर्शनादीनां च । स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः ? न कर्तव्यः, अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामो भवति । तद्यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाण्यामन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति गम्यते ।

अथ किमर्थमादौ निर्देशः ? उच्यते–

अवधृतार्थस्य धर्मविकल्पप्रतिपत्तेरादौ निर्देशवचनम् ।१। स्वरूपेणावधृतस्यार्थस्य स्वामित्वादिका धर्मविकल्पप्रतिपत्तिर्भवति, अतोऽस्य निर्देशस्यादौ वचनं क्रियते ।

इतरेषां प्रश्नवशात् क्रमः ।२। इतरेषां स्वामित्वादीनां प्रश्नवशात् क्रमो वेदितव्यः । यद्येवं स एव [४]तावदुच्यतां को जीव इति ?

औपशमिकादिभावपर्यायो जीवः पर्यायादेशात् ।३। वक्ष्यमाण औपशमिकादिभावपर्यायो जीव इत्युच्यते पर्यायादेशात् ।

द्रव्यार्थादेशान्नामादिः ।४। द्रव्यार्थादेशान्नामादिः[५] 'जीवः' इत्युच्यते ।

तदुभयसंग्रहः प्रमाणम् ।५। तस्योभयस्य[६] संग्रहः प्रमाणनिर्देश इत्युच्यते ।

कस्य जीवः[७] ?

तत्परिणामस्य, भेदादग्नेरौष्ण्यवत् ।६। स परिणामो यस्य सोऽयं तत्परिणामः तस्यासौ[८] व्यपदिश्यते । कुतः ? कथञ्चिद्भेदात्, परिणामपरिणामिनोर्भेदकल्पनासद्भावात् अग्नेरौष्ण्यवत् । तद्यथा–औष्ण्यात्मकस्याग्नेः दहनपचनस्वेदनादिक्रियासामर्थ्यमौष्ण्यं भेदेनोच्यते[९] ।

व्यवहारनयवशात् सर्वेषाम् ।७। जीवादीनां सर्वेषां पदार्थानां व्यवहारनयवशाज्जीवः स्वामी । किं साधनो जीवः ?

पारिणामिकभावसाधनो निश्चयतः ।८। योऽसौ जीवात्मा पारिणामिकस्तत्साधनो जीवो निश्चयनयेन । तेन ह्यसावात्मानं[१०] सर्वकालं लभत इति ।

औपशमिकादिभावसाधनश्च व्यवहारतः ।९। व्यवहारनयवशात् औपशमिकादिभावसाधनश्चेति व्यपदिश्यते । चशब्देन शुक्रशोणिताहारादिसाधनश्च । किमधिकरणो जीवः ?

स्वप्रदेशाधिकरणो निश्चयतः ।१०। योऽसौ स्वप्रदेशोऽसंख्यातस्वरूपः कर्मकृतशरीरपरिमाणानुविधायित्वेऽप्यपरिप्राप्तहीनाधिकभावः, तदधिकरणो जीवः, स्वात्मप्रतिष्ठाकाशवत् ।

व्यवहारतः शरीराद्यधिष्ठानः ।११। कर्मोपात्तं शरीरम् [११]इतरच्चाधिकरण[१२]मात्मा व्यवहारनयवशादधितिष्ठतीत्युच्यते । किं स्थितिको जीवः ?

स्थितिस्तस्य द्रव्यपर्यायापेक्षाऽनाद्यवसाना समयादिका च ।१२। तस्य जीवस्य स्थितिर्द्रव्यपर्यायापेक्षा द्विधा कल्प्यते । द्रव्यापेक्षाऽनाद्यवसाना, जीवद्रव्यं हि चैतन्यजीवद्रव्योपयोगाऽसं-

१ जीवादिस्वरूपनिश्चयः । २ उत्पत्तिनिमित्तमित्यर्थः । ३ आद्यादित्वात्, दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि इति वा तसिः । ४ तावदुच्यते को आ०, ब०, द०, मु० । ५ आदिशब्देन स्थापनाद्रव्ये गृह्यंते । ६ द्रव्यपर्यायस्य । ७ स्वामीति शेषः –श्र० टि० । जीवः स्वामी तत्प– आ०, ब०, मु०, भा० २ । ८ परिणामः, अस्यायं परिणाम इति व्यपदिश्यते । अस्य परिणामस्य अयं जीवः स्वामीति व्यपदिश्यत इत्यर्थः । ९ अग्नेरौष्ण्यमिति । १० स्वस्वरूपम् । ११ स्वर्गादि । शरीरमेतच्चाधि– आ०, ब०, द०, मु० । १२ शीङः स्थासादेराधारः इति द्वितीया ।

ख्येयप्रदेशादिसामान्यादेशान्न प्रच्यवते सर्वकालमिति । पर्यायस्त्वन्यश्चान्यश्च भवति, तदपेक्षा समयादिका कल्प्यते । किमस्य विधानम् ?

नारकादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रकारो जीवः ।१३। नारकादयः [१]संख्येया [२]असंख्येया [३]अनन्ताश्च प्रकारा भिद्यन्ते जीवस्य ।

[४]तथैवेतरेषामागमाविरोधात् निर्देशादिवचनम् ।१४। तेनैव प्रकारेण आगमाविरोधेन इतरेषामजीवादीनां निर्देशादयो वक्तव्याः[५] । तद्यथा–[६]अजीवस्तावद्दशप्राणपर्यायरहितः नामादिश्च । अजीवात्मैव अजीवस्य स्वामी, जीवो वा भोक्तृत्वात् । पुद्गलानाम् अणुत्वादिसाधनं भेदादि, तन्निमित्तं वा कालादि । धर्माधर्मकालाकाशानां गतिस्थितिवर्तनावगाहहेतुता पारिणामिकी अगुरुलघुगुणानुगृहीता, स्वात्मभूतसत्ता [७]संबद्धा जीवपुद्गला वा[८] तदपेक्षत्वाद् गत्यादिहेतुताभिव्यक्तेः । स्वात्मैवाधिकरणं सर्वद्रव्याणां स्वात्मव्यवस्थितत्वात्, आकाशं साधारणम्, असाधारणं च [९]घटादिर्जलादीनाम् । स्थितिर्द्रव्यापेक्षाऽनाद्यवसाना, पर्यायापेक्षा समयादिका । विधानं धर्मादित्रिकं प्रतिनियतानादिपारिणामिकद्रव्यार्थादेशादेकैकम्, [१०]पर्यायार्थिकनयादेशादनेकम्, संख्येयासंख्येयानन्तानां [११]द्रव्याणां गतिस्थित्यवगाहनाद्युपकार[१२]पर्यायादेशात् स्यादेकं स्यादनेकं स्यात्संख्येयं स्यादसंख्येयं स्यादनन्तम् । कालः संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तश्च भवति[१३] परप्रत्ययात्[१४]। पुद्गलद्रव्यं रूपस्पर्शादिपारिणामिकद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकम्, प्रतिनियतैकानेकसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायादेशात् स्यादनेकं स्यात्संख्येयं स्यादसंख्येयं स्यादनन्तम् ।

आस्रवनिर्देशः–कायवाङ्मनःक्रियापरिणामो नामादिर्वा । जीवोऽस्य स्वामी, कर्म वा तन्निमित्तत्वात् । [१५]स्वात्मैव साधनं शुद्धस्य तदभावात्, कर्म वा सति तस्मिन् प्रवृत्तेः । अधिकरणम् [१६]आत्मन्येवासौ[१७] तत्र तत्फलदर्शनात्, कर्मणि कर्मकृते च कायादावुपचारतः । स्थितिः वाङ्मनसास्रवयोर्जघन्येनैकसमयः, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः; कायास्रवस्य जघन्येनान्तमुहूर्तः उत्कर्षेणानन्तः [१८]कालः, असंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः । विधानम् वाङ्मनसास्रवयोश्चतुर्विकल्पसंख्यं सत्यमृषोभयानुभयभेदात् । कायास्रवः सप्तविधः औदारिकवैक्रियिकाहारकमिश्रकार्मणभेदात् । औदारिकौदारिकमिश्रकौ मनुष्यतिरश्चाम् । वैक्रियिकवैक्रियिकमिश्रकौ देवनारकाणाम् । आहारकाहारकमिश्रकौ संयतानाम् ऋद्धिप्राप्तानाम् । कार्मणकायास्रवो [१९]विग्रहापन्नानां केवलिनां वा समुद्घातगतानाम् । अथवा, आस्रवस्य प्रकारः शुभाऽशुभः । तत्र कायिको हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मादिषु प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः । वाचिकः परुषाक्रोशपिशुनपरोपघातादिषु वचस्सु प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः । मानसो [२०]मिथ्याश्रुत्यभिधातेर्ष्यासूयादिषु[२१] मनसः प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः ।

बन्धनिर्देशः–जीवकर्मप्रदेशान्योन्यसंश्लेषो बन्धः, नामादिर्वा । स जीवस्य तत्र तत्फलदर्शनात्, कर्मणश्च तस्य द्विष्ठत्वात् । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धस्य साधनम्, तत्परिणतो वा आत्मा । स्वामिसंबन्धार्हमेव वस्त्वधिकरणं भवति, विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः ।

१ श्रुतकेवलिभिः । २ अवधिज्ञानिभिः । ३ केवलज्ञानिभिः । ४ तथेतरे– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ व्याख्येयाः । ६ अजीवद्रव्यस्य तु दशप्राणरहितत्वमेव भावपर्यायत्वम् । ७ सम्बन्धात् जी– मु० । सम्बन्धा जी– आ०, ब०, द० । ८ साधनम् । ९ अधिकरणम् । १० अर्थपर्याय । ११ जीवपुद्गलादीनाम् । १२ व्यञ्जनपर्याय । १३ संख्येयासंख्येयानन्तजीवपुद्गलान् प्रति । १४ जीवपुद्गलादेः पराधीनत्वात् । १५ स्वस्य व्यापारवानात्मैव आस्रवस्य, व्यापारवान् जीवः आस्रवस्य साधनमित्यर्थः । १६ आत्मैवासौ मु० । १७ आस्रवः । १८ –णानन्तकालः आ०, ब०, द०, मु० । १९ विग्रहगतिमाप– आ०, ब० । २० मिथ्याश्रुतेर्ष्या– आ०, ब०, द०, मु० । २१ अक्षान्तिरीर्ष्याऽसूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि ।

स्थितिर्जघन्या उत्कृष्टा च। तत्र जघन्या वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः। नामगोत्रयोरष्टौ। शेषाणामन्तर्मुहूर्ताः। उत्कृष्टा ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः। मोहनीयस्य सप्ततिः। नामगोत्रयोर्विंशतिः। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः। अथवा बन्धसन्तानपर्यायादेशात् स्यादनादिरनिधनश्चाभव्यानाम्, भव्यानां च केषाञ्चित् ये अनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यन्ति। ज्ञानावरणादिकर्मोत्पादविनाशात् स्यात्सादिः सनिधनश्च। विधानम्–[1]बन्धः सामान्यादेशात् एकः, द्विविधः शुभाशुभभेदात्, त्रिधा द्रव्यभावोभयविकल्पात्, चतुर्धा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात्, पञ्चधा मिथ्यादर्शनादिहेतुभेदात्, षोढा नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावैः, सप्तधा तैरेव भवाधिकैः, अष्टधा ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिभेदात्। एवं [2]संख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पश्च भवति हेतुफलभेदात्।

संवरनिर्देशः–आस्रवनिरोधः नामादिर्वा। जीवोऽस्य स्वामी, कर्म वा निरुध्यमानविषयत्वात्। निरोधस्य साधनं गुप्तिसमितिधर्मादयः। 'स्वामिसंबन्धार्हमेवाधिकरणम्' इत्युक्तम्। स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्ता, उत्कृष्टा पूर्वकोटी देशोना। विधानम् एकादिरष्टोत्तरशतविधः, तत उत्तरश्च संख्येयादिविकल्पो निरोध्यनिरोधकभेदाद्वेदितव्यः। तत्राष्टोत्तरशतविध उच्यते–तिस्रो गुप्तयः, पञ्च समितयः, धर्मो दशविधः, अनुप्रेक्षा द्वादश, परीषहा द्वाविंशतिः, तपो द्वादशविधम्, प्रायश्चित्तं नवविधम्, विनयश्चतुर्विधः, वैयावृत्यं दशविधम्, स्वाध्यायः पञ्चविधः, व्युत्सर्गो द्विविधः, धर्मध्यानं दशविधम्, शुक्लध्यानं चतुर्विधमिति।

निर्जरानिर्देशः–यथाविपाकात्तपसो वा उपभुक्तवीर्यं कर्म निर्जरा, नामादिर्वा। सा आत्मनः कर्मणो वा द्रव्यभावभेदात्। साधनं तपो यथाकर्मविपाकश्च। अधिकरणमात्मा निर्जरात्मैव वा। स्थितिर्जघन्येनैकसमयः उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः, सादिः सपर्यवसाना वा। विधानम् सामान्यादेका निर्जरा, द्विविधा यथाकालौपक्रमिकभेदात्, अष्टधा मूलकर्मप्रकृतिभेदात्। एवं संख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पा भवति कर्मरस[3]निर्हरणभेदात्।

मोक्षनिर्देशः–कृत्स्नकर्मसंक्षयो मोक्षः, नामादिर्वा। तस्य स्वामी परमात्मा मोक्षात्मैव वा। साधनं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। स्वामिसंबन्धार्हमेवाधिकरणं तद्विषयत्वात्। स्थितिस्तस्य सादिरनिधना। विधानम्–सामान्यादेको मोक्षः, द्रव्यभावमोक्तव्यभेदाद[4]नेकोऽपि।

सम्यग्दर्शननिर्देशः–तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं नामादिर्वा। तत्पुनरात्मनः स्वस्यैव वा। दर्शनमोहोपशमादि साधनम्, बाह्यं चोपदेशादि, स्वात्मा वा। स्वामिसंबन्धभागेवाधिकरणम्। स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्ता, उत्कर्षेण[5] षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि। अथवा सादिसनिधनमौपशमिकक्षायोपशमिकम्, साद्यनिधनं क्षायिकम्। विधानम् सामान्यादेकम्, द्विधा निसर्गजाधिगमजभेदात्, त्रिधौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकविकल्पात्। एवं [6]संख्येयासंख्येया[7]नन्तविकल्पं च भवत्यध्यवसाय[8]भेदात्।

ज्ञाननिर्देशः–जीवादितत्त्वप्रकाशनं ज्ञानं नामादिर्वा। तत् आत्मनः स्वाकारस्य वा। ज्ञानावरणादिकर्मक्षयोपशमादि साधनम्, स्वाविर्भावशक्तिर्वा। अधिकरणम्–आत्मा स्वाकारो

१ बन्धसा– आ०, ब०, ता०। २ संख्येया असंख्येया अनन्तविकल्पाश्च भवन्ति आ०, ब०, मु०। ३ –निर्हाणभे– ता०। ४ नेकः स– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ५ वेदकसम्यक्त्वं प्रति। लांतवकप्पे तेरस अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा। उवरिम एक्कत्तीसं एवं सव्वाणि छावट्ठी। ६ शब्दतः संख्येयविकल्पम्। ७ श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात्। ८ –सान भे– आ०, ब०, द०, मु०,। रुचिविकल्पात्।

वा तत्र प्रतिष्ठानात्। स्थितिः–सादिसनिधनं क्षायोपशमिकं ज्ञानं [1]चतुर्विकल्पम्, साद्यनिधनं क्षायिकम्। विधानम्–सामान्यादेकं ज्ञानम्, प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विधा, द्रव्यगुणपर्यायविषयभेदात् त्रिधा, नामादिविकल्पाच्चतुर्धा, मत्यादिभेदात् पञ्चधा। इत्येवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पं च भवति ज्ञेयाकारपरिणतिभेदात्।

चारित्रनिर्देशः– कर्मादानकारणनिवृत्तिश्चारित्रम्, नामादिर्वा। तत्पुनरात्मनः स्वरूपस्य वा। चारित्रमोहोपशमादि साधनं स्वशक्तिर्वा। स्वामिसंबन्धभागेवाधिकरणम्। स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्ता, उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना। अथवा सादिसपर्यवसानम् औपशमिकक्षायोपशमिकम्, साद्यपर्यवसानं क्षायिकम्, [2]शुद्धिव्यक्त्यपेक्षया। विधानम्–सामान्यादेकम्, द्विधा बाह्याभ्यन्तरनिवृत्तिभेदात्, त्रिधा औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकविकल्पात्, चतुर्धा [3]चतुर्थमभेदात्, पञ्चधा सामायिकादिविकल्पात्। इत्येवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पं च भवति परिणामभेदात्।

'किमेतैरेव जीवादीनामधिगमो भवति उतान्योऽप्यधिगमोपायोऽस्ति' इति परिपृष्टः 'अस्ति' इत्याह–

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

'अधिगमः' इत्यनुवर्तते।

प्रशंसादिषु सच्छब्दवृत्तेरिच्छातः सद्भावग्रहणम् ।१। सच्छब्दः प्रशंसादिषु वर्तते। तद्यथा–प्रशंसायां तावत् 'सत्पुरुषः, सदश्वः'[4] इति। क्वचिदस्तित्वे 'सन् घटः, सन् पटः' इति। क्वचित्[5]प्रज्ञायमाने–प्रव्रजितः सन् कथमनृतं ब्रूयात्? 'प्रव्रजितः' इति [6]प्रज्ञायमान इत्यर्थः। क्वचिदादरे 'सत्कृत्यातिथीन् भोजयति' 'आदृत्य' इत्यर्थः। तत्रेहेच्छातः [7]सद्भावे गृह्यते।

[8]अव्यभिचारात् सर्वमूलत्वाच्च तस्यादौ वचनम् ।२। सत्त्वं ह्यव्यभिचारि सर्वपदार्थविषयत्वात्। नहि कश्चित्पदार्थः सत्तां व्यभिचरति। यदि व्यभिचरेत्; वाग्विज्ञानगोचरातीतः स्यात्। गुणास्तु रूपादयो ज्ञानादयश्च केषुचित् सन्ति केषुचिन्न सन्ति। क्रिया च परिस्पन्दात्मिका जीवपुद्गलेष्वस्ति नेतरेष्विति न व्याप्तिमती। सर्वेषां च विचाराहाणामस्तित्वं मूलम्। तेन हि निश्चितस्य वस्तुन उत्तरा चिन्ता युज्यते। अतस्तस्यादौ वचनं क्रियते।

सतः [9]परिमाणोपलब्धेः संख्योपदेशः ।३। सतो हि वस्तुनः संख्याताऽसंख्याताऽनन्तपरि[10]माणोपलब्धेः संख्याताद्यन्यतमपरिमाणावधारणार्थं संख्या भेदलक्षणा उपदिश्यते।

निर्ज्ञातसंख्यस्य निवासविप्रतिपत्तेः क्षेत्राभिधानम् ।४। निश्चयेन ज्ञातसंख्यस्यार्थस्य ऊर्ध्वाधस्तिर्यङ्निवासविप्रतिपत्तेः ऊर्ध्वाद्यन्यतमनिवासनिश्चयार्थं क्षेत्राभिधानम्।

अवस्थाविशेषस्य वैचित्र्यात् त्रिकालविषयोपश्लेषनिश्चयार्थं स्पर्शनम् ।५। [11]अवस्थाविशेषो विचित्रः त्र्यस्रचतुरस्रादिः, तस्य त्रिकालविषयमुपश्लेषणं स्पर्शनम्। [12]कस्यचित्तत्क्षेत्र-

१ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययभेदात्। २ शुद्धव्यक्त्य– ता०। ३ चतुर्थमभे–मु०। चतुर्यतिभे– ता०, श्र०, मू०। ···रिति स्यातां प्रमत्तमुख्येषु वै गुणेषु चर्तुषु। ४ सदश्वश्चेति मु०, द०, ता०। ५ प्रतिज्ञायमा– आ०, ब०, द०, मु०। ६ सद्भावो आ०, ब०, द०, ता०, मु०। ७ अव्यभिचारत्वात् श्र०। ८ परिणामो– आ०, ब०, द०, मु०। ९ विमानादेः। १० देवादेः।

मेव[1] स्पर्शनम्, [2]कस्यचिद् द्रव्यमेव,[3] [4]कस्यचिद् रज्जवः षडष्टौ वेति एकसर्वजीवसन्निधौ, तन्निश्चयार्थं तदुच्यते ।

स्थितिमतोऽवधिपरिच्छेदार्थं कालोपादानम् ।६। 'स्थितिमतोऽर्थस्यावधिः परिच्छेत्तव्यः' इति कालोपादानं क्रियते ।

अन्तरशब्दस्यानेकार्थवृत्तेः छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमग्रहणम् ।७। [अन्तर शब्दः] [5]बहुष्वर्थेषु दृष्टप्रयोगः । क्वचिच्छिद्रे वर्तते सान्तरं काष्ठम्, सछिद्रम् इति । क्वचिदन्यत्वे *"**द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते**[6]" [वैशे० सू० १।१।१०] इति । क्वचिन्मध्ये हिमवत्सागरान्तर इति । क्वचित्सामीप्ये 'स्फटिकस्य शुक्लरक्ताद्यन्तरस्थस्य तद्वर्णता' इति 'शुक्लरक्तसमीपस्थस्य' इति गम्यते । क्वचिद्विशेषे–

*"**वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम् । नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥**" [गरुडपु० ११०।१५] इति, महान् विशेष इत्यर्थः । क्वचिद् बहिर्योगे [7]'ग्रामस्यान्तरे कूपाः' इति । क्वचिदुपसंव्याने[8] अन्तरे 'शाटका' इति । क्वचिद्विरहे अनभिप्रेतश्रोतृजनान्तरे मन्त्रं मन्त्रयते, तद्विरहे मन्त्रयते इत्यर्थः । तत्रेह[9] छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमो वेदितव्यः ।

अनुपहतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरुद्भूतिदर्शनात्तद्वचनम् ।८। अनुपहतवीर्यस्य द्रव्यस्य [10]निमित्तवशात् कस्यचित् पर्यायस्य[11] न्यग्भावे सति पुनर्निमित्तान्तरात् तस्यैवाविर्भावदर्शनात् तदन्तरमित्युच्यते ।

परिणामप्रकारनिर्णयार्थं भाववचनम् ।९। औपशमिकादिः परिणामप्रकारो निर्णेतव्यः इति भाववचनं क्रियते ।

संख्याताद्यन्यतमनिश्चयेऽपि अन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पबहुत्ववचनम् ।१०। संख्यातादिष्वन्यतमेन [12]परिमाणेन निश्चितानामन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पबहुत्ववचनं क्रियते–[13]इमे [14]एभ्योऽल्पा [15]इमे बहवः' इति[16] । आह–

निर्देशवचनात् सत्त्वप्रसिद्धेरसद्ग्रहणम् ।११। निर्देशवचनादेव सत्त्वं सिद्धम्, न ह्यसतो निर्देश इति, तस्माद् असद्ग्रहणम्–अनर्थकं सद्ग्रहणमसद्ग्रहणम् ।

न वा, क्वास्ति क्व नास्तीति चतुर्दशमार्गणास्थानविशेषणार्थत्वात् ।१२। न वैष दोषः । किं कारणम् ? नानेन सम्यग्दर्शनादेः सामान्येन सत्त्वमुच्यते किन्तु गतीन्द्रियकायादिषु चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु 'क्वास्ति सम्यग्दर्शनादि, क्व नास्ति' इत्येवं विशेषणार्थं सद्वचनम् ।

सर्वभावाधिगमहेतुत्वाच्च[17] ।१३। अधिकृतानां सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां च निर्देशवचनेन अस्तित्वमधिगतं स्यात्, ये त्वनधिकृता जीवपर्यायाः क्रोधादयो ये चाऽजीवपर्याया वर्णादयो घटादयश्च तेषामस्तित्वाधिगमार्थं पुनर्वचनम् ।

१ विमानादि । २ निगोदादेः । ३ कन्दादिः । ४ यः कश्चिज्जीवोऽस्मिल्लोके तपस्तप्त्वाऽच्युतकल्पे उत्पन्नः ततश्च्युत्वाऽस्मिल्लोके जातः तस्य त्रिकालविषयं गमनागमनं प्रति षड् रज्जवः स्पर्शनम् । तस्यैवातृतीयनरकात् त्रिकालविषयं विहरणं प्रत्यष्टौ रज्जवः स्पर्शनम् । ५ अवकाशे क्षणे वस्त्रे बहिर्योगे व्यतिक्रमे । मध्येऽन्तःकरणे रन्ध्रे विश्लेषे विरहेऽन्तरम् । इति भट्टधनञ्जयः । ६ उत्पादयन्ति । ७ अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोरिति सर्वादि । ८ अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके । ९ नरकबिलादिषु छिद्रार्थः । १० मिथ्यात्वादिकारणवशात् । ११ सम्यग्दर्शनादेः । सम्यग्दर्शनादिनिमित्तवशात् मिथ्यात्वादिपर्यायस्येत्यादि वा । १२ परिणामेन आ०, ब०, मु० । १३ उपशमसम्यग्दृष्टयः । १४ संसारिक्षायिकसम्यग्दृष्टिभ्यः । १५ क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयः । ततः सिद्धाः क्षायिकसम्यग्दृष्टयः । १६ एवं सर्वत्र योज्यम् । १७ –त्वात् भा० १ ।

अनधिकृतत्वादिति चेत्; न; सामर्थ्यात् ।१४। स्यादेतत्–अनधिकृतास्ते ततो न पुनर्युक्तमेषां ग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम् ? सामर्थ्यात् तेषामपि ग्रहणं भवति ।

विधानग्रहणात् संख्यासिद्धिरिति चेत्; न; भेदगणनार्थत्वात् ।१५। स्यादेतत्–विधानग्रहणादेव संख्यासिद्धिरिति; तन्न; किं कारणम् ? भेदगणनार्थत्वात् । [1]प्रकारगणनं हि तत्, भेदगणनार्थमिदमुच्यते–'उपशमसम्यग्दृष्टय इयन्तः, क्षायिकसम्यग्दृष्टय एतावन्तः' इति ।

क्षेत्राधिकरणयोरभेद इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।१६। स्यादेतत्–यदेवाधिकरणं तदेव क्षेत्रम्, अतस्तयोरभेदात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? उक्तार्थत्वात् । उक्तमेतत्–सर्वभावाधिगमार्थत्वादिति ।

क्षेत्रे सति स्पर्शनोपलब्धेरम्बुघटवत् पृथग्ग्रहणम् ।१७। यथेह सति घटे क्षेत्रे अम्बुनोऽवस्थानात् [2]नियमाद् घटस्पर्शनम्, नह्येतदस्ति–'घटे अम्बु अवतिष्ठते न च घटं स्पृशति' इति । तथा आकाशक्षेत्रे जीवावस्थानां नियमादाकाशे स्पर्शनमिति क्षेत्राभिधानेनैव स्पर्शनस्यार्थगृहीतत्वात् पृथग्ग्रहणमनर्थकम् ।

न वा, विषयवाचित्वात् ।१८। नवैष दोषः । किं कारणम् ? विषयवाचित्वात् । विषयवाची क्षेत्रशब्दः, यथा राजा जनपदक्षेत्रेऽवतिष्ठते, न च कृत्स्नं जनपदं स्पृशति । स्पर्शनं तु कृत्स्नविषयमिति ।

त्रैकाल्यगोचरत्वाच्च ।१९। यथा साम्प्रतिकेनाम्बुना सांप्रतिकं घटक्षेत्रं स्पृष्टं नातीतानागतम्, नैवमात्मनः सांप्रतिकक्षेत्रस्पर्शने स्पर्शनाभिप्रायः, स्पर्शनस्य त्रिकालगोचरत्वात् ।

स्थितिकालयोरर्थान्तरत्वाभाव इति चेत्; न; मुख्यकालास्तित्वसंप्रत्ययार्थम् ।२०। स्यादेतत्–स्थितिरेव कालः, काल एव च स्थितिरित्यतो नास्त्यनयोरर्थान्तरभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? मुख्यकालास्तित्वसंप्रत्ययार्थं पुनः कालग्रहणम् । द्विविधो हि कालो मुख्यो व्यावहारिकश्चेति । तत्र मुख्यो निश्चयकालः । पर्यायिपर्यायावधिपरिच्छेदो व्यावहारिकः । तयोरुत्तरत्र निर्णयो वक्ष्यते ।

उक्तं च ।२१। किमुक्तम् ? सर्वभावाधिगमहेतुत्वादिति ।

नामादिषु भावग्रहणात् पुनर्भावाग्रहणमिति चेत्; न; औपशमिकाद्यपेक्षत्वात् ।२२। स्यादेतत्–नामादिषु भावग्रहणं कृतं तेनैव सिद्धत्वात् पुनर्भावग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? औपशमिकाद्यपेक्षत्वात् । पूर्वं भावग्रहणं 'द्रव्यं न भवति' इत्येवंपरम्, इदं तु औपशमिकादिवक्ष्यमाणभावापेक्षम्–'किं सम्यग्दर्शनमौपशमिकं क्षायिकम्' इत्यादि ।

विनेयाशयवशो वा तत्त्वाधिगमहेतुविकल्पः ।२३। अथवा, सर्वेषामेव परिहारः–विनेयाशयवशो हि तत्त्वाधिगमहेतुविकल्पो वेदितव्यः । केचित् संक्षेपेण प्रतिपाद्याः, केचिद्विस्तरेण[3] केचिदनतिसंक्षेपेण केचिदनतिविस्तरेण । इतरथा हि प्रमाणग्रहणादेव सिद्धेरितरेषामधिगमोपायानां ग्रहणमनर्थकं स्यादिति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये पञ्चममाह्निकम् ॥५॥

१ संख्या हि गणनामात्ररूपा व्यापिनी, विधानं तु प्रकारगणनारूपम् । तथोक्तम्– गणनामात्ररूपेयं संख्योक्ताऽतः कथञ्चन । भिन्ना विधानतो भेदगणनालक्षणाहिह ॥ इति । २ तन्नि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –ण इत– आ०, ब०, द०, मु० । –ण केचिदनतिसंक्षेपेणानतिविस्तरेण इ– अ० ।

एवं सम्यग्दर्शनस्यादावुद्दिष्टस्य[1] लक्षणोत्पत्तिस्वामिविषयन्यासाधिगमोपाया निर्दिष्टाः, तत्संबन्धेन च जीवादीनां संज्ञापरिणामादि[2]र्निर्दिष्टः। तदनन्तरमिदानीं सम्यग्ज्ञानं विचारार्हमित्याह–

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

मत्यादय इति क एते शब्दाः ?

मतिशब्दो भावकर्तृकरणसाधनः ।१। अयं मतिशब्दो भावकर्तृकरणेष्वन्यतमसाधनो वेदितव्यः। मनेर्भावसाधने क्तिः। तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमर्थस्य मननं मतिः औदासीन्येन तत्त्वकथनात्। बहुलापेक्षया कर्तृसाधनः करणसाधनो वा, 'मनुतेऽर्थान् मन्यतेऽनेन' इति वा मतिः, भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः।

श्रुतशब्दः कर्मसाधनश्च ।२। किञ्च पूर्वोक्तविषयसाधनश्चेति वर्तते। श्रुतावरणक्षयोपशमा[3]द्यन्तरङ्गबहिरङ्गहेतुसन्निधाने सति [4]श्रूयते स्मेति श्रुतम्। कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव [5]शृणोतीति श्रुतम्। भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा।

अवपूर्वस्य दधातेः कर्मादिसाधनः किः[6] ।३। कर्मादिषु साधनेष्वन्यतमे किरयं वेदितव्यः। अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने [7]सति अवाग् धीयते अवाग्दधाति अवाग्धानमात्रं वाऽवधिः। [8]अवशब्दोऽधःपर्यायवचनः, यथा 'अधःक्षेपणम् अवक्षेपणम्' इति। [9]अधोगतभूयोद्रव्यविषयो ह्यवधिः। अथवा, अवधिर्मर्यादा, अवधिना प्रतिबद्धं ज्ञानमवधिज्ञानम्। तथाहि वक्ष्यते– *"रूपिष्ववधेः" [त० सू० १।२७] इति। [10]सर्वेषां प्रसङ्ग इति चेत्; न; रूढिवशाद् व्यवस्थोपपत्तेर्गोशब्द[11]प्रवृत्तिवत्।

मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानं मनःपर्ययः ।४। तदावरणकर्मक्षयोपशमादिद्वितयनिमित्तवशात् परकीयमनोगतार्थज्ञानं मनःपर्ययः। भावादिसाधनत्वं पूर्ववद्वेदितव्यम्। कथं मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानमिति ? अत्रोच्यते–परकीयमनसि गतोऽर्थः 'मनः' इत्युच्यते, तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति। स च कः मनोगतोऽर्थः ? भावघटादिः,[12] तमर्थं समन्तादेत्य अवलम्ब्य वा स्वप्रसादादात्मनो ज्ञानं मनःपर्ययः।

मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत्; न; अपेक्षामात्रत्वात् ।५। स्यादेतत्–[13]मनःपर्ययज्ञानं मतिज्ञानं प्राप्तम्। कुतः ? मनोनिमित्तत्वात्। एवं ह्यार्षी प्रक्रिया[14] मनसा मनः संपरिचिन्त्येति; तन्न; किं कारणम् ? अपेक्षामात्रत्वात्। स्वपरमनोऽपेक्षामात्रं तत्र क्रियते यथा 'अभ्रे[15] चन्द्रमसं पश्य' इति, न [16]तत्कार्यं मतिज्ञानवत्, आत्मशुद्धिनिमित्तत्वादे[17]स्तस्येति।

बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषान् यदर्थं केवन्ते तत्केवलम् ।६। तपःक्रियाविशेषान् वाङ्मनसकायाश्रयान् [18]बाह्यानाभ्यन्तरांश्च यदर्थमर्थिनः केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्।

---

१ –दावुपदिष्टस्य ता०, श्र०, द०। २ –दि निर्दिष्टम् आ०, ब०, द०, मु०। ३ आदिशब्देन वीर्यान्तरायादिकस्य क्षयोपशमादिकं गृह्यते। ४ कर्मसाधनोऽयं ज्ञायते। स्वसंवेदनेन। ५ जानाति। ६ द्योः किः इति। ७ सत्यवधीयते आ०, ब०, द०, मु०। अवशब्दार्थोद्योतकोऽयमवाक्शब्दः। ८ अवधिशब्दो मु०, द०, ब०, आ०, ता०, श्र०, मू०। ९ कल्पना स्याधि (?) भवप्रत्ययस्यापेक्षया व्युत्पत्तिरियं रूढिशब्दत्वादन्यत्रापि। १० मत्यादिमनःपर्ययान्तानाम्, तेषां मननमात्रसद्भावात्। ११ यथा गच्छतीति गौरित्युक्ते गमनक्रिया अश्वादिष्वपि वर्तते, न गोष्ठे (स्थितायां गवि?)। १२ ज्ञानविषयत्वात्। १३–पर्याय– श्र०। १४ तुलना–"मणेण माणसं पडिविंदइत्ता···"–महाबंध पृ० २४। १५ मेघे। १६ मनसः। १७ –देवतस्येति ता०, श्र०। १८ बाह्याभ्यन्तरा– ता०, श्र०, द०।

अव्युत्पन्नो वाऽसहायार्थः केवलशब्दः ।७। 'यथा केवलमन्नं भुङ्क्ते देवदत्तः' इति 'असहायं व्यञ्जनरहितं भुङ्क्ते' इति गम्यते, तथा क्षायोपशमिकज्ञानासंपृक्तम् असहायं केवलम् इत्यव्युत्पन्नोऽयं शब्दो द्रष्टव्यः।

करणादिसाधनो ज्ञानशब्दो व्याख्यातः ।८। अयं ज्ञानशब्दः करणादिसाधन इति व्याख्यातः पुरस्तात्।

इतरेषां तदभावः ।९। इतरेषामेकान्तवादिनां तस्य ज्ञानस्य करणादिसाधनत्वं नोपपद्यते। तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

आत्माभावे ज्ञानस्य करणादित्वानुपपत्तिः कर्तुरभावात् ।१०। येषामात्मा न विद्यते तेषां ज्ञानस्य करणादित्वं नोपपद्यते। कुत ? कर्तुरभावात्। सति हि देवदत्ते छेत्तरि परशोः करणत्वं दृष्टम्। तथा चात्मन्यसति नास्य[1] करणत्वम्। तत एव भावसाधनत्वमपि नोपपद्यते– 'ज्ञातिर्ज्ञानम्' इति। न ह्यसति भाववति[2] भाव इति।

स्यादेतत्–जानातीति ज्ञानमिति कर्तृसाधनत्वमिति; तन्न; निरीहकत्वात्[3]। न हि निरीहको भावः कर्तृत्वमास्कन्दति। निरीहकाश्च[4] सर्वे भावाः।

किञ्च, पूर्वोत्तरापेक्षस्य लोके कर्तृत्वं दृष्टम्। न च तस्य ज्ञानस्य पूर्वोत्तरापेक्षास्ति क्षणिकत्वात्, अतो निरपेक्षस्य कर्तृत्वाभावः।

किञ्च, करणव्यापरापेक्षस्य लोके कर्तृत्वं दृष्टम्। न च ज्ञानस्यान्यत् करणमस्ति। अतोऽस्य कर्तृत्वमपि नोपपद्यते। स्वशक्तिरेव करणमिति चेत्; न; शक्तिशक्तिमद्भेदाभ्युपगमे आत्मास्तित्वसिद्धेः। अभेदे च स [5]दोषस्तदवस्थ एवेति। सन्तानापेक्षया कर्तृकरणभेदोपचार इति चेत्; न; परमार्थविपरीतत्वे मृषावादोपपत्तेः, भेदाभेदविकल्पनयोरुक्तदोषप्रसङ्गाच्च। मनश्चेन्द्रियञ्चास्य करणमिति चेत्; न; तस्य तच्छक्त्यभावात्। मनस्तावन्न करणम्; विनष्टत्वात् *"**षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः**[6]" [अभिध० १।१७] इति वचनात्। नेन्द्रियमप्यतीतम्; तत[7] एव। नाप्युपजायमानस्य[8] करणत्वम्। नहि सव्यविषाणं युगपदुपजायमानमितरस्य विषाणस्य करणं भवति।

किञ्च, प्रकृत्यर्थादन्यस्याभावात्। 'ज्ञा' इत्यस्याः प्रकृतेरवबोधनमर्थः, न तस्मादन्यः कश्चिदर्थोऽस्ति यः कर्तृत्वमनुभवेत्, अतोऽस्य कर्तृत्वाभावः।

किञ्च, एकक्षणविषयं यत्कर्तृत्वं तदनेकक्षणगोचरोच्चारणलब्धजन्मना कर्तृशब्देन कथमुच्यते ? कथं वाऽयमेकक्षणेऽसन् वाचकः स्यात् ? सन्तानावस्थानाद् वाच्यवाचक[9]भावसंबन्ध इति चेत्; न; तस्य [10]प्रतिविहितत्वात्।

अथ मतमेतत्–खात्पतिता नो रत्नवृष्टिः, अवाच्यमेव हि तत्त्वमिष्यते। अव्यापारेषु हि सर्वधर्मेषु वाग्व्यवहारो नास्त्येवेति; तदपि नोपपद्यते; स्ववचनविरोधात्, तत्त्वप्रतिपत्त्युपायापह्नवप्रसङ्गाच्च।

किञ्च, जानातीति ज्ञानमिति कर्तृसाधनत्वं नोपपद्यते। कुतः ? विशेषानुपलब्धेः।

---

१ ज्ञानस्य। २ आत्मनि। आत्माभावे तद्धर्मो न घटत इति यावत्– ता० टि०। ३ निर्व्यापारत्वात्, वाञ्छा तावदात्मन्येव वर्तते न तु ज्ञाने –ता० टि०। ४ यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः। न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥ इति भवन्मते प्रतिपादनात्। ५ कर्तृत्वाभावदोषः। ६ "चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमनोविज्ञानानाम् अनन्तरमतीतं (पूर्वकालिकं) च यद्विज्ञानं तदेव मन इत्युच्यते। यथैक एव पुरुषः पितापि पुत्रोपि, एकमेव बीजं धान्यमपि बीजमपि।"– अभि० व्या० १।१७। सम्या०–। ७ विनष्टत्वादेव। ८ युगपत् –ता० टि०। ९ –क स– श्र०। १० निराकृतत्वात्।

येन हि कर्तृसाधनत्वमवगतं करणादिसाधनत्वं च तेनेदं युज्यते वक्तुम्–'कर्तृसाधनमिदं न करणादिसाधनम्' इति । नच क्षणिकवादिनः प्रत्यर्थवशवर्तिज्ञानविकल्पनायाम् अनवधारितोभयस्वभावस्य तद्विशेषोपलब्धिरस्ति । न हि शुक्लेतरविशेषानभिज्ञस्य 'शुक्लमिदं न नीलादि' इति विशेषणमुपपद्यते ।

अस्तित्वेऽप्यविक्रियस्य तदभावः, अनभिसंबन्धात् ।११। आत्मनः अस्तित्वेऽपि ज्ञानस्य [1]करणाद्यभावः । कुतः ? अनभिसंबन्धात् । [2]यस्य मतम्–आत्मनो ज्ञानाख्यो गुणः, तस्माच्चार्थान्तरभूतः, *"आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् यन्निष्पद्यते तदन्यत्" [वैशे० सू० ३।१।१८] इति वचनादिति; तस्य ज्ञानं करणं न भवितुमर्हति । कुतः ? पृथगात्मलाभाभावात् । दृष्टो हि लोके छेत्तुर्देवदत्ताद् अर्थान्तरभूतस्य परशोः तैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्यादिविशेषलक्षणोपेतस्य सतः करणभावः, नच तथा ज्ञानस्य स्वरूपं पृथगुपलभामहे ।

किञ्च, अपेक्षाभावात् । दृष्टो हि परशोः देवदत्ताधिष्ठितो[3]द्यमननिपातनापेक्षस्य करणभावः, न च तथा ज्ञानेन किञ्चित्कर्तृसाध्यं क्रियान्तर[4]मपेक्ष्यमस्ति ।

किञ्च, तत्परिणामाभावात् । छेदनक्रियापरिणतेन हि देवदत्तेन तत्क्रियायाः साचिव्ये नियुज्यमानः परशुः 'करणम्' इत्येतद्युक्तम्, न च तथा आत्मा ज्ञानक्रियापरिणतः ।

[5]अर्थान्तरत्वे तस्याऽज्ञत्वात् । इह यज्ज्ञानादन्यद्भवति तदज्ञं दृष्टं यथा घटादिद्रव्यम्, तथा च ज्ञानादन्य आत्मा इत्यज्ञत्वप्रसङ्गः । ज्ञानयोगाज्ज्ञत्वं दृष्टत्वात् दण्डिवदिति चेत्; न; तत्स्वभावाभावे संबन्धनियमानुपपत्तिः इन्द्रियमनोवत् । ज्ञस्वभावाभावे सति 'आत्मन्येव योगो न मनसेन्द्रियेण वा' इति नियमाभावः । युतसिद्धयोश्च दण्डदण्डिनोः संबन्धः, दण्डस्य च प्रसिद्धस्य सतो विशेषणमात्रत्वेनोपादानात्, आत्मनश्च तदुत्पत्तौ हिताहितविचारणाविक्रिया[6]नुपपत्तेरसाम्यम् । उभयोश्चाज्ञयोः संबन्धेऽप्यज्ञत्वप्रसङ्गः, दृष्टत्वात्, जात्यन्धयोः संबन्धे दर्शनशक्त्यभावात् ।

किञ्च, इन्द्रियमनःप्रसङ्गात् । यदि 'ज्ञायतेऽनेन ज्ञानम्' इति करणमभ्युपगम्यते, तेनेन्द्रियाणां मनसश्च [7]ज्ञानत्वप्रसङ्गः विशेषाभावात्, तैरपि ज्ञायत इति ।

किञ्च, उभयोर्निष्क्रियत्वात् । सर्वगतस्य तावदात्मनः क्रिया नास्ति, नापि ज्ञानस्य । *"क्रियावत्त्वं द्रव्यस्यैव [8]लक्षणम्" [ ] इति वचनात् । ततः क्रियाविरहितस्य कथं कर्तृत्वं करणत्वं वा स्यात् ?

[9]यस्यापि [10]मतम्–'अनित्यगुणव्यतिरेकाच्छुद्धः पुरुषो नित्यश्च निर्विकारत्वात्' इति; तस्य ज्ञानं करणं न भवतुमर्हति । कुतः ? अनभिसंबन्धात् । या बुद्धिः इन्द्रियमनोऽहङ्कारमहद्वृत्त्युपनीता आलोचनसंकल्पाभिमानाध्यवसायरूपा सा प्रकृतिः, पुरुषः पुनरविक्रियः[11] शुद्धश्च, तस्य सा करणं कथं स्यात् ? क्रियापरिणतस्य हि देवदत्तस्य लोके करणसंप्रयोगो दृष्टः । इत्येवमादि योज्यम् ।

नापि कर्तृसाधनत्वं युज्यते । लोके हि करणत्वेन प्रसिद्धस्यासेः तत्प्रशंसापरायामभिधानप्रवृत्तौ [12]समीक्षितायां 'तैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्याहितविशेषोऽयमेव छिनत्ति' इति कर्तृधर्मा-

१ करणत्वाभाव इति वा पाठः –श्र० टि० । २ वैशेषिकस्य । ३ उत्पतन । ४ –रं समपेक्ष्य– मु०, द०, आ०, ब० । ५ अन्यत्वे । ६ –क्रियोपपत्ते– आ०, ब्र०, द०, मु० । ७ ज्ञानत्र– श्र०, ता० । ८ तुलना–"क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" –वैशे० सू० १।१।१५ । ९ सांख्यस्यापि ।- १० मतमन्यत् गु– आ०, ब०, द०, मु० । ११ नित्यत्वात् । १२ विवक्षितायाम् ।

ध्यारोपः क्रियते, न च तथा ज्ञानं करणत्वेन प्रसिद्धमस्ति पूर्वदोषोपपत्तेः । अतोऽस्य कर्तृत्वमयुक्तम् ।

नच भावसाधनत्वमुपपत्तिमत्; अविक्रियस्य तत्परिणामाभावात् । विक्रियास्वभावस्य[1] हि वस्तुनस्तण्डुलादेः विक्लेदादिदर्शनात्, 'पचनं पाकः' इत्येवमादि भावनिर्देशो युक्तः नाकाशस्येति ।

किञ्च, फलाभावात् । ज्ञानं हि प्रमाणमिष्टम् । प्रमाणेन च फलवता भवितव्यम् । न चावबोधनमन्तरेण फलमन्यदुपलभ्यते । तस्मादन्येन ज्ञानेन भवितव्यं यस्मिन् सति सा ज्ञातिरवबोधः फलमात्मनो भवति, तच्च नास्त्यतो न भावसाधनत्वम् ।

अधिगमश्चात्र न भावान्तरमिति 'फले प्रामाण्योपचारः' इति चाऽयुक्तम्; मुख्याभावात् । आकारभेदात् फलप्रमाणपरिकल्पना चाऽयुक्ता; आकाराकारवतोर्भेदाभेदयोरनेकदोषोपपत्तेः । निर्विकल्पकत्वाच्च तत्त्वस्य आकारकल्पनाभावः । बाह्यवस्त्वाकारापोहे अन्तरङ्गाकारानुपपत्तिश्चेति । जैनेन्द्राणां तु परमर्षिसर्वज्ञप्रणीतनयभङ्गगहनप्रपञ्चविपश्चितां स्याद्वादप्रकाशोन्मीलितज्ञानचक्षुषाम् एकस्मिन्नप्यर्थेऽनेकपर्यायसंभवादुपपद्यते इति [2]विमृष्टार्थमेतत् ।

मत्यादीनां ज्ञानशब्देन प्रत्येकमभिसंबन्धो भुजिवत् ।१२। यथा 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्ताम्' इति देवदत्तादीनां भुजिना प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति, एवमिहापि प्रत्येकमभिसंबन्धः–'मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानम्' इति । सत्यपि [3]तत्सामानाधिकरण्ये 'उपात्तलिङ्गसंख्या[4]त्वात्[5]लिङ्गसंख्योपादानं नास्ति' इत्युक्तं पुरस्तात् ।

स्वन्तत्वाद् अल्पाच्तरत्वाद् अल्पविषयत्वाच्च मतिग्रहणमादौ ।१३। 'मतिः' इत्येतत् पदं स्वन्तम्[6] अल्पाच्तरं च अवध्यादिभ्यो विषयश्चास्याल्पः चक्षुरादीनां प्रतिनियतविषयत्वात्, तस्मादस्यादौ ग्रहणं क्रियते ।

तदनन्तरम् [7]श्रुतम् तत्पूर्वकत्वात् ।१४। *"मतिपूर्वं हि श्रुतम्" [त० सू० १।२०] इति वक्ष्यते । ततस्तदनन्तरं श्रुतं क्रियते । इतश्च[8]–

विषयनिबन्धनतुल्यत्वाच्च ।१५। *"मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" [त० सू० १।२६] इति वक्ष्यते, अतस्तत्तुल्यत्वाच्च तदनन्तरं श्रुतम् ।

तत्सहायत्वाच्च ।१६। यथा नारदपर्वतयोः सहायत्वात् यत्र नारदस्तत्र पर्वतः, यत्र पर्वतस्तत्र नारदः परस्परापरित्यागात्, तथा मतिश्रुतयोः परस्परापरित्यागः–'यत्र मतिस्तत्र श्रुतं यत्र श्रुतं तत्र मतिः' इति ।

प्रत्यक्षत्रयस्यादाववधिवचनम्, विशुद्ध्यभावात् ।१७। सत्यपि मतिश्रुताभ्यां [9]प्रत्यक्षत्वाद् [10]विशुद्धत्वेऽवधेः औपरिष्टं[11] प्रत्यक्षज्ञानमपेक्ष्यावधिर्न विशुद्धस्ततोऽस्य प्रागुपन्यासः ।

ततो विशुद्धतरत्वात् मनःपर्ययग्रहणम् ।१८। ततोऽवधेर्मनःपर्ययज्ञानं विशुद्धतरम् । [12]किं कृतोऽस्य विशुद्धिप्रकर्षः ? संयमगुणसन्निधानकृतः । अतोऽस्य तदनन्तरं ग्रहणम् ।

अन्ते केवलग्रहणम्, ततः परं ज्ञानप्रकर्षाभावात् ।१९। सर्वेषां ज्ञानानां परिच्छेदने

१ –स्वाभाव्यस्य श्र० । २ परामृष्टार्थम् । ३ मत्यादिभिः । ४ ज्ञानस्य । ५ मत्यादि । ६ स्वमते इदुदन्तस्य सुरिति संज्ञा । घिसंज्ञकमित्यर्थः –सम्पा० । ७ श्रुतं तत्पूर्वं हि आ०, ब०, द०, मु० । ८ वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः । ९ –शुद्धित्वे ता०, श्र० । १० औपदिष्टम् आ०, मु०, द० । उपरिभवम् । ११ केन कृतः ।

[1]केवलस्य सामर्थ्यात्, अस्य चान्येन ज्ञानेनाऽपरिच्छेद्यत्वात् नातोऽन्यत्प्रकृष्टं ज्ञानमस्तीति, ततः परं ज्ञानप्रकर्षाभावः ।

तेनैव सह निर्वाणाच्च ।२०। यतश्च केवलेनैव सह निर्वाणं न क्षायोपशमिकज्ञानैः सह, अतोऽन्ते केवलग्रहणम् । कश्चिदाह–

मतिश्रुतयोरेकत्वम्; साहचर्यादेकत्रावस्थानाच्चाऽविशेषात् ।२१। मतिश्रुतयोरेकत्वं प्राप्नोति । कुतः ? साहचर्यात्, एकत्रावस्थानाच्च अविशेषात् ।

न; अतस्तत्सिद्धेः ।२२। नाविशेषः । कुतः ? अतस्तत्सिद्धेः । यत एव मतिश्रुतयोः साहचर्यमेकत्रावस्थानं चोच्यते अत एव [2]विशेषः सिद्धः । प्रतिनियतविशेषसिद्धयोर्हि साहचर्यमेकत्रावस्थानं च युज्यते, नान्यथेति ।

तत्पूर्वकत्वाच्च ।२३। *"**मतिपूर्वं श्रुतम्**" [त० सू० १।२०] इति वक्ष्यते । ततश्चानयोर्विशेषः । यत्पूर्वं यच्च पश्चात्तयोः कथमविशेषः ?

तत एवाविशेषः, कारणसदृशत्वात् युगपद्वृत्तेश्चेति चेत्; न; अत एव नानात्वात् ।२४। स्यादेतत्–यतो मतिपूर्वकत्वमत एवाविशेषः । कुतः ? कारणसदृशत्वात् कार्यस्य । कथम् ? तन्तुपटवत् । यथा शुक्लादितन्तुकार्यं पटद्रव्यं शुक्लादिगुणमेव, तथा मतिकार्यत्वाच्छ्रुतस्यापि मत्यात्मकत्वम् । युगपद्वृत्तेश्च । यथा अग्नौ औष्ण्यप्रकाशनयोर्युगपद्वृत्तेः अग्न्यात्मकत्वम्, तथा सम्यग्दर्शनाविर्भावादनन्तरं युगपन्मतिश्रुतयोर्ज्ञानव्यपदेश[3]वृत्तेरविशेष इति; तन्न; किं कारणम्? अत एव नानात्वात् । यत एव कारणसदृशत्वं युगपद्वृत्तिश्च चोद्यते अत एव नानात्वं सिद्धम् । द्वयोर्हि सादृश्यं [4]युगपद्वृत्तिश्चेति ।

विषयाविशेषादिति चेत्, न; ग्रहणभेदात् ।२५। स्यादेतत्–विषयाविशेषात् मतिश्रुतयोरेकत्वम् । एवं हि वक्ष्यते–*"**मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु**" [त० सू० १।२६] इति; तन्न; किं कारणम् ? ग्रहणभेदात् । अन्यथा हि मत्या गृह्यते अन्यथा श्रुतेन । यो हि मन्यते 'विषयाभेदादविशेषः' इति; तस्य एकवटविषयदर्शनस्पर्शनाविशेषः स्यात् ।

उभयोरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वादिति चेत्; न; असिद्धत्वात् ।२६। स्यादेतत्–उभयोरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वादेकत्वम् । मतिज्ञानं [5]तावत् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति प्रतीतम्, श्रुतमपि वक्तृश्रोतृजिह्वाश्रवणनिमित्तत्वादन्तःकरणनिमित्तत्वाच्च तदुभयनिमित्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? असिद्धत्वात् । जिह्वा हि शब्दोच्चारक्रियाया निमित्तं न ज्ञानस्य, श्रवणमपि स्वविषयमतिज्ञाननिमित्तं न श्रुतस्य, इत्युभयनिमित्तत्वमसिद्धम् । सिद्धो हि हेतुः साध्यमर्थं साधयेन्नासिद्धः । किन्निमित्तं तर्हि श्रुतम् ?

अनिन्द्रियनिमित्तोऽर्थावगमः श्रुतम् ।२७। इन्द्रियानिन्द्रियबलाधानात् पूर्वमुपलब्धेऽर्थे नोइन्द्रियप्राधान्यात् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् श्रुतम् ।

ईहादिप्रसङ्ग इति चेत्; न; अवगृहीतमात्रविषयत्वात् ।२८। स्यादेतत्–ईहादीनामपि श्रुतव्यपदेशः प्राप्तः, तेऽप्यनिन्द्रियनिमित्ता इति; तन्न; किं कारणम् ? अवगृहीतमात्रविषयत्वात् । इन्द्रियेणावगृहीतो योऽर्थस्तन्मात्रविषया ईहादयः, श्रुतं पुनर्न तद्विषयम् । किं विषयं तर्हि श्रुतम् ? अपूर्वविषयम् । एकं घटमिन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां निश्चित्याऽयं घट इति तज्जातीयमन्यमनेकदेशकालरूपादिविलक्षणमपूर्वमधिगच्छति यत्तत् श्रुतम् ।

१ केवलसा– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ भेदः । ३ –व्यपदेश इति आ०, ब०, द०, मु० । कुमुतिकुश्रुतयोः सम्यग्ज्ञानव्यपदेशवृत्तेरभेदः। ४ देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्ता युगदायाता इति । ५ तावत्तद्विन्द्रि– ता०,श्र०।

नानाप्रकारार्थप्ररूपणपरं यत् तद्वा श्रुतम् ।२९। अथवा, इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यामेकं जीवमजीवं चोपलभ्य तत्र सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वादिभिः प्रकारैरर्थप्ररूपणे कर्तव्ये यत्समर्थं तत् श्रुतम् ।

श्रुत्वाऽवधारणात् श्रुतमिति चेत्; न; मतिज्ञानप्रसङ्गात् ।३०। श्रुत्वा यदवधारयति तत् श्रुतमिति केचिन्मन्यन्ते; तन्न युक्तम्; कुतः ? मतिज्ञानप्रसङ्गात् । तदपि शब्दं श्रुत्वा 'गोशब्दोऽयम्' इति प्रतिपद्यते । असाधारणेन नाम लक्षणेन भवितव्यम् । श्रुतं पुनस्तस्मिन्निन्द्रियानिन्द्रियगृहीतागृहीतपर्यायसमूहात्मनि शब्दे तदभिधेये च श्रोत्रेन्द्रियव्यापारमन्तरेण जीवादौ नयादिभिरधिगमोपायैर्याथात्म्येनाऽवबोधः ।

"प्रमाणनयैरधिगमः" [त० सू० १।६] इत्युक्तम् । 'प्रमाणं च केषाञ्चित् ज्ञानमभिमतम्, केषाञ्चित् सन्निकर्षः' इति, अतोऽधिकृतानामेव मत्यादीनां प्रमाणत्वख्यापनार्थमाह–

तत्प्रमाणे ॥१०॥

प्रमाणशब्दस्य कोऽर्थः ?

भावकर्तृकरणत्वोपपत्तेः प्रमाणशब्दस्य इच्छातोऽर्थाध्यवसायः ।१। अयं प्रमाणशब्दः भावे कर्तरि करणे च वर्तते । तत्र भावे तावत् प्रमेयार्थं प्रति निवृत्तव्यापारस्य तत्त्वकथनात् प्रमा प्रमाणमिति । कर्तरि प्रमेयार्थं प्रति प्रमातृत्वशक्तिपरिणतस्याश्रितत्वात्[2] प्रमिणोति प्रमेयमिति प्रमाणम् । करणे [3]प्रमातृप्रमाणयोः प्रमाणप्रमेययोश्च स्यादन्यत्वात् प्रमिणोत्यनेनेति प्रमाणम् ।

अनवस्थेति चेत्; न; दृष्टत्वात् प्रदीपवत् ।२। स्यान्मतम्–इदमिह संप्रधार्यं प्रमाणसिद्धिः परतो वा स्यात्, स्वत एव वेति ? यदि यथा प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाधीना[4] एवं प्रमाणसिद्धिरपि प्रमाणान्तराधीनेति, तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यदित्यनवस्था । अथ स्वत एव सिद्धिः; एवमपि यथा प्रमाणस्य स्वत एव सिद्धिस्तथा प्रमेयस्यापि [5]प्रमेयात्मन एव सिद्धिरिति प्रमाणव्यवस्थाकल्पना न घटते । [6]इच्छामात्रत्वं (त्वे) विशेषहेतुवचनं चेति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्टत्वात् प्रदीपवत् । दृष्टो हि प्रदीपो घटादीनां प्रकाशकः स्वस्य च, तथा प्रमाणमपि[7] इति ।

अथवा, अयमपरोऽर्थः--यदि भावकर्तृकरणानामन्यतमसाधनः प्रमाणशब्दः; अनवस्था प्राप्नोति[8]। [9]न हचेकस्मिन्नर्थात्मनि विरुद्धशक्त्यवस्थानमिति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्टत्वात् प्रदीपवत् । यथैकस्य प्रदीपस्य 'प्रदीपनं प्रदीपयति प्रदीप्यतेऽनेन' इति वा भावादिशक्त्यविरोधः तथा प्रमाणस्यापि इति[10] ।

इतरथा हि प्रमाणव्यपदेशाभावः ।३। यदि प्रमाणं स्वस्याप्रकाशकं स्यात् परसंवेद्यत्वात् अस्य प्रमाणव्यपदेशो न स्यात् ।

विषयज्ञानतद्विज्ञानयोरविशेषः ।४। विषयाकारपरिच्छेदात्मनि ज्ञाने यदि स्वाकारपरिच्छेदो न स्यात् [11]तद्विषये विज्ञाने विषयाकाररूपतैवेति तयोरविशेषः स्यात् ।

१ अङ्गीकृतत्वात् । २ प्रमातृप्रमेययोः आ०, ब०, द०, मु० । ३ प्रमाणादर्थसंसिद्धिरिति वचनात् । ४ स्वरूपतः । ५ इच्छामात्रवि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –णमिति ता० । ७ न चैवं सर्वेषु तस्य विवक्षितत्वात् । ८ तथा सति विरोध इत्याह न विरोध इति, नेति परिहरति । ९ समत्वम्– ता० टि० । १० विषयभूते वस्तुनि तद्ग्राहके च विज्ञाने । तद्विषये– घटज्ञानविषयके घटज्ञानेऽपि विषयाकारतैवेति तयोः घटज्ञान–घटज्ञानज्ञानयोः अभेदः प्राप्नोति । तुलना– "विषय–ज्ञानतज्ज्ञानभेदाद् बुद्धेर्द्विरूपता ।" –प्रमाणसमु० १ । १२ । –सम्पा० ।

स्मृत्यभावप्रसङ्गश्च ।५। न ह्यनुपलब्धपूर्वेऽर्थे 'स एवायम्' इति स्मृतिर्भवति यदि च विज्ञानं स्वात्मानं न विजानीयात् । उत्तरकालम् अनधिगतस्वात्मविज्ञानः कथं ब्रूयात् 'ज्ञोऽहम्' इति ? ततः स्मृतेरभावः स्यात् ।

फलाभाव इति चेत्; न; अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात् ।६। स्यादेतत्--भावसाधने प्रमाणे प्रमैव प्रमाणमिति न फलमन्यदुपलभ्यत इति फलाभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात् । ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य [1]करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते, सा फलमित्युच्यते ।

उपेक्षाऽज्ञाननाशो वा ।७। रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा, अज्ञाननाशो वा फलमित्युच्यते ।

ज्ञातृप्रमाणयोरन्यत्वमिति चेत्; न; अज्ञत्वप्रसङ्गात् ।८। स्यान्मतम्–'प्रमिणोत्यात्मानं परं वा प्रमाणम्' इति कर्तृसाधनत्वमयुक्तम्; यस्मादन्यत्प्रमाणं ज्ञानम्, स च गुणः, अन्यश्च प्रमाता आत्मा स च गुणी, गुणिगुणयोश्चाऽन्यत्वं द्रव्यरूपवत् । तथा च *"**आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्**" [वैशे. सू. ३/१/१८] इति वचनात् अन्यत्प्रमाणम् अन्यः प्रमाता, ततः करणसाधनत्वमेव युक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? अज्ञत्वप्रसङ्गात् । यदि ज्ञानादन्य आत्मा, तस्याऽज्ञत्वं प्राप्नोति घटवत् ।

ज्ञानयोगादिति चेत्; न; अतत्स्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभावः अन्धप्रदीपसंयोगवत् ।९। स्यादेतत्–ज्ञानयोगाज्ज्ञातृत्वं भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? अतत्स्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभावः । कथम् ? अन्धप्रदीपसंयोगवत् । यथा जात्यन्धस्य प्रदीपसंयोगेऽपि न द्रष्टृत्वं तथा ज्ञानयोगेऽपि अज्ञस्वभावस्यात्मनो न ज्ञातृत्वम् ।

प्रमाणप्रमेययोरन्यत्वमिति चेत्; न; अनवस्थानात् ।१०। स्यान्मतम्--अन्यत् प्रमाणमन्यत् प्रमेयम् । कुतः ? लक्षणभेदात् दीपघटवत् इति; तन्न; किं कारणम् ? अनवस्थानात् । यदि यथा [2]बाह्यप्रमेयाकारात् प्रमाणमन्यत् तथाभ्यन्तर[3]प्रमेयाकारादप्यन्यत् स्यात्, अनवस्थाऽस्य स्यात् ।

प्रकाशवदिति चेत्; न; प्रतिज्ञाहानेः ।११। तत्रैतत्स्यात्--नानवस्थादोषः । कथम् ? प्रकाशवत् । यथा प्रकाशस्य घटादीनामात्मनश्च प्रकाशकस्य नानवस्थादोषः एवमिहापीति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतिज्ञाहानेः । प्रकाशो हि [4]स्वात्मनोऽनन्यः स्वपरप्रकाशने समर्थः प्रदर्श्यमानः प्रमाणप्रमेययोरन्यत्वप्रतिज्ञां हापयति ।

[5]अनन्यत्वमेवेति चेत्; न; उभयाभावप्रसङ्गात् ।१२। यद्यन्यत्वे दोषोऽनन्यत्वं तर्हि ज्ञातृप्रमाणयोः प्रमाणप्रमेययोश्चेति; तन्न; किं कारणम् ? उभयाभावप्रसङ्गात् । यदि ज्ञातुरनन्यत्प्रमाणं प्रमाणाच्च प्रमेयम्; अन्यतराभावे तदविनाभाविनोऽवशिष्टस्याप्यभाव इत्युभयाभावप्रसङ्गः । कथं तर्हि सिद्धिः ?

अनेकान्तात्सिद्धिः ।१३। स्यादन्यत्वं स्यादनन्यत्वमित्यादि । संज्ञालक्षणादिभेदात् स्यादन्यत्वम्, व्यतिरेकेणानुपलब्धेः स्यादनन्यत्वमित्यादि । ततः सिद्धमेतत्–'प्रमेयं नियमात् प्रमेयम्, प्रमाणं तु स्यात्प्रमाणं स्यात्प्रमेयम्' इति ।

---

१ करणलम्बनार्थ– श्र० । २ बाह्यात् प्र– आ०, ब०, द०, मु० । ३ भावघट इत्यर्थः । ४ वादिनस्तवेत्यर्थः । स्वात्मनोऽनाशः श्र०, ता०, ब० । स्वात्मनो भासः आ० । स्वात्मनो स्वपर–मु० । ५ अथ मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठते ।

वक्ष्यमाणभेदापेक्षया द्वित्वनिर्देशः ।१४। * "**आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत्**" । [त० सू० १।११,१२] इति वक्ष्यते । तदपेक्षया 'प्रमाणे' इति द्वित्वनिर्देशः क्रियते[1] ।

तद्वचनं सन्निकर्षादिनिवृत्त्यर्थम् ।१५। तत् मत्यादिज्ञानं वर्णितं प्रमाणव्यपदेशं लभते न सन्निकर्षादीनि । अथ सनिकर्षादेः प्रमाणत्वे को दोषः ?

सन्निकर्षे प्रमाणे सकलपदार्थपरिच्छेदाभावः तदभावात् ।१६। यस्य[2] मतम्–सन्निकर्षः प्रमाणम्, अर्थाधिगमः फलमिति; तस्य सकलपदार्थपरिच्छेदो नास्ति । कुतः ? तदभावात् । तस्य सन्निकर्षस्याभावात् । कथमिति चेत् ? उच्यते–येन केनचित्सर्वज्ञेन भवितव्यम् । तस्यार्थपरिच्छेदहेतुर्यदि सन्निकर्षः; स चतुष्टयत्रयद्वयविषयः स्यात् । तत्र चतुष्टयविषयस्त्रयविषयश्च न संभवति; मनस इन्द्रियाणां चाऽयुगपत्प्रवृत्तित्वात्, प्रतिनियतविषयत्वाच्च । अनन्तो हि ज्ञेयस्त्रिकालविषयः [3]सूक्ष्मान्तरितविप्रकृष्टरूपः, स कथमिह तैः सन्निकृष्यते ? असन्निकृष्टे [4]नैतत्फलमवबोधः प्रवर्तते । अतः सर्वज्ञाभावः स्यात् । तत एव द्वयसन्निकर्षोऽपि न भवति । सर्वगतत्वादात्मनः सकलेनार्थेन सन्निकर्ष इति चेत् ; न; तस्य परीक्षायामनुपपत्तेः । यदि हि सर्वगत आत्मा स्यात्; तस्य क्रियाभावात् पुण्यपापयोः कर्तृत्वाभावे तत्पूर्वकसंसारः तदुपरति[5]रूपश्च मोक्षो न योक्ष्यते इति । करणग्रामस्य संसार इति चेत्; न; तस्याचेतनत्वात्, तस्यैव मोक्षप्रसक्तेश्च ।

सर्वेन्द्रियसन्निकर्षाभावश्च ।१७। चक्षुर्मनसोः प्राप्यकारित्वाभावात् सर्वेन्द्रियविषयः सन्निकर्षो न संभवति ? प्राप्यकारित्वाभावश्चोपरिष्टाद्वक्ष्यते[6] ।

सर्वथा ग्रहणप्रसङ्गश्च; सर्वात्मना सन्निकृष्टत्वात् ।१८। यानीन्द्रियाणि प्राप्यकारीणि तैरपि सर्वथा अर्थस्य ग्रहणं प्राप्नोति । कुतः ? सर्वात्मना सन्निकृष्टत्वात् ।

तत्फलस्य साधारणत्वप्रसङ्गः स्त्रीपुरुषसंयोगवत् ।१९। तस्य सन्निकर्षस्य प्रमाणस्य यत्फलमर्थावबोधनम्, तेन च साधारणेन भवितव्यम् । कथम् ? स्त्रीपुरुषसंयोगवत् । यथा स्त्रीपुरुष[7]संयोगजं सुखमुभयोरपि साधारणं तथेन्द्रियाणां मनसोऽर्थस्य चावबोधनं प्राप्नोति ।

शय्यादिवदिति चेत्; न; अचेतनत्वात् ।२०। स्यान्मतम्–यथा शय्यादीनां पुरुषस्य च संयोगे साधारणेऽपि तत्फलं सुखं न शय्यादीनां भवति, किं तर्हि ? पुरुषस्यैवेति, तथेहापीति; तन्न; किं कारणम् ? अचेतनत्वात् । अचेतनानां शय्यादीनां सत्यपि संयोगे सुखं न भवति ।

इहापि तत एवेति चेत्; न; अविशेषात् ।२१। स्यादेतत्–मनःप्रभृतीनां सत्यपि सन्निकर्षे न तत्फलमवबोधनं भवति । कुतः ? अचेतनत्वादेवेति; तन्न; किं कारणम् ? अविशेषात् । अज्ञस्वभावत्वं तावत् सर्वेषामात्मादीनामविशिष्टं तत्र किंकृतोऽयं विशेषः–"सन्निकर्षजं फलमवबोधनमर्थान्तरभूतमपि सत् आत्मनैव सम्बध्यते न मनःप्रभृतिभिः' इति । ज्ञस्वभावत्वे चात्मनः प्रतिज्ञाहानिः ।

समदायादिति चेत्; न; अविशेषात् ।२२। स्यादेतत्–समवायो नामायुतसिद्धिलक्षणः सम्बन्धोऽस्ति, तत्कृतोऽयं विशेष इति; तन्न; किं कारणम् ? अविशेषात् । 'समवायो हि

---

१ स च द्विवचननिर्देशः प्रमाणान्तरसंख्यानिवृत्त्यर्थः । प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः । सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः । २ नैयायिकस्य –सम्पा० । ३ परमाण्वादि, रामरावणादि, मेर्वादि । ४ न तत्फल– आ०, ब०, द०, मु० । ५ निवृत्ति । ६ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामित्यत्र । ७–षसंगजं श्र० । ८ सन्निकर्षफल– आ०, ब०, द०, मु० ।

सर्वगतः ज्ञस्वभावशून्यत्वे समानेऽपि आत्मनैव ज्ञानं योजयति, न मनःप्रभृतिभिः' इति वचनं न विपश्चिन्मनःप्रीतिकरम् । एवमिन्द्रियेऽपि योज्यम् ।

अनुमानौपम्ययोः अनुमानागमयोः अनुमानप्रत्यक्षयोः औपम्यप्रत्यक्षयोः औपम्यागमयोः आगमप्रत्यक्षयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोश्च [1]विपर्ययप्रसङ्गे [2]मत्यादीनाञ्चाविशेषेण प्रमाणद्वयासक्तेरवधारणार्थमाह—

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

आदिशब्दस्यानेकार्थवृत्तित्वे विवक्षातः प्राथम्यार्थसङ्ग्रहः ।१। अयमादिशब्दोऽनेकार्थवृत्तिः । क्वचित्प्राथम्ये वर्तते, 'अकारादयो वर्णाः, ऋषभादयस्तीर्थकराः' इति । क्वचित्प्रकारे, 'भुजङ्गादयः परिहर्तव्याः' इति । क्वचिद्वचवस्थायाम् *"**सर्वादि सर्वनाम**" [जैने० १।१।३५] इति । क्वचित्सामीप्ये 'नद्यादीनि क्षेत्राणि' इति । क्वचिदवयवे, *"**टिदादिः**" [जैने० १।१।५३] इति । तत्रेह आदिशब्दस्य विवक्षातः प्राथम्यार्थो वेदितव्यः । आदौ भवमाद्यम् । किं पुनस्तत् ? मतिः श्रुतं च ।

श्रुताग्रहणमप्रथमत्वात् ।२। श्रुतस्य ग्रहणं न प्राप्नोति । कुतः ? अप्रथमत्वात् । नहि सूत्रे श्रुतं प्रथमम् ।

उत्तरापेक्षया आदित्वमिति चेत्; न; अतिप्रसङ्गात् ।३। स्यान्मतम्–अवध्याद्युत्तरमपेक्ष्य श्रुतस्यादित्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? अतिप्रसङ्गात् । उत्तरमपेक्ष्य यद्यादित्वं कल्प्यते; केवलं व्युदस्य सर्वस्यादित्वं प्राप्नोति ।

द्वित्वनिर्देशादिति चेत्; न; तदवस्थत्वात्[3] ।४। स्यादेतत्–द्वित्वनिर्देशेन सर्वस्य ग्रहणं न भवति, अतो नातिप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? तदवस्थत्वात् । एवमप्यतिप्रसङ्ग एव भवति–'कयोर्द्वयोर्ग्रहणम्' इति ।

न वा; प्रत्यासत्तेः श्रुतग्रहणम् ।५। न वैष दोषः । किं कारणम् ? प्रत्यासत्तेः श्रुतग्रहणं भवति । द्वित्वनिर्देशाद् गृह्यमाणं यदाद्यस्य प्रत्यासन्नं तदेव गृह्यते । तस्य हि सामीप्यादौपचारिकं प्राथम्यमस्तीति, तथा[4]सामीप्यं श्रुते[5]रर्थाच्च[6] ।

उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम् ।६। उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि[7] परः तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षम् । यथा गतिशक्त्युपेतस्यापि स्वयमेव गन्तुमसमर्थस्य यष्ट्याद्यवलम्बनप्राधान्यं गमनम्, तथा मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मनः स्वयमेवार्थानुपलब्धुमसमर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधानं ज्ञानं परायत्तत्वात्तदुभयं परोक्षमित्युच्यते ।

अत एव प्रमाणत्वाभावः इत्यनुपालम्भः ।७। अत्राऽन्ये उपालभन्ते–'परोक्षं प्रमाणं न भवति, प्रमीयतेऽनेनेति हि प्रमाणम्, न च परोक्षेण किञ्चित्प्रमीयते 'परोक्षत्वादेव' इति; सोऽनुपालम्भः । कुतः ? अत एव । यस्मात् 'परायत्तं परोक्षम्' इत्युच्यते न 'अनवबोधः' इति ।

---

१ अप्रमाणत्वप्रसङ्गे । २ मत्यादीनामवि- आ०, ब०, द०, मु० । ३ अतिप्रसङ्गस्य, अतिप्रसङ्गो न निवर्तते इत्यर्थः । ४ सामीप्यश्रुतेरर्थाच्च आ०, ब०, द०, मु० । ५ उच्चारणकाले श्रवणात् । ६ मतेः सकाशात् मतिश्रुतयोरित्यादिसूत्रे (तयोः समानार्थविषयत्वसूचनात्) । ७ –दि तत्प्रा– मु०, मू०, ता०, श्र०, द०, ब०, ज० । केवलं भा० २ प्रतौ– दि परः तत्प्रा– इति पाठः । ८ अविषयत्वात् ।

अभिहितलक्षणात् परोक्षादितरस्य सर्वस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनार्थमाह–

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

अन्यत्त्रिविधं प्रत्यक्षमित्युच्यते । किमिदं प्रत्यक्षं नाम ?

इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम् ।१। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्च, अनिन्द्रियं मनः, तेष्वपेक्षा यस्य न विद्यते । 'अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं व्यभिचारः' सोऽतीतोऽस्य । आकारो[1] विकल्पः, यत्सह आकारेण वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्युच्यते । 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम्' इति विशेषणं मतिश्रुतनिवृत्त्यर्थम् । 'अतीतव्यभिचारम्' इत्येतद्विभङ्गज्ञाननिवृत्त्यर्थम्, तद्धि मिथ्यादर्शनोदयाद् व्यभिचरतीति । 'साकारग्रहणम्' इत्येतदवधिकेवलदर्शनव्युदासार्थम् । [2]अनाकारं हि तदिति । किं [3]गतमेतदियता सूत्रेण, आहोस्विदेवं वक्तव्यमिति ? गतं प्रतिपन्नम् । कथमिति चेत् ? उच्यते–

अक्षं प्रति नियतमिति परापेक्षानिवृत्तिः ।२। 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति' इति अक्ष आत्मा, प्राप्तक्षयोपशमः प्रक्षीणावरणो वा, तमेव प्रति नियतं प्रत्यक्षमिति विग्रहात् परापेक्षानिवृत्तिः कृता भवति ।

अधिकारात् अनाकारव्यभिचारव्युदासः ।३। अधिकृतमेतत्–'ज्ञानं सम्यक्' इति च, ततोऽनाकारस्य दर्शनस्य व्यभिचारिणो ज्ञानस्य च व्युदासः कृतो भवति ।

करणात्यये ग्रहणाभाव इति चेत्; न; दृष्टत्वात् ईशवत् ।४। स्यादेतत्–करणात्यये अर्थस्य ग्रहणं न प्राप्नोति, न ह्यकरणस्य [4]कस्यचित् ज्ञानं दृष्टमिति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्टत्वात् । कथम् ? ईशवत् । यथा रथस्य कर्ता [5]अनीशः उपकरणापेक्षो रथं करोति, स तदभावे न शक्तः, यः पुनरीशः तपोविशेषात् परिप्राप्तर्द्धिविशेषः स बाह्योपकरणगुणानपेक्षः स्वशक्त्यैव रथं निर्वर्तयन् प्रतीतः, तथा कर्ममलीमस आत्मा क्षायोपशमिकेन्द्रियानिन्द्रियप्रकाशाद्युपकरणापेक्षोऽर्थान् संवेत्ति, स एव पुनः क्षयोपशमविशेषे क्षये च सति करणानपेक्षः स्वशक्त्यैवार्थान् वेत्ति इति को विरोधः ?

ज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च भास्करादिवत् ।५। यथा भास्करादयः प्रकाशस्वभावत्वात् प्रकाशान्तरानपेक्षाः प्रकाश्यानर्थान् प्रकाशयन्ति, तथा ज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मा तदावरणक्षयक्षयोपशमविशेषे सति स्वशक्त्यैवार्थानाविष्करोतीति सिद्धम् ।

[6]'इन्द्रियनिमित्तं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तद्विपरीतं परोक्षम्' इत्यविसंवादिलक्षणमिति चेत्; न; आप्तस्य प्रत्यक्षाभावप्रसङ्गात् ।६। स्यान्मतम्–'इन्द्रियव्यापारजनितं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, व्यतीतेन्द्रियविषयव्यापारं परोक्षम्' इत्येतदविसंवादि लक्षणम् । तथा चोक्तम्–

*[9]**"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं [8]नामजात्यादियोजना[7]ं ।**
असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते ॥" [प्रमाणसमु० १। ३, ४]

*"**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्[10]व्यपदेश्यमव्यभिचारि [11]व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्**" [न्यायसू० १।१।४] *"**आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्**" [वैशे० ३।१।१८]

---

१ भेदग्रहणमाकारः । भेद इत्यर्थः । २ किंस्विदिति भासमानम् । ३ ज्ञातम् । ४ कस्यापि मु० । ५ असमर्थः । ६ अथ बौद्धः प्रत्यवतिष्ठते । ७ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना । असाधारणहेतुत्वाद् व्यपदेश्यं तदिन्द्रियैः ॥" –प्रमाणसमु० । ८ कल्पना केत्यत्राह । ९ आदिशब्देन क्रियागुणद्रव्याणि गृह्यन्ते । तथाचोक्तम्–जातिः क्रिया गुणो द्रव्यं संज्ञा पञ्चैव कल्पना । अश्वो याति सितो घण्टी कत्तलाख्यो यथाक्रमम् । १० शब्दरहितम् । ११ निश्चयरूपम् ।

*"श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्[1]।" [ ] *[2]"सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्" [मी० द०.१।१।४][3] इति च सर्वैरभ्युपगम्यते। अत एव तल्लक्षणमविसंवादि निश्चेतव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? आप्तस्य प्रत्यक्षाभावप्रसङ्गात्। यदीन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते; एवं सत्याप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात्। नहि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगमः। अथ तस्यापि करणपूर्वकमेव ज्ञानं कल्प्यते; तस्यासर्वज्ञत्वं पुरस्तादुक्तम्।

आगमादिति चेत्; न; तस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात् ।७। स्यादेतत्–आगमादतीन्द्रियार्थाधिगमेऽव्याहतशक्तेः सर्वार्थविबोध इति; तन्न; किं कारणम् ? तस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात्। आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति न सर्वः। यदि सर्वः स्यात्; अविशेषः स्यात्। स च नास्ति, इत्यागमस्य प्रामाण्याभावः।

अपौरुषेयादिति चेत्; न; तदसिद्धेः ।८। स्यादेतत्–अपौरुषेय आगमोऽस्ति अनादिनिधनोऽत्यन्तपरोक्षेष्वप्यर्थेष्वप्रतिहतगतिः, ततः [4]सर्वार्थाधिगम इति; तन्न; किं कारणम् ? तदसिद्धेः। न च कश्चिदागमोऽपौरुषेयः सिद्धोऽस्ति, हिंसादिविधायिनः प्रामाण्यासिद्धेः।

अतीन्द्रियं योगिप्रत्यक्षमिति चेत्; न; अर्थाभावात् ।९। स्यान्मतम्–योगिनोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षं ज्ञानमस्ति आगमविकल्पातीतम्, तेनासौ सर्वार्थान् प्रत्यक्षं वेत्ति। उक्तञ्च–*"**योगिनां गुरु[5]र्निर्देशाद् व्यतिभिन्नार्थमात्रदृक्**"[6] [प्रमाणसमु० १।६] इति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थाभावात्। 'अक्षमक्षं प्रति वर्तते' इति प्रत्यक्षम्। न चायमर्थो योगिनि विद्यते अक्षाभावात्।

अथवा, न सन्ति सर्वे भावाः स्वपरोभयहेत्वहेतुभ्य उत्पत्त्याद्यभावात्, [7]सामान्यविशेषयोश्चैकानेकयोर्वृत्त्यसंभवादिदोषोपपत्तेः, अतोऽर्थाभावान्निरालम्बनं योगिनो ज्ञानं कथं स्यात् ? "परिकल्पितात्मना न सन्ति भावा निर्विकल्पात्मना सन्ति' इति चायुक्तम्; तदधिगमोपायाभावात्। न हि निर्विकल्पोऽर्थोऽस्ति, तद्विषयं ज्ञानं चेति प्रतिपादयितुं शक्यम्, लक्षणाभावात्।

तदभावाच्च ।१०। तस्य योगिनोऽभावाच्च। न हि कश्चित्त[8]त्परिकल्पितो योगी विद्यते, विशेषलक्षणविरहात्, सर्वविरहाच्च निर्वाणप्राप्तौ। [10]तन्नैतत्स्यात्–*"[11]**निर्वाणं द्विविधम्**–[12]**सोप-**

१ सांख्यमतम्। २ सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः। प्रयोग इन्द्रियाणाञ्च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते ॥ –ता० टि०। मीमांसकभाट्टप्राभाकराणां मतम्। ३ इति वा तत्प्रत्यक्षमिति च स्– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ४ सर्वाधिगम इति श्र०। ५ –शाद्यति– आ०, ब०, द०, मु०। ६ इन्द्रियादिनिरपेक्षम्, आत्मेन्द्रियमनोनिरपेक्षदर्शनमित्यर्थः। "योगिनां गुरुनिर्देशादसंकीर्णार्थमात्रदृक्– ···आगमस्य सविकल्पकत्वं निर्देशशब्देनोक्तम्, तेन असंकीर्ण रहितमित्यर्थः। अनेन स्फुटाभत्वमपि श्रूयते। निर्विकल्पकं हि स्फुटाभत्वाव्यभिचरितम्। मात्रशब्दः आरोपितार्थव्यवच्छेदार्थम् अतः यत् शुद्धार्थविषयकमार्यसत्यदर्शनात्मकं तदेव प्रमाणम्।" –प्रमाणसमु० टी०।–सम्पा०। ७ एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद् बहूनि वा। भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते। ८ नामजात्यादि। ९ बौद्ध। १० तत्रैतत्स्यात् ता०, श्र०, मु०।११ तुलना– "इह हि भगवता उषितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितं सोपधिशेषम्, निरुपधिशेषं च। तत्र निरवशेषस्याविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते। तत्रोपधीयतेऽस्मिन्नात्मस्नेह इत्युपधिः। उपधिशब्देनात्मज्ञप्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते। शिष्यत इति शेषः। उपधिरेव शेषः उपधिशेषः। सह उपधिशेषेण वर्तते इति सोपधिशेषम्। किं तत् ? निर्वाणम्। तच्च स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्टचादिक्लेशसंस्काररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण तत्सोपधिशेषं निर्वाणम्। यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्ति तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम्। निर्गत उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा। निहताशेषचौरगणस्य ग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण।" –माध्यमिकवृ० पृ ५१९। १२ सोपाधि– ता०, द०।

धिविशेषं, निरुपधिविशेषं चेति। तत्र सोपधिविशेषे निर्वाणे बोद्धाऽस्ति" [ ] इति; तत्रापि यथा [1]बाह्यस्याभावः कल्प्यते[2] तथागतैः तथाभ्यन्तरस्यापीति बोद्धुरभाव एव।

[3]योगजधर्मानुग्रहादात्मा करणविरहितोऽप्यवैतीति चेत्; न; तस्य निष्क्रियस्य नित्यस्य [4]सतस्तत्क्रियावदनुग्रहविकाराभावात्।

[5]तल्लक्षणानुपपत्तिश्च स्ववचनव्याघातात् ।११। तस्य प्रत्यक्षस्योक्तं लक्षणमपि नोपपद्यते। कुतः ? स्ववचनव्याघातात्। [6]आन्यापोहिकप्रतिविहितान्येव[7] शेषप्रमाणलक्षणानि। ततस्तत्र नो नातितरां प्रतिविधानादरः, किन्तु तत्प्रमाणलक्षणगुणसंभावनातिरस्कारार्थं किञ्चिद्व्याप्रियामहे। यदुक्तम्–*"**कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्**" [प्रमाणसमु० १।३] इति। [8]कल्पना हि जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकृतो वाग्बुद्धिविकल्पः, ततोऽनापोढं कल्पोढम्। किं तत् सर्वथा कल्पनापोढम्, उताहो कथञ्चिदिति ? यदि सर्वथा; 'अस्ति प्रमाणं ज्ञानं कल्पनापोढम्' इत्येवमादि कल्पनाभ्योऽप्यपोढमिति अस्त्यादिवचनव्याघातः। अथ अस्त्यादिकल्पनाभ्योऽनपोढमिष्यते; 'सर्वथा कल्पनापोढम्' इति वचनव्याघातः। अथ कथञ्चित्कल्पनापोढम्; एकान्तवादत्यागात् पुनरपि स्ववचनव्याघात एव।

अथ मतम्–नास्माकमेकान्तः 'कल्पनापोढमेव' इति। किमर्थं तर्हि विशेषणम् ?परमतापेक्षं विशेषणम्। परमते हि नामजात्यादिभेदोपचारकल्पना प्रोक्ता, ततोऽपोढं न स्वविकल्पादिति। उक्तञ्च– *"**सवितर्कविचारा हि पञ्च विज्ञानधातवः[9]।**

निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पकाः ॥" [अभिध० १।३२] इति।

अत्रोच्यते–'आलम्बने अर्पणा वितर्कः, तत्रैवानुमर्शनं विचारः[10], तस्य नामादिभिः प्रकल्पना निरूपणम्, पूर्वानुभूतानुसारेण विकल्पनमनुस्मरणम्, इति। एते धर्माः क्षणमात्रावस्थानेष्वक्षविषयविज्ञानेषु[11]निरन्वयेषु[12]नोपपद्यन्ते युगपदुत्पत्तेरनवस्थानाच्च। अतो ग्राह्यग्रहणभावाभावश्च स्यात् सव्येतरगोविषाणवत्। क्रमवृत्तित्वे च तेषां स्वार्थाभावप्रसङ्गश्चेति। सन्तानाद्यपेक्षया तदुपपत्तिरिति चेत्; न तत्, परीक्षाऽक्षमत्वात्। अतः सर्वस्मिन्नसति विकल्पे 'अयं[13] विकल्पोऽस्ति अयं [14]नास्ति' इति विज्ञानस्य विवेको नोपपद्यते। सर्वविकल्पविरहाच्च नास्तित्वमेवास्य स्यात्। अनुस्मरणाद्यभ्युपगमे च एकस्यानेकक्षणवर्तिनो वस्तुनोऽस्तित्वं सिद्धम्। अनुस्मरणादि हि स्वयमनुभूतस्यार्थस्य दृष्टम्, नाननुभूतस्य नान्यानुभूतस्येति।

तथा मानसमपि प्रत्यक्षं नोपपद्यते। अपि च, *"**षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः**" [अभिध० १।१७] इति–अतीतमसत् कथं विज्ञानस्य कारणं स्यात् ? अथ पूर्वोत्तरनाशोत्पत्त्योर्युगपद्वृत्तेः कार्यकारणभावः कल्प्यते; भिन्नसन्तानयोरपि विनश्यदुत्पद्यमानयोः कार्यकारणभावः स्यात्। एकसन्ताने शक्त्यनुगमाभ्युपगमे प्रतिज्ञाहानिश्च स्यात्।

१ वस्तुनः। २ –ते तैस्त– आ०, ब०, द०, मु०। ३ अथ लब्धावकाशा नैयायिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते। ४ आत्मनः। ५ अथ नैयायिकमतं निराकृत्येदानीं प्रकृतमनुसन्दधन् बौद्धपरिकल्पितप्रत्यक्षं निराकरोति। ६ अन्यापोहेन युक्तः बौद्ध इत्यर्थः अन्यापोहो व्यावृत्तिः। ७ –वाशेष–मु०। नैयायिकादीनाम्। ८ "अथ कल्पना कीदृशी चेदाह– नामजात्यादियोजना। यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति। जातिशब्देषु जात्या गौरियमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण विषाणीति।" –प्र० स० टी० पृ० १२। –सम्पा०। ९ कारणानि। १० "वितर्कविचारौदार्यसूक्ष्मते– चित्तस्य औदार्यं वितर्कः, सूक्ष्मावस्था विचारः"– अभिध० टी० २।३२। ११ –यज्ञानेषु श्र०। अक्षश्च विषयाश्च ज्ञानानि च तेषु। १२ त्रुटचद्रूपेषु।– १३ सवितर्कादि। १४ नामजात्यादिभेदोपचारकल्पना।

अपूर्वाधिगमलक्षणानुपपत्तिश्च सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः ।१२। 'अपूर्वाधिगमलक्षणं प्रमाणम्' इत्येतच्च नोपपद्यते । कुतः ? सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः । प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्, सर्वेण च ज्ञानेन प्रमीयते । यथा अन्धकारेऽवस्थितानां घटादीनामुत्पत्त्यनन्तरं प्रकाशकः प्रदीप उत्तरकालमपि न तं व्यपदेशं जहाति तदवस्थानकारणत्वात्, एवं ज्ञानमप्युत्पत्त्यनन्तरं घटादीनामवभासकं भूत्वा प्रमाणत्वमनुभूयोत्तरकालमपि न तं व्यपदेशं त्यजति तदर्थत्वात् । अथ मतम्–क्षणे क्षणेऽन्य एव प्रदीपोऽपूर्वमेव प्रकाशकत्वमवलम्बत इति; एवं सति ज्ञानमपि तादृगेवेति क्षणे क्षणेऽन्यत्वोपपत्तेरपूर्वाधिगमलक्षणमविशिष्टमिति[1]; [2]तत्र यदुक्तम्–*"**स्मृतीच्छाद्वेषादिवत् पूर्वाधिगतविषयत्वात् पुनः पुनरभिधानं ज्ञानं न प्रमाणम्**" [ ] इति, तद् व्याहन्यते ।

स्वसंवित्तिफलानुपपत्तिश्च अर्थान्तरत्वाभावात् ।१३। प्रमाणं लोके फलवदुपलब्धम् । अस्य च प्रमाणस्य केनचित् फलेन भवितव्यमिति । कश्चिदाह–द्व्याभासं हि ज्ञानमुत्पद्यते–[3]स्वाभासं विषयाभासं च । तस्योभयाभासस्य यत्संवेदनं तत्फलमिति; तन्नोपपद्यते; कुतः ? अर्थान्तरत्वाभावात् । लोके प्रमाणात् फलमर्थान्तरभूतमुपलभ्यते । तद्यथा–छेतृछेत्तव्यछेदनसन्निधाने द्वैधीभावः फलम्, न च तथा स्वसंवेदनमर्थान्तरभूतमस्ति । तस्मादस्य फलत्वं नोपपद्यते । सत्यम्, एवमेतत्, अतएव तस्मिन्नधिगमरूपे फले सव्यापारप्रतीततामु[4]पादाय प्रमाणोपचार इति;[5]

प्रमाणोपचारानुपपत्तिः मुख्याभावात् ।१४। सति मुख्ये लोके उपचारो दृश्यते, यथा सति सिंहे विशिष्टतिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियजातिनखदंष्ट्रासटाटोपभासुरकपिलनयनतारकाद्यवयवविशिष्टे अन्यत्र क्रौर्यशौर्यादिगुणसाधर्म्यात् सिंहोपचारः क्रियते । न च तथेह मुख्यं प्रमाणमस्ति, तदभावात् फले प्रमाणोपचारो न युज्यते ।

आकारभेदाद्भेद इति चेत्; नः एकान्तवादत्यागात् ।१५। स्यादेतत्–ग्राहकविषयाभाससंवित्तिशक्तित्रयाकारभेदात् प्रमाणप्रमेयफलकल्पनाभेद इति; तन्न; किं कारणम् ? एकान्तवादत्यागात् । 'एकमनेकाकारम्' इत्येतज्जैनेन्द्रं दर्शनम्, तत्कथमेकान्तवादे युज्यते ? यदि ह्येवमभ्युपगम्येत; द्रव्ये कोऽपरितोषः ; 'रूपाद्यनेकात्मकमेकं परमाणुद्रव्यम्, ज्ञानाद्यनेकात्मकमात्मद्रव्यम्' इति । अथ द्रव्यसिद्धिर्माभूदिति 'आकारा एव न ज्ञानम्' इति कल्प्यते; एवं सति कस्य ते आकारा इति तेषामप्यभावः स्यात् । किञ्च, तेषामाकाराणां यौगपद्येन वा उत्पत्तिः स्यात्, क्रमेण वा ? यदि योगपद्येन; हेतुहेतुमद्भावो विरुध्यते । अथ क्रमेण; क्षणिकस्य विज्ञानस्याकाराणां कथं क्रमः ? यदि स्यात् ; *"**अधिगमश्चात्र न [6]भावान्तरम्**" [ ] इति व्याहन्यते । अपि च बाह्यस्य विज्ञेयस्याभावे अन्तरङ्गाकारत्रयकल्पनायां प्रमाणप्रमाणाभा[7]सविशेषो नोपपद्यते अन्तरङ्गाकाराभेदात् । 'असद्वस्तु यत्सदिति कल्पयति तत् प्रमाणाभासम्, असदेवेति यत्प्रतिपद्यते तत्प्रमाणम्' इत्यस्ति विशेष इति चेत्; 'प्रमेयद्वयव्यवस्थापितप्रमाणद्वयकल्पनाव्याघातः । स्वलक्षणविषयं हि प्रत्यक्षम्, सामान्यलक्षणविषयमनुमानम् । स्वलक्षणमसाधारणो धर्मः विकल्पातीतत्वात् 'इदं तत्' इत्यव्यपदेश्यः । तद्विपरीतं सामान्यलक्षणमिति । सर्वस्यासत्त्वे किं कृतोऽयं विशेषः ? असत्त्वं हि न स्वतो भिद्यते । संबन्धिभेदात् स्याद्भेदः–'घटस्यासत्त्वं पटस्यासत्त्वम्' इति; तेषां घटादीनां संबन्धिनामभावे तद्विशेषाभाव इति ।

१ अधिगमः प्रमाणमित्यैव वक्तव्यम् । २ तथा सति । ३ स्वाकारम् । तुलना– "स्वसंवित्तिः फलं वात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः ।" –प्रमाणसमु० १।१०। ४ –तामुपधाय मु०, आ०, ब० । तुलना– "सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव तत् । प्रमाणत्वोपचारस्तु निर्व्यापारे न विद्यते ॥"–प्रमाणसमु० १।९। ६ प्रमाणाद्भेदः । ७ –णाभासौ नोपपद्येते –आ०, ब०, द०, मु० । ८ तुलना–"तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ।" –प्रमाण वा० २।६०।

स्यान्मतम्–खात्पतिता नो रत्नवृष्टिः, इष्टमेवाप्रतर्कितमुपस्थितम्, अत एव सर्वं विज्ञानाभिधानमयथार्थं परिकल्पितार्थत्वात्, निर्विकल्पार्थगोचरमात्मीयमेव विज्ञानं प्रमाणमिति । उक्तञ्च–

*"**शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते[1] ।**
अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्या प्रवर्तते ॥" [वाक्यप० २।२३५] इति ।

एतच्चानुपपन्नम्; तदधिगमोपायाभावात् । उक्तञ्च–

*"**प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते[2] न यत्र तल्लिङ्गगम्यं न तदर्थलिङ्गम् ।**
वाचो न वा तद्विषयेण योगः का तद्गतिः कष्टमशृण्वतां ते[3]॥" [युक्त्यनु०श्लो०२२]इति ।

आहितोभयप्रकारस्य प्रमाणस्य आदिप्रकारविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह[4]–

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

इतिशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षावशादाद्यर्थसंप्रत्ययः ।१। इतिशब्दोऽनेकार्थः[5] संभवति । क्वचिद्धेतौ वर्तते–'हन्तीति पलायते, वर्षतीति धावति' । क्वचिदेवमित्यस्यार्थे वर्तते–इति स्म उपाध्यायः कथयति 'एवं स्म' इति गम्यते । क्वचित्प्रकारे वर्तते–यथा 'गौरश्वः[6] शुक्लो नीलः, चरति प्लवते, जिनदत्तो देवदत्तः' इति, 'एवं प्रकाराः' इत्यर्थः । क्वचिद्व्यवस्थायां वर्तते–यथा *"**उवलितिकसंताणः**"[7] [जैने० २।१।११२] इति । क्वचिदर्थविपर्यासे वर्तते–यथा 'गौरित्ययमाह-गौरिति जानीते' इति । क्वचित्समाप्तौ वर्तते–'इति प्रथममाह्निकम्' इति 'द्वितीयमाह्निकम्' इति । क्वचिच्छब्दप्रादुर्भावे वर्तते–इति [8]श्रीदत्तम्, इति सिद्धसेनमिति । तत्रेह विवक्षावशादादिशब्दार्थो वेदितव्यः । मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधादयः इत्यर्थः । के पुनस्ते ? 'प्रतिभाबुद्ध्युपलब्ध्यादयः[9]' । प्रकारे वा, एवं प्रकाराः इति । कथमेषां शब्दानामनर्थान्तरत्वम् ?

मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तार्थोपलब्धिविषयत्वादनर्थान्तरत्वं रूढिवशात् ।२। एतेषां मत्यादीनां शब्दानां मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तायामर्थोपलब्धौ वृत्तेरनर्थान्तरत्वं वेदित-

१ –द्यैव प्रव– ता० । २ वर्तते, 'वृत्तिसर्वतायने वृतेः' (जैने० १।१।३४) इति वृत्यर्थे तङ्, वृत्तिरात्मयापनमतिप्रबन्धो वा, तत्र आत्मानं यापयति न प्रतिहन्यते वेत्यर्थः । नञा सह अत्र प्रतिहन्यते न वर्तत इति यावत् । ३ –मशृण्वतस्ते आ०, द०, ब०, मु०, ता० । तव मतम् । " यत्र संविदद्वैते तत्त्वे प्रत्यक्षबुद्धिर्न क्रमते न प्रवर्तते कस्यचित्तथा निश्चयानुत्पत्तेः । तल्लिङ्गगम्यं स्यात् स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवत् । न च तत्रार्थरूपं लिङ्गं सम्भवति तत्स्वभावलिङ्गस्य तद्वत् प्रत्यक्षबुध्यतिक्रान्तत्वात्, लिङ्गान्तरगम्यत्वेऽनवस्थानुषङ्गात् । तत्कार्यलिङ्गस्य वाऽसम्भवात्, सम्भवे वा द्वैतप्रसङ्गात् । न च वाचः परार्थानुमानरूपायास्तद्विषयेण संविदद्वैतरूपेण योगः, परम्परयाऽपि सम्बन्धायोगात् । ततः का तस्य तत्त्वस्य गतिः ? न काचित् प्रत्यक्षा लैङ्गिकी शाब्दी वा प्रतिपत्तिरस्तीति कष्टं दर्शनं ते तव शासनमशृण्वतां ताथागतानामिति ग्राह्यम् ।" –युक्त्यनु० टी० पृ० ४६ ।

४ उक्तञ्च– मत्यादिष्विव बोधेषु स्मृत्यादीनामसंग्रहः । इत्याशङ्क्याह मत्यादिसूत्रं मत्यात्मसंविदे । इति । ५ हेतावेवंप्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये । प्रादुर्भावे समाप्तौ च इति शब्दः प्रकीर्तितः ॥ इति धनञ्जयसूरिः । ६ जातिगुणक्रियाद्रव्य । इतिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते गौरितीति । ७ शब्दप्रथेत्यादिसूत्रेण अव्ययीभावसमासः । शब्दप्रादुर्भावः प्रकर्षेण ख्यातिः । श्रीदत्तादिशब्दो लोके सुष्ठु प्रथते इत्यर्थः । ८ तथा चोक्तम्– इतिशब्दात् प्रकारार्थात् बुद्धिर्मेधा च गृह्यते । प्रज्ञा च प्रतिभा भानं संभवोपमिती तथा ॥ ९ प्रत्येकमिति शब्दस्य ततः सङ्गतिरिष्यते । समाप्ताविति शब्दोऽयं सूत्रेस्मिन्न विरुध्यते ॥ मतिरिति स्मृतिरिति संज्ञेति चिन्तेति अभिनिबोध इति प्रकारोऽनर्थान्तरमेव, मतिज्ञानमेकमिति विज्ञेयम्, मत्यादिभेदं मतिज्ञानमिति परिसमाप्तम् ।

व्यम् । कथं पुनः 'मननं मन्यत इति वा मतिः' इत्येवमाद्यर्थविषयाणामेषामनर्थान्तरत्वम् इति ? अत आह–रूढिवशादिति । यथा गच्छतीति गौरित्यङ्गीकृतमपि गमनं न शब्दवृत्तिनियमकारणं रूढिवशात् क्वचिदेव वर्तते, तथा मत्यादयः शब्दा व्युत्पत्तिकर्मणि सत्यप्यर्थाश्रयेण भेदे क्वचिदेव वर्तन्त इत्यनर्थान्तरत्वमवसीयते ।

शब्दभेदादर्थभेदो गवाश्वादिवदिति चेत्; न; अतः संशयात् ।३। स्यादेतत्–मत्यादीनां शब्दानां परस्परतोऽर्थान्तरत्वमस्ति । कुतः ? शब्दभेदात्, गवाश्वादिवदिति; तन्न; किं कारणम्; अतः संशयात् । यत एव मत्यादीनां शब्दभेदादन्यत्वमाह भवान्, अत एव संशयः । कथम् ? इन्द्रादिवत् । यथा इन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दभेदेऽपि नार्थभेदः तथा मत्यादिशब्दभेदेऽप्यर्थाभेद इति । न हि यत एव संशयस्तत एव [1]निर्णयः । किञ्च,

शब्दाभेदेऽप्यर्थैकत्वप्रसङ्गात् ।४। यस्य शब्दभेदोऽर्थभेदे हेतुरिति मतम्, तस्य वागादि[2]नवार्थेषु गोशब्दाभेददर्शनाद् वागाद्यर्थानामेकत्वमस्तु । अथ नैतदिष्टम्; न तर्हि शब्दभेदोऽन्यत्वस्य हेतुः । किञ्च,

आदेशवचनात् ।५। यथा इन्द्रादीनामेकद्रव्यपर्यायादेशात् स्यादेकत्वं प्रतिनियतपर्यायार्थादेशाच्च स्यादन्यत्वम्–इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात्पुरन्दर इति । तथा मत्यादीनामेकद्रव्यपर्यायादेशात् स्यादेकत्वम्, प्रतिनियतार्थपर्यायादेशाच्च स्यान्नानात्वम्–'मननं मतिः स्मरणं स्मृतिः सज्ञानं संज्ञा चिन्तनं चिन्ता आभिमुख्येन नियतं बोधनमभिनिबोधः'[3] इति ।

पर्यायशब्दो लक्षणं नेति चेत्; न; ततोऽनन्यत्वात् ।६। स्यान्मतम्–मत्यादय [4]अभिनिबोधपर्यायशब्दा नाभिनिबोधस्य लक्षणम् । कथम् ? मनुष्यादिवत् । यथा मनुष्यमर्त्यमनुजमानवादयः पर्यायशब्दाः मनुष्यस्य लक्षणं न भवन्तीति; तन्न; किं कारणम् ? ततोऽनन्यत्वात् । इह पर्यायिणोऽनन्यः पर्यायशब्दः, स लक्षणम् । कथम् ? औष्ण्याग्निवत् । यथा पर्यायशब्दः औष्ण्यमग्नेः पर्यायिणोऽनन्यत्वादग्नेर्लक्षणं भवति तथा पर्यायशब्दा मत्यादय आभिनिबोधिकज्ञानपर्यायिणोऽनन्यत्वेन अभिनिबोधस्य लक्षणम् । अथवा, ततोऽनन्यत्वात् । यथा मनुष्यमर्त्यमनुजमानवादय असाधारणत्वादन्यघटादिद्रव्यासंभविनो[5] मनुष्यादनन्यत्वात्तस्य लक्षणम्, अन्यथा हि मनुष्यादिपर्यायालक्षणत्वात् मनुष्याभावो भवेत्, यतो न मनुष्यादिलक्षणव्यतिरेकेणास्यान्यल्लक्षणमस्तीति । न चाभाव इष्टः, अतः पर्यायशब्दो लक्षणम् । तथा मतिस्मृत्यादयोऽसाधारणत्वाद् अन्यज्ञानासंभविनोऽभिनिबोधादनन्यत्वात्तस्य लक्षणम् ।

इतश्च पर्यायशब्दो लक्षणम् । कस्मात् ?

गत्वा प्रत्यागतलक्षणग्रहणात् ।७। कथम् ? अग्न्युष्णवत् । यथा अग्निरिति गत्वा ज्ञात्वा बुद्धिरुष्णपर्यायशब्दं गच्छति । कथं गच्छति ? कोऽयमग्निः ? य उष्ण इति । उष्ण इति च गत्वा बुद्धिः प्रत्यागच्छति । कोऽयमुष्णः ? योऽग्निरिति । तथा मतिरिति गत्वा बुद्धिः स्मृतिं गच्छति । का मतिः ? या स्मृतिरिति । ततः स्मृतिरिति गत्वा बुद्धिः प्रत्यागच्छति । का स्मृतिः ? या मतिरिति । एवमुत्तरेष्वपि । तस्माद् गत्वा प्रत्यागतलक्षणग्रहणात् पश्यामः 'पर्यायशब्दो लक्षणम्' इति । किञ्च,

---

१ निश्चयः आ०, ब०, मु० । २ गौः स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे चन्द्रमसि स्मृतः । अर्जुने नेत्रदिग्बाणे भूवाग्वारिषु गौर्मता ॥ इति विश्वप्रकाशिका । ३ –बोधनः ता०, श्र० । ४ मतिज्ञानमित्यर्थः । 'अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधनमनिन्द्रियेन्द्रियजम्' इत्युक्तत्वात् –ता० टि० । ५ –संबंधिनो आ०, ब०, मु० ।

पर्यायद्वैविध्यादग्निवत् ।८। यथा अग्नेरात्मभूत उष्णपर्यायो लक्षणं न धूमः, तस्य बाह्येन्धननिमित्तत्वे कादाचित्कत्वात्, तथा आभ्यन्तरो मत्यादिपर्याय आत्मभूतत्वाल्लक्षणं नाऽनात्मभूतो बाह्यो मत्यादिशब्दः पुद्गलः तत्प्रत्यायनसमर्थः, तस्य बाह्यकरणप्रयोगनिमित्तत्वात् ।

इति करणस्य वाऽभिधेयार्थत्वात् ।९। अथवा इतिकरणोऽयम् अभिधेयार्थः प्रयुज्यते । मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इति योऽर्थोऽभिधीयते तन्मतिज्ञानमिति । ततो लक्षणत्वमुपपद्यते ।

श्रुतादीनामेतैरनभिधानात् ।१०। न ह्येतैर्मत्यादिभिः श्रुतादीन्यभिधीयन्ते ।

वक्ष्यमाणलक्षणसद्भावाच्च ।११। श्रुतादीनां हि लक्षणं वक्ष्यते । ततः तेषां मत्यप्रसङ्गः ।

[1]यद्येवंलक्षणं मतिज्ञानमवधिर्यते अथास्यात्मलाभे किन्निमित्तामिति ? अत आह––

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

अथवा, आत्मप्रसादाविशेषात् सर्वज्ञानानामेकत्वप्रसङ्गे निमित्तभेदान्नानात्वं प्रतिपादयिषन्[2] ब्रवीति–सत्यपि अमुष्मिन्नविशेषे पृथक्त्वमेषामवेमः । कुतः ? यस्मात्तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति । किमिदमिन्द्रियं नाम ?

इन्द्रस्यात्मनोऽर्थोपलब्धिलिङ्गमिन्द्रियम् ।१। इन्द्र आत्मा, तस्य कर्ममलीमसस्य स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थस्याऽर्थोपलम्भने यल्लिङ्गं तदिन्द्रियमित्युच्यते ।

अथ किमिदमनिन्द्रियम् ?

अनिन्द्रियं मनोऽनुदरावत् ।२। मनोऽन्तःकरणमनिन्द्रियमित्युच्यते । कथमिन्द्रियप्रतिषेधेन मन उच्यते ? यथा 'अयमब्राह्मणः' इत्युक्ते ब्राह्मणत्वरहिते कस्मिंश्चित् संप्रत्ययो भवति, तथा इन्द्रलिङ्गविरहिते अन्यस्मिन् अनिन्द्रियमिति संप्रत्ययः स्यात्, न तु इन्द्रलिङ्ग एव मनसि; नैष दोषः; ईषत्प्रतिषेधात् । कथम् ? अनुदरावत् । यथा 'अनुदरा कन्या' इति नास्या उदरं न विद्यते, किन्तु गर्भभारोद्वहनसमर्थोदराभावादनुदरा, तथा अनिन्द्रियमिति नास्येन्द्रियत्वाभावः, किन्तु चक्षुरादिवत् प्रतिनियतदेशविषयावस्थानाभावात् अनिन्द्रियं मन इत्युच्यते ।

अन्तरङ्गं तत्करणम्, इन्द्रियानपेक्षत्वात् ।३। नास्येन्द्रियेष्वपेक्षास्तीति इन्द्रियानपेक्षम् । न ह्यस्य गुणदोषविचारस्वविषयप्रवृत्तौ इन्द्रियापेक्षास्ति ततोऽन्तरङ्गं तत्करणमिति वेदितव्यम् । तदुभयमवष्टभ्य यदुत्पद्यते तन्मतिज्ञानमिति ।

तदित्यग्रहणम्, अनन्तरत्वादिति चेत्; न; उत्तरार्थत्वात् ।४। स्यादेतत्–मतिज्ञानस्यानन्तरत्वादनेनाभिसंबन्धो भवतीति तदित्येतद्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? उत्तरार्थत्वात् । उत्तरार्थं [3]हि तत् । इतरथा हि अवग्रहेहावायधारणा मतिज्ञानभेदा इति विज्ञातुमशक्याः । तद्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे तन्मतिज्ञानमवग्रहादय इति संबन्धः सुगमो भवति ।

यदेतस्मिन्निमित्तद्वयसन्निधाने सत्यात्मलाभं प्रत्यागूर्णमनिर्वर्णितभेदमिति तद्भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह–

---

१ यदेवं ता० । २ –यिष्यन् आ०, ब०, मु० । ३ ह्येतत् आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यं[1] ग्रहणमवग्रहः ।१। विषयविषयिसन्निपाते दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः ।

अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा ।२। यथा 'पुरुषः' इत्यवगृहीते तस्य भाषावयोरूपादिविशेषैराकाङ्क्षणमीहा ।

विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः ।३। भाषादिविशेषनिर्ज्ञानात्तस्य याथात्म्येनावगमनमवायः । 'दाक्षिणात्योऽयम्, युवा, गौरः' इति वा ।

[2]निर्णीतार्थाऽविस्मृतिर्धारणा ।४। भाषावयोरूपादिविशेषैर्याथात्म्येन निर्णीतस्य पुरुषस्योत्तरकालम्[3] 'स एवायम्' इत्यविस्मरणं यतो भवति सा धारणा[4] । त एते मतिज्ञानभेदाः ।

अत्राह—इदमानुपूर्व्यं किं कृतमेषाम् ? उच्यते—

अवग्रहादीनामानुपूर्व्यमुत्पत्ति[5]क्रमापेक्षम् ।५। अवग्रहपूर्वकत्वात् इतरेषाम् आदावग्रहः क्रियते । [6]तथेतरेष्वपि योज्यम् । अत्राह—

अवग्रहेहयोरप्रामाण्यं तत्सद्भावेऽपि संशयदर्शनाच्चक्षुर्वत् ।६। यथा चक्षुषि न निर्णयः, सत्येव तस्मिन् 'किमयं स्थाणुराहोस्वित् पुरुषः' इति संशयदर्शनात्, तथा अवग्रहेऽपि सति न निर्णय ईहादर्शनात्, ईहायां च न निर्णयः, यतो निर्णयार्थमीहा नत्वीहैव निर्णयः । यश्च निर्णयो न भवति स संशयजातीय इत्यप्रामाण्यमनयोरिति ।

अवग्रहवचनादिति चेत्; न; संशयानतिवृत्तेरालोचनवत् ।७। स्यादेतत्—नावग्रहः संशयः । कुतः ?[7] अवग्रहवचनात् । यत उक्तः 'पुरुषोऽयम्' इति अवग्रहः, 'तस्य भाषावयोरूपादिविशेषाकाङ्क्षणमीहा' इति । संशयस्तु अप्रतिपत्तिरेवेति; तन्न; किं कारणम् ? संशयानतिवृत्तेः । कथम् ? आलोचनवत् । यथा ऊर्ध्वार्थालोचने 'किमयमूर्ध्वोऽर्थः स्थाणुः, उत पुरुषः' इति संशयानतिवृत्तिः तथा 'ऊर्ध्वोऽयमर्थः' इत्यवग्रहे ईहाद्यपेक्षत्वात् संशयानतिवृत्तिः । उच्यते—

लक्षणभेदादन्यत्वमग्निजलवत् ।८। यथा अग्निजलयोः दहनप्रकाशनादि—द्रवतास्नेहनादिप्रतिनियतलक्षणभेदात् अन्यत्वं तथा अवग्रहसंशययोर्लक्षणभेदादन्यत्वम् । कोऽसौ लक्षणभेदः ? उच्यते—

अनेकार्थाऽनिश्चिताऽपर्युदासात्मकः संशयः तद्विपरीतोऽवग्रहः ।९। स्थाणुपुरुषाद्यनेकार्थालम्बनसन्निधानादनेकार्थात्मकः संशयः, एकपुरुषाद्यन्यतमात्मकोऽवग्रहः । स्थाणुपुरुषानेकधर्मानिश्चितात्मकः संशयः, यतो न स्थाणुधर्मान् पुरुषधर्मांश्च निश्चिनोति, अवग्रहस्तु पुरुषाद्यन्यतमैकधर्मनिश्चयात्मकः । स्थाणुपुरुषानेकधर्माऽपर्युदासात्मकः संशयः, यतो न प्रतिनियतान् स्थाणुपुरुषधर्मान् पर्युदस्यति संशयः, अवग्रहः पुनः पर्युदासात्मकः, स ह्यन्यान् [8]ध्रुवादीन् पर्यायान् पर्युदस्य 'पुरुषः' इत्येकपर्यायालम्बनः ।

संशयतुल्यत्वमपर्युदासादिति चेत्; न; निर्णय[9]विरोधात् संशयस्य ।१०। स्यादेतत्—संशयतुल्योऽवग्रहः । कुतः ? अपर्युदासात् । यथा संशयः स्थाणुपुरुषविशेषापर्युदासात्मकः तथा अवग्रहोऽपि 'पुरुषः' इति भाषावयोरूपाद्यपर्युदासात्मकः । अतश्चैतदेवं यदुत्तरकालं तद्विशेषार्थमीहामारभत इति; तन्न ; किं कारणम् ? निर्णयविरोधात् संशयस्य । संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः निर्णयदर्शनात् ।

१ —माद्यग्र— आ०, ब०, मु० । २ निर्ज्ञातार्था— मु० । ३ —काले भा० २ । ४ —त्तिक्रियापे— मु० । ५ तथोत्तरे— मु० । ६ प्रतिपत्ति । ७ —न् भावादीन् मु० । —न् भवादीन् आ०, ब०, द०, ता०, भा० २ । स्थाणुरस्त्री ध्रुवः शङ्कुः । स्थाण्वादीनित्यर्थः । ८ —यनिरो— मु० ।

ईहायां तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; अर्थादानात् ।११। स्यादेतत्—यदि निर्णयाविरोध्यवग्रह इति न संशयः, ननु ईहाया निर्णयविरोधिनीत्वात् संशयत्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थादानात् । अवगृहचार्थं तद्विशेषोपलब्ध्यर्थमर्थादानमीहा । संशयः पुनर्नार्थविशेषालम्बनः ।

संशयपूर्वकत्वाच्च ।१२। संशयो हि पूर्वमुपजायते ईहायाः । कथम् ? इह पुरुषमवगृह्य 'किमयं दाक्षिणात्य उत औदीच्यः' इत्येवमाद्यप्रतिपत्तौ संशयः, एवंसंशयितस्योत्तरकालं विशेषोपलिप्सां प्रति यतनमीहेति संशयादर्थान्तरत्वम् ।

अत एव संशयावचनम् अर्थगृहीतेः ।१३। अत एव सूत्रे संशयो नोक्तः । कुतः ? अर्थगृहीतेः । सति[1] हि संशये ईहायाः प्रवृत्तिर्नाऽसतीति ।

आह—किमयम् अपाय उत अवाय इति ? उभयथा न दोषः । अन्यतरवचनेऽन्यतरस्यार्थगृहीतत्वात् । यदा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायं त्यागं करोति तदा 'औदीच्यः' इत्यवायोऽधिगमोऽर्थगृहीतः । यदा च 'औदीच्यः' इत्यवायं करोति तदा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायोऽर्थगृहीतः ।

कश्चिदाह—यदुक्तं भवता विषयविषयिसन्निपाते दर्शनं भवति, तदनन्तरमवग्रह इति; तदयुक्तम्; अवैलक्षण्यात् । न ह्यवग्रहाद्विलक्षणं दर्शनमस्तीति । अत्रोच्यते—न; वैलक्षण्यात् । कथम्? इह चक्षुषा चक्षुर्दर्शना[2]वरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामावष्टम्भाद् अविभावितविशेषसामर्थ्येन 'किञ्चिदेतद्वस्तु' इत्यालोकनमनाकारं दर्शनमित्युच्यते बालवत् । यथा जातमात्रस्य बालस्य प्राथमिक उन्मेषोऽसौ अविभावितरूपद्रव्यविशेषालोचनाद्दर्शनं विवक्षितं तथा सर्वेषाम् । ततो [3]द्वित्रादिसमयभाविषून्मेषेषु चक्षुरवग्रहमतिज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयापेशमाङ्गोपाङ्गनामावष्टम्भाद् 'रूपमिदम्' इति विभावितविशेषोऽवग्रहः । यत् प्रथमसमयोन्मेषितस्य बालस्य दर्शनं तद् यदि अवग्रहजातीयत्वात् ज्ञानमिष्टम्; तन्मिथ्याज्ञानं वा स्यात्, सम्यग्ज्ञानं वा ? मिथ्याज्ञानत्वेऽपि संशयवि[4]पर्ययानध्यवसायात्मकं [वा] स्यात् ? तत्र न तावत् संशयविपर्ययात्मकं[5] वाऽचेष्टि; तस्य[6] [7]सम्यग्ज्ञानपूर्वकत्वात् । प्राथमिकत्वाच्च तन्नास्तीति । न वाऽनध्यवसायरूपम्; जात्यन्धबधिररूपशब्दवत् वस्तुमात्रप्रतिपत्तेः । न सम्यग्ज्ञानम्; अर्थाकारावलम्बनाभावात् । किञ्च,

कारणनानात्वात् कार्यनानात्वसिद्धेः । यथा मृत्तन्तुकारणभेदात् घटपटकार्यभेदः तथा दर्शनज्ञानावरणक्षयोपशमकारणभेदात् तत्कार्यदर्शनज्ञानभेद इति । अस्ति प्राक् अवग्रहाद्दर्शनम् । ततः शुक्लकृष्णादिरूपविज्ञानसामर्थ्योपेतस्यात्मनः 'किं शुक्लमुत कृष्णम्' इत्यादिविशेषाप्रतिपत्तेः संशयः । ततः शुक्लविशेषाकाङ्क्षणं प्रतीहनमीहा । ततः 'शुक्लमेवेदं न कृष्णम्' इत्यवायनमवायः । [8]अवेतस्यार्थस्याविस्मरणं धारणा । एवं श्रोत्रादिषु मनस्यपि योज्यम् । तदावरणकर्मक्षयोपशमविकल्पात् प्रत्येकमवग्रहादिज्ञानावरणभेद इष्यते । कथम् ? ज्ञानावरणमूलप्रकृतेः पञ्चोत्तरप्रकृतयः, तासामप्युत्तरोत्तराः प्रकृतिविशेषाः सन्ति । *"**ज्ञानावरणस्योत्तरोत्तरप्रकृतयः [9]असंख्येया लोकाः**" [ ] इति वचनात् ।

१ सति संशये ईहायाः प्रवृत्तिर्नास्तीति द०, मु० । असति सं— आ०, ब० । २ —वरणीयवी— आ०, ब०, मु० । ३ सुज्वेत्यादिना समासः । ४ —पर्यासानध्य— ता० । ५ वाचेष्टितस्य मु०, आ०, ब०, द० । बालेऽस्ति तस्य मु० । लुङः चेष्टितम्— ता० टि० । न तावत् संशयविपर्ययात्मकं वा बालेन अचेष्टि चेष्टितमित्यर्थः । ६ संशयविपर्ययात्मकस्य । ७ समीचीन । ८ निश्चितस्य । ९ नानाजीवापेक्षया । असंख्येयलोकाः मु० ।

आह–ईहादीनाममतिज्ञानप्रसङ्गः । कुतः ? परस्परकार्यत्वात् । अवग्रहः कारणम् ईहा कार्यम्, ईहा कारणम् अवायः कार्यम्, अवायः कारणं धारणा कार्यम् । न चेहादीनाम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वमस्तीति; नैष दोषः; ईहादीनाम् अनिन्द्रियनिमित्तत्वात् मतिज्ञानव्यपदेशः । यद्येवं श्रुतस्यापि प्राप्नोति; इन्द्रियगृहीतविषयत्वादीहादीनाम् अनिन्द्रियनिमित्तत्वमप्युपचर्यते, न तु श्रुतस्यायं विधिरस्ति तस्यानिन्द्रियविषयत्वादिति श्रुतस्याप्रसङ्गः । यद्येवं चक्षुरिन्द्रियेहादिव्यपदेशाभाव इति चेत्; न; इन्द्रियशक्तिपरिणतस्य जीवस्य भावेन्द्रियत्वे तद्व्यापारकार्यत्वात् । इन्द्रियभावपरिणतो हि जीवो भावेन्द्रियमिष्यते, तस्य विषयाकारपरिणामा ईहादय इति चक्षुरिन्द्रियेहादिव्यपदेश इति ।

य इमे अवग्रहादयो मतिज्ञानप्रभेदा उक्तास्ते ज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्ताः[1] केषां भवन्तीति ? उच्यते–

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात् ।१। बहुशब्दो हि संख्यावाची वैपुल्यवाची च, तस्योभयस्यापि ग्रहणम् । कस्मात् ? अविशेषात् । संख्यायाम् 'एको द्वौ बहवः' इति, वैपुल्ये 'बहुरोदनो बहुः सूपः' इति ।

बह्ववग्रहाद्यभावः प्रत्यर्थवशवर्तित्वादिति चेत्; न; सर्वदैकप्रत्ययप्रसङ्गात् ।२। स्यादेतत्–प्रत्यर्थवशवर्ति विज्ञानं नानेकमर्थं ग्रहीतुमलम्, अतो बह्ववग्रहादीनामभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वदैकप्रत्ययप्रसङ्गात् । यथा [2]इरिणाटव्यां कश्चिदेकमेव पुरुषमवलोकयन् नानेक इत्यवैति, मिथ्याज्ञानमन्यथा स्यात् एकत्र अनेकबुद्धिर्यदि भवेत्, तथा नगरवनस्कन्धावारावगाहिनोऽपि तस्यैकप्रत्ययः स्यात् सार्वकालिकः । अतश्चानेकार्थग्राहिविज्ञानस्यात्यन्तासंभवात् नगरवनस्कन्धावारप्रत्ययनिवृत्तिः । नैताः संज्ञा ह्येकार्थनिवेशिन्यः, तस्माल्लोकसंव्यवहारनिवृत्तिः । किञ्च,

[3]नानार्थप्रत्ययाभावात् ।३। यस्यैकार्थमेव नियमाज्ज्ञानं तस्य पूर्वज्ञाननिवृत्तावुत्तरज्ञानोत्पत्तिः स्यात्, अनिवृत्तौ वा ? उभयथा च दोषः । यदि पूर्वमुत्तरज्ञानोत्पत्तिकालेऽस्ति; यदुक्तम् *"एकार्थमेकमनस्त्वात्" [ ] इत्यदो विरुध्यते । यथैकं मनोऽनेकप्रत्ययारम्भकं तथैकप्रत्ययोऽनेकार्थो भविष्यति, अनेकस्य प्रत्ययस्यैककालसंभवात् । [4]नन्वनेकार्थोपलब्धिरुपपत्स्यते; तत्र [5]'यदभिमतम्'–*"एकमेव एकस्य ज्ञानमेकं चार्थमुपलभते" [ ] इत्यमुष्य व्याघातः । अथ [6]पुनर्विनिवृत्ते पूर्वस्मिन्नुत्तरज्ञानोत्पत्तिः प्रतिज्ञायते; ननु सर्वथैकार्थमेकमेव ज्ञानमिति, अतः 'इदमस्मादन्यत्' इत्येष व्यवहारो न स्यात् । अस्ति च सः, तस्मान्न किञ्चिदेतत् । किञ्च,

आपेक्षिकसंव्यवहार[7]विनिवृत्तेः ।४। यस्यैकज्ञानमनेकार्थविषयं न विद्यते; तस्य [8]'मध्यमाप्रदेशिन्योर्युगपदनुपलम्भात् तद्विषयदीर्घह्रस्वव्यवहारो विनिवर्तेत । आपेक्षिको ह्यसौ, न चापेक्षास्ति । किञ्च,

संशयाभावप्रसङ्गात् ।५। एकार्थविषयवर्तिनि विज्ञाने, स्थाणौ पुरुषे वा प्राक्प्रत्ययजन्म स्यात्, नोभयोः प्रतिज्ञातविरोधात् । यदि स्थाणौ; पुरुषाभावात् स्थाणुवन्ध्यापुत्रवत्

१ –त्ताः पुनः के –ता० । २ शून्याटव्याम् । संकीर्णो निचिताशुद्धाविरिणं शून्यमूषरमित्यमरः । यथारण्याटव्याम्– आ०, द०, ब०, मु० । ३ नानात्वप्रत्य– अ०, ब०, द० मु०, मू० । ४ नत्वनेका– मु० । नत्वेका – ब० । ५ यदभिमतमेवैकस्य आ०, द०, ब०, मु० । ६ पुर्नानिवृ– आ०, द०, ब०, मु० । ७ –र नि– आ०, द०, ब०, मु० । ८ अङ्गुल्योः ।

संशयाभावः स्यात् । अथ पुरुषे; तथा स्थाणुद्रव्यानपेक्षत्वात् संशयो न स्यात्, तत्पूर्ववत् । नत्वभाव[1] इष्टः, अतो नैकार्थग्राहिविज्ञानकल्पना श्रेयसीति । किञ्च,

ईप्सितनिष्पत्त्यनियमात् ।६। विज्ञानस्यैकार्थावलम्बित्वे चित्रकर्मणि निष्णातस्य चैत्रस्य पूर्णकलशमालिखतः[2] तत्क्रियाकलशतत्प्रकारग्रहणविज्ञानभेदात् इतरेतरविषयसंक्रमाभावात् अनेकविज्ञानोत्पादनिरोध[3]क्रमे सति अनियमेन निष्पत्तिः स्यात् । दृष्टा तु सा नियमेन । सा चैकार्थग्राहिणि विज्ञाने विरुध्यते । तस्मान्नानार्थोऽपि प्रत्ययोऽभ्युपेयः ।

द्वित्रादिप्रत्ययाभावाच्च ।७। एकार्थविषय[4]वर्तिनि विज्ञाने 'द्वाविमौ इमे त्रयः' इत्यादि प्रत्ययस्याभावः, यतो नैकं विज्ञानं द्वित्राद्यर्थानां ग्राहकमस्ति ।

सन्तानसंस्कारकल्पनायां च विकल्पानुपपत्तिः ।८। सन्ताने संस्कारे च कल्प्यमाने विकल्पयोरनुपपत्तिः[5] । स सन्तानः संस्कारश्च ज्ञानजातीयो वा स्यात्, अज्ञानजातीयो वा ? यद्यज्ञानजातीयः; न ततः किञ्चित् प्रयोजनमस्ति । ज्ञानजातीयत्वेऽपि एकार्थग्राहित्वं वा स्यात्, अनेकार्थग्राहित्वं वा ? यद्येकार्थग्राहित्वम्; दोषविधिस्तदवस्थः । अथानेकार्थग्राहित्वम्; प्रतिज्ञाहानिः प्रसज्यते ।

विधग्रहणं प्रकारार्थम् ।९। 'विधयुक्तगतप्रकाराः समानार्थाः' इति प्रकारार्थो विधशब्दः । बहुविधं बहुप्रकारमित्यर्थः ।

क्षिप्रग्रहणमचिरप्रतिपत्त्यर्थम् ।१०। 'अचिरप्रतिपत्तिः कथं स्यात्' इति क्षिप्रग्रहणं क्रियते ।

अनिःसृतग्रहणमसकलपुद्गलोद्गमार्थम् ।११। अनिःसृतग्रहणं क्रियते असकलपुद्गलोद्गमार्थम् ।

अनुक्तमभिप्रायेण प्रतिपत्तेः[6] ।१२। 'अभिप्रायेण प्रतिपत्तिरस्ति' इत्यनुक्तग्रहणं क्रियते ।

ध्रुवं यथार्थग्रहणात् ।१३। ध्रुवग्रहणं क्रियते 'यथार्थग्रहणमस्ति' इति ।

सेतरग्रहणाद्विपर्ययावरोधः[7] ।१४। 'अल्पमल्पविधं चिरं निःसृतमुक्तमध्रुवम्' इत्येतेषामवरोधो भवति सेतरग्रहणात् ।

अवग्रहादिसंबन्धात् कर्मनिर्देशः ।१५। 'बह्वादीनाम्' इति कर्मनिर्देशोऽवग्रहाद्यपेक्षो वेदितव्यः ।

बह्वादीनामादौ वचनं विशुद्धिप्रकर्षयोगात् ।१६। ज्ञानावरणक्षयोपशमविशुद्धिप्रकर्षयोगे सति बह्वादीनामवग्रहादयो भवन्ति इति तेषां ग्रहणमादौ क्रियते ।

ते च प्रत्येकमिन्द्रियानिन्द्रियेषु द्वादशविकल्पा नेयाः । तद्यथा–प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोपष्टम्भात् संभिन्नश्रोताऽन्यो वा युगपत्तत[8]वितत[9]घन[10]-[11]सुषिरादिशब्दश्रवणाद् बहुशब्दमवगृह्णाति । अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणाम आत्मा ततशब्दादीनामन्यतममल्पं शब्दमवगृह्णाति । प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिसन्निधाने सति ततादिशब्दविकल्पस्य प्रत्येकमेकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुणस्यावग्राहकत्वात् बहु-

१ संशयस्याभावः – ता० टि० । २ –तः क्रिया– ता०, मू० श्र० । –तः सत्क्रिया– द० । ३ नाश । ४ –विषयविज्ञाने ता० । ५ –त्तिः सन्ता– श्र० । ६ –पत्तिः श्र०, द० । –पत्त्यर्थं भा० १ । ७ अङ्गीकारः । ८ वीणादिवाद्य । ९ मुरजादि । १० तालादि । ११ वंशादि । ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् । वंशादिकं तु सुषिरं कास्यं तालादिकं घनम् ॥ इत्यमरः ।

विधमवगृह्णाति । अल्पविशुद्धिश्रोत्रेन्द्रियादिपरिणामकारण आत्मा तत्तादिशब्दानामेकविधावग्रहणात् एकविधमवगृह्णाति । प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपरिणामित्वात् क्षिप्रं शब्दमवगृह्णाति । अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपारिणामिकत्वात् चिरेण शब्दमवगृह्णाति । [1]सुविशुद्धश्रोत्रादिपरिणामात् साकल्येनानुच्चारितस्य ग्रहणात् अनिःसृतमवगृह्णाति । निःसृतं प्रतीतम् । प्रकृष्टविशुद्धिश्रोत्रेन्द्रियादिपरिणामकारणत्वात् एकवर्णानिर्गमेऽपि[2] अभिप्रायेणैव अनुच्चारितं शब्दमवगृह्णाति 'इमं भवान् शब्दं वक्ष्यति' इति । अथवा, स्वरसंचारणात् प्राक् तन्त्रीद्रव्यातोद्याद्यामर्शनेनैव अवादितम् अनुक्तमेव शब्दमभिप्रायेणावगृह्य आचष्टे–'भवानिमं शब्दं वादयिष्यति' इति । उक्तं प्रतीतम् । संक्लेशपरिणामनिरुत्सुकस्य यथानुरूपश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपरिणामकारणावस्थितत्वात् यथा प्राथमिकं शब्दग्रहणं तथावस्थितमेव[3] शब्दमवगृह्णाति नोनं नाभ्यधिकम् । पौनःपुन्येन संक्लेशविशुद्धिपरिणामकारणापेक्षस्यात्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्तश्रोत्रेन्द्रियसान्निध्येऽपि तदावरणस्येषदीषदाविर्भावात् पौनःपुनिकं प्रकृष्टावकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणादिक्षयोपशमपरिणामत्वाच्च अध्रुवमवगृह्णाति शब्दम्–क्वचिद् बहु क्वचिदल्पं क्वचिद् बहुविधं क्वचिदेकविधं क्वचित् क्षिप्रं क्वच्चिरेण क्वचिदनिःसृतं क्वचिन्निसृतं क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तम् ।

[4]अत्राह––बहुबहुविधयोः कः प्रतिविशेषो [5]यावतोभयत्रापि ततादिशब्दग्रहणमविशिष्टमस्ति ? उच्यते–न, [6]विशेषदर्शनात् । यथा कश्चित् बहूनि शास्त्राणि [7]मौलेन सामान्यार्थेनाविशेषितेन व्याचष्टे न तु बहुभिर्विशेषितार्थैः, कश्चिच्च तेषामेव बहूनां शास्त्राणां बहुभिरर्थैः परस्परातिशययुक्तैर्बहुविकल्पैर्व्याख्यानं करोति, तथा ततादिशब्दग्रहणाविशेषेऽपि यत्प्रत्येकं ततादिशब्दानाम् एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणपरिणतानां ग्रहणं तद् बहुविधग्रहणम्, यत्तत्तादीनां सामान्यग्रहणं तद् बहुग्रहणम् ।

आह–उक्तनिःसृतयोः कः प्रतिविशेषः, यतः सकलशब्दनिःसरणान्निःसृतम् उक्तमप्येवंविधमेव ? उच्यते–अन्योपदेशपूर्वकं शब्दग्रहणम् उक्तम् 'गोशब्दोऽयम्' इति । स्वत एव ग्रहणं निःसृतम् ।

[8]चक्षुषा तु विशुद्धचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणामकारणत्वात् शुक्लकृष्णरक्तनीलपीतरूपपर्यायं बहुमवगृह्णाति । अल्पं पूर्ववत् । प्रकृष्टविशुद्धिचक्षुरिन्द्रियादिक्षयोपशमपरिणामकारणत्वात् शुक्लादिपञ्चतयरूपगुणस्य प्रत्येकमेकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुणपरिणामिनोऽवग्राहकत्वसामर्थ्याद् बहुविधं रूपमवगृह्णाति । एकविधं पूर्ववत् । क्षिप्रचिरयोरप्युक्त एव क्रमः । पञ्चवर्णवस्त्रकम्बलचित्रपटादीनां सकृदेकदेशविषयपञ्चवर्णग्रहणात् कृत्स्नपञ्चवर्णेष्वदृष्टेष्वनिःसृतेष्वपि तद्वर्णाविष्करणसामर्थ्याद् अनिःसृतमवगृह्णाति । अथवा, देशान्तरस्थपञ्चवर्णपरिणतैकवस्त्रादिकथनात् साकल्येनाऽकथितस्यापि एकदेशकथनेनैव तत्कृत्स्नपञ्चवर्णग्रहणाद् अनिःसृतम् । निःसृतं प्रतीतम् । [9]सुविशुद्धचक्षुरिन्द्रियादिक्षयोपशम आत्मा शुक्लकृष्णादिवर्णमिश्रीकरणदर्शनात् परेणाकथितमपि वर्णमभिप्रायेणैव प्रतिपद्यते–'भवानिमं वर्णमे-[10]तद्वर्णद्वयमिश्रणात् करिष्यति' इत्येवं ग्रहणादनुक्तं रूपमवगृह्णाति । अथवा, देशान्तरस्थपञ्च-

१ सुविशुद्धिश्रो– आ०, ब०, द०, मु० । २ –र्णनिर्ग– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –मेव गृ– श्र० । ४ आह आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ यस्मात् कारणात् । ६ एकप्रकारनानाप्रकारकृतविशेषदर्शनात् । ७ मौनेन आ०, ब०, द०, मु० । ८ चक्षुषा वि– श्र० । चक्षुषा स तु वि– ता० । ९ सुविशुद्धिचक्षु आ०, ब०, द०, मु० । १० –तद्वर्णमि– ।

वर्णैकद्रव्यकथने तालवादिकरणसंश्लेषात् प्राक् सकृदप्यकथितमेव द्रव्यमाचष्टे 'भवानेवंविधमस्माकं [1]पञ्चवर्णद्रव्यं व्याकरिष्यति' इत्यनुक्तं रूपमवगृह्णाति । परकीयाभिप्रायानपेक्षम् आत्मीयचक्षुरिन्द्रियपरिणामसामर्थ्यादेवोक्तं रूपमवगृह्णाति । संक्लेशपरिणामनिरुत्सुकस्य यथानुरूपचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणामकारणावस्थितत्वात् यथा प्राथमिकं रूपग्रहणं तथावस्थितमेव रूपमवगृह्णाति नोनं नाभ्यधिकम् । पौनःपुन्येन संक्लेशविशुद्धिपरिणाम[2]कारणापेक्षस्य आत्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्तचक्षुरिन्द्रियसान्निध्येऽपि तदावरणस्येषदीषदाविर्भावात् पौनःपुनिकं प्रकृष्टावकृष्टचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणामकारणत्वाच्च अध्रुवमवगृह्णाति [3]रूपं क्वचिद् बहु क्वचिदल्पं क्वचिद् बहुविधं क्वचिदेकविधं क्वचित् क्षिप्रं क्वच्चिरेण क्वचिदनिःसृतं क्वचिन्निःसृतं क्वचिदनुक्तं क्वचिदुक्तम् । एवं घ्राणाद्यवग्रहेष्वपि योज्यम् । तथेहावायधारणा अपि बह्वादिभिः सेतरैरवसेयाः ।

कश्चिदाह–श्रोत्रघ्राणस्पर्शनरसनचतुष्टयस्य प्राप्यकारित्वात् अनिःसृतानुक्तशब्दाद्यवग्रहेहावायधारणा न युक्ता इति; उच्यते–

अप्राप्तत्वात् ।१७। कथम् ?

पिपीलिकादिवत् ।१८। यथा पिपीलिकादीनां घ्राणरसनदेशाप्राप्तेऽपि गुडादिद्रव्ये गन्धरसज्ञानम्, तच्च यैश्च यावद्भिश्चास्मदाद्यप्रत्यक्षसूक्ष्मगुडावयवैः पिपीलिकादिघ्राणरसनेन्द्रिययोः [4]परस्परानपेक्षा प्रवृत्तिस्ततो न दोषः ।

अस्मदादीनां तदभाव इति चेत्; न; श्रुतापेक्षत्वात् । १९ । यथा भूगृहसंवर्द्धितोत्थितस्य पुंसः चक्षुरादिभिरवभासितेष्वपि घटादिषु 'घटोऽयं रूपमिदम्' इत्यादि यद्विशेषपरिज्ञानं तत् श्रुतापेक्षं परोपदेशापेक्षत्वात्, तथा अस्मदादीनामप्यनिःसृतानुक्तमपि [5]ज्ञानविकल्पशब्दात्[6] यदवग्रहादिज्ञानं तत् श्रुतापेक्षम् । किञ्च,

[7]**लब्ध्यक्षरत्वात् ।२०।** श्रुतज्ञानप्रभेदरूपणायां लब्ध्यक्षरश्रुतकथनं षोढा प्रविभक्तम् । तद्यथा–*[8]**"चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनमनोलब्ध्यक्षरम्"** [ ] इत्यार्ष उपदेशः । अतः चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनेन्द्रियमनोलब्ध्यक्षरसान्निध्यात् एतत्सिध्यति अनिसृतानुक्तानामपि शब्दादीनां अवग्रहादिज्ञानम् ।

यद्यवग्रहादयो बह्वादीनां कर्मणामाक्षेप्तारो[9] बह्वादीनि पुनर्विशेषणानि कस्येति? अत आह–

अर्थस्य ॥१७॥

चक्षुरादिविषयोऽर्थः, तस्य बह्वादिविशेषणविशिष्टस्य अवग्रहादयो भवन्ति ।

इयर्ति पर्यायनर्यते वा तैरित्यर्थो द्रव्यम् ।१। प्रत्यात्मसंबन्धिनः पर्यायान् उभयनिमित्तवशादुत्पत्तिं प्रत्यागूर्णान् इयर्ति गच्छति, अर्यते गम्यते वा तैरित्यर्थः । कः पुनरसौ ? द्रव्यम् । किमर्थमिदमुच्यते–

१ पञ्चवर्णं व्यति– आ०, ब०, द०, मु० । पञ्चवर्णं व्या– ता० । २ –मापेक्ष– आ०, ब०, द०, मु० । ३ अत्राप्यध्रुवस्योदाहरणमाह । ४ परस्परापेक्षा प्रवृत्तिः मू० । परस्परापेक्षावृत्तिः आ०, ब०, द०, मु० । ५ भावश्रुत । ६ –ब्दाद्यव– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ आत्मनोऽर्थग्रहणशक्तिलब्धिः भावेन्द्रियम्, तद्रूपमक्षरं लब्ध्यक्षरम्, आत्मज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वात् । ८ सूचकाः । ९ स्वरूप ।

अर्थवचनं गुणग्रहणनिवृत्त्यर्थम् ।२। [1]केचित्–'रूपादयो गुणा एवेन्द्रियैः सन्निकृष्यन्ते तत्तस्तद्ग्रहणम्' इति मन्यन्ते; तन्मतनिवृत्त्यर्थम् 'अर्थस्य' इत्युच्यते[2]। न हि ते रूपादयो गुणा अमूर्ता इन्द्रियसन्निकर्षमापद्यन्ते इति। [3]तत्प्रचयविशेषे सति सन्निकर्षसंभव इति चेत्; न; गुणानां[4] प्रचयानुपपत्तेः[5]। सत्यपि वा प्रचये [6]अर्थान्तरप्रादुर्भावाभावात् सूक्ष्मावस्थानतिक्रमात् अग्रहणमेवैषां स्यात्। न तर्हीदानीमिदं भवति–'रूपं मया दृष्टं गन्धो वा घ्रातः' इति, भवति च; अर्थग्रहणात् तदव्यतिरेकात् तेषामपि ग्रहणोपपत्तेः।

तेषु सत्सु मतिज्ञानात्मलाभात् सप्तमीप्रसङ्गः ।३। यतो विषयेषु सत्सु मतिज्ञानमाविर्भवति अतः 'अर्थे' इति वाच्यम्।

न; अनेकान्तात् ।४। नायमेकान्तोऽस्ति–'सत्यर्थे मतिज्ञानं भवति' इति, यतः सत्यप्यर्थे अवनितलभवनसंभूतस्य कुमारस्योत्तीर्णमात्रस्य घटरूपादिमतिज्ञानाभावः। अथवा, नायमेकान्तोऽस्ति, अधिकरणस्य सत्त्वात् सप्तमीप्रसङ्ग इति। कस्मात्? तस्याविवक्षितत्वात्। विवक्षावशाद्धि कारकाणि भवन्ति।

क्रियाकारकसंबन्धस्य विवक्षितत्वात् ।५। अवग्रहादयः क्रियाविशेषा उक्ताः, तेषामवश्यं केनचित् कर्मणा भवितव्यमिति 'बह्वादिविकल्पस्यार्थस्य' इत्युच्यते।

बह्वादिसामानाधिकरण्याद् बहुत्वप्रसङ्गः ।६। यतो बह्वादिरेवार्थः नातोऽन्यः, ततो बह्वादिसामान्याधिकरण्यात् 'अर्थानाम्' इति बहुत्वं प्राप्नोति?

न वा, अनभिसम्बन्धात् ।७। न वैष दोषः। किं कारणम्? अनभिसंबन्धात्। न ह्यस्य [7]बह्वादिभिरभिसंबन्धः क्रियते। केन तर्हि? अवग्रहादिभिः। 'कस्य' इत्युक्ते 'अर्थस्य' [8]इत्यभिसम्बध्यते, तद्विशेषणं बह्वादिग्रहणम्।

सर्वस्य वाऽर्थमाणत्वात् ।८। अथवा, सर्वस्यार्थमाणस्यार्थत्वम्, अतो जातिप्रधानत्वान्निर्देशस्य 'अर्थस्य' इत्येकत्वनिर्देशो युक्तः।

प्रत्येकमभिसंबन्धाद्वा ।९। अथवा प्रत्येकमभिसंबन्धः क्रियते–बहोरर्थस्य बहुविधस्यार्थस्य इति।

किममी अवग्रहादयः सर्वस्येन्द्रियानिन्द्रियार्थस्य भवन्ति उत कश्चिद्विषयविशेषोऽस्तीति? अत आह–

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

[9]व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति। किमर्थमिदम्? नियमार्थम्–'अवग्रह एव नेहादयः' इति। स तर्हेवकारः कर्तव्यः?

न वा; सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेः अब्भक्षवत्[10] ।१। न वा कर्तव्यः। किं कारणम्? सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेः। कथम्? अब्भक्षवत्[10]। यथा न कश्चिदपो न भक्षयतीति सामर्थ्यादव-

१ वैशेषिकाः। २ यावता बह्वादिरर्थ एव, सत्यमेव किन्तु प्रवादिपरिकल्पनानिवृत्त्यर्थमर्थस्येत्युच्यते इत्याह। ३ रूपादीनाम्। ४ गुणादीनां आ०, ब०, द०, मु०। ५सम्बन्धाभावात्। ६ अन्योऽर्थः अर्थान्तरं तस्य, भेदस्य घातामावादणूनां तन्मते अन्यार्थप्रादुर्भावाभाव इत्यर्थः। ७ बहुत्वादिभि– मु०, आ०, द०, ब०। ८ इतीह सम्ब– आ०, ब०, द०, मु०। ९ विगतमञ्जनमभिव्यक्तिर्यस्य तद् व्यञ्जनम्। व्यज्यते मृक्ष्यते प्राप्यत इति। व्यञ्जनमिति च अव्यक्तिग्रक्षणयोरर्थयोर्ग्रहणात् शब्दादिकं श्रोत्रादिनेन्द्रियेण प्राप्तमपि यावन्नाभिव्यक्तं तावदेव व्यञ्जनमित्युच्यते। एकवारजलकणसिक्तनूतनशरावत्। १० अब्भक्षणवत् ता०।

धारणं प्रतीयते–'अप एव भक्षयति' इति, तथा सर्वेषामवग्रहादीनां प्रसिद्धौ अवग्रहवचनमवधारणार्थं विज्ञायते।

तयोरभेदो ग्रहणाविशेषादिति चेत्; न; व्यक्ताऽव्यक्तभेदाद् अभिनवशरावत् ।२। स्यादेतत्–तयोरर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्नास्ति भेदः–ग्रहणाविशेषात्, न हि शब्दादिग्रहणं प्रति विशेषोऽस्तीति; तन्न; किं कारणम्? व्यक्ताव्यक्तभेदात्। व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः। अव्यक्तग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। कथम्? अभिनवशरावत्। यथा सूक्ष्मजलकणद्वित्रिसिक्तः[1] शरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति, स एव पुनः पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यति, तथा आत्मनः [2]शब्दादीनाम[3]व्यक्तग्रहणात्[4] प्राक्[5] व्यञ्जनावग्रहः, व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः।

सर्वेन्द्रियाणामविशेषेण व्यञ्जनावग्रहप्रसङ्गे यत्रासंभवस्तदर्थं प्रतिषेधमाह–

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

चक्षुषा अनिन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति। कुतः?

व्यञ्जनावग्रहाभावः चक्षुर्मनसोरप्राप्यकारित्वात् ।१। यतोऽप्राप्तमर्थमविदिक्कं [6]युक्तसन्निकर्षविषयेऽवस्थितं बाह्यप्रकाशाभिव्यक्तमुपलभते चक्षुः, मनश्चाप्राप्तम्, ततो नानयोर्व्यञ्जनावग्रहोऽस्ति।

इच्छामात्रमिति चेत्; न; सामर्थ्यात् ।२। स्यादेतत्–इच्छामात्रमिदम्–'अप्राप्तार्थविग्राहि चक्षुः' इति; तन्न; किं कारणम्? सामर्थ्यात्। कथं सामर्थ्यम्? आगमतो युक्तितश्च। आगमतस्तावत्[6]–

* "[7]पुट्ठं [8]सुणेदि सद्दं अपुट्ठं [9]पुण पस्सदे रूवं।
गंधं रसं च फासं [10]बद्धं पुट्ठं विजाणादि ॥" [ ] इति।

युक्ततोऽपि––

अप्राप्यकारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात्। यदि प्राप्यकारि स्यात्, त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात्। न च गृह्णाति। अतो मनोवदप्राप्यकारीत्यवसेयम्।

अत्र केचिदाहुः–प्राप्यकारि चक्षुः आवृतानवग्रहात् त्वगिन्द्रियवदिति[11]; **अत्रोच्यते**–"[12]काचाभ्रपटलस्फटिकावृतार्थविग्रहे सति अव्यापकत्वादसिद्धो[13] हेतुः, वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत्[14]। तथा संशयहेतुः, अप्राप्यकारित्वेऽयस्कान्तोपले साध्यविपक्षेऽपि दर्शनादिति। भौतिकत्वात् प्राप्यकारि चक्षुरग्निवदिति चेत्; न; अयस्कान्तेनैव प्रत्युक्तत्वात्। बाह्येन्द्रियत्वात् प्राप्यकारि

१ –द्वित्रिसिक्तः आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ शब्दादीनां व्य– आ०, ब०, द०, मु०। ३ हेतोः –मू० टि०। ४ अर्थावग्रहात् प्राक् –मू० टि०। ५ युक्तं स– मु०, आ०, ब०, द०। ६ –तावत् गाथा पुट्ठं आ०, ब०, मु०। तावत् गाहा पुट्ठं, द०, ता०। आगमस्तावत्– आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता०। ७ सुणोदि मु०, द०। ८ पुणो वि प– ता०। पुण वि प– आ०, ब०, द०, मु०। ९ पुट्ठमपुट्ठं ता०, आ०, ब०, सा०। आव० नि० गा० ५। पंचसं० १।६८। स्पृष्टं शृणोति शब्दं अस्पृष्टं पुनः पश्यति रूपम्। गन्धं रसं च स्पर्शं बद्धं स्पृष्टं विजानाति ॥ उद्धृतेयम्– स० सि० १। १९। –सम्पा०। १० द्रष्टव्यम्– न्यायकु० पृ० ७५ टि० २। ११ तुलना– "काचेन अभ्रपटलेन स्फटिकेन अम्बुना चान्तरितं व्यवहितं कथं दृश्यते सप्रतिघत्वात्। काचादिव्यवहितं चक्षुर्न पश्येत। तच्च पश्यतीति सिद्धान्तः।" –स्फु० अभि० पृ० ८४। १२ भागासिद्धः। १३ चेतनास्तरवः स्वापात्, न हि तरुषु सर्वत्र स्वापः, पत्रसंकोचलक्षणस्य तस्य द्विदलेष्वेव भावात्।

चक्षुरिति चेत्; न; द्रव्येन्द्रियोपकरणस्य भावेन्द्रियस्य प्राधान्यात् । अप्राप्यकारित्वे व्यवहितातिविप्रकृष्टग्रहणप्रसङ्ग इति चेत्; न; अयस्कान्तेनैव प्रत्युक्तत्वात् । अयस्कान्तोपलम् अप्राप्य लोहमाकर्षदपि न व्यवहितमाकर्षति नातिविप्रकृष्टमिति संशयावस्थमेतदिति । अप्राप्यकारित्वे संशयविपर्ययाभाव इति चेत्; न; [1]प्राप्यकारित्वेऽपि तदविशेषात् ।

कश्चिदाह–[2]रश्मिवच्चक्षुः, तैजसत्वात्, तस्मात्प्राप्यकारीति, अग्निवदिति; एतच्चायुक्तम्; अनभ्युपगमात् । [3]न वयमभ्युपगच्छामः 'तैजसं चक्षुः' इति । तेजोलक्षणमौष्ण्यमिति कृत्वा चक्षुरिन्द्रियस्थानमुष्णं स्यात् । न च तद्देशं स्पर्शनेन्द्रियम् उष्णस्पर्शोपलम्भि दृष्टमिति । इतश्च, अतैजसं चक्षुः भासुरत्वानुपलब्धेः । अदृष्टवशादनुष्णाभासुरत्वमिति चेत्, न; अदृष्टस्य गुणत्वात्, [4]अक्रियस्य [5]भावस्वभावनिग्रहासामर्थ्यात् । [6]नक्तञ्चररश्मिदर्शनाद् रश्मिवच्चक्षुरिति चेत्; न; अतैजसोऽपि पुद्गलद्रव्यस्य भासुरत्वपरिणामोपपत्तेरिति[7] ।

किञ्च, [8]गतिमद्वैधर्म्यात् । इह यद् गतिमद्भवति न तत् सन्निकृष्टविप्रकृष्टा[9]वर्थावभिन्नकालं प्राप्नोति, न च तथा चक्षुः । चक्षुर्हि शाखाचन्द्रमसावभिन्नकालमुपलभते, यावता कालेन शाखां प्राप्नोति तावता चन्द्रमसमिति स्पष्टं गतिमद्वैधर्म्यम्, तस्मान्न गतिमच्चक्षुरिति ।

यदि च प्राप्यकारि चक्षुः स्यात्; तमिस्रायां रात्रौ दूरेऽग्नौ प्रज्वलति तत्समीपगतद्रव्योपलम्भनं भवति कुतो नान्तरालगतद्रव्यालोचनम् ? प्रकाशाभावादिति चेत्; न; तैजसत्वादग्न्यादिवत् सहायान्तरानपेक्षत्वप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यदि प्राप्यकारि चक्षुः स्यात् [10] सान्तराधिकग्रहणं न प्राप्नोति । नहीन्द्रिया[11]न्तरविषये गन्धादौ सान्तरग्रहणं दृष्टं नाप्यधिकग्रहणम् । अथ मतम्–बहिरधिष्ठानाद्वृत्तिरिन्द्रियस्य अत उपपन्नं तद्विषयस्य सान्तराधिकग्रहणमिति; तदयुक्तम्; यस्मान्न बहिरधिष्ठानादिन्द्रियम्, तत्र चिकित्सादिदर्शनात्, अन्यथा अधिष्ठानपिधानेऽपि ग्रहणप्रसङ्गः । मनसश्चाबहिर्भावात् । मनसाऽधिष्ठितं हि इन्द्रियं स्वविषये व्याप्रियते, न च मनो बहिरधिष्ठानादस्ति,[12] तदभावादग्रहणप्रसङ्गः । अनुवृत्तौ[13] च संभवाभावात् विप्रकीर्ण[14] चक्षूरश्मिसमूहं कथमणुमनोऽधिष्ठास्यति ?

कश्चिदाह[15]–श्रोत्रमप्राप्यकारि विप्रकृष्टविषयग्रहणादिति; एतच्चायुक्तम्; [16]असिद्धत्वात् । साध्यं तावदेतत्–विप्रकृष्टं शब्दं गृह्णाति श्रोत्रम् उत घ्राणेन्द्रियवदवगाढं स्वविषयभावपरिणतं

---

१ चेन्न तत्प्राप्य– आ०, ब०, द०, मु० । चक्षुषः । २ द्रष्टव्यम्– न्यायकुमु० पृ० ७६ टि० १ । ३ न हि वय– आ०, ब०, द०, मु० । ४ आत्मनः । ५ पदार्थ । ६ "नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च" –न्यायसू० ३।१।४३ । ७ –पपत्तिरिति– श्र०, द० । ८ तुलना–"पश्येच्चक्षुश्चिराद् दूरे गतिमद् यदि तद्भवेत् । अत्यभ्यासे च दूरे च रूपं व्यक्तं न तत्र किम् ॥१३॥ यदि चक्षुः प्राप्यकारित्वात् विषयदेशं गच्छेत् तदोन्मिषितमात्रेण न चन्द्रतारकादीनर्थान् गृह्णीयात् ।" –चतुश० पृ० १८६ । ९ –ष्टावभि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १० तुलना–"सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च । अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं न शक्तिर्विषयेक्षणे ॥ –सान्तरग्रहणं विच्छिन्नग्रहणम् । अधिकग्रहणम् इन्द्रियासम्बद्धग्रहणमिति ।" –प्रमाणसमु० वृ० पृ० ४१–४२ । ११ –न्द्रियान्तरे वि– ता० । –न्द्रियनिरन्तरे वि– मू० । १२ –नमस्ति आ०, ब, द०, मु० । –नादस्ति तदग्रहण– मू० । १३ वृत्तौ वृत्तौ मनसः संभवो नास्ति यतः । –सम्पा० । १४ –र्णः चक्षूरश्मिसमूहः कथ– आ०, ब०, द०, मु० । १५ बौद्धः –सम्पा० । "अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि·····" –अभिध० १।४३ । १६ अप्रसिद्ध– श्र०, मू० । साध्यसमोऽयं हेतुः । –श्र० टि० ।

पुद्गलद्रव्यं गृह्णाति इति । विप्रकृष्टशब्दग्रहणे[1] च स्व[2]कर्णान्तर्विलगतमशकशब्दो नोपलभ्येत । नहीन्द्रियं किञ्चिदेकं दूरस्पृष्टविषयग्राहि दृष्टमिति । [3] आकाशगुणत्वाच्छब्दस्य [4]स्पर्शवद्गुणत्वाभाव इति चेत्; न; अमूर्तगुणस्य आत्मगुणवत् इन्द्रियविषयत्वादर्शनादिति । प्राप्तावग्रहे श्रोत्रस्य दिग्देशभेदविशिष्टविषयग्रहणाभाव इति चेत्; न; शब्दपरिणतविसर्पत्पुद्गलवेगशक्तिविशेषस्य तथाभावोपपत्तेः[5], सूक्ष्मत्वात् अप्रतिघातात् समन्ततः प्रवेशाच्च, सिद्धमेतत्– 'चक्षुर्मनसी वर्जयित्वा शेषाणामिन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहः, सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थावग्रहः' इति ।

मनसोऽनिन्द्रियव्यपदेशाभावः स्वविषयग्रहणे करणान्तरानपेक्षत्वाच्चक्षुर्वत् ।३। यथा चक्षू रूपग्रहणे करणान्तरं नापेक्षत इति इन्द्रियव्यपदेशं लभते तथा मनोऽपि गुणदोषविचारादिस्वव्यापारे करणान्तरं नापेक्षत इतीन्द्रियं प्राप्नोति नानिन्द्रियमिति ।

न वा, अप्रत्यक्षत्वात् ।४। नवैष दोषः । किं कारणम् ? अप्रत्यक्षत्वात् । यथा चक्षुरादि परस्परस्यैन्द्रियकत्वात् प्रत्यक्षं न तथा मन ऐन्द्रियकम् । कुतः ? सूक्ष्मद्रव्यपरिणामात्, तस्मादनिन्द्रियमित्युच्यते । अत्राह– कथमवगम्यते अप्रत्यक्षं तद् 'अस्ति' इति ?

अनुमानात्तस्याधिगमः ।५। अप्रत्यक्षाणामप्यर्थानां लोकेऽनुमानादधिगतिर्दृष्टा, यथा आदित्यस्य गतिः, वनस्पतीनां[6] च वृद्धिह्रासौ । तथा मनसोऽप्यस्तित्वमनुमानादधिगम्यते[7] । कोऽसावनुमानः[8] ?

[9]युगपज्ज्ञानक्रियानुत्पत्तिर्मनसो हेतुः ।६। सत्सु चक्षुरादिकरणेषु शक्तिमत्सु[10], सत्सु च बाह्येषु रूपादिषु, सति चानेकस्मिन् प्रयोजने यतो ज्ञानानां क्रियाणां च युगपदनुत्पत्तिः, तदस्ति मन इत्यनुमीयते ।

अनुस्मरणदर्शनाच्च ।७। यतः सकृद् दृष्टं श्रुतं वाऽनुस्मर्यते, अतस्तद्दर्शनात्तदस्तित्वमवसेयम् । अत्राह–एकस्यात्मनः कुतः करणभेदः ?

ज्ञस्वभावस्यापि करणभेदः अनेककलाकुशलदेवदत्तवत् ।८। यथा अनेकज्ञानक्रियाशक्तियुक्तस्यापि देवदत्तस्य करणभेदो दृश्यते–चित्रकर्मणि वर्तमानस्य वर्तिकालेखनीकूर्चिकाद्युपकरणापेक्षा, काष्ठकर्मणि वर्तमानस्य [11]वासीघटमुखवृक्षादनादि[12]करणापेक्षा, तथा आत्मनोऽपि क्षयोपशमभेदात् ज्ञानक्रियापरिणामशक्तियुक्तस्य चक्षुराद्यनेककरणापेक्षा न विरुध्यते ।

स नामकर्मसामर्थ्यात् ।९। स एष करणभेदः नामकर्मसामर्थ्याद्वेदितव्यः[13] । स कथम् ? इह यदेतत् शरीरनामकर्मोदयाद्यापादितं यवनालिकासंस्थानं श्रोत्रेन्द्रियम्, एतदेव शब्दोपलब्धिसहिष्णु नेतराणि । तथा यदेतद् घ्राणेन्द्रियम् अतिमुक्तकचन्द्रकसंस्थानम्, एतदेव गन्धावगमसमर्थं नेतराणि । तथा यदेतज्जिह्वेन्द्रियं क्षुरप्राकृति, एतदेव रसावगमेऽलं नान्यानि । तथा यदेतत् स्पर्शनेन्द्रियमनेकाकृति तदेव स्पर्शोपलम्भनेऽलं नेतराणि । तथा यदेतच्चक्षु-

---

१ –णे स्व– ता० । २ –र्णप्रान्तवि– भा० २ । –र्णतान्तवि– मु०, द०, ब०, ज० । ३ तुलना– न्यायकुमु० पृ० ८३ । वैशेषिकाः –सम्पा० । ४ स्पर्शगुण– ता० । ५ तथाभावापत्तेः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ –नां वृ– श्र० । ७ –दवगम्य ते –आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ कोऽसावनुमान इति भाष्यम् (पात० महा० १।१।३) –श्र० टि० । "मन्यतेर्घञ्जि अनुमान इति रूपम्" –पात० महा० प्र० १।१।३। ९ "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" –न्यायसू० १ । १ । १६ । १० –मत्सु च बा– आ०, द०, ब०, मु० । –मत्सु सत्सु वा– श्र०, ता० । ११ वासीपुटमुख– मू० । १२ वृक्षादनो वृक्षभेदीत्यमरः । १३–व्यः क– आ०, ब, द०, मु०, मू० ।

रिन्द्रियं मसूरिकाकारं कृष्णताराधिष्ठानं तदेव रूपाविष्करणेऽलं नेतराणि इति ।

एवमाभिनिबोधिकं द्रव्यक्षेत्रकालभावैरवसेयम् । द्रव्यतो मतिज्ञानी सर्वद्रव्याण्यसर्वपर्यायाण्युपदेशेन जानाति । क्षेत्रत उपदेशेन सर्वक्षेत्राणि जानाति । अथवा क्षेत्रं विषयः । चक्षुषः क्षेत्रं सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रिषष्ट्यधिके च द्वे योजनशते योजनस्य चैकविंशतिः षष्टिभागाः । श्रोत्रस्य क्षेत्रं द्वादश योजनानि । घ्राणरसनस्पर्शनानां नवयोजनानि । कालत उपदेशेन सर्वकालं जानाति । भावत उपदेशेन जीवादीनामौदयिकादीन् भावान् जानाति । [1]तत् सामान्यादेकम् । इन्द्रियानिन्द्रियभेदाद् द्विधा[2] । अवग्रहादिभेदाच्चतुर्धा । तैरिन्द्रियगुणितैश्चतुर्विंशतिविधम् । तैरेव व्यञ्जनावग्रहाधिकैरष्टाविंशतिविधम् । तैरेव मूलभङ्गाधिकैर्द्व्यादिसहितैर्वा द्वात्रिंशद्विधम् । त एते त्रयो विकल्पा बह्वादिभिः[3] षड्भिरितरानपेक्षैर्गुणिताः चतुश्चत्वारिंशं शतम् अष्टषष्टयुत्तरं शतम् द्वानवत्यधिकं शतमिति च भवन्ति[4] । त एव बह्वादिभिर्द्वादशभिर्गुणिता द्वे शते अष्टाशीत्युत्तरे, त्रीणि शतानि षट्त्रिंशानि, चतुरशीत्यधिकानि त्रीणि शतानि च भवन्ति ।

आह—व्यञ्जनावग्रहे बह्वाद्यभावः । कस्मात् ? अव्यक्तत्वात् । उच्यते—अवग्रहवत् तत्सिद्धिः । यथा अव्यक्तग्रहणमवग्रहः तथा बह्वादिविकल्पोप्यव्यक्तरूपेणैव वेदितव्यः । अथानिःसृते कथम् ? तत्रापि ये च यावन्तश्च पुद्गलाः सूक्ष्मा निःसृताः सन्ति, सूक्ष्मास्तु साधारणैर्[5] गृह्यन्ते, तेषामिन्द्रियस्थानावगाहनम् अनिःसृतव्यञ्जनावग्रहः ।

परोक्षे द्वैविध्ये सत्युपक्लृप्तलक्षणविकल्प[6]मतिज्ञानविधर्मि यद् द्वितीयमपदिष्टं[7] तत्किन्निमित्तं कतिविधं चेति ? उच्यते—

श्रुतं मतिपूर्वं द्वि-अनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

श्रुतशब्दो[8] जहत्स्वार्थवृत्ती रूढिवशात् कुशलशब्दवत् ।१। यथा कुशलशब्दः कुशलवन क्रियां प्रतीत्य व्युत्पादितः तद्धित्वा सर्वत्र पर्यवदाते[9] वर्तते, तथा श्रुतशब्दोऽपि श्रवणमुपादाय व्युत्पादितो रूढिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेषे[10] वर्तते ।

कार्यप्रतिपालनात् पूरणाद्वा पूर्वं कारणम् ।२। [11]कार्यं पालयति पूरयतीति वा पूर्वं कारणं लिङ्गं निमित्तमित्यनर्थान्तरम् । मतिज्ञानं व्याख्यातं तत्पूर्वमस्येति[12]मतिपूर्वं 'मतिकारणम्'[13] इत्यर्थः ।

मतिपूर्वकत्वे श्रुतस्य तदात्मकत्वप्रसङ्गो घटवत्, अतदात्मकत्वे वा तत्पूर्वकत्वाभावः ।३। कश्चिदाह—मतिपूर्वं श्रुतं तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति, कारणगुणानुविधानं हि कार्यं दृष्टं यथा मृन्निमित्तो घटो मृदात्मकः । अथाऽतदात्मकमिष्यते,[14] तत्पूर्वकत्वं तर्हि तस्य हीयते इति ।

---

१ एक्कचउक्कं चउवीसट्ठवीसं च तिप्पिंडि किच्चा । इगिछब्बारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि॥ २ द्विविधम्- ता० । ३ अल्पादिसेतरानपेक्षैः । ४ भवति ता०, श्र०, मू०, द० । ५ पुरुषः । ६ -ल्पं म- ता०, मू० । ७ -यमुपदिष्टं आ०, ब, द०, मु० । ८ -ब्दोऽज- ता०, श्र० । ९ प्रौढे - ता० टि०, श्र० टि० । १० मतिपूर्वलक्षणे । ११ श्रुतस्य प्रमाणरूपम् । १२ मतिपूर्वकं म- ता० । १३ -णकमि- आ०, ब०, द०, मु० । १४ -त्मकस्वमिष्यते आ०, ब०, द०, ता०, मु० ।

न वा, निमित्तमात्रत्वाद्दण्डादिवत् ।४। न वैष दोषः । किं कारणम् ? निमित्तमात्रत्वाद् दण्डादिवत् । यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये, दण्डचक्रपौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति, [1]यतः सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वान्न घटीभवति, [2]अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसान्निध्याद् घटो भवति न दण्डादयः, इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वम् । तथा पर्यायिपर्याययोः स्यादन्यत्वाद् आत्मनः स्वयमन्तःश्रुतभवनपरिणामाभिमुख्ये मतिज्ञानं निमित्तमात्रं भवति, यतः सत्यपि सम्यग्दृष्टेः श्रोत्रेन्द्रियबलाधाने बाह्याचार्यपदार्थोपदेशसन्निधाने च श्रुतज्ञानावरणोदयवशीकृतस्य स्वयमन्तःश्रुतभवननिरुत्सुकत्वादात्मनो न श्रुतं भवति, अतो[3] बाह्यमतिज्ञानादिनिमित्तापेक्ष आत्मैव आभ्यन्तरश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमापादितश्रुतभवनपरिणामाभिमुख्यात् [4]श्रुतीभवति, न मतिज्ञानस्य श्रुतीभवनमस्ति, तस्य निमित्तमात्रत्वात्[5] ।

अनेकान्ताच्च ।५। नायमेकान्तोऽस्ति—'कारणसदृशमेव कार्यम्' इति । कुतः ? तत्रापि सप्तभङ्गीसंभवात् । कथम् ? घटवत् । यथा घटः कारणेन मृत्पिण्डेन स्यात्सदृशः, स्यान्न सदृशः इत्यादि[6] । मृद्द्रव्याजीवानुपयोगाद्यादेशात् स्यात्सदृशः, पिण्डघटसंस्थानादिपर्यायादेशात् स्यान्न सदृशः । पूर्ववदुत्तरे च भङ्गा नेतव्याः । यस्यैकान्तेन कारणानुरूपं कार्यम्, तस्य [7]घटपिण्डशिविकादिपर्याया[8] उपालभ्यन्ते[9]। किञ्च, घटेन जलधारणादिव्यापारो न क्रियेत मृत्पिण्डे तददर्शनात् । अपि च, मृत्पिण्डस्य घटत्वेन परिणामवद् घटस्यापि घटत्वेन परिणामः स्यात्, एकान्तसदृशत्वात् । न चैवं भवति । अतो नैकान्तेन कारणसदृशत्वम् । तथा श्रुतं सामान्यादेशात् स्यात्कारणसदृशं यतो मतिरपि ज्ञानं श्रुतमपि । अव्यवहिताभिमुखग्रहण-नानाप्रकारार्थप्ररूपणसामर्थ्यादिपर्यायादेशात् स्यान्न कारणसदृशम् । पूर्ववदुत्तरे[10] च भङ्गा नेतव्याः ।

श्रोत्रमतिपूर्वस्यैव श्रुतत्वप्रसङ्गस्तदर्थत्वादिति चेत्; नः उक्तत्वात् ।६। स्यादेतत्—श्रोत्रमतिपूर्वस्यैव[11] श्रुतत्वं प्राप्नोति । कुतः ? तदर्थत्वात् । श्रुत्वा अवधारणाद्धि श्रुतमित्युच्यते, तेन चक्षुरादिमतिपूर्वस्य[12] श्रुतत्वं न प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम् ? [13]उक्तमेतत्—'श्रुतशब्दोऽयं रूढिशब्दः' इति । रूढिशब्दाश्च स्वोत्पत्ति[14]निमित्तक्रियानपेक्षाः प्रवर्तन्त इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्वसिद्धिर्भवति ।

आदिमतोऽन्तवत्त्वात् श्रुतस्याऽनादिनिधनत्वानुपपत्तिरिति चेत्; नः द्रव्यादिसामान्यमपेक्षया तत्सिद्धेः ।७। स्यादेतत्—श्रुतस्य आदिमत्त्वमभ्युपगतम्—'मतिपूर्वम्' इति वचनात्, आदिमतश्च लोके अन्तवत्त्वं दृष्टम्, तत आद्यन्तसंभवाद् 'अनादिनिधनं श्रुतम्' इति व्याहन्यते, ततश्च पुरुषकृतित्वादप्रामाण्यं स्यादिति; नैष दोषः; द्रव्यादिसामान्यापेक्षया तत्सिद्धेः[15] । द्रव्यक्षेत्रकालभावानां विशेषस्याविवक्षायां श्रुतम् 'अनादिनिधनम्' इत्युच्यते, न हि केनचित्पुरुषेण क्वचित् कदाचित् कथञ्चिदुत्प्रेक्षितमिति । तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च संभवतीति मतिपूर्व-

---

१ पूर्वोक्तवाक्यमेव विवृण्वन्नाह यत इति । २ ततो श्र० । ३ ततो आ०, ब०, द०, मु० । ४ श्रुतं भ- आ०, ब०, मु० । ५ दण्डादिवत् । ६ -दि इति मृ- आ०, ब०, द०, मु० । ७ घटे पिण्ड- मू० । ८ -या उपल- ता, द०, आ० । -या न उपल- मु० । ९ निराक्रियन्ते -श्र० टि० । घटपिण्डशिवकादयः पृथक् पर्याया न स्युरित्यर्थः, सर्वे मृत्पिण्डात्मका एव भवेयुः -सम्पा० । १० -त्तरे भ- आ०, द०, ब०, मु०, ता० । ११ -र्वकस्यैव श्र०, ता०, द० । १२ -र्वकस्यैव श्रु -आ०, द०, ब०, मु० । १३ उक्तमेव श्रु- आ०, ब०, द०, मु०, ता०, श्र० । १४ -त्तिक्रिया- मु०, आ०; स०, द० । १५ -सिद्धिः आ०, ब०, द०, मु० ।

मित्युच्यते । यथा अङ्कुरो [1]बीजपूर्वः, स च सन्तानापेक्षया अनादिनिधन इति । [2]न चाऽपुरुषकृतित्वं प्रामाण्यकारणम्; चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । अनित्यस्य च प्रत्यक्षादेः प्रामाण्ये को विरोधः ?

सम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपन्मतिश्रुतोत्पत्तेर्मतिपूर्वकत्वाभाव इति चेत्; न; सम्यक्त्वस्य तदपेक्षत्वात् ।८। स्यान्मतम्–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोः प्रथमसम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपज्ज्ञानपरिणामात् मतिपूर्वकत्वं श्रुतस्य नोपपद्यत इति; तन्न; किं कारणम् ? सम्यक्त्वस्य तदपेक्षत्वात् । तयोर्हि सम्यक्त्वं[3] सम्यग्दर्शनोत्पत्तौ युगपद्भवति [4]आत्मलाभस्तु क्रमवान्, इति मतिपूर्वकत्वं युक्तं पितापुत्रवत् ।

मतिपूर्वकत्वाविशेषात् श्रुताविशेष इति चेत्; न; कारणभेदात्तद्भेदसिद्धेः ।९। स्यादेतत्–सर्वेषां प्राणिनां श्रुतमविशिष्टं प्राप्नोति । कुतः ? कारणाविशेषात् । मतिपूर्वत्वं[5] हि कारणमिष्टम्, तच्च सर्वेषामविशिष्टमिति । तन्न; किं कारणम् ? कारणभेदात्तद्भेदसिद्धेः । प्रतिपुरुषं हि मतिश्रुतावरणक्षयोपशमो बहुधा भिन्नः तद्भेदाद् बाह्यनिमित्तभेदाच्च श्रुतस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगो भवति मतिपूर्वकत्वाविशेषेऽपि ।[6]

श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तेर्लक्षणाव्याप्तिरिति चेत्; न; तस्योपचारतो मतित्वसिद्धेः ।१०। स्यान्मतम्–यदा शब्दपरिणतपुद्गलस्कन्धादाहितवर्णपदवाक्यादिभावात् चक्षुरादिविषयाच्च आद्यश्रुतविषयभावमापन्नाद् अविनाभाविनः [7]कृतसङ्गीतिर्जनो घटाज्जलधारणादिकार्यसंबन्ध्यन्तरं प्रतिपद्यते धूमादेर्वाऽन्यादिद्रव्यम्, तदा श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तिरिति कृत्वा 'मतिपूर्वलक्षणमव्यापीति; तन्न; किं कारणम् ? तस्योपचारतो मतित्वसिद्धेः । मतिपूर्वं हि श्रुतं क्वचित् 'मतिः' इत्युपचर्यते[8] । अथवा, व्यवहिते पूर्वशब्दो वर्तते, तद्यथा 'पूर्वं मथुरायाः पाटलिपुत्रम्' इति । ततः साक्षान्मतिपूर्वं[9] परम्परया वा[10] मतिपूर्वमपि मतिपूर्वमग्रहणेन गृह्यते ।

भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ।११। यथा 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्ताम्' इति भुजिः प्रत्येकं परिसमाप्यते तथेहापि भेदशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते–द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदं च इति । तत्राङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यं चेति द्विविधम् ।

अङ्गप्रविष्टमाचारादिद्वादशभेदं बुद्धचतिशयर्द्धियुक्तगणधरानुस्मृतग्रन्थरचनम् ।१२। भगवदर्हत्सर्वज्ञहिमवन्निर्गतवाग्गङ्गार्थविमलसलिलप्रक्षालितान्तःकरणैः बुद्धचतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम् आचारादिद्वादशविधमङ्गप्रविष्टमित्युच्यते । तद्यथा–आचारः, सूत्रकृतम्, स्थानम्, समवायः, व्याख्याप्रज्ञप्तिः, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययनम्, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरणम्, विपाकसूत्रम्, दृष्टिवाद इति । आचारे चर्या-

---

१ बीजपूर्वकः मु०, ता० । २ न वा पुरुषकृतित्वमप्रामाण्यका– आ०, द०, ब०, मु० । तुलना–स०, सि० १ । २० । "तस्मादपौरुषेयत्वे स्यादन्योन्यनराश्रयः । म्लेच्छाद्विव्यवहाराणां नास्तिक्यवचसामपि ॥ अनादित्वाद् भवेदेवं·····" –प्रमाणवा० ३ । २४५ । ३ समीचीनत्वम् । ४ उत्पत्तिः । ५ मतिपूर्वकत्वं श्र०, द० । ६ 'मतिपूर्वकत्वाविशेषेपि' इति श्र० प्रतौ 'श्रुताच्छ्रुत' इत्यादि वार्तिक एव सम्मिलितः । ७ कृतसंगति– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ मतिपूर्वं ल– श्र० । ९ तथा चोक्तम्–मतिपूर्वं श्रुतं दक्षैरुपचारात् मतिर्मता । मतिपूर्वं ततः सर्वं श्रुतं ज्ञेयं विचक्षणैरिति । अपि च, अर्थादर्थान्तरं ज्ञानं मतिपूर्वं मतं भवेत् । शाब्दं तल्लिङ्गजं चात्र द्वयनेकद्वादशभेदकम् ॥ १० साक्षान्मति पूर्वमिव परम्परया मतिपूर्वमपि इत्यर्थः । वा शब्द इवार्थः ।

विधानं शुद्धचष्टकपञ्चसमितित्रिगुप्तिविकल्पं कथ्यते[1] । सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना [2]कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रियाः प्ररूप्यन्ते[3] । स्थाने[4] अनेकाश्रयाणामर्थानां निर्णयः क्रियते[5] ।

[6]समवाये सर्वपदार्थानां समवायश्चिन्त्यते[7] । स चतुर्विधः–द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पैः । तत्र धर्माऽधर्मास्तिकायलोकाकाशैकजीवानां तुल्याऽसंख्येयप्रदेशत्वात् एकेन प्रमाणेन द्रव्याणां समवायनाद् द्रव्यसमवायः । जम्बूद्वीपसर्वार्थसिद्धच[8]प्रतिष्ठाननरकनन्दीश्वरैकवापीनां तुल्ययोजनशतसहस्रविष्कम्भप्रमाणेन क्षेत्रसमवायनात् क्षेत्रसमवायः । उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योस्तुल्यदशसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणात् कालसमवायनात् कालसमवायः[9] । क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातचारित्राणां यो भावः[10] तदनुभवस्य तुल्यानन्तप्रमाणत्वात् भावसमवायनाद् भावसमवायः ।

व्याख्याप्रज्ञप्तौ[11] षष्टिव्याकरणसहस्राणि[12] 'किमस्ति जीवः, नास्ति' इत्येवमादीनि निरूप्यन्ते[13] । [14]ज्ञातृधर्मकथायाम् आख्यानोपाख्यानानां बहुप्रकाराणां कथनम्[15] । उपासकाध्ययने[16] श्रावकधर्मलक्षणम् । संसारस्यान्तः कृतो यैस्ते अन्तकृतः । नमिमतङ्गसोमिलरामपुत्रसुदर्शनयम[17]लीकवलीककिष्कम्बलपालाम्बष्ठपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थङ्करतीर्थे । एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये च दश दशानगारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतः दश अस्यां वर्ण्यन्ते[18] इति अन्तकृद्दशा । अथवा, अन्तकृतां दशा अन्तकृद्दशा, तस्याम् अर्हदाचार्यविधिः सिध्यतां च । उपपादो जन्म प्रयोजनं येषां त इमे औपपादिकाः, विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धाख्यानि पञ्चानुत्तराणि, अनुत्तरेष्वौपपादिका अनुत्तरौपपादिकाः–ऋषिदास[19]-वान्य-सुनक्षत्र-कार्तिक-नन्द-नन्दन-शालिभद्र-अभयवारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थकरतीर्थे । एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये च दश दशानगारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूपपन्ना इत्येवमनुत्तरौपपादिकाः दशास्यां वर्ण्यन्त[20] इत्यनुत्तरौपपादिकदशा । अथवा, अनुत्तरौपपादिकानां दशा अनुत्तरौपपादिकदशा तस्यामायुर्वैक्रियिकानुबन्धविशेषः । आक्षेपविक्षेपैर्हेतुनयाश्रितानां

---

१ आचारे अष्टादशसहस्र (१८०००) पदैः । २ योग्यायोग्य । ३ षट्त्रिंशत्सहस्र (३६०००) पदैः । ४ तिष्ठन्त्यस्मिन् एकाद्येकोत्तराणि स्थानानीति स्थानम् । ५ स्थाने द्वाचत्वारिंशत्सहस्र-(४२०००) पदैः । ६ सं संग्रहेण सादृश्यसामान्येन अवेयन्ते ज्ञायन्ते जीवादिपदार्था द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य, तस्मिन्निति । संग्रहनयेन स एक एवात्मा, व्यवहारनयेन संसारी मुक्तश्चेति द्विविकल्पः उत्पादव्ययध्रौव्य इति त्रिलक्षणः इत्यादीनि जीवस्य । सामान्यार्पणया एक एव पुद्गलः, विशेषार्पणया अणुस्कन्धभेदात् द्वितयः इत्यादीनि पुद्गलादीनाञ्चैकाद्येकोत्तरस्थानानि प्ररूप्यन्ते । ७ समवाये एकलक्षचतुःषष्टि (१६४०००) पदैः । ८ –द्ध्यर्थप्र– आ०, ब०, मु० । सप्तमपृथिवीनरकनाम । ९ अथवा प्रथमपृथिवीनारकभावनव्यन्तराणां जघन्यायूंषि सदृशानीयत्यादि योज्यम् । १० पर्यायः । ११ प्रज्ञप्तौ । १२ द्विलक्षाष्टाविंशतिसहस्र (२२८०००) पदैः किमस्ति जीवः किं नास्ति जीवः किमेको जीवः किमनेको जीवः किं नित्यो जीवः किमनित्यो जीवः इत्यादीनि षष्टिसहस्रसंख्यानि भगवदर्हत्तीर्थकरसन्निधौ गणधरदेवप्रश्नवाक्यानि निरूप्यन्ते । १३ पञ्चलक्षषट्पञ्चाशत्सहस्र (५५६०००) पदैः । १४ तीर्थकरोक्तं गणधरपृष्टास्तित्वादिस्वरूपम् चक्रवर्त्यादीनां धर्मानुबन्धिकथोपकथानाञ्च कथनम् । १५ कथोपकथा । १६ एकादशलक्षसप्ततिसहस्र (११७०००) पदैः श्रावकाचारक्रियामन्त्राणां निरूपणम् । १७ –यमवाल्मीकवलीकनिष्क– मु० । १८ अन्तकृद्दशायां त्रयोविंशतिलक्षाष्टाविंशतिसहस्र (२३२८०००) पदैः । १९ –स धन्य– आ०, ब०, मु० । २० अनुत्तरौपपादिकदशायां द्विनवतिलक्षचतुश्चत्वारिंशत्सहस्र (९२४४०००) पदैः ।

प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्, तस्मिल्लौकिकवैदिकानामर्थानां निर्णयः[१]। विपाकसूत्रे सुकृतदुःकृतानां विपाकश्चिन्त्यते[२]।

द्वादशमङ्गं दृष्टिवाद इति[३]। कौत्कलकाणे[४]विद्धि-कौशिक-हरिस्मश्रु-मांछपिक रोमश-हारीत-मुण्डाश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचिकुमार-कपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्वलि-माठर-मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः, साकल्य-वल्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कठ-माध्यन्दिन-मौद-पैप्पलाद - बादराय[५]णाम्बष्ठि - कृदौवि-कायन-वसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकुदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ठ-पाराशर-जतुकर्णि-वाल्मीकि [६]रौमहर्षणिसत्यदत्त-व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्। एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।

[७]स पञ्चविधः-परिकर्म[८] सूत्रं प्रथमानुयोगः [९]पूर्वगतं चूलिका चेति।

तत्र पूर्वगतं[१०] चतुर्दशप्रकारम्-उत्पादपूर्वम् अग्रायणं वीर्यप्रवादम् अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादम् आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं[११] प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुवादं कल्याणनाम-धेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकबिन्दुसारमिति। कालपुद्गलजीवादीनां यदा यत्र यथा च पर्यायेणोत्पादो वर्ण्यते तदुत्पादपूर्वम्[१२]। क्रियावादादीनां प्रक्रिया [१३]अग्राणीव अङ्गादीनां स्वसमय-

१ प्रश्नव्याकरणे त्रिनवतिलक्षषोडशसहस्र (९३१६०००) पदैः। दूतप्रश्नमुद्दिश्य नष्टमुष्टिचिन्तादिकं शिष्यप्रश्नमुद्दिश्य आक्षेपणी–विक्षेपिणी संवेजनी–निर्वेजनी चेति चतुर्णां कथानाम्। २ विपाकसूत्रे एक-कोटि-चतुरशीतिलक्ष (१८४०००००) पदैः। एतेषां विशेषस्वरूपपरिज्ञानाय द्रष्टव्यम्– ध० टी० सं० पृ० १०८–१२२। जयध० प्र० पृ० ९३–९४, १२२–१३२। ३ दृष्टिवादस्वरूनिर्धारणाय द्रष्टव्यम्– ध० टी० सं० पृ० १०८–१२२। जयध० पृ० ९४–९६, १३२–१४८। ४ –काण्ठेवि– आ०, ब०, मु०। काण्वेवि– द०। ५ –गाम्बरीशस्विष्टिकृदैतिकायन– श्र०। –णाम्ब्रष्ठिकृदैलिकायन ता०। –णास्वि-ष्टिक्यदैतिकायन– द०। ६ –रोर्माषस– आ०, ब० द० मु०। ७ दृष्टिवादः। ८ तत्र परिकर्म पञ्चविधम्– चन्द्रप्रज्ञप्तिः, सूर्यप्रज्ञप्तिः जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः, द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः, व्याख्याप्रज्ञप्तिश्चेति। तत्र चन्द्र प्रज्ञप्तिः षट्त्रिंशल्लक्षपञ्चसहस्र (३६०५०००) पदैः चन्द्रस्य विमानायुःपरिवारर्द्धिगमनवृद्धिहानिसाकारग्रह-णादीनि वर्णयति। सूर्यप्रज्ञप्तिः पञ्चलक्षत्रिसहस्र (५०३०००) पदैः सूर्यस्यायुर्मण्डलपरिवारर्द्धिगमन-प्रमाणग्रहणादीनि वर्णयति। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः त्रिलक्षपञ्चविंशतिसहस्र (३२५०००) पदैः जम्बूद्वीप-गतमेरुकुलशैलह्रदवर्षवेदिकावनषण्डव्यन्तरावासादीन् वर्णयति। द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः द्विपञ्चाषल्लक्षषट्-त्रिंशत्सहस्र (५२३६०००) पदैः असंख्यातद्वीपसागरस्वरूपं वर्णयति। व्याख्याप्रज्ञप्तिश्चतुरशी-तिलक्षषट्त्रिंशत्सहस्र (८४३६०००० पदैः रूप्यरूपिजीवादिद्रव्यस्वरूपं कथयति। सूत्रम् अष्टाशीति-लक्षपदैः जीवः अबन्धकः अकर्ता निर्गुणः अभोक्ता स्वप्रकाशकः·····रुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणवस्त्वादीनि वर्णयति। ·····चूलिका पञ्चविधा– तत्र जलगता द्विकोटिनवलक्षनवाशीतिसहस्रद्विशत (२००९८९२००) पदैः जलस्तम्भनजलगमनाग्निस्तम्भनभक्षणाशनप्रवेशनादिकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। स्थलगता तावद्भिः (२००९८९२००) पदैः मेरुकुलशैलभूम्यादिषु प्रवेशनशीघ्रगमनादिकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। मायागता तावद्भिः पदैः मायारूपेन्द्रजलविक्रिया कारणमन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। आकाशगता तावद्भिः पदैः आकाशगमनकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। रूपगता तावद्भिः पदैः सिंह-गजतुरगतरुनरहंसादिरूपपरावर्तनकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि चित्रकाष्ठलेप्योत्खातनादिलक्षणधातुवाद-रसवादख्यवादादीनि च वर्णयति इति शास्त्रान्तरे (धवलादिषु) कथितम्। ९ पूर्वकृतम् ता०, श्र०। १० –दं च प्र– ब०, मु०, मू०, ता०, श्र०, द०। ११ एककोटि (१०००००) पदम्। १२ अग्रायणी-चाङ्गादीनां स्वसमवाय– आ०, ब०, द०, मु०। "अग्रस्य द्वादशाङ्गेषु प्रधानमूलस्य वस्तुनः अयनं ज्ञानमग्रा-यणं तत्प्रयोजनमग्रायणीयम्।" –गो० जीव० जी० गा० ३६५। जयध० पृ० १४० टि०। –सम्पा०

विषयश्च यत्र ख्यापितस्तदग्रायणम्[१]। छद्मस्थकेवलिनां वीर्यं सुरेन्द्रदैत्याधिपानां ऋद्धयो नरेन्द्र-चक्रधरबलदेवानां च वीर्यलाभो द्रव्याणां सम्यक्त्वलक्षणं च यत्राभिहितं तद्वीर्यप्रवादम्[२]। पञ्चानामस्तिकायानामर्थो नयानां चानेकपर्यायैः 'इदमस्तीदं नास्ति' इति च कात्स्न्येन यत्राव-भासितं तदस्तिनास्तिप्रवादम्[३]। अथवा, षण्णामपि द्रव्याणां भावाभावपर्यायविधिना स्वपर-पर्यायाभ्याम् उभयनयवशीकृताभ्याम् अर्पितानर्पितसिद्धाभ्यां यत्र निरूपणं तदस्तिनास्ति-प्रवादम्। पञ्चानामपि ज्ञानानां प्रादुर्भावविषयायतनानां[४] ज्ञानिनाम् अज्ञानिनामिन्द्रियाणां च प्राधान्येन यत्र विभागो विभावितः तज्ज्ञानप्रवादम्[५]।

वाग्गुप्तिसंस्कारकारणप्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्चानेकप्रकारमृषाभिधानं दश-प्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र प्ररूपितः तत् सत्यप्रवादम्[६]। वाग्गुप्तिर्वक्ष्यमाणा। वाक्संस्कार-कारणानि शिरःकण्ठादीनि अष्टौ[७] स्थानानि। वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणो वक्ष्यते।

अभ्याख्यानकलहपैशु[८]न्यासंबद्धप्रलापरत्यरत्यपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यङ्मिथ्यादर्शना-त्मिका भाषा द्वादशधा। हिंसादेः कर्मणः कर्तुर्विरतस्य विरताविरतस्य वाऽयमस्य कर्तेत्यभि-धानम् अभ्याख्यानम्। कलहः प्रतीतः। पृष्ठतो दोषाविष्करणं पैशुन्यम्। धर्मार्थकाममोक्षाऽसंबद्धा वाग् असंबद्धप्रलापः। शब्दादिविषयदेशादिषु रत्युत्पादिका रतिवाक्। तेष्वेवारत्युत्पादिका अरतिवाक्। यां वाचं श्रुत्वा परिग्रहार्जनरक्षणादिष्वासज्यते सोपधिवाक्। वणिग्व्यवहारे यामत्वधार्य निकृतिप्रवण आत्मा भवति सा [९]निकृतिवाक्। यां श्रुत्वा तपोविज्ञानाधिकेष्वपि न प्रणमति सा अप्रणतिवाक्। यां श्रुत्वा स्तेये वर्तते सा मोषवाक्। सम्यङ्मार्गस्योपदेष्ट्री सा सम्यग्दर्शनवाक्। तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक्। वक्तारश्च आविष्कृतवक्तृत्वपर्याया द्वीन्द्रियादयः। द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयमनेकप्रकारमनृतम्।

दशविधः सत्यसद्भावः– नाम-रूप-स्थापना-प्रतीत्य-संवृति-संयोजना-जनपद-देश-भाव-समयसत्यभेदेन। तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्यासत्यप्यर्थे यद्वचवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यम्, इन्द्र इत्यादि। यदर्थासन्निधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यम्, यथा चित्रपुरुषादिषु असत्यपि चैतन्योपयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि। असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्षनिक्षेपादिषु तत् स्थापनासत्यम्। आदिमदनादिमदौपशमिकादीन् भावान् प्रतीत्य यद्वचनं तत् प्रतीत्यसत्यम्। यल्लोके संवृत्या नीतं वचस्तत् संवृतिसत्यं यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति 'पङ्के जातं पङ्कजम्' इत्यादि। धूपचूर्णवासानुलेपनप्रधर्षादिषु पद्म-मकर-हंस-सर्वतोभद्र-क्रौञ्च-व्यूहादिषु वा सचेतनेतरद्रव्याणां यथा भागविधिसन्निवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत् संयोजनासत्यम्। [१०]द्वात्रिंशज्जनपदेष्वार्यनार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्वचः तत् जनपदसत्यम्। ग्रामनगरराजगणपाखण्डजातिकुलादिधर्माणामुपदेष्टृ यद्वचः तद् देशसत्यम्। छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमि-त्यादि यद्वचः तत् भावसत्यम्। प्रतिनियतषट्तयद्रव्यपर्यायाणामागमगम्यानां याथात्म्याविष्करणं यद्वचः तत् समयसत्यम्।

१ अग्रायणीयपूर्वं षण्णवतिलक्ष (९६०००००) पदम्। २ सप्ततिलक्ष (७०००००००) पदम्। ३ षष्टिलक्ष (६०००००००) पदम्। ४ स्थान। ५ एकोनकोटि (९९९९९९९९) पदम्। ६ षडुत्तरै-ककोटि (१००००००६) पदम्। ७ "अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठःशिरस्तथा। जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च॥" –पाणिनिशि० श्लो० १३। ८ –न्याबद्धप्र–ता०, श्र०, मू०। ९ वञ्चना। १० द्वात्रिंशत्सहस्रजन– आ०, ब०, द०।

[1]यत्रात्मनोऽस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादयो धर्माः षड्जीवनिकायभेदाश्च युक्तितो निर्दिष्टाः तदात्मप्रवादम्। बन्धोदयोपशमनिर्जरापर्याया अनुभवप्रदेशाधिकरणानि स्थितिश्च जघन्यमध्यमोत्कृष्टा [2]यत्र निर्दिश्यते तत्कर्मप्रवादम्। व्रत-नियम-प्रतिक्रमण-प्रतिलेखन-तपः-कल्पोपसर्गाचार-प्रतिमा-विराधनाविशुद्ध्युपक्रमाः श्रामण्यकारणं च परिमितापरिमितद्रव्यभावप्रत्याख्यानं च [3]यत्राख्यातं तत्प्रत्याख्याननामधेयम्।

समस्ता[4] विद्या अष्टौ महानिमित्तानि तद्विषयो रज्जुराशिविधिः क्षेत्रं श्रेणी लोकप्रतिष्ठा[5]संस्थानं समुद्घातश्च यत्र [6]कथ्यते तद्विद्यानुवादम्। तत्राङ्गुष्ठप्रसेनादीनामल्पविद्यानां सप्तशतानि[7] महारोहिण्यादीनां महाविद्यानां पञ्चशतानि। अन्तरिक्ष-भौमाङ्ग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यञ्जन-छिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि। तेषां विषयो लोकः। क्षेत्रमाकाशं पटसूत्रवच्चर्मावयववद्वा आनुपूर्व्येण ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यवस्थिता असंख्याता आकाशप्रदेश[8]पङ्क्तयः श्रेणय उक्ताः।

अलोकाकाशस्यानन्तस्य बहुमध्ये सुप्रतिष्ठकसंस्थानो लोकः, ऊर्ध्वमधस्तिर्यङ्मृदङ्गवेत्रासनझल्लर्याकृतिः, तनुवातवलयपरिक्षिप्त ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु प्रतरवृत्तश्चतुर्दशरज्ज्वायामः। मेरुप्रतिष्ठवज्रवैडूर्यपटलान्तर[9]रुचक[10]संस्थिता अष्टावाकाशप्रदेशा लोकमध्यम्। लोकमध्याद् यावद्देशानान्तः तावत् एका रज्जुरर्धं च। माहेन्द्रान्ते तिस्रः। ब्रह्मलोकान्तेऽर्धचतुर्थाः। कापिष्ठान्ते चतस्रः। महाशुक्रान्तेऽर्धपञ्चमाः। सहस्रारान्ते पञ्च। प्राणतान्तेऽर्धषष्ठाः। अच्युतान्ते षट्। आलोकान्तात् सप्त। तथा लोकमध्यादधो यावच्छर्करापृथिव्यन्तस्तावदेका रज्जुः। ततोऽधः पृथिवीनां पञ्चानां प्रत्येकमन्तेऽन्ते रज्जुरेकैका वृद्धा। ततोऽधस्तमस्तमःप्रभाया आलोकान्तादेका रज्जुः। एवं सप्ताधो रज्जवः।

घनोदधि-घनानिल-तनुवातवलयानि त्रीणि, यैरयं परिक्षिप्तः सर्वः समन्ताल्लोकः। त्रयाणामप्यधोलोकदिग्विदिक्पार्श्वभाविनां प्रत्येकं विस्तारो विंशतियोजनसहस्राणि। तत उपरि क्रमतो हानिवशात्तिर्यग्लोकभाविदिग्विदिक्पार्श्वेष्वष्टासु प्रत्येकं त्रीण्यपि वलयानि [11]पञ्च चत्वारि त्रीणि योजनविस्तीर्णानि। पुनरुपरि वृद्धिवशाद् ब्रह्मलोके दिग्विदिक्पार्श्वेष्वष्टासु प्रत्येकं त्रीण्यपि वलयानि सप्तपञ्चचतुर्योजनविस्तीर्णानि। पुनर्हानिवशाल्लोकाग्रे अष्टास्वपि दिग्विदिक्पार्श्वेषु प्रत्येकं त्रीण्यपि वलयानि पञ्चचतुस्त्रियोजनविस्तीर्णानि। दण्डवलयानि पुनरुपरि अधश्च त्रीण्यपि। उपरि लोकाग्रे घनोदधेर्द्विगव्यूती घनानिलस्य क्रोशः तनुवातस्य देशोनःक्रोशो विस्तारः। अधः कलङ्ककलपृथिवीपर्यन्ते घनोदधेः सप्त घनानिलस्य पञ्च तनुवातस्य चत्वारि योजनानि विस्तारः।

अधः लोकमूले दिग्विदिक्षु विष्कम्भः सप्त रज्जवः। तिर्यग्लोके रज्जुरेका। ब्रह्मलोके पञ्च। पुनर्लोकाग्रे रज्जुरेका। लोकमध्यादधो रज्जुमवगाह्य शर्करान्ते अष्टास्वपि दिग्विदिक्षु

१ आत्मप्रवादपूर्वं षड्विंशतिकोटि (२६०००००००) पदैः। जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो। वेदो विण्हू सयंभू सरीरी तह माणओ। सत्तो जंतू य माणी य माई जोगी य संकुडो (अंग प० गा० ८६–८७) इत्याद्यात्मनः–श्व० टि०। २ कर्मप्रवादपूर्वं एककोटचशीतिलक्ष (१८००००००) पदैः। ३ चतुरशीतिलक्ष (८४०००००) पदैः। ४ समस्तवि– श्व०। ५ लोकाधारसंस्थानम्। ६ एककोटिदशलक्ष (११०००००००) पदैः। ७ –नि रोहि– आ०, ब०, द०, मु०। ८ –शभूमयः आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ९ वृत्त। १० चतुरस्र। ११ पञ्चचतुस्त्रियो– आ०, ब०, द०, मु०। भूलोयतले पासे हेट्ठाओ जाव रज्जुत्ति। जोयणवीससहस्सं बहलं बलयत्तयाण पत्तेयं॥ सत्तमखिदिपणधिम्मि य सगपणचत्तारि पणचदुक्कतियं। तिरिए बम्हे उड्ढे सत्तमतिरिए च उत्तकमं॥ कोसाणं दुगमेक्कं देसूणं तच्च लोयसिहरम्मि। ऊणधणूणपमाणं पणुवीसंज्झहिय चारि सयं॥

विष्कम्भः रज्जुरेका रज्ज्वाश्च षट्सप्तभागाः। ततो रज्जुमवगाह्य बालुकान्ते द्वे रज्जू रज्ज्वाश्च पञ्चसप्तभागाः। ततो रज्जुमवगाह्य पङ्कान्ते तिस्रो रज्जवः रज्ज्वाश्च चत्वारः सप्तभागाः। ततो रज्जुमवगाह्य धूमान्ते चतस्रो रज्जवः रज्ज्वाश्च त्रयः सप्तभागाः। ततो रज्जुमवगाह्य तमःप्रभान्ते पञ्च रज्जवः रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ। ततो रज्जुमवगाह्य तमस्तमःप्रभान्ते षड् रज्जवः रज्ज्वाः सप्तभागश्चैकः। ततो रज्जुमवगाह्य कलङ्ककलान्ते विष्कम्भः सप्त रज्जवः। वज्रतलादुपरि रज्जुमुत्क्रम्य विष्कम्भो द्वे रज्जू रज्ज्वाश्चैकः सप्तभागः। ततो रज्जुमुत्क्रम्य तिस्रो रज्जवः रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ। ततो रज्जुमुत्क्रम्य चतस्रो रज्जवः रज्ज्वाश्च त्रयः सप्तभागाः। ततोऽर्धरज्जुमुत्क्रम्य रज्जवः पञ्च। ततोऽर्धरज्जुमुत्क्रम्य चतस्रो रज्जवः रज्ज्वाश्च त्रयः सप्तभागाः। ततो रज्जुमुत्क्रम्य तिस्रो रज्जवः, रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ। ततो रज्जुमुत्क्रम्य द्वे रज्जू रज्ज्वाश्चैकः सप्तभागः। ततो रज्जुमुत्क्रम्य लोकान्ते रज्जुरेका विष्कम्भः। एष रज्जुविधिः।

हन्तेर्गमिक्रियात्वात् संभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्हननं[1] समुद्घातः। स सप्तविधः–वेदनाकषायमारणान्तिकतेजोविक्रियाऽऽहारककेवलिविषयभेदात्। तत्र वातिकादिरोगविषादिद्रव्यसंबन्धसन्तापापादितवेदनाकृतो वेदनासमुद्घातः। द्वितय[2]प्रत्ययप्रकर्षोत्पादितक्रोधादिकृतः कषायसमुद्घातः। औपक्रमिकानुपक्रमायुःक्षयाविर्भूतमरणान्तप्रयोजनो मारणान्तिकसमुद्घातः। जीवानुग्रहोपघातप्रवणतेजःशरीरनिर्वर्तनार्थस्तेजस्समुद्घातः। एकत्वपृथक्त्वनानाविधविक्रियशरीरवाक्प्रचारप्रहरणादिविक्रियाप्रयोजनो वैक्रियिकसमुद्घातः। अथोक्तविधिना अल्पसावद्यसूक्ष्मार्थग्रहणप्रयोजनाहारकशरीरनिर्वृत्त्यर्थ आहारकसमुद्घातः। वेदनीयस्य बहुत्वाद् अल्पत्वाच्चायुषोऽनाभोग[3]पूर्वकमायुःसमकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद्[4] देहस्थात्मप्रदेशानां बहिःसमुद्घातनं केवलिसमुद्घातः।

आहारकमारणान्तिकसमुद्घातावेकदिक्कौ। यत आहारकशरीरमात्मा निर्वर्तयन् श्रेणिगतित्वात् एकदिक्कानात्मदेशानसंख्यातान्निर्गमय्य आहारकशरीरमरत्निमात्रं निर्वर्तयति। अन्यक्षेत्रसमुद्घातकारणाभावात् यत्रानेन नरकादावुत्पत्तव्यं तत्रैव मारणान्तिकसमुद्घातेन आत्मप्रदेशा एकदिक्काः [5]समुद्धन्यन्ते नान्यक्षेत्रे, अतस्तावेकदिक्कौ। शेषाः पञ्च समुद्घाताः षड्दिक्काः। यतो वेदनादिसमुद्घातवशाद् बहिर्निःसृतानामात्मप्रदेशानां पूर्वापरदक्षिणोत्तरोर्ध्वाधोदिक्षु गमनमिष्टं श्रेणिगतित्वादात्मप्रदेशानाम्। वेदना-कषाय-मारणान्तिक-तेजो-वैक्रियिकाऽऽहारकसमुद्घाताः [6]षडसंख्येयसमयिकाः। केवलिसमुद्घातः अष्टसमयिकः–दण्ड-कवाटप्रतरलोकपूरणानि चतुर्षु समयेषु पुनः प्रतरकपाटदण्ड[7]स्वशरीरानुप्रवेशाश्चतुर्षु इति।

रविशशिग्रहनक्षत्रतारागणानां चारोपपादगतिविपर्ययफलानि शकुनव्याहृतम् अर्हद्बलदेव-वासुदेव-चक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च यत्रोक्तानि तत्[8] कल्याणनामधेयम्। कायचिकित्साद्यष्टाङ्ग आयुर्वेदः भूतिकर्म जाङ्गुलिकप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि [9]यत्र विस्तारेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्। लेखादिकाः[10] कला द्वासप्ततिः, गुणाश्चतुःषष्टि स्त्रैणाः, शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियाच्छन्दोविचितिक्रिया-क्रियाफलोपभोक्तारश्च [11]यत्र व्याख्याताः

१–द्गमनं– आ०, ब०, द०, मु०। २ हेतु। ३ मनःपूर्वंकरहितम्, चित्ताभोगो मनस्कारः इत्यमरः। ४ –शमवद् श्व०। ५ समुद्गम्यन्ते आ०, ब०, द०, मु०। ६ षट्संख्येय– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ७ –दण्डकस्वश– मू०, ता०, श्व०। ८ कल्याणवादपूर्वं षड्विंशतिकोटि (२६०००००००) पदैः। ९ त्रयोदशकोटि (१३०००००००) पदैः। १० भरतशास्त्रादि। ११ नवकोटि (९०००००००) पदैः।

तत्क्रियाविशालम् । [1]यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्म राशिक्रियाविभागश्च [2]सर्वश्रुतसंपदुपदिष्टा तत्खलु लोकबिन्दुसारम् ।

आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम् ।१३। यद् गणधरशिष्यप्रशिष्यै[3]-रारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम् ।

तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात् ।१४। तदङ्गबाह्यमनेकविधम्—कालिकमुत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात् । स्वाध्यायकाले नियतकालं कालिकम् । अनियतकालमुत्कालिकम् । तद्भेदा [4]उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः[5] ।

अत्राह—अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः किमर्थः ?

अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः श्रुतावरोधात् ।१५। यस्मादेतान्यनुमानादीनि श्रुते अन्तर्भवन्ति तस्मात्तेषां पृथगुपदेशो न क्रियते । तद्यथा—*"**प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च**" [न्यायसू० १।१।५] इति । तत्र [6]येनाग्नेर्निःसरन् पूर्वं धूमो दृष्टः स प्रसिद्धाग्निधूमसंबन्धाहितसंस्कारः पश्चाद्धूमदर्शनाद् 'अस्त्यत्राग्निः' इति [7]पूर्ववदग्निं गृह्णातीति पूर्ववदनुमानम् । तथा येन पूर्वं विषाणविषाणिनोः संबन्ध उपलब्धः तस्य विषाणरूपदर्शनाद्विषाणिन्यनुमानं शेषवत् । तथा देवदत्तस्य देशान्तरप्राप्तिं गतिपूर्विकां दृष्ट्वा संबन्ध्यतरे सवितरि देशान्तरप्राप्तिदर्शनाद् गतेरत्यन्तपरोक्षाया अनुमानं सामान्यतोदृष्टम् । तदेतत्त्रितयमपि स्वप्रतिपत्तिकाले अनक्षरश्रुतं [8]परप्रतिपादनकाले अक्षरश्रुतम् । 'यथा गौस्तथा गवयः केवलं सास्नारहितः' इत्युपमानमपि स्वपरप्रतिपत्तिविषयत्वादक्षरानक्षरश्रुते अन्तर्भवति । तथा शाब्दमपि प्रमाणं श्रुतमेव । ऐतिह्यस्य च[9] 'इत्याह स भगवान् ऋषभः' इति परंपरीणपुरुषागमाद् गृह्यते इति श्रुतेऽन्तर्भावः । [10]प्रकृतिपुष्टो दिवा न भुङ्क्ते अथ च जीवतीत्यर्थादापन्नं रात्रौ भुङ्क्ते इत्यर्थापत्तिः । 'चत्वारः प्रस्था आढकम्' इति सति ज्ञाने आढकं दृष्ट्वा संभवत्यर्धाढकं [11]कुडवो वेति प्रतिपत्तिः संभवः । तृणगुल्मादीनां स्नेहपर्णफलाद्यभावं दृष्ट्वा अनुमीयते नूनमत्र न वृष्टः पर्जन्य इत्यभावः । एतेषामप्यर्थापत्त्यादीनाम् अनुक्तानामनुमानसमानमिति पूर्ववत् श्रुतान्तर्भावः[12] ।

व्याख्यातं परोक्षम्, प्रत्यक्षमिदानीं वक्तव्यम् । तद् द्वेधा—देशप्रत्यक्षं सर्वप्रत्यक्षं च । देशप्रत्यक्षम्—अवधिमनःपर्ययज्ञाने । सर्वप्रत्यक्षं केवलम् । यद्येवमिदमेव तावदवधिज्ञानं त्रिप्रकारप्रत्यक्षस्याऽऽद्यं व्याक्रियतामिति । अत्रोच्यते—व्याख्यातमस्य लक्षणम्—आत्मप्रसादविशेषे[13] सत्यन्वर्थसंज्ञाकरणादवधीयते तदित्यवधिज्ञानमिति । यद्येवं तस्येदानीं भेदो वक्तव्यः ? उच्यते—द्विविधोऽवधिः, भव-गुणप्रत्ययभेदात्, देशसर्वावधिभेदाद्वा । यद्येवं त्रैविध्यं नोपपद्यते—

१ द्वादशकोटिपञ्चाशल्लक्ष (१२५००००००) पदैः । २ त्रिलोकावयवस्वरूपं मोक्षसुखञ्च । ३ –र्यैः प्रशि– आ०, ब०, मु० । ४ उत्तराणि अधीयन्तेऽस्मिन्निति उत्तराध्ययनम्, अत्र चतुर्विधोपसर्गाणां द्वाविंशतिपरीषहनविधानम्, अस्य प्रश्नस्य अयमुत्तर इति विधानञ्च कथ्यते । ५ सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दना प्रतिक्रमणमित्यादयः । ६ पुरुषेण । ७ पूर्वं दृष्टधूमवन्तम् । ८ परप्रतिपत्तिका– आ०, ब०, द०, मु० । ९ चेतीह– मु०, मू०, ब०, द०, आ०, श्र०, ता० । १० स्वभावेन प्रकृत्या, रात्रिभोजी इत्यर्थः– सम्पा० । प्रकृतिपुरुषो मु०, ता०, श्र०, द०, ब०, ज० । ११ कुडुवो ता०, श्र०, आ०, ब० । १२ इति तत्त्वार्थवार्तिकालङ्कारे प्रथमाध्याये सप्तममाह्निकम्– श्र० । १३ –सादाविशेषे– मू०, श्र० ।

देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति; नैष दोषः; सर्वशब्दस्य निरवशेषवाचित्वात्, सर्वावधिमपेक्ष्य परमावधेर्देशावधित्वमेवेति वक्ष्यामः ।

तत्र योऽसौ भवप्रत्ययस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—

[1]भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

भव इत्युच्यते[2] । को भवो नाम ?

आयुर्नामकर्मोदयविशेषापादितपर्यायो भवः ।१। आत्मनो यः पर्याय आयुषो नाम्नश्चोदयविशेषाच्छेषकारणापेक्षादाविर्भवति साधारणलक्षणो भव इत्युच्यते ।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातो निमित्तार्थगतिः ।२। अयं प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः । क्वचिज्ज्ञाने वर्तते, यथा 'अर्थाभिधानप्रत्ययाः' इति । क्वचिच्छपथे वर्तते, यथा परद्रव्यहरणादिषु सत्युपालम्भे [3]'प्रत्ययोऽनेन कृतः' इति । क्वचिद्धेतौ वर्तते, यथा अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः इति । तत्रेह विवक्षातो निमित्तार्थो वेदितव्यः । भवप्रत्ययो भवनिमित्त इति ।

क्षयोपशमाभाव इति चेत्; न; तस्मिन् सति सद्भावात् खे पतत्त्रिगतिवत् ।३। स्यादेतत्—यदि तत्र भवनिमित्तोऽवधिः कर्मणः क्षयोपशमोऽनर्थकः इति; तन्न; किं कारणम् ? तस्मिन् सति सद्भावात्[4] खे पतत्त्रिगतिवत् । यथा आकाशे सति पक्षिणो गतिर्भवति तथा अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमे अन्तरङ्गे हेतौ सत्यवधेर्भावः[5], भवस्तु बाह्यो हेतुः ।

इतरथा हयविशेषप्रसङ्गः ।४। [6]यदि हि भव एव हेतुः स्यात् सर्वेषां देवनारकाणां तुल्य इत्यवधेरविशेषप्रसङ्गः स्यात् ? इष्यते च प्रकर्षाप्रकर्षभावेन वृत्तिः । कथं पुनर्भवो हेतुः इति चेत् ?

व्रतनियमाद्यभावात् ।५। यथा तिरश्चां मनुष्याणां चाऽहिंसादिव्रतनियमहेतुकोऽवधिः न तथा देवानां नारकाणां चाऽहिंसादिव्रतनियमाभिसन्धिरस्ति । कुतः ? भवं प्रतीत्य कर्मोदयस्य तथाभावात्, तस्मात्तत्र भव एव बाह्यसाधन[7] प्रधानमित्युच्यते ।

अविशेषात् सर्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; सम्यगधिकारात् ।६। स्यादेतत्—देवनारकाणामित्यविशेषवचनात् मिथ्यादृष्टीनामप्यवधिप्रसङ्ग इति; [8]तन्न; किं कारणम् ? सम्यगधिकारात् । 'सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानम्' [9]इत्यनुवर्तते, तत्संबन्धात् सम्यग्दृष्टीनामवधिः मिथ्यादृष्टीनां विभङ्गो वेदितव्यः । अथवा, वक्ष्यमाणाभिसंबन्धान्न सर्वप्रसङ्गः । वक्ष्यते हि एतत्—*"**मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।**" [त० सू ०१।३५] इति । अथवा, व्याख्यानाद्विशेषप्रतिपत्तिः ।

आगमे प्रसिद्धेर्नारकशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेत्; न; उभयलक्षणप्राप्तत्वात् देवशब्दस्य ।७। स्यादेतत्—नारकशब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यम् । कुतः ? आगमे प्रसिद्धेः । आगमे हि [10]जीवस्थानादौ सदादिष्वनुयोगद्वारेण आदेशवचने नारकाणामेवादौ सदादिप्ररूपणा कृता, ततो नारक-

१ अत्र देशावधेर्जघन्यमिति ज्ञातव्यम् । स गृहस्थतीर्थकराणामपि भवप्रत्ययो भवति । तदुक्तं नेमिचन्द्रसिद्धान्तिभिः –भवपच्चइगो ओही देसोही होइ परमसव्वोही । गुणपच्चइगो णियमा देसोही वि य गुणो होदि । देसोहिस्स य अवरं णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं । परमोही सव्वोही चरमसरीरस्स विरदस्स ॥ इति । –श्र० टि० । २ को नाम भवः आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ३ प्रत्ययो येन श्र० । ४ तद्भावात् आ०, ब०, द०, मु० । ५ उत्पत्तिः । ६ यदि भव– आ०, ब०, मु० । ७–साधनमित्यु– आ०, ब, मु० । ८ चेन्न श्र० । ९ –इति वर्तते आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १० षट्खं सं०, पृ० २०१ ।

शब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयलक्षणप्राप्तत्वाद् देवशब्दस्य । देवशब्दो हि अल्पाज़भ्यर्हितश्चेति [1]वृत्तौ पूर्वप्रयोगार्हः । आगमे वाक्यविषयो निर्देश इति नास्ति नियमः ।

आह–उक्तं भवता 'इष्यते प्रकर्षाप्रकर्षभावेन वृत्तिः' इति; तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–
५ देवेषु तावद् भवनवासिनां दशप्रकाराणामपि जघन्योऽवधिः पञ्चविंशतियोजनानि । उत्कृष्टः–असुराणां तिर्यगसंख्याता योजनकोटिकोटचोऽधः, ऊर्ध्वमृतुविमानस्योपरिपर्यन्तः । नागादिकुमाराणां नवविधानामप्युत्कृष्टोऽवधिः अधोऽसंख्यातानि योजनसहस्राणि, ऊर्ध्वं मन्दिर[2]चूलिकाया उपरिपर्यन्तः, तिर्यगसंख्यातानि योजनसहस्राणि । व्यन्तराणामष्टविधानां जघन्योऽवधिः पञ्चविंशतियोजनानि । उत्कृष्टोऽप्यसंख्यातानि योजनसहस्राणि अधः, ऊर्ध्वं स्वविमानस्योपरिपर्यन्तः,
१० तिर्यगसंख्याता योजनकोटिकोटचः । ज्योतिषां जघन्योऽवधिरधः संख्येयानि योजनानि, उत्कृष्टश्चाऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि, ऊर्ध्वमात्मीयविमानस्योपरिपर्यन्तः, तिर्यगसंख्याता योजनकोटिकोटचः ।

वैमानिकेषु सौधर्मेशानीयानां जघन्योऽवधिर्ज्योतिषामुत्कृष्टः, रत्नप्रभाया अधश्चरम उत्कृष्टः । सानत्कुमारमाहेन्द्राणां जघन्योऽवधिः रत्नप्रभाया अधश्चरमः, उत्कृष्टः शर्कराप्रभाया अधश्चरमः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठानां जघन्योऽवधिः शर्कराप्रभाया अधश्चरमः, उत्कृष्टो वालुकाप्रभाया अधश्चरमः । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्राराणां जघन्योऽवधिः वालुकाप्रभाया अधश्चरमः, उत्कृष्टः पङ्कप्रभाया अधश्चरमः । आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतानां जघन्योऽवधिः पङ्कप्रभाया अधश्चरमः, उत्कृष्टो धूमप्रभाया अधश्चरमः । नवानां ग्रैवेयिकानां जघन्योऽवधिः धूमप्रभाया अधश्चरमः, उत्कृष्टः तमःप्रभाया अधश्चरमः । नवानामनुदिशानां
२० पञ्चानुत्तरविमानवासिनाञ्च लोकनालिपर्यन्तोऽवधिः । सौधर्मादीनामनुत्तरान्तानामूर्ध्वं स्वविमानस्योपरिपर्यन्तः, तिर्यगसंख्याता योजनकोटिकोटचः ।

अथैषां कालद्रव्यभावेषु कोऽवधिरिति ? अत्रोच्यते–यस्य यावत्क्षेत्रावधिस्तस्य तावदाकाशप्रदेशपरिच्छिन्ने कालद्रव्ये [3]भवतः । तावत्सु[4] समयेष्वतीतेष्वनागतेषु च ज्ञानं वर्तते, [5]तावदसंख्यातभेदेषु [6]अनन्तप्रदेशेषु पुद्गलस्कन्धेषु जीवेषु च सकर्मकेषु । भावतः स्वविषयपुद्गल-
२५ स्कन्धानां रूपादिविकल्पेषु जीवपरिणामेषु चौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषु वर्तते । कुतः ? पौद्गलिकत्वादेषाम् ।

नारकेषु च [7]योजनमर्धगव्यूतहीनमागव्यूतात् । तद्यथा–रत्नप्रभायां योजनमवधिः अधः । द्वितीयायामधः अर्धचतुर्थानि गव्यूतानि । तृतीयायामधः त्रीणि गव्यूतानि । चतुर्थ्यामधोऽर्ध-तृतीयानि गव्यूतानि । पञ्चम्यां द्वे गव्यूते । षष्ठ्यामधोऽर्धाधिकं गव्यूतम् । सप्तम्यामधो
३० गव्यूतम् । सर्वासु पृथिवीषु नारकाणामवधिरुपरि आत्मीयनरकावासान्तः, तिर्यगसंख्याता योजनकोटीकोटचः । कालद्रव्यभावपरिमाणं पूर्ववद्वेदितव्यम् ।

यदि भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्, अथ क्षयोपशमहेतुकः केषामिति ? अत आह–

---

१ समासे –सम्पा० । २ मेरुपर्वतचूलिकायाः –सम्पा० । ३ देवस्य । ४ कालश्च द्रव्यञ्च ते । ५ आकाशपरिच्छिन्नप्रदेशरूपेषु । ६ द्रव्यावधि व्याचष्टे । ७ तेषु प्रत्येकं देशेषु । ८ सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव । जाव य पढमे णिरए जोयणमेक्कं हवे पुण्णं ॥ (गो० जीव० गा० २४३) –श्र० टि० ।

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्धकानामुदये सति सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावः क्षयः, तेषामेवाऽनुदयप्राप्तानां सदवस्थोपशमः, तौ निमित्तमस्येति क्षयोपशमनिमित्तः । स शेषाणां वेदितव्यः । के पुनः शेषाः ? मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च । ५

शेषग्रहणादविशेषप्रसङ्ग इति चेत्; न; तत्सामर्थ्यविरहात् ।१। स्यादेतत्-देवनारकेभ्योऽन्ये शेषाः, ततस्तेषामविशेषात् सर्वेषां तिरश्चां मनुष्याणां वाऽवधिप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? तत्सामर्थ्यविरहात् । न ह्यसंज्ञिनामपर्याप्तकानां च तत्सामर्थ्यमस्ति, संज्ञिनां पर्याप्तकानां च न सर्वेषाम् । केषां तर्हि ?

यथोक्तनिमित्तसन्निधाने सति शान्तक्षीणकर्मणां तदुपलब्धेः ।२। यथोक्तसम्यग्दर्शनादि- १०
निमित्तसन्निधाने सति [1]शान्तक्षीणकर्मणां तस्योपलब्धिर्भवति । ननु [2]सर्वः क्षयोपशमनिमित्तः तत्र किमुच्यते–'क्षयोपशमनिमित्तः शेषाणाम्' इति ?

सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे तद्वचनं नियमार्थम् अब्भक्षवत् ।३। यथा न कश्चिदपो न भक्षयति इत्यब्ग्रहणं नियमार्थं क्रियते अप एव भक्षयति इति, तथा [3]सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे क्षयोपशमग्रहणं नियमार्थम् 'क्षयोपशमनिमित्त एव न भवनिमित्तः' इति । १५

स एषोऽवधिः षड्विकल्पः । कुतः ?

अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानाऽवस्थिताऽनवस्थितभेदात् षड्विधः ।४। कश्चिदवधिः भास्करप्रकाशवद् गच्छन्तमनुगच्छति । कश्चिन्नानुगच्छति तत्रैवातिपतति [4]उन्मुखप्रश्नादेशिकपुरुषवचनवत् । अपरोऽवधिः अरणिनिर्मथनोत्पन्नशुष्कपत्रोपचीयमानेन्धननिचयसमिद्ध-पावकवत् सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धिपरिणामसन्निधानाद् यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते आ- २०
असंख्येयलोकेभ्यः । अपरोऽवधिः [5]परिच्छिन्नोपादा[6]नसन्तत्यग्निशिखावत् सम्यग्दर्शनादिगुणहानिसंक्लेशपरिणामविवृद्धियोगात् यत्प्रमाण उत्पन्नस्ततो हीयते आ अङ्गुलस्याऽसंख्येयभागात् इति । अपरोऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थानात् यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परिमाण एवावतिष्ठते न हीयते नापि वर्धते लिङ्गवत्[7], आभवक्षयादाकेवलज्ञानोत्पत्तेर्वा । अन्योऽवधिः सम्यग्दर्शनादि-गुणवृद्धिहानियोगात् यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते यावदनेन वर्धितव्यं हीयते २५
च यावदनेन हातव्यं वायुवेगप्रेरितजलोर्मिवत् । एवं षड्विकल्पोऽवधिः भवति ।

पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदाः–देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति । तत्र देशावधिस्त्रेधा–जघन्य उत्कृष्टः अजघन्योत्कृष्टश्चेति । तथा परमावधिरपि त्रिधा । सर्वावधिरविकल्पत्वादेक एव । [8]उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागक्षेत्रो देशावधिर्जघन्यः । उत्कृष्टः कृत्स्नलोकः । तयोरन्तराले असंख्येयविकल्पः अजघन्योत्कृष्टः । परमावधिर्जघन्यः एकप्रदेशाधिकलोकक्षेत्रः । उत्कृष्टोऽ- ३०
संख्येयलोकक्षेत्रः । अजघन्योत्कृष्टो मध्यमक्षेत्रः । उत्कृष्टपरमावधिक्षेत्राद् बहिरसंख्यातक्षेत्रः सर्वावधिः ।

---

१ क्षयोपशम । २ सर्वस्य आ०, ब० द०, मु० । ३ सर्वक्षयो– आ०, ब०, द०, मु० । ४ अभिमुख । ५ उद्धृत । ६ काष्ठ । ७ स्वस्तिकादिवत् । श्रीवृक्षशङ्खपद्मवज्रस्वस्तिकझषकलशादिशुभचिह्नानि यथा न हीयन्ते नापि वर्धन्ते तथा प्रकृतमपि । ८ व्यवहाराङ्गुलमत्र ग्राह्यम् । सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि । आवरोगाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु । इत्युक्तत्वात्– श्र० टि० ।

'वर्धमानो हीयमानः अवस्थितः अनवस्थितः अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपाती' इत्येतेऽष्टौ भेदा देशावधेर्भवन्ति । हीयमानप्रतिपातिभेदवर्जा इतरे षड् भेदा भवन्ति परमावधेः । 'अवस्थितोऽनुगा[1]म्यननुगाम्यप्रतिपाती' इत्येते चत्वारो भेदाः सर्वावधेः । तत्र षडाद्या उक्तलक्षणाः । प्रतिपातीति विनाशी विद्युत्प्रकाशवत् । तद्विपरीतोऽप्रतिपाती ।

तत्र देशावधेः सर्वजघन्यस्य क्षेत्रम् उत्सेधाङ्गुलस्याऽसंख्येयभागः, आवलिकाया असंख्येयभागः कालः, अङ्गुलस्याऽसंख्येयभागक्षेत्रप्रदेशप्रमाणं द्रव्यम्, तत्प्रमाणपरिच्छिन्नेष्वसंख्येयेषु स्कन्धेष्वनन्तप्रदेशेषु ज्ञानं वर्तते, स्वविषयस्कन्धगतानन्तवर्णादिविकल्पो भावः ।

[2]तस्य वृद्धिरुच्यते–प्रदेशोत्तरा क्षेत्रवृद्धिर्नास्त्येकजीवस्य, नानाजीवानां तु प्रदेशोत्तरक्षेत्र[1]वृद्धिर्भवति आसर्वलोकात् । एकजीवस्य त्वङ्गुलासंख्येयभागादूर्ध्वं विशुद्धिवशात् मण्डूकप्लुत्या अगुङ्गुलासंख्येयभागक्षेत्रवृद्धिर्भवति आसर्वलोकात् । नानाजीवा अपि प्रदेशोत्तरवृद्धया तावद्वर्धयन्ते यावदङ्गुलस्यासंख्येयभागः । कालवृद्धिरेकजीवस्य नानाजीवानां वा मौलादावलिका[4]संख्येयभागात् क्वचिदेकसमयोत्तरा क्वचिद् द्विसमयोत्तरा क्वचित् संख्येयसमयोत्तरा क्वचिदसंख्येयसमयोत्तरा यावदावलिकाया असंख्येयभागः । सेयं क्षेत्रकालवृद्धिः । कया वृद्धया ? चतुर्विधया संख्येयभागवृद्धया असंख्येयभागवृद्धया संख्येयगुणवृद्धया असंख्येयगुणवृद्धया वा । एवं द्रव्यमपि वर्धमानं चतुर्विधया वृद्धया वर्धते । भाववृद्धिः षोढा–अनन्तभागवृद्धिः असंख्येयभागवृद्धिः संख्येयभागवृद्धिः संख्येयगुणवृद्धिरसंख्येयगुणवृद्धिरनन्तगुणवृद्धिरिति । अनया क्षेत्रकालद्रव्यभाववृद्धयोक्तया आसर्वलोकात् वृद्धिरवसेया । हानिरपि तथैव । योऽङ्गुलासंख्येयभागक्षेत्रोऽवधिः तस्यावलिकायाः संख्येयभागः कालः, अङ्गुलासंख्येयभागक्षेत्राकाशप्रदेशप्रमाणं द्रव्यम्, भावः पूर्ववदनन्तो वा स्यादसंख्येयो वा स्यात्संख्येयो वा स्यात् । योऽङ्गुलमात्रक्षेत्रोऽवधिः तस्येषदूना आवलिका कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । योऽङ्गुल[5]पृथक्त्वक्षेत्रोऽवधिः तस्य आवलिका कालः द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो हस्तप्रमाणक्षेत्रोऽवधिः तस्य आवलिकापृथक्त्वं कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो गव्यूतिमात्रक्षेत्रोऽवधिः तस्य साधिकोच्छ्वासः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो योजनमात्रक्षेत्रोऽवधिः तस्य भिन्नमुहूर्तः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यः पञ्चविंशतियोजनप्रमाणक्षेत्रोऽवधिः तस्येषदूनो दिवसः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो भरतक्षेत्रमात्रोऽवधिः तस्य अर्धमासः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो जम्बूद्वीपमात्रक्षेत्रोऽवधिः तस्य साधिको मासः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो मनुष्यलोकमात्रक्षेत्रोऽवधिः तस्य संवत्सरः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो रुचकान्तप्रमाणक्षेत्रोऽवधिः तस्य संवत्सरपृथक्त्वं कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यः संख्येयद्वीपसमुद्रक्षेत्रोऽवधिः तस्य संख्येयाः संवत्सराः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । योऽसंख्येयद्वीपसमुद्रक्षेत्रोऽवधिः तस्याऽसंख्येयाः संवत्सराः कालः, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । एवं ज(एवमज)घन्योत्कृष्टस्तिर्यङ्नराणां देशावधिरुक्तः ।

अथ तिरश्चामुत्कृष्टदेशावधिरुच्यते––क्षेत्रमसंख्येया द्वीपसमुद्राः । कालोऽप्यसंख्येयाः संवत्सराः । तेजश्शरीरप्रमाणं द्रव्यम् । कियच्च तत् ? असंख्येयद्वीपसमुद्राकाशप्रदेशपरिच्छिन्नाभिः असंख्येयाभिस्तेजःशरीरद्रव्यवर्गणाभिर्निर्वर्तितं तावदसंख्येय[6]स्कन्धानन्तप्रदेशान् जानातीत्यर्थः । भावः पूर्ववत् । तिरश्चां मनुष्याणां च जघन्यो देशावधिर्भवति । तिरश्चां तु देशावधिरेव न परमावधिर्नापि सर्वावधिः ।

१ –गामीवर्धमानाप्र– भा० २ । २ सर्वजघन्यस्य । ३ –क्षेत्रे वृद्धि– आ०, ब०, द०, मु० । ४ –कालासं– आ०, ब०, द०, मु० । ५ –लिपृ– श्व०, ता० । ६ –स्कन्धानन्त– श्व० ।

अथ मनुष्याणामुत्कृष्टो देशावधिरुच्यते–क्षेत्रमसंख्येया द्वीपसमुद्राः । कालोऽप्यसंख्येयाः संवत्सराः । द्रव्यं कार्मणद्रव्यम् । कियच्च तत्? असंख्येयद्वीपसमुद्राकाशप्रदेशपरिच्छिन्ना असंख्येया ज्ञानावरणादिकार्मणद्रव्यवर्गणाः । भावः पूर्ववत् । एष देशावधिरुत्कृष्टो मनुष्याणां संयतानां भवति ।

परमावधिरुच्यते–जघन्यस्य परमावधेः क्षेत्रं प्रदेशाधिको लोकः । कालः प्रदेशाधिकलोकाकाशप्रदेशावधृतप्रमाणा अविभागिनः समयाः, ते चाऽसंख्याताः संवत्सराः । द्रव्यं प्रदेशाधिकलोकाकाशप्रदेशावधृतप्रमाणम् । भावः पूर्ववत् । अतः परं क्षेत्रवृद्धिः–नानाजीवैकजीवानामविशेषेण विशुद्धिवशादसंख्येया लोकाः, एवं तावदसंख्येया लोका वृद्धिर्यावदुत्कृष्टपरमावधिक्षेत्रम् । कियन्तश्च ते असंख्येयाः ? आवलिकाया असंख्येयभागप्रमाणाः । कालद्रव्यभावाः पूर्ववत् । उत्कृष्टपरमावधेः क्षेत्रं सलोकालोकप्रमाणा[1] असंख्येया लोकाः । कियन्तस्ते ? अग्निजीवतुल्याः । कालद्रव्यभावाः पूर्ववत्[2] । स एषः त्रिविधोऽपि परमावधिः उत्कृष्टचारित्रयुक्तस्यैव भवति नान्यस्य । वर्धमानो भवति न हीयमानः । अप्रतिपाती न प्रतिपाती । यस्य यावति[3] च लोके लोकप्रमाणासंख्येयलोकक्षेत्रे जातस्तस्य तावत्यवस्थानादवस्थितो भवति, अनवस्थितश्च वृद्धिं प्रति न हानिम् । ऐहलौकिकदेशान्तरगमनादनुगामी पारलौकिकदेशान्तरानुगमनाभावादननुगामी ।

सर्वावधिरुच्यते–असंख्येयानामसंख्येयभेदत्वाद् उत्कृष्टपरमावधिक्षेत्रमसंख्येयलोकगुणितमस्य क्षेत्रम्, कालद्रव्यभावाः पूर्ववत् । स एष न वर्धमानो न हीयमानो नानवस्थितो न प्रतिपाती, प्राक्संयतभवक्षयात् अवस्थितोऽप्रतिपाती, भवान्तरं प्रत्यननुगामी देशान्तरं प्रत्यनुगामी । सर्वशब्दस्य साकल्यवाचित्वात् द्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वावधेरन्तःपाती परमावधिः, अतः परमावधिरपि देशावधिरेवेति द्विविध एवावधिः–सर्वावधिर्देशावधिश्च ।

उक्तायां वृद्धौ यदा कालवृद्धिस्तदा चतुर्णामपि वृद्धिर्नियता । क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिर्भाज्या–स्यात्कालवृद्धिः स्यान्नेति, द्रव्यभावयोस्तु वृद्धिर्नियता । द्रव्यवृद्धौ भाववृद्धिर्नियता, क्षेत्रकालवृद्धिः पुनर्भाज्या–स्याद्वा न वेति । भाववृद्धावपि द्रव्यवृद्धिर्नियता, क्षेत्रकालवृद्धिर्भाज्या–स्याद्वा न वेति ।

स एषोऽवधिज्ञानोपयोगो द्विधा भवति एकक्षेत्रोऽनेकक्षेत्रश्च । [4]श्रीवृक्षस्वस्तिकनन्द्यावर्ताद्यन्यतमोपयोगोपकरण एकक्षेत्रः । तदनेकोपकरणोपयोगोऽनेकक्षेत्रः । यद्येवं परायत्तत्वात् परोक्षत्वप्रसङ्गः ? न; इन्द्रियेषु परत्वरूढेः ।

*"इन्द्रियाणि [5]पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेः परतरो हि सः[6] ॥" [भग० गी० ३।४२] इति ।

एवं बहुधा व्याख्यातमवधिज्ञानम्, मनःपर्ययस्येदानीमवसरः[7] प्राप्तः, तस्य भेदपुरस्सरं लक्षणं व्याचिख्यासुरिदमाह–

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

[8]ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च । कस्मात् ? निर्वर्तितवाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात् । ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयमृजुमतिः । [9]अनिर्वर्तिता कुटिला च [10]विपुला । कस्मात्?

१ लोकप्रदेशप्रमाण । २ –त् एष मु० । ३– ति स लोके आ०, ब०, द०, मु०, श्व०, ता०, ज०, भा० १, भा० २ । ४ श्रीवृषभस्व– आ०, ब०, द०, मु० । ५ अन्य । ६ आत्मा । ७ –वसरप्राप्तस्य आ०, ब०, मु० । –सरप्राप्तस्तस्य ब०, द०, मू०, ता० । प्रस्तुतः कालः । ८ सा ऋज्वी इत्युच्यते । ९ असम्पूर्णा । १० या सा ।

अनिर्वर्तितवाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात् । विपुला मतिरस्य स विपुलमतिः । ऋजमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती । एकस्य मतिशब्दस्य [1]गतार्थत्वादप्रयोगः[2]। अथवा, ऋजुश्च विपुला च ऋजुविपुले, ऋजुविपुले मती [3]ययोस्तौ ऋजुविपुलमती इति[4]। स एष मनःपर्ययो द्विधा ऋजुमतिर्विपुलमतिरिति । अत्रोक्तो भेदः ।

लक्षणमस्येदानीं वक्तव्यमिति ? अत्रोच्यते—

मनःसंबन्धेन लब्धवृत्तिर्मनःपर्ययः ।१। वीर्यान्तरायमनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभोपष्टम्भाद् आत्मीयपरकीयमनःसंबन्धेन लब्धवृत्तिरुपयोगो मनःपर्ययः ।

मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत्; न; अन्यदीयमनोऽपेक्षामात्रत्वाद् अभ्रे चन्द्रव्यपदेशवत् ।२। स्यान्मतम्—यथा मनश्चक्षुरादिसंबन्धाच्चक्षुरादिज्ञानमाविर्भवति तन्मतिज्ञानम् तथा मनःपर्योऽपि मनःसंबन्धाल्लब्धवृत्तिरिति मतिज्ञानं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यदीयमनोऽपेक्षामात्रत्वात् । कथम् ? अभ्रे चन्द्रव्यपदेशवत् । यथा 'अभ्रे चन्द्रमसं पश्य'इति अभ्रमपेक्षाकारणमात्रं भवति, न च चक्षुरादिवन्निर्वर्तकं चन्द्रज्ञानस्य, तथा अन्यदीयमनोऽपि अपेक्षाकारणमात्रं भवति 'परकीयमनसि व्यवस्थितमर्थं जानाति मनःपर्ययः' इति । ततो नास्य तदायत्तः [5]प्रभव इति न मतिज्ञानप्रसङ्गः ।

स्वमनोदेशे वा तदावरणकर्मक्षयोप[6]शमव्यपदेशात् चक्षुष्यवधिज्ञाननिर्देशवत् ।३। अथवा, चक्षुर्देशस्थानामात्मप्रदेशानाम् अवध्यावरणक्षयोपशमात् यथा चक्षुष्यवधिज्ञानव्यपदेश इष्टः, नचाऽवधिः मतिर्भवति, तथा मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमात् स्वमनोदेशस्थानामात्मप्रदेशानां मनःपर्ययव्यपदेशः, न चास्य मतित्वम् ।

[7]मनःप्रतिबन्धज्ञानादनुमानप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रत्यक्षलक्षणाऽविरोधात् ।४। स्यान्मतम्—यथा धूमप्रतिबन्धाद्धूमसंपृक्तेऽनावनुमानं तथा अन्यदीयमन[8]प्रतिबन्धात् 'तन्मनःसंपृक्तानर्थान् जानन् मनःपर्ययोऽनुमानमिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रत्यक्षलक्षणाऽविरोधात् । यत्प्रत्यक्षलक्षणमुक्तम् 'इन्द्रियानिन्द्रियनिरपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्' इति, तेनाऽविरोधः (धात्), न मनःपर्ययोऽनुमानम् । अनुमानं हि तेन विरुध्यते ।

उपदेशपूर्वकत्वाच्चक्षुरादिकरणनिमित्तत्वाद्वाऽनुमानस्य ।५। उपदेशाद्धि 'अयमग्निरयं धूमः' इत्युपलभ्य पश्चाद्धूमदर्शनादग्नावनुमानं करोति, चक्षुरादिकरणसंबन्धाच्च, ततोऽस्योक्तं प्रत्यक्षलक्षणं विरुध्यते । न च तथा मनःपर्यय उपदेशं चक्षुरादिकरणसंबन्धं चाऽपेक्षते ।

स द्वेधा सूत्रोक्तविकल्पात् ।६। स मनःपर्ययो द्वेधा । कुतः ? सूत्रोक्तविकल्पात् । ऋजुमतिर्विपुलमतिरिति ।

आद्यस्त्रेधा ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात् ।७। आद्य ऋजुमतिमनःपर्ययस्त्रेधा । कुतः ? ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात्—ऋजुमनस्कृतार्थज्ञः ऋजुवाक्कृतार्थज्ञः ऋजुकायकृतार्थज्ञश्चेति । तद्यथा, मनसाऽर्थं व्यक्तं सञ्चित्य वाचं वा[9] धर्मादियुक्तामसंकीर्णामुच्चार्य[10] कायप्रयोगं चोभयलोकफलनिष्पादनार्थमङ्गोपाङ्गप्रत्यङ्गनिपातनाकुञ्चनप्रसारणादिलक्षणं कृत्वा पुनरनन्तरे समये कालान्तरे वा तमेवार्थं चिन्तितमुक्तं कृतं वा विस्मृतत्वान्न शक्नोति चिन्तयितुम्,

---

१ ज्ञातार्थत्वात् । २ द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यत इति न्यायात् । ३ मनःपर्यय भेदयोः । ४ विग्रहः कार्यः, अनेन भेदकथनं कृतम् । ५ उत्पत्तिः । ६ मनसः । ७ प्रतिनियतो बन्धः सम्बन्धः प्रतिबन्धः । ८ तस्य परस्य । ९ च धर्मा— श्र० । १० असंकराम् ।

तमेवंविधमर्थं ऋजुमतिमनःपर्ययः पृष्टोऽपृष्टो वा जानाति 'अयमसावर्थोऽनेन विधिना त्वया चिन्तित उक्तः कृतो वा' इति । कथमयमर्थो लभ्यते ? आगमाविरोधात् । [1]आगमे ह्युक्तम्—*"**मनसा मनः [2]परिच्छिद्य परेषां संज्ञादीन् जानाति**" [महाबन्ध पृ० २४] इति । मनसाऽऽत्मनेत्यर्थः[3]। परमनः समन्ताद्विदित्वा परिच्छिद्य मनसा चिन्तितस्य सचेतनेतरस्याऽर्थस्य मनस्यवस्थात् मनोव्यपदेशः मञ्चस्थानां पुरुषाणां मञ्चव्यपदेशवत् । [4]तमात्मना आत्माऽवबुध्य आत्मनः परेषां च चिन्ताजीवितमरणसुखदुःखलाभालाभादीन् विजानाति । *"[5]**व्यक्तमनसां जीवानामर्थं जानाति नाऽव्यक्तमनसाम्** ।" [महाबन्ध] [6]व्यक्तः स्फुटीकृतोऽर्थश्चिन्तया सुनिर्वर्तितो यैस्ते जीवा व्यक्तमनसस्तैरर्थं चिन्तितं ऋजुमतिर्जानाति नेतरैः । कालतो जघन्येन जीवानामात्मनश्च द्वित्राणि, उत्कर्षेण सप्ताष्टानि भवग्रहणानि गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति । क्षेत्रतो जघन्येन [7]गव्यूतिपृथक्त्वस्याभ्यन्तरं न बहिः ।

द्वितीयः षोढा ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात् ।८। द्वितीयो विपुलमतिः षोढा भिद्यते । कुतः ? ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात् । ऋजुविकल्पाः पूर्वोक्ताः, वक्रविकल्पाश्च तद्विपरीता योज्याः । तथा आत्मनः परेषां च चिन्ताजीवितमरणसुखदुःखलाभालाभादीन् अव्यक्तमनोभिर्व्यक्तमनोभिश्च चिन्तितान् अचिन्तितान् जानाति विपुलमतिः, कालतो जघन्येन सप्ताष्टानि भवग्रहणानि, उत्कर्षेणाऽसंख्येयानि गत्यागतिभिः प्ररूपयति । क्षेत्रतो जघन्येन योजनपृथक्त्वम्, उत्कर्षेण [8]मानुषोत्तरशैलाभ्यन्तरं न बहिः ।

एवं द्विभेदो मनःपर्ययो वर्णितः । तस्य किं परस्परतो विशेषोऽस्त्युत नास्ति? अत आह—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति आत्मनः प्रसादो विशुद्धिः । प्रतिपतनं प्रतिपातः[9] । उपशान्तकषायस्य चारित्रमोहोद्रेकात् प्रच्युतसंयमशिखरस्य प्रतिपातो भवति । क्षीणकषायस्य प्रतिपातकारणाभावादप्रतिपातः । विशुद्धिश्चाऽप्रतिपातश्च विशुद्ध्यप्रतिपातौ ताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां [10]तयोर्विशेषस्तद्विशेषः ।

पूर्वसूत्र एव तयोर्विशेषो निर्ज्ञातः किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?

---

१ "मणेण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदिमदि चिंतादि विजाणदि, जीविदमरणं लाभालाभं सुहदुक्खं णगरविणासं देसविणासं जणपदविणासं अदिवुट्ठि, अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि दुब्भिक्खं खेमाखेमं भयरोगं उब्भमं इब्भमं संभमं वत्तमणाणं जीवाणं णो अवत्तमणाणं जीवाणं जाणदि ।" —महाबंध० पृ० २४—२५ । २ परिविद्य श्र०, ता०, मू० । ३ अथास्य वाक्यस्यावयवार्थं कथयति । ४ समुदायार्थमाह । ५ आगमे वाक्यान्तरमाह । ६ अस्यार्थं विवृणोति । ७ गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं । विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं ॥ दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं । अडणवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ॥ अवरं दव्वमुरालियसरीरणिज्जिणसमयबद्धं । तु चक्खिंदियणिज्जिण्णं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे ॥ मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं । खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं ॥ अट्ठण्हं कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयं । धुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे दव्वं ॥ तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं । धुवहारेणवहरिदे होदि तु उक्कस्सयं दव्वं ॥ (गो० जीव०) —श्र० टि० । ८ प्राणिकपुरुषो यदा मानुषोत्तराभ्यन्तरे स्थित्वा प्रश्नं करोति तदा जानातीति भावः, न तावति क्षेत्रे स्थितानर्थान् । ९ प्रच्यवनमित्यर्थः । १० ऋजुविपुलमत्योः । तथा चोक्तम्— पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि विदिया हु । सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो विदियबोहो दु ॥ इति —श्र० टि० ।

विशेषान्तरप्रतिपत्त्यर्थं पुनर्वचनम् ।१। यः पूर्वसूत्रे विशेष उक्तः तावतास्य[1] न परितोषस्ततो विशेषान्तरप्रतिपत्त्यर्थं पुनरिदमुच्यते ।

चशब्दप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्राथमकल्पिकभेदाभावात् ।२। यथा मनःपर्ययस्य ऋजुविपुलमती भेदौ तथा विशुद्धयप्रतिपातावपि तस्यैव यदि भेदौ स्यातां युक्तश्चशब्दः स्यात् । यतस्तु विशुद्धयप्रतिपातौ ऋजुविपुलमत्योर्विशेषौ न भेदौ, अतश्चशब्दाऽप्रसङ्गः । तत्र विशुद्धया तावदृजुमतेर्विपुलमतिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विशुद्धतरः । कथम् ? इह यः[2] कार्मणद्रव्यानन्तभागो[3]ऽन्त्यः सर्वविधिना ज्ञातस्तस्य पुनरनन्तभागीकृतस्य [4]मनःपर्ययज्ञेयोऽनन्तभागः, अनन्तस्याऽनन्तभेदत्वात् । ऋजुमतिकार्मणद्रव्याऽनन्तभागाद् दूरविप्रकृष्टोऽल्पीयाननन्तभागः[5] विपुलमतेर्द्रव्यम् । क्षेत्रकालविशुद्धिरुक्ता । भावतो विशुद्धिः सूक्ष्मतरद्रव्यविषयत्वादेव वेदितव्या । प्रकृष्टक्षयोपशमविशुद्धिभावयोगादप्रतिपातेनापि विपुलमतिर्विशिष्टा, स्वामिनां प्रवर्धमानचारित्रोदयत्वात् । ऋजुमतिः पुनः प्रतिपाती स्वामिनां कषायोद्रेकाद्धीयमानचारित्रोदयत्वात् ।

यद्यस्य मनःपर्ययस्य प्रत्यात्ममयं विशेषः अथाऽनयोरवधिमनःपर्याययोः कुतो विशेष इति ? अत आह—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ॥२५॥

विशुद्धिः प्रसादः । क्षेत्रं यत्रस्थान् भावान् प्रतिपद्यते । स्वामी प्रयोक्ता । विषयो ज्ञेयः ।

अवधिज्ञानान्मनःपर्ययस्य विशुद्धचभावोऽल्पद्रव्यविषयत्वादिति चेत्; न; भूयःपर्ययज्ञानात् ।१। स्यान्मतम्—अवधिज्ञानान्मनःपर्ययोऽविशुद्धतरः । कुतः ? अल्पद्रव्यविषयत्वात् । यतः सर्वविधिरूपिद्रव्यानन्तभागो मनःपर्ययद्रव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? भूयःपर्ययज्ञानात् । यथा कश्चिद् बहूनि शास्त्राणि व्याचष्टे एकदेशेन, न साकल्येन तद्गतमर्थं शक्नोति वक्तुम्, अपरस्त्वेकं शास्त्रं साकल्येन व्याचष्टे यावन्तस्तस्यार्थास्तान् सर्वान् शक्नोति वक्तुम्, अयं पूर्वस्माद्विशुद्धतरविज्ञानो भवति । तथा अवधिज्ञानविषयानन्तभागज्ञोऽपि मनःपर्ययो विशुद्धतरः, यतस्तमनन्तभागं रूपादिभिर्बहुभिः पर्यायैः प्ररूपयति । क्षेत्रमुक्तम् । विषयो वक्ष्यते[6] । स्वामित्वं प्रत्युच्यते—

विशिष्टसंयमगुणैकार्थ[7]समवायी मनःपर्ययः ।२। विशिष्टः संयमगुणो यत्र विद्यते तत्रैव वर्तते मनःपर्ययः । तथा चोक्तम्—

***"मनुष्येषु मनःपर्यय आविर्भवति; न देवनारकतैर्यग्योनेषु । मनुष्येषु चोत्पद्यमानः पर्याप्तकेषूत्पद्यते न सम्मूर्च्छनजेषु । गर्भजेषु चोत्पद्यमानः कर्मभूमिजेषूत्पद्यते नाकर्मभूमिजेषु । कर्मभूमिजेषूत्पद्यमानः पर्याप्तकेषूत्पद्यते नापर्याप्तकेषु । पर्याप्तकेषूपजायमानः सम्यग्दृष्टिषूपजायते न मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टिषु । सम्यग्दृष्टिषूपजायमानः संयतेषूपजायते नाऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतेषु । संयतेषूपजायमानः प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषूपजायते नोत्तरेषु । तत्र चोपजायमानः प्रवर्धमानचारित्रेषूजायते न हीयमानचारित्रेषु । [8]प्रवर्धमानचारित्रेषूपजायमानः सप्तविधान्यतमर्द्धिप्राप्तेषूपजायते[9] नेतरेषु । ऋद्धिप्राप्तेषु च केषुचिन्न सर्वेषु"** [ ] इति ।

१ मनःपर्ययस्य । २ द्रव्यतस्तावदाह । ३ अनन्तानन्तपरमाण्वात्मकः पुद्गलस्कन्धः । ४ ऋजुमतिरूप । ५ –योऽन्त्यभा– श्र० । ६ सोऽपि स्कन्धो न परमाणुः । ७ रूपिष्ववधेरित्यादिना । ८ समानाधिकरण । ९ संप्रव– आ०, ब०, द०, मु० । १० –षु जायते आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

विशिष्टसंयमग्रहणं वाक्ये[1] कृतम् । अवधिः पुनः चातुर्गतिकेष्विति स्वामिभेदाद्ध्यनयोर्विशेषः ।

इदानीं केवलज्ञानलक्षणाभिधानं प्राप्तकालं तदुल्लङ्घ्य ज्ञानानां विषयनिबन्धः परीक्ष्यते । कुतः ? तस्य ***"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्"** [त० सू० १०।१] इत्यत्र वक्ष्यमाणत्वात् । यद्येवमाद्ययोरेव तावन्मतिश्रुतयोर्विषयनिबन्ध उच्यतामिति ? आह—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

निबन्धनं निबन्धः । कस्य ? मतिश्रुतविषयस्य । तर्त्तर्हि विषयग्रहणं कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम् ।

प्रत्यासत्तेः प्रकृतविषयग्रहणाभिसंबन्धः ।१। प्रकृतं विषयग्रहणमस्ति । क्व प्रकृतम् ? 'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः' इति । तत्र प्रत्यासत्तेर्विषयग्रहणमिहाभिसंबध्यते । ननु च स विभक्त्यन्तरनिर्दिष्टो न शक्यते इह संबद्धुम् ?

अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः ।२। यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति गम्यते, 'देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यम्, आढ्यो वैधवेयः' 'देवदत्तः' इति गम्यते, एवमिहापि । निबन्धः कस्य ? 'विषयस्य' इत्यभिसंबध्यते । अथ द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः किमर्थः ?

द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः [2]सर्वद्रव्यसंग्रहार्थः ।३। जीवधर्माऽधर्माकाशकालपुद्गलाभिधानानि षडत्र द्रव्याणि, तेषां सर्वेषां संग्रहार्थः द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः क्रियते ।

तद्विशेषणार्थमसर्वपर्यायग्रहणम् ।४। तेषां द्रव्याणामविशेषेण मतिश्रुतयोर्विषयभावप्रसङ्गे तद्विशेषणार्थम् असर्वपर्यायग्रहणं क्रियते । तानि द्रव्याणि मतिश्रुतयोर्विषयभावमापद्यमानानि कतिपयैरेव पर्यायैर्विषयभावमास्कन्दन्ति न सर्वपर्यायैरनन्तैरपीति । तत्कथम् ? इह मतिः चक्षुरादिकरणनिमित्ता रूपाद्यालम्बना, सा यस्मिन् द्रव्ये रूपादयो वर्तन्ते न तत्र सर्वान् [3]पर्यायानेव (सर्वानेव पर्यायान्) गृह्णाति, चक्षुरादिविषयानेवाऽऽलम्बते । श्रुतमपि शब्दलिङ्गम्,[4] शब्दाश्च सर्वे संख्येया एव, द्रव्यपर्यायाः [5]पुनः संख्येयाऽसंख्येयानन्तभेदाः, न ते सर्वे विशेषाकारेण[6] तैर्विषयीक्रियन्ते । उक्तञ्च—

[7]***"पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं[8]।**
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥" [सन्मति० गा० २।१६] इति ।

अतीन्द्रियेषु मतेरभावात् सर्वद्रव्यासंप्रत्यय इति चेत्; न; नोइन्द्रियविषयत्वात् ।५। स्यान्मतम्—धर्मास्तिकायादिषु मतेरभावोऽतीन्द्रियत्वात्, ततो 'मतिः सर्वद्रव्यविषयनिबन्धा' इति लक्षणमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? नोइन्द्रियविषयत्वात् । नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमलब्ध्य-

१ वार्तिके । २ –द्रव्यपर्यायसं– आ०, ब०, मु० । ३ पर्यायानवगृ– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ साधनम् । ५ पुनः संख्येयानन्त –मू०, द० । पुनरसंख्येयानन्त– आ०, ब०, मु० । ६ सर्वपर्यायाः शब्दैर्न विषयीक्रियन्त इत्युक्ते कथं तर्हि अनन्तभेदा इत्युच्यते स्ववचनविरोधात् इत्याशङ्कायां विशेषाकारेणेति विशेषणमाह । शब्दः सामान्येन विषयीक्रियन्त इति भावः । ७ प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभागस्तु अनभिलाप्यानाम् । प्रज्ञापनीयानां पुनः अनन्तभागः श्रुतनिबद्धः ॥ सर्वज्ञेन प्रज्ञापनीया भावाः । ८ अनभिलाप्यानाम् ।

पेक्षं नोइन्द्रियं तेषु व्याप्रियते। अथ हि तत्र न वर्तेत [1]अवधिना सह [2]निर्दिश्येत रूपिष्वेव[3] वृत्तेः।

अथ मतिश्रुतयोरनन्तरनिर्देशार्हस्यावधेः को विषयनिबन्ध इति ? अत आह–

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

रूपशब्दस्याऽनेकार्थत्वे सामर्थ्याच्छुक्लादिग्रहणम् ।१। अयं रूपशब्दोऽनेकार्थः क्वचिच्चाक्षुषे[4] वर्तते यथा–'रूपरसगन्धस्पर्शाः' इति। क्वचित्स्वभावे वर्तते यथा 'अनन्तरूपमनन्तस्वभावम्' इति[5]। तत्रेह सामर्थ्याच्चक्षुर्विषये शुक्लादौ वर्तमानो गृह्यते। यदि स्वभाववाचिनो ग्रहणं स्यात् अनर्थकं स्यात्। न हि कस्यचित् स्वभावो नास्तीति।

भूमाद्यनेकार्थसंभवे नित्ययोगोऽभिधानवशात् ।२। यद्यपि मत्वर्थीयस्य भूमादयोऽर्थाः बहवः संभवन्ति, इहाभिधानवशात् [6]नित्ययोगो वेदितव्यः। नित्यं हि पुद्गला युक्ता रूपेणेति, यथा क्षीरिणो वृक्षा इति।

यद्येवमवधिज्ञानस्य पुद्गला रूपमुखेनैव विषयभावं प्रतिपद्येरन् न रसादिमुखेन ? नैष दोषः;

तदुपलक्षणार्थत्वात् तदविनाभाविरसादिग्रहणम् ।३। तद्रूपं द्रव्यस्योपलक्षणत्वेनोपादीयते अतस्तदविनाभाविनो रसादयोऽपि गृह्यन्ते।

यद्येवं तद्गतेषु सर्वेष्वनन्तेषु पर्यायेषु[7] अवधेर्विषयनिबन्धः प्राप्नोतीति ? अत आह–

असर्वपर्यायग्रहणानुवृत्तेर्न सर्वगतिः ।४। 'असर्वपर्यायेषु' इत्येतद्ग्रहणमनुवर्तते। यथा 'देवदत्ताय गौर्दीयतां जिनदत्ताय कम्बलः' इति 'दीयताम्' इत्यभिसंबध्यते, एवमिहापि 'असर्वपर्यायेषु' इत्यभिसंबन्धान्न सर्वगतिर्भवति। ततो रूपिषु पुद्गलेषु प्रागुक्तद्रव्यादि[8]परिमाणेषु जीवपर्यायेषु औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेष्वुत्पद्यतेऽवधिज्ञानम् रूपिद्रव्यसंबन्धात्, न क्षायिकपारिणामिकेषु[9] नापि धर्मास्तिकायादिषु तत्संबन्धाभावात्।

अथ मनःपर्ययस्य[10] को विषयनिबन्ध इति ? अत आह–

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य[11] ॥२८॥

यद्रूपिद्रव्यं सर्वावधिज्ञानस्य विषयत्वेन समर्थितं तस्यानन्तभागीकृतस्यैकस्मिन् भागे मनःपर्ययः[12] प्रवर्तते।

[13]'अथान्ते यन्निर्दिष्टं केवलज्ञानं तस्य को विषयनिबन्ध इति ? अत आह–

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

अत्राह– किं द्रव्यम् ?

स्वपर्यायान् द्रवति द्रूयते वा तैरिति द्रव्यम् ।१। आत्मनः पर्यायान् द्रवति गच्छतीति द्रव्यम्। बहुलापेक्षया कर्तरि साधुत्वम्। द्रूयते वा तैरिति द्रव्यम्।

कथञ्चिद्भेदसिद्धौ तत्कर्तृकर्मव्यपदेशसिद्धिः ।२। द्रव्यस्य पर्यायाणां च कथञ्चिद्भेदे सति उक्तः कर्तृकर्मव्यपदेशः सिद्धचति।

१ तर्हि। २ निर्देश्येत श्र०। ३ अवधेः। ४ चक्षुर्ग्रहणयोग्ये। ५ गम्यते। ६ आगमवचनात्। ७ –ष्वनन्त पर्यायेषु आ०, बा०, मु०,। ८ –परिणामेषु मू०। ९ अवान्तरविषयापेक्षया बहुवचननिर्देशः। १० मनःपर्यायस्य मू०, श्र०, ता०। ११ मनःपर्यायस्य मू०, ता०। १२ मनःपर्यायः ता०। १३ तथाऽन्ते श्र०।

इतरथा हि तदप्रसि[1]द्धिरत्यन्ताव्यतिरेकात् ।३। यद्येकान्तेन एकत्वमवधार्येत तस्य कर्तृकर्मव्यपदेशाप्रसिद्धिः स्यात्। कुतः ? अत्यन्ताव्यतिरेकात्। न हि तदेव निर्विशेषमेकं शक्त्यन्तरापेक्षया विना कर्तृ कर्म च भवितुमर्हति। अथ कः पर्यायः ?

तस्य मिथोभवनं प्रति विरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभनिमित्तत्वाद् अर्पितव्यवहारविषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः ।४। मिथोभवनं प्रति केचिद्धर्मा विरोधिनः, केचिदविरोधिनः। तत्र जीवस्य तावदनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्यभव्याभव्योर्ध्वगतिस्वभावास्तित्वादिभिरौदयिकादयो भावा यथासंभवं युगपद्भावाद् अविरोधिनः। विरोधिनश्च नारकतैर्यग्योनदेवमनुष्य-स्त्रीपुंनपुंसकैकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिय-बाल्यकौमार-कोपप्रसादादयः सहानवस्थानात्। तथा पौद्गलिका अनादिपारिणामिकाः रूपरसगन्धस्पर्शशब्दसामान्यास्तित्वादयः शुक्लादिपञ्चकतिक्तादिपञ्चकगन्धद्वयस्पर्शाष्टकशब्दषट्कपर्यायैः प्रत्येकमेकद्वित्रिचतुःपञ्चादिसंख्येयासंख्येयानन्तगुणपरिणामिभिर्यथासंभवं युगपद्भावाद् अविरोधिनः। विरोधिनश्च शुक्लकृष्णनीलतिक्तकटुकसुरभीतरगन्धादयः प्रायोगिका वैश्रसिकाश्च[2] परमाणुषु स्कन्धेषु च, सहानवस्थानात्। एवं धर्मास्तिकायादिष्वपि अमूर्तत्वाऽचेतनत्वाऽसंख्येयप्रदेशत्वगतिकारणस्वभावाऽस्तित्वादयोऽनन्तभेदागुरुलघुगुणहानिवृद्धिविकारैः स्वप्रत्ययैः परप्रत्ययैश्च गतिकारणत्वविशेषादिभिः[3] अविरोधिनः परस्परविरोधिनश्च विज्ञेयाः[4]। तेषु केचिदुपात्तहेतुका द्रव्यक्षेत्रकालभावनिमित्ता औदयिकादयः। अनुपात्तहेतुकाश्च त्रिषु कालेष्वविकारिणः पारिणामिकाश्चैतन्यादयः। तेषां विरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभस्य निमित्तत्वात् 'चेतनो नारको [5]'बालः' इति अर्पितव्यवहारविषयः इति [6]व्यवहार-ऋजुसूत्र[7]त्रिविधशब्दनयात्मकः, द्रव्यार्थिकानर्पणात् पर्यायार्थिकेनार्पितः तस्य[8] विषयः, तस्य द्रव्यस्य अवस्थाविशेषः पर्याय इत्युच्यते।

तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः ।५। तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वो वेदितव्यः। द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्याया इति।

द्वन्द्वेऽन्यत्वं प्लक्षन्यग्रोधवदिति चेत्; न; तस्य कथञ्चिद्भेदेऽपि दर्शनाद् गोत्वगोपिण्डवत् ।६। स्यान्मतम्-यदि द्वन्द्वः प्लक्षन्यग्रोधवदन्यत्वं द्रव्यपर्यायाणां प्राप्नोतीति; तन्न; कारणम् ? तस्य कथञ्चिद्भेदेऽपि दर्शनात् गोत्वगोपिण्डवत्। यथा 'गोत्वं च गोपिण्डश्च गोत्वगोपिण्डौ' इत्यनन्यत्वेऽपि द्वन्द्वो भवति तथा द्रव्यपर्यायेष्विति। ननु सामान्यविशेषयोरन्यत्वात् साध्यसममेतदिति; नैष दोषः; उक्तमेतत्--अनन्यत्वं सामान्यविशेषयोः।

द्रव्यग्रहणं पर्यायविशेषणं चेत्; न; आनर्थक्यात् ।७। स्यादेतत्–'द्रव्याणां पर्याया द्रव्यपर्यायाः' इति द्रव्यग्रहणं पर्यायविशेषणमिति; तन्न; किं कारणम् ? आनर्थक्यात्। एवं सति द्रव्यग्रहणमनर्थकं स्यात्। न ह्यद्रव्यस्य पर्यायाः सन्तीति।

द्रव्याज्ञानप्रसङ्गाच्च ।८। केवलेन पर्याया एव ज्ञायन्ते न द्रव्याणीति द्रव्याज्ञानं प्राप्नोति, उत्तरपदार्थप्रधानत्वात्। अथ मतमेतत्–सर्वेषु पर्यायेषु ज्ञातेषु न किञ्चदज्ञातमस्ति ततो व्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्याभावात्; यद्येवं 'द्रव्यग्रहणमनर्थकम्' इत्युक्तं पुरस्तात्। तस्मात्

१ –दप्रसिद्धेर– आ०, ब०, द०, मु०। २ स्वाभाविकाः। ३ ऊर्ध्वाधस्तिर्यगादि। ४ –श्च ज्ञेयाः आ०, ब०, द०, ता०, मु०। ५ बालक इति आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ६ कोऽर्थः व्यवहरणं। ७ शब्दसमभिरूढैवम्भूतशब्दनयस्वरूपः। ८ व्यवहारस्य।

साधूक्तम्–'द्वन्द्वोऽयम्' इति। ननु च द्वन्द्वेऽपि द्रव्यग्रहणमनर्थकं पर्यायव्यतिरेकेणाऽनुपलब्धेरिति; नैष दोषः; संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदाद्भेदोपपत्तेः।

अथ सर्वग्रहणं किमर्थं ननु बहुवचननिर्देशादेव बहुत्वसंप्रत्ययसिद्धेः ?

सर्वग्रहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।९। ये लोकालोकभेदभिन्नास्त्रिकालविषया द्रव्यपर्याया अनन्ताः, तेषु निरवशेषेषु केवलज्ञानस्य[1] विषयनिबन्ध इति प्रतिपत्त्यर्थं सर्वग्रहणम्। यावांल्लोकालोकस्वभावोऽनन्तः तावन्तोऽनन्तानन्ता[2] यद्यपि स्युः, तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्यं[3] तत् केवलज्ञानं वेदितव्यम्।

आह–विषयनिबन्धोऽवधृतो मत्यादीनाम्, इदं तु न निर्ज्ञातमेकस्मिन्नात्मनि स्वनिमित्तसन्निधानोपजनितवृत्तीनि ज्ञानानि यौगपद्येन कति भवन्तीति ? अत[4] उच्यते–

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

एक इति कोऽयं शब्दः ?

अनेकार्थसंभवे विवक्षातः प्राथम्यवचन एकशब्दः ।१। अयमेकशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोगः। क्वचित्संख्यायां वर्तते, 'एको द्वौ बहवः' इति। क्वचिदन्यत्वे, 'एके आचार्याः–अन्ये आचार्याः' इति। क्वचिदसहाये, 'एकाकिनस्ते विचरन्ति वीराः' इति। क्वचित्प्राथम्ये, 'एकमागमनम्–प्रथममागमनम्' इति। क्वचित्प्राधान्ये, 'एकहतां सेनां करोमि–प्रधानहतां सेनां करोमि' इत्यर्थः। तत्रेह विवक्षातः प्राथम्यवचन एकशब्दो वेदितव्यः।

आदिशब्दश्चावयववचनः ।२। आदिशब्दश्च[5]। किम् ? अनेकार्थसंभवे विवक्षात इहावयववचनो वेदितव्यः। क्वचिद्वयवस्थायां वर्तते, 'ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णाः'[6]–ब्राह्मणव्यवस्थाः ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः' इत्यर्थः। क्वचित्प्रकारे, 'भुजङ्गादयः परिहर्तव्याः–भुजङ्गप्रकाराः विषवन्तः' इत्यर्थः। क्वचित्सामीप्ये, 'नद्यादीनि क्षेत्राणि–नदीसमीपानि' इत्यर्थः। क्वचिदवयवे, '[7]ऋगादिमधीते–ऋगवयवमधीते' इत्यर्थः। तेनैतदुक्तं भवति–एकस्यादिरेकादिः प्रथमावयव इति। कस्य ? प्रथमस्य परोक्षस्य। कः पुनरवयवः ? मतिज्ञानम्।

सामीप्यवचनो वा ।३। अथवा, अयमादिशब्दः सामीप्यवचनो द्रष्टव्यः। तेन प्रथमस्य मतिज्ञानस्य श्रुतं समीपमित्युक्तं भवति।

मतेर्बहिर्भावप्रसङ्ग इति चेत्; न; अनयोः सदाऽव्यभिचारात् ।४। स्यादेतत्–एवं सति मतेर्बहिर्भावः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? अनयोः सदाऽव्यभिचारात्। एते हि मतिश्रुते सर्वकालमव्यभिचारिणी नारदपर्वतवत्। तस्मादनयोरन्यतरग्रहणे इतरस्य ग्रहणं सन्निहितं भवति।

ततोऽन्यपदार्थे[8] वृत्तावेकस्यादिशब्दस्य निवृत्तिरुष्ट्रमुखवत् ।५। यथा, 'उष्ट्रस्य मुखमुष्ट्रमुखम्, उष्ट्रमुखवन्मुखमस्य' इति 'वृत्तौ एकस्य मुखशब्दस्य निवृत्तिः, एवमिहापि 'एकादिरादिर्येषां तानीमान्येकादीनि' इत्येकस्यादिशब्दस्य निवृत्तिः।

---

१ –ज्ञानविषय– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ –न्तोऽनन्ता य– श्र०, ता०, मू०, ज०। ३ –त्स्यं के– आ०, ब०, मु०। ४ अत आह मु०। ५ –श्चायमनेका– आ०, ब०, द०, मु०। ६ वर्णाः स्युः ब्राह्मणादय इत्यमरः। ७ ऋच् आदिरवयवः ऋगादिः। ८ अन्यपदार्थप्रधानसमासे –बहुव्रीहिसमासे इत्यर्थः। ९ समासे –सम्पा०।

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः ।६। अवयवेन विग्रहः क्रियते, वृत्त्यर्थः समुदायो भवति। तेनैका[1]दीन्यभ्यन्तरीकृत्य भाज्यानि अर्पयितव्यानीत्यर्थः। किं सर्वाणि ? न, इत्याह 'आ चतुर्भ्यः'। कुत एतत् ?

केवलस्याऽसहायत्वादितरेषां च क्षयोपशमनिमित्तत्वाद्यौगपद्याभावः[2] ।७। यतः केवलज्ञानं क्षायिकं तदसहायम्, इतराणि च ज्ञानानि क्षयोपशमनिमित्तानि, अतो विरोधाद्युगपदसंभवः, तस्मादुच्यते 'आ चतुर्भ्यः' इति।

नाभावोऽभिभूतत्वादहनि नक्षत्रवदिति चेत्; न; क्षायिकत्वात् ।८। स्यादेतत्–नाभावः क्षायोपशमिकानां ज्ञानानां केवलिनि, किन्तु केवलज्ञानेन महताऽभिभूतानि स्वप्रयोजने न व्याप्रियन्ते भास्कर[3]प्रभाभिभूतनक्षत्रवदिति; तन्न; किं कारणम् ? क्षायिकत्वात्। संक्षीणसकलज्ञानावरणे भगवत्यर्हति कथं क्षायोपशमिकानां ज्ञानानां संभवः। न हि परिप्राप्तसर्वशुद्धौ पदे प्रदेशाऽशुद्धिरस्ति।

इन्द्रियवत्त्वादिति चेत्; न; आर्षार्थानवबोधात् ।९। स्यादेतत्–एवमागमः[4] प्रवृत्तः *"पञ्चेन्द्रिया असंज्ञिपञ्चेन्द्रियादारभ्य आ अयोगिकेवलिनः" [षट्खं०] इति। अत इन्द्रियवत्त्वात्तत्कार्येणापि ज्ञानेन भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? आर्षार्थानवबोधात्। आर्षे हि सयोग्ययोगिकेवलिनोः पञ्चेन्द्रियत्वं द्रव्येन्द्रियं प्रति उक्तं न भावेन्द्रियं प्रति। यदि हि भावेन्द्रियमभविष्यत्, [5]अपि तु तर्हि असंक्षीणसकलावरणत्वात् सर्वज्ञतैवास्य न्यवर्तिष्यत। तस्मादेतदुक्तं भवति–एकस्मिन्नात्मनि द्वे मतिश्रुते, क्वचित् त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा, क्वचिच्चत्वारि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि, न पञ्चैकस्मिन् युगपत् संभवन्ति।

संख्यावचनो वैकशब्दः ।१०। अथवा, संख्यावचनोऽयमेकशब्दः। एकमादिर्येषां तानीमान्येकादीनि। कथम् ? मतिज्ञानमेकस्मिन्नात्मनि एकम्, यदक्षरश्रुतं द्व्यनेकद्वादशभेदमुपदेशपूर्वकं तद्भजनीयम्–स्याद्वा न वेति। इतरत् पूर्ववत्।

अपर आह[6]–संख्याऽसहायप्राधान्यवचने एकशब्दे सति एकादीनि केवलादीनीत्यर्थः। एकस्मिन्नात्मन्येकं केवलज्ञानं क्षायिकत्वात्। द्वे मतिश्रुते इत्यादि पूर्ववत्।

अथोक्तानि मत्यादीनि ज्ञानव्यपदेशमेव लभन्त उताऽन्यथापीति ? अत आह–

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

विपर्ययो[7] मिथ्येत्यर्थः। कुतः ? सम्यगधिकारात्। चशब्दः समुच्चयार्थः। विपर्ययश्च सम्यक् चेति। कुतः पुनरेषां विपर्ययः ?

मिथ्यादर्शनपरिग्रहान्मत्यादिविपर्ययः ।१। योऽसौ दर्शनमोहनीयोदये सति मिथ्यादर्शनपरिणामः तेन सहैकार्थसमवायात् मत्यादीनां विपर्ययो भवति। ननु च मणिकनकादीनां वर्चोगृहगतानामपि स्वभावविनाशो न भवति तद्वन्मत्यादीनामपि स्यात्; नैष दोषः;

---

१ मतिज्ञानम्। २ केवलेन सहेतरेषां युगपदसंभवः। ३ –प्रकाशाभिभू– श्र०, मू०। ४ इन्द्रियत्वा– आ०, ब०, मु०। ५ "पंचिंदिया असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति" –षट्खं० सं० सू० ३७। ६ अपिरत्र संभावनायाम्। ७ –ह असंख्या– आ०, ब०, द०, मु०। ८ –योऽन्यथाकृतः आ०, ब०, मु०।

सरजसकटुकालाबूगतदुग्धवत् स्वगुणविनाशः ।२। यथा सरजसकटुकालाबूभाजने निहितं दुग्धं स्वगुणं परित्यजति तथा मत्यादीन्यपि मिथ्यादृष्टिभाजनगतानि दुष्यन्तीति । आधारस्य दोषाद्धि [1]आधेयस्य दोषो जायते ।

ननु च नायमेकान्तः, उक्तमेतत्–'मणिकनकादयो वर्चोगृहगता अपि स्वभावं न त्यजन्ति' इति; तत्र कथमेतदध्यवसीयते[2]–अलाबूदुग्धवद् दुष्यन्ति मत्यादीनि न पुनर्मण्यादिवन्न दुष्यन्तीति ?

[3]परिणामकशक्तिविशेषात् ।३। [4]परिणामकस्य हि वस्तुनः शक्तिविशेषादन्यथाभावो भवति । यथा अलाबूद्रव्यं दुग्धं विपरिणामयितुं शक्नोति तथा मिथ्यादर्शनमपि मत्यादीनामन्यथात्वं कर्तुमलं तदुदये अन्यथानिरूपणदर्शनात् । वर्चोगृहं तु मण्यादीनां विकारं नोत्पादयितुमलम्, विपरिणामकद्रव्यसन्निधाने तेषामपि भवत्येवान्यथात्वम्, यदा तु सम्यग्दर्शनं प्रादुर्भूतं तदा मिथ्यापरिणामदर्शनाभावात् (मिथ्यादर्शनपरिणामाभावात्) तेषां मत्यादीनां सम्यक्त्वम्, अतः सम्यग्दर्शनमिथ्यादर्शनोदयविशेषात्तेषां त्रयाणां द्विधा क्लृप्तिर्भवति–मतिज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुतज्ञानं श्रुताज्ञानम् अवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति ।

अत्राह–रूपादिविषयोपलब्धिव्यभिचाराभावाद्विपर्ययाभावः । यथैव मतिज्ञानेन सम्यग्दृष्टयो रूपादीनुपलभन्ते तथा मिथ्यादृष्टयोऽपि मत्यज्ञानेन । यथैव घटादिषु रूपादीन् श्रुतेन निश्चन्वन्त्युपदिशन्ति च परेभ्यः तथा श्रुताज्ञानेनापि । यथैवावधिना रूपिणोऽर्थानवयन्ति तथा विभङ्गेनापीति । तस्मान्नास्ति विपर्यय इति । अत आह–

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

सच्छब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातः प्रशंसार्थग्रहणम् ।१। 'अयं सच्छब्दोऽनेकार्थः' इति व्याख्यातः । तस्येह विवक्षातः प्रशंसार्थस्य ग्रहणं वेदितव्यम्–प्रशस्तं तत्त्वज्ञानमित्यर्थः । असदज्ञानम् । तयोः सदसतोः । अविशेषेण यदृच्छयोपलब्धेर्विपर्ययो भवति । कथम् ? उन्मत्तवत् । यथा उन्मत्तो दोषोदयादुपहतेन्द्रियमतिः विपरीतग्राही भवति, सः अश्वं 'गौः' इत्यध्यवस्यति, गां वा 'अश्वः' इति, लोष्टं [5]'सुवर्णम्' इति, सुवर्णं च लोष्टमिति, लोष्टं लोष्टमिति, सुवर्णं सुवर्णमिति, तस्यैवमविशेषेणाध्यवस्यतोऽज्ञानमेव भवति, तद्वत् मिथ्यादर्शनोपहतेन्द्रियमतेर्मतिश्रुतावधयोऽप्यज्ञानमेव भवन्तीति ।

भवत्यर्थग्रहणं वा ।२। अथवा, सच्छब्दोऽयं भवत्यर्थे वेदितव्यः । सद्विद्यमानमित्यर्थः, असदविद्यमानम्, तयोरविशेषेण यदृच्छोपलब्धेः विपर्ययो भवति–कदाचिद्रूपादि सदप्यसदिति प्रतिपद्यते असदपि सदिति । कदाचित्तु सत्सदेव असदप्यसदेवेति । कुतः ?

प्रवादिपरिकल्पनाभेदाद्विपर्ययग्रहः ।३। प्रवादिनां कल्पनाभेदात् विपर्ययग्रहो भवति । तद्यथा [6]केचित्तावदाहुः–'द्रव्यमेव न रूपादयः' इति । [7]अपर आहुः–'रूपादय एव न द्रव्यम्' इति । [8]अपरेषां दर्शनम्–'अन्यद् द्रव्यमन्ये च रूपादयः' इति । कथमेषां विपर्ययग्रहः ? उच्यते–यदि द्रव्यमेव न रूपादयः; लक्षणाभावाल्लक्ष्यानवधारणप्रसङ्गः । किञ्च, इन्द्रियेण सन्निकृष्यमाणं द्रव्यं रूपाद्यभावे [9]सर्वात्मना सन्निकृष्येत,[10] ततः सर्वात्मना ग्रहणप्रसङ्गः, करण-

१ आधेये भा० । २ –दवसीयते, आ०, ब०, द०, मु० । ३ पारिणामिक– आ०, ब०, मु० । ४ परिणामं करोतीति परिणामकः । ५ सुवर्णं सुवर्णं लोष्टमिति आ०, ब०, द०, मु० । ६ सांख्यादयः । ७ बौद्धाः –सम्पा० । ८ वैशेषिकाणाम् –सम्पा० । ९ रसाद्यात्मना स्वरूपेण । १० सक्षात्क्रियेत ।

भेदाभावप्रसङ्गश्च । न चासौ दृष्ट इष्टो वा । अथ रूपादय एव न द्रव्यम्; एवमपि निराधारत्वादभावप्रसङ्गः ।

किञ्च, परस्परविलक्षणानां रूपादीनां समुदयेऽपि सति एकानर्थान्तरभावात् समुदयस्य सर्वाभावः परस्परतोऽर्था(तोऽनर्था)न्तरभूतत्वात् । अथ ह्यन्यद् द्रव्यं अन्ये रूपादयः; एवमपि तेषां लक्ष्यलक्षणभावाभावः परस्परतोऽर्थान्तरभूतत्वात्[1] । दण्डिदण्डवत् लक्ष्यलक्षणभाव इति चेत्; नः वैषम्यात् । पृथक्सतोर्लक्ष्यलक्षणभावो युक्तो नासतोरिति ।

किञ्च, रूपादिषु गुणेष्वमूर्तेषु द्रव्यादर्थान्तरभूतेषु नेन्द्रियसन्निकर्षो युक्तः, ततश्च ज्ञानाभावः । [2]न चार्थान्तरभूतं द्रव्यं कारणं भवितुमर्हति । किञ्च,

मूलकारणविप्रतिपत्तेः ।४। एषां घटरूपादीनां मूलकारणे प्रवादिनां विप्रतिपत्तिः । तद्यथा, [3]केचिदाहुः–'[4]अव्यक्तान्महदहङ्कार[5]तन्मात्रेन्द्रियमहाभूतमृत्पिण्डादि[6]विवृत्तिक्रमेण घटादेर्विश्वरूपस्य जगत उत्पादः' इति; तदयुक्तम्; न हि प्रधानस्य अमूर्तत्वनिरवयवत्वनिष्क्रियत्वाऽतीन्द्रियत्वानन्त्यनित्यत्वापरप्रयोज्यत्वादिविशेषोपेतस्य तद्विलक्षणो घटादिः कार्यो भवितुमर्हति, अदृष्टत्वात् । न वा अपरप्रयोज्यस्य प्रधानस्य स्वयमभिप्राय[7]रहितस्य अभिप्रायपूर्वकप्रसवक्रमो युक्तः । पुरुषस्तावन्निष्क्रियत्वान्न महदादिसर्गार्थं प्रधानं प्रयुङ्क्ते; स्वयं निष्क्रियत्वात् प्रधानं नात्मानं महदादिसर्गार्थं प्रयोक्तुमर्हति । न हि स्वयं गतिविकलः पङ्गुरात्मानमेवावष्टभ्योत्थाय गच्छन् दृष्टः । किञ्च, अप्रयोजनस्य प्रधानस्य महदादिसर्गो न युक्तिमान् । पुरुषभोगः प्रयोजनमिति चेत्; न; स्वार्थाभावात्[8], नित्यस्य विभोरात्मनः भोगपरिणामाभावाच्च । किञ्च, अचेतनत्वात् । इह लोके चेतनश्चैत्र ओदनार्थी क्रियाफलसाधनज्ञः तदर्थेष्वग्निसन्धुक्षणादिषु प्रवर्तमानो दृष्टः, न च तथा प्रधानं चेतनम्, अतोऽस्य महदादिक्रियाप्रसवक्रमाभावः । न च पुरुषस्तस्य क्रमस्य प्रयोजकः; निष्क्रियत्वात् ।

अपर[9] आहुः–'परमाणुभ्यः प्रतिनियतपार्थिवादिजातिविशिष्टेभ्योऽदृष्टादि[10]हेतुसन्निधाने सति संहतेभ्योऽर्थान्तरभूतघटादिकार्यात्मलाभः' इति; तदप्ययुक्तम्; नित्यत्वादणूनां कार्यारम्भशक्त्यभावात् । सति चारम्भे नित्यत्वहानेः[11] । नचार्थान्तरभूतस्य कार्यस्यारम्भो[12] युक्तः; व्यतिरेकानुपलब्धेः, उपलब्धौ चाणुमहत्त्वाभावः[13] । न च [14]जातिप्रतिनियमोऽस्ति; भिन्न-[15]जातीयानामप्यारम्भदर्शनात् । भिन्नजातीयेषु समुदायमात्रमिति चेत्; तुल्यजातीयेष्वपि [16]तत्प्रसङ्गः । न चात्मनो घटाद्यारम्भे कर्तृत्वमुपपन्नम्; निष्क्रियत्वान्नित्यत्वाच्च । नाप्यात्मगुणस्यादृष्टादेः; निष्क्रियत्वादेव । न च निष्क्रियोऽर्थान्तरे [17]क्रियाहेतुर्दृष्टः ।

अन्ये[18] मन्यन्ते–'वर्णादिपरमाणुसमुदयात्मका रूपपरमाणवोऽतीन्द्रियाः समुदिताः सन्तः इन्द्रियग्राह्यत्वमनुभूय [19]'घटादिकार्यात्मलाभहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते' इति; [20]तदप्ययुक्तम्; प्रत्येकं रूपपरमाणूनामतीन्द्रियत्वात्ततोऽनन्यस्य कार्यस्याप्यतीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्, ततश्च दृश्यविषय-

१ –र्थान्तरत्वात् आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ द्रव्यं गुणोत्पादकमिति चेत् । ३ सांख्याः । ४ प्रधानात् । ५ गन्धरसस्पर्शरूपशब्दाः पञ्च तन्मात्राः । ६ –निर्वृत्तिक्र– आ०, ब०, द०, मु० । विवर्तन । ७ अचेतनत्वात् । ८ स्वस्य प्रयोजनाभावात् । ९ योगाः । १० –दिस– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ११ –हानिः आ०, ब०, मु० । १२ उत्पाद । १३ तत्त्वे अणुप्रमाणोऽयं महत्प्रमाणोऽयमिति ज्ञातुं न पार्यते । १४ मृत्पिण्डादेरेव घटादिरुत्पद्यते इति । १५ चन्द्रकान्तसूर्यकान्तशिलादेरुत्पद्यमानजलाग्न्यादिदर्शनात् । १६ भिन्नानां तुल्यजातीयानां समुदयप्रसङ्गः । १७ वृक्षादिचलने वायुवत् प्रेरकहेतुः । १८ बौद्धाः । १९ जलाहरणादि । २० तदयु– आ०, ब०, द०, मु० ।

प्रमाणप्रमाणाभासविकल्पाभावः । कार्याभावाच्च [1]तल्लिङ्गस्य कारणस्याप्यभावः । किञ्च, क्षणिकत्वान्निष्क्रियत्वाच्च[2] कार्यारम्भाभावः, विविक्तशक्तीनां परस्पराभिसंबन्धाभावश्च । न चान्योऽर्थश्चेतनस्तेषां संबन्धस्य कर्तास्ति, तदभावात्संबन्धाभावः । एवमन्येष्वपि प्रवादिषु सत्यसदिति असत्यपि सदिति विपर्ययो मिथ्यादर्शनोदयवशाद्वेदितव्यः पित्तोदयाकुलितरसनेन्द्रियविपर्ययवत् । ततो यदुक्तम्–'रूपादिविषयोपलब्धिव्यभिचाराभावान्न मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानत्रयमज्ञानम्' इति; तदसम्यक् ।

व्याख्यातं ज्ञानं लक्षणादिभिः । इदानीं चारित्रं निर्देष्टव्यं तदुल्लङ्घ्य नया उच्यन्ते । कस्मात् ? मोक्षविधाने तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । कुतः पुनस्तन्मोक्षविधौ वक्ष्यते इति चेत् ? मोक्षं प्रति प्रधानकारणत्वात् । किंकृतं प्राधान्यम् ? कृत्स्नकर्मेन्धननिर्दहनकृतम् । यत आत्मा व्युपरतक्रियाध्यानाविर्भूतात्मबलः कृत्स्नकर्मेन्धननिर्दहनसमर्थो भवति, नतु[3] क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानोपेतोऽपि । यदि स्यात्; क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमेव कृत्स्नकर्मक्षयः स्यात्, व्युपरतक्रियाध्यानोत्पत्त्यनन्तरमेव भवति । तच्चोत्तमं चारित्रम्, ***"कर्मादानहेतुक्रियाव्युपरतिश्चारित्रम्"** [ ] इति वचनात्[4] । यदीह [5]तदुच्येत मोक्षविधानेऽपि तद्वक्तव्यमिति गौरवं स्यात् । एवमपि जीवादयो निर्देष्टव्या उच्यन्ते । प्रमाणं व्याख्यातम् । प्रमाणैकदेशा नयाः ***"प्रमाणनयैरधिगमः"** [त० सू० १।६] इति वचनात्, तदनन्तरवचनार्हा नया[6] । यद्येवं के ते नया इति ? अत आह–

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः ॥३३॥

शब्दापेक्षयैकादिसंख्येयविकल्पा नयाः[7] । तत्रातिसंक्षेपादप्रतिपत्तिः, अतिविस्तरे चाल्पप्रज्ञानामननुग्रह इति [8]मध्ययया प्रतिपत्त्या सप्त नया अत्रोच्यन्ते । तेषां सामान्यविशेषलक्षणं वक्तव्यम् । तत्र सामान्यलक्षणमुच्यते–

प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः ।१। प्रकर्षेण मानं प्रमाणं सकलादेशि[9] इत्यर्थः, तेन प्रकाशितानां न प्रमाणाभासपरिगृहीतानामित्यर्थः, तेषामर्थानाम् अस्तित्वनास्तित्व[10]नित्यत्वानित्यत्वाद्यनन्तात्मनां जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायास्तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुषङ्गद्वारेणेत्यर्थः । एवंलक्षणो नयः ।

तस्य द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिकः पर्यायास्तिक इति । द्रव्यमस्तीति मतिरस्य द्रव्यभवनमेव नातोऽन्ये [9]भावविकाराः, नाप्यभावः तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति द्रव्यास्तिकः ।

---

१ तल्लिङ्गका– आ०, ब०, द०, मु० । २ तर्हि भवन्मते निष्क्रियं धर्मादि द्रव्यं जीवादीनां गत्यादेः कथं हेतुरिति चेत्? तेषां धर्मादिनिमित्तहेतुरित्यनुमननान्न दोषः । तथा चोक्तमार्षे– गतिस्थितिमतावेतौ गतिस्थित्योरुपग्रहे । धर्माधर्मौ प्रवर्तेते न स्वयं प्रेरकौ मतौ । यथा मत्स्यस्य गमनं विना नैवाम्भसा भवेत् । न चाम्भः प्रेरयत्येनं तथा धर्मोऽस्यनुग्रहः ॥ ३ ननु आ०, ब०, द० । ४ "संसारकारणविनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः चारित्रम्" –स०, सि० १।१। ५ तदुच्यते आ०, ब०, द०, मु० । ६ सर्वे शब्दाः संख्येया इति वचनात् । कथम् ? त्रयस्त्रिंशत् व्यञ्जनानि सप्तविंशतिः स्वराः चतुर्योगवाहाः इति चतुःषष्टिः । (तानि पृथक् पृथक् स्थाप) यित्वा द्विकं दत्वा परस्परं संगुण्य तस्मिन् रूपोन कृते रूपोनएकट्ठिमात्रं वस्तु(?)अपुनरुक्ताक्षराणि भवन्ति– १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ तत्स्वरूपं द्वादशाङ्गं श्रुतम् । ७ मध्यतया आ०, ब०, द०, मु० । मध्यमया मू० । ८ –देश इ– आ०, ब, द०, मु०, ता० । ९ –नित्यत्वाद्यान्तात्मनां आ०, ब०, द०, मु० । १० पर्यय ।

पर्याय एवास्ति इति मतिरस्य [1]जन्मादिभावविकारमात्रमेव भवनं न ततोऽन्यद् द्रव्यमस्ति तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति पर्यायास्तिकः । अथवा, द्रव्यमेवार्थोऽस्य न गुणकर्मणी तदवस्थारूपत्वादिति[2] द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थोऽस्य रूपाद्युत्क्षेपणादिलक्षणो न ततोऽन्यद् द्रव्यमिति पर्यायार्थिकः । अथवा अर्यते गम्यते निष्पाद्यत इत्यर्थः कार्यम् । द्रवति गच्छतीति द्रव्यं कारणम् । द्रव्यमेवार्थोऽस्य कारणमेव कार्यं नार्थान्तरम्, न च कार्यकारणयोः कश्चिद्रूपभेदः तदुभयमेकाकारमेव पर्वाङ्गुलिद्रव्यवदिति द्रव्यार्थिकः । परि समन्तादायःपर्यायः । पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम् अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन[3] व्यवहाराभावात्, स एवैकः कार्यकारणव्यपदेशभागिति पर्यायार्थिकः । अथवा, अर्थनमर्थः प्रयोजनम्, द्रव्यमेवार्थोऽस्य प्रत्ययाभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्गदर्शनस्य निह्नोतुमशक्यत्वादिति द्रव्यार्थिकः । पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्य [4]वाग्विज्ञानव्यावृत्तिनिबन्धनव्यवहारप्रसिद्धेरिति पर्यायार्थिकः । तद्भेदा नैगमादयः ।

एषां विशेषलक्षणमुच्यते–

अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः ।२। [5]निगच्छन्ति तस्मिन्निति निगमनमात्रं[6] वा निगमः, निगमे कुशलो भवो वा नैगमः । तस्य लोके व्यापारः अर्थसंकल्पमात्रग्रहणं प्रस्थेन्द्रगृहगम्यादिषु । तद्यथा–कश्चित् प्रगृह्य परशुं पुरुषं गच्छन्तमभिसमीक्ष्याह 'किमर्थं गच्छति भवान्' इति ? स तस्मै [7]आचष्टे प्रस्थार्थमिति । एवमिन्द्रगृहादावपि । तथा [8]"कतरोऽत्र गमी' इत्युक्ते आचष्टे– 'अहं गमी' इति, संप्रत्यगच्छत्यपि गमीति व्यवहारः । एवं प्रकारोऽन्योऽपि नैगमनयस्य विषयः ।

भाविसंज्ञाव्यवहार इति चेत्; न; भूतद्रव्यासन्निधानात् ।३। स्यादेतत्–नायं नैगमनयविषयः भाविसंज्ञाव्यवहार इति; तन्न; किं कारणम् ? भूतद्रव्यासन्निधानात् । भूतं हि कुमारतण्डुलादिद्रव्यमाश्रित्य राजौदनादिका भाविनी संज्ञा प्रवर्तते, न च तथा नैगमनयविषये [9]किञ्चिद् भूतं द्रव्यमस्ति यदाश्रया भाविनी संज्ञा विज्ञायेत ।

[10]उपकारानुपलम्भात् संव्यवहारानुपपत्तिरिति चेत्; न; अप्रतिज्ञानात् ।४। स्यादेतत्–नगमनयवक्तव्ये उपकारो नोपलभ्यते, भाविसंज्ञाविषये तु राजादावुपलभ्यते, ततो नायं युक्त इति; तन्न; किं कारणम् ? अप्रतिज्ञानात् । नैतदस्माभिः प्रतिज्ञातम्–'उपकारे सति भवितव्यम्' इति । किं तर्हि ? अस्य नयस्य विषयः प्रदर्श्यते । अपि च, उपकारं प्रत्यभिमुखत्वादुपकारवानेव ।

स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात् समस्तग्रहणं संग्रहः ।५। बुद्ध्यभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्गं सादृश्यं स्वरूपानुगमो वा जातिः, सा चेतनाचेतनाद्यात्मिका शब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रतिनियमात् स्वार्थव्यपदेशभाक् । स्वा जातिः स्वजातिः, अप्रच्यवनमविरोधः, स्वजातेरविरोधः स्वजात्यविरोधस्तेन स्वजात्यविरोधेन एकत्वोपनयात् । केषाम् ? भेदानाम् । समस्तग्रहणं संग्रहो यथा सद् द्रव्यं घट इत्यादि । 'सत्' इत्युक्ते सत्तासंबन्धार्हाणां द्रव्यपर्यायतद्भेदप्रभेदानां तदव्यतिरेकात् तेनैकत्वेन संग्रहः । 'द्रव्यम्' इति चोक्ते जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानां द्रव्यत्वाविरोधात्तेनैकत्वेन संग्रहः । 'घटः' इति चोक्ते नामादिभेदात् मृत्सुवर्णादिकारणविशेषाद् वर्णसंस्थानादिवि-

---

१ आदिशब्देन अस्तिविकारवृद्धिहानिक्षयाः गृह्यन्ते । २ –रूपादिति आ०, ब०, द०, मु०, श्र०, ता० । श्र० प्रतौ रूपात् इत्यस्य टिप्पणे 'रूपत्वात्' इति लिखितमस्ति । ३ –त्वे व्य– ता०, श्र०, द०, मू०, ज०, भा० १,२ । ४ शब्दबुद्धि । ५ निगच्छन्त्यस्मि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ संकल्पमात्रं वा । ७ व्याचष्टे मु० । ८ 'गमेरिन्' इत्ययं त्यो भवति गमिष्यति यास्यतीति गमिन्यर्थ एव । ९ किञ्चित्तद्भूतं मु०, आ०, ब० । १० उपकारानुपपत्ति– भा० २ ।

काराच्च भिन्नानां घटशब्दवाच्यानां तदव्यतिरेकादेकत्वेन संग्रहः। एवमितरेष्वपीति। [1]तत्राभिधानप्रत्ययौ सामान्यं निराकृतविशेषभावात्।

[2]आह–सत्ताद्यर्थान्तरभूतमस्ति, तदभिसंबन्धात् सदादिव्यपदेश[3] इति; तन्न; उभयथाऽनुपपत्तेः। इदमिह संप्रधार्यम्–सत्तासंबन्धात्प्राग् द्रव्यादिषु सदित्यभिधानं प्रत्ययश्च स्याद्वा, न वेति? यदि स्यात्; सत्तासंबन्धवैयर्थ्यं प्रकाशितप्रकाशनवैयर्थ्यवत्[4], सत्ताद्वयप्रसङ्गश्च–एका आभ्यन्तरी अपरा बाह्येति। अतश्च समयविरोधः–*"**सल्लिङ्गविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः**" [वै० सू० १।२।१७] इति। अथ नास्ति; खरविषाणादिष्वतिप्रसङ्गः। समवायकृतोऽयं विशेष इति चेत्; न; तस्य प्रतिषिद्धत्वात्।

किञ्च, सत्तायाः सदिति व्यपदेशस्य सत्तान्तरहेतुकत्वाहेतुकत्वयोः अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसङ्गः। अथ पदार्थशक्तिप्रतिनियमाद् द्रव्यादिषु सदिति व्यपदेशो [5]निमित्तान्तरहेतुकः, सत्तायां स्वत एवेति चेत्; संसर्गवादत्यागः, इच्छामात्रकल्पनाप्रसङ्गश्च।

किञ्च, सत्तादेः पदार्थान्तरस्य द्रव्यादिषु वृत्तिः सोऽस्येति वा स्यात्, सोऽयमिति वा? यदि सोऽस्येति वृत्तिः;[6] मत्वर्थीयेन भवितव्यम् 'सत्तावद्द्रव्यम्' इति, यथा गोमान् यवमानिति, अतो मत्वर्थस्य[7] (वतोर्मत्वर्थस्य) भावार्थस्य च निवृत्तिर्वक्तव्या[8]। अथ सोऽयमित्यभिसंबन्धेन वृत्तिः; 'सत्ता द्रव्यम्' इति प्राप्नोति यथा 'यष्टिः पुरुषः' इति, न 'सद्द्रव्यम्' इति, तत्र भावार्थस्य निवृत्तिर्वक्तव्या।

किञ्च, दृष्टान्ताभावात्। न ह्येकं किञ्चिदनेकसंबन्धि दृष्टं यदभिसमीक्ष्य सत्तैका अनेकसंबन्धिनी गम्येत। नीलीद्रव्यवदिति चेत्; न, न तस्यानेकत्वात्। [9]नीलीत्ववदिति चेत्; न; तस्यासिद्धत्वात्।

अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।६। एतस्माद् अतः। कुतः। संग्रहात् संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। को विधिः? संग्रहगृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहारः[10] प्रवर्तते इत्ययं [11]विधिः। तद्यथा–सर्वसंग्रहेण सत् संगृहीतम्, तच्चानपेक्षितविशेषं नालं संव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते–यत्सत्तद् 'द्रव्यं गुणो वा' इति। द्रव्येणापि च संग्रहाक्षिप्तेन जीवाजीवाविशेषानपेक्षेण न शक्यः संव्यवहार इति 'जीवद्रव्यमजीवद्रव्यम्' इति वा व्यवहार आश्रीयते। जीवाजीवावपि च संग्रहाक्षिप्तौ नालं संव्यवहारायेति प्रत्येकं देवनारकादिर्घटादिश्च व्यवहारेणाश्रीयते। 'कषायो भैषज्यम्' इत्युक्ते च सामान्यस्य विशेषात्मकत्वात् नैयग्रोधादिविशेषसामर्थ्यम्[12] (विशेषस्य सामर्थ्येन ग्रहणम्)। नहि शक्यः प्रभुणापि चक्रभृता सर्वः कषायसमाहारः कर्तुम्। नामस्थापनाद्रव्याणि च संग्रहोपात्तानि नालं व्यवहारायेति भाव एव गृह्यते। एवमयं नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभागः।

[13]**सूत्रपातवद्ऋजुत्वात् ऋजुसूत्रः।७।** यथा ऋजुःसूत्रपातस्तथा ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयति ऋजुसूत्रः। [14]पूर्वास्त्रिकाल[15]विषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयमादत्ते। अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। [16]समयमात्रमस्य निर्दिधिक्षितम्।

---

१ सत्तायाम्, संग्रह इत्यर्थः। २ नैयायिकः –सम्पा०। ३ वस्तुनः। ४ दैवरक्ता हि किंशुकाः केन रज्यन्ते नाम। ५ सत्तासम्बन्ध इति। ६ परार्थाभिधानम्। ७ तलः। तल्प्रत्ययस्येत्यर्थः। ८ सद्द्रव्यमित्याद्युदाहरणे। ९ नीलित्व– आ०, ब०, द०, मु०। १० भेदकल्पना। ११ नियमः। १२ नैयग्रोधादिविशेषस्य सामर्थ्येन ग्रहणमित्यर्थः –सम्पा०। १३ सूत्रपातवदृजुसूत्रः आ०, ब०, द०, मु०। १४ सर्वा –आ०, ब०, द०, मु०। १५ नयान्। १६ समवायमा–आ०, ब०, द०, मु०।

'कषायो भैषज्यम्' इत्यत्र च संजातरसः कषायो भैषज्यं न प्राथमिककषायोऽल्पोऽनभिव्यक्तरसत्वादस्य विषयः।

पच्यमानः पक्वः। [1]पक्वस्तु स्यात्पच्यमानः स्यादुपरतपाक इति। असदेतत्; विरोधात्। 'पच्यमानः' इति वर्तमानः 'पक्वः' इत्यतीतः तयोरेकस्मिन्नवरोधो विरोधीति; नैष दोषः; पचनस्यादावविभागसमये[2] कश्चिदंशो निर्वृत्तो वा, न वा? यदि न निर्वृत्तः; तद्द्वितीयादिष्वप्यनिर्वृत्तेः पाकाभावः स्यात्। ततोऽभिनिर्वृत्तः[3] तदपेक्षया 'पच्यमानः पक्वः,' इतरथा हि समयस्य त्रैविध्यप्रसङ्गः। स एवौदनः पच्यमानः पक्वः, स्यात्पच्यमान इत्युच्यते पक्तुरभिप्रायस्यानिर्वृत्तेः, पक्तुर्हि सुविशदसुस्विन्नौदने पक्वाभिप्रायः, स्यादुपरतपाक इति चोच्यते [4]कस्यचित् पक्तुस्तावतैव कृतार्थत्वात्।

एवं क्रियमाणकृत-भुज्यमानभुक्त-बध्यमानबद्ध-सिध्यत्सिद्धादयो योज्याः।

तथा प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थः, यदैव मिमीते, अतीतानागतधान्यमानासंभवात्।

कुम्भकाराभावः शिविकादिपर्यायकरणे तदभिधानाभावात्। कुम्भपर्यायसमये च स्वावयवेभ्य एव निर्वृत्तेः।

स्थितप्रश्ने च 'कुतोऽद्यागच्छसि' इति? न 'कुतश्चित्' इत्ययं[5] मन्यते, तत्कालक्रियापरिणामाभावात्।

यमेवाकाशदेशमवगाढुं समर्थं आत्मपरिणामं वा तत्रैवास्य वसतिः।

न कृष्णः काकः, उभयोरपि स्वात्मकत्वात्–कृष्णः कृष्णात्मको न काकात्मकः। यदि काकात्मकः स्यात्; भ्रमरादीनामपि काकत्वप्रसङ्गः। काकश्च काकात्मको न कृष्णात्मकः। यदि कृष्णात्मकः; शुक्लकाकाभावः स्यात्। पञ्चवर्णत्वाच्च, पित्तास्थिरुधिरादीनां पीतशुक्लरक्तादिवर्णत्वात्, तद्व्यतिरेकेण काकाभावाच्च। न सामानाधिकरण्यम्–एकस्य[6] पर्यायेभ्योऽनन्यत्वात्पर्याया एव विविक्तशक्तयो द्रव्यं नाम न किञ्चिदस्तीति। कृष्णगुणप्राधान्यादिति चेत्; न; [7]आस्तरकादिष्वतिप्रसङ्गात्, कषायमधुरे च मधुनि विरोधात्। अप्रत्यक्षे[8] चाख्यायमाने संशयदर्शनात्। कृष्णकाकविशेषज्ञेन केनचिद् द्वीपान्तरनिवासिन्यनुपलब्धकृष्णकाकविशेषे पुरुषे प्रतिपाद्यमाने संशयो जायते 'किमयं काकस्य कार्ष्ण्यं गुणप्राधान्यादाचष्टे, द्रव्यस्यैव वा तथा परिणामात्' इति?

अतः पलालादिदाहाभावः प्रतिविशिष्टकालपरिग्रहात्। अस्य हि नयस्याविभागो वर्तमानसमयो विषयः। अग्निसंबन्धनदीपनज्वलन[9]दहनानि[10]असंख्येयसमयान्तरालानि [11]यतोऽस्य दहनाभावः। किञ्च, यस्मिन् समये दाहः[12] न तस्मिन् [13]पलालम्, भस्मताभिनिर्वृत्तेः, यस्मिंश्च पलालं न तस्मिन् दाह इति। यत्पलालं तद्दहतीति चेत्; न; सावशेषात्[14]। समुदायाभिधायिनां शब्दानामवयवेषु वृत्तिदर्शनाददोष इति चेत्; न; तदवस्थत्वात्,[15] एकदेशदाहाभावस्योक्तत्वात्।

---

१ पक्षस्तु आ०, ब०, द०, मु०। २ प्रथमसमये इत्यर्थः। ३ –भिनिर्वृत्तेस्त –आ०, ब०, द०, मु०। ४ आदावेवं पच्यमान इत्यत्र पक्वताबुद्धेः सुस्विन्नेऽन्ने पक्वताबुद्धया किं फलमित्याशङ्कायाम् यस्य कस्यचिदत्यन्तपक्वतायामेव बुद्धिर्भवेदित्याह कस्यचिदिति। ५ ऋजुसूत्रः। ६ काकस्य। ७ कम्बलादिषु –ता० टि०। कम्बलादौ –अ० टि०। –न्नास्थिरक्तादि– आ०, ब०, मु०। –न्नास्ति रक्ता– द०। ८ कृष्णकाके। ९ अङ्गार। १० भस्म। ११ ततः। १२ भस्मीभावः। १३ पलालस्तृणसञ्चयः। पलालोऽस्त्री निष्फलव्रीह्यादितृणः। १४ अवशेषसद्भावात्। १५ अवयवेऽपि सावशेषसद्भावात्।

निरवशेषदाहासंभवादिति चेत्; न; वचनविरोधात्[1] तदवस्थत्वाच्च । वचनविरोधस्तावत्–यदि निरवशेषस्य पलालस्य दाहस्यासंभव इत्येकदेशदाहात् पलालदाहो नादाहः; ननु भवद्वचनस्य निरवशेषपरपक्षदूषकत्वाभावात् परपक्षैकदेशस्य दूषकत्वम्, अतः एकदेशदूषकत्वात् कृत्स्नमपीदं[2] दूषकमेवेत्यस्य[3] साधकत्वसामर्थ्याभाव इति । तदवस्थत्वमपि 'एकसमये दाहाभावः' इत्युक्तत्वात् । अवयवानेकत्वे यद्यवयवदाहात् सर्वत्र दाहोऽवयवान्तराऽदाहात् ननु सर्वदाहाभावः । अथ दाहः सर्वत्र; कस्मान्नाऽदाहः ? अतो न दाहः । एवं पानभोजनादिव्यवहाराभावः ।

न शुक्लः कृष्णीभवति; उभयोर्भिन्नकालावस्थत्वात्, प्रत्युत्पन्नविषये [4]निवृत्तपर्यायानभिसंबन्धात् । सर्वसंव्यवहारलोप इति चेत्; न; विषयमात्रप्रदर्शनात्, पूर्वनयवक्तव्यात् संव्यवहारसिद्धिर्भवति ।

शपत्यर्थमाह् वयति प्रत्याययतीति शब्दः ।८। उच्चरितः शब्दः [5]कृतसंगीतेः पुरुषस्य स्वाभिधेये [6]प्रत्ययमादधाति इति शब्द इत्युच्यते ।

स च लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः ।९। लिङ्गं स्त्रीत्वपुंस्त्वनपुंसकत्वानि । संख्या एकत्वद्वित्वबहुत्वानि । साधनमस्मदादि । एवमादीनां व्यभिचारो न न्याय्य इति तन्निवृत्तिपरोऽयं नयः । तद्यथा, लिङ्गव्यभिचारस्तावत्–स्त्रीलिङ्गे पुल्लिङ्गाभिधानं तारका स्वातिरिति । पुल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानम् अवगमो विद्येति । स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानम् वीणा आतोद्यमिति । नपुंसके स्त्र्यभिधानम् आयुधं शक्तिरिति । पुल्लिङ्गे नपुंसकाभिधानं पटो वस्त्रमिति । नपुंसके पुल्लिङ्गाभिधानं द्रव्यं परशुरिति । संख्याव्यभिचारः–एकत्वे द्वित्वम्, नक्षत्रं पुनर्वसू इति । एकत्वे बहुत्वम्–नक्षत्रं शतभिषज इति । द्वित्वे एकत्वम्–गोदौ[7] ग्राम इति । द्वित्वे बहुत्वम्–पुनर्वसू पञ्चतारका इति । बहुत्वे एकत्वम्–आम्राः वनमिति । बहुत्वे द्वित्वम्–देवमनुष्या उभौ राशी इति । साधनव्यभिचारः–एहि, [8]मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पितेति । आदिशब्देन कालादिव्यभिचारो गृह्यते । विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता, भावि कृत्यमासीदिति कालव्यभिचारः । संतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमत्युपरमतीति[9] [10]उपग्रहव्यभिचारः । एवमादयो व्यभिचारा अयुक्ताः । कुतः ? अन्यार्थस्याऽन्यार्थेन संबन्धाभावात् । यदि स्यात्; घटः पटो भवतु पटो वा प्रासाद इति । तस्माद्यथालिङ्गं यथासंख्यं यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानम् । लोकसमयविरोध इति चेत्; विरुध्यताम्, तत्त्वं मीमांस्यते,[11] सुहृत्सूपचारः[12] ।

नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः ।१०। यतो नानार्थान् समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढस्ततः समभिरूढः । कुतः ? वस्त्वन्तरासंक्रमेण तन्निष्ठत्वात् । कथम् ? अवितर्कध्यानवत् । यथा तृतीयं शुक्लं सूक्ष्मक्रियमवितर्कमवीचारं[13] ध्यानम् [14]अर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्त्यभावात् सूक्ष्मकाययोगनिष्ठत्वात्, तथा गौरित्ययं शब्दो वागादिषु वर्तमानो गव्यधिरूढः । एवं शेषेष्वपि रूढिशब्दोऽस्य विषयः । अथवा, 'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः' इति तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतत्वात् पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः । शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यमिति नानार्थ-

१ अत्र वचनविरोधस्तु निरवशेषेत्यादिवचनस्यैवेति न मन्तव्यम्, किन्तु भवदुक्तनीतिं भवदुक्तवचनान्तरे योजयितुं शक्यत्वेन प्रकृतवचनस्य विरोध इति मन्तव्यम् । २ वचनम् । ३ वचनस्य । ४ वर्तमाने । ५ कृतसंगतेः आ०, ब०, द०, मु० । ६ ज्ञानम् । ७ उत्तरदेशे गोद इति कश्चिद् ग्रामविशेषः तस्य द्विवचनमिति । ८ रथेन यास्यसीति गमनाभिधानात् प्रहासगतिः, अनेकस्मिन्नपि प्रत्येकमेव परिहास इत्यभिधानवशात् मन्ये इत्येकवचनमेव । ९–रमत्युपग्रह –आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १० उपसर्ग –ता० टि० । ११ विचार्यते । १२ उपचारः सुहृत्सु भवतीत्यर्थः– सम्पा० । १३ वितर्कः श्रुतम् । १४ शब्दमनोवाक्काय ।

समभिरोहणात् समभिरूढः–इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात्पुरन्दर इति । एवं सर्वत्र । अथवा, यो [1]यत्राधिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् समभिरूढः । यथा क्व भवानास्ते ? स्वात्मनीति । कुतः ? वस्त्वन्तरे वृत्त्यभावात् । यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्तिः स्यात्; ज्ञानादीनां रूपादीनां चाकाशे वृत्तिः स्यात् ।

येनात्मना भूतस्तेनैवाऽध्यवसाययतीत्येवंभूतः ।११। येनात्मना येनाभिधेयेन भूतः शब्दस्तेनैवाऽध्यवसाययति । यथा इन्द्रशब्दः परमेश्वरत्वाभिधेयः, स परिणामो यत्र यदा वर्तते तत्र तदैव युक्तो न नामस्थापनाद्रव्येषु तत्परिणामाभावात् इति । एवमितरेष्वपि शब्देषु स्वाभिधेयक्रियापरिणतिक्षण एव युक्तिर्नान्यदेति । अथवा, येनात्मना येन स्वरूपेण भूतोऽर्थस्तेनैवाध्यवसाययति, यथा गच्छतीति गौरिति–यदैव गच्छति तदैव गौरिति न स्थितो न शयित इति, पूर्वोत्तरकालयोस्तदर्थाभावाद्दण्डिवत् । एवमितरेष्वपि । अथवा, येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतस्तेनैवाध्यवसाययति यथा इन्द्राग्निज्ञानपरिणत आत्मैवेन्द्रोऽग्निश्चेति एवंभूतार्थप्रत्यायनाच्छब्द एवंभूतः तत्कार्यात्तिच्छब्दसिद्धेः ।

दाहकत्वाद्यतिप्रसङ्ग इति चेत्; तदव्यतिरेकादप्रसङ्ग इति ।१२। स्यादेतत्–अग्न्यादिव्यपदेशो यद्यात्मनि क्रियते दाहकत्वाद्यतिप्रसज्यते इति; उच्यते–तदव्यतिरेकादप्रसङ्गः । तानि नामादीनि येन रूपेण व्यपदिश्यन्ते ततस्तेषामव्यतिरेकः प्रतिनियतार्थवृत्तित्वाद्धर्माणाम् । ततो नो आगमभावाग्नौ वर्तमानं दाहकत्वं कथमागमभावाग्नौ वर्तेत ? उक्ता नैगमादयो नयाः ।

उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेषां क्रमः पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च । एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया द्रव्यस्यानन्तशक्तेः प्रतिशक्ति भिद्यमाना बहुविकल्पा जायन्ते[2] । त एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात्, तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चाऽसमर्थाः । तन्त्वादिवदेव विषम उपन्यासः, तन्त्वादयो निरपेक्षा अपि काञ्चिदर्थमात्रां जनयन्ति । भवति हि कश्चित् प्रत्येकं तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थ एकश्च वल्कलो[3] बन्धने समर्थः । इमे पुनर्नया निरपेक्षाः सन्तः न काञ्चिदपि सम्यग्दर्शनमात्रां प्रादुर्भावयन्तीति । नैष दोषः; अभिहितानवबोधात् । अभिहितमर्थमनवबुध्य परेणेदमुपालभ्यते । एतदुक्तं [4]निरपेक्षेषु तन्त्वादिषु पटादिकार्यं नास्तीति । यत्तु तेनोपदर्शितं न तत् पटादिकार्यम् । किं तर्हि ? तन्त्वादिकार्यम् । तन्त्वादिकार्यमपि तन्त्वाद्यवयवेषु निरपेक्षेषु नास्त्येवेत्यस्मत्पक्षसिद्धिरेव । अथ [5]तन्त्वादिषु पटादिकार्यं शक्त्यपेक्षया अस्तीत्युच्यते नयेष्वपि निरपेक्षेषु बुद्धचभिधानरूपेषु कारणवशात् सम्यग्दर्शनहेतुत्वविपरिणतिसद्भावात् शक्त्यात्मनाऽस्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य ।

ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणम् ।
ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम् ।। इति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालङ्कारे प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्व[6]नृपतिवरतनयः ।
अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः[7] ।।

१ यत्राभिरू– मु० । २ –न्ते ए –आ०, ब०, द०, मु० । ३ वल्कजो मु०, श्र०, ता०, मू० । वल्कं वल्कलमस्त्रियाम् श्र० टि० । ४ निरपेक्षिषु आ०, ब०, द०, मु० । ५ तन्त्वादिकार्यं आ०, ब०, द०, मु० । ६ –केव्या –आ०, ब०, द०, मु०, ता०, श्र० । ७ –हव्व– ता० । ८ श्लोकोऽयं नास्ति म०, श्र० ।

द्वितीयोऽध्यायः

अत्राह–मोक्षमार्गव्याख्याप्रसङ्गेन सम्यग्दर्शनादीन्युपदिश्यन्ते । तेषां च लक्षणोत्पत्ति-विषयनिबन्धादीनि व्याख्यातानि । तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन[1]मुपदिष्टम् । तत्त्वार्थाश्च जीवादयः । तत्रादावु[2]पदिष्टस्य जीवस्य किं श्रद्धातव्यं यदवधारणप्रतिपत्त्युपासनादिभ्यस्तन्नि-ष्पद्यत इति ? उच्यते–तत्त्वमात्मनः स्वभावः श्रद्धेयः ।

यद्येवमुच्यतां तदीयं किं तत्त्वमिति ? अत उत्तरं पठति–

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

अथवा, प्रमाणनया अनन्तरं[3] विनिर्दिष्टाः । ते च प्रमेयाधिगमरूपाः । प्रमेयाश्च जीवादयः पदार्था इदानीं निर्देष्टव्याः । यद्येवमस्यैव तावदादावुपदिष्टजीवस्य किं तत्त्वमिति ? अत आह–औपशमिकादीति[4] ।

कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽधःप्रापितपङ्कवत्[5] ।१। यथा सकलुषस्याम्भसः कत-कादिद्रव्यसंपर्कात् अधःप्रापितमलद्रव्यस्य तत्कृतकालुष्याभावात् प्रसाद उपलभ्यते, तथा कर्मणः कारणवशादनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तिता आत्मनो विशुद्धिरुपशमः ।

क्षयो निवृत्तिरात्यन्तिकी ।२। यथा तस्यैवाम्भसोऽधः[6]प्रापितपङ्कस्य शुचिभाजनान्तर-संक्रान्तस्य प्रसाद आत्यन्तिकः, तथा आत्मनोऽपि कर्मणोऽत्यन्तविनिवृत्तौ विशुद्धिरात्यन्तिकी क्षय इत्युच्यते ।

उभयात्मको मिश्रः क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत् ।३। यथा प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकस्य [7]कोद्रवस्य द्विधा वृत्तिः, तथा यथोक्तक्षयहेतुसन्निधाने सति कर्मण एकदेशस्य क्षयादेकदेशस्य च वीर्योपशमादात्मनो भाव उभयात्मको मिश्र इति व्यपदिश्यते ।

द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणः फलप्राप्तिरुदयः ।४। द्रव्यादिनिमित्तं प्रतीत्य कर्मणो विपच्यमानस्य फलोपनिपात उदय इतीमामाख्यां लभते ।

द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः ।५। यस्य भावस्य द्रव्यात्मलाभमात्रमेव हेतुर्भवति नान्यन्निमित्तमस्ति स परिणाम इति परिभाष्यते[8] ।

तत्प्रयोजनत्वाद्वृत्तिवचनम् ।६। ते उपशमादयः प्रयोजनमस्येति वृत्तिः क्रियते । स उप-शमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः, क्षयःप्रयोजनमस्येति क्षायिकः, उदयः प्रयोजनमस्येत्यौदयिकः, परिणामः प्रयोजनमस्येति पारिणामिकः । ते भावा जीवस्य स्वतत्त्वम्–स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वम्, स्वो भावोऽसाधारणो धर्मः ।

व्याप्तेरौदयिकपारिणामिकग्रहणमादाविति चेत्; न; भव्यजीवधर्मविशेषख्यापनार्थत्वात् आदावौपशमिकादिभाववचनम् ।७। स्यादेतत्–सर्वजीवसाधारणत्वाद् व्याप्तेः औदयिकपारिणा-मिकग्रहणमादौ न्याय्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? भव्यजीवधर्मविशेषख्यापनार्थत्वात् । भव्यस्य मोक्षप्रतिपादनार्थो ह्ययं प्रयासः । अतोऽस्य धर्मविशेष औपशमिकादिभाव आदावुच्यते ।

[9]अत्र चादावौपशमिकवचनं तदादित्वात् सम्यग्दर्शनस्य ।८। सम्यग्दर्शनस्य हि आदिरौप-

१ –नमुद्दिष्ट – आ०, ब०, द०, मु० । २ –वुद्दिष्ट –आ०, ब०, द०, मु० । ३ गता-धिकारे । ४ –दीनि आ०, ब०, मु०, द० । ५ बसः । ६ –धः शमित –आ०, ब०, मु० । ७ –द्रवद्रव्यस्य आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । ८ न तु पूर्वोत्तराकारहानोपादानरूपः – सम्पा० । ९ तत्र आ० ब०, द०, मु०, मू० ।

शमिको भावस्ततः क्षायोपशमिकस्ततः क्षायिक इति, अत औपशमिकस्यादौ ग्रहणं क्रियते ।

अल्पत्वाच्च ।९। अल्पश्चौपशमिको भावः क्षायिकात् क्षायोपशमिकाच्च । कुतोऽल्प-त्वम् ? संचयकालस्याल्पत्वात् । तद्यथा–उपशमसम्यग्दर्शनस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तः, सोऽन्तर्मुहूर्तो-ऽसंख्येयाः समयाः । तत्र समये समये नैरन्तर्येण संचीयमानां उपशमसम्यग्दृष्टय आ अन्तर्मुहूर्त-समाप्तेः पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणा इति सर्वेभ्योऽल्पे ।

ततो विशुद्धिप्रकर्षयुक्तत्वात् क्षायिकः ।१०। औपशमिकाद्धि क्षायिकः प्रकृष्टशुद्धयु-पेतो मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वानां साकल्येन संक्षयात्, तत औपशमिकात् परं क्षायिक-वचनम् ।

बहुत्वाच्च ।११। बहवो हि क्षायिकसम्यग्दृष्टय औपशमिकसम्यक्त्वेभ्यः[1] । कुतः ? गुणकारविशेषात् । को गुणकारः ? आवलिकाया असंख्येयभागः, सोऽसंख्येयाः समयाः । कुतः ? असंख्येयस्य राशेरसंख्येया एव भेदा इति । तत आवलिकाया असंख्येयभागेन गुणिता उपशमसम्यग्दृष्टयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीन् प्राप्नुवन्ति । कुतः ? संचयकालस्य महत्त्वात् । इह क्षायिकसम्यग्दृष्टेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोषमाणि सातिरेकाणि कालः, तस्य प्राथमिकसमयादारभ्य समये समये संचीयमाना आ तत्कालपरिसमाप्तेर्बहवो भवन्ति ।

तदसंख्येयगुणत्वात्तदनन्तरं मिश्रवचनम् ।१२। क्षायिकादसंख्येयगुणः क्षायोपशमिकः, द्रव्यतो न भावतः । क्षायोपशमिकाद्धि क्षायिको भावतोऽनन्तगुणः, विशुद्धिप्रकर्षयोगात्, तस्माद् द्रव्यतोऽसंख्येयगुणः क्षायिकात् क्षायोपशमिकः । कुतः ? गुणकारविशेषात् । को गुण-कारः ? आवलिकाया असंख्येयभागः । कुतः ? संचयकालस्य महत्त्वात् । इह क्षायोपशमिक-सम्यग्दृष्टेः [2]षट्षष्टिसागरोपमाणि पूर्णानि कालः, तस्य प्रथमसमयादारभ्य समये समये संचीयमानाः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टय आ तत्कालपरिसमाप्तेर्भूयांसो भवन्ति ।

तदनन्तगुणत्वादन्ते द्वयवचनम् ।१३। तेषां सर्वेषामेवानन्तगुणा औदयिकाः पारिणामि-काश्च, ततोऽन्ते तेषां वचनं क्रियते ।

तैरेव चात्मनः समधिगमात् ।१४। अतीन्द्रियत्वादात्मनो मनुष्यतैर्यग्योनादिभिरौदयिकैः पारिणामिकैश्च चैतन्यजीवत्वादिभिः समधिगमो भवति ।

सर्वजीवतुल्यत्वाच्च ।१५। सर्वेषां हि जीवानां तुल्या औदयिकाः पारिणामिकाश्च ततस्तेषामन्ते वचनं न्याय्यम् ।

तत्त्वमिति बहुवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; भावस्यैकत्वात् ।१६। स्यादेतत्–औपशमिका-दिपञ्चतयभावसामानाधिकरण्यात्तत्त्वस्य बहुवचनं [3]प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? भाव-स्यैकत्वात्, 'तत्त्वम्' इत्येष एको भावः ।

१ बसः । बहुव्रीहिसमासः । २ तथाहि–पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो गर्भाद्यष्टवर्षादुपरि प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा अन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा पश्चाद् वेदकसम्यग्दृष्टिः सन् मनुष्यायुष्यमनुभूय लान्तवकल्पे उपरिममनुष्यायुष्यपूर्व-कोटिहीनत्रयोदशसागरायण्यनुभूय पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो भूत्वा गर्भाद्यष्टमवर्षादुपरि संयमं स्वीकृत्य पूर्वकोटयन्ते अच्युतकल्पे उपरिमपूर्वकोटयायुष्यहीनद्वाविंशतिसागरोपमाण्यनुभूय पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो भूत्वा अष्टवर्षादुपरि संयमं गृहीत्वा मनुष्यायुष्यमनुभूय उपरिमग्रैवेयके उपरिमपूर्वकोटयायुर्हीन-एकत्रिंशत्सागरोपमाण्यनुभूय पूर्वकोटयायुर्मनुष्यो भूत्वा अष्टवर्षादुपरि दर्शनमोहनीयक्षपणे चरमसमये । एतदुक्तं सर्वं षट्षष्टिसागरोप-माणि स्युः । उक्तञ्च–लांतवकप्पे तेरस अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा । उपरिमएक्कतीसं एवं सव्वाणि छावट्ठी ।। इति –श्र० टि० । ३ प्राप्नोति तन्न श्र० ।

फलभेदान्नानात्वमिति चेत्; न; स्वात्मभावभेदस्याऽविवक्षितत्वात् 'गावो धनम्' इति यथा ।१७। स्यादेतत्–औपशमिकादिपञ्च[1]तयतत्त्वफलभेदाद्भावनानात्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? स्वात्मभावभेदस्याऽविवक्षितत्वात्, यथा गावो धनमिति । धिनोतेर्धनम्, तच्चैकत्वेन विवक्षितं तथा तत्त्वमिति ।

प्रत्येकमभिसंबन्धाच्च ।१८। एकत्वमुपपद्यते । औपशमिको भावः स्वतत्त्वमित्यादि ।

द्वन्द्वनिर्देशो युक्त इति चेत्; न; उभयधर्मव्यतिरेकेणाऽन्यभावप्रसङ्गात् ।१९। स्यान्मतम्–द्वन्द्वनिर्देशोऽत्र युक्तः–'औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयिकपारिणामिकाः' इति । तत्रायमप्यर्थो द्विश्चशब्दो न कर्तव्यो भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? उभयधर्मव्यतिरेकेणान्यभावप्रसङ्गात् । [2]उभाभ्यां व्यतिरेकेणान्यो भावः प्राप्नोति, चशब्दे पुनः सति पूर्वोक्तानुकर्षणार्थो (र्थे) युक्तो भवति ।

क्षायोपशमिकग्रहणमिति चेत्; न; गौरवात् ।२०। यद्येवं क्षायोपशमिकग्रहणमेव कर्तव्यमन्यभावनिवृत्त्यर्थम्; तन्न; किं कारणम् ? गौरवात्[3] । तथा सति सूत्रस्य गौरवं स्यादिति ।

मध्ये मिश्रवचनं[4] पूर्वोत्तरापेक्षार्थम् ।२१। मध्ये मिश्रवचनं क्रियते पूर्वोत्तरापेक्षार्थम् । किमपेक्षायां प्रयोजनम् ? भव्यानामौपशमिकक्षायिकौ भावौ सम्यक्त्वचारित्राख्यौ क्षायोपशमिकाश्च ज्ञानदर्शनचारित्रभावाः । औदयिकपारिणामिका अभव्यानामपि क्षायोपशमिकाश्चेति । तत्र चाभव्यानां भव्यानां च मिथ्यादृष्टीनां चारित्रादृते क्षायोपशमिका ज्ञानदर्शनविकल्पाः ।

'जीवस्य' इति वचनम् अन्यद्रव्यनिवृत्त्यर्थम् ।२२। जीवस्येदं स्वतत्त्वं नान्यस्येति ।

स्वभावपरित्यागापरित्यागयोः शून्यताऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इति चेत्; न; आदेशवचनात् ।२३। इदमिह संप्रधार्यम्–आत्मा औपशमिकादिभावपरित्यागी वा स्यात्, अपरित्यागी वा ? किञ्च, अतो यदि तावत् परित्यजति; शून्यता प्राप्नोति आत्मनः, स्वभावाभावाद् अग्नेरौष्ण्यस्वभावपरित्यागेऽभाववत् । अथाऽपरित्यागी; क्रोधादिस्वभावापरित्यागादात्मनोऽनिर्मोक्षः प्राप्नोतीति । तन्न; किं कारणम् ? आदेशवचनात् । अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् स्यात् स्वभावाऽपरित्यागी, आदिमदौदयिकादिपर्यायार्थादेशात् स्यात् स्वभावपरित्यागी इत्यादि सप्तभङ्गी पूर्ववत् । यस्यैकान्तेन स्वभावपरित्यागः स्यादपरित्यागो वा; तस्य यथोक्तदोषः स्यात्, नानेकान्तवादिनः ।

अप्रतिज्ञानात् ।२४। नैतत्प्रतिजानीमहे–'स्वभावपरित्यागादपरित्यागाद्वा मोक्षः' इति । किं तर्हि ? अष्टतयकर्मपरिणामवशीकृतस्यात्मनः द्रव्यादिबाह्यनिमित्तसन्निधाने सत्याभ्यन्तरसम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गप्रकर्षावाप्तौ कृत्स्नकर्मसंक्षयात् मोक्षो विवक्षितस्ततो न दोषः । न चाग्नेरुष्णस्वभावपरित्यागेऽप्यभावः । कस्मात् ? द्रव्यार्थावस्थानात् । पुद्गलद्रव्यस्य हि पर्यायउष्णभावः, तस्याभावेऽपि सदचेतनत्वादिभिरवस्थानम् । किञ्च,

कर्मसन्निधाने तदभावे चोभयभावविशेषोपलब्धेर्नेत्रवत् ।२५। यथा नेत्रं रूपोपलब्धि-[5]स्वभावकं यदा रूपं नोपलभते तदा रूपोपलब्धिस्वभावपरित्यागात्[6] न नास्ति, यथा वा क्षायोप-

१ –तयत्वफ– आ०, ब०, द०, मु० । २ औपशमिकक्षायिकाभ्याम् –सम्पा० । ३ –त् गौ– आ०, ब०, द०, मु० । ४ –नं क्रियते पू–आ०, ब०, द०, मु० । ५–स्वभावं य –आ०, ब०, द०, मु० । ६ –गान्नास्त्यभावो यथा आ०, ब०, मु० ।

शमिकत्वे रूपोपलब्धिस्वभावस्य नेत्रस्य संक्षीणसकलावरणे केवलिनि मतिज्ञानाभावान्नेत्रात्मकस्य रूपोपलब्धिस्वभावस्य परित्यागेऽपि द्रव्यनेत्रावस्थानान्न नेत्राभावः तथा कर्मनिमित्तानामौदयिकादीनामभावेऽपि क्षायिकभावसन्निधानादात्मनो नाऽभावो विशेषोपलब्धेरिति ।

अत्राह–तस्यात्मनो ये भावा औपशमिकादयस्ते किं भेदवन्त उताऽभेदा इति ? अत्रोच्यते–भेदवन्तः । यद्येवं ते उच्यतां कति भेदा इति ? अत उत्तरं पठति–

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

कोऽयं निर्देशः ?

द्व्यादीनां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ।१। द्वौ च नव चाष्टादश चैकविंशतिश्च त्रयश्च द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय इति द्वन्द्वे कृते पश्चाद्भेदशब्देन वृत्तिरियं वेदितव्या । ननु चेतरेतरयोगे द्वन्द्वः । स च तुल्ययोगे भवति । न चात्र तुल्ययोगोऽस्ति । कथम् ? द्व्यादयः शब्दाः संख्येयप्रधाना एकविंशतिशब्दः संख्यानप्रधान इति । नैष दोषः; संख्याशब्दानाममीषां संख्येयप्रधानत्वेऽपि निमित्तानुविधानात् संख्यानेऽपि वृत्तिर्भवति । प्रधानं हि किञ्चिन्निमित्तमपेक्ष्य [1]गुणमनुविधत्ते । यथा प्रधानभूतोऽपि राजा मन्त्रिणं गुणमाश्रयते, तत्प्रयुक्तक्रियाफलार्थित्वात् तस्य प्राधान्यमप्यनुजानातीति । अस्त्ययं तर्काश्रयः समाधिः[2] लक्षणशास्त्रेण तु विरुध्यते, एवं तत्रोक्तम्–*"**एकादयः प्रागेवशतेः संख्येयप्रधानाः, विंशत्यादयस्तु कदाचित् संख्यानप्रधानाः कदाचित्संख्येयप्रधानाः**" [ ] इति । यदि च द्व्यादयः संख्यानेऽपि वर्तेरन् विंशत्यादिभिस्तुल्याः स्युः । तत्र को दोषः? संबन्धिनि[3] व्यतिरेकनिमित्तविभक्तिश्रवणं स्यात्[4] "स्वतश्च संख्यानस्यैकत्वादेकवचनं श्रूयेत 'विंशतिर्गवाम्' इति यथा । ननु च [5]तत्रैव संख्याने वृत्तिरुपलभ्यते *"**द्व्येकयोः**" [पा० सू० १।४।२२] इति; नासौ संख्याने प्रयोगः, किं तर्हि उपसर्जनावयवे समुदाये[6] प्रयोगः यथा 'बहुशक्तिकिटकम्'[7] इति । संख्याप्रधानत्वेऽपि [8]तद्विषयत्वमेव *"**अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः** ।" [पात० महा० १।४।२१] इति । एवं तर्हि द्व्यादयः शब्दाः संख्येयप्रधाना एव, एकविंशतिशब्दोऽपि संख्येयवृत्तिः परिगृह्यत इति तुल्ययोगोपपत्तेर्युक्तो द्वन्द्वः ।

भेदशब्देन किं स्वपदार्था वृत्तिः, आहोस्विदन्यपदार्था ? स्वपदार्थप्रधाना । कथम् ? *"**विशेषणं विशेष्येण**" [पा० सू० २।१।५७] इति । द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय एव भेदा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा इति । ननु च 'द्वियमुनम्' इत्येवमादिषु पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिरिति द्व्यादीनां विशेष्यत्वमुक्तं तेन भेदशब्दस्य विशेषणत्वे सति पूर्वनिपातः प्राप्नोति ? नैष दोषः; सामान्योपक्रमे विशेषाभिधाने तदुक्तम् । के? 'द्वे यमुने' इति । 'यमुने' इति हि[9]युक्ते द्विशब्दप्रयोग एवानर्थक इति । इह तु बहुत्वात् सन्देहः–'भेदाः' इत्युक्ते 'कति' इति । द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः' इति चोक्ते 'के ते' इति । अत उभयव्यभिचाराद्विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वात् द्व्यादीनां गुणशब्दत्वाच्च विशेषणत्वं विवक्षितम् । [10]अथवा, पुनरस्त्वन्यपदार्था वृत्तिः–द्विन-

१ अप्रधानम् । २ परिहारः । ३ सम्बन्धिनां व्य– आ०, ब०, द०, मु० । ४ कुतः ? ५ स्वभावतः । ६ संख्येयप्रधानद्वयादिष्वेव । लक्षणशास्त्रे एव –सम्पा० । ७ समुदये श्र०, ता० । ८ किटि वृन्दम्, बहुशक्तयः किटयो वराहा यस्मिन् वने तत्तथोक्तम्, दंष्ट्रीः घोणी स्तब्धरोमा क्रोडो भूदार इत्यपि । वराहः शूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः ॥ इत्यमरः । –कितः कीट– आ०, ब०, द० म० । ९ संख्येय । १० अथ पुन –आ०, ब०, द० मु० ।

वाष्टादशैकविंशतित्रयो भेदा येषां त इमे द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः इति। अत्र हि संख्याशब्दस्य विशेष्यत्वेऽपि *"**सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्**" [पा० सू० वा० २।२।३५] इति संख्यायाः पूर्वनिपातः। पूर्वस्मिन् अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इत्यौपशमिकादीनामित्यभिसंबन्धः, उत्तरत्र पठितक्रमेणैव।

भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ।२। यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति प्रत्येकं भुजिः परिसमाप्यते, एवं भेदशब्दस्यापि प्रत्येकं परिसमाप्तिर्वेदितव्या द्विभेद नवभेद इत्यादि।

यथानिर्दिष्टौपशमिकादिभावाभिसंबन्धार्थं द्व्यादिक्रमवचनम् ।३। क्रमः आनुपूर्व्यम्, यो यः क्रमो यथाक्रमम्। यथा औपशमिकादयो भावा निर्दिष्टास्तथैव द्व्यादिभिरभिसंबन्धः कथं स्यादिति 'यथाक्रमम्' इत्युच्यते।

तत्रानिर्धारितसंख्येयानां द्व्यादीनां संख्याशब्दानां प्रतिविशिष्टाभिधेयनिर्देशे प्राप्तकाले सति यौगपद्यासंभवात् योऽसावादावुपदिष्ट औपशमिको भावस्तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह–

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

व्याख्यातलक्षणे सम्यक्त्वचारित्रे। औपशमिकत्वं कथमिति चेत् ? उच्यते–

सप्तप्रकृत्युपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम् ।१। अनन्तानुबन्धिनः कषायाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः चारित्रमोहस्य, मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वानि त्रीणि दर्शनमोहनीयस्य[1]। आसां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वमिति।

अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादिते कालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः ?

काललब्ध्याद्यपेक्षया तदुपशमः ।२। काललब्ध्यादीन् प्रत्ययानपेक्ष्य तासां प्रकृतीनामुपशमो भवति। तत्र काललब्धिस्तावत्–कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिक इतीयं काललब्धिरेका। अपरा कर्मस्थितिका काललब्धिः–उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति ? [2]अन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु, [3]विशुद्धिपरिणामवशात् [4]सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। तथाऽपरा काललब्धि[5]र्भवापेक्षा, सा वक्ष्यते। आदिशब्देन जातिस्मरणादयः परिगृह्यन्ते। स पुनर्भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी[6] मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तकः[7] सर्वविशुद्धः [8]प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति[9]। उत्पादयन्नसौ अन्तर्मुहूर्तमप[10]वर्तयति, अपवर्त्य च मिथ्यात्वकर्म त्रिधा विभजते–सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं चेति।

---

१ –मोहस्य आ०, ब०, द०, मु०। २ किञ्चिन्न्यून। ३ विशुद्ध– मु०। ४ विद्यमानेषु, प्राग्बद्धकर्मस्थितिरिति यावत्। ५ भावा –आ०, ब०, द०, मु०, मू०। ६ शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राही। ७ सम्पूर्णाहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनःपर्याप्तिः। ८ प्रथमं स –आ०, ब०, द०, मु०, मू०। ९ अत्रोपयोगयायोक्ता– मिथ्यादृष्टिर्भव्यो द्विविधः संज्ञी समाप्तपर्याप्तः। लब्धिचतुष्टययुक्तोऽयन्तविशुद्धश्चतुर्गतिजः॥ जाग्रदवस्थावस्थः साकारात्मोपयोगसंयुक्तः। योग्यस्थित्यनुभवभाक् सल्लेश्यावृद्धियुक्तश्च॥ त्रिकरणशुद्धि कृत्वाप्यन्तरमुत्पादितत्रिदृङ्मोहः। ···त्पाद्यं दर्शनमनन्तसंसारविच्छेदी॥ १० –मेव वर्तयति आ०, ब०, द०, मु०। –मववर्तयति अववर्त्य च मू०।

दर्शनमोहनीयं कर्मोपशमयन् क्वोपशमयति ? चतसृषु गतिषु। तत्र नारकाः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः। पर्याप्तकाश्चान्तर्मुहूर्तस्योपरि उत्पादयन्ति नाधस्तात्। एवं सप्तसु पृथिवीषु[1]। तत्रोपरि तिसृषु पृथिवीषु नारकास्त्रिभिः कारणैः सम्यक्त्वमुपजनयन्ति–केचिज्जातिं स्मृत्वा केचिद्धर्मं श्रुत्वा केचिद्वेदनाभिभूताः। अधस्तात् चतसृषु पृथिवीषु द्वाभ्यां कारणाभ्याम्–केचिज्जातिं स्मृत्वा अपरे वेदनाभिभूताः। तिर्यञ्चश्चोत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः। पर्याप्तकाश्च[2] दिवसपृथक्त्वस्योपरि नाधस्तात्। एवं सर्वेषु द्वीपसमुद्रेषु। तिरश्चां त्रिभिः कारणैः सम्यक्त्वस्योत्पत्तिः–केचिज्जातिं स्मृत्वा अपरे धर्मं श्रुत्वा अन्ये जिनबिम्बं दृष्ट्वा। मनुष्या उत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः। पर्याप्तकाश्चाऽष्टवर्षस्थितेरुपर्युत्पादयन्ति नाधस्तात्। एवमर्धतृतीयद्वीपसमुद्रेषु। तेषां त्रिभिः कारणैः [3]सम्यक्त्वस्योत्पत्तिः–केषाञ्चिज्जातिस्मरणाद् अपरेषां धर्मश्रवणाद् अन्येषां जिनबिम्बदर्शनात्। देवाः सम्यक्त्वमुत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः। पर्याप्तकाश्चान्तर्मुहूर्तस्योपरि नाधस्तात्। एवमा [4]उपरिमग्रैवेयकेभ्यः। देवा भवनवास्यादय आसहस्रारकल्पाच्चतुर्भिः कारणैः प्रथमसम्यक्त्वं लभन्ते–केचिज्जातिस्मरणेन इतरे धर्मश्रवणेन अपरे जिनमहिमावेक्षणेन अन्ये देवर्धिनिरीक्षणेन। आनतप्राणतारणाच्युतेषु तैरेव देवर्धिविरहितैः। नवसु ग्रैवेयकेषु द्वाभ्यां कारणाभ्याम्–जातिस्मरणाद्धर्मश्रवणाच्च। उपरि देवा नियमेन सम्यग्दृष्टयः।

अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशमिकं चारित्रम् ।३। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः षोडश कषायाः, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदभेदा[5] नव नोकषाया इति, एवं चारित्रमोहः पञ्चविंशतिविकल्पः। मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वभेदात् त्रितयो दर्शनमोहः। एषामष्टाविंशतिमोहविकल्पानामुपशमादौपशमिकं चारित्रम्।

सम्यक्त्वस्यादौ वचनं तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ।४। पूर्वं हि सम्यक्त्वपर्यायेणाविर्भवि आत्मनस्ततः क्रमाच्चारित्रपर्याय आविर्भवतीति सम्यक्त्वस्यादौ गृहणं क्रियते।

यः क्षायिको भावो नवविध उद्दिष्टः [6]तस्य भेदस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह–

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

चशब्देन सम्यक्त्वचारित्रे समुच्चीयेते।

ज्ञानदर्शनावरणक्षयात् केवले क्षायिके ।१। ज्ञानावरणस्य कर्मणः दर्शनावरणस्य च कृत्स्नस्य[7] क्षयात् केवले ज्ञानदर्शने क्षायिके भवतः[8]।

अनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं सकलदानान्तराय[9]संक्षयादभयदानम् ।२। दानान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्तसंक्षयादाविर्भूतं त्रिकालगोचरानन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम्।

अशेषलाभान्तरायनिरासात् परमशुभपुद्गलानामादानं लाभः ।३। लाभान्तरायस्याशेषनिरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः संबन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः।

---

१ पृथ्वीषु ता०, श्र०। २ मुख्यवृत्त्या भोगभूमिजापेक्षया। ३ सम्यक्त्वोत्पत्तिः श्र०। ४ उपरिग्रै–श्र०, मू०। ५ –वेदा नव आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ६ तद्भेदस्व –आ०, ब०, मु०। ७ –स्य च क्ष–आ०, ब०, मु०, द०, ता०। ८ तथा चोक्तम्– केवलदर्शनबोधौ समस्तवस्तुप्रकाशिनौ युगपत्। दिनकृत्प्रकाशतापवदावरणाभावतो नित्यम्॥ इति। ९ –यक्षया– आ०, ब०, द०, मु०, ता०।

तस्मात् *"औदारिकशरीरस्य किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिवर्षस्थितिः कवलाहारमन्तरेण कथं संभवति" [ ] इति यद्वचनं तदशिक्षितकृतं विज्ञायते ।

कृत्स्नभोगान्तरायतिरोभावात् परमप्रकृष्टो भोगः ।४। कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननन्तो भोगः क्षायिकः । यत्कृताः पञ्चवर्णसुरभिकुसुमवृष्टि-विविध-दिव्यगन्ध-चरणनिक्षेपस्थानसप्तपद्मपङ्क्ति-सुगन्धिधूप-सुखशीतमारुतादयो भावाः ।

निरवशेषोपभोगान्तरायप्रलयादनन्तोपभोगः क्षायिकः ।५। निरवशेषस्योपभोगान्तराय-कर्मणः प्रलयात् प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोगः क्षायिकः । यत्कृताः सिंहासन-वालव्यजनाशोकपादप-छत्रत्रय-प्रभामण्डल-गम्भीरस्निग्धस्वरपरिणाम-देवदुन्दुभिप्रभृतयो भावाः ।

वीर्यान्तरायात्यन्तसंक्षयादनन्तवीर्यम् ।६। आत्मनः सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धिनो वीर्यान्तराय-कर्मणोऽत्यन्तसंक्षयादुद्भूतवृत्ति क्षायिकमनन्तवीर्यम् ।

पूर्वोक्तमोहप्रकृतिनिरवशेषक्षयात् सम्यक्त्वचारित्रे ।७। पूर्वोक्तस्य दर्शनमोहत्रिकस्य चारित्रमोहस्य च पञ्चविंशतिविकल्पस्य निरवशेषक्षयात् क्षायिके सम्यक्त्वचारित्रे भवतः ।

यद्यनन्तदानलब्ध्यादय उक्ता अभयदानादिहेतवो दानान्तरायादिसंक्षयाद्भवन्ति[1] सिद्धेष्वपि तत्प्रसङ्गः; नैष दोषः; शरीर[2]नामतीर्थकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां तदभावे तदप्रसङ्गः, [3]परमानन्दाव्याबाधरूपेणैव [4]तेषां तत्र वृत्तिः, केवलज्ञानरूपेण अनन्तवीर्यवृत्तिवत् ।

सिद्धत्वमपि क्षायिकमागमोपदिष्टमस्ति तस्योपसंख्यानमिह कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम्; विशेषेषु निर्दिष्टेषु तद्विषयं सामान्यमनुक्तसिद्धमेव पर्वादिनिर्देशे अङ्गुलिसिद्धिवत् । सिद्धत्वं हि सर्वेषां क्षायिकाणां भावानां साधारणमिति ।

य उक्तः क्षायोपशमिको भावोऽष्टादशविकल्पस्तद्भेदनिरूपणार्थमाह–

२० ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।५।

चतुरादीनां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ।१। चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पञ्च च चतुस्त्रित्रिपञ्च, ते भेदाः यासां ताश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदा इति द्वन्द्वगर्भा वृत्तिः । त्रिशब्दस्य द्वन्द्वापवाद एकशेषः कस्मान्न भवति ? "संख्यया अर्थासंप्रत्ययाद् अन्यपदार्थत्वाच्चानेकशेषः, पृथगभिधाने प्रयोजनसद्भावाच्च ।

यथाक्रमवचनं ज्ञानादिभिरानुपूर्व्यसंबन्धार्थम् ।२। इह यथाक्रममिति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? चतुर्भेदं ज्ञानमित्येवमाद्यभिसंबन्धार्थं तर्त्तर्हि वक्तव्यम्; न वक्तव्यम्; यथाक्रम-मित्यनुवर्तते । क्व प्रकृतम् ? *"द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्" [त० सू० २।२] इति ।

कस्य क्षयात् कस्य चोपशमात् क्षायोपशमिको भावो भवतीति ? उच्यते––

सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव [5]सदुपशमाद्देशघाति[6]स्पर्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावः ।३। द्विविधं स्पर्धकम्–देशघातिस्पर्धकं सर्वघातिस्पर्धकं चेति । तत्र यदा सर्वघातिस्प-र्धकस्योदयो भवति तदेषदप्यात्मगुणस्याभिव्यक्तिर्नास्ति तस्मात्तदुदयस्याभावः क्षय

१ तर्हि । २ शरीरनामकर्मो– आ०, ब०, मु० । ३ परमानन्ताव्या– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ४ तेषां च तत्र आ०, ब०, द०, मु० । अभयदानादीनाम् । ५ संख्याया अर्थासंप्रत्ययादस्याप– ता०, श्र०, मू०, ज० । ६ संज्ञासौ उपशमश्च तस्मात् । ७ घातिकर्माणि सर्वघातीनि देशघातीनीति द्विविधानि भवन्ति, तत्र सर्वघातीनि– केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायवारसयं । मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधुदये ॥ णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं । णव णोकसायविग्घं छव्वीसा देसघादीओ ॥

इच्युच्यते । तस्यैव सर्वघातिस्पर्धकस्यानुदयप्राप्तस्य सदवस्था उपशम इत्युच्यते अनुद्भूत-स्ववीर्यवृत्तित्वात्, आत्मसाद्भावितसर्वघातिस्पर्धकस्योदयक्षये देशघातिस्पर्धकस्य चोदये सति [1]सर्वघाताभावादुपलभ्यमानो भावः क्षायोपशमिक इत्युच्यते ।

किमिदं स्पर्धकं नाम ? उच्यते–

अविभागपरिच्छिन्नकर्मप्रदेशरस[2]भागप्रचय[3]पङ्क्तेः क्रमवृद्धिः क्रमहानिः स्पर्धकम् ।४। उदयप्राप्तस्य कर्मणः प्रदेशा अभव्यानामनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागप्रमाणाः । तत्र सर्व-जघन्यगुणः प्रदेशः परिगृहीतः, तस्यानुभागः[4] प्रज्ञाछेदेन [5]तावद्धा परिच्छिन्नः यावत्पुनर्विभागो न भवति । ते अविभागपरिच्छेदाः[6] सर्वजीवानामनन्तगुणाः, एको राशिः कृतः । एवं तत्प्रमाणाः सर्वे तथैव परिच्छिन्नाः पङ्क्तीकृता वर्गाः[7] वर्गणा । अपर एकाविभागपरिच्छेदाधिकः प्रदेशः परि-गृहीतः, तथैव तस्याविभागपरिच्छेदाः कृताः । स एको [8]राशिर्वर्गः । तथैव समगुणाः पङ्क्तीकृताः वर्गा वर्गणा । एवं पङ्क्तयः कृता यावदेकाविभागपरिच्छेदाधिकलाभम् । तदलाभे अन्तरं भवति । एवमेतासां पङ्क्तीनां[9] विशेषहीनानां क्रमवृद्धिक्रमहानियुक्तानां समुदयः स्पर्धकमित्युच्यते । तत उपरि द्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयगुणरसा न लभ्यन्ते अनन्तगुणरसा एव । तत्रैकप्रदेशो जघन्यगुणः परिगृहीतः, तस्य चानुभागाविभागपरिच्छेदाः पूर्ववत्कृताः । एवं समगुणा वर्गाः समुदिता वर्गणा[10] भवति[11] । एकाविभागपरिच्छेदाधिकाः पूर्ववद्विरलीकृता वर्गा वर्गणाश्च भवन्ति यावदन्तरं भवति तावदेकं स्पर्धकं भवति । एवमनेन क्रमेण विभागे क्रियमाणेऽभव्या-नामनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति । तदेतत्समुदितमेक-मुदयस्थानं भवति ।

तत्र ज्ञानं चतुर्विधं क्षायोपशमिकमाभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति ।५। वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणानां सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् सदुपशमाच्च देशघातिस्पर्धकानामुदये[12] मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च भवति । देशघातिस्पर्धकानां रसस्य प्रकर्षा-प्रकर्षयोगाद् गुणघातस्यातिशयानतिशयवत्त्वात् तज्ज्ञानभेदो भवति । एवमवधिमनःपर्ययज्ञान-योरपि स्वावरणक्षयोपशमभेदात् क्षायोपशमिकत्वं वेदितव्यम् ।

अज्ञानं त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गं चेति ।६। तेषां क्षायोपशमिकत्वं पूर्ववत् । ज्ञानाज्ञानविभागस्तु मिथ्यात्वकर्मोदयानुदयापेक्षः ।

दर्शनं त्रिविधं क्षायोपशमिकं [13]चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं चेति ।७। एतत्त्रितय-मपि पूर्ववत् स्वावरणक्षयोपशमापेक्षं द्रष्टव्यम् ।

लब्धयः पञ्च क्षायोपशमिक्यः[14] दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यल-ब्धिश्चेति ।७। दानान्तरायादिसर्वघातिस्पर्धकक्षयोपशमे देशघातिस्पर्धकोदयसद्भावे ताः

१ सर्वघात्यभा– आ०, ब०, द०, मु० । २ वीर्य । ३ –पंक्तिक्रम– आ०, ब०, द०, मु०, म०, ता० । ४ वीर्यम् । ५ तावद्वारपरि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ ते किंप्रमाणा इत्याह । ७ –र्गाः अप– द० । ८ राशिः त– ता०, श्र० । ९ वर्गणानाम्– मू० टि०, श्र० टि० । १० अकर्मकर्मनोकर्म-जातिभेदेषु वर्गणा । ११ भवन्ति ता० श्र०, मू० । १२ –ये सति मति– मु० । १३ उक्तञ्चाराधनासारे तल्लक्षणम्– चक्षुर्ज्ञानात्पूर्वं प्रकाशरूपेण विषयसन्दर्शि । यच्चैतन्यं प्रसरति तच्चक्षुर्दर्शनं नाम ॥ शेषेन्द्रियावबोधात् पूर्वं तद्विषयदर्शि यज्ज्योतिः । निर्गच्छति तदचक्षुर्दर्शनसंज्ञं स्वचैतन्यम् ॥ अवधि-ज्ञानात्पूर्वं रूपिपदार्थावभासि यज्ज्योतिः । प्रविनिर्याति स्वस्मान्नामावधिदर्शनं तत्स्यात् ॥ इति । १४ –शमिकाः दा– आ०, ब०, द०, मु० ।

पञ्च लब्धयो भवन्ति। सम्यक्त्वग्रहणेन वेदकसम्यक्त्वमिह परिगृह्यते। अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात् सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्धकस्योदये सति तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात् सदुपशमाच्च संज्वलनकषायचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्धकोदये सति नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रम्। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात् सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये [1]संज्वलनकषायस्य देशघातिस्पर्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च विरताविरतपरिणामः क्षायोपशमिकः संयमासंयमः।

संज्ञित्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोगोपसंख्यानमिति चेत्; न; [2]ज्ञानसम्यक्त्वलब्धिग्रहणेन गृहीतत्वात् ।९। स्यादेतत्–संज्ञित्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोगोपसंख्यानं कर्तव्यम्, तेऽपि हि क्षायोपशमिका इति; तन्न; किं कारणम् ? ज्ञानसम्यक्त्वलब्धिग्रहणेन गृहीतत्वात्। संज्ञित्वं हि मतिज्ञानेन गृहीतं सम्यङ्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वग्रहणेन, नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षत्वात्, उभयात्मकस्य एकात्मपरिग्रहाच्च उदकव्यति[3]मिश्रक्षीरव्यपदेशवत्। योगश्च वीर्यलब्धिग्रहणेन गृहीत इति। अथवा, चशब्देन समुच्चयो वेदितव्यः। अथ पञ्चेन्द्रियत्वे समाने नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमः [4]कस्यचिद्भवति कस्यचिन्नेति कुतोऽयं विकल्पः ? उच्यते–संज्ञिजातिनामकर्मविशेषोदयबललाभे सति नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमो भवति, तदभावे न भवतीत्ययं विशेषः, एकेन्द्रियजातिनामा-[5]द्युदयविशेषापेक्षया [6]एकेन्द्रियादिक्षयोपशमभेदवत्।

य एकविंशतिविकल्प औदयिको भाव उद्दिष्टः तस्य भेदसंज्ञाकीर्तनार्थमिदमारभ्यते–

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

गत्यादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्वः, चतुरादीनां च द्वन्द्वगर्भा अन्यपदार्थप्रधाना वृत्तिः। पूर्ववदेकशेषाभावः।

गतिनामकर्मोदयादात्मनस्तद्भावपरिणामाद् गतिरौदयिकी ।१। येन कर्मणा आत्मनो नारकादिभावावाप्तिर्भवति तद् गतिनाम चतुर्विधम्–नरकगतिनाम तिर्यग्गतिनाम मनुष्यगतिनाम देवगतिनाम चेति। तत्र नरकगतिनामकर्मोदयान्नारको भावो भवतीति औदयिकः। एवं तिर्यग्गतिनामकर्मोदयात्तिर्यग्भाव औदयिकः। मनुष्यगतिनामकर्मोदयात् मनुष्यभाव औदयिकः। देवगतिनामकर्मोदयाद् देवभाव औदयिकः।

[7]चारित्रमोहविशेषोदयात् कलुषभावः कषाय औदयिकः ।२। चारित्रमोहस्य कषायवेदनीयस्योदयादात्मनः कालुष्यं क्रोधादिरूपमुत्पद्यमानं 'कषत्यात्मानं हिनस्ति' इति कषाय इत्युच्यते। स औदयिकश्चतुर्विधः–क्रोधो मानो माया लोभश्चेति। तद्भेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः।

---

१ समुदायरूपस्यास्य अवयवरूपं स्पर्द्धकम्। २ –व्यामि– आ०, ब०, द०, मु०। ३ कस्यचिद्भवे भ– आ०, ब०, द०, मु०। ४ आदिशब्देन द्वीन्द्रियजातिनामादिकं गृह्यते। ५ स्पर्शनेन्द्रियावरणादि। ६ चारित्रमोहोदयात् आ०, ब०, द०, मु०।

वेदोदयापादितोऽभिलाषविशेषो लिङ्गम् ।३। लिङ्गं द्विविधम्–द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च। तत्र यद् द्रव्यलिङ्गं नामकर्मोदयापादितं तदिह नाधिकृतम् आत्मपरिणामप्रकरणात्। भावलिङ्गमात्मपरिणामः स्त्रीपुंनपुंसकान्योन्याभिलाषलक्षणः। स पुनश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्योदयाद्भवतीत्यौदयिकः।

दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम् ।४। तत्त्वार्थरुचिस्वभावस्यात्मनः तत्प्रतिबन्धकारणस्य दर्शनमोहस्योदयात् तत्त्वार्थेषु निरूप्यमाणेष्वपि न श्रद्धानमुत्पद्यते तन्मिथ्यादर्शनमौदयिकमित्याख्यायते।

ज्ञानावरणोदयादज्ञानम् ।५। ज्ञस्वभावस्यात्मनः तदावरणकर्मोदये सति नावबोधो भवति तदज्ञानमौदयिकम्, घनसमूहस्थगितदिनकरतेजोऽनभिव्यक्तिवत्। तद्यथा–एकेन्द्रियस्य रसनघ्राणश्रोत्रचक्षुषामिन्द्रियाणां प्रतिनियताभिनिबोधिकज्ञानावरणस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयात् रसगन्धशब्दरूपाज्ञानं यत्तदौदयिकम्। एवं द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु शेषेन्द्रियविषयाज्ञानं वाच्यम्। पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु शुकसारिकादिवर्जितेषु मनुष्येषु च [1]केषुचिद् अक्षरश्रुतावरणस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयाद् अक्षरश्रुतनिर्वृत्त्यभावादक्षरश्रुताज्ञानमौदयिकम्। नोइन्द्रियावरणस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयाद्धिताहितपरीक्षां प्रत्यसामर्थ्यम् असंज्ञित्वमौदयिकम्, तदप्यत्रैवा[2]न्तर्भवति। एवमवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानावरणोदयात् प्रत्येकमज्ञानमौदयिकं वाच्यमिति।

चारित्रमोहोदयादनिवृत्तिपरिणामोऽसंयतः ।६। चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयात् प्राण्युपघातेन्द्रियविषये द्वेषाभिलाषनिवृत्तिपरिणामरहितोऽसंयत औदयिकः।

कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धः ।७। अनादि[3]कर्मबन्धसन्तानपरतन्त्रस्यात्मनः कर्मोदयसामान्ये सति असिद्धत्वपर्यायो भवतीत्यौदयिकः। स पुनर्मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसाम्परायिकान्तेषु कर्माष्टकोदयापेक्षः, [4]शान्तक्षीणकषाययोः सप्तकर्मोदयापेक्षः, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोरघातिकर्मोदयापेक्षः।

कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या ।८। द्विविधा लेश्या–द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति। तत्र द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकिकर्मोदयापादितेति सा नेह परिगृह्यते आत्मनो भावप्रकरणात्। भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते। ननु च योगप्रवृत्तिरात्मप्रदेशपरिस्पन्दक्रिया, सा वीर्यलब्धिरिति क्षायोपशमिकी व्याख्याता, कषायश्चौदयिको व्याख्यातः, ततो लेश्याऽनर्थान्तरभूतेति; नैष दोषः; कषायोदयतीव्रमन्दावस्थापेक्षाभेदाद् अर्थान्तरत्वम्। सा षड्विधा–कृष्णलेश्या नीललेश्या कपोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति। तस्यात्मपरिणामस्याऽशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षापेक्षया कृष्णादिशब्दोपचारः क्रियते।

ननु च 'उपशान्तकषाये क्षीणकषाये सयोगकेवलिनि च शुक्ला लेश्यास्ति' इत्यागमः[5], तत्र कषायानुरञ्जनाभावादौदयिकीत्वं[6] नोपपद्यते; नैष दोषः; पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया यासौ [7]योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता 'सैवेयम्' इत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते। 'तदभावादयोगिकेवल्यलेश्य इति च निश्चीयते।

अत्र [8]चोद्यते–यथा अज्ञानमौदयिकम् एवमदर्शनमपि दर्शनावरणोदयाद्भवतीत्यौदयिकम्, निद्रानिद्रादयश्चौदयिकाः, वेदनीयोदयात् सुखदुःखमौदयिकम्, नोकषायाश्च हास्यरत्यादयः

---

१ मूकेषु। २ अज्ञाने। ३ –कर्मसंबन्धस– आ०, ब०, मु०। ४ मोहनीयकर्माभावात्। ५ "सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलित्ति" –षट्खं० सं० सू० १३९। ६ –दयिकत्वं आ०, ब०, द०, मु०। ७ योगवृत्तिः ता०, श्र०, मू०, द०। ८ योगाभावात्। ९ चोद्यं प्रश्ने च विस्मये।

षडौदयिकाः, आयुरुदयाद्भवधारणं भवत्यौदयिकम्, उच्चैर्नीचैर्गोत्रकर्मोदयादुच्चनीचगोत्रपरिणामो भवतीत्यौदयिकः, नामकर्मणि च जात्यादय औदयिकाः, एतेषामपरिग्रहान्न्यूनं लक्षणमिति। अथ मतम्–आत्मपरिणामस्याधिकृतत्वाच्छरीरादीनामौदयिकत्वेऽपि पुद्गलविपाकित्वात् तेषामसंग्रह इतिः एवमपि ये जीवविपाकिनस्तेषां ग्रहणं कर्तव्यं जात्यादीनाम् ? अत उत्तरं पठति–

मिथ्यादर्शनेऽदर्शनावरोधः ।९। मिथ्यादर्शने अदर्शनस्यावरोधो भवति। निद्रानिद्रादीनामपि दर्शनसामान्यावरणत्वात्तत्रैवान्तर्भावः। ननु च तत्त्वार्थश्रद्धानं मिथ्यादर्शनमित्युक्तम्; सत्यमुक्तम्; सामान्यनिर्देशे विशेषान्तर्भावात्, सोऽप्येको विशेषः। अयमपरो विशेषः–अदर्शनमप्रतिपत्तिर्मिथ्यादर्शनमिति ।

लिङ्गग्रहणे हास्यरत्याद्यन्तर्भावः सहचारित्वात् ।१०। लिङ्गग्रहणे हास्यरत्यादीनामन्तर्भावो भवति। कुतः ? सहचारित्वात्, पर्वतग्रहणेन नारदग्रहणवत् ।

गतिग्रहणमघात्युपलक्षणम् ।११। अघातिकर्मोदयापादिता ये भावाः तेषां गतिग्रहणमुपलक्षणं यथा 'काकेभ्यो रक्षतां सर्पिः' इति काकग्रहणमुपघातकोपलक्षणम्। तेन जात्यादयो भावा नामकर्मविशेषोदयापादिता वेदनीयायुर्गोत्रोदयकृताश्च गृह्यन्ते ।

इह यथाक्रममिति वक्तव्यं गतिश्चतुर्विधेत्येवमाद्यानुपूर्व्यसंप्रत्ययार्थम्; न वक्तव्यम्, 'यथाक्रमम्' इत्यनुवर्तते ।

यः पारिणामिको भावस्त्रिभेद उक्तः, तद्विकल्पस्वरूपप्रतिपानार्थमाह–

जीवभव्याऽभव्यत्वानि च ॥७॥

अन्यद्रव्यासाधारणास्त्रयः पारिणामिकाः[1] ।१। जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमित्येते पारिणामिका आत्मनस्त्रयो भावा अन्यद्रव्यासाधारणा वेदितव्याः। कुतः पुनरेषां पारिणामिकत्वम् ?

कर्मोदय[2]क्षयोपशमक्षयोपशमानपेक्षत्वात् ।२। न ह्येवंविधं कर्मास्ति यस्योदयात् [3]क्षयात् उपशमात् क्षयोपशमाद्वा जीवो भव्योऽभव्य[4] इति चोच्येत[5]। तदभावादनादिद्रव्यभवनसंबन्धपरिणामनिमित्तत्वात् पारिणामिका इति व्यपदिश्यन्ते ।

आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्वं न पारिणामिकमिति चेत्; न; पुद्गलद्रव्यसंबन्धे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात् ।३। स्यादेतत्–आयुर्द्रव्योदयाज्जीवतीति जीवो नानादिपारिणामिकत्वादिति; [6]तन्न; किं कारणम् ? पुद्गलद्रव्यसंबन्धे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात्। आयुर्हि पौद्गलिकं द्रव्यम्। यदि च तत्संबन्धाज्जीवस्य[7] जीवत्वं स्यात्; नन्वेवमन्यद्रव्यस्यापि धर्मादेरायुःसंबन्धाज्जीवत्वं स्यात् । किञ्च,

सिद्धस्याजीवत्वप्रसङ्गात् ।४। यद्यायुःसंबन्धापेक्षं जीवत्वं ननु सिद्धस्यायुरभावादजीवत्वं प्रसज्येत। ततस्तदनपेक्षत्वाज्जीवत्वं पारिणामिकमेव ।

जीवे त्रिकालविषयविग्रहदर्शनादिति चेत्; न; रूढिशब्दस्य निष्पत्त्यर्थत्वात् ।५। स्यान्मतम्–'जीवति अजीवीत् जीविष्यति' इति त्रिकालविषयो विग्रहो दृश्यते ततः प्राणधारणार्थ-

१ परिणामः स्वभावः प्रयोजनमस्य । २ –यक्षयक्षयो– श्र०, ता०, मू०, द० । ३ क्षयात् क्षयो– आ०, ब०, द०, श्र०, ता०, मू० । ४ –व्यो वेति चोच्यते आ०, ब०, मु० । ५ चोच्यते द० । ६ चेन्न मु० । ७ –न्धाज्जीवत्वं आ०, ब०, द०, मु० ।

त्वात् कर्मापेक्षत्वे न पारिणामिकत्वमिति; तच्च न; कस्मात् ? रूढिशब्दस्य निष्पत्त्यर्थत्वात्। रूढिशब्देषु हि क्रियोपात्तकाला व्युत्पत्त्यर्थैव न तन्त्रम्,[1] यथा गच्छतीति गौरिति ।

चैतन्यमेव वा जीवशब्दार्थः[2] ।६। अथवा, चैतन्यं जीवशब्देनाभिधीयते, तच्चानादिद्रव्यभवननिमित्तत्वात् पारिणामिकम् ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः।७। भव्यादीनां प्रायेण भविष्यत्कालविषयत्वात् 'सम्यग्दर्शनादिपर्यायेण य आत्मा भविष्यति स भव्यः' इतीमं व्यपदेशमास्कन्दति ।

तद्विपरीतोऽभव्यः ।८। यो न तथा भविष्यत्यसावभव्य इत्युच्यते। किं कृतोऽयं विशेषः ? द्रव्यस्वभावकृतः, अतः पारिणामिकत्वमनयोः ।

योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेत्; न; भव्यराश्यन्तर्भावात् ।९। स्यादेतत्–अनन्तकालेनापि यो[3] न सेत्स्यत्यसौ अभव्यतुल्यत्वादभव्य एव। अथ सेत्स्यति सर्वो भव्यः; तत उत्तरकालं भव्यशून्यं जगत् स्यादिति ? तन्न; किं कारणम् ? भव्यराश्यन्तर्भावात्। यथा [4]योऽनन्तकालेनापि कनकपाषाणो न कनकीभविष्यति न तस्यान्धपाषाणत्वं कनकपाषाणशक्तियोगात्, यथा वा आगामिकालो योऽनन्तेनापि कालेन नागमिष्यति न तस्यागामित्वं हीयते, तथा भव्यस्यापि स्वशक्तियोगाद् असत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानिः ।

भावस्यैकत्वनिर्देशो युक्त इति चेत्; न; द्रव्यभेदाद्भावभेदसिद्धेः ।१०। स्यादेतत्–'जीवश्च भव्यश्चाऽभव्यश्च जीवभव्याभव्याः' इति द्वन्द्वे कृते तेषां भावे विवक्षिते एकत्वनिर्देशो युक्तो जीवभव्याभव्यानां भावो जीवभव्याभव्यत्वमिति ? तन्न; किं कारणम्? द्रव्यभेदाद्भावभेदसिद्धेः। नहि 'भाव एकत्वेन वक्तव्यः' इति नियमोऽस्ति, ततो द्रव्यभेदाद्भेदे सति बहुत्वनिर्देशो युक्तो जीवभव्याभव्यानां भावा जीवभव्याभव्यत्वानीति । पुनः प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमिति ।

द्वितीयगुणग्रहणमार्षोक्तत्वादिति चेत्; न; तस्य नयापेक्षत्वात् ।११। अथ मतम्–द्वितीयगुणग्रहणमिह कर्तव्यम् । कोऽसौ [5]द्वितीयो गुणः ? सासादनसम्यग्दृष्टिः। सोऽपि जीवस्यासाधारणः पारिणामिकः। एवं ह्यार्षे [6]उक्तम्–*"**सासादनसम्यग्दृष्टिरिति को भावः ? पारिणामिको भावः**" [षट्खं०] इति। न कर्तव्यम्; कुतः ? तस्य नयापेक्षत्वात्। मिथ्यात्वकर्मण उदयं क्षयमुपशमं[7] क्षयोपशमं वा नापेक्षत इत्यार्षे पारिणामिकः, इह पुनरसावौदयिक इत्येवं गृह्यते अनन्तानुबन्धिकषायोदयात्तस्य निर्वृत्तेः ।

चशब्दः किमर्थः ?

अस्तित्वान्यत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व-पर्यायवत्त्वाऽसर्वगतत्वाऽनादिसन्ततिबन्धनबद्धत्व-प्रदेशवत्त्वारूपत्व-नित्यत्वादिसमुच्चयार्थश्चशब्दः ।१२। अस्तित्वादयोऽपि पारिणामिका भावाः सन्ति तेषां समुच्चयार्थश्चशब्दः। यदि तेऽपि पारिणामिकाः सूत्रे तेषां ग्रहणं कस्मान्न कृतम् ?

अन्यद्रव्यसाधारणत्वादसूत्रिताः ।१३। अस्तित्वादयो हि धर्मा अन्येषामपि द्रव्याणां साधारणास्ततस्ते न सूत्रिताः। तद्यथा–अस्तित्वं तावत्साधारणं षड्द्रव्यविषयत्वात्। तत् [8]कर्मोदयक्षयक्षयोपशमानपेक्षत्वात् पारिणामिकम् ।

१ प्रधानम् । २ –शब्दस्यार्थः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ भव्यः । ४ योऽनन्तेनापि कालेन क– आ०, ब०, मु० । ५ द्वितीयगुणः आ०, ब०, द०, मु० । ६ "सासणसम्मादिट्ठित्ति को भावो पारिणामिओ भावो।" –षट्खं० भा० ३ । ७ –मं वा ना– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ८ कर्मोदयक्षयोप– श्र०, ता०, मू० ।

अन्यत्वमपि साधारणं सर्वद्रव्याणां परस्परतोऽन्यत्वात् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् तदपि पारिणामिकम् ।

कर्तृत्वमपि साधारणं क्रियानिष्पत्तौ सर्वेषां स्वातन्त्र्यात् । ननु च जीवपुद्गलानां क्रियापरिणामयुक्तानां कर्तृत्वं युक्तम्, धर्मादीनां कथम् ? तेषामपि अस्त्यादिक्रियाविषयमस्ति कर्तृत्वम् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् तदपि पारिणामिकम् । ननु चात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य योगसंज्ञकस्य यत्कर्तृत्वं न तत्साधारणमिति असाधारणेषूपसंख्येयम्; न; तस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वात् । यदस्य पुण्यपापयोः कर्तृत्वं तदन्यद्रव्याणामसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम् । कस्मात् ? उदयक्षयोपशमनिमित्तत्वात् । मिथ्यादर्शनं हि दर्शनमोहोदयनिमित्तम्, अविरतिप्रमादकषायाः चारित्रमोहोदयनिमित्ताः, योगाश्च क्षायोपशमिका इति । अन्यद्रव्यासाधारणानादिपारिणामिकचैतन्यसन्निधाने पुण्यपापयोः कर्तृत्वमिति पारिणामिकमिति चेत्; न; सार्वकालिककर्तृत्वप्रसङ्गात् । मुक्तानामपि चैतन्यमस्तीति पुण्यपापयोः कर्तृत्वं स्यात्, संसारिणां चाविशिष्टं स्यात् चैतन्यकारणस्याभेदात् ।

भोक्तृत्वमपि साधारणम् । कुतः ? तल्लक्षणोपपत्तेः । वीर्यप्रकर्षात् परद्रव्यवीर्यादानसामर्थ्यं भोक्तृत्वलक्षणम् । यथा आत्मा आहारादेः परद्रव्यस्यापि वीर्यात्मसात्करणाद्भोक्ता, तथा विषस्याचेतनस्य वीर्यप्रकर्षात् कोद्रवद्रव्यादिसारसंग्रहाद्भोक्तृत्वम् । लवणादीनां च वीर्यप्रकर्षात् काष्ठादिद्रव्यलवणकरणाद्भोक्तृत्वम् । कर्मोदयापेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । यत्तु आत्मनः शुभाशुभकर्मफलस्योपभोक्तृत्वं न तत्साधारणं न च पारिणामिकम्; तस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वात्, वीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाद् आत्मनः शुभाशुभकर्मफलोपभोगे सामर्थ्यमाविर्भवति । आहारादिवीर्यात्मसात्करणलक्षणोपभोगश्च भोगान्तरायक्षयोपशमात्, उपात्तस्य च जरणं वीर्यान्तरायक्षयोपशमात् । कर्म अन्तरेण विषादीनां कथं भोक्तृत्वमिति चेत् ? प्रतिनियतशक्तित्वाद् द्रव्याणां भास्करप्रतापवत् ।

पर्यायवत्त्वमपि साधारणं सर्वद्रव्याणां प्रतिनियतपर्यायोपपत्तेः । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् ।

असर्वगतत्वमपि साधारणं परमाण्वादीनामविभुत्वात्, धर्मादीनां च परिमितासंख्यातप्रदेशत्वात् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । यदस्य कर्मोपात्तशरीरप्रमाणानुविधायित्वं तदसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम्; कर्मनिमित्तत्वात् ।

अनादिसन्ततिबन्धनबद्धत्वमपि साधारणम् । कस्मात् ? सर्वद्रव्याणां स्वात्मीयसन्तानबन्धनबद्धत्वं प्रत्यनादित्वात् । सर्वाणि हि द्रव्याणि जीवधर्माधर्माकाशकालपुद्गलाख्यानि प्रतिनियतानि पारिणामिकचैतन्योपयोग-गति-स्थित्यवकाशदान-वर्तनापरिणाम-वर्णगन्धरस-स्पर्शादिपर्यायसन्तानबन्धनबद्धानि । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । यदस्यानादिकर्मसन्ततिबन्धनबद्धत्वं तदसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम्; कर्मोदयनिमित्तत्वात् । वक्ष्यते हि *"अनादिसंबन्धे च । सर्वस्य" [त०सू० २।४१,४२] इति ।

---

१ –याविशेषविषयकम– आ०, ब०, मु० । २ जीवभव्याभव्यत्वेषु । ३ परस्परम् । ४ अयं पुण्यवानयं पाप इति, अथवा यत्पुण्यवान् स तद्वानेव यः पापी स तद्वानेवेति । ५ –नां वी– श्र० । ६ यथा भास्करप्रतापः पाषाणवालुकादीन् तपति न तथा तस्य तापकं द्रव्यमस्ति अपि तु स्वयमेव । ७ कर्मोदयापे– द०, मू०, ता०, श्र० । ८ –बद्धानिकर्मोदयत्वं भा० ।

प्रदेशवत्त्वमपि साधारणं संख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रदेशोपेतत्वात् सर्वद्रव्याणाम् । तदपि कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् ।

अरूपत्वमपि साधारणं जीवधर्माधर्मकालाकाशानां रूपयोगाभावात् । तदपि कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् ।

नित्यत्वमपि साधारणं द्रव्यार्थादेशात् सर्वद्रव्याणां व्ययोदययोगाभावात् । तच्च कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् ।

ऊर्ध्वगतित्वमपि साधारणम् अग्न्यादीनामूर्ध्वगतिपारिणामिकत्वात् । तच्च कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् । एवमन्ये चात्मनः साधारणाः पारिणामिका योज्याः ।

अनन्तरसूत्रनिर्दिष्टोपसंग्रहार्थश्चशब्द इति चेत्; न; अनिष्टत्वात् ।१४। स्यान्मतम्–अनन्तरसूत्रे निर्दिष्टानां गत्यादीनामुपसंग्रहार्थश्चशब्दो न अस्तित्वादिसमुच्चयार्थ इति; तन्न; किं कारणम् ? अनिष्टत्वात् । नहि गत्यादीनां पारिणामिकत्वमिष्यते तल्लक्षणाभावात् ।

त्रिभेदपारिणामिकभावप्रतिज्ञानाच्च ।१५। यतश्चौपशमिकादिभावसंख्याविधायिनि सूत्रे त्रिभेदः पारिणामिक इति प्रतिज्ञातम्, अतो न गत्यादिसमुच्चयार्थश्चशब्दः ।

गत्यादीनामुभयवत्त्वं क्षायोपशमिकभाववदिति चेत्; न; अन्वर्थसंज्ञाकरणात् ।१६। अथ मतमेतत्–यथा क्षायोपशमिकभावस्य क्षयोपशमात्मकत्वादुभयवत्त्वं तथा गत्यादीनामुभयवत्त्वादौदयिकपारिणामिकत्वमिति 'औदयिक एकविंशतिभेदः, पारिणामिकश्च त्रिभेदः' इति सिद्धमिति; तन्न; किं कारणम् ? अन्वर्थसंज्ञाकरणात् । 'परिणामः स्वभावः प्रयोजनमस्येति पारिणामिकः' इत्यन्वर्थसंज्ञा । न चासौ स्वभावो गत्यादिषु विद्यते कर्मोदयनिमित्तत्वात् । किञ्च,

तथानभिधानात् ।१७। यथा उभयवत्त्वाज्ज्ञानादयः 'क्षायोपशमिकाः' इत्यभिधीयन्ते तथा गत्यादयः 'औदयिकपारिणामिकाः इत्यभिधीयेरन्, न चाभिधीयन्ते । तथानभिधानात् क्षायोपशमिकवद् गत्यादयो नोभयवन्तः । किञ्च,

अनिर्मोक्षप्रसङ्गात् ।१८। गत्यादीनामुभयवत्त्वात् पारिणामिकत्वे सत्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः सातत्यावस्थानात् । तस्मात्स्थितमेतत्–'अस्तित्वादिसमुच्चयार्थ एव चशब्दः' इति ।

आदिग्रहणमत्र न्याय्यमिति चेत्; न; त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहानेः ।१९। स्यादेतत्–'जीवभव्याभव्यत्वानि' इत्यत्र आदिग्रहणं न्याय्यम्, अस्तित्वादीनामपीष्टत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहानेः । आदिग्रहणे हि क्रियमाणे जीवभव्याभव्यत्वास्तित्वादीनां पारिणामिकभावत्वात् 'त्रिविधः' इति यत्पुरस्तात् प्रतिज्ञातं तस्य हानिः स्यात् ।

समुच्चयार्थेऽपि चशब्दे तुल्यमिति चेत्; न; प्रधानापेक्षत्वात् ।२०। स्यान्मतम्–समुच्चयार्थेऽपि चशब्दे अस्तित्वादीनां पारिणामिकत्वेन समुच्चयात्त्रिभेदप्रतिज्ञाहानिस्तुल्येति; तन्न; किं कारणम् ? प्रधानापेक्षत्वात् । कण्ठोक्तानि त्रीणि प्रधानानि, तदपेक्षा त्रिभेदप्रतिज्ञेति नास्ति विरोधः । अस्तित्वादीनि तु साधारणत्वात् चशब्देन द्योतितानीति तेषां गुणभावः । आदिशब्दे हि क्रियमाणे अस्तित्वादीनां प्राधान्यं स्यात्, जीवत्वादीनाम् उपलक्षणार्थत्वाद् अप्राधान्यम् । तद्गुणसंविज्ञाने चोभयेषां प्राधान्यं प्रसज्येत ।

---

१ –त्वात्तदुभ– ता०, श्र० । २ जीवभव्यत्वाभव्यत्वास्तित्वादीनामुपलक्षणार्थस्ततस्तेषां प्राधान्यं स्यादित्यर्थः । ३ बहुव्रीहेरन्यपदार्थत्वादस्तित्वादीनां प्राधान्यं स्यादित्यर्थः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीह्यङ्गीकारे जीवत्वादीनामप्राधान्यं न स्यादिति वदन्तं प्रत्याह । सर्वादीनि सर्वनामानीत्यादिकं तद्गुणसंविज्ञानस्योदाहरणम्, पर्वतादीनि क्षेत्रादीनीत्यादिकमतद्गुणसंविज्ञानस्योदाहरणम् ।

सान्निपातिकभावोपसंख्यानमिति चेत्; न; अभावात् ।२१। स्यादेतत्–[1]आर्षे सान्निपातिकभाव उक्तः, स इहोपसंख्यातव्य इति; तन्न; किं कारणम् ? अभावात् । नहि षष्ठो भावोऽस्ति ।

मिश्रशब्देनाक्षिप्तत्वाच्च ।२२। यद्यप्यसौ विद्यते मिश्रशब्देनासावाक्षिप्तः । ननु च मिश्रशब्दः क्षायोपशमिकसंग्रहार्थो न सान्निपातिकग्रहणार्थ इति ? उच्यते–चशब्दवचनात् । 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रो जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' इति सिद्धे यन्मिश्रशब्दसमीपे चशब्दकरणं तेन ज्ञायते मिश्रशब्देनोभयमुच्यते इति । मिश्रश्च कः ? क्षायोपशमिको भावः सान्निपातिकश्चेति[2]। इदमयुक्तं वर्तते । किमत्रायुक्तम् ? यद्यस्ति सान्निपातिको भावः 'अभावात्' इति विरुध्यते । अथ नास्ति; कथमार्षे सान्निपातिको भाव उक्तः ? कस्य वा मिश्रशब्देनाक्षेपः ? नैष दोषः; सान्निपातिक एको भावो नास्तीति 'अभावात्' इत्युच्यते, संयोगभङ्गापेक्षया अस्तीत्यार्षं वचनम् । तत्राभावपक्षे आदिसूत्रे पूर्वोक्तानुकर्षणार्थश्चशब्द उक्तः, भावपक्षे सान्निपातिकप्रतिपादनार्थश्चशब्दः । पूर्वोक्तानुकर्षस्तु[3] अपेक्षया वेदितव्यः ।

अथार्षोक्तः सान्निपातिकभावः कतिविध इति ? अत्रोच्यते–षड्विंशतिविधः षड्त्रिंशद्विध एकचत्वारिंशद्विध इत्येवमादिरागमे उक्तः । तत्र–

*"[4]दुग तिग चदु पंचेव य संयोगा होंति सन्निवादेसु ।
दस दस पंच य एक्क य भावा छव्वीस पिंडेण[5] ॥" [ ]

द्विभावसंयोगेन दश–औदयिकं परिगृह्यौपशमिकादिचतुष्टयस्य चैकैकत्यागेन प्रथमे [6]द्विभेदभावसंयोगे चत्वारो भङ्गाः । तत्रैक औदयिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तक्रोधः । द्वितीय औदयिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणकषायः । तृतीय औदयिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः पञ्चेन्द्रियः । चतुर्थ औदयिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम[6] लोभी जीवः । द्वितीयद्विभावसंयोगे औदयिकं परित्यज्यौपशमिकपरिग्रहात् क्षायिकादिभावत्रयस्यैकैकत्यागेन त्रयो भङ्गाः । तत्रैक औपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तलोभः क्षीणदर्शनमोहत्वात् क्षायिकसम्यग्दृष्टिः । द्वितीय औपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमान आभिनिबोधिकज्ञानी । तृतीय औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमायो भव्यः । तृतीयद्विभावसंयोगे औपशमिकं परित्यज्य क्षायिकपरिग्रहात् क्षायोपशमिकपारिणामिकयोरेकैकत्यागाद् द्वौ भङ्गौ । तत्रैकः क्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षायिकसम्यग्दृष्टिः श्रुतज्ञानी । द्वितीयः क्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणकषायो भव्यः । चतुर्थद्विभावसंयोगे क्षायिकपरित्यागादेकः क्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम अवधिज्ञानी जीवः । त एते द्विभावसंयोगभङ्गा समुदिताः दश ।

प्रथमत्रिभावसंयोगे औदयिकौपशमिकौ परिगृह्य क्षायिकादिभावत्रयस्यैकैकभावपरिग्रहात् त्रयो भङ्गाः । तत्रैक औदयिकौपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उप-

१ "अधवा सण्णिवादियं पडुच्च छत्तीसभंगा । सण्णिवादिएत्ति का सण्णा ? एक्कम्हि गुणट्ठाणे जीवसमासे वा बहवो भावा जम्हि सण्णिवदंति तेसिं भावाणं सण्णिवादएत्ति सण्णा ।" –ध० टी० भावा० पृ० १९३। २ चशब्देन। ३ –र्षणापेक्ष– अ०, ब०, द०, मु०। ४ द्वित्रिचतुःपञ्चैव च संयोगा भवन्ति सन्निपातेषु। दश दश पञ्च च एकश्च भावाः षट्त्रिंशत् पिण्डेन ॥ ५ द्विभेदसं– आ०, ब०, द० मु०, मू०। ६ –म मनुष्यो जीवः आ०, ब०, द०, मु०।

शान्तमोहः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः । द्वितीय औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तक्रोधो वाग्योगी । तृतीय औदयिकौपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तमानो जीवः । द्वितीयत्रिभावसंयोगे औपशमिकं परित्यज्यौदयिकक्षायिकौ परिगृह्य क्षायोपशमिकपारिणामिकयोरेकैकस्य परिग्रहाद् द्वौ भङ्गौ । तत्रैकः औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणकषायः श्रुतज्ञानी । द्वितीय औदयिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणदर्शनमोहो[1] जीवः । तृतीयत्रिभावसंयोगे औदयिकपरिग्रहादौपशमिकक्षायिकत्यागादेकः औदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः मनोयोगी जीवः । चतुर्थत्रिभावसंयोगे औदयिकं परित्यज्यौपशमिकादिभावचतुष्टयस्यैकैक[2]त्यागाच्चत्वारो भङ्गाः । तत्रैक औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमानः क्षीणदर्शनमोहः काययोगी । द्वितीय औपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तवेदः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भव्यः । तृतीय औपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमानो मतिज्ञानी जीवः । चतुर्थः क्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणमोहः पञ्चेन्द्रियः भव्यः । त एते त्रिभावसंयोगभङ्गाः समुदिता दश ।

चतुर्भावसंयोगेन पञ्च भङ्गा औदयिकादीनामेकैकत्यागात् । तत्रैक औपशमिक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तलोभः क्षीणदर्शनमोहः पञ्चेन्द्रियो जीवः । द्वितीय औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणकषायो मतिज्ञानी भव्यः । तृतीय औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तवेदः श्रुतज्ञानी जीवः । चतुर्थ औदयिकौपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तरागः क्षीणदर्शनमोहो जीवः । पञ्चम औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तमोहः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरवधिज्ञानी ।

पञ्चभावसंयोगेनैकः औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तमोहः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः पञ्चेन्द्रियो जीवः ।

एवं षड्विंशतिविधः सान्निपातिकभावः ।

षड्त्रिंशद्विध उच्यते–द्वयोरौदयिकयोः सन्निपातादौदयिकस्यौ[3]पशमिकादिभिः चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः । तत्र प्रथम औदयिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्रोधी । द्वितीय औदयिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः उपशान्तक्रोधः । तृतीय औदयिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणकषायः । चतुर्थ औदयिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्रोधी मतिज्ञानी । पञ्चम औदयिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यो भव्यः । द्वयोरौपशमिकयोः सन्निपातादौपशमिकस्यौदयिकादिभिश्चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः । तत्रैक औपशमिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशमसम्यग्दृष्टिरुपशान्तकषायः । द्वितीय औपशमिकौदयिकसान्निपाति-

१ क्षायिकसम्यग्दृष्टिरिति यावत् । २ –त्यागे च– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ३ –पशमादिभि– ता०, श्र०, मू०।

कजीवभावो नाम उपशान्तकषायो मनुष्यः । तृतीय औपशामिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तक्रोधः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः । चतुर्थ औपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तकषायः अवधिज्ञानी। पञ्चम औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तदर्शनमोहो जीवः । द्वयोः क्षायिकयोः सन्निपातात् क्षायिकस्य चौदयिकादिभिः चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः । तत्रैकः क्षायिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षायिकसम्यग्दृष्टिः क्षीणकषायः । द्वितीयः क्षायिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणकषायो मनुष्यः। तृतीयः क्षायिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुपशान्तवेदः । चतुर्थः क्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणकषायो मतिज्ञानी । पञ्चमः क्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणमोहो भव्यः । द्वयोः क्षायोपशमिकयोः सन्निपातात् क्षायोपशमिकस्य चौदयिकादिभिश्चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः । तत्रैकः क्षायोपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयतः अवधिज्ञानी । द्वितीयः क्षायोपशमिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयतो मनुष्यः । तृतीयः क्षायोपशमिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयत उपशान्तकषायः । चतुर्थः क्षायोपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयतासंयतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः । पञ्चमः क्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम अप्रमत्तसंयतो जीवः । द्वयोः पारिणामिकयोः सन्निपातात् पारिणामिकस्य चौदयिकादिभिः चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः। तत्रैकः पारिणामिकपारिणामिकसान्निपातिक जीवभावो नाम जीवो भव्यः । द्वितीयः पारिणामिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम जीवः क्रोधी। तृतीयः पारिणामिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम भव्य उपशान्तकषायः । चतुर्थः पारिणामिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम भव्यः क्षीणकषायः । पञ्चमः पारिणामिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयतो भव्यः (भव्यः संयतः) । [1]एते द्विभावसंयोगाः पञ्चविंशतिस्त्रिभावसंयोगभङ्गा दश पूर्वोक्ताः पञ्चभावसंयोगेन चैकः । एते सपिण्डिताः षट्त्रिंशत् ।

[2]पूर्वोक्तचतुर्भावसंयोगोत्पन्न[3]पञ्चभङ्गक्षेपाद् एत एव षड्त्रिंशदेकचत्वारिंशद्भङ्गा भवन्ति । एवमादयोऽन्ये च विकल्पा नेतव्या आगमाविरोधेन ।

औपशमिकाद्यात्मतत्त्वानुपपत्तिः, अतद्भावादिति चेत्; नः तत्परिणामात् ।२३। स्यान्मतम्—य एत औपशमिकादयो भावा एतेषामात्मतत्त्वव्यपदेशो नोपपद्यते । कुतः ? अतद्भावात् । सर्वे हि ते पौद्गलिकाः कर्मबन्धोदयनिर्जरापेक्षत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्परिणामात् । पुद्गलद्रव्यशक्तिविशेषवशीकृत आत्मा तद्रञ्जनः संस्तन्निमित्तं यं यं परिणाममास्कन्दति यदा तदा तन्मयत्वात्तल्लक्षण एव भवति । उक्तं च—

*"**परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयंति पण्णत्तं ।**
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो [5]मुणेयव्वो ॥" [प्रवचनसा० १।८] इति ।

स परिणामोऽन्यद्रव्यासाधारणत्वाद् आत्मतत्त्वमित्याख्यायते ।

---

१ ततस्त एते आ०, ब०, द०, मु० । २ पूर्वोत्पन्न च— आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ३ —गात्पञ्चपञ्चभङ्गसंक्षेपा— आ०, ब०, द०, मु० । ४ परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम् तस्मात् धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः ॥

[1]अमूर्तित्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेत्; न; तद्वद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत् ।२४। अथ मतमेतत्-अमूर्तिरात्मा कर्मपुद्गलैर्नाभिभूयते ततस्तत्परिणामाभाव इति ? तन्न; किं कारणम् ? तद्वद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेः । सोऽस्य अनादिकर्मबन्धसन्तानोऽस्तीति तद्वान्, तद्वतो विशेषसामर्थ्यं तद्वद्विशेषसामर्थ्यम् । कथम् ? चैतन्यवत् । यथा अनादिपारिणामिकचैतन्यवशीकृत आत्मा तद्वान्, तस्य तद्वतश्चैतन्यवतः नारकादिमत्यादिपर्यायविशेषवृत्तिरपि चेतना, तथा अनादिकार्मणशरीराक्तत्वात्[2] कर्मवत् आत्मनो मूर्तिमत्त्वात् गत्यादि[3]मत्यादिपर्यायविशेषसामर्थ्योपलब्धिरपि मूर्तिमतीति । एवं सति नामूर्तिरात्मा । किञ्च,

अनेकान्तात् ।२५। अनादिकर्मबन्धसन्तानपरतन्त्रस्यात्मनः [4]अमूर्तत्वं प्रत्यनेकान्तः—बन्धपर्यायं प्रत्येकत्वात् स्यान्मूर्त्तिः, तथापि ज्ञानादिस्वलक्षणापरित्यागात् स्यादमूर्त्तिः, इत्यादि पूर्ववत् । यस्यैकान्तेनाऽमूर्त्तिरेवात्मा भवेत्; तस्यायं दोषो नार्हतस्य । किञ्च,

सुराभिभवदर्शनात् ।२६। मदमोहविभ्रमकरीं सुरां पीत्वा नष्टस्मृतिर्जनः काष्ठवदपरिस्पन्द उपलभ्यते, तथा [5]कर्मोदयाभिभवादात्मा अनाविर्भूतस्वलक्षणो मूर्त इति निश्चीयते ।

करणमोहकरं मद्यमिति चेत्; न; तद्विविधकल्पनायां दोषोपपत्तेः ।२७। स्यादाकूतम्—चक्षुरादीनां करणानां व्यामोहकारणं मद्यं पृथिव्यादिभूतप्रसादात्मकत्वात् इन्द्रियाणां नात्मगुणस्य [6]अमूर्तित्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? तद् द्विविधकल्पनायां दोषोपपत्तेः । इदमिह संप्रधार्यम्—तानि करणानि चेतनानि वा स्युः, अचेतनानि वा ? यद्यचेतनानि; अचेतनत्वात्तेषां न मदकरं मद्यम् । यदि स्यात्; प्रागेव स्वभाजनानां मदकरं स्यात् । अथ चेतनानि; पृथगनुपलब्धचैतन्यस्वभावानां पृथिव्यादीनां चेतनाद्रव्यसंबन्धत्वादेव चैतन्यव्यपदेश इत्यात्मगुणस्यैव मोहकरत्वं सिद्धम् ।

अथ मतमेतत्—पृथिव्यादीनामेव संयोगविशेषे सति पिष्टकिण्वोदकादि[7]समाहारे मदशक्तिव्यक्तिवत् सुखदुःखाद्यभिव्यक्तिरिति; नैतद्युक्तम्; रूपादिवैधर्म्यात् । रूपादयो हि पृथिव्यादिगुणाः सन्तो विभक्तेष्वविभक्तेषु[8] च क्रमेणैव हानिमास्कन्दन्ति । न च तथा शरीरावयवेषु विभक्तेष्वविभक्तेषु च सुखादीनां क्रमेणैव हानिः, युगपच्चोपलभ्यते, तस्मान्न पृथिव्यादिगुणाः ।

किञ्च, यदि पृथिव्यादिगुणाः सुखादयो [9]ननु शवशरीरावस्थायामप्युपलभ्येरन् रूपादिवत् । सूक्ष्मभूतापगमान्नोपलब्धिरिति चेत्; भूयसां[10] स्थूलानां संभवात् तदुपलब्धिः स्यात् ।

किञ्च, तदपाये तदनुपलब्धेस्तेषामेव[11] ते[12] गुणा इति[13]; समुदायधर्मत्वाभावात् मद्यदृष्टान्तायुक्तिः ।

किञ्च, भूतसूक्ष्मास्तित्व (सूक्ष्मभूतास्तित्व) सिद्धिवद् आत्मसिद्धिरपि स्यात् ।

अथवा, तान्यन्तःकरणानि वा स्युः, बहिःकरणानि वा ? यदि बहिःकरणानि; तेषामचेतनत्वात् व्यामोहाभावः । अथान्तःकरणानि; तेषामपि चेतनत्वम्, अचेतनत्वं वा स्यात्?

---

१ अमूर्तत्वा— आ०, ब०, द०, मु०, श्र०, ता० । २ —रात्मकत्वात् श्र० । —रात्मत्वात् ता० । —राशक्तत्वात् मु०, ब० । —अशक्तत्वात् आ० । ३ —दिप— आ०, ब०, द०, मु० । ४ अमूर्ति प्रति मु० । अमूर्तित्वं प्रति आ०, ब०, द०, मू० । ५ कर्मेन्द्रियाभि— आ०, ब०, द०, मु० । ६ कुतः । ७ सुराबीजगुडादि । ८ लतादार्वादिषु । ९ नवशव— आ०, ब०, द०, मु०, मू०, । १० शरीरावयवानाम् । ११ सूक्ष्मभूतानाम् । १२ सुखादयः । १३ चेत्; ।

अचेतनत्वे पूर्ववन्मोहाभावः । चेतनत्वे विज्ञानरूपत्वाद् व्यामोहो युक्तः, न युक्तम्–'अमूर्तत्वादभिभवाभावः' इति ।

यद्येवं कर्मोदयमद्यावेशवशीकृतस्य तस्यास्तित्वं दुरुपलक्ष्यम् ? नैष दोषः; [1]तदावेशेऽपि [2]स्वलक्षणत्वेनोपलब्धिर्भवति । उक्तञ्च––

***"बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं ।**
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स[3] ॥" [ ]

यद्येवं तदेव तावदुच्यतां लक्षणं यत्सन्निधानाद् बन्धपरिणामं प्रत्यविवेकेऽपि सति विभागोऽवगृह्यते जीवस्येति ? अत आह––

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

उपयोग इत्युच्यते । क उपयोगो नाम ?

बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ।१। द्विविधो हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च । द्वाववयवौ यस्य स द्वयः[4] । ननु च स्वरूपनिर्देशादेव द्वित्वप्रतीतेर्द्वयवचनमनर्थकम्; नानर्थकम्; प्रत्येकं द्वैविध्यसंप्रत्ययार्थम्–बाह्यो हेतुर्द्वय आभ्यन्तरश्चेति । तत्र बाह्यो हेतुर्द्विविधः–आत्मभूतोऽनात्मभूतश्चेति । तत्रात्मना[5] संबन्धमापन्नविशिष्टनामकर्मोपात्तपरिच्छिन्नस्थानपरिमाणनिर्माणश्चक्षुरादिकरणग्राम आत्मभूतः । प्रदीपादिरनात्मभूतः । आभ्यन्तरश्च द्विविधः–अनात्मभूत आत्मभूतश्चेति । तत्र मनोवाक्कायवर्गणालक्षणो[6] द्रव्ययोगः चिन्ताद्यालम्बनभूतः अन्तरभिनिविष्टत्वादाभ्यन्तर इति व्यपदिश्यमान आत्मनोऽन्यत्वादनात्मभूत इत्यभिधीयते । तन्निमित्तो भावयोगो वीर्यान्तरायज्ञान[7]दर्शनावरणक्षयक्षयोपशमनिमित्त आत्मनः प्रसादश्चात्मभूत इत्याख्यामर्हति । तस्यैतस्य हेतुविकल्पस्य यथासंभवमुपलब्धुः सन्निधानं भवति । तद्यथा–प्रदीपादेस्तावत् केषाञ्चित् सन्निधानं तेन विना चक्षुरादिविज्ञानाप्रवृत्तेः, केषाञ्चित्तु द्वीपिमार्जारादीनां तमन्तरेणाप्युपलब्धेरनियमः । चक्षुरादीनामपि पञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियैकेन्द्रियविषयत्वेन [8]सन्निधानाऽसन्निधानं प्रत्यनियमः । अन्तः करणमपि[9] असंज्ञिनां मनोवर्जितम्, संज्ञिनां त्रितयम्, एकेन्द्रियाणां विग्रहगतिमुपगतानां[10] समुद्घातगतानां च सयोगकेवलिनामेक एव काययोगः, भावयोगश्च तत्कृतः, तत्र तत्र नियतः क्षयोपशमश्च आक्षीणकषायात् । अत ऊर्ध्वं क्षय इति । एवं यथासंभवं सन्निधाने सति । चैतन्यमात्मनः स्वभावोऽनादिः तमनुविदधातीत्येवंशीलश्चैतन्यानुविधायी [11]सुवर्णस्वभावानुविधायी (यि) कटकाङ्गदकुण्डलादिविकारवत् । स एवं प्रकार आत्मनः परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते ।

अत्र [12]कश्चिदाह–चैतन्यं सुखदुःखमोहरूपं तदनुविधायिना परिणामेन सुखदुःखक्रोधादिना भवितव्यम्, उत्तरत्र च उपयोगप्रकारा ज्ञानदर्शनविकारा वक्ष्यन्ते, तदिदं पूर्वापरविरुद्धमाल-

---

१ कर्मोदयावेशेऽपि । २ स्वलक्षणे चोप– श्र०, ता०, मू०, द० । स्वलक्षणेनोप– आ०, ब० । ३ बन्धं प्रत्येकत्वं लक्षणतो भवति तस्य नानात्वम् । तस्मादमूर्तिभावो नैकान्तो भवति जीवस्य ।। उद्धृतेयं स० सि० २।७ । ४ द्वित्रिभ्यां तयुस्वेति युटो लुक् । ५ सह । ६ अकर्मकर्मनोकर्मजातिभेदेषु वर्गणा । ७ श्रुतज्ञान । ८ सन्निधानं प्रत्य– आ०, ब०, द०, मु० । ९ अपिशब्देन बाह्यकरणं चक्षुरादिकं यथायोग्यं योज्यम् । १० जीवानाम् । ११ सुवर्णाभावानु–आ० ब०, द०, मु० । १२ सांख्यः –सम्पा० ।

क्ष्यत इति; नैष दोषः; चैतन्यं नामात्मधर्मः सामान्यभूतः, यस्याऽसन्निधानादितरेषु द्रव्येषु जीवव्यपदेशो नास्ति, यद्भेदाश्चैते ज्ञानदर्शनादयः, तेषां समुदाये वर्तमानश्चैतन्यशब्दः क्वचिदवयवेऽपि सुखादौ वर्तते–***"समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा[1] अवयवेष्वपि वर्तन्ते"** [पात० महा० पस्पशा०] इति । इह पुनः समुदाय एव वर्तमानः परिगृहीतः, उत्तरत्र च तद्भेदा ज्ञानदर्शनविकारा वक्ष्यन्ते इति नास्ति विरोधः । अथ किं लक्षणम् ?

परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम् ।२। बन्धपरिणामानुविधानात् [2]परस्परप्रदेशानुप्रवेशाद् व्यतिकीर्णस्वभावत्वेऽपि सत्यन्यत्वप्रतिपत्तिकारणं लक्षणमिति समाख्यायते । यथा सुवर्णरजतयोः सत्यपि बन्धं प्रत्येकत्वे वर्णप्रमाणादिरसाधारणो धर्मः[3] अजहदुपलभ्यते उत्तरकालं सति विवेके तद्दर्शनात्, तथा पुद्गलद्रव्येण बन्धं प्रत्यविभागेऽपि विभागहेतुः ज्ञानादिरुपयोगो लक्षणं भवति ।

तल्लक्षणं द्विविधम्–आत्मभूताऽनात्मभूतभेदात् उष्णदण्डवत् ।३। तदेतल्लक्षणं द्विविधम्–आत्मभूतमनात्मभूतञ्चेति । तत्र आत्मभूतमग्नेरौष्ण्यम्, अनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डः । इह आत्मभूतं लक्षणमुपयोगः ।

गुणगुणिनोरन्यत्वमिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।४। स्यादेतत्–औष्ण्यं गुणोऽग्निर्गुणी तथा च आत्मा गुणी ज्ञानादिर्गुण इति । तयोश्च लक्षणभेदादन्यत्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्[4]–'अतस्त्वाभाव्येऽनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत्' इत्यादि ।

लक्ष्यलक्षणभेदादिति चेत्; न; अनवस्थानात् ।५। अथ मतमेतत्–लक्ष्यो गुणी गुणो लक्षणम्, लक्ष्याच्च लक्षणेनार्थान्तरभूतेन भवितव्यमित्यतोऽनयोरन्यत्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? अनवस्थानात् । येन लक्षणेन लक्ष्यं लक्ष्यते [5]तत् सलक्षणम्, अलक्षणं वा ? यदि तदलक्षणम्; मण्डूकशिखण्डवदभावमापद्येत । असति च तस्मिन् लक्ष्यानवधारणम् । अथ सलक्षणम्; तदपि ततोऽन्यत्, तदपि ततोऽन्यदित्यनवस्था स्यात् । किञ्च,

आदेशवचनात् ।६। [6]'लक्ष्यलक्षणयोरव्यतिरेकात् स्यादेकत्वम्, संज्ञादिभेदत्वाच्च स्यान्नानात्वम्' इत्यादेशवचनात् एकान्तदोषानुषङ्गाभावः । कश्चिदाह––

न उपयोगलक्षणो जीवस्तदात्मकत्वात् ।७। इह लोके यद्यदात्मकं न तत्तेनोपयुज्यते यथा क्षीरं क्षीरात्मकं न तत्तेनैवात्मनोपयुज्यते । एवमात्मनोऽपि ज्ञानाद्यात्मकत्वान्न तेनैवोपयोग[7] इति जीवस्योपयोगाभावः । कुतश्च (इतश्च),

विपर्ययप्रसङ्गात् ।८। सति चानन्यत्वे उपयोगमिच्छ[8]तोऽनिच्छतश्च[9] कस्यचिद्विपर्ययः प्राप्नोति । कथम् ? अविपर्ययवत्[10]। तद्यथा–'जीव एव ज्ञानादनन्यत्वे सति ज्ञानात्मनोपयुज्यते' इति मन्यसे न क्षीरादयः क्षीराद्यात्मभिः; एवं क्षीरादय एव क्षीराद्यात्मभिः परिणमेयुः, [11]न तु जीवो ज्ञानात्मनोपयुज्यते । अनिष्टं चैतत् ।

न; अतस्तत्सिद्धेः ।९। नैतद्युक्तम् । कुतः ? अतस्तत्सिद्धेः । यत एवानन्यत्वमत एवोपयोगः सिद्धः । नहि अत्यन्तमन्यत्वे उपयोगः सिद्धयति आकाशस्य रूपाद्युपयोगाभाववत्[12]। ननु चोक्तम्–

---

१ अङ्गं प्रति कोऽवयव इत्यादयः । २ परस्परप्रवेशा– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –धर्मः अलक्षणमुपयोगो गुण– आ०, ब०, द०, मु० । ४ पृ० ५ । ५ तत्सल्लक्ष– मु० । ६ लक्ष्यस्तेलक्षणानुपपत्तिलक्ष्याभावात् भा० १ । ७ परिणमनम् । ८ आत्मनः । ९ क्षीरस्य । १० विपर्ययाभाववत् । ११ ननु जीवो ज्ञानात्मना नोप– आ०, ब०, द०, मु० । १२ –भावात् ननु आ०, ब०, द०, मु० ।

'यथा क्षीरं क्षीरात्मकं न तत्तेनात्मनोपयुज्यते' इति; न; अतस्तत्सिद्धेरित्येव[1]। यथा तृण-जलादिकारणवशात् क्षीरभावाभिमुखं[2] क्षीरं[3] क्षीरव्यपदेशभाक् तच्छक्त्यव्यतिरेकात् 'क्षीरात्मना परिणमति' इत्युच्यते, तथा आत्मापि ज्ञानादिस्वभावशक्तिप्रत्ययवशात् घटपटाद्याकारावग्रहरूपेण परिणमतीत्युपयोगः सिद्धः। इतरथा ह्यतद्भावे तद्भावाऽभावादुपयोगाभावः स्यात्। किञ्च,

उभयथापि त्वद्वचनासिद्धेः।१०। अनेकान्तवादप्रवणमार्हन्त्यन्यायमविज्ञाय यदुपादिक्षत् भवान्–'यद्यदात्मकं न तस्य तेनैव परिणामः' इति; नन्वेवमुभयथापि त्वदीयस्य वचसोऽसिद्धिः। तद्यथा–तदात्मकानुपयोगवादिनः स्ववचसः स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मकस्य स्वपक्षपरपक्षयोः साधकत्वदूषकत्वापरिणामात् यत्रोपदिष्टः तत्रासाधकस्ते[4]ऽयं हेतुः। यथा क्षीरस्य दधित्वेन परिणाम इष्यते न क्षीरत्वेनैव, तथैव त्वद्वचसः स्वपक्षसाधनात्मकस्य तेनैवापरिणामाद् दूषकत्वेन परिणाम एषितव्यो न साधकत्वेन। अस्यैव च परपक्षदूषकात्मकस्य तेनैवापरिणामात् साधकत्वेन परिणाम एषितव्यो न दूषकत्वेन। अतः 'तदात्मकत्वेऽनुपयोगात्' इति त्वद्वचनासिद्धिः। अथ त्वद्वचनं स्वपरपक्षसाधकदूषकात्मकमपि सत् स्वपरपक्षयोः साधकदूषकपर्यायाभ्यां परिणमति; नन्वेवमपि यदवोचद्भवान्–'तदात्मकत्वेऽनुपयोगान्न तस्य तेनैव परिणामः' इति; तदसत्। किञ्च,

स्वसमयविरोधात्।११। यदि 'यद्यदात्मकं न तत्तेनैव परिणमति' इतीष्टं वः; ननु पृथिव्यप्तेजोवायुमहाभूतानां रूपाद्यात्मकत्वात् रूपाद्यात्मना अविपरिणामः स्यात्। इष्यते च शुक्लादिरूपादिविशेषपरिणामः। अतः स्वसमयविरोधः। किञ्च,

केनचिद्विज्ञानात्मकत्वात्।१२। यस्यैकान्तेन ज्ञानात्मक आत्मा स्यात्, तस्य ज्ञानात्मना परिणामाभावः परिणतत्वात्। आर्हतस्य तु केनचिद्विज्ञानात्मकः तत्पर्यायादेशात्, केनचिदन्यात्मक इतरपर्यायादेशादिति कथञ्चित्तदात्मकत्वात् केनचिदतदात्मकत्वात् परिणामसिद्धिः। यदि चैकान्तेन ज्ञानात्मक एव स्यादितरात्मक एव वा; तद्भावाविरामः[5] स्यात्। विरामे चात्मनोऽपि विरामः प्रसक्तः। किञ्च,

तदात्मकस्य तेनैव परिणामदर्शनात् क्षीरवत्।१३। यथा क्षीरं द्रवमधुरादिक्षीरस्वभावमजहद् गुडादिद्रव्यसंबन्धाद् गुडक्षीरादिपरिणामान्तरमास्कन्दति, गवादेः स्तनान्तरनिर्गतमात्रं चोष्णं पुनः शीतं भवति, पुनश्चाग्निद्रव्यसंबन्धादुष्णं घनं च भवति, तदभावे च शीतमिति क्षीरजातिमजहदुष्णक्षीरादिव्यपदेशभागिति क्षीरं क्षीरात्मनैव परिणतम्। यदि क्षीरं क्षीरात्मना न परिणमेत्; तत्र तत्र क्षीरव्यपदेशाभावः स्यात्। तथोपयोगात्मक आत्मा उपयोगस्वभावमजहज्ज्ञानाद्यात्मना[6] परिणाममियर्तीति नास्ति विरोधः। अतश्चैतदेवं[7] यदि हि न स्यात्;

निःपरिणामत्वप्रसङ्गोऽर्थस्वभावसंकरो वा।१४। यदि यद्यदात्मकं तस्य तेनापरिणामः स्यात्; भावानां निष्परिणामत्वप्रसङ्गः। ततश्च सर्वथा नित्यत्वे क्रियाकारकव्यवहारलोपः स्यात्। [8]परिणामवत्त्वे च [9]परात्मना परिणामात् सर्वपदार्थस्वभावसंकरप्रसङ्गः स्यात्। [10]अथैतदुभयं नेष्यते; सिद्धः स्वेनात्मना परिणामः। कश्चिदाह–

१ उत्तरम्। २ द्रव्यम्। ३ द्रव्यक्षीरमित्यर्थः। ४ तव। ५ अपर्यवसानः। ६ ज्ञानात्मना आ०, ब,० मु०। आदिशब्देन सुखादि। ७ जीवादिद्रव्यं ज्ञानादिपरिणामरूपम्। ८ परिणामत्वे ता०। ९ घटादिपटादिस्वरूपेण। १० अपरिणामः पररूपपरिणामश्चेति द्वयम।

[1]उपयोगस्य लक्षणत्वानुपपत्तिर्लक्ष्याभावात्।१५। इह लोके सतो लक्ष्यस्य लक्षणं भवति यथा सतो देवदत्तस्य दण्डादिः। न चासतः शशविषाणादेः किञ्चिल्लक्षणमस्ति। तथा स एवात्मा लक्ष्यो दुरुपपादः[2]। तदभावात् कुत उपयोगस्य लक्षणत्वमिति ? तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

तदभावश्चाकारणत्वादिभिः।१६। तस्य लक्ष्यस्यात्मनोऽभावः। कुतः ? अकारणत्वादेः मण्डूकशिखण्डवत्।

सत्यपि लक्षणत्वानुपपत्तिरनवस्थानात्।।१७। सत्यप्यात्मनि लक्ष्ये उपयोगस्य लक्षणत्वं नोपपद्यते। कुतः? अनवस्थानात्। उपयोगो हि ज्ञानदर्शनस्वभावः, स चानवस्थितः क्षणिकत्वात्। न चानवस्थितं लक्षणं भवति। तदपाये तदनुपलब्धेः, यथा 'कतरद्देवदत्तस्य गृहम् ? अधो यत्रासौ काकः' इत्युत्पतिते काके [3]नष्टं तद्गृहं भवति तथा ज्ञानादिलक्षणस्यात्मनस्तदभावे अभावः प्राप्नोति इति।

अत्रोच्यते––

आत्मनिह्नवो न युक्तः साधनदोषदर्शनात्।१८। इहात्मनो निह्नवो न युक्तः। कुतः ? साधनदोषदर्शनात्।

यत्तावदुक्तम्––'नास्त्यात्मा अकारणत्वात् मण्डूकशिखण्डवत्' इति; हेतुरयमसिद्धो विरुद्धोऽनैकान्तिकश्च। कारणवानेवात्मा इति निश्चयो नः[4], नरकादिभवव्यतिरिक्तद्रव्यार्थाभावात्, तस्य च मिथ्यादर्शनादिकारणत्वादसिद्धता। अत एव द्रव्यार्थाभावात्[5] पर्यायस्य च पर्यायान्तरानाश्रयत्वाद् आश्रयाभावादप्यसिद्धता[6]। अकारणमेव ह्यस्ति सर्वं घटादि, तेनायं[7] द्रव्यार्थिकस्य विरुद्ध एव। सतोऽकारणत्वात्[8], यदस्ति तन्नियमेनैवाकारणम्, न हि किञ्चिदस्ति[9] च कारणवच्च। यदि तदस्त्येव किमस्य कारणेन नित्यनिर्वृत्तत्वात् ? कारणवत्त्वं चासत एव कार्यार्थत्वात् कारणस्येति विरुद्धार्थता। मण्डूकशिखण्डकादीनाम् [10]असत्प्रत्ययहेतुत्वेन परिच्छिन्नसत्त्वानामभ्युपगमात्तेषां च कारणाभावात् [11]उभयपक्षवृत्तेरनैकान्तिकत्वम्।

दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनोभयधर्मविकलः। [12]कर्मविशेषवशात् नानाजातिसंबन्धमापन्नवतो जीवतो जीवस्य मण्डूकभावाप्तौ तद्व्यपदेशभाजः पुनर्युवतिजन्मन्यवाप्ते 'यः शिखण्डकः[13] स एवायम्' इत्येकजीवसंबन्धित्वात्[14] मण्डूकशिखण्ड इत्यस्ति। पुद्गलद्रव्यस्याप्यनाद्यनन्तपरिणामस्य युवतिभुक्ताहारादिकेशभावपरिणामाच्छिखण्डनिष्पत्तेः कारणत्वमिति नास्तित्वाकारणत्वधर्माभावात्। एवं वन्ध्यापुत्र-शशविषाणादिष्वपि योज्यम्।

आकाशकुसुमे कथम् ? तत्रापि यथा वनस्पतिनामकर्मोदयापादितविशेषस्य वृक्षस्य जीवपुद्गलसमुदायस्य [15]पुष्पमिति व्यपदिश्यते, अन्यदपि पुद्गलद्रव्यं पुष्पभावेन परिणतं तेन व्याप्तत्वात्, एवमाकाशेनापि व्याप्तत्वं समानमिति तत्तस्यापीति व्यपदेशो युक्तः। अथ तत्कृतोपकारापेक्षया तस्येत्युच्यते; आकाशकृतावगाहनोपकारापेक्षया कथं तस्य न स्यात् ? वृक्षात् प्रच्युतमप्याकाशान्न प्रच्यवते इति नित्यं तत्संबन्धि। [16]अथ अर्थान्तरभावात्तस्य न

१ उपयोगलक्षणानुप– आ०, ब०, द०, मु०। २ अशक्यसमर्थनः। ३ न दृष्टम्। ४ स्याद्वादिनाम्। ५ आत्माभावादित्यर्थः। ६ आश्रयासिद्धतेति यावत्। ७ हेतुः। ८ निष्पन्नावस्थायां कुलालाद्यभावात्। ९ अनुत्पन्नस्यैव कारणवत्त्वम्। १० नास्तीति ज्ञानस्य। ११ अस्तित्वनास्तित्वेति। १२ कर्मोद्रेक। १३ बसः। १४ –सम्बन्धत्वात् आ०, ब०, द०, मु०। १५ स्वस्वामिसम्बन्धे। १६ अर्था– आ०,ब०, द०, मु०।

स्यादिति मतम्; वृक्षस्यापि न स्यात्। सर्वत्रैवात्र नामाद्यपेक्षया संबन्धो योजयितव्यः। बहिरङ्गार्थाकारपरिणतविज्ञानविषयत्वापेक्षया वा दोषोद्भावनमूहितव्यम्।

यदप्युच्यते—नास्त्यात्मा अप्रत्यक्षत्वाच्छशशृङ्गवदिति; अयमपि न हेतुः असिद्धविरुद्धानैकान्तिक[1]त्वाऽप्रच्युतेः। सकलविषयकेवलज्ञानप्रत्यक्षत्वाच्छुद्धात्मा प्रत्यक्षः, कर्मनोकर्मबन्धपरतन्त्रपिण्डात्मा च अवधिमनःपर्ययज्ञानयोरपि प्रत्यक्ष इति 'अप्रत्यक्षत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः। इन्द्रियप्रत्यक्षत्वाभावादप्रत्यक्ष इति चेत्; न; तस्य परोक्षत्वाभ्युपगमात्। अप्रत्यक्षा घटादयोऽग्रा[2]हकनिमित्तग्राह्यत्वाद् धूमाद्यनुमिताग्निवत्। अग्राहकमिन्द्रियं तद्विगमेऽपि गृहीतस्मरणात् गवाक्षवत्। किञ्च, प्रत्यक्षादन्योऽप्रत्यक्ष इति पर्युदासो वा स्यात्, प्रत्यक्षो न भवतीत्यप्रत्यक्ष इति प्रसज्यप्रतिषेधो वा? यदि पर्युदासः; अन्यत्वस्य द्विष्ठत्वाद्वस्तुत्वसिद्धेः नास्तित्वविरोध्यस्तित्वसाधनाद्विरुद्धः। अथ प्रसज्यप्रतिषेधः; सति प्रतिषेध्ये[3] प्रतिषेधसिद्धेः विधिविषयसिद्धिरिति कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः पुनरप्यसिद्धता। असति च शशशृङ्गादौ सति च विज्ञानादौ अप्रत्यक्षत्वस्य वृत्तेरनैकान्तिकता। अथ विज्ञानादेः स्वसंवेद्यत्वात् योगिप्रत्यक्षत्वाच्च हेतोरभाव इति चेत्; आत्मनि कोऽपरितोषः? दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनोभयधर्मविकलः पूर्वोक्तेन विधिना अप्रत्यक्षत्वस्य नास्तित्वस्य चासिद्धेः।

किञ्च, सर्वस्य वागर्थस्य विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्, न हि किञ्चिद्वस्तु सर्वनिषेधगम्यमस्ति। अस्ति त्वेतत्[4] उभयात्मकम्, यथा कुरवका रक्तश्वेतव्युदासेऽपि नाऽवर्णा भवन्ति नापि रक्ता एव श्वेता एव वा प्रतिषिद्धत्वात्। एवं वस्त्वपि परात्मना नास्तीति प्रतिषेधेऽपि स्वात्मना अस्तीति सिद्धम्। तथा चोक्तम्—

"अस्तित्वमुपलब्धिश्च कथञ्चिदसतः [5]स्मृतेः।
नास्तितानुपलब्धिश्च कथञ्चित्सत एव ते ॥१॥
सर्वथैव सतो नेमौ धर्मौ सर्वात्मदोषतः।
सर्वथैवाऽसतो नेमौ वाचां गोचरताऽत्ययात् ॥२॥" [ ] इति।

नास्तित्वाप्रत्यक्षत्वाभ्यामपि[6] रहितं तदवस्त्विति[7] धर्म्यसिद्धिश्च। एवमन्येऽपि हेतव एकान्तवादिभिरुपनीता दोषवत्तयोत्प्रेक्ष्याः। तदस्तित्वं च साध्यते—

ग्रहणविज्ञानासंभविफलदर्शनाद् गृहीतृसिद्धिः ।१९। यान्यमूनि ग्रहणानि पूर्वकृतकर्मनिर्वर्तितानि[8]हिरुक्कृतस्वभावसामर्थ्यजनितभेदानि रूपरसगन्धस्पर्शशब्दग्राहकाणि चक्षूरसनघ्राणत्वक्श्रोत्राणि। [9]यानि च ज्ञानानि तत्सन्निकर्षजानि तानि[10], तेष्वसंभविफलमुपलभ्यते। किं पुनस्तत्? आत्मस्वभावस्थानज्ञानविषयसम्प्रतिपत्तिः। तदेतद् ग्रहणानां[11] तावन्न संभवति; अचेतनत्वात्, क्षणिकत्वाच्च। विज्ञानानां च न संभवति, एकार्थग्राहित्वादुत्पत्त्यनन्तरनिरोधाच्च। दृश्यते चेदम्। अकस्माच्च न भवतीति तत्प्रत्तिपत्तिपतिना[12] ततो व्यतिरिक्तेन केनचिद्भवितव्यमिति गृहीतृसिद्धिः। किञ्च,

---

१ —कताप्र— आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ अनियतकारण। ३ वस्तुनि। ४ वस्तु। ५ अनुभवात्। ६ धर्मास्थाम्। ७ अथ परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षं साधयति तदित्यादिना। ८ पृथक्कृत। हिरुक् नाना च वर्जने इत्यभिधानात्। हिरुक्कृतपृथक्कृतस्वभाव— ब०, ता०, मू०, द०। नानास्वभाव— ता०, टि०। हिरुक्सहकृतपृथक्कृतस्व— आ०। ९ एतानि च आ०, ब०, द०, मु०। १० —र्षजनितानि आ०, ब०, द०, मु०। ११ इन्द्रियाणाम्। १२ —त्तिपटुना आ०, ब०, द०, मु, मू०। पटुना इति वा पाठः —श्र०।

अस्मदात्मास्तित्वप्रत्ययस्य सर्वविकल्पेष्विष्टसिद्धेः ।२०। योऽयमस्माकम् 'आत्माऽस्ति' इति प्रत्ययः स संशयानध्यवसायविपर्ययसम्यक्प्रत्ययेषु यः कश्चित् स्यात्, सर्वेषु च विकल्पेष्विष्टं सिध्यति। न तावत्संशयः; निर्णयात्मकत्वात्। सत्यपि संशये तदालम्बनात्मसिद्धिः[1]। न हि अवस्तुविषयः संशयो भवति। नाप्यनध्यवसायो जात्यन्धबधिररूपशब्दवत्; अनादिसंप्रतिपत्तेः। स्याद्विपर्ययः; एवमप्यात्मास्तित्वसिद्धिः पुरुषे स्थाणुप्रतिपत्तौ स्थाणुसिद्धिवत्। स्यात्सम्यक्प्रत्ययः; अविवादमेतत्—आत्मास्तित्वमिति सिद्धो न पक्षः।

सन्तानादिति चेत्; न; तस्य संवृतिसत्त्वात्, द्रव्यसत्त्वे वा संज्ञाभेदमात्रम् ।२१। स्यान्मतम्—सन्तानो नाम कश्चिदर्थोऽस्ति एकोऽनेकक्षणवृत्तिः, तदाश्रयं ग्रहणविज्ञानात्मस्वभावस्थानादिसंप्रतिपादनमिति[2]; तन्न; किं कारणम्? तस्य संवृतिसत्त्वात्। स हि सन्तानः [3]संवृतिसन्, तस्मिन्नसति कल्पितात्मनि[4] कथं [5]स्यात्तद्विशेषप्रत्ययः? अथ द्रव्यसत्त्वमस्यावसीयते; संज्ञाभेदमात्रम्—आत्मा सन्तान इति नार्थविप्रतिपत्तिः।

[6]यदप्युक्तम्—'सत्यपि लक्षणत्वानुपपत्तिरनवस्थानात्' इति, कथञ्चिदवस्थानादुपयोगस्य लक्षणत्वोपपत्तिः। न हि सर्वथा विनाशोऽवस्थानं वोपयोगस्याभ्युपगम्यते। किं तर्हि? कथञ्चिद्विनाशः कथञ्चिदवस्थानं च। पर्यायार्थादेशात् सतोऽर्थस्यानुपलब्धेर्विनाशो द्रव्यार्थादेशादवस्थानमिति असकृत्परीक्षितमेतत्[7]। तस्मादुपयोगस्य लक्षणत्वमुपपद्यते।

तदुपरमाभावाच्च ।२२। कस्यचिदुपयोगस्योत्पादः कस्यचिद्विनाश इत्युपयोगपरम्परा नोपरमतीति तस्य लक्षणत्वमवसेयम्।

सर्वथा विनाशे पुनरनुस्मरणाभावः ।२३। यदि सर्वथोपयोगस्य विनाशः स्यात्; अनुस्मरणं न स्यात्। अनुस्मरणं हीदं स्वयमनुभूतस्यार्थस्य दृष्टं नाननुभूतस्य नान्येनानुभूतस्य। तदभावात्तन्मूलः सर्वलोकसंव्यवहारो विनाशमुपगच्छेत्।

उपयोगसंबन्धो लक्षणमिति चेत्; न; अन्यत्वे संबन्धाभावात् ।२३। स्यान्मतम्—उपयोगो लक्षणमात्मनो नोपपद्यते। कुतः? अन्यत्वात्। किं तर्हि? तत्संबन्धो लक्षणम्। यथा देवदत्तस्य न दण्डो लक्षणम्, किं तर्हि? संबन्धः। यदि हि दण्डो लक्षणम् [8]असंसक्तोऽपि लक्षणं स्यात्, एवं च कृत्वोक्तम्—*"**क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यलक्षणम्**" [वैशे० १।१।१५] इति; तन्न; किं कारणम्? अन्यत्वे संबन्धाभावात्। द्रव्याद् गुणोऽर्थान्तरभूतो यदि स्यात्; तस्य संबन्धाभाव इत्युक्तं पुरस्तात्। तस्मादात्मभूत उपयोगो लक्षणमिति न कश्चिद्दोषः।

य उक्त उपयोगस्तद्भेददर्शनार्थमाह—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

कथं द्विविधः?

साकारानाकारभेदाद् द्विविधः ।१। साकार उपयोगोऽनाकार उपयोगश्चेति द्विविधः। साकारं ज्ञानम्, अनाकारं दर्शनम्।

---

१ —सिद्धेः आ०, ब०, द०, मु०। २ ज्ञानविषयसम्प्रतिपत्तिः। ३ सं उपचारः वृतिसन् आ०। मिथ्यारूपेण सन् विद्यमानः। ४ स्वरूपे। ५ स्याद्विशे— आ०, ब०, द०, मु०। ६ यदुक्तं आ० ब०, द०, मु०, ता०। ७ —तं त— आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ८ असक्तोऽपि आ०, ब०, द०, मु०।

अभ्यर्हितत्वाज्ज्ञानग्रहणमादौ ।२। ज्ञानं हचभ्यर्हितम् अर्थानां [1]विभावकत्वात्, दर्शनमालोचनमात्रम्, अतस्तस्मात् पूर्वकालभाविनोऽपि दर्शनाज्ज्ञानं प्राग्गृह्यते ।

कथं पुनर्ज्ञायते ज्ञानग्रहणमादौ क्रियत इति ?

संख्याविशेषनिर्देशात्तन्निश्चयः ।३। यतः संख्याविशेषनिर्देशः क्रियते–'अष्टभेदश्चतुर्भेदः' इति, ततस्तस्य निश्चयो वेदितव्यः । ननु च चतुःशब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यम् *"**संख्याया अल्पीयस्याः**" [पा० वा० २।२।३४] इति वचनात्, यथा चतुर्दशेति; नैष दोषः; उक्तमेतत्–'अभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः' इति ।

तत्र ज्ञानोपयोगोऽष्टविधः–मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति । दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः–चक्षुर्दर्शनम् अचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं[2]चेति । एषां च लक्षणादीनि व्याख्यातानि । अवग्रहान्नान्यत् दर्शनमिति चेत्; व्याख्यातमन्यत्वम् । छद्मस्थेषु तयोः क्रमेण वृत्तिः, निरावरणेषु युगपत् ।

यथोक्तेनानेनाहितपरिणामेन[3] सर्वात्मसाधारणेनोपयोगेन[4] ये उपलक्षिता उपयोगिनः ते द्विविधाः–

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः ।१। [5]आत्मनोपचितं कर्माष्टविधं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धभेदभिन्नम्, तद्वशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसार इति ।

उच्यते– द्विरात्मग्रहणं[6] किमर्थम् ? 'आत्मैव कर्मणः कर्ता, तत्फलस्य च आत्मैव भोक्ता' इत्येतस्य प्रदर्शनार्थम् ।

'अन्ये तु 'त्रैगुण्यं' कर्तृ, परम् आत्मा भोक्ता' इति मन्यन्ते; तदयुक्तम्; अचेतनस्य पुण्यपापविषयकर्तृतानुपपत्तेर्घटादिवत् । परकृतफलभोगे [9]चानिर्मोक्षप्रसङ्गः स्यात् [10]कृतप्रणाशश्चेति । तस्माद्यः कर्ता स एव भोक्तेति युक्तम् ।

संसारः पञ्चविधः द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतो भवतश्चेति, स येषामस्ति ते संसारिणः ।

निरस्तद्रव्यभावबन्धा मुक्ताः ।२। बन्धो द्विविधो द्रव्यबन्धो भावबन्धश्चेति । तत्र द्रव्यबन्धः कर्मनोकर्मपरिणतः पुद्गलद्रव्यविषयः । [11]तत्कृतः क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः । स उभयोऽपि निरस्तो यैः ते मुक्ताः ।

द्वन्द्वनिर्देशो लघुत्वादिति चेत्; न; अर्थान्तरप्रतीतेः ।३। स्यान्मतम्–द्वन्द्वनिर्देशोऽत्र युक्तः । कुतः ? लघुत्वात्, द्वन्द्वे हि सति उक्तार्थत्वाच्चशब्दाप्रयोगे लाघवं भवति इति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थान्तरप्रतीतेः । संसारिणश्च मुक्ताश्चेति द्वन्द्वे सति [13]अल्पाच्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च मुक्तशब्दस्य पूर्वनिपाते सति मुक्तसंसारिण इति प्राप्नोति, तथा च सत्यर्थान्तरं प्रतीयेत–मुक्तः संसारो येन भावेन स मुक्तसंसारस्तद्वन्तः मुक्तसंसारिण इति । तथा सति मुक्तानामेवोपयोगित्वमुक्तं[14] स्यान्न संसारिणाम्, अतो वाक्यमेव क्रियते ।

१ निश्चायकत्वात् । २ –यसः श्व०, मू० । ३ –नमिति श्व०, मू० । ४ भेदेन । ५ –नैनोपलक्षिता उप– आ०, ब०, द०, मु० । ६ आत्मोपचि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ वार्तिके । ८ सांख्याः –स स्पा० । ९ प्रधानम् । १० वानिर्मो– आ०, ब०, द०, मु० । ११ प्रकृतेः । १२ तःकृतश्चो– मू० । १३ अल्पाक्षर– मु० । १४ –योगत्वमुक्तं– आ०, ब०, द०, मु० ।

समुच्चयाभिव्यक्त्यर्थं चशब्दोऽनर्थक इति चेत्; न; उपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात् ।४। स्यान्मतम्–चशब्दोऽनर्थकः । कुतः ? अर्थभेदात् समुच्चयसिद्धेः । भिन्ना हि संसारिणो मुक्ताश्च ततो विशेषणविशेष्यत्वानुपपत्तेः समुच्चयः सिद्धः यथा * "**पृथिव्यापस्तेजोवायुः**" [ ] इति; तन्न; किं कारणम् ? उपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात् । नायं चशब्दः समुच्चये, क्व तर्हि[2] ? अन्वाचये[3] । तत्र ह्येकः प्रधानभूतः [4]इतरो गुणभूतः यथा 'भैक्षं चर देवदत्त चानय' इति प्रधानशिष्टं भैक्षचरणं देवदत्तानयनमप्रधानशिष्टम् । तथा संसारिणः प्राधान्येनोपयोगिनो मुक्ता गुणभावेनेत्येतस्य प्रदर्शनार्थः[5] । कथं संसारिषु मुख्य उपयोगः कथं वा मुक्तेषु गौणः ?

परिणामान्तरसंक्रमाभावाद् ध्यानवत् ।५। यथा एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति छद्मस्थे ध्यानशब्दार्थो मुख्यश्चिन्ताविक्षेपवतः तन्निरोधोपपत्तेः, तदभावात् केवलिन्युपचरितः फलदर्शनात्, तथा उपयोगशब्दार्थोऽपि संसारिषु मुख्यः परिणामान्तरसंक्रमात्, मुक्तेषु तदभावाद् गौणः कल्प्यते [6]उपलब्धिसामान्यात् ।

संसारिग्रहणमादौ बहुविकल्पत्वात्[7] तत्पूर्वकत्वात् स्वसंवेद्यत्वाच्च ।६। संसारिग्रहणमादौ क्रियते बहुविकल्पत्वात्, बहवो हि संसारिणां विकल्पा गत्यादयः । किञ्च, तत्पूर्वकत्वात् । संसारिपूर्वका हि मुक्ताः, न मुक्तपूर्वाः संसारिण इति । स्वसंवेद्यत्वाच्च । स्वसंवेद्या हि संसारिणो गत्यादिपरिणामानामनुभूतत्वात्, मुक्ताः पुनरत्यन्तपरोक्षाः, तदनुभवस्याप्राप्तत्वात् ।

तत्र य एते शुभाशुभकर्मफलानुभवनसंबन्धवशीकृतस्वभावा अप्रच्युतसंसरणाः पूर्वकृतनामकर्मनिमित्तजनित[8]करणविशेषाः प्राणिनः ते खलु–

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

मनःसन्निधानासन्निधानापेक्षया द्विविधाः संसारिणः ।१। मनो द्विविधम्–द्रव्यमनो भावमनश्चेति । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः । वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः । तेन मनसा सह वर्तन्त इति समनस्काः । न विद्यते मनो येषां ते अमनस्का इति द्विविधाः संसारिणो भवन्ति । अत्राह–

द्विविधजीवप्रकरणाद्यथासंख्यप्रसङ्गः ।२। द्विविधा हि जीवाः प्रकृताः संसारिणो मुक्ताश्च । तत्र संसारिणः समनस्काः मुक्ताश्चाऽमनस्का इति यथासंख्यं प्राप्नोति ।

इष्टमिति चेत्; न; सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्–इष्टमेवेदं संसारिणः समनस्का मुक्ताश्चामनस्का इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसङ्गात् । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियेषु च केषाञ्चित् मनोविषयविशेषव्यवहाराभावात् अमनस्कतेष्टा तद्व्याघातोऽतः स्यात् । अत्रोच्यते–

पृथग्योगप्रकल्पतेः संसारिसंप्रत्ययः ।४। यदिदं पृथग्योगकरणं तेन ज्ञायते संसारिणोऽत्र संबन्ध्यन्त इति । इतरथा हि एक एव योगः क्रियते–'संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्काः' इति ।

१ पृथिव्यप्तेजो– आ०, ब०, द०, मु० । "पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसञ्ज्ञाः ।" –तत्त्वोप० पृ० १ । २ किं तर्हि आ०, ब०, द०, द०, मु० । ३ प्रधानाप्रधानविवक्षायामन्वाचयः । ४ इतरे गुणभूताः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ –नार्थम् श्व० । ६ केवल–ज्ञान । ७ –त्वाच्च स्व– आ०, ब०, द०, मु० । ८ –जनितवि– आ०, ब०, द०, मु० ।

औपरिष्टसंसारिवचनप्रत्यासत्तेश्च ।५। औपरिष्टमस्ति संसारिवचनम्, तस्य प्रत्यासत्तेरभिसंबन्धाच्च संसारिसंप्रत्ययो भवति। अत्राह–

तदभिसंबन्धे यथासंख्यप्रसङ्गः ।६। यदि तदभिसंबन्धः क्रियते [1]'तत्तत्र त्रसस्थावरग्रहणमस्ति तेन यथासंख्यं प्राप्नोति 'समनस्कास्त्रसा अमनस्काः स्थावराः' इति।

इष्टमेवेति चेत्; न; सर्वत्रसानां समनस्कत्वप्रसङ्गात् ।७। स्यादेतत्–इष्टमेवेदं त्रसाः समनस्काः स्थावरा अमनस्का इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वत्रसानां समनस्कत्वप्रसङ्गात्, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि समनस्कत्वं प्रसज्येत। अनिष्टं चैतत्। अत्रोच्यते–

नानभिसंबन्धात् ।८। संसारिग्रहणमात्रमत्राभिसंबध्यते न त्रसस्थावरग्रहणम्। इच्छावशेन हि संबन्धो भवति।

एकयोगाकरणात् ।९। यदि त्रसस्थावरग्रहणेनापि संबन्ध इष्टः स्यात् एक एव योगः क्रियेत–'समनस्कामनस्काः संसारिणस्त्रसस्थावराः' इति। नत्वेवं कृतः। तेन ज्ञायते त्रसस्थावरग्रहणं न संबध्यत इति। अथवा, एकयोगाकरणात् मन्यामहे–अतीतस्य संसारिमुक्तग्रहणस्य वक्ष्यमाणस्य च त्रसस्थावरग्रहणस्य समनस्कामनस्कग्रहणेनाभिसंबन्धो न भवतीति।

इतरथा अन्यतरत्र संसारिग्रहणे सतीष्टार्थत्वादुपरि संसारिग्रहणमनर्थकम् ।१०। इतरेण प्रकारेणेतरथा। कथम् ? यदि संसारिमुक्तग्रहणेन त्रसस्थावरग्रहणेन चास्याभिसंबन्धःस्यात् एक एव योगः क्रियेत[2]–'संसारिमुक्ताः समनस्कामनस्कास्त्रसस्थावराश्च' इति। तथा सत्यन्यतरत्र संसारिग्रहणं कर्तव्यं स्यात्। क्वान्यतरत्र ? समनस्कामनस्कसूत्रस्यादावन्ते वा। एवं सतीष्टार्थस्य सिद्धत्वात् 'संसारिणः त्रसस्थावराः' इत्यत्र संसारिग्रहणमनर्थकं स्यात्।

आदौ समनस्कग्रहणमभ्यर्हितत्वात् ।११। आदौ समनस्कग्रहणं क्रियते। कुतः ? अभ्यर्हितत्वात्। कथमभ्यर्हितत्वम् ? तत्र हि समग्राणि करणानीति।

य एते स्वकृतकर्मफलापेक्षपरिपूर्णापरिपूर्णकरणग्रामाहितद्वैविध्यविशिष्टाः कार्मणशरीरप्रणालिकापादितनियतावस्थाविशेषाः, ते खलु–

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

अत्राह–के त्रसाः, के स्थावरा इति ? उच्यन्ते–

त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः ।१। त्रसनामकर्मणो जीवविपाकिन उदयापादितवृत्तिविशेषाः त्रसा इति व्यपदिश्यन्ते।

त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रसा इति चेत्; न; गर्भादिषु तदभावाद् अत्रसत्वप्रसङ्गात् ।२। स्यान्मतम्–त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति ? तन्न; किं कारणम् ? गर्भादिषु तदभावाद् अत्रसत्वप्रसङ्गात्। गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्तादीनां त्रसानां [3]बाह्यभयनिमित्तोपनिपाते सति चलनाभावादत्रसत्वं स्यात्। कथं तर्हर्चस्य निष्पत्तिः 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' इति ? व्युत्पत्तिमात्रमेव नार्थः प्राधान्येनाश्रियते गोशब्द[4]प्रवृत्तिवत्।

स्थावरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः स्थावराः ।३। स्थावरनामकर्मणो जीवविपाकिन उदयेनोपजनितविशेषाः स्थावरा इत्याख्यायन्ते।

१ –तत्र श्र०, मू०, ता०। २ क्रियते श्र०, मू०। ३ बाह्योभय– मु०, शु०। ४ –शब्दवृत्ति– श्र०, मू०।

स्थानशीलाः स्थावरा इति चेत्; न; वाय्वादीनामस्थावरत्वप्रसङ्गात् ।४। स्यादेतत्–तिष्ठन्तीत्येवं शीलाः स्थावरा इति ? तन्न; किं कारणम् ? वाय्वादीनामस्थावरत्वप्रसङ्गात्। वायुतेजोऽम्भसां हि देशान्तरप्राप्तिदर्शनादस्थावरत्वं स्यात्। कथं तर्हर्चस्य निष्पत्तिः–'स्थानशीलाः स्थावराः' इति ? एवं रूढिविशेषबललाभात्[1] क्वचिदेव वर्तते[2]।

इष्टमेवेति चेत्; न; समयार्थानवबोधात् ।५। अथ मतमेतत्–इष्टमेव वाय्वादीनामस्थावरत्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? समयार्थानवबोधात्। एवं हि [3]समयोऽवस्थितः सत्प्ररूपणायां कायानुवादे *[4]"**त्रसा नाम द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगिकेवलिनः** " [षट्खं०] इति। तस्मान्न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वं कर्मोदयापेक्षमेवेति स्थितम्।

त्रसग्रहणमादौ अल्पाच्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च ।६। त्रसग्रहणमादौ क्रियते। कुतः ? अल्पाच्तरत्वाद् अभ्यर्हितत्वाच्च। सर्वोपयोगसंभवादभ्यर्हितत्वम्।

सामान्यविशेषसंज्ञाहितभेदमात्रविज्ञाने सति विशेषेणाऽनिर्ज्ञातानां त्रसस्थावराणां निर्ज्ञाने कर्तव्ये एकेन्द्रियाणामतिबहुवक्तव्याभावाद् विभज्यानुपूर्वीं स्थावरभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह–

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

नामकर्मोदयानिमित्ताः पृथिव्यादयः संज्ञाः ।१। स्थावरनामकर्मभेदाः पृथिवीकायादयः सन्ति, [5]'तदुभयनिमित्ता जीवेषु पृथिव्यादयः संज्ञा वेदितव्याः। [6]'प्रथनादिप्रकृतिनिष्पन्ना अपि रूढिवशात् प्रथनाद्यनपेक्षा वर्तन्ते।

एषां [7]'पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तं प्रत्येकम्। तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–पृथिवी पृथिवीकायः पृथिवीकायिकः पृथिवीजीव इत्यादि[8]। तत्र अचेतना[9]वैश्रसिकपरिणामनिर्वृत्ता काठिन्यादिगुणात्मिका पृथिवी। अचेतनत्वादसत्यपि पृथिवीकायिकनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितैवेयम्। अथवा, पृथिवी सामान्यम्; उत्तरत्रये संभवात्। कायः शरीरम्, पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्तः पृथिवीकायः, मृतमनुष्यादिकायवत्। पृथिवी कायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः तत्कायसंबन्धवशीकृत आत्मा। समवाप्तपृथिवीकायिकनामकर्मोदयः[10] कार्मणकाययोगस्थः, यो न तावत् पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीवः[11]। एवमापः, अप्कायः, अप्कायिकः, अप्जीवः। तेजः, तेजस्कायः, तेजस्कायिकः, तेजो जीवः। वायुर्वायुकायो वायुकायिको वायुजीवः। वनस्पतिर्वनस्पतिकायो वनस्पतिकायिको वनस्पतिजीव इति योज्यम्।

सुखग्रहणहेतुत्वात् स्थूलमूर्तित्वादुपकारभूयस्त्वाच्चादौ पृथिवीग्रहणम् ।२। पृथिव्यां हि सत्यामपां कुम्भादिभिः अग्नेश्च शरावादिभिः वायोश्च चर्मघटादिभिः सुखेन ग्रहणं क्रियते।

१ –लाभात्तु क्व– श्र०, मू०। २ वर्तन्ते ता०, श्र०, मु०, द०, आ०, ब०, मु०। ३ "तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।" –षट् खं०सं०सू० ४४। ४ त्रसनाम श्र०। त्रसानां द्वी– आ०, ब०, द०, मु०। ५ बाह्याभ्यन्तर। ६ पृथुत्व धारणादि। ७ "उक्तञ्च-पुढवी पुढवीकायो पुढवीकाइय पुढविजीवो य। साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ॥" –स० सि० २।१३। ८ आदिशब्देन अबादीनां चातुर्विध्यं योज्यम्। ९ स्वभावजात। १० –नामोदयः आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता०। ११ चतुर्णामपि पृथिवीशब्दवाच्यत्वेऽपि शुद्धपुद्गलपृथिव्या जीवपरित्यक्तपृथ्वीकायस्य च नेह ग्रहणम्, तयोरचेतनत्वेन तत्कर्मोदयासंभवात् तत्कृतपृथिवीव्यपदेशासिद्धेः। तस्माज्जीवाधिकारात् पृथिवीं कायत्वेन गृहीतवतः पृथिवीकायिकस्य विग्रहगत्यापन्नस्य च पृथिवीजीवस्य च ग्रहणम्, तयोरेव पृथिवीस्थावरनामकर्मोदयसंभवात्।

स्थूलमूर्तिश्च पृथिवी विमानभवनप्रस्तारादिभावपरिणामात् । [1]स्नानपानाद्युपकारादपां पाकशोषप्रकाशनाद्युपकाराच्चाग्नेः स्वेदखेदापनोदाद्युपकाराच्च वायोर्भूयानुपकारः पृथिव्या अशनाच्छादनवसनादिभावो वनस्पतेः । अपादीनां यश्चोक्त उपकारः प्रतिनियत इति स सत्यां पृथिव्यां संभवति, इतरथा हि क्वावस्थितानां स उपकारः स्यात्, अतः पृथिव्या ग्रहणमादौ क्रियते ।

तदनन्तरमपां वचनं भूमितेजसोर्विरोधादाधेयत्वाच्च ।३। तदनन्तरमपां वचनं क्रियते । कुतः ? भूमितेजसोर्विरोधादाधेयत्वाच्च । भूमेर्हि तेजो विरोधि विनाशकत्वात्, अतोऽद्भिर्व्यवधानं क्रियते । भूरपामाधारः आधेया आप इति च ।

ततस्तेजोग्रहणं [2]तत्परिपाकहेतुत्वात् ।४। पृथिव्या अपां च परिपाकहेतुस्तेजः, तदनन्तरं तस्य ग्रहणं क्रियते ।

तेजोऽनन्तरं वायुग्रहणं तदुपकारकत्वात् ।५। वायुर्हि [3]तिर्यक्प्लवनकर्मा तेजसः प्रेरणेन उपकरोतीति तदनन्तरं गृह्यते ।

अन्ते वनस्पतिग्रहणं सर्वेषां तत्प्रादुर्भावे निमित्तत्वादनन्तगुणत्वाच्च ।६। वनस्पतिप्रादुर्भावे हि पृथिव्यादयः सर्वे निमित्ततामुपव्रजन्ति । सर्वेषां तेषां वनस्पतिकायिका अनन्तगुणास्ततोऽन्ते वनस्पतिग्रहणं क्रियते । एते पञ्चविधाः प्राणिनः स्थावराः ।

कति पुनरेषां प्राणाः ? चत्वारः—स्पर्शनेन्द्रियप्राणः कायबलप्राण उच्छ्वासनिश्वासप्राण आयुःप्राणश्चेति ।

अथ के त्रसा इति ? अत्रोच्यते[4]—

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

आदिशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्था[5]संप्रत्ययः ।१। अयमादिशब्दोऽनेकार्थः—व्यवस्थाप्रकारसामीप्यादिवचनत्वात्, तत्र विवक्षात इह व्यवस्थायां गृह्यते । आगमे हि ते व्यवस्थिताद्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रियः पञ्चेन्द्रियश्चेति । कोऽस्य विग्रहः ? द्वे इन्द्रिये यस्य सोऽयं द्वीन्द्रियः स आदिर्येषां ते द्वीन्द्रियादय इति । यद्येवम्—

अन्यपदार्थनिर्देशाद् द्वीन्द्रियाग्रहणम् ।२। अन्यपदार्थोऽत्र प्राधान्येनाश्रितः । द्वीन्द्रियग्रहणमुपलक्षणम्, अतस्त्रसग्रहणे द्वीन्द्रियस्य[6] ग्रहणं न प्राप्नोति यथा 'पर्वतादीनि क्षेत्राणि' इति न पर्वतः क्षेत्रग्रहणेन गृह्यते ।

न वा तद्गुणसंविज्ञानात् ।३। न वैष दोषः; किं कारणम् ? तद्गुणसंविज्ञानात् । यथा शुक्लवाससमानयेति तद्गुण आनीयते तथेहापि द्वीन्द्रियस्याप्यन्तर्भावो भवति ।

अवयवेन विग्रहे सति समुदायस्य वृत्त्यर्थत्वाद्वा ।४। अथवा *[7]"**अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः**" [पात० महा० २।२।२४] इति द्वीन्द्रियस्योपलक्षणस्यापि त्रसत्वेऽन्तर्भावः, यथा *"**सर्वादिः सर्वनाम**" [जैनेन्द्र० १।१।३५] इति । कथं तर्हि पर्वतादीनि क्षेत्राणीति पर्वतस्य बहिर्भावः ? पर्वतस्य क्षेत्रत्वसंभवाभावाद् व्युदासः । ते एते चतुर्विधाः प्राणिनस्त्रसाः ।

---

१ स्नपनाद्यु- ता०, आ०, ब० । स्नापनाद्यु- मू० । स्थापनाद्यु- द० । २ तत्पाक- श्र०, मू० । ३ तिर्यक्पचन- आ०, द०, मु० । तिर्यक्पतन- ब० । तिर्यक्प्रचलन- सा० । ४ इत्युच्यते श्र० । ५-स्थार्थगतिः भा० १। ६ द्वीन्द्रियग्र- श्र० । ७ अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः । -पात० महाभा० ।

कति पुनरेषां प्राणाः? द्वीन्द्रियस्य तावत् षट्प्राणाः—स्पर्शनरसनेन्द्रियप्राणौ वाक्कायबलप्राणौ उच्छ्वासनिश्वासप्राणः आयुःप्राणश्चेति । त्रीन्द्रियस्य सप्त—त एव प्राणाः घ्राणाधिकाः । चतुरिन्द्रियस्याष्टौ—त एव चक्षुरधिकाः । पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनो नव प्राणाः त एव श्रोत्राधिकाः । संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवनारकाणां दश प्राणा मनोबलाधिकास्त एव ।

आदिशब्देन निर्दिष्टानामिन्द्रियाणामनिर्ज्ञातिसंख्यानामियत्तावधारणार्थमाह—

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

अथवा स्वां प्रक्रियाम् आचिख्यासवः केचित् पञ्च षडेकादश[1] चेन्द्रियाणि इत्यध्यवस्यन्ति तत्रानिष्टनिवृत्त्यर्थं नियमयन्नाह—पञ्चेन्द्रियाणि नाधिकानीति ।

इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमिन्द्रियम् ।१। उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मबन्धस्यापि परमेश्वरत्वशक्तियोगाद् इन्द्र[2]व्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते ।

इन्द्रेण कर्मणा सृष्टमिति वा ।२। अथवा स्वकृतकर्मविपाकवशादात्मा देवेन्द्रादिषु तिर्यगादिषु चेष्टानिष्टमनुभवतीति कर्मैव तत्रेन्द्रः, तेन सृष्टमिन्द्रियमित्याख्यायते ।

तद्भेदाः स्पर्शनादयः पञ्च वक्ष्यमाणाः ।

मनोऽपीन्द्रियमिति चेत्; न; अनवस्थानात् ।३। स्यान्मतम्—मनोऽपीन्द्रियमित्युपसंख्येयम्, कर्ममलीमसस्यात्मनोऽसहायस्य स्वयमेवार्थचिन्तनं प्रत्यसहिष्णोर्बलाधानं भवति मनः कर्मकृतं चेति ? तन्न; किं कारणम् ? [3]अनवस्थानात् । यथा चक्षुरादीनि प्रतिनियतदेशावस्थानानि न तथा मन इत्यनिन्द्रियं तत् ।

इन्द्रियपरिणामाच्च प्राक् तद्व्यापारात् ।४। चक्षुरादीनां रूपादिविषयोपयोगपरिणामात् प्राक् मनसो व्यापारः । कथम् ? शुक्लादिरूपं दिदृक्षुः प्रथमं मनसोपयोगं करोति 'एवंविधं रूपं पश्यामि रसमास्वादयामि' इति, ततस्तद्बलाधानीकृत्य चक्षुरादीनि विषयेषु व्याप्रियन्ते । ततश्चास्याऽनिन्द्रियत्वम् ।

कर्मेन्द्रियोपसंख्यानमिति चेत्; न; उपयोगप्रकरणात् ।५। स्यादेतत्—कर्मेन्द्रियाणि [4]वागादीनि वचनादिक्रियानिमित्तानि सन्ति तेषामिहोपसंख्यानं कर्तव्यमिति ? तन्न; किं कारणम्? उपयोगप्रकरणात् । उपयोगोऽत्र प्रकृतः, तदुपकरणानि इह इन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेन कर्मेन्द्रियाणामप्रसङ्गः ।

अनिन्द्रियत्वं वा तेषामनवस्थानात् ।६। न वागादीनामिन्द्रियत्वमस्ति, उपयोगसाधनेषु हीन्द्रियव्यपदेशो युक्तो न क्रियासाधनेषु । यदि च क्रियासाधनेष्वपि स्याद् अनवस्था प्रसज्येत, सर्वाणि हस्तपादाद्यङ्गोपाङ्गादीनि मूर्धादीनि क्रियासाधनानीति ।

[5]इष्टानिष्टविषयोपलब्धार्थानि भोक्तुरात्मनो यान्यमूनीन्द्रियाणि तेषामुक्तसामर्थ्यविशेषादुप[6]निपतितभेदानां प्रत्येकं भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

---

१ सांख्याः । २ इदु परमैश्वर्ये इति धातोरर्थः शक्त्या संभवतीत्यर्थः । ३ अनियतवृत्तित्वात् । ४ वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियं पाय्वादि इत्यभिधानात् । पायुर्नाम मलद्वारम् गुदं त्वपानं पायुर्नाम, भगमेहनादिकम् उपस्थः । ५ इष्टानिष्टविषयेषु लब्धोऽर्थो यैस्तानि । ६ -पनियतभे- मु० ।

द्विविधानि ॥१६॥

विधशब्दस्य प्रकारवाचिनो ग्रहणम् ।१। अयं विधशब्दः प्रकारवाची गृह्यते, विधयुक्तगतप्रकाराः समानार्था इति । द्वौ विधौ येषां तानि द्विविधानि द्विप्रकाराणीत्यर्थः । कौ च द्वौ प्रकारौ ? द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियमिति ।

तत्र द्रव्येन्द्रियस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह–

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

निर्वर्त्यत इति निर्वृत्तिः ।१। कर्मणा या निर्वर्त्यत निष्पाद्यते सा निर्वृत्तिरित्युपदिश्यते ।

सा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदात्[1] ।२। सा निर्वृत्तिर्द्वेधा । कुतः ? बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्र–

विशुद्धात्मप्रदेशवृत्तिराभ्यन्तरा ।३। उत्सेधाङ्गुलस्याऽसंख्येयभागप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानमानावमानावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः ।

तत्र नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयो बाह्या ।४। तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक् यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः स बाह्या निर्वृत्तिः ।

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम् ।५। येन निवृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम् ।

तद् द्विविधं पूर्ववत् ।६। तदुपकरणं द्विविधं पूर्ववत् बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्राभ्यन्तरं शुक्लकृष्णमण्डलम्, बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि । एवं शेषेष्वपीन्द्रियेषु ज्ञेयम् ।

भावेन्द्रियमुच्यते–

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

लब्धिरिति कोऽयं शब्दः ? लाभो लब्धिः । यद्येवं [2]षित्वादङ् प्राप्नोति; ***"अनुबन्धकृतमनित्यम्"** [ ] इति न भवति यथा ***"वर्णानुपलब्धौ[3] चातदर्थगतेः"** [पात० महा० प्रत्याहा० ५] इत्येवमादिषु । अथवा ***"स्त्रियां क्तिः, [4]लभादिभ्यश्च"** [श० च० २।३।८०, ८१] इति क्तिर्भवति, इष्टाश्चाबादय इति । अथ कोऽस्यार्थः ?

इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः ।१। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते ।

तन्निमित्तः परिणामविशेष उपयोगः ।२। [5]तदुक्तं निमित्तं प्रतीत्य उत्पद्यमान आत्मनः परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते । तदेतदुभयं [6]भावेन्द्रियमिति ।

उपयोगस्य फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेत्; न; कारणधर्मस्य [7]कार्येऽनुवृत्तेः ।३। स्यान्मतम्–इन्द्रियफलमुपयोगः स [8]कथमिव इन्द्रियव्यपदेशमापद्यत इति ? तन्न; किं कारणम्?

१ –त् तत्र वि– आ०, ब०, द०, मु० । २ षिच्चिन्ति पूजि कथिकुम्बि चर्च्यन्तर्धेऽङ्(शा० ४।४।८२) इति । डुलभष् लाभे इति षकारान्तत्वात् –सम्पा० । ३ वा तद– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ लभादिभ्यश्चेति शाकटायनम् । रवादिभ्यश्च ता०, श्र०, मू० । ५ कोऽर्थः । ६ चेतनात्मकत्वात् । तत्र भावेन्द्रियमेव मुख्यं प्रमाणं स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वात् द्रव्येन्द्रियस्य उपचारत एव प्रामाण्योपगमात् । ७ कार्ये च वृत्तेः मू० । कार्यानुवृत्तेः आ०, ब०, द०, मु० । ८ कथमिहेन्द्रिय– आ०, ब०, द०, मु० ।

कारणधर्मस्य कार्येऽनुवृत्तेः । कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति, तथेन्द्रियनिमित्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमिति व्यपदिश्यते ।

शब्दार्थसंभवाच्च ।४। यः शब्दार्थः 'इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण[1] सृष्टम्' इति वा स उपयोगे प्राधान्येन विद्यत इतीन्द्रियव्यपदेशो युक्तः ।

उक्तानां पञ्चानामिन्द्रियाणां संज्ञानुपूर्व्यविशेष प्रतिपादनार्थमाह–

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

[2]स्पर्शनादीनां करणसाधनत्वं पारतन्त्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातन्त्र्याद् बहुलवचनात् ।१। इमानि [3]स्पर्शनादीनि करणसाधनानि । कुतः ? पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके पारतन्त्र्येण विवक्षा विद्यते, आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायां यथा 'अनेनाऽक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमि' इति । ततो वीर्यान्तरायप्रतिनियतेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात् स्पर्शत्यनेनात्मेति स्पर्शनम्, रसयत्यनेनात्मेति रसनम्, जिघ्रत्यनेनात्मेति घ्राणम्, चष्टेरनेकार्थत्वा[4]द्दर्शनार्थविवक्षायां चष्टेऽर्थान् पश्यत्यनेनात्मेति[5] चक्षुः, शृणोत्यनेनात्मेति श्रोत्रम् । कर्तृसाधनत्वं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । इन्द्रियाणां हि लोके स्वातन्त्र्येण विवक्षा, यथा 'इदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति' इति । ततः[6] पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति स्पृशत्यात्मैवेति स्पर्शनम् । कथम् ? कर्तरि युट् बहुलवचनात् । रसयतीति रसनम्, जिघ्रतीति घ्राणम्, चष्टे इति चक्षुः, शृणोतीति श्रोत्रमिति ।

अत्र 'इन्द्रियाणि' इति केषाञ्चित् पाठः । नासौ युक्तः । कुतः ?

अधिकृतत्वात् 'इन्द्रियाणि' इत्यवचनम् ।२। 'पञ्चेन्द्रियाणि' इत्यत इन्द्रियग्रहणमनुवर्तते तेनेह 'इन्द्रियाणि' इति वचनमनर्थकम् ।

स्पर्शनग्रहणमादौ शरीरव्यापित्वात् ।३। यतो वितत्य[7] शरीरमवतिष्ठते स्पर्शनमतोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते ।

वनस्पत्यन्तानामेकमिति च स्पर्शनस्य तत्र व्यापारात् ।४। वक्ष्यते ***"वनस्पत्यन्तानामेकम्"** [त० सू० २।२१] इति तत्र, स्पर्शनस्य ग्रहणार्थञ्चादौ वचनम् ।

सर्वसंसारिष्वपलब्धेश्च ।५। सर्वेषु संसारिषु स्पर्शनमस्त्यतो नानाजीवापेक्षया व्यापित्वाच्चादौ ग्रहणं क्रियते ।

ततो रसनघ्राणचक्षुषां क्रमवचनम् उत्तरोत्तराल्पत्वात् ।६। ततः पश्चाद्रसनादीनां त्रयाणां क्रमवचनं क्रियते । कुतः ? उत्तरोत्तराल्पत्वात् । तद्यथा–सर्वतः स्तोकाश्चक्षुःप्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः संख्येयगुणाः, घ्राणेन्द्रिये विशेषाधिकाः, जिह्वायामसंख्येयगुणाः, स्पर्शनेऽनन्तगुणा इति ।

यद्येवं चक्षुषोऽन्ते ग्रहणं कर्तव्यं सर्वेभ्योऽल्पीयस्त्वात् ? सत्यम्, एवमेतत्; तथापि–

श्रोत्रस्यान्ते वचनं बहूपकारित्वात् ।७। यतः श्रोत्रबलाधानादुपदेशं श्रुत्वा हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थमाद्रियन्ते । अतः श्रोत्रं बहूपकारीति अन्ते गृह्यते ।

रसनमपि वक्तृत्वनेति चेत्; न; अभ्युपगमात् ।७। स्यादेतत्–रसनमपि बहूपकारि । कथम्? वक्तृत्वेन । यतो रसनमभ्युदयनिःश्रेयसार्थोच्चारणाऽध्ययनादिषु [8]प्रवणमतो रसनमेवान्ते

१ कर्मणा । २ स्पर्शादी– ता०, श्र०, मू० । ३ स्पर्शादी– मू०, श्र० । ४ –त्वात्तद्– आ०, ब०, द०, मू० । ५–त्यनेनेति श्र,० ता०, मू० । ६ तेन पू– आ०, ब०, मु० । ७ व्याप्य । ८ प्रमाण– आ०, ब०, द०, मु० ।

वाच्यमिति ? तन्न; किं कारणम् ? अभ्युपगमात् । [1]अभ्युपगम्य श्रोत्रस्य बहूपकारित्वं रसनस्यापि बहूपकारित्वं वर्णयता भवता तदभ्युपगतमिति अवसितोऽभिमतवादः । अनभ्युपगमे वा प्रसङ्गनिवृत्तिः 'रसनमपि बहूपकारि' इति । किञ्च,

श्रोत्रप्रणालिकापादितोपदेशात् ।९। श्रोत्रप्रणालिकयोपदेशमुपश्रुत्य रसनं वक्तृत्वं प्रति व्याप्रियते अतः श्रोत्रमेव बहूपकारि ।

सर्वज्ञे तदभाव इति चेत्; न; इन्द्रियाधिकारात् ।१०। स्यान्मतम्–न हि सर्वज्ञः श्रोत्रेन्द्रियबलाधानात् परत उपश्रुत्य वक्तृत्वमास्कन्दतीति किन्तु सकलज्ञानावरणसंक्षयाविर्भूतातीन्द्रियकेवलज्ञानः रसनोपष्टम्भमात्रादेव वक्तृत्वेन परिणतः सकलान् [3]श्रुतविषयानर्थानुपदिशति, अतो रसनमेव बहूपकारीति ? तन्न; किं कारणम् ? इन्द्रियाधिकारात् । इन्द्रियाधिकारोऽयम्, अतो [4]येष्विन्द्रियकृतो हिताहितोपदेशः साकल्येनास्ति तान् प्रत्येतदुक्तं न सर्वज्ञं प्रतीति नास्ति दोषः ।

एकैकवृद्धिक्रमज्ञापनार्थं च स्पर्शनादिवचनम् ।११। *"कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि" [त० सू० २।२३] इति वक्ष्यते, तत्र वृद्धिक्रमज्ञापनार्थं च स्पर्शनादीनामानुपूर्व्यं वेदितव्यम् ।

एषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथकत्वं प्रत्यनेकान्तः ।१२। एषां च स्पर्शनादीनामिन्द्रियाणां स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तो वेदितव्यः–स्यादेकत्वं स्यात् पृथक्त्वमित्यादि । तद्यथा स्वतस्तावत्–ज्ञानावरणक्षयोपशमशक्तेरभेदविवक्षायां स्पर्शनादीनां स्यादेकत्वम्, समुदायव्यतिरेकाभावात् समुदायिनां समुदायस्यैकत्वादवयवानामप्येकत्वमिति वा स्यादेकत्वम् । प्रतिनियतक्षयोपशमलब्धिविशेषापेक्षया स्यान्नानात्वम्, अवयवभेदविवक्षायां वा स्यान्नानात्वम् । इन्द्रियबुद्ध्यभिधानानुवृत्तिव्यावर्तनार्पणाभेदाद्वा स्यादेकत्वं स्यात् पृथक्त्वं च । [5]तद्वतोऽपि चैतन्यापरित्यागेनोभयपरिणामकारणापेक्षस्य इन्द्रियपर्यायात्मलाभे सति [6]निष्टप्तायःपिण्डवत् तथापरिणामात् तद्व्यतिरेकेणेन्द्रियस्यानुपलिब्धरिति स्यादिन्द्रियेन्द्रियवतोरेकत्वम् । इतरथा एकान्तान्यत्वे[7] अनिन्द्रिय आत्मा स्यात् घटवत् । तथा अन्यतमेन्द्रियनिवृत्तौ तद्वतोऽवस्थानात् स्यान्नानात्वम्, पर्यायिपर्यायभेदाच्च स्यान्नानात्वम् । [8]संज्ञादिभेदाभेदविवक्षोपपत्तेश्च स्यादेकत्वं स्यान्नानात्वं वाऽवसेयम् । पूर्ववदुत्तरे च भङ्गा नेतव्याः ।

तेषामिन्द्रियाणां विषयप्रदर्शनार्थमाह–

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

स्पर्शादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रव्यपर्यायविवक्षोपपत्तेः ।१। स्पर्शादीनां कर्मसाधनत्वं भावसाधनत्वं च भवति । कुतः ? द्रव्यपर्यायविवक्षोपपत्तेः । यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते ततो न व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति, एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते–स्पृश्यत इति स्पर्शः, रस्यत इति रसः, गन्ध्यत इति गन्धः, वर्ण्यत इति वर्णः, शब्द्यत इति शब्दः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः [9]औदासीन्यावस्थितभावकथनाद् भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते । ततः स्पर्शनं

१ रसनेनोच्चरितं शब्दम् । २ अवसितो वादः आ०, श्र०, ता०, मू० । अवसितोऽभिमतो वा– आ०, ब, द०, मु० । ३ श्रुतिवि– आ०, ब०, द०, मु० । ४ जीवेषु । ५ आत्मनः । ६ निसो ना सेवायां तपेः इति अवसानक्रियायां ष्टुत्वम् । ७– त्वेन इन्द्रि– श्र० । ८ संज्ञाभेदाभेदा– आ०, ब०, द०, मु० । ९ पर्यायाणाम् ।

स्पर्शः, रसनं रसः, गन्धनं गन्धः, वर्णनं वर्णः, शब्दनं शब्द इति । यद्येवं सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु स्पर्शादिव्यवहारो न प्राप्नोति ? नैष दोषः; सूक्ष्मेष्वपि ते स्पर्शादयः सन्ति तत्कार्येषु स्थूलेषु दर्शनादनुमीयमानाः, न ह्यत्यन्तमसतां प्रादुर्भावोऽस्तीति, किन्त्वन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति, अयोग्यत्वेऽपि तेषु स्पर्शादिव्यवहारो रूढिवशाद्भवति ।

तदर्था इति कोऽयं शब्दः ? तेषामर्थास्तदर्था इति । तेषां केषाम् ? इन्द्रियाणाम् । यद्येवं

तदर्था इति वृत्त्यनुपपत्तिरसमर्थत्वात् ।२। तदर्था इति वृत्तिर्नोपपद्यते । कुतः ? असमर्थत्वात् । समर्थायवयवानां हि वृत्त्या भवितव्यम् । न चात्र सामर्थ्यमस्ति । कुतः ? *"**सापेक्षमसमर्थं भवति**" [पात० महाभा० २।१।१] इति । इन्द्रियाणि ह्यत्रापेक्ष्यन्ते ।

न वा; गमकत्वान्नित्यसापेक्षेषु संबन्धिशब्दवत् ।३। न वैष दोषः; किं कारणम् ? गमकत्वादत्र वृत्तिर्भवति । गमकत्वं च नित्यसापेक्षेषु । कथम् ? संबन्धिशब्दवत् । यथा संबन्धिशब्देषु 'देवदत्तस्य गुरुकुलं देवदत्तस्य गुरुपुत्रः' इत्येवमादिषु वृत्तिर्भवति, गुरुशब्दो हि नित्यं शिष्यमपेक्षत इति, एवमिहापि तच्छब्दः सामान्यवच[2]नोऽवश्यं विशेषाकाङ्क्षी सन् प्रकृतानीन्द्रियाण्यपेक्षमाणोऽपि वृत्तिं लभते ।

स्पर्शादीनामानुपूर्व्येण निर्देश इन्द्रियक्रमाभिसंबन्धार्थः ।४। 'स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च शब्दश्च स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः' इत्यानुपूर्व्येण निर्देशः स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैः क्रमेणाभिसंबन्धो यथा स्यात् इति । एते पुद्गलद्रव्यस्य गुणा अविशेषेण वेदितव्याः ।

अत्र केचिद्वि[3]शेषेण एतान् कल्पयन्ति–*"**रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी । रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाश्च । तेजो रूपस्पर्शवत् । वायुः स्पर्शवान्**" [वैशे० सू० २।१।१–४] इति; तदयुक्तम्; रूपादिमान् वायुः स्पर्शवत्त्वाद् घटवत् । तेजोऽपि रसगन्धवत्, रूपवत्त्वाद् गुडवत् । आपोऽपि गन्धवत्यः रसवत्त्वात् आम्रफलवत् ।

किञ्च, अबादिषु गन्धादीनां साक्षादुपलब्धेश्च । पार्थिवपरमाणुसंयोगात्तदुपलब्धिरिति चेत्; न; विशेषहेत्वभावात् । नात्र विशेषहेतुरस्ति–पार्थिवपरमाणूनामेते गुणाः संसर्गात्त्वन्यत्रो[4]पलभ्यन्ते नत्वबादीनामिति । वयं तु ब्रूमहे–तद्[5]गुणत्वात् तत्रोपलब्धिरिति । यदि हि संयोगादुपलब्धिः [6]कल्प्यते रसाद्युपलब्धिरपि संयोगादेव कल्प्यताम् ।

नच पृथिव्यादीनां जातिभेदोऽस्ति, पुद्गलजातिमजहतः परमाणुस्कन्धविशेषा निमित्तवशाद्विश्वरूपतामापद्यन्त इति दर्शनात् । दृश्यते हि पृथिव्याः कारणवशाद् द्रवता, द्रवाणां चापां करकाश्मभावेन घनभावो दृष्टः, [7]पुनश्च द्रवभावः । तेजसोऽपि मषीभावः ।

[8]वायोरपि अदृष्टा रूपादयः कथं गम्यन्त इति चेत् ? परमाणुषु तेषां रूपादीनां कथं गतिः ? तत्कार्येषु दर्शनादनुमानमिति चेत्; इहापि तत एव वेदितव्यम् ।

तेषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वं पृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तः ।५। तेषां च स्पर्शादीनां स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तो वेदितव्यः–स्यादेकत्वं[9] स्यात् [10]पृथक्त्वमित्यादि ।

१ –नो विशेषा– आ०, ब०, द०, मु० । २ –द्विशिष्य तान् आ०, ब०, द०, मु० । वैशेषिकाः –स० । ३ जलादिषु । ४ वयं ब्रूमहे तद्गुणः तत्रोपलब्धेरिति आ०, ब०, द०, मु० । तद्गुणत्वं तत्रोपलब्धेरिति मू०, ता० । तद्गुणस्तत्रोपलब्धेरिति वा पाठः –श्र० टि० । ५ कथ्यते आ०, ब०, द०, मु० । ६ घनश्चद्र– आ०, मु०, द० । घनस्यचद्र– ब० । ७ वायावदृष्टा; मू०, ता० । वायोरपि–दृष्टाः आ०, ब०, द०, मु० । ८ द्रव्यतः । ९ चक्षुरिन्द्रियमेकमपि यतः शुक्लकृष्णाद्यनेकरूपाणि जानात्यतो नानात्वोपलब्धिः ।

अत्रान्ये [1]एकत्वं पृथक्त्वं[2] चैकान्तेनाध्यवस्यन्ति; तदयुक्तम्; कथम् ? यद्येकान्तेनैकत्वं स्यात्; स्पर्शनेन स्पर्शोपलब्धौ रसादीनामप्युपलब्धिः स्यात् । तद्वतोऽपि तेषामपृथक्त्वे तदेव वा स्यात्, त एव वेति ? [3]तदेव चेत्; लक्षणाभावाल्लक्ष्याभावः । अथ [4]त एव; निराधारत्वात्तेषामप्यभावः । अथैकान्तेन पृथक्त्वम्; घटरूपोपलब्धौ [5]पटादिरूपानुपलब्धिवत् स्पर्शोपलब्धौ रूपादीनामनुपलब्धेः 'स्पृष्टो घटोऽयम्' इति न ज्ञायेत स्पर्शाद्यनात्मकत्वात् । तस्य तद्वतोऽप्यत्यन्तपृथक्त्वे उभयेषामभावः स्यात् । [6]ग्रहणभेदात् स्पर्शादीनामन्यत्वमिति चेत्; न; ग्रहणाभेदेपि नानात्वोपलब्धेः । शुक्लकृष्णादिषु संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वकर्मसत्तागुणत्वानां [7]रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणां नानात्वोपलब्धेश्च । संज्ञा 'स्वतत्त्वमिति लक्षणभेदान्नानात्वमिति चेत्; न; तदभेदेऽपि [8]द्रव्यगुणकर्मणां नानात्वोपलब्धेः । स्पर्शादीनां व्यतिरेकेणानुपलब्धेरनानात्वमिति चेत्; न; प्रतिज्ञातविरोधात् । यदि ह्येवं स्यात्, महदादिपरिणतानां सत्त्वरजस्तमसां व्यतिरेकेणानुपलभ्यमानानामपि प्रतिज्ञातमन्यत्वं हीयते । यदि हि तत्राप्यनन्यत्वमेव स्यात्; [9]व्यक्ताव्यक्तलक्षणभेदकल्पनाऽनर्थिका स्यात् । तस्मात् स्यादेकत्वं स्यात्पृथक्त्वं चाभ्युपगन्तव्यम्—द्रव्यार्पणादेकत्वं पर्यायार्पणान्नानात्वमिति ।

अत्राह—यन्मनोऽनवस्थानादिन्द्रियं न भवतीति प्रत्याख्यातं तत्किमुपयोगस्योपकारकम्, उत नेति ? तदप्युपकार्यैव; तेन विनेन्द्रियाणां विषयेषु स्वप्रयोजनवृत्त्यभावात् । किमस्यैषां सहकारित्वमात्रमेव प्रयोजनम्, उतान्यदपीति ? अत आह—

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

श्रुतज्ञानविषयोऽर्थः श्रुतम्, स विषयोऽनिन्द्रियस्य । परिप्राप्तश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमस्यात्मनः श्रुतार्थेऽनिन्द्रियालम्बनज्ञानप्रवृत्तेः । अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतं तदनिन्द्रियस्यार्थः प्रयोजनमिति यावत्, तत्पूर्वकत्वात्तस्य इति । अयमनिन्द्रियस्येन्द्रियव्यापारनिर्मुक्तोऽर्थः ।

श्रुतं श्रोत्रेन्द्रियस्य विषय इति चेत्; न; श्रोत्रेन्द्रियग्रहणे श्रुतस्य मतिज्ञानव्यपदेशात् ।१। स्यान्मतम्—न श्रुतमनिन्द्रियस्य विषयः । कस्य तर्हि ? श्रोत्रेन्द्रियस्येति; तन्न; किं कारणम् ? श्रोत्रेन्द्रियग्रहणे[11] श्रुतस्य मतिज्ञानमिति व्यपदेशात् । यदा हि श्रोत्रेण गृह्यते तदा तन्मतिज्ञानमवग्रहादि व्याख्यातम्, तत उत्तरकालं यत्तत्पूर्वकं जीवादिपदार्थस्वरूपविषयं तत् श्रुतमनिन्द्रियस्येत्यवसेयम् ।

उक्तानामिन्द्रियाणां प्रतिनियतविषयाणां स्वामित्वनिर्देशे कर्तव्ये यत्प्रथमं गृहीतं स्पर्शनं तस्य तावत्स्वामित्वावधारणार्थमाह—

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

अन्तशब्दस्याऽनेकार्थत्वे विवक्षातोऽवसानगतिः ।१। अयमन्तशब्दोऽनेकार्थः । क्वचिदवयवे, यथा वस्त्रान्तः वसनान्तः । क्वचित्सामीप्ये, यथोदकान्तं गतः—उदकसमीपे गत इति ।

१ अथ सांख्यमतमाशङ्क्य आचार्यः प्राह । २ वैशिषिकाः—सम्पा० । ३ द्रव्यमेव । ४ रूपादयः । ५ घटानुरूपानुप— आ०, ब०, द०, मु० । ६ इन्द्रियभेदात् । ७ रूपसम— आ०, ब०, द०, मु० । ८ स्वरूपम् । ९ प्रत्येकम् । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसीति नव द्रव्याणि तत्रेदमपि द्रव्यम् इदमपि द्रव्यमिति लक्षणाभेदेऽपि पृथिव्यादि द्रव्यं प्रति नानात्वोपलब्धेः, एवं गुणादिष्वपि योज्यम् । १० महदादि व्यक्तं कार्यमित्यर्थः, प्रधानञ्च अव्यक्तं कारणमिति—सम्पा० । ११ —णात् श्रुतस्य मतिज्ञानमिति व्य— आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

क्वचिदवसाने वर्तते, यथा संसारान्तं गतः—संसारावसानं गत इति । तत्रेह विवक्षातोऽवसानगतिर्वेदितव्या । वनस्पत्यन्तानां वनस्पत्यवसानानामिति ।

सामीप्यवचने हि वायुत्रससंप्रत्ययप्रसङ्गः ।२। वनस्पत्यन्तानां वनस्पतिसमीपानामित्यर्थे गृह्यमाणे वायुकायिकानां त्रसानां च संप्रत्ययः प्रसज्येत ।

अन्तशब्दस्य संबन्धिशब्दत्वादादिसंप्रत्ययः ।३। अयमन्तशब्दः संबन्धिशब्दत्वात्[1] कांश्चित् पूर्वानपेक्ष्य वर्तते, ततोऽर्थादादिसंप्रत्ययो भवति । तस्मादयमर्थो गम्यते—पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानामेकमिन्द्रियमिति । अत्राह—

अविशिष्टैकेन्द्रियप्रसङ्गोऽविशेषात् ।४। पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां स्पर्शनादिषु[2] अविशिष्टेमकमिन्द्रियं प्राप्नोति । कुतः ? अविशेषात् । न हि कश्चिद्विशेषोऽस्ति 'अनेनैवैकेन भवितव्यम्' इति । संख्यावाची ह्ययमेकशब्दः ।

न वा; प्राथम्यवचने स्पर्शनसंप्रत्ययात् ।५। न वैष दोषः । किं कारणम् ? प्राथम्यवचने स्पर्शनसंप्रत्ययात् । अयमेकशब्दः प्राथम्यवचनः, सूत्रपाठे च प्राथम्यमाश्रितम्, ततः स्पर्शनस्य संप्रत्ययो भवति । अस्ति च लोके प्राथम्यवचनः, एको गोत्रे—प्रथमो गोत्र इति ।

तस्योत्पत्तिकारणमुच्यते—वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये च शरीराङ्गोपाङ्गलाभोपष्टम्भे एकेन्द्रियजातिनामोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति ।

इतरेषामिन्द्रियाणां स्वामित्वप्रदर्शनार्थमाह—

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

एकैकमिति वीप्सानिर्देशः ।१। एकैकमितिशब्दो वीप्सायां द्रष्टव्यः ।

बहुत्वनिर्देशः सर्वेन्द्रियापेक्षः ।२। सर्वाणीन्द्रियाण्यपेक्ष्य बहुत्वनिर्देशः कृतः । एकैकं वृद्धमेषां [3]तानीमान्येकैकवृद्धानीति । 'तत्र किं पूर्वमुत्तरम्' इति सन्देहः ?

असन्दिग्धं [4]स्पर्शनमेकैकेन वृद्धमित्यादिविशेषणात् ।३। 'स्पर्शनम्' इत्यनुवर्तते, तदारभ्यैकैकेन[5] वृद्धिमित्यादि विशेषणात् नास्ति सन्देहः । तत्कथम् ?

वाक्यान्तरोपप्लवात् ।४। अस्मान्निबन्धनस्थानाद्वाक्यात् वाक्यान्तराण्युपप्लवन्ते । यथा—'अक्षः'[6] इत्येतस्मात् 'अक्षो भक्ष्यताम्, अक्षो भज्यताम्, [7]अक्षो दीव्यताम्' इति वाक्यान्तरोपप्लवः क्रियते, एवमिहापि 'स्पर्शनं रसनवृद्धं कृम्यादीनाम्, स्पर्शनरसने घ्राणवृद्धे पिपीलिकादीनाम्, स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुर्वृद्धानि भ्रमरादीनाम्, तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्यादीनाम्' इति वाक्यान्तराण्युपप्लवन्ते ।

आदिशब्दः प्रकारे व्यवस्थायां वा[8] ।५। अयमादिशब्दः प्रकारे व्यवस्थायां वा वेदितव्यः । यदागमो नापेक्षितस्तदा प्रकारे कृमिप्रकाराः कृम्यादय इति । यदा त्वागमोऽपेक्ष्यते तदा व्यवस्थायाम्, आगमे हि ते [9]व्यवस्थिता इति ।

तेषां निष्पत्तिः स्पर्शनोत्पत्त्या व्याख्याता उत्तरोत्तरसर्वघातिस्पर्धकोदयेन ।

१ —शब्दः का— श्र०, मू०, भा० । २ —षु चावि— आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ तान्येकै— आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ स्पर्शनमेकेन श्र०, मू० । ५— रभ्यैकेन श्र०, मू०, ता० । ६ विभीतकः । ७ अत्र द्यूते । ८ वा वेदितव्यः आ०, ब०, द०, मु० । ९ कृमिपिपीलिकादीनां क्रमेण वृद्धानि इत्यर्थः ।

एवमेतेषु संसारिषु द्विभेदेषु इन्द्रियभेदात् पञ्चविधेषु ये पञ्चेन्द्रियास्तद्भेदस्यानुक्तस्य प्रतिपत्त्यर्थमाह–

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

मनो व्याख्यातम्, सह तेन ये वर्तन्ते ते संज्ञिन । अत्र चोद्यते–

समनस्कविशेषणमनर्थकं संज्ञिशब्देन गतत्वात् ।१। संज्ञिन इत्यनेनैव विशेषणेन गतत्वात् 'समनस्काः' इति विशेषणमनर्थकम् । कथमिति चेत् ? उच्यते––

हिताहितप्राप्तिपरिहारयोर्गुणदोषविचारणात्मिका संज्ञा ।२। 'इदं हितमिदमहितम्, अस्य प्राप्तौ परिहारे चायं गुणोऽयं दोषः' इति च विचारणात्मिका संज्ञेत्युच्यते ।

ब्रीह्यादिपाठादिनि सिद्धेः[1] ।३। तस्मात् संज्ञाशब्दाद् ब्रीह्यादिपाठादिनि सति 'संज्ञिनः' इति सिध्यति ।

न वा शब्दार्थव्यभिचारात्[2] ।४। न वैष दोषः । किं कारणम् ? शब्दार्थव्यभिचारात् । संज्ञा[3]शब्दोऽर्थं हि व्यभिचरति । तत्र[4] को दोषः ?

संज्ञा नाम इति चेत्; निवर्त्याभावः ।५। यदि संज्ञा[5] रूढिर्नामेत्युच्यते; सा सर्वेषां प्राणिनां प्रतिनियता अस्तीत्यसंज्ञिनामभावात् निवर्त्याभावः स्यात् ।

संज्ञानं संज्ञा ज्ञानमिति चेत्; तुल्यः ।६। कः ? निवर्त्याभावः ? सर्वेषां प्राणिनां ज्ञानात्मकत्वात् ।

आहारादिसंज्ञेति चेत्; न; अनिष्टत्वात् ।७। स्यादेतत्–आहार-भय-मैथुन-परिग्रहविषया संज्ञेति ? तन्न; किं कारणम् ? अनिष्टत्वात् । सर्वे हि संसारिण आहार-भय-मैथुन-परिग्रहसंज्ञासन्निधानात् संज्ञिनः स्युः । अनिष्टं चैतत् । तस्मात् समनस्का इति विशेषणमर्थवत् । [6]एवं च कृत्वा गर्भाण्ड-मूर्च्छित-सुषुप्ताद्यवस्थासु हिताहितपरीक्षाभावेऽपि मनःसन्निधानात् संज्ञित्वमुपपन्नं भवति ।

यद्यस्य संसारिणो हिताहितप्राप्तिनिवृत्तिहेतुः परिस्पन्दो [7]मनस्करणसन्निधाने सति भवति, अथाभिनवशरीरं प्रत्यागूर्णस्य विशीर्णपूर्वमूर्तेरात्मनो निर्मनस्कस्य यत्कर्म[8] तत्कुतः इति ? अत्रोच्यते––

विग्रहतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अथवा, यदि [9]संप्रधार्य समनस्काः प्राणिनः क्रियाः प्रारभन्ते [10]भिन्नदेहस्याऽसति मनसि उपपादक्षेत्रं[11] प्रत्याभिमुख्येन या प्रवृत्तिर्विग्रहार्था सा कुतो भवति ? अत आह **'विग्रहगतौ कर्मयोगः'** इति ।

विग्रहो देहस्तदर्था गतिर्विग्रहगतिः ।१। औदारिकादिशरीरनामोदयात् तन्निर्वृत्तिसमर्थान् विविधान्[12] पुद्गलान् गृह्णाति, विगृह्यते वासौ संसारिणेति विग्रहो देहः, विग्रहाय

---

१ –सिद्धिः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ –रात् संज्ञा– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –शब्दार्थो हि मु०, मू० । ४ तथा सति । ५ –रूढित्वमि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ प्रयोजनान्तरमप्याह एवमित्यादिना । ७ मनःकारण मु० । ८ व्यापारः । ९ विचार्य । १० शरीररहितस्य । ११ उत्पत्तिक्षेत्रम् । १२ –न् गृ– आ०, ब०, द०, मु० ।

गतिर्विग्रहगतिः । ननु विकृतिप्रकृत्यभिसंबन्धे सति [1]तादर्थ्ये वृत्तिः, इह विकृतिप्रकृत्यभिसंबन्धाभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति; नैष दोषः, अश्वघासादिवद् वृत्तिर्वेदितव्या, तादर्थ्यं[2] तु चतुर्थ्या वाक्ये प्रदर्श्यते ।

विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघात इति वा ।२। अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघातः[3] नोकर्मपुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः । विग्रहेण गतिर्विग्रहगतिः । आदाननिरोधेन गतिरित्यर्थः ।

कर्मेति सर्वशरीरप्ररोहणसमर्थं कार्मणम् ।३। सर्वाणि शरीराणि यतः [4]प्ररोहन्ति तत् बीजभूतं कार्मणं शरीरं कर्मेत्युच्यते ।

योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः ।४। कायादिवर्गणा[5]निमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग इत्याख्यायते ।

कर्मनिमित्तो योगः कर्मयोगः । तस्यां विग्रहगतौ कार्मणशरीरकृतो योगो भवति [6]यत्कृतं कर्मादानम्, [7]यदुपपादिता चाऽमनस्कस्यापि विग्रहार्था गतिः ।

अथाकाशप्रदेशेषु परमाणुप्रतिष्ठासंबन्धेनोपचरितेष्वाधेया जीवपुद्गला देशान्तरप्राप्ति प्रत्यभिमुखा किं निराकृतप्रदेशक्रमां [8]व्रज्यामभिनिर्वर्तयन्ति, उताक्रान्तप्रदेशक्रमामिति विचारे सति तन्निर्धारणार्थमाह––

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

आकाशप्रदेशपङ्क्तिः श्रेणिः ।१। लोकमध्यादारभ्योर्ध्वमधस्तिर्यक्क्रमाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिरित्युच्यते ।

अनोरानुपूर्व्ये वृत्तिः ।२। अनुशब्दस्यानुपूर्व्ये वृत्तिर्भवति, श्रेणेरानुपूर्व्येण अनुश्रेणि इति ।

जीवाधिकारात् पुद्गलासंप्रत्यय इति चेत्; न; गतिग्रहणात् ।३। स्यादेतत्–जीवाधिकारात् पुद्गलानामनुश्रेणिगतिसंप्रत्ययो न भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? गतिग्रहणात् । यदि हि जीवस्यैव गतिरिहेष्टा स्याद् [9]गत्यधिकारे पुनर्गतिग्रहणमनर्थकं स्यात्, ततो ज्ञायते सर्वेषां गतिमतां गतिर्गृह्यते[10] इति ।

क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं गतिग्रहणमिति चेत्; न; अवस्थानाद्यसंभवात् ।४। स्यान्मतम्–गतिग्रहणं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं गतिरेव नान्या क्रियेति ? तन्न; किं कारणम् ? अवस्थानाद्यसंभवात् । न विग्रहगतिमापन्नस्य जन्तोरवस्थानशयनासनादयः[11] क्रियाः संभवन्ति ।

उत्तरसूत्रे जीवग्रहणाच्च ।५। **'अविग्रहा जीवस्य'** इत्युत्तरत्र जीवग्रहणाच्च मन्यामहे इहोभयगतिराश्रितेति ।

विश्रेणिगतिदर्शनान्नियमायुक्तिरिति चेत्; न; कालदेशनियमात् ।६। स्यादेतत्–विश्रेणिगतिरपि दृश्यते चक्रादीनां ज्योतिषां च मेरुप्रदक्षिणगतीनां माण्डलिकवायूनां विद्याधराणां च मेर्वादिप्रदक्षिणकाले, ततोऽनुश्रेणि गतिरिति नियमो नोपपद्यते; तन्न; किं कारणम् ? कालदेश-

---

१ कुण्डलाय हिरण्यमित्यादिवत् प्रकृतिः परिणामि द्रव्यम् । चतुर्थी प्रकृतिः स्वार्थादिभिरिति समासः– ता० टि० । २ अश्वार्थो घासः इति । –र्थं च– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ –तः पु– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ४ प्रारोह– श्व० । ५ अकर्मकर्मनोकर्मजातिभेदेषु वर्गणा । ६ पूर्वपातनिकापेक्षया अयमभिप्रायः । ७ उत्तरपातनिकापेक्षया । ८ गमनम् । ९ विग्रहगतावित्यत्र । १० –ते किं– आ०, ब०, द०, मु० । ११ –स्थानशयनादयः आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

नियमात् । कालनियमस्तावज्जीवानां मरणकाले भवान्तरसंक्रमे, मुक्तानां चोर्ध्वगमनकाले अनुश्रेण्येव गतिः । देशनियमोऽपि[1] या ऊर्ध्वलोकादधोगतिरधोलोकाच्चोर्ध्वगतिस्तिर्यग्लोका[2]द्वा अधोगतिरूर्ध्वा वा [सा] अत्रानुश्रेण्येव । पुद्गलानामपि च या लोकान्तप्रापणी सा नियमादनुश्रेणिगतिः । या त्वन्या सा भजनीया । ततो भ्रमणरेचनादिगतिः सिद्धा ।

पूर्वभावप्रज्ञापकनयावभासितं व्यवहारमन्तर्नीय रूढिवशाद्वा विनिर्मुक्तकर्मबन्धनस्यापि जीवत्वमवधृत्येदमुपादिक्षत्--

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यनर्थान्तरम्, स यस्यां न विद्यते असावविग्रहा[3] गतिः । कस्य ? जीवस्य । कीदृशस्य ? मुक्तस्य । कथं गम्यते[4] मुक्तस्येति ?

उत्तरत्र संसारिग्रहणादिह मुक्तगतिः ।१। उत्तरसूत्रे संसारिग्रहणादिह मुक्तगतिर्विज्ञायते । किमर्थमिदमुच्यते ? ननु श्रेण्यन्तर[5]संक्रमो विग्रहः तस्याभावः अनुश्रेणिः[6] इत्यनेनैव सिद्धः [7]नार्थोऽनेन[8]? इदं प्रयोजनम्- पूर्वसूत्रे जीवपुद्गलानां क्वचिद्विश्रेणिरपि गतिर्भवतीत्येतस्य ज्ञापनार्थम् । ननु तत्रैवोक्तं कालदेशनियमादनुश्रेणिर्भवति न सर्वत्रेति; न; [9]अतस्तत्सिद्धेः ।

यद्यसङ्गस्यात्मनोऽप्रतिबन्धेन गतिरालोकान्तादवधृतकाला प्रतिज्ञायते 'सदेहस्य पुनर्गतिः किं प्रतिबन्धिन्युत मुक्तात्मवत्' इति परिप्रश्ने सतीदमुच्यते--

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

कालपरिच्छेदार्थं प्राक् चतुर्भ्य इति वचनम् ।१। समयो वक्ष्यते । चतुर्भ्यः समयेभ्यः प्राक् [10]विग्रहवती गतिर्भवतीति कालपरिच्छेदार्थं प्राक् चतुर्भ्य इत्युच्यते । ऊर्ध्वं कस्मान्नेति चेत् ? विग्रहनिमित्ताभावात् । सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे[11] उत्पित्सुः प्राणी निष्कुटक्षेत्रानुपूर्व्यर्जुश्रेण्यभावात् इषुगत्यभावे निष्कुटक्षेत्रप्रापणनिमित्तां [12]त्रिविग्रहां गतिमारभते नोर्ध्वं तथाविधोपपादक्षेत्राभावात्, तेनैव च कालेनोपपादक्षेत्रप्राप्तेः षष्टिकाद्यात्मलाभवत् । यथा षष्टिकादीनां व्रीहीणां परिच्छिन्नकालावधिः परिपाको न न्यूनेन नाभ्यधिकेन, इह तथाऽन्तर[13]भवेऽपि कालनियमो वेदितव्यः ।

चशब्दः समुच्चयार्थः[14] ।२। विग्रहवती च अविग्रहा चेति समुच्चयार्थः चशब्दः । उपपादक्षेत्रं प्रति ऋज्वी गतिरविग्रहा, कुटिला विग्रहवती ।

आङ्ग्रहणं लघ्वर्थमिति चेत्; न; अभिविधिप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्-आङ्ग्रहणं कर्तव्यं लघ्वर्थमिति; तन्न; किं कारणम् ? अभिविधिप्रसङ्गात् । तेन चतुर्थसमयमभिव्याप्य विग्रहः [15]प्रवर्तत, स चानिष्टः ।

---

१ -पि चोर्ध्व- आ०, ब०, द०, मु० । २ -काच्चोधोगतिरूर्ध्ववानु- आ०, ब०, द०, मु० । ३ ऋजुगतिरिति यावत् । ४ -ते उ- आ०, ब०, द०, मु० । ५ -न्तरसंग्रहो वि- आ०, ब०, द०, मु० । ६ -णिगतिरित्य- आ०, ब०, द०, मु० । ७ प्रयोजनम् । ८ सूत्रेण । ९ इति चेत्, अस्मात् सूत्रात् । १० कुटिला । ११ लोकान्तकोणप्रदेशे इत्यर्थः । १२ गोमूत्रिकामित्यर्थः । १३ -भवेका- आ०, ब०, द०, मु० । -न्तरभावेऽपिका- मू०, ता० । देहाद् देहान्तरस्वीकारमध्यसमये । १४ -र्थः च- आ०, ब०, द०, मु० । १५ प्रवर्तते आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

उभयसंभवे व्याख्यानात् मर्यादासंप्रत्यय इति चेत्; न; प्रतिपत्तेर्गौरवात् ।४। स्यान्मतम्- मर्यादाभिविध्योराङ्, तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति मर्यादासंप्रत्यय इत्याङ्यपि सति न दोष इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतिपत्तेर्गौरवात् । एवं सति प्रतिपत्तेर्गौरवं स्यात्, तस्माद्विस्पष्टार्थं प्राग्ग्रहणं क्रियते ।

आसां चतसृणां गतीनामार्षोक्ताः संज्ञाः-इषुगतिः, पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका, गोमूत्रिका चेति । तत्राविग्रहा[1] प्राथमिकी, शेषा विग्रहवत्यः । इषुगतिरिवेषुगतिः । क उपमार्थः ? यथेषोर्गतिरालक्ष्यदेशाद् ऋज्वी तथा संसारिणां सिद्धचतां च जीवानां ऋज्वी गतिरेकसमयिकी । पाणिमुक्तेव पाणिमुक्ता । क उपमार्थः ? यथा पाणिना तिर्यक् प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी । लाङ्गलमिव लाङ्गलिका । क उपमार्थः ? यथा लाङ्गलं द्विवक्रितं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका[2] त्रैसमयिकी । गोमूत्रिकेव गोमूत्रिका । क उपमार्थः ? यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी ।

यद्यमुष्या विग्रहवत्याः क्रियायाश्चातुःसमयिक्यवस्था [3]निश्चीयते परित्यक्तव्याबाधा पुनर्गतिः कियत्काला भवतीति ? अत आह-

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

अधिकृतगतिसामानाधिकरण्यात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशः ।१। गतिरधिकृता, तत्सामानाधिकरण्यादत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशो द्रष्टव्यः । एकः समयोऽस्या एकसमया, न विद्यते विग्रहोऽस्या अविग्रहेति । गतिमतां हि जीवपुद्गलानामव्याघातेनैकसमयिकी गतिरालोकान्तादपीति ।

आत्मनोऽक्रियावत्त्वसिद्धेरयुक्तमिति चेत्; न; क्रियापरिणामहेतुसद्भावाल्लोष्टवत् ।२। स्यादेतत्-सर्वगतत्वान्निष्क्रियस्यात्मनः क्रियावत्त्वं नास्ति, ततो गतिकल्पनमयुक्तमिति ? तन्न; किं कारणम् ? क्रियापरिणामहेतुसद्भावात् । कथम् ? लोष्टवत् । यथा लोष्टः स्वयं क्रियापरिणामित्वाद् बाह्याभ्यन्तरकारणापेक्षो देशान्तरप्राप्तिसमर्थां क्रियामारभमाणो दृष्टः, तथा आत्मा कर्मवशाच्छरीरपरिणामानुविधायी तद्विधेयां क्रियामास्कन्दति, तदभावे च प्रदीपशिखावत् स्वाभाविकीमिति नास्ति दोषः ।

सर्वगतत्वे तु संसाराभावः ।३। यदि च सर्वगत आत्मा स्यात् क्रियाभावात् संसाराभावः स्यात् ।

बन्धसन्ततिं प्रत्यनादौ कर्मोपचयवृत्तिसंबन्धेन चादिमति पञ्चविधेऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभवभावे[4] संसारे मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययसन्निधाने च सत्युपयोगात्मकोऽयमात्मा सातत्येन कर्मादत्ते तदादानो विग्रहगतावप्याहारकः प्रसक्तस्ततो नियमार्थमिदमुच्यते-

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

समयसंप्रत्ययः प्रत्यासत्तेः ।१। 'एकसमयाऽविग्रहा' इत्यत्र समयशब्द उक्तस्तेनेह प्रत्यासत्तेरभिसंबन्धो वेदितव्यः-एकं समयं द्वौ समयौ त्रीन् समयान् इति । ननु च तत्र समयशब्द उपसर्जनीभूतः[5] कथमिहाभिसंबध्यते ? अन्यस्यासंभवात् सामर्थ्यात् संबन्धो द्रष्टव्यः ।

---

१ वक्ररहिता । २ -लिकी त्रै- ता०, श्र०, मू०, द० । ३ निर्ध्रियते श्र०, मू० । ४ -भावे मि- आ०, ब०, द०, मु० । ५ अन्यपदार्थत्वात् ।

वा शब्दो विकल्पार्थः[1] ।२। वाशब्दोऽत्र विकल्पार्थो ज्ञेयः । विकल्पश्च यथेच्छातिसर्गः, एकं वा द्वौ वा त्रीन्वेति ।

सप्तमीप्रसङ्ग इति चेत्; न; अत्यन्तसंयोगस्य विवक्षितत्वात् ।३। स्यादेतत्–आहरणक्रियाया अधिकरणं काल इति सप्तमी प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? अत्यन्तसंयोगस्य विवक्षितत्वात् । अत्यन्तसंयोगे हि तदपवादात्[2] द्वितीया विधीयते ।

त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः ।४। तैजसकार्मणशरीरे हि आसंसारान्नित्यमुपचीयमानस्वयोग्यपुद्गले[3] अतः[4] शेषाणां त्रयाणां शरीराणामौदारिकवैक्रियिकाहारकाणामाहाराद्यभिलाषकारणानां षण्णां [5]पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहार इत्युच्यते ।

विग्रहगतावसंभवादाहारकशरीरनिवृत्तिः ।५। ऋद्धिप्राप्तानामृषीणामाहारकशरीरमाविर्भवति इति विग्रहगतौ तस्यासंभवान्निवृत्तिः ।

शेषाहाराभावो व्याघातात् ।६। विग्रहगतौ [6]शेषस्याहारस्याभावः । कुतः ? व्याघातात् । अष्टविधकर्मपुद्गलसूक्ष्मपरिणतोपचितमूर्ति[7]कार्मणशरीरवशात् प्रावृट्कालपरिणतजलधरनिर्गतसलिलग्रहणसमर्थनिक्षिप्ततप्तायससायकवत् पूर्वदेहनिवृत्तिसमुद्घात[8]दुःखोष्णत्वाद् व्रजन्नप्याहारकः, वक्रगतिवशादेकं द्वौ त्रीन्वा समयाननाहारको भवति । तत्रैकसमयिक्यामिषुगतौ उक्तमाहारमनुभवन्नेव गच्छति । पाणिमुक्तायामेकविग्रहायां द्विसमयायां प्रथमे समयेऽनाहारकः । लाङ्गलिकायां द्विविग्रहायां त्रिसमयायां प्रथमद्वितीययोः समययोरनाहारकस्तृतीये आहारकः । गोमूत्रिकायां त्रिविग्रहायां चतुःसमयायां चतुर्थसमये आहारक इतरेष्वनाहारकः ।

तस्य खलु संसारिणः शुभाशुभफलप्रदकार्मणशरीरानुगृहीतक्रियाविशेषस्य अनुश्रेण्यास्कन्दतः पूर्वोपात्तानुभवनं प्रति कर्मभिरापूर्यमाणस्य अविग्रहविग्रहवद्गमनद्वयाक्षिप्त[9]देशान्तरस्य अभिनवमूर्त्यन्तरनिर्वृत्तिप्रकारप्रतिपादनार्थमिदमाह––

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

समन्ततो मूर्च्छनं सम्मूर्च्छनम् ।१। त्रिषु लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनं सम्मूर्च्छनम्-अवयवप्रकल्पनम् ।

शुक्रशोणितगरणाद् गर्भः ।२। यत्र शुक्रशोणितयोः[10]स्त्रिया उदरमुपगतयोर्गरणं मिश्रणं भवति स गर्भः ।

[11]मात्रोपयुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा ।३। अथवा, [11]मात्रोपयुक्तस्याहारस्यात्मसात्करणाद् गरणाद् गर्भः ।

उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्नित्युपपादः ।४। *"हलः" [जैनेन्द्र० २।३।१०२] इत्यधिकरणसाधनो घञ् । [12]देवनारकोत्पत्तिस्थानविशेषस्य संज्ञेति । एते त्रयः संसारिणां जीवानां जन्मप्रकाराः ।

१ –र्थो ज्ञेयः वि– आ०, ब०, द०, मु० । २ –दा द्वि– आ०, ब०, मु०, मू० । कालादनोर्व्याप्ताविति सूत्रेण अधिकरणं बाधित्वा द्वितीया । कर्मादानस्य नैरन्तर्यसद्भावात्, मासमधीते क्रोशं स्वपिति इत्यादिवत् । ३ बसः । द्वितीयाद्विवचवान्तम्– सम्पा० । ४ अतः कारणात् ते वर्जयित्वा । ५ आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनसाम् । ६ कवलाद्याहारस्य । ७ –त्तिः का– श्र० । ८ दुःखोष्मत्वा– मु० । ९ स्वीकृत । १० –तयोर्गर– आ०, ब०, द०, मु० । ११ मात्रोपभुक्ता– श्र०, ब०, मु० । १२ सर्वेषां जीवानामुपपादप्रसङ्गे रूढिशब्दोऽयं न तु व्युत्पत्तिक्रियापेक्षः इत्याह देवेत्यादि···।

सम्मूर्च्छनग्रहणमादौ अतिस्थूलत्वात् ।५। सम्मूर्च्छनजं हि [1]शरीरमतिस्थूलम्, अतोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते । ननु गर्भजशरीरमपि वैक्रियिकशरीरादतिस्थूलं तयोः कस्यादौ वचनं न्याय्यमिति ? उच्यते––

अल्पकालजीवित्वात्[2] सम्मूर्च्छनम् ।६। [3]गर्भजौपपादिकजीवेभ्यः समूर्च्छनजाः प्राणिनोऽल्पकालजीविनस्ततः सम्मूर्च्छनस्यादौ न्याय्यम् । किञ्च,

[4]तत्कार्यकारणप्रत्यक्षत्वात् ।७। गर्भोपपादजन्मनोः कार्यकारणे अप्रत्यक्षे, यत्पुनः सम्मूर्च्छनजन्मनः कारणं मांसादि तत्कार्यं च शरीरं तदुभयं लोके प्रत्यक्षम्, ततश्चास्यादौ ग्रहणं क्रियते ।

तदनन्तरं गर्भग्रहणं कालप्रकर्षनिष्पत्तेः ।८। गर्भजन्म हि [5]सम्मूर्च्छनजन्मनः कालप्रकर्षेण निष्पद्यते, ततस्तदनन्तरं तस्य ग्रहणं न्याय्यम् ।

उपपादग्रहणमन्ते दीर्घजीवित्वात् ।९। सम्मूर्च्छनजेभ्यो गर्भजेभ्यश्चौपपादिका दीर्घजीविन इत्यन्ते ग्रहणं क्रियते । आह– किं कृतोऽयं जन्मविकल्प[6] इति ? उच्यते––

अध्यवसायविशेषात् कर्मभेदे तत्कृतो जन्मविकल्पः ।१०। अध्यवसायः परिणामः सोऽसंख्येयलोकविकल्पः, तद्भेदात्तत्कार्यकर्मबन्धविकल्पसततस्तत्फलं जन्मविकारो वेदितव्यः । कारणानुरूपं हि लोके दृश्यते कार्यम् । शुभाशुभलक्षणं च कर्म तद्रूपमेव जन्म प्रादुर्भावयति ।

प्रकारभेदाज्जन्मभेद इति चेत्; न; तद्विषयसामान्योपादानात् ।११। स्यादेतत्–प्रकारा बहवः तत्सामानाधिकरण्याज्जन्मनोऽपि बहुत्वं प्राप्नोति, यथा 'जीवादयः पदार्थाः' इति; तन्न; किं कारणम् ? तद्विषयसामान्योपादानात् । तत्प्रकारविषयमिह सामान्यं [7]जन्मशब्देनोपादीयते, तत एकत्वनिर्देशः, यथा जीवादयस्तत्त्वमिति ।

अथाधिकृतस्य संसारिविषयोप[8]भोगोपलब्ध्यधिष्ठानप्रवणस्य जन्मनो योनिविकल्पो वक्तव्य इति ? अत आह––

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तम् ।१। आत्मनश्चैतन्य[9]परिणामविशेषश्चित्तं तेन सह वर्तन्त इति सचित्ताः ।

शीत इति स्पर्शविशेषः ।२। शीत इत्यनेन स्पर्शविशेषो गृह्यते । शुक्लादिवदुभय[10]वचनत्वात्तद्युक्तं द्रव्यमप्याह ।

संवृतो दुरुपलक्षः ।३। सम्यग्वृतः संवृत इति दुरुपलक्षः प्रदेश उच्यते ।

सेतराः सप्रतिपक्षाः ।४। सह इतरैः सेतराः सप्रतिपक्षा इत्यर्थः । के पुनरितरे ? अचित्तोष्णविवृताः ।

मिश्रग्रहणमुभयात्मकसंग्रहार्थम् ।५। मिश्रग्रहणं क्रियते उभयात्मकसंग्रहार्थं सचित्ताचित्तशीतोष्णसंवृतविवृता इति ।

चशब्दः प्रत्येकसमुच्चयार्थः[11] ।६। मिश्राश्चेति च शब्दः क्रियते प्रत्येकसमुच्चयार्थः । [12]इतरथा हि पूर्वोक्तानामेव विशेषणं स्यात् । तेन सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा यदा मिश्रास्तदा

१ महामत्स्यादेः । २ सम्मूर्च्छनमिति नास्ति भा० १। ३ गर्भोपपादि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ तत्कारणकार्यप्र– श्र० । ५ सकाशात् । ६ भेदः । ७ सम्मूर्च्छनजन्मेत्यादि । ८ –भोगल– आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ९ चैतन्यस्यपरि– आ०, ब०, द०, मु० । १० गुणगुणि । ११ अत्राचार्याभिप्रायानभिज्ञः कश्चित्तटस्थ आह । १२ चशब्दाभावे ।

योनयो भवन्तीत्ययमर्थो [1]लभ्यते। चशब्दे पुनः सचित्तादयः प्रत्येकं च योनयो भवन्ति मिश्राश्चेत्ययमर्थो लब्धः।

[2]न वा अन्तरेणापि तत्प्रतीतेः ।७। [3]न वैतत् प्रयोजनमस्ति। कुतः ? अन्तरेणापि तत्प्रतीतेः। अन्तरेणापि हि चशब्दं समुच्चयार्थः प्रतीयते यथा *"**पृथिव्यापस्तेजो वायुः**" [तत्त्वोप० पृ० १] इति। ननु चोक्तम्–इतरथा हि पूर्वोक्तानामेव विशेषणं स्यादिति; नैष दोषः; विशेषणस्य समुच्चयस्य च संभवे समुच्चय[4] इति व्याख्यायते।

इतरयोनिभेदसमुच्चयार्थस्तु[5] ।८। सूत्रेऽनुक्तानां योनिभेदानां समुच्चयार्थस्तर्हि चशब्दः। के पुनस्ते ? उत्तरत्र वक्ष्यन्ते।

एकशो ग्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थम् ।९। एकैकः एकश इति वीप्सायां शस्, तस्य ग्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थम्। यथैवं विज्ञायेत सचित्तश्चाऽचित्तश्च शीतश्चोष्णश्च संवृतश्च विवृतश्चेति। मैवं विज्ञायि सचित्तशीतश्चेत्यादि।

तद्ग्रहणं प्रकृतापेक्षम् ।१०। तद्ग्रहणं क्रियते प्रकृतापेक्षार्थम्। तेषां योनयस्तद्योनयः। केषाम् ? सम्मूर्च्छनादीनामिति। यूयत इति योनिः।

[6]सचित्तादिद्वन्द्वे पुंवद्भावाभावो भिन्नार्थत्वात् ।११। योनिशब्दोऽयं स्त्रीलिङ्गस्तदपेक्षाः सचित्तादयः शब्दाः स्त्रीलिङ्गाः, तेषां द्वन्द्वे पुंवद्भावो न प्राप्नोति-सचित्ताश्च शीताश्च संवृताश्च सचित्तशीतसंवृता इति। कुतः ? भिन्नार्थत्वात्। एकाश्रये हि पुंवद्भाव उक्तः[7]।

न वा; योनिशब्दस्योभयलिङ्गत्वात् ।१२। न वैष दोषः। किं कारणम् ? उभयलिङ्गत्वाद्योनिशब्दस्य। इह पुल्लिङ्गो वेदितव्यः।

योनिजन्मनोरविशेष इति चेत्; न; आधाराधेयभेदाद्विशेषोपपत्तेः।१३। स्यान्मतम्–योनिजन्मनोरविशेषः, यत आत्मैव देवादिजन्मपर्यायादौपपादिक इत्युच्यते, सैव च योनिरिति:; तन्न; किं कारणम् ? आधाराधेयविशेषोपपत्तेः। आधारो हि योनिराधेयं जन्म, यतः सचित्तादियोन्यधिष्ठान आत्मा सम्मूर्च्छनादिजन्मना शरीराहारेन्द्रियादियोग्यान् पुद्गलानादत्ते।

सचित्तग्रहणमादौ चेतनात्मकत्वात् ।१४। सचित्तग्रहणमादौ क्रियते। कुतः ? चेतनात्मकत्वात्। चेतनात्मको लोके ह्यर्थः प्रधानम्।

तदनन्तरं शीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात् ।१५। तदनन्तरं शीताभिधानं क्रियते। कुतः ? तदाप्यायनहेतुत्वात्। सचेतनस्य ह्यर्थस्य शीतमाप्यायनकारणं भवति।

अन्ते संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् ।१६। अन्ते संवृतग्रहणं क्रियते। कुतः ? गुप्तरूपत्वात्। गुप्तरूपं हि लोके कर्माग्राह्यं भवति।

एक एव योनिरिति चेत्; न; प्रत्यात्मं सुखदुःखानुभवनहेतुसद्भावात् ।१७। स्यान्मतम्–एक एव योनिरस्तु सर्वेषां जीवानामिति ? तन्न; किं कारणम् ? प्रत्यात्मं सुखदुःखानुभवनहेतुसद्भावात्। शुभाशुभपरिणामा हि प्रत्यात्मं भिन्नास्तज्जनितश्च कर्मबन्धो विचित्रः, अतस्तेन सुखदुःखानुभवनकारणं बहुविधमारभ्यते।

---

१ लभ्येत आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ न चान्तरेणा– आ०, ब०, द०, मु०। ३ नैतत्प्र– आ०, ब०, द०, मु०। ४ विशेषणसमुच्चययोः समुच्चय एव बलीयानिति न्यायेन। ५ तर्हि भवतामभिप्रायः कोऽयमिति पृष्टः सन्नाह। ६ अत्राह तटस्थः। ७ मानिस्त्र्येकार्थयोः स्त्र्यन्यतोऽनूः (शाकटा० २।२।४१) इति।

तत्राऽचित्तयोनिका देवनारकाः ।१८। देवाश्च नारकाश्चाऽचित्तयोनिकाः। तेषां हि योनिरुपपादप्रदेशपुद्गलप्रचयोऽचित्तः।

गर्भजा मिश्रयोनयः ।१९। गर्भजा ये जीवास्ते मिश्रयोनयो वेदितव्याः। तेषां हि मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्तं तदात्मना चित्तवता मिश्रं[1] योनिः।

शेषास्त्रिविकल्पाः ।२०। शेषाः सम्मूर्च्छनजास्त्रिविकल्पा भवन्ति–केचित् सचित्तयोनयः, अन्ये अचित्तयोनयः, अपरे मिश्रयोनय इति। तत्र सचित्तयोनयः साधारणशरीराः। कुतः ? परस्पराश्रयत्वात्। इतरे अचित्तयोनयो मिश्रयोनयश्च।

शीतोष्णयोनयो देवनारकाः ।२१। देवा नारकाश्च शीतयोनयो भवन्ति उष्णयोनयश्च। तेषां हि उपपादस्थानानि[2] कानिचिच्छीतानि कानिचिदुष्णानि इति।

उष्णयोनिस्तेजस्कायिकः ।२२। अग्निकायिको जीव उष्णयोनिर्द्रष्टव्यः।

इतरे त्रिप्रकाराः ।२३। इतरे जीवास्त्रिप्रकारयोनयो भवन्ति–केचिच्छीतयोनयः, अन्ये उष्णयोनयः, अपरे मिश्रयोनय इति।

देवनारकैकेन्द्रियाः संवृतयोनयः ।२४। देवनारका एकेन्द्रियाश्च संवृतयोनयो भवन्ति।

विकलेन्द्रिया[3] विवृतयोनयः ।२५। विकलेन्द्रिया जीवा विवृतयोनयो वेदितव्याः।

मिश्रयोनयो गर्भजाः ।२६। गर्भजा जीवा मिश्रयोनयोऽवगन्तव्याः।

तद्भेदाश्चशब्दसमुच्चिताः प्रत्यक्षज्ञानिदृष्टा इतरेषामागमगम्याश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्याः ।२७। तेषां नवानां योनीनां भेदाः कर्मभेदजनितविविक्तवृत्तयः प्रत्यक्षज्ञानिभिर्दिव्येन चक्षुषा दृष्टाः, इतरेषां छद्मस्थानामागमेन श्रुताख्येन गम्याश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्या आख्यायन्ते। तद्यथा––नित्यनिगोतानां सप्त शतसहस्राणि, अनित्यनिगोतानां च सप्त शतसहस्राणि। के पुर्नित्यनिगोताः, के चाऽनित्यनिगोताः ? त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोताः। त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये ते अनित्यनिगोताः। पृथिव्यप्तेजोवायूनां सप्त सप्त शतसहस्राणि, वनस्पतिकायिकानां दश शतसहस्राणि, विकलेन्द्रियाणां षट् शतसहस्राणि, देवनारकपञ्चेन्द्रियतिरश्चां प्रत्येकं चत्वारि शतसहस्राणि, मनुष्याणां चतुर्दश शतसहस्राणि। तान्येतानि समुदितानि चतुरशीतिशतसहस्राणि आख्यायन्ते। उक्तं च––

*"**णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदिएसु छच्चेव।**
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुएसु सदसहस्सा॥" [बारसअणु० ३५] इति।

एवमेतस्मिन्नवयोनिभेदसंकटे [4]त्रिविधे जन्मनि सर्वप्राणिभृतामनियमेन प्रसक्ते अवधारणार्थमाह––

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

जालवत्प्राणिपरिवरणं जरायुः ।१। यज्जालवत् प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं तज्जरायुरित्युच्यते।

शुक्रशोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमण्डलमण्डम् ।२। यत्र खलु नखत्वक्सदृशमुपात्तकाठिन्यं शुक्रशोणितपरिवरणं[5]परिमण्डलं तदण्डमित्याख्यायते।

---

१ मिश्रं। शे– आ०, ब०, द०, मु०। २ –नि कानिचिदुष्णानि कानि– आ०, ब०, द०, मु०। ३ –या जीवा विवृतयोनयो वेदि– आ०, ब०, द०, मु०। ४ नित्येतरधातु सप्त च तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव। सुरनारकतिर्यञ्चः चत्वारः चतुर्दश मनुष्येषु शतसहस्राणि॥ ५ सम्मूर्च्छनादिभेदेन। ६ –णं म– आ०, ब०, मु०।

संपूर्णावयवः परिस्पन्दादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः ।३। किञ्चित् परिवरणमन्तरेण परिपूर्णावयवो योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः पोत इत्युच्यते। जरायौ जाताः जरायुजाः, अण्डे जाता अण्डजाः, जरायुजाश्चाण्डजाश्च पोताश्च जरायुजाण्डजपोताः।

पोतजा इत्ययुक्तम्; अर्थभेदाभावात् ।४। [1]केचित् पोतजा इति पठन्ति; तदयुक्तम्; कुतः? अर्थभेदाभावात्। न हि पोते कश्चिदन्यो जातोऽस्ति।

आत्मा पोतज इति चेत्; न; तत्परिणामात् ।५। स्यान्मतम्–आत्मा पोते जातः पोतज इत्यर्थभेदोऽस्तीति? तन्न; किं कारणम्? तत्परिणामात्। आत्मैव पोतपरिणामेन परिणतः पोत इत्युच्यते, न पृथगात्मनः पोतो नाम कश्चिदस्ति जरायुवत्। [2]पोतोऽजनिष्ट पोतज इति चेत्; अर्थविशेषो नास्ति।

जरायुजग्रहणमादावभ्यर्हितत्वात् ।६। जरायुजग्रहणमादौ क्रियते। कुतः? अभ्यर्हितत्वात्। कथमभ्यर्हितत्वम्?

क्रियारम्भशक्तियोगात् ।७। अण्डजपोतासाधारण्यो हि भाषाध्ययनादयः क्रिया जरायुजेषु दृश्यन्ते।

केषाञ्चिन्महाप्रभावत्वात् ।८। तत्र हि जाताः केचन चक्रधरवासुदेवादयो महाप्रभावा भवन्ति। किञ्च,

मार्गफलाभिसंबन्धात् ।९। सम्यग्दर्शनादिमार्गफलेन[3] मोक्षसुखेन[4] चाभिसंबन्धो नान्येषामित्यभ्यर्हितत्वम्।

तदनन्तरमण्डजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यर्हितत्वात् ।१०। तदनन्तरमण्डजग्रहणं क्रियते। कुतः? पोतेभ्योऽभ्यर्हितत्वात्। अण्डजेषु हि केषुचित् शुकसारिकादयोऽक्षरोच्चारणादिषु क्रियासु कुशला भवन्तीत्यभ्यर्हिताः पोतेभ्यः।

[5]उद्देशवन्निर्देश इति चेत्; न; गौरवप्रसङ्गात् ।११। स्यान्मतम्–उद्देशवन्निर्देशेन भवितव्यमिति संमूर्च्छनजानां प्राग्ग्रहणं कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? गौरवप्रसङ्गात्। यदि हि संमूर्च्छनजनिर्देश आदौ क्रियते [6]शास्त्रस्य गौरवं स्यात्–[7]एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां तिरश्चां मनुष्याणां च केषाञ्चित्संमूर्च्छनमिति, अतो गर्भजौपपादिकानुक्त्वा 'शेषाणां संमूर्च्छनम्' इति लघुनोपायेन निर्देक्ष्यामीत्युद्देशक्रमोऽतिक्रान्तः[8]।

[9]सिद्धे विधिरवधारणार्थः ।१२। जरायुजादीनां सामान्येन सिद्धे गर्भजन्मसंबन्धे पुनर्विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः, जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भ इति। अथ नियमार्थे[10] आरम्भे सति जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ एवेति नियमः कस्मान्न भवति? उत्तरत्र शेषाणामिति वचनात्।

यद्यमीषां जरायुजाण्डजपोतानां गर्भोऽवधीयते, अथोपपादः खलु केषां भवतीति? [11]अत आह––

१ "जरायण्डपोतजानां गर्भः (सू०)···पोतजानां शल्लकहस्तिश्वाविल्लापकशशशारिकानकुलमूषिकानां पक्षिणां च चर्मपक्षाणां जलूकावल्गुलीभारण्डपक्षिविरालादीनां गर्भो गर्भाज्जन्मेति' –त० भा० २।३४। २ पोतेऽजनि– भा० १। ३ अभ्युदयेन। ४ –नाभिस– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ५ सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्मेति सूत्रोक्तोद्देशवत्। नाममात्रकथनमुद्देशः। ६ शास्त्रगौ– आ०, ब० द०, मु०। ७ तदेव विवृणोति सूत्रेणानेन भवितव्यमिति। ८ सूत्रकृता। ९ "सिद्धे विधिरारभ्यमाणोऽन्तरेणाप्येवकारं नियमार्थः।" –पात० महा० २।२।२०, ८।३।६१। १० सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्मेत्यत्र शुक्रशोणितगरणाद् गर्भ इति व्युत्पत्तिमुखेनैव गर्भजन्मसम्बन्धलक्षणं सिद्धं किमनेन सूत्रेणेत्याशङ्क्याह नियमसूत्रमिदमित्याह। ११ इत्यस्मिन् सूत्रे।

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

देवादिगत्युदय एवास्य जन्मेति चेत्; न; शरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात् ।१। [1]स्यादेतत्–मनुष्यस्तैर्यग्योनो वा छिन्नायुः कार्मणकाययोगस्थो देवादिगत्युदयाद् देवादिव्यपदेशभागिति कृत्वा तदेवास्य जन्मेति मतमिति; तन्न; किं कारणम्? शरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात्। देवादिशरीरनिर्वृत्तौ हि देवादिजन्मेष्टम्, तस्यां चावस्थायामनाहारकत्वान्न देवादिशरीरनिर्वृत्तिरस्ति तत [2]उपपादो जन्म युक्तम्, तच्च देवनारकाणामिति।

निर्दिष्टजन्मभेदेभ्यो जरायुजादिभ्योऽन्येषां किं जन्म इति? अत आह––

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

उभयत्र नियमः पूर्ववत् ।१। उभयोरपि योगयोः पूर्ववन्नियमो वेदितव्यः, देवनारकाणामेवोपपादः, शेषाणामेव संमूर्च्छनं नोक्तानामिति।

कथं पुनर्ज्ञायते पूर्वत्र जन्मनियमो न जन्मवन्नियम इति?

शेषग्रहणात् पूर्वत्र जन्मनियमः ।२। इह शेषग्रहणाज्ज्ञायते पूर्वत्र जन्मनियम इति। जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भो देवनारकाणामेवोपपाद इत्यवधारणे गर्भोपपादजन्मनी नियते, [3]जरायुजादयो न नियतास्तेषां सम्मूर्च्छनमपि प्राप्तमतः शेषग्रहणं क्रियते '[4]शेषाणामेव संमूर्च्छनं नोक्तानाम्' इत्यवधारणार्थः। यदि हि जन्मवतां नियमः स्यात् जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ एव देवनारकाणामुपपाद एवेति गर्भोपपादयोरनवधारणात् यत्र सम्मूर्च्छनं चान्यच्चास्ति तत्र सम्मूर्च्छनमेवेति नियमाच्छेषग्रहणमनर्थकं स्यात्।

आह–इदं सूत्रमनर्थकम्। कथम्? पूर्वयोर्योगयोरुभयतो नियमे सति जरायुजादीनां गर्भोपपादयोश्चाऽसति व्यभिचारे, शेषाणामेव सम्मूर्च्छनमुत्सर्गोऽवतिष्ठते इति। उच्यते–स एवोभयतो नियमो [5]दुर्लभः, यत्तस्यैकत्वात्, अतोऽन्यतरनियम एवाश्रयितव्यः, तस्मिंश्च सति सूत्रमिदमारब्धव्यम्।

तेषां पुनः संसारिणां त्रिविधजन्मनामाहितबहुविकल्प[6]नवयोनिभेदानां शुभाशुभनामकर्मनिर्वर्तितानि बन्धफलानुभवनाधिष्ठानानि शरीराणि कानीति? अत आह––

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

शीर्यन्त इति शरीराणि ।१।

घटाद्यतिप्रसङ्ग इति चेत्; न; नामकर्मनिमित्तत्वाभावात् ।२। यदि शीर्यन्त इति शरीराणि घटादीनामपि विशरणमस्तीति शरीरत्वमतिप्रसज्येत; तन्न; किं कारणम्? नामकर्मनिमित्तत्वाभावात्। शरीरनामकर्मोदयाच्छरीरम्, न च घटादिषु सोऽस्तीति नास्त्यतिप्रसङ्गः।

विग्रहाभाव इति चेत्; न; रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात् ।३। स्यान्मतम्–यदि शरीरनामकर्मोदयाच्छरीरव्यपदेशः 'शीर्यन्त इति शरीराणि' इति विग्रहो नोपपद्यत इति; तन्न; किं कारणम्? रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात्। यथा 'गच्छतीति गौः' इति विगृह्यते, एवं 'शीर्यन्त इति शरीराणि' इति विग्रहो भवति।

१ स्यान्मतम् आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ उपेत्य पद्यते उत्पद्यतेऽस्मिन् उपपाद इति। ३ जीवाः। ४ अनुक्तानाम्। ५ दुर्लक्ष्यः। ६ चतुरशीतिशतसहस्र।

शरीरत्वादिति चेत्; न; तदभावात् ।४। स्यान्मतम्–शरीरत्वं नाम 'सामान्यविशेषोऽस्ति, तद्योगाच्छरीरं न नामकर्मोदयादिति; तन्न; किं कारणम् ? तदभावात् । 'अतत्स्वभावेऽनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत्' इत्येवमादिना[1] अर्थान्तरभूतजातिसंबन्धकल्पना प्रतिविहितेति नास्ति शरीरत्वम् ।

उदारात् स्थूलवाचिनो भवे प्रयोजने वा ठञ् ।५। उदारं स्थूलमिति यावत्, ततो भवे प्रयोजने वा ठञि औदारिकमिति भवति ।

विक्रियाप्रयोजनं वैक्रियिकम् ।६। अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम् ।

आह्रियते तदित्याहारकम् ।७। सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयमपरिजिहीर्षया च प्रमत्तसंयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम् ।

तेजोनिमित्तत्वात्तैजसम् ।७। यत्तेजोनिमित्तं तत्तैजसमिदम्, तेजसि भवं वा तैजसमित्याख्यायते ।

कर्मणामिदं कर्मणां समूह इति वा कार्मणम् ।९। कर्मणामिदं कार्यं कर्मणां समूह इति वा कथञ्चिद्भेदविवक्षोपपत्तेः कार्मणमिति व्यपदिश्यते ।

सर्वेषां कार्मणत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रतिनियतौदारिकादिनिमित्तत्वात् ।१०। स्यान्मतम्-यदि कर्मणामिदं कर्मणां समूह इति वा कार्मणमित्युच्यते सर्वेषामपि तत्तुल्यमित्यौदारिकादीनामपि कार्मणत्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतिनियतौदारिकादिनिमित्तत्वात् । औदारिकशरीरनामादीनि हि प्रतिनियतानि कर्माणि सन्ति तदुदयभेदाद्भेदो भवति ।

तत्कृतत्वेऽप्यन्यत्वदर्शनात् घटादिवत् ।११। यथा मृत्पिण्डकारणाविशेषेऽपि घटशरावादीनां संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदाद्भेदः तथा कर्मकृतत्वाविशेषेऽपि औदारिकादीनां संज्ञादिभेदाद्भेदोऽवसेयः।

तत्प्रणालिकया चाभिनिष्पत्तेः ।१२। कार्मणशरीरप्रणालिकया चौदारिकादीनामभिनिष्पत्तिः, अतः कार्यकारणभेदान्न सर्वेषां कार्मणत्वम् । किञ्च,

[3]विस्रसोपचयेन व्यवस्थानात् क्लिन्नगुडरेणुश्लेषवत् ।१३। यथा वैस्रसिकपरिणामात् [4]क्लिन्ने गुडे रेणूनामुपश्लिष्टानामवस्थानं तथा [5]कार्मणेऽप्यौदारिकादीनां वैस्रसिकोपचयेनावस्थानमिति नानात्वं सिद्धम् [6]।

कार्मणमसत् निमित्ताभावादिति चेत्; न; निमित्तनिमित्तिभावात्तस्यैव प्रदीपवत् ।१४। स्यादेतत्–न कार्मणं नाम शरीरमस्ति । कुतः ? निमित्ताभावात् । यस्य च निमित्तं नास्ति तदसत् यथा खरविषाणमिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्यैव निमित्तनिमित्तिभावात् प्रदीपवत् । यथा प्रदीपात्मैवात्मप्रकाशनात् प्रकाश्यः प्रकाशकश्च तथा कार्मणमेवात्मनो निमित्तं निमित्ति चेति सिद्धम् ।

मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच्च ।१५। न कार्मणस्य निमित्तं नास्ति । किं तर्हि निमित्तम् ? मिथ्यादर्शनादि । ततोऽसिद्धमेतत्–'निमित्ताभावात्' इति ।

---

१ सामान्यं सद्विशेषः परसामान्यमित्यर्थः । २ पृ०५। ३ जीवादो णंतगुणा पडिपरिमाणुम्हि विस्ससोवचया । जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पडि समाणा हु ॥ विस्रसा स्वभावेनैव आत्मपरिणामनिरपेक्षतयैव उपचीयन्ते तत्कर्मनोकर्मपरमाणुस्निग्धरूक्षत्वगुणेन स्कन्धतां प्रतिपद्यन्ते । ४ क्लिन्नगु– आ०, ब०, मु० । ५ कर्मण्यप्यौ– आ०, ब०, द०, मु० । ६ अत एव कर्मणां समूहः कार्मणम्, सर्वेषां तत्तुल्यमिति चोद्यं युक्तम् ।

इतरथा ह्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।१६। यदि कार्मणमनिमित्तमिति गृह्येत; अनिर्मोक्षः स्यात्, अहेतुकस्य विनाशहेतुत्वाभावात्[1] ।

अशरीरं विशरणाभावादिति चेत्; न; उपचयापचयधर्मत्वात् ।१७। स्यादेतत्–यथौदारिकादि शीर्यत इति शरीरं न तथा कार्मणं शीर्यत इत्यशरीरत्वमस्येति; तन्न; किं कारणम् ? उपचयापचयधर्मत्वात् । निमित्तवशाद्धि कर्मायव्ययौ सततं स्त इति विशरणमस्त्येव ।

तद्ग्रहणमादाविति चेत्; न; तदनुमेयत्वात् ।१८। स्यादेतत्–कार्मणग्रहणमादौ कर्तव्यम् । कुतः ? तदधिष्ठानत्वादितरेषामिति ? तन्न; किं कारणम्; तदनुमेयत्वात् । यथा घटादिकार्योपलब्धेः [2]परमाण्वनुमानं तथौदारिकादिकार्योपलब्धेः कार्मणानुमानम् *"**कार्यलिङ्गं हि कारणम्**" [आप्तमी० श्लो० ६८] इति ।

तत एव कर्मणो मूर्तिमत्त्वं सिद्धम् ।१९। यस्मात् मूर्तिमदस्य कार्यं तत एव कर्मणः कारणस्य मूर्तिमत्त्वं सिद्धम् । न ह्यमूर्तेनात्मगुणेन निष्क्रियेणाऽदृष्टेन मूर्तिमतः क्रियावतो द्रव्यस्यारम्भो युक्त इति ।

औदारिकग्रहणमादावतिस्थूलत्वात् ।२०। अतिस्थूलमिदमौदारिकमिन्द्रियग्राह्यत्वात्, ततोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते ।

उत्तरेषां क्रमः सूक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थः ।२१। उत्तरेषां वैक्रियिकादीनां पाठक्रमः सूक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थो वेदितव्यः । वक्ष्यते हि **'परं परं सूक्ष्मम्'** इति ।

यथौदारिकस्येन्द्रियैरुपलब्धिस्तथेतरेषां कस्मान्न भवतीति ? अत आह–

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

परशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः ।१। परशब्दोऽयमनेकार्थवचनः । क्वचिद्व्यवस्थायां[3] वर्तते–यथा पूर्वः पर इति । क्वचिदन्यार्थे वर्तते–यथा परपुत्रः परभार्येति अन्यपुत्रोऽन्यभार्येति गम्यते । क्वचित्प्राधान्ये वर्तते–यथा परमियं कन्या अस्मिन् कुटुम्बे प्रधानमिति गम्यते । क्वचिदिष्टार्थे वर्तते–यथा परं धाम गत इष्टं धाम गत इत्यर्थः । तत्रेह विवक्षातो व्यवस्थार्थो गृह्यते ।

पृथग्भूतानां शरीराणां सूक्ष्मगुणेन वीप्सा[4]निर्देशः ।२। संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादिभिः पृथग्भूतानां शरीराणां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देश क्रियते 'परं परम्' इति ।

यदि परं परं सूक्ष्मं प्रदेशतोऽपि नूनं परं परं हीनमिति विपरीतप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाह–

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

प्रदेशाः परमाणवः ।१। प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशाः परमाणवः, ते हि घटादिष्ववयवत्वेन प्रदिश्यन्ते[5]। [6]प्रदिश्यन्ते एभिरिति वा प्रदेशाः, तैर्हि आकाशादीनां क्षेत्रादिविभागः प्रदिश्यते । प्रदेशेभ्यः प्रदेशतः *"**अपादानेऽहीयरुहोः**" [जैनेन्द्र० ४।२।५०] इति तसिः । प्रदेशैर्वा प्रदेशतः तसि प्रकरणे *"**आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्**" [जैनेद्र० वा० ४।२।४९] इति तसिः ।

संख्यानातीतोऽसंख्येयः ।२। संख्यानं गणनमतीतो यः सोऽसंख्येयः, असंख्येयो गुणोऽस्य तदिदमसंख्येयगुणम् ।

---

१ आकाशदिवत् । २ परमाण्वाद्यनु –आ०, ब०, द०, मु० । ३ अवधिनियमो व्यवस्था । ४ आप्तुमिच्छा । व्याप्तुमिच्छा वीप्सा इत्यर्थः –सम्पा० । ५ निरूप्यन्ते । ६ प्रदिश्यते आ०, मू० ।

परं परमित्यनुवृत्तेः प्राक् तैजसादिति वचनम् ।३। 'परं परम्'इत्यनुवर्तते, तेन आकार्मणादसंख्येयगुणत्वे प्राप्ते मर्यादानिर्णयार्थं प्राक् तैजसादित्युच्यते ।

प्रदेशत इति विशेषणमवगाह[1]क्षेत्रनिवृत्त्यर्थम् ।४। प्रदेशतः परं परमसंख्येयगुणं नावगाहक्षेत्रत इत्येतस्य प्रतिपत्त्यर्थं 'प्रदेशतः' इति विशेषणमुपादीयते । तेनैतदुक्तं भवति–औदारिकाद्वैक्रियिकमसंख्येयगुणप्रदेशं वैक्रियिकादाहारकमसंख्येयगुणप्रदेशमिति । को गुणकारः ? पल्योपमस्यासंख्येयभागः ।

उत्तरोत्तरस्य महत्त्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रचयविशेषादयःपिण्डतूलनिचयवत् ।५। स्यान्मतम्–यद्युत्तरोत्तरमसंख्येयगुणप्रदेशं परिमाणमहत्त्वेनापि भवितव्यमिति ? तन्न; किं कारणम् ? प्रचयविशेषादयःपिण्डतूलनिचयवत् । यथा अयःपिण्डस्य बहुप्रदेशत्वेऽपि अल्पपरिमाणत्वं[2] तूलनिचयस्य चाल्पप्रदेशत्वेऽपि महापरिमाणत्वं प्रचयविशेषात्, तथा उत्तरस्य शरीरस्यासंख्येयगुणप्रदेशत्वेऽपि अल्पपरिमाणत्वं बन्धविशेषाद्वेदितव्यम् ।

उक्तं प्राक् तैजसात् परं परमसंख्येयगुणमिति, अथोत्तरयोः किं समप्रदेशत्वमुतास्ति कश्चिद्विशेषः ? अस्तीत्याह–

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

प्रदेशत इत्यनुवर्तते । तेनैवमभिसम्बन्धः क्रियते आहारकात्तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणं तैजसात् कार्मणं प्रदेशतोऽनन्तगुणमिति । को गुणकारः ? अभव्यानामनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागः ।

अनन्तगुणत्वादुभयोस्तुल्यत्वमिति चेत्; न; अनन्तस्यानन्तविकल्पत्वात्[3] ।१। स्यादेतत्–अनन्तगुणत्वादुभयोस्तैजसकार्मणयोस्तुल्यत्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? अनन्तस्यानन्तविकल्पत्वात्[4] । अनन्तो ह्यनन्तविकल्पः संख्येयस्य संख्येयविकल्पवत् ।

आहारकादुभयोरनन्तगुणत्वमिति चेत्; न; परं परमित्यभिसंबन्धात् ।२। स्यान्मतम्–आहारकादुभयोरनन्तगुणत्वमेव गम्यते न तैजसात् कार्मणस्यानन्तगुणत्वम्, अतस्तयोस्तुल्यप्रदेशत्वं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? परं परमित्यभिसंबन्धात्[5] परं परमनन्तगुणमिति गम्यते ।

परस्मिन् सत्यारातीयस्यापरत्वात् परापर इति निर्देशः ।३। परं कार्मणं तस्मिन् सति तैजसमपरं भवत्यतः परापरे इति निर्देशो न्याय्यः ।

न वा; बुद्धिविषयव्यापारात् ।४। न वैष दोषः । किं कारणम् ? बुद्धिविषयव्यापारात् । न शब्दोच्चारणक्रमेण तैजसकार्मणयोः परव्यपदेशः । किं तर्हि ? बुद्ध्या तैजसकार्मणे तिर्यग्व्यवस्थाप्य आहारकात् [6]परे इति व्यपदेशः ।

व्यवहिते वा परशब्दप्रयोगात् ।५। अथवा व्यवहिते परशब्दप्रयोगो दृश्यते यथा परा पाटलिपुत्रात् मथुरेति, तथा आहारकात्तैजसस्य परत्वम् , तैजसेन व्यवहितस्यापि कार्मणस्य परत्वमिति ।

बहुद्रव्योपचितत्वात्तदुपलब्धिप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।६। स्यादेतत्–बहुद्रव्योपचितत्वात् तैजसकार्मणयोरुपलब्धिः[7] प्राप्नोतीति ? तन्न; किं [8]कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्–प्रचयविशेषात् सूक्ष्मपरिणाम इति ।

---

१ तस्समयबद्धवग्गणओगाहो सूइअंगुलासंख । भागहिदविंदअंगुलमुवरुवरिं तेण भजिदकमा । २ अवगाहक्षेत्रस्य । ३ –विकल्पात् आ०, ब०, द०, मु० । ४ संबन्धत्वात् आ०, ब०, द०, मु० । ५ समानषडंक्त्या । ६ समुच्चयेन । ७ दर्शनमित्यर्थः । ८ कारणमुक्तमेतत् आ०, ब, द०, मु० ॥

तत्रैतत् स्यात्–शल्यकवन्मूर्तिमद्द्रव्योपचितत्वात् संसारिणो जीवस्याभिप्रेतगतिनिरोधप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? यस्मादुभे अप्येते–

अप्रतीघाते ॥४०॥

[1]प्रतीघातो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः ।१। मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः प्रतीघात इत्युच्यते ।

[2]तदभावः सूक्ष्मपरिणामादयःपिण्डे तेजोऽनुप्रवेशवत् ।२। यथा अयःपिण्डस्यान्तःसूक्ष्मपरिणामात्तेजोऽनुप्रवेशो दृष्टस्तथा तैजसकार्मणयोरपि नास्ति वज्रपटलादिषु व्याघात इत्यप्रतीघाते इत्युच्यते ।

वैक्रियिकाहारकयोरप्यप्रतीघात इति चेत्; न; सर्वत्र विवक्षितत्वात् ।३। स्यान्मतम्–वैक्रियिकाहारकयोरपि प्रतीघातो नास्ति सूक्ष्मपरिणामादेव, तत्र किमुच्यते तैजसकार्मणे एवाप्रतीघाते इति ? तन्न; किं कारणम् ? सर्वत्र विवक्षितत्वात् । आलोकान्तात् सर्वत्र तैजसकार्मणयोर्नास्ति प्रतीघात इत्ययं विशेषो [3]विवक्षितः, वैक्रियिकाहारकयोस्तु न [4]तथा, अस्ति प्रतीघातः[5] ।

आह किमेतावानेव विशेष आहोस्वित् कश्चिदन्योऽप्यस्ति इति ? अत आह–

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

अथवा, अनादित्वादात्मनः शरीरस्यादिमत्वाद्विकरणस्य[6] आदिशरीरसम्बन्धः किं कृतः इति ? अत आह–अनादिसम्बन्धे चेति । चशब्दः किमर्थः ?

चशब्दो विकल्पार्थः ।१। चशब्दो विकल्पार्थो वेदितव्यः, अनादिसंबन्धे सादिसंबन्धे चेति । कथमिति चेत् ? उच्यते–

बन्धसन्तत्यपेक्षया अनादिः सम्बन्धः सादिश्च विशेषतो बीजवृक्षवत् ।२। यथा वृक्षो बीजादुत्पन्नः, तच्च बीजमपरस्माद् वृक्षात्, स चापरस्माद्बीजादिति कार्यकारणसंबन्धसामान्यापेक्षया अनादिसंबन्धः, अस्माद् बीजादयं वृक्षोऽस्माच्च[7] वृक्षादिदं बीजमिति विशेषापेक्षया सादिः । एवं तैजसकार्मणयोरपि पौनर्भविकनिमित्तनैमित्तिकसन्तत्यपेक्षया अनादिसंबन्धः, विशेषापेक्षया सादिरिति ।

एकान्तेनादिमत्त्वे अभिनवशरीरसंबन्धाभावो निर्निमित्तत्वात् ।३। यस्यैकान्तेनादिमान् शरीरसंबन्धः तस्य प्रागात्यन्तिकीं शुद्धिमादधतो जीवस्याभिनवशरीरसंबन्धो न स्यात् । कुतः ? निर्निमित्तत्वात् ।

मुक्तात्माभावप्रसङ्गश्च ।४। यद्येकान्तेन सादिसंबन्धः; [8]यथा आदिशरीरमकस्मात् संबध्यते एवं मुक्तात्मनोऽप्याकस्मिकशरीरसंबन्धः स्यादिति मुक्तात्माभावप्रसङ्गः स्यात् ।

एकान्तेनानादित्वे चानिर्मोक्षप्रसङ्गः ।५। अथैकान्तेनानादित्वं कल्प्यते; एवमपि यस्यानादित्वं तस्यान्तोऽपि नास्तीत्याकाशवत् कार्यकारणसंबन्धाभावात्, ततश्चानिर्मोक्षः प्रसजति ।

---

१ प्रतिघा– आ०, ब०, द० । २ श्र० प्रतौ नास्त्येतत् वार्तिकचिह्नाङ्कितम् –सम्पा० । ३ ततः सर्वत्राप्रतीघाते इति व्याख्येयम्, सोपस्काराणि सूत्राणीत्यभिधानात् । ४ तथानास्ति आ०, ब०, द०, श्र० । ५ त्रसनाल एवावस्थानात् । ६ अतीन्द्रियस्यात्मनः । ७ –स्माद् –श्र० । ८ यथा सादिश– आ०, ब, द०, मु० । यथा शरीर– आ०, मू०, ता० ।

ननु चानादेरपि बीजवृक्षसन्तानस्याग्निसम्बन्धे सत्यन्तो दृष्टः; न; तस्यैकान्तेनाऽनादित्वाभावात्। बीजवृक्षौ हि विशेषापेक्षया आदिमन्ताविति। तस्मात् साधूक्तं केनचित्प्रकारेण अनादिः सबन्धः, केनचित्प्रकारेणादिमानिति।

त एते तैजसकार्मणे किं कस्यचिदेव भवतः उताऽविशेषेणेति ? अत आह--

सर्वस्य ॥४२॥

सर्वशब्दो निरवशेषवाची ।१। निरवशेषस्य संसारिणो जीवस्य ते द्वे अपि शरीरे भवत इत्यर्थः।

संसरणधर्मसामान्यादेकवचननिर्देशः ।२। संसरणधर्मसामान्ययोगादेकवचननिर्देशः क्रियते। यदि हि कस्यचित् संसारिणस्ते न स्यातां संसारित्वमेवास्य न स्यात्।

अविशेषाभिधानात्तैरौदारिकादिभिः सर्वस्य संसारिणो यौगपद्येन संबन्धप्रसङ्गे संभविशरीरप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते--

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

तद्ग्रहणं प्रकृतशरीरद्वयप्रतिनिर्देशार्थम् ।१। प्रकृते द्वे शरीरे तैजसकार्मणे, तत्प्रतिनिर्देशार्थं तदित्युच्यते।

आदिशब्देन [1]व्यवस्थावाचिना शरीरविशेषणम् ।२। पूर्वसूत्रे व्यवस्थितानां शरीराणामानुपूर्व्यप्रतिपादनेन आदिशब्देन विशेषणं क्रियते, ते आदिर्येषां तानीमानि तदादीनीति।

[2]पृथक्त्वादेव तेषां भाज्यग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; एकस्य द्वित्रिचतुःशरीरसंबन्धविभागोपपत्तेः ।३। स्यान्मतम्-भाज्यानि पृथक् कर्तव्यानीत्यर्थः, तान्यौदारिकादीनि परस्परत आत्मनश्च पृथग्भूतान्येव लक्षणभेदादतो भाज्यग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? एकस्य द्वित्रिचतुःशरीरसंबन्धविभागोपपत्तेः। कस्यचिदात्मनो द्वे तैजसकार्मणे, अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियिकतैजसकार्मणानि वा, अन्यस्य चत्वारि औदारिकाऽऽहारकतैजसकार्मणानीति विभागः क्रियते।

युगपदिति कालैकत्वे ।४। 'युगपत्' इत्ययं निपातः कालैकत्वे द्रष्टव्यः, एकस्मिन् काले। कालभेदे तु पञ्चापि भवन्त्येव[3]।

आङभिविध्यर्थः ।५। आङयमभिविध्यर्थो द्रष्टव्यः, तेन चत्वार्यपि कस्यचिद्भवन्ति। मर्यादायां सत्यां चत्वारि न स्युः। अथ पञ्च युगपत् कस्मान्न भवन्तीति ?

वैक्रियिकाहारकयोर्युगपदसंभवात् पञ्चाभावः ।६। यस्य संयतस्याहारकं न तस्य वैक्रियिकम्, यस्य देवस्य नारकस्य वा वैक्रियिकं न तस्याहारकमिति युगपत् पञ्चानामसंभवः।

पुनरपि तेषां शरीराणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह--

---

१ क्रम। २ औदारिकं वैक्रियिकमित्यादि, अथवा आत्मनः सकाशात्। ३ कश्चिद् देवो मनुष्यगतिमवाप्य दीक्षामुपादाय प्रमत्तसंयतः सन् आहारकशरीरं निर्वर्त्तयति। तस्य देवचरस्य संयतस्य अपेक्षया पञ्चापि भवन्ति घृतघटवत्। प्रमत्तसंयतस्य आहारकवैक्रियिकशरीरोदयत्वेऽपि तयोरेककाले प्रवृत्त्यभावात् एकतरत्यागेन युगपदौदारिकतैजसकार्मणाहारकाणि चत्वारि, वैक्रियिकं वा अस्तित्वमाश्रित्य पञ्चापि भवन्ति। तदुक्तम्-आहारयवेगुव्वियकिरिया ण समं पमत्तविरदम्मि। जोगोवि एककाले एक्केव य होदि णियमेण॥ इति। लब्धिप्रत्ययवैक्रियिकापेक्षया योज्यम्।

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

सूत्रक्रमापेक्षया अन्ते भवमन्त्यं कार्मणम्, निरुपभोगमिति वचनात् अर्थादापन्नमेतदितराणि सोपभोगानीति।

कर्मादाननिर्जरासुखदुःखानुभवनहेतुत्वात् सोपभोगमिति चेत्; न; विवक्षितापरिज्ञानात् ।१। स्यान्मतम्-कार्मणकाययोगेन कर्मादत्ते निर्जरयति च, सुखदुःखं चानुभवति, ततः सोपभोगमेव न निरुपभोगमिति ? तन्न; किं कारणम् ? विवक्षितापरिज्ञानात्। विवक्षितमुपभोगमपरिज्ञाय परेणेदं [1]चोदितम्। कोऽसौ विवक्षित उपभोगः ?

इन्द्रियनिमित्तशब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः ।२। इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोग इत्युच्यते। विग्रहगतौ सत्यामपीन्द्रियोपलब्धौ द्रव्येन्द्रियनि[2]र्वृत्त्यर्थाभावात् शब्दादिविष[3]यानुभवाभावान्निरुपभोगं कार्मणमिति कथ्यते।

ननु तैजसमपि निरुपभोगं तत्र किमुच्यते निरुपभोगमन्त्यमिति ? अत आह--

तैजसस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारः ।३। तैजसं शरीरं योगनिमित्तमपि न भवति ततोऽस्योपभोगविचारेऽनधिकारः। ततो योगनिमित्तेषु शरीरेष्वन्त्यं निरुपभोगं सोपभोगानीतराणीत्ययमर्थोऽत्र विवक्षितः।

तत्राम्नातलक्षणेषु जन्मस्वमूनि शरीराणि प्रादुर्भावमापद्यमानानि किमविशेषेण भवन्ति उत कश्चिदस्ति प्रतिविशेषः ? अस्तीत्याह--

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

सूत्रक्रमापेक्षया आदौ भवमाद्यमौदारिकमित्यर्थः। यद् गर्भजं यच्च संमूर्च्छनजं तत्सर्वमौदारिकं द्रष्टव्यम्।

तदनन्तरं यन्निर्दिष्टं तत्कस्मिन् जन्मनीति ? अत आह--

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

उपपादे भवमौपपादिकम्, [4]अध्यात्मादित्वात् इकः। यदौपपादिकं तत्सर्वं वैक्रियिकं वेदितव्यम्।

यद्यौपपादिकं वैक्रियिकमनौपपादिकस्य वैक्रियिकत्वाभाव इति ? अत आह--

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

वैक्रियिकमित्यभिसंबध्यते।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातः कारणगतिः ।१। अयं प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः। क्वचिज्ज्ञाने वर्तते, यथा अर्थाभिधानप्रत्यया इति। क्वचित्सत्यतायां वर्तते, प्रत्ययं कुरु सत्यं कुर्वित्यर्थः। क्वचित्कारणे वर्तते मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः प्रत्यया इति। तत्रेह विवक्षातः कारणपर्यायवाची वेदितव्यः।

तपोविशेषाद्धिप्राप्तिर्लब्धिः ।२। तपोविशेषाद् ऋद्धिप्राप्तिर्लब्धिरित्युच्यते। लब्धिः प्रत्ययो यस्य तल्लब्धिप्रत्ययम्। अथ लब्ध्युपपादयोः को विशेषः ?

---

१ चोद्यते श्र० मू०। २ निर्वृत्यभा- आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ३ -यानुभवनाभा- आ०, ब०, मु०। ४ "अध्यात्मादेः ठञ्ञिष्यते" -पा०, सू०, वा०, ४।३।६०।

निश्चयकादाचित्ककृतो[1] विशेषो लब्ध्युपपादयोः ।३। उपपादो हि निश्चयेन भवति जन्मनिमित्तत्वात्, लब्धिस्तु कादाचित्की[2] जातस्य सत उत्तरकालं तपोविशेषाद्यपेक्षत्वादिति, अयमनयोर्विशेषः ।

सर्वशरीराणां विनाशित्वाद्वैक्रियिकविशेषानुपप[3]त्तिरिति चेत्; न; विवक्षितापरिज्ञानात्।४। स्यान्मतम्–विक्रिया विनाशः, सा च सर्वशरीराणां साधारणी मुहुर्मुहुरुपचयापचयधर्मत्वादुच्छेदाच्च[4], ततो न वैक्रियिके कश्चिद्विशेषोऽस्तीति ? तन्न; किं कारणम् ? विवक्षितापरिज्ञानात् । नात्र विक्रियेति विनाशो विवक्षितः । किं तर्हि ? विविधकरणं विक्रिया । सा द्वेधा–एकत्वविक्रिया पृथक्त्वविक्रिया चेति । तत्रैकत्वविक्रिया स्वशरीरादपृथग्भावेन सिंहव्याघ्रहंसकुररादिभावेन विक्रिया । पृथक्त्वविक्रिया स्वशरीरादन्यत्वेन प्रासादमण्डपादिविक्रिया । सा उभयी च विद्यते भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनाम् । वैमानिकानाम्[5] आसवर्थसिद्धेः प्रशस्तरूपैकत्वविक्रियैव । नारकाणां त्रिशूलचक्रासिमुद्गरपरशु[6]भिण्डिवालाद्यनेकायुधैकत्वविक्रिया न पृथक्त्वविक्रिया आ षष्ठ्याः । सप्तम्यां महागोकीटकप्रमाणलोहितकुन्थुरूपैकत्वविक्रिया, नानेकप्रहरणविक्रिया, न च पृथक्त्वविक्रिया । तिरश्चां मयूरादीनां कुमारादिभाव[7] प्रतिविशिष्टैकत्वविक्रिया न पृथक्त्वविक्रिया । मनुष्याणां तपोविद्यादिप्राधान्यात् 'प्रतिविशिष्टैकत्वपृथक्त्वविक्रिया ।

किमेतदेव लब्ध्यपेक्षमुतान्यदप्यस्ति इति ? अत आह––

तैजसमपि ॥४८॥

ननु च वैक्रियिकानन्तरमाहारकं वक्तव्यम्, अकालप्राप्तं तैजसं किमर्थमिहोच्यते ?

लब्धिप्रत्ययापेक्षार्थं तैजसग्रहणम् ।१। लब्धिप्रत्ययमित्यनुवर्तते, तदभिसमीक्ष्येह तैजसग्रहणं क्रियते ।

वैक्रियिकानन्तरं यदुपदिष्टं तस्य स्वरूपनिर्धारणार्थं स्वामिनिदर्शनार्थं चाह––

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

शुभकारणत्वाच्छुभव्यपदेशोऽन्नप्राणवत् ।१। यथा [9]प्राणकारणेषु अन्नेषु प्राणव्यपदेशः 'अन्नं वै प्राणाः' इति, तथा [10]शुभकर्मण आहारककाययोगस्य कारणत्वादाहारकं शरीरं शुभमित्युच्यते ।

विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धाभिधानं कार्पासतन्तुवत् ।२। यथा कार्पासकार्येषु तन्तुषु कार्पासव्यपदेशः कार्पासास्तन्तव इति । तथा विशुद्धस्य पुण्यकर्मणोऽशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद्विशुद्धमित्याख्यायते ।

उभयतो व्याघाताभावादव्याघाति ।३। न ह्याहारकशरीरेणान्यस्य व्याघातो नाप्यन्येनाहारकस्येत्युभयतो व्याघाताभावादव्याघातीति व्यपदिश्यते ।

चशब्दस्तत्प्रयोजनसमुच्चयार्थः ।४। तस्य प्रयोजनसमुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते । तद्यथा

१ –कादाचित्कीकृतो आ०, ब०, मु० । २ –चित्कीतिजा– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ –पपत्तेरिति श्र० । ४ मरणकाले । ५ कल्पातीतानाम् । ६ –भिण्डिपाला– मू० । ७ यो वृद्धो मयूरः स कुमारत्वेन विकरोतीत्यादि योज्यम् । ८ प्रतिविशेषैक– श्र० । ९ बसः । अन्नकारणेषु प्राणेषु अन्नव्यप– आ०, ब०, द०, ज०, ता०, श्र०, मू० । १० शुभव्यापारस्य ।

कदाचिल्लब्धिविशेषसद्भावज्ञानार्थं कदाचित्सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थं संयमपरिपालनार्थं च भरतैरावतेषु केवलिविरहे जातसंशयस्तन्निर्णयार्थं महाविदेहेषु केवलिसकाशं जिगमिषुरौदारिकेण मे महानसंयमो भवतीति [1]विद्वानाहारकं निर्वर्तयति ।

आहारकमिति प्रागुक्तस्य प्रत्याम्नायः ।५। एवं प्रकारमाहारकमित्येतस्य प्रतिपादनार्थं पुनस्तस्य प्रत्याम्नायः क्रियते ।

प्रमत्तसंयतग्रहणं स्वामिविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।६। यदा आहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमत्तो भवतीति प्रमत्तसंयतस्येत्युच्यते ।

इष्टतोऽवधारणार्थमेवकारोपादानम् ।७। यथैवं विज्ञायते (येत) 'प्रमत्तसंयतस्यैवाहारकं नान्यस्य' इति, मैवं विज्ञायि 'प्रमत्तसंयतस्याहारकमेव' इति, माभूदौदारिकादिनिवृत्तिरिति ।

एषां शरीराणां परस्परतः संज्ञा-स्वालक्षण्य-स्वकारण-स्वामित्व-सामर्थ्य-प्रमाण-क्षेत्र-स्पर्शन-काला-ऽन्तर-संख्या-प्रदेश-भावा-ऽल्पबहुत्वादिभिर्विशेषोऽवसेयः ।८। उक्तानुक्तार्थसंग्रहार्थमिदं वाक्यम् । तत्र संज्ञातोऽन्यत्वमौदारिकादीनां घटपटादिवत् ।

स्वालक्षण्यान्नानात्वम्–स्थौल्यलक्षणमौदारिकम् । विविधर्द्धिगुणयुक्त[2]विकरणलक्षणं वैक्रियिकम् । दुरधिगमसूक्ष्मपदार्थतत्त्वनिर्णयलक्षणमाहारकम् । शङ्खधवलप्रभालक्षणं तैजसम् । तद्द्विविधम्–निःसरणात्मकमितरच्च । औदारिकवैक्रियिकाहारकदेहाभ्यन्तरस्थं देहस्य दीप्तिहेतुरनिःसरणात्मकम् । यतेरुग्रचारित्रस्यातिक्रुद्धस्य जीवप्रदेशसंयुक्तं[3] बहिर्निष्क्रम्य दाह्यं परिवृत्यावतिष्ठमानं [4]निष्पावहरितफलपरिपूर्णां स्थालीमग्निरिव पचति, पक्त्वा च निवर्तते, अथ चिरमवतिष्ठते [5]अग्निसाद् दाह्योऽर्थो भवति, तदेतन्निःसरणात्मकम् । सर्वकर्मशरीरप्ररो[6]हणलक्षणं कार्मणम् ।

स्वकारणतोऽन्यत्वम्–औदारिकशरीरनामकारणमौदारिकम्, वैक्रियिकशरीरनामकारणं वैक्रियिकम् । आहारकशरीरनामकारणमाहारकम्, तैजसशरीरनामकारणं तैजसम्, कार्मणशरीरनामकारणं कार्मणम् ।

स्वामिभेदादन्यत्वम्–औदारिकं तिर्यङ्मनुष्याणाम्, वैक्रियिकं देवनारकाणाम्, तेजोवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च केषाञ्चित् ।

आह चोदकः–जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणायाम्* **"औदारिककाययोगः औदारिकमिश्रकाययोगश्च तिर्यङ्मनुष्याणाम्, वैक्रियिककाययोगो वैक्रियिकमिश्रकाययोगश्च देवनारकाणाम्"** [षट् खं०] [7]उक्तः, इह तिर्यङ्मनुष्याणामपीत्युच्यते; तदिदमार्षविरुद्धमिति; अत्रोच्यते–न, अन्यत्रोपदेशात् । व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु[8]शरीरभङ्गे-

१ जानन् । २ पुरुषैः । –युक्तविकरणं वै– आ०, ब०, द, मु० । ३ –संपृक्तं आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ निष्पावहरितपरिपूर्णां आ०, ब०, द० । निष्पावकहरितपरिपूर्णं मु० । निष्पावः अवरे– (कर्नाटकप्रान्ते धान्यविशेषे रूढोऽयम्) । ५ भस्मीकृतदाह्यार्थः । ६ –हल– आ०, ब०, द०, मु० । ७ "ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्खमणुस्साणं । वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेरइयाणं ।" –षट्खं० सं० सू० ५७, ५८ । ८ तुलना– "वेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते, कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा, दुविहे पन्नते, तं जहा– एगिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे य पंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे य । (सू० ३४८) तत्र एगिंदियवेउव्विए त्यादि वायुकायिकापेक्षमुक्तं पंचिंदिए–त्यादि तु पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवनारकापेक्षमिति''वैक्रियकरणलब्धिं वा प्रतीत्य, एतच्च वायुपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यानपेक्ष्योक्तम्''''''" –व्याख्याप्रज्ञ० अभ० पृ० ७७३ ।

वायोरौदारिकवैक्रियिकतैजसकार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि [1]मनुष्याणां पञ्च। एवमप्यार्षयोस्तयोर्विरोधः; न विरोधः; आभिप्रायकत्वात्। जीवस्थाने सर्वदेवनारकाणां सर्वकालं वैक्रियिकदर्शनात् तद्योगविधिरित्यभिप्रायः, नैवं तिर्यङ्मनुष्याणां लब्धिप्रत्ययं वैक्रियिकं सर्वेषां सर्वकालमस्ति कादाचित्कत्वात्। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु त्वस्तित्वमात्रमभिप्रेत्योक्तम्।

आहारकं प्रमत्तसंयतस्य। तैजसकार्मणे सर्वसंसारिणाम्।

सामर्थ्यतोऽन्यत्वम्—औदारिकस्य सामर्थ्यं द्वेधा भवगुणप्रत्ययत्वात्। तिर्यङ्मनुष्याणां सिंहाष्टापदचक्रधरवासुदेवादीनांप्रकृष्टावकृष्टवीर्यदर्शनाद्भवप्रत्ययम्। प्रकृष्टतपोबलानामृषीणां यच्छरीरविकरणसामर्थ्यं तद् गुणप्रत्ययम्। तपःसामर्थ्यं तदिति चेत्; न; औदारिकशरीरादृते तपसः केवलस्य शरीरविकरणसामर्थ्याभावात्। वैक्रियिकस्य सामर्थ्यं मेरुप्रचलनसकलमहीमण्डलोद्वर्तनादि। आहारकस्य सामर्थ्यमप्रतिहतवीर्यता। वैक्रियिकस्याप्यप्रतिहतसामर्थ्यं वज्रपटलादिष्वप्रतिघातदर्शनादिति चेत्; न; इन्द्रसामानिकादीनां प्रकर्षाप्रकर्षदर्शनात्, अनन्तवीर्ययतिना चेन्द्रवीर्यस्य प्रतिघातश्रुतेः सप्रतिघातसामर्थ्यं वैक्रियिकम्। सर्वाणि चाहारकशरीराणि तुल्यवीर्यत्वादप्रतिहतत्वाच्च अप्रतिघातवीर्याणि। तैजसस्य सामर्थ्यं कोपप्रसादापेक्षं दाहानुग्रहरूपम्। कार्मणस्य सामर्थ्यं सर्वकर्माविकाशदानम्।

प्रमाणतोऽन्यत्वम्—सर्वजघन्येनाङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणं सूक्ष्मनिगोतौदारिकम्, उत्कर्षेण साधिकयोजनसहस्रप्रमाणं नन्दीश्वरवापीपद्मौदारिकम्। वैक्रियिकं मूलशरीरतो जघन्येनारत्निप्रमाणं सर्वार्थसिद्धिदेवस्य, उत्कर्षेण पञ्चधनुःशतप्रमाणं तमस्तमःप्रभायां नारकस्य। विक्रियोत्कर्षेण जम्बूद्वीपप्रमाणं वैक्रियिकं शरीरं विकरोति देवः। आहारकमरत्निप्रमाणम्। तैजसकार्मणे जघन्येन यथोपात्तौदारिकशरीरप्रमाणे, उत्कर्षेण केवलिसमुद्घाते सर्वलोकप्रमाणे।

क्षेत्रतोऽन्यत्वम्—औदारिकवैक्रियिकाहारकाणि लोकस्यासंख्येयभागक्षेत्रे। तैजसकार्मणे लोकस्यासंख्येयभागे असंख्येयेषु वा भागेषु सर्वलोके वा प्रतरलोकपूरणयोः।

स्पर्शनतोऽन्यत्वम्—औदारिकादानीम् एकजीवं प्रति वक्ष्यामः। औदारिकेण तिर्यग्भिः[2] सर्वलोकः स्पृष्टः। मनुष्यैः लोकस्यासंख्येयभागः। मूलवैक्रियिकशरीरेण लोकस्यासंख्येयभागा उत्तरवैक्रियिकेणाऽष्टौ चतुर्दशभागा देशोनाः। कथम्? सौधर्मदेवः स्वपरप्राधान्यादारणाच्युतविहारात् षड्रज्जूर्गच्छति। स्वप्राधान्यात् अध आवालुकपृथिव्या द्वे रज्जू इति। आहारकेण लोकस्यासंख्येयभागं स्पृशति। तैजसकार्मणाभ्यां सर्वलोकम्।

कालतोऽन्यत्वम्—एकं जीवं प्रति वक्ष्यामः। मिश्रकं वर्जयित्वौदारिकस्य तिर्यङ्मनुष्याणां जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमान्यन्तर्मुहूर्तोनानि। स चान्तर्मुहूर्तोऽपर्याप्तकालः। वैक्रियिकस्य देवान् प्रति मूलवैक्रियिकदेहस्य जघन्येन दशवर्षसहस्राणि अपर्याप्तकालान्तर्मुहूर्तोनानि, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अपर्याप्तकालान्तर्मुहूर्तोनानि। उत्तरवैक्रियिकस्य जघन्य उत्कृष्टश्चाऽन्तर्मुहूर्तः। तीर्थकरजन्मनन्दीश्वरार्हदायतनादिपूजासु कथमिति चेत्? पुनः पुनर्विकरणात् सन्ततयविच्छेदः। आहारकस्य कालो जघन्य उत्कृष्टश्चाऽन्तर्मुहूर्तः। तैजसकार्मणयोः सन्ततयादेशाद् अभव्यान् प्रत्यनादिरपर्यवसानः कालः, भव्यांश्च कांश्चित् प्रति ये अनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यन्ति। ये सेत्स्यन्ति तान् प्रत्यनादिः सपर्यवसानः। एकसमयिकः निषेकं प्रति। तैजसस्य षट्षष्टिसागरोपमाणि। कार्मणस्य कर्मस्थितिः सप्ततिसागरोपमकोटिकोट्यः।

१—णां च एव आ०, ब०, द०, मु०। २ जीवैः।

[1]अन्तरतोऽन्यत्वम्—औदारिकादीनामेकजीवं प्रति वक्ष्यामि। मिश्रकं वर्जयित्वौदारिकस्यान्तर्मुहूर्तोऽन्तरं जघन्यम्। कतरोऽन्तर्मुहूर्तः? औदारिकमिश्रकालोऽन्तर्मुहूर्तः। कथम्? इह चातुर्गतिकः तिर्यङ्मनुष्येषूत्पन्नोऽन्तर्मुहूर्तमपर्याप्तको भूत्वा पर्याप्तकत्वं प्राप्याऽन्तर्मुहूर्तं जीवित्वा मृतः, पुनस्तिर्यङ्मनुष्ययोरन्यतरत्रोत्पन्नः अपर्याप्तिमान्तर्मुहूर्तिकीमनुभूय पर्याप्तको जातः, लब्धमौदारिकान्तरम्। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि। कथम्? यो मनुष्यस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुष्केषु देवेषूत्पद्य स्थितिक्षये प्रच्युतः पुनर्मनुष्येषूत्पद्यते तस्य योऽपर्याप्तिकालस्तेनाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि।

वैक्रियिकस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तः। कथम्? मनुष्यस्तिर्यग्वा मृतः दशवर्षसहस्रायुष्कदेवेषूत्पद्य च्युतः मनुष्येषु तिर्यक्षु चोत्पद्य अपर्याप्तकालमनुभूय पुनर्देवायुर्बद्ध्वा उत्पद्यते, लब्धमन्तरम्। वैक्रियिकस्योत्कर्षेणान्तरमनन्तकालः। कथम्? देवत्वाच्च्युतोऽनन्तकालं तिर्यङ्मनुष्येष्वटित्वा देवो जातः, अपर्याप्तकालमनुभूय वैक्रियिकशरीरो[2] दृष्टः, लब्धमन्तरम्।

आहारकस्यान्तरं जघन्यमन्तर्मुहूर्तः। प्रमत्तसंयत आहारकं निर्वर्त्यान्तर्मुहूर्तमाहारकेण स्थितः [3]कृताहारकशरीरकार्यं उपसंहृत्य पुनर्लब्धिसन्निधानादन्तर्मुहूर्तमवस्थाय निर्वर्तयतीति लब्धमन्तरम्। उत्कर्षेणार्धपुद्गलपरिवर्तः अन्तर्मुहूर्तोनः। कथम्? योऽनादि[4]मिथ्यादृष्टिः दर्शनमोहमुपशम्योपशमसम्यक्त्वं संयमं च युगपत्प्रतिपन्न उपशमसम्यक्त्वाच्च्युतो वेदकसम्यक्त्वेनोत्पद्य अन्तर्मुहूर्तं स्थितः सन्नप्रमत्तसंयतस्थाने आहारकं बद्ध्वा ततः प्रमत्तसंयतो निर्वर्त्य [5]मूलशरीरं प्रविश्य मिथ्यात्वं गतः, सोऽर्धपुद्गलपरिवर्तं देशोनमटित्वा मनुष्येषूत्पद्य पूर्वविधिना सम्यक्त्वमुत्पाद्याऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतयोरन्यतरत्र दर्शनमोहं क्षपयित्वा संयमं प्रतिपद्याप्रमत्त आहारकस्य बन्धकः प्रमत्तो निर्वर्तयतीति लब्धमन्तरम्। अत्र[6] ये प्राथमिकाश्चत्वारोऽन्तर्मुहूर्तास्ते[7] कतरे? प्रथमो दर्शनमोहोपशमसम्यक्त्वसमानकालसंयमान्तर्मुहूर्तः। द्वितीयो वेदकसम्यक्त्वान्तर्मुहूर्तः। तृतीय आहारकबन्धान्तर्मुहूर्तः। चतुर्थ आहारकनिर्वृत्यन्तर्मुहूर्तः। एते चत्वार आद्या अन्तर्मुहूर्ताः, उत्तरकालमाहारकशरीरनिर्वृत्यन्तर्मुहूर्तः पञ्चमः मूलशरीरं प्रविश्य प्रमत्ताप्रमत्ताभ्यां बहून् वाराननुभवतो बहवोऽन्तर्मुहूर्ता अतोऽधःप्रवृत्तकरणविशुद्ध्या विशुद्धो विश्रान्तः। अपूर्वकरणानिवृत्तिसूक्ष्मसाम्परायक्षीणकषायसयोग्ययोगिनामेकैकोऽन्तर्मुहूर्तः। इयता कालेन हीनोऽर्धपुद्गलपरिवर्तः।

तैजसकार्मणयोर्नास्त्यन्तरं सर्वसंसारिषु सर्वकालं सन्निधानात्।

संख्यातोऽन्यत्वम्—औदारिकाण्यसंख्येया लोकाः। वैक्रियिकाण्यसंख्याताः श्रेणयो [8]लोकप्रतरस्यासंख्येयभागः। आहारकाणि संख्येयानि चतुःपञ्चाशत्। तैजसकार्मणान्यनन्तानि[9] अनन्तानन्तलोकाः।

प्रदेशतोऽन्यत्वम्—औदारिकस्यानन्ताः प्रदेशाः[10] अभव्यानामनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागाः। एवं शेषाणां चतुर्णामपि शरीराणाम्, अनन्तस्यानन्तविकल्पत्वात्[11]उदुत्तरोत्तराण्य-

१ अन्तरेऽन्य— आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ बसः। ३ प्रकृता— आ०, ब०, द०, मु०। ४ मिथ्यादर्शन— आ०, ब०, द०, मु०। ५ आहारकशरीरम्। ६ अन्तरकाले। ७ —हूर्ताः क— श्र०, मू०। ८ श्रेणिरपि कतरेत्यत आह। ९ कोऽर्थः। १० परमाणवः। ११ प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् अनन्तगुणे परे इत्युक्तम्। कथमेषां समानत्वमित्याशङ्कायामाह।

धिकानि,[१] आधिक्यपरिमाणं प्रागुक्तम्।

भावतोऽन्यत्वम्–औदारिकादिस्वशरीरनामोदयात् सर्वाण्यौदयिकभावानि[२]।

अल्पबहुत्वतोऽन्यत्वम्–सर्वतः स्तोकान्याहारकाणि, वैक्रियिकाण्यसंख्येयगुणानि। को गुणाकारः ? असंख्याताः श्रेणयः, लोकप्रतरस्यासंख्येयभागः। तत औदारिकाणि असंख्येयगुणानि। को गुणकारः ? असंख्येया[३] लोकाः। तैजसकार्मणान्यनन्तगुणानि। को गुणकारः ? सिद्धानामनन्तगुणाः।

आत्माधिश्रितकार्मणनिमित्तविजृम्भितानि शरीराणि बिभ्रतां संसारिणां चातुर्विध्यवतामिन्द्रियसंबन्धं प्रति विकल्पभाजां प्रति प्राणिनः किं त्रिलिङ्गसन्निधानम् उत लिङ्गनियमः कश्चिदस्तीति ? अत उत्तरं पठति–

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

धर्मार्थकाममोक्षकार्यनरणान्नराः ।१। धर्मार्थकाममोक्षलक्षणानि कार्याणि नृणन्ति[४] नयन्तीति नराः।

नरान् कायन्तीति नरकाणि ।२। शीतोष्णासद्वेद्योदयापादितवेदनया नरान् [५]कायन्ति शब्दायन्त इति नरकाणि।

नृणन्तीति वा ।३। अथवा पापकृतः प्राणिन आत्यन्तिकं दुःखं नृणन्ति नयन्तीति नरकाणि। औणादिकः कर्तर्यकः।

नरकेषु भवा नारकाः। संमूर्च्छनं संमूर्च्छः, स एषामस्तीति संमूर्च्छिनः। नारकाश्च संमूर्च्छिनश्च नारकसंमूर्च्छिनः।

नपुंसकवेदाशुभनामोदयान्नपुंसकानि ।४। चारित्रमोहविकल्पनोकषायभेदस्य नपुंसकवेदस्याशुभनाम्नश्चोदयान्न स्त्रियो न पुमांस इति नपुंसकानि भवन्ति। नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकान्येवेति नियमः। तत्र हि स्त्रीपुंसविषया मनोज्ञशब्दगन्धरूपरसस्पर्शसंबन्धनिमित्ता [६]स्वल्पापि सुखमात्रा नास्ति।

यद्येवमवध्रियते अर्थादापन्नमेतदुक्तेभ्योऽन्ये ये संसारिणः तेषां त्रिलिङ्गत्वमिति, यत्रात्यन्तनपुंसकलिङ्गस्याभावस्तत्प्रतिपादनार्थमाह–

न देवाः ॥५१॥

स्त्रीपुंसविषयनिरतिशयसुखानुभवनाद् देवेषु नपुंसकाभावः ।१। स्त्रैणं पौंस्नं च यन्निरतिशयं सुखं शुभगतिनामोदयापेक्षं तदेवानुभवन्तीति न तेषु नपुंसकानि सन्ति। तच्चोपरि वक्ष्यते।

अथेतरे कियल्लिङ्गा इति ? अत आह–

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

त्रयो वेदा येषां ते त्रिवेदाः। के पुनस्ते ? स्त्रीत्वं पुस्त्वं नपुंसकत्वमिति। कथं तेषां सिद्धिः ?

---

१ एवमप्यनधिकानीति नाशङ्कनीयम्, गुणकारभागहारयोः प्रकर्षाप्रकर्षभावयोगादेवमुक्तम्। २ –भावाः आ०, ब०, द०, मु०। ३ –ख्येयलो– ता०, श्र०। ४ नृ नये ऋचादिः, तस्य प्वादित्वात् प्वांह्रस्व इति ह्रस्वः। ५ कै गै रै शब्दे ऐधादिकः। शब्दादेः कृञ वा इति क्यञ्। ६ –अल्पापि आ०, ब०, द०, मु०।

नामकर्मचारित्रमोहनोकषायोदयाद्वेदत्रयसिद्धिः ।१। नामकर्मणश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य चोदयाद्वेदत्रयस्य सिद्धिर्भवति। वेद्यत[१] इति वेदो लिङ्गमित्यर्थः। तल्लिङ्गं द्विविधम्–द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति। नामकर्मोदयाद् योनिमेहनादि द्रव्यलिङ्गं भवति। नोकषायोदयाद्भावलिङ्गम्। तत्र स्त्रीवेदोदयात् 'स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री। पुंवेदोदयात् सूते जनयत्यपत्यमिति पुमान्। नपुंसकवेदोदयात् तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम्। रूढिशब्दाश्चैते। रूढिषु च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थैव, यथा गच्छतीति गौरिति। इतरथा हि गर्भधारणादिक्रियाप्राधान्ये बालवृद्धानां तिर्यङ्मनुष्याणां देवानां कार्मणकाययोगस्थानां च तदभावात् स्त्रीत्वादिव्यपदेशो न स्यात्। तत्र हि स्त्रीवेदो[२] दारुवह्निवत्, पुंवेदस्तृणाग्निवत्, इष्टकाग्निवन्नपुंसकवेदः। ते एते त्रयोऽपि वेदाः शेषाणां गर्भजानां भवन्ति।

य इमे जन्मयोनिशरीरलिङ्गसंबन्धाहितविशेषाः प्राणिनो [३]निर्दिश्यन्ते देवादयो विचित्रधर्माधर्मवशीकृताश्चतसृषु गतिषु शरीराणि धारयन्तः किं यथाकालमुपभुक्तायुषो मूर्त्यन्तराण्यास्कन्दन्ति उत अयथाकालमपीति ? अत उत्तरं पठति–

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

औपपादिका उक्ताः ।१। उक्ता व्याख्याता औपपादिका देवनारका इति

चरमशब्दस्यान्तवाचित्वात्तज्जन्मनि निर्वाणार्हग्रहणम् ।२। चरमशब्दोऽन्तपर्यायवाची। चरमो देहो येषां त इमे चरमदेहा इति परीतसंसारास्तज्जन्मनि निर्वाणार्हा गृह्यन्ते।

उत्तमशब्दस्योत्कृष्टवाचित्वाच्चक्रधरादिग्रहणम् ।३। अयमुत्तमशब्द उत्कृष्टवाची, उत्तमो देहो येषां त इमे उत्तमदेहा इति चक्रधरादिग्रहणं वेदितव्यम्।

उपमाप्रमाणगम्यायुषोऽसंख्येयवर्षायुषः ।४। अतीतसंख्यानमुपमाप्रमाणेन पल्यादिना गम्यमायुर्येषां त इमेऽसंख्येयवर्षायुषस्तिर्यङ्मनुष्या[४] उत्तरकुर्वादिषु प्रसूताः।

बाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपवर्तः ।५। बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य [५]विषशस्त्रादेः सति सन्निधाने ह्रासोऽपवर्त इत्युच्यते। अपवर्त्यमायुर्येषां त इमे अपवर्त्यायुषः, नापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषः। एते औपपादिकादय उक्ता अनपवर्त्यायुषाः, न हि तेषामायुषो बाह्यनिमित्तवशादपवर्तोऽस्ति।

अन्त्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्तदर्शनादव्याप्तिः ।६। उत्तमदेहाश्चक्रधरादयोऽनपवर्त्यायुषः इत्येतल्लक्षणमव्यापि। कुतः ? अन्तस्य चक्रधरस्य ब्रह्मदत्तस्य वासुदेवस्य च कृष्णस्य अन्येषां च तादृशानां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्तदर्शनात्।

न वा; चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात् ।७। न वैष दोषः। किं कारणम् ? चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात्। चरम उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहा इति।

---

१ अनुभूयते। २ धनीभवति, स्त्यै संघाते। ३ –दो दारुअङ्गारवत् ता०। –दोऽङ्गारवत् आ०, ब०, द०, मु०, मू०। अङ्गारवदिति वा पाठः –श्र० टि०। ४ निरदिसन्त इति वा पाठः –श्र० टि०। निरदिश्यन्त आ०, ब०, द०, मु०। ५ –ष्याणामु– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ६ उक्तञ्च– विषास्त्रघातभीरक्तक्षयसङ्क्लेशवेदनाः। आहारोच्छ्वासरोधाः स्युः आयुष्यच्छेदकारिण इति। विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं। आहारुस्सासाणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ॥

उत्तमग्रहणमेवेति चेत्; न; तदनिवृत्तेः ।८। स्यादेतत्–उत्तमग्रहणमेवास्तु उत्तमदेहा इति ? तन्न; किं कारणम् ? तदनिवृत्तेः, यो दोष उक्तोऽव्याप्तिरिति स तदवस्थ एव तेषामप्युत्तमदेहत्वात् ।

चरमग्रहणमेवेति चेत्; न; तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात् ।९। स्यान्मतम्–चरमग्रहणमेवास्तु चरमदेहा इति, नार्थ उत्तमग्रहणेनेति; तन्न; किं कारणम् ? तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात् । स हि चरमो देहः सर्वेषामुत्तम इत्यर्थः प्रतिपाद्यते । चरमदेहा इति वा केषाञ्चित् पाठः[1]। एतेषां नियमेनायुरनपवर्त्यमितरेषामनियमः ।

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेत्; न; दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ।१०। यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीनां दृष्टः पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय[2] आयुषो भवत्यपवर्तः ।

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ।११। यथा अष्टाङ्गायुर्वेदविद्भिषक् प्रयोगे अतिनिपुणो यथाकालवाताद्युदयात् प्राक् वमनविरेचनादिना अनुदीर्णमेव श्लेष्मादि निराकरोति, अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायनं चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम् । न[3]चादोऽस्ति ? अत आयुर्वेदसामर्थ्यादस्त्यकालमृत्युः ।

दुःखप्रतीकारार्थं इति चेत्; न; उभयथा दर्शनात् ।१२। स्यान्मतम्–दुःखप्रतीकारोऽर्थ आयुर्वेदस्येति ? तन्न; किं कारणम् ? उभयथा दर्शनात् । उत्पन्नानुत्पन्नवेदनयोर्हि[4] चिकित्सादर्शनात् ।

कृतप्रणाशप्रसङ्ग इति चेत्; न; दत्वैव फलं निवृत्तेः ।१३। स्यान्मतम्–यद्यकालमृत्युरस्ति कृतप्रणाशः [5]प्रसज्येत इति; तन्न; किं कारणम् ? दत्वैव फलं निवृत्तेः[6],नाकृतस्य कर्मणः फलमुपभुज्यते, न च कृतकर्मफलविनाशः, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्, दानादिक्रियारम्भाभावप्रसङ्गाच्च । किन्तु कृतं कर्म कर्त्रे फलं दत्वैव निवर्तते विततार्द्रपटशोषवत् अयथाकालनिर्वृत्तः[7] पाक इत्ययं विशेषः ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे द्वितीयोऽध्यायः[8] समाप्तः ।

---

१ "चरमदेहा इति वा पाठः" –स०, सि०,२।५३। तुलना– "औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः। (सू०) औपपातिकाः चरमदेहा उत्तमपुरुषाः···" –त० भा०, २।५२ । २ अनुदयप्राप्तानां कर्मणामभिधातेनोदय उदीरणम् । ३ न वादो–आ०, ब०, द०, मु० । ४ पुरुषयोः । ५ प्रसज्यते आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ –निवृत्तः श्र०, मू० । ७ –यः । आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

तृतीयोऽध्यायः

मोक्षमार्गे त्रिविधेऽधिकृते आदावुपदिष्टस्य सम्यग्दर्शनस्य विषयप्रदर्शनार्थे जीवादिपदार्थोपदेशे कर्तव्ये जीवा निर्दिष्टाः । इदानीं तदधिष्ठानव्याख्यानप्रसङ्गेन लोकविभागो वक्तव्यः । स पुनस्त्रिविधः–अधोलोकस्तिर्यग्लोक ऊर्ध्वलोकः । तत्र क्रमप्राप्तस्याऽधोलोकस्य वर्णनार्थमुच्यते । अथवा संवेगहेतुत्वात् ताः[1] नारकीः शीतोष्णनिमित्ताः सुतीव्रवेदनाः श्रुत्वाऽयं कथं संविग्नः स्यादिति प्रथममधोलोक उच्यते । अथवा, *"भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्" [त० सू० १।२१] इत्येवमादिषु नारकाः श्रुताः, ततः पृच्छति के ते नारका इति ? तत्प्रतिपादनार्थं तदधिकरणनिर्देशः क्रियते–

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

रत्नादीनामितरेतरयोगे[2] द्वन्द्वः ।१। रत्नं च शर्करा च बालुका च पङ्कश्च धूमश्च तमश्च महातमश्च रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमांसीति इतरेतरयोगे द्वन्द्वो द्रष्टव्यः ।

प्रभाशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुञ्जिवत् ।२। यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति प्रत्येकं भुजिः परिसमाप्यते, एवं प्रभाशब्दस्यापि प्रत्येकं परिसमाप्तिर्वेदितव्या–रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा-बालुकाप्रभा-पङ्कप्रभा-धूमप्रभा-तमःप्रभा-महातमःप्रभा-चेति ।

साहचर्यात्तच्छब्दसिद्धिर्यष्टिवत् ।३। यथा यष्टिसहचरितो देवदत्तो यष्टिरित्युच्यते तथा चित्र-वज्र-वैडूर्य-लोहिताक्षमसार-गल्व-गोमेद-प्रवाल-ज्योती-रसाञ्जनमूलकाङ्क-[3]स्फटिक-चन्दन-बर्बक-बकुल-[4]शिलामयाख्यषोडशधापरिक्लृप्तरत्नप्रभासहचरितत्वात् रत्नप्रभा भूमिः । शर्कराप्रभासहचरिता शर्कराप्रभा । बालुकाप्रभासहचरिता बालुकाप्रभा । पङ्कप्रभासहचरिता पङ्कप्रभा । धूमप्रभासहचरिता धूमप्रभा । तमःप्रभासहचरिता तमःप्रभा । महातमःप्रभासहचरिता महातमःप्रभेति ।

तमःप्रभेति विरुद्धमिति चेत्; न; स्वात्मप्रभोपपत्तेः ।४। स्यान्मतम्–तमोऽन्धकारः प्रभा प्रकाश इति विरुद्धावेतावर्थौ–यदि तमो न प्रभा, अथ प्रभा न तमः, तमःप्रभेत्यभिधानमनुपपन्नमिति; तन्न; किं कारणम् ? स्वात्मप्रभोपपत्तेः । न दीप्तिरूपैव प्रभा । किं तर्हि ? द्रव्याणां स्वात्मैव [5]भूजा प्रभा [6]यत्सन्निधानात् मनुष्यादीनामयं संव्यवहारो भवति [7]स्निग्धकृष्णप्रभमिदं [8]रूक्षकृष्णप्रभमिदमिति,[9] ततस्तमसोऽपि स्वात्मैव कृष्णा प्रभा अस्तीति नास्ति विरोधः । [10]बाह्यप्रकाशापेक्षा सेति चेत्; अविशेषप्रसङ्गः स्यात् ।

---

१ स नार– आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । २ आविर्भूतावयवभेद इतरेतरः । ३ लोहितक्षेत्र– भा० १ । ३ –स्फाटिक आ०, ता०, श्र०, मू० । ४ –शिलोमया– ता०, श्र०, मू० । ५ शुद्धा, ता० टि० । ६ ता० प्रतौ यत्सन्निधानात् इत्यादि भवतीत्यन्तो भागः वार्तिकचिह्नेन चिह्नितो वर्तते । ७ अलकादि । ८ अञ्जनादि । ९ –भमिति ततस्तमःप्रभेति भेदे रुढि– आ०, ब०, द०, मु० । १० सा कृष्णप्रभा बाह्याभूतसूर्यप्रकाशादिसन्निधानाद् दृश्यते । भवतु नाम का नो हानिः । तर्हि नारकाणां कथम् ? व्याघ्रोलूकादिवद् द्रष्टव्यम् ।

अनादिपारिणामिकसंज्ञानिर्देशाद्वा इन्द्रगोपवत् ।५। यथा इन्द्रगोप इति कस्यचिज्जन्तोः संज्ञा अनादिः स्वाभाविकी । न ह्यसौ इन्द्रं गोपायतीति इन्द्रगोपः । एवं तमःप्रभादिसंज्ञा अपि अनादिपारिणामिक्यो वेदितव्याः ।

भेदे रूढिशब्दानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेत्; न; सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात् ।६। स्यादेतत्–यद्येते अनैमित्तिका रूढिशब्दा भेदे गमकत्वमेषां नास्ति । कुतः ? अवयवार्थाभावादिति; तन्न; किं कारणम् ? सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात् । तेषां संज्ञाशब्दानां प्रतिपादनोपायभूतमिदम्[१] । अस्मान्निबन्धन[२]स्थानाच्छब्दान्तराण्युपप्लवन्ते[३] यैरर्थाः संज्ञायन्ते ।

भूमिग्रहणमधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।७। यथा स्वर्गपटलानि भूमिमनाश्रित्या अवस्थितानि न तथा नारकावासाः । किं तर्हि ? भूमीराश्रित्य व्यवस्थिता इत्यधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थं भूमिग्रहणम् ।

घनाम्बादिग्रहणं तदालम्बननिर्ज्ञानार्थम् ।८। तासां भूमीनामालम्बननिर्ज्ञानार्थं घनाम्बादिग्रहणं क्रियते । [४]घनमेवाम्बु घनाम्बु । घनाम्बु च वातश्चाकाशं च [५]घनाम्बुवाताकाशानि, तानि प्रतिष्ठा आश्रयो यासां ता घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः । सर्वा एता भूमयः घनोदधिवलयप्रतिष्ठाः, घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठम्, घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठम्, तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठम्, आकाशमात्मप्रतिष्ठं तस्यैवाधाराधेयत्वात् । त्रीण्यप्येतानि वलयान्यन्वर्थसंज्ञानि प्रत्येकं विंशतियोजनसहस्रबा[६]हल्यानि । तत्र घनोदधयो मुद्गसन्निभाः, घनवाता गोमूत्रवर्णाः, अव्यक्तवर्णास्तनुवाताः ।

तत्र रत्नप्रभाया बाहुल्यमेकं योजनशतसहस्रमशीतिश्च योजनसहस्राणि । तस्यास्त्रयो भागाः–खरपृथिवीभागः, पङ्कबहुलः, अब्बहुलश्चेति । तत्र चित्रादिषोडशधाप्रक्लृप्तरत्नाञ्चितः खरपृथिवीभागः, षोडशयोजनसहस्र[७]बहलः । पङ्कबहुलः चतुरशीतियोजनसहस्रबहलः । अब्बहुलोऽशीतियोजनसहस्रबहलः । तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधश्चैकैकं[८] योजनसहस्रं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्दशसु योजनसहस्रेषु किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षभूतपिशाचानां सप्तानां व्यन्तराणां नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां नवानां भवनवासिनां चावासाः । पङ्कबहुलभागे असुरराक्षसानामावासाः । अब्बहुलभागे नरकाणि । शर्कराप्रभायां[९] बाहल्यं द्वात्रिंशद्योजनसहस्राणि । ततोऽधोऽधस्तनानि चतुर्भिश्च चतुर्भिर्योजनसहस्रोनानि बाहल्यानि वेदितव्यानि आषष्ठ्याः । [१०]सप्तम्याम् अष्टौ योजनसहस्राणि । सर्वासां तासामन्तराणि तिर्यक् चासंख्येया योजनकोटिकोट्यः ।

सप्तग्रहणमियत्तावधारणार्थम् ।९। यथा गम्येत सप्तैव नरकाधारा भूमयो नाष्टौ न[११] षट् चेति संख्यान्तरनिवृत्त्यर्थम् । [११]सन्ति हि केचित्तन्त्रान्तरीयाः–*"**अनन्तेषु लोकधातुष्वनन्ताः**

---

१ सूत्रम् । २ नियामकसूत्रात् । ३ उद्गच्छन्ति । ४ सान्द्रम् । ५ सर्वार्थसिद्धावेवं व्याख्यातम्–घनश्च घनो मन्दो महान् आयत इत्यर्थः । अम्बु च जलमुदकमित्यर्थः । वातशब्दोऽन्त्यदीपकः तत एवं सम्बन्धनीयः । घनो घनवातः । अम्बु अम्बुवातः । वातस्तनुवातः । महदपेक्षया तनुरिति सामर्थ्यगम्यः । अन्यः पाठः । सिद्धान्तपाठस्तु घनाम्बु च वातौ चेति वातशब्दः सोपस्क्रियते वातस्तनुवात इति वेति । ६ –बाहुल्या– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –बहुलः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ –कयोज– श्र० । ९ –भाया बाहुल्यं आ०, ब०, द०, मु० । १० सप्तम्या अ– आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ११ न नव चेति श्र०, मू० ।

पृथिवीप्रस्तारः" [ ] इत्यध्यवसिताः । कथं तेषां निवृत्तिः ? स्याद्वादनीतिनिरूपितकर्मफलसंबन्धादिषु [१]युक्तिसद्भावात् आर्हतस्यागमस्य प्रामाण्यं न शेषाणां तदभावादिति ।

अधोऽधोवचनं तिर्यक्प्रचयनिवृत्त्यर्थम् ।१०। यथा गम्येत अधोऽध एव सप्तापि भूमयो न तिर्यक्प्रचयेनावस्थिता इति प्रतिपत्त्यर्थमधोऽधोग्रहणम् ।

सामीप्याभावाद् द्वित्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; अन्तरस्याविवक्षितत्वात् ।११। स्यान्मतम्–प्रत्येकं भूमीनामन्तराण्यसंख्यातयोजनकोटीकोटिपरिमाणानि ततः सामीप्याभावाद् द्वित्वाभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? अन्तरस्याविवक्षितत्वात् । कथमविवक्षा सतः ? सतोऽप्यविवक्षा भवति यथा अलोमिका एडकाः[२] अनुदरा कन्येति ।

तुल्यजातीयेनाव्यवधानं सामीप्यमिति वा ।१२। अथवा यदन्तरं तत्पूर्वोत्तरभागान्तःपातित्वात् सामीप्यमिति तद्द्योतनार्थं द्वित्वम् ।

'पृथुतराः' इति केषाञ्चित् पाठः ।१३। [३]केचिदत्र 'पृथुतराः' इति पठन्ति ।

अत्र तरनिर्देशः कुतः ? प्रकर्षाभावात्" ।१४। द्वयोर्द्वयो[४]र्वाऽभिसंबन्धे सति महत्त्वविशेषप्रख्यापनार्थस्तर[५]शब्दः । एवमपि रत्नप्रभायाः पृथुतराव्यपदेशो नास्ति [६]प्रतियोग्यभावात् । अपि च शर्कराप्रभादीनां प्रकर्षाभावः अधोऽधो हीनपरिमाणत्वात्[७] । तस्मादधोऽधः पृथुतरा इति व्यपदेशो नोपपद्यते ।

स्यादेतत्–अधोलोकस्य वेत्रासनसंस्थानस्याधोधः पृथुत्वप्रकर्षात् पृथुतरा इति व्यपदेश इति; तच्च न; भूमिभ्यो बहिस्तत्पृथुत्वम् । एवं ह्युक्तम्–*"**स्वयम्भूरमणसमुद्रान्तादवलम्बिता रज्जुः सप्तम्याः भूमेरवसाने पूर्वादिदिग्विभागावगाहिकालमहाकालरौरवमहारौरवान्ते पतति**" [ ] इति । अथापि कथञ्चित् स्यात् प्रकर्षः; तिर्यक् पृथुतरा इति वक्तव्यं स्यान्नाधोऽधः इति । अथापि कथञ्चिदनेन विशेषणेनार्थः, एवं ग्राह्य[८]ः अधोऽधो वेदनाप्रकर्षाप्रकर्षयोगादायुषोऽतिशयाद्वा तन्निमित्तस्य तद्व्यपदेशदर्शनात्, तत्संबन्धाद्वा भूमयः पृथुतरा इति व्यपदिश्यन्ते । एवमपि रत्नप्रभायां पृथुतराव्यपदेशो नोपपद्यत एव ।

अत्राह–किं ता भूमयो नारकाणां सर्वत्रावासा आहोस्वित् क्वचित् क्वचिदिति ? तन्निर्धारणार्थमाह–

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥३॥

तासु रत्नप्रभादिषु भूमिषु नरकाण्यनेन संख्यायन्ते ।

त्रिंशदादीनां परस्पराभिसंबन्धे वृत्तिः ।१। त्रिंशदादीनां पदानां परस्पराभिसंबन्धे सति वृत्तिर्वेदितव्या । पञ्चभिरूनं पञ्चोनं पञ्चोनं च तदेकं च तत्पञ्चोनैकम् । त्रिंशच्च पञ्चविंशतिश्च पञ्चदश च दश च त्रीणि च पञ्चोनैकं च त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रि-

---

१–दियुक्ति द०, आ०, ब०, मु० । २ मेषाः –सम्पा० । ३ "···सप्ताधोऽधः पृथुतराः (सू०) ···सर्वाश्चैताः अधोऽधः पृथुतराश्छत्रातिछत्रसंस्थिताः···" –त० भा० ३।१। ४ रत्नप्रभायाः शर्कराप्रभा प्रकर्षेत्यादि । ५ –र्वा सम्ब– श्र० । ६ द्वयोर्विभज्ये च तरबिति । ७ रत्नप्रभायाः पूर्वं प्रतिनिधेरभावात् । ८ बाहल्यानाम् । ९ ग्राह्यमधो– आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

पञ्चोनैकानि। शतानां सहस्राणि शतशहस्राणि नरकाणां शतसहस्राणि नरकशतसहस्राणि, त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकानि च तानि नरकशतसहस्राणि च तानि त्रिंशत्-पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि।

यथाक्रमवचनं यथासंख्याभिसंबन्धार्थम् ।२। यो यः क्रमो यथाक्रमम्, तस्य वचनं रत्नप्रभादिभिः, त्रिंशता (दा) दीनां यथासंख्याभिसंबन्धो यथा स्यादिति। तद्यथा—रत्नप्रभायां त्रिंशन्नरकशतसहस्राणि। शर्कराप्रभायां पञ्चविंशतिनरकशतसहस्राणि। वालुकाप्रभायां पञ्चदशनरकशतसहस्राणि। पङ्कप्रभायां दशनरकशतसहस्राणि। धूमप्रभायां त्रीणि नरकशतसहस्राणि। तमःप्रभायां पञ्चोनमेकं नरकशतसहस्रम्। महातमःप्रभायां पञ्च नरकाणि।

तत्र रत्नप्रभायां अब्बहुलभागे उपर्यधश्चैकै[1]कं योजनसहस्रं वर्जयित्वा मध्ये नरकाणि भवन्ति। तानि त्रिधा वर्ण्यन्ते, इन्द्रक-श्रेणि-पुष्पप्रकीर्णकविभागेन। [2]तत्र त्रयोदशनरक-प्रस्ताराः, त्रयोदशैव इन्द्रकनरकाणि सीमन्तक-निरय-रौरुक्-भ्रान्त-उद्भ्रान्त—सम्भ्रान्त-असं-भ्रान्त-विभ्रान्त-तप्त-त्रस्त-व्युत्क्रान्त-अवक्रान्त-विक्रान्तनामानि। शर्कराप्रभायामेकादश नरक-प्रस्ताराः एकादशैवेन्द्रकनरकाणि—स्तनक-संस्तनक-वनक-मनक-घाट-संघाट-जिह्व-उज्जिह्व-कालोल-लोलुक-स्तनलोलुकाख्यानि। वालुकाप्रभायां नव नरकप्रस्तारा नवैवेन्द्रकनरकाणि-तप्त-त्रस्त-तपन-आतपन-निदाघ-प्रज्वलित-उज्ज्वलित-संज्वलित-संप्रज्वलितसंज्ञकानि। पङ्क-प्रभायां सप्तनरकप्रस्ताराः सप्तैवेन्द्रकनरकाणि—आर-मार-तार-वर्चस्क-वैमनस्क[3]-खड-अख-डाख्यानि। धूमप्रभायां पञ्च नरकप्रस्ताराः—पञ्चैवेन्द्रकनरकाणि—तमो-भ्रम-झष-अन्ध-तमिस्राभिधानानि। तमःप्रभायां त्रयो नरकप्रस्ताराः—त्रीण्येवेन्द्रकनरकाणि हिम-वर्दल-ललकनामधेयानि। महातमःप्रभायामेको नरकप्रस्तारः, एकमेवेन्द्रकनरकमप्रतिष्ठानाख्यम्।

तत्र [4]सीमन्तकस्य चतसृषु दिक्षु चतस्रो नरकश्रेण्यो निर्गतास्तथा विदिक्ष्वपि। तदन्तरेषु पुष्पप्रकीर्णकनरकाणि। तत्रैकैकस्यां दिङ्नरकश्रेण्यामेकान्नपञ्चाशदेकान्नपञ्चाशन्नरकाणि। तथैकैकस्यां विदिङ्नरकश्रेण्याम् अष्टचत्वारिंशदष्टचत्वारिंशन्नरकाणि। एवं निरयादिष्व-प्येकैकं परिहाप्य नेतव्यानि।

तत्र प्रथमायां पृथिव्यां श्रेणीन्द्रकनरकाणां संख्या चतुश्चत्वारिंशच्छतानि त्रयस्त्रिंशानि। पुष्पप्रकीर्णकानामेकान्नत्रिंशच्छतसहस्राणि पञ्चनवतिश्च सहस्राणि पञ्चशतानि सप्तषष्टय-धिकानि। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ त्रिंशन्नरकशतसहस्राणि। द्वितीयायां श्रेणीन्द्रक-नरकसंख्या षड्विंशतिशतानि पञ्चनवत्युत्तराणि। पुष्पप्रकीर्णकानां संख्या चतुर्विंशति-शतसहस्राणि सप्तनवतिसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्च च। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ पञ्चविंशतिनरकशतसहस्राणि। तृतीयायां श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या चतुर्दशशतानि पञ्चा-शीत्यधिकानि। पुष्पप्रकीर्णकसंख्या चतुर्दशशतसहस्राणि अष्टानवतिसहस्राणि पञ्चशतानि पञ्चदशाधिकानि। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ पञ्चदशनरकशतसहस्राणि। चतुर्थ्यां श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या सप्ताधिकानि सप्तशतानि। पुष्पप्रकीर्णकसंख्या नवनरकशतसहस्राणि नवनवतिश्च सहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्युत्तरे। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ दशनरकशत-

१ -कं हि यो- श्र०। २ तत्र रत्नप्रभायां त्रयो -आ०, ब०, मु०। ३ - खाटाखाटाख्या- ता०, आ०, ब०, द०। -खटाखटाख्या- मू०। ४ सीमन्तनरकस्य आ०, ब०, द०, मु०, ता०।

सहस्राणि। पञ्चम्यां श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या द्वे नरकशते पञ्चषष्टयधिके। पुष्पप्रकीर्णकसंख्या द्वे शतसहस्रे नवनवतिश्च सहस्राणि सप्तशतानि पञ्चत्रिंशानि च। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ त्रीणि नरकशतसहस्राणि। षष्ठ्यां श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या त्रिषष्टिनरकाणि। पुष्पप्रकीर्णकसंख्या नवनवतिनरकसहस्राणि नवशतानि द्वात्रिंशानि। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ नवनवतिसहस्राणि नवशतानि पञ्चनवत्युत्तराणि। सप्तम्यामिन्द्रकनरकमेक-मप्रतिष्ठानं नाम। श्रेणीनरकाणि चत्वारि। प्राच्यां दिशि कालं प्रतीच्यां महाकालम् अपाच्यां रौरवम् उदीच्यां महारौरवम्। विदिक्श्रेणीनरकाणि न सन्ति। तान्येतानि पञ्च।

सर्वश्रेणीन्द्रकनरकसंख्या षण्णवतिर्नरकशतानि त्रिपञ्चाशानि। सर्वपुष्पप्रकीर्णकसंख्या त्र्यशीतिर्नरकशतसहस्राणि नवतिसहस्राधिकानि त्रीणि च शतानि सप्तचत्वारिंशानि। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ चतुरशीतिः नरकशतसहस्राणि।

तासु सप्तस्वपि पृथिवीषु कानिचिन्नरकाणि संख्येयविस्ताराणि कानिचिदसंख्येय-विस्ताराणि। यानि संख्येयविस्ताराणि तानि संख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि, यान्यसंख्येयविस्ताराणि तान्यसंख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि। सर्वत्र च नरकाणां पञ्चमो[1] भागः संख्येयविस्ताराणां चत्वारो भागा असंख्येयविस्ताराणाम्। बाहल्यमुच्यते—

क्रोशः प्रथमपृथिव्याम्, इतरास्वर्धाधिकाः क्रमेणैव।
चत्वारः सप्तम्यां सर्वेन्द्रकनरकबाहल्यम्॥
स्वेन्द्रकबाहल्यं [2]स्वत्रिभागपरिवर्धितं तच्छ्रेण्याः।
श्रेणीन्द्रकबाहल्यसहितं ज्ञेयं प्रकीर्णकस्य॥

तान्येतानि नरकाणि उष्ट्रकाद्यशुभसंस्थानानि शोचनरोदनाक्रन्दनाद्यशुभनामानि वेदि-तव्यानि।

अथ तेषु सीमन्तकादिषु नरकेषु पापकर्मवशात् प्रादुर्भवन्तः प्राणिनः किंलक्षणा इति? अत आह—

नारका नित्याऽशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥३॥

लेश्यादिशब्दा उक्तार्थाः ।१। लेश्यादयः शब्दा उक्तार्था वेदितव्याः। लेश्या च परि-णामश्च देहश्च वेदना च विक्रिया च लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः। लोके प्रतियोग्यन्तरा-पेक्षया प्रकर्षो दृष्टः, इह अशुभतरा इति किमपेक्ष्य प्रकर्षनिर्देशः? उच्यते—

तिर्यग्व्यपेक्षोऽतिशयनिर्देशः ।२। तिरश्चामप्यशुभा लेश्यादयो नारकाणां च। ततः प्रकर्षेण नारकाणामित्यशुभतराः।

ऊर्ध्वापेक्षो वाऽधोगतानाम् ।३। अथवा ऊर्ध्वनरकाशुभतरलेश्याद्यपेक्षया अधोगतानां प्रकर्षो द्रष्टव्यः।

नित्यग्रहणाल्लेश्याद्यनिवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; आभीक्ष्ण्यवचनत्वात् नित्यप्रहसित-वत् ।४। स्यादेतत्—नित्यशब्दोऽयं कूटस्थेष्वविचलेषु भावेषु दृष्टः, यथा नित्या द्यौः नित्या पृथिवी नित्यमाकाशमिति, तथा लेश्यादीनामपि व्ययोदयाभावान्नित्यत्वे सति नरकादप्रच्यवः

१ पंचमभागपमाणा निरयाणं हुंति संखवित्थारा। सेसचउपंचभागा असंखवित्थाराया णिरया॥ इंदयसेढीबद्धं पइण्णयाणं कमेण वित्थारा। संखेज्जमसंखेज्जं उभयं च य जोइणाण हवे॥ इति। रूवहिय-पुढविसंखं तियचउसत्तेहि गुणिय छठभजिदे। कोसाणं बेहुलियं इंदियसेढीपइण्णाणं॥ २ सत्रिभा- मू०।

स्यादिति ? तन्न; किं कारणम् ? आभीक्ष्ण्यवचनान्नित्यप्रहसितवत् । यथा नित्यप्रहसितो देवदत्त इत्युच्यते योऽभीक्ष्णं प्रहसति, न च तस्य प्रहसनानिवृत्तिः, कारणे सति भावात् । तथा अशुभकर्मोदयनिमित्तवशात् लेश्यादयोऽनारतं प्रादुर्भवन्तीति आभीक्ष्ण्यवचनो नित्यशब्दः प्रयुक्तः । नित्यमशुभतरा नित्याशुभतराः सुप्सुपेति वृत्तिर्मयूरव्यंसकादित्वाद्वा । नित्याशुभतरा लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया येषां त इमे नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ।

तत्राशुभतरलेश्या इति–प्रथमाद्वितीययोः कापोतलेश्या । तृतीयायामुपरिष्टात् कापोती अधो नीला । चतुर्थ्यां नीला । पञ्चम्यामुपरि नीला अधः कृष्णा । षष्ठ्यां कृष्णा । सप्तम्यां परमकृष्णा । एतेषां नारकाणां स्वायुःप्रमाणावधृता द्रव्यलेश्या उक्ताः, भावलेश्यास्तु षडपि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तपरिवर्तिन्यः ।

अशुभतरपरिणामा इति-स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिणामाः क्षेत्रविशेषनिमित्तवशादतिदुःखहेतवोऽशुभतराः ।

अशुभतरदेहा इति–तेषां शरीराण्यशुभनामप्रत्ययादशुभाङ्गोपाङ्गस्पर्शरसगन्धवर्णस्वराणि हुण्डसंस्थानानि[1] निर्लूनाण्डजशरीराकृतीनि क्रूरकरणवीभत्सप्रतिभयदर्शनानि । यथेह श्लेष्ममूत्रपुरीषमलरुधिरवसामेदःपूयवमनपूतिमांसकेशास्थिचर्माद्यशुभमौदारिकगतं ततोऽप्यतीव्राशुभत्वं नारकाणां वैक्रियिकशरीरत्वेऽपि । तत्र रत्नप्रभायां नारकशरीरोत्सेधः सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलयः । अधोऽधो द्विगुणद्विगुण उत्सेधः ।

अशुभतरवेदना इति–अभ्यन्तरासद्वेद्योदये सत्यनादिपारिणामिकशीतोष्णबाह्यनिमित्तजनिताः सुतीव्रवेदना भवन्ति नारकाणाम् । तद्यथा–निदाघे मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि पटुतपत्किरणसन्तप्तदिगन्तराले दूरीकृतशीतवाते दवाग्निदाहो[2]द्वाहिपरुषसमीरणे रूक्षदेशे सर्वतो दीप्ताग्निशिखापरीतस्य तृष्णार्तस्य पित्तज्वरसंतापितशरीरस्य निष्प्रतीकारस्य यादृगुष्णजं दुःखं ततोऽप्यनन्तगुणमुष्णनरकेषु दुःखं भवति । माघमासे हिमानीपतनव्याप्तशीतदिगन्तराले नभसि प्रस्पन्दजलाप्लुतकर्दममहीतले रात्रौ शीतवातपातप्रस्फुरितगात्रकृतदन्तवीणस्य शीतज्वराभिभूततनोर्निरग्न्याश्रयप्रावरणस्य यादृक् शीतसमुद्भवं दुःखं ततोऽप्यनन्तगुणं कष्टं शीतनरकेषु दुःखं भवति । अथवा हिमवन्मात्रस्ताम्रगिरिरुष्णनरकेषु यदि निक्षिप्येत क्षिप्रमेव हि द्रवीभवेत् । स एवं द्रवीभूतः शीतनरकेषु यदि निक्षिप्येत अक्षिनिमेषमात्र एव घनः स्यादित्येवमनुमीयमानं शीतोष्णं तत्र वेदितव्यम् ।

प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थीषूष्णवेदनान्येव नरकाणि । पञ्चम्यामुपरि उष्णवेदने द्वे नरकशतसहस्रे, अधः शीतवेदनानामेकं शतसहस्रम् षष्ठीसप्तम्योः शीतवेदनान्येव । सर्वसमुदायेन द्वयशीतिनरकशतसहस्राणि उष्णवेदनानि, द्वे [3]नरकशतसहस्रे शीतवेदने ।

अशुभतरविक्रिया इति–शुभं करिष्याम इत्यशुभतरमेव विकुर्वन्ति । दुःखाभिभूतमनसश्च दुःखप्रतीकारचिकीर्षया गरीयस एव दुःखहेतून् विकुर्वन्ति । त एते भावा अधोऽधोऽशुभतराः वेदितव्याः ।

किमेषां नारकाणां शीतोष्णजनितमेव दुःखमुतान्यथापि भवतीति ? अत आह–

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

कथं परस्परोदीरितदुःखत्वम् ?

१ –निलूना– आ०, ब०, मु० । २ –द्वाहे प– श्र०, ता० । ३ नरके शत– मू०, श्र० ।

निर्दयत्वात् परस्परदर्शने सति कोपोत्पत्तेः श्ववत् ।१। यथा श्वानः शाश्वतिकाकारणानादिकालप्रवृत्तजातिकृतवैरापादितनिर्दयत्वात् परस्परभक्षणभेदनछेदना[1]द्युदीरितदुःखा भवन्ति, तथा नारका अपि भवप्रत्ययेनावधिज्ञानेन मिथ्यादर्शनोदयाद्विभङ्गव्यपदेशभाजा च दूरादेव दुःखहेतूनवगम्योत्पन्नदुःखाः प्रत्यासत्तौ परस्परालोकनाच्च प्रज्वलितकोपाग्नयः स्वविकृतासिवासीपरशुभिण्डिवालादिभिः परस्परदेहतक्षणभेदनछेदनपीडनादिभिरुदीरितदुःखा भवन्ति ।

किमेतावानेव दुःखोत्पत्तिकारणप्रकार उतान्योऽपि कश्चिदस्तीति ? अत आह–

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

पूर्वभवसंक्लेशपरिणामोपात्ताशुभकर्मोदयात् सततं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः ।१। पूर्वजन्मनि भावितेनाति[2]तीव्रेण संक्लेशपरिणामेन यदुपार्जितं पापकर्म तस्योदयात् सततमविरतं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः ।

असुरनामकर्मोदयादसुराः ।२। देवगतिनामकर्मविकल्पस्यासुरत्वसंवर्तनस्य कर्मण उदयादस्यन्ति परानित्यसुराः ।

संक्लिष्टविशेषणमन्यासुरनिवृत्त्यर्थम् ।३। न सर्वेऽसुरा नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति । किं तर्हि ? अम्बाम्बरीषादय एव केचनेति प्रदर्शनार्थं संक्लिष्टविशेषणम् ।

असुराणां गतिविषयनियमप्रदर्शनार्थं प्राक्चतुर्थ्या इति वचनम् ।४। तेषां संक्लिष्टानामसुराणां वेदनोदीरणकारणानां तिसृषु पृथिवीषु गतिर्नातः परमिति प्रदर्शनार्थं प्राक्चतुर्थ्या इत्युच्यते ।

आङो ग्रहणं लघ्वर्थमिति चेत्; न; संदेहात् ।५। स्यान्मतम्–आङत्र प्रयोक्तव्यः लघ्वर्थम् । स एव मर्यादां गमयतीति; तन्न; किं; कारणम् ? संदेहात् । अभिविधावपि आङ वर्तते मर्यादायामपि, ततः संदेहः स्यात्–'किं सह चतुर्थ्या उत ततः प्राग्' इति अतोऽसंदेहार्थं प्राग्वचनमेव युक्तम् ।

चशब्दः पूर्वहेतुसमुच्चयार्थः ।६। संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च पूर्वोक्तहेतूदीरितदुःखाश्चेति समुच्चयार्थश्चशब्दः, इतरथा हि तिसृषु भूमिषु पूर्वोक्तहेत्वभावः प्रतीयेत[3] ।

अनन्तरत्वादुदीरितग्रहणानर्थक्यमिति चेत्; न; तस्य वृत्तौ परार्थत्वात् ।७। स्यान्मतम्–अनन्तरमुदीरितग्रहणमस्ति तेनैवात्राभिसंबन्धः कर्तव्यः, अनर्थकं पुनरुदीरितग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्य वृत्तौ परार्थत्वात् । स ह्युदीरितशब्दः वृत्तौ परार्थे [4]सन्नवस्थित इह संबद्धुमशक्यः ।

वाक्यवचनमिति चेत्; न; उदीरणहेतुप्रकार[5]प्रदर्शनार्थत्वात् ।८। स्यादेतत्–वाक्यमेव वक्तव्यं परस्परेणोदीरितदुःखाः संक्लिष्टासुरैश्च प्राक् चतुर्थ्या इति ? तन्न; किं कारणम् ? उदीरणहेतुप्रकार[6]प्रदर्शनार्थत्वात् । पुनरुदीरितग्रहणेनोदीरणकारणप्रकाराः प्रदर्श्यन्ते । तद्यथा-तप्तायोरसपायन-निष्टप्तायस्तम्भालिङ्गन-कूटशाल्मल्यारोहणावतरणा-ऽयोघनाभिघात-

१ –नाद्याहितदु– ब०, मु० । –नाद्युदितदु– द०, ता०, आ० । २ –नातिसं– आ०, ब०, द०, मु० । –नातितीव्रसं– ता० । ३ प्रतीयते आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ संव्यव– आ०, ब०, द०, मु० । सत् व्यव– ता० । ५ –रद– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –रदर्श– आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

वासीक्षुरतक्षण[1]-क्षरण-तप्ततैलावसेचना-ऽयःकुम्भीपाका-ऽम्बरीषभर्जन-यन्त्रपीलनैः शूलशलाकाव्यधन-क्रकचपाटना-ऽङ्गार[2]धाग्निवाहन-सूचीशाड्वलावकर्षणैः व्याघ्रर्क्षद्वीपिश्वश्रृगालवृककोकमार्जारनकुलाखुसर्पवायसगृध्रकङ्कोलूकश्येनादिखादनैः तप्तवालुकाविचरणा-ऽसिपत्रवन-[3]प्रवेशन-वैतरण्यवतारण-परस्पर[4]योधनादिभिश्च ते संक्लिष्टासुरा दुःखमुदीरयन्ति नारकाणाम् । किमर्थं त एवं कुर्वन्तीति चेत् ? पापकर्माभिरतत्वात्, यथा गोमहिषमेषवराहकुक्कुटवर्तिकालावकान्[5] मल्लांश्च युद्धचमानान् परस्परं घ्नतश्च दृष्ट्वा रागद्वेषमोहाभिभूतानाम् अकुशलानुबन्धिपुण्यानां नराणां प्रीतिरुत्पद्यते,तथा तेषामसुराणां नारकांस्तथा कारयतामन्योन्यं च घ्नतः पश्यतां परा प्रीतिरुत्पद्यते । तेषां सत्यपि देवत्वे मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यतीव्रकषायोपहतस्य अनालोचितभावदोषस्य अप्रत्यवमर्शस्य अकुशलानुबन्धस्य पुण्यस्य [6]कर्मणस्तपश्च [7]सावद्यदोषानुकर्षिणस्तत्फलं यत् सत्स्वपि अनेकेषु प्रीतिहेतुषु अशुभा एव प्रीतिहेतव इति । एवं छेदभेदादिभिः शकलीकृतमूर्तीनामपि तेषां न मरणमकाले विद्यते । कुतः ? ***"औपपादिका अनपवर्त्यायुषः[8]"** [ ] इति वचनात् । तेषां हि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नं यावदायुरवबद्धं तावद्यथाकालमेव विपच्यते नोदीरण[9]प्रत्ययवशादपवर्त्यते ।

यद्येवं तदेव तावदुच्यतां नारकाणां कियदायुरिति ? अत आह—

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

सागरोपमेति कोऽयं शब्दः ? सागर उपमा यस्याः सेयं सागरोपमा । क उपमार्थः ?

सागरस्योपमात्वं द्रव्यभूयस्त्वात् ।१। यथा सागरो जलसमूहेन भूयसा युक्तस्तथा आयुःकर्मापि भवधारणकारणपुद्गलद्रव्यसमूहेन महता योगात् सागरेणोपमीयते ।

एकादीनां कृतद्वन्द्वानां सागरोपमाविशेषणत्वम् ।२। एकादयः शब्दाः कृतद्वन्द्वाः सागरोपमाशब्दस्य विशेषणत्वेन[10] नियुज्यन्ते । एका च तिस्रश्च सप्त च दश च सप्तदश च द्वाविंशतिश्च त्रयस्त्रिंशच्च एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशतस्ता एव सागरोपमाः एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः । कथमेकशब्दस्य पुंवद्भावः ? ननु भिन्नाधिकरणत्वान्न प्राप्नोति; नायं पुंवद्भावः, [11]औत्तरपदिकं ह्रस्वत्वम्, यथा [12]एकक्षीरमिति । अथवा सागर उपमा यस्य तत्सागरोपममायुः, एकं च त्रीणि च सप्त च सप्तदश च द्वाविंशतिश्च त्रयस्त्रिंशच्च एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपममायुर्यस्याः सैकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमेति स्थित्यपेक्षः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः ।

रत्नप्रभादिभिरानुपूर्व्येण संबन्धो यथाक्रमानुवृत्तेः ।३। 'यथाक्रमम्' इत्यनुवर्तते । ततो रत्नप्रभादिभिरेकादीनामानुपूर्व्येण संबन्धो वेदितव्यः । रत्नप्रभायामेकसागरोपमा स्थितिः,

१ –क्षारतप्त– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । २ –रधानी वा– ब०, मु० । –रदान्नीवा– मू० । –रदानीवा– श्र०, द० । –रधानीगारादीनीवा– आ० । –रादीनीवा– भा० । "अङ्गारदहनवाहन" त० भा० । ३ –प्रवेशवैतरण्यवतरण– श्र० । ४ –रचोदना– आ०, ब०, द०, मु० । –रघोवना– मू० । ५ –लापकान् आ०, ब०, द०, मु० । –लापाकान् मू० । ६ व्यापारस्य । ७ भावदोषा– आ०, ब०, द०, मु०, मु० । ८ "औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" –त०, सू० २।५३ । ९ –रणाप्रत्य– आ०, ब०, मु० । १० नियुज्जन्ते श्र० । ११ उत्तरपदि– आ०, ब०, द०, श्र०, मु०, मू० । 'मृगक्षीरादिषु' इति सूत्रेण । १२ एकस्याः क्षीरम्– ता० टि० ।

शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमा स्थितिः, वालुकाप्रभायां सप्तसागरोपमा स्थितिः, पङ्कप्रभायां दशसागरोपमा स्थितिः, धूमप्रभायां सप्तदशसागरोपमा स्थितिः, तमःप्रभायां द्वाविंशतिसागरोपमा स्थितिः, महातमःप्रभायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा स्थितिरिति ।

नरकप्रसङ्गः 'तेषु' इति वचनादिति चेत्; न; रत्नप्रभाद्युपलक्षितत्वात् ।४। स्यान्मतम्—[1]'तेषु'इतिवचनान्नरकाभिसंबन्धः प्राप्नोति । ततः किम् ? रत्नप्रभायां त्रयोदशेन्द्रकनरकसंज्ञानि तत्रारादेव सीमन्तकादिष्विन्द्रकनरकेषु स्थितिरियं परिसमाप्येत, नेष्यते च, तस्मात्तेष्विति वचनमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? रत्नप्रभाद्युपलक्षितत्वात्[2]। यानि रत्नप्रभाद्यधिकरणत्वेनोपलक्षितानि त्रिंशच्छतसहस्राद्यवधृतपरिमाणानि [3]तेष्वेकसागरोपमादिका स्थितिरिति नास्ति दोषः ।

साहचर्याद्वा ताच्छब्द्यसिद्धिः ।५। अथवा नरकसहचरिता भूमयोऽपि नरकाणीत्युच्यन्ते । अतस्तेषु रत्नप्रभादिषु नरकेषु प्रादुर्भवतां सत्त्वानामेकसागरोपमादिका स्थितिरित्यभिसंबन्धः, एवं च कृत्वा तेष्विति वचनमर्थवत्, इतरथा हि व्यवधानाद् भूमिभिरनभिसंबन्धः स्यात् ।

नरकस्थितिप्रसङ्ग इति चेत्; न; सत्त्वानामिति वचनात् ।६। स्यादेतत्—यदि पृथिव्युपलक्षितनरकाभिसंबन्ध इष्टः, ननु नरकाणामेवैकसागरोपमादिस्थितिसंबन्धः प्राप्नोति न नारकाणामिति; तन्न; किं कारणम् ? सत्त्वानामिति वचनात् तेषु नरकेषु सत्त्वानामियं स्थितिर्न नरकाणामिति ।

परोत्कृष्टेति पर्यायौ ।७। परा उत्कृष्टेति पर्यायशब्दाविमौ तेन नारकाणामुक्ता स्थितिरुत्कृष्टा । रत्नप्रभादिषु प्रतिप्रस्तारं जघन्यापि स्थितिरुच्यते—सीमन्तकेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि उत्कृष्टा नवतिवर्षसहस्राणि, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । निरयेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या नवतिर्वर्षसहस्राणि, **'दशवर्षशतसहस्राणि** 'इति क्वापि पाठः'। उत्कृष्टा नवतिर्वर्षशतसहस्राणि, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । रोरुकेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या एका पूर्वकोटी, उत्कृष्टेनासंख्याताः पूर्वकोट्यः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । भ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या असंख्याताः पूर्वकोट्यः, उत्कर्षेण सागरोपमस्यैको दशभागः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । उद्भ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्यैको दशभागः, उत्कृष्टा सागरोपमस्य द्वौ दश भागौ, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । संभ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य द्वौ दशभागौ उत्कर्षेण सागरोपमस्य त्रयो दशभागाः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा असंभ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य त्रयो दशभागाः, उत्कृष्टा सागरोपमस्य चत्वारो दशभागाः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा। विभ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य चत्वारो दशभागाः उत्कृष्टा सागरोपमस्य पञ्च दशभागाः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । तप्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य पञ्च दशभागाः, उत्कृष्टा सागरोपमस्य षड् दशभागाः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । त्रस्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य षड् दशभागाः, उत्कृष्टा सागरोपमस्य सप्त दशभागाः, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा ।

१ बिलानाम् । २ तेष्वेकत्रिसाग– ब०, द०, मु० ।

व्युत्क्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य सप्त दशभागाः उत्कृष्टा सागरोपमस्याष्टौ दशभागाः अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । अवक्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्याष्टौ दशभागाः, उत्कृष्टा सागरोपमस्य नव दशभागाः अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । विक्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य नव दशभागाः, उत्कृष्टा सागरोपमा, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा ।

शर्कराप्रभादिषु प्रतिप्रस्तारमुत्कृष्टा स्थितिः करणक्रमेण वेदितव्या । कथमिति चेत् ? उच्यते—

"उपरिस्थितेर्विशेषः स्वप्रतरविभाजितेष्टसंगुणितः ।
उपरिपृथिवीस्थितियुतः स्वेष्ट-प्रतरस्थितिर्महती ॥१॥" [ ]

उपर्युत्कृष्टाऽधो जघन्या सर्वत्र समयाधिका अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा ।

अथैतेषां नारकाणामुत्पादविरहकालः कियानिति ? अत्रोच्यते—सर्वासु पृथिवीषु जघन्य एकसमयः, उत्कृष्टाश्चतुर्विंशतिमुहूर्ताः, सप्तरात्रिंदिवानि, पक्षः, मासः, द्वौ मासौ, चत्वारो मासाः, षण्मासा इति रत्नप्रभादिषु क्रमेण ज्ञेयाः ।

अथोत्पादः क्व केषामिति ? अत्रोच्यते—प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यन्ते । प्रथमाद्वितीययोः सरीसृपाः । तिसृषु पक्षिणः । चतसृषूरगाः । पञ्चसु सिंहाः । षट्सु स्त्रियः । सप्तसु मत्स्यमनुष्याः[1] । न च देवा नारका वा नरकेषु उत्पद्यन्ते ।

प्रथमायामुत्पद्यमाना नारका मिथ्यात्वेनाधिगताः केचिन्मिथ्यात्वेन निर्यान्ति, मिथ्यात्वेनाधिगताः केचित् सासादनसम्यक्त्वेन निर्यान्ति । मिथ्यात्वेनाधिगताः केचित्सम्यक्त्वेन निर्यान्ति । केचित्सम्यक्त्वेनाधिगताः सम्यक्त्वेनैव निर्यान्ति क्षायिकसम्यग्दृष्टचपेक्षया । द्वितीयादिषु पञ्चसु नारका मिथ्यात्वेनाधिगताः केचिन्मिथ्यात्वेन निर्यान्ति, मिथ्यात्वेनाधिगताः केचित् सासादनसम्यक्त्वेन निर्यान्ति, मिथ्यात्वे प्रविष्टाः केचित् सम्यक्त्वेन निर्यान्ति । सप्तम्यां नारका मिथ्यात्वेनाधिगता मिथ्यात्वेनैव निर्यान्ति । षड्भ्य उपरिपृथिवीभ्यो नारकाः मिथ्यात्वसासादनसम्यक्त्वाभ्यामुद्वर्तिता[2] द्वे तिर्यङ्मनुष्यगती आयान्ति । तिर्यक्ष्वायाताः पञ्चेन्द्रियगर्भजसंज्ञिपर्याप्तकसंख्येयवर्षायुषूत्पद्यन्ते नेतरेषु । मनुष्येष्वायाता गर्भजपर्याप्तकेषु संख्येयवर्षायुषूत्पद्यन्ते नेतरेषु । नारकाः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयस्तेन गुणेन [3]नोद्वर्तन्ते । नारकाः सम्यग्दृष्टयः सम्यक्त्वेनोद्वर्तिता एकामेव मनुष्यगतिमायान्ति, मनुष्येष्वायाताः गर्भजपर्याप्तकसंख्येयवर्षायुषूत्पद्यन्ते नेतरेषु । सप्तम्यां नारका मिथ्यादृष्टयो नरकेभ्य उद्वर्तिता एकामेव तिर्यग्गतिमायान्ति, तिर्यक्ष्वायाताः पञ्चेन्द्रियगर्भजपर्याप्तकसंख्येयवर्षायुषूत्पद्यन्ते नेतरेषु ।

तत्र चोत्पन्नाः सर्वे मतिश्रुतावधिसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसंयमासंयमान् नोत्पादयन्ति । षष्ठ्याः उद्वर्तिता नारकास्तिर्यङ्मनुष्येषु जाता केचिन्मतिश्रुतावधिसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वं संयमासंयमान् षडुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत् । पञ्चम्या उद्वर्तितास्तिर्यक्षूत्पन्नाः केचित् षडुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत्, मनुष्येषूत्पन्नाः केचिन्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसंयमासंयमसंयमानुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत् । चतुर्थ्या उद्वर्तितास्तिर्यक्षूत्पन्नाः केचिन्मत्यादीन् षडुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत्, मनुष्येषूत्पन्नाः केचिन्मतिश्रुतावधिमनःपर्यय-

१ तथा चोक्तम्— श्रमणसरिसवविहंगमफणिसिहत्थीणमच्छमणुआणं । पढमादिसु उप्पत्ती अडवारादो दु दोण्णिवारो त्ति॥ २ —ताः केचित्तिर्यङ्मनष्यगतिमाया- आ०, ब०, द०, मु० ता० । ३ न निर्यान्ति ।

केवलसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसंयमासंयमसंयमानुत्पादयन्ति, न च बलदेववासुदेवचक्रधरतीर्थकरत्वान्युत्पादयन्ति, केचित् कर्माष्टकान्तकराः सिद्धचन्ति । उपरि तिसृभ्य उद्वर्तितास्तिर्यक्षु जाताः केचित् षडुत्पादयन्ति, मनुष्येषूत्पन्नाः केचित् मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसंयमासंयमसंयमानुत्पादयन्ति न च बलदेववासुदेवचक्रधरत्वान्युत्पादयन्ति केचित्तीर्थकरत्वमुत्पादयन्ति, अपरे कर्माष्टकान्तकराः सिध्यन्ति ।

उक्तः सप्तावनिविस्तीर्णोऽधोलोकः ।

इदानीं तिर्यग्लोकोऽवसरप्राप्तो व्याख्येयः । तत्रैतत्स्यात्—किमत्र व्याख्येयम् ? द्वीपसमुद्राधिष्ठातृधरणीधरवनक्षेत्रान्तरपरिमाणादि । यद्येवं तदवतिष्ठताम्, इदमेव तावद्व्याक्रियतां कुतः पुनरियं तिर्यग्लोकसंज्ञा प्रवृत्तेति ? उच्यते—यतोऽसंख्येयाः स्वयंभूरमणपर्यन्तास्तिर्यक्प्रचयविशेषेणावस्थिता द्वीपसमुद्रास्ततः तिर्यग्लोक इति । यद्येवं के पुनस्तिर्यगवस्थिता इति ? अत आह—

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

आह—कुतः पुनरियं जम्बूद्वीपसंज्ञेति ? उच्यते—

प्रतिविशिष्टजम्बूवृक्षासाधारणाधिकरणत्वाज्जम्बूद्वीपः ।१। अयं हि द्वीपः प्रतिविशिष्टस्य जम्बूवृक्षस्य सपरिवारस्यासाधारणाधिकरणत्वं बिभर्त्ति नान्ये धातकीखण्डादयो द्वीपास्ततोऽस्य तत्साहचर्यात् जम्बूद्वीप इति संज्ञा अनादिकालप्रवृत्ता । तद्यथा—उत्तरकुरुमध्ये जगती पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा तत्त्रिगुणसातिरेकपरिक्षेपा ततः प्रदेशहान्या बहिःपरिहीयमाणा मध्ये द्वादशयोजनबाहल्या,[1] अन्ते क्रोशद्वयबाहल्या सा चैकया पद्मवरवेदिकया [2]जाम्बूनदमय्या परिक्षिप्ता । तस्या बहुदेशमध्यभागे नानारत्नमयमेकं पीठमष्टयोजनायामं [3]चतुर्योजनविष्कम्भं तावदुच्छ्रायं द्वादशभिः [4]पद्मवरवेदिकाभिः परिक्षिप्तम् । तासां च पद्मवरवेदिकानां प्रत्येकं चत्वारि तोरणानि श्वेतानि वरकनकस्तूपिकानि, तस्योपरि मणि[5]मयमुपपीठं योजनायामविष्कम्भं क्रोशद्वयोच्छ्रायम् । तन्मध्ये जम्बूवृक्षः सुदर्शनाख्यो योजनद्वयोच्छ्रितस्कन्धः षड्योजनोत्सेधविटपः, मध्ये षड्योजनविष्कम्भपरिमण्डलः अष्टयोजनायामः तदर्धमुच्छ्रितानां जम्बूनामष्टशतेन परिवृतः [6]सुरवरवनिताक्रान्तः, तद्योगाज्जम्बूद्वीपः ।

लवणरसाम्बुयोगाल्लवणोदः ।२। लवणरसेनाम्बुना योगात् समुद्रो लवणोद इति संज्ञायते । उदक्शब्दस्य पूर्वपद[7]भूतस्य उत्तरपदभूतस्य च संज्ञायामुदभावोऽन्वाख्यातः ।

जम्बूद्वीपश्च लवणोदश्च जम्बूद्वीपलवणोदौ तावादी येषां ते जम्बूद्वीपलवणोदादयः । द्वीपाश्च समुद्राश्च द्वीपसमुद्रा यथासंख्यमभिसंबन्धः । जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयः समुद्रा इति । किं नामानस्ते ? शुभनामानः । यानि लोके शुभानि नामानि तान्येषां नामानि तद्यथा—जम्बूद्वीपो लवणोदः, धातकीखण्डः कालोदः, पुष्करवरः पुष्करोदः, वारुणीवरः वारुणोदः, क्षीरवरः क्षीरोदः, घृतवरः घृतोदः, इक्षुवरः इक्षूदः, नन्दीश्वरवरः नन्दीश्वरोद इत्येवमादयोऽसंख्येया

१ —बाहुल्या आ०, ब०, द०, मु० । २ रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम् —ता० टि० । ३ मुखे । ४ पद्मवेदि— आ०, ब०, द०, मु० । ५ —मयमपरं पीठं ता०, श्र०, मू० । ६ सुरवनि— आ०, ब०, द०, मु० । ७ उदधिरिति ।

द्वीपसमुद्राः स्वयम्भूरमणद्वीपस्वयम्भूरमणोदपर्यन्ताः । कियदसंख्येयाः ? अर्धतृतीयसागरोपमसमय[1]संख्याः ।

अमीषां विष्कम्भसन्निवेशसंस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

द्विर्द्विरिति वीप्साभ्या[2]वृत्तिवचनं विष्कम्भद्विगुणत्वव्याप्त्यर्थम् ।१। आद्यस्य द्वीपस्य यो विष्कम्भस्तद्द्विगुणो जलधिस्तद्द्विगुणविष्कम्भो द्वितीयो द्वीपः तद्द्विगुणविष्कम्भो द्वितीयो जलधिरिति द्वैगुण्यव्याप्त्यर्थं द्विर्द्विरुच्यते । द्विर्द्विर्विष्कम्भो येषां ते द्विर्द्विर्विष्कम्भाः ।

ननु च वृत्त्या अभ्यावृत्तिरुच्यते द्विर्दश द्विदशा इति, वीप्सा च क्वचिदुच्यते सप्तपर्ण इति, तद्वदिह वीप्साऽभ्यावृत्त्योर्वृत्त्योक्तवात् द्वित्वस्य सुचश्चाप्रयोगः प्राप्नोति ? नैष दोषः; यत्र [3]गम्यते न तत्र प्रयुज्यते, इह तु द्विर्विष्कम्भा इत्युक्ते तदर्थागतेर्द्विर्द्विरित्युच्यते ।

अनिष्टविनिवेशव्यावृत्त्यर्थं पूर्वपूर्वपरिक्षेपिवचनम् ।२। ग्रामनगरादिवदनिष्टविनिवेशो मा विज्ञायीति 'पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः' इत्युच्यते । तेनोत्तरोत्तरानन्तर्यसिद्धिर्भवति । पूर्वं पूर्वं परिक्षिपन्तीत्येवंशीलाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः, अत्राप्यगमकत्वाद् द्वित्वम् ।

चतुरस्रादिनिवृत्त्यर्थं वलयाकृतिवचनम् ।३। आकृतिस्संस्थानम्, वलयस्येवाकृतिर्येषां ते वलयाकृतयः । एतेन चतुरस्रादिसंस्थानान्तरनिवृत्तिः कृता भवति । ततो मिथ्यावादिप्रणीतसंस्थानान्तरप्रतिकल्पना न तत्त्वम् ।

अत्राह जम्बूद्वीपस्य प्रदेशसंस्थानविष्कम्भा वक्तव्याः, तन्मूलत्वादितरविष्कम्भादिविज्ञानस्येति ? अत आह–

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

तच्छब्दः पूर्वद्वीपसमुद्रनिर्देशार्थः ।१। पूर्वोक्तानामसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां निर्देशार्थस्तच्छब्दो द्रष्टव्यः । तेषां मध्ये तन्मध्ये नाभिरिव नाभिः । मेरुर्नाभिर्यस्य स भवति मेरुनाभिः, वृत्त आदित्यमण्डलोपमानः । शतानां सहस्रं शतसहस्रं योजनानां शतसहस्रं योजनशतसहस्रम् [योजनशतसहस्रं] विष्कम्भो यस्य सोऽयं योजनशतसहस्रविष्कम्भः ।

तस्य परिक्षेपः त्रीणि शतसहस्राणि षोडशसहस्राणि द्वे शते सप्तविंशतिश्च योजनानाम्, त्रीणि गव्यूतानि, शतं धनुषामष्टाविंशत्युत्तरम्, त्रयोदशाङ्गुलयः अर्धाङ्गुलं सातिरेकम् ।

तस्य समन्तात् परिक्षेप्त्री जगत्येका अर्धयोजनावगाहा अष्टयोजनोत्सेधा मूलमध्यान्तेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनविष्कम्भा वज्रमयमूला वैडूर्यमयान्ता सर्वरत्ननिर्मितमध्या गवाक्षघण्टामुक्ताहेममणिकिंकिणीकपद्मरत्नकनकरत्नसर्वरत्नजालैर्नवभिरुपर्युपरिस्थितैः प्रत्येकमर्धयोजनोच्छ्रायैः पञ्चधनुश्शतविष्कम्भजगतीसमायामैरलङ्कृता । तस्याः पूर्वदक्षिणापरोत्तरासु चतसृषु दिक्षु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसंज्ञानि चत्वारि महाद्वाराणि । यथाक्रमं तानि चतुर्योजनविष्कम्भाण्यष्टयोजनोत्सेधानि विष्कम्भसमप्रवेशानि । तत्र विजयवैजयन्तयोरन्तरमेकान्नाशीतिसहस्राणि द्विपञ्चाशद्योजनान्यर्धयोजनं योजनचतुर्भागः अर्धगव्यूतं गव्यूतचतुर्भागः द्वात्रिंशच्च

१ –समयसंख्येयाः श्र० । २ वारार्थं । ३ सुजादेरप्रयोगेऽपि ज्ञायते ।

धनूंषि तिस्रोऽङ्गुलयः अङ्गुलचतुर्भागोऽर्धाङ्गुलचतुर्भागश्च सातिरेकः । एवमितरेषामप्यन्तराणां प्रमाणं वेदितव्यम् ।

तत्र जम्बूद्वीपे षड्भिः कुलपर्वतैर्विभक्तानि सप्त क्षेत्राणि । कानि तानीति ? अत आह–

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

भरत इति संज्ञा कुतः ?

भरतक्षत्रिययोगाद्वर्षो भरतः ।१। विजयार्धस्य दक्षिणतो जलधेरुत्तरतः गङ्गासिन्ध्वो[1]र्बहुमध्यदेशभागे विनीता नाम नगरी द्वादशयोजनायामा, नवयोजनविस्तारा । तस्यामुत्पन्नः सर्वराजलक्षणसंपन्नो भरतो नामाद्यश्चक्रधरः षट्खण्डाधिपतिः । अवसर्पिण्या[2] राज्यविभागकाले तेनादौ भुक्तत्वात्, तद्योगाद्भरत इत्याख्यायते वर्षः ।

अनादिसंज्ञासंबन्धाद्वा ।२। अथवा, जगतोऽनादित्वादहेतुका अनादिसंबन्धपारिणामिकी भरतसंज्ञा । अथ क्व भरत इति ? अत्रोच्यते–

हिमवत्समुद्रत्रयमध्ये भरतः ।३। हिमवतोऽद्रेस्त्रयाणां समुद्राणां पूर्वदक्षिणाऽपराणां मध्ये भरतो वेदितव्यः । स पुनर्गङ्गासिन्धूभ्यां विजयार्धेन च षड्भागसंविभक्तः ।

कोऽसौ विजयार्धो नाम ?

पञ्चाशद्योजनविस्तारस्तदर्धोत्सेधः सक्रोशषड्योजनावगाहो रजताद्रिर्विजयार्धोऽन्वर्थः ।४। चक्रभृद्विजयार्धकरत्वाद्विजयार्ध इति गुणतः कृताभिधानो रजताद्रिः तस्य पञ्चाशद्योजनानि विस्तारः पञ्चविंशतियोजनान्युत्सेधः सक्रोशानि षड्योजनान्यवगाहः पूर्वापरकोटिभ्यामसौ पूर्वापरजलधी[3] स्पृशति । तस्य पूर्वापरपार्श्वबाहू चत्वारि योजनशतानि अष्टाशीत्यधिकानि षोडश चैकान्नविंशतिभागाः योजनस्यार्धभागश्च सातिरेकः । विजयार्धोत्तरपार्श्वज्या दशयोजनसहस्राणि सप्त च शतानि विंशतिर्योजनानां द्वादश चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य किञ्चिद्विशेषोनाः । अस्याः ज्यायाः धनुषः पृष्ठं दशयोजनानां सहस्राणि [4]सप्त च शतानि त्रिचत्वारिंशानि पञ्चदश चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य सविशेषाः । विजयार्धदक्षिणपार्श्वज्या नवसहस्राणि सप्तशतान्यष्टचत्वारिंशानि योजनानां द्वादशभागाः किञ्चिद्विशेषाधिकाः । अस्याः ज्यायाः धनुषः पृष्ठं नवसहस्राणि सप्तशतानि षट्षष्टयुत्तराणि योजनानामेकश्च भागः सविशेषः । तस्योभयोः पार्श्वयोरर्धयोजनविष्कम्भौ [5]पर्वतसमानायामावर्धयोजनोच्छ्रायपञ्चधनुःशतविष्कम्भवनसमायामाभ्यां क्वचित्क्वचित्कनकस्तूपिकाभ्यामलङ्कृतबहुतोरणोपेतपद्मवरवेदिकाभ्यां प्रत्येकं परिक्षिप्तौ सर्वर्तुजफलकुसुमतरुवरमण्डितौ वनषण्डौ । तस्य द्वे गुहे तमिस्रखण्डप्रपातसंज्ञे पञ्चाशद्योजनोद्ग[6]दक्षिणायामे प्राक्प्रत्यक्द्वादशयोजनविष्कम्भे, अष्टयोजनोत्सेधोत्तरदक्षिणद्वारद्वये, सक्रोशषड्योजनविष्कम्भक्रोशबाहुल्याष्टयोजनोच्छ्रायवज्रमयकपाटे[7] । यकाभ्यां चक्रवर्ती उत्तरभरतविजयार्धं याति । यतश्च गङ्गासिन्धू निर्गते । तत्र चाभ्यन्तरे विजयार्धप्रभवे प्रत्येकं द्विनद्यौ गङ्गासिन्धू अनुप्रविष्टे, उन्मग्नजला निमग्नजला चान्वर्थसंज्ञे । तृणादेः पतितस्य द्रव्यस्याहत्योपरितलप्रक्षेपणात् उन्मग्नजला । तथा तृणादेः पतितस्याधस्तलप्रक्षेपणात् निमग्नजला ।

१ –न्ध्वोर्मध्य– श्र० । २ –ण्यां रा– श्र० । ३ –र्लधिं स्पृ– आ०, ब०, द०, मु० । –र्लनिधी स्पृ– ता० । ४ सप्तश– आ०, ब०, द०, मु० । ५ –विष्कम्भपर्व– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –णायते प्रा– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ –टे याभ्यां आ०, ब०, द०, मु० । –पाटाभ्यां च– ता० ।

तस्यैवाद्रेर्भूमितलाद्दशयोजनान्युत्प्लुत्योभयोः पार्श्वयोः दशयोजनविस्तारे पर्वतसमायामे द्वे विद्याधरश्रेण्यौ भवतः। तत्र दक्षिणश्रेण्यां रथनूपुरचक्रवालादीनि पञ्चाशद्विद्याधरनगराणि। उत्तरश्रेण्यां गगनवल्लभादीनि षष्टिर्विद्याधरनगराणि। तन्निवासिनो विद्याधरा भरतवत् षट्कर्मजीविनः केवलं प्रज्ञप्त्यादिविद्याधरणमात्रादेव विशिष्टाः। ततो दशयोजनान्युत्प्लुत्यौभयोः पार्श्वयोर्दशयोजनविस्तारे पर्वतसमायामे द्वे व्यन्तरश्रेण्यौ भवतः। तत्र शक्रलोकपालानां सोमयमवरुणवैश्रवणानाम् आभियोग्यव्यन्तरदेवानां निवासा भवन्ति। ततः पञ्चयोजनान्युत्प्लुत्य शिखरतलं भवति दशयोजनविष्कम्भं पर्वतसमायामम्। तत्र प्राच्यां दिशि षड्योजनक्रोशाधिकोच्छ्रायविष्कम्भं सिद्धायतनकूटं पद्मवरवेदिकापरिवृतम्। तस्योपर्युदग्दक्षिणायामं प्राक्प्रत्यग्विस्तारं क्रोशायाम-क्रोशार्धविष्कम्भ-देशोनक्रोशोच्छ्रायं पद्मवरवेदिकापरिवृतम् [1]अर्हदायतनं पूर्वोत्तरदक्षिणद्वारम् अर्हदायतनवर्णनोपेतम्। तस्य पश्चाद्दक्षिणार्धभरतकूट-खण्डकप्रपातकूट-माणिकभद्रकूट-विजयार्धकूट-पूर्णभद्रकूट-तमिस्रगुहाकूट-उत्तरार्धभरतकूट-वैश्रवणकूटनामान्यष्टौ कूटानि सिद्धायतनकूटसमोच्छ्रायविष्कम्भायामानि। तेषामुपरि दक्षिणार्धभरतदेव-वृत्तमाल्यदेव-माणिभद्रदेव-विजयार्धगिरिकुमारदेव-पूर्णभद्रदेव-कृतमालदेव-उत्तरार्धभरतदेव-वैश्रवणदेवानां यथाक्रमं प्रासादाः सिद्धायतनसमायामविष्कम्भोच्छ्रायाः। सोऽयं विजयार्धपर्वतो नवभिः कूटैर्मुकुटैरिवोद्गतैर्गिरिराजत्वं प्राप्त इवाभाति। अथ हैमवत इति कथं संज्ञा ?

हिमवतोऽदूरभवः सोऽस्मिन्नस्तीति वा हैमवतः ।५। हिमवान्नाम पर्वतः तस्यादूरभवः सोऽस्मिन्नस्तीति वाऽणि सति हैमवतो वर्षः। क्व पुनरसौ ?

क्षुद्रहिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये ।६। क्षुद्रहिम[2]वन्तमुत्तरेण दक्षिणेन महाहिमवन्तं पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये हैमवतः।

तन्मध्ये शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यः ।७। तस्य हैमवतस्य मध्ये शब्दवान्नाम पटहाकारः वृत्तत्वाद् वृत्तवेदाढ्य इत्यन्वर्थसंज्ञः योजनसहस्रोच्छ्रायः अर्धतृतीययोजनशतावगाह उपरि मूले च योजनसहस्रायामविष्कम्भस्तत्त्रिगुणसातिरेकपरिक्षेपः पर्वतः, अर्धयोजनविष्कम्भाद्रिपरिक्षेपायामयुक्तया पूर्वादिदिग्विभागविनिवेशिचतुस्तोरणविभक्तया पद्मवरवेदिकयाऽलङ्कृतः। तत्तलमध्ये सक्रोशद्वयद्विषष्टियोजनोत्सेधः सक्रोशैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भः स्वातिदेवविहारः[3]। अथ कथं हरिवर्षसंज्ञा ?

हरिवर्णमनुष्ययोगाद्धरिवर्षः ।८। हरिः सिंहस्तस्य शुक्लरूपपरिणामित्वात् तद्वर्णमनुष्याद्युषितत्वाद्धरिवर्ष इत्याख्यायते। क्व पुनरसौ ?

निषधमहाहिमवतोरन्तराले ।९। निषधस्य दक्षिणतो महाहिमवत उत्तरतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले हरिवर्षः।

तन्मध्ये विकृतवान् वृत्तवेदाढ्यः ।१०। तस्य हरिवर्षस्य मध्ये विकृतवान्नाम[4] वृत्तवेदाढ्यः शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णनः। तस्योपर्यरुणदेवविहारः। अथ कथं विदेहसंज्ञा ?

विदेहयोगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः ।११। विगतदेहाः विदेहाः। के पुनस्ते ? येषां देहो नास्ति, कर्मबन्धसन्तानोच्छेदात्[5]। ये वा सत्यपि देहे विगतशरीरसंस्कारास्ते विदेहाः। तद्यो-

---

१ वक्ष्यमाणम्। २ हिमवतो द्वितीया चैनेनानं चेरिति द्वितीया ? ३ निवासः। ४ –म वेदा– द०, श०, मू०। ५ –नोच्छित्तये वा आ०, ब०, द०, मु०।

गाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः। तत्र हि मुनयो देहोच्छेदार्थं यतमाना विदेहत्वमास्कन्दन्ति। ननु च भरतैरावतयोरपि विदेहाः सन्ति ? सत्यम्, सन्ति कदाचिन्न तु सर्वकालम्, तत्र तु सततं धर्मोच्छेदाभावाद्विदेहाः सन्तीति प्रकर्षापेक्षो विदेहव्यपदेशः। क्व पुनरसौ ?

निषधनीलवतोरन्तराले तत्सन्निवेशः ।१२। निषधस्योत्तरात् [1]नीलवतो दक्षिणात् पूर्वापरसमुद्रयोरन्तरे तस्य विदेहस्य सन्निवेशो द्रष्टव्यः।

स चतुर्विधः पूर्वविदेहादिभेदात् ।१३। स विदेहश्चतुर्विधः। कुतः ? पूर्वविदेहादिभेदात्। पूर्वविदेहः, अपरविदेहः, उत्तरकुरवः, देवकुरवश्चेति। कुतः पुनः पूर्वविदेहादिव्यपदेशः ? मेरोः प्राक् क्षेत्रं पूर्वविदेहः, [2]उत्तरक्षेत्रमुदक्कुरवः, अपरक्षेत्रमपरविदेहः दक्षिणक्षेत्रं देवकुरव इति।

नैष युक्तो व्यपदेशः—पूर्वविदेहे हि सविता नीलादुदेति, निषधेऽस्तमुपैति। तत्र प्राङ् नीलः प्रत्यङ् निषधः अपाक् समुद्रः, मेरुरुदक्। अपरविदेहे तु निषधे उदयः नीलेऽस्तमय इति। तत्र प्राङ् निषधः, प्रत्यङ् नीलः, अपाक् समुद्रः, उदङ् मेरुः। उदक्कुरुषु गन्धमादनादुदयो माल्यवतोऽस्तमयः। तत्र गन्धमादनः प्राक्, माल्यवान् प्रत्यक्, नीलः अपाक्, मेरुः उदक्। देवकुरुषु सौमनसादुदयः विद्युत्प्रभेऽस्तमयः तत्र सौमनसः प्राक्, विद्युत्प्रभः प्रत्यक्, निषधोऽपाक् मेरुरुदगिति ? सत्यमेवमेतत्; यदि तत्रत्यो दिग्विभाग आश्रियेत। इह भरतक्षेत्रदिग्विभागमाश्रित्य मेरोः पूर्वादिव्यपदेशो युक्तः। तत्र विदेहमध्यभागे मेरुः। तस्मादपरोत्तरदिशि गन्ध[3]मालिविजयसमीपदेवारण्यात्प्राक् गन्धमादनाख्यो वक्षारपर्वतः उदक्दक्षिण[4]यतः प्राक्प्रत्यक्विस्तीर्णः दक्षिणोत्तरकोटिभ्यां मेरुनीलाद्रिस्पर्शी द्वाभ्यामर्धयोजनविष्कम्भपर्वतसमायामाभ्यां वनषण्डाभ्यामलङ्कृतः मूलमध्याग्रेषु सुवर्णमयः नीलाद्रि[5]पर्यन्ते चतुर्योजनशतोच्छ्रितः, योजनशतावगाहः प्रदेशवृद्धचा वर्धमानः मेरुपर्यन्ते पञ्चयोजनशतोत्सेधः पञ्चविंशतियोजनशतावगाहः, पञ्चयोजनशतविष्कम्भः, ततः प्रदेशहान्या हीयमानः नीलान्तेऽर्धतृतीययोजनशतविष्कम्भः। त्रिंशत्सहस्राणि द्वे च नवोत्तरे शते योजनानां षट्चैकान्नविंशतिभागाः सातिरेका आयामः। तस्योपरि मेरुपर्यन्ते [6]पञ्चविंशतियोजनशतोच्छ्रायमूलविष्कम्भसिद्धायतनकूटम्। तस्योत्तरतः क्रमेण व्यवस्थितानि षट् कूटानि—गन्धमादन-उदक्कुरु-गन्धमालि-स्फटिक-लोहिताक्ष-आनन्दकूटनामानि। तत्र सिद्धायतनकूटे जिनायतनम्। स्फटिककूटस्योपरि प्रासादे भोगंधरी देवी पल्योपमस्थितिका। लोहिताक्षकूटस्योपरि प्रासादे पल्योपमस्थितिका दिक्कुमारी भोगवती[7] वसति। शेषेषु चतुर्षु कूटेषु [8]कूटसमनामानो देवा वसन्ति। मेरोरुदक् प्राच्यां दिशि नीलादपाच्यां कच्छविजयात्[9] प्रतीच्यां माल्यवान् वक्षारपर्वतः। मूलमध्याग्रेषु वैडूर्यमयः विष्कम्भायामोच्छ्रायावगाहसंस्थानैर्गन्धमादनेन समः। तस्योपरि मेरुपर्यन्ते सिद्धायतनकूटं यथोक्तपरिमाणम्। तस्योपर्यर्हदायतनम्। तस्योत्तरतो यथाक्रमं माल्यवत्-उदक्कुरु-कच्छ-विजय-सागर-रजत-पूर्णभद्र-सीता-हरिमहाकूटानि नव भवन्ति। सागरकूटे सुभागा[10] दिक्कुमारी, रजतकूटे भोगमालिनी दिक्कुमारी वसति। शेषेषु

---

१ नीलस्य द– श०। २ –रं क्षे– आ०, ब०, द०, मु०। ३ –न्धमालिनीविषयसमी– आ०, ब०, द०, मु०। ४ –णायामः आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ५ समीपे। ६ अधिक। ७ भोगावती– आ०, ब०, मु०। भोगावसति द०। ८ स्वकूटता– मु०। ९ विषयात् आ०, ब०, द०, मु०। १० सुभगा आ०, ब०, द०, मु०, ता०।

सप्तसु कूटेषु कूटसमनामानो देवा वसन्ति । मेरोरुदक् गन्धमादनात्प्राक्, नीलादपाक्, माल्यवतः प्रत्यक्, उदक्कुरवः प्राक् प्रत्यगायताः, उदगपाग्विस्तीर्णा यमकाद्विद्वयपञ्चसरोवरकाञ्चनगिरिशतोपशोभिताः । एकादश सहस्राणि अष्टौ शतानि द्वाचत्वारिंशानि योजनानां द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ उदक्कुरुविष्कम्भः । नीलसमीपे त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि ज्याषष्टिसहस्राणि चत्वारि शतानि अष्टादशानि योजनानां द्वादश चैकान्नविंशतिभागाः साधिका धनुः ।

तत्र सीतायाः प्राग्विदग्भागे जम्बूवृक्षो वर्णितः । तस्योत्तरस्यां दिशि शाखायामर्हदायतनं क्रोशायामार्धक्रोशविष्कम्भदेशोनक्रोशोनक्रोशोत्सेधम् । प्राच्यां दिशि शाखायां तत्तुल्यप्रासादः, तत्र जम्बूद्वीपाधिपतिव्यन्तरेश्वरोऽना[1]वृतनामा वसति । दक्षिणस्यां दिशि शाखायां प्रतीच्यां च प्रासादयोः शयनीयानि रमणीयानि । ततः [2]पूर्वोत्तरोत्तरापरोत्तरासु दिक्ष्वना[3]वृतदेवसामानिकानां चत्वारि जम्बूसहस्राणि। दक्षिणपूर्वस्यां दिशि अभ्यन्तरपरिषद्देवानां द्वात्रिंशत्सहस्राणि । दक्षिणस्यां मध्यमपरिषद्देवानां चत्वारिंशत्सहस्राणि । दक्षिणापरस्यां दिशि बाह्यपरिषद्देवानामष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि। प्रतीच्यामनीकमहत्तराणां सप्तानां सप्तजम्ब्वः, चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां जम्ब्वः चतस्रः । पूर्वदक्षिणापरोत्तरासु षोडशसहस्रात्मरक्षदेवानां च षोडशसहस्राणि । एते सुदर्शनजम्बूवृक्षस्य परिवारभूताः पूर्वोक्ताष्टशतेन सह समुदिताः एकं शतसहस्रं चत्वारिंशत्सहस्राणि शतं चैकान्नविंशम् । त एते सर्व एव जम्बूवृक्षाः पद्मवरवेदिकापरिवृताः सर्वरत्नकाञ्चनपरिणामाः मुक्तामणिहेमघण्टाजालमाल्यदामध्वजपताकाछ[4]त्राधिच्छत्रविभूषिताः । सुदर्शनाख्योऽसौ जम्बूवृक्षः पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्तैस्त्रिभिर्वनषण्डैः परिक्षिप्तः । प्राथमिकवनषण्डे चतसृषु दिक्षु क्रोशायामक्रोशार्धविष्कम्भदेशोनक्रोशोत्सेधानि चत्वारि भवनानि । विदिक्षु चतस्रः पुष्करिण्यो [5]दशयोजनावगाहाः पञ्चाशद्योजनायामाः तदर्धविष्कम्भाः चतुष्कोणा आयतचतुरस्राः शुचिसुरभिसलिलपूर्णाः । तेषां भवनानां पुष्करिणीनां चाष्टासु दिक्षु श्वेतान्यर्जुनसुवर्णनिर्वृत्तानि प्रत्येकमष्टौ कूटानि। तेषामुपरि प्रत्येकं क्रोशायामक्रोशार्धविष्कम्भदेशोनक्रोशोच्छ्रायाः चत्वारः प्रासादाः ।

नीलाद् दक्षिणस्यां दिश्येकं योजनसहस्रं तिर्यगतीत्य सीतामहानद्या उभयोः पार्श्वयोः पञ्चयोजनशतान्तरौ सप्रणिधी द्वौ यमकाद्री योजनसहस्रोच्छ्रायौ अर्धतृतीययोजनशतावगाहौ मूलमध्याग्रेषु योजनैकसहस्रार्धाष्ट[6]मयोजनशतपञ्चयोजनशतविष्कम्भौ । तयोरुपरि योजनद्विषष्टयर्धयोजनोच्छ्रायौ सक्रोशैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भौ तावत्प्रवेशौ प्रासादौ। तत्र यमकनामानौ देवौ वसतः । प्राच्यां दिशि द्वे अर्हदायतने यमकाभ्यामवाक्पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्य सीतामहानद्यां[7] योजनसहस्रोदगपागायतः पञ्चयोजनशतप्राक्प्रत्यग्विष्कम्भः दशयोजनावगाहः नीलो नाम महाह्रदो भवति । ह्रदमध्ये जलस्योपर्यर्धयोजनोच्छ्रायाणि दशयोजनावगाहनालानि मध्ये योजनविष्कम्भाणि क्रोशायतपत्राणि द्विक्रोशकर्णिकान्याग्रमूलयोर्द्विक्रोशविस्तराणि पद्मानि पद्मह्रदजपद्मवर्णनोपेतानि। तत्र नीलसंज्ञो नागेन्द्रकुमारो वसति । तस्य पद्मानि जम्बूवृक्षसमसंख्यानि ।

१ –नादृतना– ता०, श्र० । –नावृतो ना– मू० । २ ऐशानोत्तरवायव्येषु मिलित्वा। ३ –नादृतदेव– श्र० । ४ –त्रादि त्रयभू– आ०, ब०, द०, मु० । ५ दशदशयो– आ०, ब०, द०, मु० ता० । ६ ७५० । ७ –नद्याः यो– आ०, ब०, द०, मु० ।

नीलह्रदात्प्रागदूरे दश काञ्चनाद्रयः [1]सप्रणिधयो योजनशतोत्सेधाः पञ्चविंशतियोजनावगाहाः मूलमध्याग्रेषु शतपञ्चसप्ततिपञ्चाशद्योजनविष्कम्भाः काञ्चनपरिणामाः । तेषामुपरि सक्रोशैकत्रिंशद्योजनोत्सेधाः [2]सद्विक्रोशपञ्चदशयोजनविष्कम्भाः प्रासादाः काञ्चनसंज्ञदेवानामावासाः । तादृशा एव प्रत्यक्-दशकाञ्चनाद्रयः । नीलह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्योत्तरकुरुह्रदो भवति उत्तरकुरुसंज्ञनागेन्द्रकुमारावासः । नीलह्रदतुल्यवर्णनः, प्राक्-प्रत्यक् च दशदशकाञ्चनाद्रयः । उदक्कुरुह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतान्यतीत्य चन्द्रह्रदः, चन्द्रनागेन्द्रकुमारावासः । पूर्ववत्काञ्चनाद्रयश्च । चन्द्रह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्यैरावतह्रदो भवति ऐरावतनागेन्द्रकुमारावासः । पूर्ववत्काञ्चनाद्रयश्च । ऐरावतह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्य माल्यवान्नाम ह्रदो भवति माल्यवान्नामनागेन्द्रकुमारावासः[3]। पूर्ववत् काञ्चनाद्रयश्च। काञ्चनाद्रिशते पूर्वदिग्विनिवेशि जिनायतनशतम् ।

मेरोरपाक् प्राच्यां दिशि मंगलावद्विजयात् प्रत्यक् निषधादुदक् सौमनसो नाम वक्षारगिरिः सर्वस्फटिकपरिणामः, गन्धमादनेन विष्कम्भायामोच्छ्रायावगाहसंस्थानैस्तुल्यः । तस्योपरि मेरुपर्यन्ते सिद्धायतनकूटमर्हदायतनालङ्कृतं पूर्वोक्तपरिमाणम् । तस्य दक्षिणतो यथाक्रमं सौमनस-देवकुरु-मङ्गलावत्-पूर्वविदेह-कनक-[4]काञ्चनकवशिष्ठ-उज्ज्वलकूटान्यष्टौ गन्धमादनकूटसमानानि तत्र कनककूटस्योपरि प्रासादे सुवत्सा दिक्कुमारी, काञ्चनकूटस्योपरि प्रासादे वत्समित्रा दिक्कुमारी, शेषेषु स्वकूटनामानो देवाः मेरोरपाक् प्रतीच्यां दिशि निषधादुदक् पद्मवद्विजयात् प्राक् विद्युत्प्रभो नाम वक्षारगिरिस्तपनीयपरिणामो गन्धमादनसमवर्णनः । तस्योपरि मेरुपर्यन्ते सिद्धायतनकूटमर्हदायतनालङ्कृतम् । तस्य दक्षिणतो यथाक्रमं विद्युत्प्रभ-देवकुरु-पद्मवद्विजय-अपरविदेह-स्वस्तिक-शतज्वाल-सीतोदा-हरिनामान्यष्टौ कूटानि गन्धमादनकूटसमानि[5]। तत्र पद्मवद्विजयकूटस्योपरि प्रासादे वारिषेणा नाम दिक्कुमारी, स्वस्तिककूटस्योपरि प्रासादे बला नाम दिक्कुमारी, शेषेषु स्वकूटनामानो देवाः ।

मेरोरपाक् सौमनसात्प्रत्यक् निषधादुदक् विद्युत्प्रभात्प्राक् देवकुरवः । तेषां ज्याधनुरिषुगणना उत्तरकुरुगणनया व्याख्याता । मेरोर्दक्षिणापरस्यां दिशि निषधादुदक् सीतोदायाः प्रत्यक् विद्युत्प्रभात्प्राक् मध्ये सुप्रभा नाम शाल्मलिः सुदर्शनया जम्ब्वा व्याख्यातवर्णना । तस्या उत्तरशाखायामर्हदायतनम् । पूर्वदक्षिणापरासु शाखासु प्रासादेषु गरुत्मान् वेणुदेवो वसति । तस्य परिवारः सर्वोऽनावृत[6]देवपरिवारेण तुल्यः । निषधादुदगेकयोजनसहस्रं तिर्यगतीत्य सीतोदायाः महानद्या उभयोः पार्श्वयोश्चित्रकूटविचित्रकूटौ गिरी यमकपर्वताभ्यां तुल्यवर्णनौ । निषध-देवकुरु-सूर्य-[7]सुरेश-विद्युत्प्रभह्रदाख्याः पञ्चह्रदाः उत्तरकुरुषु ह्रदैर्व्याख्यातवर्णनाः । काञ्चनगिरिशतं च तद्वदेव ज्ञेयम् ।

सीतया महानद्या पूर्वविदेहो द्विधा विभक्तः उत्तरो दक्षिणश्चेति । तत्रोत्तरो भागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभङ्गनदीभिश्च विभक्तोऽष्टधा भिन्नः अष्टाभिश्च[8]क्रधरैरुपभोग्यः । तत्र चित्रकूटः पद्मकूटो नलिनकूटः एकशिलश्चेति वक्षाराः, तेषामन्तरेषु ग्राहावती-ह्रदावती-पङ्कावती चेति विभङ्गनद्यः । तत्र चत्वारोऽपि वक्षारका दक्षिणोत्तरकोटिभ्यां

१ समानपङ्क्तयः । २ सक्रोश– आ०, ब०, द०, मु० । ३ पूर्ववत् कांचनाद्रिशते पूर्वदिङ्नि– आ०, ब०, द०, मु० । ४ कांचनविशिष्टो– आ०, ब०, द०, मु० । ५ –समानानि आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ –नादृतदेव– श्र०, ता० । ७ –सुलस वि– आ०, ब०, द०, मु० । ८ –भिश्च चक्र– मू०, आ० ब० ।

सीतानीलस्पृशो नीलान्ते चतुर्योजनशतोत्सेधाः योजनशतावगाहाः प्रदेशवृद्धया वर्धमानाः शीतानद्यन्ते पञ्चयोजनश[1]तोत्सेधाः पञ्चविंशतियोजनशतावगाहाः अश्वस्कन्धाकाराः सर्वत्र पञ्चयोजनशतविष्कम्भाः। षोडशसहस्राणि पञ्चशतानि द्वानवत्यधिकानि योजनानां द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ तेषामायामः। तत्र चित्रकूटस्योपरि चत्वारि कूटानि—सिद्धायतन-चित्र-कच्छविजय-सुकच्छविजयकूटाख्यानि। पद्मकूटस्योपरि चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-पद्म-महाकच्छकच्छावद्विजयकूटाभिधानानि। नलिनकूटस्योपरि चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-नलिन-नलिनावर्त-लाङ्गलावर्तकूटसंज्ञानि। एकशिलस्योपरि चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-एकशिल-पुष्कल-पुष्कला[2]वत्कूटनामानि। सर्वाण्येवैतानि हिमवदद्रिकूटतुल्यपरिमाणानि, तद्गतार्हदायतनप्रासादतुल्यवर्णनजिनायतनप्रासादानि, सर्वत्र [3]सीतान्ते सिद्धायतनकूटानि[4] इतरेषु कूटसमनामानो देवाः। तिस्रोऽपि विभङ्गनद्यः स्वतुल्यनामकुण्डेभ्यो विंशतियोजनशतविष्कम्भायामेभ्यो वरवज्रतलेभ्यः सुवृत्तेभ्यः स्वतुल्यनामदेवीनिवासालङ्कृतदशयोजनद्विगव्यूतोच्छ्रायषोडशयोजनविष्कम्भायामद्वीपोपेतेभ्यः नीलाद्रिनितम्बनिवेशिभ्यो निर्गताः। प्रभवे द्विक्रोशाधिकद्वादशयोजनविष्कम्भा गव्यूतावगाहाः, मुखे पञ्चविंशतियोजनशतविष्कम्भा दशगव्यूतावगाहाः, प्रत्येकमष्टाविंशतिनदीसहस्रपरिवृताः सीतां प्रविशन्ति।

एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः कच्छ-सुकच्छ-महाकच्छ-कच्छकावत्-आवर्तलाङ्गलावर्त-पुष्कल-पुष्कलावर्ताख्याः। तेषां मध्ये राजधान्यः—क्षेमा क्षेमपुरी अरिष्टा अरिष्टपुरी खड्गा मञ्जूषा औषधिः पौण्डरीकिणी चेति नगर्यः। तत्र सीताया उदक् नीलादपाक् चित्रकूटात्प्रत्यक् माल्यवत्समीपदेवारण्यात्प्राक् कच्छविषयः, चित्रकूटसमायामः द्वे सहस्रे द्वे च शते त्रयोदशयोजनानां केनचिद्विशेषेणोने, प्राक्प्रत्यग्विस्तीर्णः। तस्य बहुदेशमध्यभागे विजयार्धनामा रजतगिरिः भरतविजयार्धतुल्योच्छ्रायावगाहविष्कम्भः कच्छविषयविस्तारसमायामः। तत्रोभयोर्विद्याधरश्रेण्योः, प्रत्येकं पञ्चपञ्चाशन्नगराणि। व्यन्तरश्रेण्योः ऐशानस्य देवराजस्य लोकपालानां सोमयमवरुणवैश्रवणानामाभियोग्यदेवनगराणि। प्राच्यसिद्धायतनादिकूटनवके च दक्षिणार्धकच्छोत्तरार्धकच्छकूटे वाच्ये। विजयार्धादुदक् नीलादपाक् [5]सिद्धकूटाद् वृषभाद्रेश्च प्राक् चित्रकूटात् प्रत्यक् त्रिषष्टियोजनविष्कम्भायामं तत्त्रिगुणसातिरेकपरिक्षेपं दशयोजनावगाहं वरवज्रतलं गङ्गाकुण्डम्। अस्य बहुमध्यदेश[6]भावी द्वीपोऽष्टयोजनविष्कम्भायामो दशयोजनद्विगव्यूतोच्छ्रायः पद्मवरवेदिकाचतुस्तोरणालङ्कृतः सुवृत्तो गङ्गादेवीनिवासः। ततो दक्षिणतोरणाद्विनिःसृता अपाङ्मुखी भरतक्षेत्रगङ्गातुल्यविष्कम्भावगाहा विषयसमायामा विजयार्धखण्डप्रपातगुहातोरणनिर्गता चतुर्दशनदीसहस्रपरिवारा गङ्गा महानदी सीतां प्रविशति। विजयार्धादुदङ् नीलादपाक् वृषभाद्रेः प्रत्यङ् माल्यवत्समीपदेवारण्यात्प्राक् सिन्धुकुण्डं गङ्गाकुण्डतुल्यवर्णनं सिन्धूदेवीनिवासालङ्कृतम्। ततो विनिःसृता गङ्गातुल्या विजयार्धतमिस्रगुहान्तरान्निर्गता चतुर्दशनदीसहस्रपरिवारा सिन्धूर्महानदी सीतां प्रविशति। तत्र सीताया उदक् विजयार्धादपाक् गङ्गासिन्ध्वोर्बहुमध्यदेशभाविनी क्षेमा नाम राजधानी। एवमितरे सप्तापि जनपदाः क्रमेण पूर्वदेशनिवेशिनो नेतव्याः।

१ —शतविष्कम्भाः प०— भा० १। २ —लावर्तक— आ०, ब०, मु०। ३ सीतावर्तसि— आ०, ब०, द०, मु०। सीतार्त्तसि— मू०। ४ — नि तेषु आ०, ब०, द०, द०, मु०। ५ सिन्धूकू— ता०, मु०। ६ —देशभवोद्वी— आ०, ब,० द०, मु०।

लवणसमुद्रवेदिकायाः प्रत्यक् पुष्कलावत्याः प्राक् सीताया उदक् नीलादपाक् देवारण्यं नाम वनम्। तस्य द्वे सहस्रे नव च शतानि द्वाविंशतिर्योजनानां सीतामुखे विष्कम्भः। षोडशसहस्राणि पञ्चशतानि द्वानवत्यधिकानि योजनानां द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ आयामः। सीताया अपाक् निषधादुदक् वत्सविषयात् प्राक् लवणसमुद्रवेदिकायाः प्रत्यक् पूर्ववद् देवारण्यम्।

सीताया दक्षिणतः पूर्वविदेहश्चतुर्भिवक्षारपर्वतैस्तिसृभिश्च विभङ्गनदीभिर्विभक्तोऽष्टधा भिन्नः अष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः। तत्र त्रिकूटो वैश्रवणकूटः अञ्जनः आत्माञ्जनश्चेति वक्षाराः। तेषामन्तरेषु तप्तजला मत्तजला उन्मत्तजला चेति तिस्रो विभङ्गनद्यः। एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः—वत्सा-सुवत्सा-महावत्सा-[1]वत्सवत्-रम्य-रम्यक - रमणीय - मङ्गलावत्याख्याः। तेषां मध्ये राजधान्यः— सुसीमा-कुण्डला-अपराजिता-[2]प्रभाकरी-अङ्कावती-पद्मावती-शुभा-रत्नसञ्चयावती नगर्यः। तेषु जनपदेषु द्वे द्वे नद्यौ रक्तारक्तोदासंज्ञे। एकैको विजयार्धः। तेषां सर्वेषां विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या। वक्षारपर्वतेषु प्रत्येकं चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-स्वनाम-पूर्वापरदेशनामानि। सीताया उत्तरतटे दक्षिणतटे च प्रतिजनपदं त्रीणि त्रीणि तीर्थानि मागध-वरदान-प्रभाससंज्ञानि। तानि समुदितानि अष्टचत्वारिंशत्तीर्थानि पूर्वविदेहे।

सीतोदया महानद्या अपरविदेहो द्विधा विभक्तो दक्षिण उत्तरश्चेति। तत्र दक्षिणो भागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिश्च विभङ्गनदीभिर्विभक्तोऽष्टधा भिन्नः, अष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः। तत्र [3]शब्दावत्-विकृतावत्-आशीविष-सुखावहसंज्ञाश्चत्वारो वक्षाराद्रयः। तेषामन्तरेषु [4]क्षीरोदा-सीतोदा-स्रोतोऽन्तर्वाहिनी चेति तिस्रो विभङ्गनद्यः। एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः—पद्म-सुपद्म-महापद्म-[5]पद्मवत्-शङ्ख-नलिन-कुमुद-सरिदाख्याः। तेषां मध्ये राजधान्यः—अश्वपुरी सिंहपुरी महापुरी विजयपुरी अरजा विरजा अशोका वीतशोका चेति नगर्यः। तेषु जनपदेषु द्वे द्वे नद्यौ रक्तारक्तोदासंज्ञे। एकैको विजयार्धश्च। तेषां सर्वेषां विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या। वक्षारपर्वतेषु प्रत्येकं चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-स्वनामपूर्वापरदेशनामानि। देवारण्ये द्वे अपि पूर्ववद्वेदितव्ये।

उत्तरो विभागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभङ्गनदीभिश्च विभक्तोऽष्टधा भिन्नः, अष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः। तत्र चन्द्र-सूर्य-नाग-देवसंज्ञाश्चत्वारो वक्षारपर्वताः। तेषामन्तरेषु गम्भीरमालिनी फेनमालिनी ऊर्मिमालिनी चेति तिस्रो विभङ्गनद्यः। एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः—वप्र-सुवप्र-महावप्र-वप्रावत्-वल्गु-सुवल्गु-गन्धिल[6]-गन्धिमालिसंज्ञाः। तेषां मध्ये राजधान्यः—विजया वैजयन्ती जयन्ती अपराजिता चक्रपुरी खड्गपुरी अयोध्या अवध्या चेति नगर्यः। तेषु जनपदेषु गङ्गासिन्धूसंज्ञे द्वे नद्यौ। एकैको विजयार्धश्च। तेषां सर्वेषां विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या। वक्षारपर्वतेषु प्रत्येकं चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-स्वनामपूर्वापरदेशनामानि। सीतोदाया अपि तीर्थानि सीताया इवाष्टचत्वारिंशत्।

विदेहस्य मध्ये मेरुर्नवनवतियोजनसहस्रोत्सेधः। धरणीतले सहस्रावगाहः। दशसहस्राणि नवतिश्च योजनानां दश चैकादशभागा अधस्तलेऽस्य विस्तारः। एकत्रिंशत्सहस्राणि नवशतान्येकादश च योजनानि किञ्चिदून्यूनानि अधस्तलेऽस्य परिधिः। दशसहस्राणि योज-

१ —वत्सवतीर— आ०, मु०। २ प्रभङ्करी ता०। ३ शब्दवत्— आ०, ब०, मु०। ४ क्षारोदा म०, ता०। ५ पद्मावत् आ०, ब०, मु०। ६ —गन्धिगन्धि— ता०।

नानां भूतलेऽस्य विष्कम्भः। एकत्रिंशत्सहस्राणि षट्शतानि त्रयोविंशानि योजनानि किञ्चिन्न्यूनानि तत्रास्य परिधिः। स चतुर्वनः त्रिकाण्डः त्रिश्रेणिः। चत्वारि वनानि भद्रसालवनं नन्दनं सौमनसं पाण्डुकवनं चेति। भूमितले भद्रसालवनं पूर्वापरदिशोर्द्वाविंशति-योजनसहस्राण्यायतम्, दक्षिणोत्तरदिशोरर्धतृतीययोजनशतान्यायतम्, एकया अर्धयोजनोच्छ्रा-यपञ्चशतधनुर्विष्कम्भवनसमायामया बहुतोरणविभक्तया पद्मवरवेदिकया परिवृतम्।

मेरोश्चतसृषु दिक्षु भद्रसालवने पद्मोत्तर-नील-स्वस्तिक-अञ्जन-कुमुद-पलाश-अवतंस-रोचन-संज्ञान्यष्टौ कूटानि। एकैकस्यां दिशि द्वे द्वे कूटे भवतः। तत्र मेरोः प्रागुदक्कूले सीतायाः पद्मोत्तरकूटम्। मेरोः प्राक् अपाक्कूले सीतायाः नीलकूटम्। मेरोरपाक् सीतोदाया प्राक्कूले स्वस्तिक[1]कूटम्। मेरोरपाक् सीतोदाया प्रत्यक्कूले अञ्जनकूटम्। मेरोः प्रत्यक् सीतोदाया दक्षिणकूले कुमुदकूटम्। मेरोः प्रत्यक् सीतोदाया उत्तरकूले पलाशकूटम्। मेरोरुदक् सीतायाः प्रत्यक्कूले अवतंसकूटम्। मेरोरुदक् सीतायाः प्राक्कूले रोचनकूटम्। तान्येतानि सर्वाणि कूटानि पञ्चविंशतियोजनावगाहनानि योजनशतोच्छ्रायाणि योजन-शतमूलविस्ताराणि पञ्चसप्ततियोजनमध्यविष्कम्भाणि पञ्चाशद्योजनाग्रविस्ताराणि पद्म-वरवेदिकापरिवृतानि। तेषामुपरि मध्यदेशभाजः सक्रोशैकत्रिंशद्योजनोत्सेधाः पञ्चदशयोजन-द्विगव्यूतायामविष्कम्भा अष्टौ प्रासादाः। तेषु स्वकूटनामानः सोमयमवरुणवैश्रवणानां लोकपालानामाभियोग्या अनेकैरावतरूपविकरणसमर्थाः दिग्गजेन्द्रा देवा वसन्ति। तत्र पद्मो-त्तरनीलस्वस्तिकाञ्जनकूटेषु शक्रलोकपालानां भौमविहाराः। कुमुदपलाशावतंसरोचन-कूटेषु ऐशानलोकपालानां भौमविहाराः। मेरोः प्राक् सीताया दक्षिणकूले भद्रसालवने अर्हदायतनम्। मेरोरपाक् सीतोदायाः प्राक्कूले अर्हदायतनम्। मेरोः प्रत्यक् सीतोदाया उदक्कूले अर्हदायतनम्। मेरोरुदक् सीतायाः प्रत्यक्कूले अर्हदायतनम्। चत्वा-र्यप्येतानि पञ्चसप्ततियोजनोच्छ्रायाणि योजनशतोदक्दक्षिणायामानि, प्राक् प्रत्यक् पञ्चाशद्योजनविष्कम्भाणि, षोडशयोजनोच्छ्रायतदर्धविष्कम्भतावत्प्रवेशप्रागुदग्दक्षिणद्वाराणि नानामणिकाञ्चनरजतपरिणामानि सहस्रजिह्वेनापि वर्णयितुमशक्यानि। यानि सहस्राक्षः सहस्रमक्ष्णां विस्तीर्य विलोकमानोऽपि सततं न तृप्तिमुपयाति। तेषां पुरस्ताद्योजन-शतायामतदर्धविष्कम्भसातिरेकषोडशयोजनोच्छ्राया मुखमण्डपाः। तेषां पुरस्ताद्योजन-शतायामतदर्धविष्कम्भसातिरेकषोडशयोजनोच्छ्रायाः प्रेक्षागृहाः। तेषां पुरस्ताच्चतुःषष्टि-योजनायामविष्कम्भास्तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधयः स्तूपाः। तेषां पुरस्ताच्चैत्यवृक्षपीठानि षोडशयोजनायामानि तदर्धविष्कम्भाणि तावदुत्सेधानि प्रत्येकं चतुस्तोरणविभक्तानां पद्मवरवेदिकानां चतुर्विंशत्या परिवृतानि। तेषां मध्ये सिद्धार्थनामकाः चैत्यवृक्षाः सिद्धार्थ-तीर्थकरप्रतिकृतिपवित्रीकृताः षोडशयोजनोच्छ्राय-चतुर्योजनोत्सेध-योजनविष्कम्भस्कन्धा द्वाद्-शयोजनोच्छ्रायतावद्बाहल्यविटपाः। तेभ्यः प्राक् नानामणिरत्नमयपीठनिवेशिनः षोडश-योजनोच्छ्रायगव्यूतविष्कम्भाया[2]ममहेन्द्रध्वजाः। ततः प्राङ् नन्दाख्याः पुष्करिण्यः योजन-शतायामतदर्धविष्कम्भदशयोजनावगाहाः। अर्हदायतनमध्यदेशनिवेशिनः षोडशयोजनाया-मतदर्धविष्कम्भोच्छ्राया रत्नमया देवच्छन्दाः। तत्र पञ्चधनुःशतोत्सेधाः कनकमयदेहास्त-पनीयहस्तपादतलतालुजिह्वा लोहिताक्षमणिपरिक्षिप्ताङ्कस्फटिकमणिनयना अरिष्टमणिमय-

१ –नि कि– ता०, श्र०, मू०। २ –कं कू– श्र०, मू०।

मयनतारका रजतमयदन्तपङ्क्तयः विद्रुमच्छायाधरपुटा अञ्जनमूलमणिमयाक्षपक्ष्मभ्रूलता नीलमणिविरचितासिताञ्चिकेशाः प्रगृहीतसितविमलवरचामराग्रहस्तोभयपार्श्वस्थविविध-मणिकनकविधृताभरणालङ्कृतयक्षनागमिथुनाः सुश्लिष्टाष्टसहस्रलक्षणव्यञ्जनाङ्किता वैडूर्यदण्डमणिहेममुक्ताजालालङ्कृतरत्नशलाका शतकाञ्चनतुम्बबिम्बरजतच्छदच्छत्राधि-च्छत्रा भव्यजनस्तवनवन्दनपूजनाद्यर्हा अर्हत्प्रतिमा अनाद्यनिधना अष्टशतसंख्या विशिष्ट-गणवर्णितगुणा अष्टशतकलशभृङ्गाराद्युपकरणपरिवारा वर्णनातीतविभवा मूर्ता इव जिनधर्मा विराजन्ते।

ततो भूमितलात् पञ्चयोजनशतान्युत्प्लुत्य पञ्चयोजनशतविष्कम्भं मेरुसमाया-ममण्डलं पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्तं वृत्तवलयपरिधि नन्दनवनम्। तत्र बाह्यगिरिविष्कम्भः नवसहस्राणि नव च शतानि चतुःपञ्चाशानि योजनानां षट् चैकादशभागाः। तत्परिधिरे-कत्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि एकान्नाशीत्यधिकानि सातिरेकाणि योजनानाम्। [2]अभ्यन्तरगिरिविष्कम्भोऽष्टौ सहस्राणि नवशतानि चतुःपञ्चाशानि योजनानां षट्चैकादश भागाः। तत्परिधिर[3]ष्टाविंशतिसहस्राणि त्रीणि शतानि षोडशानि योजनानामष्टौ चैका-दशभागाः। चतसृषु दिक्षु चतस्रो गुहाः–प्राच्यां दिशि मणिगुहा, अपाच्यां गन्धर्वगुहा, प्रतीच्यां चारणगुहा, उदीच्यां चन्द्रगुहा। ता एतास्त्रिंशद्योजनविष्कम्भायामाः साधिक-नवतियोजनपरिधयः पञ्चाशद्योजनावगाहाः। तासु यथासंख्यं सोमयमवरुण[4]कुबेराणां विहाराः। मेरोः पूर्वोत्तरदिशि नन्दनवने बलभद्रकूटं योजनसहस्रोच्छ्रायं मूलमध्याग्रेषु योजनसहस्रार्धाष्टम[5]योजनशतपञ्चयोजनशतविस्तारम्। तत्त्रिगुणसातिरेका[6] परिधिः। तस्योपरि मन्दराधिपतेरावासाः। मेरोश्चतसृषु दिक्षु द्वे द्वे कूटे–प्राच्यां दिशि तावन्नन्दन-मन्दिरे। अपाच्यां निषधहैमवते। प्रतीच्यां रजतरुचके। उदीच्यां सागरचित्रवज्रे। अष्टावप्येतानि कूटानि पञ्चयोजनशतोच्छ्रायानि मूलमध्याग्रेषु पञ्चशतपञ्चसप्तत्यधिक-शतत्रयार्धतृतीयशतयोजनविष्कम्भाणि। तेषामुपरि द्विषष्टियोजनद्विगव्यूतोच्छ्रायाः सक्रो-शैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भास्तावत्प्रवेशा एवाष्टौ प्रासादाः। तेषु मेघङ्करी-मेघवती-सुमेघा-मेघमालिनी-तोयन्धरा-विचित्रा-पुष्करमाला-अनिन्दितासंज्ञा अष्टौ दिक्कुमार्यः यथाक्रमं परिवसन्ति। मेरोर्दक्षिणपूर्वस्यां दिशि उत्पलगुल्मा-नलिना-उत्पला-उत्पलोज्वलाख्याश्चतस्रो वाप्यः। दक्षिणापरस्यां भृङ्गा-भृङ्गनिभा-कज्जला-कज्जलप्रभाश्चतस्रः पुष्करिण्यः। अपरोत्तरस्यां दिशि श्रीकान्ता-श्रीचन्द्रा-श्रीनिलया-श्रीमहिताश्चतस्रो वाप्यः। उत्तरपूर्वस्यां दिशि पद्मा-पद्मगुल्मा-कुमुदा-कुमुदप्रभाश्चतस्रो वाप्यः। ताः सर्वाः पञ्चाशद्योजनायामतदर्ध-विष्कम्भदशयोजनावगाहाः चतुष्कोणा आयतचतुरस्राः। तासां मध्ये प्रत्येकमेकैकः प्रासादः द्विषष्टियोजनार्धयोजनोत्सेधः सगव्यूतैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भस्तावत्प्रवेशः। तत्र दक्षिणस्यां दिशि विदिशोः प्रासादाः शक्रस्य भौमविहाराः। उत्तरस्यां दिशि विदिशोरैशानस्य भौम-विहाराः। मेरोश्चतसृषु दिक्षु नन्दनवने चत्वारि जिनायतनानि षट्त्रिंशद्योजनोत्सेधानि पञ्चा-शद्योजनायामतदर्धविष्कम्भाणि तावत्प्रवेशानि अष्टयोजनोच्छ्रायतदर्धविष्कम्भायाम[7]प्रागुद-गपाग्द्वाराणि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि।

१ –विकच्छन्ना श्रा०, ब०, मु०। २ उभयपार्श्वमिलितसहस्रत्रयोजनन्यूनं। ३ –रष्टावि– श्र०। ४ –णखेचराणां श्रा०,ब०,मु०। –णखेचराणां द०। ५ –ष्टयो– श्रा०, ब०, द०, मु०। ६ –रेकपरि– म०, श्र०, मू०। –मप्राग्द्वार ब०, द०। ७ –मप्राग्द्वाराणि प्रागुदगपाग्द्वाराणीत्यपि पाठः श्र– मु०।

नन्दनात् समात्[1]भूमिभागाद् द्विषष्टियोजनसहस्राणि पञ्चशतान्युत्प्लुत्य वृत्तवलयपरिधि-पञ्चयोजनशतविष्कम्भं पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्तं सौमनसवनम् । तत्र बाह्यगिरिविष्कम्भश्चत्वारि सहस्राणि द्वे शते द्वासप्ततिश्च योजनानामष्टौ चैकादशभागाः । तत्परिधिस्त्रयोदशसहस्राणि पञ्चशतान्येकादशानि योजनानां षट्चैकादशभागाः । [2]अभ्यन्तरगिरिविष्कम्भस्त्रीणि सहस्राणि द्वे शते द्वासप्ततिर्योजनानामष्टौ चैकादशभागाः । तत्परिधिर्दशसहस्राणि त्रीणि शतान्येकान्नपञ्चाशानि योजनानां त्रयश्चैकादशभागाः किञ्चिद्विशेषोनाः । बलभद्रकूटदिक्कुमारीकूटाष्टकहीनं सौमनसम् । षोडशात्र वाप्यः—नन्दनवापीसदृशायामविष्कम्भावगाहाः । तन्मध्यदेशे भवनानि पञ्चाशद्योजनायामतदर्धविस्तारषट्त्रिंशद्योजनोच्छ्रायाणि । चतुर्दिशं चत्वार्यर्हदायतनानि अष्टयोजनोच्छ्रिततदर्धविस्तारतावत्प्रवेशप्रागुदगपाग्द्वाराणि जिनायतनवर्णनोपेतानि ।

सौमनसात्समाद् [3]भूभागात् षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य योजनानि वृत्तवलयपरिधि पाण्डुकवनं चतुर्नवत्युत्तरचतुःशतविष्कम्भं पद्मवरवेदिकापरिवृतं चूलिकां परीत्य स्थितम् । [4]शिखरं मेरोरेकयोजनसहस्रविष्कम्भम् । तत्परिधिस्त्रीणि सहस्राणि द्विषष्टयधिकं शतं योजनानां साधिकम् ।

पाण्डुकवनबहुमध्यदेशभाविनी चत्वारिंशद्योजनोच्छ्राया मूलमध्याग्रेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनविष्कम्भा सुवृत्ता चूलिका । [5]तस्याः प्राच्यां दिशि पाण्डुकशिला उदक्दक्षिणायामा प्राक्प्रत्यग्विस्तारा । अपाच्यां पाण्डुकम्बलशिला प्राक्प्रत्यगायामा उदग्दक्षिणविस्तारा । प्रतीच्यां रक्तकम्बलशिला उदगपागायता प्राक्प्रत्यक्विस्तीर्णा । उदीच्यां [6]अतिरक्तकम्बलशिला प्राक्प्रत्यगायता उदगपाग्विस्तीर्णा । तत्रार्जुनसुवर्णमयी पाण्डुकशिला । रजतपरिणामा पाण्डुकम्बलशिला । विद्रुमवर्णा रक्तकम्बलशिला । जाम्बूनदसुवर्णमयी [6]अतिरक्तकम्बलशिला । ता एताश्चतस्रोऽपि पञ्चयोजनशतायामतदर्धविष्कम्भाश्चतुर्योजनबाहल्या अर्धचन्द्रसंस्थाना अर्धयोजनोत्सेधपञ्चधनुःशतविष्कम्भशिलासमायामैकपद्मवरवेदिकापरिवृताः श्वेतवरकनकस्तूपिकालङ्कृतचतुस्तोरणद्वारविराजिताः । तासामुपरि बहुमध्यदेशभावीनि पञ्चधनुःशतोत्सेधायामतदर्धविष्कम्भाणि प्राङ्मुखानि सिंहासनानि । पौरस्त्ये सिंहासने पूर्वविदेहजान् अपाच्ये भरतजान् प्रतीच्ये अपरविदेहजान् उदीच्ये ऐरावतजांस्तीर्थकरान् चतुर्णिकायदेवाधिपाः सपरिवाराः महत्या विभूत्या क्षीरोदवारिपरिपूर्णाष्टसहस्रकनककलशैरभिषिञ्चन्ति । अत्रापि षोडशपुष्करिण्यः पूर्ववद्वेदितव्याः । चूलिकायाश्चतसृषु महादिक्षु सक्रोशत्रयस्त्रिशद्योजनायामानि द्विगव्यूताधिकषोडशयोजनविष्कम्भाणि पञ्चविंशतियोजनोच्छ्रायाणि योजनोत्सेधतदर्धविष्कम्भतावत्प्रवेश[7]प्रागुदगपाग्द्वाराणि चत्वार्यर्हदायतनानि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि ।

भद्रसालवनभाविनि भूतले लोहिताक्षकल्पः परिक्षेपः । तत ऊर्ध्वमर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य द्वितीयः पद्मवर्णः । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य तृतीयस्तपनीयवर्णः । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य चतुर्थो वैडूर्यवर्णः । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य

१ —समभू— आ०, ब०, द०, मु० । २ दण्डाकारस्य । ३ अत्रापि क्षमरुन्द्रेणोच्छ्रितिः ११०००, पुनः क्रमहानिरुत्सेधः २५०००, मिलित्वा ३६०००ः । ४ शेखरं मेरोः आ०, ब०, द०, मु० । ५ तस्यां आ०, ब०, द०, मु० । ६ अतिरिक्त— आ०, ब, द०, मु० । ७ —प्रागपागुदगुद्वाराणि आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० ।

पञ्चमो[1] वज्रप्रभः । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य षष्ठो हरितालवर्णः । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य जाम्बूनदसुवर्णवर्णो भवति । अधोभूम्यवगाही योजनसहस्रायामः प्रदेशः पृथिव्युपलवालुकाशर्कराचतुर्विधपरिणामः । उपरि वैडूर्यपरिणामः प्रथमः काण्डः सर्वरत्नमयः । द्वितीयः काण्डः जाम्बूनदमयः । तृतीयः काण्डश्चूलिका वैडूर्यमयी । मेरुरयं त्रयाणां लोकानां मानदण्डः । अस्याधस्तलादधोलोकः । चूलिकामूलादूर्ध्वमूर्ध्वलोकः । [2]मध्यप्रमाणः तिर्यग्विस्तीर्णस्तिर्यग्लोकः । एवं च कृत्वा अन्वर्थनिर्वचनं क्रियते 'लोकत्रयं मिनातीति मेरुः'इति ।

तस्य भूमितलादारभ्य आशिखरादैकादशिकी प्रदेशहानिः । एकादशसु प्रदेशेषु एकप्रदेशो हीयते । एकादशसु गव्यूतेषु एकगव्यूतं हीयते । एकादशसु योजनेषु एकयोजनं हीयते । एवं सर्वत्राशिखराद् भूमितलस्याधः[3] ऐकादशिकी प्रदेशवृद्धिः—एकादशसु प्रदेशेषु एकः प्रदेशो वर्धते । एकादशसु गव्यूतेषु एकं गव्यूतं वर्धते । एकादशसु योजनेषु एकं योजनं वर्धते । एवं सर्वत्र आअधस्तलात् । अथ कथं रम्यकसंज्ञा ?

रमणीयदेशयोगाद्रम्यकाभिधानम् ।१४। यस्माद्रमणीयैर्देशैः सरित्पर्वतकाननादिभियुक्तः, तस्मादसौ रम्यक इत्यभिधीयते । अन्यत्रापि रम्यकदेशयोगः समान इति चेत्; न; रूढिविशेषबललाभाद् गोशब्दवृत्तिवत्[4] । अत एव संज्ञायां को विहितः । क्व पुनरसौ ?

नीलरुक्मिणोरन्तराले तत्सन्निवेशः ।१५। नीलादुदक् रुक्मिणोऽपाक् पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले तस्य रम्यकस्य सन्निवेशो द्रष्टव्यः ।

तन्मध्ये गन्धवान्वृत्तवेदाढ्यः ।१६। तस्य रम्यकस्य मध्ये गन्धवान्नाम वृत्तवेदाढ्यः शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णनः । तस्योपरि प्रासादे पद्मदेवो वसति । अथ कथं हैरण्यवतसंज्ञा ?

हिरण्यवतोऽदूरभवत्वाद्धैरण्यवतव्यपदेशः ।१७। हिरण्यवान् रुक्मिनामा पर्वतस्तस्याऽदूरभवत्वाद्धैरण्यवतव्यपदेशः । क्व पुनरसौ ?

रुक्मिशिखरिणोरन्तराले तद्विस्तारः ।१८। रुक्मिण उदक् शिखरिणोऽपाक् पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले तस्य हैरण्यवतस्य विस्तारो वेदितव्यः ।

तन्मध्ये माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यः ।१९। तस्य हैरण्यवतस्य मध्ये माल्यवान्नाम वृत्तवेदाढ्यः शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णनः । तस्योपरि प्रासादे प्रभासदेवो वसति ।

अथ कथमैरावतसंज्ञा ?

ऐरावतक्षत्रिययोगादैरावताभिधानम् ।२०। रक्तारक्तोदयोः बहुमध्यदेशभाविनी अयोध्या नाम नगरी । तस्यामुत्पन्न ऐरावतो नाम राजा तत्परिपालितत्वाज्जनपदस्यैरावताभिधानम् । क्व पुनरसौ ?

शिखरिसमुद्रत्रयान्तरे तदुपन्यासः ।२१। शिखरिणो गिरेस्त्रयाणां पूर्वापरोत्त[5]रसमुद्राणां मध्ये तस्यैरावतस्य उपन्यासो वेदितव्यः ।

तन्मध्ये पूर्ववद्विजयार्धः ।२२। तस्यैरावतस्य मध्ये विजयार्धो रजतगिरिः पूर्ववद्वेदितव्यः । यैर्विभक्तानि सप्तक्षेत्राणि व्याख्यातानि ।

के पुनस्ते [6]कथं वा व्यवस्थिता इति ? अत आह—

१ —मो नीलवर्णः त— आ०, ब० द०, मु० । २ मध्यमप्र— आ०, ब०, द० मु० । ३ एकादशप्रदेशवृद्धिः भा० २ । ४ —शब्दवत् श्र०, मू० । ५ —त्तराणां समु— आ०, ब०, द० मु० । ६ कथं व्य— आ०, ब०, द०, मु० ।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

तानि विभजन्तीत्येवं शीला तद्विभाजिनः पूर्वापराभ्यामायताः पूर्वापरायताः पूर्वापरकोटिभ्यां लवणजलधिस्पर्शिन इत्यर्थः। तद्विभाजित्वादेव तेषां वर्षधरव्यपदेशोऽसंकरेण भरतादिवर्षाणां धारणात्। कथं हिमवानिति संज्ञा ?

हिमाभिसंबन्धाद्धिमवद्व्यपदेशः ।१। हिममस्यास्तीति हिमवानिति व्यपदेशः। अन्यत्रापि तत्सम्बन्ध इति चेत् ? रूढिविशेषबललाभात्तत्रैव वृत्तिः। क्वासौ हिमवानिति ? उच्यते—

भरतहैमवतयोः सीमनि स्थितः ।२। भरतस्य हैमवतस्य च सीमनि व्यवस्थितः क्षुद्रहिमवान् वेदितव्यः। कथं पुनरस्य [1]क्षुद्रहिमवत्त्वम् ? महाहिमवदपेक्षया। सूत्रेऽनुक्तं कथं गम्यते इति चेत् ? महाहिमवत्प्रयोगादेव। सति हि क्षुद्रे महत्त्वमित्यर्थात् क्षुद्रत्वं गम्यते। स पञ्चविंशतियोजनावगाहः योजनशतोच्छ्रायः योजनसहस्रं द्विपञ्चाशद्योजनानां द्वादशैकान्नविंशतिभागाः तस्य विष्कम्भः। तस्योत्तरपार्श्वे ज्या चतुर्विंशतिसहस्राणि नवशतानि द्वात्रिंशानि योजनानामेकश्चैकान्नविंशतिभागो देशोनः। अस्या ज्यायाः धनुः पञ्चविंशतिसहस्राणि द्वे[2] शते त्रिंशच्चत्वारश्चैकान्नविंशतिभागाः साधिकाः। तस्य पूर्वापरपार्श्वबाहू प्रत्येकं पञ्चसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चाशद्योजनानि पञ्चदश चैकान्नविंशतिभागाः [3]साधिकोऽर्धभागश्च। तस्योपरि [4]प्राच्यां दिशि सिद्धायतनकूटं पञ्चयोजनशतोच्छ्रायमूलविष्कम्भं पञ्चसप्तत्यधिकशतत्रयमध्यविष्कम्भम् अर्धतृतीयशताग्रविष्कम्भम्। तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधिः। तस्योपरि षट्त्रिंशद्योजनोच्छ्रायं पञ्चाशद्योजनोद्गदक्षिणायामं पञ्चविंशतियोजनप्राक्प्रत्यग्विस्तारं तावत्प्रवेशमष्टयोजनोत्सेधतदर्धविष्कम्भं तावत्प्रवेशोदग्दक्षिणपूर्वद्वारमर्हदायतनम्। द्वारत्रये सातिरेकाष्टयोजनोच्छ्रायपञ्चाशद्योजनायामतदर्धविष्कम्भास्त्रयो मुखमण्डपाः। सातिरेकाष्टयोजनोच्छ्रायपञ्चाशद्योजनायामविष्कम्भाणि त्रीणि प्रेक्षागृहाणि[5]। पौरस्त्यप्रेक्षागृहात् प्राक् स्तूपादयः पूर्वोक्ताः। चैत्यालयाभ्यन्तरवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या। तेषां सर्वेषामेव परिक्षेप्त्री चतुस्तोरणद्वारविभक्ता पद्मवरवेदिका। ततः प्रतीच्यां दिशि दशकूटानि—हिमवद्धैरतेलागङ्गा-श्री-रोहितास्या-सिंधु-सुरा-हैमवत-वैश्रवणकूटाभिधानानि यथाक्रमं वेदितव्यानि सिद्धायतनकूटतुल्यानि। तेषामुपरि प्रासादा दशैव सक्रोशद्वयद्विषष्टियोजनोत्सेधाः सक्रोशैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भास्तावत्प्रवेशाः। तेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति। हिमवद्धैरतहैमवतवैश्रवणकूटेषु देवाः, इतरेषु देव्यः।

अथ कथं महाहिमवत्संज्ञा ?

महाहिमवति चोक्तम् ।३। किमुक्तम् ? हिमाभिसंबन्धाद्धिमवदभिधानम्, महांश्चासौ हिमवांश्च महाहिमवानिति, असत्यपि हिमे हिमवदाख्या इन्द्रगोपवत्। क्व पुनरसौ ?

हैमवतहरिवर्षयोर्विभागकरः ।४। हैमवतादुदक् हरिवर्षादपाक् तयोर्विभागकरो महाहिमवान् वेदितव्यः। स द्वियोजनशतोच्छ्रायः पञ्चाशद्योजनावगाहः, चत्वारि योजनसहस्राणि द्वे च शते दशोत्तरे दश चैकान्नविंशतिभागाः तस्य विष्कम्भः। पूर्वापरपार्श्वबाहू प्रत्येकं नव-

१ क्षुद्रत्वम् आ०, ब०, द०, मु०। २ द्विशतत्रि- श्र०। ३ साधिकार्धमा- आ०, ब०, द०, मु०। ४ प्राचीदिशि आ०, ब०, द०, मु०। ५ -गृहकाणि आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता०।

योजनसहस्राणि द्वे च शते षट्सप्तत्यधिके योजनानां नव चैकान्नविंशतिभागाः अर्धभागश्च साधिकः। तस्योत्तरपार्श्वे ज्या त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि नव च शतानि एकत्रिंशानि षट्चैकान्नविंशतिभागाः साधिकाः। तस्याः ज्यायाः धनुः सप्तपञ्चाशद्योजनसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्युत्तरे दश चैकान्नविंशतिभागाः साधिकाः। तस्योपर्यष्टौ कूटानि सिद्धायतन-महाहिमवत्-हैमवत-रोहित्-हरि-हरिकान्ता-हरिवर्ष-वैडूर्यकूटाभिधानानि क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्यप्रमाणानि। तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्या एव। प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति। अथ कथं निषधसंज्ञा ?

निषीधन्ति तस्मिन्निति निषधः ।५। यस्मिन् देवा देव्यश्च क्रीडार्थं निषीधन्ति स निषधः, पृषोदरादिपाठात् सिद्धः। अन्यत्रापि तत्तुल्यकारणत्वात्तत्प्रसङ्गः इति चेत् ? न; रूढिविशेषबललाभात्। क्व पुनरसौ ?

हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः ।६। हरिवर्षादुदक् विदेहादपाक् तयोर्मर्यादाहेतुर्निषध इत्याख्यायते। स चतुर्योजनशतोत्सेधः, योजनशतावगाहः, षोडशयोजनसहस्राण्यष्टौ च शतानि[1] द्वाचत्वारिंशानि द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ तस्य विष्कम्भः। पूर्वापरपार्श्वबाहू प्रत्येकं विंशतियोजनसहस्राणि पञ्चषष्ट्यधिकमेकं च शतं द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ अर्धभागश्च साधिकः। उत्तरपार्श्वज्या चतुर्नवतिसहस्राणि षट्पञ्चाशमेकं च योजनशतं द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ साधिकौ। तस्या धनुरेकं योजनशतसहस्रं चतुर्विंशतिसहस्राणि त्रीणि च शतानि षट्चत्वारिंशानि नव चैकान्नविंशतिभागाः साधिकाः। तस्योपरि नवकूटानि—सिद्धायतन-निषध-हरिवर्ष-पूर्वविदेह-हरिधृत-सीतोदा-अपरविदेह-रुचकनामानि, क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्यप्रमाणानि। तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्याः। प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति।

अथ कथं नीलसंज्ञा ?

नीलवर्णयोगान्नीलव्यपदेशः ।७। नीलेन वर्णेन योगात् पर्वतो[2] नील इति व्यपदिश्यते। संज्ञा [3]चाऽस्य वासुदेवस्य कृष्णव्यपदेशवत्। क्व पुनरसौ ?

विदेहरम्यकविनिवेशविभागी ।८। स नीलाख्यः पर्वतः विदेहस्य रम्यकस्य च विनिवेशं विभजते। स निषधेन व्याख्यातप्रमाणः। तस्योपरि नवकूटानि-सिद्धायतन-नील-पूर्वविदेह-सीता-कीर्ति-[4]नरकान्ता-अपरविदेह-रम्यक-आदर्शककूटसंज्ञानि, क्षुल्लकहिमवत्कूटतुल्यप्रमाणानि। तेषामुपरि जिनायतनप्रासादाः तत्तुल्याः। प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति। अथ कथं रुक्मिसंज्ञा ?

रुक्मसद्भावाद्रुक्मीत्यभिधानम् ।९। रुक्ममस्यास्तीति रुक्मीत्यभिधानम्। अन्यत्रापि तत्संभवाद् रूढिवशाद्विशेषे वृत्तिः, करिवत्। क्व पुनरसौ ?

रम्यकहैरण्यवतविवेककरः ।१०। रम्यकस्य हैरण्यवतस्य च विवेकं करोत्यसौ। स महाहिमवता तुल्यप्रमाणः। तस्योपरि अष्टौ कूटानि-सिद्धायतन-रुक्मि-रम्यक[5]-नारी-बुद्धि-रूप्यकूल-हैरण्यवत-मणि-काञ्चनकूटाख्यानि क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्यप्रमाणानि। तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्याः। प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति।

अथ कथं शिखरिसंज्ञा ?

१ -नि च- श्र०। २ -तोपि नी- श्र०। ३ वास्य आ०, द०, मु०। ४ -शभा श्र०। ५ नारीका- आ०, ब०, द०, मु०। ६ -रम्यकनरकान्ताबु- आ०, ब०, द०, मु०, मू०।

शिखरसद्भावाच्छिखरीति संज्ञा ।११। शिखराणि कूटान्यस्य सन्तीति शिखरीति संज्ञायते । अन्यत्रापि तत्सद्भावे रूढिवशाद्विशेषे वृत्तिः शिखण्डिवत् । क्व पुनरसौ ?

हैरण्यवतैरावतसेतुबन्धः स गिरिः ।१२। हैरण्यवतस्यैरावतस्य च सेतुबन्ध इव स गिरिरवस्थितः क्षुद्रहिमवत्तुल्यप्रमाणः । तस्योपर्येकादश-कूटानि सिद्धायतन-शिखरि-हैरण्यवत-रसदेवी-रक्तावतीश्लक्ष्णकूला-लक्ष्मी-[1]गन्धदेवी-ऐरावत-मणि-काञ्चनकूटनामानि क्षुद्रहिमवत्तुल्यप्रमाणानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्याः । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति ।

तेषां वर्णविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

त एते हिमवदादयः पर्वता हेमादिमया वेदितव्याः । [2]मयट् प्रत्येकं परिसमाप्यते । यथाक्रमं हिमवदादयः संबध्यन्ते । हेममयो हिमवान् चीनपट्टवर्णः । अर्जुनमयो महाहिमवान् शुक्लः । तपनीयमयो निषधः तरुणादित्यवर्णः । वैडूर्यमयो नीलः मयूरग्रीवाभः । रजतमयो रुक्मी शुक्लः । हेममयः शिखरी चीनपट्टवर्ण इति । षडपि चैते अद्रयः प्रत्येकं उभयपार्श्वगतार्धयोजनविष्कम्भाद्रिसमायामाभ्यां बहुतोरणविभक्तैकपद्मवरवेदिकापरिवृतवनषण्डाभ्यामुपेताः ।

पुनरपि तद्विशेषणार्थमेवाह–

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

नानावर्णप्रभावादिगुणोपेतैर्मणिभिर्विविधचित्राणि विचित्राणि, मणिविचित्राणि पार्श्वानि येषां त इमे मणिविचित्रपार्श्वाः ।

अनिष्टसंस्थाननिवृत्त्यर्थमुपर्यादिवचनम् ।१। अनिष्टसंस्थान[3]स्य निवृत्त्यर्थमुपर्यादिवचनं क्रियते । [4]चशब्दो मध्यसमुच्चयार्थः । [5]य एषां मूलविस्तारः स उपरि मध्ये च तुल्यः ।

तेषां मध्ये लब्धास्पदा ह्रदा उच्यन्ते–

पद्ममहापद्मातिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥

[6]पद्मादिभिः सहचरणाद्ध्रदेषु पद्मादिव्यपदेशः ।१। पद्मं महापद्मं तिगिञ्छं केसरि महापुण्डरीकं पुण्डरीकमिति पद्मनामानि तैः सहचरणात् ह्रदेषु पद्मादिसंज्ञावृत्तिर्भवति । तेषां हिमवदादीनामुपरि यथाक्रमं ते ह्रदा वेदितव्याः ।

तत्राद्यस्य संस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

प्राक् प्रत्यक् योजनसहस्रायामः उदगपाक् पञ्चयोजनशतविस्तारः वज्रमयतलः विविधमणिकनकरजतविचित्रतटः श्वेतवरकनकस्तूपिकालङ्कृतचतुस्तोरणविभक्तार्धयोजनो-

१–क्ष्मीसुवर्णग– भा० २ । २ मयः प्र– आ०, ब०, द०, मु० । २–नन्नि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –यो येषां आ०, ब०, मु० । ४ एतद्वार्तिकं नास्ति श्र० ।

त्सेधपञ्चधनुःशतविष्कम्भह्रदसमायामैकपद्मवरवेदिकापरिवृतः चतुर्दिग्गतचतुर्वनषण्डमण्डितः विमलस्फटिकमणिस्वच्छगम्भीराक्षयवारिः विविधजलजकुसुमपरिभ्राजितः शरदि प्रसन्नचन्द्रतारा[1]राजिविराजितपर्यन्तपरीतविचित्रपयोधरपटलः, विपर्यस्तो नभोभाग इव विभाति पद्मनामा ह्रदः । तस्यैवावगाहप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते––

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

अवगाहोऽधःप्रवेशो निम्नता । दशयोजनान्यवगाहोऽस्य दशयोजनावगाहः ।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

योजनप्रमाणं [1]योजनम् [2]क्रोशायामपत्रत्वात्, क्रोशद्वयविष्कम्भकर्णिकत्वाच्च योजनायामविष्कम्भम् । जलतलात् क्रोशद्वयोच्छ्रायनालं तावद्बहलपत्रप्रचयं वज्रमयमूलमरिष्टमणिकन्दं रजतमणिमृणालं वैडूर्यसुप्रतिष्ठनालम् । तस्य बाह्यपत्रं तपनीय[3]परिष्कृतम्, जाम्बूनदाभ्यन्तरदलं तपनीयकेसरं नानामणिविचित्रसुवर्णकर्णिकं पुष्करमवगन्तव्यं तदर्धोत्सेधैरष्टशतसंख्यैः पद्मैः परिवृतम् । तस्मात् पूर्वोत्तरोत्तरापरोत्तरासु तिसृषु दिक्षु श्रियः सामानिकदेवानां चत्वारि पद्मसहस्राणि । दक्षिणपूर्वस्यां दिश्यभ्यन्तरपरिषद्देवानां द्वात्रिंशत्पद्मसहस्राणि । दक्षिणस्यां मध्यमपरिषद्देवानां चत्वारिंशत्पद्मसहस्राणि । दक्षिणापरस्यां बाह्यपरिषद्देवानामष्टचत्वारिंशत्पद्मसहस्राणि । अपरस्यां सप्तानामनीकमहत्तराणां सप्तपद्मानि । चतसृषु महादिक्षु आत्मरक्षदेवानां षोडशपद्मसहस्राणि । तान्येतानि सर्वाणि परिवारपद्मानि तदर्धोत्सेधानि एकं शतसहस्रं चत्वारिंशत्सहस्राणि शतं च [4]पञ्चदशम् ।

इतरेषां ह्रदानां पुष्कराणां चायामादिज्ञापनार्थमाह–

तद्द्विगुणद्विगुणा[5] ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

स च तच्च ते, तयोर्द्विगुणा द्विगुणास्तद्द्विगुणद्विगुणाः[6] ।

द्वि[7]गुणद्विगुणा इति द्वित्वं व्याप्त्यर्थम् ।१। [7]द्विगुणद्विगुणा इति द्वित्वम् उच्यते । किमर्थम् ? व्याप्त्यर्थम् । द्विगुणत्वेनोत्तरेषां [8]व्याप्तिर्यथा स्यादिति । केन द्विगुणाः ? आयामादिना । पद्मह्रदस्य द्विगुणायामविष्कम्भावगाहो महापद्मह्रदः । महापद्मह्रदस्य द्विगुणायामविष्कम्भावगाहस्तिगिञ्छह्रदः । पुष्कराणि च । किम् ? द्विगुणानि द्विगुणानि इत्यभिसम्बध्यते ।

द्वित्वात्तयोर्बहुवचनाभाव इति चेत्; न; विवक्षितापरिज्ञानात् ।२। स्यादेतत्–तयोर्ह्रदयोः पुष्करयोश्च द्वित्वाद् बहुवचनं नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? विवक्षितापरिज्ञानात् । आद्यन्ताभ्यां पद्मपुण्डरीकह्रदाभ्यां तुल्यप्रमाणाभ्यामन्ये ह्रदा दक्षिणत उत्तरतश्च द्वैगुण्येन निर्दिष्टा इति विवक्षितोऽत्रायमर्थः । अतो बहुवचनमुपपद्यते । कथं पुनस्तच्छब्दे पूर्वनिर्दिष्टापेक्षे सत्यनिर्दिष्टार्थो गृह्यते ?

१ प्रमाणयोजनपरिमाणसम्बन्धात् अभेदेन पुष्करमपि योजनशब्देनोच्यते इत्यर्थः । २ कथं तत्पद्मयोजनपरिमाणं कथ्यते इत्याशङ्कायामुपपत्तिमाह । ३ –परिष्टप्तं भा० २ । ४ पञ्चाशत् आ०, ब०, मु० । ५ –गुणाद्विगुणाः श्र०, मू० । ६ –प्तिः कथं स्या– ता०, श्र०, मू० ।

बहुवचननिर्देशात्तद्ग्रहणम् ।३। बहुवचननिर्देशात्तस्य ग्रहणं विज्ञायते । बहुवचननिर्देशात् केसर्यादयः कथन्न गृह्यन्ते ?

व्याख्यानतो वक्ष्यमाणसंबन्धाच्चानिष्टनिवृत्तिः ।४। *"**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्**" [पात० महा० प्रत्या० सू० ६] इत्यनिष्टस्य निवृत्तिर्भवति । अथवा वक्ष्यत एतत्–*"**उत्तरा दक्षिणतुल्याः**" [त० सू० ३।२६] इति तदभिसंबन्धाच्चेष्टसंप्रत्ययः कर्तव्यः । तद्यथा–महाहिमवत उपरि बहुमध्यदेशभावी महापद्मह्रदः, द्वियोजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो विंशतियोजनावगाहः । तन्मध्ये जलतलाद् द्विक्रोशोच्छ्रायं योजनबहलपत्रप्रचयं द्विक्रोशायामपत्रत्वाद् योजनायामकर्णिकत्वाच्च द्वियोजनविष्कम्भं पुष्करम् । तत्परिवारपद्मसंख्या पूर्वोक्तैव । निषधस्योपरि बहुमध्यदेशभाक् तिगिञ्छह्रदः चतुर्योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भः, चत्वारिंशद्योजनावगाहः । तन्मध्ये जलतलाद् द्विक्रोशोद्गमं द्वियोजनबहलपत्रप्रचयं योजनायामपत्रत्वाद् द्वियोजनायतकर्णिकत्वाच्चतुर्योजनायामविष्कम्भं पुष्करम् । तत्परिवारपद्मसंख्या पूर्वोक्तैव । नीलस्योपरि बहुमध्यदेशभावी केसरिह्रदः तिगिञ्छह्रदतुल्यः पद्मानि च तत्तुल्यप्रमाणानि । रुक्मिण उपरि बहुमध्यदेशभाक् महापुण्डरीको ह्रदः महापद्मह्रदतुल्यः, पद्मानि च तद्गतपद्मप्रमाणानि । शिखरिण उपरि बहुमध्यदेशभावी पुण्डरीको ह्रदः पद्मह्रदतुल्यः, पुष्कराणि च [1]तद्गतपद्मप्रमाणानि ।

अत्र चोद्यते–तच्छब्दस्य यदि द्विगुणशब्देन वृत्तिः क्रियते द्वित्वं संघातस्य प्राप्नोति[2] । अथ कृतद्वित्वेन तच्छब्दस्य वृत्तिः क्रियते समुदायस्याऽसुबन्तत्वाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति । वीप्सायां द्वित्वे सति [3]वाक्यमेवावतिष्ठत इति ? नैष दोषः; तदित्ययं निपातः अपादानार्थे वर्तते । तद् द्विगुणा द्विगुणा ततो द्विगुणा द्विगुणा इत्यर्थः ।

तन्निवासिनीनां देवीनां संज्ञाजीवितपरिवारप्रतिपादनार्थमाह–

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमास्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

तेषु पुष्करे कर्णिकामध्यमैकदेशविनिवेशिनः शरद्विमलपूर्णचन्द्रद्युतिहराः क्रोशायामक्रोशार्धविष्कम्भदेशोनक्रोशोत्सेधाः प्रासादाः तेषु निवसन्तीत्येवं शीला देव्यस्तन्निवासिन्यः ।

ध्यादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्वः ।१। श्रीश्च ह्रीश्च धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिश्च लक्ष्मीश्च श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य इतीतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः । तेषु पद्मादिषु ह्रदेषु यथाक्रमं देव्यः श्र्यादयो वसन्ति ।

स्थितिविशेषनिर्ज्ञानार्थं पल्योपमवचनम् ।२। देवीसामान्यस्थितौ विशेषनिर्ज्ञानार्थं पल्योपमस्थितय इत्युच्यते । पल्योपमा स्थितिरासां ताः पल्योपमस्थितय इति ।

परिवारनिर्ज्ञानार्थं सामानिकपरिषत्कवचनम् ।३। परिवारप्रतिपत्त्यर्थं सामानिकपरिषद्ग्रहणं क्रियते । समाने स्थाने भवाः सामानिकाः *"**समानस्य तदादेश्च**" [जैनेन्द्रवा० ३।३।३५] इति ठञ् । सामानिकाश्च परिषदश्च सामानिकपरिषदः । अभ्यर्हितत्वात् सामानिकपदस्य पूर्वनिपातः । सह सामानिकपरिषद्भिर्वर्तन्ते इति ससामानिकपरिषत्काः । तेषां पद्मानि

१ चततुल्यप्रमा– आ०, ब० द० मु० । २ तद्द्विगुणाः तद्द्विगुणा इति । ३ तयोर्द्विगुणा इति ।

[1]पूर्वनिर्दिष्टानि तन्मध्यवर्तिषु प्रासादेषु ते वसन्ति ।

यकाभिः सरिद्भिस्तानि क्षेत्राणि विभक्तानि ता उच्यन्ते––

गङ्गासिन्धूरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्ण-[2]कूलारूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

गङ्गादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्वः । उदकस्य उदभाव उक्तः । सरितो न वाप्यः । ताः [3]किमनन्तरा उत समीपा इति ? अत आह–तन्मध्यगा इति । तेषां क्षेत्राणां मध्ये मध्येन वा गच्छन्तीति तन्मध्यगाः ।

एकत्र सर्वासां प्रसङ्गनिवृत्त्यर्थं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं चाह–

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्रं विषयः इत्यभिसंबन्धादेकत्र सर्वासां प्रसङ्गनिवृत्तिः ।१। विकल्प्यो हि वाक्यशेषः । वाक्यं वक्तर्यधीनं (वक्त्रधीनम्) हीति इच्छातो वाक्यशेषप्रकल्पतेः, द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्रं [4]विषय इत्यभिसंबन्धात् सर्वासां सरिताम् एकस्मिन् क्षेत्रे प्रसङ्गो निवर्तितो भवति ।

पूर्वाः पूर्वगा इतिवचनं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।२। तत्र पूर्वा याः सरितस्ताः पूर्वगाः । पूर्वसमुद्रं गच्छन्तीति पूर्वगाः । किमपेक्षं पूर्वत्वम् ? सूत्रनिर्देशापेक्षम् । यद्येवं गङ्गासिन्ध्वादयः सप्त पूर्वगा इति प्राप्तम् ? नैष दोषः; द्वयोर्द्वयोरित्यभिसंबन्धाद् द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगा वेदितव्याः । ननु च [5]द्वयोर्द्वयोरिति ग्रहणमन्यार्थमुक्तम् ? *"**अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति**" [पात० महा० १।१।२२] ।

इतरासां दिग्विभागप्रतिपत्त्यर्थमाह––

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

द्वयोर्द्वयोरवशिष्टा यास्ता अपरगा [6]प्रत्येतव्या अपरं समुद्रं गच्छन्तीत्यपरगाः ।

तत्र पद्मह्रदप्रभवा पूर्वतोरणद्वारनिर्गता गङ्गा ।१। क्षुल्लकहिमवत उपरि पद्मह्रदो वर्णितश्चतुस्तोरणद्वारमण्डितः । तत्र पूर्वतोरणद्वारेण निर्गता पञ्चयोजनशतानि प्राङ्मुखी गत्वा गङ्गाकूटं स्रोतसा आस्फाल्य पञ्चयोजनशतानि त्रयोविंशानि षट्चैकान्नविंशतिभागान् अपाङ्मुखी गत्वा स्थूलमुक्तावलीव साधिकयोजनशतप्रमाणधाराप्रपाता सक्रोशषड्योजनविस्तारा योजनार्धबाहुल्या षष्टियोजनायामविष्कम्भे दशयोजनावगाहे वज्रमयतले श्रीदेवीगृहप्रमाणप्रासादमण्डितमध्ये सद्विक्रोशदशयोजनोच्छ्रायाष्टयोजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे कुण्डे पतिता । दक्षिणतोरणद्वारेण विनिःसृता अर्धगव्यूतावगाहा सक्रोशषड्योजनविस्तारा क्रमेण वर्धमाना भुजङ्गकुटिलगामिनी खण्डकप्रपातगुहामुखेन विजयार्धं व्यतीत्य दक्षिणमुखा दक्षिणार्धभरतमध्यं प्राप्य प्राङ्मुखी सती मुखे सक्रोशयोजनावगाहा सार्धद्विषष्टियोजनविस्तारा लवणोदधिं मागधतीर्थेन प्राविशत् ।

अपरतोरणद्वाराद्विनिर्गता सिन्धूः ।२। पाश्चात्यतोरणद्वाराद्विनिर्गता पञ्चयोजनशतं गत्वा सिन्धूकूटं वीचीबाहू [7]पगूहेनास्फाल्य गङ्गावत्सिन्धूकुण्डे पतिता तमिस्रगुहामुखागतेन विज-

१ –नि निर्दि– आ०, ब०, द०, मु० । २ –वर्णरूप्यकूला आ, ब०, ब०, द०, मु०, मू० ता० । ३ किमन्तरा आ०, आ०, द०, मु०, ता० । ४ –रेकैकक्षेत्रं आ०, ता० । ५ च यद्द्वयोर्द्वयो– आ०, ब०, द०, मु० । ६ वेदितव्याः आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ७ आलिङ्गनेन ।

यार्धं व्यतीत्य प्रभासतीर्थेनापरसमुद्रं प्राविक्षत्। तत्र गङ्गाकुण्डद्वीपप्रासादे गङ्गादेवी वसति। सिन्धूकुण्डद्वीपप्रासादे सिन्धूदेवी वसति। हिमवत उपरि किञ्चित्प्राक् प्रत्यक् चातीत्य गङ्गा-सिन्ध्वोर्मध्ये द्वे पद्माकारे कूटे वैडूर्यपरिणामनाले जलस्योपरि क्रोशमुच्छ्रिते क्रोशद्वयायामविष्कम्भे लोहिताक्षमणिमयार्धगव्यूतायतपत्रे तपनीयकेसरे अर्कमणिनिर्वृत्तगव्यूतायतकर्णिके। तयोः कर्णिकयोर्मध्ये रत्नमयमेकैकं कूटम्। तत्र चैकैकः प्रासादः। प्राच्यकूटप्रासादे पल्योपमस्थितिका वला[1] नाम देवी वसति। प्रतीच्यप्रासादकूटे पल्योपमस्थितिका लवणा नाम देवी वसति।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहितास्या।३। पद्महृदस्यैव उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता द्वे योजनशते षट्सप्तत्युत्तरे षट्चैकान्नविंशतिभागान् हिमवत उपरि उदङ्मुखी गत्वा गङ्गातुल्यायामधाराप्रपाता अर्धत्रयोदशयोजनविस्तारा योजनबाहल्या विंशतियोजनशतायामविष्कम्भे विंशतियोजनावगाहे वज्रतले श्रीदेवीगृहप्रमाणप्रासादमण्डितमध्ये सद्विक्रोशदशयोजनोच्छ्रायषोडशयोजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे कुण्डे पतिता। ततः कुण्डादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता उदङ्मुखी शब्दवद्वृत्तवेदाढ्यं प्रदक्षिणीकृत्यार्धयोजनेनाप्राप्ता प्रत्यङ्मुखी सती प्रभवे क्रोशावगाहाऽर्धत्रयोदशयोजनविष्कम्भा मुखेऽर्धतृतीययोजनावगाहा पञ्चविंशतियोजनशतविष्कम्भा रोहितास्या अपरलवणोदधिं प्राविशत्। रोहितास्याकुण्डप्रासादे रोहितास्या देवी वसति।

महापद्महृदप्रभवाऽपाच्यतोरण[2]द्वारनिर्गता रोहित्।४। महाहिमवत उपरि महापद्महृदादपाच्यतोरणद्वारेण निर्गता षोडशयोजनशतानि पञ्चोत्तराणि पञ्चैकान्नविंशतिभागान् अपागागम्य पतितेत्यादि रोहितास्यया तुल्यम्। अयं तु विशेषः—साधिकद्वियोजनशतायामधारा। रोहित्कुण्डप्रासादनिवासिनी रोहित् देवी। सा रोहिन्महानदी पूर्वार्णवं प्राविशत्।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता हरिकान्ता।५। तत एव महापद्महृदादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता हरिकान्ता नाम महानदी रोहिद्दिवाद्रितले गत्वा उदङ्मुखी साधिकद्वियोजनशतधाराप्रपाता द्वियोजनबाहल्या पञ्चविंशतियोजनविस्तारा श्रीदेवीगृहतुल्यप्रासादमण्डितमध्ये[3] सद्विक्रोश[4]दशयोजनोच्छ्रायद्वात्रिंशद्योजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे चत्वारिंशद्योजनावगाहे चत्वारिंशद्द्विशतयोजनायामविष्कम्भे वज्रतले कुण्डे पतिता। ततः कुण्डादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता [5]प्रभवेऽर्धयोजनावगाहा पञ्चविंशतियोजनविष्कम्भा विकृतवद्वृत्तवेदाढ्यमर्धयोजनेनाप्राप्य प्रदक्षिणीकृत्य प्रत्यङ्मुखी सती मुखे पञ्चयोजनावगाहा अर्धतृतीययोजनशतविष्कम्भा पाश्चात्याऽर्णवं प्राविक्षत्। हरिकान्ताकुण्डप्रासादे हरिकान्तादेवी वसति।

तिगिञ्छहृदप्रभवा दक्षिणद्वारनिर्गता हरित्।६। निषधस्योपरि तिगिञ्छहृदाद् दक्षिणतोरणद्वारेण विनिःसृता हरिन्महानदी सप्तसहस्राणि चत्वारि शतान्येकविंशानि योजनानामेकं चैकान्नविंशतिभागमद्रितले प्राङ्मुखी गत्वा पतितेत्यादि सर्वं हरिकान्तातुल्यम्। अयं तु विशेषः साधिकचतुर्योजनशतायामधारा। हरिकुण्डप्रासादनिवासिनी हरिदेवी। सा प्राच्यमुदधिं प्राविक्षत्।

उदीच्यतोरणद्वारविनिर्गता सीतोदा।७। तत एव तिगिञ्छहृदादुदीच्यतोरणद्वारेण हरिदिवाद्रितले[6] गत्वोदङ्मुखी साधिकचतुर्योजनशतधाराप्रपाता चतुर्योजनबाहल्या पञ्चाशद्यो-

१ बला- श्र०। २ -द्वारेण नि- आ०, ब०, द०, मु०। ३ -मध्यसद्वि- ता०, श्र०, मू०। ४ -क्रोशयोज- मु०, मू ता०, श्र०, द०, ज०, ब० आ०। ५ प्रवाहे श्र०, ब०, द०, मु०। ६ -तलं ग- आ०, ब०, द०, मु०।

जनविस्तारा श्रीदेवीगृहप्रमाणप्रासादमण्डितमध्ये[1] सद्विक्रोशदशयोजनोच्छ्रायचतुष्षष्टियोजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे साशीतिचतुर्योजनशतायामविष्कम्भे अशीतियोजनावगाहे वज्रतले कुण्डे पतिता। ततः कुण्डादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता देवकुरुषु चित्रविचित्रकूटमध्येनोदङ्मुखी गत्वा अर्धयोजनेनाऽप्राप्ता मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य विद्युत्प्रभं विदार्य अपरविदेहमध्यगामिनी, प्रभवे योजनावगाहा पञ्चाशद्योजनविस्तारा मुखे दशयोजनावगाहा पञ्चयोजनशतविस्तारा सीतोदा नाम महानदी पाश्चात्यसमुद्रं प्राविक्षत्। सीतोदाकुण्डप्रासादनिवासिनी सीतोदा देवी।

केसरिहृदप्रभवाऽपाच्यद्वारनिर्गता सीता।८। नीलस्योपरि केसरिह्रदादपाच्यतोरणद्वारेण निर्गता सीता महानदीत्यादि सर्वं सीतोदातुल्यम्। अयं तु विशेषः सीताकुण्डप्रासादे सीतादेवी वसति। सा माल्यवन्तं विदार्य पूर्वविदेहमध्यगामिनी प्राच्यसमुद्रं प्राविक्षदिति।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता नरकान्ता।९। तत एव केसरिह्रदादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता नरकान्ता महानदीत्यादि सर्वं हरिता व्याख्यातम्। अयं तु विशेषः नरकान्ताकुण्डप्रासादे नरकान्ता देवी वसति। गन्धवद्वृत्तवेदाढ्यं प्रदक्षिणीकृत्य पाश्चात्यसमुद्रं प्राविक्षदिति।

महापुण्डरीकह्रदप्रभवा दक्षिण[2]तोरणद्वारनिर्गता नारी।१०। रुक्मिण उपरि महापुण्डरीकह्रदाद् दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गता नारी महानदीत्यादि सर्वं हरि(नर)कान्तया व्याख्यातम्। अयं तु विशेषः नारीकुण्डप्रासादे नारीदेवी वसति। गन्धवद्वृत्तवेदाढ्यं प्रदक्षिणीकृत्य पूर्वोदधिं [3]प्राविशदिति।

उदीच्यद्वारनिर्गता रूप्यकूला।११। तस्मादेव महापुण्डरीकह्रदादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता रूप्यकूला महानदीत्यादि सर्वं तु रोहिता व्याख्यातम्। अयं तु विशेषः रूप्यकूलाकुण्डप्रासादे रूप्यकूला देवी वसति। माल्यवद्वृत्तवेदाढ्यं प्रदक्षिणीकृत्य प्रतीच्यसमुद्रं प्राविक्षदिति।

पुण्डरीकह्रदप्रभवापाच्यतोरणद्वारनिर्गता सुवर्णकूला।१२। शिखरिण उपरि पुण्डरीकह्रदाद् दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गता सुवर्णकूला महानदीत्यादि सर्वं रोहितास्यया व्याख्यातम्। अयं तु विशेषः सुवर्णकूलाकुण्डप्रासादे सुवर्णकूला देवी वसति। माल्यवद्वृत्तवेदाढ्यं प्रदक्षिणीकृत्य प्राच्यमर्णवं प्राविक्षदिति।

पूर्वतोरणद्वारनिर्गता रक्ता।१३। तस्मादेव पुण्डरीकह्रदात् पूर्वतोरणद्वारेण विनिर्गता रक्ता महानदीत्यादि सर्वं गङ्गया व्याख्यातम्। अयं तु विशेषः रक्ताकुण्डप्रासादे रक्तादेवी वसति।

प्रतीच्यद्वारनिर्गता रक्तोदा।१४। तस्मादेव पुण्डरीकह्रदात् प्रतीच्यतोरणद्वारेण विनिर्गता रक्तोदा महानदीत्यादि सर्वं सिन्ध्वा वर्णितम्। अयं तु विशेषः रक्तोदाकुण्डप्रासादे रक्तोदा देवी वसति।

गङ्गासिन्धूरक्तारक्तोदाः भुजङ्गकुटिलगतयः अन्यत्र गिरितलधाराप्रपाताभ्याम्, शेषा ऋजुगतयः अन्यत्र मेरुनाभिगिरिप्रदेशेभ्यः। चतुर्दशाप्येता अर्धयोजनविष्कम्भनदीसमायामाभ्यामुभयपार्श्वगताभ्यां प्रत्येकमर्धयोजनोत्सेधपञ्चधनुःशतविष्कम्भवनसमायामपद्मवरवेदिकाद्वयपरिवृताभ्यां वनषण्डाभ्यामलङ्कृताः।

तासां परिवारप्रतिपादनार्थमाह—

१ -मध्यस- श्र०। २ -णद्वारतोरण- ता०, श्र०, आ०, द०। ३ प्राविक्षदि- आ० ब०, मु०।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

गङ्गासिन्ध्वाद्यग्रहणं प्रकरणादिति चेत्; न; अनन्तरग्रहणप्रसङ्गात् ।१। स्यान्मतम्–गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणमनर्थकम्। कुतः ? प्रकरणात्। प्रकृता हिता इति; तन्न; किं कारणम् ? अनन्तरग्रहणप्रसङ्गात्। "**अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो** वा" [पात० महा० १।२।४७] इति अपरगानामेव ग्रहणं स्यात्।

गङ्गादिग्रहणमिति चेत्; न; पूर्वगाग्रहणप्रसङ्गात् ।२। अथ मतम्–गङ्गादिग्रहणमेवास्तु अनन्तरनिवृत्त्यर्थमिति; तच्च न; कस्मात् ? पूर्वगाग्रहणप्रसङ्गात्। गङ्गादयो हि पूर्वगा इति।

नदीग्रहणात् सिद्धिरिति चेत्; न; द्विगुणाभिसंबन्धार्थत्वात् ।३। स्यादेतत्–नद्यः प्रकृतास्ततो नदीग्रहणमन्तरेणापि नदीसंप्रत्यये सिद्धे तद्ग्रहणं सर्वनदीसंप्रत्ययार्थं भविष्यति नार्थो गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणेनेति ? तन्न; किं कारणम् ? द्विगुणाभिसंबन्धार्थत्वात्। द्विगुणा द्विगुणा इत्यस्याभिसंबन्ध इह कथं स्यादिति गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणं क्रियते। किं गतमेतदनेन आहोस्विच्छब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं गतमिति ? आह। कथम् ? द्विगुणानुवृत्तौ गङ्गाचतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता तद्द्विगुणनदीसहस्रपरिवारा सिन्धूरिति प्रसक्ते तन्निवृत्त्यर्थं गङ्गासिन्धूग्रहणमिति। तत्र गङ्गासिन्ध्वौ प्रत्येकं चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृते। ततो द्विगुणा द्विगुणाः परिवारनद्यो वेदितव्या आसीतोदायाः, ततः परतोऽर्धहीनाः।

उक्तो जम्बूद्वीपविष्कम्भाम्भोनिधिह्रदसरित्पर्वतवर्षनिवेशक्रमः। इदमिदानीं प्रक्रियतां किममूनि क्षेत्राणि तुल्यविस्ताराण्युत विस्तारविशेषोऽस्तीति ? अत आह–

भरतः षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥

षडधिका विंशतिः षड्विंशतिः षड्विंशतिरधिका येषु तानि षड्विंशानि पञ्चयोजनशतानि विस्तारोऽस्य षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारो भरतः। किमेतावानेव ? नेत्याह–षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य, विस्तारोऽस्येत्यभिसंबध्यते।

इतरेषां विष्कम्भविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

तद्द्विगुणाद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

ततो द्विगुणो द्विगुणो विस्तारो येषां त इमे तद्द्विगुणद्विगुणविस्ताराः।

वर्षधरशब्दस्य पूर्वनिपात आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः ।१। वर्षधरशब्दस्य पूर्वनिपातः क्रियते आनुपूर्व्यप्रतिपत्तिर्यथा स्यादिति। इतरथा हि वर्षधराश्च वर्षाश्चेति द्वन्द्वे वर्षशब्दस्य पूर्वनिपातः प्रसज्येत अल्पोच्चतरत्वात्। न च लक्षणमस्ति आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः पूर्वप्रयोगः कर्तव्य इति ? सत्यं नास्ति कण्ठोक्तम्, ज्ञापकात्तु भवति *"**लक्षणहेत्वोः क्रियायाः**" [जैनेन्द्र० २।२।१०४] इति।

१ –प्रत्ययसिद्धेस्त– मु०। २ प्रतिपत्त्यर्थ आ०, ब०, मु०। ३ ज्ञातम्। ४ सूत्रमनर्थकमिति। ५ प्रसक्तिः त– आ०, ब०, ता०, मु०। ६ तथा सति। ७ षड्विंशतिप– आ०, ब०, ता०, मु०। ८ एवंविधम्। ९ इत्यत्र हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातो न्याय्यः तं विहाय आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थं लक्षणशब्दस्यकृतवान्। ततो ज्ञायते आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः पूर्वप्रयोगः कर्तव्य इति लक्षणमस्तीति।

विदेहान्तवचनं मर्यादार्थम् ।२। विदेहः अन्तो येषां त इमे विदेहान्ता इति मर्यादा क्रियते। इतरथा हि नीलादयोऽपि द्विगुणद्विगुणविस्ताराः प्रसज्येरन्। तथाहि–हिमवतो विष्कम्भो द्विपञ्चाशमेकं योजनसहस्रं द्वादश चैकान्नविंशतिभागाः। हैमवतस्य द्वियोजनसहस्रे पञ्चोत्तरशतं पञ्च चैकान्नविंशतिभागाः। महाहिमवतश्चत्वारि योजनसहस्राणि दशाधिके द्वे शते दश चैकान्नविंशतिभागाः। हरिवर्षस्याष्टौ योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि एकविंशानि एकश्चैकान्नविंशतिभागः। निषधस्य षोडशयोजनसहस्राणि अष्टौ शतानि द्विचत्वारिंशानि द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ। विदेहस्य त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि षट्शतानि चतुरशीत्यधिकानि चत्वारश्चैकान्नविंशतिभागाः।

यद्येवं भरतादीनां विदेहान्तानां विस्तारक्रम उक्तः, अथोत्तरेषां कथमिति ? अत आह––

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

उत्तरा ऐरावतादयः नीलान्ता भरतादिभिर्दक्षिणैस्तुल्याः द्रष्टव्याः, अतीतस्य सर्वस्यायं विशेषो द्रष्टव्यः।

अत्राह–उक्तेषु भरतादिषु क्षेत्रेषु मनुष्याणां किं तुल्योऽनुभवादिः आहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इति ? अत आह–

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

इमौ वृद्धिह्रासौ कस्य ? भरतैरावतयोः। ननु ते क्षेत्रे व्यवस्थितावधिके कथं तयोर्वृद्धिह्रासौ ? अत उत्तरं पठति–

तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धिर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः ।१। इह लोके तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यं भवति, यथा गिरिस्थेषु वनस्पतिषु दह्यमानेषु गिरिदाह इत्युच्यते, तथा भरतैरावतस्थेषु मनुष्येषु वृद्धिह्रासावापद्यमानेषु भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासावुच्येते।

अधिकरणनिर्देशो वा ।२। अथवा भरतैरावतयोरित्यधिकरणनिर्देशोऽयम्, स चाधेयमाकाङ्क्षतीति भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ वेदितव्यौ। किं कृतौ पुनस्तौ ?

अनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ ।३। अनुभवः उपभोगपरिभोगसम्पत्, आयुर्जीवितपरिमाणम्, प्रमाणं शरीरोत्सेध इत्येवमादिकृतौ मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ प्रत्येतव्यौ। किं हेतुकौ पुनस्तौ ? कालहेतुकौ। स च कालो द्विविधः–उत्सर्पिणी अवसर्पिणी चेति। तद्भेदाः षट् प्रत्येकम्। अन्वर्थसंज्ञे चैते।

अनुभवादिभिरवसर्पणशीला अवसर्पिणी ।४। अनुभवादिभिः पूर्वोक्तैरवसर्पणशीला हानिस्वाभाविका अवसर्पिणीसमा।

तद्विपरीतोत्सर्पिणी ।५। तद्विपरीतैरेवोत्सर्पणशीला वृद्धिस्वाभाविकोत्सर्पिणीत्युच्यते। तत्रावसर्पिणी षड्विधा–सुषमसुषमा-सुषमा-सुषमदुःषमा-दुःषमसुषमा-दुःषमा-अतिदुःषमा चेति। उत्सर्पिण्यपि अतिदुःषमाद्या सुषमसुषमान्ता षड्विधैव भवति। अवसर्पिण्याः परिमाणं दश सागरोपमकोटीकोट्यः, उत्सर्पिण्यपि तावत्येव। सोभयी कल्प इत्याख्यायते।

१ गिरिस्थितेषु आ०, ब०, द०, द०, मु०, ता०। २ कालकृताविति०। ३ –संज्ञोच्यते आ०, ब०, द०, मु०।

तत्र सुषमसुषमा चतस्रः सागरोपमकोटीकोटयः। तदादौ मनुष्या उत्तरकुरुमनुष्यतुल्याः। ततः क्रमेण हानौ सत्यां सुषमा भवति तिस्रः सागरोपमकोटीकोटयः। तदादौ मनुष्या हरिवर्षमनुष्यसमाः। ततः क्रमेण हानौ[1] सुषमदुःषमा भवति द्वे सागरोपमकोटीकोटयौ तदादौ मनुष्या हैमवतमनुष्यसमाना भवन्ति। ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुःषमसुषमा भवति एकसागरोपमकोटीकोटी द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रोना। तदादौ मनुष्या विदेहजनतुल्या भवन्ति। ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुःषमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। ततः क्रमेण हानौ सत्यां अतिदुःषमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। एवमुत्सर्पिण्यपि विपरीतक्रमा वेदितव्या।

अथेतरासु भूमिषु काऽवस्थितिः ? अत आह—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

ताभ्यां भरतैरावताभ्यामपरा भूमय अवस्थिता भवन्ति[2]। न हि तत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ स्तः।

किं तासु भूमिषु मनुष्यास्तुल्यायुष आहोस्वित् कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इति ? अस्तीत्याह—

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥२९॥

हैमवतादिभ्यो भवार्थे वुञ् मनुष्यप्रतिपत्त्यर्थः।१। हैमवते भवा इत्येवमादिना विग्रहेण वुञि कृते हैमवतकादिसिद्धिर्भवति। स किमर्थः ? मनुष्यप्रतिपत्त्यर्थः। तत्र भवा मनुष्याः प्रतिपद्येरन्निति।

एकादीनां हैमवतकादिभिर्यथासंख्यं संबन्धः।२। हैमवतकादयस्त्रय एकादयस्त्रयः तत्र यथासंख्यं संबन्धो भवति। एकपल्योपमस्थितयो हैमवतकाः। द्विपल्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः। त्रिपल्योपमस्थितयो दैवकुरवका इति। तत्र पञ्चसु हैमवतेषु सुषमदुःषमा सदा अवस्थिता। तत्र मनुष्या एकपल्योपमायुषो द्विधनुःसहस्रोच्छ्रिताश्चतुर्थभक्ताहारा नीलोत्पलवर्णाः। पञ्चसु हरिवर्षेषु सुषमा सदा अवस्थिता, तत्र मनुष्या द्विपल्योपमस्थितयः चतुश्चापसहस्रोत्सेधाः षष्ठभक्ताहाराः शङ्खवर्णाः। पञ्चसु देवकुरुषु सुषमसुषमा सदा अवस्थिता, तत्र मनुष्यास्त्रिपल्योपमायुषः षड्धनुःसहस्रोत्सेधा अष्टमभक्ताहारा कनकवर्णाः।

अथोत्तरेषु काऽवस्थेति ? अत आह—

तथोत्तराः ॥३०॥

यथा दक्षिणाः तथोत्तरा वेदितव्याः। हैरण्यवतका हैमवतकैस्तुल्याः। राम्यका हारिवर्षकैस्तुल्याः। दैवकुरवकैरौत्तरकुरवका व्याख्याताः।

अथ विदेहेष्ववस्थितेषु का स्थितिक्रिया ? अत उच्यते—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

सर्वेषु विदेहेषु संख्येयकालाः मनुष्याः। तत्र कालः सुषमदुःषमान्तोपमः सदा अवस्थितः। मनुष्याश्च पञ्चधनुःशतोत्सेधा नित्याहाराः उत्कर्षेण[4] एक[5]पूर्वकोटिस्थितिका जघन्येनान्तर्मुहूर्तायुषः।

१—नौ सत्यां सु— मु०। २ कुतः। ३ —स्थितिरित्यत आ०, ब०, द०, मु०। ४ तदुच्य— श्र०। ५ —ण पूर्व— आ०, ब०, द०, मु०। ६ पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइं। छप्पण्णं च सहस्सा बोधव्वा वासकोडीणं ॥ इति— ७०५६०००००००००।

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

किमर्थमिदमुच्यते ननु पुरस्ताद्भरतस्य विष्कम्भो व्याख्यातः ?

पुनर्भरतविष्कम्भवचनं प्रकारान्तरप्रतिपत्त्यर्थम्।१। पुनर्भरतविष्कम्भ उच्यते प्रकारान्तरेण प्रतिपत्तिः कथं स्यादिति। भरतविष्कम्भप्रमाणैः खण्डैः छिद्यमानो जम्बूद्वीपः नवत्युत्तरेण खण्डशतेन परिच्छिद्यत इत्यर्थः।

उत्तराभिसम्बन्धार्थं वा।२। अथवा, उत्तरत्र वक्ष्यते—*"द्विर्धातकीखण्डे। पुष्करार्धे च" [त० सू० ३।३३-३४] इति, तदभिसंबन्धार्थं पुनर्वचनं क्रियते।

तलमूलयोर्दशयोजनसहस्रविस्तारो लवणोदः।३। समे भूमितले द्वियोजनशतसहस्रविष्कम्भ इत्युक्तं पुरस्तात्। तस्य गोतीर्थवदुभयतोऽधः[2] क्रमेण हान्या मूले दशयोजनसहस्रविस्तारः तावद्विष्कम्भजलतलः[3] योजनसहस्रावगाहः समाद् भूमितलादूर्ध्वं षोडशयोजनसहस्रजलोत्सेधः यवराशिरिवोच्छ्रितजलः मृदङ्गसंस्थानो लवणोदो वेदितव्यः।

तन्मध्ये दिक्षु महापातालानि योजनशतसहस्रावगाहानि।४। तस्य लवणोदस्य मध्ये चतसृषु दिक्षु रत्नवेदिकायाः पञ्चनवतियोजनसहस्राणि तिर्यगतीत्य क्षितिविवराणि वज्रमयतलपार्श्वानि, [4]अलिञ्जरसंस्थानानि प्रत्येकमेकयोजनशतसहस्रावगाहानि तावन्मध्यविष्कम्भाणि तलमूलयोर्दशयोजनसहस्रविस्ताराणि महापातालानि वेदितव्यानि चत्वारि—पातालबडवामुख-यूपकेसर-कलम्बुकसंज्ञानि। तत्र प्राच्यां दिशि पातालम्, प्रतीच्यां बडवामुखम्, उदीच्यां यूपकेसरम्, अपाच्यां कलम्बुकम्। [5]तेषामेकैकस्त्रिभागस्त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानां त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशानि योजनत्रिभागश्च साधिकः। तेषामधस्त्रिभागे वातस्तिष्ठति। मध्यत्रिभागे वायुतोये। उपरित्रिभागे तोयम्। रत्नप्रभाखरपृथ्वीभागसन्निवेशिभवनालयवातकुमारतद्वनितास्क्रीडाजनिताऽनिलसंक्षोभकृतपातालोन्मीलननिमीलनहेतुकौ वायुतोयनिष्क्रमप्रवेशौ भवतः। तत्कृता दशयोजनसहस्रविस्तारमुखजलस्योपरि पञ्चाशद्योजनावधृता जलवृद्धिः। तत उभयत आरत्नवेदिकायाः सर्वत्र द्विगव्यूतप्रमाणा जलवृद्धिः। पातालोन्मीलनवेगोपशमेन हानिः। पातालानां चतुर्णामप्यन्तराणि प्रत्येकं द्वे शतसहस्रे सप्तविंशतिसहस्राणि सप्ततिशतं च योजनानां त्रीणि च गव्यूतानि साधिकानि।

विदिक्षु क्षुद्रपातानि दशयोजनसहस्रावगाहानि।५। तन्मध्ये चतसृषु विदिक्षु चत्वारि क्षुद्रपातालानि दशयोजनसहस्रावगाहानि तावन्मध्यविष्कम्भाणि मुखमूलयोर्योजनसहस्रविस्ताराणि वेदितव्यानि। तेषामेकैकस्त्रिभागस्त्रीणि सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशानि योजनानां योजनत्रिभागश्च साधिकः। अधस्त्रिभागे वातः, मध्यत्रिभागे वायुतोयं, उपरि त्रिभागे तोयम्।

तदन्तरेषु क्षुद्रपातालानां योजनसहस्रावगाहानां सहस्रम्।६। तेषां दिग्विदिग्विभागानां पातालानाम् अन्तरेष्वष्टास्वपि योजनसहस्रावगाहानां तावन्मध्यविष्कम्भाणां मुखमूलयोस्तदर्धविस्ताराणां क्षुद्रपातालानां सहस्रं प्रत्येतव्यम्। तेषां त्रिभागाः पूर्ववद्वेदितव्याः। तत्रैकैकस्मिन्नन्तरे क्षुद्रपातालानां मुक्तावलीवदवस्थितानां शतं पञ्चविंशमन्यान्यपि पातालानि सन्ति। अन्तरालेषु सप्तसहस्राण्यष्टौ शतान्यशीतिश्च पातालसमुदायः।

१—कीषण्डे ता०, श्र०, मू०। २ —दः क— द०, श्र०, ता०। वः क— मू०। ३ उपरितलः। ४ अंजनसं—आ०, ब०, द०, मु०। 'मणिकोऽलिञ्जरः' इति हैमः, मणिसंस्थानानि इति यावत्— सम्पा०। ५ तेषामेकस्त्रि— ता०, श्र०, मू०।

दिक्षु वेलन्धरनागाधिपतिनगराणि चत्वारि ।७। रत्नवेदिकायास्तिर्यग्द्वाचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि गत्वा चतसृषु दिक्षु द्वाचत्वारिंशद्योजनसहस्रायामविष्कम्भाणि चत्वारि वेलन्धरनागाधिपतिनगराणि भवन्ति । तेषु वेलन्धरनागाधिपतयः पल्योपमायुषो दशकार्मुकोत्सेधाः प्रत्येकं चतसृभिरग्रमहिषीभिः परिवृता वेलन्धरनागाश्च निवसन्ति । तत्र द्वाचत्वारिंशन्नागसहस्राणि लवणोदाभ्यन्तरवेलां धारयन्ति । द्वासप्ततिर्नागसहस्राणि [1]बाह्यवेलां धारयन्ति । अष्टाविंशतिर्नागसहस्राणि अग्रोदकं धारयन्ति । तान्येतानि समुदितान्येकं शतसहस्रं द्वाचत्वारिंशच्च सहस्राणि ।

द्वादशयोजनसहस्रायामविष्कम्भो गौतमद्वीपश्च ।८। रत्नवेदिकायास्तिर्यग्द्वादशयोजनसहस्राणि गत्वा द्वादशयोजनसहस्रायामविष्कम्भो गौतमस्य समुद्राधिपतेर्द्वीपश्च तत्र भवति ।

रत्नवेदिकायास्तिर्यक्पञ्चनवतिप्रदेशेषु गतेषु [2]एकः प्रदेशावगाहः, पञ्चनवतिहस्तेषु गतेष्वेकहस्तावगाहः, पञ्चनवतियोजनेषु गतेष्वेकयोजनावगाहः, पञ्चनवतियोजनशतेषु गतेष्वेकयोजनशतावगाहः, पञ्चनवतियोजनसहस्रेषु गतेष्वेकयोजनसहस्रावगाहः । लवणोदस्यान्ते यथा वेला[3] तथा बहिरपि, विजयादीनि द्वाराणि चात्र । लवणोदस्यैव वेला नान्योदधीनां तत्रैव च पातालानि नान्यत्र । सर्वे च लवणोदादयः स्वयम्भूरमणपर्यन्ता एकयोजनसहस्रावगाहाः । द्वीपोदधिपर्यन्ते चोभे वेदिके । या द्वीपान्ते ता द्वीपानां याः समुद्रान्ते ताः समुद्राणाम् । लवणोद उच्छ्रितसलिलः, शेषाः [4]प्रस्तारजलाः । भिन्नरसाश्चत्वारः, त्रय उदकरसाः, शेषा इक्षुरसाः सागराः । लवणोदो लवणरसजलः ।[5] वारुण्युदो वारुणीरसजलः । क्षीरोदः क्षीररसजलः । घृतोदो घृतरसजलः । कालोदपुष्करोदस्वयम्भूरमणोदा उदकरसाः । लवणोदकालोदस्वयम्भूरमणोदा मत्स्यकूर्मादिजलचरावासाः नेतरे । लवणोदे नदीमुखे नवयोजनशरीरा मत्स्याः, सागराभ्यन्तरेऽष्टादशयोजनशरीराः । कालोदे नदीमुखेऽष्टादशयोजनशरीरा मत्स्याः, सागराभ्यन्तरे षट्त्रिंशद्योजनशरीराः । स्वयम्भूरमणोदे नदीमुखे पञ्चशतयोजनशरीरा मत्स्याः, सागराभ्यन्तरे एकयोजनसहस्रशरीरा मत्स्याः ।

योऽयं वर्षवर्षधरह्रदपुष्करादीनां संख्याविष्कम्भादिविधिरुक्तो जम्बूद्वीपे, तद्द्विगुणो धातकीषण्ड इति प्रतिपादयितुमिच्छन्नाह–

द्विर्धातकीषण्डे[6] ॥३३॥

द्रव्याभ्या[7]वृत्तौ सुजभाव इति चेत्; न; क्रियाध्याहाराद् द्विस्तावानिति यथा ।१। स्यान्मतम्–भरतादीनि द्रव्याणि अत्राभ्यावर्तन्ते न तु क्रिया 'तस्मान्नास्ति सुजिति ? तन्न; किं कारणम् ? क्रियाध्याहारात् । यथा 'द्विस्तावानयं प्रासाद इति 'मीयते' इत्येवमाद्यध्याह्रियमाणक्रियापेक्षया सुजुत्पत्तिः, एवमिहापि धातकीषण्डे भरतादयो 'द्विःसंख्यायन्ते' इत्येवं सामर्थ्यप्रापितक्रियापेक्षया सुज्वेदितव्यः । तच्च संख्यानं द्विधा–स्वरूपभेदेन विष्कम्भादिभेदेन च । तत्र स्वरूपसंख्यानं द्वौ भरतौ द्वौ हिमवन्ताविति एवमादि । विष्कम्भादिसंख्यानं जम्बूद्वीपे हिमवदादीनां वर्षधराणां यो विष्कम्भः तद्द्विगुणो धातकीषण्डे हिमवदादीनामिति ।

१ बाह्यां वेलां आ०, ब०, द०, मु०, ता०, । २ एकप्रदेशा– आ०, ब० मु० । ३ वेला कालविशेषः स्यात् वेला सिन्धुजलोच्छ्रितिः । ४ प्रसारजलाः आ०, ब०, द०, मु० । ५ वारुणोदः ता०, श्र०, मु० । ६–खण्डे आ०, ब०, द०, मु० । ७ पौनःपुन्यम्– ता० टि० । ८ ततो न सु– ता०, आ०, ब०, द०, मु० । ९ द्वौ वारौ तावान् ।

अथ धातकीषण्डे भरतस्य को विष्कम्भः ? उच्यते–

षट्षष्टिशतानि चतुर्दशानि योजनानां धातकीषण्डभरताभ्यन्तरविष्कम्भः एकान्नत्रिंशच्च भागशतम् ।२। षट्सहस्राणि षट्शतानि चतुर्दशोत्तराणि योजनानां योजनस्य द्वादशद्विशतभागाः एकान्नत्रिंशच्च भागशतं धातकीषण्डभरताभ्यन्तरविष्कम्भः ।

सैकाशीतिपञ्चशताधिकद्वादशसहस्राणि मध्यविष्कम्भः षट्त्रिंशच्च भागाः ।३। द्वादशसहस्राणि योजनानां पञ्चशतान्येकाशीत्युत्तराणि षट्त्रिंशच्च भागा धातकीषण्डभरतमध्यविष्कम्भः ।

सप्तचत्वारिंशत्पञ्चशताष्टादशसहस्राणि बाह्यविष्कम्भः पञ्चपञ्चाशच्च भागशतम् ।४। अष्टादशसहस्राणि योजनानां पञ्चशतानि सप्तचत्वारिंशानि पञ्चपञ्चाशच्च भागशतं बाह्यभरतविष्कम्भः ।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आ विदेहात् ।५। वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आ विदेहाद् द्रष्टव्यः । भरताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हैमवतः[1] । हैमवताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हरिवर्षः । हरिवर्षाच्चतुर्गुणविष्कम्भो विदेह इति । तथा च भरततुल्यविस्तार ऐरावतः । ऐरावताच्चतुर्गुणविस्तारो हैरण्यवतः । हैरण्यवताच्चतुर्गुणविस्तारो रम्यकः । धातकीषण्डवलयविष्कम्भश्चत्वारि योजनशतसहस्राणि । तत्परिधिरेकचत्वारिंशद्योजनशतसहस्राणि दशसहस्राणि नव योजनशतानि विशेषोनैकषष्टचुत्तराणि एकं शतसहस्रं अष्टसप्ततिसहस्राणि अष्टौ शतानि च द्वाचत्वारिंशानि योजनानि धातकीषण्डे वर्षधररुद्धक्षेत्रम् । तत्परिधिमपनीयावशिष्टं द्वादशद्विशतभागहृतं लब्धम्, भरतविष्कम्भ उक्तः ।

वर्षाणां वर्षधराणां सरितां वृत्तवेदाढ्यानां ह्रदानामन्येषां च [2]तान्येव नामानि । वर्षधरा हिमवदादयः उक्तोत्सेधावगाहा द्विगुणविस्ताराः । चत्वारोऽपि वृत्तवेदाढ्या उक्तोच्छ्रायावगाहसमा द्वियोजनसहस्रविस्ताराः । यमकाद्री च व्याख्यातोत्सेधावगाहौ द्वियोजनसहस्रमूलविस्तारौ पञ्चदशयोजनशतमध्यविष्कम्भौ उपर्येकयोजनसहस्रविस्तारौ । काञ्चनाद्रयश्च व्याख्यातोच्छ्रायावगाहा द्विगुणविस्ताराः । ह्रदाश्च पद्मादयः षडपि द्विगुणायामविष्कम्भावगाहाः । द्वीपाः पद्मानि च द्विगुणायामविष्कम्भावगाहानि ।

भरतैरावतविभाजिनाविष्वाकारगिरी ।६। उदगपाक् भरतैरावतयोर्विभागहेतू कालोदलवणोदस्पर्शिनौ योजनशतावगाहौ चतुर्योजनशतोत्सेधौ अध उपरि चैकयोजनसहस्रविस्तारौ काञ्चनपरिणामौ इष्वाकारगिरी भवतः ।

तत्र धातकीषण्डे द्वौ मेरू पूर्वापरौ योजनसहस्रावगाहौ पञ्चनवतियोजनशतमूलविष्कम्भौ धरणीतले चतुर्नवतियोजनशतविस्तारौ चतुरशीतियोजनसहस्रोत्सेधौ योजनसहस्रविस्तारतलौ पूर्वोक्तप्रमाण[3]चूलिकौ । समाद् भूमितलात् पञ्चयोजनशतान्युत्प्लुत्य नन्दनवनं भवति पञ्चयोजनशतविस्तारम् । पञ्चपञ्चाशद्योजनशताधिकपञ्चाशद्योजनसहस्राणि

१ अष्टपञ्चाशदधिकचतुःशतोपेतानि षड्विंशतियोजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं द्वानवतिभागा योजनस्य हैमवतोऽभ्यन्तरविष्कम्भः । चतुर्विंशत्यधिकशतत्रयोपेतानि पञ्चाशद्योजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं चतुश्चत्वारिंशदधिकं भागशतं च योजनस्य मध्यविष्कम्भः । नवत्यधिकशतोपेतानि चतुःसप्ततियोजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं षण्णवत्यधिकं भागशतं च हैमवतो बाह्यविष्कम्भः । २ –वावगाहादीनि आ०, ब०, द०, मु० । ३ –भूतलिकौ आ०, ब०, द०, मु० ।

तत उत्प्लुत्य सौमनसं नाम वनं पञ्चशतयोजनविष्कम्भं भवति। ततोऽष्टाविंशतियोजनसहस्राण्युत्प्लुत्य[१] पाण्डुकवनं भवति। तयोर्दशसु प्रदेशेष्वेकप्रदेशवृद्धिः।

जम्बूद्वीपे यत्र जम्बूवृक्षः तत्र धातकीषण्डे धातकीवृक्षः। परिवाराश्च पूर्वोक्तवर्णनाः। तन्निवासी द्वीपाधिपतिस्तत एव द्वीपस्य धातकीषण्ड इति नाम वेदितव्यम्। तत्र चक्रान्तरसंस्थाना वर्षा वर्षधराश्च चक्राराकारा उभयजलधिस्पर्शिनः। तत्परिक्षेपिकालोदसमुद्रः टङ्कच्छिन्नतीर्थः अष्टयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भ एकनवतिशतसहस्राणि सप्ततिश्च सहस्राणि साधिकपञ्चोत्तराणि षट्शतानि योजनानां तत्परिधिः।

कालोदपरिक्षेपिपुष्करद्वीपः षोडशयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः। तत्र द्वीपाम्भोनिधिद्विगुणपरिक्लृप्तिवत् धातकीषण्डवर्षादिद्विगुणविधि[२]प्रसङ्गे विशेषावधारणार्थमाह—

पुष्करार्धे च ॥३४॥

चशब्दः किमर्थः ?

संख्याभ्यावृत्त्यनुवर्तनार्थश्चशब्दः ।१। द्विरित्येतस्याः संख्याभ्यावृत्तेरनुवर्त्तनार्थश्चशब्दः क्रियते, पुष्करार्धे च द्विर्भरतादयः संख्यायन्त इति। किं जम्बूद्वीपभरतादिसंख्या द्विरावर्त्यत इत्यभिसंबध्यते आहोस्वित् धातकीषण्डभरतादि[३]संख्येति ? 'जम्बूद्वीपभरतादिसंख्यैव संबध्यते। अनन्तरा कस्मान्नाभिसंबध्यत 'इति ? इच्छातो विशेषसम्बन्ध इति। अतश्चैतदेवं 'धातकीषण्डे हिमवदादीनामपि विष्कम्भः, पुष्करार्धे च हिमवदादीनां द्विगुण इष्यत इति। नामानि च तान्येव वेदितव्यानि। अथ भरतस्य को विष्कम्भः ?

एकान्नाशीत्युत्तरपञ्चशताधिकैकचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि भरताभ्यन्तरविष्कम्भः सत्रिसप्ततिभागशतं च ।२। एकचत्वारिंशत्सहस्राणि पञ्चशतान्येकान्नाशीत्युत्तराणि योजनानां त्रिसप्तत्युत्तरभागशतं च भरताभ्यन्तरविष्कम्भो वेदितव्यः।

द्वादशपञ्चशतोत्तरत्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि मध्यविष्कम्भो नवनवत्यधिकं च भागशतम् ।३। त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां पञ्चशतानि द्वादशानि नवनवत्यधिकं च भागशतं मध्यभरतविष्कम्भः।

द्वाचत्वारिंशच्चतुःशतोत्तरपञ्चषष्टिसहस्राणि बाह्यविष्कम्भस्त्रयोदश च भागाः ।४। पञ्चषष्टिसहस्राणि योजनानां चत्वारि शतानि द्वाचत्वारिंशानि त्रयोदशभागाः बाह्यभरतविष्कम्भः।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आ विदेहात् ।५। वर्षात् वर्षः चतुर्गुणविस्तार आविदेहात् द्रष्टव्यः। भरताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हैमवतः, हैमवताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हरिवर्षः, हरिवर्षाच्चतुर्गुणविष्कम्भो विदेह इति। तथा भरततुल्यविस्तार ऐरावतः, ऐरावताच्चतुर्गुणविस्तारो हैरण्यवतः, हैरण्यवताच्चतुर्गुणविस्तारो रम्यक इति। एककोटिद्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे च शते योजनानां सविशे[७]षा चैकान्नपञ्चाशत् पुष्करार्धान्तःपरिधिः। त्रीणि शतसहस्राणि

१ –त्पत्य श्र०, मू०। २ –विधिप्रमाणवि– आ०, ब०, द०, मु०। ३ –दिकसं– आ०, ब०, द०, मु०। ४ चेत्। ५ यथा धातकीषण्डे जम्बूद्वीपभरतादयो द्विगुणसंख्या व्याख्याताः तथा पुष्करार्धे च जम्बूद्वीपस्यैव भरतादयो द्विगुणसंख्या व्याख्यायन्ते न धातकीषण्डस्येत्यर्थः। ६ द्वे शते आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ७ –षं चै– आ०, ब०, द०, मु०।

पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि षट्शतानि चतुरशीतिश्च योजनानि पुष्करार्धे पर्वतरुद्धक्षे[१]त्रम्, परिधेरपनीयाऽवशिष्टं द्वादशद्विशतभागहृतलब्धं भरतविष्कम्भ उक्तः। वर्षधरविजयार्धवृत्तवेदाढ्यादयः जम्बूद्वीपवर्णनायां विहितोत्सेधावगाहाः[२] धातकीषण्डविहितद्विगुणविस्ताराः पुष्करार्धे च वेदितव्याः। इष्वाकारौ मन्दरौ च तावत्परिमाणावेव। यत्र जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्करं सपरिवारं वेदितव्यम्। तन्निवासी द्वीपाधिपतिः, तत [३]एव तस्य दीपस्य नाम रूढं पुष्करद्वीप इति।

अथ कथं पुष्करार्धसंज्ञा ?

मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंज्ञा ।६। पुष्करद्वीपस्य बहुमध्यदेशभावी वलयवृत्तो मानुषोत्तर[४]नामशैलः, तेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंज्ञा वेदितव्या। सप्तदशयोजनशतान्येकविंशान्यस्योच्छ्रायः। चत्वारि योजनशतानि त्रिंशानि सक्रोशान्यवगाहः, द्वाविंशं योजनसहस्रं मूलविस्तारः। सप्तयोजनशतानि त्रयोविंशानि मध्यविस्तारः। चतुर्विंशानि चत्वारि योजनशतान्युपरि विस्तारः। सोऽयमभ्यन्तरमुखनिषण्णसिंहाकृतिरर्धयवराश्युपमानः मानुषोत्तराद्रिः। तस्योपरि चतसृषु दिक्षु पञ्चाशद्योजनायामतदर्धविस्तारसार्धयोजनसप्तत्रिंशद्योजनोत्सेधानि अष्टयोजनोत्सेधतदर्धविष्कम्भतावत्प्रवेशद्वाराणि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि चत्वार्यर्हदायतनानि प्रागादिषु दिक्षु प्रदक्षिणा[५]वृतानि। वैडूर्य-अश्मगर्भ-सौगन्धिक-रुचक-लोहिताक्ष-अञ्जनक[६]-अञ्जनमूल-कनक-रजत-स्फटिक-अङ्क-प्रवाल-वज्र-तपनीयकूटसंज्ञानि चतुर्दशकूटानि पञ्चयोजनशतोच्छ्रायाणि पञ्चयोजनशतमूलविष्कम्भाणि पञ्चसप्तत्युत्तरत्रियोजनशतमध्यविष्कम्भाणि अर्धतृतीययोजनशतोपरिविष्कम्भाणि। तत्र चतसृषु दिक्षु त्रीणि त्रीणि कूटानि पूर्वोत्तरस्यां दिश्येकं कूटं पूर्वदक्षिणस्यां दिश्येकम्। तेषु यशस्वदादयः पल्योपमस्थितयः सुपर्णकुमाराणां राजानो निवसन्ति। प्राच्यां दिशि वैडूर्ये यशस्वान्, अश्मगर्भे यशष्कान्तः, सौगन्धिके यशोधरः। अपाच्यां रुचके नन्दनः, लोहिताक्षे नन्दोत्तरः, अञ्जनकेऽशनिघोषः। प्रतीच्यामञ्जनमूले सिद्धार्थः, कनके क्रमणः, रजते मानुषः। उदीच्यां स्फटिके सुदर्शनः, अङ्केऽमोघः, प्रवाले सुप्रबुद्धः। पूर्वोत्तरस्यां वज्रे हनुमान्। पूर्वदक्षिणस्यां तपनीये स्वातिः। चतसृषु विदिक्षु पुनरिमानि चत्वारि कूटानि रत्न-सर्वरत्न-वैलम्ब-प्रभञ्जननामानि पूर्वकूटपरिमाणानि। निषधाद्रिस्पृष्टभागे पूर्वदक्षिणस्यां रत्ने पन्नगेन्द्रो वेणुदेवः। नीलाद्रिस्पृष्टभागे पूर्वोत्तरस्यां सर्वरत्ने सुपर्णेन्द्रो वेणुतालिः। निषधाद्रिस्पृष्टभागेऽपरदक्षिणस्यां वैलम्बकूटे वातेन्द्रो वैलम्बः। नीलाद्रिस्पृष्टभागेऽपरोत्तरस्यां प्रभञ्जनकूटे वातेन्द्रः प्रभञ्जनो निवसति।

अत्राह—किमर्थं जम्बूद्वीपधराधरादिसंख्या द्विरावृत्ता पुष्करार्धे कथ्यते, न पुनः कृत्स्न एव पुष्करद्वीपे इति ? अत्रोच्यते—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

यस्मात् प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्या न बहिः, ततो न बहिः पूर्वोक्तक्षेत्रविभागोऽस्ति। अथवा, उक्तमिन्द्रियविकल्पाधिकारे #"कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि" [त० सू० २। २३] इति ; तत्र न ज्ञायते क्व मनुष्या इति ? अतस्तदधिकरणविशेष-

१–द्धक्षेत्रमपनी– आ०, ब०, द०, मु०। २ –हाः विहि– आ०, ब०, द०, मु०। ३ एवास्य द्वी– आ०, ब०, द०, मु०। ४ –रको नाम– मू०, श्र०। ५ –णावृतानि मू०, श्र०। ६ –नकाञ्चनमूल– ता०, श्र०, मू०।

प्रतिपत्त्यर्थमुच्यते–जम्बूद्वीपादारभ्य प्राङ् मानुषोत्तरात् मनुष्या न बहिरिति । व्याख्यातो मानुषोत्तराद्रिः । नास्मादुत्तरं कदाचिदपि विद्याधराः ऋद्धिप्राप्ता अपि मानुषा गच्छन्ति अन्यत्रोपपादसमुद्घाताभ्याम्, ततोऽस्याऽन्वर्थसंज्ञा ।

एवं द्विगुणद्विगुणवलयविष्कम्भेषु द्वीपसमुद्रेषु गतेष्वष्टमो नन्दीश्वरो द्वीपः । तस्य वलयविष्कम्भः कोटिशतं त्रिषष्टिकोट्यः चतुरशीतिश्च योजनशतसहस्राणि । तत्परिधिः द्वे कोटिसहस्रे द्विसप्ततिकोट्यः त्रयस्त्रिंशच्छतसहस्राणि चतुःपञ्चाशत्सहस्राण्येकशतं नवतियोजनानि गव्यूतं च साधिकम् । तद्बहुमध्यदेशभाविनश्चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽञ्जनगिरयः योजनसहस्रावगाहाश्चतुरशीतियोजनसहस्रोत्सेधाः मूलमध्याग्रेषूत्सेधसमायामविष्कम्भाः पटहाकाराः । तेषां चतसृषु दिक्षु तिर्यगेकं योजनशतसहस्रमतीत्य प्रत्येकं चतस्रो वाप्यो भवन्ति । तत्र पौरस्त्याञ्जनगिरेः नन्दा-नन्दवती-नन्दोत्तरा-नन्दिघोषासंज्ञा योजनसहस्रावगाहा[1] योजनशतसहस्रायामविष्कम्भाश्चतुष्कोणा मत्स्यकच्छपादिजलचरविरहिताः पद्मोत्पलादिजलरुहकुसुमसञ्छादितस्फटिकमणिस्वच्छगम्भीरनीराः । प्राच्यां दिशि नन्दा शक्रस्य, अपाच्यां नन्दावती ऐशानस्य, प्रतीच्यां नन्दोत्तरा चमरस्य, उदीच्यां नन्दिघोषा वैरोचनस्य । दाक्षिणात्याञ्जनगिरेर्विजया वैजयन्ती जयन्ती अपराजिता चेति चतस्रो वाप्यः पूर्वोक्तप्रमाणवर्णनाः शक्रलोकपालानाम् । प्राच्यां दिशि विजया वरुणस्य, अपाच्यां वैजयन्ती यमस्य, प्रतीच्यां जयन्ती सोमस्य, उदीच्यामपराजिता वैश्रवणस्य । पाश्चात्याञ्जनगिरेरशोका सुप्रबुद्धा कुमुदा पुण्डरीकिणी चेति चतस्रो वाप्यः पूर्वोक्तप्रमाणवर्णनाः । पूर्वस्यां दिशि अशोका वेणुदेवस्य, दक्षिणस्यां [2]सुप्रबुद्धा वेणुता[3]लेः, अपरस्यां कुमुदा वरुणस्य, उत्तरस्यां पुण्डरीकिणी भूतानन्दस्य । उदीच्याञ्जनगिरेः प्रभङ्करा सुमना आनन्दा सुदर्शना चेति चतस्रो वाप्यः पूर्वोक्तप्रमावर्णना ऐशानलोकपालानाम्[4] । प्राच्यां दिशि प्रभङ्करा वरुणस्य, अपाच्यां सुमना यमस्य, प्रतीच्याम्[4] आनन्दा सोमस्य, उदीच्यां सुदर्शना वैश्रवणस्य । षोडशानामप्यासामभ्यन्तरान्तराणि पञ्चषष्टिसहस्राणि योजनानां पञ्चशतानि पञ्चचत्वारिंशानि । मध्यान्तराणि एकं शतसहस्रं योजनानां चत्वारिंशत्सहस्राणि [5]षट् च शतानि द्वियोजनोत्तराणि । बाह्यान्तराणि द्वे शतसहस्रे योजनानां त्रयोविंशतिसहस्राणि षट् च शतान्येकषष्टयुत्तराणि । षोडशानामपि तासां मध्येषु सहस्रावगाहा मूलमध्याग्रेषु दशयोजनसहस्रायामविष्कम्भाः तावदुत्सेधाः पटहाकाराः जाम्बूनदमयाः, अर्जुनसुवर्णशिखरत्वाद् दधिमुखा इति [6]कृत्वा अन्वर्थसंज्ञाः षोडश नगवराः । परितस्ता वापीः चत्वारि वनानि प्रत्येकमशोक-सप्तपर्ण-चम्पक-चूतनामानि वापीसमायामानि तदर्धविष्कम्भाणि ।

पूर्वेणाऽशोकवनं दक्षिणतः सप्तपर्णवनमाहुः ।
अपरेण चम्पकवनमुत्तरतश्चूतवृक्षवनम् ॥१॥

एतद्वापीकोणसमीपस्थाः प्रत्येकं चत्वारो नगा रतिकराख्या अर्धतृतीययोजनशतावगाहा एकयोजनसहस्रोत्सेधा मूलमध्याग्रेषु तावदायामविष्कम्भाः पटहाकाराः काञ्चनमणिपरिणामाः । सर्वे ते समुदिताश्चतुःषष्टिः । तत्र ये अभ्यन्तरकोणस्था द्वात्रिंशन्नगा देवानामाक्रीडनस्थानैरलङ्कृताः । ये बाह्यकोणस्थाः द्वात्रिंशद्रतिकरा अञ्जनाद्रयो दधिमुखाश्च

१ –हाः चतुरशीतियोजनसहस्रावगाहाः भा० २ । २–सुप्रसिद्धा आ०, दि० । ३ –तालस्य आ०, ब०, द०, मु० । ४ –च्यां नन्दा श्र० । ५ षट्शतानि आ०, ब०, द०, मु० । ६ कृत्वान्वर्थ–आ०, ब०, द० मु०, ता० ।

तेषां द्विपञ्चाशदुपरि बहुमध्यदेशभावीनि प्राङ्मुखानि योजनशतायामतदर्धविष्कम्भाणि पञ्चसप्ततियोजनोत्सेधानि अष्टयोजनोत्सेधतदर्धविस्तारतावत्प्रवेशपूर्वोत्तरदक्षिणद्वाराणि द्विपञ्चाशदर्हदायतनानि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि चातुर्मासिकमहामहिमार्हाणि । पूर्वोक्तचतुःषष्टिवनषण्डबहुमध्यदेशभाविनो द्विषष्टियोजनोत्सेधा एकत्रिंशद्योजनायामविष्कम्भा अष्टयोजनोत्सेधतदर्धविस्तारद्वाराश्चतुःषष्टिरेव प्रासादाः । एतेष्वशोकवनावतंसकादयः[1] पल्योपमायुषः दशकार्मुकोत्सेधाः [2]स्वभवननामानो देवा [3]निवसन्ति ।

एवं द्विगुणवलयविष्कम्भेषु द्वीपसमुद्रेषु गतेष्वेकादशमः कुण्डलवरद्वीपः । तद् बहुमध्यदेशभाविवलयाकारः संपूर्णयवराश्युपमानः कुण्डलनगः योजनसहस्रावगाहः द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रोत्सेधः [4]द्वाविंशदशसहस्रयोजनमूलविस्तारः त्रयोविंशसप्तसहस्रयोजनमध्यविस्तारः चतुर्विंशचतुर्योजनसहस्राग्रविस्तारः । तस्योपरि पूर्वादिदिग्विभावीनि वज्र-वज्रप्रभ-कनक-कनकप्रभ - रजत-रजतप्रभ-सुप्रभ-महाप्रभ-अङ्क-अङ्कप्रभ-मणि - मणिप्रभ-स्फटिक-स्फटिकप्रभ-हिमवत्-महेन्द्रकूटसंज्ञानि षोडश कूटानि मानुषोत्तरकूटतुल्यप्रमाणानि एकैकस्यां दिशि चत्वारि चत्वार्यवसेयानि । पूर्वस्यां दिशि वज्रे त्रिशिराः, वज्रप्रभे पञ्चशिराः, कनके महाशिराः, कनकप्रभे महाभुजः । अपाच्यां रजते पद्मः, रजतप्रभे पद्मोत्तरः, सुप्रभे महापद्मः, महाप्रभे वासुकिः । अपरस्यामङ्के स्थिरहृदयः, अङ्कप्रभे महाहृदयः, मणिकूटे श्रीवृक्षः, मणिप्रभे स्वस्तिकः । उदीच्यां स्फटिके सुन्दरः, स्फटिकप्रभे विशालाक्षः, हिमवति पाण्डुरः, महेन्द्रे पाण्डुकः । एते त्रिशिरःप्रभृतयः पाण्डुकान्ताः षोडशापि नागेन्द्राः पल्योपमायुषः । पूर्वापरयोर्दिशोः कुण्डलनगे एकयोजनसहस्रोत्सेधे तावन्मूलविष्कम्भे अर्धाष्टमशतमध्यविष्कम्भे पञ्चशताग्रविष्कम्भे कुण्डलवरद्वीपाधिपतेरावासौ द्वे कूटे । तस्यैवोपरि [5]पूर्वादिषु दिक्षु चत्वार्यर्हदायतनानि अञ्जनाद्रिजिनायतनतुल्यप्रमाणानि ।

कुण्डलवरद्वीपद्विगुणवलयविष्कम्भः कुण्डलवरोदः, तद्द्विगुणवलयविष्कम्भः शङ्खवरद्वीपः, तद्द्विगुणवलयविष्कम्भः शङ्खवरोदः तद्द्विगुणवलयविष्कम्भः रुचकवरद्वीपः । तद्बहुमध्यदेशभावी वलयाकार रुचकवरनगः एकयोजनसहस्रावगाहश्चतुरशीतियोजनसहस्रोत्सेधः, मूलमध्याग्रेषु द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रविस्तारः । तस्योपरि पूर्वादिषु दिक्षु चत्वारि कूटानि नन्द्यावर्त[6]-स्वस्तिक-श्रीवृक्ष-वर्धमानसंज्ञानि पञ्चयोजनशतोत्सेधानि मूलमध्याग्रेषु योजनसहस्रायामविष्कम्भाणि । प्राच्यां दिशि नन्द्यावर्ते पद्मोत्तरः, अपाच्यां स्वस्तिके सुहस्ती, प्रतीच्यां श्रीवृक्षे नीलः, उदीच्यां वर्धमानेऽञ्जनगिरिः । त एते पद्मोत्तरादयः चत्वारो दिग्गजेन्द्राः पल्योपमायुषः । तस्यैवोपरि पूर्वस्यां दिशि वैडूर्य-काञ्चन-कनक-अरिष्ट-दिक्स्वस्तिक-नन्दन-अञ्जन-अञ्जनमूलकनामान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्यप्रमाणानि । वैडूर्ये विजया, काञ्चने वैजयन्ती, कनके जयन्ती, अरिष्टेऽपराजिता, दिक्स्वस्तिके नन्दा, नन्दने नन्दोत्तरा, अञ्जने आनन्दा, अञ्जनमूलके नान्दी[7]वर्धना । एता दिक्कुमार्यः तीर्थकरजन्मकाले इहाऽऽगत्याऽर्हन्मातृसमीपे भृङ्गारान् गृहीत्वाऽवतिष्ठन्ते । दक्षिणस्याममोघ-सुप्रबुद्ध-मन्दिर-विमल-रुचक-रुचको[8]त्तर-चन्द्र-सुप्रतिष्ठसंज्ञान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्य-

१ सप्तपर्णवनावतंसकेत्यादि योज्यम् । २ स्वस्ववनना– आ०, ब०, द०, मु० । ३ वसन्ति श्र० । ४ द्वात्रिंशत् भा० २ । ५ पूर्वादिदिक्षु आ०, ब० द०, मु० । ६ –र्तक स्व– आ०, द०, मु०, श्र०, मू० । ७ –वर्धमाना श्र०, ता० । ८ –त्तमच– श्र०, म० ।

प्रमाणानि । अमोघे सुस्थिता, सुप्रबुद्धे सुप्रणिधिः, मन्दिरे सुप्रबुद्धा, विमले यशोधरा, रुचके लक्ष्मीमती, रुचकोत्तरे कीर्त्तिमती, चन्द्रे वसुन्धरा, सुप्रतिष्ठे चित्रा । एता दिक्कुमार्यः इहाऽऽगत्याऽर्हन्मातृसमीपे आदर्शधारिण्योऽवतिष्ठन्ते । अपरस्यां लोहिताक्ष-जगत्कुसुम-पद्म-नलिन-कुमुद-सौमनस-यशोभद्राख्यान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्यप्रमाणानि । लोहिताक्षे इलादेवी, जगत्कुसुमे सुरादेवी, पद्मे पृथिवी, नलिने पद्मावती, कुमुदे काननी, सौमनसे [1]नवमिका, यशसि यशस्विनी, भद्रकूटे भद्रा । एता दिक्कुमार्य इहाऽऽगत्याऽर्हन्मातृसमीपे छत्राणि धारयन्त्यो गायन्त्य आसते । उदीच्यां स्फटिक-अङ्क-अञ्जन-काञ्चन-रजत-कुण्डल-रुचिर-सुदर्शनसंज्ञान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्यप्रमाणानि । स्फटिकेऽलंभूषा, अङ्के मिश्रकेशी,[2] अञ्जने पुण्डरीकिणी, काञ्चने वारुणी, रजत आशा, कुण्डले ह्री, [3]रुचिरे श्रीः, सुदर्शने धृतिरिति । एता दिक्कुमार्यः प्रगृहीतचामरा अर्हन्मातृः सेवन्ते । पूर्वादिषु दिक्षु पुनरपराणि चत्वारि कूटानि-विमल-नित्यालोक-स्वयंप्रभ-नित्योद्योतसंज्ञानि । पूर्वस्यां दिशि विमले चित्रा, दक्षिणस्यां नित्यालोके कनकचित्रा, अपरस्यां स्वयंप्रभे त्रिशिराः, उत्तरस्यां नित्योद्योते सूत्रमणिः । एता [4]विद्युत्कुमार्यः इहाऽऽगत्य जिनमातृसमीपे भास्करवदुद्योतं कुर्वन्त्य आसते । विदिक्षु चत्वारि कूटानि वैडूर्य-रुचक-मणिप्रभ-रुचकोत्तमनामानि । पूर्वोत्तरस्यां वैडूर्ये रुचका, पूर्वदक्षिणस्यां रुचके रुचकाभा, अपरदक्षिणस्यां मणिप्रभे रुचकान्ता, अपरोत्तरस्यां रुचकोत्तमे रुचकप्रभा एता दिक्कुमारीमहत्तरिकाः । विदिक्षु पुनरपराणि चत्वारि कूटानि रत्न-रत्नप्रभ-सर्वरत्न-रत्नोच्चयाख्यानि । पूर्वोत्तरस्यां रत्ने विजया, पूर्वदक्षिणस्यां रत्नप्रभे वैजयन्ती, अपरदक्षिणस्यां सर्वरत्ने जयन्ती, अपरोत्तरस्यां रत्नोच्चये अपराजिता । एता [5]विदिक्कुमारीमहत्तरिकाः । एता अष्टावपि महत्तरिका इह आगत्य तीर्थकराणां जातकर्माणि कुर्वन्ति । तान्येतानि [6]विदिक्कुमारीणां महत्तरिकाणां च कूटानि द्वादशाप्येकयोजनसहस्रोत्सेधानि मूलमध्याग्रेषु एकसहस्राऽर्धाऽष्टमशतपञ्चशतविस्तारानि । रुचकनगस्योपरि चतसृषु दिक्षु चत्वार्यर्हदायतनानि प्राङ्मुखान्यञ्जनाद्रिजिनालयतुल्यप्रमाणानि । एवं द्विगुणद्विगुण-वलयविष्कम्भा असंख्येया द्वीपसमुद्रा वेदितव्याः ।

यो मानुषोत्तराद्विरुक्तः तस्मात्प्राग्भवन्तः गतिनामापेक्षाभिधानाः पूर्वोदिता द्विविधाः कथमिति चेत् ? उच्यते–

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

आर्या द्विविधा ऋद्धिप्राप्तेतरविकल्पात् ।१। गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते सेव्यन्ते इत्यार्याः । ते द्विविधाः ऋद्धिप्राप्तार्याः, अनृद्धिप्राप्तार्याश्चेति ।

अनृद्धिप्राप्तार्याः पञ्चविधाः क्षेत्रजातिकर्मचारित्रदर्शनभेदात् ।२। ये अनृद्धिप्राप्तार्यास्ते पञ्चविधा भवन्ति–क्षेत्रार्याः जात्यार्याः कर्मार्याः चारित्रार्याः दर्शनार्याश्चेति । तत्र क्षेत्रार्याः काशीकोशलादिषु जाताः । इक्ष्वाकुज्ञातिभोजादिषु कुलेषु जाता जात्यार्याः । कर्मार्यास्त्रेधा–सावद्यकर्मार्या अल्पसावद्यकर्मार्या असावद्यकर्मार्याश्चेति । सावद्यकर्मार्याः

१ –से वनिका– भा० २ । २ –केशा आ०, ब०, द०, मु० । ३ रुचके आ०, ब० द०, मू०, ता०, श्र० । ४ दिक्कुमार्यः श्र० । ५ विद्युत्कुमारिमह– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ६ विद्युत्कुमा– आ०, ब०, द,० मु० मू० ।

षोढा–असि-मषी-कृषि-विद्या-शिल्प-वणिक्कर्मभेदात् । असिधनुरादिप्रहरणप्रयोगकुशला असि-कर्मार्याः । द्रव्यायव्ययादिलेखननिपुणा मषीकर्मार्याः । [1]हलकुलिदन्तालकादिकृष्युपकरण-विधानविदः कृषीबलाः कृषिकर्मार्याः । आलेख्यगणितादिद्विसप्ततिकलावदाता[2] विद्या-कर्मार्याः [3]चतुःषष्टिगुणसम्पन्नाश्च । रजकनापिताऽयस्कारकुलालसुवर्णकारादयः शिल्प-कर्मार्याः । चन्दनादिगन्धवृतादिरसशाल्यादिधान्यकार्पासाद्याच्छादनमुक्तादिनानाद्रव्यसंग्रह-कारिणो बहुविधा वणिक्कर्मार्याः । षडप्येते अविरतिप्रवणत्वात् सावद्यकर्मार्याः, अल्पसावद्य-[4]कर्मार्याः श्रावकाः श्राविकाश्च विरत्यविरतिपरिणतत्वात्, असावद्यकर्मार्याः संयताः, कर्मक्षयार्थो-द्यतविरतिपरिणतत्वात् । चारित्रार्या द्वेधा [5]अधिगतचारित्रार्याः [6]अनधिगमचारित्रार्याश्चेति । तद्भेदः अनुपदेशोपदेशापेक्ष[7]भेदकृतः । चारित्रमोहस्योपशमात् क्षयाच्च बाह्योपदेशानपेक्षा आत्मप्रसादादेव चारित्रपरिणामास्कन्दिन उपशान्तकषायाः क्षीणकषायाश्चा[8]ऽधिगतचारित्रार्याः । अन्तश्चारित्रमोहक्षयोपशमसद्भावे सति बाह्योपदेशनिमित्तविरतिपरिणामा [9]अनधिगमचारित्रार्याः । दर्शनार्या दशधा–आज्ञामार्गोपदेशसूत्रबीजसंक्षेपविस्तारार्थावगाढपरमावगाढरुचिभेदात् । तत्र भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीताज्ञामात्रनिमित्तश्रद्धाना आज्ञारुचयः । निःसङ्ग-मोक्षमार्गश्रवणमात्रजनितरुचयो मार्गरुचयः । तीर्थकरबलदेवादिशुभचरितोपदेशहेतुकश्रद्धाना उपदेशरुचयः । प्रव्रज्यामर्यादाप्ररूपणाचारसूत्रश्रवणमात्रसमुद्भूतसम्यग्दर्शनाः सूत्ररुचयः । बीजपदग्रहणपूर्वकसूक्ष्मार्थतत्त्वार्थश्रद्धाना बीजरुचयः । जीवादिपदार्थ[10]समाससंबोधनसमुद्भूतश्रद्धानाः संक्षेपरुचयः । अङ्गपूर्वविषयजीवाद्यर्थविस्तारप्रमाणनयादिनिरूपणोपलब्ध-श्रद्धाना विस्ताररुचयः । वचनविस्तारविरहितार्थग्रहणजनितप्रसादा अर्थरुचयः । आचारादि-द्वादशाङ्गाऽभिनिविष्टश्रद्धाना अवगाढरुचयः । परमावधिकेवलज्ञानदर्शनप्रकाशितजीवाद्य-[11]र्थविषयात्मप्रसादाः परमावगाढरुचयः ।

ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधाः–बुद्धि-क्रिया-विक्रिया-तपः-बल-औषध-रस-क्षेत्रभेदात् ।३। ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधा भवन्ति बुद्ध्यादिविकल्पात् । तत्र बुद्धिरवगमो ज्ञानं तद्विषया अष्टादश-विधाः ऋद्धयः–केवलज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं बीजबुद्धिः कोष्ठबुद्धिः पदानुसारित्वं संभिन्न-श्रोतृत्वं दूरादास्वादनदर्शनस्पर्शनघ्राणश्रवणसमर्थता दशपूर्वित्वं चतुर्दशपूर्वित्वं अष्टाङ्गमहा-निमित्तज्ञतां प्रज्ञाश्रवणत्वं प्रत्येकबुद्धता वादित्वं चेति । तत्र केवलाऽवधिमनःपर्यया व्याख्याताः । सुकृष्टसुमथीकृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्षं बीजमेकमुप्तं यथा अनेकबीज-कोटिप्रदं भवति तथा [12]नोइन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति एकबीजपद-ग्रहणादनेकपदार्थप्रतिपत्तिर्बीजबुद्धिः । कोष्ठागारिकस्थापितानामसंकीर्णानामविनष्टानां भू-यसां धान्यबीजानां यथा कोष्ठेऽवस्थानं तथा परोपदेशादवधारितानाम् अर्थग्रन्थबीजानां भू-यसामव्यतिकीर्णानां बुद्धावववस्थानं कोष्ठबुद्धिः । पदानुसारित्वं त्रेधा–अनुस्रोतः प्रतिस्रोतः उभयथा चेति । एकपदस्यार्थं परत उपश्रुत्यादौ अन्ते च मध्ये वा शेषग्रन्थार्थावधारणं

१ हलकुलीदन्ताल– मू० । हलकुलिशदन्ता– आ०, ब०, द०, मु० । २ कुशलाः । ३ चतुर्णाश्च द० । चतुर्वर्णाश्च आ०, ब०, मु०, । ४ कर्मार्याश्च श्रावका रतिविरतिप– मु०, आ०, ब० । ५ अभिगत– चा– आ०, ब०, द०, मु०, ता०, म० । ६ अनभिगतचा– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –पेक्षाभे– श्र० । ८ –श्चाभिगत– आ०, ब०, द०, मु० ता० । ९ अनभिगतचा– आ०, ब, द०, मु०, ता० । १० –समानस– द० । –सामान्यसं– आ०, ब०, मु० । ११ –विषयप्रसा– आ०, ब, द०, मु० । –विषयार्थप्र– ता० । १२ नोइन्द्रियावरणश्रुतावरण– आ०, ब०, मु० ।

पदानुसारित्वम् । द्वादशयोजनायामे नवयोजनविस्तारे चक्रधरस्कन्धावारे गजवाजिखरोष्ट्र-मनुष्यादीनाम् अक्षरानक्षररूपाणां नानाविधशब्दानां युगपदुत्पन्नानां तपोविशेषबललाभापादितसर्वजीवप्रदेशश्रोत्रेन्द्रियपरिणामात् सर्वेषामेककालग्रहणं संभिन्नश्रोतृत्वम् । तपःशक्तिविशेषाविर्भावितासाधारणरसनेन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षस्य अवधृतनवयोजनक्षेत्राद् बहिर्बहुयोजनविप्रकृष्टक्षेत्रादायातस्य रसस्याऽऽस्वादनसामर्थ्यम् । एवं शेषेष्वपि इन्द्रियविषयेषु अवधृतक्षेत्राद् बहिर्बहुयोजनप्रकृष्टदेशादायातेषु ग्रहणसामर्थ्यं योज्यम् । महारोहिण्यादिभिस्त्रिराग[1]ताभिः प्रत्येकमात्मीयरूपसामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिर्विद्यादेवताभिरविचलितचारित्रस्य दशपूर्वदुस्तरसमुद्रोत्तरणं दशपूर्वित्वम् । संपूर्णश्रुतकेवलिता चतुर्दशपूर्वित्वम् ।

अष्टौ महानिमित्तानि अन्तरिक्ष-भौम-अङ्ग-स्वर-व्यञ्जन-लक्षण-छिन्न-स्वप्ननामानि । तत्र रविशशिग्रहनक्षत्रभगणोदयास्तमयादिभिरतीतानागतफलप्रविभागप्रदर्शनमन्तरिक्षम् । भुवो घनशुषिरस्निग्धरूक्षादिविभावनेन पूर्वादिदिक्सूत्रनिवासेन वा वृद्धिहानिजयपराजयादिविज्ञानं भूमेरन्तर्निहितसुवर्णरजतादिसंसूचनं च भौमम् । अङ्गप्रत्यङ्गदर्शनस्पर्शनादिभिस्त्रिकालभाविसुखदुःखादिविभावन[2]मङ्गम् । अक्षरानक्षरशुभाशुभशब्दश्रवणेनेष्टानिष्टफलाविर्भावनं महानिमित्तं स्वरम् । शिरोमुखग्रीवादिषु तिलकमशकलक्ष्म[3]व्रणादिवीक्षणेन त्रिकालहिताहितवेदनं व्यञ्जनम् । श्रीवृक्षस्वस्तिकभृङ्गारकलशादिलक्षणवीक्षणात् त्रैकालिकस्थानमानैश्वर्यादिविशेषज्ञानं लक्षणम् । वस्त्रशस्त्रछत्रोपानदासनशयनादिषु देवमानुषराक्षसादिविभागैः शस्त्रकण्टकमूषिकादिकृतछेदनदर्शनात् कालत्रयविषयलाभालाभसुखदुःखादिसूचनं छिन्नम् । वातपित्तश्लेष्मदोषोदयरहितस्य पश्चिमरात्रिभागे चन्द्रसूर्यधराद्रिसमुद्रमुखप्रवेशनसकलमहीमण्डलोपगूहनादिशुभघृततैलाक्तात्मीयदेहखरकरभारूढापाग्दिग्मनाद्यशुभस्वप्नदर्शनात् आगामिजीवितमरणसुखदुःखाद्याविर्भावकः स्वप्नः । एतेषु महानिमित्तेषु कौशलमष्टाङ्गमहानिमित्तज्ञता । अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगहने चतुर्दशपूर्विण एव विषयेऽनुयुक्ते[4] अनधीतद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूताऽसाधारणप्रज्ञाशक्तिलाभान्निःसंशयं निरूपणं [5]प्रज्ञाश्रवणत्वम् । परोपदेशमन्तरेण स्वशक्तिविशेषादेव[6] ज्ञानसंयमविधाननिपुणत्वं प्रत्येकबुद्धता । शक्रादिष्वपि प्रतिबन्धिषु सत्स्वप्रतिहततया निरुत्तराभिधानं पररन्ध्रापेक्षणं च वादित्वम् ।

क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विविधा—चारणत्वमाकाशगामित्वं चेति । तत्र चारणा अनेकविधाः जलजङ्घातन्तुपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाद्यालम्बनगमनाः । जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायान् जीवान्[7] विराधयन्तः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशला जलचारणाः । भुव उपर्याकाशे चतुरङ्गुलप्रमाणे जङ्घोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्रकरणपटवो बहुयोजनशताशुगमनप्रवणा जङ्घाचारणाः । एवमितरे च वेदितव्याः । पर्यङ्कावस्थानिषण्णा वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धारनिक्षेपणविधिमन्तरेण आकाशगमनकुशला आकाशगामिनः ।

विक्रियागोचरा ऋद्धिरनेकविधा—अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वमप्रतिघातोऽन्तर्धानं कामरूपित्वमित्येवमादिः । तत्राणुशरीरविकरणमणिमा,

१ —दिभिस्त्रिभिराग— आ०, ब०, मु०, श्र० । २ —नाङ्गम् श्र०, मू० । ३ —क्ष्मव्रह्मणादि— आ०, ब०, द०, मु० । सामुद्रिकलक्षण । ४ पृष्टे । ५ प्रज्ञाश्रमण— आ०, ब०, द०, मु०, श्र० । ६ —ज्ञानसंयमविधानानि— आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ —नविरोध— ता०, श्र० ।

विसच्छिद्रमपि प्रविश्याऽऽसित्वा तत्र च चक्रवर्तिपरिवारविभूतिं सृजेत् । मेरोरपि महत्तरशरीरविकरणं महिमा । वायोरपि लघुतरशरीरता लघिमा । वज्रादपि गुरु[1]तरदेहता गरिमा । भूमौ स्थित्वाऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखरदिवाकरादिस्पर्शनसामर्थ्यं प्राप्तिः । अप्सु भूमाविव गमनं भूमौ जल इवोन्मज्जननिमज्जनकरणं प्राकाम्यम् । त्रैलोक्यस्य प्रभुता ईशित्वम् । सर्वजीववशीकरणलब्धिर्वशित्वम् । अद्रिमध्ये वियतीव [2]गमनागमनमप्रतीघातः । अदृश्यरूपशक्तिताऽन्तर्धानम् । युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्तिः कामरूपित्वमिति ।

तपोऽतिशयर्द्धिः सप्तविधा—उग्र-दीप्त-तप्त-महा-घोर-तपो-वीरपराक्रम-घोरब्रह्मचर्यभेदात् । चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादश[3]पक्षमासाद्यनशनयोगेष्वन्यतमयोगमारभ्य आमरणादनिवर्तका उग्रतपसः । महोपवासकरणेऽपि प्रवर्धमानकायवाङ्मानसबलाः विगन्धरहितवदनाः पद्मोत्पलादिसुरभिनिश्वासा अप्रच्युतमहादीप्तिशरीरा दीप्ततपसः । तप्तायसकटाहपतितजलकणवदाशुशुष्कालपाहारतया मलरुधिरादिभावपरिणामविरहिताभ्यवहाराः तप्ततपसः । सिंहनिष्क्रीडितादिमहोपवासानुष्ठानपरायणायतयो महातपसः । वातपित्तश्लेष्मसन्निपातसमुद्भूतज्वरकासश्वासाक्षिशूलकुष्ठप्रमेहादिविविधरोगसन्तापितदेहा अपि अप्रच्युताऽनशनकायक्लेशादितपसो भीमश्मशानाद्रिमस्तकगुहादरीकन्दरशून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयक्षराक्षसपिशाच[4]प्रनृत्तवेतालरूपविकारेषु पुरुषशिवारुतानुपरतसिंहव्याघ्रादिव्यालमृगभीषणस्वनघोरचौरादिप्रचरितेष्वभिरुचितावासाश्च घोरतपसः । त एव गृहीततपोयोगवर्धनपरा घोरपराक्रमाः । चिरोषिताऽस्खलितब्रह्मचर्यवासाः प्रकृष्टचारित्रमोहनीयक्षयोपशमात् प्रणष्टदुःस्वप्ना घोरब्रह्मचारिणः ।

बलालम्बना ऋद्धिस्त्रिविधा—[5]मनोवाक्कायभेदात् । तत्र मनःश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतार्थचिन्तनेऽवदाता मनोबलिनः । मनोजिह्वाश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशये सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्थाः सततमुच्चैरुच्चारणे सत्यपि श्रमविरहिता अहीनकण्ठाश्च वाग्बलिनः । वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूताऽसाधारणकायबलत्वात् मासिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रमक्लमविरहिताः कायबलिनः ।

औषधर्द्धिरष्टविधा—असाध्यानामप्यामयानां सर्वेषां विनिवृत्तिहेतुरामर्शक्ष्वेलजल्लमलविट्सर्वौषधिप्राप्तास्याविषदृष्टचविषविकल्पात् । आमर्शः संस्पर्शः, यदीयहस्तपादाद्यामर्श औषधिप्राप्तो यैस्ते आमर्शौषधिप्राप्ताः । क्ष्वेलो निष्ठीवनमौषधिर्येषां ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ताः । स्वेदालम्बनो रजोनिचयो जल्लः, स औषधिप्राप्तो येषां ते जल्लौषधिप्राप्ताः । कर्णदन्तनासाक्षिसमुद्भवं मलं औषधिप्राप्तं येषां ते मलौषधिप्राप्ताः । विड्उच्चार औषधिर्येषां ते विडौषधिप्राप्ताः । अङ्गप्रत्यङ्गनखदन्तकेशादिरवयवः तत्संस्पर्शी वाय्वादिस्सर्व औषधिप्राप्तो येषां ते सर्वौषधिप्राप्ताः । उग्रविषसंपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषीभवति यदीयास्यनिर्गतवचःश्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषाः । येषामालोकनमात्रादेवातितीव्रविषदूषिता अपि सन्तः विगतविषा भवन्ति ते दृष्टचविषाः ।

रसर्द्धिप्राप्तार्याः षड्विधाः—आस्यविषा दृष्टिविषाः क्षीरास्रविणः मध्वास्रविणः सर्पिरास्रविणः अमृतास्रविणश्चेति । प्रकृष्टतपोबला यतयो यं ब्रुवते म्रियस्वेति स तत्क्षण एव महाविष-

१ —तरशरीरता आ०, ब०, द०, मु० । २ —गमनमप्र— श्र०, मू० । ३ —दशमय— श्र० । ४ —चप्रवृत्तवे— आ०, ब०, द०, मू०, ता० । ५ —स्त्रिधा आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

परीतो म्रियते, ते आस्यविषाः। उत्कृष्टतपसो यतयः क्रुद्धा यमीक्षन्ते स तदैवोग्रविषपरीतो म्रियते ते दृष्टिविषाः। विरसमप्यशनं येषां पाणिपुटनिक्षिप्तं क्षीररसगुणपरिणामि जायते, येषां वा वचनानि क्षीरवत्क्षीणानां सन्तर्पकाणि भवन्ति ते क्षीरास्रविणः। येषां पाणिपुटपतित आहारो नीरसोऽपि मधुरसवीर्यपरिणामो भवति, येषां वचांसि श्रोतृणां दुखार्दितानामपि मधुगुणं पुष्णन्ति ते मध्वास्रविणः। येषां पाणिपात्रगतमन्नं रूक्षमपि सर्पीरसवीर्यविपाकानाप्नोति, सर्पिरिव वा येषां भाषितानि प्राणिनां संतर्पकाणि भवन्ति ते सर्पिरास्रविणः। येषां पाणिपुटप्राप्तं भोजनं यत्किञ्चिदमृततामास्कन्दति, येषां वा व्याहृतानि प्राणिनाम् अमृतवदनुग्राहकाणि भवन्ति तेऽमृतास्रविणः।

क्षेत्रर्द्धिप्राप्तार्या द्वेधा—अक्षीणमहानसा अक्षीणमहालयाश्चेति। लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनाच्चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुञ्जीत तद्दिवसे नान्नं क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः। अक्षीणमहालयलब्धिप्राप्ता यतयो यत्र वसन्ति देवमनुष्यतैर्यग्योना यदि सर्वेऽपि तत्र निवसेयुः परस्परमबाधमानाः सुखमासते। त एते सर्वे ऋद्धिप्राप्तार्याः।

म्लेच्छा द्विविधा अन्तरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति ।४। म्लेच्छा द्विविधा वेदितव्याः—अन्तरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति। तत्रान्तरद्वीपाः लवणोदधेरष्टासु दिक्ष्वष्टौ, [1]तदन्तरेषु चाष्टौ। हिमवच्छिखरिणोरुभयोश्च विजयार्धयोरन्तेष्वष्टौ। तत्र दिक्षु द्वीपा वेदिकायास्तिर्यक्पञ्चयोजनशतानि प्रविश्य भवन्ति। विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपाः पञ्चाशेषु पञ्चयोजनशतेषु गतेषु भवन्ति। शैलान्तेषु द्वीपाः षट्षु योजनशतेषु गतेषु भवन्ति। दिक्षु द्वीपाः शतयोजनविस्तीर्णाः, विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपाः तदर्धविष्कम्भाः। शैलान्तेषु पञ्चविंशतियोजनविस्ताराः। तत्र पूर्वस्यां दिशि एकोरुकाः। अपरस्यां लाङ्गूलिनः। उत्तरस्यामभाषकाः। दक्षिणस्यां विषाणिनः। शशकर्णशष्कुलीकर्णकर्णप्रावरणलम्बकर्णाः विदिक्षु। अश्व-सिंह-श्व-महिष-वराह-व्याघ्र-उलूक-कपिमुखा अन्तरेषु। मेघविद्युन्मुखाः शिखरिण उभयोरन्तयोः। मत्स्यमुखाः कालमुखा हिमवत उभयोरन्तयोः। हस्तिमुखादर्शमुखा उत्तरविजयार्धस्योभयोरन्तयोः। गोमुखमेषमुखा दक्षिणविजयार्धस्योभयोरन्तयोः। एकोरुका मृदाहारा गुहावासिनः शेषाः पुष्पफलाहाराः वृक्षवासिनः। सर्वे ते पल्योपमायुषः। ते चतुर्विंशतिरपि द्वीपा जलतलादेकयोजनोत्सेधाः। तथा कालोदेऽपि वेदितव्याः। त एते अन्तरद्वीपजा म्लेच्छाः। कर्मभूमिजाश्च शक-यवन-शबर-पुलिन्दादयः।

काः पुनः कर्मभूमय इति ? अत आह—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

अथवा, मोक्षमार्गस्त्रितयः प्रकृतः। स किं सर्वेषु क्षेत्रेषु भवति ? न इत्याह कर्मभूमिष्वेव। कुत एतत् ? भोगभूमिषु हि यद्यपि मनुष्याणां ज्ञानदर्शने स्तः चारित्रं तु नास्ति अविरतभोगपरिणामित्वात्। यद्येवं कास्ताः कर्मभूमयः इति ? अतस्तत्प्रतिपादनार्थमिदमुच्यते।

कर्मभूमय इति विशेषणानुपपत्तिः सर्वत्र कर्मणो व्यापारात् ।१। अष्टविधस्य कर्मणो बन्धस्तत्फलानुभवनं च सर्वेष्वेव मनुष्यक्षेत्रेषु साधारणः। अतः कर्मभूमय इति विशेषणं नोपपद्यते ?

[1] तदन्तरे चाष्टौ आ०, ब०, द०, मु०।

न वा; प्रकृष्टशुभाशुभकर्मोपार्जननिर्जराधिष्ठानोपपत्तेः ।२। न वा एष दोषः। किं कारणम् ? यतः प्रकृष्टं शुभकर्म सर्वार्थसिद्धिसौख्यप्रापकं तीर्थकरत्वम[2]र्द्धिनिर्वर्तकं [3]वा असाधारणम्। अशुभकर्म च प्रकृष्टं कलङ्कलपृथिवीमहादुःखप्रापकम् अप्रतिष्ठाननरकगमनं च कर्मभूमिष्वेवोपार्ज्यते द्रव्य-भव-क्षेत्र-काल-भावापेक्षत्वात् कर्मबन्धस्य। [4]सकलसंसारकारणनिर्जराकर्म चात्रैव प्रवर्तते। [5]ततो भरतादिष्वेव कर्मभूमय इति युक्तो व्यपदेशः।

षट्कर्मदर्शनाच्च ।३। षण्णां कर्मणाम् असि-कृषि-मषी-विद्या-वणिक्-शिल्पानामत्रैव दर्शनाच्च कर्मभूमिव्यपदेशो युक्तिमान्।

अन्यत्रशब्दः परिवर्जनार्थः ।४। यथा 'न क्वचित्सर्वदा सर्वविस्रम्भगमनं नयः अन्यत्र धर्मात्' तस्य अन्यो मार्ग एव न विद्यते इति धर्मं वर्जयित्वा अर्थकामयोरविस्रम्भगमनं नयः, धर्मे तु विस्रम्भ एव कार्य इति, एवमिहापि 'विदेहाः कर्मभूमयः' इत्युक्ते विदेहाभ्यन्तरत्वाद्देवकुरूत्तरकुरूणामपि कर्मभूमित्वप्रसङ्गे अन्यत्रवचनाद् देवकुरूत्तरकुरुभ्योऽन्ये विदेहाः कर्मभूमयः, देवकुरूत्तरकुरवो हैमवतादयश्च भोगभूमय इति वेदितव्याः[6]।

सर्वास्वेव भूमिषु मनुष्याणां स्थितिपरिच्छेदार्थमाह—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

यथासंख्यमभिसंबन्धः ।१। त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्तयोर्यथासंख्यमभिसंबन्धो वेदितव्यः—परा नृस्थितिः त्रिपल्योपमा, अपरा अन्तर्मुहूर्ता इति। त्रीणि पल्यानि उपमा यस्याः स्थितेः सा त्रिपल्योपमा। अन्त[7]र्गतो मुहूर्तो यस्याः सा अन्तर्मुहूर्ता। अत्राह-किमिदं पल्यं नाम इति ? उच्यते—तत्परिच्छेदः प्रमाणविधिनिर्णयपुरस्सर इति प्रमाणविधिरेव तावदुच्यते।

प्रमाणं द्विविधं लौकिकलोकोत्तरभेदात् ।२। लौकिकं लोकोत्तरमिति प्रमाणं द्वेधा विभज्यते।

लौकिकं षोढा मानोन्मानावमानगणनाप्रतिमानतत्प्रमाणभेदात् ।३। लौकिकं मानं षोढा विभज्यते-मानमुन्मानमवमानं गणना प्रतिमानं तत्प्रमाणं चेति। तत्र मानं द्वेधा—रसमानं बीजमानं चेति। घृतादिद्रव्यपरिच्छेदकं षोडशिकादि रसमानम्। कुडवादि बीजमानम्। कुष्ठतगरादिभाण्डं येनोत्क्षिप्य मीयते तदुन्मानम्। निवर्तनादिविभागेन क्षेत्रं येनावगाह्य मीयते तदवमानं दण्डादि। एकद्वित्रिचतुरादिगणितमानं गणनामानम्। [8]पूर्वमानापेक्षं मानं प्रतिमानं[9] प्रतिमल्लवत्। चत्वारि [10]महिधिकातृणफलानि श्वेतसर्षप एकः, षोडशसर्षपफलानि

[2] -र्द्धिनि- श्र०। [3] -चासा- आ०, ब०, मु०। [4] सकलं च सं- आ०, ब०, द०, मु०। [5] अतो आ०, ब०, मु०। [6] अत्र कश्चिदाह यदि प्रोक्तलक्षणविशेषसद्भावात् भरतादीनामेव कर्मभूमित्वं प्रतिपाद्यते तर्हि स्वयम्भूरमणजमत्स्यविशेषाणां कथं सप्तमनरकगमनमिति ? उच्यते- स्वयम्भूरमणद्वीपमध्ये अन्तर्द्वीपार्धकारी मानुषोत्तराकृतिः स्वयम्प्रभनगवरो नाम नगो व्यवस्थितः तस्य अर्वाग्भागे आमानुषोत्तरात् भोगभूमिविभागः। तत्र चतुर्गुणस्थानवर्तिनः तिर्यञ्चः सन्ति। परभागे त्वालोकान्तात् कर्मभूमिविभागः। तत्र च पञ्चमगुणस्थानवर्तिनः तिर्यञ्चः सन्ति। ततस्तस्य कर्मभूमित्वात् नोक्तदोषप्रसङ्गः। कथमन्यथा 'तत्र पूर्वकोट्यायुष्कत्वमन्यत्रासंख्येयवर्षायुष्कत्वम्' इत्यागमो घटते। [7] अन्तर्गर्भो मु- आ०, ब०, द०, मु०। "अन्तर्गतोऽपरिपूर्णो मुहूर्त्तो यस्याः सा अन्तर्मुहूर्ता।" -त०, श्रु० ३।३८। [8] प्रागुक्तमानोन्मानापेक्षया प्रतिनिधिरूपमित्यर्थः। [9] तुलान्तयोरेकस्मिन् भाण्डरूपमेयं स्थापयित्वा अन्यतरस्मिन् स्थाप्यं यद् गुञ्जादि यच्च कुडवादिनिश्चायकं पिण्डादि तद्द्वयं प्रतिमानम्। [10] महाधिकतृ- मु०, ब०। महाधिकातृ- आ०। महीधिकातृ- द०। महिदिकातृ- मू०।

धान्यमाषफलमेकम्, द्वे धान्यमाषफले गुञ्जाफलमेकम्, द्वे गुञ्जाफले रूप्यमाष एकः, षोडश-रूप्यमाषकाः धरणमेकम्, अर्धतृतीयधरणानि सुवर्णः, स च कंसः, चत्वारः कंसाः पलम्, पलशतं तुला, अर्धकंसः त्रीणि च पलानि [1]कुडवः, चतुःकुडवः प्रस्थः, चतुःप्रस्थमाढकम्, चतुराढकं द्रोणः, षोडश द्रोणा खारी, विंशति खार्यो वाह इत्यादि [2]मागधकप्रमाणम्। मणिजात्यश्वादेर्द्रव्यस्य दीप्त्युच्छ्रायगुणविशेषादिमूल्यपरिमाणकरणे प्रमाणमस्येति तत्प्रमाणम्। तद्यथा—मणिरत्नस्य दीप्तिर्यावत्क्षेत्रमुपरि व्याप्नोति तावत्प्रमाणं सुवर्णकूटं मूल्यमिति। अश्वस्य च यावानुच्छ्रायस्तावत्प्रमाणं सुवर्णकूटं मूल्यम्। यावता रत्नस्वामिनः परितोषः तावद्रत्नमूल्यम् एवमन्येषामपि द्रव्याणाम्।

लोकोत्तरं चतुर्धा द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्।४। लोकोत्तरं प्रमाणं चतुर्धा भिद्यते। कुतः? द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्। तत्र द्रव्यप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टम् एकपरमाणु द्वित्रिचतुरादिप्रदेशात्मकम् आमहास्कन्धात्। क्षेत्रप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकाकाशद्वित्रिचतुरादिप्रदेशनिष्पन्नमासर्वलोकात्। कालप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकद्वित्रिचतुरादिसमयनिष्पन्नम् आ अनन्तकालात्। भावप्रमाणमुपयोगः साकाराऽनाकारभेदः जघन्यः सूक्ष्मनिगोतस्य, मध्यमोऽन्यजीवानाम्, उत्कृष्टः केवलिनः।

तत्र द्रव्यप्रमाणं द्वेधा संख्योपमाभेदात्।५। संख्याप्रमाणमुपमाप्रमाणं चेति द्वेधा द्रव्यप्रमाणं विभज्यते। तत्र संख्याप्रमाणं त्रिधा संख्येयासंख्येयानन्तभेदात्। तत्र संख्येयप्रमाणं त्रेधा, इतरे द्वे [3]नवधा नवधा ज्ञेये। जघन्यमजघन्योत्कृष्टमुत्कृष्टं चेति संख्येयं त्रिविधम्। संख्येयप्रमाणावगमार्थं जम्बूद्वीपतुल्यायामविष्कम्भा योजनसहस्रावगाहः बुद्ध्या कुशूलाश्चत्वारः कर्तव्याः—शलाका-प्रतिशलाका-महाशलाकाख्यास्त्रयोऽवस्थिताः चतुर्थोऽनवस्थितः। अत्र द्वौ सर्षपौ निक्षिप्तौ जघन्यमेतत्संख्येयप्रमाणम्, तमनवस्थितं सर्षपैः पूर्णं गृहीत्वा कश्चिद् देवः एकैकं सर्षपमेकैकस्मिन् द्वीपे समुद्रे च प्रक्षिपेत् तेन विधिना स रिक्तः। रिक्त इति शलाकाकुशले एकं सर्षपं प्रक्षिपेत्। यत्र अन्त्यसर्षपो निक्षिप्तस्तमवधिं कृत्वा अनवस्थितं कुशूलं परिकल्प्य सर्षपैः पूर्णं कृत्वा ततः परेषु द्वीपसमुद्रेष्वेकैकसर्षपप्रदानेन स रिक्तः कर्तव्यः। रिक्त इति शलाकाकुशूले पुनरेकं प्रक्षिपेत्। अनेन विधिना अनवस्थितकुशूलपरिवर्धनेन शलाकाकुशूले परिपूर्णे, पूर्ण इति प्रतिशलाकाकुशूले एकः सर्षपो निक्षेप्तव्यः। एवं तावत्कर्तव्यो यावत्प्रतिशलाकाकुशूलः परिपूर्णो भवति। परिपूर्णे इति महाशलाकाकुशूले एकः सर्षपः प्रक्षेप्तव्यः। सोऽपि तथैव[4] परिपूर्णः। एवमेतेषु चतुर्ष्वपि पूर्णेषु उत्कृष्टसंख्येयमतीत्य जघन्यपरीतासंख्येयं गत्वैकं रूपं पतितम्, ततः एकस्मिन् रूपे अपनीते उत्कृष्टसंख्येयं भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टसंख्येयम्। यत्र संख्येयेन प्रयोजनं तत्राजघन्योत्कृष्टसंख्येयं ग्राह्यम्।

यदसंख्येयं तत्त्रिविधं परीतासंख्येयं युक्तासंख्येयं असंख्येयासंख्येयं चेति। तत्र परीतासंख्येयं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात्। एवमितरे चाऽसंख्येये भिद्येते।

तथा अनन्तमपि त्रिविधं परीतानन्तं युक्तानन्तं अनन्तानन्तं चेति। तदपि प्रत्येकं पूर्ववत्त्रिधा भेद्यम्। यज्जघन्यपरीतासंख्येयं तद्विरलीकृत्य मुक्तावलीकृता अत्रैकैकस्यां मुक्तायां जघन्यपरीतासंख्येयं देयम्। एवमेतद्गणितम्। प्राथमिकीं मुक्तावलीमपनीय [5]यान्येकैकस्यां मुक्तायां जघन्यपरीतासंख्येयानि दत्तानि तानि संपिण्ड्य मुक्तावली कार्या। ततो यो जघन्य-

१ कुडुवः ता०, श्र०, मू०। २ नागरिकप्र— आ०, ब०, द०, मु०। मागधिकप्र— ता०। ३ नवधा ज्ञेये आ०, ब०, द०, मु०। ४ पूर्णः श्र०, म०। ५ यानेकैकस्याम् श्र०।

परीतासंख्येयसंपिण्डनान्निष्पन्नो राशिः स देयः एकैकस्यां मुक्तायाम्। एवमेतत्संवर्गितम् उत्कृष्टपरीतासंख्येयमतीत्य जघन्ययुक्तासंख्येयं गत्वा[1] पतितम्। अत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टपरीतासंख्येयं भवति। मध्यमजघन्योत्कृष्टपरीतासंख्येयम्। यत्रावलिकया कार्यं तत्र जघन्ययुक्तासंख्येयं ग्राह्यम्। यज्जघन्ययुक्तासंख्येयं तद्विरलीकृत्य मुक्तावली रचिता। तत्रैकैकमुक्तायां जघन्ययुक्तासंख्येयानि देयानि। एवमेतत् सकृद्वर्गितमुत्कृष्टयुक्तासंख्येयमतीत्य जघन्याऽसंख्येयाऽसंख्येयं गत्वा[2] पतितम्, तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टं युक्तासंख्येयं भवति मध्यममजघन्योत्कृष्टयुक्तासंख्येयं भवति। यज्जघन्याऽसंख्येयासंख्येयं तद्विरलीकृत्य पूर्वविधिना त्रीन्वारान् वर्गितसंवर्गितं उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं प्राप्नोति। ततो धर्माधर्मैकजीवलोकाकाशप्रत्येकशरीरजीवबादरनिगोतशरीराणि षडप्येतान्यसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगाविभागपरिच्छेदरूपाणि चासंख्येयलोकप्रदेशपरिमाणान्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयांश्च प्रक्षिप्य पूर्वोक्तराशौ त्रीन्वारान् वर्गितसंवर्गितं कृत्वा उत्कृष्टाऽसंख्येयाऽसंख्येयमतीत्य जघन्यपरीतानन्तं गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टाऽसंख्येयाऽसंख्येयं भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टाऽसंख्येयाऽसंख्येयं भवति। यत्रासंख्येयाऽसंख्येयेन प्रयोजनं तत्राऽजघन्योत्कृष्टाऽसंख्येयाऽसंख्येयं ग्राह्यम्। यज्जघन्यपरीतानन्तं तत्पूर्ववद्वर्गितसंवर्गितमुत्कृष्टपरीतानन्तमतीत्य जघन्ययुक्तानन्तं गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टपरीतानन्तं तद्भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टपरीतानन्तम्। अभव्यराशिप्रमाणमार्गणे जघन्ययुक्तानन्तं ग्राह्यम्। यज्जघन्ययुक्तानन्तं तद्विरलीकृत्यात्रैकैकरूपे जघन्ययुक्तानन्तं दत्त्वा सकृद्वर्गितमुत्कृष्टयुक्तानन्तमतीत्य जघन्यमनन्तानन्तं गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टयुक्तानन्तं भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तम्। यज्जघन्याऽनन्ताऽनन्तं तद्विरलीकृत्य पूर्ववत्त्रीन्वारान् वर्गितसंवर्गितमुत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं न प्राप्नोति, ततः सिद्धनिगोतजीववनस्पतिकायातीताऽनागतकालसमयसर्वपुद्गलसर्वाऽऽकाशप्रदेशधर्माधर्मान्तिकायाऽगुरुलघुगुणानन्तान् प्रक्षिप्य प्रक्षिप्य त्रीन् वारान् वर्गितसंवर्गिते कृते उत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं न प्राप्नोति, ततोऽनन्ते केवलज्ञाने दर्शने च प्रक्षिप्ते उत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं भवति। तत एकरूपेऽपनीतेऽजघन्योत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं भवति। यत्राऽनन्ताऽनन्तमार्गणा[3] तत्राजघन्योत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं ग्राह्यम्।

उपमाप्रमाणमष्टविधं पल्यसागरसूचीप्रतरघनाङ्गुलजगच्छ्रेणीलोकप्रतरलोकभेदात्।६। अन्तादिमध्यहीनः अविभागोऽतीन्द्रियः एकरसवर्णगन्धः द्विस्पर्शः परमाणुः। अनन्तानन्तपरमाणुसंघातपरिमाणादाविर्भूता उत्संज्ञासंज्ञैका। अष्टावुत्संज्ञासंज्ञासंहताः संज्ञासंज्ञैका। अष्टौ संज्ञासंज्ञा एकस्त्रुटिरेणुः। अष्टौ त्रुटिरेणवः संहताः एकस्त्रसरेणुः। अष्टौ त्रसरेणवः संहताः एको रथरेणुः। अष्टौ रथरेणवः संहताः एका देवकुरूत्तरकुरुमनुजकेशाग्रकोटी भवति। ता अष्टौ समुदिता एका रम्यकहरिवर्षमनुजकेशाग्रकोटी भवति। अष्टौ ताः संहताः हैरण्यवतहैमवतमनुजकेशाग्रकोटी भवति। ता अष्टौ संपिण्डिताः भरतैरावतविदेहमनुजकेशाग्रकोटी भवति। ता अष्टौ संहता एका लिक्षा भवति। अष्टौ लिक्षा संहता एका यूका भवति। अष्टौ यूका एकं यवमध्यम्। अष्टौ यवमध्यानि एकमङ्गुलमुत्सेधाख्यम्। एतेन नारकतैर्यग्योनानां देवमनुष्याणामकृत्रिमजिनालयप्रतिमानां च देहोत्सेधो मातव्यः। तदेव पञ्चशतगुणितं

१ —त्वा पतितमेकरूपं तत एकरूपे मु०, आ०, ब०। पतितं तत एकरूपे द०। —त्वा एकरूपपतितम् अतः भा० २। २ —त्वा एकरूपं पति— भा० २। ३ —मार्गणं आ०, ब०, मु०। ४ —गन्धवर्णः मु०, आ०, ब०।

प्रमाणाङ्गुलं भवति । एतदेव चावसर्पिण्यां प्रथमचक्रधरस्याऽऽत्माङ्गुलं भवति । तदानीं तेन ग्रामनगरादिप्रमाणपरिच्छेदो ज्ञेयः । इतरेषु युगेषु मनुष्याणां यद्यदात्माङ्गुलं तेन तेन तदा ग्रामनगरादिप्रमाणपरिच्छेदो ज्ञेयः । यत्तत्प्रमाणाङ्गुलं तेन द्वीपसमुद्रजगतीवेदिकापर्वतविमाननरकप्रस्ताराद्यकृत्रिमद्रव्यायामविष्कम्भादिपरिच्छेदोऽवसेयः । तत्र षडङ्गुलः पादः । द्वादशाङ्गुलो वितस्तिः । द्विवितस्तिः हस्तः । द्विहस्तः किष्कुः । द्विकिष्कुर्दण्डः । द्वे दण्डसहस्रे गव्यूतम् । चतुर्गव्यूतं योजनम् ।

पल्यं त्रिविधं व्यवहारोद्धाराद्धाविकल्पादन्वर्थात् ।७। व्यवहारपल्यम् उद्धारपल्यम् अद्धापल्यमिति त्रिधा पल्यं विभज्यते । अन्वर्थश्चायं विकल्पः । आद्यं व्यवहारपल्यमुत्तरपल्यव्यवहारबीजत्वान्नानेनकिञ्चित्परिच्छेद्यमस्ति । द्वितीयमुद्धारपल्यंतत उद्धृतैर्लोमच्छेदैर्द्वीपसमुद्रसंख्यानिर्णय इति । तृतीयमद्धापल्यं अद्धाकाल इत्यर्थः। अतो हि स्थितेः परिच्छेदः इति । तद्यथा–प्रमाणाङ्गुलपरिमितयोजनायामविष्कम्भावगाहानि त्रीणि पल्यानि कुशूला इत्यर्थः । एकादिसप्तान्ताहोरात्रिजाताविकलोमाग्राणि[3] तावच्छिन्नानि यावद् द्वितीयं कर्तरीच्छेदं नावाप्नुवन्ति । तादृशैर्लोमच्छेदैः परिपूर्णं घनीकृतं व्यवहारपल्यमित्युच्यते । ततो वर्षशते [4]वर्षशते अतीते एकैकलोमापकर्षणविधिना यावता कालेन तद्रिक्तं भवेत् तावत्कालो व्यवहारपल्योपमाख्यः । तैरेव रोमच्छेदैः प्रत्येकमसंख्येयवर्षकोटिसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमुद्धारपल्यम् । ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवेत् तावत्कालः उद्धारपल्योपमाख्यः । एषामुद्धारपल्यानां दशकोटीकोटचः एकमुद्धारसागरोपमम् । अर्धतृतीयोद्धारसागरोपमाणां यावन्तो रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्राः । पुनरुद्धारपल्यरोमच्छेदैर्वर्षशतसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमद्धापल्यम् । ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावत्कालः अद्धापल्योपमाख्यः । एषामद्धापल्यानां दशकोटीकोटच एकमद्धासागरोपमम् । दशाद्धासागरोपमकोटीकोटच एकाऽवसर्पिणी, तावत्येवोत्सर्पिणी । अनेन अद्धापल्येन नारकतैर्यग्योनानां देवमनुष्याणां च कर्मस्थितिर्भवस्थितिरायुःस्थितिः कायस्थितिश्च परिच्छेत्तव्या । अद्धापल्यस्याऽर्द्धच्छेदेन शलाकाविरलीकृत्य प्रत्येकमद्धापल्यप्रदानं कृत्वा अन्योऽन्यगुणिते कृते यावन्तश्छेदास्तावद्भिराकाशप्रदेशैर्मुक्तावली कृता सूच्यङ्गुलमित्युच्यते । तदेवाऽपरेण सूच्यङ्गुलेन गुणितं प्रतराङ्गुलम् । तत्प्रतराङ्गुलमपरेण सूच्यङ्गुलेनाऽभ्यस्तं[3] घनाङ्गुलम् । असंख्येयानां वर्षाणां यावन्तः समयास्तावत्खण्डमद्धापल्यं कृतम्, ततोऽसंख्येयान् खण्डानपनीयाऽसंख्येयमेकं भागं बुद्धया विरलीकृत्य एकैकस्मिन् घनाङ्गुलं दत्त्वा [5]परस्परेण गुणिता[5] जाता जगच्छ्रेणी । सा अपरया जगच्छ्रेण्या अभ्यस्ता प्रतरलोकः । स एवाऽपरया जगच्छ्रेण्या संवर्गितो घनलोकः ।

क्षेत्रप्रमाणं द्विविधम्–अवगाहक्षेत्रं विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चेति । तत्रावगाहक्षेत्रमनेकविधम्–एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशपुद्गलद्रव्यावगाह्योकाद्यसंख्येयाकाशप्रदेशभेदात् । विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चाऽनेकविधम्–असंख्येयाकाशश्रेणयः[6], क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलस्यैकोऽसंख्येयभागः, असंख्येयाः क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलाऽसंख्येयभागाः क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलमेकं भवति । पादवितस्त्यादि पूर्ववद्वेदितव्यम् । कालप्रमाणमुच्यते–सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाढप्रदेशव्यतिक्रमकालः परमनिषिद्धो निर्विभागः समयः । असंख्येयाः समयाः आवलिका । असंख्येयावलिका

१–मेषलोमानीत्यर्थः । २–वर्षशतेऽपनीते ता०, द० । ३–गुणितम् । ४–परस्परगुणिता श्र० । ५–ता० जग–आ०, ब०, द०, मु० । ६–पङ्क्तयः ।

एक उच्छ्वासस्तावानेव निश्वासः । तावुभावनुपहतस्य पुंसः प्राण एकः । सप्तप्राणाः स्तोकः । सप्त स्तोकाः लवः । सप्तसप्ततिर्लवाः मुहूर्तः । त्रिंशन्मुहूर्ता अहोरात्रः । पञ्चदशाऽहोरात्राः पक्षः । द्वौ पक्षौ मासः । द्वौ मासौ ऋतुः । ऋतवस्त्रयोऽयनम् । द्वेऽयने संवत्सरः[1] । चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि पूर्वाङ्गम् । चतुरशीतिपूर्वाङ्गशतसहस्राणि पूर्वम् । एवमनयैव वृद्धया पर्वाङ्ग-पर्व-नयुताङ्ग-नयुत-कुमुदाङ्ग-कुमुद-पद्माङ्ग-पद्म-नलिनाङ्ग-नलिन-कमलाङ्ग-कमल-तुट्याङ्ग-तुटच-अटटाङ्ग-अटट-अममाङ्ग-अमम-हूहूअङ्ग-हूहू-लताङ्ग-लता-महालताङ्ग-महालताप्रभृतिसंज्ञा[2] । कालो वर्षगणनागम्यः संख्येयो वेदितव्यः । ततः परोऽसंख्येयः पल्योपमसागरोपम-प्रमितः । ततः परोऽनन्तः कालोऽतीतोऽनागतश्च सर्वज्ञप्रत्यक्षः ।

भावप्रमाणं पञ्चविधं ज्ञानम् पुरस्ताद्वचाख्यातम् ।

यथैवेते उत्कृष्टजघन्ये स्थिती नृणां तथैव–

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

तिरश्चां योनिस्तिर्यग्योनिः । का पुनरसौ ?

तिर्यङ्नामकर्मोदयापादितं जन्म तिर्यग्योनिः ।१। तिर्यग्गतिनाम्नः कर्मणः उदयेनापादितं जन्म तिर्यग्योनिरिति व्यपदिश्यते । तिर्यग्योनौ जातास्तिर्यग्योनिजाः । तेषां तिर्यग्योनिजानाम् उत्कृष्टा भवस्थितिः त्रिपल्योपमा, जघन्याऽन्तर्मुहूर्ता । मध्ये विकल्पः, तत्प्रतिपादनार्थमिदमुच्यते––

तिर्यञ्चः त्रिविधाः एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् ।२। एकेन्द्रियाः विकलेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति त्रिविधाः तिर्यञ्चो वेदितव्याः ।

द्वादशद्वाविंशतिदशसप्तत्रिवर्षसहस्राणि एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिर्यथासंभवं त्रीणि रात्रिन्दिवानि च ।३। एकेन्द्रियाः पञ्चविधाः पृथिवीकायिका अप्कायिकाः तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिकाश्चेति । तत्र पृथिवीकायिका द्विविधाः शुद्धपृथिवीकायिकाः खरपृथिवीकायिकाश्चेति । तत्र शुद्धपृथिवीकायिकानाम् उत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशवर्षसहस्राणि । खरपृथिवीकायिकानां द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि । वनस्पतिकायिकानां दशवर्षसहस्राणि । अप्कायिकानां सप्तवर्षसहस्राणि । वायुकायिकानां त्रीणि वर्षसहस्राणि । तेजस्कायिकानां त्रीणि रात्रिन्दिवानि ।

विकलेन्द्रियाणां द्वादशवर्षा एकान्नपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि षण्मासाश्च ।४। द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशवर्षाः । त्रीन्द्रियाणां एकान्नपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि । चतुरिन्द्रियाणां षण्मासाः ।

पञ्चेन्द्रियाणां पूर्वकोटिनवपूर्वाङ्गानि द्विचत्वारिंशद्द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि त्रिपल्योपमा च ।५। पञ्चेन्द्रियाः तैर्यग्योनाः पञ्चविधाः–जलचराः, परिसर्पाः, उरगाः, पक्षिणः, चतुःपादश्चेति । तत्र जलचराणामुत्कृष्टा स्थितिः मत्स्यादीनां पूर्वकोटी[3] । परिसर्पाणां गोधानकुलादीनां नव पूर्वाङ्गानि । उरगाणां द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्राणि । पक्षिणां द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि । चतुःपदां त्रीणि पल्योपमानि । सर्वेषां तेषां जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्ता ।

किमर्थो योगविभागः ?

१–स्सरं चतु– आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । २–संज्ञाः कालो आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । ३ पूर्वाङ्गं वर्षलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा । तद्गुणितं भवेत् पूर्वं तत्कोटिः पूर्वकोटचसौ ॥

पृथग्योगकरणं यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ।६। प्रत्येकं[1] यथा स्यातामिति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो योगविभागः क्रियते ।

[2]अथैतेषां भवस्थितिः कायस्थितिः का ? कः पुनरनयोर्विशेषः ? एकभवविषया भवस्थितिः । कायस्थितिरेककायापरित्यागेन नानाभवग्रहणविषया । यद्येवमुच्यतां कस्य का कायस्थितिः ? उच्यते–पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां कायस्थितिरुत्कृष्टा असंख्येया लोकाः[3] । वनस्पतिकायिकस्याऽनन्तः कालः[4] असंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः[5] आवलिकाया असंख्येयभागमात्राः । विकलेन्द्रियाणाम् असंख्येयानि वर्षसहस्राणि । पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यङ्मनुष्याणां[6] तिस्रः[7] पल्योपमाः पूर्वकोटीपृथक्त्वेनाऽभ्यधिकाः । तेषां सर्वेषां जघन्या कायस्थितिरन्तर्मुहूर्ता । देवनारकाणां भवस्थितिरेव कायस्थितिरिति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः[8] ।

---

१ प्रत्येकमुभयथा आ०, ब०, द०, मु० । नृतिर्यग्योनिजस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते इत्येकयोगे कृते मनुष्याणां परा स्थितिः त्रिपल्योपमा तिर्यग्योनिजानामपरा स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तेति प्राप्नोति, कुतः ? समवचने यथासङ्ख्यं शैलीयमाचार्यस्येति न्यायबलात्, तन्माभूदिति पृथग्योगकरणम् । २ अथैतेषां कायस्थितिः का मू० । ३ असंख्येयानां लोकानां यावन्तः प्रदेशाः तावन्तः समयास्तेषां कायस्थितिरित्यर्थः । ४ सा कियत्प्रमाणेत्यत आह । ५ असंख्येयं किम्प्रमाणम् । ६ तिर्यञ्चश्च मनुष्याश्च । ७ कश्चिज्जीवः सप्ताष्ट वारान् पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो भूत्वा विदेहेषूत्पन्नः पश्चाद् देवकुर्वादिषु त्रिपल्योपमायुष्यो भूत्वोत्पन्नः तं प्रति एवमुक्तम् । एवं तिरश्चामपि योज्यम् । ८ –प्तः । श्रीवीतरागाय नमः । भूविललेश्याद्यायुर्द्वीपोदधिवाप्यगिरिसरःसरितां । मानं नृणां च भेदः स्थितिस्तिरश्चामपि तृतीये । श्र० ।

चतुर्थोऽध्यायः

असकृद् देवशब्द उक्तः *"**भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्**" [त० सू० १।२०] इत्येवमादिषु, तत्र न ज्ञायते के देवाः कियन्तो वा इति ? तन्निश्चयार्थमित उत्तरं प्रक्रम्यते । अथवा, सम्यग्दर्शनविषयजीवभेदत्रसस्थावरनिर्णयाय तदधिकरणभूताधस्तिर्यग्लोकनिवेशक्रमो व्याख्यातः, इतस्तद्विशेषप्रतिपत्तये ऊर्ध्वलोकविभागो वक्तव्यः । तत्र [1]बहुवक्तव्यसद्भावेऽप्यधिपतिप्रतिपादनपुरस्सरस्तदधिकरणविभागनिर्णय इतीदमुच्यते–

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

देवगतिनामकर्मोदये सति द्युत्याद्यर्थावरोधाद् देवाः ।१। अन्तरङ्गहेतौ देवगतिनामकर्मोदये सति बाह्यद्युत्यादि[2]क्रियासंबन्धमन्तर्नीय दीव्यन्तीति देवा इति व्यपदिश्यन्ते । एकत्वेन निर्देशः कर्तव्यः देवश्चतुर्णिकायः इति; स जात्यभिधानाद् बहूनामर्थानां प्रतिपादको भवति इति ? अत उत्तरं पठति––

बहुत्वनिर्देशोऽन्तर्गतभेदप्रतिपत्त्यर्थः ।२। इन्द्रादिकृताः स्थित्यादिजनिताश्चाऽन्तर्गता बहवो देवभेदाः सन्ति तेषां प्रतिपत्त्यर्थं बहुत्वनिर्देशः क्रियते ।

स्वधर्मविशेषापादितसामर्थ्यात् निचीयन्त इति निकायाः ।३। तस्य देवगतिनामकर्मोदयस्वधर्मविशे[3]षापादितभेदस्य सामर्थ्यान्निचीयन्त इति निकायाः संघाता इत्यर्थः । चत्वारो निकाया येषां ते चतुर्णिकायाः । के पुनस्ते ? भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति ।

तेषां लेश्यावधारणार्थमुच्यते–

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

आदित इति वचनं विपर्यासनिवृत्त्यर्थम् ।१। अन्ते अन्यथा वा ग्रहणं मा विज्ञायीति आदित इत्युच्यते । आदौ आदितः ।

द्व्येकनिवृत्त्यर्थं त्रिग्रहणम् ।२। [1]द्वयोरेकस्य च निवृत्त्यर्थं त्रिग्रहणं क्रियते । अथ चतुर्णां निवृत्त्यर्थं कस्मान्न भवति ? आदित इति वचनात्[4] ।

लेश्यावधारणार्थं पीतान्तवचनम् ।३। षट्लेश्या उक्ताः । तत्र चतसृणां लेश्यानामवधारणार्थं क्रियते पीतान्तग्रहणम् । पीतं तेज इत्यर्थः । पीता अन्ते यासां ताः पीतान्ताः, पीतान्ता लेश्या येषां ते पीतान्तलेश्याः । तेनैतदुक्तं भवति–आदितस्त्रिषु निकायेषु भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कनामसु देवानां कृष्णा नीला कापोता पीतेति चतस्रो लेश्या भवन्तीति ।

तेषां निकायानामन्तर्विकल्पप्रतिपादनार्थमाह–

---

१ प्रकीर्णकादि । २ आदिशब्देन क्रीडादिकं ग्राह्यम् । ३ स्वकृतपुण्यकर्मविशेषात् । ४ निकाययोः । ५ पञ्चमाद्यभावात् चतुर्थस्यादित्वाघटनात् ।

दशाष्टपञ्च द्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

चतुर्णां दशादिभिर्यथासंख्यमभिसंबन्धः ।१। चतुर्णां देवनिकायानां दशादिभिः संख्याशब्दैः यथासंख्यमभिसंबन्धो वेदितव्यः । दशविकल्पा भवनवासिनः, अष्टविकल्पा व्यन्तराः, पञ्चविकल्पाः ज्योतिष्काः, द्वादशविकल्पा वैमानिका इति । सर्वेषां वैमानिकानां द्वादशविकल्पान्तःपातित्वे प्रसक्ते तद्व्यपोहार्थमाह–

कल्पोपपन्नपर्यन्तवचनं ग्रैवेयकादिव्युदासार्थम् ।२। ग्रैवेयकादयो: वक्ष्यन्ते तेषां द्वादशविकल्पेष्वन्तर्भावो मा विज्ञायीति विशेषणमुपादीयते । अथ कथं कल्पाः ?

इन्द्रादिविकल्प[1]नाधिकरणत्वात्कल्पा रूढिवशात् ।३। इन्द्रादयः प्रकारा वक्ष्यमाणा दश एषु कल्प्यन्ते इति कल्पाः । भवनवासिषु च दशविकल्पसद्भावात् कल्पप्रसङ्ग इति चेत्; न; रूढिवशादिति विशे[2]ष्योक्तत्वात् । कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः पर्यन्ता येषां ते इमे कल्पोपपन्नपर्यन्ताः । कल्पोपपन्ना इति कथं वृत्तिः ? *"**साधनं कृता**" [जैनेन्द्र० १।३।२९] इति वा मयूरव्यंसकादित्वाद्वा[3] ।

पुनरपि तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थ[4]माह–

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥

परमैश्वर्यादिन्द्रव्यपदेशः ।१। अन्यदेवाऽसाधारणाणिमादि[5]गुणयोगादिन्दन्तीतीन्द्राः।

[6]तत्स्थानार्हत्वात् सामानिकाः ।२। तेषामिन्द्राणामाज्ञैश्वर्यवर्जितं यत् स्थानायुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादि तदेतेषां समानम्, समाने भवाः [7]सामानिकाः *"**समानस्य तदादेश्च**" [जैनेन्द्रवा० ३।३।३५] इति ठञ् । महत्तरपितृगुरूपाध्यायतुल्याः ।

मन्त्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशाः ।३। यथेह राज्ञां मन्त्रिपुरोहिता हितानुशासिनस्तथा तत्रेन्द्राणां त्रायस्त्रिंशा वेदितव्याः । कथं त्रायस्त्रिंशाः ? त्रयस्त्रिंशति जाताः त्रायस्त्रिंशाः *"**दृष्टे साम्नि च जाते च 'अण् डिद्वा विधीयते**" [पात० महा० २।४।७] इत्यभिधानमस्तीति अण् डिद्भवति । ननु च भेदाभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति ? [8]संख्यानसंख्येयभेदविवक्षायाम् आधाराधेयत्वोपपत्तेर्वृत्तिर्भवति । स्वार्थे को वा[9], वात्[10] अण्, त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशा इति । कुतः ? *[11]"**हृत**"[जैनेन्द्र० ३।१।६१] इति बहुत्वनिर्देशाद् अन्तमादिवत् ।

[12]वयस्यपीठमर्दसदृशाः पारिषदाः ।४। परिषदि जाता भवा वा पारिषदाः, ते वयस्यपीठमर्दसदृशा वेदितव्याः ।

---

१ –ल्पाधीनक– आ०, ब०, मु० । –ल्पाधानक– द० । –ल्पाधिक– श्र० । २ –षोक्तत्वात् आ०, ब०, द०, मु०, ता०, श्र० । वैमानिकेष्वेव वर्तते कल्पशब्दः । ३ "मयूरव्यंसकादयश्च" –जैनेन्द्र० १।३।६६। ४ –र्थमिदमाह आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । ५ –दिग्रहणयो– आ०, ब०, द०, मु० । ६ तत्समानत्वात्सा– भा० १ । ७ अध्यात्मादित्वात् –समानादिलोकोत्तरपदाध्यात्मादिभ्यः ठण् इति ठण् । ८ "···अण् डिद् द्विर्वा विधीयते" –पात० महा० । ९ नैष दोषः । १० विषयव्याप्ति दर्शयति वेत्यनेन । वादण् ता०, मू० । ११ 'वात्' इति प्रथमाविभक्तिः इत्यर्थः । इदमेव ज्ञापकं प्रथमाविभक्तेः स्वार्थिकोऽणादिर्भवत्यन्यत्रेति । १२ तद्धितप्रत्ययः । १३ "वेश्याचार्यः पीठमर्दः– वेश्याचार्यो वेश्यानां नृत्तोपाध्यायः, पीठं नर्तनस्थानं पादैर्मृद्नाति पीठमर्दः ।" –अभिधानचि० २।२४४ ।

आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमाः ।५। आत्मानं रक्षन्तीति आत्मरक्षास्ते शिरोरक्षोपमाः । आवृतावरणाः[1] प्रहरणोद्यता रौद्राः पृष्ठतोऽवस्थायिनः । अपायाभावात्तत्कल्पनावैयर्थ्यमिति चेत्; न; ऋद्धिविशेषख्यापनार्थत्वात् प्रीतिप्रकर्षहेतुत्वाच्च ।

आरक्षिकार्थचरसमा लोकपालाः ।६। लोकं पालयन्तीति लोकपाला अर्थचरा रक्षिकसमाः ते वेदितव्याः ।

दण्डस्थानीयान्यनीकानि ।७। पदात्यादीनि[2] सप्तानीकानि दण्डस्थानीयानि वेदितव्यानि ।

प्रकीर्णकाः पौरजनपदकल्पाः ।८। यथेह राज्ञां पौरा जानपदाश्च प्रीतिहेतवः तथा तत्रेन्द्राणां प्रकीर्णकाः प्रत्येतव्याः ।

आभियोग्या दाससमानाः ।९। यथेह दासा वाहनादिव्यापारं कुर्वन्ति तथा तत्राऽऽभियोग्या वाहनादिभावेनोपकुर्वन्ति । आभिमुख्येन योगोऽभियोगः, अभियोगे भवा आभियोग्याः ततः स्वार्थे चातुर्वर्ण्यादिवत् ट्यण् । अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः, अभियोगमर्हन्तीति वा ।

[3]अन्त्यवासिस्थानीयाः किल्विषिकाः।१०। किल्विषं पापं तदेषामस्तीति किल्विषिकाः ते अन्त्यवासिस्थानीया मताः ।

एकश इति वीप्सार्थे शस् ।११। एकैकस्य निकायस्य एकश इति वीप्सार्थे द्योत्ये शस् प्रयुज्यते । एत इन्द्रादयो दश विकल्पाश्चतुर्षु निकायेषु उत्सर्गेण प्रसक्तास्ततोऽपवादार्थमाह–

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च त्रायस्त्रिंशान् लोकपालांश्च वर्जयित्वा इतरेऽष्टौ विकल्पा द्रष्टव्याः ।

अथ तेषु निकायेषु किमेकैक इन्द्रः उताऽन्यः प्रतिनियमः कश्चिदस्तीति ? अत आह–

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

पूर्वयोरिति वचनं प्रथमद्वितीयनिकायप्रतिपत्त्यर्थम् ।१। प्रथमस्य द्वितीयस्य च निकायस्य प्रतिपत्त्यर्थं पूर्वयोरिति द्विवचनं क्रियते । कथं पूर्वशब्दो द्वितीयं गमयति ? तृतीयापेक्षया पूर्वोपपत्तेः । चतुर्थापेक्षया तृतीयस्यापि पूर्वत्वप्रसङ्ग इति चेत्; नः प्रत्यासत्तेर्द्वितीयस्यैवोपादानात् । अथ कथमत्र भेदः ? ननु व्यतिरेकाभावादभेदेन निर्देशो न्याय्यः ? उच्यते–

समूहसमूहिनोः कथञ्चिदर्थान्तरत्वोपपत्तेर्भेदविवक्षा ।२। संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिः कथञ्चिदर्थान्तरत्वं समूहसमूहिनोर्लोके दृष्टम् । यथा व्रीहीणां राशिः, आम्राणां वनमिति । तथा देवानां निकाययोश्च भेदविवक्षायाम् अधिकरणत्वेन सम्बन्धित्वेन वा निर्देशः क्रियते ।

द्वीन्द्रा इत्यन्तर्नीतवीप्सार्थो निर्देशः ।३। द्वौ द्वाविन्द्रौ येषां ते द्वीन्द्रा इति वीप्सार्थमन्तर्नीय निर्देशः क्रियते यथा द्विपदिका त्रिपदिका इति । युज्यते तत्र वीप्सागतिर्वीप्सायां

---

१ कवचाः । २ तथा चोक्तम् – गजाश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्तकीः । सप्तानीकानि ज्ञेयानि प्रत्येकं च महत्तरा इति । ३ अन्तेवासिस्था– श्र० ।

वुनो विधानात्, इह तु न विधानमस्ति ? यथा तर्हि सप्तपर्णोऽष्टापदमिति न चोच्यते[1] वीप्सायामिति गम्यते च, तथेहापि वीप्सार्थसंप्रत्ययः ।

के पुनस्ते द्वित्ववीप्साविषयत्वेन विवक्षिताः इति ? अत्रोच्यते–भवनवासिषु तावत् द्वौ असुरकुमाराणामिन्द्रौ चमरो वैरोचनश्च । नागकुमाराणां धरणो भूतानन्दश्च । विद्युत्कुमाराणां[2] हरिसिंहो हरिकान्तश्च । [3]सुपर्णकुमाराणां वेणुदेवो वेणुधारी च । अग्निकुमाराणाम् अग्निशिखोऽग्निमाणवश्च । वातकुमाराणां वैलम्बः प्रभञ्जनश्च । स्तनितकुमाराणां सुघोषो महाघोषश्च । उदधिकुमाराणां जलकान्तो जलप्रभश्च । द्वीपकुमाराणां पूर्णो वशिष्टश्च । दिक्कुमाराणाम् अमितगतिरमितवाहनश्चेति ।

व्यन्तरेष्वपि द्वौ किन्नराणामिन्द्रौ किन्नरः किम्पुरुषश्च । किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो महापुरुषश्च । महोरगाणाम् अतिकायो महाकायश्च । गन्धर्वाणां गीतरतिर्गीतयशाश्च । यक्षाणां पूर्णभद्रो माणिभद्रश्च । राक्षसानां भीमो महाभीमश्च । पिशाचानां कालो महाकालश्च । भूतानां प्रतिरूपोऽप्रतिरूपश्च ।

अथ एषां देवानां सुखं कीदृशमित्युक्ते सुखावबोधार्थमुच्यते–

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

प्रवीचार इति कोऽयं शब्दः ?

मैथुनोपसेवनं प्रवीचारः ।१। प्रविपूर्वाच्चरेः संज्ञायां घञ् । प्रविचरणं प्रवीचारः मैथुनव्यवहार इत्यर्थः । काये प्रवीचारो येषां ते इमे कायप्रवीचाराः ।

आङ्ग्रहणमभिविध्यर्थम् ।२। आङ्यमभिविध्यर्थो वेदितव्यः–ईशानोऽधिपतिः *"**तस्येदम्**" [जैनेन्द्र० ३।३।८८] इत्यणि, ऐशानः कल्पः । आ एतस्मादधो ये देवास्ते कायप्रवीचाराः संक्लिष्टकर्मत्वात् मनुष्यवत् स्त्रीविषयसुखमनुभवन्तीत्यर्थः । प्राग्ग्रहणे हि क्रियमाणे ऐशाने कल्पे देवान् वर्जयित्वेत्ययमर्थः संप्रतीयेत ।

असंहितानिर्देशोऽसन्देहार्थः ।३। आ ऐशानादित्यसंहितया[4] निर्देशः क्रियतेऽसन्देहार्थम् । ऐशानादित्युच्यमाने सन्देहः स्यात्–'किमाङन्तर्भूतः उत दिक्'[5]शब्दोऽध्याहार्यः' इति ? अथवा विमुच्य संशयम्, अनिष्टं कल्प्येत पूर्वयोरित्यधिकारात् ऐशानात् पूर्वयोरित्यवधिग्रहणात् ।

इतरेषां सुखविभागेऽनिर्ज्ञाते तत्प्रतिपादनार्थमाह–

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥८॥

शेषग्रहणं किमर्थम् ?

उक्तावशिष्टसंग्रहार्थं शेषग्रहणम् ।१। उक्तानामवशिष्टानां संग्रहार्थं शेषग्रहणं क्रियते । के पुनस्ते ? सानत्कुमारादिकल्पनिवासिनः, इतरथा हि ग्रैवेयकादिष्वपि संप्रत्ययः स्यात् *"**परेऽप्रवीचाराः**" [४।९] इति वक्ष्यमाणमनवधारितविषयं स्यात् । स्पर्शश्च रूपं च शब्दश्च मनश्च स्पर्शरूपशब्दमनांसि, स्पर्शरूपशब्दमनःसु प्रवीचारो येषां त इमे स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः । अत्र चोद्यते––

१ न च वीप्सार्थप्रत्ययः श्रूयते इत्यर्थः –सम्पा० । २ हरिघोषहरि– ता० । हरिसहहरि– श्र० । ३ सुवर्णकु – श्र०, मू० । ४ –त्यसंहितसन्धिरहितया आ० । ५ ऐशानात् दिशो यावत् इति दिगर्थप्रतिपत्त्यर्थं दिक्शब्दोऽध्याहार्य इत्यर्थः – सम्पा० ।

विषयविवेकापरिज्ञानादनिर्देशः ।२। इमे स्पर्शप्रवीचारा एते रूपप्रवीचारा इत्यादिविषयविवेकापरिज्ञानादयमनिर्देशः, अगमको निर्देशः अनिर्देशः ।

द्वयोर्द्वयोरिति वचनात्सिद्धिरिति चेत्; न; आर्षविरोधात् ।३। स्यान्मतं द्वयोर्द्वयोरिति वक्तव्यं[1] तेन विषयविवेकसिद्धिर्भवति इति ? तन्न; किं कारणम् ? आर्षविरोधात् । आर्षे ह्युक्तम्–*"**सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवाः स्पर्शप्रवीचाराः, ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु रूपप्रवीचाराः । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु शब्दप्रवीचाराः । आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतकल्पेषु मनःप्रवीचाराः ।**

इन्द्रापेक्षयेति चेत्; न; आनतादिषु दोषात् ।४। स्यादेतत्–इन्द्रापेक्षया द्वयोः द्वयोरिति वचनं नार्षविरोधि ? तद्यथा–सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोर्द्वाविन्द्रौ तयोर्देवाः स्पर्शप्रवीचाराः, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोरेक इन्द्रः, लान्तवकापिष्ठयोरप्येकः, तयोर्देवा रूपप्रवीचाराः । शुक्रमहाशुक्रयोरेक इन्द्रः, सतारसहस्रारयोरप्येकः, तयोर्देवाः शब्दप्रवीचारा इति ? तन्न; किं कारणम् ? आनतादिषु दोषात् । आनतादिषु हि चत्वार इन्द्राः । कथं तर्हि निर्देशः कर्तव्यः ? यथागममिति । स तर्हि [2]तथानिर्देशः कर्तव्यः ?

न वा पुनःप्रवीचारग्रहणादिष्टार्थगतेः ।५। न वैष दोषः, किं कारणम् ? पुनःप्रवीचारग्रहणादिष्टार्थगतेः । कथम् ? प्रवीचारग्रहणमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् ? 'कायप्रवीचाराः' इति । ननु च तद्[3]वृत्तावुपसर्जनीभूतमशक्यमनुवर्तयितुम् ? अर्थवशात् अनुवर्तत इति व्याख्यायते । तत एवं वक्तव्यं शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःस्विति । एवमप्यनुवर्तमानः प्रवीचारशब्दः भावसाधनो वृत्तिमन्तरेण 'शेषाः' इत्यनेन सामानाधिकरण्यं न प्रतिपद्यते ? [4]शेषाणामिति तर्हि निर्देशः कर्तव्यः, एवं सिद्धे यत्पुनः प्रवीचारग्रहणं तस्यैतत्प्रयोजनम् इष्टप्रवीचारसिद्धिः कथं स्यात् इति । कः पुनरिष्टः । आर्षाविरोधी–सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्हि देवान् मैथुनसुखप्रेप्सयोत्पन्नेच्छान् विदित्वा देव्य उपतिष्ठन्ते, तदङ्गस्पर्शनमात्रादेव प्रीतिमुपलभन्ते विनिवृत्तेच्छाश्च भवन्ति तथा देव्योऽपि । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवा दिव्याङ्गनास्वभावसुभगशृंगाराकारविलासचतुरमनोज्ञवेषरूपालोकनमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु देवाः सुरवनितानां मधुरसङ्गीतमृदुहसितकथनभूषणरवोपदर्शनश्रवणरसायनं पीत्वैव परां प्रीतिमास्कन्दन्ति । आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतकल्पेषु देवाः स्वाङ्गनामनःसंकल्पमात्रादेव परं सुखमनुभवन्ति ।

अथोत्तरेषां किं प्रकारं सुखमित्युक्ते तन्निश्चयार्थमाह–

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

पर इति किमर्थम्, अप्रवीचारा इत्येव सिद्धमुत्तरेषां ग्रहणम् ?

[5]परवचनं कल्पातीतसर्वदेवसंग्रहार्थम् ।१। कल्पातीतानां सर्वेषां देवानां संग्रहार्थं परवचनं क्रियते, इतरथाऽनिष्टमपि कल्पयितुं शक्येत ।

अप्रवीचारग्रहणं प्रकृष्टसुखप्रतिपत्त्यर्थम् ।२। प्रवीचारो हि वेदनाप्रतीकारस्तदभावे तेषां परमसुखमनवरतमित्येतस्य प्रतिपत्त्यर्थमप्रवीचारा इत्युच्यते[6] ।

१ व्याख्येयम् । २ –णाच्युतेषु आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ शेषाःस्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा यथागमिति । ४ समासे– सम्पा० । ५ शेषाणां स्पर्शरूपशब्दमनःसु । ६ परे वच– भा० १ । ६ इत्युच्यन्ते आ,० ब०, मु० ।

उक्तमादिनिकायदेवा दश विकल्पा इति तेषां सामान्यविशेषसंज्ञानिर्ज्ञानार्थमाह–

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥

भवनेषु वसनशीला भवनवासिनः ।१। भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिन इति प्रथमनिकायस्येयं सामान्यसंज्ञा ।

असुरादयस्तद्विकल्पाः ।२। तेषां भवनवासिनामसुरादयो दश विकल्पा द्रष्टव्याः ।

सर्वे नामकर्महेतुकाः ।३। सर्वे ते नामकर्मोदयापादित[1]विशेषा वेदितव्याः ।

अस्यन्ति देवैः सहासुरा इति चेत्; न; अवर्णवादात् ।४। स्यान्मतं युद्धे देवैः सहास्यन्ति[2] प्रहरणादीनित्यसुरा इति; तन्न; किं कारणम् ? अवर्णवादात् । अवर्णवाद एषः देवानामुपरि मिथ्याज्ञाननिमित्तः । कुतः ?

महाप्रभावत्वात् ।५। ते हि सौधर्मादयो देवा महाप्रभावाः, न तेषामुपरि इतरेषां निकृष्टबलानां [3]मनागपि प्रातिलोम्येन वृत्तिरस्ति । अपि च,

वैरकारणाभावात् ।६। तेषां प्रतिविशिष्टशुभकर्मोदयापादितविभवानामर्हत्पूजाभोगानुभवनमात्रतन्त्राणां परदारहर[4]णादिनिमित्तं न वैरमस्ति ततो नासुराः सुरैर्युध्यन्ते ।

अथ ते कथं कुमाराः ?

कौमारवयोविशेषविक्रियादियोगात्कुमाराः ।७। सर्वेषां देवानामवस्थितवयःस्वभावत्वेऽपि कौमारवयोविशेषस्वभावस्वरूपं विक्रिया च कुमारवदुद्धतवेषभाषाऽऽभरणप्रहरणावरणयानवाहनत्वं च उल्वणरागक्रीडनप्रियत्वं चेत्येतैर्योगात् कुमारा इति व्यपदिश्यन्ते ।

प्रत्येकमभिसम्बन्धः ।८। तस्य कुमारशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः क्रियते–असुरकुमारा नागकुमारा इति एवमादि ।

अत्राह क्व तेषां भवनानि इति ? अत्रोच्यते–

अस्या रत्नप्रभायाः पङ्कबहुलभागेऽसुरकुमाराणां भवनानि चतुःषष्टिशतसहस्राणि । अस्माज्जम्बूद्वीपात् तिर्यगपागसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अतीत्य पङ्कबहुलभागे चमरस्याऽसुरेन्द्रस्य चतुस्त्रिंशद्भवनशतसहस्राणि, चतुःषष्टिसामानिकसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि चत्वारो लोकपालाः, पञ्चाग्रमहिष्यः, चत्वारि चतुःषष्टयुत्तराणि आत्मरक्षसहस्राणि, एवं विभवपरिवारः दक्षि[5]णार्धपतिः दिव्यान् भोगान् अनुभवति । तथोत्तरस्यां दिशि वैरोचनस्य त्रिंशद्भवनशतसहस्राणि[6] षष्टिसामानिकसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चत्वारो लोकपालाः, पञ्चाग्रमहिष्यः, चत्वारि चतुःषष्टयुत्तराणि आत्मरक्षसहस्राणि, एवं विभवपरिवारः उत्त[7]रार्धपतिः दिव्यान् भोगान् अनुभुङ्क्ते ।

खरपृथ्वीभागे उपर्यधश्चैकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा शेषे नवानां कुमाराणां भवनानि भवन्ति । तद्यथा–अस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगपागसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानतीत्य धरणस्य नागराजस्य चतुश्चत्वारिंशत्भवनशतसहस्राणि, षष्टिसामानिकसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः, तिस्रः

१ –दितावेदि– आ०, ब०, द०, मु० । २ क्षिपन्ति । ३ मनसापि आ०, ब०, द०, मु०, श्व०, टि०, ता० । ४ –ग्रहणा– श्व० । ५ –णाधिप– आ०, ब०, मु० । ६ –णि चतुःषष्टि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –त्तराधिप– आ०, ब०, मु० ।

परिषदः, सप्तानीकानि, चत्वारो लोकपालाः, षडग्रमहिष्यः, षडात्मरक्षसहस्राण्याख्यायन्ते । तथा अस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगुदगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अतीत्य भूतानन्दस्य नागेन्द्रस्य चत्वारिंशद्भवनशतसहस्राणि, अवशिष्टं धरणेन्द्रवज्ज्ञेयम् । तान्येतानि नागकुमाराणां चतुरशीतिभवनशतसहस्राणि । तथा सुपर्णकुमाराणां द्विसप्ततिर्भवनशतसहस्राणि । तत्र वेणुदेवस्य दक्षिणाधिपतेः अष्टत्रिंशद्भवनशतसहस्राणि । इतरद्धरणेन्द्रवन्नेयम् । उत्तराधिपतेर्वेणुधारिणः चतुस्त्रिंशद्भवनशतसहस्राणि । अवशिष्टं धरणेन्द्रवन्नेयम् । विद्युदग्निस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां षण्णामपि प्रत्येकं षट्सप्ततिर्भवनशतसहस्राणि । तत्र दक्षिणेन्द्राणां [1]हरिसिंहाग्निशिखसुघोषजलकान्तपूर्णामितगतीनां प्रत्येकं चत्वारिंशद्भवनशतसहस्राणि । हरिकान्ताग्निमाणवमहाघोषजलप्रभवशिष्टामितवाहनानाम् उत्तराधिपतीनां प्रत्येकं षट्त्रिंशद्भवनशतसहस्राणि । वातकुमाराणां षण्णवतिर्भवनशतसहस्राणि । तत्र वैलम्बस्य दक्षिणेन्द्रस्य पञ्चाशद्भवनशतसहस्राणि । उत्तराधिपतेः प्रभञ्जनस्य षट्चत्वारिंशद्भवनशतसहस्राणि । सर्वेषामेषां धरणेन्द्रवन्नेयम् । तान्येतानि भवनानि समुदितानि सप्तकोट्यो द्विसप्ततिश्च शतसहस्राणि ।

द्वितीयनिकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञावधारणार्थमाह–

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥

विविधदेशान्तरनिवासित्वाद् व्यन्तराः ।१। विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते व्यन्तरा इत्यन्वर्थाः । सामान्यसंज्ञेयमष्टानामपि विकल्पानाम् ।

किन्नरादयस्तद्विकल्पाः ।२। तेषां व्यन्तराणामष्टौ विकल्पाः किन्नरादयो द्रष्टव्याः ।

नामकर्मोदयविशेषतस्तद्विशेषसंज्ञाः ।३। देवगतिनाम्नो मूलस्य उत्तरोत्तरप्रकृतिभेदस्योदयाद्विशेषसंज्ञा भवन्ति । किन्नरनामकर्मोदयात् किन्नराः, किम्पुरुषनामकर्मोदयात् किम्पुरुषाः इत्यादि ।

क्रियानिमित्ता एवेति चेत्; न; उक्तत्वात् ।४। स्यादेतत्–क्रियानिमित्ता एवैताः संज्ञाः, किन्नरान् कामयन्त इति किन्नराः, किम्पुरुषान् कामयन्त इति किम्पुरुषाः, पिशिताशनात् पिशाचा इत्यादि; तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्–अवर्णवाद एष देवानामुपरीति । कथम् ? न हि ते शुचिवैक्रियिकदेहा अशुच्यौदारिकशरीरान् नरान् कामयन्ते, नापि पिशितमश्नन्ति । [2]मांसमदिरादिषु दृष्टा लोके प्रवृत्तिरिति चेत्; न; क्रीडासुखनिमित्तत्वात्, मानसाहारा[3]हि ते ।

क्व पुनस्तेषामावासाः इति ? अत्रोच्यते–अस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगपागसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अतीत्य औपरिष्टे खरपृथिवीभागे किन्नरस्य किन्नरेन्द्रस्य असंख्येयानि नगरशतसहस्राणि वर्ण्यन्ते । तस्य चत्वारि सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, षोडशात्मरक्षसहस्राणि । उदीच्यां दिशि पूर्ववदेव किन्नरेन्द्रः किम्पुरुषस्तादृग्विभवपरिवारः । एवं शेषाणां षण्णां दक्षिणेन्द्राणां सत्पुरुषातिकायगीतिरतिपूर्णभद्रस्वरूपकालाख्यानां दक्षिणे भागे आवासाः । तथा महापुरुषमहाकायगीतयशोमाणिभद्राऽप्रतिरूपमहाकालानां तु उत्तराधिपतीनाम् उत्तरभागे आवासास्तावन्त एव वेदितव्याः । राक्षसेन्द्रस्य

१ हरिसहाग्नि– श्व०, मू० । २ मत्स्यमदि– मू०, श्व० टि० । ३ –हारश्च भा० २ ।

भीमस्य दक्षिणस्यां दिशि पङ्कबहुलभागेऽसंख्येयानि नगरशतसहस्राणि आख्यायन्ते । उत्तरस्यां दिशि महाभीमस्य राक्षसेन्द्रस्य पङ्कबहुलभागेऽसंख्येयानि नगरशतसहस्राणि वर्ण्यन्ते । षोडशानामपि एषां व्यन्तरेन्द्राणां सामानिकादिपरिवारास्तुल्याः । भूमितलेऽपि द्वीपाद्रिसमुद्रदेशग्रामनगरत्रिकचतुष्कचत्वरगृहाङ्गणरथ्याजलाशयोद्यान[1]देवकुलादीनि असंख्येयानि आवासशतसहस्राणि तेषामाख्यायन्ते ।

तृतीयस्य निकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञासंकीर्तनार्थमाह—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

द्योतनस्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः ।१। द्योतनं प्रकाशनं तत्स्वभावत्वादेषां पञ्चानामपि विकल्पानां ज्योतिष्का इतीयमन्वर्था [1]सामान्यसंज्ञा । काऽस्याः सिद्धिः ?

ज्योतिःशब्दात्स्वार्थे के निष्पत्तिः ।२। ज्योतिःशब्दात् स्वार्थे के[1] सति ज्योतिष्का इति निष्पद्यते । कथं स्वार्थे कः ? यावादिषु[2] पाठात् ।

प्रकृतिलिङ्गानुवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; अतिवृत्तिदर्शनात् ।३। स्यान्मतम्—यदि स्वार्थिकोऽयं कः, ज्योतिःशब्दस्य नपुंसकलिङ्गत्वात् कान्तस्यापि नपुंसकलिङ्गता प्राप्नोतीति ? तन्न; किं कारणम् ? अतिवृत्तिदर्शनात् । प्रकृतिलिङ्गातिवृत्तिरपि दृश्यते—यथा [3]कुटीरः शमीरः शुण्डार इति ।

तद्विशेषाः सूर्यादयः ।४। तेषां ज्योतिष्काणां सूर्यादयः पञ्च विकल्पा द्रष्टव्याः ।

पूर्ववत्तन्निर्वृत्तिः ।५। तेषां संज्ञाविशेषाणां पूर्ववन्निर्वृत्तिर्वेदितव्या—देवगतिनामकर्मविशेषोदयादिति ।

सूर्याचन्द्रमसावित्यानङ् देवताद्वन्द्वे ।६। सूर्यश्च चन्द्रमाश्च द्वन्द्वे कृते पूर्वपदस्य *"देवताद्वन्द्वे" [जैनेन्द्र० ४।३।१३९] इत्यानङ् भवति ।

सर्वत्र प्रसङ्ग इति चेत्; न; पुनर्द्वन्द्वग्रहणादिष्टे वृत्तिः ।७। स्यादेतत्—यदि *"देवताद्वन्द्वे" [जैनेन्द्र० ४।३।१३९] इत्यानङ् भवति, इहापि प्राप्नोति ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकताराः किन्नरकिम्पुरुषादयः असुरनागादय इति; तन्न; किं कारणम् ? *"आनङ् द्वन्द्वे" [जैनेन्द्र० ४।३।१३८] इत्यतः द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणात् इष्टे द्वन्द्वे वृत्तिर्जायते ।

पृथग्ग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् ।८। सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहादिभ्यः पृथक् ग्रहणं क्रियते प्राधान्यख्यापनार्थम् । ज्योतिष्केषु हि सर्वेषु सूर्याणां चन्द्रमसां च प्राधान्यम् । किं कृतं पुनस्तत्? प्रभावादिकृतम् ।

सूर्यस्यादौ ग्रहणम् अल्पाच्तरत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च ।९। सूर्यशब्द आदौ प्रयुज्यते । कुतः ? [1]अल्पाच्तरत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च । सर्वाभिभवसमर्थत्वाद्धि अभ्यर्हितः सूर्यः ।

ग्रहादिषु च[2] ।१०। किम् ? 'अल्पाच्तरत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च पूर्वनिपातः' इति वाक्यशेषः । ग्रहशब्दस्तावत् अल्पाच्तरोऽभ्यर्हितश्च तारकाशब्दात्, नक्षत्रशब्दोऽभ्यर्हितः ।

१ देवालय । २ —र्थसा- श्र०, ता० । ३ क प्रत्यये- स० । ४ "कोऽवियावादेः" —जैनेन्द्र० ४।२।३५ । ५ ह्रस्वा कुटी कुटीरः, ह्रस्वा शमी शमीरः, ह्रस्वा शुण्डा शुण्डारः —स० । ५ अल्पाक्षर- भा० २ । ६ चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ततः । मु० ।

क्व पुनस्तेषां निवास इति ? अत्रोच्यते—अस्मात् समात् भूमिभागादूर्ध्वं सप्त योजनशतानि नवत्युत्तराणि [1]उत्पत्य सर्वज्योतिषाम् अधोभाविन्यस्तारकाश्चरन्ति । ततो दशयोजनान्युत्पत्य सूर्याश्चरन्ति । ततोऽशीतियोजनान्युत्पत्य चन्द्रमसो भ्रमन्ति । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य नक्षत्राणि । ततस्त्रीणि योजनानि उत्पत्य बुधाः । ततस्त्रीणि योजनानि उत्पत्य शुक्राः । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य[1] बृहस्पतयः । ततश्चत्वारि योजनान्युत्पत्य अङ्गारकाः । ततश्चत्वारि योजनान्युत्क्रम्य शनैश्चराश्चरन्ति । स एष ज्योतिर्गणगोचरो नभोऽवकाशः दशाधिकयोजनशतबहुलः तिर्यगसंख्यातद्वीपसमुद्रप्रमाणो घनोदधिपर्यन्तः । उक्तं च—

***"णवदुत्तरसत्तसया दससीदिच्चदुतिगं च दुगचदुक्कं ।**
तारारविससिरिक्खा बुधभग्गवगुरुअंगिरारसणी ॥"[2] [ ]

तत्राभिजित् सर्वाभ्यन्तरचारी, मूलः सर्वबहिश्चारी, भरण्यः सर्वाधश्चारिण्यः, स्वातिः सर्वोपरिचारी । तप्ततपनीयसमप्रभाणि लोहिताक्षमणिमयानि अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागविष्कम्भायामानि तत्त्रिगुणाधिकपरिधीनि चतुर्विंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि अर्धगोलकाकृतीनि षोडशभिर्देवसहस्रैरूढानि सूर्यविमानानि । प्रत्येकं पूर्वदक्षिणोत्तरापरान् भागान् क्रमेण सिंहकुञ्जरवृषभतुरगरूपाणि विकृत्य चत्वारि चत्वारि देवसहस्राणि वहन्ति । एषामुपरि सूर्याख्या देवाः । तेषां प्रत्येकं चतस्रोऽग्रमहिष्यः—सूर्यप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी प्रभङ्करा चेति, प्रत्येकं देवीरूपचतुःसहस्रविकरणसमर्थाः । ताभिः सह दिव्यं सुखमनुभवन्तोऽसंख्येयशतसहस्राधिपतयः सूर्याः परिभ्रमन्ति । विमलमृणालवर्ण्यन्यङ्कमयानि चन्द्रविमानानि । षट्पञ्चाशद्योजनैकषष्टिभागविष्कम्भायामानि अष्टाविंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि, प्रत्येकं षोडशभिर्देवसहस्रैः पूर्वादिषु दिक्षु क्रमेण सिंहकुञ्जराश्ववृषभरूपविकारिभिरूढानि । तेषामुपरि चन्द्राख्या देवाः । तेषां प्रत्येकं चतस्रोऽग्रमहिष्यः—चन्द्रप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी प्रभङ्करा चेति, प्रत्येकं चतुर्देवीरूपसहस्रविकरणपटवः । ताभिः सह सुखमुप[1]भुञ्जानाश्चन्द्रमसोऽसंख्येयविमानशतसहस्राधिपतयो विहरन्ति । अञ्जनसमप्रभाणि अरिष्टमणिमयानि राहुविमानान्येकयोजनायामविष्कम्भाण्यर्धतृतीयधनुःशतबाहल्यानि । नवमल्लिकाप्रभाणि रजतपरिणामानि शुक्रविमानानि गव्यूतायामविष्कम्भाणि । जात्यमुक्ताद्युतीनि अङ्कमणिमयानि बृहस्पतिविमानानि देशोनगव्यूतायामविष्कम्भाणि । कनकमयान्यर्जुनवर्णानि बुधविमानानि । तपनीयमयानि तप्ततपनीयाभानि शनैश्चरविमानानि । लोहिताक्षमयानि तप्तकनकप्रभाण्यङ्गारकविमानानि । बुधादिविमानान्यर्धगव्यूतायामविष्कम्भाणि । शुक्रादिविमानानि राहुविमानतुल्यबाहल्यानि । राह्वादिविमानानि प्रत्येकं चतुर्भिः देवसहस्रैरुह्यन्ते । नक्षत्रविमानानां प्रत्येकं चत्वारि देवसहस्राणि वाहकानि । तारकाविमानानां प्रत्येकं द्वे देवसहस्रे वाहके । राह्वा[2]द्याभियोग्यानां रूपविकाराश्चन्द्रवन्नेयाः । नक्षत्रविमानानाम् उत्कृष्टो विष्कम्भः क्रोशः । तारकाविमानानां वैपुल्यं जघन्यं क्रोशचतुर्भागः । मध्यमं साधिकः क्रोशचतुर्भागः । उत्कृष्टम् अर्धगव्यूतम् । ज्योतिष्कविमानानां सर्वजघन्यवैपुल्यं पञ्चधनुःशतानि । ज्योतिषामिन्द्राः सूर्याचन्द्रमसः, ते चाऽसंख्याताः ।

१ उत्प्लुत्य आ०, ब०, द०, मु० । २ जम्बू० प० १२।९३ । उद्धृतेयम्- स० सि० १।१२ । ३ —पभुञ्जन्तश्च- आ०, ब०, द०, मु० । ४ राह्वाद्यभियोगानाम् ता०, श्र०, द०, मू० ।

ज्योतिष्काणां गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

मेरुप्रदक्षिणवचनं गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थम् ।१। मेरोः प्रदक्षिणा मेरुप्रदक्षिणा इत्युच्यन्ते[1]। किमर्थम् ? गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थं विपरीता गतिर्माभूत् ।

गतेः क्षणे क्षणेऽन्यत्वात् नित्यत्वाभाव इति चेत्; न; आभीक्ष्ण्यस्य विवक्षितत्वात् ।२। अयं नित्यशब्दः कूटस्थेष्वविचलेषु भावेषु वर्तते, गतिश्च क्षणे क्षणेऽन्या, ततोऽस्या नित्येति विशेषणं नोपपद्यत इति चेत्; न; किं कारणम् ? आभीक्ष्ण्यस्य विवक्षितत्वात् । यथा नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति आभीक्ष्ण्यं गम्यत इति, एवमिहापि नित्यगतयः अनुपरतगतय इत्यर्थः ।

अनेकान्ताच्च ।३। यथा सर्वभावेषु द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नित्यत्वं पर्यायार्थादेशात् स्यादनित्यत्वं तथा गतावपीति नित्यत्वमविरुद्धमविच्छेदात् ।

नृलोकग्रहणं विषयार्थम् ।४। ये अर्धतृतीयेषु द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोर्ज्योतिष्कास्ते मेरुप्रदिक्षणा नित्यगतयो नान्ये इति विषयावधारणार्थं नृलोकग्रहणं क्रियते ।

गतिकारणाभावादयुक्तिरिति चेत्; न; गतिरताभियोग्यदेववहनात् ।५। स्यान्मतम्– इह लोके भावानां गतिः कारणवती दृष्टा, न च ज्योतिष्कविमानानां गतेः कारणमस्ति ततस्तदयुक्तिरिति; तन्न; किं कारणम् ? गतिरताभियोग्यदेववहनात् । गतिरता हि आभियोग्यदेवा वहन्तीत्युक्तं पुरस्तात् ।

कर्मफलविचित्रभावाच्च ।६। कर्मणां हि फलं वैचित्र्येण पच्यते ततस्तेषां गतिपरिणतिमुखेनैव कर्मफलमवबोद्धव्यम् । एकादशभिः योजनशतैरेकविंशैर्मेरुमप्राप्य ज्योतिष्काः प्रदक्षिणाश्चरन्ति ।

तत्र जम्बूद्वीपे द्वौ सूर्यौ, द्वौ चन्द्रमसौ, षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि, षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतम्, एकं कोटीकोटिशतसहस्रं त्रयस्त्रिंशत्कोटीकोटिसहस्राणि नवकोटीकोटिशतानि पञ्चाशच्च कोटीकोटयस्तारकाणाम् । लवणोदे चत्वारः सूर्याः, चत्वारश्चन्द्राः, नक्षत्राणां शतम्, द्वादशम् ग्रहाणाम्, त्रीणि शतानि द्वापञ्चाशानि द्वे कोटीकोटिशतसहस्रे सप्तषष्टिकोटीकोटिसहस्राणि नव च कोटीकोटिशतानि तारकाणाम् । धातकीषण्डे द्वादश सूर्याः, द्वादश चन्द्राः, नक्षत्राणां त्रीणि शतानि षट्त्रिंशानि, ग्रहाणां सहस्रं षट्पञ्चाशम्, अष्टौ कोटीकोटिशतसहस्राणि सप्तत्रिंशच्च कोटीकोटिशतानि तारकाणाम् । कालोदे द्वाचत्वारिंशदादित्याः, द्वाचत्वारिंशच्चन्द्राः, एकादश नक्षत्रशतानि षट्सप्तत्यधिकानि, षट्त्रिंशत् ग्रहशतानि षण्णवत्यधिकानि, अष्टाविंशतिकोटीकोटिशतसहस्राणि द्वादशकोटीकोटिसहस्राणि नवकोटीकोटिशतानि पञ्चाशच्च कोटीकोटयस्तारकाणाम् । पुष्करार्धे द्वासप्ततिः सूर्याः, द्वासप्ततिश्चन्द्राः, द्वे नक्षत्रसहस्रे षोडशे, त्रिषष्टिः ग्रहशतानि षट्त्रिंशानि । अष्टचत्वारिंशत्कोटीकोटिशतसहस्राणि द्वाविंशतिः कोटीकोटिसहस्राणि द्वे कोटीकोटिशते तारकाणाम् । बाह्ये पुष्करार्धे च ज्योतिषामियमेव संख्या । ततश्चतुर्गुणाः पुष्करवरोदे, ततः परा द्विगुणा द्विगुणा ज्योतिषां संख्या अवसेया ।

जघन्यं तारकान्तरं गव्यूतसप्तभागः, मध्यं पञ्चाशत् गव्यूतानि, उत्कृष्टं योजनसहस्रम् । जघन्यं सूर्यान्तरं चन्द्रान्तरं च नवनवतिः सहस्राणि योजनानां षट्शतानि चत्वारिंशदधिकानि । उत्कृष्टमेकं योजनशतसहस्रं षट्शतानि षष्टचुत्तराणि। जम्बूद्वीपादिषु एकैकस्य चन्द्रमसः षट्षष्टिकोटीकोटिसहस्राणि नवकोटीकोटिशतानि पञ्चसप्ततिश्च कोटीकोटयः तारकाणाम् । अष्टाशीतिर्महाग्रहाः, अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारः । सूर्यस्य चतुरशीतिमण्डलशतम् अशीतिः योजनशतं जम्बूद्वीपस्य अन्तरमवगाह्य प्रकाशयति। तत्र पञ्चषष्टिरभ्यन्तरमण्डलानि लवणोदस्यान्तस्त्रीणि त्रिंशानि योजनशतान्यवगाह्य प्रकाशयति । तत्र मण्डलानि बाह्यान्येकान्नविंशतिशतम् । द्वियोजनमेकैकमण्डलान्तरम् । द्वे योजने अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाश्च एकैकमुदयान्तरम् । चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्रैः अष्टाभिश्च शतैर्विंशैरप्राप्य मेरुं सर्वाभ्यन्तरमण्डले सूर्यः प्रकाशयति । तस्य विष्कम्भो नवनवतिः सहस्राणि षट्शतानि चत्वारिंशानि योजनानाम् । तदा अहनि मुहूर्ताः अष्टादश भवन्ति । पञ्चसहस्राणि द्वे शते एकपञ्चाशद्[1]योजनानां एकान्नत्रिंशद्योजनषष्टिभागाश्च मुहूर्तगतिक्षेत्रम् । सर्वबाह्यमण्डले चरन् सूर्यः पञ्चचत्वारिंशत्सहस्रैः त्रिभिश्च शतैः त्रिंशैर्योजनानां मेरुमप्राप्य भासयति। तस्य [2]विष्कम्भः एकं शतसहस्रं षट् च शतानि षष्टयधिकानि योजनानाम्। तदा दिवसस्य द्वादश मुहूर्ताः। पञ्चसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि योजनानां पञ्चदशयोजनषष्टिभागाश्च मुहूर्तगतिक्षेत्रम् । तदा एकत्रिंशद्योजनसहस्रेषु अष्टासु च योजनशतेषु अर्धद्वात्रिंशेषु स्थितो दृश्यते । सर्वाभ्यन्तरमण्डले दर्शनविषयपरिमाणं प्रागुक्तम् । मध्ये हानिवृद्धिक्रमो यथागमं वेदितव्यः । चन्द्रमण्डलानि पञ्चदश, द्वीपावगाहः समुद्रावगाहश्च सूर्यवद्वेदितव्यः । द्वीपाभ्यन्तरे पञ्च मण्डलानि । समुद्रमध्ये दश । सर्वबाह्याभ्यन्तरमण्डलविष्कम्भविधिः, मेरुचन्द्रान्तरप्रमाणं च सूर्यवत् प्रत्येतव्यम् । पञ्चदशानां मण्डलानामन्तराणि चतुर्दश । तत्रैकैकस्य [3]मण्डलान्तरस्य प्रमाणं पञ्चत्रिंशद्योजनानि योजनैकषष्टिभागास्त्रिंशत् तद्भागस्य चत्वारः सप्तभागाः ३५-$\frac{३०}{६१}$-$\frac{४}{७}$ । सर्वाभ्यन्तरमण्डले [4]पञ्चसहस्राणि त्रिसप्तत्यधिकानि योजनानां सप्तसप्ततिभागशतानि चतुश्चत्वारिंशानि मण्डलं[5] त्रयोदशभिर्भागसहस्रैः सप्तभिश्च भागशतैः पञ्चविंशैः छित्त्वा[6] अवशिष्टानि चन्द्रः एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति । सर्वबाह्यमण्डले[7] पञ्चसहस्राणि शतं च पञ्चविंशं योजनानाम् एकान्नसप्ततिभागशतानि नवत्यधिकानि मण्डलं[8] त्रयोदशभिः भागसहस्रैः सप्तभिश्च भागशतैः पञ्चविंशैः [9]छित्वाऽवशिष्टानि चन्द्रः एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति । दर्शनविषयपरिमाणं सूर्यवद्वेदितव्यम् । हानिवृद्धिविधानं च यथागममवसेयम् । पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि सूर्याचन्द्रमसोश्चारक्षेत्रविष्कम्भः ।

गतिमज्ज्योतिःसंबन्धेन व्यवहारकालप्रतिपत्त्यर्थमाह–

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

तदिति किमर्थम् ?

गतिमज्ज्योतिःप्रतिनिर्देशार्थं तद्वचनम् ।१। गतिमतां ज्योतिषां प्रतिनिर्देशार्थं तदित्युच्यते । न हि केवलया गत्या नापि केवलैर्ज्योतिर्भिः कालः परिच्छिद्यते, अनुपलब्धेरपरिवर्तनाच्च ।

---

१ इत्युच्यते आ०, ब०, द०, मु० ।

१ –पञ्चाशद्यो– आ०, ब०, द०, मु० । २ सूर्यसूर्यान्तर इत्यर्थः । ३ विध्यन्तरस्य । ४ चन्द्रस्य परिधिसमापनकालः ६२।२३ । समच्छेदेनानयोर्मेलने प्रमाणराशिः १३७२५ । फल– ३१५०८९ इच्छे मुहूर्त १ लब्ध ५०७३ शेष ७७४४ । ५ परिधिरित्यर्थः । ६ स्थित्वा आ०, ब०, द०, मु० । ७ परिधौ । ८ बाह्यपरिधिम् । ९ स्थित्वा आ०, ब०, द०, मु० ।

ज्योतिःपरिवर्तनलभ्यो हि कालपरिच्छेदः ।२। कालो द्विविधो व्यावहारिको मुख्यश्च। तत्र व्यावहारिकः कालविभागः तत्कृतः समयावलिकादिर्व्याख्यातः, [1]क्रियाविशेषपरिच्छिन्नः [2]अन्यस्यापरिच्छिन्नस्य परिच्छेदहेतुः । मुख्योऽन्यो वक्ष्यमाणलक्षणः ।

आह–न मुख्यः कालोऽस्ति सूर्यादिगतिव्यतिरिक्तो लिङ्गाभावात् । अपि च, कलानां समूहः कालः, कलाश्च [3]क्रियावयवाः । किञ्च, पञ्चास्तिकायोपदेशात् पञ्चैवास्तिकाया आगमे उपदिष्टा न षष्ठः, ततो न मुख्यः कालोऽस्ति; इत्यपरीक्षिताभिधानमेतत्; यत्तावदुक्तम्–लिङ्गाभावान्नास्ति मुख्यः काल इति; अत्रोच्यते–

क्रियायां काल इति गौणव्यवहारदर्शनात् मुख्यसिद्धिः ।३। योऽयमादित्यगमनादौ क्रियेति रूढेः काल इति व्यवहारः कालनिर्वर्तनापूर्वकः, मुख्यस्य कालस्यास्तित्वं गमयति। नहि मुख्ये गव्यसति वाहीके गौणे गोशब्दस्य व्यवहारो युज्यते ।

अत एव न कलासमूह एव कालः ।४। अत एव । कुत एव ? मुख्यस्य कालस्यास्तित्वादेव, कलानां समूह एव काल इति व्यपदेशो नोपपद्यते । कल्यते क्षिप्यते प्रेर्यते येन क्रियावद्द्रव्यं स कालः, तस्य विस्तरेण निर्णय उत्तरत्र वक्ष्यते ।

प्रदेशप्रचयाभावादस्तिकायेष्वनुपदेशः ।५। प्रदेशप्रचयो हि कायः स एषामस्ति ते अस्तिकाया इति जीवादयः पञ्चैव उपदिष्टाः । कालस्य [4]त्वेकप्रदेशत्वादस्तिकायत्वाभावः । यदि हि अस्तित्वमेव अस्य न स्यात् षट्द्रव्योपदेशो न युक्तः स्यात् । कालस्य हि द्रव्यत्वमस्त्यागमे । परलक्षणाभावः स्वलक्षणोपदेशसद्भावात् ।

इतरत्र ज्योतिषामवस्थाप्रतिपादनार्थमाह–

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

बहिरित्युच्यते । कुतो बहिः ? नृलोकात् । कथमवगम्यते? अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति।

नृलोके नित्यगतिवचनादन्यत्रावस्थानसिद्धिरिति चेत्; न; उभयासिद्धेः ।१। स्यान्मतम्–'नृलोके नित्यगतयः' इति वचनात् अन्यत्र अवस्थानं ज्योतिषां सिद्धम्, अतो बहिरवस्थिता इति वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयासिद्धेः । नृलोकादन्यत्र बहिर्ज्योतिषामस्तित्वमवस्थानं [5]चाऽप्रसिद्धं अतस्तदुभयसिद्ध्यर्थं 'बहिरवस्थिताः' इत्युच्यते । असति हि वचने, नृलोके एव सन्ति नित्यगतयश्च इत्यवगम्येत ।

तुरीयस्य निकायस्य सामान्यसंज्ञाकीर्तनार्थमाह–

वैमानिकाः ॥१६॥

वैमानिकग्रहणमधिकारार्थम् ।१। इत ऊर्ध्वं ये वक्ष्यन्ते तेषु वैमानिकसंप्रत्ययः कथं स्यात् इत्यधिकारः क्रियते । विशेषेण आत्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि, विमानेषु भवा वैमानिकाः । तानि विमानानि त्रिविधानि–इन्द्रक-श्रेणि-पुष्पप्रकीर्णकभेदेन । तत्रेन्द्रकविमानानि इन्द्रवन्मध्येऽवस्थितानि । तेषां चतसृषु दिक्षु आकाशप्रदेशश्रेणिवदवस्थानात् श्रेणिविमानानि । विदिक्षु प्रकीर्णपुष्पवत् अवस्थानात् पुष्पप्रकीर्णकानि ।

तेषां वैमानिकानां भेदावबोधनार्थमाह–

---

१ सूर्यगमनादि, घटिकापात्रादि वा । २ ओदनपाकवाहदोहादेः । ३ अणोरणवन्तरव्यतिक्रमणादि । ४ –त्वेकत्वप्र– श्र० । ५ वा श्र० ।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः, कल्पानतीताः कल्पातीताः ।

ग्रैवेयकादिषु नवादिकल्पनासंभवात् कल्पत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।१। स्यान्मतम्–नवग्रैवेयका नवानुदिशाः पञ्चानुत्तराः इति च कल्पनासंभवात् तेषामपि कल्पत्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्–इन्द्रादिदशतयकल्पनासद्भावात् कल्पा इति । नवग्रैवेयकादिषु इन्द्रादिकल्पना नास्ति तेषामहमिन्द्रत्वात् ।

तेषामवस्थानविशेषनिर्ज्ञानार्थमाह–

उपर्युपरि ॥१८॥

उपर्युपरिवचनमतिर्यगसमस्थितिप्रतिपत्त्यर्थम् ।१। न ज्योतिष्कवत्तिर्यगवस्थिता नापि व्यन्तरवदसमस्थितय इति प्रतिपत्त्यर्थमुपर्युपरीत्युच्यते । कथमत्र द्वित्वम् ? *"**सामीप्येऽधोऽध्युपरि**" [जैनेन्द्र० ५।३।५] इति । ननु च, नात्र सामीप्यमस्ति असंख्येययोजनान्तरत्वात्तेषाम्; नैष दोषः; तुल्यजातीयेनाऽव्यवधानं सामीप्यम् । न च तेषां तुल्यजातीयं व्यवधायकं विवक्षितम् । इदं विचार्यते–किमत्राधेयत्वेन कल्प्यमाना देवाः, उत विमानानि, आहोस्वित् कल्पा इति, किं[1] वा कामचारः ?

देवा इति चेत्; न; अनिष्टत्वात् ।२। यदि देवा उपर्युपरीत्यनेनाभिसंबध्यन्ते; तन्न; किं कारणम् ? अनिष्टत्वात् । देवानां हि उपर्युपरि अवस्थानमनिष्टम् ।

विमानानि इति चेत्; न; श्रेणिप्रकीर्णकानां तिर्यगवस्थानात् ।३। अथ विमानान्युपर्युपरीति कल्प्यन्ते; तदपि नोपपद्यते; श्रेणिप्रकीर्णकानां तिर्यगवस्थानात् । श्रेणिविमानानि पुष्पप्रकीर्णकविमानानि च प्रतीन्द्रकं तिर्यगवस्थितानि इति इहेष्यन्ते ।

कल्पा इति चेददोषः ।४। यदि कल्पाः; न दोषो भवति । 'यथा न दोषः तथास्तु' कल्पा हि उपर्युपरिस्थिता इति ।

उपसर्जनत्वादनभिसंबन्ध इति चेत्; न; दृष्टत्वात् ।५। स्यादेतत्–कल्पोपपन्ना इत्यत्र कल्पग्रहणमुपसर्जनं तेनात्र संबन्धो नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्टत्वात् । दृष्टो हि उपसर्जनीभूतस्यापि अर्थस्य बुद्ध्याऽपेक्षितस्य विशेषणेनाभिसंबन्धः । 'राजपुरुषोऽयम् । कस्य ? राज्ञः' इति, एवमिहापि प्रत्यासत्तेः बुद्ध्या उपसर्जनमपि कल्पग्रहणमभिसंबध्यते उपर्युपरि कल्पा इति[2] ।

अथ कल्पातीतेषु किमभिसंबध्यते ? विमानानि । यद्येवं कियत्सु कल्पविमानेषु[3] ते देवा भवन्ति इत्यत आह–

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्म[4]ब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र[5]शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाऽच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

कथमेषां सौधर्मादीनां कल्पाभिधानम् ?

---

१ किञ्चातः श्र०, मू०, ता० । २ –सर्जनभू –आ०, ब०, द०, मु० । ३ इत्यर्थः आ०; ब०, मु० । ४ –षु दे– श्र० । ५ ब्रह्मलोक ब्र– श्र०, मु० । ६ –सतार– आ०, ब०, द०, मू० ।

[1]**चातुरर्थिकेनाऽणा स्वभावतो वा कल्पाभिधानम् ।१।** चातुरर्थिकेन अणा स्वभावतो वा कल्पस्याभिधानं भवति । अथ कथमिन्द्राभिधानम् ?

स्वभावतः साहचर्याद्वा इन्द्राभिधानम् ।२। स्वभावतो वा साहचर्याद्वा इन्द्राभिधानं द्रष्टव्यम् । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते—सुधर्मा नाम सभा, सा अस्मिन्नस्तीत्यण् सौधर्मः कल्पः, "**तदस्मिन्**" [जैनेन्द्र० ३।२।५८] इत्यण् तत्कल्पसाहचर्यादिन्द्रोऽपि सौधर्मः । ईशानो नाम इन्द्रः स्वभावतः, ईशानस्य निवासः कल्पः ऐशानः, *"**तस्य निवासः**" [जैनेन्द्र० ३।२।६०] इत्यण्, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि ऐशानः । सनत्कुमारो नाम इन्द्रः स्वभावतः, तस्य निवासः कल्पः सानत्कुमारः, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि सानत्कुमारः । महेन्द्रो नाम इन्द्रः स्वभावतः, तस्य निवासः कल्पः माहेन्द्रः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि माहेन्द्रः । ब्रह्मा इन्द्रः तस्य लोको ब्रह्मलोकः कल्पः, एवं ब्रह्मोत्तरश्च । ब्रह्मणः इन्द्रस्य निवासः ब्राह्म इति कल्पाभिधानं भवति, तत्साहचर्याद् ब्राह्म इतीन्द्रस्याऽभिधानम् । लान्तवस्य इन्द्रस्य निवासः लान्तवः कल्पः, तत्साहचर्याद्वा इन्द्रोऽपि लान्तवः । शुक्रस्य इन्द्रस्य निवासः शौक्रः कल्पः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि शौक्रः । अथवा शुक्रः कल्पः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि शुक्रः । शतारस्येन्द्रस्य निवासः शातार इति कल्पः, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि शातारः, । अथवा शतारः कल्पः तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि शतारः[2] । सहस्रारस्याप्येवम् । आनतस्येन्द्रस्य निवासः आनतः कल्पः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि आनतः । अथवा आनतः कल्पः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽप्यानतः । प्राणतस्य इन्द्रस्य निवासः प्राणतः कल्पः तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि प्राणतः । अथवा प्राणतः कल्पः तत्सहचरित इन्द्रोऽपि प्राणतः । आरणस्य इन्द्रस्य निवासः आरणः कल्पः, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽप्यारणः । अथवा आरणः कल्पः, तत्सहचरित इन्द्रोऽप्यारणः । अच्युतस्येन्द्रस्य निवासः आच्युतः कल्पः,तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽप्याच्युतः । अथवा अच्युतः कल्पः, तत्सहचरित इन्द्रोऽप्यच्युतः । लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवाः, ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि, [3]तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि ग्रैवेयकाः । विजयादयोऽन्वर्थसंज्ञाः अभ्युदयविघ्नहेतुविजयात् । सर्वार्थानां सिद्धेश्च, विजयादीनि विमानानि, तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि विजयादिनामानः ।

अथ किमर्थं सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं न तैः सह द्वन्द्वः कर्तव्यः ?

सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं स्थित्यादिविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।३। विजयादिषु चतुर्षु जघन्या स्थितिर्द्वात्रिंशत्सागरोपमाः साधिकाः; उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः । सर्वार्थसिद्धे[4]जघन्योत्कृष्टा च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा[5] । यः प्रभावः सर्वार्थसिद्धै[6]कदेवस्य नासौ सर्वविजयादिदेवानाम् इत्येवमादिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं विजयादिभ्यः सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

ग्रैवेयकादीनां पृथग्ग्रहणं कल्पातीतत्वनिर्ज्ञापनार्थम् ।४। [7]सौधर्मादयः अच्युतान्ता द्वादश कल्पाः, ततोऽन्ये कल्पातीता इत्येतस्य निर्ज्ञापनार्थं ग्रैवेयकादीनां पृथक् ग्रहणं क्रियते ।

नवशब्दस्य वृत्त्यकरणं अनुदिशसूचनार्थम् ।५। नवशब्दस्य ग्रैवेयकशब्देन वृत्तिः कर्तव्या नवग्रैवेयकेष्विति, तदकरणम् अन्यान्यपि नव सन्ति इत्येतस्य सूचनार्थम्, तेन अनुदिशसंग्रहः

---

१ तदस्मिन्नस्ति तेन निर्वृत्तः तस्य निवासोऽदूरभवो वेति । २ –तारः आन– श्र०, मू०, ता०, द० । ३ उपर्युपरि एकैकवृत्त्या व्यवस्थितानि सुदर्शनामोघसुबुद्धपथोधरसुभद्रसुविशालसुमनःसौमनसप्रियङ्करास्यानि नव भवन्ति । ४ –द्धेर्जघ्य– आ० । ५ –मा: यः मू० । ६ –द्धचैकदे– ता०, ज०, मू० ।

कृतो भवति । इतरथा हि लघ्वर्था वृत्तिः क्रियेत । किमिदमनुदिशमिति ? प्रतिदिशमित्यर्थः । दिक्शब्दस्य शरत्प्रभृतिषु[1] पाठात् [2]डः (टः) अनुदिशं विमानानि अनुदिशविमानानि । आकारान्तो वा दिशाशब्दो दिक्पर्यायवाची इति तेनानोर्वृत्तिः[3] ।

उपर्युपरीत्यनेन द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धः ।६। आगमाऽपेक्षया व्यवस्था भवति इति उपर्युपरीत्यनेन द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धो वेदितव्यः । प्रथमौ सौधर्मैशानकल्पौ, तयोरुपरि सानत्कुमारमाहेन्द्रौ । तयोरुपरि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरौ । तयोरुपरि लान्तवकापिष्ठौ । तयोरुपरि शुक्रमहाशुक्रौ । तयोरुपरि शतारसहस्रारौ । तयोरुपरि आनतप्राणतौ । तयोरुपरि आरणाऽच्युतौ ।

प्रत्येकमिन्द्रसंबन्धो मध्ये प्रतिद्वयम् ।७। प्रत्येकमिन्द्रसंबन्धो वेदितव्यः, मध्ये प्रतिद्वयम् । सौधर्मैशानकल्पयोर्द्वाविन्द्रौ । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्द्वौ । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोरेकः [4]ब्रह्मा नाम । लान्तवकापिष्ठयोरेको लान्तवाऽऽख्यः । शुक्रमहाशुक्रयोरेकः शुक्रसंज्ञः । शतारसहस्रारयोरेकः शतारनामा । आनतप्राणतयोर्द्वौ । आरणाऽच्युतयोर्द्वौ ।

तथा चोत्तरयोः पृथग्वचनमर्थवत् ।८। एवं कृत्वा उत्तरयोः पृथग्वचनमर्थवत् भवति—आनतप्राणतयोरारणाऽच्युतयोरिति । इतरथा हि लघ्वर्थं एक एव द्वन्द्वः क्रियेत । तद्यथा—अस्माद् भूमितलान्नवनवतिर्योजनसहस्राणि चत्वारिंशच्च योजनान्युत्पत्य[5] सौधर्मैशानकल्पौ भवतः । तयोरेकत्रिंशद् विमानप्रस्ताराः—ऋतु-चन्द्र-विमल-वल्गु-वीर-अरुण-नन्दन-नलिन-लोहित-काञ्चन-वञ्चन्-मारुत-ऋद्धीश-वैडूर्य-रुचक-रुचिर-अङ्क-स्फटिक-तपनीय-मेघ[6]-हारिद्र-पद्म-लोहिताक्ष-वज्र-नन्द्यावर्त-प्रभङ्कर-पिष्टक-गज-मस्तक-चित्रप्रभासंज्ञाः । मन्दरचूलिकाया उपरि ऋतुविमानम्, तयोरन्तरं वालाग्रमात्रम् । ऋतुविमानाच्चतसृषु दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः, प्रत्येकं द्विषष्टिविमानसंख्याः । विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकविमानानि । एवम् एकैकश्रेणीविमानहानिराप्रभाविमानाद्वेदितव्या । एकैकप्रस्तारान्तरमसंख्येयानि योजनशतसहस्राणि । तत्र प्रभासंज्ञादिन्द्रकविमानाद् दक्षिणस्यां दिशि श्रेण्यां द्वात्रिंशद्विमानसंख्यायामष्टादशं श्रेणीविमानं [7]तत्कल्पविमानम् । तस्य स्वस्तिक-वर्धमान-विश्रुताख्यास्त्रयः प्राकाराः । तत्र बाह्यप्राकारान्तरनिवासीनि अनीकानि पारिषदाश्च । मध्यप्राकारान्तरनिवासिन[8]स्त्रिदशसचिवाः, अभ्यन्तरप्राकारनिवासी देवराजः शक्रः सौधर्म इति चोच्यते । तस्य विमानस्य चतसृषु दिक्षु चत्वारि नगराणि—काञ्चन-अशोकमन्दिर-मसार-गल्वसंज्ञानि । तस्य द्वात्रिंशद्विमानशतसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत् त्रायस्त्रिंशाः, चतुरशीतिरात्मरक्षसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चतुरशीतिः[9] सामानिकसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, पद्मा शिवा सुजाता सुलसा अञ्जुका कालिन्दी श्यामा भानुरित्येता अष्टावग्रमहिष्यः । अन्यानि चत्वारिंशद्वल्लभिकानां देवीनां सहस्राणि । सर्वाश्चैता अग्रमहिष्यो वल्लभिकाश्च प्रत्येकं पञ्चपल्योपमस्थितिकाः षोडशदेवीसहस्रपरिवृताः । एकैका चाऽग्रमहिषी वल्लभिका च षोडशदेवीरूपसहस्रविकरणसमर्था । तत्र शक्रस्याभ्यन्तरपरिषत् समिता नाम, द्वादश-

---

१– षु उपादाना पाठात् – श्र० ।– षु उपादानात् श्र– आ०, ब०, द०, मु० । "हे शरदादेः" जैनेद्र० ४।२।१०९ । २–डः मू० । ३ अनुशब्दस्य समासः –स० । तानि लक्ष्मीलक्ष्मीमालिकवैरेवकरोचनकसोमसोमरूप्याङ्कपत्यङ्कादित्याख्यानि मध्यभूतेन्द्रकविमानस्य अष्टदिगानुगत्येन भवनादन्वर्थानि इति ज्ञातव्यम् । तत्साहचर्यादिन्द्रा अपि अनुदिशाख्याः प्रोच्यन्ते । ४ ब्रह्मनामा आ०, ब०, द०, मू० । ५– त्लुत्य आ०, ब०, द०, मू० । ६ –मेघाभ्रहा– श्र० । ७ सौधर्म । ८ –सिनस्त्रायस्त्रिंशाः विमानाभ्य– आ०, ब०, द०, मू० । ९ –तिसा– श्र०, मू० ।

सहस्राणि देवानां पञ्चपल्योपमायुषाम् । चन्द्रा नाम मध्यपरिषत् चतुर्दशसहस्राणि देवानां चतुःपल्योपमायुषाम् । जातुर्नाम बाह्यपरिषत् षोडशसहस्राणि देवानां त्रिपल्योपमायुषाम् । आभ्यन्तरपरिषदि देवानामेकैकस्य देवस्य देव्यः सप्तशतसंख्या अर्धतृतीयपल्योपमस्थितयः । मध्यमपरिषदि देवानामेकैकस्य देवस्य देव्यः षट्शतसंख्याः द्विपल्योपमस्थितयः । बाह्यपरिषदि देवानामेकैकस्य देवस्य देव्यः पञ्चशतसंख्याः अध्यर्धपल्योपमस्थितयः, तावद्देवीरूपविकरणसमर्थाः । अष्टानामपि अग्रमहिषीणामभ्यन्तरपरिषत् सप्तदेवीशतानि । मध्यमपरिषत् षड्देवीशतानि । बाह्यपरिषत् पञ्चदेवीशतानि । एतासु तिसृषु अपि परिषत्सु देव्यः अर्धतृतीयपल्योपमस्थितयः । पदात्यश्वगजवृषभरथनर्तकीगन्धर्वाख्यानि सप्तानीकानि पल्योपमस्थितीनि । अनीकमहत्तराश्च पल्योपमायुषः । तत्र वायुर्नाम पदात्यनीकमहत्तरः सप्तभिः कक्षाभिः परिवृतः । प्रथमा कक्षा चतुरशीतिः पदातिशतसहस्राणि । द्वितीया तद्द्विगुणा । एवं द्विगुणा[1] द्विगुणा पदातिसंख्या आसप्तम्याः । हरिरश्वानीकमहत्तरः । ऐरावतो गजानीकमहत्तरः । दामयष्टिर्वृषभानीकमहत्तरः । मातली रथानीकमहत्तरः । नीलाञ्जना नर्तकीगणमहत्तरिका । अरिष्टयशस्को नाम [2]गन्धर्वानीकमहत्तरः । एषां षण्णामप्यनीकानां संख्या पदातिसंख्यया तुल्या, सैषा विक्रियाकृता । प्राकृती तु एकैकस्यानीकस्य षट्छतसंख्या । तेषां प्राकृतानां देवानां प्रत्येकं षट्छतसंख्यानामेकैकस्य देवस्य षट्देवीशतानि । एकैका चात्र देवी षड्देवीरूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपमस्थितिका । सप्तानामप्यनीकमहत्तराणामेकैकस्य षट्देवीशतानि । एकैका चात्र देवी देवीषड्रूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपमस्थितिका । आत्मरक्षाणां चतुरशीतिसहस्रसंख्यानां पल्योपमायुषामेकैकस्य द्वे द्वे देवीशते । एकैका चात्र देवी षड्देवीरूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपमस्थितिका । शक्रस्य बालको नामाऽऽभियोग्यः पल्योपमायुः, जम्बूद्वीपप्रमाणायामयान[3]विमानविक्रियासमर्थः । तस्य षड्देवीशतानि । एकैका चात्र षड्देवीरूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपमस्थितिका । प्राच्यां दिशि स्वयंप्रभे विमाने सोमो लोकपालः अर्धतृतीयपल्योपमायुः । तस्य चत्वारि सामानिकसहस्राणि अर्धतृतीयपल्योपमायूंषि । चत्वारि देवीसहस्राणि अर्धतृतीयपल्योपमायूंषि[4] । चतस्रोऽग्रमहिष्यः अर्धतृतीयपल्योपमायुषः । सोमस्याभ्यन्तरपरिषत् ईषा नाम पञ्चपञ्चाशद्देवाः सपादपल्योपमायुषः । दृढा नाम मध्यमपरिषत् चत्वारि देवशतानि सपादपल्योपमायूंषि । चतुरन्ता नाम बाह्यपरिषत् पञ्चदेवशतानि सपादपल्योपमायूंषि । अपाच्यां दिशि वरज्येष्ठे विमाने यमो नाम लोकपालः । [5]शेषं सोमवत् । प्रतीच्यां दिशि अञ्जने विमाने वरुणो नाम लोकपालः पादोनत्रिपल्योपमायुः । ईषा नाम तस्याऽभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवा अध्यर्धपल्योपमायुषः । मध्या दृढा पञ्चदेवशतानि देशोनाध्यर्धपल्योपमायूंषि । बाह्या चतुरन्ता षड्देवशतानि देशाधिकाध्यर्धपल्योपमायूंषि । तिसृष्वपि परिषत्सु स्वभर्तृस्थितयो देव्यः । शेषं सोमवत् । उदीच्यां दिशि वल्गुविमाने वैश्रवणो नाम लोकपालः त्रिपल्योपमायुः, तस्याऽभ्यन्तरपरिषत् ईषा, सप्ततिर्देवाः अध्यर्धपल्योपमायुषः । मध्या दृढा षड्देवशतानि देशोनाध्यर्धपल्योपमायूंषि । बाह्या चतुरन्ता सप्तदेवशतानि सपादपल्योपमायूंषि । तिसृष्वपि परिषत्सु [6]स्वभर्तृस्थितयो देव्यः ।

१ –णद्विगु– श्र० । २ गान्धर्वानी– श्र० । ३– णायामविमा– द० । –णयानवि– आ०, ब०, मु० । ४ –यूंषि चतुर्णामपि लोकपालानां चत– आ०, ब०, द०, मू० । ५ शेषः सो– ता०, श्र० । ६ स्वभर्तृस्थित्यर्धस्थितयो ता०, श्र०, मू०, द० ।

शेषं सोमवत् । चतुर्णामपि लोकपालानामेकैकस्याऽर्धचतुर्थकोटीसंख्या अप्सरसः । सौधर्मेन्द्रकविमानानाम् एकत्रिंशच्छ्रेणीविमानानां चत्वारि सहस्राणि त्रीणि शतानि एकसप्तत्यधिकानि । पुष्पप्रकीर्णकविमानानाम् एकत्रिंशच्छतसहस्राणि पञ्चनवतिः सहस्राणि पञ्चशतान्यष्टनवत्यधिकानि । तान्येतानि समुदितानि द्वात्रिंशद्विमानशतसहस्राणि भवन्तीत्युक्तः सौधर्मकल्पः ।

तथा तस्मात् प्रभाविमानात् उदक्छ्रेण्यां द्वात्रिंशद्विमानविरचितायां यदष्टादशं [1]तत्कल्पविमानम् । तस्य परिवारवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या । [2]तस्याधिपतिः–ऐशानो देवराजः । यस्याऽष्टाविंशतिविमानशतसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, अशीतिः सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, अशीतिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः । श्रीमती सुसीमा वसुमित्रा वसुन्धरा जया जयसेना अमला प्रभा चेत्यष्टावग्रमहिष्यः सप्तपल्योपमस्थितयः । द्वात्रिंशद्वल्लभिकासहस्राणि सप्तपल्योपमायूंषि । अभ्यन्तरपरिषत्समिता दशदेवसहस्राणि सप्तपल्योपमायूंषि । चन्द्रा मध्यमा परिषत् द्वादशदेवसहस्राणि षट्पल्योपमायूंषि । [3]जातुर्बाह्यपरिषत् चतुर्दशदेवसहस्राणि पञ्चपल्योपमायूंषि । लघुपराक्रमः पदात्यनीकमहत्तरः, अमितगतिः अश्वानीकमहत्तरः, द्रुमकान्तो वृषभानीकमहत्तरः, किन्नरो रथानीकमहत्तरः, पुष्पदन्तो गजानीकमहत्तरः, गीतयशा गन्धर्वानीकमहत्तरः, श्वेता नर्तकीगणमहत्तरिका । तत्र पदात्यनीकमहत्तरस्य प्रथमा कक्षा अशीतिर्देवसहस्राणि, द्वितीया तद्द्विगुणा, एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः । एवं शेषाणामप्यनीकानां विक्रियासंख्या । त ऐते सर्वे अनीकदेवाः तन्महत्तराश्च साधिकपल्योपमायुषः । ऐशानस्य दक्षिणस्यां दिशि सुमे विमाने सोमो नाम लोकपालः, अर्धपञ्चपल्योपमायुः । तस्याभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवाः । मध्यमपरिषत् [4]पञ्चदेवशतानि । बाह्यपरिषत् षड्देवशतानि सप्त च देवाः । अपरस्यां दिशि सर्वतोभद्रे यमो लोकपालः [5]अर्धपञ्चमपल्योपमायुः । शेषः सोमवत् । उत्तरस्यां दिशि सुभद्रे वरुणो लोकपालः पञ्चपल्योपमायुः । तस्याभ्यन्तरपरिषदशीतिर्देवाः । मध्यमपरिषत् सप्तदेवशतानि । बाह्यपरिषदष्टौ देवशतानि । पूर्वस्यां दिशि अमिते विमाने वैश्रवणो लोकपालः पादोनपञ्चपल्योपमायुः । तस्याभ्यन्तरपरिषत् सप्ततिर्देवाः । मध्यमपरिषत् षड्देवशतानि । बाह्यपरिषत् सप्तदेवशतानि । ईशानस्य पुष्पको नाम आभियोग्यो देवः बालकतुल्यः जम्बूद्वीपप्रमाणपुष्पकयानविमानविकरणसमर्थः । शेषः शक्रवन्नेयः । एवमुत्तरश्रेणिविमानपुष्पकप्रकीर्णकाधिपतिरीशानो वर्णितः ।

प्रभाविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनसहस्राणि उत्पत्य सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पौ भवतः । तयोः सप्तविमानप्रस्ताराः– अञ्जन-वनमाल-नाग-गरुड-लाङ्गल-बलभद्र-चक्राभिधानाः । तत्राञ्जनविमानाच्चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः । विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकविमानानि । तत्रैकैकस्यां विमानश्रेण्याम् एकत्रिंशद्विमानानि[6] एकैकहीनान्याचकात् । तेषामन्तराण्यपि बहूनि योजनशतसहस्राणि । चक्राख्यादन्तविमानाद् दक्षिणश्रेण्यां पञ्चविंशतिविमानविराजितायां पञ्चदशं कल्पविमानं सौधर्मकल्पविमानसदृशम् । तस्याधिपतिः सानत्कुमारो देवराजः । [7]तस्य द्वादशविमानशत-

१ ईशान । २ तस्य पतिः आ०, ब०, द०, मू० । ३ चातु–भा० २ । ४ अर्धपञ्च–आ०, ब०, द०, मू०, ता०, मू० । ५–नि एवंश्रेणीविमानानि एकैक– आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । ६ यस्य आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० ।

सहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्विसप्ततिः सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, द्विसप्ततिः आत्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः। अष्टावग्रमहिष्यः शक्राग्रमहिषीसमाना नवपल्योपमायुषः। एकैका [1]चात्राऽष्टाभिः देवीसहस्रैः परिवृताः द्वात्रिंशद्देवीसहस्रविकरणसमर्थाः। अष्टावन्यानि वल्लभिकानां सहस्राणि तावदायुर्विकरणसमर्थानि। समिताऽभ्यन्तरपरिषदष्टौ देवसहस्राणि साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायूंषि। चन्द्रा मध्यमपरिषद् दशदेवसहस्राणि[2] साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायूंषि। [3]जातुर्बाह्यपरिषत् द्वादशदेवसहस्राणि साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायूंषि। अभ्यन्तरपरिषद्देवानाम् एकैकस्य सप्तदेवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि। मध्यमपरिषद्देवानाम् एकैकस्य, षड्देवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि। बाह्यपरिषद्देवानाम् एकैकस्य पञ्चदेवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि। सर्वाणि च तानि तावद्विक्रियासमर्थानि। तस्यानीकमहत्तराः शक्रानीकमहत्तरसमाना[4] अर्धचतुर्थसागरोपमायुषः। पदातीनां प्रथमकक्षा द्विसप्ततिसहस्राणि। द्वितीया तद्द्विगुणा। एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः। तथा शेषेष्वपि षट्सु अनीकेषु अनीकमहत्तराणामेकैकस्य त्रीणि देवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि। आत्मरक्षदेवानाम् एकैकस्य देवीशतं पञ्चपल्योपमायुः। [5]बालकनामाभियोग्यदेवस्याऽऽयुः अर्धचतुर्थानि सागरोपमाणि। त्रीणि देवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि। पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभ-वरज्येष्ठ-स्वयंजन-वल्गुविमानवासिनः सोमयम-वरुणवैश्रवणाः चत्वारो लोकपालाः। एषामेकैकस्य दश दश सामानिकशतानि, दशदशदेवीशतानि, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्रः परिषदः। सागरोपमत्रयस्थिती सोमयमौ। पादाधिकतावदायुर्वरुणः। अर्धाधिकतावदायुर्वैश्रवणः। सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषच्चत्वारिंशद् देवाः। मध्यमपरिषत् त्रीणि देवशतानि। बाह्यपरिषच्चत्वारि देवशतानि। वरुणस्याऽभ्यन्तरपरिषत्पञ्चाशद् देवाः। मध्या चत्वारि देवशतानि। बाह्या पञ्चदेवशतानि। वैश्रवणस्य अभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवाः। मध्या पञ्चदेवशतानि। बाह्या परिषत् षड्देवशतानि। चतसृष्वपि अभ्यन्तरपरिषत्सु देवानामायुः त्रीणि सागरोपमाणि। एकैकस्य देवीशतम्। चतसृष्वपि मध्यमपरिषत्सु देवानामायुः देशोनानि त्रीणि सागरोपमाणि। एकैकस्य[6] पञ्चसप्ततिर्देव्यः। चतसृष्वपि बाह्यपरिषत्सु देवा अर्धतृतीयसागरोपमायुषः, एकैकस्य पञ्चाशद् देव्यः।

तस्माच्चक्रविमानादुत्तरस्यां दिशि श्रेण्यां पञ्चविंशतिविमानमण्डितायां पञ्चदशं कल्पविमानं पूर्वोक्तवर्णनम्। तस्येश्वरो महेन्द्रो देवराजः। यस्याऽष्टौ विमानशतसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, सप्ततिः सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्ततिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, ऐशानाग्रमहिषीतुल्यसंज्ञा अष्टावग्रमहिष्यः एकादशपल्योपमायुषः। अष्टौ चास्य वल्लभिकानां सहस्राणि तावदायूँषि। शेषः सानत्कुमाराग्रमहिषीवल्लभिकावत्। समिताऽभ्यन्तरपरिषत् षड्देवसहस्राणि। चन्द्रा मध्यमपरिषत् अष्टौ देवसहस्राणि। जातुर्बाह्यपरिषत् दशदेवसहस्राणि। तिसृष्वपि परिषत्सु देवानां सानत्कुमारपरिषद्देवस्थितेरधिका स्थितिः। शेषो देवीगणपरिमाणायुर्विक्रियासामर्थ्यादिविधिः सानत्कुमारपरिषद्वत्। अनीकमहत्तराणामाख्या ऐशानवद्वेदितव्याः। पदात्यनीकस्य प्रथमकक्षा सप्ततिर्देवसहस्राणि, द्वितीया तद्द्विगुणा, एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः। तथा शेषेष्वपि षट्सु

१ –ष्टादशभिर्दे–आ०, ब०, द०, मु०। २ –णि अर्धचतु– ता०, श्र०, मू०। ३ चातुर्बा– भा० २। ४ नाम्ना। ५ बालकविमानाभि– आ०, ब०, द०, मु०, मू०। ६ – स्य सप्तति– आ०, ब०, द०, मु०।

अनीकेषु। अनीकमहत्तराणाम् एकैकस्य त्रीणि देवीशतानि। एकैका चाऽत्र सप्तपल्योपमस्थितिका। आत्मरक्षाणामायुः साधिकार्धचतुर्थानि सागरोपमाणि। एकैकस्य सप्तपल्योपमायुषां देवीनां शतम्। दक्षिणादिषु दिक्षु सम-सर्वतोभद्र-सुभद्र-समितविमानवासिनः सोमयम-वरुणवैश्रवणलोकपालाः। एकैकस्य दश दश सामानिकशतानि, तावत्संख्या देव्यः, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्रः परिषदः। तत्रार्धचतुर्थसागरोपमस्थितिर्वरुणः, तदूनस्थितिर्धनदः, ततोऽप्यूनस्थिती सोमयमौ, सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषत् पञ्चाशद् देवाः। मध्या चत्वारि देवशतानि। बाह्या पञ्चदेवशतानि। वैश्रवणस्याऽभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवाः। मध्या पञ्चदेवशतानि। बाह्या षड्देवशतानि। वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत्सप्ततिर्देवाः। मध्या षड्देवशतानि। बाह्या सप्तदेवशतानि। लोकपालचतुष्टयाभ्यन्तरपरिषद्देवानामेकैकस्य देवीशतम्। मध्यमपरिषद्देवानां एकैकस्य सप्ततिर्देव्यः। बाह्यपरिषद्देवानाम् एकैकस्य पञ्चाशद्देव्यः। आयुश्च तेषां यथासंख्यं साधिकानि समानि देशोनानि च त्रीणि सागरोपमाणि। पुष्पकयानविमानाभियोग्यदेवः साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायुः। तस्य देवानां साधिकद्विसागरायुषां शतम्।

चक्रविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरकल्पौ स्तः। तयोश्चत्वारो विमानप्रस्ताराः--अरिष्टो देवसमितो ब्रह्म ब्रह्मोत्तर इति। अरिष्टविमानाच्च चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः चतुर्विंशतिविमानगणनाः। विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकानि। एवमेकैकश्रेणिविमानहान्यानेतव्या आ ब्रह्मोत्तरात्। तेषां प्रस्ताराणामन्तराण्यपि बहूनि योजनशतसहस्राणि। ब्रह्मोत्तरविमानाद् दक्षिणश्रेण्याम् एकविंशतिविमानविराजितायां द्वादशं कल्पविमानं पूर्वोक्तवर्णनम्। तस्याधिपतिः ब्रह्मो (ह्म) देवराजः। यस्य साधिके द्वे विमानशतसहस्रे, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः देवाः, षट्त्रिंशत् सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, षड्त्रिंशदात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः। पद्मादयः शक्राग्रमहिषीतुल्यसंज्ञा अष्टावग्रमहिष्यः त्रयोदशपल्योपमस्थितयः चतुर्देवीसहस्रपरिवृताः। द्वे च वल्लभिकासहस्रे त्रयोदशपल्योपमस्थितिके। एकैकाग्रमहिषी वल्लभिका चतुष्षष्टिदेवीरूपसहस्रविकरणसमर्था। समिताभ्यन्तरपरिषत् चत्वारि देवसहस्राणि अष्टसागरोपमायूंषि। चन्द्रा मध्यमपरिषत् षड्देवसहस्राणि देशोनाष्टसागरोपमायूंषि। जातुर्बाह्या अष्टौ देवसहस्राणि अष्टसागरोपमायूंषि। अभ्यन्तरपरिषद्देवानामेकैकस्य पञ्चाशद् देव्यः। मध्यमपरिषद्देवानां चत्वारिंशद् देव्यः। बाह्यपरिषद्देवानां त्रिंशद् देव्यः। वाय्वादयः सप्तानीकमहत्तरा अर्धाष्टमसागरोपमायुषः। तत्र वायोः पदात्यनीकमहत्तरस्य प्रथमकक्षा षट्त्रिंशत्सहस्राणि, द्वितीया तद्द्विगुणा, एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः। सर्वेषामनीकमहत्तराणामेकैकस्य अर्धतृतीयानि देवीशतानि। चतस्रोऽग्रमहिष्यः। आत्मरक्षदेवानामायुः अर्धाष्टमानि सागरोपमाणि। एकैकस्य पञ्चाशद् देव्यः। बालकाभियोग्यदेवोऽपि तावदायुर्देवीकः। पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभवरज्येष्ठस्वयंजनवल्गुविमाननिवासिनः सोमयमवरुणवैश्रवणा लोकपालाः। तेषामेकैकस्य पञ्च सामानिकशतानि, पञ्च देवीशतानि, चतस्रोऽग्रमहिष्यः। अर्धाष्टमसागरोपमायुर्धनदः। तदूनायुर्वरुणः। ततोऽप्यूनस्थिती सोमयमौ। सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषत् त्रिंशद्देवाः। मध्या द्वे देवशते। बाह्या त्रीणि देवशतानि। वरुणस्याभ्यन्तरपरिषच्चत्वारिंशद् देवाः। मध्या त्रीणि देवशतानि। बाह्या चत्वारि देवशतानि। वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषत् पञ्चाशद् देवाः। मध्या चत्वारि देवशतानि। बाह्या पञ्च देवशतानि। चतसृषु अभ्यन्तरपरिषत्सु देवानामायुरष्टौ सागरोपमाणि। मध्यमपरिषद्देवानां देशोनान्यष्टौ

सागरोपमाणि । बाह्यपरिषद्देवानां तान्येवार्धाष्टमानि । तेषां देव्यो यथासंख्यं पञ्चाशच्चत्वारिंशत् त्रिंशच्च वेदितव्याः ।

ब्रह्मोत्तरादुत्तरश्रेण्यामेकविंशतिविमानायां द्वादशं कल्पविमानं पूर्ववत् । तस्याधिपतिः ब्रह्मोत्तरः । यस्य न्यूने द्वे विमानशतसहस्रे, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्वात्रिंशत्सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, द्वात्रिंशदात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, ऐशानेन्द्राग्रमहिषीतुल्यसंज्ञा अष्टावग्रमहिष्यः पञ्चदशपल्योपमायुषः, द्वे च वल्लभिकासहस्रे तावदायुषी । अवशिष्टं ब्रह्मेन्द्रवत् । ब्रह्मोत्तरस्याभ्यन्तरपरिषत् समिता द्वे देवसहस्रे । चन्द्रा मध्या चत्वारि देवसहस्राणि । जातुर्बाह्या षड्देवसहस्राणि । अवशिष्टं ब्रह्मेन्द्रपरिषद्वत् । पुष्पकाभियोग्योऽपि तद्वदेव । पदात्यनीकस्य प्रथमकक्षा द्वात्रिंशद् देवसहस्राणि । इतरद् ब्रह्मेन्द्रवत् । आत्मरक्षाश्च तद्वदेव । दक्षिणादिदिक्षु सोमादयो लोकपाला ब्रह्मेन्द्रवन्नेयाः ।

ब्रह्मोत्तरविमानादूर्ध्वं बहुयोजनशतसहस्राणि उत्पत्य[1] लान्तवकापिष्ठौ कल्पौ भवतः । ययोर्द्वौ विमानप्रस्तारौ ब्रह्महृदयलान्तवाख्यौ । तत्र लांतवविमानाद् दक्षिणश्रेण्याम् एकान्नविंशतिविमानविरचितायां नवमं कल्पविमानं पूर्वोक्तपरिवारम् । तस्याधिपतिर्लान्तवो नाम देवराजः । यस्याधिकानि पञ्चविंशतिविमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत् त्रायस्त्रिंशा देवाः, चतुर्विंशतिः सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चतुर्विंशतिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, शक्राग्रमहिषीसमानसंज्ञा अष्टावग्रमहिष्यः सप्तदशपल्योपमायुषः, प्रत्येकं द्वाभ्यां देवीसहस्राभ्यां परिवृताः । अन्यानि च वल्लभिकानां तावदायुषां पञ्चशतानि । एकैका [2]चात्राग्रमहिषी वल्लभिका च एकं देवीशतसहस्रमष्टाविंशति च देवीसहस्राणि विकरोति । समिताऽभ्यन्तरपरिषत् एकं देवसहस्रम् । तत्रैकैकस्य साधिकानि दशसागरोपमाणि आयुः, सप्ताशीतिश्च देव्यः । मध्या चन्द्रा द्वे देवसहस्रे । अत्रैकैकस्य देशोनानि दशसागरोपमाण्यायुः, पञ्चसप्ततिश्च देव्यः । जातुर्बाह्या चत्वारि देवसहस्राणि । तत्रैकैकस्य मध्यपरिषद्देवायुषः किञ्चिन्न्यूनमायुः, त्रिषष्टिश्च देव्यः । बालकाभियोग्यो बाह्यपरिषत्समायुः, षष्टिश्चास्य देव्यः । अनीकानां तन्महत्तराणां चायुः मध्यमपरिषदायुषः किञ्चिन्न्यूनमायुः । सर्वेषां प्रथमकक्षा चतुर्विंशतिः सहस्राणि । ततो द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः । तत्रैकैकस्य देवस्य महत्तरस्य च षष्टिर्देव्यः । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभ-वरज्येष्ठ-स्वयंजन-वल्गुविमाननिवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः । तत्रैकैकस्य चत्वारि सामानिकशतानि, अर्धतृतीयानि देवीशतानि, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्रः परिषदः । जातुपरिषत्सदृशायुर्वैश्रवणः । ततो न्यूनायुर्वरुणः । ततो न्यूनायुषौ सोमयमौ । सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषद्विंशतिर्देवाः, मध्या देवशतम्, बाह्या द्वे देवशते । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत्त्रिंशद् देवाः, मध्या द्वे देवशते, बाह्या त्रीणि देवशतानि । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषच्चत्वारिंशद् देवाः, मध्या त्रीणि देवशतानि, बाह्या चत्वारि देवशतानि । सर्वाभ्यन्तरपरिषद्देवानामायुरेकादशसागरोपमाणि । मध्यमपरिषद्देवानां तान्येव किञ्चिन्न्यूनानि । बाह्यपरिषद्देवानां ततोऽपि किञ्चिन्न्यूनानि । तेषां यथाक्रमं पञ्चविंशतिः विंशतिः पञ्चदशदेव्यः ।

[3]लान्तवविमानादुत्तरश्रेण्याम् एकान्नविंशतिविमानविराजितायां नवमं कल्पविमानं पूर्वोक्तवर्णनम् । तस्याधिपतिः कापिष्ठः । यस्योनानि पञ्चविंशतिः विमानसहस्राणि,

१ उत्प्लुत्य आ०, ब०, द०, मु० । २ चाग्रम– आ०, ब०, ०, मु० । ३ इन्द्रः ।

त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्वाविंशतिः सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, द्वाविंशतिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्यः पञ्चशतसंख्याश्च वल्लभिका एकान्नविंशतिपल्योपमायुषः । अवशिष्टं लान्तवेन्द्रवत्, परिषदश्च । सर्वेषामनीकानां प्रथमकक्षा द्वाविंशतिसहस्राणि, इतरल्लान्तवेन्द्रवत् । आत्मरक्षादिविधिश्च तथैव ज्ञेयः । अयं तु विशेषः लान्तवेन्द्रजातुपरिषत्सदृशायुर्वरुणः । तत ऊनायुः वैश्रवणः । ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ ।

लान्तवविमानाद्बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य महाशुक्रो[1] नाम विमानप्रस्तारो भवति[2] । ततो महाशुक्रविमानात् दक्षिणश्रेण्याम् अष्टादशविमानपरिमण्डितायां द्वादशं कल्पविमानं पूर्वोक्तपरिवारम् । तस्याधिपतिः शुक्रो नाम देवराजः । यस्याधिकानि विंशतिर्विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा[3] देवाः, चतुर्दश सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चतुर्दशाऽऽत्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, पद्मादयोऽष्टावग्रमहिष्यः, एकैका चात्र दशभिर्देवीसहस्रैः परिवृता । वल्लभिकाश्च अर्धतृतीयशतसंख्याः । एकैका यत्राग्रमहिषी वल्लभिका चैकविंशतिपल्योपमायुः, द्वे देवीरूपशतसहस्रे षट्पञ्चाशतं च देवीरूपसहस्राणि विकरोति । समिताऽभ्यन्तरपरिषत् पञ्चदेवशतानि चतुर्दशसागरोपमायूंषि । तत्रैकैकस्य त्रिचत्वारिंशद् देव्यः । चन्द्रा मध्या एकं देवसहस्रं देशोनचतुर्दशसागरोपमायुः । तत्रैकैकस्याष्टत्रिंशद् देव्यः । जातुर्बाह्या द्वे देवसहस्रे मध्यमपरिषदूनायुषी । अत्रैकैकस्य पञ्चत्रिंशद् देव्यः । अनीकानां महत्तराणां च जातुवदायुः । सर्वेषां प्रथमकक्षा चतुर्दशदेवसहस्राणि, एकैकस्य पञ्चाशद् देव्यः । बालकाभियोग्योऽपि तावदायुर्देवीकः, आत्मरक्षाश्च । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभ-वरज्येष्ठ-स्वयंजन-वल्गुविमानवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः । धनदस्य जातुवदायुः, ततोऽप्यूनायुर्वरुणः, ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ । तयोरभ्यन्तरपरिषदष्टदेवाः । मध्या पञ्चाशत् । बाह्या देवशतम् । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत् विंशतिर्देवाः । मध्या देवशतम् । बाह्या द्वे देवशते । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषद्विंशतिर्देवाः । मध्या द्वे देवशते । बाह्या त्रीणि देवशतानि । सर्वाभ्यन्तरपरिषद्देवानामायुः पञ्चदशसागरोपमाणि । मध्यमपरिषद्देवानामायुस्तान्येव देशोनानि । बाह्यपरिषद्देवानामायुः सार्धचतुर्दशसागरोपमाणि । तेषां यथाक्रमं विंशतिः पञ्चदश दश च देव्यो भवन्ति ।

महाशुक्रविमानादुत्तरश्रेण्याम् अष्टादशविमानशोभितायां द्वादशं कल्पविमानम् । तस्याधिपतिः महाशुक्रः । यस्योनानि विंशतिर्विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्वादश सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, द्वादशात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्यः अर्धतृतीयशतसंख्याश्च वल्लभिकाः त्रयोविंशतिपल्योपमायुषः । शेषं शुक्रवत् । तिस्रोऽपि परिषदः शुक्रवदेव वेदितव्याः । अनीकानां प्रथमकक्षा द्वादशदेवसहस्राणि । शेषं शुक्रवत् । आत्मरक्षाणां पुष्पकाभियोग्यस्य च तथैव विधिः । दक्षिणादिषु दिक्षु सम-सर्वतोभद्र-सुभद्र-समितविमाननिवासिनः सोमाद-, यश्चत्वारो लोकपालाः । शुक्रजातुपरिषत्समस्थितिर्वरुणः । तत ऊनायुर्वैश्रवणः । ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ । शेषं शुक्रवत् ।

महाशुक्रविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सहस्रार[4] एकविमानप्रस्तारो भवति । यत्र दक्षिणोत्तरौ शतारसहस्रारकल्पौ । तत्र सहस्रारविमानाद् दक्षिणश्रेण्यां सप्तदश-

१ इन्द्रक । २ –ति शुक्रमहाशुक्रौस्तःततो आ०, ब०, मु० । ३ –श देवाः श्र० । ४ इन्द्रक ।

विमानगणनायां नवमं कल्पविमानम् । तस्याधिपतिः शतारो नाम देवराजः । यस्याधिकानि त्रीणि विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, चत्वारि सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चत्वारि आत्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः, पद्मादयोऽष्टावग्रमहिष्यः पञ्चविंशतिपल्योपमायुषः । एकैका चात्र पञ्चभिर्देवीशतैः परिवृता: पञ्चदेवीरूपशतसहस्राणि द्वादशदेवीरूपसहस्राणि विकरोति । द्विषष्टिर्वल्लभिकास्तावदायुर्विक्रियाः । समिताऽभ्यन्तरपरिषदर्धतृतीयानि देवशतानि साधिकषोडशसागरोपमायूंषि । तेषामेकैकस्यैकविंशतिर्देव्यः । चन्द्रा मध्या पञ्चदेवशतानि देशोनषोडशसागरोपमायूंषि । तेषाम् एकैकस्याऽष्टादश देव्यः । जातुर्बाह्या एकं देवसहस्रं चन्द्रायुरूनायुः, तेषामेकैकस्य पञ्चदश देव्यः । सर्वेषामप्यनीकानां महत्तराणां च जातुवदायुः । प्रथमकक्षा चत्वारि देवसहस्राणि। एकैकस्य चत्वारिंशद् देव्यः । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभादिविमाननिवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः । जातुपरिषत्समायुर्वैश्रवणः । तत ऊनायुर्वरुणः, ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ । तयोरभ्यन्तरपरिषत्पञ्चदेवाः । मध्या पञ्चविंशतिर्देवाः । बाह्या पञ्चाशद् देवाः । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषद् दशदेवाः । मध्या पञ्चाशद् देवाः । बाह्या देवशतम् । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषत् पञ्चदशदेवाः । मध्या देवशतम् । बाह्या द्वे देवशते । सर्वाभ्यन्तरपरिषद्देवानामायुः सप्तदशसागरोपमाणि । मध्यमपरिषद्देवानामायुः तान्येव देशोनानि । बाह्यपरिषद्देवानामायुः साधीनि षोडशसागरोपमाणि । तेषां यथाक्रमं पञ्चदश दश पञ्चदेव्यो भवन्ति ।

सहस्रारविमानादुत्तरश्रेण्यां सप्तदशविमानभूषितायां नवमं कल्पविमानम् । तस्याधिपतिः सहस्रारः । यस्योनानि त्रीणि विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्वे सामानिकसहस्रे, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, द्वे आत्मरक्षसहस्रे, चत्वारो लोकपालाः, श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्यः सप्तविंशतिपल्योपमायुषः । शेषः शतारेन्द्रवत् । परिषदात्मरक्षाऽनीकाभियोग्यवर्णना च शतारेन्द्रवत् । अयं तु विशेषः—अनीकानां प्रथम[1]कक्षा द्वे देवसहस्रे । दक्षिणादिषु दिक्षु सम-सर्वतोभद्र-सुभद्र-समितविमाननिवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः । तेषामेकैकस्य द्वे सामानिकदेवशते[2], त्रिषष्टिर्देव्यः, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्रः परिषदः । शेषः शतारेन्द्रवत् । शतारेन्द्रजातुपरिषत्सदृशायुर्वरुणः । ततो न्यूनायुर्धनदः । ततो न्यूनायुषौ सोमयमौ । शेषः शतारेन्द्रवत् ।

सहस्रार[3]विमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य[4] आनतप्राणतारणाच्युतकल्पाः सन्ति । तत्र षड्विमानप्रस्ताराः—आनत-प्राणत-पुष्पक-सातक-आरण-अच्युतसंज्ञकाः । तत्रानतविमानाच्चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः । विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकानि । तत्रैकैकस्यां विमानश्रेण्यां षोडशश्रेणिविमानानि । एवमौपरिष्टेषु पञ्चसु विमानप्रस्तारेषु एकैकश्रेणिविमानहानिर्वेदितव्या । तत्रारणाच्युतविमानाद् दक्षिणश्रेण्याम् एकादशविमानविरचितायां षष्ठं कल्पविमानम् । तस्याधिपतिरारणो नाम देवराजः । यस्याधिकान्यर्धचतुर्थानि विमानशतानि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, दश सामानिकशतानि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, दशात्मरक्षशतानि, चत्वारो लोकपालाः, पद्मादयोऽष्टावग्रमहिष्यः अष्टचत्वारिंशत्पल्योपमायुषः । एकैका चात्राऽर्धतृतीयै:[4]

१ –कक्ष्या द्वे ता०, मू०, श्र०। २ –तेष– आ०, ब०, द०, मू०। ३ इन्द्रक। ४ –त्य सन्ति तत्र ता०, श्र०, मू०। ४ पञ्चाशदधिकद्विशतैः।

देवीशतैः परिवृता दशदेवीरूपशत[1]सहस्राणि चतुर्विंशति च देवीरूपसहस्राणि विकरोति । वल्लभिकाश्च पञ्चदश तावदायुर्विक्रियाः । समिताऽभ्यन्तरपरिषत् पञ्चविंशतिर्देवशतम् । तत्रैकैकः साधिकविंशतिसागरोपमायुर्दशदेवीकः । चन्द्रा मध्या, अर्धतृतीयानि देवशतानि । तत्रैकैकः देशोनविंशतिसागरोपमस्थितिरष्टदेवीकः । जातुर्बाह्या पञ्चदेवशतानि । तत्रैकैकः अर्धविंशतिसागरोपमस्थितिः षड्देवीकः । अनीकानां प्रथमकक्षा[2] एकं देवसहस्रम् । सर्वेषां देवानां तन्महत्तराणां च एकैकस्य त्रिंशद् देव्यः । आत्मरक्षाणां च त्रिंशत् । बालकाभियोग्यस्य चन्द्रायुषः ऊनमायुः, त्रिंशद् देव्यः । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभादिविमाननिवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः । तेषामेकैकस्य सामानिकशतम् । द्वात्रिंशद् देव्यः, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्रः परिषदः । जातुसमानायुर्वैश्रवणः । ततो[3] न्यूनायुर्वरुणः । ततो न्यूनायुषौ सोमयमौ । तयोरभ्यन्तरपरिषत्त्रयो देवाः । मध्या द्वादश । बाह्या पञ्चविंशतिः । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत् पञ्चदेवाः । मध्या पञ्चविंशतिः । बाह्या पञ्चाशत् । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषत् षड्देवाः । मध्या पञ्चाशत् । बाह्या शतम् । तेषां यथाक्रमम् एकविंशतिसागरोपमाणि तान्येव देशोनानि तान्येव चार्धोनान्यायुरवगन्तव्यम्, सप्त पञ्च तिस्रश्च देव्यो ज्ञेयाः ।

आरणाच्युतविमानादुत्तरश्रेण्याम् एकादशविमानविभूषितायां षष्ठं कल्पविमानम् । तस्याधिपतिरच्युतो नाम देवराजः । यस्योनान्यर्धचतुर्थानि विमानशतानि । त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः । दश सामानिकशतानि । तिस्रः परिषदः । सप्तानीकानि । दश आत्मरक्षशतानि । चत्वारो लोकपालाः । श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्यः पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमायुषः, वल्लभिकाश्च पञ्चदश तावदायुषः । अवशिष्टम् आरणेन्द्रवत् । परिषदादिविधिश्च तथैव नेयः । अयं तु विशेषः वरुणोऽधिकायुः । ततो न्यूनायुर्धनदः । ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ ।

त एते लोकानुयोगोपदेशेन चतुर्दशेन्द्रा उक्ताः । इह द्वादश इष्यन्ते[4] "पूर्वोक्तेन क्रमेण ब्रह्मोत्तरकापिष्ठमहाशुक्रसहस्रारेन्द्राणां दक्षिणेन्द्रानुवर्तित्वात् आनतप्राणतकल्पयोश्च एकैकेन्द्रत्वात् ।

सौधर्मविमानसंख्या प्रागुक्ता । ऐशानेऽष्टाविंशतिर्विमानशतसहस्राणि[5] । श्रेणिविमानानि चतुर्दशशतानि सप्तपञ्चाशानि । पुष्पप्रकीर्णकानां सप्तविंशतिः शतसहस्राणि अष्टनवतिः सहस्राणि पञ्चशतानि त्रिचत्वारिंशानि । सानत्कुमारे द्वादशविमानशतसहस्राणि । श्रेणिविमानानां पञ्चशतानि पञ्चनवत्यधिकानि । प्रकीर्णकानाम् एकादशशतसहस्राणि नवनवतिः सहस्राणि चत्वारि शतानि पञ्चोत्तराणि । माहेन्द्रेऽष्टौ विमानशतसहस्राणि । श्रेणिविमानानाम् एकं शतं षण्णवत्यधिकम् । प्रकीर्णकानां सप्तशतसहस्राणि नवनवतिसहस्राणि अष्टौ शतानि चतुरुत्तराणि । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरकल्पयोः चत्वारि विमानशतसहस्राणि । श्रेणिविमानानां त्रीणि शतानि चतुःषष्टयधिकानि। प्रकीर्णकानां त्रीणि शतसहस्राणि नवनवतिः सहस्राणि षट्शतानि षट्त्रिंशानि । लान्तवकापिष्ठयोः पञ्चाशत्सहस्राणि । श्रेणिविमानानां शतम् अष्टपञ्चाशम् । प्रकीर्णकानामेकान्नपञ्चाशत्सहस्राणि

१ –शतसहस्त्राणि विकरोति आ०, ब०, द०, मु०। –२ कक्ष्या श्र०, मू०, ता०। ३ ततोऽप्यूनायुश्र०। ४ "सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबम्हुलंतवया । महसुक्कसहस्सारा आणद पाणद य आरणच्चुदया। एवं वारसकप्पा·····" –त्रिलोकप्र० वैमानिक०। ५ तदेव विवृणोति। ६ तान्येव पृथग् पृथग् विवृणोति, एवमुत्तरत्रापि।

अष्टौ शतानि द्विचत्वारिंशानि। शुक्रमहाशुक्रयोः चत्वारिंशत्सहस्राणि। श्रेणिविमानानां त्रिसप्ततिः। प्रकीर्णकानाम् एकान्नचत्वारिंशत्सहस्राणि नवशतानि सप्तविंशानि। शतारसहस्रारकल्पयोः षड्विमानसहस्राणि। श्रेणिविमानानाम् एकान्नसप्ततिः। प्रकीर्णकानाम् एकान्नषष्टिशतानि एकत्रिंशानि। आरणाच्युतकल्पयोः सप्तविमानशतानि। श्रेणिविमानानां त्रीणि शतानि त्रिंशानि। प्रकीर्णकानां त्रीणि शतानि सप्तत्यधिकानि। [1]चतुर्दशस्वपि कल्पविमानेषु विमानसंख्या चतुरशीतिः शतसहस्राणि षण्णवतिः सहस्राणि सप्त च विमानशतानि।

आरणाच्युतविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राण्युत्पत्य सन्ति तत्राधोग्रैवेयकविमानानि। येषु त्रयो विमानप्रस्तारः सुदर्शनामोघसुप्रबुद्धाः। तत्र सुदर्शनेन्द्रकाच्चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यः। तत्रैकैकस्यां विमानश्रेण्यां दश विमानानि। सुदर्शनादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्याऽस्ति अमोघो नाम विमानप्रस्तारः। अत्रापि चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः। अत्रैकस्यां विमानश्रेण्यां नवविमानानि। अमोघादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य अस्ति सुप्रबुद्धो नाम विमानप्रस्तारः। अत्रापि चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो[2] विनिर्गताः। एकैकस्यां विमानश्रेण्याम् अष्टौ विमानानि। त्रिष्वेप्येतेषु पुष्पप्रकीर्णकविमानानि न सन्ति। तान्येतान्येकादशोत्तरविमानशतम्। सुप्रबुद्धविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्र मध्यमग्रैवेयकविमानानि। येषु त्रयः प्रस्तारा यशोधरसुभद्रविशालाः। पूर्ववदत्रापि एकैकश्रेणिविमानहान्या पञ्चसप्तति[3]श्रेणिविमानानि। पुष्पप्रकीर्णकानि द्वात्रिंशत्[4]। तान्येतानि सप्तोत्तरं शतम्। सुविशालविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्रोपरिमग्रैवेयकविमानानि। येषु त्रयः प्रस्ताराः सुमनाः सौमनाः प्रीतिङ्कर इति। पूर्ववदत्राप्येकैकविमानहान्या एकान्नचत्वारिंशत् श्रेणिविमानानि। द्वापञ्चाशत्पुष्पप्रकीर्णकानि। तान्येतानि समुदितानि एकनवतिर्विमानानाम्।

प्रीतिङ्करविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्राऽनुदिशविमानानि। येष्वेक एवाऽऽदित्यो नाम विमानप्रस्तारः। तत्र दिक्षु चत्वारि श्रेणिविमानानि। प्राच्यां दिशि अर्चिर्विमानम्, अपाच्यामर्चिमाली, प्रतीच्यां वैरोचनम्, उदीच्यां प्रभासम्, मध्ये आदित्याख्यम्। विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकानि चत्वारि--पूर्वदक्षिणस्यामर्चिप्रभम्, दक्षिणापरस्याम् अर्चिर्मध्यम्, अपरोत्तरस्याम् अर्चिरावर्तम्, उत्तरपूर्वस्यामर्चिर्विशिष्टम्। तान्येतानि नव।

आदित्यविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्रानुत्तरविमानानि। यत्रैक एव सर्वार्थसिद्ध[5]संज्ञो विमानप्रस्तारः। दिक्षु प्रदक्षिणानि विजयवैजयन्तजयन्तापराजितविमानानि चत्वारि, मध्ये सर्वार्थसिद्ध[5]संज्ञम्। पुष्पप्रकीर्णकानि न सन्ति।

सौधर्मैशानयोः कल्पयोर्विमानानि सप्तविंशैकयोजनशतबाहल्यानि पञ्चयोजनशतोच्छ्रायाणि। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतेषु नवसु ग्रैवेयकेषु अनुदिशाऽनुत्तरेषु च विमानानां बाहल्यमेकैकयोजनविहीनम्, उच्छ्रायश्च एकैकयोजनशताधिको यथाक्रमं वेदितव्यः। तान्ये-

१ आनतप्राणतयोरन्यतरत्रान्तर्भावात्। २ –ण्यो नि– श०, मु०। ३ –तिःश्रे– आ०, ब०, द०, मु०, मू०। ४ द्वात्रिंशान्येतानि आ०, भा० २। ५ –द्धिसं –आ०, ब०, मु०।

तानि श्रेणीन्द्रप्रकीर्णकविमानानि कानिचित् संख्येययोजनशतविस्ताराणि। कानिचिदसंख्येययोजनशतविस्ताराणि। यानि संख्येयविस्ताराणि तानि संख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि, यान्यसंख्येयविस्ताराणि तानि असंख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि। सौधर्मैशानयोर्विमानानि पञ्चवर्णानि कृष्णनीलरक्तहारिद्रशुक्लवर्णानि। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः चतुर्वर्णानि कृष्णहीनानि। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु त्रिवर्णानि विमानानि कृष्णनीलवर्जितानि। शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्राराऽऽनतप्राणतारणाच्युतेषु द्विवर्णानि विमानानि हारिद्रशुक्लवर्णानि। ग्रैवेयकानुदिशानुत्तरविमानानि शुक्लवर्णान्येव। परमशुक्लं सर्वार्थसिद्ध[1]विमानम्।

एषामधिकृतानां वैमानिकानां देवानां परस्परतो विशेषप्रत्तिपत्त्यर्थमाह--

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

स्वोपात्तायुष उदयात् स्थानं स्थितिः ।१। स्वेनोपात्तस्य देवायुषः उदयात्तस्मिन् भवे तेन शरीरेण स्थानं स्थितिरित्युच्यते।

शापानुग्रहलक्षणः प्रभावः ।२। शापोऽनिष्टापादनम्, अनुग्रह इष्टप्रतिपादनम्, तल्लक्षणः प्रवृद्धो भाव प्रभाव इत्याख्यायते।

सद्वेद्योदये सति इष्टविषयानुभवनं सुखम् ।३। सद्वेद्योदयमूलहेतौ सति बाह्यस्येष्टविषयस्य उपनिपाते तद्विषयमनुभवनं सुखमिति कथ्यते।

शरीरवसनाभरणादिदीप्तिर्द्युतिः ।४। शरीरस्य वसनस्याऽऽभरणादीनां च दीप्तिः द्युतिरिति उपाख्यायते।

लेश्याशब्द उक्तार्थः ।५। लेश्याशब्द उक्तार्थ एव वेदितव्यः। लेश्याया विशुद्धिः लेश्याविशुद्धिः।

इन्द्रियावधिभ्यां विषयाभिसंबन्धः ।६। विषयशब्दस्य इन्द्रियावधिभ्यामभिसंबन्धो भवति। इन्द्रियं चाऽवधिश्च इन्द्रियावधी, तयोर्विषय इन्द्रियावधिविषय[2] इति।

इतरथा हि तदाधिक्यप्रसङ्गः ।७। अक्रियमाणे ह्येवमभिसंबन्धे उपर्युपरि देवेषु इन्द्रियाणामाधिक्यं प्रसज्येत।

स्थितिग्रहणमादौ तत्पूर्वकत्वादितरेषाम् ।८। स्थितिग्रहणमादौ क्रियते तत्पूर्वकत्वादितरेषां प्रभावादीनाम्। स्थितिमतां हि प्रभावादयो भवन्ति नाऽस्थितस्येति।

तेभ्यस्तैर्वाऽधिका इति तसिः ।९। तेभ्यः स्थित्यादिभ्यः अधिका इति *"**अपादानेऽहीयरुहोः**" [जैनेन्द्र० ४।३।५०] इति तसिः। तैर्वाधिका इति तसि प्रकरणे *"**आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्**" [जैनेन्द्र० ४।२।४९] इति तसिः। उपर्युपरि वैमानिकाः इत्यनुवर्तन्ते, तेनैवमभिसंबध्यते उपर्युपरि वैमानिकाः प्रतिकल्पं प्रतिप्रस्तारं च स्थित्यादिभिरेभिरधिका इति। तत्र स्थितिः उत्कृष्टा जघन्या च, सा उपरिष्टाद्वक्ष्यते। इह तु वचनं येषां समा[3] भवति तेषामपि गुणतोऽधिकत्वज्ञापनार्थम्। यः प्रभावः सौधर्मकल्पदेवानां निग्रहानुग्रहविक्रियापराभियोगादिषु, उपर्युपरि ततोऽनन्तगुणः मन्दाभिमानतया अल्पसंक्लिष्टत्वाच्च न प्रवर्तते। एवं सुखादयोऽपि प्रत्येतव्याः। लेश्यानियमः उपरि वक्ष्यते। इह तु वचनं यत्र विधानं[4] समानं तत्रापि कर्मविशुद्धितोऽधिका भवन्ति इति प्रतिपादनार्थम्।

१ –द्विवि– आ०, ब, द०, मु०। २ विषयो ज्ञेयपदार्थः। ३ स्थितिः। ४ स्थित्यादि।

यथा स्थित्यादिभिरुपर्यधिका एवं गत्यादिभिरपि इत्यतिप्रसङ्गे तन्निवृत्त्यर्थमाह—

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः ।१। उभयनिमित्तवशात् उत्पद्यमानः कायपरिस्पन्दो गतिरित्युच्यते ।

शरीरमुक्तलक्षणम् ।२। *"**औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि**" [त० सू० २।३६] इत्यत्र शरीरमुक्तलक्षणम् ।

लोभकषायोदयान्मूर्च्छा परिग्रहः ।३। लोभकषायवेदनीयस्य उदयान्मूर्च्छा संकल्पः परिग्रह इत्याख्यायते ।

मानकषायोदयापादितोऽभिमानः ।४। मानकषायवेदनीयस्य उदयापादितोऽहङ्कारः अभिमान इति कथ्यते । गतिश्च शरीरं च परिग्रहश्च अभिमानश्च गतिशरीरपरिग्रहाभिमानाः तैः गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः । तसिप्रकरणे *"**आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्**" [जैनेन्द्रवा० ४।२।४९] इति तसिः । यदि हि अपादानविवक्षा स्यात् *"**अहीयरुहोः**" [जैनेन्द्र० ४।३।५०] इति प्रतिषेधः स्यात् ।

गतिग्रहणमादौ लक्षणद्वययोगात् ।५। गतिग्रहणमादौ क्रियते । कुतः ? लक्षणद्वययोगात् *"**द्वन्द्वेऽसु**" [जैनेन्द्र० १।३।९८][1] *"**अल्पाच्तरम्**" [जैनेन्द्र० १।३।१००] इति ।

ततः शरीरग्रहणं तस्मिन् सति परिग्रहोपपत्तेः ।६। ततः परं शरीरग्रहणं क्रियते । कुतः ? तस्मिन् सति परिग्रहोपपत्तेः, सति शरीरे परिग्रहो ममेदं बुद्धिरुपजायते ।

तद्वत्त्वेऽपि केवलिनः परिग्रहेच्छाभाव इति चेत्; न; देवाधिकारात् ।७। स्यादेतत्—शरीरवत्त्वेऽपि केवलिनः ममेदमिति संकल्पो न विद्यते ततोऽयं हेतुर्व्यभिचारे इति; तन्न; किं कारणम् ? देवाधिकारात् । देवा हि रागादिमन्तोऽधिकृताः, तेषामवश्यं सति शरीरे परिग्रहाभिलाषेण भवितव्यमिति नास्ति व्यभिचारः ।

तन्मूलत्वात्तदनन्तरमभिमानग्रहणम् ।८। परिग्रहमूलो हि लोकेऽभिमानो दृष्टः, ततोऽस्य तदनन्तरं ग्रहणं क्रियते । उपर्युपरीत्यनुवर्तते, तेनोपर्युपरि देवानाम् उक्ता गत्यादयो हीना वेदितव्याः । तद्यथा—सौधर्मैशानयोर्देवाः क्रीडादिनिमित्तां गतिं महाविषयत्वेन मुहुर्मुहुर्वृत्त्या चाधिकामास्कन्दन्ति न तथोपरि देवाः विषयाभिष्वङ्गोद्रेकाभावात् । ततस्तन्निमित्ता गतिरपि क्रमेण हीयते । शरीरमपि सौधर्मैशानयोर्देवानां सप्तारत्नि[2]प्रमाणम् । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः षडरत्निप्रमाणम् । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पञ्चारत्निः । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु च चतुररत्निः । आनतप्राणतयोर्धचतुर्थारत्निः । आरणाच्युतयोररत्नित्रयप्रमाणम् । अधोग्रैवेयकेषु अर्धतृतीयारत्निः, मध्यमग्रैवेयकेषु अरत्निद्वयमात्रम्, उपरिमग्रैवेयकेषु अनुदिशविमानेषु च अध्यर्धारत्निः, अनुत्तरेष्वरत्निप्रमाणमात्रम् । परिग्रहोऽपि विमानपरिवारादिलक्षण उपर्युपरि हीन इत्युक्तं पुरस्तात् । कुतः पुनरुपर्युपरि परिग्रहाभिमानहानिरिति ? उच्यते—

प्रतनुकषायत्वाल्पसंक्लेशावधिविशुद्धितत्त्वावलोकनसंवेगपरिणामानाम् उत्तरोत्तराधिक्याद् अभिमानहानिः ।९। प्रतनुकषायत्वादल्पसंक्लेशो भवति, ततोऽवधिविशुद्धिर्जायते, संक्लेशवशादवधिर्हीयत इत्युक्तं पुरस्तात् । ततोऽवधिविशुद्धेः उपर्युपरि देवाः शारीरमानसदुःखपरीतान्

१ कोऽर्थः ? मानसं कर्म । २ 'सु' इति स्वमते घिसंज्ञा । ३ हस्तो रत्निररत्निः स्यात् ।

नारकतैर्यग्योनमानुषान् प्रकर्षेणाऽवलोकयन्ति । ततस्तन्निमित्तसंवेगपरिणामः संसाराद्भीरुता उपजायते । ततो दुःखहेतुषु दुरन्तेषु परिग्रहेषु अभिभानो हीयते । किञ्च,

विशुद्धपरिणामप्रकर्षनिमित्तत्वाच्च उपर्युपर्युपपत्तेः ।१०। [3]इह विशुद्धपरिणामभेदनिमित्तः पुण्यकर्मबन्धविकल्पः, तत्पूर्वको देवेषु उपपाद इति उपर्युपरि अभिमानहानिः । कारणसदृशं हि कार्यं दृष्टमिति । तद्यथा—तैर्यग्योनेषु असंज्ञिनः पर्याप्ताः पञ्चेन्द्रियाः संख्येयवर्षायुषः, अल्पशुभपरिणामवशेन पुण्यबन्धमनुभूय भवनवासिषु व्यन्तरेषु च उत्पद्यन्ते । त एव संज्ञिनो मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयश्च आसहस्रारादुत्पद्यन्ते । त एव सम्यग्दृष्टयः सौधर्मादिषु अच्युतान्तेषु जायन्ते । असंख्येयवर्षायुषः तिर्यङ्मनुष्या मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयश्च आ ज्योतिष्केभ्य उपजायन्ते, तापसाश्चोत्कृष्टाः । त एव सम्यग्दृष्टयः सौधर्मैशानयोर्जन्मानुभवन्ति । मनुष्याः संख्येयवर्षायुषः मिथ्यादर्शनाः सासादनसम्यग्दर्शनाश्च भवनवासिप्रभृतिषूपरिमग्रैवेयकान्तेषु उपपादमास्कन्दन्ति । परिव्राजकानां देवेषूपपादः आ ब्रह्मलोकात् । आजीवकानाम् आसहस्रारात् । तत ऊर्ध्वमन्यलिङ्गिनां[4] नास्त्युपपादः । निर्ग्रन्थलिङ्गधराणामेव उत्कृष्टतपोऽनुष्ठानोपचितपुण्यबन्धानाम् असम्यग्दर्शनानामुपरिमग्रैवेयकान्तेषु उपपादः । तत ऊर्ध्वं सम्यग्दर्शनज्ञानचरणप्रकर्षोपेतानामेव जन्म नेतरेषाम् । श्रावकाणां सौधर्मादिष्वच्युतान्तेषु जन्म नाधो नोपरीति परिणामविशुद्धिप्रकर्षयोगादेव कल्पस्थानातिशययोगोऽवसेयः ।

पुरस्तात्त्रिषु निकायेषु देवानां लेश्याविधिरुक्त इदानीं वैमानिकेषु लेश्याविधिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

किमर्थं पृथग्लेश्याभिधानं क्रियते, ननु यत्रैवान्यो लेश्याविधिः तत्रैवेदं वक्तव्यम् ? अत उत्तरं पठति[5]—

पृथग्लेश्याभिधानं लघ्वर्थम् ।१। पृथगिदं लेश्याभिधानं क्रियते लघ्वर्थम् । तत्र[6] हि पाठे क्रियमाणे वैमानिकानां स्वामिनां भेदेन निर्देशः कर्तव्यः स्यात् । अथ कोऽयं निर्देशः? पीतपद्मशुक्ललेश्या इति । पीता च पद्मा च शुक्ला च पीतपद्मशुक्लाः, ता लेश्या येषां त इमे पीतपद्मशुक्ललेश्या इति । यद्येवं द्वन्द्वे पुंवद्भावात् निर्देशो नोपपद्यते ? नैष दोषः; औत्तरपदिकं ह्रस्वत्वम्, यथाकार्थविपरिणामाद्वा सिद्धम् । *[7]"**द्रुतायां तपरकरणे [8]मध्यमबिलम्बितयोरुपसंख्यानम्**" [पात० महा० १।१।६९] इत्यत्रौत्तरपदिकं[9] ह्रस्वत्वम्, एवमिहापि वेदितव्यम् ।

तत्र कस्य का लेश्या इत्यत्रोच्यते—

सौधर्मैशानीयाः पीतलेश्याः ।२। सौधर्मैशानीया देवाः [10]पीतलेश्या द्रष्टव्याः ।

१ लोके कृत । २ –लिङ्गानां आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । ३ पठन्ति आ०, ब०, द०, मु० । ४ तथा सति सूत्रस्य गौरवं स्यात् । ५ सूत्रस्य लघुनोपायेन । ६ आदितस्त्रिषु इत्यादि प्रकरणे । ७ द्रुता वृत्तिः । ८ मध्यमा च बिलम्बिता च तयोः । इदमेव ज्ञापकं लक्षणाभावेऽपि शिष्टप्रयोगानुसारेण औत्तरपदिकं ह्रस्वत्वमस्तीति । ९ ···सूत्रे तपरकरणं तत् ज्ञापयति क्वचिद् द्वन्द्वेऽप्यौत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं भवतीति तेन यथा मध्यमा च बिलम्बिता मध्यमबिलम्बिते इत्याद्यौत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं बहुलं दृश्यते तद्वदत्रापीत्यदोषः पाणिनीयमिदं सूत्रम् । १० मध्यम ।

सानत्कुमारमाहेन्द्रीया देवाः पीतपद्मलेश्याः ।३। सनत्कुमारे माहेन्द्रे च देवाः पीत-पद्म[1]लेश्याः प्रत्येतव्याः ।

ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पद्मलेश्याः ।४। चतुर्ष्वेषु देवाः [2]पद्मलेश्याः द्रष्टव्याः ।

शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः ।५। चतुर्ष्वेषु देवाः [3]पद्मशुक्ललेश्या विज्ञेयाः ।

आनतादिषु शुक्ललेश्याः ।६। आनतादिषु शेषेषु देवाः [4]शुक्ललेश्याः प्रत्येतव्याः । तत्राप्यनुत्तरेषु परमशुक्ललेश्याः ।

शुद्धमिश्रलेश्याविकल्पानुपपत्तिः सूत्रेऽनभिधानादिति चेत्; न; मिश्रयोरन्यतर[5]ग्रहणात् यथा लोके ।७। स्यान्मतम्—उक्तो लेश्याविकल्पः शुद्धो मिश्रश्च नोपपद्यते, कुतः ? सूत्रेऽनभिधानात् इति; तन्न; किं कारणम् ? मिश्रयोरन्यतर[6]ग्रहणात्, यथा लोके । तद्यथा—छत्रिणो गच्छन्तीत्यछत्रिष्वपि छत्रिव्यपदेशः, एवमिहापि मिश्रयोरप्यन्यतरग्रहणेन ग्रहणं भवति इति पीतपद्मलेश्याः पूर्वग्रहणेन परग्रहणेन वा गृह्यन्ते, एवं पद्मशुक्ललेश्या अपीति नास्ति दोषः ।

द्वित्रिशेषग्रहणादग्रहणमिति चेत्; न; इच्छातः संबन्धोपपत्तेः ।८। स्यान्मतम्—एवमपि ग्रहणं नोपपद्यते । कुतः ? द्वित्रिशेषग्रहणात् । सूत्रे ह्येवं पठ्यते—द्वयोः पीतलेश्याः, त्रिषु पद्मलेश्याः, शेषेषु शुक्ललेश्या इति, तच्चानिष्टमिति; तन्न; किं कारणम् ? इच्छातः संबन्धोपपत्तेः । एवं हि संबन्धः क्रियते—द्वयोः कल्पयुगलयोः पीतलेश्याः, सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पद्मलेश्याया अविवक्षातः । ब्रह्मलोकादिषु त्रिषु कल्पयुगलेषु पद्मलेश्याः, शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्याया अविवक्षातः । शेषेषु शतारादिषु शुक्ललेश्याः, पद्मलेश्याया अविवक्षातः, इति नास्त्यार्ष[7]विरोधः ।

पाठान्तराश्रयाद्वा ।९। अथवा पाठान्तरमाश्रियते । किं पुनः तत् ? 'पीतमिश्रपद्ममिश्र-शुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुःशेषेषु' इति, ततो न कश्चिदार्षविरोधः ।

निर्देशवर्णपरिणामसंक्रमकर्मलक्षणगतिस्वामित्वसाधनसंख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्प-बहुत्वैश्च साध्या लेश्याः ।१०। एतैर्निर्देशादिभिः षोडशभिरनुयोग[8]द्वारैः लेश्याः साधयि-तव्याः ।

तत्र निर्देशस्तावत्—कृष्णलेश्या नीललेश्या कपोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति ।

वर्णो भ्रमरमयूरकण्ठकपोततपनीयपद्मशङ्खवर्णा यथाक्रमं लेश्याः । वर्णान्तरमासाम् अनन्तविकल्पम् । एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तकृष्णगुणयोगात् कृष्णलेश्याः अनन्त-विकल्पा । एवमितरा अपि ।

परिणाम[9]—[10]असंख्येयलोकप्रदेशप्रमाणेषु असंख्येयगुणेषु कषायोदयस्थानेषु उत्कृष्ट-मध्यमजघन्यांशकेषु[10] संक्लेशहान्या परिणामात्मानः अशुभास्तिस्रः कृष्णनीलकापोतलेश्याः

---

१ प्रकृष्टपीतजघन्यपद्मलेश्याः । २ मध्यम । ३ प्रकृष्टपद्मजघन्यशुक्ललेश्याः । ४ मध्यम । ५ —न्यतरग्र— आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । ६ सौधर्मैशानयोः पीता पीतापद्मे द्वयोस्ततः । कल्पेषुषट्स्वतः पद्मा पद्मशुक्ले ततो द्वयोः । आनतादिषु शुक्लातः त्रयोदशसु मध्यमा । चतुर्दशसु सोत्कृष्टाऽनुदिशानुत्तरेषु च । इति । ७ प्रश्न । ८ कथ्यते । ९ बसः । १० प्रागुक्तप्रदेशा एवांशाः ।

परिणमन्ते । तथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टांशकेषु विशुद्धिवृद्धया तिस्रः शुभाः तेजःपद्मशुक्ललेश्याः परिणमन्ते । तथोत्कृष्टमध्यमजघन्यांशकेषु विशुद्धिहान्या तिस्रः शुभाः परिणमन्ते । तथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टांशेषु संक्लेशविवृद्धया तिस्रः अशुभाः परिणमन्ते । एकैका चात्र लेश्या असंख्येयलोकप्रदेशप्रमाणपरिणामाऽध्यवसायस्थाना ।

संक्रमः—कृष्णलेश्यः संक्लिश्यमानो नान्यां लेश्यां संक्रामति, कृष्णलेश्ययैव षट्स्थान-पतितेन संक्रमेण वर्धते । तद्यथा—कृष्णलेश्याया यत्प्राथमिकं संक्लेशस्थानं ततः स्थानादनन्त-भागाभ्यधिका वृद्धिरसंख्येयभागाऽभ्यधिका वा संख्येयभागाभ्यधिका वा संख्येयगुणाभ्यधिका वा असंख्येयगुणाभ्यधिका वा अनन्तगुणाभ्यधिका वा । तथा[1] हीयमानोऽपि लेश्यान्तरसंक्रमं न करोति कृष्णलेश्ययैव षट्स्थाननिपतितसंक्रमेण हीयते । तद्यथा—कृष्णलेश्याया यदुत्कृष्टं संक्लेशस्थानं ततः स्थानादनन्तभागहान्या वा असंख्येयभागहान्या वा संख्येयभागहान्या वा संख्येयगुणहान्या वा असंख्येयगुणहान्या वा अनन्तगुणहान्या वा । यदा कृष्णलेश्या अनन्तगुण-हान्या हीयते तदा नीललेश्याया उत्कृष्टं स्थानं संक्रामति, तदैव कृष्णलेश्यस्य संक्लिश्यमानस्य एको विकल्पो वृद्धौ स्वस्थानसंक्रमो नाम । हानौ पुनर्द्वौ विकल्पौ स्वस्थानसंक्रमः परस्थान-संक्रमश्चेति । एवमितरास्वपि लेश्यासु वृद्धिहान्योः संक्रमविकल्पविधिर्वेदितव्यः । अयं तु विशेषः—शुक्ललेश्यस्य विशुद्धिवृद्धौ लेश्यान्तरसंक्रमो नास्ति स्वस्थानसंक्रमोऽस्ति । संक्लेश-विवृद्धौ विशुद्धिहानौ तु स्वस्थानसंक्रमोऽप्यस्ति परस्थानसंक्रमोऽपि । मध्यलेश्यानां हानौ वृद्धौ च उभावपि संक्रमौ स्तः । अनन्तभागपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया ? सर्वजीवैरनन्तभागपरि-वृद्धया । असंख्येयभागपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया ? असंख्येयलोकभागपरिवृद्धया । संख्येय-भागपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया ? उत्कृष्टसंख्येयभागपरिवृद्धया । संख्येयगुणपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया ? उत्कृष्टसंख्येयगुणपरिवृद्धया । असंख्येयगुणपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया ? असंख्येयलोकगुणपरिवृद्धया । अनन्तगुणपरिवृद्धिः कया परिवृद्धया ? सर्वजीवाऽनन्तगुण-परिवृद्धया ।

लेश्याकर्म उच्यते—जम्बूफलभक्षणं निदर्शनं कृत्वा, स्कन्धविटपशाखानुशाखा[2]पिण्डिका-[3]छेदनपूर्वकं फलभक्षणं स्वयं पतितफलभक्षणं चोद्दिश्य कृष्णलेश्यादयः प्रवर्तन्ते[4]।

अथ लक्षणमुच्यते—अनुनयानभ्यु[5]पगमोपदेशाग्रहण-वैरामोचनाऽतिचण्डत्व[6]-दुर्मुखत्व-निरनुकम्पता-क्लेशन-मारणापरितोषणादि कृष्णलेश्यालक्षणम् । आलस्य-विज्ञानहानि-कार्या-निष्ठापन-भीरुता-विषयातिगृद्धि-माया-तृष्णाऽतिमान-वञ्चनाऽनृत[7]भाषण-चापलातिलुब्धत्वादि नीललेश्यालक्षणम् । मात्सर्य-पैशुन्य-परपरि भवाऽऽत्मप्रशंसा-परपरिवाद[8]वृद्धिहान्यगणनाऽऽ-त्मीयजीवितनिराशता-प्रशस्यमानधनदान-युद्धमरणोद्यमादि कपोतलेश्यालक्षणम् । दृढमित्रता-सानुक्रोशत्व-सत्यवाद - दानशीलात्मीयकार्यसंपादनपटुविज्ञानयोग - सर्वधर्मसमदर्शनादितेजोले-श्यालक्षणम् । सत्यवाक्य-क्षमोपेत-पण्डित-सात्त्विकदानविशारद-चतुरर्जु गुरुदेवतापूजाकरण-निरतत्वादि पद्मलेश्यालक्षणम् । वैररागमोहविरह-रिपुदोषाग्रहण-निदानवर्जन-सार्वसावद्यका-र्यारम्भौदासीन्य-श्रेयोमार्गानुष्ठानादि शुक्लेश्यालक्षणम् ।

---

१ हीयमानापि आ०, ब०, द०, मु० । २ स्तबकः । ३ छेदनशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । ४ —ते लक्ष— श्र०, मू०, ता० । ५ त्वप्रत्ययः प्रत्येकं परिसमाप्यते एवमुत्तरत्रापि । ६ चण्डस्त्वत्यन्त-कोपनः । ७ —भाषिता चा— आ०, ब०, द०, मु० । ८ तिरस्कार । ९ अपवाद, दोषवाद इत्यर्थः ।

गतिरुच्यते–कपोतलेश्यापरिणत आत्मा कां गतिं गच्छतीति ? षड्विंशतिविकल्पेषु लेश्यांशकेषु आयुषो ग्रहणहेतवः अष्टावंशकाः[1] मध्यमाः। कुतः पुनरेतदनुगम्यते इति चेत् ? *"अष्टाभिः[2] अपकर्षैः मध्यमेन परिणामेनाऽऽयुर्बध्नाति" [ ] इत्यार्षोपदेशात्। शेषा अष्टादशलेश्यांशका गतिविशेषहेतवः पुण्यपापविशेषोपचयहेतुत्वात्तेषां तदपेक्षो मध्यमपरिणामः तद्योग्यायुर्बन्धहेतुर्भवति, तत आयुर्नामकर्मोदयापादितो गतिविशेषो लेश्यावशादवसेयः। तद्यथा–उत्कृष्टशुक्लललेश्यांशकपरिणामादात्मानः कालं कृत्वा सर्वार्थसिद्धं यान्ति। जघन्यशुक्ललेश्यांशकपरिणामात् शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारान् यान्ति। मध्यमशुक्ललेश्यांशकपरिणामात् आनतादिषु प्राक् सर्वार्थसिद्धादुत्पद्यन्ते। उत्कृष्टपद्मलेश्यांशकपरिणामात् सहस्रारमुपगच्छन्ति। जघन्यपद्मशुक्ललेश्यांशकपरिणामात् सानत्कुमारमाहेन्द्रौ यान्ति। मध्यमपद्मलेश्यांशकपरिणामात् ब्रह्मलोकादिषु आ शतारादुपपद्यन्ते। उत्कृष्टतेजोलेश्यांशकपरिणामात् सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पान्त्यचक्रेन्द्रकश्रेणिविमानान्यास्कन्दन्ति। जघन्यतेजोलेश्यांशकपरिणामात् सौधर्मैशानप्रथमेन्द्रकश्रेणिविमानानि यान्ति। मध्यमतेजोलेश्यांशकपरिणामात् चन्द्रादीन्द्रकश्रेणिविमाना[3]दिषु आबलभद्रेन्द्रकश्रेणिविमानेभ्य उपपद्यन्ते। उत्कृष्टकृष्णलेश्यांशकपरिणामात् अप्रतिष्ठानमधितिष्ठन्ति। जघन्यकृष्णलेश्यांशकपरिणामात् पञ्चम्यामध इन्द्रकनरकं तमिस्रसंज्ञकं संश्रयन्ते। मध्यमकृष्णलेश्यांशकपरिणामात् हिमेन्द्रकादिषु आ महारौरवादुपजायन्ते। उत्कृष्टनीललेश्यांशकपरिणामात् पञ्चम्यामन्धेन्द्रकमवाप्नुवन्ति। जघन्यनीललेश्यांशकपरिणामात् वालुकायां तप्तेन्द्रकं यान्ति। मध्यमनीललेश्यांशकपरिणामात् वालुकायां त्रस्तेन्द्रकादि झषेन्द्रकान्तेषु उत्पद्यन्ते। उत्कृष्टकपोतलेश्यांशकपरिणामात् वालुकाप्रभायां संप्रज्वलितनरकं यान्ति। जघन्यकपोतलेश्यांशकपरिणामात् रत्नप्रभायां सीमन्तकं यान्ति। मध्यमकपोतलेश्यांशकपरिणामात् रौरुकादिषु आ संज्वलितेन्द्रकादुपपद्यन्ते। मध्यमकृष्णनीलकपोततेजोलेश्यांशकपरिणामात् भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कपृथिव्यम्बुवनस्पतीन् व्रजन्ति। मध्यमकृष्णनीलकपोतलेश्यांशकपरिणामात् तेजोवायु[4]कायिकेषु जायन्ते। देवनारकाः स्वलेश्याभिः तिर्यङ्मनुष्यान् योग्यानायान्ति।

स्वामित्वमुच्यते–रत्नप्रभाशर्कराप्रभयोः नारकाः कापोतलेश्याः। वालुकाप्रभायां नीलकपोतलेश्याः। पङ्कप्रभायां नीललेश्याः। धूमप्रभायां नीलकृष्णलेश्याः। तमःप्रभायां कृष्णलेश्याः। महातमःप्रभायां परमकृष्णलेश्याः। भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्काः कृष्णनीलकापोततेजोलेश्याः। एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः संक्लिष्टत्रिलेश्याः। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः संक्लिष्टचतुर्लेश्याः। संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टचसंयतसम्यग्दृष्टीनां षडपि लेश्याः। संयतासंयतप्रमत्तसंयताऽप्रमत्तसंयतानां तिस्रः शुभाः। अपूर्वकरणादीनां सयोगकेवल्यन्तानां शुक्ललेश्यैव। अयोगकेवलिनोऽलेश्याः। सौधर्मैशानीयाः तेजोलेश्याः। सानत्कुमारमाहेन्द्रीयाः तेजःपद्मलेश्याः। ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवाः पद्मलेश्याः। शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः। आनतादिष्वासर्वार्थसिद्धात् शुक्ललेश्याः। सर्वार्थसिद्धाः परमशुक्ललेश्याः।

१ तदुक्तम्– लेस्साणं खलु अंसा छब्बीसा होंति तत्थ मज्झिमया। आउगबंधणजोग्गा अट्ठट्ठवगरिसकालभवा। सेसट्ठारसअंसा चउगइगमणस्स कारणा होंति। सुक्कुक्कस्संसमुदा सव्वट्ठं जांति खलु जीवा।' २ पूर्वायुरपकृष्य अपकृष्यैव परायुर्बध्यत इत्यपकर्षः स्वोपात्तायुषः। आकर्षैः श्र०, ता०। ३ –नाद् आब– आ०, ब०, द०, मु०। ४ –कायेषु ता०, श्र०, मू०।

साधनमुच्यते–द्रव्यलेश्या नामकर्मोदयनिमित्ताः, भावलेश्याः कषायोदयक्षयोपशमप्रशमप्रक्षयकृताः।

संख्या कथ्यते–कृष्णनीलकापोतलेश्या एकशो द्रव्यप्रमाणेनाऽनन्ताः, अनन्तानन्ताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्नापह्रियन्ते कालेन। क्षेत्रेणाऽनन्तानन्तलोकाः। तेजोलेश्या द्रव्यप्रमाणेन ज्योतिर्देवाः साधिकाः। पद्मलेश्या द्रव्यप्रमाणेन संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनीनां संख्येयभागाः। शुक्ललेश्याः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागाः।

क्षेत्रमुच्यते–कृष्णनीलकापोतलेश्या एकशः स्वस्थानसमुद्घातोपपादैः सर्वलोके वर्तन्ते। तेजःपद्मलेश्या एकशः स्वस्थानसमुद्घातोपपादैर्लोकस्याऽसंख्येयभागे। शुक्ललेश्याः स्वस्थानोपपादाभ्यां लोकस्यासंख्येयभागे, समुद्घातेन लोकस्याऽसंख्येयभागे, असंख्येयेषु भागेषु सर्वलोके[2] वा।

स्पर्शनमुच्यते–कृष्णनीलकापोतलेश्यैः स्वस्थानसमुद्घातोपपादैः सर्वलोकः स्पष्टः। तेजोलेश्यैः स्वस्थानेन लोकस्यासंख्येयभागः, अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः, समुद्घातेन लोकस्याऽसंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः, उपपादेन लोकस्यासंख्येयभागा अध्यर्धचतुर्दशभागा वा देशोनाः। पद्मलेश्यैः स्वस्थानसमुद्घाताभ्यां लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः, उपपादेन लोकस्यासंख्येयभागः पञ्चचतुर्दशभागा वा देशोनाः। शुक्ललेश्यैः स्वस्थानोपपादाभ्यां लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः षट्चतुर्दशभागा वा देशोनाः, समुद्घातेन लोकस्याऽसंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः, असंख्येया वा भागाः सर्वलोको वा।

काल उच्यते–कृष्णनीलकपोतलेश्यानाम् एकशः जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साधिकानि, सप्तदशसागरोपमाणि साधिकानि, सप्तसागरोपमाणि साधिकानि। तेजःपद्मशुक्ललेश्यानामेकशः कालो जघन्येन अन्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे साधिके, अष्टादश सागरोपमाणि साधिकानि, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साधिकानि।

अन्तरमभिधीयते–कृष्णनीलकपोतलेश्यानाम्–एकशः अन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साधिकानि। तेजःपद्मशुक्ललेश्यानामेकशः अन्तरं जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः।

भावो व्याख्यायते–षडपि लेश्या औदयिकभावाः शरीरनाममोहनीयकर्मोदयापादितत्वात्।

अल्पबहुत्वं वक्ष्यते–सर्वतः स्तोकाः शुक्ललेश्याः, पद्मलेश्या असंख्येयगुणाः, तेजोलेश्या असंख्येयगुणाः, अलेश्या अनन्तगुणाः, कपोतलेश्या अनन्तगुणाः, [3]नीललेश्या विशेषाधिकाः, कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः।

आह–कल्पोपपन्ना इत्युक्तं तत्रेदं न ज्ञायते के कल्पा इति ? अत्रोच्यते–

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

इदं नं ज्ञायते कुत आरभ्य कल्पा भवन्ति इति ? सौधर्मादिग्रहणमनुवर्तते, तेनायमर्थो लभ्यते सौधर्मादयः कल्पा इति। यद्येवं तदनन्तरमेवेदं[4]सूत्रं वक्तव्यम् ? अत उत्तरं पठति–

१ –स्य संख्ये–भा० २। २ केवल्यपेक्षया दण्डकवाटादिषु योज्यम्। ३ अयोगकेवलिनः सिद्धाश्च। ४ –दं व– आ०, ब०, द०, मु०।

सौधर्मा[1]द्यनन्तरं[2] कल्पाभिधाने व्यवधानप्रसङ्गः ।१। यदि सौधर्माद्यनन्तरं कल्पाभिधानं क्रियते व्यवधानं प्रसज्येत । कस्य ? स्थितिप्रभावादिसूत्रत्रयस्य । सति च व्यवधाने तेन विधीयमानोऽर्थः कल्पेष्वेव स्यात् अनन्तरत्वाद्[3] , ग्रैवेयकादिषु न स्यात् व्यवहितत्वात् । इह पुनः पाठे सति स्थित्यादि[4]विशेषविधिरविशेषेण सिद्धो भवति । अथ के कल्पातीताः ?

कल्पातीतसिद्धिः परिशेषात् ।२। कल्पातीतानां सिद्धिर्भवति । कुतः ? परिशेषात् । परिशिष्टा[5] हि ग्रैवेयकादयोऽनुत्तरान्ताः ।

भवनवास्याद्यतिप्रसङ्ग इति चेत्; न; उपर्युपरीत्यभिसम्बन्धात् ।३। स्यादेतत्, परिशिष्टा यदि कल्पातीता भवनवास्यादीनामपि वैमानिकत्वमपि प्रसज्येत इति; तन्न; किं कारणम् ? उपर्युपरीत्यभिसंबन्धात् । उपर्युपरि वैमानिका नाधस्तात् इति । तेन कल्पातीता अहमिन्द्रा एव । कथं पुनस्तेषामहमिन्द्रत्वम् ? सामानिकादिविकल्पाभावात् ।

चतुर्णिकायोपदेशानुपपत्तिः षट्सप्तसम्भवादिति चेत्; न; तत्रैवान्तर्भावात् लौकान्तिकवत् ।४। स्यान्मतम्—चत्वारो देवनिकाया इत्युपदेशो नोपपद्यते इति । कुतः ? षट्सप्तसंभवात् । षण्णिकायाः सम्भवन्ति भवनपातालव्यन्तरज्योतिष्क[6]कल्पोपपन्नविमानाधिष्ठानात् । भवनवासिनो दशविधा उक्ताः । पातालवासिनो लवणोदादिसमुद्रावासाः सुस्थितप्रभासादयः । व्यन्तरा [7]अनादृतप्रियदर्शनादयः जम्बूद्वीपाधिपतयः । ज्योतिष्काः पञ्चविधा व्याख्याताः । कल्पोपपन्ना द्वादश वर्णिताः । विमानानि ग्रैवेयकादीनि उपदिष्टानि । अथवा सप्तदेवनिकायाः, त एवाऽऽकाशोपपन्नैः सह । आकाशोपपन्नाश्च द्वादशविधाः—पांशुतापि-लवणतापि-तपनतापि-भवनतापि-सोमकायिक-यमकायिक-वरुणकायिक-वैश्रवणकायिक-पितृकायिक-अनलकायिक रिष्टक-अरिष्ट-सम्भवा इति; तन्न; किं कारणम् ? तत्रैवान्तर्भावात्, लौकान्तिकवत् । यथा लौकान्तिकानां कल्पवासिष्वन्तर्भावात् न निकायान्तरत्वं तथा पातालवासिनाम् आकाशोपपन्नानां व्यन्तरेष्वन्तर्भावात्, कल्पवासिनां च वैमानिकत्वात् न निकायान्तरत्वम् । इति नास्ति चातुर्विध्यहानिः ।

आह—य एते दृष्टान्तत्वेनोपात्ताः लौकान्तिकास्ते कस्मिन् कल्पे भवन्तीति? अत्रोच्यते—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

एत्य तस्मिल्लीयन्त इत्यालयः ।१। यत्र प्राणिन एत्य लीयन्ते स आलयो निवास इत्यर्थः । ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालयाः ।

सर्वब्रह्मलोकदेवानां लौकान्तिकत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; लोकान्तोपश्लेषात् ।२। स्यादेतत् ब्रह्मलोकालया इत्यविशेषाभिधानात्तेषां सर्वेषां लौकान्तिकत्वं प्रसज्येत इति; तन्न; किं कारणम् ? लोकान्तोपश्लेषात् । ब्रह्मलोकस्यान्तो लोकान्तः, तस्मिन् भवा लौकान्तिकाः । अथवा, जातिजरामरणाकीर्णो लोकः[8] तस्यान्तो लोकान्तः तत्प्रयोजना लौकान्तिकाः[9] । ते हि परीतसंसाराः, ततश्च्युता एकं गर्भवासमवाप्य परिनिर्वान्ति ।

तेषां सामान्येनोपदिष्टानां भेदप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

१ –दनन्त– आ०, ब० द०, मु०, ता०, श्र० । २ –नन्तरे क– श्र०, मू० । ३ अव्यवहितत्वात् । ४ –विविधि– श्र०, मू० । ५ –ष्टा अमी ग्रै– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –कल्पवि– ब०, द०, मु०, ता०, श्र० । ७ अनावृतप्रियदर्शनादयः आ०, ब०, द०, मु० । ८ संसार इत्यर्थः । ९ एवञ्चान्वर्थसंज्ञाकरणान्न सर्वेषां ब्रह्मलोकालयानां लौकान्तिकत्वं भवेत् ।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

क इमे सारस्वतादयः ?

पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु यथाक्रमं सारस्वतादयः ।१। पूर्वोत्तरादिषु[1] अष्टासु अपि दिक्षु यथाक्रममेते सारस्वतादयो देवगणा वेदितव्याः । तद्यथा अरुणसमुद्रप्रभवः[2] मूले संख्येययोजनविस्तारः तमस्कन्धः समुद्रवद्वलयाकारः अतितीव्रान्धकारपरिणामः, स ऊर्ध्वं क्रमवृद्ध्या गच्छन् मध्येऽन्ते च संख्येययोजनबाहल्यः [3]अरिष्टविमानस्याधोभागे समेतः कुक्कुटकुटीवदवस्थितः । तस्योपरि तमोराजयोऽष्टावुत्पत्य अरिष्टेन्द्रकविमानसप्रणिधयः । तत्र चतसृष्वपि दिक्षु द्वन्द्वं गताः तिर्यगालोकान्तात्, तदन्तरेषु सारस्वतादयो ज्ञेयाः । तत्र पूर्वोत्तरकोणे सारस्वतविमानम्, पूर्वस्यां दिशि आदित्यविमानम्, पूर्वदक्षिणस्यां वह्निविमानम्, दक्षिणस्यामरुणविमानम्, दक्षिणापरकोणे गर्दतोयविमानम्, [4]अपरस्यां दिशि तुषितविमानम्, उत्तरापरस्यामव्याबाधविमानम्, उत्तरस्यामरिष्टविमानम् ।

चशब्दसमुच्चिताः तदन्तरालवर्तिनः ।२। तेषामन्तरालेषु चशब्दसमुच्चिता द्वन्द्ववृत्त्या देवगणाः प्रत्येतव्याः । तद्यथा—

अग्न्याभसूर्याभचन्द्राभसत्याभश्रेयस्करक्षेमङ्कर[5]वृषभेष्टकामचरनिर्माणरजोदिगन्तरक्षितात्मरक्षितसर्वरक्षितमरुद्वस्वश्वविश्वाख्याः ।३। एते अग्न्याभादयः षोडश देवगणा लौकान्तिकभेदाः कथ्यन्ते । सारस्वतादित्यान्तर अग्न्याभसूर्याभाः, आदित्यवह्न्यन्तरे चन्द्राभसत्याभाः, वह्न्यरुणान्तराले श्रेयस्करक्षेमङ्कराः, अरुणगर्दतोयान्तराले वृषभेष्टकामचराः, गर्दतोयतुषितमध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिताः, तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः, अव्याबाधारिष्टान्तरे[6] मरुद्वस्वः, अरिष्टसारस्वतान्तरे अश्वविश्वाः । तान्येतानि विमाननामानि तन्निवासिनां च तद्योगात्[7] । तत्र सारस्वताः सप्तशतसंख्याः । आदित्याश्च सप्तशतगणनाः । वह्न्यः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि । अरुणाश्च तावन्त एव । गर्दतोया नवसहस्राणि नवोत्तराणि । तुषिताश्च तावन्त एव । अव्याबाधा एकादशसहस्राणि एकादशानि । अरिष्टा अपि तावन्त एव । चशब्दसमुच्चितानां संख्येत्युच्यते—अग्न्याभे देवाः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि । [8]सूर्याभेऽमरा नवसहस्राणि नवोत्तराणि । चन्द्राभे सुराः एकादशसहस्राणि एकादशानि । सत्याभे विबुधाः त्रयोदशसहस्राणि त्रयोदशानि । श्रेयस्करे देवाः पञ्चदशसहस्राणि पञ्चदशानि[9] । क्षेमङ्करे अमराः सप्तदशसहस्राणि सप्तदशानि । [10]वृषभेष्टे सुराः एकान्नविंशतिसहस्राणि एकान्नविंशतिश्च । कामचरेऽमराः एकविंशतिसहस्राणि एकविंशतिश्च । निर्माणरजसि देवाः त्रयोविंशतिसहस्राणि त्रयोविंशतिश्च । दिगन्तरक्षिते देवाः पञ्चविंशतिसहस्राणि पञ्चविंशतिश्च । आत्मरक्षिते सुराः सप्तविंशतिसहस्राणि सप्तविंशतिश्च । सर्वरक्षिते विबुधा एकान्नत्रिंशत्सहस्राणि एकान्नत्रिंशच्च । मरुति देवाः

१ ईशानादिषु । २ –द्रभवः आ०, ब, द०, मु० । अरुणवरदीवबाहिरजगदीदो जिणवरुत्तसंखाणि । गंतूण जोयणाणिं अरुणसमुद्दस्स पणिधीए ॥ ३ प्रथमेन्द्रक । ४ अपरस्यां तुषितविमानमपरोत्तरकोणेऽव्या– आ०, ब०, द०, मु० । ५ वृषभोष्टकाम– ता० । वृषभोऽष्टकाम– श्र०, मू० । वृषभकाम– द० । [6] –कामकराः भा० २ । ६ –न्तराले मरु– आ०, ब०, द०, मु० । ७ कुतः । ८ सूर्याभे सुरा नवसहस्राणि नवाधिकानि आ०, ब०, द०, मु० । ९ –दशाधिकानि आ०, ब०, द०, मु० । १० वृषभोष्टे ता० । वृषभोऽश्वे मू०, श्र० । वृषभे द० ।

एकत्रिंशत्सहस्राणि एकत्रिंशच्च । वसुनि सुराः त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्च । अश्वे सुराः पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि पञ्चत्रिंशच्च । विश्वे देवाः सप्तत्रिंशत्सहस्राणि सप्तत्रिंशच्च । त एते चतुर्विंशतिलौकान्तिकगणाः समुदिताः [1]चत्वारिंशत्सहस्राणि अष्टसप्ततिश्च शतानि षड्डुत्तराणि । सर्वे ते स्वतन्त्रा हीनाधिकत्वाभावात्, विषयरतिविरहाद् देवर्षयः, तत इतरेषां देवानामर्चनीयाः, चर्तुदशपूर्वधराः, सततं ज्ञानभावनावहितमनसः, संसारान्नित्यमुद्विग्नाः अनित्याशरणाद्यनुप्रेक्षासमाहितमानसाः, अतिविशुद्धसम्यग्दर्शनाः, तीर्थकरनिष्क्रमणप्रतिबोधनपराः । नामकर्मणोऽसंख्योत्तरोत्तरप्रकृतित्वात् संसारिणां जीवानां संज्ञाः शुभाशुभनामकर्मोदयापादिताः वेदितव्याः ।

एवमयं कार्मणशरीरप्रणालिकया आस्रवापेक्षयापादितसुखदुःखानां भव्याभव्यभेदाहितद्वैविध्यानां प्राणिनां संसारोऽनादिः अपर्यवसानः । अन्येषां मोहोपशमप्रध्वंसनं प्रत्यादृतानां अप्रतिपतितसम्यग्दर्शनानां परीतविषयः, सप्ताष्टानि[2] भवग्रहणानि उत्कर्षेण वर्तन्ते, जघन्येन द्वित्राणि अनुबन्ध्योच्छिद्यन्ते । प्रतिपतितसम्यक्त्वानां तु भाज्यम् ।

आह–अप्रतिपतितसम्यक्त्वेषु किमविशेष एव आहोस्वित् कश्चिदस्ति प्रतिविशेषः इति ? अत्रोच्यते–

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

विजयादिषु इति आदिशब्दः प्रकारार्थः ।१। अयम् आदिशब्दः प्रकारार्थो द्रष्टव्यः । तेन विजयवैजयन्तजयन्तापराजिताऽनुदिशविमानानामिष्टानां ग्रहणं सिद्धं भवति । कः पुनरत्र प्रकारार्थः ? अहमिन्द्रत्वे सति सम्यग्दृष्टच्युपपादः । सर्वार्थसिद्धग्रहणप्रसङ्ग इति चेत्; न; तेषां परमोत्कृष्टत्वात्, सर्वार्थसिद्ध इत्यन्वर्थनिर्देशात् एकचरमत्वसिद्धेश्च ।

द्विचरमत्वं मनुष्यदेहद्वयापेक्षम् ।२। चरमशब्द उक्तार्थः । द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमाः, तेषां भावो द्विचरमत्वम् । एतन्मनुष्यदेहद्वयापेक्षमवगन्तव्यम् । विजयादिभ्यः च्युता अप्रतिपतितसम्यक्त्वा मनुष्येषूत्पद्य संयममाराध्य पुनर्विजयादिषूत्पद्य च्युता मनुष्यभवमवाप्य सिध्यन्ति इति द्विचरमदेहत्वम्, इतरथा हि द्वौ मनुष्यभवौ एको देवभवश्चेति त्रिचरमत्वं स्यात् न द्विचरमत्वम् । कुतः पुनः मनुष्यदेहस्य चरमत्वमिति चेत् ? उच्यते–

मनुष्यदेहस्य चरमत्वं तेनैव मुक्तिपरिणामोपपत्तेः ।३। यतो मनुष्यभवमवाप्य देवनारकतैर्यग्योनाः सिध्यन्ति न तेभ्य एवेति मनुष्यदेहस्य चरमत्वम् ।

एकस्य चरमत्वमिति चेत्; न; औपचारिकत्वात् ।४। स्यान्मतम्–एकस्य भवस्य चरमत्वम् अन्त्यत्वात्, न द्वयोस्ततो द्विचरमत्वमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? औपचारिकत्वात् । येन देहेन साक्षान्मोक्षोऽवाप्यते स मुख्यश्चरमः, तस्य प्रत्यासन्नो मनुष्यभवः तत्प्रत्यासत्तेश्चरम इत्युपचर्यते । देवभवेन व्यवहितत्वात् प्रत्यासत्त्यभाव इति चेत्; न; *"येन [3]नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि 'वचनप्रामाण्यात्'" [ ] इति ।

आर्षविरोध इति चेत्; न; प्रश्नविशेषापेक्षत्वात् ।५। स्यान्मतम्–विजयादिषु द्विचरमत्वमार्षविरोधि । कुतः ? त्रिचरमत्वात । एवं ह्यार्षे उक्तमन्तरविधाने–*"**अनुदिशानुत्तरवि-जयवैजयन्तजयन्तापराजितविमानवासिनामन्तरं जघन्येन वर्षपृथक्त्वम् उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे सातिरेके**"[4][षट्खं०] इति । तस्यायमर्थः–तेभ्यः च्युता मनुष्येषूत्पद्य अष्टवर्षाः[5] संयममाराध्य अन्तर्मूहूर्तेन विजयादिषु भवमाप्नुवन्ति इति जघन्येन वर्षपृथक्त्वम् । केचित्तेभ्यश्च्युता मनुष्येषूत्पद्य संयममवाप्य सौधर्मैशानकल्पयोः जनित्वा पुनरपि मनुष्यभवमनुभूय विजयादिषु जायन्ते इति उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे साधिके इति, ततो मनुष्यभवत्रयोपपत्तेर्द्विचरमत्वमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रश्नविशेषापेक्षत्वात् । एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषूक्तम्[6]– विजयादिषु देवा मनुष्यभवमास्कन्दन्तः कियतीर्गत्यागतीः विजयादिषु कुर्वन्ति इति गौतमप्रश्ने भगवत्तोक्तं जघन्येनैको भवः आगत्या उत्कर्षेण गत्यागतिभ्यां द्वौ भवौ । सर्वार्थसिद्धाः[7] च्युता [8]मनुष्येषूत्पद्य तेनैव भवेन सिध्यन्तीति, न लौकान्तिकवदेकभविका एवेति विजयादिषु द्विचरमत्वं नार्षविरोधि, कल्पान्तरोत्पत्त्यनपेक्षत्वात् प्रश्नस्येति ।

आह–उक्तं भवता जीवस्य औदयिकेषु भावेषु तैर्यग्योनिगतिरौदयिकीति, स्थितौ-चोक्तम् *"**तिर्यग्योनिजानां च**" [त० सू० ३।३९] इति । आस्रवविधाने च वक्ष्यते *"**माया तैर्यग्योनस्य**" [त० सू० ६।१६] इति । तद्वक्तव्यं के तिर्यग्योनय इति ? अत्रोच्यते–

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

अयुक्तोऽयं निर्देशः 'औपपादिकमनुष्येभ्यः' इति । कुतः ? मनुष्यशब्दस्य अल्पाच्तरत्वात् पूर्वनिपात[9]प्राप्त्यर्हत्वात्; नैष दोषः; अभ्यर्हितत्वात् औपपादिकशब्दस्य पूर्वनिपातः । कथमभ्यर्हितत्वम् ? देवानामौपपादिकेष्वन्तर्भावात्, देवा हि स्थितिप्रभावादिभिरभ्यर्हिता इति व्याख्याताः ।

उक्तेभ्य औपपादिकमनुष्येभ्योऽन्ये शेषाः ।१। औपपादिका उक्ता देवनारकाः, मनुष्याश्च व्याख्याताः *"**प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः**" [त० सू० ३।३५] इति । तेभ्योऽन्ये ये ते शेषाः तिर्यग्योनयः ।

सिद्धप्रसङ्ग इति चेत्; न; सांसारिकप्रकरणात् ।२। स्यान्मतम्–औपपादिकमनुष्येभ्योऽन्यत्वं सिद्धानामप्यस्ति इति तिर्यग्योनित्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? सांसारिकप्रकरणात् । संसारिणः प्रकृताः, तेन तेभ्योऽन्ये संसारिण एव तिर्यग्योनयो न सिद्धाः । अथ केयं तिर्यग्योनिः ?

तिरोभावात् तैर्यग्योनिः ।३। तिरोभावो न्यग्भावः उपबाह्यत्वमित्यर्थः, ततः कर्मोदयापादितभावा तिर्यग्योनिरित्याख्यायते । तिरश्चि योनिर्येषां ते तिर्यग्योनयः । ते च त्रसस्थावरादिविकल्पा व्याख्याताः ।

देवादिवत्तदाधारनिर्देश इति चेत्; न; सर्वलोकव्यापित्वात् ।४। स्यान्मतम्–यथा देवानामूर्ध्वलोकः, मनुष्याणां तिर्यग्लोकः, नारकाणामधोलोक आधारविशेष उक्तः तथा तिर-

१ चत्वारिंशत्सह– आ०, ब०, मु० । २ वेदकसम्यक्त्वापेक्षया । ३ वा व्य– मू० । अवश्यव्यवधानम् । ४ कुतः ? सूत्रकारस्य ।

१ "अणुदिस जाव अवरा-इदविमाणवासियदेवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ? जहण्णेणं वासपुधत्तं । उक्कस्सेण बे सागरोवमाणि सादिरेयाणि ।" –षट्खं० खुद्दा० २।३।३०–३२ । २ वर्षान् सं० आ०, ब०, द०, मु० । ३ "विजयवेजयंतजयंतअवराजिय देवाणं भंते, जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते केवति० (उ०)....भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कस्सेणं चत्तारि भवग्गहणाइं···सव्वट्ठसिद्धदेवाणं भंते···भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं···"–भग० सू० २४।२२।१६-१७ । ४ सर्वार्थसिद्धौ च्यु–आ०, ब०, मु० । ५ मनुष्यभवेषूत्प– श्व० । ६ –तः प्राप्नोति अभ्यर्हितत्वान्नैष दोषः औपपादिकस्य आ०, ब०, मु० ।

श्चामपि आधारो विशिष्टो निर्देष्टव्य इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वलोकव्यापित्वात्[1] ते हि तिर्यञ्चः सर्वान् लोकान् व्याप्य वर्तन्ते इति। कुतः पुनः सर्वलोकव्यापित्वमेषामिति चेत् ? उच्यते–

सूक्ष्मबादरभेदात् ।५। तिर्यञ्चो द्विविधाः–सूक्ष्मा बादराश्चेति सूक्ष्मबादरनामकर्मोदयापादितभावाः। तत्र सूक्ष्माः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सर्वलोकव्यापिनः। बादराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः विकलेन्द्रियाः पंचेन्द्रियाश्च क्वचिदेव वर्तन्ते न सर्वत्र।

द्वितीयेऽध्याये तन्निर्देश इति चेत्; न; कृत्स्नलोकभावात् ।६। स्यादेतत्–द्वितीयेऽध्याये एषां तिरश्चां निर्देशः कर्तव्यः नात्रेति; तन्न; किं कारणम् ? कृत्स्नलोकभावादयमेव तन्निर्देशो युक्तः, सर्वाल्लोकानुक्त्वा तदाधारनिर्देशः सुगम इति[2]।

शेषसंप्रतिपत्तेश्च ।७। नारकादीन् सर्वानुक्त्वा तेभ्योऽन्ये शेषास्तिर्यञ्च इति शेषसंप्रतिपत्तिश्च भवति इति इहैव तन्निर्देशो युक्तः।

स्थितिरिदानीं वक्तव्या। सा नारकाणां मनुष्याणां तिरश्चां चोक्ता, देवानामुच्यते। तत्र [3]चादावुद्दिष्टानां भवनवासिनां स्थितिप्रतिपादनार्थमाह–

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिता ॥२८॥

असुरादीनां सागरोपमादिभिरभिसंबंधो यथाक्रमम् ।१। असुरादीनां सागरोपमादिभिर्यथाक्रममभिसंबन्धो वेदितव्यः। इयं स्थितिरुत्कृष्टा। जघन्याप्युत्तरत्र वक्ष्यते। तद्यथा–असुराणां सागरोपमा स्थितिः, नागानां त्रीणि पल्योपमानि, सुपर्णानाम् अर्धतृतीयानि[3], द्वीपानां द्वे, शेषाणां षण्णाम् अध्यर्धपल्योपमम्।

आद्य[4]देवनिकायस्थित्यभिधानानन्तरं व्यन्तरज्योतिष्कस्थितिवचने क्रमप्राप्ते सति तदुल्लङ्घ्य वैमानिकानां स्थितिरुच्यते। कुतः ? तयोरुत्तरत्र लघुनोपायेन स्थितिवचनात्। तेषु च आदावुद्दिष्टयोः कल्पयोः स्थितिविधानार्थमाह–

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥

द्विवचननिर्देशाद् द्वित्वगतिः ।१। सागरोपमे इति द्विवचननिर्देशाद् द्वे सागरोपमे इति गम्यते।

अधिके इत्यधिकार आ सहस्रारात् ।२। अधिके इत्ययं अधिकारो द्रष्टव्यः। आ कुतः ? आ सहस्रारात्। तेन सौधर्मैशानयोर्देवानामुत्कृष्टा स्थितिः द्वे सागरोपमे सातिरेके प्रत्येतव्ये।

उत्तरयोः स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

अधिकारात् सागराधिकसंप्रत्ययः ।१। सागरग्रहणम् अधिकग्रहणं च अनुवर्तते। तेनायमर्थो लभ्यते–सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानामुत्कृष्टा स्थितिः सप्तसागरोपमाणि साधिकानि इति।

ब्रह्मलोकादिष्वच्युतावसानेषु[5] स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

१ –त् सर्वलोकव्यापित्वं कथमेषामि– आ०, ब० प०। २ चादौ निर्दिष्टा– आ०, ब०, मु०। ३ अर्धपल्यद्वयप्रमितेत्यर्थः। ४ आदिदे– आ०, ब०, मु०। ५ –च्युतान्तेषु आ०, ब०, द०, मु०, ता०।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

सप्तग्रहणस्य त्र्यादिभिरभिसंबन्धः द्वयोर्द्वयोः ।१। सप्तग्रहणं प्रकृतम्, तस्येह निर्दिष्टैः त्र्यादिभिरभिसंबन्धो द्रष्टव्यः। सप्त त्रिभिरधिकानि, सप्त सप्तभिरधिकानीत्यादि।

तुशब्दो विशेषणार्थः ।२। तुशब्दो विशेषणार्थो द्रष्टव्यः। किं विशिनष्टि ? अधिकशब्दोऽनुवर्त्तमानः चतुर्भिरिह संबध्यते नोत्तराभ्यामित्ययमर्थो विशेष्यते। तेनायमर्थो भवति–ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोः दशसागरोपमाणि साधिकानि। लान्तवकापिष्ठयोश्चतुर्दशसागरोपमाणि साधिकानि। शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशसागरोपमाणि साधिकानि। शतारसहस्रारयोरष्टादशसागरोपमाणि साधिकानि। आनतप्राणतयोर्विंशतिः सागरोपमाणि। आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिः सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थितिरिति। ननु च तुशब्दोऽनर्थकः 'अधिके' इत्यधिकारे आसहस्रारादित्युक्तत्वात् ? न, अतस्तत्सिद्धेः।

तत [1]ऊर्ध्वं स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे[2] च ॥३२॥

अधिकारादधिकसंबन्धः ।१। अधिकग्रहणमनुवर्तते तेनेह संबन्धो वेदितव्यः–एकैकेनाऽधिकानीति। किमर्थं नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिष्विति पृथग् ग्रहणम् ?

ग्रैवेयकेभ्यो विजयादीनां पृथग्ग्रहणमनुदिशसंग्रहार्थम् ।२। ग्रैवेयकविजयादिष्वित्युच्यमाने अनुदिशविमानानामसंग्रहः स्यात्, ततस्तत्संग्रहार्थं पृथग्ग्रहणं क्रियते।

प्रत्येकमेकैकवृद्ध्यभिसंबन्धार्थं नवग्रहणम् ।३। ग्रैवेयकेष्वित्युच्यमाने यथा विजयादिषु सर्वेषु एकमेव सागरोपममधिकं तथा सर्वेषु ग्रैवेयकेषु एकमेव सागरोपममधिकमिति प्रतीयेत तस्मान्नवग्रहणं क्रियते। नवसु प्रत्येकमेकैकस्य सागरोपमस्य आधिक्यं यथा स्यादिति। अथ सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं किमर्थम् ?

सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थम् ।३। यथाऽधस्ताज्जघन्योत्कर्षस्थितिविकल्पतथा सर्वार्थसिद्धे माभूत् इत्येवमर्थं पृथग्ग्रहणं क्रियते। तेनायमर्थो वेदितव्यः–अधोग्रैवेयकेषु प्रथमे त्रयोविंशतिसागरोपमाणि। द्वितीये चतुर्विंशतिसागरोपमाणि। तृतीये पञ्चविंशतिसागरोपमाणि। मध्यमग्रैवेयकेषु प्रथमे षड्विंशतिसागरोपमाणि, द्वितीये सप्तविंशतिः[3], तृतीये अष्टाविंशतिः। उपरिमग्रैवेयकेषु प्रथमे एकान्नत्रिंशत्, द्वितीये त्रिंशत्, तृतीये एकत्रिंशत्। अनुदिशविमानेषु द्वात्रिंशत्। विजयादिषु त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थितिः। सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशदेवेति।

अत्राह मनुष्यतिर्यग्योनिजानां परापरस्थिती व्याख्यायते, देवानां किं उत्कृष्टैव न वेति ? उच्यते—

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

अपरा जघन्येत्यर्थः। स्थितिरित्यनुवर्तते। व्याख्यातपरिमाणपल्योपमम्। केषाम् ? देवानामियं जघन्या स्थितिः ? सौधर्मैशानयोर्देवानाम्। कथं गम्यते ?

१ ऊर्ध्वं श्र०। २ –सिद्धौ च आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ३ –तिः सागरोपमाणि त्– आ०, ब०, व०, मु०।

पारिशेष्यात्सौधर्मैशानयोरपरा स्थितिः ।१। भवनवास्यादीनां जघन्या स्थितिर्वक्ष्यते । सानत्कुमारादीनां च **परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा** इति । ततः परिशेषात् सौधर्मैशानयोर्देवानां साधिकं पल्योपमं जघन्या स्थितिर्वेदितव्या ।

तत ऊर्ध्वं जघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह–

परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥३४॥

परस्मिन् देशे परतः, तस्य वीप्सायां द्वित्वम् । पूर्वशब्दस्यापि । किमुक्तं भवति–पूर्वा पूर्वा या स्थितिरुत्कृष्टोक्ता सा सा उपरि उपरि देवानां जघन्येत्येतदुक्तं भवति। किम–विशेषेण ? नेत्याह ।

अधिकग्रहणानुवृत्तेः 'सातिरेकसंप्रत्ययः ।१। अधिकग्रहणमनुवर्तते ? क्व प्रकृतम् ? **'अपरा पल्योपममधिकम्'** इत्यत्र, सातिरेकसंप्रत्ययो भवति । सौधर्मैशानयोः परा स्थितिः द्वे सागरोपमे साधिके । ते सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सातिरेके जघन्या स्थितिः । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः परा स्थितिः सप्तसागरोपमाणि साधिकानि । तानि सातिरेकाणि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोर्जघन्या स्थितिरित्यादि । आ कुतोऽयमधिकारः ?

आ विजयादिभ्योऽधिकारः ।२। आ विजयादिभ्योऽनुत्तरेभ्यः अयमधिकारो वेदितव्यः । कथं गम्यते ? 'सर्वार्थसिद्धस्य पृथग् ग्रहणात्' इत्युक्तं पुरस्तात् ।

अनन्तरेत्यवचनं पूर्वोक्तेरिति चेत् ; न ; व्यवहिते पूर्वशब्दप्रयोगात् ।३। स्यान्मतम्, पूर्वेति वचनात् आनन्तर्यप्रतीतेः अनन्तरेति वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दप्रयोगात् । अयं हि पूर्वशब्दः व्यवहितेऽपि प्रयुज्यते । तद्यथा–पूर्वं मथुरायाः पाटलिपुत्रमिति । ततः[२] सौधर्मैशानयोः या परा स्थितिः सा ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलोकयोर्जघन्या स्थितिरित्येवमाद्यनिष्टं प्रतीयेत ततोऽनन्तरमुच्यते ।

नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिरुक्ता, जघन्या सूत्रेऽनुक्ता, तामप्रकृतामपि लघुनोपायेन प्रतिपादयितुमिच्छन्नाह–

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

चशब्दः किमर्थः ?

चशब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः ।१। चशब्दः क्रियते प्रकृतसमुच्चयार्थः । किं प्रकृतम् ? परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा अपरा स्थितिरिति । तेनायमर्थो लभ्यते–रत्नप्रभायां नारकाणां परा स्थितिरेकं सागरोपमं सा शर्कराप्रभायां जघन्या । शर्कराप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिः त्रीणि सागरोपमाणि, सा बालुकाप्रभायां जघन्येत्येवमादि । तद्व्यासो[३] व्याख्यातः पुरस्तात् ।

अथ प्रथमायां पृथिव्यां का जघन्या स्थितिरिति ? अत आह–

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते[४] ।

अथ भवनवासिनां का जघन्या स्थितिरिति ?अत आह–

१ सातिरेके सं– श्र० । २ अतः आ०, ब०, द०, मु० । ३ उत्कृष्टा स्थितिः । ४ रत्नप्रभायां दशवर्षसहस्राणि अपरा स्थितिर्वेदितव्या ।

भवनेषु च ॥३७॥

चशब्दः किमर्थः ? प्रकृतसमुच्चयार्थ इति । एवं तेन भवनवासिनामपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि इत्यभिसंबध्यते ।

व्यन्तराणां तर्हि का जघन्या स्थितिरिति ? अत आह–

व्यन्तराणां च ॥३८॥

चशब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थ इति, एवं तेन व्यन्तराणामपरा स्थितिः दशवर्षसहस्राणि इत्यवगम्यते ।

परा व्यन्तराणां प्रागभिधातव्येति चेत्; न; लाघवार्थत्वात् ।१। स्यादेतत्–यथा अन्येषां देवनिकायानां परा स्थितिः प्रागुक्ता तथा व्यन्तराणामपि परा प्रागभिधातव्या इति ? तन्न ; किं कारणम् ? लाघवार्थत्वात् । यदि परा स्थितिः प्रागुच्येत पुनः दशवर्षसहस्रग्रहणं क्रियेत, तथा सति गौरवं स्यात् ।

यद्येवम्, अमीषां का परा स्थितिरिति ? अत आह–

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

स्थित्यभिसंबन्धात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशः ।१। स्थितिरित्यनुवर्तते । तेनाभिसंबन्धात् परेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशो द्रष्टव्यः ।

इदानीं ज्योतिष्काणां परा स्थितिर्वक्तव्येति, अत आह–

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

चशब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थ इति, एवं[१] तेनैवमभिसंबध्यते–ज्योतिष्काणां च परा स्थितिः पल्योपममधिकमिति ।

अथापरा ज्योतिष्काणां कियती स्थितिरिति[२] ? अत आह–

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

तस्य पल्योपमस्याष्टभागो ज्योतिष्काणामपरा स्थितिरित्यर्थः । अत्राह–'ज्योतिष्काणां पल्योपममधिकं परा स्थितिः' इत्यविशेषाभिधाने न ज्ञायते चन्द्रादीनां किं स्थितिविशेष इति ? अत्रोच्यते–

चन्द्राणां वर्षशतसहस्राधिकम् ।१। चन्द्राणां वर्षशतसहस्राधिकं पल्योपमं परा स्थितिः ।
सूर्याणां वर्षसहस्राधिकम् ।२। वर्षसहस्राधिकं पल्योपमं सूर्याणां परा स्थितिः ।
शुक्राणां शताधिकम् ।३। शुक्राणां वर्षशताधिकं पल्योपमं परा स्थितिः ।
बृहस्पतीनां पूर्णम् ।४। बृहस्पतीनां पूर्णपल्योपमं परा स्थितिः, [३]नाधिकम् ।
शेषाणामर्धम् ।५। शेषाणां ग्रहाणां बुधादीनां पल्योपमस्यार्धं परा स्थितिः ।
नक्षत्राणां च[४] ।६। किम् ? अर्धपल्योपमं परा स्थितिः ।
तारकाणां चतुर्भागः ।७। पल्योपमस्य चतुर्भागस्तारकाणां परा स्थितिः ।

१ एतेन मु० । २ –रित्याह श्र०, मू० । ३ साधिकम् आ०, ब०, द०, मु० । ४ च नक्षत्राणामर्ध– आ०, ब०, द०, मु० ।

तदष्टभागो जघन्योभयेषाम् ।८। तस्य पल्योपमस्याष्टभागः जघन्या स्थितिः उभयेषां तारकाणां नक्षत्राणां च भवति ।

शेषाणां चतुर्भागः ।९। शेषाणां सूर्यादीनां पल्योपमस्य चतुर्भागो जघन्या स्थितिर्वेदितव्या ।

अथ लौकान्तिकदेवानां का स्थितिरिति ? अत्रोच्यते–

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्[1] ॥४२॥

अष्टसागरोपमस्थितयो लौकान्तिकाः ।१। एकैव लोकान्तिकानां स्थितिः । [2]काऽसौ ? अष्टौ सागरोपमाणि । सर्वे ते शुक्ललेश्याः पञ्चहस्तोत्सेधशरीराः ।

व्याख्यातो जीवः ।२। सम्यग्दर्शनस्य विषयप्रदर्शनमुखेनोपन्यस्तेषु जीवादिषु आद्यो जीवपदार्थो व्याख्यातः ।

स च एकोऽनेकात्मकः ।३। स जीव एकः अनेकात्मको भवति । कुत एकस्यानेकात्मकत्वमिति चेत् ? अत्रोच्यते–

अभावविलक्षणत्वात् ।४। अभूतं नास्तीत्येकरूपोऽभावः । न हि अभावः अभावात्मना भिद्यते । तद्विसदृशस्तु नानारूपो भावः, इतरथा हि तयोरविशेष एव स्यात् । स तु षोढा भिद्यते–जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते [3]अपक्षीयते विनश्यतीति । तत्र उभयनिमित्तवशादात्मलाभमापद्यमानो भावः जायत इत्यस्य विषयः । यथा [3]मनुष्यगत्यादिनामकर्मोदयापेक्षया आत्मा मनुष्यादित्वेन जायत इत्युच्यते । तस्यायुरादिनिमित्तवशादवस्थानमस्तित्वम् । [4]सत एवावस्थान्तरावाप्तिर्विपरिणामः । अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावान्तरेण आधिक्यं वृद्धिः । क्रमेण पूर्वभावैकदेशनिवृत्तिरपक्षयः । तत्पर्यायसामान्यविनिवृत्तिर्विनाशः[5] । एवं प्रतिक्षणं वृत्तिभेदादनन्तरूपा जायन्ते इति नानात्मता भावस्य, अथवा सत्[6]ज्ञेयद्रव्यामूर्तातिसूक्ष्मावगाहनासंख्येयप्रदेशाऽनादिनिधनचेतनत्वादिना । किञ्च,

अनेकवाग्विज्ञानविषयत्वात् ।५। इह लोके एकोऽर्थोऽनेकशब्दवाच्यो भवति तथाभि[7]धेयपरिणामे सति तेषां शब्दानां तत्र प्रयोगात् । प्रयोगो हि प्रतिपादनक्रिया, तस्याः शब्दार्थावुभावपि साधकौ । शब्दस्तावद् व्यञ्जकत्वात् साधकः । अर्थोऽपि व्यङ्ग्यत्वात् [8]कर्मभावमापद्यमानः तत्समकालमेव [9]स्वातन्त्र्यमनुभवति, तस्मिन् सति क्रियाप्रवृत्तेः । यथा पचौ तण्डुला कर्मरूपापन्ना एव कर्तृतामास्कन्दन्ति येनोच्यते कर्मकारकमिति, अतः तस्मिन् सति अनेकः शब्दः प्रयुज्यते यथा घटः पार्थिवः मार्तिकः [10]सन् ज्ञेयो नवो महान् इत्यादि, एवमात्मकानां च विज्ञानानामालम्बनं भवति[11] तैर्विना[12] तस्याभावात् । सर्वे ते घटस्य आत्मानः[13] । तथा आत्मन्यपि अनेकवाग्विज्ञानालम्बनदर्शनादेकस्यानेकात्मकत्वमवसेयम् । अपि च,

---

१ इदं सूत्रं नास्ति ता०, श्र०, मू०, द०, भा० १, २, ज० । वार्तिकमिदं न सूत्रम्– श्र० टि० । २ काष्टौ द० । ३ अपक्षयते ता०, द०, मु० । ३ मनुष्यगतिनाम– मु०, द०, मू० । मनुष्यादिनाम– श्र० । ४ सतोऽवस्था– मु० । ५ –शः एवं प्रतिक्षणवृत्तिभें– मु०, द० । –शः त एव प्रतिक्षणं वृत्तिभे– मू० श्र० । ६ स तु ज्ञे– श्र०, मू० । सन्ज्ञेय– मु०, द० । ७ अर्थस्य । ८ क्रियाव्याप्यं कर्म । ९ कर्तृत्वम् । १० स तु ज्ञे– श्र० । ११ भावः । १२ शब्दवाग्विज्ञानादिसन्निधानाज्जातकर्मरूपाताभिः । १३ स्वरूपाः ।

अनेकशक्तिप्रचितत्वात् ।६। यथा घृतं स्नेहयति तर्पयति उपबृंहयतीति अनेकशक्ति, घटो वा जलधारणाहरणादिलक्षणयाऽनेकया शक्त्या प्रचितः, तथा आत्मनोऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावनिमित्तवशादनेकविकारप्राप्तियोग्यबहुशक्तियोगादनेकात्मकत्वम् । इतश्च,

वस्त्वन्तरसम्बन्धाविर्भूतानेकसम्बन्धिरूपत्वात् ।७। यथैको घटः [1]पूर्वापरान्तरितानन्तरित-दूरासन्न-नवपुराण-समर्थासमर्थ-देवदत्तकृतचैत्रस्वामिकत्व-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागादिभेदादनेकव्यपदेशभाग्भवति, सम्बन्धानामानन्त्यात्, तत्तत्सम्बन्धिनमवेक्ष्य तस्य तस्य पर्यायस्य भावात् । अथवा, पुद्गलानामानन्त्यात्तत्तत्पुद्गलद्रव्यमपेक्ष्य एकपुद्गलस्थस्य तस्यैकस्यैव पर्यायस्याऽन्यत्वभावात् । यथा प्रदेशिन्याः [2]मध्यमाभेदात् यदन्यत्वं न तदेव अनामिकाभेदात् । मा भूत् मध्यमाऽनामिकयोरेकत्वं मध्यमाप्रदेशिन्यन्यत्वहेतुत्वेनाऽविशेषादिति । न चैतत्परा[3]वधिकमेवार्थसत्त्वम् । यदि मध्यमासामर्थ्यात् प्रदेशिन्याः ह्रस्वत्वं [4]जायेत शशविषाणेऽपि स्याच्छक्रयष्टौ[5] वा । नापि स्वत एव, परापेक्षाभावे तद्व्यक्त्यभावात् । तस्मात्तस्यानन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणं प्रतीत्य तत्तद्रूपं वक्ष्यते । न [6]तत् स्वत एव नापि परकृतमेव । एवं जीवोऽपि कर्मनोकर्मविषयवस्तूपकरणसम्बन्धभेदादाविर्भूतजीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानविकल्पाऽनन्तपर्यायरूपः प्रत्येतव्यः । इतश्च,

अन्यापेक्षाभिव्यङ्ग्याऽनेकरूपोत्कर्षापकर्षपरिणतगुणसम्बन्धित्वात् ।८। यथा एको घट एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयानन्तावस्थोत्कर्षापकर्षात्मकरूपादिपरिणतिप्रतियोगिद्रव्यापेक्षासहकारिकारणाभिव्यञ्जनीया[7]त्मीयानन्तनीलनीलतरादिपरिणामः, तथा जीवोऽपि परद्रव्यसंबन्धापेक्षाभिव्यक्ततीव्राद्यवस्थाविशेषक्रोधाद्यविभागपरिच्छेदाऽनन्तरूपत्वादनेकः। इतश्च,

अतीतानागतवर्तमानकालसंबन्धित्वात् ।९। इह[8] समुदायावयवप्रध्वंसविषयेणातीतेन कालेन उत्पत्तिनि[9]र्ज्ञातसंभावन[10]विषयेण च अनागतेन कालेन, साधनप्रवृत्त्यविरामगोचरेण च वर्तमानेन कालेन संबन्धात् मृदादिद्रव्यं तस्मिन् तस्मिन् कालेऽनेकभेदमापद्यमानं दृष्टम् । वर्तमानमात्रत्वेऽपूर्वत्वात् अपरत्वाच्च अवध्यभावे वर्तमानस्याप्यभावो बन्ध्यापुत्रयुक्त्ववत् । तथा जीवस्यापि अनाद्यतीतकालसंबन्धपरिणतैः अनागतानन्तकालवशवर्तिभिः वर्तमानकालोद्भूतवृत्तिभिश्च पर्यायैरर्थव्यञ्जनभेदाद् द्वैविध्यमास्कन्दद्भिरभिसम्बन्धादनन्तरूपता । इतश्च,

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात् ।१०। उत्पादादीनामानन्त्यम् अनन्तकाले एकस्मिंश्च काले । यथा घट एकस्मिन्नेव काले द्रव्यतः पार्थिवत्वेन उत्पद्यते न जलत्वेन, देशत इहत्यत्वेन न पाटलिपुत्रकत्वेन, कालतो वर्तमानकालतया नातीतानागताभ्याम्, भावतो महत्त्वेन नाल्पत्वेन, एतेषां च एकैक उत्पादः सजातीयान्यपार्थिवानेकघटान्तरगतेभ्यः सौवर्णादीषद्विजातीयघटान्तरगतेभ्यो वा अत्यन्तविजातीयपटाद्यनन्तमूर्तामूर्तद्रव्यान्तरापन्नेभ्यो वा उत्पादेभ्यो भिद्यमानः तावद्धा [11]भेदमुपयाति अन्यथा [12]तैरविशिष्टः[13]स्यात् । तथा तदैवानुत्पद्यमानद्रव्यसंबन्धकृतोर्ध्वाधिस्तिर्यगन्तरितानन्तरितैकान्तरादिदिग्भेद-महदल्पत्वादिगुणभेद-रूपाद्युत्कर्षापकर्षानन्तभेद-त्रैलोक्यत्रिकालविषयसंबन्धिवशभिद्यमानरूपो वा उत्पादोऽनेको भवति ।

---

१ पूर्वपरान्तरितदू– द०, मु०, ता० । २ सकाशाज्जात । ३ अन्यकारणकम् । परार्थायत्तमेव –ता० टि० । ४ स्वशक्तिमन्तरेण । ५ –क्रमुष्टौ वा मु० । इन्द्रधनुषि–स० ६ अनन्तपरिणामत्वम् । ७ –यानन्त–श्र० । ८ वस्तुनि । ९ निश्चयेन । १० मनुष्योऽयं देवोऽयं भविष्यत्येवेति । ११ षड्डतिसंख्येति संख्यावत्वे प्रकारे धेति धाप्रत्ययः । १२ उत्पादादिभिः । १३ एकत्वं स्यादित्यर्थः ।

तथाऽनेकावयवात्मकस्कन्धप्रदेशभेददृष्टविषमोत्पादनानारूपतया वा अनेक उत्पादः । उदकादिधारणाहरणप्रदानाधिकरणभयहर्षशोकपरितापभेदजननादिस्वकार्यप्रसाधनेन वा अनेक उत्पादः । तदैव तावन्त एव तत्प्रतिपक्षभूता विनाशाः[1], पूर्वेणाविनष्टस्य उत्तरेणानुत्पादात्[2]। [3]उभयविपक्षभूताः स्थितयोऽपि तदैव तावत्यः तदाधारभूताः, अनवस्थितस्य वन्ध्यापुत्रवदुत्पादविनाशासंभवात्, अभावप्रसङ्गाच्च । घट उत्पद्यत इति यदा वर्तमानकालता; तदा अनभिनिर्वृत्तत्वात् पूर्वापरीभूतसाध्यमानभावाभिधानाच्चासत्त्वम् । उत्पत्त्यनन्तरं तु विनाशेऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वभूतावस्थाभिधायकोत्पन्नशब्दवाच्यत्वाभावात् उत्पादेऽप्यभावो विनाशेप्यभाव इति भावाभावात्तदाश्रयो व्यवहारो विरोधमुपगच्छेत्, [5]बीजशक्त्यभावाच्च उत्पादविनाशशब्दवाच्यताश्रेषश्च । तत उत्पद्यमानता उत्पन्नता विनाशश्चेति तिस्रोऽवस्था अभ्युपगन्तव्याः । तथा जीवस्याप्येकस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयगोचरसामान्यविशेषानन्तशक्त्यपेक्षार्पितस्थित्युत्पत्ति[6]निरोधानन्तरूपत्वात् अनेकत्वं प्रत्येतव्यम् । इतश्च,

अन्वयव्यतिरेकात्मकत्वाच्च ।११। इह घट एकोऽप्यन्वयव्यतिरेकात्मकतया अनेको दृष्टः सदचेतननवपुराणत्वादिभिः, तथा आत्मापि एकोऽन्वयव्यतिरेकात्मतया अनेकः प्रत्येतव्यः। के पुनरन्वयाः ? बुद्धयभिधानानुवृत्तिलिङ्गेन [7]अनुमीयमानाविच्छेदाः स्वात्मभूताऽस्तित्वाऽऽत्मत्वज्ञातृत्वद्रष्टृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाऽमूर्तत्वाऽसंख्यातप्रदेशत्वावगाहनातिसूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वाहेतुकत्वाऽनादिसंबन्धित्वोर्ध्वगतिस्वभावादयः । अथ के व्यतिरेकाः ? वाग्विज्ञानव्यावृत्तिलिङ्गसमधिगम्यपरस्परविलक्षणा उत्पत्तिस्थितिविपरिणामवृद्धि[8]क्षयविनाशधर्माणः गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्यासम्यक्त्वादयः ।

तस्य शब्देनाभिधानं क्रमयौगपद्याभ्याम् ।१२। तस्यैकस्य जीवस्यानेकात्मकस्य प्रत्यायने शब्दः प्रवर्तमानो द्वेधा व्यवतिष्ठते क्रमेण यौगपद्येन वा, न तृतीयो [9]वाक्पथोऽस्ति ।

ते च कालादिभिर्भेदाभेदार्पणात् ॥१३॥ ते च क्रमयौगपद्ये कालादिभिः भेदाभेदार्पणाद्भवतः । यदा वक्ष्यमाणैः [10]कालादिभिरस्तित्वादीनां धर्माणां भेदेन विवक्षा तदैकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्त्यभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देन एकधर्मप्रत्यायनमुखेन [11]तदात्मकत्वमापन्नस्य अनेकाशेषरूपस्य प्रतिपादनसंभवात् यौगपद्यम् । तत्र यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः, स एव प्रमाणमित्युच्यते । *"**सकलादेशः प्रमाणाधीनः**" [ ] इति वचनात्[12] । यदा तु क्रमः तदा विकलादेशः, स एव नय इति व्यपदिश्यते । *"**विकलादेशो नयाधीनः**" [ ] इति वचनात् । कथं सकलादेशः ?

एकगुणमुखेनाऽशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः ।१४। यदा अभिन्नमेकं वस्तु एकगुणरूपेण उच्यते गुणिनां गुणरूपमन्तरेण विशेषप्रतिपत्तेरसंभवात् । एको हि जीवोऽस्तित्वादिष्वेकस्य[13] गुणस्य रूपेणाऽभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा निरंशः समस्तो वक्तुमिष्यते, विभागनिमित्तस्य प्रतियोगिनो गुणान्तरस्य तत्रानाश्रयणात्, तदा सकलादेशः । कथमभेदवृत्तिः

१ कुतः ? २ उत्पादाभावात् । ३ ध्रौव्यस्वरूपमाह । ४ कारण । ५ निरोधो नाम नाशः । ६ अनुमीयमानतदेवेदमित्यात्मकतया अनुकूला वृत्तिः भा० २ टि० । ७ –द्धि ह्रास वि– मु० । ८ वाक्यार्थोऽस्ति मु०, द० । ९ काल आत्मरूपः अर्थः सम्बन्ध उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्द इति : १० तदेकत्वमाप– मु०, द० । ११ उद्धृतमिदम्– स० सि० १।६। १२ –स्य रूपेण मू० : –स्य गुणरूपेण मु०, द० ।

कथं वा अभेदोपचारः ? द्रव्यार्थत्वेनाश्रयणे तदव्यतिरेकादभेदवृत्तिः । पर्यायार्थत्वेनाश्रयणे परस्परव्यतिरेकेऽपि एकत्वाध्यारोप[1]ः, ततश्चाऽभेदोपचारः ।

तत्राऽऽदेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदम् ।१५। तत्रैतस्मिन् सकलादेश आदेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदं वेदितव्या । तद्यथा–स्यादस्त्येव जीवः, स्यान्नास्त्येव जीवः, स्यादवक्तव्य एव जीवः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च इत्यादि । उक्तं च–

"*[2]**पुच्छावसेण भंगा सत्तेव दु संभवंति जस्स जथा ।**

[3]**वत्थुत्ति तं पउच्चदि सामण्णविसेसदो [4]णियदं ॥१॥**" [ ] इति ।

तत्र स्यादस्त्येव जीव इत्येतस्मिन् वाक्ये जीवशब्दो द्रव्यवचनः विशेष्यत्वात्, अस्तीति गुणवचनो विशेषणत्वात् । [5]तयोस्सामान्यार्थाविच्छेदेन विशेषणविशेष्यसंबन्धावद्योतनार्थ एवकारः । तेनेतरनिवृत्तिप्रसङ्गे तत्संभवप्रदर्शनार्थः स्याच्छब्दप्रयोगः, स च [6]लिङन्तप्रतिरूपको निपातः । तस्यानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते । यद्ययमनेकान्तार्थः तेनैव सर्वस्योपादानात् इतरेषां पदानामानर्थक्यं प्रसज्यते; नैष दोषः; सामान्येनोपादानेऽपि विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्यः, वृक्षशब्दस्य सामान्यशब्दत्वात् धवादिविशेषप्रतिपादने धवाद्युपादानवत् । अथवा, स्याच्छब्दोऽयमनेकान्तार्थस्य द्योतकः । द्योतकश्च [7]वाचकप्रयोगसन्निधिमन्तरेणाऽभिप्रेतार्थाविद्योतनाय नालमिति [8]तद्द्योत्यधर्माधारार्थ[9]भिधानायेतरपदप्रयोगः क्रियते । अथ केनोपात्तोऽनेकान्तार्थः अनेन द्योत्यते ? उक्तमेतत्–अभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा प्रयुक्तशब्दवाच्यतामेवास्कन्दन्ति इतरे धर्मा इति । एवमितरेष्वपि वाक्येषु[10] अर्थप्रकल्पनं प्रत्येतव्यम् ।

यद्येवं स्यादस्त्येव जीवः इत्यनेनैव सकलादेशेन जीवद्रव्यगतानां सर्वेषां धर्माणां संग्रहात् इतरेषां भङ्गानामानर्थक्यमासजति; नैष दोषः; गुणप्राधान्यव्यवस्थाविशेषप्रतिपादनार्थत्वात् सर्वेषां भङ्गानां प्रयोगोऽर्थवान् । तद्यथा, द्रव्यार्थिकस्य प्राधान्ये पर्यायगुणभावे च प्रथमः । पर्यायार्थिकस्य प्राधान्ये द्रव्यगुणभावे च द्वितीयः । तत्र प्राधान्यं शब्देन विवक्षितत्वाच्छब्दाधीनम्, शब्देनानुपात्तस्यार्थतो गम्यमानस्याऽप्राधान्यम् । तृतीये तु युगपद्भावे उभयस्याप्राधान्यं शब्देनाभिधेयतयाऽनुपात्तत्वात् । चतुर्थस्तूभयप्रधानः क्रमेण उभयस्या[11]स्त्यादिशब्देन उपात्तत्वात् । तथोत्तरे च भङ्गा वक्ष्यन्ते ।

तत्रास्तित्वैकान्तवादिनः 'जीव एव अस्ति' इत्यवधारणे अजीवनास्तित्वप्रसङ्गभयादिष्टतोऽवधारणविधिः 'अस्त्येव जीवः' इति नियच्छन्ति[12], तथा चावधारणसामर्थ्यात् शब्दप्रापितादभिप्रायवशवर्तिनः सर्वथा[13] जीवस्याऽस्तित्वं प्राप्नोति । सर्वेणाऽस्तित्वेन[14] व्याप्त इति पुद्गलाद्यस्तित्वेनापि जीवस्यास्तित्वं [15]प्राप्तम्, शब्देन तथा प्रापितत्वात्, शब्दप्रमाणकाश्च वयमर्थाधिगमे । [16]स्यान्मतम्, अस्तित्वसामान्येन व्याप्तिर्न त्वस्तित्व-

१ –पात्तत–मु०, द । २ प्रश्नवशेन । ३ स्वरूपं भवतीति । ४ प्रश्नवशेन भङ्गा सप्तैव तु संभवन्ति यस्य यथा । वस्तु इति तत् प्रोच्यते सामान्यविशेषतो नियतम् । ५ सामान्यात्मनोः । ६ तिङन्तप्र– मु०, द० । ७ स्यात्कारचकारादि । ८ स्यात्कारेण । ९ –रत्वाभि– मु०, द० । १० षट्सु । ११–यस्यापि शब्देन ता०,श्र० । १२ नियमं करोति । १३ –थास्य जी– मु०, द० । १४ पुद्गलादिप्रकारेण । १५ तन्माभूदिति स्याच्छब्दप्रयोगे इत्यभिप्रायः । १६ अत्राह परः –स्यात्कारमन्तरेण पुद्गलाद्यस्तित्वेन जीवस्यास्तित्वं न प्राप्नोति, किन्तु स्वत एवेति समर्थयितुं स्यादित्यादिना ।

विशेषैः यथा अनित्यमेव कृतकमिति अनित्यत्वस्याभावे कृतकत्वस्याप्यभाव एवेत्यवधारणात्, यत्कृतकं तत्सर्वमनित्यमिति, न हि सर्वप्रकारेण अनित्यत्वेन [1]सर्वप्रकारं कृतकत्वं व्याप्यते किन्तु अनित्यत्वसामान्येन, [2]नाऽनित्यत्वव्यक्तया घटपटरथादिगतयेति । एवं तर्हि त्वयैवाभ्युपगतं अवधारणनिष्फलत्वं सामान्याऽनित्यत्वेनाऽनित्यत्वं न विशेषाऽनित्यत्वेनेति । स्वगतेनापि विशेषेणानित्यं भवत्येवेति चेत्; न; स्वगतेनेति विशेषणात्, परगतेन विशेषेणाऽनित्यत्वं न भवतीति आपद्यते, अनवधारणकं वा वाक्यं प्रयोक्तव्यम्—अनित्यं कृतकमिति । तथा चाऽनित्यस्याऽनवधृतत्वात् नित्यत्वप्रसङ्गोऽपि । एवं यद्यस्तित्वसामान्येनास्ति जीवः न तु पुद्गलादिगतयाऽस्तित्वव्यक्तया, अतो न पुद्गलाद्यस्तित्वेन, अस्तित्वं जीवस्येति ब्रुवता त्वयैवाभ्युपगतं सामान्यरूपं विशेषरूपं चेति प्रकारवदस्तित्वमिति । तथा सति सामान्यास्तित्वेनास्ति विशेषास्तित्वेन नास्तीति स्यादस्ति स्यान्नास्तीति प्राप्तमवधारणनिष्फलत्वम् । सर्वेण हि प्रकारेणाऽस्तित्वाभ्युपगमे नास्तित्वनिरासेन अवधारणं फलवत् स्यात् । अनियमे तु अव्यावृत्तत्वात् पुद्गलाद्यस्तित्वेनापि प्राप्तिरित्यवश्यम् एकान्तवादिनाऽवधारणमभ्युपगमनीयम् । तथा च सति पूर्वोक्तो दोषः ।

स्यादेतत्—यदस्ति तत् स्वायत्तद्रव्यक्षेत्रकालभाव[3]रूपेण भवति नेतरेण तस्याऽप्रस्तुतत्वात् । यथा घटो द्रव्यतः पार्थिवत्वेन, क्षेत्रत इहत्यतया, कालतो वर्तमानकालसंबन्धितया, भावतो रक्तत्वादिना, न परायत्तैर्द्रव्यादिभिस्तेषामप्रसक्तत्वात्[4] इति । एवं चेत् द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरसंबन्धितया नास्तीत्यतः स्यादस्ति स्यान्नास्तीति सिद्धम् । नियमानभ्युपगमे तु स घटो न स्यादेव[5] असामान्यत्वे सति नियतद्रव्यक्षेत्रकालभावसंबन्धित्वेनाऽभूतत्वात् शशविषाणवत् । अनियतद्रव्यादिरूपत्वे वा सर्वथाभावात् सामान्यमेव स्यात् नासौ घटः, अनियतद्रव्यादिरूपत्वात् महासामान्यवत् । कथम् ? यदि हि असौ द्रव्यतः पार्थिवत्वेन तथोदकादित्वेनापि भवेत्, ततोऽसौ घट एव न स्यात् पृथिव्युदकदहनपवनादिषु वृत्तत्वात् द्रव्यत्ववत् । तथा, यथा इहत्यतया अस्ति तथाविरोधिदिगन्तानियतदेशस्थतयापि यदि स्यात्तथा चासौ घट एव न स्यात् विरोधिदिगन्ताऽनियतसर्वदेशस्थत्वात् आकाशवत् । तथा, यथा वर्तमानघटकालतया अस्ति तथाऽतीतशिवकाद्यनागतकपालादिकालतयापि स्यात् तथा चाऽसौ घट एव न स्यात् सर्वकालसंबन्धित्वात् मृद्द्रव्यवत् । यथा चेहदेशकालविशेषसंबन्धितया अस्मत्प्रत्यक्षत्वं तथा अतीतानागतकालान्यदेशसम्बन्धित्वेनाप्यस्मत्प्रत्यक्षत्वं स्यात्, उदकाद्यानयनादिसंव्यवहारपातित्वं वा । तथा, यथा नवत्वेन तथा पुराणत्वेन, सर्वरूपरसगन्धस्पर्शसंख्यासंस्थानादित्वेन वा स्यात्; तथा चासौ घट एव न स्यात् सर्वथाभावित्वात् भवनवत्[6] । यथा हि भवनं रूपं रसो गन्धः स्पर्शश्च भवति पृथुः महान् ह्रस्वः पूर्णः रिक्तो वा भवतीति न कुतश्चित् वस्तुनो वस्तुधर्माद्वा व्यावर्तते तच्च न घटः, एवं घटोऽपि स्यात् । एवं जीवस्यापि मनुष्यत्वेनाऽर्प्यमाणस्य स्वद्रव्यादिरूपतयैवाऽस्तित्वं नेतरथा । यदीतरथापि स्यात्; मनुष्य एव न स्यात् नियतद्रव्यक्षेत्रकालभावसम्बन्धित्वेनाऽभूतत्वात् खरविषाणवत् । अनियतद्रव्यादिरूपत्वे वा सर्वथाभावात् सामान्यमेव स्यात् नासौ मनुष्यः अनियतद्रव्यादिरूपत्वात् महासामान्यवत् । कथम् ? यदि हि असौ यथा जीवद्रव्यत्वेनाऽस्ति एवं पुद्गलादित्वेनापि स्यात् ततोऽसौ

१ सर्वप्रकारः कृतकः व्या— मु०, द० । २ न त्वनि— मु०, द० । ३ —भावेन भ— मु०, द० । ४ —मप्रस्तुतत्वात् मु०, द० । ५ —नास्ति । ६ सत्तासामान्यवत् ।

मनुष्य एव न स्यात्, पुद्गलादिष्वपि दृष्टत्वात् द्रव्यत्ववत् । तथा, यथा इहत्यतया अस्ति तथा विरोधिदिगन्तानियतदेशस्थतयापि यदि स्यात्; तथा चासौ मनुष्य एव न स्यात् विरोधिदिगन्तानियतसर्वदेशस्थत्वात् आकाशवत् । तथा, यथा वर्तमानकालतया अस्ति तथा अतीतनारकाद्यनागतदेवादिकालतयापि स्यात्, तथा चासौ मनुष्य एव न स्यात् सर्वकालसंबन्धित्वात् जीवत्ववत् । यथा च इह-देशकालविशेषसंबन्धितया अस्मत्प्रत्यक्षत्वं तथाऽतीतानागतकालान्यदेशसंबन्धित्वेनापि अस्मत्प्रत्यक्षत्वं स्यात्, यथा यौवनेन तथा वृद्धत्वेन अन्यद्रव्यगतरूपरसादिभिर्वा यदि स्यात् तथा चासौ मनुष्य एव न स्यात् सर्वथाभावित्वात् भवनवत् । तस्मात् स्यादस्ति स्यान्नास्ति ।

इतश्च स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्वपरसत्ताभावाभावोभयाधीनत्वात् जीवस्य । यदि [1]परसत्तया अभावं स जीवः स्वात्मनि नापेक्षते, अतः स जीव एव न स्यात् सन्मात्रं स्यात्, नासौ जीवः सत्त्वे सति विशेषरूपेण अनवस्थितत्वात् सामान्यवत् । तथा परसत्ताभावापेक्षायामपि जीवत्वे यदि स्वसत्तापरिणतिं नापेक्षते तथापि तस्य वस्तुत्वमेव न स्यात् जीवत्वं वा, सद्भावापरिणतत्वे[2] पराभावमात्रत्वात् खपुष्पवत् । अतः पराभावोऽपि स्वसत्तापरिणत्यपेक्ष एव अस्तित्वस्वात्मवत्[3] । यथा अस्तित्वस्वात्मा अस्तित्वस्वात्मना[4] अस्ति न नास्तित्वस्वात्मनेति स्यादस्ति, स्यान्नास्ति [5]इतरथा हि वस्त्वभावः स्यात् । कथम् अभावो हि भावनिरपेक्षोऽत्यन्तशून्यं[6] वस्तु प्रतिपादयेत्[7] अन्वयाप्रतिलम्भात्[8] । भावोऽपि वा अभावनिरपेक्षः [9]सर्वरूपं वस्तु प्रतिपादयेत् व्यतिरेकाप्रतिलम्भात् । न च सर्वथा सता सर्वाभावरूपेण वा शक्यं भवितुम् । किं हि वस्तु सर्वात्मकं सर्वाभावरूपं वा दृष्टमिति ? तद्धि वस्त्वेव न स्यात् सर्वाभावरूपत्वात् खपुष्पवत् । न च वस्तुत्वं सर्वात्मकत्वात् शक्यं प्रतिपत्तुम् असाधारणत्वात्, वस्तुत्वे चाऽवस्तुत्वे चाऽदर्शनात् [10]श्रावणत्ववत् । अभावता हि भावरूप-[11]वैलक्षण्यात् [12]क्रियागुणव्यपदेशाभावात् अवतिष्ठते । भावतापि अभाववैलक्षण्यात् क्रियागुणव्यपदेशवत्त्वात् सिध्यतीति परस्परापेक्षे भावाभावरूपत्वे । अपि च, अभावः स्वसद्भावं भावाभावं च अपेक्षमाणः सिध्यति । भावोऽपि स्वसद्भावं अभावाभावं चाऽपेक्ष्य सिद्धिमुपयाति । यदि तु अभाव एकान्तेनाऽस्ति इत्यभ्युपगम्येत ततः सर्वात्मनाऽस्तित्वात् [13]स्वरूपवद्भावात्मनापि स्यात्, तथा च भावाभावरूपसङ्करादस्थितरूपत्वादुभयोरप्यभावः । अथ एकान्तेन नास्ति इत्यभ्युपगम्येत ततो [14]यथा भावात्मना नास्ति तथा तथाऽभावात्मनापि न स्यात्, ततश्च अभावस्याऽभावात् भावस्याऽप्रतिपक्षत्वात् भावमात्रमेव स्यात् । तथा खपुष्पादयोऽपि भावा एव अभावाभावरूपत्वात् घटवत् इति सर्वभावप्रसङ्गः । एवं भावास्तित्वैकान्तेऽपि योज्यम् । तस्माद्भावः स्यादस्ति स्यान्नास्ति तथा अभावोऽपि । एवं जीवोऽपि स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यवसेयम् ।

एवं [15]स्वात्मनि घटादिवस्तुसिद्धौ च भावाभावयोः परस्परापेक्षत्वात् यदुच्यते—[15] ***"अर्थात् प्रकरणाद्वा घटे अप्रसक्तायाः पटादिसत्तायाः किमिति निषेधः क्रियते"** ? [ ]

१ परसत्तया मु०, द० । २ —त्वे वापरा— मु०, द० । ३ स्वरूपवत् । ४ —त्मनेति स्या— श्र०, मू० । —त्मनास्ति नास्ति च नास्तित्व— मु०, द० । ५ नास्तित्वस्वात्मना नास्ति । ६ —न्यं च वस्तु द०, मु० । ७ —येदन्यदन्वयाप्रति— मु०, द० । ८ सामा— भा० २ । ९ घटपटादि । १० अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् । ११ —पत्ववै— द०, पु० । १२ वैलक्षण्यं कीदृशमित्युक्ते प्रतिपादयन्नाह— । १३ अभावस्वरूपवत् । १४ ततोऽयं— मु०, द० । १५ अभावरूपे । १६ परेण ।

इति ; तदयुक्तम् । किञ्च घटे[1] अर्थत्वात् अर्थसामान्यात् पटादिसर्वार्थप्रसङ्गः संभवत्येव । [2]तत्र विशिष्टं घटार्थत्वम् [3]अभ्युपगम्यमानं पटादिसत्तारूपस्यार्थसामर्थ्यं [4]प्राप्तिस्य अर्थतत्त्वस्य निरासेनैव आत्मानं शक्नोति लब्धुम्, इतरथा हि असौ घटार्थ एव न स्यात् पटाद्यर्थरूपेणाऽनिवृत्तत्वात् पटाद्यर्थस्वरूपवत्, विपरीतो वा । यश्चास्य[5] पटादिरूपेणाभावः सोऽपि घटधर्म एव तदधीनत्वात् भाववत्,[6] अतोऽसौ [7]स्वपर्याय एव, परेण तु विशेष्यमाणत्वात् परपर्याय इत्युपचर्यते । स्वपरविशेषणायत्तं हि वस्तुस्वरूपप्रकाशनमिति ।

अथ 'अस्त्येव जीवः' इत्यत्राऽस्तिशब्दवाच्यादर्थात् भिन्नस्वभावो वा जीवशब्दवाच्योऽर्थः स्यात्, अभिन्नस्वभावो वा ? यदि अभिन्नस्वभावः, ततो यत् सदर्थस्य रूपं जीवशब्दार्थस्यापि तदेव रूपमिति ततोऽन्यधर्मानवकाशत्वादविशिष्टार्थता स्यात् । ततश्च सामानाधिकरण्य[8]विशेषणविशेष्यत्वाभावो घटकुटशब्दवत् अन्यतराप्रयोगश्च स्यात् । किञ्च, सत्त्वस्य सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वात् तदभिन्नस्वभावस्य जीवस्यापि तादात्म्यमिति सर्वस्य तत्त्वस्याऽविशिष्टैकजीवत्वप्रसङ्गः । सत्स्वभावत्वाच्च जीवस्वरूपचैतन्यतद्विकल्पज्ञानादिक्रोधादिनारकत्वादिसर्वविशेषणाभावत्वप्रसङ्गश्च स्यात् । जीवस्वभावत्वाद्वा अस्तित्वस्य [9]स्वात्मनि पुद्गलादिषु च सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वाभावो जीवत्ववत् ।

अथायं दोषो माभूत् इति अस्तिशब्दवाच्यात् अर्थात् भिन्नस्वभावो जीवशब्दार्थः प्रतिज्ञायेत; एवमपि स्वतो जीवस्याऽसद्रूपत्वप्रसङ्गः । ततश्च नास्ति जीवोऽस्तिशब्दवाच्यार्थविविक्तत्वात् खरविषाणवत्, [10]विपर्ययो वा । ततश्च तदधीनबन्धमोक्षादिव्यवहाराभावः । अस्तित्वस्य च जीवादर्थान्तरत्ववत्, इतरेभ्योपि भिन्नत्वात् निराश्रयत्वादभाव एवेति तदाश्रयव्यवहाराभावः । किञ्च, अस्तित्वाद्भिन्नस्वभावस्य जीवस्य कः स्वभाव इति वक्तव्यम् ? यश्चास्य स्वभाव इत्युच्यते स सर्वो न स्यात् असत्स्वभावत्वात् खपुष्पवत् । तस्मात् स्याद्भिन्नार्थत्वं स्यादभिन्नार्थत्वं चाभ्युपगन्तव्यम् । पर्यायार्थादेशात्[11] [12]भवनजीवनभेदात् अस्तिजीवशब्दौ[13] स्याद्भिन्नार्थौ । द्रव्यार्थादेशात् तदव्यतिरेकात् तद्ग्रहणेन ग्रहणात् स्यादभिन्नार्थौ । तस्मात् स्यादस्ति स्यान्नास्तीति सिद्धम् ।

इतश्च, स्यादस्ति स्यान्नास्ति [14]अर्थाभिधानप्रत्ययानां [15]तथाप्रसिद्धेः ।

कश्चिदाह–जीवार्थो जीवशब्दो जीवप्रत्ययः इत्येतत्त्रितयं लोके [16]अविचारसिद्धम्–तथाहि वर्णाश्रमिणः अस्तित्वमेवाश्रित्य तासु तासु क्रियासु प्रवृत्ताः तस्मादस्त्येवेति । [17]तमितरः प्रत्याह–नास्त्येवैतत्त्रितयम्–अर्थस्तावन्नास्त्यनुपलब्धेः, [18]विज्ञानमेव [19]तथा परिणतं स्वप्नवत् कल्पयति । प्रत्ययजीवोऽपि नास्त्येव विज्ञानस्य ज्ञेयरूपेणाऽनाख्येयत्वात्[20] । [21]स्वतस्तु विज्ञानं न जीवो नाप्यजीवः प्रकाशमात्रं केनचिदपि रूपेण [22]अनिरूप्यत्वात्[23] यद्यपि

१ तावदर्थत्वात् घटे प्रसक्तं पटादिसत्त्वं प्रदर्शयति । २ तथा सति । ३ कर्तृ । ४ –र्थात्प्राप्ति– द०, मु० । ५ घटस्य । ६ घटास्तित्ववत् । ७ घटस्य । ८ –ण्याभावाद् विशे– मु० । ९ जीवे । आत्मनि मु०, द० । १० अस्ति खरविषाणम् अस्तिशब्दवाच्यार्थविविक्तत्वात् जीववत् । ११ तदेव विवृणोति । १२ अस्ति अस्तित्व । १३ – शब्दौ तद्व्यतिरेकेण तद्ग्रहणेनाग्रहणात् स्याद्भि– मु० । १४ जीव इति । १५ अस्तित्वानास्तित्वरूपेण । १६ निर्विचारसिद्धम्, तत्सिद्धौ विचारः कोऽपि न कर्त्तव्य इत्यर्थः । विचारसि– मु०, द० । १७ आस्तिकं प्रति नास्तिकः । १८ उपलब्धौ । १९ वस्तुस्वरूपेण । २० अप्रतिपाद्यत्वात् । २१ स्वभावतः । २२ अदर्शनीयत्वात् ।

निरूप्येत स्वप्नज्ञानवत् असदाकारेणैव निरूप्येत–[1]नास्ति ज्ञानम् [2]असदाकारनिरूप्यत्वात् खरविषाणवत् । अभिधानमपि नास्ति । तद्धि पदरूपं वा स्यात्, वाक्यरूपं वा ? [3]तन्नास्त्येव अयुगपत्कालावयवत्वात्[4] । यत्पुनरेत्–जीवशब्दग्रहणं तत्परिकल्पितैर्वर्णभागैरनुक्रमेणाऽऽहितशक्तिकासु बुद्धिषु शक्तिपरिपाकप्राप्तौ[5] प्रत्यस्तमितसकलवर्णभागविषयविज्ञानं जीवशब्दत्वेन अध्यवसीयते[6] नत्वभिधानजीवः कश्चिदस्ति । तदपि विज्ञानं क्षणिकत्वात् प्रत्यर्थवशवर्तित्वाच्च एकस्य [7]पूर्वापरीभूतार्थप्रत्यवभासनासंभवान्नास्त्येवेति । यद्येवं वाच्यवाचकसंबन्धो लोके रूढः प्रत्याख्यातः स्यात् ततश्च लोकविरोधः, तन्नास्तित्वे परीक्षाप्रयासश्च विफलः स्यात् इत्यभ्युपगन्तव्यम्–जीवः स्यादस्ति स्यान्नास्तीति । अतः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकमात्मसात्कुर्वन् [8]व्याह्रियते, पर्यायार्थिकोऽपि द्रव्यार्थिकमिति उभावपि इमौ सकलादेशौ ।

तृतीयो विकल्पः उच्यते–द्वाभ्यां गुणाभ्यामेकस्यैव अभिन्नस्या[9]भेदरूपेण युगपद्वक्तुमिष्टत्वात् । तत्र यथा प्रथमद्वितीययोर्विकल्पयोरेकस्मिन् काले एकेन शब्देन एकस्यार्थस्य समस्तस्यैव एकेन गुणरूपेणाभिधानं क्रमात्, एवं यदा द्वाभ्यां प्रतियोगिभ्यां गुणाभ्यामवधारणा[10]त्काभ्यां युगपदेकस्मिन् काले एकेन शब्देन एकस्यार्थस्य कृत्स्नस्यैवाभेदरूपेणाभिधित्सा तदा अवाच्यः तद्विधार्थस्य शब्दस्य चाऽभावात् । तत्र युगपद्भावो[11] गुणानां कालादिभिरभेदेन विवक्षितानां वृत्तिः, न च तैरभेदोऽत्र[12] सम्भवति ।

के पुनस्ते कालादयः ?

काल आत्मरूपमर्थः सम्बन्धः उपकारो गुणिदेशः संसर्गः शब्द इति । तत्र येन कारणेन विरुद्धा भवन्ति गुणास्तेषामेकस्मिन् काले क्वचिदेकवस्तुनि वृत्तिर्न दृष्टा अतस्तयोर्नास्ति वाचकः शब्दः तथावृत्त्यभावात् । अत एकस्मिन्नात्मनि सदसत्त्वे प्रविभक्ते [13]असंसर्गात्मरूपे अनेकान्तरूपे न स्तः । एककाले[14] येनात्मा तथोच्येत ताभ्यां विविक्तं च परस्परत आत्मरूपं गुणानां[15] [16]नान्योन्यात्मनि वर्तते, यत[17] उभाभ्यां [18]युगपदभेदेनोच्येत । न च विरुद्धत्वात् सदसत्त्वादीनाम् एकान्तपक्षे गुणानामेकद्रव्याधारा वृत्तिरस्ति यतः अभिन्नाधारत्वेनाऽभेदो युगपद्भावः स्यात्, [19]येन केनचित् शब्देन वा सदसत्त्व उच्येयाताम् । [20]न च सम्बन्धतोऽभिन्नता गुणानां संभवति भिन्नत्वात् संबन्धस्य । यथा छत्रदेवदत्तसम्बन्धोऽन्यः दण्डदेवदत्तसंबन्धात् । कारणयोः [21]संबन्धिनोर्भिन्नत्वात् न तावेकेन संबन्धेनाभिन्नौ । एवं सदसत्त्वयोरात्मना सह संबन्धस्य भिन्नत्वात् न संबन्धेनापि युगपद्वृत्तिसंभवः [22]यतः शब्देनोच्यते । समवाय इति चेत्; न; तेनापि भिन्नेन भवितव्यं भिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुत्वात् संयोगवत् । न च गुणा उपकारेणाऽभिन्नाः; यतो द्रव्यस्य गुणाधीन उपकारो नीलरक्ताद्युपरञ्जनम्, ते च स्वरूपतो भिन्नाः । यच्च तेषामात्मनि नीलरक्तत्वाद्यस्ति रूपं यावच्च नीलनीलतरादि तावता द्रव्यं रञ्जयति अतस्तेषामुपकारोऽपि भिद्यत एव । एवं सदसत्त्वयोर्भिन्नत्वात् सत्त्वेनोपरक्तं सत् असत्त्वेनोप-

१ तथा सति । २ असदाकारत्वात् मु०, द० । ३ द्वयमपि । ४ कालाश्च अवयवाश्च कालावयवाः, न विद्यन्ते युगपत्ते ययोस्ते तथोक्ते तयोर्भावः तस्मात् । ५ अन्त्यवर्णे इत्यर्थः । ६ "नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥" –वाक्यप० १।८५। ७ वर्तमानार्थ । ८ व्याप्रियते मु०, द० । अभिधीयते । ९ अविकलस्य समस्तस्येत्यर्थः । १० –णात्मकाभ्यां मु०, ता०, द०, मू० । ११ नाम । १२ अवक्तव्ये । १३ कोऽर्थः । १४ कथम् । १५ मध्ये । १६ अन्यो गुणः अन्यतरगुणे । १७ कथम् । १८ अंशरहितेन । १९ कथम् । २० न सं– श्र० । २१ हस्तदण्डयोः । २२ कथम् ।

रक्तं असन्नोपकारसारूप्यम्, यतः तदभेदेन[1] शब्दो वाचकः स्यात्। न चैकदेशेन गुणिन उपकारः संभवति[2] येनैक[3]देशोपकारेण सहभावो भवेत् नीलादेर्गुणस्य। कृत्स्नस्य हि गुणस्योपकारकत्वं द्रव्यस्य च पटादेः समस्तस्योपकार्यत्वम्, गुण उपकारको गुणी उपकार्य इति। न चैकदेशो गुणगुणिनोः। अतः कृत्स्नयोः उपकार्योपकारकरूपसिद्धिर्न देशेन यतो देशतः[4] सहभावात् कश्चिच्छब्दो वाचकः कल्प्येत। न चैकान्तपक्षे गुणानां संसृष्टमनेकात्मकं रूपमस्ति अवधृतैकान्तरूपत्वात् सत्त्वासत्त्वादेर्गुणस्य। [5]यदा शवलरूपव्यतिरिक्तौ परस्पर-विविक्तौ शुक्लकृष्णौ गुणौ असंसृष्टौ नैकस्मिन्नर्थे सह वर्तितुं समर्थौ अवधृतरूपत्वात्, अतः ताभ्यां संसर्गाभावात् एकान्तपक्षे न युगपदभिधानमस्ति अर्थस्य तथा वर्त्तितुं शक्त्यभावात्, तद्विधस्य च अर्थसंबन्धस्याऽभावात्। न चैकः शब्दो द्वयोर्गुणयोः सहवाचकोऽस्ति। यदि स्यात् सच्छब्दः स्वार्थवदसदपि सत्कुर्यात् असच्छब्दोऽपि स्वार्थवत् सदपि असत्कुर्यात्, न च तथा लोके संप्रत्ययोऽस्ति [6]तयोर्विशेषशब्दत्वात्। एवमुक्तात् [7]कालादियुगपद्भावासंभवात्। शब्दस्य च एकस्य उभयार्थवाचिनोऽनुपलब्धेः अवक्तव्य आत्मा।

अथवा वस्तुनि मुख्यप्रवृत्त्या तुल्यबलयोः परस्पराभिधानप्रतिबन्धे सति [8]इष्टविपरीतनिर्गुणत्वापत्तेः विवक्षितोभयगुणत्वेनाऽनभिधानात् अवक्तव्यः। अयमपि सकलादेशः परस्परावधारितविविधरूपैकात्मकाभ्यां गुणाभ्यां गुणविशेषणत्वेन युगपदुपक्षिप्ताभ्याम्[9] अविवक्षितांशभेदस्य वस्तुनः समस्तस्य एकेन गुणरूपेणाभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वाऽभिधातुं प्रक्रान्तत्वात्। [10]स च अवक्तव्यशब्देन अन्यैश्च षड्भिर्वचनैः[11] पर्यायान्तरविवक्षया च वक्तव्यत्वात् स्यादवक्तव्यः। यदि सर्वथा अवक्तव्यः स्यात् अवक्तव्य इत्यपि चाऽवक्तव्यः स्यात् कुतो बन्धमोक्षादिप्रक्रियाप्ररूपणविधिः ?

ताभ्यामेव क्रमेणाभिधित्सायां तथैव वस्तुसकलस्वरूपसंग्रहात् चतुर्थोऽपि विकल्पः सकलादेशः। अयमपि स्यादित्येवार्पयितव्यः, सर्वथोभयात्मकत्वे परस्परविरोधात् उभयदोषप्रसङ्गाच्च। कथमेते [12]निरूप्यन्ते ? सर्वसामान्येन तदभावेन च, विशिष्टसामान्येन तदभावेन च विशिष्टसामान्येन तदभावसामान्येन च, विशिष्टसामान्येन तद्विशेषेण च, सामान्येन विशिष्टसामान्येन च, द्रव्यसामान्येन गुणसामान्येन च, धर्मसमुदायेन तद्व्यतिरेकेण च, धर्मसामान्यसम्बन्धेन तदभावेन च, धर्मविशेषसंबन्धेन तदभावेन च।

तद्यथा सर्वसामान्येन तदभावेन च[13] इह द्विविधोऽर्थः श्रुतिगम्योऽर्थाधिगम्यश्च। तत्रानपेक्षितवृत्तिनिमित्तः श्रुतिमात्रप्रापितः श्रुतिगम्यः। अर्थप्रकरणसंभवाभिप्रायादिशब्दन्यायात् कल्पितोऽर्थाधिगम्यः। तत्र आत्मा अस्तीति सर्वप्रकारानाश्रयणादिच्छावशात् कल्पितेन सर्वसामान्येन[14] वस्तुत्वेन अस्तीति प्रथमः। तत्प्रतिपक्षेणाऽभावसामान्येनाऽवस्तुत्वेन नास्त्यात्मा इति द्वितीयः। आभ्यामेव युगपदभेदविवक्षायां वाचकाभावान्नाभिधीयत इति तृतीयः। आभ्यामेव क्रमेणार्पिताभ्यामुभयरूपं वस्तु उच्यते इति चतुर्थः। विशिष्टसामान्येन तदभावेन च—यथाश्रुतत्वात् श्रुत्युपात्तेन आत्मनैवाभिसंबन्धः, ततश्चात्मत्वेनैव अस्त्यात्मा इति प्रथमः। यथाश्रुतप्रतियोगित्वात् अनात्मत्वेनैव नास्त्यात्मा इति द्वितीयः। युगपदुभाभ्यां

१ उपकाराभेदेन। २ किन्तु कृत्स्नेनैव। ३ कथम्। ४ एकदेशतः। ५ यथा मु०, द०, ता०। ६ अस्तित्वनास्तित्वयोः। ७ टा—तृतीयेत्यर्थः —स०। ८ दृष्टवि— द०, मु०। ९ नियत। १० अङ्गीकृताभ्याम्। ११ आत्मा। १२ भङ्गैः। १३ चत्वारो भङ्गाः। १४ निरूप्यन्ते। १५ कोऽर्थः।

आत्मानात्मत्वसदसत्त्वाभ्यामवक्तव्यः। आभ्यामेव क्रमेणार्पिताभ्यामुभयरूपं वस्तूच्यते इति चतुर्थः। विशिष्टसामान्येन तदभावसामान्येन च—यथाश्रुतत्वात् आत्मत्वेनैवास्तीति प्रथमः। अभ्युपगमविरोधभयात् वस्त्वन्तरात्मना क्षित्युदकज्वलनघटपटगुणकर्मादिना सर्वेण प्रकारेण सामान्यतो नास्तीति द्वितीयः। आभ्यामेव युगपदात्मघटादिसदसत्त्वाभ्यामवक्तव्यः। क्रमेण तु वाच्यत्वात् चतुर्थः। विशिष्टसामान्येन तद्विशेषेण च—आत्मसामान्येनास्त्यात्मा। आत्मविशेषेण मनुष्यत्वेन [1]नास्ति। आत्मत्वमनुष्यत्वापेक्षाभ्यां सदसत्त्वाभ्याम् एकत्वे युगपदवक्तव्यः। पर्यायेणाभिधेयत्वाच्चतुर्थः। सामान्येन विशिष्टसामान्येन च—अविशेषरूपेण द्रव्यत्वेन अस्त्यात्मा। विशिष्टेन सामान्येन प्रतियोगिनाऽनात्मत्वेन नास्त्यात्मा। ताभ्यां तु द्रव्यत्वानात्मत्वसदसत्त्वाभ्यां युगपदवक्तव्यः। क्रमेण ताभ्यां वक्तव्यत्वात् चतुर्थः। द्रव्यसामान्येन गुणसामान्येन [2]च वस्तुनस्तथा तथा संभवात् तां तां विवक्षामाश्रित्याविशेषरूपेण द्रव्यत्वेनास्त्यात्मा, तत्प्रतियोगिना विशेषरूपेण गुणत्वेन नास्त्यात्मा। ताभ्यां तु द्रव्यत्वगुणत्वसदसत्त्वाभ्यां युगपदवक्तव्यः। क्रमेण तदुभयवाग्गोचरत्वाच्चतुर्थः। धर्मसमुदायेन तद्व्यतिरेकेण च—त्रिकालगोचरानेकशक्तिज्ञानादिधर्मसमुदायरूपेणाऽऽत्मास्ति। तद्व्यतिरेकेण नास्त्यनुपलब्धेः। ताभ्यां युगपदवक्तव्यः। क्रमेण अभिधेयतामनुभवति इति चतुर्थः। धर्मसामान्यसंबन्धेन तदभावेन च—गुणरूपगतसामान्यसंबन्धविवक्षायां यस्य कस्यचित् धर्मस्य आश्रयत्वेन अस्त्यात्मा। न तु कस्यचिदपि धर्मस्याश्रयो न भवतीति धर्मसामान्यानाश्रयत्वेन नास्त्यात्मा। आभ्यां युगपदवक्तव्यः। पर्यायेण तु तदुभयविशेष्यत्वात् चतुर्थः। धर्मविशेषसंबन्धेन तदभावेन च—[3]अनेकधर्मणोऽन्यतमधर्मसंबन्धेन तद्विपक्षेण वा विवक्षायाम्, यथा अस्त्यात्मा नित्यत्वेन निरवयवत्वेन चेतनत्वेन वा, तेषामेवान्यतमधर्मप्रतिपक्षेण नास्त्यात्मा। युगपत्ताभ्यामवक्तव्यः। क्रमेण तदभिधानविषयत्वाच्चतुर्थः।

पञ्चमो भङ्ग उच्यते—त्रिभिः आत्मभिर्द्वयंशः। जीवस्यानेकद्रव्यात्मकस्याऽनेकपर्यायात्मकस्य च किञ्चिद् द्रव्यार्थविशेषं पर्यायार्थविशेषं वा आश्रित्यास्तीत्युच्यते एक आत्मा[5], तस्यैवाऽन्य[6] आत्मा द्रव्यसामान्यं पर्यायसामान्यं तद्विशेषद्वयं वाऽङ्गीकृत्य युगपदविभागविवक्षायां वचनगोचरातीतः। यथा स्यादस्त्यात्मा द्रव्यत्वेन, द्रव्यविशेषेण वा जीवत्वेन, मनुष्यत्वादिना वा। द्रव्यपर्यायसामान्यमुररीकृत्य वस्तुत्वसत्त्वमवस्तुत्वासत्त्वं च युगपद्भेदविवक्षायामवाच्यः। विशेषद्वयं वा मनुष्यत्वामनुष्यत्वादि, यतः सर्वेऽपि तस्यैकस्यैव ते आत्मानो[7] विद्यन्ते तदैवेति। ततः स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च जीवः। अयमपि सकलादेशः, अंशाभेदविवक्षायाम् एकांशमुखेन सकलसंग्रहात्।

तथा षष्ठः त्रिभिः आत्मभिर्द्वयंशः। यतो वस्तुगतं नास्तित्वमवक्तव्यरूपानुविद्धं नान्तरेणात्मभेदं शक्यं कल्पयितुं वस्तुनस्तथापि भावात्। तत्र नास्तित्वं पर्यायाश्रयम्। स च पर्यायो युगपद्वृत्तः क्रमवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्यायः अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्तेः गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमादिः। क्रमवर्ती तु क्रोधादिदेवादिबाल्याद्यवस्थालक्षणः। तत्र गत्यादिव्यतिरिक्तः क्रोधादिक्रमवृत्तधर्मरूपनैरन्तर्यमात्रादर्थान्तरभूत एकोऽवस्थितो द्रव्यार्थो जीवो नाम नास्ति, किन्तु त एव धर्मास्तथा सन्निविष्टा जीवव्यपदेशभाजः

१ नास्त्यात्मा मु०। २ निरूप्यन्ते। ३ नेकधर्मिणो मु०, द०। ४ अंशः। ५ अवक्तव्य। ६ आत्मनो मु०, ता०, द०। ७ सत्याम्।

इति अस्यां कल्पनायां नास्तित्वम्। यश्च वस्तुत्वेन सन्निति द्रव्यार्थांशः यश्च तत्प्रतियोगिनाऽवस्तुत्वेनाऽसन्निति पर्यायांशः, ताभ्यां युगपदभेदविवक्षायाम् अवक्तव्य इति द्वितीयोंऽशः। तस्मान्नास्ति चावक्तव्यश्चाऽऽत्मा। अयमपि सकलादेशः शेषवाग्गोचरस्वरूपसमूहस्याऽविनाभावात् तत्रैवान्तर्भूतस्य स्याच्छब्देन द्योतितत्वात्।

तथा सप्तमो विकल्पः चतुर्भिरात्मभिः त्रयंशः। द्रव्यार्थविशेषं कञ्चिदाश्रित्याऽस्तित्वं पर्यायविशेषं च कञ्चिदाश्रित्य नास्तित्वमिति समुच्चितरूपं भवति, द्वयोरपि प्राधान्येन विवक्षितत्वात्। द्रव्यपर्यायविशेषेण च केनचित् द्रव्यपर्यायसामान्येन च केनचित् युगपदवक्तव्यः इति तृतीयोंऽशः। ततः स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यश्च आत्मा। अयमपि सकलादेशः, यतः सर्वान् द्रव्यार्थान् द्रव्यमित्यभेदादेकं द्रव्यार्थं मन्यते। सर्वान् पर्यायार्थांश्च पर्यायजात्यभेदादेकं पर्यायार्थम्। अतो विवक्षितवस्तुजात्यभेदात् कृत्स्नं वस्तु एकद्रव्यार्थाभिन्नम् एकपर्यायाभेदोपचरितं वा एकमिति सकलसंग्रहात्। अथ कथं विकलादेशः ?

निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः।१६। स्वेन तत्त्वे[1]नाप्रविभागस्यापि वस्तुनो विविक्तं गुणरूपं स्वरूपोपरञ्जकमपेक्ष्य प्रकल्पितमंशभेदं कृत्वा अनेकात्मकैकत्वव्यवस्थायां [2]नरसिंहसिंहत्ववत् समुदायात्मकमात्मरूपमभ्युपगम्य [3]कालादिभिरन्योन्यविषयानुप्रवेशरहितांशकल्पनं विकलादेशः, नतु केवलसिंहे सिंहत्ववत् एकात्मकैकत्वपरिग्रहात्। यथा वा पानकमनेकखण्डदाडिमकर्पूरादिरसानुविद्धमास्वाद्य अनेकरसात्मकत्वमस्यावसाय पुनः स्वशक्तिविशेषादिदमप्यस्तीदमप्यस्तीति विशेषनिरूपणं क्रियते, तथा अनेकात्मकैकवस्त्वभ्युपगमपूर्वकं हेतुविशेषसामर्थ्यात् अर्पितसाध्यविशेषावधारणं विकलादेशः। कथं पुनरर्थस्याऽभिन्नस्य गुणो भेदकः ? दृष्टो हि अभिन्नस्याप्यर्थस्य गुणस्तत्त्वभेदं[4] कल्पयन् यथा [5]परुत् भवान् पटुरासीत् पटुतर एषम[6] इति [7]गुणविविक्तरूपस्य द्रव्यस्याऽसंभवात् गुणभेदेन गुणिनोऽपि भेदः।

तत्रापि तथा सप्तभङ्गी।१७। तत्रापि विकलादेशे तथा आदेशवशेन सप्तभङ्गी वेदितव्या। कथम् ? गुणिभेदकेष्वंशेषु क्रमेण[8] यौगपद्येन क्रमयौगपद्याभ्यां वा विवक्षावशात् विकलादेशा भवन्ति। तत्र प्रथमद्वितीययोरप्रचितः क्रमः, तृतीये यौगपद्यम्, चतुर्थे प्रचितः क्रमः, पञ्चमे षष्ठे वा अप्रचितक्रमयौगपद्ये, सप्तमे प्रचितक्रमयौगपद्ये। तद्यथा सर्व[9]सामान्यादिषु द्रव्यार्थादेशेषु केनचिदुपलभ्यमानत्वात् स्यादस्त्येवात्मेति प्रथमो विकलादेशः। अत्रेतरेषां वस्तुनि सतामपि कालादिभिर्भेदविवक्षातः शब्दवाच्यत्वेनान्तर्भावाभावान्निरासाभावाच्च न विधिर्न प्रतिषेधः। एवं शेषभङ्गेष्वपि विवक्षितांशमात्रप्ररूपणायां इतरेष्वौदासीन्येन विकलादेशकल्पना योज्या। ननु च सामान्यार्थाविच्छेदेन विशेषणविशेष्यसंबन्धाद्योतनार्थे एवकारे सति तदवधारणादितरेषां निवृत्तिः प्राप्नोति ? नैष दोषः; अत्राप्यत एव स्याच्छब्दप्रयोगः कर्तव्यः 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि। कोऽर्थः ? एवकारेणेतरनिवृत्तिप्रसङ्गे [10]स्वात्मलोपात् सकलो लोपो मा विज्ञायीति वस्तुनि यथावस्थितं विवक्षितधर्मस्वरूपं तथैव द्योतयति स्याच्छब्दः। *"विवक्षितार्थवागङ्गम्" [ ] इति[11] वचनात्। एवमा-

१ – नाप्रविष्टभा– मु०, द०। २ नरसिंहत्ववत् द०। ३ प्रागुक्त। ४ अर्थभेदम्। ५ गतवर्षे स०। पटुर्भवानपटुरासीत् पटुतर श्र०। पटुर्भवान् परुदासीत् पटुतर मू०। पतत् भवान पटुरासीत् पटुतर मु०, मू० द०। ६ इह संवत्सरे। ७ नैयायिकमतमाशङ्क्य निराकरोति। ८ प्रागुक्तसर्वसामान्येन तदभावेन चेत्यादिवाक्येषु। ९ नास्तित्वस्य। १० स्याच्छब्दः।

देशवशात् सप्तवचनप्रकारा भवन्तीति विकल्पान्तरप्रवृत्तिनिमित्ताभावात्।

अयं च मार्गः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयाश्रयः। तौ च संग्रहाद्यात्मकौ। ते चार्थनयरूपेण शब्दनयरूपेण च प्रवृत्ताः। तत्र संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रा अर्थनयाः। शेषाः शब्दनयाः। तत्र संग्रहः सत्त्वविषयः, सकलं वस्तुतत्त्वं [1]सत्त्वे अन्तर्भाव्य संग्रहात्। व्यवहारोऽसत्त्वविषयः विविक्तसत्त्व[2]परिग्रहादन्यापेक्षासत्त्वप्रतिपत्तेः। ऋजुसूत्रो वर्तमानविषयः अतीतानागतयोः विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। एते त्रयोऽर्थनया एकैकात्मकाः संयुक्ताश्च सप्त वाक्प्रकारान् जनयन्ति। तत्राद्यः संग्रह एकः, द्वितीयो व्यवहार एकः, तृतीयः संग्रहव्यवहारावविभक्तौ, चतुर्थः संग्रहव्यवहारौ समुच्चित्तौ, पञ्चमः संग्रहः संग्रहव्यवहारौ चाविभक्तौ। षष्ठो व्यवहारः संग्रहव्यवहारौ चाविभक्तौ। सप्तमः संग्रहव्यवहारौ प्रचितौ तौ चाविभक्तौ। एष[3] ऋजुसूत्रेऽपि योज्यः।

[4]व्यञ्जनपर्यायास्तु शब्दनया द्विविधं वचनं प्रकल्पयन्ति–अभेदेनाभिधानं भेदेन च। यथा शब्दे[5] पर्यायशब्दान्तरप्रयोगेऽपि तस्यैवार्थ[6]स्याभिधानादभेदः। समभिरूढे वा [7]प्रवृत्तिनिमित्तस्य अप्रवृत्तिनिमित्तस्य च घटस्याभिन्नस्य सामान्येनाभिधानात्। एवंभूतेषु प्रवृत्तिनिमित्तस्य [8]भिन्नस्यैकस्यैवार्थस्याभिधानात् भेदेनाभिधानम्।

अथवा, अन्यथा द्वैविध्यम्–एकस्मिन्नर्थेऽनेकशब्दप्रवृत्तिः, प्रत्यर्थं वा शब्दविनिवेश इति। यथा शब्दे अनेकपर्यायशब्द वाच्य एकः[9]। समभिरूढे वा नैमित्तिकत्वात् शब्दस्यैकशब्दवाच्य एकः। एवंभूते वर्तमाननिमित्तशब्द एकवाच्य एकः। अत्र [10]चोद्यते कथमेते अस्तित्वनास्तित्वादयो धर्माः विरुद्धरूपा एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधमुपयान्तीति ? उच्यते–

विरोधाभावस्तल्लक्षणाभावात्।१८। नास्त्येषामादेशवशादर्प्यमाणानां विरोधः। कुतः ? तल्लक्षणाभावात्। इह विरोधः कल्प्यमानः त्रिधा व्यवतिष्ठते–वध्यघातकभावेन वा सहानवस्थात्मना वा प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकरूपेण वा। तत्र वध्यघातकभावः अहिनकुलाग्न्युदकादिविषयः। स त्वेकस्मिन् काले विद्यमानयोः सति संयोगे भवति, संयोगस्यानेकाश्रयत्वात् द्वित्ववत्। नासंयुक्तमुदकमुग्निं विध्यापयति [11]सर्वत्राग्न्यभावप्रसङ्गात्। ततः सति संयोगे बलीयसोत्तरकालमितरद्[12] बाध्यते। न चैवमस्तित्वनास्तित्वयोः क्षणमात्रमपि एकस्मिन् वृत्तिरस्ति, इति भवताऽभ्युपगम्यते, यतो[13] वध्यघातकभावरूपो विरोधः तयोः कल्प्येत। [14]अथैकस्मिन् [15]वृत्तिरभ्युपगम्येत तत्तुल्यबलहेतुसाध्यत्वात् तयोरन्यतरस्य बलीयस्त्वाभावात् वध्यघातकत्वाभावः। अतस्तल्लक्षणाभावात् नासौ विरोधः संभवति।

१ सति अ– मु० द०। २ सत्त्वापरि–मु०, द०। ३ एवं मु०। ४ स्थूलो व्यञ्जनपर्यायः। ५ शब्दनये ५ इन्द्रशक्रपुरन्दरादि। ६ इन्द्रस्य। ७ जलाहरणादिप्रवृत्ति, शचीपतेर्वा इन्दनादिक्रियानिमित्तस्य। ८ यदैव इन्दनक्रियया प्रवृत्तः तदैव शकनादेर्भिन्नः। ९ शचीपतिः। १० बौद्धादिभिः। "तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुनः संभवः क्वचित्। अनित्यं नित्यमथवाऽस्तु एकान्तेन युक्तिमत्॥" –प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २३५। "ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरोधात् एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात्।" –हेतुबि० टी० लि० वृ० लि० पृ० २१६। "विधानप्रतिषेधौ हि परस्परविरोधिनौ। शक्यावेकत्र नो कर्तुं केनचित् स्वस्थचेतसा॥ १७३०॥"–तत्त्वसं०। "नैकस्मिन्नसंभवात्– नह्येकस्मिन्– धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत्'''–ब्रह्मसू०, शां० भा० २।२।२३। ११ यदि विध्यापयेत्तर्हि परमतमुल्लिख्येदमाह–। १२ कर्मतापन्नम्। १३ कथम्। १४ स्वमतापेक्षया आह। १५ अस्तित्वनास्तित्वयोः।

नापि सहानवस्थानलक्षणो विरोधः तल्लक्षणाभावात् । स ह्ययुगपत्कालयोर्भवति यथा आम्रफले श्यामतापीततयोः । पीततोत्पद्यमाना पूर्वकालभाविनीं श्यामतां निरुणद्धि । न च तथा जीवस्यास्तित्वनास्तित्वे पूर्वोत्तरकालभाविनी । यदि स्याताम्, अस्तित्वकाले नास्तित्वाभावात् जीवसत्तामात्रं सर्वं प्राप्नुवीत । नास्तित्वकाले च अस्तित्वाभावात्तदाश्रयो बन्धमोक्षादिव्यवहारो विरोधमुपगच्छेत् । सर्वथैवासतः पुन आत्मलाभाभावात्, सर्वथा च सतः पुनरभावप्राप्त्यनुपपत्तेः नैतयोः सहानवस्थानं युज्यते ।

तथा जीवादिषु प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावोऽपि न विरोधः संभवति । यथा सति फलवृन्तसंयोगे प्रतिबन्धके गौरवं पतनकर्म[1] नारभते प्रतिबन्धात्; तदभावे तु पतनकर्म दृश्यते *"संयोगाभावे[2] गुरुत्वात् पतनम्" [वैशे० सू० ५।१।७] इति वचनात्-। न च तथा अस्तित्वं नास्तित्वस्य प्रयोजनं प्रतिबध्नाति तस्मिन्नेव काले परद्रव्यादिरूपेणानुपलब्धिबुद्ध्युत्पत्तिदर्शनात् । नास्तित्वं वा [3]सदस्तित्वप्रयोजनं प्रतिबध्नाति तदैव[4] स्वरूपाद्यपेक्षयोपलब्धिबुद्धिदर्शनात् । तस्मात् वाङ्मात्रमेव विरोधः । एवमर्पणाभेदादविरुद्धोऽनेकात्मको जीव इति स्थितमेतत् ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे चतुर्थोऽध्यायः[5] ।

१ कर्मतापन्नम् । २ फलवृन्तयोः । ३ विद्यमानं सत् । ४ नास्तित्वकाले । ५ –यः समाप्तः अ० ।

तत्त्वार्थवार्तिक

हिन्दी-सार

तत्त्वार्थवार्तिक

[हिन्दी सार]

प्रथम अध्याय

सर्वविज्ञानमय, बाह्य-आभ्यन्तर लक्ष्मीके स्वामी और परमवीतराग श्रीमहावीर को प्रणाम करके तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थको कहता हूँ ।

§ १–२ उपयोगस्वरूप तथा श्रेयोमार्गकी प्राप्तिके पात्रभूत आत्मद्रव्यको ही मोक्ष-मार्गके जाननेकी इच्छा होती है । जैसे आरोग्यलाभ करनेवाले चिकित्सा के योग्य रोगीके रहने पर ही चिकित्सामार्गकी खोज की जाती है, उसी तरह आत्मद्रव्यकी प्रसिद्धि होनेपर मोक्षमार्ग-के अन्वेषणका औचित्य सिद्ध होता है ।

§ ३ संसारी आत्माके धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्ष ही अन्तिम और प्रधानभूत पुरुषार्थ है अतः उसकी प्राप्तिके लिए मोक्षमार्गका उपदेश करना ही चाहिए ।

§ ४–८ **प्रश्न**–जब मोक्ष अन्तिम, अनुपम, श्रेष्ठ और प्रधान पुरुषार्थ है तब उसीका उपदेश करना चाहिए न कि उसके मार्गका ? **उत्तर**–मोक्षार्थी भव्यने मार्ग ही पूछा है अतः प्रश्नानुरूप मार्गका ही उपदेश किया गया है । मोक्षके सम्बन्धमें प्रायः सभी वादियोंका एक मत है, सभी दुःखनिवृत्तिको मोक्ष मानते हैं, पर उसके मार्गमें विवाद है । जैसे विभिन्न दिशाओंसे पटना जानेवाले यात्रियोंको पटना नगरमें विवाद नहीं होता किन्तु अपनी अपनी दिशा के अनुकूल मार्गमें विवाद होता है उसी तरह सर्वोच्च लक्ष्य भूत मोक्षमें वादियोंको विवाद नहीं है किन्तु उसके मार्गमें विवाद है । कोई वादी ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष मानते हैं तो कोई ज्ञान और विषयविरक्ति रूप वैराग्य से तथा कोई क्रियासे ही मोक्ष मानते हैं । क्रियावादियोंका कथन है कि नित्यकर्म करनेसे ही निर्वाण प्राप्त हो जाता है । फिर, प्रश्नकर्त्ताको यह बन्धन भी तो नहीं लगाया जा सकता कि–'आप मार्ग न पूछें, मोक्षको पूछे', लोगोंकी रुचि विभिन्न प्रकार-की होती है । यद्यपि मोक्षके स्वरूपमें भी वादियोंकी अनेक कल्पनाएँ हैं, यथा–बौद्ध रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धोंके निरोधको मोक्ष कहते हैं, सांख्य प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान होनेपर शुद्ध चैतन्य मात्र स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेको मोक्ष मानते हैं, नैयायिक बुद्धि सुख-दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और संस्कार इन आत्माके विशेष गुणोंके उच्छेद को मोक्ष कहते हैं, फिर भी सभी वादी 'कर्मबन्धनका विनाश कर स्वरूपप्राप्ति' इस मोक्ष-सामान्यमें एकमत हैं । सभी वादियोंको यह स्वीकार है कि मोक्ष अवस्थामें कर्मबन्धनका समूल उच्छेद हो जाता है ।

§ ९–१३ **प्रश्न**–मोक्ष जब प्रत्यक्षसे दिखाई नहीं देता तब उसके मार्गका ढूँढ़ना व्यर्थ है ? **उत्तर**–यद्यपि मोक्ष प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है फिर भी उसका अनुमान किया जा सकता है । जैसे घटीयन्त्र (रेंहट) का घूमना उसके धुरेके घूमनेसे होता है और धुरेका घूमना उसमे जुते हुए बैलके घूमनेपर । यदि बैलका घूमना बन्द हो जाय तो धुरेका घूमना रुक जाता है और धुरेके रुक जानेपर घटीयन्त्रका घूमना बन्द हो जाता है उसी तरह कर्मोदयरूपी बैलके चलनेपर ही चार गति रूपी धुरेका चक्र चलता है और चतुर्गतिरूपी

धुरा ही अनेक प्रकारकी शारीरिक मानसिक आदि वेदनाओंरूपी घटीयन्त्रको घुमाता रहता है। कर्मोदयकी निवृत्ति होनेपर चतुर्गतिका चक्र रुक जाता है और उसके रुकनेसे संसार-रूपी घटीयन्त्रका परिचलन समाप्त हो जाता है, इसीका नाम मोक्ष है। इस तरह साधारण अनुमानसे मोक्षकी सिद्धि हो जाती है। समस्त शिष्टवादी अप्रत्यक्ष होनेपर भी मोक्षका सद्भाव स्वीकार करते हैं और उसके मार्गका अन्वेषण करते हैं। जिस प्रकार भावी सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण आदि प्रत्यक्षसिद्ध नहीं हैं फिर भी आगमसे उनका यथार्थबोध कर लिया जाता है उसी प्रकार मोक्ष भी आगमसे सिद्ध हो जाता है। यदि प्रत्यक्ष सिद्ध न होनेके कारण मोक्षका निषेध किया जाता है तो सभीको स्वसिद्धान्तविरोध होगा, क्योंकि सभी वादी कोई न कोई अप्रत्यक्ष पदार्थ मानते ही हैं।

§ १४–१६ **प्रश्न**–बन्धके कारणोंको पहिले बताना चाहिए था तभी मोक्षके कारणोंका वर्णन सुसंगत हो सकता है? **उत्तर**–आगे आठवें अध्यायमें मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योगको बन्धका कारण बताया है। यद्यपि बन्धपूर्वक मोक्ष होता है अतः पहिले बन्धकारणोंका निर्देश करना उचित था फिर भी मोक्षमार्गका निर्देश आश्वासन के लिए किया है। जैसे जेलमें पड़ा हुआ व्यक्ति बन्धनके कारणोंको सुनकर डर जाता है और हताश हो जाता है पर यदि उसे मुक्तिका उपाय बताया जाता है तो उसे आश्वासन मिलता है और वह आशान्वित हो बन्धनमुक्तिका प्रयास करता है उसी तरह अनादि कर्मबन्धनबद्ध प्राणी प्रथम ही बन्धके कारणोंको सुनकर डर न जाय और मोक्षके कारणोंको सुनकर आश्वासनको प्राप्त हो इस उद्देश्यसे मोक्षमार्गका निर्देश सर्वप्रथम किया है।

§ १७ अथवा, अन्यवादियोंके द्वारा कहे गए ज्ञानमात्र और ज्ञान तथा चारित्र इन एक और दो मोक्षकारणोंका निषेध करनेके लिए जनसम्मत सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंको ही मोक्षमार्ग बताया गया है एक या दो को नहीं।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंका सुमेल रूप रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है।

कोई व्याख्याकार कहते हैं कि–मोक्षके कारणके निर्देश द्वारा शास्त्रानुपूर्वी रचनेके लिए तथा शिष्यकी शक्तिके अनुसार सिद्धान्तप्रक्रिया बतानेके लिए इस सूत्रकी रचना हुई है। परन्तु यहां कोई शिष्याचार्य सम्बन्ध विवक्षित नहीं है किन्तु संसार-सागरमें डूबते हुए अनेक प्राणियोंके उद्धारकी पुण्य भावनासे मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाले इस सूत्रकी रचना की गई है।

§ १ दर्शनमोह कर्मके उपशम क्षय या क्षयोपशम रूप अन्तरङ्ग कारणसे होनेवाले तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस अन्तरङ्ग कारणकी पूर्णता कहीं निसर्गसे होती है और कहीं अधिगम अर्थात् परोपदेशसे होती है। इसी कारणसे सम्यग्दर्शन भी निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है।

§ २ प्रमाण और नयोंके द्वारा जीवादितत्त्वोंका संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

§ ३ संसारके कारणभूत रागद्वेषादिकी निवृत्तिके लिए कृतसंकल्प विवेकी पुरुष का शरीर और वचनकी बाह्य क्रियाओंसे और आभ्यन्तर मानस क्रियासे विरक्त होकर स्वस्वरूपस्थिति प्राप्त करना सम्यक् चारित्र है। पूर्ण यथाख्यात चारित्र वीतरागी-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें तथा जीवन्मुक्त केवलीके होता है। उससे नीचे विविध प्रकारका तरतम चारित्र श्रावक और दसवें गुणस्थान तकके साधुओंको होता है।

§ ४ ज्ञान और दर्शन शब्द करणसाधन हैं अर्थात् आत्माकी उस शक्तिका नाम ज्ञान है जिससे पदार्थ जाने जाते हैं और उस शक्तिका नाम दर्शन है जिससे तत्त्वश्रद्धान होता है। चारित्र शब्द कर्मसाधन है अर्थात् जो आचरण किया जाता है वह चारित्र है।

§ ५–६ **प्रश्न**–यदि जिसके द्वारा जाना जाय उस करणको ज्ञान कहते हैं तो जैसे 'कुल्हाड़ीसे लकड़ी काटते हैं' यहां कुल्हाड़ी और काटनेवाला दो जुदा पदार्थ हैं उसी तरह कर्त्ता आत्मा और करण-ज्ञान इन दोनोंको दो जुदा पदार्थ होना चाहिए? **उत्तर**–नहीं, जैसे 'अग्नि उष्णतासे पदार्थको जलाती है' यहाँ अग्नि और उष्णता दो जुदा पदार्थ नहीं हैं फिर भी कर्त्ता और करणरूपसे भेदप्रयोग हो जाता है उसी तरह आत्मा और ज्ञानमें भी जुदापन न होनेपर भी कर्त्ता-करणरूपसे भेदव्यवहार हो जायगा। एवम्भूतनयकी दृष्टिसे ज्ञानक्रियामें परिणत आत्मा ही ज्ञान है और दर्शनक्रियामें परिणत आत्मा दर्शन जैसे कि उष्णपर्यायमें परिणत आत्मा अग्नि है। यदि अग्निको उष्णस्वभाव नहीं माना जाय तो अग्निका स्वरूप ही क्या रह जाता है जिससे उसे अग्नि कहा जा सकेगा? उसी तरह यदि आत्माको ज्ञान-दर्शनस्वरूप न माना जाय तो आत्माका भी क्या स्वरूप बचेगा जिससे उस ज्ञानदर्शनादिशून्य पदार्थको आत्मा कह सकें? अतः अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे आत्मा और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है।

§ ७–८ **प्रश्न**–जिस प्रकार नीले रंगके सम्बन्धसे साड़ी या कम्बल आदिमें 'नीला' यह प्रत्यय हो जाता है उसी तरह भिन्न ज्ञानगुणके सम्बन्धसे आत्मा ज्ञानवाला तथा भिन्न उष्णताके सम्बन्धसे अग्नि उष्ण बन जायगी? **उत्तर**–नहीं, जैसे पुरुषसे संयुक्त होनेके पहिले डंडा एक स्वतन्त्र सिद्ध पदार्थ है और पुरुष भी दण्डसम्बन्धके पहिले अपने लक्षणोंसे स्वतन्त्रसिद्ध पदार्थ है उसी तरह क्या उष्णसम्बन्धके पहिले अग्नि स्वतः सिद्ध पदार्थ है? क्या ज्ञानके सम्बन्धके पहिले आत्मा स्वतःसिद्ध पदार्थ है? दण्ड और पुरुषका तथा नीलरंग और साड़ीका सम्बन्ध तो उचित है क्योंकि ये सब पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं। परन्तु ज्ञानादिके सम्बन्ध-से पहिले ज्ञानादिशून्य आत्मा और उष्णगुणके सम्बन्धके पहिले अनुष्ण अग्नि सिद्ध ही नहीं हैं। इसी तरह निराश्रय ज्ञान और उष्ण भी स्वतः सिद्ध पदार्थ नहीं हैं अतः इन्हें भिन्न मानकर इनके सम्बन्धकी कल्पना उचित नहीं है।

§ ९ उष्णगुणके सम्बन्धसे पहिले अग्निमें 'उष्ण' यह ज्ञान होता है या नहीं? यदि होता है, तो उष्णगुणके सम्बन्धकी आवश्यकता ही क्या है? यदि नहीं, तो अनुष्णपदार्थ में उष्णगुणके सम्बन्धसे उष्ण व्यवहार हो ही नहीं सकता अन्यथा घटादिमें भी उष्ण व्यवहार होना चाहिए। यदि अग्नि उष्णगुणके सम्बन्धसे उष्ण है तो उष्णगुण किसके सम्बन्धसे उष्ण होगा? यदि उष्णगुणमें उष्णता लानेके लिए अन्य उष्णत्वका सम्बन्ध माना जाता है तो उस उष्णत्वमें उष्णता लानेके लिए अन्य उष्णत्व मानना होगा, उसमें भी उष्णता लानेके लिए तदन्य उष्णत्व इस तरह अनवस्था नामका दूषण होता है। यदि उष्णगुणमें स्वतः ही उष्णता है तो अग्निको ही स्वतः उष्ण माननेमें क्या आपत्ति है? फिर भिन्न पदार्थके सम्बन्ध

से भी प्रतीत होती है यह प्रतिज्ञा भी नहीं रही। इसी तरह आत्मा और ज्ञानमें भी समझ लेना चाहिए। अतः आत्माको स्वतः ज्ञानस्वरूप मानना चाहिए अन्यथा अनवस्था और प्रतिज्ञा-हानि दूषण आते हैं।

§ १० जिस प्रकार दण्डका सम्बन्ध होनेपर भी पुरुष स्वयं दण्ड नहीं बन जाता किन्तु दण्डवान् या दण्डी इस व्यवहारको ही प्राप्त होता है उसी तरह उष्णत्व नामके विशिष्ट सामान्यके सम्बन्ध होनेपर भी उष्णगुण 'उष्णत्ववान्' तो बन सकता है स्वतः उष्ण नहीं। इसी तरह अग्नि भी उष्णवान् बन सकती है स्वतः उष्ण नहीं, क्योंकि द्रव्य गुण और सामान्य पदार्थ वैशेषिकोंके मतसे पृथक् स्वतन्त्र हैं।

११ **प्रश्न**—वैशेषिक समवाय नामका सम्बन्ध मानते हैं, इससे अपृथक् सिद्ध पदार्थोंमें 'इह इदम्' यह प्रत्यय होता है और इसीसे गुण-गुणी में अभेदकी तरह भान होने लगता है। इस समवाय सम्बन्ध के कारण उष्णत्वसमवायसे उष्णगुण उष्ण बन जायगा और उष्णगुणके समवाय से अग्नि उष्ण हो जायगी? **उत्तर**—नहीं, स्वतन्त्र पदार्थों में समवाय का कोई नियम नहीं बन सकता। जब अग्नि और उष्ण भिन्न हैं, तब क्या कारण है कि उष्णका समवाय अग्नि में ही होता है, जल में नहीं? उष्णत्वका समवाय उष्णमें ही होता है; शीतमें नहीं ? अतः उष्णता को अग्निद्रव्यका ही परिणमन मानना चाहिए, पृथक् पदार्थ नहीं। यदि ऐसा कहा जाय कि उसका हेतु स्वभाव है, तो उसके परिणाम की सिद्धि होनी चाहिए।

§ १२–१३ समवाय नामका स्वतन्त्र पदार्थ भी सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार गुणकी गुणीमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति मानी जाती है उसी तरह समवायकी गुण और गुणीमें किस सम्बन्धसे वृत्ति होगी ? समवायान्तरसे तो नहीं, क्योंकि समवाय पदार्थ एक ही स्वीकार किया गया है। संयोगसे भी नहीं, क्योंकि दो पृथक् सिद्ध द्रव्योंमें ही संयोग होता है। संयोग और समवायसे भिन्न तीसरा कोई सम्बन्ध है भी नहीं। अतः अपने समवायियोंसे असम्बद्ध होनेके कारण समवाय नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि—चूँकि समवाय 'सम्बन्ध' है अतः उसे स्वसम्बन्धियोंमें रहनेके लिए अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि संयोगसे व्यभिचारदूषण आता है। संयोग भी 'सम्बन्ध' है पर उसे स्वसम्बन्धियोंमें समवायसे रहना पड़ता है।

§ १४ 'जिस प्रकार दीपक स्वप्रकाशी और परप्रकाशी दोनों है उसी प्रकार समवाय भी अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा किए बिना स्वतः ही द्रव्यादिकी परस्पर वृत्ति करा देगा तथा स्वयं भी उनमें रह जायगा।' यह तर्क उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे समवायको द्रव्यादिकी पर्याय ही माननी पड़ेगी। जैसे दीपक प्रकाशस्वरूपसे अभिन्न है अतः स्वप्रकाशमें उसे प्रकाशान्तरकी आवश्यकता नहीं होती उसी तरह न केवल समवायको ही किन्तु गुण कर्म सामान्य और विशेषको भी द्रव्यकी ही पर्यायविशेष मानना होगा। द्रव्य ही बाह्य-आभ्यन्तर कारणोंसे गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय आदि पर्यायोंको प्राप्त हो जाता है। दीपकका दृष्टान्त भी उचित नहीं है क्योंकि जैसे दीपक घटादि प्रकाश्य पदार्थोंसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है उस तरह समवायकी द्रव्यादिसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यदि गुणादि द्रव्यसे भिन्न हों, तो द्रव्यमें अद्रव्यत्वका प्रसंग तो होगा ही, साथ ही साथ निराश्रय होनेसे गुणादिका भी अभाव हो जायगा। अतः गुणादिको द्रव्यका ही पर्यायविशेष मानना युक्तिसंगत है।

§ १५–१६ जब ज्ञान क्षणिक तथा एकार्थग्राही है तब ऐसे ज्ञानसे यह विवेक ही नहीं हो सकता कि युतसिद्धों–पृथक्सिद्धोंका संयोग होता है तथा अयुतसिद्धोंका समवाय।

संस्कार भी अनुभवके अनुसार ही होता है, अतः एकार्थग्राही ज्ञानसे पड़ा हुआ संस्कार भी एकार्थग्राही ही फलित होता है इसलिये संस्कारसे भी उक्त विवेक नहीं हो सकेगा।

अथवा, ज्ञान आत्माका स्वभाव होकर भी जब कथञ्चित् भिन्न विवक्षित हो जाता है तब एक ही आत्मा कर्त्ता और करण भी बन जाता है।

§ १७–१८ पर्याय और पर्यायीके भेद और अभेदको अनेकान्तदृष्टिसे देखना चाहिए। यथा, घट कपाल सकोरा आदि पर्यायोंमें मृद्रूप द्रव्यकी दृष्टिसे कथञ्चित् एकत्व है तथा उन घट आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे विभिन्नता है उसी तरह आत्मा और ज्ञानादि गुणोंमें द्रव्यदृष्टिसे एकता है तथा गुण और गुणीकी दृष्टिसे विभिन्नता है। आत्मा ही बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे ज्ञानादि पर्यायोंको प्राप्त होता है और ज्ञान दर्शन आदि व्यवहारोंका विषय बन जाता है। वस्तुतः आत्मा और ज्ञानादि भिन्न नहीं है। यदि यह ऐकान्तिक नियम बनाया जाय कि कर्त्ता और करणको भिन्न ही होना चाहिए तो 'वृक्ष शाखाओंके भारसे टूट रहा है' यहां वृक्ष और शाखाभारमें भी भेद मानना होगा। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि शाखाभारको छोड़कर वृक्षकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी तरह आत्माको छोड़कर ज्ञानका और ज्ञानादिको छोड़कर आत्माका पृथक् अस्तित्व नहीं है।

§ १९–२१ जैसे द्रव्य मूर्त भी होते हैं तथा अमूर्त भी उसी तरह करण दो प्रकार का होता है–एक विभक्तकर्तृक–जिनका कर्त्ता जुदा और करण जुदा होता है और दूसरा अविभक्तकर्तृक। 'कुल्हाड़ीसे लकड़ी काटी जाती है' यहां कुल्हाड़ी विभक्तकर्तृक करण है तथा 'वृक्ष शाखाओंके भारसे टूटता है' यहां शाखाभार अविभक्तकर्तृक करण है। इसी तरह 'अग्नि उष्णतासे जलाती है' 'आत्मा ज्ञानसे जानता है' यहां उष्णता और ज्ञान अविभक्तकर्तृक करण हैं क्योंकि उष्णताकी अग्निसे तथा ज्ञानकी आत्मासे पृथक् सत्ता ही नहीं है। जैसे 'कुशूल टूट रहा है' यहां जब कुशूल स्वयं ही नष्ट हो रहा है तो स्वयं ही कर्त्ता और स्वयं ही करण बन जाता है उसी तरह आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञान होकर कर्त्ता और करण रूप बन जाता है। एक ही अर्थकी अनेक पर्याएं होती हैं। जैसे एक ही देवराज इन्द्र शक्र और पुरन्दर आदि पर्यायोंको धारण करता है। इन्दन क्रियाके समय इन्द्र, शासन क्रियाके समय शक्र तथा पूर्दारण क्रियाके समय पुरन्दर कहा जाता है। देवराजसे उक्त तीनों अवस्थाएँ सर्वथा भिन्न नहीं हैं क्योंकि एक ही देवराज उन तीन अवस्थारूप होता है। वे देवराजसे अभिन्न हैं, इसलिए वह जिस रूपसे इन्द्र है उसी रूपसे शक्र, और पुरन्दर भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन्द्रादि अवस्थाएं जुदी जुदी हैं, उसी तरह एक ही आत्माका ज्ञान दर्शन आदि अवस्थाओंसे कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। अतः ज्ञानादिकको आत्मासे सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता।

§ २२–२३ अथवा, ज्ञान दर्शन आदि शब्दोंको कर्तृसाधन मानना चाहिए—'जानाति इति ज्ञानम्' अर्थात् जो जाने सो ज्ञान, 'पश्यतीति दर्शनम्' अर्थात् जो तत्त्वश्रद्धा करे वह दर्शन, 'चरतीति चारित्रम्'–अर्थात् जो आचरण करे वह चारित्र। तात्पर्य यह कि ज्ञानादिपर्यायोंसे परिणत आत्मा ही ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप होता है, इसलिए कर्त्ता और करणकी भिन्नताका सिद्धान्त मानकर आत्मा और ज्ञानमें भेद करना उचित नहीं है। व्याकरण शास्त्रसे भी ज्ञान दर्शन चारित्र आदि शब्दोंमें होनेवाले युट् और णित्र प्रत्यय कर्त्ता आदि सभी साधनोंमें होते हैं अतः कोई शाब्दिक विरोध भी नहीं है।

§ २४ अथवा, ज्ञान दर्शनादि शब्दोंको भावसाधन कहना चाहिए–'ज्ञातिर्ज्ञानम्' अर्थात् जाननेरूप क्रिया, 'दृष्टिदर्शनम्' अर्थात् तत्त्वश्रद्धान, चरणं चारित्रम् अर्थात् आचरण। उदासीनरूपसे स्थित ज्ञान दर्शनादि क्रियाएँ ही मोक्षमार्ग हैं। क्रियामें व्यापृत ज्ञानादिमें तो यथासंभव कर्तृसाधन करणसाधन आदि व्यवहार होंगे।

§ २५ **प्रश्न**–यदि ज्ञानको ही आत्मा कहा जाता है तो ज्ञानशब्दको आत्मा शब्दकी तरह पुल्लिग और एकवचन होना चाहिए ? **उत्तर**–नहीं, एक ही अर्थमें व्यक्ति-भेदसे लिंगभेद और वचनभेद हो जाता है। जैसे कि–'गेहं कुटी मठः' यहां एक ही घर रूप अर्थमें विभिन्न लिङ्गवाले शब्दोंका प्रयोग है। 'पुष्यः तारका नक्षत्रम्' यहां एक ही तारारूप अर्थ में विभिन्नलिङ्गक और विभिन्न वचनवाले शब्दोंका प्रयोग है।

§ २६–२९ **प्रश्न**–सूत्रमें ज्ञान शब्दका ग्रहण पहिले करना चाहिए क्योंकि ज्ञानशब्द दर्शन शब्दसे थोड़े अक्षरोंवाला है और ज्ञानपूर्वक ही दर्शन होता है अतः पूर्ववर्ती भी है ? **उत्तर**–नहीं, जैसे मेघपटलके हटते ही सूर्यका प्रकाश और प्रताप एक साथ ही फैलता है उसी तरह दर्शनमोहका उपशम क्षय या क्षयोपशम होते ही आत्मामें ज्ञान और दर्शनकी युगपत् वृत्ति होती है। तात्पर्य यह कि जिस समय आत्मामें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसी समय उसके मत्यज्ञान श्रुताज्ञान आदि मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि रूपसे सम्यग्ज्ञान बन जाते हैं अतः दोनोंमें पौर्वापर्य नहीं है। थोड़े अक्षर होनेके कारण ही पूर्वग्रहण नहीं होता, जो पूज्य होता है उसका अधिकाक्षर होनेपर भी पूर्वग्रहण करना न्याय्य है। दर्शन ही ज्ञानमें सम्यक्त्व लानेके कारण पूज्य है, अतः उसका ही प्रथम ग्रहण करना न्याय्य है।

§ ३० सूत्रमें दर्शन और चारित्रके बीचमें ज्ञानका ग्रहण किया गया है; क्योंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक ही होता है।

§ ३१–३३ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' यहाँ सर्वपदार्थप्रधान द्वन्द्व समास है। इसका यह तात्पर्य है कि मोक्षमार्गके प्रति तीनोंकी प्रधानता है किसी एककी नहीं। इसीलिए बहुवचनका प्रयोग है। 'द्वन्द्व समासके साथ कोई भी विशेषण चाहे वह आदिमें प्रयुक्त हो या अन्तमें सबके साथ जुट जाता है' यह नियम है अतः सम्यक् विशेषणका दर्शनादिके साथ अन्वय हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जैसे कि 'देवदत्त जिन-दत्त यज्ञदत्तको भोजन कराओ' यहाँ भोजन क्रियाका तीनोंमें अन्वय हो जाता है।

§ ३४ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' इस बहुवचन पदके साथ समानाधिकरण होनेसे मार्ग शब्दमें बहुवचन और नपुंसक लिंग नहीं हो सकता, क्योंकि मार्गस्वभावता तीनोंमें समान रूपसे होनेके कारण उस मार्गस्वभावताकी प्रधानतापर दृष्टि रखनेसे उसमें पुल्लिगता और एकवचनत्व रखनेमें कोई विरोध नहीं है।

§ ३५ समस्त कर्मोंके आत्यन्तिक उच्छेदको मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द 'मोक्षणं मोक्षः' इस प्रकार क्रियाप्रधान भावसाधन है, 'मोक्ष् असने' धातुसे बना है।

§ ३६–३७ मार्गशब्द प्रसिद्ध मार्गकी तरह है। जैसे कांटे आदिसे रहित राज-मार्गसे यात्री अपने गन्तव्य स्थानको सुखपूर्वक पहुँच जाता है उसी तरह मिथ्यादर्शनादि कंटकों से रहित सम्यग्दर्शनादि मार्गसे मोक्षनगर तक सुखपूर्वक पहुंचा जा सकता है। मार्ग धातु अन्वेषण अर्थमें है अर्थात् मोक्ष जिसके द्वारा ढूँढ़ा जाय उन सम्यग्दर्शनादिको मार्ग कहते हैं।

§ ३८ जिस प्रकार वातादिके विकारसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंके निदानको नष्ट करनेके कारण औषधि आरोग्यका मार्ग कहलाती है उसी तरह संसार रोगरूप मिथ्यादर्शनादि के कारणोंको नष्ट करनेके कारण सम्यग्दर्शनादि मोक्षके मार्ग कहे जाते हैं।

§ ३९–४६ **शंका**–मिथ्याज्ञानसे ही सभी वादियोंने बन्ध माना है अतः मोक्ष भी केवल सम्यग्ज्ञानसे ही होना चाहिए अतः सम्यग्दर्शनादि तीन मोक्षके मार्ग नहीं हो सकते। यथा–

सांख्य (४०–४१) धर्मसे ब्राह्म सौम्य आदि उच्च योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है तथा अधर्मसे मानुष पशु आदि नीच योनियोंमें। प्रकृति और पुरुषमें विवेक ज्ञान होनेसे मोक्ष होता है तथा प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्यय ज्ञानसे बन्ध। जबतक पुरुषको महान् बुद्धि, अहंकार, पांच तन्मात्राएं–स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द, अहंकारजन्य पांच इन्द्रियां–पांचभौतिक शरीर आदि अनात्मीय पदार्थोंमें 'मैं सुनता हूं, मैं देखता हूं' आदि मिथ्या ज्ञान होता है, वह शरीरको ही आत्मा मानता है तब तक इसको विपर्ययज्ञानके कारण बन्ध होता है और वह संसारी है पर जब इसे प्रकृति और पुरुषमें भेदविज्ञान हो जाता है, वह पुरुषके सिवाय यावत् पदार्थोंको प्रकृतिकृत और त्रिगुणात्मक मानकर उनसे विरक्त होकर 'इनमें मैं नहीं हूं, मेरे ये नहीं हैं' यह परम विवेकज्ञान जाग्रत होता है तब सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष हो जाता है। तात्पर्य यह कि सांख्य विपर्ययसे बन्ध और ज्ञानसे मोक्ष मानता है।

वैशेषिक–इच्छा और द्वेषसे धर्म और अधर्मकी प्रवृत्ति होती है उनसे सुख और दुःख रूप संसार। जिस पुरुषको तत्त्वज्ञान हो जाता है उसे इच्छा और द्वेष नहीं होते, इनके न होनेसे धर्म-अधर्म नहीं होते, धर्म और अधर्मके न होनेसे नए शरीर और मनका संयोग नहीं होता, जन्म नहीं होता और संचित कर्मोंका निरोध हो जानेसे मोक्ष हो जाता है। जैसे प्रदीप के बुझ जानेसे प्रकाशका अभाव हो जाता है उसी तरह धर्म और अधर्म रूप बन्धनके हट जानेपर जन्म-मरण-चक्ररूप संसारका अभाव हो जाता है। अतः षट्पदार्थका तत्त्वज्ञान होते ही अनागत धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति नहीं होगी और संचित धर्माधर्मका उपभोग और ज्ञानाग्निसे विनाश होकर मोक्ष हो जाता है। अतः वैशेषिकके मतसे भी विपर्यय बन्धका कारण है और तत्त्वज्ञान मोक्षका।

नैयायिक–तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर क्रमशः दोष प्रवृत्ति जन्म और दुःखकी निवृत्ति होनेको मोक्ष कहते हैं। दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञानका कारण-कार्यभाव है अर्थात् मिथ्याज्ञानका कार्य दोष, दोषका कार्य प्रवृत्ति, प्रवृत्तिका कार्य जन्म और जन्मका कार्य दुःख है। अतः कारणकी निवृत्ति होनेपर कार्यकी निवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिको ही मोक्ष कहते हैं।

बौद्ध–अविद्यासे बन्ध तथा विद्यासे मोक्ष मानते हैं। अनित्य अनात्मक अशुचि और दुःखरूप सभी पदार्थोंको नित्य सात्मक शुचि और सुखरूप मानना अविद्या है। इस अविद्यासे रागादिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कार तीन प्रकारके हैं–१ पुण्योपग (शुभ), २ अपुण्यो-पग (अशुभ), ३ आनेज्योपग (अनुभयरूप)। वस्तुकी प्रतिविज्ञप्तिको विज्ञान कहते हैं। इन संस्कारोंके कारण वस्तुमें इष्ट अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है, इसीलिए संस्कार विज्ञानमें प्रत्यय अर्थात् कारण माना जाता है। इस विज्ञानसे नाम अर्थात् चार अरूपी स्कन्ध–वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान, तथा रूप अर्थात् रूपस्कंध–पृथिवी जल अग्नि और वायु उत्पन्न होता

है। इस पंचस्कन्धको नामरूप कहते हैं। विज्ञानसे ही नाम और रूपको नामरूप संज्ञाएं मिलती हैं अतः इन्हें विज्ञानसम्भूत कहा गया है। इस नामरूपसे ही चक्षु आदि पांच इन्द्रियां और मन ये षडायतन होते हैं। अतः षडायतनको नामरूपप्रत्यय कहा है। विषय इन्द्रिय और विज्ञानके सन्निपातको स्पर्श कहते हैं। छह आयतन द्वारों का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञानतन्तुओंको जाग्रत करना स्पर्श है। स्पर्शके अनुसार वेदना अर्थात् अनुभव होता है। वेदनाके बाद उसमें होनेवाली आसक्ति तृष्णा कहलाती है। उन उन अनुभवोंमें रस लेना, उनका अभिनन्दन करना, उनमें लीन रहना तृष्णा है। तृष्णाकी वृद्धिसे उपादान होता है। यह इच्छा होती है कि मेरी यह प्रिया मेरे साथ सदा बनी रहे, मुझमें सानुराग रहे और इसीलिए तृष्णातुर व्यक्ति उपादान करता है। इस उपादानसे ही पुनर्भव अर्थात् परलोकको उत्पन्न करनेवाला कर्म होता है। इसे भव कहते हैं। यह कर्म मन, वचन और काय इन तीनोंसे उत्पन्न होता है। इससे परलोकमें नए शरीर आदिका उत्पन्न होना जाति है। शरीर स्कन्ध का पक जाना जरा है और उस स्कन्धका विनाश मरण कहलाता है। इसीलिए जरा और मरणको जातिप्रत्यय बताया है। इस तरह यह द्वादशांगवाला चक्र परस्परहेतुक है। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य अर्थात् एकको निमित्त बनाकर अन्यका समुत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना। इसके कारण यह भवचक्र बराबर चलता रहता है। जब सब पदार्थोंमें अनित्य निरात्मक अशुचि और दुःख रूप तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है, फिर अविद्याके विनाशसे क्रमशः संस्कार आदि नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस तरह बौद्धमतमें भी अविद्यासे बन्ध और विद्यासे मोक्ष माना गया है। जैनसिद्धान्तमें भी मिथ्यादर्शन अविरति आदिको बन्धहेतु बताया है। पदार्थोंमें विपरीत अभिप्रायका होना ही मिथ्यादर्शन है और यह मिथ्यादर्शन अज्ञानसे होता है अतः अज्ञान ही बन्धहेतु फलित होता है। 'सामायिक मात्रसे अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं' इस आर्ष वचनमें ज्ञानरूप सामायिकसे स्पष्टतया सिद्धिका वर्णन है। अतः जब अज्ञानसे बंध और ज्ञानसे मोक्ष यह सभी वादियोंको निर्विवाद रूपसे स्वीकृत है तब सम्यग्दर्शनादि तीनको मोक्षका मार्ग मानना उपयुक्त नहीं है।

एक बार एक लड़केको हाथीने मार डाला। एक वणिक्ने समझा कि मेरा लड़का मर गया है और वह पुत्र शोकमें बेहोश हो गया। जब कुशल मित्रोंने होशमें लाकर उस वणिक् को उसका जीवित पुत्र दिखाया तब उसे यह ज्ञान हुआ कि मेरा पुत्र जीवित है, मेरे पुत्रके समान कोई रूपवाला दूसरा ही लड़का मरा है तो वह स्वस्थ हो गया। इस लौकिक दृष्टान्त से भी यह सिद्ध होता है कि अज्ञानसे दुःख अर्थात् बन्ध और ज्ञानसे सुख अर्थात् मोक्ष होता है।

§ ४७ समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षकी प्राप्तिका सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंसे अविनाभाव है, वह इनके बिना नहीं हो सकती। जैसे मात्र रसायनके श्रद्धान ज्ञान या आचरण मात्रसे रसायनका फल-आरोग्य नहीं मिलता। पूर्णफलकी प्राप्तिके लिए रसायनका विश्वास ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक ही है उसी तरह संसार व्याधिकी निवृत्ति भी तत्त्वश्रद्धान ज्ञान और चारित्रसे ही हो सकती है। अतः तीनोंको ही मोक्षमार्ग मानना उचित है। 'अनन्ताः सामायिकसिद्धाः' वचन भी तीनोंके मोक्षमार्गका समर्थन करता है। ज्ञानरूप आत्माके तत्त्वश्रद्धानपूर्वक ही सामायिक-समताभाव रूप चारित्र हो सकता है। सामायिक अर्थात् समस्त पापयोगोंसे निवृत्त होकर अभेद समता और वीतरागतामें प्रतिष्ठित होना। कहा भी है—क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है और अज्ञा-

नियोंकी क्रिया निष्फल है। दावानलसे व्याप्त वनमें जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति इधर-उधर भागकर भी जल जाता है उसी तरह लँगड़ा देखता हुआ भी जल जाता है। एक चक्रसे रथ नहीं चलता। अतः ज्ञान और क्रियाका संयोग ही कार्यकारी है। यदि अन्धा और लँगड़ा दोनों मिल जायँ और अन्धेके कन्धेपर लंगड़ा बैठ जाय तो दोनों हीका उद्धार हो जाय। लँगड़ा रास्ता बताकर ज्ञानका कार्य करे और अन्धा पैरों से चलकर चारित्रका कार्य करे तो दोनों ही नगरमें आ सकते हैं।

§ ४८–५१ यदि ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष माना जाय तो पूर्णज्ञानकी प्राप्तिके द्वितीय क्षणमें ही मोक्ष हो जायगा। एक क्षण भी पूर्णज्ञानके बाद संसारमें ठहरना नहीं हो सकेगा, उपदेश, तीर्थप्रवृत्ति आदि कुछ भी नहीं हो सकेंगे। यह संभव ही नहीं है कि दीपक भी जल जाय और अँधेरा भी रह जाय। उसी तरह यदि ज्ञानमात्रसे मोक्ष हो तो यह संभव ही नहीं हो सकता कि ज्ञान भी हो जाय और मोक्ष न हो। यदि पूर्णज्ञान होनेपर भी कुछ संस्कार ऐसे रह जाते हैं जिनका नाश हुए बिना मुक्ति नहीं होती और जब तक उन संस्कारोंका क्षय नहीं होता तब तक उपदेश आदि हो सकते हैं, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि संस्कारक्षयसे मुक्ति होगी ज्ञानमात्र से नहीं। फिर यह बताइये कि संस्कारोंका क्षय ज्ञानसे होगा या अन्य किसी कारणसे ? यदि ज्ञानसे, तो ज्ञान होते ही संस्कारोंका क्षय भी हो जायगा और तुरंत ही मुक्ति हो जानेसे तीर्थोपदेश आदि नहीं बन सकेंगे। यदि संस्कार क्षयके लिए अन्य कारण अपेक्षित है तो वह चारित्र ही हो सकता है, अन्य नहीं। अतः ज्ञानमात्रसे मोक्ष मानना उचित नहीं है। यदि ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष हो जाय तो सिरका मुँड़ाना, गेरुआ वेष, यम नियम जप-तप, दीक्षा आदि सभी व्यर्थ हो जांयगे।

§ ५२ इसी तरह ज्ञान और वैराग्यसे भी मुक्ति माननेपर तीर्थोपदेश आदि नहीं बन सकेंगे। क्योंकि तत्त्वज्ञान होते ही विषयविरक्तिरूप वैराग्य अवश्य ही होगा और तुरंत मोक्ष हो जानेपर संसारमें ठहरना ही नहीं हो सकेगा।

§ ५३–५५ यदि आत्माको नित्य और व्यापक माना जाता है तो उसमें न तो ज्ञानादिकी उत्पत्ति ही हो सकती है और न हलन-चलन रूप क्रिया ही। इस तरह किसी भी प्रकारकी विक्रिया अर्थात् परिणमन न हो सकनेके कारण ज्ञान और वैराग्यरूप कारणोंकी संभावना ही नहीं है। आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान निर्विकारी आत्मामें कैसे पैदा होगा ? जब आत्मा सदा एकसा रहता है, उसमें किसी भी प्रकारका परिवर्तन असंभव है तो कूटस्थ नित्य आकाशकी तरह मोक्ष आदि नहीं बन सकेंगे।

इसी तरह आत्माको सर्वथा क्षणिक अर्थात् प्रतिक्षण निरन्वयविनाशी माननेपर भी ज्ञानवैराग्यादि परिणमनोंका आधारभूत पदार्थ न होनेसे मोक्ष नहीं बन सकेगा। जिस मतमें सभी संस्कार क्षणिक हैं उसके यहाँ ज्ञानादिका उत्पत्तिके बाद ही तुरंत नाश हो जानेपर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध आदि नहीं बनेंगे और समस्त अनुभवसिद्ध लोकव्यवहारोंका लोप हो जायगा। क्षणोंकी अवास्तविक सन्तान मानना निरर्थक ही है। यदि सन्तान क्षणोंसे अभिन्न है तो क्षणों की तरह ही निरन्वय क्षणिक होगी। ऐसी दशामें उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। यदि क्षणोंसे भिन्न है तो उससे क्षणोंका परस्पर समन्वय कैसे हो सकेगा ? आदि अनेक दूषण आते हैं।

§ ५६ जिस पुरुषने स्थाणु और पुरुषको पृथक् अनुभव किया हो उसको अन्धकार इन्द्रियदोष आदिसे स्थाणुमें पुरुषभान रूप विपर्यय होता है। जिसने आज तक स्थाणु और पुरुषगत विशेषोंको नहीं जाना है उसे विपर्यय हो ही नहीं सकता। इस तरह जब अनादिसे पुरुष और प्रकृतिमें भेदोपलब्धि नहीं हुई तब विपर्यय कैसे हो सकता है ? इसी तरह बौद्ध-मतमें भी जब पहिले कभी अनित्य अनात्मक अशुचि दुःखरूपसे प्रतीति नहीं हुई तब विपर्यय कैसे हो सकता है ? यदि सांख्य यह कहे कि– हां, पहिले कभी प्रकृति और पुरुषमें भेदोपलब्धि हुई है, तो उसी समय भेदविज्ञानसे मुक्ति हो जाना चाहिए थी, फिर आज बन्ध कैसा ? इसी प्रकार यदि बौद्धको अनित्यादि रूपसे पहिले कभी प्रतीति हुई हो तो उसे भी मोक्ष हो जाना चाहिए था।

§ ५७ जिनके मतमें एक ज्ञान एक ही अर्थको जानता है उनके यहां स्थाणु विषयक ज्ञान स्थाणुको ही जानेगा तथा पुरुषविषयक ज्ञान पुरुषको ही। अतः एक ज्ञानका दो अर्थोंको जानना जब संभव ही नहीं है तब न तो संशय हो सकता है और न विपर्यय ही। अतः एकार्थ-ग्राहिज्ञानवादी के मतसे न तो विपर्यय होगा न बंध और न मोक्ष।

§ ५८–६० **शंका**–ज्ञान और दर्शन चूंकि एक साथ उत्पन्न होते हैं अतः इन्हें एक ही मानना चाहिए ? **समाधान**–जिस प्रकार ताप और प्रकाश एक साथ होकर भी दाह और प्रकाशन रूप अपने भिन्न लक्षणोंसे अनेक हैं, उसी तरह तत्त्वज्ञान और तत्त्वश्रद्धानरूप भिन्न लक्षणोंसे ज्ञान और दर्शन भी भिन्न भिन्न हैं। फिर, यह कोई नियम नहीं है कि जो एक साथ उत्पन्न हों वे एक हों। गायके दोनों सींग एक साथ उत्पन्न होते हैं पर अनेक हैं, अतः इस पक्षमें दृष्टविरोध दोष आता है। जैनदर्शनमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंसे वस्तुका विवेचन किया जाता है। अतः द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता और पर्यायार्थिक नयकी गौणता करनेपर ज्ञान और दर्शनमें एकत्व भी है। जैसे परमाणु आदि पुद्गलद्रव्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे एक साथ रूपरसादि परिणमन होता है फिर भी रूप-रस आदिमें परस्पर एकत्व नहीं है उसी तरह ज्ञान और दर्शनमें भी समझना चाहिए। अथवा, जैसे अनादि पारिणामिक पुद्गलद्रव्यकी विवक्षामें द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानता और पर्यायार्थिकनयकी गौणता रहनेपर रूप रस आदिमें एकत्व है क्योंकि वही द्रव्य रूप है और वही द्रव्य रस, उसी तरह अनादिपारिणामिक चैतन्यमय जीवद्रव्यकी विवक्षा रहनेपर ज्ञान और दर्शनमें अभेद है क्योंकि वही आत्मद्रव्य ज्ञानरूप होता है तथा वही आत्मद्रव्य दर्शनरूप। जब हम उन उन पर्यायोंकी विवक्षा करते हैं तब ज्ञानपर्याय भिन्न है तथा दर्शन पर्याय भिन्न।

§ ६१–६४ **प्रश्न**–ज्ञान और चारित्रमें कालभेद नहीं है अतः दोनोंको एक ही मानना चाहिए। किसी व्यभिचारी पुरुषने अंधेरी रातमें मार्गमें जाती हुई अपनी व्यभिचारिणी माताको ही छेड़ दिया। इसी समय बिजली चमकी। उस समय जैसे ही उसे यह ज्ञान हुआ कि यह 'मां' है वैसे ही तुरंत वह अगम्यागमनसे निवृत्त हो जाता है, इसी तरह जैसे ही इस जीवको यह सम्यग्ज्ञान होता है कि जीवहिंसा नहीं करनी चाहिए वैसे ही वह हिंसासे निवृत्त हो जाता है। अतः ज्ञान और चारित्रमें कालभेद नहीं है और इसीलिए इन्हें एक मानना चाहिए। **उत्तर**–जिस प्रकार सुईसे ऊपर नीचे रखे हुए १०० कमलपत्रोंको एक साथ छेदने पर सूक्ष्म कालभेदकी प्रतीति नहीं होती यद्यपि वहां कालभेद है उसी तरह ज्ञान और चारित्रमें भी सूक्ष्म कालभेदका भान नहीं हो पाता, कारण काल अत्यन्त सूक्ष्म है।

ज्ञान और चारित्रमें अर्थभेद भी है–ज्ञान जाननेको कहते हैं तथा चारित्र कर्मबन्ध-की कारण क्रियाओंकी निवृत्तिको। फिर यह कोई नियम नहीं है कि जिनमें कालभेद न हो उनमें अर्थभेद भी न हो। देखो, जिस समय देवदत्तका जन्म होता है उसी समय मनुष्यगति पंचेन्द्रियजाति शरीर वर्ण गन्ध आदिका भी उदय होता है पर सबके अर्थ जुदे जुदे हैं। इसी तरह ज्ञान और चारित्रके भी अर्थ भिन्न भिन्न हैं।

यह पहिले कह भी चुके हैं कि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे ज्ञानादिकमें एकत्व है तथा पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनेकत्व।

§ ६५–६६ **प्रश्न**–यदि दर्शन ज्ञान आदिमें लक्षण भेद है तो ये मिलकर एक मार्ग नहीं हो सकते, इन्हें तीन मार्ग मानना चाहिए ? **उत्तर**–यद्यपि इनमें लक्षणभेद है फिर भी ये मिलकर एक ऐसी आत्मज्योति उत्पन्न करते हैं जो अखण्डभावसे एक मार्ग बन जाती है जैसे कि दीपक बत्ती तेल आदि विलक्षण पदार्थ मिलकर एक दीपक बन जाते हैं। इसमें किसी वादीको विवाद भी नहीं है। सांख्य प्रसादलाघव-शोषताप-आवरणसादन रूपसे भिन्न लक्षण-वाले सत्त्व, रज और तम इन तीनोंकी साम्यावस्थाको एक प्रधान तत्त्व मानते हैं। बौद्ध कक्खड-कर्कश द्रव उष्ण आदि रूपसे भिन्न लक्षणवाले पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों तथा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चार भौतिकोंके समुदायको एक रूपपरमाणु मानते हैं। इसी तरह रागादि धर्म और प्रमाण प्रमेय अधिगम आदि धर्मोंका समावेश एक ही विज्ञानमें माना जाता है। नैयायिकादि भिन्न रंगवाले सूतसे एक चित्रपट मान लेते हैं। उसी तरह भिन्न लक्षण-वाले सम्यग्दर्शनादि तीनों एक मार्ग बन सकते हैं।

§ ६७–६८ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें पूर्वकी प्राप्ति होनेपर उत्तरकी प्राप्ति भजनीय है अर्थात् हो भी न भी हो। किन्तु उत्तरकी प्राप्तिमें पूर्वका लाभ निश्चित है–वह होगा ही। जैसे जिसे सम्यक्चारित्र होगा उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होंगे ही पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे पूर्णसम्यग्ज्ञान और चारित्र हो भी और न भी हो।

§ ६९–७१ **शंका**–पूर्व सम्यग्दर्शनके लाभमें उत्तर ज्ञानका लाभ भजनीय है अर्थात् हो भी न भी हो यह नियम उचित नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेपर भी ज्ञान यदि नहीं होता तो अज्ञानपूर्वक श्रद्धानका प्रसङ्ग होता है। फिर जब तक स्वतत्त्वका ज्ञान नहीं किया गया तब तक उसका श्रद्धान कैसा ? जैसे कि अज्ञात फलके सम्बन्धमें यह विधान नहीं किया जा सकता कि 'इस फलके रससे यह आरोग्य आदि होता है' उसी तरह अज्ञात तत्त्वका श्रद्धान भी नहीं किया जा सकता। ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है अतः वह न्यूनाधिक रूपमें सदा स्थायी गुण है उसे कभी भी भजनीय नहीं कहा जा सकता अन्यथा आत्माका ही अभाव हो जायगा, क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेपर मिथ्याज्ञानकी तो निवृत्ति हो जायगी और सम्यग्ज्ञान नियमतः होगा नहीं, अतः सर्वथा ज्ञानाभावसे आत्माका ही अभाव हो जायगा।

§ ७२ **समाधान**–पूर्ण ज्ञानको भजनीय कहा है न कि ज्ञानसामान्यको। ज्ञानकी पूर्णता श्रुतकेवली और केवलीके होती है। सम्यग्दर्शन होनेपर पूर्ण द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान अवश्य हो ही जायगा यह नियम नहीं है। इसी तरह चारित्र भी यथासंभव देशसंयतको सकलसंयम यथाख्यात आदि भजनीय हैं।

§ ७३ 'पूर्व–अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके लाभमें चारित्र भजनीय है' यह अर्थ करना उचित नहीं है क्योंकि वार्तिकमें 'पूर्वस्य' यह एक वचनपद है अतः इससे एक

का ही ग्रहण हो सकता। यदि दो की विवक्षा होती तो 'पूर्वयोः' ऐसा द्विवचनान्त पद देना चाहिए था। यदि एकवचनके द्वारा भी सामान्य रूपसे दोका ग्रहण किया जाता है तो 'भजनीयमुत्तरम्' यहां भी 'उत्तरम्' इस एकवचन पदके द्वारा ज्ञान और चारित्र दोका ग्रहण होनेसे पूर्वोक्त दोष बना ही रहता है। अथवा, 'क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर क्षायिक ज्ञान भजनीय है—हो अथवा न हो' यह व्याख्या कर लेनी चाहिए। अथवा, 'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंकी एक साथ उत्पत्ति होती है अतः नारद और पर्वतके साहचर्यकी तरह एकके ग्रहणसे दूसरेका भी ग्रहण हो ही जाता है अतः पूर्व अर्थात् सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञानका लाभ होनेपर भी उत्तर अर्थात् चारित्र भजनीय है' यह अर्थ भी किया जा सकता है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

◊ १—२ सम्यक् यह प्रशंसार्थक शब्द (निपात) है। यह प्रशस्त रूप गति जाति कुल आयु विज्ञान आदि अभ्युदय और निःश्रेयसका प्रधान कारण होता है। 'सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः' इस प्रमाणके अनुसार सम्यक् शब्दका प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थमें होता है अतः इसका प्रशंसा अर्थ उचित नहीं है, इस शंकाका समाधान यह है कि निपात शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं, अतः प्रशंसा अर्थ माननेमें कोई विरोध नहीं है। अथवा सम्यक्का अर्थ 'तत्त्व' भी किया जा सकता है जिसका अर्थ होगा 'तत्त्वदर्शन'। अथवा, यह क्विप् प्रत्ययान्त शब्द है। इसका अर्थ है जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जाननेवाला।

दर्शन शब्द करणसाधन कर्तृसाधन और भावसाधन तीनों रूप है।

◊ ३—४ **प्रश्न**—दर्शन दृशि धातुसे बना है और दृशि धातुका अर्थ देखना है। अतः दर्शनका श्रद्धान अर्थ नहीं हो सकता? **उत्तर**—धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं, इसलिए उनमेंसे श्रद्धान अर्थ भी ले लिया जायगा। चूंकि यहां मोक्षका प्रकरण है अतः दर्शनका देखना अर्थ इष्ट नहीं है किन्तु तत्त्वश्रद्धान अर्थ ही इष्ट है।

◊ ५—६ तत्त्व शब्द भावसामान्यका वाचक है। 'तत्' यह सर्वनाम है जो भावसामान्यवाची है। अतः तत्त्व शब्दका स्पष्ट अर्थ है—जो पदार्थ जिस रूपसे है उसका उसी रूप होना। अर्थ माने जो जाना जाय। तत्त्वार्थ माने जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे ग्रहण। तात्पर्य यह कि जिसके होने पर तत्त्वार्थ—अर्थात् वस्तुका यथार्थ ग्रहण हो उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

◊ ७—८ जिस प्रकार दर्शन शब्द करण भाव और कर्म तीनों साधनोंमें निष्पन्न होता है उसी तरह श्रद्धान शब्द भी 'जिसके द्वारा श्रद्धान हो' 'जो श्रद्धान किया जाय' और 'श्रद्धामात्र' इन तीनों साधनोंमें निष्पन्न होता है। यह श्रद्धान आत्माकी पर्याय है। आत्मा ही श्रद्धान रूपसे परिणत होता है।

◊ ९—१६ **प्रश्न**—मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंमें भी 'सम्यक्त्व' नामकी कर्मप्रकृति है और 'निर्देशस्वामित्व' आदि सूत्रके विवरणसे भी ज्ञात होता है कि यहां सम्यक्त्व कर्म प्रकृति का सम्यग्दर्शनसे ग्रहण है अतः सम्यक्त्वको कर्मपुद्गल रूप मानना चाहिए? **उत्तर**—यहां मोक्षके कारणोंका प्रकरण है, अतः उपादानभूत आत्मपरिणाम ही विवक्षित है। औपशमिक

आदि सम्यग्दर्शन सीधे आत्मस्वरूप ही हैं। सम्यक्त्व प्रकृति तो पुद्गलकी पर्याय है। यद्यपि उत्पत्ति स्व और पर उभय निमित्तोंसे होती है फिर भी पर पदार्थ तो उपकरणमात्र हैं, साधारण निमित्त हैं। वस्तुतः मिट्टी ही घड़ा बनती है, दण्ड आदि तो साधारण उपकरण हैं, बाह्यसाधन हैं। इसी तरह सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें भी आत्मपरिणमन ही मुख्य है। इस दर्शनमोह नामक कर्मको आत्मविशुद्धिके द्वारा ही रसघात करके स्वल्पघाती क्षीणशक्तिक सम्यक्त्व कर्म बनाया जाता है। अतः यह सम्यक्त्व प्रकृति आत्मस्वरूप मोक्षका प्रधान कारण नहीं हो सकती। आत्मा ही अपनी शक्तिसे दर्शन पर्यायको धारण करता है अतः वही मोक्षका कारण है। आत्माकी आन्तरिक सम्यग्दर्शन पर्याय अहेय होती है जब कि सम्यक्त्व प्रकृति हेय। इस सम्यक्त्व प्रकृतिका नाश करके ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। अतः आभ्यन्तर स्वशक्तिरूप ही सम्यग्दर्शन हो सकता है सम्यक्त्व कर्मपुद्गलरूप नहीं। आभ्यन्तर परिणमन ही प्रधान होता है, वही प्रत्यासन्न कारण होता है और उसी रूपसे आत्मा परिणति करता है अतः अहेय होनेसे प्रधान और प्रत्यासन्न कारण होनेसे आत्मपरिणामरूप सम्यग्दर्शन ही मोक्षका कारण हो सकता है न कि कर्मपुद्गल। अल्पबहुत्वका विवेचन भी उपशम सम्यग्दर्शन आदि आत्मपरिणामके आधारसे किया जा सकता है, उसके लिएभी कर्मपुद्गलकी कोई आवश्यकता नहीं है। सबसे कम उपशम सम्यग्दृष्टि हैं, क्षायिकसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि उनसे असंख्यातगुणे हैं। सिद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि अनन्तगुणे होते हैं। अतः आत्मपरिणामरूप सम्यग्दर्शन ही मोक्षका साक्षात् कारण हो सकता है।

◊ १७—२१ **प्रश्न**—अर्थश्रद्धानको ही सम्यग्दर्शन कहना चाहिए, यहां 'तत्त्व' पद व्यर्थ है। इससे सूत्रमें भी लघुता आयगी? **उत्तर**—यदि तत्त्व पद न दिया जाय सभी अर्थोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन हो जायगा। मिथ्यावादिप्रणीत अर्थ भी उनके द्वारा जाने तो जाते ही हैं पर वे तत्त्व नहीं हैं। अर्थ शब्दके अनेक अर्थ हैं, अतः सन्देह भी होगा कि किस अर्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जाय? वैशेषिक शास्त्रमें द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंकी अर्थ संज्ञा है। 'आप यहां किस अर्थसे आए' यहां अर्थ शब्दका प्रयोजन अर्थ है। 'अर्थवान् देवदत्तः' में अर्थवान्का अर्थ धनवान् है। 'शब्दार्थसम्बन्ध' में अर्थका तात्पर्य अभिधेय है। इस तरह अर्थ शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। यह तर्क तो अनुचित है कि—'सभी अर्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन माननेपर सभीका अनुग्रह हो जायगा, आपको सर्वानुग्रहसे द्वेष क्यों है'; क्योंकि असत् अर्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन नाम नहीं पा सकता, अतः सर्वानुग्रहके विचार से ही सन्मार्ग प्रदर्शन बुद्धिसे अर्थके साथ 'तत्त्व' विशेषण लगा दिया है जिससे लोग असदर्थोंमें न भटक जांय। यद्यपि 'अर्यते इति अर्थः' अर्थात् जो जाना जाय वह अर्थ, इस व्युत्पत्तिके अनुसार मिथ्यावादिप्रणीत अर्थ तो ज्ञेय हो ही नहीं सकते क्योंकि वे अविद्यमान हैं अतः अर्थपदका इतना विशिष्ट अर्थ करके ही तत्त्व पदका कार्य चलाया जा सकता है किन्तु मिथ्यात्व के उदयमें इस आत्माको अस्ति नास्ति नित्य अनित्य आदि एकान्तोंमें मिथ्या अर्थबुद्धि होने लगती है, जैसे कि पित्तज्वर वाले को मधुर रस भी कटुक मालूम होता है। अतः इन एकान्त अर्थोंका निराकरण करनेके लिए 'तत्त्व' पद दिया ही जाना चाहिए।

◊ २२—२५ यद्यपि 'तत्त्व ही अर्थ है' यह विग्रह करनेपर तत्त्वके कहनेसे कार्य चल जाता है फिर भी अर्थ पदका ग्रहण निर्दोष प्रतिपत्तिके लिए किया गया है। यथा—यदि 'तत्त्व है' इस श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जाय, तो एकान्तवादियोंको भी 'नास्ति आत्मा' इत्यादि

रूपसे तत्त्वश्रद्धा होती है अतः उनकी श्रद्धाको भी सम्यग्दर्शन कहना होगा। यदि 'तत्त्वकी श्रद्धा' को सम्यग्दर्शन कहा जाय, तो तत्त्व अर्थात् भावसामान्यकी श्रद्धा भी सम्यक्त्व कही जायगी। 'तत्त्व-भाव-सामान्य एक स्वतन्त्र पदार्थ है' यह मान्यता वैशेषिककी है। वे यह भी कहते हैं कि द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व आदि सामान्य द्रव्यादिसे भिन्न हैं। अथवा, तत्त्व—एकत्व, 'पुरुषरूप ही यह जगत् है' इस ब्रह्मैकवादके श्रद्धानको भी सम्यग्दर्शनत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि अद्वैतवादमें क्रियाकारक आदि समस्त भेद-व्यवहारका लोप हो जाता है। यदि 'तत्त्वेन-तत्त्वरूपसे श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं' तो 'किसका श्रद्धान, किसमें श्रद्धान' ये प्रश्न खड़े रहते हैं। अतः अर्थपदका ग्रहण अत्यन्त आवश्यक है अर्थात् तत्त्व-रूपसे प्रसिद्ध अर्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

§ २६–२८ कोई वादी इच्छापूर्वक श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। उनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी बहुश्रुतत्व दिखानेके लिए या जैनमतको पराजित करनेके लिए अर्हत्तत्त्वोंका झूठा ही श्रद्धान कर लेते हैं, जैन शास्त्रोंको पढते हैं। इच्छाके बिना तो यह हो ही नहीं सकता। अतः इन्हें भी सम्यग्दर्शन मानना होगा। यदि इच्छा का नाम सम्यग्दर्शन हो तो इच्छा तो लोभकी पर्याय है, निर्मोही केवलीके तो इच्छा नहीं होती अतः केवलीके सम्यक्त्वका अभाव हो जायगा। अतः 'जिसके होनेपर आत्मा यथाभूत अर्थको ग्रहण करता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं' यही लक्षण उचित है।

§ २९–३१ सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—१ सराग सम्यग्दर्शन, २ वीतराग-सम्यग्दर्शन। प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यसे जिसका स्वरूप अभिव्यक्त होता है वह सरागसम्यग्दर्शन है। रागादिकी शान्ति प्रशम है। संसारसे डरना संवेग है। प्राणि-मात्रमें मैत्रीभाव अनुकम्पा है। जीवादि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपमें 'अस्ति' बुद्धि होना आस्तिक्य है। मोहनीयकी सात कर्मप्रकृतियोंका अत्यन्त विनाश होनेपर आत्मविशुद्धिरूप वीतराग सम्यक्त्व होता है। सराग सम्यक्त्व साधन ही होता है और वीतराग सम्यग्दर्शन साध्य भी।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रकार—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभाव) और अधिगम (परोपदेश) दो प्रकारसे उत्पन्न होता है। यहां 'उत्पद्यते—उत्पन्न होता है' इस क्रियाका अध्याहार कर लेना चाहिए।

§ १–६ **प्रश्न**—निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं बन सकता; क्योंकि तत्त्वाधिगम हुए बिना उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है? जब तक रसायनका ज्ञान नहीं होगा तब तक रसायन की श्रद्धा हो ही नहीं सकती। अतः जब प्रत्येक सम्यग्दर्शनके लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है तब निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं बन सकता। 'जिस प्रकार वेदार्थको जाने बिना भी शूद्रको वेद-विषयक भक्ति हो जाती है उसी तरह अनधिगत तत्त्वमें श्रद्धा भी हो सकती है' यह कथन उपयुक्त नहीं है; क्योंकि शूद्रको महाभारत आदि ग्रन्थोंसे वेदकी महिमा सुनकर या वेद-पाठियोंसे वेदके महत्त्वको जानकर वेदभक्ति होना उचित है पर ऐसी भक्ति नैसर्गिक नहीं कही जा सकती। किन्तु जीवादितत्त्व विषयक ज्ञान यदि किसी भी प्रकारसे पहिले होता है तो निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं हो सकेगा। इसी तरह मणिकी विशेष सामर्थ्यको न जानकर सामान्यसे उसकी चमक-दमकको देखकर मणिका ग्रहण और फलका मिलना ठीक भी है पर

जीवादिको सामान्यरूपसे भी बिना जाने नैसर्गिक श्रद्धानका होना कैसे संभव है? यदि सामान्य-ज्ञान हो जाता है तो वह अधिगमज ही सम्यग्दर्शन कहलायगा नैसर्गिक नहीं। जिस समय इस जीवके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ठीक उसी समय इसके मत्यज्ञान आदिकी निवृत्तिपूर्वक मतिज्ञान आदि सम्यग्ज्ञान सूर्यके ताप और प्रकाशकी तरह युगपत् उत्पन्न हो जाते हैं अतः नैस-र्गिक सम्यग्दर्शनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं बन पाती; क्योंकि जिसके ज्ञानसे पहिले सम्यग्दर्शन हो उसीके वह नैसर्गिक कहा जायगा। यहां तो दोनों ही साथ साथ होते हैं।

उत्तर—दोनों सम्यग्दर्शनोंमें अन्तरंग कारण तो दर्शनमोहका उपशम क्षय या क्षयोपशम समान है। इसके होनेपर जो सम्यग्दर्शन बाह्योपदेशके बिना प्रकट होता है वह निसर्गज कहलाता है तथा जो परोपदेशसे होता है वह अधिगमज। लोकमें भी शेर, भेड़िया, चीता आदिमें शूरता-क्रूरता आदि परोपदेशके बिना होनेसे नैसर्गिक कहे जाते हैं यद्यपि उनमें ये सब कर्मोदयरूप निमित्तसे होनेके कारण सर्वथा आकस्मिक नहीं हैं फिर भी परोपदेशकी अपेक्षा न होनेसे नैसर्गिक कहलाते हैं। अतः परोपदेश निरपेक्षमें निसर्गता स्वीकार की गई है।

§ ७–१० **प्रश्न**—भव्य जीव अपने समयके अनुसार ही मोक्ष जायगा। यदि अधि-गम सम्यक्त्वके बलसे समयसे पहिले मोक्षप्राप्तिकी संभावना हो तभी अधिगम सम्यक्त्वकी सार्थकता है। अतः एक निसर्गज सम्यक्त्व ही मानना चाहिए। **उत्तर**—यदि केवल निसर्गज या अधिगमज सम्यग्दर्शनसे मोक्ष माना गया होता तो यह प्रश्न उचित था। पर मोक्ष तो ज्ञान और चारित्र सहित सम्यक्त्वसे स्वीकार किया गया है। अतः विचार तो यह है कि वह सम्यग्दर्शन किन कारणोंसे उत्पन्न होता है। जैसे कि कुरुक्षेत्रमें बाह्य प्रयत्नके बिना ही सुवर्ण मिल जाता है उसी तरह बाह्य उपदेशके बिना ही जो तत्त्वश्रद्धान प्रकट होता है उसे निसर्गज कहते हैं और जैसे सुवर्णपाषाणसे बाह्य प्रयत्नों द्वारा सुवर्ण निकाला जाता है उसी तरह सदु-पदेशसे जो सम्यक्त्व प्रकट होता है वह अधिगमज कहलाता है। अतः यहां मोक्षका प्रश्न ही नहीं है। फिर भव्योंकी कर्मनिर्जराका कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्षका ही। कोई भव्य संख्यात कालमें सिद्ध होंगे कोई असंख्यातमें और कोई अनन्त कालमें। कुछ ऐसे भी हैं जो अनन्तानन्त कालमें भी सिद्ध नहीं होंगे। अतः भव्यके मोक्षके कालनियमकी बात उचित नहीं है। जो व्यक्ति मात्र ज्ञानसे या चारित्रसे या दोसे या तीन कारणोंसे मोक्ष मानते हैं उनके यहां 'कालानुसार मोक्ष होगा' यह प्रश्न ही नहीं होता। यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाय तो बाह्य और आभ्यन्तर कारण-सामग्रीका ही लोप हो जायगा।

§ ११–१२ इस सूत्रमें 'तत्' शब्दका निर्देश अनन्तरोक्त सम्यग्दर्शनके ग्रहणके लिए है। अन्यथा मोक्षमार्ग प्रधान था सो उसका ही ग्रहण हो जाता, और इस तरह निसर्गसे और बहुश्रुतत्व प्रदर्शनकी इच्छावाले मिथ्यादृष्टियोंको भी अधिगमसे मोक्ष मार्गका प्रसङ्ग आ जाता। 'अनन्तरका ही विधान या प्रतिषेध होता है' यह नियम 'प्रत्यासत्ति रहनेपर भी प्रधान बलवान् होता है' इस नियमसे बाधित हो जाता है; अतः 'तत्' शब्दके बिना प्रधानभूत मोक्षमार्गका ही सम्बन्ध हो जाता। अतः स्पष्टताके लिए 'तत्' शब्दका ग्रहण किया गया है।

तत्त्वोंका निरूपण—

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

§ १ संक्षेप और विस्तारसे पदार्थोंके एकसे लेकर अनन्त तक विभाग किए जा सकते हैं। यथा एक ही पदार्थ अनन्तपर्यायवाला है। जीव और अजीवके भेदसे दो पदार्थ हैं। अर्थ शब्द और ज्ञान रूपसे तीन पदार्थ हैं। इसी तरह शब्दोंके प्रयोगकी अपेक्षा संख्यात और ज्ञानके ज्ञेयकी अपेक्षा असंख्यात और अनन्त भेद हो सकते हैं। यदि अत्यन्त संक्षेपसे कथन किया जाय तो विद्वज्जनोंको ही प्रतीति हो सकेगी और अतिविस्तारसे निरूपण किया जाय तो चिरकाल तक भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी, अतः शिष्यके आशयानुसार मध्यमक्रमसे सात तत्त्वरूप विभाजन किया है।

§ २–५ **प्रश्न**–आस्रव बन्ध आदि पदार्थ या तो जीवकी पर्याय होंगे या अजीवकी, अतः इनमें ही उनका अन्तर्भाव करके दो ही पदार्थ कहना चाहिए इनका पृथक् उपदेश निरर्थक है ? **उत्तर**–जीव और अजीवके परस्पर संश्लेष होनेपर संसार होता है, अतः संसार और मोक्षके प्रधान कारणोंके प्रतिपादनके लिए सात तत्त्व रूपसे विभाग किया है। यथा–मोक्ष-मार्गका प्रकरण है अतः मोक्षका निरूपण तो करना ही चाहिए। वह मोक्ष किसको होता है ? सो जीवका ग्रहण करना चाहिए। मोक्ष संसारपूर्वक होता है और संसारका अर्थ है जीव और अजीवका परस्पर संश्लेष। अतः अजीवका ग्रहण भी आवश्यक है। संसारके प्रधान कारण बंध और आस्रव हैं और मोक्षके प्रधान कारण संवर और निर्जरा। सामान्यमें अन्तर्भूत भी विशेषोंका प्रयोजनवश पृथक् निरूपण किया जाता है जैसे 'क्षत्रिय आए हैं, शूर वर्मा भी आया है' उसी तरह प्रयोजन विशेषसे इन सात तत्त्वोंका विभाग किया है।

फिर, प्रश्नकर्ताने आस्रव आदिको जीव और अजीवसे पृथक् जाना है या नहीं ? यदि जाना है तो उनका पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो ही जाता है। यदि नहीं जाना; तो प्रश्न ही कैसे करता है ? आस्रव आदि जीव और अजीवसे भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हैं या नहीं ? यदि हैं, तो इनका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध हो ही जाता है। यदि नहीं; तो किसका किनमें अन्तर्भाव का प्रश्न किया जा रहा है ? गधेके सींगके अन्तर्भावका प्रश्न तो कहीं किसीने किया नहीं है।

वस्तुतः जीव अजीव और आस्रवादिके भेदाभेदका अनेकान्त दृष्टिसे विचार करना चाहिए। आस्रवादि द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार हैं। द्रव्य पुद्गल रूप हैं तथा भाव जीवरूप। द्रव्यार्थिक दृष्टिकी प्रधानता रहनेपर अनादि पारिणामिक जीव और अजीव द्रव्यकी मुख्यता होनेसे आस्रव आदि पर्यायोंकी विवक्षा न होनेपर उनका जीव और अजीवमें अन्तर्भाव हो जाता है। जिस समय उन उन आस्रवादि पर्यायोंको पृथक् ग्रहण करनेवाले पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता होती है तथा द्रव्यार्थिकनय गौण हो जाता है तब आस्रव आदि स्वतन्त्र हैं उनका जीव और अजीवमें अन्तर्भाव नहीं होता। अतः पर्यायार्थिक दृष्टिसे इनका पृथक् उपदेश सार्थक है निरर्थक नहीं।

§ ६–१३ जीवादि शब्दोंका निर्वचन इस प्रकार है––

पाँच इन्द्रिय मनोबल वचनबल कायबल आयु और श्वासोच्छ्वास इन दश प्राणोंमेंसे अपनी पर्यायानुसार गृहीत प्राणोंके द्वारा जो जीता था, जी रहा है और जीवेगा इस त्रैकालिक जीवन गुणवालेको जीव कहते हैं। 'सिद्धोंके यद्यपि ये दश प्राण नहीं हैं फिर भी चूँकि वे इन प्राणोंसे पहिले जिए थे अतः उनमें भी जीवत्व सिद्ध हो जाता है' इस तरह सिद्धोंमें औपचारिक जीवत्वकी आशंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनमें अभी भी ज्ञानदर्शनरूप भाव प्राण हैं अतः मुख्य ही जीवत्व है। अथवा रूढिवश क्रियाकी गौणतासे जीव शब्दका निर्वचन करना

चाहिये। रूढिमें क्रिया गौण हो जाती है जैसे 'गच्छतीति गौः–जो चले सो गौ' यहाँ बैठी हुई गौमें भी गौ व्यवहार हो जाता है क्योंकि कभी तो वह चलती थी, उसी तरह कभी तो सिद्धोंने द्रव्य प्राणोंको धारण किया था। अतः रूढिवश उनमें जीव व्यवहार होता रहता है। ऊपर कहा गया जीवन जिनमें न पाया जाय वे अजीव हैं। जिनसे कर्म आवें वह और कर्मोंका आना आस्रव है। जिनसे कर्म बँधें वह और कर्मोंका बँधना बंध है। जिनसे कर्म रुकें वह और कर्मोंका रुकना संवर है। जिनसे कर्म झड़ें वह और कर्मोंका झड़ना निर्जरा है। जिनसे कर्मों-का समूल उच्छेद हो वह और कर्मोंका पूर्णरूपसे छूटना मोक्ष है।

§ १४ जीव चेतना स्वरूप है। चेतना ज्ञानदर्शन रूप होती है। इसीके कारण जीव अन्य द्रव्योंसे व्यावृत्त होता है।

§ १५ जिसमें चेतना न पाई जाय वह अजीव है। भावकी तरह अभाव भी वस्तु-का ही धर्म होता है जैसे कि विपक्षाभाव हेतुका स्वरूप होता है। यदि अभावको वस्तुका धर्म न माना जाय तो सर्वसांकर्य हो जायगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें स्वभिन्न पदार्थोंका अभाव होता ही है।

प्रश्न–वनस्पति आदिमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं देखी जाती अतः उनमें जीव नहीं मानना चाहिए। कहा भी है–"अपने शरीरमें बुद्धिपूर्वक क्रिया बुद्धिके रहते ही देखी जाती है, वैसी क्रिया यदि अन्यत्र हो तो वहाँ भी बुद्धिका सद्भाव मानना चाहिए, अन्यथा नहीं।" **उत्तर**–वनस्पति आदिमें भी ज्ञानादिका सद्भाव है। इसको सर्वज्ञ तो अपने प्रत्यक्ष ज्ञानसे जानते हैं और हम लोग आगमसे। खाद पानीके मिलनेपर पुष्टि और न मिलनेपर म्लानता देख-कर उनमें चैतन्यका अनुमान भी होता है। गर्भस्थजीव, मूर्च्छित और अंडस्थ जीवमें बुद्धिपूर्वक स्थूल क्रिया भी नहीं दिखाई देती, अतः न दिखने मात्रसे अभाव नहीं किया जा सकता।

§ १६ पुण्य और पापरूप कर्मोंके आगमनके द्वारको आस्रव कहते हैं। जैसे नदियों के द्वारा समुद्र प्रतिदिन जलसे भरा जाता है वैसे ही मिथ्यादर्शन आदि स्रोतोंसे आत्मामें कर्म आते रहते हैं। अतः मिथ्यादर्शनादि आस्रव हैं।

§ १७ मिथ्यादर्शनादि द्वारोंसे आए हुए कर्मपुद्गलोंका आत्मप्रदेशोंमें एकक्षेत्रा-वगाह हो जाना बंध है। जैसे बेड़ी आदिसे बँधा हुआ प्राणी परतन्त्र हो जाता है और इच्छा-नुसार देशादिमें नहीं जा आ सकता उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा परतन्त्र होकर अपना इष्ट विकास नहीं कर पाता। अनेक प्रकारके शारीर और मानस दुःखोंसे दुःखी होता है।

§ १८ मिथ्यादर्शनादि आस्रव द्वारोंके निरोधको संवर कहते हैं। जैसे जिस नगरके द्वार अच्छी तरह बन्द हों वह नगर शत्रुओंको अगम्य होता है उसी तरह गुप्ति समिति धर्म आदिसे सुसंवृत आत्मा कर्मशत्रुओंके लिए अगम्य होता है।

§ १९ तप विशेषसे संचित कर्मोंका क्रमशः अंशरूपसे झड़ जाना निर्जरा है। जिस प्रकार मन्त्र या औषधि आदिसे निःशक्ति किया हुआ विष दोष उत्पन्न नहीं करता उसी प्रकार तप आदिसे नीरस किए गये और निःशक्ति हुए कर्म संसारचक्रको नहीं चला सकते।

§ २० सम्यग्दर्शनादि कारणोंसे संपूर्ण कर्मोंका आत्यन्तिक मूलोच्छेद होना मोक्ष है। जिस प्रकार बन्धनयुक्त प्राणी स्वतन्त्र होकर यथेच्छ गमन करता है उसी तरह कर्म-बन्धन-मुक्त आत्मा स्वाधीन हो अपने अनन्त ज्ञानदर्शन सुख आदिका अनुभव करता है।

§ २१–२७ समस्त मोक्षमार्गोपदेशादि प्रयत्न जीवके ही लिए किए जाते हैं अतः

तत्त्वोंमें सर्वप्रथम जीवको स्थान दिया गया है। शरीर वचन मन श्वासोच्छ्वास आदिके द्वारा अजीव आत्माका प्रकृष्ट उपकारक है अतः जीवके बाद अजीवका ग्रहण किया गया है। जीव और पुद्गलके सम्बन्धाधीन ही आस्रव होता है और आस्रवपूर्वक बन्ध अतः इन दोनोंका क्रमशः ग्रहण किया है। संवृत-सुरक्षित व्यक्तिको बंध नहीं होता अतः बंधकी विपरीतता दिखानेके लिए बंधके पास संवरका ग्रहण किया है। संवर होनेपर ही निर्जरा होती है अतः संवरके बाद निर्जराका ग्रहण किया है। अन्तमें मोक्ष प्राप्त होता है अतः सबके अन्तमें मोक्षका ग्रहण किया गया है।

§ २८ आस्रव और बंध या तो पुण्यरूप होते हैं या पापरूप। अतः पुण्य और पाप पदार्थोंका अन्तर्भाव इन्हींमें कर दिया जाता है।

§ २९–३१ **प्रश्न**–सूत्रमें तत्त्व शब्द भाववाची है और जीवादि शब्द द्रव्यवाची, अतः इनका व्याकरण शास्त्रके नियमानुसार एकार्थ प्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता ? **उत्तर**–द्रव्य और भावमें कोई भेद नहीं है, अतः अभेद विवक्षामें दोनों ही एकार्थप्रतिपादक हो जाते हैं जैसे ज्ञान ही आत्मा है। चूँकि तत्त्व शब्द उपात्त-नपुंसकलिंग और एकवचन है अतः जीवादिकी तरह उसमें पुल्लिगत्व और बहुवचनत्व नहीं हो सकता।

जीवादितत्त्वोंके संव्यवहारके लिए निक्षेप प्रक्रियाका निरूपण—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

नाम स्थापना द्रव्य और भावसे जीवादि पदार्थोंका न्यास करना चाहिए।

§ १ शब्द प्रयोगके जाति गुण क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा न करके की जानेवाली संज्ञा नाम है। जैसे परमैश्वर्यरूप इन्दन क्रियाकी अपेक्षा न करके किसीका भी इन्द्र नाम रखना या जीवनक्रिया और तत्त्वश्रद्धानरूप क्रियाकी अपेक्षाके बिना जीव या सम्यग्दर्शन नाम रखना।

§ २ 'यह वही है' इस रूपसे तदाकार या अतदाकार वस्तुमें किसीकी स्थापना करना स्थापना निक्षेप है, यथा–इन्द्राकार प्रतिमामें इन्द्रकी या शतरंजके मुहरोंमें हाथी घोड़ा आदिकी स्थापना करना।

§ ३–७ आगामी पर्यायकी योग्यतावाले उस पदार्थको द्रव्य कहते हैं जो उस समय उस पर्यायके अभिमुख हो। जैसे इन्द्रप्रतिमाके लिए लाए गए काठको भी इन्द्र कहना। इसी तरह जीव पर्याय या सम्यग्दर्शन पर्यायके प्रति अभिमुख द्रव्यजीव या द्रव्यसम्यग्दर्शन कहा जायगा।

प्रश्न–यदि कोई अजीव जीवपर्यायको धारण करनेवाला होता तो द्रव्यजीव बन सकता था अन्यथा नहीं ? **उत्तर**–यद्यपि सामान्यरूपसे द्रव्यजीव नहीं है फिर भी मनुष्यादि विशेष पर्यायोंकी अपेक्षा 'द्रव्यजीव' का व्यवहार कर लेना चाहिए। आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्यके भेदसे द्रव्य दो प्रकारका है। जीवशास्त्रका अभ्यासी पर तत्काल तद्विषयक उपयोगसे रहित आत्मा आगमद्रव्यजीव है। नोआगमद्रव्यजीव ज्ञाताका त्रिकालवर्ती शरीर, भावि पर्यायोन्मुख द्रव्य और कर्म नोकर्मके भेदसे तीन प्रकारका होता है।

§ ८–११ वर्तमान उस उस पर्यायसे विशिष्ट द्रव्यको भावजीव कहते हैं। जीवशास्त्रका अभ्यासी तथा उसके उपयोगमें लीन आत्मा आगमभावजीव है। जीवनादि पर्यायवाला जीव नोआगमभावजीव है।

१२ यद्यपि नाम और स्थापना दोनों निक्षेपोंमें संज्ञा रखी जाती हैं। बिना नाम

रखे स्थापना हो ही नहीं सकती तो भी स्थापित जिन आदिमें पूजा आदर और अनुग्रहाभिलाषा होती है जबकि केवल नाममें नहीं। अतः इन दोनोंमें अन्तर है।

§ १३ यद्यपि द्रव्य और भावकी पृथक् सत्ता नहीं है, दोनोंमें अभेद है, फिर भी संज्ञा लक्षण आदिकी दृष्टिसे इन दोनोंमें भिन्नता है।

§ १४–१८ **प्रश्न**–सबसे पहिले द्रव्यका ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि द्रव्यके ही नाम स्थापना आदि निक्षेप किए जाते हैं ? **उत्तर**–चूँकि समस्त लोकव्यवहार संज्ञा अर्थात् नामसे चलते हैं अतः संव्यवहारमें मुख्य हेतु होनेसे नामका सर्वप्रथम ग्रहण किया है। स्तुति निन्दा राग द्वेष आदि सारी प्रवृत्तियां नामाधीन हैं। जिसका नाम रख लिया गया है उसीकी 'यह वही है' इस प्रकार स्थापना होती है। अतः नामके बाद स्थापनाका ग्रहण किया है। द्रव्य और भाव पूर्वोत्तरकालवर्ती हैं। अतः पहिले द्रव्य और बादमें भावका ग्रहण किया है। अथवा–भावके साथ निकटता और दूरीकी अपेक्षा इनका क्रम समझना चाहिए। भाव प्रधान है क्योंकि भावकी व्याख्या ही अन्यके द्वारा होती है। भावके निकट द्रव्य है क्योंकि दोनोंका सम्बन्ध है। इसके पहिले स्थापना इसलिए रखी गई है कि वह अतद्रूप पदार्थमें तद्बुद्धि करानेमें प्रधान कारण है। उससे पहिले नामका ग्रहण किया है क्योंकि वह भावसे अत्यन्त दूर है।

§ १९–२५ **प्रश्न**–विरोध होनेके कारण एक जीवादि अर्थके नामादि चार निक्षेप नहीं हो सकते। जैसे नाम नाम ही है स्थापना नहीं। यदि उसे स्थापना माना जाता है तो उसे नाम नहीं कह सकते। यदि नाम कहते हैं तो वह स्थापना नहीं हो सकती क्योंकि उनमें विरोध है। **उत्तर**–एक ही वस्तुमें लोकव्यवहारमें नाम आदि चारों व्यवहार देखे जाते हैं अतः उनमें कोई विरोध नहीं है। इन्द्र नामका व्यक्ति है। मूर्तिमें इन्द्रकी स्थापना होती है। इन्द्रकी प्रतिमा बनानेके लिए लाए गए काष्ठको भी लोग इन्द्र कह देते हैं। आगेकी पर्यायकी योग्यतासे भी इन्द्र, राजा, सेठ आदि व्यवहार होते हैं तथा शचीपति इन्द्रमें भावव्यवहार प्रसिद्ध ही है। शंकाकारने जो दृष्टान्त दिया है कि नाम नाम ही है स्थापना नहीं, वह ठीक नहीं है क्योंकि यह कहा ही नहीं जा रहा है कि नाम स्थापना है किन्तु नाम स्थापना द्रव्य और भावसे एक वस्तुके चार प्रकारसे व्यवहार की बात है। जैसे ब्राह्मण मनुष्य अवश्य होता है क्योंकि ब्राह्मणमें मनुष्य जातिरूप सामान्य अवश्य पाया जाता है पर मनुष्य ब्राह्मण हो न भी हो उसी तरह स्थापना 'नाम' अवश्य होगी क्योंकि बिना नामकरणके स्थापना नहीं होती परन्तु जिसका नाम रखा है उसकी स्थापना हो भी न भी हो। इसी तरह द्रव्य 'भाव' अवश्य होगा क्योंकि उसकी उस योग्यताका विकास अवश्य होगा परन्तु भाव 'द्रव्य' हो भी न भी हो क्योंकि उस पर्यायमें आगे अमुक योग्यता रहे भी न भी रहे। अतः नामस्थापनादिमें परस्पर अनेकान्त है। छाया और प्रकाश तथा कौआ और उल्लूमें पाया जानेवाला सहानवस्था और बध्यघातक विरोध विद्यमान ही पदार्थोंमें होता है अविद्यमान खरविषाण आदिमें नहीं। अतः विरोधकी संभावनासे ही नामादिचतुष्टयका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। विरोध यदि नामादिरूप है तो वह उनके स्वरूपकी तरह विरोधक नहीं हो सकता। यदि नामादिरूप नहीं है तो भी विरोधक नहीं हो सकता। इस तरह तो सभी पदार्थ परस्पर एक दूसरेके विरोधक हो जायंगे।

§ २६–३० **प्रश्न**–भाव निक्षेपमें वे गुण आदि पाए जाते हैं अतः इसे ही सत्य कहा जा सकता है नामादिको नहीं। **उत्तर**–ऐसा माननेपर नाम स्थापना और द्रव्यसे होनेवाले यावत् लोकव्यवहारोंका लोप हो जायगा। लोक-व्यवहारमें बहुभाग तो नामादि

तीनका ही है। नामाद्याश्रित व्यवहारोंको उपचारसे स्वीकार करना ठीक नहीं है; क्योंकि बच्चेमें क्रूरता शूरता आदि गुणोंका एकदेश देखकर उपचारसे सिंह व्यवहार तो उचित है पर नामादिमें तो उन गुणोंका एकदेश भी नहीं पाया जाता अतः नामाद्याश्रित व्यवहार औपचारिक भी नहीं कहे जा सकते। यदि नामादि-व्यवहारको औपचारिक कहा जाता है तो "गौण और मुख्यमें मुख्यका ही ज्ञान होता है" इस नियमके अनुसार मुख्य 'भाव'का ही संप्रत्यय होगा नामादिका नहीं। अर्थ प्रकरण और संकेत आदिके अनुसार नामादिका भी मुख्य प्रत्यय भी देखा ही जाता है अतः नामादि व्यवहारको औपचारिक कहना उचित नहीं है। "कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थों में कृत्रिमका ही बोध होता है" यह नियम भी सर्वथा एकरूप नहीं है। यद्यपि 'गोपालको लाओ' यहां जिसकी गोपाल संज्ञा है वही व्यक्ति लाया जाता है न कि जो गायोंको पालता है वह। तथापि इस नियमकी उभयरूपसे प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे किसी प्रकरणके न जाननेवाले गांवडेके व्यक्तिसे 'गोपालको लाओ' यह कहनेपर उसकी दोनों गति होंगी—वह गोपाल नामक व्यक्तिको जिस प्रकार लायगा उसी तरह गायके पालनेवालेको भी ला सकता है। लोकमें अर्थ और प्रकरणसे कृत्रिममें प्रत्यय देखा जाता है। फिर सामान्य दृष्टिसे नामादि भी अकृत्रिम ही हैं। इनमें कृत्रिमत्व और अकृत्रिमत्वका अनेकान्त है।

§ ३१–३३ **प्रश्न**—जब नाम स्थापना और द्रव्य द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं तथा भाव पर्यायार्थिक नयका। अतः इनका नयोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है और नयोंका कथन आगे होगा ही? **उत्तर**—विनेयोंको समझानेके अभिप्रायसे दो तीन आदि नयोंका संक्षेप या विस्तारसे कथन किया जाता है। जो विद्वान् शिष्य हैं वे दो नयोंके द्वारा ही सभी नयोंके वक्तव्य-प्रतिपाद्य अर्थोंको जान लेते हैं उनकी अपेक्षा पृथक् कथनका प्रयोजन न भी हो पर जो मन्दबुद्धि हैं उनके लिए पृथक् नय और निक्षेपका कथन करना ही चाहिए। विषय और विषयीकी दृष्टिसे नय और निक्षेपका पृथक् पृथक् निरूपण है।

§ ३४–३७ यद्यपि सम्यग्दर्शनादिका प्रकरण था अतः सूत्रमें 'तत्' शब्दका ग्रहण किए बिना भी सम्यग्दर्शनादिके साथ नामादिका सम्बन्ध हो जाता फिर भी प्रधान सम्यग्दर्शनादि और गौण विषयभूत जीवजीवादि सभीके साथ नामादिका सम्बन्ध द्योतन करनेके लिए विशेष रूपसे 'तत्' शब्दका ग्रहण किया है। 'अनन्तरका ही विधि या निषेध होता है' इस नियमके अनुसार जीवादिका ही सम्बन्ध होगा सम्यग्दर्शनादिका नहीं' इस शंकाका समाधान तो यह है कि—जीवादि सम्यग्दर्शनादिके विषय होनेसे गौण हैं, अतः प्रत्यासन्न होनेपर भी मुख्य सम्यग्दर्शनादिका ही ग्रहण किया जायगा। फिर—'विशेष बात प्रकरणागत सामान्यमें बाधा नहीं दे सकती' इस नियमके अनुसार विषय विशेषके रूपमें कहे गए जीवादि पदार्थ प्रकरणागत सम्यग्दर्शनादिके ग्रहणके बाधक नहीं हो सकते।

तत्त्वाधिगमके उपाय—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

प्रमाण और नयों से जीवादि पदार्थोंका अधिगम-ज्ञान होता है।

§ १–३ व्याकरणशास्त्रके 'अल्प अक्षरवाले पदका पूर्व प्रयोग करना चाहिए' इस नियमके अनुसार नयका प्रथम ग्रहण करना चाहिए था; किन्तु उक्त नियमके बाधक 'पूज्यका पूर्व निपात होता है' इस नियमके अनुसार 'प्रमाण' पदका प्रथम ग्रहण किया है। प्रमाण-

के द्वारा प्रकाशित ही अर्थके एक देशमें नयकी प्रवृत्ति होती है अतः प्रमाण पूज्य है। प्रमाण समुदायको विषय करता है तथा नय अवयवको। प्रमाण सकलादेशी होता है तथा नय विकलादेशी।

§ ४ ज्ञान स्वाधिगम हेतु होता है जो प्रमाण और नयरूप होता है। वचन पराधिगम हेतु हैं। वचनात्मक स्याद्वाद श्रुतके द्वारा जीवादिकी प्रत्येक पर्याय सप्तभंगी रूपसे जानी जाती है।

§ ५ प्रश्नके अनुसार एक वस्तुमें प्रमाणसे अविरुद्ध विधिप्रतिषेध धर्मोंकी कल्पना सप्तभंगी है। एक ही घड़ेका गौण और मुख्य रूपसे १ स्यात् घट, २ स्यात् अघट, ३ स्यात् उभय, ४ स्यात् अवक्तव्य, ५ स्यात् घट और अवक्तव्य, ६ स्यात् अघट और अवक्तव्य, ७ स्यात् उभय और अवक्तव्य इन सात रूपसे निरूपण किया जा सकता है। घट स्वस्वरूपसे है पररूपसे नहीं है। घड़ेके स्वात्मा और परात्माका विवेचन अनेक प्रकारसे होता है। यथा—

(१) जिसमें घट बुद्धि और घट शब्दका व्यवहार हो वह स्वात्मा तथा उससे भिन्न परात्मा है। स्वरूप ग्रहण और पररूप त्यागके द्वारा ही वस्तुकी वस्तुता स्थिर की जाती है। यदि पररूपकी व्यावृत्ति न हो तो सभी रूपोंसे घटव्यवहार होना चाहिए और यदि स्वरूप ग्रहण न हो तो निःस्वरूपत्वका प्रसङ्ग होनेसे वह खरविषाणकी तरह असत् ही हो जायगा।

(२) नाम स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेपोंका जो आधार होता है वह स्वात्मा तथा अन्य परात्मा। यदि अन्य रूपसे भी घट हो जाय तो प्रतिनियत नामादि व्यवहारका ही उच्छेद हो जायगा।

(३) घटशब्दके वाच्य अनेक घड़ोंमेंसे विवक्षित अमुक घटका जो आकार आदि है वह स्वात्मा अन्य परात्मा। यदि इतर घटके आकारसे भी वह घट 'घट' हो जाय तो सभी घड़े एक घटरूप ही हो जायँगे और इस तरह अनेकत्वमूलक घटसामान्य व्यवहार ही नष्ट हो जायगा।

(४) अमुक घट भी द्रव्यदृष्टिसे अनेक क्षणस्थायी होता है। अतः अन्वयी मृद्द्रव्यकी अपेक्षा स्थास कोश कुशूल घट कपाल आदि पूर्वोत्तर अवस्थाओंमें भी घट व्यवहार हो सकता है इनमें स्थास कोश कुशूल और कपाल आदि पूर्व और उत्तर अवस्थाएं परात्मा हैं तथा मध्यक्षणवर्ती घट अवस्था स्वात्मा है। उसी अवस्थासे वह घट है क्योंकि उसीमें घड़ेके गुण क्रिया आदि पाए जाते हैं। यदि उन कुशूलादि अवस्थाओंमें भी घड़ेकी उपलब्धि हो तो घटकी उत्पत्ति और विनाशके लिए किया जानेवाला पुरुषका प्रयत्न ही निष्फल हो जायगा।

(५) उस मध्यकालवर्ती घटपर्यायमें भी प्रतिक्षण उपचय और अपचय होता रहता है अतः ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे एकक्षणवर्ती घट ही स्वात्मा है अतीत और अनागतकालीन उस घटकी ही पर्यायें परात्मा हैं। यदि प्रत्युत्पन्न क्षणकी तरह अतीत और अनागत क्षणोंसे भी घट माना जाय तो सभी वर्तमान क्षणमात्र ही हो जायँगे। अतीत और अनागतकी तरह प्रत्युत्पन्न क्षणसे भी असत्त्व माना जाय तो जगत्से घटव्यवहारका ही लोप हो जायगा।

(६) उस प्रत्युत्पन्न घटक्षणमें रूप रस गन्ध पृथुबुध्नोदराकार आदि अनेक गुण और पर्यायें हैं अतः घड़ा पृथुबुध्नोदराकारसे 'है' क्योंकि घटव्यवहार इसी आकारसे होता है अन्यसे नहीं। यदि उस आकारसे भी घड़ा 'न' हो तो घटका अभाव ही हो जायगा।

(७) आकारमें रूप रस आदि सभी हैं। घड़ेके रूपको आंखसे देखकर ही घटके अस्तित्वका व्यवहार होता है अतः रूप स्वात्मा है तथा रसादि परात्मा। 'आंखसे घड़ेको देखता हूं' यहां रूपकी तरह रसादि भी घटके स्वात्मा हों तो रसादि भी चक्षुर्ग्राह्य हो जानेसे रूपात्मक हो जायंगे. फिर अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना ही निरर्थक हो जायगी। यदि रसादिकी तरह रूप भी स्वात्मा न हो तो वह चक्षुके द्वारा दिखाई ही नहीं देगा।

(८) शब्दभेदसे अर्थभेद होता ही है अतः घट शब्दका अर्थ जुदा है तथा कुट आदि शब्दोंका जुदा। घटन क्रियाके कारण घट है तथा कुटिल होनेके कारण कुट। अतः घड़ा जिस समय घटन क्रियामें परिणत हो उसी समय उसे घट कहना चाहिए। इसलिए घटका घटनक्रियामें कर्त्तारूपसे उपयुक्त होनेवाला स्वरूप स्वात्मा है और अन्य परात्मा। यदि इतर रूपसे भी घट कहा जाय तो पटादिमें भी घटव्यवहारका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। और इस तरह सभी पदार्थ एकशब्दके वाच्य हो जायंगे।

(९) घटशब्दप्रयोगके बाद उत्पन्न घटज्ञानाकार स्वात्मा है क्योंकि वही अन्तरंग है और अहेय है। बाह्य घटाकार परात्मा है। अतः घड़ा उपयोगाकारसे है अन्य से नहीं। यदि उपयोगाकारसे भी अघट हो जाय तो वचन व्यवहारके मूलाधार उपयोगके अभावमें सभी व्यवहार विनष्ट हो जायँगे।

(१०) चैतन्य शक्तिके दो आकार होते हैं–१ ज्ञानाकार २ ज्ञेयाकार। प्रतिबिम्ब-शून्य दर्पणकी तरह ज्ञानाकार है और प्रतिबिम्ब सहित दर्पणकी तरह ज्ञेयाकार। इनमें ज्ञेयाकार स्वात्मा है क्योंकि घटाकार ज्ञानसे ही घट व्यवहार होता है। और ज्ञानाकार परात्मा है क्योंकि वह सर्वसाधारण है। यदि ज्ञानाकारसे घट माना जाय तो पटादि ज्ञान कालमें भी घट-व्यवहार होना चाहिए। यदि ज्ञेयाकारसे भी घट 'न' माना जाय तो घट-व्यवहार निराधार हो जायगा।

इस प्रकार उक्त रीतिसे सूचित घटत्व और अघटत्व दोनों धर्मोंका आधार घड़ा ही होता है। यदि दोनोंमें भेद माना जाय तो घटमें ही दोनों धर्मोंके निमित्तसे होनेवाली बुद्धि और वचन प्रयोग नहीं हो सकेंगे। अतः घड़ा उभयात्मक है। क्रमसे दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेपर घड़ा स्यात् घट भी है और अघट भी। यदि उभयात्मक वस्तुको घट ही कहा जाय तो दूसरे स्वरूपका संग्रह न होनेसे वह अतत्त्व ही हो जायगी। यदि अघट कही जाय तो घट रूपका संग्रह न होनेसे अतत्त्व बन जायगी। और कोई ऐसा शब्द है नहीं जो युगपत् उभय रूपोंका प्रधान भावसे कथन कर सके अतः युगपदुभय विवक्षामें वस्तु अवक्तव्य है। प्रथम समयमें घटस्वरूपकी मुख्यता तथा द्वितीय समयमें युगपदुभय विवक्षा होनेपर घट स्यात् घट और अवक्तव्य है। अघट रूपकी विवक्षा तथा क्रमशः युगपदुभय विवक्षा होनेपर घट स्यादघट और अवक्तव्य है। क्रमशः उभय धर्म और युगपदुभय धर्मोंकी सामूहिक विवक्षा होनेपर घट स्यादुभय और अवक्तव्य है। इस तरह यह सप्तभंगी प्रक्रिया सभी सम्यग्दर्शनादिमें लगा देनी चाहिए।

यदि द्रव्यार्थिक नयका एकान्त आग्रह किया जाता है तो अतत्को तत् कहनेके कारण उन्मत्त वाक्यकी तरह वह अग्राह्य हो जायगा। इसी तरह यदि पर्यायार्थिकका सर्वथा आग्रह किया जाता है तो तत्को भी अतत् कहनेके कारण असद्वाद ही हो जायगा। स्याद्वाद वस्तुके यथार्थरूपका निश्चय करनेके कारण सद्वाद है। वस्तुको सर्वथा अवक्तव्य कहना

भी असद्वाद है। क्योंकि इस दशामें 'अवक्तव्य' यह वचन भी नहीं बोल सकेंगे जैसे कि मौनव्रती 'मैं मौनव्रती हूं' यह शब्द भी नहीं बोल सकता। अतः स्यादवक्तव्यवाद ही सत्य है। हिताहितविवेक भी इसीसे होता है।

§ ६–७ **प्रश्न**–यदि अनेकान्तमें भी यह विधि प्रतिषेध कल्पना लगती है तो जिस समय अनेकान्तमें 'नास्ति' भंग प्रयुक्त होगा उस समय एकान्तवादका प्रसङ्ग आ जाता है। और अनेकान्तमें अनेकान्त लगानेपर अनवस्था दूषण होता है। अतः अनेकान्तको अनेकान्त ही कहना चाहिए। **उत्तर**–अनेकान्तमें भी प्रमाण और नयकी दृष्टिसे अनेकान्त और एकान्त रूपसे अनेकमुखी कल्पनाएं हो सकती हैं। अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्याके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं। प्रमाणके द्वारा निरूपित वस्तुके एक देशको सयुक्ति ग्रहण करनेवाला सम्यगेकान्त है। एक धर्मका सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मोंका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तुमें युक्ति और आगमसे अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मोंको ग्रहण करनेवाला सम्यगनेकान्त है तथा वस्तुको तत् अतत् आदि स्वभावसे शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना अर्थशून्य वचनविलास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यगेकान्त नय कहलाता है तथा सम्यगनेकान्त प्रमाण। यदि अनेकान्तको अनेकान्त ही माना जाय और एकान्तका लोप किया जाय तो सम्यगेकान्तके अभावमें शाखादिके अभावमें वृक्षके अभावकी तरह तत्समुदाय रूप अनेकान्तका भी अभाव हो जायगा। यदि एकान्त ही माना जाय तो अविनाभावी इतर धर्मोंका लोप होनेपर प्रकृत शेषका भी लोप होनेसे सर्वलोपका प्रसंग प्राप्त होता है।

§ ८ अनेकान्त छल रूप नहीं है क्योंकि जहां वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना करके वचन विघात किया जाता है वहां छल होता है। जैसे 'नवकम्बलो देवदत्तः' यहां 'नव' शब्दके दो अर्थ होते हैं। एक ९ संख्या और दूसरा नया। तो 'नूतन' विवक्षासे कहे गये 'नव' शब्दका ९ संख्या रूप अर्थविकल्प करके वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना छल कही जाती है किन्तु सुनिश्चित मुख्य गौण विवक्षासे संभव अनेक धर्मोंका सुनिर्णीत रूपसे प्रतिपादन करनेवाला अनेकान्तवाद छल नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें वचनविघात नहीं किया गया है अपितु यथावस्थित वस्तुतत्त्वका निरूपण किया गया है।

§ ९–१४ **प्रश्न**–एक आधारमें विरोधी अनेक धर्मोंका रहना असंभव है अतः अनेकान्त संशय हेतु है? **उत्तर**–सामान्य धर्मका प्रत्यक्ष होनेसे विशेष धर्मोंका प्रत्यक्ष न होनेपर किन्तु उभय विशेषोंका स्मरण होनेसे संशय होता है। जैसे धुँधली रात्रिमें स्थाणु और पुरुषगत ऊंचाई आदि सामान्य धर्मकी प्रत्यक्षता होने पर स्थाणुगत कोटर पक्षिनिवास तथा पुरुषगत सिर खुजाना कपड़ा हिलने आदि विशेष धर्मोंके न दिखनेपर किन्तु इन विशेषोंका स्मरण रहनेपर ज्ञान दो कोटियोंमें दोलित हो जाता है कि यह स्थाणु है या पुरुष। किन्तु अनेकान्तवादमें विशेष धर्मोंकी अनुपलब्धि नहीं है। सभी धर्मोंकी सत्ता अपनी अपनी निश्चित अपेक्षाओंसे स्वीकृत है। तत्तद् धर्मोंका विशेष प्रतिभास निर्विवाद सापेक्ष रीतिसे बताया गया है। संशयका यह आधार भी उचित नहीं है कि 'अस्ति आदि धर्मोंको पृथक्-पृथक् सिद्ध करनेवाले हेतु हैं या नहीं? यदि नहीं हैं तो प्रतिपादन कैसा? यदि हैं; तो एक ही वस्तुमें परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी सिद्धि होनेपर संशय होना ही चाहिए'; क्योंकि यदि विरोध होता तो संशय होता। किन्तु अपनी अपनी अपेक्षाओंसे संभवित

धर्मोंमें विरोधकी कोई संभावना ही नहीं है। जैसे एक ही देवदत्त भिन्न-भिन्न पुत्रादि सम्बन्धियोंकी दृष्टिसे पिता पुत्र मामा आदि निर्विरोध रूपसे व्यवहृत होता है। उसी तरह अस्तित्व आदि धर्मोंका भी एक वस्तुमें रहनेमें कोई विरोध नहीं है। देवदत्त यदि अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है तो सबकी अपेक्षा पिता नहीं हो सकता। जैसे कि एक ही हेतु सपक्षमें सत् होता है और विपक्षमें असत् होता है उसी तरह विभिन्न अपेक्षाओंसे अस्तित्व आदि धर्मोंके रहनेमें भी कोई विरोध नहीं है।

अथवा, जैसे वादी या प्रतिवादीके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक हेतु स्वपक्षकी अपेक्षा साधक और परपक्षकी अपेक्षा दूषक होता है उसीप्रकार एक ही वस्तुमें विभिन्न अपेक्षाओंसे विविध धर्म रह सकते हैं। 'एक वस्तु अनेक धर्मात्मक है' इसमें किसी वादीको विवाद भी नहीं है। यथा–सांख्य सत्त्व, रज और तम, इन भिन्न स्वभाववाले धर्मोंका आधार एक 'प्रधान' मानते हैं। वैशेषिक पृथिवीत्व आदि सामान्यविशेष स्वीकार करते हैं। एक ही पृथिवीत्व स्वव्यक्तियोंमें अनुगत होनेसे सामान्यात्मक होकर भी जलादि से व्यावृत्ति करानेके कारण विशेष कहा जाता है। इसीलिए इसकी सामान्यविशेष संज्ञा है। बौद्ध कर्कश आदि विभिन्न लक्षणवाले परमाणुओंके समुदायको एक रूप स्वलक्षण मानते हैं। इनके मतमें भी विभिन्न परमाणुओंमें रूपकी दृष्टिसे कोई विरोध नहीं है। विज्ञानाद्वैतवादी एक ही विज्ञानको ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार इस प्रकार त्रयाकार स्वीकार करते ही हैं। सभी वादी पूर्वावस्थाको कारण और उत्तरावस्थाको कार्य मानते हैं अतः एक ही पदार्थमें अपनी पूर्व और उत्तरपर्यायकी दृष्टिसे कारण-कार्य व्यवहार निर्विरोध रूपसे होता ही है। उसी तरह सभी जीवादि पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओंसे अनेक धर्मोंके आधार होते हैं।

जीवादिके अधिगमके अन्य उपाय–

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

निर्देश-नाममात्र कथन या स्वरूप निश्चय, स्वामित्व–अधिकारी, साधन--कारण, अधिकरण-आधार, स्थिति-कालमर्यादा और विधान–भेद-प्रभेदसे भी जीवादिका अधिगम होता है।

§ १-२ जिस पदार्थके स्वरूपका निश्चय हो जाता है उसीके स्वामित्व साधन आदि जाननेकी इच्छा होती है अतः सर्वप्रथम निर्देशका ग्रहण किया गया है। अन्य स्वामित्व आदिका प्रश्नोंके अनुसार क्रम है।

§ ३-५ पर्यायार्थिक नयसे औपशमिक आदि भावरूप जीव है। द्रव्यार्थिक नयसे नामादि रूप जीव है। प्रमाणदृष्टिसे जीवका निर्देश उभयरूपसे होता है।

§ ६-७ निश्चयदृष्टिसे जीव अपनी पर्यायोंका स्वामी है। जैसे कि अग्निका स्वामित्व उष्णता पर है। पर्याय और पर्यायीमें कथञ्चिद् भेद दृष्टिसे स्वामित्व व्यवहार हो जाता है। व्यवहार नयसे सभी पदार्थोंका स्वामी जीव हो सकता है।

§ ८-९ निश्चय नयसे जीव अपने अनादि पारिणामिक भावोंसे ही स्वस्वरूपलाभ करता है। व्यवहार नयसे औपशमिकादि भावोंसे तथा माता-पिताके रजवीर्य आहार आदिसे भी स्वरूपलाभ करता है।

§ १०--११ निश्चय नयसे जीव अपने असंख्यात प्रदेशोंमें रहता है तथा व्यवहार नयसे कर्मानुसार प्राप्त शरीरमें रहता है।

§ १२ द्रव्यदृष्टिसे जीवकी स्थिति अनाद्यनन्त है। कभी भी जीव चैतन्य जीवद्रव्यत्व उपयोग असंख्यातप्रदेशित्व आदि सामान्य स्वरूपको नहीं छोड़ सकता। पर्यायकी अपेक्षा स्थिति एक समय आदि अनेक प्रकार की है।

§ १३ जीवद्रव्य नारक मनुष्य आदि पर्यायोंके भेदसे संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रकार के हैं।

§ १४ इसी तरह अजीवादिमें भी निर्देश आदिकी योजना करनी चाहिए। यथा निर्देश--दश प्राणरहित अजीव होता है। अथवा नाम आदि रूप भी अजीव है। अजीवका स्वामी अजीव ही होता है अथवा भोक्ता होनेके कारण जीव भी। पुद्गलोंके अणुत्वका साधन भेद है और स्कन्धका साधन भेद और संघात। बाह्य साधन कालादि हैं। धर्म अधर्म काल और आकाशमें स्वाभाविक गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, वर्तनाहेतुता और अवगाहनहेतुता ही साधन है। अथवा जीव और पुद्गल, क्योंकि इनके निमित्तसे गत्यादिहेतुताकी अभिव्यक्ति होती है। साधारणतया सभी द्रव्योंका अपना निज रूप ही अधिकरण है। आकाश बाह्य अधिकरण है। जलादिके लिए घट आदि अधिकरण हैं। द्रव्य दृष्टिसे स्थिति अनाद्यनन्त है तथा पर्यायदृष्टिसे एक समय आदि। द्रव्यदृष्टिसे धर्मादि तीन द्रव्य एक एक हैं। पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनन्त जीवपुद्गलोंकी गत्यादिमें निमित्त होनेसे अनेक हैं–संख्यात असंख्यात और अनन्त हैं। काल संख्यात और असंख्यात है। परपरिणमनमें निमित्त होता है अतः अनन्त भी है। पुद्गलद्रव्य सामान्यसे एक है। विशेष रूपसे संख्यात असंख्यात और अनन्त है।

आस्रव–मन, वचन और कायकी क्रिया रूप होता है, अथवा नामादि रूप आस्रव होता है। उपादान रूपसे आस्रवका स्वामी जीव है, निमित्तकी दृष्टिसे कर्मपुद्गल भी आस्रवका स्वामी होता है। अशुद्ध आत्मा साधन है अथवा निमित्त रूपसे कर्म भी। जीव ही आधार है क्योंकि कर्मपरिपाक जीवमें ही होता है। कर्मनिमित्तक शरीरादि भी उपचार से आधार हैं। वाचनिक और मानस आस्रवकी स्थिति जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्त है। कायास्रवकी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल या असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है। वाचनिक और मानस आस्रव सत्य असत्य उभय और अनुभयके भेदसे चार प्रकारका है। कायास्रव औदारिक औदारिकमिश्र वैक्रियिक वैक्रियिकमिश्र आहारक आहारकमिश्र और कार्मणके भेदसे सात प्रकारका है। औदारिक और औदारिकमिश्र मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है। वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्र देव और नारकियोंके होता है। ऋद्धिप्राप्त संयतोंके आहारक और आहारकमिश्र होता है। विग्रहगतिप्राप्त जीव और समुद्घातगत केवलियोंके कार्मण कायास्रव होता है। आस्रव शुभ और अशुभके भेदसे भी दो प्रकारका है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदिमें प्रवृत्ति अशुभ कायास्रव है तथा निवृत्ति शुभकायास्रव। कठोर गाली चुगली आदि रूपसे परबाधक वचनोंकी प्रवृत्ति वाचनिक अशुभास्रव हैं और इनसे निवृत्ति वाचनिक शुभास्रव। मिथ्या श्रुति ईर्षा मात्सर्य षड्यन्त्र आदि रूपसे मानस प्रवृत्ति मानस अशुभास्रव है और इनसे निवृत्ति मानस शुभास्रव।

बन्ध–जीव और कर्मप्रदेशोंका परस्पर संश्लेष बन्ध है अथवा जिसका नाम बन्ध रखा या स्थापना आदि की, वह बन्ध है। बन्धका फल जीवको भोगना पड़ता है अतः स्वामी जीव है। चूंकि बन्ध दोमें होतां है अतः पुद्गल कर्म भी स्वामी कहा जा सकता है। मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये बन्धके साधन हैं अथवा इन रूपसे परिणत आत्मा साधन है। स्वामिसम्बन्धके योग्य वस्तु ही अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल ही बन्धके आधार हैं। जघन्य स्थिति वेदनीयकी बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त और शेष कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तरायकी तीस कोड़ा-कोड़ी सागर है। मोहनीयकी सत्तर कोड़ाकोड़ी, नाम और गोत्रकी बीस कोड़ाकोड़ी सागर है। आयुकी तेतीस सागर स्थिति है। अभव्य जीवोंके बन्ध सन्तानकी अपेक्षा अनाद्यनन्त है। उन भव्योंका बन्ध भी अनाद्यनन्त है जो अनन्तकाल तक सिद्ध न होंगे। ज्ञानावरण आदि कर्मोंका उत्पाद और विनाश प्रतिसमय होता रहता है अतः सादि सान्त भी है। सामान्यरूपसे बन्ध एक है। शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकार है। द्रव्य भाव और उभयके भेदसे तीन प्रकारका है। प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका है। मिथ्यादर्शनादि कारणोंके भेदसे पांच प्रकारका है। नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूपसे छह प्रकारका है। इनमें भव और मिलानेसे सात प्रकार का है। ज्ञानावरण आदि मूल कर्मप्रकृतियोंकी दृष्टिसे आठ प्रकारका है। इस प्रकार कारणकार्यकी दृष्टिसे संख्यात असंख्यात और अनन्त विकल्प होते हैं।

संवर–आस्रव-निरोधको संवर कहते हैं अथवा नामादि रूप भी संवर होता है। इसका स्वामी जीव होता है अथवा रोके जानेवाले कर्मकी दृष्टिसे कर्म भी स्वामी है। गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा आदि साधन हैं। स्वामि सम्बन्धके योग्य वस्तु आधार है। जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण है। विधान एकसे लेकर एक सौ आठ तक तथा आगे भी संख्यात आदि विकल्प होते हैं। तीन गुप्ति, पांच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय, बारह तप, नव प्रायश्चित्त, चार विनय, दस वैयावृत्य, पांच स्वाध्याय, दो व्युत्सर्ग, दस धर्म ध्यान और चार शुक्लध्यान ये संवरके १०८ भेद होते हैं।

निर्जरा–यथाकाल या तपोविशेषसे कर्मोंकी फलदानशक्ति नष्ट कर उन्हें झड़ा देना निर्जरा है। नामस्थापना आदि रूप भी निर्जरा होती है। निर्जराका स्वामी आत्मा है अथवा द्रव्य निर्जराका स्वामी जीव भी है। तप और समयानुसार कर्मविपाक ये दो साधन हैं। आत्मा या निर्जराका स्वस्वरूप आधार है। सामान्यसे निर्जरा एक प्रकार की है, यथाकाल और औपक्रमिकके भेदसे दो प्रकार की है, मूल कर्मप्रकृतियोंकी दृष्टिसे आठ प्रकार की है, इसी तरह कर्मके रसको क्षीण करनेके विभिन्न प्रकारोंकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

मोक्ष–संपूर्ण कर्मोंका क्षय मोक्ष है अथवा नामादिरूप मोक्ष होता है। परमात्मा और मोक्षस्वरूप ही स्वामी है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके साधन हैं। स्वामिसम्बन्धके योग्य पदार्थ अर्थात् जीव और पुद्गल आधार होते हैं। सादि अनन्त स्थिति है। सामान्यसे मोक्ष एक ही प्रकारका है। द्रव्य भाव और भोक्तव्यकी दृष्टिसे अनेक प्रकार का है।

सम्यग्दर्शन–तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं अथवा नामादिरूप भी सम्यग्दर्शन होता है। स्वामी आत्मा और सम्यग्दर्शन पर्याय है। दर्शनमोहके उपशम आदि अन्तरंग साधन हैं, उपदेश आदि बाह्य साधन हैं। स्वामि सम्बन्धके योग्य वस्तु अधिकरण है। जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छयासठ सागर प्रमाण है। अथवा औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन सादि सान्त होते हैं तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन सादि अनन्त। सामान्यसे सम्यग्दर्शन एक है, निसर्गज और अधिगमज रूपसे दो प्रकारका है, औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है। इसी तरह विभिन्न परिणामोंकी दृष्टिसे संख्यात असंख्यात और अनन्त विकल्प होते हैं।

ज्ञान–जीवादितत्त्वोंके प्रकाशनको ज्ञान कहते हैं अथवा नामादि रूप भी ज्ञान होता है। स्वामी आत्मा है या ज्ञान पर्याय। ज्ञानावरण आदि कर्मका क्षयोपशम आदि साधन हैं अथवा अपनेको प्रकट करनेकी योग्यता। आत्मा अथवा स्वाकार ही अधिकरण है। क्षायोपशमिक मति आदि चार ज्ञान सादि सान्त हैं। क्षायिक ज्ञान सादि अनन्त होता है। सामान्यसे ज्ञान एक है, प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है। द्रव्य गुण और पर्यायरूप ज्ञेयके भेदसे तीन प्रकारका है। नामादिके भेदसे चार प्रकारका है। मति श्रुत अवधि आदिके भेदसे पांच प्रकारका है। इसी तरह ज्ञेयाकार परिणतिके भेदसे संख्यात असंख्यात और अनन्त विकल्प होते हैं।

चारित्र–कर्मोंके आनेके कारणोंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं अथवा नामादिरूप भी चारित्र होता है। आत्मा अथवा चारित्रपर्याय स्वामी है। चारित्रमोहका उपशम आदि अथवा चारित्रशक्ति साधन हैं। स्वामिसम्बन्धके योग्य वस्तु अधिकरण है। जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम पूर्वकोटी प्रमाण है। अथवा औपशमिक और क्षायोपशमिक चारित्र सादि और सान्त हैं। क्षायिक चारित्र शुद्धिकी प्रकटताकी अपेक्षा सादि अनन्त होता है। सामान्यसे चारित्र एक है। बाह्य और आभ्यन्तर निवृत्तिकी अपेक्षा दो प्रकारका है। औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है। चार प्रकारके यतिकी दृष्टिसे या चतुर्थमकी अपेक्षा चार प्रकारका है। सामायिक आदिके भेदसे पांच प्रकारका है। इसी तरह विविध निवृत्तिरूप परिणामोंकी दृष्टिसे संख्यात असंख्यात और अनन्त विकल्परूप होता है।

जीवादिके अधिगमके अन्य उपाय–

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-काल-अन्तर-भाव और अल्प-बहुत्वके द्वारा भी जीवादि-पदार्थोंका अधिगम होता है।

§ १–२ यद्यपि 'सत्' शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें होता है–जैसे 'सत्पुरुष, सदश्व' यहाँ प्रशंसार्थक सत् शब्द है। 'सन् घटः सन् पटः' यहाँ सत् शब्द अस्तित्ववाचक है। 'प्रव्रजितः सन् कथमनृतं ब्रूयात्–अर्थात् दीक्षित होकर असत्य भाषण कैसे कर सकते हैं' यहाँ सत् शब्द प्रतिज्ञावाचक है। 'सत्कृत्य'में सत् शब्द आदरार्थक है। यहाँ विवक्षासे सत् शब्द विद्यमानवाची ग्रहण किया गया है। चूँकि सत् सर्वपदार्थव्यापी है और समस्त विचारों

का आधार होता है अतः उसको सर्वप्रथम ग्रहण किया है। गुण और क्रिया आदि किसीमें होते हैं किसीमें नहीं पर 'सत्' सर्वत्र अप्रतिहतगति है।

§ ३ जिसका सद्भाव प्रसिद्ध है उसी पदार्थकी संख्यात असंख्यात या अनन्त रूपसे गणना की जाती है अतः सत्के बाद परिमाण निश्चय करनेवाली संख्याका ग्रहण किया गया है।

§ ४ जिसकी संख्याका परिज्ञान हो गया है उस पदार्थके ऊपर-नीचे आदि रूपसे वर्तमान निवासकी प्रतिपत्तिके अर्थ उसके बाद क्षेत्रका ग्रहण किया है।

§ ५ पदार्थोंकी त्रैकालिक अवस्थाएँ विचित्र होती हैं, अतः त्रैकालिक क्षेत्रकी प्रतिपत्तिके लिए उसके बाद स्पर्शनका ग्रहण किया है। किसीका क्षेत्र प्रमाण ही स्पर्शन होता है तो किसीका एक जीव या नाना जीवोंकी अपेक्षा ६ राजू या आठ राजू।

§ ६ किसी क्षेत्रमें स्थित पदार्थकी काल मर्यादा निश्चय करना काल है।

§ ७ अन्तर शब्दके अनेक अर्थ हैं। यथा–'सान्तरं काष्ठम्' में छिद्र अर्थ है। 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभते' यहां द्रव्यान्तरका अर्थ अन्य द्रव्य है। 'हिमवत्सागरान्तरे'में अन्तर शब्दका अर्थ मध्य है। 'शुक्लरक्ताद्यन्तरस्थस्य स्फटिकस्य–सफेद और लाल रंगके समीप रखा हुआ स्फटिक' यहाँ अन्तरका समीप अर्थ है। कहींपर 'विशेषता' अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। जैसे 'घोड़ा हाथी और लोहेमें' 'लकड़ी पत्थर और कपड़ेमें' स्त्री-पुरुष और जलमें अन्तर ही नहीं, महान् अन्तर है। यहाँ अन्तर शब्द वैशिष्ट्यवाचक है। 'ग्राम-स्यान्तरे कूपाः' में बाह्यार्थक अन्तर शब्द है अर्थात् गाँवके बाहर कुआ है। कहीं उपसंव्यान अर्थात् अन्तर्वस्त्रके अर्थमें अन्तर शब्दका प्रयोग होता हैं यथा 'अन्तरे शाटकाः'। कहीं विरह अर्थमें जैसे 'अनभिप्रेत श्रोतृजनान्तरे मन्त्रयते–अनिष्ट व्यक्तियोंके विरहमें मन्त्रणा करता है'। प्रकृतमें छिद्र मध्य और विरहमेंसे कोई एक अर्थ लेना चाहिए।

§ ८ किसी समर्थ द्रव्यकी किसी निमित्तसे अमुक पर्यायका अभाव होनेपर निमित्तान्तरसे जब तक वह पर्याय पुनः प्रकट नहीं होती तब तकके कालको अन्तर कहते हैं।

§ ९ औपमशमिक आदि परिणामोंके निर्देशके लिए भावका ग्रहण किया है।

§ १० संख्याका निश्चय होनेपर भी परस्पर न्यूनाधिक्यका ज्ञान करनेके लिए अल्पबहुत्वका कथन है।

§ ११–१४ **प्रश्न**–निर्देशके ग्रहणसे ही 'सत्'का अर्थ पूरा हो जाता है अतः इस सूत्रमें 'सत्' का ग्रहण निरर्थक है ? **उत्तर**–'सत्'के द्वारा गति इन्द्रिय काय आदि चौदह मार्गणाओंमें 'कहां है कहां नहीं है ?' आदिरूपसे सम्यग्दर्शनादिका अस्तित्व सूचित किया जाता है। अधिकृत जीवादि और सम्यग्दर्शनादिका यद्यपि 'निर्देश'के द्वारा ग्रहण हो जाता है परन्तु अनधिकृत क्रोधादि या अजीवपर्याय वर्णादिके अस्तित्वका सूचन करनेके लिए 'सत्' का ग्रहण आवश्यक है।

§ १५ विधान और संख्या ग्रहणके पृथक्-पृथक् प्रयोजन हैं–विधानके द्वारा सम्यग्दर्शनादिके प्रकारोंकी गिनती की जाती है और प्रत्येक प्रकारकी वस्तुओंकी गिनती संख्याके द्वारा की जाती है–इतने उपशम सम्यग्दृष्टि हैं, इतने क्षायिकसम्यग्दृष्टि हैं आदि।

§ १६ यद्यपि आपाततः क्षेत्र और अधिकरणमें कोई अन्तर नहीं है फिर भी अधिकृत अनधिकृत सभी पदार्थोंका क्षेत्र बतानेके लिए विशेषरूपसे क्षेत्रका ग्रहण किया है।

§ १७–१९ **प्रश्न**–क्षेत्रके होनेपर ही स्पर्शन होता है, घटरूप क्षेत्रके रहने पर ही जल उसे स्पर्शन करता है अतः क्षेत्रसे स्पर्शनका पृथक् कथन नहीं करना चाहिए ? **उत्तर**–क्षेत्र शब्द विषयवाची है जैसे राजा जनपदक्षेत्रमें रहता है यहां राजाका विषय जनपद है न कि वह सम्पूर्ण जनपदको स्पर्श करता है परन्तु स्पर्शन सम्पूर्ण विषयक होता है। क्षेत्र वर्तमानवाची है और स्पर्शन त्रिकालगोचर होता है, अर्थात् त्रैकालिक क्षेत्रको स्पर्शन कहते हैं।

§ २० मुख्यकालके अस्तित्वकी सूचना देनेके लिए स्थितिसे पृथक् कालका ग्रहण किया है। व्यवहारकाल पर्याय और पर्यायीकी अवधिका परिच्छेद करता है। सभी पदार्थोंके अधिगमके लिए किंचित् विशेषका निरूपण किया गया है।

§ २१ यद्यपि निक्षेपोंमें 'भाव' का निरूपण है किन्तु यहां भावसे औपशमिकादि जीवभावोंके कहनेकी विवक्षा है और वहां सामान्यसे पर्यायनिरूपण की।

§ २२ तत्त्वाधिगमके विभिन्न प्रकारोंका निर्देश शिष्यकी योग्यता अभिप्राय और जिज्ञासाकी शान्तिके लिए किया जाता है। कोई अति संक्षेपमें समझ लेते हैं कोई विस्तारसे और कोई मध्यम रीतिसे। अन्यथा 'प्रमाण' इस संक्षिप्त ग्रहणसे ही सब प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं तो अन्य सभी उपायोंका कथन निरर्थक हो जायगा।

सम्यग्ज्ञानका वर्णन––

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल ये पांच ज्ञान हैं।

§ १ मत्यावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे अर्थोंका मनन मति है। यह 'मननं मतिः' भावसाधन है। 'मनुते अर्थान् मतिः' यह कर्तृसाधन भी स्वतन्त्र विवक्षामें होता है। 'मन्यते अनेन' यह करण-साधन भी मति शब्द होता है। ज्ञान और आत्माकी भेद-अभेद विवक्षामें तीनों प्रकार बन जाते हैं।

§ २ श्रुत शब्द कर्मसाधन भी होता है। श्रुतावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो सुना जाय वह श्रुत। कर्तृसाधनमें श्रुतपरिणत आत्मा श्रुत है। करण विवक्षामें जिससे सुना जाय वह श्रुत है। भावसाधनमें श्रवणक्रिया श्रुत है।

§ ३ अव पूर्वक धा धातुसे कर्म आदि साधनोंमें अवधि शब्द बनता है। 'अव' शब्द 'अधः'वाची है जैसे अधःक्षेपणको अवक्षेपण कहते हैं: अवधिज्ञान भी नीचेकी ओर बहुत पदार्थोंको विषय करता है। अथवा, अवधिशब्द मर्यादार्थक है अर्थात् द्रव्यक्षेत्रादिकी मर्यादासे सीमित ज्ञान अवधिज्ञान है। यद्यपि केवलज्ञानके सिवाय सभी ज्ञान सीमित हैं फिर भी रूढ़िवश इसी ज्ञानको अवधिज्ञान-सीमितज्ञान कहते हैं। जैसे गतिशील सभी पदार्थ हैं पर गाय ही रूढ़िवश गौ (गच्छतीति गौः) कही जाती है।

§ ४ मनःपर्यय-ज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर दूसरेके मनोगत अर्थको जानना मनःपर्यय है। पर मनोगत अर्थको मन कहते हैं, मनमें रहनेके कारण वह अर्थ मन कहलाता है। अर्थात् मनोविचारका विषय भावघट आदिको विशुद्धिवश जान लेना मनःपर्यय है।

§ ५ **प्रश्न**–आगममें 'मनसा मनः संपरिचिन्त्य–अर्थात् मनके द्वारा मनको विचारकर' ऐसा कथन है अतः मनोनिमित्त होनेसे इसे मानस मतिज्ञान कहना चाहिए ?

उत्तर–जैसे आकाशमें चन्द्रको देखनेमें आकाशकी साधारण अपेक्षा होती है उसी तरह मनःपर्यय ज्ञानमें मन अपेक्षा मात्र है जैसे मन मतिज्ञानमें कारण होता है उस तरह यहां कारण नहीं है क्योंकि मनःपर्ययमात्र आत्मविशुद्धिजन्य है।

§ ६–७ जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर विविध प्रकारके तप तपे जाते हैं वह लक्ष्यभूत केवलज्ञान है। जैसे 'केवल अन्न खाता है' यहां केवल शब्द असहाय अर्थमें है अर्थात् असहाय शाक आदि रहित अन्न खाता है उसी तरह केवल अर्थात् क्षायोपशमिक आदि ज्ञानोंकी सहायतासे रहित असहाय केवल ज्ञान है। यह रूढ़ शब्द है।

§ ८–९ जैनमतमें जिस प्रकार ज्ञान करण आदि साधनोंमें निष्पन्न होता है अन्य एकान्तवादियोंके यहां ज्ञानकी करणादि साधनता नहीं बन सकती।

§ १० जो बौद्ध आत्माका ही अस्तित्व नहीं मानते उनके यहां कर्ताका अभाव होनेसे ज्ञानमें 'ज्ञायते अनेन' यह करण प्रयोग नहीं हो सकता। फरसेके प्रयोग करनेवाले देवदत्तके रहनेपर ही फरसा छेदन क्रियाका करण कहा जा सकता है। इसी तरह 'ज्ञाति-र्ज्ञानम्' यह भाव साधन भी नहीं बन सकता; क्योंकि भाववान्के अभावमें भावकी सत्ता नहीं रह सकती। 'जानातीति ज्ञानम्' इस तरह ज्ञानको कर्तृसाधन कहना भी उचित नहीं हैं क्योंकि जब सभी पदार्थ निरीह हैं एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते तब निरीह पदार्थ कर्त्ता कैसे बन सकता है ? फिर, पूर्व और उत्तर पर्यायकी अपेक्षा रखनेवाला पदार्थ कर्ता होता है। क्षणिक ज्ञान तो पूर्वोत्तरकी अपेक्षा नहीं रखता अतः निरपेक्ष होनेके कारण कर्ता नहीं बन सकता। संसारमें करणके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाला पदार्थ कर्ता होता है, पर ज्ञानके लिए कोई अन्य करण तो है ही नहीं अतः वह कर्त्ता नहीं बन सकता। स्वशक्तिको करण कहना तो उचित नहीं है; क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्में भेद माननेपर शक्तिमान्की जगह आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा। अभेद माननेपर तो वही कर्तृत्वाभाव नामक दोष आता है। सन्तानकी अपेक्षा पूर्व क्षणको कर्ता और उत्तर क्षणको करण मानकर व्यवस्था बनाना भी उचित नहीं है; क्योंकि सन्तान यदि परमार्थ है, तो आत्माकी सिद्धि हो जाती है। यदि मिथ्या है; तो मृषावाद हो जायगा। सन्तान यदि क्षणोंसे भिन्न है; तो उन क्षणोंसे कोई वास्तविक सम्बन्ध न होनेके कारण वह 'उनकी' सन्तान नहीं कही जा सकती। यदि अभिन्न है तो क्षणोंकी तरह परस्पर निरन्वय रहनेके कारण पूर्वोक्त दोष बने रहेंगे। मन रूप इन्द्रियको करण कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि उसमें वह शक्ति ही नहीं है। "छहों ज्ञानोंके लिए एक क्षण पूर्वका ज्ञान मन होता है" यह उनका सिद्धान्त है। इसीलिए अतीतज्ञान रूप मन इन्द्रिय भी नहीं हो सकता। जो ज्ञान उत्पन्न हो रहा है तत्समकालीनको भी करण नहीं कह सकते; क्योंकि समसमयवालोंमें कार्य कारण व्यवहार नहीं बन सकता जैसे कि एक साथ उत्पन्न होनेवाले दाएं बाएं दो सींगोंमें परस्पर। ज्ञानमें 'ज्ञा–जानना' इस प्रकृतिको छोड़कर अन्य कोई अंश तो है नहीं जो 'जाननेवाला' बनकर कर्ता हो सके। क्षणिकवादीके मतमें कर्तृत्व जब एक क्षणवर्ती है तब वह अनेक क्षणवर्ती 'कर्तृ' शब्दसे कहा ही कैसे जायगा ? 'कर्तृ' शब्द भी जब एकक्षणवर्ती नहीं है तब वाचक कैसे बन सकता है ? सन्तानकी दृष्टिसे वाच्यवाचक सम्बन्ध बनाना भी समुचित

नहीं है क्योंकि सन्तान अवास्तविक है। तत्त्वको सर्वथा अवाच्य कहना तो नितान्त अनुचित है क्योंकि अवाच्य पक्षमें उसे 'अवाच्य' शब्दसे भी नहीं कह सकेंगे, अतः तत्त्व प्रतिपत्तिके उपायका भी लोप हो जायगा। किंच, कर्तृसाधन और करणसाधन दोनोंको जाननेवाला एक व्यक्ति ही यह भेद कर सकता है कि 'ज्ञान कर्तृसाधन है, करणसाधन नहीं है' जब क्षणिकवादीके यहाँ प्रत्येक ज्ञान एक अर्थको विषय करनेवाला और क्षणिक है तब निर्णय ही नहीं हो सकेगा। जो व्यक्ति सफेद और कालेको नहीं जानता वह 'यह काला है सफेद नहीं' यह विधिनिषेध कर ही नहीं सकता।

§ ११ आत्माका अस्तित्व मानकर भी यदि उसे निरतिशय अविकारी नित्य माना जाता है तो भी ज्ञानमें करणसाधनता आदि सिद्ध नहीं हो सकते; क्योंकि अपरिणामी आत्मासे ज्ञान आदि परिणामोंका सम्बन्ध ही नहीं बन पाता। जब आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है तथा आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञान भी स्वतन्त्र; तब ज्ञान आत्माका करण कैसे बन सकता है क्योंकि दोनों निरपेक्ष होनेसे परस्पर सम्बन्धी नहीं हो सकते। जिस प्रकार छेदनेवाले देवदत्तसे करणभूत फरसा कठोर तीक्ष्ण आदि रूपसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है उस तरह ज्ञानका पृथक् सिद्ध कोई स्वरूप उपलब्ध नहीं होता जिससे उसे करण बनाया जाय। फरसा भी तब करण बनता है जब वह देवदत्तकृत ऊपर उठने और नीचे गिरकर लकड़ीके भीतर घुसने रूप व्यापारकी अपेक्षा रखता है, किन्तु ज्ञानमें कर्ताके द्वारा की जानेवाली कोई क्रिया नहीं दिखाई देती जिसकी अपेक्षा रखनेके कारण उसे करण कहा जाय। स्वयं छेदनक्रियामें परिणत देवदत्त अपनी सहायताके लिए फरसेको लेता है और इसीलिए फरसा करण कहलाता है पर यहाँ आत्मा स्वयं ज्ञानक्रिया रूपसे परिणति ही नहीं करता। क्योंकि ज्ञान स्वतन्त्र पदार्थ है। यदि ज्ञान आत्मासे भिन्न है तो आत्मा घटादि पदार्थोंकी तरह अज्ञ अर्थात् ज्ञानशून्य जड़ हो जायगा। दंडेके सम्बन्धसे दंडीकी तरह सम्बन्ध कल्पना उचित नहीं है क्योंकि जब आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभाव नहीं है तब ज्ञानका सम्बन्ध आत्मासे ही हो मन या इन्द्रियसे नहीं, यह प्रतिनियम ही नहीं बन सकता। फिर, दण्ड और दण्डी दोनों अपने अपने लक्षणोंसे पृथक् सिद्ध हैं अतः उनका सम्बन्ध तो समझमें आता है पर आत्मासे भिन्न ज्ञानकी या ज्ञानशून्य आत्माकी जब स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती तब उनमें दण्डदण्डिकी तरह सम्बन्ध कैसे बन सकता है ? ज्ञानके उत्पन्न होने पर भी यदि आत्मामें हिताहित विचाररूप परिणमन नहीं होता तो ज्ञान आत्माका विशेषण कैसे बन सकता है ? दो अंधोंके संयोगसे जैसे रूप दर्शनकी शक्ति नहीं आ सकती वैसे ही ज्ञानशून्य आत्मा और ज्ञानके सम्बन्धसे 'ज्ञ' व्यवहार नहीं हो सकेगा।

किंच, यदि 'जिनके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान' ऐसा निर्वचन किया जाता है तो इन्द्रिय और मनमें ज्ञानत्वका प्रसंग आता है। क्योंकि इनके द्वारा भी जाना जाता है। किंच, आत्मा सर्वगत होनेसे क्रियाशून्य है और ज्ञान गुण होनेसे क्रियारहित है क्योंकि क्रियावाला द्रव्य ही होता है, अतः दोनों क्रियारहित पदार्थोंमें न तो कर्तृत्व बन सकता है और न करणत्व ही।

सांख्य पुरुषको प्रकृतिसे भिन्न नित्य शुद्ध और निर्विकार कहते हैं। इनके मतमें भी ज्ञान करण नहीं हो सकता। इन्द्रिय मन अहङ्कार और महान् तत्त्वोंके आलोचन

संकल्प अभिमान और अध्यवसायात्मक व्यापाररूप बुद्धि प्रकृतितत्त्व है पुरुष इससे भिन्न नित्य शुद्ध और अविकारी है। बुद्धि ऐसे पुरुषका करण कैसे बन सकती है ? क्रिया-परिणत देवदत्तको ही करणकी आवश्यकता लोकमें प्रसिद्ध है।

इसी तरह ज्ञान कर्तृसाधन नहीं बन सकता। करणरूपसे प्रसिद्ध तलवार आदि की तीक्ष्णता आदि गुणोंकी प्रशंसामें 'तलवारने छेद दिया' इस प्रकारका कर्तृत्वधर्मका अध्यारोपण करके कर्तृसाधन प्रयोग होता है किन्तु यहाँ जब ज्ञानकी करणरूपसे सिद्धि ही नहीं है तब इसमें कर्तृत्व धर्मका आरोप करके करण प्रयोग कैसे हो सकता है ?

ज्ञान भावसाधन भी नहीं हो सकता। जिन चावल आदि पदार्थोंमें स्वतः विक्रिया-स्वभाव है उन्हींमें पचनक्रिया देखकर 'पचनं पाकः' यह क्रियाप्रधान भावप्रयोग होता है आकाश आदिमें नहीं। अतः परिणमनरहित अविकारी ज्ञानमें क्रियाप्रधान भावप्रयोग नहीं हो सकता। किंच, ज्ञानको प्रमाण माना जाता है। अतः जब तक उससे कोई अन्य अवबोध या फलात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा तब तक उस ज्ञानका 'ज्ञातिर्ज्ञानम्' ऐसा भावसाधन निर्देश नहीं हो सकता। बौद्धोंका यह कहना उचित नहीं है कि—'अधिगम भिन्न पदार्थ नहीं है अतः फलमें ही प्रमाणताका आरोप कर लेना चाहिए' क्योंकि मुख्य वस्तुके रहनेपर ही अन्यत्र आरोपकल्पना होती है, किन्तु यहां मुख्य प्रमाण पृथक् सिद्ध ही नहीं है। एक ही ज्ञानमें आकार भेदसे प्रमाण-फल भावकी कल्पना भी उचित नहीं है; क्योंकि आकार और आकारवान्में भेद और अभेद पक्षमें अनेक दोष आते हैं। निरंश तत्त्वमें आकारभेदकी कल्पना भी उचित नहीं है। ज्ञानवादमें बाह्य वस्तुओंके आकारके अभावमें अन्तरंग ज्ञानमें आकार आ ही नहीं सकता। जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तु अनेक-धर्मात्मक है। अतः पर्यायभेदसे एक ही ज्ञान कर्तृ करण और भाव साधन बन सकता है।

§१२ मति आदि प्रत्येकमें 'ज्ञान'का अन्वय कर लेना चाहिए। 'द्वन्द्व समासमें आदि या अन्तमें प्रयुक्त शब्दका सबके साथ अन्वय होता है' यह व्याकरणशास्त्रका प्रसिद्ध नियम है। 'केवलानि ज्ञानम्'में सामानाधिकरण्य होनेपर भी चूँकि 'ज्ञान' शब्द उपात्तसंख्यक है अतः एकवचन ही रहा है बहुवचन नहीं हुआ।

§१३ मति शब्द धिसंज्ञक है अल्पाक्षर है और मतिज्ञान अल्पविषयक है अतः उसका सर्वप्रथम ग्रहण किया गया है।

§१४–१६ चूँकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है अतः मतिके बाद श्रुतका ग्रहण किया है। मति और श्रुतका विषय बराबर है और नारद और पर्वतकी तरह दोनों सहभावी हैं अतः दोनोंका पास-पास निर्देश हुआ है।

§१७–२० तीनों प्रत्यक्षोंमें अवधिज्ञान सबसे कम विशुद्धिवाला है अतः इसका सर्व-प्रथम निर्देश है इससे विशुद्धतर होनेके कारण संयमी जीवोंके ही होनेवाले मनःपर्ययका ग्रहण किया है। सबके अन्तमें केवलज्ञानका निर्देश है क्योंकि इससे बड़ा कोई ज्ञान नहीं है। केवल ज्ञान अन्य सब ज्ञानोंको जान सकता है पर केवलज्ञानको जाननेवाला उससे बड़ा दूसरा ज्ञान नहीं है। चूँकि केवलज्ञानके साथ ही निर्वाण होता है न कि क्षायोपशयिक मति आदि ज्ञानोंके साथ। इसलिए भी इसका अन्तमें निर्देश किया है।

§२१–२५ **प्रश्न**–चूँकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों सहचारी हैं और एक व्यक्ति

में युगपत् पाए जाते हैं अतः दोनोंमें कोई विशेषता न होनेसे दोनोंको एक ही कहना चाहिए ?

उत्तर–साहचर्य तथा एक व्यक्तिमें दोनोंके युगपत् रहनेसे ही यह सिद्ध होता है कि दोनों जुदे जुदे हैं, क्योंकि दोनों बातें भिन्न सत्तावाले पदार्थोंमें ही होती हैं। मतिपूर्वक श्रुत होता है, इसलिए दोनोंकी कारण-कार्यरूपसे विशेषता सिद्ध है ही।

"कारणके सदृश ही कार्य होता है, चूँकि श्रुत मतिपूर्वक हुआ है अतः उसे भी मतिरूप ही कहना चाहिए। सम्यग्दर्शन होने पर कुमति और कुश्रुतको युगपत् ज्ञानव्यपदेश प्राप्त होता है, अतः दोनों एक ही कहना चाहिए" यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि जिन कारणसदृशत्व और युगपद्वृत्ति हेतुओंसे आप एकत्व सिद्ध करना चाहते हो उन्हींसे उनमें भिन्नता सिद्ध होती है। सादृश्य और युगपद्वृत्ति पृथक्सिद्ध पदार्थोंमें ही होते हैं। यद्यपि मति और श्रुतका विषय समान है परन्तु जाननेके प्रकार जुदा जुदा हैं। विषय एक होनेसे ज्ञानोंमें एकता नहीं हो सकती, अन्यथा एक घटविषयक दर्शन और स्पर्शनमें भी एकत्व हो जायगा।

§२६–२९ **प्रश्न**–मति और श्रुत दोनों इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं, मतिकी तरह श्रुत भी वक्ताकी जिह्वा और श्रोताके कान और मनसे उत्पन्न होता है। अतः एक कारणजन्य होनेसे दोनों एक हैं ? **उत्तर**–एककारणता असिद्ध है। वक्ताकी जीभ शब्दो-च्चारणमें निमित्त होती है न कि ज्ञानमें। श्रोताका कान भी शब्द प्रत्यक्षरूप मतिज्ञानमें निमित्त होता है न कि अर्थज्ञानमें, अतः श्रुतमें इन्द्रिय और मनोनिमित्तता असिद्ध है। शब्द सुननेके बाद जो मनसे ही अर्थज्ञान होता है वह श्रुत है अतः श्रुत अनिन्द्रियनिमित्तक है। यद्यपि ईहादि ज्ञान भी मनोजन्य होते हैं किन्तु वे मात्र अवग्रहके द्वारा गृहीत ही पदार्थको जानते हैं जब कि श्रुतज्ञान अपूर्व पदार्थको भी विषय करता है। एक घड़ेको इन्द्रिय और मनसे जानकर तज्जातीय विभिन्न देशकालवर्ती घटोंके सम्बन्ध जाति आदिका विचार भी श्रुतसे होता है। श्रुतज्ञान मतिके द्वारा एक जीवको जानकर उसके सम्बन्धके सत् संख्या क्षेत्र आदि अनुयोगोंके द्वारा नानाविध विशेषोंको जानता है। 'सुनकर निश्चय करना श्रुत है' यह तो मतिज्ञानका लक्षण है क्योंकि वह भी शब्दको सुनकर 'यह गोशब्द है' ऐसा निश्चय करता ही है। किन्तु श्रुतज्ञान मन और इन्द्रियके द्वारा गृहीत या अगृहीत पर्यायवाले शब्द या उसके वाच्यार्थको श्रोत्रेन्द्रियके व्यापारके बिना ही नय आदि योजना द्वारा विभिन्न विशेषोंके साथ जानता है।

मति आदि ज्ञान प्रमाण हैं–

तत्प्रमाणे ॥१०॥

मति आदि पाँचों ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे दो प्रमाणोंमें विभाजित हैं।

§१ प्रमाणशब्द भाव कर्तृ और करण तीनों साधनोंमें निष्पन्न होता है। जब भावकी विवक्षा होती है तो प्रमाको प्रमाण कहते हैं। कर्तृविवक्षामें प्रमातृत्वशक्तिकी मुख्यता होती है और करणविवक्षामें प्रमाता प्रमेय और प्रमाणकी भेदविवक्षा होती है। इनमें विवक्षानुसार अर्थ ग्रहण किया जाता है।

§२ **प्रश्न**–प्रमाणकी सिद्धि स्वतः होती है या प्रमाणान्तर से ? यदि स्वतः, तो प्रमेयकी सिद्धि भी स्वतः होनी चाहिए। यदि अन्य प्रमाणसे, तो प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होनेसे

अनवस्था दूषण आता है ? इच्छा मात्रसे किसीकी स्वतः सिद्धि और किसीकी परतःसिद्धि माननेमें कोई विशेष हेतु देना चाहिए अन्यथा स्वेच्छाचारित्वका दोष आयगा।

उत्तर–जिस प्रकार दीपक घटादि पदार्थोंके साथ ही साथ स्वस्वरूपका भी प्रकाशक है उसी तरह प्रमाण भी। प्रमाण या दीपकको स्वस्वरूपके प्रकाशनके लिए प्रमाणान्तर या प्रदीपान्तरकी आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार एक ही प्रदीप 'प्रदीपनं प्रदीपः–प्रदीपन मात्र प्रदीप, प्रदीपयति प्रदीपः–प्रदीपन करनेवाला प्रदीप, प्रदीप्यतेऽनेन–जिसके द्वारा प्रदीपन हो वह प्रदीप' इन तीन साधनोंमें व्यवहृत होता हैं उसमें न तो कोई विरोध ही आता है और न अनवस्था ही; उसी तरह प्रमाणको भी तीनों साधनों में व्यवहार करनेमें कोई विरोध या अनवस्था नहीं है।

§ ३–५ यदि प्रमाण स्वसंवेदी न हो तो परसंवेद्य होनेके कारण वह प्रमाण ही नहीं हो सकता; क्योंकि परसंवेद्य तो प्रमेय होता है। यदि घटज्ञान स्वाकारका परिच्छेदक नहीं है तो घटज्ञान और घट दोनोंमें अन्तर नहीं हो सकेगा क्योंकि दोनोंमें समानरूपसे विषयाकारता ही रहती है। इसी तरह घटज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान इन दोनों ज्ञानोंमें अस्वसंवेदन दशामें कोई अन्तर नहीं होगा क्योंकि जैसे घटज्ञानमें विषयाकारता रहेगी वैसे ही घटज्ञानज्ञानमें भी अन्ततः विषयाकारता ही विषय पड़ेगी, स्वाकार नहीं। यदि ज्ञान स्वसंवेदी न हो तो उसे 'ज्ञोऽहम्–मैं जाननेवाला हूं' यह स्मृति उत्तरकालमें नहीं हो सकेगी। इसी तरह जिस ज्ञानने अपने स्वरूपको नहीं जाना उस ज्ञानके द्वारा ज्ञात अर्थकी स्मृति नहीं हो सकेगी जैसे कि पुरुषान्तरके ज्ञानके द्वारा जाने गए पदार्थों की। पुरुषान्तरके ज्ञेयकी स्मृति हमें इसीलिए नहीं होती कि हम उसके ज्ञानको नहीं जानते। यदि हमारा भी ज्ञान हमें अज्ञात हो तो उस ज्ञानके द्वारा ज्ञात अर्थकी स्मृति हमें स्वयं नहीं हो सकेगी।

§६–७ **प्रश्न**–यदि भावसाधनमें प्रमाको प्रमाण कहा जाता है तो फलका अभाव हो जायगा। प्रमा ही फल होती थी। **उत्तर**–अर्थावबोधमें जो प्रीति होती है वही फल है, कर्ममलिन आत्माको इन्द्रियादिके द्वारा जब अर्थावबोध होता है तो उसे प्रीति होती है, वही प्रमाणका फल है। प्रमाणका मुख्य फल अज्ञाननिवृत्ति है। इसी तरह राग और द्वेषरूप वृत्ति न होकर उपेक्षा भावका होना भी प्रमाणका फल है।

§८–९ **प्रश्न**–प्रमाण शब्दको कर्तृसाधन मानने पर वह प्रमाता रूप हो जाता है, पर, प्रमाता तो आत्मा होता है जो कि गुणी है और प्रमाण तो ज्ञान रूप गुण है, गुण और गुणी तो जुदे होते हैं। कहा भी है कि–"आत्मा मन इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भिन्न है" अतः प्रमाणशब्दको कर्तृसाधन न मानकर करणसाधन मानना ही उचित है। **उत्तर**–यदि ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न माना जाता है तो आत्मा घटकी तरह अज्ञ–ज्ञानशून्य जड हो जायगा। ज्ञानके सम्बन्धसे 'ज्ञ' कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि अन्धेको जैसे दीपकका संयोग होने पर भी दिखाई नहीं देता यतः वह स्वयं दृष्टिशून्य है उसी तरह ज्ञानस्वभावरहित आत्मामें ज्ञानका सम्बन्ध होनेपर भी ज्ञत्व नहीं आ सकेगा।

§१०–१३ **प्रश्न**–जैसे दीपक जुदा है और घड़ा जुदा, उसी तरह जो प्रमाण है वह प्रमेय नहीं हो सकता और जो प्रमेय है वह प्रमाण नहीं। दोनोंके लक्षण भिन्न भिन्न हैं। **उत्तर**–जिस प्रकार बाह्य प्रमेयोंसे प्रमाण जुदा है उसी तरह उसमें यदि अन्तरङ्ग प्रमेयता

न हो अर्थात् वह स्वयं अपना प्रमेय न बन सकता हो तो अनवस्था दूषण होगा, क्योंकि उसे अपनी सत्ता सिद्ध करनेके लिए द्वितीय प्रमाणकी आवश्यकता होगी और द्वितीय प्रमाणको भी तृतीय प्रमाण की। यदि अनवस्था दूषणके निवारणके लिए ज्ञानको दीपककी तरह स्वपरप्रकाशी अर्थात् स्वप्रमेय माना जाता है तो प्रमाण और प्रमेयके भिन्न होनेका पक्ष समाप्त हो जाता है। वस्तुतः संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी भिन्नता होनेसे प्रमाता प्रमाण और प्रमेयमें भिन्नता है तथा पृथक् पृथक् रूपसे अनुपलब्धि होनेके कारण अभिन्नता है। निष्कर्ष यह है कि प्रमेय नियमसे प्रमेय ही है किन्तु प्रमाण प्रमाण भी है और प्रमेय भी।

§ १४ आगे मति और श्रुतका परोक्ष तथा अवधि आदिका प्रत्यक्ष रूपसे वर्णन है, अतः इन्हीं दो भेदोंकी अपेक्षा 'प्रमाणे' यह द्विवचन निर्देश किया गया है।

§ १५ 'तत्' शब्दके द्वारा मति आदि ज्ञानोंमें प्रमाणताका विधान है, ये ही प्रमाण हैं सन्निकर्ष आदि नहीं।

§ १६–२२ सन्निकर्षको प्रमाण और अर्थाधिगमको फल मानने पर सर्वज्ञत्व नहीं बन सकेगा, क्योंकि सकल पदार्थोंसे सन्निकर्ष नहीं बनता। सर्वज्ञके आत्मा मन इन्द्रिय और अर्थ तथा आत्मा मन और अर्थ यह चतुष्टयसन्निकर्ष और त्रयसन्निकर्ष अर्थज्ञानमें कारण नहीं हो सकता; क्योंकि मन और इन्द्रियां एक साथ प्रवृत्ति नहीं करती हैं तथा इनका विषय मर्यादित है। सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट आदि रूपसे ज्ञेय अनन्त हैं। इनका सन्निकर्ष हुए बिना इनका ज्ञान होगा नहीं, अतः सर्वज्ञत्वका अभाव हो जायगा। आत्माको सर्वगत मानकर सर्वार्थसन्निकर्ष कहना उचित नहीं है; क्योंकि आत्माका सर्वगतत्व परीक्षासिद्ध नहीं है। यदि आत्मा सर्वगत है तो उसमें क्रिया न होनेसे पुण्य पाप और पुण्य-पापमूलक संसार तथा संसारोच्छेदरूप मुक्ति आदि नहीं बन सकेंगे। इन्द्रियां तो अचेतन हैं अतः इन्हें संसार और मोक्ष नहीं हो सकता। चक्षु और मन प्राप्यकारी (पदार्थोंसे सन्निकर्ष करके जाननेवाले) नहीं हैं अतः सभी इन्द्रियोंसे सन्निकर्ष भी नहीं होता। जो इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं अर्थात् जिन स्पर्शनादि इन्द्रियोंसे पदार्थका सम्बन्ध होकर ज्ञान होता है उनके द्वारा सदा और पूर्ण रूपसे ग्रहण होना चाहिए; क्योंकि वे सर्वगत आत्माके द्वारा पदार्थोंके प्रत्येक भागसे सम्बन्धको प्राप्त हैं। यदि सन्निकर्षको प्रमाण माना जाता है तो सन्निकर्षके फल अर्थाधिगमको अर्थमें भी होना चाहिए जैसे कि स्त्री और पुरुषके संयोगका फल-सुखानुभव दोनोंको होता है। ऐसी दशामें आत्माकी तरह इन्द्रिय मन और अर्थको भी अर्थज्ञान होना चाहिए। शय्या पर सोनेवाले पुरुषके दृष्टान्तसे केवल पुरुषमें अर्थावबोध सिद्ध करना उचित नहीं है; क्योंकि शय्या अचेतन है वह सुखकी अधिकारिणी नहीं हो सकती। यदि इन्द्रिय मन और अर्थमें अचेतन होनेके कारण सन्निकर्षके फल अर्थावबोधका वारण किया जाता है तो इस युक्तिसे तो आत्मामें भी अर्थावबोध नहीं हो सकेगा, क्योंकि सन्निकर्षवादियोंके मतमें आत्मा भी ज्ञानशून्य है अर्थात् अर्थबोधके पहिले सभी अज्ञ हैं; तब अर्थावबोध आत्मामें ही हो इन्द्रिय मन और अर्थमें नहीं यह नियम कैसे बन सकता है ? ज्ञानका आत्मासे ही सम्बन्ध हो इन्द्रिय आदिसे नहीं इसमें क्या विशेष हेतु है ? 'ज्ञानका समवाय आत्मामें ही होता है अन्यमें नहीं' यह उत्तर भी विवाद रहित नहीं है क्योंकि जब सभी ज्ञानशून्य हैं तब 'आत्मामें ही ज्ञानका समवाय हो अन्यमें नहीं' यही प्रतिनियम नहीं बन सकता। समवाय

एक और सर्वगत है और आत्मा आदि सभी समान रूपसे ज्ञानशून्य हैं तब क्या कारण है कि समवाय 'आत्मामें ही ज्ञानका सम्बन्ध कराता है अन्यमें नहीं ?' अतः सन्निकर्षको प्रमाण मानना उचित नहीं है।

परोक्ष ज्ञानका वर्णन–

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

आदिके मति और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

§ १ आदि शब्द प्रथम प्रकार व्यवस्था समीपता अवयव आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है फिर भी यहाँ विवक्षासे उसका 'प्रथम' अर्थ लेना चाहिए।

§ २–५ **प्रश्न**–यदि आदि शब्दका 'प्रथम' अर्थ है तो श्रुतका ग्रहण नहीं हो सकेगा क्योंकि सूत्रमें तो मतिका प्रथम निर्देश हुआ है। यह समाधान तो उचित नहीं है कि 'श्रुत अवधिकी अपेक्षा प्रथम है'; क्योंकि इसमें तो केवलज्ञानके सिवाय सभी अपने उत्तर ज्ञानकी अपेक्षा आदि हो सकते हैं। द्विवचनका निर्देश होनेसे श्रुतका ग्रहण करनेमें तो विवाद ही है कि किन दोका ग्रहण करना चाहिए ? **उत्तर**–निकटताके कारण श्रुतका ग्रहण किया जाना चाहिए। द्विवचन निर्देशसे जिस दूसरेका ग्रहण करना है वह प्रथम मतिका समीप–निकट होना चाहिए। समीपताके कारण श्रुतको भी 'आद्य' कह सकते हैं। एक तो सूत्रमें मतिके पास श्रुतका ग्रहण है दूसरे दोनों करीब-करीब समानविषयक और समस्वामिक होनेसे परस्पर निकट हैं।

§ ६–७ उपात्त-इन्द्रियां और मन तथा अनुपात्त-प्रकाश उपदेश आदि 'पर' हैं। परकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है। जैसे गतिस्वभाववाले पुरुषका लाठी आदिकी सहायतासे गमन होता है उसी प्रकार ज्ञस्वभाव आत्माको मतिश्रुतावरणका क्षयोपशम होनेपर भी इन्द्रिय और मन रूप परद्वारोंसे ही ज्ञान होता है। यह ज्ञान पराधीन होनेसे परोक्ष है। परोक्षका अर्थ अज्ञान या अनवबोध नहीं है किन्तु पराधीन ज्ञान।

प्रत्यक्ष ज्ञान–

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

अन्य अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

§ १ इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना व्यभिचाररहित जो साकार ग्रहण होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। 'अतत्' को 'तत्' रूपसे ग्रहण करना व्यभिचार है, प्रत्यक्ष 'तत्' को 'तत्' जानता है अतः अव्यभिचारी है। इस विशेषणसे विभङ्ग-कुअवधिका निराकरण हो जाता है क्योंकि यह मिथ्यादर्शनके उदयसे व्यभिचारी-अन्यथा ग्राहक होता है। आकार अर्थात् विकल्प, जो ज्ञान सविकल्प अर्थात् निश्चयात्मक है वह साकार है। इस विशेषणसे अवधिदर्शन और केवलदर्शनका निराकरण हो जाता है क्योंकि ये अनाकार हैं। इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष विशेषण मति और श्रुत ज्ञानकी व्यावृत्ति कर देता है क्योंकि ये ज्ञान इन्द्रियमनोजन्य हैं।

§ २–३ प्रत्यक्ष लक्षणमें कहे गए विशेषण सूत्रसे ही प्रतीत होते हैं, ऊपरसे नहीं मिलाए गए हैं। यथा, 'अक्ष अर्थात् आत्मा, जो ज्ञान प्रक्षीणावरण या क्षयोपशमप्राप्त

आत्ममात्रकी अपेक्षासे हो वह प्रत्यक्ष' प्रत्यक्ष शब्दका यह व्युत्पत्त्यर्थ करनेसे इन्द्रिय और मनरूप परकी अपेक्षाकी निवृत्ति हो जाती है। 'ज्ञान'का प्रकरण है, अतः अनाकार दर्शनका व्यवच्छेद हो जाता है। इसी तरह 'सम्यक्' का प्रकरण होनेसे व्यभिचारी ज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है ?

४–५ **प्रश्न**–इन्द्रिय और मन रूप बाह्य और आभ्यन्तर करणोंके बिना ज्ञान का उत्पन्न होना ही असम्भव है। बिना करणके तो कार्य होता ही नहीं है ? **उत्तर**–असमर्थके लिए बसूला करौंत आदि बाह्य साधनोंकी आवश्यकता होती है। जैसे रथ बनानेवाला साधारण रथकार उपकरणोंसे रथ बनाता है किन्तु समर्थ तपस्वी अपने ऋद्धि-बलसे बाह्य बसूला आदि उपकरणोंके बिना संकल्प मात्रसे रथको बना सकता है उसी तरह कर्ममलीमस आत्मा साधारणतया इन्द्रिय और मनके बिना नहीं जान सकता पर वही आत्मा जब ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम रूप शक्तिवाला हो जाता है या ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय कर देता है तब उसे बाह्य करणोंके बिना भी ज्ञान हो जाता है। आत्मा तो सूर्य आदिकी तरह स्वयंप्रकाशी है, इसे प्रकाशनमें परकी अपेक्षा नहीं होती है। आत्मा विशिष्ट क्षयोपशम या आवरणक्षय होनेपर स्वशक्तिसे ही पदार्थोंको जानता है।

§ ६–८ **प्रश्न**–इन्द्रियव्यापारजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-व्यापारकी अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञानको परोक्ष कहना चाहिए। सभी वादी इसमें प्रायः एकमत हैं। यथा, बौद्ध कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। नाम जाति आदिकी योजना कल्पना कहलाती है। इन्द्रियां चूँकि असाधारण कारण हैं अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष रासन प्रत्यक्ष आदि रूपसे इन्द्रियोंके अनुसार प्रत्यक्षका नामकरण हो जाता है। नैयायिक इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होनेवाले, अव्यपदेश्य-निर्विकल्पक, अव्यभिचारि और व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। सांख्य श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्ति को प्रत्यक्ष कहते हैं। मीमांसक इन्द्रियोंका सम्प्रयोग होनेपर पुरुषके उत्पन्न होनेवाली बुद्धिको प्रत्यक्ष मानते हैं।

उत्तर–इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेसे आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकेगा, सर्वज्ञताका लोप हो जायगा, क्योंकि सर्वज्ञ आप्तके इन्द्रियज ज्ञान नहीं होता। आगमसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान मानकर सर्वज्ञताका समर्थन करना तो युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि आगम प्रत्यक्षदर्शी वीतराग पुरुषके द्वारा प्रणीत होता है। जब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है तब अतीन्द्रिय पदार्थोंमें आगमका प्रामाण्य कैसे बन सकता है ? आगमका अपौरुषेयत्व तो असिद्ध है। पुरुष प्रयत्नके बिना उत्पन्न हुआ कोई भी विधायक शब्द प्रमाण नहीं है। हिंसादिका विधान करनेवाला वेद प्रमाण नहीं हो सकता।

§ ९–१० **बौद्ध** का यह कहना भी उचित नहीं है कि–'योगियोंको आगम विकल्पसे शून्य एक अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है, उससे वह समस्त पदार्थोंका ज्ञान करता है। कहा भी है–योगियोंको गुरुनिर्देश अर्थात् आगमोपदेशके बिना पदार्थमात्रका बोध हो जाता है'; क्योंकि इस मतमें प्रत्यक्ष शब्दका अक्ष-इन्द्रियजन्य अर्थ नहीं बनेगा, कारण योगियोंके इन्द्रियां नहीं हैं। अथवा, जब 'स्वहेतु परहेतु उभयहेतु या बिना हेतुके पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते, सामान्य और विशेषमें एकदेश और सर्वदेश रूपसे वृत्ति माननेपर अनेक दूषण आते हैं' आदि हेतुओंसे पदार्थमात्रका अभाव किया जाता है और

ज्ञानमात्र निरालम्बन है तब योगियोंको सर्वार्थज्ञानकी संभावना ही नहीं की जा सकती। निर्विकल्प पदार्थकी कल्पना न तो युक्तिसंगत ही है और न प्रमाणसिद्ध ही। बौद्धोंके मतमें योगीकी सत्ता भी स्वयं सिद्ध नहीं है, निर्वाणदशामें तो सर्वशून्यता तक स्वीकार की गई है। कहा भी है–'निर्वाण दो प्रकारका है–सोपधिशेष और निरुपधिशेष। सोपधिशेष निर्वाणमें ज्ञाताकी सत्ता रहती है।' परन्तु जिस प्रकारसे वे बाह्य पदार्थोंका अभाव करते हैं उन्हीं युक्तियोंसे अन्तरङ्ग पदार्थ आत्माका भी अभाव हो जायगा।

नैयायिक का यह कहना भी उचित नहीं है, कि 'आत्मा इन्द्रियादिसे रहित होकर भी योगजधर्मके प्रसादसे सर्वज्ञ हो सकता है,' क्योंकि निष्क्रिय और नित्य योगीमें जिस प्रकार समस्त क्रियाएँ नहीं होती उसी तरह कोई भी अनुग्रह या विकार भी नहीं हो सकता, वह तो कूटस्थ अपरिणामी नित्य है।

§ ११ **बौद्धों** का प्रत्यक्षका 'कल्पनापोढ' लक्षण भी नहीं बनता; क्योंकि कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष यदि सर्वथा कल्पनापोढ है, तो 'प्रमाण ज्ञान है, प्रत्यक्ष कल्पनापोढ है' इत्यादि कल्पनाएं भी उसमें नहीं की जा सकेंगी अर्थात् उसके अस्तित्व आदि की भी कल्पना नहीं की जा सकेगी, उसका 'अस्ति' इस प्रकारसे भी सद्भाव-सिद्ध नहीं होगा। यदि उसमें 'अस्ति' 'कल्पनापोढ' इत्यादि कल्पनाओंका सद्भाव माना जाता है तो वह सर्वथा कल्पनापोढ नहीं कहलायगा। यदि कथञ्चित् कल्पनापोढ माना जाता है तब भी स्ववचनव्याघात निश्चित है।

बौद्ध (पूर्वपक्ष)–निर्विकल्पकको हम सर्वथा कल्पनापोढ़ नहीं कहते। कल्पनापोढ यह विशेषण परमतके निराकरणके लिए है अर्थात् परमतमें नामजाति आदि भेदोंके उपचारको कल्पना कहा है उस कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष होता है न कि स्वरूपभूत विकल्पसे भी रहित। कहा भी है–"पाँच विज्ञानधातु सवितर्क और सविचार हैं, वे निरूपण और अनुस्मरण रूप विकल्पोंसे रहित हैं।"

जैन (**उत्तरपक्ष**)–विषयके प्रथम ज्ञानको वितर्क कहते हैं। उसीका बार बार चिन्तन विचार कहलाता है। उसीमें नाम जाति आदिकी दृष्टिसे शब्दयोजनाको निरूपण कहते हैं। पूर्वानुभवके अनुसार स्मरणको अनुस्मरण कहते हैं। ये सभी धर्म क्षणिक निरन्वय विनाशी इन्द्रियविषय और ज्ञानोंमें नहीं बन सकते क्योंकि दोनोंकी एक साथ उत्पत्ति होती है और क्षणिक हैं। गायके एक साथ उत्पन्न होनेवाले दोनों सीगोंकी तरह इनमें परस्पर कार्यकारणभावमूलक ग्राह्यग्राहकभाव भी नहीं बन सकता। यदि पदार्थ और ज्ञानको क्रमवर्ती मानते हैं तो ज्ञानकालमें पदार्थका तथा पदार्थकालमें ज्ञानका अभाव होने से विषयविषयिभाव नहीं बन सकता। मिथ्या सन्तानकी अपेक्षा भी इनमें उक्त धर्मोंका समावेश करना उचित नहीं है। अतः समस्त विकल्पोंकी असम्भवता होनेसे 'यह, निर्विकल्पक है, यह नहीं है' आदि कोई भी विकल्प नहीं हो सकेगा। इस तरह समस्त विकल्पातीत ज्ञानका अभाव ही प्राप्त होता है। ज्ञानमें अनुस्मरण आदि माननेपर तो उस ज्ञानको या ज्ञानाधार आत्माको अनेकक्षणस्थायी मानना होगा, क्योंकि स्मरण स्वयमनुभूत वस्तुका कालान्तरमें होता है, अन्यके द्वारा अनुभूतका अन्यको नहीं।

बौद्धोंने–पांच इन्द्रिय और मानस ज्ञानमें एकक्षण पूर्वके ज्ञानको मन कहा है। ऐसे मनसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको मानस प्रत्यक्ष कहना युक्त नहीं हैं; क्योंकि जब मन अतीत होनेसे असत् हो गया तब वह ज्ञानका कारण कैसे हो सकता है? यदि पूर्वके नाश और उत्तरके उत्पादको एक साथ मानकर कार्यकारण भाव माना जाता है; तो भिन्न सन्तानवर्ती पूर्वोत्तर क्षणोंमें भी कार्यकारणभाव मानना चाहिए। यदि एक सन्तानवर्ती क्षणोंमें किसी शक्ति या योग्यताका अनुगम माना जाता है तो क्षणिकत्वकी प्रतिज्ञा नष्ट होती है।

§ १२ **बौद्धोंने** ज्ञानको अपूर्वार्थग्राही माना है। उनका यह मत भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि सभी ज्ञान प्रमाण हो सकते हैं। जैसे दीपक प्रथमक्षणमें अन्धकारमग्न पदार्थोंको प्रकाशित करता है और उत्तरकालमें भी वह प्रकाशक बना रहता है कभी भी अप्रकाशक नहीं होता उसी तरह ज्ञान भी प्रतिसमय प्रमाण रहता है चाहे वह गृहीतको जाने या अगृहीतको। यदि प्रतिक्षण परिवर्तनके आधारसे प्रदीपमें प्रतिक्षण नूतन प्रकाशकत्व माना जाता है और इसी तरह ज्ञानको भी प्रतिक्षण अपूर्वका प्रकाशक बनाया जाता है "तो स्मृति इच्छा और द्वेष आदिकी तरह पूर्वपूर्व पदार्थोंका जाननेवाला ज्ञान प्रमाण नहीं है" यह बौद्ध ग्रन्थका वाक्य खंडित हो जाता है; क्योंकि प्रतिक्षण परिवर्तनके अनुसार कोई भी ज्ञान गृहीतग्राही हो ही नहीं सकता।

१३–१४ ज्ञानद्वैतवादी बौद्धोंके मतसे ज्ञान विषयाकार भी होता है और स्वाकार भी। ये उभयाभास ज्ञानके स्वसंवेदनको प्रमाणका फल मानते हैं। उनका स्वसंवेदन को फल मानना उचित नहीं है क्योंकि फल चूंकि कार्य है अतः उसे भिन्न होना ही चाहिए जैसे कि छेदन क्रिया छेदनेवाले और छिदे जानेवालेसे भिन्न होती है। यह समाधान भी उचित नहीं है कि 'अधिगमरूप फलमें ही व्यापाररूप प्रमाणताका उपचार करके एक ही अधिगमको प्रमाण और फल कह देते हैं'; क्योंकि उपचार तब होता है जब मुख्य वस्तु स्वतन्त्र भावसे प्रसिद्ध है। जैसे सिंह अपने शूरत्व-क्रूरत्व आदि गुणोंसे प्रसिद्ध है, तभी उसका सादृश्यसे बालकमें उपचार किया जाता है, पर यहां जब मुख्य प्रमाण ही प्रसिद्ध नहीं है तब फलमें उसके उपचारकी कल्पना ही नहीं हो सकती।

§ १५ एक ही ज्ञानमें ग्राहकाकार विषयाकार और संवेदनाकार इन तीन आकारोंको मानकर प्रमाण-फलव्यवस्था बनाना उचित नहीं है; क्योंकि इस कल्पनामें एकान्तवादका निराकरण होकर अनेकान्तवादकी स्थापना हो जाती है। एक वस्तु अनेकधर्मवाली होती है यह तो जैनेन्द्रका अनेकान्त सिद्धान्त है। यदि एक ज्ञानमें अनेकाकारता हो सकती है तो जगत्के प्रत्येक पदार्थको अनेकधर्मात्मक माननेमें क्या बाधा है? यदि अनेकान्तात्मक द्रव्यसिद्धिके भयसे केवल आकार ही आकार मानते हैं तो यह प्रश्न होता है कि 'वे आकार किसके हैं?' निराश्रय आकार तो रह नहीं सकते। अतः उनका अभाव ही हो जायगा। वे आकार यदि युगपत् उत्पन्न होते हैं तो उनमें कार्यकारणभाव नहीं बन सकेगा। क्षणिक आकारोंकी क्रमिक उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। यदि हो; तो 'अधिगम भिन्न पदार्थ नहीं है अर्थात् आकाररूप ही है' यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है क्योंकि क्रमिक उत्पत्तिमें अधिगमकी भी किसी क्षणमें स्वतन्त्र उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यदि बाह्य पदार्थोंकी सत्ता नहीं है और केवल ज्ञानमात्र ही सत् है; प्रमाण और

और प्रमाणाभासकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी क्योंकि अन्तरंग आकारमें तो कोई भेद नहीं होता। जो 'असत्'को 'सत्' जाने वह प्रमाणाभास और जो 'असत्' ही है यह जाने वह प्रमाण–इस प्रकारकी प्रमाण-प्रमाणाभास व्यवस्था माननेपर स्वलक्षण और सामान्यलक्षण इन दो प्रमेयोंसे प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंका नियम करना असङ्गत हो जायगा; क्योंकि यह नियम प्रमेयकी सत्ता स्वीकार करके किया गया है। 'प्रत्यक्ष स्वलक्षण-को विषय करता है, असाधारण वस्तु स्वलक्षण है, वह विकल्पातीत है, इसीका 'यह वह' इत्यादिरूपसे व्यवहारमें निर्देश होता है, सामान्य अनुमानका विषय होता है' आदि व्याख्याएँ सर्वाभाववादमें नहीं बन सकतीं। सर्वाभाववादमें किसी भी भेदकी संभावना ही नहीं की जा सकती। सम्बन्धियोंके भेदसे अभावमें भेद कहना तो तब उचित है जब सम्बन्धियोंकी सत्ता सिद्ध हो।

संवेदनाद्वैतवादीका यह कथन भी उचित नहीं है कि–'सभी ज्ञान निरालम्बन होनेसे अयथार्थ है, निर्विकल्पक स्वज्ञान ही प्रमाण है। शास्त्रोंमें जो प्रमाण प्रमेय आदिकी प्रक्रिया है उसके द्वारा अविद्याका ही विस्तार किया गया है। विद्या तो आगमविकल्पसे परे है, वह स्वयं प्रकाशमान है''; क्योंकि संवेदनाद्वैतकी सिद्धिका कोई उपाय नहीं है। कहा भी है–

"जो संवेदनाद्वैत प्रत्यक्षबुद्धिका विषय नहीं है, जिसका अनुमान अर्थरूप लिंगके द्वारा हो नहीं सकता, और जिसके स्वरूपकी सिद्धि वचनों द्वारा भी नहीं हो सकती उस सर्वथा असिद्ध संवेदनको माननेवालोंकी क्या गति होगी ?'' अतः संवेदनाद्वैतवाद त्याज्य है।

मति ज्ञानके प्रकार–

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध आदि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेके कारण भिन्न नहीं है।

§ १ इति शब्दके अनेक अर्थ होते हैं–यथा 'हन्तीति पलायते–मारा इसलिए भागा' यहाँ इति शब्दका अर्थ हेतु है। 'इति स्म उपाध्यायः कथयति–उपाध्याय इस प्रकार कहता है' यहाँ 'इस प्रकार' अर्थ है। 'गौः अश्वः इति–गाय घोड़ा आदि प्रकार' यहाँ इतिशब्द प्रकारवाची है। 'प्रथममाह्निकमिति, यहाँ इति शब्दका अर्थ समाप्ति है। इसी तरह व्यवस्था अर्थविपर्यास शब्दप्रादुर्भाव आदि अनेक अर्थ हैं। यहाँ विवक्षासे आदि और प्रकार ये दो अर्थ लेने चाहिए। मति स्मृति आदिमें आदि शब्दसे प्रतिभा बुद्धि उपलब्धि आदिका ग्रहण होता है।

§ २ यद्यपि मति आदि शब्दोंमें अर्थभेद है फिर भी रूढ़िवश इन शब्दोंमें एकार्थता है। जैसे कि 'गच्छति गौः' इस प्रकार व्युत्पत्त्यर्थ मान लेने पर भी गौ शब्द सभी चलनेवालोंमें प्रयुक्त न होकर एक पशुविशेषमें रूढ़िके कारण प्रयुक्त होता है। ये सभी मति आदि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ही पदार्थबोध कराते हैं अतः इनमें भेद नहीं है।

§ ३–५ **प्रश्न**–जैसे गौ अश्व आदिमें शब्दभेदसे अर्थभेद है उसी तरह मत्यादिमें भी होना चाहिए। **उत्तर**–'शब्द भेदसे अर्थभेद'का नियम संशय उत्पन्न करनेवाला है उससे किसी पक्षविशेषका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्र शक्र और पुरन्दर आदिमें शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद नहीं देखा जाता। तीनों शब्द एक इन्द्र अर्थके वाचक

हैं। यदि शब्दभेदसे अर्थभेद है तो शब्द-अभेदसे अर्थ-अभेद भी होना चाहिए। फलतः वचन पृथिवी आदि ग्यारह अर्थोंमें अभेद हो जाना चाहिए, क्योंकि ये सभी एक 'गो' शब्दके वाच्य हैं। अथवा, जैननयके अनुसार इन शब्दोंमें भेद भी है और अभेद भी। द्रव्यदृष्टिसे जैसे इन्द्रादि शब्द इन्द्र द्रव्यके वाचक होनेसे अभिन्न हैं उसी तरह एक मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न सामान्य मतिज्ञानकी अपेक्षासे अथवा एक आत्मद्रव्यकी दृष्टिसे मत्यादि अभिन्न हैं और तत् तत् पर्यायकी दृष्टिसे भिन्न हैं। इन्दनक्रिया शासनक्रिया आदिसे विशिष्ट इन्द्रादिपर्यायें जैसे भिन्न हैं उसी तरह मनन स्मरण संज्ञान चिन्तन आदि पर्यायें भी भिन्न हैं। यह पर्यायार्थिक नयकी दृष्टि है।

§ ६–७ **प्रश्न**–जैसे मनुष्य मानव मनुज आदि पर्याय शब्द मनुष्यके लक्षण नहीं हैं उसी तरह मति आदि पर्याय शब्द भी मतिज्ञानके लक्षण नहीं हो सकते। **उत्तर**–जो पर्याय पर्यायवालेसे अभिन्न होती है वह लक्षण बनती है जैसे उष्ण पर्याय अग्निसे अभिन्न होनेके कारण अग्निका लक्षण बनती ही है। जैसे मनुष्य मानव मनुज आदि शब्द घटादि द्रव्योंसे व्यावृत्त होकर एक सामान्य मनुष्य रूप अर्थके लक्षक होनेसे लक्षण हैं, अन्यथा यदि ये मनुष्य सामान्यका प्रतिपादन न करें तो मनुष्यका अभाव ही हो जायगा उसी प्रकार मति आदि शब्द अभिनिबोधसामान्यात्मक मतिज्ञानके लक्षक होनेसे मतिज्ञानके लक्षण होते हैं। जैसे 'अग्नि कौन ?' यह प्रश्न होनेपर बुद्धि तुरंत दौड़ती है कि 'जो उष्ण', और 'कौन उष्ण' कहनेपर 'जो अग्नि' इस प्रकार गत्वा-प्रत्यागत न्याय (समान प्रश्नोत्तर न्याय) से भी पर्याय शब्द लक्षण बन सकते हैं। मति आदिमें भी यही न्याय समझना चाहिए, यथा–'मतिज्ञान कौन ?' 'जो स्मृति आदि', 'स्मृति आदि क्या हैं' ? जो 'मतिज्ञान'। इस प्रकार मत्यादि पर्याय शब्दोंके लक्षण बननेमें कोई बाधा नहीं है।

सभी पर्यायें लक्षण नहीं होती किन्तु आत्मभूत अन्तरंग पर्याय ही लक्षण होती है। अग्निका लक्षण उष्णता तो हो सकती है धूम आदि नहीं। उसी तरह मति आदि ज्ञान पर्यायें लक्षण हो सकती हैं न कि मति आदि पुद्गल शब्द आदि बाह्य पदार्थ।

§ ८–१० अथवा, इति शब्द अभिधेयवाची है। अर्थात् मति स्मृति संज्ञा आदिके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है वह मतिज्ञान है। मत्यादिके द्वारा श्रुतज्ञान आदिका तो कथन होता ही नहीं है क्योंकि उनके भिन्न भिन्न लक्षण आगे कहे जायँगे।

मतिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण–

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है।

§ १ इन्द्र अर्थात् आत्मा। कर्ममलीमस आत्मा सावरण होनेसे स्वयं पदार्थोंके ग्रहणमें असमर्थ होता है। उस आत्माको अर्थोपलब्धिमें लिङ्ग अर्थात् द्वार या कारण इन्द्रियाँ होती हैं।

§ २–३ अनिन्द्रिय अर्थात् मन, अन्तःकरण। जैसे अब्राह्मण कहनेसे ब्राह्मणत्वरहित किसी अन्य पुरुषका ज्ञान होता है वैसे अनिन्द्रिय कहनेसे इन्द्रियरहित किसी अन्य पदार्थका बोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि अनिन्द्रियमें जो 'न' है वह 'ईषत् प्रतिषेध'को

कहता है। जैसे 'अनुदरा कन्या' कहनेसे 'बिना पेटकी लड़की' न समझकर गर्भ धारण आदिके अयोग्य छोटे पेटवाली लड़कीका ज्ञान होता है उसी तरह अनिन्द्रियसे इन्द्रियत्वका अभाव नहीं होता किन्तु मन, चक्षुरादिकी तरह प्रतिनियत देशवर्ती विषयोंको नहीं जानकर अनियत विषयवाला है अतः वह 'अनिन्द्रिय' पदका वाच्य होता है। मन, गुण दोष विचार आदि अपनी प्रवृत्तिमें इन्द्रियादिकी अपेक्षा नहीं रखता अतः वह अन्तरंग करण होनेसे अन्तःकरण कहा जाता है।

§ ४ यद्यपि मतिज्ञानका प्रकरण होनेसे मतिज्ञानका सम्बन्ध हो ही जाता है अतः इस सूत्रमें 'तत्' शब्दके ग्रहणकी आवश्यकता न थी; फिर भी आगेके सूत्रमें कहे जानेवाले अवग्रहादि भेद मतिज्ञानके हैं यह स्पष्ट बोध करानेके लिए यहाँ 'तत्' शब्दका ग्रहण किया है।

मतिज्ञानके भेद—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

अवग्रह ईहा अवाय और धारणा ये चार मतिज्ञानके भेद हैं।

§ १ विषय और विषयी-इन्द्रियोंका सन्निपात अर्थात् योग्य देशस्थिति होनेपर दर्शन होता है। इसके बाद जो आद्य अर्थग्रहण है वह अवग्रह कहलाता है।

§ २ अवग्रहके द्वारा 'यह पुरुष है' ऐसा आद्यग्रहण होनेपर पुनः उसकी भाषा उमर रूपादिके द्वारा विशेष जाननेकी ओर झुकना ईहा है।

§ ३ भाषा आदि विशेषोंके द्वारा उसकी उस विशेषताका यथार्थ ज्ञान कर लेना अवाय है जैसे यह दक्षिणी है युवा है या गौर है आदि।

§ ४ निश्चित विशेषकी कालान्तरमें स्मृतिका कारण धारणा होती है।

§ ५ अवग्रह आदि क्रमशः उत्पन्न होते हैं, अतः उनका सूत्रमें क्रमशः ग्रहण किया है।

§ ६–१० **प्रश्न**—जैसे चक्षुके रहते हुए संशय होता है अतः उसे निर्णय नहीं कह सकते उसी तरह अवग्रहके होते हुए ईहा देखी जाती है। ईहा निर्णय रूप तो है नहीं क्योंकि निर्णयके लिए ईहा है न कि स्वयं निर्णयरूप, और जो निर्णयरूप नहीं है वह संशयकी ही कोटिका होता है अतः अवग्रह और ईहाको प्रमाण नहीं कह सकते। जैसे ऊर्ध्वताका आलोचन होनेपर भी स्थाणु और पुरुष कोटिक संशय हो जाता है उसी तरह अवग्रहके द्वारा 'यह पुरुष है' इस ग्रहणमें भी आगेके विशेषोंको लेकर संशय उत्पन्न होता है। अतः अवग्रहमें ईहाकी अपेक्षा होनेसे करीब-करीब संशयरूपता ही है। **उत्तर**—अवग्रह और संशयके लक्षण जल और अग्निकी तरह अत्यन्त भिन्न हैं, अतः दोनों जुदे-जुदे हैं। संशय स्थाणु पुरुष आदि अनेक पदार्थोंमें दोलित रहता है, अनिश्चयात्मक होता है और स्थाणु पुरुष आदिमेंसे किसीका निराकरण नहीं करता जब कि अवग्रह एक ही अर्थको विषय करता है, निश्चयात्मक है और स्वविषयसे भिन्न पदार्थोंका निराकरण करता है। सारांश यह कि संशय निर्णयका विरोधी होता है अवग्रह नहीं। अवग्रहमें भाषा वय रूप आदि सम्बन्धी निश्चय न होनेके कारण उसे संशयतुल्य कहना उचित नहीं है; क्योंकि अवग्रह जितने विशेषको जानता है उतनेका निर्णय ही करता है।

§ ११–१३ निर्णयात्मक न होनेसे ईहाको संशय कहना भी ठीक नहीं है;

क्योंकि ईहामें पदार्थ विशेषके निर्णयकी ओर झुकाव होता है जब कि संशयमें किसी एक कोटिकी ओर कोई झुकाव नहीं होता। अवग्रहके द्वारा 'पुरुष' ऐसा निश्चय हो जाने पर 'यह दक्षिणदेशीय है या उत्तर देशीय' यह संशय होता है। इस संशयका उच्छेद करनेके लिए 'दक्षिणी होना चाहिए' इस प्रकारके एककोटिक निर्णयके लिए ईहा होती है। अतः इसे संशय नहीं कह सकते। इसीलिए सूत्रमें संशयका ग्रहण नहीं किया क्योंकि संशयमें किसी अर्थविशेषका ग्रहण नहीं है जब कि ईहामें है।

प्रश्न—अवाय नाम ठीक है या अपाय? **उत्तर**—दोनों ठीक हैं। जब 'दक्षिणी ही है' यह अवाय निश्चय करता है तब 'उत्तरी नहीं है' यह अपाय-त्याग अर्थात् ही हो जाता है। इसी तरह 'उत्तरी नहीं है' इस प्रकार अपाय-त्याग होनेपर 'दक्षिणी है' यह अवाय-निश्चय हो ही जाता है। अतः एकसे दूसरेका ग्रहण हो जानेसे दोनों ठीक है।

प्रश्न—दर्शन और अवग्रहमें क्या अन्तर है? **उत्तर**—विषय और विषयीके सन्निपात के बाद चक्षुर्दर्शनावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार प्रथम समयमें जो 'यह कुछ है' इस प्रकारका विशेषशून्य निराकार प्रतिभास होता है वह दर्शन कहलाता है। इसके बाद दो दूसरे तीसरे आदि समयोंमें 'यह रूप है' 'यह पुरुष है' आदि रूपसे विशेषांश का निश्चय अवग्रह कहलाता है। अवग्रहमें चक्षुरिन्द्रिय ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी अपेक्षा होती है। जातमात्र बालकके भी इसी क्रमसे दर्शन और अवग्रह होते हैं। यदि बालकके प्रथम समयमें होनेवाले सामान्यालोचनको अवग्रहजातीय ज्ञान कहा जाता है तो वह कौन ज्ञान होगा? बालकके प्रथम समय भावी आलोचनको संशय और विपर्यय तो नहीं कह सकते; क्योंकि ये दोनों सम्यग्ज्ञानपूर्वक होते हैं। जिसने पहिले स्थाणु और पुरुषका सम्यग्ज्ञान किया है उसे ही तद्विषयक संशय और विपर्यय हो सकता है। चूँकि प्रश्न प्राथमिक ज्ञानका है अतः उसे संशय और विपर्यय नहीं कहा जा सकता। अनध्यवसाय भी नहीं कह सकते; क्योंकि जन्मान्ध और जन्मबधिरकी तरह रूपमात्र और शब्दमात्रका स्पष्ट बोध हो ही रहा है। सम्यग्ज्ञान भी नहीं कह सकते; क्योंकि किसी अर्थविशेषके आकारका निश्चय नहीं हुआ है। अवग्रह और दर्शनके उत्पादक कारण—ज्ञानावरणका क्षयोपशम और दर्शनावरणका क्षयोपशम चूँकि जुदे जुदे हैं, अतः दोनों घट-पटकी तरह भिन्न हैं। अवग्रहसे पहिले वस्तुमात्रका सामान्यालोचन रूप दर्शन होता है फिर 'रूप है' यह अवग्रह, फिर 'यह शुक्ल है या कृष्ण' यह संशय, फिर 'शुक्ल होना चाहिए' यह ईहा, फिर 'शुक्ल ही है' यह अवाय, तदनन्तर अवायकी दृढतम अवस्था धारणा होती है। ज्ञानावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ असंख्यात लोक प्रमाण हैं जो इस प्रकारके प्रत्येक इन्द्रियजन्य अवग्रहादि ज्ञानोंका आवरण करती हैं। और इनके क्षयोपशमानुसार उक्त ज्ञान प्रकट होते हैं।

प्रश्न—मतिज्ञान तो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है पर ईहा आदि चूँकि अवग्रह आदिसे उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हें मतिज्ञान नहीं कहना चाहिए?

उत्तर—ईहा आदि मनसे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान भी अनिन्द्रियजन्य होता है पर ईहा आदिमें परम्परया इन्द्रियजनितता भी है क्योंकि इन्द्रियज अवग्रहके बाद ही ईहादि ज्ञान परम्परा चलती है और तब भी इन्द्रिय व्यापार रुकता नहीं है श्रुतकेवल अनिन्द्रिय जन्य है। इसीलिए ईहा आदिमें चक्षुरादि इन्द्रियजन्यताका भी व्यवहार हो जाता है।

अवग्रहादि किन अर्थोंके होते हैं ?

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

बहु एक बहुविध एकविध क्षिप्र अक्षिप्र अनिःसृत निःसृत अनुक्त उक्त ध्रुव और अध्रुव इन बारह प्रकारके अर्थोंके अवग्रह आदि होते हैं।

§ १ बहु शब्द संख्यावाची भी है और परिमाणवाचक भी। जैसे एक दो बहुत आदि, बहुत दाल बहुत भात आदि।

§ २–८ **प्रश्न**–जब एक ज्ञान एक ही अर्थको ग्रहण करता है तब बहु आदि विषयक अवग्रह नहीं हो सकता ? **उत्तर**–यदि एक ज्ञान एक ही अर्थको विषय करता है तो उससे सदा एक ही प्रत्यय होगा। नगर वन सेना आदि बहुविषयक ज्ञान नहीं हो सकेंगे। नगर आदि संज्ञाएँ और व्यवहार समुदायविषयक हैं। अतः समुदायविषयक समस्त व्यवहारोंका लोप ही हो जायगा। एकार्थग्राहि ज्ञानपक्षमें यदि पूर्वज्ञानके कालमें ही उत्तर ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है तो 'एक मन होनेसे एक अर्थविषयक ही ज्ञान होता है' इस सिद्धान्तका विरोध हो जायगा। जैसे एक ही मन अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न कर सकता है उसी तरह एक ज्ञानको अनेक अर्थोंको विषय करनेवाला माननेमें क्या आपत्ति है ? यदि अनेक ज्ञानोंको एककालीन मानकर अनेकार्थोंकी उपलब्धि एक साथ की जाती है ; तो 'एक का ज्ञान एक ही अर्थको जानता है' इस सिद्धान्तका खंडन हो जायगा। यदि पूर्व ज्ञानके निवृत्त होनेपर उत्तर ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाती है तो सदा एकार्थ विषयक ज्ञानकी सत्ता रहनेसे 'यह इससे छोटा है, बड़ा है' इत्यादि आपेक्षिक व्यवहारोंका लोप हो जायगा। एकार्थग्राहिज्ञानवादमें मध्यमा और प्रदेशिनी अंगुलियोंमें होनेवाले ह्रस्व दीर्घ आदि समस्त आपेक्षिक व्यवहारोंका लोप हो जायगा क्योंकि कोई भी ज्ञान दो को नहीं जानेगा। इस पक्षमें उभयार्थग्राही संशयज्ञान नहीं हो सकेगा क्योंकि स्थाणु विषयक ज्ञान पुरुषको नहीं जानेगा तथा न पुरुष विषयक ज्ञान स्थाणुको। इस वादमें किसी भी इष्ट अर्थकी सम्पूर्ण उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। जैसे कोई चित्रकार पूर्ण कलशका चित्र बना रहा है तो उसके प्रतिक्षणवर्ती ज्ञान पूर्वापरका अनुसन्धान तो कर ही नहीं सकेंगे, ऐसी दशामें पूर्णकलशका परिपूर्ण चित्र नहीं बन सकेगा। इस पक्षमें दो तीन आदि बहुसंख्या-विषयक प्रत्यय नहीं हो सकेंगे ; क्योंकि कोई भी ज्ञान दो तीन आदि समूहोंको जान ही नही सकेगा। सन्तान या संस्कारकी कल्पनामें दो प्रश्न होते हैं कि वे ज्ञानजातीय होंगे या अज्ञानजातीय ? अज्ञानजातीयसे तो अपना कोई प्रयोजन सिद्ध होगा ही नहीं। ज्ञानजातीय होकर यदि इनने भी एक ही अर्थको जाना तो समस्त दूषण ज्योंके त्यों बने रहेंगे। यदि अनेकार्थको जानते हैं तो एकार्थवाली प्रतिज्ञा की हानि हो जायगी।

§ ९–१५ विध शब्द प्रकारार्थक है, बहुविध अर्थात् बहुत प्रकारवाले पदार्थ। क्षिप्र अर्थात् शीघ्रतासे। अनिःसृतका अर्थ है वस्तुके कुछ भागोंका दिखना, पूरी वस्तुका न दिखना। अनुक्तका अर्थ है कहनेके बिना ही अभिप्रायसे जान लेना। ध्रुव अर्थात् यथार्थ ग्रहण। सेतरका अर्थ है इनसे उलटे पदार्थ, अर्थात् अल्प अल्पविध चिर निःसृत उक्त और अध्रुव। 'इन सबके अवग्रहादि होते हैं' इस प्रकारका कर्मनिर्देश अवग्रह आदि ज्ञानोंकी अपेक्षा समझना चाहिये।

§ १६ बहु आदिका शब्दोंसे निर्देश इसलिए किया है कि इनके ज्ञानमें ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी विशुद्धि अत्यधिक अपेक्षित होती है। इन बारह प्रकारके अर्थोंके अवग्रहादि प्रत्येक इन्द्रिय और मनके द्वारा होते हैं। जैसे श्रोत्रेन्द्रियावरण और वीर्यान्तरायका प्रकृष्ट क्षयोपशम होनेपर तदनुकूल अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे उन उन अङ्ग उपाङ्गोंके सद्भावसे कोई श्रोता एक साथ तत वितत घन सुषिर आदि बहुत शब्दोंको सुनता है। क्षयोपशमादिकी न्यूनतामें एक या अल्प शब्दको सुनता है। प्रकृष्ट क्षयोपशमादिसे ततादि शब्दोंके एक-दो-तीन संख्यात असंख्यात आदि प्रकारोंको ग्रहण कर बहुविध शब्दोंको जानता है। क्षयोपशमादिकी न्यूनतामें एक प्रकारके ही शब्दोंको सुनता है। क्षयोपशम की विशुद्धिमें क्षिप्र-शीघ्रतासे शब्दोंको सुनता है। क्षयोपशमकी न्यूनतामें अक्षिप्र–देरीसे शब्दको सुनता है। क्षयोपशमकी विशुद्धिमें अनिःसृत–पूरे वाक्यका उच्चारण न होनेपर भी उसका ज्ञान कर लेता है। निःसृत अर्थात् पूर्ण रूपसे उच्चारित शब्दका ज्ञान कर लेना। क्षयोपशमकी प्रकृष्टतामें एक भी शब्दका उच्चारण किए बिना अभिप्राय मात्रसे अनुक्त शब्दको जान लेता है। अथवा वीणा आदिके तारों के सम्हालते समय ही यह जान लेना कि 'इसके द्वारा यह राग बजाया जायगा' अनुक्त ज्ञान है। उक्त अर्थात् कहे गये शब्दको जानना। ध्रुव ग्रहणमें जैसा प्रथम समयमें ज्ञान हुआ था आगे भी वैसा ही ज्ञान होता रहता है न कम और न अधिक, परन्तु अध्रुवग्रहणमें क्षयोपशयकी विशुद्धि और अविशुद्धिके अनुसार कम और अधिक रूपसे ज्ञान होता है, कभी बहुत शब्दोंको जानना हो तो कभी एकको, कभी क्षिप्र तो कभी देरीसे, कभी निःसृत तो कभी अनिःसृत आदि।

प्रश्न–बहु और बहुविधमें क्या अन्तर है ?

उत्तर–जैसे कोई बहुत शास्त्रोंका सामान्यरूपसे व्याख्यान करता है और दूसरा उन्हीं शास्त्रोंकी अनेकविध व्याख्याएँ करता है, उसी तरह ततादि शब्दोंका सामान्य ग्रहण बहुग्रहण है तथा उन्हींका अनेकगुणी विशेषताओंसे ज्ञान करना बहुविध ग्रहण है।

प्रश्न–उक्त और निःसृतमें क्या विशेषता है ?

उत्तर–परोपदेश पूर्वक शब्दोंका ग्रहण उक्त है और अपने आप ज्ञान करना निःसृत है। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रियके द्वारा भी बह्वादि बारह प्रकारके अर्थोंका ग्रहण होता है। पंचरंगी साड़ीके एक छोरके रंगोंको देखकर पूरी साड़ीके रंगोंका ज्ञान कर लेना अनिःसृत ग्रहण है। सफेद काले आदि रंगोंके मिश्रणसे जो रंग तैयार होते हैं उनके सम्बन्धमें बिना कहे हुए अभिप्रायमात्रसे यह जान लेना कि 'आप इन दोनों रंगोंके मिश्रणसे यह रंग बनायेंगे' अनुक्त रूप ग्रहण है। अथवा अन्य देशमें रखे हुए पंचरंगे वस्त्रके सम्बन्धमें अभिप्रायमात्रसे यह जान लेना कि आप इन रंगोंका कथन करेंगे अनुक्त ग्रहण है। दूसरेके अभिप्रायके बिना स्वयं अपने क्षयोपशमानुसार रूपको जानना उक्त ग्रहण है। अन्य बहु आदि विकल्पोंकी व्याख्या सरल है। इसी तरह घ्राणादि इन्द्रियोंमें भी लगा लेना चाहिये।

§ १७ **प्रश्न**–स्पर्शन रसना घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी अर्थात् पदार्थोंसे सम्बद्ध होकर ज्ञान करनेवाली हैं अतः इनसे अनिःसृत और अनुक्त ज्ञान नहीं हो सकते ?

उत्तर–इन इन्द्रियोंसे किसी न किसी रूपमें पदार्थका सम्बन्ध अवश्य हो जाता है, जैसे कि चींटीको सुदूरवर्ती गुड़ आदिके रस और गन्धका ज्ञान सूक्ष्म परमाणुओंके सम्बन्ध

से होता है। हमलोगोंको अनिःसृत और अनुक्त अवग्रहादि श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे होते हैं क्योंकि इनमें परोपदेश अपेक्षित होता है। शास्त्रमें श्रुतज्ञानके भेदप्रभेदके प्रकरणमें लब्ध्यक्ष के चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना स्पर्शन और मनके भेदसे छह भेद किये हैं, इसलिए इन लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञानोंसे उन उन इन्द्रियों द्वारा अनिःसृत और अनुक्त आदिका विशिष्ट अवग्रहादि ज्ञान होता रहता है।

ये बहु आदि भेद पदार्थके हैं–

अर्थस्य ॥१७॥

चक्षु आदि इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थको अर्थ कहते हैं।

§ १ जो बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तोंसे समुत्पन्न पर्यायोंका आधार हो वह द्रव्य अर्थ है।

§ २ 'अर्थ'के ग्रहण करनेसे नैयायिकादिके इस कथनका निराकरण हो जाता है कि 'रूपादि गुण ही इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत होते हैं'; क्योंकि अमूर्त रूपादि गुणोंका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। समुदाय अवस्थामें भी जब गुण अपनी सूक्ष्मता नहीं छोड़ते तब उनका ग्रहण कैसे हो सकता है? चूँकि अर्थसे रूपादि अभिन्न हैं, अतः अर्थके ग्रहण होने पर भी 'रूपको देखा, गन्ध सूँघी' आदि प्रयोग हो जाते हैं।

§ ३–५ **प्रश्न**–इनके होनेपर मतिज्ञान होता है अतः 'अर्थे' ऐसा सप्तम्यन्त सूत्र बनाना चाहिये?

उत्तर–यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि अर्थके होनेपर ज्ञान होता ही है। तल-घरमें बढ़े हुए बालकको 'घट'के सामने रहनेपर भी घटज्ञान नहीं होता। कारक विवक्षाके अनुसार होता है, अतः अधिकरण विवक्षा न रहनेके कारण सप्तमी न होकर क्रिया-कारक सम्बन्धकी विवक्षामें सम्बन्धार्थक षष्ठीका प्रयोग हुआ है। अवग्रह आदि क्रिया-विशेष बहु आदि रूप अर्थके होते हैं।

§ ६–८ बहु आदिके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे 'अर्थानाम्' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग होना चाहिये?

उत्तर–अवग्रहादिके साथ अर्थका सम्बन्ध किया जाना चाहिये। अवग्रहादि 'किसके' ऐसे प्रश्नका उत्तर है 'अर्थके'। अथवा बहु आदि सभी ज्ञानके विषय होनेके कारण अर्थ हैं, अतः सामान्य दृष्टिसे एकवचन निर्देश कर दिया है। अथवा बहु आदि एक एकसे एकवचन-वाले 'अर्थ'का सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

अवग्रहादिकी विशेषता–

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

व्यञ्जन–अव्यक्त शब्दादि पदार्थ, अर्थात् जिनका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होकर ज्ञान होता है ऐसे प्राप्त पदार्थ। इनका अवग्रह ही होता है ईहादिक नहीं।

§ १–जैसे 'अपो भक्षयति–पानी पीता है' इस वाक्यमें 'एवकार' न रहनेपर भी 'पानी ही पीता है' ऐसा अवधारणात्मक ज्ञान हो जाता है। उसी तरह सूत्र में एवकार न देनेपर भी 'अवग्रह ही होता है' ऐसा अवधारण समझ लेना चाहिये।

§ २ व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह कहलाता है और अव्यक्त ग्रहण व्यञ्जनावग्रह। जैसे नया मिट्टीका सकोरा पानीकी दो तीन बिन्दु डालने तक गीला नहीं होता पर लगातार जलबिन्दुओंके डालते रहनेपर धीरे धीरे गीला हो जाता है उसी तरह व्यक्त ग्रहणके पहिले का अव्यक्तज्ञान व्यञ्जनावग्रह है और व्यक्तग्रहण अर्थावग्रह।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

§ १ चक्षु और मनके द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता क्योंकि चक्षु और मन योग्यदेशमें स्थित पदार्थको सम्बन्ध किये बिना ही ज्ञान करते हैं अतः जो भी ज्ञान होता है वह स्पष्ट ही होता है।

§ २–३ मन अप्राप्त अर्थका विचार करता है यह तो निर्विवाद है और चक्षुकी अप्राप्यकारिता आगम और युक्तिसे सिद्ध है, स्वेच्छासे नहीं। आगममें बताया है कि–शब्द कानसे स्पृष्ट होकर सुना जाता है पर रूप अस्पृष्ट होकर दूरसे ही देखा जाता है। गन्ध रस और स्पर्श इन्द्रियोंसे जब स्पृष्ट होते हैं और विशिष्ट सम्बन्धको प्राप्त होते हैं तब जाने जाते हैं।

युक्तियोंसे भी चक्षुकी अप्राप्यकारिता प्रसिद्ध है। यथा–चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है क्योंकि वह अपनेमें लगे हुए अंजनको नहीं देख पाती। स्पर्शनेन्द्रिय प्राप्यकारी है तो वह अपनेसे छुए हुए किसी भी पदार्थके स्पर्शको जानती ही है। अतः मनकी तरह चक्षु अप्राप्यकारी है। 'चक्षु प्राप्यकारी है क्योंकि वह ढके हुए पदार्थको नहीं देखती जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय' यह पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि चक्षु काँच अभ्रक स्फटिक आदिसे आवृत–ढके हुए पदार्थोंको बराबर देखता है अतः पक्षमें ही अव्यापक होनेसे उक्त हेतु असिद्ध है; जैसे कि वनस्पतिमें चैतन्य सिद्ध करनेके लिए दिया जानेवाला 'स्वाप-सोना' हेतु, क्योंकि किन्हीं वनस्पतियोंमें पत्र-संकोच आदि चिह्नोंसे 'सोना' स्पष्ट जाना जाता है किन्हींका नहीं। चुम्बक तो दूरसे ही लोहेको खींचनेके कारण अप्राप्यकारी है फिर भी वह ढके हुए लोहेको नहीं खींचता अतः संशय भी होता है कि आवृतको न देखनेके कारण चक्षु इन्द्रिय स्पर्शनकी तरह प्राप्यकारी है या चुम्बककी तरह अप्राप्यकारी। भौतिक होनेसे चक्षुको अग्निकी तरह प्राप्यकारी कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि चुम्बक भौतिक होकर भी अप्राप्यकारी है। बाह्येन्द्रिय होनेसे स्पर्शनेन्द्रियकी तरह चक्षुको प्राप्यकारी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि बाहिर दिखनेवाली द्रव्येन्द्रिय तो अन्तरंग मुख्य भावेन्द्रियकी सहायक हैं, मात्र उनसे ज्ञान नहीं होता। स्पर्शनेन्द्रिय आदिमें भी भीतरी भावेन्द्रिय ही की प्रधानता है। अतः यह हेतु कार्यकारी नहीं है। जिस प्रकार चुम्बक अप्राप्त लोहेको खींचता है परन्तु अतिदूरवर्ती अतीत अनागत या व्यवहित लोहेको नहीं खींचता उसी तरह चक्षु भी न व्यवहितको देखता है और न अतिदूरवर्तीको ही; क्योंकि पदार्थोंकी शक्तियाँ मर्यादित हैं। अप्राप्यकारी माननेपर चक्षुके द्वारा संशय और विपर्ययज्ञानके अभावका दूषण तो प्राप्यकारी मानने पर भी बना रहता है। अतः संशय और विपर्यय तो इन्द्रिय-दोषसे दोनों ही अवस्थाओंमें होते हैं।

'चक्षु चूँकि तेजोद्रव्य है अतः इसके किरणें होती हैं और यह किरणोंके द्वारा पदार्थसे सम्बन्ध करके ही ज्ञान करता है जैसे कि अग्नि।' यह अनुमान ठीक नहीं है; क्योंकि चक्षुको तेजोद्रव्य मानना ही गलत है। अग्नि तो गरम होती है अतः चक्षुइन्द्रियका स्थान

उष्ण होना चाहिए। अग्निकी तरह चक्षुमें चमकदार भासुर रूप भी होना चाहिए। पर न तो चक्षु उष्ण ही है और न भासुररूपवाली ही। अदृष्ट–अर्थात् कर्मके कारण ऐसे तेजोद्रव्य की कल्पना करना 'जिसमें न भासुर रूप हो और न उष्णस्पर्श' उचित नहीं है, क्योंकि अदृष्ट निष्क्रिय गुण है वह पदार्थके स्वाभाविक गुणोंको पलट नहीं सकता। बिल्ली आदि की आँखोंको प्रकाशमान देखकर चक्षुको तेजोद्रव्य कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पार्थिव आदि पुद्गल द्रव्योंमें भी कारणवश चमक उत्पन्न हो जाती है जैसे कि पार्थिवमणि या जलीय बरफ आदि में। जो गतिमान् होता है वह समीपवर्ती और दूरवर्ती पदार्थोंसे एक साथ सम्बन्ध नहीं कर सकता जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय किन्तु चक्षु समीपवर्ती शाखा और दूरवर्ती चन्द्रको एक साथ जानता है, अतः गतिमान्से विलक्षण प्रकारका होनेसे चक्षु अप्राप्यकारी है। यदि चक्षु गतिमान् होकर प्राप्यकारी होता तो अँधियारी रातमें दूरदेशवर्ती प्रकाशको देखनेके समय उसे प्रकाशके पास रखे हुए पदार्थोंका तथा मध्यवर्ती पदार्थोंका ज्ञान भी होना चाहिए था। आपके मतमें जब चक्षु स्वयं प्रकाशरूप है तब अन्य प्रकाशकी आवश्यकता उसे होनी ही नहीं चाहिए। किंच, यदि चक्षु प्राप्यकारी होता तो जैसे शब्द कानके भीतर सुनाई देता है, उसी तरह रूप भी आँखके भीतर ही दिखाई देना चाहिए। आंखके द्वारा जो अन्तरालका ग्रहण और अपनेसे बड़े पदार्थका अधिकरूपमें ग्रहण होता है वह नहीं होना चाहिए। यह मत कि 'इन्द्रियाँ बाहर जाकर पदार्थसे सम्बन्ध करके उन्हें जानती हैं अतः सान्तर और अधिक ग्रहण हो जाता है' ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियोंकी बहिर्वृत्ति अप्रसिद्ध है। चिकित्सा आदि तो शरीर देशमें ही किए जाते हैं बाहर नहीं। यदि इन्द्रियां बाहिर जाती हैं तो जिस समय देखना प्रारम्भ हुआ उसी समय आंखकी पलक बन्द कर लेने पर भी दिखाई देना चाहिए। कारण–इन्द्रिय तो बाहर जा चुकी है। फिर, मनसे अधिष्ठित होकर ही इन्द्रियां स्वविषयमें व्यापार करती हैं, पर मन तो अन्तःकरण है, वह तो बाहिर जाकर इन्द्रियोंकी सहायता नहीं कर सकता, शरीर देशमें ही उसकी सहायता संभव है। यदि अणुरूप मन बाहर चला भी गया तो वह फैले हुए आंखोंकी किरणोंका नियन्त्रण कैसे कर सकता है? अतः चक्षु शरीर देशमें रहकर ही योग्यदेशस्थित पदार्थको जानता है।

बौद्ध का मत है कि श्रोत्र भी चक्षुकी तरह अप्राप्यकारी है क्योंकि वह दूरवर्ती शब्दको सुन लेता है। यह मत ठीक नहीं है क्योंकि श्रोत्रका दूरसे शब्दका सुनना असिद्ध है। वह तो नाककी तरह अपने देशमें आये हुए शब्द पुद्गलोंको सुनता है। शब्द वर्गणाएँ कानके भीतर पहुंचकर ही सुनाई देती हैं। यदि कान दूरवर्ती शब्दको सुनता है तो उसे कानके भीतर घुसे हुए मच्छरका भिनभिनाना नहीं सुनाई देना चाहिए क्योंकि कोई भी इन्द्रिय अति निकटवर्ती और दूरवर्ती पदार्थोंको नहीं जान सकती। शब्दको आकाशका गुण मानना तो अत्यन्त असंगत है; क्योंकि अमूर्तद्रव्यके गुण इन्द्रियोंके विषय नहीं हो सकते जैसे कि आत्माके सुखादि गुण। श्रोत्रको प्राप्यकारी मानने पर भी 'अमुक देश अमुक दिशा आदिमें शब्द है' इस प्रकार दिग्देशविशिष्टताके ग्रहणका कोई विरोध नहीं है क्योंकि वेगवान् शब्दपरिणत पुद्गलोंके त्वरित और नियत देशादिसे आनेके कारण उस प्रकारका ज्ञान हो जाता है। शब्द पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे चारों ओर फैलकर श्रोताओंके कानोंमें प्रविष्ट होते हैं। कहीं कहीं प्रतिघात भी प्रतिकूल वायु और दीवाल

आदिसे हो जाता है। अतः चक्षु और मनको छोड़कर शेष इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। इनसे प्रथम व्यञ्जनावग्रह होता है बादमें अर्थावग्रह और चक्षु और मनसे सीधा अर्थावग्रह।

§ ३–७ **प्रश्न**–मन अपने विचारात्मक कार्यमें इन्द्रियान्तरकी सहायता की अपेक्षा नहीं करता अतः उसे चक्षुकी तरह इन्द्रिय ही कहना चाहिए अनिन्द्रिय नहीं? **उत्तर**–मन चक्षुरादि इन्द्रियोंकी तरह दूसरोंको दिखाई नहीं देता, सूक्ष्म है, वह अन्तरंग करण है अतः उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। इस अनुमानसे उसका सद्भाव सिद्ध होता है–चक्षु आदि इन्द्रियोंके समर्थ होने पर भी बाह्य रूपादि पदार्थोंकी उपस्थिति तथा उनके युगपत् जाननेका प्रयोजन रहने पर जिसके न होनेसे युगपत् ज्ञान और क्रियाएं नहीं होतीं वही मन है। मन जिस-जिस इन्द्रियको सहायता करता है उसी उसीके द्वारा क्रमशः ज्ञान और क्रिया होती है। जिसके द्वारा देखे या सुने गये पदार्थका स्मरण होता है वह मन है। स्मरणसे मनका सद्भाव सिद्ध होता है। अप्रत्यक्ष पदार्थोंका ज्ञान अनुमानसे ही किया जाता है जैसे सूर्यकी गति और वनस्पतिके वृद्धि और ह्रास का।

§ ८-९ यद्यपि आत्मा स्वयं समस्त ज्ञान और क्रियाशक्तियोंसे सम्पन्न है फिर भी उसे उन उन ज्ञान आदिके लिए भिन्न भिन्न इन्द्रियोंकी आवश्यकता होती है, जैसे कि अनेक कलाकुशल देवदत्तको चित्र बनाते समय कलम ब्रुश आदि उपकरणोंकी अपेक्षा होती है और अलमारी बनानेके लिए बसूला करोंत आदि उपकरणोंकी। नामकर्मके उदयसे उत्पन्न अङ्ग उपाङ्गोंके कारण इन्द्रियोंका भेद होता है। कान यवनालीके समान, नाक मोतीके समान, जीभ खुरपाके समान, आंख मसूरके समान काले तारेके आकार और स्पर्शनेन्द्रिय सर्वशरीरव्यापी अनेक आकारोंकी है। ये ही इन्द्रियां अपने अपने विषयोंको जाननेमें समर्थ हैं, अन्य नहीं।

द्रव्यकी दृष्टिसे मतिज्ञानी सभी द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको उपदेशसे जानता है। क्षेत्रकी दृष्टिसे उपदेश द्वारा सभी क्षेत्रोंको जानता है। अथवा, आँखका उत्कृष्ट क्षेत्र ४७२६३$\frac{२१}{६०}$ योजन है। कानका क्षेत्र १२ योजन, नाक, जीभ और स्पर्शनका ९ योजन है। उपदेशसे सभी काल सभी औदयिक आदि भावोंको मतिज्ञानी जान सकता है। सामान्यसे मतिज्ञान एक है। इन्द्रियज और अनिन्द्रियजके भेदसे दो प्रकारका है। अवग्रह आदिके भेदसे चार प्रकारका है। अवग्रहादि चार छहों इन्द्रियोंसे होते हैं अतः २४ प्रकारका है। चार इन्द्रियोंसे चार व्यञ्जनावग्रह भी होते हैं अतः मिलकर २८ प्रकारका है। इन्हीं अट्ठाईसमें द्रव्य क्षेत्र काल भाव या अवग्रहादि चारको मिलानेसे ३२ प्रकारका हो जाता है। इस तरह इन २४, २८, ३२ प्रकारोंको बहु आदि ६ भेदोंसे गुणा करने पर क्रमशः १४४, १६८, १९२ भेद हो जाते हैं और बहु आदि १२ से गुणा करने पर २८८, ३३६ और ३८४।

व्यञ्जनावग्रहमें भी अव्यक्त रूपसे बहु आदि बारह प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण होता है। अनिःसृत ग्रहणमें भी जितने सूक्ष्म पुद्गल प्रकट हैं उनसे अतिरिक्तका ज्ञान भी अव्यक्त रूपसे हो जाता है। उन सूक्ष्म पुद्गलोंका इन्द्रियदेशमें आ जाना ही उनका अव्यक्तग्रहण है।

श्रुतज्ञानका विवेचन—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और उसके अंगबाह्य अंगप्रविष्ट दो भेद हैं। अंगबाह्यके अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्टके बारह भेद।

§ १ जिस प्रकार कुशल शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ कुशको काटनेवाला होता है फिर भी रूढ़िसे उसका चतुर अर्थ लिया जाता है उसी तरह श्रुतका व्युत्पत्त्यर्थ 'सुना हुआ' होनेपर भी उसका श्रुतज्ञान रूप ज्ञानविशेष अर्थ लिया जाता है।

§ २ पूर्व अर्थात् कारण, कार्यको पोषण या उसे पूर्ण करनेकी वजहसे कारण पूर्व कहा जाता है।

§ ३-५ **प्रश्न**—जैसे मिट्टीके पिण्डसे बना हुआ घड़ा मिट्टी रूप होता है उसी तरह मतिपूर्वक श्रुत भी मतिरूप ही होना चाहिए अन्यथा उसे मतिपूर्वक नहीं कह सकते।

उत्तर—मतिज्ञान श्रुतज्ञानमें निमित्तमात्र है उपादान नहीं। उपादान तो श्रुतपर्यायसे परिणत होनेवाला आत्मा है। जैसे दंड चक्रादि घड़ेमें निमित्त हैं अतः इनका घटरूप परिणमन नहीं होता और न इनके रहने मात्रसे घटभवनके अयोग्य रेत ही घड़ा बन सकती है किन्तु घट होने लायक मिट्टी ही घड़ा बनती है उसी तरह श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानके निमित्त होने मात्रसे श्रुतज्ञान नहीं बनता और न श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे रहित आत्मामें श्रुतज्ञान होता है किन्तु श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जिसमें श्रुत होनेकी योग्यता है वही आत्मा श्रुतज्ञानरूपसे परिणत होता है। फिर, यह कोई नियम नहीं है कि कारणके समान ही कार्य होना चाहिए। पुद्गलद्रव्यकी दृष्टिसे मिट्टी रूप कारणके समान घड़ा होता है पर पिण्ड और घट पर्यायोंकी अपेक्षा दोनों विलक्षण हैं। यदि कारणके सदृश ही कार्य हो तो घट अवस्थासे भी पिंड शिवक आदि पर्यायें मिलनी चाहिए थीं। जैसे मृत्पिंडमें जल नहीं भर सकते उसी तरह घड़ेमें भी नहीं भरा जाना चाहिए। घटका भी घट रूपसे ही परिणमन होना चाहिए, कपालरूप नहीं, क्योंकि आपके मतसे कारणके सर्वथा सदृश ही कार्यके होनेका नियम है। उसी तरह चैतन्य द्रव्यकी दृष्टिसे मति और श्रुत दोनों एक हैं क्योंकि मति भी ज्ञान है और श्रुत भी ज्ञान है। किन्तु तत्तत् ज्ञान पर्यायोंकी दृष्टिसे दोनों ज्ञान जुदा जुदा हैं।

§ ६ **प्रश्न**—श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानसे जो उत्पन्न हो उसे ही श्रुत कहना चाहिए क्योंकि सुनकर जो जाना जाता है वही श्रुत होता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय आदिसे श्रुत नहीं हो सकेगा ?

उत्तर—श्रुत शब्द श्रुतज्ञान विशेषमें रूढ़ होनेके कारण सभी मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानोंमें व्याप्त है।

§ ७ **प्रश्न**—जिसका आदि होता है उसका अन्त भी, अतः श्रुतमें अनादिनिधनता नहीं बन सकती। पुरुषकर्तृक होनेके कारण श्रुत अप्रमाण भी होगा ? **उत्तर**—द्रव्यादि सामान्यकी अपेक्षा श्रुत अनादि है, क्योंकि किसी भी पुरुषने किसी नियत समयमें अविद्यमान श्रुतकी उत्पत्ति नहीं देखी। उस उस श्रुत पर्याय की अपेक्षा उसका आदि भी है और अन्त भी। तात्पर्य यह कि श्रुतज्ञान सन्तति की अपेक्षा अनादि है। अपौरुषेयता प्रमाणताका कारण नहीं है अन्यथा चोरी व्यभिचार आदिके उपदेश भी प्रमाण हो जायँगे

क्योंकि इनका कोई आदिप्रणेता ज्ञात नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अनित्य हैं पर इससे उनकी प्रमाणतामें कोई कसर नहीं आती।

§ ८ **प्रश्न**—प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर एक साथ मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानकी निवृत्ति होकर मति और श्रुत उत्पन्न होते हैं अतः श्रुतको मतिपूर्वक नहीं कहना चाहिए ? **उत्तर**—मति और श्रुतमें 'सम्यक्' व्यपदेश युगपत् होता है न कि उत्पत्ति। दोनोंकी उत्पत्ति तो अपने अपने कारणोंसे क्रमशः ही होती है।

§ ९ चूंकि सभी प्राणियोंके अपने अपने श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार श्रुतकी उत्पत्ति होती है अतः मतिपूर्वक होनेपर भी सभीके श्रुतज्ञानोंमें विशेषता बनी रहती है। कारणभेदसे कार्यभेदका नियम सर्वसिद्ध है।

§ १० **प्रश्न**—घट शब्दको सुनकर प्रथम घट अर्थका श्रुतज्ञान हुआ उस श्रुतसे जलधारणादि कार्योंका जो द्वितीय श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसे श्रुतपूर्वक श्रुत होनेसे 'मतिपूर्वक' नहीं कह सकते, अतः लक्षण अव्याप्त हो जाता है। इसी तरह धूम अर्थका ज्ञान प्रथम श्रुत हुआ, उससे उत्पन्न होनेवाले अविनाभावी अग्निके ज्ञानमें श्रुतपूर्वक श्रुतत्व होनेसे 'मतिपूर्वक' लक्षण अव्याप्त हो जाता है।

उत्तर—प्रथम श्रुतज्ञानमें मतिजन्य होनेसे 'मतिज्ञानत्व'का उपचार कर लिया जाता है और इस तरह द्वितीय श्रुतमें भी 'मतिपूर्वकत्व' सिद्ध हो जाता है। अथवा, पूर्वशब्द व्यवहित पूर्वको भी कहता है। जैसे 'मथुरासे पटना पूर्वमें है' यहां अनेक नगरोंसे व्यवहित भी पटना पूर्व कहा जाता है उसी तरह साक्षात् या परम्परया मतिपूर्वक ज्ञान श्रुत कहे जाते हैं।

§ ११ भेद शब्दका अन्वय द्वि आदिसे कर लेना चाहिए। अर्थात् दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद।

§ १२ श्रुतज्ञानके मूल दो भेद हैं—एक अंगप्रविष्ट और दूसरा अङ्गबाह्य। अङ्गप्रविष्ट आचाराङ्ग आदिके भेदसे बारह प्रकारका है। भगवान् महावीररूपी हिमाचलसे निकली हुई वाग्गंगाके अर्थरूप जलसे जिनका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल है, उन बुद्धि ऋद्धिके धनी गणधरों द्वारा ग्रन्थरूपमें रचे गये आचाराङ्ग आदि बारह अङ्ग हैं।

आचाराङ्गमें चर्याका विधान आठ शुद्धि, पांच समिति, तीन गुप्ति आदि रूपसे वर्णित है। सूत्रकृताङ्गमें—ज्ञानविनय, क्या कल्प्य है क्या अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मकी क्रियाओंका निरूपण है। स्थानाङ्गमें एक एक, दो दो आदिके रूपसे अर्थोंका वर्णन है। समवायाङ्गमें सब पदार्थों की समानता रूपसे समवायका विचार किया गया है। जैसे धर्म अधर्म लोकाकाश और एक जीवके तुल्य असंख्यात प्रदेश होनेसे इनका द्रव्यरूपसे समवाय कहा जाता है। जम्बूद्वीप सर्वार्थसिद्धि अप्रतिष्ठान नरक नन्दीश्वरद्वीपकी बावड़ी ये सब १ लाख योजन विस्तारवाले होनेसे इनका क्षेत्रकी दृष्टिसे समवाय होता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दोनों दश कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होनेसे इनका कालकी दृष्टिसे समवाय है। क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन यथाख्यातचारित्र ये सब अनन्त विशुद्धिरूपसे भावसमवायवाले हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिमें 'जीव है कि नहीं' आदि साठ हजार प्रश्नोंके उत्तर हैं। ज्ञातृधर्मकथामें अनेक आख्यान और उपाख्यानोंका निरूपण है। उपासकाध्ययनमें श्रावकधर्मका विशेष विवेचन किया गया है। अन्तकृद्दशांगमें प्रत्येक तीर्थङ्करके समयमें होनेवाले उन दश दश अन्तकृत् केवलियोंका वर्णन है जिनने भयङ्कर

उपसर्गोंको सह कर मुक्ति प्राप्त की। जैसे महावीरके समय नमि मतङ्ग सोमिल रामपुत्र सुदर्शन यमलीक वलीक निष्कम्बल पाल और अम्बष्ठपुत्र ये दश अंतकृत् केवली हुए थे। अथवा इसमें अर्हत् और आचार्यों की विधि तथा सिद्ध होनेवालोंकी अन्तिम विधिका वर्णन है।

अनुत्तरोपपादिकदशाङ्गमें–प्रत्येक तीर्थङ्करके समय होनेवाले उन दस दस मुनियों का वर्णन है जिनने दारुण उपसर्गोंको सहकर विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानोंमें जन्म लिया। महावीरके समय ऋषिदास वान्य सुनक्षत्र कार्तिक नन्दनन्दन शीलभद्र अभय वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश मुनि हुए थे। अथवा, इसमें विजय आदि अनुत्तर विमानोंकी आयु विक्रिया क्षेत्र आदिका निरूपण है।

प्रश्नव्याकरणमें युक्ति और नयोंके द्वारा अनेक आक्षेप विक्षेप रूप प्रश्नोंका उत्तर दिया गया है, सभी लौकिक वैदिक अर्थोंका निर्णय किया गया है। विपाकसूत्रमें पुण्य और पापके विपाकका विचार है।

बारहवाँ दृष्टिवाद अंग है। इसमें ३६३ कुवादियोंके मतोंका निरूपण पूर्वक खंडन है। कौल्कल काणेविद्धि कौशिक हरिस्मश्रु मांछपिक रोमश हारीत मुण्ड आश्वलायन आदि क्रियावादियोंके १८० भेद हैं। मरीचिकुमार कपिल उलूक गार्ग्य व्याघ्रभूति वाद्वलि माठर मौद्गलायन आदि अक्रियावादियोंके ८४ प्रकार हैं। साकल्य वाल्कल कुथुमि सात्यमुग्र नारायण कठ माध्यन्दिन मौद पैप्पलाद बादरायण अम्बष्ठि कृदौविकायन वसु जैमिनि आदि अज्ञानवादियोंके ६७ भेद हैं। वशिष्ठ पाराशर जतुकर्णि वाल्मीकि रौमहर्षिणि सत्यदत्त व्यास एलापुत्र औपमन्यव इन्द्रदत्त अयस्थुण आदि वैनयिकोंके ३२ भेद हैं। इस प्रकार कुल ३६३ भेद होते हैं। दृष्टिवादके पाँच भेद हैं–परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत और चूलिका। पूर्वगतके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। उत्पादपूर्वमें जीवपुद्गलादिका जहाँ जब जैसा उत्पाद होता है उस सबका वर्णन है। अग्रायणी पूर्वमें क्रियावाद आदिकी प्रक्रिया और स्वसमयका विषय विवेचित है। वीर्यप्रवादमें छद्मस्थ और केवलीकी शक्ति सुरेन्द्र असुरेन्द्र आदिकी ऋद्धियां नरेन्द्र चक्रवर्ती बलदेव आदिकी सामर्थ्य द्रव्योंके लक्षण आदिका निरूपण है। अस्तिनास्ति प्रवादमें--पांचों अस्तिकायोंका और नयोंका अस्तिनास्ति आदि अनेक पर्यायों द्वारा विवेचन है। ज्ञानप्रवादमें पांचों ज्ञानों और इन्द्रियोंका विभाग आदि निरूपित है।

सत्यप्रवाद पूर्वमें वाग्गुप्ति, वचन संस्कारके कारण, वचन प्रयोग, बारह प्रकारकी भाषाएँ, दस प्रकारके सत्य, वक्ताके प्रकार आदिका विस्तारसे विवेचन है। वचन संस्कारके सिर कंठ आदि आठ स्थान हैं। शुभ और अशुभके भेदसे वाक् प्रयोग दो प्रकारका है। अभ्याख्यान कलह आदि रूपसे भाषा बारह प्रकार की है। हिंसादिसे विरक्त मुनि या श्रावकको हिंसादिका दोष लगाना अभ्याख्यान है। कलह–लड़ाई कराना। पीठ पीछे दोष दिखाना पैशुन्य है। चारों पुरुषार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रलाप असम्बद्ध भाषा है। शब्दादि विषयोंमें या अमुक देश नगर आदिमें रति उत्पन्न करनेवाली रतिवाक् है। इन्हींमें अरति उत्पन्न करनेवाली अरतिवाक् है। जिसे सुनकर परिग्रहके अर्जन रक्षण आदिमें आसक्ति उत्पन्न हो वह उपधिवाक् है। जिससे व्यापारमें ठगनेको प्रोत्साहन मिले वह निकृतिवाक् है। जिसे सुनकर तपोनिधि या गुणी जीवोंके प्रति अविनयकी प्रेरणा

मिले वह अप्रणतिवाक् है। जिससे चोरीमें प्रवृत्ति हो वह मोषवाक् है। सम्यक् मार्गकी प्रवर्तिका सम्यग्दर्शनवाक् है। मिथ्यात्ववर्धिनी मिथ्यावाक् है। 'द्वीन्द्रिय आदि जीव वक्ता हैं' जो शब्दोच्चारण कर सकते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदिकी दृष्टिसे असत्य अनेक प्रकार का है। सत्यके दस भेद हैं–सचेतन या अचेतन द्रव्यका व्यवहारके लिए इच्छानुसार नाम रखना नाम सत्य है। चित्र आदि तदाकार रूपोंमें उसका व्यवहार करना रूप सत्य है। जुआ आदिमें या शतरंजके मुहरोंमें हाथी घोड़ा आदिकी कल्पना स्थापना सत्य है। औपशमिकादि भावोंकी दृष्टिसे किया जानेवाला व्यवहार प्रतीत्य सत्य है। जो लोकव्यवहार में प्रसिद्ध प्रयोग है उसे संवृति सत्य कहते हैं, जैसे पृथिवी जल आदि अनेक कारणोंसे उत्पन्न भी कमलको पंकज कहना। धूप उबटन आदिमें या कमल मगर हंस सर्वतोभद्र आदि में सचेतन अचेतन द्रव्योंके भाव विधि आकार आदिकी योजना करनेवाले वचन संयोजना सत्य है। आर्य और अनार्य रूपमें विभाजित बत्तीस देशोंमें धर्मादिकी प्रवृत्ति करनेवाले वचन जनपदसत्य हैं। ग्राम नगर राज्य गण मत जाति कुल आदि धर्मोंके उपदेशक वचन देशसत्य हैं। संयत या श्रावकको स्वधर्मपालनके लिए 'यह प्रासुक है यह अप्रासुक है' इत्यादि वचन भावसत्य हैं। आगमगम्य पदार्थोंका निरूपण समयसत्य है।

आत्मप्रवादमें आत्मद्रव्यका और छह जीवनिकायोंका अस्ति नास्ति आदि विविध भंगोंसे निरूपण है। कर्मप्रवादमें कर्मोंकी बन्ध उदय उपशम आदि दशाओंका और स्थिति आदिका वर्णन है। प्रत्याख्यानप्रवादमें व्रत नियम प्रतिक्रमण तप आराधना आदि तथा मुनित्वमें कारण द्रव्योंके त्याग आदिका विवेचन है। विद्यानुवादपूर्वमें समस्त विद्याएँ, आठ महानिमित्त, रज्जुराशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोकप्रतिष्ठा, समुद्घात आदिका विवेचन है। अंगुष्ठप्रसेना आदि ७०० अल्पविद्याएँ और रोहिणी आदि ५०० महाविद्याएँ होती हैं। अन्तरीक्ष, भूमि, अङ्ग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन और छिन्न ये आठ महानिमित्त हैं। क्षेत्र अर्थात् आकाश। कपड़ेके ताने-बानेकी तरह ऊपर-नीचे जो असंख्यात आकाश प्रदेश पंक्तियां हैं उन्हें श्रेणी कहते हैं। अनन्त अलोकाकाशके मध्यमें लोक है। इसमें ऊर्ध्वलोक मृदंगके आकार है। अधोलोक वेत्रासनके आकार तथा मध्यलोक झालरके आकार है। यह लोक तनुवातवलयसे अन्तमें वेष्टित है और चौदह राजू लम्बा है। यह प्रतरवृत्त है। मेरु पर्वतके नीचे वज्र पृथिवी पर स्थित आठ मध्यप्रदेश लोकमध्य हैं। लोकमध्यसे ऊपर ऐशान स्वर्ग तक १॥ रज्जु, माहेन्द्र स्वर्ग तक ३ रज्जु, ब्रह्मलोक तक ३॥ रज्जु, कापिष्ठ तक ४ रज्जु, महाशुक्र तक ४॥ रज्जु, सहस्रार तक ५ रज्जु, प्राणत तक ५॥ रज्जु, अच्युत तक ६ रज्जु और लोकान्त तक सात रज्जु है। लोकमध्यसे नीचे शर्कराप्रभा तक १ रज्जु, फिर पांचों नरक क्रमशः एक एक राजू हैं। इस प्रकार सातवें नरक तक छह राजू होते हैं। फिर लोकान्त तक एक राजू, इस प्रकार सात राजू हो जाते हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलय और तनुवलय इन तीन वातवलयोंसे यह लोक चारों ओरसे घिरा हुआ है। अधोलोककी दिशा और विदिशामें तीनों वात वलय बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं। ऊपर क्रमशः घटकर तीनों वातवलय मध्यलोककी आठों दिशाओंमें ५, ४ और ३ योजन मोटे रह जाते हैं। ऊर्ध्वलोकमें बढ़कर ब्रह्मलोककी आठों दिशाओंमें ७, ५ और ४ योजन मोटे हो जाते हैं। फिर ऊपर क्रमशः घटकर तीनों वलय लोकाग्रमें ५,४ और ३ योजन मोटे रह जाते हैं। ये ऊपर नीचे गोल डंडेके समान हैं। लोकाग्रके ऊपर ये क्रमशः दो गव्यूति, एक कोश और कुछ कम एक कोश प्रमाण

विस्तारवाले हैं। नीचे कलकल पृथ्वीके नीचे क्रमशः ७,५ और ४ योजन विस्तृत हैं। नीचे लोकमूलमें चौड़ाई ७ राजू है। मध्यलोकमें एक राजू, ब्रह्मलोकमें पांच राजू और लोकाग्रमें एक राजू है। लोकमध्यसे एक रज्जु नीचे शर्करा प्रभाके अन्तमें आठों दिशाओंमें चौड़ाई $१\frac{६}{७}$ राजू है, उससे एक रज्जू नीचे वालुकाप्रभाके अन्तमें $२\frac{५}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे पंक प्रभाके अन्तमें $३\frac{४}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे धूमप्रभाके अन्तमें $४\frac{३}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे तमःप्रभाके अन्तमें $५\frac{२}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे महातमःप्रभाके अन्तमें $६\frac{१}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे कलकल पृथ्वीके अन्तमें ७ राजू चौड़ाई है। इसी तरह लोक-मध्यसे एक राजू ऊपर $२\frac{१}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर $३\frac{२}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर $४\frac{३}{७}$ राजू, फिर आधी राजू ऊपर जाने पर ५ राजू विस्तार है। फिर आधी राजू ऊपर जाकर $४\frac{३}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर $३\frac{२}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर $२\frac{१}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर लोकान्तमें एक राजू विस्तार है। वेदना आदि निमित्तोंसे कुछ आत्मप्रदेशोंका शरीरसे बाहिर निकलना समुद्घात है; वह सात प्रकारका है—वात पित्तादि विकार-जनित रोग या विषपान आदिकी तीव्र वेदनासे आत्मप्रदेशोंका बाहिर निकलना वेदना समुद्घात है। क्रोधादि कषायोंके निमित्तसे कषाय समुद्घात होता है। उदीरणा या कालक्रमसे होनेवाले मरणके निमित्तसे मारणान्तिक समुद्घात होता है। जीवोंके अनुग्रह और विनाशमें समर्थ तैजस शरीरकी रचनाके लिए तैजस समुद्घात होता है। एकत्व पृथक् आदि नाना प्रकारकी विक्रियाके निमित्तसे वैक्रियिक समुद्घात होता है। अल्पहिंसा और सूक्ष्मार्थ परिज्ञान आदि प्रयोजनोंके लिए आहारक शरीरकी रचनाके निमित्त आहारक समुद्घात होता है। जब वेदनीयकी स्थिति अधिक हो और आयु कर्मकी अल्प तब स्थिति-समीकरणके लिए केवली भगवान् केवलिसमुद्घात करते हैं। जैसे मदिरामें फेन आकर शान्त हो जाता है उसी तरह समुद्घातमें आत्म-प्रदेश बाहिर निकलकर फिर शरीरमें समा जाते हैं। अहारके और मारणान्तिक समुद्घात एक दिशामें होते हैं; क्योंकि आहारक शरीरकी रचनाके समय श्रेणिगति होनेके कारण एक ही दिशामें असंख्य आत्मप्रदेश निकलकर एक अरत्नि प्रमाण आहारक शरीरको बनाते हैं। मारणान्तिकमें जहां नरक आदिमें जीवको मरकर उत्पन्न होना है वहांकी ही दिशामें आत्मप्रदेश निकलते हैं। शेष पांच समुद्घात श्रेणिके अनुसार ऊपर नीचे पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण इन छहों दिशाओंमें होते हैं। वेदना आदि छह समुद्घातोंका काल असंख्यात समय है और केवलि समुद्घातका काल आठ समय है। दण्ड, कवाट, प्रतर, लोकपूरण, फिर प्रतर, कपाट, दंड और स्वशरीर-प्रवेश इस तरह आठ समय होते हैं।

क्रियाविशाल पूर्वमें सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र तारागणोंका गमनक्षेत्र, उपपादक्षेत्र, शकुन, चिकित्सा, भूतिकर्म, इन्द्रजाल विद्या, चौंसठ कला, शिल्प, काव्य, गुणदोष, छन्द, क्रिया, क्रियाफलके भोक्ता आदिका विस्तृत विवेचन है।

लोकबिन्दुसारमें आठ व्यवहार, चार बीजराशि परिकर्म आदि गणित तथा समस्त श्रुतसम्पत्तिका विवरण है।

§ १३–१४ गणधरदेवके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु-बुद्धिबलवाले प्राणियोंके अनुग्रहके लिए अंगोंके आधारसे रचे गये संक्षिप्त ग्रन्थ अंगबाह्य हैं। कालिक उत्कालिक आदिके भेदसे अंगबाह्य अनेक प्रकारके हैं। स्वाध्यायकालमें जिनके पठन-पाठनका

नियम है उन्हें कालिक कहते हैं तथा जिनके पठन-पाठनका कोई नियत समय न हो वे उत्कालिक हैं। उत्तराध्ययन आदि अंगबाह्य ग्रन्थ हैं।

§ १५ अनुमान आदिका स्वप्रतिपत्ति कालमें अनक्षरश्रुतमें अन्तर्भाव होता है तथा परप्रतिपत्ति कालमें अक्षरश्रुत में। इसीलिए इनका पृथक् उपदेश नहीं किया है।

प्रत्यक्षपूर्वक तीन प्रकारका अनुमान होता है—पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतो-दृष्ट। अग्नि और धूमके अविनाभावको जिस व्यक्तिने पहिले ग्रहण कर लिया है उसे पीछे धूमको देखकर अग्निका ज्ञान होना पूर्ववत् अनुमान है। जिसने सींग और सींगवालेके सम्बन्धको देखा है उसे सींगके रूपको देखकर सींगवालेका अनुमान होना शेषवत् है। देवदत्तका देशान्तरमें पहुंचना गमनपूर्वक होता है, यह देखकर सूर्यमें देशान्तर प्राप्तिरूप हेतुसे गतिका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है। 'गाय सरीखा गवय होता है' इस उपमान वाक्यको सुनकर जंगलमें गवयको देखकर उससें गवय संज्ञाके सम्बन्धको जान लेना उपमान है। शब्द प्रमाण तो श्रुत है ही। 'भगवान् ऋषभने यह कहा' इत्यादि प्राचीन परम्परागत तथ्य ऐतिह्य प्रमाण है। 'यह आदमी दिनको नहीं खाकर भी जीता है' इस वाक्यको सुनकर अर्थात् 'रात्रिको खाता है' इस प्रकार रात्रि भोजनका ज्ञान कर लेना अर्थापत्ति है। 'चार प्रस्थका आढक होता है' इस ज्ञानके होनेपर एक आढकमें दो कुडव (आधा आढक) हैं इस प्रकारकी संभावना संभव प्रमाण है। वनस्पतियोंमें हरा भरापन आदि न दिखनेपर वृष्टिके अभावका ज्ञान करना अभाव प्रमाण है। ये सभी अर्थापत्ति आदि अनुमानमें अन्तर्भूत हैं, अतः अनुमानकी तरह स्वप्रतिपत्तिकालमें अनक्षरश्रुत हैं तथा परप्रति-पत्तिकालमें अक्षरश्रुत।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष। देशप्रत्यक्षके अवधि और मनःपर्यय दो प्रकार हैं और सर्वप्रत्यक्ष एक केवल ज्ञानरूप है। अवधि-ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे द्रव्य-क्षेत्रादिसे मर्यादित रूपीद्रव्यका ज्ञान अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान दो प्रकार का है—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। अथवा देशावधि और सर्वावधि ये दो भेद भी होते हैं। परमावधि सर्वावधि की अपेक्षा न्यून होनेसे देशावधिमें ही गिन ली गई है।

भवप्रत्यय अवधिका स्वरूप—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है।

§ १–६ भव अर्थात् आयु और नामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पर्याय, प्रत्यय अर्थात् निमित्त। भवको निमित्त लेकर जो अवधि ज्ञानावरणके क्षयोपशम पूर्वक ज्ञान होता है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। प्रत्यय शब्दके ज्ञान शपथ हेतु आदि अनेक अर्थ हैं, पर यहां 'निमित्त' अर्थकी विवक्षा है। देव और नारकी पर्यायमें जन्म लेते ही अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो जाता है और उससे अवधिज्ञान होता है। जैसे आकाश पक्षीके उड़नेमें निमित्त मात्र है क्योंकि आकाशके रहने पर ही पक्षी उड़ सकता है उसी तरह भव बाह्य निमित्त है। यदि भव ही मुख्य कारण होता तो सभी देव नारकियोंके एक जैसा तुल्य अवधिज्ञान होता पर उनमें अपने अपने क्षयोपशमके अनुसार तारतम्य आगममें स्वीकार किया गया है। जैसे मनुष्य और तिर्यंचोंको अहिंसादिव्रतरूप गुणोंसे अवधिज्ञान होता है

उस तरह देवनारकियोंको व्रतादिधारणकी आवश्यकता नहीं होती, उनके तो उस पर्यायके कारण ही क्षयोपशम प्रकट हो जाता है। अतः भव बाह्य निमित्त है। सम्यग्ज्ञानका प्रकरण होनेसे मिथ्यादृष्टि देवनारकियोंके मिथ्या अवधि अर्थात् विभंगावधि होती है इसलिए सभी देवनारकियोंको सामान्यरूपसे अवधिज्ञानका प्रसंग नहीं होता।

§ ७ **प्रश्न**—जीवस्थान आदि आगमोंमें सदादि अनुयोग द्वारोंमें 'नारक' शब्दका ही पहले ग्रहण किया है अतः यहां भी नारक शब्दका ही पहले प्रयोग करना चाहिए ? **उत्तर**—देव शब्द अल्पस्वर है और पूज्य है, अतः व्याकरणके नियमानुसार देवशब्दका ही पूर्वप्रयोग उचित है। आगममें तो क्रमसे गतियोंका निरूपण है वहां नियमकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि जुदे जुदे वाक्य हैं।

दस प्रकारके भवनवासियोंका अवधिक्षेत्र जघन्य २५ योजन है। उत्कृष्ट असुर कुमारोंका नीचेकी ओर असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन और ऊपर ऋतुविमानके ऊपरी भाग तक है। नागकुमार आदि नव भवनवासियोंका उत्कृष्ट नीचेकी तरफ असंख्यात हजार योजन और ऊपर सुमेरु पर्वतके शिखर तक है तथा तिरछा असंख्यात हजार योजन है। आठों प्रकारके व्यन्तरोंका जघन्य २५ योजन उत्कृष्ट नीचे असंख्यात हजार योजन ऊपर अपने विमानके ऊपरी भाग तक और तिरछे असंख्यात कोड़ा कोड़ी योजन है। ज्योतिषियोंका जघन्य नीचेकी ओर संख्यात योजन उत्कृष्ट असंख्यात हजार योजन, ऊपरकी ओर उत्कृष्ट अपने विमानके ऊपरी भाग तक तथा तिरछे असंख्यात कोड़ा कोड़ी योजन है। वैमानिकोंमें सौधर्म और ईशान स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधि ज्योतिषियोंके उत्कृष्टक्षेत्र प्रमाण है तथा उत्कृष्ट अवधि नीचेकी ओर रत्नप्रभाके अन्तिम पटल तक है। सानत्कुमार और माहेन्द्रमें नीचेकी ओर जघन्य रत्नप्रभाके अन्तिम पटल तक और उत्कृष्ट शर्कराप्रभाके अन्तिम पटल तक अवधिका क्षेत्र है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ठमें नीचेकी ओर जघन्य अवधि शर्करा प्रभाका अन्तिम भाग और उत्कृष्ट वालुका प्रभाका अन्तिम भाग है। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रारमें नीचेकी ओर जघन्य अवधि वालुका प्रभाका अन्तिम भाग और उत्कृष्ट पंकप्रभाका अन्तिम भाग है। आनत प्राणत आरण और अच्युतमें नीचेकी ओर जघन्य अवधि पंकप्रभाका अन्तिम भाग तथा उत्कृष्ट धूमप्रभाका अन्तिम भाग है। नव ग्रैवेयकोंकी जघन्य अवधि धूमप्रभाका अन्तिमभाग और उत्कृष्ट तमःप्रभाका अन्तिम भाग है। नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानवासियोंकी अवधि लोकनाली पर्यन्त है। सौधर्म आदि अनुत्तर पर्यन्त विमानवासियोंकी अवधि ऊपरकी ओर अपने अपने विमानके ऊपरी भाग तक है। तिरछी असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है। जिस अवधिज्ञानका जितना क्षेत्र है उतने आकाश प्रदेश प्रमाण काल और द्रव्य होते हैं अर्थात् उतने समय प्रमाण अतीत और अनागतका ज्ञान होता है और उतने भेदवाले अनन्त प्रदेशी पुद्गलस्कन्धोंमें और सकर्मक जीवोंमें ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। भावकी दृष्टिसे अपने विषयभूत पुद्गल स्कन्धोंके रूपादिगुणोंमें और जीवके औदयिक औपशमिक आदि भावोंमें अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है।

नारकी जीवोंमें रत्नप्रभामें अवधिक्षेत्र नीचे एक योजन शर्कराप्रभामें ३॥ गव्यूति बालुका प्रभामें ३ गव्यूति, पंक प्रभामें २॥ गव्यूति, धूम प्रभामें २ गव्यूति, तमःप्रभामें १॥ गव्यूति और महातमः प्रभामें एक गव्यूति है। सभी नरकोंमें ऊपरकी ओर अवधिज्ञान

अपने नरकबिलोंके ऊपरी भाग तक है और तिरछे असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है।

क्षयोपशमनिमित्तक अवधि—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

अवधिज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय आगामीका सदवस्था उपशम और देशघाती प्रकृतिका उदय रूप क्षयोपशमसे होनेवाला अवधिज्ञान शेष अर्थात् मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है।

§ १—३ शेष ग्रहणसे देवनारकियोंके अतिरिक्त सभी प्राणिमात्रके अवधिका विधान नहीं समझना चाहिए क्योंकि असंज्ञी और अपर्याप्तकोंमें इसकी शक्ति ही नहीं है। संज्ञी और पर्याप्तकोंमें भी उन्हींके, जिनके सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो गया है। यद्यपि सभी अवधि क्षयोपशमनिमित्तक होती है फिर भी विशेष रूपसे क्षयोपशमके ग्रहण करनेसे यह नियम होता है कि मनुष्य और तिर्यंचोंके क्षयोपशमनिमित्तक ही अवधिज्ञान होता है भवप्रत्यय नहीं।

§ ४—अवधिज्ञानके अनुगामी अननुगामी वर्धमान हीयमान अवस्थित और अनवस्थित ये छह भेद हैं। कोई अवधि सूर्यप्रकाशकी तरह पीछे-पीछे भवान्तर तक जाती है। कोई वहीं रुक जाती है जैसे मूर्खका प्रश्न। कोई अवधि सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी विशुद्धिके कारण पत्तोंमें लगी हुई अग्निकी तरह असंख्यातलोक तक बढ़ती है। कोई अवधि ईंधन-रहित अग्निकी तरह अंगुलके असंख्येय भाग तक कम हो जाती है। कोई अवधि ज्योंकी त्यों स्थिर रहती है न कम होती है और न बढ़ती है जैसे कि तिल आदि चिह्न। वायुसे दोलित जलकी लहरोंकी तरह कोई अवधि घटती भी है और बढ़ती भी है।

देशावधि परमावधि और सर्वावधिके भेदसे भी अवधि-ज्ञान तीन प्रकारका है। देशावधि और परमावधिके जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट ये तीन प्रकार हैं। सर्वावधि एक ही प्रकारका है। देशावधिका जघन्यक्षेत्र उत्सेधांगुलका असंख्यात भाग है और उत्कृष्ट सर्वलोक। मध्यमक्षेत्र जघन्य और उत्कृष्टके बीचका असंख्यात प्रकारका है। परमावधिका जघन्यक्षेत्र एक प्रदेश अधिक लोक प्रमाण है और उत्कृष्ट असंख्यात लोक प्रमाण है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट क्षेत्र हैं। परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रसे बाहिर असंख्यात लोकक्षेत्र सर्वावधिका है। उपर्युक्त अनुगामी आदि छह भेदोंके साथ प्रतिपाती अर्थात् बिजलीकी चमककी तरह विनाशशील बीचमें ही छूटनेवाला और अप्रतिपाती अर्थात् केवलज्ञान होने तक नहीं छूटनेवाला ये आठों भेद देशावधिके होते हैं। परमावधि हीयमान और प्रतिपाती नहीं होती। सर्वावधिके अवस्थित अनुगामी अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार ही भेद होते हैं।

सर्वजघन्य देशावधिका उत्सेधांगुलका असंख्यातवां भाग क्षेत्र, आवलिका असंख्यातवां भाग काल और अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण द्रव्य है, अर्थात् इतने बड़े असंख्यात स्कन्धोंमें ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। स्वविषय स्कन्धके अनेक रूपादि भाव हैं। एक जीवके प्रदेशोत्तर क्षेत्रवृद्धि नहीं होती, नाना जीवोंकी अपेक्षा प्रदेशोत्तर क्षेत्रका विकल्प संभव है। एक जीवके मंडूकप्लुति क्रमसे अंगुलके असंख्येय भाग प्रमाण क्षेत्रवृद्धि होती है—सर्वलोक तक। कालवृद्धि एक जीव और नाना जीवोंकी अपेक्षा एक समय दो समय आदि आवलिके असंख्यात

भाग तक होती है। द्रव्य क्षेत्र और कालकी वृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि संख्यात भागवृद्धि संख्यात गुणवृद्धि और असंख्यात गुणवृद्धि इन चार प्रकारोंसे होती है। भाववृद्धि अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि मिलाकर छह प्रकारोंसे होती है। हानि भी इसी क्रमसे होती है।

अंगुलके असंख्यात भाग क्षेत्रवाली अवधिका आवलिका संख्यात भाग काल है, अंगुलके असंख्यात भाग आकाश प्रदेश बराबर द्रव्य है, भाव अनन्त असंख्यात या संख्यात रूप है। अंगुल प्रमाणक्षेत्रवाली अवधिका कुछ कम आवलि प्रमाण काल है, द्रव्य और भाव पहिलेकी तरह। अंगुल पृथक्त्व (तीनसे ऊपर ९ से नीचेकी संख्या) क्षेत्रवाली अवधिका आवली प्रमाण काल है। एक हाथ क्षेत्रवाली अवधिका आवलि पृथक्त्व काल है। एक गव्यूति प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका कुछ अधिक उच्छ्वास प्रमाण काल है। योजनमात्र क्षेत्रवाली अवधिका अन्तर्मुहूर्त काल है। पच्चीस योजन क्षेत्रवाली अवधिका कुछ कम एक दिन काल है। भरतक्षेत्र प्रमाणवाली अवधिका आधा माह काल है। जम्बूद्वीप प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका कुछ अधिक एक माह काल है। मनुष्यलोक प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका एक वर्ष काल है। रुचकद्वीप प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका संवत्सर-पृथक्त्व काल है। संख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका संख्यात वर्ष काल है। असंख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका असंख्यात वर्ष काल है। इस तरह तिर्यंच और मनुष्योंकी मध्य देशावधिके द्रव्यक्षेत्र काल आदि हैं।

तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र असंख्यात द्वीपसमुद्र, काल असंख्यात वर्ष और तेजःशरीर प्रमाण द्रव्य है, अर्थात् वह असंख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण आकाश प्रदेशोंसे परिमित असंख्यात तेजोद्रव्य वर्गणासे रचे गए अनन्त प्रदेशी स्कन्धोंको जानता है। भाव पहिलेकी तरह है। तिर्यंचों और मनुष्योंके जघन्य देशावधि होता है। तिर्यंचोंके केवल देशावधि ही होता है परमावधि और सर्वावधि नहीं।

मनुष्योंकी उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र असंख्यात द्वीप समुद्र, काल असंख्य वर्ष और द्रव्य कार्मण शरीर प्रमाण है अर्थात् वह असंख्यात द्वीपसमुद्र प्रमाण आकाश प्रदेशोंसे परिमित असंख्यात ज्ञानावरणादि कार्मण द्रव्यकी वर्गणाओंको जानता है। भाव पहिले की तरह है। यह उत्कृष्ट देशावधि संयत मनुष्योंके होती है।

परमावधि—जघन्य परमावधिका क्षेत्र एकप्रदेश अधिक लोकप्रमाण, काल असंख्यात वर्ष, द्रव्य प्रदेशाधिक लोकाकाश प्रमाण और भाव अनन्तादि विकल्पवाला है। इसके बाद नाना जीव या एक जीवके क्षेत्रवृद्धि असंख्यात लोकप्रमाण होगी। असंख्यात अर्थात् आवलिकाके असंख्यात भाग प्रमाण। परमावधिका उत्कृष्ट क्षेत्र अग्निजीवोंकी संख्या प्रमाण लोकालोक प्रमाण असंख्यात लोक। परमावधि उत्कृष्ट चारित्रवाले संयतके ही होती है। यह वर्धमान होती है हीयमान नहीं। अप्रतिपाती होती है प्रतिपाती नहीं। अवस्थित होती है। अनवस्थित भी वृद्धिकी ओर होती है हानिकी ओर नहीं। इस पर्यायमें क्षेत्रान्तरमें साथ जानेसे अनुगामी होती है। परलोकमें नहीं जाती इसलिए अननुगामी भी होती है। चरमशरीरीके होनेके कारण परलोक तक जानेका अवसर ही नहीं है।

सर्वावधि—असंख्यात लोकसे गुणित उत्कृष्ट परमावधिका क्षेत्र सर्वावधिका क्षेत्र है। काल द्रव्य और भाव पहिलेकी तरह। यह सर्वावधि न तो वर्धमान होता है न हीयमान, न अनवस्थित और न प्रतिपाती। केवलज्ञान होने तक अवस्थित है और अप्रतिपाती है। पर्यायान्तरको नहीं जाता इसलिए अननुगामी है। क्षेत्रान्तरको जाता है अतः अनुगामी है।

परमावधिका देशावधिमें अन्तर्भाव करके देशावधि और सर्वावधि ये दो भेद भी अवधिज्ञानके होते हैं।

ऊपर कही गई वृद्धियोंमें जब कालवृद्धि होती है तब चारोंकी वृद्धि निश्चित है पर क्षेत्रवृद्धि होनेपर कालवृद्धि भाज्य है अर्थात् हो भी और न भी हो। भाववृद्धि होनेपर द्रव्यवृद्धि नियत है पर क्षेत्र और कालवृद्धि भाज्य है। यह अवधिज्ञान श्रीवृक्ष स्वस्तिक नन्द्यावर्त आदि शरीरचिह्नोंमेंसे किसी एकसे प्रकट होनेपर एकक्षेत्र और अनेकसे प्रकट होनेपर अनेकक्षेत्र कहा जाता है। इन चिह्नोंकी अपेक्षा रखनेके कारण इसे पराधीन-अतएव परोक्ष नहीं कह सकते; क्योंकि इन्द्रियोंको ही 'पर' कहा गया है जैसा कि गीतामें भी कहा है—"इन्द्रियां पर हैं, इन्द्रियोंसे भी परे मन है, मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे भी परे आत्मा है।" अतः इन्द्रियोंकी अपेक्षा न होनेसे परोक्ष नहीं कह सकते।

मनःपर्ययज्ञानका वर्णन—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

मनःपर्यय ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे दो प्रकारका है। ऋजु अर्थात् सरल और विपुल अर्थात् कुटिल। परकीय मनोगत मन वचन काय सम्बन्धी पदार्थोंको जाननेके कारण मनःपर्यय दो प्रकारका हो जाता है।

§ १-६ वीर्यान्तराय और मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर तथा तदनुकूल अङ्ग उपाङ्गोंका निर्माण होनेपर अपने और दूसरेके मनकी अपेक्षासे होनेवाला ज्ञान मनःपर्यय कहलाता है। अपने मनकी अपेक्षा तो इसलिए होती है कि वहांके आत्मप्रदेशोंमें मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है। जैसे चक्षुमें अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर चक्षुकी अपेक्षा होने मात्रसे अवधिज्ञानको मतिज्ञान नहीं कहते उसी तरह मनःपर्यय भी मतिज्ञान नहीं है क्योंकि वह इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न नहीं होता। परके मनमें स्थित विचारोंको जानता है अतः आकाशमें चन्द्रको देखनेके लिए जैसे आकाश साधारण-सा निमित्त है वह चन्द्रज्ञानका उत्पादक नहीं है उसी तरह परका मन साधारण-सा आधार है वह मनःपर्ययज्ञानका उत्पादक नहीं है। इसलिए मनःपर्यय मतिज्ञान नहीं हो सकता। इसी तरह धूमसे स्वसम्बन्धी अग्निके ज्ञानकी तरह परकीय मनःसम्बन्धी विचारोंको जाननेके कारण मनःपर्यय ज्ञानको अनुमान नहीं कह सकते; क्योंकि अनुमान या तो इन्द्रियोंसे हेतुको देखकर या परोपदेशसे हेतुको जानकर ही उत्पन्न होता है परन्तु मनःपर्ययमें न तो इन्द्रियोंकी अपेक्षा होती है और न परोपदेश की ही। फिर अनुमान परोक्ष ज्ञान है जब कि मनःपर्यय प्रत्यक्ष। इसमें 'इन्द्रिय मनकी अपेक्षा न करके जो अव्यभिचारी और साकार ग्रहण होता है वह प्रत्यक्ष है' यह प्रत्यक्षका लक्षण पाया जाता है। जैसा कि सूत्रमें बताया है मनःपर्यय दो प्रकारका है।

§ ७ ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ और ऋजुकायकृतार्थज्ञ इस प्रकार ऋजुमति तीन प्रकारका है। जैसे किसीने किसी समय सरल मनसे किसी पदार्थका स्पष्ट विचार किया, स्पष्ट वाणीसे कोई विचार व्यक्त किया और शरीरसे इसी प्रकारकी स्पष्ट क्रिया की, कालान्तरमें उसे भूल गया, फिर यदि ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानीसे पूछा जाय कि–'इसने अमुक समयमें क्या सोचा था, क्या कहा था या क्या किया था ?' या न भी पूछा जाय तो भी वह स्पष्ट रूपसे सभी बातोंको प्रत्यक्ष जानकर बता देगा। महाबन्ध शास्त्रमें बताया है कि 'मनसा मनः परिच्छिद्य परेषां संज्ञादीन् विजानाति' अर्थात् मनसे–आत्मासे दूसरेके मनको जानकर उसकी संज्ञा चिन्ता जीवित मरण दुःख लाभालाभको जान लेता है। जैसे मंच पर बैठे हुए लोगोंको उपचारसे मंच कहते हैं उसी तरह मनमें विचारे गये चेतन अचेतन अर्थोंको भी मन कहते हैं। यह स्पष्ट और सरल मनवाले लोगोंकी बातको जानता है, कुटिल मनवालोंकी बातको नहीं। कालसे जघन्यरूपसे अपने या अन्य जीवोंके दो तीन भव और उत्कृष्ट रूपसे सात आठ भवोंको गति आगति अर्थात् जिस भवको छोड़ा और जिसे ग्रहण किया उनकी दो गिनती करके जानता है। क्षेत्रसे जघन्य गव्यूति पृथक्त्वके भीतर और उत्कृष्ट योजनपृथक्त्वके भीतर जानता है।

§ ८ विपुलमति ऋजुके साथ ही साथ कुटिल मन वचन काय सम्बन्धी प्रवृत्तियोंको भी जानता है अतः छह प्रकारका हो जाता है। अर्थात् यह अपने या परके व्यक्त मनसे या अव्यक्त मनसे चिन्तित या अचिन्तित या अर्धचिन्तित सभी प्रकारसे चिन्ता जीवित मरण-सुख दुःख लाभ अलाभ आदिको जानता है। विपुलमति कालसे जघन्यरूपसे सात आठ भव तथा उत्कृष्टरूपसे गत्यागतिकी दृष्टिसे असंख्यात भवोंको जानता है। क्षेत्र जघन्यरूपसे योजनपृथक्त्व है और उत्कृष्ट मानुषोत्तर पर्वतके भीतर है, बाहिर नहीं।

दोनों मनःपर्यय ज्ञानोंकी परस्पर विशेषता–

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाली निर्मलताको विशुद्धि कहते हैं। संयम शिखरसे गिरनेको प्रतिपात कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्तकषायका प्रतिपात होता है बारहवें क्षीणकषायीका नहीं। इन दो दृष्टियोंसे ऋजुमति और विपुलमतिमें विशेषता है अर्थात् विपुलमति विशुद्धतर और अप्रतिपाती होता है।

§ १–२ यद्यपि पहिले सूत्रसे ही विशेषता ज्ञात हो जाती थी फिर भी अन्य रूपसे विशेषता दिखानेके लिए यह सूत्र बनाया है। यदि विशुद्धि और अप्रतिपात मनःपर्ययज्ञान के भेद होते तो समुच्चयार्थक 'च' शब्दका ग्रहण करना उचित था पर ये भेद नहीं हैं। ये तो उनकी परस्पर विशेषता बतानेवाले प्रकार हैं।

सर्वावधिके विषयभूत कार्मणद्रव्यका अनन्तवाँ भाग ऋजुमतिका ज्ञेय होता है, उसका भी अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म विपुलमतिका। अतः ऋजुमतिकी अपेक्षा विपुलमति द्रव्य क्षेत्र काल और भाव प्रत्येक दृष्टिसे विशुद्धतर है। विपुलमति अप्रतिपाती होनेके कारण ऋजुमतिसे विशिष्ट है क्योंकि विपुलमतिके स्वामी प्रवर्धमान चारित्रवाले होते हैं जब कि ऋजुमतिके स्वामी हीयमान चारित्रवाले।

अवधि और मनःपर्ययकी परस्पर विशेषता–

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ॥२५॥

विशुद्धि–निर्मलता, क्षेत्र–जहाँके पदार्थोंको जानता है, स्वामी–ज्ञानवाला और विषय अर्थात् ज्ञेय इनसे अवधि और मनःपर्ययमें विशेषता है।

§ १ यद्यपि सर्वावधिज्ञानका अनन्तवाँ भाग मनःपर्ययका विषय होता है अतः अल्प विषय है फिर भी वह उस द्रव्यकी बहुत पर्यायोंको जानता है। जैसे बहुत शास्त्रोंका थोड़ा थोड़ा परिचय रखनेवाले पल्लवग्राही पंडितसे एक शास्त्रके यावत् सूक्ष्म अर्थोंको तलस्पर्शी गंभीर व्याख्याओंसे जाननेवाला प्रगाढ़ विद्वान् विशुद्धतर माना जाता है उसी तरह मनःपर्यय भी सूक्ष्मग्राही होकर भी विशुद्धतर है; क्षेत्रकी अपेक्षा विशेषता बताई जा चुकी है। विषय अभी ही आगे बतायेंगे। मनःपर्ययका स्वामी संयमी मनुष्य ही होता है जब कि अवधिज्ञान चारों गतियोंके जीवोंके होता है। आगममें कहा है कि–'मनःपर्यय मनुष्योंके होता है देव नारकी और तिर्यंचोंके नहीं। मनुष्योंमें भी गर्भजोंके ही होता है सम्मूर्च्छनोंके नहीं। गर्भजोंमें भी कर्मभूमिजोंके होता है अकर्मभूमिजोंके नहीं। कर्मभूमिजोंमें पर्याप्तकोंके, पर्याप्तकोंमें सम्यग्दृष्टियोंके, सम्यग्दृष्टियोंमें पूर्णसंयमियोंके, संयमियोंमें छठवेंसे बारहवें गुणस्थानवालोंके ही, उनमें भी जिनका चारित्र प्रवर्धमान है और जिन्हें कोई ऋद्धि प्राप्त है, उनमें भी किसीको ही होता है सबको नहीं। इस तरह विशिष्ट संयमवालोंके होनेके कारण मनःपर्यय विशिष्ट है।

मति और श्रुतका विषय–

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

मति और श्रुत द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको विषय करते हैं।

§ १–२ ऊपरके सूत्रसे 'विषय' शब्दका सम्बन्ध यहां हो जाता है अतः यहां फिर 'विषय' शब्द देनेकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि पूर्वसूत्रमें विषय शब्द अन्यविभक्तिक है फिर भी 'अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः–अर्थात् अर्थके अनुसार विभक्तिका परिणमन हो जाता है' इस नियमके अनुसार यहां अनुकूल विभक्तिका सम्बन्ध कर लेना चाहिए, जैसे कि–'देवदत्तके बड़े-बड़े मकान हैं उसे बुलाओ' यहां 'देवदत्तके' इस षष्ठी विभक्तिवाले देवदत्तका 'उसे' इस द्वितीया विभक्ति रूप परिणमन अर्थके अनुसार हो गया है।

§ ३–४ 'द्रव्येषु' यह बहुवचनान्त प्रयोग सर्वद्रव्योंके संग्रहके लिए है। अर्थात् मति और श्रुत जानते तो सभी द्रव्योंको हैं पर उनकी कुछ ही पर्यायोंको जानते हैं इसीलिए सूत्रमें 'असर्वपर्यायेषु' यह द्रव्योंका विशेषण दे दिया है। मतिज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है और रूपादिको विषय करता है अतः स्वभावतः वह रूपी द्रव्योंको जानकर भी उनकी कुछ स्थूल पर्यायोंको ही जानेगा। श्रुत भी प्रायः शब्दनिमित्तक होता है और असंख्यात शब्द अनन्त पदार्थोंकी स्थूल पर्यायोंको ही कह सकते हैं सभी पर्यायोंको नहीं। कहा भी है–'शब्दोंके द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थोंसे वचनातीत पदार्थ अनन्तगुने हैं अर्थात् अनन्तवें भाग पदार्थ प्रज्ञापनीय होते हैं और जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनके अनन्तवें भाग श्रुत निबद्ध होते हैं।'

§ ४ धर्म अधर्म आकाशादि अरूपी अतीन्द्रिय पदार्थ भी मानस मतिज्ञानके विषय होते हैं अतः मतिश्रुतमें सर्वद्रव्य विषयता बन जाती है ।

अवधिज्ञानका विषय–

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

अवधिज्ञान रूपी पदार्थोंको जानता है ।

§ १–३ रूप शब्दका स्वभाव भी अर्थ है और चक्षुके द्वारा ग्राह्य शुक्ल आदि गुण भी । पर यहां शुक्ल आदि रूप ही ग्रहण करना चाहिए । 'रूपी' में जो मत्वर्थीय प्रत्यय है उसका 'नित्ययोग' अर्थ लेना चाहिए अर्थात् क्षीरी–सदा दूधवाले वृक्षकी तरह जो द्रव्य सदा रूपवाले हों उन्हें रूपी कहते हैं । उपलक्षणभूत रूपके ग्रहण करनेसे रूपके अविनाभावी रस गन्ध और स्पर्शका भी ग्रहण हो जाता है । अर्थात् रूप रस गन्ध स्पर्शवाले पुद्गल अवधिज्ञानके विषय होते हैं ।

§ ४ इस सूत्रमें 'असर्वपर्याय' की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए । अर्थात् पहिले कहे गए रूपी द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको और जीवके औदयिक औपशमिक और क्षायोपशमिक भावोंको अवधिज्ञान विषय करता है क्योंकि इनमें रूपी कर्मका सम्बन्ध है । वह क्षायिक भाव तथा धर्म अधर्म आदि अरूपी द्रव्योंको नहीं जानता ।

मनःपर्यय ज्ञानका विषय–

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

सर्वावधि ज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यके सूक्ष्म अनन्तवें भागमें मनःपर्यय ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है ।

केवलज्ञानका विषय–

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

सभी द्रव्योंकी सभी पर्याएँ केवलज्ञानकी विषय हैं ।

§ १–३ जो स्वतन्त्र कर्ता होकर अपनी पर्यायोंको प्राप्त होता है अथवा अपनी पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किया जाता है वह द्रव्य है । एक ही द्रव्य कर्ता भी होता है कर्म भी, क्योंकि उसका अपनी पर्यायोंसे कथञ्चिद् भेद है । यदि सर्वथा अभेद होता तो एक ही निर्विशेष द्रव्यकी सत्ता रहनेसे कर्ता और कर्म ये विभिन्न व्यवहार नहीं हो सकते ।

§ ४ स्वाभाविक या नैमित्तिक विरोधी या अविरोधी धर्मोंमें अमुक शब्द व्यवहारके लिए विवक्षित द्रव्यकी अवस्थाविशेषको पर्याय कहते हैं । जो धर्म द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि निमित्तोंसे होते हैं उन्हें उपात्तहेतुक कहते हैं और जो तीनों कालोंमें अपनी स्वाभाविक सत्ता रखते हैं वे अनुपात्तहेतुक हैं, जैसे जीवके औदयिक आदि भाव और अनादि पारिणामिक चैतन्य आदि । कुछ धर्म अविरोधी होते हैं और कुछ विरोधी, जैसे जीवके अनादि पारिणामिक चैतन्य भव्यत्व या अभव्यत्व ऊर्ध्वगतिस्वभाव अस्तित्वादि एक साथ होनेसे अविरोधी हैं और नारक तिर्यञ्च मनुष्य देव गति स्त्री पुरुष नपुंसकत्व एकेन्द्रियादि जाति बचपन जवानी क्रोध शान्ति आदि एक साथ नहीं हो सकतीं अतः विरोधी हैं । पुद्गलके रूप रसादिसामान्य अचेतनत्व अस्तित्वादि अविरोधी हैं और अमुक

शुक्ल कृष्ण आदि रूप कड़वा चिरपरा कषायला आदि रस आदि परस्पर विरोधी हैं । इसी तरह धर्माधर्मादि द्रव्योंमें कुछ सामान्यधर्म अविरोधी हैं और विशेषधर्म विरोधी होते हैं ।

§ ५–६ द्रव्य और पर्याय शब्द का इतरेतर योग द्वन्द्व समास है । द्वन्द्व समास जैसे प्लक्ष और न्यग्रोध आदि भिन्न पदार्थोंमें होता है उसी तरह कथञ्चिद् भिन्न गो और गोत्व आदि में भी होता है । गो और गोत्व सामान्य और विशेषरूपसे कथञ्चिद् अभिन्न हैं । 'द्रव्याणां पर्यायाः' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास करके द्रव्योंको पर्यायका विशेषण बनाना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसी दशामें द्रव्य शब्द ही निरर्थक हो जायगा, कारण अद्रव्य की तो पर्याय होती नहीं है । फिर, तत्पुषसमासमें उत्तर पदार्थ प्रधान होता है अतः 'केवलज्ञानके द्वारा पर्यायें ही जानी जाती हैं, द्रव्य नहीं' यह अनिष्ट प्रसंग प्राप्त होता है । 'सब पर्यायोंके जान लेनेपर द्रव्य तो जान ही लिया जाता है' यह समाधान भी ठीक नहीं है क्योंकि इस पक्षमें द्रव्यग्रहणकी अनर्थकता ज्योंकी त्यों बनी रहती है । अतः उभयपदार्थ प्रधान द्वन्द्व समास ही यहां ठीक है । 'पर्यायके बिना द्रव्य उपलब्ध नहीं होता' अतः द्वन्द्व समासमें भी द्रव्यग्रहण निरर्थक है' यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि की दृष्टिसे द्रव्य पर्यायमें विभिन्नता है ।

§ ९ लोक और अलोक में त्रिकाल विषयक जितने अनन्तानन्त द्रव्य और पर्याय हैं उन सभीमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है । जितना यह लोक है उतने यदि अनन्त भी लोक हों तो उन्हें भी केवलज्ञान जान सकता है ।

एक साथ कितने ज्ञान होतें है ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

एक साथ एक आत्मामें एक से लगाकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं ।

§ १ एक शब्दके संख्या भिन्नता अकेलापन प्रथम प्रधान आदि अनेक अर्थ हैं पर यहां 'प्रथम' अर्थ विवक्षित है ।

§ २–३ आदि शब्दके भी व्यवस्था प्रकार सामीप्य अवयव आदि अनेक अर्थ हैं, यहां अवयव अर्थ की विवक्षा है । अर्थात् एक–प्रथम परोक्षज्ञानका आदि-अवयव मतिज्ञान । अथवा, आदि शब्द समीपार्थक है । इसका अर्थ है मतिज्ञानका आदि-समीप-श्रुतज्ञान ।

§ ४–**प्रश्न**–यदि मतिज्ञान का समीप 'श्रुतज्ञान' आदि शब्दसे लिया जाता है तो इसमें मतिज्ञान छूट जायगा ? **उत्तर**–चूँकि मति और श्रुत सदा अव्यभिचारी हैं, नारद पर्वत की तरह एक दूसरेका साथ नहीं छोड़ते अतः एकके ग्रहणसे दूसरेका ग्रहण हो ही जाता है ।

§ ५–७ जैसे 'ऊंटके मुख की तरह मुख है जिसका वह उष्ट्रमुख' इस बहुव्रीहि समासमें एक मुख शब्दका लोप हो गया है उसी तरह 'एकादि हैं आदिमें जिनके वे एकादीनि' यहां भी एक आदि शब्दका लोप हो जाता है । अवयवसे विग्रह होता है और समुदाय समासका अर्थ होता है । इससे एकको आदिको लेकर चार तक विभाग करना चाहिए; क्योंकि केवलज्ञान असहाय है उसे किसी अन्य ज्ञानकी सहायताकी अपेक्षा

नहीं है जब कि क्षायोपशमिक मति आदि चार ज्ञान सहायताकी अपेक्षा रखते हैं अतः केवलज्ञान अकेला ही होता है उसके साथ अन्य ज्ञान नहीं रह सकते ।

§ ८-१० **प्रश्न**-केवलज्ञान होनेपर अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अभाव नहीं होता, किन्तु वे दिनमें तारागणोंकी तरह विद्यमान रहकर भी अभिभूत हो जाते हैं और अपना कार्य नहीं करते ? **उत्तर**-केवलज्ञान चूँकि क्षायिक और परम विशुद्ध है अतः सकलज्ञानावरणका विनाश होनेपर केवलीमें ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाले ज्ञानोंकी संभावना कैसे हो सकती है ? सर्वशुद्धिकी प्राप्ति हो जाने पर लेशतः अशुद्धिकी कल्पना ही नहीं हो सकती । आगममें असंज्ञी पंचेन्द्रियसे अयोगकेवलि तक जो पंचेन्द्रिय गिनाए हैं वहां द्रव्येन्द्रियोंकी विवक्षा है ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोंकी नहीं । यदि भावेन्द्रियां विवक्षित होतीं तो ज्ञानावरणका सद्भाव होनेसे सर्वज्ञता ही नहीं हो सकती । अतः एक आत्मामें दो ज्ञान मति और श्रुत, तीन ज्ञान मति श्रुत अवधि या मति श्रुत मनःपर्यय, चार ज्ञान मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय होंगे, पांच एक साथ नही होंगे । अथवा, एक शब्द-को संख्यावाची मानकर अकेला मतिज्ञान भी एक हो सकता है क्योंकि जो अंगप्रविष्ट आदि रूप श्रुतज्ञान है वह हर एकको हो भी न भी हो । अथवा, संख्या असहाय और प्राधान्यवाची एक शब्दको मानकर अकेला असहाय और प्रधान केवलज्ञान एक होगा दो मति श्रुत आदि ।

मति श्रुत अवधि विपर्यय भी होते हैं-

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

च शब्द समुच्चयार्थक है । अर्थात् मति श्रुत और अवधि मिथ्या भी होते हैं और सम्यक् भी ।

§ १-३ मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यादर्शनके साथ रहनेके कारण इन ज्ञानोंमें मिथ्यात्व आ जाता है जैसे कड़वी तूमरीमें रखा हुआ दूध कड़ुआ हो जाता है उसी तरह मिथ्यादृष्टिरूप आधार-दोषसे ज्ञानमें मिथ्यात्व आ जाता है । यह आशंका उचित नहीं है कि 'मणि सुवर्ण आदि मलस्थानमें गिरकर भी जैसे अपने स्वभावको नहीं छोड़ते वैसे ज्ञानको भी नहीं छोड़ना चाहिए'; क्योंकि पारिणामिक अर्थात् परिणमन करानेवालेकी शक्तिके अनुसार वस्तुओंमें परिणमन होता है । कड़ुवी तूँबड़ीके समान मिथ्यादर्शनमें ज्ञान दूधको बिगाड़नेकी शक्ति है । यद्यपि मलस्थानसे मणि आदिमें बिगाड़ नहीं होता पर अन्य धातु आदिके सम्बन्धसे सुवर्ण आदि भी विपरिणत हो ही सकते हैं । सम्यग्दर्शनके होते ही मत्यादिका मिथ्याज्ञानत्व हटकर उनमें सम्यक् ज्ञानत्व आ जाता है और मिथ्यादर्शनके उदयमें ये ही-मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभङ्गावधि बन जाते हैं ।

'जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि मति श्रुत अवधिसे रूपादिको जानता है उसी प्रकार मिथ्या-दृष्टि भी, अतः ज्ञानोंमें मिथ्यादर्शनसे क्या विपर्यय हुआ ? मिथ्यादृष्टि भी रूपको रूप ही जानता है अन्यथा नहीं' इस आशंकाका परिहार करनेके लिए सूत्र कहते हैं-

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

§ १ सत्-अर्थात् प्रशस्ततत्त्वज्ञान, असत् अर्थात् अज्ञान इनमें मिथ्यादृष्टिको कोई विशेषताका भान नहीं होता वह कभी सत्को असत् और असत्को सत् कहता है, भोंकमें

आकर यदृच्छासे सत्को सत् और असत्को असत् कहने पर भी उसका वह मिथ्याज्ञान ही है । जैसे कि कोई पागल गायको घोड़ा या घोड़ाको गाय कहता है, कभी गायको गाय और घोड़ेको घोड़ा कहने पर भी उसका सब पागलपन ही कहा जाता है ।

§ २ अथवा सत् शब्द विद्यमानार्थक है । वह कभी विद्यमानको अविद्यमान अविद्यमानको विद्यमान रूपसे जानता है ।

§ ३ इसका कारण है विभिन्न मतवादियों द्वारा वस्तुके स्वरूपका विभिन्न प्रकार से वर्णन और प्रचार करना । किन्हींका (अद्वैत) कहना है कि द्रव्य ही है, रूपादिकी सत्ता नहीं है तो कोई (बौद्ध) रूपादिको ही मानना चाहते हैं द्रव्यको नहीं । कोई (वैशेषिक) कहते हैं कि द्रव्यसे रूपादि गुण भिन्न होते हैं । ये तीनों ही पक्ष मिथ्या हैं; क्योंकि यदि द्रव्य ही हो रूपादि न हो तो द्रव्यका परिचायक लक्षण न रहनेसे लक्ष्यभूत द्रव्यका ही अभाव हो जायगा । इन्द्रियोंसे पूरे द्रव्यका अखण्ड रूपसे ग्रहण होनेके कारण पाँच इन्द्रियाँ माननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि द्रव्य तो किसी एक भी इन्द्रियसे पूर्ण रूपसे गृहीत हो ही जायगा । पर ऐसा मानना न तो इष्ट ही है और न प्रमाणप्रसिद्ध ही । इसी तरह यदि द्रव्य का अस्तित्व न हो तो निराश्रय रूपादिका आधार क्या होगा ? यदि रूपादि परस्परमें अभिन्न हों तो एकसे अभिन्न होनेके कारण सभी एक हो जायँगे समुदायका अभाव ही हो जायगा । यदि द्रव्य और गुणमें सर्वथा भेद है तो उनमें परस्पर लक्ष्यलक्षणभाव नहीं हो सकेगा । दण्ड और दण्डीकी तरह पृथक् सिद्धगत लक्ष्यलक्षणभाव तो तब बन सकता है जब द्रव्य और गुण दोनों पृथक् सिद्ध हों । द्रव्यसे भिन्न अमूर्त रूपादि गुणोंसे इन्द्रियका सन्निकर्ष भी नहीं होगा और इस तरह उनका परिज्ञान करना ही असम्भव हो जायगा; क्योंकि भिन्न द्रव्य तो कारण हो नहीं सकेगा ।

§ ४ केवल स्वरूपमें ही नहीं किन्तु जगत्के मूल कारणोंमें ही प्रवादियोंको विवाद है । जैसे **सांख्यों** का मत है कि-अव्यक्त प्रकृतिसे महान्-बुद्धि, महान्से अहङ्कार, अहङ्कार से पाँच इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियोंके विषय तन्मात्रा और पृथिवी आदि पाँच महाभूत और मन ये सोलह गण और पाँच महाभूतोंसे यह दृश्य जगत् उत्पन्न होता है । यह मत निर्दोष नहीं है; क्योंकि अमूर्त निरवयव निष्क्रिय अतीन्द्रिय नित्य और पर प्रयोगसे अप्रभावित प्रधानसे मूर्त सावयव सक्रिय इन्द्रियग्राह्य आदि विपरीत लक्षणवाले घटादि पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । स्वयं चेतनाशून्य प्रधानका इस तरह बुद्धिपूर्वक सृष्टिको उत्पन्न करना सम्भव ही नहीं है । पुरुष स्वयं निष्क्रिय है वह प्रधानको प्रेरणा भी नहीं दे सकता । फिर प्रधानको सृष्टि के उत्पन्न करनेका खास प्रयोजन भी नहीं दिखाई देता । 'पुरुषको भोग सम्पादन करना' यह प्रयोजन भी नहीं हो सकता; क्योंकि नित्य और विभु आत्माका भोक्तारूपसे परिणमन ही नहीं हो सकता । स्वयं अचेतन प्रधान प्रेरित होकर भी बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं कर सकता ।

वैशेषिकों का मत है कि-पृथिवी आदि द्रव्योंके जुदा जुदा परमाणु हैं । उनमें अदृष्ट आदिसे क्रिया होती है फिर द्व्यणुकादिक्रमसे घटादिकी उत्पत्ति होती है । यह मत भी ठीक नहीं है; क्योंकि परमाणु नित्य हैं, अतः उनमें कार्यको उत्पन्न करनेका परिणमन ही नहीं हो सकता । यदि परिणमन हो तो नित्यता नहीं हो सकती । फिर परमाणुओंसे भिन्न किसी स्वतन्त्र अवयवीरूप कार्यकी उपलब्धि भी नहीं होती । परमाणुओंमें पृथिवीत्व आदि जाति-भेदकी कल्पना भी प्रमाणसिद्ध नहीं है; क्योंकि भिन्नजातीय चन्द्रकान्तमणिसे जलकी, जल

से पार्थिव मोतीकी, लकड़ीसे अग्नि आदिकी उत्पत्ति देखी जाती है। भिन्नजातीयोंमें केवल समुदायकी कल्पना करना तुल्यजातियोंमें भी समुदायमात्रको ही सिद्ध करेगी, कार्योत्पत्ति को नहीं। निष्क्रिय और निर्विकारी आत्मा कर्त्ता भी नहीं हो सकता। आत्माका अदृष्ट गुण भी चूँकि निष्क्रिय है अतः वह भी भिन्न पदार्थोंमें क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकेगा।

बौद्धों की मान्यता है कि वर्णादिपरमाणुसमुदयात्मक रूप परमाणुओंका संचय ही इन्द्रियग्राह्य होकर घटादि व्यवहारका विषय होता है। इनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि जब प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है तो उनसे अभिन्न समुदाय भी इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता। जब उनका कोई दृश्य कार्य सिद्ध नहीं होता तब कार्यलिङ्गक अनुमानसे परमाणुओंकी सत्ता भी सिद्ध नहीं की जा सकेगी। परमाणु चूँकि क्षणिक और निष्क्रिय हैं अतः उनसे कार्योत्पत्ति भी नहीं हो सकती। विभिन्न शक्तिवाले उन परमाणुओंका परस्पर स्वतः सम्बन्धकी संभावना नहीं है और अन्य कोई सम्बन्धका कर्ता हो नहीं सकता। तात्पर्य यह कि परस्पर सम्बन्ध नहीं होनेके कारण घटादि स्थूल कार्योंकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी।

इसी तरह बिगड़े पित्तवाले रोगीको रसनेन्द्रियके विपर्ययकी तरह अनेक प्रकारके विपर्यय मिथ्यादृष्टिको होते रहते हैं।

चारित्र मोक्षका प्रधान कारण है अतः उसका वर्णन मोक्षके प्रसङ्गमें किया जायगा। केवलज्ञान हो जानेपर भी जब तक व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यानरूप चरम चारित्र नहीं होता तब तक मुक्तिकी संभावना नहीं है। अब नयोंका निरूपण करते हैं–

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः ॥३३॥

शब्दकी अपेक्षा नयोंके एकसे लेकर अंख्यात विकल्प होते हैं। यहाँ मध्यमरुचि शिष्योंकी अपेक्षा सात भेद बताए हैं।

§ १ प्रमाणके द्वारा प्रकाशित अनेकधर्मात्मक पदार्थके धर्मविशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान नय है। नयके मूल दो भेद हैं–एक द्रव्यास्तिक और दूसरा पर्यायास्तिक। द्रव्यमात्रके अस्तित्वको ग्रहण करनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायमात्रके अस्तित्वको ग्रहण करनेवाला पर्यायास्तिक है। अथवा द्रव्य ही जिसका अर्थ है–गुण और कर्म आदि द्रव्यरूप ही हैं वह द्रव्यार्थिक और पर्याय ही जिसका अर्थ है वह पर्यायार्थिक। पर्यायार्थिकका विचार है कि अतीत और अनागत चूँकि विनष्ट और अनुत्पन्न हैं अतः उनसे कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता अतः वर्तमान मात्र पर्याय ही सत् है। द्रव्यार्थिकका विचार है कि अन्वयविज्ञान अनुगताकार वचन और अनुगत धर्मोंका लोप नहीं किया जा सकता, अतः द्रव्य ही अर्थ है।

§ २–३ अर्थके संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे प्रस्थ बनानेके निमित्त जंगलसे लकड़ी लेनेके लिए जानेवाले फरसाधारी किसी पुरुषसे पूछा कि 'आप कहाँ जा रहे हैं?' तो वह उत्तर देता है कि 'प्रस्थके लिए'। अथवा, 'यहां कौन जा रहा है?' इस प्रश्नके उत्तरमें 'बैठा हुआ' कोई व्यक्ति कहे कि 'मैं जा रहा हूँ'। इन दोनों दृष्टान्तोंमें प्रस्थ और गमनके संकल्प मात्रमें वे व्यवहार किये गये हैं। इसी तरहके सभी व्यवहार नैगमनयके विषय हैं। यह नैगमनय केवल भाविसंज्ञा व्यवहार ही नहीं है, क्योंकि वस्तुभूत राजकुमार या चावलोंमें योग्यताके आधारसे राजा या भात संज्ञा भाविसंज्ञा कहलाती है पर

नैगमनयमें कोई वस्तुभूत पदार्थ सामने नहीं है यहाँ तो तदर्थ किए जानेवाले संकल्पमात्रमें ही वह व्यवहार किया जा रहा है।

§ ४ **प्रश्न**–भाविसंज्ञामें तो यह आशा है कि आगे उपकार आदि हो सकते हैं, पर नैगमनयमें तो केवल कल्पना ही कल्पना है, अतः यह संव्यवहारके अनुपयुक्त है? **उत्तर**–नयोंके विषयके प्रकरणमें यह आवश्यक नहीं है कि उपकार या उपयोगिताका विचार किया जाय। यहाँ तो केवल उनका विषय बताना है। फिर संकल्पके अनुसार निष्पन्न वस्तुसे आगे उपकारादिकी भी संभावना भी है ही।

§ ५ अनुगताकार बुद्धि और अनुगत शब्द प्रयोगका विषयभूत सादृश्य या स्वरूप जाति है। चेतनकी जाति चेतनत्व और अचेतनकी जाति अचेतनत्व है। अतः अपने अविरोधी सामान्यके द्वारा उन उन पदार्थोंका संग्रह करनेवाला संग्रहनय है। जैसे 'सत' कहनेसे सत्ता सम्बन्धके योग्य द्रव्यगुण कर्म आदि सभी सद्व्यक्तियोंका ग्रहण हो जाता है अथवा द्रव्य कहनेसे द्रव्य व्यक्तियोंका। इस तरह यह संग्रह पर और अपरके भेदसे अनेक प्रकार का होता है।

सत्ता नामक भिन्न पदार्थके सम्बन्धसे 'सत्' यह प्रत्यय मानना उचित नहीं है; क्योंकि यदि सत्ता सम्बन्धके पहिले द्रव्यादिमें 'सत्' प्रत्यय होता था, तो फिर अन्य सत्ताका सम्बन्ध मानना ही निरर्थक है जैसे कि प्रकाशितका प्रकाशन करना। इस तरह दो सत्ताएं एक पदार्थमें माननी होंगी–एक भीतरी और दूसरी बाहिरी। ऐसी दशामें "सत् सत् प्रत्यय सर्वत्र समान होनेसे तथा विशेष लिङ्ग न होनेसे एक ही सामान्य पदार्थ होता है" इस सिद्धान्तका विरोध हो जायगा। यदि सत्ता सम्बन्धसे पहिले द्रव्यादि 'असत्' हैं; तो उनमें खरविषाणकी तरह सत्ता सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। समवाय भी सत्ताका नियामक स्वतः नहीं हो सकता। किंच, स्वयं सत्तामें 'सत्' इस ज्ञानको यदि अन्य सत्तामूलक मानते हैं तो अनवस्था दूषण आता है। तथा 'द्रव्य गुण कर्ममें ही सत्ता रहती है' इस सिद्धान्तका विरोध भी होता है। यदि पदार्थकी शक्तिविचित्रतासे द्रव्यादिमें होनेवाले 'सत्' प्रत्ययको अन्य सामान्यहेतुक और सत्तामें स्वतः ही सत् प्रत्यय माना जाता है, तो यह व्यवस्था स्वेच्छाकृत होगी प्रमाणसिद्ध नहीं, और इस तरह संसर्गसे प्रत्यय माननेके सिद्धान्तका भी परित्याग हो जाता है। किंच, द्रव्यादिकमें सत्ताकी वृत्ति यदि 'यह उसकी है' इस रूपसे मानी जाती है तो मतुप् प्रत्यय होकर 'सत्तावान् द्रव्य' ऐसा प्रयोग होगा जैसे गोमान् यवमान् आदि। अतः 'सद्द्रव्यम्' इस प्रयोगमें भावार्थक और मत्वर्थक दोनों प्रत्ययोंकी निवृत्ति करनी पड़ेगी। यदि 'यह वही है' इस प्रकार अभेदवृत्ति मानी जाती है तो 'यष्टिः पुरुषः' की तरह 'सत्ता द्रव्यम्' यह प्रयोग होगा न कि 'सद्द्रव्यम्' यह। इस पक्षमें भावार्थक तल् प्रत्ययकी निवृत्ति माननी पड़ेगी। संसारमें कोई भी एक पदार्थ अनेकमें सम्बन्धसे रहनेवाला प्रसिद्ध भी नहीं जिसे दृष्टान्त बनाकर सत्ताको एक होकर अनेक सम्बधिनी बनाया जाय। नीली आदि द्रव्य तो उन उन कपड़ोंमें जुदे जुदे हैं।

§ ६ संग्रह नयके द्वारा संगृहीत पदार्थोंमें विधिपूर्वक विभाजन करना व्यवहारनय है। जैसे सर्वसंग्रहनयने 'सत्' ऐसा सामान्य ग्रहण किया था पर इससे तो व्यवहार चल नहीं सकता था अतः भेद किया जाता है कि–जो सत् है वह द्रव्य है या गुण? द्रव्य भी जीव है या अजीव? जीव और अजीव सामान्यसे भी व्यवहार नहीं चलता था, अतः उसके भी

देव नारक आदि और घट पट आदि भेद लोकव्यवहारके लिए किए जाते हैं। 'कषायरस'को किसी वैद्यने दवारूपमें बताया तो जब तक किसी खास 'आंवला' आदिका निर्देश न किया जाय तब तक समस्त संसारका कषाय रस तो सम्राट् भी इकट्ठा नहीं कर सकता। यह व्यवहार नय वहाँ तक भेद करता जायगा जिससे आगे कोई भेद नहीं हो सकता होगा।

§ ७ जिस प्रकार सरल सूत डाला जाता है उसी तरह ऋजुसूत्र नय एक समयवर्ती वर्त्तमान पर्यायको विषय करता है। अतीत और अनागत चूँकि विनष्ट और अनुत्पन्न हैं अतः उनसे व्यवहार नहीं हो सकता। इसका विषय एक क्षणवर्ती वर्तमान पर्याय है। 'कषायो भैषज्यम्' में वर्तमानकालीन वह कषाय भैषज हो सकती है जिसमें रसका परिपाक हुआ है न कि प्राथमिक अल्परसवाला कच्चा कषाय।

पच्यमान इस नयका विषय है। पच्यमानमें भी कुछ अंश तो वर्तमानमें पकता है तथा कुछ अंश पक चुकते हैं। अतः पच्यमान भातको अंशतः पक्व कहनेमें भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि पाकके प्रथम समयमें कुछ अंश यदि पक जाता है तो मान लेना चाहिए कि पच्यमान पदार्थ अंशतः पक्व हो चुका है। यदि नहीं पकता; तो द्वितीयादि क्षणोंमें भी पकनेकी गुञ्जाइश नहीं हो सकती। अतः पाकका ही अभाव हो जायगा। उस दशामें स्यात् पच्यमान ही कह सकते हैं; क्योंकि जितने विशद रंधे हुए भातमें 'पक्व' का अभिप्राय है उतना पाक अभी नहीं हुआ है। स्यात् पक्व भी कह सकते हैं; क्योंकि किसी भोजनार्थीको उतना ही पाक इष्ट हो सकता है। इसी तरह क्रियमाणमें भी अंशतः कृत व्यवहार, भुज्यमानमें भी अंशतः भुक्त व्यवहार, बध्यमानमें भी अंशतः बद्ध व्यवहार आदि कर लेना चाहिए।

जिस समय प्रस्थसे धान्य आदि मापा जाता हो उसी समय उसे प्रस्थ कह सकते हैं। वर्तमानमें अतीत और अनागतसे धान्यका माप तो होता ही नहीं है। इस नयकी दृष्टिसे कुम्भकार व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि शिविक आदि पर्यायोंके बनाने तक तो उसे कुम्भकार कह ही नहीं सकते और घट पर्यायके समय अपने अवयवों से स्वयं ही घड़ा बन रहा है। जिस समय जो बैठा है वह उस समय यह नहीं कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ'; क्योंकि उस समय आगमन क्रिया नहीं हो रही है। जितने आकाश प्रदेशोंमें वह ठहरा है उतने ही प्रदेशोंमें उसका निवास है अथवा स्वात्मा में; अतः ग्रामनिवास गृहनिवास आदि व्यवहार नहीं हो सकते। इस नयकी दृष्टिमें 'कौआ काला' नहीं है क्योंकि काला रंग काला है और कौआ कौआ है। यदि काला रंग कौआ रूप हो जाय तो संसारके भौंरा आदि सभी काले पदार्थ कौआ बन जायंगे। इसी तरह यदि कौआ काले रंग स्वरूप हो जाय तो शुक्ल काकका अभाव ही हो जायगा। फिर कौआका रक्त मांस पित्त हड्डी चमड़ा आदि मिलकर पंचरंगी वस्तु होती है, अतः उसे केवल काला ही कैसे कह सकते हैं? कृष्ण और काकमें सामानाधिकरण्य भी नहीं बन सकता; क्योंकि विभिन्न शक्तिवाली पर्यायें ही अपना अस्तित्व रखती हैं द्रव्य नहीं। यदि कृष्णगुणकी प्रधानतासे काकको काला कहा जाता है तो कम्बल आदिमें अतिप्रसंग हो जायगा क्योंकि उनमें भी काला रंग विशेष है, अतः उन्हें भी काक कहना चाहिए। अधिक कसैले और स्वल्प मधुर मधुको फिर मधु नहीं कहना चाहिए। परोक्षमें कहनेपर संशय भी हो सकता है कि–क्या कृष्णगुणकी प्रधानतासे काककी

कृष्णताका वर्णन 'कृष्णः' शब्दसे हो रहा है या कृष्णपरिणमनवाले द्रव्यका ही? इस नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता; क्योंकि अग्नि सुलगाना, धौंकना और जलाना आदि असंख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षणमें नहीं हो सकतीं। जिस समय दाह है उस समय पलाल नहीं और जिस समय पलाल है उस समय दाह नहीं, तब पलालदाह कैसा? 'जो पलाल है वह जलता है' यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बहुत पलाल बिना जला भी बाकी है। यह समाधान भी उचित नहीं है कि–'समुदाय-वाची शब्दोंकी अवयवमें भी प्रवृत्ति देखी जाती है अतः अंशदाहसे सर्वदाह ले लेंगे' क्योंकि कुछ पलाल तो बिना जला शेष है ही। यदि संपूर्णदाह नहीं हो सकता; तो 'पलालदाह' यह प्रयोग ही नहीं करना चाहिए। यदि संपूर्णदाह नहीं हो सकता अतः एकदेशदाहसे पलालका दाह माना जायगा उसमें, 'अदाह' नहीं होगा तो आपके वचन भी संपूर्ण रूपसे परपक्षके दूषक नहीं हो सकते, अतः एकदेशके दूषक होनेसे उन्हें सर्वथा दूषक ही माना जायगा किसी भी तरह 'अदूषक' नहीं होंगे और इस तरह उनमें स्वपक्ष-अदूषकत्व अर्थात् साधकत्व भी नहीं होगा। यदि अनेक अवयव होनेसे कुछ अवयवोंमें दाह होनेसे सर्वत्र दाह माना जाता है, तो कुछ अवयवोंमें अदाह होनेसे सर्वत्र अदाह क्यों नहीं माना जायगा? यदि सर्वत्र दाह है तो अदाह सर्वत्र क्यों नहीं? इसी तरह इस नयकी दृष्टिसे पान-भोजन आदि कोई व्यवहार नहीं बन सकते। इस नयकी दृष्टिसे सफेद चीज काली नहीं बन सकती; क्योंकि दोनोंका समय भिन्न भिन्न है। वर्तमानके साथ अतीतका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह नय व्यवहारलोपकी कोई चिंता नहीं करता। यहाँ तो उसका विषय बताया गया है। व्यवहार तो पूर्वोक्त व्यवहार आदि नयोंसे ही सध जाता है।

§ ८-९ जिस व्यक्ति ने संकेतग्रहण किया है उसे अर्थबोध करानेवाला शब्द होता है। शब्दनय लिंग संख्या साधनादि सम्बन्धी व्यभिचारकी निवृत्ति करता है अर्थात् उसकी दृष्टिसे ये व्यभिचार हो ही नहीं सकते क्योंकि अन्य अर्थका अन्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वह व्याकरणशास्त्रके इन व्यभिचारोंको न्याय्य नहीं मानता।

लिंगव्यभिचार–स्त्रीलिंगके साथ पुल्लिगका प्रयोग करना, जैसे 'तारका स्वातिः'। पुल्लिगके साथ स्त्रीलिंगका प्रयोग, जैसे 'अवगमो विद्या'। स्त्रीलिंगके साथ नपुंसकका प्रयोग, जैसे 'वीणा आतोद्यम्'। नपुंसकलिंगके साथ स्त्रीलिंगका प्रयोग, जैसे–'आयुधं शक्तिः'।

संख्याव्यभिचार–एकवचनके स्थानमें द्विवचनका प्रयोग, जैसे 'नक्षत्रं पुनर्वसू'। एकवचनके स्थानमें वहुवचन, जैसे 'नक्षत्रं शतभिषजः'। द्विवचनके स्थानमें एकवचन, जैसे 'गौदौ ग्रामः'। द्विवचनके स्थानमें बहुवचन, जैसे 'पुनर्वसू पञ्चतारकाः'। बहुवचनके स्थानमें एकवचन जैसे 'आम्राः वनम्'। बहुवचनके स्थानमें द्विवचन, जैसे 'देवमनुष्याः उभौ राशी'।

साधनव्यभिचार–परिहासमें मध्यम पुरुषके स्थानमें उत्तम पुरुष और उत्तम पुरुषके स्थानमें मध्यम पुरुषका प्रयोग करना, जैसे–'एहि, मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पिता' इसका प्रकृतरूप यह है 'त्वम् एहि, त्वं मन्यसे यत् अहं रथेन यास्यामि, त्वं नहि यास्यसि ते पिता अग्रे यातः'। यहाँ मन्यसेके स्थानमें मन्येका तथा यास्यामिके स्थानमें यास्यसि का प्रयोग हुआ है।

कालव्यभिचार–जिसने विश्वको देख लिया ऐसा विश्वदृश्वा (विश्वं दृष्टवान्) पुत्र उत्पन्न होगा। उपसर्गके अनुसार धातुओंमें परस्मैपद और आत्मनेपदका प्रयोग उपग्रह व्यभिचार है। जैसे संतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमति उपरमति आदिमें। इत्यादि व्यभिचार अयुक्त हैं क्योंकि अन्य अर्थका अन्य अर्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है अन्यथा घट पट हो जायगा और पट मकान। अतः यथालिंग यथावचन और यथासाधन प्रयोग करना चाहिए।

यह नय लोक और व्याकरणशास्त्रके विरोधकी कोई चिन्ता नहीं करता। यहाँ तो नयका विषय बताया जा रहा है मित्रोंकी खुशामद नहीं की जा रही है।

§ १० अनेक अर्थोंको छोड़कर किसी एक अर्थमें मुख्यतासे रूढ होनेको समभिरूढ नय कहते हैं। जैसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान अर्थ व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति न होनेसे मात्र एक सूक्ष्म काययोगमें परिनिष्ठित हो जाता है उसी तरह 'गौ' आदि शब्द वाणी पृथ्वी आदि ग्यारह अर्थोंमें प्रयुक्त होनेपर भी सबको छोड़कर मात्र एक सास्नादि-वाली 'गाय' में रूढ़ हो जाता है। अथवा, शब्दका प्रयोग अर्थज्ञानके लिए किया जाता है। जब एक शब्दसे अर्थबोध हो जाता है तब उसीमें अन्य पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग निरर्थक है। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिए, जैसे इन्दन क्रियासे इन्द्र, शासन या शक्तिके कारण शक्र और पूर्दारणसे पुरन्दर। अथवा जो जहां अधिरूढ है वहीं उसका मुख्य रूपसे प्रयोग करना समभिरूढ है। जैसे किसीने पूछा कि–आप कहां हैं? तो समभिरूढ नय उत्तर देगा–'अपने स्वरूपमें' क्योंकि अन्य पदार्थकी अन्यत्र वृत्ति नहीं हो सकती अन्यथा ज्ञानादि और रूपादिकी भी आकाशमें वृत्ति होनी चाहिए।

§ ११-१२ जिस समय जो पर्याय या क्रिया हो उस समय तद्वाची शब्दके प्रयोगको ही एवंभूत नय स्वीकार करता है। जिस समय इन्दन अर्थात् परमैश्वर्यका अनुभव करे उसी समय इन्द्र कहा जाना चाहिए, नाम स्थापना द्रव्यनिक्षेपकी दशामें नहीं। इसी तरह प्रत्येक शब्दका प्रयोग उस क्रियामें परिणत अवस्थामें हीं उचित है। अथवा, यह नय जिस पर्यायमें है उसी रूपसे निश्चय करता है। गौ जिस समय चलती है उसी समय गौ है न तो बैठनेकी अवस्थामें और न सोनेकी अवस्थामें। पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें वह पर्याय नहीं रहती अतः उस शब्दका प्रयोग ठीक नहीं है। अथवा, इन्द्र या अग्नि ज्ञानसे परिणत आत्मा ही इन्द्र या अग्नि है ऐसा निश्चय एवम्भूत नय करता है। ज्ञान या आत्मा में अग्निव्यपदेश करनेके कारण दाहकत्व आदिका अतिप्रसङ्ग आत्मामें नहीं देना चाहिए; क्योंकि नाम स्थापना आदिमें पदार्थके जो जो धर्म वाच्य होते हैं वे ही उनमें रहेंगे, नो-आगमभाव अग्निमें ही दाहकत्व आदि धर्म होते हैं उनका प्रसङ्ग आगमभाव अग्निमें देना उचित नहीं है।

ये नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयक तथा पूर्व पूर्व हेतुक हैं अतः इनका निर्दिष्ट क्रमके अनुसार निर्देश किया है। ये नय पूर्व पूर्वमें विरुद्ध और महा विषयवाले हैं और उत्तरोत्तर अनुकूल और अल्प विषयवाले हैं। अनन्तशक्तिक द्रव्यकी हर एक शक्तिकी अपेक्षा इनके बहुत भेद होते हैं। गौण मुख्य विवक्षासे परस्पर सापेक्ष होकर ये नय सम्यग्दर्शनके कारण होते हैं और पुरुषार्थ क्रियामें समर्थ होते हैं। जैसे तन्तु परस्पर सापेक्ष होकर पट अवस्थाको प्राप्त करके ही शीत निवारण कर सकते हैं और स्वतन्त्र दशामें न तो पट ही कहे जाते हैं और न शीतसे रक्षा ही कर सकते हैं। जिस

प्रकार अकेला तन्तु पटके द्वारा होनेवाली अर्थक्रिया नहीं कर सकता वैसे ही निरपेक्ष नय सम्यग्ज्ञानोत्पत्ति नहीं कर सकते। तन्तु तन्तुसाध्य अर्थक्रिया भी अपने अंशुओंकी अपेक्षा रखकर ही कर सकता है। यदि तन्तुओंमें शक्तिकी अपेक्षा पट कार्यकी संभावना है तो निरपेक्ष नयोंमें भी शक्तयपेक्षया सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिकी संभावना है ही।

इस अध्यायमें ज्ञान दर्शन तत्त्व नयोंके लक्षण और ज्ञानकी प्रमाणता आदिका निरूपण किया गया है।

प्रथम अध्याय समाप्त

लघुहव्व नृपतिके वर अर्थात् ज्येष्ठ या श्रेष्ठ पुत्र, निखिल विद्वज्जनोंके द्वारा जिनकी विद्याका लोहा माना जाता है, जो सज्जन पुरुषोंके हृदयोंको आह्लादित करनेवाले हैं वे अकलङ्क ब्रह्मा जयशील हैं।

द्वितीय अध्याय

जीवके स्वभाव या स्वतत्त्वोंका वर्णन–

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च ॥१॥

औपशमिक क्षायिक मिश्र औदयिक और पारिणामिक ये पांच जीवके स्वतत्त्व हैं।

§ १ जैसे कतकफल या निर्मलीके डालनेसे मैले पानीका मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है उसी तरह परिणामोंकी विशुद्धिसे कर्मोंकी शक्तिका अनुद्भूत रहना उपशम है। उपशमके लिए जो भाव होते हैं वे औपशमिक हैं।

§ २ जिस जलका मैल नीचे बैठा हो उसे यदि दूसरे बर्तनमें रख दिया जाय तो जैसे उसमें अत्यन्त निर्मलता होती है उसी तरह कर्मोंकी अत्यन्त निवृत्तिसे जो आत्यन्तिक विशुद्धि होती है वह क्षय है और कर्मक्षयके लिए जो भाव होते हैं वे क्षायिक भाव हैं।

§ ३ जैसे कोदोंको धोनेसे कुछ कोदोंकी मदशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ की अक्षीण उसी तरह परिणामोंकी निर्मलतासे कर्मोंके एकदेशका क्षय और एकदेशका उपशम होना मिश्र भाव है। इस क्षयोपशमके लिए जो भाव होते हैं उन्हें क्षायोपशमिक कहते हैं।

§ ४ द्रव्य क्षेत्र काल और भावके निमित्तसे कर्मोंका फल देना उदय है और उदयनिमित्तक भावोंको औदयिक कहते हैं।

§ ५–६ जो भाव कर्मोंके उपशमादिकी अपेक्षा न रखकर द्रव्यके निजस्वरूप-मात्रसे होते हैं उन्हें पारिणामिक कहते हैं।

§ ७–१५ यद्यपि औदयिक और पारिणामिक भव्य और अभव्य सभी जीवोंमें रहते हैं अतः बहुव्यापी हैं फिर भी भव्यजीवोंके धर्मविशेषोंको प्रधानता देनेके लिए औपशमिक आदिका प्रथम ग्रहण किया है। उनमें भी औपशमिकको प्रथम इसलिए ग्रहण किया है कि सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन औपशमिक ही होता है फिर क्षायोपशमिक और फिर क्षायिक। उपशम सम्यग्दृष्टि अन्तर्मुहूर्त कालमें अधिकसे अधिक पल्यके असंख्यात भाग तक हो सकते हैं। अतः संख्याकी दृष्टिसे सभी सम्यग्दृष्टियोंमें अल्प हैं और उसका काल भी अल्प है। क्षायिक सम्यग्दर्शनमें मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीनों प्रकृतियोंका क्षय हो जानेसे परम विशुद्धि है और क्षायिक सम्यग्दर्शनका काल तेंतीस सागर है अतः इतने समय तक संचयकी दृष्टिसे जीवोंकी संख्या औपशमिककी अपेक्षा आवलिके असंख्यात भागसे गुणित है अतः विशुद्धि और संख्याकी दृष्टिसे अधिक होनेके कारण क्षायिकका औपशमिकके बाद ग्रहण किया है। यद्यपि क्षायिक भाव शुद्धिकी दृष्टिसे क्षायोपशमिकसे अनन्तगुणा है तो भी छ्यासठ सागर कालमें संचित क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी संख्या क्षायिकसे आवलिकाके असंख्यात भाग गुणित है अतः क्षायिकके बाद इसका ग्रहण किया है। औदयिक और पारिणामिककी संख्या सबसे अनन्तगुणी है, अतः दोनोंका अन्तमें ग्रहण किया है। ये दोनों भाव सभी जीवोंके समान संख्यामें होते हैं तथा इनसे ही अतीन्द्रिय और अमूर्त

आत्माका ज्ञान किया जाता है। मनुष्य तिर्यञ्च आदि गतिभाव और चैतन्य आदि भाव ही जीवके परिचायक होते हैं। इसलिए सर्वसाधारण होनेसे दोनोंको अन्तमें ग्रहण किया है।

§ १६–१८ जैसे 'गायें धन हैं' यहाँ गायोंके भीतरी संख्याकी विवक्षा न होनेसे सामान्य रूपसे एक वचन धनके साथ सामानाधिकरण्य बन जाता है उसी तरह औपशमिक आदि भीतरी भेदकी विवक्षा न करके सामान्य स्वतत्त्वकी दृष्टिसे 'स्वतत्त्वम्' यह एक-वचन निर्देश है। अथवा 'औपशमिक स्वतत्त्व है क्षायिक स्वतत्त्व है' इस प्रकार प्रत्येकके साथ स्वतत्त्वका सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

§ १९–२० सूत्रमें यदि द्वन्द्व समास किया जाता तो दो 'च' शब्द नहीं देने पड़ते फिर भी 'मिश्र' शब्दसे औपशमिक और क्षायिकसे भिन्न किसी तृतीय ही भावके ग्रहणका अनिष्ट प्रसङ्ग प्राप्त होता अतः द्वन्द्व समास नहीं किया गया है। ऐसी दशामें 'च' शब्दसे उपशम और क्षयका मिला हुआ मिश्र भाव ही लिया जायगा। 'क्षायोपशमिक' शब्दके ग्रहणसे तो शब्दगौरव हो जाता है।

§ २१ मध्यमें 'मिश्र' शब्दके ग्रहणका प्रयोजन यह है कि भव्य जीवोंके औपशमिक और क्षायिकके साथ मिश्र भाव होता है और अभव्योंके औदयिक और पारिणामिकके साथ मिश्र भाव होता है। इस तरह पूर्व और उत्तर दोनों ओर 'मिश्र' का सम्बन्ध हो जाता है।

§ २२ सूत्रगत 'जीवस्य' यह पद सूचित करता है कि ये भाव जीवके ही हैं अन्य द्रव्योंके नहीं।

§ २३–२५ **प्रश्न**–आत्मा औपशमिकादि भावोंको यदि छोड़ता है तो स्वतत्त्वके छोड़नेसे उष्णताके छोड़नेपर अग्निकी तरह अभाव अर्थात् शून्यताका प्रसंग होता है और यदि नहीं छोड़ता तो औदयिक आदि भावोंके बने रहनेसे मोक्ष नहीं हो सकेगा? **उत्तर**–अनेकान्तवादमें अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यकी दृष्टिसे स्वभावका अपरित्याग और आदिमान् औदयिक आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे स्वभावका त्याग ये दोनों ही पक्ष बन जाते हैं। फिर स्वभावके त्याग या अत्यागसे तो मोक्ष होता नहीं है, मोक्ष तो सम्यग्दर्शनादि अन्तः करणोंसे संपूर्ण कर्मोंका क्षय होनेपर होता है। अग्नि उष्णताको छोड़ भी दे तो भी उसका सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि जो पुद्गल अग्नि पर्यायको धारण किए था वह अन्य रूपस्पर्शवाली दूसरी पर्यायको धारण करके पुद्गल द्रव्य बना रहता है। जैसे कि निद्रा आदि अवस्थाओंमें रूपोपलब्धि न रहनेपर भी नेत्रका अभाव नहीं माना जाता, अथवा केवली अवस्थामें मतिज्ञानरूप रूपोपलब्धि न होने पर भी द्रव्यनेत्र रहनेसे नेत्रका अभाव नहीं माना जाता। उसी तरह मोक्षावस्थामें भी क्षायिक भावोंके विद्यमान रहनेसे कर्मनिमित्तक औदयिकादि भावोंका नाश होनेपर भी आत्माका अभाव नहीं होता।

औपशमिकादि भावोंके भेद–

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

इन भावोंके क्रमशः दो नव अठारह इक्कीस और तीन भेद हैं।

§ १–२ द्वि नव आदि शब्दोंका इतरेतरयोगार्थक द्वन्द्व समास है। **प्रश्न**–इतरेतर-योग तुल्ययोगमें होता है किन्तु यहाँ तुल्ययोग नहीं है क्योंकि द्वि आदि शब्द संख्येय प्रधान

हैं तथा एकविंशति शब्द संख्याप्रधान। **उत्तर**–निमित्तानुसार द्वि आदि शब्द भी संख्याप्रधान हो जाते हैं जैसे राजा स्वयं समय समयपर मन्त्रीको प्रधानता देता है। **प्रश्न**–तर्क से कैसा ही समाधान हो जाय पर व्याकरण शास्त्रमें स्पष्ट कहा है कि दो से १९ तकके अंक संख्येय प्रधान ही होते हैं तथा बीस आदि कभी संख्याप्रधान और कभी संख्येयप्रधान। यदि दो आदि शब्द भी कदाचित् संख्यावाची हों तो बीस आदिके समान ही इनकी स्थिति हो जायगी ऐसी दशामें 'विंशतिर्गवाम्' की तरह सम्बन्धीमें षष्ठी विभक्ति और स्वयंमें एकवचनान्त प्रयोग होना चाहिए। व्याकरणमें ही जो 'द्व्येकयोः' यह संख्याप्रधान प्रयोग देखा जाता है वह संख्यार्थक नहीं है किन्तु जिसके अवयव गौण हैं ऐसे समुदायके अर्थमें है, जैसे कि 'बहुशक्तिकिटकं वनम्'–शक्तिशाली शूकरोंवाला वन। **उत्तर**–संख्याप्रधान होनेपर भी इन्हें संख्येय विषयक मान लेते हैं। 'भावप्रत्ययके बिना भी गुणप्रधान निर्देश हो जाता है' यह नियम है। इस तरह दो आदि शब्द जब संख्येय प्रधान हो गये और एकविंशति शब्द भी संख्येय प्रधान तब तुल्ययोग होनेसे द्वन्द्व समास होनेमें कोई बाधा नहीं है।

भेद शब्दसे द्विआदि शब्दोंका स्वपदार्थ प्रधान समास है। विशेषणविशेष्य समास में 'दो नव आदि ही भेद' ऐसा स्वपदार्थप्रधान निर्देश हो जाता है।

प्रश्न–'द्वियमुनम्' आदिमें पूर्वपदार्थप्रधान समास होता है, अतः द्वि आदि शब्दोंको विशेष्य और भेद-शब्दको विशेषण माननेमें भेद शब्दका पूर्वनिपात होना चाहिये ?

उत्तर–सामान्योपक्रममें विशेष कथन होनेपर वह नियम लागू होता है। 'के?' कहनेसे 'द्वे यमुने' यह उत्तर मिलता है पर 'यमुने' यह कहनेपर दो शब्द निरर्थक हो जाता है। परन्तु यहां बहुत होनेसे सन्देह होता है–'भेदाः' यह कहनेपर 'कति' यह सन्देह बना रहता है और 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः' कहनेपर 'के ते ?' यह सन्देह रहता है अतः उभयव्यभिचार होनेसे विशेषण विशेष्य भाव इष्ट है। दो आदि गुणवाचक हैं अतः विशेषण हैं। अथवा 'दो आदि हैं भेद जिनके' इस प्रकार अन्यपदार्थप्रधान भी समास किया जा सकता है। संख्या शब्दोंका विशेष्य होनेपर भी 'सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्' सूत्रसे पूर्वनिपात हो जायगा। पूर्वसूत्रमें कहे गये औपशमिक आदिका अर्थवश विभक्ति परिणमन कराके 'औपशमिकादीनाम्' के रूपमें सम्बन्ध कर लिया जायगा।

§ ३ भेद शब्दका सम्बन्ध प्रत्येकमें कर लेना चाहिये, जैसे कि 'देवदत्त जिनदत्त गुरुदत्तको भोजन कराओ' यहां भोजनका सम्बन्ध प्रत्येकसे हो जाता है। 'यथाक्रमम्' शब्द दो आदिका निर्देशानुसार औपशमिक आदि भावोंसे क्रमशः सम्बन्ध सूचित करता है।

औपशमिक भाव–

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिकचारित्र ये दो औपशमिक भाव हैं।

§ १–२ मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार चारित्रमोह, इस प्रकार इन सात कर्मप्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यके काललब्धि आदिके निमित्तसे यह सम्यग्दर्शन होता है। काललब्धि अनेक प्रकारकी है। जैसे–

(१) भव्य जीवके अर्धपुद्गलपरिवर्तन रूप समय शेष रहनेपर वह सम्यक्त्वके योग्य होता है अधिक कालमें नहीं। (२) जब कर्म उत्कृष्ट स्थिति या जघन्य स्थितिमें बँध रहे हों तब प्रथम सम्यक्त्व नहीं होता किन्तु जब कर्म अन्तःकोड़ाकोड़ि सागरकी स्थितिमें बँध रहे हों तथा पूर्वबद्ध कर्म परिणामोंकी निर्मलताके द्वारा संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिवाले कर दिए गये हों तब प्रथम सम्यक्त्वकी योग्यता होती है। (३) तीसरी काललब्धि भवकी अपेक्षा है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें जातिस्मरण वेदना आदि भी निमित्त होते हैं।

भव्य पञ्चेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक परिणामोंकी विशुद्धिसे अन्तर्मुहूर्तमें ही मिथ्यात्व कर्मके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व रूपसे तीन विभाग कर देता है।

उपशम सम्यग्दर्शन चारों ही गतियोंमें होता है। सातों नरकोंमें पर्याप्तक ही नारकी जीव अन्तर्मुहूर्तके बाद प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। तीसरे नरक तक जातिस्मरण, वेदनानुभव और धर्मश्रवण इन तीन कारणोंसे तथा आगे धर्मश्रवणके सिवाय शेष दो कारणोंसे सम्यक्त्वका लाभ हो सकता है। सभी द्वीप समुद्रोंके पर्याप्तक ही तिर्यञ्च दिवस पृथक्त्व (तीनसे ऊपर ८ से नीचेकी संख्याको पृथक्त्व कहते हैं)के बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। तिर्यञ्चोंके जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनप्रतिमाका दर्शन ये तीन सम्यक्त्वोत्पत्तिके निमित्त हैं। ढाई द्वीपके पर्याप्तक ही मनुष्य आठ वर्षकी आयुके बाद जातिस्मरण धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन रूप किसी भी कारण से सम्यक्त्व लाभ करते हैं। अन्तिम ग्रैवेयक तकके पर्याप्तक ही देव अन्तर्मुहूर्तके बाद ही सम्यक्त्व लाभ कर सकते हैं। भवनवासी आदि सहस्रार स्वर्ग तकके देव जातिस्मरण धर्मश्रवण जिनमहिमा-दर्शन तथा देवैश्वर्य-निरीक्षण रूप किसी भी कारणसे सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। आनत आदि चार स्वर्गवासी देवोंमें देव-ऋद्धि निरीक्षणके सिवाय तीन कारण और नव ग्रैवेयेकवासी देवोंमें देव-ऋद्धि निरीक्षण और जिनमहिमा दर्शनके बिना शेष दो कारणोंसे सम्यक्त्वोपत्ति हो सकती है। ग्रैवेयेकसे ऊपरके देव नियमसे सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।

§ ३ अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ ये सोलह कषाय, हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये ९ नोकषाय, मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोह इस प्रकार अट्ठाईस मोह प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है।

§ ४ औपशमिक सम्यग्दर्शन होनेके बाद ही क्रमशः औपशमिक चारित्र होता है अतः पूज्य होनेसे उसका प्रथम ग्रहण किया है।

क्षायिकभाव–

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

केवलज्ञान, केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य और चशब्दसे सम्यक्त्व और चारित्र ये नव क्षायिकभाव हैं।

§ १ समग्र ज्ञानावरणके क्षयसे केवलज्ञान और दर्शनावरणके क्षयसे केवलदर्शन क्षायिक होते हैं।

§ २ समस्त दानान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे अनन्त प्राणियोंको अभय और अहिंसाका उपदेशरूप अनन्त दान क्षायिक दान है।

§ ३ संपूर्ण लाभान्तरायका अत्यन्त क्षय होनेपर कवलाहार न करनेवाले केवली को शरीरकी स्थितिमें कारणभूत परम शुभ सूक्ष्म दिव्य अनन्त पुद्गलोंका प्रतिसमय शरीर में सम्बन्धित होना क्षायिक लाभ है। अतः "कवलाहारके बिना कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक औदारिक शरीरकी स्थिति कैसे रह सकती है ?" यह शंका निराधार हो जाती है।

§ ४ संपूर्ण भोगान्तरायके नाशसे उत्पन्न होनेवाला सातिशय भोग क्षायिक भोग है। इसीसे पुष्पवृष्टि गन्धोदकवृष्टि पदकमलरचना सुगन्धित शीत वायु सह्य धूप आदि अतिशय होते हैं।

§ ५ समस्त उपभोगान्तरायके नाशसे उत्पन्न होनेवाला सातिशय उपभोग क्षायिक उपभोग है। इसीसे सिंहासन छत्र-त्रय चमर अशोकवृक्ष भामण्डल दिव्यध्वनि देवदुन्दुभि आदि होते हैं।

§ ६ समस्त वीर्यान्तरायके अत्यन्त क्षयसे प्रकट होनेवाला अनन्त क्षायिक वीर्य है।

§ ७ दर्शनमोहके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन और चारित्रमोहके क्षयसे क्षायिक चारित्र होता है।

प्रश्न—दानान्तराय आदिके क्षयसे प्रकट होनेवाली दानादिलब्धियोंके अभयदान आदि कार्य सिद्धोंमें भी होने चाहिए ?

उत्तर—दानादिलब्धियोंके कार्यके लिए शरीर नाम और तीर्थङ्कर प्रकृतिके उदयकी भी अपेक्षा है। सिद्धोंमें ये लब्धियाँ अव्याबाध अनन्तसुख रूपसे रहती हैं। जैसे कि केवल ज्ञानरूपमें अनन्तवीर्य। जैसे पोरोंके पृथक् निर्देशसे अंगुलि सामान्यका कथन हो जाता है उसीतरह सभी क्षायिक भावोंमें व्यापक सिद्धत्वका भी कथन उन विशेष क्षायिकभावोंके कथनसे हो ही गया है, उसके पृथक् कथनकी आवश्यकता नहीं है।

क्षायोपशमिक भाव—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पांच लब्धियां, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये १८ क्षायोपशमिक भाव हैं।

§ १-२ चतुः त्रि आदि शब्दोंका द्वन्द्व समास करके पीछे भेदशब्दसे अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास करना चाहिए। यहां सूत्रमें 'त्रि' शब्द दो बार आया है अतः द्वन्द्वका अपवाद करके एकशेष नहीं किया गया है; क्योंकि एक त्रि संख्यासे अर्थबोध नहीं होता, यहां अन्यपदार्थ प्रधान है और त्रि शब्दको पृथक् कहनेका विशेष प्रयोजन भी है। 'चार प्रकारका ज्ञान, तीन अज्ञान' आदि अनुक्रमसे सम्बन्ध ज्ञापन करानेके लिए यहां 'यथाक्रम' शब्दका अनुवर्तन 'द्विनवाष्टा' सूत्रसे कर लेना चाहिए।

§ ३ उदयप्राप्त सर्वघाति स्पर्धकोंका क्षय होनेपर, अनुदयप्राप्त सर्वघाति स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम होनेपर तथा देशघाति स्पर्धकोंके उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होते हैं।

§ ४ स्पर्धक—उदय प्राप्त कर्मके प्रदेश अभव्योंके अनन्तगुणे तथा सिद्धोंके अनन्तभाग प्रमाण होते हैं। उनमेंसे सर्वजघन्य गुणवाले प्रदेशके अनुभागका बुद्धिके द्वारा उतना सूक्ष्म विभाग किया जाय जिससे आगे विभाजन न हो सकता हो। सर्वजीवराशिके अनन्तगुण प्रमाण ऐसे सर्वजघन्य अविभाग परिच्छेदोंकी राशिको एक वर्ग कहते हैं। इसी तरह सर्वजघन्य अविभाग परिच्छेदोंके, जीवराशिसे अनन्तगुण प्रमाण, राशिरूप वर्ग बनाने चाहिए। इन समगुणवाले समसंख्यक वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। पुनः एक अविभाग परिच्छेद अधिक गुणवालोंके सर्वजीवराशिकी अनन्तगुण प्रमाण राशिरूप वर्ग बनाने चाहिए। उन वर्गोंके समुदायकी वर्गणा बनानी चाहिए। इस तरह एक एक अविभाग परिच्छेद बढ़ाकर वर्ग और वर्गसमूहरूप वर्गणाएँ तब तक बनानी चाहिए जबतक एक अधिक परिच्छेद मिलता जाय। इन क्रमहानि और क्रमवृद्धिवाली वर्गणाओंके समुदायको एक स्पर्धक कहते हैं। इसके बाद दो तीन चार संख्यात और असंख्यात गुण अधिक परिच्छेद नहीं मिलते किन्तु अनन्तगुण अधिकवाले ही मिलते हैं। फिर उनमेंसे पूर्वोक्त क्रमसे समगुणवाले वर्गोंके समुदायरूप वर्गणा बनानी चाहिए। इस तरह जहां तक एक एक अधिक परिच्छेदका लाभ हो वहां तककी वर्गणाओंके समूहका दूसरा स्पर्धक बनता है। इसके आगे दो तीन चार संख्यात असंख्यात गुण अधिक परिच्छेद नहीं मिलेंगे किन्तु अनन्तगुण अधिक ही मिलते हैं। इस तरह समगुणवाले वर्गोंके समुदायरूप वर्गणाओंके समूहरूप स्पर्धक एक उदयस्थानमें अभव्योंसे अनन्तगुणे तथा सिद्धोंके अनन्तभाग प्रमाण होते हैं।

§ ५ वीर्यान्तराय और मतिश्रुतज्ञानावरणके सर्वघाति स्पर्धकोंका उदयक्षय और आगामीका सदवस्था उपशम होनेपर तथा देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। देशघाति स्पर्धकोंके अनुभागतारतम्यसे क्षयोपशममें भेद होता है। इसी तरह अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी क्षायोपशमिक होते हैं।

§ ६ मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान ये तीन अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान होते हैं।

§ ७ चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन अपने अपने आवरणोंके क्षयोपशमसे होते हैं।

§ ८ दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ दानान्तराय आदिके क्षयोपशमसे होती हैं।

अनन्तानुबन्धी चार कषाय मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्वके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम होनेपर तथा सम्यक्त्व नामक देशघाति प्रकृतिके उदयमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह वेदक भी कहलाता है। अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान रूप बारह कषायोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम होनेपर तथा चार संज्वलनोंमें से किसी एक कषाय और नव नोकषायोंका यथासंभव उदय होनेपर क्षायोपशमिक चारित्र होता है। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानरूप आठ कषायोंका

उदयक्षय और सदवस्था उपशम, प्रत्याख्यान कषायका उदय संज्वलनके देशघाति स्पर्धक और यथासंभव नोकषायोंका उदय होनेपर विरत-अविरत परिणाम उत्पन्न करनेवाला क्षायोपशमिक संयमासंयम होता है ।

§ ९ क्षायोपशमिक संज्ञित्व भाव नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेके कारण मतिज्ञानमें अन्तर्भूत हो जाता है। सम्यङ्मिथ्यात्व यद्यपि दूध पानीकी तरह उभयात्मक है फिर भी सम्यक्त्वपना उसमें विद्यमान होनेसे सम्यक्त्वमें अन्तर्भूत हो जाता है। योगका वीर्यलब्धिमें अन्तर्भाव हो जाता है । अथवा, च शब्दसे इन भावोंका संग्रह हो जाता है। पंचेन्द्रियत्व समान होनेपर भी जिसके संज्ञिजाति नामकर्मके उदयके साथ ही नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम होता है वही संज्ञी होता है, अन्य नहीं ।

औदयिक भाव–

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्ये-कैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और छह लेश्याएँ ये इक्कीस औदयिक भाव हैं।

§ १ जिस कर्मके उदयसे आत्मा नारक आदि भावोंको प्राप्त हो वह गति है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ होती हैं ।

§ २ कषाय नामक चारित्रमोहके उदयसे होनेवाली क्रोधादिरूप कलुषता कषाय कहलाती है। यह आत्माके स्वाभाविक रूपको कष् देती है अर्थात् उसकी हिंसा करती है। क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाएँ होती हैं ।

§ ३ द्रव्य और भावके भेदसे लिंग दो प्रकार का है। चूँकि आत्मभावोंका प्रकरण है, अतः नामकर्मके उदयसे होनेवाले द्रव्यलिंगकी यहाँ विवक्षा नहीं है। स्त्रीवेदके उदयसे होनेवाली पुरुषाभिलाषा स्त्रीवेद है, पुरुषवेदके उदयसे होनेवाली स्त्री-अभिलाषा पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयसे होनेवाली उभयाभिलाषा नपुंसकवेद है ।

§ ४ दर्शनमोहके उदयसे तत्त्वार्थमें अरुचि या अश्रद्धान मिथ्यात्व कहलाता है ।

§ ५ जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्यका तेज सघन मेघों द्वारा तिरोहित हो जाता है उसी तरह ज्ञानावरणके उदयसे ज्ञानस्वरूप आत्माके ज्ञान गुणकी अनभिव्यक्ति अज्ञान है। एकेन्द्रियके रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्रेन्द्रियावरणके सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय होनेसे रसादिका अज्ञान रहता है। तोता मैना आदिके सिवाय पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें तथा कुछ मनुष्योंमें अक्षर श्रुतावरणके सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय होनेसे अक्षर श्रुतज्ञान नहीं हो पाता। नोइन्द्रियावरणके उदयसे होनेवाला असंज्ञित्व अज्ञानमें ही अन्तर्भूत है। इसी तरह अवधि ज्ञानावरणादिके उदयसे होनेवाले यावत् अज्ञान औदयिक हैं ।

§ ६ चारित्रमोहके उदयसे होनेवाली हिंसादि और इन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति असंयम है ।

§ ७ अनादि कर्मबद्ध आत्माके सामान्यतः सभी कर्मोंके उदयसे असिद्ध पर्याय होती है। दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मोंके उदयसे, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें

मोहनीयके सिवाय सात कर्मोंके उदयसे और सयोगी तथा अयोगीमें चार अघातिया कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है ।

§ ८ कषायके उदयसे अनुरंजित योगप्रवृत्ति लेश्या है। द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे होती है अतः आत्मभावोंके प्रकरणमें उसका ग्रहण नहीं किया है। यद्यपि योगप्रवृत्ति आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप होनेसे क्षायोपशमिक वीर्यलब्धिमें अन्तर्भूत हो जाती है और कषाय औदयिक होती है फिर भी कषायोदयके तीव्र मन्द आदि तारतम्यसे अनुरंजित लेश्या पृथक् ही है। आत्मपरिणामोंके अशुद्धि तारतम्यकी अपेक्षा लेश्याके कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल ये छह भेद हो जाते हैं।

यद्यपि उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानोंमें कषायका उदय नहीं है फिर भी वहां भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा शुक्ल लेश्या उपचारसे कही है । 'जो योगप्रवृत्ति पहिले कषायानुरंजित थी वही यह है' इस तरह एकत्व उपचारका निमित्त होता है। चूँकि अयोगीमें योगप्रवृत्ति भी नहीं है अतः वे अलेश्य कहे जाते हैं ।

§ ९–११ मिथ्यादर्शनमें दर्शनावरणके उदयसे होनेवाले अदर्शनका अन्तर्भाव हो जाता है। यद्यपि मिथ्यादर्शन तत्त्वार्थाश्रद्धान रूप है फिर भी अदर्शन सामान्यमें दर्शनाभाव रूपसे दोनों प्रकारके दर्शनोंका अभाव ले लिया जाता है। लिंगके सहचारी हास्य रति आदि छह नोकषाय लिंगमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। गति अघातिकर्मोदयका उपलक्षण है, इससे नाम कर्म वेदनीय आयु और गोत्रकर्मके उदयसे होनेवाले यावत् जीवविपाकी भाव गृहीत हो जाते हैं। सूत्रमें 'यथाक्रम' का अनुवर्तन करके गति आदिका चार आदिके साथ क्रमशः सम्बन्ध कर लेना चाहिये ।

पारिणामिक भाव–

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन अन्य द्रव्यमें न पाए जानेवाले आत्माके पारिणामिक भाव हैं।

§ १–२ कर्मके उदय उपशम क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेवाले मात्र द्रव्यकी स्वभावभूत अनादि पारिणामिकी शक्तिसे ही आविर्भूत ये भाव पारिणामिक हैं ।

§ ३–६ यदि आयु नामक कर्म पुद्गलके सम्बन्धसे जीवत्व माना जाय तो उस कर्म पुद्गलका सम्बन्ध तो धर्म अधर्म आदि द्रव्योंसे भी है अतः उनमें भी जीवत्व होना चाहिए और सिद्धोंमें कर्म सम्बन्ध न होनेसे जीवत्वका अभाव हो जाना चाहिए, अतः अनादि पारिणामिक जीवद्रव्यका निज परिणाम ही जीवत्व है। 'जीवति अजीवीत् जीविष्यति' यह प्राणधारणकी अपेक्षा जो व्युत्पत्ति है वह केवल व्युत्पत्ति है उससे कोई सिद्धान्त फलित नहीं होता जैसे कि 'गच्छतीति गौः' से मात्र गोशब्दकी व्युत्पत्ति ही होती है न कि गौका लक्षण आदि। जीवका वास्तविक अर्थ तो चैतन्य ही है और वह अनादि पारिणामिक द्रव्य निमित्तक है ।

§ ७–९ सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र पर्याय जिसकी प्रकट होगी वह भव्य है और जिसके प्रकट न होगी वह अभव्य। द्रव्यकी शक्तिसे ही यह भेद है। उस भव्यको जो अनन्तकालमें भी सिद्ध नहीं होगा, अभव्य नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें भव्यत्वशक्ति

है। जैसे कि उस कनक पाषाणको जो कभी भी सोना नहीं बनेगा अन्धपाषाण नहीं कह सकते अथवा उस आगामी कालको जो अनन्तकालमें भी नहीं आयगा अनागामी नहीं कह सकते उसी तरह सिद्धि न होनेपर भी भव्यत्वशक्ति होनेके कारण उसे अभव्य नहीं कह सकते। वह भव्यराशिमें ही शामिल है।

§ १० **प्रश्न**–द्वन्द्व समासके बाद भावार्थक 'त्व' प्रत्यय करनेपर चूँकि भाव एक है अतः एकवचन प्रयोग होना चाहिए ? **उत्तर**–द्रव्य भेदसे भाव भी भिन्न हो जाता है अतः भेद विवक्षामें बहुवचन किया गया है। 'त्व' का प्रत्येकसे सम्बन्ध कर लेना चाहिए–जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व।

§ ११ आगममें सासादन गुणस्थानमें दर्शन मोहके उदय उपशम क्षय या क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेके कारण जो पारिणामिक भाव बताया है वह सापेक्ष है। वस्तुतः वहां अनन्तानुबन्धिका उदय होनेसे औदयिक भाव ही है। अतः उसका यहां ग्रहण नहीं किया है।

§ १२–१३ अस्तित्व अन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व पर्यायवत्त्व असर्वगतत्व अनादि-सन्ततिबन्धनबद्धत्व प्रदेशवत्त्व अरूपत्व नित्यत्व आदिके समुच्चयके लिए सूत्रमें 'च' शब्द दिया है। चूँकि ये भाव अन्य द्रव्योंमें भी पाए जाते है अतः असाधारण पारिणामिक जीव-भावोंके निर्देशक इस सूत्रमें इनका ग्रहण नहीं किया है, यद्यपि ये सभी भाव कर्मके उदय उपशम क्षय क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेके कारण पारिणामिक हैं। अस्तित्व छहों द्रव्योंमें पाया जाता है अतः साधारण है। एक द्रव्य दूसरेसे भिन्न होता है, अतः अन्यत्व भी सर्वद्रव्यसाधारण है। स्वकार्यका कर्तृत्व भी सभी द्रव्योंमें ही है। धर्म अधर्म आदिमें भी 'अस्ति' आदि क्रियाओंका कर्तृत्व है ही। आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप योग क्षायोपशमिक है। जीवका पुण्य पाप सम्बन्धी कर्तृत्व कर्मके उदय और क्षयोपशमके अधीन होनेसे पारिणामिक नहीं है। मिथ्यादर्शन दर्शनमोहके उदयसे, अविरति प्रमाद और कषाय चारित्र मोहके उदयसे और योग वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होते हैं। चैतन्य होनेके कारण ही यदि पुण्य पापका कर्तृत्व जीवका असाधारण धर्म माना जाय तो मुक्त जीवोंमें भी पुण्यपापका कर्तृत्व मानना होगा। अतः कर्तृत्व सर्वद्रव्यसाधारण धर्म है। एक प्रकृष्ट शक्तिवाले द्रव्यके द्वारा दूसरे द्रव्यकी सामर्थ्यको ग्रहण करना भोक्तृत्व कहलाता है। जैसे कि आत्मा आहारादिद्रव्यकी शक्तिको खींचनेके कारण भोक्ता कहा जाता है। ऐसा भोक्तृत्व सर्वसाधारण ही है। विष द्रव्य अपनी तीव्र शक्तिसे कोदों आदिकी शक्तिको खींच लेता है अतः वह उसका भोक्ता है। नमककी झील लकड़ी पत्थर आदिको नमक बना देती है अतः वह उनकी भोक्त्री है। पदार्थोंकी तत्तत् प्रतिनियत शक्तियोंके कारण द्रव्योंमें परस्पर भोक्तृभोग्यभाव होता है। वीर्यान्तरायके क्षयोपशम अङ्गोपाङ्ग नाम कर्मका उदय आदि कारणोंसे शुभ-अशुभ कर्मपुद्गलके फल भोगनेकी शक्ति आत्मामें आती है। आहारादिके भोगनेकी शक्ति भोगान्तरायके क्षयोपशमसे और उसको पचानेकी शक्ति वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होती है।

पर्यायवत्त्व भी सभी द्रव्योंमें पाया जाता है। आकाशको छोड़कर परमाणु आदि सभी द्रव्योंमें असर्वगतत्व धर्म पाया जाता है। जीवका स्वशरीर प्रमाण अवगाहनाको धारण करना कर्मोदयनिमित्तक होनेसे पारिणामिक नहीं है। सभी द्रव्य अपने अनादिकालीन स्वभाव सन्ततिसे बद्ध हैं, सभीके अपने अपने स्वभाव अनाद्यनन्त हैं। अनादिकालीन कर्म-

बन्धनबद्धता यद्यपि जीवमें ही पाई जाती है पर वह पारिणामिक नहीं है किन्तु कर्मोदय-निमित्तक है। प्रदेशवत्त्व भी सर्वद्रव्यसाधारण है, सब अपने अपने नियत प्रदेशोंको रखते हैं। अरूपत्व भी जीव धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्योंमें साधारण है। नित्यत्व भी द्रव्यदृष्टिसे सर्वद्रव्यसाधारण है। अग्नि आदि की भी ऊर्ध्वगति होती है अतः ऊर्ध्वगतित्व भी साधारण है। इसी तरह आत्मामें अन्य भी साधारण पारिणामिक भाव होते हैं।

§ १४–१८ **प्रश्न**–गति आदि औदयिक भावोंके संग्रहके लिए 'च' शब्द मानना चाहिये। **उत्तर**–गति आदि पारिणामिक नहीं हैं किन्तु कर्मोदयनिमित्तक हैं अतः सूत्रमें पारिणामिक भाव तीन ही बताए हैं। क्षयोपशम भावकी तरह गति आदिको औदयिक और पारिणामिक रूपसे उभयरूप नहीं कह सकते; गति आदि भाव केवल औदयिक हैं पारिणामिक नहीं। यदि ये पारिणामिक होते तो जीवत्वकी तरह सिद्धोंमें भी पाए जाते। आगममें जिस प्रकार क्षय और उपशमका 'मिश्र' क्षायोपशमिक बताया है उस तरह औदयिक और पारिणामिकको मिलाकर एक अन्य 'मिश्र' नहीं बताया है। अतः अस्तित्व आदि के समुच्चयके ही लिए 'च' शब्द दिया गया है।

§ १९–२० **प्रश्न**–अस्तित्व आदिके समुच्चयके लिए सूत्रमें 'आदि' शब्द देना चाहिये ? **उत्तर**–आदि शब्द देनेसे पारिणामिक भाव 'तीन' ही नहीं रहेंगे। च शब्दसे गौणरूप से द्योतित होनेवाले अस्तित्व आदि भावोंकी संख्यासे पारिणामिक भावोंकी मुख्य तीन संख्या का व्याघात नहीं होता; क्योंकि प्रधान और असाधारण पारिणामिक तीन ही विवक्षित हैं। और यदि 'आदि' शब्द दिया जाता तो आदि शब्दसे सूचित होनेवाले अस्तित्व आदिका ही प्राधान्य हो जाता, जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व तो उपलक्षक हो जानेसे गौण ही हो जाते। यदि तद्गुणसंविज्ञान पक्ष भी लिया जाय तो भी दोनोंकी ही समानरूपसे प्रधानता हो जायगी।

§ २१–२२ सान्निपातिक नामका कोई छठवाँ भाव नहीं है। यदि है भी तो वह 'मिश्र' शब्दसे गृहीत हो जाता है। 'मिश्र' शब्द केवल क्षयोपशमके लिए ही नहीं है किन्तु उसके पास ग्रहण किया गया 'च' शब्द सूचित करता है कि मिश्र शब्दसे क्षायोपशमिक और सान्निपातिक दोनोंका ग्रहण करना चाहिए। सान्निपातिक नामका एक स्वतन्त्र भाव नहीं है। संयोग भंगकी अपेक्षा आगममें उसका निरूपण किया गया है।

सान्निपातिक भाव २६, ३६ और ४१ आदि प्रकारके बताए हैं।

द्विसंयोगी १०, त्रिसंयोगी १०, चतुःसंयोगी ५ और पंचसंयोगी १ इस तरह २६ भाव होते हैं। **द्विसंयोगी**–१ औदयिक-औपशमिक– मनुष्य और उपशान्त क्रोध। २ औदयिक-क्षायिक– मनुष्य और क्षीणकषायी। ३ औदयिक-क्षायोपशमिक– मनुष्य और पंचेन्द्रिय। ४ औदयिक-पारिणामिक– लोभी और जीव। ५ औपशमिक-क्षायिक– उपशान्त लोभ और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। ६ औपशमिक-क्षायोपशमिक– उपशान्तमान और मतिज्ञानी। ७ औपशमिक-पारिणामिक– उपशान्तमाया और भव्य। ८ क्षायिक-क्षायोपशमिक– क्षायिक सम्यग्दृष्टि और श्रुतज्ञानी। ९ क्षायिक-पारिणामिक– क्षीणकषाय और भव्य। १० क्षायोपशमिक-पारिणामिक– अवधिज्ञानी और जीव। इस तरह द्विसंयोगीके १० भेद होते हैं। **त्रिसंयोगी**–१ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक– मनुष्य उपशान्तमोह और क्षायिक-सम्यग्दृष्टि। २ औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक– मनुष्य उपशान्त क्रोध और वाग्योगी।

३ औदयिक-औपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य उपशान्तमोह और जीव। ४ औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक– मनुष्य क्षीणकषाय और श्रुतज्ञानी। ५ औदयिक-क्षायिक पारिणामिक– मनुष्य क्षायिकसम्यग्दृष्टि और जीव। ६ औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य मनोयोगी और जीव। ७ औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक– उपशान्तमान क्षायिकसम्यग्दृष्टि और काययोगी। ८ औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक– उपशान्तवेद क्षायिकसम्यग्दृष्टि और भव्य। ९ औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– उपशान्तमान मतिज्ञानी और जीव। १० क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– क्षीणमोह पंचेन्द्रिय और भव्य।

चतुःसंयोगी–१ औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– उपशान्तलोभ क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय और जीव। २ औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य क्षीणकषाय मतिज्ञानी और भव्य। ३ औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य उपशान्तवेद श्रुतज्ञानी और जीव। ४ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक–मनुष्य उपशान्तराग क्षायिकसम्यग्दृष्टि और जीव। ५ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक–मनुष्य उपशान्तमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि और अवधिज्ञानी।

पंचभावसंयोगी–१ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य उपशान्तमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय और जीव। इस तरह २६ प्रकारके सान्निपातिक भाव हैं।

३६ प्रकार— दो औदयिक भाव और औदयिकका औपशमिक आदिसे संयोग करने पर ५ भंग होते हैं–१ औदयिक-औदयिक– मनुष्य और क्रोधी। २ औदयिक-औपशमिक– मनुष्य और उपशान्तक्रोध। ३ औदयिक-क्षायिक–मनुष्य और क्षीणकषाय। ४ औदयिक-क्षायोपशमिक–क्रोधी और मतिज्ञानी। ५ औदयिक-पारिणामिक–मनुष्य और भव्य।

दो औपशमिक और औपशमिकका शेष चारके साथ संयोग करनेपर पांच भंग होते हैं–१ औपशमिक-औपशमिक– उपशमसम्यग्दृष्टि और उपशान्तकषाय। २ औपशमिक-औदयिक–उपशान्तकषाय और मनुष्य। ३ औपशमिक-क्षायिक–उपशान्तक्रोध और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। ४ औपशमिक-क्षायोपशमिक–उपशान्तकषाय और अवधिज्ञानी ५ औपशमिक पारिणामिक–उपशमसम्यग्दृष्टि और जीव।

दो क्षायिक और क्षायिकका औपशमिक आदिसे मेल करनेपर पांच भंग होते हैं— १ क्षायिक-क्षायिक– क्षायिकसम्यग्दृष्टि और क्षीणकषाय। २ क्षायिक-औदयिक–क्षीणकषाय और मनुष्य। ३ क्षायिक-औपशमिक–क्षायिकसम्यग्दृष्टि और उपशान्तवेद। ४ क्षायिक-क्षायोपशमिक–क्षीणकषाय और मतिज्ञानी। ५ क्षायिक पारिणामिक–क्षीणमोह और भव्य।

दो क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिकका शेषके साथ मेल करनेपर पांच भंग होते हैं। क्षायोपशमिक-क्षायोपशमिक– संयत और अवधिज्ञानी। २ क्षायोपशमिक-औदयिक– संयत और मनुष्य। ३ क्षायोपशमिक-औपशमिक– संयत और उपशान्तकषाय। ४ क्षायोपशमिक-क्षायिक–संयतासंयत और क्षायिकसम्यग्दृष्टि। ५ क्षायोपशमिक-पारिणामिक–अप्रमतसंयत और जीव।

दो पारिणामिक और पारिणामिकका शेषके साथ मेल करनेपर पांच भंग होते हैं–१ पारिणामिक-पारिणामिक–जीव और भव्य। २ पारिणामिक-औदयिक–जीव और

क्रोधी। ३ पारिणामिक-औपशमिक-भव्य और उपशान्तकषाय। ४ पारिणामिक-क्षायिक-भव्य और क्षीणकषाय। ५ पारिणामिक-क्षायोपशमिक-संयत और भव्य। इस तरह द्विभाव-संयोगी २५ त्रिभाव संयोगी १० और पंचभावसंयोगी १ मिलकर कुल ३६ भंग हो जाते हैं। इन्हीं छतीसमें चतुर्भावसंयोगी ५ भंग मिलानेपर ४१ प्रकारके भी सान्निपातिक भाव होते हैं।

§ २३ यद्यपि औपशमिक क्षायिक औदयिक आदि भाव पुद्गल कर्मोंके उदय उपशम निर्जरा आदिकी अपेक्षा रखते हैं, फिर भी वे आत्माके ही परिणाम हैं। आत्मा ही कर्मनिमित्तसे उन उन परिणामोंको प्राप्त करता है, और इसीलिए इन परिणामोंको आत्माका असाधारण स्वतत्त्व कहा है। कहा भी है–"जिस समय जो द्रव्य जिस रूपसे परिणत होता है उस समय वह तन्मय हो जाता है। इसलिए धर्मपरिणत आत्मा धर्म कहा जाता है।"

§ २४–२७ **प्रश्न**–चूंकि आत्मा अमूर्त है अतः उसका कर्मपुद्गलोंसे अभिभव नहीं होना चाहिए? **उत्तर**–अनादि कर्मबन्धनके कारण उसमें विशेष शक्ति आ जाती है। अनादि पारिणामिक चैतन्यवान् आत्माकी नारकादि मतिज्ञानादि रूप पर्यायें भी चेतन ही हैं। वह अनादि कार्मण शरीरके कारण मूर्तिमान् हो रहा है और इसीलिए उस पर्याय सम्बन्धी शक्तिके कारण मूर्तिक कर्मोंको ग्रहण करता है। आत्मा कर्मबद्ध होनेसे कथञ्चित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभावको न छोड़नेके कारण अमूर्तिक है। जिस प्रकार मदिराको पीकर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है, उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है उसी तरह कर्मोदयसे आत्माके स्वाभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते हैं। मदिराके द्वारा इन्द्रियों में विभ्रम या मूर्च्छा आदि मानना ठीक नहीं है; क्योंकि जब इन्द्रियाँ अचेतन हैं तो अचेतनमें बेहोशी आ नहीं सकती अन्यथा जिस पात्रमें मदिरा रखी है उसे ही मूर्छित हो जाना चाहिए। यदि इन्द्रियोंमें चैतन्य है तो यह सिद्ध हो जाता है कि बेहोशी चेतनमें होती है न कि अचेतन में।

पूर्वपक्ष–(चार्वाक)–जिस प्रकार महुआ गुड़ आदिके सड़ाने पर उनमें मादकता प्रकट हो जाती है उसी तरह पृथिवी जल आदि भूतोंका विशेष रासायनिक मिश्रण होनेपर सुखदुःखादिरूप चैतन्य प्रकट हो जाता है, कोई स्वतन्त्र अमूर्त चैतन्य नहीं है।

उत्तरपक्ष (जैन)–सुखादिकसे रूपादिकमें विलक्षणता है। रूपरसादि पृथिवी आदि के गुण जब पृथिवी आदिको विभक्त कर देते हैं तब कम हो जाते हैं और जब पृथिवी आदि अविभक्त रहते हैं तब अधिक देखे जाते हैं। ऐसे ही शरीरके अवयवोंके विभक्त या अविभक्त कहने पर सुख ज्ञानादि गुणोंमें न्यूनाधिकता नहीं देखी जाती। यदि सुखादि पृथिवी आदिके गुण हों तो मृत शरीरमें वे गुण रूपादि गुणोंकी तरह अवश्य मिलने चाहिए। यह तर्क तो उचित नहीं है कि–'मृत शरीरसे कुछ सूक्ष्म भूत निकल गए हैं, अतः ज्ञानादि नहीं मिलते'; क्योंकि बहुतसे स्थूल भूत जब मिलते हैं तो ज्ञानादि गुणोंका अभाव नहीं होना चाहिए। यदि सूक्ष्म भूतोंके निकल जानेसे वे गुण मृत शरीरमें नहीं रहे तो वे गुण उन सूक्ष्म भूतोंके ही माने जाने चाहिए न कि समुदाय प्राप्त सभी भूतोंके। ऐसी दशामें मदिराका दृष्टान्त समुचित नहीं होगा क्योंकि मदिरामें तो कण-कणमें मादकता

व्याप्त रहती है। फिर उन सूक्ष्म भूतोंकी सिद्धि कैसे की जायगी ? यदि ज्ञानादिके द्वारा, तो ज्ञानादिसे आत्मा की ही सिद्धि मान लेनी चाहिए।

जिन इन्द्रियोंमें शराबके द्वारा बेहोशी मानते हैं वे इन्द्रियां यदि बाह्य करण हैं तो अचेतन होनेके कारण उनपर मदिराका कोई असर नहीं होना चाहिए। यदि अन्तःकरण होकर वे अचेतन हैं तो इनमें भी बेहोशी नहीं आ सकती। यदि चेतन हैं; तो यह मानना होगा कि ज्ञानरूप होनेसे ही इनपर मदिराका असर हुआ। ऐसी दशामें 'अमूर्त होनेसे अभिभव नहीं हो सकता' यह पक्ष स्वतः खंडित हो जाता है।

यद्यपि आत्मा अनादिसे कर्मबद्ध है फिर भी उसका अपने ज्ञानादि गुणोंके कारण स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। कहा भी है—

"बन्धकी दृष्टिसे आत्मा और कर्ममें एकत्व होनेपर भी लक्षणकी दृष्टिसे दोनोंमें भिन्नता है। अतः आत्मामें एकान्तसे अमूर्तिकपना नहीं है।"

जीवका लक्षण—

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

उपयोग जीवका लक्षण है।

§ १ दो प्रकारके बाह्य तथा दो प्रकारके आभ्यन्तर हेतुओंका यथासंभव सन्निधान होनेपर आत्माके चैतन्यान्वयी परिणमनको उपयोग कहते हैं। बाह्य हेतु आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकारके हैं। आत्मासे सम्बद्ध शरीरमें निर्मित चक्षु आदि इन्द्रियां आत्मभूत बाह्य हेतु हैं और प्रदीप आदि अनात्मभूत बाह्य हेतु। मन वचन कायकी वर्गणाओंके निमित्तसे होनेवाला आत्मप्रदेश परिस्पन्दन रूप द्रव्ययोग अन्तःप्रविष्ट होनेसे आभ्यन्तर अनात्मभूत हेतु है तथा द्रव्ययोगनिमित्तक ज्ञानादिरूप भावयोग तथा आत्माकी विशुद्धि आभ्यन्तर आत्मभूत हेतु है। इन हेतुओंका यथासंभव ही सन्निधान होता है। मनुष्योंको दीपककी आवश्यकता होती है, पर रात्रिचर बिल्ली आदिको नहीं। इन्द्रियां भी एकेन्द्रियादिके यथायोग्य ही रहती हैं। असंज्ञी जीवोंके मन नहीं होता है। एकेन्द्रिय, विग्रहगतिप्राप्त जीव और समुद्घातगत सयोगकेवलीके एक काययोग ही होता है। क्षीणकषाय तक क्षयोपशमानुसार तन्निमित्तक एक ही भावयोग होता है। आगे ज्ञानावरणादिका क्षय होता है। इस तरह विभिन्न जीवोंके उपयोगके कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। चैतन्य केवल सुख दुःख मोह रूप ही नहीं है जिससे ज्ञानदर्शनको चैतन्य कहनेसे पूर्वापर विरोध हो। चैतन्य आत्माका सामान्य असाधारण धर्म है। वह सुख दुःखादि रूप भी होता है और ज्ञान दर्शनादि रूप भी। 'समुदायवाची शब्दोंका प्रयोग अवयवोंमें भी हो जाता है' इस न्यायके अनुसार सुखदुःखादिको चैतन्य कह दिया गया है।

§ २–३ परस्पर सम्मिलित वस्तुओंसे जिसके द्वारा किसी वस्तुका पृथक्करण हो वह उसका लक्षण होता है। जैसे सोना और चांदीकी मिली हुई डलीमें पीला रंग और वजन सोनेका भेदक होता है उसी तरह शरीर और आत्मामें बंधकी दृष्टिसे परस्पर एकत्व होनेपर भी ज्ञानादि उपयोग उसके भेदक आत्मभूत लक्षण होते हैं। लक्षण आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकार का है। अग्निकी उष्णता आत्मभूत लक्षण है और दण्डी पुरुषका भेदक दंड अनात्मभूत है।

§ ४ गुणी आत्मा और ज्ञानादि गुणमें सर्वथा भेद मानना उचित नहीं है। क्योंकि यदि आत्मा ज्ञानादि स्वभाव न हो तो उसका निश्चायक कोई स्वभाव न होनेसे अभाव हो जायगा और इसी तरह ज्ञानादिका भी निराश्रय होनेसे सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा।

§ ५–६ **प्रश्न**—गुणी लक्ष्य है और गुण लक्षण है। लक्ष्य और लक्षण तो जुदे जुदे होते हैं। अतः आत्मा और ज्ञानमें भेद मानना चाहिए ? **उत्तर**—यदि लक्ष्य और लक्षणमें सर्वथा भेद माना जाय तो अनवस्था हो जायगी क्योंकि लक्षणका परिचायक अन्य लक्षण मानना होगा उसका भी परिचायक अन्य। यदि लक्षणका परिचायक अन्य लक्षण नहीं माना जाता है तो लक्षणशून्य होनेसे उसका मण्डूक शिखण्डकी तरह अभाव हो जायगा। लक्ष्य और लक्षणमें कथञ्चित् भेद माननेसे लक्षणके पृथक् लक्षणकी आवश्यकता नहीं रहती उसका साधारणलक्षण 'तल्लक्ष्यमें रहनेवाला' यह बन जाता है। लक्ष्य और लक्षण पृथक् उपलब्ध न होनेसे अभिन्न होकर भी संज्ञा संख्या गुण-गुणी आदिके भेदसे भिन्न भी होते हैं।

§ ७–१२ **प्रश्न**—जैसे दूधका दूध रूपसे ही परिणमन नहीं होता किन्तु दही रूपसे, उसी तरह ज्ञानात्मक आत्माका ज्ञानरूपसे परिणमन नहीं हो सकेगा। अतः जीवके ज्ञानादि उपयोग नहीं होना चाहिए। यदि आप यह कहें कि आत्माका ज्ञानरूपसे तो उपयोग होगा दूधका दूध रूपसे नहीं तो हम भी यह कह सकते हैं कि दूधका दूध रूपसे उपयोग हो, पर आत्माका ज्ञान रूपसे न हो। यह पक्ष आपके लिए अनिष्ट है। **उत्तर**—चूँकि आत्मा और ज्ञानमें अभेद है इसीलिए उसका ज्ञानरूपसे उपयोग होता है। आकाशका सर्वथा भिन्न रूपादिक रूपसे उपयोग नहीं देखा जाता। जिस प्रकार गायके उदरमें दूध बननेके योग्य तृणजलादि द्रव्योंका दूध रूपसे परिणमन होता है। वे तृणादि द्रव्यदृष्टिसे दूध पर्यायके सम्मुख होनेसे दूध कहे जाते हैं और आगे वे ही दूध पर्यायको धारण करते हैं उसी तरह ज्ञानपर्यायके अभिमुख जीव भी ज्ञानव्यपदेशको प्राप्त करके स्वय घटपटादि-विषयक अवग्रहादि ज्ञान पर्यायको धारण करता है अतः द्रव्यदृष्टिसे उसका ही उसी रूपसे परिणमन सिद्ध होता है। जो जिस रूप नहीं उसका उस रूपसे परिणमन माननेमें अतिप्रसङ्ग दोष आता है। देखिए आपके वचन स्वपक्ष साधन और परपक्षदूषणरूप हैं। उनका स्वपक्ष साधन और परपक्षदूषणरूपसे ही परिणमन होता है। जैसे आप दूधका दही रूप अन्यथापरिणमन ही मानते हो दूधरूप नहीं उसी तरह अपने वचनोंका भी स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषणरूपसे परिणमन नहीं होकर अन्यथा ही परिणमन मानना होगा। आप स्वयं रूपाद्यात्मक पृथिवी आदि महाभूतोंका रूपादिक रूपसे ही परिणमन मानते ही हैं। यदि अन्यथा परिणमन मानोगे तो स्वसिद्धान्तविरोध होगा। जिसके मतमें सदा आत्मा ज्ञानात्मक ही रहता है उसके मतमें आत्माका ज्ञानरूपसे परिणमन तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि उस रूपसे वह स्वयं परिणत है ही। जैन मतमें आत्मा कभी ज्ञानरूपसे, कभी दर्शनरूपसे और कभी सुखादिरूपसे परिणमन करता रहता है। अतः कभी ज्ञानात्मकका ज्ञानात्मक भी परिणमन होता है तथा कभी दर्शनात्मक आदि रूप भी। यदि सर्वथा किसी एक रूपसे आत्माका परिणमन माना जाय तो फिर उस पर्यायका कभी विराम नहीं हो सकेगा। यदि हुआ तो आत्माका ही अभाव हो जायगा। तदात्मकका ही तद्रूप परिणमन देखा जाता है। देखो, गायके स्तनोंसे निकला हुआ

दूध गरम ठंडा मीठा गाढ़ा आदि अनेक पर्यायोंको धारण करके भी दूध तो रहता ही है। इन अवस्थाओंमें दूधका दूध रूपसे ही परिणमन होता है। इसी तरह आत्माका भी उपयोग रूपसे ही परिणमन होता रहता है। यदि तत्का तदात्मक परिणमन न माना जाय तो वस्तु परिणामशून्य ही हो जायगी; क्योंकि अन्यथा परिणमन मानने पर सर्वपदार्थसांकर्य दूषण होता है, जो कि अनिष्ट है। अतः परिणामशून्यता और अन्यथापरिणमनके दूषणोंसे बचनेके लिए वस्तुमें तत्का तदात्मक ही परिणमन स्वीकार करना होगा।

§ १३–१५ **प्रश्न**–चूँकि आत्माके कोई उत्पादक कारण आदि नहीं हैं अतः मण्डूक शिखण्डकी तरह उसका अभाव ही है। अतः लक्ष्यभूत आत्माके अभावमें उपयोग आत्माका लक्षण नहीं हो सकता। आत्माका सद्भाव सिद्ध हो भी तो भी उपयोग चूँकि अस्थिर है अतः वह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता। अस्थिर पदार्थको लक्षण बनानेपर वही दशा होगी जैसे किसीने देवदत्तके घरकी पहिचान बताई कि 'जिसपर कौआ बैठा है वह देवदत्तका घर है' सो जब कौआ उड़ जाता है तो देवदत्तके घरकी पहिचान समाप्त हो जाती है और लक्षणके अभावमें लक्ष्यके अवधारणका कोई उपाय ही नहीं बच पाता।

§ १६–१८ **उत्तर**–'अकारणत्वात्' हेतुसे आत्माका लोप करना उचित नहीं है; क्योंकि आत्मा नर नारकादि पर्यायोंसे पृथक् तो मिलता नहीं है और ये पर्यायें मिथ्यादर्शन आदि कारणोंसे होती है अतः अकारणत्व हेतु असिद्ध है। पर्यायोंको छोड़कर पृथक् आत्मद्रव्यकी सत्ता न होनेसे आश्रयासिद्ध भी है। जितने घटादि सत् हैं वे स्वभावसे ही सत् हैं न कि किसी कारणविशेषसे। जो सत् है वह तो अकारण ही होता है। मण्डूकशिखण्ड भी 'नास्ति' इस प्रत्ययका होनेसे 'सत्' तो है पर इसके उत्पादक कारण नहीं है अतः यह हेतु अनैकान्तिक भी है। मण्डूक शिखण्ड दृष्टान्त भी साध्यसाधन उभयधर्मोंसे विकल होनेके कारण दृष्टान्ताभास है। क्योंकि उसके भी किसी अपेक्षासे कारण बन जाते हैं और वह 'सत्' भी सिद्ध हो जाता है। यथा–कोई जीव मेंढक था और वही जीव जब युवतीकी पर्यायको धारण करता है तो भूतपूर्वनयकी अपेक्षा उस युवतीको भी हम मेंढक कह ही सकते हैं और उसके युवतिपर्यायापन्न मंडूकके शिखा होनेसे मंडूकशिखण्ड व्यवहार हो सकता है। पुद्गलद्रव्यकी पर्यायोंका कोई नियम नहीं है अतः युवतीके द्वारा उपभुक्त भोजन आदि पुद्गल द्रव्योंका शिखण्डक रूपसे परिणमन होनेके कारण सकारणता भी बन जाती है। इसी तरह आकाशकुसुम भी अपेक्षासे बन जाता है। वनस्पतिनामकर्मका जिस जीवके उदय है वह जीव और पुद्गलका समुदाय पुष्प कहा जाता है। जिस प्रकार वृक्षके द्वारा व्याप्त होनेसे वह पुष्प पुद्गल वृक्षका कहा जाता है उसी तरह आकाशके द्वारा व्याप्त होनेके कारण आकाशका क्यों न कहा जाय ? वृक्षके द्वारा उपकृत होनेके कारण यदि वह वृक्षका कहा जाता है तो आकाशकृत अवगाहनरूप उपकारकी अपेक्षा उसे आकाशका भी कहना चाहिए। वृक्षसे टूटकर फूल गिर भी जाय पर आकाशसे तो कभी भी दूर नहीं हो सकता, सदा आकाशमें ही रहता है। अथवा मण्डूकशिखण्डविषयक ज्ञानका विषय होनेसे भी मंडूक शिखंडका सद्भाव सिद्ध मानना चाहिए।

इसी तरह 'अप्रत्यक्ष' हेतुके द्वारा आत्माका अभाव करना भी उचित नहीं हैं, क्योंकि शुद्ध आत्मा केवलज्ञानके प्रत्यक्ष होता है तथा अशुद्ध कार्मणशरीरसंयुक्त आत्मा अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा। इन्द्रिय प्रत्यक्षकी दृष्टिसे तो आत्मा

परोक्ष ही माना जाता है। घटादि परोक्ष हैं क्योंकि वे अग्राहकनिमित्तसे ग्राह्य होते हैं जैसे कि धूमसे अनुमित अग्नि। इन्द्रियाँ अग्राहक हैं क्योंकि उनके नष्ट हो जानेपर भी स्मृति देखी जाती है। जैसे खिड़कीके नष्ट हो जानेपर भी उसके द्वारा देखनेवाला कायम रहता है उसी तरह इन्द्रियोंसे देखनेवाला ग्राहक आत्मा स्थिर है। अतः अग्राहकनिमित्तसे ग्राह्य होनेके कारण इन्द्रियग्राह्य पदार्थ परोक्ष ही है। अप्रत्यक्ष शब्दको यदि पर्युदासरूप लिया जाता है तो प्रत्यक्षसे भिन्न अप्रत्यक्ष वस्त्वन्तर सिद्ध होता है। यदि प्रसज्यपक्ष लेते हैं तो प्रतिषेध्यका क्वचित् सद्भावसिद्ध होनेपर ही प्रतिषेध किया जाता है अतः कथञ्चित् सत्ता सिद्ध होनेसे हेतु असिद्ध हो जाता है। असत् खरविषाण आदि अप्रत्यक्ष हैं तथा विद्यमान ज्ञान आदि भी अप्रत्यक्ष हैं अतः यह हेतु अनैकान्तिक है। यदि ज्ञानको स्वप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष होनेसे प्रत्यक्ष मानते हो तो आत्माको ही इस तरह प्रत्यक्ष माननेमें क्या बाधा है ?

जितने भी पदार्थ शब्दगोचर हैं वे सब विधिनिषेधात्मक हैं। कोई भी वस्तु सर्वथा निषेधगम्य नहीं होती। जैसे कुरवक पुष्प लाल और सफेद दोनों रंगोंका नहीं होता, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह वर्णशून्य है। इसी तरह परकी अपेक्षासे वस्तुमें नास्तित्व होने पर भी स्वदृष्टिसे उसका अस्तित्व प्रसिद्ध ही है। कहा भी है कथञ्चित् असत्की भी उपलब्धि और अस्तित्व है तथा कथञ्चित् सत्की भी अनुपलब्धि और नास्तित्व। यदि सर्वथा अस्ति और उपलब्धि मानी जाय तो घटकी पटादि रूपसे भी उपलब्धि होनेसे सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायँगे और यदि पररूपकी तरह स्वरूपसे भी असत्त्व माना जाय अर्थात् सर्वथा असत्त्व माना जाय तो पदार्थका ही अभाव हो जायगा, वह शब्दका विषय ही नहीं हो सकेगा। अतः नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वसे शून्य जो होगा वह अवस्तु ही होगा। इस तरह जब धर्मी ही अप्रसिद्ध हो जाता है तब अनुमान नहीं बन सकेगा।

§ १९–२० इन्द्रियों और तज्जनित ज्ञानोंमें नहीं पाया जानेवाला 'जो मैं देखनेवाला था वही चखनेवाला हूँ' यह एकत्व-विषयक फल, सभी इन्द्रिय द्वारोंसे जाननेवाले तथा सभी ज्ञानोंमें परस्पर एकसूत्रता क़ायम रखनेवाले गृहीता आत्माका सद्भाव सिद्ध करता है। 'आत्मा है' यह ज्ञान यदि संशय रूप है तो भी आत्माकी सत्ता सिद्ध होती है; क्योंकि अवस्तुका संशय नहीं होता। इसी तरह 'आत्मा है' इस ज्ञानको अनादिकालसे प्रत्येक व्यक्ति आत्माका अनुभव करता है अतः अनध्यवसाय भी नहीं कह सकते। यदि इसे विपरीत ज्ञान कहते हैं तब भी आत्माकी क्वचित् सत्ता सिद्ध हो ही जाती है क्योंकि अप्रसिद्ध पदार्थका विपर्यय ज्ञान नहीं होता। तात्पर्य यह कि 'आत्मा है' यह ज्ञान किसी भी रूपमें आत्माके अस्तित्वका ही साधक है। सम्यक् रूपमें तो आत्मसाधक है ही।

§ २१ बौद्धका यह पक्ष भी ठीक नहीं है कि अनेकज्ञानक्षणोंकी एक सन्तान है, इसीसे उक्त प्रत्यभिज्ञान आदि हो जाते हैं; क्योंकि उनके मतसे सन्तान संवृतिसत् अर्थात् काल्पनिक है वास्तविक नहीं। यदि इस अनेक क्षणवर्ती सन्तानको वस्तु मानते हैं तो आत्मा और सन्तानमें नाममात्रका ही अन्तर रहा–पदार्थका नहीं, क्योंकि अनेक ज्ञानादिपर्यायोंमें अनुस्यूत द्रव्यको ही आत्मा कहते हैं।

§ २२–२३ यह शका भी ठीक नहीं है कि उपयोग अस्थिर है अतः वह आत्माका

लक्षण नहीं हो सकता; क्योंकि एक उपयोग क्षणके नष्ट हो जानेपर भी दूसरा उसका स्थान ले लेता है, कभी भी उपयोगकी धारा टूटती नहीं है। पर्याय दृष्टिसे अमुक पदार्थ-विषयक उपयोगका नाश होनेपर भी द्रव्यदृष्टिसे उपयोग सामान्य बना ही रहता है। यदि उपयोगका सर्वथा विनाश माना जाय तो उत्तर कालमें स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि नहीं हो सकेंगे क्योंकि स्मरण स्वयं अनुभूत पदार्थका स्वयंको ही होता है अन्यके द्वारा अनुभूतका अन्यको नहीं। स्मरणके अभावमें समस्त लोकव्यवहारका लोप ही हो जायगा।

§ २४ उपयोगको पृथक् गुण मानकर उसके सम्बन्धको लक्षण कहना उचित नहीं है; क्योंकि यदि ज्ञानादि उपयोगको आत्मासे पृथक् माना जाता है तो उसका 'आत्मासे ही सम्बन्ध हो अन्यसे नहीं' यह नियम नहीं बन सकेगा। अतः उपयोगको आत्मभूत लक्षण मानना ही उचित है। दंड तो अनात्मभूत है। अतः वह पृथक् रहकर भी सम्बन्धसे लक्षण बन सकता है।

उपयोगके भेद—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

आठ प्रकारका ज्ञान और चार प्रकारका दर्शन, इस प्रकार उपयोग दो प्रकारका है।

§ १–२ साकार और अनाकार दो प्रकारका उपयोग है। ज्ञान साकार होता ह तथा दर्शन निराकार।

यद्यपि दर्शन पूर्वकालभावी है फिर भी विशेष ग्राहक होनेके कारण पूज्य होनेसे ज्ञानका ग्रहण पहिले किया है।

§ ३ ज्ञानकी संख्या आठ पहिले लिखी गई है अतः ज्ञानकी पूज्यता सिद्ध होती है। इसी तरह 'छोटी संख्याका पहिले ग्रहण करना चाहिए' इस व्याकरणके सामान्य नियमके रहते हुए भी 'पूज्यका प्रथम ग्रहण होता है' इस विशेष नियमके अनुसार ज्ञानकी आठ संख्याका प्रथम ग्रहण किया गया है। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभङ्गावधिज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ये उपयोग निरावरण केवलीमें युगपत् होते हैं तथा छद्मस्थोंके क्रमशः।

जीवोंके भेद—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

संसारी और मुक्तके भेदसे जीव दो प्रकार के हैं।

§ १–२ अपने किए कर्मोंसे स्वयं पर्यायान्तरको प्राप्त होना संसार ह। आत्मा स्वयं कर्मोंका कर्त्ता है और उनके फलोंका भोक्ता। सांख्यका यह मत कि—'प्रकृति कर्त्री है और पुरुष फल भोगता है' नितान्त असङ्गत है; क्योंकि अचेतन प्रकृतिमें घटादिकी तरह पुण्यपापकी कर्तृता नहीं आ सकती। यदि अन्यकृत कर्मोंका फल अन्यको भोगना पड़े तो मुक्ति नहीं हो सकती और कृतप्रणाश (किये गये कर्मोंका निष्फल होना) नामका दूषण होता है। संसार द्रव्य क्षेत्र काल भाव और भव इस प्रकार पांच प्रकारका है। जिनके

संसार है वे संसारी हैं। जिनके पुद्गलकर्मरूप द्रव्यबन्ध और तज्जनित क्रोधादिकषायरूप भावबन्ध दोनों नष्ट हो गये हैं वे मुक्त हैं।

§ ३–५ यदि सूत्रमें लघुताके विचारसे द्वन्द्व समास किया जाता तो अल्प अक्षर और पूज्य होनेसे मुक्त शब्दका पूर्वनिपात होने पर 'मुक्तसंसारिणः' यह प्रयोग प्राप्त होता। इसका सीधा अर्थ निकलता—'छोड़ दिया है संसार जिनने' ऐसे जीव। अर्थात् केवल मुक्त-जीवोंका ही बोध हो पाता। अतः संसारिणः मुक्ताश्च यह पृथक्-पृथक् वाक्य ही दिए गए हैं। सूत्रमें 'च' शब्द समुच्चयार्थक नहीं है किन्तु अन्वाचय अर्थमें है। संसारी जीवोंमें उपयोगकी मुख्यता और मुक्त जीवोंमें उपयोगकी गौणता बतानेके लिए 'च' शब्द दिया है। संसारी जीवोंमें उपयोग बदलता रहता है अतः जैसे एकाग्र चिन्तानिरोधरूप ध्यान छद्मस्थोंमें मुख्य है, केवलीमें तो उसका फल कर्मध्वंस देखकर उपचारसे ही वह माना जाता है उसी तरह संसारियोंमें पर्यायान्तर होनेसे उपयोग मुख्य है, मुक्त जीवोंमें सतत एक-सी धारा रहनेसे गौण है।

§ ६ संसारियोंके अनेक भेद हैं तथा मोक्ष संसारपूर्वक ही होता है और सभीके स्वसंवेद्य है अतः संसारीका ग्रहण प्रथम किया है। मुक्त तो अत्यन्त परोक्ष हैं, उनका अनुभव अभी तक अप्राप्त ही है।

संसारी जीवोंके भेद—

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

संज्ञी और असंज्ञी दो प्रकारके संसारी हैं।

§ १ मन दो प्रकारका है—एक द्रव्य मन और दूसरा भावमन। पुद्गलविपाकी नाम कर्मके उदयसे द्रव्यमन होता है और वीर्यान्तराय तथा नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे होनेवाली आत्मविशुद्धि भावमन है। मन सहित जीव समनस्क और मनरहित अमनस्क, इस प्रकार दो तरहके संसारी हैं।

§ २–७ **प्रश्न**—दो प्रकारके जीवोंका प्रकरण है अतः संसारी समनस्क और मुक्त अमनस्क इस प्रकार यथाक्रम सम्बन्ध कर लेना चाहिए। मुक्त जीवोंको मनरहित मानना इष्ट भी है। **उत्तर**—इस प्रकार सभी संसारी जीवोंमें समनस्कताका प्रसंग आता है। 'संसारिणो मुक्ताश्च' और 'समनस्काऽमनस्काः' ये दो पृथक् सूत्र बनानेसे ज्ञात होता है कि पूर्वसूत्रसे केवल संसारी पदका यहां सम्बन्ध होता है अन्यथा एक ही सूत्र बनाना चाहिए था। अथवा आगे आनेवाले 'संसारिणः त्रसस्थावराः' सूत्रसे 'संसारी' पदका यहां सम्बन्ध कर लेना चाहिए। आगेके पूरे सूत्रका यहां सम्बन्ध विवक्षित नहीं है अन्यथा सभी त्रसोंमें समनस्कताका अनिष्ट प्रसङ्ग प्राप्त होता। यदि 'त्रसस्थावराः'का भी सम्बन्ध इष्ट होता तो एक ही सूत्र बनाना चाहिए था। तात्पर्य यह कि तीनों पृथक् सूत्र बनानेसे यही फलित होता कि विवक्षानुसार पदोंका सम्बन्ध करना चाहिए। यदि एक सूत्र बनाना इष्ट होता तो एक संसारी पद निरर्थक हो जाता है और सूत्रका आकार 'संसारिमुक्ताः समनस्का-मनस्कास्त्रसस्थावराश्च' यह होता। ऐसी दशामें कई अनिष्ट प्रसङ्ग होते हैं।

§ ८ समनस्क ग्रहण प्रथम किया है क्योंकि वह पूज्य है। समनस्कके सभी इन्द्रियां होती हैं।

संसारीके भेद–

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

संसारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारके हैं।

§ १–२ जीव विपाकी त्रस नाम कर्मके उदयसे त्रस होते हैं। 'जो भयभीत होकर गति करें वे त्रस' यह व्युत्पत्त्यर्थ ठीक नहीं है; क्योंकि गर्भस्थ अण्डस्थ मूर्च्छित सुषुप्त आदिमें बाह्य भयके निमित्त मिलने पर भी हलन-चलन नहीं होता अतः इनमें अत्रसत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' यह केवल 'गच्छतीति गौः' की तरह व्युत्पत्ति मात्र है।

३–५ जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर होते हैं। 'जो ठहरें वे स्थावर' यह व्युत्पत्ति करनेपर वायु अग्नि जल आदि गतिशील जीव स्थावर नहीं कहे जा सकेंगे। आगममें भी द्वीन्द्रियसे लेकर अयोगकेवली तक जीवोंको त्रस कहा है। अतः वायु आदिको स्थावर कोटिसे निकालकर त्रसकोटिमें लाना उचित नहीं है। इसलिए चलन और अचलनकी अपेक्षा त्रस और स्थावर व्यवहार नहीं किया जा सकता।

§ ६ त्रस शब्द चूँकि अल्प अक्षरवाला है और पूज्य है इसलिए पहिले लिया गया है। त्रसोंके सभी उपयोग हो सकते हैं अतः वह पूज्य है।

स्थावरोंके भेद–

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर हैं।

§ १ पृथिवी काय आदि स्थावर नामकर्मके उदयसे जीवोंकी पृथिवी आदि संज्ञाएं होती हैं। पृथन क्रिया आदि तो व्युत्पत्तिके लिए साधारण निमित्त हैं, वस्तुतः रूढिवश ही पृथिवी आदि संज्ञाएं की जाती हैं। आर्ष ग्रन्थोंमें पृथिवी आदिके चार भेद किए हैं–पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवी जीव। पृथिवी स्वाभाविक पुद्गल परिणमनरूप, कठिनता आदि गुणोंवाली और अचेतन है। अचेतन होनेसे यद्यपि इसमें पृथिवी कायिक नाम कर्मका उदय नहीं है फिर भी यह प्रथन क्रियासे उपलक्षित होनेके कारण पृथिवी कही जाती है। अथवा, पृथिवी सामान्य रूप है। आगेके तीनों भेदोंमें यह अनुगत है। पृथिवी कायिक जीवके द्वारा छोड़ा गया पृथिवी शरीर अर्थात् मुर्दा शरीर की तरह अचेतन पृथिवी पृथिवीकाय है। पृथिवीकाय नामकर्मका उदय जिस जीवको है और जो जीव पृथिवीको शरीर रूपसे स्वीकार किए हुए है वह पृथिवी कायिक है। जिसके पृथिवीकाय नामकर्मका उदय तो हो गया है पर अभी तक जिसने पृथिवी-शरीरको धारण नहीं किया वह विग्रहगति-प्राप्त जीव पृथिवीजीव है। इसी तरह जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिके चार चार भेद समझना चाहिए।

§ २–६ घट आदि पृथिवीके द्वारा जलका, सिगड़ी आदि पृथिवीके द्वारा अग्निका चमड़ेके कुप्पे आदिसे वायुका सुखपूर्वक ग्रहण किया जाता है, पर्वत मकान आदि रूपसे पृथिवी स्थूल रूपमें सर्वत्र मिलती है, भोजन, बस्त्र, मकान आदि रूपसे बहुतर उपकार पृथिवीके ही हैं, इतना ही नहीं, जल अग्नि वायु आदिके कार्य आधारभूत पृथिवीके बिना हो ही नहीं सकते अतः सर्वाधारभूत पृथिवीका सूत्रमें सर्वप्रथम ग्रहण किया है। जलका आधार पृथिवी है वह आधेय है तथा पृथिवी और अग्निका विरोध है, अग्नि पृथिवीको

जलाकर खाक बना देती है और उसका शमन जलके द्वारा ही होता है अतः पृथिवी और अग्निके बीचमें जलका ग्रहण किया है। पृथिवी और जलका परिपाक अग्निके द्वारा होता है अतः इन दोनोंके बाद अग्निका ग्रहण किया है। अग्निका सन्दीपन वायुके द्वारा होता है, अतः अग्निके बाद तत्सखा वायुका ग्रहण किया है। वनस्पतिकी उत्पत्तिमें पृथिवी आदि चारों निमित्त होते हैं अतः वनस्पतिका ग्रहण सबके अन्तमें किया है। वनस्पति कायिक जीवोंकी संख्या पृथिवी आदिसे अनन्तगुणी है, इसलिए संख्याकी दृष्टिसे भी उसका नम्बर अन्तमें ही आता है। इनके स्पर्शनेन्द्रिय कायबल आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं।

त्रसोंके भेद–

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियवाले जीव त्रस हैं।

§ १ आदि शब्दके अनेक अर्थ हैं, पर यहाँ आदि शब्द व्यवस्थावाची है।

§ २–४ **प्रश्न**–'दो इन्द्रियाँ हैं जिसकी' इस प्रकार बहुव्रीहि समासमें अन्य पदार्थ प्रधान होनेसे द्वीन्द्रियसे आगेके जीव त्रस कहे जायँगे जैसे कि 'पर्वतसे लेकर खेत है' यहाँ पर्वतकी गिनती खेतमें नहीं होती। **उत्तर**–जैसे 'सफेद वस्त्रवालेको लाओ' इस तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिमें सफेद कपड़ा नहीं छूटता है उसी तरह 'द्वीन्द्रियादयः' में भी द्वीन्द्रिय शामिल हो जाती है।

अथवा, अवयवसे विग्रह करनेपर भी समासका अर्थ समुदाय होता है, जैसे 'सर्वादिः' में सर्वका भी ग्रहण होता है उसी तरह द्वीन्द्रियका भी त्रसमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये।

द्वीन्द्रियके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां, वचनबल और कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं। त्रीन्द्रियके घ्राणेन्द्रियके साथ सात, चतुरिन्द्रियके चक्षुके साथ आठ, पंचेन्द्रिय असंज्ञी तिर्यंचके श्रोत्रके साथ नव और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च मनुष्य देव और नारकियोंके मनोबलके साथ दस प्राण होते हैं।

इन्द्रियां–

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

इन्द्रियां पांच होती हैं।

अन्य मतवादी छह और ग्यारह भी इन्द्रियां मानते हैं उनका निराकरण करनेके लिए पांच शब्द दिया है।

§ १–२ कर्मपरतन्त्र होने पर भी अनन्त ज्ञानादि शक्तियोंका स्वामी आत्मा इन्द्र कहलाता है। अतः इन्द्रभूत आत्माके अर्थग्रहणमें लिंग अर्थात् कारणको इन्द्रिय कहते हैं। अथवा, कर्मके कारण ही यह आत्मा चारों गतियोंमें संसरण करता है अतः इस समर्थ कर्म को इन्द्र कहते हैं। इस कर्मके द्वारा सृष्ट–रची गई इन्द्रियां हैं। ये इन्द्रियां पांच हैं।

§ ३–४ मन भी यद्यपि कर्मकृत है और आत्माके अर्थग्रहणमें सहायक होता है फिर भी वह चक्षुरादि इन्द्रियोंकी तरह नियतस्थानीय नहीं है, अनवस्थित है अतः वह इन्द्रियोंमें शामिल नहीं किया गया है। चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान होनेके पहिले ही

मनका व्यापार होता है। जब आत्माको रूप देखनेका मन होता है तब ही वह मनके द्वारा उपयोगको रूपाभिमुख करता है, इसके बाद ही इन्द्रिय व्यापार होता है अतः मन अनिन्द्रिय है।

§ ५–६ सांख्य वाक् पाणि पाद गुदा और उपस्थ (पुरुष या स्त्रीका चिह्न) इनको वचन आदि क्रियाका साधन होनेसे कर्मेन्द्रिय मानते हैं। पर चूँकि यहां उपयोगका प्रकरण है अतः उपयोगके साधन ज्ञानेन्द्रियोंका ही ग्रहण किया है। क्रियाके साधन अंगोंको यदि इन्द्रियोंकी श्रेणीमें गिना जाय तो सिर आदि अनेक अवयवोंको भी इन्द्रिय मानना होगा अर्थात् इन्द्रियोंकी कोई संख्या ही निश्चित नहीं की जा सकेगी।

इन्द्रियोंके भेद–

द्विविधानि ॥१६॥

इन्द्रियां दो प्रकार की हैं–एक द्रव्येन्द्रिय और दूसरी भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रियाँ

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

निर्वृत्ति और उपकरणके भेदसे द्रव्येन्द्रियां दो प्रकार की हैं।

§ १–४ नाम कर्मसे जिसकी रचना हो उसे निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकार की है। उत्सेधांगुलके असंख्यातभागप्रमाण विशुद्ध आत्म-प्रदेशोंकी त्रक्षुरादिके आकाररूपसे रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है अर्थात् आत्मप्रदेशों-का चक्षु आदिके आकार रूप होना। नाम कर्मके उदयसे शरीर पुद्गलोंकी इन्द्रियोंके आकाररूपसे रचना होना बाह्यनिर्वृत्ति है।

§ ५–६ जो निर्वृत्तिका उपकार करे वह उपकरण है। आंखमें सफेद और काला मंडल आभ्यन्तर उपकरण है और पलक आदि बाह्य उपकरण है।

भावेन्द्रियां–

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

लब्धि और उपयोग भावेन्द्रियां हैं।

लाभको लब्धि कहते हैं। क्तित्वात् अङ्प्रत्यय होकर लब्ध इसलिए नहीं बना कि अनुबन्धकृत विधियां अनित्य होती हैं। महाभाष्यमें भी अनुपलब्धि प्रयोग है। अथवा, स्त्रीलिंग क्तिन् प्रत्यय करके लब्धि शब्द सिद्ध हो जाता है।

§ १ जिस ज्ञानावरणक्षयोपशमके रहनेपर आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनाके लिए व्यापार करता है उसे लब्धि कहते हैं।

§ २–४ लब्धिके अनुसार होनेवाला आत्माका ज्ञानादि व्यापार उपयोग है। यद्यपि उपयोग इन्द्रियका फल है फिर भी कारणके धर्मका कार्यमें उपचार करके उसे भी इन्द्रिय कहा है जैसे कि घटाकार परिणत ज्ञानको घट कह देते हैं। 'इन्द्रका लिंग, इन्द्रके द्वारा सृष्ट' इत्यादि शब्दव्युत्पत्ति तो मुख्य रूपसे उपयोगमें ही घटती है। अतः उपयोगको इन्द्रिय कहनेमें कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां हैं।

§ १ स्पर्शन आदि शब्द करणसाधन और कर्तृसाधन दोनोंमें निष्पन्न होते हैं। 'मैं इस आंखसे देखता हूं' इत्यादि रूपसे जब आत्मा स्वतन्त्र विवक्षित होता है तो इन्द्रियां परतन्त्र होनेसे करण बन जाती हैं। वीर्यान्तराय और उन उन इन्द्रियावरणोंके क्षयोपशम होनेपर 'स्पृशति अनेन आत्मा–छूता है जिससे आत्मा' इत्यादि करणसाधनता बन जाती है। जब 'मेरी आंख अच्छा देखती है' इत्यादि रूपसे इन्द्रियोंकी स्वतन्त्रता विवक्षित होती है तब 'स्पृशतीति स्पर्शनम्' जो छुए वह स्पर्शन इत्यादि रूपसे कर्तृसाधनता बन जाती है। इसमें आत्मा स्वयं स्पर्शन आदि रूपसे विवक्षित होता है।

§ २ कोई सूत्रमें 'इन्द्रियाणि' यह पाठ अधिक मानते हैं, पर चूँकि इन्द्रियोंका प्रकरण है अतः 'पंचेन्द्रियाणि' सूत्रसे 'इन्द्रियाणि'का अनुवर्तन हो जाता है इसलिए उक्त पाठ अधिक मानना व्यर्थ है।

§ ३–१० स्पर्शनेन्द्रिय सर्वशरीरव्यापी है, 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमें एक शब्दसे स्पर्शनेन्द्रियका ग्रहण करना है और सभी संसारी जीवोंके यह अवश्य पाई जाती है अतः सूत्रमें इसका ग्रहण सर्वप्रथम किया है। प्रदेशोंकी दृष्टिसे सबसे कम चक्षुके प्रदेश हैं, श्रोत्रेन्द्रियके संख्यातगुणें, घ्राणेन्द्रियके इससे कुछ अधिक और रसनाके असंख्यातगुणें। अतः क्रमशः रसना आदि इन्द्रियोंका ग्रहण किया है। यद्यपि इस क्रममें चक्षुको सबसे पीछे लेना चाहिये था, फिर भी चूँकि श्रोत्रेन्द्रिय बहूपकारी है–इसीसे उपदेश सुनकर हितप्राप्ति और अहितपरिहारमें प्रवृत्ति होती है अतः इसीको अन्तमें लिया है। रसनाको भी वक्तृत्वके कारण बहूपकारी कहनेका सीधा अर्थ तो यह है कि शंकाकार श्रोत्रकी बहूपकारिता तो स्वीकार करता ही है। रसनाके द्वारा वक्तृत्व तो तब होता है जब पहिले श्रोत्रसे शब्दोंको सुन लेता है। अतः अन्ततः श्रोत्र ही बहूपकारी है। यद्यपि सर्वज्ञमें श्रोत्रेन्द्रियसे सुननेके बाद वक्तृत्व नहीं देखा जाता क्योंकि वे समग्र ज्ञानावरणके क्षय हो जानेपर रसनेन्द्रियके सद्भाव मात्रसे उपदेश देते हैं, तथापि यहाँ इन्द्रियोंका प्रकरण होनेसे इन्द्रियजन्य वक्तृत्ववालोंकी ही चरचा है केवलियोंकी नहीं।

§ ११ आगे आनेवाले 'कृमिपिपीलिका' आदि सूत्रमें एक एक वृद्धिके साथ संगति बैठानेके लिए स्पर्शनादि इन्द्रियोंका क्रम रखा है।

§ १२ इन्द्रियोंका परस्पर तथा आत्मासे कथञ्चित् एकत्व और नानात्व है। ज्ञानावरणके क्षयोपशम रूप शक्तिकी अपेक्षा सभी इन्द्रियां एक हैं। समुदायसे अवयव भिन्न नहीं होते हैं अतः समुदायकी दृष्टिसे एक हैं। सभी इन्द्रियोंके अपने अपने क्षयोपशम जुदे जुदे हैं और अवयव भी भिन्न हैं अतः परस्पर भिन्नता है। साधारण इन्द्रिय बुद्धि और शब्द प्रयोगकी दृष्टिसे एकत्व है और विशेषकी दृष्टिसे भिन्नता है। आत्मा ही चैत-न्यांशका परित्याग नहीं करके तपे हुए लोहेके गोलेकी तरह इन्द्रिय रूपसें परिणमन करता है, उसको छोड़कर इन्द्रियां पृथक् उपलब्ध नहीं होतीं अतः आत्मा और इन्द्रियोंमें एकत्व है अन्यथा आत्मा इन्द्रियशून्य हो जायगा। किसी एक इन्द्रियके नष्ट हो जाने पर भी आत्मा

नष्ट नहीं होता, आत्मा पर्यायी है और इन्द्रियां पर्याय, तथा संज्ञा संख्या प्रयोजन आदिके भेदसे आत्मा और इन्द्रियोंमें भेद है।

इन्द्रियोंके विषय---

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन्द्रियोंके विषय हैं।

§ १ स्पर्श आदि शब्द द्रव्यविवक्षामें कर्मसाधन और पर्यायविवक्षामें भावसाधन होते हैं। द्रव्यविवक्षामें इन्द्रियोंसे द्रव्य गृहीत होता है उससे भिन्न स्पर्शादि तो पाये ही नहीं जाते, अतः 'स्पृश्यते इति स्पर्शः—जो छुआ जाय वह स्पर्श' ऐसी कर्मसाधन व्युत्पत्ति द्रव्यपरक हो जाती है। पर्यायविवक्षामें उदासीन भावका भी कथन होता है अतः 'स्पर्शनं स्पर्शः' आदि भावसाधनमें व्युत्पत्ति बन जाती है। यद्यपि परमाणुओंके स्पर्शादि इन्द्रियग्राह्य नहीं है फिर भी उनके कार्यभूत स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शादिका परिज्ञान होता है अतः उनमें भी स्पर्शादिकी सत्ता निर्विवाद है।

§ २–३ **प्रश्न**–'तदर्थाः' में 'तत्' शब्द इन्द्रियसापेक्ष होनेसे असमर्थ हो जाता है अतः उसका अर्थ शब्दसे समास नहीं हो सकता। **उत्तर**–जैसे 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' यहाँ गुरुशब्द सदा शिष्यापेक्ष होकर भी समासको प्राप्त हो जाता है उसी तरह यहाँ भी सामान्यवाची 'तत्' शब्द विशेष इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखनेके कारण समासको प्राप्त हो जाता है।

§ ४ इन्द्रियक्रमके अनुसार ही स्पर्श आदिका क्रम रखा गया है। ये सब सामान्य रूपसे पुद्गल द्रव्यके गुण हैं। **वैशेषिक** मतवादी पृथिवीमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, जलमें रूप रस और स्पर्श, तेजमें रूप और स्पर्श तथा वायुमें केवल स्पर्श मानते हैं। इस प्रकारका गुणविभाजन अयुक्त है; क्योंकि सभीमें सभी गुण पाए जाते हैं। वायुमें भी रूप है क्योंकि उसमें स्पर्श है जैसे कि घटमें। अग्निमें भी रस और गन्ध है; क्योंकि उसमें रूप है जैसे कि गुड़में। जलमें भी गन्ध है क्योंकि उसमें रस है जैसे कि पके आममें। जल आदिमें गन्ध आदि गुणोंकी साक्षात् उपलब्धि भी होती है। यह कल्पना तो अत्यन्त असंगत है कि जलादिकमें गन्ध पार्थिव परमाणुओंके संयोगसे आई है स्वतः नहीं है, क्योंकि हम तो यही कहेंगे कि गन्धादि जलादिके ही गुण हैं क्योंकि वहीं पाए जाते हैं। यदि जलमें गन्धको संयोगज मानते हैं तो रसको भी संयोगज ही कहना चाहिये, उसे स्वाभाविक क्यों कहते हैं ? फिर, पृथिवी आदिमें जातिभेद भी नहीं है। एक ही पुद्गल द्रव्य पृथिवी आदि नाना रूपोंमें पाया जाता है। पृथिवी ही निमित्त पाकर पिघल जाती है और जल बनती है। द्रवीभूत जल भी जमकर बरफ बन जाता है। अग्नि काजल बन जाती है आदि। इसी तरह वायु आदिमें भी रूप आदि समझ लेना चाहिए। हाँ कोई गुण कहीं विशेष प्रकट होता है कहीं नहीं।

§ ५ स्पर्शादि परस्पर तथा द्रव्यसे कथञ्चिद् भिन्न और कथञ्चिद अभिन्न हैं। यदि स्पर्शादिमें सर्वथा एकत्व हो तो स्पर्शके छूनेपर रस आदिका ज्ञान हो जाना चाहिए। यदि द्रव्यसे सर्वथा एकत्व हो तो या तो द्रव्यकी सत्ता रहेगी या फिर स्पर्शादि की। यदि द्रव्यकी सत्ता रहती है तो लक्षणके अभावमें उसका भी अभाव हो जायगा और यदि गुणों की; तो निराश्रय होनेसे उनका अभाव ही हो जायगा। यदि सर्वथा भेद माना जाता

है तो घटके दिखनेपर घटकी तरह स्पर्शके छूनेपर 'घड़ेको छुआ' यह व्यवहार नहीं होना चाहिए। इन्द्रियभेदसे स्पर्शादिमें सर्वथा भेद मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वापरत्व आदि रूपी द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे रहनेके कारण चाक्षुष होनेपर भी परस्पर भिन्न हैं। लक्षण भेदसे भी नानात्व नहीं होता; क्योंकि द्रव्य गुण कर्ममें सत्तासम्बन्धित्व रूप एक लक्षणके पाए जानेपर भी भेद देखा जाता है। स्पर्शादि भिन्न उपलब्ध नहीं होते अतः सर्वथा एकत्व मानना उचित नहीं है; क्योंकि सांख्यके मतमें सत्त्व रज और तम पृथक् उपलब्ध नहीं होते फिर भी भेद माना जाता है। इनमें व्यक्त और अव्यक्त आदिके रूपसे अनेकधा भेद पाया जाता है। अतः द्रव्य दृष्टिसे कथञ्चित् एकत्व और पर्यायदृष्टिसे कथञ्चित् भेद मानना ही उचित है।

मनका वर्णन–

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

श्रुतज्ञानका विषयभूत पदार्थ मनका विषय है।

श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर आत्माकी श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थमें मनके निमित्तसे प्रवृत्ति होती है। अथवा, श्रुतज्ञान मनसे उत्पन्न होता है। यह पदार्थ इन्द्रियव्यापारसे परे है।

§ १ श्रोत्रेन्द्रियजन्य ज्ञानको या श्रोत्रेन्द्रियके विषयको श्रुत नहीं कह सकते; क्योंकि वह इन्द्रियजन्य होनेसे मतिज्ञान ही है। मतिज्ञानके बाद जो विचार केवल मनजन्य होता है वह श्रुत है।

इन्द्रियोंके स्वामी–

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

पृथिव्यादि वनस्पति पर्यन्त स्थावरोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

§ १–३ अन्त शब्द पर्यन्तवाची है। यदि अन्त शब्दका अर्थ समीपता लिया जायगा तो वनस्पतिके समीप अर्थात् वायु और त्रसोंका बोध होगा। अन्त शब्द सम्बन्धिशब्द है अतः वनस्पति-पर्यन्त कहनेसे 'पृथिवीको आदि लेकर' यह ज्ञान हो ही जाता है।

§ ४ एक शब्द प्रथमताका वाचक है, अतः जिस किसी इन्द्रियका ज्ञान न कराके प्रथम स्पर्शनेन्द्रियका बोधक है। वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरणका क्षयोपशम, शरीर अङ्गोपाङ्ग नाम और एकेन्द्रिय जातिका उदय होनेपर एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

कृमि पिपीलिका भ्रमर और मनुष्यादिके क्रमशः एक एक इन्द्रियां बढ़ती गई हैं।

§ १–५ 'एकैकम्' यह वीप्सार्थक है। सभी इन्द्रियोंकी अपेक्षा 'वृद्धानि' में बहुवचन दिया है। 'स्पर्शन' का अनुवर्तन करके क्रमशः एक एक इन्द्रियकी वृद्धि विवक्षित है। स्पर्शन और रसना कृमि आदिके, घ्राण अधिक पिपीलिका आदिके, चक्षु अधिक भ्रमर आदिके और श्रोत्र अधिक मनुष्यके आदिके होती हैं। आदि शब्द प्रकार और व्यवस्थाके अर्थ में है।

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

मनसहित जीव संज्ञी होते हैं।

§ १–५ **प्रश्न**–यह हित है और यह अहित इस प्रकारके गुण-दोष-विचारको संज्ञा कहते हैं। मनका भी यही कार्य है अतः समनस्क विशेषण व्यर्थ है। **उत्तर**–संज्ञा शब्दके अनेक अर्थ हैं, जो समनस्क जीवोंके सिवाय अन्यत्र भी पाये जाते हैं। यदि संज्ञाका अर्थ 'नाम' लिया जाता है तो वह संसारके सभी प्राणियोंमें पाया जाता है ऐसी दशामें किसीकी व्यावृत्ति नहीं की जा सकेगी। यदि संज्ञाका अर्थ 'ज्ञान' लेते हैं तब भी वही बात है, सभी प्राणी ज्ञानात्मक होते हैं। यदि संज्ञाका अर्थ 'आहार भय मैथुन और परिग्रह संज्ञा' लिया जाता है; तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि सभी प्राणियोंके यथायोग्य ये संज्ञाएँ पाई जाती हैं। अतः मनरहित प्राणियोंकी व्यावृत्तिके लिए समनस्क विशेषणकी सार्थकता है। इस तरह गर्भस्थ अण्डस्थ मूर्च्छित सुषुप्त आदि अवस्थाओंमें हिताहित विचार न होने पर भी मनकी सत्ता होनेसे संज्ञित्व बन जाता है।

नवीन शरीरग्रहणकी प्रक्रिया–

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

विग्रहगतिमें कर्मनिमित्तक योग अर्थात् परिस्पन्द होता है।

§ १–४ औदारिकादि नाम कर्मके उदयसे उन शरीरोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण विग्रह कहलाता है। विरुद्ध ग्रह अर्थात् कर्म पुद्गलोंका ग्रहण होनेपर भी जहां नोकर्म पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता वह विग्रह। विग्रहके लिए गति विग्रहगति कही जाती है। इस विग्रहगतिमें सभी औदारिकादि शरीरोंको उत्पन्न करनेवाले कार्मण शरीरके निमित्तसे ही आत्मप्रदेश परिस्पन्द होता है। इसलिए समनस्क और अमनस्क सभी प्राणियोंकी गतिमें कोई व्यवधान नहीं पड़ता।

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

विग्रहगति आकाश प्रदेशोंकी श्रेणिके अनुसार होती है।

§ १–५ लोकके मध्यसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे आकाशके प्रदेश क्रमशः श्रेणिबद्ध हैं। इसके अनुकूल ही सभी गतिवाले जीव पुद्गलोंकी गति होती है। गतिका प्रकरण होनेपर भी इस सूत्रमें जो पुनः 'गति' शब्दका ग्रहण किया है और आगेके सूत्रमें जो 'जीव' शब्दका विशेषरूपसे ग्रहण किया है उससे ज्ञात होता है कि इस सूत्रसे सभी गतिवाले जीव पुद्गलोंकी गतिका विधान किया गया है। विग्रहगतिमें जीवका बैठना सोना या ठहरना आदि तो होता नहीं है जिससे इनकी निवृत्तिके लिए 'गति' शब्दकी सार्थकता मानी जाय।

§ ६ अनुश्रेणि गतिका देश और काल नियत है। इसके सिवाय लोकमें चक्र आदिकी विविध प्रकार विश्रेणि गति भी होती है। जीवोंके मरणकालमें नवीन पर्याय धारण करनेके समय तथा मुक्तजीवोंके ऊर्ध्वगमनके समय अनुश्रेणि ही गति होती है। ऊर्ध्वलोकसे नीचे अधोलोकसे ऊपर या तिर्यक् लोकसे ऊपर-नीचे जो गति होगी वह अनुश्रेणि होगी। पुद्गलोंकी जो लोकान्त तक गति होती है, वह नियमसे अनुश्रेणि ही होती है। अन्य गतियोंका कोई नियम नहीं है।

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

मुक्तजीवके अविग्रहा अर्थात् बिना मोड़ लिए हुए गति होती है।

§ १ आगेके सूत्रमें 'संसारी' का ग्रहण किया है, अतः यह सूत्र मुक्तके लिए है यह निश्चित हो जाता है। यद्यपि 'अनुश्रेणि गतिः' सूत्रसे मुक्तकी अविग्रह गति सिद्ध हो जाती है फिर भी जब वह सूत्र जीव-पुद्गल दोनोंके लिए साधारण हो गया और वह भी इसी सूत्रके बलपर तब इस सूत्रकी आवश्यकता बनी ही रहती है।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

संसारी जीवोंके चार समयसे पहिले विग्रहवाली अर्थात् मोड़वाली भी गति होती है।

§ १ चार समयसे पहिले ही मोड़ेवाली गति होती है, क्योंकि संसारमें ऐसा कोई कोनेवाला टेढ़ा-मेढ़ा क्षेत्र ही नहीं है जिसमें तीन मोड़ासे अधिक मोड़ा लेना पड़े। जैसे षष्टिक चावल साठ दिनमें नियमसे पक जाते हैं उसी तरह विग्रह गति भी तीन समयमें समाप्त हो जाती है।

§ २ च शब्दसे उपपाद क्षेत्रके प्रति ऋजुगति अविग्रहा तथा कुटिल गति सविग्रहा इस प्रकार दोनोंका समुच्चय हो जाता है।

§ ३–४ प्राक् शब्दकी जगह 'आचतुर्भ्यः' कहनेसे लाघव तो होता पर इससे चौथे समयके ग्रहणका अनिष्ट प्रसंग प्राप्त हो जाता है। यद्यपि 'आङ्' का मर्यादा अर्थ भी होता है पर अभिविधि और मर्यादामेंसे विवक्षित अर्थके जाननेके लिए व्याख्यान आदिका गौरव होता अतः स्पष्टताके लिए 'प्राक्' शब्द ही दे दिया है।

ये गतियां चार हैं–इषुगति पाणिमुक्ता लांगलिका और गोमूत्रिका। इषुगति बिना विग्रहके होती है और शेष गतियां मोड़ेवाली हैं। बाणकी तरह सीधी सरल गति मुक्तजीवोंके तथा किन्हीं संसारियोंके एक समयवाली बिना मोड़की होती है। हाथसे छोड़े गये जलादिकी तरह पाणिमुक्ता गति एक विग्रहवाली और दो समयवाली होती हैं। हलकी तरह दो मोड़वाली लांगलिका गति तीन समयमें निष्पन्न होती है। गोमूत्रकी तरह तीन विग्रहवाली गोमूत्रिका गति चार समयमें परिपूर्ण होती है।

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

§ १ बिना मोड़ेकी ऋजुगति एक समयवाली ही होती है। लोकके अग्रभाग तक जीव पुद्गलोंकी गति एक ही समयमें हो जाती है।

§ २–३ आत्माको सर्वगत अतएव निष्क्रिय मानकर गतिका निषेध करना उचित नहीं है; क्योंकि जैसे बाह्य आभ्यन्तर कारणोंसे पत्थर सक्रिय होता है उसी तरह आत्मा भी कर्मसम्बन्धसे शरीरपरिमाणवाला होकर शरीरकृत क्रियाओंके अनुसार स्वयं सक्रिय होता है। शरीरके अभावमें दीपशिखाकी तरह स्वाभाविक क्रियामें परिपूर्ण रहता है। यदि आत्माको सर्वगत अतएव क्रियाशून्य माना जाता है तो संसार और बन्ध आदि नहीं हो सकेंगे। मोक्ष तो क्रियासे ही संभव है।

अनाहारकताका नियम–

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

जीव एक दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है।

§ १ पूर्व सूत्रसे 'समय' शब्दकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। यद्यपि पूर्वसूत्रमें समय शब्द समासान्तर्गत होनेसे गौण है फिर भी सामर्थ्यसे उसीका सम्बन्ध हो जाता है।

§२–३ वा शब्द विकल्पार्थक है। विकल्पका अर्थ है यथेच्छ सम्बन्ध करना। अत्यन्त संयोग विवक्षित होनेके कारण सप्तमी न होकर यहां द्वितीया विभक्ति की गई है।

§ ४ औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंके तथा छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलोंका ग्रहण करना आहार है। तैजस और कार्मण शरीरके पुद्गल तो जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक प्रतिक्षण आते ही रहते हैं।

§ ५–६ ऋद्धिप्राप्त ऋषियोंके ही आहारक शरीर होता है अतः विग्रह गतिमें इसकी संभावना नहीं है। विग्रहगतिमें बाकी कवलाहार लेपाहार आदि कोई भी आहार नहीं होते; क्योंकि इन आहारोंमें समय लगता है अतः समयका व्यवधान पड़ जायगा। जैसे तपाया हुआ बाण लक्ष्य देशपर पहुंचनेके पहिले भी बरसातके जलको ग्रहण करता जाता है उसी तरह पूर्वदेहको छोड़नेके दुःखसे सन्तप्त यह प्राणी आठ प्रकारके कर्मपुद्गलोंसे निर्मित कार्मण शरीरके कारण जाते समय ही नोकर्मपुद्गलोंको भी ग्रहण करके आहारक हो जाता है। वक्रगतिमें तीन समय तक अनाहारक रहता है। एक समयवाली इषुगतिमें नोकर्म पुद्गलोंको ग्रहण करता हुआ ही जाता है अतः अनाहारक नहीं होता। दो समय और एक मोड़ा वाली पाणिमुक्ता गतिमें प्रथम समयमें अनाहारक रहता है। तीन समय और दो मोड़ावाली लांगलिका गतिमें दो समय तक अनाहारक रहता है। चार समय और तीन मोड़ावाली गोमूत्रिका गतिमें तीन समय तक अनाहारक रहकर चौथे समयमें आहारक हो जाता है।

जन्मके प्रकार–

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

सम्मूर्च्छन गर्भ और उपपाद ये तीन जन्म हैं।

§ १ तीनों लोकोंमें ऊपर नीचे तिरछे सभी दिशाओंसे पुद्गलपरमाणुओंका इकट्ठा होकर शरीर बनना सम्मूर्छन है।

§ २–३ स्त्रीके गर्भाशयमें शुक्र और शोणितके मिश्रणको गर्भ कहते हैं। अथवा, माताके द्वारा गृहीत आहारसे जहां रस ग्रहण किया जाय वह गर्भ है।

§ ४ देव और नारकियोंके उत्पत्तिस्थानोंको उपपाद कहते हैं। इन नियत स्थानोंके पुद्गलोंसे उपपादजन्म होता है।

§ ५–१० सम्मूर्च्छन शरीर अत्यन्त स्थूल होता है, अल्पकालजीवी होता है तथा उसके कारण मांसादि और कार्य शरीर, दोनों ही प्रत्यक्ष हैं अतः उसका ग्रहण प्रथम किया है। इसके बाद गर्भका; क्योंकि यह अधिक कालमें परिपूर्ण होता है। अति दीर्घजीवी होनेके कारण उपपादका सबके अन्तमें ग्रहण किया है। परिणामाधीन विविध कर्मोंके विपाकसे इन विभिन्न रूपोंमें प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। कर्मके अनुसार ही जन्म होता है।

§ ११ यद्यपि जन्मके प्रकार अनेक हैं फिर भी प्रकारगत सामान्यकी अपेक्षासे 'जन्म' शब्दको एकवचन ही रखा है।

जन्मकी आधारभूत योनियोंके भेद–

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

सचित्त शीत संवृत अचित्त उष्ण विवृत और सचित्ताचित्त शीतोष्ण और संवृत-विवृत ये नव योनियां हैं।

§ १–५ आत्माके चैतन्य परिणमनको चित्त कहते हैं। चित्त सहित सचित्त कहलाता है। शीत अर्थात् ठंडा स्पर्श और ठंडा पदार्थ। संवृत अर्थात् ढका हुआ। इतर अर्थात् अचित्त उष्ण और विवृत। मिश्र अर्थात् उभयात्मक।

§ ६–८ च शब्द प्रत्येकके समुच्चयके लिए है, अन्यथा 'सचित्त शीत संवृत जब अचित्त उष्ण और विवृतसे मिश्र हों तब योनियां होंगीं' यह अर्थ हो जाता। च शब्दसे 'प्रत्येक भी योनियाँ है तथा मिश्र भी' यह स्पष्ट बोध हो जाता है। यद्यपि कहीं 'च' शब्द न देने पर भी समुच्चयका बोध देखा जाता है और समुच्चय और विशेषण दोनों अर्थोंमें इच्छानुसार समुच्चय अर्थ भी लिया जा सकता था फिर भी सूत्रमें नहीं कही गईं चौरासी लाख योनियोंके संग्रहके लिए 'च' शब्दकी सार्थकता है।

§ ९ 'एकशः' पदसे ज्ञात होता है कि मिश्र योनियोंमें क्रममिश्रता होनी चाहिये। अर्थात् सचित-अचित, शीत-उष्ण, संवृत-विवृत आदि, न कि सचित्त-शीत आदि।

§ १० 'तत्' पदसे ज्ञात होता है कि ये योनियां पूर्वोक्त सम्मूर्च्छन आदि जन्मों की हैं।

§ ११–१२ योनि शब्दको केवल स्त्रीलिंग समझकर द्वन्द्वसमासमें सचित्तादि शब्दोंके पुल्लिग प्रयोगमें आपत्ति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि योनि शब्द उभयलिंग है। यहां पुल्लिग समझना चाहिये।

§ १३–योनि आधार है तथा जन्म आधेय है। सचित्तादि योनियोंमें ही सम्मूर्च्छनादि जन्मोंके द्वारा आत्मा शरीर ग्रहण करता है। यही योनि और जन्ममें भेद है।

§ १४–१७ चेतनात्मक होनेसे सचित्तका प्रथम ग्रहण किया है, उसके बाद तृप्तिकारक होनेसे शीतका तथा गुप्त होनेसे संवृतका अन्तमें ग्रहण किया है। जीवोंके कर्मविपाक नाना प्रकारके हैं अतः योनियां भी अनेक प्रकार की मानी गई हैं।

§ १८–२६ देव और नारकोंके अचित्त योनि हैं; क्योंकि इनके उपपाद प्रदेशके पुद्गल अचेतन हैं। माताके उदरमें अचेतन वीर्य और रजसे चेतन आत्माका मिश्रण होनेसे गर्भजोंके मिश्र योनि हैं। सम्मूर्छन जीवोंमें साधारण शरीरवालोंके सचित्त योनि है। शेषमें किसीके अचित्त योनि तथा किसीके मिश्रयोनि होती है। देव और नारकियोंके शीत और उष्ण योनि, तेजस्कायिकोंके उष्णयोनि तथा शेष जीवोंके शीत उष्ण और मिश्रयोनि होती हैं। देव नारक और एकेन्द्रिय जीवोंके संवृतयोनि, विकलेन्द्रियोंके विवृत योनि और गर्भज जीवोंके मिश्रयोनि होती है।

§ २७ इन योनियोंके चौरासी लाख भेदोंका 'च' शब्दसे समुच्चय किया गया है। सर्वज्ञने इनका साक्षात्कार किया है और अल्पज्ञानियोंको ये आगमगम्य हैं। नित्यनिगोदके

७ लाख, अनित्य निगोदके ७ लाख, पृथिवी जल अग्नि और वायु प्रत्येकके सात सात लाख, वनस्पतिके दस लाख, विकलेन्द्रियोंके छह लाख, देव नारकी और पंचेन्द्रियतिर्यञ्च प्रत्येकके चार चार लाख, मनुष्योंके चौदह लाख इस प्रकार कुल ८४ लाख योनिभेद होते हैं। जो कभी भी त्रस पर्यायको प्राप्त न होंगे वे नित्यनिगोद तथा जिनने त्रस पर्याय पाई थी या आगे पायेंगे वे अनित्य निगोद हैं।

जन्म विवरण–

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

जरायुज अण्डज और पोतका गर्भजन्म होता है।

§ १–३ गर्भाशयमें प्राणीके ऊपर जो मांस और रक्तका जाल होता है वह जरायु है। शुक्र और शोणितसे परिवेष्टित, नखके ऊपरी भागकी तरह कठिन और श्वेत गोलाकार अण्डा होता है। इनमें उत्पन्न जीव क्रमशः जरायुज और अण्डज हैं। जो योनिसे निकलते ही चलने फिरनेकी शक्ति रखते हैं, गर्भाशयमें जिनके ऊपर कोई आवरण नहीं रहता वे पोत हैं।

§ ४–५ कोई 'पोतजाः' ऐसा पाठ रखते हैं। पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि पोत तो स्वयं आत्मा ही है, उसमें उत्पन्न होनेवाला कोई दूसरा जीव नहीं है जो पोतज कहा जाय। आत्मा ही पोत परिणमन करके पोत कहलाता है।

§ ६–१० चूँकि जरायुजोंमें भाषा अध्ययन आदि असाधारण क्रियाएँ देखी जाती हैं, चक्रवर्ती वासुदेव आदि महाप्रभावशाली जरायुज ही होते हैं तथा मोक्षकी प्राप्ति जरायुजोंको ही होती है अतः पूज्य होनेसे उसका ग्रहण सर्वप्रथम किया है। अण्डजोंमें भी तोता मैना आदि अक्षरोच्चारण आदिमें कुशल होते हैं अतः पोतसे पहिले उनका ग्रहण किया है।

§ ११ यद्यपि पहिले सूत्रमें सम्मूर्च्छनोंका नाम प्रथम लिया है अतः यहां भी उसीका वर्णन होना चाहिये था फिर भी आगे 'शेषाणां सम्मूर्च्छनम्' इस सूत्रकी लघुता के लिए उसका यहाँ प्रथम ग्रहण नहीं किया है; क्योंकि यदि समूर्च्छनका प्रथम कथन करते तो 'एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां तिरश्चां मनुष्याणां च केषाञ्चित् सम्मूर्च्छनम्' इतना बड़ा सूत्र बनाना पड़ता।

§ १२ जरायुज आदिके गर्भजन्म सिद्ध ही था फिर भी 'गर्भे' शब्दके ग्रहण करनेसे 'जरायुज अण्डज और पोतोंके ही गर्भ होता है' यह नियम ज्ञापित होता है। आगेके सूत्रमें 'शेष' पद देनेसे ज्ञात होता है कि जन्मका ही नियम किया गया है जन्मवालोंका नहीं। यदि इन सूत्रोंसे जन्मवालोंका नियम होता तो आगे 'शेष' ग्रहण करना निरर्थक ही हो जाता।

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

देव और नारकियोंके उपपादजन्म होता है।

§ १ जिस समयसे देवगतिका उदय हो तभीसे उसका जन्म स्वीकार करना इसलिए ठीक नहीं है कि विग्रहगतिमें भी देवगतिका उदय हो जाता है पर शरीरयोग्य पुद्गलोंका ग्रहण न होनेसे उस समय जन्म नहीं माना जाता। इसलिए उपपादको जन्म कहना ठीक है।

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

शेषके सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

§ १–२ देव और नारकियोंके ही उपपाद और शेषके ही सम्मूर्च्छन होता है। पहिले गर्भ और उपपाद जन्मका तो नियम हुआ है पर जरायुज आदिका नहीं, उनके सम्मूर्च्छन जन्मका भी प्रसंग प्राप्त होता है अतः उसके वारण करनेके लिए यह सूत्र बनाया गया है। यदि 'जरायुज अण्डज पोतोंके गर्भ ही होता है और देव नारकियोंके उपपाद ही होता है; तो अर्थात् ही शेषके सम्मूर्च्छन ही होता है, यह फलित हो जाता है। ऐसी दशामें न केवल शेषग्रहण किन्तु यह सूत्र ही निरर्थक हो जाता है। परन्तु जन्म और जन्मवाले दोनोंके अवधारणका प्रसंग उपस्थित होनेपर 'जन्मका ही अवधारण करना चाहिए' यह व्यवस्था इस सूत्रसे ही फलित होती है अतः सूत्रकी सार्थकता है।

शरीरोंका वर्णन–

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण ये पांच शरीर हैं।

§ १–३ जो शीर्ण हों वे शरीर हैं। यद्यपि घटादि पदार्थ भी विशरणशील हैं परन्तु वे उनमें नामकर्मोदय निमित्त नहीं हैं, अतः उन्हें शरीर नहीं कह सकते। जिस प्रकार 'गच्छतीति गौः' यह विग्रह रूढ शब्दोंमें भी किया जाता है उसी तरह 'शरीर' शब्दका भी विग्रह समझना चाहिए। शरीरत्व नामकी जातिके समवायसे शरीर कहना तो उचित नहीं है क्योंकि स्वयं शरीरस्वभाव न मानने पर अमुक जगह ही शरीरत्वका सम्बन्ध हो अमुक जगह न हो इत्यादि नियम नहीं बन सकता।

§ ४–९ उदार अर्थात् स्थूल प्रयोजनवाला या स्थूल जो शरीर वह औदारिक है। अणिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्यके कारण अनेक प्रकारके छोटे-बड़े आकार करने रूप विक्रिया करना जिसका प्रयोजन है वह वैक्रियिक है। प्रमत्तसंयत मुनिके द्वारासूक्ष्मतत्त्वज्ञान और असंयमके परिहारके लिए जिसकी रचना की जाती है वह आहारक है। जो दीप्तिका कारण होता है वह तैजस है। कर्मोंका कार्य या कर्मोंके समूहको कार्मण कहते हैं।

§ १०–१३ जैसे मिट्टीके पिण्डसे उत्पन्न होनेवाले घट घटी सकोरा आदिमें संज्ञा लक्षण आकार आदिकी दृष्टिसे भेद है उसी तरह यद्यपि औदारिकादि शरीर कर्मकृत हैं, फिर भी उनमें संज्ञा लक्षण आकार और निमित्त आदिकी दृष्टिसे परस्पर भिन्नता है। औदारिकादि शरीर प्रतिनियत नामकर्मके उदयसे होते हैं। कार्मण शरीरसे ही औदारिकादि शरीर उत्पन्न होते हैं अतः कारण कार्यकी अपेक्षा भी कार्मण और औदारिकादि भिन्न हैं। जैसे गीले गुड़पर धूलि आकर जम जाती है उसी तरह कार्मण शरीर पर ही औदारिकादि शरीरोंके योग्य परमाणु, जिन्हें विस्रसोपचय कहते हैं, आकर जमा होते हैं। इस दृष्टिसे भी कार्मण और औदारिकादि भिन्न हैं।

§ १४–१७ जैसे दीपक परप्रकाशी होनेके साथ ही साथ स्वप्रकाशी भी है उसी तरह कार्मण शरीर औदारिकादिका भी निमित्त है और अपने उत्तर कार्मणका भी। अतः निर्निमित्त होनेसे उसे असत् नहीं कह सकते। फिर मिथ्यादर्शन आदि कार्मण शरीरके

निमित्त हैं। यदि यह निर्निमित्त माना जायगा तो मोक्ष ही नहीं हो सकता क्योंकि विद्यमान और निर्हेतुक पदार्थ नित्य होता है, उसका कभी विनाश नहीं हो सकेगा। कार्मण शरीरमें प्रतिसमय उपचय-अपचय होता रहता है अतः उसका अंशतः विशरण सिद्ध है और इसीलिए वह शरीर है।

§ १८-१९ यद्यपि कार्मण शरीर सबका आधार और निमित्त है अतः उसका सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिए था किन्तु चूंकि वह सूक्ष्म है और औदारिकादि स्थूल कार्योंके द्वारा अनुमेय है अतः उसका प्रथम ग्रहण नहीं किया। कर्मके मूर्तिमान् औदारिकादि फल देखे जाते हैं अतः वह मूर्तिमान् सिद्ध होता है। आत्माके अमूर्त अदृष्ट नामके निष्क्रिय गुणसे परमाणुओंमें क्रिया होकर द्रव्योत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

§ २०-२१ अत्यन्त स्थूल और इन्द्रियग्राह्य होनेसे औदारिक शरीरको प्रथम ग्रहण किया है। आगे आगे सूक्ष्मता दिखानेके लिए वैक्रियिक आदि शरीरोंका क्रम है।

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

आगे आगेके शरीर सूक्ष्म हैं।

§ १-२ पर शब्दके व्यवस्था, भिन्न, प्रधान, इष्ट आदि अनेक अर्थ हैं पर यहां 'व्यवस्था' अर्थ विवक्षित है। संज्ञा लक्षण आकार प्रयोजन आदिकी दृष्टिसे परस्पर विभिन्न शरीरोंका सूक्ष्मताके विचारसे पर शब्दका वीप्सा अर्थमें दो बार निर्देश किया है।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

तैजस शरीर तक असंख्यातगुणे प्रदेशवाले हैं।

§ १-५ प्रदेश अर्थात् परमाणु। परमाणुओंसे ही आकाशादिका क्षेत्र-विभाग किया जाता है पूर्वसूत्रसे 'परं परम्' की अनुवृत्ति होती है अतः मर्यादा बाँधनेके लिए 'प्राक् तैजसात्' यह स्पष्ट निर्देश किया है। प्रदेशोंकी दृष्टिसे पल्यके असंख्येय भागसे गुणित होनेपर भी इन शरीरोंका अवगाह क्षेत्र कम ही होता है। तात्पर्य यह कि औदारिकसे वैक्रियिक असंख्यात गुण प्रदेशवाला है और वैक्रियकसे आहारक। जैसे समप्रदेशवाले लोहा और रुईके पिण्डमें परमाणुओंके निबिड और शिथिल संयोगोंकी दृष्टिसे अवगाहनक्षेत्रमें तारतम्य है उसी तरह वैक्रियिक आदि शरीरोंमें उत्तरोत्तर निबिड संयोग होनेसे अल्पक्षेत्रता और सूक्ष्मता है।

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण क्रमशः अनन्तगुणे प्रदेशवाले हैं।

§ १-२ अनन्तगुणे अर्थात् अभव्योंके अनन्तगुणेसे गुणित और सिद्धोंके अनन्तवें भागसे गुणित। अनन्तके अनन्त ही विकल्प होते हैं, अतः उत्तरोत्तर अनन्तगुणता समझनी चाहिए। पूर्व सूत्रसे 'परं परं' की अनुवृत्ति होती है अतः आहारकसे तैजस अनन्तगुणा तथा तैजससे कार्मण अनन्तगुणा समझना चाहिए।

§ ३-५ **प्रश्न**—पर तो कार्मण हुआ और तैजस अपर, अतः 'परापरे' यह पद रखना चाहिए? **उत्तर**—शब्दोच्चारणकी दृष्टिसे यहाँ 'पर' व्यवहार अपेक्षित नहीं है किन्तु ज्ञानकी दृष्टिसे। बुद्धिमें आहारकसे आगे रखे गये तैजस और कार्मण दोनों ही 'पर' कहे

जाते हैं। जैसे 'पटनासे मथुरा परे है' यहां काशी आदि देशोंका व्यवधान होनेपर भी व्यवहित मथुरामें पर शब्दका प्रयोग हो जाता है उसी तरह आहारकसे पर तैजस और तैजससे पर कार्मणमें भी पर शब्दका प्रयोग उचित है।

§ ६ यद्यपि तैजस और कार्मणमें परमाणु अधिक हैं फिर भी उनका अतिसघन संयोग और सूक्ष्म परिणमन होनेसे इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्धि नहीं हो सकती।

अप्रतीघाते ॥४०॥

ये दोनों शरीर सर्वत्र अप्रतीघाती हैं।

§ १-३ एक मूर्तिमान् द्रव्यका दूसरे मूर्तिमान् द्रव्यसे रुक जाना या टकराना प्रतीघात कहलाता है। जैसे अग्नि सूक्ष्म परिणमनके कारण लोहेके पिंडमें भी घुस जाती है उसी तरह ये दोनों शरीर वज्रपटलादिकसे भी नहीं रुकते, सब जगह प्रवेश कर जाते हैं। यद्यपि वैक्रियिक और आहारक भी अपनी-अपनी सीमामें अप्रतीघाती हैं फिर भी लोक भरमें सर्वत्र अप्रतीघाती ये दोनों ही हैं, अतः दोनोंको ही अप्रतीघाती कहा है।

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

§ १-२ ये दोनों शरीर अनादिसे इस जीवके साथ हैं। उपचय-अपचयकी दृष्टिसे इनका सादिसम्बन्ध भी होता है, इसीलिए च शब्द दिया है। जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष इस प्रकार सन्ततिकी दृष्टिसे बीज-वृक्ष अनादि होकर भी तद्बीज और तद्वृक्ष की अपेक्षा सादि हैं उसी तरह तैजस कार्मण भी बन्धसन्ततिकी दृष्टिसे अनादि और तत् तत् दृष्टिसे सादि हैं।

§ ३-५ यदि सर्वथा आदिमान् माना जाय तो अशरीर आत्माके नूतन शरीर का सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि शरीरसम्बन्धका कोई निमित्त ही नहीं है। और यदि निर्निमित्त ही शरीरसम्बन्ध होने लगे तो मुक्त आत्माओंके साथ भी शरीरका सम्बन्ध हो जायगा। इस तरह कोई मुक्त ही नहीं रह सकेगा। और यदि अनादि होनेसे उसे अनन्त माना जायगा; तो भी किसीको मोक्ष ही नहीं हो सकेगा। अतः जैसे अनादिकालीन बीज-वृक्ष सन्तति भी अग्नि आदि कारणोंसे नष्ट हो जाती है उसी तरह कर्मशरीर भी ध्यानाग्निसे नष्ट हो जाता है।

सर्वस्य ॥४२॥

§ १-२ ये दोनों शरीर सभी संसारी जीवोंके होते हैं। 'सर्वस्य' यह एक वचन संसारिसामान्यकी अपेक्षा दिया है। यदि ये किसी संसारीके न हों तो वह संसारी ही नहीं हो सकता।

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

एक जीवके एक साथ इन दो शरीरोंको लेकर चार शरीर तक हो सकते हैं।

§ १-६ 'तत्' शब्दसे जिन दो शरीरोंका प्रकरण है उनका ग्रहण करना चाहिए। 'आदि' शब्द व्यवस्थावाची है। 'आङ्' उपसर्ग अभिविधिके अर्थमें है, अतः किसी के चार भी हो सकते हैं। यदि मर्यादार्थक होता तो चारसे पहिले अर्थात् तीन शरीरतक का नियम होता। किसी आत्माके दो शरीर तैजस और कार्मण होंगे। तीन औदारिक तैजस

और कार्मण अथवा वैक्रियिक तैजस और कार्मण होंगे। किसीके औदारिक आहारक तैजस और कार्मण ये चार भी हो सकते हैं। वैक्रियिक और आहारक एक साथ नहीं होते अतः पांचकी संभावना नहीं है; क्योंकि आहारक जिस प्रमत्तसंयत मुनिके होता है उसके वैक्रियिक नहीं होता, जिन देव और नारकियोंके वैक्रियिक होता है उनके आहारक नहीं होता।

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

अन्तिम कार्मण शरीर निरुपभोग होता है।

§ १–३ इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादिककी उपलब्धिको उपभोग कहते हैं। यद्यपि कर्मादान निर्जरा और सुखदुःखानुभवन आदि उपभोग कार्मण शरीरमें संभव हैं फिर भी विग्रहगतिमें द्रव्येन्द्रियोंकी रचना नहीं होती, अतः विवक्षित उपभोग कार्मण शरीरमें नहीं पाया जाता। तैजस शरीर चूंकि योगनिमित्त, योग अर्थात् आत्मप्रदेश परिस्पन्दमें भी निमित्त नहीं होता अतः उसकी उपभोग विचारमें विवक्षा नहीं है। अतः योगनिमित्त शरीरोंमें अन्तिम कार्मण शरीर ही निरुपभोग है, शेष सोपभोग हैं।

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

जितने गर्भज और सम्मूर्च्छनजन्य शरीर हैं वे सब औदारिक हैं।

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

उपपादजन्य यावत् शरीर वैक्रियिक हैं।

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

वैक्रियिक शरीर ऋद्धिनिमित्तक भी होता है।

§ १–२ प्रत्यय शब्दके ज्ञान, सत्यता, कारण आदि अनेक अर्थ हैं किन्तु यहाँ कारण अर्थ विवक्षित है। विशेष तपसे जो ऋद्धि प्राप्त होती है वह लब्धि है। लब्धि-कारणक भी वैक्रियिक शरीर होता है।

§ ३ उपपाद तो निश्चित है, पर लब्धि अनिश्चित है, किसीके ही विशेष तप धारण करने पर होती है।

§ ४ विक्रियाका अर्थ विनाश नहीं है, जिससे प्रति समय न्यूनाधिक रूपसे सभी शरीरोंका विनाश होनेसे सबको वैक्रियिक कहा जाय किन्तु नाना आकृतियोंको उत्पन्न करना है। विक्रिया दो प्रकार की है—१ एकत्व विक्रिया, २ पृथक्त्व विक्रिया। अपने शरीरको ही सिंह व्याघ्र हिरण हंस आदि रूपसे बना लेना एकत्व विक्रिया है और शरीरसे भिन्न मकान मण्डप आदि बना देना पृथक्त्व विक्रिया है। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी और सोलह स्वर्गके देवोंके दोनों प्रकारकी विक्रिया होती है। ऊपर ग्रैवेयक आदि सर्वार्थ-सिद्धि पर्यन्तके देवोंके प्रशस्त एकत्व विक्रिया ही होती है। छठवें नरक तकके नारकियोंके त्रिशूल चक्र तलवार मुद्गर आदि रूपसे जो विक्रिया होती है वह एकत्वविक्रिया ही है न कि पृथक्त्व विक्रिया। सातवें नरकमें गाय बराबर कीड़े लोहू आदि रूपसे एकत्व विक्रिया ही होती है, आयुधरूपसे एकत्व विक्रिया और पृथक्त्व विक्रिया नहीं होती। तिर्यञ्चोंमें मयूर

आदिके एकत्व विक्रिया होती है पृथक्त्व विक्रिया नहीं। मनुष्योंके भी तप और विद्या आदिके प्रभावसे एकत्व विक्रिया होती है।

तैजसमपि ॥४८॥

§ १ तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है। यद्यपि आहारकका प्रकरण था परन्तु लब्धिप्रत्ययोंके प्रकरणमें लाघवके लिए तैजसका कथन कर दिया है।

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

आहारक शरीर शुभ विशुद्ध और अव्याघाती होता है, यह प्रमत्तसंयतके ही होता है।

§ १–३ जैसे प्राणोंका कारण होनेसे उपचारसे अन्नको भी प्राण कह देते हैं उसी तरह शुभ आहारकयोगका कारण होनेसे यह शरीर शुभ कहा जाता है। विशुद्ध कर्मके उदयसे होनेके कारण यह विशुद्ध है। न तो आहारक शरीर किसीका व्याघात करता है और न किसीसे व्याघातित ही होता है अतः अव्याघाती है।

§ ४ भरत और ऐरावत क्षेत्रमें केवलियोंका अभाव होनेपर महाविदेह क्षेत्रमें केवली भगवान्के पास औदारिक शरीरसे जाना तो शक्य नहीं है और असंयम भी बहुत होगा अतः प्रमत्तसंयत मुनि सूक्ष्म पदार्थके निर्णयके लिए या ऋद्धिका सद्भाव जाननेके लिए या संयम परिपालनके लिए आहारक शरीरकी रचना करता है। इन बातोंके समुच्चयके लिए 'च' शब्द दिया गया है।

§ ५–७ 'प्रमत्त संयतके ही आहारक होता है' इस प्रकार अवधारण करनेके लिए एवकार है न कि 'प्रमत्तसंयतके आहारक ही होता है' इस अनिष्ट अवधारणके लिए। जिस समय मुनि आहारक शरीरकी रचना करता है उस समय वह प्रमत्तसंयत ही हो जाता है।

§ ८ इन शरीरोंमें परस्पर संज्ञा लक्षण कारण स्वामित्व सामर्थ्य प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर संख्या प्रदेश भाव और अल्पबहुत्व आदिकी दृष्टिसे भेद है। यथा,

संज्ञा—औदारिक आदिके अपने-अपने जुदे नाम हैं।

लक्षण—स्थूल शरीर औदारिक है। विविधगुण ऋद्धिवाली विक्रिया करनेवाला शरीर वैक्रियिक है। सूक्ष्मपदार्थविषयक निर्णयके लिए आहारक शरीर होता है। शंखके समान शुभ तैजस होता है। वह दो प्रकारका है—१ निःसरणात्मक २ अनिःसरणात्मक। औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरमें दीप्ति करनेवाला-रौनक लानेवाला अनिःसरणात्मक तैजस है। निःसरणात्मक तैजस उग्रचारित्रवाले अतिक्रोधी यतिके शरीरसे निकलकर जिसपर क्रोध है उसे घेरकर ठहरता है और उसे शाककी तरह पका देता है, फिर वापिस होकर यतिके शरीरमें ही समा जाता है। यदि अधिक देर ठहर जाय तो उसे भस्मसात् कर देता है। सभी शरीरोंमें कारणभूत कर्मसमूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

कारण—औदारिक आदि भिन्न-भिन्न नाम कर्मोंके उदयसे ये शरीर होते हैं। अतः कारणभेद स्पष्ट है।

स्वामित्व—औदारिक शरीर तिर्यञ्च और मनुष्योंके होता है। वैक्रियिक शरीर देव नारकी तेजस्काय वायुकाय और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्योंमें किसीके होता है। **प्रश्न**—जीवस्थानके योगभंग प्रकरणमें तिर्यञ्च और मनुष्योंके औदारिक और औदारिक मिश्र

तथा देव और नारकियोंके वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्र बताया है पर यहां तो तिर्यञ्च और मनुष्योंके भी वैक्रियिकका विधान किया है। इस तरह परस्पर विरोध आता है ?

उत्तर–व्याख्या प्रज्ञप्ति दंडकके शरीरभंगमें वायुकायिकके औदारिक वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये चार शरीर तथा मनुष्योंके पांच शरीर बताए हैं। भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से लिखे गये उक्त सन्दर्भोंमें परस्पर विरोध भी नहीं है। जीवस्थानमें जिस प्रकार देव और नारकियोंके सर्वदा वैक्रियिक शरीर रहता है उस तरह तिर्यञ्च और मनुष्योंके नहीं होता, इसीलिए तिर्यञ्च और मनुष्योंके वैक्रियिक शरीरका विधान नहीं किया है जब कि व्याख्याप्रज्ञप्तिमें उसके सद्भावमात्रसे ही उसका विधान कर दिया है।

आहारक प्रमत्तसंयतके ही होता है। तैजस और कार्मण सभी संसारियोंके होते हैं।

सामर्थ्य–मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें सिंह और केशरी चक्रवर्ती वासुदेव आदिके औदारिक शरीरोंमें शक्तिका तारतम्य सर्वानुभूत है। यह भवप्रत्यय है। उत्कृष्ट तपस्वियोंके शरीरविक्रिया करनेकी शक्ति गुणप्रत्यय है। वैक्रियिक शरीरमें मेरुकम्पन और समस्त भूमण्डलको उलटा-पुलटा करनेकी शक्ति है। आहारक शरीर अप्रतिघाती होता है, वज्रपटल आदिसे भी वह नहीं रुकता। यद्यपि वैक्रियिक शरीर भी साधारणतया अप्रतिघाती होता है, फिर भी इन्द्र सामानिक आदिमें शक्तिका तारतम्य देखा जाता है। अनन्तवीर्ययतिने इन्द्रकी शक्तिको कुंठित कर दिया था यह प्रसिद्ध ही है। अतः वैक्रियिक क्वचित् प्रतिघाती होता है किन्तु सभी आहारक शरीर समशक्तिक और सर्वत्र अप्रतिघाती होते हैं। तैजस शरीर क्रोध और प्रसन्नताके अनुसार दाह और अनुग्रह करनेकी शक्ति रखता है। कार्मण शरीर सभी कर्मोंको अवकाश देता है, उन्हें अपनेमें शामिल कर लेता है।

प्रमाण–सबसे छोटा औदारिक शरीर सूक्ष्मनिगोदिया जीवोंके अंगुलके असंख्यात भाग बराबर होता है और सबसे बड़ा नन्दीश्वरवापीके कमलका कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाणका होता है। वैक्रियिक मूल शरीरकी दृष्टिसे सबसे छोटा सर्वार्थसिद्धिके देवोंके एक अरत्नि प्रमाण और सबसे बड़ा सातवें नरकमें पांच सौ धनुष प्रमाण है। विक्रियाकी दृष्टिसे बड़ीसे बड़ी विक्रिया जम्बूद्वीप प्रमाण होती है। आहारक शरीर एक अरत्नि प्रमाण होता है। तैजस और कार्मण शरीर जघन्यसे अपने औदारिक शरीरके बराबर होते हैं और उत्कृष्टसे केवलि समुद्घातमें सर्वलोकप्रमाण होते हैं।

क्षेत्र–औदारिक वैक्रियिक और आहारकका लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है।

तैजस और कार्मणका लोकका असंख्यातवां भाग असंख्यात बहुभाग या सर्वलोक क्षेत्र होता है प्रतर और लोकपूरण अवस्थामें।

स्पर्शन–तिर्यञ्चोंने औदारिक शरीरसे सम्पूर्ण लोकका स्पर्शन किया है, और मनुष्योंने लोकके असंख्यातवें भागका। मूल वैक्रियिक शरीरसे लोकके असंख्यात बहुभाग और उत्तर वैक्रियिकसे कुछ कम $\frac{6}{14}$ भाग स्पृष्ट होते हैं। सौधर्मस्वर्गके देव स्वयं या परनिमित्तसे ऊपर आरण अच्युत स्वर्ग तक छह राजू जाते हैं और नीचे स्वयं बालुकाप्रभा नरक तक दो राजू, इस तरह $\frac{6}{14}$ भाग होते हैं। आहारक शरीरके द्वारा लोकका असंख्यातवां भाग स्पर्श किया जाता है। तैजस और कार्मण समस्त लोकका स्पर्शन करते हैं।

काल–तिर्यञ्च और मनुष्योंके औदारिक शरीरका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम तीन पल्य है। यह अन्तर्मुहूर्त अपर्याप्तकका काल है। वैक्रियिक

शरीरका देवोंकी अपेक्षा मूलवैक्रियिकका जघन्य काल अपर्याप्तकालके अन्तर्मुहूर्तसे कम दस हजार वर्ष प्रमाण है। उत्कृष्ट अपर्याप्तकालीन अन्तर्मुहूर्तसे कम तेंतीस सागर है। उत्तर वैक्रियिकका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। तीर्थङ्करोंके जन्मोत्सव नन्दीश्वरपूजा आदिके समय अन्तर्मुहूर्तके बाद नए नए उत्तरवैक्रियिक शरीर उत्पन्न होते जाते हैं। आहारकका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही काल अन्तर्मुहूर्त है। तैजस और कार्मण शरीर अभव्य और दूरभव्योंकी दृष्टिसे सन्तानकी अपेक्षा अनादि अनन्त हैं। भव्योंकी दृष्टिसे अनादि और सान्त है। निषेककी दृष्टिसे एक समयमात्र काल है। तैजस शरीरकी उत्कृष्ट निषेक स्थिति छयासठ सागर और कार्मण शरीरकी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है।

अन्तर–औदारिक शरीरका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट अपर्याप्तिकालके अन्तर्मुहूर्तसे अधिक तेंतीस सागर है। वैक्रियिक शरीरका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल है। आहारकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्टसे अन्तमुहूर्त कम अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल प्रमाण है। तैजस और कार्मण शरीरका अन्तर नहीं है।

संख्या–औदारिक असंख्यात लोक प्रमाण हैं। वैक्रियिक असंख्यात श्रेणी और लोकप्रतरका असंख्यातवाँ भाग हैं। आहारक ५४ हैं। तैजस और कार्मण अनन्त हैं, अनन्तानन्त लोक प्रमाण हैं।

प्रदेश–औदारिकके प्रदेश अभव्योंसे अनन्तगुणें और सिद्धोंके अनन्तभाग प्रमाण हैं। शेष चारके प्रदेश उत्तरोत्तर अधिक अनन्त प्रमाण हैं।

भाव–औदारिकादि नामके उदयसे सभीके औदयिकभाव हैं।

अल्पबहुत्व–सबसे कम आहारकशरीर हैं, वैक्रियिकशरीर असंख्यातगुणे हैं। असंख्यात श्रेणी वा लोकप्रतरका असंख्यातवां भाग गुणकार है। उससे औदारिक शरीर असंख्यातगुणे हैं। यहां गुणकार असंख्यात लोक हैं। तैजस और कार्मण अनन्तगुणे हैं। यहां गुणकार सिद्धोंका अनन्तगुणा है।

लिङ्गनियम–

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

नारक और सम्मूर्च्छन जन्मवाले नपुंसक होते हैं।

§ १–४ धर्म आदि चार पुरुषार्थोंका नयन करनेवाले 'नर' होते हैं जो इन नरोंको शीत उष्ण आदिकी वेदनाओंसे शब्दाकुलित कर दे वह नरक है। अथवा पापी जीवोंको आत्यन्तिक दुःखको प्राप्त करानेवाले नरक हैं। इन नरकोंमें जन्म लेनेवाले जीव नारक हैं। जो चारों ओरके परमाणुओंसे शरीर बनता है वह संमूर्च्छ है इस सम्मूर्च्छसे उत्पन्न होनेवाले जीव सम्मूर्च्छन कहलाते हैं। ये दोनों चारित्रमोहनीयके नपुंसकवेद नोकषाय तथा अशुभ नामकर्मके उदयसे न स्त्री और न पुरुष अर्थात् नपुंसक ही होते हैं। इनमें स्त्री और पुरुष सम्बन्धी स्वल्प सुख भी नहीं है।

न देवाः ॥५१॥

§ १ देवोंमें नपुंसक नहीं होते। वे स्त्री और पुरुषसम्बन्धी अतिशय सुखका उपभोग करते हैं।

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

शेष जीवोंके यथासंभव तीनों ही वेद होते हैं।

◊ १ चारित्रमोहके भेद पुंवेद आदिके उदयसे तीनों वेद होते हैं। जो अनुभवमें आवे उसे वेद कहते हैं। वेद अर्थात् लिंग। लिंग दो प्रकारका है—१ द्रव्यलिंग और दूसरा भावलिंग। नामकर्मके उदयसे योनि पुरुषलिंग आदि द्रव्यलिंग हैं और नोकषायके उदयसे भावलिंग होते हैं। स्त्रीवेदके उदयसे जो गर्भ धारण कर सके वह स्त्री, जो सन्ततिका उत्पादक हो वह पुरुष और जो दोनों शक्तियोंसे रहित हो वह नपुंसक है। ये सब रूढ़ शब्द हैं। रूढ़ियोंमें क्रिया साधारण व्युत्पत्तिके लिए होती है जैसे 'गच्छतीति गौः' यहां। यदि क्रियाकी प्रधानता हो तो बाल वृद्ध तिर्यंच और मनुष्य तथा कार्मणयोगवर्ती देवोंमें गर्भधारणादि क्रियाएं नहीं पाई जातीं अतः उनमें स्त्री आदि व्यपदेश नहीं हो सकेगा। स्त्रीवेद लकड़ीके अंगारकी तरह, पुरुषवेद तृणकी अग्निकी तरह और नपुंसकवेद ईंटके भट्ठेकी तरह होता है।

अकालमृत्युका नियम—

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, चरमोत्तम देहवाले और असंख्यात वर्षकी आयुवालोंकी आयुका घात विष-शस्त्रादिसे नहीं होता।

◊ १-५ औपपादिक—देव और नारकी। चरम—उसी जन्मसे मोक्ष जानेवाले। उत्तम शरीरी अर्थात् चक्रवर्ती वासुदेव आदि। असंख्येयवर्षायुष् पल्य प्रमाण आयुवाले उत्तरकुरु आदिके जीव। अपवर्त—विष शस्त्र आदिके निमित्तसे आयुके ह्रासको अपवर्त कहते हैं।

◊ ६-९ **प्रश्न**—उत्तम देहवाले भी अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और कृष्ण वासुदेव तथा और भी ऐसे लोगोंकी अकालमृत्यु सुनी जाती है अतः यह लक्षण ही अव्यापी है? **उत्तर**—चरम शब्द उत्तमका विशेषण है अर्थात् अन्तिम उत्तम देहवालोंकी अकालमृत्यु नहीं होती। यदि केवल उत्तमदेह पद देते तो पूर्वोक्त दोष बना रहता है। यद्यपि केवल 'चरमदेह' पद देनेसे कार्य चल जाता है फिर भी उस चरमदेहकी सर्वोत्कृष्टता बतानेके लिए उत्तम विशेषण दिया है। कहीं 'चरमदेहाः' यह पाठ भी देखा जाता है। इनकी अकालमृत्यु कभी नहीं होती।

◊ १०-१३ जैसे कागज पयाल आदिके द्वारा आम आदिको समयसे पहिले ही पका दिया जाता है उसी तरह निश्चित मरणकालसे पहिले भी उदीरणाके कारणोंसे आयुकी उदीरणा होकर अकालमरण हो जाता है। आयुर्वेदशास्त्रमें अकालमृत्युके वारणके लिए औषधिप्रयोग बताये गए हैं। जैसे दवाओंके द्वारा वमन विरेचन आदि कराके श्लेष्म आदि दोषोंको बलात् निकाल दिया जाता है उसी तरह विष शस्त्रादि निमित्तोंसे आयुकी भी समयसे पहिले ही उदीरणा हो जाती है। उदीरणामें भी कर्म अपना फल देकर ही झड़ते हैं, अतः कृतनाशकी आशंका नहीं है। न तो अकृत कर्मका फल ही भोगना पड़ता है और न कृत कर्मका नाश ही होता है, अन्यथा मोक्ष ही नहीं हो सकेगा और न दानादि क्रियाओंके करनेका उत्साह ही होगा। तात्पर्य यह कि जैसे गीला कपड़ा फैला देनेपर जल्दी सूख जाता है और वही यदि इकट्ठा रखा रहे तो सूखनेमें बहुत समय लगता है उसी तरह उदीरणाके निमित्तोंसे समयके पहिले ही आयु झड़ जाती है। यही अकालमृत्यु है।

द्वितीय अध्याय समाप्त

तृतीय अध्याय

नरक पृथिवियाँ—

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

रत्नप्रभा आदि सात पृथिवियाँ नीचे-नीचे हैं और घनोदधिवात, घनवात और तनुवात इन तीन वातवलयोंसे वेष्टित हैं। इन वातवलयोंका आधार आकाश है।

◊ १-४ रत्न आदि शब्दोंका द्वन्द्व समास करके प्रत्येकमें प्रभा शब्द जोड़ देना चाहिए, रत्नप्रभा शर्कराप्रभा आदि। जैसे यष्टि सहित देवदत्तको यष्टि कहते हैं उसी तरह चित्र वज्र वैडूर्य लोहित आदि सोलह रत्नोंकी प्रभासे सहित होनेके कारण रत्नप्रभा संज्ञा की गई है। इसी तरह शर्कराप्रभा आदि समझना चाहिए। तमकी भी अपनी एक आभा होती है। केवल दीप्तिका नाम ही प्रभा नहीं है किन्तु द्रव्योंका जो अपना विशेष-विशेष सलोनापन होता है, उसीसे कहा जाता है कि यह स्निग्ध कृष्ण प्रभावाला है यह रूक्ष कृष्ण प्रभावाला।

◊ ५-६ जैसे मखमली कीड़ेकी 'इन्द्रगोप'संज्ञा रूढ़ है, इसमें व्युत्पत्ति अपेक्षित नहीं है उसी तरह तमःप्रभा आदि संज्ञाएँ अनादि पारिणामिकी रूढ़ समझनी चाहिए। यद्यपि ये रूढ़ शब्द हैं फिर भी ये अपने प्रतिनियत अर्थोंको कहते हैं।

◊ ७-८ जिस प्रकार स्वर्गपटल भूमिका आधार लिए बिना ही ऊपर ऊपर हैं उस प्रकार नरक नहीं है किन्तु भूमियोंमें हैं। इन भूमियोंका आलम्बन घनोदधिवातवलय है, घनोदधिवातवलय घनवातवलयसे वेष्टित है और घनवातवलय तनुवातवलयसे। तनुवातवलयका आधार आकाश है और आकाश स्वात्माधार है। तीनों ही वातवलय बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं। घनोदधिका रंग मूँगके समान, घनवातका गोमूत्रके समान और तनुवातका रंग अव्यक्त है।

रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। उसके तीन भाग हैं। १ खरभाग २ पंकबहुल. ३ अब्बहुल। चित्रा आदि सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे चमचमाता हुआ खरपृथिवी भाग सोलह हजार योजन मोटा है। पंकबहुल भाग चौरासी हजार योजन मोटा है और अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। खर पृथिवी भागके ऊपर और नीचेकी ओर एक एक हजार योजन छोड़कर मध्यके १४ हजार योजनमें किन्नर किंपुरुष महोरग गन्धर्व यक्ष भूत और पिशाच इन सात व्यन्तरोंके तथा नाग विद्युत सुपर्ण अग्नि वात स्तनित उदधि द्वीप और दिक्कुमार इन नव भवनवासियोंके निवास हैं। पंकबहुल भागमें असुर और राक्षसोंके आवास हैं। अब्बहुल भागमें नरक बिल है। शर्कराप्रभाकी मुटाई ३२ हजार योजन, बालुकाप्रभाकी २८ हजार योजन, इस तरह छठवीं पृथिवी तक चार चार हजार योजन कम होती गई है। सातवीं नरकभूमि आठ हजार योजन मोटी है। सभीमें तिरछा अन्तर असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन है।

§ ९–१२ सात ही नरकभूमियाँ हैं न छह और न आठ। अतः कोई मतवालोंका यह मानना ठीक नहीं है कि–अनन्त लोक धातुओंमें अनन्त पृथ्वी प्रस्तार हैं। ये भूमियाँ नीचे-नीचे हैं तिरछी नहीं हैं। यद्यपि इन भूमियोंमें परस्पर असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजनका अन्तराल है फिर भी इसकी विवक्षा न होनेसे अथवा अन्तरको भूमिके ऊपर-नीचेके भागमें शामिल कर देनेसे सामीप्य अर्थमें 'अधोऽधः' यह दो बार 'अधः' शब्दका प्रयोग किया है। विद्यमान भी पदार्थकी अविवक्षा होती है जैसे कि अनुदरा कन्या और बिना रोमकी भेड़ आदिमें।

§ १३–१४ श्वेताम्बर सूत्रपाठमें 'पृथुतराः' यह पाठ है किन्तु जब तक कोई 'पृथु' सामने न हो तब तक किसीको 'पृथुतर' कैसे कहा जा सकता है? दो मेंसे किसी एकमें अतिशय दिखानेके लिए 'तर'का प्रयोग होता है, खासकर रत्नप्रभामें तो 'पृथुतर' प्रयोग हो ही नहीं सकता; क्योंकि कोई इससे पहिलेकी भूमि ही नहीं हैं। नीचे-नीचेकी पृथिवियाँ उत्तरोत्तर हीन परिमाणवाली हैं, अतः उनमें भी 'पृथुतरा' प्रयोग नहीं किया जा सकता। अधोलोकका आकार वेत्रासनके समान नीचे-नीचे पृथु होता गया है, अतः इसकी अपेक्षा 'पृथुतर' प्रयोगकी उपपत्ति किसी तरह बैठ भी जाय तो भी इससे भूमियोंके आजू-बाजू बाहर पृथुत्व आयगा न कि नरकभूमियोंमें। कहा है–"स्वयम्भूरमण समुद्रके अन्तसे यदि सीधी रस्सी डाली जाय तो वह सातवीं नरकभूमिके काल महाकाल रौरव महारौरवके अन्तमें जाकर गिरती है"। यदि कथञ्चित् 'पृथुतराः' पाठ बैठाना भी हो तो 'तिर्यक् पृथुतराः' कहना चाहिए, न कि 'अधोऽधः'। अथवा नीचे-नीचेके नरकोंमें चूँकि दुःख अधिक है आयु भी बड़ी है अतः इनकी अपेक्षा भूमियोंमें भी 'पृथुतरा' व्यवहार यथाकथंचित् किया जा सकता है। फिर भी रत्नप्रभामें 'पृथुतरा' व्यवहार किसी भी तरह नहीं बन सकेगा।

बिलोंकी संख्या–

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

इन रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंमें क्रमशः ३० लाख २५ लाख १५ लाख १० लाख ३ लाख पांच कम एक लाख और ५ बिल हैं।

§ १–२ 'त्रिंशत्' आदि पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध अर्थमें समास है। यथाक्रम कहनेसे क्रमशः संख्याओंका सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

रत्नप्रभाके अब्बहुल भागमें ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर मध्य भागमें नरक हैं। वे इन्द्रक श्रेणि और पुष्पप्रकीर्णकके रूपमें तीन विभागोंमें विभाजित हैं। इसमें १३ नरक प्रस्तार हैं और उनमें सीमन्तक निरय रौरव आदि १३ ही इन्द्रक हैं। शर्कराप्रभामें ११ नरक प्रस्तार और स्तनक संस्तनक आदि ग्यारह इन्द्रक हैं। बालुकाप्रभामें ९ नरक प्रस्तार और तप्त त्रस्त आदि ९ इन्द्रक हैं। पंकप्रभामें ७ नरक प्रस्तार और आर मार आदि सात ही इन्द्रक हैं। धूमप्रभामें ५ नरक प्रस्तार और तम भ्रम आदि ५ इन्द्रक हैं। तमःप्रभामें तीन नरक प्रस्तार और हिमवर्दल और ललक ये तीन ही इन्द्रक हैं। महातमःप्रभामें एक ही इन्द्रक नरक अप्रतिष्ठान नामका है।

सीमन्त इन्द्रक नरककी चारों दिशाओं और चार विदिशाओंमें क्रमबद्ध नरक हैं तथा मध्यमें प्रकीर्णक। दिशाओंकी श्रेणीमें ४९, ४९ नरक हैं तथा विदिशाओंकी श्रेणीमें ४८, ४८। निरय आदि शेष इन्द्रकोंमें दिशा और विदिशाके श्रेणीबद्ध नरकोंकी संख्या क्रमसे एक-एक कम होती गई है। अतः

पृथिवी	श्रेणी और इन्द्रक	पुष्प प्रकीर्णक	योग
१	४४३३	२९९५५६७	३००००००
२	२६९५	२४९७३०५	२५०००००
३	१४८५	१४९८५१५	१५०००००
४	७०७	९९९२९३	१००००००
५	२६५	२९९७३५	३०००००
६	६३	९९९३२	९९९९५
७	५	×	५
	९६५३	८३९०३४७	८४०००००

सातवेंमें विदिशाओंमें नरक नहीं है। पूर्वमें काल, पश्चिममें महाकाल, दक्षिणमें रौरव, उत्तरमें महारौरव और मध्यमें अप्रतिष्ठान है।

इन सातों पृथिवियोंमें कुछ नरक संख्यात लाख योजन विस्तारवाले और कुछ असंख्यात लाख योजन विस्तारवाले हैं। पाँचवें भाग तो संख्यात योजन विस्तारवाले और ४ भाग असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं।

इन्द्रक बिलोंकी गहराई प्रथम नरकमें १ कोश और आगे क्रमशः आधा-आधा कोश बढ़ती हुई सातवेंमें ४ कोश हो जाती है। श्रेणीबद्धकी गहराई अपने इन्द्रककी गहराईसे तिहाई और अधिक है। प्रकीर्णकोंकी गहराई, श्रेणी और इन्द्रक दोनोंकी मिली हुई गहराईके बराबर है। ये सब नरक ऊँट आदिके समान अशुभ आकारवाले हैं। इनके शोचन रोदन आदि भद्दे-भद्दे नाम हैं।

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदना विक्रियाः ॥३॥

नारकी जीवोंके सदा लेश्या, परिणमन, देह, वेदना और विक्रिया सभी अशुभतर होते हैं।

§ १–३ तिर्यञ्चोंकी अपेक्षा अथवा ऊपरके नरकोंकी अपेक्षा नीचे नरकोंमें लेश्या आदि अशुभतर होते हैं।

§ ४ जैसे 'नित्यप्रहसितो देवदत्तः–देवदत्त नित्य हंसता है' यहाँ नित्य शब्द बहुधा अर्थ में है अर्थात् निमित्त मिलनेपर देवदत्त जरूर हंसता है उसी तरह नारकी भी निमित्त मिलनेपर अवश्य ही अशुभतर लेश्यावाले होते हैं। यहाँ नित्यका अर्थ शाश्वत या कूटस्थ नहीं है। अतः लेश्याकी अनिवृत्तिका प्रसंग नहीं होता।

प्रथम और द्वितीय नरकमें कापोतलेश्या, तृतीय नरकमें ऊपर कापोत तथा नीचे नील, चौथेमें नील, पाँचवें में ऊपर नील और नीचे कृष्ण, छठवेंमें कृष्ण, और सातवेंमें परमकृष्ण द्रव्यलेश्या होती है। भावलेश्या तो छहों होती हैं और वे अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती हैं। क्षेत्रके कारण वहाँके स्पर्श, रस गन्ध वर्ण और शब्द परिणमन अत्यन्त दुःखके कारण

होते हैं। उनके शरीर अशुभ नाम कर्मके उदयसे हुंडक संस्थानवाले बीभत्स होते हैं। यद्यपि उनका शरीर वैक्रियिक है फिर भी उसमें मल मूत्र पीब आदि सभी बीभत्स सामग्री रहती है। प्रथम नरकमें शरीरकी ऊंचाई ७ धनुष ३ हाथ और ६ अंगुल है। आगेके नरकोंमें दूनी होकर सातवें नरकमें ५०० धनुष हो जाती है। आभ्यन्तर असातावेदनीय के उदयसे शीत उष्ण आदिकी बाह्य तीव्र वेदनाएं होती हैं। नरकोंमें इतनी गरमी होती है कि यदि हिमालय बराबर तांबेका गोला उसमें डाल दिया जाय तो वह क्षणमात्रमें गल जायगा, और यदि वही पिघला हुआ शीतनरकोंमें डाला जाय तो क्षणमात्रमें ही जम जायगा। आदिके चार नरकोंमें उष्णवेदना है। पाँचवेंके दो लाख बिलोंमें उष्णवेदना तथा शेषमें शीतवेदना है। छठवें और सातवेंमें शीतवेदना ही है। तात्पर्य यह है कि ८२ लाख नरक उष्ण हैं और दो लाख नरक शीत। नारकी जीव विचारते हैं कि शुभ करें पर कर्मोदयसे होता अशुभ ही है। दुःख दूर करनेके जितने उपाय करते हैं उनसे दूना दुःख ही उत्पन्न होता है।

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

§ १ जिस प्रकार एक कुत्ता दूसरे कुत्तेको देखकर अकारण ही भोंकता है और काटता है उसी तरह नारकी तीव्र अशुभ कर्मके उदयसे तथा विभङ्गावधिसे पूर्वकृत वैरके कारणोंको जान जानकर निरन्तर एक दूसरेको तीव्र दुःख उत्पन्न करते रहते हैं। आपसमें मारना काटना छेदना घानीमें पेलना आदि भयंकर दुःख कारणोंको जुटाते रहते हैं।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

पूर्वभवके संक्लेशपरिणामोंसे बाँधे गये अशुभ कर्मके उदयसे सतत संक्लेशपरिणामवाले असुरकुमार चौथे नरकसे पहिले नारकियोंको परस्पर लड़ाते भिड़ाते हैं।

§ १-५ असुर नामक देवगतिके उदयसे असुर होते हैं। सभी असुर संक्लिष्ट नहीं होते किन्तु अम्बरीष आदि जातिके कुछ ही असुर। तीसरी पृथिवी तक ही इनकी गमन शक्ति है। यद्यपि 'आचतुर्भ्यः' कहनेसे लघुता होती फिर भी चूँकि 'आङ्' का अर्थ मर्यादा और अभिविधि दोनों ही होता है अतः सन्देह हो सकता था कि 'चौथी पृथ्वीको भी शामिल करना या नहीं ?' इसलिए स्पष्ट और असन्दिग्ध अर्थबोधके लिए 'प्राक्' पद दिया है।

§ ६ 'च' शब्द पूर्वोक्त दुःख हेतुओंके समुच्चयके लिए है, अन्यथा तीन पृथिवियोंमें पूर्वहेतुओंके अभावका प्रसङ्ग होता।

§ ७ यद्यपि पूर्वसूत्रमें उदीरित शब्द है फिर भी चूँकि वह समासान्तर्गत होनेसे गौण हो गया है अतः उसका यहाँ सम्बन्ध नहीं हो सकता था अतः इस सूत्रमें पुनः 'उदीरित' शब्द दिया है।

§ ८ यद्यपि 'परस्परेणोदीरितदुःखाः संक्लिष्टासुरैश्च प्राक् चतुर्थ्याः' ऐसा एक वाक्य बनाया जा सकता था फिर भी उदीरणाके विविध प्रकारोंके प्रदर्शनके लिए पृथक् उदीरित शब्द देकर पूर्वोक्त सूत्र बनाए हैं। नरकोंमें असुर कुमार जातिके देव परस्पर तपे हुए लोहेको पिलाना, जलते हुए लोहस्तम्भसे चिपटा देना, लौह-मुद्गरोंसे ताड़ना, बसूला-छुरी तलवार आदिसे काटना, तप्त तैलसे सींचना, भाँड़में भूँजना, लोहेके घड़ेमें पका देना, कोल्हूमें पेल देना, शूली पर चढ़ा देना, करोंतसे काट देना, सुई जैसी घास पर घसीटना, सिंह

व्याघ्र कौआ उल्लू आदिके द्वारा खिलाया जाना, गरम रेत पर सुला देना, वैतरिणीमें पटकना आदिके द्वारा नारकियोंके तीव्र दुःखके कारण होते हैं। वे ऐसे कलहप्रिय और संक्लेशमना हैं कि जब तक वे इस प्रकारकी मारकाट मार-धाड़ आदि नहीं करा लेते तब तक उन्हें शान्ति नहीं मिलती जैसे कि यहाँ कुछ रुद्र लोग मेढ़ा तीतर मुर्गा बटेर आदिको लड़ाकर अपनी रौद्रानन्दी कुटेवकी तृप्ति करते हैं। यद्यपि उनके देवगति नामकर्मका उदय है फिर भी उनके माया मिथ्या निदान शल्य, तीव्र कषाय आदिसे ऐसा अकुशलानुबन्धी पुण्य बंधा है जिससे उन्हें अशुभ और संक्लेशकारक प्रवृत्तियोंमें ही आनन्द आता है। इस तरह भयंकर छेदन भेदन आदि होनेपर भी नारकियोंकी कभी अकालमृत्यु नहीं होती।

नारकियोंकी आयु-

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

इन नरकोंके जीवोंकी क्रमशः एक तीन सात दस सत्रह बाईस और तेंतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

§ १-२ सागरमें जिस प्रकार अपार जलराशि होती है उसी तरह नारकियोंकी आयुमें निषेकोंकी संख्या अपार होती है अतः सागरकी उपमासे आयुका निर्देश किया है। एक आदि शब्दोंका द्वन्द्व समास करके सागरोपमा विशेषणसे अन्वय कर देना चाहिए। **प्रश्न**-जब 'एका च तिस्रश्च' इत्यादि विग्रहमें एक शब्द स्त्रीलिंग है तब सूत्रमें उसका पुल्लिंग रूपसे निर्देश कैसे हो गया ? **उत्तर**-यह पुल्लिंग निर्देश नहीं है किन्तु 'एकस्याः क्षीरम् एकक्षीरम्'की तरह औत्तरपदिक ह्रस्वत्व है। अथवा 'सागर उपमा यस्य तत् सागरोपमम् आयुः' फिर, 'एकं च त्रीणि च' आदि विग्रह करके स्त्रीलिंग स्थिति शब्दसे बहुव्रीहि समास करने पर स्थिति शब्दकी अपेक्षा स्त्रीलिंग निर्देश है।

§ ३ द्वितीय सूत्रसे 'यथाक्रमम्'का अनुवर्तन करके क्रमशः रत्नप्रभा आदिसे सम्बन्ध कर लेना चाहिए। रत्नप्रभाकी एक सागर, शर्करा प्रभाकी तीन सागर आदि।

§ ४-५ **प्रश्न**-'तेषु' कहनेसे रत्नप्रभा पृथिवीके सीमन्तक आदि नरक पटलोंमें ही पूर्वोक्त स्थितिका सम्बन्ध होना चाहिए; क्योंकि प्रकरण-सामीप्य इन्हींसे है। पर यह आपको इष्ट नहीं है। अतः 'तेषु' यह पद निरर्थक है। **उत्तर**-जो रत्नप्रभा आदिसे उपलक्षित तीस लाख पच्चीस लाख आदिरूपसे नरकबिल गिने गए हैं उन नरकोंके जीवोंकी एक सागर आदि आयु विवक्षित है। अथवा, नरक सहचरित भूमियोंको भी नरक ही कहते हैं, अतः इन रत्नप्रभा आदि नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी यह स्थिति है। इसीलिए 'तेषु' पद की सार्थकता है, अन्यथा भूमिसे आयुका सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता क्योंकि वे व्यवहित हो गई हैं।

§ ६ 'सत्त्वानाम्' यह स्पष्ट पद दिया है अतः नरकवासी जीवोंकी यह स्थिति है न कि नरकों की।

§ ७ परा अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति। रत्नप्रभा आदिमें प्रस्तार क्रमसे जघन्य स्थिति इस प्रकार है-

	प्रस्तार	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	सीमन्तक	दस हजार वर्ष	९० हजार वर्ष
२	निरय	९० हजार वर्ष	९० लाख वर्ष
३	रौरुक	१ पूर्व कोटी	असंख्यात पूर्व कोटी
४	भ्रान्त	असंख्यात पूर्व कोटी	$\frac{१}{१०}$ सागर
५	उद्भ्रान्त	$\frac{१}{१०}$ सागर	$\frac{२}{१०}$ सागर
६	सम्भ्रान्त	$\frac{२}{१०}$ सागर	$\frac{३}{१०}$ सागर
७	असम्भ्रान्त	$\frac{३}{१०}$ सागर	$\frac{४}{१०}$ सागर
८	विभ्रान्त	$\frac{४}{१०}$ सागर	$\frac{५}{१०}$ सागर
९	तप्त	$\frac{५}{१०}$ सागर	$\frac{६}{१०}$ सागर
१०	त्रस्त	$\frac{६}{१०}$ सागर	$\frac{७}{१०}$ सागर
११	व्युत्क्रान्त	$\frac{७}{१०}$ सागर	$\frac{८}{१०}$ सागर
१२	अवक्रान्त	$\frac{८}{१०}$ सागर	$\frac{९}{१०}$ सागर
१३	विक्रान्त	$\frac{९}{१०}$ सागर	१ सागर

जघन्य स्थितिसे एक समय अधिक और उत्कृष्टसे एक समय कमके समस्त विकल्प रूप मध्य स्थिति है।

इसी तरह शर्कराप्रभा आदिमें भी प्रति प्रस्तार जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति समझ लेनी चाहिए। उसका नियम यह है–

उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिका अन्तर निकालकर प्रतरोंकी संख्यासे उसे विभाजित करके पहिली पृथिवीकी उत्कृष्ट स्थितिमें जोड़नेपर दूसरी पृथिवीके प्रथम पटलकी उत्कृष्ट स्थिति होती है। आगे वही इष्ट जोड़ते जाना चाहिए। जैसे शर्कराप्रभाकी उत्कृष्ट ३ सागर और जघन्य एक सागर है। दोनोंका अन्तर २ आया। इसमें प्रतरसंख्या ११ का भाग देने पर $\frac{२}{११}$ इष्ट हुआ। इसे प्रतिपटलमें बढ़ानेपर अवान्तर पटलोंकी उत्कृष्ट स्थिति हो जाती है। पहिली पहिली पृथिवीकी तथा पहिले पहिले पटलोंकी उत्कृष्ट स्थिति आगे आगेकी पृथिवियों और पटलोंमें जघन्य हो जाती है।

उत्पत्तिका विरहकाल–सभी पृथिवियोंमें जघन्य एक समय और उत्कृष्ट क्रमशः २४ मुहूर्त, सात रात-दिन, एक पक्ष, एक माह, दो माह, चार माह और छह माह होता है।

उत्पाद और नियति–असंज्ञी प्रथम पृथिवी तक, सरीसृप द्वितीय तक, पक्षी तीसरी तक, सर्प चौथी तक, सिंह पाँचवीं तक, स्त्रियाँ छठवीं तक और मत्स्य तथा मनुष्य सातवीं पृथिवी तक उत्पन्न होते हैं। देव नरकमें और नारकी देवोंमें उत्पन्न नहीं हो सकते। पहिले नरकमें उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वी नारक कोई मिथ्यात्वके साथ कोई सासादन होकर और कोई सम्यक्त्वको प्राप्त करके निकलते हैं। पहिली पृथिवीमें उत्पन्न होनेवाले बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शनके साथ ही निकलते हैं। द्वितीय आदि पाँच नरकोंमें उत्पन्न मिथ्यादृष्टि नारक कुछ मिथ्यात्वके साथ कुछ सासादनके साथ और कुछ सम्यक्त्व प्राप्त करके निकलते हैं। सातवें नरकमें मिथ्यात्वसे ही प्रविष्ट होते हैं तथा मिथ्यात्वके साथ ही निकलते हैं। छठवीं पृथिवी तक नारक मिथ्यात्व और सासादनके साथ निकलकर तिर्यञ्च और मनुष्य दो गतियोंको प्राप्त करते हैं। तिर्यञ्चोंमें पंचेन्द्रिय गर्भज संज्ञी पर्याप्तक

संख्येय वर्षकी आयुवाले तिर्यञ्च होते हैं। मनुष्योंमें गर्भज पर्याप्तक संख्येय वर्षकी आयुवाले ही मनुष्य होते हैं। सम्यङ्मिथ्यादृष्टि नारकोंका उसी गुणस्थानमें मरण नहीं होता। सम्यग्दृष्टि नारक सम्यक्त्वके साथ निकलकर केवल मनुष्यगतिमें ही जाते हैं। मनुष्योंमें भी गर्भज पर्याप्तक संख्येय वर्षकी आयुवाले मनुष्योंमें ही उत्पन्न होते हैं। सातवें नरकसे नारक मिथ्यात्वके साथ निकलकर एक तिर्यञ्च गतिमें ही जाते हैं। तिर्यञ्चोंमें भी पंचेन्द्रिय गर्भज संख्येय वर्षकी आयुवाले ही होते हैं। वहाँ उत्पन्न होकर भी मति, श्रुत, अवधिज्ञान, सम्यक्त्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और संयमासंयमको उत्पन्न नहीं कर सकते। छठवें नरकसे निकलकर तिर्यञ्च और मनुष्योंमें उत्पन्न हुए कोई जीव मति श्रुत अवधिज्ञान सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व और देशसंयम इन छहोंको प्राप्त कर सकते हैं। पाँचवींसे निकलकर तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हुए कोई जीव पूर्वोक्त छह स्थानोंको प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्योंमें उत्पन्न हुए जीव उक्त छहके साथ ही साथ पूर्ण संयम और मनःपर्यय ज्ञानको भी प्राप्त कर सकते हैं। चौथीसे निकलकर तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हुए कोई जीव मति आदि छहको ही प्राप्त कर सकते हैं, अधिकको नहीं। मनुष्योंमें उत्पन्न हुए केवल ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं। मोक्ष जा सकते हैं पर बलदेव वासुदेव चक्रवर्ती और तीर्थंकर नहीं हो सकते। तीसरी पृथिवी तकके तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हुए जीव पूर्वोक्त छह स्थानोंको प्राप्त कर सकते हैं, मनुष्योंमें उत्पन्न जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं, मोक्ष भी जा सकते हैं, पर बलदेव वासुदेव और चक्रवर्ती नहीं होते।

तिर्यग् लोकका वर्णन–

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

चूँकि स्वयंभूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप समुद्र तिर्यक्-समभूमि पर तिरछे व्यवस्थित हैं अतः इसको तिर्यक् लोक कहते हैं।

जम्बूद्वीप लवणसमुद्र आदि शुभनामवाले द्वीप और समुद्र हैं।

§ १ अतिविशाल महान् जम्बूवृक्षका आधार होनेसे यह द्वीप जम्बूद्वीप कहलाता है। उत्तरकुरुक्षेत्रमें ५०० योजन लम्बी-चौड़ी तिगुनी परिधिवाली, बीचमें बारह योजन मोटी और अन्तमें दो कोश मोटी भूमि है। उसके मध्यभागमें ८ योजन लंबा ४ योजन चौड़ा इतना ही ऊँचा एक पीठ है। यह पीठ १२ पद्मवरवेदिकाओंसे परिवेष्टित है। उन वेदिकाओंमें प्रत्येकमें चार चार शुभ्र तोरण हैं। इन पर सुवर्णस्तूप बने हैं। उसके ऊपर एक योजन लम्बा चौड़ा दो कोस ऊँचा मणिमय उपपीठ है। इस पर दो योजन ऊँची पीठवाला ६ योजन ऊंचा मध्यमें ६ योजन विस्तारवाला और आठ योजन लम्बा सुदर्शन नामका जम्बूवृक्ष है। इसके चारों ओर इससे आधे लम्बे चौड़े और ऊँचे १०८ परिवारभूत जम्बूवृक्ष और हैं।

§ २ खारे जलवाला होनेसे इस समुद्रका नाम 'लवणोद' पड़ा है।

इस तिर्यक्लोकमें जम्बूद्वीप, लवणोद, धातकीखंड, कालोद, पुष्करवर, पुष्करोद, वारुणीवर, वारुणोद, क्षीरवर, क्षीरोद, घृतवर, घृतोद, इक्षुवर, इक्षूद, नन्दीश्वरवर, नन्दीश्वरोद इत्यादि शुभ नामवाले असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। अन्तमें स्वयम्भूरमणद्वीप और स्वयम्भूरमणोद समुद्र है। अढ़ाई सागर कालके समयोंकी संख्याके बराबर द्वीप-समुद्रोंकी संख्या है।

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

क्रमशः दूने दूने विस्तारवाले और उत्तरोत्तर द्वीप समुद्र पूर्व पूर्वको घेरे हुए हैं और चूड़ीके आकार हैं।

§ १-३ पहिले द्वीपका जितना विस्तार है उससे दूना उसको घेरनेवाला समुद्र है उससे दूना उसको घेरनेवाला द्वीप है इस प्रकार आगे आगे दूने दूने विस्तारका स्पष्ट प्रतिपादन करनेके लिए 'द्विर्द्विः' ऐसा वीप्सार्थक निर्देश किया है। यद्यपि 'द्विदशा' की तरह समास करनेसे वीप्सा-अभ्यावृत्तिकी प्रतीति हो जाती पर यहां स्पष्ट ज्ञान करानेके लिए 'द्विर्द्विः' यह स्फुट निर्देश किया गया है।

ये द्वीप समुद्र ग्राम नगर आदिकी तरह बेसिलसिलेके नहीं बसे हैं किन्तु पूर्वपूर्वको घेरे हुए हैं और न ये चौकोर तिकोने पंचकोने षट्कोने आदि हैं किन्तु गोल हैं।

जम्बू द्वीपका वर्णन-

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

सभी द्वीप समुद्रोंके बीचमें एकलाखयोजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। इसके बीच में नाभिकी तरह गोलाकार सुमेरु पर्वत है।

§ १ 'तत्' शब्द पूर्वोक्त असंख्य द्वीपसमुद्रोंका निर्देश करता है। जम्बूद्वीप की परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोश १२८ धनुष १३॥ अंगुलसे कुछ अधिक है। इस जम्बूद्वीपके चारों ओर एक वेदिका है। यह आधा योजन मोटी, आठ योजन ऊंची, मूल मध्य और अन्तमें क्रमशः १२, ८ और ४ योजन विस्तृत, वज्रमयतलवाली, वैडूर्यमणिमय ऊपरी भागवाली; मध्यमें सर्वरत्नखचित, झरोखा, घंटा, मोती सोना मणि पद्ममणि आदिकी नौ जालियोंसे भूषित है। ये जालियाँ आधे योजन ऊंची पाँच सौ धनुष चौड़ी और वेदिकाके समान लम्बी हैं। इसके चारों दिशाओंमें विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित नामके चार महाद्वार हैं। ये आठ योजन ऊंचे और चार योजन चौड़े हैं। विजय और वैजयन्तका अन्तराल ७९००५२$\frac{3}{4}$ योजन $\frac{3}{4}$ कोश ३२ धनुष ३$\frac{1}{4}$ अंगुल अंगुलका $\frac{1}{2}$ भाग तथा कुछ अधिक है।

सात क्षेत्र-

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

§ १ विजयार्धसे दक्षिण, समुद्रसे उत्तर और गंगा सिन्धु नदियोंके मध्य भागमें १२ योजन लम्बी ९ योजन चौड़ी विनीता नामकी नगरी थी। उसमें भरत नामका षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती हुआ था। उसने सर्वप्रथम राजविभाग करके इस क्षेत्रका शासन किया था अतः इसका नाम भरत पड़ा।

§ २ अथवा, जैसे संसार अनादि है उसी तरह क्षेत्र आदिके नाम भी बिना किसी कारणके स्वाभाविक अनादि हैं।

§ ३ तीन ओर समुद्र और एक ओर हिमवान् पर्वतके बीचमें भरतक्षेत्र है। इसके गंगा सिन्धु और विजयार्ध पर्वतसे विभक्त होकर छह खंड हो जाते हैं।

§ ४ चक्रवर्त्तीके विजयक्षेत्रकी आधी सीमा इस पर्वतसे निर्धारित होती है। अतः इसे विजयार्ध कहते हैं। यह ५० योजन विस्तृत २५ योजन ऊँचा ६। योजन गहरा है और अपने दोनों छोरोंसे पूर्व और पश्चिमके समुद्रको स्पर्श करता है। इसके दोनों ओर आधा योजन चौड़े और पर्वत बराबर लंबे वनखंड हैं। ये वन आधा योजन ऊंची पांच सौ धनुष चौड़ी और वन बराबर लंबी वेदिकाओंसे घिरे हुए हैं। इस पर्वतमें तमिस्र और खण्डप्रपात नामकी दो गुफाएँ हैं। ये गुफाएँ उत्तर दक्षिण ५० योजन लंबी पूर्व-पश्चिम १२ योजन चौड़ी हैं। इसके उत्तर दक्षिण दिशाओंमें ८ योजन ऊँचे दरवाजे हैं। इनमें ६$\frac{1}{2}$ योजन चौड़े एक कोश मोटे और आठ योजन ऊँचे वज्रमय किवाड़ लगे हैं। इनसे चक्रवर्त्ती उत्तरभरत विजयार्धको जाता है। इन्हींसे गंगा और सिन्धु निकली हैं। इनमें विजयार्धसे निकली हुई उन्मग्नजला और निमग्नजला दो नदियाँ मिलती हैं। इसी पहाड़की तलहटीमें भूमितलसे दस योजन ऊपर दोनों ओर दस योजन चौड़ी और पर्वत बराबर लम्बी विद्याधर श्रेणियां हैं। दक्षिण श्रेणीमें रथनूपुर चक्रवाल आदि ५० विद्याधरनगर हैं। उत्तर श्रेणीमें गगनवल्लभ आदि ६० विद्याधर नगर हैं। यहाँके निवासी भी यद्यपि भरतक्षेत्रकी तरह षट्कर्मसे ही आजीविका करते हैं, किन्तु प्रज्ञप्ति आदि विद्याओंको धारण करनेके कारण विद्याधर कहे जाते हैं। इनसे दश योजन ऊपर दोनों ओर दश योजन विस्तृत व्यन्तर श्रेणियाँ हैं। इनमें इन्द्रके सोम यम वरुण और वैश्रवण ये चार लोकपाल तथा आभियोग्य व्यन्तरोंका निवास है। इससे पाँच योजन ऊपर दश योजन विस्तृत शिखरतल है। पूर्वदिशामें ६। योजन ऊंचा तथा इतना ही विस्तृत, वेदिकासे वेष्टित सिद्धायतनकूट है। इसपर उत्तर दक्षिण लंबा, पूर्व-पश्चिम चौड़ा, एक कोस लंबा, आधा कोस चौड़ा कुछ कम एक कोस ऊंचा, वेदिकासे वेष्टित, चतुर्दिक् द्वारवाला सुन्दर जिनमन्दिर है। इसके बाद दक्षिणार्ध भरतकूट खण्डकप्रपातकूट माणिकभद्रकूट विजयार्धकूट पूर्णभद्रकूट तमिस्रगुहाकूट उत्तरार्धभरतकूट और वैश्रवणकूट ये आठ कूट सिद्धायतनकूटके समान लंबे चौड़े ऊंचे हैं। इनके ऊपर क्रमशः दक्षिणार्धभरतदेव वृत्तमाल्यदेव माणिभद्रदेव विजयार्धगिरिकुमारदेव पूर्णभद्रदेव कृतमालदेव उत्तरार्धभरतदेव और वैश्रवणदेवोंके प्रासाद हैं।

§ ५-७ हिमवान् नामके पर्वतके पासका क्षेत्र, या जिसमें हिमवान् पर्वत है वह हैमवत है। यह क्षुद्रहिमवान् और महाहिमवान् तथा पूर्वापर समुद्रोंके बीचमें है। इसके बीचमें शब्दवान् नामका वृत्तवेदाढ्य पर्वत है। यह एक हजार योजन ऊंचा, २५० योजन जड़में, ऊपर और मूलमें एक हजार योजन विस्तारवाला है। इसके चारों ओर आधा योजन विस्तारवाली तथा चतुर्दिक् द्वारवाली वेदिका है। उसके तलमें ६२$\frac{1}{2}$ योजन ऊंचा ३१$\frac{1}{4}$ योजन विस्तृत स्वातिदेवका विहार है।

§ ८-१० हरि अर्थात् सिंहके समान शुक्ल रूपवाले मनुष्य इसमें रहते हैं अतः यह हरिवर्ष कहलाता है। यह निषधसे दक्षिण महाहिमवान्से उत्तर और पूर्वापर समुद्रोंके मध्यमें है। इसके बीचमें विकृतवान् नामका वृत्तवेदाढ्य है। इसपर अरुणदेवका विहार है।

§ ११-१२ निषधसे उत्तर नील पर्वतसे दक्षिण और पूर्वापरसमुद्रोंके मध्यमें विदेह क्षेत्र है। इसमें रहनेवाले मनुष्य सदा विदेह अर्थात् कर्मबन्धोच्छेदके लिए यत्न करते रहते हैं इसलिए इस क्षेत्रको विदेह क्षेत्र कहते हैं। यहाँ कभी भी धर्मका उच्छेद नहीं होता।

§ १३ यह पूर्वविदेह अपरविदेह उत्तरकुरु और देवकुरु इन चार भागोंमें विभाजित है। भरतक्षेत्रके दिग्विभागकी अपेक्षा मेरुके पूर्वमें पूर्वविदेह, उत्तरमें उत्तर कुरु, पश्चिममें अपर विदेह और दक्षिणमें देवकुरु है। विदेहके मध्यभागमें मेरु पर्वत है। उसकी चारों दिशाओंमें चार वक्षार पर्वत हैं।

सीतानदीके पूर्वकी ओर जम्बूवृक्ष है। उसके पूर्व दिशाकी शाखा पर वर्तमान प्रासादमें जम्बूद्वीपाधिपति अनावृत नामका व्यन्तरेश्वर रहता है। तथा अन्य दिशाओंमें उसके परिवारका निवास है।

नीलकी दक्षिण दिशामें एक हजार योजन तिरछे जानेपर सीतानदीके दोनों तटोंपर दो यमकाद्रि हैं।

सीतानदीसे पूर्वविदेहके दो भाग हो जाते हैं–उत्तर और दक्षिण। उत्तरभाग चार वक्षार पर्वत और तीन विभंग नदियोंसे बंट जाता है और ये आठों भूखण्ड आठ चक्रवर्तियोंके उपभोग्य होते हैं। कच्छ सुकच्छ महाकच्छ कच्छक कच्छकावर्त लांगलावर्त पुष्कल और पुष्कलावर्त ये उन देशोंके नाम हैं। उनमें क्षेमा क्षेमपुरी अरिष्टा अरिष्टपुरी खड्गा मंजूषा ओषधि और पुण्डरीकिणी ये आठ राजनगरियाँ हैं। कच्छदेशमें पूर्व पश्चिम लंबा विजयार्ध पर्वत है। वह गंगा सिन्धु और विजयार्धसे बंटकर छह खंडको प्राप्त हो जाता है। इसी तरह दक्षिण पूर्वविदेह भी चार वक्षार और तीन विभंग नदियोंसे विभाजित होकर आठ चक्रवर्तियोंके उपभोग्य होता है। वत्सा सुवत्सा महावत्सा वत्सावती रम्या रम्यका रमणीया और मंगलावती ये आठ देशोंके नाम हैं।

इसी तरह अपर विदेह भी उत्तर-दक्षिण विभक्त होकर आठ-आठ देशोंमें विभाजित होकर आठ-आठ चक्रवर्तियोंके उपभोग्य होता है।

विदेहके मध्यमें मेरु पर्वत है। यह ९९ हजार योजन ऊंचा, पृथिवीतलमें एक हजार योजन नीचे गया है। इसके ऊपर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पांडुक ये चार वन हैं। पांडुक वनमें बीचोबीच मेरुकी शिखर प्रारम्भ होती है। उस शिखरकी पूर्व दिशामें पांडुक शिला, दक्षिणमें पाण्डुकम्बल शिला, पश्चिममें रक्तकम्बल शिला और उत्तरमें अतिरक्त कम्बल नामकी शिला हैं। उनपर पूर्वमुख सिंहासन रखे हुए हैं। पूर्व सिंहासनपर पूर्वविदेहके तीर्थङ्करोंका, दक्षिणके सिंहासनपर भरतक्षेत्रके तीर्थङ्करोंका, पश्चिममें अपर विदेहके तीर्थङ्करोंका और उत्तरमें ऐरावतके तीर्थङ्करोंका जन्माभिषेक देवगण करते हैं। यह मेरु पर्वत तीनों लोकोंका मानदंड है। इसके नीचे अधोलोक, चूलिकाके ऊपर ऊर्ध्वलोक है और मध्यमें तिरछा फैला हुआ मध्यलोक है। इत्यादि विदेह क्षेत्रका विस्तृत वर्णन मूल-ग्रन्थसे जान लेना चाहिए।

§ १४-१६ नील पर्वतके उत्तर, रुक्मि पर्वतके दक्षिण तथा पूर्व-पश्चिम समुद्रोंके बीच रम्यक क्षेत्र है। रमणीय देश नदी-पर्वतादिसे युक्त होनेके कारण इसे रम्यक कहते हैं। वैसे 'रम्यक' नाम रूढ़ ही है। रम्यक क्षेत्रके मध्यमें गन्धवान् नामक वृत्तवेदाढ्य है। यह शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यके समान लम्बा-चौड़ा है। इसपर पद्मदेवका निवास है।

§ १७-१९ रुक्मिके उत्तर शिखरीके दक्षिण तथा पूर्व पश्चिम समुद्रोंके बीच हैरण्यवत क्षेत्र है। हिरण्यवाले रुक्मि पर्वतके पास होनेसे इसका नाम हैरण्यवत पड़ा है।

इसमें शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यकी तरह माल्यवान् वृत्तवेदाढ्य है। इसपर प्रभासदेवका निवास है।

§ २०–२२ शिखरी पर्वत तथा पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर समुद्रोंके बीच ऐरावत क्षेत्र है। रक्ता तथा रक्तोदा नदियोंके बीच अयोध्या नगरी है। इसमें एक ऐरावत नामका राजा हुआ था। उसके कारण इस क्षेत्रका ऐरावत नाम पड़ा है। इसके बीचमें विजयार्ध पर्वत है।

पर्वतोंका वर्णन–

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

पूर्व और पश्चिम लवण समुद्र तक लम्बे हिमवन् महाहिमवन् निषध नील रुक्मी और शिखरी ये छह पर्वत हैं। इन पर्वतोंके कारण भरत आदि क्षेत्रोंका विभाग होता है अतः ये वर्षधर पर्वत कहे जाते हैं।

§ १–२ हिम जिसमें पाया जाय वह हिमवान्। चूँकि सभी पर्वतोंमें हिम पाया जाता है अतः रूढ़िसे ही इसकी हिमवान् संज्ञा समझनी चाहिए। यह भरत और हैमवत क्षेत्रकी सीमापर स्थित है। इसे क्षुद्रहिमवान् कहते हैं। यह २५ योजन पृथ्वीके नीचे, १०० योजन ऊंचा १०५२$\frac{१२}{१९}$ योजन विस्तृत है। इसके ऊपर पूर्व दिशामें सिद्धायतन कूट है। पश्चिम दिशामें हिमवत् भरत इला गंगा श्री रोहितास्या सिन्धु सुरा हैमवत् और वैश्रवण ये दश कूट हैं इन सब पर चैत्यालय और प्रासाद हैं। इनमें हिमवत् भरत हैमवत् और वैश्रवण कूट पर इन्हीं नामवाले देव तथा शेष कूटों पर उसी नामवाली देवियाँ रहती हैं।

§ ३–४ महाहिमवान् संज्ञा रूढ़िसे है। यह हैमवत और हरिवर्षका विभाग करनेवाला है। ५० योजन गहरा २०० योजन ऊंचा और ४२१०$\frac{१२}{१९}$ योजन विस्तृत है। इसपर सिद्धायतन महाहिमवत् हैमवत् रोहित् हरि हरिकान्ता हरिवर्ष और वैडूर्य ये आठ कूट है। कूटोंमें चैत्यालय और प्रासाद है। प्रासादोंमें कूटके नामवाले देव और देवियाँ निवास करती हैं।

§ ५–६ जिसपर देव और देवियाँ क्रीड़ा करें वह निषध। यह संज्ञा रूढ है। यह हरि और विदेह क्षेत्रकी सीमा पर है। यह १०० योजन गहरा ४०० योजन ऊंचा और १६८४२$\frac{२}{१९}$ योजन विस्तृत है। इस पर सिद्धायतन निषध हरिवर्ष पूर्वविदेह हरि धृति सीतोदा अपरविदेह और रुचकनामके नव कूट हैं। कूटोंपर चैत्यालय और देवप्रासाद हैं। इनमें कूटोंके नामवाले देव और देवियाँ रहती है।

§ ७–८ नीलवर्ण होनेके कारण इसे नील कहते हैं। वासुदेवकी कृष्णसंज्ञाकी तरह यह संज्ञा है। यह विदेह और रम्यक क्षेत्रकी सीमापर स्थित है। इसका विस्तार आदि निषधके समान है। इस पर सिद्धायतन नील पूर्वविदेह सीता कीर्ति नरकान्ता अपरविदेह रम्यक और आदर्शक ये नव कूट हैं। इन पर चैत्यालय और प्रासाद हैं। प्रासादोंमें अपने कूटों के नाम वाले देव और देवियाँ रहती हैं।

§ ९–१० चाँदी जिसमें पाई जाय वह रुक्मी। यह रूढ संज्ञा है जैसे कि हाथीकी करिसंज्ञा। यह रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रका विभाग करता है। इसका विस्तार आदि महा-

हिमवान्के समान है। इस पर सिद्धायतन रुक्मि रम्यक नारी बुद्धि रूप्यकूला हैरण्यवत और मणिकांचन ये आठ कूट हैं। इनपर जिन-मन्दिर और प्रासाद हैं। प्रासादोंमें अपने कूटके नामवाले देव और देवियाँ रहती हैं।

§ ११-१२ जिसके शिखर हों यह शिखरी। यह रूढ संज्ञा है जैसे कि मोरकी शिखंडी संज्ञा। यह हैरण्यवत और ऐरावतकी सीमा पर पुलके समान स्थित है। इसका विस्तार आदि हिमवान्के समान है। इसपर सिद्धायतन शिखरी हैरण्यवत रसदेवी रक्तावती इलक्ष्णकूला लक्ष्मी गन्धदेवी ऐरावत मणि और कांचन ये ११ कूट हैं। इनपर जिनायतन और प्रासाद हैं। प्रासादोंमें अपने कूटके नामवाले देव और देवियाँ रहती हैं।

पर्वतोंका रंग-

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

हिमवान् हेममय चीनपट्टवर्ण का है। महाहिमवान् अर्जुनमय शुक्लवर्ण है। निषध तपनीयमय मध्याह्नके सूर्यके समान वर्णवाला है। नील वैडूर्यमय मोरके कंठके समान वर्णका है। रुक्मी रजतमय शुक्लवर्णवाला है। शिखरी हेममय चीनपट्टवर्णका है।

'मय' विकारार्थक है। हरएक पर्वतके दोनों ओर वनखंड और वेदिकाएँ हैं।

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

इन पर्वतोंके पार्श्वभाग रंग विरंगी मणियोंसे चित्रविचित्र हैं और ये ऊपर नीचे और मध्यमें तुल्य विस्तारवाले हैं।

§ १ उपरि आदि वचन अनिष्ट संस्थानकी निवृत्तिके लिए है। च शब्दसे मध्यका ग्रहण कर लेना चाहिये।

सरोवरोंका वर्णन-

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि॥१४॥

इन सरोवरोंके ऊपर पद्म महापद्म तिगिञ्छ केसरी महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके छह सरोवर हैं।

§ १ पद्म आदि कमलोंके नाम हैं। इनके साहचर्यसे सरोवरोंकी भी पद्म आदि संज्ञाएँ हैं।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

प्रथम सरोवर पूर्व-पश्चिम एक हजार योजन लम्बा और उत्तर दक्षिण पाँच सौ योजन चौड़ा है। इसका वज्रमय तल और मणिजटित तट है। यह आधी योजन ऊँची और पांच सौ धनुष विस्तृत पद्मवरवेदिकासे वेष्टित है। चारों ओर यह मनोहर वनोंसे शोभायमान है। विमल स्फटिककी तरह स्वच्छ जलवाला विविध जलपुष्पोंसे परितः विराजित शरत्कालमें चन्द्रतारा आदिके प्रतिबिम्बोंसे चमचमायमान यह सरोवर ऐसा मालूम होता है मानो आकाश ही पृथ्वीपर उलट गया हो।

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

पहिले सरोवरकी गहराई दस योजन है।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

इसके मध्यमें एक योजनका कमल है। इसके पत्ते एक एक कोसके और कर्णिका दो कोस विस्तृत है। जलसे दो कोस ऊंचा नाल है और पत्रोंका भाग भी दो कोस ऊंचा ही है। इसका मूलभाग वज्रमय, कन्द अरिष्ट मणिमय, मृणाल रजतमणिमय और नाल वैडूर्यमणिमय है। इसके बाहरी पत्ते सुवर्णमय, भीतरी पत्ते चाँदीके समान, केसर सुवर्णके समान और कर्णिका अनेक प्रकारकी चित्रविचित्र मणियोंसे युक्त है। इसके आसपास १०८ कमल और भी हैं। इसके ईशान उत्तर और वायव्यमें श्रीदेवी और सामानिक देवोंके चार हजार कमल हैं। आग्नेयमें अभ्यन्तर परिषद्के देवोंके बत्तीस हजार कमल हैं। दक्षिणमें मध्यम परिषद्-देवोंके चालीस हजार कमल हैं। नैर्ऋत्यमें बाह्यपरिषद् देवोंके अड़तालीस हजार कमल हैं। पश्चिममें सात अनीक महत्तरोंके सात कमल हैं। चारों दिशाओंमें आत्मरक्ष देवोंके सोलह हजार कमल हैं। ये सब परिवार कमल मुख्य कमलसे आधे ऊंचे हैं।

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

आगेके सरोवरों और कमलोंका विस्तार दूना दूना है।

§ १ पद्मह्रदसे दूना लम्बा-चौड़ा और गहरा महापद्मह्रद, महापद्मह्रदसे दूना लम्बा चौड़ा और गहरा तिगिंछह्रद है। इसी तरह कमल भी दूने लम्बे-चौड़े हैं।

§ २-४ **प्रश्न**-यदि पद्मह्रदसे आगेके दो सरोवरोंको ही दूना दूना कहना है तो 'द्विगुणाः' यहाँ बहुवचन न कहकर द्विवचन कहना चाहिए? **उत्तर**-'आदि और अन्तके पद्म और पुण्डरीकह्रदसे दक्षिण और उत्तरके दो दो ह्रद दूने-दूने प्रमाणवाले हैं।' इस अर्थकी अपेक्षा बहुवचनका प्रयोग किया है। यद्यपि सूत्रमें दिये गये 'तत्' शब्दसे पद्मह्रदका ही ग्रहण होता है फिर भी व्याख्यानसे विशेष अर्थका बोध होता है। आगे 'उत्तरा दक्षिणतुल्याः' सूत्रसे भी इसी अर्थका समर्थन होता है।

प्रश्न-यदि 'तत्' शब्दका द्विगुणशब्दसे समास किया जाता है तो 'तद्द्विगुण' शब्दका ही द्वित्व होगा न कि केवल द्विगुणशब्द का। यदि पहिले द्विगुणशब्दको द्वित्व किया जाता है तो 'तत्' शब्दसे समास नहीं हो सकेगा। यदि वीप्सार्थक द्वित्व किया जाता है तो वाक्य ही रह जायगा। **उत्तर**-'तत्' यह अपादानार्थक निपात है। अतः 'ततो द्विगुणद्विगुणाः' 'तद्द्विगुणद्विगुणाः' पद बन जाता है।

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

इन कमलोंकी कर्णिकाके बीचमें शरत्कालीन चन्द्रकी तरह समुज्ज्वल प्रासाद हैं।

ये प्रासाद एक कोस लंबे, आधे कोस चौड़े और कुछ कम एक कोस ऊंचे हैं। इनमें श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी सामानिक और पारिषत्क जातिके देवोंके साथ रहती हैं।

§ १-३ श्री आदिका द्वन्द्व समास है। वे क्रमशः पद्म आदि ह्रदोंमें रहती हैं। इनकी आयु एक पल्य की है। ये सामानिक और पारिषत्क जातिके देवोंके साथ निवास करती हैं।

नदियोंका वर्णन–

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्ता-सुवर्णकूलारूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

इन क्षेत्रोंके मध्यमें गंगा आदि चौदह नदियाँ हैं।

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

गंगा सिन्धु आदि नदी युगलोंमें प्रथम नदी पूर्व समुद्रमें जाकर मिलती है।

§ १–२ दो-दो नदियाँ एक-एक क्षेत्रमें बहती हैं। 'पूर्वाः पूर्वगाः' से नदियोंके बहावकी दिशा बताई है।

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

गंगा सिन्धु आदि नदी युगलोंमें दूसरी नदी पश्चिम समुद्रमें मिलती है।

§ १ पद्मह्रदके पूर्व तोरणद्वारसे गंगा नदी निकली है। वह पाँच सौ योजन पूर्वकी ओर जाकर गंगा कूटसे ५२३$\frac{६}{१९}$ दक्षिणमुख जाती है। स्थूल मुक्तावलीकी तरह १०० योजन धारावाली ६$\frac{१}{४}$ योजन विस्तृत आधे योजन गहरी यह आगे ६० योजन लंबे चौड़े १० योजन गहरे कुंडमें गिरती है। फिर दक्षिण तरफसे निकलकर खंडकप्रपातगुहासे विजयार्धको लांघकर दक्षिणभरतक्षेत्रको प्राप्त करके पूर्वमुखी होकर लवणसमुद्रमें मिल जाती है।

§ २ पद्मह्रदके पश्चिम तोरणसे सिन्धु नदी निकलती है। वह ५०० योजन आगे जाकर सिन्धुकूटसे टकराकर सिन्धुकुण्डमें गिरती हुई तमिस्र गुहासे विजयार्ध होती हुई पश्चिम लवणसमुद्रमें मिलती है।

गंगाकुण्डके द्वीपके प्रासादमें गंगादेवी और सिन्धुकुण्डवर्ती द्वीपके प्रासादमें सिन्धु देवी रहती है। हिमवान् पर्वतपर गंगा और सिन्धुके मध्यमें दो कमलके आकारके द्वीप हैं। इनके प्रासादोंमें क्रमशः बला और लवणा नामकी एक पल्यस्थितिवाली देवियाँ रहती हैं।

§ ३ पद्मह्रदके ही उत्तर द्वारसे रोहितास्या नदी निकली है। यह २६७$\frac{५}{१९}$ योजन उत्तरकी तरफ जाकर श्रीदेवीके कुण्डमें गिरती है। फिर कुण्डके उत्तर द्वारसे निकलकर उत्तरकी तरफ बहती हुई शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यको घेरकर पश्चिमकी ओर बह कर पश्चिम लवण समुद्रमें मिलती है।

§ ४ रोहित् नदी महाहिमवान् पर्वतवर्ती महापद्मह्रदके दक्षिण तोरणद्वारसे निकलकर पूर्वलवण समुद्रमें मिलती है।

§ ५ हरिकान्ता नदी महाहिमवान् पर्वतवर्ती महापद्मह्रदके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर रोहितकी तरह पहाड़की तलहटीमें जाकर कुण्डमें गिरती है। फिर उत्तरकी ओर बहकर विकृतवान् वृत्तवेदाढ्यको आध योजन दूरसे घेरकर पश्चिम मुख हो पश्चिम समुद्रमें गिरती है।

§ ६ हरित् नदी निषध पर्वतवर्ती तिगिंछ ह्रदके दक्षिण तोरण द्वारसे निकलकर पूर्वकी ओर बहकर कुण्डमें गिरती है। फिर पूर्व समुद्रमें मिलती है।

§ ७ सीतोदा नदी तिगिंछ ह्रदके उत्तर तोरण द्वारसे निकलकर कुण्डमें गिरती है फिर कुण्डके उत्तर तोरण द्वारसे निकलकर देवकुरुके चित्र विचित्रकूटके बीचसे उत्तर मुख बहती हुई मेरु पर्वतको आध योजन दूरसे ही घेरकर विद्युत्प्रभको भेदती हुई अपर विदेहके बीचसे बहती हुई पश्चिम समुद्रमें मिलती है।

§ ८ सीता नदी नीलपर्वतवर्ती केसरी ह्रदके दक्षिण तोरणद्वारसे निकलकर कुंडमें गिरती हुई माल्यवान्को भेदती हुई पूर्वविदेहमें बहकर पूर्वसमुद्रमें मिलती है।

§ ९ नरकान्ता नदी केसरी ह्रदके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर गन्धवान् वेदाढ्य को घेरती हुई पश्चिम समुद्रमें मिलती है।

§ १० नारी नदी रुक्मि पर्वतके ऊपर स्थित महापुण्डरीक ह्रदके दक्षिणतोरण-द्वारसे निकलकर गन्धवान् वेदाढ्यको घेरती हुई पूर्वसमुद्रमें गिरती है।

§ ११ इसी महापुण्डरीक ह्रदके उत्तर तोरणद्वारसे रूप्यकूला नदी निकलती है और माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यको घेरकर पश्चिम समुद्रमें गिरती है।

§ १२ शिखरी पर्वतपर स्थित पुण्डरीक ह्रदके दक्षिण तोरणद्वारसे सुवर्णकूला नदी निकलती है और माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यको घेरती हुई पूर्वसमुद्रमें मिलती है।

§ १३ इसी पुण्डरीक ह्रदके पूर्वतोरणद्वारसे रक्ता नदी निकली है और यह गंगा नदीकी तरह पूर्वसमुद्रमें मिलती है।

§ १४ इसी पुण्डरीक ह्रदके पश्चिम तोरणद्वारसे रक्तोदा नदी निकलती है और पश्चिम समुद्रमें मिलती है।

ये सभी नदियाँ अपने अपने नामके कुण्डोंमें गिरती हैं और उसमें नदीके नामवाली देवियाँ रहती हैं।

गंगा सिन्धु रक्ता और रक्तोदा नदियाँ कुटिलगति होकर बहती हैं शेष ऋजुगतिसे। सभी नदियोंके दोनों किनारे वनखंडोंसे सुशोभित हैं।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

गंगा, सिन्धु आदि नदियोंकी चौदह हजार सहायक नदियाँ हैं।

§ १–३ यदि प्रकरणगत होनेके कारण 'गंगासिन्धु आदि'का ग्रहण नहीं किया जाता तो 'अनन्तरका ही विधि या निषेध होता है' इस नियमके अनुसार अपरगा-पश्चिम-समुद्रमें मिलनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता। इसी तरह यदि 'गंगा' का ग्रहण करते तो पूर्वगा--पूर्वसमुद्रमें गिरनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता। यद्यपि 'नदी' कहनेसे सबका ग्रहण हो सकता था फिर भी 'द्विगुण-द्विगुण' बतानेके लिए 'गंगा सिन्धु आदि' पद दिया गया है। यदि केवल 'द्विगुण'का सम्बन्ध करते तो 'गंगाकी चौदह हजार और सिन्धुकी अट्ठाईस हजार' यह अनिष्ट प्रसंग होता। अतः गंगा और सिन्धु दोनोंकी चौदह हजार, रोहित-रोहितास्याकी अट्ठाईस हजार, हरित्-हरिकान्ताकी छप्पन हजार और सीता-सीतोदाकी एक लाख बारह हजार सहायक नदियाँ हैं। आगे 'उत्तरा दक्षिणतुल्याः'के अनुसार व्यवस्था है।

भरतक्षेत्रका विस्तार–

भरतः षड्विंश-पञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥

भरतक्षेत्रका विस्तार $५२६\frac{६}{१९}$ योजन है।

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

विदेहक्षेत्र पर्यन्तके पर्वत और क्षेत्र क्रमशः दूने दूने विस्तारवाले हैं।

◊ १ यद्यपि व्याकरणके नियमानुसार वर्षशब्दका पूर्वनिपात होना चाहिए था फिर भी आनुपूर्वी दिखानेके लिए 'वर्षधर' शब्दका पूर्वप्रयोग किया है। 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इस प्रयोगके बलसे यह नियम फलित होता है।

◊ २ 'विदेहान्त' पदसे मर्यादा ज्ञात हो जाती है। अर्थात् हिमवान्का विस्तार $१०५२\frac{१२}{१९}$ योजन, हैमवतका $२००५\frac{५}{१९}$ योजन, महाहिमवान्का $४०१०\frac{१०}{१९}$ योजन, हरिवर्षका $८४२१\frac{१}{१९}$ योजन, निषधका $१६८४२\frac{२}{१९}$ और विदेहका $३३६८४\frac{४}{१९}$ योजन है।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

ऐरावत आदि नील पर्वत पर्यन्त क्षेत्र पर्वत भरत आदिके समान विस्तारवाले हैं।

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

भरत और ऐरावत क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छह छह कालोंमें वृद्धि और ह्रास होता है।

◊ १-३ जैसे 'पर्वतदाह' कहनेसे पर्वतवर्ती वनस्पति आदिका दाह समझा जाता है उसी तरह क्षेत्रकी वृद्धिह्रासका अर्थ है क्षेत्रमें रहनेवाले मनुष्योंकी आयु आदिका वृद्धिह्रास। अथवा, 'भरतैरावतयोः' यह आधारार्थक सप्तमी है। अर्थात् इन क्षेत्रोंमें मनुष्योंका अनुभव आयु शरीरकी ऊंचाई आदिका वृद्धिह्रास होता है।

◊ ४-५ जिसमें अनुभव आयु शरीरादिकी उत्तरोत्तर उन्नति हो वह उत्सर्पिणी और जिसमें अवनति हो वह अवसर्पिणी है। अवसर्पिणी–सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुःषमा, दुःषमसुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमाके भेदसे छह प्रकार की और उत्सर्पिणी अतिदुःषमाके क्रमसे छह प्रकारकी है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों ही दस दस कोड़ाकोड़ी सागरकी होती हैं। इन्हें कल्पकाल कहते हैं। सुषमसुषमा चार कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। इसमें मनुष्य देवकुरु और उत्तरकुरुके समान होते हैं अर्थात् प्रथम भोगभूमिकी रचना होती है। फिर क्रमशः हानि होते होते सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागरकी आती है। इसके प्रारम्भमें हरिक्षेत्रकी तरह मध्यम भोगभूमि होती है। फिर क्रमशः सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। इसमें हैमवत क्षेत्रकी तरह जघन्य भोगभूमि होती है। फिर क्रमशः ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका दुःषमसुषमा काल होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य विदेहक्षेत्रके समान होते हैं। क्रमसे २१ हजार वर्षका दुःषमा और फिर इक्कीस हजार वर्षका अतिदुःषमा काल आता है। उत्सर्पिणी अतिदुःषमासे प्रारम्भ होती है और क्रमशः बढ़ती हुई सुषमा तक जाती है।

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

भरत और ऐरावतके सिवाय अन्य भूमियोंमें परिवर्तन नहीं होता, वे सदा एक-सी रहती हैं।

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतक-हारिवर्षक-दैवकुरुवकाः ॥२९॥

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरुमें क्रमशः एक, दो और तीन पल्यकी आयु है।

◊ १-२ हैमवतक, हारिवर्षक और दैवकुरुवकका अर्थ है इन क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्य। पाँचों हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु एक पल्य, शरीरकी ऊंचाई २००० धनुष, और रंग नीलकमलके समान है। ये दूसरे दिन आहार करते हैं। यहाँ सुषमदुःषमा काल अर्थात् जघन्य भोगभूमि सदा रहती है। पाँचों हरिक्षेत्रमें मध्यम भोगभूमि अर्थात् सुषमाकाल रहता है। इसमें मनुष्योंकी आयु दो पल्य, शरीरकी ऊंचाई ४ हजार धनुष, रंग शंखके समान धवल है। ये तीसरे दिन भोजन करते हैं। पाँचों देवकुरुमें सुषमसुषमा अर्थात् प्रथम भोगभूमि सदा रहती है। इसमें मनुष्योंकी आयु तीन पल्य, शरीरकी ऊंचाई ६००० धनुष और रंग सुवर्णके समान होता है। ये चौथे दिन भोजन करते हैं।

तथोत्तराः ॥३०॥

उत्तरवर्ती क्षेत्र दक्षिणके समान हैं अर्थात् हैरण्यवत हैमवतके समान, रम्यक हरिवर्षके समान और देवकुरु उत्तरकुरुके समान हैं।

विदेहेषु संख्येयकालः ॥३१॥

विदेहक्षेत्रमें संख्यात वर्षकी आयु होती है। इसमें सुषमदुःषमाकाल सदा रहता है। मनुष्योंकी ऊंचाई पाँच सौ धनुष है। नित्य भोजन करते है। उत्कृष्ट स्थिति एकपूर्वकोटि और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

भरतक्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपका १९०वाँ भाग है।

◊ १-२ धातकीखंड और पुष्करवरके क्षेत्रोंके विस्तार-निरूपणमें सुविधाके लिए भरतक्षेत्रका प्रकारान्तरसे विस्तार कहा है।

◊ ३-७ लवण समुद्रका सम भूमितलमें दो लाख योजन विस्तार है। उसके मध्यमें यवराशिकी तरह १६ हजार योजन ऊँचा जल है। वह मूलमें दश हजार योजन विस्तृत है तथा एक हजार योजन गहरा है। इसमें क्रमशः पूर्वादि दिशाओंमें पाताल बडवामुख यूपकेसर और कलम्बुक नामके चार महापाताल हैं। ये एक लाख योजन गहरे हैं, तथा इतने ही मध्यमें विस्तृत हैं। जलतल और मूलमें दस हजार योजन विस्तृत हैं। इन पातालोंमें सबसे नीचेके तीसरे भागमें वायु है, मध्यके तीसरे भागमें वायु और जल है तथा ऊपरी त्रिभागमें केवल जल है। रत्नप्रभा पृथिवीके खरभागमें रहनेवाली वातकुमार देवियोंकी क्रीड़ासे क्षुब्ध वायुके कारण ५०० योजन जलकी वृद्धि होती है। विदिशाओंमें क्षुद्रपाताल हैं तथा अन्तरालमें भी हजार हजार पाताल हैं। मध्यमें पचास पचास क्षुद्र पाताल और भी हैं। रत्नवेदिकासे तिरछे बयालीस हजार योजन जाकर चारों दिशाओंमें

वेलन्धर नागाधिपतिके नगर हैं। वेलन्धर नागाधिपतियोंकी आयु एक पल्य, शरीरकी ऊंचाई दश धनुष है। प्रत्येकके चार चार अग्रमहिषी हैं। ४२ हजार नाग लवणसमुद्रके आभ्यन्तर तटको, ७२ हजार बाह्य तटको तथा २८ हजार बढ़े हुए जलको धारण करते हैं।

§ ८ रत्नवेदिकासे तिरछे १२ हजार योजन जाकर १२ हजार योजन लंबा चौड़ा गौतम नामके समुद्राधिपतिका गौतम द्वीप है। रत्नवेदिकासे प्रति ९५ हाथ आगे एक हाथ गहराई है। इस तरह ९५ योजनपर एक योजन, ९५ हजार योजनपर एक हजार योजन गहराई है। लवण समुद्रके दोनों ओर तट हैं। लवणसमुद्रमें ही पाताल हैं अन्य समुद्रोंमें नहीं। सभी समुद्र एक हजार योजन गहरे हैं। लवणसमुद्रका जल खारा है। वारुणीवरका मदिराके समान, क्षीरोदका दूधके समान, घृतोदका घीके समान जल है। कालोद पुष्कर और स्वयम्भूरमणका जल पानी जैसा ही है। बाकीका इक्षुरसके समान जल है। लवण समुद्र कालोदधि और स्वयम्भूरमण समुद्रमें ही मछली कछवा आदि जलचर हैं, अन्यत्र नहीं। लवणसमुद्रमें नदी गिरनेके स्थानपर ९ योजन अवगाहनावाले मत्स्य हैं, मध्यमें १८ योजनके हैं। कालोदधिमें नदीमुखमें १८ योजन तथा मध्यमें ३६ योजनके मत्स्य हैं। स्वयम्भूरमण में नदीमुखमें ५०० योजनके तथा मध्यमें एक हजार योजनके मत्स्य हैं।

धातकीखंडका वर्णन–

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

धातकीखंडमें भरतादि क्षेत्र और पर्वत दो दो हैं।

§ १ जैसे 'द्विस्तावानयं प्रासादः' यहाँ 'मीयते' क्रियाका अध्याहार करके क्रिया की अभ्यावृत्तिमें सुज् प्रत्यय होता है उसी तरह 'द्विर्धातकीखण्डे' में भी 'संख्यायन्ते' क्रियाका अध्याहार करके सुज् प्रत्यय कर लेना चाहिए। धातकीखंडमें भरतादि क्षेत्र दो दो हैं तथा उनका विस्तार भी दूना दूना है।

§ २–४ धातकीखंडके भरतका आभ्यन्तर विष्कम्भ–६६१४ योजन, योजनके $\frac{१३९}{२१२}$ भाग प्रमाण है। मध्यविष्कम्भ–१२५८१ योजन एक योजनके $\frac{३६}{२१२}$ भाग प्रमाण है। बाह्य विष्कम्भ–१८५४७ $\frac{५५}{२१२}$ योजन प्रमाण है।

§ ५ धातकीखंडमें भरतसे चौगुना हैमवत, हैमवतसे चौगुना हरिक्षेत्र और हरिक्षेत्रसे चौगुना विदेह क्षेत्र है। दक्षिणकी तरह ही उत्तरके क्षेत्र हैं। धातकीखंडका विस्तार ४ लाख योजन है। इसकी परिधि ४११०९६१ योजन है। क्षेत्र पर्वत नदी वृत्तवेदाढ्य और सरोवरोंके वे ही नाम हैं। विस्तार आदि दूना दूना हो गया है।

§ ६ भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें कालोदधि और लवणसमुद्रको स्पर्श करनेवाले १०० योजन गहरे, ४०० योजन ऊंचे, ऊपर एक हजार योजन विस्तृत इष्वाकार पर्वत हैं। धातकीखंडमें पूर्व और पश्चिममें दो मेरु पर्वत हैं। ये एक हजार योजन गहरे ९५०० योजन मूलमें विस्तृत, पृथ्वीतलपर ९४०० योजन विस्तृत और ८४००० हजार योजन ऊंचे हैं। भूमितलसे ५०० योजन ऊपर नन्दनवन है। यह ५०० योजन विस्तृत है। ५५५०० योजन ऊपर सौमनस वन है। यह भी ५०० योजन विस्तृत है। इससे २८ हजार योजन ऊपर पांडुकवन है। जम्बूद्वीपमें जहाँ जम्बू वृक्ष है धातकीखंडमें वहीं धातकीवृक्ष है। जैसे चक्रके आरे होते हैं उसी प्रकारके पर्वत हैं और आरेके बीचके भागके समान

क्षेत्र हैं। धातकीखंडको घेरे हुए कालोदधि समुद्र है। कालोदधिके बाद पुष्करवर द्वीप सोलह लाख योजन विस्तृत है।

पुष्करवरद्वीपका वर्णन–

पुष्करार्धे च ॥३४॥

आधे पुष्करद्वीपमें भी भरतादिक्षेत्र दो दो हैं।

§ १ च शब्दसे 'द्विः' इस संख्याकी पूर्वसूत्रसे अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। यह द्विगुणता जम्बूद्वीपके भरतादिकी संख्याकी अपेक्षासे है। यद्यपि धातकीखंडका वर्णन अनन्तर निकट है, फिर भी इच्छानुसार जम्बूद्वीपकी संख्यासे ही द्विगुणता लेनी चाहिये।

§ २–४ पुष्करार्धके भरतका आभ्यन्तर विष्कम्भ–४१५७९ योजन और ७३ भाग है। मध्यविष्कम्भ ५३५१२ योजन और १९९ भाग प्रमाण है। बाह्यविष्कम्भ ६५४४२ योजन और १३ भाग प्रमाण है।

§ ५ विदेह तक एक क्षेत्रसे दूसरा क्षेत्र चौगुने विस्तारवाला है। उत्तरके क्षेत्रोंका विस्तार क्रमशः दक्षिणके क्षेत्रोंके ही समान है। पर्वत विजयार्ध वृत्तवेदाढ्य आदिकी संख्या और विस्तार भी दूना दूना है। जम्बूद्वीपमें जहाँ जम्बू वृक्ष है वहाँ पुष्करद्वीपमें पुष्कर है। इसीके कारण इस द्वीपको पुष्करवर द्वीप कहते हैं।

§ ६ मानुषोत्तर पर्वतसे अर्ध विभक्त होनेके कारण इसे पुष्करार्ध कहते हैं। पुष्करद्वीपके मध्यमें मानुषोत्तर पर्वत है। यह १७२१ योजना ऊंचा ४३०$\frac{१}{४}$ योजन गहरा २२ हजार योजन मूलमें विस्तृत १७२३ योजन मध्यमें विस्तृत ४२४ योजन ऊपर विस्तृत है। यवराशिके समान यह पर्वत नीचे मुख किए हुए बैठे सिंहके सदृश मालूम होता है। उसके ऊपर चारों दिशाओंमें ५० योजन लम्बे २५ योजन चौड़े और ३७$\frac{१}{२}$ योजन ऊंचे जिनायतन हैं। इसके ऊपर वैडूर्य आदि चौदह कूट हैं।

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

मानुषोत्तर पर्वतके इस ओर ही मनुष्य हैं उस ओर नहीं। उपपाद और समुद्घात अवस्थाके सिवाय इस पर्वतके उस ओर विद्याधर या ऋद्धिधारी मनुष्य भी नहीं जा सकते। इसीलिए इसकी मानुषोत्तर संज्ञा सार्थक है।

आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है। इसका विस्तार ३६३८४००००० योजन है। इसके मध्यमें चारों दिशाओंमें ८४ हजार योजन ऊंचे चार अंजनगिरि हैं। इसकी चारों दिशाओं में चार चार बावड़ी हैं। ये १ हजार योजन गहरी और एक लाख योजन विस्तारवाली हैं। इन सोलह वापियोंमें दस हजार योजन विस्तृत दधिमुख पर्वत हैं। इन वापियोंके चारों ओर चार वन हैं। इन वापियोंके चारों कोनोंमें एक हजार योजन ऊंचे चार चार रतिकर हैं। इस तरह ६४ रतिकर हैं। बाहरी कोणोंमें स्थित ३२ रतिकर चार अंजनगिरि तथा १६ दधिमुख इस तरह ५२ पर्वतों पर ५२ जिनालय हैं। ये जिनालय १०० योजन लम्बे, ५० योजन चौड़े तथा ७५ योजन ऊंचे हैं।

ग्यारहवाँ कुण्डलवर द्वीप है। उसके मध्यमें कुंडलवर पर्वत है। उसके ऊपर प्रत्येक दिशामें चार-चार कूट हैं। इसको घेरे हुए कुण्डलवर समुद्र है। इसके आगे क्रमशः शंखवरद्वीप, शंखवरसमुद्र, रुचकवरद्वीप, रुचकवरसमुद्र आदि असंख्यात द्वीपसमुद्र हैं।

रुचकवर द्वीपमें ८४ हजार योजन ऊँचा ४२ हजार योजन विस्तृत रुचक पर्वत है। इसके नन्द्यावर्त आदि चार कूट हैं। इनमें दिग्गजेन्द्र रहते हैं। उनके ऊपर प्रत्येकके आठ-आठ कूट और हैं। इन पर दिक्कुमारियाँ रहती हैं। ये तीर्थङ्करोंके गर्भ और जन्मकल्याणकके समय माताकी सेवा करती हैं।

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

मानुषोत्तरसे पहिले रहनेवाले मनुष्य आर्य और म्लेच्छके भेदसे दो प्रकार के हैं।

◊ १–२ गुण और गुणवानोंसे जो सेवित हैं वे आर्य हैं। आर्य दो प्रकारके हैं–एक ऋद्धिप्राप्त और दूसरे अनृद्धिप्राप्त आर्य। अनृद्धिप्राप्त आर्य पांच प्रकार के हैं–क्षेत्रार्य जात्यार्य कर्मार्य चारित्रार्य और दर्शनार्य। काशी कौशल आदि देशोंमें उत्पन्न क्षेत्रार्य हैं। इक्ष्वाकु ज्ञाति भोज आदि कुलोंमें उत्पन्न जात्यार्य हैं। कर्मार्य तीन प्रकार के हैं–सावद्यकर्मार्य अल्पसावद्यकर्मार्य और असावद्यकर्मार्य। सावद्यकर्मार्य असि मषी कृषि विद्या शिल्प और वणिक्कर्मके भेदसे छह प्रकार के हैं। तलवार धनुष आदि शस्त्रविद्यामें निपुण असिकर्मार्य हैं। मुनीमीका कार्य करनेवाले मषिकर्मार्य हैं। हल आदिसे कृषि करनेवाले कृषिकर्मार्य हैं। चित्र गणित आदि ७२ कलाओंमें कुशल विद्याकर्मार्य हैं। धोबी नाई लुहार कुम्हार आदि शिल्पकर्मार्य हैं। चन्दन घी धान्यादिका व्यापार करनेवाले वणिक्कर्मार्य हैं। ये छहों अविरत होनेसे सावद्यकर्मार्य हैं। श्रावक और श्राविकाएँ अल्पसावद्यकर्मार्य हैं। मुनिव्रतधारी संयत असावद्यकर्मार्य हैं। ये दो प्रकार के हैं–अधिगतचारित्रार्य और अनधिगतचारित्रार्य। जो बाह्योपदेशके बिना स्वयं ही चारित्रमोहके उपशम क्षय आदिसे चारित्रको प्राप्त हुए हैं वे अधिगतचारित्रार्य और जो बाह्योपदेशकी अपेक्षा चारित्रधारी हुए हैं वे अनधिगतचारित्रार्य हैं। दर्शनार्य दश प्रकार के हैं–सर्वज्ञकी आज्ञाको मुख्य मानकर सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए आज्ञारुचि हैं। अपरिग्रही मोक्षमार्गके श्रवणमात्रसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए मार्गरुचि हैं। तीर्थङ्कर बलदेव आदिके चरित्रके उपदेशको सुनकर सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले उपदेशरुचि हैं। दीक्षा आदिके निरूपक आचारांग आदि सूत्रोंके सुनने मात्रसे जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है वे सूत्ररुचि है। बीजपदोंके निमित्तसे जिन्हें सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई वे बीजरुचि हैं। जीवादिपदार्थोंके संक्षेप कथनसे ही सम्यग्दर्शनको प्राप्त होनेवाले संक्षेपरुचि हैं। अंगपूर्वके विषय, प्रमाणनय आदिका विस्तार कथनसे जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, वे विस्ताररुचि हैं। वचनविस्तारके बिना केवल अर्थग्रहणसे जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ वे अर्थरुचि हैं। आचारांग आदि द्वादशांगमें जिनका श्रद्धान अतिदृढ़ है वे अवगाढ़रुचि हैं। परमावधि केवल ज्ञानदर्शनसे प्रकाशित जीवादि पदार्थ विषयक प्रकाशसे जिनकी आत्मा विशुद्ध है वे परमावगाढ़रुचि हैं। इस तरह रुचिभेदसे सम्यग्दर्शन दस प्रकार का है और दर्शनार्य भी दस प्रकार के हैं।

◊ ३ ऋद्धिप्राप्त आर्य आठ ऋद्धियोंके भेदसे आठ प्रकार के हैं। बुद्धि-ज्ञान, यह ऋद्धि केवलज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान बीजबुद्धि आदिके भेदसे अठारह प्रकार की है। केवलज्ञान अवधि और मनःपर्यय प्रसिद्ध हैं। जैसे उर्वर क्षेत्रमें एक भी बीज अनेक बीजोंका उत्पादक होता है उसी तरह एक बीजपदसे ही श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे अनेक पदार्थोंका ज्ञान करना बीजबुद्धि है। जैसे कोठारमें अनेक प्रकारके धान्य सुरक्षित

और जुदे-जुदे रखे रहते हैं उसी तरह बुद्धिरूपी कोठेमें समझे हुए पदार्थोंका सुविचारित रूपसे बने रहना कोष्ठबुद्धि है। पदानुसारित्व तीन प्रकार की है–अनुस्रोत प्रतिस्रोत और उभयरूप्। आदि मध्य या अन्तके एक पदके अर्थको सुनकर समस्त ग्रन्थार्थका ज्ञान हो जाना पदानुसारित्व है। बारह योजन लम्बे और नव योजन चौड़े चक्रवर्तीके कटकके भी विभिन्न शब्दोंको एक साथ सुनकर उनको पृथक् पृथक् ग्रहण करना संभिन्नश्रोतृत्व है। रसनादि इन्द्रियोंके द्वारा उत्कृष्ट नव योजन आदि क्षेत्रोंसे रस गन्ध आदिका ज्ञान करना दूरादास्वादन दर्शन, घ्राण स्पर्शन ऋद्धियाँ हैं।

महारोहिण्यादि लौकिक विद्याओंके प्रलोभनमें न पड़कर दशपूर्वका पाठी होना दशपूर्वित्व है। पूर्णश्रुतकेवली हो जाना चतुर्दशपूर्वित्व है। आठ महानिमित्तोंमें कुशल होना अष्टांग महानिमित्तज्ञत्व है। आकाशके सूर्य चन्द्र तारा आदिकी गतिसे अतीतानागत का ज्ञान करना अन्तरीक्षनिमित्त है। जमीनकी रूक्षस्निग्ध आदि अवस्थाओंसे हानि-लाभका परिज्ञान या जमीनमें गड़े हुए धन आदिका ज्ञान करना भौम निमित्त है। शरीरके अंग प्रत्यंगोंसे उसके सुखदुःखादिका ज्ञान अंग है। अक्षरात्मक या अनक्षरात्मक कैसे भी शब्दोंको सुनकर इष्टानिष्ट फलका ज्ञान कर लेना स्वर है। सिर मुँह गले आदिमें तिल मस्से आदि चिह्नोंसे लाभालाभ आदिका ज्ञान व्यञ्जन है। श्रीवृक्ष स्वास्तिक कलश आदि चिह्नोंसे शुभाशुभका ज्ञान कर लेना लक्षण है। वस्त्र-शस्त्र छत्र जूता आसन और शय्या आदिमें शस्त्र चूहा कांटें आदिसे हुए छेदके द्वारा शुभाशुभका ज्ञान करना छिन्न है। पिछली रातमें हुए चन्द्र सूर्यादि स्वप्नोंसे भाविसुखदुःखादिका निश्चय करना स्वप्न है।

श्रुतज्ञानियोंके द्वारा ही समाधान करने योग्य सूक्ष्म शंकाओंका भी अपने श्रुत-ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे समाधान कर देना प्रज्ञाश्रवणत्व है। परोपदेशके बिना स्वभावतः ही ज्ञान चारित्र आदिमें निपुण हो जाना प्रत्येकबुद्धता है। शास्त्रार्थमें कभी भी निरुत्तर नहीं होना वादित्व है।

क्रिया विषयक ऋद्धि दो प्रकार की है–चारणत्व और आकाशगामित्व। जल जंघा तन्तु पुष्प पत्र आदिका निमित्त लेकर अप्रतिहत गति करना चारणत्व है। पद्मासन या कायोत्सर्गरूपसे आकाशमें गमन करना आकाशगामित्व है।

विक्रिया विषयक ऋद्धि अणिमा आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी है। सूक्ष्म शरीर बना लेना अणिमा, महान् शरीर बनाना महिमा, वायुसे भी लघु शरीर कर लेना लघिमा, वज्रसे भी गुरु शरीर बना लेना गरिमा है। भूमिपर बैठे हुए अंगुलीसे मेरु या सूर्य चन्द्र आदिको स्पर्श कर लेना प्राप्ति है। जलमें भूमिकी तरह चलना आदि प्राकाम्य है। त्रैलोक्यकी प्रभुता ईशित्व है। सबको वशमें कर लेना वशित्व है। पर्वतमें भी घुस जाना अप्रतीघात है। अदृश्य रूप बना लेना अन्तर्धान है। एक साथ अनेक आकार बना लेना कामरूपित्व है।

तपोऽतिशय-ऋद्धि सात प्रकारकी है–दो दिन तीन दिन चार दिन एक माहके उपवास आदि किसी भी उपवासको निरन्तर कठोरतापूर्वक करनेवाले उग्रतप हैं। महोपवास करनेपर भी जिनका काय वचन और मनोबल बढ़ता ही जाता है और शरीर

की दीप्ति उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती है वे दीप्ततप हैं। गरम तवेपर गिरे हुए जलकी तरह जिनके अल्प आहारका मलादिरूपसे परिणमन नहीं होता, वह वहीं सूख जाता है वे तप्ततप हैं। सिंहनिष्क्रीडित आदि महान् तपोंको तपनेवाले महातप हैं। ज्वर सन्निपात आदि महाभयंकर रोगोंके होनेपर भी जो अनशन कायक्लेश आदिमें मन्द नहीं होते और भयानक श्मशान, पहाड़की गुफा आदिमें रहनेके अभ्यासी हैं वे घोर तप हैं। ये ही जब तप और योगको उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं तब घोरपराक्रम कहे जाते हैं। जो अस्खलित अखंड ब्रह्मचर्य धारण करते हैं तथा जिन्हें दुःस्वप्न तक नहीं आते वे घोर ब्रह्मचारी हैं।

बलालम्बन ऋद्धि तीन प्रकारकी है—मनःश्रुतावरण और वीर्यान्तरायके प्रकृष्ट क्षयोपशमसे अन्तर्मुहूर्तमें ही सकलश्रुतार्थके चिन्तनमें निष्णात मनोबली हैं। मन और रसनाश्रुतावरण तथा वीर्यान्तरायके प्रकृष्ट क्षयोपशमसे अन्तर्मुहूर्तमें ही सकलश्रुतके उच्चारणमें समर्थ वचनबली हैं। वीर्यान्तरायके असाधारण क्षयोपशमसे जो मासिक चातुर्मासिक सांवत्सरिक आदि प्रतिमायोगोंके धारण करनेपर भी थकावट और क्लान्तिका अनुभव नहीं करते वे कायबली हैं। औषध-ऋद्धि आठ प्रकारकी है—जिनके हाथ-पैर आदिके स्पर्शसे बड़ी भयंकर व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं वे आमर्श ऋद्धिवाले हैं। जिनका थूक औषधिका कार्य करता है वे क्ष्वेलौषधि हैं। जिनका पसीना व्याधियोंको दूर कर देता है वे जल्लौषधि हैं। जिनका कान दाँत या आँखका मल औषधिरूप होता है वे मलौषधि हैं। जिनका प्रत्येक अवयवका स्पर्श या उसका स्पर्श करनेवाली वायु आदि सभी पदार्थ औषधिरूप हो जाते हैं वे सर्वौषधि ऋद्धिवाले हैं। उग्रविषमिश्रित भी आहार जिनके मुखमें जाकर निर्विष हो जाता है अथवा मुखसे निकले हुए वचनोंको सुनने मात्रसे महाविषव्याप्त भी निर्विष हो जाते हैं वे आस्याविष हैं। जिनके देखने मात्रसे ही तीव्र विष दूर हो जाता है वे दृष्ट्यविष हैं।

रस ऋद्धि प्राप्त आर्य छह प्रकारके हैं—जिस प्रकृष्ट तपस्वी यतिके 'मर जाओ' आदि शापसे व्यक्ति तुरंत मर जाता है वे आस्यविष हैं। जिनकी क्रोधपूर्ण दृष्टिसे मनुष्य भस्मसात् हो जाता है वे दृष्टिविष हैं। जिनके हाथमें पड़ते ही नीरस भी अन्न क्षीरके समान सुस्वादु हो जाता है, अथवा जिनके वचन क्षीरके समान सबको मीठे लगते हैं वे क्षीरास्रवी हैं। जिनके हाथमें पड़ते ही नीरस भी आहार मधुके समान मिष्ट हो जाता है, अथवा जिनके वचन मधुके समान श्रोताओंको तृप्त करते हैं वे मध्वास्रवी हैं। जिनके हाथमें पड़कर रूखा भी अन्न घीकी तरह पुष्टिकारक और स्निग्ध हो जाता है अथवा जिनके वचन घीकी तरह सन्तर्पक हैं वे सर्पिरास्रवी हैं। जिनके हाथमें रखा हुआ भोजन अमृतकी तरह हो जाता है या जिनके वचन अमृतकी तरह सन्तृप्ति देनेवाले हैं वे अमृतास्रवी हैं।

क्षेत्रऋद्धिप्राप्त आर्य दो प्रकारके हैं—अक्षीणमहानस और अक्षीणमहालय। प्रकृष्ट लाभान्तरायके क्षयोपशमवाले यतियोंको भिक्षा देनेपर उस भोजनसे चक्रवर्तीके पूरे कटकको भी जिमानेपर क्षीणता न आना अक्षीणमहानस ऋद्धि है। अक्षीणमहालय ऋद्धिवाले मुनि जहाँ बैठते हैं उस स्थानमें इतनी अवगाहन शक्ति हो जाती है कि वहाँ सभी देव मनुष्य और तिर्यञ्च निर्बाध रूपसे बैठ सकते हैं। ये सब ऋद्धिप्राप्त आर्य हैं।

§ ४ म्लेच्छ दो प्रकारके हैं—१ अन्तरद्वीपज और २ कर्मभूमिज। लवणसमुद्रकी आठों दिशाओंमें आठ और उनके अन्तरालमें आठ, हिमवान् और शिखरी तथा दोनों विजयार्धोंके अन्तरालमें आठ इस तरह चौबीस अन्तरद्वीप हैं। दिशावर्ती द्वीप वेदिकासे तिरछे पाँच सौ योजन आगे हैं। विदिशा और अन्तरालवर्ती द्वीप ५५० योजन जाकर हैं। पहाड़ोंके अन्तिम भागवर्ती द्वीप छह सौ योजन भीतर आगे हैं। दिशावर्ती द्वीप सौ योजन विस्तृत हैं, विदिशावर्ती द्वीप पचास योजन और पर्वतान्तवर्ती द्वीप पच्चीस योजन विस्तृत हैं। पूर्व दिशामें एक जाँघ वाले, पश्चिममें पूँछवाले, उत्तरमें गूँगे, दक्षिणमें सींग-वाले प्राणी हैं। विदिशाओंमें खरगोशके कान सरीखे कानवाले, पुड़ीके समान कानवाले, बहुत चौड़े कानवाले और लम्बकर्ण मनुष्य हैं। अन्तरालमें अश्व, सिंह, कुत्ता, सुअर, व्याघ्र उल्लू और बन्दरके मुख जैसे मुखवाले प्राणी हैं। शिखरी पर्वतके दोनों अन्तरालोंमें मेघ और बिजलीके समान मुखवाले, हिमवान्के दोनों अन्तरालोंमें मत्स्यमुख और कालमुख, उत्तर विजयार्धके दोनों अन्तमें हस्तिमुख और आदर्शमुख और दक्षिण विजयार्धके दोनों अन्तमें गोमुख और मेषमुखवाले प्राणी हैं। एक टाँगवाले गुफाओंमें रहते हैं और मिट्टीका आहार करते हैं। बाकी वृक्षोंपर रहते हैं और पुष्प फल आदिका आहार करते हैं। ये सब प्राणी पल्योपम आयुवाले हैं। ये चौबीसों द्वीप जल तलसे एक योजन ऊँचे हैं। इसी तरह कालोदधिमें हैं। ये सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। शक, यवन, शबर और पुलिन्द आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

कर्मभूमियोंका वर्णन—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

भरत ऐरावत और देवकुरु उत्तरकुरु भागको छोड़कर शेष विदेह क्षेत्र कर्मभूमियाँ हैं। मोक्ष मार्गकी प्रवृत्ति कर्मभूमिसे ही होती है। यद्यपि भोगभूमियोंमें ज्ञान दर्शन होते हैं पर चारित्र नहीं होता।

§ १-३ यद्यपि ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका बन्ध और उनका फलभोग सभी मनुष्य क्षेत्रोंमें समान है फिर भी यहाँ कर्मभूमि व्यवहारविशेषके निमित्तसे है। सर्वार्थ-सिद्धि प्राप्त करानेवाला या तीर्थङ्कर प्रकृति बाँधनेवाला प्रकृष्ट शुभकर्म अथवा सातवें नरक ले जानेवाला प्रकृष्ट अशुभकर्म कर्मभूमिमें ही बँधता है। सकल संसारका उच्छेद करनेवाली परमनिर्जराकी कारण तपश्चरणादि क्रियाएँ भी यहीं होती हैं। असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य रूप छह कर्मोंकी प्रवृत्ति भी यहीं होती है। अतः भरतादिकमें ही कर्मभूमि व्यवहार उचित है।

§ ४ जैसे 'न क्वचित् सर्वदा सर्वविस्रम्भगमनं नयः अन्यत्र धर्मात्' अर्थात् धर्म को छोड़कर अन्य आर्थिक आदि प्रसङ्गोंमें पूर्ण विश्वास करना नीतिसंगत नहीं है। यहाँ 'अन्यत्र' शब्द 'छोड़कर' इस अर्थमें है उसी तरह 'अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः' यहाँ भी। अर्थात् देवकुरु और उत्तरकुरुको छोड़कर शेष विदेहक्षेत्र कर्मभूमि हैं। देवकुरु उत्तरकुरु और हैमवत आदि भोगभूमि हैं।

मनुष्योंकी आयु—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त है।

§ १–३ लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है। लौकिक मान छह प्रकारका है–मान, उन्मान, अवमान, गणना, प्रतिमान और तत्प्रमाण। मान दो प्रकारका है–रसमान और बीजमान। घी आदि तरल पदार्थोंको मापनेकी छटंकी आदि रसमान हैं और धान्य नापनेके कुडव आदि बीजमान हैं। तगर आदि द्रव्योंको ऊपर उठाकर जिनसे तौला जाता है वे तराजू आदि उन्मान हैं। खेत नापनेके डंडा आदि अवमान हैं। एक दो तीन आदि गणना है। पूर्वकी अपेक्षा आगेके मानोंकी व्यवस्था प्रतिमान है जैसे–चार मेंहदीके फलोंका एक सफेद सरसों, सोलह सरसोंका एक उड़द, दो उड़दकी एक गुमची, दो गुमचीका एक रूप्यमाष (सफेद उड़द), दो रूप्यमाषका एक धरण, २॥ धरण का एक सुवर्ण कंस, चार कंसका एक पल, एक सौ पलकी तुला, तीन पल और आधे कंस का एक कुडव, चार कुडवका एक प्रस्थ, चार प्रस्थका एक आढक, चार आढकका एक द्रोण, सोलह द्रोणकी एक खारी, बीस खारीका एक वाह, इत्यादि मगध देशका प्रमाण है। मणि आदिकी दीप्ति, अश्व आदिकी ऊंचाई गुण आदिके द्वारा मूल्य निर्धारण करनेके लिए तत्प्रमाणका उपयोग होता है। जैसे मणिकी प्रभा ऊपर जहाँ तक जाय उतनी ऊंचाई तकका सुवर्णका ढेर उसका मूल्य होगा। घोड़ा जितना ऊंचा हो–उतनी ऊंची सुवर्ण मुद्राएं घोड़ेका मूल्य। अथवा जितनेमें रत्नके मालिकको सन्तोष हो उतना रत्नका मूल्य होता है, आदि।

§ ४ लोकोत्तर प्रमाण द्रव्य क्षेत्र, काल और भावके भेदसे चार प्रकार का है। द्रव्य-प्रमाण एक परमाणुसे लेकर महास्कन्धपर्यन्त, क्षेत्र प्रमाण एक प्रदेशसे लेकर सर्व लोकपर्यन्त, और काल प्रमाण एक समयसे लेकर अनन्त कालपर्यन्त जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन तीन प्रकारका है। भाव प्रमाण अर्थात् ज्ञान दर्शन उपयोग। वह जघन्य सूक्ष्म निगोदके उत्कृष्ट केवलीके और मध्यम अन्य जीवोंके होता है।

§ ५ द्रव्यप्रमाण संख्या और उपमाके भेदसे दो प्रकारका है। संख्या प्रमाण संख्येय असंख्येय और अनन्तके भेदसे तीन प्रकारका है। संख्येय प्रमाण जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है। असंख्यात और अनन्त नौ नौ प्रकारके हैं।

संख्येय प्रमाणके ज्ञानके लिए जम्बूद्वीपके समान एक लाख लम्बे चौड़े और एक योजन गहरे शलाका प्रतिशलाका महाशलाका और अनवस्थित नामके चार कुण्ड बुद्धिसे कल्पित करने चाहिए। अनवस्थित कुण्डमें दो सरसों डालना चाहिए। यह जघन्य संख्येयका प्रमाण है। उस अनवस्थित कुण्डको सरसोंसे भर देना चाहिए। फिर कोई देव उससे एक-एक सरसोंको क्रमशः एक-एक द्वीप समुद्रमें डालता जाय। जब वह कुण्ड खाली हो जाय तब शलाका कुण्डमें एक दाना डाला जाय। जहाँ अनवस्थितकुण्डका अन्तिम सरसों गिरा था उतना बड़ा अनवस्थित कुण्ड कल्पना किया जाय। उसे सरसोंसे भरकर फिर उससे आगेके द्वीपोंमें एक एक सरसों डालकर उसे खाली किया जाय। जब वह खाली हो जाय तब शलाका कुण्डमें दूसरा सरसों डाले। फिर जहाँ अन्तिम सरसों गिरा था उतना बड़ा अनवस्थित कुण्ड कल्पित करके उसे सरसोंसे भरकर उससे आगेके द्वीपसमुद्रोंमें एक एक सरसों डालकर खाली करना चाहिए। तब शलाका कुण्डमें एक सरसों डाले। इस तरह अनवस्थितकुण्डको तब तक बढ़ाता जाय जब तक शलाका कुण्ड सरसोंसे न भर जाय।

जब शलाका कुण्ड भर जाय तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें डाले। इस तरह उसे भी भरे। जब प्रतिशलाका कुण्ड भर जाय तब एक सरसों महाशलाका कुण्डमें डाले। उक्त विधिसे जब वह भी परिपूर्ण हो जाय तब जो प्रमाण आता है वह उत्कृष्ट संख्यातसे एक अधिक जघन्यपरीतासंख्यात है। उसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट संख्यात होता है। जघन्य और उत्कृष्टके बीचके सभी भेद अजघन्योत्कृष्ट संख्यात हैं। जहाँ भी संख्यात शब्द आता है वहाँ यही अजघन्योत्कृष्ट संख्यात लिया जाता है।

असंख्यात तीन प्रकार है–परीतासंख्येय युक्तासंख्येय और असंख्येयासंख्येय। परीता संख्यात जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है। इसी तरह अन्य असंख्यातों के भी भेद होते हैं।

अनन्त भी तीन प्रकारका है–परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। ये तीनों अनन्त जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्टके भेदसे तीन तीन प्रकारके हैं। जघन्य परीता-संख्येयको फैलाकर मोतीके समान जुदे जुदे रखना चाहिए। प्रत्येक पर एक एक जघन्य परीतासंख्येयको फैलाना चाहिए। इनका परस्पर वर्ग करे। जो जघन्य परीतासंख्येय मुक्तावली पर दिये गये थे उनका गुणाकर एक राशि बनावे। उसे बिरलन कर उसपर उस वर्गित राशिको दे। उसका परस्पर वर्ग कर जो राशि आती है वह उत्कृष्ट परीता-संख्येयसे एक अधिक होती है। उसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट परीतासंख्येय होता है। बीचके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट परीतासंख्येय हैं। जहाँ आवलिसे प्रयोजन होता है वहाँ जघन्ययुक्तासंख्येय लिया जाता है। जघन्ययुक्तासंख्येयको विरलन कर प्रत्येकपर जघन्य-युक्तासंख्येयको स्थापित करे। उनका वर्ग करनेपर जो राशि आती है वह जघन्य संख्येया-संख्येय है। उसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तासंख्येय होती है। बीचके विकल्प मध्यम युक्तासंख्येय हैं। जघन्य संख्येयासंख्येयका विरलनकर पूर्वोक्त विधिसे तीन बार वर्ग संवर्ग करनेपर भी उत्कृष्ट संख्येयासंख्येय नहीं होता। इसमें धर्म, अधर्म, एक जीव, लोकाकाश, प्रत्येक शरीरजीव, बादर निगोत शरीर ये छहों असंख्येय, स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, योगके अविभाग परिच्छेद, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके समयोंको जोड़नेपर फिर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयसे एक अधिक जघन्यपरीतानन्त होता है। इसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्टासंख्येयासंख्येय होता है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्टासंख्येयासंख्येय होते हैं। असंख्येयासंख्येयके स्थानमें अजघन्योत्कृष्टासंख्येयासंख्येय विवक्षित होता है। इसी तरह जघन्यपरीतानन्तको विरलन कर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर उत्कृष्टपरीतानन्तसे एक अधिक जघन्ययुक्तानन्त होता है। उससे एक कम करनेपर उत्कृष्टपरीतानन्त होता है। मध्यके विकल्प अज-घन्योत्कृष्ट परीतानन्त हैं। अभव्यराशिके प्रमाणमें जघन्ययुक्तानन्त लिया जाता है। जघन्ययुक्तानन्तको विरलनकर प्रत्येकपर जघन्ययुक्तानन्तको रखे। उन्हें परस्पर वर्ग करनेपर जो राशि आती है वह उत्कृष्टयुक्तानन्तसे एक अधिक जघन्य अनन्तानन्तकी राशि है। उसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट युक्तानन्त हैं। जघन्य अनन्तानन्तको विरलनकर प्रत्येकपर जघन्य अनन्तानन्तको स्थापितकर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं होता। अतः उसमें सिद्ध, निगोदजीव, वनस्पतिकाय, अतीत अनागतकालके समय, सभी

पुद्गल, आकाशके प्रदेश, धर्म, अधर्म और अनन्त अगुरुलघुगुण जोड़े। फिर तीन बार वर्गित-संवर्गित करे। तब भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं होता। अतः उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शनको जोड़े तब उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। उससे एक कम अजघन्योत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। जहां अनन्तानन्तका प्रकरण आता है वहाँ अजघन्योत्कृष्ट अनन्तानन्त लेना चाहिए।

§ ७ उपमा प्रमाण आठ प्रकारका है—पल्य, सागर, सूची, प्रतर, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, लोकप्रतर और लोक। आदि अन्तसे रहित अतीन्द्रिय एक रस एकगन्ध एक रूप और दो स्पर्शवाला अविभागी द्रव्य परमाणु कहलाता है। अनन्तानन्त परमाणुओंके संघात की एक उत्संज्ञासंज्ञा। आठ उत्संज्ञासंज्ञाकी एक संज्ञासंज्ञा। आठ संज्ञासंज्ञाकी एक त्रुटिरेणु। आठ त्रुटिरेणुकी एक त्रसरेणु। आठ त्रसरेणुकी एक रथरेणु। आठ रथरेणुका एक देवकुरु उत्तरकुरुके मनुष्यका बालाग्र। उन आठ बालाग्रोंका एक रम्यक और हरिवर्षके मनुष्योंका बालाग्र। उन आठ बालाग्रोंका एक हैरण्यवत और हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंका बालाग्र। उन आठ बालाग्रोंका एक भरत ऐरावत और विदेहके मनुष्योंका बालाग्र। उन आठ बालाग्रोंकी एक लीख। आठ लीखकी एक जूँ। आठ जूँका एक यवमध्य। आठ यवमध्योंका एक उत्सेधांगुल। इससे नारक तिर्यञ्च देव मनुष्य और अकृत्रिम चैत्यालयोंकी प्रतिमाओंका माप होता है। ५०० उत्सेधांगुलका एक प्रमाणांगुल। यही अवसर्पिणीके प्रथम चक्रवर्तीका आत्मांगुल होता है। उस समय इसीसे गाँव नगर आदिका माप किया जाता है। दूसरे युगोंमें उस उस युगके मनुष्योंके आत्मांगुलसे ग्राम नगर आदिका माप किया जाता है। प्रमाणांगुलसे द्वीप समुद्र वेदिका पर्वत विमान नरक प्रस्तार आदि अकृत्रिम द्रव्योंकी लम्बाई चौड़ाई मापी जाती है। छह अंगुलका एक पाद। बारह अंगुलका एक बीता। दो बीतेका एक हाथ। दो हाथका एक किष्कु। दो किष्कुका एक दंड। दो हजार दंडका एक गव्यूत। चार गव्यूतका एक योजन होता है।

§ ८ पल्य तीन प्रकारका है—व्यवहारपल्य उद्धारपल्य और अद्धापल्य। व्यवहारपल्य आगेके पल्योंके व्यवहारमें कारण होता है, उससे अन्य किसीका परिच्छेद नहीं होता। उद्धारपल्यके लोमच्छेदोंसे द्वीप समुद्रोंकी गिनती की जाती है। अद्धापल्यसे स्थितिका परिच्छेद किया जाता है। प्रमाणांगुलसे परिमित एक योजन लम्बे चौड़े गहरे तीन गड्ढे किये जायँ। वे सात दिन तककी आयु वाले भेंड़ोंके रोमके अतिसूक्ष्म टुकड़ोंसे भरे जायं। एक एक सौ वर्षमें एक एक रोमका टुकड़ा निकाला जाय। जितने समयमें वह खाली हो उतना काल व्यवहारपल्य कहलाता है। उन्हीं रोमच्छेदोंको यदि प्रत्येकको असंख्यात करोड़ वर्षके समयोंसे छिन्न कर दिया जाय और प्रत्येक समयमें एक एक रोम छेदको निकाला जाय तो जितने समयमें वह खाली होगा वह समय उद्धारपल्य कहलाता है। दस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्योंका एक उद्धारसागर होता है। ढाई उद्धारसागरोंके जितने रोमच्छेद होते हैं उतने ही द्वीप समुद्र हैं। उद्धारपल्यके रोमच्छेदोंको सौ वर्षके समयोंसे छेद करके एक एक समयमें एक एक रोमच्छेदको निकालनेपर जितने समयमें वह खाली हो उतना समय अद्धापल्य कहलाता है। दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योंका एक अद्धासागर होता है। दस कोड़ाकोड़ी अद्धासागरोंकी एक अवसर्पिणी होती है और इतनी

ही उत्सर्पिणी। अद्धापल्यसे नारक तिर्यञ्च मनुष्य और देवोंकी कर्मस्थिति भवस्थिति आयुस्थिति और कायस्थिति मापी जाती है। अद्धापल्यके अर्धच्छेदोंको विरलनकर प्रत्येक अद्धापल्यको स्थापितकर परस्पर गुणा करे, तब जितने रोमच्छेद हों उतने प्रदेशोंको सूच्यंगुल कहते हैं। सूच्यंगुलको सूच्यंगुलसे गुणा करनेपर प्रतरांगुल होता है। प्रतरांगुलको सूच्यंगुलसे गुणा करनेपर घनांगुल होता है। असंख्येय वर्षोंके जितने समय हैं उतने खंडवाला अद्धापल्य स्थापित करे। उनसे असंख्यात खंडोंको निकालकर एक असंख्यात भागको बुद्धिसे विरलनकर प्रत्येकपर घनांगुलको स्थापित करे। उनका परस्पर गुणा करनेपर एक जगत्श्रेणी होती है। जगत्श्रेणीको जगत्श्रेणीसे गुणा करनेपर प्रतरलोक होता है। प्रतरलोक जगत्श्रेणीसे वर्ग करनेपर घनलोक होता है।

क्षेत्र प्रमाण दो प्रकारका है—अवगाह क्षेत्र और विभागनिष्पन्न क्षेत्र। अवगाह क्षेत्र एक दो तीन चार संख्येय असंख्येय और अनन्त प्रदेशवाले पुद्गलद्रव्यको अवगाह देनेवाले आकाश प्रदेशोंकी दृष्टिसे अनेक प्रकारका है। विभाग निष्पन्नक्षेत्र भी अनेक प्रकारका है—असंख्यात आकाश श्रेणी, क्षेत्र प्रमाणांगुलका एक असंख्यात भाग, असंख्यात क्षेत्र प्रमाणांगुलके असंख्यात भाग, एक क्षेत्र प्रमाणांगुल। पाद बीता आदि पहिलेकी तरह जानना चाहिए।

कालप्रमाण—जघन्यगतिसे एक परमाणु सटे हुए द्वितीय परमाणु तक जितने कालमें जाता है उसे समय कहते हैं। असंख्यात समयकी एक आवली। संख्यात आवलीका एक उच्छ्वास या निश्वास। एक उच्छ्वास निश्वासका एक प्राण। सात प्राणोंका एक स्तोक। सात स्तोकका एक लव। ७७ लवका एक मुहूर्त। ३० मुहूर्तका एक दिन रात। १५ दिन रातका एक पक्ष। दो पक्षका एक माह। दो माहकी एक ऋतु। तीन ऋतुओंका एक अयन। दो अयनका एक संवत्सर। ८४ लाख वर्षोंका एक पूर्वाङ्ग। ८४ लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व। इसी तरह पूर्वाङ्ग पूर्व, नयुतांग नयुत, कुमुदांग कुमुद, पद्मांग पद्म, नलिनांग नलिन, कमलांग कमल, तुट्यांग तुट्य, अटटांग अटट, अममांग अमम, हूहूअंग हूहू, लतांग लता, महालतांग महालता आदि काल वर्षोंकी गिनतीसे गिना जानेवाला संख्येय कहलाता है। इसके आगेका काल पल्योपम सागरोपम आदि असंख्येय है, उसके अनन्तकाल है जो कि अतीत और अन्तगत रूप है। वह सर्वज्ञके प्रत्यक्षगम्य है।

पाँच प्रकारका ज्ञान भावप्रमाण है।

तिर्यंचोंकी स्थिति—

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

तिर्यंचोंकी भी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

§ १-२ तिर्यंच गति नाम कर्मके उदयसे जिनका जन्म हुआ है वे तिर्यंच हैं। तिर्यञ्च एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रियके भेदसे तीन प्रकारके हैं।

§ ३ शुद्ध पृथिवी कायिकोंकी उत्कृष्ट स्थिति १२ हजार वर्ष, खरपृथिवी कायिकोंकी २२ हजार वर्ष, वनस्पति कायिकोंकी १० हजार वर्ष, जल कायिकोंकी ७ हजार वर्ष, वायुकायिकोंकी तीन हजार वर्ष और तेजस्कायिकोंकी तीन रात दिन है।

§ ४ द्वीन्द्रियोंकी उत्कृष्ट स्थिति १२ वर्ष, त्रीन्द्रियोंकी ४९ दिन रात और चतुरिन्द्रियोंकी ६ माह है।

§ ५ जलचर पंचेन्द्रियोंकी उत्कृष्ट स्थिति मछली आदिकी एक पूर्वकोटि, परिसर्प गोह नकुल आदिकी ९ पूर्वाङ्ग, उरग-सर्पोंकी ४२ हजार वर्ष, पक्षियोंकी ७२ हजार वर्ष, चतुष्पदोंकी तीन पल्य। सबकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

§ ६ तिर्यंचोंकी आयुका पृथक् निर्देश इसलिए किया है जिससे प्रत्येककी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकारकी स्थितिका ज्ञान स्वतन्त्र भावसे हो जाय। अन्यथा यथासंख्य अन्वय होकर मनुष्योंकी उत्कृष्ट और तिर्यंचोंकी जघन्य यह ज्ञान होता।

एक भवकी स्थिति भवस्थिति कहलाती है और एक कायका परित्याग किये बिना अनेक भव विषयक कायस्थिति होती है। पृथिवी जल तेज और वायुकायिकोंकी उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात लोक है। वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट काय स्थिति अनन्तकाल, असंख्यात पुद्गल परिवर्त, आवलिकाका असंख्यात भागमात्र है। विकलेन्द्रियोंकी असंख्यात हजार वर्ष, पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्योंकी पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्य। सभीकी जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। देव और नारकोंकी भवस्थिति ही कायस्थिति है।

तृतीय अध्याय समाप्त

चौथा अध्याय

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

§ १–२ देवगतिनामकर्मके उदय होनेपर बाह्य दीप्ति यथेच्छ क्रीड़ा आदिसे जो दिव्य हैं वे देव हैं। अन्तर्गत भेदोंकी दृष्टिसे 'निकायाः' में बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

§ ३ देवगतिनामकर्मोदयकी भीतरी सामर्थ्यसे बने हुए समुदायोंको निकाय कहते हैं। भवनवासी, किन्नर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार निकाय हैं।

देवोंकी लेश्या–

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

आदिके तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्याएँ होती हैं।

§ १–३ अन्त या मध्यसे नहीं किन्तु आदिसे एक या दो नहीं किन्तु तीन निकायों में अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषियोंमें कृष्ण नील कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं।

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

§ १–३ इन्द्रसामानिक आदि कल्पनाएं जिनमें होती हैं वे कल्पोपपन्न हैं। यद्यपि भवनवासी आदिमें भी ये कल्पनाएं हैं फिर भी रूढ़िवश कल्पोपपन्न शब्दसे १६ स्वर्गवासियोंका ग्रहण है। ग्रैवेयक आदि कल्पातीतोंकी इससे निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् भवनवासी दस प्रकार, व्यन्तर आठ प्रकार, ज्योतिषी पाँच प्रकार और वैमानिक कल्प बारह प्रकारके हैं।

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषकाश्चैकशः ॥४॥

प्रत्येक निकायमें इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद् आत्मरक्ष लोकपाल अनीक प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्विषक ये दश भेद हैं।

§ १ अन्य देवोंमें नहीं पाया जानेवाला अणिमा आदि ऋद्धिरूप ऐश्वर्यवाला इन्द्र है।

§ २ आज्ञा और ऐश्वर्यके सिवाय स्थान आयु शक्ति परिवार और भोगोपभोग आदिमें जो इन्द्रोंके समान हैं वे सामानिक हैं। ये पिता गुरु उपाध्याय आदिके समान आदरणीय होते हैं।

§ ३ मन्त्री और पुरोहितके समान हित चेतानेवाले त्रायस्त्रिंश देव होते हैं। त्रयस्त्रिंशत् संख्या और संख्येयमें भेद मानकर यहाँ समास हो गया है। अथवा स्वार्थिक अण् प्रत्यय करनेपर त्रायस्त्रिंश रूप बन जाता है।

§ ४ पारिषद् अर्थात् सभ्य। ये मित्र और पीठमर्द–अर्थात् नर्तकाचार्यके समान विनोदशील होते हैं।

§ ५ अंगरक्षकके समान कवच पहिने हुए सशस्त्र पीछे खड़े रहनेवाले आत्मरक्ष हैं। यद्यपि कोई भय नहीं है फिर भी विभूतिके द्योतनके लिए तथा दूसरोंपर प्रभाव डालनेके लिए आत्मरक्ष होते हैं।

§ ६ अर्थरक्षकके समान लोकपाल होते हैं।

§ ७ पदाति आदि सात प्रकारकी सेना अनीक है।

§ ८ नगर या प्रान्तवासियोंके समान प्रकीर्णक होते हैं।

§ ९ दासोंके समान आभियोग्य होते हैं। ये ही विमान आदिको खींचते हैं और वाहक आदि रूपसे परिणत होते हैं।

§ १० पापशील और अन्तवासीकी तरह किल्विषक होते हैं।

§ ११ प्रत्येक निकायमें इन भेदोंकी सूचनाके लिए 'एकशः' पदमें वीप्सार्थक शस् प्रत्यय है।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

व्यन्तर और ज्योतिष्कोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपालके सिवाय आठ भेद होते हैं।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

भवनवासी और व्यन्तरोंमें दो दो इन्द्र होते हैं।

§ १–२ 'पूर्वयोः' इस शब्दसे प्रथम और द्वितीय निकायका ग्रहण करना चाहिए, समुदाय और समुदायवालेमें भेद विवक्षाकी दृष्टिसे देवोंके निकायोंमें ऐसा भेदपरक निर्देश किया है। जैसे आमोंका वन या धान्यकी राशि।

§ ३ 'द्वीन्द्राः' यहाँ वीप्सार्थकी विवक्षा है अर्थात् दो दो इन्द्र होते हैं। भवनवासियोंमें असुरकुमारोंके चमर और वैरोचन, नागकुमारोंके धरण और भूतानन्द, विद्युत्कुमारोंके हरिसिंह और हरिकान्त, सुपर्णकुमारोंके वेणुदेव और वेणुधारी, अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्निमाणव, वातकुमारोंके वैलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारोंके सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारोंके जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारोंके पूर्ण और वशिष्ट तथा दिक्कुमारोंके अमितगति और अमितवाहन नामके इन्द्र हैं।

व्यन्तरोंमें किन्नरोंके किन्नर और किंपुरुष, किम्पुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगोंके अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वोंके गीतरति और गीतयश, यक्षोंके पूर्णभद्र और माणिभद्र, राक्षसोंके भीम और महाभीम, पिशाचोंके काल और महाकाल तथा भूतोंके प्रतिरूप और अप्रतिरूप नामके इन्द्र हैं।

सुखभोगका प्रकार–

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

ऐशान स्वर्ग पर्यन्त मैथुन सेवन शरीरसे होता है।

§ १ मैथुन व्यवहारको प्रवीचार कहते हैं। शरीरसे मैथुन सेवनको कायप्रवीचार कहते हैं।

§ २ आङ् उपसर्ग अभिविधि अर्थ में है। अर्थात् ऐशान स्वर्ग तकके देव संक्लिष्ट कर्मवाले होनेसे मनुष्योंकी तरह स्त्री विषयका सेवन करते हैं। यदि 'प्राग् ऐशानात्' ऐसा ग्रहण करते तो ऐशान स्वर्गके देव छूट जाते।

§ ३ 'आ ऐशानात्' ऐसा बिना सन्धिका निर्देश असन्देहके लिए किया गया है। यदि सन्धि कर देते तो 'आङ्' उपसर्गका पता ही न चलता। पूर्वसूत्रमें 'पूर्वयोः' का अधिकार है। अतः उसका अनुवर्तन होनेसे 'ऐशानसे पहिलेके' यह अनिष्ट अर्थ होता। अतः यहाँ सन्धि नहीं की है।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥८॥

शेष स्वर्गोंमें स्पर्श रूप शब्द और मनके द्वारा ही कामवेदना शान्त हो जाती है।

§ १ शेष शब्दके द्वारा ऐशानके सिवाय अन्य विमानवासियोंका संग्रह होता है। ग्रैवेयकादिके देव तो 'परेऽप्रवीचाराः' सूत्रसे मैथुनरहित बताए जायंगे।

§ २–४ **प्रश्न**–इस सूत्रके द्वारा यह ज्ञात नहीं होता कि स्वर्गोंमें स्पर्श-प्रवीचार है तथा किनमें रूप-प्रवीचार आदि। अतः यह सूत्र अगमक है। 'दो दो' का सम्बन्ध लगानेसे भी आगमोक्त अर्थ नहीं निकलता। इन्द्रोंकी अपेक्षा दो दो का सम्बन्ध लगानेसे आनतादिक चार अन्तमें बच जाते हैं। तात्पर्य यह कि यह सूत्र अपूर्ण है।

§ ५ **उत्तर**–यद्यपि पूर्वसूत्रसे प्रवीचार शब्दकी अनुवृत्ति आती है फिर भी इस सूत्रमें दुबारा प्रवीचार शब्दके ग्रहण करनेसे इस प्रकार आगमाविरोधी इष्ट अर्थका ज्ञान हो जाता है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें देव-देवियाँ परस्पर अंग स्पर्श करनेसे सुखानुभवन करते हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गके देव और देवियाँ परस्पर सुन्दर रूपको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गके देव और देवियाँ परस्पर मधुर संगीत श्रवण, मृदु हास्य, भूषणोंकी झंकार आदि शब्दोंके सुनने मात्रसे सुखानुभव करते हैं। आनत-प्राणत-आरण और अच्युत स्वर्गके देव-देवियाँ मनमें एक दूसरेका विचार आते ही तृप्त हो जाते हैं।

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

§ १–२ कल्पातीत–ग्रैवेयकादि वासी देव प्रवीचारसे रहित हैं। प्रवीचार कामवेदनाका प्रतीकार है। इनके काम वेदना ही नहीं होती। अतः ये परमसुखका सदा अनुभव करते हैं।

भवनवासियोंके भेद–

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥

§ १–३ भवनोंमें रहनेके कारण ये भवनवासी कहे जाते हैं। असुर आदि उनके भेद हैं। ये भेद नामकर्मके कारण हैं।

§ ४–६ 'देवोंके साथ असुरका युद्ध होता था अतः ये असुर कहलाते हैं' यह देवोंका अवर्णवाद मिथ्यात्वके कारण किया जाता है। क्योंकि सौधर्मादि स्वर्गोंके देव महा-

प्रभावशाली हैं, वे सदा जिनपूजा आदि शुभकार्योंमें लगे रहते हैं, उनमें स्त्रीहरण आदि निमित्तोंसे वैरकी संभावना ही नहीं है अतः अल्पप्रभाववाले असुरोंसे युद्धकी कल्पना ही व्यर्थ है।

§ ७–८ ये सदा कुमारोंकी तरह वेषभूषा तथा यौवनक्रीडाओंमें लगे रहते हैं अतः कुमार कहलाते हैं। कुमार शब्दका सम्बन्ध प्रत्येकके साथ है–असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार आदि।

इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असंख्यात द्वीपसमुद्रोंके बाद पंक बहुल भागमें चमर नामके असुरेन्द्रके ३४ लाख भवन हैं। इस दक्षिणाधिपतिके ६४ हजार सामानिक, ३३ त्रायस्त्रिंश, तीन परिषत्, सात अनीक, चार लोकपाल, पाँच अग्रमहिषी, ४०३४ आत्मरक्ष यह विभव परिवार है। उत्तरदिशामें वैरोचनके तीस लाख भवन हैं। इसके ६० हजार सामानिक, ३३ त्रायस्त्रिंश, ३ परिषत्, ७ अनीक, ४ लोकपाल, ५ अग्रमहिषी, ४०६४ आत्मरक्ष यह विभव परिवार है। कुल मिलाकर पंकबहुल भागमें ६४ लाख भवन हैं।

खर पृथिवी भागके ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर शेष भागमें शेष नव कुमारोंके भवन हैं। इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असंख्यात द्वीप समुद्रोंके बाद धरण नागराजके ४४ लाख भवन हैं। इसके ६० हजार सामानिक, ३३ त्रायस्त्रिंश, तीन परिषत्, सात अनीक, चार लोकपाल, छह अग्रमहिषी, छह हजार आत्मरक्ष हैं। इस जम्बूद्वीपसे तिरछे उत्तरकी ओर असंख्यात द्वीप-समुद्रोंके बाद भूतानन्द नागेन्द्रके ४० लाख भवन हैं। इसका विभव धरणेन्द्रके समान है। इस तरह नागकुमारोंके ८४ लाख भवन हैं। सुवर्णकुमारोंके ७२ लाख भवन हैं। इसमें दक्षिणदिशाधिपति वेणुदेवके ३८ लाख और उत्तराधिपति वेणुधारीके ३४ लाख हैं। विभव धरणेन्द्रके समान है। विद्युत्कुमार-अग्निकुमार-स्तनितकुमार-उदधिकुमार-द्वीपकुमार और दिक्कुमार इन प्रत्येकके ७६ लाख भवन हैं। इनमें दक्षिणेन्द्र हरिसिंह, अग्निशिख, सुघोष, जलकान्त, पूर्ण और अमितगति इन प्रत्येकके ४० लाख भवन हैं। हरिकान्त, अग्निमाणव, महाघोष, जलप्रभ, शिष्ट और अमितवाहन इन प्रत्येक उत्तरेन्द्रके ३६ लाख भवन हैं। वातकुमारोंके ९६ लाख भवन हैं। इनमें दक्षिणेन्द्र वैलम्बके ५० हजार भवन हैं। और उत्तराधिपति प्रभञ्जनके ४६ लाख भवन हैं। इस तरह कुल मिलाकर सात करोड़ ७२ लाख भवन हैं।

व्यन्तरोंके भेद–

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥

§ १–३ विविध देशोंमें निवास होनेसे इन्हें व्यन्तर कहते हैं। इनके किन्नर आदि आठ भेद हैं। देवगतिके उत्तरभेद रूप उन उन प्रकृतियोंके उदयसे ये किन्नर आदि भेद हुए हैं।

§ ४ प्रश्न–खोटे मनुष्योंको चाहनेके कारण किन्नर, कुत्सित पुरुषोंकी कामना करनेके कारण किम्पुरुष, मांस खानेसे पिशाच आदि कारणोंसे ये संज्ञाएं क्यों नहीं मानते? उत्तर–यह सब देवोंका अवर्णवाद है। ये पवित्र वैक्रियिक शरीरके धारक होते हैं। वे कभी भी अशुचि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदिकी कामना नहीं करते और न वे मांस मदिरादिके खानपानमें प्रवृत्त ही होते हैं। लोकमें जो व्यन्तरोंकी मांसादि ग्रहणकी प्रवृत्ति सुनी जाती है वह केवल उनकी क्रीड़ा है। वे तो मानस आहार लेते हैं।

इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असंख्य द्वीप समुद्रोंके बाद नीचे खर पृथिवी भागमें दक्षिणाधिपति किन्नरेन्द्रके असंख्यात लाख नगर हैं। इसके ४ हजार सामानिक, तीन परिषद्, सात अनीक, चार अग्रमहिषी और सोलह हजार आत्मरक्ष हैं। उत्तराधिपति किन्नरेन्द्र किम्पुरुषका भी इतना ही विभव परिवार है। शेष छह दक्षिणाधिपति–सत्पुरुष अतिकाय गीतरति पूर्णभद्र स्वरूप और कालके दक्षिण दिशामें आवास हैं। तथा उत्तराधिपति महापुरुष महाकाय गीतयश माणिभद्र अप्रतिरूप और महाकालके उत्तरदिशामें आवास हैं। राक्षसेन्द्र भीमके दक्षिण दिशामें पंकबहुल भागमें असंख्यात लाख नगर हैं और उत्तराधिपति महाभीमके उत्तरदिशामें। सोलहों व्यन्तरोंके सामानिक आदि विभव परिवार एक जैसा है। भूमितलमें भी व्यन्तर द्वीप-पर्वत-समुद्र-देश-ग्राम-नगर-तिगड्डा-चौराहा-घर-गली जलाशय-उद्यान-देवमन्दिर आदिमें निवास करते हैं।

ज्योतिष्कोंका वर्णन–

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥१२॥

सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र और तारागण ये पांच प्रकारके ज्योतिष्क देव हैं।

§ १–३ प्रकाश स्वभाव होनेसे ये ज्योतिष्क कहलाते हैं। ज्योतिष् शब्दसे स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होनेपर ज्योतिष्क शब्द सिद्ध होता है। यद्यपि ज्योतिष् शब्द नपुंसक लिंग है फिर भी क प्रत्यय स्वार्थमें होनेपर पुल्लिग ज्योतिष्क शब्द बन जाता है। जैसे कुटीसे कुटीर शुण्डासे शुण्डार आदि। अर्थात् कहीं कहीं लिंग-व्यतिक्रम हो जाता है।

§ ४–१० उन उन देवगति नाम कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके उदयसे सूर्य चन्द्र आदि संज्ञाएं रूढ़ हुई हैं। 'सूर्याचन्द्रमसौ' यहाँ 'देवताद्वन्द्वे' सूत्रसे आनङ् प्रत्यय हुआ है। यह सर्वत्र नहीं होता। 'सूर्याचन्द्रमसौ' का पृथक् ग्रहण इसलिए किया है कि ये प्रभाव ज्योति आदिके कारण सबमें प्रधान हैं। सूर्यका प्रथम पाठ इसलिए किया है कि उसमें अल्प स्वर हैं और वह प्रभावशाली तथा अपनी प्रभासे सबका अभिभव करनेमें समर्थ होनेसे पूज्य भी हैं। ग्रह शब्द अल्प अच्वाला है और अभ्यर्हित है अतः उसका नक्षत्र और तारकासे पहिले ग्रहण किया है। इसी तरह तारकासे नक्षत्र अल्पाच् और अभ्यर्हित है।

इस भूमितलसे ७९० योजन ऊपर ज्योतिर्मण्डलमें सबसे नीचे तारागण हैं। उससे दश योजन ऊपर सूर्य, उससे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा, उससे तीन योजन ऊपर नक्षत्र, उससे तीन योजन ऊपर बुध, उससे तीन योजन ऊपर शुक्र, उससे तीन योजन ऊपर बृहस्पति, उससे चार योजन ऊपर मंगल और उससे चार योजन ऊपर शनैश्चर हैं। इस तरह सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र ११० योजन ऊंचाई और असंख्यात द्वीपसमूह प्रमाण लम्बाईमें है।

अभिजित नक्षत्र सबसे भीतर और मूल सबसे बाहिर है। भरणी सबसे नीचे और स्वाति सबसे ऊपर है। सूर्यके विमान तपे हुए सुवर्णके समान प्रभावाले लोहित मणिमय, $४८\frac{१}{६०}$ योजन लम्बे $२४\frac{१}{६०}$ योजन चौड़े, आधे गोलकके आकारवाले और सोलह हजार देवों द्वारा वहन किये जाते हैं। पूर्व दक्षिण उत्तर और पश्चिम दिशामें क्रमशः चार चार हजार देव सिंह हाथी वृषभ और घोड़ेके आकारको धारण करके सूर्यके विमानमें जुते रहते हैं। इनके ऊपर सूर्य देव हैं। इनके सूर्यप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी और प्रभंकरा ये चार अग्रमहिषी हैं। ये प्रत्येक चार चार हजार देवियोंकी विक्रिया कर सकती हैं। सूर्य असंख्यात

लाख विमानोंके स्वामी हैं। चन्द्रविमान निर्मल मृणालवर्णके समान धवल प्रभावाले हैं। ये ५६$\frac{१}{६०}$ योजन लंबे २८$\frac{१}{६०}$ योजन चौड़े और हजार देवों द्वारा वहन किए जाते हैं। पूर्वादिक दिशाओंमें क्रमशः सिंह हाथी घोड़ा और वृषभके रूपको धारण किए हुए चार चार हजार देव चन्द्रविमानोंमें जुते रहते हैं। इनके चन्द्रप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी और प्रभंकरा ये चार अग्रमहिषी चार चार हजार देवियोंकी विक्रिया करनेमें समर्थ हैं। ये असंख्यात लाख विमानोंके अधिपति हैं।

राहुके विमान अंजनमणिके समान काले, एक योजन लम्बे चौड़े और २५० धनुष बिस्तारवाले हैं। नव मल्लिका कुसुमकी तरह रजतमय शुक्र विमान हैं। ये एक गव्यूत लम्बे चौड़े हैं। बृहस्पतिके विमान अंकमणिमय और सुवर्ण तथा मोतीकी समान कान्तिवाले हैं। कुछ कम गव्यूत प्रमाण लम्बे चौड़े हैं। बुधके विमान कनकमय और पीले रंगके हैं। तपे हुए सोनेके समान लालरंगके शनैश्चरके विमान हैं। लोहित मणिमय तप्त सुवर्णकी कान्तिवाले मंगलके विमान हैं। बुध आदिके विमान आधे गव्यूत लम्बे-चौड़े हैं। शुक्र आदिके विमान राहुके विमान बराबर लम्बे-चौड़े हैं। राहु आदिके विमानोंको चार-चार हजार देव वहन करते हैं। नक्षत्र विमानोंको भी चार हजार देव ही ढोते हैं। तारा विमानोंको दो हजार देव वहन करते हैं। राहु आदिके विमानवाहक देव चन्द्रविमानवाहक देवोंकी तरह रूपविक्रिया करते हैं। नक्षत्र विमानोंका उत्कृष्ट विस्तार एक कोश है। तारा विमानोंका जघन्य विस्तार $\frac{१}{४}$ कोश, मध्यम कुछ अधिक $\frac{१}{४}$ कोश और उत्कृष्ट $\frac{१}{२}$ गव्यूत है। ज्योतिषी विमानोंका सर्वजघन्य विस्तार ५०० धनुष है। ज्योतिषियोंके इन्द्र सूर्य और चन्द्रमा हैं। ये असंख्यात हैं।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

ज्योतिषी देव मनुष्यलोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा करके नित्य भ्रमण करते हैं।

§ १ अन्य प्रकारकी गतिकी निवृत्तिके लिए 'मेरुप्रदक्षिणा' शब्द दिया है।

§ २–३ यद्यपि गति प्रतिक्षण भिन्न होनेके कारण अनित्य है फिर भी सतत गतिकी सूचनाके लिए 'नित्य' पद दिया है। तात्पर्य यह कि वे सदा चलते हैं कभी रुकते नहीं। गति भी द्रव्यदृष्टिसे नित्य होती है क्योंकि सभी पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य इस तरह अनेकान्तरूप हैं।

§ ४ 'नृलोक' ग्रहण सूचित करता है कि ढाई द्वीपके ज्योतिषी नित्यगतिवाले हैं बाहरके नहीं। गतिपरिणत आभियोग्य जातिके देवों द्वारा इनके विमान ढोए जाते हैं अतः वे नित्यगतिक हैं। इन देवोंके ऐसे ही कर्मका उदय है जिससे इन्हें विमानोंको वहन करके ही अपना कर्मफल भोगना पड़ता है। ये मेरु पर्वतसे ११ सौ योजन दूर घूमते हैं।

जम्बूद्वीपमें २ सूर्य, २ चन्द्र, ५६ नक्षत्र, १७६ ग्रह, एक कोड़ाकोड़ी लाख ३३ कोड़ाकोड़ी हजार ९ कोड़ाकोड़ी सैकड़ा ५० कोड़ाकोड़ी तारागण हैं। लवण समुद्रमें ४ सूर्य, ४ चन्द्र, ११२ नक्षत्र, ३५२ ग्रह, २ कोड़ाकोडी लाख ६७ कोड़ाकोड़ी हजार ९ सौ कोड़ाकोड़ी तारा हैं। धातकीखण्डमें १२ सूर्य, १२ चन्द्र, ३३६ नक्षत्र, १०५६ ग्रह, आठ लाख कोड़ाकोड़ी ३७ सौ कोड़ाकोड़ी तारा हैं। कालोदधिमें ४२ सूर्य, ४२

चन्द्र, ११६७ नक्षत्र, ३६९६ ग्रह, २८ कोड़ाकोड़ी लाख १२ कोड़ाकोड़ी हजार ९ कोड़ीकोड़ी सैकड़ा ५० कोड़ाकोड़ी तारा हैं। पुष्करार्धमें ७२ सूर्य, ७२ चन्द्र, २०१६ नक्षत्र, ६३३६ ग्रह; ४८ कोड़ाकोड़ी लाख २२ कोड़ाकोड़ी हजार, दो कोड़ाकोड़ी सैकड़ा तारा हैं। बाह्य पुष्करार्धमें भी इतने ही ज्योतिष्क देव हैं। पुष्कर समुद्रमें इससे चौगुनी संख्या है उससे आगे प्रत्येक द्वीप समुद्रमें दूनी दूनी है।

ताराओंका जघन्य अन्तर $\frac{१}{८}$ गव्यूत है, मध्यम ५० गव्यूत और उत्कृष्ट अन्तर एक हजार योजन है। चन्द्र और सूर्यका जघन्य अन्तर ९९६४० योजन और उत्कृष्ट अन्तर १००६६६ योजन है। जम्बूद्वीप आदिमें एक एक चन्द्रमाके ६६ हजार कोड़ाकोड़ी ९ सौ कोड़ाकोड़ी और ७५ कोड़ाकोड़ी तारा, ८८ महाग्रह और २८ नक्षत्र हैं। सूर्यके १८४ मंडल ८० सौ जम्बूद्वीपके भीतर घुसकर प्रकाशित करते हैं। इनमें ६५ आभ्यन्तर मंडल हैं तथा लवणोदधिके भीतर ३३ सौ योजन घुसकर प्रकाशित करते हैं। बाह्य मण्डल ११९ हैं। एक एक मण्डलका अन्तर दो दो योजन है। २$\frac{४८}{६१}$ योजन उदयान्तर है। सबसे भीतरी मण्डलमें सूर्य ४४८२० योजन मेरुपर्वतसे दूर सूर्य प्रकाशित होता है। इसका विस्तार ९९६४० योजन है। इस समय १८ मुहूर्तका दिन होता है। एक मुहूर्तका गतिक्षेत्र ५२५१$\frac{३१}{६०}$ योजन है। सर्व बाह्यमण्डलमें सूर्य ४५३३० योजन मेरु पर्वतसे दूर रहकर प्रकाशित होता है। इसका विस्तार १००६६० योजन है। इस समय दिनमान १२ मुहूर्त है। ५३०५$\frac{१५}{६०}$ योजन मुहूर्तगतिक्षेत्र है। उस समय ३१८३१$\frac{१}{२}$ योजनमें सूर्य दिखाई देता है।

चन्द्रमण्डल १५ हैं। द्वीपके भीतर पाँच मंडल हैं और समुद्रमें दस। १५ मंडलोंके १४ अन्तर हैं। एक एक मंडलान्तरका प्रमाण ३५$\frac{३}{६४}$–$\frac{४}{७}$ योजन है। सर्वाभ्यन्तर मंडलको १३७२५ से भाग देनेपर ५०७३$\frac{४४}{६७}$ शेष रहता है। यह चन्द्रमण्डलकी एक मुहूर्तकी गतिका परिमाण है। सर्व बाह्यमंडलको १३७२५ से भाग देनेपर ५१२५$\frac{६९}{६७}$ शेष रहता है। यह चन्द्रमंडलकी एक मुहूर्तकी गतिका परिमाण है। ५१० योजन सूर्य और चन्द्रका चार क्षेत्रका विस्तार है।

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

ज्योतिषियोंकी गतिसे दिन रात्रि आदि कालविभाग जाना जाता है।

§ १ 'तत्' शब्दसे ज्ञात होता है कि न तो केवल गतिसे कालविभाग होता है और न केवल ज्योतिषियोंसे; क्योंकि गतिकी उपलब्धि नहीं होती और ज्योतिषियोंमें परिवर्तन नहीं होता।

§ २–४ काल दो प्रकारका है–मुख्य और व्यवहार। समय आवली आदि व्यवहार काल ज्योतिषियोंकी गतिसे गिना जाता है। यह क्रियाविशेषसे परिच्छिन्न होता है और अन्य पदार्थोंके परिच्छेदका कारण होता है।

प्रश्न–सूर्य आदिकी गतिसे पृथक् कोई मुख्य काल नहीं है, क्योंकि उसका अनुमापक लिंग नहीं पाया जाता। कलाओंके समूहको काल कहते हैं। कला अर्थात् क्रियाके भाग। आगममें पाँच ही अस्तिकाय बताए हैं अतः छठवाँ काल कोई पदार्थ नहीं है।

उत्तर–सूर्यगति आदिमें जिस कालका उपचार किया जाता है वही मुख्य काल है। मुख्यके बिना कहीं भी गौण व्यवहार नहीं होता। यदि मुख्य गौ न होती तो बोझा

ढोनेवालेमें गौण गौ व्यवहार कैसे होता ? अतः कालका गौण व्यवहार ही वर्तना लक्षण-वाले मुख्य कालका अस्तित्व सिद्ध करता है। इसीलिए कलाओंके समूहको ही काल नहीं कहते। अस्तिकायोंमें उन द्रव्योंको गिनाया है जिनमें प्रदेशप्रचय–बहुत प्रदेश पाये जाते हैं। काल एकप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय नहीं है। यदि कालकी सत्ता ही न होती तो वह द्रव्योंमें क्यों गिनाया जाता ?

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

मनुष्यलोकसे बाहरके ज्योतिषी देव अवस्थित हैं।

§ १ मनुष्य-लोकसे बाहिर ज्योतिषी हैं और अवस्थित हैं, इन दोनों बातोंकी सिद्धिके लिए यह सूत्र बनाया है। यदि यह न बनाया जाता तो पहिलेके सूत्रसे 'मनुष्य-लोकमें ही ज्योतिषी हैं और वे नित्यगति हैं' यह अर्थ स्थित रह जाता है।

वैमानिकाः ॥१६॥

यहाँसे वैमानिकोंका कथन किया जाता है–

जिनमें रहनेसे विशेषतया अपनेको सुकृति माने वे विमान, विमानोंमें रहनेवाले वैमानिक हैं। इन्द्रक श्रेणि और पुष्पप्रकीर्णकके भेदसे विमान तीन प्रकारके हैं। इन्द्रक विमान इन्द्रकी तरह मध्यमें हैं। उसकी चारों दिशाओंमें क्रमबद्ध श्रेणिविमान हैं तथा विदिशाओंमें प्रकीर्ण पुष्पकी तरह अक्रमी पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

वैमानिकोंके दो भेद हैं–कल्पोपपन्न और कल्पातीत। इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाएं जिनमें पाई जायं वे कल्पोपपन्न तथा जहाँ सभी 'अहमिन्द्र' हों वे कल्पातीत।

§ १ यद्यपि नव ग्रैवेयेक नव अनुदिश आदिमें नव आदि संख्याकृत कल्पना है पर 'कल्पातीत' व्यवहारमें इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाएं ही मुख्य रूपसे विवक्षित हैं।

उपर्युपरि ॥१८॥

§ १ ये ऊपर ऊपर हैं। न तो ज्योतिषियोंकी तरह तिरछे हैं और न व्यन्तरोंकी तरह अनियत ही हैं। यहाँ 'समीप' अर्थमें उपरि शब्दका द्वित्व हुआ है। यद्यपि इनमें परस्पर असंख्यात योजनोंका व्यवधान है फिर भी दो स्वर्गोंमें अन्य किसी सजातीय-स्वर्गका व्यवधान नहीं है अतः समीपता मानकर द्वित्व कर दिया है।

§ २–५ ऊपर ऊपर कल्प अर्थात् स्वर्ग हैं। देव तो एक दूसरेके ऊपर हैं नहीं और न विमान ही क्योंकि श्रेणि और पुष्पप्रकीर्णक विमान समतलपर तिरछे फैले हुए हैं। यद्यपि पूर्व सूत्रमें 'कल्पोपपन्नाः' में 'कल्प' पद समासान्तर्गत होनेसे गौण हो गया है फिर भी विशेष प्रयोजनसे उसका यहाँ सम्बन्ध हो जाता है। जैसे 'राजपुरुषोऽयम्' यहाँ 'कस्य' प्रश्न होनेपर 'राजपुरुष' में से 'राज' का सम्बन्ध कर लिया जाता है।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र-शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्तजयान्तपराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

सौधर्म ऐशान आदि स्वर्ग, नवग्रैवेयक विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थ-सिद्धिमें कल्पोपपन्न और कल्पातीत विमानवासियोंका निवास है।

§ १–२ सौधर्म आदि संज्ञाएं स्वभावसे अथवा साहचर्यसे पड़ी हैं। इनके साहचर्यसे इन्द्र भी सौधर्म आदि कहलाते हैं। सुधर्मा नामकी सभा जिसमें पाई जाती है वह सौधर्म कल्प है। सौधर्म कल्पके साहचर्यसे इन्द्र भी सौधर्म कहा जाता है। ईशान नामका इन्द्र है। ईशानका निवासभूत कल्प ऐशान कहा जाता है, फिर इन्द्र भी ऐशान ही कहा जाता है। सनत्कुमार नामका इन्द्र स्वभावसे है। उसका निवासभूत कल्प सानत्कुमार कहलाता है। इन्द्र भी इसीलिए सानत्कुमार कहा जाता है। महेन्द्र नामका इन्द्र है। इसका निवासभूत कल्प माहेन्द्र और इन्द्र भी माहेन्द्र कहा जाता है। ब्रह्मा इन्द्र है। उसके निवासको ब्रह्मलोक कल्प कहते हैं तथा इन्द्र भी ब्रह्म कहलाता है। इसी तरह ब्रह्मोत्तर। लान्तव इन्द्रके निवासभूत कल्पको लान्तव कहते हैं, इन्द्र भी लान्तव कहलाता है। शुक्र इन्द्रका निवास कल्प शौक्र या शुक्र, इन्द्र भी शुक्र। शतार इन्द्रका निवासभूत कल्प शतार और इन्द्र भी शतार। इसी तरह सहस्रारमें भी। आनत इन्द्रका निवासभूत कल्प आनत और इन्द्र भी आनत। प्राणत इन्द्रका निवास प्राणत कल्प और इन्द्रका नाम भी प्राणत। आरण इन्द्रका निवास कल्प आरण और इन्द्रका नाम भी आरण। अच्युत इन्द्रका निवास अच्युत कल्प और इन्द्र भी अच्युत। लोक पुरुषके ग्रीवाकी तरह ग्रैवेयक हैं। विजयादि विमानोंकी भी इसी तरह सार्थक संज्ञाएं हैं। इनके इन्द्रोंके भी यही नाम हैं।

§ ३ सर्वार्थसिद्धि विमानमें एक ही उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है, प्रभाव भी सर्वार्थसिद्धिके देवोंका सर्वोत्कृष्ट है इत्यादि विशेषताओंके कारण सर्वार्थसिद्धिका पृथग् ग्रहण किया है।

§ ४–५ ग्रैवेयक आदिको कल्पातीत बतलानेके लिए उनका पृथक् ग्रहण किया है। नव शब्दको पृथक् रखनेसे नव अनुदिशकी सूचना हो जाती है। अनुदिश अर्थात् प्रत्येक दिशामें वर्तमान विमान।

§ ६–८ 'उपरि उपरि' के साथ दो दो स्वर्गोंका सम्बन्ध है। अर्थात् सौधर्म ऐशान के ऊपर सानत्कुमार माहेन्द्र आदि। सोलह स्वर्गोंमें एक एक इन्द्र है पर मध्यके ८ स्वर्गोंमें चार इन्द्र हैं। इसलिए 'आनतप्राणतयोः आरणाच्युतयोः' इन चार स्वर्गोंका पृथक् निर्देश करना सार्थक होता है। अन्यथा लाघवके लिए एक ही द्वन्द्व समास करना उचित होता।

इस भूमितलसे ९९००४० योजन ऊपर सौधर्म ऐशान कल्प हैं। उनके ३१ विमान प्रस्तार हैं। ऋतु चन्द्र विमल आदि उनके नाम हैं। मेरु पर्वतके शिखर और ऋतुविमानमें मात्र एक बालका अन्तर है। ऋतुविमानसे चारों दिशाओंमें चार विमान श्रेणियाँ हैं। प्रत्येकमें ६२-६२ विमान हैं। विदिशाओंमें पुष्प प्रकीर्णक हैं। प्रभा नामक इन्द्रककी श्रेणीमें अठारहवाँ विमान कल्पविमान है। उसके स्वस्तिक वर्धमान और विश्रुत नामके तीन प्राकार हैं। बाह्य-

प्राकारमें अनीक और पारिषद, मध्य प्राकारमें त्रायस्त्रिंश देव और अन्तर प्राकारमें सौधर्म इन्द्र रहता है। उस विमानकी चारों दिशाओंमें चार नगर हैं। उसके ३२ लाख विमान हैं। ३३ त्रायस्त्रिंश, ८४ हजार आत्मरक्ष, तीन परिषदें, सात अनीक, ८४ हजार सामानिक, चार लोकपाल, पद्मा आदि अग्रमहिषी, ४० हजार वल्लभिकाएं हैं। इत्यादि विभूति हैं। प्रभा विमानसे उत्तरमें १८वें कल्प विमानमें ऐशान इन्द्र रहता है। इसका परिवार सौधर्मकी तरह है। इसी तरह सोलहों स्वर्गका वर्णन है।

लोकानुयोगमें चौदह इन्द्र कहे गए हैं। पर यहाँ बारह विवक्षित हैं क्योंकि ब्रह्मोत्तर कापिष्ठ महाशुक्र और सहस्रार ये चार अपने दक्षिणेन्द्रके अनुवर्ती हैं।

आरणाच्युत विमानसे सैकड़ों योजन ऊपर अधोग्रैवेयकके तीन विमान पटल हैं। फिर मध्यम ग्रैवेयक और फिर उत्तम ग्रैवेयकके विमान पटल हैं। इनके ऊपर नव अनुदिश विमानोंका एक पटल है। इनसे सैकड़ों योजन ऊपर एक सर्वार्थसिद्धि पटल है। इसमें चारों दिशाओंमें विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित तथा मध्यमें सर्वार्थसिद्धि विमान है।

सौधर्म ईशानके विमान पंचवर्णके, सानत्कुमार माहेन्द्रके कृष्णवर्णके बिना चार वर्ण के, ब्रह्मादि चार स्वर्गोंके कृष्ण और नीलके बिना तीन वर्णके, शुक्रादि आठ स्वर्गोंके विमान पीले और शुक्ल वर्णके हैं। ग्रैवेयक अनुदिश और अनुत्तर विमान शुक्लवर्णके ही हैं। सर्वार्थसिद्धि विमान परम शुक्लवर्ण हैं।

देवोंकी विशेषताएं—

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

ऊपर ऊपरके देवोंके स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेश्या इन्द्रियविषय और अवधिविषय उत्तरोत्तर अधिक हैं।

§ १-६ अपनी देवायुके उदयसे उस पर्यायमें रहना स्थिति है। शाप और अनुग्रहकी शक्तिको प्रभाव कहते हैं। सातावेदनीयके उदयसे बाह्य विषयोंमें इष्टानुभव करना सुख है। शरीर वस्त्राभरण आदिकी कान्तिको द्युति कहते हैं। कषायसे रंगी हुई योगप्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। लेश्याकी निर्मलता लेश्याविशुद्धि है।

§ ७-८ यहाँ इन्द्रिय और अवधिज्ञानका विषय विवक्षित है, अन्यथा ऊपर ऊपरके स्वर्गोंमें इन्द्रियोंकी संख्या अधिक समझी जाती।

§ ९ स्थिति आदि ऊपर ऊपर विमानोंके तथा प्रस्तारोंके देवोंमें अधिक हैं। जिन स्वर्गोंमें समस्थिति है उनमें भी विमानों और प्रस्तारोंमें ऊपर क्रमशः अधिक है। निग्रह अनुग्रह सम्बन्धी प्रभाव या शक्ति भी इसी तरह ऊपर ऊपर अधिक होती गई है। यह शक्तिकी दृष्टिसे है क्योंकि ऊपर ऊपर अल्पसंक्लेश तथा मन्द अभिमान होनेसे उसके प्रयोगका अवसर ही नहीं आता। परन्तु—

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

गति शरीर परिग्रह और अभिमानकी दृष्टिसे ऊपर ऊपरके देव हीन हैं।

§ १-४ एक देशसे दूसरे देश जानेको गति कहते हैं। शरीर तो प्रसिद्ध है। लोभ कषायके उदयसे होनेवाले मूर्छा परिणामको परिग्रह कहते हैं। मानकषायके उदयसे अभिमान होता है।

§ ५-८ गति शब्द स्वन्त तथा अल्प अच्वाला है अतः इसका सर्वप्रथम ग्रहण किया है। शरीरके रहते ही परिग्रहसंचयकी वृत्ति होती है अतः परिग्रहसे पहिले शरीरका ग्रहण है। यद्यपि वीतरागी केवलीके शरीर रहते भी परिग्रहकी इच्छा नहीं होती पर यहाँ देवोंका प्रकरण है अतः रागादियुक्त देवोंके शरीर रहते हुए परिग्रहेच्छा अवश्यंभाविनी है। परिग्रहमूलक ही संसारमें अभिमान देखा जाता है अतः परिग्रहके बाद अभिमानका ग्रहण किया है। ये सब बातें ऊपर ऊपरके देवोंमें क्रमशः कम होती गई हैं। जिस प्रकार सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देव विषय क्रीडा आदिके निमित्त इधर उधर गमन करते हैं उस प्रकार ऊपरके देव नहीं, क्योंकि उनकी विषयाभिलाषा क्रमशः कम होती जाती है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंके शरीरकी ऊंचाई ७ अरत्नि प्रमाण है। सानत्कुमार और माहेन्द्रमें छह अरत्नि, ब्रह्मलोक ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठमें पाँच अरत्नि, शुक्र महाशुक्र सतार और सहस्रारमें चार अरत्नि, आनत और प्राणतमें ३½ अरत्नि, आरण और अच्युतमें तीन अरत्नि प्रमाण है। अधोग्रैवेयकमें २½ अरत्नि, मध्य ग्रैवेयकमें २ अरत्नि, उपरिम ग्रैवेयक तथा अनुदिश विमानों १½ अरत्नि और विजयादि अनुत्तर विमानोंमें एक अरत्नि प्रमाण है। परिग्रह और अभिमान भी ऊपर ऊपर कम है।

§ ९ मन्दकषायोंकी मन्दतासे अवधिज्ञानकी विशुद्धि होती है। अवधिकी विशुद्धिसे ऊपर ऊपरके देव नारकी तिर्यञ्च और मनुष्योंके विविध प्रकारके दुखोंको बराबर देखते रहते हैं और इसीलिए उनके वैराग्यरूप परिणाम रहते हैं तथा परिग्रह और अभिमान कम रहता है।

§ १० विशुद्ध परिणामोंसे ही जीव ऊपरके देवोंमें उत्पन्न होते हैं, इसलिए भी उनमें अभिमान आदि कषायें कम रहती हैं।

तिर्यञ्च असंज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय भवनवासी और व्यन्तरोंमें उत्पन्न होते हैं। संज्ञी तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि और सासादनगुणस्थानवर्ती सहस्रार स्वर्ग तक, सम्यग्दृष्टी तिर्यञ्च सौधर्म आदि अच्युत पर्यन्त, असंख्यातवर्षकी आयुवाले तिर्यञ्च और मनुष्य मिथ्यादृष्टि तथा सासादनगुणस्थानवर्ती एवं अन्य तपस्वी ज्योतिषी देवों तक, ये ही सम्यग्दृष्टी सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं। संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि भवनवासी आदि उपरिम ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं। परिव्राजक ब्रह्मस्वर्ग तक, आजीवक सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। इससे ऊपर अन्यलिंगियोंकी उत्पत्ति नहीं होती। जैनलिंगधारी उत्कृष्ट तप तपनेवाले मिथ्यादृष्टियोंका अन्तिम ग्रैवेयक तक उत्पाद होता है इससे ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं। श्रावक व्रतधारियोंका सौधर्म आदि अच्युतस्वर्गपर्यन्त उत्पाद होता है।

वैमानिकोंकी लेश्याएं—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

दो तीन तथा शेष में पीत पद्म और शुक्ल लेश्या है।

§ १ यहाँ अलगसे लेश्याओंका कथन लघुनिर्देशके लिए है। 'पीतपद्मशुक्ललेश्याः' पदमें पीत आदिमें औत्तरपदिक ह्रस्व है जैसे भाष्यमें 'मध्यमविलम्बितयोः' पदमें है।

§ २–६ सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंके पीतलेश्या होती है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंमें पीत और पद्म लेश्या हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ट इन चार स्वर्गोंमें पद्मलेश्या है तथा शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गके देवोंमें पद्म और शुक्ल लेश्या हैं। आनतादिकके देवोंमें शुक्ल लेश्या है। तथा अनुत्तर विमानोंमें परमशुक्ल लेश्या है।

§ ७–८ यद्यपि सूत्रमें शुद्ध और मिश्र दो प्रकारकी लेश्याओंका निर्देश स्पष्ट नहीं किया गया है फिर भी जिनका मिश्रण है उन एक एकका ग्रहण होनेसे मिश्रका निर्देश समझ लेना चाहिए। यद्यपि सूत्रमें द्वि त्रि और शेष ग्रहण करनेसे पीत पद्म और शुक्ल इन तीनों लेश्याओंका पृथक् पृथक् अन्वय हो जाता है फिर भी इच्छानुसार सम्बन्ध इस प्रकार कर लेना चाहिए—दो कल्प युगलोंमें पीत लेश्या है, सानत्कुमार और माहेन्द्रमें पद्म लेश्याकी विवक्षा नहीं है। ब्रह्मलोक आदि तीन युगलोंमें पद्म लेश्या है, शुक्र महाशुक्रमें शुक्ललेश्याकी विवक्षा नहीं है। शतार आदि शेषमें शुक्ल लेश्या है, पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं है। इस तरह आगमविरोध नहीं होता।

§ ९ अथवा 'पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु' यह स्पष्टार्थक सूत्रपाठ मान लेनेसे कोई दोष नहीं रहता।

§ १० निर्देश आदि सोलह अनुयोगों द्वारा लेश्याका विशेष विवेचन इस प्रकार है—

१ निर्देश—कृष्ण नील कपोत तेज पद्म और शुक्ल। वर्ण-भौंरा मयूरकण्ठ कबूतर सुवर्ण पद्म और शंखके समान क्रमशः लेश्याओंका वर्ण है। अवान्तर तारतम्य प्रत्येक लेश्यामें अनन्त प्रकारका है।

परिणाम—असंख्यात लोक प्रदेश प्रमाण कषायोंके उदयस्थान होते हैं। उनमें नीचेसे उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंशोंमें संक्लेश हानिसे क्रमशः कृष्ण नील और कपोत अशुभ लेश्या रूप परिणमन होता है। इसी तरह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अंशोंमें विशुद्धिकी वृद्धिसे तेज पद्म और शुक्ल तीन शुभ लेश्या रूप परिणाम होते हैं। इसी तरह ऊपरसे उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंशोंमें विशुद्धि हानिसे शुक्ल पद्म और पीत तथा जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट अंशोंमें संक्लेशवृद्धिसे कपोत नील और कृष्णलेश्या रूप परिणमन होता है। प्रत्येक लेश्याके असंख्यात लोक प्रमाण अवान्तर परिणाम होते हैं।

संक्रमण—यदि कृष्णलेश्यावाला अधिक संक्लेश करता है तो वह कृष्णलेश्याके ही अवान्तर उत्कृष्ट आदि भेदोंमें बना रहता है। इस तरह वृद्धिमें एक ही स्वस्थान संक्रमण होता है। हानिमें स्वस्थान तथा परस्थान दोनों संक्रमण होते हैं। शुक्ल लेश्यामें विशुद्धि वृद्धिमें एक स्वस्थान संक्रमण ही होगा तथा विशुद्धि हानिमें स्वस्थान और परस्थान दोनों संक्रमण होते हैं। मध्यकी लेश्याओंमें संक्लेश और विशुद्धिकी हानि-वृद्धिसे स्वस्थान और परस्थान दोनों संक्रमण होते हैं। अनन्त भागवृद्धि आदि इनमें होती रहती है।

लेश्याकर्म—जामुन भक्षणको दृष्टान्त मानकर—पीढ़से वृक्षको काटना, शाखाएं काटना, छोटी डालियाँ काटना, गुच्छे तोड़ना, पके फल तोड़ना तथा स्वयं गिरे हुए पके फल खाना इस प्रकार कृष्ण आदि लेश्याओंके आचरण समझना चाहिए।

लक्षण—दुराग्रह, उपदेशावमानन, तीव्र वैर, अति क्रोध, दुर्मुख, निर्दयता, क्लेश, ताप, हिंसा, असन्तोष आदि परम तामस भाव कृष्णलेश्याके लक्षण हैं। आलस्य, मूर्खता,

कार्यानिष्ठा, भीरुता, अतिविषयाभिलाष, अतिगृद्धि, माया, तृष्णा, अतिमान, वंचना, अनृत भाषण, चपलता, अतिलोभ आदि भाव नीललेश्याके लक्षण हैं। मात्सर्य, पैशुन्य, परपरिभव, आत्मप्रशंसा, परपरिवाद, जीवन नैराश्य, प्रशंसकको धन देना, युद्ध, मरणोद्यम आदि कपोत लेश्याके लक्षण हैं। दृढ़मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलत्व, स्वकार्यपटुता, सर्वधर्म-समदर्शित्व आदि तेजोलेश्याके लक्षण हैं। सत्यवाक्य, क्षमा, सात्त्विकदान, पाण्डित्य, गुरु-देवता-पूजनरुचि आदि पद्मलेश्याके लक्षण हैं। निर्वैर, वीतरागता, शत्रुके भी दोषों पर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, पाप कार्योंसे उदासीनता, श्रेयोमार्ग रुचि आदि शुक्ललेश्याके लक्षण हैं।

गति—लेश्याके छब्बीस अंशोंमें मध्यके आठ अंशोंमें आयुबंध होता है तथा शेष अठारह अंश गतिहेतु होते हैं। उत्कृष्ट शुक्ललेश्यावाला सर्वार्थसिद्धि जाता है। जघन्य शुक्ल लेश्यासे शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार जाता है। मध्यम शुक्ललेश्यासे आनत और सर्वार्थसिद्धिके मध्यके स्थानोंमें उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट पद्मलेश्यासे सहस्रार, जघन्य पद्म-लेश्यासे सानत्कुमार माहेन्द्र तथा मध्यम पद्मलेश्यासे ब्रह्मलोकसे शतार तक उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट तेजोलेश्यासे सानत्कुमार माहेन्द्र कल्पके अन्तमें चक्रेन्द्रकश्रेणि विमान तक, जघन्यतेजोलेश्यासे सौधर्म ऐशानके प्रथम इन्द्रकश्रेणि विमान तक, तथा मध्य तेजोलेश्यासे चन्द्रादि इन्द्रकश्रेणि विमानसे बलभद्र इन्द्रक श्रेणि विमान तक उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट कृष्णलेश्यांशसे सातवें अप्रतिष्ठान नरक, जघन्य कृष्णलेश्यांशसे पांचवें नरकके तमिस्रबिल तक तथा मध्य कृष्णलेश्यांशसे हिमेन्द्रकसे महारौरव नरक तक उत्पन्न होते हैं। उत्कृष्ट नीललेश्यांशसे पांचवें नरकमें अन्ध इन्द्रक तक, जघन्य नीललेश्यांशसे तीसरे नरकके तप्त इन्द्रक तक, तथा मध्यमनीललेश्यांशसे तीसरे नरकके त्रस्त इन्द्रकसे झष इन्द्रक तक उत्पन्न होते हैं। उत्कृष्ट कपोतलेश्यांशसे बालुकाप्रभाके संप्रज्वलित नरकमें, जघन्यकपोत लेश्यांशसे रत्नप्रभाके सीमंतक तक तथा मध्यमकपोत लेश्यांशसे रौरकादिकमें संज्वलित इन्द्रक तक उत्पन्न होते हैं। कृष्ण नील कपोत और तेजके मध्यम अंशोंसे भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क पृथिवी जल और वनस्पतिकायमें उत्पन्न होते हैं। मध्यम कृष्ण नील कपोत लेश्यांशोंसे तेज और वायुकायमें उत्पन्न होते हैं। देव और नारकी अपनी लेश्याओं-से तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमें जाते हैं।

स्वामित्व—रत्नप्रभा और शर्कराप्रभामें नारकियोंके कापोत लेश्या, है बालुकाप्रभामें कापोत और नील लेश्या, पंकप्रभामें नीललेश्या धूमप्रभामें, नील और कृष्ण लेश्या, तमः-प्रभामें कृष्ण लेश्या तथा महातमःप्रभामें परमकृष्ण लेश्या है। भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके कृष्ण नील कपोत और तेजो लेश्या, एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंके संक्लिष्ट कृष्ण नील और कपोत लेश्या, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके संक्लिष्ट कृष्ण नील कापोत और पीतलेश्या, चारों गुण स्थानवर्ती संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्योंके छहों लेश्याएं, पांचवें छठवें तथा सातवें गुणस्थानमें तीन शुभलेश्याएं, अपूर्वकरणसे १३ वें गुणस्थान तक केवल शुक्ललेश्या होती है। अयोगकेवलियोंके लेश्या नहीं होती। सौधर्म और ऐशानमें तेजोलेश्या सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें तेज और पद्मलेश्या, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ठमें पद्मलेश्या, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रारमें पद्म और शुक्ललेश्या, आनतसे लेकर सर्वार्थसिद्धिसे पहिले केवल शुक्ललेश्या तथा सर्वार्थसिद्धिमें परमशुक्ललेश्या होती है।

साधन–द्रव्यलेश्या शरीरके रंगसे सम्बन्ध रखती है, वह नामकर्मके उदयसे होती है। भावलेश्या कषायोंके उदय क्षयोपशम उपशम और क्षयसे होती है।

संख्या–कृष्ण नील और कपोत लेश्यावाले प्रत्येकका द्रव्यप्रमाण अनन्त है, कोई प्रमाण अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी प्रमाण है और क्षेत्र प्रमाण अनन्तानन्त-लोक प्रमाण है। तेजोलेश्याका द्रव्य प्रमाण ज्योतिषीदेवोंसे कुछ अधिक है। पद्म-लेश्यावालोंका द्रव्यप्रमाण संज्ञीपंचेन्द्रियतिर्यञ्च योनियोंके संख्येयभाग है। शुक्ललेश्या-वाले पल्योपमके असंख्यातवें भाग हैं।

क्षेत्र–कृष्ण नील और कपोतलेश्यावालोंका प्रत्येकका स्वस्थान, समुद्घात तथा उपपादकी दृष्टिसे सर्वलोकक्षेत्र है। तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावालोंका प्रत्येकका स्वस्थान,समुद्घात और उपपादकी दृष्टिसे लोकके असंख्येय भाग है। शुक्ललेश्यावालोंका स्वस्थान और उपपादकी दृष्टिसे लोकका असंख्येयभाग, समुद्घातकी दृष्टिसे लोकके असंख्येय एक भाग असंख्येय बहुभाग और सर्वलोकक्षेत्र है।

स्पर्शन–कृष्ण नील और कपोत लेश्यावालोंका स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की दृष्टिसे सर्वलोक स्पर्शन है। तेजोलेश्यावालोंका स्वस्थानकी दृष्टिसे लोकका असंख्येयभाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ भाग स्पर्शन है, समुद्घातका दृष्टिसे लोकका असंख्येय-भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ और $\frac{९}{१४}$ भाग है, उपपादकी दृष्टिसे लोकके असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{१\frac{१}{२}}{१४}$ भाग है। पद्मलेश्यावालोंका स्वस्थान और समुद्घातसे लोकका असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ भाग है, उपपादकी दृष्टिसे लोकका असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{५}{१४}$ भाग है। शुक्ललेश्यावालोंका स्वस्थान और उपपादकी दृष्टिसे लोकका असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{६}{१४}$ भाग स्पर्शन है, समुद्घातकी दृष्टिसे लोकका असंख्येय भाग, कुछ कम $\frac{६}{१४}$ भाग, असंख्येय बहुभाग और सर्वलोक स्पर्शन है।

काल–कृष्ण नील कपोतलेश्यावालोंका प्रत्येकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक तेतीससागर सत्रहसागर और सातसागर है। तेज पद्म और शुक्ललेश्यावालोंका प्रत्येकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टसे कुछ अधिक दो सागर अठारह सागर और तेतीस सागर है।

अन्तर–कृष्ण नील कपोत लेश्यावालोंका प्रत्येकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट कुछ अधिक तेतीससागर है। तेज पद्म और शुक्ललेश्यावालोंका प्रत्येकका अन्तर जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्टसे अनन्तकाल और असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है।

भाव–छहों लेश्याओंमें औदयिक भाव हैं क्योंकि शरीर नाम कर्म और मोहके उदयसे होती हैं।

अल्पबहुत्व–सबसे कम शुक्ललेश्यावाले, पद्मलेश्यावाले असंख्यातगुणे, तेजोलेश्यावाले असंख्यातगुणे, अलेश्या अनन्तगुणे, कपोतलेश्यावाले अनन्तगुणे, नीललेश्यावाले विशेष अधिक तथा कृष्णलेश्यावाले विशेष अधिक हैं।

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

सौधर्मसे लेकर ग्रैवेयकसे पहिलेकी कल्प संज्ञा है।

§ १ यदि सौधर्म आदिके बाद ही यह सूत्र रचा जाता तो स्थिति प्रभाव आदि तीन सूत्रोंका सम्बन्ध भी कल्प विमानोंसे ही होता जब कि इनका विधान पूरे देवलोकके लिए है।

§ २–कल्पोंसे अतिरिक्त ग्रैवेयक आदि कल्पातीत हैं। भवनवासी आदिको कल्पातीत इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ 'उपर्युपरि' का अनुवर्तन होता है जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि कल्पसे ऊपर ऊपर कल्पातीत हैं। कल्पातीत 'अहमिन्द्र' कहलाते हैं क्योंकि इनमें सामानिक आदि भेद नहीं हैं।

§ ४ यद्यपि देवोंके भवनवासी पातालवासी व्यन्तर ज्योतिष्क कल्पवासी और विमानवासीके भेदसे छह प्रकार तथा पांशुतापि लवणतापि तपनतापि भवनतापि सोमकायिक यमकायिक वरुणकायिक वैश्रवणकायिक पितृकायिक अनलकायिक रिष्टक अरिष्ट और संभव ये बारह प्रकारवाले आकाशोपपन्नको मिलाकर सात प्रकार हो सकते हैं; फिर भी इन सबका चारों निकायोंमें उसी तरह अन्तर्भाव हो जाता है जैसे कि लौकान्तिक देवोंका कल्पवासियोंमें। पातालवासी और आकाशोपपन्नका व्यन्तरोंमें और कल्पवासियोंका वैमा-निकोंमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः चारसे अतिरिक्त निकाय नहीं हैं।

लौकान्तिकोंका वर्णन–

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

§ १–२ जिसमें प्राणिगण रहें उसे आलय कहते हैं। लोकान्तिकोंका आलय ब्रह्मलोक है। सभी ब्रह्मलोकवासियोंको लौकान्तिक नहीं कह सकते क्योंकि 'लौकान्तिकाः' पदसे 'लोकान्त' निकाल लेते हैं। इससे यह अर्थ फलित होता है कि ब्रह्मलोकके अन्तमें रहनेवाले लौकान्तिक हैं अथवा जन्मजरामरणसे व्याप्त लोक संसारका अन्त करना जिनका प्रयोजन है वे लौकान्तिक हैं। ये निकटसंसारी हैं। वहाँसे च्युत होकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर नियमसे मोक्ष चले जाते हैं।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

§ १ पूर्व उत्तर आदि दिशाओंमें यथाक्रम सारस्वत आदि देवोंका निवास है। अरुण समुद्रके मध्यसे एक तमस्कन्ध मूलमें असंख्यात योजनका विस्तृत तथा मध्य और अन्तमें क्रमशः घटकर संख्यात योजन विस्तारवाला है। यह अत्यन्त तीव्र अन्धकार रूप तथा समुद्रकी तरह गोल है। यह तमस्कन्ध अरिष्ट विमानके नीचे स्थित है। इससे आठ अन्धकार राशियाँ निकलती हैं जो अरिष्ट विमानके आसपास हैं। चारों दिशाओंमें दो-दो करके तिर्यक्लोक तक आठ हैं। इनके अन्तरालमें सारस्वत आदि लौकान्तिक हैं। पूर्व और उत्तरके कोणमें सारस्वत, पूर्वमें आदित्य, पूर्वदक्षिण कोणमें वह्नि, दक्षिणमें अरुण, दक्षिण पश्चिममें गर्दतोय, पश्चिममें तुषित, उत्तर पश्चिममें अव्याबाध और उत्तरमें अरिष्ट विमान हैं।

§ ३ दो दो लौकान्तिकोंमें अग्न्याभ सूर्याभ आदि १६ लौकान्तिक और भी हैं। सारस्वत और आदित्यके बीचमें अग्न्याभ और सूर्याभ, आदित्य और वह्निके अन्तरालमें चन्द्राभ और सत्याभ, वह्नि और अरुणके बीचमें श्रेयस्कर और क्षेमंकर, अरुण और गर्दतोयके अन्तरालमें वृषभेष्ट और कामवर, गर्दतोय और तुषितके बीचमें निर्माणरज और दिगन्तरक्षित, तुषित और अव्याबाधके बीचमें आत्मरक्षित और सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्टके बीचमें मरुत् और वसु तथा अरिष्ट और सारस्वतके बीच अश्व और विश्व हैं। इन नामोंके विमान हैं। इनमें रहनेवाले लौकान्तिक देव भी इसी नामसे व्यवहृत होते हैं।

इनकी संख्या इस प्रकार है–सारस्वत–७००, आदित्य ७००, वह्नि, ७००७, अरुण ७००७, गर्दतोय ९००९, तुषित ९००९, अव्याबाध ११०११, अरिष्ट ११०११, अग्न्याभ ७००७, सूर्याभ ९००९, चन्द्राभ ११०११, सत्याभ १३०१३, श्रेयस्कर १५०१५, क्षेमंकर १७०१७, वृषभेष्ट १९०१९, कामवर २१०२१, निर्माणरज २३०२३, दिगन्तरक्षित २५०२५, आत्मरक्षित २७०२७, सर्वरक्षित २९०२९, मरुत् ३१०३१, वसु ३३०३३, अश्व ३५०३५, विश्व ३७०३७। इस तरह इन चालीस लौकान्तिकोंकी समग्र संख्या ४०७८६। ये सभी स्वतन्त्र हैं। विषयविरक्त होनेसे देवर्षि कहे जाते हैं। ये चौदह पूर्वके पाठी, ज्ञानोपयोगी, संसारसे उद्विग्न, अनित्य आदि भावनाओंको भानेवाले, अति विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं। तीर्थङ्करोंकी दीक्षाके समय उन्हें प्रतिबोध देने आते हैं। नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ असंख्यात हैं। उन्हींके उदयसे संसारी जीवोंके अनेक प्रकारकी शुभ-अशुभ संज्ञाएँ होती हैं।

यह अष्टकर्ममय संसार सामान्यतया भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके जीवोंके अनादि अनन्त है। जो मोहका उपशम या क्षय करनेके लिए उद्यत हैं उन सम्यग्दृष्टियोंके उत्कृष्टसे ७-८ भव तथा जघन्यसे २-३ भवमें संसारका उच्छेद हो जाता है। जो सम्यक्त्वसे च्युत हो गए हैं उनका कोई नियम नहीं।

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

§ १ आदि शब्द प्रकारार्थक है, अर्थात् विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और अनुदिश विमानोंमें द्विचरम होते हैं। इनमें एकप्रकारता इसलिए है कि सभी पूर्व सम्यग्दृष्टि और अहमिन्द्र हैं। सर्वार्थसिद्धि नामसे ही सूचित होता है कि वहाँके देव सर्वोत्कृष्ट हैं और एकचरम हैं।

§ २–४ द्विचरमत्व मनुष्यदेहकी अपेक्षा है, अर्थात् विजयादिकसे च्युत होकर सम्यग्दर्शनको कायम रखते हुए मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं फिर संयमकी आराधना कर विजयादिकमें उत्पन्न होते हैं। फिर च्युत होकर मनुष्यभव धारण कर मुक्त हो जाते हैं। इस तरह मनुष्यभवकी अपेक्षा द्विचरमत्व है वैसे तो दो मनुष्यभव तथा एक देवभव मिलाकर त्रिचरम गिने जा सकते हैं। चूँकि मनुष्य पर्यायसे ही मोक्षलाभ होता है अतः मनुष्यदेहकी अपेक्षा ही चरमत्व गिना जा सकता है। यद्यपि चरम शब्द अन्त्यवाची है अतः एक ही चरम हो सकता है परन्तु चरमके पासका अव्यवहित पूर्वका मनुष्यभव भी उपचारसे चरम कहा जा सकता है। देवभवके व्यवधान अव्यवधानका विचार मोक्षके प्रकरणमें नहीं होता क्योंकि मोक्ष मनुष्य पर्यायसे ही होता है।

§ ५ प्रश्न–आगममें अन्तर प्रकरणमें अनुदिश अनुत्तर और विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित विमानवासियोंका जघन्य अन्तर वर्षपृथक्त्व तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक दो सागर बताया है। इसका यह अर्थ है कि मनुष्योंमें उत्पन्न होकर आठ वर्ष संयमकी आराधना कर अन्तर्मुहूर्तमें फिर विजयादिमें उत्पन्न हो जाते हैं इस तरह जघन्यसे वर्षपृथक्त्व अन्तर है। कुछ विजयादिकसे च्युत होकर मनुष्यभवसे सौधर्म ऐशान कल्पमें जाते हैं फिर मनुष्य होकर विजयादिमें जाते हैं इनके दो सागरसे कुछ अधिक उत्कृष्ट अन्तर होता है। इस अपेक्षा मनुष्यके तीन भव हो जानेसे द्विचरमत्व नहीं रहता ?

उत्तर–आगममें उक्त कथन प्रश्न विशेषकी अपेक्षासे है। गौतमने भगवान्से यह प्रश्न किया कि विजयादिकमें देव मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर कितनी गति आगति विजयादिकमें करते हैं ? इसके उत्तरमें भगवान्ने व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडकमें कहा कि आगतिकी दृष्टिसे जघन्यसे एक भव तथा गति आगतिकी अपेक्षा उत्कृष्टसे दो भव। सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होनेवाले मनुष्य-पर्यायमें आते हैं तथा उसी पर्यायसे मोक्षलाभ करते हैं। विजयादिके देव लौकान्तिककी तरह एकभविक नहीं हैं किन्तु द्विभविक हैं। इसमें बीचमें यदि कल्पान्तरमें उत्पन्न हुआ है तो उसकी विवक्षा नहीं है।

तिर्यञ्चोंका वर्णन–

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

औपपादिक–देव और नारकी तथा मनुष्योंके सिवाय अन्य संसारी तिर्यञ्च हैं। यद्यपि मनुष्य शब्दका अल्पस्वरवाला होनेसे पहिले प्रयोग होना चाहिए था परन्तु चूँकि औपपादिकोंमें अन्तर्गत देव स्थिति प्रभाव आदिकी दृष्टिसे बड़े और पूज्य हैं अतः औपपादिक शब्दका ही पूर्वप्रयोग किया गया है।

§ १–२ औपपादिक–देव नारकी और मनुष्योंसे बचे शेष प्राणी तिर्यञ्च हैं। संसारी जीवोंका प्रकरण होनेसे सिद्धोंमें तिर्यञ्चत्वका प्रसङ्ग नहीं आता।

§ ३–७ तिरोभाव अर्थात् नीचे रहना–बोझा ढोनेके लायक। कर्मोदयसे जिनमें तिरोभाव प्राप्त हो वे तिर्यग्योनि हैं। इसके त्रस स्थावर आदि भेद पहिले बतलाये जा चुके हैं। तिर्यञ्चोंका आधार सर्वलोक है वे देवादिकी तरह निश्चित स्थानोंमें नहीं रहते। तिर्यञ्च सूक्ष्म और बादरके भेदसे दो प्रकारके हैं। सूक्ष्म पृथिवी अप् तेज और वायुकायिक सर्वलोकव्यापी हैं पर बादर पृथिवी अप् तेज वायु विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लोकके कुछ भागोंमें पाये जाते हैं। चूँकि तीनों लोक ही सूक्ष्म तिर्यञ्चोंका आधार है अतः तीन लोकके वर्णनके बाद ही यहाँ उनका निर्देश किया है, द्वितीय अध्यायमें नहीं, और यहीं शेष शब्दका यथार्थ बोध भी हो सकता है क्योंकि नारक देवों और मनुष्योंके निर्देशके बाद ही शेषका अर्थ समझमें आ सकता है।

देवोंकी स्थिति–

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिताः ॥२८॥

असुरकुमारोंकी एक सागर, नागकुमारोंकी तीन पल्य, सुपर्णकुमारोंकी २॥ पल्य, द्वीपकुमारोंकी २ पल्य तथा शेष छह कुमारोंकी १॥ पल्य उत्कृष्ट स्थिति है।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥२९॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें कुछ अधिक दो सागर स्थिति है। 'अधिके' यह अधिकार सहस्रार स्वर्गतक चालू रहेगा।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

सागर और अधिक पदका अनुवर्तन पूर्वसूत्रसे हो जाता है। अतः सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें कुछ अधिक सात सागर स्थिति समझनी चाहिए।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

सातका तीन आदिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए। 'तु' शब्द सूचित करता है कि 'अधिक' का सम्बन्ध सहस्रार तक ही करना चाहिए। अर्थात्–ब्रह्म ब्रह्मोत्तरमें कुछ अधिक दश सागर, लान्तव कापिष्ठमें कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र महाशुक्रमें कुछ अधिक सोलह सागर, शतार सहस्रारमें कुछ अधिक १८ सागर, आनत प्राणतमें २० सागर, आरण अच्युतमें २२ सागर उत्कृष्ट स्थिति है। इस 'तु' शब्दसे ही 'अधिक' का अन्वय सहस्रार स्वर्ग तक ही होता है।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥३२॥

◊ १-४ 'अधिक ग्रहण' की अनुवृत्ति आ रही है अतः 'एक एक अधिक' यह अर्थ कर लेना चाहिए। ग्रैवेयक और विजयादि का पृथक् ग्रहण करने से अनुदिशोंका संग्रह हो जाता है। 'नव' शब्द देनेसे प्रत्येक में 'एक अधिक' का सम्बन्ध हो जाता है। 'सर्वार्थसिद्ध' का पृथक् ग्रहण करनेसे सूचित होता है कि उसमें एक ही उत्कृष्ट स्थिति है, विजयादिकी तरह जघन्य और उत्कृष्ट विकल्प नहीं है। तात्पर्य यह कि अधो ग्रैवेयकोंमें पहिले ग्रैवेयकमें २३ सागर, दूसरेमें २४ सागर तथा तीसरेमें २५ सागर; मध्यम ग्रैवेयकके प्रथम ग्रैवेयकमें २६ सागर, दूसरेमें २७ तथा तृतीयमें २८; उपरिम ग्रैवेयकके प्रथम ग्रैवेयकमें २९ सागर, द्वितीयमें ३० तथा तृतीयमें ३१ सागर उत्कृष्ट स्थिति है। अनुदिश विमानोंमें ३२ तथा विजयादि और सर्वार्थसिद्धिमें ३३ सागर हैं। सर्वार्थसिद्धिमें केवल उत्कृष्ट ही स्थिति ३३ सागर है।

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गकी जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्य है। आगेके सूत्रोंमें भवनवासी आदि तथा सानत्कुमार आदिकी जघन्य स्थिति बताई जायगी। अतः ज्ञात होता है कि इस सूत्रमें सौधर्म और ऐशानकी ही स्थिति बतायी जा रही है।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥

पूर्व-पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति आगे आगे जघन्य हो जाती है।

◊ १-३ 'अधिक' की अनुवृत्ति हो जाती है। सौधर्म और ऐशानकी जो दो सागरसे कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है वही कुछ अधिक होकर सानत्कुमार और माहेन्द्रमें जघन्य हो जाती है। सानत्कुमार और माहेन्द्रकी जो कुछ अधिक सात सागर उत्कृष्ट स्थिति है वही कुछ अधिक होकर ब्रह्म ब्रह्मोत्तरमें जघन्य हो जाती है। सर्वार्थसिद्धिका पृथक् ग्रहण करनेसे यही सूचित होता है कि यह जघन्य स्थितिका क्रम विजयादि तक ही चलता है। यद्यपि पूर्वशब्दसे 'पहिलेकी स्थिति' का ग्रहण हो सकता है फिर भी चूंकि पूर्वशब्दका प्रयोग 'मथुरासे पूर्वमें पटना है' इत्यादि स्थलोंमें व्यवहितमें भी देखा जाता है अतः 'अव्यवहित' का सम्बन्ध करनेके लिए 'अनन्तर' शब्दका प्रयोग किया गया है।

सरल उपायसे नारकियोंकी जघन्य स्थितिका निरूपण–

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

च शब्दसे पूर्वसूत्रमें सूचित क्रमका सम्बन्ध हो जाता है। अतः रत्नप्रभाकी जो एक सागर उत्कृष्ट स्थिति है वह शर्कराप्रभामें जघन्य होती है। इसी प्रकार आगे भी।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

प्रथम नरककी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

भवनेषु च ॥३७॥

भवनवासियोंकी भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

व्यन्तराणां च ॥३८॥

इसी तरह व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति पहिले इसीलिए नहीं कही गई कि यदि उत्कृष्ट स्थिति पहिले कही जाती तो जघन्य स्थितिके निर्देशके लिए फिरसे 'दशवर्षसहस्राणि' सूत्र बनाना पड़ता।

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्यसे कुछ अधिक है।

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

ज्योतिषियोंकी भी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्य है।

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति पल्यके आठवें भाग प्रमाण है।

◊ १–९ चन्द्रकी उत्कृष्ट स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य, सूर्यकी एक एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य, शुक्रकी एक सौ वर्ष अधिक एक पल्य तथा वृहस्पतिकी पूर्ण एक पल्य है। शेष बुध आदि ग्रहोंकी और नक्षत्रोंकी आधे पल्य प्रमाण स्थिति है। तारागणकी पल्यका चौथा भाग उत्कृष्ट स्थिति है। तारा और नक्षत्रोंकी जघन्य स्थिति पल्यके आठवें भाग है। सूर्य आदिकी जघन्य स्थिति पल्यके चौथाई भाग प्रमाण है।

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

◊ १ सभी लौकान्तिकोंकी दोनों प्रकारकी स्थिति आठ सागर प्रमाण है।

◊ २ जीव पदार्थका व्याख्यान हुआ।

◊ ३ वह एक होकर भी अनेकात्मक है क्योंकि–

◊ ४ वह अभावसे विलक्षण है। 'अभूत' 'नहीं है' आदि अभावमें कोई भेद नहीं पाया जाता पर भावमें तो अनेक धर्म और अनेक भेद पाये जाते हैं। भावमें ही जन्म, सद्भाव, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश देखे जाते हैं। बाह्य आभ्यन्तर दोनों निमित्तोंसे आत्मलाभ करना जन्म है, जैसे मनुष्यगति आदिके उदयसे जीव मनुष्य पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। आयु आदि निमित्तोंके अनुसार उस पर्यायमें बने रहना सद्भाव या स्थिति है। पूर्वस्वभावको कायम रखते हुए अधिकता हो जाना वृद्धि है। क्रमशः एक देशका जीर्ण होना अपक्षय है। उस पर्यायकी निवृत्तिको विनाश कहते हैं। इस तरह पदार्थोंमें अनन्तरूपता

होती है। अथवा सत्त्व ज्ञेयत्व द्रव्यत्व अमूर्तत्व अतिसूक्ष्मत्व अवगाहनत्व असंख्येयप्रदेशत्व अनादिनिधनत्व और चेतनत्व आदिकी दृष्टिसे जीव अनेक रूप है।

§ ५ अनेक अब्द और अनेक ज्ञानका विषय होनेसे। जिस पदार्थमें जितने शब्दों का प्रयोग होता है उसमें उतनी ही वाच्य-शक्तियाँ होती हैं तथा वह जितने प्रकारके ज्ञानोंका विषय होता है उसमें उतनी ही ज्ञेय शक्तियाँ होती हैं। शब्द प्रयोगका अर्थ है प्रतिपादन क्रिया। उसके साधन दोनों ही हैं—शब्द और अर्थ। एक ही घटमें घट पार्थिव मार्तिक-मिट्टीसे बना हुआ, सत्, ज्ञेय, नया, बड़ा आदि अनेकों शब्दोंका प्रयोग होता है तथा इन अनेक ज्ञानोंका विषय होता है। अतः जैसे घड़ा अनेकान्त रूप है। उसी तरह आत्मा भी अनेक धर्मात्मक है।

§ ६ अनेक शक्तियोंका आधार होनेसे। जैसे घी चिकना है, तृप्ति करता है, उपबृंहण करता है अतः अनेक शक्तिवाला है अथवा, जैसे घड़ा जल-धारण आहरण आदि अनेक शक्तियोंसे युक्त है उसी तरह आत्मा भी द्रव्य क्षेत्र काल और भावके निमित्तसे अनेक प्रकारकी वैभाविक पर्यायोंकी शक्तियोंको धारण करता है।

§ ७ जिस प्रकार एक ही घड़ा अनेक सम्बन्धियोंकी अपेक्षा पूर्व पश्चिम, दूर पास, नया पुराना, समर्थ असमर्थ, देवदत्त कृत चैत्रस्वामिक, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभागादिके भेदसे अनेक व्यवहारोंका विषय होता है उसी तरह अनन्त सम्बन्धियोंकी अपेक्षा आत्मा भी उन उन अनेक पर्यायोंको धारण करता है। अथवा, जैसे अनन्त पुद्गल सम्बन्धियोंकी अपेक्षा एक ही प्रदेशिनी अंगुली अनेक भेदोंको प्राप्त होती है उसी तरह जीव भी कर्म और नोकर्म विषय उपकरणोंके सम्बन्धसे जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान, दंडी, कुंडली आदि अनेक पर्यायोंको धारण करता है। प्रदेशिनी अंगुलीमें मध्यमाकी अपेक्षा जो भिन्नता है वही अनामिकाकी अपेक्षा नहीं है, प्रत्येकपर रूपका भेद जुदा-जुदा है। मध्यमाने प्रदेशिनीमें ह्रस्वत्व उत्पन्न नहीं किया, अन्यथा शशविषाणमें भी उत्पन्न हो जाना चाहिए था, और न स्वतः ही था, अन्यथा मध्यमाके अभावमें भी उसकी प्रतीति हो जानी चाहिए थी। तात्पर्य यह कि अनन्त परिणामी द्रव्य ही उन-उन सहकारी कारणों-की अपेक्षा उन उन रूपसे व्यवहारमें आता है।

§ ८ जिस प्रकार एक ही घड़ेके रूपादि गुणोंमें अन्यद्रव्योंके रूपादि गुणोंकी अपेक्षा एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात आदि रूपसे तरतम भाव व्यक्त होता है और इसलिए वह अनेक है उसी तरह जीवमें भी अन्य आत्माओंकी अपेक्षा क्रोधादिके अविभाग प्रति-च्छेदोंकी तरतमता होती है। अन्य सहकारियोंकी अपेक्षा वैसे क्रोधादि परिणाम अभिव्यक्त होते रहते हैं।

§ ९ जैसे मिट्टी आदि द्रव्य प्रध्वंसरूप अतीतकाल, संभावनारूप भविष्यत् काल तथा क्रिया सातत्यरूप वर्तमानकालके भेदसे उन उन कालोंमें अनेक पर्यायोंको प्राप्त होता है, उसीतरह जीव भी अनादि अतीतकाल, संभावनीय अनागत और वर्तमान अर्थपर्याय व्यञ्जनपर्यायोंसे अनन्तरूपको धारण करता है। यदि वर्तमान मात्र माना जाय तो पूर्व और उत्तरकी रेखा न होनेसे वर्तमानका भी अभाव हो जायगा।

§ १० अनन्तकाल और एककालमें अनन्त प्रकारके उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होनेके कारण आत्मा अनेकान्तरूप है। जैसे घड़ा एक कालमें द्रव्य दृष्टिसे पार्थिव-

रूपमें उत्पन्न होता है जलरूपमें नहीं, देश दृष्टिसे यहाँ उत्पन्न होता है पटना आदिमें नहीं, कालदृष्टिसे वर्तमानकालमें उत्पन्न होता है अतीत-अनागतमें नहीं, भावदृष्टिसे बड़ा उत्पन्न होता है छोटा नहीं। यह उत्पाद अन्य सजातीय घट, किंचित् विजातीय घट, पूर्ण विजातीय पटादि तथा द्रव्यान्तर आत्मा आदिके अनन्त उत्पादोंसे भिन्न है अतः उतने ही प्रकारका है। इसी प्रकार उस समय उत्पन्न नहीं होनेवाले द्रव्योंकी ऊपर नीची तिरछी लम्बी चौड़ी आदि अवस्थाओंसे भिन्न वह उत्पाद अनेक प्रकारका है। अनेक अवयववाले मिट्टीके स्कन्धसे उत्पन्न होनेके कारण भी उत्पाद अनेक प्रकारका है। इसी तरह जल-धारण आहरण हर्ष भय शोक परिताप आदि अनेक अर्थक्रियाओंमें निमित्त होनेसे उत्पाद अनेक तरहका है। उसी समय उतने ही प्रतिपक्षभूत व्यय होते हैं। जब तक पूर्व पर्यायका विनाश नहीं होगा तब तक नूतनके उत्पादकी संभावना नहीं है। उत्पाद और विनाशकी प्रतिपक्षभूत स्थिति भी उतने ही प्रकारकी है। जो स्थित नहीं है उसके उत्पाद और व्यय नहीं हो सकते। 'घट' उत्पन्न होता है' इस प्रयोगको वर्तमान तो इसलिए नहीं मान सकते कि अभी तक घड़ा उत्पन्न ही नहीं हुआ है, उत्पत्तिके बाद यदि तुरन्त विनाश मान लिया जाय तो सद्भावकी अवस्थाका प्रतिपादक कोई शब्द ही प्रयुक्त नहीं होगा, अतः उत्पादमें भी अभाव और विनाशमें भी अभाव, इस तरह पदार्थका अभाव ही होनेसे तदाश्रित व्यवहारका लोप हो जायगा। अतः पदार्थमें उत्पद्यमानता उत्पन्नता और विनाश ये तीन अवस्थाएँ माननी ही होंगी। इसी तरह एक जीवमें भी द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयकी विषयभूत अनन्त शक्तियाँ तथा उत्पत्ति विनाश स्थिति आदि रूप होनेसे अनेकान्तात्मकता समझनी चाहिए।

§ ११ अन्वय व्यतिरेक रूप होनेसे भी। जैसे एक ही घड़ा सत् अचेतन आदि सामान्य रूपसे अन्वयधर्मका तथा नया पुराना आदि विशेष रूपसे व्यतिरेक धर्मका आधार होता है उसी तरह आत्मा भी सामान्य और विशेष धर्मोंकी अपेक्षा अन्वय और व्यति-रेकात्मक है। अनुगताकार बुद्धि और अनुगताकार शब्द प्रयोगके विषयभूत स्वास्तित्व आत्मत्व ज्ञातृत्व द्रष्टृत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व अमूर्तत्व असंख्यातप्रदेशत्व अवगाहनत्व अति-सूक्ष्मत्व अगुरुलघुत्व अहेतुकत्व अनादि सम्बन्धित्व ऊर्ध्वगतिस्वभाव आदि अन्वय धर्म हैं। व्यावृत्ताकार बुद्धि और शब्द प्रयोगके विषयभूत परस्पर विलक्षण उत्पत्ति स्थिति विपरिणाम वृद्धि ह्रास क्षय विनाश गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान दर्शन संयम लेश्या सम्यक्त्व आदि व्यतिरेक धर्म हैं।

§ १२–१३ इस अनेकान्तात्मक जीवका कथन शब्दोंसे दो रूपमें होता है—एक क्रमिक और दूसरा यौगपद्य रूपसे। तीसरा कोई प्रकार नहीं है। जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न विवक्षित होते हैं उस समय एक शब्दमें अनेक अर्थोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रमसे प्रतिपादन होता है। इसे विकलादेश कहते हैं। परन्तु जब उन्हीं अस्तित्वादि धर्मोंकी कालादिककी दृष्टिसे अभेद विवक्षा होती है तब एक भी शब्दके द्वारा एकधर्ममुखेन तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखंड भावसे युगपत् कथन हो जाता है। यह सकलादेश कहलाता है। विकलादेश नयरूप हैं और सकलादेश प्रमाण रूप। कहा भी है—सकलादेश प्रमाणाधीन है और विकलादेश नयाधीन।

§ १४ एक गुणरूपसे संपूर्ण वस्तुधर्मोंका अखंडभावसे ग्रहण करना सकलादेश है। जिस समय एक अभिन्न वस्तु अखंडरूपसे विवक्षित होती है उस समय वह अस्तित्वादि धर्मोंका अभेदवृत्ति या अभेदोपचार करके पूरीकी पूरी एक शब्दसे कही जाती है यही सकलादेश है। द्रव्यार्थिकनयसे धर्मोंमें अभेद है तथा पर्यायार्थिककी विवक्षामें भेद होनेपर भी अभेदोपचार कर लिया जाता है।

§ १५ इस सकलादेशमें प्रत्येक धर्मकी अपेक्षा सप्तभगी होती है। १ स्यात् अस्त्येव जीवः २ स्यात् नास्त्येव जीवः ३ स्यात् अवक्तव्य एव जीवः ४ स्यात् अस्ति च नास्ति च ५ स्यात् अस्ति च अवक्तव्यश्च ६ स्यात् नास्ति च अवक्तव्यश्च ७ स्यात् अस्ति नास्ति च अवक्तव्यश्च। कहा भी है—

"प्रश्नके वशसे सात ही भंग होते हैं। वस्तु सामान्य और विशेष उभय धर्मोंसे युक्त हैं।"

'स्यात् अस्त्येव जीवः' इस वाक्यमें जीव शब्द विशेष्य है द्रव्यवाची है और 'अस्ति' शब्द विशेषण है गुणवाची है। उनमें विशेषण विशेष्यभाव द्योतनके लिए 'एव' का प्रयोग है। इससे इतर धर्मोंकी निवृत्तिका प्रसंग होता है, अतः उन धर्मोंका सद्भाव द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'स्यात्' शब्द तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। इसके अनेकान्त विधि विचार आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं परन्तु विवक्षावश यहाँ 'अनेकान्त' अर्थ लिया जाता है। यद्यपि 'स्यात्' शब्दसे सामान्यतया अनेकान्तका द्योतन हो जाता है फिर भी विशेषार्थी विशेष शब्दका प्रयोग करते हैं जैसे 'वृक्ष' कहनेसे धव खदिर आदिका ग्रहण हो जाने पर भी धव खदिर आदिके इच्छुक उन-उन शब्दोंका प्रयोग करते हैं। अथवा 'स्यात्' शब्द अनेकान्तका द्योतक होता है। जो द्योतक होता है वह किसी वाचक शब्दके द्वारा कहे गये अर्थका ही द्योतन कर सकता है अतः उसके द्वारा प्रकाश्य धर्मकी सूचनाके लिए इतर शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—यदि 'स्यात् अस्त्येव जीवः' यह वाक्य सकलादेशी है तो इसीसे जीवद्रव्यके सभी धर्मोंका संग्रह हो ही जाता है, तो आगेके भंग निरर्थक हैं ?

उत्तर—गौण और मुख्य विवक्षासे सभी भंगों की सार्थकता है। द्रव्यार्थिक की प्रधानता तथा पर्यायार्थिक की गौणतामें प्रथम भंग सार्थक है और द्रव्यार्थिक की गौणता और पर्यायार्थिक की प्रधानतामें द्वितीय भंग। यहाँ प्रधानता केवल शब्द प्रयोगकी है, वस्तु तो सभी भंगोंमें पूरी ही ग्रहण की जाती है। जो शब्दसे कहा नहीं गया है अर्थात् गम्य हुआ है वह यहाँ अप्रधान है। तृतीय भंगमें युगपत् विवक्षा होनेसे दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं क्योंकि दोनोंको प्रधान भावसे कहने वाला कोई शब्द नहीं है। चौथे भंगमें क्रमशः उभय प्रधान होते हैं। यदि अस्तित्वैकान्तवादी 'जीव एव अस्ति' ऐसा अवधारण करते हैं तो अजीवके नास्तित्वका प्रसंग आता है अतः 'अस्त्येव' यहीं एवकार दिया जाता है। 'अस्त्येव' कहनेसे पुद्गलादिकके अस्तित्वसे भी जीवका अस्तित्व व्याप्त हो जाता है अतः जीव और पुद्गलमें एकत्वका प्रसंग होता है। 'अस्तित्व सामान्यसे जीवका सम्बन्ध होगा अस्तित्व विशेषसे नहीं, जैसे 'अनित्यमेव कृतकम्' कहनेसे अनित्यत्वके अभावमें कृतकत्व नहीं होता ऐसा अवधारण करने पर भी सब प्रकारके अनित्यत्वसे सब प्रकारके कृतकत्वकी व्याप्ति नहीं होती किन्तु

अनित्यत्व सामान्यसे ही होती है न कि रथ घट पट आदिके अनित्यत्व विशेषसे।' यह समाधान प्रस्तुत करने पर तो यही फलित होता है कि आप स्वयं अवधारणकी निष्फलता स्वीकार कर रहे हैं। 'स्वगत विशेषसे अनित्यत्व है' इसका स्पष्ट अर्थ है कि परगत विशेषसे अनित्यत्व नहीं है। फिर तो 'अनित्यं कृतकम्' ऐसा विना अवधारणका वाक्य कहना चाहिए। ऐसी दशामें अनित्यत्वका अवधारण न होनेसे नित्यत्वका भी प्रसंग प्राप्त होता है। इसी तरह आप यदि 'अस्तित्व सामान्यसे जीव 'स्यादस्ति' है पुद्गलादिगत अस्तित्व विशेषसे नहीं' यह स्वीकार करते हैं तो यह स्वयं मान रहे हैं कि दो प्रकारका अस्तित्व है—एक सामान्य अस्तित्व और दूसरा विशेष अस्तित्व। ऐसी दशामें सामान्य अस्तित्वसे स्यादस्ति और विशेष अस्तित्वसे स्यान्नास्ति होने पर अवधारण निष्फल हो ही जाता है। सब प्रकारसे अस्तित्व स्वीकृत होनेपर ही नास्तित्वके निराकरणसे ही अवधारण सार्थक हो सकता है। नियम न रहने पर पुद्गलादिके अस्तित्वसे भी 'स्यादस्ति' की प्राप्ति होती है अतः एकान्तवादीको अवधारण मानना ही होगा और ऐसी स्थितिमें पूर्वोक्त दोष आता है।

'जो अस्ति है वह अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे, इतर द्रव्यादिसे नहीं क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं। जैसे घड़ा पार्थिव रूपसे, इस क्षेत्रसे, इस कालकी दृष्टिसे तथा अपनी वर्तमान पर्यायोंसे 'अस्ति' है अन्यसे नहीं क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं।' इस समाधानसे ही फलित होता है कि घड़ा स्यादस्ति और स्यान्नास्ति है। यदि नियम न माना गया तो वह घड़ा ही नहीं हो सकता क्योंकि सामान्यात्मकताके अभावमें विशेषरूपता भी नहीं टिक सकती, अथवा अनियत द्रव्यादिरूप होनेसे वह घड़ा ही नहीं रह सकता किंतु सर्वरूप होनेसे महा सामान्य बन जायगा। यदि घड़ा पार्थिवत्वकी तरह जलादि रूपसे भी अस्ति हो जाय तो जलादि रूप भी होनेसे वह एक सामान्य द्रव्य बन जायगा न कि घड़ा। यदि इस क्षेत्रकी तरह अन्य समस्त क्षेत्रोंमें भी घड़ा अस्ति हो जाय तो वह घड़ा नहीं रह पायगा किन्तु आकाश बन जायगा। यदि इस कालकी तरह अतीत अनागत कालसे भी वह 'अस्ति' हो तो भी घड़ा नहीं रह सकता किन्तु त्रिकालानुयायी होनेसे मृद् द्रव्य बन जायगा, फिर तो जिस प्रकार इस देश काल रूपसे हमलोगोंके प्रत्यक्ष है और अर्थक्रियाकारी है उसीतरह अतीत अनागतकाल तथा सभी देशोंमें उसकी प्रत्यक्षता तथा तत्सम्बन्धी अर्थक्रियाकारिता होनी चाहिये। इसी तरह जैसे वह नया है उसी तरह पुराने या सभी रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या संस्थान आदिकी दृष्टिसे भी 'अस्ति' हो तो वह घड़ा नहीं रह जायगा किन्तु सर्वव्यापी होनेसे महासत्ता बन जायगा। इसी तरह मनुष्य जीव भी स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी दृष्टिसे ही 'अस्ति' है अन्यरूपों से नास्ति है। यदि मनुष्य अन्य रूपसे भी 'अस्ति' हो जाय तो वह मनुष्य ही नहीं रह सकता, महासामान्य हो जायगा। इसी तरह अनियत क्षेत्र आदि रूपसे 'अस्ति' माननेमें अनियतरूपता का प्रसंग आता है।

स्वसद्भाव और पर-अभाव के अधीन जीव का स्वरूप होनेसे वह उभयात्मक है। यदि जीव परसत्ताके अभावकी अपेक्षा न करे तो वह जीव न होकर सन्मात्र हो जायगा। इसी तरह परसत्ताके अभावकी अपेक्षा होने पर भी स्वसत्ताका सद्भाव न हो तो वह वस्तु ही नहीं हो सकेगा, जीव होनेकी बात तो दूर ही रही। अतः परका अभाव भी स्वसत्ता सद्भावसे ही वस्तुका स्वरूप बन सकता है। जैसे अस्तित्व धर्म अस्तित्व रूपसे ही है नास्तित्व

रूपसे नहीं, अतः उभयात्मक है। अन्यथा वस्तुका अभाव ही हो जायगा क्योंकि अभाव, भावनिरपेक्ष होकर सर्वथा शून्यका ही प्रतिपादन करेगा तथा भाव अभावरूपसे निरपेक्ष रहकर सर्वसन्मात्ररूप वस्तुको कहेगा। सर्वथा सत् या सर्वथा अभाव रूपसे वस्तुकी स्थिति तो है नहीं। क्या कभी वस्तु सर्वाभावात्मक या सर्वसत्तात्मक देखी गई है? वैसी वस्तु ही नहीं हो सकती क्योंकि वह खरविषाणकी तरह सर्वाभाव रूप है। जब वस्तुत्व श्रावणत्वकी तरह सपक्ष विपक्ष दोनोंसे व्यावृत्त होनेके कारण असाधारण हो गया तब उसका बोध होना भी कठिन है। वस्तुमें क्रियागुण व्यपदेशका अभाव होनेसे भावविलक्षणताके कारण अभावता आती है तथा भावता अभाव वैलक्षण्यसे। इस तरह भावरूपता और अभाव रूपता दोनों परस्पर सापेक्ष हैं अभाव अपने सद्भाव तथा भावके अभावकी अपेक्षा सिद्ध होता है तथा भाव स्वसद्भाव और अभावके अभावकी अपेक्षासे। यदि अभावको एकांतसे अस्ति स्वीकार किया जाय तो जैसे वह अभावरूपसे अस्ति है उसी तरह भावरूपसे भी 'अस्ति' हो जानेके कारण भाव और अभावमें स्वरूपसांकर्य हो जायगा। यदि अभावको सर्वथा 'नास्ति' माना जाय तो जैसे वह भावरूपसे 'नास्ति' है उसी तरह अभावरूपसे भी 'नास्ति' होनेसे अभावका सर्वथा लोप होनेके कारण भावमात्र ही जगत् रह जायगा। और इस तरह खपुष्प आदि भी भावात्मक हो जायंगें। अतः घटादिक भाव स्यादस्ति और स्यान्नास्ति हैं। इस तरह घटादि वस्तुओंमें भाव और अभावको परस्पर सापेक्ष होनेसे प्रतिवादीका यह कथन कि 'अर्थ या प्रकरणसे जब घटमें पटादिकी सत्ताका प्रसंग ही नहीं है तब उसका निषेध क्यों करते हो?' अयुक्त हो जाता है।

किंच, अर्थ होनेके कारण सामान्यरूपसे घटमें पटादि अर्थोंकी सत्ताका प्रसंग प्राप्त है ही, यदि उसमें हम विशिष्ट घटरूपता स्वीकार करना चाहते हैं तो वह पटादिकी सत्ता का निषेध करके ही आ सकती है। अन्यथा वह घट नहीं कहा जा सकता क्योंकि पटादि रूपोंकी व्यावृत्ति न होनेसे उसमें पटादि रूपता भी उसी तरह मौजूद है।

घटमें जो पटादिका 'नास्तित्व' है वह भी घड़ेका ही धर्म है, वह उसकी स्वपर्याय है। हाँ, परकी अपेक्षा व्यवहारमें आनेसे परपर्याय उपचारसे कही जाती है।

प्रश्न–'अस्त्येव जीवः' यहाँ 'अस्ति' शब्दके वाच्य अर्थ से जीव शब्दका वाच्य अर्थ भिन्न स्वभाववाला है, या अभिन्न स्वभाववाला? यदि अभिन्न स्वभाव है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि जो 'सत्' है वही जीव है, उसमें अन्य धर्म नहीं हैं। तब उनमें परस्पर सामानाधिकरण्य विशेषण-विशेष्य भाव आदि नहीं हो सकेंगे, तथा दोनों शब्दोंका प्रयोग भी नहीं होना चाहिये। जिस तरह 'सत्त्व' सर्व द्रव्य और पर्यायोंमें व्याप्त है उसी तरह उससे अभिन्न जीव भी व्याप्त होगा। तात्पर्य यह कि संसारके सब पदार्थोंमें एक जीवरूपताका प्रसंग आयगा। जीवमें सामान्य सत्स्वभाव होनेसे जीवके चैतन्य ज्ञानादि क्रोधादि नारकत्वादि सभी पर्यायोंका अभाव हो जायगा। अथवा, अस्तित्व जब जीवका स्वभाव हो गया, तब पुद्गलादिकमें 'सत्' यह प्रत्यय नहीं करा सकेगा। यदि उक्त दोषसे बचनेके लिए अस्ति शब्दके वाच्य अर्थसे जीव शब्दका वाच्य अर्थ भिन्न माना जाता है तो जीव स्वयं असद्रूप हो जायगा। कहा जा सकता है कि जीव असद्रूप है क्योंकि वह अस्ति शब्दके वाच्य अर्थसे भिन्न है जैसे कि खरविषाण। ऐसी दशामें जीवाश्रित बन्ध मोक्ष आदि सभी व्यवहार नष्ट हो जायँगे। और जिस तरह अस्तित्व जीवसे भिन्न है

उसी तरह अन्य पुद्गलादिसे भी भिन्न होगा, तात्पर्य यह कि सर्वथा निराश्रय होनेसे उसका अभाव ही हो जायगा। किंच, अस्तित्वसे भिन्न स्वभाववाले जीवका फिर क्या स्वरूप रह जाता है? जिसे भी आप स्वभाव कहोगे वह सब असद्रूप ही होगा।

उत्तर–'अस्ति' शब्दके वाच्य अर्थसे जीव शब्दका वाच्य अर्थ कथंचित् भिन्न रूप है तथा कथंचित् अभिन्न रूप। पर्यायार्थिक नयसे भवन और जीवन पर्यायोंमें भेद होनेसे दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे दोनों अभिन्न हैं, जीवके ग्रहणसे तद्भिन्न अस्तित्वका भी ग्रहण होता ही है अतः पदार्थ स्यात् अस्ति और स्यान्नास्ति रूप हैं।

अर्थ अभिधान और प्रत्ययोंकी अस्ति और नास्ति उभयरूपसे प्रसिद्धि होनेके कारण भी पदार्थ अस्ति-नास्ति रूप है। जीव अर्थ जीवशब्द और जीव प्रत्यय ये तीनों अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। लोकमें प्रचलित वाच्यवाचक भाव और ज्ञेयज्ञायक भाव तीनोंके अस्तित्वके साक्षी हैं। शून्यवाद या शब्दाद्वैतवाद मानकर इनका निषेध करना उचित नहीं है। अतः प्रत्येक पदार्थ स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। इनमें द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकको तथा पर्यायार्थिक द्रव्यार्थिकको अपनेमें अन्तर्भूत करके व्यापार करता है अतः दोनों ही भंग सकलादेशी हैं।

जब दो गुणोंके द्वारा एक अखंड अर्थकी युगपत् विवक्षा होती है तो तीसरा अवक्तव्य भंग होता है। जैसे प्रथम और द्वितीय भंगमें एककालमें एक शब्दसे एक गुणके द्वारा समस्त वस्तुका कथन हो जाता है उस तरह जब दो प्रतियोगी गुणोंके द्वारा अवधारण रूपसे युगपत् एक कालमें एक शब्दसे समस्त वस्तुके कहनेकी इच्छा होती है तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है क्योंकि वैसा शब्द और अर्थ नहीं है। गुणोंके युगपद्भावका अर्थ है कालादिकी दृष्टिसे अभेदवृत्ति।

वे कालादि आठ हैं––काल आत्मरूप अर्थ सम्बन्ध उपकार गुणिदेश संसर्ग और शब्द। जिस कारण गुण परस्पर विरुद्ध हैं अतः उनकी एक कालमें किसी एक वस्तुमें वृत्ति नहीं हो सकती अतः सत्त्व और असत्त्वका वाचक एक शब्द नहीं है। एक वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व परस्पर भिन्न रूपमें हैं उनका एक स्वरूप नहीं है जिससे वे एक शब्दके द्वारा युगपत् कहे जा सकें। परस्पर विरोधी सत्त्व और असत्त्वकी एक अर्थमें वृत्ति भी नहीं हो सकती जिससे अभिन्न आधार मानकर अभेद और युगपद्भाव कहा जाय तथा किसी एक शब्दसे उनका प्रतिपादन हो सके। सम्बन्धसे भी गुणोंमें अभिन्नताकी संभावना नहीं है क्योंकि सम्बन्ध भिन्न होता है। देवदत्त और दंडका सम्बन्ध यज्ञदत्त और छत्रके सम्बन्धसे जुदा है ही। जब कारणभूत सम्बन्धी भिन्न हैं तब कार्यभूत सम्बन्ध एक नहीं हो सकता। इसी तरह सत्त्व और असत्त्वका पदार्थसे अपना-अपना पृथक् ही सम्बन्ध होगा, अतः सम्बन्धकी दृष्टिसे भी अभेदवृत्तिकी संभावना नहीं है। समवायको भी संयोगकी तरह विशेषण भेदसे भिन्न ही होना चाहिये। उपकार-दृष्टिसे भी गुण अभिन्न नहीं है, क्योंकि द्रव्यमें अपना प्रत्यय या विशिष्ट व्यवहार कराना रूप उपकार प्रत्येक गुणका जुदा-जुदा है। नील घटमें नीलानुराग और नील प्रत्यय उत्पन्न करता है जब कि पीत पीतानुराग और पीत प्रत्यय। इसी तरह सत्त्व सत् प्रत्यय कराता है और असत्त्व असत्प्रत्यय। अतः उपकारकी दृष्टिसे भी अभेदवृत्ति नहीं बन सकती। फिर गुणीका उपकार एक देशसे नहीं होता जिससे एक देशोपकारक होनेसे उनमें अभेदरूपता लाई जाय। एकान्त पक्षमें गुणोंसे संसृष्ट अनेकात्मक रूप नहीं है। जब शुक्ल और कृष्ण वर्ण परस्पर

भिन्न हैं तब उनका संसृष्ट रूप एक नहीं हो सकता जिससे एक शब्दसे कथन हो सके।

कोई एक शब्द या पद दो गुणोंको युगपत् नहीं कह सकता। यदि कहे तो 'सत्' शब्द सत्त्वकी तरह असत्त्वका भी कथन करेगा तथा 'असत्' शब्द सत्त्वका। पर ऐसी लोक-प्रतीति नहीं है क्योंकि प्रत्येकके वाचक शब्द जुदा-जुदा हैं। इस तरह कालादिकी दृष्टिसे युगपद्भावकी सम्भावना नहीं है तथा उभयवाची कोई एक शब्द है नहीं अतः वस्तु अवक्तव्य है। अथवा, शब्दमें वस्तुके तुल्य बलवाले दो धर्मोंका मुख्य रूपसे युगपत् कथन करनेकी शक्यता न होनेसे, या परस्पर शब्द प्रतिबन्ध होनेसे निर्गुणत्वका प्रसंग होनेसे तथा विवक्षित उभय धर्मोंका प्रतिपादन न होनेसे वस्तु अवक्तव्य है। यह भी सकलादेश है, क्योंकि परस्पर अवधारित दो मुख्य गुणोंसे अखण्ड वस्तुको समस्त रूपसे कहनेकी इच्छा है। यह अखंडता एक गुण रूपसे अभेद वृत्तिके द्वारा या अभेदोपचारसे बन जाती है। यह अवक्तव्य शब्दके द्वारा अन्य छह भंगोंके द्वारा वक्तव्य होनेसे 'स्यात्' अवक्तव्य है सर्वथा नहीं। यदि सर्वथा अवक्तव्य हो जाय तो 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा भी उसका कथन नहीं हो सकता। ऐसी दशामें बन्ध मोक्षादिकी प्रक्रियाका निरूपण निरर्थक हो जाता है।

जब दोनों धर्मोंकी क्रमशः मुख्य रूपसे विवक्षा होती है तब उनके द्वारा समस्त वस्तुका ग्रहण होनेसे चौथा भी भंग सकलादेशी होता है। यह भी 'कथञ्चित्' ही समझना चाहिए। यदि सर्वथा उभयात्मक हो तो परस्पर विरोध दोष तथा उभय दोषका प्रसंग होता है। इनका निरूपण इस प्रकार होता है—

१—सर्वसामान्य और तदभावसे। पदार्थ दो प्रकारके हैं एक श्रुतिगम्य और दूसरे अर्थाधिगम्य। श्रुतिमात्रसे बोधित श्रुतिगम्य है तथा अर्थ प्रकरण अभिप्राय आदिसे कल्पित अर्थाधिगम्य है। 'आत्मा अस्ति' यहाँ सभी प्रकारके अवान्तर भेदोंकी विवक्षा न रहने पर सर्वविशेषव्यापी सन्मात्रकी दृष्टिसे उसमें 'अस्ति' व्यवहार होता है और उसके प्रतिपक्षी अभाव सामान्यसे 'नास्ति' व्यवहार होता है। जब इन्हीं दृष्टियोंसे ये दोनों धर्म युगपत् विवक्षित होते हैं तो वस्तु अवक्तव्य और क्रमशः विवक्षित होनेपर उभयात्मक है।

२—विशिष्ट सामान्य और तदभावसे। आत्मा आत्मत्व रूप विशिष्ट सामान्यकी दृष्टिसे 'अस्ति' है और अनात्मत्वकी दृष्टिसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामें अवक्तव्य तथा क्रमशः उभय विवक्षामें उभयात्मक है।

३—विशिष्ट सामान्य और तदभाव सामान्यसे। आत्मा 'आत्मत्व' रूपसे 'अस्ति' है तथा पृथिवी जल घट पट आदि सब प्रकारसे अभाव सामान्य रूपसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामें अवक्तव्य और क्रम विवक्षामें उभयात्मक है।

४—विशिष्ट सामान्य और तद्विशेषसे। आत्मा 'आत्मत्व' रूपसे 'अस्ति' है और आत्मविशेष 'मनुष्य' रूपसे 'नास्ति' है। युगपत् विवक्षामें अवक्तव्य और क्रम-विवक्षामें उभयात्मक है।

५—सामान्य और विशिष्ट सामान्यसे। सामान्य दृष्टिसे द्रव्यत्व रूपसे आत्मा 'अस्ति' है और विशिष्ट सामान्यके अभाव रूप अनात्मत्वसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामें अवक्तव्य और क्रम विवक्षामें उभयात्मक है।

६—द्रव्य सामान्य और गुणसामान्यसे। द्रव्यत्व रूपसे आत्मा 'अस्ति' है तथा प्रतियोगि गुणत्वकी दृष्टिसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामें अवक्तव्य और क्रमशः उभय विवक्षामें उभयात्मक है।

७—धर्मसमुदाय और तद्व्यतिरेकसे। त्रिकाल गोचर अनेकशक्ति तथा ज्ञानादि धर्म समुदाय रूपसे आत्मा 'अस्ति' है तथा तदभाव रूपसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षा में अवक्तव्य और क्रमशः उभय विवक्षामें उभयात्मक है।

८—धर्म सामान्य सम्बन्धसे और तदभावसे। ज्ञानादि गुणोंके सामान्य सम्बन्ध की दृष्टिसे आत्मा 'अस्ति' है तथा किसी भी समय धर्मसामान्य सम्बन्धका अभाव नहीं होता अतः तदभावकी दृष्टिसे 'नास्ति' है। युगपत् विवक्षामें अवक्तव्य और क्रमविवक्षामें उभयात्मक है।

९—धर्मविशेष सम्बन्ध और तदभावसे। किसी विवक्षित धर्मके सम्बन्धकी दृष्टि से आत्मा 'अस्ति' है तथा उसीके अभाव रूपसे 'नास्ति' है। जैसे आत्मा नित्यत्व या चेतनत्व किसी अमुक धर्मके सम्बन्धसे 'अस्ति' है और विपक्षी धर्मसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामें अवक्तव्य है और क्रमविवक्षामें उभयात्मक है।

पाँचवाँ भंग तीन स्वरूपोंसे द्वयात्मक होता है। अनेक द्रव्य और अनेक पर्यायात्मक जीवके किसी द्रव्यार्थ विशेष या पर्यायार्थ विशेषकी विवक्षामें एक आत्मा 'अस्ति' है, वही पूर्व विवक्षा तथा द्रव्यसामान्य और पर्यायसामान्य या दोनोंकी युगपदभेद विवक्षामें वचनोंके अगोचर होकर अवक्तव्य हो जाता है। जैसे आत्मा द्रव्यत्व जीवत्व या मनुष्यत्व रूपसे 'अस्ति' है तथा द्रव्यपर्याय सामान्य तथा तदभावकी युगपत् विवक्षामें अवक्तव्य है। इस तरह 'स्यादस्ति अवक्तव्य' भंग बनता है। यह भी विवक्षासे अखंड वस्तुको ग्रहण करनेके कारण सकलादेश है क्योंकि इसने एक अंशरूपसे समस्त वस्तुको ग्रहण किया है।

छठवाँ भंग भी तीन स्वरूपोंसे दो अंशवाला होता है। वस्तुगत नास्तित्व ही जब अवक्तव्य रूपसे अनुबद्ध होकर विवक्षित होता है तब यह भंग बनता है। नास्तित्व पर्याय-की दृष्टिसे है। पर्यायें दो प्रकारकी हैं—एक सहभाविनी और दूसरी क्रमभाविनी। गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय आदि सहभाविनी तथा क्रोध मान बाल्य यौवन आदि क्रम-भाविनी पर्यायें हैं। गत्यादि और क्रोधादि पर्यायोंसे भिन्न कोई एक अवस्थायी जीव नहीं है, किन्तु ये ही क्रमिक पर्यायें जीव कही जाती हैं। जो वस्तुत्वेन 'सत्' है वही द्रव्यांश है तथा जो अवस्तुत्वेन 'असत्' है वही पर्यायांश है। इन दोनोंकी युगपत् अभेद विवक्षामें वस्तु अवक्तव्य है। इस तरह आत्मा नास्ति अवक्तव्य है। यह भी सकलादेश है क्योंकि विव-क्षित धर्मरूपसे अखण्ड वस्तुको ग्रहण करता है।

सातवाँ भङ्ग चार स्वरूपोंसे तीन अंशवाला है। किसी द्रव्यार्थ विशेषकी अपेक्षा अस्तित्व किसी पर्यायविशेषकी अपेक्षा 'नास्तित्व' होता है तथा किसी द्रव्यपर्याय विशेष और द्रव्यपर्याय सामान्यकी युगपत् विवक्षामें वही अवक्तव्य भी हो जाता है। इस तरह अस्ति नास्ति अवक्तव्य भंग बन जाता है। यह भी सकलादेश है क्योंकि इसने विवक्षित-धर्मरूपसे अखण्ड समस्त वस्तुका ग्रहण किया है।

§ २५ निरंश वस्तुमें गुणभेदसे अंशकल्पना करना विकलादेश है। स्वरूपसे अविभागी अखंड सत्ताक वस्तुमें विविध गुणोंकी अपेक्षा अंश कल्पना करना अर्थात् अनेकत्व और एकत्वकी व्यवस्थाके लिए मूलतः नरसिंहमें सिंहत्वकी तरह समुदायात्मक वस्तुस्वरूपको स्वीकार करके ही काल आदिकी दृष्टिसे परस्पर विभिन्न अंशोंकी कल्पना करना विकलादेश है। केवल सिंहमें सिंहत्वकी तरह एकमें एकांशकी कल्पना विकलादेश नहीं हैं। जैसे दाडिम कर्पूर आदिसे बने हुए शर्बतमें विलक्षण रसकी अनुभूति और स्वीकृतिके बाद अपनी पहचान शक्तिके अनुसार 'इस शर्बतमें लायची भी है, कर्पूर भी है' इत्यादि विवेचन किया जाता है उसी तरह अनेकान्तात्मक एक वस्तुकी स्वीकृतिके बाद हेतुविशेषसे किसी विवक्षित अंशका निश्चय करना विकलादेश है। अखंड भी वस्तुमें गुणोंसे भेद होता है जैसे 'गतवर्ष आप पटु थे, इस वर्ष पटुतर हैं' इस प्रयोगमें अवस्थाभेदसे तदभिन्न द्रव्यमें भेद व्यवहार होता है। गुणभेदसे गुणिभेदका होना स्वाभाविक ही है।

§ २६ विकलादेशमें भी सप्तभंगी होती है। गुणभेदक अंशोंमें क्रम, यौगपद्य तथा क्रम-यौगपद्य दोनोंसे विवक्षाके वश विकलादेश होते हैं। प्रथम और द्वितीय भंगमें स्वतंत्र क्रम, तीसरेमें यौगपद्य, चौथेमें संयुक्त क्रम, पांचवें और छठें भंगमें स्वतंत्र क्रमके साथ यौगपद्य तथा सातवें भंगमें संयुक्त क्रम और यौगपद्य हैं। सर्वसामान्य आदि किसी एक द्रव्यार्थ-दृष्टिसे 'स्यादस्त्येव आत्मा' यह पहिला विकलादेश है। इस भंगमें अन्य धर्म यद्यपि वस्तुमें विद्यमान हैं तो भी कालादिकी अपेक्षा भेदविवक्षा होनेसे शब्दवाच्यत्वेन स्वीकृत नहीं हैं अतः न उनका विधान ही है और न प्रतिषेध ही। इसी तरह अन्य भंगोंमें भी स्वविवक्षित धर्मकी प्रधानता होती है और अन्य धर्मोंके प्रति उदासीनता, न तो उनका विधान ही होता है और न उनका प्रतिषेध ही।

प्रश्न—जब आप 'अस्त्येव' इस तरह विशेषण-विशेष्यके नियमनको एवकार देते हो तब अर्थात् ही इतरकी निवृत्ति हो जाती है? उदासीनता कहाँ रही?

उत्तर—इसीलिए शेष धर्मोंके सद्भावको द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। एवकारसे जब इतरनिवृत्तिका प्रसंग प्रस्तुत होता है तो सकल लोप न हो जाय इसलिए 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मके साथ ही साथ अन्यधर्मोंके सद्भावकी सूचना दे देता है। इस तरह अपुनरुक्त रूपसे अधिकसे अधिक सात प्रकारके वचन हो सकते है। यह सब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी विवक्षासे होता है। ये नय संग्रह और व्यवहार रूप होते हैं शब्द नय और अर्थनय रूपसे भी इनके विभाग हैं। संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थनय है तथा शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत शब्दनय है। संग्रहनय सत्ताको विषय करता है, वह समस्त वस्तुतत्त्वका सत्तामें अन्तर्भाव करके अभेद रूपसे संग्रह करता है। व्यवहारनय असत्त्वको विषय करता है क्योंकि वह उन परस्पर भिन्न सत्त्वोंको ग्रहण करता है जिनमें एक दूसरेका असत्त्व अन्तर्भूत है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायको जानता है। इसकी दृष्टिमें अतीत और अनागत चूँकि विनष्ट और अनुत्पन्न है, अतः उनसे व्यवहार नहीं हो सकता। ये तीनों अर्थनय मिलकर तथा एकाकी रहकर सात प्रकारके भंगोंको उत्पन्न करते हैं। पहिला संग्रह दूसरा व्यवहार, तीसरा अविभक्त (युगपद् विवक्षित) संग्रह व्यवहार, चौथा समुच्चित (क्रम विवक्षित समुदाय) संग्रह व्यवहार, पांचवां संग्रह और अविभक्त संग्रह व्यवहार, छठवां व्यवहार और अविभक्त संग्रह व्यवहार तथा सातवां समुदित संग्रह व्यवहार

और अविभक्त संग्रह व्यवहार। शब्दनय व्यंजन पर्यायोंको विषय करते हैं। वे अभेद तथा भेद दो प्रकारके वचन प्रयोगको सामने लाते हैं। शब्दनयमें पर्यायवाची विभिन्न शब्दोंका प्रयोग होनेपर भी उसी अर्थका कथन होता है, अतः अभेद है। समभिरूढ़नयमें घटनक्रियामें परिणत या अपरिणत, अभिन्न ही घटका निरूपण होता है। एवंभूतमें प्रवृत्तिनिमित्तसे भिन्न ही अर्थका निरूपण होता है। अथवा एक अर्थमें अनेक शब्दोंकी प्रवृत्ति या प्रत्येकमें स्वतंत्र शब्दोंका प्रयोग, इस तरह भी दो प्रकार हैं। शब्दनयमें अनेक पर्यायवाची शब्दोंका वाच्य एक ही होता है। समभिरूढ़में चूँकि शब्द नैमित्तिक है अतः एक शब्दका वाच्य एक ही होता है। एवंभूत वर्तमान निमित्तको पकड़ता है अतः उसके मतसे भी एक शब्दका वाच्य एक ही है।

§ २७ इन परस्पर विरुद्ध सरीखे दिखनेवाले धर्मोंमें नयदृष्टिसे योजना करनेपर कोई विरोध नहीं रहता। विरोध तीन प्रकारका है—१ वध्यघातक भाव, २ सहानवस्थान, ३ प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक भाव। वध्यघातक भाव विरोध सर्प और नकुल या अग्नि और जलमें होता है। यह दो विद्यमान पदार्थोंमें संयोग होनेपर होता है, संयोगके बाद जो बलवान् होता है वह निर्बलको बाधित करता है। अग्निसे असंयुक्त जल अग्निको नहीं बुझा सकता। परन्तु आप अस्तित्व और नास्तित्वकी एक वस्तुमें क्षणमात्र भी वृत्ति नहीं मानना चाहते अतः यह विरोध कैसे होगा? यदि दोनोंकी एक वस्तुमें युगपत् वृत्ति स्वीकार करते हो तो जब दोनों धर्म तुल्य हेतुक और समान बलशाली हैं तब एक दूसरेको कैसे बाध सकता है? जिससे इनमें बध्यघातक विरोध माना जाय। दूसरा सहानवस्थान विरोध एक वस्तुकी क्रमसे होनेवाली दो पर्यायोंमें होता है। नयी पर्याय उत्पन्न होती है तो पूर्वपर्याय नष्ट हो जाती है। जैसे आमका हरा रूप नष्ट होता है और पीतरूप उत्पन्न होता है। किन्तु अस्तित्व और नास्तित्व वस्तुमें क्रमिक नहीं हैं। यदि ये क्रमभावी होते तो अस्तित्वकालमें नास्तित्व और नास्तित्वकालमें अस्तित्वका अभाव प्राप्त होगा। ऐसी दशामें नास्तित्वका अभाव होनेपर जीवमात्र जगत् हो जायगा। और अस्तित्वके अभावमें शून्यताका प्रसङ्ग आयगा, और समस्त बन्ध मोक्षादि व्यवहारका उच्छेद हो जायगा। सर्वथा असत्की उत्पत्ति और सत्का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता। अतः यह विरोध भी अस्तित्व-नास्तित्वमें नहीं हो सकता। प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक भाव विरोध भी इनमें नहीं है। जैसे आमका फल जब तक डालमें लगा हुआ है तब तक फल और डंठलका संयोग रूप प्रतिबन्धकके रहनेसे गुरुत्व मौजूद रहने पर भी आमको नीचे नहीं गिराता। जब संयोग टूट जाता है तब गुरुत्व फलको नीचे गिरा देता है। 'संयोग' के अभावमें गुरुत्व पतनका कारण होता है, यह सिद्धान्त है। परन्तु यहाँ न तो अस्तित्व नास्तित्वके प्रयोजनका प्रतिबन्ध करता है और न नास्तित्व अस्तित्व के। अस्तित्वकालमें ही परकी अपेक्षा 'नास्ति' बुद्धि होती है तथा नास्तित्वके समय ही स्वापेक्षया अस्तित्व बुद्धि और व्यवहार होता है। इस तरह विवक्षाभेदसे जीवादिपदार्थ एकानेकात्मक हैं।

चतुर्थ अध्याय समाप्त

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक २०

श्रीमद् अकलंकदेवविरचितम्

तत्त्वार्थवार्तिकम्

[राजवार्तिकम्]

हिन्दीसारसहितम्

द्वितीयो भागः

भारतीय ज्ञानपीठ

पंचम संस्करण : १९९९ □ मूल्य : ११०.०० रुपये

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९; वीर नि. सं. २४७९; विक्रम सं. २०००; १८ फरवरी १९४४)

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृति में
स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी स्व० श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

ग्रन्थमाला सम्पादक : (प्रथम संस्करण)

डॉ. हीरालाल जैन एवं डॉ. आ. ने. उपाध्ये

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

१८, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११० ००३

मुद्रक : विकास ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११० ०३२

© भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

JNANPITH MOORTIDEVI JAIN GRANTHAMALA : Sanskrit Grantha NO. 20

TATTVĀRTHA-VĀRTIKA

[Rājavārtika]

of

ŚRĪ AKALAṄKADEVA

PART—2

Edited with Hindi Translation, Introduction, appendices, variant readings, comparative notes etc.

by

Prof. MAHENDRA KUMAR JAIN, Nyayacharya

BHARATIYA JNANPITH

Fifth Edition : 1999 □ **Price : Rs 110.00**

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9; Vira N. Sam. 2470; Vikrama Sam. 2000; 18th Feb. 1944)

MOORTIDEVI JAINA GRANTHAMALA

FOUNDED BY

Late Sahu Shanti Prasad Jain
In Memory of his late Mother Smt. Moortidevi
and
promoted by his benevolent wife
late Smt. Rama Jain

In this Granthamala critieally edited Jain agamic, philosophical, puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc., are being published in original form with their translations in modern languages.

Also being published are catalogues of Jain bhandaras, inscriptions, studies on art and architecture by competent scholars and also popular Jain literature.

General editors : (First edition)

Dr. Hiralal Jain & Dr. A.N. Upadhye

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at : Vikas Offset, Naveen Shahdara, Delhi-110 032

© All Rights Reserved by Bharatiya Jnanpith.

विषय-सूची

पाँचवाँ अध्याय

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
अजीव अस्तिकायोंका निर्देश	४३१	६५३
अजीव और कायका सामानाधिकरण्य	४३१	६५३
काय अर्थात् बहुप्रदेशी	४३२	६५३
धर्म आदि संज्ञाएँ, रूढ़ सांकेतिक हैं	४३३	६५४
धर्मादि संज्ञाएँ, क्रियानिमित्तक भी उनकी व्युत्पत्ति	४३४	६५४
धर्मादिके निर्देशक्रमका प्रयोजन	४३४	६५५
आकाश और अन्य द्रव्योंमें आधाराधेयभाव	४३५	६५५
ये द्रव्य हैं	४३६	६५५
द्रव्यकी व्युत्पत्ति	४३६	६५५
द्रव्यत्वके समवायसे द्रव्य नहीं	४३६	६५६
गुणसन्द्रावरूप द्रव्य नहीं	४३६	६५८
एकान्तवादियोंके मतमें 'द्रव्यं भव्ये' नहीं हो सकता	४४१	६५९
जीव भी द्रव्य हैं	४४१	६५९
जीवत्वके समवायसे जीव नहीं	४४१	६६०
वैशेषिककल्पित नौ द्रव्योंका अन्तर्भाव	४४२	६६०
जीवबहुत्व बतानेके लिए बहुवचन दिया है	४४२	६६०
जीवादि द्रव्य नित्य अवस्थित और अरूपी हैं	४४३	६६१
नित्य अर्थात् ध्रौव्ययुक्त	४४३	६६१
वृत्तिकारके पाँच द्रव्योंके उल्लेखका तात्पर्य	४४४	६६१
पुद्गल द्रव्य रूपी हैं	४४४	६६१
मूर्तिकका लक्षण	४४४	६६१
बहुत्वसूचनके लिए बहुवचन	४४५	६६२
आकाशपर्यन्त एक एक द्रव्य हैं	४४५	६६२
आकाशादि निष्क्रिय हैं	४४६	६६२
क्रियाका लक्षण	४४६	६६२
निष्क्रिय होनेपर भी इनमें उत्पादादि हैं	४४६	६६२
जीवमें क्रियाकी सिद्धि	४४७	६६३
अदृष्टसे क्रिया नहीं	४४७	६६३
पुद्गलोंमें क्रियाकी सिद्धि	४४८	६६४
क्रियाके दो भेद	४४८	६६४
क्रिया द्रव्यकी ही पर्याय है	४४८	६६४
क्रियावत्त्वसे अनित्यत्वका प्रसंग नहीं	४४८	६६४
धर्म अधर्म और एक जीव असंख्य-प्रदेशी है	४४९	६६४
सर्वज्ञ अनन्तको अनन्त रूपसे जानता है	४४९	६६४
प्रदेशका लक्षण	४४९	६६४
प्रदेशवत्त्व होनेपर भी द्रव्यकी अखण्डता	४५०	६६५
प्रदेश-कल्पना औपचारिक नहीं	४५०	६६५
जीवके चलाचल प्रदेश	४५१	६६६
संसारी जीव व्यवहारसे सावयव हैं	४५२	६६६
आकाशके अनन्त प्रदेश	४५२	६६६
अनन्त भी सर्वज्ञ ज्ञानका अनन्त रूपसे गम्य है	४५२	६६७
सभी 'अनन्त' मानते हैं	४५२	६६७
अनन्तको अज्ञेय माननेपर सर्वज्ञाभाव हो जायगा	४५२	६६७
पुद्गलोंके संख्यात असंख्यात और अनन्तप्रदेश	४५३	६६७
अनन्त कहनेसे अनन्तानन्त भी परिगृहीत है	४५३	६६७
असंख्यात प्रदेशी लोकमें भी अनन्तका अवगाह	४५३	६६७
अणुके अन्य प्रदेश नहीं	४५३	६६७
अणु अप्रदेशी नहीं किन्तु एकप्रदेशी	४५४	६६८
लोकाकाशमें सब द्रव्योंका अवगाह	४५४	६६८
आकाश स्वप्रतिष्ठित है	४५४	६६८
व्यवहारसे ही सब द्रव्योंमें आधाराधेय भाव है	४५४	६६८
लोकका स्वरूप	४५५	६६८

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
अलोक सर्वज्ञके द्वारा ज्ञेय होनेपर भी अलोक ही है	४५५	६६६
धर्म और अधर्म लोकव्यापी हैं	४५६	६६६
अमूर्त होनेके कारण इनका अविरोधी अवगाह है	४५६	६६६
पुद्गलका अवगाह एकप्रदेश आदिमें है	४५७	६७०
एक प्रदेशमें भी बहुतोंका अवगाह जैसे कि अनेक प्रदीपप्रकाशोंका	४५७	६७०
आगम प्रामाण्यसे भी	४५७	६७०
जीवोंका असंख्येय भाग आदिमें अवगाह	४५७	६७०
असंख्यात प्रदेशी लोकमें भी अनन्त जीवोंका अवगाह	४५८	६७०
प्रदेशोंमें संकोच विस्तार होनेसे प्रदीपकी तरह अवगाह	४५८	६७०
प्रदीपकी तरह अनित्यता नहीं	४५८	६७१
जीवकी शरीरपरिमाणता	४५९	६७१
मुक्तजीव किंचित् न्यून अन्तिम शरीरप्रमाण हैं	४५९	६७१
गति और स्थिति धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार	४६०	६७२
गतिका लक्षण	४६०	६७२
स्थितिका लक्षण	४६०	६७२
उपग्रह और उपकारमें भेद	४५२	६७३
आकाशसे ही गतिस्थिति माननेपर लोकालोक विभाग नहीं होगा	४६२	६७३
आकाश ही गति और स्थितिमें उपकारक नहीं हो सकता	४६३	६७३
अनुपलब्धिसे अभाव नहीं किया जा सकता	४६४	६७४
अतीन्द्रिय पदार्थ सभी वादी मानते हैं	४६५	६७४
गति और स्थिति अदृष्टहेतुक नहीं हैं	४६५	६७५
आकाशका उपकार अवगाह है	४६६	६७६
जीव और पुद्गलमें मुख्य अवगाह है	४६७	६७६
अलोकाकाशमें भी यह लक्षण है	४६७	६७६
खरविषाणकी भी बुद्धि और शब्दरूपसे सिद्धि	४६७	६७७
आवरणाभावको आकाश नहीं कह सकते	४६७	६७७
शब्द पौद्गलिक है	४६८	६७७
आकाश प्रकृतिका विकार नहीं	४६८	६७७
शरीर वचन मन और श्वासोच्छ्वास पुद्गलके उपकार हैं	४६८	६७७
शरीरादिके निर्देश-क्रमका कारण	४६८	६७७
कार्मण शरीर भी पौद्गलिक है	४६९	६७८
वचन पौद्गलिक हैं	४६९	६७८
भाववचन भी पुद्गलनिमित्तक होनेसे पौद्गलिक हैं	४७०	६७८
शब्दकी पौद्गलिकता	४७०	६७९
मनकी पौद्गलिकता	४७१	६७९
मन अनवस्थित है	४७१	६७९
वैशेषिकसम्मत मनोद्रव्यका खण्डन	४७१	६७९
अणुमनके आशुसंचारित्वकी आलोचना	४७२	६८०
विज्ञानरूप मनकी आलोचना	४७३	६८०
मन प्रकृतिका विकार नहीं	४७३	६८१
प्राणापानकी मूर्तिकता	४७३	६८१
सुख दुःख जीवन और मरण भी पुद्गलके ही उपकार	४७४	६८२
सुखादिके निर्देशक्रमकी सहेतुकता	४७४	६८२
जीवोंका परस्परोपग्रह	४७६	६८३
वर्तना परिणाम क्रिया आदि काल-द्रव्यके उपकार	४७६	६८३
वर्तनाका आनुमानिकत्व	४७७	६८४
आदित्यगतिनिमित्तक वर्तना नहीं	४७७	६८४
आकाशप्रदेशनिमित्तक वर्तना नहीं	४७७	६८४
परिणाम परिणामीसे भिन्नाभिन्न है	४७८	६८४
बीज और अंकुरका परस्पर परिणाम-परिणामीभाव	४७९	६८५
क्षणिकपक्षमें परिणामपरिणामीभाव नहीं	४८०	६८६
ध्रौव्यैकान्तमें भी परिणाम नहीं	४८०	६८६
परत्वापरत्वका स्वरूप	४८१	६८७
द्विविध काल	४८१	६८७
त्रिविध काल	४८२	६८७

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
क्रिया ही काल नहीं	४८३	६८८
वर्तना ही मुख्य	४८४	६८९
स्पर्शरस गन्ध और वर्णवाले पुद्गल हैं	४८४	६८९
स्पर्शादिके निर्देशक्रमकी सहेतुकता	४८४	६९०
शब्द बन्ध सौक्ष्म्य आदि पुद्गलकी पर्यायें	४८५	६९०
भाषात्मक शब्द–अक्षर अनक्षर रूप	४८	६९०
अभाषात्मक–वैस्रसिक प्रायोगिक	४८	६९०
प्रयोगज–तत वितत घन सौषिर	४८	६९०
स्फोटवादका खंडन	४८६	६९१
बन्ध–प्रायोगिक वैस्रसिक	४८७	६९२
प्रायोगिक–जीवाजीवविषयक अजीव-विषयक	४८७	६९२
सौक्ष्म्य–अन्त्य आपेक्षिक	४८८	६९३
स्थौल्य-अन्त्य आपेक्षिक	४८८	६९३
संस्थान–इत्थंलक्षण अनित्थंलक्षण	४८९	६९३
भेद–उत्कर चूर्ण खंड चूर्णिका प्रतर और अणुचटन	४८९	६९३
अन्धकारका लक्षण	४८९	६९३
छाया–वर्णादिविकार और प्रतिबिम्बरूप	४८९	६९३
आतपका लक्षण	४८९	६९४
उद्योतका लक्षण	४८९	६९४
क्रियाके दस भेद	४९०	६९४
च शब्द से नोदन अभिघात आदिका ग्रहण	४९१	६९५
पुद्गल अणु और स्कन्ध रूप	४९१	६९५
अणुका लक्षण	४९१	६९५
स्कन्धका लक्षण	४९१	६९५
'कारणमेव तदन्त्यम्' इस परमाणु लक्षणकी समीक्षा	४९१	६९५
परमाणु सर्वथा नित्य नहीं	४९२	६९६
अणु एक रस एक गन्ध एक रूप और दो स्पर्शवाला है	४९२	६९६
स्कन्ध स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश	४९३	६९६
भेद, संघात और भेद संघातसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति	४९३	६९७
द्विप्रदेशी त्रिप्रदेशी आदि स्कन्धोंकी उत्पत्ति	४९४	६९७
अणु भेद से ही होता है	४९४	६९७
भेदसे और संघातसे अचाक्षुष स्कन्ध चाक्षुष होता है	४९४	६९७
द्रव्यका लक्षण	४९३	६९८
सत्का लक्षण	४९३	६९८
उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे तादात्म्य	४९५	६९८
नित्यका लक्षण	४९६	६९९
अर्पित और अनर्पित विवक्षासे सिद्धि	४९७	६९९
पुद्गलोंका स्निग्धत्व और रूक्षत्वके कारण बन्ध होता है	४९७	७००
जघन्य गुणवालोंमें परस्पर बन्ध नहीं	४९८	७००
गुणोंकी समानता होनेपर सदृशोंमें भी बन्ध	४९८	७००
दो अधिक गुणवालोंमें बन्ध	४९९	७०१
बन्धकालमें अधिक गुणवाला पारिणामक होता है	५००	७०१
'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ' इस सूत्र पाठकी समीक्षा	५००	७०१
द्रव्यका लक्षण	५००	७०२
गुणार्थिकनय पृथक् नहीं	५०१	७०२
काल भी द्रव्य है	५०१	७०३
काल अनन्तसमयवाला है	५०२	७०३
गुणका लक्षण	५०२	७०३
परिणामका लक्षण	५०३	७०३
अनादि और आदिमान् परिणाम	५०३	७०४

छठवाँ अध्याय

योगका लक्षण	५०४	७०५
मनोयोगका लक्षण	५०५	७०५
वाग्योगका लक्षण	५०५	७०५
काययोगका लक्षण	५०५	७०५
ध्यानसे यह योग भिन्न है	५०५	७०६
योग ही आस्रव है	५०६	७०६
योग प्रणालिकासे कर्मों का आगमन	५०६	७०६
शुभ योगसे पुण्यास्रव अशुभयोगसे पापास्रव	५०६	७०७
अशुभ काययोग	५०६	७०७
अशुभ वाग्योग	५०६	७०७
अशुभ मनोयोग	५०६	७०७

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
शुभ काययोग	५०७	७०७
शुभ वाग्योग	५०७	७०७
शुभ मनोयोग	५०७	७०७
पुण्यका लक्षण	५०७	७०७
पापका लक्षण	५०७	७०७
पुण्य पाप दोनों समान नहीं	५०७	७०७
शुभ परिणाम शुभ प्रकृतियोंके अनुभागमें तथा संक्लेश परिणाम अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागमें हेतु हैं	५०७	७०७
सकषायके साम्परायिक और अकषायके ईर्यापथ आस्रव	५०८	७०७
सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान तक साम्परायिक आस्रव	५०८	७०८
उपशान्त क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके ईर्यापथ आस्रव	५०८	७०८
साम्परायिक आस्रवके भेद	५०८	७०८
इन्द्रियादिका आत्मासे भेदाभेद	५०९	७०८
सम्यक्त्वादि पचीस क्रियाओंके लक्षण	५११	७०८
क्रोध और प्रदोषमें भेद	५०९	७०८
इन्द्रिय कषाय और अव्रतका क्रियासे भेद	५१०	७१०
तीव्र मन्द ज्ञात अज्ञात आदिसे आस्रव में विशेषता	५११	७१०
तीव्रका लक्षण	५११	७१
मन्दका लक्षण	५११	७१०
ज्ञातका लक्षण	५१२	७१०
अज्ञातका लक्षण	५१२	७१०
वीर्यका लक्षण	५१२	७१०
परिस्पन्द और अपरिस्पन्दरूप भाव	५१२	७११
अधिकरणके दो भेद	५१३	७११
अधिकरणके दस प्रकार-विष, लवण आदि	५१३	७११
जीवाधिकरणके १०८ भेद	५१३	७११
संरम्भ समारम्भ और आरम्भके लक्षण	५१३	७११
कृत कारित अनुमतका स्वरूप	५१४	७११
१०८ भेदोंका विवरण	५१५	७१२
जीवाधिकरणके ४३२ भेद	५१५	७१२
अजीवाधिकरणके भेद	५१५	७१२
अर्थापत्ति अनैकान्तिक नहीं	५१५	७१२
निर्वर्तनाधिकरणके दो भेद	५१६	७१३
निक्षेपके चार भेद	५१६	७१३
संयोगके दो भेद	५१७	७१३
निसर्गके तीन भेद	५१७	७१३
ज्ञानावरण-दर्शनावरणके आस्रवके कारण	५१७	७१३
प्रदोष निह्नव आदिके लक्षण	५१७	७१३
आसादन और उपघातका भेद	५१७	७११
केवलीके ज्ञान और दर्शनका यौगपद्य	५१८	७१४
मनःपर्ययदर्शन नहीं होता	५१९	७१४
ज्ञानविषयक प्रदोषादि ज्ञानावरणके आस्रव	५१९	७१४
दर्शन मात्सर्य आदि दर्शनविषयक प्रदोषादि दर्शनावरणके आस्रव	५१९	७१४
असातावेदनीयके आस्रवके कारण	५१९	७१४
दुःख आदिके लक्षण	५१९	७१५
दुःख आदिमें परस्पर कथञ्चिद् भेद	५२०	७१५
दीक्षा आदि दुःखरूप नहीं	५२१	७१६
सद्वेद्यके आस्रव	५२१	७१७
भूतव्रति अनुकम्पा दान आदिके लक्षण	५२२	७१७
दर्शनमोहके आस्रव	५२३	७१७
नित्यानित्यात्मक आत्मामें ही अनुकम्पा आदि हो सकते हैं	५२३	७१७
दर्शनमोहके आस्रव	५२३	७१७
केवली श्रुत संघ और देवके अवर्णवाद आदिके लक्षण	५२३	७१७
केवलीका अवर्णवाद–कवलाहार आदि	५२४	७१७
श्रुतका अवर्णवाद–मांस मत्स्य भक्षण आदि	५२४	७१७
संघका अवर्णवाद–शूद्र अशुचि आदि कहना	५२४	७१७
धर्मका अवर्णवाद–निर्गुण आदि कहना	५२४	७१७
देवोंका अवर्णवाद–सुरापायी मांसाशी आदि कहना	५२४	७१७
चारित्रमोहके आस्रव	५२४	७१८
कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीयके पृथक् पृथक् आस्रव	५२५	७१८
नरकायुके आस्रव	५२५	७१९

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
आरम्भ परिग्रहका विवरण	५२५	७१९
तिर्यगायुके आस्रव	५२६	७१९
मनुष्यायुके आस्रव	५२६	७१९
सभी आयुओंके आस्रवका सामान्य हेतु	५२६	७२०
देव आयुके आस्रव	५२७	७२०
विस्तारसे देवायुके आस्रवोंका निरूपण	५२७	७२०
सम्यक्त्व भी देवायुका आस्रव	५२७	७२०
अशुभ नामके आस्रव	५२८	७२०
योगवक्रता और विसंवादनका भेद	५२८	७२०
अन्य नामास्रवोंका निर्देश	५२८	७२०
शुभनामके आस्रव	५२८	७२१
तीर्थङ्कर नामके आस्रव	५२९	७२१
दर्शनविशुद्धिका स्वरूप	५२९	७२१
सम्यक्त्वके आठ अंग	५२९	७२१
विनयसम्पन्नताका लक्षण	५२९	७२२
शीलव्रतेष्वनतिचारका लक्षण	५२९	७२२
ज्ञानोपयोगका लक्षण	५२९	७२२
संवेग, त्याग, तपका लक्षण	५२९	७२२
समाधि वैयावृत्त्यका लक्षण	५३०	७२२
छह आवश्यकोंका विवरण	५३०	७२२
मार्गप्रभावनाका लक्षण	५३०	७२२
प्रवचनवत्सलत्वका लक्षण	५३०	७२२
नीचगोत्रके आस्रव	५३०	७२३
निन्दा प्रशंसा आदिके लक्षण	५३०	७२३
नीचगोत्रके अन्य आस्रव	५३१	७२३
उच्चगोत्रके आस्रव	५३१	७२३
उच्चगोत्रके आस्रवोंका विवरण	५३१	७२३
नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेकके लक्षण	५३१	७२३
अन्तरायके आस्रव	५३१	७२३
अन्तरायके अन्य आस्रव	५३२	७२३
शास्त्रप्रामाण्य सर्वज्ञकथित होनेसे	५३२	७२४
प्रदोष आदिसे तत्तत्कर्मोंमें अनुभाग विशेष होता है	५३२	७२४

सातवाँ अध्याय

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
व्रतोंका निर्देश	५३३	७२५
व्रतका लक्षण	५३३	७२५
व्रत संवररूप नहीं	५३३	७२५
रात्रिभोजन विरतिका भावनाओंमें अन्तर्भाव	५३४	७२५
अणुव्रत और महाव्रत	५३५	७२६
अहिंसाव्रतकी भावनाएँ	५३६	६२६
सत्यव्रतकी भावनाएँ	५३६	७२६
अचौर्यव्रतकी भावनाएँ	५३६	७२७
ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ	५३६	७२७
अपरिग्रह व्रतकी भावनाएँ	५३६	७२७
हिंसादिकके सम्बन्धमें अपाय और अवद्यका विचार	५३७	७२७
हिंसादिमें दुःखरूपताका विचार	५३७	७२८
मैत्री प्रमोद कारुण्य आदि भावनाएँ	५३८	७२८
मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य आदिके लक्षण	५३८	७२८
संवेग और वैराग्यके लिए जगत् और कायके स्वरूपका विचार	५३९	७२९
भावनाएँ नित्यानित्यात्मक आत्मामें ही संभव है	५३९	७२९
हिंसाका लक्षण	५३९	७२९
प्रमत्तयोगसे हिंसाका समर्थन	५४०	७३०
क्षणिकवादमें हिंसा संभव ही नहीं	५४१	७३०
असत्यका लक्षण	५४१	७३१
स्तेयका लक्षण	५४२	७३१
कर्मोंका ग्रहण चोरी नहीं	५४२	७३१
अप्रमत्तको इन्द्रियोंसे विषयग्रहण होनेपर भी चोरी नहीं	५४३	७३१
अब्रह्मका लक्षण	५४३	७३२
परिग्रहका लक्षण	५४४	७३२
ज्ञान दर्शन चारित्रका संग्रह परिग्रह नहीं	५४५	७३३
व्रतीका लक्षण	५४५	७३३
माया मिथ्या और निदान शल्योंका स्वरूप	५४५	७३३
दो व्रती–अगारी और अनगारी	५४६	७३३
अणुव्रती अगारी	५४७	७३४
अहिंसादि अणुव्रतोंका स्वरूप	५४७	७३४
दिग्व्रतादि गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका निर्देश	५४७	७३४
दिग्व्रतका स्वरूप	५४७	७३४

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
देशव्रतका स्वरूप	५४७	७३४
अनर्थदण्डविरतिका स्वरूप	५४७	७३४
सामायिक व्रत	५४८	७३४
प्रोषधोपवासका स्वरूप	५४८	७३४
उपभोग-परिभोगका स्वरूप	५४८	७३४
अतिथिका लक्षण	५४८	७३५
दिशादिकी मर्यादाके बाहर महाव्रतत्व	५४८	७३५
पाँच अनर्थदण्ड	५४९	७३५
अपध्यानका स्वरूप	५४९	७३५
पापोपदेशका स्वरूप	५४९	७३५
क्लेश वणिज्याका स्वरूप	५४९	७३५
तिर्यग्वणिज्याका स्वरूप	५४९	७३५
वधकोपदेशका स्वरूप	५४९	७३५
आरम्भकोपदेशका स्वरूप	५४९	७३५
प्रमादाचरितका स्वरूप	५४९	७३५
हिंसाप्रदानका स्वरूप	५४९	७३५
अशुभश्रुतिका स्वरूप	५४९	७३५
उपवासके दिन स्नानादिका त्याग	५४९	७३५
भोगपरिसंख्यान त्रसघात प्रमाद आदि के कारण	५५०	७३६
भिक्षा उपकरण औषधि और आश्रयके भेदसे चार प्रकारका अतिथि-संविभाग	५५०	७३६
सल्लेखनाका विवरण	५५०	७३६
नित्यमरण और तद्भवमरण	५५०	७३६
जोषिता पदका प्रयोजन	५५०	७३६
सल्लेखना आत्मवध नहीं	५५०	७३७
सल्लेखनाकी विधि	५५१	७३७
सम्यग्दर्शनके अतिचार	५५१	७३८
प्रशंसा और संस्तवका परस्पर भेद	५५२	७३८
अंग आठ होने पर भी अतिचार पाँच ही क्यों ?	५५२	७३८
व्रत और शीलोंके भी पाँच अतिचार	५५३	७३८
व्रत और शीलमें भेद	५५३	७३८
अहिंसाणुव्रतके अतिचार	५५३	७३८
सत्याणुव्रतके अतिचार	५५३	७३८
अचौर्याणुव्रतके अतिचार	५५४	७३९
ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार	५५४	७३९
विवाहका लक्षण	५५४	७३९
परिग्रह परिमाणाणुव्रतके अतिचार	५५५	७३९
दिग्व्रतके अतिचार	५५५	७३९
इच्छा परिमाणसे दिग्व्रतका भेद	५५५	७३९
देशव्रतके अतिचार	५५६	७४०
अनर्थदण्डविरतिके अतिचार	५५६	७४०
अधिकरणके तीन भेद	५५६	७४०
उपभोग परिभोग व्रतसे इसका भेद	५५६	७४०
सामायिकव्रतके अतिचार	५५७	७४०
प्रोषधोपवासके अतिचार	५५७	७४०
उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके अतिचार	५५८	७४१
अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार	५५८	७४१
सल्लेखनाके अतिचार	५५८	७४१
दानका लक्षण	५५९	७४१
विधि द्रव्य दाता और पात्रकी अपेक्षा दानमें विशेषता	५५९	७४१
क्षणिक और नित्यपक्षमें दानकी विशेषता नहीं बन सकती	५६०	७४२

आठवाँ अध्याय

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
मिथ्यादर्शन आदि बन्धके कारण	५६१	७४३
मिथ्यादर्शनका मिथ्यात्वक्रियामें अन्तर्भाव	५६१	७४३
प्रमादका लक्षण	५६१	७४३
नैसर्गिक मिथ्यादर्शन	५६१	७४३
परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनके चार प्रकार	५६१	७४३
अक्रियावादी ८४	५६२	७४३
क्रियावादी १८०	५६२	७४३
आज्ञानिक ६७	५६२	७४३
वैनयिक ३२	५६२	७४३
यज्ञमें होनेवाला पशुवध धर्म नहीं	५६२	७४३
मन्त्रपूर्विका हिंसा भी धर्म नहीं	५६३	७४४
मिथ्यादर्शनके एकान्त विनय संशय आदि पाँच भेद	५६४	७४५
अष्टविध संयम	५६४	७४५
अविरति और प्रमादमें भेद	५६५	७४६
कषाय और अविरतिमें कार्यकारणभाव	५६५	७४६
बन्धका लक्षण	५६५	७५६

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
पुद्गल कर्मका विपाक	५६६	७४६
प्रकृति स्थिति आदि चार बन्ध	५६६	७४७
ज्ञानावरणादिकी प्रकृति	५६६	७४७
योगनिमित्तक प्रकृति और प्रदेश	५६७	७४७
कषायनिमित्तक स्थिति और अनुभाग	५६७	७४७
ज्ञानावरण आदि आठ कर्म	५६७	७४७
ज्ञानावरण और मोहमें भेद	५६८	७४८
एक ही पुद्गल सुख दुःख और आवरणमें निमित्त होता है	५६८	७४८
बन्धके एक दो तीन चार पाँच छह सात और आठ भेद	५६९	७४८
ज्ञानावरण आदिके क्रमनिर्देशका हेतु	५६९	७४९
ज्ञानावरणादिकी उत्तर प्रकृति संख्या	५७०	७४९
ज्ञानावरणकी उत्तर प्रकृतियाँ	५७०	७४९
सम्यक्त्वादिकी अभिव्यक्ति योग्यताके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा भव्यत्व और अभव्यत्व विभाग	५७१	७४९
दर्शनावरणकी उत्तर प्रकृतियाँ	५७२	७५०
निद्रा निद्रानिद्रा आदिके लक्षण	५७२	७५०
वेदनीयकी साता असाता दो प्रकृतियाँ	५७३	७५१
मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियाँ	५७३	७५१
तीन दर्शनमोह	५७४	७५१
अकषायवेदनीयके नव भेद	५७४	७५२
कषायवेदनीयके सोलह भेद	५७४	७५२
पर्वत पृथ्वी आदिकी तरह चार प्रकारका क्रोध	५७४	७५२
स्तम्भ अस्थि आदिकी तरह चार प्रकार का मान	५७४	७५२
बाँसकी जड़ मेढ़ेकी सींग आदिकी तरह चार प्रकारकी माया	४७४	७५२
कृमिराग कज्जल आदिकी तरह चार प्रकारका लोभ	५७४	७५३
आयुकी उत्तर प्रकृतियाँ	५७५	७५९
नरकायुका स्वरूप	५७५	७५२
तिर्यंचायुका स्वरूप	५७५	७५२
मनुष्यायुका स्वरूप	५७५	७५२
देवायुका स्वरूप	५७५	७५२
नाम कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ	५७६	७५३
गति	५७६	७५३
जाति	५७६	७५३
शरीर	५७६	७५३
अङ्गोपाङ्ग	५७६	७५३
निर्माण	५७६	७५३
बन्धन	५७६	७५३
संघात	५७६	७५३
छह संस्थान	५७६	७५३
छह संहनन	५७७	७५३
स्पर्श रस गन्ध वर्ण	५७७	७५३
आनुपूर्व्य	५७७	७५३
अगुरुलघु	५७७	७५३
उपघात	५७८	७५५
परघात	५७८	७५३
आतप	५७८	७५३
उद्योत	५७८	७५३
उच्छ्वास	५७८	७५३
दो विहायोगति	५७८	७५३
प्रत्येक शरीर	५७८	७५४
साधारण शरीर	५७८	७५५
त्रस	५७८	७५५
स्थावर	५७८	७५५
सुभग	५७८	७५५
दुर्भग	५७८	७५५
सुस्वर	५७९	७५५
दुःस्वर	५७९	७५५
शुभ	५७९	७५५
अशुभ	५७९	७५५
सूक्ष्म	५७९	७५५
बादर	५७९	७५५
छह पर्याप्तियाँ	५७९	७५५
अपर्याप्ति	५७९	७५५
स्थिर	५७९	७५५
अस्थिर	५७९	७५५
आदेय	५७९	७५५
अनादेय	५७९	७५५
यशस्कीर्ति	५७९	७५५
अयशस्कीर्ति	५७९	७५५

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
तीर्थंकर नामकर्म	५८०	७५५
गणधरत्व श्रुतज्ञाननिमित्तक है, चक्र धरत्वादि उच्चगोत्र निमित्तक हैं	५८०	७५५
गोत्रकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ	५८०	७५६
उच्च गोत्र	५८०	७५६
नीच गोत्र	५८०	७५६
अन्तरायकी उत्तरप्रकृतियाँ	५८०	७५६
भोग और उपभोगमें भेद	५८१	७५८
ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति	५८१	७५६
एकेन्द्रियादिके ज्ञानावरणादिकी उत्कृष्ट स्थिति	५८१	७५६
मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति	५८२	७५६
एकेन्द्रियादिके मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति	५८२	७५७
नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति	५८२	७५७
एकेन्द्रियादिकी उत्कृष्ट स्थिति	५८२	७५७
आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति	५८२	७५७
एकेन्द्रियादिके आयुकी उत्कृष्ट स्थिति	५८२	७५७
वेदनीयकी जघन्य स्थिति	५८३	७५७
नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति	५८३	७५७
शेष कर्मोंकी जघन्य स्थिति	५८३	७५७
अनुभागबन्धका लक्षण	५८३	७५७
कर्मोंके नामके अनुसार अनुभाग बन्ध होता है	५८३	७५८
फल देनेके बाद कर्मोंकी निर्जरा होती है	५८३	७५८
दो प्रकारकी निर्जरा	५८४	७५८
कर्मकी घातिया प्रकृतियाँ	५८३	७५८
प्रदेशबन्धका स्वरूप	५८५	७५६
पुण्य प्रकृतियाँ	५८६	७५६
पाप प्रकृतियाँ	५८६	७५६

नवाँ अध्याय

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
संवरका लक्षण	५८६	७६०
संवरके दो भेद	५८७	७६०
मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	५८७	७६०
सासादन सम्यग्दृष्टि	५८७	७६०
मिथ्यादर्शनकी निवृत्तिपूर्वक सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका क्रम	५८७	७६०
सम्यङ्मिथ्यादृष्टि	५८६	७६१
अविरतसम्यग्दृष्टि	५८६	७६१
संयतासंयत	५८६	७६२
प्रमत्तसंयत	५६०	७६२
अप्रमत्तसंयत	५६०	७६२
अपूर्वकरण	५६०	७६२
अनिवृत्तिकरण	५६०	७६२
सूक्ष्मसाम्पराय	५६०	७६२
उपशान्तकषाय	५६०	७६२
क्षीणकषाय	५६०	७६२
सयोगकेवली	५६०	७६२
अयोग केवली	५६०	७६२
मिथ्यात्वादिनिमित्तक प्रकृतियोंका उन उनके अभावमें संवर	५६०	७६२
गुप्ति समिति आदि संवरके कारण	५६१	७६३
गुप्ति	५६१	७६३
समिति	५६१	७६३
धर्म	५६१	७६३
अनुप्रेक्षा	५६१	७६३
परीषहजय	५६२	७६३
चारित्र	५६२	७६३
तपसे निर्जरा भी होती है	५६२	७६४
तप अभ्युदयका हेतु होकर भी मुख्यतया निर्जराका हेतु है	५६३	७६४
मुक्तिका लक्षण	५६३	७६४
ईर्या भाषा आदि समितियाँ	५६३	७६५
ईर्यासमिति	५६४	७६५
चौदह जीवस्थान	५६४	७६५
भाषा-समिति	५६४	७६५
एषणा-समिति	५६४	७६५
आदाननिक्षेपण-समिति	५६४	७६५
उत्सर्ग-समिति	५६४	७६५
पात्रग्रहणकी अनुपयोगिता	५६४	७६५
उत्तमक्षमा आदि दस धर्म	५६५	७६६
धर्मका प्रयोजन	५६५	७६६
क्षमा	५६५	७६६

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
मार्दव	५६५	७६६
आर्जव	५६५	७६६
शौच	५६५	७६६
गुप्ति और शौचमें भेद	५६५	७६६
चार प्रकारका लोभ	५६६	७६६
सत्यधर्म	५६६	७६६
भाषा-समिति और सत्यमें भेद	५६६	७६६
संयम	५६६	७६७
उपेक्षासंयम	५६६	७६७
अपहृतसंयमके तीन भेद	५६६	७६७
अपहृतसंयमके लिए आठ शुद्धियाँ	५६७	७६७
भावशुद्धि	५६७	७६७
कायशुद्धि	५६७	७६७
विनयशुद्धि	५६७	७६७
ईर्यापथशुद्धि	५६७	७६७
भिक्षाशुद्धि	५६७	७६७
गवेषणा गोचर अक्षम्रक्षण भ्रमराहार स्वभ्रपूरण आदिरूप भिक्षाएँ	५६७	७६७
प्रतिष्ठापनशुद्धि	५६७	७६७
शयनासनशुद्धि	५६७	७६७
वाक्यशुद्धि	५६८	७६७
तप	५६८	७६७
त्याग	५६८	७६७
आकिञ्चन्य	५६८	७५७
ब्रह्मचर्य	५६८	७६८
ऐर्यापथिक आदि सात प्रतिक्रमण	५६८	७८६
क्षमा आदि धर्मोंमें गुणकी भावना तथा प्रतिपक्षी क्रोध, मान आदिमें दोषकी भावना	५६६	७६६
अनित्य अशरण आदि अनुप्रेक्षाएँ	६००	७७०
अनित्य भावना	६००	७७०
अशरणभावना	६००	७७०
दो शरण-लौकिक लोकोत्तर	६००	७७०
प्रत्येकके तीन प्रकार	६००	७७०
संसार भावना	६००	७७०
संसार असंसार नोसंसार और तत्त्रितयव्यपाय	६००	७७०
द्रव्यक्षेत्रादिनिमित्तक संसार	६०१	७७१
एकत्वानुप्रेक्षा	६०१	७७१
अन्यत्वभावना	६०१	७७१
अशुचित्वभावना	६०२	७७१
शुचित्वके दो प्रकार—लौकिक लोकोत्तर	६०२	७७१
लौकिक शुचित्वके आठ प्रकार	६०२	७७१
आस्रव संवर निर्जरा गुणदोष विचार	६०२	७७१
दो निर्जराएँ—कुशलमूल और अबुद्धिपूर्वक	६०३	७७२
लोकभावना	६०३	७७२
बोधिदुर्लभ भावना	६०३	७७२
धर्मस्वाख्यातत्वभावना	६०३	७७२
चौदह मार्गणाएँ	६०३	७७३
मार्गणाओंमें जीवस्थान	६०४	७७४
मार्गणाओंमें गुणस्थान	६०५	७७५
परीषह सहनेका प्रयोजन	६०७	७७७
बाईस परीषह	६०८	७७७
क्षुधा परीषह जय	६०८	७७७
पिपासाजय	६०८	७७७
शीतजय	६०६	७७७
उष्णजय	६०६	७७७
दंशमशकजय	६०६	७७७
नाग्न्यजय	६०६	७७८
अरतिजय	६०६	७७८
स्त्रीपरीषहजय	६१०	७७८
चर्याविजय	६१०	७७८
निषद्याजय	६१०	७७८
शय्याजय	६१०	७७६
आक्रोशजय	६१०	७८०
वधजय	६११	७८०
याचना विजय	६११	७८०
अलाभविजय	६११	७८०
रोगविजय	६११	७८०
तृणस्पर्श विजय	६११	७८०
मलविजय	६११	७८१
केशलुंचनका मल-परीषहमें अन्तर्भाव	६१२	७८१
सत्कारपुरस्कारविजय	६१२	७८१
प्रज्ञा विजय	६१२	७८१
अज्ञान विजय	६१२	७८१

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
अदर्शनविजय	६१२	७८१
अवधिदर्शन आदि परिषहोंका अज्ञानमें अन्तर्भाव	६१२	७८२
सूक्ष्मसाम्पराय उपशान्तमोह और क्षीणकषायमें १४ परीषह	६१३	७८२
जिनेन्द्रमें ग्यारह परीषह कोई मानते हैं	६१३	७८२
केवलीमें घातिया कर्मोंका उदय न होनेसे क्षुधादि परीषहें नहीं	६१३	७८२
उपचारसे ये परीषहें	६१४	७८२
नवम गुणस्थान तक सभी परीषहें	६१४	७८२
सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि संयममें सभी परीषहें	६१४	७८२
ज्ञानावरणके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान	६१४	७८२
प्रज्ञापरीषह अन्य ज्ञानावरणके सद्भावसे होती है	६१४	७८२
दर्शनमोह और अन्तरायके उदयसे अदर्शन और अलाभ	६१४	७८२
चारित्रमोहसे नाग्न्य अरति आदि परीषहें	६१५	७८२
शेष परीषहें वेदनीयके उदयमें होती हैं	६१५	७८२
एक व्यक्तिमें एक साथ १९ परीषह तक संभव है	६१५	७८३
शीत और उष्णमें से एक, शय्या निषद्या और चर्चामें से एक	६१५	७८३
प्रज्ञा और अज्ञान दोनों साथ हो हो सकती हैं	६१५	७८३
चारित्रके एक दो तीन चार भेद	६१६	७८४
सामायिक आदि पाँच भेद	६१६	७८४
सामायिकका शब्दार्थ	६१६	७८४
छेदोपस्थापनाका लक्षण	६१७	७८४
परिहारविशुद्धिका लक्षण	६१७	७८४
सूक्ष्मसाम्परायका लक्षण	६१७	७८४
अथाख्यात या यथाख्यातचारित्र	६१७	७८४
चारित्र शब्द और बुद्धि विकल्पकी दृष्टिसे असंख्येय और अर्थतः अनन्त प्रकारका है	६१८	७८४

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
अनशन आदि ६ बाह्यतप	६१८	७८४
अनशनका प्रयोजन	६१८	७८४
दो प्रकारका अनशन	६१८	७८४
अवमोदर्य	६१८	७८४
वृत्तिपरिसंख्यान	६१८	७८४
रसपरित्याग	६१८	७८५
विविक्त शय्यासन	६१९	७८५
कायक्लेश	६१९	७८५
परीषह और कायक्लेशमें भेद	६१९	७८५
तपके बाह्य विशेषणके कारण	६१९	७८५
प्रायश्चित्त आदि ६ अन्तरंग तप	६२०	७८५
प्रायश्चित्त आदिके भेद	६२०	७८६
आलोचना आदि प्रायश्चित्तके ९ भेद	६२०	७८६
प्रायश्चित्तका प्रयोजन	६२०	७८६
आलोचना	६२०	७८६
आलोचनाके दस दोष	६२१	७८७
संयतालोचना और संयतिकालोचना की विधि	६२१	७८७
प्रतिक्रमणका लक्षण	६२१	७८७
तदुभयका स्वरूप	६२१	७८७
विवेकका स्वरूप	६२१	७८७
व्युत्सर्गका स्वरूप	६२१	७८७
तपका स्वरूप	६२१	७८७
छेदका स्वरूप	६२१	७८७
परिहारका स्वरूप	६२१	७८७
उपस्थापनाका स्वरूप	६११	७८७
विभिन्न अपराधोंके प्रायश्चित्तोंका विधान	६२१	७८८
पारञ्चिक प्रायश्चित्त	६२२	७८८
ज्ञान दर्शन चारित्र और उपचार विनय	६२२	७८८
ज्ञानविनय	६२२	७८८
दर्शन विनय	६२२	७८८
चारित्र विनय	६२२	७८८
उपचार विनय	६२२	७८८
आचार्यादिकी वैयावृत्य	६२३	७८८
वैयावृत्यका स्वरूप	६२३	७८८
आचार्यका स्वरूप	६२३	७८८

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
उपाध्यायका स्वरूप	६२३	७८८
तपस्वीका स्वरूप	६२३	७८८
शैक्ष्यका स्वरूप	६२३	७८८
ग्लानका स्वरूप	६२३	७८८
गणका स्वरूप	६२३	७८८
कुलका स्वरूप	६२३	७८८
संघ—चतुर्वर्णश्रमणसमूह	६२३	७८८
साधु	६२३	७८८
मनोज्ञ	६२३	७८८
असंयत सम्यग्दृष्टि भी मनोज्ञ	६२४	७८८
वैयावृत्त्यका प्रयोजन	६२४	७८९
स्वाध्यायके भेद	६२४	७८९
वाचना	६२४	७८९
पृच्छना	६२४	७८९
अनुप्रेक्षा	६२४	७८९
आम्नाय	६२४	७८९
धर्मोपदेश	६२४	७८९
स्वाध्यायका प्रयोजन	६२४	७८९
व्युत्सर्गके भेद	६२४	७८९
बाह्योपधि व्युत्सर्ग	६२४	७८९
आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग	६२४	७८९
व्युत्सर्गका अपरिग्रह महाव्रत त्यागधर्म और प्रायश्चित्तान्तर्गत व्युत्सर्गसे भेद	६२५	७८९
व्युत्सर्गका प्रजोजन	६२५	७८९
ध्यानका स्वरूप	६२५	७९०
चिन्तानिरोध ध्यानका स्वभाव	६२६	७९०
निरोध अभाव नहीं	६२६	७९०
श्वासोच्छ्वासका निरोध ध्यान नहीं	६२७	७९१
समयकी संख्या गिनना ध्यान नहीं	६२७	७९१
चार प्रकारके ध्यान	६२७	७९१
आर्तध्यान	६२७	७९१
रौद्रध्यान	६२७	७९१
धर्म्यध्यान	६२७	७९१
शुक्लध्यान	६२७	७९१
धर्म्य और शुक्लध्यान मोक्षके कारण	६२८	७९१
अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान	६२८	७९१
इष्टवियोगज आर्तध्यान	६२८	७९१
वेदनानिमित्त आर्तध्यान	६२८	७९०

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
निदानरूप आर्तध्यान	६२८	७९१
आर्तध्यान प्रमत्तसंयत तक	६२९	७९२
निदानको छोड़कर शेष तीन आर्तध्यान प्रमत्त संयतके	६२९	७९२
रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके	६२९	७९२
धर्म्यध्यान	६३०	७९२
आज्ञाविचय	६३०	७९२
अपायविचय	६३०	७९२
विपाकविचय	६३०	७९३
गुणस्थानोंमें उदय विचार	६३०	७९३
गुणस्थानोंमें उदीरणाविचार	६३१	७९३
संस्थानविचय	६३२	७९४
अनुप्रेक्षा और ध्यानमें भेद	६३२	७९४
आदिके दो शुक्लध्यान पूर्ववेदोंके	६३२	७९४
अन्तिम दो शुक्लध्यान केवलियोंके	६३३	७९५
चार प्रकारके शुक्लध्यान	६३३	७९५
योगकी दृष्टिसे शुक्लध्यानोंके स्वामी	६३३	७९५
आदिके दो शुक्लध्यानपूर्व श्रुतज्ञानके होते हैं और सवितर्कवीचार हैं	६३३	७९५
द्वितीय श्रुतज्ञान अवीचार	६३४	७९५
वितर्कका लक्षण	६३४	७९५
वीचारका लक्षण	६३४	७९५
पृथक्त्व वितर्क वीचार	६३४	७९६
एकत्व वितर्क	६३४	७९६
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति	६३५	७९६
समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति	६३५	७९६
सम्यग्दृष्टि आदिके गुणश्रेणि-निर्जराका क्रम	६३५	७९६
सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका क्रम	६३५	७९७
वेदक सम्यग्दृष्टि	६३६	७९७
क्षायिक सम्यग्दृष्टि	६३६	७९७
पुलाक आदि पाँच निर्ग्रन्थ	६३६	७९७
पुलाक	६३६	७९७
वकुश	६३७	७९७
दो कुशील	६३६	७९७
निर्ग्रन्थ	६३६	७९७
स्नातक	६३६	७९७
पुलाक आदि में संयमश्रुत आदिकी दृष्टिसे भेद	६३७	७९८

	मूल पृ०	हिन्दी पृ०
पुलाकादिमें संयम	६३७	७९८
पुलाकादिमें श्रुत	६३८	७९८
पुलाकादिमें प्रतिसेवना	६३८	७९८
पुलाकादिका तीर्थ	६३८	७९९
पुलाकादिकादिका लिङ्ग	६३८	७९९
पुलाकादिकी लेश्या	६३८	७९९
पुलाकादिका उपपाद	६३८	७९९
पुलाकादिके संयम स्थान	६३८	७९९

दसवाँ अध्याय

केवलज्ञानकी उत्पत्तिके कारण	६३९	८००
मोहादिके क्षयका क्रम और साधन तीन करण	६४०	८००
मोक्षके कारण	६४०	८०१
आदि न होनेपर भी संसारका अन्त	६४१	८०१
कर्माभाव दो प्रकारसे	६४१	८०१
यत्नसाध्य कर्माभावका क्रम	६४१	८०१
औपशमिक आदि भावोंका नाश	६४२	८०२
भव्यत्व पारिणामिकका ही नाश	६४२	८०१
केवलज्ञान सम्यक्त्व केवल दर्शन और सिद्धत्वकी निवृत्ति नहीं	६४२	८०२
मुक्त जीवको पुनः बन्ध नहीं	६४३	८०२
सिद्धों का नीचे गिरना नहीं	६४३	८०२
सिद्धोंका परस्पर अवगाह	६४३	८०२
सिद्धोंके सुखकी उपमा नहीं	६४३	८०२
सिद्ध अन्तिम शरीरके आकर	६४३	८०३
नाम कर्मका अभाव हो जानेसे प्रदेशों का विसर्पण नहीं	६४३	८०३
मोक्ष अभावात्मक नहीं	६४४	८०३
कर्मबन्धविच्छेद होनेपर ऊर्ध्वगति	६४४	८०३
ऊर्ध्वगमनके हेतु	६४५	८०३
ऊर्ध्वगमनके दृष्टान्त	६४५	८०३
कुलालचक्रका दृष्टान्त	६४५	८०४
अलाबूका दृष्टान्त	६४५	८०४
एरण्डबीजका दृष्टान्त	६४५	८०४
अग्निशिखाका दृष्टान्त	६४५	८०४
असङ्गत्व और बन्धच्छेदका भेद	६४५	८०४
लोकके बाहर गमन न करनेका कारण धर्मास्तिकायका अभाव	६४६	८०४
सिद्धोंमें क्षेत्रादिकी दृष्टिसे भेद	६४६	८०४
क्षेत्र	६४५	८०४
काल	६४६	८०४
गति	६४६	८०८
लिङ्ग	६४६	८०५
तीर्थ	६४६	८०५
चारित्र	६४६	८०५
प्रत्येकबुद्ध और बोधितबुद्ध	६४६	८०५
ज्ञान	५४६	८०५
अवगाहना	६४६	८०५
अन्तर	६४६	८०५
अल्पबहुत्व	६४८	८०५
गति आदिकी दृष्टिसे सम्यक्त्वोत्पत्तिसे मोक्षतकका क्रम	६४९	८०६
तत्त्वार्थभावनाका क्रम	५४९	८०६
मुक्तका सुख अनन्त	६५०	८०८

परिशिष्ट

तत्त्वार्थसूत्र के पाठभेद	८०९	तत्त्वार्थवार्तिक में उल्लिखित भौगोलिक शब्द	८३७
तत्त्वार्थ के सूत्रों का अकारादि कोश	८१९		
तत्त्वार्थ के शब्दों का अकारादि क्रम	८२४	तत्त्वार्थवार्तिक में आये विशिष्ट शब्द	८४२
तत्त्वार्थवार्तिक में आये उद्धरण	८३३	मूल और टिप्पणियों में उल्लिखित ग्रन्थों का संकेत	८६५
तत्त्वार्थवार्तिक में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार	८३६		

—०—

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितं

त त्त्वा र्थ वा र्ति क म्

पञ्चमोऽध्यायः

इदानीं सम्यग्दर्शनस्य विषयभावेनोपक्षिप्तेषु जीवादिषु अजीवपदार्थो विचारप्राप्तः, तस्य भेदसंज्ञासंकीर्तनार्थमिदमुच्यते तत्पूर्वकत्वादितरस्येति—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

अजीवकाया इति समानाधिकरणा वृत्तिः । १ । अजीवाश्च ते कायाश्च ते अजीवकाया इति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिरियं वेदितव्या । कथं वृत्तिः ? "विशेषणं विशेष्येण" [जैनेन्द्र० १।३।१२] इति सति व्यभिचारे नीलोत्पलादिषु वृत्तिः ? इहाप्यस्ति व्यभिचारः, कायशब्दस्य जीवेष्वपि वृत्तेः, अजीवशब्दस्यापि काले । भिन्नाधिकरणवृत्तौ को दोषः ?

भिन्नाधिकरणत्वे हि अर्थान्तरभावप्रसङ्गः । २ । यथा राज्ञः पुरुषः राजपुरुष इति अर्थान्तरभावे भिन्नाधिकरणत्वं भवति, तथा अजीवानां कायः अजीवकायः इति भिन्नाधिकरणत्वे गृह्यमाणेऽर्थान्तरभावः प्रसज्येत ।

दृष्टत्वात् सुवर्णाङ्गुलीयकवदिति चेत् ; न; तत्रान्यविशेषनिवृत्त्यर्थत्वात् । ३ । स्यान्मतम्–भिन्नाधिकरणत्वेऽपि नार्थान्तरभावः । कुतः ? दृष्टत्वात् । कथम् ? सुवर्णाङ्गुलीयकवत् । यथा सुवर्णस्य अङ्गुलीयकं सुवर्णाङ्गुलीयकमिति भिन्नाधिकरणत्वेऽपि नार्थभेदः, तथा इहापि न दोष इति । तन्न; किं कारणम् ? तत्रान्यविशेषनिवृत्त्यर्थत्वात् । तत्र हि सुवर्णशब्दप्रयोगः रूप्यादेः प्रमाणान्तरस्य च निवृत्त्यर्थम्, सुवर्णस्येदमङ्गुलीयकं न रूप्यादेर्न माषादेर्वेति, न तथेह अजीवस्य काया अजीवकाया इति विशेषणेन कदाचिदर्थान्तरनिवृत्तिरस्ति ।

---

१ अतः पृष्ठद्वयस्य प्राचीनटिप्पणी पाठान्तरं च प्रभ्रष्टम्–सम्पा० ।

अस्तु वाऽविरोधात्। ४। अथवा अस्तु भिन्नाधिकरणा वृत्तिः। कुतः? अविरोधात्। यस्माज्जीवोऽपि कायः पञ्चास्तिकायोपदेशात् अतस्तन्निवृत्त्यर्थोऽन्नाजीवशब्दप्रयोगः। अजीवस्य कायो न जीवस्येति। किञ्च,

कथञ्चिद्भेदोपपत्तेः। ५। केनचित्प्रकारेण संज्ञालक्षणप्रयोजनादिना भेद उपपद्यते। यथा सुवर्णस्याङ्गुलीयकमित्यत्र सुवर्णं सामान्यं तद्विशेषोऽङ्गुलीयकं तयोः सामान्यविशेषयोः संज्ञालक्षणादिभिः कथञ्चिन्नानात्वम्। यदि सर्वथैकत्वं स्यात्; सुवर्णसामान्यस्याङ्गुलीयकवत् कुण्डलादिषु वृत्तिर्न स्यात्। सुवर्णसामान्यवद्वा अङ्गुलीयकत्वस्य कुण्डलादिषु वृत्तिः स्यात्। त एवाऽन्यनिवृत्त्यर्थः प्रयोगो युक्तः, सुवर्णस्येदमङ्गुलीयकं न रूप्यादेरिति। यदि सर्वथैकत्वं स्यात्; व्यपदेश एव न स्यात्। तथा अजीवानां काया इत्यत्रापि कायशब्दः प्रदेशवाची। प्रदेशाश्च धर्मादीनां वक्ष्यन्ते। ते च तेभ्यः संज्ञालक्षणादिभिः कथञ्चिद्भिन्नाः। अन्यथा ऐकान्तिकैकत्वे धर्मादीनामेकत्ववत् प्रदेशानामप्येकत्वं स्यात्, प्रदेशानां बहुत्ववत् धर्मादीनां बहुत्वं प्रसज्येत। तत एव अन्यनिवृत्त्यर्थः प्रयोगो युक्तः अजीवानां काया न जीवस्येति। यदि सर्वथैकत्वं स्यात्; व्यपदेश एव न स्यात्। ततो भेदोपपत्तेः युक्ता भिन्नाधिकरणा वृत्तिः। ननु चाभेदेऽपि लोके व्यपदेशो दृष्टः यथा शिलापुत्रकस्य शरीरं राहोः शिर इति। न हि शिलापुत्रकादन्यच्छरीरमस्ति, नापि राहोरन्यच्छिरः, शिरोमात्रत्वादिति। तत्राप्यस्ति भेदः। कुतः? शक्तितः। योऽनेकक्रियानिष्पादनशक्तिभेदेन भिन्नरूपः शिलापुत्रकः तस्येदं शरीरं एकक्रियाविषयमिति शब्दप्रकल्पिताद् बुद्धिभेदाद्वा कथञ्चित्पृथक्त्वमध्यवसेयम्। अतश्चैतदेवं तदन्यनिवृत्त्यर्थं विशेषणम् उपादीयते–शिलापुत्रकस्येदं शरीरं न मनुष्यादेः, राहोरिदं शिरः नान्यस्य इति। ऐकान्तिकैकत्वे हि अन्यनिवृत्तिर्न स्यात् यथा सुवर्णस्य सुवर्णं घटस्य घट इति।

अजीव इत्यभावमात्रप्रसङ्ग इति चेत्; न; भावान्तरप्रतिपत्तेरनञ्ववत्। ६। स्यान्मतम्–न जीवोऽजीव इत्युक्तेऽभावमात्रं प्रसज्येत यथा न भावः अभाव इति; तन्न; किं कारणम्? भावान्तरप्रतिपत्तेः। कथम्? अनञ्ववत्। यथा नायमञ्वः अनञ्व इत्युक्ते नाभावसंप्रत्ययः किन्तु "नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः [पात० महा० ३।१।१२] इति, अन्यस्मिन् भाव एव तुल्योदरैकशफादिलक्षणे गर्दभे संप्रत्ययो भवति। एवमिहापि नायं जीव इति प्रतिषेधात् नाभावे संप्रत्ययः, किन्तु अन्यस्मिन् भाव एव अनुपयोगलक्षणे धर्मादौ प्रतिपत्तिर्भवति। सादृश्याभावात् अप्रतिपतिरिति चेत्; न; सत्त्वद्रव्यत्वादिभिः सादृश्योपपत्तेः। यच्चोक्तम्–यथा 'न भावः अभावः' इत्युक्ते अभावमात्रसंप्रत्यय इति; तदप्ययुक्तम्; सत एव पररूपत्वादिभिः अभावशब्दगोचरत्वोपपत्तेः।

अभ्यन्तरीकृतेवार्थः कायशब्दः। ७। इवार्थमभ्यन्तरीकृत्य अत्र कायशब्दः प्रयुक्तः काया इव काया इति। क उपमार्थः? यथौदारिकादिशरीरनामकर्मोदयवशात् पुद्गलैश्चीयन्ते कायाः तथा धर्मादीनामनादिपारिणामिकप्रदेशचयनात् कायत्वम्।

तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थम्। ८। तस्य कायशब्दस्य ग्रहणं क्रियते। किमर्थम्? प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थम्। मुख्यरूपेणाऽविद्यमानत्वेऽपि श्रोतॄणां सुखावबोधार्थं प्रज्ञया द्रव्यपरमाण्ववगाहमात्रत्वेन प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः, प्रदेशा एवावयवाः प्रदेशावयवाः तेषां बहुत्वस्य ज्ञापनार्थम्।

न, असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानामिति शास्त्रप्रवृत्तेः। ९। न तत्प्रयोजनम् उपपद्यते। कुतः? अन्यत एव तत्सिद्धेः। वक्ष्यते हि–"असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्" [त० सू० ५।८] इति। अत एवैषां प्रदेशबहुत्वं सिद्धं नार्थः कायग्रहणेन।

[1]प्रदेशसंख्यावधारणार्थमिति चेत्; न; अतोऽप्यनिश्चयात्। १०। स्यादेतत् "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् [त० सू० ५।८] इत्यनेन न प्रदेशसंख्यावधारणं क्रियते। कुतः? त्रयाणां संभूय प्रदेशासंख्येयत्वप्रतिपत्तेः। ततः एकैकस्याऽसंख्येयप्रदेशख्यापनार्थं कायग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्? अतोऽप्यनिश्चयात्। कायग्रहणादपि नास्ति निश्चयः, प्रदेशप्रचयमात्रप्रतिपत्तेः। कुतस्तर्हि तन्निश्चयः[2]? ५

"लोकाकाशेऽवगाहः" [त० सू० ५।१२] इत्यादि वचनात् तन्निश्चयः। ११। यदयं "लोकाकाशेऽवगाहः" इत्युक्त्वा "धर्माधर्मयोः कृत्स्ने" [त० सू० ५।१३] इत्यादि वक्ष्यते, तेन तस्य प्रदेशपरिमाणस्य निश्चयो भवति।

[3]अप्रदेशैकद्रव्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात्। १२। स्यादेतत्–कायग्रहणादृते अप्रदेशैकद्रव्यता प्राप्नोति, अतस्तन्निवृत्त्यर्थं कायग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्–'असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् इति वक्ष्यते' इति। १०

आर्षानुवादार्थमिति चेत्; न; तदवस्थत्वात्। १३। स्यादेतत्–आर्षमेवं प्रवृत्तम् "पञ्चास्तिकायाः" [ ] इति। अतः तदनुवादार्थं कायग्रहणमिति; तच्च न, कस्मात्? तदवस्थत्वात् 'असंख्येयाः प्रदेशाः' इत्यनेनैव आर्षानुवादस्य कृतत्वात्।

// स्वभावापरित्यागार्थमिति चेत्; न; नित्यावस्थितवचनात् सिद्धेः। १४। स्यान्मतं कायस्वभावापरित्यागार्थं कायग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्? नित्यावस्थितवचनात् सिद्धेः वक्ष्यते हि "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" [त० सू० ५।४] इति, तत एव स्वभावापरित्यागः सिद्धः। [4][5]तर्हि कायग्रहणं न कर्तव्यम्? [6]कर्तव्यं च। किं प्रयोजनम्? १५

तस्मिन्द्रावसंख्येयप्रदेशावधारणसिद्धेः। १५। तस्य कायशब्दस्य पञ्चस्वपि अस्तिकायेषु प्रदेशावयवबहुत्वार्थस्य सिद्धौ सत्याम् उत्तरवचनमवधारणार्थं युज्यते-असंख्येयाः प्रदेशाः न संख्येयाः नाप्यनन्ताः इति, विधिपूर्वकत्वादवधारणस्य। २०

अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च। १६। अद्धाशब्दो निपातः कालवाची, स वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह कायग्रहणं क्रियते। यथाऽणोः प्रदेशमात्रत्वात् द्वितीयादयोऽस्य प्रदेशा न सन्तीत्यप्रदेशोऽणुः, तथा कालपरमाणुरपि एकप्रदेशत्वादप्रदेश इति।

धर्मादयः संज्ञाः सामा (म) यिकयः। १७। धर्मादयः संज्ञाः सामा (म) यिको द्रष्टव्याः। आर्हते हि प्रवचनेऽनादिनिधने अर्हदादिभिः यथाकालमभिव्यक्तज्ञानदर्शनातिशयप्रकाशैरवद्योतितार्थसारे रूढा एताः संज्ञा ज्ञेयाः। २५

क्रियानिमित्ता वा। १८। अथवा क्रियानिमित्ता एताः संज्ञाः वेदितव्याः। कथमिति चेत्? उच्यते–

स्वयं क्रियापरिणामिनां [7]साचिव्यधानाद्धर्मः। १९। स्वयं क्रियापरिणामिनां जीवपुद्गलानां यस्मात्साचिव्यं दधाति तस्माद्धर्म इत्याख्यायते। ३०

तद्विपरीतोऽधर्मः। २०। तस्य विपरीतलक्षणः अधर्म इत्याम्नायते।

---

१ कश्चित्तटस्थः प्रत्यवतिष्ठते तमपि प्रतिवदति परः। २ इति परं पृच्छति तटस्थः। ३ अथ तटस्थमुल्लिख्य आह परः। ४ तर्हि श्र०। ५ अथ शृण्वन्नियन्तं कालमाचार्यः प्राह कर्त्तव्यमित्यादिना। ६ व्यावधाना– मु०, द०।

आकाशन्तेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं चाकाशत इत्याकाशम् । २१ । जीवादीनि द्रव्याणि स्वै· स्वैः पर्यायैः अव्यतिरेकेण यस्मिन्नाकाशन्ते' प्रकाशन्ते तदाकाशम्, स्वयं चाऽऽत्मीयपर्यायमर्यादया आकाशत इत्याकाशम् ।

अवकाशदानाद्वा । २२ । अथवा इतरेषां द्रव्याणाम् अवकाशदानादाकाशमिति पृषोदरादिषु निपातितः शब्दः ।

अलोकाकाशस्यावकाशदानाभावात्तदभाव इति चेत् ; न; तत्सामर्थ्याऽविरहात् । २३ । स्यान्मतम्–यद्यवकाशदानादाकाशमित्युच्यते अलोकाकाशे जीवाद्यवकाशदानाभावात् आकाशव्यपदेशो नोपपद्यते इति; तन्न, किं कारणम् ? तत्सामर्थ्याऽविरहात् । यथैष्यत्कालस्यातिदूरस्यापि वर्तमानप्राप्त्यर्हत्वात् तत्प्राप्त्यभावेऽपि भविष्यद्व्यपदेशो भवति, एवमलोकाकाशस्यावगाहिद्रव्याभावेऽपि अवगाहनशक्तिरविरुद्धा इत्यवकाशदानात् आकाशत्वं युज्यते । अथवा, क्रियानिमित्तत्वेऽपि रूढिविशेषबललाभात् गोशब्दवत् तदभावेऽपि प्रवर्तते ।

पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः । २४ । यथा भासं करोति भास्कर इति भासनार्थमन्तर्नीय भास्करसंज्ञाऽन्वर्था प्रवर्तते तथा भेदात् संघातात् भेदसंघाताभ्यां च पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिकां क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः पृषोदरादिषु निपातितः, यथा शवशायनं श्मशानमिति ।

परमाणुषु तदभावात् पुद्गलत्वाभाव इति चेत् ; न; गुणापेक्षया तत्सिद्धेः ।२५। स्यान्मतम्–अणूनां निरवयवत्वात् पूरणगलनक्रियाभावात् पुद्गलव्यपदेशाभावप्रसङ्ग इति; तन्न ; किं कारणम् ? गुणापेक्षया तत्सिद्धेः । रूपरसगन्धस्पर्शयुक्ता हि परमाणवः एकगुणरूपादिपरिणताः द्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणत्वेन वर्धन्ते, तथैव हानिमपि उपयान्तीति गुणापेक्षया पूरणगलनक्रियोपपत्तेः परमाणुष्वपि पुद्गलत्वमविरुद्धम् । अथवा गुण उपचार[2]कल्पनम् पूरणगलनयोः भावित्वात् भूतत्वाच्च शक्त्यपेक्षया परमाणुषु पुद्गलत्वोपचारः ।

पुञ्जिलानाद्वा । २६ । अथवा पुमांसो जीवाः, तैः शरीराहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्त इति पुद्गलाः । अण्वादिषु तदभावाद[3]पुद्गलत्वमिति चेत् ; उक्तोत्तरमेतत् ।

बहुवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम् । २७ । धर्माधर्माकाशपुद्गला इति बहुवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं द्रष्टव्यम् । किं पुनः स्वातन्त्र्यम् ? धर्मादयो गत्याद्युपग्रहान् प्रति वर्तमानाः स्वयमेव तथा परिणमन्ते न परप्रत्ययाधीना तेषां प्रवृत्तिः इत्येतदत्र विवक्षितं स्वातन्त्र्यम् । ननु च बाह्यद्रव्यादिनिमित्तवशात् परिणामिनां परिणाम उपलभ्यते, स च स्वातन्त्र्ये सति विरुध्यत इति; नैष दोषः ; बाह्यस्य [4]निमित्तमात्रत्वात् । न हि गत्यादिपरिणामिनो जीवपुद्गलाः गत्याद्युपग्रहे[5] धर्मादीनां प्रेरकाः । ननु [6]इतरेतरयोगलक्षणे द्वन्द्वे न्यायप्राप्तं बहुवचनं तेन कथं स्वातन्त्र्यं प्रतीयते ? [7]समाहारे समुदायप्रधाने एकवचनेन सिद्धे बहुवचनं ज्ञापकं स्वातन्त्र्यस्य । यथा "हृतः" [जैनेन्द्र० ३।१।६१] इत्यत्र एकवचनेन सिद्धे बहुवचनं ज्ञापकम्–अनुक्तस्यापि हृत उत्पत्तिर्यथा स्यात् इति, तेन सिद्धः अन्ते भवः अन्तिमः, यमेन प्रोक्तं याम्यं धर्मशास्त्रमित्यादि ।

प्रशस्ताभिधानाद्धर्मग्रहणमादौ । २८ । धर्मशब्दोऽयं लोके प्रशस्तार्थः ततोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते ।

१ विराजन्ते ।–न्ते तदा–श्र० । २–चारात् क–मु०, द०, ब० । ३–भावत्वाद–श्र० । ४ निमित्तत्वात् ब०, द० । निमित्तवशात् मु० । ५ उपकारे । ६ आविर्भूतावयवभेदः । ७ तिरोहितावयवभेदः ।

तदनन्तरमधर्मग्रहणं लोकव्यवस्थाहेतुत्वात् ।२६। तदनन्तरम् अधर्मग्रहणं क्रियते । कुतः ? लोकव्यवस्था हेतुत्वात् । पञ्चास्तिकायाः कालश्च लोकः, अवतिष्ठन्ते पदार्था अनया आकृत्येत्यवस्था, विविधा अवस्था व्यवस्था विविधसन्निवेशो वेत्रासनाद्याकार इत्यर्थः, लोकस्य व्यवस्था लोकव्यवस्था तस्या हेतुत्वात् लोकव्यवस्थाहेतुत्वात् । असति हि अधर्मास्तिकाये गतिमतां द्रव्याणां गतिविषयनियमाभावात् । विष्वग्भावे सति लोकव्यवस्था विशिष्टा न स्यात्, अतोऽस्य धर्मानन्तरं ग्रहणं न्याय्यम् ।

तत्प्रतिपक्षत्वाच्च ।३०। तस्य धर्मास्तिकायस्य प्रतिपक्षोऽधर्मास्तिकायः स्थितिकारणत्वात् । ततश्चानन्तरं ग्रहणं क्रियते ।

तत्परिच्छेद्यत्वात्तदनन्तरम् आकाशग्रहणम् ।३१। ताभ्यां धर्माधर्माभ्याम् आकाशं परिच्छिद्यते–यत्र धर्माधर्मौ तल्लोकाकाशम् इतरदलोकाकाशमिति । अतः तदनन्तरम् आकाशग्रहणं क्रियते ।

अमूर्तत्वसाधर्म्याच्च ।३२। यथा धर्माधर्मावमूर्तौ रूपादिविरहात् एवमाकाशमप्यमूर्तम्, अतश्चानन्तरमुक्तम् ।

तदवगाहित्वात् तत्समीपे पुद्गलवचनम् ।३३। तदाकाशमवगाह्य पुद्गला वर्तन्ते इति तत्समीपे तेषां वचनं क्रियते ।

आकाशग्रहणमादौ धर्मादीनामाधारत्वादिति चेत् ; न; लोकविनिवेशस्यानादित्वात् ।३४। स्यान्मतम्–धर्मादीनां पञ्चानामपि द्रव्याणामाकाशम् आधारः साधारणः, ततस्तस्य ग्रहणं सर्वेषामादौ न्याय्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? लोकविनिवेशस्यानादित्वात् । नाऽयं नियमोऽस्ति लोकविनिवेशे आकाशमाधारः इतराणि द्रव्याणि आधेयानि इति । किन्तु लोकविनिवेशक्रम एवायमनादिसिद्ध इति नाकाशमाधारः । आदिमतां हि कुण्डबदरादीनां दृष्ट आधाराधेयभावः ।

आर्षविरोध इति चेत् ; न; आदेशवचनात् ।३५। स्यादेतत्–यद्याधाराधेयभावो नेष्यते यदुक्तमार्षे[3]–"स्वप्रतिष्ठमाकाशम् आकाशप्रतिष्ठं तनुवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठं घनवातवलयं तत्प्रतिष्ठं घनोदधिवलयम्" [ ] इत्यादि, तद्विरोधः इति; तन्न; किं कारणम् ? आदेशवचनात् ? यदि एकान्तेनाधाराधेयभावो न स्यात् स्यादार्षविरोधः, यदा तु 'स्यादाधाराधेयभाव इति स्यान्नाधाराधेयभावः' इति आदेशवचनादिष्यते ततो नास्त्यार्षविरोधः । कथमिति चेत् ? उच्यते–आकाशादीनां द्रव्यार्थादेशात् स्यादाधाराधेयत्वाभावो यतः पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् प्रतिनियतानादिपारिणामिकद्रव्यार्थेनादिष्टानां[4] आकाशादीनां षण्णामाधाराधेयपर्यायाभावः । द्रव्यार्थिकगुणभावे च पर्यायार्थिकप्राधान्यात् षण्णामपि द्रव्याणाम् आदिमत्त्वोपपत्तेराधाराधेयभावो युज्यते । ततस्तदपेक्षया आधाराधेयभाव आर्षे प्रणीत इति नास्ति विरोधः । अथवा व्यवहारनयादेशात्[5] स्यादाधाराधेयता, यतोऽनादिपारिणामिकलोकविनिवेशेऽपि व्यवहार एवं प्रवृत्तः 'आकाशमाधारः अन्यानि द्रव्याणि आधेयानि' इति । एवम्भूतनयादेशात् स्यादनाधाराधेयता, यतोऽनादिपारिणामिकलोकविनिवेशस्यैवंभूतत्वात् 'स्वात्मप्रतिष्ठान्येव सर्वद्रव्याणि' इति । [6]ननु च व्यवहारनयापेक्षया आधाराधेयभावाभ्युपगमे अनवस्थाप्रसङ्गः–घनोदधिवलयस्य घनवातवलयमाधारः, घनवातवलयस्य तनुवातवलय[7]माधारः, तनुवातवलयस्य आका-

१ सप्तैकपञ्चाकृत्या । २ ग्रहणं श्र० । ३ तुलना–"घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठं घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठम् , तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठम् , आकाशमात्मप्रतिष्ठं तस्यैवाधाराधेयत्वात् ।" –स० सि० ३।१ । ४ उपदिष्टानाम् । ५ नयस्यादे–श्र०, ता० । ६ ननु व्य–मु०, द०, ब० । ७–लयं तनु–मु०, मू०, द०, ब०, ता० ।

शम्, आकाशस्याऽन्यत्, तस्यान्यत्, तस्याप्यन्यदिति; नैषः दोषः; आकाशस्य सर्वगतत्वात् अनन्तत्वाच्च। यदि हि सर्वगतमनन्तं च तस्य सर्वत्र सान्निध्यात् 'तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यत्' इति व्यवहाराभावात् अनवस्था नास्ति। परिशेषादसर्वगतस्यान्तवतो मूर्तिमतः सावयवस्यैन्द्रियकस्य स्यादनवस्था, तद्विपरीतलक्षणञ्चाकाशम्, अतो नास्त्यनवस्था। यदि सर्वगतत्वादिलक्षणस्यानवस्था दृष्टा सोच्यताम्, नैषोच्यते ततो विमुच्यतामनवस्थादोषकल्पना। तस्मान्निःप्रतिद्वन्द्वः[2] पूर्वोक्त एवास्तु क्रमहेतुः।

कालोपसंख्यानमिति चेत्; न; वक्ष्यमाणलक्षणत्वात् ।३६। स्यादेतत्–कालोऽपि कश्चिदजीवपदार्थोऽस्ति। अतश्चास्ति यद्भाष्ये बहुकृत्वः "षड्द्रव्याणि" [ ] इत्युक्तम्, अतोऽस्योपसंख्यानं कर्तव्यमिति? तन्न; किं कारणम्; वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्। वक्ष्यते हि तस्य लक्षणमुपरिष्टात्।

अत्राह "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" [त० सू० १।२९] इत्येवमादिषु द्रव्याण्युक्तानि कानि तानीति? अत्रोच्यते—

द्रव्याणि ॥२॥

स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैः द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानीति द्रव्याणि ।१। स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोः तौ स्वपरप्रत्ययौ। उत्पादश्च विगमश्चोत्पादविगमौ स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषां ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमाः। के पुनस्ते? पर्यायाः। द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्यः प्रत्ययः परः प्रत्ययः तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरम् आस्कन्दति इति। तत्समर्थः स्वश्च प्रत्ययः। तावुभौ संभूय भावानाम् उत्पादविगमयोः हेतू भवतः नान्यतरापाये कुशूलस्थमाष-पच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत्। एवमुभयहेतुकोत्पादविगमैः तैस्तैः स्वपर्यायैः द्रूयन्ते गम्यन्ते द्रवन्ति गच्छन्ति तान् पर्यायानिति द्रव्याणीति व्यपदिश्यन्ते। भेदनयवशात् कर्तृकर्मणोर्भेदं कृत्वा निर्देशः क्रियते स्वजात्यपरित्यागेनावस्थितिरन्वयैरुपलब्धस्वरूपाणां[3] मुहुर्मुहुरुत्पादाविगमवतां च भेदोपपत्तेः। यदा द्रव्याणां कर्मविवक्षा तदा न्यायप्राप्तः कर्मणि यः। यदा कर्तृविवक्षा तदा बहुलापेक्षया कर्तरि यः। अथवा उत्पादकविनश्वरनानापर्यायोत्पादविनाशाविच्छेदेऽपि सान्ततिकद्रव्यार्थादेशवशेन द्रवणात् गमनात् संप्रत्ययाद् द्रव्याणि। कुत एतत्? गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्।

[4]इवार्थे वा निपातितो द्रव्यशब्दः ।२। अथवा "द्रव्यं भव्ये" [जैनेन्द्र० ४।१।१५८] इत्यनेन निपातितो द्रव्यशब्दो वेदितव्यः। द्रु इव भवतीति द्रव्यम्। क उपमार्थः? द्रु इति दारु नाम यथा अग्रन्थि अजिह्मं[5] दारु तदुपकल्प्यमानं तेन तेन अभिलषितेनाकारेण आविर्भवति, तथा द्रव्यमपि आत्मपरिणामगमनसमर्थं पाषाणखननोदकवदविभक्तकर्तृकरणमुभयनिमित्तवशोपनीतात्मना तेन तेन पर्यायेण द्रु इव भवतीति द्रव्यमित्युपमीयते।

द्रव्यत्वादिति चेत्; न; तदभावात् ।३। स्यान्मतम्–यथा दण्डसम्बन्धात् दण्डीत्यभिधानं प्रत्ययश्च देवदत्ते भवति तथा द्रव्यत्वं नाम सामान्यविशेषोऽस्ति पृथिव्यादिषु द्रव्यं द्रव्यमिति प्रत्ययाभिधानानुप्रवृत्तिदर्शनात्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्त्युपलब्धेश्चानुमीयमानान्वयव्यतिरेकः तेन

१ यदि श्र०। २ पक्षः। ३ द्रव्याणाम्। णां तु मु–मु०। ४ पर्यायाणाम्। ५ द्रव्यार्थे मु०। ६ अचिह्नम् द०, ब०, मु०। अकुटिलम्–ता०, टि०।

योगाद् द्रव्यं न पर्यायद्रवणादिति; तन्न; किं कारणम्? तदभावात्। यथा दण्डसम्बन्धात् प्राक् देवदत्तो जात्यादिभिः सिद्धः। देवदत्तसंबन्धाच्च प्राग्दण्डो वृत्तत्वद्राघिमादिभिः प्रसिद्धः, ततस्तयोः संबन्धो युक्तः। न च तथा द्रव्यत्वयोगात् प्राक् द्रव्यमुपलभ्यते। यद्युपलभ्येत संबन्धकल्पनमनर्थकं स्यात्। द्रव्यत्वमपि द्रव्यसंबन्धात् प्राङ् नोपलब्धस्वरूपम्, अतः तयोरसतोर्न युक्तः संबन्धः। अस्तित्वे चाभ्युपगम्यमाने पृथगनुपलभ्यमानशक्तिकयोः संबन्धेऽपि न तच्छक्तिप्रादुर्भावोऽस्ति, यथा जात्यन्धयोः पृथग्दर्शनशक्तिविरहात्, न योगेऽपि रूपालोकनशक्तिसंभवः। तथा द्रव्यद्रव्यत्वयोरपि द्रव्यप्रत्ययाभिधानोपत्त्यसामर्थ्ये तत्संबन्धेऽपि न सामर्थ्यम्। तत्र द्रव्यं तावत् प्राक् द्रव्यत्वसमवायात् द्रव्यात्मनैव नात्मनि द्रव्यप्रत्ययाभिधानयोरुत्पादकम्। यदि स्यात्; द्रव्यत्वसंबन्धस्य वैयर्थ्यं स्यात्। तथा द्रव्यत्वमपि प्राग्द्रव्यसमवायात् द्रव्यत्वात्मन्येव न द्रव्यप्रत्ययाभिधाननिमित्तमस्ति। माभूद् द्रव्यत्वस्यं द्रव्येण समवायस्य वैयर्थ्यमिति अतस्तयोः पृथगनुपलभ्यमानसामर्थ्ययोः संबन्धेऽपि न तत्सामर्थ्यमस्ति इत्यवेमः न द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यमिति। ननु च द्रव्यत्वसंबन्धात् प्राक् द्रव्यव्यपदेशो नास्ति, अस्ति तु तत्, ततः सतो[2] द्रव्यत्वस्य युक्तः संबन्धः; नैषोऽस्ति परिहारः। कुतः? सतोऽसत्त्वात्। नहि तद्द्रव्यं स्वतोऽस्ति सत्तायोगादेव सत्स्यात्[3] स च नास्तीत्युक्तम्[4]। अथासतामपि संबन्धः स्यात् खरविषाणादीनामपि स्यात्। किञ्च, द्रव्यत्वं नाम सर्वगतः पदार्थः, स यदि अतदात्मकेन संबन्ध्यते गुणकर्मभिः, खरविषाणादिभिश्च संबन्ध्येत, न चेष्यते संबन्धः। अथ तदात्मकेनैव संबन्ध्यते द्रव्यत्वसंबन्धो व्यर्थः प्रागपि तदात्मकत्वात्, ततः स्वतो द्रव्यसिद्धिः।

आह–समवायिकारणत्वाद् द्रव्यत्वेन द्रव्यमेव सम्बध्यते न गुणकर्माणि नापि खरविषाणादीनि, द्रव्यत्वस्य हि द्रव्यमेव समवायिकारणमिष्टं नेतराणि इति। उच्यते–

न, स्वतोऽसिद्धत्वात्। यदि द्रव्यत्वादन्यद्द्रव्यं स्वतःसिद्धं स्यात् अतस्तत्समवायिकारणमिति व्यपदेशार्हं स्यात्, न च तत्स्वतःसिद्धं किञ्चिदस्ति, अतः स्वतोऽसिद्धत्वात् न तत्समवायिकारणम्। अथ तत्स्वतोऽसिद्धमपि समवायिकारणं खरविषाणादिषु को मत्सरः? अथाऽसत्त्वान्न समवायिकारणं तानि; नन्वसत्त्वाद् द्रव्यमपि द्रव्यत्वस्य न समवायिकारणम्।

किञ्च, अतस्तत्सिद्धेः। यत एव द्रव्यत्वस्य समवायिकारणं द्रव्यं न गुणकर्माणि[5] अतस्तद्द्रव्यत्वं द्रव्य एव समवैति न गुणकर्मादिषु इति विवक्षितम्, ननु अत एव द्रव्यात्मैव द्रव्यत्वम्, आभ्यन्तरोऽर्थो[6]ऽनादिपारिणामिकः द्रव्यापरित्यागी न द्रव्याद् बहिरन्यः सामान्यविशेषाख्यः इत्येतत्सिद्ध्यति।

आह–विशेषोपलब्धेर्द्रव्यमेव समवायिकारणं द्रव्यत्वस्य। को विशेषः? आश्रयभावः, यस्माद् द्रव्यमितेषां पदार्थानामाधारः उच्यते–न द्रव्यमाश्रयः स्वतोऽसिद्धत्वात्। लोके स्वतःसिद्धं आधेयानामाश्रयो भवति यथा घटो जलादीनां न तथा द्रव्यत्वात् पृथक् द्रव्यं स्वतःसिद्धमस्ति यदाधारो द्रव्यत्वस्येति व्यपदिश्येत।

किञ्च,

द्रव्याभिधानानुपपत्तिश्च ।४। यस्य वादिना द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यमित्यभिमतं तस्य द्रव्यमित्यभिधानं नोपपद्यते। कथमिति चेत्? उच्यते–इहाऽभेदेन वा व्यपदेशः स्यात्, भेदेन वा? यदि अभेदेन व्यपदेशः; यथा यष्टिसहचरितः पुरुषो यष्टिरित्युच्यते तथा द्रव्यत्वसहचरितं द्रव्यत्वमिति व्यपदिश्येत न द्रव्यमिति। अथ मतं द्रव्यत्वस्य द्रव्यत्वमित्यभिधानमस्ति द्रव्यमिति च, तेन द्रव्यत्वेन द्रव्यमित्यभिधीयमानेन योगाद् द्रव्यमिति; तदिदमसिद्धमसिद्धेन

१ सहजायमानस्य। २ द्रव्यत्वमात्रेणैव द्रव्यव्यपदेशमन्तरेण विद्यमानस्य। ३ इति चेत्। ४ प्रथमाध्याये। ५ गुणकर्मणी त०। ६ द्रव्यत्वम्।

साध्यते। द्रव्यत्वस्य द्रव्यमित्यभिधानं कुतः ? स्वत एवेति चेत् ; द्रव्ये कोऽपरितोषः ? अर्थान्तरादिति चेत्; तत्रापि स एव दोषः, द्रव्यत्वाभिधानप्रसङ्गश्च। कुतो ह्येतत्–उभयशब्दवाच्यत्वे द्रव्यत्वस्य तद्योगात् द्रव्ये द्रव्यमित्यभिधानं भवति न द्रव्यत्वमिति। अथ भेदेन व्यपदेशः; यथा यष्टिरस्यास्तीति यष्टिमानिति व्यदिश्यते, एवं द्रव्यत्वमस्यास्तीति द्रव्यत्ववद्द्रव्यमित्यभिधानं प्रसज्येत न द्रव्यमिति। अथ मतमेतत्–यथा शुक्लगुणयोगात् शुक्लः पटः इति मत्वर्थीयस्य निवृत्तिः, एवमिहापि मत्वर्थीयस्याभाव इति; विषम उपन्यासः[3]। युज्यते तत्र मत्वर्थीयस्याभावः गुणवचनेभ्यो निवृत्तेरन्वाख्यातत्वात्[4]। अनन्वाख्याने वा 'उभयवचनाः शुक्लादयः' इति व्याकरणाभ्युपगमात्। अयं तु द्रव्यत्वशब्दो न गुणवचनः[6] तेन अस्मान्मतोर्निवृत्तिर्दुरुपपादा। किञ्च, त्वंस्यापि निवृत्तिर्नान्वाख्याता ततो द्रव्यमित्यभिधानं नोपपद्यते।

द्रव्यत्वोत्पत्त्यभावश्चोभयथा दोषात्। ५। द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वमिति त्वस्य चोत्पत्तिर्न प्राप्नोति। कुतः ? उभयथा दोषात्। इदमिह संप्रधार्यम्–असौ भावः द्रव्यस्य आत्मभूतो वा स्यात्, अनात्मभूतो वा ? यद्यात्मभूतः; अनादिपारिणामिकद्रव्यस्य आत्मभवने त्वस्य विधानात्, नान्यद् द्रव्याद् द्रव्यत्वमिति संसर्गवादहानिः। अथ अर्थान्तरभूतः; द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वमिति विग्रहो नोपपद्यते, द्रव्यानात्मभूतत्वात् द्रव्यत्वस्य। न हि घटस्य भाव इति पटे वृत्तिरुपपद्यते।

किञ्च, द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वमिति यथा अन्यो भावः तथा द्रव्यत्वस्यान्यो भावः स्याद्वा, न वा ? यदि नास्ति; तस्य स्वभावाभावादभावः स्यात्। अथास्ति; तस्मिन्नभिधेये त्वत्तोत्पत्तेः द्रव्यत्वत्वमिति प्राप्नोति, तथा सति अनवस्था। अथ मतमेतत्–यथा अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति आविकमिति, तथा द्रव्यत्वस्य भाव इति विगृह्य द्रव्यशब्दादेव त्वोत्पत्तिर्भवतीति; नैतद्युक्तम्; अर्थान्तरविषयत्वात्। युज्यते अवेर्मांसमविकस्य मांसमिति केवलो विग्रहभेदो नार्थभेद इति एकेन विग्रहः अपरस्मादुत्पत्तिरिति। इह तु द्रव्य-द्रव्यत्वशब्दयोः पदार्थान्तरविषयत्वात् विग्रहभेदे अर्थभेद इति नासौ न्यायः कल्पयितुं शक्यः।

एकस्यानेकत्र वृत्त्यभावो बहुत्वप्रसङ्गो वा। ६। तद्द्रव्यत्वमेकमित्यभ्युपगम्यते तद्वादिभिः। तत्कथमेकं निरवयवम् अनेकत्र पृथिव्यादौ वर्तितुमुत्सहते ? अथ वर्तेत; बहुत्वमेवास्य स्यात् अनेकत्र वृत्तेः रूपादिवत्। आकाशवदेकं सत् अनेकमवगाहत इति चेत्; न; वैषम्यात्। युज्यते महापरिमाणं वियदवगाहते सकलमिति गुणानां तु द्रव्यपदार्थविषयत्वात् कथममहद्द्रव्यत्वं कृत्स्नं वेवेष्टि। एकत्वसंख्यागुणवदुपचारतो महत्त्वमस्येति चेत्; तदिदमसिद्धेन साध्यते। सिद्धसाध्यव्यवस्थाश्रया हि कथामार्गाः। उपचरितस्य मुख्यकार्यसाधनाशक्तेश्च। अपि च द्रव्यत्वेन एकमाकाशं प्रदेशभेदेन त्वनन्तमितीष्टत्वात् दृष्टान्ताभावः।

नीलद्रव्यवदिति चेत्; न; असिद्धत्वात्।७। स्यान्मतम्–यथा नीलीद्रव्यमेकम् अनेकशाटीपटकम्बलसंबन्धि दृष्टं तथैकं द्रव्यत्वमपि अनेकद्रव्यसंबन्धीति। तन्न; किं कारणम् ? असिद्धत्वात्। नैतत् सिद्धं शाटीपटकम्बलेषु एकमेव नीलीद्रव्यमिति। यथा शाट्यादिभेदः तथा

१ अर्थान्तरस्य द्रव्यमित्यभिधानं कुतः ? स्वत एवेति चेत् द्रव्ये कोऽपरितोषः ? अर्थान्तरादिति चेत्; तत्रापि स एव दोषः। २ यथा द्रव्यत्वस्य द्रव्यमित्यभिधानं तथा द्रव्यस्यापि। ३ कुतः। ४ "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः।" –पा० वा० ५।२।९४। ५ व्यवहार। ६ किन्तु सामान्यवचनः। ७ मत्वर्थस्यापि मु०। ८ अङ्गीकृत्यापि दूषयति द्रव्यत्ववद् द्रव्यमित्यत्र यथाकथञ्चन मतोर्निवृत्तिर्भवतु तथापि द्रव्यत्वेन योगात् द्रव्यमित्यत्र त्वस्यापि निवृत्तिर्नान्वाख्यातेति। ९ विचारणीयम्। १० यदात्मभू–ता०, श्र०। ११ त्वत्वोत्पता०, श्र०। १२ तावताऽपरितुष्टः सन् पुनरपि सम्बन्धं निराकर्तुकाम आह। १३ धूमवत्त्व। १४ अग्निमत्त्व। १५ वादः। १६ अस्माकम्। १७ नीलद्र–ता०, द०, ब०, मु०।

तद्रञ्जकस्य नीलीद्रव्यस्यापि भेदोपपत्तेः। एकस्मिन्नपि पटे यन्मध्ये नीलीद्रव्यं न तत्प्रान्तयोः, यच्च प्रान्तयोः न तन्मध्ये इति भेदोऽभ्युपगन्तव्यः किमुत भिन्नेषु द्रव्येषु। नीलत्ववदिति चेत्; न; तदपि साध्यसमम्। अथ मतमेतत्–

दृष्टान्ताभावेऽपि एकत्वमस्य सिद्धमग्निवदिति चेत्; न; प्रतिज्ञाहानेः। ८। यथा अग्नेरन्यस्मिन्नुष्णे दृष्टान्ते असत्यपि औष्ण्यम्। एवमसत्यपि एकस्मिन् अनेकसंबन्धिनि दृष्टान्ते द्रव्यत्वस्य द्रव्येषु वृत्तिः सिद्ध्यतीति; तदपि नोपपद्यते; प्रतिज्ञाहानेः। ननु दृष्टान्तो नास्तीति प्रतिज्ञाय दृष्टान्तं ब्रुवतस्ते प्रतिज्ञा हीयते। किञ्च, युक्त्यभावेऽपि यदि द्रव्यत्वमेकमनेकसंबन्धीति मन्यते स्वत एव द्रव्यं द्रव्यमिति कस्मान्न प्रतिपद्यते ? समवायादिति चेत्; न; तस्य प्रत्युक्तत्वात्।

गुणसंद्रावो द्रव्यमिति चेत्; न; एकान्ते दोषोपपत्तेः। ९। स्यादेतद्–गुणसंद्रावो द्रव्यमित्येतल्लक्षणमनवद्यम्। गुणैः संद्रूयते प्राप्यते गुणान्वा संद्रवति प्राप्नोति इति द्रव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? एकान्ते दोषोपपत्तेः। कथमिति चेत् ? उच्यते–गुणेभ्यो द्रव्यम् अन्यद्वा स्यात्, अनन्यद्वा ? यद्यनन्यत; कर्तृकर्मभेदाभावात् निर्देशो नोपपद्यते। अपि च, एकान्तानन्यत्वे हि गुणा एव वा स्युः, द्रव्यमेव वा। यदि गुणा एव; द्रव्याभावे तदविनाभाविनां गुणानामपि निराधारत्वादभावः स्यात्। अथ द्रव्यमेव; एवमपि अलक्षणत्वात् खरविषाणत्वकल्पना द्रव्यस्य स्यात्। अथान्यत्वं गृह्येत एवमप्येकान्तेन पृथग्भावे स्वरूपशून्यत्वं स्यात्। अभ्युपगम्योच्यते गुणैः संद्रूयते द्रव्यमिति लक्षणं नोपपद्यते; गुणानां निष्क्रियत्वे द्रव्यं प्रत्याभिमुख्येन द्रवणाभावात्। "दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यात् निष्क्रियाणि। एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः निःक्रियाः।" [वैशे० द० ५।२।२१,२२] इति वचनात्। गुणान् संद्रवति इति च लक्षणं नोपपद्यते निःक्रियद्रव्याणां गुणान् प्रति द्रवणाभावात्।

किञ्च, स्वतोऽसिद्धत्वात्। यथा वाटीपरिक्षेपादिलक्षणान् ग्रामादीन् स्वतःसिद्धान् देवदत्तः सिद्धः प्राप्नोति न तथा गुणाः स्वतःसिद्धाः सन्ति यान् प्राप्नुयाद् द्रव्यम्।

आह–पाकजदर्शनात् तत्सिद्धिः। पार्थिवेषु परमाणुषु अग्निसंयोगात् औष्ण्यापेक्षात् श्यामाद्युच्छेदेन रक्ताद्यारम्भे च ननु प्राप्यते गुणैर्द्रव्यम्। उच्यते–ननु युतसिद्धत्वप्रसङ्गात्। यदि द्रव्यमवतिष्ठते रूपादयो विनश्यन्ति प्रादुर्भवन्ति च। ननु युतसिद्धा द्रव्यरूपादय इत्यासक्तम्। अथ अयुतसिद्धाः समवायसंबन्धात् इति मतम्; ननु द्रव्यवर्त्तन्नित्यत्वप्रसङ्गः। एवं सति अयुतसिद्धिर्भवति–यदा रूपादयस्तदा द्रव्यं यदा द्रव्यं तदा रूपादय इति, नन्वेवं सति यथा द्रव्यं नित्यं तथा रूपादयोऽपि नित्याः यथा रूपादीनामनित्यत्वं तथा द्रव्यस्येति प्राप्तं तुल्यवृत्तित्वम्।

किञ्च, विरोधात् पण्डितमूर्खवत्। यदि पण्डितो न मूर्खः अथ मूर्खो न पण्डितः तथा यदि समवायसंबन्धात् द्रव्यादयुतसिद्धाः रूपादयः न विनङ्क्ष्यन्ति न वोत्पत्स्यन्ते। अथ विनश्यन्त्युत्पद्यन्ते च नाऽयुतसिद्धाः। अथवा, अयुतसिद्धाश्च नाम रूपादयः विनश्यन्ति उत्पद्यन्ते च द्रव्यं चावतिष्ठत इति कुतस्त्योऽयं न्यायः। न च गुणैर्द्रूयते गम्यते उपलभ्यते तदिति द्रव्यम्, कस्मात् ? अर्थान्तरत्वात्। न हि घटेन पट उपलभ्यते अन्यत्वात्। अथोपलभ्यते द्रव्यगुणलक्षणभेदकल्पनाविरोधः।

१ "गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति। अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।" –पात० महा० ५।१।११९। २–ति द्र–द०, मू०, ब०, ता०, श्र०। ३ अथवान्य–श्र०। ४ वाद्रिप–मु०। वादपरि–ब०, द०, । वाड्परि भा० २। वृत्तिः। ५ ते। ६ आमघटस्य। ७ कुण्डबदरवत्। ८ पटादि। ९ प्रोक्तं श्र०। १० तर्हि। ११ तर्हि। १२ ननु गु –द०। न तु गु–ब०,मु०। ज्ञानार्थपक्षेऽपि दोषमुत्पादयन्नाह। १३ ज्ञायते। १४ अनन्वयत्वात् मु०,द०,ब०। १५ समवायिकारणं द्रव्यम्, सामान्यवानसमवायिकारणम्, अस्पन्दात्मा गुण इति।

आह–भेदे एव [1]उपलभ्योपलम्भकभावो दृष्टः अग्निधूमादिषु, नाऽभेदे [2]स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। न[3] ह्यङ्गुल्यग्रमात्मानं स्पृशति इति ? उच्यते–युज्यते अग्निधूमादिषु भिन्नेष्वेव लक्ष्यलक्षणभावः पृथक्सिद्धरूपत्वात्। न च द्रव्यगुणानां पृथक् प्रसिद्धरूपता[4] व्यतिरेकेण अनुपलब्धेः।

यच्चोक्तम्–स्वात्मनि वृत्तिविरोध इति; तदप्येकान्तग्रहणात् सूक्तं न भवति। दृश्यते हि स्वात्मन्यपि वृत्तिः यथा प्रदीपः स्वात्मानं प्रकाशयति, न तस्य स्वरूपप्रकाशने प्रदीपान्तरमपेक्षते। यद्यपेक्षेत; पटादिवदप्रकाशकत्वमेवाऽस्य स्यात्।

किञ्च, तस्य तत्त्वस्योपदेष्टा स्वात्मानं वेत्ति वा, न वा ? यदि न वेत्ति; स्ववचनविरोधः–"आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषात् आत्मप्रत्यक्षम्।" [वैशे० ९।१।११] इति वचनात्।

असर्वज्ञत्वप्रसङ्गश्च। यद्यात्मानमेवासौ न वेत्ति कथम् इतरद्विजानीयात् ततोऽस्य स्वपरविशेषानभिज्ञत्वात् असर्वज्ञत्वं प्रसज्यते। अथ वेत्ति; ननु स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् इति प्रतिज्ञातं हीयते। तस्मात् स्वात्मनि वृत्त्यविरोधात् द्रव्यात्मका एव पर्यायाः द्रव्यं लक्षयन्तीति साधूक्तम्।

यो हि मन्यते–गुणसमुदायमात्रं द्रव्यं नातोऽन्यत् किञ्चिदिति; तस्यापि गुणसंद्रावो द्रव्यमिति एतल्लक्षणं नोपपद्यते। कुतः ? कर्तृकर्मभेदाभावादेव। गुणसमुदायमात्रद्रव्यवादिनो हि वादिनो न गुणाः पृथक् सन्ति नापि समुदायः ततोऽन्योऽस्ति येषां कुतश्चित् भेदात् कर्तृकर्मभावो[5] भवेत्। ननु चाऽभेदेऽपि कर्तृकर्मभावो दृष्टः यथा आत्मानं प्रदीपः प्रकाशयति इति, तत्रापि कथञ्चिद् भेदेन भवितव्यम्, भासुरस्य रूपस्य द्रव्यस्य च स्याद् भेददर्शनात्। यदि सर्वथैवाऽभेदः स्यात्; सर्वं द्रव्यं[6] भासुररूपं[7] स्याद् भासुरस्य च द्रव्यस्य सर्वदैव तादूप्यं प्रसज्येत। दृश्यते च माषादिभावः।

न च समुदायकल्पना युज्यते गुणानां[10] पृथक्स्वरूपानुपलब्धेः। दृश्यते माषादीनां पृथगुपलभ्यमानरूपाणां समुदायः। नापि गुणकल्पनोपपद्यते, गुण्यते विशेष्यते यैरर्थास्ते गुणाः विशेषणानीत्यर्थः। न च गुणिनं विशेष्यं कञ्चिदन्तरेण गुणानां गुणत्वं भवति।

किञ्च, समुदायो गुणेभ्योऽन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा, अवक्तव्यो वा ? अन्यत्वानन्यत्वयोः विहिता दोषाः। यद्यवक्तव्यः; स्ववचनविरोधः प्रसज्यते। यदि समुदायोऽस्ति नावक्तव्यः, अथ अवक्तव्यो न समुदायोऽस्ति, सतः संज्ञोपपत्तेः, अवक्तव्यस्य च सर्ववाग्गोचरात्यये निरात्मकत्वप्रसङ्गात् इति शिष्टेतरवचनवत् अन्यत्वोपपत्तेश्च। यदि वक्तव्यलक्षणा गुणाः समुदायो न वक्तव्यलक्षणः; ननु च लक्षणभेदादन्यत्वं सिद्धम्।

किञ्च, रूपादिपरमाणुसमुदायमात्रत्वे [11]तुट्यादेः [12]धर्मान्तरस्याऽप्रादुर्भावात्, अणूनामतीन्द्रियस्वभावव्यतिक्रमाभावात् दृश्यमिदं भ्रान्तिरूपं स्यात्। [13]सत्यमेवेदमिति चेत्, प्रत्यक्षानुमानयोः [14]तदाभासयोश्च अविशेषप्रसङ्गः स्यात्।

---

१ ज्ञाप्यज्ञापक। २ कुतः। १८ यथा। "स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। न हि तदेव अङ्गुल्यग्रं तेनैव अङ्गुल्यग्रेण स्पृश्यते, सैवासिधारा तयैवासिधारया छिद्यते।"—स्फुटार्थ० अभिध० पृ० ७८। ४ द्धखरू–ता०, मु०। ५ स्वात्मनि क्रियाविरोधं यो वादी वदति तस्य। ६ कर्माभावो श्र०। ७ घटपटादि। ८ इदं द्रव्यम् इदं द्रव्यमिति द्रव्यसामान्यात्। ९ कल्माषादि। मष्यादि–मू०। १० कुतः। ११ गुर्वादेः मु०। गुव्यादेः द०। तुटीशब्दोऽयं कुटीपर्यायः तथा चोक्तं शाकटायनलिङ्गानुशासने स्त्रीलिङ्गप्रकरणे कुटीतुटीदीधितिकाकणीरात्रिच्छविनीविवेणिपेश्यश्रीरित्यादि इति। १२ दृश्यमानत्व। १३ स एवेदमिति मु०, द०, ब०। १४ मरुमरीचिकादि-धूमायमानमशकराजि।

'द्रव्यं भव्ये' इत्ययमपि द्रव्यशब्दः कान्तवादिनां न संभवति; स्वतोऽसिद्धस्य द्रव्यस्य भव्यार्थासंभवात्। संसर्गवादिनस्तावत् गुणकर्मसत्ताद्रव्यत्वादिसामान्यविशेषेभ्यो द्रव्यस्यात्यन्तमन्यत्वे खरविषाणकल्पस्य स्वतोऽसिद्धत्वात् न भवनक्रियायाः कर्तृत्वं युज्यते। परतः सिद्धिरपि स्वतोऽसिद्धस्य न संभवति खरविषाणवत्। गुणसमुदायमात्रत्वेऽपि समुदायस्य संवृत्या[1] कल्पितस्याऽसत्त्वात् गुणानां च प्रत्येकं अनुपलभ्यत्वात्[2] तदव्यतिरेकाच्चाऽसत्त्वमिति भवनक्रियायाः कर्तृता दुरुपपादा। अनेकान्तवादिनस्तु गुणसंद्रावो द्रव्यम्, द्रव्यं भव्य इति चोपपद्यते, पर्यायिपर्याययोः कथञ्चिद्भेदोपपत्तेरित्युक्तं पुरस्तात्।

धर्मादिसामानाधिकरण्याद्बहुवचनम् ।१३। प्रकृताः धर्मादयो बहवः तत्सामानाधिकरण्याद् बहुवचनेन निर्देश क्रियते। धर्मादीन्येव द्रव्याणि नान्यानीति।

पुल्लिङ्गप्रसङ्ग इति चेत्; न; आविष्टलिङ्गत्वात् ।१४। स्यादेतत्–यदि तत्सामानाधिकरण्याद्बहुवचनं क्रियते तत एव पुल्लिङ्गमपि प्राप्नोति इति। ते हि अजीवकाया उक्ताः पुल्लिङ्गा इति; तन्न; किं कारणम् ? आविष्टलिङ्गत्वात्। आविष्टो ह्ययं द्रव्यशब्दः [3]वचनादिवत् स्वलिङ्गं न जहाति।

अनन्तरत्वाच्चतुर्णामेव द्रव्यव्यपदेशप्रसङ्ग अन्यावधार्थमिदमुच्यते—

जीवाश्च ॥ ३ ॥

जीवशब्दो व्याख्यातार्थः।

जीवत्वादिति चेत्; न; प्रतिषिद्धत्वात् ।१। स्यादेतत्–जीवत्व नाम सामान्यविशेषोऽस्ति तेन योगात् जीवा इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतिषिद्धत्वात्। द्रव्यत्ववदस्य प्रतिषेधो वेदितव्यः। किञ्च,

अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसङ्गात् ।२। यो जीवत्वसंयोगाज्जीव इति प्रत्ययाभिधाने कल्पयति स प्रष्टव्यः–जीवत्वे केन योगात् प्रत्ययाभिधानवृत्तिरिति ? तत्रापि अन्यत एवेति चेत्; अनवस्थाप्रसङ्गः। अथाऽनवस्थादोषो माकूत्पत् इति जीवत्वे स्वत एव वृत्तिरभ्युपगम्यते; ननु प्रतिज्ञाहानिस्ते[4] अर्थान्तरसंसर्गात् सर्वत्र वृत्तिरिति, तद्वज्जीवेऽपि स्यात्।

अथ मतमेतत्–जीवत्वे प्रदीपवत् स्वत एव वृत्तिरिति; जीवे कोऽपरितोषः। आह–पदार्थान्तरत्वादेव जीवजीवत्वयोः न जीवत्ववत् जीवे स्वतः प्रत्ययाभिधानसिद्धिः, यस्मात् न पदार्थान्तरधर्मः पदार्थान्तरे भवितुमर्हति पदार्थान्तरत्वादेव, अन्यथा पदार्थसंकरप्रसङ्गः, स च नास्ति, अतो नानवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषौ स्त इति। उच्यते– न पदार्थान्तरत्वासिद्धेः। यदि जीवजीवत्वयोः पदार्थान्तरत्वमभविष्यत् अपि तर्हि धर्मसंकराभावोऽसेत्स्यत्। न तु पदार्थान्तरत्वमस्ति इत्युक्तं पुरस्तात् 'स्वतोऽसिद्धत्वात्' इति।

किञ्च, प्रतिज्ञाहानिस्ते प्रसजति यदि पदार्थान्तरधर्मः पदार्थान्तरे न भवेत्; सत्तायाः सदिति प्रत्ययाभिधानहेतुत्वलक्षणो धर्मः द्रव्यगुणकर्मसु न स्यात्। अथ योगेऽपि सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वं सत्ताया एवेति चेत्; न सन्ति द्रव्यगुणकर्माणि सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वविरहात् खरविषाणवत् इत्यासक्तम्। ततः सिद्धमेतत्–जीवनक्रियोपलक्षितद्रव्यविशेषविषयाऽनादिपारिणामिकी जीवसंज्ञेति।

---

१ मिथ्यारूपेण। २ लब्धत्वात् मु०, द०, ब०। अनुपलभ्यत्वं परमाणुरूपत्वात्। ३ एकवचनद्विवचनादिवत्। ४ द्रव्याणीति सूत्रस्य। ५ अन्यत्रारोपार्थम्। अन्योपादानार्थ–मु०, ब०। ६ तव।

द्रव्यलक्षणयोगाद्द्रव्याणीति चेत्; न; नियमार्थत्वात् ।३। स्यान्मतम् "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" [५।२९] इति द्रव्यलक्षणं वक्ष्यते, तेन योगाद् धर्मादीनां द्रव्यत्वं सिद्धं नार्थोऽनेन[1] द्रव्यसंख्यानेन इति; तन्न; किं कारणम्? नियमार्थत्वात्। नियमार्थोऽयमारम्भः। धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गला जीवाश्च वक्ष्यमाणलक्षणेन कालेन सह षडेव द्रव्याणीति। तेनान्यैर्वादिपरिकल्पितानां दिगादीनां निवृत्तिः सिद्धा। कथमिति चेत्? उच्यते–पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि पुद्गलद्रव्ये अन्तर्भवन्ति रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात्। वायोर्मनसश्च रूपादियोगाभाव इति चेत्; न; रूपादिमत्त्वात्। वायुस्तावत् रूपादिमान् स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्। चक्षुरादिकरणग्राह्यत्वाभावात् रूपाद्यभाव इति चेत्; न; परमाण्वादिषु अतिप्रसङ्गात्।

मनोऽपि द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र भावमनो ज्ञानं तस्य जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भावः। द्रव्यमनश्च रूपादियोगात् पुद्गलद्रव्यविकारः। तद्योगाभावोऽनुपलभ्यत्वात्[5] इति चेत्; परमाण्वादिषु विधर्मस्वपि वृत्तेः[6] संशयहेतुत्वम्।

रूपादिमन्मनो ज्ञानोपयोगकरणत्वात् चक्षुरिन्द्रियवत्। अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोपयोगकरणत्वदर्शनात् व्यभिचारी हेतुरिति चेत्; न; तस्य पौद्गलिकत्वात् मूर्तिमत्त्वोपपत्तेः। परमाण्वादीनामतीन्द्रियत्वेऽपि रूपादिमत्कार्यदर्शनात् रूपादिमत्त्वमनुमीयते न तथा वायूनां मनसां च रूपादिमत्कार्यमुपलभ्यते यतोऽवसीयते रूपादिमत्त्वमेषामिति चेत्; न; तेषामपि तदुपपत्तेः। सर्वेषां[7] परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्यताभ्युपगमात्। न च केचित् पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणवः सन्ति; जातिसंकरेण[8] आरम्भदर्शनात्। दिशोऽप्याकाशे अन्तर्भावः आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपपत्तेः।

जीवा इति बहुवचनं वैविध्यख्यापनार्थम् ।३। जीवा इति बहुवचनं क्रियते वैविध्यख्यापनार्थम्। विविधा हि जीवाः संसारिणो मुक्ताश्चेति। संसारिणोऽपि गतीन्द्रियादिचतुर्दशमार्गणास्थानविकल्पात् मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानभेदात् सूक्ष्मबादरादिचतुर्दशजीवस्थानविकल्पाच्च विविधाः। मुक्ताश्च एकद्वित्रिःचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तसमयसिद्धपर्यायभेदाश्रयात् मुक्तिहेतुशरीराकारानुविधायिस्वक्षेत्रपरक्षेत्रावगाहनादिभेदाच्च विविधाः।

एकयोग इति चेत्; न; जीवानामेव प्रसङ्गात् ।४। स्यान्मतम्–एक एव योगः कर्तव्यः द्रव्याणि जीवा इति। एवं च सति चशब्दाकरणात् लघ्विति; तन्न; किं कारणम्? जीवानामेव प्रसङ्गात्। तथा सति जीवा एव द्रव्याणि न धर्मादीनि इत्यनिष्टमासज्यते।

बहुवचनादिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।६। स्यादेतद्–द्रव्याणीति बहुवचनात् धर्मादीनां जीवानां च द्रव्यसंज्ञा सिद्ध्यतीति; तन्न, किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत् 'जीवा इति बहुवचनं वैविध्यख्यापनार्थम्' इति। तत्सामानाधिकरण्यात् द्रव्याणि इति बहुवचनं न्यायप्राप्तम् इति इति न ततो धर्मादिगतिः।

अधिकारादिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।७। स्यादेतत्–"अजीवकायाः धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" [५।१] इत्यजीवाधिकारात् एकयोगेऽपि जीवाजीवयोर्द्रव्यसंज्ञा सेत्स्यति इति; तन्न; किं कारणम्? जीवावबद्धत्वात्। द्रव्यशब्दोऽयं जीवावबद्ध इति जीवानामेव द्रव्यसंज्ञा प्राप्नोति।

---

१ सूत्रेण। २ वैशेषिकादि–सम्पा०। ३ रूपादियोगाभावः–स०। ४–पलभ्यमानत्वात् मु०, द०, ब०। ५ अनुपलभ्यत्वादिति हेतोः। ६ स्वमतमाश्रित्याह परः। ७ कथम्। ८ तद्यथा। ९ कालान्तरेण। १० कुतः। ११ चन्द्रकान्तपाषाणादपें जायते, सूर्यकान्तादग्निः काष्ठाच्च जलान्मौक्तिकमित्यादि।

सत्यप्यधिकारे यत्नाभावाच्च ।८। अनुवर्तमाना अपि विधयो न चानुवर्तनादेव भवन्ति। किं तर्हि? यत्नाद्भवन्तीति। जीवानामेव द्रव्यसंज्ञा स्यात् अजीवानां न स्यात् यत्नाभावात्। ततः पृथक्योगग्रहणं न्याय्यम्। एवं च कृत्वा चशब्दोऽप्यर्थवान् भवति।

उक्तानां द्रव्याणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

नित्यशब्दो ध्रौव्यवचनः ।१। अयं नित्यशब्दः ध्रौव्यवचनो वेदितव्यः। नेर्ध्रुवे त्योऽन्वाख्यातः[1]। किं पुनरिह नित्यत्वम्?

तद्भावाव्ययो नित्यत्वम् ।२। येन भावेन उपलक्षितं द्रव्यं तस्य भावस्याऽव्ययो नित्यत्वमुच्यते। वक्ष्यते "तद्भावाव्ययं नित्यम्" [५।३१] इति। धर्मादीनि द्रव्याणि गतिहेतुत्वादिविशेषलक्षणद्रव्यार्थादेशात् अस्तित्वादिसामान्यलक्षणद्रव्यार्थादेशाच्च कदाचिदपि न व्ययन्तीति नित्यानि।

इयत्तानतिवृत्तेरवस्थितानि ।३। धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते, ततोऽवस्थितानीत्युच्यन्ते। अथवा, धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानां तुल्यासंख्येयप्रदेशत्वम्, अलोकाकाशस्य पुद्गलानां चाऽनन्तप्रदेशत्वमित्येतदियत्त्वम्, तस्यानतिवृत्तेः अवस्थितानीति व्यपदिश्यन्ते।

गतार्थत्वादवक्तव्यमिति चेत्; न; परिणामानेकत्वात्[2] ।४। स्यान्मतम्–नित्यवचनेनैव गतार्थत्वात् अवस्थितानीति न वक्तव्यम्, न हि नित्यत्वमतिक्रम्यावस्थित्वमस्तीति; तन्न; किं कारणम्? परिणामानेकत्वात्। धर्मादीनामनेकः[3] परिणामोऽस्ति गतिस्थित्युपग्रहादिपर्यायोत्पादव्ययव्यवस्थितिलक्षणः। अतः किम्? अमुष्मिन् परिणामानेकत्वेऽपि न मूर्तिमत्त्वोपयोगपरिणामो भवति धर्माधर्मकालाकाशानाम्, नापि जीवानामचेतनत्वम्, पुद्गलानां च अमूर्तत्वम् "अवस्थितवचनात्।

विरोधादयुक्तमिति चेत्; न; उभयनयसद्भावात् ।५। स्यादेतत्–परिणामानेकत्वं येषामिष्टमवस्थितत्वं चेति एतद्विरुद्धमिति; तन्न; किं कारणम्? उभयनयसद्भावात्। धर्मादीनां सर्वेषां द्रव्याणां द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाऽन्यतरगुणप्रधानभावार्पणाभेदात् स्थित्युत्पत्तिनिरोधात्मकमविरुद्धम्।

अवस्थितविशेषणं वा नित्यग्रहणम् ।६। अथवा, नित्यग्रहणमिदमवस्थितविशेषणं विज्ञायते। यथा गमनागमनाद्यनेकपर्यायसद्भावेऽप्यभीक्ष्णप्रजल्पनसद्भावात् 'नित्यप्रजल्पितो देवदत्तः' इत्युच्यते, तथोभयकारणवशोपनीतोत्पादनिरोधसंभवेऽपि अमूर्तत्वादिस्वभावं कदाचिदपि धर्माधर्मादीनि न जहतीति नित्यावस्थितानीत्युच्यन्ते।

क्रियावत्त्वनिवृत्त्यर्थमवस्थितवचनमिति चेत्; न; निष्क्रियाणीत्याम्नातत्वात् ।७। स्यादेतत्–परिस्पन्दात्मिकायाः क्रियायाः निवृत्त्यर्थमवस्थितवचनमिति; तन्न; किं कारणम्? निष्क्रियाणीत्याम्नातत्वात्।

---

१ "त्यब् नेर्ध्रुवे इति वक्तव्यम्"–पा० वा० ४।२।१०४। २ नित्यशब्देन परिणामानेकत्वं विवक्षितम्। ३–कगतिपरिणामो–द०, मु०। ४ अवस्थितवचनमनर्थकमित्युक्ते परिणामानेकत्वादित्युक्तम्, अतः प्रश्नात् किमुक्तं भवतीत्यत आह। ५ कुतः।

अरूपग्रहणं द्रव्यस्वतत्त्वनिर्ज्ञानार्थम् ।८। अरूपग्रहणं क्रियते द्रव्यस्वतत्त्वनिर्ज्ञानार्थम् । न विद्यते रूपं येषां तान्यरूपाणि । रूपव्युदासात्तदविनाभाविनां रसादीनामपि व्युदासो वेदितव्यः । अरूपाणि अमूर्तानीति यावत् ।

वृत्तौ पञ्चवचनात्[1] षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेत्; न; अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् ।९। स्यान्मतम्–वृत्तावुक्तम्–"अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पञ्चत्वं व्यभिचरन्ति" [ ] इति, ततः षड्द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघात इति; तन्न; किं कारणम् ? अभिप्रायापरिज्ञानात् । अयमभिप्रायो वृत्तिकारस्य[3]–"कालश्च" [५।३९] इति पृथग् द्रव्यलक्षणं कालस्य वक्ष्यते, तदनवेक्ष्य अधिकृतानि पञ्चैव द्रव्याणीति षड्द्रव्योपदेशाविरोधः ।

यथा सर्वेषां द्रव्याणां नित्यावस्थितानि इत्येतत् साधारणं लक्षणं तथा अरूपत्वमपि प्राप्तम्, अतस्तदपवादार्थमाह—

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

रूपशब्दस्याऽनेकार्थत्वे मूर्तिपर्यायग्रहणं शास्त्रसामर्थ्यात् ।१। रूपशब्दोऽनेकार्थः । क्वचिद् द्रव्ये वर्तते–गोरूपाणि गोद्रव्याणि इत्यर्थः । क्वचित् स्वभावे वर्तते–"चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" [योगभा० १।६] स्वभाव इत्यर्थः। क्वचिदभ्यासे वर्तते, दशरूपमध्ययनं कार्यम्–दशवारानभ्यासः कार्य इत्यर्थः। क्वचिच्छ्रुतौ[4] वर्तते–स्वं रूपं शब्दस्य स्वा श्रुतिरित्यर्थः । क्वचिन्महाभूतेषु वर्तते–"रूपं चत्वारि महाभूतानि उपादाय रूपं चेति ।" [ ] इति । क्वचित् गुणविशेषे वर्तते–चक्षुर्ग्रहणयोग्यो[5] योऽर्थस्तद्रूपमिति । क्वचिन्मूर्तिपर्यायवचनः–रूपिद्रव्यं मूर्तिमद्–द्रव्यमित्यर्थः । तत्रेह मूर्तिपर्यायवचनो रूपशब्दो ग्रहीतव्यः । कुतः ? शास्त्रसामर्थ्यात् । अर्हत्प्रोक्ते हि गणधरावधारिते श्रौते[6] शास्त्रे अभिहितम्–"रूपिद्रव्यं [7]मूर्तिद्रव्यम्" [ ] इति । तस्मात् रूपिणः पुद्गला मूर्तिमन्तः पुद्गला इत्यर्थः । कापुनः मूर्तिः ?

रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः ।२। रूपमादिर्येषां त इमे रूपादयः । के पुनस्ते ? रूपरसगन्धस्पर्शाः, परिमण्डलत्रिकोणचतुरस्रायतचतुरस्रादिराकृतिः संस्थानम्, तै रूपादिभिः संस्थानैश्च परिणामो मूर्तिरित्याख्यायते ।

गुणविशेषैकवचनग्रहणं वा ।३। अथवा रूपमित्यनेन गुणविशेषो गृह्यते चक्षुर्ग्रहणयोग्यः ।

रसाद्यग्रहणमिति चेत्; न; तदविनाभावात् तदन्तर्भावसिद्धेः ।४। स्यादेतत्–गुणविशेषग्रहणे सति रसादीनामग्रहणं प्रसक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? तदविनाभावात् तदन्तर्भावसिद्धेः। रूपाविनाभाविनो हि रसादयो रूपग्रहणेन गृह्यन्ते ।

इनोऽनुत्पत्तिरभेदादिति चेत्; न; कथञ्चिद् व्यतिरेकसिद्धेः ।५। स्यादाकूतम्–सति भेदे इन उत्पत्तिर्दृष्टा यथा दण्डोऽस्यास्तीति दण्डीति । न च तथा रूपं द्रव्याद्भिन्नमस्ति तस्यैव रूपादिपर्यायपरिणामात् । तत इन उत्पत्तिर्नोपपद्यते 'रूपमेषामस्ति ते रूपिणः' इति; तन्न; किं कारणम् ? कथञ्चिद्व्यतिरेकसिद्धेः । यद्यपि पुद्गलद्रव्यादनन्यद्रूपं तत्परिणामात्[10], द्रव्यार्थादेशाद् व्यतिरेकेणाऽनुपलब्धेः । तथापि पर्यायार्थिकनयविवक्षाविजृम्भितैः[11] रूपविनाशे[12] पुद्गलावस्थानात् उत्पाद्या-

---

१ पंचत्वव–मु०, ब० । २ तत्त्वार्थवृत्तिरित्यपरस्मिन् शास्त्रे । तुलना–"अवस्थितानि च, न हि कदाचित् पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति"–त० भा० ५।३ । ३ वृत्तिकरणस्य मु० । वृत्तिकारणस्य द०, ब० । ४ तदनपेक्षादिकृतानि मु० । ५ श्रवणगोचरत्वे इत्यर्थः । ६ नीलादिः । ७ गणधरावधारितशास्त्रस्य श्रुतिरिति संज्ञा अन्यैः स्मृतिरिति । ८ मूर्तिमद्द्रव्य–मु०, द० । ९–पग्रहणवचनं वा श्र० । १०–णामद्रा–श्र० । ११–ते रूप–मु० । १२ आमघटस्य श्यामरूपविनाशे पीतरूप ।

नुत्पाद्यत्वाद् आदिमदनादिमत्त्वात् अन्वयव्यतिरेकरूपवाग्विज्ञानवृत्तिहेतुत्वादित्येवमादिभिः हेतुभिः कथञ्चिद् व्यतिरेकः सिद्ध्यतीति तदपेक्ष इनः प्रादुर्भावः सिद्धः ।

तेनैवं व्यपदेशाच्च ।६। अनन्यत्वेऽपि लोके व्यपदेशो दृष्टः 'आत्मवान् आत्मा, सारवान् वृक्षः' इति । नहि आत्मनोऽन्य आत्मास्ति, नापि वृक्षादन्यः सारः, तथापि व्यपदेशो दृश्यते । एवमिह अनन्यत्वेऽपि व्यपदेशो वेदितव्यः ।

पुद्गला इति बहुवचनं भेदप्रतिपादनार्थम् ।७। पुद्गला इति बहुवचनं क्रियते । किं प्रयोजनम् ? भेदप्रतिपादनार्थम् । भिन्ना हि पुद्गलाः परमाणभेदात् स्कन्धभेदाच्च । तद्विकल्पा उपरिष्टाद्वक्ष्यन्ते ।

अत्राह– किं पुद्गलवद्धर्मादीन्यपि द्रव्याणि प्रत्येकं भिन्नानि इति ? अत्रोच्यते—

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अभिविधावाङ्प्रयोगः ।१। अभिविधिरभिव्याप्तिः, तस्मिन्नर्थे अयमाङ् प्रयुज्यते, तेनाऽऽकाशस्यापि एकद्रव्यत्वं[3] संकीर्तितं भवति । यदि हि मर्यादायां गृह्यते आकाशस्यान्तर्भावो न स्यात्[4] । [5]सौत्रीमानुपूर्वीमाश्रित्य इदमुक्तं तेन धर्माधर्माकाशानि गृह्यन्ते ।

एकशब्दः संख्यावचनः ।२। अन्याऽसहायाद्यनेकार्थसंभवेऽप्ययमेकशब्दः संख्यावचनो द्रष्टव्यः ।

तत्संबन्धाद् द्रव्यशब्दस्यैकवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धेः ।३। स्यान्मतम्–यद्ययमेकशब्दः संख्यावचनः तेन सामानाधिकरण्याद् द्रव्यशब्दस्याप्येकवचनमेव प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धेः । धर्मादीनि बहूनि द्रव्याणि तदपेक्षया बहुवचनं युज्यते एकस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्तियोगात् ।

एकैकमित्यस्तु लघुत्वात् ।४। अत्र कश्चिदाह–'आ आकाशादेकैकम्' इत्येव तावदस्तु सूत्रम्; कुतः ? लघुत्वात् । कथं द्रव्यगतिः ?

प्रसिद्धत्वाद् द्रव्यगतिः ।५। धर्मादीनि षड्द्रव्याणि इति प्रसिद्धमतो[6] द्रव्यगतिर्भवति, तस्मादनर्थकं द्रव्यग्रहणमिति ।

न वा द्रव्यापेक्षयैकत्वख्यापनार्थत्वात् ।६। न वानर्थकम् । किं कारणम् ? द्रव्यापेक्षया एकत्वख्यापनार्थत्वात् । एकैकमित्युक्ते न ज्ञायते किं द्रव्यतः क्षेत्रतः[7] भावत इति ? अतोऽसन्देहार्थं द्रव्यग्रहणं क्रियते । तेनाऽयमर्थो गृह्यते–गतिस्थितिपरिणामिविविधजीवपुद्गलद्रव्यानेकपरिणामनिमित्तत्वेन सत्यपि भावतो बहुत्वे, सति च प्रदेशभेदादसंख्येयक्षेत्रत्वे धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं च द्रव्यत एकैकमेव । अवगाह्यनेकद्रव्यविविधावगाहननिमित्तत्वेन अनन्तभावत्वेऽपि प्रदेशभेदात् सति चानन्तक्षेत्रत्वे द्रव्यतः एकमेवाकाशमिति न जीवपुद्गलवदेषां बहुत्वम्, नापि धर्मादिवत् जीवपुद्गलानामेकद्रव्यत्वम् । यदि हि स्यात्, दृष्टस्य क्रियाकारकभेदस्य[8] इष्टस्य च संसारमोक्षक्रियाविस्तरस्य विरोधः स्यात् ।

आह कालद्रव्यं किम् एकमनेकमिति ? उत्तरत्र तस्य निर्णयो वक्ष्यते ।

अधिकृतानामेवैकद्रव्याणां[9] विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

---

१ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयेन । २ अभेदेऽपि इन उत्पत्तिर्घटत इत्याह । ३ एकद्रव्यत्वं संकीर्तनं ब०, द०, मु० । ४ असंहितया निर्देशश्च असन्देहार्थः । ५ अजीवादि । ६–द्धमिति द्र–मु०, द०, ब० । ७–तः कालतः भा– मु०, ब० । ८ दृक्षात् पर्णं पतति कटे आस्ते देवदत्त इत्यादि । ९ अनुमानस्य । १० अखण्ड ।

निष्क्रियाणि च ॥७॥

उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया ।१। अभ्यन्तरं क्रियापरिणामशक्तियुक्तं द्रव्यम्, बाह्यं च नोदनाभिघाताद्यपेक्ष्योत्पद्यमानः पर्यायविशेषः द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रियेत्युपदिश्यते। उभयनिमित्त इति विशेषणं[2] द्रव्यस्वभावनिवृत्त्यर्थम्। यदि हि द्रव्यस्वभावः स्यात् परिणामिनो द्रव्यस्याऽनुपरतक्रियत्वप्रसङ्गः[3]। द्रव्यस्य पर्यायविशेष इति विशेषणम् अर्थान्तरभावनिवृत्त्यर्थम्। यदि हि क्रिया द्रव्यादर्थान्तरभूता स्यात् द्रव्यस्य[4] निश्चलनत्वप्रसङ्गः। देशान्तरप्राप्तिहेतुरिति विशेषणं ज्ञानादिरूपादिनिवृत्त्यर्थम्।

तस्याः प्रादिवृत्त्या अन्यपदार्थगतिः ।२। तस्याः क्रियायाः प्रादिवृत्त्या[5] अन्यपदार्थगतिर्भवति—निष्क्रान्तानि क्रियायाः निष्क्रियाणीति।

निष्क्रियत्वादुत्पादाभाव इति चेत्; न; अन्यथोपपत्तेः ।३। स्यादेतत्—धर्मादीनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषाम् उत्पादो न भवेत्। क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो दृष्टः, उत्पादाभावाच्च व्ययाभाव इति सर्वद्रव्याणामुत्पादादित्रितयरूपकल्पनाव्याघात इति; तन्न; किं कारणम्? अन्यथोपपत्तेः। क्रियानिमित्तोत्पादाभावेऽपि एषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते। तद्यथा, द्विविध उत्पादः—स्वनिमित्तः, परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावत् अनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च वर्तमानानां स्वभावादेवोत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादेर्गतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्, क्षणे क्षणे तेषां भेदात् तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति[6] परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते।

निष्क्रियत्वात् गतिस्थित्यवगाहनक्रियाहेतुत्वाभाव इति चेत्; न; बलाधानमात्रत्वादिन्द्रियवत् ।४। स्यादेतत्—यद्येतानि निष्क्रियाणि गतिस्थित्यवगाहनक्रियाहेतुत्वमेषां नोपपद्यते। क्रियावन्ति हि जलादीनि मत्स्यादीनां गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानि इति; तन्न; किं कारणम्? बलाधानमात्रत्वात् इन्द्रियवत्। यथा दिदृक्षोश्चक्षुरिन्द्रियं रूपोपलब्धौ बलाधानमात्रमिष्टं न तु चक्षुषः तत्सामर्थ्यम्[7] इन्द्रियान्तरोपयुक्तस्य तदभावात्। यथा वा, आयुःसंक्षयात् आत्मनि शरीरान्निष्क्रान्ते सदपीन्द्रियम् रूपाद्युपलब्धौ समर्थं न भवति, ततो ज्ञायते आत्मन एवैतत्सामर्थ्यम् इन्द्रियाणां तु बलाधानमात्रत्वमिति[8], तथा स्वयमेव गतिस्थित्यवगाहनपर्यायपरिणामिनां जीवपुद्गलानां धर्माधर्माकाशद्रव्याणि गत्यादिनिर्वृत्तौ बलाधानमात्रत्वेन विवक्षितानि न तु स्वयं क्रियापरिणामीनि। कुतः पुनरेतदेवमिति चेत्? उच्यते—

द्रव्यसामर्थ्यात् ।५। यथा आकाशमगच्छत् सर्वद्रव्यैः संबद्धम्, न चास्य सामर्थ्यमन्यस्यास्ति। तथा च निष्क्रियत्वेऽप्येषां गत्यादिक्रियानिर्वृत्तिं प्रति बलाधानमात्रत्वमसाधारणमवसेयम्।

चशब्दोऽभिहितसंबन्धार्थः ।६। चशब्दः क्रियते अभिहितानामेकद्रव्याणां संबन्धार्थः। अतो धर्माऽधर्माकाशानां निष्क्रियत्वनियमाज्जीवपुद्गलानां स्वतः परतश्च क्रियापरिणामित्वं सिद्धम्[9]।

१—त्यपदि—अ०, ब०, द०, मू०। २ क्रियायाः। ३ अपर्यवसान। ४ द्रव्यनिश्चलनत्व—ता०, मू०। द्रव्यनिश्चलत्वप्र—मु०, ब०, द०। ५ गतादिषु प्रादयः [शाक० २।१।२१] इति। ६ तेन प्रकृतैकद्रव्याणां गतिः। ७ गतिस्थित्यवगाहनहेतुभूतपर्यायोऽपि। ८ द्रव्येन्द्रियम्। ९ श्रोत्राद्यन्यतम। १०—मात्रमिति ता०। ११ कालस्यापि सक्रियत्वमिति चेत्; न; अनधिकारात्। अत एव चासावेतैः सह नाधिक्रियते।

अत्र[1] कश्चिदाह—आत्मा सर्वगतत्वान्निष्क्रियः, क्रियाहेतुगुणसमवायात्[2] परत्र क्रियाहेतुरिति; तत्प्रतिविधानार्थमाह—

द्रव्यस्य क्रियापरिणामिनोऽर्थान्तरे तत्परिणामसामर्थ्यं वायुवत् ।७। यथा वायुः स्वयं क्रियापरिणतत्वात् वनस्पतौ क्रियानिमित्तं तथा आत्मनः क्रियापर्यायस्वभावस्य वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावेष्टम्भे सति विहायोगतिनामोदयापादितशक्तिविशेषे च सति व्रज्यामनुतिष्ठतो हस्तादिषु क्रियोत्पत्तिर्युक्ता, न तु निष्क्रियस्यात्मनः परत्र क्रियाहेतुत्वं युक्तम्। [4]तत्र यदुक्तम्—"आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म" [वैशे० ५।१।१] इत्येतदपाकीर्णम्। कथमिति चेत्? उच्यते—

अतत्परिणामस्य तद्भावो व्योमवत् ।८। यथा व्योम्नो निष्क्रियस्य घटादिषु सत्यपि संयोगे न क्रियाहेतुत्वम्, तथा आत्मनो निष्क्रियस्य सत्यपि संयोगे हस्तादिषु न क्रियाहेतुत्वं युक्तम्। किञ्च,

उभयोः निष्क्रियत्वात् ।९। यथोभयोर्जात्यन्धयोः सम्बन्धे न दर्शनशक्तिप्रादुर्भावोऽस्ति तथा आत्मसंयोगप्रयत्नयोः निष्क्रियत्वात् क्रियाहेतुत्वमयुक्तम्। कथं निःक्रियत्वमिति चेत्? उच्यते—"दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यात् निःक्रियाणि। एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः" [वैशे० ५।२।२१,२२] निष्क्रिया इति वचनात् संयोगप्रयत्नयोः गुणत्वात् निष्क्रियत्वम्।

[5]अग्निसंयोगवदिति चेत्; न; अस्मदिष्टसिद्धेः ।१०। स्यान्मतम्—यथा अग्निसंयोगः औष्ण्यापेक्षः परत्र घटादौ पाकजान् रूपादीनारभते नात्माधारेऽग्नौ तथा आत्मसंयोगप्रयत्नयोरदृष्टापेक्षयोः हस्तादौ क्रियाहेतुत्वं युक्तं नात्मनीति; तन्न; किं कारणम्? अस्मदिष्टसिद्धेः। यथा अग्निसंयोगो रूपादिमद्द्रव्यगुणः परत्र घटादौ रूपादिमति रूपाद्यन्तरोत्पत्तिहेतुर्भवति, तथा आत्मसंयोगप्रयत्नावपि परत्र हस्तादौ क्रियामारभमाणौ क्रियावद्द्रव्यगुणाविति क्रियावत्त्वमात्मनोऽस्मदिष्टं सिद्धम्।

तत्सामर्थ्याभावाच्च ।११। य उक्तोऽग्निसंयोगो दृष्टान्तः न तस्य तत्सामर्थ्यमस्ति। कुतः? अनुष्णाशीतस्याऽप्रेरकस्यानुपघातिनोऽप्राप्तस्य संयोगस्य रूपाद्युच्छेदोत्पत्त्योर्हेतुत्वासंभवात्। तस्मादसौ असिद्धो दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकार्थसिद्धये नालम्।

गुरुत्ववदिति चेत्; न; तुल्यत्वात् ।१२। स्यादेतत्—यथा निष्क्रियं गुरुत्वं लोष्टे वर्तमानं तृणादौ क्रियाया हेतुः तथा आत्मसंयोगप्रयत्नौ निष्क्रियावपि सन्तौ हस्तादौ क्रियाहेतू इति; तन्न; किं कारणम्? तुल्यत्वात्। अग्निसंयोगेन तुल्यमेतत्। यथा क्रियापरिणामिनो लोष्टस्य गुणो गुरुत्वं परत्र क्रियाहेतुः तथा आत्मसंयोगप्रयत्नावपि क्रियापरिणामिद्रव्यगुणाविति क्रियावत्त्वमात्मनः सिद्धम्। किञ्च, निष्क्रियस्य गुरुत्वस्याऽस्पर्शकस्याऽप्रेरकस्यानुपघातिनोऽन्यत्र क्रियाहेतुत्वं नोपपद्यते इति दृष्टान्तोऽसिद्धः। द्रव्यमेव [6]तथापरिणतं क्रियाहेतुरिति।

धर्मास्तिकायवदिति चेत्; न; वैषम्यात् ।१३। स्यान्मतम्— यथा धर्मास्तिकायो निष्क्रियः जीवपुद्गलानां गतिहेतुः तथा आत्मसंयोगादिः निष्क्रियोऽपि परत्र क्रियाहेतुरिति; तन्न; किं कारणम्? वैषम्यात्। युज्यते धर्मास्तिकायस्य जीवपुद्गलगतिं प्रत्यप्रेरकत्वम्[7], निष्क्रियस्यापि बलाधानमात्रत्वदर्शनात्, आत्मगुणस्तु अपरत्र क्रियारम्भे प्रेरको हेतुरिष्यते तद्वादिभिः। न च[8] निष्क्रियो द्रव्यगुणः प्रेरको भवितुमर्हति इति वैषम्यम्[9]। किञ्च, धर्मास्तिकायाख्यं द्रव्यमाश्रयकारणं[10] भवतु, न तु

---

१ वैशेषिकः—स०। २ प्रयत्नः संयोगश्चेति। ३ हस्तादौ। ४ तथा सति। ५ निष्क्रियस्यापि गुणस्य क्रियावत्त्वमस्तीति दृष्टान्तेन द्रढयति परः। ६ गुरुत्वेन। ७ प्रत्यप्रेरकस्य नि—ता०, अ०, मू०। ८ निष्क्रियद्रव्य—मु०, द०, ब०। ९—धर्म्यं च किं च ता०। १० बलाधान।

निष्क्रियात्मद्रव्यगुणस्य ततो[1] व्यतिरेकेणाऽनुपलभ्यमानस्य क्रियाया आश्रयकारणत्वं युक्तम्। अर्थान्तरभावे चासत्त्वमिति वैषम्यम्। किञ्च,

शरीरे क्रियाभावो जीवस्य निष्क्रियत्वात् आकाशप्रदेशवत् ।१४। यथा आकाशप्रदेशो निष्क्रियः [3]शरीरे क्रियारम्भहेतुर्न भवति तथा आत्मा तद्गुणश्च निष्क्रियत्वात् क्रियाहेतुर्न भवेत्। किञ्च, एकान्तेनाऽमूर्तस्य निष्क्रियस्य शरीरेण सह सम्बन्धाभावात् परस्परोकारो नोपपद्यते आकाशवदेव।

शरीरवियोगे निष्क्रियत्वप्रसङ्ग इति चेत् ; न; अभ्युपगमात् ।१५। स्यान्मतम्–यस्य कार्मणशरीरसम्बन्धे सति तत्प्रणालिकापादिता क्रिया आत्मनोऽभिप्रेता तस्याष्टविधकर्मसंक्षये शरीरवियोगात् [3]अशरीरस्यात्मनो निष्क्रियत्वं प्रसक्तमिति; तन्न; किं कारणम्? अभ्युपगमात्, कारणाभावात् कार्याभाव इति। कर्मनोकर्मनिमित्ता या क्रिया सा तदभावे नास्तीति निष्क्रियत्वं मुक्तस्याभ्युपगम्यतेऽस्माभिः। अथवा, परनिमित्तक्रियानिवृत्तावपि स्वाभाविकी मुक्तस्योर्ध्वगतिरभ्युपगम्यते प्रदीपवत्। अथवा, [4]स्यात् शरीरवियोगे[5] मुक्तस्य निष्क्रियत्वं यद्यनन्तवीर्यज्ञानदर्शनाचिन्त्यसुखानुभवनादयः क्रिया नाऽभ्युपगम्येरन्, अभ्युपगम्यन्ते तु, तस्मादयमदोषः शरीरवियोगादात्मनो निष्क्रियत्वप्रसङ्ग इति।

वक्ष्यमाणत्वाच्च पूर्वप्रयोगादिभिः ।१६। वक्ष्यते चोत्तरत्र मुक्तानां क्रिया। कथम्? पूर्वप्रयोगादिभिः[6]।

पुद्गलानामपि द्विविधा क्रिया विस्रसा प्रयोगनिमित्ता च ।१७। पुद्गलाना द्विविधा क्रिया वक्ष्यते। सा द्वितयी भवति विस्रसा प्रयोगनिमित्ता चेति।

सा अनन्या स्वात्मविशेषभावात् ।१८। सा क्रिया [7]तद्वतोऽनन्या वेदितव्या। कुतः? स्वात्मविशेषभावात्। यथा अग्नेर्नान्यदौष्ण्यं स्वात्मविशेषभावात्। यद्यन्यत् स्यात्; अग्नेरभावप्रसङ्गः स्यात् अलक्षणत्वात्[8]। तथा क्रियापि क्रियावतो नान्या स्वात्मविशेषभावात्। यद्यन्या स्यात्; द्रव्यस्यास्पन्दत्वं स्यात् क्रियायाश्चाऽभावः, तस्मादनन्या क्रिया।

अर्थान्तरत्वेऽपि योगात् व्यपदेशो दण्डदण्डिवदिति चेत् ; न; स्वतोऽसिद्धत्वात् ।१९। अर्थान्तरत्वेऽपि क्रियायाः तद्योगाद् द्रव्यस्य क्रियावद्व्यपदेशः दण्डदण्डिवदिति च यदि मतम्, तदपि नोपपद्यते; कुतः? स्वतोऽसिद्धत्वात्। युज्यते [9]स्वतःसिद्धेन दण्डेन योगात् देवदत्तस्य दण्डिव्यपदेशः, न च तथा क्रिया स्वतःसिद्धा व्यतिरेकेणानुपलब्धेः। तस्मात्तद्वद्व्यपदेशो न युक्तः।

समवायादिति चेत् ; न; अविशेषप्रसङ्गात् ।२०। स्यान्मतम्, सत्यमेतत् न दण्डदण्डिवद्योगः, स्वतःसिद्धत्वभावात्। कथं तर्हि? समवायो नामाऽयुतसिद्धिलक्षणः[10] संबन्धोऽस्ति, तेनैकत्वमिव नीतस्य द्रव्यस्य क्रियावद्व्यपदेशो भवतीति; तन्न; किं कारणम्? अविशेषप्रसङ्गात्। अयुतसिद्धिलक्षणश्चेत् संबन्धः क्रियाक्रियावतोरविशिष्टः;[10] यद्द्रव्यं सैव क्रिया, या च क्रिया, तदेव द्रव्यमित्यविशेषः प्राप्नोति, तथा च सति पदार्थान्तरकल्पनाव्याघातः। पदार्थान्तरत्वं चेदभ्युपगम्यते; न [11]नामाऽयुतसिद्धिलक्षणः संबन्धः।

अनन्यत्वे द्वयोरैकात्म्यमिति चेत् ; न; कथञ्चिद्व्यतिरेकसिद्धेः ।२१। स्यादेतत्, यदि क्रियाक्रियावतोरनन्यत्वमभ्युपगम्यते तयोरैकात्म्यं प्रसज्येत। द्रष्टा च नानात्मता–द्रव्यमवस्थितं

---

१ द्रव्यतः। २ शवस्य। जीवच्छरीरे वा। ३ अयोगकेवलिचरमसमये वर्तमानस्येत्यर्थः। ४ भवतु। ५ तर्हि। ६ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्चेति [त० सू० १०।६]। ७ तद्वतोरन–मु०, द०, ब०। ८ यथा क्रियाया अस्पन्दं द्रव्यं तथा। ९ विद्यमानयोः सम्बन्धोऽयुतसिद्धिः। १०–तोरिष्टः द०, ब०, मु०, मू०, ता०। ११ निश्चयेन।

क्रिया क्षणिकात्मिका, द्रव्यमकारणं क्रिया कारणवतीति। यद्यैकात्म्यं स्यात् द्रव्यस्यावस्थानवत् अकारणवच्च क्रियाया अप्यवस्थानमकारणत्वं च स्यात्, [1]विपर्ययो वेति; तन्न; किं कारणम्? कथञ्चिद् व्यतिरेकसिद्धेः। अत एवाऽस्माभिः कथञ्चिदन्यत्वमवसीयते ऐकात्म्यं मा विज्ञायीति।

क्रियावत्त्वे सत्यनित्यत्वमिति चेत् ; न; व्यभिचारात् ।२२। स्यादेतत्, यदि क्रियावत्त्वमभ्युपगम्यते जीवस्यानित्यत्वं प्राप्नोति। दृष्टा हि क्रियावतां प्रदीपादीनामनित्यतेति; तन्न; किं कारणम्? व्यभिचारात्। महदहङ्कारादीनां परमाण्वादीनां च क्रियावतामपि नित्यत्वदर्शनात् व्यभिचारी हेतुः।

अथ सर्वानित्यत्ववादी आत्मानित्यत्वे हेतुं ब्रूयात् [2]असिद्धो हेतुः "सर्वे प्रत्ययजाश्चैव सर्वे चैव निरीहकाः" [ ] इति क्रियावत्त्वनिह्नवात्। किञ्च,

अभ्युपगमात् ।२३। अभ्युपगम्यतेऽस्माभिः क्रियावतां जीवादीनां पर्यायार्थिकनयादेशात् अनित्यत्वं ततो न बाधाकरोऽयं हेतुः।

असिद्धेश्च ।२४। नेदं क्रियावत्त्वमस्मान् प्रति सिद्धं द्रव्यार्थिकनयादेशात् निष्क्रियत्वोपपत्तेः। एतेन प्रदीपादिदृष्टान्तासिद्धिश्च योज्या। किञ्च,

अनुत्पादाव्ययोत्पादव्ययदर्शनात् ।२५। पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् सर्वे भावा अनुत्पादाव्ययदर्शनात् निष्क्रिया नित्याश्च। द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् सर्वे भावा उत्पादव्ययदर्शनात् सक्रिया अनित्याश्चेति अनेकान्तोपपत्तेः एकान्तवादिविहिता दोषा नानेकान्तवादे अवकाशं लभन्ते।

अजीवकाया इत्यत्र कायग्रहणे प्रदेशास्तित्वमात्रत्वं निर्ज्ञातं नत्वियत्ताऽवधारिता प्रदेशानाम्, अतस्तन्निर्धारणार्थमिदमुच्यते—

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माऽधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

[3]संख्याविशेषातीतत्वादसंख्येयाः ।१। संख्यानं संख्या गणनेत्यर्थः। स्वलक्षणेन परस्परतो विशेष्यत इति विशेषः। संख्यायाः संख्यैव वा विशेषः संख्याविशेषः तमतिक्रान्ता ये तेऽसंख्येयाः। न केनचित् संख्यातुं शक्यन्त इति यावत्।

तदनुपलब्धेरसर्वज्ञत्वप्रसङ्ग इति चेत्, न; तेनात्मनाऽवसितत्वात् ।२। स्यान्मतम्, यदि ते न केनचिदपि संख्यातुं शक्यन्ते, प्राप्तं तर्हि तदनुपलब्धेरसर्वज्ञत्वमिति; तन्न; किं कारणम्? [4]तेनात्मनाऽवसितत्वात्। यथा अनन्तमनन्तात्मनोपलभमानस्य न सर्वज्ञत्वं हीयते तथा असंख्येयमसंख्येयात्मनाऽवबुध्यमानस्य नास्ति सर्वज्ञत्वहानिः। न हि अन्यथाऽवस्थितमर्थमन्यथा वेत्ति सर्वज्ञो यथार्थज्ञत्वात्। अर्थस्य चाधिगमे त्रिविधं मानं व्याख्यातं संख्येयमसंख्येयमनन्तमिति। तत्रेहाऽजघन्योत्कृष्टासंख्येयं परिगृह्यते।

प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः ।३। प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशाः। कथं प्रदिश्यन्ते?

परमाण्ववस्थानपरिच्छेदात् ।४। वक्ष्यमाणलक्षणो द्रव्यपरमाणुः स यावति क्षेत्रेऽवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते। ते धर्माधर्मैकजीवाः तुल्याऽसंख्येयप्रदेशाः। तत्र धर्माधर्मौ निष्क्रियौ व्याप्य स्थितौ। जीवः तावत्प्रदेशोऽपि संहरणविसर्पणस्वभावत्वात् कर्मनिर्वर्तितं शरीरमणु महद्वा[5]

---

१ क्रियायाः क्षणिकत्ववत् द्रव्यस्यापि क्षणिकत्वं स्यादित्यादि। २ न सिद्धो अ०। ३ तेनावसितत्वात् मू०, अ०। ४ जानतः। ५ बृहद्वा–मु०, द०, ब०।

अधितिष्ठंस्तावदवगाह्य वर्तते। यदा तु लोकपूरणं भवति तदा मन्दरस्याधश्चित्रवज्रपटलयोर्मध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशाः व्यवतिष्ठन्ते, इतरे प्रदेशाः ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च कृत्स्नं लोकाकाशं व्याप्नुवते।

एकद्रव्यस्य प्रदेशकल्पनोपचारः इति चेत्; न; मुख्यक्षेत्रविभागात्।५। स्यान्मतम्, एकद्रव्यस्य प्रदेशकल्पना उपचारतः स्यात्। उपचारश्च मिथ्योक्तिर्न तत्त्वपरीक्षायामधिक्रियते प्रयोजनाभावात्। न हि मृगतृष्णिकया मृषार्थात्मिकया जलकृत्यं क्रियते इति; तन्न; किं कारणम्? मुख्यक्षेत्रविभागात्? मुख्य एव क्षेत्रविभागः, अन्यो हि घटावगाह्यः आकाशप्रदेशः इतरावगाह्यश्चान्य इति। यदि अन्यत्वं न स्यात्; व्याप्तित्वं व्याहन्यते।

निरवयवत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; द्रव्यविभागाभावात्।६। स्यादेतत्, यदि मुख्य एव विभागोऽभ्युपगम्यते निरवयवत्वं तर्हि नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम्? द्रव्यविभागाभावात्। यथा घटो द्रव्यतो विभागवान् सावयवः, न च तथैषां द्रव्यविभागोऽस्तीति निरवयवत्वं प्रयुज्यते।

भेद्यत्वादात्मनामेकग्रहणम्।७। भेद्या आत्मानो बहव इत्यर्थः, तेन एकग्रहणं क्रियते, नानाजीवापेक्षया हि अनन्तप्रदेशत्वं स्यात्।

कथञ्चित्प्रदेशभेदोपपत्तेः संबन्धनिर्देशः।८। एकश्चासौ जीवश्च एकजीवः, धर्मश्चाऽधर्मश्चैकजीवश्च धर्माधर्मैकजीवाः तेषां धर्माधर्मैकजीवानाम्। प्रदेशा इति संबन्धनिर्देशः क्रियते। कुतः? कथञ्चित्प्रदेशभेदोपपत्तेः।

असंख्येयप्रदेशा इत्यस्तु लघुत्वात् इति चेत्; न; उत्तरार्थत्वात् भेदकरणस्य।९। स्यान्मतम्–'असंख्येयप्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवाः' इत्यस्तु सूत्रम्, कुतः? लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? उत्तरार्थत्वात् भेदकरणस्य। प्रदेशा इति भेदकरणमुत्तरार्थम्। द्रव्यप्रधाने हि निर्देशे सति प्रदेशानामुपसर्जनत्वात् उत्तरत्राभिसंबन्धो न स्यात्। ततः प्रतिसूत्रं [3]प्रदेशग्रहणे क्रियमाणे गौरवं स्यात्।

कश्चिदाह–

प्रदेशकल्पना निरवयवत्वादौपचारिकी सिंहवत्।१०। धर्मादीनां या प्रदेशकल्पना सा औपचारिकी। कुतः? निरवयवत्वात्। कथम्? सिंहवत्। यथा विशिष्टपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नामकर्मोदयापादितविशेषे क्रौर्यशौर्यादिगुणप्रकर्षाधिष्ठाने खरनखोग्रदंष्ट्राभासुरकेसरकपिलनयनतारकाद्यवयवविशिष्टे केसरिणि सिंहशब्दोऽध्यवसितः माणवके अतद्गुणे भक्त्याऽध्यारोप्यते, तथा पुद्गलेषु मुख्यः प्रदेशशब्दः धर्मादिषु भक्त्योपचर्यते इति।

न वा; प्रत्ययाभेदात्।११। न वा औपचारिकी। कुतः? प्रत्ययाभेदात्। इह मुख्यप्रत्ययात् सिंहविशेषात् अध्यवसानरूपात् माणवके सिंह इति गौणप्रत्ययोऽध्यारोपरूपो भिन्न उपलभ्यते, न च तथा पुद्गलेषु धर्मादिषु च प्रदेशप्रत्ययो भिन्नोऽस्ति, उभयत्रावगाहभेदतुल्यत्वात्। इतश्च,

उभयत्र सोपपदत्वात्।१२। सिंहशब्दो निरुपपदो मुख्यं गमयति सोपपदो गौणम्–सिंहो माणवक इति, न तथा प्रदेशशब्दे विशेषोऽस्ति पुद्गलेषु धर्मादिषु च सोपपदत्वात्–'घटस्य प्रदेशाः धर्मादीनां प्रदेशाः' इति। ततो नास्त्यत्र विशेषः। इतश्च,

हेत्वपेक्षाभावात्।१३। सिंहे प्रसिद्धः क्रौर्यादिधर्मः तदेकदेशसादृश्यं माणवके गौणव्यवहारस्य हेतुरस्ति, न तथा पुद्गलेषु प्रसिद्धं हेतुमवेक्ष्य धर्मादिषु प्रदेशोपचारः क्रियते तेषामपि स्वाधीनप्रदेशत्वात्। तस्मादुपचारकल्पना न युक्ता।

स्वतोऽवधारणाभावात् नाञ्जसा इति चेत्; नः अत्यन्तपरोक्षत्वात्।१४। स्यान्मतम्; यदि घटादिवत् धर्मादीनाम् आञ्जसाः प्रदेशा भवेयुर्ननु घटादिवदेव स्वतः प्रदिश्येरन्। घटादीनां

१–रत इति मु०, ब०। २ उत्तरत्रापि स–श्र०, ता०। ३ असंख्येयाः प्रदेशा इत्यादि। ४ उपचारेण। ५ ज्ञानात्। ६–त् सिंहत्वात् सिंह–मु०, ब०, द०।

हि प्रदेशा ग्रीवादय आञ्जसाः स्वत एव प्रदिश्यन्ते न द्रव्यान्तरतः, न त्वेवं धर्मादीनां प्रदेशाः स्वतः प्रदिश्यन्ते परमाण्ववगाहपरिच्छेद्यत्वात्, अतो न मुख्या इति; तन्न; किं कारणम्? अत्यन्तपरोक्षत्वात्। युज्यते घटादीनां प्रत्यक्षत्वात् स्वत एव प्रदेशावधारणम्। अत्यन्तपरोक्षास्तु धर्मादयः, तत एषां मुख्या अपि प्रदेशा न शक्याः स्वात्मन्येवावधारयितुं न गौणप्रदेशत्वात्।

अर्हदागमप्रामाण्यात्।१५। युगपत् सकलपदार्थत्वावभासनज्ञानातिशयेनार्हता आविष्कृत आगमः गणधरैरनुस्मृतवचनरचनः श्रुताख्यः, तच्छिष्यप्रशिष्यप्रज्ञावीचिपरम्परासमुपनीतोऽस्ति। तस्य प्रामाण्याद्धर्मादीनां क्षेत्रप्रदेशाः मुख्याः इत्येतदभ्युपगन्तव्यम्। तद्यथा, एकैकस्मिन्नात्मप्रदेशे अनन्तानन्ता ज्ञानावरणादिकर्मप्रदेशा अवतिष्ठन्ते, एकैकस्मिन् कर्मप्रदेशे अनन्तानन्ता औदारिकादिशरीरप्रदेशाः, एकैकस्मिन् शरीरप्रदेशे अनन्तानन्ता वैस्रसोपचयप्रदेशाः छिन्नगुडरेण्वाद्युपचयवदवतिष्ठन्ते, तथा धर्मादिप्रदेशेष्वपि। किञ्च,

स्थितास्थितवचनात्।१६। भावान्तर(भवान्तर)परिणामे सुखदुःखानुभवने क्रोधादिपरिणामे वा जीवप्रदेशानाम्[2]उद्ध्वनिधवपरिस्पन्दस्याप्रवृत्तिः स्थितिः, प्रवृत्तिरस्थितिरित्युच्यते। तत्र "सर्वकालं जीवाष्टमध्य[3]प्रदेशा निरपवादाः[4] सर्वजीवानां स्थिता एव, केवलिनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशाः स्थिता एव, व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जितानाम् इतरे (ता इतरे) प्रदेशाः अस्थिता एव, शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चाऽस्थिताश्च" [ ] इति वचनान्मुख्या एव प्रदेशाः। किञ्च,

इन्द्रियपरिणामवचनात्।१७। इह वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभोपष्टम्भात् उत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां विशुद्धानाम् आत्मप्रदेशानां चक्षुरादीन्द्रियपर्यायपरिणाम उक्तः प्रतिविशिष्टप्रदेशत्वात् परस्परस्थानासंक्रमेण साक्षाच्च दृश्यते तस्मान्मुख्या एवाऽऽत्मप्रदेशाः। किञ्च,

द्रव्याणां प्रतिनियतप्रदेशावस्थानात्।१८। इहान्येषु आकाशप्रदेशेषु पाटलिपुत्रं स्थितम्, अन्येषु च मथुरा, अतो नाना आकाशप्रदेशाः। यस्यैकान्तेन अप्रदेशमाकाशं तस्य यद्देशं पाटलिपुत्रं तद्देशभाविन्येव मथुरापि स्यात्। किञ्च,

उभयदोषप्रसङ्गात्।१९। संसृ[5]रतोऽप्यस्य पिण्डस्य कर्णशष्कुल्यन्तरे अदृष्टविशेषसंस्कृतमाकाशं श्रोत्रमिति यदाख्यायते[6]; तत्कृत्स्नं वा आकाशं स्यात्, न वा? यदि कृत्स्नम्; ननूर्ध्वाधस्तिर्यग्व[7]स्थितस्पर्शवद्द्रव्याभिघातोत्पन्नाः सर्वे शब्दाः सदा सर्वैः जीवै[8]रुपलभ्या इत्यासक्तम्। अथैष दोषो मा प्रापत् इति प्रतिनियताकाशप्रदेशाः श्रोत्रमितीष्यते; नन्वाकाशप्रदेशानां बहुत्वात् यत्प्रतिज्ञातम्–'न सन्त्याकाशप्रदेशा मुख्याः' इति तद्धीनम्। अथवा, परमाणुराकाशेन कृत्स्नेन वा संयुज्येत, न वा? यदि कृत्स्नेन; नन्वेवमणुमात्रमाकाशम् आकाशमात्रो वाऽणुः प्राप्नोति। अथ एकप्रदेशेन संयुज्यते; ननु निरपवादमेतत् सिद्धं मुख्या एवाऽऽकाशप्रदेशा इति। किञ्च,

कर्माभावप्रसङ्गात्।२०। इहोत्पन्नं कर्म स्वाश्रयम्[9] [10]आश्रयान्तराद्वियोज्य [11]आश्रयान्तरेण संयोजयति इत्येषः कर्मणः स्वभावः, सत्येवं प्रदेशवत्त्वमाकाशस्य सिद्धम्, इतरथा हि कर्माभावप्रसङ्गः प्रदेशान्तरसङ्क्रमाभावात्। किञ्च,

---

१ ततो श्र०। २ उद्भवनिधनप–मु०, द०, ता०, ब०। ३ मध्यमप्र–मु०। ४ निर्दोषाः स्पन्दरहितत्वात्। ५ मदुरा आ०, ता०, श्र०। ६ गच्छतोऽपि। ७ शरीरस्य। ८ वैशेषिकैः। "श्रोत्रं पुनः श्रवणविवरसञ्ज्ञको नभोदेशः शब्दनिमित्तोपभोगप्रापकधर्माधर्मोपनिबद्धः।"–प्रश० भा० पृ० २६। ९ व्यापारः। १० क्रियाया आश्रयभूतं श्येनम्। ११ स्थाणोः। १२ वृक्षाद्यन्यतमेन।

एकानेकप्रदेशत्वं प्रत्यनेकान्तात् पुरुषवत् ।२१। यथा पुंसः सामान्यपौरुषेयशरीरद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, तस्यैव शिरःपृष्ठोरूदरपाणिपादाङ्गुलिपर्वाद्यङ्गोपाङ्गपर्यायार्थादेशात् स्यादनेकत्वम्। अथवा, पुरुषद्रव्यार्थादेशात्स्यादेकत्वम्, स्वजात्यपरित्यागेन [1]पावकलावकादिपर्यायार्थादेशात् स्यादनेकत्वम्, पितृपुत्रभ्रातृभागिनेयभ्रातृव्यमातुलादिपर्यायार्थादेशात् वा स्यादनेकत्वम्, पञ्चेन्द्रियारोग्यमेधाविपटुकुशलसुशीलत्वादिपर्यायार्थादेशाद्वा स्यादनेकत्वम्, तथा धर्माधर्माकाशजीवानाम् आत्मीयद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकप्रदेशत्वं प्रतिनियतप्रदेशपर्यायार्थादेशात् स्यान्नानात्वम् इत्यनेकान्तः।

संसारिणश्च व्यवहारतः सावयवत्वात् ।२२। व्यवहाराद् व्यवहारतः व्यवहारनयार्पणादित्यर्थः। कः पुनर्व्यवहारः? अनादिकर्मबन्धनबद्धत्वम्, अतस्तदावेशात्[2] तदनुविधायित्वे सति सावयवत्वोपपत्तेः संसारिणो जीवस्य प्रदेशवत्त्वम्। शुद्धनयादेशात्तूपयोगस्वभावस्याऽऽत्मनोऽप्रदेशत्वम्।

अथाकाशस्य कति प्रदेशा इति? अत आह–

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

अनन्ता इत्यन्यपदार्थनिर्देशः ।१। अन्तोऽवसानमित्यर्थः, अविद्यमानोऽन्तो येषां त इमेऽनन्ताः। अन्यपदार्थनिर्देशोऽयम्। के पुनस्ते? प्रदेशाः। कुतः? प्रत्यासत्तेस्तदभिसंबन्धोपपत्तेः।

असंख्येयानन्तयोरविशेष इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।१। स्यान्मतम्–असंख्येयानन्तयोर्नास्ति विशेषः। कुतः? इयत्तापरिच्छेदाभावतुल्यत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तोऽनयोर्भेदः "नृस्थिती परावरे" [त० सू० ३।३८] इत्यत्र।

अनन्तत्वादपरिज्ञानमिति चेत्; न; अतिशयज्ञानदृष्टत्वात् ।३। स्यादेतत्–सर्वज्ञेनानन्तं परिच्छिन्नं वा, अपरिच्छिन्नं वा? यदि परिच्छिन्नम्; उपलब्धावसानत्वात् अनन्तत्वमस्य हीयते। अथापरिच्छिन्नम्; तत्स्वरूपानवबोधात् असर्वज्ञत्वं स्यादिति। तन्न; किं कारणम्? अतिशयज्ञानदृष्टत्वात्। यत्तत्केवलिनां ज्ञानं क्षायिकम् अतिशयवत् अनन्तानन्तपरिमाणं तेन तदनन्तमवबुध्यते साक्षात्। तदुपदेशादितरैरनुमानेनेति न सर्वज्ञत्वहानिः। न च तेन परिच्छिन्नमित्यतः सान्तम् [3]अनन्तेनाऽनन्तमिति ज्ञातत्वात्। किञ्च,

सर्वेषामविप्रतिपत्तेः ।४। नात्र सर्वे प्रवादिनो विप्रतिपद्यन्ते। [4]केचित्तावदाहुः–"अनन्तलोकधातवः" [ ] इति। [5]अपरे मन्यन्ते दिक्कालात्माकाशानां सर्वगतत्वात् अनन्तत्वमिति। इतरे ब्रुवते–प्रकृतिपुरुषयोरनन्तत्वं सर्वगतत्वादिति। न चैतेषामनन्तत्वादपरिज्ञानम्, नापि परिज्ञानत्वमात्रादेव तेषामन्तवत्त्वम्। तस्मात् नैतद्युक्तम् अनन्तत्वादपरिज्ञानमिति।

सर्वज्ञाभावप्रसङ्गाच्च ।५। यस्य अर्थानामानन्त्यमपरिज्ञानकारणं तस्य सर्वज्ञाभावः प्रसजति। अनन्तो हि ज्ञेयः, तस्यानन्त्यादेव न च कश्चित् [6]परिच्छेत्ताऽस्तीति। [10]अथान्तवत्त्वं स्यात्; संसारो मोक्षश्च नोपपद्यते। कथमिति चेत्; उच्यते–जीवाश्चेत्सान्ताः; सर्वेषां हि मोक्षप्राप्तौ संसारोच्छेदः प्राप्नोति। तद्भयात् मुक्तानां पुनरावृत्त्यभ्युपगमे स मोक्ष एव न स्यात् [11]अनात्यन्तिकत्वात्। एकैकस्मिन्नपि जीवे कर्मादिभावेन व्यवस्थिताः पुद्गला अनन्ताः, तेषामन्तवत्त्वे सति कर्मनोकर्मविषय-

१ पूङ् पवने। लूङ् छेदने। २ व्यवहाराङ्गीकारात्। ३ अनन्तप्रमाणेन। ४ सामयिकान् प्रत्युत्तरं दत्त्वेदानीं वादिनः प्रत्याह। ५ बौद्धाः। ६ वैशेषिकाः–स०। ७ सांख्याः–स०। ८ परिज्ञानमा–ता०। ९ ज्ञाता। १० अथान्तवत्त्वम् श्र०। ११ आत्यन्तिकत्वाभावात्।

विकल्पाभावात् संसाराभावः तदभावान्मोक्षश्च न स्यात्। तथा अतीतानागतकालयोरन्तवत्त्वे प्राक् पश्चाच्च कालव्यवहाराभावः स्यात्। न चासौ युक्तः, असतः प्रादुर्भावाभावात् सतश्चात्यन्तविनाशानुपपत्तेरिति। तथा आकाशस्यान्तवत्त्वाभ्युपगमे ततो बहिर्घनत्वप्रसङ्गः। नास्ति चेद्घनत्वम्; आकाशेनापि भवितव्यमित्यनन्तवत्त्वाभावः।

उक्तममूर्तानां प्रदेशपरिमाणम्, इदानीं मूर्तानां पुद्गलानां प्रदेशपरिमाणं निर्ज्ञातव्यमित्यत आह–

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

चशब्दोऽनन्तसमुच्चयार्थः ।१। अनन्ताः [1]प्रकृतास्तेषां समुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते–संख्येया असंख्येया अनन्ताश्चेति। के पुनस्ते? 'प्रदेशाः' इत्यनुवर्तते। कस्यचित्पुद्गलद्रव्यस्य द्व्यणुकादेः संख्येयाः प्रदेशाः कस्यचिदसंख्येयाः अनन्ताश्च।

अनन्तानन्तोपसंख्यानमिति चेत्; न; अनन्तसामान्यात् ।२। स्यादेतत्–अनन्तानन्तप्रदेशाश्च पुद्गलाः सन्ति तदुपसंग्रहार्थं[3] तदुपसंख्यानं कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? अनन्तसामान्यात्। अनन्तप्रमाणं त्रिविधमुक्तम्–परीतानान्तं युक्तानन्तम् अनन्तानन्तं चेति। तत्सर्वमनन्तसामान्येऽन्तर्भावात् अनन्तग्रहणेन गृह्यत इति नोपसंख्यातव्यम्।

अधिकरणविरोधादानन्त्याभाव इति चेत्; न; सूक्ष्मपरिणामावगाहनसामर्थ्यात् ।३। स्यान्मतम्–असंख्यातप्रदेशो लोकः, अनन्तप्रदेशस्य अनन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति विरोधः, ततो नानन्त्यमिति; तन्न; किं कारणम्? सूक्ष्मपरिणामावगाहनसामर्थ्यात्। परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे अनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते। अवगाहनसामर्थ्यमप्येषामव्याहतमस्ति येन एकैकस्मिन्नपि प्रदेशे अनन्ताऽनन्तानामवस्थानं न विरुध्यते। किञ्च,

अनेकान्तात् ।४। नायमेकान्तः–[4]अल्पेऽधिकरणे महद्द्रव्यं नावतिष्ठते इति। कुतः?

प्रचयविशेषात्[5] ।५। प्रचयविशेषः संघातविशेषः इत्यर्थः। पुद्गलानां हि प्रचयविशेषात् अल्पे क्षेत्रे बहूनामवस्थानं दृष्टम्। कथम्?

संहृतविसर्पितचम्पकादि[6]गन्धादिवत् ।६। यथाऽल्पे कुड्मलावस्थे चम्पके सूक्ष्मप्रचयपरिणामात् संहृताश्चम्पकपुष्पगन्धावयवाः तद्व्यापिनो बहवोऽवतिष्ठमाना दृष्टाः। तस्मिन्नेव विसर्पिते स्थूलप्रचयपरिणामाद्विनिर्गताश्चम्पकगन्धावयवाः सर्वदिग्व्यापिनो दृष्टाः। यथा वाल्पे करीषपटले दारुपिण्डे च प्रचयविशेषावगाढाः सन्तः पुद्गला अग्निना दह्यमानाः प्रचयविशेषेण धूमभावेन दिङ्मण्डलव्यापिनो दृष्टाः, तथाऽल्पेऽपि लोकाकाशे अनन्तानामनन्तानन्तानां च जीवपुद्गलानामवस्थानमिति नास्ति विरोधः।

पुद्गलानामित्यविशेषवचनात् परमाणोरपि प्रदेशवत्त्वप्रसङ्गे तत्प्रतिषेधार्थमाह—

नाणोः ॥ ११ ॥

अणोः प्रदेशाः न, सन्तीति वाक्यशेषः। कुतो न सन्तीति चेत्? उच्यते—

प्रदेशमात्रत्वात् ।१। यथा आकाशप्रदेशस्यैकस्य प्रदेशभेदाभावात् अप्रदेशवत्त्वम्, एवमणोरपि प्रदेशमात्रत्वात् प्रदेशभेदाभावः। किञ्च,

१–त्यनन्तवत्त्वा–श्र०, मु०, द०। २ पुद्गलाः ते–मु०, द०। ३–र्थमुप–ता०, मु०, मू०, ब०, द०। ४ अल्पाधि–मु०, ब०। ५–षात् संघातविशेषः संघातविशेष इत्यर्थं–मु०, द०, ब०। ६ आदिशब्देन काष्ठादिकं गृह्यते। ७–शबन्धप्र–मु०, अ०, ता०, ब०, द०। ८–शबन्धमेव–श्र०, ता०।

ततोऽल्पपरिमाणाभावात् ।२। न हि अणोरल्पीयान् अस्ति यतोऽस्य प्रदेशाः भिद्येरन्। अतः स्वयमेवाद्यन्तपरिमाणत्वादप्रदेशोऽणुः । किञ्च,

अन्वर्थसंज्ञत्वात् ।३। यथा प्रदीपनात् प्रदीप इत्यन्वर्थसंज्ञा तथाऽणुरितीयमप्यन्वर्थसंज्ञा अणुत्वात् सूक्ष्मत्वात् अणुरिति। यदि ह्यणोरपि प्रदेशाः स्युः; अणुत्वमस्य न स्यात् प्रदेशप्रचयरूपत्वात्, तत्प्रदेशानामेवाणुत्वं प्रसज्येत ।

अप्रदेशत्वादभावः खरविषाणवदिति चेत् ; न; उक्तत्वात् ।४। स्यादेतत्–यथा खरविषाणमप्रदेशत्वान्नास्ति तथाणुरपि भवेदिति; तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्–प्रदेशमात्रोऽणुः, न खरविषाणवदप्रदेश इति ।

आदिमध्यान्तव्यपदेशाभावादिति चेत् ; न; विज्ञानवत् ।५। स्यान्मतम्–आदिमध्यान्तव्यपदेशः परमाणोः स्याद्वा, न वा ? यद्यस्ति; प्रदेशवत्त्वं प्राप्नोति। अथ नास्ति; खरविषाणवदस्याभावः स्यादिति। तन्न; किं कारणम् ? विज्ञानवत्। यथा विज्ञानमादिमध्यान्तव्यपदेशाभावेऽप्यस्ति तथाऽणुरपि[1] इति। उत्तरत्र च तस्यास्तित्वं वक्ष्यते ।

एषामवधृतप्रदेशानां धर्मादीनामाधारप्रतिपत्त्यर्थमाह—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

अनन्तरत्वात् पुद्गलानामवगाहप्रसङ्ग इति चेत् ; न, समुदायापेक्षत्वात् ।१। स्यादेतत्–अनन्तराः पुद्गलाः ततस्तेषामेव लोकाकाशेऽवगाहः इत्ययमर्थ आसक्त इति; तन्न; किं कारणम् ? समुदायापेक्षत्वात्। धर्मादीनि द्रव्याणि समुदितान्यत्रापेक्ष्यन्ते, तत्रानन्तरमिदं व्यवहितमिदमिति विवेको नास्ति। ततः सर्वद्रव्याणामाधारगतिः सिद्धा भवति ।

आकाशस्यापि अन्याधारकल्पनेति चेत् ; न; स्वप्रतिष्ठत्वात् ।२। स्यान्मतम्–यथा धर्मादीनां लोकाकाशमाधारः तथा आकाशस्याप्यन्येनाधारेण भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? [2]स्वप्रतिष्ठत्वात्। स्वस्मिन् प्रतिष्ठाऽस्येति स्वप्रतिष्ठमाकाशम्। स्वात्मैवास्याधेय आधारश्चेत्यर्थः। कुतः ?

ततोऽधिकप्रमाणद्रव्यान्तराधाराभावात् ।३। न हि आकाशादधिकप्रमाणं द्रव्यान्तरमस्ति यत्राकाशमाधेयं स्यात्, ततः सर्वतो विरहितान्तस्यास्याधिकर[3]णान्तरस्याऽभावात् स्वप्रतिष्ठमवसेयम् ।

तथा चानवस्थानिवृत्तिः ।४। एवं च कृत्वा अनवस्थादोषनिवृत्तिर्भवति–यतः स्वप्रतिष्ठमाकाशं न तस्यान्यदधिकरणं द्रव्यान्तरमस्ति। अन्याधिकरणत्वे हि तस्याप्यन्यत् [4]तस्याप्यन्यदित्यनवस्था प्रसज्येत। किञ्च,

परमार्थतया आत्मवृत्तित्वात् ।५। एवंभूतनयादेशात् सर्वद्रव्याणि परमार्थतया आत्मप्रतिष्ठानीत्याधाराधेयाभावात् कुतोऽनवस्था ?

अन्योन्याधारताव्याघात इति चेत्; न; व्यवहारतस्तत्सिद्धेः ।६। स्यान्मतम्–यदि सर्वाणि द्रव्याणि परमार्थतया स्वात्मप्रतिष्ठानि ननु यदुक्तम्– "वायोराकाशमधिकरणम्, उदकस्य वायुः, पृथिव्या उदकम्, सर्वजीवानां पृथिवी, अजीवा जीवाधाराः, जीवाश्चाऽजीवाधाराः, कर्मणामधिकरणं जीवाः, जीवानां कर्माणि, धर्माधर्मकाला आकाशाधिकरणाः" [ ] इत्येतस्या अन्योन्याधारतायाः व्याघात इति; तन्न; किं कारणम् ? व्यवहारतस्तत्सिद्धेः। सर्वमिदमुक्तम् अन्योन्याधारत्वं

१–णुरप्युक्त–श्र० । २ स्वप्रतिष्ठितत्वा–श्र० । ३–णस्यान्त–श्र० । ४ तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यदित्य– मु० ।

व्यवहारनयवक्तव्यबललाभादेशात् सिद्ध्यति । व्यावहारिकमेतत्–आकाशे वातादीनामवगाह इति । आधारान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्ग इति । परमार्थतस्तु आकाशवत् वातादीन्यपि स्वात्माधिष्ठानानि । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

[1]क्रियाविष्टकर्तृकर्माधारवत् ।७। क्रिया द्विविधा–कर्तृसमवायिनी कर्मसमवायिनी चेति। तत्र कर्तृसमवायिनी आस्ते गच्छतीति। कर्मसमवायिनी ओदनं पचति, कुशूलं भिनत्तीति। तदा विष्टस्य कर्तुः कर्मणश्चाधार आसनादिः स्थाल्यादिश्च। तत्र व्यवहारनयवशात् क्रियायाः द्रव्यमधिकरणम्, [2]तदाविष्टस्य द्रव्यस्य द्रव्यान्तरम्। परमार्थतस्तु एवंभूतनयवशात् क्रिया क्रियात्मन्येव, द्रव्यमपि स्वात्मन्येव। तथा लोकाकाशेऽवगाहो धर्मादीनामिति व्यवहारनयादेशादुक्तम्, परमार्थतस्तु सर्वद्रव्याणि स्वात्माधिकरणानि ।

आकाशधर्मादीनामाधाराधेयत्वात् कुण्डबदरवत् प्रसङ्ग इति चेत्; न; अयुतसिद्धेऽपि तद्दर्शनात् शरीरे हस्तवत् ।८। स्यादेतत्–यथा कुण्डे बदराणि इत्याधारः कुण्डम्, आधेयानि बदराणीति पूर्वापरकालत्वं युतसिद्धिश्च तेषाम्, तथा आधारत्वात् पूर्वमाकाशं पश्चाद्धर्मादीन्याधेयत्वादिति युतसिद्धि; अतोऽनादित्वव्याघात इति; तन्न; किं कारणम् ? अयुतसिद्धेऽपि तद्दर्शनात्। कथम् ? शरीरे हस्तवत्। यथा हस्तशरीरयोर्युगपदुत्पत्तौ पूर्वापरत्वेऽसति अयुतसिद्धस्य हस्तस्य शरीरमाधारः, तथा आकाशधर्मादीनामनादिपारिणामिकयौगपद्यसिद्धौ असति पूर्वापरीभावे भवत्याधाराधेयत्वम्। किञ्च,

अनेकान्तात् ।९। नैतदैकान्तिकम्–युतसिद्धस्यैवाधाराधेयत्वं नायुतसिद्धस्येति। [3]स्तम्भसारादिषु कुण्डबदरादिषु च दर्शनात्। तस्मादनेकान्तान्नायमुपालम्भः।

अथ लोकाकाश इत्युच्यते, को लोको नाम ?

यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः ।१०। पुण्यपापयोः कर्मणोः फलं सुखदुःखलक्षणं यत्रा(यत्र) लोक्यते स लोकः। कः पुनरसौ ? आत्मा।

लोकतीति वा लोकः ।११। लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोकः।

इतरद्द्रव्यालोकप्रसङ्ग इति चेत् ; न; रूढौ [4]क्रियाया व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ।१२। स्यादेतत्–द्विधाप्युक्तेन क्रमेण जीवस्यैव लोकत्वं प्राप्तम् इतरेषां द्रव्याणामलोकत्वं ततश्च "षड्द्रव्यसमूहो लोकः" [ ] इत्यार्षस्य विरोध इति; तन्न; किं कारणम् ? रूढौ क्रियाया व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। यथा गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तौ स्थितादीनां न गोत्वनिवृत्तिः, तथा लोकनाल्लोक इति व्युत्पत्तावपि धर्मादीनामपि न लोकत्वं हीयते।

लोक्यत इति वा लोकः ।१३। सर्वज्ञेनाऽनन्ताऽप्रतिहतकेवलदर्शनेन लोक्यते यः स लोकः। तेन धर्मादीनामपि लोकत्वं सिद्धम्।

आत्मनोऽलोकत्वप्रसङ्ग इति चेत् ; न; स्वात्मलोकनात् ।१४। यो लोकते आत्मा तस्याऽलोकत्वं प्राप्नोति लोक्यत्वाभावादिति; तन्न; किं कारणम् ? स्वात्मलोकनात्। योऽसौ सर्वज्ञो बाह्यं लोकमानः स आत्मानमपि लोकते इति लोकत्वमस्य सिद्धम्, इतरथा हि तस्य सर्वदर्शित्वाभावः आत्मानवलोकनात्। आत्मानमनवलोकमानस्य बाह्यलोकनासंभवश्च घटादिवत्। यथा घटादिरात्मानमपश्यन्नपरान् न पश्यति।

अलोकस्यापि लोकत्वप्रसङ्ग इति चेत् ; न; उक्तत्वात् ।१५। स्यान्मतम्–यदि लोक्यत इति लोकः, अलोकस्यापि लोकत्वं प्राप्नोति सर्वदर्शिना लोक्यत्वात्। अथालोकं न लोकते; सर्वदर्शित्व-

१ क्रियाधिष्ठक– ता०, श्र०, द० । २ तदाधिष्टस्य ता० ३ श्र० । ३ स्तम्भे सारः इति । ४ आत्मा । ५ क्रियाव्यु– ता०, श्र०, मू०, द० ।

मस्य हीयते, [1]न चैतदिष्टम्, तस्माल्लोकत्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्-रूढिविशेषबललाभात् विशेषे वृत्तिरिति।

उभयविशेषणभावाद्वा ।१६। अथवा, उभयविशेषणमिहोपादीयते। यत्रस्थेन सर्वज्ञेन लोक्यते यः स लोक इति। न चाऽलोकस्थेनाऽलोको लोक्यते ततो नालोकस्य लोकत्वप्रसङ्गः।

तस्याऽऽकाशं लोकाकाशं जलाशयवत् ।१७। यथा जलस्य आशय(यः)स्थानं जलाशय इत्युच्यते, तथा लोकस्याकाशं लोकाकाशमिति स्थानापेक्षः संबन्धोऽवसेयः।

धर्माधर्मपुद्गलकालजीवा यत्र लोक्यन्ते स लोक इति वा ।१८। अथवा, धर्माधर्मपुद्गलकालजीवा यत्र लोक्यन्ते स लोक इत्यधिकरणसाधनो घञ्। किं पुनरधिकरणम्? आकाशम्। लोक एवाकाशं लोकाकाशमिति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिः, तस्मिन्नवस्थानं धर्मादीनां द्रव्याणाम्। अत आकाशं परप्रत्ययवशात् द्वेधा विभज्यते-लोकाकाशमलोकाकाशं चेति। लोकाकाशं धर्माधर्मतुल्याऽसंख्येयप्रदेशम्। बहिः समन्तादनन्तमलोकाकाशम्।

तत्रावध्रियमाणानामवस्थानभेदसंभवात् विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

निरवशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थं कृत्स्नवचनम् ।१। यथा अगारैकदेशे घटस्यावस्थानं न तथा धर्माधर्मयोः लोकाकाशेऽवगाहः। किं तर्हि? तिलेषु तैलवदिति निरवशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थं कृत्स्नवचनं क्रियते। धर्माधर्मौ हि लोकाकाशमशेषं नैरन्तर्येण व्याप्य स्थितौ। कथमेषां परस्परप्रदेशाविरोधः?

अमूर्तित्वात् त्रयाणां परस्परप्रदेशाविरोधः ।२। मूर्तिमन्तोऽपि केचित् जलभस्मसिकतादयः एकत्र अविरोधेनाऽवतिष्ठन्ते किमुताऽमूर्तीनि धर्माधर्माकाशानि। तस्मादमूर्तित्वादेषां परस्परप्रदेशाविरोधो वेदितव्यः।

अनादिसंबन्धपरिणामाच्च ।३। भेदसंघातगतिपरिणामपूर्वकादिमत्संबन्धानां [2]स्थविष्ठानां स्कन्धानां [3]केषाञ्चित् [4]प्रदेशविरोधः स्यात् न तु धर्मादीनां तद्वत् आदिमान् संबन्धः, पारिणामिकाऽनादिसंबन्धत्वात्तेषाम्, ततश्च अन्योऽन्यप्रदेशाविरोधः सिद्धः।

ततो विपरीतानां मूर्तिमतां [5]प्रदेशसंख्येयाऽनन्तप्रदेशानां पुद्गलानामवगाहनविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

एकप्रदेशादिष्वित्यवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः [6] ।१। एकश्चासौ प्रदेशश्चैकप्रदेशः, एकप्रदेश आदिर्येषां त इमे एकप्रदेशादयः। के पुनस्ते? प्रदेशाः। कुत एतत्? तुल्यजातीयत्वात् उपलक्ष्योपलक्षणयोः [7]सोमशर्मादिवत्। प्रदेशग्रहणानुवृत्तेर्वा, तेष्वेकप्रदेशादिषु इति विग्रहे समुदायो वृत्त्यर्थः सर्वादिवत्। तेनैक [8]प्रदेश उपलक्षणभूतोऽप्यन्तर्भवति।

भाज्यो विकल्प्यः ।२। भजनीयो भाज्यः पृथक्कर्तव्यः विकल्प्यो विभाज्य [10] इत्यनर्थान्तरम्। कः पुनरसौ? अवगाह इत्यनुवर्तते। तद्यथा-एकस्य परमाणोरेकत्रैव आकाशप्रदेशेऽवगाहः,

---

१ न चैतदृष्टं मु०, व०। २ स्थूलानाम्। ३ समुद्रर्वाच्यादीनाम्। ४ शिलादिषु। ५ परमाणु। ६ "अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः"-पात० महा० २।२।२४। ७ सोमशर्मवत् श्र०। सोम इति (इव) शर्म श्रेयो यस्य स तथोक्तः। ८ मध्ये। ९-कदेश-श्र०। १० विभाष्य द्-ता०, मू०, श्र०।

[1]द्वयोरेकत्रोभयत्र च बद्धयोरबद्धयोश्च, त्रयाणामेकत्र द्वयोस्त्रिषु च बद्धानामबद्धानां च। एवं संख्येयासंख्येयाऽनन्तप्रदेशानां स्कन्धानामेकसंख्येयासंख्येयप्रदेशेषु लोकाकाशे अवस्थानं प्रत्येतव्यम्।

एकप्रदेशे नैकस्यावस्थानमयुक्तमिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।३। स्यान्मतम्-भवतु तावद्धर्मादीनां एकप्रदेशेऽवस्थानम् अमूर्तिस्वभावत्वात्, मूर्तिमतां तु पुद्गलानाम् एकप्रदेशेऽवस्थानमयुक्तम्। भवति चेत्; प्रदेशस्य विभागवत्त्वं प्रसक्तम्, अवगाहिनां चैकत्वमिति; तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्-[2]प्रचयविशेषा [3]दिभिरै (रे) कत्रावस्थानमिति। किञ्च,

एकापवरकेऽनेकप्रकाशावस्थानदर्शनादविरोधः ।४। यथैकस्मिन्नपवरके बहवः प्रकाशाः वर्तन्ते न च क्षेत्रविभागः, नापि एकक्षेत्रावगाहित्वात् तेषां प्रकाशानामेकत्वम्, तथैकस्मिन् प्रदेशे अनन्ता अपि स्कन्धाः सूक्ष्मपरिणामात् असङ्करेण व्यवतिष्ठन्त इति नास्ति विरोधः। किञ्च,

द्रव्यस्वभावस्याऽचोदनार्हत्वात् ।५। द्रव्याणां हि स्वभावाः प्रतिनियताः सन्ति, न ते चोदनार्हाः-एवं भवतु मैवं भूदिति [4]। यथा अग्न्यादीनां दहनादयः तृणादीनां च दाह्यत्वादयस्तथा मूर्तिमत्त्वेऽपि अवगाहनस्वभावत्वादेकस्मिन्नपि प्रदेशे बहूनां स्कन्धानामवरोधो न विरोधाय [5]कल्प्यते। किञ्च,

आर्षोक्तत्वात् सूक्ष्मनिगोतावस्थानवत् ।६। सर्वज्ञज्ञानद्योतितार्थसारं गणधरानुस्मृतवचनरचनं शिष्यप्र [6]शिष्यप्रबन्धा [7]ऽव्युपरमादव्युच्छिन्नसन्तानम् आर्षमवितथमस्ति—

"ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहि सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं अणंताणंतेहि विविधेहिं॥" [पञ्चास्ति० गा० ६४]

इत्येवमादि। अतस्तत्प्रामाण्यादपि उक्तोऽवगाहोऽवसेयः। यथैकनिगोतजीवशरीरेऽनन्ता निगोतजीवाः तिष्ठन्ति साधारणाऽऽहारप्राणापानजीवितमरणत्वात् साधारणा इत्यन्वर्थसंज्ञा इत्येतदागमप्रामाण्यादवसीयते तथैवेदमपीति।

अथ जीवानामवगाहः कथमित्यत इदमुच्यते—

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

असंख्येयभागादिष्विति चोक्तम्। किमुक्तम्?

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थ इति ।१। असंख्येयानां भागानामेको भागोऽसंख्येयभागः, असंख्येयभाग आदिर्येषां ते असंख्येयभागादयः तेषु असंख्येयभागादिषु। किं भाज्यः? अवगाह इत्यनुवर्तते। अत्राह-कस्याऽसंख्येयभागादिष्विति?

लोकाकाशप्रकरणात्तदभिसंबन्धः ।२। लोकाकाश इत्यनुवर्तते, अतस्तदभिसंबन्धोऽत्र वेदितव्यः। ननु च असावधिकरणनिर्देशः, संबन्धनिर्देशेन चेहार्थः।

अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः ।३। यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति गम्यते, एवमसंख्येयभागादिषु इत्यनेनाभिसंबन्धात् लोकाकाश इत्येष निर्देशः। लोकाकाशस्येत्यर्थवशात् विभक्तिः परिणम्यते। तद्यथा-लोकस्य प्रदेशाः असंख्येया भागाः कृताः, तत्रै-

---

१ द्वयोः परमाण्वोर्बद्धयोरबद्धयोश्च एकस्मिन् द्वयोश्च आकाशप्रदेशयोरवगाह इत्यर्थः। २ संहतविसर्पितादिवार्तिकव्याख्यानावसरे। ३-दिति चैकत्रा-मु०, द०, ब०, ता०, श्र०। ४ लङ्लुङ्लृङ्यमानाडित्यत्र अमाङिति निषेधान्नाट्। ५ विकल्प्यते-श्र०, मू०। ६ प्रतिशि-मु०, द०, ब०। ७-न्धानुप-मु०, द०, ब०। ८-शाद्विपरि-श्र०। -शाद्विपरि-मू०।

कस्मिन्नसंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते। तथा द्वित्रिचतुरादिष्वपि असंख्येयभागेषु आ सर्वलोकादवगाहः प्रत्येतव्यः। नानाजीवानां तु सर्वलोक एव।

असंख्येयत्वाविशेषादवगाहाविशेष इति चेत्; न; असंख्येयस्याऽसंख्येयविकल्पत्वात्।४। स्यान्मतम्–एकस्मिन्नप्यसंख्येयभागे प्रदेशा असंख्येयाः, द्वित्रिचतुरादिष्वपि असंख्येया एव ततो नास्ति जीवानामवगाहविशेष इति; तन्न; किं कारणम्? असंख्येयस्यासंख्येयविकल्पत्वात्। अजघन्योत्कृष्टासंख्येयस्य हि असंख्येया विकल्पाः। अतोऽवगाहविकल्पो जीवानां सिद्धः।

प्रमाणविरोधादवगाहायुक्तिरिति चेत्; न; जीवद्वैविध्यात्।५। स्यादेतत्–यदैकस्मिन् लोकस्यासंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते द्रव्यप्रमाणेनानन्तानन्तो जीवराशिः लोकाकाशे प्रमाणविरोधान्न स्थातुमर्हति इति; तन्न; किं कारणम्? जीवद्वैविध्यात्। द्विविधा जीवाः बादराः सूक्ष्माश्चेति। तत्र बादराः सप्रतिघातशरीराः। सूक्ष्मा जीवाः सूक्ष्मपरिणामादेव सशरीरत्वेऽपि परस्परेण बादरैश्च न प्रतिहन्यन्त इत्यप्रतिघातशरीराः। ततो यत्रैकसूक्ष्मनिगोतजीवस्तिष्ठति तत्रानन्तानन्ताः साधारणशरीराः वसन्ति। बादराणां च मनुष्यादीनां शरीरेषु संस्वेदजसंमूर्च्छनजादीनां जीवानां प्रतिशरीरं बहूनामवस्थानमिति नास्त्यवगाहविरोधः। यदि बादरा एव जीवा अभविष्यन्नपि तर्हि अवगाहविरोधोऽजनिष्यत। कथं सशरीरस्यात्मनोऽप्रतिघातत्वमिति चेत्? दृष्टत्वात्। दृश्यते हि बालाग्रकोटिमात्रछिद्ररहिते घनबहलायसभित्तितले वज्रमयकपाटे बहिः समन्तात् वज्रलेपलिप्ते अपवरके देवदत्तस्य मृतस्य मूर्तिमज्ज्ञानावरणादिकर्मतैजसकार्मणशरीरसंबन्धित्वेऽपि गृहमभित्त्वैव निर्गमनम्, तथा सूक्ष्मनिगोतानामप्यप्रतिघातित्वं वेदितव्यम्।

अत्राह–लोकाकाशतुल्यप्रदेशः एको जीव इत्युक्तम्, तस्य कथं लोकस्यासंख्येयभागादिषु वृत्तिः? ननु सर्वलोकव्याप्त्यैव भवितव्यमित्यत्रोच्यते—

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

कार्मणशरीरवशात् उपात्तसूक्ष्मबादरशरीरानुवर्तनं प्रदेशसंहारविसर्पः।१। अमूर्तस्वभावस्याप्यात्मनः अनादिसंबन्धं प्रत्येकत्वात् कथञ्चिन्मूर्ततां बिभ्रतः लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यापि कार्मणशरीरवशात् उपात्तसूक्ष्मशरीरमधितिष्ठतः शुष्कचर्मवत् संकोचनं प्रदेशसंहारः। बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवत् विसर्पणं विसर्पः।

ताभ्यामसंख्येयभागादिषु वृत्तिः प्रदीपवत्।२। यथा निरावरणव्योमप्रदेशावधृतप्रकाशपरिमाणः प्रदीपः शरावमानिकापवरकाद्यावरणवशात् तत्परिमाणप्रकाश उपलभ्यते, तथा ताभ्यां प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम् असंख्येयभागादिषु परिच्छिन्ना वृत्तिरात्मनोऽवगन्तव्या।

तद्वदनित्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; इष्टत्वात्।३। स्यादेतत्–यदि संहारविसर्पणस्वभाव आत्मा प्रदीपादिवदेवास्यानित्यत्वं प्रसजतीति; तन्न; किं कारणम्? इष्टत्वात्। इष्टमेवैतत्–आत्मनः कार्मणशरीरापादितप्रदेशसंहारविसर्पपर्यायादेशादनित्यत्वम्। अथवा इष्टत्वात्, इष्टमेवैतत्, संकोचविकासस्वभावत्वेऽपि रूपिद्रव्यसामान्यादेशान्नित्यत्वं तथात्मनोऽपीति न बाधाकरो दृष्टान्तः।

सावयवत्वात् प्रदेशविशरणप्रसङ्ग इति चेत्; न; अमूर्तस्वभावापरित्यागात्।४। स्यान्मतम्–प्रदीपादिवत् यदि प्रदेशसंहारविसर्पवानात्मा, अतः संसारिणः घटादिवत् छेदभेदादिभिः प्रदेशविशरणप्रसङ्गः, ततश्च शून्यता प्राप्नोति इति; तन्न; किं कारणम्? अमूर्तस्वभावापरित्यागात्। बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वमापद्यमानः नामूर्तस्वभावं जहातीति घटादिवत् न प्रदेशविशरणमस्ति। किञ्च,

१ मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः प्रतीघातः अनवगाहनमित्यर्थः। २–गाह्यविरो–मु०। ३ स्यात्म–श्र०। ४ निश्चित। ५–परिणामः ता०, श्र०। ६ रूपद्रव्य–श्र०, मू०। ७ यथा वा शिवकछत्रकस्थासकोशकुशूलादिपर्यायेषु मृद्द्रव्यम्। ८–वत्वाद्विश–मु०, श्र०, द०।

अनेकान्तात्।५। यो ह्येकान्तेन संहारविसर्पवानेवात्मा सावयवश्चेति वा ब्रूयात् तं प्रत्ययमुपालम्भो घटामुपेयात्। यस्य त्वनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्योपयोगादिद्रव्यार्थादेशात् स्यान्न प्रदेशसंहारविसर्पवान्, द्रव्यार्थादेशाच्च स्यान्निरवयवः, प्रतिनियतसूक्ष्मबादरशरीरापेक्षानिर्माणनामोदयपर्यायार्थादेशात् स्यात् प्रदेशसंहारविसर्पवान्, अनादिकर्मबन्धपर्यायार्थादेशाच्च स्यात् सावयवः, तं प्रत्यनुपालम्भः। किञ्च,

तत्प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वादणुवत्।६। यस्यावयवाः कारणपूर्वका भवन्ति तस्यावयवविशरणं भवति, अवयूयन्ते इत्यवयवाः। यथा पटादेरनेकतन्त्वादिसंघातकारणत्वात् तन्त्वादिविश्लेषे विशरणं भवति न तथा आत्मनः अन्यद्रव्यसंघातपूर्वकाः प्रदेशाः। कुतः? तत्प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वात्। यथा अणोः प्रदेशः नान्यद्रव्यसंघातपूर्वकः ततो नासावयवविश्लेषपूर्वकमनित्यत्वमास्कन्दति किन्तु संघातेनाऽनित्यः, तथा आत्मप्रदेशानामपि नान्यद्रव्यसंघातपूर्वकत्वमतः प्रदेशवत्त्वात् आत्मा सावयवोऽपि नावयवविश्लेषादनित्यः, किन्तु गत्यादिपर्यायादेशादनित्यः।

तत एव प्रतिप्रदेशं गुणविशेषाभावो घटवत्।७। कुत एव? प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वादेव। यथा घटस्य प्रदेशा अन्यद्रव्यसंघातपूर्वका इति तेषु प्रतिप्रदेशं रूपादिगुणविशेषो दृष्टः, न तथा आत्मप्रदेशा अन्यद्रव्यसंघातपूर्वका इति न तेषु प्रतिप्रदेशं सुखादिगुणविशेषो भवति। यदि अन्यद्रव्यसंघातपूर्वकाः स्युरात्मप्रदेशाः तेषु घटवत् सुखादिविशेषवृत्तिः स्यात्, ततश्चात्मनो बहुत्वं प्रसज्येत। यथाऽणौ निरवयवे एकजातीयो गुणः शुक्लादिरेककाले भवति एक एव न भिन्नजातीयस्तथा आत्मनि निरवयवे एकजातीयो गुणः सुखादिरेककाले भवति एक एव। अत्र कश्चिदाह–

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलम्॥" [ ] इति।

अत्रोच्यते—पिष्टपेषणमेतत्, मूर्ताऽमूर्तत्वं प्रति नित्यानित्यत्वं च प्रत्यनैकान्तिकत्वात् उपालम्भाभाव इति।

पुद्गलवदेकप्रदेशादिषु वृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; शरीरप्रमाणानुविधानात्।८। स्यान्मतम्–प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यामेव पुद्गलवदेकप्रदेशादिषु जीवस्य वृत्तिः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? शरीरप्रमाणानुविधानात्। कार्मणशरीरवशादुपात्तं महदल्पं वा शरीरमधितिष्ठति संसारी जीव इत्युक्तम्। न चैकप्रदेशादिकं शरीरमस्ति जघन्येनाऽङ्गुलस्याऽसंख्येयभागप्रमाणत्वात्। अतो नास्त्येकप्रदेशादिषु वृत्तिरस्ति।

मुक्तानां तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; देशोनान्त्यविग्रहप्रमाणावस्थानात्।९। स्यादेतत्–यदि शरीरप्रमाणानुविधानात् आत्मनो नैकप्रदेशादिषु वृत्तिः, मुक्तानां तर्हि तदभावात्तत्प्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्? देशोनान्त्यविग्रहप्रमाणावस्थानात्। येन शरीरेण मुक्तिमवाप्तवान् जीवस्तत्प्रमाणमेव देशोनमवलम्ब्यावतिष्ठते, न ततो वृद्धिर्नापि हानिः, पुनः प्रदेशसंहारविसर्पकारणाभावात्। अत्राह–

१ घटपटादेः। २ नान्यद्द्रव्यपूर्व–मु०, द०, ब०। ३ एतत् प्र– श्र०, मू०, ता०। ४ एकस्मिन्नेव घटे एकस्मिन् प्रदेशे श्यामत्वम् एकस्मिन् रक्तत्वमिति। ५ एकस्मिन् प्रदेशे सुखमन्यस्मिन् दुःखमित्यादि। ६–सर्पणाभ्या–मु०, मू०, द०, ब०, ७–प्नोति तन्न श्र०। ८ उत्सेध।

न धर्मादीनां नानात्वम्, कुतः ? देशसंस्थानकालदर्शनस्पर्शनावनाहनाद्यभेदात् ।१०। देशस्तावदेषामभिन्नः–यस्मिन् देशे धर्मोऽवस्थितः तस्मिन्नेवेतरेषामवस्थानात्। संस्थानमप्यभिन्नम्–यदेव धर्मस्य संस्थानमाकारः तदेवेतरेषाम्। कालश्चाभिन्नः–त्रिषु कालेषु धर्मादीनां तुल्यवृत्तित्वात्। दर्शनमप्यविशिष्टम्–येषु (तेषु) यत्रैको धर्मः प्रत्यक्षज्ञानिभिर्दृष्टः तत्रैवेतरेषामपि दर्शनम्। स्पर्शनमप्यविशिष्टम्–धर्मादीनि द्रव्याणि सर्वात्मनाऽन्योन्यं स्पृशन्तीति। अवगाहनं चाऽभिन्नम्–एषां सर्वगतत्वात्। तथा अरूपत्वद्रव्यत्वज्ञेयत्वादिभिरप्यविशेषोऽवसेयः। अत्रोच्यते—

न; [2]अतस्तत्सिद्धेः ।११। यत एव धर्मादीनां देशादिभिः [3]अविशेषस्तवया चोद्यते अत एव नानात्वसिद्धिः, यतो नासति नानात्वेऽविशेषसिद्धिः। न ह्येकत्वाविशेषोऽस्ति। किञ्च, यथा रूपरसादीनां तुल्यदेशादित्वे नैकत्वं तथा धर्मादीनामपि नानात्वमिति।

आह–रूपादीनां तुल्यदेशत्वेऽपि चाक्षुषत्वादि[4]विशिष्टलक्षणोपेतत्वात् नानात्वं युक्तं न तथा धर्मादीनां विशेषकरं किञ्चिल्लक्षणमुक्तम्। स्यादेतत्, यदि न लक्षणभेदः। अस्ति तु भिन्नं लक्षणम्। किं पुनस्तदिति ? अत उत्तरं पठति—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

अथवा, अणुस्कन्धभेदात् पुद्गलानाम् असंख्येयप्रदेशत्वाच्च आत्मनाम् अवगाहिनाम् एक[1]प्रदेशादिषु पुद्गलानाम् असंख्येयभागादिषु च जीवानामवस्थानं युक्तमुक्तम्। तुल्ये पुनरसंख्येयप्रदेशत्वे कृत्स्नलोकव्यापित्वमेव धर्माधर्मयोः न पुनरसंख्येयभागादिवृत्तिरित्येतत्कथमनपदिष्टहेतुकमवसातुं शक्यमिति। अत्र ब्रूमः–अवसेयमसंशयम्। यथा मत्स्यगमनस्य जलमुपग्रहकारणमिति नासति जले मत्स्यगमनं भवति, तथा जीवपुद्गलानां प्रयोगविस्रसा परिणामनिमित्ताहितप्रकारां गतिस्थितिलक्षणां क्रियां स्वत एवाऽऽरभमाणानां सर्वत्र भावात् तदुपग्रहकारणाभ्यामपि धर्माधर्माभ्यां सर्वगताभ्यां भवितव्यम्, नासतोस्तयोर्गतिस्थितिवृत्तिरिति व्यापित्वदर्शनार्थमिदमुच्यते।

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिः ।१। द्रव्यस्य बाह्यान्तरहेतुसन्निधाने सति परिणममानस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिरित्युच्यते।

तद्विपरीता स्थितिः ।२। द्रव्यस्य स्वदेशादप्रच्यवनहेतुर्गतिनिवृत्तिरूपा स्थितिरवगन्तव्या।

उपग्रहोऽनुग्रहः ।३। द्रव्याणां शक्त्यन्तराविर्भावे कारणभावोऽनुग्रह उपग्रह[5] इत्याख्यायते।

गतिस्थित्युपग्रहावित्यनेकविग्रहसंभवादर्थानिश्चयः ।४। विग्रहपूर्वको हि लोके वृत्तिपदस्यार्थनिश्चयो भवति। गतिस्थित्युपग्रहौ इत्यत्र तु अनेकविग्रहसंभवात् नास्त्यर्थानिश्चयः। तद्यथा–गतिश्च स्थितिश्च गतिस्थिती, गतिस्थिती उपग्रहौ ययोस्तौ गतिस्थित्युपग्रहौ। गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ। गतिस्थिती एव वा उपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ इति ? नैष दोषः।

अन्यपदार्थवृत्त्यभावो गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मावित्यवचनात् ।५। नात्राऽन्यपदार्थो वृत्तिः संभवति। कुतः ? गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मावित्यवचनात्।

---

१ धर्मादिषु मध्ये एकः। २ यत एवाभेद आपादितः। ३ अभेदः। ४ यथा संयुक्तयोः क्षीरनीरयोरभेदः। ५ तुल्यदेशाधिष्ठानत्वे मु०, द०, ब०। ६ रसनग्राह्यत्वादि। ७ उपग्रहणमुपग्रहः।

न षष्ठीवृत्तिर्द्विवचननिर्देशात् ।६। नेयं षष्ठी वृत्तिः–गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहाविति। कुतः ? द्विवचननिर्देशात्। यदि हि अत्र षष्ठीवृत्तिः स्यात्, उत्तरपदार्थस्य भावस्यैकस्य प्राधान्यात् लघ्वर्थं एकवचननिर्देशः क्रियेत, भेदेन च प्रयोजनाभावात्।

परिशेषात् समानाधिकरणा वृत्तिः ।७। परिशेषात् समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिर्वेदितव्या–गतिस्थिती एव उपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहाविति।

तथा च द्वित्वोपपत्तिः ।८। एवं च कृत्वा द्वित्वमुपपन्नं भवति, गतिस्थित्योर्भेदात् तत्सामानाधिकरण्यात् भेदसिद्धेः। कथं सामानाधिकरण्यम् ? कर्मसाधनत्वात्–[1]उपगृह्येते इत्युपग्रहौ गतिस्थिती इति।

धर्माधर्मयोरिति कर्तृनिर्देशः ।९। धर्माधर्मयोरित्ययं कर्तृनिर्देशो द्रष्टव्यः। कथम् ? कर्तरि षष्ठीविधानात्। कां क्रियामपेक्ष्य कर्तृत्वं विवक्षितम् ? उपकार इत्युच्यते–उपकरोति[2] क्रियायाः कर्तृत्वम्[3] उपकार इति। किंसाधनोऽयं शब्दः ? भावसाधनः।

उपकार इति भावसाधनश्चेत्; पूर्वेण सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरर्थान्तरवृत्तेः ।१०। यद्युपकरणमुपकार इति भावसाधनशब्दः, गतिस्थित्युपग्रहावित्यनेन सामानाधिकरण्यं नोपपद्यते[4] धर्माधर्मयोरुपकारो गतिस्थित्युपग्रहाविति। कुतः ? अर्थान्तरवृत्तेः। उपकारो हि धर्माधर्मयोर्वर्तते कर्तृस्थक्रियात्वात् करोतेः, उपगृह्यमाणे तु गतिस्थिती जीवपुद्गलेष्विति। [5]एवं तर्हि कर्मसाधनः ?

[6]कर्मसाधनश्चेद्वचनभेदानुपपत्तिः ।११। यदि कर्मसाधनः; वचनभेदो नोपपद्यते, सामानाधिकरण्यात् द्विवचनं प्राप्नोति।

न वा सामान्योपादानात् ।१२। न वैष दोषः, किं कारणम् ? सामान्योपादानात्। यथा 'साधोः [7]कार्यं तपःश्रुते' इति प्राक्सामान्यमपेक्ष्य लब्धैकवचनः कार्यशब्दः पश्चाद्विशेषसन्निधानेऽपि नोपात्तं वचनं जहाति, तदिहापि (तद्वदिहापि) उपकारशब्दः उपात्तान्तरङ्गैकवचनो भिन्नवचनपदान्तरापेक्षायामपि न वचनान्तरसंक्रमं करोति[8]।

षष्ठीवृत्तिर्वा भावसाधनत्वोपपत्तेः ।१३। अथवा, गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहाविति षष्ठीवृत्तिरियम्। कुतः ? भावसाधनत्वोपपत्तेः, उपग्रहणमुपग्रह इति भावसाधनोऽयं शब्दः। तथा उपकारशब्दश्च भावसाधनः–उपकरणमुपकारः इति।

ननु चोक्तं भावस्यैकत्वात् द्विवचननिर्देशो नोपपद्यते इति; नैष दोषः;

यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थो द्विवचनप्रयोगः ।१४। धर्माधर्मौ द्वौ गतिस्थित्युपग्रहौ द्वौ, तयोः सामान्यात् यथासंख्यं स्यादिति द्विवचनप्रयोगः क्रियते। एकवचने हि सति यथा भूमिरेकैवाऽश्वादीनां गतिस्थित्योरुपग्रहे वर्तते, तथा धर्म एक एव जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योरुपग्रहं कुर्यात्, तथाऽधर्मोऽपि इत्ययमर्थो गम्येत। अन्यतरस्य वैयर्थ्यमिति चेत्; न; [10]अनेकसहायकारणदर्शनात्[11]। तेनैतदुक्तं भवति–जीवपुद्गलानां स्वयमेव गतिपरिणामिनां तदुपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानो धर्मा-

---

१ धर्माधर्माभ्यामुपक्रियेते। २ इति। ३ तदपेक्षोऽयं कर्तरि षष्ठीनिर्देशः। ४–ते कुतः अर्थान्तरवृत्तेः धर्मा–मु०, मू०, द०, ब०। ५ तदस्थ आह। ६ आह चोदकः। ७ किं तत्। ८ तथा हि धर्माधर्मयोः क उपकार इत्युक्ते गतिस्थित्युपग्रहाविति पश्चाद्विशेषसम्बन्धात्। ९ तथा सति सूत्रकारस्य धर्माधर्मयोर्मध्ये। १० यथैकस्य घटस्य चक्रचीवरकुलालाद्यनेकसहायकारणं दृष्टं तथा जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योः। ११ ता० प्रतौ वार्तिकचिह्नाङ्कितमिदम्।

स्तिकायः। [1]तेषामेव स्वत एव स्थितिमास्कन्दतां बाह्योपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानोऽधर्मास्तिकायः[2]। सर्वत्र च तत्प्रयोजनदर्शनात् सर्वगतौ चैतावितिं।

उपग्रहावचनमुपकारेण कृतत्वात्।१५। उपग्रहवचनमनर्थकम्। कुतः? उपकारेण कृतत्वात्। उपग्रह उपकार इत्यनर्थान्तरम्। तेन गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार इत्यस्तु लघुत्वात्।

[3]**तयोः कर्तृत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; उपकारवचनात् यष्ट्यादिवत्**।१६। स्यादेतत्–गतिस्थित्योः धर्माधर्मौ कर्तारौ इत्ययमर्थः प्रसक्त इति; तन्न; किं कारणम्? उपकारवचनात्। उपकारो बलाधानम् अवलम्बनम् इत्यनर्थान्तरम्। तेन धर्माधर्मयोः गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधानकर्तृत्वमपोदितं[4] भवति। यथा अन्धस्येतरस्य वा स्वजङ्घाबलाद्गच्छतः यष्ट्याद्युपकारकं भवति न तु प्रेरकं तथा जीवपुद्गलानां स्वशक्त्यैव गच्छतां तिष्ठतां च धर्माधर्मौ उपकारकौ न प्रेरकौ इत्युक्तं भवति।

गतिस्थिती धर्माधर्मकृते इत्यनुपदेशाच्च।१७। यदि धर्माधर्मौ गतिस्थित्योः [5]प्रधानकर्तारौ स्याताम् 'गतिस्थिती धर्माधर्मकृते' इत्युच्येत, न त्वेवमुक्तम्। ततश्च मन्यामहे न प्रधानकर्तारौ इति।

[6]**न वा, यथासंख्यनिवृत्त्यर्थत्वात्**।१८। न वैष दोषः। किं कारणम्? यथासंख्यनिवृत्त्यर्थत्वात्। 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' इत्युच्यमाने आत्मनां गतिपरिणामोपकारो धर्मस्य न पुद्गलानाम्, स्थितिपरिणामोपकार इतरस्य नात्मनामिति यथासंख्यं प्रतीयेत, तन्निवृत्त्यर्थमुपग्रह[7]वचनं क्रियते।

व्याख्यानादिष्टसंप्रत्यय इति चेत्; न; प्रतिपत्तेर्गौरवात्।१९। स्यादेतत्, सर्वसन्देहेष्विदमुपतिष्ठते–"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" [पात० महा० पस्पशा० सू० ६] इति। तत इष्टस्य संप्रत्ययो भवतीति; तन्न; किं कारणम्? प्रतिपत्तेर्गौरवात्। व्याख्यानादिष्टसंप्रत्यये क्रियमाणे बुद्धिखेदो माभूत् इत्युपग्रहवचनं कृतम्।

[8]**सौषिर्यादाकाशस्योपग्रह इति चेत्; न; धर्माधर्मकालात्मपुद्गलाधिकरणत्वात् नगरान्तर्गतवेश्मवत्**।२०। स्यादेतत्–आकाशं सर्वगतमस्ति, तच्च [8]सौषिर्यगुणोपेतम्, अतः तस्यैव गतिस्थित्युपग्रहौ युक्तः, किमन्याभ्यां वृथा कल्पिताभ्यां धर्माधर्माभ्यामिति? तन्न; किं कारणम्? धर्माधर्मकालात्मपुद्गलाधिकरणत्वात् नभसः। कथम्? नगरान्तर्गतवेश्मवत्। यथा नगरान्तर्गतानां वेश्मनां नगरमधिकरणं तथा धर्मादीनां पञ्चानाम् आकाशमधिकरणम्। न चान्यस्य धर्मोऽन्यस्य भवितुमर्हति। यदि स्यात्, अग्नेर्जोगुण द्रवदहनादयः पृथिव्या एव कल्प्यन्ताम्। किञ्च,

आकाशास्तित्वेऽपि अनुगृहीतृद्रव्यसंबन्धेन सामर्थ्याविर्भावदर्शनात् अनिमिषव्रज्यावत्।२१। यथा [9]अनिमिषस्य [10]व्रज्या जलोपग्रहाद्भवति, जलाभावे च भुवि न भवति सत्यप्याकाशे। यद्याकाशोपग्रहात् मीनस्य गतिर्भवेत् भुवि अपि भवेत्। तथा गतिस्थितिपरिणामिनाम् आत्मपुद्गलानां धर्माधर्मोपग्रहात् गतिस्थिती भवतो नाकाशोपग्रहात्। यद्याकाशोपग्रहात्[11] गतिस्थिती स्याताम्; अलोकाकाशेऽपि भवेताम्। ततश्च लोकालोकविभागाभावः स्यात्। लोकव्यतिरिक्तेन चाऽलोकेन भवितव्यं नञ्पदोपहितस्यार्थवत्त्वदर्शनात् अब्राह्मणाभिधानवत्।

---

१ तथा जीवपुद्गलानां स्वयमेव स्थितिपरिणामिनां तदुपग्र–मु०, ब०। २–यः इति स–मु०, द०, ब०। ३ तटस्थाभिप्रायं निराकरोति परः। ४ निराकृतम्। ५ प्रेरक। ६ अथाचार्यो वदति। ७ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिदिष्टं सूचयन्त्याचार्यस्य। ८ सौखर्या–मु०। सुषिरत्व। ९ मत्स्यस्य। १० गमनम्। ११–त् स्याता–मू०।

स्वबाह्यकारणभावाऽभावयोस्तद्भावाभावदर्शनात् तदभाव इति चेत्; न; साधारणकारणत्वादाकाशवत्।२२। स्यान्मतम्–इह गतिमतां स्थितिमतां च द्रव्याणां प्रतिनियतस्वबाह्यकारणसन्निधाने सति नियतगतिस्थित्योर्भावो दृष्टः, यथा मत्स्यादीनां जलादिसद्भावे[1] भावः तदभावे चाभावो दृष्टः। तेषामेव जलाद्यभावे धर्माधर्मयोः सतोरपि गतिस्थित्यभावः, तस्मात्तदधीने गतिस्थिती इति धर्माधर्मयोरभावः इति; तन्न; किं कारणम्? साधारणकारणत्वात् आकाशवत्। यथा सत्यपि भूम्यादावधिकरणे सर्वेषां साधारणमधिकरणमाकाशमिष्यते तथा मत्स्यादीनां सत्स्वपि जलादिषु कारणेषु सर्वेषां गतिस्थित्योः साधारणकारणौ धर्माधर्मावभ्युपगन्तव्यौ।

आकाशमेव पर्याप्तमिति चेत्; न; सर्वतन्त्रविरोधात्।२३। स्यादेतत्–आकाशमेव विभुत्वात् सर्वद्रव्याणां गतिस्थित्योः साधारणकारणत्वेन पर्याप्तमिति; तन्न; किं कारणम्? सर्वतन्त्रविरोधात्। आकाशमेव पर्याप्तं नान्यदिति नियच्छतः सर्वतन्त्रविरोधो भवति। तद्यथा–[2]केचित्तावदाहुः–आकाशकालदिगात्मानः सर्वगता अपि सन्तः प्रतिनियतस्वलक्षणाः इति। तत्र हि दिङ्निमित्तो यो व्यवहारः इत इदमिति, कालनिमित्तश्च परोऽयमपरोऽयमिति नासावाकाशादृतेऽस्ति इत्याकाशस्यैवादः सामर्थ्यं न दिक्कालयोरिति दिक्कालाभावः प्रसक्तः। तथा च सर्वात्मनां चैकत्वप्रसङ्गः। यदि व्यापित्वादाकाशस्यैव गतिस्थित्युपग्रहः कल्प्यते, ननु यत्प्रत्यर्थनियतबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारगुणोपपत्तेः "व्यवस्थातः। शास्त्रसामर्थ्याच्च नाना" [वैशे० ३।२।२०,२१] आत्मान इति व्यवस्थितं तद्विरुध्यते। [3]अपर आहुः—त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमोऽभिधानाः प्रसादलाघवशोषतापावरणसादनादिभिन्नस्वभावा इति। यदि व्यापित्वादाकाशस्यैव [4]गतिस्थित्युपग्रहाविष्टौ; ननु सत्त्वस्य व्यापित्वात् शोषतापादयो रजोधर्माः सादनावरणादयश्च तमोधर्माः सत्त्वस्यैवेषितव्याः। तथेतरयोरपि प्रतिपक्षधर्मा इति सङ्करप्रसङ्गः। तथा सर्वक्षेत्रज्ञानां चैकत्वसङ्गः चैतन्यस्वरूपाविशेषात्[5] आद्यन्तभोगाविशेषाच्च। [6]अन्ये मन्यन्ते–रूपणानुभवननिमित्तग्रहणसंस्कृताभिसंस्करणालम्बनप्रज्ञप्तिस्वभावलक्षणा रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानाभिधानाः पञ्च स्कन्धाः इति। तत्र यद्येकस्यैव सर्वधर्माः कल्प्यन्ते; नासति विज्ञानेऽनुभवादयः संभवन्तीत्यनुभवादयो विज्ञानस्यैव कल्प्येरन्। तथा सति शेषस्कन्धनिवृत्तौ स्वनिवृत्तिरपि स्यात्, न चैतत् सर्वमिष्टम्। तस्मादभ्युपगम्यतामाकाशस्य विभुत्वेऽपि न धर्माधर्मयोः प्रयोजनं नास्तीति सिद्धौ धर्माधर्मास्तिकायौ।

उभयानुग्रहात् परस्परप्रतिबन्ध इति चेत्; न; स्वतः परिणामसामर्थ्यस्याऽनुग्रहाकाङ्क्षित्वात् कुण्टनयनयष्टिप्रदीपवत्।२४। स्यान्मतम्, यथा तुल्यबलाभ्यां शकुन्ताभ्यामाकृष्यमाणो मांसपिण्डः यावत्क्षेत्रमेकेनाऽऽकृष्यते तावदितरेण अपकृष्येतेति नास्योत्कर्षापकर्षगतिविधिः संभवति, तथा जगद्व्यापित्वात् धर्माधर्मयोर्यदा धर्मोपग्रहाद् आत्मपुद्गलानां गतिस्तदैवाधर्मोपग्रहात् स्थितिरिति गतेः प्रतिबन्धः। यदा वा अधर्मानुग्रहात्स्थितिस्तदैव धर्मानुग्रहाद्गतिरिति स्थितेः प्रतिबन्धः। एवं तेषां न गतिर्न स्थितिरित्युभयाभावः इति; तन्न; किं कारणम्? स्वतः परिणामसामर्थ्यस्य अनुग्रहाकाङ्क्षित्वात्। कथम्? कुण्टनयनयष्टिप्रदीपवत्। यथा कुण्टस्य गतिपरिणामसमर्थस्य यष्टिरुपग्राहिका न तु सा तस्य गतेः कर्त्री। यद्यसमर्थस्यापि कर्त्री भवेत्; मूर्च्छितसुषुप्तादीनामपि यष्टिसंबन्धाद्गतिः स्यात्। यथा वा नयनस्य स्वतो दर्शनसमर्थस्य प्रदीप उपग्राहकः न तु प्रदीपो नेत्रस्य दर्शनशक्तेः कर्ता। यद्यसमर्थस्यापि कर्ता स्यात्, मूर्च्छितसुषुप्तजात्यन्धानामपि दर्शनं कुर्यात्। तथा आत्मपुद्गालानामपि स्वयमेव गतिस्थितिपरिणामिनां धर्माधर्मावुपग्राहकौ

---

१ वे तदभावे मू०, द०, मु०, ब०। २ वैशेषिकाः–स०। ३ सांख्याः–स०। ४ गतिस्थितिरित्युप–मु०, द०। ५ आदानभो–मु०, द०, ब०। ६ बौद्धाः–स०। ७–मसामर्थ्यस्य मू०।

गतिस्थित्योर्न कर्तारौ। यदि कर्तारौ स्यातां स्याद् गतिस्थितिविरोधः। अतोऽनुग्राहकत्वान्नास्ति दोषः। किञ्च,

क्वचिदुपग्राहकाभावेऽपि गतिस्थितिदर्शनात् पतत्त्रिवत् ।२५। यथा पतत्त्रिणः प्रकृष्टगतिस्थितिक्रियापरिणामसामर्थ्यात् जलतुल्यबाह्योपग्राहकाभावेऽपि धर्माधर्मद्रव्यसद्भावात् गतिस्थिती दृष्टे, तथेतरेषामपि द्रव्याणां धर्माधर्मोपष्टम्भात् गतिस्थितिसिद्धिरिति तदुपपत्तिः।

तत्राप्याकाशं निमित्तमिति चेदुक्तम् ।२६। यदि तत्रापि पतत्र्यादिषु आकाशमुपग्राहकमिति कल्प्यते; उक्तमेतत्–नाकाशं गतिस्थित्युपग्रहकारणम् अवगाहनलक्षणत्वात्तस्येति।

अनेकान्ताच्च समग्रविकलेन्द्रियवत् ।२७। यथा नायमेकान्तः–सर्वश्चक्षुष्मान् बाह्यप्रकाशोपग्रहात् रूपं गृह्णातीति। यस्मात् [1]द्वीपिमार्जारादयः स्वजातिविशेषोपात्तनयनबलादेव विनापि बाह्यप्रदीपाद्युपग्रहात् रूपग्रहणसमर्थाः, मनुष्यादयस्तु तथादर्शनशक्त्यभावात् प्रदीपाद्युपग्रहमपेक्ष्यन्त इत्यनेकान्तः। यथा वा, नायमेकान्तः–सर्व एव गतिमन्तो यष्ट्याद्युपग्रहात् गतिमारभन्ते नवेति, यस्मात् समग्रपञ्चेन्द्रियो बाह्ययष्ट्याद्युपग्रहात् विनापि धर्मोपग्रहाद्गतिमारभते नैवं चक्षुर्विकलः, स तु समविषमादिभूप्रदेशादर्शनात् तद्विशेषाविष्करणसमर्थां यष्टिमवष्टभ्य गतिमारभते इत्यनेकान्तः। तथा नायमेकान्तः– सर्वेषाम् आत्मपुद्गलानां सर्वे बाह्योपग्रहहेतवः सन्तीति, किन्तु केषाञ्चित् पतत्त्रिप्रभृतीनां धर्माधर्मावेव, अपरेषां जलादयोऽपीत्यनेकान्तः।

अनुपलब्धेरभाव इति चेत्; न; स्वतीर्थकराद्यभावप्रसङ्गात् ।२८। स्यान्मतम्, नच धर्माधर्मौ स्तः अनुपलब्धेः खरविषाणवत्। सतां हि यष्ट्यादीनाम् उपलब्धिरस्ति, तदुपकारश्च निम्नोन्नतादिभूप्रदेशे भेददर्शनं दृष्टम्। न च तथा धर्माधर्मावुपलभ्येते नापि तदुपकार इत्यसत्त्वमिति; तन्न; किं कारणम्? स्वतीर्थकराद्यभावप्रसङ्गात्। न वयमेवंप्रतिज्ञाः–यो यो नोपलभ्यः स सोऽसन्निति। यस्तु एवंवादी[3] तस्य स्वतीर्थकराद्यभावप्रसङ्गः खरविषाणवत्। यथा खरविषाणम् अनुपलब्धेरसत् तथा स्वतीर्थकरपुण्यापुण्यपरलोकादीनामप्यसत्त्वमासक्तम्, न चाऽसत्त्वमिष्टं ततो हेतोर्व्यभिचारः। किञ्च,

अनुपलब्ध्यसिद्धेः ।२९। भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रत्यक्षज्ञानगोचरत्वात् तत्प्रणीतपरमागमप्रमाणगम्यत्वात् तदनुसारिस्वकार्यदर्शनाद्यनुमानविषयत्वाच्च धर्माधर्मयोरुपलब्धेरनुपलब्धिलक्षणो हेतुरस्मान् प्रत्यसिद्धः। न च हेतुः स्वयमसिद्धः साध्यमर्थं साधयितुमलम्।

अत एव विवादात् ।३०। यत एव यष्ट्यादिवत् न प्रत्यक्षौ धर्माधर्मावत एव विवादः–किमनुपलब्धेः खरविषाणवदभावोऽनयोः, उत अण्वाकाशमूलोदकादिवत् अभाव इति? न हि यत एव विवादः तत एव निर्णयो भवितुमर्हति। किञ्च,

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः ।३१। इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टम्, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाऽऽविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः, तथा पतत्त्रिप्रभृतिद्रव्यं गतिस्थितिपरिणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारणसन्निधिं गतिं स्थितिं चावाप्तुमलमिति तदुपग्रहकारणधर्माऽधर्मास्तिकायसिद्धिः। ततः किम्? अनुमानविरोधो वेदितव्यः।

संसर्ग एव हेतुरिति चेत्; न; कारणनियमाभावप्रसङ्गात् ।३२। स्यान्मतम्–नानेककारणसाध्यं कार्यम्। किं तर्हि? संसर्ग एव हेतुः कार्योत्पत्तेरस्य, विवक्षितानां तन्त्वादीनां कार्यारम्भसामर्थ्याभावात् इति; तन्न; किं कारणम्? कारणनियमाभावप्रसङ्गात्–यस्मात्कस्माच्चित्कारणसंसर्गात् पटनिष्पत्तिरस्तु। नो चेदेवं प्रतिविशिष्टतन्त्वादिकारणविषयसंसर्गापेक्षत्वादनेककारणत्वसिद्धिः। किञ्च,

एकस्य कारणस्य संसर्गाभावात् ।३३। अनेककारणसाध्यत्वात् संसर्गस्य। संसर्गकारणत्वे प्रतिज्ञाहानिः। अपि च, संसर्गकारणानां संयोगविशेषः [2]संयोगिनां बहुत्वादनेकः [3]तत्साध्यत्वात् कार्यस्य अनेककारणत्वसिद्धिः। किञ्च,

स्वसमयविरोधात् ।३४। न च वयमेवंपक्षाः–यन्नोपलभ्यते प्रत्यक्षेण तन्नास्तीति। यस्य तु वादिन एषोऽभिप्रायस्तस्य स्वसमयविरोधः। तद्यथा–सर्वे हि वादिनः प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षार्थवादिनः। [4]केचित्तावदाहुः–प्रत्येकं रूपपरमाणवोऽतीन्द्रियास्तत्समुदायोऽनेकपरमाणुक [5]इन्द्रियग्राह्यो नाम [6]चित्तचैतसिकविकल्पमतीन्द्रियमिति। अपर आहुः–व्यक्तस्य पृथिव्यादेः प्रधानपरिणामस्य प्रत्यक्षत्वं सत्त्वादीनां गुणानां परमात्मनां चाऽप्रत्यक्षमिति। [7]अन्ये तु मन्यन्ते–"महत्यनेकद्रव्यत्वात् रूपाच्चोपलब्धिः" [वैशे० ४।१।६] इत्येवमादिना अनेकपरमाणुसमुदयभावेन निष्पन्नाः पृथिव्यादयस्तद्विषयाश्च रूपादयस्तत्समवायिनः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागादयश्च प्रत्यक्षाः, अण्वाकाशादयोऽप्रत्यक्षा इति। यदि यष्ट्यादिवदनुपलब्धेः धर्माधर्मयोरभावः प्रतिज्ञायेत; ननु विज्ञानादीनां सत्त्वादीनाम् अण्वादीनां चाऽप्रत्यक्षत्वादभावः स्यादिति स्वसमयविरोधः। अथैषां कार्यदर्शनात् अस्तित्वमनुमीयते; धर्माधर्मयोः को मत्सरः? किञ्च,

त्वदीयजीवितमरणादिवत्तत्सिद्धिः ।३५। यथा त्वदीयजीवितमरणसुखदुःखलाभालाभादीनां मनुष्यमात्राप्रत्यक्षाणाम् अतिशयज्ञानिभिरुपलभ्यमानस्वरूपाणाम् अस्तित्वम्, तथा तावकीनप्रमाणगोचरातीतयोरपि परमर्षिसर्वज्ञदृष्टयोः धर्माधर्मयोरस्तित्वमिति को विरोधः? किञ्च,

ज्ञानादिवदिति चेत्; न; उक्तत्वात् ।३६। स्यादेतत्–यथा ज्ञानादीनामात्मपरिणामानां पुद्गलपरिणामानां च [8]दध्यादिद्रव्यादीनां निर्वृत्तिः परस्पराश्रया न धर्माधर्मास्तिकायस्थानीयद्रव्यान्तराश्रया, तथा जीवपुद्गलेषु गतिस्थितिपरिणामा अपि अन्योन्याश्रया इति धर्माधर्माभाव इति। तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्–पतत्त्रिप्रभृतीनां गतिस्थितिकारणेन साधारणेन बाह्येन भवितव्यमिति। किञ्च, ज्ञानादिदध्यादिविकाराणामपि निर्वृत्तेः कालो हेतुः बाह्योऽस्तीत्यभ्युपगमादसमस्समाधिः[11]।

अदृष्टहेतुके गतिस्थिती इति चेत्; न; पुद्गलेष्वभावात् ।३७। स्यान्मतम्–अदृष्टो नामात्मगुणोऽस्ति यद्धेतुकः सुखदुःखविपाकः [12]तत्साधनसन्निधानं च। एवं च कृत्वोक्तम्–"अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोश्चतिर्यक्पवनम् अणुमनसोश्चाद्यं [14]कर्मेत्येतान्यदृष्टकारितानि,उपसर्पणमपसर्पणमसितपीतसंयोगाः कायान्तरसंयोगश्चेति अदृष्टकारितानि" [वैशे० ५।२।१३, १७] इत्यादि, तद्धेतुके गतिस्थिती इति; तन्न; किं कारणम्? पुद्गलेष्वभावात्। अचेतनत्वात् पुद्गलानां पुण्यापुण्यकरणा[15]भावात् तत्कृतगतिस्थित्यभावदोषः।

यस्योपकारस्तादर्थ्या क्रियाप्रवृत्तिरिति चेत्; न; अन्यधर्मस्याऽन्यत्र क्रियारम्भे सामर्थ्याभावात् ।३८। स्यादेतत्–यस्य घटादय उपकरिष्यन्ति तस्य पुंसोऽदृष्टाद् घटादिषु गतिस्थिती भवत इति; तन्न; किं कारणम्? अन्यधर्मस्याऽन्यत्र क्रियारम्भे सामर्थ्याभावात्। न हि स्वाश्रये क्रियामनारभमाणः अन्यत्र क्रियाहेतुरस्तीत्युक्तं पुरस्तात्। किञ्च,

---

१ व्याघ्र। २ बसः (बहुव्रीहिसमास इत्यर्थः)। ३ एवं वदतीति।

१ यथा कुलालस्य दण्डेन संसर्गः दण्डस्य च चक्रेण, मृत्पिण्डस्य कुलालहस्तेन चीवरेण चेत्यादि। २ कुलालादीनाम्। ३ अनेकसंयोग। ४ बौद्धाः–स०। ५ स्कन्धः। ६ ज्ञान–ज्ञानजसुखदुःखादि। ७ सांख्याः–स०। ८ वैशेषिकाः–स०। ९ दृश्यत्वम्। १० सूत्रेण। ११ दध्यादीनां मू०, ०मु०। द्रव्यादीनां द०। १२ परिहारः। १३ स्रग्वनिताऽहिलतादि। १४ तिर्यक्प्लवनं भा० २। १५ कर्मेत्याद्य–मू०। १६ कारण–मु०, द०।

पुण्यापुण्यात्ययेऽपि गतिस्थितिदर्शनात् ।३९। विनिर्मुक्तपुण्यापुण्यबन्धानां सिद्धानां गतिस्थिती इष्येते। ततो नादृष्टहेतुके गतिस्थिती।

अमूर्तत्वाद्गतिस्थितिनिमित्तत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; दृष्टान्ताभावात् ।४०। स्यान्मतम्–रूपादिगुणविरहितत्वात् अमूर्तौ धर्माधर्मावभ्युपगम्येते, ततस्तयोर्गतिस्थितिहेतुत्वं नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम्? दृष्टान्ताभावात्। न हि दृष्टान्तोऽस्ति येनामूर्तत्वात् गतिस्थितिहेतुत्वं व्यावर्तेत। किञ्च,

आकाशप्रधानविज्ञानादिवत्तत्सिद्धेः ।४१। यथा आकाशममूर्तमपि सत् सर्वपदार्थानामवगाहनप्रयोजनमुपपादयति। यथा वा, प्रधानममूर्तमपि पुरुषार्थप्रवृत्त्या महदादिविकारमापद्यमानं पुरुषस्योपकरोति। यथा वा, विज्ञानममूर्तमपि सन्नामरूपोत्पत्तौ निमित्तं "विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्" [ ] इति वचनात्। यथा वा, अपूर्वाख्यो[3] धर्मः क्रियया अभिव्यक्तः सन्नमूर्तोऽपि पुरुषस्योपकारी वर्तते, तथा धर्माधर्मयोरपि गतिस्थित्युपग्रहोऽवसेयः।

अत्राह– यद्यतीन्द्रिययोर्धर्माधर्मयोरुपकारसंबन्धेनास्तित्वमवध्रियते तदनन्तरमुद्दिष्टस्य नभसोऽतीन्द्रियस्याधिगमे क उपकार इति? अत्रोच्यते—

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

आकाशशब्दो व्याख्यातार्थः।

अवगाहशब्दो भावसाधनः ।१। अवगाहनमवगाह इति भावसाधनोऽवगाहशब्दो वेदितव्यः। अवगाहोऽनुप्रवेश इत्यर्थः।

धर्माधर्मयोरवगाहं प्रति कर्तृत्वादनादिसंबन्धनिवृत्तिरिति चेत्; न; औपचारिकत्वात् व्याप्तिसद्भावात् ।२। स्यान्मतम्–यथा जलमवगाहते हंस इति न जलहंसयोरनादिसंबन्धः, तथा आकाशं धर्माधर्मावगाहेते इत्यभ्युपगमात् अनादिसंबन्धो निवर्तत इति; तन्न; किं कारणम्? औपचारिकत्वात्। औपचारिकोऽयमवगाहः। कुतः? क्रियाऽभावात्। कुतस्तर्हि उपचारः? व्याप्तिसद्भावात्। यथा गमनाभावेऽपि सर्वगतमाकाशमित्युच्यते व्याप्तिसद्भावात्, तथा मुख्यावगाहक्रियाऽभावेऽपि लोकाकाशेऽपि सर्वत्र व्याप्तिदर्शनात् व्यवह्रियते–धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाह इति।

अयुतसिद्धानामाधाराधेयत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; तत्रापि दर्शनात् पाणिरेखावत् ।३। स्यादेतत्–युतसिद्धानां लोके दृष्ट आधाराधेयभावः यथा कुण्डबदरादीनाम्। अयुतसिद्धाश्चैते आकाशधर्माधर्माः अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यभावात्, तत आधाराधेयभावो नोपपद्यत इति; तन्न; किं कारणम्? तत्रापि दर्शनात्। यथा युतसिद्धयभावे पाणौ रेखेति आधाराधेयभावो दृष्टः तथा लोकाकाशे धर्माधर्मावित्याधेयाधारभावः सिद्धः।

दृष्ट्वादीश्वरैश्वर्यवत् ।४। यथेश्वरस्यैश्वर्यस्य वाऽयुतसिद्धेऽपि ईश्वरे ऐश्वर्यमिति व्यवहारो दृष्टस्तथा लोकाकाशे धर्माधर्मावितिं व्यपदेशो युक्तः।

अनेकान्ताच्च तत्सिद्धिः ।५। नायमेकान्तः–अनादिसंबन्धौ धर्माधर्मौ अयुतसिद्धौ चेति। किं तर्हि? स्यादनादिसंबन्धौ स्यान्नाऽनादिसंबन्धौ, स्यादयुतसिद्धौ स्यान्नाऽयुतसिद्धाविंत्यादि।

१ सांख्याभिमतम्–स०। २ बौद्धसम्मतम्–स०। ३ मीमांसकाभिमतम्–स०।

तद्यथा–पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् व्ययोदयाभावात् स्यादनादिसंबन्धौ अयुतसिद्धौ च। द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् पर्यायाणां व्ययोत्पादसद्भावात् स्यान्नाऽनादिसंबन्धौ नायुतसिद्धौ चेत्यादि योज्यम्। ततः किम्? कथञ्चित् अवगाहः आधाराधेयभावश्च सिद्धो भवति।

जीवपुद्गलानां मुख्योऽवगाहः क्रियापरिणामात् ।६। जीवानां पुद्गलानां च मुख्योऽवगाहो वेदितव्यः। कुतः? क्रियापरिणामात्। यथा हंसो जलमवगाहते इति मुख्यो व्यपदेशः तथा जीवपुद्गला आकाशमवगाहन्ते क्रियापरिणामात् इति मुख्यो व्यपदेशोऽवसेयः।

आकाशस्यावकाशदानसामर्थ्यात् परस्परप्रतिघाताभाव इति चेत्; न; स्थूलानामन्योन्यप्रतिघातात् ।७। स्यान्मतम्–यद्यवकाशदानसमर्थमाकाशं तस्य च सर्वत्र सन्निधानात्, मूर्तानां परस्परप्रतिघातो न स्यात्। दृश्यते च बज्रादिभिर्लोष्टादीनां भित्त्यादिभिश्च गवादीनाम्, ततोऽस्याऽवकाशदानसामर्थ्यं हीयत इति; तन्न; किं कारणम्? स्थूलानामन्योन्यप्रतिघातात्। स्थूला हि परस्परतः प्रतिहन्यन्ते न सूक्ष्मास्तेषामन्योन्यप्रवेशशक्तियोगात्, न तस्य तावता अवकाशदानसामर्थ्यं हीयते।

असाधारणलक्षणत्वानुपपत्तेरिति चेत्; न; सर्वावगाहविशेषलक्षणोपपत्तेः ।८। स्यादेतत्–यदि सूक्ष्मभावात् इतरेऽपि पदार्थाः अन्योन्यावकाशदानं कुर्वन्ति नाकाशस्येदमसाधारणलक्षणम्। असाधारणेन हि लक्षणेन अस्तित्वमनुमीयते, अतस्तदभावादाकाशाभाव इति; तन्न; किं कारणम्? सर्वावगाहविशेषलक्षणोपपत्तेः। यथा भूम्यादिषु अश्वादिगतिस्थित्युपग्रहदर्शनेऽपि सर्वद्रव्यगतिस्थित्युपग्रहरूपेणासाधारणलक्षणेनानुमीयते (येते) धर्माधर्मौ, तथा सर्वद्रव्यावगाहनविशेषलक्षणोपपत्तेराकाशस्यास्तित्वमनुमीयते।

अलोकाकाशे तदभावादभाव इति चेत्; न; स्वभावापरित्यागात् ।९। स्यान्मतम्–यद्यवकाशदानलक्षणमाकाशम् अलोकाकाशेऽवगाहिनामभावात् तल्लक्षणाभावात् लक्ष्यानवधारणप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्? स्वभावापरित्यागात्। यथा हंसस्यावगाहकस्याभावेऽप्यवगाह्यत्वं जलस्य न हीयते, तथा अवगाहित्रभावेऽपि नाऽलोकाकाशस्य अवकाशदानसामर्थ्यहानिः।

[2]**अजातत्वादभाव इति चेत्; न; असिद्धेः** ।१०। स्यादेतत्–नास्त्याकाशमजातत्वात् खरविषाणवत् इति; तन्न; किं कारणम्? [3]असिद्धेः। द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् स्वप्रत्ययाऽगुरुलघुगुणवृद्धिहानिविकल्पापेक्षया अवगाहकजीवपुद्गलपरप्रत्ययावगाहभेदविवक्षया च आकाशस्य जातत्वोपपत्तेः हेतोरसिद्धिः। अथवा, व्ययोत्पादौ आकाशस्य दृश्येते। यथा चरमसमयस्याऽसर्वज्ञस्य सर्वज्ञत्वेनोत्पादस्तथोपलब्धेः, असर्वज्ञत्वेन व्ययस्तथाऽनुपलब्धेः, एवं चरमसमयस्यासर्वज्ञस्य साक्षादनुपलभ्यमाकाशं सर्वज्ञत्वोपपत्तौ उपलभ्यत इति उपलभ्यत्वेनोत्पन्नमनुपलभ्यत्वेन च विनष्टम्। यदि तेनाऽविनष्टमनुत्पन्नं च स्यात्; सर्वज्ञत्वमेवास्य न स्यात्। अतो व्ययोत्पाददर्शनात् असिद्धो हेतुः। बुद्धिशब्दलक्षणस्य खरविषाणस्य स्वकारणसन्निधाने सति जन्मवत्त्वात् अस्तित्वाच्च साध्यसाधनधर्मासिद्धता दृष्टान्तस्य–खरो मृतः गौर्जातः स एव जीव इत्येकजीवविवक्षायां खरव्यपदेशभाजो जीवस्य गोजातिसंक्रमे विषाणोपलब्धेः, [4]अर्थखरविषाणस्यापि जात्यस्तित्वसद्भावात् उभयधर्मासिद्धता। निरन्वयविनश्वरत्वे तु [5]स्मृत्यभावात् लोकसंव्यवहारलोपः स्यात्।

[6]**अनावृतिराकाशमिति चेत्; न; नामवत् तत्सिद्धेः** ।११। स्यादेतत्–नाकाशं नाम

१–विशेषोपपत्तेः ब०, द०, मु०। २ अज्ञात–मु०। आह बौद्धः–जातं वा आकाशमजातं वा? यद्यजातम्; तर्हि नास्तीति। ३ असिद्धोऽयं हेतुः। ४ अथ खर–मु०, द०, ब०, ता०, अ०। ५ उत्पत्ति। ६ दत्तग्रहादि। ७ "तत्राकाशमनावृतिः"–अभिध० १।५। ८ बौद्धः–स०।

किञ्चिद्वस्त्वस्ति, आवरणाभावमात्रं हि तदिति; तन्न; किं कारणम् ? नामवत्तत्सिद्धेः । यथा नामवेदनादि अमूर्तत्वात् अनावृत्यपि सदस्तीत्यभ्युपगम्यते, तथा आकाशमपि वस्तुभूतमित्यवसेयम् ।

[1]**शब्दलिङ्गत्वादिति चेत् ; न; पौद्गलिकत्वात् ।१२।** स्यान्मतम्–नावगाहेन आकाशमनुमीयते । कुतस्तर्हि ? शब्दलिङ्गत्वात् । शब्दो ह्याकाशगुणः वाताभिघातबाह्यनिमित्तवशात् सर्वत्रोत्पद्यमान इन्द्रियप्रत्यक्षः अन्यद्रव्यासंभवी गुणिनमाकाशं सर्वगतं गमयति, गुणानामाधारपरतन्त्रत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? पौद्गलिकत्वात् । पुद्गलद्रव्यविकारो हि शब्दः, नाकाशगुणः । तस्योपरिष्टात् युक्तिर्वक्ष्यते ।

प्रधानविकार आकाशमिति चेत् ; न; तत्परिणामाभावात् आत्मवत् ।१३। स्यान्मतम्[2]–प्रधानं नाम सत्त्वरजस्तमसां साम्यरूपमस्ति प्रसवस्वभावकम्, तद्विकारा महदादयस्तद्विकारविशेषः कश्चित् आकाशमिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्परिणामाभावात् आत्मवत् । यथा परमात्मनां नित्यत्वात् निष्क्रियत्वात् अनन्तत्वाद्यविशेषात् आविर्भावतिरोभावाऽभावात् परिणामाभावः, तथा प्रधानस्यापि नित्यत्वनिष्क्रियत्वानन्तत्वाद्यविशेषान्न स्यात्परिणामः, तदभावात् प्रधानविकाराकाशकल्पनाव्याघातः । किञ्च, यथा घटस्य प्रधानविकार[3]स्याऽनित्यत्वं मूर्तत्वमसर्वगतत्वं च तथा आकाशस्यापि स्यात् विपर्ययो वा ।

उपकारप्रकरणाभिसंबन्धेनेदमुच्यते—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

शरीरे सत्युत्तरेषां प्रवृत्तिदर्शनात् आदौ तद्वचनम् ।१। सति शरीरेऽधिष्ठानभूते उत्तरेषां वागादीनामाधेयानां प्रवृत्तिरिति कृत्वा शरीरं प्रधानमतस्तस्यादौ ग्रहणं क्रियते ।

तदनन्तरं वागुपादानं पुरुषहितावाप्तिमूलत्वात् ।२। तदनन्तरं वागुपादानं क्रियते । कुतः ? पुरुषहितावाप्तिमूलत्वात् । पुरुषस्य हि वाक् हिते प्रवर्तिका श्रोत्रेन्द्रियद्वारेण ।

अन्येन्द्रियोपसंख्यानमिति चेत् ; न; चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् ।३। स्यान्मतम्–चक्षुरादीन्यपीन्द्रियाणि पुरुषस्योपकारकाणि सन्ति, तेषामुपसंख्यानं कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् । उत्तरसूत्रे वक्ष्यते चशब्दः, स इष्टसमुच्चयार्थो भवति ।

[4]आत्मप्रदेशाच्चक्षुराद्यग्रहणमिति चेत् ; न; द्रव्येन्द्रियस्य पौद्गलिकत्वात् ।४। स्यादेतत्–उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमिता आत्मप्रदेशा ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमनिमित्ताश्चक्षुरादिव्यपदेशभाजो न पौद्गलिका इत्यनुपसंख्यानमिति; तन्न; किं कारणम् ? द्रव्येन्द्रियस्य पौद्गलिकत्वात् । अङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्ता हि द्रव्येन्द्रियपरिणामाः पौद्गलिकाः आत्मनामुपकारे वर्तन्ते ।

मनोऽग्रहणप्रसङ्गाच्च ।५। यदि ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमनिमित्तत्वाच्चक्षुराद्यग्रहणं न्याय्यं मन्यते मनसोऽप्यग्रहणं प्राप्नोति । मनोऽपि हि नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षम् ।

अनवस्थितत्वात् मनोग्रहणमिति चेत् ; न; अनवस्थानेऽपि तन्निमित्तत्वात् ।६। स्यान्मतम्–यथा चक्षुरादिव्यपदेशभाज आत्मप्रदेशा अवस्थिता नियतदेशत्वात् न तथा मनोऽवस्थितमस्ति, अत एव तदनिन्द्रियमित्युच्यते, ततोऽस्य न पृथग्ग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम् ? अनवस्था-

१ आह नैयायिकः शब्दलिङ्गमाकाशमिति । २ सांख्यस्य–स० । ३ अथ आकाशस्य प्रधानविकारस्य नित्यत्वममूर्त्तत्वं सर्वगतत्वं च तथा घटस्यापि स्यात् कारणसमानत्वात् । ४ आत्मप्रदेशत्वाच्चक्षुरादिभावेन्द्रियाणां पुद्गलप्रकरणे तदग्रहणं युक्तं सूत्रकारस्येति चोदकमाह'''। ५ नियतोद्देश–मु०, 'मू०, ता०, द०, ब० ।

नेऽपि तन्निमित्तत्वात् । यत्र यत्र प्रणिधानं तत्र तत्र आत्मप्रदेशा अङ्गुलासंख्येयभागप्रमिता मनोव्यपदेशभाजः ।

वाग्ग्रहणप्रसङ्गाच्च ।७। यदि आत्मपरिणामाच्चक्षुराद्यग्रहणं कल्प्यते वाचोऽप्यग्रहणम्, वागपि ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमोपष्टम्भजनितवृत्तिः ।

बहिर्विनिःसृतानामात्मपरिणामाभावात्तद्ग्रहणमिति चेत् ; न; उक्तत्वात् ।८। स्यादेतत्–बहिर्विनिःसृता वाक्पुद्गला आत्मपरिणामा न भवन्ति, तदर्थं पृथग्ग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम् ? उक्तत्वात्[3] । उक्तमेतत् तदुत्पत्तद्धि (तदुत्तरद्धि) रेवाऽस्माभिः–चक्षुरादीनि द्रव्येन्द्रियाणि पौद्गलिकानीति । तस्मात् सूक्तं चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वादिति ।

ततो मनोग्रहणं तद्वतस्तत्सिद्धेः ।९। ततः पश्चात् मनोग्रहणं क्रियते । कुतः ? तद्वतस्तत्सिद्धेः । यस्यात्मनः शरीरमस्ति वाङ्निर्वर्तनसामर्थ्यं च, तस्य हि तद्भवतीति ।

अन्ते प्राणापानोपादानं सर्वसंसारिकार्यत्वात् ।१०। अन्ते प्राणापानोपादानं क्रियते । कुतः ? सर्वसंसारिकार्यत्वात् । सर्वेषां हि संसारिणां जीवानां प्राणापानलक्षणं कार्यमस्ति ।

पुद्गलद्रव्यलक्षणार्थमिति चेत् ; न; वक्ष्यमाणत्वात् ।११। स्यान्मतम्–शरीरवाङ्मनःप्राणापानग्रहणमिदं पुद्गलद्रव्यस्य लक्षणार्थं नोपकारप्रतिपादनार्थमिति; तन्न; किं कारणम् ? वक्ष्यमाणत्वात् । वक्ष्यते हि उत्तरत्र पुद्गललक्षणं व्यापि, इदं तु आत्मोपकारकत्वादुपग्रहप्रकरणे उच्यते ।

प्रत्यक्षत्वादनुपदेशः इति चेत् ; न; केषाञ्चिदप्रत्यक्षत्वात् ।१२। स्यादेतत्–धर्मादीनां गत्युपग्रहादिप्रयोजनमुक्तं युक्तं तेषामप्रत्यक्षाणामधिगमहेतुत्वात् । शरीराद्युपग्रहाभिधानं तु पुद्गलानामयुक्तं प्रत्यक्षत्वात् । यो हि ब्रूयात्[4]–पुरस्तात् आदित्य उदेति पश्चादस्तं गच्छति, मधुरो गुडः, कटुकं शृङ्गिवेरमिति; किं तेन कृतं स्यादिति ? तन्न; किं कारणम् ? केषाञ्चित् अप्रत्यक्षत्वात्, औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीराणि[5] सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षाणि, तदुदयापादितवृत्तीन्युपचयशरीराणि कानिचित्[6] प्रत्यक्षाणि कानिचिदप्रत्यक्षाणि[7] । मनोऽप्रत्यक्षमेव । वाक्प्राणापानाः [8]केचित् प्रत्यक्षाः, [9]केचिदप्रत्यक्षा इन्द्रियगोचरातीतत्वात् । अतः पुद्गलोपकारस्फुटीकरणार्थः शरीराद्युपदेशः क्रियते ।

शरीराण्युक्तानि ।१३। शरीराण्यौदारिकादीनि व्याख्यातानि पौद्गलिकानि ।

कार्मणमपौद्गलिकमिति चेत् ; न; तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वात् ।१४। स्यादेतत्–कार्मणं पौद्गलिकं न भवति । कुतः ? [10]अनाकारत्वात् । आकारवतां हि औदारिकादीनां पौद्गलिकत्वं युक्तं कार्मणं तु अनाकारमिति; तन्न; किं कारणम् ? तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वात् । यथा व्रीह्यादीनामुदकादिद्रव्यसंबन्धप्राप्तिपाकानां पौद्गलिकत्वं दृष्टं तथा कार्मणमपि गुडकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात् पौद्गलिकमित्यवसेयम् । न हि अमूर्तं किञ्चिन्मूर्तिमत्संबन्धे सति विपच्यमानं दृष्टमिति ।

वाग् द्विधा अपि पौद्गलिकी तन्निमित्तत्वात् ।१५। द्विधा वाक्–भाववाक् द्रव्यवागिति । सोभयी पौद्गलिकी । कुतः ? तन्निमित्तत्वात् पुद्गलकार्यत्वादित्यर्थः । भाववाक् तावद्वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्तत्वात् पौद्गलिकी, तदभावे तद्वृत्त्यभावात् ।

१ हस्तपादादिप्रदेशे परिणामः । २ अन्तर्जल्परूपा । ३ वादस्याभिमुखैः सद्भिरेव । ४ अन्ते तु प्रा–मु०, द०, ब० । ५ किमिति । ६ शरीरनामकर्माणि इत्यर्थः । ७ कानिचित् प्रत्यक्षाणि च मु०, द०, ब० । ८ तैजसादीनि । ९ मनुष्याणाम् । १० सूक्ष्मजीवानाम् । ११ अङ्गोपाङ्गरहितत्वादित्यर्थः ।

तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी श्रोत्रेन्द्रियविषयत्वात्। [1]पुनः कुतो न गृह्यते इति चेत्? उच्यते—

पुनरग्रहणं तडिद्द्रव्यवदसंहतत्वात् ।१६। यथा तडिद्द्रव्यं चक्षुषोपलब्धं विष्वग्विशीर्णत्वात् पुनर्न दृश्यते तथा श्रोत्रेण उपलब्धा वाक् विष्वग्विशीर्णा पुनर्न श्रूयते। अथ कथं चक्षुरादिभिरसौ न गृह्यते?

चक्षुरादिग्रहणाभावो घ्राणग्राह्ये रसाद्यनुपलब्धिवत् ।१७। यथा घ्राणग्राह्ये गन्धद्रव्ये तद्विनाभाविनः सन्तोऽपि रसादयो नोपलभ्यन्ते, तथा श्रोत्रेन्द्रियविषयोऽपि[2] शेषेन्द्रियैर्न गृह्यते सूक्ष्मत्वात्।

अमूर्तिरिति चेत्; न; मूर्तिमद्ग्रहणप्रेरणावरोधदर्शनात् ।१८। स्यादेतत्–अमूर्तः शब्दः अमूर्तगुणत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? मूर्तिमद्ग्रहणप्रेरणावरोधदर्शनात्। मूर्तिमता इन्द्रियेण शब्दो गृह्यते। न चामूर्तः कश्चिदिन्द्रियग्राह्योऽस्ति। प्रेर्यते च मूर्तिमता पवनेन अर्कतूलराशिवत्[3] दिगन्तरस्थेन ग्राह्यत्वात्। न चाऽमूर्तस्य मूर्तिमता प्रेरणं प्रयुज्यते। अवरुध्यते च शब्दः नलविलादिभिः [4]कुल्याजलवत्। नचाऽमूर्तं किञ्चिन्मूर्तिमता अवरुध्यमानं दृष्टमिति।

अत्राह–नैते हेतवः। यस्तावदुच्यते–इन्द्रियग्राह्यत्वादिति; श्रोत्रमाकाशमयममूर्त्तममूर्त्तस्य ग्राहकमिति को विरोधः? यश्चोच्यते–प्रेरणादिति; नासौ प्रेर्यते गुणस्य गमनाभावात्। देशान्तरस्थेन कथं गृह्यते इति चेत्? "[5]संयोगाद्विभागात्[6] शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः" [वैशे० २।२।३१] इति शब्दान्तरारम्भाद् ग्रहणम्। [7]वेगवद्द्रव्याभिघातात् तदनारम्भेऽग्रहणं न प्रेरणमिति। योऽप्युच्यते–अवरोधादिति; स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव दिगन्तरे शब्दान्तरानारम्भात्, [8]एकदिक्कारम्भे सति अवरोध इव लक्ष्यते न तु मुख्योऽस्तीति। अत्रोच्यते–नैते दोषाः। श्रोत्रं 'तावदाकाशमयम्' इति नोपपद्यते; आकाशस्यामूर्तस्य कार्यान्तरारम्भशक्तिविरहात्। अदृष्टवशादिति चेत्; [9]चिन्त्यमेतत्–किमसावदृष्ट आकाशं संस्करोति, उतात्मानम्, आहोस्वित् शरीरैकदेशमिति? न तावदाकाशे संस्कारो युज्यते; अमूर्तित्वात् अन्यगुणत्वादसंबन्धाच्च। आत्मन्यपि शरीरादत्यन्तमन्यत्वेन कल्पिते नित्ये निरवयवे संस्काराधानं न युज्यते, तदुपार्जनफलादानाऽसंभवात्। नापि शरीरैकदेशे युज्यते; अन्यगुणत्वात् अनभिसंबन्धाच्च। किञ्च, मूर्तिमत्संबन्धजनितवि[10]पत्संपत्तिदर्शनात् श्रोत्रं मूर्त्तमेवेत्यवसेयम्। यदप्युच्यते–स्पर्शवद्द्रव्याभिघातात् शब्दान्तरानारम्भ इति; खात्पतिता नो रत्नवृष्टिः, स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव मूर्त्तत्वमस्य सिद्धम्। न हि अमूर्तः कश्चित् मूर्तिमता विहन्यते। तत एव च मुख्यावरोधसिद्धिः स्पर्शवदभिघाताभ्युपगमात्।

अभिभवादिदर्शनाच्च मूर्तः शब्दः इत्यवगन्तव्यम् ।१९। यथा तारकादयो भास्करप्रभाभिवान्मूर्तिमन्तः, तथा सिंहगजभेर्यादिशब्दैर्बृंहद्भिः [11]शकुनिरुतादयोऽभिभूयन्ते। तथा कंसादिषु पतिता ध्वन्यन्तरारम्भे हेतवो भवन्ति। गिरिगह्वरादिषु च प्रतिहताः [12]प्रतिश्रुद्भावमास्कन्दन्ति। अत्राह–अमूर्तेरप्यभिभवा दृश्यन्ते–यथा विज्ञानस्य सुरादिभिः मूर्तिमद्भिस्ततो नायं निश्चयहेतुरिति; उच्यते–नायं व्यभिचारः, विज्ञानस्य क्षायोपशमिकस्य पौद्गलिकत्वाभ्युपगमात्। इतरथा हि आकाशवन्नाभिभूयते (भूयेत)।

---

१ एकवारमुच्चरितः शब्दः स एव। २ शब्दः। ३ अभिमुखीभूतं देवदतं प्रति प्रेर्यमाणः शब्दः अन्यदिक्स्थितेन पुरुषेण। ४ कृत्रिमसरित्। ५ वैशेषिकः–स०। ६ भेरीदण्डयोः। ७ वंशस्य। ८ वायु। ९ शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तेः। १० विचार्यम्। ११ वृणादि, तत्प्रतिकारतैलादि। १२ शकुनरु–ता०, अ०, मू०। १३ प्रतिध्वनि।

मनश्च द्विविधं पौद्गलिकं तन्मयत्वात् ।२०। द्विप्रकारं मनो भावमनो द्रव्यमनश्चेति। तदुभयमपि पौद्गलिकम्। कुतः? तन्मयत्वात्। भावमनस्तावत् लब्ध्युपयोगलक्षणं पुद्गलावलम्बनत्वात् पौद्गलिकम्। द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्ययाः गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुख्यस्याऽऽत्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गलाः वीर्यविशेषावर्जनसमर्थाः मनस्त्वेन परिणता इति कृत्वा पौद्गलिकं नाकाशमयम्।

अर्थान्तरमिति चेत्; न; अनेकान्तात् इन्द्रियवत् ।२१। स्यादेतत्–अर्थान्तरम् आत्मनो मन इति; तन्न; किं कारणम्? अनेकान्तात् इन्द्रियवत्। यथा वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन एवेन्द्रियपरिणामादेशादात्मनो नानन्यदिन्द्रियम्, इन्द्रियनिवृत्तावपि[3] आत्मनोऽवस्थानात् स्यादन्यत्। तथाऽऽत्मन एव तत्क्षयोपशमापेक्षस्य मनःपरिणामादेशात् स्यादनन्यत्, मनोनिवृत्तावात्मनोऽवस्थानात् स्यादन्यत्।

अवस्थायीति चेत्; न; अनन्तरसमयप्रच्युतेः ।२२। स्यादेतत्–अवस्थायि मनः, न तस्य निवृत्तिरिति; तन्न; किं कारणम्? अनन्तरसमयप्रच्युतेः। मनस्त्वेन हि परिणताः पुद्गला गुणदोषविचारस्मरणादि कार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रच्यवन्ते।

आदेशवचनाच्च ।२३। नायमेकान्तः–अवस्थाय्येव मन इति। कुतः? आदेशवचनात्–द्रव्यार्थादेशान्मनः स्यादवस्थायि, पर्यायादेशात् स्यादनवस्थायि।

एकद्रव्यमिति चेत्; न; असामर्थ्यात् ।२४। स्यादेतत्–एकद्रव्यं मनः प्रत्यात्मं वर्तते इति। [4]उक्तं च[5]–"[6]प्रयत्नायोगपद्यात् ज्ञानायौगपद्याच्चैकं मनः" [वैशे० ३।२।३] इति; तन्न; किं कारणम्? असामर्थ्यात्। कथमसामर्थ्यम्? परमाणुमात्रत्वात्। परमाणुमात्रं हि मनः तदात्मनेन्द्रियेण च युक्तं सत् स्वप्रयोजनं प्रति व्याप्रियते इत्यभिमतम्[7]। तत्रेदं विचार्यते–तत् आत्मेन्द्रियाभ्यां सर्वात्मना वा संबन्ध्येत, तदेकदेशेन वा? यदि सर्वात्मना; तयोरात्मेन्द्रिययोरर्थान्तरभावात् व्यतिरिक्तयोरन्यतरेण सर्वात्मना संबन्धः स्यात् अणोर्मनसः नोभाभ्यां युगपत्, विरोधात्। अथान्येन देशेन आत्मना संबध्यते अन्येन देशेनेन्द्रियेण; एवं सति प्रदेशवत्त्वं मनसः प्रसक्तम्। तच्चानिष्टम्, अणुमात्रत्वात् मनसः। किञ्च, यद्यात्मा मनसा सर्वात्मना संबध्यते; मनसोऽणुत्वात् आत्मनोऽप्यणुत्वम्, आत्मनो विभुत्वात् मनसो वा विभुत्वं प्रसज्यते। अथैकदेशेनाऽऽत्मा मनसा संयुज्यते, ननु प्रदेशवत्त्वमात्मनः प्रसक्तम्। ततश्चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षजज्ञानसुखदुःखादीनां प्रदेशवृत्तित्वात् आत्मनः कश्चित् प्रदेशो ज्ञानादियुक्तः कश्चित् प्रदेशो ज्ञानादिविरहित इति। यत्र ज्ञानादिविरहितः तत्रात्मलिङ्गाभावात् तदभाव इति सर्वगतत्वाभावः स्यात्। तथेन्द्रियेण मनो यदि सर्वात्मना संयुज्यते; इन्द्रियस्याणुमात्रत्वं मनसो वेन्द्रियमात्रत्वाज्ज्ञाणुत्वम्। अथैकदेशेन मन इन्द्रियेण संयुज्यते; न तर्हि अणु तत्। किञ्च, गुणगुणिनोरन्यत्वान्नित्यत्वाच्च मनसः संयोगविभागपरिणामाभावात् नास्यात्मना न चेन्द्रियैः संयोगविभागौ स्तः। अथ संयोगविभागाभ्यां मनः परिणमते; न तर्हि नित्यम्। न च गुणगुणिनोरन्यत्वम्। अचेतनत्वाच्च मनसः [8]अनेनैव इन्द्रियेणाऽनेनैव चात्मना संयोक्तव्यं नेन्द्रियान्तरैर्न चात्मान्तरैरिति विशेषज्ञानाभावात् प्रतिनियतात्मेन्द्रियसंयोगाभावः। [9]कर्मवदिति चेत्; न; पौरुषेयपरिणामानुरञ्जित्वात् कर्मणः स्याच्चैतन्यम्, पुद्गलद्रव्यादेशाच्च स्यादचेतनत्वमिति विषमो दृष्टान्तः।

१–मुख्यस्या–मू०, ता०, अ०। २–शात् स्यादनन्यदि–मु०। ३ पञ्चेन्द्रियस्य चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियादिजन्मनि। ४ स्वमताभिप्रायं दर्शयति। ५ किमिति। ६ रूपालोकनप्रयत्नेन शेषविशेषप्रयत्नः। ७ तव। ८ आत्मना वा इन्द्रियेण वा। ९ आत्मना व्याप्तिवादेकस्मिन् शरीरे अनन्तात्मनां सद्भावात्। १० यथा भवन्मते कर्मण अचेतनत्वेऽपि आत्मनः सुखदुःखादिकार्यहेतुत्वं तद्वन्मनस इत्याह परः कर्मवदिति।

[1]सौक्ष्म्याच्च मनसश्चक्षुरादीनां रूपादिग्रहणयोग्यत्वाभावः अणुना मनसा चक्षुरादेः कृत्स्नस्याऽनधिष्ठितत्वात्। यावान् देशश्चक्षुरादीनामणुना मनसाऽधिष्ठितस्तावता एव रूपादिग्रहणसामर्थ्यं भवेत् न कृत्स्नस्य। दृष्टं च कृत्स्नग्रहणं तस्मात् नाणु।

आशुसंचारीति चेत्; न; अचेतनत्वात् ।२५। स्यान्मतम्–अणुमात्रमपि सन्मनः आशुसंचारित्वात् कृत्स्नग्रहणहेतुरिति; तन्न; किं कारणम्? अचेतनत्वात्। न हि अचेतनस्य मनसः बुद्धिपूर्विका सर्वत्र व्याप्तिर्युक्ता।

अदृष्टवशादिति चेत्; न; क्रियापरिणामाभावात् ।२६। स्यादेतत्–यथा पुरुषेण प्रेर्यमाणमलातचक्रमाशुसंचरणात् सर्वत्रोपलभ्यते, तथाऽदृष्टवशान्मनसो भ्रमणमिति; तन्न; किं कारणम्? क्रियापरिणामाभावात्। क्रियावता हि पुरुषेण प्रेर्यमाणमलातचक्रं सर्वत्रोपलभ्यते इत्येतद्युक्तम्, अदृष्टः पुनरात्मगुणः स्वयमक्रियोऽन्यत्र क्रियाहेतुरित्येतदयुक्तमित्युक्तं पुरस्तात्।

[2]अनादिसंबन्धमिति चेत्; न; संयोगित्वात् ।२७। स्यादेतत्–अनादिसंबन्धमात्मना मनः स्वभावत एवेति; तन्न; किं कारणम्? संयोगित्वात्। [3]अप्राप्तिपूर्विका हि प्राप्तिः संयोगः इत्यणुमनोवादिनाऽभ्युपगम्यते इति न मनोद्रव्यस्याऽऽत्मनाऽनादिसंबन्धः। क्षीणोपशमिकत्वाच्च नार्हतस्य आत्मनाऽनादिसंबन्धं मन इति सिद्धमस्ति।

तत्परित्यागविरोधाच्च ।२८। यदि अनादिसंबन्धं मनो भवेत्, अतोऽस्य परित्यागविरोधः स्यात्। [4]अस्ति च परित्यागः। अतो नानादिसंबन्धं मनः।

कर्मवदिति चेत्; न; अनेकान्तात् ।२९। स्यादेतत्–यथा जीवकर्मणोरनादिसम्बन्धेऽपि कर्मपरित्यागाविरोधः तथा मनसोऽपीति; तन्न; किं कारणम्? अनेकान्तात्। नायमेकान्तः–जीवकर्मणोरनादिसंबन्ध इति। किं तर्हि? [5][6]कर्मबन्धसन्तत्यपेक्षया स्यादनादिसंबन्धः, मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययापादितबन्धभेदापेक्षया स्यादादिमान्। अतोऽस्य तत्प्रत्यनीकभावनाप्रकर्षसन्निधौ परित्याग इति नास्ति विरोधः।

इन्द्रियसहकारिवेदनावगमादिति चेत्; न; चेतनास्वभावत्वात् ।३०। स्यादेतत्–इन्द्रियाण सहकारिकारणं मनः। कुतः? चक्षुरादिभिरिष्टानिष्टरूपरसादिविषयोपलब्धौ तत्सन्निधाने सुखदुःखवेदनावगमात् नान्योऽस्य व्यापारोऽस्ति इति; तन्न; किं कारणम्? चेतनास्वभावत्वात्[7]। निष्ठप्रायःपिण्डवत् इन्द्रियपरिणामात् आत्मैव इन्द्रियम्, अतश्चेतनास्वाभाव्यात् इन्द्रियाण्येव वेदनावगमं कुर्वन्ति। अतश्चैतदेवं यदि मनोऽन्तरेण इन्द्रियाणां वेदनावगमो न स्यात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च वेदनावगमो न स्यात्।

पृथगुपकारानुपलम्भात् तदभाव इति चेत्; न; गुणदोषविचारादिदर्शनात् ।३१। स्यान्मतम्–नास्ति मनः पृथगुपकारानुपलम्भात् इति; तन्न; किं कारणम्? गुणदोषविचारादिदर्शनात् मनसः। मनोलब्धिमता आत्मना मनस्त्वेन परिणामिता पुद्गलाः तिमिरान्धकारादिबाह्याभ्यंतरेन्द्रियप्रतिघातहेतुसन्निधानेऽपि गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे साचिव्यमनुभवन्ति, अतोऽस्त्यन्तःकरणं मनः।

विज्ञानमिति चेत्; न; तत्सामर्थ्याभावात् ।३२। स्यान्मतम्–न मनो नामाऽन्यदस्ति। किं तर्हि? विज्ञानमेव किञ्चिन्मनः इति व्यपदिश्यते। उक्तं च–

---

१ तावताऽपरितुष्टः सन् दूषणान्तरमप्यापादयति। २ तरुणनैयायिकवत् सृष्टिसंहारमतमनङ्गीकृत्य आत्ममनइन्द्रियाणामनादिसम्बन्ध एव संयोग इत्याह जरन्नैयायिकः, तमाचार्यो निराकरोति। ३ "अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः।"–प्रश० भा० पृ० ६२। ४ तर्हि भवतां कथमिति चेदाह। ५ एकान्तविकलाक्षादिषु। ६ कर्मसम्बन्ध–मु०, द०। ७ इन्द्रियाणाम्। ८ परिणमिताः मु०, ता०, द०। ९ बौद्धस्य।

"[1]पण्णामनन्तरातीत[2] विज्ञानं यद्धि तन्मनः" [अभिध० १।१७] इति; तन्न; किं कारणम्? तत्सामर्थ्याभावात्। वर्तमानमेव विज्ञानं बाह्यमर्थं नावबोद्धुमलं किमङ्ग पुनरतीतम्? वर्तमानं तावद्विज्ञानं क्षणिकं पूर्वापरविज्ञानसंबन्धनिरुत्सुकं कथं गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे साचिव्यं कुर्यात्? अनुस्मरणं हीदं स्वयमनुभूतस्यार्थस्य दृष्टं नानुभूतस्य (नाननुभूतस्य) नान्यानुभूतस्य। न च क्षणिकैकान्ते तत्संभवति। एकसन्तानपतितत्वात् तदुपपत्तिरिति चेत्; न; तदवस्तुत्वात्[3] तदतीतमत्यन्तमसत् कथमिव गुणदोषविचारस्मरणादौ सहायि भवेत्? आलयविज्ञानं [4]बीजशक्तिरूपं सदवस्थितमालम्बनं भवतीति चेत्; तस्य एकस्य कालान्तरावस्थायित्वाभ्युपगमे क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिः। न चेत्; तदालम्बनाभावः।

प्रधानविकार इति चेत्; न; अचेतनत्वात् ।३३। स्यादेतत्[5]–न पौद्गलिकं मनः। किं तर्हि? प्रधानविकारः। प्रधानस्य महदहङ्कारादिभावेन परिणामिनः कश्चिद्विकारविशेषो मनः इत्याख्यायते इति; तन्न; किं कारणम्? अचेतनत्वात्। प्रधानमचेतनं तद्विकाराश्च तदात्मका इति घटवदचेतनस्य तस्य गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे साचिव्याभावः। किञ्च, मनः [6]करणं विचारादेः, कर्ता पुरुषः, प्रधानं वा स्यात्? न तावत् पुरुषः; निर्गुणत्वात्, [7]सात्त्विका हि गुणदोषविचारादयः। न च प्रधानम्; तस्याऽचेतनत्वात्। न हि लोके किञ्चिदचेतनं गुणदोषविचारादेः कर्तृ दृष्टम्। किञ्च,

तदव्यतिरेकात्तदभावः ।३४। प्रधानात् सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपात् महदहङ्कारादयः परिणामा वैषम्यरूपाः[10] [11]व्यतिरिक्ता वा स्युः, अव्यतिरिक्ता वा? यदि व्यतिरिक्ताः; [12]कार्यकारणैकत्वैकान्तप्रतिज्ञाहानिः। अथाव्यतिरिक्ताः; प्रधानमेव न परिणामा नाम केचन सन्तीति मनसो निवृत्तिः।

[13]कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राणः ।३५। वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोदयापेक्षिणा आत्मना उदरयमानः कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राण इत्युच्यते।

बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणोऽपानः ।३६। तेनैव आत्मना बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निःश्वासलक्षणोऽपान इत्याख्यायते। एतावप्यात्मानुग्राहिणौ जीवितहेतुत्वात्।

तन्मूर्तिमत्त्वं प्रतिघातादिदर्शनात् ।३७। तयोः प्राणापानयोः तेषां वाङ्मनःप्राणापानानां[14] वामूर्तिमत्त्वमवगन्तव्यम्। कुतः? प्रतिघातादिदर्शनात्। प्रतिभयहेतुभिरशनिशब्दादिभिर्मनसः प्रतिघातो दृश्यते, सुरादिभिश्चाऽभिभवः। हस्तपुटादिभिरास्यसंवरणात् प्राणापानयोः प्रतिघात उपलभ्यते, श्लेष्मणा चाभिभवः। नचाऽमूर्तस्य मूर्तिमद्भिरभिघातादयः स्युः।

अत आत्मास्तित्वसिद्धिः प्राणापानादिकर्मणः तत्कार्यत्वात् ।३८। अत आत्मनोऽस्तित्वं प्रासिधत्। कुतः? प्राणापानादिकर्मणः तत्कार्यत्वात्। यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्तमात्मानं साधयति, असति तस्मिन्नप्रवृत्तेः। नाकस्मात्; [15]नियमदर्शनात्। न विज्ञानादिकृतम्; तेषाममूर्तत्वे प्रेरणशक्तिविरहात्। न रूपस्कन्ध-

---

१ पञ्चेन्द्रियाणां मनोज्ञानस्य च। २ नष्टम्। ३ एकसन्तानपतितोऽपि अतीतो देवदत्तः वर्तमानस्य प्रपौत्रादेरुपकरोति किम्? न चैवम्, तद्वत्। ४ अतीतविज्ञानम्। ५ यथा उप्तो व्रीहिः स्वयमतीतोऽपि भविष्यत्फलादेरालम्बनं भवति तथा। ६ आलम्बनविज्ञानस्य। ७ सांख्यः। ८ साधकतमम्। ९ निर्गुणत्वात् कर्त्ता न भवति किमित्याशङ्कायामाह। सत्त्वगुणमया इत्यर्थः–स०। १० न्यूनाधिका इत्यर्थः। ११ प्रधानात्। १२ असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यमिति मृत्पिण्डे घटोऽस्ति घटे मृत्पिण्डं चेति सांख्यमतम्। १३ शरीराभ्यन्तरं कोष्ठम्। १४–नां मू–ता०, अ०। १५ कुतः?।

कृतम्; तस्याचेतनत्वात्। सर्वेषां निरीहकत्वात्[1] [2]कर्माभाव इति चेत्; न; देशान्तरप्राप्त्यभावप्रसङ्गात्। वायुधातुविशेषात् देशान्तरे प्रादुर्भावः क्रियेत्युपचर्यते न मुख्या क्रियाऽस्ति [3]"भूतिर्यैषां क्रिया सैव" [ ] इति वचनात् इति चेत्; न; वायुधातुविशेषाऽसामर्थ्यात्। वायुधातुरपि निःक्रियः स कथमिव देशान्तरप्रादुर्भूतिहेतुः स्यात्। [4]क्षणिकत्वाभ्युपगमादनवस्थितानां कर्माभावः इति चेत्; न; असिद्धत्वात्, अयुक्तेश्च।

प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावप्रसङ्ग इति चेत्; न; अङ्गाङ्गिद्वन्द्वे तदभावात्।३९। स्यान्मतम्–शरीरं च वाक् च मनश्च प्राणश्चाऽपानश्च शरीरवाङ्मनःप्राणापाना इति द्वन्द्वे कृते एकवद्भावः प्राप्नोति। कुतः? प्राण्यङ्गत्वात् इति; तन्न; किं कारणम्? अङ्गाङ्गिद्वन्द्वे तदभावात्। प्राण्यङ्गानामेव यो द्वन्द्वः तस्यैकवद्भावः उक्तः। अङ्गमवयव एकदेश इत्यनर्थान्तरम्। शरीरमत्राङ्गि चास्तीत्येकवद्भावो न भवति। अथवा, वागादीनि नाङ्गानि दन्तादिवदनवस्थितत्वात्। अथवा, द्वन्द्वैकवद्भावः सर्वः समाहारविषयः। समाहारश्चैकप्राणिविषयाणां युक्तः। नानाप्राणिस्थाश्चैते विवक्षिताः, ततो नास्त्येकवद्भावः।

पुद्गलशब्दो निर्दिष्टार्थः।४०। पुद्गलशब्दस्यार्थो निर्दिष्टः–पुंगिलनात् पूरणगलनाद्वा पुद्गल इति।

उपग्रहप्रकरणात्कर्तरि षष्ठी।४१। उपग्रहशब्दः प्रकृतः, स च [5]भावसाधनः तेन कर्तुरनुक्तत्वात् पुद्गलानामिति कर्तरि षष्ठी द्रष्टव्या। तेन शरीरादिपरिणामैरात्मनां पुद्गला उपगृहीतार इत्युक्तं भवति। ते चात्मानः सक्रियाः कर्ममलीमसाः सन्तः शरीरादिकृतमुपकारं तद्बन्धपूर्वकमनुभवन्तीत्येतदुक्तम्। एकान्तनिष्क्रियत्वे अत्यन्तशुद्धत्वे[6] च शरीरादिभिः बन्धाभावात् तत्कृतोपकाराभावः, तत्क्रियाहेतुत्वाभावश्चेति संसाराभावः, तदभावात् कुतो मोक्षः?

यथा चैतँच्चतुष्टयं गमनव्याहरणचिन्तनप्राणनादिभावेन परिणामविशेषाहितमनुग्राहकं पौद्गलिकत्वात् तथाऽयमपि तत्कृत एवोपकार इति प्रदर्शयन्नाह—

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

बाह्यप्रत्ययवशात् सद्वेद्योदयादात्मनः प्रसादः सुखम्।१। यदात्मस्थं सद्वेद्यं कर्म द्रव्यादिबाह्यप्रत्ययवशात् परिपाकमुपयाति तदात्मनः प्रसादः प्रीतिरूपः सुखमित्याख्यायते।

तथा असद्वेद्योदयात् आत्मपरिणामः संक्लेशप्रायो दुःखम्।२। तथा तेन प्रकारेण बाह्यप्रत्ययवशेनेत्यर्थः, असद्वेद्योदयादात्मपरिणामो यः संक्लेशप्रायः स दुःखमिति कथ्यते।

भवस्थितिनिमित्तायुर्द्व्यसंबन्धिनो जीवस्य प्राणापानलक्षणक्रियाविशेषाव्युपरमो जीवितम्।३। भवधारणकारणमायुराख्यं कर्म, तदुदयापादितं भवस्थितिमादधानस्य जीवस्य पूर्वोक्तस्य प्राणापानलक्षणस्य क्रियाविशेषस्याविच्छेदो जीवितमिति प्रत्येतव्यम्।

तदुच्छेदो मरणम्।४। तस्य जीवितस्योच्छेदो जीवस्य मरणमित्यवसेयम्।

सुखग्रहणमादौ तदर्थत्वात्परिस्पन्दस्य।५। सर्वेषां प्राणिनां परिस्पन्दः सुखप्राप्त्यर्थः, ततोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते।

---

१ 'यो यत्रैव' इत्यादिना निर्व्यापारत्वात्। २ व्यापार। ३ उत्पत्तिः। भूतिर्येषां मु०, श्र०, द०, ता०। ४ क्षीणत्वाभ्यु–ता०, श्र०, द०। ५ कर्मसाधनः मु०, द०, ब०। ६ प्रकृतिर्बध्यते प्रकृतिर्मुच्यत इति सांख्यमते। ७ चतुष्टयं कथमित्युक्ते शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानामिति सूत्रं मनसि कृत्याह। शरीरस्य गमनमित्यादि वाच्यम्।

तदनन्तरं दुःखवचनं तत्प्रतिपक्षत्वात्।६। सुखस्य हि प्रतिपक्षभूतं दुःखम्, अप्रीतिहेतुत्वात्। ततोऽस्य वचनं तदनन्तरं क्रियते।

जीवितस्तदुभयदर्शनात् तदनन्तरं जीवितग्रहणम्।७। यतः तदुभयं सुखदुःखं जीवतो भवति, ततः तदनन्तरं जीवितग्रहणं क्रियते।

अन्ते प्राप्यत्वान्मरणस्यान्ते वचनम्।८। आयुःक्षयनिमित्तं मरणमन्ते प्राणिभिरवाप्यत इति तदुपादानमन्ते क्रियते।

सुखं च दुःखं च जीवितं च मरणं च सुखदुःखजीवितमरणानि तान्येवोपग्रहः सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहः। केषाम्? पुद्गलानामिति प्रकृतमभिसंबध्यते।

प्रकृतत्वादुपग्रहवचनमिति चेत्; न; स्वोपग्रहप्रदर्शनार्थत्वात्।९। स्यान्मतम्–प्रकृतमुपग्रहवचनमस्ति तेन शरीरवाङ्मनःप्राणापानैः सुखदुःखजीवितमरणैश्च पुद्गला जीवान् उपगृह्णन्ति इत्यस्मिन्नर्थे प्रतिपादिते पुनरुपग्रहवचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? स्वोपग्रहप्रदर्शनार्थत्वात्। यथा धर्माधर्माकाशानि परेषामेवोपग्रहं कुर्वन्ति न तथा पुद्गलाः, स्वोपग्रहश्चैषामस्तीति प्रदर्शनार्थं पुनरुपग्रहवचनं क्रियते। तद्यथा–कंसादीनां भस्मादीनि जलादीनां कतकादीनि अयःप्रभृतीनामुदकादीनि उपकारं कुर्वन्ति।

मरणमात्मोपग्रहो नेति चेत्; न; निर्विण्णस्य तत्प्रियत्वात्।१०। स्यादेतत्–मरणमात्मोपग्रहो नोपपद्यते। कुतः? अनिष्टत्वात्। न हि कस्यचित् मरणमीप्सितमिति; तन्न; किं कारणम्? निर्विण्णस्य तत्प्रियत्वात्। व्याधिपीडाशोकादिभिर्जीवितान्निवृत्तादरस्य निर्विण्णस्य हि जनस्य मरणं प्रियं लोके दृश्यते।

प्रयोजनप्रतिपादनार्थत्वाच्च दुःखवत्।११। यथा दुःखमनिष्टमपि जीवानां पुद्गलैः प्रतिपाद्यं [2]प्रयोजनमिति गृह्यते तथा[3] मरणमपीति नास्ति दोषः।

लघ्वर्थमेकसूत्रीकरणमिति चेत्; न; आशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात्।१२। स्यान्मतम्–'शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च पुद्गलानाम्' इत्येकमेव सूत्रं कर्तव्यं लघ्वर्थमिति; तन्न; किं कारणम्? आशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात्। शरीरवाङ्मनःप्राणापाना हेतवश्चत्वारः सुखदुःखजीवितमरणानि च फलानि[4] चत्वारि, तेषां [5]याथासंख्यमनिष्टमाशङ्क्येत, तन्निवृत्त्यर्थं नानायोगकरणम्। उत्तरसूत्रे[6] सुखादिसंबन्धनार्थं [7]च।

तदनुपपत्तिर्नित्यानित्यपक्षयोर्विकारावस्थानाभावात्।१३। तेषां सुखादीनाम् अनुपपत्तिः। क्व? नित्यपक्षेऽनित्यपक्षे च। कुतः? विकारावस्थानाभावात्। तद्यथा–नित्यपक्षे तावत् आत्मनां पूर्वापरकालतुल्यत्वात् परिणामान्तरसंक्रान्तिलक्षणस्य विकारस्याभावात् सुखादिककल्पनमयुक्तम्। अनित्यपक्षे चावस्थानाभावात् सुखादिसंबन्धोऽनुपपन्नः। अवस्थितस्य हि इष्टानिष्टशब्दस्पर्शादिसन्निपाते सति सुखादिप्रभवः[8] स्यात्। स चाकस्मान्न भवति। किं तर्हि? कुशलाकुशलभावनापूर्वकः[9]। कुशलाकुशलभावना[10] च स्मृत्यभिसंबन्धिचेष्टाभिनिर्वृत्तिलक्षणा। [11]स्मृत्यादयश्चानवस्थितस्य न संभवन्तीत्यतो नित्यानित्यात्मकस्यात्मनः सुखादिनिरूपणं निरवद्यम्।

---

१ असिधारादेः निशितकरणादिरूपम्। २ कार्यमित्यर्थः। ३ अनिष्टमपि पुद्गलस्य कार्यमित्यर्थः। ४ कारणानि। ५ कार्याणि। ६ समवचने याथासंख्यं शैलीयमाचार्यस्येति न्यायात्। ७ परस्परोपग्रहो जीवानामित्यत्र। ८ एकयोगकरणे शरीरादिरपि प्रसज्येत। ९ उत्पत्तिः। १० शुभाशुभरूपसंभावनापूर्वकः। ११ संभावना सङ्कल्पः। १२ अनुभूतस्य स्मरणं नाननुभूतस्य नान्यानुभूतस्य च।

आह-अजीवद्रव्यचतुष्टयस्य यथा परानुग्रहः सान्ततिकः किमेवमात्मनामपि, उतान्यो विधिरस्तीति ? अत्रोच्यते—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

कर्मव्यतिहारविषयः परस्परशब्दः ।१। कर्मव्यतिहारः क्रियाव्यतिहार इत्यर्थः। तद्विषयोऽयं परस्परशब्दः। परस्परस्योपग्रहः परस्परोपग्रहः। कः पुनरसौ ?

स्वामिभृत्यादिभावेन[1] वृत्तिः परस्परोपग्रहः ।२। स्वामी भृत्य आचार्यः शिष्य इत्येवमादिभावेन वृत्तिः परस्परोपग्रह इत्युच्यते। स्वामी तावत् वित्तत्यागादिना भृत्यादीनामुपग्रहे वर्तते, भृत्याश्च हितप्रतिपादनेन अहितप्रतिषेधेन च। आचार्य उभयलोकफलप्रदोपदेशदर्शनेन [2]तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते। शिष्या अपि [3]तदानुकूल्यवृत्त्या।

प्रकृतत्वादुपग्रहावचनमिति चेत्; न; अनन्तरचतुष्टयप्रतिनिर्देशार्थत्वात् ।३। स्यादेतत्-प्रकृतमुपग्रहवचनमस्ति तदभिसंबन्धात् पुनरुपग्रहवचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? अनन्तरचतुष्टयप्रतिनिर्देशार्थत्वात्। नाऽपूर्वः कश्चित् परस्परोपग्रहो जीवानामस्ति, अनन्तरसूत्रे निर्दिष्टः सुखादिचतुष्टयोपग्रह एवेति प्रदर्शनार्थं पुनरुपग्रहवचनम्।

स्त्रीपुंसरतिवदनियमप्रदर्शनार्थं च ।४। यथा स्त्रीपुंसौ यौगपद्येन रतिक्रियायां परस्परस्योपकुरुतः न तथा सुखाद्युपग्रहे नियम इति प्रदर्शनार्थं च पुनरुपग्रहवचनं[4] क्रियते। [5]जीवो हि कश्चित् स्वस्य सुखं कुर्वन् परस्यैकस्य सुखं करोति कश्चिद् द्वयोः कश्चिद्बहूनाम्। कश्चिद् दुःखमात्मनः कुर्वन् परस्यैकस्य द्वयोः बहूनां वा[दुःखं]करोति। कदाचिद् द्वौ बहवो वाऽऽत्मानः सुखं दुःखं वा कुर्वन्तः परस्यैकस्य द्वयोर्बहूनां वा [6]सुखं दुःखं[वा]उत्पादयन्ति। एवमितरत्रापि योज्यम्।

आह-यदि अवश्यं सतोपकारिणा भवितव्यम्, संश्च कालोऽभिमतः स किमुपकारः इति ? अत्रोच्यते- तस्य खलु वक्ष्यमाणस्वतत्त्वस्याऽमूर्तेः—

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

अथवा, यथा धर्मादीनामस्तित्वस्याऽऽविर्भावक उपकार उक्तो गत्यादिः, तथा कालस्यापि प्रतिनियत उपकारोऽस्तित्वसंसूचकोऽस्ति, उत नास्ति ? अस्त्युपकारः। यद्येवं स उच्यतामिति ? अत आह[7]- वर्तनादीनि।

[8]करणाधिकरणयोर्वर्त्तनेति चेत्; युटि सति ङीप्रसङ्गः ।१। स्यादेतत्-वर्ततेऽनया अस्यां वेति विगृह्य वर्तनाशब्दो निष्पाद्यत इति। एवं[10] सति परत्वाद्युटि सति टित्त्वात् ङी प्राप्नोति [11]कथं तर्हि सिद्धिः ?

णिजन्ताद्युचि वर्तना ।२। स्त्रीलिङ्गे कर्मणि भावे वा णिजन्ताद्युचि सति वर्तनेति भवति। वर्त्यते[12] वर्तनमात्रं वा वर्तनेति।

---

१ श्र० प्रतौ वार्तिकचिह्नं नास्ति, मुद्रिते च। २ तदुपदेशाहित-श्र०। ३ तदनुकूलवृ-मु०, ब०। ४ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिदिष्टं सूचयन्त्याचार्यस्य। ५ उक्तार्थमेव विवृणोति। ६ सुखमु-ता०, श्र०, मू०। ७ अनेन पातनिकाभिप्रायेण कालस्य साध्यत्वमुक्तं भवति। ८-दीनीति-मु०, द०, ब०, श्र०। ९ तटस्थ आचार्यमतं परिपृच्छति आचार्यः। १० स्यादेवेति चेत्। ११ न प्राप्नोतीत्युक्ते तटस्थ आह। १२ प्रयोक्त्रा अनेन।

अनुदात्तेत्त्वात्तान्छीलिको वा ।३। अथवा, [1]वृत्तिरयमनुदात्तेत्, ततस्ताच्छीलिको युच् वर्तनशीला वर्तनेति। का पुनर्वर्तना ?

प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना ।४। द्रव्यस्य पर्यायो द्रव्यपर्यायः, द्रव्यपर्यायं द्रव्यपर्यायं प्रति प्रतिद्रव्यपर्यायम्, अन्तर्नीत एकः समयोऽनया सा अन्तर्नीतैकसमया, का पुनरसौ ? स्वसत्तानुभूतिः, उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यवृत्तिः सत्ता, न ततोऽन्या काचिदस्ति। स्वा सत्ता स्वसत्ता, प्रतिनियता असाधारणीत्यर्थः, बुद्ध्यभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्गेनानुमीयमाना [3]सादृश्योपचारादेकापि सती[4] जीवाजीवतद्भेदप्रभेदैः संबन्धमापद्यमाना विशिष्टशक्तिभिरेव संबध्यते। तस्या अनुभूतिः स्वसत्तानुभूतिर्वर्तनेत्युच्यते। एकस्मिन्नविभागिनि समये धर्मादीनि द्रव्याणि षडपि [5]स्वपर्यायैरादिमदनादिमद्भिरुत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पैर्वर्तन्त इति कृत्वा तद्विषया वर्तना।

सा आनुमानिकी व्यावहारिकदर्शनात् पाकवत् ।५। यथा व्यावहारिकस्य पाकस्य तण्डुलविक्लेदनलक्षणस्यौदनपरिणामस्य दर्शनादनुमीयते-अस्ति प्रथमसमयादारभ्य सूक्ष्मपाकाभिनिर्वृत्तिः प्रतिसमयमिति। यदि हि प्रथमसमये अग्न्युदकसन्निधाने कश्चित् पाकविशेषो न स्यात्, एवं द्वितीये तृतीये च न स्यादिति पाकाभाव एव स्यात्। तथा सर्वेषामपि द्रव्याणां स्वपर्यायाभिनिर्वृत्तौ प्रतिसमयं [6]दरधिगमा[7] निष्पत्तिरभ्युपगन्तव्या।

तल्लक्षणः कालः ।६। सा वर्तना लक्षणं यस्य स काल इत्यवसेयः। समयादीनां[8] क्रियाविशेषाणां समयादिनिर्वृत्त्यानां च पर्यायाणां पाकादीनां स्वात्मसद्भावानुभवनेन स्वत एव वर्तमानानां निर्वृत्तेर्बहिरङ्गो हेतुः समयः। पाक इत्येवमादिस्वसंज्ञारूढिसद्भावे काल इत्ययं व्यवहारोऽकस्मान्न भवतीति तद्व्यवहारहेतुना अन्येन भवितव्यमित्यनुमेयः।

आदित्यगतेरिति चेत्; न; तद्गतावपि तत्सद्भावात् ।७। स्यादेतत्-आदित्यगतिनिमित्ता द्रव्याणां वर्तनेति; तन्न; किं कारणम् ? तद्गतावपि तत्सद्भावात्। सवितुरपि व्रज्यायां [9]भूतादिव्यवहारविषयभूतायां क्रियेत्येवं रूढायां वर्तनादर्शनात् तद्धेतुना अन्येन कालेन भवितव्यम्।

आकाशप्रदेशनिमित्तेति चेत्; न; तां प्रत्यधिकरणभावाद्भाजनवत् ।८। स्यादेतत्-आकाशप्रदेशनिमित्ता वर्तना नान्यस्तद्धेतुः कालोऽस्तीति; तन्न; किं कारणम् ? तां प्रत्यधिकरणभावात् भाजनवत्। यथा भाजनं तण्डुलानामधिकरणं न तु तदेव पचति, तेजसो हि स व्यापारः, तथा आकाशमप्यादित्यगत्यादिवर्तनायामधिकरणं न तु तदेव निर्वर्तयति। कालस्य हि स व्यापारः।

सत्त्वात इति चेत्; न; तस्या अप्यनुग्रहात् ।९। स्यान्मतम्-सत्ता नाम सर्वपदार्थानां साधारण्यस्ति तद्धेतुका वर्तनेति; तन्न; किं कारणम् ? तस्या अप्यनुग्रहात्। कालानुगृहीतवर्तना हि सत्तेति ततोऽप्यन्येन कालेन भवितव्यम्।

द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः ।१०। द्रव्यस्य चेतनस्येतरस्य वा द्रव्यार्थिकनयस्य अविवक्षातो न्यग्भूतां स्वां द्रव्यजातिमजहतः पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्यं विभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भावः पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकारः प्रयोगविस्रसालक्षणः परिणाम इति प्रतिपत्तव्यः। तत्र प्रयोगः पुद्गलविकारः, तदनपेक्षा विक्रिया विस्रसा। तत्र परिणामो द्विविधः-अनादिरादिमांश्च। अनादिर्लोकसंस्थानमन्दराकारादिः। आदिमान् प्रयो-

---

१ अस्येत् अनुदात्तसंज्ञात [?]। २ सत्यप्यश्वादिव्यक्तिकरे गोजात्यविनाभाविसत्ताज्ञानं गौरियं गौरियमिति शब्दानाम्। ३ जीवादिषु वर्तमानसत्तासामान्योपचारात्। ४ सत्ता। ५ अगुरुलघुत्वाद्यसंख्यातप्रदेशत्वादि। ६ ज्ञातुमशक्या। ७ किंविशिष्टानाम्। ८ अतीतानागतवर्तमान।

गजो वैस्रसिकश्च। तत्र चेतनस्य द्रव्यस्यौपशमिकादिर्भावः कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषेयत्वात् वैस्रसिक इत्युच्यते। ज्ञानशीलभावनादिलक्षणः आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। अचेतनस्य च मृदादेः घटसंस्थानादिपरिणामः कुलालादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। इन्द्रधनुरादिनानापरिणामो वैस्रसिकः। तथा धर्मादेरपि परिणामो योज्यः।

परिणामाभावः सत्त्वासत्त्वयोर्दोषोपपत्तेरिति चेत्; न; पक्षान्तरत्वात्।११। स्यान्मतम्–नास्ति परिणामः। कुतः? सत्त्वासत्त्वयोः दोषोपपत्तेः। बीजमङ्कुरे स्याद्वा, न वा? यदि सदङ्कुरे बीजम्; अङ्कुराभावो बीजवत्। अथासत्; न बीजमङ्कुरत्वेन परिणतम्, अङ्कुरे तत्स्वभावाभावात्। अतः परिणामाभावः इति; तन्न; किं कारणम्? पक्षान्तरत्वात्। यथा सत्पक्षदोषो नाऽसत्पक्षं स्पृशति पक्षान्तरत्वात्, असत्पक्षदोषोऽपि सत्पक्षं तत एव। तथा सदसदेकान्तपक्षदोषावप्यनेकान्तपक्षं न स्पृशतः पक्षान्तरत्वादेव, इतरथा हि पक्षसङ्करप्रसङ्गः। उभयदोषप्रसङ्ग इति चेत्; न; जात्यन्तरत्वान्नरसिंहरूपवत्। शालिबीजादिद्रव्यार्थादेशात् अङ्कुरे स्याद्बीजमस्ति। यद्यन्वयोच्छेदः स्यात्; फलविशेषाभावः प्रसज्येत। शालिबीजादिपर्यायार्थादेशात् स्यादङ्कुरे नास्ति बीजम्। यद्यविपरिणामः स्यात्; [3]अन्यथावृत्तिदर्शनमयुक्तं स्यात्।

प्रतिषेधाभावाच्च।१२। इदमसि त्वं प्रष्टव्यः? परिणामः सन्वा प्रतिषिध्येत, असन्वेति? उभयथा च प्रतिषेधाभावः? यदि सन्; सत्त्वादेव न प्रतिषिध्येत। अथ सन्नपि प्रतिषिध्येत; ननु परिणामप्रतिषेधोऽपि[6] सत्त्वात् प्रतिषिध्यत इति प्रतिषेधाभावः। तदभावादप्रतिषिद्धः[7] परिणामः। अथ प्रतिषेधः सत्त्वादप्रतिषिद्धः; ननु परिणामोऽपि सत्त्वात् अप्रतिषिद्धः। अथाऽसन् परिणामः; असत्त्वादेव खरविषाणवत् न प्रतिषिध्यते इति प्रतिषेधाभावः। अथवा, यस्य परिणामो नास्ति स वक्तृत्वेनापरिणतः वाच्यस्याप्यर्थस्याभिधेयत्वेनापरिणामः अभिधानस्य[9] च वाचकत्वेनापरिणाम इति वक्तृवाच्यवचनानामभावात् प्रतिषेधाभावः, तदभावादप्रतिषिद्धः परिणामः स्थितः।

अन्यानन्यत्वदोषादिति चेत्; न; उक्तत्वात्।१३। स्यान्मतम्–नास्ति परिणामः। कुतः? अन्यानन्यत्वयोर्दोषात्। बीजादङ्कुरोऽन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा? यदि अन्यो बीजादङ्कुरः; न तर्हि बीजपरिणामोऽङ्कुरः। अथानन्यो बीजादङ्कुरः; न तर्हि अङ्कुरोऽस्ति बीजादनन्यत्वात्। उक्तं च–

"स्याच्चेद्बीजं परिणतं नान्यो बीजाच्च सोऽङ्कुरः।
तच्च[10] नैवं यदि ह्यन्यो न [11]तत्तच्चेन्न सोऽङ्कुरः॥" [ ]

तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्–पक्षान्तरत्वात् दोषाभाव इति। स्याद्बीजादङ्कुरोऽन्यः स्यादनन्यः। यस्मात् प्रागङ्कुरोत्पादात् बीजेऽङ्कुरपर्यायो नासीत् पश्चाच्च जातः तस्मात् बीजादङ्कुरः पर्यायार्थादेशात् स्यादन्यः। यस्माच्च शालिबीजजातिविशिष्टोऽन्योऽङ्कुरोऽसन्,[12] तस्माच्छालिबीजजात्यात्मकद्रव्यार्थादेशात् बीजादङ्कुरः स्यादनन्यः।

व्यवस्थिताव्यवस्थितदोषादिति चेत्; न; अनेकान्तात्।१४। स्यान्मतम्–बीजेऽङ्कुरत्वेन परिणते अङ्कुरे बीजं व्यवस्थितं वा स्यात्, अव्यवस्थितं वा? यदि व्यवस्थितम्; बीजस्य व्यवस्थानात् विरोधात् अङ्कुराभावः। अथाव्यवस्थितम्; न तर्हि बीजमङ्कुरत्वेन परिणतम्। तस्मादुभयत्र दोषान्नास्ति

१ यद्यनन्वयोच्छे–ता०, श्र०, मू०। २ बीजस्य विविधपरिणामाभावः। ३ अङ्कुररूप। ४ इदमस्ति त्वं मु०, द०, ब०। ५ प्रतिषिध्यते। ६ प्रतिषिध्यते ता०, श्र०, मू०। ७ वागादिः। ८ द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति न्यायात्। ९–नस्य वा च–ता०। –नस्य च वाचकत्वापरिणा–ता०। १० अङ्कुराद् भिन्नं न। ११ तस्माच्चेन्न मु०। १२ अपितु स एव सन्।

परिणाम इति? तन्न; किं कारणम्? अनेकान्तात्। यथा मनुष्यायुर्नामकर्मोदयादङ्गोपाङ्गपर्यायानास्कन्दन् निष्टप्तायःपिण्डवत् अङ्गुल्युपाङ्गपरिणामात् अङ्गुलिरात्मा, अतो वीर्यान्तरायक्षयोपशमापेक्षोऽङ्गुल्यात्मा संकोचनप्रसारणपर्यायावास्कदन् अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् स्यात् सन्, पौद्गलिकपरिवृत्तावस्थितागुङ्ल्युपाङ्गपर्यायार्थादेशाच्च[1] स्यात् सन्, अत एव स्यादनन्यः स्यादवस्थितः। संकोचनप्रसारणपर्यायार्थादेशात् स्यादसन् अत एव स्यादन्यः स्यादनवस्थितः। तथैकेन्द्रियवनस्पतिनामायुरुदयाविष्कृतः आत्मैव बीजपर्यायमास्कन्दन् निष्टप्तायःपिण्डवत् बीजपरिणामात् बीजव्यपदेशभाक्। अतः किम्? अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् स्यात् सन्, पौद्गलिकशालिजात्येकेन्द्रियरूपरसशब्दस्पर्शपर्यायार्थादेशाच्च स्यात् सन्, अत एव स्यादनन्यः स्यादवस्थितः। पौद्गलिकशालिबीजपर्यायार्थादेशात् स्यादसन्, अत एव स्यादन्यः स्यादनवस्थितः। इत्येवमनेकान्ताश्रयणादेकान्तपक्षदोषानुषङ्गाभावः।

वृद्ध्यभावप्रसङ्ग इति चेत्; न; अन्यहेतुत्वात्।१५। स्यादेतत्–नास्ति परिणामः। कुतः? वृद्ध्यभावप्रसङ्गात्। यदि बीजमङ्कुरत्वेन परिणमेत; बीजमात्र एवाङ्कुरः स्यात् पयःपरिणामदधिवत्, ततो वृद्ध्यभावः। उक्तं च—

"[2]किञ्चान्यद्यदि तद्बीजं गच्छेदङ्कुरतामिह।
[3]विवृद्धिरङ्कुरस्य स्यात् कथं बीजादपुष्कलात्॥ १॥" [ ]

[4]भौमौदकरससंबन्धाद्वृद्धिरिति चेत्; न; बीजपरिणामाभावप्रसङ्गात्। उक्तं च—

"अथेष्टं तै रसैर्भौमैरौदकैश्च विवर्धते।
नन्वेवं सति बीजस्य परिणामो न युज्यते॥ १॥" [ ]

भौमौदकरसद्रव्यान्तरसंचयात् वृद्धिरिति चेत्; न; द्रव्यान्तरसंयोगेऽपि वृद्ध्यभावात्। यदि भौमौदकरसद्रव्यान्तराणि संयोगवृद्ध्या वर्तन्ते; ननु वृद्ध्यभावः जतुसंयोगे काष्ठवृद्ध्यभाववत्। उक्तं च—

"आश्लिष्टं जतुना काष्ठं यथा स्थूलत्वमृच्छति।
[5]ननु काष्ठं तथैवास्ते जतु चात्र विवर्धते॥ १॥
तथैव यदि तद्बीजमास्ते येनात्मना स्थितम्।
रसाश्च वृद्धिं कुर्वन्ति बीजं तत्र करोति किम्॥ २॥" [ ] इति;

तन्न; किं कारणम्? अन्यहेतुत्वात्। 'बीजमात्रः अङ्कुरो भवेत्' इति ब्रुवता त्वयैवाभ्युपगतः परिणामः। यस्तु भवता दोष उपन्यस्तः वृद्ध्यभावप्रसङ्ग इति; नासौ युक्तः; कुतः? अन्यहेतुत्वात्। यथा मनुष्यायुर्नामोदयाभ्यां जातो बालः बाह्यसावित्रकिरणादिसंबन्धापेक्षस्तन्यनवनीताद्याहारमनुभवन् अभ्यन्तरवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भावितोहारजरणसामर्थ्यकायाग्निबलोपेतः उपयुक्ताहाररसादिपरिणामान्निर्माणनामकर्मोदयापेक्षो वर्धते, तथा वनस्पतिविशेषायुर्नामोदयापेक्षो बीजाधिष्ठानो जीवोऽङ्कुरो जातः भौमौदकरसाहारं तप्तायः पिण्डवत् आत्मसात्कुर्वन् बाह्यसावित्रकिरणसंतापाभ्यन्तरवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भावितोङ्कुरकायाग्निबलात् भौमौदकरसान् जरयन् स्वानुरूपनिर्माणकर्मोदयापेक्षो वर्धते। अयं तु वृद्ध्यभावदोष एकान्तवादिनामेव भवति। नित्यत्वैकान्ते तावद्विपरिणामाभावात् वृद्ध्यभावः। क्षणिकैकान्तवादेऽपि[8] प्रतीत्यसमुत्पादाभ्युपगमात् तावतोऽधिगमे

१ –देशान्न स्यात् सन् मु०, द०। –देशाच्च न स्यात्–मू०, ता०। २ दूषणान्तरमप्यस्ति। ३ विशिष्टा वृद्धिः। ४ बीजमात्रमङ्कुरो भवतु वृद्धिस्तु। ५ तनु–मु०। ६ तावद् बीजमात्रः। ७ बलापेक्षः मु०, द०, ब०। ८ तावत्परिणा–श्र०। ९ रसादिकमालक्ष्य।

तावत एवोपगमाद् वृद्ध्यभावः। किञ्च सर्वेषां क्षणिकत्वात् अङ्कुरस्य तत्कारणाभिमतानां च भौमौदकरसादीनां युगपद्वा विनाशः स्यात्, पौर्वापर्येण वा ? यदि युगपत् ; नास्ति तत्कृता वृद्धिः। न हि वृद्धिहेतवो विनश्यन्तोऽन्यस्य विनश्यतोऽर्थस्य वृद्धिं कुर्वन्तो दृष्टाः। अथ पौर्वापर्येण; विनष्टस्याङ्कुरस्य भौमादयः किं कुर्वन्ति, विनष्टा वा किं कुर्युः ? अनेकान्तवादिनां तु अङ्कुरो भौमादयश्च द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नित्याः पर्यायार्थादेशाच्च स्यात्क्षणिका इति वृद्ध्युपपत्तिः।

[1]क्षणिकत्वे प्रबन्धभेदाभ्युपगमात् वृद्धिरिति चेत्; न; तदभावात् ।१६। स्यान्मतम्–भावानां क्षणिकत्वेऽपि वृद्धिर्युज्यते। कुतः ? प्रबन्धभेदाभ्युपगमात्। त्रिविधो हि प्रबन्धः–सभागरूपः, क्रमापेक्षः, अनियतश्चेति। तत्र प्रदीपात् [2]प्रदीप एकः प्रबध्यते स्रोतसः स्रोत एवेति (इवेति), सादृश्यात् सभागरूपः प्रबन्धः। स (स्व) सन्ततिपरिणामक्रमोपलम्भात् बालकुमारवीजाङ्कुराद्यविच्छेदः क्रमापेक्षः। [3]कृकलासानेकवर्णप्रबन्धानियमो मेघेन्द्रधनुरादिष्वनियतः। ततोऽस्ति वृद्धिरिति; तन्न; किं कारणम्? तदभावात्। इदमिह संप्रधार्यम्–सतोर्वा प्रबन्धः स्यात्, सदसतोः, असतोर्वा ? न तावदसतोः प्रबन्धः वन्ध्यासुताकाशकुसुमयोः। नापि सदसतोः खरखरविषाणयोः। परिशेषात् सतोरेव। क्षणिकवादे तु पूर्वोत्तरस्कन्धयोर्नैकस्मिन् क्षणेऽस्तित्वमिति प्रबन्धाभावः। अस्तित्वे च क्षणिकप्रतिज्ञाहानिः। आह–क्षणिकत्वेऽपि तुलान्तनामोन्नामवत् युगपदुत्पादविनाशभावात् अर्थप्रबन्ध इत्यस्ति वृद्धिरिति; उच्यते–यदि युगपदुत्पादविनाशयोः वृत्तिः; कार्यकारणभावाभावः सव्येतरगोविषाणवत्।

[4]ध्रौव्यैकान्ते परिणामाभावोऽनेकदोषप्रसङ्गात् ।१७। ध्रौव्यैकान्ते य उक्तः परिणामः "व्यवस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरोपजनने च परिणामः।" [योगभा० ३।१३] अवस्थितस्य हि ध्रौव्यादिलक्षणस्य द्रव्यस्य क्षीरधर्ममात्रनिवृत्तौ दधिधर्ममात्रोत्पत्तौ परिणाम इति; स नोपपद्यते; कुतः ? अनेकदोषप्रसङ्गात्। न हि तस्य [5]द्रव्यमवस्थितमस्ति यस्य परिणामो भवेत्[6]। अथास्ति समुदायव्यतिरिक्तं द्रव्यम् ; ननु गुणसमुदायमात्रद्रव्यप्रतिज्ञाहानिः। किञ्च,

उभयदोषप्रसङ्गात् ।१८। इदमिह मीमांस्यम्–यन्निवर्तते यच्चोत्पद्यते यच्च व्यवतिष्ठते तदेतत्त्रितयं गुणसमुदायमात्रं वा स्यात्, ततोऽन्यद्वेति ? यदि गुणसमुदायमात्रम् ; ननु स एवासौ प्राक् पश्चाच्च गुणसमुदायः कोऽत्र कस्य वा परिणामः ? अन्येन नाम निवृत्तेन अन्येनावस्थितेनाऽन्येनचोत्पन्नेन भवितव्यमिति न्याय्यम्। अथान्यदिति गृह्यते; एवमपि गुणसमुदायमात्रद्रव्यप्रतिज्ञाहानिः। किञ्च, ध्रौव्यैकान्तविरोधः, एकश्चेद्धर्मो निवर्तते एकश्चेदुत्पद्यते अनित्यताप्राप्तेरिति। किञ्च, समुदायः गुणेभ्योऽन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा ? यद्यनन्यः; गुणा एवेति समुदायकल्पनाव्याघातः, तदभावाच्च तदविनाभाविनां गुणानामप्यभावः। अथान्यः समुदायः; पुनरत्र प्रतिज्ञाविरोधः परस्परविनाभाविनोः स्वरूपशून्यत्वं च स्यात्, कुतः परिणामकल्पना ?

यच्चोक्तम्–पूर्वभावस्यान्यभावाप्तिः परिणाम इति; तदयुक्तम् ; कस्मात् ? उभयदोषप्रसङ्गात्। [10]शब्दादीनां सुखादिसमन्वयभावानुपपत्तिः शब्दादिभावनिवृत्तिर्वेति। यदि पूर्वभावस्य अन्यभावापत्तिः परिणामः; सुखदुःखमोहानां शब्दादिभावापत्तेः शब्दादिषु[11] सुखादिसमन्वयभावानुपपत्तिः। किं कारणम् ? पूर्वभावस्यान्यभावापत्तिः परिणामः इति प्रतिज्ञानात्। अथ पूर्वभावस्य

१ अथ नित्यत्वैकान्तवादिमतनिरासपुरस्सरमालम्बनस्य बौद्धस्य पुनरपि दोषं प्रतिपादयन्नाह। २ प्रदीपकश्च प्रबुध्य–मु०, ब०। प्रदीपकः प्रबुध्य–ता०, द०। ३ सरटः कृकलासः स्यात्। ४ नित्यैकान्ते। ५ बौद्धादेः। ६ तत्। ७ क्षणिकत्वात्। ८ क्रमभाविद्रव्यनिराकरणं कृतम्। ९ अनेन सहभाविद्रव्यनिराकरणं कृतम्। १० तदेवाह। ११ उत्तरभावेषु।

नान्यभावापत्तिः सुखादिसमन्वयात्; कथं तर्हि पूर्वभावस्यान्यभावापत्तिः परिणामः ? तथैव सुखाद्यवस्थानात् शब्दादिभावानुपपत्तिः प्रसजति, सा चानिष्टा, तस्मान्न पूर्वभावस्यान्यभावापत्तिः परिणामः।

किञ्च, अभावस्यापरिणामात्। [1]यद्येनात्मना[2] नास्ति न तस्य तद्भावापत्तिः विद्यते। यथा अभावस्य भावात्मनाऽभावान्न [3]तद्भावापत्तिः, एवं गुणानां स्थूलत्वेन अभावात् तद्भावापत्तिरयुक्ता। अथास्ति [4]तद्भावः; ततः परिणामानुपपत्तिः तद्भावात्। येनात्मना यद्विद्यते तस्य न पुनस्तद्भावापत्तिः। नह्यभाव अभावात्मकत्वात् पुनरभावो भवति। एवमेकान्ते कारणस्योभयथा परिणामानुपपत्तेः अनेकान्त आश्रयणीयः–पर्यायार्थादेशात् स्यादन्यभावापत्तिः, द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नान्यभावापत्तिः परिणाम इति। तथा द्रव्यार्थादेशात् स्यादवस्थितस्य द्रव्यस्य परिणामः, पर्यायार्थादेशात् स्यादनवस्थितस्येति। अथ का क्रियेति ? अत्रोच्यते–

क्रिया परिस्पन्दात्मिका द्विविधा ।१९। द्रव्यस्य द्वितयनिमित्तवशात् उत्पद्यमाना परिस्पन्दात्मिका क्रियेत्यवसीयते। सा द्विविधा पूर्ववत् प्रयोगविस्रसानिमित्ता। प्रायोगिकी [5]शकटादीनाम्। विस्रसानिमित्ता मेघादीनाम्।

स्थितिग्रहणमिति चेत्; न; परिणामावरोधात् ।२०। स्यादेतत्–यदि परिस्पन्दात्मिका क्रिया इत्युच्यते स्थितेर्ग्रहणं प्राप्नोति। गतिनिवृत्तिर्हि स्थितिरिति; तन्न; किं कारणम् ? परिणामावरोधात्। स्थितिर्हि परिणामेऽन्तर्भवति।

परिणामग्रहणमेवास्तु इति चेत् ; न; भावद्वैविध्यख्यापनार्थत्वात् ।२१। स्यान्मतम्–यथा स्थितिः परिणामेऽन्तर्भवति तथा क्रियापि तत्रैवावरुध्यते इति परिणामग्रहणमेवैकमस्तु इति; तन्न; किं कारणम् ? भावद्वैविध्यख्यापनार्थत्वात्। द्रव्यस्य हि भावो द्विविधः–परिस्पन्दात्मकः, अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रियेत्याख्यायते, इतरः परिणामः, इत्येतत् ख्यापनार्थं पृथग्ग्रहणम्।

क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्तात् परत्वापरत्वानवधारणमिति चेत् ; न; कालोपकारप्रकरणात् ।२२। स्यान्मतम्–क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्ते परत्वापरत्वे। तत्र क्षेत्रनिमित्ते[6] तावदाकाशप्रदेशाल्पबहुत्वापेक्षे। एकस्यां दिशि बहूनाकाशप्रदेशानतीत्य स्थितः परः, ततः अल्पानतीत्य स्थितोऽपरः। प्रशंसाकृते अहिंसादिप्रशस्तगुणयोगात् परो धर्मः, तद्विपरीतोऽधर्मोऽपरः इति। कालहेतुके शतवर्षः परः, षोडशवर्षोऽपर इति। अतोऽर्थभेदात् परत्वापरत्वयोरनवधारणमिति[7]; तन्न; किं कारणम् ? कालोपकारप्रकरणात् कालकृतेऽत्र परत्वापरत्वे गृह्येते, दूरासन्नदेशावस्थायिनोः कुमारस्थविरयोः, तपस्विचाण्डालयोः सन्निकृष्टदेशे [9]चाण्डाले पर इति व्यवहारो दृश्यते, विप्रकृष्टे च [10]तपस्विनि अपर इति। ते एते परत्वापरत्वे कालकृते [11]इह गृह्येते।

वर्तनाद्युपकारलिङ्गः कालः ।२३। उक्ता वर्तनादयः उपकारा यस्यार्थस्य [12]लिङ्गं स काल इत्यनुमीयते। तथा चोक्तम्–"येन मूर्तानामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते स कालः" [ ] इति।

वर्तनाग्रहणमेवास्त्विति चेत् ; न; कालद्वैविध्यप्रदर्शनार्थत्वात् प्रपञ्चस्य ।२४। स्यान्मतम्–वर्तनाग्रहणमेवास्तु कालास्तित्वख्यापनं तद्धिकल्पत्वात् परिणामादीनामिति; तन्न; किं कारणम् ?

१ रूपादि। २ स्वरूपेण। ३ तस्याभावापत्तिः–मु०, द०, ब०। ४ स्थूलत्व। ५ सुवर्णादेः पूर्वरूपेण उत्तररूपेण च। ६–णमेकमेवास्ति–मु०, द०, ब०। ७–त्ते परत्वापरत्वे तावत्–मु०, ता०। ८ सूत्रे इदमेवेत्यनिश्चयः। ९ स्थविरचाण्डाले। १० कुमारे। ११ वर्तनादिसूत्रे। १२ ज्ञापकम्।

कालद्वैविध्यप्रदर्शनार्थत्वात् प्रपञ्चस्य । द्विविधः कालः–परमार्थकालः व्यवहाररूपश्चेति । तत्र परमार्थकालः वर्तनालिङ्गः गत्यादीनां धर्मादिवत् वर्तनाया उपकारकः । स किंस्वरूप इति चेत् ? उच्यते–यावन्तो लोकाकाशे प्रदेशास्तावन्तः कालाणवः परस्परं प्रत्यबन्धाः एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकव्यापिनः मुख्योपचारप्रदेशकल्पनाऽभावान्निरवयवाः । मुख्यप्रदेशकल्पना हि धर्माधर्मजीवाकाशेषु पुद्गलेषु च द्व्यणुकादिषु स्कन्धेषु । परमाणुपूपचारप्रदेशकल्पना, [1]प्रचयशक्तियोगात् । उभयथा च कालाणूनां प्रदेशकल्पनाऽभावात्, धर्मास्तिकायादिवत् कायत्वाभावः । अत एव विनाशहेतुत्वाभावान् नित्याः । परप्रत्ययोत्पादविनाशसद्भावादनित्याः । सूचीसूत्रमार्गाकाशच्छिद्रवत् परिच्छिन्नमूर्तित्वेऽपि रूपादियोगाभावात् अमूर्ताः । निष्क्रियाश्च प्रदेशान्तरसंक्रमाभावात् । व्यवहारकालः परिणामादिलक्षणः[2] । [3]कालवर्तनया लब्धकालव्यपदेशः, कुतश्चिन परिच्छिन्नः अपरिच्छिन्नस्य परिच्छेदहेतुः ।

कालत्रैविध्यसिद्धिः परस्परापेक्षत्वात् ।२५। भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति त्रिविधः कालः सिद्धः । कुतः ? परस्परापेक्षत्वात् । यथा वृत्तपङ्क्तिमनुसरतो देवदत्तस्य एकैकतं प्रति प्राग् प्राप्नुवन् प्राप्स्यन् [4]व्यपदेशस्तथा तान् कालाणूननुसरतां द्रव्याणां क्रमेण वर्तनापर्यायमनुभवतां भूतवर्तमानभविष्यद्व्यवहारसद्भावः । तत्र परमार्थकाले भूतादिव्यवहारो गौणः, व्यवहारकाले मुख्यः । परस्परापेक्षश्चासौ–यद्द्रव्यं क्रियापरिणतं कालपरमाणुं प्राप्नोति तद्द्रव्यं तेन कालेन वर्तमानसमयस्थितिसंबन्धवर्तनया वर्तमानः कालः, [5]कालाणुरपि वर्तयंस्तद्द्रव्यमनतिक्रान्तसंबन्धवर्तनात्तदाख्यो भवति । [6]तदेव कालवशात् अनुभूतवर्तनासंबन्धं भूतम्, कालाणुरपि भूतः । तदेव वर्त्स्यन्स्थितिसंबन्धवर्तनापेक्षं भविष्यदिति व्यपदिश्यते, कालाणुश्च भविष्यन्निति । एवं[7] सवितुरनुसमयगतिप्रचयापेक्षया आवलिकोच्छ्वासप्राणस्तोकलवनालिकामुहूर्ताऽहोरात्रपक्षमासर्त्वयनादिसंवत्सरगतिपरिवर्तनकालवर्तनया व्यवहारकालो मनुष्यक्षेत्रे संभवति इत्युच्यते, तत्र ज्योतिषां गतिपरिणामात्, न बहिः निवृत्तगतिव्यापारत्वात् ज्योतिषाम् । मनुष्यक्षेत्रसमुत्थेन ज्योतिर्गतिसमयावलिकादिना परिच्छिन्नेन[8] क्रियाकलापेन[9] कालवर्तनया कालाख्येन ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च प्राणिनां संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तानन्तकालगणनाप्रभेदेन कर्मभवकायस्थितिपरिच्छेदः सर्वत्र जघन्यमध्यमोत्कृष्टावस्थः क्रियते ।

[10]**क्रियामात्रमेव कालस्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धिरिति चेत् ; न; तद्भावे कालाभिधानलोपप्रसङ्गात् ।२६।** स्यान्मतम्–क्रियामात्रमेव कालः । कुतः ? तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेः । सर्वोऽयं कालव्यवहारः क्रियाकृतः । क्रिया[11] हि [12]क्रियान्तरपरिच्छिन्ना [13]अन्यक्रियापरिच्छेदे वर्तमाना कालाख्या भवति । योऽपि समयो नाम भवद्भिरुच्यते स परमाणुपरिवर्तनक्रियासमय एव [14]कालसामानाधिकरण्यात् । न समयपरिमाणपरिच्छेदकोऽन्यः ततः सूक्ष्मतरः कश्चिदस्ति कालः । तत्समयक्रियाकलाप आवलिका, तत्प्रचय उच्छ्वास इत्यादि समयक्रियाकलापपरिच्छिन्ना आवलिका उच्छ्वासपरिच्छेदे वर्तमाना कालाख्या[15] । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । लोकेऽपि तथैव गोदोहेन्धनपाकादिरन्योन्यपरिच्छेदे वर्तमानः कालाख्यः इति क्रियैव काल इति; तन्न; किं कारणम् ? तदभावे कालाभिधानलोपप्रसङ्गात् । सत्यम्, क्रियाकृत एवायं व्यवहारः सर्वः–उच्छ्वासमात्रेण कृतं मुहूर्तेन कृतमिति, किन्तु समय उच्छ्वासो निश्वासो मुहूर्तः इति स्वसंज्ञाभिर्निरूढानां काल इत्यभि-

१ कुतः । २–लक्ष्यः मु०, द० । ३ निश्चय । ४ आवलिकोच्छ्वासादि । ५ घटिकादितः । ६ इति । ७ समयरूपेण । ८ निश्चयकालः । ९ क्रियावद्द्रव्यमेव । १० अनेन प्रकारेण, सर्वद्रव्यमेव काल इति प्रतिपादितद्वारेणेत्यर्थः । ११ निश्चितेन । १२ सूर्यस्य । १३ अथ लब्धावकाशः तथागतः प्रत्यवतिष्ठते । १४ आवलिकादिः । १५ समयादि । १६ सासादनकालादि । १७ कालसामान्यसामाना–मु०, द०, ब० । १८ कालाख्यापि ए–अ० ।

धानमकस्मान्न भवति । यथा देवदत्तसंज्ञया निरूढे पिण्डे दण्ड्यभिधानमकस्मान्न भवतीति दण्डसंबन्धसिद्धिः, तथा कालसिद्धिरपि । इतरथा कालव्यवहाराभावप्रसङ्गः स्यात् ।

वर्तमानाभावप्रसङ्गाच्च ।२७। यस्य क्रियामात्रमेव कालो नान्यः कश्चिदस्ति वर्तनालक्षणः, तस्य वर्तमानकालाभावः प्रसक्तः । कथम् ? ऊयते पट इति यः प्रक्षिप्तस्तन्तुः सोऽतिक्रान्तः, यः प्रक्षेप्स्यते सोऽनागतः, न च तयोरन्तरे काचिदन्या अनतिक्रान्ताऽनागामिनी क्रिया अस्ति या वर्तमानत्वेन परिगृह्येत । वर्तमानापेक्षौ च पुनरतीतानागताविष्येते [1]तदभावे तयोरप्यभावः स्यात् ।

यदप्युक्तम्–आरम्भादिरपवर्गान्तः क्रियाकलापो वर्तमान इति[2] ।

"आरम्भाय प्रसृता[3] यस्मिन् काले भवन्ति कर्तारः ।
कार्यस्यानिष्पातः तन्मध्यम[4]कालमिच्छन्ति ॥" [ ] इति;

तदप्ययुक्तम्; कुतः ? अभ्युपगमविरोधात् । पूर्वं क्रियाकाल इत्युक्तं पश्चात् क्रियासमूह इति । क्षणिकानां क्रियावयवानां समूहाभावाच्च । यस्य पुनरन्यो वर्तनालक्षणः कालः, तस्य प्रथमसमयक्रियावर्तनया आरम्भमुपादाय द्वितीयादिसमयक्रियाविशेषाणां द्रव्यार्थतयाऽवस्थानमनुभवतां समुदायमुपचर्य तत्समूहसाध्यस्य घटादेरापरिसमाप्तेर्वर्तते घटादिक्रियेति वर्तमानकालसिद्धिः कल्प्यते । यदि व्यतिरेकेणानुपलब्धेः कालो नास्तीत्युच्यते; ननु क्रियायाः क्रियासमूहस्य चाभावः । कारकाणां हि प्रवृत्तिविशेषः क्रिया, न तेभ्यः प्रवृत्तिर्व्यतिरिक्ता उपलभ्यते । यथा सर्पात्मलाभ एव कौटिल्यं न तत्तस्माद् व्यतिरिक्तमुपलभ्यते एवं क्रियापीति । तथा क्रियावयवेभ्यो व्यतिरिक्तो न तत्समूह उपलभ्यते तदात्मकत्वात्, अतस्तयोरभावप्रसङ्गः स्यात् । किञ्च, क्रिया क्रियान्तरस्य परिच्छेदिका कालव्यपदेशभागित्यनुपपन्नम् अनवस्थानात् । स्थितो हि लोके प्रस्थादिः [5]परिमाणविशेषः व्रीह्यादेरवस्थितस्य परिच्छेदको दृष्टः । न च तथा क्रियाऽवस्थिता अस्तिक्षणमात्रावलम्बनाभ्युपगमात् । न हि स्वयमनवस्थितः कश्चिदनवस्थितस्य परिच्छेदको दृष्टः । प्रदीपपरिस्पन्दवत् इति चेत् ; यथा प्रदीपोऽनवस्थितः[6] परिस्पन्दस्यानवस्थितस्यैव परिच्छेदे वर्तते तथा क्रियापीति; एतच्चायुक्तम् ; असिद्धत्वात् । प्रदीपः परिस्पन्दश्च क्षणिक इति नास्माभिरभ्युपगम्यते स्वकार्यस्य प्रकाशनादेरनेकक्षणसाध्यत्वात् । समूहस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावादिति चेत्; न; क्षणिकानां समूहाभावात् । शब्दवदिति[10] चेत् ; न; यथा क्षणिकानां वर्णध्वनीनां समुदायः पदवाक्यरूपः तथा क्रियावयवानामिति; [11]एतदप्यसाम्प्रतम् असिद्धत्वादेव । न हि वर्णध्वनयः क्षणिकाः; देशान्तरस्थश्रोतृविषयभावापत्तिदर्शनात् । [12]शब्दान्तरारम्भात् तत्प्रतिसिद्धिरिति चेत् ; न; क्षणिकस्यारम्भशक्तिविरहात् । यस्मिन् क्षणे स्वयमात्मलाभमापद्यते न तदाऽन्यमुत्पादयति असत्त्वात्, उत्तरक्षणे च नारभते उत्पत्त्यनन्तरापवर्गित्वात् । आसन्नसदवस्थाको[13] हि क्षण उत्पत्तिकाल इति व्यपदिश्यते, उत्तरकालमस्य सत्त्वं नास्ति इत्युत्पत्तिव्यवहार एव न स्यात् ।

[14]पूर्वविज्ञानाहितसंस्कारबीजाधारभूतायां बुद्धौ समुदायकल्पनेति चेत् ; न; तस्या अपि तादात्म्यात् । यस्य तु द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नित्या क्रिया पर्यायार्थादेशाच्च स्यादनित्या बुद्धिरपि; तस्य वस्तुनि बुद्धौ च क्रियावयवसमूहस्य शक्तिव्यक्तिस्वरूपेण व्यवस्थितस्य कालवर्तनया प्रतिलब्धकालव्यपदेशस्य परिच्छिन्नस्यान्यपरिच्छेदे वृत्तिरुपपद्यते इति व्यवहारकालसिद्धिः । तत्प्रसिद्धौ च

१ वर्तमानाभावे । २ अस्माकमपि वर्तमानकालोऽस्तीति वदन्तं सांख्यं प्रत्याह । ३ उद्यताः । ४ वर्तमानमित्यर्थः । ५ स्याद्वादिनः । ६ परिणामादेः । ७ न तु तत्त–मु०, द० ब० । ८ वंशादेः । ९ शिखारूपेण क्षणप्रतिक्षणं गलनसद्भावात् । १० चेत् क्षणि–अ० । ११ तदसा–अ० । १२ न्यायवादिमतमाश्रित्याह बौद्धः । १३ पर्याप्तिकः । १४ "नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥"–वाक्यप० १।८५।

मुख्यकालसिद्धिः इत्युक्तम् । अथ किमर्थं परत्वापरत्वयोः पृथग्ग्रहणम्, वर्तनापरिणामक्रिया-परत्वापरत्वानीत्येवं वक्तव्यम् ?

परत्वापरत्वयोः पृथग्ग्रहणं परस्परापेक्षत्वात् ।२८। परत्वापरत्वे पृथग्गृह्येते । कुतः ? परस्परापेक्षत्वात् । परत्वं ह्यपेक्ष्यापरत्वं भवति, अपरत्वं चापेक्ष्य परत्वमिति ।

अथ किमर्थं वर्तनाग्रहणमादौ क्रियते ?

वर्तनाग्रहणमादौ अभ्यर्हितत्वात् ।२९। वर्तनाग्रहणमादौ क्रियते । कुतः ? अभ्यर्हितत्वात् । कथमभ्यर्हितत्वम् ? वर्तनापूर्वकत्वात् परमार्थकालप्रतिपत्तेः । तन्निमित्तत्वात् व्यवहारकाललिङ्गस्याप्राधान्यम् ।

अत्राह– उक्तं भवता शरीरादीनि पुद्गलानामुपकार इति, [1]तन्त्रान्तरीया जीवं परिभाषन्ते, तत्कथमिति ? अत्रोच्यते—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

स्पर्शग्रहणमादौ विषयबलदर्शनात् ।१। स्पर्शग्रहणमादौ क्रियते । कुतः ? विषयबलदर्शनात् । सर्वेषु हि विषयेषु स्पर्शस्य बलं दृश्यते । स्पृष्टग्राहिष्विन्द्रियेषु स्पर्शस्यादौ ग्रहणव्यक्तिः, सर्वसंसारिजीवग्रहणयोग्यत्वाच्च ।

रसप्रसङ्ग इति चेत्; न; स्पर्शे सति तद्भावात् ।२। स्यान्मतम्–यदि विषयबलात् आदौ स्पर्शोऽधीतः, ननु विषयबलत्वात् आदौ रस एवाध्येयः । स्पर्शसुखनिरुत्सुकेष्वपि[2] रसव्यापारदर्शनादिति; तन्न; किं कारणम् ? स्पर्शे सति [3]तद्भावात्, तत्रापि सति स्पर्शे रसव्यापार इति स्पर्शग्रहणमेवादौ ज्यायः । तत एवानन्तरं रसवचनं स्पर्शग्रहणानन्तरभावित्वात् (भावित्वात्) रसग्रहणस्य, तदनन्तरं तद्ग्रहणं क्रियते ।

वायौ तदभावात् व्यभिचार इति चेत्; न; तत्राप्यभ्युपगमात् ।३। स्यादेतत्–वायुः स्पर्शवान् इति तदनन्तरं रसग्रहणाभावात् व्यभिचार इति; तन्न; किं कारणम् ? तत्राप्यभ्युपगमात् । रूपादयो हि स्पर्शाविनाभाविनः घटादिष्विव वायावप्यभ्युपगम्यन्ते । स्पर्शवत्तत्र सतां रूपादीनामपि ग्रहणं कस्मान्नेति चेत् ? स्थूलविषयग्राहित्वाच्चक्षुरादीनां घ्राणेन्द्रियविषयवत् वायौ सतामपि रूपादीनामग्रहणम् ।

रूपात् प्राग् गन्धवचनम् अचाक्षुषत्वात् ।४। रूपात् प्राक् गन्धवचनं क्रियते । किं कारणम् ? अचाक्षुषत्वात् ।

अन्ते वर्णग्रहणं स्थौल्ये सति तदुपलब्धेः ।५। सर्वेषामन्ते वर्णग्रहणं क्रियते । कुतः ? स्थौल्ये सति तदुपलब्धेः ।

नित्ययोगे मतुविधानम् ।६। स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णास्ते येषां सन्ति ते स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः इति नित्ययोगे मतुविधानं द्रष्टव्यम् । यथा क्षीरिणो न्यग्रोधा इति क्षीरेण नित्ययोगात् मत्वर्थीयविधानम्, तथा अनादिपारिणामिकस्पर्शादिगुणसामान्यनित्ययोगे मतुरिति । स्पर्शादीनामनन्तपर्यायत्वेऽपि मौलभेदप्रसिद्ध्यर्थमितः क्रियते ।

मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शभेदाः ।७। एते मृद्वादयोऽष्टौ स्पर्शस्य मूलभेदा द्रष्टव्याः ।

---

१ चार्वाकादयः । २ यतिषु । ३ सद्भावात् ता०, अ० ।

तिक्तकटुकाम्लमधुरकषाया रसप्रकाराः ।८। तिक्तादयः पञ्च रसप्रकाराः वेदितव्याः ।

गन्धः सुरभिरसुरभिश्च ।९। गन्धो द्विविधः–सुरभिरसुरभिश्चेति ।

वर्णाः पञ्चधा नीलपीतशुक्लकृष्णलोहितभेदात् ।१०। नीलादिभिः पञ्चभिः प्रकारैः वर्णा भिद्यन्ते । एषां च स्पर्शनादीनामेकैकस्य एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणपरिणामोऽवसेयः ।

सकलरूपादिद्रव्यधर्मनिर्देशात् अवशिष्टविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह— ५

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

शब्दादीनामभिहितनिर्वचनानां परिप्राप्तद्वन्द्वानां मतुना अभिसंबन्धः ।१। शब्दादीनां निर्वचनेन प्रतिलब्धार्थानां परस्परापेक्षायां सत्यां द्वन्द्वं कृत्वा मतुना संबन्धो योजयितव्यः । तद्यथा–शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययति, शप्यते येन, शपनमात्रं वा शब्दः । बध्नाति, बध्यतेऽसौ, बध्यतेऽनेन, बन्धनमात्रं वा बन्धः । लिङ्गेन आत्मानं सूचयति, सूच्यतेऽसौ, सूच्यतेऽनेन, सूचनमात्रं वा सूक्ष्मः, सूक्ष्मस्य भावः कर्म वा सौक्ष्म्यम् । स्थूलयते परिवृंहयति, स्थूल्यतेऽसौ, स्थूल्यतेऽनेन, स्थूलनमात्रं वा स्थूलः । स्थूलस्य भावः कर्म वा स्थौल्यम् । संतिष्ठते, संस्थीयतेऽनेनेति, संस्थितिर्वा संस्थानम् । भिनत्ति, भिद्यते, भेदनमात्रं वा भेदः । पूर्वोपात्ताशुभकर्मोदयात् ताम्यति आत्मा, तम्यतेऽनेन, तमनमात्रं वा तमः । पृथिव्यादि[2]घनपरिणाम्युपश्लेषात् देहादिप्रकाशावरणतुल्याकारेण छिद्यते, छिनत्त्यात्मानमिति वा छाया । असद्वेद्योदयात् आतप्यत्यात्मानम्, आतप्यतेऽनेन, आतपनमात्रं वा आतपः । निरावरणमुद्योतयति, उद्योत्यतेऽनेन, उद्योतनमात्रं वा उद्योतः । शब्दश्च बन्धश्च सौक्ष्म्यं च स्थौल्यं च संस्थानं च भेदश्च तमश्च छाया च आतपश्च उद्योतश्च शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योताः, ते येषां सन्ति ते शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तः ।

शब्दो द्वेधा भाषालक्षणविपरीतत्वात् ।२। शब्दो द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? भाषालक्षणविपरीतत्वात्–भाषालक्षणो विपरीतश्चेति ।

भाषात्मक उभयथा अक्षरीकृतेतरविकल्पात् ।३। तत्र भाषात्मकः शब्दः उभयथा कल्प्यते । कुतः ? अक्षरीकृतेतरविकल्पात् । अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतविपरीतभेदात् आर्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः । अवर्णात्मको द्वीन्द्रियादीनाम्, अतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुश्च । स एव सर्वः प्रायोगिकः ।

अभाषात्मको द्वेधा प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात् ।४। अभाषात्मकः शब्दो द्वेधा विभज्यते । कुतः ? प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात् । तत्र वैस्रसिको बलाहकादिप्रभवः ।

प्रयोगश्चतुर्धा ततवितततघनसौषिरभेदात् ।५। प्रयोगजः शब्दः चतुर्धा भिद्यते । कुतः ? ततवितततघनसौषिरभेदात् । तत्र चर्मतननान्ततः पुष्करभेरीदर्दुरादिप्रभवः । विततः तन्त्रीकृतो वीणासुघोषादिसमुद्भवः । घनस्तालघण्टालालनाद्यभिघातजः । सौषिरो वंशशङ्खादिनिमित्तः । स शब्दः आकाशगुणः इति [3]केषाञ्चित् दर्शनम्; तदयुक्तमित्युक्तं पुरस्तात् ।

---

१ ज्ञापयति । २ –दिषु–अ० । ३ वैशेषिकाणाम्–स० ।

अपरे मन्यन्ते[1]—ध्वनयः क्षणिकाः क्रमजन्मानः स्वरूपप्रतिपादनादेवोपक्षीणशक्तिका नार्थान्तरमवबोधयितुमलम्। यदि समर्थाः स्युः; पदेभ्य इव पदार्थेषु [3]प्रतिवर्णं वर्णार्थेषु प्रत्ययः स्यात्। एकेन चार्थे कृते वर्णान्तरोपादानमनर्थकं स्यात्। नापि क्रमजन्मनां सहभावः संघातोऽस्ति[4] योऽर्थेन युज्यते। अतस्तेभ्योऽर्थप्रतिपादने समर्थः शब्दात्मा अमूर्तो नित्योऽतीन्द्रियो निरवयवो निष्क्रियो[6] ध्वनिभिरभिव्यङ्ग्य इत्यभ्युपगन्तव्य इति; एतच्चानुपपन्नम्; कुतः? व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावानुपपत्तेः। व्यङ्ग्यस्तावत् शब्दात्मा स्वेन स्वरूपेणावस्थितो वा व्यज्येत, अनवस्थितो वा? यदि स्वरूपेणावस्थितो व्यज्येत; तत्रापि [7]ते भवति ध्वनिसन्निधेः प्राक् पश्चाच्चानुपलब्धेः सौक्ष्म्यं वा हेतुः स्यात्, प्रतिबन्धकं वा किञ्चित्? यदि सौक्ष्म्यान्नोपलभ्येत; सर्वकालमस्याग्रहणमेव स्यात् आकाशादिवत्। अथ ध्वनिसन्निधाने स्थौल्यमस्य[10] स्यात्; विकारप्राप्तेः[11] नित्यता हीयते। [12]नापि किञ्चित् प्रतिबन्धकमस्ति घटोपलब्धौ तमोवत्। प्रभाभावस्तमो न वस्त्वन्तरमिति चेत्; न; अतिशयवत्त्वात्[13] [14]सम्पन्नरूपवत्त्वाच्च नीलादिवर्णवत्। स्वरूपेणानवस्थितश्चेत्; नासौ व्यङ्ग्यः [15]कार्यः स्यात् ध्वनिसन्निधाने स्वरूपप्राप्तेः। तत एवैषां ध्वनीनां व्यञ्जकत्वमयुक्तम्।

किञ्च, आद्यो वर्णध्वनिः [16]शब्दात्मनः सकलस्य वा व्यञ्जकः स्यात्, एकदेशस्य वा? यदि सकलस्य; इतरेषां ध्वनीनाम् आनर्थक्यं स्यात्। अथैकदेशस्य; निरवयवत्वमस्य हीयते। किञ्च, स ध्वनिर्व्यञ्जकः स्फोटस्य[17] वा उपकारं कुर्यात्, श्रोत्रस्य, उभयस्य वा? न तावत् पृथिवीगन्धस्य जलसेकवत् स्फोटस्योपग्रहे वर्तते; तस्य नित्यत्वात्[18] विकारप्राप्त्यनभ्युपगमात्। न चामूर्तस्याभिव्यङ्ग्यस्य विक्रियोपपद्यते। नापि चक्षुषोऽञ्जनवत् श्रोत्रस्योपकारे वर्तते; बधिरस्य गुणान्तरोत्पादनशक्त्यभावात्। युज्यते नेत्रस्याञ्जनमुपकारकमिति तिमिरादिदोषहननदर्शनात्, न तथोपहतश्रवणस्य ध्वनिकृतमुपकारं [19]किञ्चिदप्युपलभामहे। अथ [20]कल्पेन्द्रियस्य उपग्रहे वर्तते; न तत्रार्थावबोधनादुपग्रहोऽन्योऽस्ति। तदभ्युपगमे तेनैव कृतकृत्यत्वात् स्फोटकल्पना[21] अनर्थिका। नाप्युभयस्योपग्रहो[22] युक्तः; प्रत्येकमयुक्तत्वादेव।

किञ्च,[23] न ध्वनयः स्फोटाभिव्यक्तिहेतवो भवन्ति उत्पत्तिक्षणादूर्ध्वमनवस्थानात् उत्पत्तिक्षणे चाऽसत्त्वात्। अथ क्षणिका अपि सन्तः अभिव्यक्तिहेतवः; कश्चेदानीं भवतो मत्सरः? अर्थप्रत्यायने तदभ्युपगमे च स्फोटकल्पना व्यर्था। प्रदीपवदिति चेत्; नः तस्यासिद्धत्वात्। नोत्पत्त्यनन्तरापवर्गी प्रदीपः आत्मलाभे देशान्तरसंबन्धनिमित्तक्रियापरिणामविप्रकृष्टदेशस्थघटादिप्रकाशनदर्शनात्। [24]कर्मवदिति चेत्; असिद्धत्वादेव, कर्मव्यक्तयः[25] क्षणिकाः सत्यः कर्मत्वजातिमभिव्यञ्जयन्तीत्यसिद्धमस्मान् प्रति, द्रव्यगुणकर्मविषयसामान्यविशेषेष्वर्थान्तरभूतस्यानभ्युपगमात्[3]। [4]कर्मणोऽपि द्रव्यादपृथग्भूतस्य द्रव्यार्थावस्थानाभ्युपगमात्।

किञ्च, अभिव्यञ्जकाभिव्यङ्ग्यवैधर्म्यात्। यथा मूर्तः क्रियावान् प्रदीपोऽभिव्यञ्जकः तद्व्यङ्ग्याश्च घटादयः क्रियावन्तो मूर्तिमन्तो दृष्टाः, न च तथा ध्वनिर्मूर्तः क्रियावांश्च, तद्व्यङ्ग्यः स्फोटोऽपि न [7]तद्धर्मः ततोऽभिव्यक्तयभावः।

किञ्च, स्फोटः ध्वनेरन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा? यद्यनन्यः; तादात्म्यं प्राप्नोति, व्यङ्ग्यत्वाभावश्च भेदाभावात्। अथान्यः; तस्य श्रोत्रोपलभ्यत्वाभावः।

किञ्च, व्यङ्ग्यत्वे सति अनित्यत्वं स्यात् स्फोटस्य घटादिवत् विज्ञानेन व्यङ्ग्यत्वात्। आकाशादेर्व्यभिचार इति चेत्; न; मूर्तिमता[8] व्यङ्ग्यत्वादिति विशेष्यवचनात्। किञ्च, यस्य व्यङ्ग्यत्वं तस्य कार्यत्वमपि दृष्टं यथा घटादेः[9]। न तथा स्फोटस्य कार्यत्वमस्ति नित्यत्वाभ्युपगमादिति व्यङ्ग्यत्वाभावः। महदादिवदिति चेत्; साध्यसमत्वात्, यथा महदादि व्यङ्ग्यमेव न कार्यं तथा स्फोटोऽपीति; तन्न; साध्यसमत्वात्। यथेदं स्फोटस्य व्यङ्ग्यत्वं साध्यं तथा महदादेरपीति।

किञ्च, दृष्टान्ताभावात्। न चामूर्तः कश्चिन्नित्यो निरवयवो मूर्तिमताऽनित्येन सावयवेन व्यङ्ग्यो दृष्टः, तदभावात् साध्यसिद्ध्यभावः। तस्मात् ध्वनिरूप एव शब्दो द्विशक्तिरभ्युपगन्तव्यः। स च पुद्गलद्रव्यार्थादेशात्ततोऽनन्यत्वात् स्यान्नित्यः श्रोत्रोपलभ्यपर्यायसामान्यस्थित्यपेक्षया कालान्तरस्थायी, प्रतिसमयस्थितिभेदापेक्षया क्षणिक इति च जैनेश्वरदर्शनमनवद्यम्।

बन्धोऽपि द्विधा विस्रसाप्रयोगभेदात्।६। बन्धश्च द्वैविध्यमश्नुते। कुतः? विस्रसा-प्रयोगभेदात्। वैस्रसिकः प्रायोगिकश्चेति।

आद्यो द्वेधा आदिमदनादिविकल्पात्।७। आद्यो वैस्रसिको बन्धो द्विधा भिद्यते। कुतः? आदिमदनादिविकल्पात्। तत्रादिमान् स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तः विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषयः। अनादिरपि वैस्रसिकबन्धो धर्माधर्माकाशानामेकशः त्रैविध्यान्नवविधः। धर्मास्तिकायबन्धः धर्मास्तिकायदेशबन्धः धर्मास्तिकायप्रदेशबन्धः। अधर्मास्तिकायबन्धः अधर्मास्तिकायदेशबन्धः अधर्मास्तिकायप्रदेशबन्धः। आकाशास्तिकायबन्धः आकाशास्तिकायदेशबन्धः आकाशास्तिकायप्रदेशबन्धश्चेति। कृत्स्नो धर्मास्तिकायः, तदर्धं देशः, अर्धार्धं प्रदेशः। एवमधर्माकाशयोरपि। कालाणूनामपि सततं परस्परविश्लेषाभावात् अनादिः। एकजीवप्रदेशानां च संहरणविसर्पणस्वभावत्वेऽपि परस्परवियोगाभावात् अनादिर्बन्धः। धर्माधर्मकालाकाशानां परस्परवियोगाभावात् अनादिर्बन्धः। नानाजीवानामपि सामान्यापेक्षया इतरद्रव्यैः सह सम्बन्धोऽनादिः। पुद्गलद्रव्येष्वपि महास्कन्धादीनां सामान्यादनादिर्बन्धः। एवं सर्वद्रव्यविषये बन्धे सति पुद्गलप्रकरणात् तद्विषयो बन्धः परिगृह्यते।

विस्रसा विधिविपर्यये निपातः।८। पौरुषेयपरिणामापेक्षो विधिः, तद्विपर्यये विस्रसाशब्दो निपातो द्रष्टव्यः। विस्रसा प्रयोजनो वैस्रसिको बन्धः।

प्रयोगः पुरुषकायवाङ्मनःसंयोगलक्षणः।९। पुरुषस्य कायवाङ्मनःसंयोगः प्रयोग इत्युच्यते। [10]प्रयोगप्रयोजनो बन्धः प्रायोगिकः। स द्वेधा अजीवविषयो जीवाजीवविषयश्चेति। तत्राजीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षणः। जीवाजीवविषयः कर्मनोकर्मबन्धः। कर्मबन्धो ज्ञानावरणादिरष्टतयो[11] वक्ष्यमाणः। नोकर्मबन्धः औदारिकादिविषयः। स पुनः पञ्चविधः—आलपनाऽऽलेपनसंश्लेषशरीरशरीरिभेदात्। रथशकटादीनां लोहरज्जुवरत्रादिभिरालपनादाकर्षणात् बन्धः

१ मीमांसकाः। २ "वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे योगपद्येनोत्पत्त्यभावात्। अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावात्। एकस्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचकः।"—महाभा० प्र० पृ० १६। न्यायकुमु० पृ० ७४५ टि० ६, १०। ३ घकारटकारेत्यादि। ४ घकारादिवर्णानाम्। ५ क्षणिकत्वात्। ६ वर्णपदवाक्यात्मको लोकव्यापी। ७ स्फोट इत्यर्थः। ८ द्वौ विकल्पौ भवतः। ९ आवरणम्। १० सूक्ष्मस्वरूपस्य वर्णादेः। ११ नित्यत्वं हीं—मु०, द०, ब०, ता०। १२ नहि कि—आ०, मु०, ब०। १३ दृष्टा हि तमोवृद्धिः सन्ध्याकालादारभ्य आयामादेः, ततोऽतिशयवत्त्वाद् वस्त्वन्तरमेव। १४ सपत्नवत्त्वाच्च—मू०, द०, भा०। सम्पन्नवत्त्वाच्च—मु०, श्र०। तमालछायादिवत् स्निग्धनीलतम नीलतरत्वादिना। १५ कार्यं स्यात् मु०। व्यञ्जकस्य। १६ शब्दात्मा स—मु०, द०, ब०। १७ वर्णाभिव्यङ्ग्यस्य। १८ नित्यत्वमस्य कथमिति चेदाह। १९—रकं किञ्चि—मु०, द०। २० कर्णेन्द्रियस्य—मु०, द०, ब०। अदृष्टेन, अदृष्टेन्द्रियस्येत्यर्थः। २१ ध्वनिना। २२—होऽपि यु—मु०, द०, ब०। २३ किंच ते ध्वनयो न स्फो—ता०; श्र०, मू०, मु०, आ०, द०, ज०। २४ वचनादिव्यापारवत्। २४ काष्ठसंचयनाग्निसन्धुक्षणादि।

१ सत्तासामान्यस्य। २ स्वकल्पितस्य। ३ अस्माकम्। ४ व्यापारस्यापि। ५ मूर्तादिधर्मा न भवति। ६—तां व्य—ता०, श्र०। ७ दीपादिकरणस्य घटादेर्दृश्यत्वादि कार्यम्। ८ क्षय। ९ बन्धोऽपि द्वि—मु०। १० प्रयोगः प्रयो—ता०, श्र०। ११—ष्टधा व—मु०, द०, ब०। १२—नालयनसं—ता०, श्र०, मू०।

आलपनबन्धः । अनेकार्थत्वात् धातूनां लपिः आकर्षणक्रियो ज्ञेयः । कुड्यप्रासादादीनां मृत्पिण्डेष्टकादिभिः प्रलेपदानेन अन्योन्या[1]लेपनात् अर्पणात् आ[2]लेपनबन्धः । धातूनामनेकार्थत्वात् आङ्पूर्वस्य [3]लिपः अर्पणक्रियस्य ग्रहणम् । जतुकाष्ठादिसंश्लेषणात् संश्लेषबन्धः । शरीरबन्धः पञ्चधा–औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धभेदात् । स प्रत्येकं चतुश्चतुश्चतुर्द्वि-
५ रेकभङ्गभेदात् पञ्चदशधा । तत्रौदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशानामौदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशैरन्यो-न्यानुप्रवेशात् औदारिकौदारिकशरीरनोकर्मबन्धः प्रथमः । औदारिकतैजसशरीरनोकर्मप्रदे-शानाम् अन्योन्यानुप्रवेशाद् औदारिकतैजसशरीरनोकर्मबन्धो द्वितीयः । औदारिककार्मणशरीर-नोकर्मप्रदेशानामन्योन्यानुप्रवेशः औदारिककार्मणशरीरनोकर्मबन्धस्तृतीयः । औदारिकतैजस-कार्मणशरीरनोकर्मप्रदेशानामन्योन्यानुप्रवेशः औदारिकतैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धश्चतुर्थः ।
१० अनेन विधिना वैक्रियिकवैक्रियिकशरीरनोकर्मबन्धः वैक्रियिकतैजसशरीरनोकर्मबन्धः वैक्रियिक-कार्मणशरीरनोकर्मबन्धः वैक्रियिकतैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धः । आहारकाहारकशरीरनो-कर्मबन्धः आहारकतैजसशरीरनोकर्मबन्धः आहारककार्मणशरीरनोकर्मबन्धः आहारकतैजस-कार्मणशरीरनोकर्मबन्धः । तैजसतैजसशरीरनोकर्मबन्धः तैजसकार्मणशरीरनोकर्मबन्धः । कार्मण-कार्मणशरीरनोकर्मबन्धश्च योज्यः । शरीरिबन्धो द्वेधा–अनादिरादिमांश्च । अष्टजीवमध्यप्रदेशाना-
१५ मुपर्यधश्चतुर्णां रुचकवदवस्थितानां सर्वकालमन्योन्यापरित्यागात् अनादि[4]बन्धः । इतरेषां प्रदे-शानां कर्मनिमित्तसंहरणविसर्पणस्वभावत्वादादिमान् । अथवा, यथा क्रोधपरिणत आत्मैव क्रोधः तथा तप्तायःपिण्डवत् शरीरेण सह बन्धं प्रत्यात्मनः एकत्वादात्मैव शरीरमिति व्यपदेशात् पूर्वोक्ताः पञ्चदश विकल्पाः [5]शरीरिविषयत्वेन योज्याः । औदारिकादिशरीरभेदार्पणात् प्रागुक्ता विकल्पाः ।

२० अत्राह–कर्मनोकर्मणोः कः प्रतिविशेष इति ? उच्यते–आत्मपरिणामेन योगभाव-लक्षणेन क्रियत इति कर्म । तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम् । तदुदयापादितः पुद्गलपरिणाम आत्मनः सुखदुःखबलाधानहेतुः औदारिकशरीरादिः ईषत्कर्म नोकर्मेत्युच्यते । किञ्च, स्थितिभे-दाद्भेदः । कर्मणां स्थितिरुत्तरत्र वक्ष्यते । नोकर्मणां स्थितिरुच्यते–औदारिकवैक्रियिकशरीरयोः स्वायुःप्रमाणस्थितिर्निषेकः । तत्रौदारिकशरीरस्य त्रिपल्योपमा स्थितिः, यस्मादेकसमयादारभ्य आ-
२५ त्रिपल्योपमसमाप्तेरवस्थानम् । वैक्रियिकशरीरस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा स्थितिः, यस्मादेकसमय-निषेकादारभ्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्त्यसमयावस्थानम् । आहारकशरीरस्य अन्तर्मुहूर्तपरिमाणा स्थितिः । तैजसशरीरस्य षट्षष्टिसागरोपमा स्थितिः । कार्मणशरीरस्य कर्मस्थितिः ज्ञानावरणाद्य-नेककर्मस्थितिसंभवेऽप्यात्मीयैव कर्मस्थितिर्ग्राह्या । औदारिकवैक्रियिकतैजसकार्मणशरीरकर्मणा-मेकैकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः स्थितिः । आहारकशरीरकर्मणोऽन्तःकोटीकोट्यः स्थितिः ।

३० **सौक्ष्म्यं द्विविधम् अन्त्यमापेक्षिकं च ।१०।** सौक्ष्म्यं द्विविधं वेदितव्यम् । कुतः ? अन्त्यम् आपेक्षिकं चेति । तत्राऽन्त्यं परमाणूनाम् । आपेक्षिकं बिल्वामलकबदरादीनाम् ।

तथा स्थौल्यम् ।११। तेनैव प्रकारेणान्त्यम् आपेक्षिकं चेति द्विविधं स्थौल्यमवगन्तव्यम् । तत्रान्त्यं स्थौल्यं जगद्व्यापिनि महास्कन्धे । आपेक्षिकं बदरामलकबिल्वतालादिषु ।

संस्थानं द्वेधा–इत्थंलक्षणम् अनित्थंलक्षणं च ।१२। संस्थानमाकृतिर्द्वेधा भिद्यते–इत्थं-
३५ लक्षणम्, अनित्थंलक्षणं चेति ।

वृत्तव्यस्रचतुरस्रायतपरिमण्डलादि इत्थमतोऽन्यदनित्थम् ।१३। वृत्तं व्यस्रं चतुरस्रमायतं

१–न्यालयना–ता०, श्र०, मू० । २ आलयनब–ता०, श्र०, मू० । ३ लिङः–ता०, श्र०, मू०, द० । लिङ–ता०, श्र०, मु० । ४–दिसम्बन्धः मु०, द० । ५ सह सम्बन्धं प्र–श्र० । सह बन्धे सत्या–द० । ६ शरीरिबन्धः । ७ शरीरवि–मू०, ता०, श्र०, द० । ८ अष्टविधम् ।

परिमण्डलमित्येवमादि संस्थानमित्थंलक्षणम् । अतोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानम् अनेकविधम् इत्थ-मिदमिति निरूपणाभावात् अनित्थंलक्षणम् ।

भेदः षोढोत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात् ।१४। भेदः षोढा भिद्यते । कुतः ? उत्करादिविकल्पात् । तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम् । चूर्णो यवगोधूमा-दीनां सक्तुकणिकादिः । खण्डो घटादीनां कपालशर्करादिः । चूर्णिका भाषमुद्गादीनाम् । प्रतरोऽ- ५
भ्रपटलादीनाम् । अणुचटनं तप्तायःपिण्डादिष्वयोघनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः ।

तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणम् ।१५। दृष्टेः प्रतिबन्धकं वस्तु तम इति व्यपदिश्यते । यदपहरन् प्रदीपः प्रकाशको भवति ।

छाया प्रकाशावरणनिमित्ता ।१६। प्रकाशावरणं शरीरादि यस्या निमित्तं भवति सा छाया ।

सा द्वेधा तद्वर्णादिविकार–प्रतिबिम्बमात्रग्रहणविकल्पात् ।१७। सा छाया द्वेधा व्यवति- १०
ष्ठते । कुतः ? तद्वर्णादिविकारात् प्रतिबिम्बमात्रग्रहणाच्च । आदर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादि-च्छाया तद्वर्णादिपरिणता[3] उपलभ्यते । इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव ।

अत्राह–विपरीत[4]ग्रहणं कुतः, प्राङ्मुखस्य प्रत्यङ्मुखा छाया दृश्यते इति ? प्रसन्नद्रव्य-परिणामविशेषाद्भवति । अत्र चोद्यते–नादर्शतलादिच्छायासद्भावः । किं तर्हि ?[5] 'नयननिर्गतेन रश्मिना घनद्रव्यात् प्रतिहतनिवृत्तेन स्वमुखस्यैव ग्रहणम्' इति; तदयुक्तम्; विपर्यासग्रहणाभाव- १५
प्रसङ्गात्, कुड्यादिषु अतिप्रसङ्गात्, ग्रहणशक्त्यभावाच्च । विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गस्तावत् यदि प्रतिनिवृत्तेन नयनरश्मिना स्वशरीरस्यैव ग्रहणं प्राङ्मुखस्य प्राङ्मुखमित्येव ग्रहणं स्यात्, विपर्यासहेत्वभावात् । कुड्यादिषु चातिप्रसङ्गः स्यात्, नयनरश्मेः प्रतिघातस्य तत्रापि सद्भावात् । नाप्यसौ नयनरश्मिः शरीरान्निष्क्रान्तः मनसाऽनधिष्ठितो ग्रहीतुं शक्नोति ।

आतप उष्णप्रकाशलक्षणः ।१८। आतप आदित्यनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षणः पुद्गलपरिणामः । २०

उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिविषयः ।१९। चन्द्रमणिखद्योतादीनां[10] प्रकाश उद्योत उद्यते[11] ।

क्रियोपसंख्यानं पुद्गलपरिणामादिति चेत्; न; धर्माधर्माकाशानां क्रियाप्रतिषेधासंबन्धे-नोक्तत्वात् ।२०। स्यादेतत्–क्रिया उपसंख्यातव्या । कुतः ? पुद्गलपरिणामादिति; तन्न; किं कारणम् ? धर्माधर्माकाशानां क्रियाप्रतिषेधसंबन्धेनोक्तत्वात् ।

कालस्यापि क्रियावत्त्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; पूर्वत्रानभिधानात् ।२१। स्यान्मतम्–यदि २५
धर्माधर्माकाशानां क्रियापरिणामप्रतिषेधात् सामर्थ्यात् पुद्गलानां क्रियावत्त्वमवसीयते,[12] ननु कालस्यापि क्रियावत्त्वं प्रसज्यत इति; तन्न; किं कारणम् ? पूर्वत्र अनभिधानात् "[13]अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" [त० सू० ५।१] इत्यत्र । तत्र हि पाठे "आ आकाशादेकद्रव्याणि, निष्क्रियाणि" [त० सू० ५।६–७] इत्यतः कालस्य बहिर्भावात् पुद्गलवत् क्रियावत्त्वं भवेत् । अथवा, पूर्वत्रानभि-धानात् । क्व ? द्रव्याणि जीवाः कालश्चेति । यदि कालस्य क्रियावत्त्वमिष्टं भवेत् तत्र पठ्येत, ३०
तथा सति "जीवाश्च" [त० सू० ५।३] इति चशब्दाकरणात् लघुसूत्रं स्यात्, पुनः 'कालश्च' इत्यव-

१ प्रतिबन्धमा–श्र०, मु०, द० । २ प्रतिबन्धमा–द०, श्र० । ३ देवदत्तमुखस्य श्यामत्वादि । ४ प्रतिबन्धमा–श्र० । ५–रीतं ग्र–श्र० । ६ अत्र प्रतिवाक्यमुच्यते । ७ "अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौर्येण तेजसा । स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तितम् ॥ स्वदेशमेव गृह्णाति सवितारमनेकधा । भिन्न-मूर्ति यथापात्रं तदास्यानेकता कुतः ॥"–मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८०–१८१ । ८ आदर्शादि । ९ प्राङ्मुखमेव ग्र–मु०, द० । १०–तानां–श्र० । ११ उच्यते–मु०, मू०, ता०, द० । वद् व्यक्तायां वाचि । १२–वत्त्वमनुमीयते मु० । १३ कोत्याशङ्कायामाह ।

चनाच्च । अनन्तसमयार्थं पुनः 'कालश्च' इति कर्तव्यमिति चेत्; न; आकाशस्यानन्ताः[1] कालस्य चेति सिद्धत्वात् । एवं लघीयसा न्यायेन सिद्धे यदुत्तरत्र विदेशे[3] "कालश्च" [त० सू० ५।३९] इति वचनं तेन ज्ञायते नास्ति कालस्य क्रियावत्त्वमिति । तच्च निष्क्रियत्वं परिस्पन्दात्मिकां क्रियां प्रत्यवसेयम्, न चास्यादिक्रियां प्रति । तस्मादनादिपारिणामिकास्त्यादिक्रियाद्रव्यार्थादेशात् स्यात् क्रियावान् कालः । देशान्तरप्रापणसमर्थपरिस्पन्दक्रियाविशेषपरिणामाभावादेशाच्च स्यान्निष्क्रियः ।

सा दशप्रकारा प्रयोगबन्धाभावच्छेदाभिघातावगाहनगुरुलघुसंचारसंयोगस्वभावनिमित्तभेदात् ।२१। सैषा क्रिया दशप्रकारा वेदितव्या । कुतः प्रयोगादिनिमित्तभेदात्, तद्यथा इष्वेरण्डबीजमृदङ्गशब्दजतुगोलकनौद्रव्यपाषाणालाबू सुराजलदमारुतादीनाम् । इषुचक्रकणयादीनां प्रयोगगतिः । एरण्डतिन्दुकबीजानां बन्धाभावगतिः । मृदङ्गभेरीशङ्खादिशब्दपुद्गलानां छिन्नानां गतिः छेदगतिः । जतुगोलककन्दुदारुपिण्डादीनाम् अभिघातगतिः । नौद्रव्यपोतकादीनाम् अवगाहनगतिः । पाषाणायःस्फालानां गुरुगतिः । अलाबूदुतार्कतूलादीनां लघुगतिः । सुरासौवीरकादीनां संचारगतिः । जलदरथमुशलादीनां वायुवाजिहस्त्यादीनां संयोगनिमित्ता संयोगगतिः । मारुतपावकपरमाणुसिद्धज्योतिष्कादीनां स्वभावगतिः । वायोः केवलस्य तिर्यग्गतिः । भस्त्रादियोगाद्नियता गतिः । अग्नेरूर्ध्वगतिः कारणवशाद्विगन्तरगतिः । परमाणोरनियता । सिद्ध्यतामूर्ध्वगतिरेव । ज्योतिषां नित्यभ्रमणं नृलोके ।

मत्वर्थीयप्रयोगादन्यत्वं शब्दादीनां दण्डवदिति चेत्; न; अनेकान्तात् ।२२। स्यान्मतम्–यथा अन्यत्वे सति संबन्धे मत्वर्थीयो दृश्यते दण्डी देवदत्त इति, तथा अत्रापि मत्वर्थीयदर्शनात् शब्दादीनामन्यत्वं तद्वद्भ्योऽनुमीयत इति; तन्न; किं कारणम् ? अनेकान्तात् । अनन्यत्वेऽपि लोके मत्वर्थीयो दृश्यते–सारवान् स्तम्भः आत्मवान् पुरुषः इति ।

कथञ्चित् अन्यत्वोपपत्तेश्च ।२३। शब्दादीनां पुद्गलेभ्यः भेदार्थादेशात् स्यादन्यत्वम् । शब्दादिपरिणामे च तन्नायःपिण्डवत् तादात्म्यादेशात् स्यादनन्यत्वम् ।

अत्राह–यदि स्पर्शादयश्च शब्दादयश्च पुद्गलपरिणामाः किमर्थमेषां पृथग्ग्रहणं ननु एक एव योगः कर्तव्यः इति ? अत्रोच्यते–

पृथग्ग्रहणं केषाञ्चिदुभयपर्यायज्ञापनार्थम् ।२४। स्पर्शादयः परमाणूनां स्कन्धानां च भवन्ति शब्दादयस्तु स्कन्धानामेव व्यक्तिरूपेण भवन्ति सौक्ष्म्यवर्ज्या इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थं पृथग्योगकरणम् । सौक्ष्म्यं तु अन्त्यमणुष्वेव, आपेक्षिकं स्कन्धेषु । यद्येवं सौक्ष्म्यग्रहणं पूर्वसूत्र एव कर्तव्यम् ? इह करणं स्थौल्यप्रतिपत्तप्रतिपत्त्यर्थम् ।

स्पर्शादीनामेकजातीयपरिणामख्यापनार्थं च ।२५। स्पर्शादीनां गुणानां परिणाम एकजातीय इत्येतस्यार्थस्य ख्यापनार्थं च क्रियते पृथक्ग्रहणम् । तद्यथा–स्पर्श एको गुणः काठिन्यलक्षणः स्वजात्यपरित्यागेन पूर्वोत्तरस्वगतभेदनिरोधोपजननसन्तत्या वर्तनात्, द्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणकठिनस्पर्शपर्यायै रेव परिणमते न मृदुगुरुलघ्वादिस्पर्शैः । एवं मृद्वादयोऽपि योज्याः । रसश्च तिक्त एक एव गुणः रसजातिमजहन् पूर्ववन्नाशोत्पादावनुभवन् द्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणतिक्तरसै रेव परिणमते न कटुकादिरसैः । एवं कटुकादयो वेदितव्याः । गन्धश्च सुरभिरेको गुणः स्वजातिमजहन्पूर्ववद्द्रव्यादिगुणसुरभिगन्धपर्यायै रेव परिणमते नासुरभिगन्धैः । एवमसुरभिगन्धो वाच्यः । वर्णश्च शुक्ल एको गुणः स्वजात्यपरित्यागेन पूर्ववद्द्रव्यादिशुक्लवर्णै रेव परिणमते न नीला-

१ प्रदेशाः । २ कालस्य चेति तत्रैवोक्ते अनन्ताः समया इति गम्यते । ३ निर्देशे मु० । अप्रकृते गुणपर्यायवद्द्रव्यमित्यत्र । ४–हगु–ता०, श्र०, मू० । ५ तुम्बुरस्तिन्दुकः स्फूर्जकः कालस्कन्दश्च शितिसारके । ६ जलधरमु–मु०, द०, ब० । ७ ज्ञानार्थम्–मू०, श्र०, द०, ब० ।

दिभिः । एवं नीलादयोऽपि च नेतव्याः । अथ यदा कठिनस्पर्शो मृदुस्पर्शेन, गुरुर्लघुना, स्निग्धो रूक्षेण, शीत उष्णेन परिणमते, तिक्तश्च कटुकादिभिः, सुरभिश्चेतरेण, शुक्लश्च कृष्णादिभिः, इतरे चैतरैः, संयोगे च गुणान्तरैस्तदा कथम् ? तत्रापि कठिनस्पर्शः स्पर्शजातिमजहन् मृदुस्पर्शेनैव विनाशोत्पादौ अनुभवन् परिणमते नेतरैः, एवमितरत्रापि योज्यम् ।

नोदनाभिघाताद्युपसंख्यानमिति चेत्; न; चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् ।२६। स्यान्मतम्–नोदनाभिघातादयः पुद्गलपरिणामाः सन्ति तेषामत्रोपसंख्यानं कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? चशब्दस्येष्टसमुच्चयार्थत्वात् । ये पुद्गलपरिणामा आगमे इष्टाः तेषामिह चशब्देन समुच्चयः क्रियते ।

अत्राह–यद्येवमर्थं पृथग्योगकरणम्, उच्यतां के स्पर्शादिपरिणामाः पुद्गलाः, के वा तदुभयभाजः इति ? अत्रोच्यते—

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्ते शब्द्यन्ते इत्यणवः ।१। प्रदेशमात्रभाविभिः स्पर्शादिभिः गुणैस्सततं परिणमन्त इत्येवं अण्यन्ते शब्द्यन्ते ये ते अणवः । सौक्ष्म्यादात्मादयः आत्ममध्या आत्मान्ताश्च । उक्तं च—

"अन्तादि अन्तमज्झं अन्तन्तं णेव इंदिए गेज्झं[2] ।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विजाणीहि ॥१॥" [ ]

स्थौल्याद्ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारास्कन्द(न्ध)नात् स्कन्धाः ।२। स्थौल्यभावेन ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारास्कन्द(न्ध)नात् स्कन्धा इति संज्ञायन्ते । रूढौ क्रिया क्वचित् सती उपलक्षणत्वेनाश्रिता इति ग्रहणादिव्यापाराऽयोग्येष्वपि द्व्यणुकादिषु स्कन्धाख्या वर्तते ।

उभयत्र जात्यपेक्षं बहुवचनम् ।३। अनन्तभेदा अपि पुद्गला अणुजात्या स्कन्धजात्या च द्वैविध्यमाद्यमानाः सर्वे गृह्यन्त इति तज्जात्याधारानन्तभेदसंसूचनार्थं बहुवचनं क्रियते ।

अणुस्कन्धा इत्यस्तु लघुत्वादिति चेत्; न; उभयसूत्रसंबन्धार्थत्वात् भेदकरणस्य ।४। स्यान्मतम्–'अणवः स्कन्धा अणुस्कन्धाः' इति वृत्तिकरणमिह युक्तं लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयसूत्रसंबन्धार्थत्वात् भेदकरणस्य–स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तोऽणवः, शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च स्कन्धा इति । वृत्तौ पुनः सत्यां समुदायस्यार्थवत्त्वात् अवयवार्थाभावात् भेदेनाभिसंबन्धः कर्तुं न शक्यः ।

कारणमेव तदन्त्यमित्यसमीक्षिताभिधानम्; कथञ्चित् कार्यत्वात् ।५। "कारणमेव तदन्त्यम्" [ ] इति केचित्[3] कथयन्ति परमाणुम्; तदसमीक्षिताभिधानम्; कुतः ? कथञ्चित् कार्यत्वात् । परमाणुर्हि केनचित् प्रकारेण कार्यः "भेदादणुः" [५।२७] इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

अविरोध इति चेत्; न; एवशब्देनाऽवधारणात् ।६। स्यादेतत्–कथञ्चित् कार्यत्वोपपत्तौ कारणत्वस्य अप्रतिषेधात् अविरोध इति; तन्न; किं कारणम् ? एवशब्देनावधारणात् । यत एवकारकरणं ततोऽन्यत्रावधारणमिति कारणमेव परमाणुर्न कार्यमिति कार्यत्वनिषेधात्[4] ।

नित्य इति चायुक्तं स्नेहादिभावेनानित्यत्वात् ।७। नित्यः परमाणुः इति एतच्च वचनमयुक्तम् । कुतः ? स्नेहादिभावेन अनित्यत्वात् । स्नेहादयो हि गुणाः परमाणौ प्रादुर्भवन्ति वियन्ति च, ततस्तत्पूर्वकमस्यानित्यत्वमिति ।

१ कारणमेव तदन्त्यमित्यादिवक्ष्यमाणसंग्रहश्लोकाभिप्रायं मनसिकृत्य एकान्तमतं निराकरोति । २ ग्राह्यम् । ३ "उक्तं च–कारणमेव तदन्त्यं"–त० भा० ५।२५ । "अंतादिमज्झहीणं अपदेसं इंदिऐहिं ण हु गेज्झं । जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं कहंति जिणा ॥"–ति० प० १।९८ । ४ विरोध एव ।

अनादिपरमाण्वघस्थमिति चेत् ; न; तत्कार्याभावात् ।८। स्यान्मतम्–अनाद्यणुत्वावस्थः परमाणुरस्ति स द्व्यणुकादिकार्यहेतुत्वात् कारणमेव न कार्यम् । न हि असौ भेदादुत्पद्यत इति; तन्न; किं कारणम् ? तत्कार्याभावात् । न हि तस्यानादिपारिणामिकाण्ववस्थस्य कार्यमस्ति, तत्त्वभावाविनिवृत्तेः[1] । सति च कार्ये तद्भेदादणुरिति कार्यत्वसिद्धिः । ततः कार्यस्याभावात् कारणमिति व्यपदेशश्च नोपपद्यते । नहि असति पुत्रे अस्ति पितृव्यपदेश इति ।

छायादि तत्कार्यमिति चेत् ; न; स्कन्धनिमित्तत्वात् ।९। यदि छायादि कार्यमनादिपरमाणोरिति कल्प्यते; तदपि नोपपद्यते; कुतः ? स्कन्धनिमित्तत्वात् । अनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धारब्धं छायादि नानादिपरमाणुकार्यम् ।

प्रतिज्ञामात्रमिति चेत् ; न; चाक्षुषत्वात् ।१०। अथ मतम्–प्रतिज्ञामात्रमेतत् स्कन्धकार्यं छायादि नाणुकार्यमिति; तच्चायुक्तम्; कुतः ? चाक्षुषत्वात् । चाक्षुषं हि छायादि अचाक्षुषमणु(षाणु)कार्यं न भवितुमर्हति । न चानादिपरमाणुर्नाम कश्चिदस्ति "भेदादणुः ।" [५।२७] इति वचनात् ।

नित्यवचनं तदर्थमिति चेत् ; नः तस्यापि स्नेहादिविपरिणामाभ्युपगमात् ।११। स्यान्मतम्–नित्यवचनमनादिपरमाण्वर्थमिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्यापि स्नेहादिविपरिणामाभ्युपगमात् । [2]न हि निष्परिणामः कश्चिदर्थोऽस्ति ।

नयापेक्षमिति चेत् ; युक्तम् ।१२। अथ मतम्–"कारणमेव तदन्त्यं नित्यः" [ ] इति वचनं नयापेक्षम् । द्व्यणुकादिवत् [3]संघातकार्याभावात् कारणमेव, द्रव्यार्थतया व्ययोदयाभावात् नित्यः, इत्येवं सति युक्तम् , [4]हेतुविशेषसामर्थ्यार्पणे अवधारणाऽविरोधात्, द्रव्यार्थतयाऽवस्थानाच्च ।

एकरसवर्णगन्धोऽणुः निरवयवत्वात् ।१३। एकरसः एकगन्धश्च परमाणुर्वेदितव्यः । कुतः ? निरवयवत्वात् । सावयवानां हि [5]मातुलिङ्गादीनाम् अनेकरसत्वं दृश्यते, अनेकवर्णत्वं च मयूरादीनाम् , अनेकगन्धत्वं चानुलेपनादीनां च । निरवयवश्चाणुरत एकरसवर्णगन्धः ।

द्विस्पर्शो विरोधाभावात् ।१४। द्विस्पर्शोऽणुरवगन्तव्यः । कुतः ? विरोधाभावात् । कौ पुनः द्वौ स्पर्शौ ? शीतोष्णस्पर्शयोरन्यतरः स्निग्धरूक्षयोरन्यतरश्च, एकप्रदेशत्वात् विरोधिनोः युगपदनवस्थानम् । गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शानां परमाणुष्वभावः, स्कन्धविषयत्वात् । कथं पुनस्तेषामणूनामत्यन्तपरोक्षाणाम् अस्तित्ववसीयत इति चेत् ? उच्यते—

तदस्तित्वं कार्यलिङ्गत्वात् ।१५। तेषामणूनामस्तित्वं कार्यलिङ्गत्वादवगन्तव्यम् । [6]कार्यलिङ्गं हि कारणम् । नाऽसत्सु परमाणुषु शरीरेन्द्रियमहाभूतादिलक्षणस्य कार्यस्य प्रादुर्भाव इति ।

अनेकान्तः कारणत्वादिविकल्पः ।१६। अणोः कारणत्वादिविकल्पोऽनेकान्तो योज्यः–स्यात्कारणं स्यात्कार्यमित्यादि । द्व्यणुकादिकार्यप्रादुर्भावनिमित्तत्वात् स्यात्कारणमणुः, भेदादुपजायत इति स्यात्कार्यम्, स्निग्धरूक्षत्वादिकार्यगुणाधिकरणाद्वा । ततः पुनर्भेदाभावात् स्यादन्त्यः, प्रदेशभेदाभावेऽपि पुनरपि गुणभेदसद्भावात् स्यान्नान्त्यः । सूक्ष्मपरिणामसद्भावत्वात् स्यात्सूक्ष्मः, स्थूलकार्यप्रभवयोनित्वात् स्यात्स्थूलः । द्रव्यताऽपरित्यागात् स्यान्नित्यः, बन्धभेदपर्यायादेशात् गुणान्तरसङ्क्रान्तिदर्शनाच्च स्यादनित्यः । निष्प्रदेशत्वपर्यायार्पणात् स्यादेकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शश्च, अनेक-

१ अप्रतिबन्धत्वात् । २ परमाणौ एकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयादिस्नेहादिगुणहानिवृद्धिरूपविविधपरिणामाङ्गीकारात् । ३ कार्यं द्विविधं संघातकार्यं भेदकार्यञ्चेति, तयोर्मध्ये । ४ द्व्यणुकादिस्कन्धकार्यापेक्षया कारणमिति । ५ मातुलुङ्ग–श्र० । ६ "कार्यलिङ्गं हि कारणम्"–आप्तमी० श्लो० ६८ । ७–सद्भावबलात् मु० । –सद्भावात् श्र०, आ० । ८ योगित्वात् मु०, द०, ता०, ब० ।

प्रदेशस्कन्धपरिणामशक्तियोगात् स्यादनेकरसादिः । कार्यलिङ्गेनानुमीयमानसद्भावादेशात् स्यात्कार्यलिङ्गः, प्रत्यक्षज्ञानगोचरत्वपर्यायादेशात् स्यान्न कार्यलिङ्गः । उक्तं च–

"कारणमेवं तदन्त्यं[1] सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥" [ ]

के पुनः स्कन्धाः ?

परिणामबन्धपरिणामाः स्कन्धाः ।१६। बन्धो वक्ष्यते, तं परिप्राप्ताः येऽणवः ते स्कन्धा इति व्यपदेशमर्हन्ति । ते त्रिविधाः–स्कन्धाः स्कन्धदेशाः स्कन्धप्रदेशाश्चेति । अनन्तानन्तपरमाणुबन्धविशेषः स्कन्धः । तदर्धं देशः । अर्धार्धं प्रदेशः । तद्भेदाः पृथिव्यप्तेजोवायवः स्पर्शादिशब्दादिपर्यायाः । पृथिवी तावत् घटादिलक्षणा स्पर्शादिशब्दाद्यात्मिका सिद्धा । अम्भोऽपि तद्विकारत्वात् तदात्मकम् , साक्षात् गन्धोपलब्धेश्च । तत्संयोगिनां पार्थिवद्रव्याणां गन्धः तद्गुण इवोपलभ्यत इति चेत् ; न; साध्यत्वात् । [2]तद्वियोगकालादर्शनात् तदविनाभावाच्च तद्गुण एवेति निश्चयः कर्तव्यः–गन्धवदम्भः रसवत्त्वात् आम्रफलवत् । तथा तेजोऽपि स्पर्शादिशब्दादिस्वभावकं [3]तद्वत्कार्यत्वात् घटवत् । स्पर्शादिमतां हि काष्ठादीनां कार्यं तेजः । किञ्च, तत्परिणामात् । उपयुक्तस्य हि [4]आहारस्य स्पर्शादिगुणस्य वातपित्तश्लेष्मविपरिणामः । [5]पित्तं च जठराग्निः, तस्मात् [6]स्पर्शादिमत्तेजः । तथा स्पर्शादिशब्दादिपरिणामो वायुः स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत् । किञ्च, तत्परिणामात् [7] । उपयुक्तस्य हि आहारस्य स्पर्शादिगुणस्य वातपित्तश्लेष्मविपरिणामः । वातश्च प्रणादिः । ततो वायुरपि स्पर्शादिमान् इत्यवसेयः ।

एतेन 'चतुस्त्रिद्व्येकगुणाः पृथिव्यादयः पार्थिवादिजातिभिन्नाः' इति दर्शनं[8] प्रत्युक्तम् ।

आह–किमेषां अणुस्कन्धलक्षणः परिणामोऽनादिः, उत आदिमान् इति ? उच्यते–स खलूत्पत्तिमत्त्वादादिमान् प्रतिज्ञायते । यद्येवमभिधीयताम्–कस्मान्निमित्तादुत्पद्यन्त[9] इति । तत्र स्कन्धानां तावदुत्पत्तिहेतुप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

संहतानां द्वितयनिमित्तवशात् विदारणं भेदः ।१। बाह्याभ्यन्तरविपरिणामकारणसन्निधाने सति संहतानां स्कन्धानां विदारणं नानात्वं भेद इत्युच्यते ।

विविक्तानाम् एकीभावः संघातः ।२। पृथग्भूतानाम् एकत्वापत्तिः संघात इति कथ्यते ।

द्वित्वाद् द्विवचनप्रसङ्ग इति चेत् ; न; बहुवचनस्यार्थविशेषज्ञापनार्थत्वात् ।३। स्यादेतद्–भेदसंघातयोर्द्वित्वात् द्विवचनेन भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? [10]बहुवचनस्यार्थविशेषज्ञापनार्थत्वात् । अतो भेदेन संघातः भेदसंघातः इत्यस्याप्यवरोधः कृतो भवति ।

उत्पूर्वः पदिर्जात्यर्थः ।४। उत्पूर्वः पदिर्जात्यर्थो द्रष्टव्यः–उत्पद्यन्ते जायन्त इति यावत् ।

तदपेक्षो हेतुनिर्देशः ।५। भेदसंघातेभ्य इत्ययं हेतुनिर्देशः तदपेक्षो वेदितव्यः । [11]"निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां [12]प्रायदर्शनात्"[पात० महा० २।३।२३] इति भेदसंघातेभ्यः कारणेभ्यः उत्पद्यन्ते

१ तदन्त्यः–मु० । २ गन्ध । ३ पृथिवीवत्त्व । ४ पार्थिवद्रव्यस्य । ५ पित्तं जठ–श्र० । ६ पार्थिवद्रव्यकार्यत्वात् । ७ पार्थिवपरिणामत्वात् । ८ नैयायिकादीनाम् । "कथं तर्हीमे गुणा विनियोक्तव्या इति ? एकैकश्येन उत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः ।"–न्यायसू० ३।१।६४ । ९–यते इति मु० । १० भेदात् संघातात् भेदसंघाताभ्यां च स्कन्धा उत्पद्यन्ते इत्यर्थः । ११ हेतौ हेत्वर्थैः सर्वाः प्राय इति । १२ प्रदर्शनात्–मु०, द० ।

इति हेत्वर्थगतेः। तद्यथा-द्वयोः परमाण्वोः संघाताद् द्विप्रदेशस्कन्ध उत्पद्यते। द्विप्रदेशस्य अणोश्च त्रयाणां वा अणूनां संघातात्त्रिप्रदेशः। द्वयोः द्विप्रदेशयोः त्रिप्रदेशस्याणोश्चतुर्णां वा अणूनां संघाताच्चतुष्प्रदेशः। एवं संख्येयानाम् असंख्येयानामनन्तानां च संघातात्तावत्प्रदेशः। एषामेव भेदात् द्विप्रदेशपर्यन्तात् स्कन्धा उत्पद्यन्ते। एवं भेदसंघाताभ्याम् एकसामयिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते अन्यतो भेदेन अन्यस्य संघातेनेति।

एवमुक्तानामणुस्कन्धानामविशेषेण भेदादिहेतुकोत्पत्तिप्रसङ्गे विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते-

भेदादणुः ॥ २७ ॥

सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेरेवकारावचनं अब्भक्तवत्।१। यथा न कश्चित् अपो न भक्षयति इत्यब्भक्षणसिद्धेः अब्भक्षवचनात् अप एव भक्षयतीत्यवधारणं गम्यते, एवं भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते इत्यनेनैवाणोर्भेदादुत्पत्तौ सिद्धायां पुनर्वचनमवधारणार्थं भवति-भेदादेवाणुः न संघातात् नापि भेदसंघाताभ्यामिति।

अत्राह-संघातादेव स्कन्धानामात्मलाभसिद्धेर्भेदसंघातग्रहणमनर्थकमिति तद्ग्रहणप्रयोजनप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते-

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अनन्तानन्तपरमाणुसमुदयनिष्पाद्योऽपि कश्चिच्चाक्षुषः[1] कश्चिच्चाऽचाक्षुषः[2]। तत्र योऽचाक्षुषः स कथं चाक्षुषो भवतीति चेत्? उच्यते-भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः न भेदादिति। काऽत्रोपपत्तिरिति चेत्? ब्रूमः-सूक्ष्मपरिणामस्य स्कन्धस्य भेदे सौक्ष्म्यापरित्यागात् अचाक्षुषत्वमेव। सूक्ष्मपरिणतः पुनरपरः सत्यपि तद्भेदेऽन्यसंघातान्तरसंयोगात् सौक्ष्म्यपरिणामोपरमे स्थौल्योत्पत्तौ चाक्षुषो भवति।

अत्राह-गतिस्थित्यवगाहनवर्तनाशरीरादिपरस्परोपकाराद्यनुमितास्तित्वं धर्मादि पुरस्ताद्द्रव्यमित्याख्यातम्, [3]तत्कथं द्रव्यमित्यवधार्यते[4]?

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

सत्त्वात्, यत्सत्तद् द्रव्यम्।

यद्येवं प्राप्तमिदं सतः किं लक्षणमिति? उच्यते-यदिन्द्रियग्राह्यमतीन्द्रियमपि बाह्याध्यात्मकनिमित्तापेक्षम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्तत् 'वेदितव्यम्' इति वाक्यशेषः।

अथवा, धर्मादि सत्त्वात् द्रव्यमित्यवधृतम्। तस्मात् अभिधीयतां किं तत्सत् इति? तत इदमुपादीक्षत—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[5] ॥ ३० ॥ इति

अथवा, यद्युपकारसद्भावात् धर्मादिद्रव्यं सद्विवक्षितं यदा तर्हि नोपकरोति तदा तदसत्त्वप्रसङ्ग इति; उच्यते-असत्यपि उपकारविशेषे यस्मात् सामान्ये द्रव्यलक्षणत्रये सन्निहिते उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं [6]सद्द्रव्यं भविष्यतीत्यर्थः।

स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः।१। चेतनस्य अचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वजातिमजहतः निमित्तवशात् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पाद इत्युच्यते मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्।

---

१ औदारिकादिः। २ कार्मणादिः। ३ तत्कथं सद्द्रव्यलक्षणं धर्मादि द्रव्यमित्य-मु०, ब०। ४-ते सत्त्वात् ता०, श्र०, मु०, मू०, ब०। ५ सत् सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ ३० ॥ भा० १। ६ सत्तद्द्रव्यं मु०।

तथा पूर्वभावविगमो व्ययनं व्ययः।२। तेन प्रकारेण तथा स्वजात्यपरित्यागेन इत्यर्थः, पूर्वभावविगमो व्ययनं व्यय इति कथ्यते यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः।

[1]ध्रुवेः स्थैर्यकर्मणो ध्रुवतीति ध्रुवः।३। अनादिपारिणामिकस्वभावत्वेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवति इति ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्, यथा पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदादिद्रव्यत्वव्ययात्।

अन्येनान्यस्य योगे[3] दण्डिवदिति चेत्: नः अन्तर्णीतसत्ताक्रियस्य युजेरार्श्रितत्वात्।४। स्यान्मतम्-उत्पादश्च व्ययश्च ध्रौव्यं च उत्पादव्ययध्रौव्याणि। उत्पादव्ययध्रौव्यैर्युक्तम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमिति निर्देशो नोपपद्यते। कुतः? अन्येनान्यस्य योगात् दण्डिवदिति; तन्न; किं कारणम्? अन्तर्णीतसत्ताक्रियस्य युजेरार्श्रितत्वात्। कथं पुनः युजेः सत्ताक्रियत्वमिति चेत्? उच्यते-सर्वे धातवो भाववचनाः। भावश्च सत्ता क्रिया इत्यनर्थान्तरम्। तामेव सर्वे शब्दाः स्वार्थोपनिधानेनाविच्छिद्याविच्छिद्य[4] विषयीकुर्वन्ति। उत्पादव्ययध्रौव्यं सदिति यावत् तावदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमिति। सर्वधातूनां सत्तार्थत्वे एधादीनां वृद्ध्यादिप्रतिनियतार्थत्वाभाव इति चेत्; न; सत्तार्थत्वे सत्येधादीनां वृद्ध्याद्यर्थप्रवृत्तेः, नाऽसतां खरविषाणादीनां वृद्ध्यादिरर्थोऽस्ति।

उत्पादव्ययध्रौव्यवदिति न्याय्यमिति चेत्: नः उपालम्भपरिहारतुल्यत्वात्।५। स्यादेतत्-यद्यन्तर्णीतसत्ताक्रियो युजिः परिगृह्यते उत्पादव्ययध्रौव्यवदित्येतदेव न्याय्यमिति; तन्न; किं कारणम्? उपालम्भपरिहारतुल्यत्वात्। यथा गोभ्योऽन्यत्वे देवदत्तस्य गोमानिति व्यपदेशो भवति न तथा उत्पादव्ययध्रौव्येभ्योऽन्यत् द्रव्यमिति 'मत्वर्थीयो नोपपद्यते' इति उपालम्भो न निवर्तते।' 'अनन्यत्वेऽपि लोके मत्वर्थीयो दृश्यते-आत्मवान् आत्मा, सारवान् स्तम्भः' इति परिहारश्च तुल्यः।

समाधिवचनत्वाद्वा।६। अथवा समाधिवचनोऽयं युजिः[5] परिगृह्यते। युक्तः समाहित इत्यर्थः। समाधानं च तात्पर्यं तादात्म्यमिति यावत्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमित्यर्थः।

कथञ्चिदन्यत्वोपपत्तेर्वा।७। यथा वा पर्यायेभ्यः पर्यायिणः कथञ्चिदन्यत्वोपपत्तेः [6]योगवचन एव वा युक्तशब्दो न्याय्यः। यदि हि सर्वथा अनन्यत्वं स्यात् उभयाभावप्रसङ्गः स्यात्।

सच्छब्दस्य प्रशंसाद्यनेकार्थसंभवे विवक्षातोऽस्तित्वसंप्रत्ययः।८। सच्छब्दः प्रशंसादिषु बह्वर्थेषु दृष्टप्रयोगः। प्रशंसायां तावत्-सत्पुरुषः प्रशस्तः पुरुषः इत्यर्थः। क्वचिदादरे-सत्करोति आदरं करोतीत्यर्थः। क्वचिदस्तित्वे-सद्भूतमयमाह[7] विद्यमानमाहेत्यर्थः। क्वचित् प्रज्ञायमाने-प्रव्रजितः सन् कथमनृतं ब्रूयात्? प्रव्रजित इति प्रज्ञायमान इत्यर्थः। तत्रेह विवक्षातः अस्तित्ववचनो वेदितव्यः।

व्ययोत्पादाव्यतिरेकाद् द्रव्यस्य ध्रौव्यानुत्पत्तिरिति चेत्: नः अभिहितानवबोधात्।९। स्यादेतत्-व्ययोत्पादाभ्यामव्यतिरेकाद् द्रव्यस्य व्ययोत्पादात्मकत्वात् ध्रुवत्वं नोपपद्यते इति; तन्न;

---

१ ध्रुवेस्थै-मु०, ता०, श्र०, द०। २-परिणामस्व-श्र०। ३-नान्यसंयोगे मु०, द०। ननु सर्वथा भेदे सति युक्तशब्दो लोके प्रयुज्यमानो दृष्टः मत्वर्थीयवत्, यथा दण्डयुक्तो देवदत्त इति। तथा च सति भवत्पक्षे उत्पादादिधर्माणां त्रयाणां निराश्रयत्वात् द्रव्यस्य च निःस्वरूपत्वादभावः प्राप्नोतीति परमतमाशङ्क्य परिहरति। ४ अन्तर्नीत-मु०, द०, श्र०, ता०। ५ यजनादिक्रियां विशेष्य विशेष्य। ६-न्तर्नीत-मु०, द०, श्र०, ता०। ७ युजिः समाधौ। ८ युजृञ् योगे। ९ पुरुषः।

किं कारणम् ? अभिहितानवबोधात् । द्रव्यार्थावस्थानात् ध्रौव्यमभिहितम् , न व्ययोत्पादाभ्यां व्यतिरेकात् । यदि च व्ययोत्पादाभ्यां व्यतिरेकात् ध्रौव्यमभिहितं स्यात् तदव्यतिरेकात् अध्रौव्यं भवेत् । यदि वा व्ययोदयाभ्यां व्यतिरेकात् द्रव्यं ध्रुवम् ; द्रव्यादपि व्यतिरेकात् व्ययोदययोर्ध्रौव्यं प्रसज्येत ।

अथवा, अभिहितानवबोधात् । नैकान्तेन व्ययोदयाभ्यामव्यतिरेको द्रव्यस्याभिहितः । यदि स्यात्[3]; तदत्यन्ताव्यतिरेकात् तद्भावापत्तेर्ध्रौव्याभावः स्यात् । यतस्तु केनचित् प्रकारेण व्ययोत्पादाभ्यां व्यतिरेकः केनचिदव्यतिरेकः[4] । व्ययोत्पादकाले द्रव्यार्थावस्थानात् स्याद् व्यतिरेकः । द्रव्यजात्यपरित्यागात् स्यादव्यतिरेकः । तत एकान्तपक्षोपालम्भाभावः । एकान्तव्यतिरेके हि द्रव्यं प्रत्याख्याय अन्यत्र व्ययादयावुपलभ्येयाताम् । ऐकान्तिकाऽव्यतिरेके च एकलक्षणत्वात् अन्यतराभावे अवशिष्टस्याप्यभावः स्यात् ।

स्ववचनविरोधाच्च ।१०। यदि व्ययोत्पादाव्यतिरेकान्न द्रव्यस्य ध्रौव्यम् यस्तेन स्वपक्षसिद्धये हेतुर्व्यपदिश्यते स साधकत्वादव्यतिरिक्त इति परपक्षस्यापि साधकः स्यात् । परपक्षस्य वा यो दूषक इति ततोऽव्यतिरेकात् स्वपक्षस्यापि दूषक इति वचनविरोधः । ततश्च न युक्तमुक्तं व्ययोत्पादाऽव्यतिरेकान् ध्रौव्यानुपपत्तिरिति ।

उत्पादादीनां द्रव्यस्य चोभयथा लक्ष्यलक्षणभावानुपपत्तिरिति चेत् ; नः अन्यत्वानन्यत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तेः ।११। स्यान्मतम्–उत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यादर्थान्तरभूतानि वा स्युः,अनर्थान्तरभूतानि वा ? यद्यर्थान्तरभावः कल्प्येत; तानि वः सत्ता, ततोऽन्यत्वात् द्रव्यस्याभावः स्यात् । तदभावे च निराधारत्वात् उत्पादादीनामभाव इति लक्ष्यलक्षणभावो नोपपद्यते । नहि असतां बन्ध्यापुत्राकाशकुसुमादीनां लक्ष्यलक्षणभावोऽस्ति । अथानर्थान्तरत्वमिष्येत; लक्ष्यमेव लक्षणमिति दृष्टविरोधः स्यादिति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यत्वानन्यत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तेः । पर्यायिणः पर्यायाणां च स्यादन्यत्वं स्यादनन्यत्वम् । यथैकस्य मनुष्यस्य जातिकुलरूपादिभिः अविशिष्टस्य अनेकसंबन्ध्यन्तराविर्भूतपितापुत्रभ्रातृभागिनेयादयो धर्माः परस्परतो विशिष्टा उपलभ्यन्ते न तेषां भेदात्तस्य भेदः, नापि तस्याऽभेदात्तेषामभेदः, ततः पितृत्वादिशक्त्यपेक्षया नाना मनुष्यत्वापेक्षया न पृथक् , तथा द्रव्यस्यापि बाह्याभ्यन्तरहेतुविशेषापादिताः पर्यायाः कथञ्चिद्भिन्नाः द्रव्यार्पणात् कथञ्चिदभिन्नाः इति नासत्त्वं न लक्ष्यलक्षणभावाभावः । तस्मादुत्पादादित्रयैक्यवृत्तिः सत्ता, तद्युक्तं द्रव्यमित्यवसेयम् ।

अत्राह–यथा द्रव्यस्यात्मभूतोऽन्वयो धर्मः तथा पर्यायोऽप्यात्मभूतो द्रव्यस्येति तन्निवृत्तिवद् द्रव्यनिवृत्तिकल्पनायामुच्छेदप्रसङ्ग इति; अत्र ब्रूमहे– स्यादेतदेवं यदि क्रमेण पिण्डघटकपालादिवद्रूपं[5]द्रव्याजीवानुपयोगत्वादिलक्षणः परिणामः कादाचित्कः स्यात् । यतः सत्यपि व्ययोत्पादवत्त्वे पर्यायाणाम्–

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

किम् अध्यवस्यामः ? द्रव्यमिति वाक्यशेषः । तद्भाव इत्युच्यते । कस्तद्भावः ?

प्रत्यभिज्ञानहेतुता तद्भावः ।१। [11]तदेवेदमिति स्मरणं प्रत्यभिज्ञानम् , तदकस्मान्न भवति इति योऽस्य हेतुः स तद्भावः । भवनं भावः, तस्य[12] भावस्तद्भावः, येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात् तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते । यद्यत्यन्तनिरोधाभिनवप्रादुर्भावमात्रमेव स्यात् ; स्मरणानुपपत्तेः तदधीनो लोकसंव्यवहारो विरुध्येत । ततः तद्भावेनाव्ययं तद्भावाव्ययम् नित्यमिति निश्चीयते ।[1]

विरोध इति चेत् ; धर्मान्तराश्रयणात् ।२। स्यान्मतम्–वियदेव न व्येति, उत्पद्यमान एव नोत्पद्यते इति विरोधः, ततो न युक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? धर्मान्तराश्रयणात् । यदि येन रूपेण व्ययोदयकल्पना तेनैव रूपेण नित्यता प्रतिज्ञायेत स्याद्विरोधः, जनकत्वापेक्षयैव[2] पितापुत्रव्यपदेशवत् , [3]नन्तु धर्मान्तरसंश्रयणात् ।

पुनरपि मिथ्यादर्शनाकुलितचेताः निरूपितमपि त्रितयात्मकत्वमप्रतिपद्यमान आह–यद् व्येति उत्पद्यते च तत्सन्नित्यं चेत्यतिसाहसमेतत् दुरुपपादत्वात् कथं श्रद्धीयत इति ? अत्रोच्यते–श्रद्धेहि व्ययोत्पादवत्सु पर्यायेषु अव्यभिचारिणी सन्नित्यत्वे स्त इति । कुतः ? यस्माद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकसंभवे अन्यतरविवक्षावशात् यथोक्ते उभे अपि—

अर्पितानर्पितसिद्धे ॥३२॥

धर्मान्तरविवक्षाप्रापितप्राधान्यमर्पितम् ।१। अनेकात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशात् यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितप्राधान्यम् अर्थरूपमर्पितमुपनीतमिति यावत् ।

तद्विपरीतमनर्पितम् ।२। प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवति इत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते । अर्पितं चानर्पितं च अर्पितानर्पिते ताभ्यां सिद्धे सन्नित्यत्वे अर्पितानर्पितसिद्धे । तद्यथा–मृत्पिण्डः रूपिद्रव्यमित्यर्पितः स्यान्नित्यः तदर्थापरित्यागात् । अनेकधर्मपरिणामिनोऽर्थस्य धर्मान्तरविवक्षाव्यापारात् रूपिद्रव्यात्मनाऽर्पणात् मृत्पिण्ड इत्येवमर्पितं पुद्गलद्रव्यं स्यादनित्यं तस्य पर्यायस्याध्रुवत्वात् । तत्र यदि द्रव्यार्थिकनयविषयमात्रपरिग्रहः; स्यात्[6] व्यवहारलोपः तदात्मकवस्त्वभावात् । यदि च पर्यायार्थिकनयगोचरमात्राभ्युपगमः स्यात् ; लोकयात्रा न सिद्ध्यति तथाविधस्य वस्तुनोऽसद्भावात् । तावेकत्रोपसंहृतौ लोकयात्रासमर्थौ भवतः तदुभयात्मकस्य वस्तुनः प्रसिद्धेः । इत्येवमर्पितानर्पितव्यवहारसिद्धे सन्नित्यत्वे ।

आह–सतोऽनेकनयव्यवहारतन्त्रत्वात् उपपन्ना भेदसंघातेभ्यः सतां स्कन्धात्मनोत्पत्तिः । इदं तु सन्दिह्यः–किं संघातः संयोगादेव द्व्यणुकादिलक्षणो भवति, उत कचिद्विशेषोऽवधीयते इति ? उच्यते–सति संयोगे बन्धादेकत्वपरिणामकात् संघातो निष्पद्यते । यद्येवमिदमुच्यतां कुतो न खलु पुद्गलजात्यपरित्यागे संयोगे च भवति केषाञ्चित् बन्धोऽन्येषां च नेति ? उच्चते–यस्मात्तेषां पुद्गलात्माऽविशेषेऽपि अनन्तपर्यायाणां परस्परविलक्षणपरिणामाहितसामर्थ्याद्[7] भवन् प्रतीतः—

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्धः ।१। बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्धः ।

रूक्षणाद् रूक्षः ।२। द्वितयनिमित्तवशात् रूक्षणात् रूक्ष इति व्यपदिश्यते । स्निग्धश्च रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ तयोर्भावः स्निग्धरूक्षत्वम् । स्निग्धत्वं चिक्कणत्वलक्षणः पर्यायः । तद्विपरीतः परिणामो रूक्षत्वम् । स्निग्धरूक्षत्वादिति हेतुर्निर्देशः ।

---

१ व्ययोत्पादाभ्यां मु०, द० । २ व्ययोत्पादयो–मु० । ३ उत्पादव्ययस्वरूपसद्भावात् । ४ कथमित्युक्ते तदेव विवृणोति । पर्यायार्थनयादेशादुत्पादव्ययवयुक्तं द्रव्यम् , द्रव्यार्थनयादेशात् ध्रौव्ययुक्तमिति विभागकथनस्याविरोधात् एकस्मिन्नपि समये द्रव्यस्य त्रयात्मकत्वं न विरुध्यते । ५ परित्यज्य । ६ अन्यतरभावे–श्र० । ७ कल्पेत मू०, द०, श्र० । ८ युष्माकम् । ९ पितृपुत्र–मु० । १०–विद्रूप–मु० । ११ वस्तु । १२ वस्तुनः ।

१ सामर्थ्यात् उत्पादव्ययभागात्तदनित्यमित्यप्यवगम्यते । २ जनकत्वापेक्षयैव पिता पुत्रश्चेत्युक्ते विरोधः । ३ ननु मु०, द०, ता० । ४ द्रव्यार्थिक । ५ विवक्षायां मु० । ६ दत्तनिक्षेपादि । ७–द्बन्धः प्र–मु०, द० ।

तत्कृतो बन्धो द्व्यणुकादिपरिणामः । द्वयोः स्निग्धरूक्षयोरण्वोः परस्पराश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्व्यणुकः स्कन्धो भवति । एवं संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशस्कन्धो योज्यः ।

एकगुणादिसंख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पः स्नेहः ।३। अविभागपरिच्छेदैकगुणः स्नेहः प्रथमः । एवं द्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणः स्नेहविकल्पः । एवंगुणा परमाणवः सन्ति ।

तथा रूक्षः ।४। यथा स्नेह उक्तस्तथा रूक्षोऽपि संख्येयाऽसंख्येयानन्तविकल्पो वेदितव्यः । एवंगुणाश्च परमाणवः सन्ति ।

तोयाजागोमहिष्युष्ट्रीक्षीरघृतेषु पांशुकणिकाशर्करादिषु च प्रकर्षाप्रकर्षदर्शनात्तदनुमानम् ।५। यथा तोयादजाक्षीरघृते प्रकृष्टस्नेहे ततः प्रकृष्टस्नेहे गोक्षीरघृते ततश्चाधिकस्नेहे महिषीक्षीरघृते ततोऽप्युत्कृष्टस्नेहे उष्ट्रीक्षीरघृते । पांशुभ्यः प्रकृष्टरूक्षगुणाः तुषकणिकादयः ततोऽपि प्रकृष्टरूक्षाः शर्कराः । तथा परमाणुष्वपि प्रकर्षाप्रकर्षवृत्त्या स्निग्धरूक्षगुणाः सन्तीत्यनुमानं क्रियते ।

स्निग्धरूक्षगुणनिमित्ते बन्धे अविशेषेण प्रसक्ते अनिष्टगुणनिवृत्त्यर्थमाह—

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

शाखादित्वादेहाङ्गत्वाद्वा **जघन्यशब्दसिद्धिः** ।१। जघनमिव जघन्यमिति शाखादित्वात् सिद्ध्यति । क उपमार्थः ? यथा शरीरावयवेषु जघनं निकृष्टं तथाऽन्योपि निकृष्टो जघन्य इत्युच्यते । अथवा देहाङ्गत्वात्सिद्धिः । जघने भवः जघन्यः । जघन्य इव जघन्यः । यथा जघने भवो निकृष्टस्तथाऽन्योऽपि निकृष्टो जघन्य इति व्यपदिश्यते ।

गुणशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षावशाद्भागग्रहणम् ।२। गुणशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोगः । क्वचिद्भूषादिषु वर्तते–रूपादयो गुणा इति । क्वचिद्भागे वर्तते–द्विगुणा यवास्त्रिगुणा यवा इति । क्वचिदुपकारे वर्तते–गुणज्ञः साधुः उपकारज्ञ इति यावत् । क्वचिद्द्रव्ये वर्तते– गुणवानयं देश इत्युच्यते यस्मिन् गावः शस्यानि च निष्पद्यन्ते । क्वचित्समेष्ववयवेषु–द्विगुणा रज्जुः त्रिगुणा रज्जुरिति । क्वचिदुपसर्जने–गुणभूता वयमस्मिन् ग्रामे उपसर्जनभूता इत्यर्थः । तत्रेह भागे वर्तमानः परिगृह्यते । जघन्यो गुणो येषां ते जघन्यगुणास्तेषां जघन्यगुणानां नास्ति बन्धः । एतदुक्तं भवति–एकगुणस्निग्धस्य एकगुणस्निग्धेन द्वितीयादिसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्धः । तस्यैवैकगुणस्निग्धस्य एकगुणरूक्षेण द्व्यादिसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणरूक्षेण वा नास्ति बन्धः । तथा एकगुणरूक्षस्यापि योज्यमिति ।

एतौ जघन्यगुणस्निग्धरूक्षौ वर्जयित्वा अन्येषां स्निग्धरूक्षाणां परस्परेण संबन्धो भवतीति अविशेषप्रसङ्गे तत्रापि प्रतिषेध विपर्ययख्यापनार्थमाह—

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

सदृशग्रहणं तुल्यजातीयसंप्रत्ययार्थम् ।१। स्निग्धजात्या रूक्षजात्या च तुल्यानां संप्रत्ययः कथं स्यादिति सदृशग्रहणं क्रियते ।

गुणसाम्यग्रहणं तुल्यभागसंग्रहार्थम् ।२। तुल्यभागा ये तेषां ग्रहणार्थं गुणसाम्यग्रहणं क्रियते ।

---

१ अविशेषेण प्र–मु० । २–धज्ञाप–मु० ।

सदृशग्रहणमनर्थकं गुणसाम्यवचनादिति चेत्; न; समानगुणकार्योः स्निग्धरूक्षयोः प्रतिषेधप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्–सदृशग्रहणमनर्थकम् । कुतः ? गुणसाम्यवचनात्सिद्धेरिति; तन्न; किं कारणम् ? समानगुणकार्योः स्निग्धरूक्षयोः प्रतिषेधप्रसङ्गात् । सदृशग्रहणे ह्यसति द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षैः त्रिगुणस्निग्धानां त्रिगुणरूक्षैर्गुणकारसाम्याद्बन्धः प्रतिषिध्येत । सदृशग्रहणे पुनः सति द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणस्निग्धैर्द्विर्गुणरूक्षाणां द्विगुणरूक्षैरित्येवमादिषु बन्धप्रतिषेधः कृतो भवति ।

नवेष्टत्वात् ।४। न वा एतत्प्रयोजनमस्ति । किं कारणम् ? इष्टत्वात् । इष्यते द्विगुणस्निग्धानामपि द्विगुणरूक्षैर्बन्धप्रतिषेधः । किमर्थं तर्हि सदृशग्रहणम् ?

गुणवैषम्ये बन्धप्रतिपत्त्यर्थम् ।५। गुणवैषम्ये सदृशानां बन्धो भवतीत्येतस्यार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थं सदृशग्रहणं क्रियते ।

अतो विषमगुणानां तुल्यजातीयानां चाविशेषेण प्रसक्ताविष्टार्थसंप्रत्ययार्थमिदमुच्यते—

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

द्व्यधिकश्चतुर्गुणः ।१। द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिको द्व्यधिकः । कः पुनरसौ ? चतुर्गुणः ?

आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् पञ्चगुणादिसंप्रत्ययः ।२। द्व्यधिकादीत्ययमादिशब्दः प्रकारार्थः । कः पुनरसौ प्रकारः ? द्वाभ्यामधिकता । तेन पञ्चगुणादीनां संप्रत्ययो भवति । 'अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः' इति चतुर्गुणस्यापि ग्रहणं भवति । तेन द्व्यधिकादिगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां च बन्ध उक्तो भवति, नेतरेषाम् । तद्यथा–द्विगुणस्निग्धस्य परमाणोः एकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्धः, चतुर्गुणस्निग्धेन पुनरस्ति बन्धः । तस्यैव पुनर्द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन षट्सप्ताष्टनवदशसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणस्निग्धेन बन्धो न विद्यते । एवं त्रिगुणस्निधस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धोऽस्ति, शेषैः पूर्वोत्तरैर्न भवति । चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः, शेषैः पूर्वोत्तरैर्नास्ति । एवं शेषेष्वपि योज्यः । तथा द्विगुणरूक्षस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्धः, चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्धः । तस्यैव द्विगुणरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षादिभिरुत्तरैर्नास्ति बन्धः । एवं त्रिगुणरूक्षादीनामपि द्विगुणाधिकैर्बन्धो योज्यः । एवं भिन्नजातीयेष्वपि द्विगुणस्निग्धस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्धः, चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्धः, उत्तरैः पञ्चगुणरूक्षादिभिर्नास्ति । एवं त्रिगुणस्निग्धादीनां पञ्चगुणरूक्षादिभिरस्ति, शेषैः पूर्वोत्तरैर्नास्ति बन्ध इति योज्यः । उक्तं च—

"णिद्धस्स णिद्धेण [3]दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण ।
णिद्धस्य लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥[4]१॥" [छक्खं० वग्ग० ५।६।३६]

एवमुक्तेन विधिना बन्धे सत्यणूनां द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तप्रदेशावसानस्कन्धोत्पत्तिर्वेदितव्या ।

तुशब्दो व्यावृत्तिविशेषप्रतिपत्त्यर्थः ।३। तुशब्दः क्रियमाणः [5]प्रतिषेधं व्यावर्त्तयति बन्धं च विशेषयति ।

अत्राह–किमर्थं संयोगजातीयः पुद्गलानां बन्धो नाम धर्मः कल्प्यते ? नन्वु प्राप्त्याद्यात्मकत्वादनेनैव सर्वसामूहिकव्यवहारसिद्धिरिति ? उच्यते–संयोगेऽपि सति प्राप्तिमात्रेण कृतार्थत्वात् परस्परानुप्रवेशनिरुत्सुकौ स्निग्धरूक्षगुणौ स्कन्धौ परमाणूनां संयोगमात्रत्वात् पारिणामिकौ न स्याताम् शुक्लकृष्णतन्तुसंयोगावस्थानवत्, ततोऽयमारम्भः—

---

१ चेन्न मु० । २–दिसम्बन्धः कृतो मु०, द० । ३ द्व्यधिकादिकेन चतुर्गुणेनेत्यर्थः । ४ गो० जी० गा० ६१४ । ५ न जघन्येत्यत्र नञम् । ६ न प्रा–मु०, द० । ७ स्कन्धपर–ता०, अ० ।

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

प्रकृतत्वाद् गुणसंप्रत्ययः ।१। प्रकृतं गुणग्रहणम्, तदभिसंबन्धाद् गुणसंप्रत्ययो भवतीत्यधिकगुणाविति ।

भावान्तरापादनं परिणामकत्वं क्लिन्नगुडवत् ।२। यथा क्लिन्नगु[1]डोऽधिकमधुररसः पतितानां रेण्वादीनां स्वगुणापादनात् परिणामकः, तथा अन्योऽपि अधिकगुणः अल्पीयसः परिणामक इति कृत्वा द्विगुणादिस्निग्धरूक्षस्य चतुर्गुणादिस्निग्धरूक्षः परिणामको भवतीति ततः पूर्वावस्थाप्रच्यवपूर्वकं तातीयकमवस्थान्तरं[3] प्रादुर्भवतीत्येकस्कन्धत्वमुपपद्यते, इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत्संयोगे सत्यप्यपरिणामकत्वात् सर्वं विविक्तरूपेणैवावतिष्ठेत । दृश्यते हि श्लेषे सति [4]वर्णगन्धरसस्पर्शानामवस्थान्तरभावः शुक्लपीतादिसंयोगे शुक्लपत्रवर्णादिप्रादुर्भाववत् ।

समाधिकावित्यपरेषां पाठः ।३। "बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ" [तत्त्वार्थाधि० ५।३६] इत्यपरे सूत्रं पठन्ति, द्विगुणस्निग्धस्य द्विगुणरूक्षोऽपि परिणामक इति ।

तदनुपपत्तिरार्षविरोधात् ।४। स पाठो नोपपद्यते । कुतः ? आर्षविरोधात् । एवं ह्युक्तमार्षे वर्गणायां बन्धविधाने-नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिकबन्धनिर्देशे प्रोक्तः(क्तम्-)'विषमस्निग्धतायाम् विषमरूक्षतायां च बन्धः समस्निग्धतायां समरूक्षतायां च भेदः' इति । तदनुसारेण च सूत्रमुक्तम् "गुणसाम्ये सदृशानाम्" [५।३४] समगुणानां बन्धप्रतिषेधात् बन्धे समः परिणामक इत्यार्षविरोधिवचो न विद्वद्ग्राह्यम् ।

विषमे समे वास्ति बन्धः इति वचनान्न विरोध इति चेत्; न; आर्षार्थाज्ञानात् ।५। स्यान्मतम्-'जघन्यवर्जे विषमे समे वास्ति' इति वचनात् समगुणस्यापि बन्ध इत्यभ्युपगमान्नास्ति विरोधः इति; तन्न; किं कारणम् ? [6]आर्षार्थाज्ञानात् । नायमस्यार्थः-समगुणस्य बन्ध इति । कस्तर्हि ? समस्तुल्यजातीयः, विषमोऽतुल्यजातीयः । समस्य चतुर्गु[7]णस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः विषमस्य चतुर्गुणरूक्षस्य षड् गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः इत्ययमार्षार्थः । तत्रैतत् स्यात्-किमर्थोऽयमारम्भ इति ? उच्यते-पौद्गलिकं कर्मात्मस्थानन्तानन्तप्रदेशं कायवाङ्मनोयोगनिमित्तं विस्रसोपचितानन्तप्रदेशस्निग्धरूक्षपरिणतं बन्धमायातमात्मनः ज्ञानावरणादिभावेन त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्याद्यवस्थानभाक् तत्परिणामकापादितपरिणामात् घनादिवन्न विष्वग्भवतीति ।

अत्राह-उक्तं भवता "द्रव्याणि, जीवाश्चेति" [५।२,३] इति; तत्र किमुद्देशत एव द्रव्याणां प्रसिद्धिराहोस्विल्लक्षणतोऽपीति ? अत्रोच्यते-लक्षणतोऽपि प्रसिद्धिः । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते-

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

गुणाश्च ते पर्ययाश्च गुणपर्ययास्ते यस्य सन्तीति तद् गुणपर्यय[8]वदिति । मतुर्नोपपद्यते अनर्थान्तरभावात्[11], अर्थान्तरभावे चाऽभावप्रसङ्गः; इत उत्तरं पठति-

अनन्यत्वेऽपि लोके सुवर्णाङ्गुलीयकवद् व्यपदेशदर्शनात् मत्वर्थीयसिद्धि[12]ः ।१। अनन्यत्वेऽपि लोके व्यपदेशो दृश्यते, यथा सुवर्णस्याङ्गुलीयकं सुवर्णाङ्गुलीयकमिति । तथा [13]लक्षणतः कथञ्चिद्भेदोपपत्तेः गुणपर्ययेभ्योऽनन्यत्वे कथञ्चिद्भेदसिद्धेः मत्वर्थीयमुपपद्यते ।

१-कौ च मु० । २-डो हि मधु-मु०, ब० । ३ पर्याय इति । ४ वर्णरसगन्धस्प-मु० । ५ "वेमादा णिद्धदा वेमादा लुक्खदा बंधो ॥३२॥ समणिद्धदा समलुक्खदा भेदो ॥३३॥" -छक्खं० वग्ग० पृ० ३० । ६ आर्षाज्ञा-मु०, मू०, ब०, आ०, ज० । ७ स्निग्धरूक्ष । ८ पर्यायव-मू० । ९ पर्याया-श्र० । १०-पर्याय श्र० । ११ गुणपर्यायाणाम् । १२-सिद्धेः मु० । १३ तल्लक्षण-मू०, श्र० ।

गुणाभावादयुक्तिरिति चेत्; न; अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात् ।२। गुण इति संज्ञा तन्त्रान्तराणाम्, आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्वितयमेव तत्त्वम् । अतश्च द्वितयमेव नयद्वयोपदेशात्, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ । यदि गुणोऽपि कश्चित्स्यात्, तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यम् । न चास्त्यसाविति, अतो गुणाभावात् गुणपर्ययवदिति निर्देशो न युज्यते; तन्न; किं कारणम् ? अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात् । उक्तं हि अर्हत्प्रवचने- "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" [त० सू० ५।४०] इति । अन्यत्र चोक्तम्-

"गुण इति दव्वविधाणं दव्ववियारो य पज्जयो भणिदो ।
तेहि अणूणं दव्वं [9]अजुदवसिद्धं हवदि णिच्चं ॥१॥"[10] [ ] इति ।

यदि गुणोऽपि विद्यते, ननु चोक्तम्-तद्विषयस्तृतीयो मूलनयः प्राप्नोतीति; नैष दोषः; द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्यं विशेषश्चेति । तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयः गुण इत्यनर्थान्तरम् । विशेषो भेदः पर्याय इति पर्यायशब्दः । तत्र सामान्यविषयो नयो द्रव्यार्थिकः । विशेषविषयः पर्यायार्थिकः । तदुभयं समुदितमयुतसिद्धरूपं द्रव्यमित्युच्यते, न तद्विषयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति, विकलादेशत्वान्नयानाम् । तत्समुदयोऽपि प्रमाणगोचरः सकलादेशत्वात् प्रमाणस्य ।

गुणा एव पर्याया इति वा निर्देशः ।३। अथवा, उत्पादव्ययध्रौव्याणि पर्यायाः, न तेभ्योऽन्ये गुणाः सन्ति, ततो गुणा एव पर्याया इति सति सामानाधिकरण्ये मतौ सति गुणपर्यायवदिति निर्देशो युज्यते ।

विशेषणानुपपत्तिरर्थाभेदादिति चेत्; न; मतान्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् ।४। स्यादेतत्-यदि गुणा एव पर्यायाः; विशेषणमपार्थकम् ; कुतः ? अर्थाभेदात् । ततो गुणवदिति वा पर्यायवदिति वा वक्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? मतान्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् । [5]मतान्तरे हि द्रव्यादन्ये गुणाः परिकल्पिताः, न ते सन्ति ? अर्थान्तरभावे सत्यनुपलब्धिप्रसङ्गात् । [6]अतो द्रव्यस्य [7]परिणमनं परिवर्तनं पर्यायः । तद्भेदा एव गुणाः न भिन्नजातीया इति मतान्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् विशेषणमर्थवत् ।

उक्तानां द्रव्याणां लक्षणनिर्देशात्तद्विषय एव द्रव्यव्यवसायप्रसक्ते अनुक्तद्रव्यसंसूचनार्थमिदमाह—

कालश्च ॥ ३९ ॥

यथोक्तद्रव्यलक्षणोपेतत्वाद् द्रव्यम् ।१। यथोक्तं द्रव्यलक्षणम्-"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" [त० सू०, ५।३०,३७] इति च; तेन लक्षणेनोपेतत्वात् कालश्च द्रव्यमित्यवगम्यते । कथं लक्षणोपेतत्वमिति चेत् ? उच्यते-

आकाशादिवत्तत्सिद्धिः ।२। यथा आकाशादीनां द्रव्यलक्षणं तथा कालस्यापि सिद्ध्यति । ध्रौव्यं तावत् कालस्य स्वप्रत्ययं स्वभावव्यवस्थानात्, व्ययोदयौ परप्रत्ययौ, अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्यपेक्षया स्वप्रत्ययौ च । तथा गुणा अपि कालस्य साधारणासाधारणरूपाः सन्ति । तत्रासाधारणः वर्तनाहेतुत्वम्, साधारणाश्च अचेतनत्वामूर्तत्वसूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वादयः । पर्यायाश्च व्ययोत्पादलक्षणा योज्याः । तस्यास्तित्वलिङ्गं सन्निवेशक्रमश्च व्याख्यातः ।

१ असाधारणलक्षणम् । २ विकार । ३ अयुतप्रसिद्धम् । ४ उद्धृतेयम्-स० सि० ५।३८ । ५ वैशेषिकमते-स० । ६ यतो श्र० । ७ परिगमनं मू० ।

आह-द्रव्यत्वे सति किमसौ कालः आकाशवदेक उत संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तो वेति ? अत्रोच्यते—

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

व्यवहारकालप्रमाणावधारणार्थं वचनम् ।१। मुख्याः परमार्थकालाणवः धर्मास्तिकायप्रदेशतुल्या असंख्येया व्याख्याताः । इदं तु वचनं व्यवहारकालप्रमाणावधारणार्थं क्रियते । [1]साम्प्रतिकस्यैकसमयिकत्वेऽप्यतीतानागताश्च समया अन्तातीता इति कृत्वा अनन्ता इति व्यपदिश्यन्ते ।

मुख्यस्यैव वानन्तपर्यायवर्तनाहेतुत्वात् ।२। अथवा, मुख्यस्यैव कालस्य प्रमाणावधारणार्थमुच्यते । अनन्तपर्यायवर्तनाहेतुत्वादेकोऽपि कालाणुरनन्त इत्युपचर्यते । समयः पुनः परमनिरुद्धः कालांशः । तत्प्रचयविशेष आवलिकादिर्व्याख्यातः ।

आह-"गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इत्युक्तम्, तत्र के गुणाः इति ? अत्रोच्यते-

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

आश्रयशब्दोऽधिकरणसाधनः कर्मसाधनो वा ।१। अयमाश्रयशब्दः अधिकरणसाधनः गुणा यत्राश्रयन्ते स आश्रय इति पुल्लिङ्गे घः । अथवा कर्मसाधनः गुणैराश्रियत इत्याश्रयः । द्रव्यशब्द उक्तार्थः, द्रव्यमाश्रयो येषां ते द्रव्याश्रयाः ।

निर्गुणा इति विशेषणं द्व्यणुकादिनिवृत्त्यर्थम् ।२। द्रव्याश्रया गुणा इत्युच्यमाने द्व्यणुकादिष्वपि गुणसंप्रत्ययः स्यात्-[3]कारणद्रव्याश्रयाणि कार्यद्रव्याणीति, ततस्तन्निवृत्त्यर्थं निर्गुणा इति विशेषणमुपादीयते । द्व्यणुकादीनां हि रूपादयो गुणाः सन्तीति तन्निवृत्तिः कृता भवति ।

पर्यायाणां गुणत्वप्रसङ्ग इति चेत्; नः द्रव्याश्रया इति विशेषणात्तन्निवृत्तेः ।३। स्यान्मतम्-यदि गुणा द्रव्याश्रया इत्येतत्तावल्लक्षणं गुणानाम्, पर्यायाणामपि घटसंस्थानादीनां तदुभयमस्तीति गुणत्वं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? द्रव्याश्रया इति विशेषणात्तन्निवृत्तेः । ननु द्रव्याश्रया इति विशेषणं तदाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थं तदन्तरेणापि सिद्ध्यति । कुतः ? सामर्थ्यात्-निराश्रयगुणाभावात् आश्रयान्तराभावाच्च, ततस्तदनर्थकं पर्यायनिवृत्त्यर्थं भवति । किं शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यमिति पर्यायनिवृत्तिर्गृह्यते ? न; इत्याह-

मत्वर्थे वा वृत्तिविधानात् इति ।४। मत्वर्थेऽन्यपदार्थे वृत्तिः, मत्वर्थश्च नित्ययोगे विद्यत इति नित्ययोगोऽत्र वेदितव्यः । नित्यं द्रव्यमाश्रित्य ये वर्तन्ते ते गुणा इति । पर्यायाः पुनः कादाचित्का इति न तेषां ग्रहणम् । तेनान्वयिनो धर्मा गुणा इत्युक्तं भवति । तद्यथा जीवस्यास्तित्वादयः ज्ञानदर्शनादयश्च । पुद्गलस्याचेतनत्वादयः रूपादयश्चेति । पर्यायाः पुनः घटज्ञानादयः कपालादिविकाराश्च ।

अत्राह-उक्तः परिणामशब्दः असकृन्न तु तस्यार्थो वर्णितः, तस्मादुच्यतां कः परिणामः इति ?

१ वर्तमानकालस्य । २ पुन्नाम्नि घः प्रायः । ३ परमाणवः कारणद्रव्याणि द्व्यणुकादीनि कार्यद्रव्याणि ।

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अथवा, गुणा द्रव्यादर्थान्तरभूता इति [1]केषाञ्चिद्दर्शनम्, तत्किं भवतः सम्मतम् ? नेत्याह-यद्यपि कथञ्चिद् व्यपदेशादिभेदहेत्वपेक्षया द्रव्यादन्ये तथापि तदव्यतिरेकात्तत्परिणामाच्चानन्ये । यद्येवं स उच्यतां कः परिणाम इति ? तन्निश्चयार्थमिदमुच्यते-तद्भावः परिणामः ।

धर्मादीनां येनात्मना भवनं सः तद्भावः परिणामः ।१। धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावः तत्त्वं परिणाम इत्याख्यायते ।

तत्स्वरूपं व्याख्यातम् ।२। तस्य परिणामस्य स्वरूपं व्याख्यातम् । क ? "वर्तनापरिणामक्रियाः" [त० सू० ५।२२] इत्यत्र ।

स द्विविधोऽनादिरादिमांश्च ।३। स एष परिणामो द्विधा भिद्यते । अनादिरादिमांश्चेति । तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिः । न ह्येतदस्ति धर्मादीनि द्रव्याणि प्राक्, पश्चाद्गत्युपग्रहादिः, प्राग्वा गत्युपग्रहादिः पश्चाद्धर्मादीनि इति । किं तर्हि ? अनादिरेषां संबन्धः । आदिमांश्च बाह्यप्रत्ययापादितोत्पादः ।

अत्रान्ये[3] धर्माधर्मकालाकाशेषु अनादिः परिणामः, आदिमान् जीवपुद्गलेषु इति वदन्ति; तदयुक्तम्; कुतः ? सर्वद्रव्याणां द्व्यात्मकत्वे सत्त्वम्, अन्यथा[4] नित्याभावप्रसङ्गात् । कथं तर्हि ग्राह्यम् ?

नयद्वयवशात् सर्वत्र तदुभयसिद्धिः ।४। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयविवक्षावशात् सर्वेषु धर्मादिद्रव्येषु स उभयः परिणामोऽवसेयः । अयं तु विशेषः धर्मादिषु चतुर्षु द्रव्येष्वत्यन्तपरोक्षेष्वनादिरादिमांश्च परिणामः आगमगम्यः, जीवपुद्गलेषु कथञ्चित्प्रत्यक्षागम्योऽपि[5] इति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे पञ्चमोऽध्यायः ।

---

१ वैशेषिकाणाम्-स० । २ गतिसामान्येन । ३ "तत्रानादिररूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेष्विति । रूपादिष्वादिमान् [५-४३] रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिणामोऽनेकविधः स्पर्शपरिणामादिः । योगोपयोगौ जीवेषु [५।४५] जीवेष्वरूपिष्वपि सत्सु योगोपयोगौ परिणामौ आदिमन्तौ भवतः ।"-तत्त्वार्थाधि० मा० । ४ सत्त्वाभावे । ५ अपिशब्दादागमगम्यश्च ।

षष्ठोऽध्यायः

आह–अजीवपदार्थो व्याख्यातः। इदानीं तदनन्तरोद्देशभाग् आस्रवपदार्थो व्याख्येय इति ततस्तत्प्रसिद्ध्यर्थमिदमुच्यते—

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

कायादीनामितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः ।१। कायश्च वाक् च मनश्च कायवाङ्मनांसि इतीतरेतरयोगे द्वन्द्वः।

वाङ्मनस[मिति]प्रसङ्ग इति चेत्; नः बहुषु तदभावात् ।२। स्यादेतत्–वाङ्मनसमिति प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? बहुषु तदभावात्। द्वयोः हि [2]सर्विधिः, तेन बहुषु न भवति। कायवाङ्मनसां कर्म कायवाङ्मनस्कर्मेति। "कृकमिकं सः" [जैनेन्द्र० ५।४।३४] इति सत्वम्। कायादयः शब्दा व्याख्यातार्थाः।

कर्मशब्दस्यानेकार्थत्वे क्रियावाचिनो ग्रहणम्, इहान्यस्यासंभवात् ।३। कर्मशब्दोऽनेकार्थः। [3]क्वचित्कर्तुरीप्सिततमे वर्तते–यथा घटं करोतीति। क्वचित्पुण्यापुण्यवचनः–यथा "कुशलाऽकुशलं कर्म" [आप्तमी० श्लो० ८] इति। क्वचिच्च क्रियावचनः–यथा "उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि" [वैशे० १।१।७] इति। तत्रेह क्रियावाचिनो ग्रहणम्। कुतः? अन्यस्यासंभवात्। तत्कथमिति चेत्? उच्यते—

न कर्तुरीप्सिततमम्, अन्यतरस्योभयस्य च विवक्षाऽसंभवात् ।४। कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं [4]कर्म। तत्त्रिविधं निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति। तत् त्रितयमपि कर्तुरन्यत्। तत्र यदि कायादीनां कर्तृत्वम्; कर्मान्यद्वाच्यम्। न चातोऽन्यत् सूत्रे गृहीतमस्ति। अथ कर्मत्वं कायादीनाम्; कर्ताऽन्यो वाच्यः। न चासौ संगृहीतोऽस्ति। अथ युगपत्कर्तृत्वं कर्मत्वञ्चेष्टम्; तच्चासंभवात् असत्। तस्मात् कर्तुरीप्सिततमं नेह परिगृहीतम्।

नापि पुण्यापुण्यलक्षणम्; उत्तरसूत्रस्य सामर्थ्यात् ।५। नापीह पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म गृह्यते। कुतः? उत्तरसूत्रसामर्थ्यात्। यदि पुण्यापुण्यलक्षणमिह गृह्येत, "स आस्रवः शुभः पुण्यस्य" [त० सू० ६।२,३] इत्युत्तरसूत्रारम्भोऽनर्थकः स्यात्।

कर्तुरीप्सिततमं वा आत्मनः कर्तृत्वात् ।६। अथवा सामर्थ्यसन्निहित इहात्मा कर्ता, तस्य कर्तुरीप्सिततमत्वात् पारिभाषिकं कर्म गृह्यते।

कर्त्रादिसाधनेष्विच्छातो विशेषाध्यवसायः[5] ।७। कर्मशब्दस्य कर्त्रादिषु साधनेषु संभवत्सु इच्छातो विशेषोऽध्यवसेयः। वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमापेक्षेण आत्मनात्मपरिणामः पुद्गलेन च स्वपरिणामः व्यत्ययेन च निश्चयव्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म[6]। करणप्रशंसाविवक्षायां कर्तृधर्माध्यारोपे सति स परिणामः कुशलमकुशलं वा द्रव्यभावरूपं करोतीति कर्म। आत्मनः प्राधान्यविवक्षायां कर्तृत्वे सति परिणामस्य करणत्वोपपत्तेः बहुलापेक्षया क्रियतेऽनेन कर्मेत्यपि भवति। साध्यसाधनभावानभिधित्सायां स्वरूपावस्थिततत्त्वकथनात् कृतिः कर्मेत्यपि भवति। एवं शेषकारकोपपत्तिश्च योज्या।

योगशब्दस्यापि तथैव ।८। तेनैव प्रकारेण योगशब्दस्यापि कर्त्रादिसाधनसंभवो योज्यः।

त्रैविध्यानुपपत्तिरात्मपरिणामाविशेषादिति चेत्; न पर्यायविवक्षाव्यापाराद्रूपादिवत् ।९। स्यान्मतम्–योगस्य त्रैविध्यं नोपपद्यते। कुतः? आत्मपरिणामाविशेषात्। आत्मा हि निरवयवद्रव्यम्, तत्परिणामो योगः, सोऽविशिष्ट इति; तन्न; किं कारणम्? पर्यायविवक्षाव्यापाराद्रूपादिवत्। यथा घटस्यैकत्वमजहतश्चक्षुरादिकरणसंबन्धवशाद्रूपादिपरिणामभेदः, तथा आत्मनः एकत्वेऽपि पर्यायभेदात् योगस्य भेदो ज्ञेयः।

चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वाद् रूपाध्यवसायस्येति चेत्; न; आत्माभेदेऽपि कायादीनां पूर्वकृतकर्मापादितसामर्थ्योपलम्भात् ।१। स्यादेतत्–युज्यते घटस्य रूपादिभेदाध्यवसायः। कुतः? चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वात्। [1]ग्रहणभेदाद्धि लोके ग्राह्यभेदो दृष्टः, न तथा आत्मन इति; तन्न; किं कारणम्? आत्माऽभेदेऽपि कायादीनां पूर्वकृतकर्मापादितसामर्थ्योपलम्भात्। तद्यथा पुद्गलविपाकिनः शरीरनामकर्मण उदयापादिते कायवाङ्मनोवर्गणान्यतमालम्बने[2] सति वीर्यान्तरायमत्यक्षरायां[3]वरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुख्यस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः। अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने पूर्वोक्तबाह्यनिमित्तालम्बने च सति मनःपरिणामाभिमुख्यस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्षात्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगः। यदि क्षयोपशमलब्धिरभ्यन्तरहेतुः क्षये कथम्? क्षयेऽपि हि सयोगकेवलिनः त्रिविधो योग इष्यते। अथ क्षयनिमित्तोऽपि योगः कल्प्यते, अयोगकेवलिनां सिद्धानां च योगः प्राप्नोति; नैष दोषः; क्रियापरिणामिन आत्मनस्त्रिविधवर्गणालम्बनापेक्षाः प्रदेशपरिस्पन्दः सयोगकेवलिनो [4]योगविधिर्विधीयते, तदालम्बनाभावात् उत्तरेषां योगविधिर्नास्ति।

अनेकान्ताच्च लावकादिवत् ।११। यथा देवदत्तस्य जातिकुलरूपसंज्ञालक्षणसम्बन्धाद्यविशेषादेकत्वमजहतः बाह्योपकरणसंबन्धोपनीतभेदलावकपावकादिपर्यायानास्कन्दतः स्यादेकत्वं स्यादनेकत्वमित्यनेकान्तः तथा प्रतिनियतक्षायोपशमिकशरीरादिपर्यायार्थादेशात् स्यात्त्रैविध्यं योगस्य, अनादिपारिणामिकात्मद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकविध्यमित्यनेकान्तः। ततो नायमुपालम्भः।

ध्यानं योग इति चेत्; न; तस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।१२। स्यादेतत्–ध्यानं योगशब्दार्थः न कायवाङ्मनस्कर्मेति; तन्न; किं कारणम्? तस्य वक्ष्यमाणत्वात्। [5]युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्, स तु वक्ष्यते। इहास्रवप्रतिपादनार्थत्वात् त्रिविधक्रिया योग इत्युच्यते।

समुदाये योगव्यपदेशप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेः ।१३। स्यान्मतम्–यथा गर्गाः शतं दण्ड्यन्तामिति अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं[6] दण्डयन्ति। कुतः? समुदाये वाक्यपरिसमाप्तेः, तथा कायवाङ्मनस्कर्मसमुदाये योगव्यपदेशः प्रसक्त इति चेत्; न; किं कारणम्? प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेः। यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति भुजिः प्रत्येकं परिसमाप्यते, तथा योगव्यपदेशोऽपि प्रत्येकं त्रिषु कर्मसु वेदितव्यः।

---

१ आविर्भूतावयवभेदः। २ स इति स्वमते समाससंज्ञा, समासविधिरित्यर्थः। ३ व्याकरणशास्त्रे–स०। "कर्तुरीप्सिततमं कर्म"–पाणिनि० १।४।४९। ४ पात० महा०। ५ जीवः। ६–षोऽध्यवसेयः मु०। ७ प्रधानकर्म।

१ यदा दूरे वृक्षसामान्यावलोकनात् समीपं गत्वा आम्रोऽयं पनसोऽयमित्यादि ग्राह्यभेदो दृष्टः। २ बाह्ये। ३ पदवाक्यादि। ४ योगो विधी–ता०, श्र०, मू०, ज०। योगोविधिर्विद्यते–मु०। ५ लुनाति पुनातीति। ६ युजि समाधौ इति धातोः। ७ एकैकगर्गम्।

अत्राह–अभ्युपेमः आहितत्रैविध्या क्रिया योग इति। प्रकृत इदानीं निर्दिश्यताम् किंलक्षण आस्रव इति ? अत्रोच्यते–योऽयं योगशब्दाभिधेयः संसारिणः पुरुषस्य प्रयोगस्त्रिविधः—

स आस्रवः ॥ २ ॥

'कायवाङ्मनस्कर्मास्रवः' इत्यस्तु लघुत्वादिति चेत्; नः योगाप्रख्यानात् ।१। स्यान्मतम्–कायवाङ्मनस्कर्मास्रव इत्यस्तु सूत्रम्, कुतः ? लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? योगाप्रख्यानात्। योगशब्दो हि आगमे प्रसिद्धः, तस्यार्थोऽप्रख्यातः स्यात्।

कायवाङ्मनस्कर्म योग आस्रव इति चेत्; नः सर्वयोगास्रवप्रसङ्गात् ।२। अथ मतमेतत्–'कायवाङ्मनस्कर्म योग आस्रवः' इत्येकयोगः कर्तव्यस्तथा सति तच्छब्दस्यावचनात्, योगविभागस्य चाऽकरणात्, निर्देशश्च लघुर्भवति, योगशब्दार्थश्च[3]प्रख्यातो भवति इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वयोगास्रवप्रसङ्गात्। केवलिसमुद्घातकाले हि दण्डकपाटप्रतरलोकपूर्णयोगस्याप्यास्रवत्वं प्रसज्येत। अस्त्वास्रवत्वं को दोषः ? सूक्ष्मयोगत्वं तत्रेष्यते, तन्निमित्तश्च बन्धोऽल्पः; तद्विपरीतता प्राप्नोति। अपि च, वर्गणालम्बननिमित्तो योग आस्रव इष्यते, न च दण्डादियोगस्तदालम्बनहेतुकः, तस्मादस्यास्रवत्वं नेष्यते। यद्येवं दण्डादिव्यापारकालेऽनास्रवत्वादबन्धकत्वं प्राप्नोति, इष्यते च बन्धः ? नैष दोषः; न दण्डादियोगनिमित्तो बन्धः। किं तर्हि ? कायवर्गणानिमित्तः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दोऽस्ति, तन्निमित्तस्तत्र बन्धः।

एकयोगेऽपि तत्प्रयोजनाकरणात्तदप्रसङ्ग इति चेत्; नः योगविभागकरणसामर्थ्यात्तत्प्रतीतेः ।३। यथा केवलिनः सत्स्वपीन्द्रियेषु तद्व्यापारात् इन्द्रियजकर्मबन्धाभावः तथा दण्डादियोगे सत्यपि तत्पूर्वकबन्धाभावात् आस्रवत्वमस्य योगविभागवदेकयोगेऽपि व्यावर्तते इति; तन्न; किं कारणम् ? योगविभागकरणसामर्थ्यात्तत्प्रतीतेः। सति हि योगविभागे य उद्दिष्टो योगः स आस्रवो भवति नान्य इत्ययमर्थोऽवगन्तुं शक्यते तेनान्योऽपि योगोऽस्तीति सूच्यते। एकयोगे पुनः सति तस्यार्थस्याप्रतीतेः सर्वस्य योगस्यास्रवत्वं प्रसज्यत एव। अथास्रवाभिधानं कुतो भवति ?

तत्प्रणालिकया कर्मास्रवणादास्रवाभिधानं सलिलवाहिद्वारवत् ।४। यथा सरःसलिलवाहि द्वारं तदास्रवणकारणत्वात् आस्रव इत्याख्यायते, तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योगः आस्रव इति व्यपदेशमर्हति।

कषायक्लिन्नस्य तदुपश्लेष आर्द्रवस्त्ररेणुवत् ।५। यथा आर्द्रवासः समन्ताद्रातानीतं रेणुमुपादत्ते, तथा कषायतोयार्द्र आत्मा योगानीतं कर्म सर्वप्रदेशैर्गृह्णाति। यथा वा, निष्पन्नायःपिण्डोऽम्भसि प्रक्षिप्तोऽम्भः समन्तादात्मसात्करोति, तथा कषायोष्णो जीवो योगानीतं कर्म समन्तादादत्ते।

आह– कर्म द्विविधं पुण्यं पापं चेति, तस्य किमविशेषेण योगः आस्रवणहेतुराहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते–

शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य ॥३ ॥

प्राणातिपातानृतभाषणवधचिन्तनादिरशुभः ।१। प्राणातिपातादत्तादानमैथुनप्रयोगादिरशुभः काययोगः। अनृतभाषणपरुषासत्यवचनादिरशुभो वाग्योगः। वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोगः।

१–गाप्रत्याख्या–मु०, द०, ब०। २ अकथितः। ३–श्चाप्रत्याख्यातो मु०। ४ कषायतार्द्र मु०, द०। ५ सकषायो जीवः मु०। कषायोष्मो जीवः द०।

ततोऽनन्तविकल्पादन्यः शुभः ।२। तस्मादनन्तविकल्पादशुभयोगादन्यः शुभयोग इत्युच्यते। तद्यथा अहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादिः शुभः काययोगः। सत्यहितमितभाषणादिः शुभो वाग्योगः। अर्हदादिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः। आह–असंख्येयलोकत्वाद्ध्यवसायावस्थानानां कथमनन्तविकल्पत्वमिति ? उच्यते–अनन्तानन्तपुद्गलप्रदेशप्रचितज्ञानावरणवीर्यान्तरायदेशसर्वघातिद्विविधस्पर्धकक्षयोपशमादेशात् योगत्रयस्यानन्त्यम्। अनन्तानन्तप्रदेशकर्मादानकारणत्वाद्वा अनन्तः, अनन्तानन्तनानाजीवविषयभेदाद्वाऽनन्तः। कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् ?

शुभाशुभपरिणामनिर्वृत्तत्वाच्छुभाशुभव्यपदेशः ।३। शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः, अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभ इति कथ्यते, न शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्येत; शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्।

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् ।४। कर्मणः स्वातन्त्र्यविवक्षायां पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम्। पारतन्त्र्यविवक्षायां करणत्वोपपत्तेः पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्वेद्यादयुत्तरत्र वक्ष्यते।

तत्प्रतिद्वन्द्विरूपं पापम् ।५। तस्य पुण्यस्य प्रतिद्वन्द्विरूपं पापमिति विज्ञायते। पाति रक्षत्यात्मानम् अस्माच्छुभपरिणामादिति पापाभिधानम्। तदसद्वेद्यादयुत्तरत्र वक्ष्यते।

उभयमपि पारतन्त्र्यहेतुत्वादविशिष्टमिति चेत्; नः इष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तद्भेदसिद्धेः ।६। स्यान्मतम्–यथा निगलस्य कनकमयस्यायसस्य चाऽस्वतन्त्रीकरणं फलं तुल्यमित्यविशेषः, तथा पुण्यं पापं चात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तमविशिष्टमिति नात्र संकल्पभेदो युक्त इति; तन्न; किं कारणम् ? इष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तद्भेदसिद्धेः। यदिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तकं तत्पुण्यम्। अनिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तकं यत्तत्पापमित्यनयोरयं भेदः। तत्र शुभो योगः पुण्यस्यास्रवः, अशुभः पापस्य।

शुभपरिणामस्य घातिकर्मनिमित्तत्वात्तदनिर्देश इति चेत्; नः [3]इतरपुण्यपापापेक्षत्वात् ।७। स्यादेतत्–शुभः पुण्यस्येत्यनिर्देशः, अगमको निर्देशः अनिर्देशः। कुतः ? घातिकर्मबन्धस्य शुभपरिणामहेतुत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? इतरपुण्यपापापेक्षत्वात्, अघातिकर्मसु पुण्यं पापं चापेक्ष्येदमुच्यते। कुतः ? घातिकर्मबन्धस्य स्वविषये निमित्तत्वात्। अथवा, नैवमवधारणं क्रियते–शुभः पुण्यस्यैवेति। कथं तर्हि ? शुभ एव पुण्यस्येति। तेन शुभः पापस्यापि हेतुरित्यविरोधः। यद्येवं शुभः पापस्यापि[हेतुः]भवति; अशुभः पुण्यस्यापि भवतीत्यभ्युपगमः कर्तव्यः, सर्वोत्कृष्टस्थितीनाम् उत्कृष्ट[सं]क्लेशहेतुकत्वात्। उक्तं च–

"सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सगो दु उक्कस्ससंकिलेसेण।
विवरीदेण जघण्णो आउगतिगवज्जसेसाणं ॥" [पंचसं० ४।४१६] इति,

ततः सूत्रद्वयमनर्थकमिति; नानर्थकम्; अनुभागबन्धं प्रत्येतदुक्तम्। अनुभागबन्धो हि प्रधानभूतः तन्निमित्तत्वात् सुखदुःखविपाकस्य। तत्रोत्कृष्टविशुद्धपरिणामनिमित्तः सर्वशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः। उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामनिमित्तः सर्वाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः। उत्कृष्टः शुभपरिणामः अशुभजघन्यानुभागबन्धहेतुत्वेऽपि भूयसः 'शुभस्य हेतुरिति शुभः पुण्यस्येत्युच्यते, यथा अल्पापकारहेतुरपि बहूपकारसङ्गावादुपकार इत्युच्यते। एवमशुभः पापस्येत्यपि। उक्तं च—

१–नं यस्मा–मु०, ब०। २–त्तस्सि–मु०, ता०, अ०, द०, ब०, ज०, मू०। ३अघाति। ४ अज्ञापको।

"शुभपगदीण विसोधिए तिव्वमसुहाण संकिलेसेण ।
विपरीदे दु जहण्णो अणुभागो सव्वपगदीणं ॥" [पंचसं० ४।४४५] इति ।

आह–किमयमास्रवः सर्वसंसारिसमानफलारम्भहेतुराहोस्वित् कश्चिदस्ति विशेष इति ? अत्रोच्यते–

सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

आस्रवस्योभयस्वामिकत्वाद् द्वयीप्रसिद्धिः ।१। उभौ आस्रवस्य स्वामिनौ–सकषायोऽकषायश्चेति । तस्यास्रवस्यानन्त्येऽपि स्वामिनो द्वैविध्यकल्पनया द्वयी प्रसिद्धिरवसेया । कोऽत्र कषायः ?

कषत्यात्मानमिति कषायः ।२। क्रोधादिपरिणामः कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः ।

कषायवद्वा[1] श्लेषहेतुत्वात् ।३। अथवा, यथा कषायो नैयग्रोधादिः श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते । सह कषायेण वर्तते इति सकषायः । न विद्यते कषायोऽस्येत्यकषायः । सकषायश्चाकषायश्च सकषायाकषायौ तयोः सकषायाकषाययोः ।

समन्तात्पराभव आत्मनः सम्परायः ।४। कर्मभिः समन्तादात्मनः पराभवोऽभिभवः सम्पराय इत्युच्यते ।

तत्प्रयोजनं साम्परायिकम् ।५। तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकमित्युच्यते यथा [2]ऐन्द्रमहिकमिति ।

ईरणमीर्या योगगतिः ।६। ईरेर्गत्यर्थाद्भावे ण्यः, ईरणमीर्या योगगतिरिति यावत् ।

तद्द्वारकमीर्यापथम् ।७। सा ईर्या द्वारं पन्था यस्य तदीर्यापथं कर्म । साम्परायिकं च ईर्यापथं च साम्परायिकेर्यापथे तयोः साम्परायिकेर्यापथयोः यथासंख्यमभिसंबन्धो भवति । सकषायस्यात्मनः साम्परायिकस्य कर्मण आस्रवो भवति, अकषायस्य ईर्यापथस्येति । तद्यथा–सम्परायः कषाय इत्यर्थः । मिथ्यादृष्ट्यादीनां सूक्ष्मसाम्परायान्तानां [3]कषायोदयपिच्छिलपरिणामानां योगवशादानीतं कर्म भावेनोपश्लिष्यमाणं आर्द्रचर्माश्रितरेणुवत् स्थितिमापद्यमानं साम्परायिकमित्युच्यते । उपशान्तक्षीणकषाययोः योगिनश्च योगवशादुपात्तं कर्म कषायाभावाद् बन्धाभावे शुष्ककुड्यपतितलोष्टवद् अनन्तरसमये निवर्तमानमीर्यापथमित्युच्यते ।

"अजाद्यत्" इत्युभयत्र पूर्वनिपातप्रसङ्ग इति चेत् : नः अतिबहुवक्तव्यतया तयोरभ्यर्हितत्वात् ।७। स्यादेतत्–अकषायशब्दस्येर्यापथशब्दस्य च "अजाद्यत्" [जैनेन्द्र० १।३।९९] इति पूर्वनिपातः प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम् ? अतिबहुवक्तव्यतया तयोरभ्यर्हितत्वात् सकषायशब्दस्य साम्परायिकशब्दस्य चाभ्यर्हितत्वमिति पूर्वनिपातो भवति ।

यदि साम्परायिकास्रवो बहुवक्तव्यः, तस्य के भेदाः इति ? अत्रोच्यते—

इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

इन्द्रियादय उक्तलक्षणा द्वन्द्वविषयाः ।१। इन्द्रियादीनामुक्तलक्षणानां द्वन्द्वो वेदितव्यः । इन्द्रियाणि च कषायाश्च अव्रतानि च क्रियाश्च इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया इति । स चायं द्वन्द्व इतरेतरयोगलक्षण इति बहुवचनं भवति ।

१–द्वाऽऽश्लेऽ० । २ इन्द्रमहः प्रयोजनम् । ३ कषायोदयेपि तच्छीलप–मु०, द० ।

पञ्चादीनां संख्याशब्दानां संख्यया वृत्तिः ।२। पञ्चादीनां संख्याशब्दानां संख्याशब्देन सह वृत्तिर्द्रष्टव्या पञ्चाधिका विंशतिः पञ्चविंशतिः । पञ्च च चत्वारश्च पञ्च च पञ्चविंशतिश्च पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिः, सा संख्या येषां ते पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः ।

पूर्वशब्दो व्यवस्थावचनः ।३। अयं पूर्वशब्दो व्यवस्थावचनः–अतीतसूत्रे यः प्राङ् निर्दिष्टस्तस्येति ।

भिद्यन्ते इति भेदाः ।४। परस्परतो भिद्यन्त विशिष्यन्ते इति भेदाः प्रकारा इत्यर्थः ।

यथासंख्यमभिसंबन्धो व्याख्यानतः ।५। यथासंख्यमभिसंबन्धोऽत्र द्रष्टव्यः । कुतः ? व्याख्यानतः । पञ्चेन्द्रियाणि, चत्वारः कषायाः, पञ्चाऽव्रतानि, पञ्चविंशतिः क्रिया इति ।

इन्द्रियादीनामात्मनोऽनन्यत्वान्यत्वं प्रत्येकान्तः ।६। इन्द्रियादीनामात्मनः अनन्यत्वान्यत्वं प्रत्येकान्तो वेदितव्यः । तद्यथा, अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशादिन्द्रियादीनां भेदाभावादनन्यत्वम् । कर्मोदयक्षयोपशमनिमित्तपर्यायार्थादेशाद्भेदोपपत्तेः स्यादन्यत्वम् । इन्द्रियादिनिवृत्तौ द्रव्यावस्थानाच्च स्यादन्यत्वम् । तत एव पर्यायभेदात् पञ्चादिसंख्यानिर्देश उपपन्नो भवति । तत्र पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शा(र्शना)दीन्युक्तानि । क्रोधादयः कषाया अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पा वक्ष्यन्ते । हिंसादीन्यव्रतानि "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" [त० सू० ७।१३] इत्येवमादिलक्षणानि वक्ष्यन्ते । पञ्चविंशतिः क्रिया उच्यन्ते—

सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथक्रियाः पञ्च ।७। तत्र चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया । अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया । गमनागमनप्रवर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया, वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गोपष्टम्भादात्मनः कायवाङ्मनोयोगनिर्वृत्तिसमर्थपुद्गलग्रहणं वा । संयतस्य सतः अविरतिं प्रत्याभिमुख्य(ख्यं)समादानक्रिया । ईर्यापथकर्मनिमित्ता ईर्यापथक्रिया । एताः पञ्च क्रियाः ।

प्रदोषकायाधिकरणपरितापप्राणातिपातक्रियाः पञ्च ।८। क्रोधावेशात् प्रादोषिकी क्रिया । सा क्रोधस्वभाविकेति क्रोधग्रहणेनैव गृहीतेः पौनरुक्त्यमिति चेत् ; न; क्रोधनिमित्तत्वात्[1] । क्रोधो हि प्रदोषहेतुः, अतः कार्यकारणभेदादपौनरुक्त्यम् । नैमित्तिक(काऽ)निमित्त[2]भेदाच्च–इष्टदारवित्तहरणादेर्निमित्ताद्विनापि पिशुनः स्वभावत एव क्रुध्यति, तथा दृष्टिविषादयश्च । उक्तं च—

"अणिमित्तमेव कोई कस्सस्स वसंगदो कसायाणं ।
उदयं उवेदि जीवो [3]चंद इव महग्गहं पव्वे ॥" [ ]

तथा—

"मृगलोहिततान्त्र[4]लोलजिह्वै र्हरिशार्दूलवृकैर्निसर्गहिंस्रैः ।
भुजगैश्च सवैरजातरोषैः समरूपाण्यसतां[5] विचेष्टितानि ॥

इत्यनिमित्तः क्रोधः, निमित्तवान् प्रदोषः । प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया । हिंसोपकरणादानादाधिकरणिकी क्रिया । दुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात् पारितापिकी क्रिया । आयुरिन्द्रियबलप्राणानां वियोगकरणात् प्राणातिपातिकी[6] । एताः पञ्च क्रियाः ।

दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपाताऽनाभोगक्रियाः पञ्च ।९। रागार्द्रीकृतत्वात् प्रमादिनः रमणीयरूपालोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया । प्रमादवशात् स्पृष्टव्यसञ्चेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया ।

१ वसः । बहुव्रीहिसमास इत्यर्थः । २ निमित्तनैमित्तिकभे–मु० । ३ चन्द्रे । ४–तीव्रलो–मु० । ५ दुर्जनानाम् । ६–की क्रिया ए–मु०, ब० ।

ननु इन्द्रियग्रहणादेव सिद्धेर्दर्शनस्पर्शनग्रहणमनर्थकमिति; नैष दोषः; पूर्वत्रेन्द्रियविज्ञानग्रहणम्, इह तत्पूर्वपरिस्पन्दग्रहणम्। अपूर्वाधिकरणोत्पादनात् प्रात्ययिकी क्रिया। स्त्रीपुरुषपशुसंपातिदेशे अन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातक्रिया। अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः।

स्वहस्तनिसर्गविदारणाज्ञाव्यापादनानाकाङ्क्षाः क्रियाः पञ्च ।१०। यां परेण निर्वर्त्या क्रियां स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया। पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया। आलस्याद्वा प्रशस्तक्रियाणामकरणं पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया। यथोक्तामाज्ञामावश्यकादिषु चारित्रमोहोदयात् कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथाप्ररूपणात् आज्ञाव्यापादिका क्रिया। शाठ्यालस्याभ्यां [1]प्रवचनापदिष्टविधिकर्तव्यतानादरः अनाकाङ्क्षक्रिया[2]। ता एताः पञ्च क्रियाः।

आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रियाः पञ्च ।११। छेदनभेदन[3]विस्रंसनादिक्रियापरत्वम्, अन्येन चारम्भे क्रियमाणे प्रहर्ष आरम्भक्रिया। परिग्रहविनाशार्था पारिग्राहिकी। ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चनं मायाक्रिया। अन्यं मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशंसादिभिर्दृढयति यथा साधु करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया। संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया।

इन्द्रियकषायाव्रतानां क्रियास्वभावाननिवृत्तेः क्रियावचनेनैव गतत्वात् प्रपञ्चसमत्रप्रसङ्ग इति चेत्; न; अनेकान्तात् ।१२। [4]स्यान्मतम्–इन्द्रियकषायाव्रतान्यपि क्रियास्वभावानि ततस्तेषां क्रियाग्रहणेन ग्रहणादनर्थकमुपादानम्, सति चोपादाने प्रपञ्चमात्रत्वं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अनेकान्तात्। नायमेकान्तः इन्द्रियकषायाव्रतानि क्रियास्वभावान्येवेति। कुतः? नामस्थापनाद्रव्येन्द्रियकषायाव्रतेषु परिस्पन्दाभावात्। यतो नामेन्द्रियादौ न क्रियाऽस्ति नाममात्रत्वात्। स्थापनायां च न मुख्यक्रियाऽस्ति तदेवेदमिति वाग्बुद्धिप्रवृत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। द्रव्ये च प्रच्युतेन्द्रियकषायाव्रतक्रियापरिणामे अनागतेन्द्रियकषायाव्रतक्रियापरिणामाभिमुखे वा साम्प्रतिकेन्द्रियकषायाव्रतक्रियाणामभावान्न परिस्पन्दात्मिका क्रियाऽस्ति। अथवा, [5]नायमेकान्तः, इन्द्रियकषायाव्रतानि क्रियास्वभावान्येवेति। कुतः? आदेशवचनात्। द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् इन्द्रियकषायाव्रतानां स्यात् क्रियास्वभावाऽनतिवृत्तिः। पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् स्यात् क्रियास्वभावातिवृत्तिरिति। किञ्च,

शुभेतरास्रवपरिणामाभिमुखत्वात् इन्द्रियकषायाव्रतानां द्रव्यास्रवत्वात् ।१३। शुभेतरास्रवपरिणामाभिमुखत्वादिन्द्रियकषायाव्रतानां द्रव्यास्रवत्वम्, भावास्रवः कर्मादानम्, तच्च पञ्चविंशतिक्रियाभिरास्रवति कर्मेत्येतदर्थमिन्द्रियकषायाव्रतवचनम्।

[6]न वा प्रतिज्ञातविरोधात् ।१४। न वा एतत्प्रयोजनमस्ति। किं कारणम्? प्रतिज्ञातविरोधात्। यत्प्रतिज्ञातं "कायवाङ्मनस्कर्म योगः, स आस्रवः" [६।१,२] इति; तद्विरुध्यते[7], [8]द्रव्यास्रव इत्यभ्युपगमात्।

[9]कार्यकारणक्रियाकलापविशेषज्ञापनार्थं वा ।१५। निमित्तनैमित्तिकविशेषज्ञापनार्थं तर्हि पृथगिन्द्रियादिग्रहणं क्रियते; सत्यम्; स्पृशत्यादयः क्रुध्यत्यादयः हिनस्त्यादयश्च क्रिया आस्रवः;

१ प्रवचनोपदि–मु०, द०। २–क्षा ता ए–ता०, श्र०, द०, ब०, भा०। ३–विशासन–भा० २। ४ आह तटस्थः परं प्रति आचार्याभिप्रायमज्ञात्वा स्वयमेव। ५ पुनरप्युत्तरं ददाति तटस्थः। ६ आह आचार्यः तटस्थं प्रति। ७ सूत्रकारेण। ८ कुतः। ९ तवाभिप्रायेण। कायादियोगस्य आस्रवाभिमुख्येन साम्प्रतिकास्रवत्वाभावाभ्युपगमात् इति यावत्। १० आचार्यवचनेन प्रबुद्धः सन्नाह तटस्थः।

इमाः पुनरतत्प्रभवाः पञ्चविंशतिक्रियाः सत्स्वेतेषु त्रिषु प्राच्येषु परिणामेषु भवन्ति–यथा मूर्च्छा कारणं परिग्रहः कार्यं तस्मिन्सति पारिग्राहिकी[1] [2]क्रिया न्यासरक्षणाविनाशसंस्कारादिलक्षणा। तथा, क्रोधः कारणं प्रदोषश्च कार्यं तस्मिन् सति प्रादोषिकी क्रिया। मानः कारणं कार्यमप्रणतिः तस्यां सत्यामपूर्वाधिकरणोत्पादनत्वात् प्रात्ययिकी क्रिया। माया कारणं कार्यं कुटिलक्रिया तस्यां सत्यां ज्ञानदर्शनचारित्रेषु मायाप्रवृत्तिक्रिया। प्राणातिपातः कारणं कार्यं प्राणातिपातिकी क्रिया। मृषावादादत्तादानाऽब्रह्मचर्याणि कारणं कार्यमसंयमोदयादाज्ञाव्यापादिका[3] क्रिया। एवमितरत्रापि योज्यम्।

इन्द्रियग्रहणमेवास्त्विति चेत्; न; तदभावेऽप्यास्रवसद्भावात् ।१६। स्यादेतत्–इन्द्रियग्रहणमेवास्तु, कुतः? लघुत्वात्–इन्द्रियैर्हि उपलभ्य विचार्य च कषायाव्रतक्रियासु प्रवर्तन्ते प्रजाः। अतः इन्द्रियवचनेनैव गतत्वात् कषायाव्रतक्रियाणामग्रहणमस्विति; तन्न; किं कारणम्? तदभावेऽप्यास्रवसद्भावात्। यदि हीन्द्रियग्रहणमेव स्यात् प्रमत्तस्यैव आस्रव उक्तः स्यात् नाप्रमत्तस्य। प्रमत्तो हि चक्षुरादिभिः रूपादिविषयासेवनं [4]प्रत्यादृतः रूपादीन् सेवमानोऽसेवमानो वा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभहिंसादिकारणकषायाष्टकपरिणतः हिंसादीन् कुर्वन्नकुर्वन् वा सातत्येनाविरतः प्रमत्तत्वात् कर्मादत्ते। अप्रमत्तस्तु पञ्चदशप्रमादातीतोऽपि योगकषायनिमित्तमास्रवमश्नुते। एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च यथासंभवं चक्षुरादीन्द्रियमनोविचाराभावेऽपि क्रोधादिहिंसापूर्वककर्मादानं दृश्यते। तस्मात् सर्वसंग्रहार्थं कषायादिग्रहणं क्रियते।

कषायाणां साम्परायिकभावेऽपि पर्याप्तत्वात् अग्रहणमिति चेत्; न; सन्मात्रेऽपि तत्प्रसङ्गात् ।१७। स्यान्मतम्–नाऽरक्तद्विष्टो रूपादीनर्थान् चक्षुरादिभिरुपलभते, नचाऽरक्तद्विष्टो जीवान् हिनस्ति मृषावादादिषु वा प्रवर्तते, अतः कषायग्रहणेनैव साम्परायिकास्रवस्य [5]पर्याप्तत्वात् इन्द्रियाव्रतक्रियाणामग्रहणमस्तु इति; तन्न; किं कारणम्? सन्मात्रेऽपि तत्प्रसङ्गात्। उपशान्तकषायस्य कषायसन्मात्रावस्थाने चक्षुरादिभी रूपादिग्रहणात् रागद्वेषहिंसाद्यात्मलाभप्रसङ्गः। किञ्च, चक्षुरादिभी रूपादिग्रहणे वीतरागत्वात्, अन्यथा यस्य चक्षुरादिभी रूपादिग्रहणमात्रत्वात् रक्तद्विष्टत्वम्, तस्य वीतरागत्वाभावः। तस्मात् कषायग्रहणमात्रमयुक्तम्।

अव्रतवचनमेवेति चेत्; न; तत्प्रवृत्तिनिमित्तानिर्देशार्थत्वात् ।१८। स्यादेतत्–अव्रतवचनमेव युक्तं तत्रैवेन्द्रियकषायक्रियापरिणामान्तर्भावादिति; तन्न; किं कारणम्? तत्प्रवृत्तिनिमित्तनिर्देशार्थत्वात्। तस्य हि अव्रतस्येन्द्रियादिपरिणामाः प्रवृत्तिनिमित्तानि भवन्ति ततस्तद्ग्रहणं न्याय्यम्।

आह–योगत्रयस्य एकान्नचत्वारिंशत्प्रभेदाः सर्वात्मकार्यत्वात् संसारिणां सर्वेषां साधारणाः, ततः फलानुभवं प्रत्यविशेष इति? अत्रोच्यते–नैतदेवम्, यस्मात् सत्यपि प्रत्यात्मसंभवे तेषां [6]परिणामेभ्यः अनन्तविकल्पेभ्यः विशेषोऽभ्यनुज्ञायते। कथमिति चेत्? उच्यते—

तीव्रमन्दज्ञाताऽज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥

अतिप्रवृद्धक्रोधादिवशात् तीव्रनात्तीव्रः ।१। बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परिणामः तीव्रनात् स्थूलभावात् तीव्र इत्युच्यते।

तद्विरीतो मन्दः ।२। अनुदीरणप्रत्ययसन्निधानात् उत्पद्यमानोऽनुद्रिक्तः परिणामो मंन्दनात् गमनात् मन्द [7]इत्युच्यते।

१ त्रिविंशतितमी क्रिया। २ क्रियाऽन्यासंर–ता०, श्र० मू०। ३–दिकी क्रि–मु०, द०, ब०। ४ प्रत्यावृतः मु०, द०। ५ रागद्वेषरहितः। ६ संसारकारणस्य। ७ इन्द्रियादयः पूर्वसूत्रोदिताः। ८ योगानाम्। ९ मन्दनान्मन्द मु०, द०, ब०। १० इति कथ्यते मू०।

ज्ञातमात्रं ज्ञात्वा वा प्रवृत्तं ज्ञातम् ।३। हिनस्मि इत्यसति परिणामे प्राणव्यपरोपणे ज्ञातमात्रं मया व्यापादित इति ज्ञातम्। अथवा 'अयं प्राणी हन्तव्यः' इति ज्ञात्वा प्रवृत्तेः ज्ञातमित्युच्यते।

मदात्प्रमादाद्वाऽनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम् ।४। सुरादिपरिणामकृतात् करणव्यामोहकरात् मदाद्वा मनःप्रणिधानविरहलक्षणात् प्रमादाद्वा व्रज्यादिष्वनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातमिति व्यवसीयते।

अधिक्रियन्तेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणम् ।५। अर्थाः प्रयोजनानि पुरुषाणां यत्राधिक्रियन्ते प्रस्तूयन्ते तदधिकरणम्, द्रव्यमित्यर्थः।

द्रव्यस्यात्मसामर्थ्यं वीर्यम् ।६। द्रव्यस्य शक्तिविशेषः सामर्थ्यं वीर्यमिति निश्चीयते।

भावशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ।७। यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति भुजिः प्रत्येकं परिसमाप्यते तथा अयं भावशब्दः प्रत्येकं तीव्रादिभिरभिसंबध्यते–तीव्रभावः मन्दभावः ज्ञातभावः अज्ञातभाव इति।

युगपदसंभवात् भावशब्दस्यायुक्तं विशेषणमिति चेत्; न; बुद्धिविशेषव्यापारात् ।८। स्यान्मतम्–भावो नाम द्रव्यस्य अहेयः परिणामः, तस्यैकत्वात् सदात्मख्यापनं युगपत्तीव्रादिविशेषणं चानुपपन्नम्, यथा गोत्वमेकं न खण्डमुण्डादीनां गोद्रव्याणां विशेषकं गोप्रत्ययाभिधानहेतुत्वात् तथा भावः सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वात् न तीव्रादीनां विशेषक इति; तन्न; किं कारणम्? बुद्धिविशेषव्यापारात्। बौद्धोऽयं व्यापारः तीव्रादिपरिणामानां विशेषकः। कथम्? भावद्वैविध्यात्। द्विविधो हि नो[1] द्रव्याणां भावः परिस्पन्दरूपः इतरश्च। तत्रापरिस्पन्दो द्रव्याणाम् अस्तित्वभावोऽनादिः। परिस्पन्दरूपस्तु व्ययोत्पादात्मक आदिमान्। तत्र योऽपरिस्पन्दः स सामान्यमात्रगतो भावः नासौ तीव्रादीनां विशेषकः। यस्तु कायादिक्रियालक्षणो भावः स कायादि[3]सत्त्वस्य युगपत्तीव्रादीनां च विशेषकः कायवाङ्मनस्कर्मयोगाधिकारात्। [4]सोऽयं विशेषः बौद्धाद् व्यापाराद् विभाव्यते। अथवा, भाववत् आत्मनोऽव्यतिरेकात् तीव्रादीनामपि भावसिद्धिः।

किञ्च, भावभूयस्त्वात्। असंख्येयलोकपरिमाणा हि भावाः एकैकस्मिन्नपि कषायादिपरिणामे, ततो भाववहुत्वोपपत्तेः युगपदसंभवात् एकस्य भावस्य अयुक्तः संबन्धः इत्यवबोध्यम्। [10]योऽपि त्वन्मत्याऽयं भावः एकः तथापि बौद्धाद् व्यापारात्संबन्धः सिद्धः।

वीर्यस्यात्मपरिणामत्वात् पृथगग्रहणमिति चेत्; न; तद्विशेषवतो [11]व्यपरोपणादिष्वास्रवफलभेदज्ञापनार्थत्वात् ।९। स्यान्मतम्–पृथग् वीर्यग्रहणमनर्थकम्। कुतः? आत्मपरिणामत्वात्। जीवाधिकरणस्य हि परिणामो वीर्यमधिकरणग्रहणेनैव गृह्यत इति; तन्न; किं कारणम्? तद्विशेषवतो व्यपरोपणादिष्वास्रवादिज्ञापनार्थत्वात्। वीर्यवतो हि आत्मनः तीव्रतीव्रतरादिपरिणामविशेषो जायते।

तथा च तीव्रादिग्रहणसिद्धिः ।१०। तेन प्रकारेण तथा आस्रवफलभेदज्ञापनेनेत्यर्थः, तीव्रादीनां पृथग्ग्रहणं सिद्धं भवति। इतरथा हि जीवाधिकरणस्वरूपत्वात् तीव्रादीनां पृथग्ग्रहणमनर्थकं स्यात्।

तन्निमित्तत्वाच्छरीराद्यानन्त्यसिद्धिः ।११। कार्यभेदेनावश्य कारणभेदपूर्वकेण भवितव्यम्। उक्ताश्चानन्ता आस्रवभेदा अनुभागविकल्पात्, ततस्तत्कार्यमात्मनः शरीराद्यानन्त्यं सिद्ध्यति। कार्यानन्त्यं च कारणानन्त्यस्यानुमानम्[12]।

---

१ अस्माकम्। २ द्वयोर्मध्ये। ३–मत्त्वस्य मु०। ४ सूत्रकाराभिप्रायमिति ज्ञापयति। ५ भावशब्दस्य द्वैविध्येऽपि परिस्पन्दरूप एवेति कुतोऽवसीयते इत्याशङ्क्य परिहरति। ६ अङ्गीकृत्याप्याह। ७ भाववचनात् मु०। ८–रिणामा हि मु०, द०। ९–ध्यते मु०। १० तथापि त्व– ता०, अ०, मू०, द०। ११ हिंसादिषु। १२ ज्ञापकम्।

अत्राह–अधिकरणमुक्तं तत्स्वरूपमनिर्ज्ञातम्, अतस्तदुच्यतामिति? तत्र भेदप्रतिपादनद्वारेण अधिकरणस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमिदमुच्यते–

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥

उक्तलक्षणा जीवाऽजीवाः ।१। जीवानामजीवानां च लक्षणं व्याख्यातम्। पुनर्वचनमिदानीं किमर्थम्?

पुनर्वचनमधिकरणविशेषज्ञापनार्थम् ।२। पुनर्वचनं क्रियते अधिकरणविशेषज्ञापनार्थम्। जीवाऽजीवानामधिकरणं इत्ययं विशेषो ज्ञापयितव्य इति। कः पुनरसौ? हिंसाद्युपकरणभावः।

द्विवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; पर्यायाणामधिकरणत्वात् ।३। स्यादेतत्–मूलपदार्थयोर्द्वित्वात् जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवाविति द्विवचनं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? पर्यायाणामधिकरणत्वात्। न जीवाजीवसामान्यमधिकरणत्वं विभर्ति। किं तर्हि? पर्यायाः। येन केनचित् पर्यायेण विशिष्टं द्रव्यम् अधिकरणमित्याख्यायते। ततो बहुवचनं न्यायप्राप्तम्।

जीवाजीवाधिकरणमित्यस्तु लघुत्वादिति चेत्; न; वृत्तिद्वयेऽप्यभिप्रेतार्थगत्यभावात् ।४। स्यादेतत्–'जीवाजीवाधिकरणम्' इत्येतत्सूत्रमस्तु, कुतः? लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? वृत्तिद्वयेऽप्यभिप्रेतार्थगत्यभावात्। अत्र द्वितयी वृत्तिः स्यात्–जीवाजीवावेवाधिकरणम्, जीवाजीवयोर्वाऽधिकरणं जीवाजीवाधिकरणमिति? न तावत् सामानाधिकरण्यलक्षणा वृत्तिरुपपद्यते; जीवाजीवत्वविशेषणविशिष्टाधिकरणमात्रप्रतिपत्तेः आस्रवविशेषज्ञापनाभावात् अभिप्रेतार्थगत्यभावः। नापि भिन्नाधिकरणा वृत्तिः युज्यते; तयोराधारमात्रप्रतिपत्तेः अभिप्रेतास्रवविशेषार्थगत्यभाव इति। न च तयोरधिकरणं व्यतिरिक्तमुपलभ्यते, तस्मादस्तु तयोराद्य एव पाठः। अथ जीवाजीवाधिकरणं कस्य? आस्रवः प्रकृतः, तस्येत्यभिसंबध्यते। स तर्हि तथा[1]निर्देशः कर्तव्यः? न कर्तव्यः।

अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामोपपत्तेरास्रवस्येत्यभिसंबन्धः ।५। यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामो भवति, एवमिहाप्यधिकरणं जीवाजीवौ कस्य? आस्रवस्येत्यभिसंबन्धोऽर्थवशाद्वेदितव्यः। तदुभयमधिकरणं दशप्रकारम्–विषलवणक्षारकटुकाम्लस्नेहाग्नि-दुष्प्रयुक्तकायवाङ्मनोयोगभेदात्।

किमेतावानेव भेदः, आहोस्वित् कश्चिदन्योऽप्यस्ति? अस्तीति। आह–यद्येवम्, आद्यस्यैव तावद्भेदः कथ्यतामिति? अत्रोच्यते–

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रि-स्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

आद्याऽग्रहणं सामर्थ्यात् सिद्धेरिति चेत्; न; विस्पष्टार्थत्वात् ।१। स्यान्मतम्–आद्यग्रहणमनर्थकम्। कुतः? सामर्थ्यात् सिद्धेः। किं पुनः सामर्थ्यम्? वक्ष्यमाणानन्तरसूत्रे 'पर'वचनम्, तेनाद्यमिदं विज्ञायत इति; तन्न; किं कारणम्? विस्पष्टार्थत्वात्। आनुमानिके हि सति संप्रत्येयप्रतिपत्तेर्गौरवं स्यात्।

प्रयत्नावेशः संरम्भः ।२। प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेशः संरम्भ इत्युच्यते।

साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः ।३। साध्यायाः क्रियायाः साधनानां समभ्यासीकरणं समाहारः समारम्भ इत्याख्यायते।

---

१ प्रथमाविभक्तिरूपेण।

प्रक्रमः आरम्भः ।४। प्रशब्दस्यादिकर्मणि प्रवृत्तेः आदौ क्रमः प्रक्रमः आरम्भ इति विज्ञायते। [1]आङः आदिकर्मणो द्योतनत्वात्।

तत्त्वकथनात् सर्वे भावसाधनाः ।५। संरम्भणं संरम्भः, समारम्भणं समारम्भः, आरम्भणमारम्भ इति।

व्याख्यातार्थो योगशब्दः ।६। योगशब्दस्यार्थो व्याख्यातः "कायवाङ्मनस्कर्म योगः" [६।१] इति।

कृतवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम् ।७। स्वातन्त्र्यविशिष्टेनात्मना यत्प्रादुर्भावितं तत्कृतमित्युच्यते।

कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम् ।८। परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमापद्यमानं कारितमिति कथ्यते।

अनुमतशब्दः प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थः ।९। यथा मौनव्रतिकश्चक्षुष्मान् पश्यन् क्रियमाणस्य कार्यस्याप्रतिषेधात् अभ्युपगमात् अनुमन्ता, तथा कारयिता प्रयोक्तृत्वात्, तत्समर्थाचरणावहितमनःपरिणामः अनुमन्तेत्यवगम्यते।

अभिहितलक्षणाः कषायाः ।१०। कषायाणां लक्षणमभिहितम्–कषन्त्यात्मानम् अतः कषाया इति।

विशिष्यते विशिष्टिर्वा विशेषः ।११। विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः। अथवा, विशिष्टिर्वा विशेषः।

तस्य प्रत्येकमभिसंबन्धः ।१२। स विशेषशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते–संरम्भविशेषः समारम्भविशेष इत्यादि।

विशेषैरिति निर्देशानुपपत्तिः क्रियापदाभावात् ।१३। यथा देवदत्तेन भुक्तं पाणिना कृतमिति क्रियापदप्रयोगे सति कर्तृकरणनिर्देश उपपद्यते न तथेह क्रियापदमस्तीति विशेषैरिति निर्देशो नोपपद्यते ?

न वा, वाक्यशेषापेक्षत्वात् ।१४। नवैष दोषः। किं कारणम् ? वाक्यशेषापेक्षत्वात् क्रियापदमत्रोपस्क्रियते–संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैः'भिद्यते' इति। अप्रयुक्तक्रि[2]यापेक्षा हि कारकविवक्षा दृश्यते–शङ्कुलया[3] खण्डः, प्रविशापिण्डीमिति यथा।

अधिकृताभिसंबन्धाद्वा ।१५। अथवा, अधिकृतो भेदशब्दः 'पूर्वस्य भेदाः' इति, अतः स इहाभिसंबध्यत इति तदपेक्षः कारकनिर्देशो वेदितव्यः।

त्रिस्त्रिश्चतुरिति सुजन्तानां यथाक्रममभिसंबन्धः ।१६। एते त्रयस्त्रिशब्दाश्चतुशब्दश्च संरम्भादिभिः यथाक्रममभिसंबध्यन्ते सुजन्ताः, संरम्भसमारम्भारम्भास्त्रयः योगास्त्रयः कृतकारितानुमतास्त्रयः कषायाश्चत्वार इत्येतेषां गणनाभ्यावृत्तिः सुचा द्योत्यते।

एकश इति वीप्सार्थनिर्देशः ।१७। एकशब्दः वीप्सार्थद्योतनः "संख्यैकाद्वीप्सायाम्" [जैनेन्द्र० ४।३।४८] इति शस। एकमेकं त्र्यादीन् भेदान्नयेदित्यर्थः।

संरम्भादित्रयस्यादौ वचनं वस्तुत्वात् ।१८। संरम्भादित्रयमिदं वस्तु तद्भेदहेतुत्वात् इतरयोः, अतोऽस्यादौ वचनं क्रियते।

---

१ अपादानतापन्नस्य। २ कृत इति। ३ शङ्कुलया कृतः खण्डः, तृतीया तत्कृतैरिति समास।

योगादीनामानुपूर्व्यवचनं पूर्वापरविशेषणत्वात् ।१६। योगादीनामानुपूर्व्यवचनं क्रियते। कुतः ? पूर्वापरविशेषणत्वात्। तस्मात् क्रोधादिचतुष्टयकृतकारितानुमतभेदात् कायादियोगानां संरम्भसमारम्भारम्भाः विशेष्याः प्रत्येकं षट्त्रिंशद्विकल्पाः। तत्र संरम्भस्तावत्–क्रोधकृतकायसंरम्भः मानकृतकायसरम्भः मायाकृतकायसंरम्भः लोभकृतकायसंरम्भः, क्रोधकारितकायसंरम्भः मानकारितकायसंरम्भः मायाकारितकायसंरम्भः लोभकारितकायसंरम्भः, क्रोधानुमतकायसंरम्भः मानानुमतकायसंरम्भः मायानुमतकायसंरम्भः लोभानुमतकायसंरम्भश्चेति द्वादशधा संरम्भः। क्रोधकृतकायसमारम्भः मानकृतकायसमारम्भः मायाकृतकायसमारम्भः लोभकृतकायसमारम्भः, क्रोधकारितकायसमारम्भः मानकारितकायसमारम्भः मायाकारितकायसमारम्भः लोभकारितकायसमारम्भः, क्रोधानुमतकायसमारम्भः मानानुमतकायसमारम्भः मायानुमतकायसमारम्भः लोभानुमतकायसमारम्भश्चेत्येवं समारम्भोऽपि द्वादशधा। क्रोधकृतकायारम्भः मानकृतकायारम्भः मायाकृतकायारम्भः लोभकृतकायारम्भः, क्रोधकारितकायारम्भः मानकारितकायारम्भः मायाकारितकायारम्भः लोभकारितकायारम्भः, क्रोधानुमतकायारम्भः मानानुमतकायारम्भः मायानुमतकायारम्भः लोभानुमतकायारम्भश्चेत्येवमारम्भोऽपि द्वादशधा। एते संपिण्डिताः कायविकल्पाः षट्त्रिंशत्। उक्तं च—

"संरम्भो द्वादशधा क्रोधादिकृतादिकायसंयोगात्।
आरम्भसमारम्भौ तथैव भेदास्तु षट्त्रिंशत् ॥१॥" [ ] इति।

तथा वाङ्मनसयोरपि प्रत्येकं षट्त्रिंशत्। त एते संपिण्डिताः जीवाधिकरणास्रवभेदाः अष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति।

चशब्दः क्रोधादिविशेषोपसंग्रहार्थः ।२०। चशब्दः क्रियते क्रोधादीनां विशेषाणाम् उपसंग्रहार्थम्। तेन अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनषोडशकषायभेदात् द्वात्रिंशदुत्तरचतुःशतगणनाविकल्पा वेदितव्याः। कथमेषामास्रवत्वमिति चेत् ? उच्यते—

संरम्भादीनां क्रोधाद्याविष्टपुरुषकर्तृकाणां तदनुरञ्जनादधिकरणभावो नीलीपटवत् ।२१। यथा नील्यां प्रक्षिप्तः पटः नील्यनुरञ्जनान्नीली भवति तथा संरम्भादिक्रियाणामनन्तानुबन्ध्यादिकषायाविष्टानामनुरञ्जनाज्जीवाधिकरणत्वं सिद्धम्।

निरूपितविकल्पादाद्यादधिकरणाद्विलक्षण[2]स्य साम्परायिकनिमित्तविरूढदोषस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

निर्वर्तनादीनां कर्मसाधनं भावो वा ।१। एते निर्वर्तनादयः शब्दाः कर्मसाधना वेदितव्याः–निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना, निक्षिप्यत इति निक्षेपः, संयुज्यतेऽसौ संयोगः, निसृज्यतेऽसौ निसर्ग इति। अथवा भावसाधनाः–निर्वर्तनं निर्वर्तना, निक्षिप्तिर्निक्षेपः, संयुक्तिः संयोगः, निसृष्टिर्निसर्ग इति।

सामानाधिकरण्येन वैयधिकरण्येन वाऽधिकरणसंबन्धः ।२। अधिकरणशब्दोऽनुवर्तते, तस्येह सामानाधिकरण्येन वैयधिकरण्येन वाभिसंबन्धो द्रष्टव्यः। यदा कर्मसाधना एते शब्दास्तदा सामानाधिकरण्येन संबन्धः कर्त्तव्यः–निर्वर्तनैव अधिकरणमित्यादि। यदा तु भावसाधनास्तदा वैयधिकरण्येन, निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गलक्षणा भावाः परमधिकरणं विशिषन्तीति अध्याहिय-

---

१ वाङ्मानस–मु०। २ पुद्गलाधिकरणस्य।

माणक्रियापदापेक्षया कर्मनिर्देश[1]: । निर्वर्तना निष्पादना, निक्षेपः स्थापना, संयोगो [2]मिश्रीभावः, निसर्गः प्रवर्तनम् ।

द्विचतुर्द्वित्रिभेदा इति द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः ।३। द्वौ च चत्वारश्च द्वौ च त्रयश्च द्विचतुर्द्वित्रयः, ते भेदाः एषां ते द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः इति द्वन्द्वगर्भोऽन्यपदार्थ[3] निर्देशः प्रत्येतव्यः ।

परवचनमनर्थकं पूर्वत्राद्यवचनात् ।४। परवचनमनर्थकम् । कुतः ? पूर्वत्राद्यवचनात् ।

अस्मिन् सति पूर्वत्राद्यवचनमनर्थकम् अर्थापत्तिसिद्धेः ।५। अस्मिन् परवचने सति पूर्वस्मिन् सूत्रे आद्यवचनमनर्थकम् । कुतः ? अर्थापत्तिसिद्धेः ।

अर्थापत्तिरनैकान्तिकीति चेत् ; नः प्रयासमात्रत्वात् ।६। स्यादेतत्–अर्थापत्तिरनैकान्तिकी दृष्टा, यथा हि असति मेघे वृष्टिर्नास्तीत्युक्ते अर्थादापन्नं सति मेघे वृष्टिरस्तीति, सत्यपि मेघे कदाचिद्वृष्टिर्नास्तीत्यर्थापत्तिरनैकान्तिकीति; तन्न; किं कारणम् ? प्रयासमात्रत्वात् । प्रयासमात्रमेतत्–अर्थापत्तिरनैकान्तिकीति । 'अहिंसा धर्मः' इत्युक्ते अर्थापत्त्या 'हिंसा अधर्मः' इति न न सिद्ध्यति ? सिद्ध्यत्येव । असति मेघे न वृष्टिरित्युक्ते सति मेघे वृष्टिरित्यत्रापि सत्येवं मेघे इति नास्ति दोषः ।

असंबन्धार्थत्वादिति चेत् ; नः निवर्त्याभावात् ।७। स्यादेतत्–असति परशब्दे असंबन्धार्थमिदं[4] स्यात् , ततः संबन्धार्थं परशब्दोपादानमिति; तन्न; किं कारणम् ? निवर्त्याभावात् । किमन्यन्निवर्त्यमस्ति येनेदमसंबन्धः स्यात् ? ननु संरम्भादिकं जीवाधिकरणं निवर्त्यमस्ति; न; तस्य [5]संबन्धत्वादाद्यं जीवाधिकरणं संरम्भादिविशिष्टमिति । ततः परिशेषात् अजीवाधिकरणभेदमिति व्यर्थं[6] परवचनम् ।

एतेन प्रकृष्टवाचित्वं प्रत्युक्तम् ।८। केन ? निवर्त्याभावात इत्यनेन । न हि निर्कृष्टं [7]जीवाधिकरणं यत्प्रकृष्टेनाऽजीवाधिकरणेन निवर्त्येत इति ।

इष्टवाचित्वमिति चेत् ; नः अत एव ।९। स्यादेतत्–इष्टवाची परशब्द इति, यथा परं धाम गत इति इष्टं धाम गत इति; तन्न; किं कारणम् ? अत एव । कुत एव ? निवर्त्याभावात् इति,[10] एवं किमनिष्टं यस्मिन् सति निवर्त्ये इष्टवाची परशब्दोऽर्थवान् स्यात् ?

[11]न वा अन्यार्थत्वात् ।१०। न वाऽनर्थकः । कुतः ? अन्यार्थत्वात् । परशब्दोऽयमन्यार्थः, संरम्भादिभ्योऽन्यत् निर्वर्तनादीत्यर्थः । इतरथाहि निर्वर्तनादीनामप्यात्मपरिणामसद्भावाज्जीवाधिकरणविकल्प एवेति विज्ञायेत । अथवा, उक्तमेतत्–विस्पष्टार्थत्वादिति ।

इष्टार्थसंप्रत्ययाद्वा ।११। अथवा [12]इष्टार्थोऽनेन[13] परशब्देन[14] संप्रत्याय्यते । कः पुनरिष्टार्थ इति चेत् ? उच्यते–

निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं मूलोत्तरभेदात् ।१२। अजीवाधिकरणं निर्वर्तनालक्षणं द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? मूलोत्तरभेदात् । मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणम् उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं चेति । तत्र मूलं पञ्चविधानि शरीराणि वाङ्मनःप्राणापानाश्च । [15]उत्तरं काष्ठपुस्तचित्रकर्मादि ।

निक्षेपश्चतुर्धा अप्रत्यवेक्षादुष्प्रमार्जनसहसाऽनाभोगभेदात् ।१३। निक्षेपश्चतुर्धा भिद्यते । कुतः ? अप्रत्यवेक्षादुष्प्रमार्जनसहसाऽनाभोगभेदात्–अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणम् [16]अनाभोगनिक्षेपाधिकरणं चेति ।

---

१ परमिति । २ मिश्रभावः मु०, द०, ब० । ३–र्थः प्र–मु०, द०, ब० । ४ सामर्थ्य । ५ वृष्टिकाले सत्येव मेघे वृष्टिर्भवति । ६ सूत्रम् । ७ सम्बन्धत्वं कथमित्यत आह । ८ तत् । ९ सूत्रकारस्योभावपि जीवपुद्गलौ प्रकृष्टाविति भावः । १० इत्येव कि–मु०, ब० । ११ अत्राह आचार्यः । १२–र्थः तेन मु० । १३ व्यर्थेनापि । १४ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिदिष्टं सूचयन्त्याचार्यस्येति न्यायात् । १५ पृथग्विक्रियारूपम् । १६ आभोगः परिपूर्णता, तदभावः असम्पूर्णन्यासाधिकरणमित्यर्थः ।

संयोगो द्विधा भक्तपानोपकरणभेदात् ।१४। संयोगो द्विधा विभज्यते । कुतः ? भक्तपानोपकरणभेदात्–भक्तपानसंयोगाधिकरणम् उपकरणसंयोगाधिकरणं चेति ।

निसर्गस्त्रिधा कायादिभेदात् ।१५। निसर्गस्त्रिधा कल्प्यते । कुतः ? कायादिभेदात् । कायनिसर्गाधिकरणं वाङ्निसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणं चेति ।

आह–योऽयम् आहितत्रैविध्यानन्तपर्यायः कायवाङ्मनसां परिणामः आस्रवशब्दाभिलाप्यः, किमसौ सकलसाम्परायिकावर्जनहेतुरेकध्येन[1] प्रणिधीयमानः ? नेत्युच्यते, कश्चिन् कस्यचित् कुतश्चित् कायिकादिव्यापाराविशेषे सति यस्मान्नियमनेव–

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्याऽन्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

ज्ञानकीर्तनानन्तरमनभिव्याहरतोऽन्तः पैशुन्यं प्रदोषः ।१। मत्यादिज्ञानपञ्चकस्य मोक्षप्रापणं प्रति मूलसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचित् अनभिव्याहरतः अन्तःपैशुन्यपरिणामो यो भवति स प्रदोष इति कथ्यते ।

पराभिसन्धानतो ज्ञानव्यपलापो निह्नवः ।२। यत्किञ्चित् परनिमित्तमभिसन्धाय नास्ति[2] न वेद्मीत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपनं वञ्चनं निह्नव इत्युच्यते ।

यावद्यथावद्देयज्ञानाप्रदानं मात्सर्यम् ।३। कुतश्चित् कारणात् आत्मना भावितज्ञानं दानार्हमपि योग्याय यतो न दीयते तन्मात्सर्यम् ।

ज्ञानव्यवच्छेदकरणम् अन्तरायः ।४। कलुषणात्मना ज्ञानस्य व्यवच्छेदकरणमन्तराय इति भण्यते ।

वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनम् ।५। कायेन वाचा च परप्रकाशज्ञानस्य वर्जनमासादनं वेदितव्यम् ।

प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः ।६। स्वमतेः कलुषभावाद् युक्तस्याप्ययुक्तवत्प्रतीतेः दोषोद्भावनं दूषणमुपघात इति विज्ञायते ।

आसादनमेवेति चेत् ; नः सतो विनयाद्यननुष्ठानात् ।७। स्यादेतत्–एवं सति उपघात आसादनमेव [3]प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? सतो विनयाद्यननुष्ठानात् । सतो हि ज्ञानस्य विनयप्रकाशनादिगुणकीर्तनाननुष्ठानमासादनम् , उपघातस्तु ज्ञानमज्ञानमेवेति ज्ञाननाशाभिप्राय इत्ययमनयोर्भेदः । तदित्यनेन किं प्रतिनिदिश्यते ?

तदिति ज्ञानदर्शनप्रतिनिर्देशः ।८। तदित्यनेन ज्ञानदर्शने प्रतिनिर्दिश्येते, तयोः प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाताः तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता इति । कथं पुनरप्रकृतयोरशब्दितयोः तदित्यनेन परामर्शः स्यात् ?

सामर्थ्यात्तदभिसंबन्धः ।९। सामर्थ्यात्तयोर्ज्ञानदर्शनयोः अभिसंबन्धो भवति । किं सामर्थ्यम् ? ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रव इति वचनसामर्थ्यात्तत्प्रदोषादय इति संबन्धः क्रियते । अथ ज्ञानदर्शनवत्सु तत्साधनेषु च का[4] प्रतिपत्तिः ? तद्वत्साधनप्रदोषादयश्च[5] तत्प्रदोषादिग्रहणेनैव गृह्यन्ते तन्निमित्तत्वात् ।

---

१ एकप्रकारत्वेन । २ ज्ञातमप्यर्थम् । ३ प्राप्नोति तन्न मु०, द० । ४ अशब्दितयोः अनुक्तयोः । असंशब्दित–मु०, द० , सू०, ता०, ब० । ५ उभयत्रापि तत्प्रदोषादयो भवन्तीति । ६ तद्वत्सु साधनेषु च प्रदोषादयः ते तथोक्ताः ।

तुल्यास्रवत्वादेकत्वमिति चेत्; न; वचनविरोधात् ।१०। स्यान्मतम्–तुल्यास्रवत्वादनयोरेकत्वं प्राप्नोति, तुल्यकारणानां हि लोके एकत्वं दृष्टमिति; तन्न; किं कारणम्? वचनविरोधात्। यदि तुल्यास्रवत्वात् ज्ञानदर्शनावरणयोरेकत्वं ननु कण्ठादिसंयोगविभागतुल्यहेतुत्वात् वचनस्य साधकदूषकत्वाविशेषे [3]यत्रापदिष्टस्तत्राऽसाधकत्वाद्वचनविरोधः। अथ तुल्यहेतुत्वेऽपि वचनं स्वपक्षस्य साधकमेव परपक्षस्य दूषकमेवेति न साधकदूषकधर्मयोरेकत्वमिति मतम्; ननु यदुक्तं तुल्यहेतुत्वादेकत्वमिति तद्धीनम्।

दृष्टागमव्याघातात् ।११। दृष्टागमव्याघाताच्च नैतद्युक्तम्। यस्य तुल्यहेतुकानामेकत्वं तस्य मृत्पिण्डादितुल्यहेतुकानां घटशरावादीनां नानात्वं व्याहन्यत इति दृष्टव्याघातः। [4]प्रधानतुल्यनिमित्तानां महदहङ्कारादीनाम्, [5]अविद्यातुल्यप्रत्ययानां पुण्यापुण्यानेज्यसंस्काराणाम्, [6]चतुष्टयसन्निकर्षाऽविशिष्टकारणरूपादिज्ञानसुखदुःखादीनां चैकत्वमित्यागमव्याघातः।

आवरणाभावे साहचर्यात् ।१२। आवरणात्यन्तसंक्षये केवलिनि युगपत् केवलज्ञानदर्शनयोः साहचर्यं भास्करे प्रतापप्रकाशसाहचर्यवत्। ततश्चानयोस्तुल्यास्रवत्वं युक्तम्।

इतरत्र क्रमवृत्तिर्जलसमवेताग्निप्रतापप्रदीपप्रकाशवत् ।१३। इतरस्मिन् सावरणे ज्ञानदर्शनयोः क्रमेण वृत्तिः, यथा जलसमवायिनोऽग्नेः प्रताप एव न प्रकाशः, प्रदीपप्रकाशस्य च प्रकाश एव न प्रतापः, तथा छद्मस्थस्य यदा ज्ञानोपयोगः न तदा दर्शनोपयोगः यदा दर्शनोपयोगः न तदा ज्ञानोपयोगः।

अतीतानागतयोर्दर्शनाभावस्तल्लक्षणाभावादिति चेत्; न; निरावरणत्वात् ।१४। स्यान्मतम्–नास्त्यतीतेऽनागते च दर्शनम्, कुतः? तल्लक्षणाभावात्। अस्पृष्टेऽविषये च ज्ञानमुत्पद्यते स्पृष्टे विषये च दर्शनम्, न ह्यतीतानागतयोः विनष्टानुत्पन्नत्वे सत्यसत्त्वात् स्पृष्टत्वविषयत्वे स्त इति तत्र ज्ञानमेव दर्शनमिति केवलिनोऽतीतानागतदर्शित्वमयुक्तम्? तन्न; किं कारणम्? निरावरणत्वात्। यथा भास्करस्य निरस्तघनपटलावरणस्य यत्र प्रकाशस्तत्र प्रतापः यत्र च प्रतापस्तत्र प्रकाशः, तथा निरावरणस्य केवलिभास्करस्याऽचिन्त्यमाहात्म्यविभूतिविशेषस्य यत्र ज्ञानं तत्रावश्यं दर्शनं यत्र च दर्शनं तत्र च ज्ञानम्। किञ्च,

[7]तद्वृत्प्रवृत्तेः ।१५। यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते? किञ्च,

विकल्पात् ।१६। यथा ह्यस्पृष्टेऽविषये च सावरणस्योपदेशाभावे न ज्ञानमस्तीति केवलिनोऽपि किं तद्वद्भवति? तथा सावरणस्य विषये स्पष्टे च दर्शनप्रवृत्तेः न केवलिनस्तद्वद्भविष्यति इति सिद्धं केवलिनस्त्रिकालगोचरं दर्शनम्। भवतु तावन्निरावरणत्वात् केवलिनोऽतीतानागतयोर्दर्शनप्रवृत्तिः अवधिज्ञानिनः सावरणस्य कथं दर्शनमिति? अत्रोच्यते–

करणनिरपेक्षत्वयोपशमशक्तिविशेषयोगादवधिज्ञानिनः ।१७। यद्यप्यवधिज्ञानिन आवरणमस्ति तथाप्यवधिदर्शनावरणक्षयोपशमविशेषस्य करणनिरपेक्षत्वात् केवलदर्शनवत् अनुपदेशपूर्वकप्रवृत्तेः अतीतानागतयोरस्पृष्टाविषयत्वेऽपि अवधिदर्शनं प्रवर्तते।

मनःपर्ययदर्शनमप्यस्तीति चेत्; न; कारणाभावात् ।१८। यथा अवधिज्ञानं दर्शनपूर्वकं तथा मनःपर्ययज्ञानेनापि दर्शनपुरस्सरेण भवितव्यमिति चेत्; तन्न; किं कारणम्? कारणाभावात्। न मनःपर्ययदर्शनावरणमस्ति दर्शनावरणचतुष्टयोपदेशात्, तदभावात् तत्क्षयोपशमाभावे तन्निमित्तमनःपर्ययदर्शनोपयोगाभावः। किञ्च,

---

१ यः समयस्थः सन् ब्रूते तस्य आप्तवचनोल्लङ्घनत्वात् वचनविरोधः। यः परः सन् ब्रूते तस्य स्वसमयविरोधात् वचनविरोधः। २ शालिबीजकारणमङ्कुरं शाल्यङ्कुरमित्यादि। ३ यत्रोपदि–मु०, श्र०। ४ सांख्यमते–स०। ५ बौद्धमते। ६ नैयायिकमते। ७ तद्वद्वृत्तेः–मु०, ब०। ८ संसारिणः। ९–यज्ञानदर्श–ता०, श्र०, मू०, ज०।

परकीयमनःप्रणालिकया तदधिगमात् ।१९। मनःपर्ययज्ञानं स्वविषये अवधिज्ञानवत् न स्वमुखेन वर्तते। कथं तर्हि? परकीयमनःप्रणालिकया। ततो यथा मनोऽतीतानागतानर्थांश्चिन्तयति न तु पश्यति तथा मनःपर्ययज्ञान्यपि भूतभविष्यन्तौ वेत्ति न पश्यति। वर्तमानमपि मनो [1]विषयविशेषाकारेणैव प्रतिपद्यते, ततः सामान्यपूर्वकवृत्त्यभावात् मनःपर्ययदर्शनाभावः, अलमतिप्रसङ्गिन्या कथया। प्रकृतं प्रस्तूयते–

भिन्नास्रवत्वं वा प्रदीपादीनां विषयभेदाद्भेदसिद्धेः ।२०। अथवा, भिन्नास्रवत्वं ज्ञानदर्शनावरणयोर्वेदितव्यम्। कुतः? प्रदीपादीनां विषयभेदाद्भेदसिद्धेः। ज्ञानविषया हि प्रदीपादयो ज्ञानावरणस्यास्रवाः, दर्शनविषयाश्च दर्शनावरणस्येति। अपि च, आचार्योपाध्यायप्रत्यनीकत्व-अकालाध्ययन-श्रद्धाऽभाव - अभ्यासालस्य-अनादरार्थश्रवण-[2]तीर्थोपरोध-बहुश्रुतगर्व - मिथ्योपदेश-बहुश्रुतावमान-स्वपक्षपरिग्रहपण्डितत्व-स्वपक्षपरित्याग-अबद्धप्रलाप - उत्सूत्रवाद-साध्यपूर्वकज्ञानाधिगम-शास्त्रविक्रय-प्राणातिपातादयः ज्ञानावरणस्यास्रवाः। दर्शनमात्सर्याऽन्तराय-नेत्रोत्पाटनेन्द्रियप्रत्यनीकत्व-दृष्टिगौरव-आयतस्वापिता-दिवाशयनालस्य-नास्तिक्यपरिग्रह-सम्यग्दृष्टिसंदूषण-कुतीर्थप्रशंसा-प्राणव्यपरोपण-यतिजनजुगुप्सादयो दर्शनावरणस्यास्रवाः, इत्यस्ति आस्रवभेदः।

यथा अनयोः कर्मप्रकृत्योरास्रवभेदस्तथा—

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानि असद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

पीडालक्षणः परिणामो दुःखम् ।१। विरोधिद्रव्योपनिपाताभिलषितवियोगाऽनिष्टनिष्ठुरश्रवणादिबाह्यसाधनापेक्षात् असद्वेद्योदयादुत्पद्यमानः पीडालक्षणः परिणामो दुःखमित्याख्यायते।

अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः ।२। अनुग्राहकस्य बान्धवादेः संबन्धविच्छेदे तद्गताशयस्य चिन्ताखेदलक्षणः परिणामो वैक्लव्यविशेषो मोहकर्मविशेषशोकोदयापेक्षः शोक इत्युच्यते।

परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः ।३। परिवादः परिभवः, परुषवचनश्रवणादिनिमित्तापेक्षया कलुषान्तःकरणस्य तीव्रानुशयः परिणामः ताप इत्यभिधीयते।

परितापजाश्रुपातप्रचुरविलाप[3]व्यभिव्यक्तं क्रन्दनमाक्रन्दनम् ।४। परितापनिमित्तेनाश्रुपातप्रचुरविलापेनाङ्गविकारादिना चाभिव्यक्तं[4] क्रन्दनमाक्रन्दनं प्रत्येतव्यम्।

आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः ।५। भवधारणकारणस्यायुषः रूपादिग्रहणनिमित्तानाम् इन्द्रियाणां कायादिवर्गणालम्बनबलस्योच्छ्वासनिःश्वासलक्षणस्य च प्राणस्य परस्परतो वियोगकरणं वध इत्यवधार्यते।

संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रायं परिदेवनम् ।६। संक्लेशपरिणामालम्बनं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयम् अनुकम्पाप्रचुरं परिदेवनमिति परिभाष्यते।

१–विषये वि–मु०, द०, ब०। २ दिव्यध्वनिकाले स्वयं व्याख्याकरणम्। ३–पादभि–श्र०। ४–क्तं क्रन्दनं प्रत्ये–श्र०, ता०, मू०, द०।

दुःखजातीयत्वात् सर्वेषां पृथगवचनमिति चेत्; न; कतिपयविशेषसंबन्धेन तज्जात्याख्यानात् ।७। स्यान्मतम्–शोकादयो हि सर्वे दुःखजातीयाः ततो दुःखग्रहणादेव सिद्धे पृथगेषां वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? कतिपयविशेषसंबन्धेन तज्जात्याख्यानात्। यथा गौरित्युक्ते अनिर्ज्ञातविशेषे तत्प्रतिपादनार्थं खण्डमुण्डशुक्लकृष्णाद्युपादानं क्रियते, तथा दुःखविषयास्रवाऽसंख्येयलोकभेदसंभवात् दुःखमित्युक्ते विशेषानिर्ज्ञानात् कतिपयविशेषनिदर्शनेन तद्विवेकप्रतिपत्तिः कथं स्यादिति शोकाद्युपादानं क्रियते। एते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षणं च प्रपञ्चश्चेति।

कथञ्चिदन्यत्वोपपत्तेश्च ।८। यथा मृत्पिण्डघटकपालादीनां मूर्तिमद्द्रव्यार्थादेशात् स्यादनन्यत्वम्, प्रतिनियतसंस्थानादिपर्यायादेशात् स्यादन्यत्वम्, तथा दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानामप्रीतिसामान्यादेशात् स्याद्दुःखपरिणामादनन्यत्वम्, प्रत्यर्थनियतहेतुभेदाहितविशेषदुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनपर्यायादेशात् स्यादन्यत्वम्।

दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः ।९। दुःखादीनां शब्दानां कर्त्रादिसाधनत्वमवसेयम्। कुतः? पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः। यदा पर्यायिपर्याययोरभेदविवक्षा तदा तप्तायःपिण्डवत्तत्परिणामादात्मैव दुःखयतीति कर्तृसाधनत्वम्। यदा पर्यायिपर्याययोर्भेदविवक्षा तदा दुखयत्यनेनास्मिन्निति वा दुःखमिति करणादिसाधनत्वम्। वस्तुस्वरूपमात्रकथनात् दुःखनं दुःखमिति भावसाधनत्वं वा। एवं शोकादिष्वपि योज्यम्।

तदेकान्तावधारणेऽनुपपन्नम् अन्यतरैकान्तसंग्रहात् ।१०। कर्त्रादिसाधनत्वं दुःखादीनामेकान्तावधारणेऽनुपपन्नम्? कुतः अन्यतरैकान्तसंग्रहात्। पर्यायमात्रत्वे तावदसत्यात्मनि विज्ञानादीनां करणादिसाधनत्वमयुक्तं कर्तुरभावात्। स्वातन्त्र्यशक्तिविशिष्टार्थापेक्षाणि हि शेषकारकाणि[2] तदभावादभावमास्कन्देयुः। कर्तृसाधनत्वमपि–चायुक्तम्[3], करणादिसाचिव्यव्यपेक्षाभावात्। न च तेषां विज्ञानादीनां परस्परं प्रति साचिव्यमस्ति युगपदुपजायमानत्वात् सव्येतरगोविषाणवत्। नाप्यतीतानागतानां वर्तमानं प्रति सहायभावोऽस्ति असत्त्वाद् वन्ध्यापुत्रवत्। क्षणिकत्वाच्च पूर्वानुभूतस्मरणाभावात् शोकादिपरिणामाऽभावः। पूर्वानुभूतं हि अर्थं विनष्टं चिन्तयतः शोकादयो भवन्ति। न च क्षणिकवादे स्मरणमस्ति, तदभावाच्छोकाद्यभावः। सन्तानादिति चेत्; न; तदभावादित्युक्तत्वात्। भावसाधनत्वमपि नोपपत्तिक्षमम्, भाववन्तमन्तरेण भावस्य वृत्त्यभावात्।

द्रव्यमात्रत्वे च क्रियागुणविरहात् पुरुषस्य निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वं च दधानस्य सुखदुःखादिपरिणामप्राप्तिं प्रति कर्तृत्वाभावः। तदभावात् करणादीनामप्यभावः। अथ कर्त्रादिसाधनभावः कल्प्यते; न तर्हि निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वं चात्मनोऽवतिष्ठते।

तथा अचेतनस्यापि[4] दुःखादिपरिणामं प्रति कर्तृभावोऽनुपपन्नः, दुःखादीनां घटादिष्वचेतनेष्वदर्शनात्। यद्यचेतनस्यापि दुःखादयोऽभ्युपगम्येरन्; चेतनाचेतनयोरविशेषः स्यात्। [5]निष्क्रियत्वेऽप्यधर्मनिमित्ताः पुरुषस्य दुःखादय इति चेत्; न; निष्क्रियस्य धर्माधर्मोपार्जनविध्यभावात् तत्फलानुभवनाभावाच्च।

तान्यात्मपरोभयस्थानि क्रोधाद्यावेशात् ।११। तानि दुःखादीनि क्रोधाद्यावेशात् आत्मपरोभयस्थानि भवन्ति। तद्यथा, यदा क्रोधाद्याविष्ट आत्मा स्वस्मिन् दुःखादीन्युत्पादयति तदा

१ कर्तृत्वसाध–मु०, अ०, मू०, ता०। २ चक्रचीवरादीनि। ३–वायुक्तं करणादिसाध्यव्य–मु०, द०। ४ प्रधानस्यापि। ५ नैयायिकः।

आत्मस्थानि भवन्ति। यदा पुनरीश्वरः कषायवशात् परस्य दुःखादीनि जनयति तदा परस्थानि भवन्ति। यदा तूत्तमर्णादयः अधमर्णादिनिरोधे वर्तमानाः तज्जनितानि क्षुत्पिपासादीनवाप्नुवन्ति तदोभयस्थानि।

विद्यादीनामवगमनाद्यर्थत्वादनिर्देश इति चेत्; न; विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात् ।१२। स्यान्मतम्–इमे चत्वारो विदयः विदविद्लृविन्तिविद्यतयः अवगमनलाभविचारसद्भावार्थाः, एतेषां कस्यचिदपि संग्रहे अभिप्रेतस्यार्थस्याऽगतेरनिर्देश इति; तन्न; किं कारणम्? विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात्। विदेः चुरादिण्यन्तस्य चेतनार्थस्येदं वेद्यमिति।

तदसद्वेद्यमप्रशस्तत्वात् ।१३। तद्वेद्यमसदिति विशेष्यते। कुतः? अप्रशस्तत्वात्। अनिष्टफलप्रादुर्भावकरणत्वादप्रशस्तमित्याख्यायते।

दुःखाभिधानमादौ प्रधानत्वात् ।१४। दुःखग्रहणमादौ क्रियते। कुतः? प्रधानत्वात्। कुतः पुनरस्य प्राधान्यम्? तद्विकल्पत्वात् [2]इतरेषाम्। किमेतावन्त एव विकल्पाः? नेत्याह–

शोकादिग्रहणस्य विकल्पोपलक्षणत्वादन्यसंग्रहः ।१५। इमे शोकादयः दुःखविकल्पा दुःखविकल्पानामुपलक्षणार्थमुपादीयन्ते, ततोऽन्येषामपि संग्रहो भवति। के पुनस्ते? अशुभप्रयोगपरपरिवाद-पैशुन्य-अनुकम्पाऽभाव-परपरितापनाऽङ्गोपाङ्गच्छेदन-भेदन-ताडन-त्रासन-तर्जन-भर्त्सन-तक्षण-विशंसन-बन्धन-रोधन-मर्दन-दमन-वाहन-विहेडन-ह्रेषण-कायरौक्ष्य-परनिन्दात्मप्रशंसा-संक्लेशप्रादुर्भावनायुर्वहमानता-निर्दयत्व-सत्त्वव्यपरोपण-महारम्भपरिग्रह-विश्रम्भोपघात-वक्रशीलता-पापकर्मजीवित्वाऽनर्थदण्ड-विष[3]मिश्रण-शरजालपाशवागुरापञ्जरयन्त्रोपायसर्जन-बलाभियोग-शस्त्र-प्रदान-पापमिश्रभावाः। एते दुःखादयः परिणामा आत्मपरोभयस्था असद्वेद्यस्यास्रवा वेदितव्याः।

स्वतीर्थकरोपदेशविरोधादयुक्तिरिति चेत्; न; सर्वथा प्रश्नविनिवृत्तेः ।१६। स्यादेतत्–यदि दुःखाधिकरणमसद्वेद्यहेतुः, ननु नाग्न्यलोचाऽनशनादितपःकरणं दुःखहेतुरिति तदनुष्ठानोपदेशनं स्वतीर्थकरस्य विरुद्धम्, तदविरोधे च दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवस्यायुक्तिरिति; तन्न; किं कारणम्? सर्वथा प्रश्नविनिवृत्तेः। न तावदार्हतस्य प्रश्न उपपद्यते–स्वतीर्थकरोपदेशव्याघातप्रसङ्गात्। यस्य क्षणिकवादः तस्यापि न युज्यते, [4]सर्वदुःखशून्यानात्मकत्वाभ्युपगमे हिंसादिवत् दानादेरप्यकुशलत्वं दुःखहेतुतुल्यत्वादिति। तथेतरेषामपि हिंसादीना दुःखहेतुत्वेन पापास्रवहेतूनभ्युपगच्छतां यमनियमपरिपालनविविधवेषानुष्ठानदुश्चरोपवासब्रह्मचर्यादीनां दुःखहेतुत्वात् तदनुष्ठानविरोधप्रसङ्गान्नोपपद्यते प्रश्नः। किञ्च,

द्वेषासंभवात् ।१७। यथा अनिष्टद्रव्यसंपर्काद् द्वेषोत्पत्तौ दुःखोत्पत्तिः न तथा बाह्याभ्यन्तरतपःप्रवृत्तौ धर्मध्यानपरिणतस्य यतेरनशनकेशलुञ्चनादिकरणकारणापादितकायक्लेशेऽस्ति द्वेषसंभवः, तस्मान्नासद्वेद्यबन्धोऽस्ति। क्रोधाद्यावेशे हि सति स्वपरोभयदुःखादीनां पापास्रवहेतुत्वमिष्टं न केवलानाम्। किञ्च,

आहितप्रसादत्वात् ।१८। यथा यतिरहिंसादिकरणकारणोद्यतत्वादाहितप्रसादः तथा अयमुपवासादिकरणकारणेऽप्याहितप्रसादः अनशनादितपः करोतीति दुःखाद्यभावः। किञ्च,

प्रायश्चित्तोपदेशात् ।१९। कादाचित्कान्यकारणाविर्भूतक्रोधादिपरिणामे च सति तदुत्सृ[5]त्यर्थं प्रायश्चित्तविधानं क्रियते, ततः कथमिव यतेः अनशनादितपश्चरणे क्रोधादिपरिणामो भवेत्? किञ्च,

१ विदिश्चेतनाख्याननिवासनेषु इति चौरादिकः। २ शोकादीनाम्। ३–विषविश्राण–अ०। ४ सर्वदुःखमित्यादि। ५ निवारणार्थम्।

अनुग्रहबुद्ध्या तद्व्यापाराद्गण्ड[1]पाटनवत् ।२०। यथा भिषक् करुणार्द्रीकृतचेताः संयतस्योपरि अनुग्रहबुद्ध्या गण्डं पाटयंस्तत्र क्रोधाद्यभावात् नापुण्यं बध्नाति, तथा अनादिसांसारिकजातिजरामरणवेदनाजिघांसां प्रत्यागूर्णा यतिः तदुपाये प्रवर्तमानः स्वपरस्थदुःखादिहेतुत्वे सत्यपि क्रोधाद्यभावात् पापस्याबन्धकः। किञ्च,

मनोरत्या सौख्याभिधानात् ।२१। यथा दुःखाभिभूतानामपि संसारिणां यत्र मनोरतिस्तत्र सौख्यं तथा अनशनादिकरणस्य यतेर्मनोरतिसौख्यसान्निध्याददोषः। उक्तञ्च–

"पुरे वने वा स्वजनेऽजने वा प्रासादशृङ्गे द्रुमकोटरे वा।
प्रियाङ्गनाऽङ्केऽथ शिलातले वा मनोरतिं सौख्यमुदाहरन्ति ॥" [ ] इति।

यद्यसद्वेद्यस्यामी प्रयोगाः यथा द्वितीयस्य क आस्रवा इति ? उच्यन्ते—

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

आयुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद् भूतानि ।१। तासु तासु योनिष्वायुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद्भूतानि सर्वे प्राणिन इत्यर्थः।

व्रताभिसंबन्धिनो व्रतिनः ।२। व्रतानि वक्ष्यन्ते अहिंसादीनि, तदभिसंबन्धिनो ये ते व्रतिनः। ते द्वेधा [2]अगारं प्रति निवृत्तौत्सुक्याः संयताः, गृहिणश्च संयतासंयताः।

अनुकम्पनमनुकम्पा ।३। अनुग्रहार्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा। भूतानि च व्रतिनश्च भूतव्रतिनः, भूतव्रतिष्वनुकम्पा भूतव्रत्यनुकम्पा। "सोधनं कृता बहुलम्" [जैनेन्द्र० १।३।२९] इति वृत्तिः[3]। यथा गलचोपक इति। मयूरव्यंसकादित्वाच्च।

स्वस्य परानुग्रहबुद्ध्या अतिसर्जनं दानम् ।४। आत्मीयस्य वस्तुनः परानुग्रहबुद्ध्या अतिसर्जनं दानमिति कथ्यते।

सम्परायनिवारणप्रवणोऽक्षीणाशयः सरागः ।५। पूर्वोपात्तकर्मोदयवशादक्षीणाशयः सन् सम्परायनिवारणं प्रत्यागूर्णमनाः सराग इत्युच्यते।

प्राण्इन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः ।६। प्राणिष्वेकेन्द्रियादिषु चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु च अशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयम इति निश्चीयते। सरागस्य संयमः सरागसंयमः, सरागो वा संयमः सरागसंयमः।

आदिशब्देन संयमाऽसंयमाऽकामनिर्जराबालतपोऽनुरोधः ।७। संयमासंयमः अकामनिर्जरा बालतप इत्येतेषामादिशब्देनानुरोधः क्रियते। तत्र संयमासंयमः अनात्यन्तिकी विरतिः। विषयाऽनर्थनिवृत्तिं चात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्याद्भोगोपभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा। यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयस्तेषां तपः बालतपः अग्निप्रवेश-कारीषसाधनादि प्रतीतम्।

निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः ।८। निरवद्यस्य क्रियाविशेषस्यानुष्ठानं योगः समाधिः, सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः। [4]दण्डभावनिवृत्त्यर्थं च तस्य ग्रहणं क्रियते। भूतव्रत्यनुकम्पादानं च सरागसंयमादयश्च भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादयस्तेषां योगः भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः।

---

१ गण्डः कपोलपिटके योगभेदे च गण्डके। गण्डः प्रकरे चिह्ने स्यादश्वभूषणबुद्बुदे ॥ २ आरम्भं प्रति मु०, द०, ता०, ब०। ३ समासः–सम्या०। ४–व्यक्रिया–श्र०। ५ उपाधि।

धर्मप्रणिधानात्क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः ।९। क्रोधादेः कषायस्य शुभपरिणामभावनापूर्विका निवृत्तिः क्षान्तिरित्युच्यते। ननु क्षमूषिति षित्त्वात्[1] अङि क्षमेति भवितव्यम्; सत्यमेवमेतत्, यदि भूवादिषु पठितस्य ग्रहणं स्यात्। इदं दिवादिपठितस्य क्षमू सहने इत्यस्य रूपम्।

लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम् ।१०। लोभप्रकारेभ्यः उपरतः शुचिरित्युच्यते, तस्य भावः कर्म वा शौचम्। के पुनर्लोभप्रकाराः ? स्वद्रव्यात्याग-परद्रव्यापहरण-सान्न्यासिकनिह्नवादयः।

इतिकरणः प्रकारार्थः ।११। हेत्वेवंप्रकारादिव्यवच्छेदादिषु दृष्टप्रयोग इतिशब्दः, तत्रेह प्रकारार्थो गृह्यते। एवंप्रकाराः सद्वेद्यस्यास्रवा इति।

वृत्तिप्रसङ्गो लघुत्वादिति चेत्; न; अन्योपसंग्रहार्थत्वात् ।१२। स्यान्मतम्–वृत्तिरत्र न्याय्या संयमादियोगक्षान्तिशौचानीति। कुतः ? लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? अन्योपसंग्रहार्थत्वात्।

[2]इतिकरणानर्थक्यमिति चेत्; न; उभयग्रहणस्य व्यक्तयर्थत्वात् ।१३। स्यादेतत्–यद्यवृत्तिकरणमन्योपसंग्रहार्थम्, इतिशब्दोपादानस्यापि तदेव प्रयोजनमिति तस्यानर्थक्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयग्रहणस्य व्यक्तयर्थत्वात्। व्यक्तयर्थमुभयं गृह्यते। के पुनस्ते गृह्यमाणाः ? अर्हत्पूजाकरणपरता-बालवृद्धतपस्विवैयावृत्त्योद्योगार्जवविनयप्रधानतादयः।

व्रतिग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् ।१४। स्यान्मतम्–भूतग्रहणादेव सिद्धं व्रतिग्रहणमनर्थकं सामान्यनिर्देशस्य सर्वविशेषव्यापि[3]त्वाविरोधादिति; तन्न; किं कारणम् ? प्राधान्यख्यापनार्थत्वात्। भूतेषु याऽनुकम्पा तस्या[4] व्रतिष्वनुकम्पा प्रधानभूतेत्ययमर्थः ख्याप्यते।

नित्यानित्यात्मकत्वे अनुकम्पादिसिद्धिर्नान्यथा ।१५। द्रव्यत्वाद्यन्वयादेशान्नित्यतामजहतः नैमित्तिकपरिणाममुखेनानित्यतामास्कन्दतः जीवस्यानुकम्पादयः परिणामविशेषा युज्यन्ते नान्यथा। यदि नित्यत्वमेव स्यात्; विक्रियाऽभावात् अनुकम्पादिपरिणत्यभावः, तदभ्युपगमे च नित्यताव्याघातः। क्षणिकैकान्तेऽपि पूर्वोत्तरावग्राहकैकविज्ञानाभावात् अनुकम्पादिप्रच्यवः। संस्कारादिति चेत्; न; तस्याप्यनित्यत्वात्। ज्ञानाऽज्ञानभावे चाऽनुपपत्तेः[5]।

आह–उक्ता सदसत्प्रकारस्य वेदनीयस्योपादानहेतवः। अथ अनन्तरस्यानन्तप्रवाहसंसारास्पदकारणस्य मोहस्यात्मलाभे को हेतुरिति ? अत्रोच्यते—

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवाऽवर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

करणक्रमव्यवधानातिवर्तिज्ञानोपेताः केवलिनः ।१। करणं चक्षुरादि, कालभेदेन वृत्तिः क्रमः, कुड्यादिनाऽन्तर्धानं व्यवधानम्, एतान्यतीत्य वर्तते, ज्ञानावरणस्यात्यन्तसंक्षये आविर्भूतमात्मनः स्वाभाविकं ज्ञानम्, तद्वन्तोऽर्हन्तो भगवन्तः केवलिन इति व्यपदिश्यन्ते।

तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम् ।२। तैर्व्यपगतरागद्वेषमोहैरुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैः गणधरैरवधारितं श्रु[6]तमित्युच्यते। तद्विस्तरतो व्याख्यातम्।

रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः सङ्घः ।३। सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयभावनापराणां चतुर्विधानां श्रमणानां गणः सङ्घ इति कथ्यते।

---

१ 'षिच्चिन्ति' इत्यादि सूत्रेण। २ अवृत्तिकरणमितिकरणमिति। ३–पित्वात् विरोधा–श्र०। ४ ततः। ५ संस्कारस्तावत् ज्ञानं वा स्यात्, अज्ञानं वा ? यदि ज्ञानम्; तस्य उक्तदोषत्वादनुपपत्तिः। यद्यज्ञानम्; अनवबुद्धस्वभावत्वात्तस्यानुपपत्तिः। ६ श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचितमिति श्रुतभक्तावुक्तत्वात्।

[1]एकस्याऽसङ्घत्वमिति चेत्; न; अनेकव्रतगुणसंहननादेकस्यापि सङ्घत्वसिद्धेः ।४। स्यादेतत्–सङ्घो गणो वृन्दमित्यनर्थान्तरम् तस्य कथमेकस्मिन् वृत्तिरिति ? तन्न; किं कारणम् ? अनेकव्रतगुणसंहननादेकस्यापि सङ्घत्वसिद्धेः । उक्तं च–

"संघो गुणसंघादो कम्माण विमोयदो हवदि संघो ।
दंसणणाणचरित्ते संघादित्तो[2] हवदि संघो ॥ १ ॥" [भग० आरा० गा० ७१४]

अहिंसादिलक्षणो धर्मः ।५। तस्मिन् जिनप्रवचने निर्दिष्टोऽहिंसादिलक्षणो धर्म इत्युच्यते ।

देवशब्दो व्याख्यातार्थः ।६। "देवाश्चतुर्णिकायाः" [त० सू० ४।१] इत्यत्र देवशब्दो व्याख्यातार्थः ।

अन्तःकलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः ।७। गुणवत्सु महत्सु स्वमतिकलुषदोषात् असद्भूतमलोद्भावनमवर्णवाद इति वर्ण्यते । केवलिश्रुतसंघधर्मदेवानामवर्णवादः केवलिश्रुतसंघधर्मदेवाऽवर्णवादः ।

पिण्डाभ्यवहारजीवनादिवचनं केवलिषु ।८। पिण्डाभ्यवहारजीविनः [3]कवलदशानिर्हरणाः अलाबूपात्रपरिग्रहाः कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः केवलिन इत्यादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः ।

मांसभक्षणाद्यनवद्याभिधानं श्रुते ।९। मांसमत्स्यभक्षणं मधुसुरापानं [4]वेदनार्दितमैथुनोपसेवा रात्रिभोजनमित्येवमाद्यनवद्यमित्यनुज्ञानं श्रुतेऽवर्णवादः ।

शूद्रत्वाशुचित्वाद्यभिधानं सङ्घे ।१०। एते श्रमणाः शूद्राः अस्नानमलदिग्धाङ्गाः अशुचयो दिगम्बरा निरपत्रपा इहैवेति दुःखमनुभवन्ति परलोकञ्च मुषित इत्यादिवचनं सङ्घेऽवर्णवादः ।

निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मे ।११। जिनोपदिष्टो दशविकल्पो धर्मो निर्गुणः, तदुपसेविनो ये ते चाऽसुरा भवन्ति इत्येवमाद्यभिधानं धर्मावर्णवादः ।

सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः ।१२। सुरा मांसं चोपसेवन्ते देवा आँह(अहि)ल्यादिषु चासक्तचेतसः इत्याद्याघोषणं देवावर्णवादः ।

दर्शनं मोहयति मोहनं वा दर्शनमोहः ।१३। दर्शनमुक्तलक्षणं "तत्त्वार्थश्रद्धानम्" [त० सू० १।२] इत्यत्र, दर्शनं मोहयतीति दर्शनमोहः, दर्शनस्य मोहनं वा दर्शनमोहः, तस्य दर्शनमोहस्यैते आस्रवा वेदितव्याः ।

आह–यद्येते दर्शनमोहस्यापादकाः परिणामा निश्चीयन्ते । क इदानीमनन्तरनिर्दिष्टस्य चारित्रमोहस्यास्रव इति ? अत्रोच्यते—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मपरिपाक उदयः ।१। प्रागुपात्तस्य कर्मणः द्रव्यादिनिमित्तवशात् फलप्राप्तिः परिपाक उदय इति निश्चीयते । कषायो निरुक्तः । कषायस्य उदयः कषायोदयः तस्मात् कषायोदयात् ।

---

१ संघावर्णवाद आस्रवो भवत्, एकस्योपर्यवर्णवादो नास्रवहेतुरित्याशङ्कमानं प्रत्याह । २ संघाताद्ङसेरिति प्राकृतव्याकरणसूत्रात् द्विरुक्तिः । तदुक्तं प्राकृतमञ्जर्याम्–तोरित्येष द्विरुक्तः स्यादोकारो वा ङसेः पुनरिति । ३ कंबल कुंज । ४ जीवन्मत्स्य । यो जग्धा पिशितं मत्स्यकवलमिति । ५ तीव्रवेदनेषु कृपाहितमनसा । तदुक्तम्–अभवत् सुगतः खरी खराणां स्वयमुत्पाद्य भगान् समन्ततः । कृपया न तु कामसेवया न वयं तत्र विनिश्चयं गताः ॥ ६ परलोके कुतश्च सुखिनः इ–मु०, द०, ब० । ७ आहल्येति तापसस्त्री काचित् ।

तीव्रपरिणामशब्दावुक्तार्थौ ।२। "तीव्रमन्द" [त० सू० ६।६] इत्यत्र तीव्रशब्दो व्याख्यातार्थः "तद्भावः परिणामः" [त० सू० ५।४१] इत्यत्र परिणामशब्दो वर्णितार्थः ।

चारित्रं मोहयति मोहनं वा चारित्रमोहः ।३। चारित्रमुक्तलक्षणम्, तन्मोहयति मोहनं वा तस्य चारित्रमोह इति निर्ध्रियते, तस्य चारित्रमोहस्य कषायोदयनिमित्तः तीव्रपरिणामो यः स आस्रव इति वेदितव्यः । स किंस्वरूप इति चेत् ? उच्यते–जगदनुग्रहतन्त्रशीलव्रतभावितात्मतपस्विजनगर्हण-धर्मावध्वसंन-तदन्तरायकरण-शीलगुणदेशसंयतविरतिरतिप्रच्यावन-मधुमद्यमांसविरतचित्तविभ्रमापादान-वृत्तसंदूषण-संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारण-स्वपरकषायोत्पादनादिलक्षणः कषायवेदनीयस्यास्रवः । उत्प्रहास-दीनाभिहासित्व-कन्दर्पोपहसन-बहुप्रलापोपहासशीलता हास्यवेदनीयस्य । विचित्रपरक्रीडन-परसौचित्यावर्जन-बहुविधपीडाभाव-देशाद्यनौत्सुक्यप्रीतिसंजननादिः रतिवेदनीयस्य । पररतिप्रादुर्भावन-रतिविनाशन-पापशीलसंसर्गता-ऽकुशलक्रियाप्रोत्साहनादिः अरतिवेदनीयस्य । स्वशोकाऽमो[5]दशोचन-परदुःखाविष्करण-शोकप्लुताभिनन्दनादिः शोकवेदनीयस्य । स्वयं भयपरिणाम-परभयोत्पादन-निर्दयत्व-त्रासनादिर्भयवेदनीयस्य । सद्धर्मापन्नचतुर्वर्णविशिष्टवर्गकुलक्रियाचारप्रवणजुगुप्सा-परिवादशीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य । प्रकृष्टक्रोधपरिणामातिमानितेर्ष्याव्यापारालीकाभिधायिता-ऽतिसन्धानपरत्व-प्रवृद्धराग-पराङ्गनागमनादर-वामलोचनाभावाभिष्वङ्गतादिः स्त्रीवेदस्य । स्तोकक्रोध-जैह्मनिवृत्त्यनुत्सिक्तत्वा-ऽलोभ[3]भावा-ऽङ्गनासमवायाल्परागत्व-स्वदारसन्तोषेर्ष्याविशेषोपरम-स्नानगन्धमाल्याभरणानादरादिः पुंवेदनीयस्य । प्रचुरक्रोधमानमायालोभपरिणाम-गुह्येन्द्रियव्यपरोपण-स्त्रीपुंसानङ्गव्यसनित्व-शीलव्रतगुणधारिप्रव्रज्याश्रितप्रम(मै)थुन-पराङ्गना-वस्कन्दनरागतीव्रानाचारादिर्नपुंसकवेदनीयस्य ।

आह–मोहनीयस्यानेकविकल्पस्यास्रवभेदो निर्दिष्टः । इदानीम् आयुश्चतुष्टयस्यास्रवभेदो वक्तव्य इति । तत्राद्यस्य नियतकालपरिपाकस्यायुषः कारणप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात् ।१। अयं बहुशब्दः अस्त्येव संख्यापदम्–एकः द्वौ बहव इति । अस्ति वैपुल्यवाची बहुरोदनो बहुसूप इति । तस्य द्विप्रकारस्यापि ग्रहणमिह न विरुध्यते । कुतः ? अविशेषात् ।

आरम्भो हैंस्रं कर्म ।२। हिंसनशीलाः हिंस्राः, तेषां कर्म हैंस्रम् आरम्भ इत्युच्यते । बहव आरम्भाः बह्वारम्भाः, बहुर्वा आरम्भो बह्वारम्भः ।

ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः ।३। ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते । बह्वारम्भाः परिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः तस्य भावः बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः आस्रवो भवति । एतदुक्तं भवति–परिग्रहप्रणिधानप्रयुक्ताः तीव्रतरपरिणामा हिंसापरा बहुशो विज्ञाता ह्यनुमता भावितारश्च, तत्कृतकर्मात्मसात्करणात् तन्नायःपिण्डवत् आहितक्रौर्या[6] नारकस्यायुषः आस्रव इति संक्षेपः । तद्विस्तरस्तु मिथ्यादर्शनाश्लिष्टाचारतोत्कृष्टमानता–शैलभेदसदृशरोष–तीव्रलोभानुरागा-ऽनुकम्पाहीनभाव-परपरितापान्तःप्राणिधान–वधबन्धनाभिनिवेश–प्राणभूतजीवसत्त्वाजस्रोपघातपरिणाम–प्राणवधात्मकानृतवचनशीलत्व–परस्वहरणानि-

---

१ आपादन । २ प्रीत्यर्थं परशोचनम् । ३–भत्वाङ्गना–मु०, द० । ४ शिश्नादिच्छेदन । ५ अनङ्गक्रीडा । ६ हठात् बलाभियोगेन स्वसात्करणम् । ७–क्रोधार्या–द० । –क्रोधाद्यर्था–मु० । ८ प्राणाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः सत्त्वाः साधारणाह्वयाः । प्रत्येकधातवो भूता जीवास्तु विकलेन्द्रियाः ॥

भृताभिष्वङ्ग[1]परिणाम-मैथुनोपसेवनाविरति-महारम्भवशीकृतेन्द्रियता - कामभोगाभिलाषप्रवृद्धता - नैःशील्य-पापनिमित्ताहाराभिप्राय-स्थिरवैर-नृशंसासमीक्षितक्रन्दनकारिता-निरनुग्रहत्वाभाव्य-यति-समयभेद-तीर्थकरासादन-कृष्णलेश्याभिजातरौद्रध्यानमरणकालतादिलक्षणो विज्ञेयः ।

आह-उक्तो नारकस्यायुष आस्रवः, तैर्यग्योनस्येदानीं वक्तव्य इति ? अत्रोच्यते—

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

चारित्रमोहोदयात् कुटिलभावो माया ।१। चारित्रमोहकर्मोदयाविर्भूत आत्मनः कुटिल-स्वभावः मायेति व्यपदिश्यते । सा माया निकृतिस्तैर्यग्योनस्यायुष आस्रव इति संक्षेपः । प्रपञ्चस्तु-मिथ्यात्वोपष्टम्भा-ऽधर्मदेशना-ऽनल्पारम्भपरिग्रहा-ऽतिनिकृति - कूटकर्मा-ऽवनिभेदसदृशरोष-निःशीलता-शब्दलिङ्गवञ्चना-ऽतिसन्धानप्रियता-भेदकरणा-ऽनर्थोद्भावन-वर्णगन्धरसस्पर्शान्यत्वापादन[3]-जातिकुलशीलसंदूषण-विसंवादनाभिसन्धि-मिथ्याजीवित्व - सद्गुणव्यपलोपा-ऽसद्गुणख्यापन-नीलकपोतलेश्यापरिणाम-आर्तध्यानमरणकालतादिलक्षणः प्रत्येतव्यः ।

आह-व्याख्यातस्तैर्यग्योनस्यायुष आस्रवः । इदानीं मानुषस्यायुषः को हेतुरिति ? अत्रोच्यते—

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

नारकायुरास्रवविपरीतो मानुषस्य ।१। नारकायुरास्रवो व्याख्यातः, तद्विपरीतो मानुषस्यास्रव इति संक्षेपः । व्यासस्तु-मिथ्यादर्शनालिङ्गितमति-विनीतस्वभावता-प्रकृतिभद्रता-मार्दवार्जवसमाचारसुखप्रज्ञापनीयता-बालुकाराजिसदृशरोष-प्रगुणव्यवहारप्रायता-ऽल्पारम्भपरिग्रह-सन्तोषाभिरति-प्राण्युपघातविरमण - प्रदोषविकर्मनिवृत्ति-[2]स्वागताभिभाषणा-ऽमौखर्य-प्रकृतिमधुरता - लोकयात्रानुग्रह-औदासीन्या-ऽनसूया-ऽल्पसंक्लेशता-गुरुदेवताऽतिथिपूजासंविभागशीलता - कपोत-पीतलेश्योपश्लेप-धर्मध्यानमरणकालतादिलक्षणः ।

किमेतावानेवायुषो मानुषस्यास्रव इति ? उच्यते—

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

उपदेशानपेक्षं स्वभावमार्दवम् ।१। मृदोर्भावः कर्म वा मार्दवम्, स्वभावेन मार्दवं स्वभावमार्दवम् । उपदेशानपेक्षमित्यर्थः । ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिदं पुनर्ग्रहणमनर्थकं [5]सूत्रेऽनुपात्तमिति कृत्वा पुनरिदमुच्यते ।

एकयोगीकरणमिति चेत्; न; उत्तरापेक्षत्वात् ।२। स्यान्मतम्-एको योगः कर्तव्यः-'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य' इति; तन्न; किं कारणम् ? उत्तरापेक्षत्वात् । दैवस्यायुषः कथमयमास्रवः स्यादिति पृथक्करणम् ।

किमेतदेव द्वितयं मानुषस्यास्रवः ? नेत्युच्यते—

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

चशब्दोऽधिकृतसमुच्चयार्थः ।१। अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्यायुषः निःशीलव्रतत्वं चेत्यधिकृतसमुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते । शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतानि, निष्क्रान्तः शीलव्रतेभ्यः निःशीलव्रतः, तस्य भावः निःशीलव्रतत्वम् ।

---

१ आसक्ति । २ शब्दलिङ्गवचना-ता०, अ०, मू०, द० । ३ विस्रयार्थम् । ४ मानुषस्यायुष इ-मु० । ५ क्षेमवार्ता । ६ पूर्वसूत्रे ।

सर्वेषां ग्रहणं सकलास्रवप्रतिपत्त्यर्थम् ।२। सकलस्यायुषः आस्रवप्रतिपत्तिः कथं स्यादिति सर्वेषामित्युच्यते ।

देवायुषोऽपि प्रसङ्ग इति चेत्; न; अतिक्रान्तापेक्षत्वात् ।३। यदि सर्वेषां ग्रहणं सकलसंग्रहार्थं क्रियते, देवायुषोऽप्ययमास्रवः प्रसक्तः ? नैष दोषः; अतिक्रान्तापेक्षत्वात् । अतिक्रान्तानामायुषां सर्वेषामास्रव इत्यपेक्ष्यते ।

पृथक्करणात् सिद्धेरानर्थक्यमिति चेत्; न; भोगभूमिजार्थत्वात् ।४। स्यादेतत्-पृथक्करणादेवातिक्रान्तायुस्त्रयापेक्षा सिद्ध्यति । यदि मानुषायुरास्रव एवेष्टः स्यात् तत्रैव क्रियेत, ततः सर्वेषां ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? भोगभूमिजार्थत्वात् । भोगभूमिजापेक्षया निःशीलव्रतत्वं दैवस्यायुष आस्रव इत्येतस्य प्रदर्शनार्थं सर्वेषामित्युच्यते ।

आह-त्रयाणामास्रवविधिरुक्तः । इदानीं दैवस्यायुषो विक्रियतामिति ? अत्रोच्यते—

सरागसंयमसंयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

व्याख्याताः सरागसंयमादयः ।१। प्राक् शुभपरिणामाः सरागसंयमादयः व्याख्याताः ते दैवस्यायुष आस्रवहेतवो भवन्तीति संक्षेपः । विस्तरस्तु-कल्याणमित्रसंबन्ध-आयतनोपसेवा-सद्धर्मश्रवणगौरवदर्शना-ऽनवद्यप्रोषधोपवास-तपोभावना-बहुश्रुतागमपरत्व-कषायनिग्रह-पात्रदान-पीतपद्मलेश्यापरिणाम-धर्म्यध्यानमरणादिलक्षणः सौधर्माद्यायुषः आस्रवः । अव्यक्तसामायिक-विराधित-सम्यग्दर्शनता भवनाद्यायुषः [3]महर्द्धिकमानुषस्य वा । पञ्चाणुव्रतधारिणोऽविराधितसम्यग्दर्शनाः तिर्यङ्मनुष्याः सौधर्मादिषु अच्युतावसानेषूत्पद्यन्ते, विनिपतितसम्यक्त्वा भवनादिषु । अनधिगतजीवाजीवा बालतपसः अनुपलब्धतत्त्वस्वभावा अज्ञानकृतसंयमाः संक्लेशाभावविशेषात् केचिद्भवनव्यन्तरादिषु सहस्रारपर्यन्तेषु मनुष्यतिर्यक्ष्वपि च । अकामनिर्जरा-क्षुत्तृष्णानिरोध-ब्रह्मचर्य-भूशय्या-मलधारण-परितापादिभिः परिखेदितमूर्तयः चारकनिरोधबन्धनबद्धाः दीर्घकालरोगिणः असंक्लिष्टाः तरुगिरिशिखरपातिनः अनशन-ज्वलनजलप्रवेशन-विषभक्षणधर्मबुद्धयः व्यन्तरमानुषतिर्यक्षु । निःशीलव्रताः सानुकम्पहृदयाः जलराजितुल्यरोषा भोगभूमिसमुत्पन्नाश्च व्यन्तरादिषु जन्म प्रतिपद्यन्ते इति ।

उक्तो दैवस्यायुष आक्रान्तभेद आस्रवः । किमेतावानेव देवायुरास्रवविधिः, आहोस्विदन्योऽप्यस्तीति ? अत्रोच्यते—

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

किम् ? दैवस्यायुषः, 'आस्रवः' इत्यनुवर्तते । उक्तं सम्यक्त्वलक्षणम् ।

अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः पृथक्करणात् ।१। सम्यक्त्वं दैवस्यायुष आस्रव इत्यविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिर्भवति । कुतः ? पृथक्करणात् । यद्यविशेषग-

---

१-णागौर-मु०, ब० । २-र्म्याद्या-अ० । -र्माद्यास्रवः अन्य-ता० । -र्माद्यायुषः अन्य-मू० । ३ महाऋद्धियुतमहाराजादिः । ४ अ० प्रतौ 'अनधिगतजीवाजीवा बालतपसः' इति वार्तिकचिह्नाङ्कितम् । ५ गूढपुरुष । ६ सूत्रमेतन्नास्ति भा० १, २ ।

तिरेवेष्टा स्यात् पृथक्करणमनर्थकं स्यात् पूर्वसूत्रे एवोच्येत। यद्येवं पूर्वसूत्र उक्त आस्रवविधिः अविशेषेण प्रसक्तः, तेन सरागसंयमसंयमासंयमावपि भवनवास्याद्यायुष आस्रवौ प्रसक्तौ ?

न, अतस्तत्सिद्धेः ।२। नैष दोषः। कुतः ? अतस्तत्सिद्धेः। यत एव सम्यक्त्वं सौधर्मादिष्विति नियम्यते तत एव तयोरपि नियमसिद्धिः, नासति सम्यक्त्वे सरागसंयमसंयमासंयमव्यपदेश इति।

आह-आयुषोऽनन्तरं यन्निर्दिष्टं नाम, तस्य क आस्रव इति ? अत्रोच्यते-तन्नाम द्विविधम्-अशुभं शुभं चेति। तत्राशुभनामास्रवप्रतिपत्त्यर्थमारभ्यते—

योगवक्रता विसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

कायवाङ्मनसां कौटिल्येन वृत्तिर्योगवक्रता ।१। कायवाङ्मनांसि व्याख्यातानि, तेषां कुटिलता योगवक्रता इत्युच्यते। अनार्जवं प्रणिधानमिति यावत्।

विसंवादनमन्यथाप्रवर्त्तनम् ।२। अन्येन प्रकारेण प्रवर्तनं प्रतिपादनं विसंवादनमिति विज्ञायते।

योगवक्रतैवेति चेत्; सत्यम्; आत्मान्तरेऽपि तद्भावप्रयोजकत्वात् पृथग्वचनम् ।३। स्यादेतत्-अन्यथाप्रवर्तनं विसंवादनं तदेव योगवक्रताऽपीति पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति; सत्यमेवमेतत्; किन्तु आत्मान्तरेऽपि तद्भावप्रयोजकत्वात् पृथग्वचनम्। सम्यगभ्युदयनिःश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं कायवाङ्मनोभिर्विसंवादयति-मैवं कार्षीरेवं कुर्विति कुटिलतया प्रवर्तनं विसंवादनम्, आत्मगता योगवक्रतेत्ययमनयोर्भेदः।

चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ।४। चशब्दः क्रियते अनुक्तस्यास्रवस्य समुच्चयार्थः। कः पुनरसौ ? मिथ्यादर्शन-पिशुनता-ऽस्थिरचित्तस्वभावता-कूटमानतुलाकरण-सुवर्णमणिरत्नाद्यनुकृति-कुटिलसाक्षित्वा-ऽङ्गोपाङ्गच्यावन-वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथाभावन-यन्त्रपञ्जरक्रिया-द्रव्यान्तरविषयसंबन्धनिकृतिभूयिष्ठता-परनिन्दात्मप्रशंसा-ऽनृतवचन-परद्रव्यादान - महारम्भपरिग्रह-उज्ज्वलवेषरूपमद-परुषासभ्यप्रलाप-आक्रोश-मौखर्य-सौभाग्योपयोगवशीकरणप्रयोग-परकुतूहलोत्पादना-ऽलङ्कारादर - चैत्यप्रदेशगन्धमाल्यधूपादिमोषण-विलम्बनोपहास-इष्टिकापाक-दवाग्निप्रयोग-प्रतिमायतनप्रतिश्रयारामोद्यानविनाशन-तीव्रक्रोधमानमायालोभ-पापकर्मोपजीवनादिलक्षणः। स एष सर्वोऽशुभस्य नाम्न आस्रवः।

आह-अथ शुभनामकर्मणः क आस्रव इति ? उच्यते—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

ऋजुयोगोऽविसंवादनं च तद्विपरीतम् ।१। कायवाङ्मनसां ऋजुत्वमविसंवादनं च तद्विपरीतमित्युच्यते। चशब्देन धार्मिकदर्शनसंभ्रम-सद्भावोपनयन-संसरणभीरुता-प्रमादवर्जना-ऽसंभेदचरिततादयो यथोक्ताऽशुभविपरीता परिणामाः शुभनाम्न आस्रवाः प्रत्येतव्याः।

आह-किमेतावानेव शुभनामास्रवविधिः, उत कश्चिदस्ति प्रतिविशेषः इति ? उच्यते-यदिदं तीर्थकरनामकर्म अनन्तानुपमप्रभावमचिन्त्यविभूतिविशेषकारणं त्रैलोक्यविजयकरं तस्यास्रवविधिविशेषोऽस्तीति। यद्येवमुच्यतां तस्यास्रव इति ? अत इदमारभ्यते—

१ ऋजुयोगार्विसं-मू०, ता०, श्र०, द०।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥

जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशङ्कितत्वाद्यष्टाङ्गा दर्शनविशुद्धिः ।१। जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिः। तस्या अष्टावङ्गानि-निःशङ्कितत्वम्, निःकाङ्क्षता, विचिकित्साविरहः, अमूढदृष्टिता, उपबृंहणम्, स्थितिकरणम्, वात्सल्यम्, प्रभावनं चेति। तत्र इहलोकपरलोकव्याधिमरणासंयमारक्षणाकस्मिकसप्तविधभयविनिर्मुक्तता, अर्हदुपदिष्टे वा प्रवचने किमिदं स्याद्वा नवेति शङ्कानिरासो निःशङ्कितत्वम्। उभयलोकविषयोपभोगाकाङ्क्षानिवृत्तिः कुदृष्ट्यन्तराकाङ्क्षानिरासो वा निःकाङ्क्षता। शरीराद्यशुचिस्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासंकल्पापनयः, अर्हत्प्रवचने वा इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्नमित्यशुभभावनाविरहः निर्विचिकित्सता। बहुविधेषु दुर्नयदर्शनवर्त्मसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्त्यभावं परीक्षाचक्षुषा व्यवसाय्य[3] विरहितमोहता अमूढदृष्टिता। उत्तमक्षमादिभावनया आत्मनो धर्मपरिवृद्धिकरणमुपबृंहणम्। कषायोदयादिषु धर्मेपरिभ्रंशकारणेषु उपस्थितेष्वात्मनो धर्माऽप्रच्यवनं परिपालनं स्थितिकरणम्। जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता वात्सल्यम्। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयप्रभावेन आत्मनः प्रकाशनं प्रभावनम्।

ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसंपन्नता ।२। सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधनेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता।

चरित्रविकल्पेषु शीलव्रतेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः ।३। अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः कायवाङ्मनसां शीलव्रतेष्वनतिचार इति कथ्यते।

ज्ञानभावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः ।४। मत्यादिविकल्पं ज्ञानं जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषयं प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणम् अज्ञाननिवृत्त्यव्यवहितफलं हिताहितानुभयप्राप्तिपरिहारोपेक्षाव्यवहितफलं यत्, तस्य भावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः।

संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः ।५। शारीरं मानसं च बहुविकल्पप्रियविप्रयोगाऽप्रियसंयोगेप्सिताऽलाभादिजनितं संसारदुःखं यदतिकष्टं ततो नित्यभीरुता संवेगः।

परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः ।६। आहारो दत्तः पात्राय तस्मिन्नहनि तत्प्रीतिहेतुर्भवति, अभयदानमुपपादितमेकभवव्यसननोदनकरम्, सम्यग्ज्ञानदानं पुनः अनेकभवशतसहस्रदुःखोत्तरणकारणम्। अत एतत्त्रिविधं यथाविधि प्रतिपद्यमानं त्यागव्यपदेशभाग्भवति।

अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः ।७। शरीरमिदं दुःखकारणमनित्यमशुचि, नास्य यथेष्टभोगविधिना परिपोषो युक्तः, अशुच्यपीदं गुणरत्नसंचयोपकारीति विचिन्त्य विनिवृत्तविषयसुखाभिष्वङ्गस्य स्वकार्यं प्रत्येतद्भृतकमिव नियुञ्जानस्य यथाशक्ति मार्गाविरोधि कायक्लेशानुष्ठानं तप इति निश्चीयते।

१ अगुप्ति। २ अत्राण। ३ व्यवसायवि-ता०, श्र०, मू०, द०। निश्चीय। ४ साक्षात्फलम्।

मुनिगणतपःसंधारणं समाधिः भाण्डागाराग्निप्रशमनवत् ।८। यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात् तथा अनेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनिगणस्य तपसः कुतश्चित् प्रत्यूहे समुत्थिते तत्संधारणं समाधिरिति समाख्यायते ।

गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैय्यावृत्यम् ।९। गुणवतः साधुजनस्य दुःखे सन्निहिते निरवद्येन विधिना तदपहरणं बहूपकारं वैयावृत्त्यमिति व्याख्यायते ।

अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः ।१०। अर्हदाचार्येषु केवलश्रुतज्ञानादिदिव्यनयनेषु परहितकरप्रवृत्तेषु स्वपरसमयविस्तरनिश्चयज्ञेषु च बहुश्रुतेषु प्रवचने च श्रुतदेवतासन्निधिगुणयोगदुरासदे मोक्षपदभवनारोहणसुरचितसोपानभूते भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः, त्रिविधा (चतुर्विधा) कल्प्यते ।

षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनमावश्यकाऽपरिहाणिः ।११। षडावश्यकक्रियाः—सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चेति । तत्र सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं चित्तस्यैकत्वेन ज्ञाने प्रणिधानम् । चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थकरगुणानुकीर्तनम् । वन्दना त्रिशुद्धिः द्व्यासना चतुःशिरोऽवनतिः द्वादशावर्तना । अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम् । अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानम् । परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः । इत्येतासां षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनम् अनौत्सुक्यं आवश्यकाऽपरिहाणिरिति परिभाष्यते ।

ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनम् ।१२। ज्ञानरविप्रभया परसमयखद्योतोद्योततिरस्कारिण्या, सत्तपसः महोपवासादिलक्षणेन सुरपतिविष्टरप्रकम्पनहेतुना, जिनपूजया वा भव्यजनकमलषण्डप्रबोधनप्रभया, सद्धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनमिति संभाव्यते ।

वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम् ।१३। यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति तथा सधर्माणमवलोक्य तद्गतस्नेहार्द्रीकृतचित्तता प्रवचनवत्सलत्वमित्युच्यते । यः सधर्मणि स्नेहः स एव प्रवचनस्नेह इति । तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थकरनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि ।

आह—नामानन्तरनिर्देशभाजो गोत्रस्योपादाने किं निबन्धनमिति प्रतिविधीयते । तद्द्वैविध्ये सति आद्यस्य तावत्—

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणच्छा[1]दनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

दोषोद्भावनेच्छा निन्दा ।१। तथ्यस्य वा अतथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रतीच्छा मनःपरिणामोऽवज्ञेपो निन्देत्युच्यते ।

गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा ।२। सद्भूतस्याऽसद्भूतस्य वा गुणस्योद्भावनं प्रत्यभिप्रायः प्रशंसेत्युपदिश्यते । परश्च आत्मा च परात्मानौ, निन्दा च प्रशंसा च निन्दाप्रशंसे, परात्मनो निन्दाप्रशंसे परात्मनिंन्दाप्रशंसे यथासंख्यमभिसंबन्धः । परनिन्दा आत्मप्रशंसेति यावत् ।

अनुद्भूतवृत्तिता छादनम् ।३। प्रतिबन्धकहेतुसन्निधाने सति अनुद्भूतवृत्तिताऽनाविर्भावः छादनमित्यवसीयते ।

१—त्वमिति कथ्यते मु०, श्र० । २—णाच्छा—मू० । —णोच्छा—श्र० ।

प्रतिबन्धकाऽभावे प्रकाशितवृत्तितोद्भावनम् ।४। प्रतिबन्धकस्य हेतोरभावे प्रकाशितवृत्तिता उद्भावनमिति व्यपदेशमर्हति ।

संश्चाऽसंश्च सदसन्तौ, सदसन्तौ च तौ गुणौ च सदसद्गुणौ, छादनं चोद्भावनं च छादनोद्भावने, सदसद्गुणयोः छादनोद्भावने सदसद्गुणच्छादनोद्भावने । अत्रापि यथासंख्यमभिसंबन्धः, सद्गुणच्छादनमसद्गुणोद्भावनमिति ।

गूयते तदिति गोत्रम् ।५। गूयते शब्द्यते तदिति गोत्रम् , औणादिकेन त्रटा निष्पत्तिः ।

नीचैरित्यधिकरणप्रधानः शब्दः ।६। नीचैरित्ययं शब्दः अधिकरणप्रधानो द्रष्टव्यः, नीचैः स्थाने येनात्मा क्रियते तन्नीचैर्गोत्रम् , तस्यास्रवकारणान्येतानि परनिन्दादीनि । तत्प्रपञ्च उच्यते—जातिकुलबलरूपश्रुताज्ञैश्वर्यतपोमद-परावज्ञानोत्प्रहसन-परपरिवादशीलता-धार्मिकजननिन्दात्मोत्कर्षा-ऽन्ययशोविलोपा-ऽसत्कीर्त्युत्पादन-गुरुपरिभव-तदुद्धट्टन-दोषख्यापन-विहेडन-स्थानावमान-भर्त्सन-गुणावसादन-अञ्जलिस्तुत्यभिवादनाभ्युत्थानाऽकरण-तीर्थकराधिक्षेपादिः ।

आह—उपपादितो नीचैर्गोत्रस्यास्रवः, इदानीमुच्चैर्गोत्रस्यास्रवविधिः क इति ? अत्रोच्यते—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

नीचैर्गोत्रास्रवप्रतिनिर्देशनार्थस्तच्छब्दः ।१। प्रत्यासत्तेस्तदित्यनेन नीचैर्गोत्रास्रवः प्रतिनिर्दिश्यते ।

विपर्ययोऽन्यथावृत्तिः ।२। अन्येन प्रकारेण वृत्तिर्विपर्यय इति व्यपदिश्यते । तस्य विपर्ययः तद्विपर्ययः । कः पुनरसौ—आत्मनिन्दा-परप्रशंसे सद्गुणोद्भावनमसद्गुणच्छादनं च ।

गुरुष्ववनतिर्नीचैर्वृत्तिः ।३। गुणोत्कृष्टेषु विनयेन अवनतिर्नीचैर्वृत्तिरित्याख्यायते ।

अनहङ्कारताऽनुत्सेकः ।४। विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतः तत्कृतमदविरहोऽनहङ्कारता अनुत्सेक इत्युच्यते । तान्येतानि उत्तरस्योच्चैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि भवन्ति । प्रपञ्चस्तु विव्रियते—जातिकुलबलरूपवीर्यपरिज्ञानैश्वर्यतपोविशेषवतः आत्मोत्कर्षाऽप्रणिधानं परावज्ञानौद्धत्यनिन्दाऽसूयोपहासपरपरिवादनिवृत्तिः विनिहतमानता धर्म्यजनपूजाऽभ्युत्थानाञ्जलिप्रणतिवन्दना ऐदंयुगीनान्यपुरुषदुर्लभगुणस्याप्यनुत्सिक्तता, अहङ्काराऽत्यये नीचैर्वृत्तिता भस्मावृतस्येव हुतभुजः स्वमाहात्म्याप्रकाशनं धर्मसाधनेषु परमसम्भ्रम इत्यादि ।

आह—उक्तः सप्तविधकर्म प्रत्यास्रवविकल्पः । इदानीमष्टमस्य कर्मणोऽन्तरायस्यास्रवविधिः क इति ? अत्रोच्यते—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

दानादिविहननं विघ्नः ।१। दानादीन्युक्तानि "दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च" [त० सू० २।४] इत्यत्र, तेषां विहननं विघ्न इत्युच्यते । "घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्" [जैनेन्द्र० वा० २।३।५२] इति कविधिः । विघ्नस्य कारणं विघ्नकरणम् अन्तरायस्यास्रव इति संक्षेपः । तद्विस्तरस्तु विव्रियते—ज्ञानप्रतिषेध-सत्कारोपघात-दानलाभभोगोपभोगवीर्यस्नानानुलेपनगन्धमाल्याच्छादनविभूषणशयनासनभक्ष्यभोज्यपेयलेह्यपरिभोगविघ्नकरण-विभवसमृद्धिविस्मय-द्रव्यापरित्याग-द्रव्यासंप्रयोगसमर्थनाप्रमादा-ऽवर्णवाद-देवतानिवेद्यानिवेद्यग्रहण-निरवद्योपकरणपरित्याग-परवीर्यापहरण-धर्मव्यवच्छेद[3]नकरण-कुशलाचरणतपस्विगुरुचैत्यपूजाव्याघात-प्रव्रजितकृपणदीनानाथवस्त्रपात्रप्रति -

---

१—णोच्छा—श्र० । २ श्र० मु० प्रत्योः 'घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्' इति वार्तिकचिह्नाङ्कितम् । ३—नकुश—मु०, द०, ब० । —नकरणाकुश—ता०, मू० ।

श्रयप्रतिषेधक्रिया-परनिरोधबन्धन-गुह्याङ्गछेदन-कर्णनासिकौष्ठकर्तन-प्राणिवधादिः । अत्र चोद्यते-सूत्रेऽनुपात्तः सर्वास्रवप्रपञ्चः कथमेवं गन्तुं (मवगन्तुं)शक्यते इति ? अत्रोच्यते—

इतिकरणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः ।२। इतिकरणोऽनुवर्तते । क प्रकृतः ? "क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य" [६।१२] इत्यतः, तेनानुक्तार्थसंग्रहः सर्वत्र वेदितव्यः । प्रकारार्थो हि इतिकरण इति ।

स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो विकारः शौण्डातुरवत् ।३। एवमुक्तेनास्रवविधिनोपात्तं कर्माष्टविधं ज्ञानावरणादिसंज्ञकं वक्ष्यमाणमूलोत्तरप्रकृतिभेदं यत्तन्निमित्तमात्मा संसारविकारमनुपरतमनुभवति । यथा शौण्डः स्वरुचिविशेषान्मदमोहविभ्रमकरीं मदिरां पीत्वा तत्परिपाकवशात् अनेकविकारमास्कन्दति, यथा वा आतुरः अपथ्यभोजनकृतं वातादिविकारमवाप्नोति ।

[1]अनपदिष्टहेतुकत्वादास्रवाऽनियम इति चेत्; न; स्वभावाभिव्यञ्जकत्वाच्छास्त्रस्य ।४। स्यान्मतम्-य उक्त आस्रवनियमो ज्ञानावरणादीनां तत्प्रदोषनिह्नवादिः, स नोपपद्यते, कुतः ? अनपदिष्टहेतुकत्वात् । नात्र हेतु[2]रपदिष्टः येनास्रवनियमं प्रतिपद्येमहि । यच्च नाम सहेतुकं तद्विदुषां[3] ग्राह्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? स्वभावाभिव्यञ्जकत्वात् शास्त्रस्य । यथा प्रदीपो घटादीनां स्वभावमभिव्यनक्ति तथा शास्त्रमपि सतामेवार्थानां प्रकाशकम्, तत्रायं परिणाम इदं वीर्यं द्रव्यावर्जनसमर्थ इति स्वभावव्याख्यानादुपालम्भाभावः ।

तत्सिद्धिरतिशयज्ञानदृष्टत्वात् ।५। तस्य शास्त्रस्य सतामर्थानामभिव्यञ्जकत्वं दृष्टम् । कुतः ? अतिशयज्ञानदृष्टत्वात्, भगवतामर्हतामतिशयवज्ज्ञानं युगपत्सर्वार्थावभासनसमर्थं प्रत्यक्षम्, तेन दृ[4]ष्टं तद्दृष्टं यच्छास्त्रं तद् यथार्थोपदेशकम्, अतस्तत्प्रामाण्यात् ज्ञानावरणाद्यास्रवनियमप्रसिद्धिः ।

सर्वाविसंवादाच्चोपालम्भनिवृत्तिः ।६। नात्र प्रवादिनो विसंवदन्ते-पृथिव्यादीनां द्रव्याणां कठिनद्रवोष्णचलनादिस्वभावानां रूपादीना च गुणानां चाक्षुषत्वादिप्रतिनियतस्वभावानां उत्क्षेपणादीनां च संयोगविभागनिरपेक्षकारणत्वादिस्वभावानामभ्युपगमात् । तथा सत्त्वरजस्तमसां गुणानां प्रकाशप्रवृत्तिनियमस्वभावानामभ्युपेतत्वात् । तथा अविद्यादीनां संस्कारादिप्रतिनियतकारणस्वभावानामिष्टत्वात्[10] ततो नायमुपालम्भः आस्रवनियमाभाव इति ।

तत्प्रदोषादीनां सर्वास्रवत्वान्नियमाभाव इति चेत्; न; अनुभागविशेषनियमोपपत्तेः ।७। स्यादेतत्-ये[11] तत्प्रदोषनिह्नवादयः ज्ञानावरणादीनामास्रवाः प्रतिनियता उक्ताः, ते सर्वेषां कर्मणामास्रवा भवन्ति, ज्ञानावरणे बध्यमाने युगपदितरेषामपि बन्ध इष्यते आगमे, तस्मादास्रवनियमाभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? अनुभागविशेषनियमोपपत्तेः । यद्यपि तत्प्रदोषादिभिः ज्ञानावरणादीनां सर्वासां प्रकृतीनां प्रदेशादिबन्धनियमो नास्ति, तथापि अनुभागविशेषनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोषनिह्नवादयः प्रविभज्यन्ते ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥६॥

---

१ अनुपदि-श्र० । २-तुरुप-श्र० । ३-षा ग्रा-श्र०, मू०, द०, ता० । ४ द्रव्यार्जन-श्र० । ५ दृष्टं यच्छा-मु०, द०, ब० । ६ तत्र प्रवादिनो न वि-मु०, द० । ७-वादीनाञ्चोत्वे-मु०, द० । ८ वैशेषिकैः-स० । ९ सांख्यैः-स० । १० बौद्धैः । ११ एतत्प्रदो-ता०, श्र० ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

आस्रवपदार्थव्याख्यां प्रति[1]ज्ञायोक्तोऽष्टोत्तरशतभेदसंख्यो बहुविचारः । स द्वेधा पुण्यपापलक्षणसाम्परायिकनिमित्तत्वात् । तत्र पुण्यास्रवो व्याख्येयः प्रधानत्वात् तत्पूर्वकत्वात् मोक्षस्य । यद्येवम्, उच्यतां कैस्ते क्रियाविशेषाः प्रारभ्यमाणास्तस्यास्रवा भवन्तीति ? अत्रोच्यते-व्रतिभिः । तत्रानिर्धारि[2]तेयत्ताविशेषलक्षणत्वात् व्रतस्य तत्प्रसिद्ध्यर्थमिदमुच्यते-

अथवा, "कायवाङ्मनस्कर्म योगः, स आस्रवः, शुभः पुण्यस्य" [६।१,२,३] इति सामान्येनोक्तः, तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते-

अथवा, उक्तमेतत् सद्वेद्यास्रवविधाने-"भूतव्रत्यनुकम्पा" [६।१२] इति; तत्रेदं न ज्ञायते किं व्रतम्, को व्रतीति ? तन्निर्धारणार्थमिदमुच्यते—

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

हिंसादयो निर्देक्ष्यमाणलक्षणाः ।१। "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा [७।१३] इत्येवमादिभिः सूत्रैः हिंसादीनां लक्षणं निर्देक्ष्यते ।

विरमणं विरतिः ।२। चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमनिमित्तौपशमिकादिचारित्राविर्भावात् विरमणं विरतिः ।

[3]व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः ।३। बुद्धिपूर्वकपरिणामोऽभिसन्धिः, इदमेवेत्थमेव वा कर्तव्यमित्यन्यनिवृत्तिः नियमः, अभिसन्धिना कृतः अभिसन्धिकृतः सर्वत्र व्रतव्यपदेशभाग् भवति ।

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्य इत्यपादाननिर्देशः ।४। हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्य इत्यपादाननिर्देशो द्रष्टव्यः ।

ध्रुवत्वाभावात्तदनुपपत्तिरिति चेत्; न; बुद्ध्यपाये ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः ।५। स्यान्मतम्-नात्राऽपादानत्वमुपपद्यते । कुतः ? ध्रुवत्वाभावात् । ध्रुवत्वेन हि प्रसिद्धोऽर्थः अपादानसंज्ञो भवति यथा ग्रामादागच्छति इति, न तथा हिंसादयः परिणामा ध्रुवाः [4]क्षणिकत्वात्, तदपायेऽपायाऽप्रतीतेः । अथ हिंसादिपरिणत आत्मैव हिंसादिव्यपदेशभागिति द्रव्यार्थादेशात् ध्रुवत्वं कल्प्यते, एवमपि ततो विरतिर्नोपपद्यते नित्यत्वात्, तस्मादपादानत्वमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? बुद्ध्यपाये ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः, यथा धर्माद्विरमतीत्यत्र य एष मनुष्यः [5]सम्भिन्नबुद्धिः स पश्यति[6]-'दुष्करो धर्मः फलं[7] चास्य श्रद्धामात्रगम्यम्' इति स्वबुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते । एवमिहापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी स पश्यति य एते हिंसादयः परिणामाः पापहेतवः पापकर्मणि च प्रवर्तमानमिहैव राजानो दण्डयन्ति परत्र च बहुविधं दुःखमवाप्नोतीति [8]स्वबुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते । ततो बुद्ध्या ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः अपादानत्वं युक्तम् ।

१-ख्याप्रतिज्ञायो-मू० । -ख्याप्रतिज्ञयो-मु०, द०, श्र०, ब० । २-ते यत्रावि-मु०, द०, ब० । ३ "अभिसन्धिकृतो विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति"-रत्नक० श्लो० ८६ । ४ कारणत्वात् मु० । कारणत्वात्-मू०, द० । ५ हतबुद्धिः । ६ किमिति ? ७ स्वर्गोऽस्तीति । ८ स बु-मु०, मू०, द० ।

अहिंसायाः प्रधानत्वादादौ तद्वचनम्, इतरेषां तत्परिपालनार्थत्वात्।६। अहिंसा सर्वेषु व्रतेषु प्रधानम् अतस्तद्वचनमादौ क्रियते। कुतः पुनः प्राधान्यम्? इतरेषां तत्परिपालनार्थत्वात्। इतराणि हि सत्यादीनि व्रतानि शश्वस्य[1] वृतिपरिक्षेपवत् अहिंसापरिपालनार्थानि।

विरतिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते।७। हिंसाया विरतिः, अनृताद्विरतिः, स्तेयाद्विरतिः, अब्रह्मणो विरतिः, परिग्रहाद्विरतिरिति। यद्येवम्–

विषयभेदाद्विरतिभेदे बहुत्वप्रसङ्गः।८। यथा गुडतिलौदनादीनां पक्तव्यानां भेदात् पाको भिद्यते–द्वौ पाकौ त्रयः पाका इति, एवं त्यक्तव्यहिंसादिभेदात्त्यागस्यापि भेदोपपत्तेः विरतेर्बहुत्वं प्राप्नोति इति?

न वा; तद्विषयविरमणसामान्योपादानात्।९। न वा एष दोषः। किं कारणम्? तद्विषयविरमणसामान्योपादानात्। नात्र विषयभेदाद्भेदो विवक्षितः। यथा गुडतिलौदनादीनां पाक इति सामान्ये विवक्षिते एकवचनं तथा विरमणसामान्यस्य विवक्षितत्वादेकवचनं न्याय्यम्। तत एव सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतम्, भेदपरतन्त्रछेदोपस्थापनापेक्षया पञ्चविधं व्रतम्। अत्र कश्चिदाह–

हिंसादिभ्यो निवृत्तिवचनमनर्थकं संवरेऽन्तर्भावात्।१०। हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्व्रतमिति आस्रवप्रकरणे विधानमिदमनर्थकम्; कुतः? संवरेऽन्तर्भावात्।

प्रतिज्ञामात्रमिति चेत्; न; धर्माभ्यन्तरत्वात्।११। स्यान्मतम्–प्रतिज्ञामात्रमेतत्–संवरेऽन्तर्भाव इति; तन्न; किं कारणम्? धर्माभ्यन्तरत्वात्। दशविधो हि धर्मो वक्ष्यते, तत्र संयमे भावकायविनयेर्यापथभैक्ष्यशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्याष्टविधविशुद्धिलक्षणे अहिंसादीनामन्तर्भावः, सत्यादिषु[3] च।

तत्प्रपञ्चार्थं उपन्यास इति चेत्; न; तत्रैव करणात्।१२। स्यादेतत्–तस्य संयमस्यायं प्रपञ्चो यथा स्यादित्यहिंसादीनाम् उपन्यास इति; तन्न; किं कारणम्? तत्रैव करणात्। यदि तस्यैवायं प्रपञ्चः, तत्रैव क्रियेत प्रकरणोत्कर्षकरणे प्रयोजनाभावात्।

[4]न संवरो व्रतानि परिस्पन्ददर्शनात्।१३। व्रतानि संवरव्यपदेशं नार्हन्ति। कुतः? परिस्पन्ददर्शनात्। परिस्पन्दो हि दृश्यते, अनृताऽदत्तादानपरित्यागे सत्यवचन-दत्तादानक्रियाप्रतीतेः।[5]

गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च।१४। गुप्त्यादिलक्षणः संवरो वक्ष्यते, तस्येदं परिकर्म[6] व्रतानि, कृतव्रतपरिकर्मा हि साधुः सुखेन संवरं करोतीति, ततश्च पृथक्त्वमवसेयम्।

रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानमिति चेत्; न; भावनान्तर्भावात्।१५। स्यान्मतम्–इह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानं कर्त्तव्यं तदपि षष्ठमणुव्रतमिति; तन्न; किं कारणम्? भावनान्तर्भावात्। भावनासु हि अन्तर्भवति रात्रिभोजनविरमणम्।

अनिर्देशादिति चेत्; न; आलोकितपानभोजनवचनात्।१६। अथ मतमेतत्–भावनासु निर्देशाभावादयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम्? आलोकितपानभोजनवचनात्। वक्ष्यते हि अहिंसाव्रतपरिपालनाय आलोकितपानभोजनभावना कार्या इति।

प्रदीपादिसंभवे सति रात्रावपि तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; अनेकारम्भदोषात्।१७। स्यान्मतम्–यद्यालोकनार्थं दिवाभोजनम्, प्रदीपचन्द्रादिप्रकाशाभिव्यक्तं रात्रौ भोजनं कार्यमिति; तन्न; किं कारणम्? अनेकारम्भदोषात्। अग्न्यादिसमारम्भकरणकारणलक्षणो हि दोषः स्यात्।

---

१ शश्वद्वृत्ति–मु०, मू०। २–तन्त्राच्छेदो–अ०। सत्यशौचादिषु। ४ आचार्यवचनमिदम्। ५ न तु संवरः परिस्पन्दलक्षणः। ६ संस्कारः।

परकृतप्रदीपादिसंभवे तदभाव इति चेत्; न; चङ्क्रमणाद्यसंभवात्।१८। स्यादेतत्–परकृत-प्रदीपादिसंभवे नारम्भदोषः इति; तन्न; किं कारणम्? चङ्क्रमणाद्यसंभवात्। 'ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशपरीक्षितमार्गेण युगमात्रपूर्वापेक्षी देशकाले पर्यट्य यतिः भिक्षां शुद्धामुपाददीत' इत्याचारोपदेशः, न चायं विधिः रात्रौ भवतीति चङ्क्रमणाद्यसंभवः।

दिवानीतस्य रात्रौ भोजनप्रसङ्गः इति चेत्; न; उक्तोत्तरत्वात्।१९। स्यान्मतम्–दिवा ग्रामं पर्यट्य केनचिद्भाजने भोजनाद्यानीय रात्रावुपयोगः प्रसक्त इति; तन्न; किं कारणम्? उक्तोत्तरत्वात्। उक्तोत्तरमेतत्–प्रदीपादिसमारम्भप्रसङ्ग इति। नेदं संयमसाधनम्–आनीय भोक्तव्यमिति। नापि निस्सङ्गस्य पाणिपात्रपुटाहारिणः आनयनं संभवति। भाजनान्तरसंग्रहे अनेकावद्यदर्शनात् अतिदीनचरितप्रसङ्गादचिरादेवं[2] निवृत्तिपरिणामासंभवाच्च। भाजनेनानीतस्य परीक्ष्य भोजनं संभवतीति चेत्; न; योनिप्राभृतज्ञस्य संयोगविभागगुणदोषविचारस्य तदानीमेवोपपत्तेः, आनीतस्य पुनर्दोषदर्शनात् विसर्जनेऽनेकदोषोपपत्तेश्च।

स्फुटार्थाभिव्यक्तेश्च दिवाभोजनं युक्तम्।२०। यथा रविप्रकाशस्य स्फुटार्थाभिव्यञ्जकत्वात् भूमिदेशदातृजनचङ्क्रमणाद्यन्नपानादिपतितमितरच्च स्पष्टमुपलभ्यते न तथा चन्द्रादिप्रकाशानाम् अस्फुटार्थाभिव्यञ्जकत्वात् स्फुटा भूम्याद्युपलब्धिरस्तीति दिवाभोजनमेव युक्तम्।

तदेतदविशेषचोदितं पञ्चतयविषयव्रताभिधानं[3] विरत्याश्रयविवक्षाद्वयसंभवात् अभिधेयात्मभूतधर्मोपादानादभिधानानां [4]व्यक्तिव्यपदेशवद् द्वैविध्यमनुभवतीत्याह—

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

कुतश्चिद्दिश्यते इति देशः।१। कुतश्चिदवयवात् दिश्यत इति देशः प्रदेशः, एकदेश इत्यर्थः।

सरत्यशेषानवयवानिति सर्वः।२। सरति गच्छति अशेषानवयवानिति सर्व इत्युच्यते। देशश्च सर्वश्च देशसर्वौ, देशसर्वाभ्यां देशसर्वतः। विरतिरित्यनुवर्तते। हिंसादेर्देशतो विरतिरणुव्रतम्, सर्वतो विरतिर्महाव्रतम्। अणु च महच्च अणुमहती इति व्रतापेक्षया नपुंसकलिङ्गनिर्देशः।

आह–'न हिनस्मि नानृतं वदामि नादत्तमाददे नाङ्गनां स्पृशामि न परिग्रहमुपाददे' इति एषोऽभिसन्धिः, योऽत्राऽसमर्थभावनापरः कथं यथाप्रतिज्ञाताभिघातभाक् स्यात् इति? अत्रोच्यते– यस्मादवहितेनेमा भावयितव्याः परमार्थादित्सया–

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

भावनाशब्दः कर्मसाधनः।१। अयं भावनाशब्दः कर्मसाधनो द्रष्टव्यः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षेण आत्मना भाव्यन्ते ता इति भावनाः।

पञ्च पञ्चेत्यत्र वीप्सायां शस्प्रसङ्ग इति चेत्; न; कारकाधिकारात्।२। स्यादेतत्–पञ्च पञ्चेत्यस्मिन् निर्देशे वीप्साविवक्षिते वीप्सायां शसा भवितव्यं पञ्चश इति, तथा सति लघुश्च निर्देशो भवतीति; तन्न; किं कारणम्? कारकाधिकारात्। कारकादिति तत्र [5]वर्तते, न चाऽत्र कारकत्वमस्ति इति शसा न भवितव्यम्।

क्रियाध्याहारात् कारकत्वमिति चेत्; न; विकल्पाधिकारात्।३। स्यादेतत्–'पञ्च पञ्च भावयेत्' इत्येवमादि क्रियापदाध्याहारे कारकत्वोपपत्तौ शसा भवितव्यमिति; तन्न; किं

१–मुपाददीयेतेत्या–अ०। –मुपादीयतेत्या–मु०। २ दीक्षाग्रहणकाले 'सर्वसावद्यविरतोऽस्मि' इति परिणामो न संभवति, तदैव भाजनान्तरसंग्रहे परिणामत्वात्। ३ कर्मतापन्नम्। ४ गवाद्यात्मभूतसास्नादिधर्मस्वीकारात्। ५ शबलशाबलेयादि। ६ प्रवर्त–अ०।

कारणम् ? विकल्पाधिकारात् वेत्यनुवर्तते, तेनात्र शस् न भवति। ननु लघुत्वात् शसा निर्देशः कर्तव्यः; प्रतिपत्तेः गौरवं मा भूत् इति द्वित्वमेव कृतम्, वाक्याध्याहारे हि क्रियमाणे प्रतिपत्ते-गौरवं स्यात् इति। तस्य पञ्चविधस्य व्रतस्य स्थैर्यार्थम् एकैकस्य पञ्च पञ्च भावना वेदितव्याः।

यद्येवम्, आद्यस्य अहिंसाव्रतस्य का इति ? उच्यते—

वाङ्मनोगुप्तीर्याऽऽदाननिक्षेपणसमित्यालोकित-पानभोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥

वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिरादाननिक्षेपणसमितिरालोकितपानभोजनमित्येताः पञ्च अहिंसाव्रतस्य भावनाः।

अथ द्वितीयस्य व्रतस्य काः ?

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥

क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यानं भीरुत्वप्रत्याख्यानं हास्यप्रत्याख्यानम् अनुवीचिभाषणं चेत्येताः पञ्च भावनाः सत्यव्रतस्य ज्ञेयाः। अनुवीचिभाषणम् अनुलोमभाषणमित्यर्थः। ननु अप्रशस्तक्रियस्यापि वचसोऽनुवीचिभाषणमापन्नम्; नैष दोषः; पुण्यास्रवस्य प्रकृतत्वात्, अप्रशस्तक्रियानुवीचिभाषणस्यानधिकारः। विचार्य भाषणमनुवीचिभाषणमिति वा।

इदानीं तृतीयस्य व्रतस्य भावना वक्तव्याः—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥

शून्यागारेषु गिरिगुहातरुकोटरादिष्वावासः। परकीयेषु च मोचितेष्वावासः। परेषाम् उपरोधाकरणम्। आचारशास्त्रमार्गेण भैक्ष्यशुद्धिः। ममेदं तवेदमिति सधर्मभिः अविसंवाद इति एताः पञ्च अदत्तादानविरमणव्रतस्य भावनाः प्रत्येतव्याः।

अथेदानीं ब्रह्मचर्यस्य भावना वक्तव्याः—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥

स्त्रीरागकथाश्रवणवर्जनं तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणविरहः पूर्वरतानुस्मरणपरित्यागः वृष्येष्टरसानुभवननिरासः स्वशरीरसंस्कारत्यागश्चेति चतुर्थव्रतस्य भावनाः पञ्च [2]विज्ञेयाः।

अतः परं पञ्चमव्रतस्य भावना निर्देष्टव्याः—

मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥

पञ्चानामिन्द्रियाणां स्पर्शादीनामिष्टानिष्टेषु विषयेषु उपनिपतितेषु स्पर्शादिषु रागद्वेषवर्जनानि पञ्च अस्य आकिञ्चन्यव्रतस्य भावनाः प्रत्येतव्याः।

किञ्चान्यत्, यथा अमीषां व्रतानां द्रढिमार्थं भावनाः [3]प्रति यतेद् विपश्चिदिति भावनोपदेशः, तथा तदर्थं तद्विरोधिष्वपि, इत्याह—

१ भाव्यन्ते मु०, द०। २ ज्ञेयाः अ०। ३ प्रयतेत विपश्चिदिति-ता०। प्रतीयते तद्विपश्चिद्भिरिति मु०।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां नाशकोऽपायो भयं वा ।१। अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियासाधनानां नाशकोऽनर्थः अपाय इत्युच्यते। अथवा ऐहलौकिकादिसप्तविधं भयमपाय इति कथ्यते।

अवद्यं गर्ह्यम् ।२। गर्ह्यमवद्यमिति यावत्। अपायश्च अवद्यं च अपायावद्ये। अपायावद्ययोर्दर्शनं अपायावद्यदर्शनं भावयितव्यम्। क्व ? इहाऽमुत्र च। केषु ? हिंसादिषु। कथमिति-चेत् ? उच्यते–हिंसायां तावत् हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयः सततानुबद्धवैरश्च, इहैव च वधबन्ध-परिक्लेशादीन् प्रतिलभते, प्रेत्य चाशुभां गतिम्, गर्हितश्च भवति इति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान्। तथा अनृतवादी [1]अश्रद्धेयो भवति, इहैव च जिह्वाच्छेदनादीन् प्रतिलभते, मिथ्याभ्याख्यानदुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनानि अवाप्नोति, प्रेत्य चाशुभां गतिम्, गर्हितश्च भवति इति अनृतवचनात् व्युपरमः श्रेयान्। तथा स्तेनः परद्रव्याहरणासक्तमतिः सर्वस्योद्वेजनीयो भवति, इहैव चाऽभिघातवधबन्धहस्तपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादीन् प्रतिलभते, प्रेत्य चाशुभां गतिम्, गर्हितश्च भवतीति स्तेयात् व्युपरमः श्रेयान्। तथा अब्रह्मचारी मदविभ्रमोद्ग्रथितचित्तः वनगज इव [2]वासितावञ्चितो विवशो वधबन्धपरिक्लेशादीन् अनुभवति, मोहाभिभूतत्वाच्च कार्याऽकार्यानभिज्ञो न [3]किञ्चिदकुशलं नाचरति, पराङ्गनालिङ्गनासङ्गकृतरतिश्च इहैव वैरानुबन्धिनः लिङ्गच्छेदनवधबन्धसर्वस्वहरणादीन् अपायान् प्राप्नोति, प्रेत्य चाऽशुभां गतिमश्नुते, गर्हितश्च भवतीति, अतो विरतिरात्महिता। तथा परिग्रहवान् शकुनिरिव गृहीतमांसखण्डः अन्येषां तदर्थिनां पतत्रिणाम्, इहैव तस्करादीनामभिभवनीयो भवति, तदर्जनरक्षणप्रक्षयकृतांश्च दोषान् बहूनवाप्नोति, न चास्य तृप्तिर्भवति इन्धनैरिवाग्नेः, लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति, प्रेत्य चाऽशुभां गतिमास्कन्दति, लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवति इति तद्विरमणं श्रेयः। एवं हिंसादिष्वपायावद्यदर्शनं भावनीयम्।

हिंसादिषु भावनान्तरप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अत्र चोद्यते–दुःखमसद्वेद्योदयकृतः परितापः, हिंसादयः क्रियाविशेषाः, कथं दुःखमेव हिंसादयः इति ? अत्रोच्यते—

दुःखमेवेति कारणे कार्योपचारोऽन्नप्राणवत् ।१। यथा 'अन्नं वै प्राणाः' इति प्राणकारणे अन्ने प्राणोपचारः तथा दुःखकारणेषु हिंसादिषु दुःखमेव इत्युपचारो वेदितव्यः।

कारणकारणे वा धनप्राणवत् ।२। अथवा, यथा द्रविणकारणमन्नपानम्, अन्नपानकारणाः प्राणाः इति प्राणकारणे द्रविणे प्राणोपचारः। उक्तं च—

"यदेतद् द्रविणं नाम प्राणा ह्येते बहिश्चराः।
स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम् ॥ १ ॥" [ ] इति

तथा हिंसादयोऽसद्वेद्यकर्मकारणम्, असद्वेद्यकर्म दुःखकारणमिति दुःखकारणकारणेषु हिंसादिषु दुःखमेवेत्युपचारः।

तत्परत्र भावनमात्मसाक्षिकम् ।३। तदेतद्दुःखमेवेति भावनं परत्रात्मसाक्षिकम् अवगन्तव्यम्। तद्यथा–ममाऽप्रियं यथा वधपरिपीडनं तथा सर्वसत्त्वानाम्। यथा मम मिथ्याख्यानकटु-

१ श्रद्धेयो न भ-मु०, द०, ल०। २ करिण्या। ३ किञ्चिदपि कुशलं नाच-द०। किञ्चिदपि कुशलमाच-मु०।

कपरुषादीनि वचांसि शृण्वता अतितीव्रदुःखमभूतपूर्वमुत्पद्यते एवं सर्वजीवानाम्। यथा च ममेष्टद्रव्यवियोगे व्यसनमभूतपूर्वमुपजायते एवं सर्वभूतानाम्। यथा च मम कान्ताजनपरिभवे परकृते सति मानसी पीडाऽतितीव्रा जायते तथेतरेषाम्। यथा च मम परिग्रहेषु अप्राप्तेषु प्राप्तेषु विनष्टेषु काङ्क्षारक्षाशोकोद्भवं दुःखं तथा सर्वप्राणिनामिति हिंसादिभ्यो व्युपरमः परमहितः।

स्पर्शकृतं सुखमिति चेत्; न; वेदनाप्रतीकारत्वात् ।४। स्यादेतत्, न सर्वं दुःखमेव। किं तर्हि? स्पर्शकृतं सुखमप्यस्ति, वराङ्गनामृदुसुभगगात्रसंश्लेषणात् रतिसुखमुपजायत इति; तन्न; किं कारणम्? वेदनाप्रतीकारत्वात्। यथा त्वङ्मांसरुधिरकलुषभावोद्दीर्णया कण्ड्वा बाध्यमानः नखमुखशकलशर्करादिभिः छिन्नगात्रो रुधिरार्द्रोऽनुपरतकण्डूयो दुःखमपि तत्सुखमिति मन्यते, तथा मैथुनोपसेवी मोहादसुखमपि सुखमिति मन्यते। दुःखयोनित्वाच्च दुःखमेवेति भावनीयम्।

यथैते क्रियाविशेषाः तात्पर्येण भाव्यमाना व्रतपूर्णतां जनयन्ति तथा अमूनि तादर्थ्यात् ऐहिकप्रयोजनविनिवृत्तौत्सुक्येन अवहितचेतसाऽजस्रं भाव्यमानानि व्रतसम्पदमापादयन्तीत्याह—

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ११ ॥

परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री ।१। स्वकायवाङ्मनोभिः कृतकारितानुमतविशेषणैः परेषां दुःखानुत्पत्तौ अभिलाषः मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री।

वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः ।२। वदनप्रसादेन नयनप्रह्लादनेन रोमाञ्चोद्भवेन स्तुत्यभीक्ष्णसंज्ञासंकीर्तनादिभिश्च अभिव्यज्यमानाऽन्तर्भक्तिरागः प्रकर्षेण मोदः प्रमोद इत्युच्यते।

दीनानुग्रहभावः कारुण्यम् ।३। शारीरमानसदुःखाभ्यर्दितानां दीनानां प्राणिनाम् अनुग्रहात्मकः परिणामः करुणस्य भावः कर्म वा कारुण्यमिति कथ्यते।

रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताऽभावो माध्यस्थ्यम् ।४। रागात् द्वेषाच्च कस्यचित् पक्षे पतनं पक्षपातः तदभावात् मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, मध्यस्थस्य भावः कर्म वा माध्यस्थ्यम्।

अनादिकर्मबन्धवशात् सीदन्तीति सत्त्वाः ।५। अनादिना अष्टविधकर्मबन्धसन्तानेन तीव्रदुःखयोनिषु चतसृषु गतिषु सीदन्तीति सत्त्वाः।

सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः ।६। सम्यग्ज्ञानदर्शनादयो गुणाः, तैः प्रकृष्टा गुणाधिका इति विज्ञायन्ते।

असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः ।७। असद्वेद्योदयापादितशारीरमानसदुःखसन्तापात् क्लिश्यन्त इति क्लिश्यमानाः।

तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसम्पादितगुणा अविनेयाः ।८। तत्त्वार्थोपदेशश्रवणग्रहणाभ्यां विनीयन्ते पात्रीक्रियन्ते इति विनेयाः, न विनेया अविनेयाः। एतेषु सत्त्वादिषु मैत्र्यादीनि यथाक्रमं भावयितव्यानि। तद्यथा, 'क्षमयामि[3] सर्वजीवान् क्षाम्यामि सर्वजीवेभ्यः, प्रीतिर्मे सर्वसत्त्वैः, वैरं मे न केनचित्' इति मैत्री सर्वसत्त्वेषु भावयितव्या। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राधिकेषु वन्दनास्तुतिवैयावृत्यकरणादिभिः प्रमोदो भावनीयः। मोहाभिभूतेषु मतिश्रुताज्ञानविभङ्गपरिगतेषु विषयतर्षाग्निना दह्यमानमानसेषु हिताहितविपरीतप्रवृत्तिषु विविधदुःखाभिभूतेषु दीनकृपणाऽनाथबालवृद्धेषु क्लिश्य-

---

१ प्राक्षविन—मु०, द०, ता०, मू०, ब०। २ परमः हि—मु०, द०। ३ "खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे। मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मम ण केणवि॥" —मूलाचा० गा० ४३।

मानेषु कारुण्यं भाव्यम्। अविनेयेषु ग्रहणधारणविज्ञानोहापोहवियुक्तेषु महामोहाभिभूतेषु दुष्टव्युद्ग्राहितेषु च माध्यस्थ्यं भावनीयम्। न हि तत्र वक्तुर्हितोपदेशस्य फलवत्त्वं भवतीति। एवं भावयतः परिपूर्णानि अहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति।

किमेतावानेव अभिनवाऽकुशलकर्मादाननिवृत्तिपरेण महाव्रतधारिणा क्रियाकलापः प्रणिधातव्यः? नेत्याह—

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

जगत्कायशब्दावुक्तार्थौ ।१। जगच्छब्दः कायशब्दश्च उक्तार्थौ द्रष्टव्यौ।

स्वेनात्मना भवनं स्वभावः ।२। स्वेनात्मना असाधारणेन धर्मेण भवनं स्वभाव इत्युच्यते।

जगच्च कायश्च जगत्कायौ, जगत्काययोः स्वभावौ जगत्कायस्वभावौ।

संसाराद् भीरुता संवेगः ।३। संसाराद् विविधवेदनाकराद् भीरुता संवेजनं संवेग इत्युच्यते।

रागकारणाभावात् विषयेभ्यो विरञ्जनं विरागः ।४। चारित्रमोहोदयाभावे तस्योपशमात् क्षयात् क्षयोपशमाद्वा शब्दादिभ्यो विरञ्जनं विराग इति व्यवसीयते। विरागस्य भावः कर्म वा **वैराग्यम्**। संवेगश्च वैराग्यं च संवेगवैराग्ये, संवेगवैराग्याभ्यां संवेगवैराग्यार्थं जगत्कायस्वभावौ भावयितव्यौ। तद्यथा—जगत्स्वभावस्तावत् आदिमदनादिमत्परिणामद्रव्यसमुदायरूपः तालवृक्षसंस्थानः अनादिनिधनः। अत्र जीवाः चतसृषु गतिषु नानाविधं दुःखं भोजं भोजं परिभ्रमन्ति न चात्र किञ्चिन्नियतमस्ति। जलबुद्बुदोपमं जीवितम्, विद्युन्मेघादिविकारचपला भोगसंपदः इत्येवमादिः। कायस्वभावश्च अनित्यता दुःखहेतुत्वं निःसारता अशुचित्वमित्येवमादिः। एवं भावयतः संवेगः संजायते। तत आरम्भपरिग्रहदोषदर्शनाद्विरतिः धर्मे बहुमानो धार्मिकेषु च धर्मश्रवणे धार्मिकदर्शने च मनसः प्रसादः। उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तौ च श्रद्धेति वैराग्यं च भवति शरीरभोगोपभोगसंसारनिर्वेदलक्षणम्। एवं भावनोपेतः सम्यग्व्रतानि परिपालयति।

ता एताः सर्वा व्रतभावनाः सर्वेषु पदार्थेषु सर्वथा नित्येषु सत्सु विक्रियाभावात् नोपपद्यन्ते। विक्रियाभ्युपगमे च नित्यताप्रतिज्ञाहानिः। सर्वथैवाऽनित्येषु चाऽनेकक्षणवृत्त्येकवस्त्वभावात् अनेकार्थविषयैकविज्ञानाभावाच्च स्मरणानुपपत्तेर्भावनाऽभावः। अनेकान्तवादिनः पुनः द्रव्यार्थिकनयादेशात् नित्यतामवलम्बमानस्य उभयनिमित्तवशात् उत्पत्तिनिरोधौ प्रत्याभिमुख्यमादधानस्य स्मरणोपपत्तेः विक्रियोपपत्तेश्च भावनासिद्धिः।

अत्राह—उक्तं भवता हिंसादिनिवृत्तिर्व्रतमिति। तत्र न जानीमः के हिंसादयः क्रियाविशेषा इति? अत्रोच्यते—युगपद्वक्तुमशक्यत्वात् तल्लक्षणनिर्देशस्य क्रमप्रसङ्गे यासावादौ चोदिता सैव तावत्—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

अनवगृहीतप्रचारविशेषः प्रमत्तः ।१। इन्द्रियाणां प्रचारविशेषमनवधार्य प्रवर्तते यः स प्रमत्तः।

अभ्यन्तरीकृतेवार्थो वा ।२। अथवा, अभ्यन्तरीकृतेवार्थः प्रमत्त इत्युच्यते। कः पुनरिवार्थः? यथा सुरापः प्रवृद्धमदत्वात् कार्याऽकार्यवाच्याऽवाच्याद्यनभिज्ञः, तथा जीवस्थानयोन्याश्रयविशेषानविद्वान् कषायोदयाविष्टः हिंसाकारणेषु स्थितः अहिंसायां [2]सामान्येन न यतत इति प्रमत्तः।

१—कारवदफला—मु०, द०। २ साम्येन न यतते मू०। साम्येन न प्रयतते ब०।

पञ्चदशप्रमादपरिणतो वा ।३। अथवा चतसृभिः विकथाभिः कषायचतुष्टयेन पञ्चभिरिन्द्रियैः निद्राप्रणयाभ्यां च परिणतो यः स प्रमत्त इति कथ्यते ।

योगशब्दः संबन्धपर्यायवचनः ।४। अयं योगशब्दः संबन्धपर्यायवचनो द्रष्टव्यः, योजनं योगः संबन्ध इति यावत् । यद्येवं भावप्रधानो निर्देशः कर्तव्यः–'प्रमत्तत्वयोगाद्' इति, द्रव्यप्रधाने हि सति संबन्धाऽप्रतीतेः; नैष दोषः; आत्मपरिणाम एव कर्तृत्वेन निर्दिश्यते प्रमाद्यतिस्म इति प्रमत्तः परिणामः, तेन योगात् प्रमत्तयोगादिति ।

कायवाङ्मनस्कर्म वा ।५। अथवा, कायवाङ्मनस्कर्म योग इत्युच्यते । प्रमत्तस्य योग प्रमत्तयोगः तस्मात् प्रमत्तयोगात् इति हेतुनिर्देशः । प्रमत्तयोगाद्धेतोः प्राणव्यपरोपणं हिंसेति ।

व्यपरोपणं वियोगकरणम् ।६। वियोगकरणं व्यपरोपणमित्युच्यते । प्राणा उक्ताः, तेषां व्यपरोपणं प्राणव्यपरोपणम् ।

प्राणग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य ।७। प्राणग्रहणं क्रियते तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य । प्राणवियोगपूर्वको हि प्राणिवियोगः, स्वतः प्राणिनो निरवयवत्वाद्वियोगाभावात् ।

अन्यत्वादधर्माभावः इति चेत् ; न; तद्दुःखोत्पादकत्वात् ।८। स्यान्मतम्–प्राणेभ्योऽन्य आत्मा, अतः प्राणवियोगे नात्मनः किञ्चिद्बवतीत्यधर्माभावः स्यादिति; तन्न; किं कारणम् ? तद्दुःखोत्पादकत्वात् । प्राणव्यपरोपणे हि सति तत्संबन्धिनो जीवस्य दुःखमुत्पद्यत इत्यधर्मसिद्धिः ।

शरीरिणोऽन्यत्वात् दुःखाऽभाव इति चेत् ; न; पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात् ।९। स्यादेतत्–अन्यः शरीरी प्राणेभ्यः, अतस्तत्पूर्वकदुःखमस्य न युज्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात् । अन्यत्वेऽपि सति पुत्रकलत्रादिवियोगे तापो दृश्यते ।

बन्धं प्रत्येकत्वाच्च ।१०। यद्यपि शरीरिशरीरयोः लक्षणभेदान्नानात्वम्, तथापि बन्धं प्रत्येकत्वात् तद्वियोगपूर्वकदुःखोपपत्तेरधर्माऽभाव इत्यनुपालम्भः ।

एकान्तवादिनां तदनुपपत्तिर्बन्धाभावात् ।११। ये निष्क्रियत्वनित्यत्वशुद्धत्वसर्वगतत्वादिभिः एकान्तेन आत्मानं कल्पयन्ति तेषां शरीरेण [1]सह बन्धाभावात् दुःखादीनामनुपपत्तिर्भवति ।

उभयविशेषणोपादानम् अन्यतराभावे हिंसाऽभावज्ञापनार्थम् ।१२। प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणमित्येतदुभयं विशेषणमुपादीयते । किमर्थम् ? अन्यतराभावे हिंसाऽभावज्ञापनार्थम् । यदा प्रमत्तयोगो नास्ति केवलं प्राणव्यपरोपणमेव न तदा हिंसा । उक्तं च—

"वियोजयति चासुभिर्न च [2]वधेन संयुज्यते ।" [सिद्ध० द्वा० ३।१६]

"उच्चालदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
आवादेज्ज [3]कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥१॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहमोपि देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहोत्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ॥२॥" [प्रवचनसा० ३।१७, चे० १–२] इति[4] ।

ननु च प्राणव्यपरोपणाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते । उक्तं च—

"मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ १ ॥" [प्रवचनसा० ३।१७] इति ।

---

१ सम्बन्धाभावा–अ० । २ वधदोषेण । ३ कुत्सितप्राणी पृथिव्यादिकायिक इत्यर्थः । ४ द्रष्टव्यम्–जयध० पृ० १०३ टि० ४, ५ ।

नैष दोषः; तत्रापि प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम् । तथा चोक्तम्—

"स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥ १ ॥" [ ] इति[1] ।

एवं कृत्वा यैरुपालम्भः क्रियते—

"जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च ।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः ॥" [ ] इति;

सोऽत्रावकाशं न लभते । भिक्षोर्ज्ञानध्यानपरायणस्य प्रमत्तयोगाभावात् । किञ्च, सूक्ष्मस्थूलजीवाभ्युपगमात् ।

"सूक्ष्मा न प्रतिपाड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः ।
ये शक्यास्तेविवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः ॥" [ ]

अत्र कश्चिदाह–साधूक्तं भवता प्राणव्यपरोपणं हिंसेति । प्राणानां हि परस्परतो वियोगो हिंसा, न कश्चित् प्राणी विद्यते इति । अत उत्तरं पठति–

प्राण्यभावे प्राणाभावः कर्तुरभावात् ।१३। यदि प्राणी न स्यात् प्राणानामभावः । कुतः ? कर्तुरभावात् । इह कुशलाऽकुशलात्मककर्मपूर्वकाः प्राणाः तच्च कर्म असति[2] कर्तरि न भवतीति प्राणाभावः स्यात्, अतः प्राणसद्भाव एव प्राणिनोऽस्तित्वं गमयति । सन्दंशादिकरणसद्भावे अयस्कारसंसिद्धिवत् ।

किञ्च, असति प्राणिनि रूपणाऽनुभवनोपलम्भननिमित्तग्रहणसंस्करणभिन्नलक्षणाः [3]रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः विविक्तशक्तित्वात् परस्परोपकारं प्रति विनिवृत्तौत्सुक्याः क्षणिकत्वात् स्वप्रयोजनं प्रत्यप्यसमर्थाः हिंसानिर्वृत्तिहेतवो न भवन्ति । स्मृत्यभिसन्धिक्रियाचित्तानां [4]व्यधिकरणवदेकाधिकरणेऽप्यनुपपत्तेः, एकेनापि विकले प्राणातिपाताऽनभ्युपगमात् । अपि च, उत्पत्त्यनन्तरं विनाशाभ्युपगमे निरोधस्याहेतुकत्वात् प्राणातिपातलक्षणस्य विनाशस्य हिंसको हेतुर्न भवति इति तत्फलानभिसंबन्धः । अथाऽहेतोरपि तत्फलमिष्यते; अहिंसको नाम न कश्चिदस्ति । भिन्नसन्तानोत्पत्तिहेतुर्हिंसक इति चेत् ; न; असत उत्पत्तेर्हेत्वभावात् । अथाऽसत उत्पत्तेर्हेतुरिष्यते; सतो विनाशे हेतुः स्यादिति को विरोधः ?

आह–अभिहितलक्षणहिंसानन्तरोद्दिष्टम् अनृतं किं लक्षणमिति ? अत्रोच्यते—

असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥

असदिति नञा सत्प्रतिषेधाच्छून्यार्थसंप्रत्ययप्रसङ्गः ।१। न सत् असदिति नञा सत्प्रतिषेधः क्रियते, तेन शून्यार्थसंप्रत्ययः प्रसज्यते, तेन नास्ति न किञ्चिदित्येवमाद्येवानृतं स्यात्, यदसत् सदिति ब्रूयात् न तदनृतं स्यात् ।

न वा, सच्छब्दस्य प्रशंसार्थवाचित्वात् ।२। न वैष दोषः, किं कारणम् ? सच्छब्दस्य प्रशंसार्थवाचित्वात् । न सदसत् अप्रशस्तमिति यावत् ।

---

१ उद्धृतोऽयम्–स० सि० ७।१३ । २ आत्मनि । ३ रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः परस्परानुसम्बन्धा रूपस्कन्धाः । सुखदुखादयो वेदनास्कन्धाः । सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानानि विज्ञानस्कन्धाः । वृक्षादिनामानि संज्ञास्कन्धाः । ज्ञानपुण्यपापादिवासनाः संस्कारस्कन्धा इति पञ्च स्कन्धाः । ४ अभिप्राय । ५ अन्याश्रयवत् ।

अभिधानशब्दः करणादिसाधनः ।३। अयमभिधानशब्दः करणादिषु साधनेषु द्रष्टव्यः। अभिधीयते अनेन, अभिधीयते, अभिधा वा अभिधानमिति। असतोऽर्थस्याभिधानम् असदभिधानम्।

ऋतं सत्यार्थे ।४। ऋतमित्येतत् पदं सत्यार्थे द्रष्टव्यम्। सत्सु साधु सत्यं प्रत्यवायकारणानिष्पादकत्वात्। न ऋतमनृतम्।

मिथ्याऽनृतमित्यस्तु लघुत्वात् इति चेत्; न; विपरीतार्थमात्रसंप्रत्ययप्रसङ्गात् ।५। स्यान्मतम्–मिथ्याऽनृतमित्येतत् सूत्रमस्तु। कुतः? लघुत्वात्। सूत्रं हि नाम यल्लघु गमक[2] च तत् कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? विपरीतार्थमात्रसंप्रत्ययप्रसङ्गात्। अयं हि मिथ्याशब्दः विपरीतार्थे वर्तते। तेन भूतनिह्नवे अभूतोद्भावने च यदभिधानं तदेवानृतं स्यात्–नास्ति आत्मा नास्ति परलोक इति, श्यामाकतण्डुलमात्र[3]मात्मा अङ्गुष्ठपर्वमात्रः सर्वगतो निष्क्रियः इति च, यत्तु विद्यमानार्थविषयं परप्राणिपीडाकरणं तन्न स्यात्। असदिति पुनरुच्यमाने अप्रशस्तार्थं यत् तत्सर्वमनृतमुक्तं भवति। तेन विपरीतार्थस्य प्राणिपीडाकरस्य चानृतत्वमुपपन्नं भवति।

अथाऽनृतानन्तरमुद्दिष्टं यत्स्तेयं तस्य किं लक्षणमिति? अत आह—

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

आदानं ग्रहणम्, अदत्तस्याऽऽदानम् अदत्तादानं स्तेयमित्युच्यते।

सर्वमदत्तमाददानस्याऽकुशलकल्पनायां [4]कर्मादेयमात्मसात्कुर्वतः स्तेयप्रसङ्गः ।१। यद्यविशेषेण अदत्तस्य आदानं स्तेयमित्युच्यते, कर्माष्टविधं अन्येनाऽदत्तमाददानस्य स्तेयं प्राप्नोतीति। एतेन [5]नोकर्मापि चोदितं भवति।

न; दानादानयोर्यत्रैव प्रवृत्तिनिवृत्ती तत्रैवोपपत्तेः ।२। नैष दोषः, येषु मणिमुक्ताहिरण्यादिषु दानादानयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिसंभवः तेष्वेव स्तेयस्योपपत्तेः, तेन कर्मणि नास्ति प्रसङ्गः।

इच्छामात्रमिति चेत्; न; अदत्तादानग्रहणात् ।३। स्यादेतत्–इच्छामात्रमिदं यस्य दानादानसंभवस्तस्य ग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्? अदत्तादानग्रहणात्। यस्य हि दानादाने संभवतः तस्य ग्रहणमकुशलम्। यदि हि कर्मादानमपि स्तेयं स्यात् 'अदत्तादानम्' इत्येतत् विशेषणमयुक्तं स्यात्, प्रसक्तस्य अदत्तमिति प्रतिषेधोपपत्तेः।

कर्मापि हि किमर्थं कस्मैचिन्न दीयत इति चेत्; न; हस्तादिकरणग्रहणविसर्गासंभवात्[6] सूक्ष्मत्वात् ।४। अथ मतमेतत्–किमर्थं कर्म न कस्मैचिद्दीयत इति गृह्यते? ननु लोकवादः प्रसिद्धः–आरामविहारादि[7]पादपानां फलम् अन्यस्मै जलसेकेन[8] दीयते इति; तन्न; किं कारणम्? हस्तादिकरणविसर्गासंभवात्। यथा वस्त्रपात्रादि हस्तादिकरणैरादीयते अन्यस्मै च दीयते न तथा कर्म हस्तादिभिरादीयते अन्यस्मै च दीयते। कुतः? सूक्ष्मत्वात्। सूक्ष्मं हि कर्म हस्तादिग्रहणविसर्गयोग्यं न भवति। कथं तर्हि तदादीयते?

शरीराहारविषयपरिणामतस्तद्बन्धः ।५। स्वपरकीयेषु शरीरेषु आहारेषु शब्दादिविषयेषु च रागद्वेषरूपात्तीव्रादिविकल्पात् परिणामात् तस्य कर्मबन्धो भवति, ततः स्वपरिणामवशीकृतत्वाच्च नान्यस्मै दीयते। यद्येवं नित्यकर्मबन्धः प्राप्नोति? नैष दोषः;

१ कर्मसाधनः। २ ज्ञापकम्। ३–त्र आ–मु०। ४ आदातुं योग्यम्। ५ अदत्तस्तस्या–श्र०। ६ शरीर। ७–त् अथ ता०, श्र०, मू०, द०, ब०, आ०। ८–दिनिष्पादनं फलम् ता०, श्र०, मू० द० ब०, आ०। ९ धारापूर्वक–मित्यर्थः।

आस्रवनिरोधे सति संवृतत्वाद् बन्धाभावः ।६। आस्रवनिरोधो वक्ष्यते गुप्त्यादिलक्षणः, तस्मिन् सति संवृतत्वात् नास्ति बन्धः इति नित्यबन्धाभावः। अतो यत्रैवैहलौकिकोपकारविशेषाद् दानाभिप्रायस्तत्रैव अदत्तादानप्रक्लृप्तिः।

शब्दादिविषयरथ्याद्वारादद्यदत्तादानात् स्तेयप्रसङ्ग इति चेत्; न; अप्रमत्तत्वात् ।७। स्यादेतत्–शब्दादिविषयरथ्याद्वारादीन्यदत्तानि आददानस्य भिक्षोः स्तेयं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अप्रमत्तत्वात्। यत्नवतो ह्यप्रमत्तस्य ज्ञानिनः शास्त्रदृष्ट्या शब्दादिविषयरथ्याद्वारादाद्यादानेऽपि विरतस्याऽस्तेयप्रसिद्धेः, सामान्यतो मुक्तत्वात्। दत्तमेव वा तत्सर्वम्, तथा हि अयं पिहितद्वारादीन् न प्रविशति।

वन्दनादिनिमित्तधर्मादानात् स्तेयप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।८। स्यान्मतम्–वन्दनाक्रियासंबन्धेन धर्मोपचये सति प्रशस्तं स्तेयं प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्–दानादानसंभवो यत्र तत्र स्तेयप्रसङ्ग इति।

प्रमत्ताधिकाराच्चान्यत्राऽप्रसङ्गः ।९। "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" [त० ७।१३] इत्यतः प्रमत्तयोगग्रहणमनुवर्तते। तेन प्रमत्तस्य स्तेयम्, वन्दनादिषु योगत्रयेणाऽऽभिमुख्यादात्मनः प्रमत्तत्वं नास्ति, अतः सत्यपि धर्मादानेऽस्य न स्तेयम्। परिशेषात् प्रमत्तस्य सत्यसति च परकीयद्रव्यादाने [9]त्रेधाऽपि तदादानाद्यर्थोद्यतत्वात् स्तेयम्, तदपि प्राणिपीडाकारणत्वात् पापास्रव इत्युच्यते।

अत्राह–व्याख्यातं हिंसादित्रयलक्षणम्। अथाऽब्रह्म किंलक्षणमिति? अत्रोच्यते—

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

मैथुनमिति किमिदम्? मिथुनस्य भावो मैथुनम्।

मिथुनस्य भाव इति चेत्; न; द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसङ्गात् ।१। यदि मिथुनस्य भावो मैथुनमित्युच्यते; नैतद्युक्तम्; कुतः? द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसङ्गात्। एवं सति औदासीन्यावस्थितविनिवृत्तरागस्त्रीपुंसभवनेऽपि मैथुनप्रसङ्गः।

मिथुनस्य कर्मेति चेत्; न; पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसङ्गात् ।२। यदि मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते; नैतदुपपन्नम्; कुतः? पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसङ्गात्। द्वयोः पुरुषयोः निर्वर्त्यं यद्धारोद्वहनादि कर्म तत्रापि प्रसङ्गः स्यात्।

स्त्रीपुंसयोः कर्म इति चेत्; न; पच्यादिक्रियाप्रसङ्गात् ।३। स्यान्मतम्–न सर्वं मिथुनमिह परिगृह्यते अनिष्टप्रसङ्गात्, ततः स्त्रीपुंसमिथुनविषयकर्मसंग्रह इति; तन्न; किं कारणम्? पच्यादिक्रियाप्रसङ्गात्। ततश्च स्त्रीप्रव्रजितयोर्नमस्काराद्यासेवने मैथुनप्रसङ्गदोषः। अत उत्तरं पठति–

स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे रागपरिणामो मैथुनम् ।४। चारित्रमोहोदये सति स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे सति सुखमुपलिप्समानयोः रागपरिणामो यः स मैथुनव्यपदेशभाक्। ननु नायं शब्दार्थः; सत्यमेवमेतत्; तथापि "प्रसिद्धिवशात् अर्थाध्यवसायः" [ ] इतीष्टार्था गृह्यते।

न वैकस्मिन्नप्रसङ्गात् ।५। न चैतद्युक्तम्? कुतः? एकस्मिन्नप्रसङ्गात्। हस्तपादपुद्गलसंघट्टनादिभिरब्रह्म सेवमाने एकस्मिन्नपि मैथुनमिष्यते, तन्न सिद्ध्यति।

उपचारादिति चेत्; न; मुख्यफलाभावप्रसङ्गात् ।६। स्यादेतत्–यथा स्त्रीपुंसयोः चारित्रमोहोदये वेदनापीडितयोः कर्म मैथुनं तथैकस्यापि चारित्रमोहोदयोद्रिक्तरागस्य हस्तादिसंघट्टनेऽस्ति

९ अन्यासाधारणम्। २ त्रिधापि–मु०, द०, ब०।

मैथुनमिति; न; मुख्यफलाभावप्रसङ्गात्। यन्मुख्ये मैथुने कर्मास्रवफलं तदत्र न प्रसज्यते मुख्यसिंहगतक्रौर्यशौर्यादेर्माणवकेऽप्रवृत्तिवत्। इष्यते च मुख्यमतो नोपचारः।

न वा स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगस्याविशेषाभि[1]मानात्।७। यथा स्त्रीपुंसयो रत्यर्थे संयोगे परस्परतिकृतस्पर्शाभिमानात् सुखं तथैकस्यापि हस्तादिसघट्टनात् स्पर्शाभिमानस्तुल्यः। तस्मान्मुख्य एव तत्रापि मैथुनशब्दलाभः रागद्वेषमोहाविष्टत्वात्। किञ्च,

एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धेः।८। यथैकस्यापि पिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वं तथैकस्य चारित्रमोहोदयाविष्कृतकामपिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वसिद्धेः मैथुनव्यवहारसिद्धिः।

प्रसिद्धिवशाच्चार्थविशेषप्रतीतेः पूर्वोक्तानां चाऽनवद्यत्वम्।९। अयं मैथुनशब्दः लोके शास्त्रे च स्त्रीपुरुषसंयोगजरतिविशेषे प्रसिद्धः। लोके तावद् गोपालादयोऽपि स्त्रीपुंसरतिकर्म मैथुनमित्याचक्षते। शास्त्रेऽपि "[3]अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्" [पा० वा० ७।१।५१] इत्येवमादौ तदेव कर्माख्यायते। ततः प्रसिद्धिवशात् अर्थविशेषप्रतीतेः पूर्वोक्तानां च पञ्चानामनवद्यत्वमवसेयम्। तद्यथा—

यत्तावदुक्तम्–मिथुनस्य भाव इति चेन्न द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसङ्गादिति; तदसत्; अभ्यन्तरपरिणामाभावे बाह्यहेतोरफलत्वात्। यथा [4]कंकडुकचणकादीनाम् अभ्यन्तरपाककारणक्लिन्नेदशक्त्यभावात् बाह्योदकाग्निसंबन्धस्याऽफलत्वं तथा अभ्यन्तरचारित्रमोहोदयापादितस्त्रैणपौंस्नात्मकरतिपरिणामाभावात् बाह्यद्रव्यद्वयभवनेऽपि न मैथुनम्।

यच्चोक्तम्–मिथुनस्य कर्मेति चेन्न पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसङ्गात् इति; तच्च [5]वार्तम्; कुतः? कदाचित् पुरुषद्वयेऽपि दर्शनात्। चरित्रमोहोदयाविष्टानां हि पुरुषाणां तादृशेष्वेव पुरुषेषु मैथुनं दृश्यते। उक्तं च—

"पुरुषाः पुरुषेष्वेव यदनिष्टप्रयोजनाः।
अत्यारूढस्य तत्सर्वं रागस्यैव विचेष्टितम्॥" [ ] इति।

यदप्युक्तम्–स्त्रीपुंसयोः कर्मेति चेन्न पच्यादिक्रियाप्रसङ्गात् इति; तदसाम्प्रतम्; कुतः तद्विषयस्यैव ग्रहणात्। तयोरेव यत्कर्म तदिह गृह्यते, पच्यादिकर्म पुनः अन्येनापि क्रियते। अपि च, प्रमत्तयोगादित्यनुवर्तते ततः चरित्रमोहोदयात् प्रमत्तस्य मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युक्तम्, नमस्कारादुपयुक्तस्य चाऽप्रमत्तत्वात् चारित्रमोहोदयाभावाच्च सत्यपि वन्दनादिमिथुनकर्मणि न मैथुनम्।

अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म।१०। अहिंसादयो गुणाः यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयन्ति तद् ब्रह्मेत्युच्यते, न ब्रह्म अब्रह्म। किं तत्? मैथुनम्। तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति। यस्मात् मैथुनसेवनप्रवणः स्थाणुचरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्ते सचेतनमितरं च परिग्रहं गृह्णाति।

अत्राह– उक्तं भवता हिंसादिचतुष्टयस्य विशेषलक्षणम्। इदानीमिदमुच्यतां परिग्रहस्य किं लक्षणमिति? अत्रोच्यते–

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

मूर्च्छेत्युच्यते। का मूर्च्छा?

बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिव्यापृतिर्मूर्च्छा।१। बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्तादीनां चेतना-

१ तन्न मु०, ब०। २–भिधानात् मु०, द०, ब०। ३ वृषाऽश्वयोर्मैथुने। ४ कंकडुकच–अ०, ता०। ५ अयुक्तम्। ६ तादृशेषु पु–मु०, ब०। ७ स्थाणुंश्चरिष्णून् मु०, ब०।

चेतनानाम् अभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणव्यापृतिः मूर्च्छेति कथ्यते।

वातपित्तश्लेष्मविकारप्रसङ्ग इति चेत्; न; विशेषितत्वात्।२। स्यान्मतम्–वातपित्तश्लेष्मणामन्यतमस्य दोषस्य प्रकोपात् उपजायमानो विकारो मूर्च्छेति; तन्न; किं कारणम्? विशेषितत्वात्। मूर्च्छिरयं मोहसामान्ये वर्तमानः बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिविषयः परिगृहीत इति विशेषितत्वात् इष्टार्थसंप्रत्ययो भवति। सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्त इति।

बाह्यस्याऽप्रसङ्ग इति चेत्; न; आध्यात्मिकप्रधानत्वात्।३। स्यादेतत्–मूर्च्छेत्यनेन आध्यात्मिकः परिग्रहः परिगृह्यते, तेन बाह्यस्य परिग्रहत्वं न प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? आध्यात्मिकप्रधानत्वात्। ममेदमिति संकल्पः आध्यात्मिकः परिग्रहः, स प्रधानभूत इति तस्योपादानं क्रियते, तस्मिन् संगृहीते तत्कारणस्याप्यनुषङ्गेण[1] प्रतीतेः। अथ यदा बाह्यः प्राधान्येन इष्यते कथं तस्य संग्रहः?

मूर्च्छाकारणत्वाद् बाह्यस्य मूर्च्छाव्यपदेशः।४। यथा अन्नं वै प्राणा इति प्राणकारणे अन्ने प्राणोपचारः, तथा मूर्च्छाकारणत्वात् बाह्यः परिग्रहो मूर्च्छेति व्यवह्रियते।

ज्ञानदर्शनचारित्रेषु सङ्गः परिग्रहः इति चेत्; न; प्रमत्तयोगाधिकारात्।५। स्यान्मतम्–यथा आध्यात्मिकेऽपि रागादावात्मपरिणामे सङ्गः परिग्रह इत्युच्यते, ज्ञानदर्शनचारित्रेष्वपि ममेति संकल्पः परिग्रहः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? प्रमत्तयोगाधिकारात्। ततः ज्ञानदर्शनचारित्रवतोऽप्रमत्तस्य मोहाभावात् न मूर्च्छास्ति इति निष्परिग्रहत्वं सिद्धम्। किञ्च, तेषां ज्ञानादीनामहेयत्वात् आत्मस्वभावानतिवृत्तेरपरिग्रहत्वम्। रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इत्यनात्मस्वभावत्वाद्धेयाः, ततस्तेषु संकल्पः परिग्रह इति युज्यते।

तन्मूलाः सर्वदोषानुषङ्गाः।६। सः परिग्रहो मूलमेषां ते तन्मूलाः। के पुनस्ते[2]? सर्वे दोषानुषङ्गाः? ममेदमिति हि सति संकल्पे रक्षणादयः सञ्जायन्ते। [3]तत्र च हिंसाऽवश्यंभाविनी, तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रतियतते, तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकाराः, इहापि अनुपरतव्यसनमहार्णवावगाहनम्।

एवममूभिर्भावनाभिः स्थिरीकृतचेतसोऽपायावद्यदर्शिनो विचक्षणस्य सर्वसंसारिक्रियाकलापात् दुःखबुद्ध्या निरुत्सुकीकृतविषयकुतूहलस्य[4] मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यप्रणिधानापादितसौहार्दस्य जन्ममरणपरिखेदितमतेरवलोकितशरीरस्वभावस्य मोक्षं प्रत्यवहितस्य यस्य सन्ति व्रतानि स भवति–

निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥

अनेकधा प्राणिगणशरणाच्छल्यम्।१। विविधवेदनाशलाकाभिः प्राणिगणं शृणाति हिनस्ति इति शल्यम्।

आबाधकत्वादुपचारसिद्धिः।२। यथा शरीरानुप्रवेशात् काण्डादिप्रहरणं शरीरिणो बाधाकरं शल्यं तथा कर्मोदयविकारोऽपि शारीरमानसबाधाहेतुत्वात् शल्यमिव शल्यमित्युपचर्यते।

तत्त्रिविधं मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात्।३। तदेतच्छल्यं त्रिविधं वेदितव्यम्। कुतः? मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात्। माया निकृतिर्वञ्चनेत्यनर्थान्तरम्, विषयभोगाकाङ्क्षा निदानम्, मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम्। एतत्त्रैविधाच्छल्यान्निष्क्रान्तो निःशल्यो व्रतीत्युच्यते। अत्र कश्चिदाह–

१ गौणेन। २ सर्वदोषा–मु०, द०, ब०। ३ तथा सति। ४ विरक्तस्य।

विरोधाद्विशेषणानुपपत्तिः ।४। निःशल्यत्वं व्रतित्वमित्येतदुभयं विरुद्धम्, ततो न निःशल्यत्वाद् व्रती भवितुमर्हति। न हि दण्डसंबन्धाच्छत्री स्यात्, तस्मात् व्रताभिसंबन्धादेव व्रतीति वक्तव्यम्, शल्याभावाच्च निःशल्य इति।

आनर्थक्यं च, अन्यतरेण गतार्थत्वात् ।५। यदि व्रतित्वान्निःशल्यः, तस्मात् व्रतीत्येतावद्वाच्यम्, न निःशल्य इति। यदि च निःशल्यत्वात् व्रती, तस्मान्निःशल्य इत्येतावद्वाच्यम्, न व्रतीति।

विकल्प इति चेत्; न; फलविशेषाभावात् ।६। स्यादेतत्–विकल्पोऽत्र गृह्यते निशल्यो वा व्रती वा इति, ततो न विशेषणविशेष्यसंबन्धाऽभावो दोष इति; तन्न; किं कारणम्? फलविशेषाभावात्। फलविशेषवतां हि लोके विकल्पो दृष्टः, यथा देवदत्तं घृतेन वा सूपेन वा दध्ना वा भोजयेत् इति, न तथेह फलविशेषोऽस्ति निःशल्यो वा व्रती वेति उभयविशेषणविशिष्टस्यैकस्येष्टत्वात्।

नवा, अङ्गाङ्गिभावस्य विवक्षितत्वात् ।७। न वा एष दोषः, किं कारणम्? अङ्गाङ्गिभावस्य विवक्षितत्वात्। न हिंसाद्युपरतिमात्रव्रतसंबन्धात् व्रती भवति अन्तरेण शल्याभावम्, सति शल्यापगमे व्रतसंबन्धात् व्रतीति विवक्षितः। यथा बहुक्षीरघृतो 'गोमान्' इति व्यपदिश्यते, बहुक्षीरघृताभावात् सतीष्वपि गोषु न गोमान् तथा सशल्यत्वात् सत्स्वपि व्रतेषु न व्रती, यस्तु निःशल्यः स व्रती। [1]तत्रैतत् स्यात्[2]– कथमेतदेवं[3] भविष्यतीति? उच्यते—

प्रधानानुविधानात् अप्रधानस्य ।८। यथा तीक्ष्णेन परशुना छिनत्तीति तीक्ष्णगुणविशिष्टपरशुरप्रधानभूतः छेत्तुः प्रधानस्योपकारे वर्तते तथा निःशल्यत्वगुणविशिष्टानि व्रतानि गुणभूतानि तद्व्रतः प्रधानस्य विशेषकाणि।

आह– किमेष व्रती व्यपगतशल्यत्रयो हिंसाद्यभावात् यथोक्तक्रियासमूहविजृम्भितपरिणामः परिग्रहनिरपेक्षः सर्व एव अगारसंबन्धं प्रति निवृत्तौत्सुक्यः प्रतिज्ञायते उत विरतोऽपि कश्चित् गृही निश्चीयत इति? अत्रोच्यते–अमीषामेव हिंसादीनां विरतिविशेषस्य भेदात् अधिकृतो व्रती द्वेधा—

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

प्रतिश्रयार्थितया अङ्गनादगारम् ।१। प्रतिश्रयार्थिभिः जनैरङ्ग्यते गम्यते तदित्यगारं वेश्म इत्यर्थः। अगारमस्यास्तीत्यगारी, न विद्यते अगारमस्येत्यनगारः।

अनियमप्रसङ्ग इति चेत्; न; भावागारस्य विवक्षितत्वात् ।२। स्यान्मतम्–शून्यागारदेवकुलाद्यावासस्य मुनेरगारित्वं प्राप्तम्, अनिवृत्तविषयतृष्णस्य कुतश्चित्कारणात् विमुच्यागारं वने वसतः अनगारत्वं चेत्यनियमप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्? भावागारस्य विवक्षितत्वात्। चारित्रमोहोदये सति अगारसंबन्धं प्रत्यनिवृत्तपरिणामः अगारमित्युच्यते, स यस्यास्त्यसौ वने वसन्नपि अगारीति व्यपदेशमर्हति। तदभावादनगार इति च भवति।

[4]व्रतिकारणासाकल्यात् गृहस्थस्याव्रतित्वमिति चेत्; न; नैगमसंग्रहव्यवहारव्यापारात् नगरावासवत् ।३। यथा गृहापवरकादिनगरैकदेशे निवास्यपि नगरावास इति शब्द्यते, तथा असकलव्रतोऽपि नैगमसंग्रहव्यवहारनयविवक्षापेक्षया व्रतीति व्यपदिश्यते।

राजवद्वा ।४ यथा द्वात्रिंशज्जनपदसहस्राधिपतिः सार्वभौमो[5] राजेति एकजनपदपतिः तदर्धेश्वरो वा न राजा न भवति? भवत्येव, तथा अष्टादशशीलसहस्रचतुरशीतिगुणशतसहस्रधरत्वादनगारः संपूर्णव्रत इति संयतासंयतोऽणुव्रतधरत्वात् न व्रतीति न भवति? भवत्येव।

---

१ सूत्रे। २ उक्तार्थे। ३ निःशल्यो व्रतीति। ४ निःशल्यस्य। ५ व्रतिनः। ६ चक्रवर्ती।

अत्राह–हिंसादीनामन्यतमस्मात् यः प्रतिनिवृत्तः स खल्वगारी व्रती नैवम्; किं तर्हि? पञ्चतय्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षित इति, उच्यते—

अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

अणुशब्दः सूक्ष्मवचनो द्रष्टव्यः। अणूनि व्रतानि अस्य सोऽणुव्रतः। कथमणुत्वमिति चेत्? उच्यते–सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवात्। कुतस्तर्हि असौ निवृत्तः?

द्वीन्द्रियादिव्यपरोपणान्निवृत्तः ।१। द्वीन्द्रियादीनां जङ्गमानां प्राणिनां व्यपरोपणात् त्रिधा निवृत्तः अगारीत्याद्यमणुव्रतम्।

स्नेहद्वेषमोहावेशात् असत्याभिधानवर्जनप्रवणः ।२। स्नेहस्य द्वेषस्य मोहस्य चोद्रेकात् यदसत्याभिधानं ततो निवृत्तादरो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्।

अन्यपीडाकरात् पार्थिवभयाद्युत्पादितनिमित्तादप्यदत्तात् प्रतिनिवृत्तः ।३। अन्यपीडाकरपार्थिवभयादिवशादवश्यं परित्यक्तमपि यददत्तं ततः प्रतिनिवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम्।

उपात्ताऽनुपात्तान्याङ्गनासङ्गाद्विरतरतिः ।४। उपात्ताया अनुपात्तायाश्च अन्याङ्गनायाः सङ्गाद्विरतरतिः विरताविरत इति चतुर्थमणुव्रतम्।

परिच्छिन्नधनधान्यक्षेत्राद्यवधिर्गृही ।५। धनधान्यक्षेत्रादीनाम् इच्छावशात् कृतपरिच्छेदः गृहीति पञ्चममणुव्रतम्।

आह–किं स्थवीयसीं विरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्य किमेतावानेव विशेषः आहोस्विदस्ति कश्चिदन्योऽपीति? अत्रोच्यते—

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥ २१ ॥

आकाशप्रदेशश्रेणी दिक् ।१। आकाशस्य प्रदेशाः परमाणुपरिच्छेदात् प्रविभक्ताः श्रेणीकृता दिग्व्यपदेशमर्हन्ति।

आदित्यादिगतिविभक्तस्तद्भेदः ।२। आदित्यादिगत्योदयास्तमयपरिच्छिन्नया विभक्तस्तद्भेदः–प्राची दिग् दक्षिणा प्रतीची उत्तरा ऊर्ध्वमधो विदिशश्चेति।

ग्रामादीनाम् अवधृतपरिमाणः प्रदेशो देशः ।३। ग्रामनगरगृहापवरकादीनामवधृतपरिमाणानां प्रदेशो देश इत्युच्यते।

उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्डः ।४। असत्युपकारे पापादानहेतुः अनर्थदण्ड इत्यवधीयते[3]। विरमणं विरतिः निवृत्तिरिति यावत्। दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः दिग्देशानर्थदण्डविरतिः। साधनं कृतेति वृत्तिः।

विरतिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ।५। दिग्विरतिः देशविरतिरनर्थदण्डविरतिरिति।

विरत्यग्रहणमधिकारादिति चेत्; न; उपसर्जनानभिसंबन्धात् ।६। स्यादेतत्–"हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतम्" [७।१] इत्यतः विरतिग्रहणमनुवर्तते, ततः पुनरिह विरतिग्रहण-

---

१–करं पा–मु०, मू०, ता०, श्र०। २–दवशप–द०, मू०। – दवश्यप–ता०, श्र०। ३ इति व्यवह्रियते मु०, द०, ब०।

मनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? उपसर्जनानभिसंबन्धात्। तदनुवर्तमानं विरतिग्रहणं दिग्देशानर्थदण्डग्रहणेन उपसर्जनेन नाभिसम्बध्यते, ततः पुनर्विरतिग्रहणं क्रियते।

एकत्वेन गमनं समयः ।७। समेकीभावे वर्तते, तद्यथा 'संगतं घृतं संगतं तैलम्' इत्युक्ते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन गमनं समयः। प्रतिनियतकायवाङ्मनस्कर्मपर्यायार्थं प्रतिनिवृत्तत्वादात्मनो द्रव्यार्थेनैकत्वगमनमित्यर्थः। समय एव सामायिकम्, समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्।

उपेत्य तस्मिन् वसन्तीन्द्रियाणि इत्युपवासः ।८। शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः। अशनपानभक्ष्यलेह्यलक्षणचतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः। प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। साधनं कृतेतिवृत्तिः, संज्ञायामिति वा।

उपेत्य भुज्यते इत्युपभोगः ।९। उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यते अनुभूयत इत्युपभोगः। अशनपानगन्धमाल्यादिः।

परित्यज्य भुज्यत इति परिभोगः ।१०। सकृद् भुक्त्वा परित्यज्य पुनरपि भुज्यते इति परिभोग इत्युच्यते। आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानवाहनादिः। उपभोगश्च परिभोगश्च उपभोगपरिभोगौ, उपभोगपरिभोगयोः परिमाणम् उपभोगपरिभोगपरिमाणम्।

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः ।११। चारित्रलाभबलोपेतत्वात् संयममविनाशयन् अततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्ति इत्यतिथिः, अनियतकालागमन इत्यर्थः।

संविभजनं संविभागः ।१२। अतिथये संविभागः अतिथिसंविभागः। अश्वघासादिवद् वृत्तिः।

व्रतग्रहणमनर्थकमिति चेत्; उक्तम् ।१३। व्रतमित्यनुवर्तते, पुनर्व्रतग्रहणमनर्थकमिति चेत्; उक्तम्; किमुक्तम्? उपसर्जनानभिसंबन्धादिति।

व्रतसंपन्नशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते ।१४। दिग्विरतिव्रतसंपन्नः देशविरतिव्रतसंपन्न इत्यादि। अथ किमर्था दिङ्निवृत्तिः?

दुष्परिहरक्षुद्रजन्तुप्रायत्वाद्दिङ्निवृत्तिः ।१५। दुष्परिहरैः क्षुद्रजन्तुभिराकुला दिश अतस्तन्निवृत्तिः कर्तव्या।

तत्परिमाणं च योजनादिभिरभिज्ञानवद्भिः ।१६। तासां परिमाणं योजनादिभिः पर्वतादिप्रसिद्धाभिज्ञानैः कर्तव्यम्।

अगमनेऽपि प्राणिवधाभ्यनुज्ञानमिति चेत्; न; निवृत्त्यर्थत्वात् ।१७। स्यान्मतम्–दिक्परिमाणकरणात् अगमनेऽपि तदन्तरावस्थितप्राणिगणवधाभ्यनुज्ञानं प्रसक्तम्, अन्यथा वा दिक्परिमाणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? निवृत्त्यर्थत्वात्। कात्स्न्र्येन निवृत्तिं कर्तुमशक्नुवतः शक्त्या प्राणिवधविरतिं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणयात्रा भवतु वा मा वा भूत्। सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमितदिगवधेर्बहिर्नोत्सर्पन्त्यामिति प्रणिधानान्न दोषः।

तृष्णाप्राकाम्यनिरोधतन्त्रत्वाच्च ।१८। प्रवृद्धेच्छस्य आत्मनस्तस्यां दिशि विना यत्नात् मणिरत्नादिलाभोऽस्तीत्येवम् अन्येन प्रोत्साहितस्यापि मणिरत्नादिसम्प्राप्तितृष्णाप्राकाम्यनिरोधः कथं तन्त्रितो भवेदिति दिग्विरतिः श्रेयसी।

ततो बहिर्महाव्रतप्रसिद्धिः ।१९। अहिंसाद्यणुव्रतधारिणोऽप्यस्य परिमिताद्दिगवधेर्बहिर्मनोवाक्काययोगैः कृतकारितानुमतविकल्पैः हिंसादिसर्वसावद्यनिवृत्तिरिति महाव्रतत्वमवसेयम्।

तथैव देशनिवृत्तिः ।२०। यथा दिङ्निवृत्तिः कृता तथैव देशनिवृत्तिः कार्या। मदीयस्य गृहान्तरस्य तटाकस्य वा मध्यं मुक्त्वा देशान्तरं नास्कन्त्स्यामि इति तन्निवृत्तौ पूर्ववत् प्रयोजनं वेदितव्यम्। महाव्रतत्वं च बहिर्व्यवस्थाप्यम्। अयमनयोर्विशेषः–दिग्विरतिः सार्वकालिकी देशविरतिर्यथाशक्ति कालनियमेनेति।

अनर्थदण्डः पञ्चधा अपध्यान-पापोपदेश-प्रमादाचरित-हिंसाप्रदाना-ऽशुभश्रुतिभेदात् ।२१। अनर्थदण्डः पञ्चधा भिद्यते। कुतः? अपध्यान-पापोपदेश-प्रमादाचरित-हिंसाप्रदाना-ऽशुभश्रुतिभेदात्। तत्र परेषां जयपराजयवधबन्धाङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारम्भादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः। तद्यथा अस्मिन् देशे दासा दास्यश्च सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या। गोमहिष्यादीन् अमुत्र गृहीत्वा अन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या। वागुरिकसौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुस्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः। आरम्भकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्यः इत्याख्यानमारम्भकोपदेशः। इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः।

प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितमिति कथ्यते।

विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानमित्युच्यते।

हिंसारागादिप्रवर्धितदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते। एतस्मादनर्थदण्डाद्विरतिः कार्या।

मध्येऽनर्थदण्डग्रहणं पूर्वोत्तरातिरेकानर्थक्यज्ञापनार्थम् ।२२। पूर्वयोः दिग्देशयोरुक्तरयोश्चोपभोगपरिभोगयोरवधृतपरिमाणयोरनर्थकं चङ्क्रमणादि विषयोपसेवनं च निष्प्रयोजनं न कर्तव्यमित्यतिरेकनिवृत्तिज्ञापनार्थं मध्येऽनर्थदण्डवचनं क्रियते।

सामायिके नियतदेशकाले महाव्रतत्वं पूर्ववत् ।२३। इयति देशे एतावति काल इत्यवधारिते सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्वं पूर्ववद्वेदितव्यम्, अणुस्थूलकृतहिंसादिनिवृत्तेः।

संयमप्रसङ्ग इति चेत्; न; तद्घातिकर्मोदयात् ।२४। स्यान्मतम्–सामायिके सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणे स्थितस्य तस्य संयमः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? तद्घातिकर्मोदयात्। तस्य हि संयमघातिकर्मोदयोऽस्तीति न संयतत्वम्।

महाव्रतत्वाभाव इति चेत्; न; उपचारात्, राजकुले सर्वगतचैत्रवत् ।२५। यद्यभ्यन्तरसंयमघातिकर्मोदयोऽस्ति तदुदयेनावश्यमनिवृत्तपरिणामेन भवितव्यं ततश्च महाव्रतत्वमस्य नोपपद्यत इति मतम्; तन्न; किं कारणम्? उपचारात्, राजकुले सर्वगतचैत्रवत्। यथा पौरजनपदकोष्ठागारादिषु बाह्येषु व्यापारेषु सर्वेषु व्याप्तः स्नानानुलेपनशयनान्तःपुरादिव्यापारेषु अभ्यन्तरेषु केषुचित् व्याप्तिमननुगच्छन्नपि राजकुले सर्वगतश्चैत्र इत्युपचर्यते, तथा हिंसादिषु बाह्येषु सर्वेषु अनासक्तधिषणः अभ्यन्तरसंयमघातिकर्मोदयापादितमन्दाविरतिपरिणामे सत्यपि महाव्रत इत्युपचर्यते। एवं च कृत्वा अभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिणः [२]एकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालना देशसंयतसंयतभावस्यापि उपरिग्रैवेयकविमानवासितोपपन्ना भवति।

स्नानगन्धमाल्यादिविरहितोऽवकाशे शुचावुपवसेत् ।२६। स्वशरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिभिर्विरहितः शुचौ अवकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनावहितान्तःकरणः सन्नुपवसेत् निरारम्भः श्रावकः।

१–तिमनुग–श्र०। २–गङ्गापिनो मु०, ब०, द०।

भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् ।२७। भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं प्रत्येतव्यम्। कुतः? त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। तत्र मधु मांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रति निवृत्तचेतसा। मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहायानुष्ठेयम्। केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि शृङ्गवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि, एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान्। यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम्। न हि असत्यभिसन्धिनियमे व्रतमिति। इष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यः यावज्जीवम्। अथ न शक्तिरस्ति कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यम्।

अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् ।२८। अतिथिसंविभागश्चतुर्धा भिद्यते। कुतः? भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया, धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपबृंहणानि दातव्यानि, [1]औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम्, प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति।

चशब्दो वक्ष्यमाणगृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः। कः पुनरसौ?

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम् ।१। स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः।

अन्तग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थम् ।२। मरणं द्विविधम्–नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम्। तत्रान्तग्रहणं क्रियते तद्भवमरणपरिग्रहार्थम्। मरणमन्तो मरणान्तः, मरणान्तः प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी।

सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना ।३। लिखेर्ण्यन्तस्य लेखना तनूकरणमिति यावत्। कायस्य बाह्यस्य अभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यक् लेखना सल्लेखना, तां मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता सेविता गृहीत्यभिसम्बन्धः।

सेविताग्रहणं विस्पष्टार्थमिति चेत्; न; अर्थविशेषोपपत्तेः ।४। स्यान्मतम्–इह सेवितेत्येव विस्पष्टार्थं वक्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? अर्थविशेषोपपत्तेः। न केवलमिह सेवनं गृह्यते। किं तर्हि? प्रीत्यर्थोऽपि, जुषि प्रीतिसेवनयोरिति। यस्मात् असत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते, सत्यां हि प्रीतौ स्वयमेव करोति।

सल्लेखनाया जोषितेति प्राप्नोतीति चेत्; न; तृनः प्रयोगात् ।५। स्यान्मतम्–यथा कटस्य कर्तेति विभक्तिनिर्देशः तथा सल्लेखनाया जोषितेति प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? तृनः प्रयोगात्।

आत्मवधकत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; अप्रमत्तत्वात् ।६। स्यान्मतम्–सल्लेखनामास्थितस्य स्वाभिसन्धिपूर्वकायुरादिनिवृत्तेरात्मवधः प्राप्नोतीति? तन्न; किं कारणम्? अप्रमत्तत्वात्। प्रमत्तयोगाद्धि प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्युक्तम्। न चास्य प्रमादयोगोऽस्ति। कुतः?

रागाद्यभावात् ।७। रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशात् आत्मानं घ्नतः

१ औषधं प्रायोग्यं–मु०, द०, ब०। २–द्युत्तरकारणप्र–मु०, द० ब०।

स्वघातो भवति। न तथा सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषसंस्पर्शः। उक्तञ्च—

"रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥ १ ॥" [ ]

किञ्च,

मरणस्याऽनिष्टत्वात् ।८। यथा वणिजः विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य गृहविनाशोऽनिष्टः तद्विनाशकारणे चोपस्थिते यथाशक्ति परिहरति दुष्परिहरे च पण्याविनाशो यथा भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपुण्यसंचयप्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति, तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाऽविरोधेन परिहरति, दुष्परिहरे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत्? किञ्च,

उभयानभिसन्धानात् ।९। यथा तपस्थः शीतोष्णजसुखदुःखानभिसन्धानात् अनभिसंहितसुखदुःखसंबन्धेऽपि सुखदुःखकृतरागद्वेषाभावात् न सुखदुःखकृतकर्मबन्धभाक् तथा अर्हत्प्रणीतां सल्लेखनां कुर्वन् जीवितमरणानभिसन्धानात् अनभिसंहितात्मीयमरणसंबन्धेऽपि रागद्वेषाभावात् नात्मवधकः। किञ्च,

स्वसमयविरोधात् ।१०। यथा क्षणिकवादिनः 'क्षणिकाः सर्वे भावाः' इति ब्रुवतः स्वसमयविरोधस्तथा 'यदा सत्त्वश्च भवति सत्त्वसंज्ञा च भवति वधकश्च भवति वधचित्तं चास्योत्पन्नं भवति इत्येतां चतुर्विधां चेतनां प्राप्य हिंसा जयते' इति ब्रुवतोऽसत्यात्मवधकत्वचित्ते सल्लेखनां कुर्वतः आत्मवधकत्वं जायत इत्याचक्षाणस्यासंचेतितकर्मबन्धाभावः समयविरोधः। अथ स्वसमयविरोधो माभूदिति चतुर्विधयैव चेतनया कर्म बध्यते इतीष्टम्; ननु सल्लेखनायामात्मवधकचित्ताभावात् आत्माऽहिंसकत्वं सिद्धम्। अथवा, यथा सदा मौनव्रतिकस्य मौनव्रतिकोऽस्मीति वचनं स्ववचसा विरुध्यते, तथा सर्वानात्मकवादिनः आत्माभावादात्मनो वधकत्वमाचक्षाणस्य सर्वानात्मकाऽऽर्य[2]सत्यवचनविरोधः। अथ स्वसमयविरोधो माक्लृपदिति [3]सर्वानात्मकमिष्टम्; नन्वात्माभावात् आत्मवधाभावः।

योऽपि[4] ब्रूयात् निःक्रिय आत्मेति, तस्य पुनः साधुजनसेवितां सल्लेखनामातिष्ठमानस्यात्मवधकत्वं भवतीत्यभिलषतः[5] आत्मनो निष्क्रियत्वप्रतिज्ञाहानिः। निष्क्रियत्वाभ्युपगमे चात्मवधप्राप्त्युपालम्भनाभावः।

आह–कदा अनेन सल्लेखनायां प्रयतितव्यमिति? अत्रोच्यते—

जरारोगेन्द्रियहानिभिरावश्यकपरिक्षये ।११। जरसा शरीरदूषिण्या यदा प्रहृतजङ्घाबलवीर्यो भवति रोगैश्च वातादिविकारजनितैरभिद्रुतः प्रक्षीणेन्द्रियबलश्च भवति तदा आवश्यकपरिक्षयमपेक्षमाणः स्मृतिमान् प्रासुकाशनपानकोपवाससेवनादिना क्रमेण प्रक्षीयमाणशरीरबलः आमरणाद्भावनानुप्रेक्षासमाधिबहुलः शास्त्रोक्तेन विधिना सल्लेखनां जोषिता उत्तमार्थस्याराधको भवति।

एकयोगकरणं [6]ज्याय इति चेत्; न; कदाचित् कस्यचित्तां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनार्थत्वात् ।१२। स्यादेतत्–पूर्वसूत्रेण सह एक एव योगः कर्तव्यः लघ्वर्थ इति; तन्न; किं कारणम्? कदाचित् कस्यचित् तां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनार्थत्वात्। सप्ततयशीलवतः कदाचित् कस्यचिदेव गृहिणः सल्लेखनाभिमुख्यं न सर्वस्येति। किञ्च,

१–सम्बन्धे रा–मु०, द०, ब०। २–सत्त्वव–मु०, ब०। ३ सर्वात्मक–मु०, द०, ब०। ४ नैयायिकः–सम्पा०। ५–लषतः–मु०। ६ न्याय्यमिति मु०, ब०।

वेश्मापरित्यागिनस्तदुपदेशात् ।१३। वेश्मापरित्यागिनः दिग्विरत्यादिसप्ततयशीलोपदेशः। वेश्मपरित्यागेन तु श्रावकत्वेनैव गृहिणः सल्लेखनेत्येवमर्थो भेदेनोपदेशः।

अविशेषविधिप्रतिपादनार्थत्वाद्वा ।१४। अयं सल्लेखनाविधिः न श्रावकस्यैव दिग्विरत्यादिशीलवतः। किं तर्हि ? संयतस्यापीति अविशेषज्ञापनार्थत्वाद्वा पृथगुपदेशः कृतः।

अत्राह–उक्तं भवता निःशल्यो व्रतीति, तत्र चोक्तानि शल्यानि मायानिदानमिथ्यादर्शनसंज्ञकानि। ततः सम्यग्दृष्टिना व्रतिना भवितव्यम्। तत्सम्यग्दर्शनं किं निरपवादमुत सापवादमिति ? उच्यते–कस्यचिन्मोहनीयावस्थाविशेषात् कदाचिदिमे भवन्त्यपवादाः—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥

निःशङ्कितत्वादयो व्याख्याताः दर्शनविशुद्धिरित्यत्र, तत्प्रतिपक्षभूताः शङ्कादयो वेदितव्याः। अथ प्रशंसासंस्तवयोः को विशेषः ?

वाङ्मानसविषयभेदात् प्रशंसासंस्तवभेदः ।१। मनसा मिथ्यादृष्टिज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा। भूताऽभूतगुणोद्भावनवचनं संस्तव इत्ययमनयोर्भेदः।

प्रकरणादगार्यवधारणमिति चेत् ; न; सम्यग्दृष्टिग्रहणस्य उभयार्थत्वात् ।२। स्यान्मतम्–अगारिव्रतशीलप्रकरणमिदम्, अतः तस्यैव सम्यग्दृष्टेः शङ्कादयोऽतिचाराः प्रसक्ता नानगारस्येति; तन्न; किं कारणम् ? सम्यग्दृष्टिग्रहणस्योभयार्थत्वात्। पुनः सम्यग्दृष्टिग्रहणमेवमर्थं सम्यग्दर्शनसामान्यस्येमेऽतिचारा इति। यद्येवमर्थं सम्यग्दृष्टिग्रहणं नार्थोऽनेन, अगारिग्रहणं निवृत्तमिति व्याख्येयम् ? नैवं शङ्क्यम् ; उत्तरत्राऽगारिग्रहणानुवर्तनस्येष्टत्वात्।

दर्शनमोहोदयादतिचरणमतीचारः ।३। दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थश्रद्धानादतिचरणमतीचारः अतिक्रम इत्यनर्थान्तरम्। एते शङ्कादयः पञ्च सम्यग्दर्शनस्यातिचाराः।

अष्टाङ्गत्वात् सम्यग्दर्शनस्यातिक्रमाणां तावत्त्वमेवेति चेत् ; न; अत्रैवान्तर्भावात् ।४। स्यादेतत्–सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गं निःशङ्कितत्वादिलक्षणमुक्तम्, तस्यातिचारैरपि तावद्भिरेव भवितव्यमित्यष्टावतिचारा उपदेष्टव्या इति; तन्न; किं कारणम् ? अत्रैवान्तर्भावात्। व्रतशीलानां पञ्च पञ्चातिचारान् विवक्षुणा आचार्येण प्रशंसासंस्तवयोरितरानन्तर्भाव्य सम्यग्दृष्टेरपि पञ्चैवातिचारा उक्ता इति न दोषः।

आह–सम्यग्दर्शनस्याद्यस्य व्रतशीलपत्राञ्चितजिनधर्मकमलकर्णिकाकारस्य अगार्यनगारयोः साधारणाः शङ्कादयोऽतिचारा व्याख्याताः। इदानीं व्रतशीलानाम् अतिचारगणना कर्त्तव्येति। [3]तत्र गृहीतव्रतशीलातिक्रमेयत्ताख्यापनार्थमिदमुच्यते—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

व्रतानि अहिंसादीनि। शीलानि दिग्विरत्यादीनि। व्रतानि च शीलानि च व्रतशीलानि। तेषु व्रतशीलेषु।

व्रतग्रहणमेवास्त्विति चेत् ; न; शीलविशेषद्योतनार्थत्वात् ।१। स्यान्मतम्–व्रतग्रहणमेवास्तु, दिग्विरत्यादीनि अपि व्रतान्येव अतश्चैतदेवं यदाह–अतिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्चेति; तन्न;

१ शक्यम्–अ०, मू०, द०। २–रितरेतरानन्त–मु०, द०। ३ तत्र व्रत–मु०, द०, ब०। तत्र गृहीव्र–मू०।

कारणम् ? शीलविशेषद्योतनार्थत्वात्। अभिसन्धिपूर्वको नियमो व्रतमिति कृत्वा दिग्विरत्यादीन्यपि व्रतानि भवन्ति, किन्तु व्रतपरिरक्षणं शीलमित्यस्य विशेषस्य द्योतनार्थं शीलग्रहणम्। तेन दिग्विरत्यादीनि शीलग्रहणेन गृह्यन्ते।

सामर्थ्याद् गृहिव्रतसंप्रत्ययः ।२। यद्यपि इदं सूत्रमविशेषेणोक्तं तथापि सामर्थ्याद् गृहिव्रतग्रहणमवसेयम्। किं सामर्थ्यम् ? वक्ष्यमाणवधबन्धच्छेदादिवचनम्। ते हि बन्धवधच्छेदादयो गृहस्थस्यैव नानगारस्येति।

पञ्च पञ्चेति वीप्सायां द्वित्वम् ।३। पञ्च पञ्चेत्येतत् वीप्सायां द्वित्वमवसेयम्। ततोऽनवयवाभिधानं वीप्सार्थमिति अनवयवेन व्रतशीलानि पञ्चसंख्यया व्याप्यन्ते। ननु च लध्वर्थं पञ्चश इति शसा निर्देशः कर्तव्यः; सत्यमेवमेतत्; व्यक्त्यर्थं वाक्येन निर्देशः क्रियते।

यथाक्रमवचनं वक्ष्यमाणातिचारक्रमसंबन्धनार्थम् ।४। वक्ष्यमाणा अतिचारा अहिंसादिभिः क्रमेणाभिसंबध्यन्तामित्येवमर्थं यथाक्रमवचनं क्रियते। यो यः क्रमो यथाक्रमं क्रमानतिवृत्त्येत्यर्थः।

आह–यद्येवं तस्मादुच्यतां तावदाद्यस्य प्राणव्यपरोपणनिवृत्तलक्षणस्याणुव्रतस्य केऽतिचाराः, [1]येभ्योऽयं निवृत्तौ निरपवादो भवतीति ? अत्रोच्यते—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥

अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुर्बन्धः ।१। अभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्धहेतुः कीलादिषु रज्वादिभिर्व्यतिषङ्गो बन्ध इत्युच्यते।

प्राणिपीडाहेतुर्वधः ।२। दण्डकशावेत्रादिभिरभिघातः प्राणिनां वध इति गृह्यते न प्राणव्यपरोपणम्, ततः प्रागेवास्य विनिवृत्तत्वात्।

छेदोऽङ्गापनयनम् ।३। कर्णनासिकादीनामवयवानाम् अपनयनं छेद इति कथ्यते।

न्याय्यभारादतिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणम् ।४। न्यायादनपेताद्भारादतिरिक्तस्य भारस्य वाहनम्, अतिलोभाद्गवादीनामतिभारारोपणमिति गण्यते।

क्षुत्पिपासाबाधनमन्नपाननिरोधः ।५। तेषामेव गवादीनां कुतश्चित् कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्नपाननिरोध इत्याख्यायते। एते पञ्च अहिंसाणुव्रतस्यातिचाराः।

मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥

मिथ्यान्यप्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः ।१। अभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेश इत्युच्यते।

संवृतस्य प्रकाशनं रहोऽभ्याख्यानम् ।२। स्त्रीपुंसाभ्याम् एकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं यत् रहोऽभ्याख्यानं तद्वेदितव्यम्।

परप्रयोगादन्यानुक्तपद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया ।३। अन्येनानुक्तं किञ्चित् परप्रयोगवशात् एवं तेनोक्तम् अनुष्ठितमिति वञ्चनानिमित्तं लेखनं कूटलेखक्रिया।

हिरण्यादिनिक्षेपेऽल्पसंख्यानुज्ञानवचनं न्यासापहारः ।४। हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पशः संख्यानमाददानस्यैवमित्यनुज्ञावचनं न्यासापहार इत्याख्यायते।

१ येभ्यो निवृ–मु०। २ प्राणिव्य–मु०, मू०, द०।

अर्थादिभिः परगुह्यप्रकाशनं साकारमन्त्रभेदः ।५। अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूविक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं यत्तत्साकारमन्त्रभेद इति कथ्यते। त एते सत्यव्रतस्य पञ्चातिक्रमाः।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनं स्तेनप्रयोगः ।१। मुष्णन्तं स्वयमेव वा प्रयुङ्क्ते, अन्येन वा प्रयोजयति, प्रयुक्तमनुमन्यते वा यतः स स्तेनप्रयोगो वेदितव्यः।

चोरानीतग्रहणं तदाहृतादानम् ।२। अप्रयुक्तेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानं प्रत्येतव्यम्। तत्र को दोषः? परपीडाराजभयादयः प्रतीताः। एतेन विरुद्धराज्यातिक्रमादयो व्याख्याताः।

उचितादन्यथा दानग्रहणमतिक्रमः ।३। उचितान्न्याय्यात् अन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रम इत्युच्यते। विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं विरुद्धराज्येऽतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः। तत्राल्पमूल्यलभ्यानि महार्घाणि द्रव्याणिति प्रयत्नः।

कूटप्रस्थतुलादिभिः क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानः ।४। प्रस्थादि मानं तुलाद्युन्मानम्। एतेन न्यूनेनान्यस्मै देयं अधिकेनात्मनो ग्राह्यमित्येवमादिकूटप्रयोगः हीनाधिकमानोन्मानमित्याख्यायते।

कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः ।५। कृत्रिमैः हिरण्यादिभिः वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहार इति व्यपदिश्यते। त एते पञ्च अदत्तादानविरतेरतीचाराः।

परविवाहकरणेत्वरिकाऽपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं विवाहः ।१। सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते। परस्य विवाहः परविवाहः परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम्।

अयनशीलेत्वरी ।२। ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोहस्त्रीवेदोदयप्रकर्षादङ्गोपाङ्गनामोदयावष्टम्भाच्च परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी। ततः कुत्सायां कः, इत्वरिका। अपरिगृहीता च परिगृहीता च अपरिगृहीतापरिगृहीते। या गणिकात्वेन पुंश्चलित्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता। या पुनः एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता। इत्वरिके च ते अपरिगृहीतापरिगृहीते च इत्वरिकाऽपरिगृहीतापरिगृहीते तयोर्गमनं इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनम्।

अनङ्गेषु क्रीडा अनङ्गक्रीडा ।३। अङ्गं प्रजननं योनिश्च ततोऽन्यत्र क्रीडा अनङ्गक्रीडा। अनेकविधप्रजननविकारेण जघनादन्यत्र चाङ्गे रतिरित्यर्थः।

कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः ।४। कामस्य प्रवृद्धः परिणामः अनुपरतवृत्त्यादिः कामतीव्राभिनिवेश इत्युच्यते। एते पञ्च स्वदारसन्तोषव्रतस्यातिचाराः।

दीक्षितातिबालातैर्यग्योन्यादीनामनुपसंग्रह इति चेत्; न; कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धेः ।५। स्यान्मतम्-दीक्षिता अतिबाला तैर्यग्योनीत्येवमादीनामनुपसंग्रह इति; तन्न; किं कारणम्? कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धेः। दीक्षितादिषु हि परिहर्तव्यासु वृत्तिः कामतीव्राभिनिवेशाद्भवति। उक्तोऽत्र दोषः राजभयलोकापवादादिः।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

क्षेत्रवास्त्वादीनां द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वः प्राक् कुप्यात् ।१। क्षेत्रवास्त्वादीनां द्वयोर्द्वयोः द्वन्द्वो भवति। किमविशेषेण? इत्याह-प्राक्कुप्यात्। क्षेत्रं च वास्तु च क्षेत्रवास्तु, हिरण्यं च सुवर्णं च हिरण्यसुवर्णम्, धनं च धान्यं च धनधान्यम्, दासी च दासश्च दासीदासम्। क्षेत्रवास्तु च हिरण्यसुवर्णं च धनधान्यं च दासीदासं च कुप्यं च क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यानि। दासीदासमिति गवाश्वादिषु निपातनात् एकशेषभावः। क्षेत्रं शस्याधिकरणम्। वास्तु अगारम्। हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारतन्त्रं सुवर्णं प्रतीतम्। धनं गवादि। धान्यं व्रीह्यादि। दासीदासं भृत्यस्त्रीपुंसवर्गः। कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि।

तीव्रलोभाभिनिवेशादतिरेकाः प्रमाणातिक्रमाः ।२। एतावानेव परिग्रहो मम नातोऽन्य इति परिच्छिन्नात् क्षेत्रवास्त्वादिविषयादतिरेकाः अतिलोभवशात् प्रमाणातिक्रमा इति प्रत्याख्यायते। त एते पञ्च परिग्रहविरमणस्यातिक्रमाः।

उक्ता व्रतानामतिचाराः, शीलानामतिचारा वक्ष्यन्ते। तद्यथा—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥

परिमितदिग्वधिव्यतिलङ्घनमतिक्रमः ।१। परिमितस्य दिग्वधेरतिलङ्घनमतिक्रम इत्युच्यते। स समासतस्त्रिविधः—ऊर्ध्वातिक्रमः अधोऽतिक्रमः तिर्यगतिक्रमश्चेति।

तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः ।२। पर्वतमरुभूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वातिक्रमो भवति।

कूपावतरणादेरधोऽतिवृत्तिः ।३। कूपावतरणादेः अधो दिग्वधेरतिवृत्तिर्वेदितव्या।

विलप्रवेशादिस्तिर्यगतीचारः ।४। भूमिविलगिरिदरीप्रवेशादिस्तिर्यगतीचारो द्रष्टव्यः।

अभिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसन्धिः क्षेत्रवृद्धिः ।५। प्राग् दिशं योजनादिभिः परिच्छिद्य पुनर्लोभवशात्ततोऽधिकाकाङ्क्षणं क्षेत्रवृद्धिरित्यध्यवसीयते।

इच्छापरिमाणेऽन्तर्भावात् पौनरुक्त्यमिति चेत्; न; तस्यान्याधिकरणत्वात् ।६। स्यादेतत्-इच्छापरिमाणे पञ्चमेऽणुव्रते अस्यान्तर्भावात् पुनर्ग्रहणं पुनरुक्तमिति; तन्न; किं कारणम्? तस्यान्याधिकरणत्वात्। इच्छापरिमाणं क्षेत्रवास्त्वादिविषयम्, इदं पुनः दिग्विरमणमन्यार्थम्-अस्यां दिशि लाभे जीवितमलाभे च मरणमतोऽन्यत्र लाभेऽपि न गमनमिति, न तु दिशि क्षेत्रादिष्विव परिग्रहबुद्ध्यात्मसात्करणात् परिमाणकरणमस्ति, ततोऽर्थविशेषोऽस्यावसेयः।

तदतिक्रमः प्रमादमोहव्यासङ्गादिभिः ।७। तस्यैतस्य दिक्परिमाणस्यातिक्रमः प्रमादात् मोहाद् व्यासङ्गाद्वा भवतीत्यवसेयः।

अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम् ।८। अनुस्मरणम् परामर्शनं प्रत्यवेक्षणमित्यनर्थान्तरम्, इदमिदं मया योजनादिभिरभिज्ञानं कृतमिति, तदभावः स्मृत्यन्तराधानम्। त एते पञ्च दिग्विरमणस्यातिक्रमाः।

---

१ कृमिकोशोत्थ। २-मरुद्भूम्या-मु०। -तरुभू-मू०। सीमान्तस्थितानाम्।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

[1]तमानयेत्याज्ञापनमानयनम् ।१। आत्मना संकल्पिते देशे स्थितस्य प्रयोजनवशात् यत्किञ्चिदानयेत्याज्ञापनम् आनयनमित्याख्यायते ।

एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः ।२। परिच्छिन्नदेशाद्बहिः स्वयमगत्वा अन्यमप्यनानीय प्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः ।

अभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः ।३। व्यापारकरान् पुरुषान् उद्दिश्याभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपात इति शब्द्यते ।

स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपातः ।४। मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयन्ति[2] इति स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपात इति निर्णीयते[4] ।

लोष्टादिनिपातः पुद्गलक्षेपः ।५। कर्मकरान् पुरुषानुद्दिश्य लोष्टपाषाणनिपातः पुद्गलक्षेप इति कथ्यते । त एते देशविरमणस्य पञ्चातिक्रमाः । कथं पुनरतिक्रम इति ? उच्यते—

स्वयमनाक्रामन्नन्येनाक्रामयतीत्यतिक्रमः ।६। यस्मात् स्वयमनतिक्रमन् अन्येनातिक्राम[3]यति ततोऽतिक्रम इति व्यपदिश्यते । यदि हि स्वयमतिक्रमेत् व्रतलोप एवास्य स्यात् ।

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः ।१। चारित्रमोहोदयापादितात् रागोद्रेकात् प्रहाससंयुक्तो योऽशिष्टवाक्प्रयोगः स कन्दर्प इति निर्ध्रियते[5] ।

तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मयुक्तं कौत्कुच्यम् ।२। रागस्य समावेशाद्धास्यवचनम् अशिष्टवचनम् इत्येतदुभयं परत्र दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यमिच्युते ।

धार्ष्ट्यप्रायमबद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यम् ।३। अशालीनतया यत्किञ्चनानर्थकं बहुप्रलपनं मौखर्यमिति प्रत्येतव्यम् ।

असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमधिकरणम् ।४। अधिरुपरिभावे वर्तते, करोतिश्चापूर्वप्रादुर्भावे, प्रयोजनमसमीक्ष्य आधिक्येन प्रवर्तनमधिकरणम् ।

तत्त्रेधा कायवाङ्मनोविषयभेदात् ।५। तदधिकरणं त्रेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? कायवाङ्मनोविषयभेदात् । तत्र मानसं परानर्थककाव्यादिचिन्तनम् , वाग्गतं निष्प्रयोजनकथाख्यानं परपीडाप्रधानं यत्किञ्चनवक्तृत्वम् , कायिकं च प्रयोजनमन्तरेण गच्छँस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्तेतरपत्रपुष्पफलच्छेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात् । अग्निविषक्षारादिप्रदानं चौरभेत इत्येवमादि, तत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम् ।

यावताऽर्थेनोपभोगपरिभोगौ सोऽर्थः, ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यम् ।६। यस्य यावताऽर्थेन उपभोगपरिभोगौ प्रकल्प्येते तस्य तावानर्थ इत्युच्यते, ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं भवति ।

उपभोगपरिभोगव्रतेऽन्तर्भावात् पौनरुक्त्यप्रसङ्ग इति चेत् ; न; तदर्थानवधारणात् ।७। स्यादेतत्–उपभोगपरिभोगव्रतेऽन्तर्भवतीति पौनरुक्त्यमासज्यत इति; तन्न; किं कारणम् ? तदर्थानवधारणात् । इच्छावशात् उपभोगपरिभोगपरिमाणावग्रहः सावद्यप्रत्याख्यानं चेति तदुक्तम्,

---

१ आत्तमान-द० । अन्यमान-मु०, ब० । २-यति मु०, मू० । ३-नाक्रामय-ता०, अ० । ४ निर्णीयते मु० । ५ परशरीरादौ । ६ चारभ्येत्येव द० । चारभेत्येव-मू०, ता०, अ० ।

इह पुनः कल्प्यस्यैव आधिक्यमित्यतिक्रम इत्युच्यते । नन्वेवमपि तद्व्रतातिचारान्तर्भावात् इदं वचनमनर्थकम् ? नानर्थकम् ; सचित्ताद्यतिक्रमवचनात् । असमीक्ष्याधिकरणमित्यत्र सुप्सुपेति वृत्तिः, मयूरव्यंसकादित्वाद्वा । त एते पञ्च अनर्थदण्डविरतेरतीचाराः ।

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

योगशब्दो व्याख्यातार्थः ।१। अयं योगशब्दो व्याख्यातार्थो द्रष्टव्यः । क्व ? "कायवाङ्मनस्कर्म योगः" [६।१] इत्यत्र ।

दुष्ठु प्रणिधानमन्यथा वा दुःप्रणिधानम् ।२। प्रणिधानं प्रयोगः परिणाम इत्यनर्थान्तरम् । दुष्ठु पापं प्रणिधानं दुःप्रणिधानम् , अन्यथा वा प्रणिधानं दुःप्रणिधानम् । तत्र क्रोधादिपरिणामवशात् दुष्ठु प्रणिधानं शरीरावयवानाम् अनिभृतमवस्थानम् , वर्णसंस्काराभावाऽर्थागमकत्वचापलादि वाग्गतम् , मनसोऽनर्पितत्वंचेत्यन्यथा प्रणिधानम् ।

अनादरोऽनुत्साहः ।३। इतिकर्तव्यं प्रत्यसाकल्यात् यथाकथञ्चित् प्रवृत्तिरनुत्साहः अनादर इत्युच्यते ।

अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानम् ।४। अनैकाग्र्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थानमित्याख्यायते ।

मनोदुःप्रणिधानं तदिति चेत् ; न; तत्रान्याचिन्तनात् ।५। स्यादेतत्–स्मृत्यनुपस्थानं तन्मनोदुःप्रणिधानमेवेति तस्य ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्रान्याचिन्तनात् । तत्र हि अन्यत् किञ्चित् अचिन्तयतश्चिन्तयत एव वा विषये क्रोधाद्यावेशः औदासीन्येन वाऽवस्थानं मनसः, इह पुनः परिस्पन्दनात् चिन्तायां एकाग्र्येणानवस्थानमिति विस्पष्टमन्यत्वम् । [2]रात्रिन्दिवीयस्य वा प्रमादाधिक्यस्य सञ्चित्यानुपस्थानम् । त एते पञ्च सामायिकस्यातिक्रमाः ।

अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणाऽनादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः ।१। जन्तवः सन्ति न सन्ति चेति प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः प्रतीयते ।

प्रमार्जनमुपकरणोपकारः ।२। मृदुनोपकरणेन यत् क्रियते प्रयोजनं तत् प्रमार्जनं प्रत्येतव्यम् ।

तस्य प्रतिषेधविशिष्टस्योत्सर्गादिभिः संबन्धः ।३। तस्योभयस्य प्रतिषेधविशिष्टस्य उत्सर्गादिभिस्त्रिभिः प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग इत्यादि । तत्राऽप्रत्यवेक्षितायां भुवि मूत्रपुरीषोत्सर्गः, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य अर्हदाचार्यपूजोपकरणस्य गन्धमाल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य वस्त्रपात्रादेश्चाऽऽदानम् , अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य प्रावरणादेः संस्तरस्योपक्रमणम् ।

आवश्यकेष्वनादरः ।४। आवश्यकेषु अनादरः अनुत्साहो भवति । कुतः ? क्षुदभ्यर्दितत्वात् ।

स्मृत्यनुपस्थानं व्याख्यातम् ।५। त एते पञ्च प्रोषधोपवासस्यातिचाराः ।

१–मन्यथात्वम् मू०, ता०, अ० । भेदत्वम् । २ रात्रिदिवियस्य मु०, द० ।

सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः ।१। चित्तं विज्ञानं तेन सह वर्तत इति सचित्तः, चेतनावद्द्रव्यमित्यर्थः ।

तदुपश्लिष्टः संबन्धः ।२ तेन चित्तवता द्रव्येणोपश्लिष्टः संबन्ध इत्याख्यायते । संबध्यत इति संबन्धः ।

तद्व्यतिकीर्णः संमिश्रः ।३। तेन सचित्तेन द्रव्येण व्यतिकीर्णः संमिश्र इति कथ्यते । संमिश्रयत इति संमिश्रः ।

पूर्वेणाविशिष्ट इति चेत्; न; तत्र संसर्गमात्रत्वात् ।४। स्यान्मतम्-संबन्धेनाविशिष्टः संमिश्र इति ? तन्न; किं कारणम् ? तत्र संसर्गमात्रत्वात् । सचित्तसंबन्धे हि संसर्गमात्रं विवक्षितम्, इह तु सूक्ष्मजन्तुव्याकुलत्वे विभागीकरणस्याशक्यत्वात् नानाजातीयद्रव्यसमाहारः सूक्ष्मजन्तुप्राय आहारः संमिश्र इष्टः । कथं पुनरस्य सचित्तादिषु वृत्तिः ? प्रमादसंमोहाभ्यां सचित्तादिषु वृत्तिः । क्षुत्पिपासातुरत्वात् त्वरमाणस्य सचित्तादिषु अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति ।

द्रवो वृष्यं वाऽभिषवः ।५। द्रवः सौवीरादिकः वृष्यं वा द्रव्यमभिषवः इत्यभिधीयते ।

असम्यक्पक्वो दुष्पक्वः ।६। अन्तस्तण्डुलभावेनाऽतिविक्लेदनेन वा दुष्ठु पक्व आहारो दुष्पक्व इत्युच्यते । ननु दुष्पच इति प्राप्नोतीति[1]; कृच्छ्रार्थविवक्षाभावात् न भवति । तस्याभ्यवहारे को दोषः ? इन्द्रियमदवृद्धिः स्यात्, सचित्तप्रयोगो वा वातादिप्रकोपो वा, तत्प्रतीकारविधाने स्यात् पापलेपः, अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति । त एते पञ्च उपभोगपरिभोगसंख्यानमर्यादाश्रेषाः[2] ।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेश[3]मात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥

सचित्ते निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः ।१। सचित्तो व्याख्यातः । सचित्ते पद्मपत्रादौ निधानं निक्षेप इत्युच्यते । "साधनं कृता" [जैनेन्द्र० १।३।२०] इति वा मयूरव्यंसकादित्वाद्वा वृत्तिः ।

प्रकरणात् सचित्ते नाऽपिधानम् ।२। अपिधानमावरणमित्यर्थः । प्रकरणवशात् सचित्तेनापिधानमिति विशेष्यते, इतरथा हि प्रागधिकरणत्वेन निर्दिष्टं सचित्तग्रहणं नाभिसंबध्येत ।

अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः ।३। अन्यत्र दातारः सन्ति दीयमानोऽप्यमन्यस्येति वा अर्पणं परव्यदेश इति प्रतिपाद्यते ।

प्रयच्छतोऽप्यादराभावो मात्सर्यम् ।४। प्रयच्छतोऽपि सतः आदरमन्तरेण दानं मात्सर्यमिति प्रतीयते ।

अकाले भोजनं कालातिक्रमः ।५। अनगाराणाम् अयोग्यकाले भोजनं कालातिक्रम इति कथ्यते । त एते पञ्च अतिथिसंविभागशीलश्रेषाः प्रणीताः ।

सप्तानामपि शीलानामतीचारा उक्ता [4]उच्चावचाः । अथ सल्लेखनाया मरणविशेषापादनसमर्थाया अनुपदिष्टचित्तेनारभ्यायाः केऽतीचाराः भवन्तीति ? अत आह—

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥

आकाङ्क्षणमाशंसा ।१। आकाङ्क्षणमभिलाषः आशंसेत्युच्यते । जीवितं च मरणं च जीवितमरणम्[5], जीवितमरणस्य आशंसा जीवितमरणाशंसा ।

१-ति तन्न किं कारणम् कृ-मु० । २-दाभेदाः-मू०, ता०, आ०, द० । अतिचारा इत्यर्थः-मु० टि० । ३-शकरणमा-श्र० । ४ अनेकद्रकाराः । ५-मरणे तयोराशं-मु० ।

अवश्यहेयत्वे शरीरस्यावस्थानादरो जीविताशंसा ।३। शरीरमिदमवश्यं हेयं जलबुद्बुद्वदनित्यम्, अस्यावस्थानं कथं स्यादित्यादरो जीविताशंसा प्रत्येतव्या ।

[1]जीवनसंक्लेशात् मरणं प्रति चित्तानुरोधो मरणाशंसा ।३।[2] रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तस्य प्रणिधानं मरणाशंसा इति व्यपदेशमर्हति ।

पूर्वकृतसहपांशुक्रीडनाद्यनुस्मरणान्मित्रानुरागः ।४। व्यसने सहायत्वमुत्सवे संभ्रम इत्येवमादिषु कृतं बाल्ये युगपत् क्रीडनमित्येवमादीनामनुस्मरणात् मित्रेऽनुरागो भवति ।

अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः ।५। एवं मया भुक्तं शयितं क्रीडितमित्येवमादि प्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्ध इत्यभिधीयते ।

भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम् ।६। विषयसुखोत्कर्षाभिलाषो भोगाकाङ्क्षा तया नियतं चित्तं दीयते तस्मिंस्तेनेति वा निदानमिति व्यपदिश्यते । एते पञ्च सल्लेखनायाः व्यतिक्रमाः ।

अत्राह-उक्तं भवता तीर्थकरत्वकारणकर्मास्रवनिर्देशे 'शक्तितस्त्यागतपसी' इति, पुनश्चोक्तं शीलव्रतविधाने 'अतिथिसंविभाग' इति, तस्य दानस्य लक्षणमनिर्ज्ञातं तदुच्यतामिति ? अत आह—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

स्वपरोपकारोऽनुग्रहः ।१। स्वस्य परस्य चोपकारः अनुग्रह इत्याख्यायते । स्वोपकारः पुण्यसंचयः, परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः ।

स्वशब्दो धनपर्यायवचनः ।२। आत्मात्मीयज्ञातिधनपर्यायवाचित्वे स्वशब्दस्य धनपर्यायवाचिनो ग्रहणमिह द्रष्टव्यम् । अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गः त्यागो दानं वेदितव्यम् ।

अत्राह-उक्तं दानं तत्किमविशिष्टफलमाहोस्वित् अस्ति कश्चित् प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते—

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः ।१। प्रतिग्रह उच्चदेशस्थापनं पादप्रक्षालनम् अर्चनं प्रणमनमित्येवमादिक्रियाविशेषाणां क्रमो विधिरित्याख्यायते ।

विशेषो गुणकृतस्तस्य प्रत्येकमभिसंबन्धः ।२। परस्परतो विशिष्यते विशिष्टिर्वा विशेषः, स गुणकृतः, तस्य प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति-विधिविशेषः द्रव्यविशेषः दातृविशेषः पात्रविशेष इति । तत्र विधिविशेषः प्रतिग्रहादिषु आदरानादरकृतो भेदः ।

तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः ।३। दीयमाने अन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तपःस्वाध्यायपरिणामविवृद्धिकारणत्वादिर्द्रव्यविशेष इति भाष्यते ।

अनसूया[3]ऽविषादादिर्दातृविशेषः ।४। प्रतिग्रहीतरि अनसूया त्यागेऽविषादः दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः कुशलाभिसन्धिता दृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादिः दातृविशेषोऽवसेयः ।

मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः ।५। मोक्षकारणैः सम्यग्दर्शनादिभिः गुणैः योगः पात्रविशेष इति प्रतीयते ।

ततश्च फलविशेषः क्षित्यादिविशेषाद् बीजफलविशेषवत् ।६। ततश्च विध्यादिविशेषाद्दानफलविशेषो भवति, यथा क्षित्यादिकारणविशेषसन्निपाते सति नानाविधबीजफलविशेष इति ।

१ जीवितसं-मु० । २ रागोप-ता०, श्र० । ३-याविशेषादिः श्र० ।

निरात्मकत्वे सर्वभावानां विध्यादिस्वरूपाभावः ।७। निरात्मकाः सर्वे भावा इत्यस्मिन् दर्शने विध्यादिस्वरूपाभावः स्यात्। अस्ति चेद्विध्यादिस्वरूपम्; 'निरात्मकाः सर्वे भावाः' इत्यमुष्य सङ्गरस्य व्याघातः।

क्षणिकत्वाच्च विज्ञानस्य तदभिसन्धानाभावः ।८। क्षणमात्रावलम्बिनि विज्ञाने 'पात्रभूतोऽयमृषिस्तपःस्वाध्यायपरायणो मामनुगृहीष्यति, अस्मै च देयमिदं व्रतशीलभावनापरिबृंहणकरम्, अयं चात्र विधिः' इत्यभिसन्धिर्न स्यात्, पूर्वोत्तरक्षणविषयसंस्कारावग्रहसमर्थैकज्ञानाभावात्।

नित्यत्वाज्ञत्वनिष्क्रियत्वाच्च ।९। [1]यस्यापि दर्शनम्–सत आत्मनोऽकारणत्वान्नित्यत्वम्, ज्ञानगुणादर्थान्तरभूतत्वादज्ञत्वम्, सर्वगतत्वान्निष्क्रियत्वम्; तस्य तत एव विध्याद्यनुपपत्तिः।

क्रियागुणसमवायादुपपत्तिरिति चेत्; न; तत्परिणामाभावात् ।१०। स्यादेतत्–अर्थान्तरत्वेऽपि इहेदं बुद्धिलक्षणात् समवायादेकत्वापत्ताविव तद्व्यपदेशोपपत्तेः विध्याद्युपपत्तिरिति; तन्न; किं कारणम्? तत्परिणामाभावात्। यथा देवदत्तस्य दण्डयोगाद्दण्डिव्यपदेशेऽपि न दण्डस्वभावापत्तिः तथा आत्मनोऽपि क्रियागुणवद्व्यपदेशेऽपि तत्स्वभावसंक्रमाभावः, ततश्चाधिकृतविध्याद्यभाव एव।

क्षेत्रस्य वाऽचेतनत्वात् ।११। [2]यस्यापि दर्शनम्–चतुर्विंशतिविधं [3]क्षेत्रमचेतनम्, क्षेत्रज्ञश्चेतनः पुरुष इति; तस्यापि क्षेत्रस्याचेतनत्वाद्विध्याद्यभिसन्धानाभावो घटादिवत्। अथास्ति विध्याद्यभिसन्धिः; न तर्हि अचेतनं क्षेत्रम्। क्षेत्रज्ञस्य[4] च नित्यत्वात् शुद्धत्वात् निःक्रियत्वादेव विध्याद्यनुपपत्तिः।

स्याद्वादिनस्तदुपपत्तिरनेकान्ताश्रयणात् ।१२। स्याद्वादिनस्तु तेषां विध्यादीनामुपपत्तिः। कुतः? अनेकान्ताश्रयणात्–स्यान्नित्य आत्मा स्यादनित्य इत्येवमाद्यनेकान्ताश्रयणादेकान्तदृष्टिदोषाभावः।

इति तत्त्वार्थवार्तिके[5] व्याख्यानालङ्कारे सप्तमोऽध्यायः[6] समाप्तः ॥ ७ ॥

---

१ नैयायिकस्य–स० टि०। २ सांख्यस्य–स० टि०। ३ शरीरम्। महदहङ्कारादिभेदात् चतुर्विंशतिविधप्रकृत्यात्मकं जडतत्त्वम्–स० टि०। ४ मा भवतु नाम क्षेत्रस्य आत्मनो भवतु को दोषः। ५–कव्या–मु०। ६–ध्यायः मु०, मू०।

अष्टमोऽध्यायः

आस्रवपदार्थ उक्तः। अवसरप्राप्तं बन्धं व्याचक्ष्महे। स पुनश्चेतनेतरद्रव्यपरिणामः नामादिचतुष्टयधर्मभागपि द्रव्यभावबन्धविशेषाद् द्वयीमवस्थां बिभर्ति। तत्र जतुकाष्ठरज्जुनिगलादिलक्षणं द्रव्यबन्धं बहुप्रकारं हित्वा प्रकरणसामर्थ्याद्भावबन्धं ब्रूमः। स द्वेधा–कर्म-नोकर्मबन्धभेदात्। मातापितृपुत्रस्नेहसंबन्धः नोकर्मबन्धः। यः पुनः अयमितरः कर्मबन्धः तं पौनर्भविककर्मबन्धसन्ततिसद्भावादादिमन्तमनादिमन्तं च प्रतिजानीमहे बीजाङ्कुरप्रादुर्भावसन्तानवत्। आह–आस्तां तावद्[1]व्याख्यानम्, इदमेव तावदत्र वक्तव्यम्–[के]इमे बन्धहेतवो यैरयं बन्धः प्रवर्तत इति? इतरथा हि बन्धपदार्थप्रक्लृप्तये पुनस्तद्धेतवः प्रणेतव्याः स्युः।

स्यादेतत्–कारणाभावाद् बन्धप्रसिद्धिसामर्थ्यमित्येतच्च वार्तम्[2], अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। अकस्माच्च तदभावात्। यद्यकस्माद्बन्धः; मोक्षः [3]कस्मान्नाकस्मात्? न चाकस्माद्बन्धमोक्षौ; तदर्थप्रक्रियाविरोधप्रसङ्गात्। अतो बन्धमुक्त्वा मा पुनर्वोचं[4] इति आदौ एव बन्धकारणनिर्देशोऽनुष्ठेयः। कार्य-कारणयोश्च पूर्वापरभावात् पूर्वं कारणं वाच्यं पश्चात् कार्यम्; उच्यते[5]–न वक्तव्याः पुनरिह, यस्मात् षष्ठसप्तमयोः[6] विविधफलानुग्रहतन्त्रास्रवप्रकरणवशात् सप्रपञ्चाः आत्मनः कर्मबन्धहेतवो व्याख्याताः। के पुनस्ते?

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

क पुनरेते उक्ताः?

मिथ्यादर्शनं क्रियास्वन्तर्भूतम् ।१। पञ्चविंशतिः क्रिया उक्ताः तास्वन्तर्भूतं मिथ्यादर्शनं द्रष्टव्यम्।

विरतिप्रतिपक्षभूताऽप्यविरतिः ।२। विरतिर्व्याख्याता, तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिरपि तत्रैव वर्णिता "इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः" [त० सू० ६।५] इत्यत्र।

अज्ञाव्यापादनानाकाङ्क्षक्रिययोरन्तर्भावः प्रमादस्य ।३। आज्ञाव्यापादनक्रियाऽनाकाङ्क्षक्रियेत्यनयोः प्रमादस्यान्तर्भावो वेदितव्यः। स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः मनसोऽप्रणिधानम्।

कषायाः क्रोधादयः प्रोक्ताः ।४। क्रोधादयोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः कषायाः प्रोक्ताः। क? "इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः" [त० सू० ६।५] इत्यत्रैव।

योगः कायादिविकल्पः प्रक्लृप्तः ।५। योगश्च कायादिविकल्पः प्रक्लृप्तः। क? "कायवाङ्मनस्कर्म योगः" [त० सू० ६।१] इत्यत्र।

मिथ्यादर्शनं द्वेधा–नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात् ।६। मिथ्यादर्शनं द्वेधा व्यवतिष्ठते। कुतः? नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात्।

तत्रोपदेशनिरपेक्षं नैसर्गिकम् ।७। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्याकर्मोदयवशात् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकमिति व्यवसीयते।

परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधं क्रियाऽक्रियावाद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात् ।८। परोपदेशनिमित्तं मिथ्यादर्शनं चतुर्विधमवगन्तव्यम्। कुतः? क्रियाऽक्रियावाद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात्।

---

१ विशेषाख्यानं बन्धस्य। २ असारम्। ३ कुतः। ४ कारणम्। लुङि उत्तमपुरुषैकवचनमिदम्। ५ आचार्यवचनमिदम्। ६ अध्याययोः।

चतुरशीतिः क्रि(तिरक्रि)यावादाः इति कौकलकाण्ठेविद्धिप्रभृतिमतविकल्पात् इति ।९। कौकलकाण्ठेविद्धिकौशिकहरिश्मश्रुमान्कपिलरोमशहारिताश्वमुण्डाश्वलायनादिमतविकल्पात् क्रिया(अक्रिया)वादाश्चतुरशीतिविधा द्रष्टव्याः ।

अशीतिशतमक्रि(तं क्रिया)वादानां मरीचिकुमारोलूककपिलादिदर्शनभेदात् ।१०। मरीचिकुमारोलूककपिलगार्ग्यव्याघ्रभूतिवाद्वलिमाठरमौद्गल्यायनप्रभृतिदर्शनभेदात् अक्रिया(क्रिया)वादा अशीतिशतसंख्याः प्रत्येतव्याः ।

आज्ञानिकवादाः सप्तषष्टिसंख्याः साकल्यवाष्कलप्रभृतिदृष्टिभेदात् ।११। साकल्यवाष्कल[3]कुथुमिसात्यमुग्रिचारायणकाठमाध्यन्दिनीमौदपैप्पलादबादरायणस्विष्टिकृदैतिकायनवसुजैमिनिप्रभृतिदृष्टिभेदात् सप्तषष्टिसंख्या आज्ञानिकवादा ज्ञेयाः ।

वैनयिकानां द्वात्रिंशद्वशिष्टपाराशरादिमार्गभेदात् ।१२। वशिष्टपाराशरजतुकर्णवाल्मीकिरोमहर्षिणिसत्यदत्तव्यासैलापुत्रौपमन्यवेन्द्रदत्तायस्थूलादिमार्गभेदात् वैनयिकाः द्वात्रिंशद्गणना भवन्ति । त एते मिथ्योपदेशभेदाः त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्युत्तराणि ।

अत्र चोद्यते–बादरायणवसुजैमिनिप्रभृतीनां श्रुतिविहितक्रियानुष्ठायिनां कथमाज्ञानिकत्वमिति ? उच्यते–प्राणिवधधर्मसाधनाभिप्रायात् । न हि प्राणिवधः पापहेतुर्धर्मसाधनत्वमापत्तुमर्हति ।

आगमप्रामण्यात् प्राणिवधो धर्महेतुरिति चेत् ; न; तस्यागमत्वाऽसिद्धेः ।१३। स्यादेतत्–अपौरुषयो वेदागमोऽस्ति, तस्य कर्तृदोषानुषङ्गाशङ्काभावात् प्रामाण्यम् , अतस्तत्र प्रणीतः प्राणिवधो धर्महेतुरिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्यागमत्वासिद्धेः । सर्वप्राणिहितानुशासने हि प्रवृत्त आगमः, न हिंसाविधायि वचः आगमो भवितुमर्हति दस्युजनवचनवत् । किञ्च,

अनवस्थानात् ।१४। यथा 'आद्यः पुष्यः, आद्यः पुनर्वसू' इति विसंवादिवचोऽनवस्थानात् अप्रमाणं तथा वेद एव क्वचित् प्रदेशे धर्महेतुः पशुवध उक्तः–"पशुवधेन सर्वान् कामानवाप्नोति" [ ] "यज्ञो हि भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ।" [ ] इति च, क्वचित् पुनरजैः त्रिवर्षपरमोषितैर्बीजैः "अजं पिष्टयं कृत्वा यष्टव्यम्" [ ] इति हिंसा परिहृता । अतोऽनवस्थानाच्च वेदागमस्याप्रामाण्यम् । किञ्च,

परमागमे प्रतिषिद्धत्वात् ।१५। अर्हता भगवता प्रोक्ते परमागमे प्रतिषिद्धः प्राणिवधः, सर्वत्र हिंसाविरतिः श्रेयसीति । अतः परमागमे प्रतिषिद्धत्वात् न धर्महेतुः प्राणिवधः ।

तदसिद्धिरिति चेत् ; न; अतिशयज्ञानाकरत्वात् ।१६। स्यान्मतम्–आर्हतस्य प्रवचनस्य तत्त्वमसिद्धं तस्य पुरुषकृतित्वे सति अयुक्तेरिति; तन्न; किं कारणम् ? अतिशयज्ञानाकरत्वात् । यदिदं जीवादिपदार्थस्वरूपनिरूपणं नयप्रमाणाद्यधिगमोपायप्रापितयुक्ति[1]बन्धमोक्षादिप्रतिपादनसमर्थमित्येवमादीनामतिशयज्ञानानामाकर आर्हत आगमः, रत्नानामिवोदधिः, अतोऽस्य परमागमत्वम् ।

अन्यत्राप्यतिशयज्ञानदर्शनादिति चेत् ; न; अत एव तेषां संभवात् ।१७। स्यान्मतम्–अन्यत्रापि अतिशयज्ञानानि दृश्यन्ते कलपव्याकरणछन्दोज्योतिषादीनि ततोऽनैकान्तिकत्वात् नायं हेतुरिति ; तन्न; किं कारणम् ? अत एवैतेषां संभवात् । आर्हतमेव प्रवचनं तेषां प्रभवः ।

उक्तञ्च—

१–माडव्यकरोमसहारिता–मू० । –मान्कपिकरोम–मु०, ता० । २ वाद्वलिकमा–मु०, द० । ३ कुन्थुविसा–मु०, द० । कुंथुमिसा–मू०, ता० । ४–कठमा–श्र० । कुटमा–मु०, द० । ५ मत ।

"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥" [द्वात्रिं० १।३०] इति ।

श्रद्धामात्रमिति चेत् ; न; भूयसामुपलब्धेः रत्नाकरवत् ।१८। स्यादेतत्–आर्हतमेव प्रवचनं सर्वेषामतिशयज्ञानानां प्रभव इति श्रद्धामात्रमेतत् न युक्तिक्षममिति; तन्न; किं कारणम् ? भूयसामुपलब्धेः रत्नाकरवत् । यथा ग्रामनगरपत्तनादिषु दृश्यमानानामपि रत्नानां तत्प्रभवत्वमध्यवस्यति लोकः, भूयसामुपलब्धे रत्नाकर एव तेषां प्रभव इत्यध्यवसीयते, तथा सर्वातिशयज्ञाननिधानत्वात् जैनमेव प्रवचनम् आकर इत्यवगम्यते ।

तदुद्भवत्वात्तेषामपि प्रामाण्यमिति चेत् ; न; निःसारत्वात् काचादिवत् ।१९। अथ मतमेतत्–यदि वेदव्याकरणादीनाम् अर्हत्प्रवचनोद्भवत्वमभ्युपगम्यते, तेषां प्रामाण्यात् तद्विहितहिंसाद्यनुष्ठानं दानादिवन्न [2]दोषकरमिति; तन्न; किं कारणम् ? निःसारत्वात् । यथा काचमणिक्षारशम्बूकादीनां रत्नाकरसमुद्भवत्वेऽपि निःसारत्वं तथा वेदादीनां जिनशासनसमुद्रसमुद्भवत्वेऽपि न प्रामाण्यमित्यवसेयम् । किञ्च,

सर्वेषामविशेषप्रसङ्गात् ।२०। यदि हिंसा धर्मसाधनं मत्स्यबन्ध(वधक)शाकुनिक[3]शौकरिकादीनां सर्वेषामविशिष्टा धर्मावाप्तिः स्यात् । ततश्चाऽहिंसालक्षणो धर्म इत्येवमादिवचनमयुक्तं स्यात् ।

यज्ञात्कर्मणोऽन्यत्र वधः पापायेति चेत् ; न; उभयत्र तुल्यत्वात् ।२१। स्यादेतत्–यज्ञे पशुवधः प्रत्यवायहेतुर्न भवति अन्यत्र पापहेतुरिति न अहिंसालक्षणधर्मविरोध इति; तन्न; किं कारणम् ? उभयत्र तुल्यत्वात् । उभयत्र हि असौ दुःखहेतुत्वेन तुल्यः, अतः फलेनापि समेन भवितव्यम् । अन्तर्वेदिगतः पशुवधः प्रत्यवायहेतुः प्राणवियोगहेतुत्वात् बहिर्वेदिपशुवधवत्, विपर्ययो वा ।

तादर्थ्यात् सर्गस्येति चेत् ; न; साध्यत्वात् ।२२। स्यादेतत्–"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।" [मनु० ५।३९] [4]इति । अतः सर्गस्य यज्ञार्थत्वात् न तस्य विनियोक्तुः पापमिति, तन्न; किं कारणम् ? साध्यत्वात् । साध्यमेतत्–स्वयंभुवा यज्ञार्थं पशवः सृष्टा इति । किञ्च,

अन्यथोपयोगे दोषप्रङ्गात् ।२३। यद्धि यदर्थं तस्यान्यथोपयोगे दोषो दृष्टः यथा श्लेष्मप्रशमनार्थम् औषधमन्यथा प्रयुज्यमानं दोषकरं तथा यज्ञार्थः पशुसर्ग इति कृत्वा क्रयविक्रयादिषु क्रियमाणेषु कर्तुरनिष्टफलावाप्तिः प्रसज्येत ।

मन्त्रप्राधान्याददोष इति चेत् ; न; प्रत्यक्षविरोधात्[5] ।२४। स्यान्मतम्–यथा विषं मन्त्रप्राधान्यादुपयुज्यमानं न मरणकारणम् , तथा पशुवधोऽपि मन्त्रसंस्कारपूर्वकः क्रियमाणो न पापहेतुरिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रत्यक्षविरोधात् । यथा मन्त्रेण संस्क्रियमाणं विषं गौरवहीनं प्रत्यक्षत उपलभ्यते, यथा वा विना रज्जुनिगलादिबन्धेभ्यो जलमनुष्यादिं स्तम्भयन्तः प्रत्यक्षतः प्रतीताः मन्त्रबलादेव केवलात् , तथा यदि मन्त्रेभ्य एव केवलेभ्यो याज्ञे कर्मणि पशून्निपातयन्तः दृश्येरन् मन्त्रबलं श्रद्धीयेत । दृश्यते तु रज्वादिभिर्मारणम् । तस्मात् प्रत्यक्षविरोधात् मन्यामहे न मन्त्रसामर्थ्यमिति ।

हिंसादोषाविनिवृत्तेः ।२५। अभ्युपगम्योच्यते–यथा शस्त्रादिभिः प्राणिनो व्यापादयन्नशुभाभिसन्धिः पापेन बध्यते तथा मन्त्रैरपि पशून् मारयन् दुष्कर्मबन्धी भवेदेवेति हिंसादोषो न निवर्तते ।

१ सिद्धान्त । २ दोषकारणमिति–मु० । ३ सौकरिका–मु०, ता०, द० । ४ इत्यङ्गि सर्गस्य मु० । ५ सृष्टेः । ६–त् यथा–ता०, श्र०, मू० ।

नियतपरिणामनिमित्तस्यान्यथाविधिनिषेधासंभवात् ।२६। नियतं शुभाशुभलक्षणं परिणामं प्रतीत्य पुण्यपापकर्मबन्धो भवति । नासावन्यथा विधातुं निषेद्धुं वा शक्यते । यदि स्यात्; असञ्चेतितकर्मबन्धाभ्युपगमे बन्धमोक्षप्रक्रियाविरोधः स्यात् ।

कर्तुरसंभवाच्च ।२७। "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" [मैत्रा० ६।३६] अग्निहवनादिक्रियायाः कर्ता पिण्डो वा स्यात् भौतिकः, पुरुषो वा ? यदि भौतिकः पिण्डः; तस्याचेतनत्वात् घटादिवत् पुण्यापुण्यलक्षणक्रियासंचेतनाभावात् कर्तृत्वाभावः । अथ पुरुषः; स नित्यो वा स्यात्, क्षणिको वा ? यदि क्षणिकः; मन्त्रार्थानुस्मरणतत्प्रयोगानुविधानचिन्तनाद्यभावात् न कर्तृत्वमुपपन्नम् । अथ हि नित्यः स्यात्; पूर्वापरकालतुल्यत्वात् विक्रियाविरहे दूरादेव कर्तृत्वं व्यावृत्तं ततः कर्तुरभावात् क्रियाफलानभिसंबन्धः । "पुरुष एवेदं सर्वं यच्च भूतं यच्च भाव्यम्" [ऋक्० १०।९०] इत्येवमाद्युपनिषद्वाक्यप्रामाण्याच्च एकपुरुषैकान्तकल्पनायां वध्यघातकादिविवेकाभावः । चेतनाशक्तिपरिणाममात्राभ्युपगमे च दृश्यस्य [1]विश्वरूपस्याभावात् प्रत्यक्षविरोधः, प्रमाणतदाभासाविशेषप्रसङ्गोऽस्तु । निर्विकल्पपुरुषतत्त्वकल्पनायां च निर्विकल्पत्वादिविकल्पभावाभावयोः सङ्करवचनविरोधप्रसङ्गश्चेति विषयतृष्णातुरविकल्पितं वैदिकवचनं न प्रमाणीकर्तव्यम् ।

एवं परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पा अन्ये च संख्येया योज्याः ऊह्याः, परिणामविकल्पात् असंख्येयाश्च भवन्ति, अनन्ताश्च अनुभागभेदात् । यन्नैसर्गिकं मिथ्यादर्शनं तदप्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञितिर्यङ्म्लेच्छशवरपुलिन्दादिपरिग्रहादनेकविधम् ।

पञ्चविधं वा ।२८। अथवा पञ्चविधं मिथ्यादर्शनमवगन्तव्यम्—एकान्तमिथ्यादर्शनं विपरीतमिथ्यादर्शनं संशयमिथ्यादर्शनं वैनयिकमिथ्यादर्शनम् आज्ञानिकमिथ्यादर्शनं चेति । तत्रेदमेवेत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः, "पुरुष एवेदं सर्वम्" [ऋक् सं० १०।९०] इति वा, नित्य एव वा अनित्य एवेति, सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्ध्यतीत्येवमादिर्विपर्ययः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः किं स्याद्वा नवेति मतिद्वैधं[2] संशयः । सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकत्वम् । हिताहितपरीक्षाविरह[3] आज्ञानिकत्वम् ।

अविरतिकषाययोगा द्वादशपञ्चविंशतित्रयोदशभेदाः ।२९। अविरतिः कषायः योगः इत्येते द्वादश—पञ्चविंशति—त्रयोदशभेदाः द्रष्टव्याः । तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायचक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शननोइन्द्रियेषु हननासंयमनाविरतिभेदात् द्वादशविधा अविरतिः । षोडश कषायाः नव नोकषायाः ईषद्भेदो न[4] भेद इति पञ्चविंशतिः कषायाः । चत्वारो मनोयोगाः चत्वारो वाग्योगाः पञ्च काययोगाः इति त्रयोदशविकल्पो योगः, आहारककाययोगाऽऽहारकमिश्रयोगयोः प्रमत्तसंयते संभवात् पञ्चदशापि भवन्ति ।

प्रमादोऽनेकविधः ।३०। भावकायविनयेर्यापथभैक्ष्यशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्यशुद्धिलक्षणाष्टविधसंयम—उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यतपस्त्यागाऽऽकिञ्चन्यब्रह्मचर्यादिविषयानुत्साहभेदादनेकविधः प्रमादोऽवसेयः ।

समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात् ।३१। मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वं समुदायेऽवयवे च वेदितव्यम् । कुतः ? वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात् । तत्र मिथ्यादृष्टेः पञ्चापि समुदिताः बन्धहेतवः । सासादनसम्यग्दृष्टि—असंयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः । संयतासंयतस्याविरतिमिश्राः प्रमादकषाययोगाश्च । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगाः । अप्रमत्ता-

१ अचेतनरूपतया दृश्यमापृथ्व्यादि चिद्रूपतया विविधरूपस्य । विरूपस्य मु०, द० । विविधरूपस्य श्र० । २—द्वैतं सं—मु०, द०, ब० । ३—होऽज्ञा—ता०, श्र०, मू० । ४ नो भेद मु०, ब० । ५ मनः ।

दीनां चतुर्णां कषाययोगौ । [1]उपशान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिनाम् एक एव योगः । अयोगकेवली अबन्धहेतुः । तत्र च मिथ्यादर्शनादिविकल्पानां प्रत्येकं बन्धहेतुत्वमवगन्तव्यम् । न हि सर्वाणि मिथ्यादर्शनानि एकस्मिन्नात्मनि युगपत् संभवन्ति, नापि हिंसादयः सर्वे परिणामाः ।

अविरतेः प्रमादस्य चाऽविशेष इति चेत् ; न; विरतस्यापि प्रमाददर्शनात् ।३२। स्यादेतत्—प्रमादोऽपि अविरतिरेवेति पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? विरतस्यापि प्रमाददर्शनात् । विरतस्यापि पञ्चदश प्रमादाः संभवन्ति—विकथाकषायेन्द्रियनिद्राप्रणयलक्षणाः ।

कषायाऽविरत्योरभेद इति चेत् ; न; कार्यकारणभेदोपपत्तेः ।३३। स्यादेतत्—कषायाविरत्योर्नास्ति भेदः उभयोरपि हिंसादिपरिणामरूपत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? कार्यकारणभेदोपपत्तेः । कारणभूता हि कषायाः कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरतेरर्थान्तरभूता इति ।

आह—प्रपञ्चेनोपपादितान् बन्धहेतून्निरचेष्म, इदं तु सन्दिह्यः—अमूर्तेरात्मनो हस्ताद्यसंभवे सत्यादानशक्तिविरहात् कथं बन्धो[2] भवतीति ? [3]इमे ब्रूमहे—आत्मकर्मबन्धसन्ततेः पूर्वापरीभावानवधारणात् । नैवमवधार्यते—'पूर्वमात्मा पश्चात् कर्माणि प्राक् वा कर्माण्यवरं[4] आत्मा' इति ऐकान्तिकाऽमूर्तत्वनिवृत्तिः । ततः कर्मशरीरसंबन्धी[5] तप्तायःपिण्डोऽम्भ इव—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥

पुनः कषायग्रहणमनुवाद इति चेत् ; न; कर्मविशेषाशयवाचित्वात् जठराग्निवत् ।१। यथा जठराग्न्याशयानुरूपमभ्यवहरणं तथा कषायेषु सत्सु तीव्रमन्दमध्यमकषायाशयानुरूपे स्थित्यनुभवने भवत इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थं बन्धहेतुविधाने कषायग्रहणं निर्दिष्टं पुनरनूद्यते ।

जीवाभिधानं प्रचोदितत्वात् ।२। यँच्चोदितम्—अमूर्तिरहस्तो जीवः कथं कर्मादत्त इति तस्य प्रतिवचनार्थं जीव इत्यभिधीयते ।

जीवनाविनिर्मुक्तत्वाद्वा ।३। जीवनमायुस्तदविनिर्मुक्तोऽयं कर्मादत्ते न विनिर्मुक्त इति, अतश्च जीववचनम् ।

कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थम् ।४। कर्मयोग्यानिति लघुनिर्देशात् सिद्धे कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थं क्रियते । किं पुनस्तद्वाक्यान्तरम् ? 'कर्मणो जीवः सकषायो भवति' इत्येकं वाक्यम् । एतदुक्तं भवति—कर्मण इति हेतुनिर्देशः, कर्मणो हेतोर्जीवः सकषायो भवति, नाकर्मकस्य कषायलेपोऽस्ति, ततः जीवकर्मणोरनादिसंबन्ध इति । द्वितीयं वाक्यम्—'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' इति । एतदुक्तं भवति—अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति प्राक्कर्मण इति हेतुनिर्देश इह संबन्धनिर्देशः संपद्यते—सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति ।

पुद्गलवचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थम् ।५। पुद्गलात्मकं कर्मेत्येतस्य विशेषस्य ख्यापनार्थं पुद्गलग्रहणं क्रियते ।

तदसिद्धमिति चेत् ; न; अमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात् ।६। स्यादेतत्—पौद्गलिकं कर्मेत्येतदसिद्धम् आत्मगुणत्वात् तस्येति; तन्न; किं कारणम् ? अमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात् । यथा आकाशम-

१ शान्तक्षीण—मु०, द० । २ संबंधो मु०, द० । ३ प्रत्यक्षभूता वयम् । ४—कर्मसंबंध—मु०, द० । ५—ण्यपर आ—मु०, ता०, श्र० । ६—न्धात्तप्तायः—मु० । ७ प्रचोदकेन । ८—लेशोऽस्ती—मु० । ९—मू योग्यान् मु०, द० ।

मूर्ति दिगादीनाममूर्तानां नानुग्राहकमुपघातकं च तथैवामूर्ति कर्माऽमूर्तेरात्मनोऽनुग्रहोपघातयोर्हेतुर्न स्यात् ।

आदत्त इति प्रतिज्ञातोपसंहारार्थम् ।७। यत्प्रतिज्ञातं सकषायत्वाज् जीवो बन्धमनुभवति तस्योपसंहारार्थमिदमुच्यते आदत्त इति ।

अतस्तदुपश्लेषो बन्धः ।८। अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात् तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनाम् अनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते ।

तद्भावो मदिरापरिणामवत् ।९। यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः ।

'स' वचनमन्यनिवृत्त्यर्थम् ।१०। स एष बन्धो नान्योऽस्तीत्यन्यनिवृत्त्यर्थं 'स'वचनं क्रियते, तेन गुणगुणिबन्धो निवर्त्तितो भवति । यदि हि गुणगुणिबन्धः स्यात् मुक्त्यभावः प्रसज्येत, गुणस्वभावापरित्यागाद् गुणिनः, स्वभावपरित्यागे च गुणिनोऽप्यभाव इति मुक्ताभावः[1] ।

करणादिसाधनो बन्धशब्दः ।११। करणादिसाधनेष्वयं बन्धशब्दो द्रष्टव्यः । तत्र करणसाधनस्तावत्–बध्यतेऽनेनात्मेति बन्धः । "हलः" [जैने० ३।१०२] इति करणे घञ् । कः पुनसौ ? मिथ्यादर्शनादिः । ननु स बन्धहेतुरुक्तः कथं बन्धो भवितुमर्हति ? सत्यमेवमेतत्, अभिनवद्रव्यकर्मादाननिमित्तत्वाद् बन्धहेतुरपि सन् पूर्वोपात्तकर्महेतुकत्वात् कार्यतामास्कन्दन् तदनुविधानात् आत्मनोऽस्वतन्त्रीकरणत्वात् करणव्यपदेशमर्हतीति । [3]तद्रज्जुनेन आत्मना आत्मसात्क्रियते इति कर्मसाधनत्वमपि च युक्तिमत् । ज्ञानदर्शनाऽव्याबाधाऽनामाऽगोत्राऽनन्तरायत्वलक्षणं पुरुषसामर्थ्यं प्रतिबध्नाति बन्धः इति कर्तृसाधनत्वमपि चोपपत्तिमत् । एवं बन्धनं बन्ध इति भावसाधनो वा अस्वतन्त्रीक्रियामात्रविवक्षायाम् । ननु भावसाधने सामानाधिकरण्यं(ण्यं)नोपपद्यते ज्ञानावरणं बन्ध [4]इत्यादि; नैष दोषः; तदव्यतिरेकात् भावस्य तद्वता सामानाधिकरण्यं भवति–यथा ज्ञानमेवात्मेति । एवमितरसाधनयोजना च कर्तव्या ।

तस्योपचयापचयसद्भावः कर्माऽऽयव्ययदर्शनाद् व्रीहिकोष्ठागारवत् ।१२। यथा कोष्ठागारे व्रीहीणामन्येषां निर्गमादपरेषां च प्रवेशनात् उपचयापचयौ दृष्टौ तथा अनादिकार्मणकोष्ठागारस्यान्येषां कर्मणां भोगात् आदानाच्चेतरेषामुपचयापचयौ स्तः ।

आह–किमयं बन्ध एकरूप एव आहोस्वित् प्रकारा अपि अस्य सन्तीति ? अत इदमाह—

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

अकर्तरीत्यनुवृत्तेरपादानसाधना प्रकृतिः ।१। "स्त्रियां क्तिः" [जैनेन्द्र० २।३।७५] इत्यत्र अकर्तरीत्यनुवर्तते तस्मादपादाने प्रकृतिशब्दो व्युत्पाद्यते–प्रक्रियते अस्या ज्ञानावरणादेरर्थानवगमादिति प्रकृतिः ।

भावसाधनौ स्थित्यनुभवौ ।२। स्थानं स्थितिः अनुभवनमनुभव इति भावसाधनत्वमनयोरवगन्तव्यम् ।

कर्मसाधनः प्रदेशशब्दः ।३। प्रदिश्यतेऽसाविति प्रदेशः कर्मणि घञ् ।

---

१ मुक्त्यभावः मु०, द० । २ 'मिथ्यात्व । ३ तदजनेन मू० । तदनेन मु०, ब० । ४ इति नै– मु०, ब० । ५ बन्धस्य ।

प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम् ।४। यथा निम्बस्य का प्रकृतिः ? तिक्तास्वभावः । गुडस्य का प्रकृतिः ? मधुरतास्वभावः । तथा ज्ञानावरणीयस्य का प्रकृतिः ? अर्थानवगमः । प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम् । एवं दर्शनावरणस्य अर्थानालोचनम्, वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनम्, दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम्, चारित्रमोहस्य असंयमः परिणामः, आयुषो भवधारणम्, नाम्नो नारकादिनामकरणम्, गोत्रस्य उच्चैर्नीचैः स्थानसंशब्दनम्, अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम् । तदेवं लक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः ।

तत्स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः ।५। तस्य स्वभावस्य अप्रच्युतिः स्थितिरित्युच्यते । यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः, तथा ज्ञानावरणादीनामर्थानवगमादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः ।

तद्रसविशेषोऽनुभवः ।६। यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषः तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभव इति कथ्यते ।

इयत्ताऽवधारणं प्रदेशः ।७। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेश इति व्यपदिश्यते ।

विधिशब्दः प्रकारवचनः ।८। अयं विधिशब्दः प्रकारवचनो द्रष्टव्यः–विधयः प्रकारा इति यावत् । तस्य विधयस्तद्विधय बन्धप्रकारा इत्यर्थः । त एते प्रकृत्यादयश्चत्वारो बन्धप्रकाराः ।

तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ ।९। तेषु बन्धविकल्पेषु प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध इत्येतौ द्वौ योगनिमित्तौ वेदितव्यौ ।

स्थित्यनुभवौ कषायहेतुकौ ।१०। स्थितिबन्धोऽनुभवबन्ध इत्येतौ द्वावपि कषायहेतुकौ प्रत्येतव्यौ । तत्प्रकर्षभेदात् तद्बन्धविचित्रभावः । कारणानुरूपं हि कार्यमिति ।

आद्यो द्वेधा मूलोत्तरप्रकृतिभेदात् ।११। [1]आद्यः प्रकृतिबन्धः द्वेधा विभज्यते । कुतः ? मूलोत्तरप्रकृतिभेदात् ।

यद्येवं कास्ता मूलप्रकृतय इति ? अत्रोच्यते—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥

सामानाधिकरण्ये सति पूर्वोत्तरवचनविरोध इति चेत्; न; उभयनयधर्मविवक्षासद्भावात् ।१। स्यादेतत्–ज्ञानावरणादयोऽन्तरायान्ताः प्रकृतिबन्धो नान्य इति ज्ञानावरणादिभिः सामानाधिकरण्यात् आद्यशब्दस्य बहुवचनप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? उभयनयधर्मविवक्षासद्भावात् । द्रव्यार्थिकनयविषयस्य सामान्यस्य विवक्षातः प्रकृतिबन्ध एक इत्याद्यशब्दादेकवचनप्रयोगः । तस्य विशेषा ज्ञानावरणादयः पर्यायार्थिकनयविषयभूताः प्राधान्येन विवक्षिता इति तेभ्यो बहुवचनप्रयोगः कृतः । दृश्यते हि लोके सत्यपि सामानाधिकरण्ये वचनभेदः, यथा प्रमाणं श्रोतारः, गावो धनमिति ।

यथासंभवं कर्त्रादिसाधनत्वं ज्ञानावरणादिशब्दानाम् ।२। ज्ञानावरणादयः शब्दाः कर्त्रादिषु यथासंभवं साधयितव्याः । तद्यथा–आवृणोति आव्रियतेऽनेन वा इत्यावरणम् । आवरणशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ज्ञानावरणं दर्शनावरणमिति । ननु "करणाधिकरणयोः[2]" [जैने० २।३।११६]

---

१ यः प्र– ता०, अ० । २–योरनट् कथं मु०, ब० । "करणाधिकरणयोः [जैनेन्द्र० २।३।११६] इति सूत्रेण युटि तस्थाने अनादेशो भवति"–स० ।

अनः कथं कर्तरि ? बहुलापेक्षया । वेद्यत इति वेदनीयम् कर्मण्यनीयः । मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहः । कथं ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं मोहनीयमिति ? बहुलापेक्षया कर्त्तर्यनीयः । एत्यनेन गच्छति नारकादिभवमित्यायुः, "जनेरुसिः" [उणादि०] इति प्रकृते[1], "एतेर्णिच्च" [उणादि०] इत्युसिः । नमयत्यामानं नारकादिभावेन नम्यतेऽनेनेति नाम, उणादिषु निपातितशब्दः । उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यतेऽनेनेति गोत्रम् । अन्तरं मध्यं दातृदेयादीनामन्तरं मध्यमेति ईयते वाऽनेनेत्यन्तरायः । बहिर्योगे वा, यस्मिन् मध्येऽवस्थिते दात्रादीनां दानादिक्रियाऽभावः, दानादीच्छाया बहिर्भावो वा सोऽन्तरायः ।

प्रयोगपरिणामादागच्छद्देवाऽविशिष्टं कर्माऽऽवरणादिविशेषैर्विभज्यते अन्नादेर्वातादिविकारवत् ।३। यथा अन्नादेरभ्यवहियमाणस्यानेकविकारसमर्थवातपित्तश्लेष्मखलरसभावेन परिणामविभागः तथा प्रयोगापेक्षया अनन्तरमेव कर्माणि आवरणाऽनुभवन-मोहापादन-भवधारण-नानाजातिनाम-गोत्र-व्यवच्छेदकरणसामर्थ्यवैश्वरूप्येण आत्मनि सन्निधानं प्रतिपद्यन्ते ।

ज्ञानावरणमेव मोह इति चेत्; न; अर्थान्तरभावात् ।४। स्यादेतत्–सति मोहे हिताहितपरीक्षणाभावात् ज्ञानावरणादविशेषो मोहस्येति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थान्तरभावात् । याथात्म्यमर्थस्यावगम्यापि इदमेवेति सद्भूतार्थाश्रद्धानं यतः स मोहः । ज्ञानावरणेन ज्ञानं तथाऽन्यथा वा[3] न गृह्णाति ।

कार्यभेदे च कारणान्यत्वात् ।५। यथा भिन्नलक्षणाङ्कुरदर्शनात् बीजकारणान्यत्वं तथैवाज्ञानचारित्रमोहकार्यान्तरदर्शनात् ज्ञानावरणमोहनीयकारणभेदोऽध्यवसीयते ।

ज्ञानदर्शनयोरन्यत्वं प्रत्युक्तम् ।६। ज्ञानदर्शनयोरन्यत्वं पुरस्ताद्विहितम् । अतः किम् ? ज्ञानदर्शनकार्यान्यत्वात् यत्तयत्तयोपशमकारणे ज्ञानदर्शने तयोरपि ज्ञानदर्शनावरणयोरन्यत्वं सिद्धम् ।

ज्ञानावरणस्याविशेषेऽपि प्रत्यास्रवं मत्यादिविशेषो जलवत् ।७। यथा अम्भो नभसः पतदेकरसं भाजनविशेषात्[5] विष्वग्रसत्वेन विपरिणमते तथा ज्ञानशक्त्युपरोधस्वभावाऽविशेषात् उपनिपतत् कर्म प्रत्यास्रवं सामर्थ्यभेदात् मत्याद्यावरणभेदेन व्यवतिष्ठते ।

एतेनेतराणि व्याख्यातानि ।८। इतराणि दर्शनावरणादीनि मूलोत्तरप्रकृतिविकल्पवन्ति उक्तेनैव क्रमेण व्याख्यातानि भवन्ति । अत्र चोद्यते—

पुद्गलद्रव्यस्यैकस्यावरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वानुपपत्तिर्विरोधात् ।९। एकस्य पुद्गलद्रव्यस्य आवरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वं नोपपद्यते । कुतः ? विरोधात् ।

न वा, तत्स्वाभाव्याद्दग्नेर्दाहपाकप्रतापप्रकाशसामर्थ्यवत् ।१०। न वैष दोषः । किं कारणम् ? तत्स्वाभाव्यात् । यथा अग्नेरेकस्यापि दाहपाकप्रकाशसामर्थ्यं न विरुध्यते, तथैकस्यापि पुद्गलद्रव्यस्य आवरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वं न विरुध्यते । किञ्च,

अनैकान्तिकत्वात् ।११। एकानेकलक्षणत्वात् द्रव्यस्य स्यादनेकत्वं स्यादेकत्वम् । द्रव्यार्थादेशात् स्यादेकं पुद्गलद्रव्यम् । अनेकपरमाणुस्निग्धरूक्षबन्धापादितानेकात्मकस्कन्धपर्यायार्थादेशात् स्यादनेकम् । ततश्च नास्ति विरोधः ।

---

१ अनुवर्तमाने । "जनेरुसिः"–उणादिवृ० २।११६ । "एतेर्णिच्च"–उणादिवृ० २।१२० । २ सद्भूतमसद्भूतम् । ३–था च गृ–ता०, श्र०, भा० १, भा०२, आ०, द०, ब० । ४ आवरणयोः । ५ मत्यादीनामविशेषो मु०, द० । मत्यादीनां वि–भा० । ६ ज्ञाना ।

पराभिप्रायेणेन्द्रियाणां भिन्नजातीयानां क्षीराद्युपयोगे[1] वृद्धिवत् ।१२। पराभिप्रायेणेदमुच्यते–यथा पृथिव्यप्तेजोवायुभिरारब्धानामिन्द्रियाणां भिन्नजातीयानां क्षीरघृतादिष्वेकमप्युपयुज्यमानम् अनुग्राहकं दृष्टं तथेदमपि इति ।

वृद्धिरेकैवेति चेत्; न; प्रतीन्द्रियं वृद्धिभेदात् ।१३। स्यादेतत्–वृद्धिरेकैव, तस्या घृताद्यनुग्राहकमिति न विरोध इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रतीन्द्रियं वृद्धिभेदात् । यथैवेन्द्रियाणि भिन्नानि तथैवेन्द्रियवृद्धयोऽपि भिन्नाः ।

तथैवातुल्यजातीयेनानुग्रहसिद्धिः ।१४। यथा भिन्नजातीयेन क्षीरेण तेजोजातीयस्य चक्षुषोऽनुग्रहः, तथैव आत्मकर्मणोश्चेतनाऽचेतनत्वात् अतुल्यजातीयं कर्म आत्मनोऽनुग्राहकमिति सिद्धम् । किमेतावानेव संख्याविकल्पः ? नेत्युच्यते–

एकादिसंख्येयविकल्पाः च शब्दतः ।१५। एकादयः संख्येया विकल्पा भवन्ति–शब्दतः । तत्रैकस्तावत्[2] सामान्यादेः(देकः)कर्मबन्धः विशेषाणामविवक्षितत्वात्, सेनावनवत् । यथा सैनिकानां तुरगादीनां भेदानामविवक्षायां समुदायादेशात् एका सेना, यथा वा अशोकतिलकबकुलादीनां भेदेनाविवक्षायां सामान्यादेशात् एकं वनम् । स एव पुण्यपापभेदाद् द्विविधः, यथा स्वामिभृत्यादेशात् द्विविधा सेना । त्रिविधो बन्धः–अनादिः सान्तः, अनादिरनन्तः, सादिः सान्तश्चेति, भुजाकाराऽल्पतरावस्थितभेदाद्वा । प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशाश्चतुर्विधः । द्रव्यक्षेत्रकालभवभावनिमित्तभेदात् पञ्चविधः । षड्जीवनिकायविकल्पात् षोढा व्यपदिश्यते । रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभहेतुभेदात् सप्ततयीं वृत्तिमनुभवति । ज्ञानावरणादिविकल्पादष्टधा । एवं संख्येया विकल्पाः शब्दतो योज्याः । चशब्देनाध्यवसायस्थानविकल्पात् असंख्येयाः । अनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धपरिणामविधिरनन्तः, ज्ञानावरणाद्यनुभवाविभागपरिच्छेदापेक्षया वा अनन्तः ।

क्रमप्रयोजनं ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात् ।१६। क्रमप्रयोजनमिदानीं वक्तव्यम् ? तदुच्यते–ज्ञानावरणं सर्वेषामादावुक्तम् । कुतः ? ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात् । ज्ञानं हि स्वाधिगमनिमित्तत्वात् प्रधानम् ।

ततो दर्शनावरणमनाकारोपलब्धेः ।१७। ततः पश्चात् दर्शनावरणमुच्यते । कुतः ? अनाकारोपलब्धेः । साकारोपयोगाद्धि अनाकारोपयोगो[3] निकृष्यते अनभिव्यक्तग्रहणात् । [4]उत्तरेभ्यस्तु प्रकृष्यते अर्थोपलब्धितन्त्रत्वात् ।

तदनन्तरं वेदनावचनं तदव्यभिचारात् ।१८। तदनन्तरं वेदना उच्यते । कुतः ? तदव्यव्यभिचारात् । ज्ञानदर्शनाऽव्यभिचारिणी हि वेदना घटादिष्वप्रवृत्तेः ।

ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात् ।१९। ततः पश्चात् मोहोऽभिधीयते । कुतः ? तद्विरोधात्, तेषां ज्ञानदर्शनसुखदुःखानां विरोधात् । मूढो हि न जानाति न पश्यति न च सुखदुःखं वेदयते । ननु च मूढानामपि सुखदुःखज्ञानदर्शनानि उपलभ्यन्ते, यदि हि विरोधः स्यात् सुखदुःखज्ञानदर्शनानि मिथ्यादृष्ट्यसंयतानां न स्युः; नैष दोषः; क्वचिद्विरोधदर्शनात् 'विरोधात्' इत्युच्यते न सर्वत्र । मोहाभिभूतस्य हि कस्यचित् हिताहितविवेकादिर्नास्ति ।

आयुर्वचनं तत्समीपे तन्निबन्धनत्वात् ।२०। तत्समीपे आयुर्वचनं क्रियते । कुतः ? तन्निबन्धनत्वात् । आयुर्निबन्धनानि हि प्राणिनां सुखादीनि ।

१–द्युपभोगे मु०, द० । २ समानः क–ता०, श्र० । समादानकर्म–मु०, द०, मू०, ब० । ३ निकृष्टोऽनभि–मु०, द० । ४ वेदनादिभ्यः ।

तदनन्तरं नामवचनं तदुदयापेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य ।२१। तदनन्तरं नामवचनं क्रियते। कुतः ? तदुदयापेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य। आयुरुदयापेक्षो हि प्रायेण गत्यादुदयो लक्ष्यते।

ततो गोत्रवचनं प्राप्तशरीरादिलाभस्य संशब्दनाभिव्यक्तेः ।२२। परिप्राप्तशरीरादिलाभस्य हि पुंसः गोत्रोदयनिमित्तं शुभाशुभं संशब्दनमभिव्यज्यते, ततो नाम्नोऽनन्तरं गोत्राभिधानं क्रियते।

परिशेषादन्ते अन्तरायवचनम् ।२३। अन्यस्याभावात् परिशेषात् अन्ते अन्तरायवचनं क्रियते।

आह-उक्तो मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधः। अथ द्वितीयः पुनरुत्तरप्रकृतिबन्धः कतिविध इति ? अत्रोच्यते—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदो यथाक्रमम् ॥५॥

पञ्चादीनां पञ्चान्तानां द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः ।१। पञ्च च नव च द्वौ च अष्टाविंशतिश्च चत्वारश्च द्विचत्वारिंशच्च द्वौ च पञ्च च पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्च, ते भेदा यस्य स भवति पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदः, इति द्वन्द्वगर्भोऽन्यपदार्थनिर्देशो वेदितव्यः।

द्वितीयग्रहणमिति चेत् ; नः परिशेषात्सिद्धेः ।२। स्यादेतत्-द्वितीयग्रहणं कर्तव्यं द्वितीय उत्तर प्रकृतिबन्धः एवंभेद इति संप्रत्ययः कथं स्यात् इति ? तन्न; किं कारणम् ? परिशेषात् सिद्धेः। आद्यो मूलप्रकृतिबन्धो व्याख्यातः, ततः परिशेषात् उत्तरप्रकृतिबन्धसंप्रत्ययः सिद्ध्यति।

भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते ।३। अयं भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते पञ्चभेदो नवभेद इत्यादि।

यथाक्रमं यथानुपूर्वम् ।४। यो यः क्रमः यथाक्रमं यथानुपूर्वमित्यर्थः। पञ्चविधं ज्ञानावरणम्, नवविधं दर्शनावरणमित्यादि।

यद्येवमाद्यमावरणं केषां पञ्चानामिति ? अत्रोच्यते—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

मत्यादीन्युक्तलक्षणानि ।१। मत्यादीनि ज्ञानानि उक्तलक्षणानि वेदितव्यानि। क ? आद्येऽध्याये।

मत्यादीनामिति पाठो लघुत्वादिति चेत् ; न; प्रत्येकमभिसंबन्धार्थत्वात् ।२। स्यान्मतम्-मत्यादीनि ज्ञानानि उक्तानि, तेषामिहादिशब्दोपलक्षितानां पाठो युक्तो लघुत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रत्येकमभिसंबन्धार्थत्वात्। प्रत्येकमभिसम्बन्धार्थं इह प्रतिपदं पाठः क्रियते-मतेरावरणं श्रुतस्यावरणमित्यादि। इतरथा हि मत्यादीनामित्युच्यमाने तेषामेकमावरणमिति संप्रत्ययः स्यात्।

[1]**वचनात् पञ्चसंख्याप्रतीतिरिति चेत् ; न; प्रत्येकं पञ्चत्वप्रसङ्गात्** ।३। स्यादेतत्-पञ्च

१ बहुवचनात्।

ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः इत्युक्तम्, मत्यादीनि च ज्ञानानि पञ्चोक्तानि ततो वचनात् पञ्चसंख्यासंप्रत्यय इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रत्येकं पञ्चत्वप्रसङ्गात्। [बहु] वचनात् मत्यादीनां प्रत्येकं पञ्चावरणानीत्यनिष्टं प्रसज्येत। प्रतिपदग्रहणे पुनः सति सामर्थ्यादिष्टार्थसंप्रत्ययः शक्यते कर्तुम्। अत्र कश्चिदाह—

मत्यादीनां सत्त्वासत्त्वयोरावृत्यभावः ।४। इदमिह संप्रधार्यम्-सतां मत्यादीनां कर्म आवरणं भवेत्, असतां वेति ? किञ्चातः यदि सताम् ; परिप्राप्तात्मलाभत्वात् सत्त्वादेव आवृतिर्नोपपद्यते। अथाऽसताम् ; नन्वावरणाभावः। नहि खरविषाणवदसदाव्रियते।

न वा; आदेशवचनात् ।५। न वैष दोषः। किं कारणम् ? आदेशवचनात्। कथञ्चित् सतामावरणं कथञ्चिदसताम्। द्रव्यार्थादेशेन सतां मत्यादीनामावरणम्, पर्यायार्थादेशेनाऽसताम्। यद्येकान्तेन सतामावरणं क्षायोपशमिकत्वमेषां न स्यात्। अथैकान्तेनाऽसताम् ; एवमपि क्षायोपशमिकत्वं नोपपद्यते असत्त्वात्। सतश्चावरणदर्शनात्। [1]सतो हि नभसः मेघपटलादिना आवरणं दृश्यते, तथा सतां मत्यादीनामावरणमिति को विरोधः ?

अर्थान्तराभावाच्च प्रत्याख्यानावरणवत् ।६। यथा न [2]कुटीभूतं प्रत्याख्यानं नाम कश्चित् पर्यायोऽस्ति यस्यावरणात् प्रत्याख्यानावरणत्वं भवेत् किन्तु प्रत्याख्यानावरणसान्निध्यात् आत्मा प्रत्याख्यानपर्यायेण नोत्पद्यत इत्यतः प्रत्याख्यानावरणस्य आवरणत्वम्, तथा न कुटीभूतानि मत्यादीनि कानिचित् सन्ति येषामावरणात् मत्याद्यावरणानाम् आवरणत्वं भवेत् किन्तु मत्याद्यावरणसन्निधाने आत्मा मत्यादिज्ञानपर्यायैर्नोत्पद्यते इत्यतो मत्याद्यावरणानाम् आवरणत्वम्। अपर आह—

अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात् ।७। इदमिह संप्रधार्यम्-मनःपर्ययज्ञानगमनशक्तिः केवलप्राप्तिसामर्थ्यं चाऽभव्यस्य स्याद्वा, न वेति ? यदि स्यात् ; तस्याऽभव्यत्वानुपपत्तिः। अथ नास्ति; तदुभयसामर्थ्याभावात् तदावरणकल्पना व्यर्थेति उत्तरस्यावरणद्वयस्य नोपपत्तिः ?

नवा, उक्तत्वात् ।८। नवैष दोषः। किं कारणम् ? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्-'आदेशवचनात्' इति। द्रव्यार्थादेशेन सतोर्मनःपर्ययकेवलज्ञानयोरावरणम्, पर्यायार्थादेशेनाऽसतोः। अपि चोक्तम्-'अर्थान्तराभावाच्च प्रत्याख्यानावरणवत्' इति। यदि द्रव्यार्थादेशेन मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं चास्त्यभव्यस्य; भव्यत्वमस्य प्राप्नोति। न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वं कल्प्यते। कथं तर्हि ?

सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाऽभावाभ्यां भव्याऽभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत् ।९। यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्धपाषाण इति तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो यः स भव्य तद्विपरीतोऽभव्यः इति चोच्यते।

ज्ञानावरणादज्ञोऽतिदुःखितः ।१०। ज्ञानावरणोदयेनोपरतज्ञानसामर्थ्यः लुप्तस्मृतिर्धर्मश्रवणनिरुत्सुकः[3] अज्ञानावमानकृतं च बहुदुःखमनुभवति।

आह-उक्तो ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिविकल्पः। इदानीं दर्शनावरणस्य वक्तव्य इति। अत आह—

१ सतोपि न-ता०, श्र०। २ प्रत्यक्षीभूतम्। ३-कः ज्ञाना-मु०, द०, ब०, सू०।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचला-प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

चक्षुरादीनां दर्शनावरणसंबन्धात् भेदनिर्देशः ।१। चक्षुश्चाचक्षुश्चावधिश्च केवलं च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि तेषां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानम् दर्शनावरणानीति भेदनिर्देशः दर्शनावरणसंबन्धाद्भेदितव्यः ।

मदखेदक्लमविनोदार्थः स्वापो निद्रा ।२। मदखेदक्लमानां विनोदाय यः स्वापः स निद्रा इत्युच्यते । कथम् ? निपूर्वस्य द्रातेः कुत्साक्रियस्याङि निद्राशब्दनिष्पत्तिः । यत्सन्निधानादात्मा निद्रायते कुत्स्यते सा निद्रा । द्रायतेर्वा स्वप्नक्रियस्य निद्रा ।

उपर्युपरि तद्वृत्तिर्निद्रानिद्रा ।३। तस्या निद्राया उपर्युपरि पुनः पुनर्वृत्तिः निद्रानिद्रा इत्युच्यते ।

प्रचलयत्यात्मानमिति प्रचला ।४। या क्रिया आत्मानं प्रचलयति सा प्रचलेत्युच्यते, पचादिलक्षणे अचि । सा पुनः शोकश्रममदादिप्रभवा । विनिवृत्तेन्द्रियव्यापारस्यान्तःप्रीतिलवमात्रहेतुः आसीनस्यापि नेत्रगात्रक्रियासूचिता ।

पौनःपुन्येन सैवाहितावृत्तिः प्रचलाप्रचला ।५। सैव प्रचला पुनः पुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचलेत्युच्यते ।

स्वप्ने यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः ।६। यत्सन्निधानाद्रौद्रकर्मकरणं बहुकर्मकरणं च भवति सा स्त्यानगृद्धिः । कथम् ? स्त्यायतेरनेकार्थत्वात् स्वप्नार्थ इह गृह्यते । गृधेरपि दीप्तिः । स्त्याने स्वप्ने गृध्यति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं बहु च कर्म करोति सा स्त्यानगृद्धिः ।

नानाधिकरणाभावात् वीप्सानुपपत्तिरिति चेत् ; न; कालादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः ।७। स्यान्मतम्–नानाधिकरणविषया वीप्सा, न चेह नानाधिकरणत्वमस्ति एकात्मगोचरत्वात्, ततो वीप्साऽभावात् असति द्वित्वे निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलेति निर्देशो नोपपद्यत इति; तन्न; किं कारणम् ? कालादिभेदात् तद्भेदसिद्धेः । इह एकस्यापि वस्तुनः कालकृतादु गुणभेदाद् भेदो दृश्यते–पटुर्भवान् पटुरासीत् पटुतर एषम[3] इति । तथा देशकृतादपि–मथुरायां दृष्टः, पुनः पाटलिपुत्रे दृश्यमान उच्यते–अन्योऽत्र त्वमसि संपन्न इति । एवमिहापि कालादिभेदात् भेदोपपत्तेः वीप्सा युज्यते ।

आभीक्ष्ण्ये वा द्वित्वप्रसिद्धिः ।८। अथवा मुहुर्मुहुर्वृत्तिराभीक्ष्ण्यं तस्य विवक्षायां द्वित्वं भवति यथा [4]गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्त इति ।

निद्रादिकर्मसद्वेद्योदयात् निद्रादिपरिणामसिद्धिः ।९। निद्रादिकर्मणः सद्वेद्यस्य चोदयात् निद्रादिपरिणामसिद्धिर्भवति । तत्र हि शोकक्लमादिविगमदर्शनात् सद्वेद्योदयः स्फुटोऽवगन्तव्यः, असद्वेद्यस्य च मन्दोदयः ।

निद्रादीनामभेदेनाभिसंबन्धः ।१०। निद्रा च निद्रानिद्रा च प्रचला च प्रचलाप्रचला च स्त्यानगृद्धिश्च निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयः । अनुवर्तमानेन दर्शनावरणेनाभेदेनाभिसंबन्धः क्रियते ।

---

१ पटुर्भवान् पटुरासीत् पटुतर एव स–मु०, द०, ब० । २ गतवर्षे–स० । परापराद्यैषमो वर्षे । ३ अस्मिन् वर्षे–स० । ४ गेहमनुप्रवेशमास्त इति मु०, द० ।

निद्रादीनामभेदेनाभिसंबन्धो(बन्ध)विरोध इति चेत् ; न; विवक्षातः संबन्धात् ।११। स्यादेतत्–चक्षुरादीनां भेदनिर्देशः निद्रादीनामभेदनिर्देशः एकमेव दर्शनावरणमपेक्ष्य क्रियमाणो विरुद्ध इति; तन्न; किं कारणम् ? विवक्षातः संबन्धात् । विवक्षावशाद्धि भेदेनाभेदेन च संबन्धो न विरुध्यते ।

अथ चक्षुरादिदर्शनावरणोदयात् आत्मा किमवस्थो भवति ? अत्रोच्यते—

चक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणोदयात् चक्षुरादीन्द्रियालोचनविकलः ।१२। चक्षुर्दर्शनावरणस्याचक्षुर्दर्शनावरणस्य चोदयात् आत्मा चक्षुरादीन्द्रियलोचनविकलो भवति एकेन्द्रियभावेन विकलेन्द्रियभावेन च, पञ्चेन्द्रियत्वेऽप्युपहतेन्द्रियालोचनसामर्थ्यश्च भवति ।

अवधिदर्शनावरणोदयादवधिदर्शनविप्रमुक्तः ।१३। अवधिदर्शनावरणोदयाद् व्यपेतावधिदर्शनः संपद्यते ।

केवलदर्शनावरणोदयादनाविर्भूतकेवलदर्शनः ।१४। केवलदर्शनावरणस्य कर्मण उदयात् अनाविर्भूतकेवलदर्शनः अप्रत्यवसितसंसारोऽवतिष्ठते ।

निद्रा-निद्रानिद्रोदयात्तमोमहातमोऽवस्था ।१५। निद्राया उदयात् तमोऽवस्था निद्रानिद्रायाः उदयात् महातमोऽवस्था संजायते ।

प्रचला-प्रचलाप्रचलोदयाच्चलनाचलनभावः ।१६। प्रचलोदयादासीनो घूर्णमानश्चलन्नयनगात्रः पश्यन्नपि न पश्यति । प्रचलाप्रचलोदयादासीनोऽतिघूर्णमानः खन्यमानमपि शरनाराचादिभिः शिरोऽङ्गप्रत्यङ्गादि यत्किञ्चिन्न पश्यति ।

आह–यत्तत्कर्म तृतीयगणनामवाप्तं तस्योत्तरप्रकृतिविकल्पो न निर्ज्ञात इति ? अत्रोच्यते—

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम् ।१। देवादिषु गतिषु बहुप्रकारजातिविशिष्टासु यस्योदयात् अनुगृहीत(तृ)द्रव्यसंबन्धापेक्षात् प्राणिनां शारीरमानसानेकविधसुखपरिणामस्तत्सद्वेद्यम् । प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यम् ।

यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम् ।२। नारकादिषु गतिषु नानाप्रकारजातिविशेषावकीर्णासु कायिकं बहुविधं मानसं वाऽतिदुःसहं जन्मजरामरणप्रियविप्रयोगाऽप्रियसंयोगव्याधिवधबन्धादिजनितं दुःखं यस्य फलं प्राणिनां तदसद्वेद्यम् । अप्रशस्तं वेद्यम् असद्वेद्यम् ।

आह–व्याख्यातो वेदनीयस्य प्रकृतिबन्धः । अथ खलु मोहनीयस्याष्टाविंशतिप्रभेदस्य किमाख्याः प्रकारा इति ? अत्र ब्रूमः—

दर्शनचारित्रमोहनीयाऽकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

दर्शनादिभिस्त्रिद्विनवषोडशभेदानां यथासंख्येन संबन्धः ।१। दर्शनादयश्चत्वारः त्र्यादयोऽपि, तेषां यथासंख्येन संबन्धो भवति–दर्शनमोहनीयं [1]त्रिभेदम्, चारित्रमोहनीयं द्विभेदम्, अकषायवेदनीयं नवविधम्, कषायवेदनीयं षोडशविधमिति ।

---

१ त्रिविधं मु०, द०, ब० ।

तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदं सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानीति ।२। तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदमवगन्तव्यम्। कुतः ? सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि इति। तद्बन्धं प्रत्येकं भूत्वा सत्कर्मापेक्षया त्रैविध्यमास्कन्दति। तत्र यस्योदयात् सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखः तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविभागाऽसमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। तदेव[1] सम्यक्त्वम्, शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मानं श्रद्दधानं न निरुणद्धि। तद्वेदयमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते। तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत् सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते, सम्यङ्मिथ्यात्वमिति यावत्। यस्योदयादात्मनः अर्धशुद्धमदकोद्रवौदनोपयोगापादितमिश्रपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणामः।

चारित्रमोहनीयं द्वेधा कषायाकषायभेदात् ।३। चारित्रमोहनीयं द्वेधा विभज्यते। कुतः ? अकषायकषायभेदात्। कषायप्रतिषेधप्रसङ्ग इति चेत्; न; ईषदर्थत्वात् नञः। यथा 'अलोमिकैषा एलका' इति, नास्याः कच्छपवल्लोमाभावः किन्तु छेदयोग्यलोमाभावेऽपि ईषत्प्रतिषेधादलोमिकेत्युच्यते, तथा नेमे कषाया अकषायाः हास्यादय इति, नैषां सर्वथैवाऽकषायत्वं किन्तु परोपष्टम्भात् श्ववत्प्रवृत्तेरीषत्प्रतिषेधः। यथा श्वा स्वाम्युपष्टम्भात् प्रवृद्धबलः सत्त्वजिघांसां प्रति वर्तते स्वामिनिवर्तनाच्च निवर्तते, तथा क्रोधादिकषायावष्टम्भात् ईषत्प्रतिषेधे सति हास्यादीनां प्रवृत्तेः, क्रोधाद्यप्रवृत्तौ च निवृत्तेरकषायत्वम्। कथमीषत्प्रतिषेधगतिरिति चेत् ? व्याख्यानतः।

अकषायवेदनीयं नवविधं हास्यादिभेदात् ।४। अकषायवेदनीयं नवविधम्। कुतः ? हास्यादिभेदात्। तत्र यस्योदयात् हास्याविर्भावस्तद्धास्यम्। यदुदयादेशादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः। अरतिस्तद्विपरीता। यद्विपाकः शोचनं स शोकः। यदुदयादुद्वेगः तद्भयं सप्तविधम्। कुत्साप्रकारो जुगुप्सा। यद्येवं कुत्साग्रहणमेवास्तु लघुत्वात्; न; अर्थविशेषोपपत्तेः। आत्मीयदोषसंवरणं जुगुप्सा, परकीयकुलशीलादिदोषाविष्करणावज्ञेपण[3]भर्त्सनप्रवणा कुत्सा। यस्योदयात् स्त्रैणान् भावान् मार्दवास्फुटत्वक्लैव्यमदनावेशनेत्रविभ्रमास्फालनसुखपुंस्कामनादीन् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः। तस्योद्भूतवृत्तित्वमितरयोः[5] पुंनपुंसकयोः सत्कर्मद्रव्यावस्थानान्न्यग्भावः। ननु लोके प्रतीतं योनिमृदुस्तनादि(पृथुस्तनादि)स्त्रीवेदलिङ्गम्; न; तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्, [6]अतः पुंसोऽपि स्त्रीवेदोदयः। कदाचिद्योषितोऽपि पुंवेदोदयोऽप्याभ्यन्तरविशेषात्। शरीराकारस्तु नामकर्मनिर्वर्तितः। एतेनेतरौ व्याख्यातौ। यस्योदयात् पौंस्नान् भावानास्कन्दति स पुंवेदः। यत्कर्मोदयात् नपुंसकान् भावानुंपव्रजति[7] स नपुंसकवेदः।

कषायवेदनीयं षोडशविधं अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात् ।५। कषायवेदनीयं षोडशविधं द्रष्टव्यम्। कुतः ? अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात्। तद्यथा कषायाः क्रोधमानमायालोभाः। स्वपरोपघातनिरनुग्रहाहितक्रौर्यपरिणामोऽमर्षः क्रोधः। [8]स च चतुःप्रकारः—पर्वत-पृथ्वी-वालुका-उदकराजितुल्यः। जात्याद्युत्सेकावष्टम्भात् पराप्रणतिर्मानः शैलस्तम्भा-ऽस्थि-दारु-लतासमानश्चतुर्विधः। परातिसन्धानतयोपहितकौटिल्यप्रायः प्रणिधिर्माया प्रत्यासन्नवंशपर्वोपचितमूल-मेषशृङ्ग-गोमूत्रिका-ऽवलेखनीसदृशी चतुर्विधा। अनुग्रहप्रवणद्रव्याद्यभिकाङ्क्षावेशो लोभः कृमिराग-कज्जल-कर्दम-हरिद्रारागसदृशश्चतुर्विधः। तेषां क्रोधमानमायालोभानां चतस्रोऽवस्थाः अनन्तानुबन्धिनः अप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः सञ्ज्वलनाश्चेति। अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्

१ मिथ्यात्वद्रव्यम्। २–कांडका मु०। –काण्डलका–द०, ब०। मेषी इत्यर्थः। ३–पभ–मु०, ब०। ४–कामादीन् मु०, ब०। ५ अ० प्रतौ 'इतरयोः' इति पदस्य टिप्पणभूतं 'पुंनपुंसकयोः' इति पदम्। ६ अन्तः पुंसो–अ०, ता०। ७–न् प्रव्रज–मु०, द०, ब०। ८ स चतुः–मू०, मु०, द०, ब०। ९–वालिको–ता०, द०, मू०।

तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाः। यदुदयादेशविरतिं संयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्त अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। समेकीभावे वर्तते, संयमेन सहावस्थानादेकीभूताः ज्वलन्ति, संयमो वा ज्वलति एतेषु सत्स्वपीति सञ्ज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः। त एते समुदिताः षोडश कषाया भवन्ति।

आह–व्याख्यातमष्टाविंशत्युत्तरप्रकृतिभेदं मोहनीयम्, अथायुषश्चतुर्विधस्य को नामनिर्देश इति ? अत्रोच्यते—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

नारकादिषु भवसंबन्धेनायुर्व्यपदेशः ।१। नारकादिषु भवसंबन्धेनायुषो व्यपदेशो भवति—नरकेषु भवं नारकं तिर्यग्योनौ भवं तैर्यग्योनं मनुष्येषु भवं मानुषं देवेषु भवं दैवमिति।

यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायुः ।२। यस्य भावात् आत्मनः जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते।

अन्नादि तन्निमित्तमिति चेत्; न; तस्योपग्राहकत्वात् ।३। स्यादेतत्–अन्नादि तन्निमित्तं तल्लाभालाभयोर्जीवितमरणदर्शनादिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्यानुग्राहकत्वात्। यथा घटभक्षणे मृत्पिण्डो मूलकारणं तस्योपग्राहकं दण्डादि, तथाऽभ्यन्तरं भवधारणस्य कारणमायुः, अन्नादि तस्योपग्राहकम्, अतश्चैतदेवं यत् क्षीणायुषोऽन्नादिसन्निधानेऽपि मरणं दृश्यते।

देवनारकेषु चान्नाद्यभावात् ।४। देवेषु नारकेषु चान्नाद्यभावात् भवधारणमायुरधीनमेवेत्यवसेयम्। तेषां हि कादाचित्क आहारोऽनाभोगो व्याख्यातः।

नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकायुः ।५। नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनाकरेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं भवधारणं भवति तन्नारकायुः।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकृतोपद्रवप्रचुरेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसनं तत्तैर्यग्योनम् ।६। क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमकादिविविधव्यसनविधेयीकृतेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसनं भवति तत्तैर्यग्योनमायुरवगन्तव्यम्।

शारीरमानससुखदुःखभूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयात् मनुष्यायुषः ।७। शारीरेण मानसेन च सुखदुःखेन समाकुलेषु मनुष्येषु यस्योदयाज्जन्म भवति तन्मानुषमायुरवसेयम्।

शारीरमानससुखप्रायेषु देवेषु जन्मोदयात् देवायुषः ।८। शारीरेण मानसेन च सुखेन प्रायः समाविष्टेषु देवेषु यस्योदयाज्जन्म भवति तद्दैवमायुरवगन्तव्यम्। कदाचित्[3] प्रियविप्रयोगात् महर्द्धिदेवनिरीक्षणात् च्यवनलिङ्गाज्ञाहानिमालाभूषाम्लानदर्शनाच्च मानसं दुःखमाविर्भवतीति ज्ञापनार्थं प्रायग्रहणम्।

आह–व्याख्यातमायुश्चतुर्विधं तदनन्तरमुद्दिष्टं यन्नामकर्म तदुत्तरप्रकृतिसमाख्याः का इति ? अत्रोच्यते—

१ आप्रत्या–अ०। ईषत्प्रत्याख्यान। २ आयुषः। ३ प्रियवि–म०; द०, ब०।

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः ।१। यस्य कर्मण उदयवशात् आत्मा भवान्तरं प्रत्यभिमुखो व्रज्यामास्कन्दति सा गतिः। गम्यत इति गतिरित्युच्यमानेऽपि रूढिवशात् कस्मिंश्चिद्गतिविशेषे वर्तते गोशब्दप्रवृत्तिवत्? इतरथा हि यदा आत्मा न गच्छति न तदा गतिर्भवेत्, सत्कर्मावस्थायां च गतिव्यपदेशो न स्यात्। सा चतुर्विधा–नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्चेति। यन्निमित्त आत्मनो नारकभावः तन्नरकगतिनाम। एवं शेषेष्वपि योज्यम्।

तत्राव्यभिचारिसादृश्यैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः ।२। तासु नारकादिगतिषु अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिरिति व्यपदेशमर्हति। तन्निमित्तं जातिनाम। तत्पञ्चविधम्–एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम चेति। यदुदयादात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम। एवं शेषेष्वपि योज्यम्।

यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम ।३। यस्योदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिर्भवति तच्छरीरनाम। तत्पञ्चविधम्–औदारिकशरीरनाम वैक्रियिकशरीरनाम आहारकशरीरनाम तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम चेति। तेषां विशेषो व्याख्यातः।

यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम ।४। यस्योदयाच्छिरःपृष्ठोरुबाहूदरनलकपाणिपादानामष्टानामङ्गानां तद्भेदानां च ललाटनासिकादीनाम् उपाङ्गानां विवेको भवति तदङ्गोपाङ्गनाम। तत्त्रिविधम्–औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम चेति।

यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणम् ।५। अङ्गोपाङ्गानां यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणमिति[2] विज्ञायते। तद्द्विविधम्–स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति। जातिनामकर्मोदयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयति। निर्मीयतेऽनेन इति हि निर्माणम्।

शरीरनामकर्मोदयोपात्तानां यतोऽन्योन्यसंश्लेषणं तद्बन्धनम् ।६। शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद्बन्धनमित्याख्यायते। तस्याभावे शरीरप्रदेशानां दारुनिचयवत् असंपर्कः स्यात्।

अविवरभावेनैकत्वकरणं संघातनामकर्म ।७। यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत् संघातनाम।

यद्धेतुका शरीराकृतिनिर्वृत्तिस्तत्संस्थाननाम ।८। यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम प्रत्येतव्यम्। तत् षोढा प्रविभज्यते–समचतुरस्रसंस्थाननाम, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, स्वातिसंस्थाननाम, [3]कुब्जसंस्थाननाम, वामनसंस्थाननाम, [4]हुण्डसंस्थाननाम चेति। तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसन्निवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वर्तितसमस्थितिचक्रवत् अवस्थानकरं समचतुरस्रसंस्थाननाम। नाभेरुपरिष्टाद् भूयसो देहसन्निवेशस्या-

१–बाहुरदनालक–मु०। २–ति ज्ञाय–मु०, द०, ब०। ३ कुब्जकसं–मु०। ४ हुण्डकसं–मु०, द०, ब०।

धस्ताच्चाल्पीयसो जनकं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, न्यग्रोधाकारसमताप्रापितान्वर्थम्[1]। तद्विपरीतसन्निवेशकरं स्वातिसंस्थाननाम वल्मीकतुल्याकारम्। पृष्ठप्रदेशभाविबहुपुद्गलप्रचयविशेषलक्षणस्य निर्वर्तकं कुब्जसंस्थाननाम। सर्वाङ्गोपाङ्गह्रस्वव्यवस्थाविशेषकारणं वामनसंस्थाननाम। सर्वाङ्गोपाङ्गानां हुण्डसंस्थितत्वात् हुण्डसंस्थाननाम।

यदुदयादस्थिबन्धनविशेषस्तत्संहननम् ।९। यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहननम्। तत्षड्विधम्–वज्रर्षभनाराचसंहननाम, वज्रनाराचसंहननाम नाराचसंहननाम, अर्धनाराचसंहननाम, कीलिकासंहननाम, असंप्राप्तासृपाटिकासंहननाम चेति। तत्र वज्राकारोभयास्थिसन्धि प्रत्येकं मध्ये वलयबन्धनं सनाराचं सुसंहतं वज्रर्षभनाराचसंहननम्। तदेव वलयबन्धनविरहितं वज्रनाराचसंहननम्। तदेवोभयं वज्राकारबन्धनव्यपेतमवलयबन्धनं सनाराचं नाराचसंहननम्। तदेवैकपार्श्वे सनाराचम् इतरत्रानाराचम् अर्धनाराचसंहननम्। तदुभयमन्ते सकीलं[3] कीलिकासंहननम्। अन्तरसंप्राप्तपरस्परास्थिसन्धि बहिःसिरास्नायुमांसघटितम् असंप्राप्तासृपाटिकासंहननम्।

यदुदयात् स्पर्शरसगन्धवर्णविकल्पा अष्टपञ्चद्विपञ्चसंख्यास्तानि स्पर्शनामादीनि ।१०। यस्योदयात् स्पर्शप्रादुर्भावः तत् स्पर्शनाम। तदष्टविधम्–कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम, उष्णनाम चेति। यन्निमित्तो रसविकल्पः तद्रसनाम। तत्पञ्चविधम्–तिक्तनाम, कटुकनाम, कषायनाम, आम्लनाम, मधुरनाम चेति। यदुदयप्रभवो गन्धस्तद्गन्धनाम। तद्द्विविधम्–सुरभि गन्धनाम, असुरभिगन्धनाम चेति। यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम। तत्पञ्चविधम्–कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, रक्तवर्णनाम, हारिद्रवर्णनाम, शुक्लवर्णनाम चेति। अचेतनेषु स्पर्शादयः कथमिति चेत्? न कर्मोदयकृतास्ते, पुद्गलस्वभावपरिणामाः।

यदुदयात् पूर्वशरीराकाराऽविनाशस्तदानुपूर्व्यं नाम ।११। यत्पूर्वशरीराकाराऽविनाशः यस्योदयाद्भवति तदानुपूर्व्यं नाम। तच्चतुर्विधम्–नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम चेति। यदा छिन्नायुर्मनुष्यस्तिर्यग्वा पूर्वेण शरीरेण वियुज्यते तदैव नरकभवं प्रत्यभिमुखस्य तस्य पूर्वशरीरसंस्थानानिवृत्तिकारणं विग्रहगतावुदेति तन्नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम। एवं शेषेष्वपि योज्यम्। ननु च तन्निर्माणनामकर्मसाध्यं फलं नानुपूर्व्यनामोदयकृतम्? नैष दोषः; पूर्वायुरुच्छेदसमकाल एव पूर्वशरीरनिवृत्तौ निर्माणनामोदयो निवर्तते, तस्मिन्निवृत्तेऽष्टविधकर्म तैजसकार्मणशरीरसंबन्धिन आत्मनः पूर्वशरीरसंस्थानाविनाशकारणमानुपूर्व्यनामोदयमुपैति। तस्य कालो विग्रहगतौ जघन्येनैकः[5] समयः, उत्कर्षेण त्रयः समयाः। ऋजुगतौ तु पूर्वशरीराकारविनाशे सति उत्तरशरीरयोग्यपुद्गलग्रहणान्निर्माणनामकर्मोदयव्यापारः।

यन्निमित्तमगुरुलघुत्वं तदगुरुलघुनाम ।१२। यस्योदयादयस्पिण्डवत् गुरुत्वान्नाधः पतति न वाऽर्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम। धर्मादीनामजीवानां कथमगुरुलघुत्वमिति चेत्? अनादिपारिणामिकागुरुलघुत्वगुणयोगात्। मुक्तजीवानां कथमिति चेत्? अनादिकर्मनोकर्मसंबन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति।

१–प्रापित्वादन्व–मु०, द०, ब०। २ वज्रऋ– ता०, मू०, अ०, द०। ३ सर्कालकंकी–मु०। ४ अन्तरप्राप्त–मू०, द०, अ०, ब०। ५–यभवो–मु०, द०। ६–म प–मू०, ता०, अ०। ७–नैकः स–ता०, अ०।

यदुदयात् स्वयंकृतोद्बन्धनाद्युपघातस्तदुपघातनाम ।१३। यस्योदयात् स्वयंकृतोद्बन्धनमरु[1]त्प्रपतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम ।

यन्निमित्तः परशस्त्राद्याघातस्तत्परघातनाम ।१४। परशब्दोऽन्यपर्यायवाची, फलकाद्यावरणसन्निधानेऽपि यस्योदयात् परप्रयुक्तशस्त्राद्याघातो भवति तत्परघातनाम ।

यदुदयान्निर्वृत्तमातपनं तदातप[2]नाम ।१५। आतपति येन आतपनम् आतपतीति वातपः, तस्य निर्वर्तकं कर्म आतप[2]नाम । तदादित्ये वर्तते ।

यन्निमित्तमुद्योतनं तदुद्यो[3]तनाम ।१६। उद्योत्यते येन उद्योतनं वोद्योतः, तन्निमित्तं कर्म उद्योतनाम । तच्चन्द्रखद्योतादिषु वर्तते ।

यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम ।१७। उच्छ्वसनमुच्छ्वासः प्राणापानकर्म, तद्यद्धेतुकं तदुच्छ्वासनाम ।

विहाय आकाशं तत्र गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम ।१८। विहाय आकाशम्, तत्र गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम । तद्द्विविधम्–प्रशस्ताऽप्रशस्तविकल्पात् । वरवृषभद्विरदादिप्रशस्तगतिकारणं प्रशस्तविहायोगतिनाम । उष्ट्रखराद्यप्रशस्तगतिनिमित्तमप्रशस्तविहायोगतिनाम चेति । सिद्ध्यज्जीवपुद्गलानां विहायोगतिः कुत इति चेत् ? सा स्वाभाविकी । ननु च विहायोगतिनामकर्मोदयः पट्यादिष्वेव प्राप्नोति न मनुष्यादिषु । कुतः ? विहायसि गत्यभावात् ; नैष दोषः; सर्वेषां विहायस्येव गतिरवगाहनशक्तियोगात् ।

एकात्मोपभोगकारणशरीरता यतस्तत्प्रत्येकशरीरनाम ।१९। शरीरनामकर्मोदयात् निर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनामकर्म । एकमेकमात्मानं प्रति प्रत्येकम् , प्रत्येकं शरीरं प्रत्येकशरीरम् ।

यतो बह्वात्मसाधारणोपभोगशरीरं तत्साधारणशरीरनाम ।२०। बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम । तदुदयवर्तिनो जीवाः कीदृशा इति चेत् ? उच्यते–साधारणाऽऽहारादिपर्याप्तिचतुष्टयजन्ममरणप्राणापानानुग्रहोपघाताः साधारणजीवाः । यदैकस्याहारशरीरेन्द्रियप्राणापानपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तदैवानन्तानामाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिः । यदैको जायते तदैवानन्ता[3]जायन्ते । यदैको म्रियते तदैवानन्तानां मरणम् । यदैकस्य प्राणापानग्रहणविसर्गौ तदैवानन्ताः प्राणापानग्रहणविसर्गौ कुर्वन्ति । यदैक आहारादिनाऽनुगृह्यते तदैवानन्ताः तेनाहारेणानुगृह्यन्ते । यदैकोऽग्निविषादिनोपहन्यते तदैवानन्तानामुपघातः ।

यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत्त्रसनाम ।२१। यस्योदयाद् द्वीन्द्रियादिषु प्राणिषु जङ्गमेषु जन्म लभते तत् त्रसनाम ।

यन्निमित्त एकेन्द्रियेषु प्रादुर्भावः तत् स्थावरनाम ।२२। एकेन्द्रियेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायेषु प्रादुर्भावो यन्निमित्तो भवति तत् स्थावरनाम ।

यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम ।२३। यदुदयात् रूपवानरूपो वा अन्येषां प्रीतिं जनयति तत् सुभगनाम ।

यदुदयात् रूपादिगुणोपेतोऽपि अप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम ।२४। रूपादिगुणोपेतोऽपि सन् यस्योदयात् परेषामप्रीतिहेतुर्भवति तद् दुर्भगनाम ।

---

१ पर्वत । २–तपननाम मु० । ३–न्तानां जन्म–मु०, द०, ब० । ४ यदैवैको मु० । ५ विरूपाकृतिरपि सन् यदुदयात् परेषां प्रीतिहेतुर्भवति तत् मु० ।

यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्सुस्वरनाम ।२५। मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं यन्निमित्तमुपजायते प्राणिनस्तत् सुस्वरनाम ।

तद्विपरीतं दुःस्वरनाम ।२६। तद्विपरीतफलत्वात् तद्विपरीतम् अमनोज्ञस्वरनिर्वर्तनकरं दुःस्वरनाम ।

यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम ।२७। यदुदयाद् दृष्टः श्रुतो वा रमणीयो भवत्यात्मा तच्छुभनाम ।

तद्विपरीतमशुभनाम ।२८। तद्विपरीतफलं द्रष्टुः श्रोतुश्चारमणीयकरम् अशुभनाम ।

सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम ।२९। यदुदयादन्यजीवानुपग्रहोपघाताऽयोग्यसूक्ष्मशरीरनिर्वृत्तिर्भवति तत्सूक्ष्मनाम ।

अन्यबाधाकरशरीरकारणं बादरनाम ।३०। अन्यबाधानिमित्तं स्थूलं शरीरं यतो भवति तद् बादरनाम ।

यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम ।३१। यस्योदयात् आहारादिपर्याप्तिभिरात्माऽन्तर्मुहूर्तं पर्याप्तिं प्राप्नोति तत्पर्याप्तिनाम । तत्षड्विधम्–आहारपर्याप्तिनाम, शरीरपर्याप्तिनाम, इन्द्रियपर्याप्तिनाम, प्राणापानपर्याप्तिनाम, भाषापर्याप्तिनाम, मनःपर्याप्तिनाम चेति ।

अत्राह–प्राणापानकर्मोदये वायोर्निष्क्रमणप्रवेशनात्मकं फलम् , उच्छ्वासकर्मोदयेऽपि तदेवेति नास्त्यनयोर्विशेष इति ? उच्यते—

ऐन्द्रियकानिन्द्रियभेदात्तद्विशेषः ।३२। शीतोष्णसंबन्धजनितदुःखस्य पञ्चेन्द्रियस्य यावुच्छ्वासनिःश्वासौ दीर्घनादौ श्रोत्रस्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षौ तावुच्छ्वासनामोदयजौ, यौ तु प्राणापानपर्याप्तिनामोदयकृतौ[तौ]सर्वसंसारिणां श्रोत्रस्पर्शानुपलभ्यत्वादतीन्द्रियौ ।

षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम ।३३। यस्योदयात् षडपि पर्याप्तीः पर्यापयितुम् आत्मा असमर्थो भवति तदपर्याप्तिनाम ।

स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिरनाम ।३४। यदुदयात् दुष्करोपवासादितपस्करणेऽपि अङ्गोपाङ्गानां स्थिरत्वं जायते तत् स्थिरनाम ।

तद्विपरीतमस्थिरनाम ।३५। यदुदयादीषदुपवासादिकरणात् स्वल्पशीतोष्णादिसंबन्धाच्च अङ्गोपाङ्गानि कृशीभवन्ति तदस्थिरनाम ।

प्रभोपेतशरीरताकरणम् आदेयनाम ।३६। यस्योदयात् प्रभोपेतशरीरं दृष्टेष्टमुपजायते तदादेय नाम ।

निष्प्रभशरीरकरणमनादेयनाम ।३७। निष्प्रभं शरीरं यस्योदयादापद्यते तदनादेयनाम ।

अत्राह–तैजसं नाम सूक्ष्मशरीरमस्ति तन्निमित्ता शरीरप्रभा नादेयकर्मनिमित्तेति ? उच्यते–सर्वसंसारिजीवशरीरप्रभाऽविशेषप्रसङ्गः स्यात् तैजसस्य सर्वेषां साधारणत्वात् , तत आदेयकर्मोदयनिमित्ता प्रभेति युक्तम् ।

पुण्यगुणख्यापनकारणं यशस्कीर्त्तिनाम ।३८। पुण्यगुणानां ख्यापनं यदुदयाद्भवति तद्यशस्कीर्तिनाम प्रत्येतव्यम् । ननु यशःकीर्तिरित्यनयोर्नास्त्यर्थविशेष इति पुनरुक्तत्वसङ्गः; नैष दोषः; यशो नाम गुणः, कीर्तनं संशब्दनं कीर्तिः, यशसः कीर्तिः यशःकीर्त्तिरित्यस्त्यर्थभेदः ।

तत्प्रत्यनीकफलमयशस्कीर्तिनाम ।३९। पापगुणख्यापनकारणम् अयशस्कीर्तिनाम वेदितव्यम् ।

आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्वं नाम ।४०। यस्योदयादार्हन्त्यमचिन्त्यविभूतिविशेषयुक्तमुपजायते तत्तीर्थकरत्वनाम कर्म प्रतिपत्तव्यम् ।

गणधरत्वादीनामुपसंख्यानमिति चेत् ; न; अन्यनिमित्तत्वात् ।४१। यथा तीर्थकरत्वनाम कर्मोच्यते तथा गणधरत्वादीनामुपसंख्यानं कर्तव्यम् , गणधरचक्रधरवासुदेवबलदेवा अपि विशिष्टर्द्धियुक्ता इति चेत् ; तन्न; किं कारणम् ? अन्यनिमित्तत्वात् । गणधरत्वं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षनिमित्तम् , चक्रधरत्वादीनि उच्चैर्गोत्रविशेषहेतुकानि ।

तदेव तीर्थकरत्वस्यापीति चेत् ; न; तीर्थप्रवर्तनफलत्वात् ।४२। स्यान्मतम्–तदेव उच्चैर्गोत्रं तीर्थकरत्वस्यापि निमित्तं भवतु किं तीर्थकरत्वनाम्नेति ? तन्न; किं कारणम् ? तीर्थप्रवर्तनफलत्वात् । तीर्थप्रवर्तनफलं हि तीर्थकरनामेष्यते न चोच्चैर्गोत्रोदयात् तदवाप्यते चक्रधरादीनां तदभावात् ।

किमर्थं विहायोगत्यन्तानां प्रत्येकशरीरादिभिरेकवाक्यत्वं न कृतम् ?

पूर्वेषां प्रतिपक्षविरहात् एकवाक्यत्वाभावः ।४३। पूर्वे गत्यादयो विहायोगत्यन्ताः प्रतिपक्षविरहिताः, प्रत्येकशरीरादयः सेतरग्रहणेन विशेषयितुमिष्टास्ततस्तेषाम् एकवाक्यभावो न कृतः ।

अथ किमर्थं तीर्थकरत्वस्य [2]पृथक्करणम् ?

प्रधानत्वात्तीर्थकरत्वस्य ।४४। तीर्थकरत्वं हि प्रधानभूतं सर्वेषु शुभकर्मसु ततस्तस्य पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

[3]**अन्त्यत्वाच्च** ।४५। [4]प्रत्यासन्ननिष्ठस्य तस्योदयो जायते ततश्चास्य पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

आह–उक्ताः सोत्तरप्रकृतिबन्धभेदा विविधभावनानामनिर्वर्तनाहितान्वर्थसंज्ञा षष्ठी कर्मप्रकृतिः । अथ सप्तमी कियत्प्रकारेति ? अत्रोच्यते—

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

गोत्रं द्विविधमुच्चैर्नीचैरिति विशेषणात् ।१। गोत्रं द्विविधं द्रष्टव्यम्–उच्चैर्नीचैरिति विशेषणात् उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति । तत्र कीदृशमुच्चैर्गोत्रं कीदृग्वा नीचैर्गोत्रम् ?

यस्योदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् ।२। लोकपूजितेषु कुलेषु प्रथितमाहात्म्येषु इक्ष्वाकूग्रकुरुहरिज्ञातिप्रभृतिषु जन्म यस्योदयाद्भवति तदुच्चैर्गोत्रमवसेयम् ।

गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्रम् ।३। गर्हितेषु दरिद्राप्रतिज्ञातदुःखाकुलेषु यत्कृतं प्राणिनां जन्म तन्नीचैर्गोत्रं प्रत्येतव्यम् ।

आह– व्याख्यातौ गोत्रभेदौ, तदनन्तरमुद्दिष्टस्यान्तरायस्य किमाख्याः प्रकारा इति ? अत्रोच्यते–

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

दानादीनामन्तरायापेक्षयाऽर्थव्यतिरेकनिर्देशः ।१। अन्तराय इति वर्तते तदपेक्षया दानादीनामर्थव्यतिरेकः[5] क्रियते दानस्यान्तरायो लाभस्यान्तराय इत्यादि ।

दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात् तद्व्यपदेशः ।२। यदुदयाद्दातुकामो न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभ्यते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमिच्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते । त एते पञ्चान्तरायव्यपदेशा वेदितव्याः ।

१–भावात् ता० । २ पृथग्ग्रहणम् ब०, मु०, द० । ३ अन्यत्वाच्च श्र०, ता० । ४ प्रत्यासन्न-विशिष्टस्य ता० । ५ इक्ष्वाकुयदुकुरुहरिजाति–मु०, द० । ६ भिन्नाधिकरण ।

भोगोपभोगयोरविशेष इति चेत् ; न; गन्धादिशयनादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः ।३। स्यान्मतम्–भोगोपभोगयोरविशेषः । कुतः ? सुखानुभवननिमित्तत्वाभेदादिति; तन्न; किं कारणम् ? गन्धादि-शयनादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः । गन्धमाल्यशिरःस्नानवस्त्रान्नपानादिषु भोगव्यवहारः । शयनासनाङ्गनाहस्त्यश्वरथ्यादिषूपभोगव्यपदेशः । ता एता ज्ञानावरणादीनाम् उत्तरप्रकृतयः संख्येया उक्ताः । ज्ञानावरणस्य नाम्नश्चाऽसंख्येया अपि भवन्तीत्याद्योपदेशः । व्याख्यातः प्रकृतिबन्धविकल्पः, अतः परं स्थितिबन्धविकल्पं व्याख्यास्यामः ।

आह–व्याख्यास्यति भवान् स्थितिबन्धम् , इदं तु संशेमहे किमसावभिहितलक्षणात् पूर्वस्मात् प्रकृतिबन्धात् विशिष्टात् अर्थान्तरभूतकर्मविषय आहोस्वित् तस्यैव प्राथमकल्पिकस्य कर्मणः प्रकृतिबन्धव्यपदेशवत् पर्यायान्तरनिर्देश इति ? अत्र ब्रूमहे–[3]अस्थानेऽयं संशयः । कुतः ? यस्मादेतासामेव प्रकृतीनाम् अनेकभेदानां यथास्वमनिर्जीर्णानां यावन्तं कालमवस्थानं आश्रयविनाशाभावात् तस्मिन् स्थितिबन्धविवक्षा, सा पुनः स्थितिरुभयथा–[4]परावरा च । प्रकृष्टात् प्रणिधानात् परा, निकृष्टात् प्रणिधानात् [5]अवरा । यद्येवम् उच्यतां कियत्कालेयं कर्मप्रकृतिरिति ? अत्रोच्यते सति वक्तव्ये—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटी-कोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

आदित इति वचनं मध्यान्तनिवृत्त्यर्थम् ।१। मध्ये अन्ते वा तिसृणां ग्रहणं माभूदित्येवमर्थमादित इत्युच्यते, आदौ आदितः तस्प्रकरणे–"आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्" [ ] इति तस् ।

तिसृणामिति वचनम् अवधारणार्थम् ।२। आदित इत्युच्यमाने इयतीनां प्रकृतीनां ग्रहणमित्यवधारणं न स्यात्, अतोऽवधारणार्थं तिसृणामित्युच्यते ।

अन्तरायस्य चेति क्रमभेदवचनं समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थम् ।३। मूलप्रकृतिक्रममुल्लङ्घ्यान्तरायस्य चेत्युच्यते समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थम् । का पुनरसौ समानस्थितिः ? त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः । उक्तपरिमाणं सागरोपमम् ।

कोटीकोट्य इति द्वित्वे बहुत्वानुपपत्तिः इति चेत् ; न; राजपुरुषवत्तत्सिद्धेः ।४। स्यान्मतम्–यथा ग्रामो ग्रामो रमणीय इति वीप्सायां द्वित्वेनैव गतत्वात् बहुवचनं न प्रयुज्यते तथा कोटीकोट्य इत्यत्रापि वीप्सायां द्वित्वेन गतत्वात् बह्वर्थस्य बहुवचनं न प्राप्नोति ? तन्न; किं कारणम् ? राजपुरुषवत्तत्सिद्धेः । यथा राज्ञः पुरुषः राजपुरुष इति, एवं कोटीनां कोट्यः कोटीकोट्यः इति वृत्तिर्द्रष्टव्या ।

पराभिधानं जघन्यस्थितिनिवृत्त्यर्थम् ।५। परेत्युच्यते । किमर्थम् ? जघन्यस्थितिनिवृत्त्यर्थं परा उत्कृष्टा इत्यर्थः । सा कस्येति चेत् ? उच्यते—

संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य परा स्थितिः ।६। संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिर्भवति ।

अन्येषामागमात् संप्रत्ययः ।७। अन्येषामेकेन्द्रियादीनामागमात् संप्रत्ययो भवति । **तद्यथा** एकेन्द्रियपर्याप्तकस्य एकसागरोपमसप्तभागास्त्रयः । द्वीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चविंशतिसागरोपमसप्त-

---

१ सूत्रकारः स्वयमेव । भगवान्–श्र० । २ स्थितिबन्धः । ३ अयुक्तः । ४ परापराच मु०, ता० । ५ अपरा मु० ।

भागाः त्रयः । त्रीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चाशत्सागरोपमसप्तभागास्त्रयः । चतुरिन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमशतसप्तभागास्त्रयः । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रसप्तभागास्त्रयः । संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकस्यान्तःसागरोपमकोटीकोट्यः । एकेन्द्रियापर्याप्तकस्य त एव भागाः पल्योपमस्यासंख्येयभागोनाः । द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तसंज्ञिनां त एव भागाः पल्योपमा (म) संख्येयभागोनाः ।

यस्य कर्मणः स्थितिमतिलङ्घ्यान्यकर्मस्थितिरभिहिता तस्य खलु वेदनीयानन्तरोद्देशभाजः-

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिरित्यनुवर्तते । इयमपि परा स्थितिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्यावसेया । इतरेषामेकेन्द्रियादीनां यथागमम् । तद्यथा-पर्याप्तकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामेकपञ्चविंशतिपञ्चाशच्छतसागरोपमाणि यथासंख्यम्, अपर्याप्तकैकेन्द्रियस्य पल्योपमासंख्येयभागोना सैव स्थितिः । द्वीन्द्रियादीनामपि सैव पल्योपमा(म)संख्येयभागोना पर्याप्तकासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य सागरोपमसहस्रम्, तस्यैवापर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रं पल्योपमसंख्येयभागोनम्, अपर्याप्तकसंज्ञिनः अन्तःसागरोपमकोटीकोट्यः ।

आह-निर्दिष्टा पञ्चानां कर्मप्रकृतीनां स्थितिः, अथोपरिष्टयोः का परा स्थितिरिति ? अत्रोच्यते—

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिरित्यनुवर्तते । इयमप्युत्कृष्टा संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य । एकेन्द्रियादीनां यथागमम् । तद्यथा-एकेन्द्रियपर्याप्तकस्यैकसागरोपमसप्तभागौ द्वौ । द्वीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चविंशतिसागरोपमसप्तभागौ द्वौ । त्रीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चाशत्सागरोपमसप्तभागौ द्वौ । चतुरिन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमशतसप्तभागौ द्वौ । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रसप्तभागौ द्वौ । संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकस्य अन्तःसागरोपमकोटीकोट्यः । एकेन्द्रियापर्याप्तकस्य तावेव भागौ पल्योपमासंख्येयभागोनौ । द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकासंज्ञिनां सैव स्थितिः पल्योपमा(म)संख्येयभागोना ।

आह-आयुषः कोत्कृष्टा स्थितिरिति ? अत्रोच्यते—

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

पुनः सागरोपमग्रहणात् कोटीकोटीनिवृत्तिः ।१। सागरोपमग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनः सागरोपमग्रहणं कोटीकोटीनिवृत्त्यर्थम् । परा स्थितिरित्यनुवर्तते एव । अस्याप्युत्कृष्टा स्थितिः-संज्ञिपर्याप्तकस्यैव । इतरेषां यथागमम् । तद्यथा असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य पल्योपमस्यासंख्येयभागः । शेषाणाम् उत्कृष्टा पूर्वकोटी ।

आह-अष्टानामपि कर्मप्रकृतीनां व्याख्याता परा स्थितिः । अथ तासामेव का जघन्या स्थितिरित्युपदिश्यते-अन्यकर्मस्थितिविशेषाधिकत्वात् । आनुपूर्व्योल्लङ्घनेन अमुष्यैव तावत् स्वसंवेद्यफलस्य वेद्यस्य वेदितव्या स्थितिः—

---

१ अन्तरायस्य । २ अपर्याप्तसं-मु०, मू०, द०, ब०, ता० ।

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

सूक्ष्मसाम्पराय इति वाक्यशेषः ।

अथानुपूर्व्यविशेषात्यये सति मोहायुर्व्यवहितयोरन्त्ययोः का जघन्या स्थितिरिति ? उच्यते-

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अत्रापि सूक्ष्मसाम्पराय इति वाक्यशेषः । मुहूर्ता इत्यनुवर्तते, अपरा स्थितिरिति च ।

अथान्यासां कर्मप्रकृतीनां का जघन्या स्थितिरिति ? उच्यते—

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते । तत्र ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां सूक्ष्मसाम्पराये, मोहनीयस्यानिवृत्तिबादरसाम्पराये, आयुषः संख्येयवर्षायुष्षु तिर्यक्षु मनुष्येषु च ।

आह-उभयी ज्ञानावरणादीनामभिहिता स्थितिः । अथानुभवः किंलक्षण इति ? अत्रोच्यते-

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

विशिष्टः पाको नानाविधो वा विपाकः ।१। ज्ञानावरणादीनां कर्मप्रकृतीनाम् अनुग्रहोपघातात्मिकानां पूर्वास्रवतीव्रमन्दभावनिमित्तो विशिष्टः पाको विपाकः । द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधो वा पाको विपाकः । असावनुभव इत्याख्यायते । शुभपरिणामानां प्रकर्षभावात् शुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः अशुभप्रकृतीनां निकृष्टः । अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावात् अशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः शुभप्रकृतीनां निकृष्टः । स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते-स्वमुखेन परमुखेन च । सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः । उत्तरप्रकृतीनां तु तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम् । न हि नारकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते, नापि दर्शनमोहः चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन ।

आह-अभ्युपेमः प्रागुपचितनानाप्रकारकर्मविपाकोऽनुभव इति, इदं तु न विजानीमः किमयं[3] प्रसंख्यातोऽप्रसंख्यातः इति ? अत्रोच्यते-प्रसंख्यातोऽनुभूयत इति ब्रूमहे । कुतः ? यतः-

स यथानाम ॥ २२ ॥

ज्ञानावरणादीनां सविकल्पानां प्रत्येकमन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशादनुभवसंप्रत्ययः ।१। ज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाभावः, दर्शनावरणस्य फलं दर्शनशक्त्युपरोध इत्येवमाद्यन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशात् सर्वासां कर्मप्रकृतीनां सविकल्पानाम् अनुभवसंप्रत्ययो जायते ।

आह-यदि विपाकोऽनुभवः प्रतिज्ञायते, तत्कर्मानुभूतं सत् किमावरणवदवतिष्ठते, आहोस्विन्निष्पीडितसारं[4] प्रच्यवते इति ? अत्रोच्यते-

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

पूर्वार्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा ।१। पीडानुग्रहावात्मनः[5] प्रदायाभ्यवहृतौदनादिविकारवत् व्यावर्तते स्थितिक्षयादवस्थानाभावात् ।

१-रन्ययोः मु० । २ नानावा ता०, श्र०, मू० । ३ नाम्ना निर्ज्ञातः । संख्या-मु० । ४ बस्तमाख्यादिवत् । ५-नं प्र- मु०, द०, ब० ।

सा द्विप्रकारा विपाकजेतरा च ।२। सा द्विप्रकारा वेदितव्या । कुतः ? विपाकजेतरा चेति । तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मण औदयिकभावोदीरितस्य क्रमेण विपाककालप्राप्तस्य[1] यस्य यथा । सदसद्वेद्यतान्यतरविकल्पबद्धस्य तस्य तेन प्रकारेण वेद्यमानस्य यथानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्ध[2]फलस्य स्थितिक्षयादुदयागतपरिभुक्तस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा । यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्र[3]मिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्य उदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकनिर्जरा ।

निमित्तान्तरसमुच्चयार्थश्चशब्दः ।३। "तपसा निर्जरा [९।२] इति वक्ष्यते, तस्य समुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते–ततश्च भवति अन्यतश्चेति ।

संवरात्परत्र पाठ इति चेत् ; न; अनुभवानुवादपरिहारार्थत्वात् ।४। स्यान्मतम्–संवरान्निर्जरा परत्र पठितव्या 'यथोद्देशः तथा निर्देशः' इति; तन्न; किं कारणम् ? अनुभवानुवादपरिहारार्थत्वात्, तत्र हि पाठे क्रियमाणे विपाकोऽनुभव इति पुनरनुवादः कर्तव्यः स्यात् ।

पृथङ् निर्जरावचनमनर्थकं बन्धेऽन्तर्भावादिति चेत् ; न; अर्थापरिज्ञानात् ।५। स्यान्मतम्–यथा पुण्यपापयोः पृथग्ग्रहणं न कृतं बन्धेऽन्तर्भावात् तथा निर्जरा अपि उक्तेन क्रमेण अनुभवबन्धेऽन्तर्भवति इति पृथगस्या ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थापरिज्ञानात् । फलदानसामर्थ्यमनुभव इत्युच्यते । ततोऽनुभूतानामात्तवीर्य्याणां पुद्गलानां निवृत्तिर्निर्जरेत्ययमर्थभेदः । एवं च कृत्वा ततश्चेति अपादाननिर्देश उपपन्नो भवति, इतरथा हि भेदाभावान्नोपपद्यते[4] ।

लघ्वर्थमिहैव तपसेति वक्तव्यमिति चेत् ; न; संवरानुग्रहतन्त्रत्वात् ।६। स्यादेतत्–लघ्वर्थमिहैव 'ततो निर्जरा तपसा च' इति वक्तव्यं पुनर्निर्जराग्रहणमाकर्ष(-णं व्यर्थ)मिति; तन्न; किं कारणम् ? संवरानुग्रहतन्त्रत्वात्–तपसा निर्जरा च भवति संवरश्चेति ।

धर्मेऽन्तर्भावात् संवरहेतुत्वमिति चेत् ; न; पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् ।७। स्यान्मतम्–उत्तमक्षमामार्दवार्जवादियोगे उत्तमं तपः संवरहेतुरिति वक्ष्यते ततस्तत्रान्तर्भावात् संवरहेतुत्वसिद्धेः, इह वचनाच्च निर्जराहेतुत्वनिर्ज्ञानात् पृथक् तत्र तपोग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् । सर्वेषु संवरनिर्जराहेतुषु तपः प्रधानभूतमित्येतस्य ज्ञापनार्थं पुनस्तपोग्रहणं क्रियते । उक्तं च—

"कायमणोवचिगुत्तो[6] जो तवसा चेट्ठदे अणेयविहं ।
सो कम्मणिज्जराए विपुलाए वट्टदे[7] मणुस्सोत्ति ॥" [ ]

तत इह तपोवचनं गौरवं जनयति इति न कृतम् ।

ताः पुनः कर्मप्रकृतयो द्विविधाः–घातिका अघातिकाश्चेति । तत्र ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायाख्या घातिकाः । इतरा अघातिकाः । घातिकाश्चापि द्विविधा–सर्वघातिका देशघातिकाश्चेति । तत्र केवलज्ञानावरणनिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनिद्राप्रचलाकेवलदर्शनावरणद्वादशकषायदर्शनमोहाख्याः विंशतिप्रकृतयः सर्वघातिकाः । ज्ञानावरणचतुष्कदर्शनावरणत्रयान्तरायपञ्चकसञ्ज्वलननोकषायसंज्ञिकाः देशघातिकाः । अवशिष्टाः प्रकृतयः अघातिकाः । तथेदमपरमवसेयम्–शरीरनामादयः स्पर्शान्ता अगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतप्रत्येकशरीरसाधारणशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभनिर्माणनामाख्याश्च पुद्गलविपाकप्रदाः । आनुपूर्व्यनाम क्षेत्रविपाककरम् । आयुर्भवधारणफलम् । अवशिष्टाः प्रकृतयो जीवविपाकहेतव इति । एवमनुभवबन्धो व्याख्यातः ।

१–ह्यस्य यथा मु०, द०, ब० । २–ब्धकर्मस्वस्थि–मु०, –ब्धकर्मस्यस्थि–द०, ब० । ३–मिकंक्रि–ता०, श्र० । ४ तपसा । ५ पृथग्ग्रहणम् । ६ कायमनोवचोगुप्तो यः तपसा चेष्टते अनेकविधम् । सः कर्म्मनिर्जराया विपुलाया वर्तते मनुष्यः ॥ ७ वट्टदि मु०, द०, ब०, ता०, मू० ।

इदानीं प्रदेशबन्धो वक्तव्यः, तस्मिंश्च वक्तव्ये सति इमे निर्देष्टव्याः–किंहेतवः कदा, कुतः, किंस्वभावाः, कस्मिन्, किंपरिमाणाश्चेति ? तदर्थमिदं यथासंख्यपरिगृहीततत्प्रश्नापेक्षाभेदं सूत्रं प्रणीयते–

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥

नाम्नः प्रत्यया नामप्रत्ययाः । नामेति सर्वाः कर्मप्रकृतयः अभिधीयन्ते, "स यथानाम" [त० सू० ८।२२] इति वचनात् ।

नामासां प्रत्यय इति चेत् ; न; समयविरोधात् ।१। अथ मतमेतत्–नाम प्रत्ययो यासां ताः नामप्रत्यया इति; तन्न; किं कारणम् ? समयविरोधात् । एवं हि विग्रहे क्रियमाणे नामकर्म एव सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्यय इति प्राप्तम्, तच्च समयविरुद्धम् । अनेन हेतुभाव उक्तः ।

सर्वेषु भवेषु सर्वतः ।२। "दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि" [ ] इति तसि कृते सर्वेषु भवेषु सर्वत इति भवति । अनेन कालोपादानं कृतम्, एकैकस्य जीवस्य अतिक्रान्ता अनन्ता भवा आगामिनः संख्येया असंख्येया अनन्ता वा भवा भवन्ति, तेषु सर्वेष्वेवेति ।

योगविशेषादिति वचनं निमित्तनिर्देशार्थम् ।३। योगो व्याख्यातः कायवाङ्मनस्कर्मलक्षणः । परस्परतो विशिष्यते इति विशेषः । ततो योगविशेषान्निमित्तात् कर्मभावेन पुद्गला आदीयन्त इति योगविशेषादित्यनेन निमित्तनिर्देशः कृतो भवति ।

सूक्ष्मग्रहणं ग्रहणयोग्यस्वभावप्रतिपादनार्थम् ।४। ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः सूक्ष्मा न स्थूला इति प्रतिपादनार्थं सूक्ष्मग्रहणं क्रियते ।

एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम् ।५। आत्मप्रदेशकर्मपुद्गलैकाधिकरणव्यतिरिक्तक्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थमेकक्षेत्रावगाह इति वचनं क्रियते ।

स्थिता इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थम् ।६। स्थिताः कर्मभावमापद्यन्ते न गच्छन्त इति क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं स्थिता इत्युच्यते । एवं सूक्ष्मादि[3]ग्रहणेन कर्मयोग्यस्वभावानुवर्णनं कृतं भवति ।

सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमेकप्रदेशाद्यपोहार्थम् ।७। एकद्वित्रिचतुरादिप्रदेशेष्वात्मनः कर्मप्रदेशाः न प्रवर्तन्ते, [5]क तर्हि ? ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्तु सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति प्रदर्शनार्थं[1] सर्वात्मप्रदेशेष्वित्युच्यते ।

अनन्तानन्तप्रदेशवचनं प्रमाणान्तरव्यपोहार्थम् ।८। न संख्येयाः नचाऽसंख्येयाः नाप्यनन्ताः इति प्रतिपादनार्थम् अनन्तानन्तप्रदेशा इत्युच्यन्ते । ते[6] खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणाः सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशाः घनाङ्गुलासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः एकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्णरसद्विगन्धचतुःस्पर्शभावाः अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्याः योगवशात् आत्मना आत्मसात्क्रियन्त इति प्रदेशबन्धः समासतो वेदितव्यः ।

१–गाढव–ता०, श्र०, द०, ब० । २ सन्तः । ३ त्रय । ४ किं तर्हि मु०, द०, ब० । ५ –र्थमूर्ध्वमधस्तिर्यक्सर्वा–मु०, द० ब० । ६ परमाणवः, ते अनन्तानन्ता अपि पुद्गलस्कन्धा आगता अविशेषेण एतावन्मात्रसूक्ष्मशरीरं महामत्स्यादि स्थूलशरीरञ्च व्याप्य स्थिता इत्यर्थः । ७–तुः संख्येयसम–द०, ब० । तुः संख्येयानन्तसम–मु० ।

आह-बन्धपदार्थान्तरं पुण्यपापोपसंख्यानं चोदितम्, तद्बन्धेऽन्तर्भूतमिति प्रत्याख्यातम्। तत्रेदं वक्तव्यं कोऽत्र पुण्यबन्धः कः पापबन्ध इति ? तत्र पुण्यप्रकृतिपरिगणनार्थमिदमुच्यते—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

शुभग्रहणमायुरादीनां विशेषणम् ।१। शुभं प्रशस्तमित्यर्थः, तद्ग्रहणमायुरादीनां विशेषणं द्रष्टव्यम्-शुभायुः, शुभनाम शुभगोत्रमिति।

शुभायुस्त्रिविधम् ।२। तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुरिति एतत्त्रितयं शुभायुरित्युच्यते।

शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पम् ।३। शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पमवगन्तव्यम्। तद्यथा-मनुष्यगतिः, देवगतिः, पञ्चेन्द्रियजातिः, पञ्च शरीराणि, त्रीण्यङ्गोपाङ्गानि, समचतुरस्रसंस्थानम्, वज्रर्षभनाराचसंहननम्, प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाः, मनुष्यगति-देवगत्यानुपूर्व्यद्वयम्, अगुरुलघु-परघातोच्छ्वासाऽतपोद्योतप्रशस्तविहायोगतयः, त्रस-बादर-पर्याप्ति-प्रत्येकशरीर-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वर-आदेय-यशस्कीर्तयः निर्माणं तीर्थकरनाम चेति। शुभमेकमुच्चैर्गोत्रम् सद्वेद्यमित्येता द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुण्यसंज्ञा इति।

अतोऽन्यत् पापम् ॥ २६ ॥

अस्मात् पुण्यसंज्ञककर्मप्रकृतिसमूहादन्यत् कर्म पापमित्युच्यते। तद् द्व्यशीतिविधम्। तद्यथा-ज्ञानावरणप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणस्य नव, मोहनीयस्य षड्विंशतिः, पञ्चान्तरायस्य, नरकगतिः, तिर्यग्गतिः, चतस्रो जातयः, पञ्च संस्थानानि, पञ्च संहननानि, अप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाः, नरकगतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयम्, उपघाता-ऽप्रशस्तविहायोगति-स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणशरीरा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशस्कीर्तयश्चेति नामप्रकृतयः चतुस्त्रिंशत्, असद्वेद्यम्, नरकायुः, नीचैर्गोत्रमिति।

एवं व्याख्यातः सप्रपञ्चो बन्धपदार्थः अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यः तदुपदिष्टागमानुमेयः।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारेऽष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥

१-ज्ञाः ता०, द०, ब०, मु०। २ -स्रिसा-मु०, द०, ब०।

अथ नवमोऽध्यायः

अत्राह-योऽयं अनादिसन्ततिः पौनर्भविकसुखदुःखहेतुः अष्टविधविशेषोपचितमूर्तिः नानाजातिविग्रहोत्पादनप्रवणः [1]पौरुषेयः सर्वात्मप्रदेशावेष्टनसमर्थः कर्मबन्धः स केनचिदुपायेनापि नाम कस्यचित् अनात्यन्तिकः स्यादिति ? अत्रोच्यते-भवति हि केषाञ्चिदात्यन्तिकस्तद्विनाशः यस्मात्तदर्थमेव भगवद्भिरर्हद्भिरुपदिष्टः—

आस्रवनिरोधः [3]संवरः ॥ १ ॥

अथवा, आह-कथं पुनरेतदाहितवैचित्र्यं नानास्रवापादितं ज्ञानावरणादिकर्म सम्बन्धं नोपयादिति ? अत्रोच्यते-संवरात्। कोऽसौ संवर इति ? [4]अत आह-आस्रवनिरोधः संवर इति। अथवा, बन्धपदार्थो निर्दिष्टः। इदानीं तदनन्तरोद्देशभाजः संवरस्य निर्देशः प्राप्तकाल इति; अत इदमाह-आस्रवनिरोधः संवर इति।

अथ कोऽयमास्रवनिरोधः ?

कर्मागमनिमित्ताऽप्रादुर्भूतिरास्रवनिरोधः ।१। कर्मागमनिमित्तं बहुविकल्पं व्याख्यातम्, तस्य कायवाङ्मनःप्रयोगस्य स्वात्मलाभहेत्वसन्निधानात् अप्रादुर्भूतिरास्रवनिरोध इत्युच्यते।

आह-यदि अयमास्रवनिरोधः व्याख्यायतां[5] इदानीं संवर इति ? अत्राभिधीयते-स न व्याख्यातव्यः। किं कारणम् ? यस्मात्-

तन्निरोधे सति तत्पूर्वककर्मादानाभावः संवरः ।२। कारणाभावात् कार्याभाव इति तस्मिन्नास्रवे निरुद्धे तत्पूर्वकस्यानेकदुःखबीज[6]जननस्य कर्मणः उपनिपाताभावो यः स संवरः। 'अभिमतः' इति वाक्यशेषः।

तथानिर्देशः कर्तव्य इति चेत्; न; कार्ये कारणोपचारात् ।३। स्यादेतत्-यद्ययमर्थ इष्टस्तथा निर्देशः कर्तव्यः यथा गमको भवति-आस्रवनिरोधे सति संवरः, आस्रवनिरोधादिति वा ? तन्न; किं कारणम् ? कार्ये कारणोपचारात्। यथा अन्नं वै प्राणा इति अन्नकार्येषु प्राणेषु अन्नोपचारः तथा आस्रवनिरोधकार्ये संवरे आस्रवनिरोधोपचारः कृतः।

निरुध्यतेऽनेन निरोध इति वा ।४। अथवा, नायं भावसाधनः निरुद्धिर्निरोध इति। किं तर्हि ? करणसाधनः-निरुध्यते येन स निरोध इति। तथा संवरशब्दोऽपि करणसाधनः-संव्रियतेऽनेनेति। कः पुनरसौ ? गुप्त्यादिः वक्ष्यमाणः। तेन [7]ह्युभयं क्रियते इति सामानाधिकरण्यमुपपद्यते।

योगविभागो वा ।५। अथवा, योगविभागोऽत्र द्रष्टव्यः, आस्रवनिरोधः 'हितार्थिना कर्तव्यः' इति वाक्यशेषः। तस्य किं प्रयोजनमिति चेत् ? अत आह-संवर इति। संवरः प्रयोजनमस्येत्यर्थः। कः पुनरसौ ?

मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययकर्मसंवरणं संवरः ।६। मिथ्यादर्शनादयः प्रत्यया व्याख्याताः, तदुपादानस्य कर्मणः संवरणं संवर इति निर्ध्रियते।

---

१ पौरुषेण यः-मु०, द०, ब०। पुरुषकृतः। २ भगवद्भिरुप-मु०, द०, ब०। ३ विरोधः-अ०। ४ अत एवाह-मु०। अत एव अत आह-द०, ब०। ५-हेतुत्वस-मु०। ६-तामित्यत्रेदा-मु०, द०, ब०। ७-जनकस्य मु०, द०, ब०। ८ गुप्त्यादिकेन। ९ आस्रवनिरोधः संवर इति।

स द्वेधा द्रव्यभावभेदात् ।७। संवरो द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? द्रव्यभावभेदात् ।

संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः ।८। आत्मनो द्रव्यादिहेतुकर्भवान्तरावाप्तिः संसारः, तन्निमित्तक्रियापरिणामस्य निवृत्तिर्भावसंवर इति व्यपदिश्यते ।

तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः ।९। तस्य संसारकारणस्य भावबन्धस्य निरोधे तत्पूर्वकस्य कर्मपुद्गलस्य निरासो द्रव्यसंवर इति निश्चीयते ।

तद्विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनम् ।१०। तस्य संवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं क्रियते । तद्यथा—

मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यङ्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयत-प्रमत्तसंयता-ऽप्रमत्तसंयता ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरसाम्पराय-सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक-क्षपक-उपशान्त-क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ-सयोगि-अयोगकेवलिभेदात् चतुर्दशगुणस्थानविकल्पः ।११। मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः असंयतसम्यग्दृष्टिः संयतासंयतः प्रमत्तसंयतः अप्रमत्तसंयतः अपूर्वकरणोपशमकक्षपकौ अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकक्षपकौ सूक्ष्मसाम्परायोपशमकक्षपकौ उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः सयोगकेवली अयोगकेवली चैवं भेदात् चतुर्दशगुणस्थानविकल्पो वेदितव्यः ।

तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः ।१२। तेषु मिथ्यादर्शनकर्मोदयेन वशीकृतो जीवो मिथ्यादृष्टि[3]रित्यभिधीयते । यत्कृतं तत्त्वार्थानामश्रद्धानम् । तत्र ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितानि त्रीण्यपि ज्ञानानि मिथ्याज्ञानव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति । तस्य विकल्पाः प्राग्व्याख्याताः । ते सर्वे समासेन द्विधा व्यवतिष्ठन्ते–हिताहितपरीक्षाविरहिताः परीक्षकाश्चेति । तत्रैकेन्द्रियादयः सर्वे संज्ञिपर्याप्तकवर्जिताः हिताहितपरीक्षाविरहिताः, पर्याप्तका उभयेऽपि भवन्ति ।

यदुदयाभावेऽनन्तानुबन्धिकषायोदयविधेयीकृतः सासादनसम्यग्दृष्टिः ।१३। तस्य मिथ्यादर्शनस्योदये निवृत्ते अनन्तानुबन्धिकषायोदयकलुषीकृतान्तरात्मा जीवः सासादनसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते ।

मिथ्यादर्शनोदयनिवृत्तिः कथमिति चेत् ? उच्यते–अनादिमिथ्यादृष्टिर्भव्यः षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मकः सादिमिथ्यादृष्टिर्वा षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मकः सप्तविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा अष्टाविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा प्रथमसम्यक्त्वं गृहीतुमारभमाणः शुभपरिणामाभिमुखः अन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्ध्या वर्धमानविशुद्धिः, चतुर्षु मनोयोगेषु अन्यतमेन मनोयोगेन, चतुर्षु वाग्योगेषु अन्यतमेन वाग्योगेन औदारिकवैक्रियिककाययोगयोरन्यतरेण काययोगेन वा समाविष्टः हीयमानान्यतमकषायः साकारोपयोगः, त्रिषु वेदेष्वन्यतमेन वेदेन संक्लेशविरहितः वर्धमानशुभपरिणामप्रतापेन सर्वकर्मप्रकृतीनां स्थितिं ह्रासयन् , अशुभप्रकृतीनामनुभागबन्धमपसारयन् शुभप्रकृतीनां रसमुद्वर्तयन् त्रीणि करणानि कर्तुमुपक्रमते–अथाप्रवृत्तकरणम् , अपूर्वकरणम् , अनिवृत्तिकरणं चेति । तानि त्रीण्यपि करणानि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तकालानि । तत्र अन्तःकोटीकोटिस्थितिकानि कर्माणि कृत्वा अथाप्रवृत्तकरणस्य आदिसमयं कालादिलब्ध्युपेतः प्रविशति । इदं तु करणं प्राक् न कदाचिदपि प्रवृत्तम् , अत एवास्यान्वर्थसंज्ञा–यथेदं[5] करणं न तथा प्राक् प्रवृत्तमित्यथाप्रवृत्तिमिति । तत्राद्ये समये जघन्या विशुद्धिरल्पा, द्वितीये समये जघन्याऽनन्तगुणा, तृतीये समये जघन्या[6] अनन्तानन्तगुणा एवमादि अन्तर्मुहूर्तपरिसमाप्तेः, ततः प्रथमसमये उत्कृष्टा अनन्तगुणा, [7]द्वितीयसमये उत्कृष्टा अनन्तगुणा एवमादि अथाप्रवृत्तकरणचरमसमयान्नेतव्या । एवमेते नानाजीवानामसंख्येयलोकप्रमाणाः परिणामविकल्पाः समा विषमाश्च भवति । [1]तेषां समुदायरूपमथाप्रवृत्तकरणम् । अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये जघन्या विशुद्धिरल्पा, तस्यैवोत्कृष्टा अनन्तगुणा, द्वितीयसमये जघन्या अनन्तगुणा तस्यैव उत्कृष्टा अनन्तगुणा, एवमा अन्तर्मुहूर्तपरिसमाप्तेः । त एते नानाजीवानामसंख्येयलोकप्रमाणाः परिणामविकल्पा नियमेन विषमा एव परस्परतः । तेषां समुदायरूपमपूर्वकरणम् , अतएवास्यात्यन्तापूर्वत्वादन्वर्थसंज्ञा । अनिवृत्तिकरणकाले नानाजीवानां प्रथमसमये परिणामा एकरूपा एव, द्वितीयसमये ततोऽनन्तगुणा एकरूपा एव, एवम् आ अन्तर्मुहूर्तपरिसमाप्तेः । तेषां समुदायरूपमनिवृत्तिकरणम् । अत एवास्यान्वर्थनाम परस्परतो निवृत्त्यभावादनिवृत्तिकरणमिति ।

[3]तत्राथाप्रवृत्तकरणे[3] स्थितिखण्डनमनुभागखण्डनं गुणश्रेणी गुणसंक्रमो वा नास्ति केवलमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्यन् अप्रशस्तप्रकृतीरनन्तगुणानुभागहीना बध्नाति, प्रशस्तप्रकृतीश्चानन्तगुणरसवृद्धाः[4], स्थितिमपि पल्योपमसंख्येयभागहीनाम् । अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणयोः स्थितिखण्डनादीनि संभवन्ति स्थितिबन्धश्च क्रमेण हीयते । अशुभप्रकृतीनामनुभागबन्धोऽनन्तगुणहान्या शुभप्रकृतीनां चानन्तगुणवृद्ध्या वर्तते । तत्रानिवृत्तिकरणकालस्य संख्येयेषु भागेषु गतेष्वन्तरकरणमारभते, येन मिथ्यादर्शनकर्मण उदयघातः क्रियते । ततश्चरमसमये मिथ्यादर्शनं त्रिधा विभक्तं करोति–सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं [6]सम्यङ्मिथ्यात्वं चेति । एतासां तिसृणां प्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्तकालं प्रथमसम्यक्त्वं भवति । तदन्ते जघन्येन एकसमये उत्कर्षेणावलिकाषट्केऽवशिष्टे यदा अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानामन्यतमस्योदयो भवति तदा सासादनसम्यग्दृष्टिरित्युच्यते । अत एवास्यान्वर्थसंज्ञा–आसादनं विराधनम् , सहासादनेन वर्तत इति सासादना, सासादना सम्यग्दृष्टिर्यस्य सोऽयं सासादनसम्यग्दृष्टिरिति । तस्य मिथ्यादर्शनोदयाभावेऽपि अनन्तानुबन्ध्युदयात् त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानान्येव भवन्ति । अत एवास्यान्वर्थसंज्ञा–अनन्तं मिथ्यादर्शनं तदनुबन्धनादनन्तानुबन्धीति । स हि मिथ्यादर्शनोदयफलमापादयन् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति ।

सम्यङ्मिथ्यात्वोदयात् सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः ।१४। सम्यङ्मिथ्यात्वसंज्ञिकायाः प्रकृतेरुदयात् आत्मा क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रवोपयोगापादितेषत्कलुषपरिणामवत् तत्त्वार्थश्रद्धानाश्रद्धानरूपः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते । अत एवास्य त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानमिश्राणि इत्युच्यन्ते ।

सम्यक्त्वोपेतश्चारित्रमोहोदयादिपा(यादापा)दिताऽविरतिरसंयतसम्यग्दृष्टिः ।१५। औपशमिकेन क्षायोपशमिकेन क्षायिकेण वा सम्यक्त्वेन समन्वितः चारित्रमोहोदयात् अत्यन्तमविरतिपरिणामप्रवणोऽसंयतसम्यग्दृष्टिरिति व्यपदिश्यते । तस्य त्रीण्यपि ज्ञानानि सम्यग्ज्ञानव्यपदेशमर्हन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानसमावेशात् । इत ऊर्ध्वं गुणस्थानेषु नियमेन सम्यक्त्वम् ।

द्विविषयविरत्यविरतिपरिणतः संयतासंयतः ।१६। एतदादीनि गुणस्थानानि चारित्रमोहस्य क्षयोपशमादुपशमात् क्षयाच्च भवन्ति । तत्रानन्तानुबन्धिकषायाः क्षीणाः स्युरक्षीणा वा; [7]ते च अप्रत्याख्यानावरणकषायाश्च सर्वघातिन एव, तेषामुदयक्षयात् सदुपशमाच्च, प्रत्याख्यानावरणकषायाः सर्वघातिन एव तेषामुदये सति संयमलब्धावसत्याम् , सञ्ज्वलनकषायाः नव नोकषायाश्च देशघातिन एव, तेषामुदये सति संयमासंयमलब्धिर्भवति । तद्योग्यया प्राणीन्द्रियविषयया विरताविरतवृत्त्या परिणतः संयतासंयत इत्याख्यायते ।

---

१ पर्याय । भावान्त–ता०, श्र० । २ भावसंवरस्य मु० । भावसंसारस्य द०, ब० । ३–ष्टिरभि–मु०, द०, ब० । ४–माननूतनक–मु० । –मानन्यूनतमक–द० । ५ अथेदं मु० । ६–न्याऽनन्तगुणा–ता०, श्र०, मू० । ७ द्वितीये मु०, द०, ब० । द्वितीयसमयेनुत्कृ–ता० ।

१ एषां मु०, ता० । २ अन्नाभा–मु०, द०, ब० । ३–णेषिस्थि–मु०, द०, ब० । ४–वृद्ध्या मु० । ५–नुभवबं–मु० । ६ सम्यक्त्वमि–ता०, श्र०, मू० । ७ तथा मु०, ब० ।

परिप्राप्तसंयमः प्रमादवान् प्रमत्तसंयतः ।१७। अनन्तानुबन्धिकषायेषु क्षीणेष्वक्षीणेषु वा प्राप्तोदयक्षयेषु अष्टानां च कषायाणां उदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् सञ्ज्वलननोकषायाणाम् उदये संयमलब्धिर्भवति। तन्मूलसाधनोपपादितोपजननं बाह्यसाधनसन्निधानाविर्भावमापद्यमानं प्राणेन्द्रियविषयभेदात् द्वितयीं वृत्तिमास्कन्दन्तं संयमोपयोगमात्मसात्कुर्वन् पञ्चदशविधप्रमादवशात् किञ्चित्प्रस्खलितचारित्रपरिणामः प्रमत्तसंयत इत्याख्यायते।

अप्रमादविरहितोऽप्रमत्तसंयतः ।१८। पूर्ववत् संयममास्कन्दन् पूर्वोक्तप्रमादविरहात् अविचलितसंयमवृत्तिः अप्रमत्तसंयतः समाख्यायते। इत ऊर्ध्वं गुणस्थानानां चतुर्णां द्वे श्रेण्यौ भवतः—उपशमकश्रेणी क्षपकश्रेणी चेति। यत्र मोहनीयं कर्मोपशमयन्नात्मा आरोहति सोपशमकश्रेणी। यत्र तत्क्षयमुपगमयन्नुद्गच्छति सा क्षपकश्रेणी।

अपूर्वकरणपरिणाम उपशमकः क्षपकश्चोपचारात् ।१९। प्राग्व्याख्यातोऽपूर्वकरणपरिणामः, तद्विशुद्धिवशेन श्रेणीमारोहयन्नपूर्वकरण इति व्यपदेशमश्नुते। तत्र कर्मप्रकृतीनां नोपशमो नापि क्षयः किन्तु पूर्वत्रोत्तरत्र च उपशमं क्षयं[2] वाऽपेक्ष्य उपशमकः क्षपक इति च घृतघटवदुपचर्यते।

अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसाम्परायौ ।२०। पूर्वोक्तोऽनिवृत्तिपरिणामः, तद्वशात् कर्मप्रकृतीनां स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसाम्परायाविति भाष्येते। तत्र उपशमनीयाः क्षपणीयाश्च प्रकृतय उत्तरत्र वक्ष्यन्ते।

सूक्ष्मभावेनोपशमात् क्षपणाच्च सूक्ष्मसाम्परायौ ।२१। साम्परायः कषायः, स यत्र सूक्ष्मभावेनोपशान्ति क्षयं च आपद्यते तौ सूक्ष्मसाम्परायौ वेदितव्यौ।

सर्वस्योपशमात् क्षपणाच्च उपशान्तकषायः क्षीणकषायश्च ।२२। सर्वस्य मोहस्योपशमात् क्षपणाच्च उपशान्तकषायः क्षीणकषाय इति च व्यपदेशमर्हतः।

घातिकर्मक्षयादाविर्भूतज्ञानाद्यतिशयः केवली ।२३। घातिकर्मणामत्यन्तक्षयात् आविर्भूतस्वभावाऽचिन्त्यकेवलज्ञानाद्यतिशयविभूतिर्भगवान् केवलीत्यभिलप्यते।

स द्विविधो योगभावाभावभेदात् ।२४। स केवली द्विधा भिद्यते। कुतः? योगभावाभावभेदात्—योगवान् सयोगीति गीयते तदभावादयोगीति च।

तत्र मिथ्यात्वप्रत्ययस्य कर्मणः तदभावे संवरः शेषे ।२५। तत्र मिथ्यात्वप्राधान्येन यत्कर्मास्रवति तन्निरोधात् शेषे सासादनसम्यग्दृष्ट्यादौ तत्संवरो भवति। किं पुनस्तत्? मिथ्यात्वनपुंसकवेदनरकायुर्नरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिहुण्ड[3]संस्थानाऽसंप्राप्तासृपाटिकासंहननरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्याऽऽतपस्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तकसाधारणशरीरसंज्ञकषोडशप्रकृतिलक्षणम्।

असंयमस्त्रिविधोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयविकल्पात् ।२६। असंयमस्त्रिविधो वेदितव्यः। कुतः? अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानविकल्पात्।

तत्प्रत्ययस्य तदभावे संवरः ।२७। तत्प्रत्ययस्य कर्मणः तदभावे संवरोऽवसेयः। तद्यथा—निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्ध्यनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभस्त्रीवेदतिर्यगायुस्तिर्यग्गतिचतुः-संस्थानचतुःसंहननतिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्योद्योताऽप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदुःस्वरानादेयनीचैर्गोत्र-संज्ञकानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धिकषायोदयकृतासंयमप्रधानास्रवाणाम् एकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्ट्यन्ताः बन्धकाः, तदभावे तासामुत्तरत्र संवरः। अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमान-

१—यजनं—मु०, श्र०, द०, भू०। २ चापे—ता०, श्र०, भू०। ३ —ण्डकसं—मु०। ४—स्रास्—मु०। ५—नविक—श्र०।

मायालोभमनुष्यायुर्मनुष्यगत्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंहननमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनामकानां दशानां प्रकृतीनाम् अप्रत्याख्यानकषायोदयकृतासंयमहेतुकानाम् एकेन्द्रियादयः असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ता बन्धकाः, तदभावादूर्ध्वं तासां संवरः। सम्यङ्मिथ्यात्वगुणेनायुर्न बध्यते। प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्याख्यानकषायोदयकारणासंयमास्रवाणाम् एकेन्द्रियप्रभृतयः संयतासंयतावसाना बन्धकाः, तदभावात् उपरिष्टात् तासां संवरः।

प्रमादोपनीतस्य तदभावे निरोधः ।२८। प्रमादोपनीतस्य कर्मणः प्रमत्तसंयतादूर्ध्वं तदभावान्निरोधः प्रत्येतव्यः। किं पुनस्तत्? असद्वेद्याऽरतिशोकाऽस्थिराऽशुभाऽयशस्कीर्तिविकल्पम्। देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुः, अप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः, तत ऊर्ध्वं तस्य संवरः।

कषायास्रवस्य तन्निरोधे निरासः ।२९। कषाय एवास्रवो यस्य कर्मणः न प्रमादादिस्तस्य तन्निरोधे तन्निरासोऽवसेयः। स एव कषायः प्रमादादिविरहितः तीव्रमध्यमजघन्यभावेन त्रिषु गुणस्थानेषु व्यवस्थितः। तत्राऽपूर्वकरणस्यादौ संख्येयभागे द्वे कर्मप्रकृती निद्राप्रचले बध्येते। तत ऊर्ध्वं संख्येयभागे त्रिंशत्प्रकृतयः—देवगतिपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गवर्णगन्धरसस्पर्शदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्माणतीर्थकरनामाख्याः बध्यन्ते। तस्यैव चरमसमये चतस्रः प्रकृतयः हास्यरतिभयजुगुप्सासंज्ञा बन्धमुपयान्ति। ता एताः तीव्रकषायास्रवाः, तदभावान्निर्दिष्टाद्भागादूर्ध्वं संक्रियन्ते। अनिवृत्तिबादरसाम्परायस्यादिसमयादारभ्य संख्येयेषु भागेषु पुंवेदक्रोधसंज्वलनौ बध्येते। तत ऊर्ध्वं शेषे शेषे(शेषेषु)संख्येयेषुभागेषु मानसंज्वलनमायासंज्वलनौ बन्धमुपगच्छतः। तस्यैव चरमसमये लोभसञ्ज्वलनो बन्धमेति। ता एताः प्रकृतयः मध्यमकषायास्रवाः, तदभावे निर्दिष्टस्य भागस्योपरिष्टात् संवरमाप्नुवन्ति। पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां यशस्कीर्तेरुच्चैर्गोत्रस्य पञ्चानामन्तरायाणां च मन्दकषायास्रवाणां सूक्ष्मसाम्परायो बन्धकः। तदभावादुत्तरत्र तेषां संवरः।

केवलयोगनिमित्तं सद्वेद्यं तदभावात्तस्य निरोधः ।३०। केवलेनैव योगेन सद्वेद्यस्योपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगिनां बन्धो भवति। तदभावादयोगकेवलिनस्तस्य संवरो भवति।

अत्राह—आस्रवनिरोधः संवर इत्याख्यातम्। तत्रेदमनिर्ज्ञातम्—आत्मलाभहेतुसन्निधाने सत्यास्रवतां कर्मणां केन निरोधो भवतीति? तत्र वक्तव्यम्—अनेनास्रवनिरोधः इति? अत्रोच्यते—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

संसारकारणगोपनाद् गुप्तिः ।१। यतः संसारकारणात् आत्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः। भावे क्तिः। अपादानसाधनो वा, यतो गोपनं सा गुप्तिरिति। कर्तृसाधनो वा क्तिन् गोपयतीति गुप्तिरिति।

सम्यगयनं समितिः ।२। परप्राणिपीडापरिहारेच्छया सम्यगयनं समितिः। संपूर्वादिणो भावे क्तिः। कर्तरि वा क्तिन्।

इष्टे स्थाने धत्त इति धर्मः ।३। आत्मानमिष्टे नरेन्द्रसुरेन्द्रमुनीन्द्रादिस्थाने धत्त इति धर्मः। उणादिषु निष्पादितः।

स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।४। शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा वेदितव्याः।

१ इति व्याख्या—मु०, भू०, ता०, द०, ब०।

अनुप्रपूर्वादीक्षे भावादिसाधनः अकारः ।५। अनुप्रपूर्वादीक्षेर्भावसाधनोऽकारः ।

परिषह्यत इति परीषहः ।६। परिपूर्वात्सहेः कर्मण्यकारः, परिषह्यत इति परीषहः । कथमकारः ? पचादिलक्षणोऽच् । ननु स कर्तरि विहितः । घञ् तर्हि; स करणाधिकरणयोर्विहितः । घञ् तर्हि कर्मणि; एवमपि परीषाह इति प्राप्नोति, "अनुबन्धकृतमनित्यम्" [ ] यथा ज्योतिषमिति । अथवा बहुलवचनात् कर्मण्यकारः, "अन्यस्यापि" [ ] इति दीर्घः । परीषहस्य जयः परीषहजयः ।

चारित्रशब्दो व्याख्यातः ।७। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [त० सू० १।१] इत्यत्र चारित्रशब्दो व्याख्यातः । चर्यते तच्चारित्रमिति ।

संवृण्वतो गुप्त्यादयः करणम् ।८। संवरितुः संवरणक्रियायाः साधकतमत्वविवक्षायां गुप्त्यादीनां करणभावः प्रत्येतव्यः ।

गुप्तिश्च समितिश्च धर्मश्चानुप्रेक्षा च परीषहजयश्च चारित्रं च गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणि तैर्गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैरिति ।

संवर एव गुप्त्यादय इति चेत् ; न; आस्रवनिमित्तकर्मसंवरणात् ।८। स्यान्मतम्–संव्रियतेऽनेनेति संवरः, गुप्त्यादिभिश्च कर्म संव्रियते, ततो गुप्त्यादय एव संवर इति भेदेन[1] निर्देशो नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? आस्रवनिमित्तकर्मसंवरणात् । संवरणमिह संवर इति भावसाधनः, तस्य गुप्त्यादयः करणत्वेन निर्दिश्यन्ते । संव्रियते संवर इति कर्मसाधनो वा, गुप्त्यादिभिर्हि कर्म संव्रियत इति ।

स इति वचनं गुप्त्यादिभिः साक्षात् संबन्धनार्थम् ।९। संवरोऽधिकृतोऽपि पुनः स इति परामृश्यते । किमर्थम् ? गुप्त्यादिभिः साक्षात् संबन्धनार्थम् । तेन किं लब्धम् ? नियमः कृतो भवति–स एष संवरो गुप्त्यादिभिरेव नान्येनोपायेनेति । तेन तीर्थाभिषेकदीक्षाशीर्षोपहारदेवताराधनादयो निवर्तिता भवन्ति, रागद्वेषमोहोपात्तस्य कर्मणः अन्यथा निवृत्त्यसंभवात् । यदि हि स्यात् ; मत्स्यादीनामपि अतिसुलभो मोक्षः स्यात् , रक्तद्विष्टमूढानां च । एषां तत्त्वभेदकथनम् उत्तरत्र करिष्यते ।

आह–किमेतैरेव गुप्त्यादिभिः अयं संवरो निष्पाद्यते ? न । किं तर्हि ? अन्येन च । यद्येवम् ; उच्यतां केन ?

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

धर्मे अन्तर्भावात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति चेत् ; न; निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात् ।१। स्यान्मतम्–धर्मविकल्पेषु उत्तमक्षमादिषु तपो वक्ष्यते, ततः संवरहेतुत्वे सिद्धे पृथगस्य ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात्–तपो निर्जराकारणमपि भवतीति ।

प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थं च ।२। सर्वेषु संवरहेतुषु प्रधानं तप इत्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं च पृथग्ग्रहणं क्रियते ।

संवरनिमित्तसमुच्चयार्थश्चशब्दः ।३। संवरहेतुरपि तपो भवतीति एतस्य समुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते । तपसा हि अभिनवकर्मसंबन्धाभावः पूर्वोपचितकर्मक्षयश्च, अविपाकनिर्जराप्रतिज्ञानात् । तस्मात्तपोजातीयत्वात् ध्यानानां निर्जराकारणत्वप्रसिद्धिः ।

१ भेदनिर्दे–मु०, ता०, द०, ब० ।

तपसोऽभ्युदयहेतुत्वान्निर्जराङ्गत्वाभाव इति चेत् ; न; एकस्यानेककार्यारम्भदर्शनात् ।४। स्यादेतत्–तपोऽभ्युदयकारणमिष्टम् देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात् , ततोऽस्य निर्जराङ्गत्वमनुपपन्नमिति; तन्न; किं कारणम् ? एकस्यानेककार्यारम्भदर्शनात् । यथा अग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्मसाद्भवनादिप्रयोजन उपलभ्यते, तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः ?

गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत् ।५। अथवा, यथा कृषीवलस्य कृषिक्रियायाः पलालशस्यफलगुणप्रधानफलाभिसम्बन्धः तथा मुनेरपि तपःक्रियायां प्रधानोपसर्जनाभ्युदयनिःश्रेयसफलाभिसम्बन्धोऽभिसन्धिवशाद्वेदितव्यः ।

आह–गुप्त्यादय उद्दिष्टाः संवरहेतवः । ते किंविषयाः कियत्प्रकाराः प्रत्येकं च किंसामर्थ्याः इति ? अत्रोच्यते–सति बहुवक्तव्ये आदावुद्देशभाजो गुप्तेरेव तावन्निर्धारणं क्रियते–

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

योगशब्दो व्याख्यातार्थः ।१। अयं योगशब्दो व्याख्यातार्थो द्रष्टव्यः । क ? "कायवाङ्मनस्कर्म योगः" [त० सू० ६।१] इत्यत्र ।

प्राकाम्याऽभावो निग्रहः ।२। प्राकाम्यं यथेष्टं चरित्रं तस्याभावो निग्रह इत्याख्यायते, योगस्य निग्रहो योगनिग्रहः ।

सम्यगिति विशेषणं सत्कारलोकपङ्क्त्याद्याकाङ्क्षानिवृत्त्यर्थम् ।३। पूजापुरस्सरा क्रिया सत्कारः । संयतो महानिति लोके प्रकाशः लोकपङ्क्तिः । एवमाद्यैहलौकिकफलमनुद्दिश्य पारलौकिकं च विषयसुखमनपेक्ष्य क्रियमाणो निग्रहो गुप्तिरिह परिगृहीतेति प्रतिपत्त्यर्थं सम्यगिति विशेषणमुपादीयते ।

तस्मात् कायादिनिरोधात्तन्निमित्तकर्मानास्रवणे संवरप्रसिद्धिः ।४। तस्मात् सम्यग्विशेषणविशिष्टात् संक्लेशाप्रादुर्भावपरात् कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति कृत्वा संवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या । तद्यथा तिस्रो गुप्तयः–कायगुप्तिः वाग्गुप्तिः मनोगुप्तिरिति । तत्र यत् कायिकमनिभृतस्य अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितधरणिप्रदेशचङ्क्रमणद्रव्यान्तराधाननिक्षेपशयनासनादिनिमित्तं कर्म सम्मूर्च्छति न तन्निगृहीतकायप्रचारस्याप्रमत्तस्य आस्रोतुमर्हति । यच्च वाचिकमसंवृतस्य असत्प्रलापिनोऽप्रियवचनादिहेतुकं कर्म निपतति न तद्विनिवृत्तवाक्प्रयोगस्यास्रवति । यदपि मानसैः प्रदोषैः रागद्वेषाभिभूतस्यातीतानागतविषयाभिलाषिण आस्रवति न तदात्मीकृतमनसः कदाचिदप्युपनिपतति ।

आह–यदि मूर्तिपरित्यागं कार्त्स्न्येन कर्तुमशक्नुवतः संक्लेशनिवृत्तये योगनिरोधः प्रतिज्ञायते स यावन्न भवति तावदनेनावश्यं प्राणयात्रानिमित्तं तत्प्रत्यनीकभावात् परिस्पन्दः कर्तव्यः, वाक्प्रयोगो वा प्रश्नापेक्षः, शरीरमलनिर्हरणार्थश्च, तस्मिन् सति कथमस्य संवरः स्यादिति ? अत्रोच्यते—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

सम्यग्ग्रहणेनाधिकृतेन प्रत्येकमभिसम्बन्धः ।१। सम्यगित्यनुवर्तते । तेन प्रत्येकमिहाभिसंबन्धः क्रियते–सम्यगीर्या सम्यग्भाषा सम्यगेषणा सम्यगादाननिक्षेपौ सम्यगुत्सर्ग इति ।

समितिरित्यन्वर्थसंज्ञा तान्त्रिकी[3] पञ्चानाम् ।२। समितिरितीमन्वर्थसंज्ञा सम्यगितिः समितिरिति । क प्रसिद्धा ? तान्त्रिकी । केषाम् ? पञ्चानामीर्यादीनाम् ।

१ यत्तुका– श्र०, ता०, । २ पुरुषेण । ३ सिद्धान्तानुसारिणी ।

तत्र व्रज्यायां जीववधपरिहार ईर्यासमितिः ।३। विदितजीवस्थानादिविधेर्मुनेः धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते चक्षुषो विषयग्रहणसामर्थ्ये उपजाते मनुष्यादिचरणपातोपहतावश्यायप्रायमार्गे अनन्यमनसः शनैर्न्यस्तपादस्य सङ्कुचितावयवस्य युगमात्रपूर्वनिरीक्षणावहितदृष्टेः पृथिव्याद्यारम्भाभावात् ईर्यासमितिरित्याख्यायते ।

अत्राह–विदितजीवस्थानादिविधेरित्युक्तम्, तत्र न ज्ञायते कति जीवस्थानानि इति ? अत्रोच्यते—

सूक्ष्मबादरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्दशजीवस्थानानि ।४। एकेन्द्रियादयः प्राग् व्याख्यातलक्षणाः । तत्रैकेन्द्रिया द्विविधाः–सूक्ष्मा बादराश्चेति[1] । सूक्ष्मा द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । बादरा द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तका इति । द्वीन्द्रिया द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । त्रीन्द्रिया द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । चतुरिन्द्रिया द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । पञ्चेन्द्रिया द्विविधाः–संज्ञिनोऽसंज्ञिनः । संज्ञिनो द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । असंज्ञिनो द्विविधाः–पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चेति । एवं जीवस्थानानि वेदितव्यानि । तानि नामकर्मोदयोपादितविशेषाणि एकेन्द्रियजातिसूक्ष्मबादरपर्याप्तकाऽपर्याप्तकनामोदयजनितानि चत्वारि जीवस्थानानि एकेन्द्रियेषु । द्वीन्द्रियादिषु बादरनामोदय एव । विकलेन्द्रियेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिपर्याप्तकापर्याप्तकनामोदयनिर्वर्तितानि । पञ्चेन्द्रियेषु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकनामोदयलब्धभेदानि चत्वारि जीवस्थानानि ।

हितमितासन्दिग्धाभिधानं भाषासमितिः ।५। मोक्षपदप्रापणप्रधानफलं हितम् । तद्द्विविधम्–स्वहितं परहितं चेति । मितमनर्थकबहुप्रलपनरहितम् । स्फुटार्थं व्यक्ताक्षरं चाऽसन्दिग्धम् । एवंविधमभिधानं भाषासमितिः । तत्प्रपञ्चः–मिथ्याभिधानासूयाप्रियसंभेदाल्पसारशङ्कितसंभ्रान्तकषायपरिहासाऽयुक्ताऽसभ्यनिष्ठुरधर्मविरोध्यदेशकालालक्षणातिसंस्तवादिवाग्दोषविरहिताभिधानम् ।

अन्नादावुद्गमादिदोषवर्जनमेषणासमितिः ।६। अनगारस्य गुणरत्नसंचयसंवाहिशरीरशकटिं समाधिपत्तनं निनीषतोऽक्षम्रक्षणमिव शरीरधारणमौषधमिव जाठराग्निदाहोपशमनिमित्तमन्नाद्यनास्वादयतो देशकालसामर्थ्यादिविशिष्टमगर्हितमभ्यवहरतः उद्गमोत्पादनैषणासंयोजनप्रमाणकारणाङ्गारधूमप्रत्ययनवकोटिपरिवर्जनमेषणासमितिरिति समाख्यायते ।

धर्मोपकरणानां ग्रहणविसर्जनं प्रति प्रयतनमादाननिक्षेपणासमितिः ।७। धर्माविरोधिनां परानुपरोधिनां द्रव्याणां ज्ञानादिसाधनानां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य प्रमृज्य प्रवर्तनमादाननिक्षेपणा समितिः ।

जीवाविरोधेनाङ्गमलनिर्हरणमुत्सर्गसमितिः ।८। स्थावराणां जङ्गमानां च जीवादीनाम् अविरोधेनाङ्गमलनिर्हरणं शरीरस्य च स्थापनम् उत्सर्गसमितिरवगन्तव्या ।

वाक्कायगुप्तिरियमपीति चेत् ; न; तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्तेः ।९। स्यान्मतम्–ईर्यासमित्यादिलक्षणा वृत्तिः वाक्कायगुप्तिरेव, गोपनं गुप्तिः रक्षणं प्राणिपीडापरिहार इत्यनर्थान्तरमिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्तेः । परिमितकालविषयो हि सर्वयोगनिग्रहो गुप्तिः । तत्रासमर्थस्य कुशलेषु वृत्तिः समितिः । अतो गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपोत्सर्गलक्षणसमितिविधावप्रमत्तानां तत्प्रणालिकाप्रसृतकर्माभावान्निभृतानां प्रासीदत् संवरः ।

पात्राभावात् पाणिपुटाहाराणां संवराभाव इति चेत् ; न; परिग्रहदोषात् ।१०। स्यादेतत्–असति पात्रे पणिपुटेन भुञ्जानस्य भिक्षोः पतिताहारनिमित्तप्राणातिपातदर्शनादेषणासमित्य-

१–राः० तत्र सू–मु०, द०, ब० । २–विरता–मु०, द०, ब०, श्र०, ।

भावात् संवराभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? परिग्रहदोषात्, नैस्सङ्गीं चर्यामातिष्ठमानस्य पात्रग्रहणे सति तत्संरक्षणादिकृतो दोषः प्रसज्यते । तस्मात् स्वायत्तेन पाणिपुटेन निराबाधे देशे स्थित्वा परीक्ष्य भुञ्जानस्य निभृतस्य तद्गतदोषाभावः । किञ्च,

दैन्यप्रसङ्गात् ।११। कपालमन्यद्वा भाजनमादाय पर्यटतो भिक्षोर्दैन्यमासज्यते । गृहिजनानीतमपि भाजनं [न]सर्वत्र सुलभम्, तत्प्रक्षालनादिविधौ च दुःपरिहारः पापलेपः, स्वभाजनेन देशान्तरं नीत्वा भोजने च आशानुबन्धनं स्यात्, स्वपूर्वविशिष्टभाजनादिकगुणासंभवाच्च येन केनचित् भुञ्जानस्य दैन्यं स्यात् । ततः स्वकरपुटभाजनान्यद्विशिष्टमस्ति भिक्षोः ।

अन्नवत्तत्प्रसङ्ग इति चेत् ; न; विनाऽभावात् ।१२। स्यादेतत्–यथा प्राच्यमन्नं संस्कृतं परमरसं परित्यज्य परगृहे यत्किञ्चित् असंस्कृतमन्नम् अरसमनुभूयते भिक्षुणा तथा कपालाद्यादानमपि स्यादिति; तन्न; किं कारणम् ? तेन विनाऽभावात् । चिरकालं तपः संचिचीषतः संयतस्य शरीरयात्रा आहारमन्तरेण न संभवतीति यत्किञ्चित्प्रासुकं कादाचित्कमभ्युपगम्यते न तथा भाजनमिति असमञ्जसो दृष्टान्तः ।

आह–उक्तं गुप्तिसमित्योः संवरहेतुत्वम्, इदानीं तदनन्तरमुद्दिष्टस्य धर्मस्य संवरहेतुत्वं संवर्णयितव्यमिति । अत्रेदमुच्यते—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

किमर्थमिदमुच्यते ?

प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं धर्मवचनम् ।१। आद्यं गुप्त्यादि प्रवृत्तिनिग्रहार्थम् । तत्रासमर्थानां प्रवृत्त्युपायप्रदर्शनार्थं द्वितीयमेषणादि । इदं पुनर्दशविधधर्माख्यानं प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं वेदितव्यम् ।

क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविष्वाक्रोशादिसंभवे कालुष्योपरमः क्षमा ।२। शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपयतो[2] भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रसहना(त्प्रहसना)वज्ञानताडनशरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमेत्युच्यते ।

जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवम् ।३। उत्तमजातिकुलरूपविज्ञानैश्वर्यश्रुतलाभवीर्यस्यापि सतस्तत्कृतमदावेशाभावात् परप्रयुक्तपरिभवनिमित्ताभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणमवगन्तव्यम् ।

योगस्यावक्रता आर्जवम् ।४। योगस्य कायवाङ्मनोलक्षणस्यावक्रता आर्जवमित्युच्यते ।

प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः शौचम् ।५। लोभस्य निवृत्तिः प्रकर्षप्राप्ता, शुचेर्भावः कर्म वा शौचमिति निश्चीयते ।

गुप्तावन्तर्भाव इति चेत् ; न; तत्र मानसपरिस्पन्दप्रतिषेधात् ।६। स्यादेतत्–मनोगुप्तौ शौचमन्तर्भवतीति पृथगस्य ग्रहणमनर्थकमिति ; तन्न ; किं कारणम् ? तत्र मानसपरिस्पन्दप्रतिषेधात् । मनोगुप्तौ हि मानसः परिस्पन्दः सकलः प्रतिषिध्यते, तत्राऽसमर्थेषु परकीयेषु वस्तुषु अनिष्टप्रणिधानोपरमार्थमिदमुच्यते ।

१ प्राप्तव्यमन्नं परमं प–मु, ब० । प्राप्तमन्नं परमं प–द० । २–पगच्छतो मु०, ब० ।

आकिञ्चन्येऽवरोध इति चेत् ; न; तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात् ।७। स्यादेतत्–आकिञ्चन्यं वक्ष्यते, तत्रास्यावरोधात् शौचग्रहणं पुनरुक्तमिति ; तन्न ; किं कारणम् ? तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात् । स्वशरीरादिषु संस्काराद्यपोहार्थमाकिञ्चन्यमिष्यते ।

तच्चतुर्विधं जीवितारोग्येन्द्रियोपभोगभेदात् ।८। लोभश्चतुःप्रकारः–जीवनलोभ आरोग्यलोभ इन्द्रियलोभ उपभोगलोभश्चेति, स प्रत्येक द्विधा भिद्यते स्वपरविषयत्वात् , अतस्तन्निवृत्तिलक्षणं शौचं चतुर्विधमवसेयम् ।

सत्सु साधुवचनं सत्यम् ।९। सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यमित्युच्यते । तदशप्रकारं व्याख्यातम् ।

भाषासमितावन्तर्भाव इति चेत् ; न; तत्र साध्वसाधुभाषाव्यवहारे हितमितार्थत्वात् ।१०। स्यादेतत्–सत्यग्रहणमनर्थकम् , कुतः ? भाषासमितावन्तर्भावादिति ; तन्न; किं कारणम् ? तत्र साध्वसाधुभाषाव्यवहारे हितमितार्थत्वात् । संयतो हि साधुषु असाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितं च ब्रूयात् , अन्यथा रागानर्थदण्डादिदोषानुषङ्गः स्यादिति समितिलक्षणमुक्तम् । इह पुनः सन्तः प्रव्रजितास्तद्भक्ता वा तेषु साधु सत्यं ज्ञानचारित्रशिक्षणादिषु बह्वपि [1]वक्तव्यमित्यनुज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम् ।

अथ कः संयमः ? कश्चिदाह–भाषादिनिवृत्तिरिति ।

न भाषादिनिवृत्तिः संयमः; गुप्त्यन्तर्भावात् ।११। गुप्तिर्हि निवृत्तिप्रवणा, अतोऽत्रान्तर्भावात् संयमाभावः स्यात् ।

अपर आह–कायादिप्रवृत्तिर्विशिष्टा संयम इति ।

नापि कायादिप्रवृत्तिर्विशिष्टा; समितिप्रसङ्गात् ।१२। समितयो हि कायादिप्रवृत्तिदोषनिवृत्तयः, अतस्तत्रान्तर्भावः [2]प्रसज्येत ।

त्रसस्थावरवधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति चेत् ; न; परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात् ।१३। अथ मतम्–द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां पृथिवीकायिकादीनां स्थावराणां च प्राणिनां वधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति; तदपि नोपपद्यते ; कुतः ? परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात् । वक्ष्यते हि चारित्रभेदेषु परिहारविशुद्धिलक्षणं चारित्रमिति, तत्रान्तर्भावात् पृथक् संयमग्रहणमनर्थकं स्यात् । कस्तर्हि संयमः ?

समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः ।१४। ईर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्त[3]त्प्रतिपालनार्थः प्राणीन्द्रियपरिहारः संयम इत्युच्यते । एकेन्द्रियादिप्राणिपीडापरिहारः प्राणिसंयमः । शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्ग इन्द्रियसंयमः ।

अतोऽपहृतसंयमभेदसिद्धिः ।१५। एवं च कृत्वा अपहृतसंयमभेदसिद्धिर्भवति । संयमो हि द्विविधः–उपेक्षासंयमोऽपहृतसंयमश्चेति । देशकालविधानज्ञस्य [4]परानुपरोधेन उत्सृष्टकायस्य त्रिधा गुप्तस्य रागद्वेषानभिष्वङ्गलक्षण उपेक्षासंयमः । अपहृतसंयमस्त्रिविधः–उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति । तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् परिपालयत उत्कृष्टः, मृदुना प्रमृज्य जन्तून् परिहरतो मध्यमः, उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः ।

१ कर्त्तव्यमि–ता०, श्र०, द० । २ प्रसज्यते मु०, द०, ब० । ३–त्परिपा–मु०, द०, ब०, श्र० । ४ परोपरोधने मु० । परोपरोधेन द०, ब० । ५ जीवान् मु०, द०, ब० ।

तत्प्रतिपादनार्थः शुद्धयष्टकोपदेशः ।१६। तस्यापहृतसंयमस्य प्रतिपादनार्थः शुद्धयष्टकोपदेशो द्रष्टव्यः । तद्यथा, अष्टौ शुद्धयः–भावशुद्धिः कायशुद्धिः विनयशुद्धिः ईर्यापथशुद्धिः भिक्षाशुद्धिः प्रतिष्ठापनशुद्धिः शयनासनशुद्धिः वाक्यशुद्धिश्चेति ।

तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता । तस्यां सत्यामाचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत् ।

कायशुद्धिर्निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृताङ्गविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्तिः प्रशमसुखं मूर्तिमिव प्रदर्शयन्तीति । तस्यां सत्यां न स्वतोऽन्यस्य भयमुपजायते नाप्यन्यतस्तस्य ।

विनयशुद्धिः अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हं पूजाप्रवणा, ज्ञानादिषु च यथाविधि भक्तियुक्ता, गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः, प्रश्नस्वाध्यायवाचनाकथाविज्ञप्त्यादिषु प्रतिपत्तिकुशला, देशकालभावाबबोधनिपुणा, आचार्यानुमतचारिणी । तन्मूलाः सर्वसंपदः, सैषा[1] भूषा पुरुषस्य, सैव नौः संसारसमुद्रतरणे ।

ईर्यापथशुद्धिः नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी द्रुतविलम्बितसंभ्रान्तविस्मितलीलाविकारदिगन्तरावलोकनादिदोषविरहित[2]गमना । तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतौ ।

भिक्षाशुद्धिः परीक्षितोभयप्रचारा प्रमृष्टपूर्वापरस्वाङ्गदेशविधाना आचारसूत्रोक्तकालदेश-[3]प्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला लाभालाभमानापमानसमानमनोवृत्तिः लोकगर्हितकुलपरिवर्जनपरा चन्द्रगतिरिव हीनाधिकगृहा, विशिष्टोपस्थाना, दीनानाथदानशालाविवाहयजनगेहादिपरिवर्जनोपलक्षिता दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना आगमविहितनिरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला । तत्प्रतिबद्धा हि चरणसंपत् गुणसंपदिव साधुजनसेवानिबन्धना । सा लाभालाभयोः सुरसविरसयोश्च समसन्तोषाद्भिक्षेति भाष्यते । यथा सलीलसालङ्कारवरयुवतिभिरुपनीयमानवासो गौर्न तदङ्गगतसौन्दर्यनिरीक्षणपरः तृणमेवात्ति, यथा वा तृणोलूपं नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमवेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललितरूपवेषविलासावलोकननिरुत्सुकः शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं चानवेक्षमाणः यथागतमश्नाति इति गौरिव चारो गोचार इति व्यपदिश्यते, तथा गवेषणेति च । यथा शकटं रत्नभारपरिपूर्णं येन केनचित् स्नेहेन अक्षलेपं कृत्वा अभिलषितदेशान्तरं वणिग्वपनयति तथा मुनिरपि गुणरत्नभरितां तनुशकटीमनवद्यभिक्षायुरक्षम्रक्षणेन अभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीत्यक्षम्रक्षणमिति च [4]नाम निरूढम् । यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही तथा यतिरपि उदराग्निं प्रशमयतीति उदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते । दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते । येन केनचित्प्रकारेण स्वभ्रपूरणवदुदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वेति स्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते ।

प्रतिष्ठापनशुद्धिपरः संयतः नखरोमसिङ्घाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जन्तूपरोधमन्तरेण प्रयतते ।

संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीक्षुद्रचौरपाषण्डशाकुनिकादिपापजनवासा वर्ज्याः, शृङ्गारविकारभूषणोज्वलवेषवेश्याक्रीडाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलशालादयश्च परिहर्तव्याः, अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता निरारम्भाः सेव्याः ।

१ सैव भू–ता०, श्र० । २–षरहित–मु०, द०, ब० । ३–प्रवृत्तिप्रति–मु०, द० ,श्र० । ४ नामरूढं मु०, द०, ब० ।

वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकारम्भादिप्रेरणरहिताः(ता)परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका व्रतशीलदेशनादिप्रधानफला हितमितमधुरमनोहरा संयतस्य योग्या। तदधिष्ठाना हि सर्वसंपदः।

तपो वक्ष्यमाणभेदम् ।१७। कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः। तदुत्तरत्र वक्ष्यमाणं द्वादशविकल्पमवसेयम्।

परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः ।१८। परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते।

अभ्यन्तरतपोविशेषोत्सर्गग्रहणात्सिद्धिरिति चेत्; न; तस्यान्यार्थत्वात् ।१९। स्यान्मतम्–वक्ष्यते तपोऽभ्यन्तरं षड्विधम्, तत्रोत्सर्गलक्षणेन तपसा ग्रहणमस्य सिद्धमित्यनर्थकं त्यागग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्? तस्यान्यार्थत्वात्। तद्धि नियतकालं सर्वोत्सर्गलक्षणम्, अयं पुनस्त्यागः यथाशक्ति अनियतकालः क्रियते इत्यस्ति भेदः।

शौचवचनात्सिद्धिरिति चेत्; न; तत्रासत्यपि गर्द्धोत्पत्तेः ।२०। अथ मतमेतत्–व्याख्यातं शौचम्, तत्रास्यान्तर्भावात् त्यागग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? तत्रासत्यपि गर्द्धोत्पत्तेः। असन्निहिते परिग्रहे कर्मोदयवशात् गर्द्ध उत्पद्यते, तन्निवृत्त्यर्थं शौचमुक्तम्। त्यागः पुनः सन्निहितस्यापायः दानं वा स्वयोग्यम्, अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्याग इत्युच्यते।

ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यम् ।२१। उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यमित्याख्यायते। नास्य किञ्चनास्ति इत्यकिञ्चनः, तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्।

अनुभूताङ्गनास्मरणतत्कथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यम् ।२२। मया अनुभूताङ्गना कलागुणविशारदा इति स्मरणं तत्कथाश्रवणं रतिपरिमलादिवासितं स्त्रीसंसक्तशयनासनमित्येवमादिवर्जनात् परिपूर्णं ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते।

[3]**अस्वातन्त्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा** ।२३। अथवा ब्रह्मा गुरुस्तस्मिंश्चरणं तदनुविधानमस्य अस्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं ब्रह्मचर्यमित्याचर्यते।

अन्वर्थसंज्ञाप्रतिपादनार्थत्वाद्वा अपौनरुक्त्यम् ।२४। अथवा सर्वेषामेव परिहारः। यद्यपि गुप्तिसमित्यादिष्वन्तर्भूताः केचन इहोपदिश्यन्ते तथापि तेषां संवरणधारणसामर्थ्याद्धर्म इत्येषा संज्ञा अन्वर्थेति प्रतिपादनार्थं पुनर्वचनमिति नास्ति पौनरुक्त्यम्।

तद्भावनाप्रवणत्वाद्वा सप्तप्रकारप्रतिक्रमणवत् ।२५। अथवा, यथा ऐर्यापथिक-रात्रिन्दिवीय-पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिक-उत्तमस्थानिकलक्षणं सप्तप्रकारं प्रतिक्रमणं गुप्त्यादिप्रतिष्ठानार्थं भाव्यते, तथोत्तमक्षमादिदशविधधर्मभावना गुप्त्यादिपरिपालनार्थेवेति तत्रान्तर्भूतानामपि पृथगुपदेशो युक्तः।

उत्तमविशेषणं दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थम् ।२६। यत्किञ्चिद् दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य क्रियमाणानि क्षमादीनि संवरणकारणानि भवन्तीत्यस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थमुत्तमविशेषणमुपादीयते–उत्तमक्षमा उत्तममार्दवमित्यादि। कथं पुनरेषां संवरहेतुत्वमिति चेत्? अत्रोच्यते—

सर्वेषां स्वगुणप्रतिपक्षदोषभावनात् संवरहेतुत्वम् ।२७। सर्वेषामेवैषाम् उत्तमक्षमादीनां स्वगुणस्य प्रतिपक्षदोषस्य च भावनात् संवरहेतुत्वमवसेयम्। तद्यथा, उत्तमक्षमायास्तावत्–व्रतशीलपरिरक्षणम्, इहामुत्र च दुःखानभिष्वङ्गः, सर्वस्य जगतः सम्मानसत्कारभावपरिपक्त्यादि गुणः, तत्प्रतिपक्षस्य क्रोधस्य धर्मार्थकाममोक्षप्राणनाशनं दोष इति विचिन्त्य क्षमितव्यम्। किञ्च, क्रोधनिमित्तस्य [5]स्वात्मनि भावाभावानुचिन्तनात्–

१–स्यान्वर्थ–मु०, द०, ब०। २ मतं व्या–मु०, द०, ब०। ३ स्वा–मु०, द०, ब०। ४ –धानमस्वा–मु०, द०, ब०। –नमस्वा–ता०। ५ प्रदर्शनार्थं ता०, श्र०। ६ –तिस्थाव–मू०, ता०। ७ स्वात्मभावानुचि–मु०, द०, ब०।

परैः प्रयुक्तस्य क्रोधनिमित्तस्य आत्मनि भावचिन्तनं तावत्–विद्यन्ते मय्येते दोषाः, किमत्रासौ मिथ्या ब्रवीतीति क्षमितव्यम्। अभावचिन्तनादपि, नैते मयि विद्यन्ते दोषाः, अज्ञानादसौ ब्रवीतीति क्षमा कार्या।

अपि च, बालस्वभावचिन्तनं परोक्षप्रत्यक्षाक्रोशताडनमारणधर्मभ्रंशनानामुत्तरोत्तरक्षार्थम्। तद्यथा–परोक्षमाक्रोशति बाले क्षमितव्यम्। एवंस्वभावा हि बाला भवन्ति। दिष्ट्या च मां परोक्षमाक्रोशति न प्रत्यक्षम्। एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः। प्रत्यक्षमाक्रोशति सोढव्यम्। विद्यत एतत् बालेषु, दिष्ट्या च मां प्रत्यक्षमाक्रोशति न ताडयति। एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः। ताडयत्यपि च मर्षितव्यम्। दिष्ट्या च मां ताडयति न प्राणैर्वियोजयतीति। एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः। प्राणैर्वियोजयत्यपि तितिक्षा कर्तव्या दिष्ट्या च मां प्राणैर्वियोजयति न धर्माद् भ्रंशयति इति। किञ्चान्यत्, ममैवापराधोऽयम्। यत्पुराचरितं[1] तन्महद् दुष्कर्म तत्फलमिदमाक्रोशवचनादि निमित्तमात्रं परोऽत्रेति सहितव्यम्।

मार्दवोपेतं गुरवोऽनुगृह्णन्ति, साधवोऽपि साधुमामन्यन्ते। ततश्च सम्यग्ज्ञानादीनां पात्रीभवति। [2]ततः स्वर्गोपवर्गफलावाप्तिः। मलिने मनसि व्रतशीलानि नावतिष्ठन्ते। साधवश्चैनं परित्यजन्ति। तन्मूलाः सर्वा विपदः।

ऋजुहृदयमधिवसन्ति गुणाः, मायाचारं नाश्रयन्ते। गर्हिता च गतिर्भवति।

शुच्याचारमिहापि सन्मानयन्ति सर्वे। विश्रम्भादयश्च गुणाः तमधितिष्ठन्ति। लोभभावनाक्रान्तहृदये नावकाशं लभन्ते गुणाः, इह चामुत्र चाऽचिन्त्यं व्यसनमसावश्नुते।

सत्यवाचि प्रतिष्ठिताः सर्वा गुणसंपदः। अनृतभाषिणं बन्धवोऽपि अवमन्यते(न्ते)मित्राणि च परित्यजन्ति, जिह्वाछेदनसर्वस्वहरणादिव्यसनभागपि भवति। संयमो ह्यात्महितः। तमनुतिष्ठन्निहैव पूज्यते परत्र किमस्ति वाच्यम्। असंयतः प्राणवधविषयरागेषु नित्यप्रवृत्तः कर्मा-
शुभं संचिनुते।

तपः सर्वार्थसाधनम्। तत एव ऋद्धयः संजायन्ते। तपस्विभिरध्युषितान्येव क्षेत्राणि लोके तीर्थतामुपगतानि। तद्यस्य न विद्यते स तृणाल्लघुर्लक्ष्यते। मुञ्चन्ति तं सर्वे गुणाः। नासौ मुञ्चति संसारम्।

उपधित्यागः पुरुषहितः। यतो यतः परिग्रहादपेतः ततस्ततोऽस्य खेदो व्यपगतो भवति। निरवद्ये मनःप्रणिधानं [3]पुण्यविधानम्। परिग्रहाशा बलवती सर्वदोषप्रसवयोनिः। न तस्या उपधिभिः तृप्तिरस्ति सलिलैरिव सलिलिनिधेरिह बडवायाः। अपि च, कः पूरयति दुःपूरमाशागर्तम्। दिने दिने यत्रास्तमस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते। शरीरादिषु निर्ममत्वः परमनिवृत्तिमवाप्नोति। शरीरादिषु कृताभिष्वङ्गस्य सर्वकालमभिष्वङ्ग एव संसारे।

ब्रह्मचर्यमनुपालयन्तं हिंसादयो दोषा न स्पृशन्ति। नित्याभिरतगुरुकुलावासमधिवसन्ति गुणसंपदः। वराङ्गनाविलासविभ्रमविधेयीकृतः पापैरपि विधेयीक्रियते। अजितेन्द्रियता हि लोके प्राणिनामवमानदात्रीति। एवमुत्तमक्षमादिषु तत्प्रतिपक्षेषु च गुणदोषविचारपूर्विकायां क्रोधादिनिवृत्तौ सत्यां तन्निबन्धनकर्मास्रवाभावात् महान् संवरो भवति।

व्यक्तिवचनभेदात् निर्देशवैलक्षण्यमिति चेत्; न; सर्वेषां धर्मभावाव्यतिरेकस्यैकत्वादाविष्टलिङ्गत्वा ।२८। स्यान्मतम्–यथा शुक्लः पटः शुक्ला शाटी शुक्लं वस्त्रं शुक्लौ कंबलौ शुक्लाः कंबला [4]इति सति सामानाधिकरण्ये व्यक्तिवचनयोरभेदो दृश्यते, न च तथेहाभेदः, ततो निर्देशो विलक्षण इति; तन्न; किं कारणम्? सर्वेषां धर्मभावाव्यतिरेकैकत्वात्। सर्वेषूत्तमक्षमादिषु संव-

---

१–तं दु–श्र०, मू०। २ अतः ता०, श्र०। ३ पुण्यनिदानं ता०, श्र०। ४ इति सा–मु०, द०, ब०।

रणलक्षणो धर्मभावः अस्ति, स च एकः, तस्य विवक्षितत्वात् एकवचननिर्देशः। आविष्टलिङ्गश्च धर्मशब्दः नान्यसम्बन्धे स्वलिङ्गं जहाति।

आह–क्रोधाद्यनुत्पत्तिः क्षमादिविशेषप्रत्यनीकालम्बनादित्युक्तम्, तत्र कस्मात् क्षमादीनयमवलम्बते नान्यथा वर्तते इति? उच्यते–यस्मात्तन्नायस्पिण्डवत् क्षमादिपरिणतेनात्महितैषिणा कर्तव्याः–

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा-लोकबोधि-दुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

उपात्तानुपात्तद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वभावोऽनित्यत्वम् ।१। आत्मना रागादिपरिणामात्मना कर्मनोकर्मभावेन गृहीतानि उपात्तानि पुद्गलद्रव्याणि, अनुपात्तानि परमाण्वादीनि, तेषां सर्वेषां द्रव्यात्मना नित्यत्वं पर्यायात्मना सततमनुपरतभेदसंसर्गवृत्तित्वादनित्यत्वम्। इमानि[1] हि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगपरिभोगद्रव्याणि[2] समुदयरूपाणि जलबुद्बुदनवस्थितस्वभावानि गर्भादिषु अवस्थाविशेषेषु सहोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि। मोहादज्ञो नित्यतां मन्यते। न किञ्चित्संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनित्यत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतस्तेषु अभिष्वङ्गाभावात् भुक्तोज्झितगन्धमाल्यादिषु इव वियोगकालेऽपि विनिपातो नोत्पद्यते।

क्षुधितव्याघ्राभिद्रुतमृगशाववज्जन्तोर्जरामृत्युरुजान्तरे[3] परित्राणाभावोऽशरणत्वम्[4] ।२। शरणं द्विविधम्–लौकिकं लोकोत्तरं चेति। तत्प्रत्येकं त्रिधा–जीवाजीवमिश्रकभेदात्। तत्र राजा देवता वा लौकिकं जीवशरणम्, [5]प्राकारादि अजीवशरणम्, ग्रामनगरादि मिश्रकम्। पञ्च गुरवो लोकोत्तरं जीवशरणम्, तत्प्रतिबिम्बाद्यजीवशरणम्, सधर्मोपकरणसाधुवर्गो मिश्रकशरणम्। तत्र यथा मृगशावस्य एकान्ते बलवता क्षुधितेन आमिषैषिणा व्याघ्रेणाभिद्रुतस्य न किञ्चित् शरणमस्ति तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रियविप्रयोगाप्रियसंयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यादिसमुत्थितेन दुःखेनाभिभूतस्य जन्तोः शरणं न विद्यते। परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायीभवति न व्यसनोपनिपाते। यत्नेन संचिता अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति। संविभक्तसुखदुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते। बन्धवः समुदिताश्च रुजा परीतं न परियान्ति। अस्ति चेत् सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तरणोपायो भवति। मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम्। तस्माद्भवव्यसनसंकटे धर्म[6] एव शरणम्। सुहृदर्थोऽपि[न]अनपायी, नान्यत्किञ्चिच्छरणमिति भावनमशरणानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतः नित्यमशरणोऽस्मीति भृशमुद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेषु ममत्वविगमो भवति। भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रतीते(प्रणीते)एव वचसि [7]प्रतियत्नो भवेत्।

द्रव्यादिनिमित्त आत्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः ।३। चतुर्विधा आत्मावस्थाः–संसारः असंसारः नोसंसारः तत्त्रितयव्यपायश्चेति। तत्र संसारश्चतसृषु गतिषु नानायोनिविकल्पासु परिभ्रमणम्। अनागतिरसंसारः शिवपदपरमामृतसुखप्रतिष्ठा। नोसंसारः सयोगकेवलिनः चतुर्गतिभ्रमणाभावात् [8]असंसारप्राप्त्यभावाच्च ईषत्संसारो नोसंसारः इति। अयोगकेवलिनः तत्त्रितयव्यपायः, भवभ्रमणाभावात् सयोगकेवलिवत् प्रदेशपरिस्पन्दविगमात् असंसारावाप्त्यभावाच्च। देहपरिस्पन्दाभावेऽपि देहिनः सततं प्रदेशचलनमस्ति ततः सदा संसार एव। सिद्धानामयोगकेवलिनां च नास्ति प्रदेशचलनम्, इतरेषां त्रिधाऽवसीयते। स पुनः संसारः क्वचिदनादिनिधनः अभव्यापेक्षया भव्यसामान्यार्पणया च, क्वचित् अनादिरुच्छेदवान् भव्यविशेषापेक्षया। सादिः सनिधनो नोसंसारः[1]। अनिधनः सादिरसंसारः[2]। [3]तत्त्रितयव्यपायोऽन्तर्मुहूर्तकालः।

तत्र द्रव्यमिमित्तः संसारश्चतुर्विधः कर्मनोकर्मवस्तुविषयाश्रयभेदात्। तत्र क्षेत्रहेतुको द्विविधः–स्वक्षेत्रपरक्षेत्रविकल्पात्। लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यात्मनः कर्मोदयवशात् संहरणविसर्पणधर्मणः हीनाधिकप्रदेशपरिणामावगाहित्वं स्वक्षेत्रसंसारः। सम्मूर्च्छनगर्भोपपादजन्मनवयोनिविकल्पाद्यालम्बनः परक्षेत्रसंसारः। कालो द्विविधः–परमार्थरूपो व्यवहाररूपश्चेति। तयोर्लक्षणं प्राग्व्याख्यातम्। तत्र परमार्थकालवर्तितपरिस्पन्देतरपरिणामविकल्पः [4]तत्पूर्वककालव्यपदेशौपचारिककालत्रयवृत्तिः कालसंसारः। भवनिमित्तः संसारः द्वात्रिंशद्विधः–पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकाः प्रत्येकं चतुर्विधाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदात्। वनस्पतिकायिकाः द्वेधा–प्रत्येकशरीराः साधारणशरीराश्चेति। प्रत्येकशरीरा द्वेधा–पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्। साधारणशरीराश्चतुर्धा–सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकविकल्पात्। विकलेन्द्रियाः प्रत्येकं द्विधा पर्याप्तकापर्याप्तकविकल्पात्। पञ्चेन्द्रियाश्चतुर्धा संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकापेक्षयेति। भावनिमित्तः संसारो द्वेधा स्वभावपरभावाश्रयात्। स्वभावो मिथ्यादर्शनादिः, परभावो ज्ञानावरणादिकर्मरसादिः। एवमेतस्मिन्ननेकयोनिकुलकोटिबहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्रप्रेरितः पिता[5] भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति, माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति, किं बहुना स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि संसारस्वभावचिन्तनं संसारानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः संसारदुःखभयादुद्विग्नस्य ततो निर्वेदो भवति, निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय[6] प्रतियतते।

जन्मजरामरणावृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रति सहायानपेक्षत्वमेकत्वम् ।४। एकत्वमनेकत्वमित्येतदुभयं द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पम्। तत्र द्रव्यैकत्वं जीवादिष्वन्यतमद्रव्यविषयत्वेनाऽभेदकल्पनम्। क्षेत्रैकत्वं परमाण्ववगाहप्रदेशः। कालैकत्वमभेदः समयः। भावैकत्वं मोक्षमार्गः[7]। तथा अनेकत्वमपि भेदविषयम्। नहि किञ्चिदेकमेव निश्चितमस्ति अनेकमेव वा। एकमपि सामान्यार्पणया विशेषार्पणया अनेकमपि। तत्र परिप्राप्तबाह्याभ्यन्तरोपधित्यागस्य सम्यग्ज्ञानादेकत्वनिश्चयमास्कन्दतः यथाख्यातचारित्रैकवृत्तिः मोक्षमार्गो भावैकत्वम्। तत्प्राप्तये एक एवाहम्, न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते, एक एव जाये एक एव म्रिये, न कश्चिन्मे स्वजनः परजनो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति[8]। बन्धुमित्राणि श्मशानं नातिवर्तन्ते। धर्म एव मे सहायः सदानपायीति चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति परजनेषु च द्वेषानुबन्धो [9]नोपजायते, ततो निस्सङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते।

शरीराद् व्यतिरेको लक्षणभेदादन्यत्वम् ।५। अन्यत्वं चतुर्धा व्यवतिष्ठते–नामस्थापनाद्रव्यभावालम्बनेन। आत्मा जीव इति नामभेदः, काष्ठप्रतिमेति स्थापनाभेदः, जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति द्रव्यभेदः, एकस्मिन्नपि द्रव्ये बालो युवा मनुष्यो देव इति भावभेदः। तत्र बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वम्। ततः कुशलपुरुषप्रयोगसन्निधौ शरीरादत्यन्तव्यतिरेकेण आत्मनो ज्ञानादिभिरनन्तैरहेयैरवस्थानं मुक्तिरन्यत्वं शिवपदमिति चोच्यते। तदवाप्तये च ऐन्द्रियिकं शरीरम् अतीन्द्रियोऽहम्, अङ्गं शरीरं ज्ञोऽहम्, अनित्यं शरीरं नित्योऽहम्, आद्यन्तवच्छरीरम्

१–निश–मु०, द०, ब०, ज०। २–गद्रव्या–मु०, द०, ब० ज०। ३–न्तके प–मु०, ब०, ज०, अ०। ४–शरणम् मु०, द०, ब०, ज०। ५ दुर्गादिकं लौकिकमजी–मु०। हर्म्यप्राकारपरिखादयः अ–मा० २। ६ पञ्चपरमेष्ठिरूपः–मू० टि०। ७ प्रतिपन्नो मु०, द०, ब०, ज०। ८ भावा–ता०, मू०। ९ मोक्ष–ता० टि०।

१ सयोगकेवलिनः–अ० टि०। २ मोक्ष–अ० टि०। ३ अयोगकेवलिनः–अ० टि०। ४ व्यवहार–अ० टि०। ५–नेकानेककुयो–मु०। –नेककुयो–ज०। ६ पिता पितामहोभू–मु०, द०, ब०। पितामहोभू–ज०। ७–प्रहरणाय मु०, द०, ब०, ज०। ८ निश्चयेन–मू०, टि०। ९–नि परिहरति मु०, द०, ब०, ज०। १० नैव जा–मु०, द०, ब०, ज०।

अनाद्यन्तोऽहम्, बहूनि मे शरीरशतसहस्राणि अतीतानि संसारे परिभ्रमतः, स एवाहम् अन्यस्तेभ्यः इत्येवं शरीरादन्यत्वं मे, किमङ्ग पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्य इति चिन्तनम् अन्यत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य मनस्समादधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोपपद्यते, ततश्च श्रेयसि वर्तते।

शरीरस्याद्युत्तराशुभकारणत्वादिभिरशुचित्वम् ।६। शुचित्वं द्विविधम्–लौकिकं लोकोत्तरं चेति। तत्रात्मनः प्रक्षालितकर्ममलकलङ्कस्य स्वात्मन्यवस्थानं लोकोत्तरं शुचित्वम्, तत्साधनं च सम्यग्दर्शनादि तद्वन्तश्च साधवः तदधिष्ठानानि च निर्वाणभूम्यादीनि तत्प्राप्त्युपायत्वाच्छुचिव्यपदेशमर्हन्ति। लौकिकं शुचित्वमष्टविधम्–कालाग्निभस्ममृत्तिकागोमयसलिलज्ञाननिर्विचिकित्सत्वभेदात्। तदिदं शरीरं शुचीकर्तुं नालम्। कुतः? अत्यन्ताशुचित्वात्। शरीरमिदमाद्युत्तराशुभकारणादिभिरशुचि लक्ष्यते। तद्यथा–आद्यं तावत्कारणं शरीरस्य शुक्रं शोणितं च, तदुभयमत्यन्ताशुचि। उत्तरकारणमाहारपरिणामादि, कवलाहारो हि ग्रस्तमात्रः श्लेष्माशयं प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतः अधिकमशुचि भवति, ततः पित्ताशयं प्राप्य पच्यमान आम्लीकृतः अशुचिरेव भवति, पक्वो वाताशयमवाप्य वायुना विभज्यमानः खलरसभावेन भिद्यते। खलभागो मूत्रपुरीषादिमलविकारेण विविच्यते। रसभागः शोणितमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रभावेन परिणमते। सर्वेषां चैषामशुचीनां भाजनं शरीरमवस्करवत्। अशक्यप्रतीकारं खल्विदं शरीरम्, स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्तुम्, अङ्गारवत्। आश्रितमपि द्रव्यमाश्वेवात्मभावमापादयतीति न जलादीनामपि शुचिहेतुत्वम्। सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतो भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य संस्मरतः शरीरनिर्वेदो भवति, निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्ते।

आस्रवसंवरनिर्जराग्रहणमनर्थकमुक्तत्वादिति चेत्; न; तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वात् ।७। स्यान्मतम्–आस्रवसंवरनिर्जरा वर्णिताः, अतस्तासामिह पुनर्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वात्। आस्रवदोषानुचिन्तनमुद्वेगार्थमास्रवोपक्षेपः। आस्रवा हि इहामुत्र चापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियादयः। तद्यथा–प्रभूतयवसोदकप्रमाथावगाहनादिगुणसंपन्नवनविचारिणः मदान्धाः बलवन्तोऽपि वारणाः हस्तिबन्धकीषु स्पर्शनेन्द्रिय[3]प्रसंसक्तचित्ताः मनुष्यविधेयतामुपगत्य वधबन्धनवाहनाङ्कुशताडनपार्ष्णिघातादिजनितं तीव्रदुःखमनुभवन्ति, नित्यमेव च स्वयूथस्य स्वच्छन्दप्रचारसुखस्य च वनवासस्यानुस्मरन्तो महान्तं खेदमवाप्नुवन्ति। तथैव च जिह्वेन्द्रियविषयलोलाः मृतहस्तिशरीरस्थस्रोतोवेगावगाहिवायसवत् व्यसनमुपनिपतन्ति। घ्राणेन्द्रियवशंगताश्च औषधगन्धलुब्धपन्नगवद्विनिपातमिच्छन्ति। चक्षुरिन्द्रियविधेयीकृताश्च दीपालोकनलोलपतङ्गवद् व्यसनप्रपातामिमुखा भवन्ति। श्रोत्रेन्द्रियविषयसङ्गाकृष्टमनसोऽपि गीतध्वनिविषङ्गविस्मृततृणग्रसनहरिणवत् अनर्थोन्मुखा भवन्ति। परत्र च नानाजातिषु बहुविधदुःखप्रज्वालितासु पर्यटन्ति इति। एवमाद्यास्रवदोषदर्शनमास्रवानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतः क्षमादिधर्मश्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते।

सर्व एते आस्रवदोषाः कूर्मवत् संवृतात्मनो न भवन्ति यथा महार्णवे नावौ विवरपिधानेऽसति क्रमाश्रितजलविप्लवे सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यंभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलषितदेशान्तरप्रापणं तथा कर्मागमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयःप्रतिबन्ध इति संवरणगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतः संवरे नित्योद्युक्तता भवति।

१–नामशु–मु०, ता०, मू०, द०, ब०, ज०। २ परस्पर–श्र० टि०। ३–प्रसक्तचि–मु०, मू०, ता०, द०, ब०, ज०। ४ तथा आस्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा, संवरणगुणा–भा० १।

निर्जरा वेदनाविपाक इत्युक्तम्। सा द्वेधा–अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा, सा अकुशलानुबन्धा। परीषहजये कृते कुशलमूला, सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति। एवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्यानुस्मरतः कर्मनिर्जरायै वृत्तिर्भवति।

लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः ।८। समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेशभाविनो लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यातः, तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतः तत्त्वज्ञानादिविशुद्धिर्भवति।

त्रसभावादिलाभस्य[1] कृच्छ्रप्रतिपत्तिः बोधिदुर्लभत्वम् ।९। उक्तं च—

"एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥"[2] [पंचसं० १।८४]

इत्यागमप्रामाण्यादेकस्मिन्निगोतशरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणाः। एवं सर्वलोको [3]निरन्तरनिचितः स्थावरैः, अतस्तत्र त्रसता बालुकाकण[4]समुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा। तत्र च विकलेन्द्रियाणां भूयिष्ठत्वात् पञ्चेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या। तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभावश्चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासदः। तत्प्रच्यवे पुनस्तदुपपत्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावापत्तिवत् दुर्लभा। तल्लाभे च कुदेशानां हिताहितविचारणाविरहितपशुसमानमानवाकीर्णानां बहुत्वात् सुदेशः पाषाणेषु मणिरिवासुलभः। लब्धेऽपि सुदेशे सुकुले[5] जन्म [6]कृच्छ्रलभ्यं पापकर्मजीवकुलाकुलत्वात् लोकस्य। कुले हि जातिः प्रायेण शीलविनयाचारसंपत्तिकरी भवति। सत्यामपि कुलसंपदि दीर्घायुरिन्द्रियबलरूपनीरोगत्वादीनि दुर्लभानि। सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलाभो यदि न स्यात् व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलम्। तमेवं कृच्छ्रलभ्यं धर्ममवाप्य विषयसुखे रञ्जनं भस्मार्थं चन्दनदहनमिव विफलम्। विरक्तविषयसुखस्य तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिर्दुरवापः। तस्मिन् सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः बोधिं प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति।

जीवस्थानगुणस्थानानां गत्यादिषु मार्गणालक्षणो धर्मः स्वाख्यातः ।१०। उक्तानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि च, तेषां गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारणालक्षणो धर्मः जिनशासने स्वाख्यातः। अत्राह–गत्यादय इत्युच्यन्ते, के पुनर्गत्यादय इति? अत्रोच्यते—

गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारकेषु मार्गणाः ।११। गम्यत इति गतिः। सा द्वेधा–कर्मोदयकृता क्षायिकी चेति। कर्मोदयकृता चतुर्विधा व्याख्याता–नरकगतिः तिर्यग्गतिः मनुष्यगतिः देवगतिश्चेति। क्षायिकी मोक्षगतिः। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम्। तद् द्रव्यभावभेदेन द्विविधं सत् पञ्चधा वर्णितम्–एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदेन, तत्कर्मकृतम्। अतीन्द्रियत्वमात्मनः क्षायिकम्। आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः। तत्संबन्धिजीवः षड्विधः–पृथिवीकायिकः अप्कायिकः तेजस्कायिकः वायुकायिकः वनस्पतिकायिकः त्रसकायिकश्चेति। त्रसस्थावरनामकर्मविशेषोदयापादिता एते भावाः। नामकर्मात्यन्तोच्छेदादकायाः सिद्धाः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमलब्धवृत्तिवीर्यलब्धियोगः। तद्वत आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बनः प्रदेशपरिस्पन्दः उपयोगो योगः। स पञ्चदशप्रकारः–चत्वारो मनोयोगाः चत्वारो वाग्योगाः सप्त काययोगाश्चेति। योगसम्बन्धाऽभावः आत्मनः

---

१ रत्नत्रयस्वभावादिलाभस्य कृच्छ्रा प्र–मु०, द०, ब०। २ गो० जी० गा० १९४। मूलाचार० गा० १२०४। ३ निरन्तरं नि–मु० द०, ब०। ४ बालिका–मू०, द०, ब०, ज०, श्र०। ५ कुले ता०, श्र०, मू०, द०, ब०, ज०। ६ कृच्छ्रालभ्यते मु०, द०, ब०, ज०। ७–न्द्रियत्वादात्म–मु०, द०, ब०। ८–वृत्युपचरितपु–मु०, द०, ब०, ज०। ९–कः वनस्पतिकायिकः वायुकायिकः त्र–ता०।

क्षायिकः। तत्र सत्यमनोयोगः मृषामनोयोगः सत्यमृषामनोयोगः असत्यमृषामनोयोगश्चेति चतुर्विधो मनोयोगः। सत्यवाग्योगः मृषावाग्योगः सत्यमृषावाग्योगः असत्यमृषावाग्योगश्चेति चतुर्विधो वाग्योगः। औदारिककाययोगः औदारिकमिश्रककाययोगः वैक्रियिककाययोगः वैक्रियिकमिश्रककाययोगः आहारककाययोगः आहारकमिश्रककाययोगः कार्मणकाययोगश्चेति सप्तविधः काययोगः। आत्मप्रवृत्तिसंमोहोत्पादो वेदः। स नोकषायविशेषोदयनिमित्तः त्रिविधः—स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेदश्चेति। आत्मनं[1] औपशमिकं क्षायिकं वा[2] अपगतवेदत्वम्। चारित्रपरिणामकषणात् कषायः। स चतुर्विधः क्रोधमानमायालोभलक्षणो व्याख्यातः। अकषायत्वमात्मन[3] औपशमिकं क्षायिकं वा। तत्त्वार्थावबोधो ज्ञानम्, तत्पञ्चविधमुद्दिष्टम्। मिथ्यादर्शनोदयापादितकालुष्यमज्ञानं त्रिविधम्। व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रिय-धारणानुवर्तननिग्रहत्यागजयलक्षणः संयमः पञ्चविधो वक्ष्यते। संयमः संयमासंयमश्चोक्तौ। स[4] सर्वश्चारित्रमोहस्योदयोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाच्च भवति। तत्परिणामत्रयविरहितं सिद्धत्वं क्षायिकम्। दर्शनावरणक्षयक्षयोपशमाविर्भूतवृत्तिरालोचनं दर्शनम्। तच्चतुर्विधमुद्दिष्टं[5] चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदात्। कषायश्लेषप्रकर्षाप्रकर्षयुक्ता योगवृत्तिर्लेश्या। सा षड्विधा कृष्णनीलकपोततेजःपद्मशुक्लविकल्पात्। शरीरनामोदयापादिता द्रव्यलेश्या। अलेश्यत्वं क्षायिकम्। निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः, तद्विपरीतोऽभव्यः, तदुभयं पारिणामिकम्। विरहितभव्यत्वाभव्यत्वविकल्पो मुक्तः। तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वमुक्तम्। तत् दर्शनमोहस्योपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाच्च भवति। सासादनसम्यक्त्वम्—अनन्तानुबन्धिकषायोदयाद्भवतीत्यौदयिकम्। सम्यङ्मिथ्यात्वं क्षायोपशमिकम्। मिथ्यात्वमौदयिकम्। शिक्षाक्रियालापग्राही संज्ञी, तद्विपरीतोऽसंज्ञी। तत्र संज्ञित्वं क्षायोपशमिकम्, असंज्ञित्वमौदयिकम्। [6]तदुभयाभावः क्षायिकः। उपभोगशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारः, तद्विपरीतोऽनाहारः। तत्राहारः शरीरनामोदयात् विग्रहगतिनामोदयाभावाच्च भवति। अनाहारः शरीरनामत्रयोदयाभावात् विग्रहगतिनामोदयाच्च भवति।

तान्येतानि चतुर्दशमार्गणास्थानानि। तेषु जीवस्थानानां सत्ता [7]चिन्त्यते—तिर्यग्गतौ चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। इतरासु तिसृषु द्वे द्वे पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्। एकेन्द्रियेषु चत्वारि जीवस्थानानि। विकलेन्द्रियेषु द्वे द्वे। पञ्चेन्द्रियेषु चत्वारि। पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकेषु प्रत्येकं चत्वारि। वनस्पतिकायिकेषु षट्। त्रसकायिकेषु दश। मनोयोगे एकं जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकः। वाग्योगे पञ्च जीवस्थानानि द्वित्रिचतुरिन्द्रियपर्याप्तकसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकनामानि। काययोगे चतुर्दश सन्ति। स्त्रीवेदपुंवेदयोः प्रत्येकं चत्वारि जीवस्थानानि संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकाख्यानि। नपुंसकवेदे चतुर्दशापि सन्ति। अवेदे एकं जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकसंज्ञम्। चतुर्ष्वपि कषायेषु चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। अकषाये एकमेव संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोश्चतुर्दशापि सन्ति। विभङ्गमनःपर्ययज्ञानयोरेकमेव जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। मतिश्रुतावधिज्ञानेषु द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकाख्ये। केवलज्ञाने एकमेव जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायययथाख्यातसंयमसंयमासंयमेषु एकमेव जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकनामकम्। असंयमे चतुर्दशापि सन्ति। अचक्षुर्दर्शने चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। चक्षुर्दर्शने त्रीणि जीवस्थानानि चतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकाख्यानि। [8]तेषामेवाऽपर्याप्तका [10]लब्धाः सन्ति न निर्वृत्ताः[11]। अवधिदर्शने द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्त-

१ आत्मनि मु०, द०, ब०, ज०। २ वापि गत-द०, ब०, ज०। चापिगत-मु०। ३-नश्चौप-मु०, द०, ब०, ज०। ४ स च सर्व-मु०, द०, ब०, ज०। ५-मुपदिष्टं मु०, द०, ब०, ज०। ६ तदुदया-ता० अ०। ७ विचिन्त्यते मु०, द०, ब०, ज०। ८-कायेषु ता०। ९ चतुरिन्द्रियादीनाम्-अ० टि०। १० लब्धौ-सन्ति न निर्वृत्तौ मू०, मु०, द०, ब०, ज०। लब्ध्यपर्याप्तक-अ० टि०। ११ निर्वृत्त्यपर्याप्तक-अ० टि०।

कसंज्ञे। केवलदर्शने संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। आद्यासु तिसृषु लेश्यासु चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। तेजःपद्मशुक्ललेश्यासु द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकनामनी। अलेश्यत्वे एकं जीवस्थानं संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। भव्येषु अभव्येषु च चतुर्दशापि जीवस्थानानि सन्ति। औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसम्यक्त्वसासादनसम्यक्त्वेषु द्वे जीवस्थाने संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकसंज्ञे। सम्यङ्मिथ्यात्वे एकमेव संज्ञिपर्याप्तकाख्यम्। मिथ्यात्वे चतुर्दशापि सन्ति। संज्ञिषु द्वे जीवस्थाने पर्याप्तकापर्याप्तकनामनी। असंज्ञिषु द्वादशावशिष्टानि। संज्ञ्यसंज्ञित्वाऽभावे एकं जीवस्थानं पर्याप्तकाख्यम्। कर्मोदयापेक्षया आहारे चतुर्दशापि सन्ति। अनाहारे सप्ताऽपर्याप्तकस्थानानि। पर्याप्तकं च केवलिसमुद्घाते अयोगकेवलिनि च कर्मोदयार्पणात्। सिद्धाः सर्वत्रातीतजीवस्थानाः।

गुणस्थानानामपि तेष्वेव सत्ता विचार्यते—नरकगतौ नारकेषु पर्याप्तकेषु चत्वारि गुणस्थानानि आद्यानि सप्तसु पृथिवीसु। प्रथमायां पृथिव्यामपर्याप्तकेषु द्वे गुणस्थाने मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टी। इतरासु पृथिवीषु अपर्याप्तके कमेव मिथ्यात्वम्। तिर्यग्गतौ तिर्यक्षु पर्याप्तकेषु पञ्च गुणस्थानान्याद्यानि। तेषामपर्याप्तकेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंज्ञानि। तिरश्चीषु पर्याप्तिकासु पञ्च गुणस्थानानि आद्यानि, अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, स्त्रीत्वेन प्रवेशाभावात् असंयतसम्यग्दृष्ट्यभावः। मनुष्यगतौ मनुष्येषु पर्याप्तकेषु चतुर्दशापि गुणस्थानानि भवन्ति। अपर्याप्तकेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्याख्यानि। मानुषीषु पर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिङ्गापेक्षया न द्रव्यलिङ्गापेक्षया, द्रव्यलिङ्गापेक्षया तु पञ्चाद्यानि। अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजननाभावात्। तिर्यङ्मानुष्येषु भवापर्याप्तकेषु एकमेव गुणस्थानमाद्यम्। देवगतौ भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कदेवेषु पर्याप्तकेषु चत्वारि गुणस्थानान्याद्यानि, अपर्याप्तकेषु द्वे आद्ये। तद्देवीषु सौधर्मैशानकल्पवासिदेवीषु च स एव क्रमः। सौधर्मैशानादिषु उपरिमग्रैवेयकान्तेषु चत्वारि गुणस्थानानि आद्यानि, अपर्याप्तकेषु त्रीणि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिनामानि। अनुदिशानुत्तरविमानवासिषु पर्याप्तापर्याप्तकेषु च एकमेव गुणस्थानम् असंयतसम्यग्दृष्टिसंज्ञम्।

एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु एकमेव गुणस्थानमाद्यम्। पञ्चेन्द्रियेषु संज्ञिषु चतुर्दशापि सन्ति।

पृथिवीकायादिषु वनस्पत्यन्तेषु एकमेव प्रथमम्। त्रसकायिकेषु चतुर्दशापि सन्ति।

सत्यमनोयोगेऽसत्यमृषामनोयोगे च संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतयः सयोगिकेवल्यन्ताः। मृषामनोयोगे सत्यमृषामनोयोगे च संज्ञिमिथ्यादृष्ट्यादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। असत्यमृषावाग्योगे द्वीन्द्रियादयः सयोगकेवल्यन्ताः ? सत्यवाग्योगे संज्ञिमिथ्यादृष्ट्यादयः सयोगिकेवल्यन्ताः। मृषावाग्योगे सत्यमृषावाग्योगे च संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः। औदारिककाययोगे त्रयोदश गुणस्थानानि सयोगिकेवल्यन्तानि। औदारिकमिश्रकाययोगे चत्वारि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसयोगिकेवलिसंज्ञानि। वैक्रियिककाययोगे चत्वारि गुणस्थानानि आद्यानि। वैक्रियिकमिश्रकाययोगे त्रीणि तान्येव सम्यङ्मिथ्यात्ववर्जितानि। आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगयोरेकमेव गुणस्थानं प्रमत्तसंयताख्यम्। कार्मणकाययोगे चत्वारि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसयोगिकेवल्याख्यानि। [1]अयोगे गुणस्थानमेकम्।

१ अयोगिगुण-ता०।

स्त्रीवेदपुंवेदयोरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः । नपुंसकवेदे एकेन्द्रियप्रभृतयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः । नारकाश्चतुर्षु स्थानेषु शुद्धे नपुंसकवेदे । तिर्यञ्च एकेन्द्रियादयः चतुरिन्द्रियान्ताः शुद्धे नपुंसकवेदे । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियादयः संयतासंयतान्ताः तिर्यञ्चस्त्रिषु वेदेषु । मनुष्याः त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्यादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकावसानाः । ततः परे मनुष्या अवेदाः । देवाश्चतुर्षु स्थानेषु स्त्रीपुंवेदयोः ज्ञेयाः ।

क्रोधमानमायासु एकेन्द्रियादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः । लोभकषाये त एव सूक्ष्मसाम्परायिकान्ताः । ततः परे अकषायाः ।

मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोरेकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्ट्यन्ताः, विभङ्गज्ञाने संज्ञिमिथ्यादृष्टयो वा सासादनसम्यग्दृष्टयो वा पर्याप्तका भवन्ति नाऽपर्याप्तकाः । सम्यङ्मिथ्यादृष्टयः त्रिषु ज्ञानेषु अज्ञानमिश्रेषु वर्तन्ते, कारणसदृशत्वात् कार्यस्य । मतिश्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्टिप्रभृतयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः । मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः । केवलज्ञाने द्वे गुणस्थाने सयोगायोगिसंज्ञे ।

सामायिकछेदोपस्थापनशुद्धिसंयमयोः प्रमत्तसंयतादयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकान्ताः ।

परिहार[1]शुद्धिसंयमे द्वे गुणस्थाने प्रमत्ताप्रमत्तलक्षणे । सूक्ष्मसाम्परायसंयमे एकमेव गुणस्थानं सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयमाख्यम् । यथाख्यातविहारशुद्धिसंयमे चत्वारि गुणस्थानानि उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोग्ययोगसंज्ञानि । संयमासंयमे एकमेव गुणस्थानं संयतासंयताख्यम् । असंयमे चत्वारि गुणस्थानान्याद्यानि ।

चक्षुर्दर्शने चतुरिन्द्रियादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः । अचक्षुर्दर्शने एकेन्द्रियादयः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थान्ताः । अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः क्षीणकषायान्ताः । केवलदर्शने द्वे गुणस्थाने अन्ते ।

आद्यासु तिसृषु लेश्यासु एकेन्द्रियादयः असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः । तेजःपद्मलेश्ययोः संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतयः अप्रमत्तावसानाः । शुक्ललेश्यायां संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृतयः सयोगिकेवल्यन्ताः । अलेश्या अयोगकेवलिनः ।

भव्यत्वे चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति । अभव्यत्वे प्रथममेव ।

क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः अयोगकेवल्यन्ताः । वेदकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः अप्रमत्तान्ताः । औपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः उपशान्तकषायान्ताः । सासादनसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वमिथ्यात्वेषु एकमेव प्रत्येकम् । नारकेषु प्रथमायां पृथिव्यां क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वा असंयतसम्यग्दृष्टयः । इतरासु भूमिषु वेदकौपशमिकसम्यक्त्वाः । तिर्यञ्चु असंयतसम्यग्दृष्टिस्थाने क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वानि सन्ति । संयतासंयतस्थाने क्षायिकसम्यक्त्वं नास्ति इतरद् द्वयमस्ति भोगभूमावेवोत्पादात् । तिरश्चीषु उभयोरपि स्थानयोः क्षायिकसम्यक्त्वं नास्ति, मनुष्यस्य क्षपणामारब्धवतः पुरुषलिङ्गेनैव वृत्तेः, इतरद् द्वितयमस्ति । मनुष्येषु असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतसंयतस्थानेषु क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वानि सन्ति । भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कदेवेषु तद्देवीषु सौधर्मैशानकल्पवासिदेवीषु चाऽसंयतसम्यग्दृष्टिस्थाने क्षायिकसम्यक्त्वं नास्ति इतरद् द्वितयमस्ति । सौधर्मादिषु उपरिमग्रैवेयकान्तेषु क्षायिकवेदकौपशमिकसम्यक्त्वानि सन्ति । अनुदिशानुत्तरविमानवासिदेवेषु क्षायिकवेदकसम्यक्त्वे स्तः, औपशमिकं चास्ति उपशमश्रेण्यां मृतानां तत्संभवात् ।

संज्ञित्वे संज्ञिमिथ्यादृष्ट्यादयः क्षीणकषायान्ताः । असंज्ञित्वे एकेन्द्रियादयः असंज्ञिपञ्चेन्द्रियान्ताः । तदुभयाभावे द्वे गुणस्थाने अन्त्ये ।

१–रविशु–मु०, द०, ब०, ज० ।

आहारे एकेन्द्रियादयः सयोगिकेवलिपर्यन्ताः । अनाहारे पञ्च गुणस्थानानि–विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टयः, प्रतरलोकपूरणयोः सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्च । सिद्धा व्यतीतगुणस्थाना इति । एवमादिलक्षणो धर्मो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरुहो भगवद्भिरर्हद्भिः स्वाख्यात इति चिन्तनं धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य चिन्तयतः धर्मानुरागात् सदा प्रतियत्नो भवति । एवमनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षासन्निधाने उत्तमक्षमादिधारणात् महान् संवरो भवति ।

स्वाख्यात इति युच्प्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रादिवृत्तेः ।१२। स्यान्मतम्–सुना योगे अकृच्छ्रार्थे युचा भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रादिवृत्तेः । शोभन आख्यातः स्वाख्यातः इति प्रादिलक्षणा वृत्तिर्भवति ।

अनुप्रेक्षा इति भावसाधनत्वे बहुवचनविरोधः ।१३। अयमनुप्रेक्षाशब्दो यदि भावसाधनः, बहुवचनं नोपपद्यते तस्यैकत्वात् ।

कर्मसाधनत्वे सामानाधिकरण्याभावः ।१४। स्यात् कर्मसाधनत्वमेवमपि युज्यते बहुवचनं सामानाधिकरण्यं तु नोपपद्यते; अन्या ह्यनुप्रेक्षा अन्यदनुचिन्तनमिति । अथानुचिन्तनमेवानुप्रेक्षा; एवमपि लिङ्गवचनभेदविरोधः ।

न वा; कृदभिहितस्य द्रव्यवद्भावात् ।१५। नैष दोषः । किं कारणम् ? कृदभिहितस्य द्रव्यवद्भावात् । कृदभिहितो भावो हि [1]द्रव्यवद्भवति यथा पाकः पाकौ पाका इति । तथाऽनुप्रेक्षितव्यार्थभेदात् भावस्य भेदे विवक्षिते बहुवचनं न्यायप्राप्तम् ।

सामानाधिकरण्यसिद्धि[2]श्चोभयोः कर्मसाधनत्वात् ।१६। सामानाधिकरण्यं च सिद्ध्यति । कुतः ? उभयोः कर्मसाधनत्वात् । अनुप्रेक्ष्यन्ते इत्यनुप्रेक्षाः, अनुचिन्त्यते इत्यनुचिन्तनम् । अनित्यादिस्वतत्त्वं ह्यनुचिन्त्यमानमनुप्रेक्षाव्यपदेशभाग् भवति । कथम् ? कर्मण्यनः "युड्व्या बहुलम्" [जैने० २।३।६४] इति, यथा निरदनमवसेचनमिति । एवमपि लिङ्गसंख्याभेदो नोपपद्यते, उपात्तलिङ्गसंख्यानां परस्पराभिसम्बन्धो युज्यते यथा गावो धनमिति । अथ धर्मोपदेशात् प्रागनुप्रेक्षाः किमर्थं नोक्ताः ?

मध्येऽनुप्रेक्षावचनम् उभयनिमित्तत्वात् ।१७। अनुप्रेक्षावचनं मध्ये क्रियते । कुतः ? उभयनिमित्तत्वात् । अनुप्रेक्षा हि भावयन् उत्तमक्षमादींश्च परिपालयति परीषहांश्च जेतुमुत्सहते ।

व्याख्याता अनुप्रेक्षाः । संवरहेतुः परीषहजय इत्युक्तम्, अतस्तान् व्याचक्ष्महे । आह–व्याख्यास्यति भवान्, इदमेव तावदुक्तव्यं किमर्थमेते सह्यन्ते ? [5]किञ्च, एषां पारिभाषिकी संज्ञा, उतान्वर्था इति ? अत्रोच्यते—

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

[6]**महत्त्वादन्वर्थसंज्ञा ।१।** संज्ञा च नाम यतो न लघीयसी[7] । कुत एतत् ? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणमिति, तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत्प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञाः परीषहा इति[8] यथा विज्ञायते तद्विभाव्यते[9] ।

१ यथा पच्यमानौदनादिवत् द्रव्यमेकवचनादिषु भवति तथा तदाश्रितभावमपि·····श्र० टि० । २ अशरणाद्यर्थादाहरति–यथा पाक इत्यादिना । अयमत्राशयः–तृजभिहितस्य भावस्य यथैकत्वं तेन भूयते ताभ्यां तैर्वेति तथा कृदभिहितस्य भावस्य नियमो न भवतीति धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते इति वचनात्–श्र० टि० । ३–द्धेश्चो–मु०, द०, ब०, ज० । ४ यथा निरदन्ति तदिति निरदनं कर्मसाधनः–श्र० टि० । ५ किमेषां मु०, द०, ब०, ज० । ६ परीषहाऽमहत्त्वाद्–मु०, द०, ब०, ज० । ७ तस्मात् महत्त्वादन्वर्थसंज्ञा । ८ इति यावत् यथा मु०, द०, ब०, ज० । इतीयं यथा ता० । ९ परीषहा इति–श्र० टि० ।

प्रकरणात् संवरमार्गसंप्रतिपत्तिः ।२। संवरो हि प्रकृतः, अतस्तदभिसम्बन्धात् मोक्षपदप्रापकसंवरमार्गसंप्रतिपत्तिरिह वेदितव्या ।

तदच्यवनार्थो निर्जरार्थश्च परीषहजयः ।३। कर्मागमद्वाराणि संवृण्वतो [1]जैनेन्द्रमार्गान्माच्योष्महीति पूर्वमेव परीषहान् विजयन्ते । जितपरीषहाः सन्तः तैरनभिभूयमानाः प्रधानसंवरमाश्रित्याऽप्रतिबन्धेन क्षपकश्रेण्यारोहणसामर्थ्यं प्रतिपद्याभिन्नोत्साहाः सकलसाम्परायि[2]कप्रंध्वसनशक्तयो ज्ञानध्यानपरशुभिः छिन्नमूलानि कर्माणि विधूय प्रस्फोटितपक्षरेणव इव पतत्त्रिणः ऊर्ध्वं व्रजन्ति इत्येवमर्थं परिसोढव्याः परीषहाः । "सोढः" [जैने०५।४।८१] इति षत्वप्रतिषेधः ।

यद्येवमुच्यतां के परीषहाः कियन्तो वेति ? अत इदमाह—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥९॥

क्षुधादयो द्वाविंशतिः परीषहाः ।१। त एते बाह्याभ्यन्तरद्रव्यपरिणामाः शारीरमानसप्रकृष्टपीडाहेतवः क्षुधादयो द्वाविंशतिः परीषहाः प्रत्येतव्याः । तद्विजये विदुषा संयतेन मोक्षार्थिना प्रतियत्नः कार्यः । तद्यथा—

प्रकृष्टक्षुदग्निप्रज्वलने धृत्यम्भसोपशमः क्षुज्जयः ।२। निवृत्तसर्वसंस्कारविशेषस्य शरीरमात्रोपकरणसन्तुष्टस्य तपःसंयमविलोपं परिहरतः कृतकारितानुमतसंकल्पितोद्दिष्टसंक्लिष्टक्रयागतप्रत्यात्तपूर्वकर्मपश्चात्कर्मदशविधदोषविप्रमुक्तैषणस्य देशकालजनपदव्यवस्थापेक्षस्य अनशनाध्वरोगतपःस्वाध्यायश्रमवेलातिक्रमावमोदर्यासद्वेद्योदयादिभ्यः नानाहारेन्धनोपरमे जठराग्निदाहिनी मारुतालोलिताग्निशिखेव समन्ताच्छरीरेन्द्रियहृदयसंक्षोभकरी क्षुदुत्पद्यते । तस्याः प्रतीकारं त्रिप्रकारम्-अकाले संयमविरोधिभिर्वा द्रव्यैः स्वयमकुर्वतोऽन्येन क्रियमाणमसेवमानस्य मनसा चाऽनभिसन्दधतः दुस्तरेयं वेदना महाँश्च कालो दीर्घाह इति दीर्घाह इति विषादमनापद्यमानस्य त्वगस्थिसिरावितानमात्रकलेवरस्यापि सतः आवश्यकक्रियादिषु नित्योद्यतस्य क्षुद्वशप्राप्तानर्थकारावन्धनस्थमनुष्यान् पञ्जरगततिर्यक्प्राणिनः क्षुदभ्यर्दितान् परतन्त्रानपेक्षमाणस्य ज्ञानिनो धृत्यम्भसा संयमकुम्भधारितेन क्षुदग्निं शमयतः तत्कृतपीडां प्रत्यवगणयन् क्षुज्जय इत्युच्यते ।

उदन्योदीरणहेतूपनिपाते तद्वशाप्राप्तिः पिपासासहनम् ।३। स्नानावगाहनपरिषेकत्यागिनः पतत्त्रिवदध्रुवासनावसथस्य अतिलवणस्निग्धरूक्षविरुद्धाहारग्रैष्मातपपित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णां शरीरेन्द्रियोन्माथिनीं पिपासां प्रत्यनादृियमाणप्रतीकारमनसः निदाघे पटुतपनकिरणसंतापिते अटव्यामासन्नेष्वपि ह्रदेषु अप्कायिकजीवपरिहारेच्छया जलमनाददानस्य सलिलसेकविवेकम्लानां[3] लतामिव ग्लानिमुपगतां गात्रयष्टिमवगणय्य तपःपरिपालनपरस्य भिक्षाकालेऽपि इङ्गिताकारादिभिः योग्यमपि पानमचोदयतो धैर्यकुम्भावधारित[4]शीलसुगन्धिप्रज्ञातोयेन विध्यापयतः तृष्णाग्निशिखां संयमपरत्वं पिपासासहनमित्यवसीयते ।

पृथगवचनमैकार्थ्यादिति चेत् ; न; सामर्थ्यभेदात् ।४। स्यादेतत्—क्षुत्पिपासयोः पृथग्वचनमनर्थकम् । कुतः ? ऐकार्थ्यादिति; तन्न; किं कारणम् ? सामर्थ्यभेदात् । अन्यद्धि क्षुधः सामर्थ्यमन्यत्पिपासायाः ।

१ जैनेन्द्रान्मा—मु०, द०, ब०, ज० । २ कषाय । ३—ना लतेव मु०, द०, ब०, ज० । ४—तशैल मु०, द०, ब०, ज० ।

अभ्यवहारसामान्यादिति चेत् ; न; अधिकरणभेदात् ।५। स्यान्मतम्—अभ्यवहारसामान्यात् एकार्थमिति; तदपि न युक्तम् ; कुतः ? अधिकरणभेदात् । अन्यद्धि क्षुधः प्रतीकाराधिकरणम्, अन्यत्पिपासायाः ।

शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषात् संयमपरिपालनं शीतक्षमा ।६। परित्यक्तवाससः पक्षिवदनवधारितालयस्य शरीरमात्राधिकरणस्य शिशिरवसन्तजलदागमादिवशात् वृक्षमूलपथिगुहादिषु पतितप्रालेयलेशतुषारलवव्यतिकरशिशिरपवनाभ्याहतमूर्तेः तत्प्रतिक्रियासमर्थद्रव्यान्तराग्न्याद्यनभिसन्धानात् नारकदुःसहशीतवेदनानुस्मरणात् तत्प्रतीकारचिकीर्षायां परमार्थविलोपभयात् विद्यामन्त्रौषधपर्णवल्कलत्वक्तृणाजिनादिसंबन्धाद् व्यावृत्तमनसः परकीयमिव देहं मन्यमानस्य धृतिविशेषप्रावरणस्य गर्भागारेषु धूपप्रवेकप्रकरप्ररूपितप्रदीपप्रभवेषु वराङ्गनानवयौवनोष्णघनस्तननितम्बभुजान्तरतर्जितशीतेषु निवासं सुरतसुखरसाकरमनुभूतमसारत्वावबोधादस्मरतः विषादविरहितस्य संयमपरिपालनं शीतक्षमेति भाष्यते ।

दाहप्रतीकारकाङ्क्षाभावाच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनम् ।७। ग्रैष्मेण पटीयसा भास्करकिरणसमूहेन संतापितशरीरस्य तृष्णानशनपित्तरोगघर्मश्रमप्रादुर्भूतोष्णस्य स्वेदशोषदाहाभ्यर्दितस्य जलभवनजलावगाहनानुलेपनपरिषेकार्द्रावनीतलनीलोत्पलकदलीपत्रोत्क्षेपमारुतजलतूलिकाचन्दनचन्द्रपादकमलकल्हारमुक्ताहारादिपूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रार्थनापेतचेतसः उष्णवेदना अतितीव्रा बहुकृत्वः परवशादवाप्ता, इदं पुनस्तपो मम कर्मक्षयकारणमिति तद्विरोधिनीं क्रियां प्रत्यनादराच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनमिति समाम्नायते ।

दंशमशकादिबाधासहनमप्रतीकारम् ।८। प्रत्याख्यातशरीराच्छादनस्य क्वचिदपि अप्रतिबद्धचेतसः परकृतायतनगुहागह्वरादिषु रात्रौ दिवा वा दंशमशकमक्षिकापिशुकपुत्तिकायूकमत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादिभिः तीक्ष्णपातैर्भक्ष्यमाणस्यातितीव्रवेदनोत्पादकैः अव्यथितमनसः स्वकर्मविपाकमनुचिन्तयतो विद्यामन्त्रौषधादिभिः तन्निवृत्तिं प्रति निरुत्सुकस्य आशरीरपतनादपि निश्चितात्मनः परबलप्रमर्दनं प्रति प्रवर्तमानस्य मदान्धगन्धसिन्धुरस्य रिपुजनप्रेरितविविधशस्त्रप्रतिघातादपराङ्मुखस्य निःप्रत्यूहविजयोपलम्भनमिव कर्मागतिधृतनापराभवं प्रति प्रयतनं दंशमशकादिबाधासहनमप्रतीकारमित्याख्यायते ।

दंशमशकमात्रप्रसङ्ग इति चेत् ; न; उपलक्षणार्थत्वात् ।९। स्यान्मतम्—दंशमशकस्यैव बाधाकारणस्य ग्रहणं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ; उपलक्षणार्थत्वात् । दशनपरितापकारणस्य सर्वस्यैवेदं उपलक्षणं यथा 'काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः' इत्युपघातकोपलक्षणम् । यद्येवमन्यतरग्रहणमेव कर्तव्यम् ; अन्यतरोपादाने स्वरूपग्रहणप्रसङ्गात् द्वितीयवचनमुपलक्षणं संपद्यते ।

जातरूपधारणं नाग्न्यम् ।१०। गुप्तिसमित्यविरोधिपरिग्रहनिवृत्तिपरिपूर्णब्रह्मचर्यमप्रार्थितकमोक्षसाधनचारित्रानुष्ठानं यथाजातरूपम् असंस्कृतमविकारं मिथ्यादर्शनाविष्टविद्विष्टं परमाङ्गल्यं नाग्न्यमभ्युपगतस्य स्त्रीरूपाणि नित्याशुचिबीभत्सकुणपभावेन पश्यतो वैराग्यभावनावरुद्धमनोविक्रियस्याऽसंभावितमनुष्यत्वस्य नाग्न्यदोषासंस्पर्शनात् परीषहजयसिद्धिरिति जातरूपधारणमुत्तमं श्रेयःप्राप्तिकारणमित्युच्यते । इतरे पुनर्मनोविक्रियां निरोद्धुमसमर्थास्तत्पूर्विकाङ्गविकृतिं निगूहितकामाः कौपीनफलकचीवराद्यावरणमातिष्ठन्ते [2]अङ्गसंवरणार्थमेव तन्न कर्मसंवरणकारणम् ।

संयमे रतिभावादरतिपरीषहंजयः ।११। संयतस्य क्षुधाद्याबाधासंयमपरिरक्षणेन्द्रियदुर्जयत्वव्रतपरिपालनभारगौरवसर्वदाप्रमत्तत्वदेशभाषान्तरानभिज्ञत्वविषमचपलसत्त्वप्रचुरभीमदुर्गनि-

१ यद्येवमन्यतरग्रहणं ॥१०॥ यद्येवं—मु०, द०, ब०, ज० । २ अन्ते अङ्ग—मु०, द०, ब०, ज० ।

यतैकविहारत्वादिभिररतिं प्रादुष्यतीं धृतिविशेषान्निवारयतः संयमरतिभावनात् विषयसुखरतिर्विषाहारसेवेव विपाककटुकेति चिन्तयतः रतिपरिबाधाभावादरतिपरीषहजय इति निश्चीयते ।

सर्वेषामरतिकारणत्वात् पृथगरतिग्रहणानर्थक्यमिति चेत्; न; क्षुधाद्यभावेऽपि मोहोदयात्तत्प्रवृत्तेः ।१२। स्यादेतत्–क्षुधादीनां सर्वेषामरतिहेतुत्वात् पृथगरतिग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्? क्षुधाद्यभावेऽपि मोहोदयात्तत्प्रवृत्तेः । मोहोदयाकुलितचेतसो हि क्षुधादिवेदनाऽभावेऽपि संयमेऽरतिरुपजायते ।

वराङ्गनारूपदर्शनस्पर्शनादिविनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजयः ।१३। एकान्ते आरामभवनादिप्रदेशे रागद्वेषयौवनदर्परूपमदविभ्रमोन्मादमद्यपानावेशादिभिः प्रमदासु बाधमानासु तदक्षिवक्त्रभ्रूविकारशृङ्गाराकारविहारहावविलासहासलीलाविजृम्भितकटाक्षविक्षेपसुकुमारस्निग्धमृदुपीनोन्नतस्तनकलशनितान्ततान्त्रोदरपृथुजघनरूपगुणाभरणगन्धवस्त्रमाल्यादिप्रतिनिगृहीतमनोविप्लुतेः दर्शनस्पर्शनाभिलाषनिरुत्सुकस्य स्निग्धमृदुविशदसुकुमाराभिधानतन्त्रीवंशमिश्रातिमधुरगीतश्रवणनिवृत्तादरश्रोत्रस्य संसारार्णवव्यसनपातालावगाढदुःखरौद्रावर्तकुटिलध्यायिनः स्त्रैणानर्थविनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजय इति कथ्यते । अन्यवादिपरिकल्पिता देवताविशेषाः ब्रह्मादयः तिलोत्तमादेवगणिकारूपसंदर्शनलोललोचनविकाराः स्त्रीपरीषहपङ्कान्नोद्धर्तुमात्मानं समर्थाः ।

व्रज्यादोषनिग्रहश्चर्याविजयः ।१४। दीर्घकालाभ्यस्तगुरुकुलब्रह्मचर्यस्य अधिगतबन्धमोक्षपदार्थतत्त्वस्य कषायनिग्रहपरस्य भावनार्पितमतेः संयमायतनभक्तिहेतोर्देशान्तरातिथेः गुरुणाभ्यनुज्ञातस्य नानाजनपदव्याहारव्यवहाराभिज्ञस्य ग्रामे एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं प्रकर्षेणावस्थातव्यमित्येवं संयतस्य वायोरिव निःसङ्गतामुपगतस्य देशकालप्रमाणोपेतमध्वगमनमनुभवतः क्लेशक्षमस्य भीमाटवीप्रदेशेषु निर्भयत्वात् सिंहस्येव सहायकृत्यमनपेक्षमाणस्य [1]परुषशर्कराकण्टकादिव्यधनजातपादखेदस्यापि सतः पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरतः सम्यग्व्रज्यादोषं परिहरतः चर्यापरीषहजयो वेदितव्यः ।

संकल्पितासनादविचलनं निषद्यातितिक्षा ।१५। श्मशानोद्यानशून्यायतनगिरिगुहागह्वरादिषु अनभ्यस्तपूर्वेषु विदितसंयमक्रियस्य धैर्यसहायस्योत्साहवतो निषद्यामधिरूढस्य प्रादुर्भूतोपसर्गरोगविकारस्यापि सतः तत्प्रदेशादविचलतः मन्त्रविद्यादिलक्षणप्रतीकाराननपेक्षमाणस्य क्षुद्रजन्तुप्रायविषमदेशाश्रयात् काष्ठोपलवन्निश्चलस्य अनुभूतमृदुकुथास्तरणादिस्पर्शसुखमविगणयतः प्राणिपीडापरिहारोद्यतस्य ज्ञानध्यानभावनाधीनधियः संकल्पितवीरासनोत्कुटिकासनादिरतेरासनदोषजयान्निषद्यातितिक्षेत्याख्यायते ।

आगमोदितशयनात् अप्रच्यवः शय्यासहनम् ।१६। स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य मौहूर्तिकीं खरविषमप्रचुरशर्कराकपालसङ्कटातिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतः यथाकृत्येकपार्श्वदण्डायतादिशायिनः सञ्जातबाधाविशेषस्य संयमार्थमस्पन्दमानस्यानुतिष्ठतः व्यन्तरादिभिर्वा वित्रास्यमानस्य पलायनं प्रति निरुत्सुकस्य भरणभयनिर्विशङ्कस्य निपतितदारुवत् व्यपगतासुवच्चाऽ[2]परिवर्तमानस्य द्वीपिशार्दूलमहोरगादिदुष्टसत्त्वप्रचरितोऽयं प्रदेशोऽचिरादतो निर्गमनं श्रेयः [3]कदा नु रात्रीर्विवसतीति विषादमनादधानस्य सुखप्राप्तावप्यपरितुष्यतः पूर्वानुभूतनवनीतमृदुशयनरतिमनुस्मरतः सम्यगागमोदितशयनादप्रच्यवः शय्यासहनमिति प्रत्येतव्यम् ।

अनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजयः ।१७। तीव्रमोहाविष्टमिथ्यादृष्ट्यार्यम्लेच्छखलपापाचारमत्तोद्यतशङ्कितप्रयुक्त-माशब्दधिक्कारपरुषावज्ञानाक्रोशादीन् कर्णविरेचनान् हृदयशूलोद्भावकान्

१ पुरुषकर्कशक–मु०, द०, ब०, ज० । स्पर्शशकराक–श्र० । २–वच्चपरि श्र०, ता०, ज० । ३ कदा तु ता०, श्र० ।

क्रोधज्वलनशिखाप्रवर्धनकरानप्रियान् शृण्वतोऽपि दृढमनसः भस्मसात्कर्तुमपि समर्थस्य परमार्थावगाहितचेतसः, शब्दमात्रश्राविणस्तदर्थान्वीक्षणविनिवृत्तव्यापारस्य स्वकृताशुभकर्मोदयो ममैष यतोऽमीषां मां प्रति द्वेष इत्येवमादिभिरुपायैरनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजय इति निर्णीयते ।

मारकेष्वमर्षापोहभावनं वधमर्षणम् ।१८। ग्रामोद्यानाटवीनगरेषु नक्तं दिवा चैकाकिनो निरावरणमूर्तेः समन्तात्पर्यटद्भिः [1]औरात्तिकम्लेच्छशवरपरुषवधिरपूर्वापकारिद्विषत्परलिङ्गिभिराहितक्रोधैः ताडनाकर्षणबन्धनशस्त्राभिघातादिभिर्मार्यमाणस्याप्यनुत्पन्नवैरस्य अवश्यप्रपातुकमेवेदं शरीरं कुशलद्वारेणानेनापनीयते न मम व्रतशीलभावनाभ्रंशनमिति भावशुद्धस्य दह्यमानस्यापि सुगन्धमुत्सृजतश्चन्दनस्येव शुभपरिणामस्य स्वकर्मनिर्जरामभिसन्दधानस्य दृढमतेः क्षमौषधिबलस्य मारकेषु सुहृत्स्ववामर्षापोहभावनं वधमर्षणमित्याम्नायते ।

प्राणात्ययेऽप्याहारादिषु दीनाभिधाननिवृत्तिर्याचनाविजयः ।१९। क्षुदध्वपरिश्रमतपोरोगादिभिः प्रच्यावितवीर्यस्य शुष्कपादपस्येव निरार्द्रमूर्त्तेरुन्नतास्थिस्नायुजालस्य निष्मांक्षिपुटपरिशुष्काधरौष्ठश्यामपाण्डुकपोलस्य चर्मवत्सङ्कुचिताङ्गोपाङ्गत्वचः शिथिलजानुगुल्फकटिबाहुयन्त्रस्य देशकालक्रमोपपन्नकल्पादायिनः वाचंयमस्य मौनिसमस्य वा शरीरसन्दर्शनमात्रव्यापारस्य [2]ऊर्जितसत्त्वस्य प्रज्ञाप्रायितमनसः प्राणात्ययेऽप्याहारवसतिभेषजानि दीनाभिधानमुखवैवर्ण्याङ्गसंज्ञादिभिरयाचमानस्य रत्नवणिजो मणिसंदर्शनमिव स्वशरीरप्रकाशनमकृपणं मन्यमानस्य वन्दमानं प्रति स्वकरविकसनमिव पाणिपुटधारणमदीनमिति गणयतः याचनासहनमवसीयते । अद्यत्वे पुनः कालदोषादीनानाथपाखण्डिबहुले जगत्यमार्गज्ञैरनात्मविद्भिर्याचनमनुष्ठीयते ।

अलाभेऽपि लाभवत् सन्तुष्टस्यालाभविजयः ।२०। वायुवदनेकदेशचारिणः अप्रकाशितवीर्यस्याभ्युपगतैककालभोजनस्य सकृन्मूर्तिसंदर्शनव्रतकालस्य देहीति असभ्यवाक्प्रयोगादुपरतस्यानुपात्तविग्रहप्रतिक्रियस्याद्येदं श्वश्चेदमिति व्यपेतसंकल्पस्य एकस्मिन् ग्रामे अलब्ध्वा ग्रामान्तरान्वेषणनिरुत्सुकस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्याप्यसंक्लिष्टचेतसः नायं दाता तत्रान्यो वदान्योऽस्तीति व्यपगतपरीक्षस्य लाभादप्यलाभो मे परमं तपः इति सन्तुष्टस्यालाभविजयोऽवसेयः ।

नानाव्याधिप्रतीकारानपेक्षत्वं रोगसहनम् ।२१। दुःखादिकरणमशुचिभाजनं जीर्णवस्त्रवत्परिहेयं पित्तमारुतकफसन्निपातनिमित्तानेकामयवेदनाभ्यर्दितमन्यदीयमिव विग्रहं मन्यमानस्य उपेक्षितृत्वाप्रच्युतेश्चिकित्साव्यावृत्तचेष्टस्य शरीरयात्राप्रसिद्धये व्रणालेपनवद्यथोक्तमाहारमाचरतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिःस्पृहत्वात् प्रतीकारानपेक्षिणः पूर्वकृतपापकर्मणः फलमिदमनेनोपायेनानृणीभवामीति चिन्तयतो रोगसहनं संपद्यते ।

तृणादिनिमित्तवेदनायां मनसोऽप्रणिधानं तृणस्पर्शजयः ।२२। यथाभिनिर्वृत्ताधिकरणशायिनः शुष्कतृणपत्रभूमिकण्टकफलकशिलातलादिषु प्रासुकेष्वसंस्कृतेषु व्याधिमार्गगमनशीतोष्णजनितश्रमविनोदार्थं शय्यां निषद्यां वा भजमानस्य तृणादिबाधितमूर्त्तेरुत्पन्नकण्डूविकारस्य दुःखमनभिचिन्तयतः तृणादिस्पर्शबाधाऽवशीकृतत्वात्तृणस्पर्शसहनमवगन्तव्यम् ।

स्वपरमलापचयोपचयसंकल्पाभावो मलधारणम् ।२३। जलजन्तुपीडापरिहारायाऽस्नानप्रतिज्ञस्य, स्वेदपङ्कदिग्धसर्वाङ्गस्य, सिध्मकच्छूदद्रूदीर्णकायस्य नखरोमश्मश्रुकेशविकृतसहजबाह्यमलसंपर्ककारणानेकत्वग्विकारस्य स्वगतमलापचये [3]परमलोपचये चाऽप्रणिहितमनसः कर्ममलपङ्कापनोदायैवोद्यतस्य पूर्वानुभूतस्नानानुपलेनादिस्मरणपराङ्मुखचित्तवृत्तेर्मलधारणमाख्यायते ।

१–औरात्तसम्ले–मु०, द०, ब० । २ उज्झितमदस्य मु०, द०, ब० । ३ परमलापचये चाप्र–मु०, द०, ब० ।

[1]केशलुञ्चनखेदसहनोपसंख्यानमिति चेत् ; न; मलपरीषहावरोधात् ।२४। स्यादेतत्–केशलुञ्चने तत्संस्काराकरणे वा महान् खेदः संजायते, तत्सहनमपरमुपसंख्यातव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? मलपरीषहावरोधात् । मलसामान्यसंग्रहे हि तदन्तर्भवति ।

मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कारपुरस्कारानभिलाषः ।२५। चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयनिश्चयज्ञस्य हितोपदेशपरस्य कथामार्गकुशलस्य बहुकृत्वः परवादिविजयिनः प्रणामभक्तिसंभ्रमासनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोतीत्येवमविचिन्तयतः मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कारपुरस्कारनिराकाङ्क्षस्य श्रेयोध्यायिनः सत्कारपुरस्कारपरीषहजयो वेदितव्यः । सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः । पुरस्कारो नाम क्रियारम्भादिष्वग्रतः करणमामन्त्रणं वा ।

प्रज्ञाप्रकर्षावलेपनिरासः प्रज्ञाविजयः ।२६। अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य कृत्स्नग्रन्थार्थावधारिणः अनुत्तरवादिनस्त्रिकालविषयार्थविदः शब्दन्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतखद्योतवत् नितरामवभासन्ते इति विज्ञानमदनिरासः प्रज्ञापरीषहजयः प्रत्येतव्यः ।

अज्ञानावमानज्ञानाभिलाषसहनमज्ञानपरीषहजयः ।२७। अज्ञोऽयं न किञ्चिदपि वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्यधिक्षेपवचनं सहमानस्याध्ययनार्थग्रहणपराभिभवादिष्वसक्तबुद्धेश्चिरप्रव्रजितस्य विविधतपोविशेषभाराक्रान्तमूर्त्तेः सकलसामर्थ्याप्रमत्तस्य विनिवृत्तानिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इत्यनभिसन्दधतः अज्ञानपरीषहजयोऽवगन्तव्यः ।

प्रव्रज्याद्यनर्थकत्वासमाधानमदर्शनसहनम् ।२८। संयमप्रधानस्य दुःखकरतपोऽनुष्ठायिनः परमवैराग्यभावनाशुद्धहृदयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्याऽर्हदायतनसाधुधर्मपूजकस्य चिरन्तनस्य अद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते, महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमिदम् , अनर्थिकेयं प्रव्रज्या विफलं व्रतपरिपालनमित्येवमसमादधानस्य, दर्शनशुद्धियोगाददर्शनपरीषहसहनमवसातव्यम् । एवं परीषहान् असंकल्पोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसः रागादिपरिणामास्रवाभावात् महान् संवरो भवति ।

श्रद्धानालोचनग्रहणमविशेषादिति चेत् ; न; अव्यभिचारदर्शनार्थत्वात् ।२९। स्यादेतत्–श्रद्धानमालोचनमिति द्विविधं दर्शनम् , तस्याविशेषेण ग्रहणमिह प्राप्नोति, कुतः ? अविशेषात् । न हि किञ्चिद्विशेषलिङ्गमिहाश्रितमस्तीति; तन्न; किं कारणम् ? अव्यभिचारदर्शनार्थत्वात् । मत्यादिज्ञानपञ्चकाव्यभिचारिश्रद्धानं[3] दर्शनम् । आलोचनं तु न, श्रुतमनःपर्ययोरप्रवृत्तेरतोऽस्याव्यभिचारिणः श्रद्धानस्य ग्रहणमिहोपपद्यते ।

मनोरथपरिकल्पनामात्रमिति चेत् ; न; वक्ष्यमाणकारणसामर्थ्यात् ।३०। स्यादेतत्–श्रद्धानदर्शनग्रहणमिदमिति स्वमनोरथपरिकल्पनामात्रमिति; तन्न; किं कारणम् ? वक्ष्यमाणकारणसामर्थ्यात् । वक्ष्यते हि कारणम्–"दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ" [त० सू० ९।१४] इति ।

अवध्यादिदर्शनपरीषहोपसंख्यानमिति चेत् ; न; अवधिज्ञानाद्यभावे सहचरितदर्शनाभावादज्ञानपरीषहावरोधात् ।३१। स्यान्मतम्–"अवध्यादिदर्शनोपेताः सुष्ठु पश्यन्ति नास्य किञ्चिदतिशयवदस्ति दर्शनम्, गुणप्रत्ययं च तत्" [ ] इत्युक्तम् आगमे, नूनमस्मिंस्तद्योग्या गुणा न सन्तीत्येवमादिवचनसहनमवध्यादिदर्शनपरीषहजयः, तस्योपसंख्यानं कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? अज्ञानपरीषहावरोधात् । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–अवध्यादिज्ञानाभावे तत्सह-

१ केशलुञ्चने तत्संस्काराकरणे वा महत्खेद–मु०, द०, ब०, ज० । २ तथामार्गकु–मु०, द०, ब०, ज० । ३ लक्षणम्–श्र० टि० । ४ विषयविषयिसम्बन्धे सति श्वेतत्वादिविशेषणरहितवस्तुसत्तावभासि ज्ञानम्–श्र० टि० ।

चरितदर्शनाभावः, आदित्यस्य प्रकाशाभावे प्रतापाभाववत् , तस्मादज्ञानपरीषहेऽवरोधः । यद्येवं श्रद्धानदर्शनमपि ज्ञानाविनाभावीति प्रज्ञापरीषहे तस्यान्तर्भावः प्राप्नोतीति; नैष दोषः; प्रज्ञायां सत्यामपि क्वचित्तत्त्वार्थश्रद्धानाभावाद् व्यभिचारोपलब्धेः ।

आह–उपपादितं परीषहजयात् संवरो भवतीति । इदमुच्यतां किमेते सर्वे संसारमहार्णवादुत्तितीर्षन्तमुं प्रवज्यामभ्युपगतमभिद्रवन्ति उत कश्चित्प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते–अमी व्याख्यातलक्षणाः क्षुधादयश्चारित्रान्तराणि प्रति भाज्याः, नियमेन पुनरनयोः प्रत्येतव्याः—

सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

चतुर्दशवचनादन्याभावः ।१। चतुर्दशेति वचनादन्येषां परीषहाणामभावो वेदितव्यः । कुतः ? संख्याविशेषपरिग्रहस्य नियमार्थत्वात्–चतुर्दशैव नान्ये इति ।

सूक्ष्मसाम्पराये[1] नियमानुपपत्तिर्मोहोदयादिति चेत् ; न; सन्मात्रत्वात् ।२। स्यान्मतम्–युज्यते वीतरागछद्मस्थे निरवशेषमोहनीयस्योपशमात् क्षयाच्च तत्कृतवक्ष्यमाणपरीषहाष्टकाभावाच्चतुर्दशसंख्यानियमः सूक्ष्मसाम्पराये तु मोहोदयसद्भावाच्चतुर्दशेति नियमो नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? सन्मात्रत्वात् । तत्र हि केवलो लोभसञ्ज्वलनकषायोदयः, स चात्यन्तसूक्ष्मस्ततो वीतरागछद्मस्थकल्पत्वाच्चतुर्दशेति नियमस्तत्रापि युज्यते ।

तत एव परीषहाभाव इति चेत् ; न; बाधाविशेषोपरमेऽपि [3]तद्भावस्याचिख्यासितत्वात् सर्वार्थसिद्धस्य सप्तमीगमनसामर्थ्यवत् ।३। अथ मतम्–तत एव तयोः परीषहाभावः । कुत एव ? मोहोदयाभावात् , मन्दोदयाच्च । यस्य हि क्षुधादिवेदनाप्रकर्षोदयस्तस्य तत्सहनात् परीषहजयो भवति । न च मोहोदयबलाधानाभावे वेदनाप्रभवोऽस्ति, तदभावात् सहनवचनं भक्तिमात्रकृतमिति; तन्न; किं कारणम् ? तद्भावस्याचिख्यासितत्वात् । यथा सर्वार्थसिद्धदेवस्यानुपरतसद्वेद्योदयप्रकर्षस्यापि सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्यं न हीयते तथा वीतरागच्छद्मस्थस्य कर्मोदयसद्भावकृतपरीषहव्यपदेशो युक्तिमवतरति ।

आह–यदि शरीरवत्यात्मनि परीषहसन्निधानं प्रतिज्ञायते, अथ भगवत्युत्पन्नकेवलज्ञाने कर्मचतुष्टयफलानुभवनवशवर्त्तिनि कियन्त उपनिपतन्तीति ? अत्रोच्यते– तस्मिन्पुनः—

एकादश जिने ॥ ११ ॥

'कैश्चित्कल्प्यन्ते' इति वाक्यशेषः ।

वेदनीयोदयभावात् क्षुधादिप्रसङ्ग इति चेत् ; न; घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् ।१। स्यान्मतम्–घातिकर्मप्रक्षयान्निमित्तोपरमे सति नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनालाभसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनानि मा भूवन् , अमी पुनर्वेदनीयाश्रयाः[5] खलु परीषहाः प्राप्नुवन्ति भगवति जिने इति; तन्न; किं कारणम् ? घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । यथा विषद्रव्यं मन्त्रौषधिबलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मरणाय कल्प्यते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थमिति क्षुधाद्यभावः, तत्सद्भावोपचाराद् ध्यानकल्पनवत् । अथवा, नायं वाक्यशेषः 'एका-

१–येति नि–मु०, द०, ब०, ज० । २ दर्शनमोहनीये अदर्शनं चारित्रमोहे सप्त–श्र० टि० । ३–स्याविरध्यासि–मु०, द०, ब० । –स्याविरन्यासि–ज० । ४ अघाति–श्र० टि० । ५ वेदनीये शेषा इत्यत्र वक्ष्यमाणाः क्षुदादयः–ता० टि० ।

दश जिने कैश्चित्कल्प्यन्ते[1] इति । किं तर्हि ? एकादश सन्तीति । कथम् ? उपचारात् । यथा निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचिन्तानिरोधाभावेऽपि कर्मरजोविधूननफलसंभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादिवेदनाभावपरीषहाभावेऽपि वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीषहसद्भावात् एकादश जिने सन्तीति उपचारो युक्तः[1] ।

आह–यदि सूक्ष्मसाम्परायादिषु व्यस्ताः परीषहा अथ समस्ताः क्वेति ?

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

बादरसाम्परायग्रहणात् प्रमत्तादिनिर्देशः ।१। बादरसाम्पराय इति नायं गुणस्थानविशेषपरिग्रहः । किं तर्हि ? [2]अर्थनिर्देशः, ततः प्रमत्तादीनां संयतानां सामान्यग्रहणम्–बादरः साम्परायो यस्य सोऽयं बादरसाम्पराय इति । तत्र हि–

निमित्तविशेषस्यानुपक्षीणत्वात् सर्वे ।२। ज्ञानावरणादिनिमित्तविशेषो वक्ष्यते । तस्यानुपक्षीणत्वात् सर्वे संभवन्ति । कस्मिन् पुनश्चारित्रे सर्वेषां संभवः ?

[3]**सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसंयमेषु सर्वसंभवः** ।३। एतेषां त्रयाणां चारित्राणामन्यतमे सर्वे क्षुत्परीषहादयो द्रष्टव्याः ।

आह–गृहीतमेतत् परीषहाणां स्थानविशेषावधारणम्, इदं तु न विद्मः–कस्याः प्रकृते कः कार्य इति ? अत्रोच्यते—

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥ १३ ॥

ज्ञानावरणे अज्ञानं न प्रज्ञेति चेत् ; न; अन्यज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात् ।१। स्यादेतत् ज्ञानावरणे सति अज्ञानमनवबोधो भवति न प्रज्ञा ज्ञानस्वभावत्वादात्मन इति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात् । प्रज्ञा हि क्षायोपशमिकी अन्यस्मिन् ज्ञानावरणे सति मदं जनयति न सकलावरणक्षय इति प्रज्ञाज्ञाने ज्ञानावरणे सति प्रादुःस्त इत्यभिसम्बध्यते ।

मोहादिति चेत् ; न; तद्भेदानां परिगणितत्वात् ।२। स्यान्मतम्–मोहोदयादहं महाप्राज्ञो नान्य इति मन्यते न ज्ञानावरणादिति; तन्न; किं कारणम् ? तद्भेदानां परिगणितत्वात् । मोहभेदा हि परिगणिता दर्शनचारित्रव्याघातहेतुभावेन, तत्र नायमन्तर्भवति, चारित्रवतोऽपि प्रज्ञापरीषहसद्भावात्, ततो ज्ञानावरण एवेति निश्चयः कर्तव्यः ।

आह–यद्यनयोरेककर्महेतुत्वमात्मलाभेऽवसीयते, अदर्शनाऽलाभयोः को हेतुरिति[4] ?

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

विशिष्टकारणनिर्देशादवध्यादिदर्शनसन्देहाभावः ।१। दर्शनमोह इति विशिष्टमिह कारणं निर्दिश्यते, ततोऽवध्यादिदर्शनविषयः सन्देहो न भवति[5] ।

अन्तराय इति सामान्यनिर्देशेऽपि सामर्थ्याद्विशेषसंप्रत्ययः ।२। यद्यप्ययमन्तराय इति सामान्यनिर्देशः तथापि [6]सामर्थ्याल्लाभान्तरायविशेषसंप्रत्ययो भवति ।

---

१ उपचारतोऽप्यस्य एकादश परीषहा न सम्भाव्यन्ते तत्र निःशेषपरत्वात् सूत्रस्य । एकेन अधिका न दश परीषहा जिने एकादश जिने इति व्युत्पत्तेः । प्रयोगश्च–भगवान् क्षुदादिपरीषहरहितः अनन्तसुखत्वात् सिद्धवत् इति मार्तण्डे प्रोक्तम्–श्र० टि० । २ उत्कृष्टलोभादिगुणस्य–श्र० टि० । ३ सूक्ष्मसाम्परायययथाख्यातचारित्रयोरुक्ताः परीषहाः सूत्रकृता, शेषेषु कति भवन्तीत्येतदाह–श्र० टि० । ४–ति चेद् द–मु०, द०, ब०, ज० । ५ अवध्यादिदर्शनं न भवतीत्यर्थः–श्र० टि० । ६ सूत्रे अलाभग्रहणादित्यर्थः–श्र० टि० ।

आह–यद्याद्ये मोहनीयभेदे सत्यदर्शनपरीषहो भवति, अथ द्वितीयस्मिन् केषां जन्मेति ? अत्रोच्यते—

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना-सत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

मोहोदयहेतुत्वं नाग्न्यादीनां प्रतिपद्यामहे पुंवेदोदयादि[1]निमित्तत्वात्, निषद्यापरीषहस्तु (स्य तु) कथमिति चेत् ? उच्यते–

निषद्यापरीषहस्य मोहोदयहेतुत्वं प्राणिपीडार्थत्वात् ।१। मोहोदये सति प्राणिपीडापरिणामः संजायते, तत्परिपालनार्थत्वात् निषद्यापरीषहोदयहेतुरित्यवसीयते ।[2]

आह–अभ्युपेमः कर्मप्रकृतिविशेषत्रय अमी परीषहा उक्ता इति । अथान्ये कस्मिन् सति निमित्ते भवन्तीति ? अत्राभिधीयते–

[3]वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

उक्तादन्यनिर्देशे शेषा इति ।१। उक्ताः प्रज्ञापरीषहादयः, तेभ्योऽन्ये शेषा इति निर्दिश्यन्ते । के पुनस्ते ? क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरीषहाः ।

निमित्तात् कर्मसंयोग इति चेत् ; न; तद्योगाभावात् ।२। स्यान्मतम्–यथा "चर्मणि द्वीपिनं हन्ति" [ ] निमित्तात्कर्मसंयोग इति विभक्तिविशेषविधानं तथा वेदनीये इत्येवमादिर्निर्देशो भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? तद्योगाभावात् । कर्मसंयोगे हि तद्विभक्तिविधानम् । न चात्र कर्मसंयोगोऽस्तीति तदभावः । कथं तर्हि निर्देशः ?

सन्निर्देशस्तदुपलक्षणत्वात् ।३। यथा "गोषु दुह्यमानासु गतः, दुग्धास्वागतः" [ ] इति सन्निर्देशः तथा वेदनीये सतीत्येवमादिः सन्निर्देशोऽवसेयः । कुतः ? तदुपलक्षणत्वात् ।

आह–व्याख्यातनिमित्तलक्षणविकल्पाः प्रत्यात्मं प्रादुर्भवन्तः कति युगपदवतिष्ठन्त इति ? अत्रोच्यते–

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

आङभिविध्यर्थः ।१। आङयमभिविध्यर्थो द्रष्टव्यः, तेन एकान्नविंशतिरपि क्वचिद्युगपद्भवन्तीत्यवगम्यते । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

शीतोष्णशय्यानिषद्याचर्याणामसहभावादेकान्नविंशतिसंभवः ।२। शीतोष्णपरीषहयोरेकः, शय्यानिषद्याचर्याणां चान्यतम एव भवति एकस्मिन्नात्मनि । कुतः ? सहानवस्थानात् । ततस्त्रयाणामपगमे युगपदेकात्मनीतरेषां संभवादेकान्नविंशतिविकल्पो बोद्धव्यः ।

प्रज्ञाऽज्ञानयोर्विरोधादन्यतराभावेऽष्टादशप्रसङ्ग इति चेत् ; न; अपेक्षातो विरोधाभावात् ।३। स्यान्मतम्–प्रज्ञाऽज्ञाने अपि विरुद्धे तयोरन्यतराभावेऽष्टादशसंख्याप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? अपेक्षातो विरोधाभावात् । श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञाप्रकर्षे सति अवध्याद्यभावापेक्षया अज्ञानोपपत्तेः ।

---

१ मानकषाये क्रोधे चाक्रोशः, लोभे याचना, माने सत्कारपुरस्काराभिनिवेश इति–श्र० टि० । २ प्रत्याख्यानकषाये निषद्यापरीषह इत्यर्थः–श्र० टि० । ३ वेदनीये इति निमित्तसप्तमी, तस्य द्वीपिनं हन्तीत्यादिवत् केनचित् कर्मणा–श्र० टि० ।

[1]दंशमशकस्य युगपत्प्रवृत्तेरेकान्नविंशतिविकल्प इति चेत् ; न; प्रकारार्थत्वान्मशकशब्दस्य ।४। स्यादेतत्–प्रज्ञाऽज्ञानयोर्विरोधाद्युगपदसंभवे दंशमशकस्य युगपत्प्रवृत्तेरेकान्नविंशतिविकल्प[2] इति; तन्न; किं कारणम् ? प्रकारार्थत्वान्मशकशब्दस्य, एक एव ह्ययं परीषहः ।

दंशग्रहणात्तुल्यजातीयसंप्रत्यय इति चेत् ; न; श्रुतिविरोधात् ।५। अथ मतमेतत्–दंशग्रहणात्तुल्यजातीयसंप्रत्ययस्ततो मशकशब्दस्य न प्रकारार्थत्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? [3]श्रुतिविरोधात् । यच्छब्द आह तन्नः[4] प्रमाणम् , न च दंशशब्दः प्रकारमभिधत्ते, ततोऽस्य विरोधः स्यात् ।

तत्तुल्यमिति चेत् ; न; अन्यतरेण परीषहस्य निरूपितत्वात् ।६। यदि श्रुतिविरोधादन्यार्थकल्पनमयुक्तमित्युच्यते; ननु मशकशब्देऽपि तत्तुल्यमिति प्रकारार्थत्वमस्य नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? अन्यतरेण परीषहस्य निरूपितत्वात् । दंशग्रहणेनैव परीषहे निरूपिते मशक हणसामर्थ्यात्प्रकारार्थो विज्ञायते[5] ।

चर्याद्यविशेषादेकान्नविंशतिवचनमिति चेत् ; न; अरतौ परीषहजयाभावात् ।७। स्यान्मतम्–चर्यादीनां त्रयाणां परीषहाणामविशेषादेकत्र नियमाभावादेकत्वमित्येकान्नविंशतिवचनं क्रियते इति; तन्न; किं कारणम् ? अरतौ परीषहजयाभावात् । यद्यत्र रतिर्नास्ति[6] परीषहजय एवास्य व्युच्छिद्यते[7] । तस्माद्यथोक्तप्रतिद्वन्द्विसान्निध्यात् परीषहस्वभावाश्रयपरिणामात्मलाभनिमित्तविचक्षणस्य तत्परित्यागाया[8]दरप्रवृत्त्यर्थमौपोद्घातिकं प्रकरणमुक्तम् ।

निर्दिष्टाः परीषहाः, यैरनाविष्टा विपश्चितोऽभिनवानि कर्माणि[9] नोपचिन्वन्ति पूर्वप्रचितानि च निर्जरयन्ति । तदनन्तरं खलु कर्मनिर्हरणार्थमाहितसामर्थ्यं पुरुषसाध्यं यदवोचाम चारित्रम् , तच्चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणात्मविशुद्धिलब्धिसामान्यापेक्षया एकम् । प्राणिपीडापरिहारेन्द्रियदर्पनिग्रहशक्तिभेदाद् द्विविधम् । उत्कृष्टमध्यमजघन्यविशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षयोगात्तृतीयमवस्थानमनुभवति । विकलज्ञानविषयसरागवीतराग-सकलावबोधगोचरसयोगायोगविकल्पाच्चातुर्विध्यमश्नुते । पञ्चतयीं च वृत्तिमास्कन्दति । तद्यथा—

सामायकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

सामायिकशब्दोऽतीतार्थः ।१। अयं सामायिकशब्दोऽतीतार्थो द्रष्टव्यः । क ? "दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक" [७।२१] इत्यत्र । सामायिकमिति वा समासविषयत्वात् । अथवा [10]आयन्तीत्याया: अनर्थाः सत्त्वव्यपरोपणहेतवः, संगताः आयाः समायाः, सम्यग्वा आयाः समायास्तेषु ते वा प्रयोजनमस्येति सामायिकमवस्थानम् ।

[11]सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानपरम् ।२। सर्वस्य सावद्ययोगस्याऽभेदेन प्रत्याख्यानमवलम्ब्य प्रवृत्तमवधृतकालं वा सामायिकमित्याख्यायते ।

---

१ शय्यानिषद्याचर्याणामविशेषादेकः परीषहः । यथा निषद्यायां परीषहे साधुः शय्यायां प्रवर्तते शय्यायां च परीषहे चर्यायामिति एकत्र नियमाभावात् एकत्वं दंशमशकौ द्वाविति कृत्वा एकान्नविंशतिवचनं क्रियते तदिति पुनरपि चोदयति–श्र० टि० । २ दंशमशकौ द्वौ परीषहौ एकस्मिन् काले युगपत्प्रवृत्तेः प्रज्ञाऽज्ञानयोरन्यतरः सहानवस्थानादिति कृत्वा एकान्नविंशतिविकल्पो भवत्विति आह–तटस्थः–श्र० टि० । ३ शब्दश्रवणविरोधः–श्र० टि० । ४ अस्माकम्–श्र० टि० । ५ अनर्थकानि वचनानि किञ्चिदिष्टं सूत्रयन्तीत्याचार्यस्येति न्यायात्–श्र० टि० । ६ परीषहजये–श्र० टि० । ७ परीषहानहं जयामीति–श्र० टि० । ८ अन्यत्रोपद्रवे अन्यत्रावस्थानात्–श्र० टि० । ९–यापरप्र–मु०, द०, ब०, ज० । १० आगच्छन्ति–श्र० टि० । ११ सामायिकस्य वाक्यार्थमाह–श्र० टि० ।

गुप्तिप्रसङ्ग इति चेत् ; न; इह मानसप्रवृत्तिभावात् ।३। स्यादेतत्–निवृत्तिपरत्वात् सामायिकस्य गुप्तिप्रसङ्ग इति ? तन्न; किं कारणम् ? मानसप्रवृत्तिभावात् । अत्र मानसी प्रवृत्तिरस्ति निवृत्तिलक्षणत्वाद् गुप्तेरित्यस्ति भेदः ।

समितिप्रसङ्ग इति चेत् ; न: तत्र यतस्य प्रवृत्त्युपदेशात् ।४। स्यान्मतम्–यदि प्रवृत्तिरूपं सामायिकं समितिलक्षणं प्राप्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? तत्र यतस्य प्रवृत्त्युपदेशात् । सामायिके हि चारित्रे यतस्य समितिषु प्रवृत्तिरुपदिश्यते । अतः कार्यकारणभेदादस्ति विशेषः ।

धर्मप्रसङ्ग इति चेत् ; न; अन्ते वचनस्य कृत्स्नकर्मक्षयहेतुत्वज्ञापनार्थत्वात् ।५। स्यादेतत्–दशविधो धर्मो व्याख्यातः, तत्र संयमेऽन्तर्भावोऽस्य प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? अन्ते वचनस्य कृत्स्नकर्मक्षयहेतुत्वज्ञापनार्थत्वात् । धर्मे अन्तर्भूतमपि चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनाय ।

प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना ।६। त्रसस्थावरजन्तुदेशकाल[1]प्रादुर्भावनिरोधाप्रत्यक्षत्वात् प्रमादवशाद्भ्युपगतनिरवद्यक्रियाप्रबन्धविलोपे सति तदुपात्तस्य कर्मणः सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विज्ञेया ।

विकल्पनिवृ(र्वृ)त्तिर्वा ।७। अथवा, सावद्यं कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिवृ[र्वृ]त्तिः छेदोपस्थापना ।

परिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् ।८। परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिस्तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रं प्रत्येतव्यम् । तत्पुनस्त्रिंशद्वर्षजातस्य संवत्सरपृथक्त्वं तीर्थकरपादमूलसेविनः प्रत्याख्याननामधेयपूर्वापर(पूर्वपार)ग[2]स्य जन्तुनिरोधप्रादुर्भावकालपरिमाणजन्मयोनिदेशद्रव्यस्वभावविधानज्ञस्य प्रमादरहितस्य महावीर्यस्य परमनिर्जरस्य अतिदुष्करचर्यानुष्ठायिनः, तिस्रः संध्या वर्जयित्वा द्विगव्यूतगामिनः संपद्यते, नान्यस्य ।

अतिसूक्ष्मकषायत्वात् सूक्ष्मसाम्परायम् ।९। सूक्ष्मस्थूलसत्त्ववधपरिहाराप्रमत्तत्वात् अनुपहतोत्साहस्य अखण्डितक्रियाविशेषस्य सम्यग्दर्शनज्ञानमहामारुतसन्धुक्षितप्रशस्ताध्यवसायाग्निशिखोपश्लुष्टकर्मेन्धनस्य ध्यानविशेषविशिखीकृतकषायविषाङ्कुरस्य अपचयाभिमुखालीनस्तोकमोहबीजस्य तत एव परिप्राप्तान्वर्थसूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतस्य सूक्ष्मसाम्परायचारित्रमाख्यायते ।

गुप्तिसमित्योरन्यतरत्रान्तर्भाव इति चेत्; न; तद्भावेऽपि गुणविशेषनिमित्ताश्रणात् ।१०। स्यान्मतम्–गुप्तिसमित्योरन्यतरत्रान्तर्भवतीदं चारित्रं प्रवृत्तिनिरोधात् [3]सम्यगयनाच्चेति; तन्न; किं कारणम् ? तद्भावेऽपि गुणविशेषनिमित्ताश्रयणात् । लोभसंज्वलनाख्यः साम्परायः सूक्ष्मो भवतीत्ययं विशेष आश्रितः ।

निरवशेषशान्तक्षीणमोहत्वादथाख्यातचारित्रम् ।११। चारित्रमोहस्य निरवशेषस्योपशमात् क्षयाच्चात्मस्वभावावस्थापेक्षलक्षणमथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते । पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तु [4]परिप्राप्तं प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम् । अथशब्दस्यानन्तर्यार्थवृत्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः ।

यथाख्यातमिति वा ।१२। अथवा, यथा आत्मस्वभावोऽवस्थितः तथैवाख्यातत्वात् यथाख्यातमित्याख्यायते ।

इतेरुपादानं ततः कर्मसमाप्तिज्ञापनार्थत्वात् ।१३। हेत्वेवंप्रकारव्यवस्थाविपर्यासादिष

---

१ उत्पत्तिविनाश–श्र० टि० । २ अन्य–श्र० टि० । ३ एकीभावात्–श्र० टि० । ४ धातूनामनेकार्थत्वात् गत्यर्थं ग्राह्यम्–श्र० टि० ।

दृष्टप्रयोग इतिरिह विवक्षातः समाप्तिद्योतनो द्रष्टव्यः। ततो यथाख्यातचारित्रात् सकलकर्मक्षय-समाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते।

उत्तरोत्तरगुणप्रकर्षख्यापनार्थमानुपूर्व्यवचनम् ।१४। सामायिकादीनामानुपूर्व्यवचनमुत्तरोत्तरगुणप्रकर्षख्यापनार्थं क्रियते। तद्यथा–सामायिकछेदोपस्थापनासंयमजघन्यविशुद्धिलब्धिरल्पा। ततः परिहारविशुद्धिचारित्रस्य जघन्या लब्धिरनन्तगुणा, तस्यैवोत्कृष्टा लब्धिरनन्तगुणा। ततः सामायिकछेदोपस्थापनासंयमोत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा। ततः सूक्ष्मसाम्परायचारित्रस्य जघन्यविशुद्धिरनन्तगुणा। तस्यैवोत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा। ततो यथाख्यातचारित्रस्य विशुद्धिः संपूर्णा प्रकर्षाप्रकर्षविरहिता अनन्तगुणा। एवमेते पञ्च चारित्रोपयोगाः शब्दविषयत्वेन संख्येयभेदाः, बुद्ध्यध्यवसानभेदादसंख्येयाः, अर्थतोऽनन्तभेदाश्च[2] भवन्ति। तदेतच्चारित्रं पूर्वास्रवनिरोधकारणत्वात्परमसंवरहेतुरवसेयः।

आह–उक्तं चारित्रम्, तदनन्तरमुद्दिष्टं यत् "तपसा निर्जरा च" [९।३] इति, तस्येदानीं तपसो विधानं कर्त्तव्यमिति; अत्रोच्यते–तद् द्विविधं बाह्यमभ्यन्तरं च, तत्प्रत्येकं षड्विधम्, तत्र बाह्यस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनवचनम् ।१। यत्किञ्चिद् दृष्टफलं मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते। तत्किमर्थम्? संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमवसेयम्।

तद् द्विविधम्–अवधृतानवधृतकालभेदात् ।२। तदनशनं द्वेधा व्यवतिष्ठते। कुतः? अवधृताऽनवधृतकालभेदात्। तत्रावधृतकालं सकृद्भोजनं चतुर्थभक्तादि, अनवधृतकालमादेहोपरमात्।

संयमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायसुखसिद्ध्याद्यर्थमवमोदर्यम् ।३। आशितंभवो य ओदनः तस्य चतुर्भागेनार्द्धग्रासेन वा अवममूनं उदरमस्यासाववमोदरः, अवमोदरस्य भावः कर्म वा अवमोदर्यम्। तत्किमर्थम्? संयमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायसुखसिद्ध्यर्थम्।

एकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम् ।४। भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः संकल्पश्चिन्तावरोधः वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्।

दान्तेन्द्रियत्वतेजोऽहानिसंयमोपरोधव्यावृत्त्याद्यर्थं घृतादिरसत्यजनं रसपरित्यागः ।५। दान्तेन्द्रियत्वं तेजोऽहानिः संयमोपरोधनिवृत्तिरित्येवमाद्यर्थं घृतदधिगुडतैलादिरसत्यजनं रसपरित्याग इत्युच्यते।

रसवत्परित्याग इति चेत्; न; मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात् ।६। स्यान्मतम्–रसशब्दोऽयं गुणवाची, तद्वतश्चात्र परित्याग इष्ट इति तस्माद्रसवत्परित्याग इति निर्देशः कर्त्तव्य इति; तन्न; किं कारणम्? मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात्। लुप्तनिर्दिष्टोऽत्र मतुः यथा शुक्लः पट इति।

अव्यतिरेकाद्वा तद्वत्संप्रत्ययः ।७। अथवा, न गुणं व्यतिरिच्य गुणी वर्तते, ततः सामर्थ्यात्तद्वन्निर्देशः प्रतिपत्तव्यः। द्रव्यत्यागमुखेन रसपरित्यागो नान्यथेति।

सर्वत्यागप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रकर्षगतेः ।८। स्यादेतत्–सर्वमुपभोगार्हं पुद्गलद्रव्यं रसवत्, अतः सर्वत्यागः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? प्रकर्षगतेः। यथा अभिरूपाय कन्या देयेति

१ कोऽर्थः–श्र० टि०। २ द्रव्याश्रयादतीतानागतनानाजीवापेक्षयेत्यर्थः–श्र० टि०। ३ चतुर्थषष्ठवेलाभक्तादि–श्र० टि०। ४ तृप्तिनिमित्तः–श्र० टि०।

अभिरूपतमे संप्रत्ययो भवति तथा सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य रसवत्त्वात् प्रकृष्टरसत्यागसंप्रत्ययो भवति। कश्चिदाह—

अनशनावमोदर्यरसपरित्यागानां वृत्तिपरिसंख्यानावरोधात् पृथग्निर्देशः ।९। वृत्तिपरिसंख्यानमिदं सामान्यभिक्षाचरणे नियमकारित्वात्। अतः अनशनावमोदर्यरसपरित्यागानां तेनैवावरुद्धत्वात् पृथङ् निर्देशोऽनर्थकः।

तद्विकल्पनिर्देश इति चेत्; न; अनवस्थानात् ।१०। अथ मतम्–तस्य वृत्तिपरिसंख्यानस्य विकल्पा निर्देष्टव्या इति पृथगुपदेशः कर्तव्य इति; तन्न; किं कारणम्? अनवस्थानात्[1]।

न वा, कायचेष्टाविषयगणनार्थत्वाद् वृत्तिपरिसंख्यानस्य ।११। न वा एष दोषः; किं कारणम्? भिक्षाचरणे प्रवर्तमानः साधुः एतावत्क्षेत्रविषयां कायचेष्टां कुर्वीत कदाचिद्यथाशक्तीति विषयगणनार्थं वृत्तिपरिसंख्यानं क्रियते, अनशनमभ्यवहर्त्तव्यनिवृत्तिः, एवम् अवमोदर्यरसपरित्यागौ अभ्यवहर्तव्यैकदेशनिवृत्तिपराविति महान् भेदः।

आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानाद्यप्रसिद्ध्यर्थं विविक्तशय्यासनम् ।१२। शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनं वेदितव्यम्। तत्किमर्थम्? [3]आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानाद्यप्रसिद्ध्यर्थम्।

कायपरिक्लेशः स्थानमौनातपनादिरनेकधा ।१३। नानाविधप्रतिमास्थानं वाचंयमत्वम् आतापनम् वृक्षमूल [वासः] इत्येवमादिना शरीरपरिखेदः कायक्लेश इत्युच्यते। स किमर्थः?

देहदुःखतितिक्षासुखानभिष्वङ्गप्रवचनप्रभावनार्थम् ।१४। दुःखोपनिपाते सति तितिक्षार्थं विषयसुखे चानभिष्वङ्गार्थं प्रवचनप्रभावनाद्यर्थं च कायक्लेशानुष्ठानं क्रियते। इतरथा हि ध्यानप्रवेशकाले सुखोचितस्य द्वन्द्वोपनिपाते सति समाधानं न स्यात्।

परीषहजातीयत्वात् पौनरुक्त्यमिति चेत्; न; स्वकृतक्लेशापेक्षत्वात् ।१५। स्यान्मतम्–अयं कायक्लेशः स्थानमौनादिः परीषहजातीयस्ततः पुनरुपदेशः पौनरुक्त्यं जनयतीति; तन्न; किं कारणम्? स्वकृतकायक्लेशापेक्षत्वात्। बुद्धिपूर्वो हि कायक्लेश इत्युच्यते, यदृच्छयोपनिपाते परीषहः। दृष्टफलानपेक्षमित्येतत् सर्वत्रानुवर्त्तते। तर्त्तार्हि कर्तव्यम्—

सम्यगित्यनुवृत्तेर्दृष्टफलनिवृत्तिः ।१६। "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः" [९।३] इत्यतः सम्यग्ग्रहणमनुवर्त्तते, तेन दृष्टफलनिवृत्तिः कृता भवति सर्वत्र। बाह्यत्वमस्य कुतः?

बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद् बाह्यत्वम् ।१७। बाह्यमशनादिद्रव्यमपेक्ष्य क्रियत इति बाह्यत्वमस्य ग्राह्यम्।

परप्रत्यक्षत्वात् ।१८। परेषां खल्वप्यनशनादि प्रत्यक्षं भवति, ततश्चास्य बाह्यत्वम्।

तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च ।१९। अनशनादि हि तीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्। कथं तर्ह्येतदनशनादि तप इत्युच्यते?

कर्मनिर्दहनात्तपः ।२०। यथाऽग्निः सञ्चितं तृणादि दहति तथा कर्म मिथ्यादर्शनाद्यर्जितं निर्दहतीति तप इति निरुच्यते।

देहेन्द्रियतापाद्वा ।२१। अथवा देहस्येन्द्रियाणां च तापं करोतीत्यनशनादि [अतः] तप इत्युच्यते। तत्तापादिन्द्रियनिग्रहः सुकरो भवति।

उक्तं बाह्यं तपः, अथाभ्यन्तरस्य के भेदा इति? अत्रोच्यते–

१ अनशनादीनीयन्त्येवेति नियमाभावादनवस्था–श्र० टि०। २ अनशनादीनां परस्परतः को भेद इत्यत आह–श्र० टि०। ३ जन्तुबाधा–श्र० टि०। ४ इति व्यपदिश्यते ता०।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

कुतः पुनरुत्तरत्वम्[1] ?

अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम् ।१। यतोऽन्यैस्तीर्थ्यैरनभ्यस्तमनालीढं ततोऽस्योत्तरत्वम्, अभ्यन्तरमिति यावत् ।

अन्तःकरणव्यापारात् ।२। प्रायश्चित्तादितपः अन्तःकरणव्यापारालम्बनं ततोऽस्याभ्यन्तरत्वम् ।

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च ।३। न हि बाह्यद्रव्यमपेक्ष्य वर्तते प्रायश्चित्तादि, ततश्चास्याभ्यन्तरत्वमवसेयम् ।

तद्भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

नवादीनां भेदशब्दोपसंहितानामन्यपदार्थे वृत्तिः ।१। नवादीनां संख्यापदानां भेदशब्दोपसंहितानामन्यपदार्थे वृत्तिर्भवति—नव च चत्वारश्च दश च पञ्च च द्वौ च भेदा अस्य नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदमिति ।

द्विशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसङ्ग इति चेत्; न; पूर्वसूत्रापेक्षत्वात् ।२। स्यादेतत्—द्विशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्नोति[2], "द्वन्द्वे सुः" [१।३।१८], "अल्पाच्तरम् ।" [१।३।१००] इति सूत्रप्रामाण्यात् "संख्यायाः अल्पीयस्याः" [१।३।१०० वा०] इत्युपसंख्यानाच्चेति[3]; तन्न; किं कारणम् ? पूर्वसूत्रापेक्षत्वात् । पूर्वसूत्रे विहितानां नवादिभिर्यथाक्रममभिसंबन्धः कथं स्यादिति ? नैतद्युक्तम्, न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यमिति[4] । न च प्रयोजनेन लक्षणमुल्लङ्घनीयम्; नैष दोषः; राजदन्तादिषु पाठः करिष्यते, लक्ष्यानुविधानाल्लक्षणस्य ।

प्राग्ध्यानादिति वचनं यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थम् ।३। प्राग्ध्यानादित्युच्यते यथासंख्यप्रतिपत्तिः कथं स्यादिति, इतरथा हि वैषम्याद्यथासंख्यं न स्यात् ।

तत्राभ्यन्तरतपोभेदस्याद्यस्य निर्दिष्टविकल्पसंख्यस्य भेदाख्यविशेषप्रक्लृप्त्यर्थमिदमुच्यते—

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

किमर्थमिदमुच्यते ?

प्रमाददोषव्युदासभावप्रसादनैःशल्यानवस्थाव्यावृत्तिमर्यादात्यागसंयमदार्ढ्याराधनादिसिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तम् ।१। प्रमाददोषव्युदासः भावप्रसादो नैःशल्यम् अनवस्थावृत्तिः मर्यादात्यागः संयमादार्ढ्यमाराधनमित्येवमादीनां सिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं नवविधं विधीयते । प्रायः साधुलोकः, प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम् । "प्रायाच्चित्तिचित्तयोः" [४।३।११७] इति सुट् । अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम्, अपराधविशुद्धिरित्यर्थः ।

तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषवर्जितमालोचनम् ।२। तेषु नवसु प्रायश्चित्तविकल्पेषु गुरवे एकान्ते निषण्णाय प्रसन्नमनसे विदितदेशकालस्य शिष्यस्य सविनयेनात्मप्रमादनिवेदनं दशभिर्दोषैर्विवर्जितमालोचनमित्याख्यायते । के पुनस्ते दश दोषा इति चेत् ? उच्यते—

१ अधिकत्वमिति ध्वनिः-श्र० टि० । २-ति शाब्दान्न्यासात् द्वन्द्वे सुरल्पा-मु० शुद्धिपत्रे । ३ कारणाश्रयात्-श्र० टि० । ४-वर्त्यं न च मु०, द०, ब०, ज०, श्र० । ५-दमूलपरि-ता०, श्र०, ज० । ६-दविनि-मु०, द०, ब०, ज० ।

उपकरणेषु दत्तेषु प्रायश्चित्तं मे लघु कुर्वन्तीति विचिन्त्य दानं प्रथममालोचनदोषः ।१। प्रकृत्या दुर्बलो ग्लानोऽहं उपवासादि न कर्तुमलं यदि लघु दीयेत ततो दोषनिवेदनं करिष्ये इति वचनं द्वितीयो दोषः ।२। अन्यादृष्टदोषगूहनं कृत्वा प्रकाशदोषनिवेदनं मायाचारस्तृतीयो दोषः ।३। आलस्यात् प्रमादाद्वा अल्पापराधावबोधनिरुत्सुकस्य स्थूलदोषप्रतिपादनं चतुर्थः ।४। महादुश्चरप्रायश्चित्तभयान्महादोषसंवरणं कृत्वा तनुप्रमादाचारनिबोधनं पञ्चमः ।५। ईदृशे व्रतातिचारे सति किन्नः स्यात्प्रायश्चित्तमित्युपायेन गुरूपासना षष्ठः ।६। पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकेषु कर्मसु महति यतिसमवाये आलोचनशब्दाकुले पूर्वदोषकथनं सप्तमः ।७। गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं किमिदं युक्तम् आगमे स्यान्नवेति शङ्कमानस्यान्यसाधुपरिप्रश्नोऽष्टमः ।८। यत्किञ्चित्प्रयोजनमुद्दिश्यात्मना समानायैव प्रमादाचरितमावेद्य महदपि गृहीतं प्रायश्चित्तं न फलकरमिति नवमः ।९। अस्यापराधेन ममातिचारः समानः तमयमेव वेत्ति अस्मै यद्दत्तं तदेव मे युक्तं लघूकर्त्तव्यमिति स्वदुश्चरितसंवरणं दशमो दोषः ।१०।

आत्मन्यपराधं चिरमनवस्थाप्य निकृतिभावमन्तरेण बालवदृजुबुद्धया दोषं निवेदयतः न ते दोषा भवन्त्यन्ये च । संयतालोचनं द्विविषयमिष्टमेकान्ते, संयतिकालोचनं त्र्याश्रयं प्रकाशे । लज्जापरपरिभवादिगणनया निवेद्यातिचारं यदि न शोधयेद् अपरीक्षितायव्ययायधमर्णवदवसीदति । महदपि तपस्कर्म अनालोचनपूर्वकम् नाभिप्रेतफलप्रदम् औषधिरिक्तकायगतौषधवत् कृतालोचनस्यापि [3]गुरुमतप्रायश्चित्तमकुर्वतोऽपरिकर्मसंस्कारवत् महाफलं न स्यात् । कृतालोचनचित्तगतं प्रायश्चित्तं परिमृष्टदर्पणतलरूपवत् परिभ्राजते ।

मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्तप्रतिक्रिया प्रतिक्रमणम् ।३। कर्मवशप्रमादोदयजनितं मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमाद्यभिव्यक्तः प्रतीकारः प्रतिक्रमणमित्युच्यते ।

तदुभयसंसर्गे सति शोधनात्तदुभयम् ।४। किञ्चित्कर्म आलोचनमात्रादेव शुद्ध्यति, अपरं प्रतिक्रमणेन, इतरत्पुनस्तदुभयसंसर्गे सति शुद्धिमुपयातीति तदुभयमित्युपदिश्यते ।

इदमयुक्तं वर्तते । किमत्रायुक्तम् ? 'अनालोचयतः न किञ्चिदपि प्रायश्चित्तम्' इत्युक्तम्, पुनरुपदिष्टम्-'प्रतिक्रमणमात्रमेव शुद्धिकरम्' इति, एतदयुक्तम् । अथ तत्राप्यालोचनपूर्वकत्वमभ्युपगम्यते, तदुभयोपदेशो व्यर्थः; नैष दोषः; सर्वं प्रतिक्रमणमालोचनपूर्वकमेव, किन्तु पूर्वं गुरुणाभ्यनुज्ञातं शिष्येणैव कर्त्तव्यम्, इदं पुनर्गुरुणैवानुष्ठेयम् ।

संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः ।५। संसक्तानामन्नपानोपकरणादीनां विभजनं विवेक इत्युच्यते ।

व्युत्सर्गः कायोत्सर्गादिकरणम् ।६। कालनियमेन कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्ग इत्युच्यते ।

तपोऽनशनादि ।७। अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानादि तपोऽवगन्तव्यम् ।

दिवसपक्षमासादिना प्रव्रज्याहापनं छेदः ।८। चिरप्रव्रजितस्य दिवसमासादिविभागेन प्रव्रज्याहापनं छेद इति प्रत्येतव्यम् ।

पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः ।९। पक्षमासादिकालविभागेन संसर्गमन्तरेण दूरतः परिवर्जनं परिहार इत्यवधार्यते ।

पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना ।१०। महाव्रतानां मूलच्छेदं कृत्वा पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापनेत्याख्यायते ।

विद्यायोगोपकरणग्रहणादिषु प्रश्नविनयमन्तरेण प्रवृत्तिरेव दोष इति तस्य प्रायश्चित्तमालोचनमात्रम् । देशकालनियमेनावश्यं कर्त्तव्यमित्यास्थितानां योगानां धर्मकथादिव्याक्षेपहेतु-

१ प्रसिद्धेसति दोषे-श्र० टि० । २ विरेचनकृतः-श्र० टि० । अतिक्तकाय-मु०, द०, ब०, ज० । आसमन्तात् विरक्तीकृतः विरेचनौषधिना निर्मलीकृतः इत्यर्थः । ३ गुरुदत्तप्रा-मु०, द०, ब० ।

सन्निधानेन विस्मरणे सति पुनरनुष्ठाने प्रतिक्रमणं तस्य प्रायश्चित्तम्। भयत्वरणविस्मरणाऽनवबोधाशक्तिव्यसनादिभिर्महाव्रतातिचारे सति प्राक्छेदात् षड्विधं प्रायश्चित्तं विधेयम्। शक्त्यनिगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणादप्रासुकग्रहणग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात् प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं[1] प्रायश्चित्तम्। दुःस्वप्नदुश्चिन्तनमलोत्सर्जनमू[2]त्रातिचारमहानदीमहाटवीतरणादिषु व्युत्सर्गः प्रायश्चित्तम्। बहुकृत्वः प्रमादबहु[3]दृष्टापराधप्रत्यनीकवृत्तिविरुद्धदृष्टीनां[4] यथाक्रमं [5]छेदमूलभूम्यनुपस्थापनपारञ्चिकविधानं क्रियते[6]। [7]अपकृष्याचार्यमूले प्रायश्चित्तग्रहणमनुपस्थापनम्। आचार्यादाचार्यान्तरप्रापणमातृतीयं [8]पारञ्चिकम्। तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशकालशक्तिसंयमाद्यविरोधेनापराधानुरूपं दोषप्रशमनं चिकित्सितवद्विधेयम्। जीवस्यासंख्येयलोकपरिमाणाः परिणामविकल्पाः, अपराधाश्च तावन्त एव, न तेषां तावद्विकल्पं प्रायश्चित्तमस्ति। व्यवहारनयापेक्षया पिण्डीकृत्य प्रायश्चित्तविधानमुक्तम्।

आह–व्याख्यातं प्रायश्चित्तम्, इदानीं तदनन्तरमुद्दिष्टस्य विनयस्य विकल्पा वक्तव्याः? अत्रोच्यते—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

विनय इत्यनुवृत्तेः प्रत्येकमभिसंबन्धः।१। विनय इत्यनुवर्त्तते, तेन प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–ज्ञानविनयो दर्शनविनयश्चारित्रविनय उपचारविनयश्चेति।

तत्र सबहुमानज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः।२। अनलसेन शुद्धमनसा देशकालादिविशुद्धिविधानविचक्षणेन सबहुमानो यथाशक्ति निषेव्यमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयो वेदितव्यः।

पदार्थश्रद्धाने निश्शङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयः।३। सामायिकादौ लोकबिन्दुसारपर्यन्ते श्रुतसमुद्रे ये यथा भगवद्भिरुपदिष्टाः पदार्थाः[10] तेषां तथाश्रद्धाने निःशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयो वेदितव्यः।

तद्वतश्चरित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः।४। तद्वतो ज्ञानदर्शनवतः पञ्चविधदुश्चरचरणश्रवणानन्तरमुद्भिन्नरोमाञ्चाभिव्यज्यमानान्तर्भक्तेः परप्रसादो मस्तकाञ्जलिकरणादिभिर्भावतश्चानुष्ठातृत्वं चारित्रविनयः प्रत्येतव्यः।

प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिषु पूजनीयेष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः।५। प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिषु पूजनीयेषु अभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणवन्दनानुगमनादिरात्मानुरूप उपचारविनयोऽवगन्तव्यः।

परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोभिरञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः।६। परोक्षेष्वाचार्यादिष्वञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणज्ञानानुष्ठायित्वादिः कायवाङ्मनोभिरवगन्तव्यः। किमर्थमिदं विनयभावनम्?

ज्ञानलाभाचारविशुद्धिसम्यगाराधनाद्यर्थं विनयभावनम्।७। ज्ञानलाभः आचारविशुद्धिः

१–दुरुक्तं प्रा–मु०, द०, ब०, ज०। २–सूत्राति–ता०, श्र०, ज०। ३ बहुभिः पुरुषैः–श्र० टि०। ४ आचार्यादीनाम्–श्र० टि०। ५ विराधितसम्यक्त्वानाम्–श्र० टि०। ६ छेदः मूलभूम्यनुपस्थानं पारंचिक–मु०, द०, ब०। ७ गृहस्थताप्रापणमित्यर्थः–श्र० टि०। ८ अपरकृष्ट्या–मु०, द०, ब०। ९ परानञ्चतीति तस्य भावः–श्र० टि०। १०–र्थाः यथालक्षणा वर्तन्ते नान्यथा वादिनो जिनाः इति निःसंशयोपेतता दर्शनविनय इत्याख्यायते तद्वत–मु०। –र्थाः तद्वत–ज०, द०, ब०।

सम्यगाराधनमित्येवमादीनां सिद्धिर्भवति विनयभावनेन, ततश्च निवृत्तिसुखमिति विनयभावनं क्रियते।

आह–विनयो वर्णितः, तदनन्तरोद्देशभाजो वैयावृत्त्यस्येदानीं विवरणं कर्तव्यमिति, अत इदमुच्यते—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घ-साधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

वैयावृत्त्यमित्यनुवृत्तेः प्रत्येकमभिसम्बन्धः।१। वैयावृत्त्यमित्यनुवर्त्तते तेन प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–आचार्यवैयावृत्त्यमुपाध्यायवैयावृत्त्यमित्यादि।

व्यावृत्तस्य भावः कर्म च वैयावृत्त्यम्।२। कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण वा व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यमित्युच्यते।

आचरन्ति यस्माद् व्रतानीत्याचार्यः।३। यस्मात् सम्यग्ज्ञानादिगुणाधारादाहृत्य व्रतानि स्वर्गापवर्गसुखामृतबीजानि भव्या हितार्थमाचरन्ति स आचार्यः।

उपेत्य [1]यस्मादधीयते इत्युपाध्यायः।४। विनेयेनोपेत्य यस्माद् व्रतशीलभावनाधिष्ठानादागमं श्रुताख्यमधीयते स उपाध्यायः।

महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी।५। महोपवासादिलक्षणं तपोऽनुतिष्ठति यः स तपस्वीत्युच्यते। कुत एतत्? अतिशयार्थे मत्वर्थीयप्रयोगात्।

शिक्षाशीलः शैक्ष्यः[2]।६। श्रुतज्ञानशिक्षणपरः अनुपरतव्रतभावनानिपुणः [3]शैक्षक इति लक्ष्यते।

रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः।७। रुजादिभिः क्लिष्टशरीरो ग्लान इत्युच्यते।

गणः स्थविरसन्ततिः।८। स्थविराणां सन्ततिर्गण इत्युच्यते।

दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः कुलम्।९। दीक्षकस्याचार्यस्य शिष्यसंस्त्यायः कुलव्यपदेशमर्हति।

चतुर्वर्णश्रमणनिवहः संघः।१०। चतुर्वर्णानां श्रमणानां निवहः सङ्घ इति समाख्यायते।

चिरप्रव्रजितः साधुः।११। चिरकालभावितप्रव्रज्यागुणः साधुरित्याम्नायते।

मनोज्ञोऽभिरूपः।१२। अभिरूपो मनोज्ञ इत्यभिधीयते।

सम्मतो वा लोकस्य विद्वत्तावक्तृत्वमहाकुलत्वादिभिः।१३। अथवा विद्वान् वाग्मी महाकुलीन इति यो लोकस्य सम्मतः स मनोज्ञः, तस्य ग्रहणं प्रवचनस्य लोके गौरवोत्पादनहेतुत्वात्।

असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा।१४। अथवा, असंयतसम्यग्दृष्टिर्मनोज्ञ इति गृह्यते संस्कारोपेतरूपत्वात्।

तेषां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते तत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यम्।१५। तेषामाचार्यादीनां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते प्रासुकौषधिभक्तपानप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तरणादिभिर्धर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकारः सम्यक्त्वप्रत्यवस्थापनमित्येवमादि वैयावृत्त्यम्।

बाह्यद्रव्यासंभवे स्वकायेन तदानुकूल्यानुष्ठानं च।१६। बाह्यस्यौषधभक्तपानादेरसंभवेऽपि स्वकायेन श्लेष्मसिङ्घाणकाद्यन्तर्मलापकर्षणादि तदानुकूल्यानुष्ठानं च वैयावृत्त्यमिति कथ्यते।

तत्पुनः किमर्थमिति चेत्? उच्यते—

---

१ तस्मा–मू०, ता०, श्र०। २ शैक्षः भा० १, २। ३ शैक्ष इ–श्र०।

समाध्याधानविचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम् ।१७। समाध्याधानं विचिकित्साभावः प्रवचनवात्सल्यं सनाथता चेत्येवमाद्यभिव्यक्त्यर्थं वैयावृत्त्यमिष्यते । किमर्थं बहूनामुपक्षेपः क्रियते, ननु सङ्घवैयावृत्त्यं गणवैयावृत्त्यमिति वा वक्तव्यम् ?

बहूपदेशात् क्वचिन्नियमेन प्रवृत्तिज्ञापनाय भूयसामुपन्यासः ।१८। बहुषु वैयावृत्यार्हेषूपदिष्टेषु क्वचित् कस्यचित् प्रवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमाद्यर्थं भूयसामुपन्यासः क्रियते ।

आह–व्याख्यातं वैयावृत्त्यम्, तत्समीपोद्देशभाजः स्वाध्यायस्येदानीं निर्देशः करणीय इति ? अत्राभिधीयते–

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशः ॥ २५ ॥

निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना ।१। अनपेक्षात्मना विदितवेदितव्येन निरवद्यग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा पात्रे प्रतिपादनं वाचनेत्युच्यते ।

संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छनम् ।२। आत्मोन्नतिपरातिसन्धानोपहासंसंघर्षप्रहसनादिविवर्जितः संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा परं प्रत्यनुयोगः पृच्छनमिति भाष्यते ।

अधिगतार्थस्य मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा ।३। अधिगतपदार्थप्रक्रियस्य तन्नायस्पिण्डवदर्पितचेतसो मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा वेदितव्याः ।

घोषविशुद्धपरिघर्तनमाम्नायः ।४। व्रतिनो वेदितसमाचारस्यैहलौकिकफलानिरपेक्षस्य द्रुतविलम्बितादिघोषविशुद्धं परिवर्तनमाम्नाय इत्युपदिश्यते ।

धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः ।५। दृष्टप्रयोजनपरित्यागादुन्मार्गनिवर्तनार्थं सन्देहव्यावर्तनापूर्वपदार्थप्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेश इत्याख्यायते । किमर्थोऽयं स्वाध्यायः ?

प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थः स्वाध्यायः ।६। प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः प्रवचनस्थितिः संशयोच्छेदः परवादिशङ्काभावः परमसंवेगः तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः स्वाध्यायोऽनुष्ठेयः ।

आह–वर्णितः पञ्चविधः स्वाध्यायः, तदनन्तरमुद्दिष्टो यो व्युत्सर्गस्तस्य भेद इदानीं वक्तव्य इति ? अत्राभिधीयते–

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

व्युत्सर्ग इत्यनुवृत्तेर्व्यतिरेकनिर्देशः ।१। व्युत्सर्जनं व्युत्सर्ग इति भावसाधनः शब्दोऽनुवर्त्तते, तदपेक्षोऽयं व्यतिरेकनिर्देशः ।

उपधीयते बलाधानार्थमित्युपधिः ।२। योऽर्थोऽन्यस्य बलाधानार्थमुपधीयते स उपधिरित्युच्यते ।

अनुपात्तवस्तुत्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गः ।३। आत्मनाऽनुपात्तस्य एकत्वमनापन्नस्य वस्तुनस्त्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गोऽवगन्तव्यः ।

क्रोधादिभावनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः ।४। क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वहास्यरत्यरतिशोकभयादिदोषनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग इति निश्चीयते ।

कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा ।५। कायत्यागश्चाभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग इत्युच्यते । स पुनर्द्विविधः–नियतकालो यावज्जीवं चेति ।

१–संघोषप्र–मु०, द०, ब० ।

परिग्रहनिवृत्तेरवचनमिति चेत्; न; तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात् ।६। स्यादेतत्–महाव्रतोपदेशकाले परिग्रहनिवृत्तिरुक्ता, ततः पुनरिदं वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात् ।

धर्माभ्यन्तरे भावादिति चेत् ; न; प्रासुकनिरवद्याहारादिनिवृत्तितन्त्रत्वात् ।७। स्यादेतत्–दशविधधर्मेऽन्तरीभूतस्त्याग इति पुनरिदं वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? प्रासुकनिरवद्याहारादिनिवृत्तितन्त्रत्वात् तस्य ।

प्रायश्चित्ताभ्यन्तरत्वादिति चेत् ; न; तस्य प्रतिद्वन्द्विभावात् ।८। अथमतमेतत्–प्रायश्चित्ताभ्यन्तरो व्युत्सर्गस्ततः पुनस्तस्य वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? तस्य प्रतिद्वन्द्विभावात्, तस्य हि व्युत्सर्गस्यातिचारः प्रतिद्वन्द्वी विद्यते, अयं पुनरनपेक्षः क्रियते इत्यस्ति विशेषः ।

अनेकत्रावचनमनेनैव गतत्वादिति चेत् ; न; शक्त्यपेक्षत्वात् ।९। अनेकत्र वचनमनर्थकम्, इदमेवास्तु पर्याप्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? शक्त्यपेक्षत्वात् । क्वचित् सावद्यं प्रत्याख्यायते क्वचित् [निरवद्यम्]निरवद्यमपि नियतकालं क्वचिदनियतकालं पुरुषशक्त्यपेक्षत्वान्निवृत्तिधर्मस्य, उत्तरोत्तरगुणप्रकर्षोदुत्साहोत्पादनार्थत्वाच्च न पौनरुक्त्यम् । किमर्थं पुनर्व्युत्सर्गः ?

निःसङ्गनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः ।१०। निःसङ्गत्वं निर्भयत्वं जीविताशाव्युदासः दोषोच्छेदो मोक्षमार्गभावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थो व्युत्सर्गोऽभिधीयते द्विविधः ।

आह–अभ्यन्तरतपः षोढा प्रतिज्ञाय प्राग्ध्यानादिति यत्सन्न्यस्तं तपो ध्यानाभिधानं तदनाविष्कृतार्थं प्राप्तविचारकालमिति, अत्रोच्यते–

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात् ॥ २७ ॥

आद्यं संहननत्रयमुत्तमम् ।१। वज्रवृषभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननमित्येतत्त्रितयं संहननमुत्तमम् । कुतः ? ध्यानादिवृत्तिविशेषहेतुत्वात् । तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव । ध्यानस्य त्रितयमपि । उत्तमं संहननं यस्य स उत्तमसंहननः तस्य उत्तमसंहननस्य ।

एकशब्दः संख्यापदम् ।२। अन्यासहायाद्यनेकार्थसंभवे एकशब्दोऽत्र संख्यावाची गृह्यते ।

अङ्ग्यते तदङ्गमिति तस्मिन्निति वाग्रं मुखम् ।३। अङ्गेर्गत्यर्थस्य कर्मण्यधिकरणे वा उणादौ रगि[1]निपातितः "वज्रेन्द्राग्रे" इति [ ] अत्र अग्रं मुखमित्यर्थः ।

चिन्ता अन्तःकरणवृत्तिः ।४। अन्तकरणस्य वृत्तिरर्थेषु चिन्तेत्युच्यते ।

अनियतक्रियार्थस्य नियतक्रियाकर्तृत्वेनावस्थानं निरोधः ।५। गमनभोजनशयनाध्ययनादिषु क्रियाविशेषेषु अनियमेन वर्तमानस्य एकस्याः क्रियायाः कर्तृत्वेनावस्थानं निरोध इत्यवगम्यते । एकमग्रं मुखं यस्य सोऽयमेकाग्रः, चिन्ताया निरोधः चिन्तानिरोधः, एकाग्रे चिन्तानिरोधः एकाग्रचिन्तानिरोधः । कुतः पुनरसौ[2] एकाग्रत्वेन चिन्तानिरोधः ?

वीर्यविशेषात् प्रदीपशिखावत् ।६। यथा प्रदीपशिखा निराबाधे प्रज्वलिता न परिस्पन्दते तथा निराकुले देशे वीर्यविशेषादवरुध्यमाना चिन्ता विना व्याक्षेपेण एकाग्रेणावतिष्ठते ।

अर्थपर्यायवाचो वा अग्रशब्दः ।७। अथवा अङ्ग्यते इत्यग्रः अर्थ इत्यर्थः, एकमग्रं एकाग्रम्, एकाग्रे चिन्ताया निरोधः एकाग्रचिन्तानिरोधः । [3]योगविभागान्मयूरव्यंसकादित्वाद्वा वृत्तिः । एकस्मिन् द्रव्यपरमाणौ भावपरमाणौ वार्थे चिन्तानियम इत्यर्थः ।

---

१ पूर्वप्रयोगं दर्शयति–श्र० टि० । २ निरोधः–श्र० टि० । ३ एकाग्रे इत्यत्र चाधारसप्तमी आधाराधेयत्वयोगात् नतु निमित्तसप्तमी कर्माभावात् । एवमादि सप्तम्याप्रतीतौ कथमेकाग्रे । ४ स्वमतसूत्रपाठे सप्तमी शौण्डादिभिः इत्यत्र द्रष्टव्यम्–श्र० टि० ।

ध्यानशब्दो भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशात् ।८। अयं ध्यानशब्दः भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशाद्वेदितव्यः। तत्र ध्येयं प्रति अव्यापृतस्य भावमात्रेणाभिधाने ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनो ध्यानशब्दः, ध्यायतीति ध्यानमिति बहुलापेक्षया कर्तृसाधनश्च युज्यते। करणप्रशंसापरायामभिधानप्रवृत्तौ समीक्षितायां यथा साध्वसिश्छिनत्तीति प्रयोक्तृनिर्वर्त्ययोः सतोरप्युद्यमननिपातनयोरविशेषतन्त्रत्वाच्छेदनस्य कर्तृधर्माध्यारोपः क्रियते तथा दिध्यासोरप्यात्मनः ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषतन्त्रत्वात् ध्यानपरिणामस्य युज्यते कर्तृत्वम्। करणत्वमपि चास्य पर्यायपर्यायिणोर्भेदपरिकल्पनासद्भावात् युज्यते अग्नेर्दाहपाकस्वेदादिक्रियाप्रवृत्तस्यात्मभूतौष्ण्यकरणपरिकल्पनवत्।

एकान्तकल्पनायां दोषविधानमुक्तम् ।९। अर्थान्तरभावोऽनर्थान्तरभाव एवेत्येकान्तकल्पनायां दोषविधानमुक्तम्। क्व? आदिसूत्रे।

प्रतीतपरिमाणो मुहूर्त्तः।१०। मुहूर्त्त इति कालविशेषवाचिशब्दः, तस्य परिमाणं प्राग्विहितम्।

उत्तमसंहननाभिधानम् अन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणाऽसामर्थ्यात् ।११। अन्यत्संहननमेतावन्तं कालं चिन्तानिरोधधारणे साधनभावं प्रत्यसमर्थमिति उत्तमसंहननग्रहणं क्रियते।

एकाग्रवचनं वैयग्र्यनिवृत्त्यर्थम् ।१२। एकाग्रवचनं क्रियते वैयग्र्यनिवृत्त्यर्थम्। व्यग्रं हि ज्ञानमेव न ध्यानमिति।

चिन्तानिरोधग्रहणं तत्स्वाभाव्यप्रदर्शनार्थम् ।१३। यथा पृथिव्याः कस्मिंश्चित् परिणामविशेषे घटशब्दो वर्तते एवं चिन्तायाः ज्ञानात्मिकायाः वृत्तिविशेषे ध्यानशब्दो वर्त्तते इति प्रदर्शनार्थं चिन्तानिरोध इति विशेष्यते।

ध्यानमित्यधिकृतस्वरूपनिर्देशार्थम् ।१४। यत्तदधिकृतमुत्तमं (रं) तपः, तत्स्वरूपनिर्देशार्थं ध्यानवचनं क्रियते।

मुहूर्त्तवचनादाहरादिव्यावृत्तिः।१५। आहरादिकालान्तरव्यावृत्त्यर्थं मुहूर्त्तवचनं क्रियते। अतः परं दुर्धरत्वात्।

अभावो निरोध इति चेत्; न; केनचित् पर्यायेणेष्टत्वात्।१६। स्यान्मतम्–अभावो निरोध इत्यनर्थान्तरम्, स चेत् ध्यानशब्दार्थः खरविषाणवत् ध्यानमसत्प्रसजतीति; तन्न, किं कारणम्? केनचित्पर्यायेणेष्टत्वात्। अन्यचिन्ताऽभावविवक्षायामसदेव ध्यानम्, विवक्षितार्थविषयावगमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवेति चोच्यते।

अभावस्य च वस्तुत्वाद्धेत्वङ्गत्वादिति।१७। अभावोऽप्ययं वस्तुधर्मः। कुतः? हेत्वङ्गत्वादिभिः[3], ततश्चोपालम्भाभावः।

एकार्थवचनं विस्पष्टत्वादिति चेत्; न; अनिष्टप्रसङ्गात्।१८। स्यान्मतम्–एकार्थचिन्तानिरोध इत्यस्तु विस्पष्टत्वादिति; तन्न; किं कारणम्? अनिष्टप्रसङ्गात्। किमनिष्टम्? "वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः" [९।४४] इति वक्ष्यते, तेनार्थसंक्रम इष्यते–द्रव्यात्पर्याये पर्यायाच्च द्रव्ये। यद्येकार्थे निरोध इह गृह्येत; तद्विरोधः स्यात्।

एकाग्रवचनेऽपि तुल्यमिति चेत्; न आभिमुख्ये सति पौनःपुन्येनापि[3] प्रवृत्तिज्ञापनार्थत्वात्।१९। अथ मतमेतत्–एकाग्रवचनेऽपि तस्यानिष्टस्य प्रसङ्गः तुल्य इति; तन्न; किं कारणम्? आभिमुख्ये सति पौनःपुन्येनापि प्रवृत्तिज्ञापनार्थत्वात्। अग्रं मुखमिति ह्युच्यमानेऽनेकमुखत्वं निवर्तितं एकमुखे[4] तु संक्रमोऽभ्युपगत एवेति नानिष्टप्राप्तिः।

१ –दिविनिवृ–मु०, द०, ब०। दिनपर्यन्तमित्यर्थः–सं०। २ विपक्षाद् व्यावृत्तिलक्षण–अ० टि०। ३ –पिवृत्तिविज्ञानार्थत्वात् मु०, ज०, द०, ब०। –पि वृत्तिज्ञा–अ० भा, १। ४ द्रव्यपर्यायादीनामन्यतमे –अ० टि०।

प्राधान्यवाचिनो वैकशब्दस्य ग्रहणम् ।२०। अथवा, प्राधान्यवचने एकशब्द इह गृह्यते, प्रधानस्य पुंसः[1] आभिमुख्येन चिन्तानिरोध इत्यर्थः, अस्मिन्पक्षेऽर्थो गृहीतः।

[2]अङ्गतीत्यग्रमात्मेति वा।२१। अथवा, अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थः। द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्, ततः स्ववृत्तित्वात् बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निवर्त्तिता भवति।

दिवसमासाद्यवस्थानमुपयुक्तस्येति चेत्; न; इन्द्रियोपघातप्रसङ्गात्।२२। स्यादेतत्–ध्यानोपयोगेन दिवसमासाद्यवस्थानं नान्तमुहूर्तादिति; तन्न; किं कारणम्? इन्द्रियोपघातप्रसङ्गात्[3]।

प्राणापानौ[4]निग्रहो ध्यानमिति चेत्; न; शरीरपातप्रसङ्गात्।२३। स्यादेतत्–प्राणापानकर्मणो निग्रहो ध्यानमिति; तन्न; किं कारणम्? शरीरपातप्रसङ्गात्। प्राणापाननिग्रहे सति तदुद्भूतवेदनाप्रकर्षात् आश्वेव शरीरस्य पातः प्रसज्येत। तस्मान्मन्दमन्दप्राणापानप्रचारस्य ध्यानं युज्यते।

मात्राकालपरिगणनमिति चेत्; न; ध्यानातिक्रमात्।२४। स्यान्मतम्–मात्राकालपरिगणनं ध्यानमिति; तन्न; किं कारणम्? ध्यानातिक्रमात्[5]। मात्राभिर्यदि कालगणनं क्रियेत ध्यानमेव न स्याद्वैयग्र्यात्।

विध्युपायनिर्देशः कर्तव्य इति चेत्; न; गुप्त्यादिप्रकरणस्य तादर्थ्यात्।२५। स्यान्मतम्–एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमित्येतद्युक्तं किन्तु तदुत्पत्तये विध्युपायनिर्देशः कर्तव्यः–अनेन विधिना अनेनोपायेन ध्यानं भवतीति; तन्न; किं कारणम्? गुप्त्यादिप्रकरणस्य तादर्थ्यात्। ध्यानविधानभावनार्थमेव हि गुप्त्यादिप्रकरणं प्रक्रान्तम्।

संवरार्थं तदिति चेत्; न; प्रागुपदेशस्योभयार्थत्वात्।२६। स्यान्मतम्–संवरप्रतिपत्त्यर्थं तद्गुप्त्यादि प्रकरणमुक्तं न ध्यानोपायप्रतिपत्त्यर्थम्, न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति; तन्न; किं कारणम्? प्रागुपदेशस्योभयार्थत्वात्। अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति, तद्यथा–शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उप[6]स्पृश्यते च, शालयश्च भाव्यन्ते।

सकलध्यानधर्मासंग्रह इति चेत्; न; ध्यानप्राभृते प्रणीतत्वात्।२७। स्यान्मतम्–सकलो ध्यानधर्मो नास्मिन्सूत्रे संगृहीत इत्यपरिपूर्णं लक्षणमिति; तन्न; किं कारणम्? ध्यानप्राभृते प्रणीतत्वात्। तत्र हि ध्यानलक्षणं सकलं प्राधान्येनोक्तम्, इह त्वानुषङ्गिकमिति।

तस्य ध्यानस्य सामान्येनोक्तस्य विकल्पप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते–

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

ऋतमर्दनमार्त्तिर्वा तत्र भवमार्त्तम् ।१। ऋतं दुःखम्, अथवा अर्दनमार्त्तिर्वा, तत्र भवमार्त्तम्।

रुद्रः क्रूरस्तत्कर्म रौद्रम् ।२। रोदयतीति रुद्रः क्रूर इत्यर्थः, तस्येदं कर्म तत्र भवं वा रौद्रमित्युच्यते।

धर्मादनपेतं धर्म्यम् ।३। धर्मो वर्णितः, ततोऽनपेतं ध्यानं धर्म्यमित्याख्यायते।

शुचिगुणयोगाच्छुक्लम् ।४। यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्रं तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्मपरिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते।

तदेवं चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते। कुतः? प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदात्। अप्रशस्तम् अपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात् प्रशस्तम्। किं पुनस्तदिति चेत्? उच्यते–

१ आत्मनः–अ० टि०। २ जानाति–अ० टि०। ३ लोके दृश्यते –अ० टि०। ४ यदि मासादिपर्यन्तमिन्द्रियोपरोधः स्यात्तर्हि विषयव्यावृत्ति(त्य)भावात् इन्द्रियाणामप्यभावः–अ० टि०। ५–नविनि–मु० द०, ब०, ज०। ६–नानित–मु०, द० ब०। ७ उपस्पर्शस्तु आचमनम्–अ० टि०।

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

एकस्यैव परत्वमिति चेत्; न; व्यवहितेऽपि परशब्दप्रयोगात् ।१। स्यान्मतम्–एकस्यैव परत्वमुपपद्यते न द्वयोरिति; तन्न; किं कारणम् ? व्यवहितेऽपि परशब्दप्रयोगात्, तद्यथा परा मथुरा पाटलिपुत्रादिति ।

द्विवचननिर्देशाद्वा गौणस्यापि संप्रत्ययः ।२। अथवा, परमन्त्यं तत्समीपवर्त्यपि परमित्युपचर्यते, द्विवचननिर्देशात्तस्यापि ग्रहणं भवति ।

परयोर्मोक्षहेतुत्वात्, पूर्वयोः संसारहेतुत्वप्रसिद्धिः ।३। 'परे मोक्षहेतू' इति वचनात् परिशेषात् 'पूर्वे संसारहेतू' इति विज्ञायते, तृतीयस्य साध्यस्याभावात् ।

आह–किमेषां लक्षणमिति । तत्रानेकस्य वक्तव्यसंभवे वाचः क्रमवृत्तेराद्यस्य लक्षणप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

अप्रियममनोज्ञं बाधाकारणत्वात् ।१। यदप्रियं वस्तु विषकण्टकशत्रुशस्त्रादि तद्बाधाकारणत्वादमनोज्ञमित्युच्यते ।

भृशमर्थान्तरचिन्तनादाहरणं समन्वाहारः ।२। अर्थान्तरचिन्तनादाधिक्येनाहरणमेकत्रावरोधः समन्वाहारः । स्मृतेः समन्वाहारः स्मृतिसमन्वाहारः । अमनोज्ञस्योपनिपाते स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः आर्तमित्याख्यायते ।

आह–किमिदमनभिमतचेतनाऽचेतनद्रव्यपर्यायसम्प्रयोगहेतुकमेवार्थं निर्ध्रियते ? न; किं तर्हि ? अन्यथाप्येतत् प्रत्येतव्यमित्युच्यते—

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

प्रागुक्तनिमित्तविपर्ययाद्विपरीतम् ।१। प्रागुक्तं यन्निमित्तं ततो विपर्ययाद्विपरीतमित्यभिधीयते । तद्यथा मनोज्ञस्य विषयस्य विप्रयोगे संप्रयुयुक्षां प्रति या परिध्यातिः स्मृतिसमन्वाहारशब्दचोदिता असावप्यार्तं ध्यानमिति निश्चीयते ।

यथा च प्रियसमवाये तदभावादाहितकालुष्यस्यार्तं प्रतिज्ञायते तथा ज्वरादिसन्तापाभ्याहतमूर्तेः–

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

प्रकरणाद् दुःखवेदनासंप्रत्ययः ।१। यद्यपि वेदनाशब्दः सुखदुःखानुभवनविषयसामान्यस्तथापि आर्त्तस्य प्रकृतत्वाद् दुःखवेदनासंप्रत्ययो भवति । तत्प्रतिचिकीर्षा प्रत्यागूर्णस्यानवस्थितमनसो धैर्योपरमात् स्मृतिसमन्वाहार आर्त्तध्यानमवगन्तव्यम् ।

अङ्गविक्षेपशोकाक्रन्दनाश्रुपाताभिव्यक्तं तृतीयम् ।२। यथा अनिष्टसंप्रयोगेष्टविप्रयोगाऽशुभवेदनासमवायनिबन्धनमार्त्तं तथा चेदमपि प्रीतिविशेषाभिष्वङ्गमन्थरकामातुरमतेः पौनर्भविकविषयसुखरसगृद्धस्य तत्संस्कारपरायणस्य कायादिखेदहेतुकम् ।

निदानं च ॥ ३३ ॥

'विपरीतं मनोज्ञस्य' इत्येव सिद्धमिति[2] चेत्; न; अप्राप्तपूर्वविषयत्वान्निदानस्य ।१। स्यादेतत्–विपरीतं मनोज्ञस्येत्यनेनैव निदानं संगृहीतमिति; तन्न; किं कारणम् ? अप्राप्तपूर्वविषयत्वान्निदानस्य । सुखमात्रया प्रलम्भितस्याप्राप्तपूर्वप्रार्थनाभिमुख्यादनागतार्थप्राप्तिनिबन्धनं निदानमित्यस्ति विशेषः ।

१ बाधाकर–ज०, श्र० । २ –मिति चेदप्रा–ता० ।

तदेतच्चतुर्विधमार्तं कृष्णनीलकापोतलेश्यावलाधानम् अज्ञानप्रभवं पौरुषेयपरिणामसमुत्थं पापप्रयोगाधिष्ठानं परिभोगप्रसङ्गं नानासंकल्पासङ्गं धर्माश्रयपरित्यागिकषायाश्रयोपस्थानम् अनुपशमप्रवर्द्धनं प्रमादमूलमकुशलकर्मादानं कटुकविपाकासद्वेद्यं तिर्यग्भवगमनपर्यवसानम् ।

तदेतत् किं स्वामिकमिति चेत् ? उच्यते—

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अविरताः असंयतसम्यग्दृष्टयन्ताः, [1]देशविरताः संयतासंयताः, प्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमादोपेताः क्रियानुष्ठायिनः ।

कदाचित् प्राच्यमार्त्तध्यानत्रयं प्रमत्तानाम्[2] ।१। निदानं वर्जयित्वा अन्यदार्त्तत्रयं प्रमादोद्रेकात् कदाचित्प्रमत्तसंयतानां भवति ।

आह–व्याख्यातमाद्यमप्रशस्तं संज्ञादिभिः, अथ द्वितीयं किंस्वभावसंज्ञाप्रभवस्वामिकमिति ? अत उच्यते—

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥

ध्यानोत्पत्तेर्हिंसादीनां निमित्तभावाद्धेतुनिर्देशः ।१। हिंसादीन्युक्तलक्षणानि, तानि रौद्रध्यानोत्पत्तेर्निमित्तीभवन्तीति हेतुनिर्देशो विज्ञायते ।

तेन स्मृतिसमन्वाहाराभिसम्बन्धः ।२। तेन हेतुनिर्देशेनानुवर्तमानः स्मृतिसमन्वाहारोऽभिसम्बध्यते–हिंसायाः स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि । अविरतस्य भवतु रौद्रध्यानं देशविरतस्य कथम् ?

देशविरतस्यापि हिंसाद्यावेशाद् वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च ।३। देशविरतस्यापि रौद्रध्यानं भवति । कुतः ? हिंसाद्यावेशात् वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद्भवितुमर्हति । तत्पुनर्नारकादीनामकारणं [3]सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् । अथ कथमिदं रौद्रध्यानं संयतस्य न भवति ?

तदयुक्तम् ; संयते तदावेशे संयमप्रच्युतेः ।४। संयते रौद्रध्यानं न युज्यते । कुतः ? तदावेशे संयमप्रच्युतेः । यदा रौद्रध्यानाविशिष्टो(नाविष्टो)भवत्यात्मा न तदा संयमोऽवावतिष्ठते । तदेतच्चतुर्विधं रौद्रध्यानम् अतिकृष्णनीलकापोतलेश्यावलाधानं प्रमादाधिष्ठानं नरकगतिफलावसानम् । एवमुक्ताप्रशस्तध्यानपरिणत आत्मा तप्तायस्पिण्ड इवोदकं कर्मादत्ते ।

आह–परे मोक्षहेतू इति ये उपदिष्टेऽनिर्दिष्टसंज्ञाभेदस्वभावे, तयोस्तावदाद्यं किमभिधानप्रकारस्वभावविषयमिति ? अत्रोच्यते–तत्खलु सम्यग्ज्ञानबीजमुपशमोत्थमप्रमादसञ्ज्ञितं मोहब्रश्चनं धर्मानुबन्धि सुखफलं त्रिविष्टपावसानम् ।

१ तेषामार्तं चतुर्विधमपि संभवति–श्र० टि० । २ तेषां प्रमत्तसंयतानां च निदानर्जं च संभवति, सति निदाने सशल्यत्वेन व्रतित्वायोगात् । व्यवहारतो देशविरतस्य चतुर्विधमपि भवति, स्वल्पनिदानेन अणुव्रतित्वस्याविरोधात्–श्र० टि० । ३ अत्राप्यकारणत्वं भवतु इति चेद् अधिकृतसम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् सम्यग्दृष्टीनामेतद्ग्रहणम्–श्र० टि० । ४ तर्हि–श्र० टि० । ५–शमार्थमप्र–मु०, द०, ब० । ६ मोहच्छेदनमित्यर्थः–श्र० टि० ।

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥

[1]विचितिर्विवेको विचारणा विचयः ।१। विचितिर्विचयो विवेको विचारणेत्यनर्थान्तरम् ।

तदपेक्षया आज्ञादीनां कर्मनिर्देशः ।२। तं विचयभावमपेक्ष्याज्ञादीनां कर्मनिर्देशः क्रियते । आज्ञा चापायश्च विपाकश्च संस्थानं च आज्ञापायविपाकसंस्थानानि, तेषां विचय आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयः, तदर्थमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय ।

अधिकारात् स्मृतिसमन्वाहारसंबन्धः ।३। स्मृतिसमन्वाहार इत्यनुवर्तते, तेन प्रत्येकमभिसंबन्धो भवति–आज्ञाविचयाय स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि ।

तत्रागमप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचयः ।४। उपदेष्टुरभावात् मन्दबुद्धित्वात् कर्मोदयात् सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य 'इत्थमेवेदं नान्यथा वादिनो जिनाः' इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचयः ।

आज्ञाप्रकाशनार्थो वा ।५। अथवा, सम्यग्दर्शनविशुद्धपरिणामस्य विदितस्वपरसमयपदार्थनिर्णयस्य सर्वज्ञप्रणीतानाहितसौहृद्यान् अस्तिकायादीनर्थानवधार्य एवमेते इत्यन्यं प्रति पिपादयिषतः कथामार्गे श्रुतज्ञानसामर्थ्यात् स्वसिद्धान्ताविरोधेन हेतुनयप्रमाणविमर्दकर्मणा ग्रहणसहिष्णून्[2] कृत्वा प्रभाषयतः तत्समर्थनार्थस्तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते ।

सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः ।६। मिथ्यादर्शनपिहितचक्षुषाम् आचारविनयाप्रमादविधयः[3] संसारविवृद्धये भवत्यविद्याबाहुल्यात् अन्धवत् । तद्यथा जात्यन्धा बलवन्तोऽपि सत्पथात्प्रच्युताः कुशलमार्गादेशकेनाननुष्ठिताः नीचोन्नतशैलविषमोपलकठिनस्थाणु[4]निहितकण्टकाकुलाटवीदुर्गपतिताः परिस्पन्दवन्तोऽपि न [5]तत्त्वमार्गमनुसर्तुमर्हन्ति देशकाभावात् तथा सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात् सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः ।

[6]असन्मार्गापायसमाधानं वा ।७। अथवा, मिथ्यादर्शनाकुलितचेतोभिः प्रवादिभिः प्रणीतादुन्मार्गात् कथन्नाम इमे प्राणिनोऽपेयुः, अनायतनसेवापायो वा कथं स्यात् पापकरणवचनभावनाविनिवृत्तिर्वा कथमुपजायते इत्यपायार्पितचिन्तनमपायविचयः ।

कर्मफलानुभवविवेकं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः ।८। कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः । तद्यथा मिथ्यादर्शनैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजात्यातपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणाख्यानां दशानां कर्मप्रकृतीनां प्रथमगुणस्थाने उदयो नोर्ध्वम् । अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां प्रथमद्वितीयगुणस्थानयोरुदयो नोर्ध्वम् । सम्यङ्मिथ्यात्वस्य सम्यङ्मिथ्यादृष्टौ उदयो नोर्ध्वं नाधः । अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभनरकदेवायुर्नरकदेवगतिवैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गानुपूर्व्यचतुष्कदुर्भगानादेयायशस्कीर्तिसंज्ञानां सप्तदशानां कर्मप्रकृतीनामुदयोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तेषु नोपरि । चतुर्णामानुपूर्व्याणां सम्यङ्मिथ्यादृष्टावुदयो नास्ति शेषाणामस्ति । प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभतिर्यगायुस्तिर्यग्गत्युद्योतनीचैर्गोत्रसंज्ञानामष्टानां कर्मप्रकृतीनां विपाकः संयतासंयतान्तेषु नोपरि । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धि-

१ प्रमत्ताप्रमत्तसंयतस्य वि–मु०, ता०, अ०, मू०, आ०, द०, ब०, ज० । भा० १ प्रतावेव नास्ति । २ पदार्थान् अस्तिकायादीनित्यर्थः–अ० टि० । ३ गुणाः–अ० टि० । ४–निचितक–ता०, अ० ५ न च मा–मु०, द०, ब० ज० । न नीचोन्नतशैलमार्ग–मु० शुद्धिपत्रे । ६ असन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः अस–मु० । ७ उत्सर्गेण प्राप्तापवादविधिमाह–अ० टि० ।

नामिकानां तिसृणां कर्मप्रकृतीनां फलानुभवनमनुत्तरशरीरप्रमत्तसंयतेषु नोपरि । आहारशरीराहारशरीराङ्गोपाङ्गनाम्नोऽप्रमत्तसंयते उदयः नोर्ध्वं नाधः । वेदकसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यादिष्वप्रमत्तसंयतान्तेषु नोर्ध्वं नाप्यधः । अर्धनाराचसंहननकीलिकासंहननासंप्राप्तासृपाटिकासंहननाख्यानां तिसृणां प्रकृतीनामुदयोऽप्रमत्तसंयतान्तेषु नोपरि । हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्यानां षण्णां कर्मप्रकृतीनामपूर्वकरणचरमसमयान्तेषु फलानुभवनं नोर्ध्वम् । त्रयाणां वेदानां त्रयाणां संज्वलनानां चोदयः अनिवृत्तिबादरसाम्परायेषु । तत्र अनिवृत्तिबादरसाम्परायकालस्य शेषे[2] शेषे संख्येयान् भागान् गत्वोदयच्छेदः । लोभसंज्वलनस्य विपाकः सूक्ष्मसाम्परायचरमसमयान्तेषु नोपरि । वज्रनाराचसंहननानाराचसंहननयोरुदयः उपशान्तकषायान्तेषु नोर्ध्वम् । निद्राप्रचलयोरुदयः क्षीणकषायोपान्तसमयान्तेषु नोपरि । पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां चोदयः क्षीणकषायचरमसमयान्तेषु नोपरि । अन्यतरवेदनीयौदारिकतैजसकार्मणशरीरसंस्थानषट्[3]कौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गवज्रवृषभनाराचसंहननवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वरनिर्माणनामिकानां त्रिंशत्प्रकृतीनामुदयः सयोगकेवलिनश्चरमसमये नोर्ध्वम् । अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तकसुभगादेययशस्कीर्त्युच्चैर्गोत्रसंज्ञकानामेकादशानां प्रकृतीनामुदयः अयोगकेवलिनश्चरमसमये नोर्ध्वम् । तीर्थकरनामोदयो[4] द्वयोः केवलिनोर्नोपरि नाप्यधः ।

[5]अयथाकालविपाक उदीरणोदयः ।९। तत्र मिथ्यादर्शनस्य उदीरणोदयो मिथ्यादृष्टौ उपशमसम्यक्त्वाभिमुखस्य चरमावलीमुत्सृज्येतरत्र भवति । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजात्यातपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणसंज्ञिकानां नवानां प्रकृतीनामुदीरणोदयः मिथ्यादृष्टौ भवति नोर्ध्वम् । अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानामुदीरणोदयो मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्योर्नोपरि । सम्यङ्मिथ्यात्वस्योदीरणोदयः सम्यङ्मिथ्यादृष्टौ नोपरि नाप्यधः । अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभनरकगतिदेवगतिवैक्रियिकशरीरवैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गदुर्भगानादेययशस्कीर्तिसंज्ञका एकादशप्रकृतय असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तेपूदीर्यन्ते नोर्ध्वम् । नरकायुषो देवायुषश्च मरणकाले चरमावलिं मुक्त्वा असंयतसम्यग्दृष्टावुदीरणोदयो भवत्यधश्च नोर्ध्वम् । चतुर्णामानुपूर्व्याणां विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिपूदीरणोदयो नेतरत्र । प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभतिर्यग्गत्युद्योतनीचैर्गोत्राणां सप्तानां प्रकृतीनामुदीरणोदयः संयतासंयतान्तेषु नोपरि । तिर्यगायुषो मरणकाले चरमावलिं मुक्त्वा संयतासंयतान्तेषूदीरणोदयो नोर्ध्वम् । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिसदसद्वेद्यानां पञ्चानां प्रकृतीनां प्रमत्तसंयतान्तेपूदीरणोदयो नोपरिष्टात् । उत्तरशरीरवर्तिपूर्वचरमावल्या सह उदीरणोदयो नास्ति । आहारशरीराहारशरीराङ्गोपाङ्गनाम्नोः प्रमत्तसंयते उदीरणोदयो नोर्ध्वं नाप्यधः । मनुष्यायुष उदीरणोदयो मरणकाले चरमावलिं मुक्त्वा प्रमत्तसंयतान्तेषु सम्यङ्मिथ्यादृष्टिवर्जितेपूदीरणोदयो भवति नोपरि । वेदकसम्यक्त्वस्योदीरणोदयः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिष्वप्रमत्तसंयतान्तेषु भवति नोर्ध्वं नाप्यधः । अर्धनाराचकीलिकासंप्राप्तासृपाटिकासंहनानामुदीरणोदयः अप्रमत्तसंयतान्तेषु भवति नोर्ध्वम् । हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सानां षण्णां प्रकृतीनामपूर्वकरणचरमसमयान्तेपूदीरणोदयो भवति नोर्ध्वम् । त्रयाणां वेदानां त्रयाणां संज्वलनानां चोदीरणोदयोऽनिवृत्तिबादरसम्परायेषूपान्तेषु भवति नोर्ध्वम् । तस्मिंश्चानिवृत्तिकाले शेषे शेषे ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं संख्येयभागान् गत्वा उदीरणोदयोच्छेदः । लोभसंज्वलनस्योदीरणोदयः सूक्ष्मसाम्परायचरमावली-

१ आहारकशरीरनिर्वर्तनरहित–अ० टि० । २ सप्तभागेषु प्रत्येकमेकैकभागे–अ० टि० । ३ केवलिनां हुण्डसंस्थानरूपताप्यस्तीत्युपदेशः । हुण्डकसंस्थानोदयः कश्चन मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वमासाद्य दीक्षित्वा केवलज्ञानमवाप्नोतीति–अ० टि० । ४ नामकर्मोदयः मु०, द०, ब०, ज० । ५ अथ प्रसङ्गप्रसक्तामुदीरणोदयमप्याह–अ० टि० । ६ आहारकशरीरवर्ति–अ० टि० । ७ सातिशये–अ० टि० ।

वर्जितेषु पूर्वेषु नोपरि। वज्रनाराचसंहननना राचसंहननयोरुपशान्तकषायान्तेषूदीरणोदयो नोपरिष्टात्। समयोत्तरचरमावलीवर्जितक्षीणकषायान्तेषु निद्राप्रचलयोरुदीरणोदयो नोपरि। पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां च चरमावलीवर्जितक्षीणकषायान्तेषूदीरणोदयो नोर्ध्वम्। मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकतैजसकार्माणशरीरषट्संस्थानौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गवज्रवृषभनाराचसंहननवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभसुभगसुस्वरदुःस्वरादेययशस्कीर्तिनिर्माणोच्चैर्गोत्रसंज्ञिकानामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां सयोगकेवलिचरमसमयान्तेषूदीरणोदयो नोपरि। तीर्थकरनाम्न उदीरणोदयः सयोगिकेवलिन्येव नोपरि नाप्यधः।

लोकसंस्थानस्वभावावधानं संस्थानविचयः ।१०। लोकसंस्थानं प्राग्वर्णितम्। तदवयवानां च द्वीपादीनां तत्स्वभावावधानं संस्थानविचयः।

धर्मादनपेतं धर्म्यम् ।११। धर्म उत्तमक्षमादिदशविकल्पः, ततोऽनपेतं धर्म्यं ध्यानम्। उत्तमक्षमादिभावनावतः प्रवृत्तेः।

अनुप्रेक्षाणां धर्म्यध्यानजातीयत्वात्पृथगनुपदेश इति चेत्; न; ज्ञानप्रवृत्तिविकल्पत्वात् ।१२। स्यादेतत्–अनुप्रेक्षा अपि धर्म्यध्यानेऽन्तर्भवन्तीति पृथगासामुपदेशोऽनर्थक इति; तन्न; किं कारणम्? ज्ञानप्रवृत्तिविकल्पत्वात्। अनित्यादिविषयचिन्तनं यदा ज्ञानं तदा अनुप्रेक्षाव्यपदेशो भवति, यदा तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधस्तदा धर्म्यध्यानम्।

[1]**धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेत्; न; पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसङ्गात्** ।१३। कश्चिदाह–धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्यैवेति; तन्न; किं कारणम्? पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसङ्गात्। असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयतानामपि धर्म्यध्यानमिष्यते सम्यक्त्वप्रभवत्वात्। [2]यदि धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्येत तर्हि; तेषां निवृत्तिः प्रसज्येत।

उपशान्तक्षीणकषाययोश्चेति चेत्; न; शुक्लाभावप्रसङ्गात् ।१४। कश्चिदाह–उपशान्तक्षीणकषाययोश्च धर्म्यं ध्यानं भवति न पूर्वेषामेवेति; तन्न; किं कारणम्? शुक्लाभावप्रसङ्गात्। उपशान्तक्षीणकषाययोर्हि शुक्लध्यानमिष्यते तस्याभावः प्रसज्येत।

तदुभयं तत्रेति चेत्; न; पूर्वस्यानिष्टत्वात् ।१५। स्यादेतत्–उभयं धर्म्यं शुक्लं चोपशान्तक्षीणकषाययोरस्तीति? तन्न; किं कारणम्? पूर्वस्यानिष्टत्वात्। पूर्वं हि धर्म्यं ध्यानं श्रेण्योर्नेष्यते आर्षे, पूर्वेषु चेष्यते।

आह–यदि धर्म्यध्यानमविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतान्तानां भवति, अथ शुक्लध्यानं कस्येति? अत्रोच्यते–तद्वक्ष्यमाणं चतुर्विकल्पम्, तत्र प्रथमयोर्विकल्पयोः [3]स्वामिनिर्देशः क्रियते–

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

पूर्वविद्विशेषणं श्रुतकेवलिनस्तदुभयप्रणिधानसामर्थ्यात् ।१। सकलश्रुतधरस्याद्यशुक्लध्यानद्वयप्रणिधानसामर्थ्यं नेतरस्येति प्रतिपत्त्यर्थं [4]पूर्वविद्विशेषणमुपादीयते।

चशब्दः पूर्वध्यानसमुच्चयार्थः ।२। चशब्दः क्रियते पूर्वस्य धर्म्यध्यानस्य समुच्चयार्थः। शुक्ले चाद्ये पूर्वविदो भवतः धर्म्यं चेति।

---

१ "आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य"–तत्त्वार्थाधि० सू० ९।३७। २ 'यदि धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्येत' इति पाठो नास्ति ता०, मू०, अ०, द०, ब०, ज०, भा० १, भा० २। ३ स्वामिनो निमु०, द०, ब०, ज०। ४ पूर्ववद्वि–मु०, द०, ब०, ज०, ता०।

विषयविवेकापरिज्ञानमिति चेत्; न; व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः ।३। स्यादेतत्–चशब्देन पूर्वस्य ध्यानस्य समुच्चये क्रियमाणे विषयविवेको न ज्ञायते इति; तन्न; किं कारणम्? व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः। श्रेण्यारोहणात् प्राग् धर्म्यध्यानं श्रेण्योः शुक्लध्यानमिति व्याख्यास्यामः।

आह–यद्याद्ये शुक्ले उपशान्तनिर्दग्धमोहयोर्नियमेन प्रतिज्ञायेते अवशिष्टे कस्य[1] भवत इति? अत्रोच्यते—

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

केवलिशब्दसामान्यनिर्देशात्तद्वतोरुभयोर्ग्रहणम् ।१। केवलीत्ययं शब्दः सामान्यविषयः, ततोऽचिन्त्यविभूतिविशेषकेवलज्ञानसाम्राज्यमनुभवतोरुभयोः सयोग्ययोगिकेवलिनोर्ग्रहणम्। परे शुक्लध्याने तयोर्भवतो न छद्मस्थस्येति।

आह–अन्धकारमुष्ट्यभिघातसादृश्यादमुं शुक्लध्यानाधिष्ठातृप्रक्रियां प्रति न व्याप्रियामहे। कुतः? [2]तल्लक्षणविशेषनिर्देशानुपलम्भात्। उच्यते–स्यादेतदेवं यद्यमूनि तस्य परस्परविशिष्टानि पर्यायान्तराणि न स्युः[3]—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपात्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥

वक्ष्यमाणलक्षणापेक्षया सर्वेषामन्वर्थत्वम् ।१। वक्ष्यमाणलक्षणमपेक्ष्य सर्वेषामन्वर्थत्वमवसेयम्। यदिदमुपात्तचातुर्विध्यं शुक्लध्यानं तत्किमालम्बनमिति चेत्? उच्यते—

त्र्येकयोगकाययोगाऽयोगानाम् ॥ ४० ॥

योगशब्दो व्याख्यातार्थः ।१। अयं योगशब्दो व्याख्यातार्थः "कायवाङ्मनस्कर्म योगः" [६।१] इत्यत्र।

यथासंख्यं चतुर्णामभिसम्बधः ।२। चतुर्णां त्रियोगादीनामुक्तैश्चतुर्भिः शुक्लध्यानविकल्पैः सह यथासंख्यमभिसम्बन्धो भवति। त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कम्, त्रिषु योगेष्वेकयोगस्यैकत्ववितर्कम्, काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति।

तत्राद्यस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

पूर्वविदारभ्यत्वादेकाश्रयसिद्धिः ।१। उभे अपि परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेनारभ्येते इत्येकाश्रये इत्युच्यते।

सवितर्कवीचार इति द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः ।२। वितर्कश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ सह वितर्कवीचाराभ्यां वर्तते सवितर्कवीचारः।

पूर्वत्वमेकस्यैवेति चेत्; न; उक्तत्वात् ।३। किमुक्तम्? तत्समीपवर्तिनस्तद्व्यपदेश इति। द्विवचनसामर्थ्यादुभयोर्ग्रहणम्।

तत्र यथासंख्यप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते—

---

१ कस्यां श्रेण्यां कतमं ध्यानमिति–अ० टि०। २ स्वलक्षणविशे–ता०। स्वलक्षणप्रविशेषानुय–अ०। ३ तर्हि–अ० टि०।

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

पूर्वयोर्यद् द्वितीयं तदवीचारं प्रत्येतव्यम्-अर्थात् आद्यं सवितर्कं सवीचारं च भवति, द्वितीयं सवितर्कमवीचारमिति ।

अथ वितर्कवीचारयोः क प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते—

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः ।

यदि श्रुतज्ञाने वितर्कशब्दो वर्तते, जायसे तर्हि पुनरपि प्रष्टव्यः-अथ वीचारः किंलक्षणः इति ? अत्रोच्यते—

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

अर्थो ध्येयः द्रव्यं पर्यायो वा, व्यञ्जनं वचनम्, योगः कायवाङ्मनस्कर्मलक्षणः, संक्रान्तिः परिवर्त्तनम् । द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति, पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः । एकं श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः । काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गृह्णाति योगान्तरं च त्यक्त्वा[1] काययोगमिति योगसंक्रान्तिः, एवं परिवर्तनं वीचार इत्युच्यते । तदेत्सामान्यविशेषनिर्दिष्टचतुर्विधं शुक्लं धर्म्यं च पूर्वोदितगुप्त्यादिबहुप्रकारोपायं संसारविनिवृत्तये मुनिर्ध्यातुमर्हति । तदारम्भे च परिकर्म भवति । यदोत्तमशरीरसंहननतया परीषहबाधासहनशक्तिमन्तमात्मानमवगच्छति तदा ध्यानयोगपरिचयायोपक्रमते । कथमिति चेत् ?

उच्यते-पर्वतगुहाकन्दरदरीद्रुमकोटरनदीपुलिनपितृवनजीर्णोद्यानशून्यागारादीनामन्यतमस्मिन्नवकाशे व्यालमृगपशुपक्षिमनुष्याणामगोचरे तत्रत्यैरागन्तुभिश्च जन्तुभिः परिवर्जिते नात्युष्णे नातिशीते नातिवाते वार्षातपवर्जिते समन्तात् बाह्यान्तःकरणविक्षेपकारणविरहिते भूमितले शुचावनुकूलस्पर्शे यथासुखमुपविष्टो बद्धपल्यङ्कासनः समृजुं प्रणिधाय शरीरयष्टिमस्तब्धां स्वाङ्के वामपाणितलस्योपरि दक्षिणपाणितलमुत्तलं संमुपादाय नात्युन्मीलन्नातिनिमीलन् दन्तैर्दन्ताग्राणि संदधानः ईषदुन्नतमुखः प्रगुणमध्योऽस्तब्धमूर्त्तिः प्रणिधानगम्भीरशिरोधरः प्रसन्नवक्त्रवर्णः अनिमिषस्थिरसौम्यदृष्टिः विनिहितनिद्रालस्यकामरागरत्यरतिशोकहास्यभयद्वेषविचिकित्सः मन्दमन्दप्राणापानप्रचार इत्येवमादिकृतपरिकर्मा साधुः, नाभेरूर्ध्वं हृदये मस्तकेऽन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं प्रणिधाय मुमुक्षुः प्रशस्तध्यानं ध्यायेत् । तत्रैकाग्रमना उपशान्तरागद्वेषमोहो नैपुण्यान्निगृहीतशरीरक्रियो मन्दोच्छ्वासनिःश्वासः सुनिश्चिताभिनिवेषः क्षमावान् बाह्याभ्यन्तरान् द्रव्यपर्यायान् ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्यः अर्थव्यञ्जने कायवचसी च पृथक्त्वेन संक्रामता मनसाऽपर्याप्तबालोत्साहवद्व्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयंश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवति । पुनर्वीर्यविशेषहानेर्योगाद्योगान्तरं व्यञ्जनाद्व्यञ्जनान्तरमर्थादर्थान्तरमाश्रयन् ध्यानविधूतमोहरजाः ध्यानयोगान्निवर्तते इति । उक्तं पृथक्त्ववितर्कवीचारम् ।

अनेनैव विधिना सतूलमूलं मोहनीयं निर्दिधक्षन्ननन्तगुणविशुद्धं योगविशेषमाश्रित्य बहुतराणां ज्ञानावरणसहायिभूतानां[3] प्रकृतीनां बन्धं निरुन्धन् स्थितेः ह्रासक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगवान्निवृत्तार्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः अविचलितमना क्षीणकषायो वैडूर्यमणिरिव निरुपलेपो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इति ? उक्तमेकत्ववितर्कम् ।

१ त्यक्त्वाऽन्ययो-मु०, द०, ब०, । २ समुपदाय-ता०, अ० । ३ मोहनीयानामित्यर्थः-अ० टि ।

एवमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानवैश्वानरनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनः प्रज्वलितकेवलज्ञानगभस्तिमण्डलः मेघपञ्जरनिरोधनिर्गत इव घर्मरश्मिर्भासयमानो भगवांस्तीर्थकर इतरो वा केवली लोकेश्वराणामभिगमनीयोऽर्चनीयश्चोत्कर्षेणायुःपूर्वकोटिं देशोनां विहरति । स यदा अन्तर्मुहूर्त्तशेषायुष्कः तत्तुल्यस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा सर्ववाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानमास्कन्दितुमर्हति । यदा पुनरन्तर्मुहूर्त्तशेषायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिविशेषकर्मत्रयो भवति योगी तदा आत्मोपयोगातिशयस्य सामायिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्य शेषकर्म रेणुपरिशातनशक्तिस्वाभाव्यात् दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वा पुनरपि तावद्भिरेव समयैः समुपहृतप्रदेशविसरणः समीकृतस्थितिविशेषकर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरपरिमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं ध्यायति ।

तदस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमारभते । समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तीत्युच्यते । तस्मिन् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिनि ध्याने सर्वबन्धास्रवनिरोधसर्वशेषकर्मशातनसामर्थ्योपपत्तेरयोगिनः केवलिनः संपूर्णयथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनं सर्वसंसारदुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते । स पुनरयोगिकेवली भगवांस्तदा ध्यानानलनिर्दग्धसर्वमलकलङ्कबन्धो निरस्तकिट्टधातुपाषाणजात्यकनकवल्लब्धात्मा परिनिर्वाति । तदेतद् द्विविधं तपः अभिनवकर्मास्रवनिरोधहेतुत्वात् संवरणकारणं प्राक्तनकर्मरजोविधूनननिमित्तत्वान्निर्जराहेतुरपि ।

अत्राह-उक्तं परीषहजयात्तपसश्च कर्मनिर्जरा भवतीति, तत्रेदं न ज्ञायते सर्वे सम्यग्दृष्टयः समनिर्जराः आहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इति ? अस्तीत्याह—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥

प्रथमसम्यक्त्वादिप्रतिलम्भे अध्यवसायविशुद्धिप्रकर्षादसंख्येयगुणनिर्जरात्वं दर्शानाम् । मद्यपानाविष्टस्य मदैकदेशविगमादव्यक्तावगमशक्तिवत्, प्रकृष्टनिद्रस्य वा तदेकदेशक्षयादल्पस्मृतिजन्मवत्, विषमोहितमूर्तेर्वा एकदेशविषप्रच्युतेश्चेतनाप्रतिलम्भवत्, पित्तादिविकारोपजातमूर्च्छस्य वा मोहैकदेशनिवृत्तेरव्यक्तचैतन्यवत् एकेन्द्रियेष्वनन्तकायादिषु अनन्तकालमुत्पद्योत्पद्य परिभ्रमतः विशेषलब्ध्या द्वीन्द्रियादिजन्म यावत्पञ्चेन्द्रिय इति कदाचित्पुनः प्रतिनिवर्तते । तदेवं बहुकृत्वो निवर्तनारोहणबहुशतसहस्रेषु कदाचित् पञ्चेन्द्रियत्वं नरकादिषु दीर्घकालमनुभूय घुणोत्कीर्णाक्षरसमानजातीयमानवेषु जन्मावाप्नुयात् । भ्रान्त्वा पुनरपि ततो दुर्लभानि देशकुलादीन्यवाप्य संक्लेशस्य भ्रदिम्ना विशुद्धव्यवसायः प्रतिभाशक्तियुक्तः भव्यः परिणामशुद्धया प्रक्षालितान्तरात्माप्युपदेशासंभवात् सन्मार्गमलभमानः कुतीर्थप्रतिपादितमिथ्यादर्शनो भूत्वा पुनरपि संसारमहाजनपदातिथिर्भवति । अभिहितक्रमेणैव भूयो ज्ञावावरणकर्मैकदेशप्रशमोपजातविशुद्धिरूपदेशलब्धिसम्पन्नः अथवा मौनीन्द्रं दर्शनं कदाचिच्छृणुयात् प्रतिबन्धिनश्च कर्मणः न्यग्भावात् श्रद्दध्यात् कतकसम्पर्कोपजनितकलुषतोयप्रसादवत् असद्भूतार्थोपदेशमलीमसः मिथ्यात्वोपशमात् परिणतप्रसादः श्रद्धानाभिमुखोऽभिलाषाभि[3]मुख्यादसंख्येयगुणनिर्जरः अभूतपूर्वकरणात् प्रथमसम्यक्त्वाभिमुखो रुचितजिनवचन उपशमसम्यग्दृष्टितामनुभवति । ततः सम्यक्त्वभावना-

१-बन्धनो अ०, ता० । २ प्रीणितप्र-मु०, द०, ब०, ज० । ३ तत्त्वार्थ-अ० टि० ।

मृतरसविवर्द्धितविशुद्धिः मिथ्यात्वविघातिवीर्याविर्भावे क्षुद्यमानव्रीहितुषकणतन्दुलविवेकवत्, मिथ्यादर्शनकर्म मिथ्यात्वसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वविभागेन त्रिधा विभज्य सम्यक्त्वं वेदयमानः सद्भूतपदार्थश्रद्धानफलं वेदकसम्यग्दृष्टिर्भवति। ततः प्रशमसंवेगादिमान् जिनेन्द्रभक्तिप्रवर्द्धितविपुलभावनाविशेषसंभारो यत्र केवलिनः सन्ति भगवन्तस्तत्र मोहं क्षपयितुमारभते; निष्ठापकः पुनश्चतसृषु गतिषु भवति। स निराकृतमिथ्यात्वः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते। अथवा पूर्वोदितं एव शङ्कादिदोषविनिर्मुक्तः कुसमयैरक्षोभितमतिः उपलब्धसद्भावो मोहतिमिरपटलविप्रमुक्तदृष्टिः जैनेन्द्रपूजाप्रवचनवात्सल्यसंयमादिप्रशंसादिपरतया क्षपितोपशमितदेशघातिकर्मा संयमासंयमप्राप्त्या श्रावकोऽपि स्यात्। पूर्वनिर्दिष्टः ततो विशुद्धिप्रकर्षात् पुनरपि सर्वगृहस्थसङ्गविप्रमुक्तो निर्ग्रन्थतामनुभवन् विरत इत्यभिलप्यते। एवमुत्तरोत्तरक्रमो वेदितव्योऽन्वर्थः। त एते दशाप्युपर्युपरि असंख्येयगुणनिर्जरा वेदितव्याः।

क्षपक इत्यसाधुरन्वाख्यानाभावादिति चेत्; न; चशब्देन मित्संज्ञोपलब्धेः।१। स्यान्मतम्–क्षपक इत्ययमसाधुः। कुतः? अन्वाख्यानाभावादिति; तन्न; किं कारणम्? चशब्देन मित्संज्ञोपलब्धेः। क्षै जै षै क्षय इत्यस्य कृतात्वस्य "णिचियुकिजविजृष्टुसुरजोमताश्च" [ ] इति चशब्देन मित्संज्ञायां सत्यां ह्रस्वत्वात् साधुर्भवति। प्रयुक्तानामन्वाख्यानात् प्रयोगदर्शनाच्च।

आह–सम्यग्दर्शनसन्निधानेऽपि यद्यसंख्येयगुणनिर्जरात्वात् परस्परतो न साम्यमेषां हन्त तर्हि श्रावकवदमी पूर्वसूत्रचोदिता न सर्वे विरतादयो गुणभेदात् निर्ग्रन्थतामर्हन्तीति? उच्यते–नैतदेवम्। कुतः? यस्माद् गुणभेदादन्योन्यविशेषेऽपि नैगमादिनयव्यापारात् सर्वेऽपि भवन्ति–

पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥

अपरिपूर्णव्रता उत्तरगुणहीनाः पुलाकाः।१। उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित् कदाचित् परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तः अविशुद्धपुलाकसादृश्यात् पुलाकव्यपदेशमर्हन्ति।

अखण्डितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रवणा वकुशाः।२। नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः अखण्डितव्रताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः ऋद्धियशस्कामाः सातगौरवाश्रिताः अविविक्तपरिवाराः छेदशबलयुक्ताः वकुशाः। शबलपर्यायवाची वकुशशब्दः।

कुशीला द्विविधाः प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात्।३। कुशीला द्विविधा भवन्ति। कुतः? प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात्। अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णोभयाः कथञ्चिदुत्तरगुणविराधिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः। ग्रीष्मे जङ्घाप्रक्षालनादिसेवनाद्वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतन्त्रत्वात् कषायकुशीलाः।

उदके दण्डराजिवत्सन्निरस्तकर्माणोऽन्तर्मुहूर्तकेवलज्ञानदर्शनप्राप्तिनो निर्ग्रन्थाः।४। उदके दण्डराजिर्यथा आश्वेव विलयमुपयाति तथाऽनभिव्यक्तोदयकर्माणः ऊर्ध्वं मुहूर्त्तादुद्विद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः

प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनः स्नातकाः।५। ज्ञानावरणादिघातिकर्मक्षयादाविर्भूतकेवलज्ञानाद्यतिशयविभूतयः सयोगिशैलेशिनो लब्धास्पदाः केवलिनः स्नातकाः। "स्नातवेदसमाहौ" [ ] इति स्वार्थिके के निष्पन्नः शब्दः। त एते पञ्चनिर्ग्रन्थाः। कश्चिदाह—

१ बद्धायुष्कपेक्षया–श्र० टि०। २ वेदकसम्यग्दृष्टिः–श्र० टि०। ३ लक्षणानुसारेण–श्र० टि०। ४ पुटाच् इत्यादि सूत्रे क्षि धातोरपरे पठितत्वात् ह्रस्वाभावः तस्मात् क्षापक इति प्राप्नोति, क्षपक इति अपगतलक्षण इत्याह चोदकः–श्र० टि०। ५ तृणधान्यविशेषः–श्र० टि०। ६–सायानुव–ता०, श्र०। ७ मस्तकप्रक्षालन–मु० टि०। ८ कृतकृत्या इत्यर्थः, प्रतिष्ठाकृत्यमास्पदमित्यभिधानात्–श्र० टि०।

प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यानां निर्ग्रन्थाभावश्चारित्रभेदाद् गृहस्थवत्।६। यथा गृहस्थश्चारित्रभेदान्निर्ग्रन्थव्यपदेशभाग् न भवति तथा पुलाकादीनामपि प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यमचारित्रभेदान्निर्ग्रन्थत्वं नोपपद्यते।

न वा, दृष्टत्वात् ब्राह्मणशब्दवत्।७। न वैष दोषः। कुतः? दृष्टत्वात् ब्राह्मणशब्दवत्। यथा जात्या चारित्राध्ययनादिभेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दोऽविशिष्टो वर्त्तते तथा निर्ग्रन्थशब्दोऽपि इति। किञ्च,

संग्रहव्यवहारापेक्षत्वात्।८। यद्यपि निश्चयनयापेक्षया गुणहीनेषु न प्रवर्त्तते तथापि संग्रहव्यवहारनयविवक्षावशात् सकलविशेषसंग्रहो भवति। किञ्च,

दृष्टिरूपसामान्यात्।९। सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः।

भग्नव्रते वृत्तावतिप्रसङ्ग इति चेत्; न; रूपाभावात्।१०। यदि भग्नव्रतेऽपि निर्ग्रन्थशब्दो वर्त्तते श्रावकेऽपि स्यादिति अतिप्रसङ्गः; नैष दोषः; कुतः? रूपाभावात्, निर्ग्रन्थरूपाभावात्। निर्ग्रन्थरूपमत्र नः प्रमाणम्। न च श्रावके तदस्तीति नातिप्रसङ्गः।

अन्यस्मिन् सरूपेऽतिप्रसङ्ग इति चेत्, नः दृष्ट्यभावात्।११। स्यादेतत्–यदि रूपं प्रमाणमन्यस्मिन्नपि सरूपे निर्ग्रन्थव्यपदेशः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? दृष्ट्यभावात्। दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेशः न रूपमात्र इति। अथ किमर्थः पुलाकादिव्यपदेशः?

गुणप्रकर्षवृत्तिविशेषख्यापनार्थः पुलाकाद्युपदेशः।१२। चारित्रगुणस्योत्तरोत्तरप्रकर्षे वृत्तिविशेषख्यापनार्थः पुलाकाद्युपदेशः क्रियते।

तेषां पुलाकादीनां भूयो विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

तसोऽलक्षणत्वादनिर्देश इति चेत्; न; अन्यतोऽपीति वचनात्सिद्धेः।१। स्यादेतत्–तसो नोत्पत्तेर्लक्षणमस्ति। ततो निर्देशो न युक्त इति; तन्न; किं कारणम्? "अन्यतोऽपि" [ ] इति वचनात्सिद्धेः।

भवदादियोग इति चेत्; न; अन्यत्रापि दर्शनात्।२। स्यान्मतम्–भवदादियोगे "अन्यतोऽपि" [ ] इति लक्षणं व्याक्रियते, नान्यत्रेति तसो नोत्पत्तिरिति; तन्न; किं कारणम्? अन्यत्रापि दर्शनात्। अन्यत्र तसः प्रयोगो दृश्यते–नार्थतो न शब्दतो नाभिधानतः सुमध्यम इति।

प्रतिसेवनेति षत्वाभावः क्रियान्तराभिसंबन्धात्।३। यथा विगताः सेवका अस्माद् ग्रामाद्विसेवको ग्राम इति षत्वं न भवति तथा प्रतिगता सेवना प्रतिसेवनेति क्रियान्तराभिसंबन्धात् षत्वं न भवति।

पुलाकादयः संयमादिभिः साध्याः।४। एते पुलाकादयः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषाः संयमादिभिरष्टाभिरनुयोगैः साध्या व्याख्येया इत्यर्थः। तद्यथा, कः कस्मिन् संयमे भवति? पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीलाः द्वयोः संयमयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्भवन्ति। कषायकुशीला द्वयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायिकयोः पूर्वयोश्च। निर्ग्रन्थस्नातकाः एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे।

१–पे सति प्र–ता०। –पे प्र–श्र०। २ आद्यादिभ्य इति संभवद्बिभक्त्यन्तेभ्यः तस् भवति–श्र० टि०। ३ सम–मु०, द०, ज०।

श्रुतम्–पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीलाः उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः । कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतम् आचारवस्तु । वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतम् अष्टौ प्रवचनमातरः । स्नातका अपगतश्रुता केवलिनः ।

प्रतिसेवना–पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगात् बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति । वकुशो द्विविधः–उपकरणवकुशः शरीरवकुशश्चेति । तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तः बहुविशेषयुक्तोपकरणकाङ्क्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरुपकरणवकुशो भवति । शरीरसंस्कारसेवी शरीरवकुशः । प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन् उत्तरगुणेषु काश्चिद्विराधनां प्रतिसेवते । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति ।

तीर्थमिति सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थेषु भवन्ति ।

लिङ्गं द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च । भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्थलिङ्गिनो भवन्तीति । द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य[1] भाज्याः ।

लेश्याः–पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति । वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि । कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेश्चतस्र(श्च चतस्र)उत्तराः । सूक्ष्मसाम्परायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति । अयोगशैले प्रतिपन्ना अलेश्याः ।

उपपादः–पुलाकस्य उत्कृष्ट उपपादः उत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे, वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयोः, कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रायस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ । सर्वेषामपि जघन्यः सौधर्मकल्पे द्वे सागरोपमस्थितिषु । स्नातकस्य निर्वाणमिति ।

स्थानम्–असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति । तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः, तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छतः, ततः पुलाको व्युच्छिद्यते । कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानीष्टस्थानानि गच्छति एकाकी । ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशाः युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति, ततो वकुशो व्युच्छिद्यते । ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते । ततोऽप्यसंख्येयानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते । अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते । सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा निर्ग्रन्थस्नातको निर्वाणं प्राप्नोतीत्येतेषां संयमलब्धिरनन्तगुणा भवतीति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

---

१ आश्रित्य–अ० टि० । २–श्च तिस्र मू०, ता०, अ० । "कषायकुशीलस्य चतस्र उत्तराः"–सर्वार्थसि० ९।४७ ।

अथ दशमोऽध्यायः

आह–आस्रवदोषानवलिप्तत्वं परिस्पन्दवतोऽपि कुशलस्य कर्मागमद्वारसंवरणादित्युपपादितः संवरपदार्थः, तदनन्तरनिर्देशभाविनी निर्जराऽभिधीयतामिति ? अत्र ब्रूमः–नासाविह पुनर्वक्तव्या । कुतः ? तपोऽनुभवसंबन्धेन[1] यस्मात्पुरैव [2]व्याख्याता । यथानामोपभुक्तविचित्रफलकर्मनिवृत्तिर्निर्जरा । [3]तत्रानवसरप्राप्तेति चेत् ; न; [4]अर्थवशाच्छास्त्रगरीयस्त्वपरिहारार्थत्वाच्च । [5]संवरानन्तरनिर्देशार्हेति चेत् ; तथैवाभिहिता "तपसा निर्जरा च" [९।३] इति । अत एव गुप्त्याद्यवसानम्, इतरथा हि उभयहेतुत्वविपर्ययेण यत्र क्वचनाभिधानं स्यात् ।

आह–प्रक्लप्ता निर्जरा, मोक्षोऽभिधातव्यः । स चानुपसम्प्राप्तकेवलज्ञानावस्थस्य नोपपद्यते इति अतः केवलज्ञानमेव तावद्यथा भवति तथोपदेष्टव्यमिति ? उच्यते; नैतदपि भूयो निर्देशार्हं वेदितव्यम् । कुतः ? यस्माद्ध्यानप्रकरणे व्याख्यातम्—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥ इति ।

अथवा, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [१।१] इत्युपक्षिप्य लक्षणोत्पत्तिविषयनिबन्धनादिभिर्विशेषैर्दर्शनचारित्रे समर्थिते, ज्ञानं च प्रमाणस्वभावं पञ्चविधमभ्युपेत्य तत्र चतुष्टयस्य लक्षणोत्पत्तिहेतुविषयनिबन्धाः प्रक्रान्ताः, अतः परमिदं वक्तव्यम्–एवमुत्पद्यते केवलमिति ? अत्र ब्रूमः–न वक्तव्यं पुनः, यस्मात् पुरस्तादेव व्याख्यातम् , संवरनिरुपादानीकृतसन्ततिचारित्रध्यानाग्निप्रज्वलितेन्धनमोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । किम् ? उत्पद्यत इत्युपदिष्टमिति[6] वाक्यशेषः ।

वृत्तिप्रसङ्गो लघ्वर्थमिति चेत् ; न; क्रमेण क्षयज्ञापनार्थत्वात् ।१। स्यान्मतम्–इह वृत्त्या निर्देशः कर्तव्यः मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलमिति । किमर्थः ? लघ्वर्थमिति; तन्न; किं कारणम् ? क्रमेण क्षयज्ञापनार्थत्वात् । प्रागेव मोहक्षयमुपनीयार्न्तमुहूर्तं क्षीणकषायव्यदेशमवाप्य ततो युगपद् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति ।

तत्क्षयहेतुः केवलोत्पत्तिरिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशः ।२। तत्क्षयः केवलज्ञानोत्पत्तेर्हेतुरिति कृत्वा तदभिसंबन्धावद्योतिकया हेतुलक्षणया विभक्त्या निर्देशः क्रियते ।

तत्क्षयः प्रणिधानविशेषात् ।३। तेषां मोहादीनां क्षयो भवति । कुतः ? प्रणिधानविशेषात् , परिणामविशेषादिति यावत् । तद्यथा–[7]पूर्वाहितेन विधिना परमतपोविशेषैः प्रशस्ताध्यवसायप्रकर्षात् विशुद्धयतः[8] शुभाभिमताः प्रकृतयः स्फीतीभवन्ति, अप्रशस्ताश्च तनूभूय विलीयन्ते । तत्र कश्चिद्वेदकसम्यग्दृष्टिरप्रमत्तगुणस्थाने सप्तप्रकृत्युपशमात् श्रेण्यारोहणाभिमुखश्चारित्रमोहमुपशमयितुमारभते । अपरः असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतगुणस्थानेषु [9]कस्मिंश्चित्

---

१ तपःसम्बन्धेन अनुभवसम्बन्धेन चेत्यर्थः । अनुभवसम्बन्धेन–अ० टि० । २ तपसा निर्जरा चेत्यत्र विपाकोऽनुभवः स यथानाम ततश्च निर्जरेत्यत्र च व्याख्याता–अ० टि० । ३ तत्रानुभवः संप्राप्त इति मु०, द०, ब० । तत्रा नुभवं संप्राप्त इति–ज० । ४ प्रयोजन–अ० टि० । ५ यत एव संवरानन्तरं निर्देशार्हत्वं तस्मादेव गुप्त्यादिसूत्रावसाने व्याख्याता सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः तपसा निर्जरा चेति वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिरिति सूत्रव्याख्यानावसरे द्रष्टव्यम्–अ० टि० । ६ ध्यानप्रकरणे–अ० टि० । ७ 'सम्यग्दृष्टिश्रावक'- इत्यादिसूत्रस्य व्याख्यानावसरे दुर्लभपरम्पराविधानेन–अ० टि० । ८ अनुभागेन–अ० टि० । ९ पुंसः–अ० टि० । १० गुणस्थाने–अ० टि० ।

सप्तकर्मप्रकृतीः क्षयमुपनीय क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा चारित्रमोहमुपशमयितुमुपक्रमते। ततोऽर्थात्प्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च कृत्वा उपशमकश्रेणिमारुह्यापूर्वकरणोपशमकगुणस्थानव्यपदेशमनुभूय तत्राभिनवशुभाभिसन्धितनूकृतपापकर्मप्रकृतिस्थित्यनुभागः विवर्द्धितशुभकर्मानुभवः अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकगुणस्थानमधिरुह्य नपुंसकवेदस्त्रीवेदनोकषायषट्कपुंवेदाप्रत्याख्यानक्रोधद्वयमायाद्वयलोभद्वयक्रोधमानसंज्वलनसंज्ञिकाः प्रकृतीः क्रमेणोपशमय्य ततः सूक्ष्मसाम्परायप्रथमसमये मायासंज्वलनमुपशमं नीत्वा लोभसंज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसाम्परायोपशमकाख्यामास्कन्द्य ततः उपशान्तकषायप्रथमसमये लोभसंज्वलने चोपशमं गते सर्वमोहप्रकृत्युपशमात् उपशान्तकषायव्यपदेशभाग्भवति। आयुषः क्षयात् म्रियते। अथवा पुनरपि कषायानुदीरयन् प्रतिनिवर्त्तते। स एव वाऽन्यो वा विशुद्धाध्यवसायानुपरतोत्साहः पूर्ववत् क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा कर्मविशुद्ध्या महत्या विशुद्धयन् क्षपकश्रेणीमनुप्रपद्य[1] तैरेव करणैस्त्रिभिः पूर्ववदपूर्वकरणक्षपकताभिलिष्य तत ऊर्ध्वं कषायाष्टकं नष्टं कृत्वा नपुंसकवेदं नाशमापाद्य स्त्रीवेदमुन्मूल्य नोकषायषट्कं [3]पुंवेदे प्रक्षिप्य क्षपयित्वा पुंवेदं क्रोधसंज्वलने क्रोधसंज्वलनं मानसंज्वलने मानसंज्वलनं मायासंज्वलने मायासंज्वलनं च लोभसंज्वलने क्रमेण क्रमेण बादरकृष्टिविभागेन विलयमुपनीय अनिवृत्तिबादरसाम्परायक्षपकभावमवाप्य लोभसंज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसाम्परायक्षपकमनुभूय निरवशेषं मोहनीयं निर्मूलकाषं कषित्वा क्षीणकषायतामधिरुह्य अवतारितमोहनीयभारः उपान्तिमे समये निद्राप्रचले प्रलयमुपनीय पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां [5]चान्तसन्ते समुपगम्य तदनन्तरं ज्ञानदर्शनस्वभावं केवलपर्यायमप्रतर्क्यविभूतिविशेषं निःसपत्नमवाप्य निरुपलेपः कमलमिवामलः साक्षात्त्रिकालसर्वद्रव्यपर्यायस्वभावज्ञः सर्वत्राप्रतिहतदर्शनः अवाप्तनिरवशेषपुरुषार्थः जलधरनिरोधकालातीतस्वकिरणकलापसौम्यदर्शनस्तारकाधिपतिरिव ज्वलितमूर्तिः केवली भवति।

आह-व्याख्यातं प्रतिबन्धविनिर्मुक्तसम्यक्त्वदर्शनानन्तवीर्यसमन्वितं केवलम्, तदात्मलाभश्च सकलकर्मोच्छेदहेतुरभ्युपगतः[6]। अथ किंलक्षणः कस्माच्च हेतोर्मोक्षो भवतीत्युभयमभिधीयतामिति? अत्रोच्यते-तस्य खलु भगवतः केवलपर्यायलब्धात्मलाभस्य विग्रहवतः स्वप्रभावार्जितानन्तैश्वर्यभाजः पूर्वं दग्धकर्मचतुष्टयस्याऽप्रच्युतवेद्यनामगोत्रायुषश्च—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः[7] ॥ २ ॥

मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः ।१। मिथ्यादर्शनादीनां पूर्वोक्तानां कर्मास्रवहेतूनां निरोधे[8] कारणाभावात् कार्याभाव इत्यभिनवकर्मादानाभावः।

पूर्वोदितनिर्जराहेतुसन्निधाने चार्जितकर्मनिरासः ।२। पूर्वोदितानां निर्जराहेतूनां सन्निधानेऽर्जितस्य च कर्मणो निरासो भवति। ताभ्यां बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यामिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशः, ततो भवस्थितिहेतुसमीकृतशेषकर्मावस्थस्य युगपदात्यन्तिकः प्रत्येतव्यः [10]कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।

---

१ वेदकसम्यग्दृष्टिः उपशमश्रेण्यनारोहको वा क्षपकश्रेण्यारूढ इत्यर्थः-श्र० टि०। २ अभिमुखो भूत्वा-श्र० टि०। ३ पुंवेदरूपेण कृत्वेत्यर्थः-श्र० टि०। ४ स्थूलकर्षण-श्र० टि०। ५ चान्तसमये स-मु०, द०, ब०, ज०, ता०, श्र,। ६ अङ्गीकृतः-श्र० टि०। ७ मोक्षः-श्र० टि०। ८ 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इति नास्ति-ता०, श्र०, मू०, ज०, ब०, द०, भा० १, २। केवलं मुद्रितप्रतावेव विद्यते। ९ विरोधिका-मु०, द०, ब०, ज०। १० ता०, श्र०, मू०, ज०. द० प्रतिषु अस्य पृथक् सूत्रत्वेनोल्लेखः।

आद्यभावादन्ताभाव[1] इति चेत्; न; दृष्टत्वादन्त्यबीजवत् ।३। स्यान्मतम्-कर्मबन्धसन्तानस्याद्यभावादन्तेनाप्यस्य न भवितव्यम्, दृष्ट[2]विपरीतकल्पनायां प्रमाणाभावादिति; तन्न; किं कारणम्? दृष्टत्वादन्त्यबीजवत्। यथा बीजाङ्कुरसन्तानेऽनादौ प्रवर्त्तमाने अन्त्यबीजमग्निनोपहताङ्कुरशक्तिकमित्यन्तोऽस्य दृष्टस्तथा मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययसाम्परायिकसन्तावनादौ ध्यानानलनिर्दग्धे कर्मबीजे भवाङ्कुरोत्पादाभावान्मोक्ष इति दृष्टमिदमपह्नोतुमशक्यम्। उक्तं च—

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥" [ ] इति[3]।

कृ[4]त्स्नस्य कर्मत्वेन क्षयः कर्मक्षयः, सतो द्र[5]व्यस्य द्रव्यत्वेन विनाशो नास्ति। कथं तर्हि? पर्यायेण, तस्योत्पत्तिमत्त्वाद्विनाशेन भवितव्यम्, तन्मुखेन द्रव्यमपि व्ययमुपयातीति व्यपदिश्यते। ततः पुद्गलद्रव्यस्य कारणवशात् कर्मत्वपर्यायमापन्नस्य तत्प्रत्यनीकहेतुसन्निधाने तत्[6]पर्यायनिवृत्तौ तस्य क्षयः इत्युपदेशो भवतीति युक्तमेतत्-कृत्स्नकर्मक्षय इति।

भावसाधनो मोक्षशब्दो द्विविषयो विप्रयोगक्रियामात्रगतेः ।४। मोक्ष असने इत्यस्य मोक्षणं मोक्ष इति भावसाधनः शब्दो द्विविषयः मोक्तव्यमोचकापेक्षत्वात्। कुतः? विप्रयोगक्रियामात्रगतेः। कृत्स्नशब्देन कर्माष्टविधं सद्बन्धोदयोदीरणचतुर्विधव्यवस्थं परिगृहीतम्। तत्र बन्धोदयोदीरणानां क्षयविभागो गुणस्थानभेदेन निर्दिष्टः। सत्कर्मोच्छेदस्तु न प्रतिपादितः, स विधियते-

कर्माभावो द्विविधः-यत्नसाध्योऽयत्नसाध्यश्चेति। तत्र चरमदेहस्य नरकतिर्यग्देवायुषामभावोऽयत्नसाध्यः असत्त्वात्। यत्नसाध्य इत ऊर्ध्वमुच्यते-असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु चतुर्षु गुणस्थानेषु कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वाख्यप्रकृतिसप्तकविपतरुवनं शुभाध्यवसायनिशितपरशुपातेन निर्मूलं निच्छिद्यते। निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनरकगतितिर्यग्गत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनरकगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणसंज्ञकानां षोडशानां कर्मप्रकृति प्रतनासेनान्या युगपदनिवृत्तिबादरसाम्परायःस्वेन समाधिचक्रेण विजयमवाप्नोति। ततः परं कषायाष्टकं नष्टं करोति स एव युगपत्। नपुंसकवेदः स्त्रीवेदश्च क्रमेण तत्रैव क्षयमुपयाति, नोकषायषट्कं चैकेनैव प्रहारेण निपातयति। ततः पुंवेदसंज्वलनक्रोधमानमायाः क्रमेण तत्रैवात्यन्तिकं ध्वंसनमास्कन्दन्ति। लोभसंज्वलनः सूक्ष्मसाम्परायान्ते यात्यन्तम्। निद्राप्रचले क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थस्योपान्तिमे समये प्रलयमुपव्रजतः। पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां च तस्यैवान्तसमये प्रक्षयो भवति। अन्यतरवेदनीयदेवगत्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीर[7]संस्थानषडौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गषट्संहननपञ्चप्रशस्तवर्णपञ्चाऽप्रशस्तवर्णगन्धद्वयपञ्चप्रशस्तरसपञ्चाऽप्रशस्तरसस्पर्शाष्टकदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरानादेययशस्कीर्तिनिर्माणनामनीचैर्गोत्राख्या द्वासप्ततिप्रकृतयः अयोगिकेवलिन उपान्त्यसमये विनाशमुपयान्ति। अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यत्रसबादरपर्याप्तकसुभगादेययश -

---

१ अन्तं नास्तीत्यर्थः-श्र० टि०। २ यथा अनादीनामपि धर्मादिद्रव्याणामाद्यन्तकल्पनायां प्रमाणत्वाभावस्तथा अनाद्यनिधनतया अदृष्टस्य कर्मबन्ध'.....-श्र० टि०। ३ तुलना-त० भा० का० १०।७।८। ४ कृत्स्नस्य कर्मणो विप्रमोक्षो मोक्ष इत्युक्तं तर्हि नैवासतो जन्म सतो न नाश इति या प्रतिज्ञा सा हीयत इत्याशङ्कायामाह-श्र० टि०। ५ सतो द्रव्यत्वेन-ता०। ६ मिथ्यादर्शनादि०-श्र० टि०। ७ कर्मपर्याय-श्र० टि०। ८-र बन्धनपञ्चसंघातसंस्था-मु०, द०, ब०।

स्कीर्त्तितीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रसंज्ञिकानां त्रयोदशानां प्रकृतीनामयोगिकेवलिनश्चरमसमये व्युच्छेदो भवति।

आह-किमासां पौद्गलिकीनामेव द्रव्यकर्मप्रकृतीनां निरासान्मोक्षोऽवसीयत उत भावकर्मणोऽपीति? अत्रोच्यते—

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

किम्? मोक्ष इत्यनुवर्तते।

भव्यत्वग्रहणमन्यपारिणामिकाऽनिवृत्त्यर्थम् ।१। अन्येषां जीवत्वादीनां पारिणामिकानां मोक्षावस्थायामनिवृत्तिज्ञापनार्थं भव्यत्वग्रहणं क्रियते। तेन पारिणामिकेषु भव्यत्वस्य औपशमिकादीनां च भावानामभावान्मोक्षो भवतीत्यवगम्यते। ननु च द्रव्यनिरासेऽभिहिते तन्निमित्तानां[1] भावानां निवृत्तिरर्थादवगम्यत इति नार्थोऽनेन योगेन? नैष दोषः; नायमेकान्तः-[2]"निमित्तापाये [3]नैमित्तिकानां निवृत्तिः' इति। अपि च, अर्थादवगमेऽपि सिद्धे साक्षात्प्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते-विस्पष्टार्थं वक्ष्यमाणसूत्रनिर्देशार्थम्।

आह-यद्यपवर्गो भावोपरतेः प्रतिज्ञायते, ननु चौपशमिकादिभावनिवृत्तिवत् सर्वक्षायिकनिवृत्तौ अव्यपदेशो मुक्तस्य प्राप्नोतीति; स्यादेतदेवं यदि विशेषो नोच्येत, अस्ति तु विशेष इति अपवादविधानार्थमिदमुच्यते—

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

अन्यत्रशब्दो वर्जनार्थः ।१। अन्यत्रशब्दोऽयं वर्जनार्थो द्रष्टव्यः, तन्निमित्तः सिद्धत्वेभ्य इति विभक्तिनिर्देशः, यथा-"अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां सर्वे योद्धाः पराङ्मुखाः" [ ] इति।

अन्यशब्दप्रयोगे तद्विज्ञानमिति चेत्; न; स्वार्थिकत्वात् ।२। स्यान्मतम्-अन्यशब्दप्रयोगे कः विभक्तिर्विज्ञायते यथाऽन्यो देवदत्तादिति, अन्यत्र शब्दोऽयं तस्मान्निर्देशो नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम्? स्वार्थिकत्वात्। स्वार्थिकोऽयं त्रः, केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्योऽन्यस्मिन्नयं विधिरिति।

अनन्तवीर्यादिनिवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; अत्रैवान्तर्भावात् ।३। स्यादेतत्-सम्यक्त्वादीनां चतुर्णां क्षायिकाणां संग्रहादितरेषां निवृत्तिरनन्तवीर्यादीनां प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अत्रैवान्तर्भावात्। ज्ञानदर्शनाविनाभाविनो ह्यनन्तवीर्यादयः अत्रैवान्तर्भवन्ति। अनन्तसामर्थ्यहीनस्यानन्तावबोधवृत्त्यभावात्, ज्ञानमयत्वाच्च सुखस्येति।

बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिवदिति चेत्; न; मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्तेः ।४। स्यादेतत्-यथा अश्वादीनामेकस्मिन् बन्धे उच्छिन्नेऽपि पुनर्बन्धान्तरसंभवादव्यवस्था तथा जीवस्यापि कस्मिंश्चिद् बन्धेऽपगतेऽपि बन्धान्तरप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्? मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्तेः। पुनर्बन्धहेत्वभावाद्बन्धाभावः।

---

१ द्रव्यकर्मभावकर्म-श्र० टि०। २ द्रव्य-श्र० टि०। ३ भाव। चक्रभ्रमणनिमित्तदण्डापाये न चक्रभ्रमणाभावः, कुलालचक्रचीवराद्यभावे वा न घटाभावः। अपि तर्हि भाव एव-श्र० टि०। ४ पञ्चमी विभक्तिरित्यर्थः।

पुनर्बन्धप्रसङ्गो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्; न; सर्वास्रवपरिक्षयात् ।५। स्यादेतत्-व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेषं जानतः पश्यतश्च कारुण्यमुत्पद्यते ततश्च बन्ध इति; तन्न; किं कारणम्? सर्वास्रवपरिक्षयात्। भक्तिस्नेहकृपास्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते सन्तीति।

अकस्मादिति चेत्; अनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।६। यदि कारणमन्तरेणैव मुक्तस्य बन्धः कल्प्यते ननु अनिर्मोक्षः स्यात्। मुक्तिप्राप्त्यनन्तरमेव बन्धोपपत्तेः[1]।

स्थानवत्त्वात्पात इति चेत्; न; अनास्रवत्वात् ।७। स्यादेतत्-स्थानव[2]त्त्वात् मुक्तस्य पातः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अनास्रवत्वात्। आस्रववतो हि यानपात्रस्याधःपतनं दृश्यते, न चास्रवो मुक्तस्यास्ति।

गौरवाभावाच्च ।८। गौरववतो हि तालफलस्य तत्प्रतिबद्धवृन्तसंयोगाभावे पतनं दृष्टं नागौरवस्याकाशप्रदेशस्य, न च गौरवमस्ति मुक्तस्येति पाताभावः। यस्य हि स्थानवत्त्वं पातकारणं तस्य सर्वेषां [3]पदार्थानां पातः स्यात् स्थानवत्त्वाविशेषात्।

परस्परोपरोध इति चेत्; न; अवगाहनशक्तियोगात् ।९। स्यान्मतम्-अल्पः सिद्धावगाह्य आकाशप्रदेश आधारः, आधेयाः सिद्धा अनन्ताः, ततः परस्परोपरोधः[4] इति; तन्न; किं कारणम्? अवगाहनशक्तियोगात्। मूर्त्तिमत्स्वपि नामानेकमणिप्रदीपप्रकाशेषु अल्पेऽप्यवकाशे न विरोधः किमङ्ग पुनरमूर्तिषु अवगाहनशक्तियुक्तेषु मुक्तेषु?

तत एव जन्ममरणद्वन्द्वोपनिपातव्याबाधाविरहात् परमसुखिनः ।१०। तत एव अमूर्त्तत्वादेवेत्यर्थः। यस्य हि मूर्त्तिरस्ति तस्य तत्पूर्वकः प्रीतिपरितापसम्बन्धः स्यात्, न चामूर्तानां मुक्तानां जन्ममरणद्वन्द्वोपनिपातव्याबाधाऽस्ति, अतो निर्व्याबाधत्वात् परमसुखिनस्ते।

न तस्यास्त्युपमानम्, आकाशपरिमाणवत् ।११। यथा परमाण्ववगाहक्षेत्रमारभ्य एकैकप्रदेशवृद्ध्या कल्प्यमानं सातिशयं क्षेत्रमाकाशपरिमाणं पुनरिदमि[5]वेत्युपमार्थकल्पनाभावादनुपमानं तथा सुखशब्दार्थोऽपि प्रकर्षाप्रकर्षयोगात् संसारगतः [6]सान्तरः, मुक्तानां पुनः परमानन्तपरिमाणयोगान्निरतिशय इत्यनुपमानः।

अनाकारत्वादभाव इति चेत्; न; अतीतानन्तरशरीराकारानुविधायित्वात् ।१२। स्यादेतत्-मुक्तानां परित्यक्तमूर्त्तीनामाकाराभावादभावः [7]प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अतीतानन्तरशरीराकारानुविधायित्वात्।

शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसङ्ग इति चेत्; न; कारणाभावात् ।१३। स्यान्मतम्-यदि शरीरानुविधायी जीवः, तदभावात् स्वाभाविकलोकाकाशप्रदेशपरिमाणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोतीति; तन्न; कुतः? कारणाभावात्, पुनर्विसर्पणकारणाभावान्न विसर्पति।

नामकर्मसंबन्धात् संहरणविसर्पणधर्मत्वं प्रदीपप्रकाशवत् ।१४। यथा प्रदीपप्रकाशोऽवधृतपरिमाणः शरावमानिकापवरकादिद्रव्योपष्टम्भान्महानल्पश्च भवति तथा नामकर्मसंबन्धात् परिच्छिन्नपरिमाणोऽपि जीवः संहरति विसर्पति च, तदभावान्न संहारो विसर्पणं वा मुक्तजीवस्य।

१-त्तेः कस्मादिति चेत्? अनिर्मोक्षप्रसङ्गः भा० १। २-नवन्सु-ता०, श्र०, ज०। ३ स्थानवतां धर्मादीनाम्-श्र० टि०। ४ परस्परोपरोधे सति दुःखं जायते ततः क्रोधादिः, ततः पुनरपि बन्धः ततः दुःखसद्भावात् बन्धश्च प्राप्नोति-श्र० टि०। ५-रिदमेवे-मू०, मु०, ता०, ज०, द०, ब०। ६ सान्तः-मु०, द०, ब०, ज०। ७ अभावत्वे बन्धमोक्षाभावः-श्र० टि०। ८ विसर्पणत्वे सति नामकर्मत्वादिसद्भावात् बन्धप्रसङ्गः-श्र० टि०।

मूर्त्तिमद्वैधर्म्यादिति चेत् ; न; उभयलक्षणप्राप्तत्वात् ।१५। स्यान्मतम्–मूर्त्तः प्रदीपप्रकाशः अमूर्त्तस्यात्मनः संहरणविसर्पणधर्मत्वे साध्ये दृष्टान्तो नोपपद्यते इति; तन्न; किं कारणम् ? उभयलक्षणप्राप्तत्वात् । उपयोगस्वलक्षणापेक्षया अमूर्त्तः, बन्धपरिणामापेक्षया मूर्त्तः । उक्तं च—

"बंधं पडि एक्कत्तं लक्खणदो हवदि तस्स णाणत्तं
तम्हा अमुत्तिभावो णेयन्तो होदि जीवस्स ॥" [ ] इति[2] ।

तस्मात्कथञ्चिन्मूर्त्तत्वोपपत्तेः साम्यमेव दृष्टान्तेन ।

अनित्यत्वप्रसङ्ग इति चेत् ; न; तावन्मात्रस्य निर्दिदिक्षितत्वाच्चन्द्रमुखीवत् ।१६। स्यादेतत्–संहरणविसर्पणधर्मत्वादेव प्रदीपप्रकाशवदनित्यत्वं प्राप्नोत्यात्मन इति; तन्न; किं कारणम् ? तावन्मात्रस्य निर्दिदिक्षितत्वात् । यथा चन्द्रमुखी कन्येति बहवश्चन्द्रे गुणाः, या चासौ प्रियदर्शनता सा गम्यते तथा प्रदीपप्रकाशेऽनित्यत्वादिषु बहुषु धर्मेषु सत्स्वपि सङ्कोचविकाससाधर्म्यमात्रं विवक्षितम् । सर्वसाधर्म्याच्च दृष्टान्ताभावप्रसङ्गः ।

सर्वथाऽभावो मोक्षः प्रदीपवदिति चेत् ; न; साध्यत्वात् ।१७। स्यादेतत्–यथा वर्तिस्नेहानलसन्निपाते प्रदीपोऽनुपरतवृत्त्या प्रवर्त्तमानस्तत्क्षये न काञ्चिद्दिशं विदिशं वा गच्छति तत्रैवात्यन्तविनाशमुपयाति तथा कारणवशात् स्कन्धप्रतिसन्तानरूपेण प्रवर्तमानः स्कन्धसमूहो[4] जीवव्यपदेशभाक् क्लेशक्षयान्न काञ्चिद्दिशं विदिशं वा गच्छति तत्रैवात्यन्तं प्रलयमेतीति; तन्न; किंकारणम् ? साध्यत्वात् । साध्यमेतत्–प्रदीपो निरन्वयनाशमुपयातीति । प्रदीपा एव हि पुद्गलाः, पुद्गलजातिमजहतः परिणामवशान्मषीभावमापन्ना इति नात्यन्तविनाशः ।

[5]दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत् ।१८। यथा निगलादिद्रव्यवियोगे देवदत्तादीनामवस्थानं दृष्टं तथा बन्धविप्रमोक्षे आत्मना च स्थेयमिति दृष्टमिदमपह्नोतुमशक्यमिति नाभावः ।

यत्रैव कर्मविप्रमोक्षस्तत्रैवावस्थानमिति चेत् ; न; साध्यत्वात् ।१९। स्यादेतत्–यस्मिन्नेव देशे कर्मविप्रमोक्षस्तस्मिन्नेवावस्थानं प्राप्नोति पुनर्गतिकारणाभावादिति; तन्न; किं कारणम् ? साध्यत्वात् । साध्यमेतत्तत्रैवावस्थातव्यमिति, बन्धनाभावादनाश्रितत्वाच्च स्याद्गमनमिति ।

आह–न तावदस्य बन्धाभावेऽधोगतिगौरवाभावात्, नापि तिर्यग्गतिर्योगाभावात्, तस्मात्प्राप्तमेतत्तत्रैवावस्थानम्, ततो लोकस्योपरि तदवस्थानकल्पनाव्यावृत्तिरिति; उच्यते–भवेदेतदेवं यद्यनभिमतदेशगतिनिमित्ताभाववत्तस्योर्ध्वगतिनिमित्तं न स्यात् । अस्ति च तत् । तस्मादेकसमयेन हि निरस्तकर्मभारः पुरुषः—

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥

तद्वचनं प्रकृतनिर्देशार्थम् ।१। तदित्यनेन प्रकृतोऽर्थो निर्दिश्यते । कश्च प्रकृतः ? कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः । तस्यानन्तरमूर्ध्वं गच्छति ।

१–यलक्षणत्वात् भा० १ । २ उद्धृतेयं गाथा–स० सि० २।७ । ३ "दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चिद् नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥"–सौन्दर० १६ ।२८–२९ । ४ पञ्चेन्द्रियजनितपञ्चज्ञानरूपः–श्र० टि० । ५ दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति इत्यभिधानम् । तर्हि अस्माकं विनाशे दृष्टान्ते नास्ति भवतामपि सद्भावे दृष्टान्तो नास्तीत्याशङ्कायाम् अस्तीत्याह–श्र० टि० ।

आङभिविध्यर्थः ।२। ईषदर्थादिषु दृष्टप्रयोगः आङिह विवक्षावशादभिविधौ वेदितव्यः । लोकस्यान्तो लोकान्त आलोकान्तादिति ।

आह–अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमनं कथमध्यवसातुं शक्यमिति ? अत्रोच्यते—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

आह–हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नालमिति; उच्यते—

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवद्-अग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

हेतुदृष्टान्तानां यथासंख्यमभिसंबन्धः ।१। पूर्वसूत्रे विहितानां हेतूनामत्रोक्तानां दृष्टान्तानां च यथासंख्यमभिसंबन्धो भवति । तद्यथा—

अपवर्गप्राप्तये बहुशः प्रणिधानादाविद्धकुलालचक्रवत् ।२। यथा कुलालप्रयोगापादितहस्तदण्डचक्रसंयोगपूर्वकं भ्रमणमुपरतेऽपि तस्मिन् पूर्वप्रयोगादासंस्कारक्षयाद्भवति एवं भवस्थेनात्मना अपवर्गप्राप्तये बहुशो यत् प्रणिधानं तदभावेऽपि तदावेशपूर्वकं मुक्तस्य गमनमवसीयते । किञ्च,

असङ्गत्वान्मुक्तलेपालाबूद्रव्यवत् ।३। यथा मृत्तिकालेपजनितगौरवमलाबूद्रव्यं जलेऽधः पतति तदेव क्लेदविश्लिष्टमृत्तिकाबन्धनं लघु सदूर्ध्वमेव गच्छति तथा कर्मभाराक्रान्तवशीकृत आत्मा तदावेशवशात् संसारे नियमेन गच्छति, तत्सङ्गविप्रमुक्तौ तूपर्येव [1]याति ।

अनियमप्रसङ्गो दण्डवदिति चेत् ; न; ऊर्ध्वगौरवात् ।४। स्यादेतत्–यथा द्रव्यान्तरसंसक्तो दण्डोऽवस्थितस्तदभावेऽनियमेन पतति तथा कर्मसङ्गाभावेऽनियमेनात्मनोऽपि गमनं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? ऊर्ध्वगौरवात् । ऊर्ध्वगौरवपरिणामो हि जीव उत्पतत्येव । किञ्च,

बन्धच्छेदादेरण्डबीजवत् ।५। यथा बीजबन्धकोशादिच्छेदादेरण्डबीजस्य गतिर्दृष्टा तथा मनुष्यादिभवप्रापकगतिजातिनामादिसकलकर्मबन्धच्छेदात् मुक्तस्य गतिरवसीयते । किञ्च,

तथागतिपरिणामाच्च अग्निशिखावत् ।६। यथा तिर्यक्पवनस्वभावसमीरणसंबन्धनिरुत्सुका प्रदीपशिखा स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्माऽपि नानागतिविकारकारणकर्मनिवारणे सति ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वादूर्ध्वमेवारोहति ।

असङ्गत्वबन्धच्छेदयोरर्थाविशेषादनुवादप्रसङ्ग इति चेत् ; न; अर्थान्यत्वात् ।७। स्यादेतत्–असङ्गत्वबन्धच्छेदयोर्नास्त्यर्थविशेष इति पौनरुक्त्यं[2] प्राप्नोति, [3]बन्धनातिरपि व्यतिषङ्गे वर्त्तत इति; तन्न किं कारणम् ? अर्थान्यत्वात् । अन्योन्यानुप्रवेशे सत्यविभागेनावस्थानं बन्धः, परस्परप्राप्तिमात्रं सङ्ग इत्यस्त्यर्थविशेषः । तस्मात्क्रियाकारणधर्माधर्माभावेऽपि हेत्वन्तरान्मुक्तस्य गतिरभ्यनुज्ञायते ।

नोदाहरणमलाबूमारुतावेशादिति चेत् ; न; तिर्यग्गमनप्रसङ्गात् ।८। स्यादेतत्–अलाबूद्रव्यं मुक्तगमनसिद्धावुदाहरणं न भवति; कुतः ? मारुतावेशादिति; तन्न; किं कारणम् ? तिर्यग्गमनप्रसङ्गात् । यदि मारुतावेशात्तस्य गमनं स्यात्तिर्यक्पवनधर्मत्वान्मरुतस्तिर्यग्गमनमेव स्यान्नोर्ध्वम् ।

ऊर्ध्वगत्यभावे तदभावप्रसङ्गोऽग्नेरौष्ण्याभावेऽभाववदिति चेत् ; न; गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् ।९। स्यान्मतम्–यथोष्णस्वभावस्याग्नेरौष्ण्याभावेऽभावस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगतिस्वभावत्वे

---

१ ऊर्ध्वं गच्छत्येव–ता० टि० । २ द्वयोरन्यतमेन पर्याप्तत्वात्–श्र० टि० । ३ यस्मात्–श्र० टि० । ४ पुण्य-पाप–श्र० टि० । ५ जीवस्य–श्र० टि० ।

तदभावे तस्याप्यभावः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थत्वात्। मुक्तस्योर्ध्वमेव गमनं न दिगन्तरगमनमित्ययं स्वभावो नोर्ध्वगमनमेवेति।

ऊर्ध्वज्वलनवद्वा ।१०। यथा ऊर्ध्वज्वलनस्वभावत्वेऽप्यग्नेर्वेगवद्द्रव्याभिघातात्तिर्यग्ज्वलनेऽपि नाऽग्नेर्विनाशो दृष्टस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगतिस्वभावत्वेऽपि तदभावे नाऽभाव इति।

अत्राह-ऊर्ध्वज्वलनस्वभावस्याग्नेर्वेगवदभिघातात्तिर्यग्ज्वलने सति विरोधादूर्ध्वज्वलनाभावो युक्तः, मुक्तस्य तु पुनः स्वभावगतिलोपहेत्वभावादूर्ध्वगत्युपरमोऽनुपपन्न इति; उच्यते लोकान्तान्नोर्ध्वगतिर्मुक्तस्य। कुतः ?

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः। तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते।

किं पुनरमी परिनिर्वृत्ताः कार्मणशरीरोपशमकादिभावनिरुपाख्याः पर्यायान्तरेण शक्याः व्यपदेष्टुम् उतातीतव्यवहारा एव निर्धारयितव्या इति ? उच्यते-शक्याः। कथम् ? यस्मात्ते खलु-

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतन्त्रनयद्वयापेक्षया क्षेत्रादिभिः साध्याः सिद्धाः ।१। एतैः क्षेत्रादिभिरल्पबहुत्वान्तैर्द्वादशभिरनुयोगद्वारैः प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतन्त्रनयद्वयापेक्षया साध्याः चिन्त्या विकल्प्याः। के पुनस्ते ? सिद्धाः। तद्यथा क्षेत्रेण तावत् कस्मिन् क्षेत्रे सिद्ध्यन्ति ?

सिद्धिक्षेत्रे कर्मभूमिषु वा ।२। प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिनयार्पणेन सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे, आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति। भूतानुग्रहतन्त्रनयविवक्षायां जन्म प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः। ऋजुसूत्रनयः शब्दभेदाश्च त्रयः प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिणः, शेषा नया उभयभावविषयाः। कालेन कस्मिन्काले सिद्धिः ?

एकसमये उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्वाऽविशेषे ।३। प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्ध्यन् सिद्धो भवति। भूतभावप्रज्ञापननयार्पणया द्वेधा-जन्मनः(तः)संहरणतश्च। तत्र जन्मतः अविशेषेण उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जातः सिद्ध्यति। विशेषेणा अवसर्पिण्यां सुषमदुःषमाया अन्ते भागे दुःषमसुषमायां च जातः सिद्ध्यति। दुःषमसुषमायां जातः दुःषमायां सिद्ध्यति न तु दुःषमायां जातः, [सः] अन्यदा नैव सिद्ध्यति। संहरणतः सर्वस्मिन् काले अवसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यां च सिद्ध्यति। गत्या कस्यां गतौ सिद्धिः ?

सिद्धिगतौ मनुष्यगतौ वाऽविशेषः ।४। प्रत्युत्पन्ननयाश्रयणेन सिद्धिगतौ सिद्ध्यति। भूतविषयनयापेक्षया द्विधा कल्पना-अनन्तरगतौ एकान्तरगतौ चेति। तत्रानन्तरगतौ मनुष्यगतौ सिद्ध्यति। एकान्तरगतौ चतसृषु गतिषु जातः सिद्ध्यति। लिङ्गेन-केन सिद्धिः ? लिङ्ग त्रिविधो वेदः।

अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिः ।५। वर्तमानविषयनयविवक्षायामवेदत्वेन सिद्धिर्भवति। अतीतगोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्यः सिद्धिर्भवति भावं प्रति, न तु द्रव्यं प्रति, द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिङ्गेनैव सिद्धिः। अपरः प्रकारः-लिङ्गं द्विविधम्-निर्ग्रन्थलिङ्गं

१ लोकाद्बहिर्गमनाभावे-श्र० टि०। २ लक्षणविरहात्-श्र० टि०। ३ ऊर्ध्वगमन-ता०, मू०, श्र०, आ०। ४ वायु-श्र० टि०। ५ धर्मास्तिकायस्याभावे-श्र० टि०।

सग्रन्थलिङ्गं चेति। तत्र प्रत्युत्पन्नविषयनयादेशेन निर्ग्रन्थलिङ्गेन सिद्ध्यति। भूतविषयनयादेशेन तु भजनीयम्। तीर्थेन ?

तीर्थसिद्धिर्द्वेधा-तीर्थकरेतरविकल्पात् ।६। तीर्थसिद्धिर्द्वेधा भवति-तीर्थकरत्वेनेतरत्वेन च। सन्ति केचित्तीर्थकरसिद्धाः अपरेऽन्यथा सिद्धाः। ते द्वेधा सत्येव तीर्थकरे सिद्धाः, असति चेति। चारित्रेण केन सिद्ध्यति ?

अव्यपदेशेनैकचतुःपञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धिः ।७। प्रत्युत्पन्नावलेहिनयवशान्न चारित्रेण नाप्यचारित्रेण व्यपदेशविरहितेन भावेन सिद्धिः। भूतपूर्वगतिर्द्विधा-अनन्तर-व्यवहितभेदात्। आनन्तर्येण यथाख्यातचारित्रेण सिद्ध्यति, व्यवधानेन चतुर्भिः पञ्चभिर्वा। चतुर्भिस्तावत् सामायिकच्छेदोपस्थापनासूक्ष्मसाम्परायययथाख्यातचारित्रैः। पञ्चभिस्तैरेव परिहारविशुद्धिचारित्राधिकैः।

स्वशक्तिपरोपदेशनिमित्तज्ञानभेदात् प्रत्येकबुद्धबोधितविकल्पः ।८। केचित्प्रत्येकबुद्धसिद्धाः, परोपदेशमनपेक्ष्य स्वशक्त्यैवाविर्भूतज्ञानातिशयाः। अपरे बोधितबुद्धसिद्धाः[2], परोपदेशपूर्वकज्ञानप्रकर्षास्कन्दिनः। ज्ञानेन ?

एकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिः ।९। प्रत्युत्पन्नग्राहिनयनिरूपणया केवलज्ञानेनैकेन सिद्धिर्भवति। भूतपूर्वगत्या तु द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैर्भवति। द्वाभ्याम्-मतिश्रुतज्ञानाभ्याम्, त्रिभिर्मतिश्रुतावधिभिः मतिश्रुतमनःपर्ययैर्वा, चतुर्भिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययैः।

अवगाहनं द्विविधम्-उत्कृष्टजघन्यभेदात् ।१०। आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनं द्विविधम्-उत्कृष्टं जघन्यं चेति। तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि। जघन्यम् अर्द्धचतुर्थारत्नयः देशोनाः। मध्ये विकल्पाः। एतस्मिन्नवगाहे सिद्ध्यन्ति पूर्वभावप्रज्ञाननयापेक्षया। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापने तु एतस्मिन्नेव देशोने। किमन्तरं सिद्धयताम् ? अनन्तरं च सिद्ध्यन्ति सान्तरञ्च।

अनन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कर्षेणाष्टौ ।११। आनन्तर्येण जघन्येन द्वौ समयौ सिद्ध्यन्ति उत्कर्षेणाष्टौ।

अन्तरं जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेण षण्मासाः ।१२। सिद्धयतां सिद्धिविरहकालोऽन्तरम्। तत् जघन्येनैकसमयः, उत्कर्षेण षण्मासाः प्रत्येतव्याः।

जघन्येन एक उत्कर्षेण अष्टशतमिति संख्या ।१३। एकसमये कति सिद्धयन्ति ? जघन्येनैकः उत्कर्षेणाष्टशतमिति संख्या अवगन्तव्या।

क्षेत्रादिभेदभिन्नानां परस्परतः संख्याविशेषः अल्पबहुत्वम् ।१४। क्षेत्रादिभिरेकादशभिरनुयोगद्वारैः भिन्नानां परस्परतः संख्याविशेषोऽल्पबहुत्वमित्युच्यते। तद्यथा-प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे सिद्धयन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूतपूर्वनयापेक्षया तु चिन्त्यते-क्षेत्रसिद्धाः द्विधा-जन्मतः संहरणतश्च। तत्राल्पे संहरणसिद्धाः। जन्मसिद्धाः संख्येयगुणाः[4]। संहरणं द्विविधम्-स्वकृतं परकृतं च। देवकर्मणा चारणविद्याधरैश्च कृतं परकृतम्। स्वकृतं चारणविद्याधराणामेव। तेषां च क्षेत्राणां विभागः-कर्मभूमिः अकर्मभूमिः समुद्रो द्वीप ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति।

१ मेघपटलादिकं माटकूटाद्याकारं क्षणदृष्टप्रणष्टमेकं प्रत्यपरोपदेशमन्तरेण स्वशक्त्यैव कामभोगादिभ्यो यो विरक्तबुद्धिर्जायते स प्रत्येकबुद्ध इत्याख्यायते-श्र० टि०। २ यः पुनः कामभोगाद्यासक्तचित्तः परेण बोधितः सन् कामभोगादिभ्यो विरक्तबुद्धिर्जायते स बोधितबुद्धः-श्र० टि०। ३ तेऽप्यनन्ताः-श्र० टि०। ४ संख्येयगुणा अनन्ता इत्यर्थः, एवमुत्तरत्रापि योज्यम्-श्र० टि०।

सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः । अधोलोकसिद्धाः संख्येयगुणाः । तिर्यग्लोकसिद्धाः संख्येयगुणाः । सर्वस्तोकाः समुद्रसिद्धाः । द्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः । एवं तावदविशेषेण । विशेषेण च सर्वस्तोकाः लवणोदसिद्धाः । कालोदसिद्धाः संख्येयगुणाः । जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः । धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः । पुष्करद्वीपार्द्धसिद्धाः संख्येयगुणा इति ।

कालविभागस्त्रिविधः–उत्सर्पिणी अवसर्पिणी अनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणी चेति । सर्वस्तोका उत्सर्पिणीसिद्धाः । अवसर्पिणीसिद्धाः विशेषाधिकाः । अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीसिद्धाः संख्येयगुणाः । प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् ।

[[1]अन्तरम्–सर्वस्तो] काः अष्टसमयानन्तरसिद्धाः । सप्तसमयानन्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः । [एवमा द्विस] मयानन्तरसिद्धेभ्यः । एवं तावदनन्तरेषु । सान्तरेष्वपि सर्वस्तोकाः षण्मासान्तरसिद्धाः । [एकसमया] न्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः । यवमध्यान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः । अधस्ताद् यवमध्यान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः । उपरियवमध्यान्तरसिद्धा विशेषाधिकाः ।

गतिं प्रति–प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापननयस्य सिद्धिगतौ सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । भूतविषयनयापेक्षया वानन्तरगतौ मनुष्यगतौ सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । एकान्तरगतौ तु अल्पबहुत्वमस्ति । सर्वतः स्तोकास्तिर्यग्योन्यनन्तरगतिसिद्धाः, मनुष्ययोन्यनन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः, नरकयोन्यनन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः, देवयोन्यनन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणा इति ।

वेदानुयोगे–प्रत्युत्पन्ननयाश्रयणे अवेदाः सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । भूतविषयनयाश्रयणे तु सर्वतः स्तोकाः नपुंसकवेदसिद्धाः । स्त्रीवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः । पुंवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः ।

तीर्थानुयोगे[2]–तीर्थकरसिद्धाः अल्पे । इतरे सिद्धाः संख्येयगुणाः ।

चारित्रानुयोगे–प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया अव्यपदेशेन सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । भूतविषयनयाश्रयणे च अनन्तरचारित्रपरिग्रहे यथाख्यातचारित्राः सर्वे सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । व्यवधाने च पञ्चचारित्रसिद्धाः अल्पे । चतुश्चारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः ।

प्रत्येकबुद्ध-बोधितबुद्धानुयोगे–अल्पे प्रत्येकबुद्धाः । बोधितबुद्धाः संख्येयगुणाः ।

ज्ञानानुयोगे–प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनस्य केवली सिद्ध्यतीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । पूर्वभावप्रज्ञापनस्य सर्वस्तोका द्विज्ञानसिद्धाः । चतुर्ज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । त्रिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । एवं तावदविशेषेण । विशेषेण च सर्वस्तोकाः मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानसिद्धाः । मतिश्रुतज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणा इति ।

अवगाहनानुयोगे–सर्वस्तोकाः जघन्यावगाहनसिद्धाः । उत्कृष्टावगाहनसिद्धाः संख्येयगुणाः । यवमध्यसिद्धाः संख्येयगुणाः । अधस्ताद्यवमध्यसिद्धाः संख्येयगुणाः । उपरि यवमध्यसिद्धा विशेषाधिकाः ।

संख्यानुयोगे–सर्वस्तोकाः अष्टशतसिद्धाः । [3]अष्टोत्तरशतसिद्धादयः आपञ्चाशत्सिद्धेभ्यः अनन्तगुणाः । एकान्नपञ्चाशत्सिद्धादयः आपञ्चविंशतिसिद्धेभ्यः असंख्येयगुणाः । चतुर्विंशतिसिद्धादयः आ एकसिद्धेभ्यः संख्येयगुणाः ।

---

१ तुलना–"अन्तरम् । सर्वस्तोका अष्टसमयानन्तरसिद्धाः । सप्तसमयानन्तरसिद्धाः षट्समयानन्तरसिद्धाः इत्येवं यावद् द्विसमयानन्तरसिद्धाः इति संख्येयगुणाः । एवं तावदनन्तरेषु । सान्तरेष्वपि सर्वस्तोकाः षण्मासान्तरसिद्धाः, एकसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः, यवमध्यान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः, अधस्ताद् यवमध्यान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः, उपरियवमध्यान्तरसिद्धाः विशेषाधिकाः, सर्वे विशेषाधिकाः"–त० भा० १०।७। २ प्रश्म–अ० टि० । ३ सप्तोत्तरशतसि– मू० ।

एवं निसर्गाधिगमयोरन्यतरजं तत्त्वार्थश्रद्धानात्मकं शङ्काद्यतीचारविमुक्तं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं विशुद्धं सम्यग्दर्शनं सम्यग्दर्शनोपलब्धिविशुद्धं च ज्ञानमधिगम्य, निक्षेपप्रमाणनिर्देशसत्संख्यादिभिरप्युपायैर्जीवानां पारिणामिकौदयिकोपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकाणां भावानां स्वतत्त्वं विदित्वा चेतनाचेतनानां भोगसाधनानामुत्पत्तिप्रलयस्वभावावगमात् विरक्तो वितृष्णस्त्रिगुप्तः पञ्चसमितो दशलक्षणधर्मानुष्ठानात्तत्फलदर्शनाच्च निर्वाणप्राप्तियतनायामिवर्द्धितश्रद्धासंवेगभावनाविभावितात्मा अनुप्रेक्षाभिः स्थिरीकृतानभिष्वङ्गः[4] संवृतात्मा निरास्रवत्वाद् व्यपगताभिनवकर्मोपचयः परिषहजयाद्बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानादनुभवनाच्च सम्यग्दृष्टिविरताविरतादीनां च जिनपर्यन्तानां परिणामाध्यवसानविशुद्धिस्थानान्तराणामसंख्येयगुणोत्कर्षप्राप्त्या पूर्वोपचितं कर्म निर्जरयन् सामायिकादीनां च सूक्ष्मसाम्परायान्तानां संयमविशुद्धिस्थानानामुत्तरोत्तरोपलम्भात् पुलाकादीनां च निर्ग्रन्थानां संयमानुपालनविशुद्धिस्थानविशेषाणामुत्तरोत्तरप्रतिपत्त्या घटमानोऽत्यन्तप्रहीणार्त्तरौद्रध्यानो धर्म्यध्यानविजयादवाप्तसमाधिबलः, शुक्लध्यानविकल्पयोश्च पृथक्त्वैकत्ववितर्कयोश्चान्यतरस्मिन् वर्तमानो नानाविधपूर्वोदितर्द्धिविशेषयुक्तः, तत्रानभिष्वक्तचित्तः, पूर्वोदितेन क्रमेण मोहादीन् क्षयं नीत्वा सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीमनुभूय, ततः शेषकर्मक्षयाद्भवबन्धनिर्मुक्तः निर्दग्धपूर्वोपादानेन्धनो निरुपादान इवाग्निः पूर्वोपात्तभवक्षयोगात् हेत्वभावाच्चोत्तरस्याप्रादुर्भावात् क्षान्तः संसारदुःखमतीत्य आत्यन्तिकमैकान्तिकं निरुपमं निरतिशयं निर्वाणसुखमवाप्नोतीति तत्त्वार्थभावनाफलमेतत् । उक्तञ्च—

"एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशम् । निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ ॥ १ ॥
पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः । संसारबीजकात्स्न्र्येन मोहनीयं प्रहीयते ॥ २ ॥
ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम् । प्रहीयन्तेऽस्य युगपत्त्रीणि कर्माण्यशेषतः ॥ ३ ॥
गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा तालो विनश्यति । तथा कर्मक्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ॥ ४ ॥
ततः क्षीणचतुःकर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम् । [5]बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः ॥ ५ ॥
शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली ॥ ६ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति । यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः ॥ ७ ॥
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥ ८ ॥
तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात् स गच्छति । पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥ ९ ॥
कुलालचक्रडोलायामिषौ चापि यथेष्यते । पूर्वप्रयोगात् कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥१०॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टोऽप्स्वलाबुनः । कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥११॥
एरण्डयन्त्रपेलासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः । कर्मबन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथेष्यते ॥१२॥
ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः । अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥१३॥
यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्नि[6]दीप्तयः । स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनाम् ॥१४॥
अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते । कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥१५॥
[7]स्यादधस्तिर्यगूर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः । ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम् ॥१६॥
द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भतः[8] । समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात् ॥१७॥
उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह । युगपद्भवतो यद्वत्तथानिर्वाणकर्मणोः ॥१८॥

---

१ अपरिभवः–अ० टि० । २ सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंयुक्तस्या–मु० । ३ घाति–अ० टि० । ४–ग्निर्वीतयः मु०, द०, ब०, ज० । विरुद्धगमनाः । ५ संसारे तिर्यगादि–अ० टि० । ६ जीवानाम्–अ० टि० । ७ अधस्तिर्यगूर्ध्वं च मू०, ज०, द०, ब० । अधस्तिर्यक्कृतश्चोर्ध्वं मु० । ८ देवादीनामधोगमनादि–अ० टि० । ९ द्रव्यकर्मणः–अ० टि० । १० अकर्मरूपेणोत्पत्तिः जीवप्रदेशान्निर्गमनमारम्भः–अ० टि० ।

तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा । प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥१९॥
नृलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा । ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिताः ॥२०॥
तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने । सम्यक्त्वसिद्धतावस्थाः हेत्वभावाच्च निष्क्रियाः ॥२१॥
ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः । धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ॥२२॥
संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम् । अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥२३॥
स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः । कथं भवति मुक्तस्य [1]सुखमित्यत्र मे शृणु ॥२४॥
लोके चतुर्विधार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते । विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ॥२५॥
सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते । दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते ॥२६॥
पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् । कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥२७॥
सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम् । तदयुक्तं क्रियावत्त्वात् सुखानुशयतस्तथा ॥२८॥
श्रमक्लममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात् । मोहोत्पत्तिर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः ॥२९॥
लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते । उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ॥३०॥
लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः । अलिङ्गं चाऽप्रसिद्धं च तत्तेनानुपमं स्मृतम् ॥३१॥
प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम् । गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न छद्मस्थपरीक्षया ॥३२॥
इति तत्त्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुत्तमैः । यत्र [6]सन्निहितस्तर्कन्यायागमविनिर्णयः ॥३३॥"

[ ]

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

[समाप्तोऽयं ग्रन्थः]

---

१ सुखमित्युत्तरं श्ल-मु० । २ पश्चात्तापतः-अ० टि० । ३ अत्यन्तञ्चा प्र-मु०, द०, ब०, ज० । ४ इमे द्वात्रिंशत् श्लोकाः त० भाष्ये (१०।७) जयधवलायां तत्त्वार्थसारे च मोक्षतत्त्ववर्णने उपलभ्यन्ते । ५ श्लोकोऽयं नास्ति मु०, द०, ब०, ज० । ६ साक्षात्कृतः-अ० टि० ।

तत्त्वार्थवार्तिक

हिन्दी-सार

पाँचवाँ अध्याय

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल अजीव भी हैं और काय अर्थात् बहुप्रदेशी भी।

§ १-५. 'अजीव जो काय' इस प्रकार समानाधिकरणा वृत्ति यहाँ समझनी चाहिए। अजीव शब्दकी कालमें तथा काय शब्दकी जीवमें भी वृत्ति होनेसे यहाँ परस्पर व्यभिचार है अतः नीलोत्पलकी तरह समानाधिकरण वृत्ति है। यदि भिन्नअधिकरणरूप वृत्ति मानी जाय तो 'राजाका पुरुष राजपुरुष' इसकी तरह अजीवोंका काय इस प्रकारके सर्वथा भेदका प्रसंग आयगा। यद्यपि 'सुवर्णकी अंगूठी' यहाँ सुवर्ण और अंगूठीमें अभेद रहने पर भी भेदमूलक षष्ठी समास देखा गया है तो भी जैसे 'सुवर्णकी अंगूठी' इस स्थलपर सुवर्णका प्रयोग चाँदी आदिकी निवृत्तिके लिए है कि-यह अंगूठी सुवर्णकी है, चाँदी आदिकी नहीं है और न मासा रत्ती आदिकी, उस तरह 'अजीवके काय' यहाँ किसी पदार्थान्तरकी निवृत्ति नहीं करनी है। अथवा, भिन्नाधिकरण भी वृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं है। जीव भी काय है क्योंकि पाँच अस्तिकायोंमें जीवका भी नाम है। इसलिए उसकी निवृत्तिके लिए यहाँ अजीव शब्दका प्रयोग किया गया है कि अजीवके काय, जीवके नहीं। 'सुवर्णकी अंगूठी' यहाँ भी सुवर्ण द्रव्यसे अंगूठी पर्यायमें संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिके भेदसे भेद है ही। यदि सुवर्ण और अंगूठीमें सर्वथा अभेद माना जाय तो सुवर्णकी कुंडल आदि पर्यायोंमें वृत्ति नहीं होनी चाहिए, या सुवर्णकी तरह अंगुलीयकत्व (अंगूठीपना) कुंडल आदिमें भी पाया जाना चाहिए। इसीलिए अन्य चाँदी आदिकी निवृत्तिके लिए 'सुवर्ण' शब्दका प्रयोग किया गया है। सर्वथा अभेदमें 'सुवर्णकी अंगूठी' यह भेद प्रयोग ही नहीं हो सकता। 'अजीवकायाः' यहाँ काय शब्द प्रदेशवाचक है। धर्मादि द्रव्य अपने प्रदेशोंसे संज्ञा लक्षण और प्रयोजन आदिकी दृष्टिसे भिन्न भी हैं। यदि सर्वथा अभेद हो तो जैसे धर्मादि एक हैं उसी तरह प्रदेशोंमें भी एकत्व होना चाहिए, अथवा जैसे प्रदेश बहुत हैं उसी तरह धर्मादिकमें भी बहुत्व होना चाहिए। इसीलिए अन्यनिवृत्तिके लिए 'अजीव शब्दका प्रयोग किया है कि-अजीवोंके काय, न कि जीवके। यदि सर्वथा एकत्व होता तो 'अजीवके काय' यह भेद-व्यवहार ही नहीं हो सकता था। 'शिलापुत्रकका शरीर या राहुका सिर' इन प्रयोगोंमें भी कथञ्चिद् भेद है ही। बुद्धि शब्द और प्रयोजन आदिके भेदसे उनमें भेद है। इसलिए यहाँ भी अन्य निवृत्तिके लिए शिलापुत्रक या राहु शब्द दिया जाता है। अर्थात् शिलापुत्रकका यह शरीर है अन्य मनुष्य आदिका नहीं, राहुका यह शिर है अन्य का नहीं। सर्वथा अभेदमें अन्यनिवृत्तिकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती जैसे सुवर्णका सुवर्ण या घटका घट।

§ ६. 'न जीवः अजीवः' कहनेसे अजीवको केवल जीवाभाव रूप ही नहीं समझना चाहिए, किन्तु जैसे 'अनश्व' कहनेसे घोड़ेके निषेधके साथ ही घोड़े सरीखे अन्य प्राणी (गधा आदि) का प्रत्यय होता है उसी तरह अजीवसे भी जीवसे भिन्न अन्य अचेतन पदार्थका संप्रत्यय होता है। जड़ और चेतनमें सत्त्व द्रव्यत्व आदिकी दृष्टिसे सादृश्य है ही। एक 'सत्' पदार्थ ही पररूप आदिकी अपेक्षा अभावप्रत्ययका विषय होता है।

§ ७-८. काय शब्दमें 'कायकी तरह काय' यह सादृश्य अर्थ अन्तर्भूत है। अर्थात् जैसे काय-शरीर औदारिकादि शरीरनामकर्मके उदयसे अनेक पुद्गल-परमाणुओंसे संचित

होता है उसी तरह धर्मादि द्रव्य अनादि-पारिणामिक प्रदेशोंवाले होनेसे काय हैं। काय शब्दका ग्रहण ही प्रदेश या अवयवोंकी बहुतायत सूचित करनेके लिए है। धर्मादिकमें मुख्य रूपसे प्रदेश न रहनेपर भी एक परमाणुके द्वारा रोके गये आकाश प्रदेशके नापसे बुद्धिके द्वारा उनमें असंख्येय आदि प्रदेश स्वीकार किये जाते हैं।

§ ६-१४. **प्रश्न**–'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' इस सूत्रसे ही बहुप्रदेशीपना सिद्ध है फिर काय ग्रहण करना निरर्थक है। प्रदेशोंकी संख्याके निश्चयके लिए भी इसकी उपयोगिता नहीं है क्योंकि इससे तो प्रदेशप्रचयमात्रकी ही प्रतीति होती है। 'लोकाकाशेऽवगाहः' के बाद 'धर्माधर्मयोः कृत्स्ने' कहनेसे द्रव्योंके प्रदेशोंके परिमाणका निश्चय हो जाता है। काय ग्रहणके बिना अप्रदेशी एकद्रव्यपनेका प्रसंग भी नहीं आ सकता; क्योंकि 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' सूत्रसे ही बहुप्रदेशित्व सूचित हो जाता है। पंचास्तिकायके आर्ष उपदेशके अनुवादके लिए काय शब्दका ग्रहण निरर्थक है क्योंकि 'असंख्येयाः प्रदेशाः' इत्यादि सूत्रसे ही वह कार्य हो जाता है। 'काय-बहुप्रदेशित्वरूप स्वभाव उनका सदा रहता है छूटता नहीं' इस बातके द्योतनके लिए भी काय शब्दका कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि 'नित्य और अवस्थित' कथनसे ही स्वभावका अपरित्याग सिद्ध हो जाता है।

§ १५-१६. **उत्तर**–कायशब्दके ग्रहणसे पाँचों ही अस्तिकायोंमें प्रदेशबहुत्वकी सिद्धि होनेपर ही 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' यह सूत्र प्रदेशोंकी असंख्येयताका अवधारण कर सकता है कि असंख्येय ही प्रदेश हैं न संख्येय और न अनन्त। अवधारण विधिपूर्वक होता है। फिर कालद्रव्यके बहुप्रदेशित्वके प्रतिवेधके लिए यहाँ 'काय' का ग्रहण करना उपयुक्त है। जिस प्रकार अणुको एकप्रदेशी होनेसे अर्थात् द्वितीय आदि प्रदेश न होनेसे 'अप्रदेश' कहते हैं उसी तरह कालपरमाणु भी एकप्रदेशी होनेसे अप्रदेशी हैं।

§ १७. सर्वज्ञ प्रतिपादित आर्हत आगममें ये धर्म अधर्म आकाश आदि संज्ञाएँ सांकेतिक हैं, रूढ़ हैं।

§ १८-२३. अथवा, इन संज्ञाओंको क्रियानिमित्तक भी कह सकते हैं। स्वयं क्रियापरिणत जीव और पुद्गलोंको जो सहायक हो (साचिव्यं दधातीति धर्मः) वह धर्म है। इससे विपरीत अर्थात् स्थितिमें सहायक अधर्म होता है। जिसमें जीवादि द्रव्य अपनी अपनी पर्यायोंके साथ प्रकाशमान हों तथा जो स्वयं अपनेको भी प्रकाशित करे वह आकाश। अथवा, जो अन्य सब द्रव्योंको अवकाश दान दे वह आकाश। यद्यपि अलोकाकाशमें द्रव्योंका अवगाह न होनेसे यह लक्षण नहीं घटता तथापि शक्तिकी दृष्टिसे उसमें भी आकाशव्यवहार होता ही है। जैसे अतिदूर भविष्यत् कालमें वर्तमानप्राप्तिकी योग्यताके कारण ही भविष्यत् व्यपदेश होता है उसी तरह अलोकाकाशमें अवगाही द्रव्योंके न होनेपर भी अवगाहनशक्तिके कारण अखंडद्रव्यप्रयुक्त आकाशव्यवहार हो जाता है।

§ २४-२६. जैसे भा को करनेवाला भास्कर कहा जाता है उसी तरह जो भेद संघात और भेदसंघातसे पूरण और गलनको प्राप्त हों वे पुद्गल हैं। यह शब्द 'शवशयनं श्मसानम्' की तरह पृषोदरादिगणमें निष्पन्न होता है। परमाणुओंमें भी शक्तिकी अपेक्षा पूरण और गलन है तथा प्रतिक्षण अगुरुलघुगुणकृत गुणपरिणमन गुणवृद्धि और गुणहानि होती रहती है अतः उनमें भी पूरण और गलन व्यवहार माननेमें कोई बाधा नहीं है। अथवा, पुरुष यानी जीव जिनको शरीर आहार विषय और इन्द्रिय-उपकरण आदिके रूपमें निगलें–ग्रहण करें वे पुद्गल हैं। परमाणु भी स्कन्ध दशामें जीवोंके द्वारा निगले ही जाते हैं।

§ २७. 'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' यहाँ बहुवचन स्वातन्त्र्यप्रतिपत्ति के लिए है। इनका यही स्वातन्त्र्य है कि ये स्वयं गति और स्थिति रूपसे परिणत जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें स्वयं निमित्त होते हैं, जीव या पुद्गल इन्हें उकसाते नहीं हैं। इनकी प्रवृत्ति पराधीन नहीं है। यद्यपि इतरेतरयोग द्वन्द्वमें बहुवचन न्यायप्राप्त था पर समाहारमें समुदायकी प्रधानता होनेसे एकवचनसे ही कार्य चल जाता है, फिर भी जो बहुवचनका निर्देश किया गया है वह स्वातन्त्र्यका ज्ञापक है। जैसे जैनेन्द्र व्याकरणमें 'हृतः'। यहाँ 'हृत्' इस एक वचनसे कार्य चल सकता था फिर भी बहुवचनका निर्देश ज्ञापन करता है कि अनुक्तमें भी तद्धितीय प्रत्यय होता है।

§ २८-३०. धर्म शब्दकी लोकमें प्रतिष्ठा है अतः सूत्रमें धर्मका पहिले ग्रहण किया है। अधर्मद्रव्यसे लोककी पुरुषाकार आकृतिकी व्यवस्था बनती है अतः अधर्मका उसके अनन्तर ग्रहण किया है। यदि अधर्मद्रव्य न माना जाता तो जीव और पुद्गल समस्त आकाश अर्थात् अलोकाकाशमें भी जा पहुँचते, इस तरह लोकका कोई आकार ही नहीं बन पाता। अतः लोक-अलोक विभाग अधर्मद्रव्यके कारण ही बनता है। फिर अधर्म धर्मका प्रतिपक्षी है, अतः उसका धर्मके बाद ग्रहण करना उचित ही है।

§ ३१-३२. धर्म और अधर्मके द्वारा आकाशका परिच्छेद किया जाता है–लोक और अलोकके रूपमें। जहाँ तक धर्म और अधर्म हैं वह लोक, आगेका अलोक। अतः धर्म और अधर्मके बाद आकाशको ग्रहण किया है। फिर अमूर्तरूपसे आकाश धर्म और अधर्ममें सजातीयपना भी है।

§ ३३. आकाशमें पुद्गल अवकाश पाते हैं, अतः आकाशके पास पुद्गलका ग्रहण किया गया है।

§ ३४-३५. **प्रश्न**–आकाशका ग्रहण सर्वप्रथम करना चाहिए क्योंकि वह धर्म और अधर्म आदिका आधार है? **उत्तर**–लोककी यह रचना अनादिसे है, इसमें आधाराधेयभावमूलक पौर्वापर्य नहीं है। आदिवाले दही और कुंड आदिमें ही आधाराधेयमूलक पौर्वापर्य होता है। यद्यपि आर्ष ग्रन्थमें यह बताया है कि–"आकाश स्वप्रतिष्ठ है, आकाशमें तनुवातवलय, तनुवातवलयमें घनवातवलय, घनवातवलयमें घनोदधिवातवलय आधेय रूपसे है" इत्यादि; फिर भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि यदि आधाराधेयभावका सर्वथा निषेध किया जाता तो विरोध होता। परन्तु द्रव्यार्थिककी प्रधानतासे सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ हैं, अतएव आधाराधेयभाव नहीं रहनेपर भी पर्यायार्थिककी प्रधानतामें आधाराधेयभाव है ही। इसी तरह व्यवहार नयसे आकाशको आधार और अन्य द्रव्योंको आधेय कहते ही हैं। एवंभूतनयसे अनादि पारिणामिक लोकरचनाकी अपेक्षा आधाराधेयभाव नहीं भी है। व्यवहारमें तनुवातवलयका आधार आकाशको माननेपर आकाशके भी अन्य आधारकी कल्पना करके अनवस्था दूषण नहीं आ सकता; क्योंकि आकाश सर्वगत और अनन्त है, अतः उसके अन्य आधारकी कल्पना करना उचित नहीं है। असर्वगत सान्त मूर्तिमान् और सावयव पदार्थोंमें ही अन्य आधार की कल्पना हो सकती है।

§ ३६. यद्यपि काल भी अजीव है और भाष्यमें अनेक बार छह द्रव्योंका कथन भी किया है, पर इसका लक्षण आगे किया है अतः उसे यहाँ नहीं गिनाया है।

द्रव्याणि ॥ २ ॥

उपर्युक्त धर्माधर्मादि द्रव्य हैं।

§ १. स्व और पर कारणोंसे होनेवाली उत्पाद और व्यय रूप पर्यायोंको जो प्राप्त हो तथा पर्यायोंसे जो प्राप्त होता हो वह द्रव्य है। द्रव्य क्षेत्र काल और भाव रूप बाह्य प्रत्यय पर हैं

तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति स्व प्रत्यय है। बाह्य प्रत्ययोंके रहनेपर भी यदि द्रव्यमें स्वयं उस पर्यायकी योग्यता न हो तो पर्यायान्तर उत्पन्न नहीं हो सकती। दोनोंके मिलनेपर ही पर्याय उत्पन्न होती है, जैसे पकने योग्य उड़द यदि बोरेमें पड़ा हुआ है तो पाक नहीं हो सकता और यदि घोटक (न पकने योग्य) उड़द बटलोईमें उबलते हुए पानीमें भी डाला जाय तो भी नहीं पक सकता। यद्यपि पर्यायें या उत्पाद-व्यय उस द्रव्यसे अभिन्न होते हैं तथापि कर्तृ और कर्ममें भेद-विवक्षा करके 'द्रवति गच्छति' यह निर्देश बन जाता है। जिस समय द्रव्यको कर्म-पर्यायोंको कर्ता बनाते हैं तब कर्ममें द्रुधातुसे 'य' प्रत्यय हो ही जाता है, और जब द्रव्यको कर्ता मानते तब बहुलापेक्षया कर्तामें 'य' प्रत्यय हो जाता है। तात्पर्य यह कि उत्पाद और विनाश आदि अनेक पर्यायोंके होते रहनेपर भी जो सान्ततिक द्रव्यदृष्टिसे गमन करता जाय वह द्रव्य है।

§ २. अथवा, द्रव्य शब्दको इवार्थक निपात मानना चाहिए। **'द्रव्यं भव्ये'** इस जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रानुसार 'द्रु' की तरह जो हो वह 'द्रव्य' यह समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार बिना गांठकी सीधी द्रु-लकड़ी बढ़ई आदिके निमित्तसे टेबिल कुरसी आदि अनेक आकारोंको प्राप्त होती है उसी तरह द्रव्य भी उभयकारणोंसे उन उन पर्यायोंको प्राप्त होता रहता है। जैसे 'पाषाण खोदनेसे पानी निकलता है' यहाँ अविभक्तकर्तृक करण है उसी तरह द्रव्य और पर्यायमें भी समझना चाहिए।

§ ३. प्रश्न—जैसे दण्डके सम्बन्धसे देवदत्तमें दंडी व्यवहार और ज्ञान होता है उसी तरह द्रव्यत्व नामके सामान्य पदार्थके सम्बन्धसे पृथिवी आदिमें 'द्रव्य' यह व्यवहार हो जायगा। इसीसे वह गुण कर्म आदिसे व्यावृत्त भी सिद्ध हो जाती है। अतः द्रव्यत्वके सम्बन्धसे ही द्रव्य मानना चाहिए न कि पर्यायोंको प्राप्त होनेसे। उत्तर—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार दंडके सम्बन्धसे पहिले देवदत्त अपनी जाति आदिसे युक्त होकर प्रसिद्ध है और देवदत्तके सम्बन्धके पहिले दंड अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध है उस तरह द्रव्यत्वके सम्बन्धके पहिले न तो द्रव्य ही प्रसिद्ध है और न द्रव्यत्व ही। यदि द्रव्यत्वके सम्बन्धके पहिले द्रव्य उपलब्ध हो तो द्रव्यत्वके सम्बन्धकी कल्पना ही व्यर्थ है। इस तरह दोनों जब सम्बन्धसे पहिले असत् हैं तब उनके सम्बन्धकी कल्पना ही नहीं हो सकती। अस्तित्व भी मान लिया जाय, पर जब उनमें पृथक्-पृथक् शक्ति नहीं है तब मिलकर भी स्वप्रत्ययोत्पादनकी शक्ति नहीं आ सकती। जैसे कि दो जन्मान्धोंको एक साथ मिला देनेपर भी दर्शन-शक्ति उत्पन्न नहीं होती, उसी तरह द्रव्य और द्रव्यत्वमें जब द्रव्य-प्रत्यय और व्यवहारकी शक्ति नहीं है तब दोनोंके सम्बन्ध होने पर भी वह व्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि द्रव्यत्वके सम्बन्धके पहिले भी द्रव्य अपनेमें द्रव्य-व्यवहार करा सकता था तो द्रव्यत्वकी कल्पना ही निरर्थक है। इसी तरह द्रव्यत्व भी द्रव्य-समवायके पहिले द्रव्यव्यवहारका निमित्त नहीं बन सकता। द्रव्यत्वके सम्बन्धके पहिले यदि द्रव्यका 'सत्' स्वरूप भी होता तो द्रव्यत्वका सम्बन्ध मानना उचित होता किन्तु द्रव्य स्वतः सत् भी नहीं है, वह तो सत्ताके समवायसे 'सत्' होता है। यदि असत् में भी सत्तासमवाय माना जाता है तो खरविषाणमें भी होना चाहिए। किंच, द्रव्यत्व सामान्य सर्वगत है, अतः यदि अतदात्मक द्रव्यमें वह समवायसम्बन्धसे रहता है तो गुण और कर्म आदिमें भी रहना चाहिए। यदि द्रव्य तदात्मक है अतः उसमें ही द्रव्यत्वका समवाय होता है; तो फिर द्रव्यत्वके समवायकी कल्पना ही निरर्थक है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि द्रव्य चूँकि समवायिकारण है अतः द्रव्यत्वका समवाय उसीमें होता है गुण कर्म या खरविषाण आदिमें नहीं; क्योंकि द्रव्यत्वसम्बन्धके पहिले जब द्रव्यका कोई स्वरूप ही नहीं है तब किसे समवायिकारण कहा जाय ? यदि निःस्वरूप द्रव्य समवायिकारण हो सकता है तो

खरविषाण आदिको भी होना चाहिए। असत् होनेसे खरविषाण यदि समवायिकारण नहीं हो सकता, तो असत्त्व तो द्रव्यमें भी विद्यमान है। तात्पर्य यह कि जिस कारण द्रव्य ही समवायिकारण होता है गुणकर्म आदि नहीं, उसी कारण यह मानना होगा कि द्रव्यका निजस्वरूप ही द्रव्यका आत्मा है और उसीसे द्रव्यव्यवहार होता है। यह स्वरूप अनादि-पारिणामिक है। द्रव्यसे बाहरका कोई द्रव्यत्व नामका सामान्यविशेष नहीं। यह समाधान भी उचित नहीं है कि-'द्रव्यमें एक विशेषता है जिसके कारण वही समवायिकारण होता है गुण कर्म आदि नहीं और इसीलिए द्रव्यत्व उसीमें समवायसम्बन्धसे रहता है अन्यमें नहीं। वह विशेषता है 'आधार होना'। द्रव्य ही गुण कर्म आदिका आधार होता है'; क्योंकि जब द्रव्य स्वतः 'सत्' भी नहीं है तब वह कैसे किसीका आधार हो सकता है ? स्वतःसिद्ध घड़ा ही जलादिका आधार होता है।

§ ४. जो वादी द्रव्यत्वके योगसे द्रव्य मानते हैं उनके यहाँ 'द्रव्य' यह व्यपदेश ही नहीं हो सकता। अभेद रूपसे व्यपदेश माननेपर जैसे यष्टिके साहचर्यसे पुरुषको 'यष्टि' कह देते हैं उस तरह तो 'द्रव्यत्व'के सम्बन्धसे द्रव्यमें 'द्रव्यत्व' व्यपदेश होगा न कि द्रव्य। यह समाधान ठीक नहीं है कि 'द्रव्यत्वका वाचक द्रव्यत्व शब्दके समान 'द्रव्य' शब्द भी है अतः उसके सम्बन्धसे उसमें द्रव्यव्यवहार हो जायगा'; क्योंकि यदि द्रव्यत्वकी 'द्रव्य' यह संज्ञा स्वतः ही है तो द्रव्यको स्वतः माननेमें क्या असन्तोष है ? उसकी भी 'द्रव्य' यह संज्ञा स्वतः मान लेनी चाहिए। यदि यह संज्ञा किसी अन्य पदार्थके सम्बन्धसे है तो वे ही दोष आते हैं। फिर यदि द्रव्यत्वके वाचक 'द्रव्यत्व और द्रव्य' ये दो शब्द हैं तो 'द्रव्य' व्यपदेशकी तरह 'द्रव्यत्व' व्यपदेश भी होना चाहिए। यदि 'यष्टिमान्' की तरह भेदमूलक व्यपदेश मानते हो तो द्रव्यमें 'द्रव्यत्ववान्' यह व्यपदेश होना चाहिए न कि 'द्रव्य' यह व्यपदेश। 'जिस प्रकार शुक्ल गुणके योगसे 'शुक्लः पटः' इस प्रयोगमें 'मतुप्' प्रत्ययका लोप होकर अभेदमूलक प्रयोग होता है उसी तरह यहाँ भी 'द्रव्य' यह प्रयोग हो जायगा' यह समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि व्याकरण शास्त्रमें गुणवाची शब्दोंसे 'मतुप्'का लोप स्वीकार किया गया है। शुक्ल आदि शब्द द्रव्यवाची और गुणवाची दोनों प्रकारके होते हैं, किन्तु 'द्रव्यत्व' शब्द गुणवाची नहीं है अतः इससे 'मतुप्' की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसी तरह 'त्व' की निवृत्ति भी व्याकरणशास्त्रसे सिद्ध नहीं है अतः 'द्रव्य' यह व्यपदेश नहीं हो सकता।

§ ५. द्रव्य शब्दसे भावार्थक 'त्व' प्रत्यय भी नहीं हो सकता; क्योंकि यदि भाव द्रव्यसे अभिन्न आत्मभूत अनादिपारिणामिक द्रव्यरूप ही है तो द्रव्यसे द्रव्यत्व भिन्न नहीं हुआ। ऐसी दशामें 'द्रव्यत्वके समवाय' की कल्पना समाप्त हो जाती है। यदि भिन्न है तो वह द्रव्यका भाव नहीं कहा जा सकता। किंच, जिस प्रकार द्रव्यका भाव द्रव्यत्व माना जाता है उसी तरह द्रव्यत्वका अन्य भाव यदि है तो 'द्रव्यत्वत्व' का प्रसंग होनेपर अनवस्था हो जायगी। यदि नहीं है तो स्वभावशून्य होनेसे अभाव हो जायगा। जिस प्रकार 'अवेर्मांसम्' या 'अविकस्य मांसम्' दोनों विग्रहोंमें 'अवि' शब्दसे ही प्रत्यय होता है उस तरह 'द्रव्यस्य भावः' और 'द्रव्यत्वस्य भावः' दोनों विग्रहोंमें द्रव्य शब्दसे ही त्वप्रत्यय नहीं हो सकता; क्योंकि जिस प्रकार अवि और अविक शब्द एकार्थक हैं उस प्रकार द्रव्य और द्रव्यत्व दोनों शब्द एकार्थक नहीं हैं। यहाँ विग्रह भेदसे अर्थभेदका होना अवश्यम्भावी है।

§ ६-८. यदि द्रव्यत्व नित्य एक और निरवयव है तो वह अनेक पृथिवी आदिमें कैसे रह सकता है ? यदि रहता है तो रूपादिकी तरह अनेक ही हो जायगा। आकाश महापरिमाण-वाला है अतः उसका एक साथ अनेक द्रव्योंको व्याप्त करना बन जाता है, परन्तु द्रव्यत्वनामक

सामान्यमें यह बात नहीं है क्योंकि महापरिमाण गुण द्रव्यमें ही रहता है, सामान्यमें नहीं। एकत्वसंख्याकी तरह इसमें उपचारसे महत्त्व स्वीकार करके निर्वाह करना उचित नहीं है क्योंकि उपचरित पदार्थ मुख्य कार्य नहीं कर सकता। आकाश तो अनन्तप्रदेशवाला है अतः प्रदेश-भेदसे युगपत् अनेक जगह वृत्ति बन जाती है, पर द्रव्यत्वमें यह बात नहीं है। अनेक कपड़ोंमें रंगा गया नील द्रव्य एक नहीं है वह तो न केवल प्रत्येक कपड़ेमें जुदा जुदा है किन्तु एक कपड़ेके हिस्सोंमें भी जुदा जुदा है। 'जिस प्रकार अग्निकी उष्णता सिद्ध करनेके लिए अन्य दृष्टान्त नहीं है, फिर भी स्वभावसे अग्नि उष्ण है उसी तरह एककी अनेक जगह वृत्ति माननेमें दृष्टान्त न मिलनेपर भी वह स्वभावतः सिद्ध हो जायगी' यह तर्क असङ्गत है; क्योंकि 'दृष्टान्तके अभावमें भी साध्य सिद्ध होता है' इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिमें आपने स्वयं दृष्टान्त उपस्थित किया है अतः स्ववचन विरोध है। यदि युक्तियोंके अभावमें भी द्रव्यत्वको अनेक-सम्बन्धी मानते हो तो द्रव्यको ही स्वतः द्रव्य क्यों नहीं मान लेते? समवायका खंडन तो पहिले किया जा चुका है।

§ ६. 'गुणसन्द्राव अर्थात् जो गुणोंको प्राप्त हो या गुणोंके द्वारा प्राप्त हो वह द्रव्य है।' यह मत भी ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वथा एकान्त पक्षमें अनेक दोष आते हैं। गुणोंसे यदि द्रव्यको अभिन्न माना जाता है तो कर्ता और कर्म रूपसे भिन्न निर्देश नहीं हो सकेगा। अभेद पक्षमें या तो गुण ही रह जायेंगे या फिर द्रव्य ही। यदि गुण ही रहते हैं; तो निराश्रय गुणोंका अभाव ही हो जायगा। यदि द्रव्य रहता है; तो बिना लक्षण या स्वभावके उसका कोई अस्तित्व नहीं रह सकेगा। यदि भिन्न मानते हैं तो भी दोनोंका निःस्वरूप होनेसे अभाव ही हो जायगा। गुण तो निष्क्रिय होते हैं अतः उनका द्रव्यके प्रति अभिद्रवण [गमन] भी नहीं हो सकता। वैशेषिक सूत्रमें लिखा ही है कि "दिशा काल और आकाश क्रियावालोंसे विलक्षण होनेके कारण निष्क्रिय हैं। कर्म और गुण भी" इसी तरह निष्क्रिय द्रव्य भी गुणोंकी तरफ गमन नहीं कर सकते। अतः 'संद्रवति' यह लक्षण भी ठीक नहीं है। जैसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाले ग्रामको स्वतःसिद्ध देवदत्त प्राप्त होता है, उस तरह यहाँ गुण स्वतन्त्र सत्तावाले नहीं हैं जिससे द्रव्य उन्हें प्राप्त हो। 'पार्थिव परमाणुओंमें अग्निसंयोगसे श्याम रूप आदिका विनाश होकर लाल रूप उत्पन्न होता है, अतः यहाँ गुणोंको द्रव्य प्राप्त होता ही है' यह तर्क भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि द्रव्य ठहरता है और रूपादि नष्ट होते और उत्पन्न होते हैं तो रूपादि गुण और द्रव्योंमें भेद हो जायगा। यदि इनका समवाय मानकर इन्हें अयुतसिद्ध स्वीकर किया जाता है तो द्रव्यकी तरह रूपादिगुण भी नित्य हो जायँगे। अयुतसिद्धि तो तभी हो सकती है जब द्रव्यके कालमें रूपादि सदा विद्यमान रहें। इस तरह या तो रूपादिकी तरह द्रव्य अनित्य हो जायगा या फिर द्रव्यकी तरह रूपादि नित्य हो जायँगे। जिस प्रकार जो पंडित है वह मूर्ख नहीं तथा जो मूर्ख है वह पंडित नहीं क्योंकि दोनोंमें परस्पर विरोध है, उसी तरह यदि समवायके कारण द्रव्यसे रूपादि अयुतसिद्ध होंगे तो वे द्रव्यकी तरह न तो उत्पन्न ही होंगे और न विनष्ट ही। यदि ये विनष्ट भी होंगे तथा उत्पन्न भी होंगे और द्रव्य स्थिर रहेगा तो मानना होगा कि वे अयुतसिद्ध नहीं हैं। यदि गुण और द्रव्य पृथक् हैं तो गुणोंके द्वारा द्रव्यका नियत प्राप्त होना उसी तरह असंभव है जिस तरह कि घटके द्वारा पटका। 'भेदमें ही अग्नि और धूमकी तरह उपलभ्य-उपलम्भक भाव होता है अभेदमें नहीं; क्योंकि स्वात्मामें वृत्तिका विरोध है, वही अंगुलीका अग्रभाग अपने आपको नहीं छू सकता। इसी तरह 'द्रव्य और गुणमें अभेद माननेपर वृत्ति नहीं बन सकती' यह तर्क ठीक नहीं है; क्योंकि 'प्रदीप अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है' यहाँ स्वात्मामें ही प्रकाशन क्रिया देखी गई है। वह स्वरूप-प्रकाशनमें अन्य प्रदीपकी आवश्यकता नहीं रखता। हम पूछते हैं कि इस मतके उपदेष्टा अपने स्वरूपको जानते हैं या

नहीं? यदि नहीं जानते हैं; तो शास्त्रविरोध और स्ववचन-विरोध होता है। वैशेषिक दर्शनमें बताया है कि "आत्मा और मनका संयोग विशेषसे आत्मप्रत्यक्ष होता है"। असर्वज्ञताका भी प्रसंग आता है, क्योंकि जो अपनी आत्माको ही नहीं जानता वह इतर पदार्थोंको कैसे जान सकता है? यदि स्वरूपको जानता है; तो 'स्वात्मामें वृत्तिका विरोध है' यह मत खंडित हो जाता है। अतः द्रव्यात्मक ही पर्याय स्वीकार करना चाहिए।

जो गुणसमुदायमात्र द्रव्य स्वीकार करते हैं उनके यहाँ भी 'गुणसन्द्रावो द्रव्यम्' यह द्रव्यका लक्षण नहीं बनता; क्योंकि इनके मतमें भी कर्ता और कर्मका भेद नहीं होता। गुण-समुदायमात्रवादीके न तो गुण पृथक् हैं और न समुदाय ही, जिससे कर्तृकर्मभाव बनाया जा सके। 'दीपक अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है' यहाँ भी भासुर रूप और द्रव्यमें कथञ्चित् भेद मानकर ही कर्तृकर्मभाव प्रयुक्त हुआ है। यदि सर्वथा अभेद ही होता तो सभी द्रव्य भासुररूपवाले हो जाते और भासुरद्रव्य सदा भासुररूपवाला ही बना रहता, परन्तु उसमें कालापन भी आ जाता है। फिर जब गुण पृथक् उपलब्ध नहीं होते तब समुदायकी कल्पना करना उचित नहीं है। गुणका अर्थ है विशेषण। गुणी-विशेष्यके बिना गुणोंमें गुणत्व ही कैसे आ सकता है? समुदाय गुणोंसे यदि अभिन्न है; तो या तो समुदाय रहेगा या गुण। यदि भिन्न है; तो 'यह गुणोंका समुदाय है' यह व्यवहार ही नहीं हो सकेगा। यदि अवक्तव्य है, तो 'अवक्तव्य' शब्दसे भी उसका कथन नहीं हो सकेगा। यदि समुदाय है तो अवक्तव्य नहीं हो सकता और यदि अवक्तव्य है तो समुदाय नहीं हो सकता, क्योंकि विद्यमान अर्थ की ही संज्ञा होती है, अवक्तव्य तो सर्ववचनोंके अगोचर होनेसे निःस्वरूप ही है। यदि गुण वक्तव्य है और समुदाय अवक्तव्य है तो दोनोंमें लक्षणभेद होनेसे भेद हो जायगा। यदि व्यणुक आदि स्कन्धोंको रूपादिपरमाणुका मात्र समुदाय माना जाता है और उस अवस्थामें किसी नई पर्यायका उत्पाद नहीं होता, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमाणुओंकी अतीन्द्रियता समुदायमें भी बनी रहती है तब स्कन्धोंको दृश्य नहीं होना चाहिए। और यदि स्कन्ध-प्रतीतिको भ्रान्त माना जाता है तो प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास तथा अनुमान और अनुमानाभासमें कोई भेद नहीं रह जायगा। इनमें भेद बाह्यार्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे ही पड़ता है।

एकान्तवादियोंके मतमें 'द्रव्यं भव्ये' यह लक्षण भी नहीं बनता; क्योंकि जब द्रव्य ही असिद्ध है तब उसमें भव्य-होनेयोग्यकी कल्पना ही नहीं हो सकती। गुण कर्म और सामान्य आदिसे जब द्रव्य सर्वथा भिन्न है तब वह खरविषाणकी तरह स्वयं असत् होनेसे भवन-क्रियाका कर्ता नहीं हो सकता। जो स्वयं असिद्ध है उसमें समवायसम्बन्धके कारण स्वरूपकल्पना करना भी संभव नहीं है। गुणसमुदाय पक्षमें चूँकि समुदाय काल्पनिक है और गुणोंका पृथक् कोई स्वरूप उपलब्ध नहीं होता अतः उभयथा असत् पदार्थ भवन-क्रियाका कर्ता नहीं बन सकता। अनेकान्तवादीके मतमें तो द्रव्य और पर्यायमें कथञ्चित् भेद होनेसे 'गुणसन्द्रावो द्रव्यम्' और 'द्रव्यं भव्ये' ये दोनों लक्षण बन जाते हैं।

§ १३-१४. 'द्रव्याणि' में बहुवचन धर्माधर्मादि बहुतके सामानाधिकरण्यके लिए दिया है। सामानाधिकरण्य होनेपर भी चूँकि 'द्रव्य' शब्द नित्य नपुंसकलिंग है अतः पहिले सूत्रमें निर्दिष्ट धर्माधर्मादिके समान उसमें पुल्लिंगका प्रयोग नहीं हुआ है।

जीवाश्च ॥ ३ ॥

जीव भी द्रव्य है।

§ १-२. 'जीवत्व नामक अपरसामान्यके सम्बन्धसे जीव हैं, स्वतःसिद्ध नहीं' यह वैशेषिकका मत ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य माननेमें जो दोष दिये हैं वे सब

यहाँ लागू हो जाते हैं। यदि जीवमें 'जीवत्व' के सम्बन्धसे जीव प्रत्यय होता है तो 'जीवत्व' में अन्य 'जीवत्वत्व' के सम्बन्धसे प्रत्यय माननेपर अनवस्था दूषण होता है। यदि इस अनवस्था दोषके भयसे 'जीवत्व' को स्वतःसिद्ध मानते हो तो 'अर्थान्तरके संसर्गसे प्रत्यय होता है' इस प्रतिज्ञाकी हानि हो जायगी। अतः जिस प्रकार जीवत्व स्वतःसिद्ध है उसी तरह जीवको भी स्वतः-सिद्ध मान लेना चाहिए। प्रदीपकी तरह 'जीवत्व' में स्वतः प्रत्यय मानना उचित नहीं है; क्योंकि उसी तरह जीवमें भी स्वतः प्रत्यय माननेमें कोई बाधा नहीं है। 'चूँकि जीव और जीवत्व दोनों भिन्न पदार्थ हैं अतः उनमें समानता नहीं लाई जा सकती' यह तर्क उचित नहीं है; क्योंकि जीव और जीवत्व भिन्न पदार्थ ही नहीं हैं। फिर आपके मतसे तो दूसरे पदार्थका धर्म दूसरे पदार्थमें आ ही जाता है जैसे कि सत्ताका 'सत्प्रययहेतुत्व' धर्म द्रव्य गुण और कर्ममें आता है। यदि सत्ताका सम्बन्ध होनेपर भी द्रव्यादिमें सत्प्रत्ययहेतुता नहीं है किन्तु सत्तामें ही है; तो फिर द्रव्यादिको खरविषाणकी तरह 'सत्' ही नहीं कह सकेंगे। अतः जीवनक्रियासे उपलक्षित द्रव्यविशेषमें 'जीव' यह संज्ञा अनादिपारिणामिकी और स्वभावभूत है।

§ ३. यद्यपि आगे 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस सूत्रगत द्रव्यलक्षणसे ही धर्मादिमें द्रव्यता सिद्ध थी, फिर भी यहाँ द्रव्योंकी गिनती नियमके लिए की है। धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव कालके साथ मिलकर छह द्रव्य होते हैं अतिरिक्त द्रव्य नहीं हैं। अतः अन्य मतवालोंने जो द्रव्यसंख्याएँ मानी हैं उनकी निवृत्ति हो जाती है। वैशेषिक नव द्रव्यवादी हैं। उनका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन, रूप रस गन्ध और स्पर्शवाले होनेसे पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भूत हैं। वायु रूपवाली है क्योंकि उसमें घट आदिकी तरह स्पर्श पाया जाता है। चक्षुके द्वारा न दिखनेके कारण रूपका अभाव नहीं किया जा सकता, अन्यथा परमाणु आदिका भी अभाव हो जायगा। मन दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन। भावमन ज्ञानरूप है, वह जीवका गुण होनेसे आत्मामें अन्तर्भूत है। द्रव्यमन रूपादिवाला होनेसे पौद्गलिक है। परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थ रूपादिवाले होकर भी आँखोंसे नहीं दिखते अतः न दिखने मात्रसे मनमें रूपादि वस्तुका अभाव नहीं किया जा सकता। 'मन ज्ञानोपयोगका करण होनेसे रूपादिवाला है चक्षु इन्द्रियकी तरह' इस अनुमानसे मनमें रूपादिका सद्भाव सिद्ध होता है। शब्द भी पौद्गलिक होनेसे मूर्तिक है। वायु और मनके पुद्गलपरमाणुओंमें भी स्कन्ध होनेकी योग्यता है, अतः वे भी स्कन्ध बनते हैं। पार्थिव और जलीय आदि रूपसे परमाणुओंमें जातिभेद नहीं है, क्योंकि पार्थिव चन्द्रकान्तमणिसे जलकी, जलसे पार्थिव मोती आदिकी जातिसंकररूपसे उत्पत्ति देखी जाती है। दिशाका भी आकाशमें अन्तर्भाव हो जाता है, सूर्योदय आदिकी अपेक्षा आकाशके प्रदेशोंमें ही 'यह इससे पूर्व है' आदि दिग्व्यवहार हो जाता है।

§ ४. जीवोंकी अनन्तता और विविधता सूचन करनेके लिए 'जीवाश्च' यहाँ बहुवचनका प्रयोग किया है। संसारी जीव गति आदि चौदह मार्गणास्थान, मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुण-स्थान, सूक्ष्म बादर आदि चौदह जीवस्थानोंके विकल्पसे अनेक प्रकारके हैं। मुक्त जीव भी एक दो तीन संख्यात असंख्यात समयसिद्ध, शरीराकार, अवगाहना आदिके भेदसे अनेक प्रकार के हैं।

§ ५–८. यदि 'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा इकट्ठा एक सूत्र बनाते तो च शब्द न देनेके कारण लघुसूत्र तो होता परन्तु इससे जीव ही द्रव्य कहे जा सकते धर्मादि नहीं। 'द्रव्याणि' में जो बहुवचन है वह तो अनेक प्रकारके जीवोंके सामानाधिकरण्यके लिए ही सार्थक हो जाता है—उससे धर्मादिमें द्रव्यता सिद्ध नहीं हो पायगी। यद्यपि 'अजीवकायाः' इस सूत्रसे अजीवाधिकार चल रहा है परन्तु जब 'द्रव्याणि जीवाः' एक सूत्र बना दिया जाता तो स्वभावतः जीवोंमें ही द्रव्यता फलित होगी अजीवोंमें नहीं। अधिकार रहनेपर भी जब तक उस प्रकारका प्रयत्न न

किया जाय तब तक 'अजीवोंमें द्रव्यरूपता बन ही नहीं सकती। अतः पृथक् सूत्र बनाना उचित है इसीलिए 'च' शब्द भी सार्थक है।

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

ये द्रव्य नित्य अवस्थित और अरूपी हैं।

§ १–२. नित्यशब्दका अर्थ है ध्रौव्य। द्रव्य जिन जिन गतिहेतुत्व स्थितिहेतुत्व आदि विशेषलक्षणों तथा अस्तित्व आदि सामान्यलक्षणोंसे युक्त है उन उन स्वभावोंका कभी भी विनाश नहीं होता। इसी तद्भावाव्ययको नित्य कहते हैं।

§ ३–५. धर्मादि द्रव्य कभी भी अपनी छह संख्याको नहीं छोड़ते, न तो सात होते हैं और न पाँच, इसीलिए ये अवस्थित हैं। अथवा धर्माधर्मादिद्रव्योंके जितने प्रदेश बताये गये हैं उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती। धर्मादि द्रव्योंके गत्युपग्रह स्थित्युपग्रह उत्पाद व्यय ध्रौव्य मूर्तिमत्त्व और अमूर्तत्व आदि अनेक परिणमन होते हैं, अतः नित्यके बाद भी अवस्थितका कथन करनेसे यह सूचित होता है कि अनेकपरिणमन होनेपर भी कभी भी धर्मादिकमें मूर्तत्व या चेतनत्व नहीं आ सकता, न जीवोंमें अचेतनत्व और न पुद्गलोंमें अमूर्तत्व आदि। इन धर्मादिक द्रव्योंमें द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयकी गौण मुख्य विवक्षासे ये अनेक परिणमन बन जाते हैं। इनमें कोई विरोध नहीं आता।

§ ६–७. अथवा, 'नित्य' शब्द अवस्थितका विशेषण है। जैसे गमन शयन आदि अनेक क्रियाओंके करते रहनेपर भी सतत प्रजल्प-बकवास करनेके कारण देवदत्तमें 'नित्य-प्रजल्पित' व्यवहार कर दिया जाता है; उसी तरह बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे उत्पाद व्यय होनेपर भी धर्मादि द्रव्य कभी भी अपने अमूर्तत्व स्वभावको नहीं छोड़ते अतः इन्हें नित्यावस्थित कहते हैं। परिस्पन्द रूप क्रियाकी निवृत्तिके लिए अवस्थित पदकी सार्थकता नहीं है, क्योंकि आगे इस क्रियाकी निवृत्तिके लिए 'निष्क्रियाणि' सूत्र कहा जानेवाला है।

§ ८. 'अरूप' पद रूप और स्पर्शादिका निषेध करके 'अमूर्तत्व' स्वभावकी सूचना देता है।

§ ९. वृत्तिमें "धर्मादिद्रव्य अवस्थित हैं, वे कभी भी अपनी पाँच संख्याको नहीं छोड़ते" यह कथन होनेसे षड्द्रव्योपदेशका व्याघात नहीं होता; क्योंकि वृत्तिमें 'कालश्च' सूत्रसे निर्दिष्ट होनेवाले कालद्रव्यकी अपेक्षा न करके 'पाँच' का निर्देश किया है।

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

धर्मादि द्रव्योंके अरूपी होनेपर भी पुद्गलद्रव्य रूपी है।

§ १. यद्यपि रूप शब्दके स्वभाव अभ्यास श्रुति महाभूत गुणविशेष और मूर्ति आदि अनेक अर्थ हैं परन्तु यहाँ शास्त्रानुसार 'मूर्ति' अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

§ २. रूप रस गन्ध और स्पर्श तथा गोल त्रिकोण चौकोण लंबा चौड़ा आदि आकृतियों रूप परिणमनको मूर्ति कहते हैं।

§ ३–६. अथवा, रूप शब्दसे आँखके द्वारा ग्रहण होनेवाला रूप नामका गुणविशेष लेना चाहिए। रस गन्ध आदि रूपके अविनाभावी हैं अतः रूपके कहनेसे उनका ग्रहण हो जाता है। यद्यपि पुद्गलद्रव्यसे रूप भिन्न नहीं है क्योंकि द्रव्यको छोड़कर पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं होती, तो भी पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे कथञ्चित् भेद है ही। पुद्गलद्रव्य स्थिर रहता है पर रूपादि उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं, द्रव्य अनादि है रूपादि आदिमान्, द्रव्य अन्वयी होता है और रूपादि व्यतिरेकी, अतः भेदविवक्षासे 'रूपी' यहाँ 'इन्' प्रत्यय हो जाता है। फिर,

अभेदमें भी 'मतुप्' आदि प्रत्ययोंके द्वारा भेदपरक निर्देश भी देखा जाता है जैसे कि 'आत्मवान् आत्मा' 'सारवान् स्तम्भः' यहाँ। यहाँ आत्मासे भिन्न कोई आत्मत्व या स्तम्भको छोड़कर अन्य सार नहीं पाया जाता। उसी तरह 'रूपिणः' यह निर्देश अभेदमें भी बन जाता है।

§ ७. परमाणु और स्कन्ध आदिके भेदसे अनेक प्रकारके पुद्गल द्रव्योंकी सूचना देनेके लिए 'पुद्गलाः' यहाँ बहुवचन दिया है।

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

आकाशपर्यन्त अर्थात् धर्म अधर्म और आकाश ये एक द्रव्य हैं।

§ १. 'आङ्' का प्रयोग अभिविधि अर्थात् अभिव्याप्तिके अर्थमें किया गया है, इससे आकाशका भी ग्रहण हो जाता है। यदि मर्यादा अर्थमें होता तो आकाशसे पहिले पहिलेके द्रव्योंका ग्रहण होता, आकाशका नहीं।

§ २-३ एक शब्द संख्यावाची है। चूँकि धर्म अधर्म और आकाश तीन द्रव्योंके एक एकपनेका निर्देश करना है, अतः सूत्रमें द्रव्य शब्दका बहुवचनके रूपमें निर्देश किया है।

§ ४-६. प्रश्न-'आ आकाशादेकैकम्' ऐसा लघुसूत्र बनानेसे भी कार्य चल सकता है, द्रव्य तो प्रसिद्ध ही है, अतः द्रव्यका अन्वय हो ही जायगा, फिर सूत्रमें द्रव्यपद निरर्थक है? उत्तर-केवल 'एकैकम्' कहनेसे यह पता नहीं चलता कि ये किस अपेक्षा एक कहे जा रहे हैं-द्रव्य क्षेत्र काल या भावसे? अतः असन्दिग्ध रूपसे 'द्रव्यकी अपेक्षा' का सूचन करनेके लिए 'द्रव्य' पद देना सार्थक ही है। अतः गति स्थिति आदि परिणामवाले विविध जीव पुद्गलोंकी गति आदिमें निमित्त होनेसे भावकी अपेक्षा, प्रदेशभेदसे क्षेत्रकी अपेक्षा, तथा कालभेदसे कालकी अपेक्षा अनेकत्व होनेपर भी धर्मादि एक एक ही द्रव्य हैं जीव और पुद्गल आदिकी तरह अनेक नहीं हैं। यदि जीव और पुद्गलोंको एक एक द्रव्य माना जायगा तो क्रियाकारकका भेद, संसार और मोक्ष आदि नहीं हो सकेंगे।

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

ये धर्मादिद्रव्य निष्क्रिय हैं।

§ १-२. बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणोंसे होनेवाली द्रव्यकी उस पर्यायको क्रिया कहते हैं जो एक देशसे देशान्तर प्राप्तिमें कारण होती है। उभय कारणोंका ग्रहण इसलिए किया है कि क्रिया द्रव्यका सदा वर्तमान स्वभाव नहीं है। यदि होता, तो द्रव्यमें प्रतिक्षण क्रिया होनी चाहिए थी। क्रिया द्रव्यसे भिन्न नहीं है किन्तु क्रियापरिणामी द्रव्यकी पर्याय है। यदि भिन्न हो तो द्रव्य निश्चल हो जायगा। ज्ञानादि या रूपादि गुणोंकी व्यावृत्तिके लिए 'देशान्तरप्राप्तिहेतु' यह विशेषण दिया गया है। क्रिया शब्दसे 'निर्' उपसर्गका समास करने पर 'निष्क्रिय' शब्द सिद्ध होता है।

§ ३. धर्मादि द्रव्योंमें क्रियानिमित्तक उत्पाद और व्यय नहीं होते अतः निष्क्रिय होनेसे उत्पादादिका अभाव करना उचित नहीं है। उत्पाद दो प्रकारका है-स्वनिमित्तक और परप्रत्यय। अनन्त अगुरुलघुगुणोंकी षट्स्थानपतित वृद्धि और हानिसे सभी द्रव्योंमें स्वाभाविक उत्पाद व्यय होते रहते हैं। परप्रत्यय भी उत्पाद व्यय अश्वादिकी गति स्थिति और अवगाहमें निमित्त होनेसे होते हैं। उन पदार्थोंमें प्रतिक्षण परिणमन होता है अतः उनकी अपेक्षा गति स्थिति और अवगाहनकी हेतुतामें भेद होता रहता है।

§ ४-६. प्रश्न-क्रियावाले ही जलादि पदार्थ मछली आदिकी गति और स्थितिमें निमित्त देखे गये हैं, अतः निष्क्रिय धर्माधर्मादि गतिस्थितिमें निमित्त कैसे हो सकते हैं? उत्तर-जैसे देखनेकी

इच्छा करनेवाले आत्माको चक्षु इन्द्रिय बलाधायक हो जाती है, इन्द्रियान्तरमें उपयुक्त आत्माको वह स्वयं प्रेरणा नहीं करती। आयुके क्षय हो जाने पर आत्माके निकल जाने पर शरीरमें विद्यमान भी इन्द्रियाँ रूपादिदर्शन नहीं करातीं, अतः ज्ञात होता है कि आत्मामें ही वह शक्ति है, इन्द्रियाँ तो मात्र बलाधायक होती हैं, उसी प्रकार स्वयं गति स्थिति और अवगाहन रूपसे परिणमन करनेवाले द्रव्योंकी गति आदिमें धर्मादि द्रव्य निमित्त हो जाते हैं, स्वयं क्रिया नहीं करते। जैसे आकाश अपनी द्रव्य सामर्थ्यसे गमन न करने पर भी सभी द्रव्योंसे संबद्ध है और सर्वगत कहलाता है उसी तरह धर्मादि द्रव्योंकी भी गति आदिमें निमित्तता समझनी चाहिए। च शब्दसे धर्म-अधर्म और आकाशका सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है। धर्माधर्मादिमें निष्क्रियत्वका नियम होनेसे अर्थात् ही जीव और पुद्गलमें स्वपरप्रत्यय सक्रियता सिद्ध हो जाती है।

§ ७-१३. प्रश्न-आत्मा स्वयं तो सर्वगत होनेसे निष्क्रिय है, केवल क्रियाहेतु गुण अदृष्टके समवायसे पर पदार्थोंकी क्रियामें हेतु होता है। अतः आत्माको सक्रिय कहना उचित नहीं है? उत्तर-जैसे वायु स्वयं क्रियाशील होकर ही वृक्ष आदिमें क्रिया करती है उसी तरह स्वयं क्रिया स्वभाव आत्माके वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षय या क्षयोपशम, अङ्गोपाङ्ग नाम कर्मका उदय और विहायोगति नामकर्मसे विशेष शक्ति मिलने पर गतिमें तत्पर होते ही हाथ पैर आदिमें क्रिया होती है। निष्क्रिय आत्मा दूसरे पदार्थमें क्रिया नहीं करा सकता। अतः वैशेषिकका यह सिद्धान्त खंडित हो जाता है-"आत्मसंयोग और प्रयत्नसे हाथमें क्रिया होती है" क्योंकि जिस प्रकार निष्क्रिय आकाशका घटादिकमें संयोग होनेपर भी घटमें क्रिया नहीं होती उसी तरह निष्क्रिय आत्मामें भी हाथ आदिसे संयोग होनेपर भी क्रिया नहीं हो सकती। जैसे दो जन्मान्धोंके सम्बन्धसे दर्शनशक्ति उत्पन्न नहीं होती उसी तरह आत्मसंयोग और प्रयत्न जब दोनों निष्क्रिय हैं तब इनके सम्बन्धसे क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती। वैशेषिक सूत्रमें बताया है कि "दिशा काल और आकाश क्रियावाले द्रव्योंसे विलक्षण होनेसे निष्क्रिय हैं। इसी तरह कर्म और गुण पदार्थ भी निष्क्रिय हैं।" संयोग और प्रयत्न दोनों गुण हैं अतः निष्क्रिय हैं। यह तर्क भी ठीक नहीं है कि "जैसे अग्निसंयोग उष्णताकी अपेक्षा करके घट आदि पदार्थोंमें पाकज रूप आदिको उत्पन्न करता है स्वयं अग्निमें नहीं उसी तरह अदृष्टकी अपेक्षा लेकर आत्मसंयोग और प्रयत्न हाथ आदिमें क्रिया उत्पन्न कर देंगे अपनेमें नहीं।" क्योंकि इससे तो हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है। अग्निसंयोगका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है क्योंकि अनुष्णशीत अप्रेरक अनुपघाती और अप्राप्त संयोग, रूपादिकी उत्पत्ति या उच्छेदमें कारण नहीं हो सकता। गुरुत्व भी क्रियापरिणामी द्रव्यका गुण होकर ही अन्य द्रव्यमें क्रियाहेतु हो सकता है। इसी तरह आत्मसंयोग और प्रयत्न भी क्रियापरिणामी द्रव्यके गुण होकर ही क्रियाहेतु होंगे। अतः तथापरिणत-क्रियापरिणत द्रव्यको ही क्रियाहेतु मानना उचित है। धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलकी गतिमें अप्रेरक कारण है अतः वह निष्क्रिय होकर भी बलाधायक हो सकता है पर आप तो आत्मगुणको परकी क्रियामें प्रेरक निमित्त मानते हैं अतः धर्मास्तिकायका दृष्टान्त विषम है। कोई भी निष्क्रिय द्रव्य या उसका गुण प्रेरकनिमित्त नहीं हो सकता। धर्मास्तिकाय द्रव्य तो अन्यत्र बलाधायक हो सकता है पर निष्क्रिय आत्माका गुण, जो कि पृथक् उपलब्ध नहीं होता क्रियाका बलाधायक भी संभव नहीं है। यदि गुणका पृथक् सद्भाव मानते हैं तो दोनोंका अभाव हो जायगा।

§ १४-१६. यदि आत्माको निष्क्रिय मानते हैं तो आकाशप्रदेशकी तरह वह शरीरमें क्रियाहेतु नहीं हो सकेगा। एकान्तसे अमूर्त और निष्क्रिय आत्माका शरीरसे सम्बन्ध भी संभव नहीं, अतः परस्पर उपकार नहीं बन सकेगा। जैन तो कार्मणशरीरके सम्बन्धसे आत्मामें क्रिया

मानते हैं, अतः जब आठों कर्मोंका नाश होनेसे शरीरका वियोग हो जाता है तो अशरीरी आत्मा निष्क्रिय बन जाता है; क्योंकि कारणके अभावमें कार्यका अभाव होना सर्वसिद्ध है। जो क्रिया कर्म और नोकर्मके निमित्तसे आत्मामें होती है उसका अभाव कर्मनोकर्मके अभावमें हो ही जाना चाहिए, पर आत्माकी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति रूप क्रिया तो मुक्तके भी स्वीकार की जाती है। मुक्तमें भी अनन्तवीर्य ज्ञान दर्शन और सुखानुभवन आदि क्रियाएँ होती ही रहती हैं। आगे दसवें अध्यायमें पूर्वप्रयोग और असंगत्व आदि कारणोंसे मुक्तोंकी ऊर्ध्वगतिका समर्थन किया भी है।

§ १७. पुद्गलद्रव्योंके भी स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनों प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं।

§ १८-१९. क्रिया क्रियावान् द्रव्यसे अभिन्न है; क्योंकि वह उसीका परिणामविशेष है, जैसे कि अग्निकी उष्णता। जिस प्रकार उष्णताको अग्निसे भिन्न माननेपर अग्निके अभावका ही प्रसंग होता है उसी तरह यदि क्रियाको भिन्न माना जायगा तो द्रव्य स्पन्दरहित-निष्क्रिय हो जायगा और इस तरह क्रियावाले द्रव्योंका अभाव ही हो जायगा। दंड स्वतः-सिद्ध है, अतः उसके सम्बन्धसे पुरुषमें 'दंडी' यह व्यपदेश हो सकता है पर क्रिया तो द्रव्यसे भिन्न-पृथक्सिद्ध नहीं है अतः दंडीकी तरह 'क्रियावान्' व्यपदेश नहीं हो सकता।

§ २०-२१. समवाय सम्बन्धके द्वारा 'क्रियावान्' व्यपदेश मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि यदि क्रिया और क्रियावान् द्रव्यमें अयुतसिद्धत्व-अभिन्नत्व माना जाता है तो द्रव्य और क्रियाका पार्थक्य ही नहीं रहता, फिर सम्बन्ध कैसा? यदि भिन्नता मानी जाती है तो अयुतसिद्ध सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। क्रिया और क्रियावान् द्रव्यमें तो भेद देखा जाता है—क्रिया क्षणिक और सकारण है जब कि द्रव्य अवस्थित और अकारण है। यदि दोनोंमें अभेद माना जायगा तो द्रव्यकी तरह क्रिया भी नित्य और अकारण हो जायगी, और क्रियाकी तरह द्रव्य भी क्षणिक और सकारण हो जायगा।

§ २२-२५. महान् अहंकार तथा परमाणु आदि क्रियावान् होकर भी नित्य माने जाते हैं अतः दीपकके दृष्टान्तसे जीवमें क्रियावान् होनेसे अनित्यत्वका प्रसंग नहीं आ सकता। सर्वानित्यत्ववादीका यह हेतु असिद्ध है कि-"सब पदार्थ प्रत्ययजन्य हैं और निरीहक हैं" क्योंकि ऐसा माननेपर क्रियावत्त्वका लोप हो जायगा। जैन पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे क्रियावान् जीवादि द्रव्योंको अनित्य भी मानते हैं। इसी तरह द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे जब नित्यत्व है तब हम उसे प्रदीपकी तरह क्रियावाला भी नहीं मानते। अतः इस पक्षमें प्रदीप दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। द्रव्यार्थिककी प्रधानतामें सभी पदार्थ उत्पाद और व्ययसे शून्य हैं, निष्क्रिय हैं और नित्य हैं। पर्यायर्थिकनयसे ही पदार्थोंमें उत्पाद और व्यय होते हैं, वे सक्रिय और अनित्य हैं। इस तरह अनेकान्त समझना चाहिए।

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

धर्म अधर्म और एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं।

§ १-२. गिनती न हो सकनेके कारण वे असंख्येय हैं। वे गिनतीकी सीमाको पार कर गये हैं। जैसे सर्वज्ञ अनन्तको अनन्त रूपमें जानता है उसी तरह वह असंख्यातको असंख्यात रूपमें जानता है। इस तरह सर्वज्ञतामें कोई बाधा नहीं है। यहाँ अजघन्योत्कृष्ट असंख्येय लेना चाहिए।

§ ३-४. एक अविभागी परमाणु जितने क्षेत्रमें ठहरता है उसे प्रदेश कहते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी लोकको व्याप्त करके स्थित हैं, ये निष्क्रिय हैं। जीव असं-

ख्यातप्रदेशी होनेपर भी संकोचविस्तारशील होनेसे कर्मके अनुसार प्राप्त छोटे या बड़े शरीरमें तत्प्रमाण होकर रहता है। जब इसकी समुद्घात कालमें लोकपूर्ण अवस्था होती है तब इसके मध्यवर्ती आठ प्रदेश सुमेरु पर्वतके नीचे चित्र और वज्रपटलके मध्यके आठ प्रदेशोंपर स्थित हो जाते हैं, बाकी प्रदेश ऊपर नीचे चारों ओर फैल जाते हैं।

§ ५-६. एक द्रव्य यद्यपि अविभागी है, वह घटकी तरह संयुक्तद्रव्य नहीं है फिर भी उसमें प्रदेश वास्तविक हैं उपचारसे नहीं। घटके द्वारा जो आकाशका क्षेत्र अवगाहित किया जाता है वही अन्य पटादिके द्वारा नहीं। दोनों जुदे-जुदे हैं। यदि प्रदेशभिन्नता न होती तो वह सर्वव्यापी नहीं हो सकता था। अतः द्रव्य अविभागी होकर भी प्रदेशशून्य नहीं है। वह घटादिकी तरह द्रव्यविभागवाला-सावयव भी नहीं है अतः अविभागी निरवयव और अखंड माननेमें कोई बाधा नहीं है।

§ ७-९. जीव अनन्त हैं अतः 'एकजीव' का असंख्यातप्रदेशित्व बतानेके लिए 'एक' पद दिया है। नाना जीवोंकी अपेक्षा तो अनन्त प्रदेश हो सकते हैं। द्रव्योंसे प्रदेशोंका कथञ्चित् भेद होनेसे षष्ठी विभक्ति-द्वारा 'धर्माधर्मैकजीवानाम्' यह भेदनिर्देश कर दिया है। 'असंख्येय-प्रदेशाः' ऐसा लघुनिर्देश न करके 'प्रदेशाः' का पृथक् निर्देश इसलिए किया है कि उसका सम्बन्ध आगेके सूत्रोंमें होता जाय। यदि 'असंख्येयप्रदेशाः' ऐसा द्रव्यप्रधान निर्देश करते तो 'प्रदेश' पद गौण हो जानेसे आगे उसका सम्बन्ध नहीं हो पाता।

§ १०-१३. माणवकमें सिंहकी तरह धर्मादि द्रव्योंमें प्रदेशकल्पना औपचारिक नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार क्रूरता, शूरता आदि गुणवाले पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचमें सिंह शब्द मुख्य रूपसे तथा सादृश्यकी अपेक्षा माणवकमें गौणरूपसे दो प्रकारके प्रत्ययोंका उत्पादक प्रसिद्ध है उस तरह धर्मादि और पुद्गलादिमें होनेवाले 'प्रदेशवत्त्व' प्रत्ययमें कोई भेद नहीं दिखाई देता। सिंहमें मुख्य सिंह प्रत्यय होनेसे माणवकमें गौणकल्पना हो भी सकती है। पर यहाँ ऐसा नहीं है। जब केवल सिंह शब्दका प्रयोग होता है तब मुख्य प्रदेशोंका बोध होता है तथा जब सोपपद अर्थात् माणवकसिंहकी तरह किसी अन्यपदसे युक्तका प्रयोग होता है तब गौण व्यवहार किया जाता है। किन्तु यहाँ जैसे 'घटके प्रदेश' प्रयोग होता है वैसे ही 'धर्मादिके प्रदेश' यह भी सोपपद ही प्रयोग होता है, अतः कोई विशेषता नहीं है। सिंहगत क्रौर्यादि धर्मोंका एकदेश सादृश्य देखकर माणवकमें किया जानेवाला 'सिंह व्यवहार' गौण हो सकता है किन्तु पुद्गल और धर्मादिमें सभीके स्वाधीन मुख्य ही प्रदेश हैं अतः उपचार कल्पना नहीं बनती।

§ १४. प्रश्न-यदि घटादिकी तरह धर्मादिके भी मुख्य ही प्रदेश होते तो घटादिके ग्रीवा पैंदा आदिकी तरह स्वतः उनमें भी प्रदेशवान्की तरह व्यवहार होना चाहिए द्रव्यान्तरसे नहीं। धर्मादि द्रव्योंमें प्रदेशव्यवहार पुद्गल परमाणुके द्वारा रोके गये आकाश प्रदेशके नापसे होता है। अतः मानना चाहिए कि उनमें मुख्य प्रदेश नहीं है। उत्तर-चूँकि धर्मादि द्रव्य अती-न्द्रिय हैं, परोक्ष हैं, अतः उनमें मुख्यरूपसे प्रदेश विद्यमान रहने पर भी स्वतः उनका ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए परमाणुके नापसे उनका व्यवहार किया जाता है।

§ १५. अर्हन्तके द्वारा प्रणीत गणधरके द्वारा अनुस्मृत तथा आचार्योंकी परम्परासे प्राप्त श्रुत-आगममें इन सब द्रव्योंके प्रदेशोंका वर्णन इस प्रकार मिलता है-"एक एक आत्म-प्रदेशमें अनन्तानन्त ज्ञानावरणादि कर्मोंके प्रदेश ठहरे हैं। एक एक कर्मप्रदेशमें अनन्तानन्त औदारिकादि शरीरोंके प्रदेश हैं। एक एक शरीरप्रदेशमें अनन्तानन्त विस्रसोपचय परमाणु गीले गुड़में धूलकी तरह लगे हुए हैं।" इसी तरह धर्मादि द्रव्योंमें भी मुख्य प्रदेश जानना चाहिए।

§ १६. आगममें जीवके प्रदेशोंको स्थित और अस्थित दो रूपमें बताया है। सुख दुःखका अनुभव पर्यायपरिवर्तन या क्रोधादि दशामें जीवके प्रदेशोंकी उथल-पुथलको अस्थिति तथा उथल-पुथल न होनेको स्थिति कहते हैं। जीवके आठ मध्यप्रदेश सदा निरपवाद रूपसे स्थित ही रहते हैं। अयोगकेवली और सिद्धोंके सभी प्रदेश स्थित हैं। व्यायामके समय या दुःख परिताप आदिके समय जीवोंके उक्त आठ मध्यप्रदेशोंको छोड़कर बाकी प्रदेश अस्थित होते हैं। शेष जीवोंके स्थित और अस्थित दोनों प्रकारके हैं। अतः ज्ञात होता है कि द्रव्योंके मुख्य ही प्रदेश हैं, गौण नहीं।

§ १७. चूँकि आगममें वीर्यान्तराय और मतिश्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयसे आत्माके उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण प्रदेशोंमें चक्षु इन्द्रिय पर्यायकी प्राप्ति बताई गई है। इस तरह अमुक प्रदेशोंमें उसका परिणमन बतानेसे ज्ञात होता है कि आत्मादिके मुख्य ही प्रदेश हैं।

§ १८. द्रव्योंकी प्रतिनियत स्थानोंमें स्थिति बताई जानेसे भी ज्ञात होता है कि आकाश आदिमें मुख्य ही प्रदेश हैं। पटना आकाशके दूसरे प्रदेशमें है और मथुरा अन्य प्रदेशमें। यदि आकाश अप्रदेशी होता तो पटना और मथुरा एक ही जगह हो जाते।

§ १९. वैशेषिकोंके मतमें संसारी जीवके कानके भीतर आया हुआ आकाशप्रदेश श्रोत्र कहलाता है। यह अदृष्टविशेषसे संस्कृत होकर शब्दोपलब्धि करता है। यदि आकाशके प्रदेश न माने जायेंगे तो संपूर्ण आकाशको श्रोत्र कहना होगा। ऐसी दशामें सभी प्राणियोंको सभी शब्द सुनाई देना चाहिए। यदि प्रदेशविशेषको श्रोत्र कहते हैं तो आकाशको अप्रदेशी कहना खंडित हो जाता है। अथवा एक परमाणु पूरे आकाशसे सम्बन्धको प्राप्त होता है या एक देशसे? यदि पूरे आकाशसे, तो या तो आकाशको परमाणुरूप मानना होगा या फिर परमाणुको आकाशके बराबर। यदि एक देशसे; तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि आकाशके मुख्य ही प्रदेश हैं।

§ २०. वैशेषिक मतमें कर्म उत्पन्न होते ही अपने आश्रयको एक आधारसे हटाकर दूसरे आधारसे संयुक्त कराता है। यह कर्मका स्वभाव है। इससे स्पष्ट है कि आकाशके प्रदेशभेद है अन्यथा किसीसे संयोग और किसीसे वियोग कैसे बन सकता है? यदि प्रदेशान्तरसंक्रमण न हो तो कर्मका ही अभाव हो जायगा।

§ २१. आत्माके सामान्य पुरुषशरीरकी दृष्टिसे प्रदेशोंमें एकत्व है और सिर, पैर, हाथ, नाक आदि अंग-उपांग रूप पर्यायकी दृष्टिसे भेद है। इस तरह प्रदेशोंके एकत्व और अनेकत्वमें अनेकान्त है। अथवा, पुरुष द्रव्यकी दृष्टिसे एकत्व होनेपर पाचक लावक (काटनेवाला) आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेकत्व है। अथवा, पिता पुत्र चाचा मामा आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेकता है। अथवा, पंचेन्द्रिय आरोग्य मेधावी पटु कुशल सुशील आदि व्यवहारोंमें कारणभूत पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेकता है। इसी तरह धर्म अधर्म आकाश आदिमें स्वद्रव्यकी विवक्षामें एकत्व है और तत्तत् पर्यायोंकी विवक्षामें अनेकत्व है।

§ २२. शुद्धनयकी दृष्टिसे अखंड उपयोग स्वभावकी विवक्षासे आत्मामें प्रदेश-भेद न होनेपर भी व्यवहारनयसे संसारी जीव अनादि कर्मबन्धन बद्ध होनेसे सावयव ही है।

आकाशकी प्रदेशसंख्या—

आकाशस्यानन्ताः ॥ ८ ॥

आकाशके अनन्त प्रदेश हैं।

§ १–२. अनन्त अर्थात् जिनका अन्त न हो। 'प्रदेशाः' पदका सम्बन्ध यहाँ हो जाता है। अनन्त और असंख्यातमें इयत्ताका अपरिच्छेद होनेसे तुल्यता नहीं कहनी चाहिए; क्योंकि इनका महान् अन्तर 'नृस्थिती परावरे' सूत्रमें बता आये हैं।

§ ३–५. अनन्त होनेसे अज्ञेयकी आशंका भी उचित नहीं; क्योंकि वह अतिशयज्ञानशाली सर्वज्ञके द्वारा दृष्ट होता है। ये प्रश्न भी उचित नहीं हैं कि 'यदि अनन्तको सर्वज्ञने जाना है तो अनन्तका ज्ञानके द्वारा अन्त जान लेनेसे अनन्तता नहीं रहेगी और यदि नहीं जाना है तो सर्वज्ञता नहीं रहेगी; क्योंकि सर्वज्ञका क्षायिकज्ञान अनन्तानन्त है, उसके द्वारा अनन्तका अनन्तके रूपमें ही ज्ञान हो जाता है। अन्य लोग सर्वज्ञके उपदेशसे तथा अनुमानसे अनन्तताका ज्ञान कर लेते हैं। सर्वज्ञने अनन्तको अनन्तरूपसे हो जाना है, अतः मात्र सर्वज्ञके द्वारा ज्ञात होनेसे उसमें सान्तत्व नहीं आ सकता। प्रायः सभी वादी अनन्त भी मानते हैं और सर्वज्ञ भी। बौद्ध लोकधातुओंको अनन्त कहते हैं। वैशेषिक दिशा काल आकाश और आत्माको सर्वगत होनेसे अनन्त कहते हैं। सांख्य प्रकृति और पुरुषको सर्वगत होनेसे अनन्त कहते हैं। इन सबका परिज्ञान होने मात्रसे सान्तता नहीं हो सकती। अतः अनन्त होनेसे अपरिज्ञानका दूषण ठीक नहीं है। यदि अनन्त होनेसे पदार्थको अज्ञेय कहा जायगा तो सर्वज्ञका अभाव हो जायगा; क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं, अतः कोई उनको जान ही नहीं सकेगा। यदि पदार्थोंको सान्त माना जाता है तो संसार और मोक्ष दोनोंका लोप हो जायगा। यदि जीवोंको सान्त माना जाता है; तो जब सब जीव मोक्ष चले जायँगे तब संसारका उच्छेद ही हो जायगा। यदि संसारोच्छेदके भयसे मुक्त जीवोंका पुनः संसारमें आगमन माना जाय तो मोक्षका भी उच्छेद हो जायगा। एक एक जीवमें कर्म और नोकर्म पुद्गल अनन्त हैं। यदि उन्हें सान्त माना जाय तो भी संसार और मोक्ष दोनोंका उच्छेद हो जायगा। इसी तरह अतीत और अनागतकालको सान्त माना जाय तो पहिले और बादमें कालव्यवहारका अभाव ही हो जायगा। पर यह युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि असत्की उत्पत्ति और सत्का सर्वथा विनाश दोनों ही अयुक्तिक हैं। इसी तरह आकाशको सान्त माननेपर उससे आगे कोई ठोस पदार्थ मानना होगा। यदि नहीं; तो आकाश ही आकाश माननेपर सान्तता नहीं रहेगी।

पुद्गलोंकी प्रदेश संख्या—

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

पुद्गलोंके संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

§ १–२. च शब्द से 'अनन्त' का समुच्चय कर लेना चाहिए। अनन्त कहनेसे परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त तीनोंका ग्रहण हो जाता है।

§ ३–६. प्रश्न—जब लोक असंख्यात प्रदेशी है, तब उसमें अनन्तानन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध कैसे समा सकते हैं? यह तो विरोधी बात है। उत्तर—पुद्गलोंके सूक्ष्म परिणमन और आकाशकी अवगाहनशक्तिसे अनन्तानन्त पुद्गलोंका अवगाह हो जाता है। फिर यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है कि छोटे आधारमें बड़ा द्रव्य ठहर ही नहीं सकता हो। पुद्गलोंमें विशेष प्रकारका सघन संघात होनेसे अल्पक्षेत्रमें बहुतोंका अवस्थान हो जाता है। जैसे कि छोटीसी चंपाकी कलीमें सूक्ष्मरूपसे बहुतसे गन्धावयव रहते हैं, पर वे ही जब फैलते हैं तो समस्त दिशाओंको व्याप्त कर लेते हैं। जैसे कि कंडा या लकड़ीमें जो पुद्गल सूक्ष्मरूपसे अल्पक्षेत्रमें थे वे ही आगसे जलने पर धूमके रूपमें बहुत आकाशको व्याप्त कर लेते हैं। इसी तरह संकोच और विस्तार रूप परिणमनसे अल्प लोकाकाशमें भी अनन्तानन्त जीव पुद्गलोंका अवस्थान हो जाता है।

नाणोः ॥ ११ ॥

अणुके अन्य प्रदेश नहीं होते।

§ १–३. जैसे आकाशका एक प्रदेश अन्य प्रदेश न होनेसे अप्रदेशी है उसी तरह अणुके भी प्रदेशमात्र होनेसे अन्य प्रदेश नहीं है। अणुसे छोटा तो कोई भाग होता नहीं, अतः स्वयं

ही आदि और अन्त होनेसे अणु अप्रदेशी है। जैसे कि प्रदीपन करनेके कारण प्रदीपकी संज्ञा सार्थक है उसी तरह अणु अर्थात् सूक्ष्म होनेसे 'अणु' संज्ञा भी सार्थक है। यदि अणुके भी प्रदेशप्रचय हो तो फिर वह अणु ही नहीं कहा जायगा, किन्तु उसके प्रदेश अणु कहे जायँगे।

§४–५. अप्रदेशी होनेसे परमाणुका खरविषाणकी तरह अभाव नहीं किया जा सकता; क्योंकि पहिले कहा जा चुका है कि परमाणु एकप्रदेशी है न कि सर्वथा प्रदेशशून्य। जैसे विज्ञानका आदि मध्य और अन्त व्यपदेश न होने पर भी अस्तित्व है उसी तरह परमाणुमें भी आदि अन्त और मध्य व्यवहार न होने पर भी उसका अस्तित्व है, खरविषाणकी तरह उसका अभाव नहीं है।

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

इन सभी द्रव्योंका लोकाकाशमें अवगाह है।

§१. यद्यपि पुद्गलोंका प्रकरण है फिर भी यहाँ धर्मादि सभी द्रव्योंकी सामान्यरूपसे विवक्षा है। अतः सभी द्रव्योंके आधारका यहाँ कथन है।

§२–४. जैसे धर्मादि द्रव्योंका लोकाकाश आधार है उस तरह आकाशका अन्य आधार नहीं है; क्योंकि उससे बड़ा दूसरा द्रव्य नहीं है जिसमें आकाश आधेय बन सके। अतः सर्वतः अनन्त यह आकाश स्वप्रतिष्ठ है। इस तरह अनवस्था दूषण भी नहीं आता। आकाशका अन्य आधार, उसका अन्य तथा उसका भी अन्य आधार माननेमें ही अनवस्था होती है।

§५–६. एवंभूतनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं, इनमें आधाराधेयभाव नहीं है। व्यवहारनयसे ही परस्पर आधाराधेयभावकी कल्पना होती है। व्यवहारसे ही वायुके लिए आकाश, जलको वायु, पृथिवीको जल, सब जीवोंको पृथिवी, जीवके लिए अजीव, अजीवके लिए जीव,कर्मके लिए जीव, जीवके लिए कर्म, तथा धर्म अधर्म और कालके लिए आकाश आधार माना जाता है। परमार्थसे तो आकाशकी तरह वायु आदि भी स्वप्रतिष्ठ ही हैं।

§७. जैसे व्यवहारनयसे आस्ते गच्छति आदि कर्तृसमवायिनी क्रियाओंका कर्ता और 'ओदनको पकाता है, घड़ेको फोड़ता है' आदि कर्मसमवायिनी क्रियाओंका कर्म आधार माना जाता है तथा क्रियाविष्ट कर्ता और कर्मका आधार आसन और बटलोई समझी जाती है उसी तरह आकाशादिमें भी समझना चाहिए। परमार्थसे एवंभूतनयकी विवक्षामें तो जैसे क्रिया क्रियाके स्वरूपमें ही है और द्रव्य अपने स्वरूपमें, उसी तरह सभी द्रव्य स्वाधार ही हैं।

§८–९. जिस प्रकार कुण्ड और बेरमें आधाराधेयभाव माननेपर पूर्वापरकालता और युतसिद्धि है उस तरह आकाश और धर्मादि द्रव्योंमें नहीं है; क्योंकि हाथ और शरीर आदिमें आधाराधेयभाव होनेपर भी न तो पूर्वापरकालता है और न युतसिद्धि ही, कारण दोनों युगपत् उत्पन्न होते हैं और अयुतसिद्ध हैं। आकाश और धर्मादि द्रव्य अनादि पारिणामिक हैं, इनमें कोई पहिलेका और कोई बादका नहीं है। अतः पूर्वापरीभाव न होनेपर भी आधाराधेयभाव माननेमें कोई विरोध नहीं है। फिर यह ऐकान्तिक नियम भी नहीं है कि युतसिद्ध या अयुतसिद्धमें ही आधाराधेयभाव होता हो, स्तम्भ और सार जैसे अयुतसिद्ध पदार्थोंमें और कुण्ड और बदर जैसे युतसिद्ध पदार्थोंमें, दोनोंमें ही आधाराधेयभाव देखा जाता है।

§१०–१४. जहाँ पुण्य और पाप कर्मोंका सुखदुःख रूप फल देखा जाता है वह लोक है। इस व्युत्पत्तिमें लोकका अर्थ हुआ आत्मा। अथवा, जो लोके अर्थात् देखे-जाने पदार्थोंको वह लोक अर्थात् आत्मा। यद्यपि दोनों प्रकारकी व्युत्पत्तियोंमें जीवको ही लोकसंज्ञा प्राप्त होती है तथापि

न तो अन्य द्रव्योंको अलोक कहा जायगा और न 'छह द्रव्योंका समूह लोक' इस सिद्धान्तका विरोध ही होगा, क्योंकि रूढ़िमें क्रिया व्युत्पत्तिका निमित्तमात्र होती है। जैसे 'गच्छतीति गौः ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी न तो सभी चलनेवाले गौ बन जाते हैं और न बैठी हुई गाय अगौ।' इसी तरह लोक शब्दकी उक्त व्युत्पत्ति करनेपर भी धर्मादि द्रव्योंका लोकत्व नष्ट नहीं होता। आत्मा स्वयं अपने स्वरूपका लोकन करता है अतः लोक है। सर्वज्ञ जैसे बाह्य पदार्थोंका लोकन करता है उसी तरह स्वस्वरूपका भी। यदि स्वस्वरूपको न लोके तो सर्वज्ञ कैसा ? स्वस्वरूपका अजानकार धर्मादिकी तरह बाह्य पदार्थोंका ज्ञाता भी कैसे बन सकता है ?

§१५–१६. प्रश्न—'जो देखा जाय वह लोक' ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर आलोकको भी, चूँकि वह सर्वज्ञके द्वारा देखा जाता है, लोक कहना चाहिए। यदि सर्वज्ञ उसे नहीं देखता तो सर्वज्ञ कैसा ? उत्तर—लोकसंज्ञा रूढ़ है, व्युत्पत्ति तो निमित्तमात्र है। अथवा, 'जहाँ बैठकर सर्वज्ञ जिसे देखता हो वह लोक' यह व्युत्पत्ति करनेमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि अलोकमें बैठकर तो केवली अलोकको देखता नहीं है। अतः उभय विशेषण देनेमें कोई विरोध नहीं आता।

§१७–१८. लोकके आकाशको लोकाकाश कहते हैं, जैसे जलके आशय-स्थानको जलाशय। अथवा, 'धर्म अधर्म पुद्गल काल और जीव जहाँ देखे जाँय वह लोक' इस व्युत्पत्तिमें अधिकरणार्थक घञ् प्रत्यय होनेपर 'लोक' शब्द बन जाता है। लोक ही आकाश वह लोकाकाश। इस तरह आकाश दो भागोंमें बँट जाता है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश धर्म अधर्म आदि द्रव्योंकी तरह असंख्यात प्रदेशी है। उसके बाहर अनन्त अलोकाकाश है।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

§१–३. धर्म और अधर्म द्रव्य तिलोंमें तैलकी तरह समस्त लोकाकाशको व्याप्त करते हैं। कृत्स्न शब्द निरवशेष-संपूर्ण व्याप्तिका सूचक है। जबकि मूर्त्तिमान् भी जल भस्म और रेत आदि एक जगह बिना विरोधके रह जाते हैं तब इन अमूर्त द्रव्योंकी एकत्र स्थितिमें कोई विरोध नहीं है। जिन स्थूल स्कन्धोंका आदिमान् सम्बन्ध होता है उनमें कदाचित् परस्पर प्रदेशविरोध हो भी पर धर्म और अधर्म आदि तो अनादि सम्बन्धी हैं, इनमें पूर्वापरभाव नहीं है और ये अमूर्त हैं। अतः इनका प्रदेशविरोध नहीं है।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

पुद्गलोंका अवगाह एकप्रदेश आदि असंख्यात प्रदेशोंमें है।

§१–२. 'एकप्रदेशादिषु' पदमें 'एकश्चासौ प्रदेशः' ऐसा अवयवसे विग्रह करके 'अखण्ड एकप्रदेश'को–समुदायको समासार्थ समझना चाहिए। जैसे 'सोमशर्मादि' में सोमशर्मा भी गृहीत होता है उसी तरह यहाँ एक प्रदेशका भी ग्रहण करना चाहिए। अथवा, प्रदेश शब्दकी अनुवृत्ति करके 'सर्वादि'की तरह समुदायको समासार्थ मानना चाहिए। भाज्य अर्थात् विकल्प्य। यथा, एक परमाणुका एक ही आकाशप्रदेशमें अवगाह होता है, दो परमाणु यदि बद्ध हैं तो एक प्रदेशमें यदि अबद्ध हैं तो दो प्रदेशोंमें, तथा तीन का बद्ध और अबद्ध अवस्थामें एक दो और तीन प्रदेशोंमें अवगाह होता है। इसी तरह बन्धविशेषसे संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशी स्कन्धोंका लोकाकाशके एक, संख्यात और असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाह समझना चाहिए।

§३–६. प्रश्न—धर्मादि द्रव्य चूँकि अमूर्त हैं अतः उनका एकप्रदेशमें अवगाह हो सकता है पर मूर्तिमान् अनेक पुद्गलोंका एक प्रदेशमें अवस्थान कैसे हो सकता है ? यदि होगा तो या तो प्रदेशोंका भी प्रदेशविभाग करना होगा या फिर अवगाही पुद्गलोंमें एकत्व मानना

पड़ेगा ? उत्तर—यह पहिले कहा जा चुका है कि प्रचयविशेष, सूक्ष्मपरिणमन और आकाशकी अवगाहनशक्तिके कारण अनेकका एकत्र अवस्थान हो जाता है। जैसे एक ही कमरेमें सैकड़ों दीपप्रकाश रह जाते हैं और एक प्रदेशमें रहनेसे उनकी पृथक् सत्ता भी नष्ट नहीं होती उसी तरह एक प्रदेशमें अनन्त भी स्कन्ध अतिसूक्ष्म परिणमनके कारण स्वभावमें सांकर्य हुए बिना ही रह सकते हैं। जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका और तृणादिका जलनेका है और उनके इन स्वभावोंमें कोई तर्क नहीं चलता उसी तरह मूर्तिमान होनेपर भी अनेक स्कन्धोंका एक आकाश-प्रदेशमें अवगाहनस्वभाव होनेके कारण अवस्थान हो जाता है। सर्वज्ञप्रणीत आगममें जिस प्रकार एक निगोद शरीरमें-साधारण आहार जीवन मरण और श्वासोच्छ्वास होनेसे साधारण संज्ञावाले अनन्त निगोदियोंका अवस्थान बताया है उसी तरह यह भी बताया है कि—

"अनन्तानन्त विविध सूक्ष्म और बादर पुद्गलकायोंसे यह लोक सर्वतः ठसाठस भरा हुआ है।" अतः आगम प्रामाण्यसे भी उनका अवस्थान समझ लेना चाहिए।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

जीवोंका अवगाह असंख्येय एक भाग आदिमें है।

§ १–३. असंख्येय भागोंका एक भाग असंख्येयभाग। लोकाकाशके असंख्येय एक भाग आदिमें जीवोंका अवगाह है। 'लोकाकाशेऽवगाहः' सूत्रसे लोकाकाशशब्दका प्रकरणवश अर्थाधीन विभक्तिपरिणमन करके 'लोकाकाशस्य' के रूपमें अनुवर्तन कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि—लोकके असंख्यात प्रदेश हैं, उनके असंख्यात भाग किये जाँय। एक असंख्येय भागमें भी एक जीव रहता है तथा दो तीन चार आदि असंख्येय भागोंमें और संपूर्ण लोक जीवोंका अवगाह समझना चाहिए। नाना जीवोंका अवगाहक्षेत्र तो सर्वलोक है।

§ ४. प्रश्न–जब एक असंख्येय भागमें भी असंख्यात प्रदेश हैं और दो तीन चार आदि भागोंमें भी असंख्यात प्रदेश हैं तब जीवोंके अवगाहमें कोई विशेषता नहीं होनी चाहिए ? उत्तर–अजघन्योत्कृष्ट असंख्येयके भी असंख्येय विकल्प हैं। अजघन्योत्कृष्ट असंख्येयके असंख्येय भेद हैं, अतः जीवोंके अवगाहमें भी भेद हो जाता है।

§ ५. प्रश्न–जब लोकके एक असंख्येय भागमें एक जीव रहता है और द्रव्यप्रमाणसे जीवराशि अनन्तानन्त है तो वह लोकाकाशमें कैसे समा सकती है ? उत्तर–जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके हैं। बादर जीव सप्रतिघातशरीरी होते हैं पर सूक्ष्मजीवोंका सूक्ष्म-परिणमन होनेके कारण सशरीरी होने पर भी न तो बादरोंसे प्रतिघात होता है और न परस्पर ही। वे अप्रतीघातशरीरी हैं। इसलिए जहाँ एक सूक्ष्मनिगोद जीव रहता है वहीं अनन्तानन्त साधारण सूक्ष्म शरीरी रहते हैं। बादर मनुष्य आदिके शरीरोंमें भी संस्वेदज आदि अनेक सम्मूर्च्छन जीव रहते हैं। यदि सभी जीव बादर ही होते तो अवगाहमें गड़बड़ पड़ सकती थी। सशरीर आत्मा भी अप्रतिघाती है यह बात तो अनुभवसिद्ध है। निश्छिद्र लोहेके मकानसे, जिसमें वज्रके किवाड़ लगे हों और वज्रलेप भी जिसमें किया गया हो, मरकर जीव कार्मणशरीर के साथ निकल जाता है। यह कार्मण शरीर मूर्तिमान् ज्ञानावरणादि कर्मोंका पिंड है। तैजस शरीर भी इसके साथ सदा रहता है। मरणकालमें इन दोनों शरीरोंके साथ जीव वज्रमय कमरे से निकल जाता है और उस कमरेमें कहीं भी छेद या दरार नहीं पड़ती। इसी तरह सूक्ष्म निगोदियाजीवोंका शरीर भी अप्रतिघाती समझना चाहिए।

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

प्रदेशोंके संकोच और विस्तारके कारण लोकाकाशके समान असंख्यात प्रदेशवाला भी एक जीव प्रदीपकी तरह असंख्येय एक भाग आदिमें रह जाता है।

§ १–३. यद्यपि आत्मा स्वभावसे अमूर्त है पर अनादिकालीन कर्मसम्बन्धके कारण कथञ्चित् मूर्तपनेको धारण किये हुए है। लोकाकाशके बराबर इसके प्रदेश हैं फिर भी कार्मण-शरीरके कारण ग्रहण किये गये शरीरमें ही स्थित रहता है। सूखे चमड़ेकी तरह प्रदेशोंके संकोच को संहार और जलमें तेलकी तरह प्रदेशोंके फैलावको विसर्प कहते हैं। इन कारणोंसे जीव असंख्येयभाग आदिमें समा जाता है। जैसे कि निरावरण आकाशमें रखे हुए दीपकका प्रकाश बहुदेशव्यापी होने पर भी जब वह सकोरा या अन्य किसी आवरणसे ढँक दिया जाता है तो उतनेमें ही सीमित हो जाता है। संहार और विसर्प स्वभाव होने पर आत्मामें दीपककी तरह अनित्यत्वका प्रसंग देना जैनोंके लिए दूषण नहीं है, क्योंकि उन्हें यह इष्ट है कि आत्मा कार्मण-शरीर जन्य प्रदेशसंहार और विसर्परूप पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य है ही। अथवा संकोच विकास होने पर भी दीपकरूपी द्रव्यसामान्यकी दृष्टिसे नित्य है। अतः वह बाधाकारी दृष्टान्त नहीं बन सकता।

§ ४–७. प्रश्न–प्रदीपादिकी तरह संहार और विसर्प होनेसे संसारी आत्माके घटादिकी तरह छेदन भेदन और प्रदेशविशरण होना चाहिए। इस तरह शून्यताका प्रसंग प्राप्त होता है। उत्तर–बन्धकी दृष्टिसे कार्मण शरीरके साथ एकत्व होने पर भी आत्मा अपने निजी अमूर्त स्वभावको नहीं छोड़ता। लक्षण भेदसे उनमें भेद है ही। फिर इस विषयमें भी अनेकान्त ही है। अनादि पारिणामिक चैतन्य जीवद्रव्योपयोग आदि द्रव्यार्थदृष्टिसे न तो प्रदेशोंका संहार या विसर्प ही होता है और न उसमें सावयवपना ही है। हाँ, प्रतिनियत सूक्ष्म बादर शरीरको उत्पन्न करनेवाले निर्माण नामके उदय रूप पर्यायकी विवक्षासे स्यात् प्रदेशसंहार और विसर्प है, इसी तरह अनादि कर्मबन्ध रूपी पर्यायार्थदेशसे सावयवपना भी है। किंच, जिस पदार्थके अवयव कारणपूर्वक होते हैं अर्थात् कारणोंसे उत्पन्न होते हैं उसके अवयवविशरणसे विनाश हो सकता है जैसे कि अनेक तन्तुओंसे बने हुए कपड़ेका तन्तुविशरणसे विनाश होता है। पर आत्माके प्रदेश अन्यद्रव्यके संघातसे उत्पन्न नहीं हुए हैं, वे अकारणपूर्वक हैं। जिस प्रकार अणुका प्रदेश अकारणपूर्वक है अतः वह अवयवविश्लेषसे अनित्यताको प्राप्त नहीं होता किन्तु अन्य परमाणुके संयोगसे ही उसमें अनित्यता आती है उसी प्रकार आत्मप्रदेश अन्यद्रव्यसंघात-पूर्वक नहीं हैं अतः प्रदेशवान् होनेसे सावयव होकर भी आत्मा अवयवविश्लेषसे अनित्यताको नहीं प्राप्त होता, केवल गति आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे ही अनित्य हो सकता है। इसीलिए आत्मा के प्रत्येक प्रदेशमें सुखादिगुणोंकी विशेषाभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। अन्यद्रव्यसंघातसे सावयव बने हुए घटादिद्रव्योंमें ही प्रतिप्रदेश रूपादिगुणोंकी विशेषता देखी जाती है। यदि आत्माके प्रदेश भी अन्यद्रव्य संघात पूर्वक होते तो प्रतिप्रदेश सुखादिगुणोंकी विशेषता रहती और इस तरह एक ही शरीरमें बहुत आत्माओंका प्रसंग प्राप्त होता। जैसे परमाणुमें एक समयमें एक जातीय ही शुक्ल आदि गुण होता है उसी तरह आत्मामें भी एकजातीय ही सुखादि एक कालमें हो सकते हैं। अतः यह आशंका भी निर्मूल हो जाती है कि–"सरदी और गरमीका असर चमड़े पर पड़ता है आकाश पर नहीं। यदि आत्मा चमड़ेकी तरह है तो अनित्य हो जायगा और आकाश की तरह है तो समस्त पुण्य पापादि क्रियाएँ निष्फल हो जाँयगी।" क्योंकि यह कहा जा चुका है कि—द्रव्यदृष्टिसे नित्य होने पर भी आत्मा पर्यायदृष्टिसे अनित्य है।

§ ८–९. चूँकि संसारी आत्मा कार्मणशरीरके अनुसार छोटे बड़े स्थूल शरीरको ग्रहण करता है और सबसे छोटा शरीर अंगुलके असंख्येय भाग प्रमाण है अतः आत्माका पुद्गलकी तरह एक प्रदेश आदिमें अवगाह नहीं हो सकता। यद्यपि मुक्त जीवोंके वर्तमान शरीर नहीं है फिर भी उनके आत्मप्रदेशोंकी रचना अन्तिमशरीरसे कुछ कम आकारमें रह जाती है, न तो

घटती है और न बढ़ती है क्योंकि मुक्त अवस्थामें संहार और विसर्पका कारण कर्म ही नहीं है। अतः मुक्त आत्माओंकी पुद्गलकी तरह एक प्रदेश आदिमें वृत्ति नहीं मानी जा सकती।

§ १०. प्रश्न—जिस देशमें धर्म द्रव्य है उसी देशमें अधर्म और आकाशादि, जो धर्म का आकार है वही अधर्म आदि द्रव्योंका, काल भी सबका एक जैसा ही है, स्पर्शन भी सभीका बराबर है, केवल ज्ञानीके ज्ञानके विषय भी सब समान रूपसे होते हैं, इसी तरह अरूपत्व द्रव्यत्व और ज्ञेयत्व आदिकी दृष्टिसे कोई विशेषता न होनेसे धर्मादि द्रव्योंको एक ही मानना चाहिए? उत्तर—जिस कारण आपने धर्मादि द्रव्योंमें एकत्वका प्रश्न किया है उसी कारण उनकी भिन्नता स्वयं सिद्ध है। जब वे भिन्न भिन्न हैं तभी तो उनमें अमुक दृष्टियोंसे एकत्वकी सम्भावना की गई है। यदि ये एक होते तो यह प्रश्न ही नहीं उठता। जिस तरह रूप रस आदिमें तुल्यदेशकालत्व आदि होनेपर भी अपने अपने विशिष्ट लक्षणके होनेसे अनेकता है उसी तरह धर्मादि द्रव्योंमें भी लक्षणभेदसे अनेकता है। आगे उन्हीं लक्षणोंको कहते हैं—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

गति और स्थिति क्रमशः धर्म और अधर्मके उपकार हैं।

अथवा, प्रश्न—पुद्गलादिका एक प्रदेश आदिमें जो अवगाह बताया है वह तो समझमें आता है पर धर्म और अधर्मके जीवकी तरह असंख्यात प्रदेश होनेपर भी इनकी लोकव्यापिता निर्युक्तिक है, वह समझमें नहीं आती। उत्तर—जैसे जलमछलीके तैरनेमें उपकारक है, जलके अभावमें मछलीका तैरना सम्भव नहीं है उसी तरह जीव और पुद्गलोंकी स्वाभाविक और प्रायोगिक गति और स्थितिमें धर्म और अधर्म सहायक होते हैं। चूँकि समस्त लोकमें जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थिति होती है अतः उपकारक कारणोंको भी सर्वगत ही होना चाहिए।

§ १-३. बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे परिणमन करनेवाले द्रव्यको देशान्तरमें प्राप्त करनेवाली पर्याय गति कहलाती है। स्वदेशसे अप्रच्युतिको स्थिति कहते हैं। उपग्रह अर्थात् अनुग्रह, द्रव्योंकी शक्तिका आविर्भाव करनेमें कारण होना।

§ ४-९. 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यहाँ अनेक विग्रहोंकी संभावना होनेपर भी 'गतिस्थिता एव उपग्रहौ' यह समानाधिकरण वृत्ति समझनी चाहिए, तभी द्विवचनकी सार्थकता है। इनमें 'उपगृह्येते इति उपग्रहौ' इस तरह कर्मसाधनकृत सामानाधिकरण्य है। यदि बहुव्रीहि समास होता तो 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मौ' ऐसा प्रयोग होता। यदि षष्ठी तत्पुरुष होता तो उत्तर पदार्थकी प्रधानता होनेसे 'गतिस्थित्युपग्रहः' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग होना चाहिए था।

§ १०. 'धर्माधर्मयोः' यह कर्तृनिर्देश है अर्थात् ये उपकार क्रियाके कर्त्ता हैं।

§ ११-१३. प्रश्न—यदि उपकार शब्दको 'उपकरणमुपकारः' ऐसा भावसाधन माना जाता है तो 'धर्माधर्मयोरुपग्रहौ' इस पदसे सामानाधिकरण्य नहीं हो सकेगा; क्योंकि उपकार कर्तृस्थ क्रिया होनेसे धर्म अधर्ममें रहेगी तथा उपगृह्यमाण गति और स्थिति जीव और पुद्गलमें रहते हैं। यदि कर्मसाधन मानते हैं तो 'उपगृह्यौ' की तरह 'उपकारौ' ऐसा द्विवचन प्रयोग होना चाहिए। उत्तर—जैसे 'साधोः कार्यं तपःश्रुते' यहाँ सामान्यकी अपेक्षा कार्यशब्दमें एकवचन का प्रयोग है, वह पीछे भी अपने उपात्त वचनको नहीं छोड़ता, उसी तरह उपकार शब्द भी सामान्यकी अपेक्षा उपात्त-एकवचन होनेसे अपने गृहीत वचनको नहीं छोड़ता।

§ १४-१५ अथवा, 'उपग्रहणमुपग्रहः' यह भावसाधन प्रयोग है, इसी तरह उपकार शब्द भी। तब यहाँ 'गतिस्थित्योरुपग्रहौ' यह षष्ठीसमास मान लेना चाहिए। 'उपग्रहौ'में द्विवचन का प्रयोग यथाक्रम प्रतिपत्तिके लिए है। यदि एकवचन रहता तो जैसे एक पृथिवी अश्व आदिकी गति और स्थिति दोनोंमें उपकारक होती है उसी तरह धर्म और अधर्म दोनों गति और स्थिति

दोनों ही कार्य करते हैं यह अर्थबोध होता। इससे किसी एककी व्यर्थता नहीं हो सकती; क्योंकि एकही कार्य अनेक कारणोंसे उत्पन्न हुआ देखा जाता है। अतः इस अनिष्ट प्रसंगके निवारणके लिए 'उपग्रहौ' ऐसा द्विवचन दिया है। तात्पर्य यह कि स्वयं गतिपरिणत जीव और पुद्गलोंके गति रूप उपग्रहके लिए धर्मद्रव्य और स्वयं स्थिति रूपसे परिणत जीव और पुद्गलोंकी स्थितिके लिए अधर्म द्रव्यकी आवश्यकता है। समस्त लोकाकाशमें इन प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिए इन्हें सर्वगत मानना अत्यावश्यक है।

§ १६-१९. प्रश्न—जब 'उपकारः'से ही काम चल जाता है तब 'उपग्रहौ' वचन निरर्थक है। 'धर्माधर्मयोरुपकारः' इतना लघुसूत्र बना देना चाहिए। जैसे यष्टि—लाठी चलते हुए अन्धेकी उपकारक है उसे प्रेरणा नहीं करती उसी तरह धर्मादिको भी उपकारक कहनेसे उनमें प्रेरक कर्तृत्व नहीं आ सकता। यदि प्रेरक कर्तृत्व इष्ट होता तो स्पष्ट ही 'गतिस्थिती धर्माधर्मकृते' ऐसा सूत्र बना देते। अतः उपग्रह वचन निरर्थक है। उत्तर—'आत्माके गतिपरिणाममें निमित्त होना धर्म द्रव्यका उपकार है तथा पुद्गलोंकी स्थितिमें निमित्त होना अधर्म द्रव्यका उपकार है' इस अनिष्ट यथाक्रम प्रतीतिकी निवृत्तिके लिए 'उपग्रह' वचन स्पष्टप्रतीतिके लिए दिया गया है। व्याख्यानसे विशेष प्रतिपत्ति करनेमें निरर्थक गौरव होता, अतः सरलतासे इष्ट अर्थबोधके लिए 'उपग्रहौ' पदका दे देना अच्छा ही हुआ।

§ २०-२३. प्रश्न—आकाश सर्वगत है और उसमें सुषिरता भी है अतः गति और स्थिति रूप उपग्रह भी आकाशके ही मान लेने चाहिए? उत्तर—आकाश धर्माधर्मादि सभीका आधार है। जैसे नगरके बने हुए मकानोंका नगर आधार है उसी तरह धर्मादि पाँच द्रव्योंका आकाश आधार है। जब आकाशका एक 'अवगाहदान' उपकार सुनिश्चित है तब उसके अन्य उपकार नहीं माने जा सकते अन्यथा जल और अग्निके द्रवता और उष्णता गुण पृथ्वीके भी मान लेना चाहिए। यदि आकाश ही गति और स्थितिमें उपकारक हो तो अलोकाकाशमें भी जीव पुद्गलोंकी गति और स्थिति होनी चाहिए। इस तरह लोक और अलोकका विभाग ही समाप्त हो जाता है। लोकसे भिन्न अलोक तो होना ही चाहिए, क्योंकि वह 'अब्राह्मण' की तरह नञ्युक्त सार्थक पद है। जिस प्रकार मछलीकी गति जलमें होती है, जलके अभावमें जमीनपर नहीं होती आकाश की मौजूदगी रहनेपर भी, उसी तरह आकाशके रहनेपर भी धर्माधर्मके होनेपर ही जीव और पुद्गलकी गति और स्थिति होती है। धर्म और अधर्म गति और स्थितिके साधारण कारण हैं अवकाशदानमें आकाशकी तरह। जैसे भूमि आदि आधारोंके विद्यमान रहनेपर भी अवगाहके साधारण कारण आकाश माना जाता है उसी तरह मछली आदिके लिए जल आदि बाह्य निमित्त रहनेपर भी साधारण कारण धर्म और अधर्म द्रव्य मानना ही चाहिए।

§ २४. यदि एक द्रव्यका धर्म दूसरे द्रव्यमें मानकर अन्य द्रव्योंका लोप किया जाता है और इसी पद्धतिसे सर्व व्यापक आकाशको ही गति और स्थितिमें निमित्त मानकर धर्म और अधर्म द्रव्यका अभाव किया जाता है तो सभी मतवादियोंके यहाँ सिद्धान्तविरोध दूषण आयगा क्योंकि सभीने अनेक व्यापक द्रव्य माने हैं। वैशेषिक आकाश काल दिशा और आत्मा इन चार द्रव्यों को विभु-व्यापक मानते हैं। उनके यहाँ 'यह इससे पूर्व या पश्चिममें है' यह दिशा-निमित्तक व्यवहार और 'यह जेठा है यह लघु' यह कालनिमित्तक परापर व्यवहार आकाशसे ही हो जायगा; दिशा और कालके माननेकी आवश्यकता नहीं है। इसी तरह अनेक व्यापक आत्माएँ मानना निरर्थक है, उन्हें एक ही आत्मासे उपाधिभेदसे सब कार्य चल जायगा। अतः शास्त्रमें प्रतिनियत बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और संस्कार आदि गुणोंका कारण तथा शास्त्र बलसे अनेक आत्माओंका मानना निरर्थक हो जायगा। सांख्य सत्त्व रज और

और तम ये तीन गुण मानते हैं। तीनों व्यापक हैं। यदि आकाशसे ही धर्माधर्मका कार्य लिया जाता है तो सत्त्व गुणोंसे ही प्रसाद और लाघवकी तरह रजोगुणके शोष और ताप तथा तमो गुणके आवरण और सादन रूप कार्य हो जाने चाहिए। इस तरह शेष गुणोंका मानना निरर्थक है। इसी तरह सभी आत्माओंमें एक चैतन्यरूपता समान है अतः एक ही आत्मा मानना चाहिए, अनन्त नहीं। बौद्ध रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कन्ध मानते हैं। यदि एकमें ही अन्यके धर्म माने जाँय तो विज्ञानके बिना अन्य स्कन्धोंकी प्रतीति हो नहीं सकती अतः केवल एक विज्ञानस्कन्ध मानना चाहिए। उसीसे रूपादि स्कन्धोंके रूपण, अनुभवन, शब्दप्रयोग और संस्कार ये कार्य हो जायेंगे। इसी तरह शेषस्कन्धोंकी निवृत्ति होनेपर निरालम्बन विज्ञानकी भी स्थिति नहीं रह सकती। अतः उसका भी अभाव हो जानेसे सर्वशून्यता ही हाथ रह जायगी। अतः व्यापक होनेपर भी आकाशमें ही धर्म और अधर्मकी गति और स्थितिमें निमित्त होने रूप योग्यता नहीं मानी जा सकती।

§ २५-२७. जिस प्रकार स्वयं गतिमें समर्थ लँगड़ेको चलते समय लाठी सहारा देती है अथवा जैसे स्वतः दर्शनसमर्थ नेत्रके लिए दीपक सहारा देता है, न तो लाठी गतिकी कर्त्री है और न वह प्रेरणा देती है, दीपक भी असमर्थके दर्शनशक्ति उत्पन्न नहीं करता। यदि असमर्थोंको भी गति या दर्शनशक्तिके ये कर्ता हों तो मूर्च्छित सुषुप्त और जात्यन्धोंको भी गति और दर्शन होना चाहिए। उसी तरह स्वयं गति और स्थितिमें परिणत जीव और पुद्गलोंको धर्म और अधर्म गति और स्थितिमें उपकारक होते हैं, प्रेरक नहीं, अतः एक साथ गति और स्थिति का प्रसंग नहीं होता और न गति और स्थितिका परस्पर प्रतिबन्ध ही। यदि ये कर्ता होते तो ही गतिके समय स्थिति और स्थितिके समय गतिका प्रसंग होकर परस्पर प्रतिबन्ध होता। कहीं-कहीं पर जल जैसे बाह्यकारण न रहनेपर भी प्रकृष्ट गति परिणाम होनेसे धर्मद्रव्यके निमित्त मात्रसे गति देखी जाती है जैसे पक्षीकी गति। इसी तरह अन्य द्रव्योंकी भी गति और स्थिति समझ लेनी चाहिए। पक्षियोंके गमनमें आकाशको निमित्त मानना उचित नहीं, क्योंकि आकाश का कार्य तो अवगाहदान है।

§ २८. फिर यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है कि सभी आँखवाले बाह्य प्रकाशकी सहायता लें ही। व्याघ्र बिल्ली आदिको बाह्य प्रकाशकी आवश्यकता नहीं भी रहती। मनुष्य आदिमें स्वतः वैसी दर्शन शक्ति नहीं है अतः बाह्य आलोक अपेक्षित होता है। जैसे यह कोई नियम नहीं है कि सभी चलनेवाले लाठीका सहारा लेते ही हों। उसी तरह जीव और पुद्गलोंको सर्वत्र बाह्य कारणोंकी मददके बिना भी केवल धर्म और अधर्म द्रव्यके उपग्रहसे गति और और स्थिति होती रहती है। किन्हींको मात्र धर्माधर्मादिसे और किन्हींको धर्माधर्मादिके साथ अन्य बाह्यकारणोंकी भी उपेक्षा होती है।

§ २९-३१. धर्म और अधर्मकी अनुपलब्धि होनेसे खरविषाणकी तरह अभाव नहीं किया जा सकता अन्यथा अपने तीर्थंकर पुण्य पाप परलोक आदि सभी पदार्थोंका अभाव हो जायगा। अनुपलब्धि असिद्ध भी है क्योंकि भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत आगमसे धर्म और अधर्म द्रव्यकी उपलब्धि होती ही है। अनुमानसे भी गति और स्थितिके साधारण निमित्तके रूपमें उनकी उपलब्धि होती है। जिस कारण धर्म और अधर्म अप्रत्यक्ष-अतीन्द्रिय हैं इसीलिए विवाद है कि इनकी खर विषाणकी तरह असत्त्व होनेसे अनुपलब्धि है अथवा परमाणु आकाश आदिकी तरह अतीन्द्रिय होनेसे अनुपलब्धि है? जिस कारण विवाद है उसीसे अभावका निश्चय नहीं किया जा सकता।

§ ३२-३४. जैसे अकेले मृत्पिण्डसे घड़ा उत्पन्न नहीं होता, उसके लिए कुम्हार चक्र-चीवर

आदि अनेक बाह्य कारण अपेक्षित होते हैं उसी तरह पक्षी आदिकी गति और स्थिति भी अनेक बाह्य कारणोंकी अपेक्षा करती हैं। इनमें सबकी गति और स्थितिके लिए साधारण कारण क्रमशः धर्म और अधर्म होते हैं। इस तरह अनुमानसे धर्म और अधर्म प्रसिद्ध हैं। कारणोंका संसर्ग ही कार्योत्पादक होता है न कि जिन किन्हीं पदार्थोंका संसर्ग। अतः प्रतिविशिष्ट तन्तु जुलाहा तुरी आदिके संसर्गसे पटकी उत्पत्तिकी तरह गति और स्थितिके साधारण कारण–धर्म और अधर्मके साथ ही अन्य कारणोंका संसर्ग कार्यकारी हो सकता है। संसर्ग भी अनेक कारणोंका ही होता है एकका नहीं। बहुत कारणोंका संसर्ग भी कारणभेदसे भिन्न-भिन्न ही है, अतः अनेक कारणोंसे कार्योत्पत्ति होती है यही पक्ष स्थिर रहता है।

§ ३५. यदि यह नियम बनाया जाय कि 'जो जो पदार्थ प्रत्यक्षसे उपलब्ध न हों उनका अभाव है' तो सभी वादियोंको स्वसिद्धान्तविरोध दोष होता है; क्योंकि प्रायः सभी वादी अप्रत्यक्ष पदार्थोंको स्वीकार करते ही हैं। बौद्ध मानते हैं कि प्रत्येक रूपपरमाणु अतीन्द्रिय हैं, अनेक परमाणुओंका समुदाय इन्द्रिय ग्राह्य होता है। चित्त और चैतसिक विकल्प अतीन्द्रिय हैं। सांख्य मानते हैं कि कार्यरूप व्यक्त प्रधानके विकार पृथिवी आदि प्रत्यक्ष हैं परन्तु सत्त्व-रज और तम ये कारणभूत गुण तथा परमात्मा अप्रत्यक्ष है। वैशेषिकका कहना है कि—महत्त्व अनेकद्रव्यत्व और उद्भूतरूप होनेसे ही रूपकी उपलब्धि होती है। अतः अनेक परमाणुओंके समुदायसे उत्पन्न स्थूल पृथिवी आदि और उसीमें समवायसे रहनेवाले रूपादि संख्या परिमाण संयोग विभाग आदि गुण प्रत्यक्ष होते हैं तथा परमाणु आकाश आदि अप्रत्यक्ष हैं। यदि लाठी आदि कारणोंकी तरह धर्म और अधर्मका उपलब्धि नहीं होनेसे अभाव माना जाता है तो विज्ञान आदि, सत्त्व आदि तथा परमाणु आदिका भी अभाव मानना पड़ेगा। इस तरह सभी मतवादियोंको स्वसिद्धान्तविरोध दूषण होता है। यदि परमाणु आदिका कार्यसे अनुमान किया जाता है तो धर्म और अधर्मका भी अनुमान माननेमें क्या विरोध है? जैसे तुम्हारे ही जीवन मरण सुख दुःख लाभालाभ आदि पर्यायोंका जो कि मनुष्यमात्रको अतीन्द्रिय होनेसे मनुष्यमात्रके प्रत्यक्ष नहीं हैं, पर सर्वज्ञके द्वारा उनका साक्षात्कार होनेसे अस्तित्व सिद्ध है उसी तरह तुम्हारे प्रमाणके अविषय भी धर्म और अधर्मका अस्तित्व सर्वज्ञ-प्रत्यक्ष होनेसे सिद्ध ही है।

§ ३६. प्रश्न—जिस प्रकार ज्ञानादि आत्मपरिणाम और दधि आदि पुद्गलपरिणामोंकी उत्पत्ति परस्पराश्रित है। इसके लिए किसी धर्म और अधर्म जैसे अतीन्द्रिय द्रव्यकी आवश्यकता नहीं है उसी तरह जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिके लिए भी उनकी आवश्यकता नहीं है? उत्तर—ज्ञानादि पर्यायोंकी उत्पत्तिके लिए भी 'काल' नामक साधारण बाह्य कारणकी आवश्यकता है उसी तरह गति और स्थितिके लिए साधारण बाह्य कारण-धर्म और अधर्म होना ही चाहिए।

§ ३७-४० प्रश्न—अदृष्ट आत्माका गुण है, इसीके निमित्तसे सुख दुःखरूप फल तथा उनके साधन जुटते हैं। वैशेषिक सूत्रमें कहा भी है कि–"अग्निका ऊपरकी ओर जलना, वायुका तिरछा बहना, परमाणु और मनकी आद्य क्रिया, ये सब अदृष्टसे होते हैं। उपसर्पण अपसर्पण वातपित्तसंयोग और शरीरान्तरसे संयोग आदि सभी अदृष्टकृत हैं।" इसी अदृष्टसे गति और स्थिति हो जाँयगी? उत्तर—पुद्गल द्रव्योंमें अचेतन होनेसे अदृष्ट नहीं पाया जाता, अतः यदि गति और स्थितिको अदृष्टहेतुक माना जाता है तो पुद्गलोंमें गति और स्थिति नहीं हो सकेंगी। यह समाधान भी उचित नहीं है कि—'जो घटादि पुद्गल जिस आत्माका उपकार करेंगे उस आत्माके अदृष्टसे उन पुद्गलोंमें गति और स्थिति हो जायगी' क्योंकि अन्य द्रव्यका धर्म अन्य द्रव्यमें क्रिया नहीं करा सकता। यह हम पहिले ही बता आये हैं कि जो स्वाश्रयमें क्रियाको उत्पन्न नहीं करता वह अन्य द्रव्योंमें क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि अदृष्टहेतुक

गति और स्थिति मानी जाती है तो जिन मुक्त जीवोंका अदृष्ट—पुण्यपाप नष्ट हो गया है उनके स्वाभाविक गति और स्थिति नहीं हो सकेंगी, पर होतीं अवश्य हैं।

§ ४१–४२. अमूर्त होनेसे धर्म और अधर्म द्रव्यमें गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्वका अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि अमूर्तके कार्यहेतुत्व न होनेका कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। उलटे आकाश आदि अमूर्त पदार्थ स्वकार्यकारी देखे ही जाते हैं। आकाश अमूर्त होकर सब द्रव्योंके अवगाहमें निमित्त होता है। अमूर्त प्रधान महान् अहंकार आदि विकार रूपसे परिणत होकर पुरुषके भोगमें निमित्त होता है। अमूर्त विज्ञान नाम रूपकी उत्पत्तिका कारण होता है। 'नाम रूप विज्ञाननिमित्तक हैं' यह बौद्धोंका सिद्धान्त है। अदृष्ट अमूर्त होकर भी पुरुषके उपभोग-साधनोंमें निमित्त होता ही है। इसी तरह अमूर्त धर्म और अधर्म भी गति और स्थितिमें साधारण निमित्त हो जाँयगे।

आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

अवगाह देना आकाशका उपकार है।

§ १. अवगाह शब्द भावसाधन है।

§ २. 'धर्म और अधर्म आकाशमें रहते हैं' यह औपचारिक प्रयोग है, यह 'हंस जलको अवगाहन करता है' इसकी तरह मुख्य प्रयोग नहीं है। मुख्य आधाराधेयभावमें आधार और आधेयमें पौर्वापर्य होता है और यह पहिले है इस प्रकारका सादित्व होता है किन्तु यहाँ समस्त लोकाकाशमें धर्म और अधर्मकी व्याप्ति है अतः 'लोकाकाशमें अवगाह है' यह प्रयोग हो जाता है। जैसे कि गमनक्रिया न होनेपर भी सर्वत्र व्याप्ति होनेके कारण आकाशको सर्वगत कह देते हैं।

§ ३–४. **प्रश्न**—कुण्ड और बेर आदि पृथक्सिद्ध पदार्थोंमें ही आधाराधेय भाव देखा जाता है। पर ये धर्म अधर्म आकाश आदि तो अयुतसिद्ध (पृथक्सिद्ध नहीं) हैं क्योंकि इनमें अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति नहीं है? उत्तर—अयुतसिद्ध पदार्थोंमें भी आधाराधेयभाव देखा जाता है जैसे कि 'हाथमें रेखा' यहाँपर, उसी तरह लोकाकाशमें धर्म और अधर्म हैं यह व्यवहार भी बन जायगा। अथवा, जैसे 'ईश्वरमें ऐश्वर्य है' यहाँ अयुतसिद्धमें भी आधाराधेयभाव देखा गया है उसी तरह धर्म अधर्म और आकाशमें भी समझ लेना चाहिए।

§ ५. धर्माधर्मादिके अनादिसम्बन्ध और अयुतसिद्धत्वके विषयमें अनेकान्त है–पर्यायार्थिकनयकी गौणता और द्रव्यार्थिककी मुख्यता होनेपर व्यय और उदय नहीं होता अतः ये स्यात् अयुतसिद्ध और अनादिसम्बद्ध हैं तथा पर्यायार्थिककी मुख्यता और द्रव्यार्थिककी गौणतामें सादिसम्बद्ध और युतसिद्ध हैं क्योंकि पर्यायोंका उत्पाद और व्यय होता रहता है।

§ ६. जीव और पुद्गल 'हंस जलका अवगाहन करता है' इसकी तरह मुख्य रूपसे अवगाह प्राप्त करते हैं क्योंकि ये क्रियावान् हैं।

§ ७–९. आकाशमें अवकाशदानकी शक्ति होनेपर भी स्थूल पदार्थ परस्परमें टकरा जाते हैं, एक दूसरेके प्रतिघाती होते हैं। इन वज्र पत्थर दीवाल आदि स्थूल पदार्थोंमें प्रतिघात होनेसे आकाशके अवकाशदानमें कोई कमी नहीं आती। सूक्ष्मपदार्थ तो एक दूसरेके भीतर भी प्रवेश कर सकते हैं। सूक्ष्म पदार्थोंके परस्पर अवकाश देनेपर भी आकाशके अवगाहदान लक्षणमें कोई कमी नहीं आती, क्योंकि भूमि आदि अश्व आदिके आधार हो भी जायँ किन्तु समस्त पदार्थोंको अवगाह देना आकाशकी ही विशेषता है। अलोकाकाशमें यद्यपि अवगाही पदार्थ नहीं है फिर भी आकाशका 'अवगाहदान' स्वभाव वहाँ भी मौजूद है ही जैसे कि जलमें अवगाहन करनेवाले हंस आदिके अभावमें भी 'अवगाह देना' स्वभाव बना रहता है।

§ १०. **प्रश्न**—आकाशका खरविषाणकी तरह अभाव है क्योंकि वह उत्पन्न नहीं हुआ है? उत्तर—आकाशको अनुत्पन्न कहना असिद्ध है, क्योंकि द्रव्यार्थिककी गौणता और पर्यायार्थिककी मुख्यता होनेपर अगुरुलघु गुणोंकी वृद्धि और हानिके निमित्तसे स्वप्रत्यय उत्पाद-व्यय और अवगाहक जीवपुद्गलोंके परिणमनके अनुसार परप्रत्यय उत्पाद-व्यय आकाशमें होते ही रहते हैं। जैसे कि अन्तिम समयमें असर्वज्ञताका विनाश होकर किसी मनुष्यको सर्वज्ञता उत्पन्न हुई तो जो आकाश पहिले अनुपलभ्य था वही पीछे सर्वज्ञको उपलभ्य हो गया, अतः आकाश भी अनुपलभ्यत्वेन विनष्ट होकर उपलभ्यत्वेन उत्पन्न हुआ। इस तरह उसमें परप्रत्यय भी उत्पाद-विनाश होते रहते हैं। 'खरविषाण' भी ज्ञान और शब्द रूपसे उत्पन्न होता है तथा अस्तित्वमें भी है, अतः दृष्टान्त साध्यसाधन उभयधर्मसे शून्य है। कोई जीव जो पहिले खर था, मरकर गौ उत्पन्न हुआ और उसके सींग निकल आये। ऐसी दशामें एक जीवकी अपेक्षा अर्थरूपसे भी 'खर-विषाण' प्रयोग हो ही जाता है। अतः आकाशका अभाव नहीं किया जा सकता।

§ ११. आकाश आवरणाभाव मात्र नहीं है किन्तु वस्तुभूत है। जैसे कि नाम और वेदना आदि अमूर्त होनेसे अनावरण रूप होकर भी सत् हैं उसी तरह आकाश भी।

§ १२. शब्द पौद्गलिक है, आकाशका गुण नहीं है, अतः शब्दगुणके द्वारा गुणीभूत आकाशका अनुमान करना उचित नहीं है, किन्तु अवगाहके द्वारा ही वह अनुमित होता है। अतः यह कहना अयुक्तिक है कि–"शब्द आकाशका गुण है, वह वायुके अविघात आदि बाह्य निमित्तोंसे उत्पन्न होता है, इन्द्रियप्रत्यक्ष है, गुण है, अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता, निराधार गुण रह नहीं सकते अतः अपने आधारभूत गुणी आकाशका अनुमान कराता है।"

§ १३. सांख्यका आकाशको प्रधानका विकार मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि नित्य निष्क्रिय अनन्त प्रधानके आत्माकी तरह विकार ही नहीं हो सकता, न उसका आविर्भाव ही हो सकता है और न तिरोभाव ही। "प्रधानको सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंकी साम्य" अवस्था रूप माना है। उसमें उत्पादक स्वभावता है इसीके विकार महान् आदि होते हैं आकाश भी उसीका विकार है" यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि जिस प्रकार घड़ा प्रधानका विकार होकर अनित्य मूर्त और असर्वगत है उसी तरह आकाशको भी होना चाहिए या फिर आकाशकी तरह घटको नित्य अमूर्त और सर्वगत होना चाहिए। एक कारणसे दो परस्पर अत्यन्तविरोधी विकार नहीं हो सकते।

पुद्गलोंका उपकार—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास पुद्गलके उपकार हैं।

§ १–२, ९–११. शरीरके होनेपर ही वचन आदिकी प्रवृत्ति होती है अत शरीरका सर्व प्रथम ग्रहण किया है। उसके बाद वचनका ग्रहण किया है क्योंकि वचन ही पुरुषको हितमें प्रवृत्ति कराते हैं। इसके बाद मनका ग्रहण किया है क्योंकि जिनके शरीर और वचन होता है उन्हींके मन होता है। अन्तमें श्वासोच्छ्वासका ग्रहण किया है क्योंकि ये सभी संसारी जीवोंके पाया जाता है। ये सब पुद्गल द्रव्यके लक्षण नहीं हैं किन्तु उपकार हैं। लक्षण तो आगे बताया जायगा।

§ ३–८. **प्रश्न**—चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी आत्माकी उपकारक हैं अतः उनका भी ग्रहण करना चाहिए? उत्तर—आगेके सूत्रमें 'च' शब्द देनेवाले हैं, उससे सभी इष्टका समुच्चय हो जायगा। 'चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्म-प्रदेशरूप हैं अतः उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है' यह समाधान ठीक नहीं है क्योंकि अंगोपांग नामकर्मके उदयसे रची गई द्रव्येन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं।

और यदि ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमको चेतनात्मक होनेसे चक्षु आदि भाव इन्द्रियोंका यहाँ अग्रहण है तो भावमन भी चेतन है, अतः उसका ग्रहण नहीं होना चाहिए था। यह तर्क भी ठीक नहीं है कि 'चूँकि मन चक्षुरादि इन्द्रियोंकी तरह अवस्थित नहीं है अनवस्थित है, जैसे चक्षुरादि इन्द्रियोंके आत्मप्रदेश नियतदेशमें अवस्थित हैं उस तरह मनके नहीं है इसलिए उसे अनिन्द्रिय भी कहते हैं, और इसीलिए उसका पृथक् अग्रहण किया गया है'; क्योंकि अनवस्थित होने पर भी वह क्षयोपशमनिमित्तक तो है ही। जहाँ-जहाँ उपयोग होता है वहाँ वहाँके अंगुलके असंख्यातभाग प्रमाण आत्मप्रदेश मनके रूपसे परिणत हो जाते हैं। इसी तरह यदि आत्मपरिणाम होनेसे चक्षुरादिका यहाँ अग्रहण किया है तो वचनका भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वचन भी ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होते हैं। यदि कहो कि द्रव्यवचन जो कि बाहर निकलते हैं, पौद्गलिक हैं, अतः उनके संग्रहके लिए वचनका ग्रहण है तो द्रव्येन्द्रिय भी पौद्गलिक हैं, अतः उनका संग्रह 'च' शब्दसे करना ही चाहिए।

§ १२. प्रश्न—धर्मादि द्रव्य चूँकि अप्रत्यक्ष हैं अतः गत्युपग्रह आदिका वर्णन करना उचित है पर पुद्गल तो प्रत्यक्ष है, उसके उपकार वर्णन करनेसे क्या लाभ? यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि सूर्य पूर्वमें उदित होता है पश्चिममें डूबता है, गुड़ मीठा है आदि। उत्तर—कुछ पुद्गल भी अप्रत्यक्ष होते हैं। औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण ये शरीर कर्म मूलतः सूक्ष्म होनेसे अप्रत्यक्ष हैं, उनके उदयसे बने हुए औदारिकादि कुछ स्थूल शरीर प्रत्यक्ष हैं कुछ अप्रत्यक्ष हैं। मन भी अप्रत्यक्ष है। वचन और श्वासोच्छ्वास कुछ प्रत्यक्ष हैं कुछ अप्रत्यक्ष। अतः पुद्गलोंके उपकारोंका स्पष्ट विवेचन करनेके लिए शरीरादिका उपदेश किया है।

§ १३-१४. शरीरोंका वर्णन किया जा चुका है। कार्मण शरीर अनाकार होकर भी चूँकि मूर्तिमान् पुद्गलोंके सम्बन्धसे अपना फल देता है, अतः वह पौद्गलिक है। जैसे धान्य पानी धूप आदि मूर्तिमान् पुद्गलोंके सम्बन्धसे पकता है अत एव पौद्गलिक है उसी तरह गुड़-कंटक आदि मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्योंके सम्बन्धसे कर्मोंका विपाक होता है, अतः ये पौद्गलिक हैं। कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान् पदार्थके सम्बन्धसे नहीं पकता।

§ १५-१७. वचन दो प्रकारके हैं—द्रव्यवचन और भाववचन। दोनों ही पौद्गलिक हैं। भाववचन वीर्यान्तराय और मति श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयके निमित्तसे होते हैं अतः पुद्गलके कार्य होनेसे निमित्तकी अपेक्षा पौद्गलिक हैं। यदि उक्त क्षयोपशम आदि न हो तो भाववचन हो ही नहीं सकते। भाववचनकी सामर्थ्यवाले आत्माके द्वारा जो पुद्गल तालु आदिके द्वारा वचनरूपसे परिणत होते हैं वह द्रव्यवचन है। यह भी पौद्गलिक है क्योंकि श्रोत्रेन्द्रियका विषय होता है। जिस प्रकार बिजली एक बार चमककर फिर नष्ट हो जाती है और आँखोंसे नहीं दिखाई देती उसी तरह एक बार सुने गये वचन विशीर्ण हो जानेसे फिर वे ही दुबारा नहीं सुनाई देते। जैसे घ्राणेन्द्रियके द्वारा ग्राह्य गन्धद्रव्यमें अविनाभावी रूप रस स्पर्श आदि विद्यमान रहकर भी सूक्ष्म होनेसे उपलब्ध नहीं होते उसी प्रकार शब्द भी चक्षुरादि इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं होता।

§ १८-१९. 'शब्द अमूर्त है क्योंकि वह अमूर्त आकाशका गुण है' यह पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि मूर्तिमानके द्वारा ग्रहण प्रेरणा और अवरोध होनेसे वह पौद्गलिक है, मूर्त है। शब्द मूर्तिमान इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होता है। वायुके द्वारा रूईकी तरह एक स्थानसे दूसरे स्थानको प्रेरित किया जाता है क्योंकि विरुद्ध दिशामें स्थित व्यक्तिको वह सुनाई देता है। नल बिल रिकार्ड आदिमें पानीकी तरह शब्द रोका भी जाता है। अमूर्त पदार्थमें ये सब बातें नहीं होतीं। शङ्का—श्रोत्र आकाश रूप है अतः अमूर्तके द्वारा अमूर्त शब्दका ग्रहण हो जाता है। वायुके द्वारा शब्द प्रेरित नहीं होता क्योंकि शब्द गुण है और गुणमें क्रिया नहीं होती किन्तु संयोग विभाग

और शब्दसे शब्दान्तर उत्पन्न हो जाते हैं अतः नये नये शब्द उत्पन्न होकर उनका ग्रहण होता है। जहाँ वेगवान् द्रव्यका अभिघात होता है वहाँ नये शब्दोंकी उत्पत्ति नहीं होती। जो शब्दका अवरोध जैसा मालूम होता है, वस्तुतः वह अवरोध नहीं है किन्तु अन्य स्पर्शवान् द्रव्यका अभिघात होनेसे एकही दिशामें शब्द उत्पन्न होनेसे अवरोध जैसा लगता है। अतः शब्द अमूर्त ही है। समाधान—ये दोष नहीं हैं। श्रोत्रको आकाशमय कहना उचित नहीं है क्योंकि अमूर्त आकाश कार्यान्तरको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित है। अदृष्टकी सहायताके सम्बन्धमें यह विचारना है कि यह अदृष्ट आकाशका संस्कार करता है या आत्माका अथवा शरीरके एक देशका? आकाशमें संस्कार तो कर नहीं सकता; क्योंकि वह अमूर्त है, अन्य द्रव्यका गुण है और आकाशसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीरसे अत्यन्त भिन्न नित्य और निरंश आत्मामें संस्कार उत्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें संस्कारसे उत्पन्न फल नहीं आ सकता। इसी तरह शरीरके एक देशमें भी उससे संस्कार नहीं आ सकता क्योंकि अदृष्ट अन्य द्रव्यका गुण है और उसका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मूर्तिमान तैल आदिसे श्रोत्रमें अतिशय देखा जाता है तथा मूर्तिमान् कील आदिसे उसका विनाश देखा जाता है अतः श्रोत्रको मूर्त मानना ही समुचित है। 'स्पर्शवान् द्रव्यके अभिघातसे शब्दान्तरका उत्पन्न न होना ही' यह सूचित करता है कि शब्द मूर्त है, क्योंकि कोई भी अमूर्तपदार्थ मूर्तके द्वारा अभिघातको प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए मुख्य रूपसे शब्दका अवरोध भी बन जाता है।

जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशसे अभिभूत होनेवाले तारा आदि मूर्तिक हैं उसी तरह सिंहकी दहाड़ हाथीकी चिंघाड़ और भेरी आदि के घोषसे पक्षी आदिके मन्द शब्दोंका भी अभिभव होनेसे वे मूर्त हैं। कांसेके बर्तन आदिमें पड़े हुए शब्द शब्दान्तरको उत्पन्न करते हैं। पर्वतकी गुफाओं आदिसे टकराकर प्रतिध्वनि होती है। मूर्तिक मदिरासे इन्द्रियज्ञानका जो अभिभव देखा जाता है वह भी मूर्तसे मूर्तका ही अभिभव है क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान इन्द्रियादि पुद्गलोंके अधीन होनेसे पौद्गलिक है, अन्यथा आकाशकी तरह उसका अभिभव नहीं हो सकता था। इस तरह उक्त हेतुओंसे शब्द पुद्गलकी पर्याय सिद्ध होता है।

§ २०. मन दो प्रकारका है एक भावमन और दूसरा द्रव्यमन। भावमन लब्धि और उपयोगरूप है। यह पुद्गलनिमित्तक और पुद्गलावलम्बन होनेसे पौद्गलिक है। गुण-दोषविचार और स्मरणादिरूप व्यापारमें तत्पर आत्माके ज्ञानावरण वीर्यान्तरायके क्षयोपशमको आलम्बन बननेवाले या सहायक जो पुद्गल शक्तिविशेषसे युक्त होकर मन रूपसे परिणत होते हैं वे द्रव्यमन हैं। यह पौद्गलिक है ही।

§ २१-२३. जैसे वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षासे आत्माके ही प्रदेश चक्षु आदि इन्द्रियरूपसे परिणमन करते हैं अतः आत्मासे इन्द्रिय भिन्न नहीं है और इन्द्रियके नष्ट हो जानेपर भी आत्मा नष्ट नहीं होता अतः इन्द्रिय आत्मासे भिन्न है उसी तरह आत्माका ही मन रूपसे परिणमन होनेके कारण मन आत्मासे अभिन्न है और मनकी निवृत्ति हो जानेपर भी आत्माकी निवृत्ति नहीं होती, अतः भिन्न है। मन कोई स्थायी पदार्थ नहीं है, क्योंकि जो पुद्गल मन रूपसे परिणत हुए थे उनकी मनरूपता गुण दोष-विचार और स्मरणादि कार्य कर लेनेपर अनन्तर समयमें नष्ट हो जाती है, आगे वे मन नहीं रहते। वैसे द्रव्यदृष्टिसे मन भी स्थायी है और पर्याय दृष्टिसे अस्थायी।

§ २४-२६. वैशेषिकका मत है कि मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वह अणुरूप है और प्रत्येक आत्मासे एक एक सम्बद्ध है। कहा भी है कि "एक साथ आत्माके अनेक प्रयत्न नहीं होते और न एक साथ सभी इन्द्रियज्ञानोंकी उत्पत्ति ही देखी जाती है अतः क्रमका नियामक एक मन है।" यह मत ठीक नहीं है, क्यों कि परमाणुमात्र होनेसे उसमें सामर्थ्यका अभाव है।

यह विचारना है कि परमाणुमात्र मन जब आत्मा और इन्द्रियसे सम्बद्ध होकर ज्ञानादिकी उत्पत्तिमें व्यापार करता है तब वह आत्मा और इन्द्रियसे सर्वात्मना सम्बद्ध होता है या एक देश से ? सर्वात्मना सम्बद्ध नहीं बन सकता; क्योंकि अणुरूप मन या तो इन्द्रियसे सर्वात्मना सम्बद्ध हो सकता है या फिर आत्मासे ही, दोनोंके साथ पूर्णरूपसे युगपत् सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि एक देशसे; तो मन के प्रदेशभेद मानना होगा, पर यह अनिष्ट है क्योंकि मनको परमाणुरूप माना गया है। यदि आत्मा मनसे सर्वात्मना सम्बन्ध करता है तो या तो आत्माकी तरह मनको व्यापक मानना होगा या मनकी तरह आत्माको अणुरूप। यदि आत्मा एकदेशसे मनके साथ संयुक्त होता है तो आत्माके प्रदेश मानने होंगे। ऐसी दशामें आत्मा मन इन्द्रिय और पदार्थ, आत्मा मन और पदार्थ तथा आत्मा और मन इन चार तीन और दोके सन्निकर्षसे आत्माके कुछ प्रदेश ज्ञानवाले होंगे तथा कुछ प्रदेश ज्ञानादिरहित। जिन प्रदेशोंमें ज्ञानादि नहीं होंगे, उनकी आत्मरूपता निश्चित नहीं हो सकनेके कारण आत्मा सर्वगत नहीं रह सकेगा। इसी तरह यदि मन इन्द्रियोंके साथ सर्वात्मना सम्बद्ध होता है तो या तो मनकी तरह इन्द्रियाँ अणुरूप हो जायँगी या फिर इन्द्रियोंकी तरह मन अणुरूपता छोड़कर कुछ बड़ा हो जायगा। एक देशसे सम्बन्ध माननेपर मन परमाणुरूप नहीं रह पायगा, उसके अनेक प्रदेश हो जायँगे। फिर, आपके मतमें गुण और गुणीमें भेद स्वीकार किया गया है तथा मन नित्य माना गया है अतः जब उसका संयोग और विभागरूपसे परिणमन ही नहीं हो सकता, तब न तो आत्मासे संयोग हो सकेगा और न इन्द्रियोंसे ही। यदि मनका संयोग और विभाग रूपसे परिणमन होता है तो नित्यता नहीं रहती। जब मन अचेतन है तो उसे 'इस आत्मा या इन्द्रियसे संयुक्त होना चाहिए इससे नहीं' यह विवेक नहीं हो सकेगा, इसलिए प्रतिनियत आत्मासे उसका संयोग नहीं बन सकेगा। कर्मका दृष्टान्त तो उचित नहीं है क्योंकि कर्म पुरुषके परिणामोंसे अनुरंजित होनेके कारण कथञ्चित् चेतन है, हाँ पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे हो वह अचेतन है। मन परमाणुरूप है, अतः चक्षु आदिका जो प्रदेश उससे संयुक्त होगा उसीसे अर्थबोध हो सकेगा अन्य से नहीं। पर समस्त चक्षुके द्वारा रूपज्ञान देखा जाता है अतः मन परमाणुरूप नहीं है। अणु मनको आशुसंचारी मानकर पूरी चक्षु आदिसे सम्बन्ध मानना उचित नहीं है, क्यों कि अचेतन मनके बुद्धिपूर्वक क्रिया और व्याप्ति नहीं हो सकती। अदृष्टकी प्रेरणा से मनका इष्ट देशमें आशुभ्रमण मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्रियावान् पुरुषके द्वारा प्रेरित होकर ही अलातचक्र आदि शीघ्र गतिसे सर्वत्र गोलाकारमें उपलब्ध होता है, परन्तु अदृष्ट नामक गुण तो स्वयं क्रियारहित है, वह कैसे अन्यत्र क्रिया करा सकेगा ?

§ २७–२९. मन और आत्माका अनादि सम्बन्ध मानना उचित नहीं है; क्योंकि मन और आत्माका संयोग सम्बन्ध है। आपके मतसे तो अप्राप्तिपूर्वक प्राप्तिको संयोग कहते हैं। अतः इनका अनादिसम्बन्ध नहीं बन सकता। जैन दृष्टिसे तो मन क्षायोपशमिक है, अतः उसकी अनादिता हो ही नहीं सकती। यदि मन अनादिसम्बन्धी होता तो उसका परित्याग नहीं होना चाहिए था। जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध होनेपर भी कर्मका परित्याग इसलिए हो जाता है कि कर्म बन्धसन्ततिकी दृष्टिसे अनादि होकर भी चूँकि मिथ्यादर्शन आदि कारणोंसे उस उस समयमें बँधते रहते हैं, सादिबन्धी भी है–अतः जब सम्यग्दर्शन आदि रूपसे परिणमन होता है तब उनका सम्बन्ध छूट जाता है, पर मनमें ऐसी बात नहीं है।

§ ३०–३१. **प्रश्न**—मन इन्द्रियोंका सहकारी कारण है, क्योंकि जब इन्द्रियाँ इष्ट-अनिष्ट विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं तब मनके सन्निधानसे ही वे सुख दुःखादिका अनुभव करती हैं। इसके सिवाय मनका अन्य व्यापार नहीं है। **उत्तर**—वस्तुतः गरम लोहपिण्डकी तरह आत्मा का ही इन्द्रियरूपसे परिणमन हुआ है, अतः चेतनरूप होनेसे इन्द्रियाँ स्वयं सुख-दुःखका वेदन करतीं हैं। यदि मनके बिना इन्द्रियोंमें स्वयं सुख-दुःखानुभव न हो तो एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंको सुख-दुःखका अनुभव नहीं होना चाहिए। गुणदोषविचार आदि मनके स्वतन्त्र कार्य हैं। मनोलब्धिवाले आत्माके जो पुद्गल मनरूपसे परिणत हुए हैं वे अन्धकार तिमिर आदि बाह्येन्द्रियोंके उपघातक कारणोंके रहते हुए भी गुणदोषविचार और स्मरण आदि व्यापारमें सहायक होते ही हैं। इसलिए मनका स्वतन्त्र अस्तित्व है।

§ ३२. बौद्ध मनका पृथक् अस्तित्व न मानकर उसे विज्ञानरूप कहते हैं। "छहों ज्ञानोंकी उत्पत्तिका जो समनन्तर अतीत अर्थात् उपादानभूत ज्ञानक्षण है वह मन है, अर्थात् पूर्वज्ञानको मन कहते हैं" यह उनका सिद्धान्त है। पर, उनके मतमें जब ज्ञान क्षणिक है तो जब वह वर्तमानक्षणमें ही पदार्थोंका बोध नहीं कर सकता तो पूर्वज्ञानकी तो बात ही क्या करनी। वर्तमान ज्ञान पूर्व और उत्तर विज्ञानोंसे जब कोई सम्बन्ध नहीं रखता तब वह गुणदोषविचार स्मरण आदि कैसे कर सकता है ? अनुस्मरण स्वयं अनुभूत पदार्थका उसीको होता है न तो अन्यके द्वारा अनुभूतका और न अननुभूतका। क्षणिकपक्षमें स्मरण आदिका यह क्रम बन ही नहीं सकता। सन्तान अवस्तुभूत है अतः उसकी अपेक्षा स्मरणादिको संगति बैठाना भी उचित नहीं है। पूर्वज्ञानरूप मन जब वर्तमानकालमें अत्यन्त असत् हो जाता है तब वह गुणदोषविचार स्मरण आदि कार्योंको कैसे कर सकेगा ? यदि बीजरूप आलयविज्ञानको स्थायी मानते हैं तो क्षणिकत्वपक्षका लोप हो जाता है। यदि वह भी क्षणिक है; तो वह भी स्मरणादिका आलम्बन नहीं हो सकता।

§ ३३–३४. सांख्य मनको प्रधानका विकार मानते हैं। पर, जब प्रधान स्वयं अचेतन है तो उसके विकार भी अचेतन ही होंगे तब वह घटादिकी तरह गुणदोषविचार स्मरण आदि व्यापार नहीं कर सकेगा। मन विचाररूप क्रियाका करण होता है। तो बताइए कि इस क्रियाका कर्ता कौन होगा—प्रधान या पुरुष ? पुरुष तो निर्गुण है, अतः उसमें सत्त्वगुणके विकाररूप विचार स्मरण आदि नहीं हो सकते। प्रधान अचेतन है, अतः उसमें भी विचार स्मरण आदि चेतनव्यापार नहीं हो सकते। सत्त्व रज और तमकी साम्यावस्था रूप प्रधानसे महान् अहंकार आदि विषमावस्थारूप विकार यदि भिन्न उत्पन्न होते हैं; तो कार्य और कारणके अभेद माननेका सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। यदि अभिन्न हैं; तो केवल प्रधान ही अवशिष्ट रह जाता है उससे भिन्न कोई परिणाम नहीं बचता। अतः मन नहीं बन सकेगा।

§ ३५-३७. वीर्यान्तराय ज्ञानावरणक्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा शरीरकोष्ठसे जो वायु बाहर निकाली जाती है उस उच्छ्वासको प्राण कहते हैं तथा जो वायु भीतर ली जाती है उस निःश्वासको अपान कहते हैं। ये आत्माके जीवनमें कारण होते हैं। भयके कारणोंसे तथा वज्रपात आदिसे मनका प्रतिघात और मदिरा आदिके द्वारा अभिभव देखा जाता है। हाथसे मुँह और नाकको बन्द करनेसे श्वासोच्छ्वासका प्रतिघात तथा कण्ठमें कफ आ जानेसे अभिभव देखा जाता है। अतः मूर्तिमान् द्रव्योंसे प्रतिघात और अभिभव होनेसे ये सब पौद्गलिक हैं।

§ ३८. श्वासोच्छ्वासरूपी कार्यसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे किसी यन्त्रमूर्तिकी चेष्टाएँ उसके प्रयोक्ताका अस्तित्व बताती हैं उसी तरह प्राणापानादि क्रियाएँ क्रियावान् आत्माकी सिद्धि करती हैं। ये क्रियाएँ बिना कारणके भी नहीं होतीं; क्योंकि नियमपूर्वक देखी जाती हैं। विज्ञान आदिके द्वारा भी नहीं हो सकतीं; क्योंकि विज्ञानादि अमूर्त हैं, अतः उनमें प्रेरणाशक्ति नहीं हो सकती। अचेतन होनेके कारण रूपस्कन्धसे भी ये क्रियाएँ नहीं हो सकतीं। यदि सभी पदार्थोंको निरीहक मानकर क्रियाका लोप किया जाता है तो फिर पदार्थोंकी देशान्तरप्राप्ति आदि नहीं हो सकेगी। "वायुधातुसे देशान्तरमें उत्पन्न हो जाना ही क्रिया है,

मुख्य क्रिया नहीं है, 'पदार्थोंकी उत्पत्तिको ही क्रिया कहते हैं' यह सिद्धान्त है" यह पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि जब वायुधातु भी निष्क्रिय है तो वह अन्य पदार्थोंकी देशान्तरमें उत्पत्ति कैसे करा सकेगी ? क्षणिक होनेसे क्रियाका निषेध करना उचित नहीं है क्योंकि क्षणिकवाद प्रमाणविरुद्ध है।

§ ३९. **प्रश्न**—'शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः' यहाँ शरीर आदिको प्राणीका अंग होनेसे द्वन्द्व समासमें एकवचन होना चाहिए ? **उत्तर**—जहाँ अंगअंगिभाव होता है वहाँ एकवचन नहीं होता। प्राणीके अंगोंमें ही जहाँ द्वन्द्व समास होता है वहीं एकवचन होता है। यहाँ शरीर अंगी है तथा वचन मन आदि अंग। अथवा वचन आदि अंग भी नहीं हैं क्योंकि ये दाँत आदिकी तरह अनवस्थित हैं। चूँकि समाहारविषयक द्वन्द्व समासमें एकवद्भाव होता है, और समाहार एक प्राणीके अंगोंमें ही होता है, किन्तु यहाँ शरीर वचन मन आदि नाना प्राणियोंके विवक्षित हैं।

§ ४०. पुद्गल शब्दका अर्थात् अर्थ है पूरण गलनवाला पदार्थ या जो पुरुषके द्वारा कर्म और नोकर्मके रूपसे ग्रहण किया जाता है।

§ ४१. उपग्रह शब्द भावसाधन है, अतः अनुक्त कर्तामें 'पुद्गलानाम्' यहाँपर षष्ठी है। तात्पर्य यह कि शरीर आदि परिणामोंके द्वारा पुद्गल आत्माके उपकारक हैं। कर्ममलीमस आत्मा सक्रिय हैं, अतः वे शरीरादिकृत उपकारोंको बन्धपूर्वक स्वीकार करते हैं, उनका अनुभव करते हैं। यदि आत्माको सर्वथा निष्क्रिय या अत्यन्त शुद्ध माना जाय तो शरीर आदिसे बन्ध नहीं हो सकता और उपकारानुभव भी नहीं होगा, क्रियाका कारण न होनेसे संसार नहीं बनेगा और न मोक्ष ही।

अन्य पुद्गलकृत उपकार—

सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

§ १–४. जब आत्मासे बद्ध सातावेदनीय कर्म द्रव्यादि बाह्य कारणोंसे परिपाकको प्राप्त होता है तब जो आत्माको प्रीति या प्रसन्नता होती है उसे सुख कहते हैं। इसी तरह असातावेदनीय कर्मके उदयसे जो आत्माके संक्लेशरूप परिणाम होते हैं उन्हें दुःख कहते हैं। भवस्थितिमें कारण आयुकर्मके उदयसे जीवके श्वासोच्छ्वासका चालू रहना, उसका उच्छेद न होना जीवित है और उच्छेद हो जाना मरण है।

§ ५–८. सारे प्रयत्न सुखके लिए हैं अतः सुखका ग्रहण सर्वप्रथम किया है और उसके प्रतिपक्षी दुःखका उसके बाद। जीवित प्राणीको ये दोनों होते हैं अतः उसके बाद जीवित और आयुक्षय के निमित्तसे होनेवाला मरण अन्तमें होता है अतः मरणका ग्रहण अन्तमें किया है।

§ ९. यद्यपि उपग्रहका प्रकरण है फिर भी इस सूत्रमें उपग्रहका ग्रहण पुद्गलोंके स्वोपकारको भी सूचित करता है। जैसे धर्म-अधर्म आदि द्रव्य दूसरोंका ही उपकार करते हैं उस तरह पुद्गल नहीं। पुद्गलोंका स्वोपग्रह भी है। जैसे काँसेको भस्मसे, जलको कतकफलसे साफ़ किया जाता है आदि।

§ १०–११. साधारणतया मरण किसीको प्रिय नहीं है तो भी व्याधि पीडा शोकादिसे व्याकुल प्राणीको मरण भी प्रिय होता है अतः उसे उपकार श्रेणीमें ले लिया है। फिर यहाँ उपकार शब्दसे इष्ट पदार्थ नहीं लिया गया है किन्तु पुद्गलोंके द्वारा होनेवाले समस्त कार्य लिये गये हैं। दुःख भी अनिष्ट है, पर पुद्गलकृत प्रयोजन होनेसे उसका निर्देश किया है।

§ १२. 'शरीरवाङ्मनः' तथा 'सुख-दुःख' इन दोनोंको यदि एक सूत्र बनाते तो यह सन्देह होता कि 'शरीरादि चारके क्रमशः सुख-दुःख आदि चार फल हैं'। इस अनिष्ट आशंकाकी निवृत्तिके लिए पृथक् सूत्र बनाये हैं। फिर सुख-दुःख आदिका सम्बन्ध जीवोपकारोंसे भी जुड़ता है, अतः पृथक् पृथक् सूत्र ही बनाया है।

§ १३. कथञ्चित् नित्यानित्य आत्माके ही सुख-दुःखादि हो सकते हैं सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्यके नहीं। नित्यपक्षमें विकार-परिणमन नहीं हो सकता और अनित्यपक्षमें स्थिति नहीं है। नित्यपक्षमें आत्मा पूर्व और उत्तरकालमें सर्वथा एक जैसी बनी रहती है, उसमें कोई परिणमन नहीं होता, अतः सुख आदिकी कल्पना ही नहीं हो सकती। अनित्य पक्षमें पूर्व और उत्तरमें कोई मेल नहीं बैठता, स्थिति नहीं है, अतः सुखादि नहीं हो सकते। अवस्थित आत्मा ही इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंके सम्पर्कसे कुशल-अकुशलभावना पूर्वक सुखादिका अनुभव कर सकता है। कुशल और अकुशल भावनाएँ पूर्वानुभूतकी स्मृति और तत्पूर्वक चेष्टाओंसे सम्बन्ध रखती हैं।

जीवोंका उपकार—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

जीव परस्पर उपकार करते हैं।

§ १–२. परस्पर शब्द कर्मव्यतिहार अर्थात् क्रियाके आदान-प्रदानको कहता है। स्वामि-सेवक, गुरु-शिष्य आदि रूपसे व्यवहार परस्परोपग्रह है। स्वामी रुपया देकर तथा सेवक हित-प्रतिपादन और अहितप्रतिषेधके द्वारा परस्पर उपकार करते हैं। गुरु उभयलोकका हितकारी मार्ग दिखाकर तथा आचरण कराके और शिष्य गुरुकी अनुकूलवृत्तिसे परस्परके उपकारमें प्रवृत्त होते हैं।

§ ३–४. यद्यपि 'उपग्रह' का प्रकरण है फिर भी यहाँ 'उपग्रह' शब्दके द्वारा पहिले सूत्रमें निर्दिष्ट सुख दुःख आदि चारोंका ही प्रतिनिर्देश समझना चाहिए। 'उपग्रह' शब्द सूचित करता है कि अन्य कोई नया उपकार नहीं है, किन्तु पूर्वसूत्रमें निर्दिष्ट ही उपकार हैं। 'जिस प्रकार रतिक्रियामें स्त्री और पुरुष परस्परका उपकार करते हैं इस प्रकारका सर्वथा नियम परस्परोपकारका नहीं है' इस बातकी सूचना 'उपग्रह' शब्दसे मिल जाती है। कोई जीव अपने लिए सुख उत्पन्न करके कदाचित् दूसरे एकको दोको या बहुतोंको सुखी कर सकता है और दुःखी भी, दुःख उत्पन्न करके सुखी भी कर सकता है और दुःखी भी। अतः कोई निश्चित नियम नहीं है।

कालका उपकार—

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

वर्तना परिणाम क्रिया और परत्वापरत्व व्यवहार ये कालद्रव्यके उपकार हैं।

§ १–३. 'वर्तते अनया अस्यां वा' ऐसा करण और अधिकरणमें विग्रह करके यदि वर्तना शब्दकी सिद्धि की जाती है तो युट् प्रत्ययमें टित् होनेसे ङीप् प्रत्यय होनेपर 'वर्तनी' प्रयोग बनेगा अतः 'वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना' यह णिजन्तसे युच् प्रत्यय करके बनाया जाता है। अथवा 'वर्तनशीला वर्तना' ऐसा तच्छील अर्थमें युच् करके वर्तना शब्द बन जाता है।

§ ४. हर एक द्रव्य प्रत्येक पर्यायमें प्रति समय जो स्वसत्ताकी अनुभूति करता है उसे वर्तना कहते हैं। तात्पर्य यह कि पदार्थ अपनी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्ताका प्रतिक्षण अनुभव करते हैं। धर्मादि द्रव्य अपनी अनादि या आदिमान् पर्यायोंमें प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपसे परिणत होते रहते हैं यही स्वसत्तानुभूति वर्तना है। सादृश्योपचारसे प्रतिक्षण 'वर्तना वर्तना' ऐसा अनुगत व्यवहार होनेसे यद्यपि वह एक कही जाती है पर वस्तुतः प्रत्येक द्रव्यकी अपनी-अपनी वर्तना जुदी जुदी है।

§ ५. वर्तना प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्यमें होती रहती है। यह अनुमानसे इस प्रकार सिद्ध है—जैसे तन्दुलको पकनेके लिए बटलोईमें डाला और वह आधा घण्टेमें पका तो यह नहीं समझना चाहिए कि २९ या २९॥ मिनट तो वह ज्योंका त्यों रखा रहा और अन्तिम क्षणमें पककर भात बन गया हो। उसमें प्रथम समयसे ही सूक्ष्मरूपसे पाक बराबर होता रहा है। यदि

प्रथम समयमें पाक न हुआ होता तो दूसरे तीसरे आदि क्षणोंमें भी सम्भव नहीं हो सकता था। इस तरह पाकका ही अभाव हो जायगा।

§ ६. कालका लक्षण वर्तना है। समय आदि क्रियाविशेषोंकी तथा समयसे निष्पन्न पाकादि पर्यायोंकी, जो कि स्वसत्ताका अनुभव करके स्वतः ही वर्तमान हैं, उत्पत्तिका बाह्य कारण काल है। न में 'समय, पाक' आदि व्यवहार तो होते हैं पर 'काल' यह व्यवहार बिना कालद्रव्यके नहीं हो सकता। इस तरह काल अनुमेय होता है।

§ ७. आदित्य-सूर्यकी गतिसे द्रव्योंमें वर्तना नहीं हो सकती; क्योंकि सूर्यकी गतिमें भी 'भूत वर्तमान भविष्यत' आदि कालिक व्यवहार देखे जाते हैं। वह भी एक क्रिया है। उसकी वर्तनामें भी किसी अन्यको हेतु मानना ही चाहिए। वही काल है।

§ ८. जैसे वर्तन चावलों का आधार है, पर पाकके लिए तो अग्निका व्यापार ही चाहिए उसी तरह आकाश वर्त्तनावाले द्रव्योंका आधार तो हो सकता है वह वर्तनाकी उत्पत्तिमें सहकारी नहीं हो सकता। उसमें तो काल द्रव्यका ही व्यापार है।

§ ९. सत्ता यद्यपि सर्वपदार्थोंमें रहती है, साधारण है, पर वर्तना सत्ताहेतुक नहीं हो सकती; क्योंकि वर्तना सत्ताका भी उपकार करती है। कालसे अनुगृहीत वर्तना ही सत्ता कहलाती है। अतः काल पृथक् ही होना चाहिए।

§ १०. द्रव्यका अपनी स्वद्रव्यत्वजातिको नहीं छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है उसे परिणाम कहते हैं। द्रव्यत्व जाति यद्यपि द्रव्यसे भिन्न नहीं है फिर भी द्रव्यार्थिककी अविवक्षा और पर्यायार्थिककी प्रधानतामें उसका पृथक् व्यवहार हो जाता है। तात्पर्य यह कि अपनी मौलिक सत्ताको न छोड़ते हुए पूर्वपर्यायकी निवृत्तिपूर्वक जो उत्तर पर्यायका उत्पन्न होना है वही परिणाम है। प्रयोग अर्थात् पुद्गल विकार। प्रयोगके बिना होनेवाली विक्रिया विस्रसा होती है। परिणाम दो प्रकारका है—एक अनादि, दूसरा आदिमान्। लोककी रचना सुमेरु पर्वत आदिके आकार इत्यादि अनादि परिणाम हैं। आदिमान् दो प्रकारके हैं—एक प्रयोगजन्य और दूसरे स्वाभाविक। चेतन द्रव्यके औपशमिकादि भाव जो मात्र कर्मोंके उपशम आदिकी अपेक्षासे होते हैं; पुरुष प्रयत्नकी जिनमें आवश्यकता नहीं होती वे वैस्रसिक परिणाम हैं। ज्ञान शील भावना आदि गुरूपदेशके निमित्तसे होते हैं, अतः ये प्रयोगज हैं। अचेतन मिट्टी आदिका कुम्हार आदिके प्रयोगसे होनेवाला घट आदि परिणमन प्रयोगज है और इन्द्रधनुष मेघ आदि रूपसे परिणमन वैस्रसिक है।

§ ११. प्रश्न—बीज अंकुरमें है या नहीं ? यदि है ; तो वह अंकुर नहीं कहा जा सकता बीजकी तरह। यदि नहीं है; तो कहना होगा कि बीज अंकुर रूपसे परिणत नहीं हुआ क्योंकि उसमें बीजस्वभावता नहीं है' इस प्रकार सत् और असत् दोनों पक्षमें दूषण आते हैं, अतः परिणाम हो ही नहीं सकता ?

उत्तर—पक्षान्तर अर्थात् कथञ्चित् सदसद्वादमें सर्वथा सत् पक्षके और सर्वथा असत् पक्षके दोष नहीं आते और न उभय पक्षके दोनों दोष हो आ सकते हैं, क्योंकि कथञ्चित् सदसद्वाद 'नरसिंह'की तरह जात्यन्तर रूप है। शालिबीजादि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे अंकुरमें बीज है, यदि उसका निरन्वय विनाश हो गया होता तो वह 'शालिका अंकुर' क्यों कहलाता है ? शालिबीज और शाल्यंकुर रूप पर्यायार्थिक दृष्टिसे अंकुरमें बीज नहीं है क्योंकि यदि बीजका परिणमन नहीं हुआ होता तो अंकुर कहाँसे आता ? अतः अनेकान्त वादमें कोई दूषण नहीं है।

§ १२. हम यह पूछते हैं कि-'जिस परिणामका तुम निषेध करते हो वह विद्यमान है, या नहीं ?' दोनों ही पक्षमें प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। यदि परिणाम विद्यमान है; तब निषेध कैसा ? यदि विद्यमानका निषेध करते हो; तो 'परिणामका प्रतिषेध' भी विद्यमान है,

अतः उसका भी प्रतिषेध हो जायगा। ऐसी दशामें परिणामका अस्तित्व ही सिद्ध होगा। यदि परिणामका प्रतिषेध विद्यमान होनेपर भी अप्रतिषिद्ध है; तो परिणाम भी विद्यमान रहते हुए अप्रतिषिद्ध रहना चाहिए। यदि परिणाम विद्यमान नहीं है, तो भी खरविषाणकी तरह उसका निषेध नहीं किया जा सकता। अथवा जो व्यक्ति परिणामका प्रतिषेध कर रहा है उसका 'वक्ता'के रूपमें, वचनोंका 'वाचक शब्द'के रूपमें तथा अभिधेयका 'वाच्य अर्थ'के रूपमें परिणमन भी जब नहीं होगा तब प्रतिषेध कैसे होगा ? तात्पर्य यह कि वक्ता वाच्य और वचनोंके अभावमें परिणामका प्रतिषेध सिद्ध नहीं हो पायगा।

§ १३. प्रश्न-'बीजसे अंकुर भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो वह बीजका परिणाम नहीं कहा जा सकेगा। यदि अभिन्न है; तो उसे अंकुर नहीं कह सकते क्योंकि वह बीजके स्वरूपकी तरह बीजसे अभिन्न है। कहा भी है-"यदि बीज स्वयं परिणत हुआ है तो अंकुर बीजसे भिन्न नहीं हो सकता। पर ऐसा है नहीं, अर्थात् भिन्न है। यदि भिन्न है अर्थात् बीज अंकुररूप नहीं है तो उसे अंकुर नहीं कह सकते" इत्यादि दूषण आते हैं अतः परिणाम नहीं बन सकता। उत्तर-इसका उत्तर पहिले दे दिया है कि हम एकान्तपक्षको नहीं मानकर अनेकान्तपक्ष मानते हैं। अंकुरकी उत्पत्तिके पहिले बीजमें अंकुर पर्याय नहीं थी पीछे उत्पन्न हुई अतः पर्यायकी दृष्टिसे अंकुर बीजसे भिन्न है। चूँकि शालिबीजकी जातिवाला ही अंकुर उत्पन्न हुआ है अन्य जातिका नहीं अतः शालिबीज जातिवाले द्रव्यकी दृष्टिसे बीजसे अंकुर अभिन्न है।

§ ११. प्रश्न-'बीज जब अंकुररूपसे परिणत हो जाता है तब उसमें बीज यदि व्यवस्थित है तो बीजके व्यवस्थित रहनेसे अंकुरका होना विरुद्ध ही है। यदि अव्यवस्थित है तो कहना होगा कि बीज अंकुररूपसे परिणत नहीं हुआ' इत्यादि दोष आनेसे परिणाम नहीं बन सकता। उत्तर इस सम्बन्धमें अनेकान्त ही स्वीकार किया गया है। जैसे मनुष्यायु और नाम कर्मके उदयसे अंग उपांग पर्यायोंको प्राप्त करता हुआ आत्मा अंगुलि उपांगकी दृष्टिसे अंगुलि आत्मा कहा जाता है। वह अंगुलि-आत्मा वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी अपेक्षा संकुचित और प्रसारित अवस्थाओंको प्राप्त होता है। उस समय वह अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यकी दृष्टिसे 'सत्' है और पुद्गलरूपसे परिणत अंगुलि उपांगकी दृष्टिसे भी 'सत्' है, अभिन्न है और अवस्थित है। संकोचन प्रसारणरूप पर्यायार्थिक दृष्टिसे ही वह असत् भिन्न और अनवस्थित है। उसी तरह एकेन्द्रिय वनस्पति नाम कर्मके उदयवाला आत्मा ही बीज कहा जाता है। वह अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यकी दृष्टिसे 'सत्' है और पौद्गलिक शालिजातीय एकेन्द्रियके रूप रस स्पर्श शब्दादि पर्यायकी दृष्टिसे भी 'सत्' है, इसी तरह अभिन्न भी है और अवस्थित भी। हाँ, पौद्गलिक शालिबीजरूप पर्यायकी दृष्टिसे ही वह असत् भिन्न और अनवस्थित है। इस तरह अनेकान्तवादमें कोई दूषण नहीं रहता।

§ १५. प्रश्न-परिणाम माननेमें वृद्धि नहीं हो सकती। यदि बीज अंकुररूपसे परिणत होता है तो दूधके परिणाम दहीकी तरह अंकुरको बीजमात्र ही होना चाहिए, बड़ा नहीं। कहा भी है-"यदि बीज अंकुरपनेको प्राप्त होता है तो छोटे बीजसे बड़ा अंकुर कैसे हो सकेगा ?" यदि पार्थिव और जलीय रससे अंकुरकी वृद्धि कही जाती है तो कहना होगा कि वह बीजका परिणाम नहीं हुआ। कहा भी है-"यदि यह इष्ट है कि अंकुर पार्थिव और जलीय रससे बढ़ता है तो फिर उसे बीजका परिणाम नहीं कहना होगा।" पार्थिव जलीय तथा अन्य रस द्रव्योंके संचयसे वृद्धिकी कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि लाखका संयोग होनेपर भी जैसे लकड़ीमें वृद्धि नहीं होती उसी तरह संचयसे वृद्धि नहीं मानी जा सकती। कहा भी है-"जैसे लाखसे लपेटनेपर भी काठ मोटा तो हो जाता है पर बढ़ता नहीं है, लाख ही बढ़ती है, उसी तरह यदि बीज

उसी तरह रहता है और रस बढ़ते हैं तो फिर बीज क्या करता है ?" उत्तर-'तमात्र अंकुर होगा' यह कहकर परिणाम तो आपने स्वीकार कर ही लिया है। जैसे मनुष्यायु व नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ बालक बाह्य सूर्यप्रकाश माँका दूध आदिको अपनी भीतरी पाचनशक्तिसे पचाता हुआ आहार आदिके द्वारा क्रमशः बढ़ता है उसी तरह वनस्पति विशेष आयु और नाम कर्मके उदयसे बीजाश्रित जीव अंकुररूपसे उत्पन्न होकर पार्थिव और जलीय रसभागको गरम लोहेके द्वारा सोखे गये पानीकी तरह खींचता हुआ बाह्य सूर्यप्रकाश और भीतरी पाचनशक्तिके अनुसार उन्हें जीर्ण करता हुआ अपने खादके अनुसार बढ़ता है। अतः वृद्धि बीजाश्रित नहीं है किन्तु अन्य कारणोंके आधीन है।

यह दोष तो एकान्तवादियोंको ही हो सकता है। जो वस्तुको सर्वथा नित्य मानते हैं, उनके यहाँ तो परिणमन ही नहीं होता, वृद्धि कहाँसे होगी ? क्षणिक पक्षमें भी प्रतीत्यसमुत्पाद-की प्रक्रियामें जितना कारण होगा उतना कार्य होगा अतः वृद्धि नहीं हो सकती। क्षणिक पक्षमें अंकुर और अंकुरके कारण भौम रस उदकरस आदिका युगपत् विनाश होगा या क्रमशः ? यदि युगपत् ; तो उनके द्वारा वृद्धि क्या होगी ? वृद्धिके कारण जब स्वयं नष्ट हो रहे हैं तो वे अन्य विनश्यमान पदार्थकी क्या वृद्धि करेंगे ? यदि क्रमशः ; तब भी नष्ट अंकुरका भौमरस उदकरस आदि क्या करेंगे ? अथवा, विनष्ट रसादि अंकुरका क्या कर सकेंगे ? अनेकान्तवादीके मतमें तो अंकुर या भौमरसादि सभी द्रव्यदृष्टिसे नित्य हैं और पर्याय दृष्टसे अनित्य। अतः वृद्धि हो सकती है।

§ १६. शंका-क्षणिक पक्षमें प्रबन्धभेद मानकर वृद्धि बन सकती है। प्रबन्ध तीन प्रकार के हैं-सभागरूप, क्रमापेक्ष और अनियत। प्रदीपसे प्रदीपकी सन्तति चलना सभाग प्रबन्ध है। यह प्रवाहसे प्रवाहकी तरह सादृश्य होनेसे सभाग कहलाता है। जो सन्तान प्रबन्ध क्रमसे चले वह क्रमापेक्ष है जैसे कि बाल कुमार जवान आदि दशाओंका या बीज अंकुर आदि अवस्थाओंका। मुर्गेमें अनेक रंगके प्रबन्धकी तरह मेघ और इन्द्रधनुष आदिमें अनियत प्रबन्ध है। इससे वृद्धि हो सकती है ? समाधान-यहाँ यह विचारणीय है कि प्रबन्ध दो विद्यमान पदार्थोंका माना जायगा, या अविद्यमान पदार्थोंका, या विद्यमान और अविद्यमानका ? दो अविद्यमानोंका तो बन्ध्यासुत और आकाशपुष्पकी तरह प्रबन्ध हो नहीं सकता। इसी तरह खर और खर-विषाणकी तरह एक विद्यमान और एक अविद्यमानका भी प्रबन्ध नहीं हो सकेगा। अन्तमें विद्यमानोंका ही प्रबन्ध बनता है। परन्तु क्षणिकपक्षमें पूर्व और उत्तर स्कन्धकी एक क्षणमें सत्ता तो हो ही नहीं सकती अतः प्रबन्ध कैसा ? यदि सत्ता मानते हैं तो क्षणिकवादका लोप हो जायगा। 'तराजूके पलड़ोंमें एकका ऊपर उठना और दूसरेका नीचे झुकना जिस प्रकार एक साथ होता है उसी तरह एक साथ उत्पाद और विनाश मानकर अर्थप्रबन्ध चलेगा' यह पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि युगपत् उत्पाद-विनाश माना जाता है तो दायें-बायें सींगकी तरह परस्पर कार्यकारणभाव नहीं हो सकेगा।

§ १७-१८. "अवस्थित द्रव्यके एक धर्मकी निवृत्ति होनेपर अन्य धर्मकी उत्पत्ति होना परिणाम है।" ध्रौव्यादि लक्षणवाले द्रव्यके क्षीरधर्मकी निवृत्तिपूर्वक दधिधर्मकी उत्पत्ति परिणाम कही जाती है। परिणामका यह लक्षण भी ठीक नहीं है, इसमें अनेक दोष आते हैं। इस वादीके यहाँ द्रव्य अवस्थित तो है नहीं, जिसका परिणाम होगा। यदि गुणसमुदायसे भिन्न कोई द्रव्य स्थिर रहता है तो गुणसमुदायमात्रको द्रव्य नहीं मानना चाहिए। बताइए जो उत्पन्न होता है जो नष्ट होता है तथा जो स्थिर रहता है ये तीनों गुणसमुदायरूप हैं, या उससे भिन्न ? यदि गुणसमुदायमात्र ही हैं; तो जब वही गुणसमुदाय पहिले रहा तथा वही पश्चात्, तो इनमें कौन किसका परिणाम होगा ? निवृत्त होनेवाला उत्पन्न होनेवाला, और स्थिर रहनेवाला तो भिन्न

ही होना चाहिए। यदि भिन्न है; तो गुणसमुदायमात्रको ही द्रव्य नहीं मानना चाहिए। यदि एक धर्म नष्ट होता है तथा अन्य उत्पन्न, तो फिर नित्यैकान्तपक्ष समाप्त हो जाता है। किंच, समुदाय गुणोंसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है; तो गुणमात्र ही रह जायँगे, समुदाय क्या रहेगा ? और जब समुदाय नहीं रहेगा तो उसके अविनाभावी गुणोंका भी अभाव हो जायगा। यदि समुदाय भिन्न माना जाता है तो 'गुणसमुदायमात्र द्रव्य है' इस प्रतिज्ञाका विरोध होगा तथा परस्पर अविनाभावी गुण और समुदाय दोनोंका अभाव हो जायगा। यदि पूर्वभावके अन्यभावरूप होनेको परिणाम कहते हैं तो सुख-दुःख और मोह शब्दादि या घटादिरूप हो जायँगे। ऐसी हालतमें शब्दादि या घटादिमें सुखादिके समन्वयकी बात नहीं रहती। यदि समन्वय स्वीकार किया जाता है तो 'पूर्वभावका अन्यभाव होना परिणाम है' परिणामका यह लक्षण नहीं बनता। फिर, 'जो जिस रूपमें नहीं है उसमें वह रूप नहीं आ सकता' यह साधारण नियम है जैसे कि अभाव भावरूपसे नहीं है तो उसमें भावरूपता नहीं आ सकती। इसी तरह गुणोंमें यदि स्थूलरूपता नहीं है तो उनमें स्थूलरूपता नहीं आ सकती। यदि उनमें वह रूप है; तो भी परिणाम कैसा ? जिसमें जो रूप विद्यमान है उसमें फिरसे वही रूप तो प्राप्त हो नहीं सकता। अभाव अभावात्मक है तो वह फिरसे अभावात्मक क्या होगा ? इस तरह एकान्तपक्षमें दोनों प्रकारसे परिणाम नहीं बन पाता अतः अनेकान्तवाद स्वीकार करना चाहिए। अनेकान्त पक्षमें पर्यायार्थिक दृष्टिसे अन्यभावता हो सकती है और द्रव्यार्थिक दृष्टिसे स्थिरता। अतः द्रव्यदृष्टिसे अवस्थित द्रव्यमें ही पर्यायदृष्टिसे एककी निवृत्ति तथा अन्यकी उत्पत्तिरूप परिणाम हो सकता है।

§ १९. बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तोंसे द्रव्यमें होनेवाला परिस्पन्दात्मक परिणमन क्रिया है। वह दो प्रकारकी है-वैलगाड़ी आदिमें प्रायोगिक तथा मेघ आदिमें स्वाभाविक क्रिया होती है।

§ २०-२१. प्रश्न-यदि स्थिति-ठहरना रूप क्रियाका परिणाममें अन्तर्भाव होता है, तो परिस्पन्दात्मक क्रियाका भी उसीमें अन्तर्भाव हो सकता है, और ऐसी स्थितिमें केवल परि-णामका ही निर्देश करना चाहिए। उत्तर-परिस्पन्दात्मक और अपरिस्पन्दात्मक दोनों प्रकारके भावोंकी सूचनाके लिए क्रियाका पृथक् ग्रहण करना आवश्यक है। परिस्पन्द क्रिया है तथा अन्य परिणाम।

§ २२. परत्व और अपरत्व क्षेत्रकृत भी हैं जैसे दूरवर्ती पदार्थ 'पर' और समीपवर्ती 'अपर' कहा जाता है। गुणकृत भी होते हैं जैसे अहिंसा आदि प्रशस्त गुणोंके कारण धर्म 'पर' और अधर्म 'अपर' कहा जाता है। कालकृत भी होते हैं जैसे सौ वर्षवाला वृद्ध 'पर' और सोलह वर्षका कुमार 'अपर' कहा जाता है। यहाँ कालके उपकारका प्रकरण है, अतः कालकृत ही परत्व और अपरत्व लेना चाहिए। दूरदेशवर्ती कुमार तपस्वीकी अपेक्षा समीप देशवर्ती वृद्ध चाण्डालमें कालकी अपेक्षा 'पर' व्यवहार देखा जाता है और कुमार तपस्वीमें 'अपर' व्यवहार। ये परत्वा-परत्व कालकृत हैं।

§ २३ वर्तना परिणाम आदि उपकार रूप लिंगोंके द्वारा कालद्रव्यका अनुमान होता है। कहा भी है-"जिससे मूर्तद्रव्योंका उपचय और अपचय लक्षित होते हैं वह काल है।"

§ २४. प्रश्न-कालके अस्तित्वकी सिद्धिके लिए वर्तनाका ग्रहण ही पर्याप्त है क्योंकि परिणाम आदि वर्तनाके ही विशेष हैं ? उत्तर-'मुख्यकाल और व्यवहारकाल' इन दो प्रकारके कालोंकी स्पष्ट सूचनाके लिए यह विस्तार किया गया है। जिस प्रकार धर्म अधर्म आदि गति और स्थितिमें उपकारक हैं उसी तरह वर्तनामें मुख्य कालद्रव्य उपकारक है। प्रत्येक लोकाकाशके प्रदेशपर एक-एक कालाणु द्रव्य स्थित हैं। इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमें धर्म-अधर्म आदिकी तरह मुख्य रूपसे प्रदेशप्रचय नहीं है और न पुद्गलपरमाणुकी तरह प्रचयशक्ति-

की अपेक्षा गौण प्रदेशप्रचय ही । ये एकप्रदेशी हैं । दोनों प्रकारके प्रदेशप्रचय न होनेसे ये अस्तिकाय नहीं हैं । विनाशका कारण न होनेसे नित्य हैं । इनमें परप्रत्यय उत्पाद विनाश होता रहता है अतः अनित्य हैं । जैसे सुईमें धागा जानेका मार्ग परिच्छिन्न होता है उसी तरह परिच्छिन्नमूर्ति होनेपर भी रूप रसादिसे रहित होनेके कारण अमूर्त हैं । प्रदेशान्तरमें संक्रमण न होनेसे निष्क्रिय हैं । व्यवहारकाल परिणाम क्रिया और परत्वापरत्वके द्वारा लक्षित होता है । कालकृत वर्तनाका आधार होनेसे यह भी काल कहलाता है । यह स्वयं किसीके द्वारा परिच्छिन्न होकर अन्य पदार्थोंके परिच्छेदमें कारण होता है ।

§ २५. भूत वर्तमान और भविष्यत ये तीनों काल परस्परापेक्ष सिद्ध होते हैं । जैसे वृक्षपंक्तिके किनारे चलनेवाले देवदत्तके कुछ वृक्ष गत कुछ गम्यमान और कुछ गमिष्यमाण होते हैं उसी तरह कालाणुओंकी क्रमिक पर्यायोंके अनुसार पदार्थोंमें भूत वर्तमान और भविष्यत व्यवहार होता है । मुख्यकालमें भूत आदि व्यवहार गौण है तथा व्यवहारकालमें मुख्य । भूत आदि व्यवहार परस्परापेक्ष हैं । जो क्रियापरिणत द्रव्य कालपरमाणुको प्राप्त होता है वह द्रव्य उस कालके द्वारा वर्तमान समय-सम्बन्धी वर्तनाके कारण वर्तमान कहा जाता है । कालाणु भी उस वर्तमानद्रव्यको स्वसम्बद्ध ही वर्तन कराता है अतः वर्तमान कहा जाता है । वही जब कालवश वर्तनाके सम्बन्धको अनुभव कर चुकता है तब भूत कहा जाता है और कालाणु भी भूत । वही आगे आनेवाली वर्तनाकी अपेक्षा भविष्यत कहा जाता है और कालाणु भी भविष्यत । इसी तरह सूर्यकी प्रतिक्षणकी गतिकी अपेक्षा आवलिका उच्छ्वास प्राण स्तोक लव नालिका मुहूर्त अहोरात्र पक्ष मास ऋतु अयन आदि सूर्यगतिनिमित्तक व्यवहारकाल मनुष्यक्षेत्रमें चलता है क्योंकि मनुष्यलोकके ज्योतिर्देव गतिशील होते हैं, बाहरके ज्योतिर्देव अवस्थित हैं । इसी आवलिका आदिसे तीनों लोकोंके प्राणियोंकी कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति आदिका परिच्छेद होता है । इसीसे संख्येय असंख्येय अनन्त आदि गिनती की जाती है ।

§ २६. प्रश्न-क्रियामात्र ही काल है, उससे भिन्न नहीं । क्रिया स्वयं परिच्छिन्न होकर अन्य द्रव्योंके परिच्छेदमें कारण होती है अतः वही काल है । परमाणुकी परिवर्तन क्रियाका समय ही 'समय' कहा जाता है, समयके परिमाणको मापनेवाला कोई दूसरा सूक्ष्मकाल नहीं है । 'समय क्रियाका समुदाय आवलिका, आवलिकाका समुदाय उच्छ्वास' आदिमें उच्छवासके मापनेमें आवलिका क्रिया काल है और आवलिकामें परमाणुक्रिया रूप समयकाल है । इसी तरह आगे भी समझना चाहिए । लोकव्यवहारमें भी 'गो-दोहनकाल, रसोईका समय' आदि कालव्यवहार क्रियामूलक ही हैं । एक क्रियासे दूसरी क्रिया परिच्छिन्न होती हुई कालसंज्ञा प्राप्त करती है ।

उत्तर--ठीक है, क्रियाकृत ही यह व्यवहार होता है कि 'उच्छ्वासमात्रमें किया, मुहूर्त्तमें किया' आदि, परन्तु उच्छ्वास निश्वास मुहूर्त्त आदि संज्ञाओंको 'काल' व्यपदेश बिना किसी कारणके नहीं हो जाता । उसका कारण काल है अन्यथा कालव्यवहार का लोप हो जायगा । जैसे देवदत्तमें 'दंडी' यह व्यपदेश अकस्मात् नहीं होता किन्तु उसका कारण दंडका सम्बन्ध है उसी तरह उक्त व्यवहारोंमें 'काल' व्यपदेशके लिए कालद्रव्य मानना आवश्यक है ।

§ १८. क्रिया मात्रको काल माननेमें 'वर्तमान'का अभाव हो जायगा । पट बुनते समय जो तन्तु बुना गया वह तो 'अतीत' हो गया तथा जो बुना जायगा वह 'अनागत' होगा । इन दोनोंके बीचमें कोई अनतिक्रान्त और अनागामिनी क्रिया है ही नहीं जिसे वर्तमान कहा जाय । अतीत और अनागत व्यवहार भी वर्तमानकी अपेक्षा होता है अतः वर्तमानके अभावमें उनका भी अभाव हो जायगा । 'प्रारम्भसे लेकर कार्य समाप्ति तक होनेवाली क्रियाओंका समूह 'वर्तमान' है' यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें प्रतिज्ञाविरोध आता है । पहिले आपने क्रियाको

काल कहा था और अब 'क्रियासमूह'को काल कहते हो । फिर, क्षणिक क्रियाओंका समूह भी नहीं बन सकता । जो वर्तनालक्षण काल भिन्न मानते हैं उनके मतमें तो प्रथम समयवाली क्रियाकी वर्तनासे प्रारम्भ करके द्वितीय आदि समयवर्ती क्रियाओंकी द्रव्यदृष्टिसे स्थिति मानकर समूहकल्पना कर ली जाती है, और उस क्रियासमूहसे बननेवाले घटादिकी समाप्ति तक 'घट क्रिया हो रही है' यह वर्तमानकालिक प्रयोग कर दिया जाता है । यदि भिन्न रूपसे उपलब्ध न होनेके कारण कालका अभाव किया जाता है तो क्रिया और क्रियासमूहका भी अभाव हो जायगा । कारकोंकी प्रवृत्तिविशेषको क्रिया कहते हैं । प्रवृत्तिविशेष भी कारकोंसे भिन्न उपलब्ध नहीं होता जैसे टेढ़ापन सर्पसे जुदा नहीं है उसी तरह क्रियावयवोंसे भिन्न कोई क्रिया नहीं है अतः क्रिया और क्रियासमूह दोनोंका अभाव ही हो जायगा । क्रियासे क्रियान्तरका परिच्छेद भी नहीं हो सकता, क्योंकि स्थिर प्रस्थ आदिसे ही स्थिर ही गेहूँ आदिका परिच्छेद देखा जाता है । परन्तु जब क्रिया क्षणमात्र ही ठहरती है; तो उससे अन्य क्रियाओंका परिच्छेद कैसे किया जा सकता है ? स्वयं अनवस्थित पदार्थ किसी अन्य अनवस्थितका परिच्छेदक नहीं देखा गया । 'प्रदीप अनवस्थित होकर अनवस्थित परिस्पन्दका परिच्छेदक होता है तभी तो 'प्रदीपवत् परिस्पन्दः' यह प्रयोग होता है, यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि प्रदीप या परिस्पन्दको हम सर्वथा क्षणिक नहीं मानते, कारण कि उसके प्रकाशन आदि कार्य अनेकक्षणसाध्य होते हैं । समूहमें परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव भी नहीं बनता; क्योंकि क्षणिकोंका समूह ही नहीं बन सकता ।

प्रश्न-जैसे क्षणिक वर्णध्वनियोंका समुदाय पद और वाक्य बन जाता है उसी तरह क्रियाका समूह भी बन जायगा । **उत्तर**-वर्णध्वनियोंका क्षणिकत्व ही असिद्ध है क्योंकि देशान्तरवर्ती श्रोताओंको वे सुनाई देती हैं । शब्दान्तरकी उत्पत्तिके द्वारा देशान्तरवर्ती श्रोताओंको सुनाई देनेका पक्ष भी ठीक नहीं हैं; क्योंकि जिस क्षणमें ध्वनि उत्पन्न हुई उसी क्षणमें तो अन्यध्वनिको उत्पन्न नहीं करती, और अगले क्षणमें स्वयं असत् हो जाती है । जिसकी सदवस्था समीप है उस क्षणको उत्पत्ति-काल कहते हैं, पर जिसका उत्तर कालमें सत्त्व नहीं हैं उसमें उत्पत्ति व्यवहार नहीं हो सकेगा । पूर्व पूर्वज्ञानोंसे प्राप्त संस्कारोंकी आधारभूत बुद्धिमें समुदायकी कल्पना भी नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धि भी क्षणिक है । जिसके मतमें द्रव्य दृष्टिसे क्रिया नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य उसीके मतमें बुद्धि भी नित्यानित्यात्मक होकर ही संस्कारोंका आधार हो सकती है और ऐसी बुद्धिमें ही शक्ति और व्यक्ति रूपसे व्यवस्थित क्रिया समूहके द्वारा, जिसमें कि कालकृत वर्तनासे 'काल' व्यपदेश प्राप्त हो गया है, अन्यपरिच्छेदकी वृत्ति की जा सकती है । इस तरह व्यवहारकाल सिद्ध हो जाता है, और व्यवहारकालके द्वारा मुख्यकाल सिद्ध हो जाता है ।

§ २८. परत्वकी अपेक्षा अपरत्व और अपरत्वकी अपेक्षा परत्व होता है, अतः इनका पृथक् ग्रहण किया है ।

§ २९. 'वर्तना'का ग्रहण सर्वप्रथम इसलिए किया है कि वह अभ्यर्हित है । परमार्थ कालकी प्रतिपत्ति वर्तनासे होती है अतः वह पूज्य है । अन्य परिणाम आदि व्यवहार कालके लिंग हैं, अतः अप्रधान हैं ।

बौद्ध जीवको पुद्गल शब्दसे कहते हैं अतः पुद्गलकी परिभाषा करते हैं—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

स्पर्श रस गन्ध और वर्णवाले पुद्गल हैं ।

§ १-५. सभी रूप रसादि विषयोंमें स्पर्श सबल है क्योंकि स्पृष्टग्राही इन्द्रियोंमें स्पर्शकी शीघ्र अभिव्यक्ति होती है तथा सभी संसारी जीवोंके यह ग्रहणयोग्य होता है । इसीलिए

स्पर्शका ग्रहण सर्वप्रथम किया है। यद्यपि स्पर्शसुखसे निरुत्सुक जीवोंमें कहीं कहीं रसव्यापार प्रचुर देखा जाता है फिर भी उनके स्पर्शके होनेपर ही रसव्यापार होता है, इसीलिए स्पर्शके बाद रसका ग्रहण किया है क्योंकि रसग्रहण स्पर्शग्रहणके बाद होता है। वायुमें भी रस रूप आदि मानते हैं अतः व्यभिचार दोष नहीं हैं। रूप आदि स्पर्शके अविनाभावी हैं। जिस प्रकार घ्राणके द्वारा ग्राह्य गन्ध द्रव्यमें रूपादि विद्यमान रहनेपर भी अनुद्भूत या सूक्ष्म होनेके कारण तथा चक्षुरादि इन्द्रियोंके स्थूल विषयग्राहक होनेसे उपलब्ध नहीं होते उसी तरह वायुके रूपादि भी। रूपसे पहिले गन्धका ग्रहण किया है क्योंकि वह अचाक्षुष है। अन्तमें रूपका ग्रहण इसलिए किया है कि वह स्थूलद्रव्यगत हो उपलब्ध होता है।

§ ६. जैसे 'क्षीरिणो न्यग्रोधाः' यहाँ नित्ययोग अर्थमें मत्वर्थीय प्रत्यय किया गया है उसी तरह अनादि पारिणामिक स्पर्शादि गुणोंके नित्य योगमें मतु प्रत्यय है।

§ ७–१०. मृदु कठिन गुरु लघु शीत उष्ण स्निग्ध और रूक्ष ये आठ स्पर्शके मूल भेद हैं। रस पाँच प्रकारका है–तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय। सुगन्ध और दुर्गन्धके भेदसे गन्ध दो प्रकारकी है। नील पीत शुक्ल कृष्ण और लोहितके भेदसे रूप पाँच प्रकारका है। इन स्पर्शादिके एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनन्तगुण परिणाम होते हैं।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

§ १. 'जो अर्थको शपति अर्थात् कहता है जिसके द्वारा अर्थ कहा जाता है या शपनमात्र है वह शब्द है' इत्यादि कर्तृ करण और भावसाधनोंमें शब्द आदिका निर्वचन करके, परस्परापेक्षार्थक द्वन्द्व समासके बाद मतुप् प्रत्यय करना चाहिए। जो बँधे या जिसके द्वारा बाँधा जाय या बन्धनमात्रको बन्ध कहते हैं। जो लिंगके द्वारा अपने स्वरूपको सूचित करता है या जिसके द्वारा सूचित किया जाता है या सूचनमात्र है, वह सूक्ष्म है। सूक्ष्मके भाव वा कर्मको सौक्ष्म्य कहते हैं। जो स्थूल होता है बढ़ता है या जिसके द्वारा स्थूलन होता है या स्थूलनमात्रको स्थूल कहते हैं। स्थूलका भाव या कर्म स्थौल्य है। जो संस्थित होता है या जिसके द्वारा संस्थित हो जाते हैं या संस्थितिको संस्थान कहते हैं। जो भेदन करता है, जिसके द्वारा भेदन किया जाता है या भेदनमात्रको भेद कहते हैं। पूर्वोपात्त अशुभ कर्मके उदयसे जो स्वरूपको अन्धकारावृत करता या जिसके द्वारा किया जाता है या तमनमात्रको तम कहते हैं। पृथिवी आदि सवन द्रव्योंके सम्बन्धसे शरीरादिके तुल्य आकारमें जो प्रकाशका आवरण करे या अपने स्वरूपका छेदन करे वह छाया है। असातावेदनीयके उदयसे अपने स्वरूपको जो तपता है या जिसके द्वारा तपाया जाता है या आतपनमात्रको आतप कहते हैं। जो निरावरणको उद्योतित करता है, जिसके द्वारा उद्योतित करता है या उद्योतनमात्रको उद्योत कहते हैं।

§ २–५. शब्द दो प्रकारके हैं–एक भाषात्मक और दूसरे अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द अक्षर और अनक्षरके भेदसे दो प्रकारके हैं। अक्षरीकृत शब्दोंसे शास्त्रकी अभिव्यक्ति होती है, यह संस्कृत और अन्यके भेदसे आर्य और म्लेच्छोंके व्यवहारका कारण होता है। अनक्षरात्मक शब्द दो इन्द्रिय आदि जीवोंके होते हैं। अतिशयज्ञान-केवलज्ञानके द्वारा स्वरूप प्रतिपादनमें कारणभूत भी अनक्षरात्मक भाषात्मक शब्द होते हैं। ये सब प्रायोगिक हैं। अभाषात्मक शब्द प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे दो प्रकारके हैं। मेघ आदिकी गर्जना प्रायोगिक है। प्रायोगिक शब्द तत वितत घन और सौषिरके भेदसे चार प्रकारके हैं। पुष्कर भेरी आदिमें चमड़ेके तनावसे जो शब्द होता है वह तत है। वीणा सुघोष आदिसे जो शब्द होता है वह वितत है। ताल घंटा आदिके अभिघातसे होनेवाला शब्द घन है और बाँसुरी शंख आदिसे निकलनेवाला शब्द सौषिर है।

स्फोटवादी मीमांसकोंका मत है कि ध्वनियाँ क्षणिक हैं, क्रमशः उत्पन्न होती हैं और अनन्तर क्षणमें विनष्ट हो जाती हैं। वे स्वरूपके बोध करानेमें ही क्षीणशक्ति हो जाती हैं, अतः अर्थान्तरका ज्ञान करानेमें समर्थ नहीं हैं। यदि ध्वनियाँ ही समर्थ होतीं तो पदोंसे पदार्थकी तरह प्रत्येक वर्णसे अर्थबोध होना चाहिए। एक वर्णके द्वारा अर्थबोध होनेपर वर्णान्तरका उपादान निरर्थक है। क्रमसे उत्पन्न होनेवाली ध्वनियोंका सहभावरूप संघात भी संभव नहीं है, जिससे अर्थबोध हो सके। अतः उन ध्वनियोंसे अभिव्यक्त होनेवाला, अर्थप्रतिपादनमें समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिए। उनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि ध्वनि और स्फोटमें व्यंग्यव्यञ्जकभाव नहीं बन सकता। जिस शब्दस्फोटको व्यंग्य मानते हैं वह स्वरूपमें स्थित है या अस्थित? यदि स्वरूपसे स्थित है, तो ध्वनियोंसे पहिले और बादमें उसके अनुपलब्ध होनेका क्या कारण है–सूक्ष्मता या किसी प्रतिबन्धकका सद्भाव? यदि सूक्ष्मता कारण है; तो आकाशकी तरह सदा अर्थात् ध्वनिकालमें भी अनुपलब्ध रहना चाहिए। यदि ध्वनियोंसे उसकी सूक्ष्मता हटकर स्थूलता आ जाती है तो वह नित्य नहीं रहेगा, क्योंकि उसमें विकार आ गया है। घटकी उपलब्धिके लिए प्रतिबन्धकभूत अन्धकारकी तरह यहाँ कोई प्रतिबन्धक भी नहीं है। अन्धकार केवल अभावात्मक नहीं है किन्तु नील वर्णकी तरह अतिशयवाला और वृद्धि-हानिवाला होनेसे वह वस्तुभूत है। यदि स्फोट स्वरूपसे अनवस्थित है तो वह व्यङ्ग्य नहीं हो सकता और न ध्वनियाँ व्यञ्जक; किन्तु ध्वनियोंसे स्वरूपलाभ करनेके कारण उसे कार्य मानना होगा। किंच, प्रथम ध्वनि शब्दस्फोटको यदि पूरे रूपसे प्रकट कर देती है तो दूसरी तीसरी आदि ध्वनियाँ निरर्थक हो जायँगी। यदि उसके एक देशको प्रकट करती हैं; तो वह निरवयव नहीं रहकर सावयव हो जायगा। किंच, ध्वनियाँ स्फोटकी व्यञ्जक होती हैं तो वे स्फोटका उपकार करेंगी या श्रोत्रका या दोनोंका? जिस प्रकार जलके सींचनेसे पृथिवीकी गन्ध प्रकट होती है उस तरह ध्वनियाँ स्फोटका उपकार नहीं कर सकतीं, क्योंकि वह नित्य है, अतः उसमें विकार या किसीके द्वारा किया गया कोई अतिशय नहीं आ सकता। अमूर्त नित्य और अभिव्यङ्ग्य स्फोटमें कोई विकार हो नहीं सकता। जिस प्रकार अंजन चक्षुका उपकारक होता है उस तरह ध्वनियाँ श्रोत्रका भी उपकार नहीं कर सकतीं; क्योंकि बधिर-बहरेकी इन्द्रियमें तो उपकार हो नहीं सकता। स्वस्थ कर्णका उपकार यही है कि उसके द्वारा शब्दका बोध हो जाय। सो यह कार्य तो जब ध्वनियोंसे ही हो जाता है तो फिर स्फोटकी कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है। इसी तरह दोनोंका उपकार भी नहीं बनता। किंच, जब ध्वनियाँ उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाती हैं तब वे स्फोटकी अभिव्यक्ति कैसे करेंगी? यदि क्षणिक होकर भी वे स्फोटकी अभिव्यक्ति कर सकती हैं तो सीधा अर्थबोध करानेमें क्या बाधा है? जिससे एक निरर्थक स्फोट माना जाय? दीपक भी सर्वथा क्षणिक नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा देशान्तरवर्ती पदार्थोंका प्रकाश होता है। 'कर्मव्यक्तियाँ क्षणिक होकर भी कर्मत्व जातिकी अभिव्यक्ति करती हैं' यह पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि हम द्रव्य गुण और कर्ममें रहनेवाला भिन्न सामान्य पदार्थ ही नहीं मानते। कर्म भी द्रव्यसे भिन्न पदार्थ नहीं है और द्रव्य दृष्टिसे वह स्थिर है क्षणिक नहीं। किंच, अभिव्यंजक और अभिव्यंग्योंसे विलक्षण होनेके कारण भी स्फोटकी अभिव्यक्तिकी कल्पना करना उचित नहीं है। जैसे मूर्त और क्रियावान् दीपकके द्वारा मूर्त और सक्रिय ही घटादि अभिव्यक्त होते हैं उस तरह न तो ध्वनियाँ ही मूर्त और क्रियाशील हैं और न स्फोट ही। अतः अभिव्यक्तिकी कल्पना उचित नहीं है। किंच, स्फोट यदि ध्वनियोंसे अभिन्न है तो दोनोंके एक ही होजनेसे वह व्यंग्य नहीं रह सकेगा। यदि भिन्न है तो श्रोत्रेन्द्रियसे उपलब्ध नहीं होना चाहिए। किंच, यदि स्फोटको व्यंग्य मानते हैं तो उसमें घटादिकी तरह अनित्यता भी आ जानी चाहिए। 'ज्ञानके द्वारा अभिव्यङ्ग्य आकाश होता है और वह नित्य है अतः

उक्त साधन व्यभिचारी है' यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि हम 'मूर्तिमान्के द्वारा व्यंग्य होनेसे' ऐसा विशिष्ट हेतु देंगे, फिर जो व्यंग्य होते हैं वे कार्य भी देखे जाते हैं जैसे कि घटादि। पर स्फोटको तो सर्वथा नित्य माना गया है अतः वह व्यंग्यसे विलक्षण होनेके कारण व्यंग्य नहीं बन सकता। 'महान् अहंकार' आदि सांख्याभिमत तत्त्वोंका दृष्टान्त देना ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे स्फोटकी व्यंग्यता असिद्ध है उस तरह उन तत्त्वोंकी भी। फिर, ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता जो अमूर्त नित्य और निरवयव होकर मूर्त अनित्य और सावयवसे व्यंग्य होता हो। अतः शब्द ध्वनिरूप ही है और वह नित्यानित्यात्मक है यह स्वीकार करना चाहिए। वह पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य है, श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा सुनने योग्य पर्यायसामान्यकी दृष्टिसे कालान्तर स्थायी है और प्रतिक्षणकी पर्यायकी अपेक्षा क्षणिक है।

§ ६. बन्ध प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे दो प्रकारका है। वैस्रसिक बन्ध भी आदिमान् और अनादिमान्के भेदसे दो प्रकारका होता है। स्निग्ध रूक्ष गुणोंके निमित्तसे बिजली उल्का जलधारा इन्द्रधनुष आदि रूप पुद्गल बन्ध आदिमान् है। अनादि वैस्रसिक बन्ध नव प्रकारका है—धर्मास्तिकाय बन्ध, धर्मास्तिकाय देशबन्ध, धर्मास्तिकाय प्रदेशबन्ध, अधर्मास्तिकाय बन्ध, अधर्मास्तिकाय देशबन्ध, अधर्मास्तिकाय प्रदेशबन्ध, आकाशास्तिकायबन्ध, आकाशास्तिकाय देशबन्ध और आकाशास्तिकाय प्रदेशबन्ध। सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय है, आधा देश और आधेका आधा प्रदेश कहलाता है। कालाणुओंका कभी परस्परविश्लेष नहीं होता अतः उनका वैस्रसिक सम्बन्ध अनादि है। एक जीवके प्रदेशोंका संहरण और विसर्पण स्वभाव होने पर भी परस्परविश्लेष नहीं होता अतः अनादि बन्ध है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालका कभी भी परस्पर वियोग नहीं होता अतः इनका अनादि बन्ध है। नानाजीवोंका भी सामान्य दृष्टिसे अन्य द्रव्योंके साथ अनादि सम्बन्ध है। पुद्गल द्रव्योंमें भी महास्कन्ध आदिका सामान्य रूपसे अनादि बन्ध है। इस तरह सब द्रव्योंमें बन्धकी सम्भावना है, पर पुद्गलका प्रकरण होनेसे यहाँ पुद्गलबन्ध ही लेना चाहिए।

§ ७–९. विस्रसा अर्थात् स्वाभाविक। पुरुषार्थकी अपेक्षा 'विधि' होती है। विधिसे उलटा 'विस्रसा' शब्द है। प्रयोग अर्थात् पुरुषका काय वचन और मनका संयोग। जो प्रयोगजन्य है उसे प्रायोगिक कहते हैं। यह दो प्रकारका है—एक अजीवविषयक और दूसरा जीव और अजीव विषयक। लाख और काठ आदिका बन्ध अजीवविषयक बन्ध है। कर्म और नोकर्मबन्ध जीव और अजीव विषयक है। कर्मबन्ध ज्ञानावरणादिके भेदसे आठ प्रकारका है। नोकर्मबन्ध औदारिकादि शरीर विषयक है। बन्ध पाँच प्रकारका भी है- आलपन आलयन संश्लेष शरीर और शरीरीके भेदसे। रथ गाड़ी आदिका लोहेकी साँकल रस्सा आदिसे खींचकर बाँधना आलपन बन्ध है। दीवाल मकान आदिका मिट्टीका गारा ईंट आदिसे परस्पर चिनना आलयन बन्ध है। लाख काठ आदिका संश्लेष बन्ध है। शरीर बन्ध औदारिक आदि शरीरके भेदसे पाँच प्रकारका है। यह संयोगज भंगकी अपेक्षा पन्द्रह प्रकारका भी है। औदारिक शरीर नोकर्मका अन्य औदारिक शरीर नोकर्मसे सम्बन्ध होनेपर (१) औदारिक औदारिक शरीर नोकर्म बन्ध, औदारिक और तैजस शरीरके परस्पर सम्बन्धसे (२) औदारिक तैजस शरीर नोकर्म बन्ध, इसी तरह (३) औदारिक कार्मण कर्म शरीर बन्ध; (४) औदारिक तैजस कार्मण शरीर बन्ध, (५) वैक्रियिक वैक्रियिक शरीर बन्ध, (६) वैक्रियिक तैजसशरीर बन्ध, (७) वैक्रियिक कार्मण शरीर बन्ध, (८) वैक्रियिक तैजस कार्मण शरीर बन्ध, (९) आहारक आहारक शरीर बन्ध, (१०) आहारक तैजस शरीर बन्ध, (११) आहारक कार्मण शरीर बन्ध, (१२) आहारक तैजस कार्मण शरीर बन्ध, (१३) तैजस तैजस शरीर बन्ध (१४) तैजस कार्मण शरीर बन्ध और (१५) कार्मण कार्मणशरीर बन्ध समझना चाहिए। शरीरिबन्ध अनादिमान् और आदिमान्के

विकल्पसे दो प्रकारका है। जीवके आठ मध्य प्रदेशोंका, जो ऊपर नीचे चार चार रूपसे स्थित हैं सदा वैसे ही रहते हैं एक दूसरेको नहीं छोड़ते, अनादि बन्ध है। अन्य प्रदेशोंमें कर्मनिमित्तक संकोच विस्तार होता रहता है अतः उनका बन्ध आदिमान् है। जैसे क्रोधपरिणत आत्माको क्रोध कहते हैं उसी तरह गरम लोहेके पिंडकी तरह बन्धकी अपेक्षा एकत्वको प्राप्त हुआ शरीरपरिणत आत्मा ही शरीर हैं, अतः शरीरबन्धके पन्द्रह विकल्प शरीरीमें भी लगा लेना चाहिए। आत्माके योग परिणामोंके द्वारा जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। यह आत्माको परतन्त्र बनानेका मूल कारण है। कर्मके उदयसे होनेवाला वह औदारिकशरीर आदिरूप पुद्गलपरिणाम जो आत्माके सुख दुःखमें सहायक होता है, नोकर्म कहलाता है। स्थितिके भेदसे भी कर्म और नोकर्ममें भेद है। कर्मोंकी स्थिति आगे कही जायगी। औदारिक और वैक्रियिक शरीरमें अपनी आयुके प्रमाण निषेक होते हैं। औदारिक शरीरकी तीन पल्य उत्कृष्ट स्थिति है, एक समयसे लेकर तीन पल्य तक औदारिक शरीरका अवस्थान है। वैक्रियिक शरीरकी तेतीस सागर स्थिति है, एक समय निषेकसे लेकर तेतीस सागरके अन्तिम समय तक वैक्रियिक शरीर ठहरता है। आहारक शरीरकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तैजस शरीरकी ६६ सागर स्थिति है। ज्ञानावरणादि कर्मोंकी जो उत्कृष्ट स्वस्थिति है वही कार्मण शरीरकी स्थिति समझनी चाहिए। औदारिक वैक्रियिक तैजस और कार्मण शरीर नामकर्मकी प्रत्येककी बीस कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति है। आहारक-शरीर कर्मकी अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति है।

§ १०–११. सौक्ष्म्य और स्थौल्य दो दो प्रकारके हैं—एक अन्त्य और दूसरे आपेक्षिक। अन्त्य सौक्ष्म्य परमाणुओंमें है और आपेक्षिक सौक्ष्म्य बेर आँवला बेल ताड़फल आदिमें है। इसी तरह अन्त्य स्थौल्य जगद्व्यापी महास्कन्धमें तथा आपेक्षिक बेर आँवला बेल आदिमें है।

§ १२–१३. संस्थान–आकृति दो प्रकारका है–एक इत्थंलक्षण और दूसरा अनित्थंलक्षण। गोल तिकोना चौकोना लम्बा चौड़ा आदि रूपसे जिसका वर्णन किया जा सके वह इत्थंलक्षण है। उससे भिन्न मेघ आदिका संस्थान 'यह ऐसा है' ऐसा निरूपण न कर सकनेके कारण अनित्थंलक्षण है।

§ १४. भेद छह प्रकारका है – उत्कर चूर्ण खण्ड चूर्णिका प्रतर और अणुचटनके भेदसे। लकड़ीका आरा आदिसे चीरना उत्कर है। गेहूँ चना आदिका सत्तू चून आदि बनाना चूर्ण है। घड़ेके खप्पर हो जाना खंड है। उड़द मूँग आदिकी दाल बनाना चूर्णिका है। अभ्रक आदिके पटल प्रतर हैं। गरम लोहेको घनसे कूटनेपर जो फुलिंगे निकलते हैं उन्हें अणुचटन कहते हैं।

§ १५. दृष्टिका प्रतिबन्ध करनेवाला अन्धकार है, जिसे हटानेके कारण दीपक प्रकाशक कहा जाता है।

§ १६–१७. प्रकाशके आवरणभूत शरीर आदिसे छाया होती है। छाया दो प्रकारकी है—दर्पण आदि स्वच्छ द्रव्योंमें आदर्शके रंग आदिकी तरह मुखादिका दिखना तद्वर्णपरिणता छाया है तथा अन्यत्र प्रतिबिम्ब मात्र होती है। प्रसन्नद्रव्यके परिणमन विशेषसे पूर्वमुख पदार्थकी पश्चिममुखी छाया पड़ती है। मीमांसकका यह मत ठीक नहीं है कि—"दर्पणमें छाया नहीं पड़ती किन्तु नेत्रकी किरणें दर्पणसे टकराकर वापिस लौटती हैं और अपने मुखको ही देखती हैं।" क्योंकि नेत्रकी किरणें जैसे दर्पणसे टकराकर मुखको देखती हैं उसी तरह दीवालसे टकराकर भी उन्हें मुखको देखना चाहिए। इसी तरह जब किरणें वापिस आती हैं तो पूर्वदिशाकी तरफ जो मुख है वह पूर्वाभिमुख ही दिखाई देना चाहिए पश्चिमाभिमुख नहीं।

मुखकी दिशा बदलनेका कोई कारण नहीं है। फिर ये नेत्र रश्मियाँ मनके अधिष्ठानके बिना पदार्थके ग्रहणमें समर्थ भी नहीं हो सकतीं।

§ १८. सूर्यादिके उष्ण प्रकाशको आतप कहते हैं।

§ १९. चन्द्र मणि जुगनू आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं।

§ २०–२१. क्रिया भी पुद्गलकी पर्याय है। इसका ग्रहण धर्म अधर्म और आकाशमें क्रियाका निषेध करनेसे हो ही जाता हैं। इस प्रकार 'काल' द्रव्यमें पुद्गलकी तरह क्रियावत्त्वका प्रसंग नहीं होता; क्योंकि 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' यहाँ अस्तिकायोंके निर्देशमें 'काल' का ग्रहण ही नहीं किया है। यदि यहाँ पाठ होता तो 'आ आकाशादेकद्रव्याणि निष्क्रियाणि' इन सूत्रोंसे बाह्य होनेके कारण कालमें भी पुद्गलकी तरह क्रियावत्त्वका प्रसंग आता। अथवा यदि कालको सक्रिय मानना इष्ट होता तो 'द्रव्याणि जीवाः, कालश्च' ऐसा पूर्वनिर्देश किया होता। ऐसी हालतमें 'जीवाश्च' यहाँ 'च' शब्द नहीं देना पड़ता और 'कालश्च' यह पृथक् सूत्र भी नहीं बनाना पड़ता। अनन्त समयोंकी सूचनाके लिए 'कालश्च' सूत्रकी सार्थकता बताना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'आकाशस्यानन्ताः कालश्च' इस प्रकार सूत्र बनानेसे वह प्रयोजन सिद्ध हो सकता था। इस तरह लघु न्यायसे सब कार्य सिद्ध हो जानेपर भी जो आगे 'कालश्च' ऐसा पृथक् सूत्र बनाया गया है उससे ज्ञात होता है कि कालमें क्रियावत्त्व इष्ट नहीं है। यह निष्क्रियता परिस्पन्दरूप क्रियाकी अपेक्षासे है 'अस्ति' आदि भावात्मक क्रियाओंकी अपेक्षासे नहीं। अतः अनादि पारिणामिक अस्ति आदि क्रियाकी दृष्टिसे काल द्रव्य क्रियावान् है और देशान्तर प्राप्ति करानेमें समर्थ परिस्पन्दरूप क्रियाकी अपेक्षा काल निष्क्रिय है।

§ २२. क्रिया प्रयोग बन्धाभाव आदिके भेदसे दस प्रकारकी है। बाण चक्र आदिकी प्रयोग गति है। एरण्डबीज आदिकी बन्धाभाव गति है। मृदंग भेरी शंखादिके शब्द पुद्गलोंकी जो दूर तक जाते हैं छिन्नगति है। गेंद आदिकी अभिघातगति है। नौका आदिकी अवगाहनगति है। पत्थर आदिकी नीचेकी ओर गुरुत्वगति है। तुंबड़ी रुई आदिकी लघु गति है। सुरा सिरका आदिकी संचार गति है। मेघ, रथ, मूसल, आदिकी क्रमशः वायु, हाथी, तथा हाथके संयोगसे होनेवाली संयोग गति है। वायु अग्नि परमाणु मुक्तजीव और ज्योतिर्देव आदिकी स्वभावगति है। अकेली वायुकी तिर्यक् गति है। भस्त्रादिके कारण वायुकी अनियत गति होती है। अग्निकी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति है। कारणवश उसकी अन्य दिशाओंमें भी गति होती है। परमाणुकी अनियत गति है। मुक्त होनेवाले जीवोंकी ऊर्ध्वगति है। ज्योतिषियोंका नरलोकमें नित्य भ्रमण होता है।

§ २२–२३ जैसे 'सारवान् स्तम्भः' या 'आत्मवान् पुरुषः' यहाँ अभेदमें भी मत्वर्थीय प्रयोग देखा जाता है, उसी तरह इस सूत्रमें भी समझना चाहिए। मत्वर्थीयका 'दण्डी देवदत्तः'की तरह एकान्त भिन्नतामें ही प्रयोग होनेका नियम नहीं है। फिर शब्दादि भी पर्यायदृष्टिसे पुद्गल द्रव्यसे भिन्न हैं। गरम लोहेकी तरह पुद्गलका ही शब्दादि रूपसे परिणमन होता है, अतः स्यात् अभिन्नत्व है।

§ २४ स्पर्शादि परमाणुओंके भी होते हैं और स्कन्धोंके भी, पर शब्दादि व्यक्तरूपसे स्कन्धोंके ही होते हैं सौक्ष्म्यको छोड़कर, इस विशेषताको बतानेके लिए पृथक् सूत्र बनाया है। सौक्ष्म्यका इस सूत्रमें निर्देश स्थौल्यका प्रतिपक्ष सूचन करनेके लिए खास तौरसे किया गया है।

§ २५. 'स्पर्शादि गुणोंका एकजातीय परिणमन होता है' इसकी सूचना करनेके लिए पृथक् सूत्र बनाया है। जैसे कठिन स्पर्श अपनी जातिको न छोड़कर पूर्व और उत्तर स्वगत भेदोंके उत्पाद विनाशको करता हुआ दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनन्तगुण कठिन स्पर्श पर्यायोंसे ही परिणत होता है मृदु, गुरु, लघु आदि स्पर्शोंसे नहीं। इसी तरह मृदु आदि भी। तिक्तरस

रस जातिको न छोड़कर उत्पाद विनाशको प्राप्त होकर भी दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनन्त गुण तिक्तरस रूपसे ही परिणमन करेगा कटुक आदि रसोंसे नहीं। इसी तरह कटुक आदिमें भी समझना चाहिए। एक सुगन्ध अपनी जातिको न छोड़कर दो आदि अनन्तगुण सुगन्ध पर्यायोंसे ही परिणत होगा दुर्गन्ध रूपसे नहीं। इसी तरह दुर्गन्ध भी। शुक्ल वर्ण अपनी जातिको न छोड़कर पूर्व उत्तरके नाश और उत्पादका अनुभव करता हुआ दो आदि अनन्तगुण शुक्ल वर्णोंसे ही परिणमन करता है, नीलादि रूपसे नहीं। इसी तरह नीलादिमें भी समझना चाहिए। **प्रश्न**—जब कठिन स्पर्श मृदु रूपमें, गुरु लघु रूपमें, स्निग्ध सूक्ष्ममें और शीत उष्णमें बदलता है, इसी तरह तिक्त कटुक आदि रूपसे, सुगन्ध दुर्गन्ध रूपसे, शुक्ल कृष्णादि रूपमें तथा और भी परस्पर संयोगसे गुणान्तर रूपमें परिणमन करते हैं तब यह एकजातीय परिणमनका नियम कैसे रहेगा? उत्तर—ऐसे स्थानोंमें कठिन स्पर्श अपनी स्पर्श जातिको न छोड़कर ही मृदु स्पर्शसे विनाश उत्पादका अनुभव करता हुआ परिणमन करता है अन्य रूपमें नहीं। इसी तरह अन्य गुणोंमें भी समझ लेना चाहिए।

§ २६. च शब्दसे नोदन अभिघात आदि जितने भी पुद्गल परिणाम हो सकते हैं उन सबका समुच्चय हो जाता है।

पुद्गलके भेद —

अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥

पुद्गल दो प्रकारके हैं—अणु और स्कन्ध।

§ १. प्रदेशमात्रभावी स्पर्श आदि गुणोंसे जो सतत परिणमन करते है और इसी रूपसे शब्दके विषय होते हैं वे अणु हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं इनका आदि मध्य और अन्त एक ही है—वही अणुका स्वरूप। कहा भी है—"एक ही स्वरूप जिनका आदि मध्य और अन्त है, जो इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, उस अविभागी द्रव्यको परमाणु कहते हैं।"

§ २. स्थूल होनेके कारण जो ग्रहण किये जा सकते हैं और रखे जा सकते हैं वे स्कन्ध हैं। रूढ़ शब्दोंमें क्रिया कहीं होती है, और कहीं न भी हो तो उपलक्षणसे मान ली जाती है। अतः ग्रहण निक्षेप आदि व्यापारके अयोग्य भी द्व्यणुक आदि स्कन्धोंमें स्कन्ध संज्ञा बन जाती है।

§ ३–४. दोनों शब्दोंमें बहुबचन अणुत्वजाति और स्कन्धत्वजातिसे संगृहीत होनेवाले अनन्त भेदोंकी सूचनाके लिए है। यद्यपि 'अणुस्कन्धाः' ऐसा सूत्र बन सकता था। परन्तु पृथक् निर्देश पूर्वोक्त दो सूत्रोंसे पृथक् पृथक् सम्बन्ध बनानेके लिए है। स्पर्श रस गन्ध और वर्णवाले अणु हैं और शब्द आदि पर्यायवाले स्कन्ध हैं।

§ ५–१२. कोई वादी परमाणुके इस लक्षणसे एकान्तका समर्थन करते हैं—"अन्त्य-परमाणु कारण ही है, सूक्ष्म है, नित्य है, उसमें एक रस एक गन्ध और एक वर्ण है, अविरोधी दो स्पर्श हैं तथा कार्यलिंगके द्वारा वह अनुमेय है"; पर यह युक्तियुक्त नहीं है। परमाणुको 'कारण ही' कहना ठीक नहीं है; क्योंकि वह स्कन्धोंके भेदपूर्वक उत्पन्न होनेसे कार्य भी है। 'कारणमेव' कहनेसे उसके कार्यत्वका निषेध हो जाता है। जब 'कारणमपि' कहा जाता तभी कार्यत्वका अनिषेध रहता। परमाणुमें स्नेह आदि गुण उत्पन्न और विनष्ट होते हैं अतः कथञ्चित् अनित्य होनेसे वह सर्वथा नित्य नहीं कहा जा सकता। 'परमाणु अनादिकालसे अणु रहता है और वह द्व्यणुकादि स्कन्धोंका कारण है, इसी अपेक्षा 'कारणमेव' कहा है' यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि अणु अपने अणुत्वको नहीं छोड़ता तो उससे कार्य भी उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि अणुत्वका भेद हुआ तो वह स्वयं कार्य हो ही जायगा। जब तक उससे अणुत्वके

भेदपूर्वक कार्य उत्पन्न नहीं हो जाता तबतक उसे कारण भी नहीं कह सकते। पुत्रके अभावमें पिता व्यपदेश नहीं होता। अनादि परमाणुकी छाया आदि भी नहीं पड़ सकती; क्योंकि छाया आदि स्कन्धोंकी होती है, अतः छायादिरूप कार्यकी अपेक्षा भी वह कारण नहीं कहा जा सकता। छायादि चाक्षुष हैं, अतः वे परमाणुके कार्य नहीं हो सकते। परमाणुके कार्य तो अचाक्षुष होंगे। फिर अनादिकालसे अबतक परमाणुकी अवस्थामें ही रहनेवाला कोई अणु नहीं है। 'भेदादणुः' सूत्रमें स्कन्धभेदपूर्वक परमाणुओंकी उत्पत्ति बताई है। अतः 'अनादि परमाणु'की अपेक्षा नित्य कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें भी स्नेह आदि गुणोंका प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। कोई भी पदार्थ परिणामशून्य नहीं है। द्व्यणुक आदिकी तरह संघातसे परमाणु कभी उत्पन्न नहीं होता अतः कारण ही है, और द्रव्यदृष्टिसे व्यय और उत्पाद नहीं होता अतः नित्य है। इस तरह विशेष विवक्षामें 'कारणमेव' यहाँ एवकारका भी विरोध नहीं है।

§ १३–१४. परमाणु निरवयव है, अतः उसमें एक रस एक गन्ध और एक वर्ण है। सावयव ही मातुलिंग आदिमें अनेक रस, मयूर आदिमें अनेक वर्ण और अनुलेपन आदिमें अनेक गन्ध हो सकती हैं। उसमें शीत और उष्णमेंसे कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्षमेंसे कोई एक, इस तरह अविरोधी दो स्पर्श होते हैं। गुरु-लघु मृदु और कठिन स्पर्श परमाणुमें नहीं पाये जाते क्योंकि वे स्कन्धगत हैं। शरीर इन्द्रिय और महाभूत आदि स्कन्धरूप कार्योंसे परमाणुका अस्तित्व सिद्ध होता है। कार्यलिंगसे कारणका अनुमान किया जाना सर्वसम्मत नियम है। परमाणुओंके अभावमें स्कन्ध कार्य नहीं हो सकते।

§ १५. अतः अनेकान्त दृष्टिसे ही उक्तलक्षण ठीक हो सकता है। द्व्यणुक आदि स्कन्ध कार्योंका उत्पादक होनेसे परमाणु स्यात् कारण है, स्कन्ध भेदसे उत्पन्न होता है और रूक्ष आदि कार्यभूत गुणोंका आधार होनेसे स्यात्कार्य है। उससे छोटा कोई भेद नहीं है अतः वह स्यात् अन्त्य है, प्रदेशभेद न होनेपर भी गुणभेद होनेके कारण वह अन्त्य नहीं भी है। सूक्ष्म परिणमन होनेसे स्यात्सूक्ष्म है और स्थूलकार्यकी उत्पत्तिकी योग्यता रखनेसे स्यात् स्थूल भी है। द्रव्यता नहीं छोड़ता अतः स्यात् नित्य है, स्कन्ध पर्यायको प्राप्त होता है और गुणोंका विपरिणमन होनेसे स्यात् अनित्य है। अप्रदेशत्वकी विवक्षामें एक रस एक गन्ध एक वर्ण और दो स्पर्शवाला है, अनेकप्रदेशी स्कन्धरूप परिणमनकी शक्ति होनेसे अनेक रस आदि वाला भी है। कार्यलिंगसे अनुमेय होनेके कारण स्यात् कार्यलिंग है और प्रत्यक्षज्ञानका विषय होनेसे कार्यलिंग नहीं भी है।

§ १६. जिन परमाणुओंने परस्पर बन्ध कर लिया है वे स्कन्ध कहलाते हैं। वे तीन प्रकारके हैं—स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश। अनन्तानन्त परमाणुओंका बन्धविशेष स्कन्ध है। उसके आधेको देश कहते हैं और आधेके भी आधेको प्रदेश। पृथिवी जल अग्नि वायु आदि उसीके भेद हैं। स्पर्शादि और शब्दादि उसकी पर्याय हैं। घट पट आदि स्पर्शादिमान् पदार्थ पृथिवी हैं। जल भी पुद्गलका विकार होनेसे पुद्गलात्मक है। उसमें गन्ध भी पाई जाती है। 'जलमें संयुक्त पार्थिवद्रव्योंकी गन्ध जलमें आती है, जल स्वयं निर्गन्ध है' यह पक्ष असिद्ध है; क्योंकि कभी भीगन्धरहित जल उपलब्ध नहीं होता और न पार्थिव द्रव्योंके संयोगसे रहित ही। गन्ध स्पर्शका अविनाभावी है। अर्थात् पुद्गलका अविनाभावी है अतः वह जलका ही गुण है। जल गन्धवाला है क्योंकि वह रसवाला है जैसे कि आम। अग्नि भी स्पर्शादि और शब्दादि स्वभाववाली है क्योंकि वह पृथिवीत्ववाली पृथिवीका कार्य है जैसे कि घड़ा। 'स्पर्शादिवाली लकड़ी आदिसे अग्नि उत्पन्न होती है' यह सर्वविदित है। पुद्गलपरिणाम होनेसे ही खाए गए स्पर्शादिगुणवाले आहारका वात पित्त और कफरूपसे परिणाम होता है। पित्त अर्थात् जठराग्नि। अतः तेजको स्पर्श आदि गुणवाला ही मानना ठीक है। इसी तरह वायु भी स्पर्शादि और शब्दादि पर्यायवाली

है क्योंकि उसमें स्पर्श गुण पाया जाता है जैसे कि घटमें। खाए हुए स्पर्शादिवाले भोजनका वात पित्त और श्लेष्म रूपसे परिणमन होता है। वात अर्थात् वायु। अतः वायुको भी स्पर्शादिमान् मानना चाहिए। अतः नैयायिकका यह कथन खण्डित हो जाता है कि—"पृथ्वीमें चार गुण जलमें गन्धरहित तीन गुण अग्निमें गन्धरसरहित दो गुण तथा वायुमें केवल स्पर्श गुण है। ये सब पृथिवीत्व जलत्व आदि जातियोंसे भिन्न-भिन्न हैं।"

स्कन्धोंकी उत्पत्तिका कारण—

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भेद, संघात और भेदसंघातसे स्कन्ध होते हैं।

§ १–४. बाह्य और अभ्यन्तर कारणोंसे संहत स्कन्धोंके विदारणको भेद कहते हैं। भिन्न भिन्न पदार्थोंका बन्ध होकर एक हो जाना संघात है। सूत्रमें बहुवचन देनेसे ज्ञात होता है कि भेदपूर्वक संघात अर्थात् 'भेदसंघात' भी स्कन्धोत्पत्तिका स्वतन्त्र कारण है। 'उत्पद्यन्ते'में उत्पूर्वक पदि धातुका अर्थ जन्म होता है। उत्पद्यन्ते अर्थात् जन्म लेते हैं।

§ ५. 'भेदसंघातेभ्यः' यह हेतुनिर्देश उत्पत्तिकी अपेक्षा है। निमित्त कारण और हेतुमें सभी विभक्तियाँ प्रायः होती हैं। अतः 'भेद संघातरूप कारणोंसे स्कन्ध उत्पन्न होते हैं' यह अर्थ फलित हो जाता है। दो परमाणुओंके संघातसे द्विप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। द्विप्रदेशी स्कन्ध तथा एक परमाणुके संघातसे या तीनों परमाणुओंके संघातसे त्रिप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो द्विप्रदेशी, एक त्रिप्रदेशी और एक अणु, या चार अणुओंके सम्बन्धसे एक चतुःप्रदेशी स्कन्ध होता है। इस तरह संख्येय असंख्येय और अनन्त प्रदेशोंके संघातसे उतने प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इन्हींके भेदसे द्विप्रदेशपर्यन्त स्कन्ध उत्पन्न होते हैं' इस तरह एक ही समयमें भेद और संघातसे—किसीसे भेद और किसीसे संघात होनेपर द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

अणुकी उत्पत्तिका कारण—

भेदादणुः ॥ २७ ॥

अणु भेदसे ही होते हैं।

§ १. 'भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते' इस सूत्रसे स्कन्धकी उत्पत्ति सूचित होनेसे अर्थात् ही ज्ञात हो जाता है कि 'अणु भेदसे होता है' फिर भी इस सूत्रके बनानेसे यह अवधारण किया जाता है कि अणु भेदसे ही उत्पन्न होता है। जैसे कि 'अपो भक्षयति' में एवकारका अर्थ अवधारण आ जाता है।

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अनन्तानन्त परमाणुओंसे उत्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है तथा कोई अचाक्षुष 'जो अचाक्षुष स्कन्ध है वह चाक्षुष कैसे बनता है' इस प्रश्नका समाधान इस सूत्रमें किया है कि भेद और संघातसे अचाक्षुष स्कन्ध चाक्षुष बनता है। सूक्ष्म स्कन्धसे कुछ अंशका भेद होने पर भी यदि उसने सूक्ष्मताका परित्याग नहीं किया है तो वह अचाक्षुषका अचाक्षुष ही बना रहेगा। सूक्ष्मपरिणत स्कन्ध भेद होने पर भी अन्यके संघातसे सूक्ष्मताका त्याग करने पर और स्थूलताकी उत्पत्ति होनेपर चाक्षुष बनता है।

प्रश्न—गति स्थिति अवगाह वर्तना शरीरादि और परस्परोकारके द्वारा जिन धर्म आदि का अनुमान किया गया है उन्हें पहिले 'द्रव्य' कहा है। तो उन्हें द्रव्य क्यों कहते हैं? उत्तर—सत् होनेसे।

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥

जो सत् है वह द्रव्य है।

'तो सत्का लक्षण क्या है' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जो इन्द्रियग्राह्य या अतीन्द्रिय पदार्थ बाह्य और आन्तर निमित्तकी अपेक्षा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यको प्राप्त होता है वह 'सत्' है। यहाँ 'वेदितव्यम्' इस पदका अध्याहार कर लेना चाहिए।

धर्मादिको 'सत्' होनेसे द्रव्य समझ लिया था, अतः बताइए कि 'सत्' क्या है? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए यह सूत्र बनाया है—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥

अथवा, यदि उपकार करनेके कारण धर्मादि द्रव्य 'सत्' हैं तो जब ये उपकार नहीं करते तब इन्हें 'असत्' कहना चाहिए?' इस शंकाके समाधानार्थ कहा है कि—उपकारविशेष न होनेपर भी 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्व' इस सामान्य द्रव्यलक्षणके रहनेसे 'सत्' होंगे ही।

§ १–३. चेतन या अचेतन द्रव्यका स्वजातिको न छोड़ते हुए जो पर्यायान्तरकी प्राप्ति-उत्पादन है वह उत्पाद है, जैसे कि मृत्पिंडमें घट पर्याय। इसी तरह पूर्वपर्यायके विनाशको व्यय कहते हैं, जैसे कि घड़ेकी उत्पत्ति होनेपर पिंडाकारका नाश होता है। अनादि पारिणामिक स्वभावसे व्यय और उत्पाद नहीं होते किन्तु द्रव्य स्थित रहता है, ध्रुव बना रहता है, जैसे कि पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओंमें मृद्रूपताका अन्वय है।

§ ४–७. प्रश्न—युक्त शब्दका प्रयोग भिन्न पदार्थसे किसी अन्य पदार्थका संयोग होने पर होता है जैसे कि दण्डके संयोगसे 'दंडी' प्रयोग। उत्तर—यहाँ युजि धातुके अर्थमें सत्ताका अर्थ समाया हुआ है। सभी धातुएँ भाववाची हैं। भाव अर्थात् सत्ताक्रिया। इसी सामान्य भाव-सत्ताको वे वे विशेष धातुएँ स्वार्थसे विशिष्ट करके विषय करती हैं। चाहे 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' कह लीजिए चाहे 'उत्पादव्ययध्रौव्यं सत्' कह लीजिए बात एक ही है। सत्तार्थक माननेपर भी 'एध' आदि धातुओंके वृद्धि आदि विशेष अर्थ बन ही जाते हैं क्योंकि असत् खरविषाण आदिके वृद्धि आदि तो होती नहीं। 'ऐसी स्थितिमें 'उत्पादव्ययध्रौव्ययवत्' यह प्रयोग उचित नहीं है क्योंकि इसमें भी दूषण और परिहार समान हैं। जैसे 'देवदत्त और गौ भिन्न हैं, तब 'गोमान्' यह व्यवहार होता है वैसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे द्रव्य भिन्न नहीं है, अतः मत्वर्थीय नहीं हो सकता' यह दूषण बना रहता है क्योंकि अभिन्नमें भी मत्वर्थीय प्रत्यय होता है जैसे कि 'आत्मवान् आत्मा, सारवान् स्तम्भः' आदिमें। अथवा, युक्त शब्दका अर्थ तादात्म्य है, अर्थात् सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होता है। अथवा, उत्पाद आदि पर्यायोंसे पर्यायी द्रव्य कथञ्चित् भिन्न होता है अतः योग अर्थमें भी 'युक्त' शब्दका प्रयोग किया जा सकता है। यदि सर्वथा भेद माना जायगा तो दोनोंका अभाव हो जायगा।

§ ८. 'सत्' शब्दके अनेक अर्थ हैं—जैसे 'सत्पुरुष' में प्रशंसा 'सत्कार' में आदर 'सङ्गत' में अस्तित्व 'प्रव्रजितः सन्' में प्रज्ञायमान आदि। यहाँ 'सत्'का अर्थ अस्तित्व है।

§ ९. प्रश्न—व्यय और उत्पाद चूँकि द्रव्यसे अभिन्न होते हैं अतः द्रव्य ध्रुव नहीं रह सकता? उत्तर—व्यय और उत्पादसे भिन्न होनेके कारण द्रव्यको ध्रुव नहीं कहा जाता किन्तु द्रव्यरूपसे अवस्थान होनेके कारण। यदि व्यय और उत्पादसे भिन्न होनेके कारण द्रव्यको ध्रुव कहा जाता है तो द्रव्यसे भिन्न होनेके कारण व्यय और उत्पादमें भी ध्रौव्य आना चाहिए। शंकाकारने हमारा अभिप्राय नहीं समझा। हम द्रव्यसे व्यय और उत्पादको सर्वथा अभिन्न नहीं कहते, यदि कहते तो ध्रौव्यका लोप हो ही जाता, किन्तु कथञ्चित्। व्यय और उत्पादके समय भी द्रव्य स्थिर रहता है अतः दोनोंमें भेद है और द्रव्यजातिका परित्याग दोनों नहीं करते उसी द्रव्यके ये होते हैं अतः अभेद है। यदि सर्वथा भेद होता तो द्रव्यको छोड़कर उत्पाद

और व्यय पृथक् मिलते और सर्वथा अभेद पक्षमें एकलक्षण होनेसे एकका अभाव होने पर शेषके अभावका भी प्रसंग आता।

§ १०. इस प्रकारकी शंकाओंमें स्ववचन विरोध भी है। आप अपने पक्षकी सिद्धिके लिए जिस हेतुका प्रयोग कर रहे हैं वह साधकत्वसे यदि सर्वथा अभिन्न है तो स्वपक्षकी तरह परपक्षका भी साधक ही होगा अथवा परपक्षकी तरह स्वपक्षका भी दूषक होगा। इस तरह स्ववचन विरोध दूषण आता है।

§ ११. उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूप पर्यायें तथा पर्यायी द्रव्यमें कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है, अतः सर्वथा भेद पक्षभावी दोष कि—'भिन्न उत्पादादि ही सत्ता कहे जायँगे, अतः द्रव्यका अस्तित्व नहीं रहेगा, और द्रव्यके अभावमें निराधार उत्पादादिका भी अभाव हो जायगा', तथा सर्वथा अभेद पक्षभावी दोष कि—'लक्ष्य और लक्षणमें एकत्व होनेसे लक्ष्यलक्षणभाव नहीं बनेगा' नहीं आ सकते। जैसे जाति कुल रूप आदिसे अन्वयधर्मी मनुष्यके अनेक सम्बन्धियों-की दृष्टिसे पिता-पुत्र-भ्राता-भानजा आदि परस्पर विलक्षण धर्म होनेपर भी पुरुषमें भेद नहीं होता और न पुरुषके अभिन्न होनेपर भी उन धर्मोंमें अभेद होता है उसी तरह द्रव्यसे बाह्य आभ्यन्तर कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण पर्यायें कथञ्चित् भिन्न हैं और द्रव्यदृष्टिसे अवस्थान होनेसे कथञ्चित् अभिन्न हैं, अतः न तो असत्त्व है और न लक्ष्यलक्षणभावका अभाव ही है। अतः उत्पादादि तीनकी ऐक्यवृत्ति ही सत्ता है और वही द्रव्य है।

'जैसे अन्वय द्रव्यका आत्मभूत धर्म है उसी तरह पर्यायें भी। अतः पर्यायकी निवृत्तिकी तरह द्रव्यकी भी निवृत्ति यदि मानी जाती है तो शून्यता हो जायगी।' यह आशंका तब ठीक होती जब पिण्ड घट कपालादि पर्यायोंकी तरह रूपित्व द्रव्यत्व अजीवत्व अचेतनत्व आदि द्रव्यांश भी कादाचित्क होते। व्यय और उत्पाद होने पर भी द्रव्यको तो नित्य ही माना गया है।

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

तद्भावसे च्युत न होनेको नित्य कहते हैं।

§ १–२. 'यह वही है' यह प्रत्यभिज्ञान निर्विषय और निर्हेतुक नहीं है। इसमें जो कारण होता है उसे 'तद्भाव' कहते हैं। जिस रूपसे वस्तुको पहिले देखा था उसी रूपसे पुनः दृष्ट होने पर 'तदेवेदम्' यह प्रत्यभिज्ञान होता है। पूर्वका अत्यन्त निरोध और उत्तरका सर्वथा नूतन उत्पादन माननेपर स्मरण और स्मरणाधीन समस्त लोकव्यवहार समाप्त हो जायँगे। 'जो नष्ट होता है वही नष्ट नहीं होता, जो उत्पन्न होता है वही उत्पन्न नहीं होता' यह बात परस्पर विरोधी मालूम होती है, पर वस्तुतः विरोध नहीं है क्योंकि जिस दृष्टिसे नित्य कहते हैं यदि उसी दृष्टिसे अनित्य कहते तो विरोध होता जैसे कि एक ही अपेक्षा किसी पुरुषको पिता और पुत्र कहनेमें। पर यहाँ द्रव्य दृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य कहा जाता है, अतः विरोध नहीं है। दोनों नयोंकी दृष्टिसे दोनों धर्म बन जाते हैं।

अर्पितानर्पितसिद्धे ॥३२॥

गौण और मुख्य विवक्षासे एक ही वस्तुमें नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म सिद्ध हैं।

§ १–४. प्रयोजनवश अनेकात्मक वस्तुके जिस धर्मकी विवक्षा होती है, या विवक्षित जिस धर्मको प्रधानता मिलती है उसे 'अर्पित' कहते हैं। जिन धर्मोंकी विद्यमान रहनेपर भी विवक्षा नहीं होती उन्हें 'अनर्पित' कहते हैं। अनर्पित अर्थात् गौण। जब मृत्पिंड 'रूपी द्रव्य' के रूपमें अर्पित-विवक्षित होता है तब वह नित्य है क्योंकि कभी भी वह रूपित्व या द्रव्यत्वको नहीं छोड़ता। जब वही अनेकधर्मात्मक पदार्थ रूपित्व और द्रव्यत्वको गौण कर केवल 'मृत्पिंड' रूप पर्यायसे विवक्षित होता है तो वह 'अनित्य' है क्योंकि पिंड पर्याय अनित्य है। यदि केवल द्रव्यार्थिक-

नयकी विषयभूत वस्तु ही मानी जाय तो व्यवहारका लोप हो जायगा क्योंकि पर्यायसे शून्य केवल द्रव्यरूप वस्तु नहीं है। और न केवल पर्यायार्थिकनयकी विषयभूत ही वस्तु है, वैसी वस्तुसे लोकयात्रा नहीं चल सकती, क्योंकि द्रव्यसे शून्य पर्याय नहीं होती। अतः वस्तुको उभयात्मक मानना ही उचित है।

परमाणुओंके परस्पर बन्ध होने पर एकत्वपरिणति रूप स्कन्ध उत्पन्न होता है। यहाँ यह बताइए कि 'पुद्गल जाति समान होने पर और संयोग रहने पर भी क्यों किन्हीं परमाणुओंका बन्ध होता है अन्यका नहीं ?' इस प्रश्नके समाधानके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

स्निग्धता और रूक्षतासे बन्ध होता है।

§ १–५. बाह्य आभ्यन्तर कारणोंसे स्नेह पर्यायकी प्रकटतासे जो चिकनापन है वह स्नेह है और जो रूखापन है वह रूक्ष है; इन कारणोंसे द्व्यणुक आदि स्कन्धरूप बन्ध होता है। दो स्निग्ध रूक्ष परमाणुओंमें बन्ध होने पर द्व्यणुक स्कन्ध होता है। स्नेह और रूक्षके अनन्त भेद हैं। अविभागपरिच्छेद एकगुणवाला स्नेह सर्वजघन्य है, प्रथम है। इसी तरह दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनन्तगुण स्नेह रूक्षके विकल्प हैं। जैसे जलसे बकरीके दूध और घीमें प्रकृष्ट स्निग्धता है, उससे भी प्रकृष्ट गायके दूध और घीमें उससे भी प्रकृष्ट भैंसके दूध घीमें, उससे भी प्रकृष्ट ऊँटनीके दूध और घीमें स्निग्धता देखी जाती है उसी तरह क्रमशः धूलसे प्रकृष्ट रूखापन तुषखंडमें और उससे भी प्रकृष्ट रूक्षता रेतमें पायी जाती है। इसी तरह परमाणुओंमें भी स्निग्धता और रूक्षताके प्रकर्ष और अपकर्षका अनुमान होता है।

न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

सर्वजघन्य गुणवाले परमाणुओंमें बन्ध नहीं होता।

§ १–२. जैसे शरीरमें जघन-जाँघ सबसे निकृष्ट है उसी प्रकार जघनकी तरह निकृष्ट अवयवको जघन्य कहते हैं। गुण शब्दके अनेक अर्थ हैं–जैसे 'रूपादिगुण' में गुणका अर्थ रूपादि हैं; 'दोगुणा' में भाग अर्थ है 'गुणज्ञ'–उपकारज्ञमें उपकार अर्थ है 'गुणवान् देश' में द्रव्य अर्थ है; 'द्विगुण रज्जु' में समान अवयव अर्थ है; 'गुणभूतावयवम्' में गौण अर्थ है। पर यहाँ 'भाग' अर्थ विवक्षित है। तात्पर्य यह कि–एकगुण स्निग्ध परमाणुका अन्य एकगुण स्निग्ध परमाणुसे, तथा दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनन्तगुण स्निग्ध परमाणुसे बन्ध नहीं होता। उसी एकगुण स्निग्धका एकगुण रूक्ष, तथा दो तीन संख्यात असंख्यात और अनन्तगुणरूक्ष परमाणुसे बन्ध नहीं होता। इसी तरह एकगुण रूक्षका अन्य एकगुण रूक्ष या एकगुण स्निग्ध या दो तीन चार आदि अनन्तगुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुओंसे बन्ध नहीं होता।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

गुणसाम्य रहनेपर सदृशोंका भी बन्ध नहीं होता।

§ १–५. सदृश अर्थात् तुल्यजातीय, गुणसाम्य अर्थात् तुल्यभाग। गुणसाम्य पदसे सदृश ग्रहण निरर्थक नहीं होता; क्योंकि यदि सदृश ग्रहण नहीं करते तो द्विगुण स्निग्धोंका द्विगुण रूक्षोंसे, त्रिगुणस्निग्धोंका त्रिगुणरूक्षोंसे गुणकार साम्य होनेके कारण बन्धका निषेध हो जाता। सदृश ग्रहण करनेसे द्विगुण स्निग्धका द्विगुण स्निग्धके साथ, द्विगुणरूक्षका द्विगुणरूक्षोंके साथ बन्धनिषेध सिद्ध हो जाता है। अथवा यह प्रयोजन नहीं है, क्योंकि द्विगुणस्निग्धोंका द्विगुणरूक्षोंके साथ बन्धका निषेध इष्ट है।

§ ५. सदृशग्रहणका यह प्रयोजन है कि गुणवैषम्य होनेपर विसदृशोंका बन्ध तो होता

ही है पर सदृशोंका भी बन्ध होता है। इस तरह विषमगुणवालोंका और तुल्यजातीयोंका सामान्यरूपसे बन्ध प्रसंग होने पर इष्ट व्यवस्थाके प्रतिपादनके लिए सूत्र कहते हैं—

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥

§ १. दो अधिक अर्थात् चारगुण आदिका बन्ध होता है।

§ २. आदि शब्द प्रकारार्थक है। चार आदि दो अधिक गुणवालोंका बन्ध होता है। चाहे तुल्यजातीय हों या अतुल्यजातीय, दो अधिक गुणवालोंका बन्ध होता है; अन्यका नहीं। दोगुणस्निग्ध परमाणुका एकगुणस्निग्ध दोगुणस्निग्ध और तीनगुणस्निग्धसे बन्ध नहीं होगा। चारगुणस्निग्धसे बन्ध होता है। इसी तरह उसका पाँच, छह, सात, आठ, नव, दश संख्यात असंख्यात और अनन्तगुणवाले स्निग्धसे बन्ध नहीं होता। इसी तरह तीन गुणस्निग्धका मात्र पाँच गुणस्निग्धसे तो बन्ध होगा चार या छह आदि आगे पीछे गुणवालोंसे नहीं। इसी तरह रूक्षमें भी समझना चाहिए। इसी प्रकार भिन्नजातीयोंमें भी दो अधिक गुणवालोंमें ही बन्ध होता है। द्विगुणरूक्षका चतुर्गुणस्निग्ध या चतुर्गुणरूक्षसे ही बन्ध होता है। पाँच या तीन आदि आगे पीछेके गुणवालोंसे नहीं। तीनगुणरूक्षका पाँच गुणरूक्ष या पाँच गुणस्नेहसे बन्ध होता है चार या छह आदि आगे पीछेके गुणवालोंसे नहीं। कहा भी है–

"स्नेहका दो अधिक गुणवाले स्नेहसे या रूक्षसे रूक्षका दो अधिक गुणवाले रूक्षसे या स्नेहसे बन्ध होता है। जघन्यगुणका किसी भी तरह बन्ध नहीं होता।"

इस तरह उक्त विधिसे बन्ध होनेपर द्व्यणुक आदि अनन्तपरमाणुक स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है।

§ २. तु शब्दसे बन्धप्रतिषेधका प्रकरण बन्द होता है और इष्ट व्यवस्था सूचित होती है।

प्रश्न–पुद्गलोंके संयोगरूप बन्ध क्यों मानते हैं, परस्पर समुदायसे ही समस्त सामूहिक व्यवहार सिद्ध हो सकते हैं ? उत्तर–शुक्ल और कृष्ण तन्तुओंकी तरह यदि मात्र प्राप्ति ही हैं, उनमें एक दूसरेकी पारिणामकता नहीं है तो वह बन्ध नहीं कहा जायगा।

उस पारिणामकताका नियम बताते हैं–

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

बन्ध होने पर अधिकगुणवाला न्यूनगुणवालेका अपने रूप परिणमन करा लेता है।

§ १. गुणका प्रकरण है अतः अधिकौका अर्थ अधिक गुणवाले होता है।

§ २. अवस्थान्तर उत्पन्न करना पारिणामकता है। जैसे अधिक मधुरगुणवाला गुड धूलि आदिको मीठे रसवाला बनानेके कारण पारिणामक होता है उसी तरह अन्य भी अधिक गुणवाला न्यून गुणवालोंका पारिणामक होता है। तात्पर्य यह कि दोगुणस्निग्ध परमाणुको चारगुण रूक्षपरमाणु पारिणामक होता है। बन्ध होने पर एक तीसरी ही विलक्षण अवस्था होकर एक स्कन्ध बन जाता है। अन्यथा सफेद और काले धागोंके संयोग होनेपर भी दोनों जुदे जुदेसे रखे रहेंगे। जहाँ पारिणामकता होती है वहाँ स्पर्श रस गन्ध वर्ण आदिमें परिवर्तन हो जाता है जैसे शुक्ल और पीत रंगोंके मिलनेपर हरे रंगके पत्र आदि उत्पन्न होते हैं।

§ ३–४. श्वेताम्बर परम्परामें 'बन्धे समाधिकौ' पाठ है। इसका तात्पर्य है कि द्विगुणस्निग्धका द्विगुणरूक्ष भी पारिणामक होता है। पर यह पाठ उपयुक्त नहीं है; क्योंकि इसमें सिद्धान्तविरोध होता है। वर्गणामें बन्ध विधानके नोआगम द्रव्यबन्ध विकल्प-सादि वैस्रसिक बन्धनिर्देशमें कहा है कि–"विषम स्निग्धता और विषमरूक्षतामें बन्ध तथा समस्निग्धता और समरूक्षतामें भेद होता है।" इसीके अनुसार 'गुणसाम्ये सदृशानाम्' यह सूत्र कहा गया

है। इससे समगुणवालोंके बन्धका जब प्रतिषेध कर दिया तब बन्धमें 'सम' भी पारिणामक होता है यह कथन आर्षविरोधी है। अतः विद्वानोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है।

§ ५. 'जघन्यवर्जे विषमे समे वा' का तात्पर्य यह है कि–सम अर्थात् तुल्यजातीय और विषम अर्थात् अतुल्यजातीय। अतः सम–चतुर्गुण स्निग्धका षड्गुण स्निग्धके साथ और और विषम्–चतुर्गुणस्निग्धका षड्गुण रूक्षके साथ बन्ध होता है। बन्धकी इतनी लम्बी चरचा करनेका प्रयोजन यह है कि–आत्माके योगव्यापारसे आत्माके प्रदेशोंमें स्निग्धरूक्ष परिणत अनन्तप्रदेशी कर्म बन्धको प्राप्त होते हैं। ये ज्ञानावरणादि कर्म अपनी तीस कोड़ाकोड़ी सागर आदि तककी स्थिति तक घनपरिणामी बन्धको प्राप्त रहते हैं, विघटित नहीं होते।

आपने 'द्रव्याणि, जीवाश्च' इन सूत्रोंमें 'द्रव्य'का नामनिर्देश तो किया है, लक्षण नहीं बताया। अतः द्रव्यका लक्षण कहते हैं–

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥

गुणपर्यायवाला द्रव्य होता है।

§ १. यद्यपि गुण और पर्याय द्रव्यसे अभिन्न हैं, फिर भी 'गुणपर्ययवत्' यहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय हो जाता है–जैसे कि 'सोनेकी अँगूठी' में सोना और अँगूठीमें अभेद होनेपर भी भेद-प्रयोग देखा जाता है। अथवा, लक्षण आदिकी दृष्टिसे गुणपर्यायोंका द्रव्यसे कथञ्चित् भेद भी है, अतः मत्वर्थीय प्रयोग बन जाता है।

§ २. प्रश्न–'गुण' यह संज्ञा जैनमतकी नहीं है, यह तो अन्यमत वालोंकी है। जैनमत-में तो द्रव्य और पर्याय ये दो ही प्रसिद्ध हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नामोंका उपदेश होनेसे भी ज्ञात होता है कि द्रव्य और पर्याय ये दो ही हैं, गुण नहीं। यदि गुण होता तो उसको विषय करनेवाला तीसरा गुणार्थिकनय भी होना चाहिए था। अतः 'गुणपर्यायवत्' यह लक्षण ठीक नहीं है? उत्तर–अर्हत्प्रवचनहृदय आदिमें 'गुण'का उपदेश है। अर्हत्प्रवचनमें 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इस सूत्रमें गुणका निर्देश है ही। अन्यत्र भी कहा है–

" 'गुण' यह द्रव्यका विधान–अन्वय अंश है। द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं। द्रव्य इनसे सदा अयुतसिद्ध है।"

द्रव्यके सामान्य और विशेष ये दो स्वरूप हैं। सामान्य उत्सर्ग अन्वय और गुण ये एकार्थक शब्द हैं। विशेष भेद और पर्याय ये पर्यायार्थक शब्द हैं। सामान्यको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है और विशेषको विषय करनेवाला पर्यायार्थिक। दोनों समुदित अयुतसिद्धरूप द्रव्य हैं। अतः गुण जब द्रव्यका ही सामान्यरूप है तब उसके ग्रहणके लिए द्रव्यार्थिकसे पृथक् गुणार्थिक नयकी कोई आवश्यकता नहीं है। समुदायरूप द्रव्य सकलादेशी प्रमाणका विषय होता है।

§ ३–४. अथवा, गुणा एव पर्यायाः' ऐसा समानाधिकरणरूपसे निर्देश करेंगे। अर्थात् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्याय नहीं हैं और न इनसे भिन्न गुण हैं। गुण ही पर्याय हैं इस समानाधिकरणतामें मतुप् प्रत्यय होनेपर 'गुणपर्यायवत्' यह निर्देश बन जाता है। गुणोंको ही पर्याय बनानेपर जब अर्थभेद नहीं रहा; तब या तो 'गुणवत्' कहना चाहिए या फिर 'पर्याय-वत्' निर्देश करना युक्त नहीं है? भिन्न विशेषण निरर्थक हो जाता है। उत्तर–वैशेषिक आदि द्रव्यसे भिन्न 'गुण' पदार्थ मानते हैं; पर 'द्रव्यसे भिन्न कोई गुणपदार्थ नहीं है, क्योंकि द्रव्यसे भिन्न वे उपलब्ध ही नहीं होते। अतः द्रव्यका ही परिणमन-परिवर्तन पर्याय कहलाता है और उसका ही भेद गुण है, भिन्न पदार्थ नहीं है। इस तरह मतान्तरकी निवृत्तिके लिए पृथक् 'गुण' यह विशेषण देना उचित है।

कालश्च ॥३९॥

§ १-२. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' और 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इन लक्षणोंसे युक्त होनेके कारण आकाश आदिकी तरह काल भी द्रव्य है। कालमें ध्रौव्य तो स्वप्रत्यय ही है क्योंकि वह स्वस्वभावमें सदा व्यवस्थित रहता है। व्यय और उत्पाद अगुरुलघुगुणोंकी वृद्धि-हानि की अपेक्षा स्वप्रत्यय हैं तथा पर द्रव्योंमें वर्तनाहेतु होनेसे परप्रत्यय भी हैं। कालमें अचेतनत्व अमूर्तत्व सूक्ष्मत्व अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण और वर्तनाहेतुत्व असाधारण गुण पाये जाते हैं। व्यय और उत्पाद रूप पर्यायें भी कालमें बराबर होती रहती हैं। अतः वह द्रव्य है।

सोऽनन्तसमयः ॥४०॥

काल अनन्त समयपर्यायवाला है।

§ १. मुख्य परमार्थ कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं। अनन्त समयका निर्देश व्यवहार-कालका है। वर्तमान काल एक समयका है पर अतीत और अनागतकाल अनन्त समयवाले हैं।

§ २. अथवा, मुख्य ही कालाणु अनन्त पर्यायोंकी वर्तनामें कारण होनेसे अनन्त कहा जाता है। अतिसूक्ष्म अविभागी कालांशको समय कहते हैं। समयके समुदायरूप आवलि आदि होते हैं।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

जो द्रव्यमें रहते हों तथा स्वयं निर्गुण हों वे गुण हैं।

§ १-४. आश्रय अर्थात् आधार। अथवा गुणोंके द्वारा जो आश्रय स्वरूपसे स्वीकृत होता हो वह आश्रय है। यदि 'द्रव्याश्रया गुणाः' इतना ही सूत्र बनाते तो द्व्यणुकादि कार्य द्रव्य भी परमाणुरूप कारणद्रव्यमें रहते हैं अतः उनमें गुणत्वके प्रसंगका निवारण करनेके लिए 'निर्गुणाः' विशेषण दिया है; क्योंकि द्व्यणुकादिमें रूपादिगुणोंका सद्भाव है। प्रश्न–यदि 'द्रव्याश्रया गुणाः' इतना ही लक्षण गुणोंका किया जाता तो घट संस्थान आदि पर्यायें भी द्रव्याश्रित और निर्गुण होनेसे गुण बन जायँगी। उत्तर–'द्रव्याश्रयाः' विशेषणसे पर्यायोंमें गुणत्वके प्रसंगका वारण हो जाता है।

'द्रव्याश्रयाः' यह विशेषण आश्रयकी प्रतीतिके लिए है' यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सामर्थ्यसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि गुणोंका कोई न कोई आश्रय चाहिए, गुण निराधार नहीं रह सकते और द्रव्यको छोड़कर अन्य आधार हो नहीं सकता। अतः 'द्रव्याश्रयाः' पद निरर्थक होकर पर्याय निवृत्तिका ज्ञापक हो जाता है।

प्रश्न–अधिक शब्द होनेसे अर्थ भी अधिक होता है। अतः क्या उससे पर्यायकी निवृत्ति-का प्रयोजन साधना उचित है? उत्तर–नहीं, 'द्रव्याश्रयाः' यह अन्यपदार्थक समास मत्वर्थमें है। मत्वर्थ नित्ययोगका सूचन करता है। अर्थात् जो नित्य ही द्रव्यमें रहता हो वह गुण है। पर्यायें यद्यपि द्रव्यमें रहती हैं पर वे कादाचित्क हैं, अतः 'द्रव्याश्रयाः' पदसे उनका ग्रहण नहीं होता। अतः अन्वयी धर्म गुण हैं जैसे कि जीवके अस्तित्व आदि और ज्ञान दर्शन आदि, पुद्गलके अचेतनत्व आदि रूप रस आदि। घटज्ञान आदि जीवकी पर्यायें हैं और कपाल आदि विकार पुद्गलकी पर्यायें हैं।

परिणामका लक्षण–

तद्भावः परिणामः ॥४२॥

अथवा, 'वैशेषिक गुणोंको द्रव्यसे भिन्न मानते हैं' यह पक्ष जैनोंको सम्मत नहीं है। व्यपदेश हेतुभेद आदिकी अपेक्षा द्रव्यसे भिन्न होकर भी गुण द्रव्यसे भिन्न उपलब्ध नहीं होते तथा द्रव्यके ही परिणाम हैं अतः अभिन्न भी हैं। अब बताइए परिणाम किसे कहते हैं—

§ १–३. धर्मादि द्रव्योंका अपने निज स्वभावरूपसे होना परिणाम है। प्रत्येक द्रव्यके निजस्वरूप पहिले बताये जा चुके हैं। परिणाम दो प्रकारका है—एक अनादि और दूसरा आदिमान्। धर्मादि द्रव्योंके गत्युपग्रह आदि परिणाम अनादि हैं, जबसे ये द्रव्य हैं तभीसे उनके ये परिणाम हैं। धर्मादि पहिले और गत्युपग्रहादि बादमें किसी समय हुए हों ऐसा नहीं है। बाह्य प्रत्ययोंके आधीन उत्पाद आदि धर्मादिद्रव्योंके आदिमान् परिणाम हैं।

§ ४. कोई धर्म अधर्म आकाश और कालमें अनादि परिणाम और जीव तथा पुद्गलमें आदिमान् परिणाम कहते हैं। उनका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि सभी द्रव्योंको द्वयात्मक माननेसे ही उनमें सत्त्व हो सकता है अन्यथा नित्य अभावका प्रसंग होगा। द्रव्यार्थिक और और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी विवक्षासे धर्मादि सभी द्रव्योंमें अनादि और आदिमान् दोनों प्रकारके परिणाम बनते हैं। यह विशेषता है कि धर्मादि चार अतीन्द्रिय द्रव्योंका अनादि और आदिमान् परिणाम आगमसे जाना जाता है और जीव तथा पुद्गलोंका कथञ्चित् प्रत्यक्ष गम्य भी होता है।

पाँचवाँ अध्याय समाप्त

छठवाँ अध्याय

आस्रव पदार्थका निरूपण—

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥

काय वचन और मनके परिस्पन्दको योग कहते हैं।

§ १–२. काय आदि शब्दोंका इतरेतरयोगार्थक द्वन्द्व है। यहाँ 'वाङ्मनसम्' ऐसा वचन नहीं हो सकता; क्योंकि एक वचनका विधान दोके समासमें होता है बहुतके समासमें नहीं।

§ ३–४. कर्मशब्दके अनेक अर्थ हैं—'घटं करोति'में कर्मकारक कर्मशब्दका अर्थ है। 'कुशल अकुशल कर्म'में पुण्य-पाप अर्थ है, उत्क्षेपण अवक्षेपण आदिमें कर्मका क्रिया अर्थ विवक्षित है। यहाँ क्रिया अर्थविवक्षित है अन्य अर्थ नहीं।

§ ५–६. कर्ताको क्रियाके द्वारा जो प्राप्त करने योग्य इष्ट होता है उसे कर्म कहते हैं। यह कर्मकारक निवर्त्य विकार्य और प्राप्य तीन प्रकारका है। ये तीनों कर्म कर्तासे भिन्न होते हैं। यदि कायादिको कर्ता बनाते हैं तो कर्मको इनसे भिन्न करना पड़ेगा और यदि कायादिको कर्म बनाते हैं तो कर्ता अन्य कहना पड़ेगा। चूँकि कायादिमें एक साथ कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों धर्म बन नहीं सकते अतः यहाँ कर्म शब्दसे कर्मकारक विवक्षित नहीं है। यदि पुण्य और पाप-रूप कर्म ही यहाँ विवक्षित होते तो आगेका 'शुभः पुण्यस्य' सूत्र निरर्थक हो जाता है। अतः पुण्य और पाप रूप कर्म भी यहाँ गृहीत नहीं हैं। अथवा, सामर्थ्ययुक्त आत्मा यहाँ कर्तारूपसे विवक्षित है, उस कर्ताको ईप्सित होनेसे कर्मकारक भी कर्मशब्दका अर्थ हो सकता है।

§ ७. कर्मशब्द कर्ता और कर्म भाव तीनों साधनोंमें निष्पन्न होता है और विवक्षानुसार तीनों यहाँ परिगृहीत हैं। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा निश्चयनयसे आत्मपरिणाम और पुद्गलके द्वारा पुद्गलपरिणाम तथा व्यवहारनयसे आत्माके द्वारा पुद्गल परिणाम भी जो किये जाँय वह कर्म है। करणभूत परिणामोंकी प्रशंसाकी विवक्षामें कर्तृधर्म आरोप करनेपर वही परिणाम स्वयं द्रव्य और भावरूप कुशल अकुशल कर्मोंको करता है अतः वही कर्म है। आत्माकी प्रधानतामें वह कर्ता होता है और परिणाम करण तब 'क्रियतेऽनेन-जिनके द्वारा किया जाय वह कर्म' यह विग्रह भी होता है। साध्य साधनभावकी विवक्षा न होनेपर स्वरूप-मात्र कथन करनेसे कृतिको भी कर्म कहते हैं। इसी तरह अन्य कारक भी लगा लेना चाहिए।

§ ८. योग शब्द भी इसी तरह कर्ता आदि कारकोंमें निष्पन्न होता है।

§ ९–११. यद्यपि आत्मा अखंडद्रव्य है और तीनों योग आत्मपरिणामरूप ही हैं फिर भी पर्यायविवक्षासे ये व्यापार भिन्न भिन्न हैं। जैसे एक ही घड़ा चक्षु आदि इन्द्रियोंके सम्बन्धसे रूप रस आदि पर्यायोंके द्वारा भिन्न भिन्न गृहीत होता है उसी तरह पर्यायभेदसे योगमें भी भेद समझना चाहिए। चक्षुरादि इन्द्रियोंके निमित्तसे जिस प्रकार घड़ेमें रूप रसादि पर्यायभेद सिद्ध है क्योंकि ग्रहणभेदसे ग्राह्य भेद होता ही है उसी तरह आत्मामें पूर्वकृत कर्मोंके निमित्तसे शक्ति-भेद होता है और उसीसे योगभेद भी। पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मके उदयसे प्राप्त कायवर्गणा वचनवर्गणा और मनोवर्गणाओंमेंसे किसी एकका बाह्य आलम्बन लेकर, वीर्यान्तराय मत्य-क्षरादि आवरणके क्षयोपशमसे आभ्यन्तर वाग्लब्धिके सान्निध्यमें वचनपरिणामके अभिमुख आत्माके जो प्रदेशोंमें हलन-चलन होता है उसे वाग्योग कहते हैं। पूर्वोक्त बाह्य आलम्बन तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमरूप मनोलब्धिके सन्निधानमें मनपरिणामके अभि-

मुख आत्माके जो प्रदेश परिस्पन्द होता है वह मनोयोग है। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर औदारिक आदि सात प्रकारकी कायवर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणाके आलम्बनसे जो आत्माका प्रदेशपरिस्पन्द होता है वह काययोग है। केवलीके क्षयनिमित्तक योग माना जाता है। क्रिया-परिणाम आत्माके कायवचन और मनोवर्गणाके आलम्बनसे होनेवाला प्रदेशपरिस्पन्द केवलीके होता है अतः उनके योग है अयोगकेवली और सिद्धोंके उक्त वर्गणा निमित्तक प्रदेशपरिस्पन्द न होनेसे योग नहीं है।

§ ११. जैसे जाति कुल रूप संज्ञा और लक्षण आदिकी दृष्टिसे अभिन्न भी देवदत्त वाह्य-क्रियाओंकी अपेक्षा लावक (काटनेवाला) पावक (पवित्र करनेवाला) आदि पर्यायभेदको प्राप्त करता है अतः वह एक भी है और अनेक भी, उसी तरह प्रतिनियत क्षायोपशमिक शरीर आदि पर्यायकी दृष्टिसे योग तीन प्रकारका होकर भी अनादि पारिणामिक द्रव्यार्थनयसे एक प्रकारका भी है।

§ १२. योगका अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है, यह आगे कहा जायगा। यहाँ उसकी विवक्षा नहीं है। यहाँ आस्रवका प्रकरण है अतः क्रियारूप योग लिया गया है।

§ १३. 'गर्गोंपर १००) रु० जुर्माना करो'की तरह 'कायवाङ्मनस्कर्म' में तीनोंकी सामुदायिक क्रियाको योग नहीं कहते किन्तु कर्म शब्दका अन्वय कायकर्म वाक्कर्म और मनस्कर्म तीनोंमें पृथक् पृथक् कर लेना चाहिए जैसे कि 'देवदत्त जिनदत्त और गुरुदत्तको भोजन कराओ' इस वाक्यमें प्रत्येकको भोजनका सम्बन्ध विवक्षित होता है।

स आस्रवः ॥२॥

यह योग ही आस्रव है।

§ १–३. 'कायवाङ्मनस्कर्मास्रवः' इतना लघुसूत्र बनानेमें योगशब्द आगममें प्रसिद्ध है उसका अर्थ अव्याख्यात ही रह जायगा। 'कामवाङ्मनस्कर्म योग आस्रवः' ऐसा एक सूत्र बनानेसे यद्यपि 'स' शब्दको ग्रहण नहीं करना पड़ता और एकयोग होनेसे लाघव हो सकता है परन्तु इससे सभी योगोंमें आस्रवत्वका प्रसंग प्राप्त होता है—केवलीके समुद्घातके समय होनेवाले दण्ड कपाट प्रतर और लोकपूर्ण योग भी आस्रव हो जायँगे। यद्यपि इस कालमें सूक्ष्मयोग मानकर तन्निमित्तक अल्पबंध माना जाता है पर इससे तो उनमें साधारण योगत्व और बहुबन्धका प्रसंग प्राप्त होता है। वस्तुतः मुख्य योग तो वर्गणानिमित्तक प्रदेशपरिस्पन्द रूप है और वही आस्रव है, पर केवलिसमुद्घात वर्गणालम्बन नहीं है अतः उसे आस्रव नहीं मानते। दण्डादि-व्यापार कालमें अनास्रव होनेसे दण्डादियोगनिमित्तक बन्ध भी नहीं होता। हाँ, उस समय जो कायवर्गणालम्बन सूक्ष्म काययोग होता है उसीसे बन्ध होता है। यदि एकसूत्र बनाया जाता तो सभी योग आस्रव बन जाते। भिन्न सूत्र बनानेसे यह स्पष्ट अर्थ निकल आता है कि—जो काय वचन मनोवर्गणालम्बन प्रदेश परिस्पन्द है वही योग और आस्रव है, अन्य नहीं। अर्थात् ऐसा भी योग है जो आस्रव नहीं होता। जैसे केवलीके इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं, पर तत्पूर्वक व्यापार नहीं होनेसे इन्द्रियजकर्मबन्ध नहीं होता उसी तरह दण्डादि योगके रहनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता अतः इसे आस्रव नहीं कहते।

§ ४–५. जैसे जलागमन द्वारसे जल आता है उसी तरह योगप्रणालीसे आत्मामें कर्म आते हैं अतः इस योगको आस्रव कहते हैं। जैसे गोला कपड़ा वायुके द्वारा लाई गई धूलिको चारों ओरसे चिपटा लेता है उसी तरह कषायरूपी जलसे गीला आत्मा योगके द्वारा लाई गई कर्म रजको सभी प्रदेशोंसे ग्रहण करता है। अथवा, जैसे गरम लोहपिण्ड यदि पानीमें डाला जाय तो वह चारों तरफसे पानीको खींचता है उसी तरह कषायसे सन्तप्त जीव योगसे लाये गये कर्मोंको सब ओरसे ग्रहण करता है।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥

शुभ योग पुण्य और अशुभयोग पापका आस्रव करता है।

§ १-२. हिंसा चोरी मैथुन आदि अशुभ काययोग हैं। असत्य बोलना, कठोर बोलना आदि अशुभ वचनयोग हैं। हिंसक विचार ईर्षा असूया आदि अशुभ मनोयोग हैं। इत्यादि अनन्त प्रकारके अशुभ योगसे भिन्न शुभयोग भी अनन्त प्रकारका है। अहिंसा अचौर्य ब्रह्मचर्य आदि शुभ काययोग है। सत्य हित मित बोलना शुभ वाग्योग है। अर्हन्त भक्ति तपकी रुचि श्रुतकी विनय आदि विचार शुभ मनोयोग है। यद्यपि अध्यवसायस्थान असंख्येयलोकप्रमाण हैं फिर भी अनन्तानन्त पुद्गल प्रदेशरूपसे बँधे हुए ज्ञानावरण वीर्यान्तरायके देशघाती और सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशम भेदसे, अनन्तानन्त प्रदेशवाले कर्मोंके ग्रहणका कारण होनेसे तथा अनन्तानन्त नाना जीवोंकी दृष्टिसे तीनों योग अनन्त प्रकारके हो जाते हैं।

§ ३. शुभपरिणाम पूर्वक होनेवाला योग शुभयोग है तथा अशुभ परिणामसे होनेवाला अशुभयोग है। शुभ अशुभ कर्मका कारण होनेसे योगमें शुभत्व या अशुभत्व नहीं है क्योंकि शुभ योग भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मोंके बन्धमें भी कारण होता है।

§ ४–६. जो आत्माको प्रसन्न करे वह पुण्य अथवा जिसके द्वारा आत्मा सुखसाता अनुभव करे वह सातावेदनीय आदि पुण्य हैं। पुण्यका उलटा पाप। जो आत्मामें शुभपरिणाम न होने दे वह असातावेदनीय आदि पाप हैं। यद्यपि सोनेकी बेड़ी या लोहेकी बेड़ीकी तरह दोनों ही आत्माकी परतन्त्रतामें कारण हैं फिर भी इष्ट फल और अनिष्ट फलके भेदसे पुण्य और पापमें भेद है। जो इष्ट गति जाति शरीर इन्द्रिय विषय आदिका हेतु है वह पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति जाति शरीर इन्द्रिय आदिका कारण है वह पाप है। शुभयोगसे पुण्यका आस्रव होता है और अशुभयोगसे पापका।

§ ७. प्रश्न—जब घाति कर्मोंका बन्ध भी शुभ परिणामोंसे होता है तो 'शुभः पुण्यस्य' अर्थात शुभपरिणाम पुण्यास्रवके कारण हैं' यह निर्देश व्यर्थ हो जाता है? उत्तर—अघातिया कर्मोंमें जो पुण्य और पाप हैं, उनकी अपेक्षा पुण्यपापहेतुताका निर्देश है। अथवा 'शुभ पुण्यका ही कारण है' ऐसा अवधारण नहीं करते हैं; किन्तु शुभ ही पुण्यका कारण है' यह अवधारण किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि शुभ पापका भी हेतु हो सकता है। प्रश्न- यदि शुभ पापका और अशुभ पुण्यका भी कारण होता है, क्योंकि सब कर्मोंका उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध उत्कृष्ट संक्लेशसे होता है। कहा भी है—"आयु और गतिको छोड़कर शेष कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितियोंका बन्ध उत्कृष्ट संक्लेशसे होता है और जघन्य स्थितिबन्ध मन्द संक्लेशसे।" अतः दोनों सूत्र निरर्थक हो जाते हैं। उत्तर—अनुभाग बन्धकी अपेक्षा सूत्रोंको लगाना चाहिए। अनुभागबन्ध प्रधान है, वही सुख दुःखरूप फलका निमित्त होता है। समस्त शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंसे और समस्त अशुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशपरिणामोंसे होता है। यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभके जघन्य अनुभागबन्धके भी कारण होते हैं पर बहुत शुभके कारण होनेसे 'शुभः पुण्यस्य' सूत्र सार्थक है, जैसे कि थोड़ा अपकार करनेपर भी बहुत उपकार करनेवाला उपकारक ही माना जाता है। इसी तरह 'अशुभः पापस्य'में भी समझ लेना चाहिए। कहा भी है—

"विशुद्धिसे शुभप्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है तथा संक्लेशसे अशुभ प्रकृतियोंका। जघन्य अनुभाग बन्धका क्रम इससे उलटा है, अर्थात् विशुद्धिसे अशुभका जघन्य और संक्लेशसे शुभका जघन्य बन्ध होता है।

आस्रवकी विशेषता—

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

सकषाय जीवोंके साम्परायिक और अकषायजीवोंके ईर्यापथ आस्रव होता है।

§ १–७. आस्रवके अनन्त भेद होनेपर भी सकषाय और अकषाय स्वामियोंकी अपेक्षा दो भेद हैं। क्रोधादि परिणाम आत्माको दुर्गतिमें ले जानेके कारण कषते हैं–आत्माके स्वरूपकी हिंसा करते हैं, अतः ये कषाय हैं। अथवा जैसे वटवृक्ष आदिका चेंप चिपकनेमें कारण होता है उसी तरह क्रोध आदि भी कर्मबन्धनके कारण होनेसे कषाय हैं। कर्मोंके द्वारा चारों ओरसे स्वरूपका अभिभव होना सम्पराय है, इस सम्परायके लिए जो आस्रव होता है वह साम्परायिक आस्रव है। ईर्या अर्थात् योगगति, जो कर्म मात्र योगसे ही आते हैं वे ईर्यापथ आस्रव हैं। सकषाय जीवके साम्परायिक और अकषाय जीवके ईर्यापथ आस्रव होता है। मिथ्या दृष्टिसे लेकर दसवें गुणस्थान तक कषायका चेंप रहनेसे योगके द्वारा आये हुए कर्म गीले चमड़े पर धूलकी तरह चिपक जाते हैं, उनमें स्थितिबन्ध हो जाता है, यह साम्परायिक आस्रव है। उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके योगक्रियासे आये हुए कर्म कषायका चेंप न होनेसे सूखी दीवाल पर पड़े हुए पत्थरकी तरह द्वितीय क्षणमें ही झड़ जाते हैं, बँधते नहीं हैं; यह ईर्यापथ आस्रव है।

§ ८. यद्यपि 'अजाद्यत्' सूत्रके अनुसार अकषाय और ईर्यापथ शब्दोंका पूर्वप्रयोग होना चाहिए था, परन्तु साम्परायिक और सकषायके सम्बन्धमें बहुत वर्णन करना है अतः इसी दृष्टिसे उन्हें अभ्यर्हित मानकर उनका पूर्व प्रयोग किया है।

साम्परायिक आस्रवके भेद–

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

§ १–५. इन्द्रिय आदिमें इतरेतरयोग द्वन्द्व समास है। पंच आदिका संख्या शब्दसे समास करके उनका यथाक्रम अन्वय कर देना चाहिए। पूर्व अर्थात् पहिले सूत्रमें जिसका प्रथम निर्देश किया है। भेद अर्थात् प्रकार। पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, पाँच अव्रत और पचीस क्रियाएँ ये पूर्वसाम्परायिक आस्रवके भेद हैं।

§ ६. इन्द्रियादिका आत्मासे कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यार्थादेशसे इन्द्रियादिका अभेद है और कर्मोदय–क्षयोपशमनिमित्तक पर्यायार्थादेशसे भिन्नता है। इन्द्रियादिकी निवृत्ति होनेपर भी द्रव्य स्थिर रहता है। इसीलिए पर्यायभेदसे पाँच आदि भेद बन जाते हैं। स्पर्शादि पाँच इन्द्रियोंका वर्णन कर चुके हैं क्रोधादिकषाय और हिंसादि अव्रतका वर्णन आगे करेंगे। पचीस क्रियाएँ इस प्रकार हैं–

§ ७–११. चैत्य गुरु शास्त्रकी पूजा आदि सम्यक्त्वको बढ़ानेवाली क्रिया सम्यक्त्वक्रिया है ॥१॥ अन्यदेवताका स्तवन आदि मिथ्यात्वहेतु प्रवृत्ति मिथ्यात्व क्रिया है ॥२॥ शरीर आदिके द्वारा गमन आगमन आदि प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है। अथवा वीर्यान्तराय ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे काय वचन और मनोयोगकी रचनामें समर्थ पुद्गलोंका ग्रहण करना प्रयोग क्रिया है ॥३॥ संयम धारण करनेपर भी अविरतिकी तरफ झुकना समादान क्रिया है ॥४॥ ईर्यापथ आस्रवमें कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है ॥५॥ क्रोधावेशसे प्रवृत्ति प्रादोषिकी क्रिया है ॥६॥ क्रोध प्रदोषमें कारण होता है अतः कार्यकारणके भेदसे क्रोधकषाय और प्रादोषिकी क्रियामें भेद है। क्रोध अनिमित्त भी होता है पर प्रदोष क्रोधरूप निमित्तसे होता है। पिशुन स्वभाववाला व्यक्ति इष्ट दारा हरण धननाश आदि निमित्तोंके बिना स्वभावसे ही क्रोध करता है। किसी-किसीकी दृष्टिमें ही विष होता है। कहा भी है–"जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन चन्द्रका बिना किसी निमित्तके स्वभावसे ही उदय होता है उसी तरह कर्मवशी आत्माके बिना निमित्तके ही क्रोधादि कषायोंका उदय होता है।" तथा "दुर्जन पुरुषोंकी चेष्टाएँ, जिनकी लोल जिह्वा मृगोंके खूनसे लाल हो रही है ऐसे शार्दूल भेड़िया सर्प आदि निसर्ग हिंसक प्राणियोंके

समान वैर और रोषपूर्ण होती हैं।" प्रदोषके बाद प्रयत्न करना कायिकी क्रिया है ॥७॥ हिंसाके उपकरणोंको ग्रहण करना आधिकरणकी क्रिया है ॥८॥ दूसरेको दुःख उत्पन्न करनेवाली पारितापिकी क्रिया है ॥९॥ आयु, इन्द्रिय बल आदिका वियोग करनेवाली प्राणातिपातिकी क्रिया है ॥१०॥ रागाविष्ट होकर प्रमादी पुरुषका रमणीय रूपके देखनेकी ओर प्रवृत्ति दर्शन-क्रिया है ॥११॥ प्रमादवश छूनेकी प्रवृत्ति स्पर्शन क्रिया है ॥१२॥ चक्षु इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रियोंमें इन इन्द्रियों द्वारा होनेवाले ज्ञानका ग्रहण है तथा यहाँ ज्ञानपूर्वक हलन-चलनका ग्रहण है। नये-नये अधिकरणोंको उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है ॥१३॥ स्त्री-पुरुष, पशु आदिसे व्याप्त स्थानमें मलोत्सर्ग करना समन्तानुपातन क्रिया है ॥१४॥ बिना शोधी और बिना देखी भूमिपर शरीर आदिका रखना अनाभोग क्रिया है ॥१५॥ दूसरेके द्वारा करने योग्य क्रियाको स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है ॥१६॥ पापादान आदिको स्वीकार करना निसर्ग क्रिया है ॥१७॥ आलस्यसे प्रशस्त क्रियाओंका न करना और परके पाप आदिका प्रकाशन करना विदारण क्रिया है ॥१८॥ चारित्रमोहके उदयसे आवश्यक आदि क्रियाओंके करनेमें असमर्थ होने पर शास्त्राज्ञाका अन्यथा ही निरूपण करना आज्ञाव्यापादिका क्रिया है ॥१९॥ मूर्खता और आलस्यसे शास्त्रोपदिष्ट विधि-विधानोंके प्रति अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया है ॥२०॥ छेदन-भेदन हिंसा आदि क्रियाओंमें तत्पर होना अथवा अन्यके द्वारा हिंसादि व्यापार किये जानेपर हर्षित होना आरम्भ क्रिया है ॥२१॥ परिग्रहके नष्ट न होने देनेके लिए जो व्यापार है वह पारिग्राहिकी क्रिया है ॥२२॥ ज्ञान-दर्शन आदिमें छल-कपट करना माया क्रिया है ॥२३॥ मिथ्यात्वके कार्योंकी प्रशंसा करके दूसरेको मिथ्यात्वमें दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है ॥२४॥ संयमघाती कर्मके उदयसे विषयोंका प्रत्याख्यान-त्याग नहीं करना अप्रत्याख्यान क्रिया है ॥२५॥

§ १२. **प्रश्न**—इन्द्रिय कषाय और अव्रत भी क्रिया स्वभाव ही हैं अतः उनका पृथक् ग्रहण करना निरर्थक है? **उत्तर**—यह एकान्त नियम नहीं है कि इन्द्रिय कषाय और अव्रत क्रियास्वभाव ही हों। नाम स्थापना और द्रव्यरूप इन्द्रिय कषाय और अव्रतोंमें परिस्पन्दात्मक क्रियारूपता नहीं है। नामेन्द्रिय आदि तो शब्दमात्र हैं, अतः इसमें तो क्रियारूपता है नहीं। स्थापना इन्द्रिय आदि 'यह वही है' इस प्रकारके शब्द और विज्ञानमें कारण होते है, अतः इनमें भी क्रियारूपता नहीं कही जा सकती। द्रव्यरूप इन्द्रियादिमें तो चाहे वह अतीत रूप हो या भावियोग्यता रूप, वर्त्तमान इन्द्रियादिरूपता है नहीं अतः उसमें परिस्पन्दात्मक क्रियारूपता नहीं हो सकती। अथवा, यह कोई नियम नहीं है कि इन्द्रिय कषाय आदि क्रियारूप ही हों। द्रव्यार्थिकको गौण करनेपर पर्यायार्थिककी प्रधानतामें इन्द्रिय कषाय और अव्रतको कथंचित् क्रियारूप कह सकते हैं पर पर्यायार्थिकको गौण और द्रव्यार्थिकको मुख्य करनेपर क्रियारूपता नहीं भी है।

§ १३–१४ 'इन्द्रिय कषाय और अव्रत शुभ और अशुभ आस्रव परिणामके अभिमुख होनेसे द्रव्यास्रव हैं। कर्मका ग्रहण भावास्रव है। वह पच्चीस क्रियाओंके द्वारा होता है। इसलिए इन्द्रिय कषाय और अव्रतका ग्रहण किया है' यह समाधान उचित नहीं है; क्योंकि इससे प्रतिज्ञाविरोध होता है। 'कायवाङ्मनःकर्म योगः, स आस्रवः' इन सूत्रोंसे द्रव्यास्रवका ही निरूपण किया गया है।

§ १५. निमित्तनैमित्तिकभाव ज्ञापन करनेके लिए इन्द्रिय आदिका पृथक् ग्रहण किया है। छूना आदि क्रोध करना आदि और हिंसा करना आदि क्रियाएँ आस्रव हैं। ये पचीस क्रियाएँ इन्हींसे उत्पन्न होती हैं। इनमें तीन परिणमन होते हैं। जैसे मूर्च्छा-ममत्व परिणाम कारण है, परिग्रह कार्य है। इनके होनेपर पारिग्राहिकी क्रिया भिन्न ही होती है जो कि परिग्रहके संरक्षण अविनाश और संस्कारादि रूप हैं। क्रोध कारण है प्रदोष कार्य है इनसे प्रादोषि-

की क्रिया होती है। मान कारण है, नम्र न होना कार्य है, इनसे अपूर्वाधिकरण उत्पन्न करनेवाली प्रात्यायिकी क्रिया भिन्न है। माया कारण है, कुटिलता कार्य है, इनसे ज्ञानदर्शन और चारित्रमें माया प्रवृत्ति रूप क्रिया होती है। प्राणातिपात कारण है और प्राणातिपातिकी क्रिया कार्य है। मृषावाद चोरी और कुशील कारण है और असंयमके उदयसे आज्ञाव्यापादिका क्रिया कार्य है। इसी तरह अन्य भी समझना चाहिए।

§ १६. **प्रश्न**–इन्द्रियोंसे ही ज्ञान करके और विचारके बाद कषाय अव्रत और क्रियाओं में प्रवृत्ति होती है अतः इन्द्रियका ही ग्रहण करना चाहिए। कषाय अव्रत और क्रियाएँ तो अर्थात् ही गृहीत हो जाती हैं, उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए। इससे सूत्र भी लघु हो जायगा? उत्तर- यदि इन्द्रियोंको ही आस्रवमें गिना जाय तो छठवें गुणस्थान तक ही आस्रवका विधान होगा अप्रमत्तके नहीं। प्रमत्त ही चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रूपादिक विषयोंके सेवनके प्रति आसक्त होता है। या सेवन न भी करे तो भी हिंसादिकी कारणभूत अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ रूप आठ कषायोंसे युक्त होता हुआ हिंसादि करता है, न भी करे तो भी प्रमादी होनेसे सतत कर्मोंका आस्रव करता है। परन्तु अप्रमत्त व्यक्ति पन्द्रह प्रकारके प्रमादोंसे रहित होकर मात्र योग और कषायनिमित्तक ही आस्रव करता है। एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रियोंमें यथासम्भव चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मनोविचारके न होने पर भी क्रोधादि-हिंसा पूर्वक कर्मग्रहण होता ही है। अतः सर्वसंग्रहके लिए कषाय आदिका ग्रहण करना उचित है।

§ १७. **प्रश्न**–राग-द्वेषसे रहित व्यक्ति न तो इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण करता है और न जीवहिंसा या असत्य आदिमें प्रवृत्ति करता है, अतः कषायके ग्रहण करनेसे सभी साम्परायिक आस्रवोंका ग्रहण हो ही जाता है, इन्द्रिय अव्रत और क्रियाओंका ग्रहण नहीं करना चाहिए? उत्तर–उपशान्तकषायी साधुके कषायका सद्भाव रहने मात्रसे चक्षुरादिके द्वारा रूपादि विषयोंका ग्रहण करनेके कारण राग द्वेष और हिंसा आदिकी उत्पत्तिका प्रसंग होगा। यदि रूपादिके ग्रहण करने मात्रसे रागी-द्वेषीपना आता हो तो कोई वीतराग नहीं हो पायगा। चक्षु आदिके द्वारा रूपादिका ग्रहण होनेपर भी कोई व्यक्ति वीतराग रह सकता है। अतः कषाय मात्रका ग्रहण करना ठीक नहीं है।

§ १८. यद्यपि अव्रतमें इन्द्रिय कषाय और क्रियाएँ अन्तर्भूत हो सकती हैं किन्तु अव्रतकी प्रवृत्तिमें इन्द्रिय कषाय और क्रियाएँ निमित्त हैं यह प्रवृत्तिनिमित्तता द्योतन करनेके लिए इन्द्रिय कषाय और क्रियाओंका पृथक् ग्रहण किया है।

आस्रवकी विशेषताके कारण—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥

तीव्र आदि भावोंसे आस्रवमें विशेषता होती है।

§ १–७. बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे कषायोंकी उदीरणा होनेपर अत्यन्त प्रवृद्ध परिणामोंको तीव्र कहते हैं। इससे विपरीत अनुद्रिक्त परिणाम मन्द हैं। मारनेके परिणाम न होनेपर भी हिंसा हो जानेपर 'मैंने मारा' यह जान लेना ज्ञात है। अथवा, 'इस प्राणीको मारना चाहिए' ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात है। मद या प्रमादसे गमनादि क्रियाओंमें बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात है। अधिकरण अर्थात् आधारभूत द्रव्य। द्रव्यकी शक्तिको वीर्य कहते हैं। 'भाव' शब्द प्रत्येकमें लगा देना चाहिए–तीव्रभाव मन्दभाव ज्ञातभाव अज्ञातभाव आदि।

§ ८. भावका अर्थ सत्ता नहीं है जिससे वह गोत्वादिकी तरह तीव्र आदिका भेदक न हो सके; किन्तु भावका अर्थ बौद्धिक व्यापार है। नोद्रव्योंके भाव दो प्रकारके हैं–एक परिस्पन्द रूप तथा दूसरा अपरिस्पन्द रूप। अपरिस्पन्द रूप भाव अस्तित्व आदि हैं, जो अनादि हैं। परिस्पन्दात्मक भाव उत्पाद और व्यय रूप हैं, जो कि आदिमान् हैं। अपरिस्पन्द रूप भाव सामान्यात्मक है, वह तीव्र आदिका भेदक नहीं हो सकता परन्तु काम आदिकी क्रियारूप जो भाव है वह कायादिके अस्तित्व और तीव्र आदिका भेदक होता ही है। तात्पर्य यह कि तीव्र आदिमें बौद्धिक व्यापारसे विशेषता होती है। अथवा, भाववाले आत्मासे अभिन्न होनेके कारण तीव्र आदि भी भाव हैं। एक एक कषायादि स्थानमें असंख्यात लोकप्रमाण भाव होते हैं। वे ही यहाँ विवक्षित हैं, एक सत्तारूप भाव नहीं।

§ ९–११. यद्यपि वीर्य-शक्ति आत्मपरिणामरूप है और वह जीवाधिकारणका परिणाम होनेसे 'अधिकरण'में ही गृहीत हो जाता है फिर भी शक्तिविशेषसे हिंसा आदिमें विशेषता आती है और उससे आस्रवमें विशेषता आती है यह सूचन करनेके लिए उसको ग्रहण किया है। वीर्यवान् आत्माके तीव्र तीव्रतर और तीव्रतम आदि परिणाम होते हैं। आस्रवमें फलभेद बतानेके लिए ही तीव्र आदिका पृथक् ग्रहण किया है, अन्यथा केवल 'अधिकरण'से ही सब कार्य चल सकता था, क्योंकि तीव्र आदि जीवाधिकरणरूप ही हैं। कारणभेदसे कार्यभेद अवश्य होता है। अतः जब तीव्र आदि अनुभागके भेदसे आस्रव अनन्त प्रकारका हो गया तो उसके कार्यभूत शरीर आदि भी अनन्त ही प्रकारके होते हैं।

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

§ १–३. यद्यपि जीव और अजीवकी व्याख्या हो चुकी है, फिर भी यहाँ अधिकरण-विशेष रूपसे उनका निर्देश किया गया है। हिंसा आदिके उपकरण रूपसे जीव और अजीव ही अधिकरण होते हैं। 'अनन्तपर्यायविशिष्ट जीव और अजीव अधिकरण बनते हैं' इस बातकी सूचना देनेके लिए सूत्रमें बहुवचन दिया गया है।

§ ४–५. 'जीव और अजीव ही अधिकरण' ऐसा समानाधिकरण अर्थमें समास करनेपर जीवत्व और अजीवत्वसे विशिष्ट अधिकरणमात्रकी प्रतिपत्ति होगी, आस्रवविशेषका ज्ञान नहीं हो सकेगा। 'जीव और अजीवका अधिकरण' ऐसा भिन्नाधिकरणक षष्ठी समास करनेपर भी जीव और अजीवके आधारमात्रका ही ज्ञान होगा आस्रवविशेषका नहीं। अतः प्रकृतपाठ ही ठीक है। 'जीव और अजीव किसके अधिकरण हैं?' यह प्रश्न होनेपर 'अर्थके वशसे विभक्तिका परिणमन होता है' इस नियमके अनुसार 'आस्रवस्य' यह आस्रवका सम्बन्ध हो जाता है। जैसे कि 'देवदत्तके ऊँचे मकान हैं उसे बुलाओ' यहाँ उसके साथ देवदत्तका कर्मकारक रूपसे सम्बन्ध हो जाता है। दोनों अधिकरण दस प्रकारके हैं–विष लवण क्षार कटुक अम्ल स्नेह अग्नि और खोटे रूपसे प्रयुक्त मन-वचन और काय।

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥

§ १. यद्यपि आगेके सूत्रमें 'पर'शब्द देनेसे यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि इस सूत्रमें आद्य जीवाधिकरणका वर्णन है फिर भी स्पष्ट अर्थबोधके लिए इस सूत्रमें 'आद्य' पद दे दिया है।

§ २–१७. प्रमादवान् पुरुषका प्राणघात आदिके लिए प्रयत्न करनेका संकल्प संरम्भ है। उसके साधनोंका इकट्ठा करना समारम्भ है। कार्यको शुरू कर देना आरम्भ है। ये तीनों शब्द भावसाधन हैं। योग शब्दका व्याख्यान प्रथमसूत्रमें किया जा चुका है। आत्माने जो स्वतन्त्र भावसे किया वह कृत है। दूसरेके द्वारा कराया गया कारित है। करनेवालेके मानस-परिणामोंकी स्वीकृति अनुमत है। जैसे कोई मौनी व्यक्ति किये जानेवाले कार्यका यदि निषेध नहीं करता तो वह उसका अनुमोदक माना जाता है उसी तरह करानेवाला प्रयोक्ता होनेसे और उन परिणामोंका समर्थक होनेसे अनुमोदक है। क्रोधादि कषायें कही जा चुकी हैं। विशेष शब्द-

का प्रत्येकमें अन्वय कर लेना चाहिए और यहाँ 'भिद्यते' क्रिया पदका अध्याहार करके 'विशेषैः' निर्देशकी सार्थकता समझ लेनी चाहिए ; क्योंकि कर्ता और करणका निर्देश क्रियापदके होनेपर ही सार्थक होता है। जैसे 'शंकुलया खंडः' में अप्रयुक्त 'कृत' क्रियाकी अपेक्षा निर्देश है वैसे यहाँ भी समझना चाहिए। अथवा, 'पूर्वस्य भेदाः' इस सूत्रांशमें भेद शब्दका अधिकार चला आ रहा है, उसकी अपेक्षा 'विशेषैः' में करण निर्देश उपयुक्त है। त्रि त्रि आदि सुजन्त संख्या-शब्दोंका क्रमशः सम्बन्ध कर लेना चाहिए। एकशः वीप्सार्थक निर्देश है अर्थात् एक एकके भेद समझना चाहिए।

§ १८-१९. संरम्भ आदि तीन वस्तुवाची हैं अतः इनका प्रथम ग्रहण किया है, बाक़ी वस्तुके भेद हैं। योग आदिका आनुपूर्वीसे कथन पूर्व और उत्तर दोनोंके विशेषणार्थ है। तात्पर्य यह कि–क्रोधादि चार और कृत आदि तीनके भेदसे कायादि योगोंके संरम्भ समारम्भ और आरम्भसे विशिष्ट करने पर प्रत्येकके छत्तीस छत्तीस भेद होते हैं। क्रोधकृतकायसंरम्भ, मान-कृतकायसंरम्भ, मायाकृतकायसंरम्भ, लोभकृतकायसंरम्भ, क्रोधकारितकायसंरम्भ, मान-कारितकायसंरम्भ, मायाकारितकायसंरम्भ, लोभकारितकायसंरम्भ, क्रोधानुमतकायसंरम्भ, मानानुमतकायसंरम्भ, मायानुमतकायसंरम्भ और लोभानुमतकायसंरम्भ। इस प्रकार संरम्भ बारह प्रकारका है। समारम्भ आरम्भ भी इसी तरह बारह-बारह प्रकारके होकर कुल छत्तीस प्रकार काययोगके होते हैं। इसी तरह वचन और मनके भी छत्तीस-छत्तीस प्रकार मिलकर कुल १०८ प्रकार जीवाधिकरणके होते हैं। कहा भी है—"क्रोध आदि और कृत आदिके द्वारा काय संरम्भ १२ प्रकारका है और समारम्भ तथा आरम्भ भी इसी प्रकार बारह बारह प्रकारका होता है। इस तरह कुल छत्तीस भेद हो जाते हैं।"

§ २०–२१ च शब्दसे क्रोधादिके अन्य विशेषोंका भी संग्रह हो जाता है। अनन्तानु-बन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलनसे उक्त भेदोंको गुणा करनेपर कुल ४३२ भेद हो जाते हैं। जैसे नीले रंगमें डाला गया वस्त्र नीलरंगसे नील हो जाता है उसी तरह संरम्भ आदि क्रियाएँ अनन्तानुबन्धी आदि कषायोंसे अनुरंजित होती हैं। अतः ये भी जीवाधिकरण हैं।

अजीवाधिकरणके भेद—

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥

§ १–३ निर्वर्तना आदि शब्द कर्मसाधन और भावसाधन दोनों हैं। जब निर्वर्तना आदि शब्द कर्मसाधन हैं तब 'निर्वर्तना ही अधिकरण' ऐसा सामानाधिकरण्य रूपसे अधिकरण शब्दका सम्बन्ध कर लेना चाहिए। जिस समय भावसाधन होते हैं तब 'विशिष्यन्ति' क्रियाका अध्याहार करके 'निर्वर्तना आदि भाव पर अधिकरणको विशिष्ट करते हैं' ऐसा भिन्नाधिकरण रूपसे अधिकरण शब्दका सम्बन्ध कर लेना चाहिए। निर्वर्तना–उत्पत्ति, निसर्ग–स्थापना, संयोग–मिलाना और निसर्ग–प्रवृत्ति। 'द्वि चतुर् आदि हैं भेद जिसके' ऐसा द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि समास 'द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः' में समझना चाहिए।

§ ४–११. प्रश्न—इस सूत्रमें 'पर' शब्द निरर्थक है क्योंकि पहिले सूत्रमें 'आद्य' शब्द देनेसे अर्थात् ही यह 'पर' सिद्ध हो जाता है या फिर प्रथम सूत्रमें 'आद्य' शब्द व्यर्थ है क्योंकि सारा प्रयोजन अर्थापत्तिसे सिद्ध हो जाता है। अर्थापत्तिको अनैकान्तिक कहना उचित नहीं है क्योंकि 'अहिंसा धर्म है' यह कहनेसे जिस प्रकार 'हिंसा अधर्म है' यह सिद्ध होता ही है उसी तरह मेघके अभावमें वृष्टि नहीं होती' यह कहनेसे 'मेघके होनेपर वृष्टि होती है' यह भी सिद्ध होता ही है। कभी मेघके होनेपर भी वृष्टिके न देखे जानेसे इतना ही कह सकते हैं कि वृष्टि 'मेघ के होनेपर ही होगी' अभाव में नहीं। 'पर शब्द यदि न दिया जायगा तो यह सूत्र

असम्बद्ध हो जायगा' यह भी समाधान ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ कोई निवर्त्य नहीं है। आद्य जीवाधिकरणका तो संरम्भ आदिसे सम्बन्ध हो ही गया है। अतः परिशेष न्यायसे ये अजीवा-धिकरण हो ही जाते हैं। पर शब्दको प्रकृष्टवाची कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जीवाधिकरण निकृष्ट तो है नहीं जिसका प्रकृष्ट अजीवाधिकरणसे वारण किया जाय। इसी तरह पर शब्दको 'पर धामको गये अर्थात् इष्ट धामको गये' इसकी तरह इष्टवाची भी नहीं कह सकते क्योंकि यहाँ अनिष्ट क्या है जिसकी निवृत्तिके लिए पर शब्दको इष्टवाची कहा जाय ? उत्तर—पर शब्द भिन्नार्थक है अर्थात् संरम्भ आदिसे निर्वर्तना आदि भिन्न हैं। अन्यथा निर्वर्तना आदि को भी आत्मपरिणामरूपता आ जानेसे जीवाधिकरणत्वका प्रसंग प्राप्त होता। अथवा, पहिले कह दिया है कि आद्यकी तरह 'पर' शब्द भी स्पष्ट अर्थबोध करानेके लिए है।

§ १२. पाँच प्रकारके शरीर वचन मन और श्वासोच्छ्वास मूलगुण निर्वर्तना हैं और काष्ठ पुस्त चित्रकर्म आदि उत्तरगुण निर्वर्तना हैं।

§ १३. अप्रत्यवेक्षित दुष्प्रमृष्ट सहसा और अनाभोगके भेदसे निक्षेप चार प्रकारका है।

§ १४. भक्तपानसंयोग और उपकरणसंयोगके भेदसे संयोग दो प्रकारका है।

§ १५. मन वचन और कायके भेदसे निसर्ग तीन प्रकारका है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

§ १–७. ज्ञान-कथाके समय मुँहसे कुछ न कहकर भीतर-ही भीतर ईर्ष्याके परिणाम होना प्रदोष है। किसी बहानेसे 'नहीं है, नहीं जानता' इत्यादि रूपसे ज्ञानका लोप करना निह्नव है। देने योग्य ज्ञानको भी किसी बहानेसे न देना मात्सर्य है। कलुषतासे ज्ञानका व्यवच्छेद करना अन्तराय है। दूसरेके द्वारा प्रकाशित ज्ञानका काय या वचनके द्वारा वर्जन करना आसादन है। बुद्धि और हृदयकी कलुषतासे प्रशस्त ज्ञानमें दूषण लगाना उपघात है। आसादनमें विद्यमान ज्ञानका विनय प्रकाशन गुणकीर्त्तन आदि न करके अनादर किया जाता है और उपघातमें ज्ञानको अज्ञान ही कहकर ज्ञानका नाश किया जाता है।

§ ८–९. तत् शब्दसे ज्ञान और दर्शनका ग्रहण किया जाता है अर्थात् ज्ञान और दर्शनके प्रदोष निह्नव आदि ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण होते हैं। 'ज्ञानदर्शना-वरणयोः' कहनेसे ज्ञात होता है कि प्रदोष आदि ज्ञान और दर्शन सम्बन्धी हैं। इसी तरह ज्ञान दर्शनवालोंके प्रदोष आदि और ज्ञानदर्शनके साधनोंके प्रदोष आदि भी 'तत्प्रदोष' शब्दसे ग्रहण कर लेने चाहिये।

§ १०–११. प्रश्न–ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण तुल्य हैं अतः दोनोंको एक ही कहना चाहिए। जिनके कारण तुल्य होते हैं वे एक होते हैं। उत्तर तुल्य कारण होने-से कार्यैक्य माना जाय तो जब वचनके कारण कण्ठ ओंठ आदि तुल्य हैं तो प्रत्येक वचनको या तो साधक होना चाहिए या दूषक ही। इस तरह स्ववचनविरोध ही हो जायगा। यदि एक हेतुक होनेपर भी वचन स्वपक्षके ही साधक तथा परपक्षके ही दूषक होते है तो 'तुल्यहेतु होनेसे कार्यैक्य होता है' इस वचनका विरोध हो जायगा। इस पक्षमें दृष्ट और आगम दोनोंसे ही विरोध आता है। एक मिट्टीके पिण्डसे ही घट घटी शराव उदञ्चन-सकोरा आदि अनेक कार्योंकी प्रत्यक्षसिद्धि है। सांख्य एक प्रधानसे महान् अहंकार आदि नाना कार्य मानते हैं। बौद्ध उत्पत्ति अविद्या रूप प्रत्ययसे पुण्य अपुण्य और अनुभय संस्कारोंकी उत्पत्ति मानते हैं। वैशे-षिक चतुष्टय सन्निकर्षसे रूपादि ज्ञान आदि नाना कार्योंकी उत्पत्ति मानते हैं। इस तरह सभीके आगमविरोध दोषका प्रसंग होता है।

§ १२–१६. आवरणके अत्यन्त संक्षय होनेपर केवलज्ञान और केवलदर्शन सूर्यके प्रताप और प्रकाशकी तरह प्रकट हो जाते हैं अतः इनमें तुल्य कारणोंसे आस्रव मानना उचित है। सावरण व्यक्तिके ज्ञान और दर्शनकी क्रमशः प्रवृत्ति होती है। जैसे गरम जलमें वर्तमान अग्निका ताप प्रकट है प्रकाश प्रकट नहीं है और प्रदीपके प्रकाशमें प्रकाश प्रकट है प्रताप प्रकट नहीं है उसी तरह छद्मस्थके जब ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं। जैसे मेघपटलके हटनेपर सूर्यका जहाँ प्रकाश है वहाँ प्रताप है और जहाँ प्रताप है वहाँ प्रकाश है उसी तरह निरावरण अचिन्त्य-माहात्म्यशाली केवली सूर्यके समस्त विषयक ज्ञान और दर्शन होते हैं, जहाँ ज्ञान है वहाँ दर्शन है और जहाँ दर्शन है वहाँ ज्ञान है अतः यह शंका निर्मूल हो जाती है कि–"ज्ञान अस्पृष्ट और अविषयमें भी प्रवृत्ति करता है पर दर्शन स्पृष्ट और विषयमें ही। चूँकि अतीत और अनागत विनष्ट और अनुत्पन्न होनेसे स्पृष्ट और विषय नहीं हो सकते अतः तद्विषयक ज्ञान ही हो सकता है दर्शन नहीं। अतः केवली-को अतीतानागतदर्शी नहीं कह सकते"; जैसे केवली असद्भूत और अनुपदिष्टको जानते हैं उसी तरह देखते भी हैं इसमें क्या बाधा है ? जैसे सावरण को अस्पृष्ट और अविषयमें बिना उप-देशके ज्ञान नहीं होता क्या उसी तरह केवलीको भी मानते हो ? यदि नहीं, तो जैसे सावरण व्यक्तिको स्पृष्ट और विषयमें दर्शन होता है उस तरह केवलीके नहीं माना जा सकता। अतः केवलीको त्रिकालगोचर दर्शन मानना उचित है।

§ १७. यद्यपि अवधिज्ञानीके आवरण है फिर भी अवधिदर्शनावरणका क्षयोपशम अन्य कारणोंकी अपेक्षा नहीं करता अतः विना उपदेशके ही अवधिदर्शनकी केवल दर्शनकी तरह अतीत और अनागतमें भी प्रवृत्ति होती है अतः अस्पृष्ट और अविषयका भी अवधिदर्शन सिद्ध है।

§ १८–१९. चूँकि चार ही दर्शनावरण बताये हैं, इस लिए मनःपर्यय दर्शनावरणका क्षयोपशमरूप निमित्त न होनेसे मनःपर्यय दर्शन नहीं होता। मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञानकी तरह स्वमुखसे विषयोंको नहीं जानता किन्तु परकीय मनप्रणालीसे जानता है। अतः मन जैसे अतीत और अनागत अर्थोंका विचार-चिन्तन तो करता है, देखता नहीं है उसी तरह मनःपर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्यत्को जानता है, देखता नहीं। वह वर्तमान भी मनको विषयविशेषाकारसे जानता है अतः सामान्यावलोकन पूर्वक प्रवृत्ति न होनेसे मनःपर्ययदर्शन नहीं बनता।

§ २०. अथवा, ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण भिन्न-भिन्न ही समझने चाहिए क्योंकि विषयभेदसे प्रदोष आदि भिन्न हो जाते हैं। ज्ञानविषयक प्रदोष आदि ज्ञानावरणके और दर्शनविषयक प्रदोष आदि दर्शनावरणके आस्रवके कारण होते हैं। इसी तरह आचार्य और उपाध्यायके प्रतिकूल चलना, अकाल अध्ययन, अश्रद्धा, अभ्यासमें आलस्य करना, अना-दरसे अर्थ सुनना, तीर्थोपरोध-दिव्यध्वनिके समय स्वयं व्याख्या करने लगना, बहुश्रुतपनेका गर्व, मिथ्योपदेश, बहुश्रुतका अपमान करना, स्वपक्षका दुराग्रह, स्वपक्षके दुराग्रहवश असम्बद्ध प्रलाप करना, सूत्रविरुद्ध बोलना, असिद्धसे ज्ञान प्राप्ति, शास्त्रविक्रय और हिंसा आदि ज्ञानावरणके आस्रवके कारण हैं। दर्शनमात्सर्य, दर्शनअन्तराय, आँखें फोड़ना, इन्द्रियोंके विपरीत प्रवृत्ति, दृष्टिका गर्व, दीर्घनिद्रा, दिनमें सोना, आलस्य, नास्तिकता, सम्यग्दृष्टिमें दूषण लगाना, कुतीर्थकी प्रशंसा, हिंसा और यतिजनोंके प्रति ग्लानिके भाव आदि भी दर्शनावरणके आस्रवके कारण हैं। इस तरह इनके आस्रवके कारणोंमें भेद हैं।

असातावेदनीयके आस्रवके कारण—

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

आत्मस्थ परस्थ और उभयमें होनेवाले दुःख शोक आदि असाता वेदनीयके आस्रवके कारण हैं।

§ १–८. विरोधी पदार्थोंका मिलना, इष्टका वियोग, अनिष्टसंयोग और निष्ठुर वचन आदि बाह्य कारणोंकी अपेक्षासे तथा असाता वेदनीयके उदयसे होनेवाला पीडालक्षण परिणाम दुःख है। अनुग्रह करनेवाले बन्धु आदिसे विच्छेद हो जानेपर उसका बार-बार विचार करके जो चिन्ता, खेद और विकलता आदि मोहकर्मविशेष-शोक के उदयसे होते हैं वे शोक हैं। परिभवकारी कठोरवचनके सुनने आदिसे कलुष चित्तवाले व्यक्ति के जो भीतर-ही-भीतर तीव्र जलन या अनुशय-परिणाम होते हैं वे ताप हैं। परितापके कारण अश्रुपात अंगविकार–माथा फोड़ना, छाती कूटना आदि पूर्वक जो रोना है वह आक्रन्दन है। आयु, इन्द्रिय, बल और प्राण आदिका विघात करना वध है। अतिसंक्लेशपूर्वक ऐसा रोना-पीटना जिसे सुनकर स्वयं अपने तथा दूसरेको दया आ जाय, परिदेवन है। यद्यपि ये सभी दुखःजातीय हैं; क्योंकि दुःखके ही असंख्यात भेद होते हैं, फिर भी यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य भेदोंका निर्देश कर दिया है। जैसे कि गौ असंख्य प्रकारकी होती हैं और केवल गौ कहनेसे सबका ज्ञान नहीं हो पाता अतः खण्डी मुण्डी शाबलेय आदि कुछ विशेष दिखा दिये जाते हैं। अथवा, जैसे मृत्पिंड घट कपाल आदि मूर्तिमान् रूपीद्रव्यकी दृष्टिसे एक होकर भी प्रतिनियत आकार आदि पर्यायार्थिक दृष्टिसे भिन्न हैं उसी तरह अप्रीति-सामान्यकी दृष्टिसे दुःखादिमें एकत्व होनेपर भी विभिन्न कारणों से उत्पन्न और अभिव्यक्त पर्यायोंकी दृष्टिसे वे जुदा-जुदा हैं।

§ ९. जिस समय पर्याय और पर्यायीकी अभेद विवक्षा होती है उस समय गरमलोह-पिण्डकी तरह तद्रूपसे परिणमन करनेके कारण आत्मा ही दुःखयति–दुःख आदिरूप होती है, अतः दुःखादि शब्द कर्तृसाधनमें निष्पन्न होते हैं और जब पर्याय और पर्यायीको भेदविवक्षा होती है तब दुःखादि शब्द 'दुःख हो जिसके द्वारा या जिसमें' अथवा 'दुःखनमात्र दुःख' इस प्रकार करणसाधन और भावसाधन होते हैं।

§ १०. सर्वथा एकान्त पक्षमें दुःख आदिकी कर्ता आदि साधनोंमें व्युत्पत्ति नहीं बन सकती; क्योंकि इसमें दूसरे पक्षका संग्रह नहीं हो पाता। यदि पर्यायमात्र ही माना जाय और आत्मद्रव्यकी सत्ता न मानी जाय तो विज्ञान आदिमें 'करण' व्यवहार ही नहीं हो सकता; क्योंकि कोई कर्ता ही नहीं है। स्वातन्त्र्यशक्तिविशिष्ट कर्ताकी अपेक्षा ही शेष कर्म करण आदि कारक बनते हैं। कर्ताके अभावमें उनका भी अभाव हो जायगा। कर्तृसाधनता भी नहीं बनती; क्योंकि यहाँ करण आदि सहकारियोंकी अपेक्षा नहीं है। विज्ञान आदि जब युगपत् उत्पन्न होते हैं तो दायें बायें सींगकी तरह परस्पर सहकारिभाव नहीं बन सकता। अतीत और अनागत चूँकि असत् हैं, अतः उनका भी वर्तमानके प्रति सहकारिभाव नहीं हो सकता। जब विज्ञान आदि क्षणिक हैं तो पूर्वानुभूतकी स्मृति आदि नहीं होंगी, और तब पूर्वविनष्ट अर्थके विचारसे होनेवाले शोक आदि कैसे होंगे ? क्षणिकवादमें स्मृति आदि तो हो ही नहीं सकते। सन्तान अवस्तु है अतः उसकी अपेक्षा भी स्मरणादिकी कल्पना नहीं जमती। भाववान्के बिना भावसाधनकी बात करना भी निरर्थक ही है।

यदि द्रव्यमात्र ही स्वीकार किया जाता है, उसमें क्रिया या गुण आदि परिणमन नहीं होते, वह सर्वथा निर्गुण और निष्क्रिय है तो सुख दुःख आदि पर्यायोंके प्रति कर्ता कैसे हो सकता है ? इसी तरह अचेतन प्रधान भी दुःख आदि पर्यायोंका कर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि घटादि अचेतनोंमें दुःख आदि नहीं देखे जाते। यदि अचेतनमें भी सुख दुःख आदि माने जायँ तो चेतन और अचेतनमें कुछ अन्तर ही नहीं रहेगा। निष्क्रिय द्रव्यके अधर्मनिमित्तक दुःख

आदिकी कल्पना भी ठीक नहीं है क्योंकि निष्क्रिय द्रव्यके धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और न उसके कर्मफलका अनुभव ही हो सकता है।

§ ११. ये दुःखादि क्रोधादिके आवेशके कारण आत्मा पर और उभयमें होते हैं। जब क्रोधादिसे आविष्ट आत्मा अपनेमें दुःख आदि उत्पन्न करता है तब वे आत्मस्थ होते हैं और जब समर्थ व्यक्ति परमें दुख आदि उत्पन्न करता है तब वे परस्थ होते हैं और जब साहुकार कर्जदारसे ऋण वसूल करने जाते हैं तब दोनोंको ही भूख-प्यास आदिके कारण दुःख आदि होते हैं तब ये उभयस्थ होते हैं।

§ १२–१३. विद्, विद्ल, विन्ति और विद्यति ये चार विद् धातुएँ क्रमशः ज्ञान, लाभ, विचार और सद्भाव अर्थको कहती हैं। यहाँ चेतनार्थक विद् धातु से चुरादिण्यन्त प्रत्यय करके वेद्य शब्द बना है। अनिष्ट फल उत्पन्न करनेके कारण वह अप्रशस्त है, अतः असद्वेद्य कहा जाता है।

§ १४–१५. प्रधान होनेसे दुःखका ग्रहण सर्वप्रथम किया है, शेष शोक आदि इसीके विकल्प हैं। शोकादिका ग्रहण दुःखके विकल्पोंके उपलक्षणरूप है, अतः अन्य विकल्पोंका भी संग्रह हो जाता है। अतः अशुभप्रयोग, परपरिवाद, पैशुन्यपूर्वक अनुकम्पाभाव, परपरिताप, अंगोपांगच्छेद, भेद, ताडन, त्रासन, तर्जन, भर्त्सन, तक्षण, विशंसन, बन्धन, रोधन, मर्दन, दमन, वाहन, विहेडन, ह्रेषण, शरीरको रूखा कर देना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, संक्लेश-प्रादुर्भावन, जीवनको योंही बरबाद करना, निर्दयता, हिंसा, महाआरम्भ, महापरिग्रह, विश्वास-घात, कुटिलता, पापकर्मजोवित्व, अनर्थदण्ड, विषमिश्रण, बाण जाल पाश रस्सी पिंजरा यन्त्र आदि हिंसाके साधनोंका उत्पादन, जबरदस्ती शस्त्र देना और दुःखादि पापमिश्रित भाव आदि भी गृहीत हो जाते हैं। ये आत्मा पर और उभयमें रहनेवाले आसातावेदनीयके आस्रवके कारण होते हैं।

§ १६–२१. **प्रश्न**–यदि दुःखके कारणोंसे असातावेदनीयका आस्रव होता है तो नग्न रहना केशलुंचन और अनशन आदि तपोंका उपदेश भी दुःखके कारणोंका उपदेश हुआ, अतः तीर्थंकरोंको उसका उपदेश नहीं करना चाहिए ?

उत्तर–यह प्रश्न ही नहीं हो सकता; यतः जैन तो प्रश्न कर नहीं सकते क्योंकि स्वतीर्थंकरोंके उपदेशका व्याघात हो जाता है। बौद्धोंके मतमें जब सभी पदार्थ दुःख शून्य और अनात्मक रूप हैं तब हिंसादिकी तरह दानादिमें भी दुःखहेतुता ही रहेगी और इसलिए इनका उपदेश भी अकुशलका ही उपदेश कहा जायगा। इसी तरह अन्य मतवादियोंको भी यम नियम परिपालन, विविध वेष, अनुष्ठान, दुश्चर उपवास, ब्रह्मचर्यवास आदिका दुःखहेतु होनेसे अनुष्ठान नहीं करना चाहिए और न उपदेश देना चाहिए; क्योंकि सभी वादी हिंसा आदिको दुःखहेतु होनेसे पापास्रवका कारण मानते ही हैं। सत्य बात तो यह है कि–क्रोधादिके आवेशके कारण द्वेषपूर्वक होनेवाले स्व पर और उभयके दुःख आदि पापास्रवके हेतु होते हैं न कि स्वेच्छा से आत्मशुद्ध्यर्थ किये जानेवाले तप आदि। जैसे अनिष्टद्रव्यके सम्पर्कसे द्वेषपूर्वक दुःख उत्पन्न होता है उस तरह बाह्य और अभ्यन्तर तपकी प्रवृत्तिमें धर्मध्यानपरिणत मुनिके अनशन केश-लुंचन आदि करने या करानेमें द्वेषकी सम्भावना नहीं है अतः असाताका बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार यति अहिंसा आदि करने और करानेमें प्रसन्न होता है उसी तरह उपवास आदि करने और करानेमें उसे प्रसन्नता ही होती है। अतः अनशन आदि तप दुःखरूप नहीं हैं। जब मुनियोंको किसी भी कारणसे कभी भी क्रोधादिके उत्पन्न होनेपर उसके परिमार्जनके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है तब यतिको अनशन आदि तपविधिमें क्रोधादि परिणामोंकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती, जिससे असाताका आस्रव माना जाय। जैसे वैद्य करुणाबुद्धिसे रोगीके

फोड़ेकी शल्य क्रिया करके भी क्रोधादि न होनेसे पापबन्ध नहीं करता उसी तरह अनादिकालीन सांसारिक जन्ममरणकी वेदनाको नाश करनेकी इच्छासे तप आदि उपायोंमें प्रवृत्ति करनेवाले यतिके कार्योंमें स्वपर-उभयमें दुःखहेतुता दिखनेपर भी क्रोधादि न होनेके कारण वह पापका बन्धक नहीं होता। मनोरतिको सुख कहते हैं। जैसे अत्यन्त दुःखी भी संसारी जीवोंका जिन पदार्थोंमें मन रम जाता है वे ही सुखकारक होते हैं, उसी तरह यतिका मन अनशन आदि करनेमें रमता है, प्रसन्न होता है अतः वह दुःखी नहीं है और इसीलिए असाताका बन्धक नहीं है। कहा भी है–"नगर हो या वन, स्वजन हो या परजन, महल हो या पेड़की खोह, प्रियाकी गोद हो या शिलातल, वस्तुतः मनोरतिको ही सुख कहते हैं। जहाँ जिसका मन रम गया वह वहीं सुखी है।"

सातावेदनीयके आस्रवके कारण–

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

भूतानुकम्पा व्रती-अनुकम्पा दान सरागसंयम क्षमा और शुचित्व आदि सातावेदनीयके आस्रवके कारण हैं।

§ १–११. आयुकर्मके उदयसे उन-उन योनियोंमें होनेवाले प्राणियोंको भूत कहते हैं। व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावक या मुनि व्रती हैं। दयार्द्र व्यक्तिका दूसरेकी पीड़ाको अपनी ही पीड़ा समझकर कँप जाना अनुकम्पा है। इनकी अनुकम्पा भूतानुकम्पा और व्रती-अनुकम्पा है। अपनी वस्तुका परके अनुग्रहके लिए त्याग करना दान है। पूर्वोपात्त कर्मोदयसे जिसकी कषायें शान्त नहीं हैं पर जो कषायनिवारणके लिए तैयार है वह सराग है। प्राणियोंकी रक्षा तथा इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिको रोकना संयम है। सरागके संयमको या रागसहित संयमको सराग-संयम कहते हैं। परतन्त्रताके कारण भोग-उपभोगका निरोध होनेपर उसे शान्तिसे सह जाना अकामनिर्जरा है। मिथ्यादृष्टियोंके अग्निप्रवेश, पंचाग्नितप आदि तपको बालतप कहते हैं। निरवद्य क्रियाके अनुष्ठानको योग कहते हैं। योग अर्थात् पूर्ण उपयोगसे जुट जाना। दूषणकी निवृत्तिके लिए योग शब्दका ग्रहण किया है। अर्थात् भूतव्रत्यनुकम्पा दान और सरागसंयम आदिका योग। शुभपरिणामोंसे क्रोधादिकी निवृत्ति करना क्षान्ति है। लोभके प्रकारोंसे निवृत्ति शौच है। स्वद्रव्यका त्याग नहीं करना, पर द्रव्यका अपहरण करना और धरोहरका हड़पना आदि लोभके प्रकार हैं। इति शब्द प्रकारार्थक है। अर्थात् इस प्रकार सद्वेद्यके आस्रव हैं।

§ १२–१४. यहाँ समास नहीं करनेका कारण है—ऐसे ही अन्य उपायोंका संग्रह करना। यद्यपि 'इति' शब्दका भी यही प्रयोजन है फिर भी समास न करना और 'इति' शब्दका ग्रहण करना स्पष्टताके लिए है। अर्हत्पूजा, बाल वृद्ध और तपस्वीकी वैयावृत्य, आर्जव और विनयशीलता आदि भी सातावेदनीयके आस्रव हैं। भूतानुकम्पासे व्रती-अनुकम्पामें प्रधानता दिखानेके लिए 'व्रती'का पृथक् ग्रहण किया है।

§ १५. द्रव्यदृष्टिसे नित्यताको न छोड़ने वाले और नैमित्तिक परिणामोंसे अनित्य पर्याय को प्राप्त करनेवाले नित्यानित्यात्मक जीवके ही अनुकम्पा आदि परिणाम हो सकते हैं। सर्वथा नित्य माननेपर किसी प्रकारकी विक्रिया नहीं होती अतः अनुकम्परूप परिणति नहीं हो सकती। यदि अनुकम्पा परिणति मानी जाती है, तो नित्यता नहीं रह सकेगी। क्षणिक पक्षमें पूर्व और उत्तरपर्यायका ग्रहण एक विज्ञानसे न होनेसे स्मरणादिके बिना अनुकम्पा नहीं हो सकती। संस्कार भी क्षणिक है। संस्कार यदि ज्ञानरूप है तो वह उसीकी तरह क्षणिक होगा। अतः वह भी स्मृति आदि नहीं करा सकता। यदि अज्ञानरूप है तो ज्ञानका कारण नहीं हो सकता।

मोहनीयके आस्रवके कारण–

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

केवली श्रुत संघ धर्म और देवोंका अवर्णवाद (अविद्यमान दोषोंका प्रचार) दर्शनमोह के आस्रवके कारण हैं।

§ १–६. ज्ञानावरणका अत्यन्त क्षय हो जानेपर जिनके स्वाभाविक अनन्तज्ञान प्रकट हो गया है, जिनका ज्ञान इन्द्रिय कालक्रम और दूर देश आदिके व्यवधानसे परे है और परिपूर्ण है वे केवली हैं। उनके द्वारा उपदेश दिया गया तथा बुद्ध्यतिशययुक्त गणधरोंके द्वारा धारण किया गया श्रुत है। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयभावनापरायण चतुर्विध श्रमणोंके समूहको संघ कहते हैं। यद्यपि संघ समूहवाची है फिर भी एक व्यक्ति भी अनेक व्रत गुण आदिका धारक होनेसे संघ कहा जाता है। कहा भी है–'गुण संघातको संघ कहते हैं। कर्मोंका नाश करने और दर्शन ज्ञान और चरित्रका संघटन करनेसे संघ कहा जाता है।' अहिंसादि धर्म हैं। देवगति नामकर्मके उदयसे भवनवासी आदि चार प्रकारके देव हैं।

§ ७. गुणवान् और महत्त्वशालियोंमें अपनी बुद्धि और हृदयकी कलुषतासे अविद्यमान दोषोंका उद्भावन करना अवर्णवाद है।

§ ८. 'केवली भोजन करते हैं, कम्बल आदि धारण करते हैं, तुंबड़ीका पात्र रखते हैं, उनके ज्ञान और दर्शन क्रमशः होते हैं' इत्यादि केवलीका अवर्णवाद है।

§ ९ मद्य-मांसका भक्षण, मधु और सुराका पीना, कामातुरको रतिदान तथा रात्रि-भोजन आदिमें कोई दोष नहीं है, यह सब श्रुतका अवर्णवाद है।

§ १०. ये श्रमण शूद्र हैं, स्नान न करनेसे मलिन शरीरवाले हैं, अशुचि हैं, दिगम्बर हैं, निर्लज्ज हैं, इसी लोकमें ये दुखी हैं, परलोक भी इनका नष्ट है, इत्यादि संघका अवर्ण-वाद है।

§ ११. जिनोपदिष्ट धर्म निर्गुण है। इसके धारण करनेवाले मरकर असुर होते हैं, इत्यादि धर्मका अवर्णवाद है।

§ १२–१३. देव मद्य-मांसका सेवन करते हैं, अहल्या आदिमें आसक्त हुए थे, इत्यादि देवोंका अवर्णवाद है। ये सब सम्यग्दर्शनको नष्ट करनेवाले दर्शनमोहके आस्रवके कारण हैं।

चारित्रमोहके आस्रवके कारण—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

§ १–३. बाँधे हुए कर्मका द्रव्यक्षेत्रादि निमित्तोंसे फल देने लगना उदय है। कषायों के तीव्र उदयसे होनेवाले संक्लिष्ट परिणाम चारित्रमोहके आस्रवके कारण हैं। जगदुपकारी शीलव्रती तपस्वियोंकी निन्दा, धर्मध्वंस, धर्ममें अन्तराय करना, किसीको शीलगुण देशसंयम और सकलसंयमसे च्युत करना, मद्य मांस आदिसे विरक्त जीवोंको उससे बिचकाना, चरित्रदूषण, संक्लेशोत्पादक व्रत और वेषोंका धारण, स्व और परमें कषायोंका उत्पादन आदि कषायवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। उत्प्रहास, दीनतापूर्वक हँसी, कामविकारपूर्वक हँसी, बहुप्रलाप तथा हरएक की हँसी मजाक करना हास्यवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। विचित्र क्रीड़ा, दूसरेके चित्तको आकर्षण करना, बहुपीड़ा, देशादिके प्रति अनुत्सुकता, प्रीति उत्पन्न करना, रति-विनाश, पापशील व्यक्तियोंकी संगति, अकुशल क्रियाका प्रोत्साहन देना आदि अरतिवेदनीयके आस्रव के कारण हैं। स्वशोक, प्रीतिके लिए परका शोक करना, दूसरेको दुःख उत्पन्न करना, शोकसे व्याप्तका अभिनन्दन आदि शोकवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। स्वयं भयभीत रहना, दूसरेको भय उत्पन्न करना, निर्दयता, त्रास आदि भयवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। धर्मात्मा चतुर्वर्ण विशिष्ट वर्ग कुल आदिकी क्रिया और आचारमें तत्पर पुरुषोंसे ग्लानि करना, दूसरेकी बदनामी करनेका स्वभाव आदि जुगुप्सा वेदनीयके आस्रवके कारण हैं। अत्यन्त क्रोधके परिणाम, अतिमान, अत्यन्त ईर्ष्या, मिथ्या भाषण, छलकपट, प्रपंचतत्परता, तीव्र राग, परांगनागमन,

स्त्रीभावोंमें रुचि आदि स्त्रीवेदके आस्रवके कारण हैं। मन्द क्रोध, कुटिलता न होना, अभिमान न होना, निर्लोभ भाव, अल्पराग, स्वदारसन्तोष, ईर्ष्यारहित भाव, स्नान गन्ध माला आभरण आदिके प्रति आदर न होना आदि पुंवेदके आस्रवके कारण हैं। प्रचुर क्रोध मान माया लोभ, गुप्त इन्द्रियोंका विनाश, स्त्री पुरुषोंमें अनंगक्रीड़ाका व्यसन, शीलव्रत गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषोंको बिचकाना, परस्त्रीपर आक्रमण, तीव्र राग, अनाचार आदि नपुंसकवेदके आस्रव के कारण हैं।

नरकायुके आस्रवके कारण—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

§ १–३. बहु अर्थात् बहुसंख्यक और बहुपरिमाणवाला, आरम्भ–हिंसकव्यापार। 'यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकारका ममत्व परिणाम परिग्रह है। बहुत आरम्भ और बहुपरिग्रह नरक आयुके आस्रवके कारण हैं। तात्पर्य यह कि–परिग्रहलोलुप व्यक्ति तीव्रतर-कषायपरिणामवाले होते हैं और हिंसामें तत्पर होते हैं यह बहुत बार देखा गया है और सुना गया है। वे तीव्र अनुशयसे लोहेके तपे हुए गोलेकी तरह कषायज्वालाओंसे सन्तप्त हो क्रूरकर्मा होते हैं और नरक आयुका आस्रव करते हैं।

मिथ्यादर्शन, अशिष्ट आचरण, उत्कृष्ट मान, पत्थरकी रेखाके समान क्रोध, तीव्र लोभ, अनुकम्पारहित परिणाम, परपरितापमें खुश होना, वध बन्धन आदिका अभिनिवेश, प्राण भूत सत्त्व और जीवोंकी सतत हिंसा करना, प्राणिवध, असत्यभाषणशीलता, परधनहरण, गुपचुप रागी चेष्टाएँ, मैथुनप्रवृत्ति, महाआरम्भ, इन्द्रियपरवशता, तीव्र कामभोगाभिलाष, निःशीलता, पापनिमित्तक भोजन, बद्धवैरता, क्रूरतापूर्वक रोना चिल्लाना, अनुग्रहरहित स्वभाव, यतिवर्गमें फूट पैदा करना, तीर्थंकरकी आसादना, कृष्णलेश्या रूप रौद्रपरिणाम, रौद्रभावपूर्वक मरण आदि नारक आयुके आस्रव हैं।

तिर्यञ्च आयुके आस्रव–

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

चारित्रमोहके उदयसे होनेवाला आत्माका कुटिल परिणाम तिर्यंच आयुके आस्रवका कारण है।

मिथ्यात्वयुक्त अधर्मका उपदेश, बहुआरम्भ, बहुपरिग्रह, अतिवंचना, कूटकर्म, पृथिवीकी रेखाके समान रोष आदि, निःशीलता, शब्द और संकेत आदिसे परवंचनका षड्यन्त्र, छलप्रपंचकी रुचि, भेद उत्पन्न करना, अनर्थोद्भावन, वर्ण रस गन्ध आदिको विकृत करनेकी अभिरुचि, जातिकुलशीलसंदूषण, विसंवादरुचि, मिथ्याजीवित्व, सद्गुणलोप, असद्गुणख्यापन, नील-कपोतलेश्यारूप परिणाम, आर्तध्यान, मरण समयमें आर्तरौद्रपरिणाम इत्यादि तिर्यंच आयुके आस्रवके कारण हैं।

मनुष्य आयुके आस्रव–

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

नरकायुके आस्रवके कारणोंसे विपरीत भाव अर्थात् अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह मनुष्यायुके आस्रवके कारण हैं।

भद्रमिथ्यात्व, विनीत स्वभाव, प्रकृतिभद्रता, मार्दव आर्जव परिणाम, सुख समाचार कहनेकी रुचि, रेतकी रेखाके समान क्रोध आदि, सरल व्यवहार, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, सन्तोषसुख, हिंसाविरक्ति, दुष्टकार्योंसे निवृत्ति, स्वागततत्परता, कम बोलना, प्रकृतिमधुरता,

लोकयात्रानुग्रह, औदासीन्यवृत्ति, ईर्षारहित परिणाम, अल्पसंक्लेश, गुरु देवता अतिथि पूजामें रुचि, दानशीलता, कपोतपीतलेश्यारूपपरिणाम, मरणकालमें धर्मध्यानपरिणति आदि मनुष्यायुके आस्रवके कारण हैं।

स्वभावमार्दवं च ॥१८॥

§ १-२. उपदेशके बिना होनेवाला स्वाभाविक मृदुस्वभाव भी मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है। स्वभाव मार्दवका निर्देश पृथक् सूत्र बनाकर इसलिए किया है कि इस सूत्रका सम्बन्ध आगे बताये जानेवाले देवायुके आस्रवोंसे भी करना है।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

§ १-४. शील और व्रतोंसे रहितपना सभी आयुओंके आस्रवका कारण है। 'च' शब्दसे अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रहत्वका समुच्चय कर लेना चाहिए। 'सर्वेषाम्'से देवायुका ग्रहण नहीं करना चाहिए किन्तु पीछे कही गई तीनों आयुओंका। यद्यपि पृथक् सूत्र बनानेसे ही बीती हुई आयुका बोध हो जाता है फिर भी 'सर्वेषाम्' पदका प्रयोजन यह है कि निःशीलत्व और निर्व्रतत्व भी देवायुके आस्रवके कारण होते हैं पर वह भोगभूमिया जीवोंकी अपेक्षा समझना चाहिए।

देवायुके आस्रवका कारण—

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

सरागसंयम आदि शुभ परिणाम देवायुके आस्रवके कारण हैं। कल्याणमित्रसंसर्ग, आयतनसेवा, सद्धर्मश्रवण, स्वगौरवदर्शन, निर्दोष प्रोषधोपवास, तपकी भावना, बहुश्रुतत्व, आगमपरता, कषायनिग्रह, पात्रदान, पीतपद्मलेश्यापरिणाम, मरणकालमें धर्मध्यानरूपपरिणति आदि सौधर्म आदि स्वर्गकी आयुके आस्रव हैं। अव्यक्त सामायिक, और सम्यग्दर्शनकी विराधना आदि भवनवासी आदिकी आयुके अथवा महर्धिक मनुष्यकी आयुके आस्रव कारण हैं। पंच अणुव्रतोंके धारक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच या मनुष्य सौधर्म आदि अच्युत पर्यन्त स्वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं। यदि सम्यग्दर्शनकी विराधना हो जाय तो भवनवासी आदिमें उत्पन्न होते हैं। तत्त्वज्ञानसे रहित बालतप तपनेवाले अज्ञानी मन्द कषायके कारण कोई भवनवासी व्यन्तर आदि सहस्रार स्वर्गपर्यन्त उत्पन्न होते हैं, कोई मरकर मनुष्य भी होते हैं तथा तिर्यंच भी। अकामनिर्जरा, भूख प्यासका सहना, ब्रह्मचर्य, पृथ्वी पर सोना, मलधारण आदि परीषहोंसे खेदखिन्न न होना, गूढ़ पुरुषोंके बन्धनमें पड़नेपर भी नहीं घबड़ाना, दीर्घकालीन रोग होनेपर भी असंक्लिष्ट रहना, या पर्वतके शिखरसे झम्पापात करना, अनशन अग्निप्रवेश विषभक्षण आदिको धर्म माननेवाले कुतापस व्यन्तर और मनुष्य तथा तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं। जिनने व्रत या शीलोंको धारण नहीं किया किन्तु जो सदय हृदय हैं, जलरेखाके समान मन्दकषायी हैं तथा भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले व्यन्तर आदिमें उत्पन्न होते हैं।

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

सम्यक्त्व भी देवायुके आस्रवका कारण है।

§ १-२. पृथक् सूत्र बनानेसे ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व सौधर्मादि स्वर्गवासी देवोंकी आयुके आस्रवका कारण है। इस सूत्रसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सरागसंयम और संयमासंयम भी विमानवासियोंकी ही आयुके आस्रवके कारण होते हैं, भवनवासी आदिकी आयुके नहीं।

अशुभ नामकर्मके आस्रव करण—

योगवक्रता विसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

§ १-३. मनवचनकायकी कुटिलवृत्तिरूप योगवक्रता तथा अन्य प्रकारसे प्रवृत्ति और प्रतिपादनरूप विसंवाद अशुभनामके आस्रवके कारण हैं। योगवक्रता आत्मगत है तथा विसंवादन परसे सम्बन्ध रखता है। कोई पुरुष सम्यक् अभ्युदय और निःश्रेयसकी कारणभूत क्रियाओंमें प्रवृत्ति कर रहा है उसे काय वचन और मन द्वारा 'ऐसा मत करो यह करो' आदि रूपसे कुटिल प्रवृत्ति कराना विसंवाद है।

§ ४. च शब्द अनुक्तके समुच्चयार्थ है। मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिरचित्तस्वभावता, झूठे बांट तराजू आदि रखना, कृत्रिम सुवर्ण मणि रत्न आदि बनाना, झूठी गवाही, अंग उपांगोंका छेदन, वर्ण गन्ध रस स्पर्शका विपरीतपना, यन्त्र पिंजरा आदि बनाना, माया बाहुल्य, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, महारम्भ, महापरिग्रह शौकीन वेष, रूपका घमंड, कठोर असभ्यभाषण, गाली बकना, व्यर्थ बकवास करना, वशीकरणप्रयोग, सौभाग्योपयोग, दूसरेमें कुतूहल उत्पन्न करना, भूषणोंमें रुचि, मंदिरके गन्ध माल्य धूप आदिका चुराना, लम्बी हँसी, ईंटोंका भट्टा लगाना, वनमें दावाग्नि जलाना, प्रतिमायतन-विनाश, आश्रय विनाश, आराम-उद्यान विनाश, तीव्र क्रोध मान माया लोभ और पापकर्मजीविका आदि भी अशुभ नामके आस्रवके कारण हैं।

शुभनामके आस्रवके कारण—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

मन वचन कायकी सरलता और अविसंवादन शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं। च शब्दसे धार्मिक व्यक्तियोंके प्रति आदरभाव, संसार-भीरुता, अप्रमाद, निश्छलचारित्र आदि पूर्वोक्त अशुभ नामके आस्रवके विपरीत भावोंका समुच्चय कर लेना चाहिए।

अनन्त अनुपम अचिन्त्य विभूतिका कारण त्रैलोक्योत्कृष्ट तीर्थंकर नामके आस्रवके कारण—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवके कारण हैं।

§ १. जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गमें रुचि दर्शन विशुद्धि है। उसके आठ अंग हैं। इसलोक परलोक व्याधि मरण अगुप्ति अरक्षण और आकस्मिक इन सात भयोंसे मुक्त रहना, अथवा जिनोपदिष्ट तत्त्वमें 'यह है या नहीं' इस प्रकारकी शंका नहीं करना निःशंकित अंग है। धर्मको धारण करके इस लोक और परलोकमें विषयोपभोगकी आकांक्षा नहीं करना और अन्य मिथ्यादृष्टिसम्बन्धी आकांक्षाओंका निरास करना निष्कांक्षित अंग है। शरीरको अत्यन्त अशुचि मानकर उसमें शुचित्वके मिथ्या संकल्पको छोड़ देना, अथवा अर्हन्तके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनमें 'यह अयुक्त है, घोर कष्ट है, यह सब नहीं बनता' आदि प्रकारकी अशुभ भावनाओंसे चित्तविचिकित्सा नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है। बहुत प्रकारके मिथ्यानयवादियोंके दर्शनोंमें तत्त्वबुद्धि और युक्तियुक्तता छोड़कर मोहरहित होना अमूढ़दृष्टिता है। उत्तम क्षमा आदि धर्मभावनाओंसे आत्माकी धर्मवृद्धि करना उपबृंहण है। कषायोदय आदिसे धर्मभ्रष्ट होनेके कारण उपस्थित होनेपर भी अपने धर्मसे परिच्युत नहीं होना, उसका बराबर पालन करना स्थितिकरण है। जिनप्रणीत धर्मामृतसे नित्य अनुराग करना वात्सल्य है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रयके प्रभावसे आत्माको प्रकाशमान करना प्रभावना है।

§ २. सम्यग्ज्ञान आदि मोक्षके साधनोंमें तथा ज्ञानके निमित्त गुरु आदिमें योग्य रीति से सत्कार आदर आदि करना तथा कषायकी निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है।

§ ३. अहिंसा आदि व्रत तथा उनके परिपालनके लिए क्रोधवर्जन आदि शीलोंमें काय, वचन और मनकी निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रतेष्वनतिचार है।

§ ४. जीवादि पदार्थोंको प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे जाननेवाले मति आदि पाँच ज्ञान हैं। अज्ञाननिवृत्ति इनका साक्षात् फल है तथा हितप्राप्ति अहितपरिहार और उपेक्षा व्यवहित फल हैं। इस ज्ञानकी भावनामें सदा तत्पर रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है।

§ ५. शारीर मानस आदि अनेक प्रकारके प्रियवियोग अप्रियसंयोग इष्टका अलाभ आदिरूप सांसारिक दुःखोंसे नित्यभीरुता संवेग है।

§ ६. परकी प्रीतिके लिए अपनी वस्तुको देना त्याग है। आहार देनेसे पात्रको उस दिन प्रीति होती है। अभयदानसे उस भवका दुःख छूटता है, अतः पात्रको सन्तोष होता है। ज्ञानदान तो अनेक सहस्र भवोंके दुःखसे छुटकारा दिलानेवाला है। ये तीनों दान विधिपूर्वक दिये गये त्याग कहलाते हैं।

§ ७. अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर मार्गाविरोधी कायक्लेश आदि करना तप है। यह शरीर दुःखका कारण है, अशुचि है, कितना भी भोग भोगो पर इसकी तृप्ति नहीं होती। यह अशुचि होकर भी शीलव्रत आदि गुणोंके संचयमें आत्माकी सहायता करता है यह विचारकर विषयविरक्त हो आत्मकार्यके प्रति शरीरका नौकरकी तरह उपयोग कर लेना उचित है। अतः मार्गाविरोधी कायक्लेश आदि करना तप है।

§ ८. जैसे भण्डारमें आग लगनेपर वह प्रयत्नपूर्वक शान्त की जाती है उसी तरह अनेक व्रतशीलोंसे समृद्ध मुनिगणके तप आदिमें यदि कोई विघ्न उपस्थित हो जाय तो उसका निवारण करना साधुसमाधि है।

§ ९. गुणवान् साधुओंपर आये हुए कष्ट रोग आदिको निर्दोष विधिसे हटा देना, उनकी सेवा आदि करना बहु उपकारी वैयावृत्त्य है।

§ १०. केवलज्ञान श्रुतज्ञान आदि दिव्यनेत्रधारी परहितप्रवण और स्वसमयविस्तारनिश्चयज्ञ अर्हन्त आचार्य और बहुश्रुतोंमें तथा श्रुतदेवताके प्रसादसे कठिनतासे प्राप्त होनेवाले मोक्षमहलकी सीढ़ीरूप प्रवचनमें भावविशुद्धिपूर्वक अनुराग करना अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुत भक्ति और प्रवचनभक्ति है।

§ ११. सामायिक चतुर्विंशतिस्तव वन्दना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओंको यथाकाल विना नागा किये स्वाभाविक क्रमसे करते रहना आवश्यकापरिहाणि है। सर्व सावद्ययोगोंका त्याग करना, चित्तको एकाग्र रूपसे ज्ञानमें लगाना सामायिक है। तीर्थंकरोंके गुणोंका कीर्तन चतुर्विंशतिस्तव है। मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक खड्गासन या पद्मासनसे चार बार शिरोनति और बारह आवर्त पूर्वक वन्दना होती है। कृत दोषोंकी निवृत्ति प्रतिक्रमण है। भविष्यमें दोष न होने देनेके लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है। अमुक समयतक शरीरसे ममत्वका त्याग करना कायोत्सर्ग है।

१२. परसमयरूपी जुगुनुओंके प्रकाशको पराभूत करनेवाले ज्ञानरविकी प्रभासे, इन्द्रके सिंहासनको कँपा देनेवाले महोपवास आदि सम्यक् तपोंसे तथा भव्यजनरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यप्रभा समान जिनपूजाके द्वारा सद्धर्मका प्रकाश करना मार्गप्रभावना है।

§ १३. जैसे गाय अपने बछड़ेसे अकृत्रिम स्नेह करती है उसी तरह धार्मिक जनको

देखकर स्नेहसे ओतप्रोत हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है। जो धार्मिकोंमें स्नेह है वही तो प्रवचन स्नेह है। ये सोलहकारण भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका कारण होती हैं।

नीचगोत्रके आस्रवके कारण—

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

परनिन्दा आत्मप्रशंसा परके विद्यमान गुणका ढँकना और अपनेमें अविद्यमान गुणोंका ढिंढोरा पीटना ये नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं।

§ १-६. तथ्य या अतथ्य दोषके उद्भावनकी इच्छा या दोष प्रकट करनेकी चि वृत्ति निन्दा है। सद्भूत या असद्भूत गुणके प्रकाशनका अभिप्राय प्रशंसा है। प्रतिबन्धक कारणोंसे वस्तुका प्रकट नहीं होना छादन है और प्रतिबन्धकके हट जानेपर प्रकाशमें आ जाना उद्भावन है। जो गूयते अर्थात् शब्दव्यवहारमें आवे वह गोत्र है। जिससे आत्मा नीच व्यवहारमें आवे वह नीचगोत्र है।

जाति कुल बल रूप श्रुत आज्ञा ऐश्वर्य और तपका मद करना, परकी अवज्ञा, दूसरेकी हँसी करना, परनिन्दाका स्वभाव, धार्मिकजनपरिहास, आत्मोत्कर्ष, परयशका विलोप, मिथ्याकीर्ति अर्जन करना, गुरुजनोंका परिभव तिरस्कार दोषख्यापन विहेडन स्थानावमान भर्त्सन और गुणावसादन करना, तथा अंजलि-स्तुति-अभिवादन-अभ्युत्थान आदि न करना, तीर्थंकरोंपर आक्षेप करना आदि नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं।

उच्चगोत्रके आस्रवके कारण—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

§ १-४. तत्-नीचगोत्र, विपर्यय-उलटे। अर्थात् आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, परसद्गुणोद्भावन आत्मअसद्गुणच्छादन, गुणी पुरुषोंके प्रति विनयपूर्वक नम्रवृत्ति और ज्ञानादि होनेपर भी तत्कृत उत्सेक-अहंकार न होना ये सब उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं। जाति कुल बल रूप वीर्य ज्ञान ऐश्वर्य और तप आदिकी विशेषता होनेपर भी अपनेमें बड़प्पनका भाव नहीं आने देना, परका तिरस्कार न करना, अनौद्धत्य, असूया उपहास बदनामी आदि न करना, मान नहीं करना, साधर्मी व्यक्तियोंका सन्मान, उन्हें अभ्युत्थान अंजलि नमस्कार आदि करना, इस युगमें अन्य जनोंमें न पाये जानेवाले ज्ञान आदि गुणोंके होनेपर भी उनका रंचमात्र अहंकार नहीं करना, निरहंकार नम्रवृत्ति, भस्मसे ढँकी हुई अग्निकी तरह अपने माहात्म्यका ढिंढोरा नहीं पीटना और धर्मसाधनोंमें अत्यन्त आदर बुद्धि आदि भी उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं।

अन्तरायके आस्रवके कारण—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

§ १. दान लाभ भोग उपभोग और वीर्यमें विघात करना-विघ्न उपस्थित करना अन्तरायके आस्रवके कारण है।

ज्ञानप्रतिषेध, सत्कारोपघात, दान लाभ भोग उपभोग वीर्य स्नान अनुलेपन गन्ध माल्य आच्छादन भूषण शयन आसन भक्ष्य भोज्य पेय लेह्य और परिभोग आदिमें विघ्न करना, विभवस्मृद्धिमें विस्मय करना, द्रव्यका त्याग नहीं करना, द्रव्यके उपयोगके समर्थनमें प्रमाद करना, देवताके लिए निवेदित किया या अनिवेदित किये गये द्रव्यका ग्रहण, निर्दोष उपकरणोंका त्याग, दूसरेकी शक्तिका अपहरण, धर्मव्यवच्छेद करना, कुशल चारित्रवाले तपस्वी गुरु तथा चैत्यकी पूजामें व्याघात करना, दीक्षित कृपण दीन अनाथको दिये जानेवाले वस्त्र पात्र आश्रय आदिमें विघ्न करना, पर निरोध, बन्धन, गुह्य अंगच्छेद, कान नाक ओंठ आदिका काट देना प्राणिवध आदि अन्तरायकर्मके आस्रवके कारण हैं।

§ २. 'क्षान्तिः शौचमिति' सूत्रसे प्रकारवाची 'इति' शब्दका सब जगह अनुवर्तन करना चाहिए। इससे अनुक्त प्रकारोंका संग्रह हो जाता है।

§ ४. जैसे शराबी मदमोहविभ्रमकरी सुराको पीकर उसके नशेमें अनेक विकारोंको प्राप्त होता है अथवा जैसे रोगी अपथ्य भोजन करके अनेक बात-पित्तादि विकारोंसे ग्रस्त होता है उसी तरह उक्त आस्रवविधिसे ग्रहण किये गये ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे यह आत्मा अनेक संसार-विकारोंको प्राप्त होता है।

§ ५–७. जैसे दीपक घटादिका प्रकाशक होता है उसी तरह शास्त्र भी पदार्थोंका प्रकाशक होता है। 'यह परिणमन या शक्ति अमुक फलको उत्पन्न करेगी' यह तो स्वभावव्याख्यान है। शास्त्र भी अतिशयज्ञानवाले युगपत् सर्वार्थावभासनसमर्थ प्रत्यक्षज्ञानी केवलीके द्वारा प्रणीत हैं, अतः प्रमाण हैं। इसीलिए शास्त्रमें वर्णित ज्ञानावरणादिके आस्रवके कारण आगमानुगृहीत हैं और ग्राह्य हैं। शास्त्र भी स्वभावको ही प्रकट करता है। 'शास्त्रसिद्ध भी पदार्थव्यवस्था होती है' इसमें किसी भी वादीको विवाद नहीं है। वैशेषिक पृथिव्यादि द्रव्योंका कठिन द्रव उष्ण और चलनस्वभाव, रूपादिगुणोंको उन उन इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत होनेका स्वभाव और उत्क्षेपण अवक्षेपण आदिका संयोग और विभागसे निरपेक्षकारण होनेका स्वभाव आगमसे ही स्वीकार करते हैं। सांख्य सत्त्व रज और तमगुणोंका प्रकाश प्रवृत्ति आदि स्वभाव मानते हैं। बौद्ध अविद्या आदिका संस्कार आदिको उत्पन्न करनेका प्रतिनियत स्वभाव स्वीकार करते हैं। अतः कोई उपालम्भ नहीं है।

§ ७. प्रश्न—आगममें ज्ञानावरणके बन्धकालमें दर्शनावरण आदिका भी बन्ध बताया है, अतः प्रदोष आदि ज्ञानावरणके ही आस्रवके कारण नहीं हो सकते, सभी कर्मोंके आस्रवके कारण होंगे? उत्तर—प्रदोष आदि कारणोंसे ज्ञानावरण आदि उन कर्मोंमें विशेष अनुभाग पड़ता है। प्रदोष आदिसे प्रदेशबन्ध तो सबका होता है पर अनुभाग उन्हीं उन्हीं ज्ञानावरणादिमें पड़ता है। अतः अनुभागविशेषसे प्रदोष आदिका आस्रवभेद हो जाता है।

छठाँ अध्याय समाप्त

सातवाँ अध्याय

आस्रवके विचारमें कहा गया पुण्यास्रव मोक्षमें परम्पराकारण होनेसे इस समय व्याख्येय है। अतः पुण्यास्रवके कारणभूत व्रतोंके लक्षण संख्या आदिका वर्णन करते हैं। अथवा, 'भूतव्रत्यनुकम्पा' सूत्रमें व्रती शब्द आया है, अतः उन व्रतोंका वर्णन करते हैं—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

हिंसा असत्य चोरी कुशील और परिग्रहसे विरक्त होना व्रत है।

§ १–३ हिंसादिके लक्षण आगे कहेंगे। चारित्रमोहके उपशम क्षय या क्षयोपशमसे औपशमिक आदि चारित्रोंकी प्रकटतामें जो विरक्ति होती है उसे विरति कहते हैं। बुद्धिपूर्वक परिणामोंसे 'यह ऐसा ही करना है' इस प्रकारके नियमको व्रत कहते हैं। व्रतमें किसी अन्य कार्यसे निवृत्ति ही मुख्य होती है।

§ ४–५. 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः' यह अपादानार्थक पञ्चमी विभक्ति है। यहाँ बुद्धिके अपायमें ध्रुवत्वविवक्षा करके जैसे 'ग्रामाद् आगच्छति' में ग्रामको ध्रुव मानकर पञ्चमी विभक्ति बनती है वैसे ही पञ्चमी बन जाती है। जैसे 'धर्माद् विरमति' यहाँ कोई हतबुद्धि 'धर्म बड़ा दुष्कर है, इसका फल श्रद्धामात्रगम्य है' यह विचार कर अपनी धर्मबुद्धिसे विरक्त होता है उसी तरह कोई विवेकी पुरुष 'हिंसादि परिणाम पापके कारण हैं, पापीको इसी लोकमें राजदंड आदि मिलते हैं, परलोकमें भी अनेकविध दुःख उठाने पड़ते हैं' यह विचारकर हिंसाबुद्धिसे विरक्त होता है। अतः बुद्धिकी दृष्टिसे ध्रुवत्व विवक्षामें पञ्चमी विभक्ति बन जाती है। अतः 'हिंसादि परिणाम क्षणिक है इस कारण उससे अपादान नहीं बनता। यदि हिंसापरिणत नित्य आत्माको हिंसा मानकर उससे विरक्ति करते हैं तो नित्य आत्मासे विरति हो नहीं सकती' यह आशंका निर्मूल हो जाती है।

§ ६. अहिंसा सभी व्रतोंमें प्रधान है, अतः उसका सर्वप्रथम कथन किया है। जैसे धानके खेतमें चारों ओर बारी लगा दी जाती है और उसी तरह अन्य सभी व्रत चारों ओरसे अहिंसा रूपी धानकी रक्षा करने वाले हैं

§ ७–९. विरति शब्दका सम्बन्ध 'हिंसाविरति अनृतविरति' आदि रूपसे प्रत्येकसे कर लेना चाहिए। यद्यपि गुड़ चावल आदि पकने योग्य पदार्थोंके भेदसे जैसे पाकमें भेद होता है उसी तरह त्याज्य हिंसा अनृत आदिके भेदसे 'विरति' भी अनेक प्रकारकी हो सकती है किन्तु विरतिसामान्यकी दृष्टिसे यहाँ एकवचनका प्रयोग किया है। विषयभेदसे भेद यहाँ विवक्षित नहीं है। इसीलिए सर्वसावद्यनिवृत्तिरूप सामान्य सामायिकव्रतकी अपेक्षा एक व्रत है और भेदाधीन छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा पाँच व्रत होते हैं।

§ १०–१४. प्रश्न—इन अहिंसा आदि व्रतोंको आस्रवके प्रकरणमें न कहकर संवरके प्रकरणमें कहना चाहिए; क्योंकि संवरके कारणभूत भाव काय विनय ईर्यापथ भैक्ष्य शयन आसन प्रतिष्ठापन और वाक्य इन आठ शुद्धिरूप संयमधर्ममें तथा सत्यादिमें इनका अन्तर्भाव हो जाता है। यदि प्रपञ्चके लिए इनका निरूपण करना है तो वहीं करना चाहिए, यहाँ व्यर्थ ही प्रकरण बढ़ानेसे क्या लाभ? उत्तर—व्रत संवररूप नहीं है; क्योंकि इनमें परिस्पन्द-प्रवृत्ति है। असत्य चोरी आदिसे विरक्त होकर सत्य अचौर्य आदि प्रवृत्ति देखी जाती है। हाँ, गुप्ति आदि संवरके लिए ये अहिंसादिव्रत सहायक होते हैं। व्रतोंका संस्कार रखनेवाला साधु सुखपूर्वक

संवर करता है। अतः संवरकी भूमिकारूप इन व्रतोंका पुण्यास्रवका हेतु होनेसे यहाँ ही निर्देश करना उचित है।

§ १५–२०. यद्यपि रात्रिभोजनविरति छठवें अणुव्रतके रूपमें निर्दिष्ट मिलता है, फिर भी अहिंसा व्रतकी 'आलोकितपानभोजन' नामक भावनामें अन्तर्भूत होनेसे उसका पृथक् निर्देश नहीं किया है। प्रश्न—यदि आलोकितपानभोजनकी विवक्षा है तो यह प्रदीप और चन्द्र आदिके प्रकाशमें रात्रिभोजन करने पर भी सिद्ध हो सकती है? उत्तर—इसमें अनेक आरम्भ दोष हैं। दीपकके जलानेमें और अग्नि आदिके करने करानेमें अनेक दोष होते हैं। दूसरेके द्वारा जलाये हुए प्रदीपके प्रकाशमें स्वयंका आरम्भ न भी हो तो भी गमन आदि नहीं हो सकते। 'ज्ञान सूर्य तथा इन्द्रियोंसे मार्गकी परीक्षा करके चार हाथ आगे देखकर यतिको योग्य देशकालमें शुद्ध भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए' यह आचारशास्त्रका उपदेश है। यह विधि रात्रिमें नहीं बनती। दिनको भिक्षा लाकर रात्रिमें भोजन करना भी उचित नहीं है; क्योंकि इसमें प्रदीप आदिके समारम्भके दोष बने ही रहते हैं। 'लाकर के भोजन करना' यह संयमका साधन भी नहीं है। निष्परिग्रही पाणिपुटभोजी साधुको भिक्षाका लाना भी संभव नहीं है। पात्र रखनेपर अनेक दोष देखे जाते हैं–अतिदीनवृत्ति आ जाती है और शीघ्र पूर्णनिवृत्तिके परिणाम नहीं हो सकते क्योंकि सर्व-सावद्यनिवृत्तिकालमें ही पात्रग्रहण करनेसे पात्रनिवृत्तिके परिणाम कैसे हो सकेंगे? पात्रसे लाकर परीक्षा करके भोजन करनेमें भी योनिप्राभृतज्ञ साधुको संयोग विभाग आदिसे होनेवाले गुणदोषोंका विचार करना पड़ता है, लानेमें दोष है, छोड़नेमें भी अनेक दोष होते है। जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशमें स्फुट रूपसे पदार्थ दिख जाते हैं, तथा भूमि दाता गमन अन्नपान आदि गिरे या रखे हुए सब साफ साफ दिखाई देते हैं उस प्रकार चन्द्र आदिके प्रकाशमें नहीं दिखते। अतः दिनमें भोजन करना ही निर्दोष है।

देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

§ १–२. देश अर्थात् एक भाग, सर्व–संपूर्णरूप। हिंसादिसे एकदेश विरक्त होना अणुव्रत है और सम्पूर्णरूपसे विरक्ति महाव्रत है। जो व्यक्ति 'हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, चोरी नहीं करूँगा, परस्त्रीगमन नहीं करूँगा, परिग्रह नहीं रखूँगा' इन अभिप्रायोंकी रक्षा करनेमें असमर्थ है उसे इन व्रतोंकी दृढ़ताके लिए ये भावनाएँ पालनी चाहिए—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

इन व्रतोंकी स्थिरताके लिए पाँच-पाँच भावनाएँ होतीं हैं।

§ १. वीर्यान्तरायक्षयोपशम चारित्रमोहोपशम-क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मोदयकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा जो भाई जातीं हैं–जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, वे भावना हैं।

§ २–३. प्रश्न—'पञ्च पञ्च' की जगह वीप्सा अर्थमें शस् प्रत्यय करके 'पञ्चशः' यह लघुनिर्देश करना चाहिए। 'भावयेत्' इस क्रियाका अध्याहार करनेसे यहाँ कारकका प्रकरण भी है ही। उत्तर—शस् प्रत्यय विकल्पसे होता है। फिर, क्रियाका अध्याहार करनेमें प्रतिपत्तिगौरव होता है, अतः स्पष्ट अर्थबोध करानेके लिए 'पञ्च पञ्च' यही विशद निर्देश उपयुक्त है।

अहिंसाव्रतकी भावनाएँ—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥

वचनगुप्ति मनोगुप्ति ईर्यासमिति आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥५॥

क्रोधत्याग लोभत्याग भयत्याग हास्यत्याग और अनुवीचिभाषण-विचारपूर्वक बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं।

पुण्यास्रवका प्रकरण होनेसे अप्रशस्त क्रिया करनेवाले पापीके भाषणको अनुवीचिभाषण नहीं कह सकते।

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥६॥

शून्यागार-पर्वतकी गुफा वृक्षकी खोह आदिमें निवास करना, परके द्वारा छोड़े गये मकान आदिमें रहना, दूसरेको उसमें आनेसे नहीं रोकना, शास्त्रानुसार भिक्षाचर्या, 'यह मेरा और यह तेरा' इस प्रकार साधर्मीजनोंसे विसंवाद नहीं करना, ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं।

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरस-
स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥

स्त्रीरागकथाश्रवणवर्जन, उनके मनोहर अंगोंके देखनेका त्याग, पूर्वभुक्त विषयोंके स्मरणका त्याग, उन्मादक भोजन आदिका त्याग और शरीर-संस्कारका त्याग ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं।

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥

पाँचों इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंमें राग और अनिष्ट विषयोंमें द्वेषका त्याग करना अपरिग्रहव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

हिंसादि पापोंके सम्बन्धमें ये विचार करने चाहिए—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

हिंसादिक इस लोक और परलोकमें अपाय और अवद्य करनेवाले हैं।

§ १–२. अभ्युदय और निःश्रेयसके साधनोंका नाशक अनर्थ अपाय है। अथवा इहलोकभय परलोकभय आदि सात प्रकारके भय अपाय हैं। अवद्य अर्थात् गर्ह्य निन्दनीय। हिंसक नित्य उद्विग्न रहता है, सतत उसके वैरी रहते हैं, यहीं वह बन्ध क्लेश आदिको पाता है और मरकर अशुभगतिमें जाता है। लोकमें निन्दनीय भी होता है। अतः हिंसासे विरक्त होना कल्याणकारी है। मिथ्याभाषीका कोई विश्वास नहीं करता। वह यहीं जिह्वाछेद आदि दंड भुगतता है। जिनके सम्बन्धमें झूठ बोलता है वे उसके वैरी हो जाते हैं। अतः उनसे भी अनेक आपत्तियाँ आतीं हैं। मरकर अशुभगतिमें जाता है निन्दनीय भी होता है। अतः असत्य बोलनेसे विरक्त होना कल्याणकारी है। चोरका सब तिरस्कार करते हैं। यहीं मार-पीट वध-बन्धन हाथ-पैर कान-नाक आदिका छेदन और सर्वस्वहरण आदि दंडोंको भोगता है। मरकर अशुभ गतिमें जाता है और निन्दित भी होता है। अतः चोरीसे विरक्त होना श्रेयस्कर है। कुशीलसेवी मदोन्मत्त हाथीकी तरह हथिनीके पीछे घूमता हुआ विवश होता है और वध-बन्धन क्लेश आदिका अनुभव करता है। मोहाभिभूत होनेसे कार्याकार्यके विवेकसे वंचित होकर किसी शुभकर्मके करनेके लायक नहीं रहता। परस्त्रीगामी तो यहीं लिंगच्छेद वध बन्धन और सर्वस्वहरण आदि दंड भोगते हैं। मरकर अशुभगतिमें जाते हैं, निन्दित भी होते हैं अतः अब्रह्मसे विरक्त होना श्रेयस्कर है। परिग्रही पुरुष मांसखण्डको लिये हुए पक्षीकी तरह अन्य पक्षियोंके द्वारा झपटा जाता है। चोरोंके द्वारा तिरस्कृत होता है। परिग्रहके अर्जन रक्षण और विनाशमें अनेक संक्लेशोंको पाता है। इन्धनसे अग्निकी तरह इसकी परिग्रहसे तृप्ति नहीं होती। लोभाभिभूत होनेसे कार्य-अकार्यसे अनभिज्ञ बन जाता है। मरकर अशुभगतिमें जाता है। 'लोभी है' इत्यादि

रूपसे निन्दनीय होता है। अतः परिग्रहसे विरक्त होना श्रेयस्कर है। इस तरह हिंसादिकमें अपाय और अवद्यकी भावना करनी चाहिए।

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

असातावेदनीयके उदयसे होनेवाला परिताप दुःख है। ये हिंसादि दुःखरूप ही हैं।

§ १–४ जैसे प्राणके कारण अन्नको प्राण कह देते हैं उसी तरह दुःखके कारण हिंसादिमें कार्यभूत दुःखका उपचार करके उन्हें दुःख कह देते हैं। अथवा, जैसे धनसे अन्न आता है और अन्नसे प्राणस्थिति होती है अतः कारणके कारणमें कार्यका उपचार करके धनको प्राण कहते हैं उसी तरह हिंसादि असातावेदनीयके कारण हैं और असाता दुःखका कारण है, अतः हिंसादिको भी दुःख कहते हैं। कहा भी है–"धन मनुष्यका बाहिर घूमनेवाला प्राण है। जो किसीका धन हरता है वह उसके प्राण ही हरता है।" जैसे मुझे वध या परपीडा असह्य है उसी तरह सभी प्राणियोंको। जैसे मुझे मिथ्या बात या कटुक मर्मच्छेदी वचन सुनकर अतितीव्र अभूतपूर्व दुःख होता है उसी तरह सभी जीवोंको। जैसे मेरी चीज वा धन चोरी जानेपर अपूर्व दुःख होता है उसी तरह अन्यको भी। जैसे कोई मेरी स्त्री आदिका परिभव करे तो तीव्र मानस पीड़ा होती है उसी तरह अन्यको भी। जिस तरह मुझे परिग्रह न प्राप्त हो या प्राप्त होकर नष्ट हो जाय तो आकांक्षा रक्षा या शोक आदिसे दुःख होता है उसी तरह सभी प्राणियोंको। इस तरह अपनी आत्माकी तरह परको समझकर हिंसादिसे विरक्त होना श्रेयस्कर है। परांगना संस्पर्शमें सुखकी कल्पना निरी मूर्खता है क्योंकि वह सुख नहीं है, वह तो वेदनाका प्रतिकार है। जैसे खुजलीका रोगी अपनी खुजाल मिटानेके लिए नख या पत्थर आदिसे खुजाता है, फिर भी खुजली शान्त नहीं होती, लोहूलुहान होता है और दुःखी होता है, उस खुजानेके दुःखको भी थोड़ी देरके लिए खाज बन्द हो जानेके कारण सुख मान बैठता है उसी तरह मैथुनसेवी मोहवश दुःखको भी सुख मानता है। ये सब हिंसादि दुःखके कारण होनेसे दुःखरूप ही हैं।

अन्य भावनाएँ—

मैत्री-प्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥११॥

प्राणिमात्रमें मैत्री, गुणिजनोंमें प्रमोद, दुःखी जीवोंमें करुणा तथा विरुद्धचित्तवालोंमें माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए।

§ १-४. मन वचन काय कृतकारित और अनुमोदन हर प्रकारसे दूसरेको दुःख न होने देनेकी अभिलाषाको मैत्री कहते हैं। मुखकी प्रसन्नता नेत्रका आह्लाद रोमाञ्च स्तुति सद्गुण-कीर्तन आदिके द्वारा प्रकट होनेवाली अन्तरंगकी भक्ति और राग प्रमोद है। शारीर और मानस दुःखोंसे पीड़ित दीन प्राणियोंके ऊपर अनुग्रहरूप भाव कारुण्य है। रागद्वेषपूर्वक किसी एकपक्षमें न पड़नेके भावको माध्यस्थ्य भाव–तटस्थभाव कहते हैं।

§ ५–७. अनादिकालीन अष्टविध कर्मबन्धनसे तीव्र दुःखकी कारणभूत चारों गतियों में जो दुख उठाते हैं वे सत्त्व हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुष गुणाधिक हैं। असाता वेदनीयके उदयसे जो शारीर या मानस दुःखोंसे संतप्त हैं वे क्लिश्यमान हैं। तत्त्वार्थोपदेश श्रवण और ग्रहणके जो पात्र होते हैं उन्हें विनेय कहते हैं। अविनेय अर्थात् विपरीत वृत्तिवाले। इनमें मैत्री आदि भावनाएँ रखनी चाहिए। 'मैं सब जीवोंके प्रति क्षमा भाव रखता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें, मेरी सब जीवोंसे प्रीति है किसीसे वैर नहीं है' इत्यादि प्रकारकी मैत्री भावना सब जीवोंमें करनी चाहिए। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राधिक गुणिजनों की वन्दना स्तुति सेवा आदिके द्वारा प्रमोद भावना मानी चाहिए। मोहाभिभूत, कुमति कुश्रुत और विभंग ज्ञान-युक्त विषयतृष्णासे जलनेवाले हिताहितमें विपरीत प्रवृत्ति करनेवाले विविध दुःखोंसे पीड़ित दीन

अनाथ कृपण बाल वृद्ध आदि क्लिश्यमान जीवोंमें करुणाभाव रखने चाहिए। ग्रहण धारण विज्ञान और ऊहापोहसे रहित महामोहाभिभूत विपरीतदृष्टि और विरुद्धवृत्ति प्राणियोंमें माध्यस्थ्यकी भावना रखनी चाहिए। यह समझ लेना चाहिए कि ऐसे जीवोंमें वक्ताका हितोपदेश सफल नहीं हो सकता। इस तरह इन भावनाओंके द्वारा अहिंसादिव्रत परिपूर्ण होते हैं।

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

संवेग और वैराग्यके लिए संसार और शरीरके स्वभावका विचार करना चाहिए।

§ १–४. स्वभाव–असाधारण धर्म। विविध वेदनाके आकरभूत संसारसे भीरुता संवेग है। चारित्रमोहके उदयके अभावमें उसके उपशम क्षय और क्षयोपशमसे होनेवाले विषय विरक्त परिणाम वैराग्य हैं। आदिमान् और अनादिपरिणामवाले द्रव्योंका समुदाय ही संसार है। इसकी रचना अनादिनिधन है। इसमें जीव नाना गतियोंमें अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगते हुए परिभ्रमण करते हैं, इसमें कुछ भी नियत नहीं है, जीवन जलबुद्बुदके समान चपल है, बिजली और मेघ आदिके समान भोग-सम्पत्तियाँ क्षणभंगुर हैं, इत्यादि जगत्के स्वरूपकी भावना करनी चाहिए। शरीर अनित्य है, दुःख हेतु है, अशुचि है, निःसार है इत्यादि भावनाओंसे संवेग उत्पन्न होता है। इस तरह आरम्भ और परिग्रहमें दोष देखनेसे धर्ममें धार्मिकोंमें धर्मश्रवणमें और धार्मिकोंके दर्शन में आदरभाव और मनस्तुष्टि आदि होते हैं। आगे आगे गुणोंकी प्राप्तिमें श्रद्धा होती है और शरीर भोगोपभोग तथा संसारसे वैराग्य उत्पन्न होता है। इस तरह भावनाओंसे भावितचेता व्यक्ति व्रतोंके परिपालनमें दृढ़ होता है।

ये सभी भावनाएँ नित्यानित्यात्मक आत्मामें ही हो सकतीं हैं। सर्वथा नित्यपक्षमें विक्रिया न होनेसे भावनाएँ नहीं हो सकतीं। यदि विक्रिया मानते हैं तो नित्यता नहीं रहती। सर्वथा अनित्यपक्षमें अनेकक्षणमें रहनेवाला एक पदार्थ नहीं है तथा अनेक अर्थको विषय करनेवाला एक ज्ञान नहीं है, अतः स्मरण नहीं हो सकता और इसीलिए भावना भी नहीं हो सकती। अनेकान्तवादमें तो द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे नित्य और उभयनिमित्तजन्य उत्पादविनाश-रूप पर्यायोंकी दृष्टिसे अनित्यताको प्राप्त आत्मद्रव्यमें परिणमन हो सकता है। अतः भावनाएँ बन सकती हैं।

हिंसाका लक्षण—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

प्रमत्तयोगसे प्राणव्यपरोपणको हिंसा कहते हैं।

§ १–५. इन्द्रियोंके प्रचारविशेषका निश्चय न करके प्रवृत्ति करनेवाला प्रमत्त है। जैसे मदिरा पीनेवाला मदोन्मत्त होकर कार्याकार्य और वाच्यावाच्यसे अनभिज्ञ रहता है उसी तरह प्रमत्त जीवस्थान जीवोत्पत्तिस्थान और जीवाश्रयस्थान आदिको नहीं जानकर कषायोदयसे हिंसा व्यापारोंको ही करता रहता है और सामान्यतया अहिंसामें प्रयत्नशील नहीं होता। अथवा, चार विकथा चार कषाय पाँच इन्द्रियाँ निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रमादोंसे युक्त प्रमत्त है। योग–सम्बन्ध। यहाँ आत्माका परिणाम ही कर्ता है अतः जो प्रमादरूपसे परिणत होता है वह परिणाम प्रमत्त कहलाता है, उस परिणामके योग–सम्बन्धसे। अथवा योग अर्थात् मन वचन कायकी क्रिया। प्रमत्त–प्रमादपरिणत व्यक्तिके योग-व्यापारको प्रमत्तयोग कहते हैं।

§ ६–११. व्यपरोपण–वियोग करना। प्राणोंके वियोग करनेसे प्राणीकी हिंसा होती है अतः प्राणका ग्रहण किया है, क्योंकि स्वतः प्राणी तो निरवयव है उसका क्या वियोग होगा? प्राण आत्मासे सर्वथा भिन्न नहीं है, जिससे प्राणवियोग होनेपर भी हिंसा न मानी जाय किन्तु प्राणवियोग होनेपर आत्माको ही दुःख होता है अतः हिंसा है और अधर्म है। 'शरीरी आत्मा

प्राणोंसे भिन्न है अतः उसके वियोगमें भी आत्माको दुःख नहीं होना चाहिए' यह शंका ठीक नहीं है ; क्योंकि जब सर्वथा भिन्न पुत्र कलत्र आदिके वियोगमें आत्माको परिताप होता है तब कथंचित् भिन्न प्राणोंके वियोगमें तो होना ही चाहिए। यद्यपि शरीर और शरीरीमें लक्षणभेदसे नानात्व है फिर भी बन्धके प्रति दोनों एक हैं अतः शरीरवियोगपूर्वक होनेवाला दुःख आत्माको ही होता है, अतः हिंसा और अधर्म है । हाँ, जो आत्माको निष्क्रिय नित्य शुद्ध और सर्वगत मानते हैं उनके यहाँ शरीरसे बन्ध नहीं हो सकेगा और न दुःख ही होगा अतः उनके मतमें हिंसा नहीं हो सकती ।

§ १२. प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण ये दोनों विशेषण यह सूचना करते हैं कि दोनोंके होनेपर हिंसा होती है, एकके भी अभावमें हिंसा नहीं होती । तात्पर्य यह कि जब प्रमत्तयोग नहीं होता, केवल प्राणव्यपरोपण है तो वह हिंसा नहीं कही जायगी । कहा भी है—

"प्राणोंसे वियोग करता हुआ भी (अप्रमत्त) वधसे लिप्त नहीं होता"

"ईर्यासमितिपूर्वक गमन करनेवाले साधुके पैरके नीचे यदि कोई जीव आ जाय और मर जाय तो भी उसे तन्निमित्तक सूक्ष्म भी बन्ध नहीं होता । अध्यात्मप्रमाणसे तो मूर्च्छा-ममत्व-भावको ही परिग्रह कहा है ।"

प्रश्न—आपने दोनों विशेषणोंको आवश्यक बताया है पर शास्त्रमें तो प्राणव्यपरोपण नहीं होनेपर भी केवल प्रमत्तयोगसे भी हिंसा बताई है ? कहा भी है—"जीव मरे या न मरे परन्तु सावधानीपूर्वक नहीं बरतनेवालेको हिंसा है ही । जो प्रयत्नशील है उसके द्वारा हिंसा भी हो जाय पर उसे बन्ध नहीं होता" ? **उत्तर**—जहाँ प्रमत्तयोग है वहाँ स्वयंके ज्ञान दर्शन आदि भावप्राणोंका वियोग होता ही है । अतः भावप्राणोंके वियोगकी अपेक्षा दोनों विशेषण सार्थक हैं । कहा भी है—"प्रमादवान् आत्मा अपने प्रमादी भावोंसे पहिले स्वयं अपनी हिंसा करता ही है, दूसरे प्राणीका पीछे वध हो या न भी हो ।" अतः यह दोष भी नहीं होता है कि – "जलमें थलमें और आकाशमें सब जगह जन्तु ही जन्तु हैं । इस जन्तुमय जगत्में भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है ?" क्योंकि ज्ञानध्यानपरायण अप्रमत्त भिक्षुको मात्र प्राणवियोगसे हिंसा नहीं होती । जीव भी स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकारके हैं, उनमें जो सूक्ष्म हैं वे तो न किसीसे रुकते हैं और न किसीको रोकते हैं अतः उनकी तो हिंसा होती नहीं है । जो स्थूल जीव हैं उनकी यथा-शक्ति रक्षा की जाती है । जिनकी हिंसाका रोकना शक्य है उसे प्रयत्नपूर्वक रोकनेवाले संयतके हिंसा कैसे हो सकती है ?

§ १३. यदि प्राणी-आत्माका सद्भाव न माना जाय तो कर्ताका अभाव होनेसे कुशल और अकुशल कर्मपूर्वक होनेवाले प्राणोंका भी अभाव हो जायगा । अतः कर्मभूत प्राणोंका सद्भाव ही कर्तृभूत प्राणीका सद्भाव सिद्ध करता है, जिस प्रकार कि सँडसी आदि हथियारोंसे लुहारकी सत्ता सिद्ध होती है । एक आत्माकी सत्ता न मानने पर रूपण अनुभवन उपलम्भन निमित्तग्रहण और संस्करण आदि भिन्नलक्षणवाले रूप वेदना विज्ञान संज्ञा और संस्कार नामक पाँचों स्कन्ध जब परस्परोपकारके प्रति उत्सुकतासे रहित हैं और क्षणिक होनेसे अपना ही कार्य करनेमें असमर्थ हैं तो वे हिंसाव्यापारमें समर्थ नहीं हो सकते । स्मृति अभिप्राय और संकल्प रूप चित्त जब भिन्नाधिकरण हैं, एक कर्तारूपसे उनका प्रतिसन्धान नहीं होता, तब हिंसा आदि व्यापार कैसे हो सकेंगे ? उत्पत्तिके बाद ही तुरंत विनाश माननेपर तथा विनाशको निर्हेतुक माननेसे प्राणविनाशरूप हिंसाका भी कोई हेतु नहीं हो सकता, जब और हिंसक नहीं होगा तब किसीको क्यों हिंसाका फल लगेगा ? यदि हिंसाके अकारणको भी हिंसाका फल मिलता है तो जगत्में कोई अहिंसक ही नहीं रह सकेगा । 'भिन्न सन्तान-प्राणवियुक्तरूप क्षणोंको उत्पन्न करनेवाला हिंसक है' यह कल्पना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वथा असत्की उत्पत्तिका कोई

कारण ही नहीं हो सकता । यदि असत्की उत्पत्तिका हेतु माना जाता है तो सत्के विनाशका भी कारण मानना चाहिए । तात्पर्य यह कि विनाशका निर्हेतुक मानना खंडित हो जाता है ।

असत्यका लक्षण—

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

असत्य कथन अनृत है ।

§ १–४. 'सत्' शब्द प्रशंसावाची है, अतः 'न सत् असत्' का अप्रशस्त अर्थ होता है, शून्य अर्थ नहीं । अभिधान–कथन । अप्रशस्त अर्थका कहना । ऋत–सत्य और अनृत असत्य है । विद्यमान पदार्थोंके अस्तित्वमें कोई विघ्न उत्पन्न न करनेके कारण 'सत्सु साधु सत्यम्' यह व्युत्पत्ति भी सत्यकी हो सकती है ।

§ ५. यदि 'मिथ्या अनृतम्' ऐसा लघुसूत्र बनाते तो पूरे अर्थका बोध नहीं होता, क्योंकि मिथ्या शब्द विपरीतार्थक है । अतः विद्यमानका लोप तथा अविद्यमानके उद्भावन करने वाले 'आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है, श्यामतंडुल बराबर आत्मा है, अंगूठेकी पौर बराबर आत्मा है, आत्मा सर्वगत है, निष्क्रिय है' इत्यादि वचन ही मिथ्या होनेसे असत्य कहे जाँयगे, किन्तु जो विद्यमान अर्थको भी कहकर प्राणिपीड़ा करनेवाले अप्रशस्त वचन हैं वे असत्य-कोटिमें नहीं आँयगे । 'असत्' कहनेसे जितने अप्रशस्त अर्थवाची हैं, वे सभी अनृत कहे जाँयगे । इससे जो विपरीतार्थवचन प्राणिपीड़ाकारी हैं वे भी अनृत ही हैं ।

स्तेयका लक्षण—

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

बिना दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना स्तेय है ।

§ १–६. **प्रश्न**—यदि अदत्तके आदानको चोरी कहते हैं तो आठ प्रकारके कर्म और नोकर्म तो बिना दिये हुए ही ग्रहण किये जाते हैं अतः उनका ग्रहण भी चोरी ही कहलायगा ? **उत्तर**—जिनमें देनलेनका व्यवहार है उन सोना चाँदी आदि वस्तुओंके अदत्तादानको ही चोरी कहते हैं, कर्म-नोकर्मके ग्रहणको नहीं । यदि कर्मादान भी चोरी समझा जाय तो 'अदत्तादान' विशेषण निरर्थक हो जाता है । जिसमें 'दत्त' का प्रसंग है उसीका 'अदत्त' से निषेध किया जा सकता है । जैसे वस्त्र पात्र आदि हाथ आदिके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तथा दूसरोंको दिये जाते हैं, उस तरह कर्म नहीं । कर्म अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उनका हाथ आदिके द्वारा देना-लेना नहीं हो सकता । स्व-परशरीर आहार तथा शब्दादि विषयोंमें राग-द्वेष रूप तीव्र विकल्प होनेसे कर्मबन्ध होता है । अतः स्वपरिणामोंके अधीन होनेसे इनका लेन-देन नहीं होता । जब गुप्ति समितिरूप संवरपरिणाम होते हैं तब आस्रवका निरोध हो जाता है–कर्मोंका आना रुक जाता है, अतः नित्य कर्मबन्धका प्रसंग नहीं है । अतः जहाँ लौकिक लेन-देन व्यवहार है वहीं अदत्तादानसे चोरीका प्रसंग होता है ।

§ ७–९. **प्रश्न**—इन्द्रियोंके द्वारा शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेसे तथा नगरके दरवाजे आदिको बिना दिये हुए प्राप्त करनेसे साधुको चोरीका दोष लगना चाहिये । **उत्तर**—यत्नवान् अप्रमत्त और ज्ञानी साधुको शास्त्रदृष्टिसे आचरण करनेपर शब्दादि सुननेमें चोरीका दोष नहीं है; क्योंकि ये सब वस्तुएँ तो सबके लिए दी ही गई हैं, अदत्त नहीं हैं । इसीलिए साधु उन दरवाजोंमें प्रवेश नहीं करता जो सार्वजनिक नहीं हैं या बन्द हैं । 'वन्दना सामायिक आदि क्रियाओंके द्वारा पुण्यका संचय साधु बिना दिया हुआ ही करता है अतः उसको प्रशस्त चोर कहना चाहिए' यह आशंका भी निर्मूल है; क्योंकि यह पहिले कह दिया है कि जहाँ देन-लेनका व्यवहार होता है वहीं चोरी है । फिर, 'प्रमत्तयोग' का सम्बन्ध यहाँ होता है । अतः वन्दनादि

क्रियाओंको सावधानीपूर्वक करनेवाले साधुके प्रमत्तयोगकी सम्भावना ही नहीं है अतः चोरीका प्रसंग नहीं आता। तात्पर्य यह कि प्रमत्त व्यक्तिको परद्रव्यका आदान हो या न हो, पर प्राणि-पीड़ाका कारण उपस्थित होनेके कारण पापास्रव होगा ही।

अब्रह्मका लक्षण—

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

मैथुनकर्मको अब्रह्म कहते हैं।

§ १–९. चारित्रमोहके उदयसे स्त्री और पुरुषका परस्पर शरीरसम्मिलन होनेपर सुख-प्राप्तिकी इच्छासे होनेवाला रागपरिणाम मैथुन है। यद्यपि मैथुन शब्दसे इतना अर्थ नहीं निकलता फिर भी प्रसिद्धिवश इष्ट अर्थका अध्यवसाय कर लिया जाता है। मैथुन शब्द लोक और शास्त्र दोनोंमें स्त्री-पुरुषके संयोगसे होनेवाले रतिकर्ममें प्रसिद्ध है। व्याकरणमें भी 'अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायाम्' सूत्रमें मैथुनका यही अर्थ लिया गया है। जिस प्रकार स्त्री और पुरुषका रतिके समय शरीरसंयोग होनेपर स्पर्शसुख होता है उसी तरह एक व्यक्तिको भी हाथ आदिके संयोगसे स्पर्श सुखका भान होता है, अतः हस्तमैथुन भी मैथुन ही कहा जाता है। यह औपचारिक नहीं है अन्यथा इससे कर्मबन्ध नहीं हो सकेगा। यहाँ एक ही व्यक्ति चारित्रमोहोदयसे प्रकट हुए कामरूपी पिशाचके संपर्कसे दो हो गया है और दोके कर्मको मैथुन कहनेमें कोई बाधा नहीं है। अतः 'मिथुनस्य भावः' इस पक्षमें जो दो स्त्री-पुरुषरूप द्रव्योंकी सत्तामात्रको मैथुनत्वका प्रसंग दिया जाता है,वह उचित नहीं है; क्योंकि आभ्यन्तर चारित्रमोहोदयरूपी परिणामके अभावमें बाह्य कारण निरर्थक हैं। जैसे बठर चना आदिमें आभ्यन्तर पाकशक्ति न होनेसे बाह्य जल आदिका संयोग निष्फल है उसी तरह आभ्यन्तर चारित्रमोहोदयके स्त्रैण पौंस्नरूप रति-परिणाम न होनेसे बाह्यमें रतिपरिणामरहित दो द्रव्योंके रहने पर भी मैथुनका व्यवहार नहीं होता। 'मिथुनस्य कर्म' इस पक्षमें दो पुरुषोंके द्वारा की जानेवाली बोझाढोनारूपक्रिया पाकक्रिया और नमस्कारादि क्रियाको भी मैथुनत्वका प्रसंग देना उचित नहीं है; क्योंकि कभी कभी दो पुरुषोंमें भी चारित्रमोहोदयसे मैथुनकर्म देखा जाता है। कहा भी है "पुरुष पुरुषके साथ ही जो रतिकर्म करते हैं वह तीव्र रागकी ही चेष्टा है।" इसी तरह 'स्त्री और पुरुषके कर्म' पक्षमें पाकादि क्रिया और वन्दनादि क्रियामें मैथुनत्वका प्रसंग उचित नहीं है, क्योंकि स्त्री और पुरुषके संयोगसे ही होनेवाला कर्म वहाँ विवक्षित है, पाकादि क्रिया तो अन्यसे भी हो जाती है। फिर 'प्रमत्तयोग' की अनुवृत्ति यहाँ भी आती ही है। अतः चारित्रमोहके उदयसे प्रमत्त मिथुनके कर्मको ही मैथुन कह सकते हैं। नमस्कारादि क्रियामें प्रमादका योग तथा चारित्रमोहका उदय नहीं है, अतः वह मैथुन नहीं कही जा सकती।

§ १०. जिसके परिपालनसे अहिंसादि गुणोंकी वृद्धि हो वह ब्रह्म है। अब्रह्मचारीके हिंसादि दोष पुष्ट होते हैं। मैथुनाभिलाषी व्यक्ति स्थावर और त्रसजीवोंका घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, सचेतन और अचेतन परिग्रहका संग्रह भी करता है।

परिग्रहका लक्षण—

मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥

§ १–४. गाय भैंस मणि मुक्ता आदि चेतन अचेतन बाह्य परिग्रहोंके और राग द्वेष आदि आभ्यन्तर उपाधियोंके संरक्षण अर्जन संस्कारादि व्यापारको मूर्च्छा कहते हैं। वात पित्त और कफ आदिके विकारसे होनेवाली मूर्च्छा-बेहोशी यहाँ विवक्षित नहीं है। यद्यपि मूर्च्छि धातु मोहसामान्यार्थक है फिर भी यहाँ बाह्य-आभ्यन्तर उपाधिके संरक्षण अर्थमें ही उसका प्रयोग है। आभ्यन्तर ममत्वपरिणाम रूप मूर्छाको परिग्रह कहनेपर बाह्य पदार्थोंमें अपरिग्रहत्वका

प्रसंग नहीं देना चाहिए; क्योंकि आभ्यन्तर परिग्रह ही प्रधानभूत है, उसके ग्रहण करनेसे बाह्यका ग्रहण तो हो ही जाता है। जिस प्रकार प्राणका कारण होनेसे अन्नको प्राण कह देते हैं उसी तरह कारणमें कार्यका उपचार करके मूर्च्छाके कारणभूत बाह्य पदार्थको भी मूर्च्छा कह देते हैं।

§ ५–६. 'प्रमत्तपद'की अनुवृत्ति यहाँ भी होती है। अतः ज्ञान दर्शन और चारित्र आदिमें होनेवाले ममत्वभावको मूर्च्छा या परिग्रह नहीं कह सकते। ज्ञान-दर्शनादिवालोंके मोह न होनेसे वे अप्रमत्त हैं और इसीलिए अपरिग्रही हैं। ज्ञानादि तो आत्माके स्वभाव हैं, अहेय हैं अतः वे परिग्रह हो ही नहीं सकते। रागादि कर्मोदयजन्य हैं। अनात्मस्वभाव हैं अतः हेय हैं, अतः इनमें होनेवाला 'ममेदम्' संकल्प परिग्रह है और यह परिग्रह ही समस्त दोषोंका मूल है। ममत्व संकल्प होनेपर उसके रक्षणादिकी व्यवस्था करनी होती है और उसमें हिंसादि अवश्यभावी हैं, उसके लिए झूठ भी बोलता है, चोरी करता है और क्या कुकर्म नहीं करता? और इनसे नरकादि अशुभ गतियोंका पात्र बनता है, इस लोकमें भी सैकड़ों आपत्तियों और आकुलताओंसे व्याकुल रहता है।

व्रतीका लक्षण—

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

शल्यरहित व्रती होता है।

§ १–२. अनेक प्रकारकी वेदनारूपी सुइयोंसे प्राणीको जो छेदें वे शल्य हैं। जिस प्रकार शरीरमें चुभे हुए काँटा आदि प्राणीको बाधा करते हैं उसी तरह कर्मोदयविकार भी शारीर और मानस बाधाओंका कारण होनेसे शल्यकी तरह शल्य कहा जाता है।

§ ३. शल्य तीन प्रकारकी हैं—माया मिथ्यादर्शन और निदान। माया अर्थात् वंचना छल-कपट आदि। विषयभोगकी आकांक्षा निदान है। मिथ्यादर्शन अर्थात् अतत्त्वश्रद्धान। इन तीन शल्योंसे निकला हुआ निःशल्य व्यक्ति व्रती होता है।

§ ४–८. प्रश्न—निःशल्यत्व और व्रतित्व दोनों पृथक् पृथक् हैं, अतः निःशल्य होनेसे व्रती नहीं हो सकता। कोई भी दण्डके सम्बन्धसे 'छत्री' नहीं हो सकता। अतः व्रतके सम्बन्धसे व्रती कहना चाहिए और शल्यके अभावमें निःशल्य। यदि निःशल्य होनेसे व्रती होता है तो या तो व्रती कहना चाहिए या निःशल्य। 'निःशल्य हो या व्रती हो' यह विकल्प मानकर विशेषण-विशेष्य भाव बनाना भी उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेमें कोई विशेष फल नहीं है। जैसे 'देवदत्तको घी दाल या दहीसे भोजन कराना' यहाँ विभिन्न फल हैं वैसे यहाँ चाहे 'निःशल्य कहो या व्रती' दोनों विशेषणोंसे विशिष्ट एक ही व्यक्ति इष्ट है। उत्तर—निःशल्यत्व और व्रतित्वमें अंग-अंगिभाव विवक्षित है। केवल हिंसादिविरक्तिरूप व्रतके सम्बन्धसे व्रती नहीं होता जब तक कि शल्योंका अभाव न हो जाय। शल्योंका अभाव होनेपर ही व्रतके सम्बन्धसे व्रती होता है। जैसे 'बहुत घी-दूधवाला गोमान्' यहाँ गायें रहनेपर भी यदि बहुत घी-दूध नहीं होता तो उक्त प्रयोग नहीं किया जाता उसी तरह सशल्य होनेपर व्रतोंके रहते हुए भी व्रती नहीं कहा जायगा। जो निःशल्य होता है वही व्रती है। जैसे 'तेज फरसेसे छेदता है' यहाँ अप्रधान फरसा छेदनेवाले प्रधान कर्ताका उपकारक है उसीतरह निःशल्यत्वगुणसे युक्त व्रत व्रती आत्माके विशेषक होते हैं।

व्रतीके भेद—

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अगारी-गृहस्थ और अनगारी-मुनिके भेदसे व्रती दो प्रकारके हैं।

§ १-२. आश्रयार्थियोंके द्वारा जो स्वीकार किया जाय वह अगार–घर है। यहाँ चारित्र-मोहके उदयसे घरके प्रति अनिवृत्त परिणामरूप भावागार विवक्षित है। अतः भावागारी व्यक्ति घर छोड़कर यदि किसी कारणवश वनमें भी रहता है तो वह अगारी ही है और विषयतृष्णाओंसे निवृत्त मुनि यदि शून्य घर मन्दिर आदिमें भी बस जाता है तो भी वह अनगारी है।

§ ३–४. जैसे घरके एक कोने या नगरके एक देशमें रहनेवाला भी व्यक्ति नगरवासी कहा जाता है उसीतरह सकल व्रतोंको धारण न कर एकदेश व्रतोंको धारण करनेवाला भी भी नैगम संग्रह और व्यवहारनयोंकी अपेक्षा व्रती कहा जायगा। जैसे बत्तीस हजार देशोंके अधिपतिमें प्रयुक्त होनेवाला 'राजा' शब्द एक देश या आधे देशके अधिपतिमें भी प्रयुक्त होता है, वह भी 'राजा' कहलाता है उसी तरह अठारह हजार शील और चौरासी लाख गुणोंके धारक संपूर्णव्रती अनगारमें प्रयुक्त होनेवाला भी 'व्रती' शब्द अणुव्रतधारियोंमें भी प्रयुक्त होता है, उन्हें भी व्रती कहते हैं।

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अणुव्रतोंका धारक अगारी है।

§ १–५. समस्त सावद्यकी निवृत्ति न होनेसे अणुव्रत कहे जाते हैं। अहिंसाणुव्रती दो इन्द्रिय आदि त्रसजीवोंकी हिंसासे विरक्त होता है। सत्याणुव्रती स्नेह द्वेष और मोहके उद्रेकसे असत्य कथनमें प्रवृत्ति नहीं करता। अचौर्याणुव्रती अन्यपीडाकर और राजभय आदिसे अवश्य ही परित्यक्त जो अदत्त है, उससे निवृत्त होता है। उपात्त या अनुपात्त परस्त्रीमात्रसे विरक्त होना चौथा ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है। धन-धान्य खेत आदि परिग्रहोंका स्वेच्छासे परिमाण कर लेना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है।

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

गृही दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग-परिमाण और अतिथिसंविभागव्रतसे भी युक्त होता है।

§ १–६. परमाणुओंसे मापे गये आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीमें ही सूर्यके उदय अस्त और गतिसे पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण आदि दिशाओंका व्यवहार होता है। निश्चित संख्यावाले ग्राम नगर आदिके प्रदेशोंको देश कहते हैं। बिना प्रयोजनके पाप कर्मोंमें प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है। विरति शब्दका प्रत्येकसे सम्बन्ध हो जाता है–दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति। यद्यपि प्रथमसूत्रमें विरतिशब्द है पर वह उपसर्जनीभूत गौण होनेसे सम्बद्ध नहीं हो सकता अतः यहाँ उसका पुनः ग्रहण किया है।

§ ७. जैसे 'संगत घृत, संगत तैल'में 'सम्' शब्द एकीभाव अर्थमें है उसी तरह सामायिकमें भी। अर्थात् मन वचन और कायकी क्रियाओंसे निवृत्त होकर एक आत्मद्रव्यमें लीन हो जाना। समय अर्थात् आत्माकी प्राप्ति जिसका प्रयोजन हो वह सामायिक है।

§ ८. पाँचों इन्द्रियोंका शब्द आदि विषयोंसे निवृत्त होकर आत्माके समीप पहुँच जाना उपवास है अर्थात् अशन पान भक्ष्य और लेह्य इन चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना उपवास है। प्रोषध अर्थ पर्वके दिन। पर्वमें किया जानेवाला उपवास प्रोषधोपवास है।

§ ९. उपभोग अर्थात् एकबार भोगे जानेवाले अशन पान गन्ध माला आदि। परिभोग अर्थात् जो एकबार भोगे जाकर भी दुबारा भोगे जा सकें जैसे वस्त्र अलंकार शय्या मकान सवारी आदि। उपभोग और परिभोगकी मर्यादा करना उपभोगपरिभोगपरिमाण है।

§ १०–११. चारित्रबलसे सम्पन्न होनेके कारण जो संयमका विनाश नहीं करके

गमन करता है वह अतिथि है। अथवा, जिसके आनेकी तिथि निश्चित न हो वह अतिथि है। अतिथिके लिए संविभाग–दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

§ १२-१३. 'व्रत' शब्द प्रथम सूत्रमें है पर गौण होनेसे उसका यहाँ सम्बन्ध नहीं किया जा सकता। 'व्रतसम्पन्न' शब्दका सम्बन्ध दिग्विरतिव्रतसम्पन्न देशविरतिव्रतसम्पन्न आदि रूपसे प्रत्येकसे कर देना चाहिए।

§ १४–१८. जिनका बचाव नहीं किया जा सकता ऐसे क्षुद्र जन्तुओंसे दिशाएँ व्याप्त रहती हैं अतः उनमें गमनागमनकी निवृत्ति करनी चाहिए। दिशाओंका परिमाण पर्वत आदि प्रसिद्ध चिह्नोंसे तथा योजन आदिकी गिनतीसे कर लेना चाहिए। यद्यपि दिशाओंके भागमें गमन न करनेपर भी स्वीकृत क्षेत्रमर्यादाके कारण पापबन्ध होता है फिर भी दिग्विरतिका उद्देश्य निवृत्तिप्रधान होनेसे बाह्यक्षेत्रमें हिंसादिकी निवृत्ति करनेके कारण कोई दोष नहीं है। जो पूर्णरूपसे हिंसादिनिवृत्ति करनेमें असमर्थ है पर उस सकलविरतिके प्रति आदरशील है वह श्रावक जीवन-निर्वाह हो या न हो, अनेक प्रयोजन होनेपर भी स्वीकृत क्षेत्रमर्यादाको नहीं लाँघता अतः हिंसानिवृत्ति होनेसे वह व्रती है। किसी परिग्रही व्यक्ति को 'इस दिशामें अमुक जगह जानेपर बिना प्रयत्नके मणि मोती आदि उपलब्ध होते हैं' इस तरह प्रोत्साहित करनेपर भी दिग्व्रतके कारण बाहर जानेकी और मणि मोतीकी सहजप्राप्तिकी लालसाका निरोध होनेसे दिग्व्रत श्रेयस्कर है। अहिंसाणुव्रती भी परिमित दिशाओंसे बाहर मन वचन काय कृत कारित और अनुमोदना सभी प्रकारोंके द्वारा हिंसादि सर्वसावद्योंसे विरक्त होता है अतः वहाँ उसके महाव्रत ही माना जाता है।

§ १९. इसीतरह देशविरतिव्रत होता है। 'मैं इस घर और तालाबके मध्य भागको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाऊँगा।' इसतरह देशव्रत लिया जाता है। मर्यादाके बाहिरी क्षेत्रमें इसे भी महाव्रत कहते हैं। दिग्विरति यावज्जीवन-सर्वकालके लिये होती है जब कि देशव्रत शक्त्यनुसार नियतकालके लिए होता है।

§ २०. अनर्थदण्ड पाँच प्रकारका है। 'दूसरेका जय पराजय वध बन्ध अंगच्छेद धनहरण आदि कैसे हो' यह मनसे चिन्तन करना अपध्यान है। क्लेशवणिज्या तिर्यग्वणिज्या वधकोपदेश और आरम्भोपदेश आदि पापोपदेश हैं। 'इस देशमें दास दासी सस्ते मिलते हैं, उन्हें अमुक देशमें बेचनेपर प्रचुर अर्थलाभ होगा' इत्यादि कहना क्लेशवणिज्या है। गाय भैंस आदि पशुओंके व्यापारका मार्ग बताना तिर्यग्वणिज्या है। जाल डालनेवाले पक्षी पकड़नेवाले तथा शिकारियोंको पक्षी मृग सुअर आदि शिकारके योग्य प्राणियोंका पता आदि बताना वधकोपदेश है। आरम्भकार्य करनेवाले किसान आदिको पृथिवी जल अग्नि और वनस्पति आदिके आरम्भके उपाय बताना आरम्भोपदेश है। तात्पर्य यह कि हर प्रकारके पापवर्धक उपदेश पापोपदेश हैं। प्रयोजनके बिना ही वृक्ष आदिका काटना, भूमिको कूटना, पानी सींचना आदि सावद्यकर्म प्रमादाचरित हैं। विष शस्त्र अग्नि रस्सी कसन और दंड आदि हिंसाके उपकरणोंका देना हिंसादान है। हिंसा या काम आदिको बढ़ानेवाली दुष्ट कथाओंका सुनना और सिखाना आदि व्यापार अशुभश्रुति है। इन अनर्थदंडोंसे विरक्त होना अनर्थदंडविरतिव्रत है।

§ २१. पहिले कहे गये दिग्व्रत और देशव्रत तथा आगे कहे जानेवाले उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रतमें स्वीकृत मर्यादामें भी निरर्थक गमन आदि तथा विषयसेवन आदि नहीं करना चाहिए, इस अतिरेकनिवृत्तिकी सूचना देनेके लिए बीचमें अनर्थदण्डविरतिका ग्रहण किया है।

§ २२-२४. जितने काल तथा जितने क्षेत्रका परिमाण सामायिकमें निश्चित किया जाता है उसमें स्थित सामायिक करनेवालेके स्थूल और सूक्ष्म हिंसा आदिसे निवृत्ति होनेके कारण महाव्रतत्व समझना चाहिए। यद्यपि सामायिकमें सर्वसावद्यनिवृत्ति हो जाती है फिर भी संयमघाती चारित्रमोह कर्मके उदयके कारण इसे संयत नहीं कह सकते। इसे 'महाव्रती' तो उपचारसे

कहा है। जैसे राजमहलके कुछ भण्डार बैठक आदिमें व्यापार करनेवाला चैत्र अन्तःपुर शयनागार आदिमें नहीं जाकर भी 'राजकुलमें सर्वगत' यह समझा जाता है उसी तरह हिंसादि बाह्य व्यापारोंसे विरक्त होनेके कारण आभ्यन्तर संयमघाती कर्मके उदय रहनेपर भी सामायिकव्रतीको महाव्रती कह देते हैं। इसीलिए निर्ग्रन्थलिंगधारी और एकादशांगपाठी अभव्यकी भी बाह्यमहाव्रत पालन करनेके कारण देशसंयतभाव और संयतभावसे रहित होनेपर भी उपरिम ग्रैवेयकतक उत्पत्ति बन जाती है।

§ २५. श्रावक शरीरसंस्कारके कारणभूत स्नान गन्ध माला अलंकार आदिसे रहित होकर साधुनिवास चैत्यालय या प्रोषधोपवासालय आदि पवित्र स्थानोंमें धर्मकथाश्रवण श्रावण चिन्तन और ध्यान आदिमें मनको लगाता हुआ आरम्भ परिग्रहको छोड़कर उपवास करे।

§ २६. त्रसघात बहुघात प्रमाद अनिष्ट और अनुपसेव्य रूप विषयोंके भेदसे भोगोपभोगपरिमाणव्रत पाँच प्रकारका हो जाता है। त्रसघातकी निवृत्तिके लिए मधु और मांसको सदाके लिए छोड़ देना चाहिए। प्रमादके नाश करनेके लिए हिताहितविवेकको नष्ट करनेवाली मोहकारी मदिराका त्याग करना अत्यावश्यक है। केतकी अर्जुनपुष्प आदि बहुत जन्तुओंके उत्पत्तिस्थान हैं तथा मूली अदरख हलदी नीमके फूल आदि अनन्तकाय हैं, इनके सेवनमें अल्पफल और बहुविघात होता है, अतः इनका त्याग ही कल्याणकारी है। गाड़ी रथ घोड़ा तथा अलंकार आदि 'इतने मुझे इष्ट हैं, रखना हैं, अन्य अनिष्ट हैं' इस तरह अनिष्टसे निवृत्ति करनी चाहिये; क्योंकि जबतक अभिप्रायपूर्वक नियम नहीं लिया जाता तबतक वह व्रत नहीं माना जा सकता। जो विचित्र प्रकारके वस्त्र विकृतवेष आभरण आदि शिष्टजनोंके उपसेव्य-धारण करने लायक नहीं हैं वे अपनेको अच्छे भी लगते हों तब भी उनका यावज्जीवन परित्याग कर देना चाहिये। यदि वैसी शक्ति नहीं है तो अमुक समयकी मर्यादासे अमुक वस्तुओंका परिमाण करके निवृत्ति करनी चाहिये।

§ २७. अतिथिसंविभागव्रत आहार, उपकरण, औषध और आश्रयके भेदसे चार प्रकारका हो जाता है। मोक्षार्थी संयमी शुद्धमतिके लिए शुद्ध चित्तसे निर्दोष भिक्षा, सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रके बढ़ानेवाले धर्मोपकरण, योग्य औषध और आश्रय परमधर्म और श्रद्धापूर्वक देना चाहिये।

'च' शब्दसे गृहस्थधर्ममें संगृहीत होनेवाली सल्लेखनाका वर्णन—

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

मरणके समय होनेवाली सल्लेखनाको प्रेम पूर्वक धारण करना चाहिये।

§ १–५. अपने परिणामोंसे गृहीत आयु इन्द्रिय और बलका कारणवश क्षय होना मरण है। मरण दो प्रकारका है—नित्यमरण और तद्भवमरण। प्रतिक्षण आयु आदिका क्षय होनेसे नित्यमरण होता रहता है। नूतन शरीर पर्यायको धारण करनेके लिए पूर्वपर्यायका नष्ट होना तद्भव मरण है। सूत्रमें मरणान्त शब्दसे तद्भवमरण लिया गया है। सल्लेखना अर्थात् भली प्रकार काय और कषायोंको कृश करना। बाह्यशरीर और आभ्यन्तर कषायोंका कारणनिवृत्तिपूर्वक क्रमशः क्षीण करते जाना सल्लेखना है। इसको सेवन करनेवाला 'गृही' होता है। यहाँ 'गृही' शब्दका अध्याहार कर लेना चाहिए। यद्यपि 'सेविता' शब्द देनेसे काम निकल सकता था, फिर भी 'जोषिता' पदसे 'प्रीतिपूर्वक सेवन करना' यह विशिष्ट अर्थ विवक्षित है। स्वयं की अन्तरंग प्रीतिके बिना जबरदस्ती सल्लेखना नहीं कराई जाती। अन्तरंग प्रीतिके होनेपर सल्लेखना की जाती है। यहाँ 'जोषिता' शब्दमें कर्ता अर्थमें 'तृन्' प्रत्यय है, अतः 'सल्लेखनायाः' ऐसा षष्ठीका प्रसंग नहीं है।

§ ६–९. प्रश्न-सल्लेखनामें अभिप्रायपूर्वक आयु और शरीर आदिका घात किया जाता है, अतः इसमें आत्मवधका दोष लगना चाहिये? उत्तर—प्रमादके योगसे प्राणव्यपरोपणको हिंसा कहते हैं। चूँकि सल्लेखनामें प्रमादका योग नहीं है अतः उसे आत्मवध नहीं कह सकते। राग द्वेष और मोह आदिसे कलुषित व्यक्ति जब विष शस्त्र आदिसे अभिप्रायपूर्वक घात करता है तब आत्मवधका दोष होता है, पर सल्लेखनाधारीके राग द्वेष आदि कलुषताएँ नहीं हैं अतः आत्मवधका दोष नहीं हो सकता। कहा भी है—"रागादिकी उत्पत्ति न होना अहिंसा है और रागादिका उत्पन्न होना ही हिंसा है।" फिर, मरण तो अनिष्ट होता है। जैसे अनेक प्रकारके सोने चाँदी कपड़ा आदि वस्तुओंका व्यापार करनेवाले किसी भी दुकानदारको अपनी दुकानका विनाश कभी इष्ट नहीं हो सकता, और विनाशके कारण आ जानेपर यथाशक्ति उनका परिहार करना संभव न हुआ तो वह बहुमूल्य पदार्थोंकी रक्षा करता है उसीतरह व्रतशील पुण्य आदिके संचयमें लगा हुआ गृहस्थ भी इनके आधारभूत शरीरका विनाश कभी भी नहीं चाहता, शरीरमें रोग आदि विनाशके कारण आनेपर उनका यथाशक्ति संमयानुसार प्रतीकार भी करता है, पर यदि निष्प्रतीकार अवस्था हो जाती है तो अपने संयम आदिका विनाश न हो उनकी रक्षा हो जाय इसके लिए पूरा यत्न करता है। अतः व्रतादिकी रक्षाके लिए किये गये प्रयत्नको आत्मवध कैसे कहा जा सकता है? अथवा, जिस प्रकार तपस्वी ठंड गरमीके सुख-दुःखको नहीं चाहता, पर यदि बिनचाहे सुख-दुःख आ जाते हैं तो उनमें राग-द्वेष न होनेसे तत्कृत कर्मोंका बन्धक नहीं होता उसी तरह जिनप्रणीत सल्लेखनाधारी व्रती जीवन और मरण दोनोंके प्रति अनासक्त रहता है पर यदि मरणके कारण उपस्थित हो जाते हैं तो रागद्वेष आदि न होनेसे आत्मवधका दोषी नहीं है।

§ १०. जैसे क्षणिकवादीको 'सभी पदार्थ क्षणिक हैं' यह कहनेमें स्वसमयविरोध है उसी तरह 'जब सत्त्व सत्त्वसंज्ञा वधक और वधचित्त इन चार चेतनाओंके रहनेपर हिंसा होती है' इस मतवादीके यहाँ जब सल्लेखनाकारीके 'आत्मवधक' चित्त ही नहीं है तब आत्मवधका दोष देनेमें स्ववचनविरोध है। इसका अर्थ यह हुआ कि बिना अभिप्रायके ही कर्मबन्ध हो गया जो कि स्पष्टतः सिद्धान्तविरुद्ध है। यदि सिद्धान्तविरोधके भयसे चार प्रकारकी चेतनाओंके रहनेपर ही हिंसा स्वीकार की जाती है तो सल्लेखनामें आत्मवधक चित्त न होनेसे हिंसा नहीं माननी चाहिए। अथवा, जैसे 'मैं मौनी हूँ' यह कहनेवाले मौनीके स्ववचनविरोध है उसी तरह निरात्मकवादीके जब आत्माका अभाव ही है तब 'आत्मवधकत्व' का दोष देनेमें भी स्ववचनविरोध ही है। यदि स्ववचनविरोधके भयसे निरात्मक पक्ष लिया जाता है तो 'आत्मवध' की चर्चा अप्रासंगिक हो जाती है। जो वादी आत्माको निष्क्रिय मानते हैं यदि वे साधुजनसेवित सल्लेखनाको करनेवालेके लिए 'आत्मवध' दूषण देते हैं तो उनकी आत्माको निष्क्रिय माननेकी प्रतिज्ञा खंडित हो जाती है और यदि वे निष्क्रियत्व पक्षपर दृढ़ रहते हैं तो जब आत्मवधकी प्रयोजक सल्लेखना नामक क्रिया ही नहीं हो सकती, तब आत्मवधका दोष कैसे दिया जा सकता है?

§ ११. जिस समय व्यक्ति शरीरको जीर्ण करनेवाली जरासे क्षीणबलवीर्य हो जाता है और वातादिविकारजन्य रोगोंसे तथा इन्द्रियबल आदिके नष्टप्राय होनेसे मृतप्राय हो जाता है, उस समय सावधान व्रती मरणके अनिवार्य कारणोंके उपस्थित होनेपर प्रासुक भोजन पान और उपवास आदि के द्वारा क्रमशः शरीरको कृश करता है और मरण होने तक अनुप्रेक्षा आदि का चिन्तन करके उत्तम आराधक होता है।

§ १२–१४. पूर्वसूत्रके साथ इस सूत्रको मिलाकर एकसूत्र इसलिए नहीं बनाया कि सल्लेखना कभी किसी सप्तशीलधारी व्रतीके द्वारा आवश्यकता पड़नेपर ही की जाती है, दिग्व्रत आदि की तरह वह सबके लिए अनिवार्य नहीं है। किसीके सल्लेखनाके कारण नहीं भी आते।

गृहस्थको दिग्व्रत आदि सात शीलोंका उपदेश दिया गया है। उसे घर छोड़ देनेपर श्रावकरूपसे ही सल्लेखना होती है इस विशेष अर्थकी सूचना देनेके लिए पृथक् सूत्र बनाया है। 'यह सल्लेखना विधि सातशीलधारी गृहस्थको ही नहीं है किन्तु महाव्रती साधुको भी होती है।' इस सामान्य नियमकी सूचना भी पृथक् सूत्र बनानेसे मिल जाती है।

सम्यग्दर्शनके अतिचार—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥२३॥

§ १. शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। निःशंकित्व आदिके प्रतिपक्षी शंका आदि हैं। मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान चारित्र गुणोंका मनसे अभिनन्दन करना प्रशंसा है तथा वचनसे विद्यमान-अविद्यमान गुणोंका कथन संस्तव है।

§ २. यद्यपि अगारीका प्रकरण है और आगे भी रहेगा, पर इस सूत्रमें अगारी—गृहस्थ सम्यग्दृष्टिके अतिचार नहीं बताये हैं किन्तु सम्यग्दृष्टिसामान्यके, चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि।

§ ३–४. दर्शनमोहके उदयसे तत्त्वार्थश्रद्धानसे विचलित होना अतीचार है। अतिक्रम भी अतिचारका ही नाम है। यद्यपि सम्यग्दर्शनके अंग आठ बताये हैं और उनके प्रतिपक्षी दोष आठ हो सकते हैं, पर शेषका यहीं अन्तर्भाव करके पाँच ही अतिचार बताये गये हैं, यहाँ संस्तवको पृथक् गिना है।

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥

व्रत और शीलोंके भी क्रमशः पाँच पाँच अतिचार हैं।

§१–२. यद्यपि दिग्विरति आदि शील भी अभिसन्धिपूर्वकनिवृत्ति होनेसे व्रत हैं किन्तु ये शील विशेषरूपसे व्रतोंके परिरक्षणके लिए होते हैं अतः इनका पृथक् निर्देश किया है। आगे बन्ध वध आदि अतिचार बताये जायँगे, उससे ज्ञात होता है कि ये अतिचार गृहस्थोंके व्रतके हैं।

§ ३-४. 'पञ्च-पञ्च' यह वीप्सार्थक द्वित्व है। तात्पर्य यह कि इसमें समस्त अर्थका बोध होता है, प्रत्येक व्रत-शीलके पाँच-पाँच अतिचार हैं यह सूचित होता है। यद्यपि 'पञ्चशः' ऐसा शस् प्रत्ययान्तपदसे काम चल सकता था पर स्पष्टबोधके लिए द्वित्वनिर्देश किया है। यथाक्रम शब्दसे आगे कहे जानेवाले अतिचारोंका निर्दिष्टक्रमसे अन्वय कर लेना चाहिए।

अहिंसाणुव्रतके अतिचार—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥

§ १–५. बन्ध-खूँटा आदिसे रस्सीसे इस प्रकार बाँध देना जिससे वह इष्टदेशको गमन न कर सके। डंडा कषा बेंत आदिसे पीटना वध है, न कि प्राणिहत्या; क्योंकि हत्यासे विरति तो व्रतधारणकालमें हो चुकी है। कान नाक आदि अवयवोंका छेदन करना छेद है। अत्यन्त लोभके कारण उचित भारसे अधिक भार लादना अतिभारारोपण है। गाय बैल आदिको किसी कारणसे समय पर चारा-पानी नहीं देना अन्नपाननिरोध है। ये अहिंसाणुव्रतके अतिचार हैं।

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥

§ १–५. अभ्युदय और निःश्रेयसार्थक क्रियाओंमें उलटी प्रवृत्ति करा देना या अन्यथा बात कहना मिथ्योपदेश है। स्त्री-पुरुषके एकान्तमें किये गये रहस्यका उद्घाटन रहोभ्याख्यान है। किसीके कहनेसे ठगनेके लिए झूठी बात लिखना कूटलेखक्रिया है। सुवर्ण आदि गहना रखने वालेके द्वारा भूलसे कम माँगनेपर जानते हुए भी 'जो तुम माँगते हो ले जाओ' इस तरह कम दे देना न्यासापहार है। प्रकरण और चेष्टा आदिसे दूसरेके अभिप्रायको समझकर ईर्षावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। ये सत्याणुव्रतके अतिचार हैं।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपक-व्यवहाराः ॥ २७ ॥

§ १–५. चोरी करनेवालेको उपाय बताना और उसकी अनुमोदना करना स्तेनप्रयोग है। अपने द्वारा जिसे उपाय नहीं बताये और न जिसकी अनुमोदना ही की है, ऐसे चोरका चोरी किया हुआ माल खरीदना तदाहृतादान है। इसमें परपीड़ा राजभय आदि हैं। उचित—न्याय्य भागसे अधिक भाग दूसरे उपायोंसे ग्रहण करना अतिक्रम है। विरुद्धराज्य—राज्य परिवर्तनके समय अल्प मूल्यवाली वस्तुओंको अधिक मूल्यकी बताना। नापने तौलनेके तराजू आदिमें कम बाँटोंसे देना और अधिकसे दूसरेकी वस्तुको खरीदना हीनाधिकमानोन्मान है। कृत्रिम सोना चाँदी बनाकर या मिलाकर ठगी करना प्रतिरूपक व्यवहार है। ये अदत्तादानविरतिके अतिचार हैं।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

१–५. सातावेदनीय और चारित्रमोहके उदयसे कन्याके वरणको विवाह कहते हैं। परका विवाह कराना। गान नृत्यादि कला चारित्रमोह स्त्रीवेदका उदय विशिष्ट अंगोपांगके लाभसे गमन करनेवाली इत्वरिका है। जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसी वेश्या या पुंश्चली अपरिगृहीता है। जो एक पतिके द्वारा परिणीत है वह परिगृहीता है। इनसे सम्बन्ध रखना इत्वरिका परिगृहीता परिगृहीता-गमन है। काम सेवनके योनि आदि अंगोंके सिवाय अन्य अंगोंमें कामातिरेकवश क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है। तीव्रकामप्रवृत्ति, सतत कामवासनासे पीड़ित रहकर विषयसेवनमें लगे रहना कामतीव्राभिनिवेश है। दीक्षिता अतिबाला तथा पशुओं आदिमें मैथुनप्रवृत्ति करना कामतीव्राभिनिवेशके ही फल हैं। इन कार्योंमें राजभय लोकापवाद आदि हैं। ये स्वदारसन्तोष-व्रतके अतिचार हैं।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥

§ १–२ क्षेत्र वास्तु आदि दो-दोका द्वन्द्व समास करके फिर कुप्यके साथ पूर्णद्वन्द्व करना चाहिये। क्षेत्र—खेत, वास्तु—मकान, हिरण्य—सोनेके सिक्के आदि, सुवर्ण—सोना, धन—गाय आदि, धान्य—चावल आदि, दासीदास—स्त्री और पुरुष भृत्य, कुप्य—कपास या कोसे आदिके वस्त्र और चन्दन आदि। 'मेरा इतना ही परिग्रह है इससे अधिक नहीं' इस तरह मर्यादित क्षेत्र आदिसे अतिलोभके कारण मर्यादा बढ़ा लेना, स्वीकृत मर्यादाका उल्लंघन करना परिग्रह-विरमण व्रतके अतिचार हैं।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

§ १–९. दिशाओंकी की गई मर्यादाका लाँघ जाना अतिक्रम है। पर्वत और सीमाभूमि आदिसे ऊपर चढ़ जाना ऊर्ध्वातिक्रम है। कूप आदिमें नीचे उतरना अधोऽतिक्रम है। बिल गुफा आदिमें प्रवेश करके मर्यादा लाँघ जाना तिर्यग्व्यतिक्रम है। लोभ आदिके कारण स्वीकृत मर्यादा-का परिमाण बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है। निश्चित मर्यादाको भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है। इच्छा-परिमाण नामक पाँचवे अणुव्रतमें इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें क्षेत्र वास्तु आदिका परिमाण किया जाता है और दिग्विरतिमें दिशाओंकी मर्यादा की जाती है। इस दिशामें लाभ होगा अन्यत्र लाभ नहीं होगा और लाभालाभसे ही जीवन-मरणकी समस्या जुटी है फिर भी स्वीकृत दिशामर्यादासे आगे लाभ होनेपर भी गमन नहीं करना दिग्विरति है। दिशाओंका

क्षेत्र वास्तु आदिकी तरह परिग्रहबुद्धिसे अपने अधीन करके परिमाण नहीं किया जाता। इन दिशाकी मर्यादाओंका उल्लँघन प्रमाद मोह और चित्तव्यासंगसे हो जाता है।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

§ १–६. अपने संकल्पित देशसे बाहर स्थित व्यक्तिको प्रयोजनवश कुछ पदार्थ लानेकी आज्ञा देना आनयन है। स्वीकृत मर्यादासे बाहर स्वयं न जाकर और दूसरेको न बुलाकर भी नौकरके द्वारा इष्टव्यापार सिद्ध करना प्रेष्यप्रयोग है। मर्यादाके बाहरके नौकर आदिको खाँसकर या अन्य प्रकारसे शब्द करके कार्य कराना शब्दानुपात है। 'मुझे देखकर काम जल्दी होगा' इस अभिप्रायसे अपने शरीरको दिखाना रूपानुपात है। नौकर चाकरोंको संकेत करनेके लिए कंकड़ पत्थर आदि फैंकना पुद्गलक्षेप कहा जाता है। उक्त अतिचारोंमें स्वयं मर्यादाका उल्लँघन नहीं करके अन्यसे करवाता है, अतः इन्हें अतिक्रम कहते हैं। यदि स्वयं उल्लँघन करता तो व्रतका लोप ही हो जाता। ये देशव्रतके अतिचार हैं।

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

§ १–७. चारित्रमोहात्मक रागके उदयसे हास्ययुक्त अशिष्टवचनके प्रयोगको कन्दर्प कहते हैं। कायकी कुचेष्टाओंके साथ ही साथ होनेवाला हास्य और अशिष्ट प्रयोग कौत्कुच्य कहलाता है। शालीनताका त्यागकर धृष्टतापूर्वक यद्वा तद्वा प्रलाप–बकवास मौखर्य है। प्रयोजनके बिना ही आधिक्यरूपसे प्रवर्तन अधिकरण कहलाता है। निरर्थक काव्य आदिका चिन्तन मानस अधिकरण है। निष्प्रयोजन परपीड़ादायक कुछ भी बकवास वाचनिक अधिकरण है। बिना प्रयोजन बैठे या चलते हुए सचित्त या अचित्त पत्र पुष्प फलोंका छेदन मर्दन कुट्टन या क्षेपण आदि करना, तथा अग्नि विष क्षार आदि देना कायिक अधिकरण है। जिसके जितने उपभोग और परिभोगके पदार्थोंसे काम चल जाय वह उसके लिए अर्थ है उससे अधिक पदार्थ रखना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है। उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतमें इच्छानुसार परिमाण किया जाता है और सावद्यका परिहार किया जाता है, पर यहाँ आवश्यकताका विचार है। जो संकल्पित भी है पर यदि आवश्यकतासे अधिक है तो अतिचार है। उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके अतिचारोंमें सचित्तसम्बन्ध आदि रूपसे मर्यादातिक्रम विवक्षित है अतः इसका वहाँ कथन नहीं किया। ये पाँच अनर्थदण्डविरतिके अतीचार हैं।

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

§ १–५. क्रोधादि कषायोंके वश होकर शरीरका विचित्र विकृतरूपसे हो जाना, निरर्थक अशुद्ध वचनोंका प्रयोग और मनका उपयोग नहीं लगना योगदुःप्रणिधान है। अनादर–अनुत्साह, कर्तव्यकर्मका जिस किसी तरह निर्वाह करना। चित्तकी एकाग्रता न होना और मनमें समाधिरूपताका न होना स्मृत्यनुपस्थान है। मनोदुष्प्रणिधानमें अन्य विचार नहीं आता, जिस विषयका विचार किया जाता है उसमें भी क्रोधादिका आवेश आ जाता है, किन्तु स्मृत्यनुपस्थानमें चिन्ताके विकल्प चलते रहते हैं और चित्तमें एकाग्रता नहीं आती। अथवा, रात्रि और दिनकी नित्यक्रियाओंको ही प्रमादकी अधिकतासे भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है। ये पाँच सामायिकके अतीचार हैं।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

§ १–४. प्रत्यवेक्षण–देखना, प्रमार्जन–शोधना। बिना देखे और बिना शोधे हुए भूमिपर मलमूत्रादि करना, बिना देखे बिना शोधे अर्हन्त या आचार्यकी पूजाके उपकरणोंका रखना उठाना गन्ध माला वस्त्र पात्र आदिका रखना, बिना देखे बिना शोधे संथारा आदि बिछाना, भूख आदिके

कारण आवश्यक क्रियाओंमें उत्साह नहीं रखना तथा स्मृत्यनुपस्थान–चित्तकी एकाग्रताका अभाव ये पाँच प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार हैं।

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

§ १–६. सचित्त–चेतन द्रव्य। सचित्तसे सम्बन्ध और सचित्तसे मिश्र। सम्बन्धमें केवल संसर्ग विवक्षित है तथा सम्मिश्रणमें सूक्ष्म जन्तुओंसे आहार ऐसा मिला हुआ होता है जिसका विभाग न किया जा सके। प्रमाद तथा मोहके कारण क्षुधा तृषा आदिसे पीड़ित व्यक्तिकी जल्दी-जल्दीमें सचित्त आदि भोजन पान अनुलेपन तथा परिधान आदिमें प्रवृत्ति हो जाती है। द्रव सिरका आदि और उत्तेजक भोजन अभिषव कहलाता है। जो अच्छी तरह नहीं पकाया गया हो वह दुष्पक्व आहार है। इसके भोजनसे इन्द्रियाँ मत्त हो जाती हैं। सचित्तप्रयोगसे वायु आदि दोषोंका प्रकोप हो सकता है और उसका प्रतीकार करनेमें पाप लगता है, अतिथि उसे छोड़ भी देते हैं। कृच्छ्र विवक्षामें 'दुष्पच' शब्द बनता है, यहाँ वह विवक्षा नहीं है अतः दुष्पक्व प्रयोग किया है। ये पाँच उपभोगपरिभोगसंख्यान व्रतके अतिचार हैं।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

§ १–५. सचित्त–कमलपत्र आदिमें आहार रखना, सचित्तसे ढँक देना, 'दूसरी जगह दाता हैं, यह देय पदार्थ अन्यका है' इस तरह दूसरेके बहाने देना, दान देते समय आदरभाव नहीं रखना, साधुओंके भिक्षाकालको टाल देना कालातिक्रम है, ये अतिथिसंविभाग व्रतके अतीचार हैं।

सल्लेखनाके अतीचार–

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥

§ १–६. अवश्य नष्ट होनेवाले शरीरके ठहरनेकी अभिलाषा जीविताशंसा–जीनेकी इच्छा है। रोग आदिकी तीव्र पीड़ासे जीनेमें संक्लेश होनेपर मरनेकी आकांक्षा करना मरणाशंसा है। जिनके साथ बचपनमें धूलमें खेले हैं, जिनने आपत्तिमें साथ दिया और उत्सवमें हाथ बटाया उन मित्रोंका स्मरण मित्रानुराग है। पहिले भोगे गये भोग क्रीड़ा शयन आदिका स्मरण करना सुखानुबन्ध है। आगे भोगोंकी आकाँक्षा करना निदान है। ये पाँच सल्लेखनाके अतीचार हैं।

दानका लक्षण–

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

§ १–२. स्वोपकार और परोपकारको अनुग्रह कहते हैं। पुण्यका संचय स्वोपकार है और पात्रकी सम्यग्ज्ञान आदिकी वृद्धि परोपकार है। स्व शब्दके आत्मा आत्मीय ज्ञाति धन आदि अनेक अर्थ होते हैं, पर यहाँ स्वशब्द धनका वाचक है। अनुग्रहके लिए धनका त्याग दान है।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

§ १–२. प्रतिग्रह उच्चस्थान पादप्रक्षालन अर्चन प्रणाम आदि क्रियाओंको विधि कहते हैं। यहाँ विशेषता गुणकृत समझनी चाहिए। विधिविशेष अर्थात् प्रतिग्रह आदिमें आदरपूर्वक प्रवृत्ति करना।

§ ३–५. जो अन्न आदि द्रव्य लेनेवाले पात्रके स्वाध्याय ध्यान और परिणामशुद्धि आदिकी वृद्धिका कारण हो वह द्रव्य विशेष है। पात्रमें ईर्षा न होना, त्यागमें विषाद न होना, देनेकी इच्छा करनेवालेमें देनेवालेमें या जिसने दान दिया है सबमें प्रीति होना, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फलकी आकांक्षा न करना, निदान नहीं करना, किसीसे विसंवाद नहीं करना आदि दाताकी विशेषताएँ हैं। मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन आदि गुण जिनमें पाये जायँ वे पात्र हैं।

§ ६. जिस प्रकार भूमि बीज आदि कारणोंमें गुणवत्ता होनेसे विशेष फलोत्पत्ति देखी जाती है उसी तरह विधिविशेष आदिसे दानके फलमें विशेषता होती है।

§ ७–८. यदि सभी पदार्थोंको निरात्मक माना जाता है तो विधि आदिकी विशेषता नहीं बन सकती। जब ज्ञान क्षणिक है तब 'तप स्वाध्याय और ध्यानमें परायण यह ऋषि मेरा उपकार करेगा, इसे दिया गया दान व्रतशील भावना आदिकी वृद्धि करेगा, इसकी यह विधि है' इस प्रकार अनुसन्धान–प्रत्यभिज्ञान ही नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्वोत्तरक्षणविषयक ज्ञान संस्कार आदिका ग्राहक एकज्ञान नहीं है। अतः इस पक्षमें दानविधि नहीं बन सकती।

§ ९–१०. जो वादी आत्माको अकारण होनेसे नित्य, ज्ञानदर्शनादि गुणोंसे भिन्न होनेके कारण अज्ञ, सर्वगत होनेसे निष्क्रिय आदि मानते हैं; उनके यहाँ भी दानविधि आदि नहीं बन सकती; क्योंकि ऐसी आत्मामें कोई विकार-परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है। समवायसे क्रिया-गुण आदिका सम्बन्ध माननेपर भी जबतक स्वयं वैसा परिणमन न होगा तबतक दानादि विधि नहीं बन सकतीं। जिस प्रकार दण्डका सम्बन्ध होनेपर भी देवदत्तमें दण्डरूप परिणमन नहीं होता उसमें दण्डस्वभाव नहीं आता उसी तरह क्रिया गुण आदिके समवायसे भी आत्मामें क्रिया और गुणस्वभावता नहीं आ सकेगी। ऐसी दशामें दानादिविधि नहीं बन सकती।

§ ११. 'महान् अहंकार आदि चौबीस प्रकारका अचेतन क्षेत्र है और क्षेत्रज्ञ पुरुष-चेतन है' इस सांख्यदर्शनमें भी क्षेत्रभूत प्रकृति जब अचेतन है तो उसे घटादिकी तरह विधि आदिका प्रतिसन्धान नहीं हो सकता। यदि प्रतिसन्धान होता है तो अचेतन नहीं कह सकते। क्षेत्रज्ञ पुरुष तो नित्य शुद्ध और निष्क्रिय है अतः उसे भी दानादिकी विधिका अनुसन्धान नहीं हो सकता।

§ १२. अनेकान्तवादी जैनदर्शनमें द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य आत्मामें विधिविशेष आदिका अनुसन्धान आदि सभी बन जाते हैं।

सातवाँ अध्याय समाप्त

आठवाँ अध्याय

बन्ध-चेतन और अचेतन द्रव्योंके परिणमनरूप है। यद्यपि बन्ध नाम स्थापना आदिके भेदसे चार प्रकारका है पर उसके मुख्यतः द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ये दो भेद हैं। लाख और काष्ठ, रस्सी बेड़ी आदिके भेदसे द्रव्यबन्ध बहुत प्रकारका है। भावबन्ध कर्मबन्ध और नोकर्मबन्धके भेदसे दो प्रकारका है। माता पिता पुत्र आदिका स्नेहबन्ध नोकर्मबन्ध है। कर्मबन्ध सन्ततिकी अपेक्षा बीज और अंकुरकी सन्ततिकी तरह अनादि होकर भी उन उन हेतुओंसे बँधनेके कारण आदिमान् भी है। अब उन बन्ध हेतुओंको बताते हैं जिनसे बन्ध होता है, क्योंकि यदि बन्ध बिना हेतुओंके माना जाता है तो कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। कार्य और कारणमें पहिले कारणोंका निर्देश करना उचित भी है। छठवें और सातवें अध्यायमें जिनका विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है वे बन्धनके हेतु ये हैं–

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥

मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं।

§ १–५. पचीस क्रियाओंमें आई हुई मिथ्यात्वक्रियामें मिथ्यादर्शन अन्तर्भूत है। अविरतिका व्याख्यान 'इन्द्रियकषायाव्रत' इसी सूत्रमें किया गया है। आज्ञाव्यापादन क्रिया और अनाकांक्ष क्रियामें प्रमादका अन्तर्भाव है। प्रमादका अर्थ है–कुशल क्रियाओंमें अनादर अर्थात् मनको नहीं लगाना। क्रोधादि कषायों तथा मन वचन और काय योगोंका वर्णन पहिले किया जा चुका है।

§ ६–१२. नैसर्गिक और परोपदेशके भेदसे मिथ्यादर्शन दो प्रकारका है। परोपदेशके बिना मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो तत्त्वार्थ-अश्रद्धान उत्पन्न होता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। परोपदेशसे होनेवाला मिथ्यादर्शन क्रियावादीमत अक्रियावादीमत आज्ञानिकमत और वैनयिक-मतके भेदसे चार प्रकारका है। कौकल काण्ठेविद्धि कौशिक हरि आदिके मतोंकी अपेक्षा ८४ क्रियावाद होते हैं। मरीचिकुमार उलूक कपिल गार्ग्य आदि दर्शनोंके भेदसे १८० अक्रियावाद हैं। साकल्य वाष्कल कुथुमि सात्यमुग्रि चारायण काठ माध्यन्दिनी मोद पैप्पलाद बादरायण स्विष्ठिकृदैतिकायन वसु जैमिनि आदि मतोंके भेदसे ६७ अज्ञानवाद हैं। वशिष्ठ पाराशर जतुकर्ण आदि मतोंके भेदसे वैनयिक ३२ होते हैं। इस तरह कुल ३६३ मिथ्या मतवाद हैं।

§ १३–१४. प्रश्न–बादरायण वसु जैमिनि आदि तो वेदविहित क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं, ये आज्ञानिक कैसे हो सकते हैं? उत्तर–इनने प्राणिवधको धर्मका साधन माना है। प्राणिवध तो पापका ही साधन हो सकता है, धर्मका नहीं। कर्ताके दोषोंकी संभावनासे रहित अपौरुषेय आगमसे प्राणिवधको धर्महेतु सिद्ध करना उचित नहीं है; क्योंकि आगम समस्त प्राणियोंके हितका अनुशासन करता है। हिंसाका विधान करनेवाले वचन जिसमें हों वह ठगोंके वचनकी तरह आगम ही नहीं हो सकता। फिर, वेदमें ही कहीं हिंसा और कहीं अहिंसाका परस्पर विरोधी कथन मिलता है, वह स्वयं अनवस्थित है। जैसे 'पुनर्वसु पहिला है और पुष्य पहिला है' ये वचन परस्परविरोधी होनेसे अप्रमाण हैं उसी तरह 'पशुवधसे समस्त इष्ट पदार्थ मिलते हैं, यज्ञ विभूतिके लिए हैं अतः यज्ञमें होनेवाला वध अवध है' इस प्रकार एक जगह पशुवधका विधान करनेवाले वचन और दूसरी जगह 'अज–जिनमें अंकुरको उत्पन्न करनेकी शक्ति न हो ऐसे तीनवर्ष पुराने बीजोंसे पिष्टमय बलिपशु बनाकर यज्ञ करना चाहिए' ये अहिं-

सक वचन भी परस्परविरोधी होनेसे प्रमाण नहीं कहे जा सकते। इस तरह अव्यवस्थित होनेसे वेदको प्रमाण नहीं कह सकते।

§ १५–१९. अर्हन्त भगवान्के द्वारा प्रभाषित परमागममें सर्वत्र प्राणिवधका निषेध किया है, अहिंसाको ही धर्म माना है अतः प्राणिवध धर्महेतु नहीं हो सकता। अर्हन्तके परमागमको पुरुषकृति होनेसे अप्रमाण कहना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि वह अतिशय ज्ञानोंका आकर है। इस आगममें नय प्रमाण आदि अधिगमके उपायोंसे बन्ध मोक्ष आदिका समर्थन तथा जीवादि तत्त्वोंका निरूपण है। अतः रत्नाकरकी तरह आर्हत आगम ही समस्त अतिशय ज्ञानोंका आकर है।

प्रश्न–कल्प व्याकरण छन्द ज्योतिष् आदि अतिशय ज्ञान अन्यत्र भी देखे जाते हैं अतः आर्हत आगमको ही ज्ञानका आकर कहना उपयुक्त नहीं है? उत्तर–अन्यत्र देखे जानेवाले अतिशय ज्ञानोंका मूल उद्भवस्थान आर्हत प्रवचन ही हैं जैसे कि रत्नोंका मूल उद्भवस्थान समुद्र है। कहा भी है–"यह अच्छी तरह निश्चित है कि अन्य मतोंमें जो युक्तिवाद और अच्छी बातें चमकती हैं वे तुम्हारी ही हैं। वे सब चतुर्दश पूर्वरूपी महासागरसे निकली हुई जिन वाक्यरूपी बिन्दुएँ हैं।" यह बात केवल श्रद्धामात्र गम्य नहीं है किन्तु युक्तिसिद्ध है। जैसे गाँव नगर या बाजारोंमें कुछ रत्न देखे जाते हैं फिर भी उनकी उत्पत्तिका स्थान रत्नाकर समुद्र ही माना जाता है क्योंकि अधिकतर रत्न वहीं है उसी तरह सर्वातिशय ज्ञानके मूल निधान होनेसे जैन प्रवचन ही उनका मूल आकर है। यह शंका भी ठीक नहीं है कि–'यदि वेद व्याकरण आदि आर्हत प्रवचनसे निकले हुए हैं तो उनकी तरह प्रमाण भी होने चाहिये, और उनमें बताये गये हिंसादि अनुष्ठान दानादिकी तरह निर्दोष माने जाने चाहिए।' क्योंकि वे निःसार हैं। जैसे नकली रत्न क्षार और सीप आदि भी रत्नाक से उत्पन्न होते हैं परन्तु निःसार होनेसे त्याज्य हैं उसी तरह जिनशासन समुद्रसे उत्पन्न भी वेदादि निःसार होनेसे प्रमाण नहीं हैं।

§ २०–२६. यदि हिंसाको धर्मसाधन माना जाय तो मछलीमार चिड़ीमार आदि हत्यारोंको भी धर्मप्राप्ति समान रूपसे होनी चाहिये और तब अहिंसाको धर्म कहना अयुक्त हो जायगा। 'यज्ञ हिंसाके सिवाय दूसरी हिंसा पापका कारण है' यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों हिंसाओंमें समानरूपसे प्राणिवध होता है और दुःखहेतुता भी समान है अतः फल भी एक जैसा ही होना चाहिये। यज्ञकी वेदीमें किया गया पशुवध पापका कारण है, क्योंकि वह प्राणवियोगका हेतु है जैसे अन्यत्र किया गया पशुवध। अथवा यज्ञमें किये गये पशुवधकी तरह बाहिर किये पशुवधको भी पुण्यहेतु मानना चाहिये "स्वयंभूने पशुओंकी सृष्टि यज्ञमें होमनेके लिए की है, अतः यज्ञवध पापहेतु नहीं हो सकता" यह पक्ष असिद्ध है; क्योंकि पशुसृष्टि ब्रह्माने की है यही बात अभी सिद्ध नहीं हो सकी है। यदि ब्रह्माने पशुसृष्टि यज्ञके लिए की है तो फिर उनका खरीद बिक्री आदि अन्य उपयोग नहीं करना चाहिये, अन्यथा दोष होगा, जैसे कि कफनाशक औषधिका अन्यथा उपयोग होनेपर दोष होता है। 'जैसे मन्त्रसंस्कृत विष मरणका कारण नहीं होता उसी तरह मन्त्र संस्कारपूर्वक होनेवाला पशुवध भी पापहेतु नहीं हो सकता' यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें प्रत्यस विरोध देखा जाता है। जैसे कि मन्त्रसे संस्कृत विष प्रत्यक्षसे ही अमृतमय देखा जाता है और जैसे रस्सी आदिके बिना केवल मन्त्र बलसे ही जलस्तम्भन मनुष्यस्तम्भन आदि कार्य प्रत्यक्षसे देखे जाते हैं उसी तरह यदि केवल मन्त्रबलसे ही यज्ञवेदीपर पशुओंका घात देखा जाता तो यहाँ मन्त्रबलपर विश्वास किया जाता, परन्तु याज्ञिक लोग जिस निर्दयतासे रस्सी आदिसे बाँधकर पशुवध करते हैं वह किसीसे छिपा नहीं है। अतः यहाँ मन्त्रसामर्थ्यकी कल्पना उचित नहीं है। और जिस प्रकार शस्त्र आदिसे प्राणिहत्या करनेवाले दोषी हैं और उन्हें अशुभ भावोंके कारण पापबन्ध होता है उसी तरह मन्त्रोंसे पशुवध करनेवाले

भी हिंसादोषके भागी हैं। शुभपरिणामोंसे पुण्य और अशुभपरिणामोंसे पापबन्ध नियत है, उसमें हेरफेर नहीं हो सकता। यदि हेरफेर किया जायगा तो असंचेतित कर्मबन्ध होनेसे बन्धमोक्ष-प्रक्रियाका ही अभाव हो जायगा।

§ २७. 'स्वर्गकामी अग्निहोत्र यज्ञ करें' इस अग्निहोत्र क्रियाका कर्ता भौतिक पिंड होगा या पुरुष? भौतिक पिण्ड तो घटादिकी तरह अचेतन है अतः उसमें पुण्य-पाप क्रियाका अनुभव नहीं हो सकता और इसीलिए वह कर्ता नहीं हो सकता। पुरुष यदि क्षणिक है; तो उसमें मन्त्रार्थका अनुस्मरण उनके प्रयोगका अनुचिन्तन आदि अनुसन्धान न हो सकनेके कारण कर्तृत्व नहीं बन सकता। यदि पुरुष नित्य है; तो उसमें पूर्व और उत्तरकालमें कोई परिणमन नहीं होगा, इसलिए वह जैसेका तैसा रहनेसे कर्त्ता नहीं बन सकता। इस तरह कर्ता न होनेसे किसको क्रियाका फल मिलेगा?

"जो कुछ हो चुका और आगे होगा वह सब पुरुष रूप है–ब्रह्मरूप है" इस एक ब्रह्मवादमें 'यह वध्य है और यह वधक' यह भेद नहीं हो सकता। चेतनशक्ति (ब्रह्म) का ही परिणाम यदि माना जाता है तो घट पट आदि दृश्य जगत्का लोप हो जायगा। प्रमाण और प्रमाणाभासका भेद भी नहीं रहेगा, क्योंकि यह भेद बाह्यपदार्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिपर निर्भर है। निर्विकल्प पुरुषतत्त्वकी कल्पनामें 'निर्विकल्प है' यह विकल्प यदि होता है तो वह निर्विकल्प कैसा? यदि नहीं होता तो 'निर्विकल्प न होने से' वह सविकल्प ही हो जायगा–तब प्रतिज्ञाविरोध दोष होता है। इस तरह अनेक दोषयुक्त होनेसे वैदिक वचन प्रमाण नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनके अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं। इसके परिणामों और अनुभागकी दृष्टिसे असंख्य और अनन्त भी भेद होते हैं। नैसर्गिक मिथ्यादर्शन भी एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच म्लेच्छ शवर और पुलिन्द आदि स्वामियोंके भेदसे अनेक प्रकारका है।

§ २८. अथवा, एकान्त विपरीत संशय वैनयिक और आज्ञानिकके भेदसे मिथ्यादर्शन पाँच प्रकारका है। 'यह ऐसा ही है' इस तरह धर्मी या धर्मके विषयमें एकान्त अभिप्राय रखना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे 'यह सब ब्रह्मरूप ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है' आदि। 'सपरिग्रह भी निर्ग्रन्थ हो सकता है, केवली कवलाहारी है, स्त्री मुक्त हो सकती है' आदि विपरीत अभिप्राय विपरीत मिथ्यात्व है। 'सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग हो सकते हैं या नहीं' इस प्रकार दोलित चित्तावृत्ति संशयमिथ्यात्व है। सभी देवताओं और सभी शास्त्रोंमें बिना विवेकके समानभाव रखना वैनयिक मिथ्यात्व है। हित और अहितकी परीक्षाकी असामर्थ्य आज्ञानिक मिथ्यात्व है।

§ २९. पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति और त्रसकायका हनन तथा स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र और मनविषयक असंयम, इस प्रकार बारह प्रकारकी अविरति होती है। सोलह कषाय और नौ नोकषाय ये पच्चीस कषाय हैं। सत्य असत्य उभय और अनुभय ये चार मनोयोग, चार सत्य असत्य आदि वचनयोग तथा औदारिक औदारिकमिश्र आदि पाँच काययोग ये तेरह प्रकारके योग हैं। प्रमत्तसंयतमें आहारक और आहारकमिश्रकी भी सम्भावना है, अतः कुल पन्द्रह योग होते हैं।

§ ३०. भाव काय विनय ईर्यापथ भैक्ष्य शयन आसन प्रतिष्ठापन और वाक्यशुद्धि इन आठ शुद्धियों तथा उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मोंमें अनुत्साह या अनादरके भाव होना प्रमाद है। इस तरह यह प्रमाद अनेक प्रकारका है।

३१. मिथ्यादर्शन आदि समुदित और पृथक् पृथक् भी बन्धके हेतु होते हैं। वाक्यकी

समाप्ति अनेक प्रकारसे देखी जाती है। मिथ्यादृष्टिके पाँचों ही बन्धके कारण हैं। सासादन-सम्यग्दृष्टि सम्यङ्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टिके अविरति आदि चार, संयतासंयतके अविरति प्रमाद कषाय और योग, प्रमत्तसंयतके प्रमाद कषाय और योग, अप्रमत्त आदि सूक्ष्म साम्परायान्त चार गुणस्थानवालोंके कषाय और योग, उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोग-केवलीके केवल योग ही बन्धका कारण है। अयोगकेवलीके बन्धहेतु नहीं है। इसी तरह मिथ्या-दर्शन आदिके जितने भेदप्रभेद हैं सब प्रत्येक बन्धके हेतु होते हैं।

§ ३२-३३. विरतके भी विकथा कषाय इन्द्रिय निद्रा और प्रणय ये पन्द्रह प्रमादस्थान देखे जाते हैं, अतः प्रमाद और अविरति पृथक्-पृथक् हैं। कषाय कारण हैं और हिंसादि अविरति कार्य, अतः कारणकार्यकी दृष्टिसे कषाय और अविरति भिन्न हैं।

प्रश्न—अमूर्तिक आत्माके जब हाथ आदि नहीं हैं तब वह मूर्त कर्मोंका ग्रहण कैसे कर सकता है? उत्तर—यहाँ 'पहिले आत्मा और बादमें कर्मबन्ध' इस प्रकार सादि व्यवस्था नहीं है, जिससे आत्माके ऐकान्तिक अमूर्त माननेमें यह प्रसंग दिया जाय, किन्तु अनादि कार्मण शरीरके सम्बन्ध होनेके कारण गरमलोहेके गोला जैसे पानीको खींचता है उसी तरह कषाय-सन्तप्त आत्मा कर्मोंको ग्रहण करता है—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥२॥

जीव सकषाय होनेसे कर्मयोग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है, यही बन्ध है।

§ १. 'जैसे जठराग्निके अनुसार आहारपाक होता है उसी तरह तीव्र मन्द और मध्यम कषायोंके अनुसार स्थिति और अनुभाग पड़ते हैं' इस तत्त्वकी प्रतिपत्तिके लिए बन्धके कारणोंमें निर्दिष्ट भी कषायका यहाँ पुनः ग्रहण किया है।

§ २-३. जीवन—आयु, आयुसहित जीव ही कर्मबन्ध करता है, आयुसे रहित सिद्ध नहीं।

§ ४. 'कर्मणो योग्यान्' इस पृथक् विभक्तिसे दो पृथक् वाक्योंका ज्ञापन होता है—'कर्मसे जीव सकषाय होता है' और 'कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है।' पहिले वाक्यमें 'कर्मणः' शब्द हेतुवाचक है, अर्थात् पूर्वकर्मसे जीव सकषाय होता है, अकर्मकके कषायलेप नहीं होता, जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है। दूसरे वाक्यमें 'कर्मणः' शब्द षष्ठीविभक्तिवाला है अर्थात् सकषाय-जीव कर्मोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। अर्थवश विभक्तिका परिणमन हो जाता है।

§ ५. 'कर्म पौद्गलिक है' यह पुद्गल शब्दसे सूचित होता है। वैशेषिकका कर्म अदृष्टको आत्माका गुण मानना उचित नहीं है क्योंकि अमूर्तिक गुण अनुग्रह और उपघात नहीं कर सकता उसी तरह अमूर्तकर्म अमूर्तआत्माके अनुग्रह और उपघातके कारण नहीं हो सकते।

§ ७-१०. आदत्ते—ग्रहण करता है, बन्धका अनुभव करता है। तात्पर्य यह कि मिथ्या-दर्शन आदिके आवेशसे आर्द्रआत्मामें चारों ओरसे योगविशेषसे सूक्ष्म अनन्तप्रदेशी एक क्षेत्रा-वगाही कर्मयोग्यपुद्गलोंका अविभागात्मक बन्ध हो जाता है। जैसे किसी बर्तनमें अनेक प्रकारके रसवाले बीजफल फूल आदिका मदिरारूपसे परिणमन होता है उसी तरह आत्मामें ही स्थित पुद्गलोंका योग और कषायसे कर्मरूप परिणमन हो जाता है। 'यही बन्ध है, अन्य नहीं' यह सूचना देनेके लिए 'स' शब्द दिया है। इससे गुणगुणिबन्धका तात्पर्य है अदृष्टनामके गुणका आत्मानामक गुणीमें समवायसे सम्बन्ध हो जाना। यदि गुणगुणिबन्ध माना जाता है तो मुक्तिका अभाव हो जायगा; क्योंकि गुणी कभी भी अपने गुण-स्वभावको नहीं छोड़ता। यदि स्वभावको छोड़ दे तो गुणीका ही अभाव हो जायगा। तात्पर्य यह कि मुक्तका ही अभाव हो जायना।

§ ११. बन्धशब्द करणादि साधन है। 'बध्यतेऽनेन—बँधता है जिनके द्वारा' ऐसी करणसाधन विवक्षामें मिथ्यादर्शन आदिको बँध कहते हैं। यद्यपि मिथ्यादर्शन आदि बन्धके

कारण है फिर भी पूर्वोपात्त कर्मके वे परिणाम हैं अतः कार्यरूपसे आत्माको परतन्त्र करनेके कारण बन्ध कहे जाते हैं। 'बध्यते इति बन्धः' अर्थात् मिथ्यादर्शनादि रूपसे जो बँधे वह बन्ध यह कर्मसाधन भी बन जाता है। इसी तरह 'ज्ञान दर्शन अव्याबाध अनाम अगोत्र और अनन्तराय आदि पुरुषशक्तियोंका जो प्रतिबन्ध करे वह बन्ध' यह कर्तृसाधन बन जाता है। मात्र परतन्त्र करनेकी विवक्षामें 'बन्धनं बन्धः' यह भावसाधन बनता है। भावसाधनमें भी 'ज्ञान ही आत्मा' की तरह अभेदविवक्षामें सामानाधिकरण्य बन जाता है।

§ १२. जैसे भण्डारसे पुराने धान्य निकाल लिये जाते हैं और नये भर दिये जाते हैं उसी तरह अनादि कार्मण शरीर रूप भण्डारमें कर्मोंका आना-जाना होता रहता है। पुराने कर्म फल देकर झड़ जाते हैं और नये कर्म आ जाते हैं। इस तरह उपचय-अपचय होता रहता है।

बन्ध के भेद—

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

§ १ ३. 'स्त्रियां क्तिः' इस सूत्र में 'अकर्तरि' की अनुवृत्ति आती है। अतः ज्ञानावरणादि की अर्थानवगम आदि प्रकृति की जाय जिससे वह प्रकृति है। प्रकृति शब्द अपादानसाधन है। स्थिति-अवस्थान। अनुभव—अनुभवन। ये दोनों शब्द भावसाधन हैं। 'प्रदिश्यते इति प्रदेशः' यह प्रदेश शब्द कर्मसाधन है।

§ ४-७. प्रकृति अर्थात् स्वभाव। जैसे नीमकी प्रकृति कडुआपन और गुड़की प्रकृति मधुरता है उसी तरह ज्ञानावरणकी प्रकृति है अर्थज्ञान नहीं होने देना। दर्शनावरणकी प्रकृति अर्थका अनालोचन, वेदनीयकी सुख-दुःखसंवेदन, दर्शनमोहकी तत्त्वार्थका अश्रद्धान, चारित्र-मोहकी असंयमपरिणाम, आयुकी भवधारण, नामकी नारक आदि नामव्यवहार कराना, गोत्र-की ऊँच-नीच व्यवहार तथा अन्तरायकी प्रकृति दानादिमें विघ्न करना है। यह जिससे हो वह प्रकृतिबन्ध है। जैसे बकरी, गाय और भैंस आदिके दूध अपने मधुर स्वभावको नहीं छोड़ते उसी तरह ज्ञानावरण आदिका अपने अर्थानवगम आदि स्वभावसे च्युत नहीं होना स्थिति है। जैसे बकरी आदिके दूधोंमें तीव्र मन्द और मध्यम रूपसे रसविशेष होता है उसी तरह कर्मपुद्गलोंकी फलदान शक्ति अनुभव कहलाती है। कर्मरूपसे परिणत पुद्गलस्कन्धोंके परमाणुओंकी गिनती प्रदेश बन्ध है। विध शब्द प्रकारार्थक है। अर्थात् प्रकृति-आदि बन्धके चार प्रकार हैं।

§ ८-१०. प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगोंसे होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग कषायोंसे। इनके तारतम्यसे बन्धमें विचित्रता होती है; क्योंकि कारणके अनुरूप ही कार्य होता है।

§ ११. प्रकृतिबन्ध मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतिके भेदसे दो प्रकारका है।

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अन्तराय ये मूल प्रकृति-बन्धके आठ भेद हैं।

§ १. द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे सामान्यतया एक ही प्रकृतिबन्ध है, अतः आद्य शब्दमें एकवचन दिया गया है। उसीके भेद ज्ञानावरण आदि हैं, अतः उनमें बहुवचनका प्रयोग किया है। समानाधिकरण होनेपर भी वचनभेद हो जाता है जैसे कि 'श्रोतारः प्रमाणम्, गावो धनम्' यहाँ, अतः आद्यशब्दमें बहुवचनकी आशंका नहीं करनी चाहिये।

§ २. ज्ञानावरण आदि शब्दोंकी यथासम्भव कर्तृसाधन आदिमें व्युत्पत्ति करनी चाहिये। जो आवरण करे या जिसके द्वारा आवरण किया जाय वह आवरण है। आवरण शब्दका सम्बन्ध ज्ञान और दर्शनमें कर लेना चाहिये। बहुलापेक्षया कर्तामें भी अनट् प्रत्यय

होता है। 'वेद्यते' जो अनुभव किया जाय वह वेदनीय है। जो मोहन करे या जिसके द्वारा मोह हो वह मोहनीय है। बहुलापेक्षया कर्त्तामें 'अनीय' प्रत्यय करनेसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय शब्द भी सिद्ध हो जाते हैं। जिससे नरकादि पर्यायोंको प्राप्त हो वह आयु है। जो आत्माका नरकादि रूपसे नामकरण करे या जिसके द्वारा नामकरण हो वह नाम है। उच्च और नीच रूपसे शब्दव्यवहार जिससे हो वह गोत्र है। दाता और पात्र आदिके बीचमें विघ्न आवे जिसके द्वारा वह अन्तराय है। अथवा, जिसके रहनेपर दाता आदि दानादि क्रियाएँ न कर सकें, दानादिकी इच्छासे पराङ्मुख हो जायँ वह अन्तराय है।

§ ३. जिस प्रकार खाये हुए भोजनका अनेक विकारमें समर्थ वात, पित्त, श्लेष्म, खल रस आदि रूपसे परिणमन हो जाता है उसी तरह बिना किसी प्रयोगके कर्म आवरण, अनुभव, मोहापादन, नानाजाति नाम गोत्र और अन्तराय आदि शक्तियोंसे युक्त होकर आत्मासे बँध जाते हैं।

§ ४–५. प्रश्न–मोहके होनेपर भी हिताहितका विवेक नहीं होता अतः मोहको ज्ञानावरणसे भिन्न नहीं कहना चाहिये ? उत्तर–पदार्थका यथार्थ बोध करके भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार सद्भूत अर्थका अश्रद्धान मोह है, पर ज्ञानावरणसे ज्ञान तथा या अन्यथा ग्रहण ही नहीं करता, अतः दोनोंमें अन्तर है। जैसे अंकुररूप कार्यके भेदसे कारणभूत बीजोंमें भिन्नता है उसी तरह अज्ञान और मोह आदि कार्यभेदसे उनके कारण ज्ञानावरण और मोहमें भेद होना ही चाहिये।

§ ६–७. ज्ञान और दर्शन रूप कार्यभेद होनेसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणमें भेद है। जैसे मेघका जल पात्रविशेषमें पड़कर विभिन्न रसोंमें परिणमन कर जाता है उसी तरह ज्ञानशक्तिका उपरोध करनेसे ज्ञानावरण सामान्यतः एक होकर भी अवान्तर शक्तिभेदसे मत्यावरण श्रुतावरण आदि रूपसे परिणमन करता है। इसी तरह अन्य कर्मोंका भी मूल और उत्तर प्रकृतिरूपसे परिणमन हो जाता है।

§ ८–१४. प्रश्न–पुद्गलद्रव्य जब एक है तो वह आवरण और सुख-दुःख आदि अनेक कार्योंका निमित्त नहीं हो सकता ? उत्तर–ऐसा ही स्वभाव है। जैसे एक ही अग्निमें दाह पाक प्रताप और प्रकाशकी सामर्थ्य है उसी तरह एक ही पुद्गलमें आवरण और सुख दुःखादिमें निमित्त होनेकी शक्ति है, इसमें कोई विरोध नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त रूप है। द्रव्यदृष्टिसे पुद्गल एक होकर भी अनेक परमाणुके स्निग्धरूक्षबन्धसे होनेवाली विभिन्न स्कन्ध पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेक है, इसमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार वैशेषिकके यहाँ पृथिवी जल अग्नि और वायु परमाणुओंसे निष्पन्न भिन्नजातीय इन्द्रियोंका एक ही दूध या घी उपकारक होता है उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। जैसे इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं वैसे उनमें होनेवाली वृद्धियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसे पृथिवीजातीय दूधसे तेजोजातीय चक्षुका उपकार होता है उसी तरह अचेतन कर्मसे भी चेतन आत्माका अनुग्रह आदि हो सकता है। अतः भिन्नजातीय द्रव्योंमें परस्पर उपकार माननेमें कोई विरोध नहीं है।

§ १५. बन्धके एकसे लेकर संख्याततक भेद होते हैं। जैसे सैनिक हाथी घोड़ा आदि भेदोंकी विवक्षा न होनेसे सामान्यतया सेना एक कही जाती है अथवा अशोक आम तिलक वकुल आदि वृक्षोंकी भेद-विवक्षा न होनेसे सामान्यतया वन एक कहा जाता है उसी तरह भेदोंकी विवक्षा न होनेसे सामान्यरूपसे कर्मबन्ध एक ही प्रकारका है। जैसे आफिसर और साधारण सैनिकके भेदसे सेना दो भागोंमें बँट जाती है उसी तरह पुण्य और पापके भेदसे कर्मबन्ध भी दो प्रकारका है। अनादि सान्त, अनादि अनन्त और सादि सान्तके भेदसे अथवा भुजकार अल्पतर और अवस्थितके भेदसे बन्ध तीन प्रकारका है। प्रकृति स्थिति अनुभव और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव और भवके भेदसे पाँच प्रकारका है। छह जीव निकायके भेदसे छह प्रकारका है। राग द्वेष मोह क्रोध मान माया और लोभके भेदसे

सात प्रकारका है। ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका है। इस तरह संख्यात विकल्प शब्दकी दृष्टिसे समझना चाहिये। अध्यवसाय-स्थानोंकी दृष्टिसे असंख्येय और अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धोंकी दृष्टिसे या ज्ञानावरणादिके अनुभवके अविभागप्रतिच्छेदोंकी दृष्टिसे अनन्त प्रकारका भी है। च शब्दसे इन सबका समुच्चय हो जाता है।

§ १६–२३. ज्ञानसे आत्माका अधिगम होता है अतः स्वाधिगमका निमित्त होनेसे वह प्रधान है, अतः ज्ञानावरणका सर्वप्रथम ग्रहण किया है। साकारोपयोगरूप ज्ञानसे अनाकारोपयोगरूप दर्शन अप्रकृष्ट है परन्तु वेदनीय आदिसे प्रकृष्ट है क्योंकि उपलब्धिरूप है, अतः दर्शनावरणका उसके बाद ग्रहण किया है। इसके बाद वेदनीयका ग्रहण किया है क्योंकि वेदना ज्ञान-दर्शनकी अव्यभिचारिणी है, घटादिरूप विपक्षमें नहीं पाई जाती। ज्ञान-दर्शन और सुख-दुःख वेदनका विरोधी होनेसे उसके बाद मोहनीयका ग्रहण किया है। यद्यपि मोही जीवोंके भी ज्ञान-दर्शन सुख आदि देखे जाते हैं फिर भी प्रायः मोहाभिभूत प्राणियोंको हिताहितका विवेक आदि नहीं रहते अतः मोहका ज्ञानादिसे विरोध कह दिया है। प्राणियोंको आयुनिमित्तक सुख-दुःख होते हैं अतः आयुका कथन इसके अनन्तर किया है। तात्पर्य यह कि प्राणधारियोंको ही कर्मनिमित्तक सुखादि होते हैं और प्राणधारण आयुका कार्य है। आयुके उदयके अनुसार ही प्रायः गति आदि नामकर्मका उदय होता है अतः आयुके बाद नामका ग्रहण किया है। शरीर आदिकी प्राप्तिके बाद ही गोत्रोदयसे शुभ-अशुभ आदि व्यवहार होते हैं अतः नामके बाद गोत्रका कथन किया गया है। अन्य कोई कर्म बचा नहीं है अतः अन्तमें अन्तरायका कथन किया गया है।

उत्तर प्रकृतिबन्ध—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदो यथाक्रमम् ॥५॥

§ १–४. पञ्च आदि संख्या-शब्दोंका द्वन्द्व करके पीछे बहुव्रीहि समास कर लेना चाहिए। पहिले सूत्रमें 'आद्य' पद दिया है, अतः 'द्वितीय' शब्दके बिना भी इस सूत्रमें द्वितीय उत्तर प्रकृतिबन्धका बोध अर्थात् ही हो जाता है। भेदशब्द प्रत्येकमें लगा देना चाहिए–पञ्चभेद नवभेद आदि। यथाक्रम अर्थात् सूत्रमें निर्दिष्ट ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि क्रमसे ज्ञानावरणके पाँच भेद, दर्शनावरणके नव भेद आदि हैं।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥६॥

मत्यावरण श्रुतावरण अवध्यावरण मनःपर्ययावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण हैं।

§ १–३. मतिज्ञान आदिके लक्षण प्रथम अध्यायमें कहे जा चुके हैं। यदि 'मत्यादीनाम्' ऐसा लघु पाठ रखते तो 'मति आदिका एक आवरण है' इस अनिष्टार्थका प्रसंग होता अतः प्रत्येकसे मत्यावरण श्रुतावरण आदि सम्बन्ध करनेके लिए सबका पृथक् ग्रहण किया है। 'ज्ञानावरणकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं' यहाँ 'पाँच' संख्याका निर्देश करनेसे मति आदि पाँच ज्ञानोंका क्रमशः सम्बन्ध हो जायगा' यह समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें मति आदि प्रत्येकके पाँच आवरणोंका प्रसंग होगा। अतः इष्टार्थकी प्रतीतिके लिए प्रत्येक मति श्रुत आदिका ग्रहण किया गया है।

§ ४–६. प्रश्न–विद्यमान मति आदिका आवरण होगा या अविद्यमान ? यदि विद्यमानका; तो जब वह स्वरूपलाभ करके विद्यमान ही है तब आवरण कैसा ? अविद्यमानका भी खरविषाणकी तरह आवरण नहीं हो सकता ? उत्तर–द्रव्यार्थदृष्टिसे सत् और पर्यायदृष्टिसे असत् मति आदिका आवरण होता है। यदि सर्वथा सत् माना जाय तो फिर इन्हें क्षयोपशमजन्य नहीं कह सकेंगे। और यदि सर्वथा 'असत्' हैं; तब भी ये क्षयोपशमजन्य नहीं हो सकते। जैसे सत्

आकाशका मेघपटल आदिसे आवरण देखा जाता है उसी तरह विद्यमान भी मति आदिका आवरण माननेमें क्या विरोध है ? जैसे प्रत्याख्यान कोई प्रत्यक्ष पदार्थ नहीं है जिसके आवरण-से प्रत्याख्यानावरण हो किन्तु प्रत्याख्यानावरणके उदयसे आत्मामें प्रत्याख्यान पर्याय उत्पन्न नहीं होती इसीलिए वह प्रत्याख्यानावरण कहा जाता है उसी तरह मति आदिका कहीं प्रत्यक्षी-भूत ढेर नहीं लगा है जिसको ढँक देनेसे मत्यावरण आदि कहे जाते हों, किन्तु मत्यावरण आदिके उदयसे आत्मामें मतिज्ञान आदि उत्पन्न नहीं होते इसीलिए उन्हें आवरण संज्ञा दी गई है।

§ ७–९. द्रव्यदृष्टिसे अभव्योंमें भी मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानकी शक्ति है, इसीलिए अभव्योंके भी मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण माने जाते हैं। मात्र इनकी शक्ति होनेसे उनमें भव्यत्वका प्रसंग भी नहीं दिया जा सकता; क्योंकि भव्यत्व और अभव्यत्व विभाग ज्ञान दर्शन और चारित्रकी शक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा नहीं है किन्तु उस शक्तिकी प्रकट होनेकी योग्यता और अयोग्यताकी अपेक्षा है। जैसे जिसमें सुवर्णपर्यायके प्रकट होने की योग्यता है वह कनकपाषाण कहा जाता है और अन्य अन्धपाषाण, उसी तरह सम्य-ग्दर्शनादि पर्यायोंकी अभिव्यक्तिकी योग्यतावाला भव्य तथा अन्य अभव्य हैं। अतः द्रव्य दृष्टिसे मनःपर्यय और केवलज्ञानकी शक्ति विद्यमान रहते हुए भी जिनके उदयसे वे प्रकट नहीं हो पाते वे मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण अभव्यके भी हैं।

§ १०. ज्ञानावरणके उदयसे आत्माके ज्ञान सामर्थ्य लुप्त हो जाती है, वह स्मृतिशून्य और धर्मश्रवणसे निरुत्सुक हो जाता है और अज्ञानजन्य अवमानसे अनेक दुःख पाता है।

दर्शनावरणके भेद–

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥

§ १. चक्षु अचक्षु अवधि और केवलका 'दर्शनावरण'से सम्बन्ध करना है अतः उनमें पृथक् विभक्ति दी गई है।

§ २–६. मद खेद और क्लमके दूर करनेके लिए सोना निद्रा है। नींदके ऊपर भी नींद आना निद्रानिद्रा है। जिस नींदसे आत्मामें विशेष प्रचलन उत्पन्न हो वह प्रचला है। शोक, श्रम, मद आदिके कारण इन्द्रिय व्यापारसे उपरत होकर बैठे ही बैठे शरीर और नेत्र आदिमें विकार उत्पन्न करनेवाली प्रचला होती है। प्रचलापर बार-बार प्रचलाका होना प्रचलाप्रचला है। जिसके उदयसे स्वप्नमें विशेष शक्तिका आविर्भाव हो जाता है जिससे वह अनेक रौद्र कर्म तथा असम्भव कार्य कर डालता है और आकर सो जाता है, उसे पीछे स्मरण भी नहीं रहता वह स्त्यान गृद्धि है।

§ ७–८. वीप्सार्थक द्वित्व नाना अधिकरणमें होता है। निद्रानिद्रा आदि निर्देशमें भी काल आदिके भेदसे एक भी आत्मामें नाना अधिकरणता बन जाती है। जैसे एक ही व्यक्तिमें कालभेदसे गुणभेद होनेपर 'गत वर्ष यह पटु था और इस वर्ष पटुतर है' यह प्रयोग हो जाता है तथा देशभेदसे मथुरामें देखे गये व्यक्तिको पटनामें देखनेपर 'तुम तो बदल गये' यह प्रयोग होता है उसी तरह यहाँ भी कालभेदसे भेद होकर वीप्सार्थक द्वित्व बन जायगा। अथवा, अभीक्ष्ण सततप्रवृत्ति–बार-बार प्रवृत्ति-अर्थमें द्वित्व होकर निद्रा-निद्रा प्रयोग बन जाता है जैसे कि घरमें घुस-घुसकर बैठा है अर्थात् बार-बार घरमें घुस जाता है यहाँ।

§ ९. निद्रादि कर्म और सातावेदनीयके उदयसे निद्रा आदि आती है। नींदसे शोक क्लम श्रम आदि हट जाते हैं अतः साताका उदय तो स्पष्ट ही है, असाताका मन्दोदय भी रहता है।

§ १०–११. दर्शनावरणकी अनुवृत्ति करके निद्रा आदिका उससे अभेद सम्बन्ध कर लेना चाहिये अर्थात् निद्रा आदि दर्शनावरण हैं। यद्यपि चक्षु-अचक्षु आदिका भिन्न-भिन्न निर्देश है और उनसे षष्ठी-विभक्ति होनेसे भेदरूपसे ही दर्शनावरणका सम्बन्ध करना है और निद्रादिके

साथ अभेद रूपसे; फिर भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि भेद और अभेद रूपसे सम्बन्ध करना विवक्षाधीन है। जहाँ जैसी विवक्षा होगी वहाँ वैसा सम्बन्ध हो जायगा।

§ १२–१६. चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरणके उदयसे आत्माके चक्षुरादि इन्द्रियजन्य आलोचन नहीं हो पाता। इन इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानके पहिले जो सामान्यालोचन होता है उस पर इन दर्शनावरणोंका असर होता है। अवधिदर्शनावरणके उदयसे अवधिदर्शन और केवलदर्शनावरणके उदयसे केवलदर्शन नहीं हो पाता। निद्राके उदयसे तम-अवस्था और निद्रा-निद्राके उदयसे महातम-अवस्था होती है। प्रचलाके उदयसे बैठे-बैठे ही घूमने लगता है, नेत्र और शरीर चलने लगते हैं, देखते हुए वह भी नहीं देख पाता। प्रचला-प्रचलाके उदयसे अत्यन्त ऊँघता है, बाण आदिसे शरीरके छिद जानेपर भी कुछ नहीं देख पाता।

वेदनीयकी उत्तर प्रकृतियाँ–

सदसद्वेद्ये ॥८॥

§ १ २. जिसके उदयसे अनेक प्रकारकी देव आदि विशिष्ट गतियोंमें इष्ट सामग्रीके सन्निधानकी अपेक्षा प्राणियोंके अनेक प्रकारके शारीरिक और मानस सुखोंका अनुभवन होता है वह सातावेदनीय है और जिसके उदयसे नरक आदि गतियोंमें अनेक प्रकारके कायिक मानस अतिदुःसह जन्म जरा मरण प्रियवियोग अप्रियसंयोग व्याधि वध और बन्ध आदिसे जन्य दुःखका अनुभव होता है वह असातावेदनीय है।

मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियाँ–

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमि-थ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः अनन्तानु-बन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥

§ १. दर्शन आदिका तीन आदिसे क्रमशः सम्बन्ध कर लेना चाहिए। अर्थात् दर्शन-मोहनीय तीन प्रकारका, चारित्र-मोहनीय दो प्रकारका, अकषाय वेदनीय नव प्रकारका और कषायवेदनीय सोलह प्रकारका है।

§ २. दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं–सम्यक्त्व मिथ्यात्व और मिश्र। दर्शनमोहनीय-कर्म बन्धकी अपेक्षा एक होकर भी सत्ताकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। जिसके उदयसे सर्वज्ञ-प्रणीत मार्गसे पराङ्मुख होकर तत्त्वश्रद्धानसे निरुत्सुक और हिताहित विभागमें असमर्थ मिथ्यादृष्टि हो जाता है, वह मिथ्यात्व है। शुभ-परिणामोंसे जब उसका अनुभाग रोक दिया जाता है और जब वह उदासीन रूपसे स्थित रहकर आत्मश्रद्धानको नहीं रोकता तब वही सम्यक्त्व प्रकृति रूप बन जाता है और उसके उदयमें भी सम्यग्दर्शन हो सकता है। जब वही मिथ्यात्व आधा शुद्ध और आधे अशुद्ध रसवाला होता है तब धोनेसे क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंकी तरह मिश्र या तदुभय कहा जाता है। इसके उदयसे आधे शुद्ध कोदोंसे जिस प्रकारका मद होता है उसी तरहके मिश्रभाव होते हैं।

§ ३. चारित्रमोहनीय अकषाय और कषायके भेदसे दो प्रकारका है। जैसे 'अलोमिका' कहनेसे रोमका सर्वथा निषेध नहीं होता किन्तु काटने लायक बड़े रोमोंका अभाव ही द्योतित होता है उसी तरह अकषाय शब्दसे कषायका निषेध नहीं है किन्तु ईषत् कषाय विवक्षित है। ये स्वयं कषाय न होकर दूसरेके बलपर कषाय बन जाती हैं। जैसे कुत्ता स्वामीका इशारा पाकर काटनेको दौड़ता है और स्वामीके इशारेसे ही वापिस आ जाता है उसी तरह क्रोधादि कषायोंके बलपर ही हास्य आदि नोकषायोंकी प्रवृत्ति होती है, क्रोधादिके अभावमें ये निर्बल रहती हैं, इसीलिए इन्हें ईषत्कषाय अकषाय या नोकषाय कहते हैं।

§ ४. अकषायवेदनीय हास्य आदिके भेदसे नव प्रकारका है। जिसके उदयसे हँसी आवे वह हास्य कर्म है। जिसके उदयसे उत्सुकता हो वह रति है। रतिसे विपरीत अरति होती है अर्थात् अनौत्सुक्य। जिसका फल शोक हो वह शोक है। जिसके उदयसे उद्वेग हो वह भय है। कुत्सा-ग्लानिको जुगुप्सा कहते हैं। यद्यपि जुगुप्सा कुत्साका ही एक भेद है फिर भी कुछ अन्तर है—अपने दोषोंको ढँकना जुगुप्सा है तथा दूसरेके कुल शील आदिमें दोष लगाना आक्षेप करना और भर्त्सना करना आदि कुत्सा है। जिसके उदयसे कोमलता अस्फुटता क्लीबता कामावेश नेत्रविभ्रम आस्फालन और पुरुषकी इच्छा आदि स्त्री-भावोंको प्राप्त हो वह स्त्रीवेद है। जब स्त्रीवेदका उदय होता है तब पुरुषवेद और नपुंसकवेद सत्तामें रहते हैं। शरीरमें जो स्तन योनि आदि चिह्न हैं वे नामकर्मके उदयसे होते हैं, अतः द्रव्यपुरुषको भी स्त्रीवेदका उदय होता है। कभी स्त्रीको भी पुंवेदका उदय होता है। शरीरका आकार तो नामकर्मकी रचना है। जिसके उदयसे पुरुष-सम्बन्धी भावोंको प्राप्त तो वह पुंवेद और जिसके उदयसे नपुंसकोंके भावोंको प्राप्त हो वह नपुंसक वेद है।

§ ५. कषायवेदनीय अनन्तानुबन्धी क्रोध आदिके भेदसे सोलह प्रकारका है। अपने और परके उपघात या अनुपकार आदि करनेके क्रूर परिणाम क्रोध हैं। वह पर्वतरेखा, पृथ्वी रेखा, धूलिरेखा और जलरेखाके समान चार प्रकारका है। जाति आदिके मदसे दूसरेके प्रति नमनेकी वृत्ति न होना मान है। वह पत्थरका खम्भा, हड्डी, लकड़ी और लताके समान चार प्रकारका है। दूसरे को ठगनेके लिए जो कुटिलता और छल आदि हैं वह माया है। यह बाँस वृक्षकी गँठीली जड़, मेढ़ेका सींग, गायके मूत्रकी वक्ररेखा और लेखनीके समान चार प्रकारकी है। धन आदिकी तीव्र आकांक्षा या गृद्धि लोभ है। यह किरमिची रंग, काजल, कीचड़ और हलदी के रंगके समान चार प्रकारका है। इन क्रोध, मान, माया और लोभकी अनन्तानुबन्धी आदि चार अवस्थाएँ होती हैं। अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यादर्शनको अनन्त कहते हैं, इस अनन्त मिथ्यात्वको बाँधने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी है। जिसके उदयसे देशविरति अर्थात् थोड़ा भी संयम-संयमासंयम प्राप्त नहीं कर सकते वह देशविरतिका आवरण करनेवाली कषाय अप्रत्याख्यानावरण है। जिसके उदयसे संपूर्णविरति या सकलसंयम धारण न कर सकें वह समस्त प्रत्याख्यान-सर्वत्यागको रोकनेवाली कषाय प्रत्याख्यानावरण है। जो संयमके साथ ही जलती रहे अथवा जिसके रहनेपर भी संयम हो सकता हो वह संज्वलन कषाय है। इस तरह ४×४सोलह कषायें होती हैं।

आयुकी उत्तर प्रकृतियाँ—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

§ १-४. नरकादिपर्यायोंके सम्बन्धसे आयु भी नारक तैर्यग्योन आदि कही जाती है, अर्थात् नरकादिमें होनेवाली आयुएँ। जिसके होनेपर जीवित और जिसके अभावमें मृत कहा जाता है वह भवधारणमें कारण आयु है। अन्न आदि तो आयुके अनुग्राहक हैं। जैसे घटकी उत्पत्तिमें मृत्पिण्ड मूल कारण है और दण्ड आदि उसके उपग्राहक हैं उसी तरह भवधारणका अभ्यन्तर कारण आयु है और अन्न आदि उपग्राहक। फिर सर्वत्र अन्नादि अनुग्राहक भी नहीं होते; क्योंकि देवों और नारकियोंके अन्नका आहार नहीं होता, अतः भवधारण आयुके ही अधीन है।

§ ५-८. जिसके उदयसे तीव्र शीत और तीव्र उष्ण वेदनावाले नरकोंमें भी दीर्घजीवन होता है वह नरकायु है। क्षुधा तृष्णा शीत उष्ण दंशमशक आदि अनेक दुःखोंके स्थानभूत तिर्यंचोंमें जिसके उदयसे भवधारण हो वह तैर्यग्योन है। शारीरिक और मानस सुख दुःखसे समाकुल मानुष पर्यायमें जिसके उदयसे भवधारण हो वह मनुष्यायु है। शारीर और मानस अनेक सुखोंसे प्रायः युक्त देवोंमें जिसके उदयसे भवधारण हो वह देवायु है। कभी-कभी देवोंमें भी प्रिय देवांगनाके वियोग और दूसरे देवोंकी विभूतिको देखकर तथा देवपर्यायकी समाप्तिके सूचक मालाका मुरझाना, आभूषण और देहकी कान्तिका मलिन पड़ जाने आदिको देखकर मानस दुःख उत्पन्न होता है। इसलिए 'प्रायः' पद दिया है।

नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ—

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वञ्च ॥११॥

§ १. जिसके उदयसे आत्मा पर्यायान्तरके ग्रहण करनेके लिए गमन करता है वह गति है। 'गम्यते इति गतिः' ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी गति शब्द गो शब्दकी तरह रूढिसे एक गतिविशेषमें प्रयुक्त होता है। अन्यथा जब आत्मा गमन नहीं करता उस समय तथा कर्मकी सत्ता अवस्थामें गतिव्यपदेश नहीं हो सकेगा। नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतियाँ हैं। जिसके निमित्तसे आत्मामें नारक भाव हो वह नरक गति है। इसी तरह उन उन तिर्यंच आदि भावोंको प्राप्त करानेवाली तिर्यग्गति आदि हैं।

§ २. नरकादि गतियोंमें अव्यभिचारी सादृश्यसे एकीकृत स्वरूप जाति है। जाति-व्यवहारमें निमित्त जाति नामकर्म है। जाति पाँच प्रकार की है—एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय जाति और पंचेन्द्रिय जाति। जिसके उदयसे आत्मा 'एकेन्द्रिय' कहा जाय वह एकेन्द्रिय जाति है। इसी तरह अन्य भी समझना चाहिए।

§ ३. जिसके उदयसे आत्माकी शरीर रचना होती है वह शरीर नामकर्म है। औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मणके भेदसे शरीर पाँच प्रकारका है।

§ ४. जिसके उदयसे सिर, पीठ, जाँघ, बाहु, उदर, नल, हाथ और पैर ये आठ अंग तथा ललाट नासिका आदि उपांगोंका विवेक हो वह अंगोपांग नाम कर्म है। वह तीन प्रकारका है—औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, २ वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्ग, और आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग।

§ ५. जिसके निमित्तसे अङ्ग और उपाङ्गोंकी रचना हो वह निर्माण नाम कर्म है। वह दो प्रकार है—स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। यह जाति नाम कर्मके उदयकी अपेक्षा चक्षु आदिके स्थान और प्रमाणकी रचना करता है। जिससे रचना की जाय वह निर्माण है।

§ ६. शरीर नाम कर्मके उदयसे गृहीत पुद्गलोंका परस्पर प्रदेशसंश्लेष जिससे हो वह बन्धन नाम कर्म है। इसके अभावमें शरीर लकड़ियोंके ढेर जैसा हो जाता।

§ ७. जिसके उदयसे औदारिकादि शरीरोंका निश्छिद्र परस्परसंश्लिष्ट संगठन होता है वह संघात नाम कर्म है।

§ ८. जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंके आकार बने वह संस्थान नाम कर्म है। वह छह प्रकारका है। ऊपर नीचे और मध्यमें कुशल शिल्पीके द्वारा बनाये गये समचक्रकी तरह समान रूपसे शरीरके अवयवोंकी रचना होना समचतुरस्रसंस्थान है। बड़के पेड़की तरह नाभि के ऊपर भारी और नीचे लघु प्रदेशोंकी रचना न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है। इससे उलटा-ऊपर लघु और नीचे भारी, बाँबीकी तरह रचना स्वाति संस्थान है। पीठपर बहुत पुद्गलोंका पिंड हो जाना अर्थात् कुबड़ापन कुब्जक संस्थान है। सभी अंग और उपांगोंको छोटा बनानेमें कारण वामन संस्थान है। सभी अंग और उपांगोंको बेतरतीब हुंडकी तरह रचना हुंडक संस्थान है।

§ ९. जिसके उदयसे हड्डियोंके बन्धनविशेष होते हैं वह संहनन नाम कर्म है। यह

भी छह प्रकारका है। दोनों हड्डियोंकी सन्धियाँ वज्राकार हों। प्रत्येकमें वलयबन्धन और नाराच हों ऐसा सुसंहत बन्धन वज्रर्षभनाराच संहनन है। वलयबन्धनसे रहित वही वज्रनाराच संहनन है। वही वज्राकार बन्धन और वलयबन्धनसे रहित पर नाराचयुक्त होने पर सनाराचसंहनन है। वही एक तरफ नाराचयुक्त तथा दूसरी ओर नाराचरहित अवस्थामें अर्ध नाराच है। जब दोनों हड्डियोंके छोरोंमें कील लगी हों तब वह कीलकसंहनन है। जिसमें भीतर हड्डियोंका परस्पर बन्ध न हो मात्र बाहिरसे वे सिरा स्नायु मांस आदि लपेट कर संघटित की गई हों वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है।

§ १०. जिसके उदयसे विलक्षण स्पर्श आदिका प्रादुर्भाव हो वे स्पर्श आदि नामकर्म हैं। कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण ये आठ स्पर्श हैं। तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, और मधुर ये पाँच रस हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध हैं। कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल ये पाँच वर्ण हैं। इन नाम कर्मोंके उदयसे शरीरमें उस-उस जातिके स्पर्श आदि होते हैं। यद्यपि ये पुद्गलके स्वभाव हैं पर शरीरमें इनका अमुक रूपमें प्रादुर्भाव कर्मोदयकृत है।

§ ११. जिसके उदयसे विग्रहगतिमें पूर्व शरीरका आकार बना रहता है, वह नष्ट नहीं होता वह आनुपूर्व्य नाम कर्म है। जिस समय मनुष्य या तिर्यंच अपनी आयुको पूर्ण कर पूर्व शरीरको छोड़ नरक गतिके अभिमुख होता है उस समय विग्रहगतिमें उदय तो नरकगत्यानुपूर्व्यका होता है परन्तु उस समय आत्माका आकार पूर्व शरीरके अनुसार मनुष्य या तिर्यंचका बना रहता है। इसी तरह देवगत्यानुपूर्व्य मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य समझ लेना चाहिये। यह निर्माण नाम कर्मका कार्य नहीं है क्योंकि पूर्व शरीरके नष्ट होते ही निर्माण नाम कर्मका उदय समाप्त हो जाता है। उसके नष्ट होनेपर भी आठ कर्मोंका पिण्ड कार्मण शरीर और तैजसशरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले आत्मप्रदेशोंका आकार विग्रहगतिमें पूर्व शरीरके आकार बना रहता है। विग्रह गतिमें इसका काल अधिकसे अधिक तीन समय है। हाँ, ऋजुगतिमें पूर्व शरीरके आकारका विनाश होनेपर तुरन्त उत्तर शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण हो जाता है, अतः वहाँ निर्माण कर्मका ही व्यापार है।

§ १२. जिसके उदयसे लोहपिण्डकी तरह गुरु होकर न तो पृथ्वीमें नीचे ही गिरता है और न रूईकी तरह लघु होकर ऊपर ही उड़ जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। धर्म-अधर्म आदि अजीवोंमें अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व गुणके कारण अगुरुलघुत्व है। अनादि कर्मबन्धनबद्ध जीवोंमें कर्मोदयसे अगुरुलघुत्व है और कर्मबन्धनरहित मुक्त जीवोंमें स्वाभाविक अगुरुलघुत्व है।

§ १३-१४. जिसके उदयसे स्वयंकृत बन्धन और पर्वतसे गिरना आदि उपघात हो वह उपघात नाम कर्म है। कवच आदिके रहनेपर भी जिसके उदयसे परकृत शस्त्र आदिसे उपघात होता है वह परघात नामकर्म है।

§ १५-१६. जिसके उदयसे सूर्य आदिमें ताप हो वह आतप नाम कर्म है तथा जिससे चन्द्र जुगुनू आदिमें उद्योत-प्रकाश हो वह उद्योत नाम कर्म है।

§ १७. जिसके उदयसे श्वासोच्छ्वास हों वह उच्छ्वास नाम कर्म है।

§ १८. आकाशमें गतिका प्रयोजक विहायोगति नामकर्म है। हाथी, बैल आदिकी प्रशस्त गतिमें कारण प्रशस्त विहायोगति नाम कर्म होता है तथा ऊँट, गधा आदि की अप्रशस्त गतिमें कारण अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म है। मुक्तजीव और पुद्गलोंकी गति स्वाभाविकी है। विहायोगति नामकर्म आकाशगामी पक्षियोंमें ही नहीं है किन्तु सभी प्राणियोंमें है क्योंकि सबकी आकाशमें ही गति होती है।

§ १९-२०. शरीर नामकर्मके उदयसे बना हुआ शरीर जिसके उदयसे एक ही आत्माके उपभोग्य हो वह प्रत्येक शरीर नाम कर्म है तथा बहुत आत्माओंके उपभोग्य हो वह साधारण शरीर नाम कर्म है। साधारण जीवोंके साधारण आहार आदि चार पर्याप्तियाँ और साधारण ही जन्म-मरण श्वासोच्छ्वास अनुग्रह और उपघात आदि होते हैं। जब एकके आहार शरीर इन्द्रिय और प्राणापान पर्याप्ति होती हैं उसी समय शेष अनन्त जीवोंकी पर्याप्तियाँ होती हैं। जब एक जन्मता या मरता है उसी समय शेष अनन्त जीवोंके जन्म-मरण हो जाते हैं। जिस समय एक श्वासोच्छ्वास लेता या आहार करता या अग्नि विष आदिसे उपहत होता है उसी समय शेष अनन्त जीवोंके भी श्वासोच्छ्वास आहार और उपघात आदि होते हैं।

§ २१-२२. जिसके उदयसे द्वीन्द्रिय आदि जंगम-प्राणियोंमें जन्म होता है वह त्रस नाम कर्म है तथा जिसके उदयसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायमें उत्पत्ति होती है वह स्थावर नाम कर्म है।

§ २३-२४. रूपवान् या अरूपी कैसा भी हो पर जिसके उदयसे दूसरोंको प्यारा लगे वह सुभग नाम कर्म है और रूपवान् होकर भी जिसके उदयसे दूसरोंको प्यारा न लगे किन्तु अप्रीतिकर प्रतीत हो वह दुर्भग नाम कर्म है।

§ २५-२६. जिसके उदयसे सुन्दर स्वर हो वह सुस्वर और जिसके उदयसे भद्दा स्वर हो वह दुःस्वर नामकर्म है।

§ २७-२८. जिसके उदयसे देखने या सुननेपर रमणीय प्रतीत हो वह शुभ तथा रमणीय प्रतीत न हो वह अशुभ है।

२९-३० जिसके उदयसे अन्य जीवोंके अनुग्रह या उपघातके अयोग्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति हो वह सूक्ष्म है तथा अन्यको बाधाकर स्थूल शरीर मिले वह बादर है।

§ ३१-३३. जिसके उदयसे आत्मा अन्तर्मुहूर्तमें आहार आदि पर्याप्तियोंकी पूर्णता कर लेता है वह पर्याप्ति तथा जिससे पर्याप्तियोंकी पूर्णता न कर सके वह अपर्याप्ति नामकर्म है। आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति तो सर्वसंसारी जीवोंके होती है पर वह अतीन्द्रिय है-कान या स्पर्शसे अनुभवमें नहीं आती, पर उच्छ्वास नामकर्मके उदयसे पंचेन्द्रिय जीवके जो शीत उष्ण आदिसे लम्बे उच्छ्वास-निःश्वास होते हैं वे श्रोत्र और स्पर्शनसे ग्राह्य होते हैं। यही दोनोंमें अन्तर है।

§ ३४-३५. जिसके उदयसे दुष्कर उपवास आदि तप करनेपर भी अंग-उपांग आदि स्थिर बने रहते हैं, कृश नहीं होते वह स्थिर नामकर्म है तथा जिससे एक उपवाससे या साधारण शीत उष्ण आदिसे ही शरीरमें अस्थिरता आ जाय, कृश हो जाय वह अस्थिर नामकर्म है।

§ ३६-३७. जिसके उदयसे प्रभायुक्त शरीर हो वह आदेय तथा निष्प्रभ शरीर हो वह अनादेय है। सूक्ष्म तैजसशरीरनिमित्तक सर्वसंसारी जीवोंके होनेवाली साधारण कान्ति आदेय नहीं है, अन्यथा सभी संसारी जीवोंके इसका उदय प्राप्त होगा किन्तु आदेयकर्मनिमित्तक लावण्य या सलौनापन जुदा ही है।

§ ३८-३९. जिसके उदयसे पुण्य गुणख्यापन हो वह यशस्कीर्ति तथा पाप दोषख्यापन हो वह अयशस्कीर्ति है। यशको कीर्ति अर्थात् ख्याति प्रसिद्धि फैलाव हो जिससे वह यशस्कीर्ति है। यश और कीर्ति दोनों शब्द एकार्थक नहीं है।

§ ४०-४२. जिसके उदयसे अचिन्त्य विशेषविभूतियुक्त आर्हन्त्यपद प्राप्त होता है वह तीर्थंकर नाम है। गणधरत्वपद प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है, चक्रवर्तित्व वासुदेव बलदेव आदि पद उच्चगोत्रनिमित्तक हैं अतः इनका पृथक् निर्देश नहीं किया है। तीर्थकी प्रवृत्ति करना तीर्थंकर प्रकृतिका फल है। यह उच्चगोत्रसे नहीं हो सकता; क्योंकि उच्चगोत्री चक्रवर्ती आदिके नहीं पाया जाता। अतः इसका पृथक् निर्देश किया है।

§ ४३–४५. गति आदि विहायोगति पर्यन्त प्रकृतियाँ अकेली-अकेली हैं और प्रत्येक शरीर आदि प्रकृतियोंका सेतर-पतिपक्षसहितसे सम्बन्ध करना है अतः सबका एक समास नहीं किया है। तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट है और अन्त्य है, चरमशरीरीके ही इसका उदय देखा जाता है अतः पृथक् इसका निर्देश किया गया है।

गोत्रकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ—

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

§ १–३. जिसके उदयसे लोकपूजित महत्त्वशाली इक्ष्वाकु उग्र कुरु हरि और ज्ञाति आदि वंशोंमें जन्म हो वह उच्चगोत्र है। जिसके उदयसे निन्द्य दरिद्र अप्रसिद्ध और दुःखाकुल कुलोंमें जन्म हो वह नीचगोत्र है।

अन्तरायकी उत्तर प्रकृतियाँ—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥

§ १–३. अन्तराय शब्दकी अनुवृत्ति करके उससे दानादिका सम्बन्ध कर लेना चाहिये–दानान्तराय आदि। जिसके उदयसे देनेकी इच्छा करते हुए नहीं दे पाता, लाभकी इच्छा रखते हुए भी लाभ नहीं कर पाता, भोगकी इच्छा होते हुए भी नहीं भोग पाता, उपभोगकी इच्छा होते हुए भी उपभोग नहीं कर पाता, कार्योंमें उत्साह करना चाहता है पर निरुत्साहित हो जाता है वे दानान्तराय आदि पाँच अन्तराय हैं। यद्यपि भोग और उपभोग दोनों सुखानुभवमें निमित्त होते हैं फिर भी एक बार भोगे जानेवाले गन्ध माला स्नान वस्त्र और अन्न पान आदिमें भोग-व्यवहार तथा शय्या आसन स्त्री हाथी रथ घोड़ा आदिमें उपभोग-व्यवहार होता है। इस तरह उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या है। ज्ञानावरण और नामकर्मकी असंख्यात भी प्रकृतियाँ होती हैं।

जबतक ये कर्म फल देकर नहीं झड़ जाते तबतकके कालको स्थिति कहते हैं। प्रकृष्ट प्रणिधानसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है तथा निकृष्ट प्रणिधानसे जघन्य।

उत्कृष्ट स्थितिबन्धका वर्णन—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

§ १–३. आदिके ही (मध्य और अन्तके नहीं) तीन ही (चार या दो नहीं) कर्म अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तरायकी तीस कोड़ाकोड़ी सागर उत्कृष्ट स्थिति है। समान स्थिति होनेसे सूत्रक्रमका उल्लंघन कर अन्तरायका निर्देश किया है।

§ ४. 'कोटीकोट्यः' में वीप्सार्थक द्वित्व नहीं है, वैसी अवस्थामें बहुवचनकी आवश्यकता नहीं थी किन्तु राजपुरुषकी तरह कोटियोंकी कोटी ऐसा षष्ठीसमास है।

§ ५–७. परा अर्थात् उत्कृष्टस्थिति। संज्ञी पञ्चेन्द्रियपर्याप्तकके यह उत्कृष्टस्थिति समझनी चाहिये। एकेन्द्रिय पर्याप्तकके $\frac{3}{7}$ सागर, द्वीन्द्रियपर्याप्तकके २५का $\frac{3}{7}$ सागर, त्रीन्द्रियपर्याप्तकके ५०का $\frac{3}{7}$ सागर, चतुरिन्द्रियपर्याप्तकके १००का $\frac{3}{7}$ सागर, असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके १०००का $\frac{3}{7}$ सागर,और संज्ञिपंचेन्द्रियापर्याप्तकके अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर उत्कृष्ट स्थिति है। एकेन्द्रिय अपर्याप्तकके पल्योपमके असंख्यातभागकम स्वपर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण तथा दो इन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय अपर्याप्तसंज्ञियोंके पल्योपमके संख्यातभागसे कम स्वपर्याप्तककी स्थिति समझनी चाहिये।

मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति—

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके मोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर है। पर्याप्तक एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियोंके क्रमशः एकसागर पचीससागर पचाससागर और

सौ सागर स्थिति है। अपर्याप्तक एकेन्द्रियके पल्योपमके असंख्येयभाग कम स्वपर्याप्तककी उत्कृष्ट-स्थिति तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियोंके पल्योपमके संख्यातभागसे कम स्वपर्याप्तककी स्थिति प्रमाण उत्कृष्टस्थिति समझनी चाहिये। असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके एक हजार सागर तथा अपर्याप्तकके पल्योपमके संख्यातभाग कम एक हजार सागर स्थिति है। अपर्याप्तकसंज्ञीके अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है।

नामगोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति—

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥

संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके नाम और गोत्रकी उत्कृष्टस्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर है। एकेन्द्रिय पर्याप्तकके $\frac{3}{7}$ सागर, द्वीन्द्रिय पर्याप्तकके २५का $\frac{3}{7}$ सागर, त्रीन्द्रिय पर्याप्तकके ५०का $\frac{3}{7}$ सागर, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकके १००का $\frac{3}{7}$ सागर, असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके १०००का $\frac{3}{7}$ सागर और संज्ञिपंचेन्द्रिय अपर्याप्तकके अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण स्थिति है। एकेन्द्रियअपर्याप्तकके पल्यके असंख्येय भागसे कम $\frac{3}{7}$ सागर तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक असंज्ञियोंके पल्योपमके संख्यात भागसे कम स्वपर्याप्तककी स्थिति ही उत्कृष्टस्थिति समझनी चाहिए।

आयुकी उत्कृष्ट स्थिति—

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

§ १. सागरोपम पदसे अब कोड़ाकोड़ी सागरकी व्यावृत्ति हो जाती है। संज्ञिपर्याप्तकके आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर प्रमाण है। असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकके पल्योपमके असंख्यातवें भाग तथा शेषके पूर्वकोटिप्रमाण उत्कृष्टस्थिति है।

अन्य कर्मोंकी जघन्यस्थितियोंसे जिनकी कुछ विशेष जघन्यस्थिति है उनका निरूपण करते हैं।

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें वेदनीयकी जघन्यस्थिति १२ मुहूर्त प्रमाण है।

नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें नाम और गोत्रकी जघन्यस्थिति ८ मुहूर्त है।

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥२०॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायकी सूक्ष्मसाम्परायमें तथा मोहनीयकी अनिवृत्तिबादर साम्परायमें और आयुकी संख्यातवर्षकी आयुवाले तिर्यंचों और मनुष्योंमें जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

अनुभव बन्धका वर्णन–

विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

§ १. ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियोंके जो कि अनुग्रह और उपघात करनेवाली हैं, तीव्र मन्दभावनिमित्तक विशिष्ट पाकको विपाक कहते हैं। अथवा, द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव इन निमित्तोंके भेदसे नाना प्रकारके पाकको विपाक कहते हैं। इसीको अनुभव कहते हैं। शुभ परिणामोंकी प्रकर्षतामें शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट और अशुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट तथा अशुभ-परिणामोंकी प्रकर्षतामें अशुभप्रकृतियोंका उत्कृष्ट और शुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट अनुभाग बन्ध होता है।

अनुभव अर्थात् फलविपाक दो प्रकारसे होता है–स्वमुखसे और परमुखसे। सभी मूल प्रकृतियोंका स्वमुखसे ही विपाक होता है। उत्तर प्रकृतियोंमें आयु दर्शनमोह और चारित्र मोह-

को छोड़कर शेष सजातीय प्रकृतियोंका परमुखसे भी विपाक होता है। नरकायु नरकायु रूपसे ही फल देगी मनुष्यायु या तिर्यंचायु आदि रूपसे नहीं। इसी तरह दर्शनमोह चारित्रमोह रूपसे या चारित्रमोह दर्शनमोह रूपसे फल नहीं देगा। यह अनुभाग कर्मोंके अपने नामके अनुसार होता है।

स यथानाम ॥२२॥

§ १. ज्ञानावरण आदि जिसका जैसा नाम है उसीके अनुसार ज्ञानका आवरण, दर्शनका आवरण आदि फल देते हैं। उत्तर प्रकृतियोंमें भी इसी तरह समझना चाहिए। सभी कर्म यथा नाम तथा गुणवाले हैं।

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

फल देनेके बाद कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है।

§ १-२. आत्माको सुख या दुःख देकर, खाये हुए आहारके मलकी तरह स्थितिके क्षय होनेसे झड़ जाना निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकारकी है-विपाकजा और अविपाकजा। चतुर्गति-महासागरमें चिर परिभ्रमणशील प्राणीके शुभ अशुभ कर्मोंका औदयिकभावोंसे उदयावलिमें यथाकाल प्रविष्ट होकर जिसका जिस रूपमें बन्ध हुआ है उसका उसी रूपमें स्वाभाविक क्रमसे फल देकर स्थिति समाप्त करके निवृत्त हो जाना विपाकजा निर्जरा है। जिन कर्मोंका उदयकाल नहीं आया है उन्हें भी तपविशेष आदिसे बलात् उदयावलिमें लाकर पका देना अविपाक निर्जरा है। जैसे कि कच्चे आम या पनस फलको प्रयोगसे पका दिया जाता है।

§ ३-५. 'च' शब्दसे संवरके प्रकरणमें कहे जानेवाले 'तप'का संग्रह हो जाता है। अर्थात् फल देकर भी निर्जरा होती है तथा तपसे भी। यद्यपि संवरके बाद निर्जराके वर्णनका क्रम आता है फिर भी लाघवके विचारसे विपाकके बाद ही निर्जराका वर्णन कर दिया है। अनुभाग बन्धमें पुण्य-पापकी तरह निर्जराका अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि दोनोंका अर्थ जुदा-जुदा है। फलदान शक्तिको अनुभव कहते हैं और जिनका फलानुभव किया जा चुका है ऐसे निर्वीर्य कर्मपुद्गलोंकी निवृत्ति निर्जरा कहलाती है। इसीलिए 'ततश्च' यह अपादान निर्देश बन जाता है। यदि भेद न होता तो अपादान प्रयोग नहीं हो सकता था।

§ ६-७. प्रश्न-यहाँ 'ततो निर्जरा तपसा च' ऐसा लघुसूत्र बना देना चाहिए, इसमें आगे 'निर्जरा' पदका ग्रहण नहीं करना पड़ेगा? उत्तर-संवरहेतुताका द्योतन करनेके लिए तपको संवरके प्रकरणमें ही ग्रहण करना उचित है, अर्थात् तपसे निर्जरा भी होती है और संवर भी। यद्यपि उत्तम क्षमा आदि धर्मोंमें किया गया तपका निर्देश संवरहेतुताका द्योतन कर देता है और यहाँ कह देनेसे उसकी निर्जराहेतुता मालूम पड़ जाती है अतः पृथक् 'तपसा निर्जरा च' सूत्र बनाना निरर्थक सा ज्ञात होता है फिर भी सभी संवर और निर्जराके कारणोंमें तपकी प्रधानता सूचित करनेके लिए तपको पृथक् रूपसे ग्रहण किया है। कहा भी है-"काय, मन और वचन गुप्तिसे युक्त होकर जो अनेक प्रकारके तप करता है वह मनुष्य विपुल कर्म निर्जराको करता है।" अतः यहाँ तपका निर्देश करनेमें गौरव होता।

ये कर्म प्रकृतियाँ घाती और अघातीके भेदसे दो प्रकारकी हैं। घाती भी सर्वघाती और देशघाती इन दो भेदोंवाली है। केवलज्ञानावरण निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धि निद्रा प्रचला केवलदर्शनावरण बारह कषाय और दर्शनमोह ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। शेष चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, संज्वलन और नव नोकषायें देशघाती हैं। बाकी प्रकृतियाँ अघाती हैं। शरीरनाम से लेकर स्पर्श पर्यन्त नाम प्रकृतियाँ अगुरुलघु उपघात परघात आतप उद्योत प्रत्येकशरीर साधारणशरीर स्थिर-अस्थिर शुभ-अशुभ और निर्माण ये प्रकृतियाँ

पुद्गलविपाकी हैं। आनुपूर्व्य क्षेत्रविपाकी है। आयुका कार्य भवधारण कराना है। शेष प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं।

प्रदेशबन्धका वर्णन—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥

अपने नामके अनुसार सभी भवोंमें योग विशेषसे आनेवाले आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें सूक्ष्म एकक्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्म पुद्गल प्रदेशबन्ध है।

§ १-८. 'नामकर्म है प्रत्यय जिनका' ऐसा विग्रह नहीं करके नामके अनुसार यही अर्थ करना चाहिये। सर्वतः-सभी भूत भावी भवोंमें, योगविशेष-मन वचन कायरूप निमित्तसे कर्म पुद्गलोंका आगमन होता है। सूक्ष्म शब्दसे ग्रहणयोग्य पुद्गलोंका निर्देश किया गया है अर्थात् सूक्ष्म पुद्गल ही ग्रहण योग्य होते हैं स्थूल नहीं। एकक्षेत्रावगाहका अर्थ है कि आत्मप्रदेश और कर्मपुद्गल एक ही आकाश प्रदेशमें हैं क्षेत्रान्तरमें नहीं। स्थितिका तात्पर्य है कि कर्म पुद्गल ठहरे हुए हैं चलते आदि नहीं हैं। सर्वात्मप्रदेशेषु का अर्थ है कि आत्माको कोई भी ऐसा प्रदेश बाकी नहीं है जहाँ कर्म पुद्गल न हों, किन्तु ऊपर-नीचे-बीचमें सब जगह प्रत्येक आत्मप्रदेशमें स्थित हैं। वे अनन्तानन्त हैं न तो संख्यात न असंख्यात और न अनन्त ही। वे पुद्गलस्कन्ध अभव्योंसे अनन्तगुणें और सिद्धोंके अनन्तवें भाग हैं। वे घनांगुलके असंख्येय भागरूप क्षेत्रावगाही एक-दो-तीन-चार संख्यात असंख्यात समयकी स्थितिवाले, पाँच वर्ण पाँच रस दो गन्ध और चार स्पर्शवाले तथा आठ प्रकारके कर्मरूपसे परिणमन करनेके योग्य हैं। वे योग-क्रियासे आते हैं और आत्मप्रदेशोंपर ठहर जाते हैं। यही प्रदेशबन्ध है।

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

§ १-३. शुभ-प्रशस्त। तिर्यगायु मनुष्यायु और देवायु ये तीन शुभ आयुएँ, मनुष्यगति देवगति पंचेन्द्रियजाति पाँच शरीर तीन अंगोपांग समचतुरस्रसंस्थान वज्रर्षभनाराच संहनन प्रशस्त वर्ण रस गन्ध स्पर्श मनुष्यगत्यानुपूर्व्य देवगत्यानुपूर्व्य अगुरुलघु परघात उच्छ्वास आतप उद्योत प्रशस्तविहायोगति त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येकशरीर स्थिर शुभ सुभग सुस्वर आदेय यशस्कीर्ति निर्माण और तीर्थंकर ये सैंतीस नामकर्म, उच्चगोत्र और सातावेदनीय, सब मिलकर ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

अतोऽन्यत् पापम् ॥ २६ ॥

पुण्य प्रकृतियोंसे भिन्न शेष ८२ पाप प्रकृतियाँ हैं। पाँच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, छब्बीस मोहनीय, पाँच अन्तराय, 'नरकगति तिर्यंचगति एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ पाँच संस्थान पाँच संहनन अप्रशस्त वर्ण रस गन्ध स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्व्य तिर्यंगत्यानुपूर्व्य उपघात अप्रशस्त विहायोगति स्थावर सूक्ष्म अपर्याप्त साधारणशरीर दुर्भग दुःस्वर अनादेय अयशस्कीर्ति' ये चौंतीस नामकर्म, असातावेदनीय, नरकायु और नीचगोत्र ये ८२ पाप प्रकृतियाँ हैं। यह सब बन्ध पदार्थ अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञानरूप प्रत्यक्षप्रमाणसे गम्य है और उनके द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है।

आठवाँ अध्याय समाप्त

नवाँ अध्याय

संवरका वर्णन—

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं।

§ १–३. कर्मोंके आगमनके निमित्तों–मन-वचन और कायके प्रयोगोंका उत्पन्न नहीं होना आस्रव-निरोध है। आस्रवका निरोध होनेपर तत्पूर्वक अनेक सुख-दुःखोंके बीजभूत कर्मोंका ग्रहण नहीं होना संवर है। यहाँ 'अभिमतः' ऐसा वाक्य अध्याहृत होता है। जैसे अन्नको प्राणका कारण होनेसे अन्नके कार्यभूत प्राणोंमें अन्नका उपचार कर लिया जाता है उसी तरह आस्रव-निरोधके कार्यभूत संवरमें आस्रव-निरोधका उपचार कर लिया जाता है। अतः 'आस्रवके निरोध होनेपर संवर होता है' इस अर्थमें आस्रवनिरोधको ही संवर कह दिया है।

§ ४–५. अथवा, निरोध शब्द और संवर शब्द दोनों ही करणसाधन हैं अतः इनमें सामानाधिकरण्य बन जाता है। अथवा, इस सूत्रमें दो पद स्वतन्त्र मानकर योगविभाग कर लेना चाहिये। आस्रवनिरोधके साथ 'हितार्थीको करना चाहिये' इस वाक्यका अध्याहार करके एक वाक्य बनाना चाहिये। उसका प्रयोजन संवर है अर्थात् संवर है प्रयोजन जिसका वह संवर!

§ ६–९. मिथ्यादर्शन आदि आस्रवके प्रत्ययोंका निरोध होनेसे उनसे आनेवाले कर्मोंका रुक जाना संवर है। द्रव्यसंवर और भावसंवरके भेदसे संवर दो प्रकारका है। आत्माको द्रव्यादि निमित्तोंसे पर्यायान्तर-भवान्तरकी प्राप्ति होना संसार है। इस संसारमें कारणभूत क्रिया और परिणामोंकी निवृत्ति भावसंवर है। इस तरह भावबन्धके निरोधसे तत्पूर्वक आनेवाले कर्मपुद्गलोंका रुक जाना द्रव्यसंवर है।

§ १०–११. संवरके स्वरूपका विशेष परिज्ञान करनेके लिए चौदह गुणस्थानोंका विवेचन आवश्यक है। गुणस्थान चौदह हैं—मिथ्यादृष्टि सासादन-सम्यग्दृष्टि सम्यङ्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत प्रमत्तसंयत अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण-उपशमक-क्षपक अनिवृत्तिबादर-उपशमक-क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक-क्षपक उपशान्तकषाय वीतराग-छद्मस्थ क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ सयोगकेवली और अयोगकेवली।

§ १२. जिसके मिथ्यादर्शनका उदय हो वह मिथ्यादृष्टि है। इसके कारण जीवोंका तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं होता। मिथ्यादृष्टिके ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाले तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान होते हैं। सामान्यतया मिथ्यादृष्टि हिताहितपरीक्षासे रहित और परीक्षक इन दो श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं। संज्ञिपर्याप्तकको छोड़कर सभी एकेन्द्रिय आदि हिताहितपरीक्षासे रहित हैं। संज्ञिपर्याप्तक हिताहितपरीक्षासे रहित और परीक्षक दोनों प्रकारके होते हैं।

§ १३. मिथ्यादर्शनके उदयका अभाव होनेपर भी जिनका आत्मा अनन्तानुबन्धीके उदयसे कलुषित हो रहा है वे सासादन-सम्यग्दृष्टि हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके मोहकी छब्बीस प्रकृतियोंका सत्त्व होता है और सादिमिथ्यादृष्टिके २६, २७ या २८ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। ये जब प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके उन्मुख होते हैं तब निरन्तर अनन्तगुणी विशुद्धिको बढ़ाते हुए शुभपरिणामोंसे संयुक्त होते जाते हैं। उस समय ये चार मनोयोगोंमेंसे किसी एक मनोयोग चार वचनयोगोंमेंसे किसी एक वचनयोग औदारिक और वैक्रियिकमेंसे किसी एक काययोगसे युक्त होते हैं। इनके कोई एक कषाय अत्यन्त हीन हो जाती है। साकारोपयोग और तीनों वेदोंमेंसे किसी एक वेदसे युक्त होकर भी संक्लेश-रहित हो, प्रवर्धमान शुभ-

परिणामोंसे सभी कर्म-प्रकृतियोंकी स्थितिको कम करते हुए, अशुभ कर्म प्रकृतियोंके अनुभागका खण्डन कर शुभप्रकृतियोंके अनुभागरसको बढ़ाते हुए तीन करणोंको प्रारम्भ करते हैं। अधाप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोंका काल अन्तर्मुहूर्त है। कालादि लब्धियोंसे संयुक्त वह मिथ्यादृष्टि कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण करके अधाप्रवृत्तकरण करनेको तैयार होता है। यह करण पहिले कभी नहीं हुआ अतः इसे अधाप्रवृत्तकरण कहते हैं। प्रथम समयमें अल्प-विशुद्धि होती है, द्वितीय समयमें जघन्य अनन्तगुणी, तृतीय समयमें जघन्य अनन्तानन्तगुणी इस तरह अन्तर्मुहूर्तकी समाप्तितक विशुद्धि बढ़ती जाती है। फिर प्रथम समयमें उत्कृष्ट अनन्तगुणी द्वितीय समयमें उत्कृष्ट अनन्तानन्तगुणी आदि अधाप्रवृत्तके चरम समयतक विशुद्धि बढ़ती जाती है। इस करणको करनेवाले असंख्य लोकप्रमाण नाना जीवोंके परिणाम सम और विषम होते हैं। यह अधाप्रवृत्तकरण है। अपूर्वकरणके प्रथम समयमें अल्प जघन्य विशुद्धि होती है द्वितीय समयमें उत्कृष्ट उसकी अनन्तगुणी, फिर जघन्य अनन्तगुणी फिर उत्कृष्ट अनन्तगुणी इस तरह अन्तर्मुहूर्तकी परिसमाप्तितक क्रम समझना चाहिये। इस करणके धारी असंख्य लोक प्रमाण नानाजीवोंके परिणाम नियमसे विषम होते हैं। इनका समुदायरूप अपूर्वकरण है। अपूर्व-अपूर्व स्वाद होनेसे इसकी अपूर्वकरण संज्ञा सार्थक है। अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें नानाजीवोंके परिणाम एकरूप ही होते हैं, द्वितीय समयमें उससे अनन्तगुणे विशुद्ध होकर भी एकरूप ही रहते हैं। इस तरह अन्तर्मुहूर्त कालतक उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम होते हैं। इन सबका समुदाय अनिवृत्तिकरण है। परस्पर निवृत्ति-भेद न होनेसे इसकी अनिवृत्तिकरण संज्ञा सार्थक है। अधाप्रवृत्तकरणमें स्थितिखण्डन अनुभागखण्डन गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण नहीं होता, केवल अनन्तगुणी विशुद्धि होनेसे वह अप्रशस्त प्रकृतियोंको अनन्तगुण अनुभागहीन और प्रशस्त प्रकृतियोंको अनन्तगुणरससमृद्धरूपसे बाँधता है। स्थिति भी पल्योपमके संख्येयभागसे हीन बाँधता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमें स्थितिखण्डन आदि होते हैं। स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है। अशुभप्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तगुणहीन और शुभप्रकृतियोंका अनन्तगुणसमृद्ध होता जाता है। अनिवृत्तिकरणकालके संख्येयभाग जानेपर अन्तरकरण प्रारम्भ होता है। इससे मिथ्यादर्शनका उदयघात किया जाता है। अन्तिम समयमें मिथ्यादर्शनके तीन खण्ड किये जाते हैं–सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियोंका तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभके उदयका अभाव होनेपर अन्तर्मुहूर्त कालतक प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। उसके कालमें जब अधिकसे अधिक वह आवली और कमसे कम एक समय शेष रहता है तब यदि अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान माया और लोभमेंसे किसी एकका उदय आजाता है तब सासादन सम्यग्दृष्टि होता है। आसादन-विराधना, आसादनके साथ होनेवाला सासादन कहलाता है। मिथ्यादर्शनका उदय न होनेपर भी इसके तीनों मति श्रुत और अवधिज्ञान अज्ञान कहे जाते हैं। अनन्तमिथ्यादर्शनको बाँधनेवाली कषाय अनन्तानुबन्धी कही जाती है। यह कषाय मिथ्यादर्शनके फलोंको उत्पन्न करती है अतः मिथ्यादर्शनको उदयमें आनेका रास्ता खोल देती है।

§ १४ क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंके उपभोगसे जैसे कुछ मिला हुआ मदपरिणाम होता है उसीतरह सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे तत्त्वार्थश्रद्धान और अश्रद्धानरूप मिला हुआ परिणाम होता है। यह तीसरा सम्यङ्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। इसके तीनों ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं।

§ १५. औपशमिक क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनसे युक्त होकर भी जो चारित्रमोहके उदयसे अत्यन्त अविरत परिणामवाला होता है वह असंयत सम्यग्दृष्टि है। इसके

तीनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान होते हैं। तत्त्वार्थश्रद्धान होनेसे आगेके सभी गुणस्थानोंमें नियमसे सम्यक्त्व होता है।

§ १६. पाँचवाँ तथा आगेके गुणस्थान चारित्रमोहके उपशम क्षय या क्षयोपशमसे होते हैं। अनन्तानुबन्धिकषाय क्षीण हों या अक्षीण ये तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वघाती हैं, इनका उदयक्षय या सदवस्थारूप उपशम होनेपर, तथा सर्वघाती प्रत्याख्यानावरणके उदयसे संयमलब्धिका अभाव होनेपर एवं देशघाती संज्वलन और नौ नोकषायोंके उदयमें संयमासंयम लब्धि होती है। इसके होनेपर प्राणी और इन्द्रियविषयक विरताविरत परिणामवाला संयतासंयत कहलाता है।

§ १७. क्षीण या अक्षीण अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदयक्षय होनेपर तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदयक्षय या सदवस्था उपशम होनेपर और संज्वलन तथा नोकषायोंका उदय होनेपर संयमलब्धि होती है। आभ्यन्तर संयम परिणामोंके अनुसार बाह्यसाधनोंके सन्निधानको स्वीकार करता हुआ यह प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमको पालता हुआ भी पन्द्रह प्रकारके प्रमादोंके वश कहीं कभी चारित्रपरिणामोंसे स्खलितसा होता रहता है। अतः प्रमत्तसंयत कहलाता है।

§ १८. प्रमादका अभाव होनेसे अविचलित संयमी अप्रमत्तसंयत कहलाता है। इसके आगेके चार गुणस्थानोंकी दो श्रेणियाँ हो जाती हैं—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। जहाँ मोहनीयकर्मका उपशम करता हुआ आत्मा आगे बढ़ता है वह उपशमश्रेणी है और जहाँ क्षय करता हुआ आगे जाता है वह क्षपकश्रेणी है।

§ १९. अपूर्वकरणरूप परिणामोंकी विशुद्धिसे श्रेणी चढ़नेवाला अपूर्वकरण है यद्यपि यहाँ न तो कर्मप्रकृतियोंका उपशम होता है और न क्षय फिर भी आगे होनेवाले उपशम या क्षयकी दृष्टिसे इस गुणस्थानमें भी उपशमक और क्षपक व्यवहार घीके घड़ेकी तरह हो जाता है।

§ २०. अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोंकी विशुद्धिसे कर्मप्रकृतियोंको स्थूलरूपसे उपशम या क्षय करनेवाला उपशमक-क्षपक अनिवृत्तिकरण होता है।

§ २१. सम्पराय-कषायोंको सूक्ष्मरूपसे भी उपशम या क्षय करनेवाला सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक-क्षपक है।

§ २२. समस्तमोहका उपशम करनेवाला उपशान्तकषाय तथा क्षय करनेवाला क्षीणकषाय होता है।

§ २३. चार घातिया कर्मोंके अत्यन्त क्षयसे जिन्हें अचिन्त्य केवल ज्ञानातिशय प्रकट हुआ है वे केवली भगवान् है।

§ २४. 'योग सहित सयोग केवली तथा योगरहित—अयोगकेवली' इस प्रकार केवली दो प्रकारके हैं।

§ २५. मिथ्यात्वको प्रधानतासे जो कर्म आते हैं, मिथ्यात्वका निरोध हो जानेसे उनका सासादन सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें संवर होता है। मिथ्यात्व नपुंसकवेद नरकायु नरकगति एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजाति हुंडकसंस्थान असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य आतप स्थावर सूक्ष्म अपर्याप्तक और साधारण शरीर ये सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्वनिमित्तक हैं।

§ २६–२७. अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानके भेदसे असंयम तीन प्रकारका है। अतः इन कषायनिमित्तक कर्मोंका इनके अभावमें संवर होता है। निद्रा निद्रा प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धीक्रोध मान-माया लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, चार संस्थान, चार संहनन, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र इन अनन्तानुबन्धीनिमित्तक पचीस प्रकृतियोंका एकेन्द्रिय

आदि सासादन सम्यग्दृष्टि-पर्यन्त जीव बन्धक होते हैं। अनन्तानुबन्धीके अभावमें आगे इनका संवर हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध मान माया लोभ मनुष्यायु मनुष्यगति औदारिक शरीर औदारिकअंगोपांग वज्रर्षभनाराचसंहनन और मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य इन अप्रत्याख्यानावरण कषायहेतुक दश प्रकृतियोंको एकेन्द्रिय आदि असंयतसम्यग्दृष्टि पर्यन्त बन्धक होते हैं, उसके अभावमें आगेके गुणस्थानोंमें इनका संवर हो जाता है। सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थानमें आयुर्बन्ध नहीं होता। प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया और लोभ इन चार प्रत्याख्यानावरणनिमित्तक प्रकृतियोंके एकेन्द्रिय आदि संयतासंयत पर्यन्त बन्धक होते हैं, उसके अभावमें आगेके गुणस्थानोंमें इनका संवर हो जाता है।

§ २८. असातावेदनीय अरति शोक अस्थिर अशुभ और अयशस्कीर्ति इन प्रमादनिमित्तक कर्मप्रकृतियोंका प्रमत्तसंयतसे आगे संवर हो जाता है। देवायुके बन्धके आरम्भका प्रमाद ही हेतु होता है और उसके समीपका अप्रमाद भी। अतः अप्रमत्तके आगे उसका भी संवर हो जाता है।

§ २९. कषायमात्रहेतुक कर्म प्रकृतियोंका कषायके अभावमें संवर होता है। प्रमादादिरहित कषाय तीनों गुणस्थानोंमें तीव्र मध्य और जघन्यरूपसे विद्यमान रहता है। अपूर्वकरणके आदि संख्येयभागमें निद्रा और प्रचला ये दो कर्मप्रकृतियाँ बँधती हैं। उससे आगे संख्यातभागमें देवगति पंचेन्द्रिय जाति वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणशरीर समचतुरस्रसंस्थान वैक्रियिकअंगोपांग आहारक-अंगोपांग वर्ण गन्ध रस स्पर्श देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्वास प्रशस्त विहायोगति त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येकशरीर स्थिर शुभ-सुभग सुस्वर आदेय तीर्थंकर और निर्माण ये तीस प्रकृतियाँ बँधती हैं। उसीके चरमसमयमें हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ बँधती हैं। ये तीव्रकषायकी आस्रवप्रकृतियाँ उसके अभावमें निर्दिष्ट भागसे आगे संवरको प्राप्त हो जाती हैं। अनिवृत्तिबादरसाम्परायके प्रथम समयसे लेकर संख्यात भागोंमें पुंवेद और क्रोध संज्वलन बँधते हैं, उसके आगे शेष संख्येय भागोंमें मानसंज्वलन और मायासंज्वलन बँधते हैं, अन्तिमभागमें लोभसंज्वलन बन्धको प्राप्त होता है। ये मध्यकषायकी आस्रवप्रकृतियाँ हैं। अतः निर्दिष्ट भागोंसे ऊपर इनका संवर हो जाता है। पाँच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण यशस्कीर्ति उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय ये मन्दकषायकी आस्रव प्रकृतियाँ हैं और सूक्ष्मसाम्परायमें इनका बन्ध होता है। उससे आगे इनका संवर हो जाता है।

§ ३०. सातावेदनीयका उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके केवल योगसे बन्ध होता है अतः अयोगकेवलीके इसका संवर हो जाता है।

संवरके कारण—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥२॥

गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्रसे संवर होता है।

§ १–७. संसारके कारणोंसे आत्माके गोपन-रक्षणको गुप्ति कहते हैं। 'जिससे गोपन हो वह गुप्ति' यह अपादान साधन अथवा 'जो रक्षण करे वह गुप्ति' यह कर्तृसाधन भी गुप्ति शब्द बनता है। दूसरे प्राणियोंकी रक्षाकी भावनासे सम्यक् प्रवृत्ति करनेको समिति कहते हैं। भाव या कर्तृसाधन में 'क्ति' प्रत्यय होनेपर समिति शब्द निष्पन्न होता है। आत्माको इष्ट नरेन्द्र सुरेन्द्र मुनीन्द्र आदि स्थानोंमें धारण करे वह धर्म। धर्म शब्द उणादिसे निष्पन्न होता है। शरीर आदिके स्वभावका बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रपूर्व ईक्षि धातुसे भावसाधनमें अकार होनेसे अनुप्रेक्षा शब्द बनता है। जो सहीं जायँ वे परीषह हैं, परीषहोंका जय परीषहजय है। कर्ममें घञ् करके तथा अनुबन्धकृत अनित्य मानकर दीर्घका निषेध करके परीषह शब्द बन जाता है। जो आचरण किया जाय वह चारित्र है।

§ ८–९ संवर करनेवालेकी संवरण क्रियामें गुप्ति आदि साधकतम होनेसे करण हैं। 'गुप्ति आदि संवर ही हैं अतः भेदनिर्देश नहीं होना चाहिये' यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि संवर शब्द करणसाधन न होकर 'संवरणं संवरः' ऐसा भावसाधन है अर्थात् आस्रवनिमित्त कर्मोंके संवरण करनेमें गुप्ति आदि करण होते हैं। अथवा 'संव्रियते इति संवरः' ऐसा कर्मसाधन माननेपर भी गुप्ति आदि पृथक् सिद्ध होते हैं; क्योंकि गुप्तिके द्वारा संवर होता है।

§ १०. यद्यपि संवरका अधिकार है फिर भी 'सः' पद विशेष रूपसे संवरका गुप्ति आदिसे साक्षात् सम्बन्ध जोड़ता है। इससे यह नियम हो जाता है कि यह संवर गुप्ति आदिसे ही होता है अन्य तीर्थस्नान दीक्षा शीर्षोपहार (बलिदान) देवताराधन आदि उपायोंसे नहीं होता है; क्योंकि राग द्वेष और मोहसे ग्रहण किये गये कर्मोंकी दूसरे प्रकारसे निवृत्ति नहीं हो सकती। यदि तीर्थस्नानसे संवर हो तो सदा तीर्थजलमें डूबी रहनेवाली मछलियोंको संवरपूर्वक मोक्ष सहज ही हो जाना चाहिये और रागी द्वेषी मोही जीवोंको भी मात्र तीर्थस्नानसे मुक्ति मिल जानी चाहिये। इसी तरह बलिदान आदि भी संवर कारण नहीं हो सकते।

तपसा निर्जरा च ॥३॥

§ १–५. यद्यपि तप दस धर्मोंमें अन्तर्भूत है फिर भी विशेष रूपसे निर्जराका कारण बतानेके लिए तथा सभी संवरके हेतुओंमें तपकी प्रधानता जतानेके लिए उसका यहाँ खास तौरसे पृथक् निर्देश किया है। 'च' शब्द 'तप संवरहेतु भी होता है' इस संवरहेतुताका समुच्चय करता है। तपके द्वारा नूतन कर्म बन्ध रुककर पूर्वोपचित कर्मोंका क्षय भी होता है; क्योंकि तपसे अविपाक निर्जरा होती है। इसी तरह तप सरीखे ध्यान आदि भी निर्जराके कारण होते हैं। जैसे एक ही अग्नि पाक और भस्म करना आदि अनेक कार्य करती है उसी तरह तपसे देवेन्द्र आदि अभ्युदय स्थानोंकी प्राप्ति भी होती है तथा कर्मोंका क्षय भी होता है। एक ही कारणसे अनेकों कार्य होते हैं। अथवा जैसे किसान मुख्यरूपसे धान्यके लिए खेती करता है पयाल तो उसे यों ही मिल जाता है उसी तरह मुख्यतः तपक्रिया कर्मक्षयके लिए ही है, अभ्युदय की प्राप्ति तो पयालकी तरह आनुषंगिक ही है, गौण है। किसीको विशेष अभिप्रायसे उसकी सहज प्राप्ति हो जाती है।

गुप्तिका लक्षण—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

सम्यक् योगनिग्रहको गुप्ति कहते हैं।

§ १–४. पूजापूर्वक क्रिया सत्कार है, यह संयत महान् है' ऐसी लोकप्रसिद्धि लोकपंक्ति है इस तरह सत्कार लोकपंक्ति तथा परलोकमें विषय-सुखकी आकांक्षा आदि हेतुओंसे परे रहकर जो मन वचन कायका यथेच्छ विचरण रोका जाता है वह योगनिग्रह गुप्ति है। इस संक्लेशसे रहित सम्यक् योग निरोध होनेपर तन्निमित्तक कर्मोंका आस्रव रुक जाता है, यही संवर है। गुप्ति तीन हैं—कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति। जो अयत्नाचारीके बिना देखे बिना शोधे भूमिपर घूमना, दूसरी वस्तु रखना, उठाना, सोना, बैठना आदि शारीरिक क्रियाएँ होती हैं और इस निमित्तक कर्मोंका आस्रव होता है वह काययोगके निग्रही अप्रमत्त संयमीके नहीं होता। इसी तरह असंवरी-संवररहित जीवके असत्प्रलाप अप्रिय वचन बोलने आदिसे जो वाचिक व्यापारनिमित्तक कर्म आते हैं वे वचननिग्रहीके नहीं आँयगे। जो राग द्वेषादिसे अभिभूत प्राणीके अतीत अनागत विषयाभिलाषा आदिसे मनोव्यापारनिमित्तक कर्म आते हैं वे मनोनिग्रहीके नहीं आयँगे। अतः योगनिग्रहीके संवर सिद्ध है।

'शरीरका परित्याग सम्पूर्ण रूपसे जबतक नहीं हुआ तबतक इसे प्राणयात्राके लिए कुछ

न कुछ बोलना, खाना, पीना, रखना, उठाना, मलमूत्र आदि विसर्जन करना ही पड़ेगा अतः संवर अशक्य है' इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए समिति-सम्यक् प्रवृत्तिका उपदेश देते हैं—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

§ १–२. पूर्वसूत्रसे 'सम्यक्' पदका अनुवर्तन कर प्रत्येकसे उसका सम्बन्ध कर देना चाहिये—सम्यक् ईर्या सम्यक् भाषा आदि। समिति-अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति। यह संज्ञा पाँचोंकी आगमसिद्ध है।

§ ३–४. जीवस्थान और विधिको जाननेवाले, धर्मार्थ प्रयत्नशील साधुका सूर्योदय होनेपर चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा दिखनेयोग्य मनुष्य आदिके आवागमनके द्वारा कुहरा क्षुद्र जन्तु आदिसे रहित मार्गमें सावधानचित्त हो शरीरसंकोच करके धीरे-धीरे चार हाथ जमीन आगे देखकर गमन करना ईर्यासमिति है। इसमें पृथ्वी आदि सम्बन्धी आरम्भ नहीं होते। सूक्ष्मैकेन्द्रिय बादरएकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञिपञ्चेन्द्रिय इन सातके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चौदह जीवस्थान होते हैं। ये जीवस्थान पाँचो जाति सूक्ष्म बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक नाम कर्मोंके यथा सम्भव उदयसे होते हैं।

§ ५. स्व और परको मोक्षकी ओर ले जानेवाले स्व-परहितकारक, निरर्थकबकवास रहित मित स्फुटार्थ व्यक्ताक्षर और असन्दिग्ध वचन बोलना भाषासमिति है। मिथ्याभिधान असूया प्रियभेदक अल्पसार शंकित संभ्रान्त कषाययुक्त परिहासयुक्त अयुक्त असभ्य निष्ठुर अधर्मविधायक देशकालविरोधी और चापलूसी आदि वचनदोषोंसे रहित भाषण करना चाहिये।

§ ६. गुण रत्नोंको ढोनेवाली शरीर रूपी गाड़ीको समाधिनगरकी ओर ले जानेकी इच्छा रखनेवाले साधुका जठराग्निके दाहको शमन करनेके लिए औषधिकी तरह या गाड़ीमें ओंगन देनेकी तरह अन्न आदि आहारको बिना स्वादके ग्रहण करना एषणा समिति है। देशकाल तथा शक्ति आदिसे युक्त अगर्हित उद्गम उत्पादन एषणा संयोजन प्रमाण कारण अङ्गार धूम और प्रत्यय इन नवकोटियोंसे रहित आहार ग्रहण किया जाता है।

§ ७. धर्माविरोधी और परानुपरोधी ज्ञान और संयमके साधक उपकरणोंको देखकर और शोधकर रखना और उठाना आदाननिक्षेपणसमिति है।

§ ८. जहाँ स्थावर या जंगम जीवोंकी विराधना न हो ऐसे निर्जन्तु स्थानमें मलमूत्र आदिका विसर्जन करना और शरीरका रखना उत्सर्ग समिति है।

§ ९. यद्यपि वाग्गुप्तिमें भी सावधानी है पर उनमें भाषासमिति और ईर्यासमिति आदिका अन्तर्भाव नहीं होता; क्योंकि जब गुप्तिमें असमर्थ हो जाता है तब कुशल कर्मोंमें प्रवृत्ति करना समिति है। अतः जाना, बोलना, खाना, रखना उठना और मलोत्सर्ग आदि क्रियाओंमें अप्रमत्तसावधानीसे प्रवृत्ति करनेपर इन निमित्तोंसे आनेवाले कर्मोंका संवर हो जाता है।

§ १०–१२. **प्रश्न**—पात्रके अभावमें पाणिपात्रसे आहार लेनेवाले साधुको अन्न आदिके नीचे गिरनेसे हिंसा आदि दोषोंकी संभावना है, अतः एषणा समिति नहीं बन सकती? **उत्तर**—पात्रके ग्रहण करनेमें परिग्रहका दोष होता है। निर्ग्रन्थ-अपरिग्रही चर्याको स्वीकार करने वाला भिक्षु यदि पात्र ग्रहण करता है तो उसकी रक्षा आदिमें अनेक दोष होते हैं। अतः स्वाधीन करपात्रसे ही निर्बाध देशमें सावधानीसे एकाग्रचित्त हो आहार करनेमें किसी दोषकी संभावना नहीं है। कपाल या अन्य पात्रको लेकर भिक्षाके लिए जानेमें दीनताका दोष तो है ही। गृहस्थजनोंसे लाये गये पात्र सर्वत्र सुलभ होनेपर भी उनके धोने आदिमें पापका होना अवश्यम्भावी है। अपने पात्रको लेकर भिक्षार्थ जानेमें आशा-तृष्णाकी संभावना है। पहिले

जैसे विशिष्ट पात्रके न मिलने पर जिस किसी पात्रमें भोजन करनेसे चित्तमें दीनता और हीनताका अनुभव होना अनिवार्य है। अतः स्वावलम्बी भिक्षुको करपात्रके सिवाय अन्य प्रकार उपयुक्त नहीं हैं। 'जिस प्रकार पहिले प्राप्त हुए संस्कृत सुस्वादु अन्नको छोड़कर अन्यके घरमें जैसा तैसा नीरस भोजन करनेमें भिक्षुको दीनता नहीं आती उसी तरह कपाल आदिके ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं हैं' यह समाधान ठीक नहीं है क्योंकि चिरतपस्वी संयतकी शरीरयात्रा आहारके बिना नहीं चल सकती, अतः नीरस प्रासुक आहार कभी कभी ले लिया जाता है उस तरह पात्रकी आवश्यकता अनिवार्य नहीं है।

धर्मका वर्णन—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागा-
किञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

उत्तमक्षमा आदि दस धर्म हैं।

§ १. गुप्तियोंमें प्रवृत्तिका सर्वथा निरोध होता है। जो उसमें असमर्थ है उन्हें प्रवृत्तिके सम्यक् प्रकार बतानेके लिए एषणा आदि समितियोंका उपदेश है। प्रवृत्ति करने वालेके प्रमाद परिहारके लिए—सावधानीसे वरतनेके लिए उत्तमक्षमा आदि धर्मोंका उपदेश है।

§ २. शरीर-यात्राके लिए पर-घर जाते समय भिक्षुको दुष्ट जनोंके द्वारा गाली हँसी अवज्ञा ताड़न शरीर-छेदन आदि क्रोधके असह्य निमित्त मिलनेपर भी कलुषताका न होना उत्तम क्षमा है।

§ ३. उत्तम जाति कुल रूप विज्ञान ऐश्वर्य श्रुत लाभ और शक्तिसे युक्त होकर भी इनका मद नहीं करना, दूसरेके द्वारा परिभवके निमित्त उपस्थित किये जानेपर भी अभिमान नहीं होना मानहारी मार्दव है।

§ ४. मन वचन और कायमें कुटिलता न होना आर्जव-सरलता है।

§ ५-८. आत्यन्तिक लोभकी निवृत्तिको शौच कहते हैं। शुचिका भाव या कर्म शौच है। मनोगुप्तिमें मनके व्यापार का सर्वथा निरोध किया जाता है। जो पूर्ण मनोनिग्रहमें असमर्थ हैं उन्हें पर वस्तुओं सम्बन्धी अनिष्ट विचारोंकी शान्तिके लिए शौच धर्मका उपदेश है। अतः इसका मनोगुप्तिमें अन्तर्भाव नहीं होता। आकिंचन्य धर्म स्वशरीर आदिमें संस्कार आदिकी अभिलाषा दूर करके निर्ममत्व बढ़ानेके लिए है और शौच धर्म लोभकी निवृत्तिके लिए, अतः दोनों पृथक् हैं। स्व और पर विषयक जीवनलोभ आरोग्यलोभ इन्द्रियलोभ और उपभोगलोभ इस तरह मुख्यतः चार प्रकारका लोभ होता है। इसीलिए शौच धर्म मुख्यतः चार प्रकारका होता है।

§ ९-१०. सत्जनोंसे साधुवचन बोलना सत्य है। भाषा समितिमें संयत साधु या असाधु किसीसे भी वचन व्यवहार यदि करे तो हित और मित करे अन्यथा राग और अनर्थदण्ड आदि दोष होते हैं। परन्तु सत्य धर्ममें अपने सहधर्मी साधुओं या भक्तोंसे धर्मवृद्धिनिमित्त या ज्ञान चारित्र आदिकी शिक्षाके लिए बहुत बोलना भी स्वीकृत हैं।

§ ११-१४. ईर्यासमिति आदिमें प्रवर्तमान मुनिको उनकी प्रतिपालनाके लिए प्राणिपीड़ाका परिहार और इन्द्रियोंसे विरक्तिको संयम कहते हैं। एकेन्द्रियादि जीवोंकी हिंसाका परिहार करना प्राणिसंयम है और शब्दादि विषयोंसे विरक्तिको इन्द्रियसंयम कहते हैं। अतः भाषादिकी निवृत्तिको संयम नहीं कह सकते; क्योंकि इसका निवृत्तिरूप गुप्तियोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। विशिष्ट कायादिप्रवृत्तिको भी संयम नहीं कह सकते क्योंकि वह समितिमें अन्तर्भूत हो जाती है। इसी तरह आत्यन्तिक त्रसस्थावरवधका निषेध भी संयम नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह परिहारविशुद्धि चारित्रमें अन्तर्भूत हो जाता है।

§ १५. संयम दो प्रकार का होता है—एक उपेक्षा संयम और दूसरा अपहृत संयम। देश और कालके विधानको समझने वाले स्वाभाविक रूपसे शरीरसे विरक्त और तीन गुप्तियों के धारक व्यक्तिके राग और द्वेष रूप चित्तवृत्तिका न होना उपेक्षा संयम है। अपहृत संयम उत्कृष्ट मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका है। प्रासुक वसति और आहार मात्र हैं बाह्य साधन जिनके तथा स्वाधीन हैं ज्ञान और चारित्र रूप करण जिनके ऐसे साधुका बाह्य जन्तुओंके आनेपर उनसे अपनेको बचाकर संयम पालना उत्कृष्ट अपहृत संयम है। मृदु उपकरणसे जन्तुओंको बुहार देनेवालेके मध्यम और अन्य उपकरणोंकी इच्छा रखने वालेके जघन्य अपहृत संयम होता है।

§ १६. इस अपहृत संयमके प्रतिपादनके लिए ही इन आठ शुद्धियोंका उपदेश दिया गया है—भावशुद्धि कायशुद्धि विनयशुद्धि ईर्यापथशुद्धि भिक्षाशुद्धि प्रतिष्ठापनशुद्धि शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि। कर्मके क्षयोपशमसे जन्य, मोक्षमार्गकी रुचिसे जिसमें विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो रागादि उपद्रवोंसे रहित है वह भावशुद्धि है। इसके होनेसे आचार उसी तरह चमक उठता है जैसे कि स्वच्छ दीवालपर आलेखित चित्र। यह समस्त आवरण और आभरणोंसे रहित, शरीर संस्कारसे शून्य, यथाजात मलको धारण करनेवाली, अंगविकारसे रहित और सर्वत्र यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्तिरूप है। यह मूर्तिमान् प्रशमसुखकी तरह है। इसके होनेपर न तो दूसरोंसे अपनेको भय होता है और न अपनेसे दूसरोंको।

अर्हन्त आदि परमगुरुओंमें यथायोग्य पूजा-भक्ति आदि तथा ज्ञान आदिमें यथाविधि भक्तिसे युक्त गुरुओंमें सर्वत्र अनुकूलवृत्ति रखनेवाली, प्रश्न स्वाध्याय वाचना कथा और विज्ञप्ति आदिमें कुशल, देशकाल और भावके स्वरूपको समझनेमें तत्पर तथा आचार्यके मतका आचरण करनेवाली विनयशुद्धि है। समस्त सम्पदाएँ विनयमूलक हैं। यह पुरुषका भूषण है। यह संसार-समुद्रसे पार उतारनेके लिए नौकाके समान है।

अनेक प्रकारके जीवस्थान जीवयोनि जीवाश्रय आदिके विशिष्ट ज्ञानपूर्वक प्रयत्नके द्वारा जिसमें जन्तुपीड़ाका बचाव किया जाता है, जिसमें ज्ञान सूर्यप्रकाश और इन्द्रियप्रकाशसे अच्छी तरह देखकर गमन किया जाता है तथा जो शीघ्र विलम्बित सम्भ्रान्त विस्मित लीलाविकार अन्य दिशाओंकी ओर देखना आदि गमनके दोषोंसे रहित गतिवाली है वह ईर्यापथशुद्धि है। इस के होनेपर संयम उसी तरह प्रतिष्ठित होता है जैसे कि सुनीतिसे विभव।

जिसमें भिक्षाको जाते समय दोनों ओर दृष्टि रखी जाती है, पूर्वापर स्वांगदेशका परिमार्जन होता है, आचारसूत्रोक्त काल देश प्रकृति आदिकी प्रतिपत्तिमें जो कुशल है, जिसमें लाभ-अलाभ मान-अपमान आदिमें समान मनोवृत्ति रहती है, लोकगर्हित कुलोंका परिवर्जन करनेवाली, चन्द्रकी तरह कम और अधिक गृहोंकी जिसमें मर्यादा हो, विशिष्ट विधानवाली, दीनअनाथदानशाला विवाह यज्ञ भोजन आदिका जिसमें परिहार होता है, दीनवृत्तिसे रहित, प्रासुक आहार ढूँढ़ना ही जिसका मुख्य लक्ष्य है, तथा आगमविधिसे प्राप्त निर्दोष भोजनसे ही जिसमें प्राणयात्रा चलाई जाती है वह भिक्षाशुद्धि है। जैसे साधुजनोंकी सेवासे गुणसम्पत्ति मिलती है उसी तरह भिक्षाशुद्धिसे चारित्र-सम्पत्ति। यह लाभ और अलाभ तथा सरस और विरसमें समान सन्तोष होनेसे भिक्षा कही जाती है। जैसे गाय गहनोंसे सजी हुई सुन्दर युवतीके द्वारा लाई गई घासको खाते समय घासको ही देखती है लानेवालीके अंग सौन्दर्य आदिको नहीं, अथवा अनेक जगह यथालाभ उपलब्ध होनेवाले चारेके पूरेको ही खाती है उसकी सजावट आदिको नहीं देखती उसी तरह भिक्षु भी परोसनेवालेके मृदुललित रूप वेष और विलास आदिके देखनेकी उत्सुकता नहीं रखता और न आहार सूखा है या गीला या कैसे चाँदी आदिके बर्तनोंमें रखा है या कैसी उसकी योजना की गई है आदिकी ओर ही उसकी दृष्टि

रहती है, वह तो जैसा भी आहार प्राप्त होता है वैसा खाता है। अतः भिक्षाको गौकी तरह चार-गोचार या गवेषणा कहते हैं। जैसे वणिक् रत्न आदिसे लदी हुई गाड़ीमें किसी भी तेलका लेपन करके-ओंगन देकर उसे अपने इष्ट स्थानपर ले जाता है उसी तरह मुनि भी गुणरत्नसे भरी हुई शरीररूपी गाड़ीको निर्दोष भिक्षा देकर उसे समाधिनगरतक पहुँचा देता है, अतः इसे अक्षम्रक्षण कहते हैं। जैसे भण्डारमें आग लग जानेपर शुचि या अशुचि कैसे भी पानीसे उसे बुझा दिया जाता है उसी तरह यति भी उदराग्निका प्रशमन करता है अतः इसे उदराग्निप्रशमन कहते हैं। दाताओंको किसी भी प्रकारकी बाधा पहुँचाये बिना मुनि कुशलतासे भ्रमरकी तरह आहार ले लेते हैं, अतः इसे भ्रमराहार या भ्रामरी वृत्ति कहते हैं। जिस किसी भी प्रकारसे गड्ढा भरनेकी तरह मुनि स्वादु या अस्वादु अन्नके द्वारा पेटरूपी गड्ढेको भर देता है अतः इसे स्वभ्रपूरण भी कहते हैं।

प्रतिष्ठापन शुद्धिमें तत्पर संयत देश और कालको जानकर नख रोम नाक थूक वीर्य मलमूत्र या देहपरित्यागमें जन्तुबाधाका परिहार करके प्रवृत्ति करता है।

शय्या और आसनकी शुद्धिमें तत्पर संयतको स्त्री क्षुद्र चोर मद्यपान जुआ शराबी और पक्षियोंको पकड़नेवाले आदिके स्थानोंमें नहीं बसना चाहिये, और शृंगार विकार आभूषण उज्ज्वलवेष वेश्याक्रीड़ा मनोहर गीत नृत्य वादित्र आदिसे परिपूर्णशाला आदिमें रहना आदिका त्याग करना चाहिये। उन्हें तो प्राकृतिक गिरिगुफा वृक्षकी खोह तथा शून्य मकान या छोड़े हुए ऐसे मकानोंमें बसना चाहिये जो उनके उद्देश्यसे नहीं बनाये गये हों और न जिनमें उनके लिए कोई आरम्भ ही किया गया हो।

पृथिवी कायिक आदि सम्बन्धी आरम्भ आदिकी प्रेरणा जिसमें न हो तथा जो परुष निष्ठुर और पर पीड़ाकारी प्रयोगोंसे रहित हो व्रतशील आदिका उपदेश देनेवाली हो वह सर्वतः योग्य हित मित मधुर और मनोहर वाक्यशुद्धि है। वाक्यशुद्धि सभी सम्पदाओंका आश्रय है।

§ १७. कर्मक्षयके लिए जो तपा जाय वह तप है।

§ १८-२०. सचेतन या अचेतन परिग्रहकी निवृत्तिको त्याग कहते हैं। आभ्यन्तर तपोंमें आये हुए उत्सर्गमें नियत समयके लिए सर्वोत्सर्ग किया जाता है पर त्यागधर्ममें यथाशक्ति और अनियतकालिक त्याग होता है अतः दोनों पृथक् पृथक् हैं। इसी तरह शौचधर्ममें परिग्रहके न रहनेपर भी कर्मोदयसे होनेवाली तृष्णाकी निवृत्ति की जाती है पर त्यागमें विद्यमान परिग्रह छोड़ा जाता है। अथवा त्यागका अर्थ है स्वयोग्य दान देना। संयतके योग्य ज्ञानादि दान देना त्याग है।

§ २१. शरीर आदिमें संस्कार और राग आदिकी निवृत्तिके लिए 'ममेदम्-यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायका त्याग आकिञ्चन्य है। 'इसके कुछ नहीं' इस प्रकार अकिंचन भावको आकिञ्चन्य कहते हैं।

§ २२-२३. 'मैंने उस कलागुण विशारदा स्त्रीको भोगा था' इस प्रकार अनुभूतांगनाका स्मरण स्त्रीकथाश्रवण रतिकालीन गन्ध द्रव्योंकी सुवास और स्त्रीसंसक्त शय्या आसन स्थान आदिका परिवर्जन करनेपर परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा, ब्रह्मा अर्थात् गुरु, उसके अधीन अपनी वृत्ति रखना ब्रह्मचर्य है। गुरुकी आज्ञापूर्वक चलना भी ब्रह्मचर्य ही है।

§ २४-२५. यद्यपि ये सभी यथासंभव गुप्ति और समितियोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं फिर भी इन धर्मोंमें चूँकि संवरको धारण करनेकी सामर्थ्य है इसलिए 'धारण करनेसे धर्म' इस सार्थक संज्ञावाले धर्मोंका पृथक् उपदेश किया है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। जैसे ऐर्यापथिक रात्रिन्दिनीय पाक्षिक चातुर्मासिक सांवत्सरिक उत्तमस्थानिक ये सात प्रतिक्रमण

गुप्ति आदिकी प्रतिष्ठाके लिए किये जाते हैं उसी तरह उत्तम क्षमा आदि दस प्रकारके धर्म की भावना भी गुप्ति आदिके परिपालनके लिए ही है, अतः इनका पृथक् उपदेश किया है।

§ २६. 'ये क्षमा आदि धर्म किसी दृष्टप्रयोजनकी प्राप्तिके लिए धारण नहीं किये जाते और इसलिए ये संवरके कारण होते हैं' इस विशेषताकी सूचना देनेके लिए उत्तम विशेषण दिया जाता है-उत्तमक्षमा उत्तम मार्दव आदि।

§ २७. इन उत्तमक्षमा आदि धर्मोंमें स्वगुण प्राप्ति तथा प्रतिपक्षी दोषकी निवृत्तिकी भावना की जाती है अतः ये संवरहेतु हैं। व्रतशीलका रक्षण इहलोक और परलोकमें दुःख न होना और समस्त जगत्में सम्मान सत्कार होना आदि क्षमाके गुण हैं। धर्म अर्थ काम और मोक्षका नाश करना आदि क्रोधके दोष हैं। यह विचार कर क्षमा धारण करनी चाहिए। दूसरा यदि अपने ऊपर क्रोध करता है और गाली देता है तो सोचना चाहिये कि ये दोष मुझमें विद्यमान ही हैं, यह क्या मिथ्या कहता है? यदि वे दोष अपने मनमें न हों तो सोचना चाहिये कि यह विचारा अज्ञानसे ऐसा कहता है, अतः क्षमा ही करनी चाहिये। जैसे कोई बालक यदि परोक्ष में गाली देता है तो क्षमा ही करनी चाहिये। सोचना चाहिये कि बालकोंका यह स्वभाव ही है। भाग्यवश हमें पीठ पीछे ही गाली देता है सामने तो नहीं। बालक तो मुँह पर गाली देते हैं अतः लाभ ही है। सामने गाली देनेपर सोचना चाहिये कि गाली ही तो दी है मारा तो नहीं है। बाल तो मारते भी हैं। मारनेपर सोचना चाहिये कि इसने मारा ही तो है प्राण तो नहीं ले लिये। बाल तो प्राण भी ले लेते हैं। प्राण ले लेने पर भी क्षमा ही करना चाहिये। सोचना चाहिये कि इसने प्राण ही लिये हैं धर्म तो नहीं ले लिया। इस तरह बालस्वभावके चिन्तन द्वारा चित्तमें क्षमाभावको पुष्ट करना चाहिये। सोचना चाहिये कि हमने ही ऐसा खोटा कर्म बाँधा था जिसके फलस्वरूप गाली सुननी पड़ रही है, यह तो इसमें निमित्तमात्र है।

निरभिमानी और मार्दवगुणयुक्त व्यक्तिपर गुरुओंका अनुग्रह होता है। साधुजन भी उसे साधु मानते हैं। गुरुके अनुग्रहसे सम्यग्ज्ञान आदिकी प्राप्ति होती है और उससे स्वर्गादिसुख मिलते हैं। मलिन मनमें व्रतशील आदि नहीं ठहरते साधुजन उसे छोड़ देते हैं। तात्पर्य यह कि अहंकार समस्त विपदाओंकी जड़ है। सरल हृदय गुणोंका आवास है, वे मायाचारसे डरते हैं। मायाचारीकी निन्द्यगति होती है। शुचि आचारवाले निर्लोभ व्यक्तिका इस लोकमें सन्मान होता है। विश्वास आदि गुण उसमें रहते हैं। लोभीके हृदयमें गुण नहीं रहते। वह इस लोक और परलोकमें अनेक आपत्तियों और दुर्गतिको प्राप्त होता है। सभी गुणसम्पदाएँ सत्यवक्तामें प्रतिष्ठित होती हैं। झूठेका बन्धुजन भी तिरस्कार करते हैं। उसके कोई मित्र नहीं रहते। जिह्वाछेदन सर्वस्वहरण आदि दण्ड उसे भुगतने पड़ते हैं। संयम आत्माका हितकारी है। संयमी पुरुषकी यहीं पूजा होती है, परलोककी तो बात ही क्या? असंयमी निरन्तर हिंसा आदि व्यापारोंमें लिप्त होनेसे अशुभ कर्मका संचय करता है। तपसे सभी अर्थोंकी सिद्धि होती है। इससे ऋद्धियोंकी प्राप्ति होती है। तपस्वियोंकी चरणरजसे पवित्र स्थान ही तीर्थ बने हैं। जिसके तप नहीं वह तिनकेसे भी लघु है। उसे सब गुण छोड़ देते हैं, वह संसारसे मुक्त नहीं हो सकता। परिग्रहका त्याग करना पुरुषके हितके लिए है। जैसे जैसे वह परिग्रहसे रहित होता है वैसे वैसे उसके खेदके कारण हटते जाते हैं। खेदरहित मनमें उपयोगकी एकाग्रता और पुण्य संचय होता है। परिग्रहकी आशा बड़ी बलवती है वह समस्त दोषोंकी उत्पत्तिका स्थान है। जैसे पानीसे समुद्रका बडवानल शान्त नहीं होता उसी तरह परिग्रहसे आशासमुद्रकी तृप्ति नहीं हो सकती। यह आशा का गड्ढा दुष्पूर है। इसका भरना बहुत कठिन है। प्रतिदिन जो उसमें डाला जाता है वही समा कर मुँह बाने लगता है। शरीर आदिसे ममत्वशून्य व्यक्ति परम सन्तोषको प्राप्त होता है। शरीरादिमें राग करने वालेके सदा संसार परिभ्रमण सुनिश्चित है।

ब्रह्मचर्यको पालन करनेवालेके हिंसा आदि दोष नहीं लगते। नित्य गुरुकुलवासीको गुण सम्पदाएँ अपने आप मिल जाती हैं। स्त्रीविलास विभ्रम आदिका शिकार हुआ प्राणी पापोंका का भी शिकार बनता है। संसारमें अजितेन्द्रियता बड़ा अपमान कराती है। इस तरह उत्तम क्षमा आदि गुणोंका तथा क्रोधादि दोंषोंका विचार करनेसे क्रोधादिकी निवृत्ति होनेपर तन्निमित्तक कर्मोंका आस्रव रुककर महान् संवर होता है।

§ २८. सभी उत्तम क्षमादिमें एक संवर रूप धर्मभाव पाया जाता है अतः उसकी प्रधानतासे धर्म शब्दमें एक वचन दिया गया है। धर्म शब्द नित्य पुल्लिंग है अतः 'ब्रह्मचर्याणि'के साथ भी वह अपना लिंग नहीं छोड़ता।

अनुप्रेक्षाओंका वर्णन—

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोक बोधिदुर्लभ धर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अनित्य अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं।

§ १. आत्माने रागादि परिणामोंसे कर्म और नोकर्म रूपमें जिन पुद्गल द्रव्योंका ग्रहण किया है वे उपात्त पुद्गलद्रव्य तथा परमाणु आदि अनुपात्त पुद्गल सभी द्रव्य-दृष्टिसे नित्य होकर भी पर्याय दृष्टिसे प्रतिक्षण पर्याय परिवर्तन होनेसे अनित्य हैं। शरीर इन्द्रियोंके विषयभोग आदि जलबुद्बुदकी तरह विनश्वर हैं। गर्भादि अवस्थाओंमें जो संयोग थे वे आज नहीं हैं। इनमें अज्ञानवश मोही जीव नित्यताका भ्रम करता है। आत्माके ज्ञानदर्शनोपयोग स्वभावको छोड़कर अन्यपदार्थ ध्रुव नहीं है। इस प्रकार संसारके पदार्थोंमें अनित्य भावना भानी चाहिये। इस प्रकार विचार करनेसे भोगकर फेंकी गई माला गन्ध आदि द्रव्योंकी तरह इन पदार्थोंके वियोगमें भी मनस्ताप नहीं होगा।

§ २. शरण दो प्रकार की है एक लौकिक दूसरी लोकोत्तर। यह प्रत्येक जीव अजीव और मिश्रके भेदसे तीन तीन प्रकारकी है। राजा या देवता आदि लौकिक जीव शरण हैं। कोट आदि अजीव शरण हैं तथा गाँव नगर आदि मिश्र शरण हैं। पंचपरमेष्ठी लोकोत्तर जीवशरण हैं उनके प्रतिबिम्ब आदि अजीवशरण हैं तथा धर्मोपकरणसहित साधुजन मिश्र शरण हैं। भूखे मांसखोर व्याघ्रके पंजोंसे एकान्तमें पकड़े गये हिरणके बच्चेकी तरह जन्म जरा रोग मृत्यु प्रियवियोग अप्रिय संयोग अलाभ और दारिद्र्य आदि दुःखोंसे ग्रस्त इस जन्तुको कोई शरण नहीं है। यह परिपुष्ट शरीर मात्र भोजन करनेमें सहायक है आपत्ति पड़नेपर नहीं। प्रयत्नसे संचित धन आदि भी पर्यायान्तर तक नहीं जाते। सुख दुःखके साथी मित्र भी मरणसे रक्षा नहीं कर सकते। आस पास जुटे बन्धुजन भी रोगसे नहीं बचा सकते। यदि कोई एकमात्र तरणोपाय है तो वह अच्छी तरह आचरण किया गया धर्म ही है। यही आपत्ति-सागरसे पार उतार सकता है। मृत्युके पाश से इन्द्र आदि भी नहीं बचा सकते। अतः भवव्यसनोंसे बचानेवाला एकमात्र धर्म ही शरण है। मित्र धन आदि कोई शरण नहीं हैं। इस प्रकारकी विचारधारा अशरण भावना है। इस प्रकार 'मैं अशरण हूँ' इस भावनासे भय या उद्वेगके आनेपर सांसारिक भावोंमें ममत्व नहीं रहता और केवली भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत वचनोंकी ओर ही चित्त जाता है।

§ ३. द्रव्यादि के निमित्तसे आत्माकी पर्यायान्तरप्राप्तिको संसार कहते हैं।

आत्माकी चार अवस्थाएँ होती हैं—संसार असंसार नोसंसार और इन तीनोंसे विलक्षण। अनेक योनिवाली चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना संसार है। फिर जन्म न लेना—शिवप्रद प्राप्ति या परम सुख प्रतिष्ठा असंसार है। चतुर्गतिमें परिभ्रमण न होनेसे तथा अभी मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे सयोगकेवलीकी जीवन्मुक्त अवस्था ईषत्संसार या नो संसार है। अयोगकेवली

इन तीनोंसे विलक्षण हैं। इनके चतुर्गति भ्रमण और असंसारकी प्राप्ति तो नहीं ही है पर केवलीकी तरह शरीरपरिस्पन्द भी नहीं है। जबतक शरीरपरिस्पन्द न होनेपर भी आत्मप्रदेशों का चलन होता रहता है तब तक संसार है। सिद्ध और अयोगकेवलियोंके आत्म-प्रदेश-परिस्पन्द नहीं है। अन्य जीवोंके मनवचनकाययोग निमित्तक प्रदेश-परिस्पन्द होता रहता है। अभव्य तथा भव्यसामान्यकी दृष्टिसे संसार अनादि अनन्त है, भव्यविशेषकी अपेक्षा अनादि और उच्छेदवाला है। नो संसार सादि और सान्त है। असंसार सादि अनन्त है। त्रितय विलक्षणका काल अन्तर्मुहूर्त है। कर्म नोकर्म वस्तु और विषयाश्रयके भेदसे द्रव्य संसार चार प्रकारका है। स्वक्षेत्र और परक्षेत्रके भेदसे क्षेत्रसंसार दो प्रकारका है। लोकाकाशके समान असंख्य प्रदेशी आत्माको कर्मोदयवश संहरण-विसर्पण स्वभावके कारण जो छोटे-बड़े शरीरमें रहना है वह स्वक्षेत्र संसार है। सम्मूर्च्छन गर्भ उपपाद आदि नौ प्रकारकी योनियोंके अधीन परक्षेत्र संसार है। काल परमार्थ और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है। परमार्थकालके निमित्तसे होनेवाले परिस्पन्द और अपरिस्पन्दरूप परिणमन जिनमें व्यवहारकालका विभाग भी होता है कालसंसार है। भवनिमित्त संसार बत्तीस प्रकारका है—सूक्ष्म बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चार चार प्रकारके पृथिवी जल तेज और वायुकायिक, पर्याप्तक और अपर्याप्तक प्रत्येक वनस्पति, सूक्ष्म बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार साधारण वनस्पति, पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे दो दो प्रकारके द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, संज्ञी असंज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार पंचेन्द्रिय, इस प्रकार बत्तीस प्रकारका भवसंसार है। भावनिमित्तक संसारके दो भेद हैं—स्वभाव और परभाव। मिथ्यादर्शन आदि स्वभाव संसार हैं तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंका रस परभाव संसार हैं। इस तरह इस अनेक सहस्र योनियोंसे संकुल संसारमें कर्मयन्त्रपर चढ़ा हुआ यह जीव परिभ्रमण करता हुआ कभी पिता होकर भाई पुत्र या पौत्र होता है, माता होकर बहिन स्त्री या लड़की होता है। अधिक क्या कहा जाय स्वयं अपना भी पुत्र हो जाता है। इस तरह संसारके स्वभावका चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। इस प्रकार भावना करते हुए संसारके दुःखोंसे भय और उद्वेग होकर वैराग्य हो जाता है और यह जीव संसारके नाशके लिए प्रयत्नशील होता है।

§ ४. एकत्व और अनेकत्व द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे चार चार प्रकारके हैं। द्रव्यैकत्व प्रत्येक जीवादि द्रव्यमें है। आकाशका एक परमाणुके द्वारा रोका गया प्रदेश क्षेत्रैकत्व है। एक समय कालैकत्व है और मोक्षमार्ग निश्चयसे भावैकत्व है। इसी तरह भेदविषयक अनेकत्व भी है। कोई एक या अनेक निश्चित नहीं है। सामान्य दृष्टिसे एक होकर भी विशेष दृष्टिसे अनेक हो जाता है। बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहका त्यागकर सम्यग्ज्ञानसे एकत्व निश्चयको प्राप्त करनेवाले व्यक्तिके यथाख्यात चारित्र रूपसे एक मोक्षमार्ग भावैकत्व है। इसकी प्राप्तिके लिए मुझे अकेले ही प्रयत्न करना है, मेरे न कोई स्व है और न कोई पर। मैं अकेला ही उत्पन्न होता हूँ और अकेले ही मरता हूँ, न मेरा कोई स्वजन है और न परजन जो व्याधि जरामरण आदिके दुःखोंको हटा सके। बन्धु और मित्र श्मसानसे आगे नहीं जाते। धर्म ही एक शाश्वत—सदाका साथी है। इत्यादि विचार एकत्वानुप्रेक्षा है। इस भावनासे स्वजनोंमें राग और परमें द्वेष नहीं होता और अपरिग्रहत्वको स्वीकार कर यह मोक्षके लिए ही प्रयत्न करने लगता है।

§ ५. नाम स्थापना द्रव्य और भावके भेदसे अन्यत्व भी चार प्रकारका है। आत्मा जीव यह नाम भेद है। काष्ठ प्रतिमा यह स्थापनाभेद है। जीवद्रव्य अजीवद्रव्य यह द्रव्यभेद है और एक ही जीवमें बाल युवा मनुष्य देव आदि पर्यायभेद भावभेद है। बन्धकी दृष्टिसे शरीर और आत्मामें भेद न होनेपर भी लक्षणकी अपेक्षा भेद है। कुशल पुरुषके चारित्र आदि प्रयोगोंसे शरीरसे अत्यन्त भिन्न रूपमें अपने स्वाभाविक ज्ञान आदि अनन्त अहेय गुणोंमें अवस्थानको

मुक्ति अन्यत्व या शिवपद कहते हैं। इस परम अन्यत्वकी प्राप्तिके लिए 'शरीर ऐन्द्रियक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ, शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञ हूँ, शरीर अनित्य है मैं नित्य हूँ, शरीर सादिसान्त है मैं अनादि अनन्त हूँ, मैंने लाखों शरीर धारण किये हैं, मैं उनसे भिन्न एक चेतन हूँ, जब शरीरसे ही मैं भिन्न हूँ तब बाह्यपरिग्रहोंकी तो बात ही क्या ?' इस प्रकार विचार करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। अन्यत्व भावनासे शरीर आदिमें स्पृहा नहीं होती और यह मोक्षप्राप्तिके लिए प्रयत्न करने लगता है।

§ ६. लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे शुचित्व दो प्रकारका है। कर्ममल-कलङ्कोंको धोकर आत्माका आत्मामें ही अवस्थान लोकोत्तर शुचित्व है। इसके साधन सम्यग्दर्शन आदि, रत्नत्रयधारी साधुजन तथा उनसे अधिष्ठित निर्वाणभूमि आदि मोक्ष प्राप्तिके उपाय होनेसे शुचि हैं। काल अग्नि भस्म मृत्तिका गोबर पानी ज्ञान और निर्विचिकित्सा-ग्लानिरहितपना, इस प्रकार लौकिक—लोकप्रसिद्ध शुचित्व आठ प्रकारका है। कोई भी उपाय इस शरीरको पवित्र नहीं कर सकता क्योंकि यह अत्यन्त अशुचि है। आदि और उत्तर दोनों ही कारण इसके अत्यन्त अशुचि हैं। शरीरके आदि कारण वीर्य और रज हैं जो कि अत्यन्त अशुचि हैं, उत्तरकारण आहारका परिणमन आदि है। कवल-कवलकर खाया हुआ भोजन श्लेष्माशयमें पहुँचकर श्लेष्म जैसा पतला और अशुचि हो जाता है, फिर पित्ताशयको प्राप्त होकर अम्ल बनता है, फिर वाताशयको प्राप्त होते ही वायुसे विभक्त होकर खल और रस रूपसे विभाजित हो जाता है। खलभाग मूत्र मल पसीना आदि मलविकार रूपसे तथा रसभाग शोणित मांस मेद हड्डी मज्जा और शुक्ररूपसे परिणत होता है। ये सब दशाएँ अत्यन्त अपवित्र हैं। इन सबका स्थानभूत शरीर मैलाघरके समान है। इसकी अशुचिताके हटानेका कोई उपाय नहीं है। स्नान अनुलेपन धूप घिसना सुवास और माला आदिके द्वारा भी इसकी अशुचिता नहीं हटती। अंगारकी तरह अपने संसर्गमें आये हुए पदार्थोंको अपनी ही तरह बना लेता है। जलादि पदार्थ उसके संसर्गसे स्वयं अपवित्र हो जाते हैं। बार बार भावित सम्यग्दर्शन आदि जीवकी आत्यन्तिक शुद्धिको प्रकट करते हैं। इस तरह वस्तु विचार करना अशुचि भावना है। इस तरह स्मरण और अनुचिन्तन करनेसे शरीरसे निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मसमुद्रसे पार उतरनेके लिए चित्त तैयार होता है।

§ ७. यद्यपि आस्रव संवर और निर्जराके स्वरूपका निरूपण हो चुका है फिर भी भावनाओंमें उनका ग्रहण उनके गुण-दोषविचारके लिए किया गया है। आस्रवके दोषोंका विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है। आस्रव इसलोक और परलोकमें अपायसे युक्त हैं। इन्द्रिय आदिका उन्माद महानदीके प्रवाहकी तरह तीक्ष्ण है। बहुत यवयुक्त पानीदार और प्रमाथी आदि गुणोंसे सहित वनविहारी मदान्ध हाथी कृत्रिम हथिनियोंको देखकर स्पर्शनेन्द्रियके ज्वारसे मत्त हो गड्ढे में गिरकर मनुष्यके अधीन हो जाते हैं और वध बन्ध वाहन अंकुशताडन महावतका आघात आदिके तीव्र दुःखोंको भोगते हैं। प्रतिक्षण अपने झुण्डमें स्वच्छन्द वनविहार तथा हथिनीके प्रवीचार सुखका स्मरण करके महान् दुःखी होते हैं। जिह्वेन्द्रियके विषयमें लोल मरे हुए हाथीके मदजलमें डुबकी लगानेवाले पक्षियोंकी तरह अनेक आपत्तियोंके शिकार होते हैं। घ्राणेन्द्रियके वशंगत प्राणी जड़ीकी गन्धसे लुब्ध साँपकी तरह नाशको प्राप्त होते हैं। चक्षुइन्द्रियके वशंगत दीपकपर मरनेवाले पतंगोंकी तरह आपत्तिके सागरमें पड़कर दुःख उठाते हैं। श्रोत्रेन्द्रियके वशंगत प्राणी गीत ध्वनिके सुननेसे तृणोंके चरनेको भूलकर जालमें फँसनेवाले हरिणोंकी तरह अनर्थोंके शिकार होते हैं। परलोकमें बहुविध दुःखोंसे प्रज्वलित अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करते हैं। इस प्रकार आस्रव दोषोंका विचार करनेसे इसको उत्तम क्षमा आदि धर्मोंमें श्रेयस्त्वकी बुद्धि बनी रहती है। कछवेकी तरह संकुचित अंगवाले संवरयुक्त जीवके ये आस्रव दोष नहीं होते। जैसे महासमुद्रमें पड़ी हुई महानावमें यदि छेद हो जाय और उसे बन्द न किया जाय तो क्रमशः जलविप्लव

होनेपर तदाश्रित प्राणियोंका विनाश अवश्यम्भावी है और छेद बन्द कर देनेपर निरुपद्रव इष्ट-देशतक पहुँच जाते हैं उसी तरह कर्मागमनद्वारोंका संवरण होनेपर कोई श्रेयःप्रतिबन्ध नहीं हो सकता। इस तरह संवरके गुणोंका अनुचिन्तन संवरानुप्रेक्षा है। इन विचारोंसे मनुष्य संवरकी ओर प्रयत्नशील होता है।

निर्जरा वेदनाके विपाकको कहते हैं। निर्जरा दो प्रकारकी है अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादिगतियोंमें कर्मफलविपाकसे होनेवाली अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है जिससे आगे अकुशलका ही बन्ध होता है। परीषहजय और तप आदिसे कुशलमूला निर्जरा होती है जो शुभका बन्ध करती है या बन्ध बिलकुल ही नहीं करती। इस तरह निर्जराके गुण-दोषोंकी भावना करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इससे चित्त निर्जराके लिए उद्युक्त होता है।

§ ८. अनन्त अलोकाकाशके मध्यमें पुरुषाकार लोक है, उसके संस्थान आदिका वर्णन किया जा चुका है। उसका स्वरूपचिन्तन लोकानुप्रेक्षा है। इससे तत्त्वज्ञानादिकी शुद्धि होती है चित्तसे रागद्वेष हटते हैं।

§ ९. त्रसत्व आदिका पाना अत्यन्त दुर्लभ है और बोधिलाभ अत्यन्त दुर्लभ है यह विचार बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। "एक निगोद शरीरमें द्रव्यप्रमाणसे जीवोंकी संख्या, सिद्धोंकी संख्यासे और समस्त अतीतकालके समयोंकी संख्यासे अनन्तगुणी है।" इस आगमप्रमाणसे अनन्त निगोदिया हैं। इन अनन्त स्थावरोंमें त्रसपर्यायका पाना उसी तरह दुर्लभ है जिस प्रकार अनन्त रेतके समुद्रमें गिरी हुई हीराकी कनीका फिर मिल जाना। त्रसोंमें भी विकलेन्द्रिय बहुत होते हैं अतः पञ्चेन्द्रियत्वका पाना उसी तरह दुर्लभ है जिस प्रकार गुणोंमें कृतज्ञताका मिलना। पञ्चेन्द्रियोंमें भी पशु-मृग-पक्षी सरीसृप आदि अनेक प्रकारकी पर्यायोंमें मनुष्य पर्यायका पाना चौराहेपर रखे हुए रत्नकी तरह दुर्लभ है। मनुष्यपर्याय नष्ट करके उसे पुनः पाना जले हुए पेड़में अंकुर निकलनेके समान कठिन है। मनुष्यपर्याय मिल भी जाय तो भी हिताहितविचारसे रहित असंख्य मानव समुद्रमें सुदेशकी प्राप्ति पाषाणोंमें मणिकी तरह कठिन है। सुदेश मिलनेपर भी सुकुलकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। सुकुलजन्मसे शील विनय और आचारकी परम्परा मिल जाती है। उसमें भी दीर्घायु इन्द्रियबल रूप आरोग्य आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। इन सबके मिलनेपर भी सद्धर्मकी प्राप्ति यदि नहीं हुई तो नेत्ररहित मुखकी तरह वह व्यर्थ ही है। उस सुदुर्लभ धर्मको पाकर भी विषयसुखमें समय बिताना भस्मके लिए चन्दन जलानेके समान है। विषयविरक्त होनेपर भी तपोभावना धर्मप्रभावना सुखमरण आदि रूप समाधि अत्यन्त कठिन है। इस समाधिसे ही बोधिलाभ सफल कहा जा सकता है। इस प्रकार चिन्तन करना बोधि-दुर्लभानुप्रेक्षा है इससे बोधिको प्राप्त करके जीव अप्रमादी बना रहकर स्वकल्याणमें लगा रहता है।

§ १०-११. जीवस्थान और गुणस्थानका गत्यादि मार्गणाओंमें अन्वेषण करना रूप धर्म जिनशासनमें अच्छी तरह कहा गया है यह भावना धर्मस्वाख्यातत्व है। गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयमदर्शन लेश्या भव्य सम्यक्त्व संज्ञा और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं। नरकादि गतियाँ कर्मोदयकृत हैं तथा मोक्षगति क्षायिकी है। इन्द्र अर्थात् आत्माका चिह्न या इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे सृष्ट इन्द्रियाँ हैं। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके भेदसे इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं। स्पर्शनादि इन्द्रियाँ और एकेन्द्रियादि भेद कर्मकृत हैं, आत्माकी अतीन्द्रियता क्षायिक है। आत्माकी प्रवृत्तिसे उपचित पुद्गलपिण्ड काय है। कायसम्बन्धी जीव छह प्रकारके हैं—पृथिवीकायिक जलकायिक तेजस्कायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे ये होते हैं। नामकर्मका अत्यन्त उच्छेद कर देनेसे सिद्ध अकाय हैं। वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्राप्त वीर्यलब्धि योगका प्रयोजक होती है। उस सामर्थ्यवाले आत्मा-

का मन वचन और कायवर्गणानिमित्तक आत्मप्रदेशका परिस्पन्द योग है। वह पन्द्रह प्रकारका है। सत्य मृषा उभय और अनुभयके भेदसे मनोयोग और वचनयोग चार-चार प्रकारके हैं। औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोग वैक्रियिक वैक्रियिकमिश्र आहारक आहारकमिश्र और कार्मण ये सात काययोग हैं। आत्मामें सम्मोहरूप प्रवृत्ति उत्पन्न होना वेद है। वह नोकषायके उदयसे तीन प्रकारका है—स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद। आत्मामें अपगतवेद अवस्था औपशमिक भी होती है और क्षायिक भी। जो चारित्रपर्यायको कषे वह कषाय है। क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय हैं। अकषायत्व औपशमिक भी है और क्षायिक भी। तत्त्वार्थबोध ज्ञान है। मति आदि पाँच प्रकारके ज्ञान हैं। मिथ्यादर्शनके उदयसे मति श्रुत और अवधि कुज्ञान भी होते हैं। व्रत समिति कषायनिग्रह दण्डत्याग और इन्द्रियजय आदि संयम है। संयम और संयमासंयम आदि चारित्रमोहके उपशम क्षय और क्षयोपशमसे होते हैं। सबसे अतीत सिद्धत्व क्षायिक है। दर्शनावरणके क्षय और क्षयोपशमसे होनेवाला आलोचन दर्शन है। चक्षु अचक्षु अवधि और केवलके भेदसे चार प्रकारका दर्शन है। कषायसे अनुरंजित योगप्रवृत्ति लेश्या है। वह कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्लके भेदसे छह प्रकारकी है। निर्वाण पानेकी योग्यता जिसमें प्रकट हो सके वह भव्य और अन्य अभव्य हैं। ये दोनों पारिणामिक हैं। मुक्तजीव भव्य और अभव्य उभयसे अतीत हैं। तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्व है। वह दर्शनमोहके उपशम क्षय या क्षयोपशमसे होता है। मिथ्यात्व औदयिक है। सासादनसम्यक्त्व अनन्तानुबन्धीके उदयसे होता है अतः औदयिक है। सम्यङ्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक है। शिक्षा क्रिया और आलाप आदिको ग्रहण करनेवाला संज्ञी और विपरीत असंज्ञी है। संज्ञित्व क्षायोपशमिक है असंज्ञित्व औदयिक है और उभयसे परेकी अवस्था क्षायिक है। उपभोग्य शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण आहार है, विपरीत अनाहार है। शरीर नाम कर्मके उदय और विग्रह गति नामके उदयसे आहार होता है। तीनों शरीर नाम कर्मके उदयके अभाव तथा विग्रहगति नामके उदयसे अनाहार होता है। ये चौदह मार्गणाएँ हैं।

इनमें जीव स्थानोंकी सत्ता का विचार करते हैं। तिर्यंच गतिमें चौदह ही जीवस्थान हैं। अन्य तीन गतियोंमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो ही जीवस्थान हैं। एकेन्द्रियमें चार विकलेन्द्रियोंमें दो दो और पञ्चेन्द्रियोंमें चार होते हैं। पृथिवी जल अग्नि और वायुकायिकोंमें प्रत्येकके चार, वनस्पति कायिकोंमें छह और त्रस कायिकोंमें दस जीवस्थान होते हैं। मनोयोगमें एक संज्ञिपर्याप्तक जीवस्थान हैं। वाग्योगमें द्वि त्रि चतुरिन्द्रिय संज्ञि-असंज्ञि पर्याप्तक ये पाँच जीवस्थान हैं। काययोगके चौदह ही जीवस्थान हैं। स्त्रीवेद पुरुषवेदमें संज्ञि असंज्ञि पर्याप्तक अपर्याप्तक ये चार जीवस्थान हैं। नपुंसकवेदमें चौदह हैं। अवेदमें एक संज्ञिपर्याप्तक स्थान है। चारों कषायोंमें चौदह और अकषायमें एक संज्ञिपर्याप्तक स्थान है। मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानमें चौदह, विभंगावधि और मनःपर्ययमें एक संज्ञिपर्याप्तक, तथा मति श्रुत अवधिज्ञानमें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक दो और केवलज्ञानमें एक संज्ञिपर्याप्तक जीवस्थान हैं। सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यात संयममें एक ही संज्ञिपर्याप्तक जीवस्थान हैं। असंयममें चौदह ही जीवस्थान हैं। अचक्षुदर्शनमें चौदह, चक्षुदर्शनमें चतुरिन्द्रिय संज्ञि असंज्ञिपर्याप्तक ये तीन जीवस्थान होते हैं। इनके लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं निवृत्त्यपर्याप्तक नहीं। अवधि दर्शनमें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक दो जीवस्थान होते हैं। केवलदर्शनमें एक संज्ञिपर्याप्तक ही स्थान होता है। आदिकी तीन लेश्याओंमें चौदह, तेज पद्म और शुक्ल लेश्यामें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक दो जीवस्थान होते हैं। अलेश्योंमें एक संज्ञिपर्याप्तक स्थान है। भव्य और अभव्यमें चौदह ही जीवस्थान हैं। औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और सासादन सम्यक्त्वमें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक दो जीवस्थान,

सम्यक्मिथ्यात्वमें एक संज्ञिपर्याप्तक और मिथ्यात्वमें चौदह ही जीवस्थान हैं। संज्ञियोंमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो तथा असंज्ञियोंमें शेष बारह जीवस्थान होते हैं। संज्ञि असंज्ञिव्यवहाररहित स्थानमें एक पर्याप्तक जीवस्थान होता है। कर्मोदयापेक्ष आहारमें चौदह ही जीवस्थान होते हैं। अनाहार अवस्था अपर्याप्तक सम्बन्धी सातमें, पर्याप्तकके केवलिसमुद्घातकालमें तथा कर्मोदयकी अपेक्षा अयोगकेवलीमें होती है। सिद्ध अतीतजीवस्थान हैं।

मार्गणाओंमें गुणस्थान निरूपण—

नरक गतिमें पर्याप्तक नारकोंमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं। प्रथम नरकमें अपर्याप्तकके पहला और चौथा दो गुणस्थान, अन्य पृथिवियोंमें अपर्याप्तकके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। तिर्यंच गतिमें तिर्यंच पर्याप्तकोंके आदिके पाँच गुण स्थान, अपर्याप्तकोंके मिथ्यादृष्टि सासादन और असंयत सम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं। पर्याप्त तिर्यंचियोंके आदिके पाँच गुणस्थान अपर्याप्तिकाओंमें मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं। स्त्रीतिर्यंचोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता अतः सम्यग्दृष्टि गुणस्थान नहीं होता। मनुष्यगतिमें पर्याप्त मनुष्योंके चौदह ही गुणस्थान होते हैं तथा अपर्याप्तकोंके मिथ्यादृष्टि सासादन और असंयत सम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान हैं। पर्याप्त मनुषिणियोंके भावलिंगकी अपेक्षा चौदह ही गुणस्थान होते हैं। द्रव्यलिंगकी अपेक्षा तो आदिके पाँच ही गुण स्थान हैं। अपर्याप्त स्त्रियोंमें आदिके दो मिथ्यादृष्टि और सासादन ही गुणस्थान होते हैं क्योंकि सम्यग्दृष्टि स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता। भवअपर्याप्तक तिर्यंच और मनुष्योंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। देवगतिमें पर्याप्तक भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें आदिके चार गुणस्थान अपर्याप्तकों आदिके दो गुणस्थान होते हैं। इनकी देवियों और सौधर्म ईशानस्वर्गकी देवियोंमें भी पूर्वोक्त क्रम हैं। सौधर्म ईशान आदि अन्तिम ग्रैवेयक तकके पर्याप्तकोंमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं। अनुदिश अनुत्तरवासी पर्याप्तक और अपर्याप्तकोंमें एक असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान होता है।

एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञिपञ्चेन्द्रियों तकमें एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। पञ्चेन्द्रियसंज्ञियोंमें चौदह ही गुणस्थान होते हैं। पृथिवीकायिक आदि वनस्पति पर्यन्त स्थावर कायिकोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है, त्रसकायिकोंमें चौदह ही गुणस्थान होते हैं। सत्यमनोयोग और अनुभय मनोयोगमें संज्ञिमिथ्यादृष्टिसे तेरहवाँ गुणस्थान तक होता है। सत्यमनोयोग और उभय मनोयोगमें संज्ञिमिथ्यादृष्टि आदि बारहवाँ गुणस्थान तक होता है। अनुभय वाग्योगमें द्वीन्द्रिय आदि सयोगकेवली पर्यन्त सत्यवाग्योगमें संज्ञिमिथ्यादृष्टि आदि सयोगकेवली पर्यन्त, मृषावाग्योग और उभयवाग्योगमें संज्ञिमिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थान होते हैं। औदारिक मिश्रकाययोगमें मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि और सयोगकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं। वैक्रियिककाययोगमें आदिके चार गुणस्थान और मिश्रमें मिश्रगुणस्थानसे रहित तीन ही गुणस्थान होते हैं। आहारक और आहारकमिश्रमें एक ही प्रमत्तसंयत गुणस्थान होता है। कार्मण काययोगमें मिथ्यादृष्टि सासादन असंयत सम्यग्दृष्टि और सयोगकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं। अयोगमें एक अयोगी गुणस्थान है। स्त्रीवेद और पुंवेदमें असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि अनिवृत्तिबादरसाम्पराय तक नव गुणस्थान और नपुंसक वेदमें एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्पराय तक नव गुणस्थान होते हैं। नपुंसकवेदमें नारकियोंके चार गुणस्थान एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय पर्यन्तके एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। असंज्ञिपंचेन्द्रिय आदि संयतासंयत गुणस्थानवर्ती तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं। मनुष्य तीनों वेदोंमें अनिवृत्तिबादरतक नव गुणस्थानवाले होते हैं। इसके आगेके मनुष्य अपगतवेद हैं। देव चारों गुणस्थानोंमें स्त्रीवेदी या पुंवेदी होते हैं। क्रोध मान और मायामें एके-

न्द्रिय आदि अनिवृत्तिबादर गुणस्थानतक तथा लोभकषायमें सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान तकके जीव होते हैं। इससे आगेके जीव अकषाय होते हैं। मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानमें एकेन्द्रिय आदि सासादनसम्यग्दृष्टि पर्यन्त जीव होते हैं। विभंगावधिमें संज्ञिमिथ्यादृष्टि या सासादनसम्यग्दृष्टि पर्याप्तक ही होते हैं अपर्याप्तक नहीं। सम्यङ्मिथ्यादृष्टि अज्ञानसे मिश्रित तीनों ज्ञानोंमें होते हैं क्योंकि कारणसदृश कार्य होता है। मति श्रुत और अवधिज्ञानमें असंयत सम्यग्दृष्टि आदि क्षीणकषाय गुणस्थानतक, मनःपर्ययज्ञानमें प्रमत्तसंयत आदि क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त तथा केवलज्ञानमें सयोगी और अयोगी ये दो गुणस्थान होते हैं। सामायिक छेदोपस्थापनाशुद्धि संयममें प्रमत्तसंयतसे अनिवृत्तिबादरसाम्पराय तक परिहारविशुद्धिमें प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत, सूक्ष्मसाम्परायमें एक सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयममें उपशान्तकषाय क्षीणकषाय सयोगी और अयोगी ये चार गुणस्थान, और संयमासंयममें एक संयतासयत गुणस्थान होता है। असंयममें आदिके चार गुणस्थान होते हैं। चक्षुदर्शनमें चतुरिन्द्रियसे लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थानतक, अचक्षुदर्शनमें एकेन्द्रियसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतक, अवधिदर्शनमें असंयत सम्यग्दृष्टिसे क्षीणकषाय गुणस्थानतक और केवल दर्शनमें सयोगी और अयोगी ये दो गुणस्थान होते हैं। आदिकी तीन लेश्याओंमें एकेन्द्रिय आदि असंयत सम्यग्दृष्टितक, तेज और पद्मलेश्यामें संज्ञिमिथ्या दृष्टिसे अप्रमत गुणस्थानतक और शुक्ललेश्यामें संज्ञिमिथ्यादृष्टिसे सयोगकेवलीतक होते हैं। अयोगकेवली अलेश्य हैं। भव्योंमें चौदहों गुणस्थान तथा अभव्योंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। क्षायिक सम्यक्त्वमें असंयत सम्यग्दृष्टि आदि अयोगकेवलीतक, वेदक सम्यक्त्वमें असंयत सम्यग्दृष्टि-आदि अप्रमत्त संयततक, औपशमिक सम्यक्त्वमें असंयत सम्यग्दृष्टि आदि उपशान्त कषायतक तथा सासादन सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व और मिथ्यात्वमें एक अपना अपना गुणस्थान होता है। नारकोंमें प्रथमपृथिवीमें क्षायिक वेदक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि तथा अन्य पृथिवियोंमें वेदक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। तिर्यंचोंमें असंयत सम्यग्दृष्टि स्थानमें क्षायिक वेदक और औपशमिक तीनों सम्यक्त्व हैं। संयतासंयत स्थानमें क्षायिक नहीं है अन्य दो हैं; क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वके साथ पूर्वबद्धतिर्यंचायु प्राणी भोगभूमिमें ही उत्पन्न होता है। तिर्यंचियोंमें दोनों स्थानोंमें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता क्योंकि क्षपणाका आरम्भ करनेवाला पुरुषलिंगी मनुष्य ही होता है। मनुष्योंमें असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत स्थानोंमें क्षायिक वेदक और औपशमिक तीनों सम्यक्त्व हैं। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवों और उनकी देवियोंमें तथा सौधर्म ऐशान कल्पवासिनी देवियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टि स्थानमें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता अन्य दो होते हैं। सौधर्म आदि उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त क्षायिक वेदक और औपशमिक तीनों सम्यक्त्व हैं। अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवोंमें क्षायिक और वेदक सम्यक्त्व हैं, औपशमिक भी उपशम श्रेणीमें मरनेवालोंकी अपेक्षा हो सकता है। संज्ञित्वमें संज्ञिमिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषायपर्यन्त तथा असंज्ञित्वमें एकेन्द्रिय आदि असंज्ञि पञ्चेन्द्रिय तक होते हैं। संज्ञि-असंज्ञि उभय विकल्पसे परे जीवोंमें सयोगी और अयोगी दो गुणस्थान होते हैं। आहारमें एकेन्द्रिय आदि सयोगकेवलीपर्यन्त तथा अनाहारमें विग्रहगतिमें मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि, प्रतर और लोकपूरण अवस्थामें सयोगकेवली और अयोगकेवली ये पाँच गुण स्थान होते हैं। सिद्ध गुणस्थानातीत हैं।

इस प्रकार निःश्रेयसहेतु धर्मका भगवान् अर्हन्तने कितना सुन्दर व्याख्यान किया है, यह विचार करना धर्मस्वाख्यातत्व अनुप्रेक्षा है। इससे धर्मके प्रति अनुराग होता है। इसतरह अनुप्रेक्षाओंसे उत्तमक्षमा आदि धर्मोंका संधारण होता है तथा महान् संयम होता है।

§ १२–१६. 'स्वाख्यात' में 'सु' उपसर्गके साथ समास है अतः उसके योगमें अकृच्छ्रा-

र्थक युच् प्रत्ययका प्रसंग नहीं है। अनुप्रेक्षा शब्द भावसाधन है। कृदन्तसे अभिहित भाव द्रव्यके समान होता है अतः अनुप्रेक्षितव्यके भेदसे भावभेद होकर बहुवचन निर्देश बन जाता है। कर्मसाधन मानकर भी अनुचिन्तनके साथ सामानाधिकरण्यमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि 'अनुचिन्त्यते इत्यनुचिन्तनम्' इस तरह अनुचिन्तन शब्द भी कर्मसाधन है। अनित्यत्व आदि स्वभावोंका अनुचिन्तन अनुप्रेक्षा है। लिंग और वचनभेद तो 'गावो धनम्' की तरह बन जाता है, क्योंकि उपात्तलिंग और वचनवाले शब्दोंके परस्पर सम्बन्धका नियम है।

§ १७. अनुप्रेक्षाओंकी भावना करनेवाला उत्तम क्षमा आदि धर्मोंका परिपालन करता है और परीषहोंके जीतनेके लिए उत्साहित होता है अतः दोनोंके बीचमें अनुप्रेक्षाका कथन किया है।

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

§ १–३. नाम छोटेसे छोटा रखा जाता है। यहाँ 'परीषह' इतना बड़ा नाम रखनेका तात्पर्य है कि यह सार्थक नाम है—जो सहे जाँय वे परीषह। मार्ग अर्थात् कर्मागमद्वारको रोकनेवाले संवरके जैनेन्द्र प्रोक्त मार्गसे च्युत न हो जाँय इसके पहिलेसे ही परीषहों पर विजय प्राप्त की जाती है। परीषहजयी संवरमार्गके द्वारा क्षपकश्रेणी पर चढ़नेकी सामर्थ्यको प्राप्त कर, उत्तरोत्तर उत्साहको बढ़ाते हुए सकल कषायोंकी प्रध्वंस शक्तिसे कर्मोंकी जड़को काटकर, जिनके पंखोंपर जमी हुई धूली झड़ गई है उन उन्मुक्त पक्षियोंकी तरह पंखोंको फड़फड़ाकर ऊपर उठ जाते हैं। इस तरह संवरमार्ग और निर्जराकी सिद्धिके लिए परीषहोंको सहना चाहिये। 'परिसोढव्याः' में 'सोढ' इस सूत्रसे षत्वका निषेध हो जाता है।

परीषहोंका वर्णन—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

§ १. बाह्य और आभ्यन्तर द्रव्योंके परिणमनरूप शारीर और मानस पीड़ा देनेवाली क्षुधा आदि बाईस परीषहोंको जीतनेके लिए विद्वान् संयतको प्रयत्न करना चाहिये।

§ २. जिसने सभी संस्कार छोड़ दिये हैं, शरीरमात्र ही जिनका उपकरण है, तप और संयमके लोपका परिहार करनेमें उत्सुक कृत, कारित अनुमत संकल्पित उद्दिष्ट संक्लिष्ट क्रमागत प्रत्यात्त पूर्वकर्म और पश्चात्कर्म इन दस प्रकारके एषणादोषोंको टालने वाले और देश काल प्रान्त आदिकी व्यवस्थाको समझनेवाले संयतके भी अनशन मार्गश्रम रोग तप स्वाध्यायश्रम कालातिक्रम अवमोदर्य और असातावेदनीय आदि कारणोंसे क्षुधा उत्पन्न होती है। वे उसके प्रतीकारको भोजनकालके सिवाय या संयम विरोधी द्रव्योंसे न तो स्वयं करते हैं न अन्यसे कराते हैं और न मनमें ही यह विचार करते हैं कि—'यह वेदना दुस्तर है, बहुत समय है, बड़े बड़े दिन होते हैं' आदि। वे ज्ञानी साधु किसी भी प्रकारके विषादको प्राप्त नहीं करके शरीरमें हड्डी नसाजाल और चमड़ामात्र रह जाने पर भी आवश्यक क्रियाओंको बराबर नियमसे करते हैं और कारागार बन्धनमें पड़े हुए भूखसे छटपटाते हुए मनुष्य और पिंजरेमें बन्द पशुपक्षियोंकी भयानक क्षुधाका विचार करके संयम कुम्भमें भरे गये धैर्यरूपी जलसे क्षुधारूपी अग्निका प्रशमन करते हैं। वे उसकी भयंकर पीड़ाको कुछ नहीं समझते। यह क्षुधा परीषह जय है।

§ ३. स्नान अवगाहन परिषेक आदिके त्यागी, पक्षियोंकी तरह जिनका आसन या स्थान अनियत है, अत्यन्त खारा चिकना रूखा आदि विरुद्ध आहार गरमी पित्तज्वर और अनशन आदि कारणोंसे लगनेवाली शरीर और इन्द्रियोंको मथनेवाली भयंकर प्यासको भी कुछ न गिनकर उसके प्रतीकारकी इच्छा न रखने वाले, जेठकी दुपहरी सूर्यका तीव्र ताप, और जंगलमें जला-

शयके पास रहने पर भी जो जलकायिक जीवोंकी हिंसापरिहारके लिए उनके जलसे प्यास बुझानेकी इच्छा नहीं करनेवाले, पानी न मिलनेसे मुरझाई हुई लताकी तरह मुरझाये हुए शरीरकी परवाह नहीं करके तपकी मर्यादाओंका पालन करनेवाले, परमसंयमी साधु धैर्यकुम्भमें भरे हुए शील सुगन्धित प्रज्ञाजलसे तृष्णाग्निज्वालाको शान्त करते हैं और संयममें तत्पर रहते हैं। यह पिपासा परीषह जय है।

§ ४–५. भूख और प्यासकी सामर्थ्य जुदी जुदी है तथा दोनोंकी शान्तिके साधन भी पृथक् पृथक् हैं अतः अभ्यवहार सामान्य होनेपर भी दोनों जुदा जुदा हैं।

§ ६. निर्वस्त्र, पक्षियोंकी तरह अनियत आवासवाले और शरीर मात्र ही आधारवाले साधु शिशिर वसन्त और वर्षागममें वृक्षमूल मार्ग और गुफा आदि निवासोंमें गिरे हुए बरफ तुषार आदिसे युक्त मर्मभेदिनी वायुसे तीव्र कँपकँपी आनेपर भी शीतके विनाशक अग्नि आदिकी अभिलाषा नहीं करते किन्तु नरककी दुःसह तीव्र शीतवेदनाका स्मरण करके चित्तका समाधान करते हैं। वे विद्या मन्त्र औषध पत्ते बकला तृण और चर्म आदिकी आकांक्षा नहीं करके देहको पराई ही समझते हैं। वे तो धैर्यरूपी वस्त्रके द्वारा ही निर्विषाद संयम परिपालन करते हैं। पूर्वमें अनुभूत धूप सुवासित गर्भागार सुरतसुख और अंगनालिंगन आदिका स्मरण भी नहीं करते। इस तरह वे शीतपरीषहका जय करते हैं।

§ ७. जेठकी दुपहरियामें सूर्यके प्रखर तापसे अंगारकी तरह शरीरके जलनेपर भी तथा तृष्णा अनशन पित्तरोग घाम और श्रम आदिकी असह्य गर्मीकी वेदनासे पसीना कंठशोष दाह आदिकी तड़प होनेपर भी जलभवन जलावगाहन लेपन सिंचन ठंडी जमीन कमलपत्र केलेके पत्र शीतल वायु चंदन चन्द्र कमल और मुक्ताहार आदि पूर्वानुभूत शीतल उपचारोंकी ओर तिरस्कार भाव रखनेवाले साधु उस महाभयंकर गरमीमें यही विचार करते हैं कि—'आत्मन्, तूने बहुत बार नरकोंमें परवश होकर अत्यन्त दुःसह उष्णवेदनाएँ सही हैं। यह तप तेरे कर्मोंका क्षय कर रहा है, इसे तू स्वतन्त्र भावसे तप' इत्यादि पुनीत विचारोंसे प्रतीकारकी वाञ्छा न करके चारित्रकी रक्षा करना उष्णपरीषहजय है।

§ ८. शरीरके किसी भी प्रकारके आच्छादनसे रहित परकृत आवास गिरिगुहा आदि स्थानोंमें वसनेवाले साधुको रात दिन डांस मच्छर मक्खी पिस्सू कीड़ा जुँआ खटमल चींटी और बिच्छू आदिके तीव्रपातसे काटे जानेपर भी उन्हें कर्मफल मानकर मणि मन्त्र औषध आदिसे उसके प्रतीकारकी इच्छा न रखते हुए जबतक शरीर है तबतक शत्रुसेनापर पिल पड़नेवाले और शत्रुओंके अस्त्र घातकी परवाह न करनेवाले मदान्ध हाथीकी तरह कर्मसेनाके जयको सन्नद्ध बने रहना दंशमशक परीषहजय है।

§ ९. दंशमशक शब्द डँसनेवाले जन्तुओंके उपलक्षणके लिए है, जैसे कि दही संरक्षणमें 'काक' शब्द दहीखानेवाले प्राणियोंका उपलक्षक होता है। दंश या मशकमेंसे किसी एक का नाम लेनेसे उसी जन्तुका बोध होता अतः दूसरा शब्द उपलक्षणके लिए दे दिया है।

§ १०. गुप्ति समितिकी अविरोधी परिग्रहनिवृत्ति और परिपूर्ण ब्रह्मचर्य मोक्षके साधन भूत चारित्रको पुष्ट करनेवाले हैं। यथाजातरूप नग्नता उक्त चारित्रका मूर्तिमान् रूप है, अविकारी और संस्कारशून्य-स्वाभाविक है। यद्यपि मिथ्यादृष्टियों द्वारा इसके प्रति द्वेष प्रकट किया जाता है पर यह परममंगलरूप है। इस नग्नताको धारण करनेवाले साधु स्त्रीरूपको अशुचि बीभत्स और शव-कंकालके समान देखते हैं। वे सदा वैराग्य भावनासे मनोविकारोंको जीतते हैं। पुरुषविकार प्रकट न होनेसे नाग्न्यपरीषहजय कहलाता है। जातरूप धारण करना उत्तम है तथा श्रेयःप्राप्तिका कारण है। मनोविकारोंको तथा तत्पूर्वक होनेवाले अंगविकारोंको

रोकनेमें असमर्थ अन्य तापस उसे ढँकनेके लिए कौपीन फलक चीवर आदि आवरणोंको ग्रहण करते हैं। पर वह केवल अंगसंवरण कर सकता है कर्मसंवरण नहीं।

§ ११-१२ क्षुधादिकी बाधा, संयमरक्षा, इन्द्रियदुर्जयत्व, व्रतपरिपालनभार, गौरव, सदा अप्रमत्त रहना, देशभाषान्तरका न समझना और चपल जन्तुओंसे व्याप्त भयानक विषम वनोंमें नियत एक विहारी रहने आदि कारणोंसे होनेवाली संयमकी अरतिको धैर्यविशेषसे नष्ट करनेवाले और संयमविषयक रतिभावनासे विषयसुखरतिको विषाहारके समान विपाक कटु माननेवाले परम संयमीके इस प्रकार अरतिपरीषहजय होता है। यद्यपि सभी परीषहें अरति उत्पन्न करती हैं फिर भी क्षुधा आदिके न होनेपर भी मोहकर्मके उदयसे होनेवाली संयमकी अरतिका संग्रह करनेके लिए 'अरति'का पृथक् ग्रहण किया है।

§ १३. एकान्त उद्यान और भवन आदिमें रागद्वेष यौवनदर्प रूपमद विभ्रम उन्माद मद्यपान और आवेश आदि कारणोंसे स्त्रीबाधा होनेपर भी उनके नेत्रविकार भ्रूविकार शृंगार आकार विहार हावभाव विलास हास लीलाकटाक्ष सुकुमार-स्निग्ध-मृदु-पीन-उन्नत-स्तनकलश नितान्त-क्षीण उदर पृथु जघन रूप गुण आभरण गन्ध वस्त्र और माला आदिके प्रति पूर्ण निग्रहके भाव होनेसे जो दर्शन स्पर्शन आदिकी इच्छासे पूर्णतः रहित हैं तथा स्निग्ध मृदु विशद सुकुमार शब्द और तन्त्री वीणा आदिसे मिश्रित मधुरगान आदिके सुननेमें निरुत्सुक हैं, तथा स्त्रैण अनर्थोंको संसाररूपी समुद्रके व्यसनपाताल भयंकर दुःख रौद्र भंवर आदि रूप विचार करने वाले हैं ऐसे परमसंयमीके स्त्रीपरीषहजय होता है। अन्य ब्रह्मा आदि देव तिलोत्तमा देवगणिका आदिके रूपको देखकर विकारको प्राप्त हो गये थे, वे स्त्रीपरीषहरूपी पंकसे ऊपर नहीं उठ सके।

§ १४. दीर्घकाल तक जिनने गुरुकुलमें ब्रह्मचर्यवास किया है, बन्धमोक्षतत्त्वके मर्मज्ञ, कषायनिग्रहमें तत्पर, भावनाओंसे जिनका चित्त सुभावित है ऐसे साधु जब गुरुकी आज्ञापूर्वक आहारचर्याके लिए या विहारके लिए जाते हैं तब मार्गमें कठोर कंकड़-कंटक आदिसे पैरोंके कट जाने पर और छिल जाने पर भी खेदका अनुभव नहीं करते यह चर्यापरीषहजय है। अनेक देशके व्यवहारोंके ज्ञाता साधु गाँवमें एक रात और नगरमें पाँच रात तक ठहरते हैं। वे ठहर कर भी वायुकी तरह निःसंग रहते है, तथा भयंकर जंगल आदिमें सिंहकी तरह निर्भय और परसहायानपेक्ष वृत्तिवाले होते हैं।

§ १५. श्मशान उद्यान शून्यगृह गिरिगुहा गह्वर आदि नये नये स्थानोंमें संयम विधिज्ञ धैर्यशाली और उत्साहसंपन्न साधु जिस आसनसे बैठते हैं उस आसनसे उपसर्ग रोगविकार आदि होने पर भी विचलित नहीं होते और न मन्त्रविद्या आदिसे उपसर्ग आदिका प्रतीकार ही करना चाहते हैं। क्षुद्रजन्तुयुक्त विषमदेशमें भी काष्ठ या पत्थरकी तरह निश्चल आसन जमाते हैं उससमय वे पूर्वानुभूत मृदुशय्या आदि बिछौनोंका स्मरण भी नहीं करते। वे तो प्राणिहिंसाका पूर्णरूपसे परिहार करनेमें तत्पर रहते हैं, ज्ञान ध्यान भावना आदिसे चित्तको सुभावित करते हैं। वीरासन उत्कुटिकासन आदि जिस आसनसे बैठते हैं उसको निर्दोष रूपसे बाँधते हैं। इस प्रकार आसनदोषका जीतना निषद्यापरीषहजय है।

§ १६. स्वाध्याय ध्यान और मार्गश्रम आदिसे परिखेदित साधु जब खर विषम रेतीली कंकरीली पथरीली अत्यन्त गरम या ठंडी कैसी भी भूमिमें एक मुहूर्ततक एक करवटसे ठंठकी तरह सोते हैं तब वे संयमरक्षाके लिए हलन चलन आदिसे रहित होकर निश्चल रहते हैं, व्यन्तर आदिकी बाधा होने पर भागने या उसके प्रतीकारकी इच्छा नहीं रखते। वे मरणके भयसे भी निःशङ्क रहकर मृतककी तरह या लकड़ीकी तरह निश्चल पड़े रहते हैं। वे 'यह प्रदेश सिंह व्याघ्र साँप आदि दुष्ट जन्तुओंसे व्याप्त है, अतः यहाँसे जल्दी भाग जाना चाहिये, कब रात्रि पूरी होती है' इत्यादि संकल्प-विकल्पोंसे रहित होकर सुख मिलने पर भी हर्षोन्मत्त न बनकर, पूर्वानुभूत

नवनीतसम मृदुशय्या आदिका स्मरण भी न करके आगमविधिसे शयन करते हैं, उससे प्रच्युत नहीं होते। यह शय्यापरीषहजय है।

§ १७. मोहाविष्ट मिथ्यादृष्टि आर्य म्लेच्छ खल पापाचार मत्त उद्दृप्त और शंकित आदि दुष्टोंके द्वारा कठोर कर्कश कान फाड़ देनेवाले हृदयभेदी क्रोधाग्निवर्धक धिक्कार और गाली आदि दुर्वचनोंको सुनकर भी स्थिर चित्त रहनेवाले, भस्म करनेकी शक्ति रहने पर भी क्षमाशील उन कटु शब्दोंके अर्थविचारसे पराङ्मुख 'मेरे पूर्व अशुभ कर्मका उदय ही ऐसा है जिससे मेरे प्रति इनका द्वेष है' इत्यादि पुण्यभावनाओंसे सुभावित साधुका अनिष्ट वचनोंका सहना आक्रोश परीषहजय है।

§ १८. गाँव, बगीचा, जंगल, नगर आदिमें रात-दिन एकाकी निरावरण साधुको चोर, कुतवाल, म्लेक्ष, भील, कठोर, बहरा, पूर्वशत्रु और द्वेषाविष्ट आदिके द्वारा क्रोधपूर्वक ताड़न, आकर्षण, बन्धन, शस्त्राभिघात आदिसे मारनेपर भी वैरभाव नहीं होना, उलटे क्षमा-अमृतसे मारनेवालोंमें मित्रभाव करना वधपरीषहजय है। उस समय वे यही विचारते हैं कि यह शरीर अवश्य ही नष्ट होनेवाला है। यह कुशलता है कि हमारे व्रत शील भावना आदि नष्ट नहीं हुए केवल शरीर ही नष्ट हो रहा है। जलानेपर भी चन्दनकी तरह सुवास फैलाना ही हमारा धर्म है, इससे तो हमारे कर्मोंकी निर्जरा ही हो रही है। आदि।

§ १९. क्षुधा मार्गश्रम तप रोग आदिके द्वारा सूखे रूखकी तरह जिनके समस्त अवयव सूख गये हैं, जिनके हाड़ और नसें ऊपर नीचे हो रही हैं, आँखें धँस गई हैं, ओंठ सूख गये हैं, सारे शरीरका चमड़ा सुकड़ गया है, जाँघें पैर हाथ आदि अत्यन्त शिथिल हो गये हैं ऐसे परम-स्वाभिमानी मौनी आगमविहित विधिसे भिक्षा लेनेवाले साधुके परमक्षीणता होनेपर भी और प्राण जानेका समय आनेपर भी कभी दीनतापूर्वक अविहित आहार वसति औषध आदिकी याचना नहीं करना याचनापरीषहजय है। वे भिक्षाके समय केवल अपनेको दिखाते भर हैं। कभी भी मुखपर विवर्णता हीनवचनप्रयोग या किसी प्रकारका याचनासंकेत नहीं करते। जिस प्रकार जौहरी मणि दिखाता है उसी तरह स्वशरीर दिखा देना इतना ही पर्याप्त है। वन्दना करनेवालेको आशीर्वाद देनेके समय ही उनके हाथ फैलते हैं, याचनाके लिए नहीं। इस तरह ऊर्जितसत्त्व और प्रज्ञासे सन्तुष्टमना साधुका याचनापरीषहजय है।

§ २०. वायुकी तरह अनेकदेशविहारी, अपनी शक्तिका प्रकाश नहीं करनेवाले, एकभोजी, 'दो' इस असभ्य दीन वचनके बिना स्वशरीरदर्शनमात्रसे भिक्षा स्वीकार करनेवाले, शरीरसे सर्वथा उदासीन, 'यह आज और यह कल' इत्यादि संकल्पोंसे रहित, पाणिपात्री सन्तोषी साधुको बहुत दिनोंतक अनेक घरोंमें घूमनेपर भी निरन्तराय भिक्षा न मिलनेपर, ग्रामान्तर जानेकी आकांक्षा न होना तथा चित्तमें रंचमात्र संक्लेश न होना अलाभविजय है। वे यह नहीं सोचते और न कहते हैं कि 'यहाँ दाता नहीं हैं, वहाँ बड़े-बड़े दानी दाता थे' किन्तु सदा लाभसे अलाभको ही अपने स्वावलम्बी जीवनके लिए उत्कृष्ट तप समझते हैं।

§ २१. 'यह शरीर वात, पित्त, कफ और सन्निपातजन्य अनेक रोगों और वेदनाओंका आकर है, दुखोंका कारण और अशुचि है। यह जीर्णवस्त्रकी तरह अवश्य ही छोड़ने योग्य है, इस तरह अपने शरीरमें परशरीरकी तरह उपेक्षाभाव धारण कर सब प्रकारकी चिकित्साओंसे चित्तको हटा शरीरयात्राके लिए मात्र विधिवत् आहारग्रहण करनेवाले साधुका जल्लौषधि आदि अनेक औषध ऋद्धियोंके होनेपर भी शरीरसे निःस्पृह रहकर 'पूर्वकृत पापका यह फल है, इसे भोगकर उऋण हो जाना ही अच्छा है' इत्यादि विचारोंके द्वारा रोगका प्रतीकार न कर उसे सहन करना रोगपरीषहजय है।

§ २२. सूखे तृण पत्र भूमि कण्टक काष्ठ फलक और शिलातल आदि किसी भी प्रासुक असंस्कृत आधारोंपर व्याधि मार्गश्रम ठण्डी-गर्मी आदि निमित्तक क्रमको दूर करनेके लिए शय्या या आसन लगानेवाले साधुका तिनके आदिसे बाधा होनेपर या खुजली आदि चलनेपर भी दुःख नहीं मान निश्चल रहना तृणस्पर्शपरीषहजय है।

§ २३-२४. जलजन्तुओंकी हिंसाके परिहारके लिए जिनके अस्नानका व्रत है उन परम अहिंसक साधुको पसीनेके मलसे समस्त अंगोंके जल जानेपर दाद, खाज आदि चर्म रोगोंके प्रकोप होनेपर तथा नख रोम दाढ़ी, मूँछ आदिमें अनेक बाह्यमलके संपर्कसे चर्मविकार होनेपर भी स्वयं मलके हटानेकी या परके द्वारा हटवाये जानेकी जरा भी इच्छा नहीं करना और सदा कर्ममलको हटानेकी चेष्टा करना मलपरीषहजय है। साधुजन कभी भी पूर्वकृत स्नान अनुलेपन आदिका स्मरण नहीं करते और न अपनी शारीरिक मलीनतासे हीनत्वका ही अनुभव करते हैं। केशलुंचन या केशोंका संस्कार न करनेसे खेद होता है पर यह मलपरीषहमें ही अन्तर्भूत है अतः उसको पृथक् नहीं गिनाया है।

§ २५. 'चिरब्रह्मचर्यधारी महातपस्वी स्वपरसमयनिश्चयज्ञ हितोपदेशी कथामार्गकुशल तथा बहुशास्त्रार्थविजयी भी मुझे कोई प्रणाम भक्ति आदर आसन-प्रदान आदि नहीं करता' इस प्रकारकी दुर्भावनाको मनमें न लाकर मानअपमानमें समचित्तवृत्तिसे सत्कार पुरस्कारकी आकांक्षा न करना, मात्र श्रेयोमार्गका ही विचार करना सत्कार-पुरस्कार परीषहजय है। पूजा प्रशंसा आदि होना सत्कार है और स्थान देना आमन्त्रण आदि देना पुरस्कार है।

§ २६. 'मैं अंग पूर्व प्रकीर्णक आदिका ज्ञाता समस्त ग्रन्थार्थका पंडित अनुत्तरवादी त्रिकालविषयार्थवेदी शब्द न्याय अध्यात्म आदिमें निपुण हूँ, मेरे सामने सूर्यके समक्ष जुगनूकी तरह अन्यवादी निस्तेज हैं' इस प्रकारके विज्ञानमदको नहीं होने देना प्रज्ञापरीषह जय है।

§ २७. अध्ययन और अर्थग्रहणमें श्रम करनेवाले चिरप्रव्रजित विविधतपधारी सर्वतः अप्रमत्त अशुभ मन वचन कायकी क्रियाओंसे सर्वथा रहित मुझको 'यह अज्ञ है, कुछ नहीं जानता, पशुसम है' इत्यादि आक्षेप वचनोंको शान्तिसे सहने पर भी आज तक ज्ञानातिशय नहीं हुआ इस प्रकार अपनेमें अज्ञानसे हीनभावना नहीं होने देना और न दुःखी होना अज्ञानपरीषहजय है।

§ २८. संयमप्रधान दुष्कर तप तपनेवाले वैराग्य भावनासे शुद्धहृदययुक्त सकल तत्त्वार्थवेदी अर्हदायतन साधु और धर्मके प्रतिपूजक और चिरप्रव्रजित मुझ तपस्वीको आज तक कोई ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं हुआ। 'महोपवास करनेवालोंको प्रातिहार्य उत्पन्न हुए थे' यह सब झूठ है, यह दीक्षा व्यर्थ है, व्रतपालन निरर्थक है, इस प्रकारकी चित्तमें अश्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देना और अपने सम्यग्दर्शनको दृढ़ रखना अदर्शनपरीषहजय है। इस तरह असंकल्पोपस्थित परीषहोंको सहन करनेसे चित्त संक्लेशरहित होता है और रागादि परिणामोंके अभावमें महान् संवर होता है।

§ २९-३१. यद्यपि दर्शनके श्रद्धान और आलोचन ये दो अर्थ होते हैं पर यहाँ मति आदि पाँच ज्ञानोंके अव्यभिचारी श्रद्धान रूप दर्शनका ग्रहण है, आलोचन रूप दर्शन श्रुत और और मनःपर्यय ज्ञानोंमें नहीं होता अतः उसका ग्रहण नहीं है। आगे दर्शनमोहके उदयसे ही अदर्शन परीषह बताई जायगी अतः दर्शनका श्रद्धान अर्थ केवल कल्पनामात्र नहीं है। यद्यपि अवधिदर्शन आदिके उत्पन्न न होने पर भी 'इसमें वे गुण नहीं हैं' आदि रूपसे अवधिदर्शन आदि सम्बन्धी परीषह हो सकती हैं पर वस्तुतः ये दर्शन अपने अपने ज्ञानोंके सहचारी हैं अतः अज्ञानपरीषहमें ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे सूर्यके प्रकाशके अभावमें प्रताप नहीं होता उसी तरह अवधिज्ञानके अभावमें अवधिदर्शन नहीं होता, अतः अज्ञानपरीषहमें ही

उन उन अवधिदर्शनाभाव आदि परीषहोंका अन्तर्भाव है। इसी प्रकार श्रद्धान रूप दर्शनको ज्ञानाविनाभावी मानकर उसका प्रज्ञापरीषहमें अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता क्योंकि कभी कभी प्रज्ञाके होने पर भी तत्त्वार्थश्रद्धानका अभाव देखा जाता है, अतः व्यभिचारी है।

सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

दसवें ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें चौदह परीषह होती हैं मोहनीय सम्बन्धी आठ परीषह नहीं होतीं।

§ १–२. चौदह ही होती हैं कम बढ़ नहीं। यद्यपि सूक्ष्मसाम्परायमें सूक्ष्म लोभसंज्वलनका उदय है पर वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कार्यकारी नहीं है, मात्र उसका सद्भाव ही है अतः छद्मस्थ और वीतरागकी तरह उसमें भी चौदह ही परीषह होती हैं।

§ ३. **प्रश्न**–जिसके क्षुधाकी सम्भावना होती है उसीसे उसको जीतनेके कारण क्षुधा परीषहजय कहा जा सकता है। जब ११ वें और १२ वें गुणस्थानमें मोहका मन्दोदय उपशम और क्षय है तब मोहोदय रूप बलाधायकके अभावमें वेदना न होनेसे परीषहोंकी सम्भावना ही नहीं है अतः उनका जय या अभाव कैसा ? **उत्तर**–जैसे सर्वार्थसिद्धिके देवोंके उत्कृष्ट सातोदय होने पर भी सप्तमपृथिवीगमन–सामर्थ्यकी हानि नहीं है उसी तरह वीतराग छद्मस्थके भी कर्मोदयसद्भावकृत परीषह व्यपदेश हो सकता है।

एकादश जिने ॥ ११ ॥

जिन भगवान्में ग्यारह परीषह 'कोई मानते हैं' यह वाक्य शेष यहाँ समझना चाहिये।

§ १. **प्रश्न**–केवलीमें घातिया कर्मोंका नाश होनेसे निमित्तके हट जानेके कारण नाग्न्य अरति स्त्री निषद्या आक्रोश याचना अलाभ सत्कार पुरस्कार प्रज्ञा अज्ञान और अदर्शन परीषहें न हों, पर वेदनीय कर्मका उदय होनेसे तदाश्रित परीषहें तो होनी ही चाहिये ? **उत्तर**–घातिया कर्मोदय रूपी सहायकके अभावसे अन्य कर्मोंकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। जैसे मन्त्र औषधिके प्रयोगसे जिसकी मारणशक्ति उपक्षीण हो गई है ऐसे विषको खानेपर भी मरण नहीं होता उसीतरह ध्यानाग्निके द्वारा घातिकर्मेन्धनके जल जानेपर अनन्त चतुष्टयके स्वामी केवलीके अन्तरायका अभाव हो जानेसे प्रतिक्षण शुभकर्मपुद्गलोंका संचय होते रहनेसे प्रक्षीणसहाय वेदनीयकर्म विद्यमान रहकर भी अपना कार्य नहीं कर सकता, इसीलिए केवलीमें क्षुधा आदि नहीं होते ; अथवा, 'केवलीमें ग्यारह परीषह कोई मानते हैं' ऐसा वाक्यशेष मानकर अर्थ नहीं करना चाहिये किन्तु 'ग्यारह परीषहें हैं' ऐसा अर्थ करना चाहिये। ये ग्यारह परीषह केवलीमें ध्यानकी तरह उपचारसे मानी जाती हैं। जैसे समस्तज्ञानावरणका नाश करनेके कारण परिपूर्णज्ञानशाली केवलीमें एकाग्रचिन्तानिरोध न होनेपर भी कर्मनाशरूपी ध्यानफलको देखकर ध्यानका उपचारसे सद्भाव माना जाता है उसीतरह क्षुधा आदि वेदनारूप वास्तविक परीषहोंके अभावसे भी वेदनीय कर्मोदयरूप द्रव्य परीषहका सद्भाव देखकर ग्यारह परीषहोंका उपचार कर लिया जाता है।

बादरसाम्पराये सर्वे ॥१२॥

§ १–३. बादरसाम्पराय–अर्थात् प्रमत्तसंयत आदि बादरसाम्परायतकके साधुओंके ज्ञानावरणादि समस्त निमित्तोंके विद्यमान रहनेसे सभी परीषह होते हैं। सामायिक छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धिके चारित्रमें सभी परीषहोंकी संभावना है।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥१३॥

§ १–२. ज्ञानावरणके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती हैं। क्षायोपशमिकी प्रज्ञा

अन्य ज्ञानावरणके उदयमें मद उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरणका क्षय होनेपर मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा और अज्ञान दोनों ज्ञानावरणसे उत्पन्न होते हैं। मोहनीयकर्मके भेद गिने हुए हैं और उनके कार्य भी दर्शन चारित्र आदिका नाश करना सुनिश्चित है अतः 'मैं बड़ा विद्वान् हूँ' यह प्रज्ञामद मोहका कार्य न होकर ज्ञानावरणका कार्य है। चारित्रवालोंके भी प्रज्ञापरीषह होती है।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥

§ १–२. 'दर्शनमोह' इस विशिष्ट कारणका निर्देश करनेसे अवधिदर्शन आदिका सन्देह नहीं रहता। अन्तराय सामान्यका निर्देश होनेपर भी यहाँ सामर्थ्यात् लाभान्तराय ही विवक्षित है। अर्थात् अदर्शन परीषह दर्शनमोहके उदयसे और अलाभ परीषह लाभान्तरायके उदयसे होती है।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

§ १. पुंवेद आदि चारित्रमोहके उदयसे नाग्न्य अरति स्त्री निषद्या आक्रोश याचना और सत्कारपुरस्कार परीषह होती हैं। मोहके उदयसे ही प्राणिहिंसाके परिणाम होते हैं अतः निषद्यापरीषह भी मोहोदयहेतुक ही समझनी चाहिये।

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

§ १–३. क्षुधा पिपासा शीत उष्ण दंशमशक चर्या शय्या वध रोग तृणस्पर्श और मल ये शेष ग्यारह परीषह वेदनीयसे होती हैं। 'वेदनीय'में सप्तमी विभक्ति कर्मसंयोगार्थक नहीं है किन्तु विद्यमानार्थक है। जैसे 'गोषु दुह्यमानासु गतः दुग्धासु आगतः' यहाँ सप्तमी है उसीतरह वेदनीयके रहनेपर ये परीषह होती हैं यहाँ समझना चाहिये।

एकसाथ कितनी परोषह होती हैं।

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥१७॥

एकसाथ एकजीवके १९ परीषह तक होती हैं।

§ १–२. 'आङ्' अभिविधि अर्थमें है, अतः किसीके १९ भी परीषह होती हैं। शीत और उष्णमेंसे कोई एक तथा शय्या निषद्या और चर्यामेंसे कोई एक परीषह होनेसे १९ परीषह होती हैं।

§ ३–६. श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञाप्रकर्ष होनेपर भी अवधि आदिको अपेक्षा अज्ञान हो सकता है अतः दोनोंको एक साथ होनेमें कोई विरोध नहीं है।

'प्रज्ञा और अज्ञानका विरोध होनेपर भी दंश और मशकको जुदी-जुदी परीषह मानकर उन्नीस संख्याका निर्वाह किया जा सकता है' यह समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि 'दंशमशक' यह एक ही परीषह है। मशक शब्द तो प्रकारवाची है। दंश शब्दसे ही तुल्य जातियोंका बोध करके मशक शब्दको निरर्थक कहना उचित नहीं है; क्योंकि इससे श्रुतिविरोध होता है। जो शब्द जिस अर्थको कहे वही प्रमाण मानना चाहिये। दंश शब्द प्रकारार्थक तो है नहीं। यद्यपि मशक शब्दका भी सीधा प्रकार अर्थ नहीं होता पर जब दंशशब्द डाँस अर्थको कहकर परीषहका निरूपण कर देता है तब मशक शब्द प्रकार अर्थका ज्ञापन करा देता है।

§ ७. **प्रश्न**–चर्यादि तीन परिषह समान हैं, एक साथ नहीं हो सकतीं, क्योंकि बैठनेमें परीषह आनेपर सो सकता है, सोनेमें परीषह आनेपर चल सकता है, और सहनविधि एक जैसी है तब इन्हें एक परीषह मान लेना चाहिये और दंशमशकको दो स्वतन्त्र परीषह मानकर परीषहोंकी कुल संख्या २१ रखनी चाहिये। फिर एक कालमें शीत-उष्णमें से एक तथा शय्या चर्या

और निषद्याकी प्रतिनिधि एक इस तरह दो परीषहोंको कम कर १७ की संख्याका निर्वाह कर लेना चाहिये' ? उत्तर—अरति यदि रहती है तो परीषहजय नहीं कहा जा सकता। यदि साधु चर्याकष्टसे उद्विग्न होकर बैठ जाता है या बैठनेसे उद्विग्न होकर लेट जाता है तो परीषहजय कैसा ? यदि 'परीषहोंको जीतूँगा' इस प्रकारकी रुचि नहीं है तो वह परीषहजयी नहीं कहा जा सकता। अतः तीनों क्रियाओंके कष्टोंको जीतना और एकके कष्टके निवारणके लिए दूसरेकी इच्छा न करना ही परीषहजय है। अतः तीनोंको स्वतन्त्र और दंशमशकको एक ही परीषहजय मानना उचित है।

चारित्र मोहके उपशम क्षय और क्षयोपशमसे होनेवाली आत्मविशुद्धिकी दृष्टिसे चारित्र एक है। प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा दो प्रकारका है। उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य विशुद्धिके भेदसे तीन प्रकारका है। छद्मस्थोंका सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञोंका सयोग और अयोग, इस तरह चार प्रकारका भी चारित्र होता है और—

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायययथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

§ १–५. आय–अनर्थ हिंसादि, उनसे सतर्क रहना। सभी सावद्य योगोंका अभेद रूपसे सार्वकालिक त्याग अथवा नियत समय तक त्याग सामायिक हैं। सामायिकको गुप्ति नहीं कह सकते क्योंकि गुप्तिमें तो मनके व्यापारका भी निग्रह किया जाता है जब कि सामायिकमें मानस प्रवृत्ति होती है। इसे प्रवृत्तिरूप होनेसे समिति भी नहीं कह सकते; क्योंकि सामायिक चारित्रमें समर्थ व्यक्तिको ही समितियोंमें प्रवृत्तिका उपदेश है। सामायिक कारण है और समिति कार्य। यद्यपि संयमधर्ममें चारित्रका अन्तर्भाव हो सकता है; पर चारित्र मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण है और वह समस्त कर्मोंका अन्त करनेवाला है इस बातकी सूचना देनेके लिए उसका पृथक् और अन्तमें वर्णन किया है।

§ ६–७. त्रस-स्थावर जीवोंकी उत्पत्ति और हिंसाके स्थान चूँकि छद्मस्थके अप्रत्यक्ष हैं अतः प्रमादवश स्वीकृत निरवद्यक्रियाओंमें दूषण लगनेपर उसका सम्यक् प्रतीकार करना छेदोपस्थापना है। अथवा, सावद्यकर्म हिंसादिके भेदसे पाँच प्रकारके हैं, इत्यादि विकल्पोंका होना छेदोपस्थापना है।

§ ८. जिसमें प्राणिवधके परिहारके साथ ही साथ विशिष्ट शुद्धि हो वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। यह चारित्र तीस वर्षकी आयुवाले, तीन वर्षसे ९ वर्षतक जिसने तीर्थंकरके पादमूल की सेवा की हो, प्रत्याख्यान नामक पूर्वके पारङ्गत, जन्तुओंकी उत्पत्ति विनाशके देशकाल द्रव्य आदि स्वभावोंके जानकार अप्रमादी, महावीर्य, उत्कृष्ट निर्जराशाली, अतिदुष्कर चर्याका अनुष्ठान करनेवाले और तीनों संध्या कालके सिवाय दो कोश गमन करनेवाले साधुके ही होता है अन्यके नहीं।

§ ९–१०. स्थूल-सूक्ष्म प्राणियोंके वधके परिहारमें जो पूरी तरह अप्रमत्त है, अत्यन्त निर्बाध उत्साहशील, अखण्डितचारित्र, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी महापवनसे धोंकी गई प्रशस्त-अध्यवसायरूपी अग्निकी ज्वालाओंसे जिसने कर्मरूपी ईंधनको जला दिया है, ध्यानविशेषसे जिसने कषायके विषांकुरोंको खोंट दिया है, सूक्ष्म मोहनीय कर्मके बीजको भी जिसने नाशके मुखमें ढकेल दिया है उस परम सूक्ष्म लोभ कषायवाले साधुके सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र होता है। यह चारित्र प्रवृत्ति निरोध या सम्यक् प्रवृत्ति रूप होने पर भी गुप्ति और समितिसे भी आगे और बढ़कर है। यह दसवें गुणस्थानमें, जहाँ मात्र सूक्ष्म लोभ टिमटिमाता है, होता है, अतः पृथक् रूपसे निर्दिष्ट है।

§ ११–१२. चारित्रमोहके सम्पूर्ण उपशम या क्षयसे आत्मस्वभावस्थितिरूप परम उपेक्षापरिणत अथाख्यात चारित्र होता है। पूर्व चारित्रोंके अनुष्ठान करनेवाले साधुओंने जिसे कहा और समझा तो; पर मोहोपशम या क्षयके बिना प्राप्त नहीं किया वह अथाख्यात है। अथ शब्दका आनन्तर्य अर्थ है। अर्थात् जो मोहके उपशम या क्षयके अनन्तर प्रकट हो। अथवा, इसे यथाख्यात इसलिए कहते हैं कि जैसा परिपूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूप है वैसा ही इसमें आख्यात-प्राप्त होता है।

§ १३. इति शब्द हेतु एवं प्रकार व्यवस्था और विपर्यास आदिका वाची होता है पर यहाँ वह समाप्तिसूचक है अर्थात् इस यथाख्यात चारित्रसे सकल कर्मक्षयकी परिसमाप्ति होती है और चारित्रकी पूर्णता भी यहीं हो जाती है।

§ १४. इन चारित्रोंका क्रम अपने गुणानुसार है–आगे आगेके चारित्र प्रकर्षगुणशाली हैं। सामायिक और छेदोपस्थापना की जघन्य विशुद्धि अल्प है, उससे परिहारविशुद्धि की जघन्यलब्धि अनन्तगुणी है, फिर परिहारविशुद्धि की उत्कृष्ट लब्धि अनन्तगुणी है, फिर सामायिक और छेदोपस्थापनाकी उत्कृष्टलब्धि अनन्तगुणी है, फिर सूक्ष्मसाम्परायकी जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी फिर उसीकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है। यथाख्यात चारित्रकी सम्पूर्ण विशुद्धि अनन्तगुणी है. इसमें जघन्य-उत्कृष्ट विभाग नहीं है। ये पाँच चारित्र शब्द को दृष्टिसे संख्यात बुद्धि और अध्यवसायकी दृष्टिसे असंख्यात तथा अर्थकी दृष्टिसे अनन्त भेदवाले हैं। यह चारित्र पूर्वास्रवका निरोध करता है अतः परम संवररूप है।

तप दो प्रकारका है–बाह्य और आभ्यन्तर। दोनोंके छह छह भेद हैं। बाह्यतपके भेद–

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

§ १–२. अनशन दो प्रकारका है–एक बार भोजन या एक दिन बाद भोजन आदि नियतकालिक अनशन है और शरीरत्याग पर्यन्त अनशन अनवधृतकालिक है। मन्त्रसाधन आदि दृष्टफलकी अपेक्षाके बिना किया गया उपवास अनशन कहलाता है। संयमप्रसिद्धि रागोच्छेद कर्मविनाश ध्यान और आगमबोध आदिके लिए अनशनकी सार्थकता है।

§ ३. तृप्तिके लिए पर्याप्त भोजनमेंसे चौथाई या दो चार ग्रास कम खाना अवमोदर्य है। इससे संयमकी जागरूकता दोषप्रशम सन्तोष और स्वाध्यायसुख आदि प्राप्त होते हैं।

§ ४. आशा-तृष्णाकी निवृत्तिके लिए भिक्षाके समय साधुका एक दो या तीन घरका नियम कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान है।

§ ५–८. जितेन्द्रियत्व तेजोवृद्धि और संयमबाधानिवृत्ति आदिके लिए घी दही गुड़ और तैल आदिका त्याग करना रसपरित्याग है। रस शब्द गुणवाची है, चूँकि गुणका त्याग न होकर गुणवान् द्रव्यका त्याग होता है, अतः यहाँ 'शुक्लः पटः'की तरह मतुप्का लोप समझ लेना चाहिये। अथवा गुणीको छोड़कर गुण भिन्न तो होता नहीं है, अतः सामर्थ्यसे गुणवान्का बोध हो जाता है। द्रव्यत्यागसे ही गुणत्यागकी सम्भावना है। यद्यपि सभी पुद्गल रसवाले हैं पर यहाँ प्रकर्षरसवाले द्रव्यकी विवक्षा है जैसे कि 'अभिरूपको कन्या देनी चाहिये' यहाँ सुन्दर या विशिष्ट रूपवान्की विवक्षा होती है। अतः सभी द्रव्योंके त्यागका प्रसंग नहीं है।

§ ९–११. प्रश्न–अनशन अवमोदर्य और रसपरित्यागका भिक्षानियमकारी वृत्तिपरिसंख्यानमें ही अन्तर्भाव कर देना चाहिये; क्योंकि ये भी भिक्षाका नियम नहीं करते हैं। यदि वृत्तिपरिसंख्यानके भेद मानकर भी इन्हें पृथक् गिनाया जाता है तो फिर गिनतीकी कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी ? उत्तर–भिक्षाके लिए गया हुआ साधु इतने घरों तक या इतने क्षेत्रतक कायचेष्टा करे कभी यथाशक्ति विषय नियम भी करे इस प्रकार कायचेष्टा आदिका

नियमन वृत्तिपरिसंख्यानमें होता है, अनशनमें भोजनमात्राकी निवृत्ति और अवमोदर्य और रसपरित्यागमें भोजनकी आंशिक निवृत्ति होती है। अतः तीनोंमें महान् भेद है।

§ १२. बाधानिवारण ब्रह्मचर्य स्वाध्याय और ध्यान आदिके लिए निर्जन्तु शून्यागार गिरिगुफा आदि एकान्त स्थानमें बैठना सोना आदि विविक्तशय्यासन है।

§ १३-१६. अनेक प्रकारके प्रतिमायोग धारण करना मौन रहना आतापन वृक्षमूल-निवास आदिसे शरीरपरिवेद करना कायक्लेश है। इससे अचानक दुःख आनेपर सहनशक्ति बनी रहती है और विषय सुखमें अनासक्ति होती है। प्रवचनप्रभावना भी क्लेशका एक उद्देश्य है। अन्यथा ध्यान आदिके समय सुखशील व्यक्तिको द्वन्द्व आनेपर चित्तका समाधान नहीं हो सकेगा। काय क्लेश तप परीषहजातीय नहीं है; क्योंकि परीषह जब चाहे आते हैं और कायक्लेश बुद्धिपूर्वक किया जाता है। सभी तपोंमें ऐहलौकिक फलकी कामना नहीं होनी चाहिये। 'सम्यक्' पदकी अनुवृत्ति आनेसे दृष्टफल निरपेक्षताका होना तपोंमें अनिवार्य है।

§ बाह्य अशन आदि द्रव्योंकी अपेक्षा रखनेसे, बाह्यजन अन्य मतवाले और गृहस्थ भी चूँकि इन तपोंको करते हैं तथा दूसरोंके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेय होनेसे इन तपोंको बाह्यतप कहते हैं। जैसे अग्नि संचित तृण आदि ईंधनको भस्म कर देती है उसी तरह अनशनादि अर्जित मिथ्यादर्शन आदि कर्मोंका दाह करते हैं तथा देह और इन्द्रियोंकी विषयप्रवृत्ति रोककर उन्हें तपा देते हैं अतः ये तप कहे जाते हैं। इनसे इन्द्रिय निग्रह सहज हो जाता है।

आभ्यन्तरतप—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

§ १-३. प्रायश्चित्त आदि तप चूँकि बाह्य द्रव्योंकी अपेक्षा नहीं करते, अन्तःकरणके व्यापारसे होते हैं तथा अन्य मतवालोंसे अनभ्यस्त और अप्राप्तपार हैं अतः ये उत्तर अर्थात् आभ्यन्तर तप हैं।

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

§ १-२. नव आदि संख्यापदोंकी भेद शब्दके साथ अन्य पदार्थ प्रधान समास है। यद्यपि द्वन्द्वमें स्वन्त और अल्पाच्तर तथा अल्प संख्याका पूर्व निपात होता है फिर भी पूर्व सूत्रमें निर्दिष्ट प्रायश्चित्त आदिसे क्रमशः सम्बन्ध करनेके लिए द्वि शब्दका पूर्वनिपात नहीं किया। यदि यही आग्रह है कि प्रयोजन रहने पर भी व्याकरणका उल्लंघन नहीं किया जा सकता तो 'राजदन्तादि' में पाठ करके निर्वाह कर लिया जायगा। ध्यानसे पहिले पहिले क्रमशः नव आदि संख्याओंका सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

प्रायश्चित्तके भेद—

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

§ १. प्रायः साधुलोक, जिस क्रियामें साधुओंका चित्त हो वह प्रायश्चित्त। अथवा, प्राय-अपराध, उसका शोधन जिससे हो वह प्रायश्चित्त। प्रमाद दोष व्युदास, भावप्रसाद निःशल्यत्व अव्यवस्थानिवारण मर्यादाका पालन संयमकी दृढ़ता आराधना सिद्धि आदिके लिए प्रायश्चित्तसे विशुद्ध होना आवश्यक है।

§ २. 'एकान्तमें विराजमान प्रसन्नचित्त गुरुके समक्ष देशकालज्ञ शिष्यके द्वारा सविनय आत्मदोषोंका निवेदन करना आलोचन है। आलोचना दस दोष रहित करनी चाहिये।

वे दोष ये हैं—उपकरण देनेसे मुझे लघु प्रायश्चित्त देगें इस विचारसे प्रायश्चित्तके समय उपकरण आदि देना पहिला दोष है। 'मैं दुर्बल हूँ रोगी हूँ उपवास आदि नहीं कर सकता' यदि

प्रायश्चित्त दें तो दोष कहूँ' यह कहकर दोष कहना दूसरा दोष है। दूसरोंके द्वारा जाने गये दोषोंका कहना तथा अज्ञात दोषोंको छिपा लेना मायाचार नामक तीसरा दोष है। आलस्य या प्रमादसे सूक्ष्म अपराधोंकी परवाह न करके स्थूल दोषोंका कहना चौथा दोष है। कठिन प्रायश्चित्तके भयसे बड़े दोषोंको छिपाकर अल्प दोषोंको कहना पाँचवां दोष है। 'ऐसा दोष होने पर क्या प्रायश्चित्त होगा' इस तरह तरकीबसे प्रायश्चित्त जानकर चापलूसीसे दोष कहना छठवाँ दोष है। पाक्षिक चातुर्मासिक या सांवत्सरिक प्रतिक्रमणके समय बहुत साधुओंकी भीड़में कोलाहलमें दोष कहना सातवाँ दोष है। 'गुरुके द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त युक्त है या नहीं? आगमविहित है या नहीं?' इस प्रकार अन्य साधुओंसे पूछना आठवाँ दोष है। जिस किसी उद्देश्यसे अपनेमें रागशील साधुके समक्ष दोष निवेदन करना नवाँ दोष है। इसमें दिया गया कठोर प्रायश्चित्त भी विफल होता है, इसीके समान मेरा भी अपराध समान है, उसको यही जानता है, जो इसे प्रायश्चित्त दिया गया वही मैं शीघ्र ले लूँगा इस प्रकार अपने दोषका संवरण करना दसवाँ दोष है। अपने मनमें दोषोंको अधिक समय तक न रखकर निष्कपट वृत्तिसे बालककी तरह सरलतापूर्वक दोष निवेदन करनेमें न तो ये दोष होते हैं और न अन्य ही।

साधुका आलोचन तो एकान्तमें आलोचक और आचार्य इन दो की उपस्थितिमें हो जाता है पर आर्यिकाका आलोचन खुले सार्वजनिक स्थानमें तीन व्यक्तियोंकी उपस्थितिमें होता है। लज्जा और परतिरस्कार आदिके कारण दोषोंका निवेदन करके भी यदि उनका शोधन नहीं किया जाता है तो अपनी आमदनी और खर्चका हिसाब न रखनेवाले कर्जदारकी तरह दुःखका पात्र होना पड़ता है। बड़ी भारी दुष्कर तपस्याएँ भी आलोचनाके बिना उसी तरह इष्टफल नहीं दे सकतीं जिस प्रकार विरेचनसे शरीरकी मलशुद्धि किये बिना खाई गई औषधि। आलोचन करके भी यदि गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तका अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो वह बिना संवारे धान्यकी तरह महाफलदायक नहीं हो सकता। आलोचनायुक्त चित्तसे किया गया प्रायश्चित्त माँजे हुए दर्पणमें रूपकी तरह निखरकर चमक जाता है।

§ ३. कर्मवश या प्रमाद आदिसे हुए दोषोंका 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' इस रूपसे प्रतीकार करना प्रतिक्रमण है।

§ ४. कुछ दोष आलोचनामात्रसे शुद्ध होते हैं कुछ प्रतिक्रमणसे तथा कुछ दोनोंसे शुद्ध होते हैं। यह तदुभय है। सभी प्रतिक्रमण नियमसे आलोचनपूर्वक होते हैं। यह गुरुकी आज्ञासे शिष्य करता है। जहाँ केवल प्रतिक्रमणसे दोषशुद्धि होती है वहाँ वह स्वयं गुरुके द्वारा ही किया जाता है; क्योंकि गुरु स्वयं किसी अन्यसे आलोचना नहीं करता।

§ ५-१०. प्राप्त अन्न-पान और उपकरण आदिका त्याग विवेक है। कालका नियम करके कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग है। अनशन और अवमोदर्य आदि तप हैं। चिरप्रव्रजित साधुकी अमुक दिन पक्ष और माह आदिकी दीक्षाका छेद करना छेद है। पक्ष, माह आदितक संघसे बाहिर रखना परिहार है। महाव्रतोंका मूलच्छेद करके फिर दीक्षा देना उपस्थापना है।

विद्या और ध्यानके साधनोंके ग्रहण करने आदिमें प्रश्न विनयके विना प्रवृत्ति करना दोष है, उसका प्रायश्चित्त मात्र आलोचना है। देश और कालके नियमसे अवश्यकर्तव्य विधानोंको धर्मकथा आदिके कारण भूल जानेपर पुनः करनेके समय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। भय शीघ्रता विस्मरण अज्ञान अशक्ति और आपत्ति आदि कारणोंसे महाव्रतोंमें अतिचार लगनेपर छेदसे पहिलेके छहों प्रायश्चित्त होते हैं। शक्तिको न छिपाकर प्रयत्नसे परिहार करते हुए भी किसी कारणवश अप्रासुकके स्वयं ग्रहण करने या ग्रहण करानेमें छोड़े हुए प्रासुकका विस्मरण हो जाय और ग्रहण करनेपर उसका स्मरण आ जाय तो उसका पुनः उत्सर्ग करना ही प्रायश्चित्त है। दुःस्वप्न

दुश्चिन्ता मलोत्सर्ग मूत्रका अतिचार महानदी और महाअटवीके पार करने आदिमें व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। बार-बार प्रमाद, बहुदृष्ट अपराध, आचार्यादिके विरुद्ध वर्तन करना तथा विरुद्ध-दृष्टि-सम्यग्दर्शन की विराधना होनेपर क्रमशः अनुपस्थापन और पारंचिक विधान किया जाता है। अपकृष्ट आचार्यके मूलमें प्रायश्चित्त ग्रहण कराना अनुपस्थापन है। तीन आचार्योंतक एक आचार्यसे अन्य आचार्यके पास भेजना पारंचिक है। ये नवों प्रायश्चित्त देश काल शक्ति और संयम आदिके अविरोध रूपसे अपराधके अनुसार दोषप्रशमनके लिये औषधिकी तरह ग्रहण करने चाहिये। यद्यपि जीवके परिणाम असंख्येयलोकप्रमाण हैं और अपराध भी उतने ही हैं पर प्रायश्चित्त तो उतने प्रकारके नहीं हो सकते। अतः व्यवहारनयसे वर्गीकरण करके प्रायश्चित्तोंका स्थूल निर्देश किया है।

विनयके भेद—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥

§ १. विनयकी अनुवृत्ति करके प्रत्येकसे उसका सम्बन्ध कर देना चाहिये—ज्ञान-विनय दर्शन-विनय चारित्र-विनय और उपचार-विनय आदि।

§ २. आलस्यरहित हो देशकालादिकी विशुद्धिके अनुसार शुद्धचित्तसे बहुमानपूर्वक यथाशक्ति मोक्षके लिये ज्ञानग्रहण अभ्यास और स्मरण आदि करना ज्ञानविनय है।

§ ३. जिनेन्द्रभगवान्ने सामायिक आदि लोकबिन्दुसारपर्यन्त श्रुतमहासमुद्रमें पदार्थोंका जैसा उपदेश दिया है उसका उसी रूपसे श्रद्धान करने आदिमें निःशंक आदि होना दर्शनविनय है।

§ ४. ज्ञान और दर्शनशाली पुरुषके पाँच प्रकारके दुश्चर चारित्रोंका वर्णन सुनकर रोमांच आदिके द्वारा अन्तर्भक्ति प्रकट करना प्रणाम करना मस्तकपर अंजलि रखकर आदर प्रकट करना और उसका भावपूर्वक अनुष्ठान करना चारित्रविनय है।

§ ५-६. पूज्य आचार्यादिको सामने देखकर खड़े हो जाना, उनके पीछे चलना अंजलि जोड़ना और वन्दना आदि करना उपचारविनय हैं। यदि आचार्य परोक्ष हैं तब भी उनके प्रति अंजलि धारण करना, उनके गुणोंका संकीर्तन अनुस्मरण और मनवचनकायसे उनकी आज्ञाका पालन करना उपचारविनय है।

§ ७. ज्ञानलाभ आचारविशुद्धि और सम्यग्आराधना आदिकी सिद्धि विनयसे होती है और अन्तमें मोक्षसुख भी इसीसे मिलता है, अतः विनयभाव अवश्य ही रखना चाहिये।

वैयावृत्त्यके भेद—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम् ॥२४॥

§ १-२. वैयावृत्त्यकी अनुवृत्ति करके उसका आचार्यवैयावृत्त्य आदि रूपसे प्रत्येकके साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिये। कामचेष्टा या अन्य द्रव्योंसे व्यावृत्त पुरुषका भाव या कर्म वैयावृत्त है।

§ ३-१४. जिन सम्यग्ज्ञानादि गुणोंके आधारभूत महापुरुषसे भव्यजीव स्वर्गमोक्षसुख-दायक व्रतोंको धारणकर आचरण करते हैं वे आचार्य हैं। जिन व्रतशीलभावनाशाली महानुभावके पास जाकर भव्यजन विनयपूर्वक श्रुतका अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय हैं। मासोपवास आदि तपोंको तपनेवाले तपस्वी हैं। श्रुतज्ञानके शिक्षणमें तत्पर और सतत व्रतभावनामें निपुण शैक्ष हैं। जिनका शरीर रोगाक्रान्त है वे ग्लान हैं। स्थविरोंकी सन्तति गण हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यकी शिष्य-परम्परा कुल है। चतुर्वर्णश्रमणोंके समूहको संघ कहते हैं। चिरप्रव्रजित पुराने साधक साधु हैं। अभिरूपको मनोज्ञ कहते हैं। अथवा, लोकमें जो विद्वान् वाग्मी महाकुलीन आदि रूपसे

प्रसिद्ध हो गये हों वे मनोज्ञ हैं। ऐसे लोगोंका संघमें रहना प्रवचनगौरवका कारण होता है। अथवा संस्कार सहित सुसंस्कृत असंयत सम्यग्दृष्टिको भी मनोज्ञ कहते हैं।

§ १५-१६. इनपर व्याधि परीषह मिथ्यात्व आदिका उपद्रव होनेपर उसका प्रासुक-औषधि आहारपान आश्रय चौकी तख्ता और संथरा आदि धर्मोपकरणोंसे प्रतीकार करना तथा सम्यक्त्वमार्गमें दृढ़ करना वैयावृत्त्य है। औषध आदिके अभावमें अपने हाथसे खकार नाक आदि भीतरी मलको साफ करना और उनके अनुकूल वातावरणको बना देना आदि भी वैयावृत्त्य है।

§ १७-१८. समाधिधारण ग्लानिका जय प्रवचनवात्सल्य तथा दूसरोंमें सनाथवृत्ति जताने आदिके लिये वैयावृत्त्यका करना आवश्यक है। यद्यपि संघवैयावृत्त्य या गणवैयावृत्त्य इस संक्षिप्त कथनसे कार्य चल सकता था फिर भी वैयावृत्त्यके योग्य अनेक पात्रोंका निर्देश इसलिये किया है कि इनमेंसे किसीमें किसीकी प्रवृत्ति हो सकती है तथा करनी चाहिये।

स्वाध्यायके भेद—

वाचनापृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥

§ १-६. निरपेक्षभावसे तत्त्वार्थज्ञके द्वारा पात्रको निरवद्य ग्रन्थ अर्थ या उभयका प्रतिपादन करना वाचना है। आत्मोन्नति परातिसन्धान परोपहास संघर्ष और प्रहसन आदि दोषोंसे रहित हो संशयच्छेद या निर्णयकी पुष्टिके लिये ग्रन्थ अर्थ या उभयका दूसरेसे पूछना पृच्छना है। पदार्थकी प्रक्रियाको जानकर गरम लोहपिण्डकी तरह चित्तको तद्रूप बना देना और उसका बार-बार मनसे अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। आचार-पारगामी व्रतीका लौकिकफलकी अपेक्षा किये बिना द्रुत विलम्बित आदि पाठदोषोंसे रहित होकर पाठका फेरना, घोखना आम्नाय है। लौकिक ख्याति लाभ आदि फलकी आकांक्षाके बिना उन्मार्गकी निवृत्तिके लिये सन्देहकी व्यावृत्ति और अपूर्वपदार्थके प्रकाशनके लिये धर्मकथा करना धर्मोपदेश है।

प्रज्ञातिशय प्रशस्तअध्यवसाय प्रवचनस्थिति संशयोच्छेद परवादियोंकी शंकाका अभाव परमसंवेग तपोवृद्धि और अतिचारशुद्धि आदिके लिए स्वाध्याय करना आवश्यक है।

व्युत्सर्गके भेद—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

§ १. व्युत्सर्जनको व्युत्सर्ग कहते हैं। इसकी अपेक्षा षष्ठी विभक्ति दी गई है।

§ २-५. जो पदार्थ अन्यमें बलाधानके लिए ग्रहण किये जाते हैं वे उपधि हैं। जो बाह्य पदार्थ आत्माके साथ एकत्व अवस्थाको प्राप्त नहीं हुए उनका त्याग बाह्योपधिव्युत्सर्ग है। क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व हास्य रति अरति भय और जुगुप्सा आदि अभ्यन्तर दोषोंकी निवृत्ति अभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग है। नियतकाल या यावज्जीव शरीरके प्रति ममत्वका त्याग भी अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

§ ६-१०. परिग्रहत्यागमहाव्रतमें सोना चाँदी आदिके त्यागका उपदेश है और त्यागधर्म प्रासुक निर्दोष आहार औषधि आदिका अमुक समयतक त्यागके लिये है, अतः व्युत्सर्ग उनसे पृथक् है। प्रायश्चित्तोंमें गिनाया गया व्युत्सर्ग अतिचार होनेपर उसकी शुद्धिके लिये किया जाता है पर यह व्युत्सर्ग स्वयं निरपेक्षभावसे किया जाता है। 'यहाँ उसका वर्णन होनेसे अन्य अनेक जगह उसका ग्रहण निरर्थक है' यह आशंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि विभिन्न शक्ति आदिकी अपेक्षा उसके विभिन्न प्रयोजन हैं। कहीं सावद्यका प्रत्याख्यान होता है और कहीं निरवद्य भी पदार्थ अमुक कालके लिये या अनियत कालके लिये छोड़े जाते है। तात्पर्य यह कि त्याग पुरुष-की शक्तिके अनुसार ही होता है। उत्तरोत्तर गुणोंमें प्रकृष्ट उत्साह उत्पन्न करनेके लिये इसको

सार्थकता है। निःसंगत्व निर्भयत्व जीविताशात्याग दोषोच्छेद और मोक्षमार्गाभावनातत्परत्व आदिके लिये दोनों प्रकारका व्युत्सर्ग करना अत्यावश्यक है।

ध्यानका वर्णन–

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

उत्तमसंहननवालेके एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान कहते हैं। वह अन्तर्मुहूर्त तक होता है।

§ १–७. वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच और नाराच ये तीन संहनन उत्तम हैं। इनमें मोक्षका कारण प्रथम संहनन होता है और ध्यानके कारण तो तीनों हैं। अग्र अर्थात् मुख, लक्ष्य। चिन्ता–अन्तःकरणव्यापार। गमन भोजन शयन और अध्ययन आदि विविध क्रियाओंमें भटकनेवाली चित्तवृत्तिका एक क्रियामें रोक देना निरोध है। जिस प्रकार वायुरहित प्रदेशमें दीपशिखा अपरिस्पन्द–स्थिर रहती है उसी तरह निराकुल देशमें एक लक्ष्यमें बुद्धि और शक्तिपूर्वक रोकी गई चित्तवृत्ति बिना व्याक्षेपके वहीं स्थिर रहती है, अन्यत्र नहीं भटकती। अथवा अग्रशब्द अर्थवाची है, अर्थात् एक द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु या अन्य किसी अर्थमें चित्तवृत्तिको केन्द्रित करना ध्यान है।

§ ८ ९. ध्येयके प्रति अव्याप्रत उदासीन भावमात्रकी विवक्षा होने पर 'ध्यातिः ध्यानम्' इस प्रकार ध्यान शब्द भावसाधन होता है। 'ध्यायतीति ध्यानम्' ऐसा कर्तृसाधन भी बहुलकी अपेक्षा होता है। करणकी विशेष प्रशंसा करनेके हेतु जैसे 'तलवार अच्छी तरह छेदती है' यहाँ करणमें कर्तृत्व धर्मका आरोप किया जाता है उसी तरह ध्यान करनेवाले आत्माका ध्यान परिणाम चूँकि ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके आधीन है अतः उसीको कर्ता कह दिया है। जब पर्याय और पर्यायीमें भेदकी विवक्षा होती है तब जैसे दाहादिमें प्रवृत्त अग्निकी स्वपर्याय ही करण कह दी जाती है उसी तरह आत्माकी ही पर्याय करण कही जाती है। यह समस्त व्यवस्था अनेकान्तवादमें ही बन सकती है; क्योंकि एकान्त पक्षमें अनेक दोष दिये जा चुके हैं।

§ १०–१५. मुहूर्त ४८ मिनिटका होता है। उत्तम संहननवाला जीव ही इतने समयतक ध्यान धारण कर सकता है अन्य संहननवाले नहीं। 'एकाग्र' शब्द व्यग्रताकी निवृत्तिके लिये है। ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र। आहारादिका समय आ जानेसे चित्तवृत्ति ध्यानसे च्युत हो जाती है अतः ध्यानका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। इसके बाद एक ही ध्यान लगातार नहीं रह सकता।

§ १६–१७. चिन्तानिरोध तुच्छ अभाव नहीं है किन्तु भावान्तररूप है। अन्य चिन्ताओंके अभावकी अपेक्षा ध्यान असत् होकर भी विवक्षित लक्ष्यके सद्भावकी अपेक्षा सत् है। अभाव भी वस्तु है क्योंकि वह (विपक्षाभाव) हेतुका अङ्ग होता है। अतः कोई दोष नहीं है।

§ १८–२२. स्पष्टताके लिये 'एकार्थचिन्तानिरोध' पद देनेमें अनिष्ट प्रसङ्ग होता है। ध्यानमें अर्थसंक्रम स्वीकार किया है। 'वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः' इस सूत्रमें द्रव्यसे पर्याय और पर्यायसे द्रव्यमें संक्रमका विधान किया गया है। एकाग्र पद देनेमें यह दोष नहीं है; क्योंकि अग्रका अर्थ मुख होता है, अतः ध्यान अनेकमुखी न होकर एकमुखी रहता है और उस एक मुखमें ही संक्रम होता रहता है। अथवा, अग्रशब्द प्राधान्यवाची है अर्थात् प्रधान आत्माको लक्ष्य बनाकर चिन्ताका निरोध करना। अथवा, 'अङ्गतीति अग्रम् आत्मा' इस व्युत्पत्तिमें द्रव्यरूपसे एक आत्माको लक्ष्य बनाना स्वीकृत ही है। ध्यान स्ववृत्ति होता है, इसमें

बाह्य चिन्ताओंसे निवृत्ति होती है। एक दिन या माहभर तक जो ध्यानकी बात सुनी जाती है वह ठीक नहीं है; क्योंकि इतने समयतक एक ही ध्यान रहनेसे इन्द्रियोंका उपघात ही हो जायगा।

§ २३–२४. श्वासोच्छ्वासके निग्रहको ध्यान नहीं कहते; क्योंकि इसमें श्वासोच्छ्वास रोकनेकी वेदनासे शरीरपात होनेका प्रसंग है। अतः ध्यानावस्थामें श्वासोच्छ्वासका प्रचार स्वाभाविक होना चाहिये। इसी तरह समय-मात्राओंका गिनना भी ध्यान नहीं है क्योंकि इसमें एकाग्रता नहीं है। गिनती करनेमें व्यग्रता स्पष्ट ही है।

§ २५–२७. ध्यानकी सिद्धि तथा विधि विधान बतानेके लिये ही गुप्ति समिति आदिके प्रकरण हैं। जैसे धान्य के लिये बनाई गई तलैयासे धान भी सींचा जाता है पानी भी पिया जाता है और आचमन भी किया जाता है उसी तरह गुप्ति आदि संवरके लिये भी हैं और ध्यानकी भूमिका बनानेके लिये भी। ध्यानप्राभृत आदि ग्रन्थोंमें ध्यानके समस्त विधिविधानोंका कथन है यहाँ तो उसका केवल लक्षण ही किया है।

ध्यानके भेद—

आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥२८॥

§ १–४. ऋत-दुःख अथवा अर्दन-आर्ति, इनसे होनेवाला ध्यान आर्तध्यान है। रुलानेवालेको रुद्र-क्रूर कहते हैं, रुद्रका कर्म या रुद्रमें होनेवाला ध्यान रौद्रध्यान है। धर्मयुक्त ध्यान धर्म्य ध्यान है। जैसे मैल हट जानेसे वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है उसी तरह निर्मलगुणरूप आत्मपरिणति भी शुक्ल है। इनमें आदिके दो ध्यान अपुण्यास्रवके कारण होनेसे अप्रशस्त हैं और शेष दो कर्मनिर्दहनमें समर्थ होनेसे प्रशस्त हैं।

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

§ १–३. द्विवचननिर्देश होनेसे अन्तिम शुक्ल और उसके समीपवर्ती धर्मध्यानका पर शब्दसे ग्रहण होता है। व्यवहितमें भी परशब्दका प्रयोग होता है। धर्म्य और शुक्लध्यान मोक्षके हेतु हैं और पूर्वके दो ध्यान संसारके हेतु, तीसरा कोई प्रकार नहीं है।

आर्तध्यानका लक्षण—

आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

§ १–२. विष कण्टक शत्रु और शस्त्र आदि बाधाकारी अप्रिय वस्तुओंके मिल जाने पर 'ये मुझसे कैसे दूर हों' इस प्रकारकी सबल चिन्ता आर्त है। स्मृतिको दूसरे पदार्थकी ओर न जाने देकर बार बार उसीमें लगाये रखना समन्वाहार है।

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

§ १. विपरीत अर्थात् मनोज्ञवस्तुका वियोग होनेपर उसकी पुनः प्राप्तिके लिए जो अत्यधिक चिन्ताधारा चलती है वह भी आर्त है।

वेदनायाश्च ॥३२॥

§ १–२. वेदना अर्थात् दुःखवेदनाके होनेपर उसके दूर करनेके लिए धैर्य खोकर जो अंगविक्षेप शोक आक्रन्दन और अश्रुपात आदिसे युक्त विकलता और चिन्ता होती है वह वेदनाजन्य आर्तध्यान है।

निदानं च ॥३३॥

§ १. प्रीतिविशेष या तीव्र कामादिवासनासे आगेके भवमें भी कायक्लेशके बदले विषयसुखोंकी आकांक्षा करना निदान है। 'विपरीतं मनोज्ञस्य' सूत्रसे निदानका संग्रह नहीं होता;

क्योंकि निदान अप्राप्तकी प्राप्तिके लिए होता है, इसमें पारलौकिक विषयसुखकी गृद्धिसे अनागत अर्थप्राप्तिके लिए सतत चिन्ता चलती है।

ये चारों आर्तध्यान कृष्ण नील और कापोतलेश्यावालोंके होते हैं। ये अज्ञानमूलक, तीव्रपुरुषार्थजन्य, पापप्रयोगाधिष्ठान, नानासंकल्पोंसे आकुल, विषयतृष्णासे परिव्याप्त, धर्माश्रय-परित्यागी, कषायस्थानोंसे युक्त, अशान्तिवर्धक, प्रमादमूल, अकुशलकर्मके कारण, कटुकफलवाले असाताके बन्धक और तिर्यंच गतिमें ले जानेवाले हैं।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

ये ध्यान अविरत अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि पर्यन्त, देशविरत-संयतासंयत और प्रमत्त-संयत-पन्द्रह प्रकारके प्रमादोंसे युक्त संयतोंके होते हैं।

§ १. प्रमत्तसंयतोंके प्रमादके तीव्र उद्रेकसे निदानको छोड़कर बाकीके तीन आर्तध्यान कभी-कभी हो सकते हैं।

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥

§ १–४ हिंसा आदिको निमित्त लेकर ध्यानकी धारा चलती है अतः हिंसादिका हेतु रूपसे निर्देश किया है। हिंसादिके आवेश और परिग्रह आदिके संरक्षणके कारण देशविरतको भी रौद्रध्यान होता है। पर यह नरकादि गतियोंका कारण नहीं होता; क्योंकि वह सम्यग्दर्शनके साथ है। संयतके रौद्रध्यान नहीं होता; क्योंकि रौद्र भावोंमें संयम रह ही नहीं सकता। हिंसानन्द अनृतानन्द स्तेयानन्द और परिग्रहानन्द ये चारों रौद्रध्यान अतिकृष्ण नील और कापोतलेश्यावालोंके होते हैं। ये प्रमादाधिष्ठान और नरक गतिमें ले जानेवाले हैं। आत्मा इन अशुभ ध्यानोंसे संक्लिष्ट होकर तप्त लौहपिण्ड जैसे जलको खींचता है उसी तरह कर्मोंको खींचता है।

धर्म्यध्यानका वर्णन—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार धर्म्य ध्यान हैं।

§ १–३ विचय विवेक और विचारणा सभी एकार्थक हैं। आज्ञा आदिके विचयके लिये जो स्मृतिसमन्वाहार–चिन्तनधारा है वह धर्म्य ध्यान है।

§ ४–५. इस कालमें उपदेष्टाका अभाव है, बुद्धि मन्द है, कर्मोंका तीव्र उदय है, पदार्थ सूक्ष्म हैं, उनकी सिद्धिके लिये हेतु और दृष्टान्त मिलते नहीं हैं, अतः सर्वज्ञप्रणीत आगमको प्रमाण मानकर 'यह ऐसा ही है, जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं हो सकते' इस प्रकार गहन पदार्थोंका श्रद्धान करके पदार्थोंका निश्चय करना आज्ञाविचय है। अथवा, स्वसमय-परसमयके रहस्यके जानकार और विशुद्ध सम्यग्दृष्टि वक्ताके द्वारा सर्वज्ञप्रणीत अतिसूक्ष्म धर्मास्तिकाय आदि पदार्थोंका दृढ़ निश्चय करके स्वसिद्धान्ताविरोधी हेतु प्रमाण नय दृष्टान्त आदिकी सम्यक् योजनासे परवादियोंके तर्कजालका भेदन कर उन्हें अपने मतके प्रति सहिष्णु बनाना और ऐसी धर्म कथा करना जिससे श्रुतकी प्रभावना हो, वह सर्वज्ञकी आज्ञाकी प्रकाशक होनेसे आज्ञाविचय धर्म्य ध्यान है।

§ ६–७. मिथ्यादर्शनसे जिनके ज्ञाननेत्र अन्धकाराच्छन्न हो रहे हैं उनकी आचार विनय अप्रमाद आदि विधियाँ अविद्याबहुल होनेसे संसारको ही बढ़ाती हैं। जैसे बलवान भी जात्यन्ध सत्पथसे प्रच्युत होकर कुशल मार्गदर्शकके बताये पथ पर न चलनेके कारण ऊँचे नीचे कंकरीले पथरीले जंगली मार्गमें भटक जाते हैं, वे प्रयत्न करने पर भी सन्मार्गको नहीं पा पाते उसी तरह सर्वज्ञप्रणीत आज्ञासे विमुख मोक्षार्थी सम्यक् पथका ज्ञान न होनेसे सन्मार्गसे दूर ही भटक रहे हैं, इस प्रकार सन्मार्गके अपायका चिन्तन अपायविचय ध्यान है। अथवा, मिथ्यादर्शनसे आकुलित चित्तवाले प्रवादियोंके द्वारा प्रचारित कुमार्गसे ये प्राणी कैसे हटकर सुमार्गमें लगें और अनायतन सेवासे विरक्त हों, कैसे ये पापकारी वचन और भावनाओंसे निवृत होकर सुपथगामी बनें इस प्रकार अपायचिन्तन अपायविचय ध्यान है।

§ ८. ज्ञानावरण आदि कर्मोंके द्रव्य क्षेत्र काल भव और भावनिमित्तक फलानुभवनका विचार विपाकविचय है। मिथ्यात्व एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जाति आतप स्थावर सूक्ष्म अपर्याप्तक और साधारण इन दस प्रकृतियोंका प्रथम गुणस्थानमें ही उदय है आगे नहीं। अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका प्रथम और द्वितीय गुणस्थानोंमें उदय है आगे नहीं। सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिका तीसरेमें ही उदय है आगे पीछे नहीं। अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ नरकायु देवायु नरकगति देवगति वैक्रियिक शरीर वैक्रियिक अंगोपांग चारों आनुपूर्वी दुर्भग अनादेय और अयशस्कीर्ति इन सत्रह कर्म प्रकृतियोंका उदय असंयत सम्यग्दृष्टि तक ही होता है आगे नहीं। चारों आनुपूर्वियोंका उदय मिश्र गुणस्थानमें नहीं होता। प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ तिर्यंचगति उद्योत और नीच गोत्र इन आठ प्रकृतियोंका उदय देशसंयत गुणस्थान तक होता है आगे नहीं। निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि इन तीन कर्म प्रकृतियोंका उदय आहारक शरीरकी निर्वृत्ति न करनेवाले प्रमत्तसंयतोंके होता है। आहारक शरीर और आहारक शरीर-अङ्गोपाङ्गका उदय अप्रमत्तसंयतमें ही होता है न ऊपर और न नीचे, सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत पर्यन्त होता है। अर्धनाराच संहनन कीलक संहनन और असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन इन तीन प्रकृतियोंका उदय अप्रमत्तसंयत तक होता है आगे नहीं। हास्य रति अरति शोक भय और जुगुप्सा इन छह कर्म प्रकृतियोंका उदय अपूर्वकरणके चरम समयतक होता है। तीनों वेद और क्रोध मान माया संज्वलनोंका उदय अनिवृत्तिबादरसाम्पराय तक है। इनका उदयच्छेद अनिवृत्तिबादरसाम्परायके सात भागोंके एक एक भागमें क्रमशः हो जाता है। लोभसंज्वलनका उदय दसवें गुणस्थान तक होता है। वज्रनाराच और नाराच संहननका उदय उपशान्त कषाय तक होता है। निद्रा और प्रचलाका उदय क्षीणकषायके उपान्त्य समय तक होता है। पाँच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायोंका उदय क्षीणकषायके चरम समय तक होता है। कोई एक वेदनीय औदारिक तैजस कार्मणशरीर छह संस्थान औदारिक-शरीराङ्गोपाङ्ग वज्रवृषभनाराचसंहनन वर्ण गन्ध रस स्पर्श अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्वास प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति प्रत्येकशरीर स्थिर अस्थिर शुभ अशुभ सुस्वर दुःस्वर और निर्माण इन तीस प्रकृतियोंका उदय सयोगकेवलीके चरम समय तक है, आगे नहीं। कोई एक वेदनीय मनुष्यायु मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजाति त्रस बादर पर्याप्तक सुभग आदेय यशस्कीर्ति और उच्चगोत्र इन ग्यारह प्रकृतियोंका उदय अयोगकेवलीके चरम समय तक है आगे नहीं। तीर्थंकर प्रकृतिका उदय दोनों केवलियोंके होता है अन्यके नहीं।

§ ५. अयथाकाल–बिना समय आगे होनेवाला कर्मविपाक उदीरणोदय है। मिथ्यादर्शनका उदीरणोदय उपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके चरमावलीको छोड़कर अन्यत्र होता है। एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जाति आतप स्थावर सूक्ष्म अपर्याप्तक और साधारण इन नव प्रकृतियोंका उदीरणोदय मिथ्यादृष्टिके होता है आगे नहीं। अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका उदीरणोदय मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टिके होता है ऊपर नहीं। सम्यङ्मिथ्यात्वका उदीरणोदय मिश्रमें ही होता है न आगे और न पीछे। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ नरकगति देवगति वैक्रियिकशरीर वैक्रियिक अङ्गोपाङ्ग दुर्भग अनादेय और अयशस्कीर्ति इन ग्यारह प्रकृतियोंकी उदीरणा असंयतसम्यग्दृष्टि तक होती है। नरकायु और देवायुकी मरणकालमें चरमावलीको छोड़कर असंयतसम्यग्दृष्टिमें ही उदीरणोदय होता है न ऊपर और न नीचे। चारों आनुपूर्वियोंकी विग्रहगतिमें ही मिथ्यादृष्टि सासादन और

असंयतसम्यग्दृष्टिमें उदीरणा होती है। प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ तिर्यंचगति उद्योत और नीचगोत्र इन सात प्रकृतियोंकी संयतासंयत तक उदीरणा होती है आगे नहीं। तिर्यंच आयुकी मरणकालमें चरमावलीको छोड़कर संयतासंयत तक उदीरणा होती है आगे नहीं। निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धि सातावेदनीय और असातावेदनीयकी प्रमत्तसंयततक उदीरणा होती है, उत्तर-आहारकशरीरवालोंमें चरमावलीमें उदीरणा नहीं होती। आहारकशरीर और आहारकशरीरअङ्गोपाङ्गका प्रमत्तसंयतमें उदीरणोदय होता है आगे पीछे नहीं। मनुष्यायुकी उदीरणा मरणकालमें चरमावलीको छोड़कर मिश्रगुणस्थानके सिवाय प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होती है। वेदक सम्यक्त्वका उदीरणोदय असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक होता है आगे पीछे नहीं। अर्धनाराच कीलक असंप्राप्तासृपाटिकासंहननका उदीरणोदय अप्रमत्तसंयत तक होता है आगे पीछे नहीं। हास्य रति अरति शोक भय और जुगुप्सा इन छह प्रकृतियोंका उदीरणोदय अपूर्वकरणके चरम समय तक होता है आगे पीछे नहीं। तीनों वेद और तीन संज्वलनकी उदीरणा अनिवृत्तिबादर साम्पराय तक होती है। उसके छह भागोंमें प्रत्येकमें एक एकका उदीरणाछेद हो जाता है। सूक्ष्मसाम्परायकी चरमावलीको छोड़कर शेष दशों गुणस्थानवर्तियोंके लोभसंज्वलनकी उदीरणा होती है। वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहननका उदीरणोदय उपशान्त कषायमें होता है आगे पीछे नहीं। बारहवें गुणस्थानकी एक समय अधिक चरमावलीको छोड़कर क्षीणकषायान्त जीवोंके निद्रा और प्रचलाकी उदीरणा होती है। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायोंका उदीरणोदय चरमावलीरहित क्षीणकषायान्त जीवोंके होता है। मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिक तैजस कार्मण शरीर छह संस्थान औदारिकशरीरांगोपांग वज्रवृषभनाराचसंहनन वर्ण गन्ध रस स्पर्श अगुरुलघु उपघात उच्छ्वास प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येकशरीर स्थिर अस्थिर शुभ अशुभ सुस्वर दुःस्वर आदेय यशस्कीर्ति निर्माण और उच्चगोत्र इन अड़तीस प्रकृतियोंकी उदीरणा सयोगकेवलीके चरम समयतक होती है। तीर्थङ्कर प्रकृतिकी उदीरणा सयोगकेवलीके ही होती है आगे पीछे नहीं।

§ १०. लोकके स्वभाव संस्थान तथा द्वीप नदी आदिके स्वरूपका विचार संस्थान विचय है।

§ ११–१२. उत्तमक्षमा आदि दस धर्मोंसे ओत-प्रोत होनेके कारण यह धर्म्यध्यान कहलाता है। उत्तमक्षमादिभावनावालेके यह होता है। अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओंमें जब बार-बार चिन्तनधारा चालू रहती है तब वे ज्ञानरूप हैं पर जब उनमें एकाग्र चिन्तानिरोध होकर चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है तब वे ध्यान कहलाती हैं।

§ १३. तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसम्मत सूत्रपाठमें धर्म्यध्यान अप्रमत्तसंयतके बताया है, पर वह ठीक नहीं है; क्योंकि धर्म्यध्यान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है अतः वह असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत और प्रमत्तसंयतके भी होता है। यदि उक्त अवधारण किया जाता है तो इनकी निवृत्ति हो जायगी।

§ १४–१५. उपशान्तकषाय और क्षीणकषायमें शुक्लध्यान माना जाता है, उनमें धर्म्यध्यान नहीं होता। दोनों मानना उचित नहीं है; क्योंकि आगममें श्रेणियोंमें शुक्ल ध्यान ही बताया है धर्म्यध्यान नहीं।

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

§ १–३. पूर्ववित् अर्थात् श्रुतकेवलीके आदिके दो शुक्लध्यान होते हैं। च शब्दसे उनके धर्म्यध्यान भी होता है। धर्म्यध्यान श्रेण्यारोहणके पहिले होता है तथा श्रेण्यारोहणकालमें शुक्लध्यान होता है, यह बात व्याख्यानसे ज्ञात हो जाती है।

परे केवलिनः ॥३८॥

§ १. केवली–अचिन्त्यविभूतिरूप केवलज्ञानसाम्राज्यके स्वामी सयोगी और अयोगी दोनों केवलियोंके अन्तिम दो शुक्लध्यान होते हैं छद्मस्थोंके नहीं।

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपात्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

पृथक्त्ववितर्क एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं।

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥

§ १–२. तीनों योगवालोंके पृथक्त्ववितर्क, किसी एक योगवालेके एकत्ववितर्क, काययोगवालेके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और अयोगीके व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान होता है।

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

§ १–३. आदिके दो शुक्लध्यान श्रुतकेवलीके द्वारा आरम्भ किये जाते हैं अतः एकाश्रय हैं तथा वितर्क और वीचारसे युक्त हैं।

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क और अविचार है।

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

विशेष प्रकारसे तर्कणा करना वितर्क है। वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान।

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥

अर्थ–ध्येय द्रव्य या पर्याय, व्यञ्जन–शब्द, और योग–मन वचन कायके परिवर्तन को वीचार कहते हैं। द्रव्यको छोड़कर पर्यायको और पर्यायको छोड़कर द्रव्यको ध्यानका विषय बनाना अर्थसंक्रान्ति है। किसी एक श्रुतवचनका ध्यान करते करते वचनान्तरमें पहुँचना और उसे छोड़कर अन्यका ध्यान करना व्यञ्जनसंक्रान्ति है। काययोगको छोड़कर मनोयोग या वचनयोगका अवलम्बन लेना तथा उन्हें छोड़कर काययोगका आलम्बन लेना योगसंक्रान्ति है। इस तरह गुप्ति आदिकी भूमिकापर ध्याये गये ये ध्यान कर्मबन्धन काटनेमें समर्थ होते हैं। इनका प्रारम्भ करनेके लिए यह परिकर्म अर्थात् तैयारी अपेक्षित होती है—

उत्तमशरीरसंहनन होकर भी परीषहोंके सहनेकी क्षमताका आत्म-विश्वास हुए बिना ध्यान-साधना नहीं हो सकती। परीषहोंकी बाधा सहकर ही ध्यान प्रारम्भ किया जा सकता है। पर्वत, गुफा, वृक्षकी खोह, नदी,तट,पुल, श्मशान, जीर्णउद्यान और शून्यागार आदि किसी स्थानमें व्याघ्र, सिंह, मृग, पशु-पक्षी, मनुष्य आदिके अगोचर, निर्जन्तु, समशीतोष्ण, अतिवायुरहित, वर्षा आतप आदिसे रहित, तात्पर्य यह कि सब तरफसे बाह्य आभ्यन्तर बाधाओंसे शून्य और पवित्र भूमिपर सुखपूर्वक पल्यङ्कासनसे बैठना चाहिये। उस समय शरीरको सम ऋजु और निश्चल रखना चाहिये। बाएँ हाथपर दाहिना रखकर न खुले हुए और न बन्द किन्तु कुछ खुले हुए दाँतोंपर दाँतोंको रखकर, कुछ ऊपर किये हुए सीधी कमर और गम्भीर गर्दन किये हुए प्रसन्न मुख और अनिमिष स्थिर सौम्यदृष्टि होकर निद्रा, आलस्य, कामराग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, विचिकित्सा आदिको छोड़कर मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास लेनेवाला साधु ध्यानकी तैयारी करता है। वह नाभिके ऊपर हृदय, मस्तक या और कहीं अभ्यासानुसार चित्तवृत्तिको स्थिर रखनेका प्रयत्न करता है। इस तरह एकाग्रचित्त होकर राग, द्वेष, मोहका उपशम कर कुशलतासे

शरीरक्रियाओंका निग्रह कर मन्द श्वासोच्छ्वास लेता हुआ निश्चित लक्ष्य और क्षमाशील हो बाह्य आभ्यन्तर द्रव्य पर्यायोंका ध्यान करता हुआ वितर्ककी सामर्थ्ययुक्त हो अर्थ और व्यंजन तथा मन वचन कायकी पृथक्-पृथक् संक्रन्ति करता है। वह असीम बल और उत्साहसे मनको सबल बनाकर अव्यवस्थित और भौथरे शस्त्रसे वृक्षको छेदनेकी तरह मोह प्रकृतियोंका उपशम या क्षय करनेवाला पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान ध्याता है। फिर शक्तिकी कमीसे योगसे योगान्तर व्यंजनसे व्यंजनान्तर और अर्थसे अर्थान्तरको प्राप्त कर मोहरजका विधूनन कर ध्यानसे निवृत्त होता है। यह पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान है।

इसी विधिसे मोहनीयका समूलतल उच्छेद करनेकी तीव्र इच्छासे अनन्तगुणविशुद्ध योग सहित हो ज्ञानावरणके सहायभूत बहुत-सी मोहनीय प्रकृतियोंके बन्धको रोकता हुआ उनकी स्थितिका ह्रास और क्षय करके श्रुतज्ञानोपयोगवाला वह अर्थ व्यंजन और योगसंक्रान्तिको रोककर एकाग्र निश्चल चित्त हो वैडूर्यमणिकी तरह निर्लेप क्षीणकषाय हो ध्यान धारण कर फिर वापिस नहीं होता। यह एकत्ववितर्क ध्यान है।

इस तरह एकत्ववितर्क शुक्लध्यानाग्निसे जिसने घातिकर्मरूपी ईंधनको जला दिया है, प्रज्वलित केवलज्ञानसूर्य जिसका प्रकाशमान है, मेघसमूहको भेदकर निकले हुए किरणोंसे सर्वतः भासमान भगवान् तीर्थङ्कर या अन्यकेवली लोकेश्वरों द्वारा अभिवन्दनीय अर्चनीय और अभिगमनीय होते हैं। वे कुछ कम पूर्वकोटिकालतक उपदेश देते रहते हैं। जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है और वेदनीय नाम और गोत्रकी स्थिति भी उतनी ही रहती है तब सभी वचन और मनोयोग तथा बादरकाययोगको छोड़कर सूक्ष्मयोगका आलम्बन ले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान प्रारम्भ करते हैं। जब आयु अन्तर्मुहूर्त हो तथा वेदनीय नाम और गोत्रकी स्थिति अधिक हो तब विशिष्ट आत्मोपयोगवाली परमसामायिकपरिणत महासंवररूप और जल्दी कर्मोंका परिपाक करनेवाली समुद्घातक्रिया की जाती है। वह इस क्रियासे शेष कर्मरेणुओंका परिपाक करनेके लिये चार समयोंमें दण्ड कपाट प्रतर और लोकपूर्ण अवस्थामें आत्मप्रदेशोंको पहुँचाकर फिर क्रमशः चार ही समयोंमें उन प्रदेशोंका संहरण कर चारों कर्मोंकी स्थिति समान कर लेता है। इस दशामें वह फिर अपने शरीरपरिमाण हो जाता है। इस तरह सूक्ष्म काययोगसे सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाति ध्यान ध्याया जाता है।

इसके बाद समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यान प्रारम्भ होता है। श्वासोच्छ्वास आदि समस्त काय वचन और मन-सम्बन्धी व्यापारोंका निरोध होनेसे यह ध्यान समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति कहलाता है। इस ध्यानमें समस्त आस्रव-बन्धका निरोध होकर समस्त कर्मोंके नष्ट करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। इसके धारक अयोगकेवलीके संसार दुःखजालके उच्छेदक साक्षात् मोक्षमार्गके कारण सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्र ज्ञान और दर्शन आदि प्राप्त हो जाते हैं। वे ध्यानाग्निसे समस्त मल कलंक कर्मबन्धोंको जलाकर निर्मल और किट्टरहित सुवर्णकी तरह परिपूर्ण स्वरूपलाभ करके निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं।

इस तरह यह तप संवर और निर्जरा दोनोंका कारण होता है।

निर्जराकी विशेषता—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेवाले, दर्शनमोहका क्षय करनेवाले, चारित्रमोहके उपशमक, उपशान्तमोह, चारित्रमोहके क्षपक, क्षीणमोह तथा केवली जिन ये क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरावाले होते हैं।

प्रथम सम्यक्त्व आदिका लाभ होनेपर अध्यवसायकी विशुद्धिके प्रकर्षसे दर्शो स्थान क्रमशः असंख्येयगुण निर्जरावाले हैं। जैसे मद्यपायीके शराबका कुछ नशा उतरनेपर अव्यक्त ज्ञानशक्ति प्रकट होती है, या दीर्घनिद्राके हटनेपर जैसे ऊँघते-ऊँघते भी अल्प स्मृति होती है, या विषमूर्च्छित व्यक्तिको विषका वेग कम होनेपर चेतना आती है अथवा पित्तादिविकारसे मूर्च्छित व्यक्तिको मूर्च्छा हटनेपर अव्यक्त चेतना आती है उसी तरह अनन्तकाय आदि एकेन्द्रियोंमें बार-बार जन्म-मरण-परिभ्रमण करके द्वीन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस पर्याय मिलती है। फिर वहीं एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है। इस तरह अनेक बार चढ़-उतरकर नरकादि पर्यायोंमें दीर्घकालतक पंचेन्द्रियत्वका अनुभव करके घुणाक्षरन्यायसे मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। फिर भी भ्रमण कर दुर्लभ देश कुल आदिको प्राप्त कर अल्पसंक्लेशसे विशुद्धव्यवसाय और प्रतिभाशक्ति सम्पन्न हो शुद्ध परिणामोंसे अन्तरात्माका प्रक्षालन होनेपर भी यदि योग्य उपदेश नहीं मिला तो सन्मार्गकी प्राप्ति नहीं होती और वह कुतीर्थोंके मिथ्यामार्गमें भटककर फिर जन्माटवीमें परिभ्रमण करता है। इस तरह पूर्वोक्तक्रमसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयोपशमसे विशुद्धियुक्त होकर उपदेश द्वारा जैनमतको कदाचित् सुनकर प्रतिबन्धी कर्मोंको मन्दकर कदाचित् श्रद्धान भी करता है। जैसे कतकफलके सम्पर्कसे जलका मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है उसी तरह असदुपदेशसे अतिमलिन मिथ्यात्वके उपशमसे आत्मनिर्मलताको पाकर श्रद्धानाभिमुख हो असंख्यातगुणी निर्जरा करता है और अभूतपूर्व परिणामोंसे प्रथम सम्यक्त्वके सम्मुख होता है तथा जिनेन्द्रके वचनोंमें परमरुचि और श्रद्धा करता हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। फिर सम्यक्त्वभावनारूप अमृतरससे विशुद्धिको बढ़ाता हुआ मिथ्यात्वघाती शक्तिका आविर्भाव होनेसे धान्यको कूटनेसे जैसे तुष कण और चाँवल जुदे हो जाते हैं उसी तरह मिथ्यादर्शनके मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन विभाग कर देता है। इसमें सम्यक्त्वका वेदन करता हुआ सद्भूत पदार्थका श्रद्धान करनेवाला वेदक सम्यग्दृष्टि होता है। फिर प्रशम संवेगादि गुणोंका धारी जिनेन्द्रभक्तिसे बढ़ी हुई विपुल भावनाओंका आगार यह केवलीके पादमूलमें मोहका क्षय करना प्रारम्भ करता है। दर्शनमोहके क्षयकी समाप्ति तो चारों गतियोंमें हो सकती है। इस तरह मिथ्यात्वका निराकरण कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। शंकादि दोषोंसे रहित, कुसमयोंसे अक्षुब्ध बुद्धिवाला, सत्पदार्थोंकी उपलब्धि करनेवाला और मोहतिमिर पटलसे विमुक्तदृष्टियुक्त यह जैनेन्द्रपूजा प्रवचनवात्सल्य और संयमादि प्रशंसामें तत्पर रहकर देशघातिकर्मोंके क्षयोपशमसे संयमासंयमको प्राप्त कर श्रावक हो जाता है। फिर विशुद्धिप्रकर्षसे समस्त गृहस्थ-सम्बन्धी परिग्रहोंसे मुक्त हो निर्ग्रन्थताका अनुभव कर महाव्रती बन जाता है। इसी तरह आगे-आगे विशुद्धिप्रकर्षसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

§ १. क्षै धातुसे आत्व और मित्संज्ञा होकर ह्रस्वत्व होनेपर क्षपक शब्द बन जाता है।

निर्ग्रन्थोंके प्रकार—

पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥

§ १. उत्तरगुणोंकी भावनारहित व्रतोंमें भी कभी-कभी पूर्णताको न पानेवाले बिना पके धान्यकी तरह पुलाक होते हैं।

§ २. वकुश शब्द शबलका पर्यायवाची है। जो निर्ग्रन्थ मूलव्रतोंका अखण्ड भावसे पालन करते हैं, शरीर और उपकरणकी सजावटमें जिनका चित्त है, ऋद्धि और यशकी कामना रखते हैं, सात और गौरवके आधार हैं, चित्तसे जिनके परिवारवृत्ति नहीं निकली है और छेदसे जिनका चित्त शबल अर्थात् चित्रित है, वे वकुश हैं।

§ ३. कुशील दो प्रकार हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। परिग्रहकी भावना-

सहित मूल और उत्तरगुणोंमें परिपूर्ण कभी-कभी उत्तरगुणकी विराधना करनेवाले प्रतिसेवना-कुशील हैं। ग्रीष्मकालमें जंघाप्रक्षालन आदिका सेवन करनेकी इच्छा होनेसे जिनके संज्वलन-कषाय जगती है और अन्य कषायें वशमें हो चुकी हैं वे कषायकुशील हैं।

§ ४. जैसे पानीमें खींची गई रेखा शीघ्र ही विलीन हो जाती है उसी तरह जिनके कर्मोंका उदय अत्यन्त अनभिव्यक्त है और जिनके अन्तर्मुहूर्तमें ही केवलज्ञान और दर्शन प्रकट होनेवाले हैं, वे निर्ग्रन्थ हैं।

§ ५. ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मोंके क्षयसे जिनके केवलज्ञानादि अतिशय प्रकट हुए हैं वे शीलके परिपूर्णस्वामी कृतकृत्य सयोगकेवली स्नातक हैं।

§ ६–१२. **प्रश्न**—जैसे गृहस्थ चारित्रभेदसे निर्ग्रन्थ नहीं कहा जाता उसी तरह पुलाक आदिको भी प्रकृष्ट अप्रकृष्ट मध्यम आदि चारित्रभेद होनेपर भी निर्ग्रन्थ नहीं कहना चाहिये ? **उत्तर**—जैसे चारित्र अध्ययन आदिका भेद होनेपर भी सभी ब्राह्मणोंमें जातिकी दृष्टिसे ब्राह्मण शब्दका प्रयोग समानरूपसे होता है उसी तरह पुलाक आदिमें भी निर्ग्रन्थशब्दका प्रयोग हो जाता है। संग्रह और व्यवहार नयकी अपेक्षा गुणहीनोंमें भी उस शब्दका प्रयोग सर्वसंग्रहार्थ कर लिया जाता है। भूषा वेष और आयुधसे रहित निर्ग्रन्थरूप और शुद्ध सम्यग्दर्शन ये सभी पुलाक आदिमें समान है अतः इनमें निर्ग्रन्थ शब्दका प्रयोग सकारण है। हम निर्ग्रन्थ रूपको प्रमाण मानते हैं, अतः भग्नव्रत निर्ग्रन्थमें निर्ग्रन्थशब्दका प्रयोग करके भी श्रावकमें उसका प्रयोग नहीं कर सकते; क्योंकि उसमें निर्ग्रन्थरूप नहीं है। यह आशंका भी नहीं करनी चाहिये कि–'जिस किसी मिथ्यादृष्टि नंगेमें निर्ग्रन्थ शब्दका प्रयोग होने लगेगा'; क्योंकि उसमें सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता। जहाँ सम्यग्दर्शनसहित निर्ग्रन्थरूप है वही निर्ग्रन्थ है। चारित्र-गुणका क्रमविकास और क्रमप्रकर्ष दिखानेके लिए इन पुलाकादि भेदोंकी चरचा की है।

पुलाकादिमें विशेषता—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥

§ १–३. तस् प्रत्यय अन्यसे भी हो जाता है, भवति आदिके योगके बिना भी उसका प्रयोग सिद्ध है। जैसे, विसेवक शब्दमें षत्व नहीं हुआ उसी तरह क्रियान्तरका सम्बन्ध होनेसे प्रतिसेवनामें षत्व नहीं हुआ है।

§ ४. संयमादि आठ अनुयोगोंसे पुलाक आदिमें विशेषता है। **संयम**–पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमों में होते हैं। कषायकुशील इनके साथ ही साथ परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्परायमें भी होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यात संयममें ही होते हैं।

श्रुतकी दृष्टिसे–पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील अभिन्नाक्षर दशपूर्वके धारक होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदहपूर्वके धारी होते हैं। जघन्यसे पुलाकका श्रुत आचारवस्तुके ज्ञानतक सीमित है। वकुश कुशील और निर्ग्रन्थोंका जघन्यश्रुत आठ प्रवचन मातृकाओं (पाँच समिति और तीन गुप्ति) के ज्ञान तक है। स्नातक केवली हैं, अतः वे श्रुतातीत हैं।

प्रतिसेवना—पुलाकके पाँच मूलगुण और रात्रिभोजनविरतिमेंसे किसी एककी परके दबावसे विराधना हो जाती है। वकुश दो प्रकारके हैं–उपकरण वकुश और शरीर वकुश। उपकरणोंमें जिनका चित्त आसक्त है, जो विचित्र परिग्रहयुक्त हैं, जो सुन्दर सजे हुए उपकरणोंकी आकांक्षा करते हैं तथा इन संस्कारोंके प्रतीकारकी सेवा करनेवाले भिक्षु उपकरण-वकुश हैं। शरीरसंस्कारसेवी शरीरवकुश हैं। प्रतिसेवनाकुशीलके मूलगुणोंमें तो विराधना

नहीं होती पर कभी-कभी उत्तरगुणोंमें विराधना हो जाती है। कषायकुशील निर्ग्रन्थ और स्नातकोंके विराधना नहीं होती।

तीर्थ—सभी तीर्थंकरोंके तीर्थमें ये पुलाक आदि होते हैं।

लिंग—लिंग दो प्रकारका है। द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंगकी दृष्टिसे पाँचों निर्ग्रन्थलिंगी होते हैं, द्रव्यलिंगकी दृष्टिसे भाज्य हैं।

लेश्या—पुलाकके उत्तरकी तीन लेश्याएँ होती हैं। वकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके छहों लेश्याएँ होती हैं। कषायकुशील और परिहारविशुद्धिवालेके उत्तरकी चार लेश्याएँ होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय और निर्ग्रन्थ स्नातकोंके एक शुक्ललेश्या होती है। अयोगकेवली अलेश्य होते हैं।

उपपाद—पुलाक उत्कृष्ट रूपसे सहस्रार स्वर्गके उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न होता है। वकुश और प्रतिसेवनाकुशीलका आरण अच्युत कल्पमें २२ सागरकी उत्कृष्ट स्थितिमें उपपाद होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थका तेतीस सागरकी स्थितिवाले सर्वार्थसिद्धिमें उपपाद है। सबका जघन्य उपपाद दो सागरकी स्थितिवाले सौधर्म कल्पमें होता है। स्नातकका निर्वाण ही होता है।

स्थान—असंख्यात संयमस्थान कषायनिमित्त होते हैं। पुलाक और कषायकुशीलके सर्वजघन्य लब्धिस्थान होते हैं; वे आगे असंख्येय स्थानोंको जाते हैं। इसके बाद पुलाक नहीं रहता। कषायकुशील आगे और भी असंख्येय स्थानोंको जाता है। कषायकुशील प्रतिसेवनाकुशील और वकुश एक साथ असंख्येय स्थानोंको जाते हैं। फिर वकुश नहीं रहता। फिर असंख्येय स्थान आगे जाकर प्रतिसेवनाकुशील नहीं रहता। फिर असंख्येय स्थान आगे जाकर कषायकुशील नहीं रहता। इसके आगे अकषाय स्थानोंको निर्ग्रन्थ प्राप्त होता है। वह भी आगे असंख्येय स्थानोंतक जाता है, आगे नहीं। उसके ऊपर एक स्थान जाकर निर्ग्रन्थ स्नातक निर्वाण प्राप्त करता है। इस तरह इनकी संयम लब्धि अनन्तगुणी होती है।

नवाँ अध्याय समाप्त

दसवाँ अध्याय

संवरके बाद निर्जराका स्वतन्त्र प्रकरण इसलिए नहीं बनाया कि प्रायः संवरके कारणोंसे निर्जरा होती है, इसीलिए संवरके प्रकरणमें ही निर्जराका वर्णन कर दिया गया है।

मोक्षका वर्णन–

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

संवरके द्वारा जिसकी परम्पराकी जड़ काट दी गई है और चारित्र-ध्यानाग्निके द्वारा जिसकी सत्ताका सर्वथा लोप कर दिया है उस मोहनीयका क्षय हो जानेपर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होते ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ 'उत्पन्न होता है ऐसा उपदेश दिया गया है' इस वाक्यशेषका अन्वय कर लेना चाहिये।

§ १–२. मोहक्षयका पृथक्प्रयोग क्रमिक क्षयकी सूचना देनेके लिए है। पहिले मोहक्षय करके अन्तर्मुहूर्त्ततक क्षीणकषाय पदको पाकर फिर एक साथ ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय कर कैवल्य प्राप्त करता है। मोहका क्षय ही मुख्यतया केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, यह जतानेके लिए पंचमी विभक्तिसे मोहक्षयकी हेतुताका द्योतन किया है।

§ ३. मोहादिका क्षय परिणामविशेषोंसे होता है। पूर्वोक्त तैयारीके साथ परम तपको धारण कर प्रशस्त अध्यवसायसे उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए साधकके शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग बढ़ता है और अशुभ प्रकृतियाँ कृश होकर विलीन हो जाती हैं। कोई वेदकसम्यग्दृष्टि अप्रमत्तगुणस्थानमें सात प्रकृतियोंके उपशमका प्रारम्भ करता है। कोई साधक असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत प्रमत्तसंयत या अप्रमत्त संयत किसी भी गुणस्थानमें सात प्रकृतियोंका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो चारित्रमोहका उपशम प्रारम्भ करता है। फिर अधाप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करके उपशमश्रेणी चढ़कर अपूर्वकरण-उपशमक व्यपदेशको प्राप्तकर वहाँ नवीन-परिणामोंसे पापकर्मोंके प्रकृति स्थिति और अनुभागको क्षीणकर शुभकर्मोंके अनुभागको बढ़ाता हुआ अनिवृत्तिबादर साम्परायक गुणस्थानमें जा पहुँचता है। वहाँ नपुंसकवेद स्त्रीवेद नव नोकषाय पुंवेद अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान दो क्रोध दो माया दो लोभ क्रोधसंज्वलन और मानसंज्वलन इन प्रकृतियोंका क्रमशः उपशमन कर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें पहुँचता है। वहाँ प्रथमसमयमें मायासंज्वलनका उपशमकर लोभसंज्वलनको क्षीणकर सूक्ष्मसाम्परायोपशमक कहलाता है। फिर उपशान्तकषायके प्रथम समयमें लोभसंज्वलनका उपशम कर समस्त मोहका उपशम होनेसे उपशान्तकषाय कहलाता है। यहाँ आयुके क्षयसे मरण हो सकता है। अथवा फिर कषायोंकी उदीरणा होनेसे नीचे गिर जाता है। वही या अन्य कोई विशुद्ध अध्यवसायसे अपूर्व उत्साहको धारण करता हुआ पहिलेकी तरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर बड़ी भारी विशुद्धिसे क्षपक श्रेणी चढ़ता है। अधाप्रवृत्त आदि तीन करणोंसे अपूर्वकरणक्षपक अवस्थाको प्राप्त कर उससे आगे आठ कषायोंका नाश कर नपुंसक वेद और स्त्रीवेदको उखाड़कर छह नोकषायोंको पुंवेदमें, पुंवेदको क्रोधसंज्वलनमें, क्रोधसंज्वलनको मानमें, मानको मायामें, मायाको लोभमें डालकर क्रमशः क्षय करके अनिवृत्तिबादर साम्परायक क्षपक गुणस्थानमें पहुँचता हुआ लोभसंज्वलनको सूक्ष्म करके सूक्ष्मसाम्परायक हो जाता है। उससे आगे समस्त मोहनीय कर्मका निर्मूल क्षय करके क्षीणकषायगुणस्थानमें मोहनीय का समस्त भार उतार कर फैंक देता है। वह उपान्त्य समयमें निद्रा प्रचलाका क्षय करके पाँच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायोंका अन्त समयमें विनाश कर अचिन्त्यविभूतियुक्त केवलज्ञान दर्शनस्वभावको निष्प्रतिपक्षीरूपसे प्राप्त

कर कमलकी तरह निर्लिप्त और निरुपलेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्त्ती सर्वद्रव्य पर्यायोंका ज्ञाता सर्वत्र अप्रतिहत अनन्तदर्शनशाली कृतकृत्य मेघपटलोंसे विमुक्त शरत्कालीन पूर्णचन्द्रकी तरह सौम्यदर्शन और प्रकाशमानमूर्ति केवली हो जाता है। इन केवल ज्ञानदर्शनवाले सशरीरी ऐश्वर्यशाली घातिया कर्मोंके नाशक और वेदनीय आयु नाम और गोत्रकर्मकी सत्तावाले केवलीके बन्धके कारणोंका अभाव और निर्जराके द्वारा समस्त कर्मोंका विशेष और प्रकृष्टरूपसे मोक्ष होनेको मोक्ष कहा है।

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां [कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः] ॥२॥

§ १–२. मिथ्यादर्शन आदि बन्धहेतुओंके अभावसे नूतन कर्मोंका आना रुक जाता है। कारणके अभावसे कार्यका अभाव होता ही है। पूर्वोक्त निर्जराके कारणोंसे संचित कर्मोंका विनाश होता है। इन कारणोंसे आयुके बराबर जिनकी स्थिति कर ली गई है ऐसे वेदनीय आदि शेष कर्मोंका युगपत् आत्यन्तिक क्षय हो जाता है।

§ ३. **प्रश्न**—कर्मबन्ध सन्तान जब अनादि है तो उसका अन्त नहीं होना चाहिये ? **उत्तर**—जैसे बीज और अंकुरकी सन्तान अनादि होनेपर भी अग्निसे अन्तिम बीजको जला देनेपर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी तरह मिथ्यादर्शनादि प्रत्यय तथा कर्मबन्ध सन्ततिके अनादि होनेपर भी ध्यानाग्निसे कर्मबीजोंके जला देनेपर भवांकुरका उत्पाद नहीं होता। यही मोक्ष है। कहा भी है—"जैसे बीजके जल जानेपर अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी तरह कर्मबीजके जल जानेपर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता।" कृत्स्नका कर्मरूपसे क्षय हो जाना ही कर्मक्षय है; क्योंकि विद्यमान द्रव्यका द्रव्यरूपसे अत्यन्त विनाश नहीं होता। पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती हैं अतः पर्यायरूपसे द्रव्यका व्यय होता है। अतः पुद्गलद्रव्यकी कर्मपर्यायका प्रतिपक्षी कारणोंके मिलनेसे निवृत्ति होना क्षय है। उस समय पुद्गलद्रव्य अकर्म पर्यायसे परिणत हो जाता है।

§ ४. मोक्षशब्द भावसाधन है। वह मोक्तव्य और मोचककी अपेक्षा द्विविषयक है, क्योंकि वियोग दो का होता है। कृत्स्न अर्थात् सत्ता बन्ध उदय और उदीरणा रूपसे चार भागोंमें बँटे हुए आठों कर्म। कर्मका अभाव दो प्रकारका होता है—एक यत्नसाध्य और दूसरा अयत्नसाध्य। चरमशरीरके नारक तिर्यंच और देवायुका अभाव अयत्नसाध्य है, क्योंकि इनका स्वयं अभाव है। यत्नसाध्य इस प्रकार है—असंयत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें किसीमें अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियोंका विषवृक्षवत् शुभाध्यवसायरूप तीक्ष्ण फरसेसे समूल काटा जाता है। निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धि नरकगति तिर्यंचगति एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जाति नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य आतप उद्योत स्थावर सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंकी सेनाको अनिवृत्तिबादरसाम्पराय युगपत् अपने समाधिचक्रसे जीतता है और उसका समूल उच्छेद कर देता है। इसके बाद प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ इन आठ कषायोंका नाश करता है। वहीं नपुंसकवेद स्त्रीवेद तथा छह नोकषायोंका क्रमसे क्षय होता है। इसके बाद पुंवेद संज्वलन क्रोध मान और माया क्रमसे नष्ट होती हैं। लोभसंज्वलन सूक्ष्मसाम्परायके अन्तमें नाशको प्राप्त होता है। क्षीणकषाय वीतराग-छद्मस्थके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला क्षयको प्राप्त होते हैं। पाँच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायोंका बारहवेंके अन्तमें क्षय होता है। कोई एक वेदनीय देवगति औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणशरीर छह संस्थान औदारिक-वैक्रियिक आहारक अंगोपांग, छह संहनन पाँच प्रशस्तवर्ण पाँच अप्रशस्तवर्ण दो गन्ध पाँच प्रशस्तरस पाँच अप्रशस्तरस

आठ स्पर्श देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्वास प्रशस्तविहायोगति अपर्याप्तक प्रत्येकशरीर स्थिर-अस्थिर शुभ-अशुभ दुर्भग सुस्वर-दुःस्वर अनादेय अयशस्कीर्ति निर्माण और नीचगोत्रसंज्ञक ७२ प्रकृतियोंका अयोगकेवलीके उपान्त्य समयमें विनाश होता है। कोई एक वेदनीय मनुष्यायु मनुष्यगति पंचेन्द्रियजाति मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य त्रस बादर पर्याप्तक सुभग आदेय यशस्कीर्ति तीर्थकर और उच्चगोत्र इन तेरह प्रकृतियोंका अयोगकेवलीके चरम समयमें व्युच्छेद होता है।

औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च ॥३॥

§ १. भव्यत्वका ग्रहण इसलिये किया है कि जीवत्व आदिकी निवृत्तिका प्रसंग न आवे। अतः पारिणामिकोंमें भव्यत्व तथा औपशमिक आदि भावोंका अभाव भी मोक्षमें हो जाता है। **प्रश्न**—कर्मद्रव्यका निरास होनेसे तन्निमित्तक भावोंकी निवृत्ति अपने आप ही हो जायगी, फिर इस सूत्रके बनानेकी क्या आवश्यकता है? **उत्तर**—निमित्तके अभावमें नैमित्तिकका अभाव हो ही ऐसा नियम नहीं है। फिर जिसका अर्थात् ही ज्ञान हो जाता है उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति करानेके लिए और आगेके सूत्रकी संगति बैठानेके लिए औपशमिकादि भावोंका नाम लिया है।

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

§ १–२. अन्यत्र शब्द 'वर्जन' के अर्थमें है, इसीलिए पंचमी विभक्ति भी दी गई है। यद्यपि अन्य शब्दका प्रयोग करके पंचमी विभक्तिका निर्वाह हो सकता था पर 'त्र' प्रत्यय स्वार्थिक है, अर्थात् केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन और सिद्धत्वसे भिन्नके लिए उक्त प्रकरण है।

§ ३. ज्ञान दर्शनके अविनाभावी अनन्तवीर्य आदि 'अनन्त' संज्ञक गुण भी गृहीत हो जाते हैं अर्थात् उनकी भी निवृत्ति नहीं होती। अनन्तवीर्यसे रहित व्यक्तिके अनन्तज्ञान नहीं हो सकता और न अनन्त सुख ही; क्योंकि सुख तो ज्ञानमय ही है।

§ ४–६. जैसे घोड़ा एक बन्धनसे छूट कर भी फिर दूसरे बन्धनसे बँध जाता है उस तरह जीवमें पुनर्बन्धकी आशंका नहीं है; क्योंकि मिथ्यादर्शन आदि कारणोंका उच्छेद होनेसे बन्धनरूप कार्यका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी तरह भक्ति स्नेह कृपा और स्पृहा आदि रागविकल्पोंका अभाव हो जानेसे वीतरागके जगत्के प्राणियोंको दुःखी और कष्ट अवस्थामें पड़ा हुआ देखकर करुणा और तत्पूर्वक बन्ध नहीं होता। उनके समस्त आस्रवोंका परिक्षय हो गया है। बिना कारणके ही यदि मुक्त जीवोंको बन्ध माना जाय तो कभी मोक्ष ही नहीं हो सकेगा। मुक्तिप्राप्तिके बाद भी बन्ध हो जाना चाहिये।

§ ७–८. स्थानवाले होनेसे मुक्तजीवोंका पात नहीं हो सकता; क्योंकि वे अनास्रव हैं। आस्रववाले ही यानपात्रका अधःपात होता है। अथवा, वजनदार ताड़फल आदिका प्रतिबन्धक-डण्ठलसंयोग आदिके अभावमें पतन होता है, गुरुत्वशून्य आकाशप्रदेश आदिका नहीं। मुक्तजीव भी गुरुत्वरहित हैं। यदि मात्र स्थानवाले होनेसे पात हो तो सभी धर्मादिद्रव्योंका पात होना चाहिये।

§ ९–११. अवगाहनशक्ति होनेके कारण अल्प भी अवकाशमें अनेक सिद्धोंका अवगाह हो जाता है। जब मूर्तिमान् भी अनेक प्रदीप-प्रकाशोंका अल्प आकाशमें अविरोधी अवगाह देखा गया है तब अमूर्त सिद्धोंकी तो बात ही क्या है? इसीलिये उनमें जन्म-मरण आदि द्वन्द्वोंकी बाधा नहीं है; क्योंकि मूर्त अवस्थामें ही प्रीति परिताप आदि बाधाओंकी सम्भावना थी, पर सिद्ध अव्याबाध होनेसे परमसुखी हैं। जैसे परिमाण एक प्रदेशसे बढ़ते-बढ़ते आकाशमें अनन्तत्वको प्राप्त हो जाता है और उसका कोई उपमान नहीं रहता उसी तरह संसारी जीवोंका

सुख सान्त और सोपमान तथा प्रकर्ष-अप्रकर्षवाला हो सकता है पर सिद्धोंका सुख परम अनन्त-परिमाणवाला निरतिशय है।

§ १२–१६. मुक्त जीव चूँकि अनन्तर अतीत शरीरके आकार होते हैं अतः अनाकार होनेके कारण उनका अभाव नहीं किया जा सकता। लोकाकाशके समान असंख्य प्रदेशी जीवको शरीरानुविधायी माननेपर शरीरके अभावमें विसर्पण-फैलनेका प्रसंग भी नहीं आता; क्योंकि नामकर्मके सम्बन्धसे आत्मप्रदेशोंका गृहीत शरीरके अनुसार छोटे-बड़े सकोरे घड़े आदि आवरणोंमें दीपककी तरह संकोच और विस्तार होता है, पर मुक्त जीवके फिर फैलनेका कोई कारण नहीं है। मूर्त दीपकका दृष्टान्त आत्मामें भी लागू हो जाता है; क्योंकि आत्मा उपयोगस्वभावकी दृष्टिसे अमूर्त होकर भी कर्मबन्धकी दृष्टिसे मूर्त है। कहा भी है—"बन्धकी दृष्टिसे एकत्व होकर भी लक्षणकी दृष्टिसे शरीर और जीव जुदे-जुदे हैं। अतः आत्मामें एकान्तसे अमूर्तभाव नहीं है।" अतः कथञ्चित् मूर्त होनेसे दृष्टान्त समान ही है। जैसे चन्द्रमुखी कन्या कहनेसे एक प्रियदर्शनत्वके सिवाय अन्य चन्द्रगुणोंकी विवक्षा नहीं है उसी तरह प्रदीपकी तरह संहार-विसर्प कहनेसे आत्मामें अनित्यत्वका प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि दृष्टान्तके सभी धर्म दार्ष्टान्तमें नहीं आते, यदि सभी धर्म आ जायँ तो वह दृष्टान्त ही नहीं कहा जा सकता।

§ १७. **प्रश्न**—जैसे बत्ती तेल और अग्नि आदि सामग्रीसे जलनेवाला दीपक सामग्रीके अभावमें किसी दिशा या विदिशाको न जाकर वहीं अत्यन्त विनाशको प्राप्त हो जाता है उसी तरह कारणवश स्कन्ध सन्ततिरूपसे प्रवर्तमान स्कन्धसमूह—जिसे जीव कहते हैं, क्लेशका क्षय हो जानेसे किसी दिशा या विदिशाको न जाकर वहीं अत्यन्त प्रलयको प्राप्त हो जाता है? **उत्तर**—प्रदीपका निरन्वय विनाश भी असिद्ध है जैसे कि मुक्त जीवोंका। दीपक रूपसे परिणत पुद्गलद्रव्यका भी विनाश नहीं होता। उनकी पुद्गलजाति बनी रहती है। जैसे हथकड़ी-बेड़ी आदिसे मुक्त देवदत्तका स्वरूपावस्थान देखा जाता है उसी तरह कर्मबन्धके अभावसे आत्माका स्वरूपावस्थान होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। अतः यह शंका भी निर्मूल है कि जहाँ कर्मबन्धका अभाव हो वहीं मुक्तजीवको ठहरना चाहिये; क्योंकि अभी यह प्रश्न विचारणीय है कि उसे वहीं ठहरना चाहिए या बन्धाभाव और अनाश्रित होनेसे उसे गमन करना चाहिये।

'गौरव न होनेसे अधोगति तो उसकी होती नहीं और योग न होनेसे तिरछी आदि भी गति नहीं हैं; अतः वहीं ठहरना चाहिये', इस आशंकाके निवारणार्थ सूत्र कहते हैं—

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥

§ १–२. तत्—कर्मोंका विप्रमोक्ष होते ही आत्मा समस्त कर्मभारसे रहित होनेके कारण लोकाकाश पर्यन्त ऊर्ध्व गमन करता है। यहाँ आङ् अभिविधि अर्थमें है। कैसे?

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥

§ १. हेतु और दृष्टान्तोंका क्रमशः सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

§ २. जैसे कुम्हारके हाथ हटा लेनेपर भी चक्र पूर्वप्रयोगके कारण संस्कारक्षयतक बराबर घूमता रहता है उसी तरह संसारी आत्माने जो अपवर्ग प्राप्तिके लिए अनेकबार प्रणिधान और यत्न किये हैं उनके कारण उसका ऊर्ध्वगमन होता है।

§ ३–४. जैसे मिट्टीके लेपसे वजनदार तूँबड़ी पानीमें डूब जाती है पर ज्योंही मिट्टीका लेप घुल जाता है त्योंही वह ऊपर आ जाती है उसी तरह कर्मभारसे परवश आत्मा कर्मवश संसारमें इधर-उधर भटकता था पर जैसे ही वह कर्मबन्धनसे मुक्त होता है वैसे ही ऊर्ध्व-

गमन करता है। जीवकी दण्डकी तरह अनियतगति नहीं हो सकता; क्योंकि जीवोंको ऊर्ध्वगौरव धर्मवाला बताया है। अतः वे ऊपर ही जाते हैं।

§ ५. जैसे ऊपरके छिलकेके हटते ही एरंडबीज छिटक कर ऊपरको जाता है उसी तरह मनुष्यादिभवोंको प्राप्त करानेवाली गति आदि नाम कर्मके बन्धनोंके हटते ही मुक्तकी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होती है।

जैसे तिरछी बहनेवाली वायुके अभावमें दीपशिखा स्वभावसे ऊपरको जलती है उसी तरह मुक्तात्मा भी नाना गतिविकारके कारण कर्मके हटते ही ऊर्ध्वगतिस्वभावसे ऊपरको ही जाता है।

§ ७. परस्परप्रवेश होकर एकमेक हो जाना बन्ध है और परस्पर प्राप्तिमात्र संग है, अतः दोनोंमें भेद है। अतः क्रियाके कारण पुण्य-पापके हट जानेपर मुक्तके स्वगतिपरिणामसे ऊर्ध्वगति होती है।

§ ८. अलाबू-तूँबड़ी वायु के कारण ऊपर नहीं आती; क्योंकि वायुका तिरछा चलनेका स्वभाव है अतः उसे तिरछा चलना चाहिये था। अतः मिट्टीके लेपके अभावमें हो ऊर्ध्वगमन मानकर अलाबूका दृष्टान्त संगत है।

§ ९-१०. प्रश्न—सिद्ध शिलापर पहुँचनेके बाद चूँकि मुक्त जीवमें ऊर्ध्वगमन नहीं होता अतः उष्ण स्वभावके अभावमें अग्निके अभावकी तरह मुक्त जीवका भी अभाव हो जाना चाहिये? उत्तर—'मुक्तका ऊर्ध्व ही गमन होता है तिरछा आदि गमन नहीं' यह स्वभाव है न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना। जैसे अग्नि कभी ऊर्ध्वज्वलन नहीं करती तब भी अग्नि बनी रहती है उसी तरह मुक्तमें भी लक्ष्यप्राप्तिके बाद ऊर्ध्वगमन न होनेपर भी अभाव नहीं होता है।

अथवा, 'अग्निके तो तिर्यक् पवनके संयोगसे ऊर्ध्वज्वलनका अभाव माना जा सकता है पर मुक्त आत्माके आगे गमन न करनेमें क्या कारण है?' इस शंकाके समाधानके लिए सूत्र कहते हैं—

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

लोकाकाशसे आगे गति-उपग्रह करनेमें कारणभूत धर्मास्तिकाय नहीं हैं। अतः आगे गति नहीं होती। आगे धर्मद्रव्यका सद्भाव माननेपर लोक-अलोकविभागका अभाव ही हो जायगा।

सिद्धोंमें भेद—

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

§ १. इन क्षेत्र आदि बारह अनुयोगोंको प्रत्युत्पन्न और अतीतकी अपेक्षा लगाकर सिद्धोंमें भेद करना चाहिये।

§ २. प्रत्युत्पन्ननयसे सिद्धिक्षेत्र स्वप्रदेश या आकाशप्रदेशमें सिद्धि होती है। भूतनयकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियों और संहरणकी अपेक्षा मनुष्यलोकमें सिद्धि होती है। ऋजुसूत्र तथा शब्द नय प्रत्युत्पन्नग्राही हैं और शेष नय उभयको ग्रहण करते हैं।

§ ३. प्रत्युत्पन्नकी अपेक्षा एक समयमें ही सिद्ध होता है। भूतप्रज्ञापननयसे जन्मकी अपेक्षा सामान्यतया उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। विशेषरूपसे अवसर्पिणीके सुषम-सुषमाके अन्तभाग और दुषमसुषमामें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दुषम-सुषमामें उत्पन्न दुषमामें सिद्ध हो सकता है पर दुषमामें उत्पन्न हुआ कभी सिद्ध नहीं हो सकता। संहरणकी दृष्टिसे सभी कालोंमें सिद्ध हो सकता है।

§ ४. प्रत्युत्पन्न दृष्टिसे सिद्धगतिमें सिद्धि होती है और भूतनयकी दृष्टिसे अनन्तर गतिकी अपेक्षा केवल मनुष्यगतिसे सिद्धि होती है और एकान्तरगतिकी अपेक्षा चारों गतियोंसे सिद्धि होती है अर्थात् किसी भी गतिसे मनुष्य होकर सिद्ध हो सकता है।

§ ५. वर्तमान नयकी अपेक्षा अवेद अवस्थामें सिद्धि होती है। अतीतकी अपेक्षा साधारण रूपसे तीनों वेदोंसे सिद्धि होती है—भाव वेदकी अपेक्षा द्रव्यवेदकी अपेक्षा नहीं। द्रव्यवेदकी अपेक्षा तो पुल्लिंगसे ही सिद्धि होती है। अथवा लिंग दो प्रकारका है एक सग्रंथ लिंग और दूसरा निर्ग्रन्थ लिंग। प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा निर्ग्रन्थ लिंगसे सिद्धि होती है और भूतपूर्वनयकी अपेक्षा विकल्प है।

§ ६. तीर्थ सिद्धि दो प्रकारकी होती है-एक तीर्थंकर रूपसे तथा दूसरी तीर्थंकर भिन्न रूप में। वे दोनों तीर्थंकरकी मौजूदगी में भी सिद्ध होते हैं और गैरमौजूदगीमें भी।

§ ७. प्रत्युत्पन्ननयकी दृष्टिसे न तो चारित्रसे सिद्धि होती है और न अचारित्रसे किन्तु निर्विकल्पभावसे सिद्धि होती है। भूतपूर्वनयमें अनन्तरदृष्टिसे यथाख्यात चारित्रसे सिद्धि होती है। व्यवधानसे सामायिक छेदोपस्थापना सूक्ष्मसाम्पराय इन सहित चारसे या परिहारविशुद्धि सहित पाँचसे सिद्धि होती है।

§ ८. कुछ प्रत्येकबुद्ध सिद्ध होते हैं जो परोपदेशके बिना स्वशक्तिसे ही ज्ञानातिशय प्राप्त करते हैं। कुछ बोधितबुद्ध होते हैं जो परोपदेशपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं।

§ ९ प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा एक केवलज्ञानसे सिद्धि होती है। भूतपूर्व गतिसे मति और श्रुत दो से मति श्रुत और अवधि या मति श्रुत और मनःपर्यय इन तीनसे अथवा मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानोंसे सिद्धि होती है।

§ १०. आत्मप्रदेशका व्यापित्व अर्थात् अवगाहन शरीरपरिमाण है। उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष और जघन्य ३॥ अरत्नि प्रमाण है। मध्यमें अनेक भेद होते हैं। भूतपूर्वनयसे इन अवगाहनाओं में सिद्धि होती है और प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा कुछ कम इन्हीं अवगाहनाओंमें।

§ ११-१२. एक सिद्धसे दूसरे सिद्ध होनेके मध्यका काल अन्तर है। अनन्तर जघन्यसे दो समय तक और उत्कृष्टसे आठ समय तक सिद्ध होते रहते हैं। अन्तर जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टसे छह मास है।

§ १३. एक समयमें जघन्यसे एक और उत्कृष्टसे १०८ तक सिद्ध होते हैं।

§ १४. क्षेत्रादि अनुयोगोंके भेदसे भिन्नोंका परस्पर संख्यातारतम्य अल्पबहुत्व है। प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्रमें सिद्धि होती है अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्वनयकी अपेक्षा क्षेत्रसिद्ध दो प्रकारके हैं—एक जन्मकी दृष्टिसे और दूसरे संहरणकी दृष्टिसे। संहरणसिद्ध कम हैं, जन्मसिद्ध संख्यातगुणे हैं। संहरण दो प्रकारका है—एक स्वकृत और दूसरा परकृत। देवों द्वारा या चारण विद्याधरोंसे किया गया संहरण परकृत है और चारण विद्याधरोंका स्वयं संहरण स्वकृत है। क्षेत्र—कर्मभूमि और अकर्मभूमि समुद्र-द्वीप ऊपर नीचे तिरछे आदि अनेक प्रकारके हैं। उनमें ऊर्ध्वलोकसिद्ध सबसे कम हैं। अधोलोकसिद्ध संख्येयगुणे हैं। तिर्यग्लोकसिद्ध संख्येयगुणे हैं। लवणोदसिद्ध सबसे कम हैं। कालोदसिद्ध संख्येयगुणे हैं। जम्बूद्वीपसिद्ध संख्येयगुणे हैं। धातकीखण्डसिद्ध संख्येयगुणे हैं। पुष्करद्वीपार्धसिद्ध संख्येयगुणे हैं।

काल विभाग तीन प्रकारका है—उत्सर्पिणी अवसर्पिणी और अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणी। उत्सर्पिणीसिद्ध सबसे कम हैं, अवसर्पिणीसिद्ध विशेषाधिक हैं, अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणीसिद्ध संख्येयगुणे हैं। प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा एक समयमें सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है।

गतिकी दृष्टिसे प्रत्युत्पन्ननयसे सिद्धगतिमें सिद्धि होती है अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतविषयकनयकी अपेक्षा अनन्तरगति मनुष्यगतिमें सिद्धि होती है अतः अल्पबहुत्व नहीं है।

एकान्तर गतिमें अल्पबहुत्व है–सबसे कम तिर्यग्योनिसे मनुष्य होकर सिद्ध होनेवाले हैं। मनुष्ययोनिसे मनुष्य होकर सिद्ध होनेवाले संख्यातगुणें हैं। नरक योनिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होनेवाले संख्येयगुणें हैं।

वेदकी दृष्टिसे–प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा अवेद अवस्थामें ही सिद्धि होती है। भूतपूर्वनयकी अपेक्षा सबसे कम नपुंसकवेदसिद्ध हैं, स्त्रीवेदसिद्ध संख्येयगुणें हैं और पुंवेदसिद्ध संख्येयगुणें हैं।

तीर्थानुयोगसे तीर्थंकरसिद्ध कम हैं और इतरसिद्ध संख्येयगुणें हैं।

चारित्रानुयोगसे–प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा निर्विकल्प चारित्रसे सिद्धि होती है अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्वनयकी दृष्टिसे अनन्तर चारित्रकी अपेक्षा सभी यथाख्यात चारित्रसे सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं हैं। व्यवधानकी दृष्टिसे पंच चारित्रसिद्ध कम हैं और चतुश्चारित्रसिद्ध संख्येयगुणें हैं।

प्रत्येकबुद्धबोधितबुद्धानुयोगसे—प्रत्येकबुद्ध कम हैं और बोधितबुद्ध संख्येयगुणें हैं।

ज्ञानानुयोगसे—प्रत्युत्पन्ननयकी दृष्टिसे केवली ही सिद्ध होते हैं, अतः अन्तर नहीं है। पूर्वभावप्रज्ञापननयसे द्विज्ञानसिद्ध सबसे कम हैं, चतुर्ज्ञानसिद्ध संख्येयगुणें हैं, त्रिज्ञानसिद्ध संख्येयगुणें हैं। मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानसिद्ध सबसे कम हैं, मतिश्रुतज्ञानसिद्ध संख्येयगुणें हैं, मतिश्रुतअवधिमनःपर्ययज्ञानसिद्ध संख्येयगुणें हैं और मतिश्रुतअवधिज्ञानसिद्ध संख्येयगुणें हैं।

अवगाहनानुयोग से–जघन्य अवगाहनासिद्ध सबसे कम हैं, उत्कृष्ट अवगाहनासिद्ध संख्येयगुणें हैं। यवमध्यसिद्ध संख्येयगुणें हैं, अधोयवसिद्ध संख्येयगुणें हैं। उपरि यवसिद्ध विशेषाधिक हैं।

अनन्तरानुयोगसे–आठ समयानन्तरसिद्ध सबसे कम हैं। सातसमयअनन्तरसिद्ध संख्येयगुणें हैं। इस तरह दो समयअनन्तरसिद्ध तक समझना चाहिये। सान्तरोंमें छह माहके अन्तरसे सिद्ध होनेवाले सबसे कम हैं, एकसमयान्तरसिद्ध संख्येयगुणें हैं। यवमध्यान्तर सिद्ध संख्येयगुणे हैं। अधोयवमध्यान्तरसिद्ध संख्येयगुणें और उपरियवमध्यान्तरसिद्ध विशेषाधिक हैं।

संख्यानुयोगसे–१०८ सिद्ध होनेवाले सबसे कम हैं, १०८से लेकर ५० तक सिद्ध होनेवाले अनन्तगुणें हैं, ४९ से २५ तक सिद्ध होनेवाले असंख्येयगुणें हैं, चौबीससे एक तक सिद्ध होनेवाले संख्येयगुणें हैं।

इस तरह निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न होनेवाला तत्त्वार्थश्रद्धानरूप, शंकादि अतीचारोंसे रहित, प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यसे जिसका लक्षण प्रकट है, उस विशुद्ध सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर, निक्षेप प्रमाण निर्देशादि सत्संख्यादि अनुयोगोंसे जीवोंके पारिणामिक औदयिक औपक्षमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक भावोंके स्वतत्त्वको जानकर, चेतन-अचेतन भोगसाधनोंके उत्पत्ति विनाशस्वभावको जानकर, विरक्त वितृष्ण त्रिगुप्तियुक्त पञ्चसमितिसहित दशलक्षणधर्मानुष्ठान और उसका फल देखकर निर्वाण प्राप्तिकी दिशामें श्रद्धा संवेग भावना आदिकी वृद्धिसे आत्माको भावित कर, अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनसे चित्तको स्थिरकर, आत्माको चारों ओरसे संवरयुक्त करके, आस्रवशून्य होनेसे अभिनव कर्मोंके उपचयको नष्ट करता हुआ, परीषहजय बाह्य आभ्यन्तर तपोऽनुष्ठान और अनुभवसे सम्यग्दृष्टि विरत आदि जिन पर्यन्त परिणामविशुद्धि अध्यवसानविशुद्धि आदि स्थानोंको प्राप्त करके, असंख्येयगुणोत्कर्षकी प्राप्तिसे पूर्वोपचित कर्मोंकी निर्जरा करता है। वह सामायिक आदि सूक्ष्मसाम्परायपर्यन्त संयमविशुद्धि स्थानोंको उत्तरोत्तर प्राप्त करके, पुलाकादि निर्ग्रन्थोंके

संयमपालन विशुद्धिस्थान आदिको उत्तरोत्तर चढ़ता हुआ, आर्त रौद्र ध्यानसे रहित होकर, धर्म ध्यानकी विजयसे समाधि बल प्राप्त करके, पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्कमेंसे किसी एक शुक्ल ध्यानको ध्याता हुआ, अनेकविध ऋद्धियोंके मिलनेपर भी उनमें अनासक्तचित्त हो, पूर्वोक्त क्रमसे मोहादिका क्षय कर, सर्वज्ञ ज्ञानलक्ष्मीका अनुभव करता है। फिर शेष कर्मोंको ईंधनरहित अग्निकी तरह क्षय करता हुआ, पूर्वशरीरको छोड़कर और नये शरीरकी उत्पत्तिका कारण न होनेसे जन्म न ले अशरीरी होता हुआ, संसारदुःखोंसे परे आत्यन्तिक ऐकान्तिक निरुपम और निरतिशय निर्वाण सुख प्राप्त करता है। यही तत्त्वार्थ भावनाका फल है। कहा भी है–

"इस तरह तत्त्व परिज्ञान करके विरक्त आत्मा जब आस्रव रहित हो नवीन कर्मसन्ततिका उच्छेद कर देता है और पूर्वोक्त कारणोंसे पूर्वार्जित कर्मोंका क्षय कर, संसारबीज मोहनीयको पूर्ण रूपसे नष्ट कर देता है। उसके बाद अन्तराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये तीनों कर्म एकसाथ नष्ट हो जाते हैं। जैसे गर्भसूचीमस्तकछत्रके नष्ट होते ही तालवृक्ष नष्ट हो जाता है उसी तरह मोहनीयके क्षय होते ही शेष घातिया कर्म नाशको प्राप्त हो जाते हैं। इसके बाद चार घातिया कर्मोंका नाश कर यथाख्यात संयमको प्राप्त करनेवाला मूल बन्धनोंसे रहित स्नातक परमेश्वर हो जाता है। शेष कर्मोंका उदय रहनेपर भी वह शुद्ध बुद्ध निरामय सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवली जिन हो जाता है ॥ १–६॥

जैसे जली हुई अग्नि ईंधन आदि उपादान न रहनेपर बुझ जाती है उसी तरह समस्त कर्मोंका क्षय होनेपर आत्मा निर्वाणको प्राप्त हो जाता है। जैसे बीजके अत्यन्त जल जानेपर अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी तरह कर्मबीजके जल जानेपर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता। इसके बाद ही वह पूर्वप्रयोग असङ्गत्व बन्धच्छेद और ऊर्ध्वगौरव धर्मके कारण लोकान्त तक ऊर्ध्वगमन करता है।

जैसे कुम्हारके चक्र या बाणमें पूर्वप्रयोगवश क्रिया होती रहती है उसी तरह सिद्ध गति मानी गयी है। जिस प्रकार मिट्टीका लेप छूट जानेपर पानीमें डूबी हुई तूंबड़ी ऊपर आ जाती है उसी तरह कर्मलेपके हट जानेपर स्वाभाविक सिद्ध गति होती है। एरण्डबीज यन्त्र तथा पेला आदिमें जिस प्रकार बन्धच्छेद होनेपर ऊर्ध्वगति होती है उसी तरह कर्मबन्धनका विच्छेद होनेपर सिद्ध गति होती है। जीव ऊर्ध्वगौरवधर्मा तथा पुद्गल अधोगौरवधर्मा होते हैं यह बताया गया है। जिस प्रकार लोष्ठ वायु और अग्निशिखा स्वभावसे ही नीचे तिरछे और ऊपर को जाती है उसी तरह आत्माकी स्वभावतः ऊर्ध्व गति होती है। जीवोंमें जो विकृतगति पाई जाती है वह या तो प्रयोगसे है या फिर कर्मोंके प्रतिघातसे है।

जीवोंके कर्मवश नीचे तिरछे और ऊपर भी गति होती है पर क्षीणकर्मा जीवोंकी स्वभावसे ऊर्ध्वगति ही होती है ॥७–१६॥

जिस प्रकार परमाणुद्रव्यमें लोकान्तगामिनी क्रियाकी उत्पत्ति आरम्भ और समाप्ति युगपत् होती है उसी तरह संसारक्षयसे सिद्धकी गति होती है। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकारकी उत्पत्ति और विनाश एक साथ होते हैं उसी तरह निर्वाणकी उत्पत्ति और कर्मका विनाश भी युगपत् होते हैं ॥१७–१८॥

लोक शिखरपर अतिशय मनोज्ञ तन्वी सुरभि पुण्या और परमभासुरी प्राग्भारा नामकी पृथिवी है। यह मनुष्यलोकके समान विस्तारवाली शुभ और शुक्ल छत्रके समान है। लोकान्तमें इस पृथ्वीपर सिद्ध विराजमान होते हैं। वे केवलज्ञान केवलदर्शन सम्यक्त्व और सिद्धत्वमें तद्रूपसे उपयुक्त हैं और क्रियाका कारण न होनेसे निष्क्रिय हैं ॥१९–२१॥

'उससे भी ऊपर उनकी गति क्यों नहीं होती ?' इस प्रश्नका सीधा समाधान है कि आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, वही गतिका कारण है ॥२२॥

सिद्धोंका अव्यय सुख संसारके विषयोंसे अतीत और परम अव्याबाध होता है। 'अशरीरी नष्ट-अष्टकर्मा मुक्त जीवके कैसे क्या सुख होता होगा ?' इस प्रश्नका समाधान सुनिये—लोकमें सुख शब्दका प्रयोग विषयवेदनाका अभाव विपाक कर्मफल और मोक्ष इन चार अर्थोंमें देखा गया है। 'अग्नि सुखकर है वायु सुखकारी है' इत्यादिमें सुख शब्द विषयार्थक है। रोगादि दुःखोंके अभावमें भी पुरुष 'मैं सुखी हूँ' यह समझता है। पुण्य कर्मके विपाकसे इष्ट इन्द्रिय विषयोंसे सुखानुभूति होती है और कर्म और क्लेश के विमोक्षसे मोक्षका अनुपम सुख प्राप्त होता है ॥२३–२७॥

कोई इस सुखको सुषुप्त अवस्थाके समान मानते हैं, पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि उसमें सुखानुभव रूप क्रिया होती रहती है और सुषुप्त अवस्था तो दर्शनावरणी कर्मके उदयसे श्रम क्लम, भय, व्याधि, काम आदि निमित्तोंसे उत्पन्न होती है और मोहविकाररूप है ॥२८–२९॥

समस्त संसारमें ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है जिससे उस सुखकी उपमा दी जाय। वह परम निरुपम है ॥३०॥

लिंग और प्रसिद्धिसे अनुमान और उपमान उत्पन्न होते हैं, पर यह सुख न तो लिङ्गसे अनुमित होता है और न किसी प्रसिद्ध पदार्थसे उपमित होता है, अतः यह निरुपम है॥३०-३१॥

वह भगवान् अर्हन्तके प्रत्यक्ष है और हम छद्मस्थजन उन्हींके वचनप्रामाण्यसे उसके अस्तित्वको जानते हैं। यहाँ परीक्षाका अवकाश नहीं है ॥३२॥

इस तरह उत्तम पुरुषोंने तत्त्वार्थ सूत्रोंका भाष्य कहा है। इसमें तर्क है और न्याय तथा आगमसे निर्णय है ॥३३॥

दसवाँ अध्याय समाप्त

तत्त्वार्थसूत्राणि-पाठभेदाश्च

श्वे०	श्वेताम्बराम्नायीयपाठः	स०	सर्वार्थसिद्धिः
हा०	हारिभद्रीयवृत्तिः	रा०	राजवार्तिकम्
भा०	तत्त्वार्थभाष्यम्	श्लो०	श्लोकवार्तिकम्
सि० सि०वृ०	सिद्धसेनीयावृत्तिः	पा०	पाठान्तरम्
		वृ०	वृत्तिः

प्रथमोऽध्यायः

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥
तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥
जीवाजीवा[1]स्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥
नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥
प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥
निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥
सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥
मतिश्रुतावधिमनः[2]पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥
तत्प्रमाणे ॥१०॥
[3]आद्ये परोक्षम् ॥११॥
प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥
मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥
तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥
अवग्रहेहावाय[4]धारणाः ॥१५॥
बहुबहुविधक्षिप्रानिः[5]सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

१ –वाश्रव–हा० । २ मनःपर्याय–श्वे० ।
३ तत्राद्ये–हा० । ४ –हापाय–श्वे० ।
५ निश्चितासन्दिग्धध्रु–श्वे०। निसृतानुक्तध्रु–श्लो०।
–क्षिप्रनिःसृतानुक्तध्रु–स० पा०।
–क्षिप्रानिश्रितनुक्तध्रु–भा०, सि० वि०।
–निश्रितानिश्रितध्रु–सि० वृ० पा०।

अर्थस्य ॥१७॥
व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥
न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥
श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥
[6]भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥
[7]क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्॥२२॥
ऋजुविपुलमती [8]मनःपर्ययः ॥२३॥
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥
विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनः[9]पर्ययोः ॥२५॥
मतिश्रुतयोर्निबन्धो [10]द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥
रूपिष्ववधेः ॥२७॥
तदनन्तभागे [11]मनःपर्ययस्य ॥२८॥
सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥
एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः॥३०॥
[12]मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥
सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥
नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र[13]शब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥३३॥

६ द्विविधोऽवधिः ॥२१॥ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥२२॥ श्वे०। तत्र भवप्रत्ययो–सि० वृ०।
७ यथोक्तनिमित्तः श्वे०। ८ मनःपर्यायः श्वे०।
९ मनःपर्याययोः श्वे०। १० सर्वद्रव्येष्वसर्व–श्वे०।
११ मनःपर्यायस्य श्वे०।
१२ मतिश्रुतविभङ्गा विप–हा०।
१३ सूत्रशब्दा नयाः ॥३४॥ आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥३५॥ श्वे०।

द्वितीयोऽध्यायः

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥
द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥
सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥
ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥
ज्ञानाज्ञान[1]दर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः[2] सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥
गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध[3]लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥
जीवभव्या[4]भव्यत्वानि च ॥७॥
उपयोगो लक्षणम् ॥८॥
स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥
संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥
समनस्काऽमनस्काः ॥११॥
संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥
[5]पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥
[6]द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥
पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥
द्विविधानि ॥१६॥
निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥
लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्[7] ॥१८॥
स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥
स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः[8] ॥२०॥
श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥
[9]वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥
कृमिपिपीलिका[10]भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि[11] ॥२३॥

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥
विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥
अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥
अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥
विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥२८॥
[12]एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥
[13]एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥
सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा[14] जन्म ॥३१॥
सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥
[15]जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥
[16]देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥
शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥
औदारिकवै[17]क्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि [18]शरीराणि ॥३६॥
[19]परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥
प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥३८॥
अनन्तगुणे परे ॥३९॥
[20]अप्रतीघाते ॥४०॥
अनादिसंबन्धे च ॥४१॥
सर्वस्य ॥४२॥
तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः[21] ॥४३॥
निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥
गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४६॥
[22]औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥
लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

१ –दर्शनदानादिलब्धयश्च–श्वे० ।
२ –दाः यथाक्रमं सम्यक्त्व–श्वे० ।
३ –द्धत्वले–श्वे० । ४ भव्यत्वादीनि च श्वे० ।
५ पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥ श्वे० ।
६ तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥१४॥ श्वे० ।
७ उपयोगः स्पर्शादिषु ॥१९॥ श्वे० ।
८ –तेषामर्थाः ॥२१॥ श्वे० ।
९ वाग्वन्तानामेकम् ॥२३॥ श्वे० ।
१० सिद्धसेनगणिनः उल्लिखन्ति यत् केचित् मनुष्यपदमनार्षमित्यामनन्ति ।
११ सिद्धसेनगणिनः लिखन्ति यत् केचित् एतदनन्तरम् 'अतीन्द्रियाः केवलिनः' इति सूत्रमपि पठन्ति ।
१२ एकसमयोऽविग्रहः ॥३०॥ श्वे० ।
१३ द्वौ वाऽनाहा–श्वे० । १४ –पपाता जन्म श्वे०।
१५ जरायण्डपोतजानां गर्भः ॥३४॥ श्वे० । जरायुजाण्डपोतजानां–हा० ।
१६ नारकदेवानामुपपातः ॥३५॥ श्वे० ।
१७ वैक्रियाहा–श्वे० ।
१८ सिद्धसेनगणिनः कथयन्ति यत्–केचित् 'शरीराणि' इति पृथक्सूत्रं पठन्ति ।
१९ तेषां परं श्वे० । भाष्यटीकाकारः 'तेषाम्' इति पदं भाष्यवाक्यमामनन्ति ।
२० अप्रतिघाते श्वे० । २१ –कस्याचतुर्भ्यः श्वे० ।
२२ वैक्रियमौपपातिकम् ॥४७॥ श्वे० ।

तैजसमपि[1] ॥४८॥
शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहा[2]रकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥
नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥
न देवाः ॥५१॥
[3]शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥
[4]औपपादिकचरमोत्तमदेहा[5]ऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

तृतीयोऽध्यायः ।

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः[1] ॥१॥
[2]तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥
[3]नारका नित्याऽशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥३॥
परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥
संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥
तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥
[4]जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥
द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥
तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥
[5]भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥
तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो [6]वर्षधरपर्वताः ॥११॥
[7]हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥
मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥
पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥
प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥
दशयोजनावगाहः ॥१६॥
तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥
तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥
तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥
गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥
द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥
शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥
चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥
भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥
तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥
उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥
भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥
ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥
एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥२९॥
तथोत्तराः ॥३०॥
विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

१ सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० ।
२ –रकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ॥४८॥ श्वे० ।
३ –धः पृथुतराः ॥१॥ श्वे० । "पृथुतराः इति केषाञ्चित् पाठः" रा० ।
४ तासु नरकाः ॥२॥ श्वे० ।
५ 'नारका' इति पदं नास्ति श्वे० । तेषु नारकानि सि० ।
६ लवणादयः श्वे० । ७ तत्र भरतै–श्वे० ।
८ वंशधरपर्वता सि० ।
९ 'हेमार्जुन…।१३। इत्यादि भरतस्य विष्कम्भो ॥३२॥ इत्यन्तं एकविंशतिसूत्राणि न सन्ति श्वे० ।
१० सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० ।
११ औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसं–श्वे० ।
१२ "चरमदेहाः इति वा पाठः"–स०, रा० ।

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥
द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥
पुष्करार्द्धे च ॥३४॥
प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥
आर्या म्लेच्छाश्च[11] ॥३६॥
भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥
नृस्थिती परावरे[12] त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥
तिर्यग्योनिजानां[13] च ॥३९॥

चतुर्थोऽध्यायः

देवाश्चतुर्णिकायाः[1] ॥१॥
[2]आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥
दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३॥
इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशत्पारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥
[3]त्रायस्त्रिंशल्लोकपाल[4]वर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥
पूर्वयोर्द्वीन्द्राः[5] ॥६॥
कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥
शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः[6] ॥८॥
परेऽप्रवीचाराः ॥९॥
भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥
व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरग[7]गन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥
[8]ज्योतिष्काः [9]सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥१२॥
मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥
तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥
बहिरवस्थिताः ॥१५॥
वैमानिकाः ॥१६॥
कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥
उपर्युपरि ॥१८॥
सौधर्मैशानसानत्कुमार[10]माहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र[11]शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु [12]सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥
स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥
गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥
पीत[13]पद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥
प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥
ब्रह्मलोकालया[14] लौकान्तिकाः ॥२४॥
सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबा[15]धारिष्टाश्च ॥२५॥
विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥
[16]औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥
[17]स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिताः ॥२८॥

---

1 –श्चतुर्निकायाः वे० ।
2 तृतीयः पीतलेश्यः ॥२॥ श्वे० ।
3 त्रायस्त्रिंशपारिषद्या–श्वे० ।
4 त्रायस्त्रिंशलोक –श्वे० । 5 -वर्जा व्य–सि० ।
6 एतदनन्तरम् 'पीतान्तलेश्याः ॥७॥' इत्यधिकं सूत्रम् श्वे० ।
7 –प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥९॥ श्वे० ।
8 –गान्धर्व–श्वे० । -गन्धर्व हा० ।
9 सूर्याश्चन्द्रमसो श्वे० ।
10 प्रकीर्णतारकश्च ॥१३॥ श्वे० । प्रकीर्णताराश्च हा० ।
11 आर्या म्लिशश्च हा० । 12 परापरे श्वे० ।
13 तिर्यग्योनीनां च ॥१८॥ श्वे० ।
14 –माहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारे श्वे०।
15 –सतार-श्लो० । 16 सर्वार्थसिद्धे च ॥२०॥ श्वे० ।
17 'पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु' इति पाठान्तराश्रयणम् ।
18 लोकान्ति–श्वे० ।
19 –बाधमरुतोऽरिष्टाश्च ॥२६॥ श्वे० ।
20 औपपातिक –श्वे० ।
21 स्थितिः ॥२९॥ भवनेषु दक्षिणार्धपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥३०॥ शेषाणां पादोने ॥३१॥ असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥३२॥ सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥३३॥ सागरोपमे ॥३४॥ अधिके च ॥३५॥ एतानि सूत्राणि श्वे० ।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥
[1]सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥
[2]त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥
आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु [3]सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥
अपरा पल्योपममधिकम्[4] ॥३३॥
परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तराः ॥३४॥
नारकाणा च द्वितीयादिषु ॥३५॥
दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥
भवनेषु च ॥३७॥
व्यन्तराणां च ॥३८॥
परा [5]पल्योपममधिकम् ॥३९॥
ज्योतिष्काणां च[6] ॥४०॥
[7]तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥
लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्[8] ॥४२॥

पञ्चमोऽध्यायः

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥
[9]द्रव्याणि ॥२॥
जीवाश्च ॥३॥
नित्यावस्थितान्यरूपाणि[1] ॥४॥
रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥
आ [2]आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥
निष्क्रियाणि च ॥७॥
असंख्येया प्रदेशा [3]धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥
आकाशस्यानन्ताः ॥९॥
संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥
नाणोः ॥११॥
लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥
धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥
एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥
असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥
[4]प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥
गतिस्थित्युपग्रहौ[5] धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥
आकाशस्यावगाहः ॥१८॥
शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥
सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥
परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥
[6]वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥
स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥
शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥
अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥
[7]भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥२६॥
भेदादणुः ॥२७॥
भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः[8] ॥२८॥
[9]सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥
तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥
अर्पितानर्पितसिद्धे ॥३२॥

---

1 सप्त सानत्कुमारे ॥३६॥
2 विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च ॥३७॥ श्वे० ।
3 –सर्वार्थसिद्धे च ॥३८॥ श्वे० ।
4 –कञ्च ॥३९॥ सागरोपमे ॥४०॥ अधिके च ॥४१॥ श्वे० ।
5 द्रव्याणि न जीवाश्च ॥२॥ श्वे० ।
6 सिद्धसेनगणिनः कथयन्ति यत् केचित् 'नित्यावस्थितानि' इति सूत्रद्वयं पठन्ति । ते हि 'नित्यावस्थितारूपाणि' 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इति पाठान्तरे अपि सूचयन्ति ।
7 आकाशादेक– श्वे० ।
8 धर्माधर्मयोः ॥७॥ जीवस्य ॥८॥
9 –विसर्गाभ्याम् श्वे० ।
10 –पल्योपमम् ॥४७॥ श्वे० ।
11 –ष्काणामधिकं ॥४८॥ ग्रहाणामेकम् ॥४९॥ नक्षत्राणामर्धम् ॥५०॥ तारकाणां चतुर्भागः ॥५१॥ श्वे० ।
12 जघन्या त्वष्टभागः ॥५२॥ चतुर्भागः शेषाणाम् ॥५३॥ श्वे० ।
13 सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० । त० श्लोकवार्तिकेऽपि नास्ति एतत्सूत्रम् ।
14 –पग्रहो श्वे० ।
15 वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे श्वे० ।
16 संघातभेदेभ्यः श्वे० ।
17 चाक्षुषाः ॥२८॥ श्वे० ।
18 सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० ।

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥
न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥
गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥
द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥
[1]बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥
[7]गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥
कालश्च[8] ॥३९॥
सोऽनन्तसमयः ॥४०॥
द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥
तद्भावः परिणामः[9] ॥४२॥

षष्ठोऽध्यायः

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥
स आस्रवः ॥२॥
[2]शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥
सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥
[3]इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥
तीव्रमन्दज्ञाताज्ञात[4]भावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥
अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥
आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥
निवर्तन निक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥
तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥
दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥
भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥
केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥
कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥
बह्वारम्भपरिग्रहत्वं[10] नारकस्यायुषः ॥१५॥
माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥
[11]अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥
स्वभावमार्दवं च ॥१८॥
निःशील[12]व्रतित्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥
सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥
सम्यक्त्वं च ॥२१॥
योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥
तद्विपरीतं[13] शुभस्य ॥२३॥
दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण[14]ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी[15] साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य[16] ॥२४॥
परमात्मनिन्दाप्रशंसे [17]सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥
तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥
विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

१ बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥३६॥ श्वे० । 'च' नास्ति स० श्लो० ।
२ शुभः पुण्यस्य ॥३॥ अशुभः पापस्य ॥४॥ श्वे० । 'शुभः पुण्यस्य । शेषं पापम्' हा० ।
३ अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः श्वे० । इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः हा०, सि० ।
४ –भावाधिकरणवीर्याधिकरणविशे–श्वे० ।
५ भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादि योगः– श्वे० ।
६ –तीव्रात्मपरिणाम– श्वे० ।
७ गुणपर्याय–श्वे० ।
८ कालश्चेत्येके ॥३८॥ श्वे० ।
९ एतदनन्तरम् 'अनादिरादिमाँश्च ॥४२॥ रूपादिष्वादिमान् ॥४३॥ योगोपयोगौ जीवेषु ॥४३॥– एतानि सूत्राणि अधिकानि श्वे० ।
१० –त्वं च नारक– श्वे० ।
११ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ॥१८॥– श्वे० ।
१२ –व्रतत्वं– श्वे० । १३ विपरीतं श्वे० ।
१४ भीक्ष्णज्ञानो– श्वे० । १५–सी संघसाधु– श्वे० ।
१६ तीर्थकृत्वस्य ॥२३॥ श्वे० ।
१७ सदसद्गुणाच्छादनो– श्वे० । सदसद्गुणोच्छा– स० । सदसद्गुणच्छा– रा०, श्लो०, सि० ।

सप्तमोऽध्यायः

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥
देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥
तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥
[1]वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥
क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥५॥
शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥६॥
स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥
मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥
हिंसादिष्विहामुत्रा पायावद्यदर्शनम् ॥९॥
दुःखमेव वा[3] ॥१०॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्[4]यानि च सत्त्वगुणाधिक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥११॥
जगत्कायस्वभावौ[5] वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥
प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥
असदभिधानमनृतम् ॥१४॥
अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥
मैथुनमब्रह्म ॥१६॥
मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥
निःशल्यो व्रती ॥१८॥
अगार्यनगारश्च ॥१९॥
अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥
दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक[6]प्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग[7]परिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥
मारणान्तिकीं सल्लेखनां[8] जोषिता ॥२२॥
शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः[9] ॥२३॥
व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥
[10]बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥
मिथ्योपदेशरहो[11]भ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥
स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥
परिविवाहकरणेत्व[12]रिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥
क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥
ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्त[13]राधानानि ॥३०॥
[14]आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः[15] ॥३१॥
कन्दर्पकौत्कु[16]च्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभो[17]गपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥
योगदुःप्रणिधानानादर[18]स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

१ 'वाङ्मनो' इत्यादि पञ्चसूत्राणि न सन्ति श्वे०।
२ –मुत्र चापायावद्य– श्वे० ।
३ सिद्धसेनगणिनः सूत्रयन्ति यत् केचित् 'व्याधिप्रतीकारत्वात् कण्डूपरिगतत्वाच्चाब्रह्म, तथा परिग्रहेष्वप्राप्तप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे वाऽवितृप्तिः' एतयोः भाष्यवाक्ययोः पृथक् सूत्रत्वमामनन्ति ।
४ –माध्यस्थानि च श्वे० ।
५ –वौ च संवेग– श्वे० ।
६ –पौषधो–श्वे०।
७ –परिभोगातिथि–भा०। सि०।
८ संलेखनां श्वे० । ९ –रतिचाराः श्वे० ।
१० बन्धवधच्छविच्छेदा– श्वे० ।
११ रहस्याभ्याख्यान– श्वे० ।
१२ –त्वरपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामा– श्वे० । सिद्धसेनगणिनः 'परविवाहकरणम् इत्वरिकागमनं परिगृहीतागमनम् अनङ्गक्रीडा तीव्रकामाभिनिवेशः' इति सूत्रपाठान्तरं सूत्रयन्ति ।
१३ स्मृत्यन्तर्धानानि श्वे० ।
१४ आनायन– हा० पाठान्तरसूचनम् ।
१५ -पुद्गलप्रक्षेपाः ॥२६॥ भा० ।
१६ –कौकुच्य– भा० हा० ।
१७ –करणोपभोगाधिकत्वानि ॥२७॥ श्वे० ।
१८ –स्मृत्यनुपस्थापनानि ॥२८॥

[1]अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादा[2]नसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥
सचित्तसंबन्ध[3]सम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः॥३५॥
सचित्तनिक्षेपापि[4]धानपरव्यपदेशमात्सर्य्यकालातिक्रमाः ॥३६॥
जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्ध[12]निदानानि ॥३७॥
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥
विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

अष्टमोऽध्यायः

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥
सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते[5] स बन्धः ॥२॥
प्रकृतिस्थित्यनुभाग[6]प्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥
आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायु[7]र्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥
पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा[8] यथाक्रमम् ॥५॥
[9]मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥६॥
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्ध्यश्च[10] ॥७॥
सदसद्वेद्ये ॥८॥
[11]दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥५॥
नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥१०॥
गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरु[13]लघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च[14] ॥११॥
उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥
[15]दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥
आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥
सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥
[16]विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः[17] ॥१७॥
अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥
नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥
शेषाणामन्तर्मुहूर्ता[18] ॥२०॥
विपाकोऽनुभवः[19] ॥२१॥
स यथानाम ॥२२॥
ततश्च निर्जरा ॥२३॥
नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रा[20]वगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥२४॥
[21]सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥
[22]अतोऽन्यत्पापम् ॥२६॥

नवमोऽध्यायः

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥
स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥२॥
तपसा निर्जरा च ॥३॥
सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥
ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥
[1]उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्माः ॥६॥
अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वा[2]शुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः[3] ॥७॥
मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥
क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनानि[4] ॥९॥
[5]सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश॥१०॥
एकादश जिने ॥११॥
[6]बादरसाम्पराये सर्वे ॥१२॥
ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥
दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥
चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥१५॥
वेदनीये शेषाः ॥१६॥
एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः[7] ॥१७॥
सामायिकच्छेदोप[12]स्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायययथा[13]ख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥
अनशनाव[14]मौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥
प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥
नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा[15] यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥
आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः[16] ॥२२॥
ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥
आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्य[17]ग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्[15] ॥२४॥
याचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥
बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥
उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो [18]ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥
आर्त्तरौद्रधर्म्य[19]शुक्लानि ॥२८॥
परे मोक्षहेतू ॥२९॥
आर्त्तममनोज्ञस्य[21] संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥
विपरीतं मनोज्ञस्य[20] ॥३१॥

---

१ अप्रत्युपेक्षि– हा० ।
२ –दाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥२९॥ श्वे० ।
३ सचित्तसम्बद्धस– श्वे० ।
४ निक्षेपपिधान– श्वे० ।
५ –दत्ते ॥२॥ सम्बन्धः ॥३॥ श्वे० ।
६ –भावप्रदेशा– श्वे० ।
७ –यायुष्कनाम–। ८ भेदो रा० ।
९ मत्यादीनाम् ॥७॥ श्वे० ।
१० –स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ॥८॥ श्वे० । स्त्यानर्द्धिरिति वा पाठः'–सि० ।
११ दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः ॥१०॥ श्वे० ।
१२ निदानकरणानि ॥३२॥ श्वे० ।
१३ –पूर्व्यागुरु– श्वे० ।
१४ –देययशांसि सेतराणितीर्थकृत्वं च ॥१२॥ श्वे०।
१५ दानादीनाम् ॥१४॥ श्वे० ।
१६ नामगोत्रयोर्विंशतिः ॥१७॥ श्वे० ।
१७ –ष्यायुष्कस्य– श्वे० ।
१८ –मन्तर्मुहूर्तम् ॥२०॥ श्वे० । १९ –नुभावः श्वे० ।
२० गाढस्थिताः श्वे० ।
८ सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२६॥ श्वे० ।
९ सूत्रमेतन्नास्ति श्वे० ।
१० –दोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायययथाख्यातानि चारित्रम् । श्वे० ।
११ अथाख्यात– सि० रा० ।
१२ –वमौदर्य–। श्वे० । १३ द्विभेदं यथा– श्वे० ।
१४ –पस्थापनानि ॥२२॥ श्वे०। १५ –शैक्ष– श्वे०।
१६ –साधुममनोज्ञानाम् ॥१४॥ श्वे० ।
१७ –ध्यानम् ॥२७॥ आमुहूर्तात् ॥२८॥ श्वे० ।
१८ –धर्म– श्वे०। १९ –ममनोज्ञानां सम्प्र– श्वे०।
२० –हारः ॥३१॥ वेदनायाश्च ॥३१॥ विपरीतं मनोज्ञानाम् ॥३२॥ श्वे० ।
१ उत्तमः क्षमा···धर्मः ॥६॥ श्वे० ।
२ –शुचित्वास्रव– श्वे० ।
३ "अपरे पठन्ति अनुप्रेक्षा इति अनुप्रेक्षितव्या इत्यर्थः । अपरे अनुप्रेक्षाशब्दमेकवचनान्तमधीयते"– सि० वृ० ।
४ प्रज्ञाज्ञानसम्यक्त्वानि ।– हा० ।
५ सूक्ष्मसम्पराय– श्वे० ।
६ बादरसाम्पराये श्वे० ।
७ –देकान्नविंशतेः हा० । युगपदेकोनविंशतेः ॥१७॥ श्वे० ।

वेदनायाश्च ॥३२॥
निदानं च ॥३३॥
तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥
हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयोः ॥३५॥
आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्[1] ॥३६॥
शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥
परे केवलिनः ॥३८॥
पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरत-क्रियानिवर्तीनि[2] ॥३९॥
[3]त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥
एकाश्रये [4]सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥
[5]अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥
वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥
[6]वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥
सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥
पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४६॥
संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपाद[9]स्थान-विकल्पतः साध्याः ॥४७॥

दशमोऽध्यायः

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥
बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां[10] कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥
[11]औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥३॥
अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥
तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥
पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरि-णामाच्च[12] ॥६॥
[13]आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्ड-बीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥
[14]धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥
क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

---

१ –धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ॥३७॥ उपशान्तक्षीणक-षाययोश्च ॥३९॥ शुक्ले···इवे० ।
२ –निवृत्तीनि ॥४१॥ इवे० ।
३ तत्र्येककाययोगायोगानाम् ॥४२॥ इवे० ।
४ –राभ्याम् ॥२॥ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥३॥ इवे० ।
५ औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवल···
६ सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४३॥ इवे० ।
७ –अविचारं इवे० । ८ विचारो– इवे० ।
९ –पपातस्थान– इवे० ।
१० –माच्च तद्गतिः ॥६॥ इवे० ।
११ सूत्रमेतन्नास्ति इवे० ।
१२ सूत्रमेतन्नास्ति इवे० ।

तत्त्वार्थसूत्राणामकारादिकोशः

पृष्ठ		
५४६	अगार्यनगारश्च	७।१९
५३१	अजीवकाया धर्माधर्माकाश-	५।१
४९१	अणवः स्कन्धाश्च	५।२५
५४७	अणुव्रतोऽगारी	७।२०
५८६	अतोऽन्यत्पापम्	८।२६
५४२	अदत्तादानं स्तेयम्	७।१५
५१३	अधिकरणं जीवाजीवाः	६।७
६१८	अनशनावमोदर्य—	९।१९
१४८	अनन्तगुणे परे	२।३९
६४२	अन्यत्र केवलसम्यक्त्व—	१०।४
१४९	अनादिसम्बन्धे च	२।४१
६००	अनित्याशरण—	९।७
१३७	अनुश्रेणि गतिः	२।२६
५५९	अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्	७।३८
५८३	अपरा द्वादशमुहूर्ता	८।१८
२४७	अपरा पल्योपममधिकम्	४।३३
१४९	अप्रतिघाते	२।४०
५५७	अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितो-	७।३४
६५	अर्थस्य	१।१७
४९७	अर्पितानर्पितसिद्धेः	५।३२
५०६	अल्पारम्भपरिग्रहत्वं	६।१७
६०	अवग्रहेहावायधारणाः	१।१५
१३८	अविग्रहा जीवस्य	२।२७
६३४	अविचारं द्वितीयम्	९।४२
५४१	असदभिधानमनृतम्	७।१४
४४७	असङ्ख्येयाः प्रदेशा	५।८
४५७	असङ्ख्येयभागादिषु	५।१५
४४५	आ आकाशादेकद्रव्याणि	५।६
४५२	आकाशस्यानन्ताः	५।९
४६६	आकाशस्यावगाहः	५।१८
६२३	आचार्योपाध्यायतपस्वि-	९।२४
६३०	आज्ञापायविपाकसंस्थान-	९।३६
६२८	आर्त्तममनोज्ञस्य	९।३०
६२७	आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि	९।२८
५१३	आद्यं संरम्भसमारम्भ-	६।८
२११	आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः	४।२

पृष्ठ		
५८१	आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च	८।१४
५२	आद्ये परोक्षम्	१।११
५६७	आद्यो ज्ञानदर्शनावरण–	८।४
५५६	आनयनप्रेष्यप्रयोग–	७।३१
२४७	आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन	४।३२
२००	आर्या म्लेच्छाश्च	३।३६
६२०	आलोचनप्रतिक्रमण–	९।२२
६४५	आविद्धकुलालचक्रवत्	१०।७
५८७	आस्रवनिरोधः संवरः	९।१
२१२	इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंश–	४।४
५०८	इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया	६।५
५९३	ईर्याभाषैषणादान–	९।५
५८०	उच्चैर्नीचैश्च	८।१२
५९५	उत्तमक्षमामार्दवार्जव–	९।६
६२५	उत्तमसंहननस्यैकाग्र–	९।२७
१९१	उत्तरा दक्षिणतुल्याः	३।२६
४९४	उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्	५।३०
११८	उपयोगो लक्षणम्	२।८
२२३	उपर्युपरि	४।१८
५५४	ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम–	७।३०
८३	ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः	१।२३
१९२	एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो	३।२९
४५६	एकप्रदेशादिषु भाज्यः	५।१४
१३९	एकसमयाऽविग्रहा	२।२९
१४९	एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः	२।३०
६१३	एकादश जिने	९।११
६१५	एकादयो भाज्या–	९।१७
९०	एकादीनि भाज्यानि	१।३०
६३३	एकाश्रये सवितर्कविचारे	९।४१
१४५	औदारिकवैक्रियिकाहारक–	२।३६
२२५	औपपादिकमनुष्येभ्यः	४।२७
१५१	औपपादिकं वैक्रियिकम्	२।४६
१५७	औपपादिकचरमोत्तम–	२।५३
१००	औपशमिकक्षायिकौ भावौ	२।१
६४२	औपशमिकादिभव्यत्वानां च	१०।३
५५६	कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्या–	७।३२

पृष्ठ		
२२३	कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च	४।१७
५२४	कषायोदयात्तीव्रपरिणाम–	६।१४
५०४	कायवाङ्मनःकर्म योगः	६।१
२१४	कायप्रवीचारा आ ऐशानात्	४।७
५०१	कालश्च	५।३९
१३५	कृमिपिपीलिकाभ्रमर–	२।२३
५२३	केवलिश्रुतसंघधर्म–	६।१३
५३६	क्रोधलोभभीरुत्व–	७।५
८१	क्षयोपशमनिमित्तः	१।२२
६०८	क्षुत्पिपासाशीतोष्ण–	९।९
६४६	क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थ–	१०।९
५५४	क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्ण–	७।२९
१८७	गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्या	३।२०
१०८	गतिकषायलिङ्ग–	२।६
५७६	गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्ग–	८।११
२३६	गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो	४।२१
४६०	गतिस्थित्युपग्रहौ	५।१७
१५१	गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम्	२।४५
५००	गुणपर्ययवद्द्रव्यम्	५।३८
४९८	गुणसाम्ये सदृशानाम्	५।३५
५७२	चक्षुरचक्षुरवधिकैवलानां	८।७
१९०	चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता	३।२३
६१५	चारित्रमोहे नाग्न्यारति–	९।१५
५३९	जगत्कायस्वभावौ वा	७।१२
१६९	जम्बूद्वीपलवणोदादयः	३।७
१४३	जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः	२।३३
११०	जीवभव्याभव्यत्वानि च	२।७
४४१	जीवाश्च	५।३
२४	जीवाजीवास्रवबन्धसंवर–	१।४
५५८	जीवितमरणाशंसा–	७।३७
६२२	ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः	९।२३
१०५	ज्ञानदर्शनदानलाभ–	२।४
१०६	ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुः	२।५
६१४	ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने	९।१३
२४९	ज्योतिष्काणां च	४।४०
२१८	ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ–	४।१२
५८३	ततश्च निर्जरा	८।२३
२११	तत्कृतः कालविभागः	४।१४
४९	तत्प्रमाणे	१।१०
५१७	तत्प्रदोषनिह्नव–	६।१०
१९	तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्	१।२
५३५	तत्स्थैर्यार्थं भावनाः	७।३
१९२	तथोत्तराः	३।३०
८८	तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य	१।२८
६४४	तदनन्तरमूर्ध्वं–	१०।५
६२९	तदविरतदेशविरत–	९।३४
२४९	तदष्टभागोऽपरा	४।४१
१५०	तदादीनि भाज्यानि	२।४३
५९	तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्	१।१४
१८५	तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः	३।१८
१९०	तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा	३।२५
५३१	तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ–	६।२६
५२८	तद्विपरीतं शुभस्य	६।२३
१८२	तद्विभाजिनः पूर्वापरायताः	३।११
४९६	तद्भावाव्ययं नित्यम्	५।३१
५०३	तद्भावः परिणामः	५।४२
१८६	तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्री–	३।१९
२२	तन्निसर्गादधिगमाद्वा	१।३
१७०	तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो–	३।९
१८५	तन्मध्ये योजनं पुष्करम्	३।१७
५९२	तपसा निर्जरा च	९।३
१९२	ताभ्यामपरा भूमयो–	३।२८
१६१	तासु त्रिंशत्पञ्चविंशति–	३।२
२०३	तिर्यग्योनिजानां च	३।३९
५१२	तीव्रमन्दज्ञाताऽज्ञातभावाधिकरण–	६।६
१६६	तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदश–	३।६
१५२	तैजसमपि	२।४८
५८८	त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमण्यायुषः	८।१७
२१३	त्रायस्त्रिंशल्लोकपालवर्जा	४।५
२४७	त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदश–	४।३१
६३३	त्र्येकयोगकाययोगाऽयोगानाम्	९।४०
६१४	दर्शनमोहान्तराययो–	९।१४
५७३	दर्शनचारित्रमोहनीया–	८।९
५२९	दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता–	६।२४
१८५	दशयोजनावगाहः	३।१६
२४८	दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्	४।३६
२१२	दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः	४।३
५८०	दानलाभभोगोपभोग–	८।१३
५४७	दिग्देशानर्थदण्डविरति–	७।२१
५३७	दुःखमेव वा	७।१०

पृष्ठ		
५१९	दुःखशोकतापाक्रन्दन–	६।११
१४५	देवनारकाणामुपपादः	२।३४
२११	देवाश्चतुर्णिकायाः	४।१
५३५	देशसर्वतोऽणुमहती	७।२
४३६	द्रव्याणि	५।२
५०२	द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः	५।४१
१८७	द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः	३।२१
१०३	द्विनवाष्टादशैकविंशति–	२।२
१७०	द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्व–	३।८
१९४	द्विर्धातकीखण्डे	३।३३
१३०	द्विविधानि	२।१६
१२८	द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः	२।१४
४९९	द्व्यधिकादिगुणानां तु	५।३६
४५६	धर्माधर्मयोः कृत्स्ने	५।१३
६४६	धर्मास्तिकायाभावात्	१०।८
६७	न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्	१।१९
४९८	न जघन्यगुणानाम्	५।३४
१५६	न देवाः	२।५१
६२०	नवचतुर्दशपञ्चद्वि–	९।२१
४५३	नाणोः	५।११
५८३	नामगोत्रयोरष्टौ	८।१९
५८५	नामप्रत्ययाः सर्वतो	८।२४
२८	नामस्थापनाद्रव्यभाव–	१।५
५७५	नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि	८।१०
१५६	नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि	२।५०
२४८	नारकाणां च द्वितीयादिषु	४।३५
१६३	नारका नित्याशुभतरलेश्या–	३।३
४४३	नित्यावस्थितान्यरूपाणि	५।४
६२८	निदानं च	९।३३
१५१	निरुपभोगमन्त्यम्	२।४४
३८	निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरण–	१।७
५१५	निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा–	६।९
१३०	निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्	२।१७
५४५	निःशल्यो व्रती	७।१८
५२६	निश्शीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्	६।१९
४४६	निष्क्रियाणि च	५।७
२०५	नृस्थिती परावरे	३।३८
९४	नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र–	१।३३
५७०	पञ्चनवद्व्यष्टाविंशति–	८।५
१२९	पञ्चेन्द्रियाणि	२।१५
१८४	पद्ममहापद्मतिगिञ्छ–	३।१४
२४८	परतः परतः पूर्वा	४।३४
५५४	परविवाहकरणेत्वरिका–	७।२८
४७६	परस्परोपग्रहो जीवानाम्	५।२१
१६४	परस्परोदीरितदुःखाः	३।४
१४७	परं परं सूक्ष्मम्	२।३७
२४९	परा पल्योपममधिकम्	४।३९
५३०	परमात्मनिन्दाप्रशंसे	६।२५
६३३	परे केवलिनः	९।३८
२१५	परेऽप्रवीचाराः	४।९
६२८	परे मोक्षहेतू	९।२९
२३७	पीतपद्मशुक्ललेश्या	४।२२
६३६	पुलाकबकुशकुशील–	९।४६
१९६	पुष्करार्द्धे च	३।३४
६४५	पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्–	१०।६
२१३	पूर्वयोर्द्वीन्द्राः	४।६
६३३	पृथक्त्वैकत्ववितर्क–	९।३९
१२७	पृथिव्यप्तेजोवायु–	२।१३
५६६	प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशा–	८।३
५३	प्रत्यक्षमन्यत्	१।१२
१८४	प्रथमो योजनसहस्रायाम–	३।१५
४५८	प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां	५।१६
१४७	प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्–	२।३८
५३९	प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं	७।१३
३३	प्रमाणनयैरधिगमः	१।६
२४१	प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः	४।२३
१९७	प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः	३।३५
६२०	प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्य-	९।२०
५५३	बन्धवधच्छेदातिभारारोपण–	७।२५
६४०	बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां	१०।२
५००	बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ	५।३७
२२२	बहिरवस्थिताः	४।१५
६२	बहुबहुविधक्षिप्रानिस्सृता–	१।१६
५२५	बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः	६।१५
६१४	बादरसाम्पराये सर्वे	९।१२
६२४	बाह्याभ्यन्तरोपध्योः	९।२६
२४२	ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः	४।२४
१९३	भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य	३।२२
१७१	भरतहैमवतहरिविदेह–	३।१०
१९०	भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशत–	३।२४

	पृष्ठ	
१९१	भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ	३।२७
२०४	भरतैरावतविदेहाः	३।३७
२१६	भवनवासिनोऽसुरनाग-	४।१०
७९	भवप्रत्ययोऽवधिर्देव-	१।२१
२४९	भवनेषु च	४।३७
५२२	भूतव्रत्यनुकम्पादान-	६।१२
४९४	भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषः	५।२८
४९३	भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते	५।२६
४९४	भेदादणुः	५।२७
१८४	मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले	३।१३
८७	मतिश्रुतयोर्निबन्धो-	१।२६
९१	मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च	१।३१
४४	मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि	१।९
५७०	मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानां	८।६
५७	मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता	१।१३
५२६	मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषय–	७।८
५२६	माया तैर्यग्योनस्य	६।१६
६०७	मार्गाच्यवननिर्जरार्थं	९।८
५५०	मारणान्तिकीं सल्लेखनां	७।२२
५६१	मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद–	८।१
५५३	मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यान–	७।२६
५४४	मूर्च्छा परिग्रहः	७।१७
२२०	मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो	४।१३
५३८	मैत्रीप्रमोदकारुण्य–	७।११
५४३	मैथुनमब्रह्म	७।१६
६३९	मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरण–	१०।१
५२८	योगवक्रता विसंवादनं	६।२२
५५७	योगदुष्प्रणिधानानादर–	७।३३
१५९	रत्नशर्करावालुकापङ्कधूम–	३।१
४४४	रूपिणः पुद्गलाः	५।५
८८	रूपिष्ववधेः	१।२७
१५१	लब्धिप्रत्ययं च	२।४७
१३०	लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्	२।१८
४५४	लोकाकाशेऽवगाहः	५।१२
२५०	लौकान्तिकानामष्टौ	४।४२
१३४	वनस्पत्यन्तानामेकम्	२।२२
४७६	वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे	५।२२
५३६	वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपण–	७।४
६२४	वाचनापृच्छनानुप्रेक्षा–	९।२५
१३६	विग्रहगतौ कर्मयोगः	२।२५

	पृष्ठ	
१३८	विग्रहवती च संसारिणः	२।१८
५३१	विघ्नकरणमन्तरायस्य	६।२७
२४४	विजयादिषु द्विचरमाः	४।२६
६३४	वितर्कः श्रुतम्	९।४३
१९२	विदेहेषु संख्येयकालाः	३।३१
५५९	विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्	७।३९
६२८	विपरीतं मनोज्ञस्य	९।३१
५८३	विपाकोऽनुभवः	८।२१
५८२	विंशतिर्नामगोत्रयोः	८।१६
८६	विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधि-	१।२५
८५	विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां	१।२४
६३४	वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः	९।४४
६२८	वेदनायाश्च	९।३२
६१५	वेदनीये शेषाः	९।१६
२२२	वैमानिकाः	४।१६
५५२	व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्	७।२४
६६	व्यञ्जनस्यावग्रहः	१।१८
२१७	व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरग–	४।११
२४९	व्यन्तराणां च	४।३८
५५२	शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सा-	७।२३
४८५	शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य-	५।२४
४६८	शरीरवाङ्मनःप्राणा-	५।१९
६३२	शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः	९।३७
१५२	शुभं विशुद्धमव्याघाति-	२।४९
५१६	शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य	६।३
५३६	शून्यागारविमोचितावास-	७।६
१४५	शेषाणां सम्मूर्च्छनम्	२।३५
५८३	शेषाणामन्तर्मुहूर्ता	८।२०
२१४	शेषाः स्पर्शरूपशब्द-	४।८
१८७	शेषास्त्वपरगाः	३।२२
१५६	शेषास्त्रिवेदाः	२।५२
१३४	श्रुतमनिन्द्रियस्य	२।२१
७०	श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक-	१।२०
५०६	स आस्रवः	६।२
५६५	सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो	८।२
५०८	सकषायाकषाययोः साम्परायिके-	६।४
५९१	स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा-	९।२
५५८	सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेश-	७।३६
१४१	सचितशीतसंवृताः सेतराः	२।३२
५५८	सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषव-	७।३५

	पृष्ठ	
४१	सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शन-	१।८
७२	सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धे-	१।३२
५७३	सदसद्वेद्ये	८।८
४९४	सद्द्रव्यलक्षणम्	५।२९
१२३	स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः	२।९
५८६	सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्	८।२५
५८२	सप्ततिर्मोहनीयस्य	८।१५
१२५	समनस्काऽमनस्काः	२।११
१४०	सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म	२।३१
५२७	सम्यक्त्वं च	६।२१
१०४	सम्यक्त्वचारित्रे	२।३
५९३	सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः	९।४
३	सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि	१।१
६३५	सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्त–	९।४५
५८३	स यथानाम	८।२२
५२७	सरागसंयमसंयमासंयमाकाम–	६।२०
८८	सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य	१।२९
१५०	सर्वस्य	२।४२
२४६	सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त	४।३०
६१६	सामायिकछेदोपस्थापना	९।१८
२४३	सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोय–	४।२५
४७४	सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च	५।२०
६१३	सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयो–	९।१०
५०२	सोऽनन्तसमयः	५।४०
२४६	सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके	४।२९
२२३	सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्र–	४।१९
१६५	संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च	३।५
४५३	संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्	५।१०
१३६	संज्ञिनः समनस्काः	२।२४
६३७	संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थ–	९।४७
१२६	संसारिणस्त्रसस्थावराः	२।१२
१२४	संसारिणो मुक्ताश्च	२।१०
५५४	स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्ध–	७।२७
५३६	स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्ग–	७,७
४९७	स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः	५।३३
२४६	स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीप–	४।२८
२३५	स्थितिप्रभावसुखद्युति–	४।२०
१३१	स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि	२।१९
४८४	स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः	५।२३
१३२	स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः	२।२०
५२६	स्वभावमार्दवञ्च	६।१८
५३७	हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्	७।९
६२९	हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो–	९।३५
५३३	हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो–	७।१
१८४	हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः	३।१२

तत्त्वार्थसूत्रस्थशब्दानामकाराद्यनुक्रमः

अ

अकषाय ६।४; ८।९
अकषाय (वेदनीय) नवभेद ८।९
अकामनिर्जरा ६।२०
अगारिन् ७।१९;७।२०
अगुरुलघु ८।११
अग्निकुमार ४।१०
अग्निशिखावत् १०।७
अङ्गोपाङ्ग ८।११
अचक्षुष् ८।७
अच्युत ४।१९;४।३२
अजीव १।४;५।१;६।७
अज्ञातभाव ६।६
अज्ञान २।५;२।६;९।९;९।१३
अणु ५।११;५।२५;५।२७;७।२
अणुव्रत ७।२०
अण्डज २।३३
अतिथिसंविभाग ७।२१
अतिभारारोपण ७।२५
अतीचार ७।२३
अदत्तादान ७।१५
अदर्शन ९।९;९।१४
अधोऽधः ३।१
अधर्म ५।१;५।८;५।१३;५।१७
अधिक ४।२०;४।२९;४।३१; ४।३३;४।३९;५।३७
अधिकरण १।७;६।७
अधिकरणविशेष ६।६
अधिगत १।३
अधिगम १।६
अधोव्यतिक्रम ७।३०
अनगार ७।१९
अनङ्गक्रीडा ७।२८
अनन्त ५।९
अनन्तगुण २।३९
अनन्तर ४।३४
अनन्तवियोजक ९।४५
अनन्तसमय ५।४०
अनन्तानन्तप्रदेश ८।२४
अनन्तानुबन्धी ८।९
अनपवर्त्यायुष् २।५३
अनर्थदण्डविरति ७।२१
अनर्थान्तर १।१२
अनर्पित ५।३२
अनशन १।१९
अनादर ७।३३;७।३४
अनादिसम्बन्ध २।४१
अनाहारक २।३०
अनिःसृत १।१६
अनित्य ९।७
अनिन्द्रिय १।१९;२।२१
अनीक ४।४
अनुक्त १।१६
अनुग्रहार्थ ७।३८
अनुचिन्तन ९।७
अनुत्सेक ६।२६
अनुप्रेक्षा ९।२;९।७;९।२५
अनुभव ८।२१
अनुभाग ८।३
अनुमत ६।८
अनुवीचिभाषण ७।५
अनुश्रेणि २।२६
अनृत ७।१४;९।३५
अनृतविरति ७।१
अन्तर १।८;१०।९
अन्तराय ६।१०; ६।२७; ८।४; ८।१४; ९।१४
अन्तरायक्षय १०।१
अन्तर्मुहूर्त ३।३८; ८।२०
अन्नपाननिरोध ७।२५
अन्यत्व (अनुप्रेक्षा) ९।७
अन्यदृष्टिप्रशंसा ७।२३
अन्यदृष्टिसंस्तव ७।२३
अन्त्य २।४४
अप् २।१३
अपगतलेपालाबुवत् १०।७
अपरगा ३।२२
अपरत्व ५।२२
अपरा ३।२८; ४।३३; ४।४१; ८।१८
अपराजित ४।१९
अपरिगृहीतागमन ७।२८
अपान ५।१९
अपायदर्शन ७।९
अपायविचय ९।३६
अप्रतिघात २।४०
अप्रतिपात १।२४
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान ७।३४
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग ७।३४
अप्रवीचार ४।९
अप्रत्याख्यान ८।९
अब्रह्म ७।१६
अब्रह्मविरति ७।१
अभव्यत्व २।७
अभिनिबोध १।१२
अभिमान ४।२१
अभियोग्य ४।४
अभिषव ७।३५
अभीक्ष्णज्ञानोपयोग ६।२४
अमनस्क २।११
अमनोज्ञ ९।३०
अमनोज्ञेन्द्रियविषय ७।५
अमुत्र ७।९
अम्बु ३।१
अयोग ९।४०
अरति ८।९; ९।९; ९।१५
अरिष्ट ४।२५

अरुण ४।२५
अरूप ५।४
अर्जुनमय ३।१२
अर्थ १।१७
अर्थसङ्क्रान्ति ९।४४
अर्पित ५।३२
अर्हद् (भक्ति) ६।२४
अलाबुवत् १०।७
अलाभ ९।९;९।१४
अल्पपरिग्रह १।८;६।१७;१०।९
अल्पारम्भ ६।१७
अवगाह ५।१२;५।१८
अवगाहन १०।९
अवग्रह १।१५;१।१८
अवद्यदर्शन ७।९
अवधि १।९;१।२१;१।२५; १।२७;१।३१;८।६;८।७
अवधिविषय ४।२०
अवमोदर्य ९।१९
अवर्णवाद ६।१३
अवसर्पिणी ३।२७
अवस्थित ३।२८;४।१५;५।४
अवाय १।१५
अविग्रह २।२७;२।२९
अविनय ७।११
अविरत ९।३४;९।३५
अविरति ८।१
अवीचार ९।४२
अव्यय ५।३१
अव्याघाति २।४९
अव्याबाध ४।२५
अव्रत ६।५
अशरण ९।७
अशुचि ९।७
अशुभ ६।३;६।२२
अशुभतरलेश्या ३।३
असंयत २।६
असङ्ख्येय ५।८;५।१०
–गुण २।३८
–गुणनिर्जरा ९।४५
–भागादि ५।१५
–वर्षायुष् २।५३
असङ्गत्व १०।६
असदभिधान ७।१४
असद्गुणोद्भावन ६।२५
असद्वेद्य ६।११;८।८
असमीक्ष्याधिकरण ७।३२
असर्वपर्याय १।२६
असिद्धत्व २।६
असुर ४।२८
–कुमार ४।१०

आ

आ ऐशान ४।७
आकाश ५।१;५।६;५।९;५।१८
–प्रतिष्ठ ३।१
आकिञ्चन्य ९।६
आक्रन्दन ६।११
आक्रोश ९।९;९।१५
आचार्य ९।२४
–भक्ति ६।२४
आज्ञा (विचय) ९।३६
आतप ५।२४;८।११
आत्मप्रशंसा ६।२५
आत्मरक्ष ४।४
आत्मस्थ ६।११
आदाननिक्षेप ९।५
आदाननिक्षेपणसमिति ७।४
आदित्य ४।२५
आदेय ८।११
आद्य १।११;२।४५; ६।८;८।४;९।३७
आनत ४।१९
आनयन ७।३१
आनुपूर्वी ८।११
आन्तर्मुहूर्त ९।२७
आभ्यन्तरोपाधि ९।२६
आम्नाय ९।२५
आयुष् ८।१७;८।२४
आरण ४।१९;४।३२
आरम्भ ६।८
आर्जव ९।६
आर्त ९।२८;९।३०
आर्य ६।३६
आलोकान्त १०।५
आलोकितपानभोजन ७।४
आलोचना ९।२२
आवश्यकापरिहाणि ६।२४
आविद्धकुलालचक्रवत् १०।७
आसादन ६।१०
आस्रव १।४;६।२;९।७
–निरोध ९।१
आहारक २।३६;२।४९

इ

इत्वरिकागमन ७।२८
इन्द्र ४।४
इन्द्रिय (पञ्च) ६।५
–विषय ४।२०
इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त ४।१४

ई

ईर्या ९।५
ईर्यापथ ६।४
ईर्यासमिति ७।४
ईहा १।१५

उ

उच्चैस् ८।१२
उच्छ्वास ८।११
उत्तमक्षमा ९।६
उत्तमसंहनन ९।२७
उत्तर ३।२६;६।२६;९।२०
उत्तरकुरु ३।३७
उत्पद्यन्ते ५।२६
उत्पाद ५।३०
उत्सर्ग ९।५
उत्सर्पिणी ३।२७
उदधिकुमार ४।१०
उद्योत ५।२४;८।११
उन्मत्तवत् १।३२
उपकरण २।१७
उपकार ५।१७
उपग्रह ५।२०
उपघात ६।१०;८।११
उपचार ९।२३
उपधि ९।२९

उपपादस्थान २।३१;२।३४;९।४७
उपभोग २।४;८।१३
उपभोगपरिभोगानर्थक्य ७।३२
उपभोग (परिमाण) ७।२१
उपयोग २।८;२।१८
उपशमक ९।४५
उपशान्तमोह ९।४५
उपस्थापन ९।२२
उपाध्याय ९।२४
उभयस्थ ६।११
उष्ण ९।९

ऊ

ऊर्ध्व ४।३२;१०।५
-व्यतिक्रम ७।३०

ऋ

ऋजुमति १।२३
ऋजुसूत्र १।३३

ए

एकक्षेत्रावगाहस्थित ८।२४
एकजीव ५।८
एकत्व (अनुप्रेक्षा) ९।७
एकत्ववितर्क ९।३९
एकद्रव्य ५।६
एकपल्योपमस्थिति ३।२९
एकप्रदेशादि ५।१४
एकयोग ९।४०
एकाग्रचिन्तानिरोध ९।२७
एकाश्रय ९।४१
एरण्डबीजवत् १०।७
एषणा ९।५

ऐ

ऐरावत ३।१०;३।२७;३।३७
ऐशान ४।१९;४।२९

औ

औदयिक २।१
औदारिक २।३६
औपपादिक २।४६;२।५३;४।२७
औपशमिक २।१
औपशमिकादि १०।३

क

कन्दर्प ७।३२
कर्मभूमि ३।३७
कर्मयोग २।२५
कर्मयोग्य ८।२
कल्प ४।२३
अल्पातीत ४।१७
कल्पोपपन्न ४।३;४।१७
कषाय २।६;६।५;६।८;८।१;८।९
कषाय (वेदनीय) (षोडश) ८।९
कषायोदय ६।१४
काङ्क्षा ७।२३
कापिष्ठ ४।१९
कामतीव्राभिनिवेश ७।२८
काय ५।१;६।१
-क्लेश ९।१९
-प्रवीचार ४।७
-योग ९।४०
-स्वभाव ७।१२
कारित ६।८
कारुण्य ७।११
कार्मण २।३६
काल १।८;५।२२;५।२९;१०।९
-विभाग ४।१४
कालातिक्रम ७।३६
किम्पुरुष ४।११
किन्नर ४।११
किल्विषिक ४।४
कीर्ति ३।१९
कुप्य ७।२९
कुल ९।२४
कुलालचक्र १०।७
कुशील ९।४६
कूटलेखक्रिया ७।२६
कृत ६।८
कृत्स्न ५।१३
कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष १०।२
कृमि २।२३
कैवल १।१९;१।२९;८।६;८।७; १०।१
-ज्ञान १०।४
-दर्शन १०।४
केवलिन् ६।१३; ९।३८
कैशरिन् ३।१४
कोटिकोटि ८।१४
कौत्कुच्य ७।३२
क्रिया ५।२२; ६।५
क्लिश्यमान ७।११
क्रोध ८।९
-प्रत्याख्यान ७।५
क्षपक ९।४४
क्षयोपशमनिमित्त १।२२
क्षान्ति ६।१२
क्षायिक २।१
क्षिप्र १।१६
क्षीणमोह ९।४५
क्षुत् ९।९
क्षेत्र १।८;१।२५;३।१०; ७।२९;१०।९
-वृद्धि ७।३०

ग

गङ्गा ३।२०
-सिन्ध्वादि ३।२३
गण ९।२४
गति २।६;२।२६;४।२१; ८।११;१०।९
गत्युपग्रह ५।१७
गन्ध २।२०;८।११
गन्धर्व ४।११
गन्धवत् ५।२३
गर्दतोय ४।२५
गर्भ २।३१;२।३३
गर्भसम्मूर्च्छनज २।४५
गुण ५।४१
-साम्य ५।३५
-वत् ५।३८
गुणाधिक ७।११
गुप्ति ९।२;९।४
गोत्र ८।४;८।१६;८।१९;८।२५
ग्रह ४।१२
ग्रैवेयक ४।१९;४।२३;४।३२
ग्लान ९।२४

घ

घन ३।१
घ्राण २।१९

च

चक्षुष् १।१९;२।१९;८।७
चतुर्णिकाय ४।१
चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता ३।२३
चर्या ९।९
चाक्षुष ५।२८
चारित्र २।३;२।५;९।२; ९।१८;९।२३;१०।९
-मोह ६।१४;९।१५
-मोहनीय ८।९
चिन्ता १।१२

छ

छद्मस्थ ९।१०
छाया ५।२४
छेद ७।१५;९।२२
छेदोपस्थापना ९।१८

ज

जगत्स्वभाव ७।१२
जघन्यगुण ५।३४
जन्म २।३१
जम्बूद्वीप ३।७;३।९;३।३२
जयन्त ४।१९
जरायुज २।३३
जाति ८।११
जिन ९।११;९।४५
जीव १।४;२।१;२।२७; ५।३;५।१५;५।२१;६।७;८।२
जीवत्व २।७
जीवित ५।२०
जीविताशंसा ७।३७
जुगुप्सा ८।९
जोषिता ७।२२
ज्ञात (भाव) ६।६
ज्ञान १।९;२।४;२।५;९।२३; १०।९
ज्ञानावरण ६।१०;८।४;९।१३
-क्षय १०।१
ज्योतिष्क ४।५;४।१२;४।४०

त

तत्त्व १।४
तत्त्वार्थश्रद्धान १।२
तत्स्थैर्यार्थ ७।३
तथा १।३०
तथागतिपरिणाम १०।६
तदनन्तर १०।५
तदनन्तभाग १।२८
तदर्थ २।२०
तदर्द्धविष्कम्भ ३।१५
तदष्टभाग ४।४१
तदादि २।४३
तदाहृतादान ७।२७
तदुभय ८।९;९।२२
तद्भाव ५।३१;५।४२
तद्विप्रयोग ९।३०
तद्विभाजिन् ३।११
तद्द्विगुणद्विगुण ३।१८
तन्निवासिनी ३।१९
तन्मध्यग ३।२०
तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग ७।७
तपनीयमय ३।१२
तपस् ९।३;९।६;९।२२
तपस्विन् ९।२४
तमःप्रभा ३।१
तमस् ५।२४
ताप ६।११
तिगिञ्छ ३।१४
तिर्यग्योनिज ३।३०
तिर्यग्व्यतिक्रम ७।३०
तीर्थ ९।४७;१०।९
तीर्थकरत्व ६।२४;८।११
तीव्रपरिणाम ६।१४
तीव्र (भाव) ६।६
तुल्य ३।२६
-विस्तार ३।१३
तुषित ४।२५
तृणस्पर्श ९।९
तेजस् ३।१३
तैजस २।३६;२।३८;२।४८
तैर्यग्योन ६।१६; ८।१०
त्याग ९।६
त्रयस्त्रिंशत् ३।६
त्रस २।१२; २।१४; ८।११
त्रायस्त्रिंश ४।४; ४।५
त्रिपल्योपम ३।३८; ४।२८
-स्थिति ३।२९
त्रि (योग) ९।४०
त्रिवेद २।५२
त्रिंशत् ३।२
-सागरोपम ८।१४; ८।१७

द

दंशमशक ९।९
दक्षिण ३।२६
दर्शन २।४;२।५;९।२३
-मोह ६।१३; ९।१४
-मोहनीय ८।९
-मोहक्षपक ९।४५
-विशुद्धि ६।२४
दर्शनावरण ६।१०; ८।४
-क्षय १०।१
दशयोजनावगाह ३।१६
दशवर्षसहस्र ४।३६
दशविकल्प ४।३
दातृविशेष ७।३९
दान २।४;६।१२;७।३८;८।१३
दास ७।२९
दासी ७।२९
दिक्कुमार ४।१०
दिग्व्रत ७।२१
दुःख ५।२०;६।११;७।१०
दुःपक्वाहार ७।३५
देव १।२१;२।३४;२।५१; ४।१;६।१३
देवकुरवक ३।२९
देवकुरु ३।३७
देवी ३।१९
देश ७।२
देशविरत ९।३४;९।३५
देशव्रत ७।२१
देह ३।३
दैव ६।२०;८।१०

द्युति ४।२०
द्रव्य १।५;१।२६;५।२;५।३८
द्रव्याश्रय ५।४१
द्रव्येन्द्रिय २।१७
द्रव्यलक्षण ५।२९
द्रव्यविशेष ७।३९
द्विचरम ४।२६
द्वितीय ९।४२
द्वितीयादि ४।३५
द्विपल्योपमस्थिति ३।२९
द्वीन्द्र ४।६
द्वीन्द्रियादि २।१४
द्वीप ४।२८
-कुमार ४।१०
-समुद्र ३।७
द्वेष ७।८
द्व्यधिकादिगुण ५।३७

ध

धन ७।२९
धर्म ५।१;५।८;५।१३;५।१७; ६।१३;९।२;९।६
धर्मास्तिकायाभाव १०।८
धर्मोपदेश ९।२५
धर्मस्वाख्यातत्व ९।७
धर्म्य ९।२८;९।३६
धातकीखण्ड ३।३३
धान्य ७।२९
धारण १।१५
धूम्रप्रभा ३।१
धृति ३।१९
ध्यान ९।२०;९।२१;९।२७
ध्रुव १।१६
ध्रौव्य ५।३०

न

नक्षत्र ४।१२
नदी ३।२३
नपुंसक २।५०
-वेद ८।९
नय १।६;१।३३
नरक ३।२
नरकान्ता ३।२०
नव १।१९;४।३१;४।३२;८।५
नवभेद २।२
नवतिशतभाग ३।३२
नाग ४।२८
-कुमार ४।१०
नाग्न्य ९।९;९।१५
नाम १।५;६।२२;८।४;८।१६; ८।१९;८।२५
नाम (प्रत्यय) ८।२४
नारक १।२१;२।३४;२।५०; ३।३;४।३५;८।१०
नारकायुष् ६।१५
नारी ३।२०
निःशल्य ७।१८
निःशीलव्रतत्व ६।१९
निक्षेप (चतुर्भेद) ६।९
नित्य ३।३;५।४;५।३१
नित्यगति ४।१३
निदान ७।३७;९।३३
निद्रा ८।७
निद्रानिद्रा ८।७
निबन्ध १।२६
निरुपभोग २।४४
निर्गुण ५।४१
निर्ग्रन्थ ९।४६
निर्जरा १।४;८।२३;९।३;९।७; १०।२
निर्जरार्थ ९।८
निर्देश १।७
निर्माण ८।११
निर्वृति २।१७
निवर्तना (द्विभेद) ६।९
निषद्या ९।९;९।१५
निषध ३।११
निष्क्रिय ५।१९
निसर्ग १।३२
निसर्ग (त्रिभेद) ९।९
निह्नव ६।१०
नीचैर्गोत्र ६।२५
नीचैर्वृत्ति ६।२६
नीचैस् ८।१२
नील ३।११
नृलोक ४।१३
नृस्थिति ३।३८
नैगम १।३३
न्यास १।५
न्यासापहार ७।२६

प

पङ्कप्रभा ३।१
पञ्चेन्द्रिय २।१५
पद्म ३।१४
पद्मलेश्या ४।२२
पर २।३७;२।३९;४।९;६।९; ९।२९;९।३८
परघात ८।११
परतःपरतः ४।३४
परत्व ५।२२
परनिन्दा ६।२५
परविवाहकरण ७।२८
परव्यपदेश ७।३६
परस्थ ६।११
परस्परोग्रह ५।२१
परस्परोदीरितदुःख ३।४
परा २।६;४।३९;८।१४
परावर ३।३८
परिगृहीतागमन ७।२८
परिग्रह ४।२१;७।१७
-विरति ७।१
परिणाम ३।३;५।२२;५।४२
परिवेदन ६।११
परिभोग (परिभाग) ७।२१
परिसोढव्य ९।८
परिहार ९।२२
-विशुद्धि ९।१८
परीषह ९।८
-जय ९।२
परोक्ष १।११
परोपरोधाकरण ७।६
पर्यन्त ४।३
पर्ययवत् ५।३८
पर्याप्ति ८।११
पल्योपम ४।३३;४।३९
पल्योपमस्थिति ३।१९
पात्रविशेष ७।३९
पाप ६।३;८।२६
पारिणामिक २।१;५।३७
पारिषद ४।४
पिपासा ९।९
पिपीलिका २।२३
पिशाच ४।११
पीतलेश्या ४।२२
पीतान्त ४।२
पुंवेद ८।९
पुण्डरीक ३।१४
पुण्य ६।३;८।२५
पुद्गल ५।१;५।५;५।१०;५।१४, ५।१९;५।२३;८।२
पुद्गलक्षेप ७।३१
पुरस्कार ९।९
पुलाक ९।४६
पुष्कर ३।१७;३।१८
पुष्करार्द्ध ३।३४
पूर्व ४।६;६।५;९।४१
पूर्वगा ३।२१
पूर्वप्रयोग १०।६
पूर्वरतानुस्मरण (त्याग) ७।७
पूर्वविद् ९।३७
पूर्वपूर्वपरिक्षेपिन् ३।८
पूर्वापरायत ३।११
पृच्छना ९।२५
पृथक्त्व (वितर्क) ९।३७
पृथिवी २।१३
पोत २।३३
प्रकीर्णक ४।४
-तारक ४।१२
प्रकृति ८।३
प्रचला ८।७
प्रचलाप्रचला ८।७
प्रज्ञा ९।९; ९।१३
प्रतिक्रमण २।२२
प्रतिरूपकव्यवहार ७।२७
प्रतिसेवना ९।४७
प्रत्यक्ष १।१२
प्रत्यय ८।२४
प्रत्याख्यान ८।९
प्रत्येकबुद्ध १०।९
प्रत्येकशरीर ८।११
प्रथम ३।१५
प्रथमा ४।३६
प्रदीपवत् ५।१६
प्रदेश २।३८;५।८; ८।३
-विसर्प ५।१६
-संहार ५।१६
प्रदोष ६।१०
प्रभाव ४।२०
प्रमत्तयोग ७।१३
प्रमत्तसंयोग २।४९
प्रमत्तसंयत २।४१; ९।३४
प्रमाण १।६; १।१०
प्रमाणातिक्रम ७।२९
प्रमाद ८।१
प्रमोद ७।११
प्रवचनभक्ति ६।२४
प्रवचनवत्सलत्व ६।२४
प्रवीचार ४।७
प्राक् २।३८; ३।५; ३।३५; ४।२३; ९।२१
प्राण ५।१९
प्राणत ४।१९
प्राणव्यपरोपण ७।१३
प्रायश्चित्त (नव) ९।२०
प्रेष्यप्रयोग ७।३१
प्रोषधोपवास ७।२१

ब

बकुश ९।४६
बन्ध १।४; ५।२४; ५।३३; ५।३७; ७।२५; ८।२
बन्धच्छेद १०।६
बन्धन ८।११
बन्धहेतु ८।१
बन्धहेत्वभाव १०।२
बहिर् ४।१५
बहु १।१६
बहुपरिग्रह ६।१५
बहुविध १।१६
बहुश्रुतभक्ति ६।२४
ब्रह्म ४।१९
ब्रह्मचर्य ९।६
ब्रह्मोत्तर ४।१९
ब्रह्मलोकालय ४।२४
बह्वारम्भ ६।१५
बादरसाम्पराय ९।१२
बालतपस् ६।२०
बालुकाप्रभा ३।१
बाह्य (उपधि) ९।२६
बाह्यतपस् ९।१९
बुद्धि ३।१९
बोधिदुर्लभ ९।७
बोधितबुद्ध १०।९

भ

भय ८।९
भरत ३।२४;३।२७;३।३२;३।३७
भरतवर्ष ३।१०
भवन ४।३७
भवनवासिन् ४।१०
भवप्रत्यय १।२१
भव्यत्व २।७;१०।३
भाव १।५;१।८;२।१
भावना ७।३
भावेन्द्रिय २।१८
भाषा ९।५
भीरुत्वप्रत्याख्यान ७।५
भूत ४।११
भूतानुकम्पा ६।१२
भूमि ३।१;३।२८
भेद ५।२४,५।२६;५।२७; ५।२८;६।५;८।५
भैक्ष्यशुद्धि ७।६
भोग २।४;८।१३
भ्रमर २।२३

म

मणिविचित्रपार्श्व ३।१३
मति १।९,१।१२,१।२६, १।३१;८।६
-पूर्व १।२०

मध्य ३।९;३।१७
मनःपर्यय १।९;१।२३;१।२५;१।२८;८।६
मनःप्रवीचार ४।८
मनस् ५।१९
मनस् (कर्म) ६।१
मनुष्य ३।३५;४।२७
मनुष्यादि २।२३
मनोगुप्ति ७।४
मनोज्ञ ९।१४;९।३१
मनोज्ञ इन्द्रियविषय ७।८
मन्द (भाव) ६।६
मरण ५।२०
मरणाशंसा ७।३७
मल ९।९
महत् ७।२
महातमःप्रभा ३।१
महापद्म ३।१४
महापुण्डरीक ३।१४
महाशुक्र ४।१९
महाहिमवत् ३।११
महोरग ४।११
मात्सर्य ६।१०;७।३६
माध्यस्थ्य ७।११
मान ८।९
मानुष ६।१७;८।१०
मानुषोत्तर ३।३५
माया ६।१६;८।९
मारणान्तिकी ७।२२
मार्गाच्यवन ९।८
मार्गप्रभावना ६।२४
मार्दव ९।६
माहेन्द्र ४।१९
मित्रानुराग ७।३७
मिथ्यात्व ८।९
मिथ्यादर्शन २।६;८।१
मिथ्योपदेश ७।२६
मिश्र २।१;२।३२
मुक्त २।१०
मूर्च्छा ७।१७
मूल ३।१३
मेरुनाभि ३।९
मेरुप्रदक्षिणा ४।१३
मैत्री ७।११
मैथुन ७।१६
मोक्ष १।४;१०।२
-मार्ग १।१
-हेतु ९।२९
मोहक्षय १०।१
मोहनीय ८।४;९।१५
मौखर्य ७।३२
म्लेच्छ ३।३६

य

यक्ष ४।११
यथाख्यात ९।१८
यथानाम ८।२२
यदृच्छोपलब्धि १।३२
यशःकीर्ति ८।११
याचना ९।९;९।१५
योग ६।१;६।८;६।१२;८।१
योगदुष्प्रणिधान ७।३३
योगसङ्क्रान्ति ९।४४
योगवक्रता ६।२२
योगविशेष ८।२४
योजन ३।१७;३।२४
योजनशतसहस्रविष्कम्भ ३।९
योजनसहस्रायाम ३।१५
योनि ३।३२

र

रक्ता ३।२०
रक्तोदा ३।२०
रजतमय ३।१२
रति ९।९
रत्नप्रभा ३।१
रम्यकवर्ष ३।१०
रस २।२०;८।११
रसन २।१९
रसपरित्याग ९।१९
रसवत् ५।२३
रहोऽभ्याख्यान ७।२६
राक्षस ४।११
रागवर्जन ७।८
रुक्मि ३।११
रूक्षत्व ५।३३
रूपप्रवीचार ४।८
रूपानुपात ७।३१
रूपिन् १।२७;५।५
रूप्यकूला ३।२०
रोग ९।९
रोहित् ३।२०
रोहितास्या ३।२०
रौद्र ९।२८;९।३५

ल

लक्षण २।८
लक्ष्मी ३।१९
लङ्घि २।५;२।१८
लब्धिप्रत्यय २।४७
लवणोदादि ३।७
लान्तव ४।१९
लाभ २।४;८।१३
लिङ्ग २।६;१०।६
लेश्या २।६;४।२;९।४७
-विशुद्धि ४।२०
लोक ९।७
लोकपाल ४।४;४।५
लोकाकाश ५।१२
लोभ ८।९
लोभप्रत्याख्यान ७।५
लौकान्तिक ४।२४;४।४२

व

वध ६।११;७।२५;९।९
वनस्पति २।१३
वनस्पत्यन्त २।२२
वर्ज्य ४।५
वर्ण २।२०;८।११
वर्णवत् ५।२३
वर्तना ५।२२
वर्ष ३।२५
वर्षधर ३।२५
वर्षधर पर्वत ३।११
वलयाकृति ३।८
वह्नि ४।२५
वाक् ५।१९
वाक् (कर्म) ६।१
वाग्गुप्ति ७।४
वाचना ९।२५
वात ३।१
-कुमार ४।१०
वायु ३।१३
वास्तु ७।२९
विकल्प ८।९;९।४७
विक्रिया ३।३
विघ्नकरण ६।२७
विग्रहगति २।२५;२।२८
विचिकित्सा ७।२३
विजय ४।१९
विजयादि ४।२६;४।३२
वितर्क ९।४३
विदेह ३।३१;३।३७
विदेहवर्ष ३।१०
विदेहान्त ३।२५
विद्युत्कुमार ४।१०
विधान १।७
विधिविशेष ७।३९
विनय (चतुर्भेद) ९।२०
विनयसम्पन्नता ६।२४
विपरीत ६।२३;९।३१
विपर्यय १।३१;६।२६
विपाक ८।२१
-विचय ९।३६
विपुलमति १।२३
विप्रमोक्ष १०।२
विप्रयोग ९।३०
विमोचितावास ७।६
विरत ९।४५
विरुद्धराज्यातिक्रम ७।२८
विविक्तशय्यासन ९।१९
विवेक ९।२२
विशुद्ध २।४९
विशुद्धि १।२४;१।२५
विषय १।२५
-संरक्षण ९।३५
विष्कम्भ ३।३२
विसंवादन ६।२२
विहायोगति ८।११
वीचार ९।४४
वीतराग ९।१०
वीर्य २।४;८।१३
-विशेष ६।६
वृत्त ३।९
वृत्तिपरिसङ्ख्यान ९।१९
वृद्धि ३।२७
वृष्येष्टरस (त्याग) ७।७
वेदना ३।३;९।३२
वेदनीय ८।४;८।१८;९।१६
वैक्रियिक २।३६;२।४६
वैजयन्त ४।१९
वैडूर्यमय ३।१२
वैमानिक ४।१६
वैयावृत्यकरण ६।२४
वैयावृत्य (दश) ९।२०
वैराग्यार्थ ७।१२
व्यञ्जन १।१८
व्यञ्जनसंक्रान्ति ९।४४
व्यन्तर ४।५;४।११;४।३८
व्यय ५।३०
व्यवहार १।३३
व्युत्सर्ग ९।२२
व्युत्सर्ग (द्विभेद) ९।२०
व्युपरतक्रियानिवर्ति ९।३९
व्रत ७।१;७।२४
व्रतसम्पन्न ७।२१
व्रतिन् ७।१८
व्रत्यनुकम्पा ६।१२

श

शक्तितः तपस् ६।२४
शक्तितः त्याग ६।२४
शङ्का ७।२३
शतार ४।१९
शब्द १।३३;२।२०;५।२४
शब्दानुपात ७।३१
शब्दप्रवीचार ४।८
शय्या ९।९
शरीर २।३६;४।२१;५।१९;८।११
शर्कराप्रभा ३।१
शिखरिन् ३।११
शीत २।३२;९।९
शील ७।२४
शीलव्रतानतिचार ६।२४
शुक्र ४।१९
शुक्ल (ध्यान) ९।२८;९।३७
शुक्ललेश्या ४।२२
शुभ २।४९;६।३;६।२३;८।११
शुभनामा ३।७
शुभायु ८।२५
शून्यागारवास ७।६
शेष १।२२;२।३५;२।५२;३।२२;४।८;४।२२;४।२७;४।२८;८।२०;९।१६
शैक्ष्य ९।२४
शोक ६।११; ८।९
शौच ६।१२;९।६
श्रावक ९।४५
श्री ३।१९
श्रुत १।९;१।२०;१।२६;१।३१ २।२१;६।१३;८।६;९।४३;९।४७
श्रोत्र २।१९

ष

षट्समय ३।२७
षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तार ३।२४

स

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःख ३।५
संयम ९।६;९।४७
संयमासंयम २।५;६।२०
संयोग (द्विभेद) ६।९
संरम्भ ६।८
संवर १।४;९।१;९।७
संवृत्त २।३२
संवेग ६।२४
संवेगार्थ ७।१२
संसार ९।७
संसारिन् २।१०;२।१२;२।२८
संस्थान ५।२४;८।११

संस्थानविचय ९।३६
संहनन ८।११
सङ्ख्येय ५।१०
-काल ३।३१
संग्रह १।३३
सङ्घ ६।१३;९।२४
सङ्घात ५।२६;५।२८;८।११
सञ्ज्वलन ८।९
सञ्ज्ञा १।१२
सञ्ज्ञिन् २।२४
सकषाय ६।४
सकषायत्व ८।२
सचित्त २।३२
सचित्तनिक्षेप ७।३६
सचित्तसम्बन्ध ७।३५
सचित्तसम्मिश्र ७।३५
सचित्तापिधान ७।३६
सत् १।८;५।२९;५।३०
सत्कार ९।९
सत्कारपुरस्कार ९।१५
सत्य ९।६
सत्त्व ३।६; ७।११
सदसतोरविशेष १।३२
सदृश ५।३५
सद्गुणाच्छादन ६।२५
सद्वेद्य ६।१२;८।८;८।२५
सधर्माविसंवाद ७।६
समनस्क २।११; २।२४
समभिरूढ १।३३
समारम्भ ६।८
समिति ९।२; ९।५
सम्प्रयोग ९।३०
सम्मूर्च्छन २।३१; २।३५
सम्मूर्च्छिन् २।५०
सम्यक्त्व २।५;६।२१;८।९;१०।४
सम्यक्चारित्र १।१
सम्यग्ज्ञान १।१
सम्यग्दर्शन १।१;१।२
सम्यग्दृष्टि ७।२३;९।४५
सम्यग्योगनिग्रह ९।४
सरागसंयम ६।२०
सरागसंयमादि ६।१२
सरित् ३।२०
सर्वद्रव्यपर्याय १।२९
सर्वात्मप्रदेश ८।२४
सर्वार्थसिद्धि ४।१९;४।३२
सल्लेखना ७।२२
सवितर्क ९।४१
सवीचार ९।४१
ससामानिकपरिषत्क ३।१९
सहस्रार ४।१९
साकारमन्त्रभेद ७।२६
सागरोपम ३।६;४।२८;४।२९;४।४२
साधन १।७
साधु ९।२४
साधुसमाधि ६।२४
साध्य ९।४७;१०।९
सानत्कुमार ४।१९;४।३०
सामायिक ४।४;७।२१;९।१८
साम्परायिक ६।४
सारस्वत ४।२५
सिद्धत्व १०।४
सिद्धि ५।३२
सिन्धु ३।२०
स्निग्धत्व ५।३३
सीता ३।२०
सीतोदा ३।२०
सुख ४।२०;५।२०
सुखानुबन्ध ७।३७
सुपर्णकुमार ४।१०;४।२८
सुभग ८।११
सुवर्ण ७।२९
-कूला ३।२०
सुस्वर ८।११
सूक्ष्म २।३७;८।११;८।२४
-क्रियाप्रतिपाति ९।३९
-साम्पराय ९।१०;९।१८
सूर्याचन्द्रमसौ ४।१२
सेतर १।१६;२।३२;८।११
सौक्ष्म्य ५।२४
सौधर्म ४।१९;४।२९
स्कन्ध ५।२५
स्तनितकुमार ४।१०
स्तेनप्रयोग ७।२७
स्तेय ७।१५;९।३५
-विरति ७।१
स्त्यानगृद्धि ८।७
स्त्री ९।९;९।१५
-वेद ८।९
-रागकथाश्रवण(त्याग)७।७
स्थापना १।५
स्थावर १।१३;२।१२
स्थिति १।७;३।६;४।२०;४।२८;८।३;८।१४
स्थित्युपग्रह ५।१७
स्थिर ८।११
स्थौल्य ५।२४
स्नातक ९।४६
स्पर्श २।२०;८।११
स्पर्शन १।८;२।१९
स्पर्शप्रवीचार ४।८
स्मृति १।१२
स्मृतिसमन्वाहार ९।३०
स्मृत्यनुपस्थान ७।३३;७।३४
स्मृत्यन्तराधान ७।३०
स्वतत्त्व २।१
स्वभावमार्दव २।१
स्वशरीरसंस्कार (त्याग) ७।७
स्वाध्याय (पञ्च) ९।२०
स्वामित्व १।७
स्वामिन् १।२५
स्वातिसर्ग ७।३८

ह

हरिकान्ता ३।२०
हरित ३।२०
हरिवर्ष ३।१०
हारिवर्षक ३।२९
हास्य ८।९
-प्रत्याख्यान ७।५
हिंसा ७।९;७।१३;९।३५
-विरति ७।१
हिमवत् ३।११
हिरण्य ७।२९
हीनाधिकमानोन्मान ७।२७
हेममय ३।१२
हैमवत ३।२९
हैमवतवर्ष ३।१०
हैरण्यवतवर्ष ३।१०
ह्रद ३।१४;३।१५;३।१८
ह्रास ३।२७
ह्री ३।१९

अवतरण-सूची

अ

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः [मैत्रा० ६।३६] ५६४
अग्नेरुर्ध्वगमनं वायोश्च [वैशे० ५।२।१३,१७] ४६५
अजं पिष्टं कृत्वा यष्टव्यम् [ ] ५६२
अजायत् [जैने० १।३।९९] ५०८
अणिमित्तमेव कोई [ ] ५०९
अतस्तु गतिवैकृत्यं [ ] ६४९
अथेष्टं तै रसैर्भौमे- [ ] ४७९
अधिगमश्चात्र न भावान्तरम् [ ] ५६
अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा [पा० म० १।२।४७] २४,३२,१९०
अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धा [ ] १३
अनन्ता लोकधातवः [ ] ४५२
अनन्तेषु लोकधातुष्वनन्ताः [ ] १६०
अनुदिशानुत्तरविजयवैजयन्त- [षड् खं०] २४५
अनुबन्धकृतमनित्यम् [ ] १३०,५९२
अन्तादि अन्तमज्झं [ ] ४९१
अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः [पा० महा० १।४।२१] १०३
अन्यतोऽपि [ ] ६३७
अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां [ ] ६४२
अन्यस्यापि [ ] ५९२
अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं [पात०म० १।१।२२] १८७
अपादानेऽहीयरुहोः [जैने० ४।२,५०] १४७, २३५, २३६
अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति [पा०महा० २।२।३४] ३३
अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु [वैशे० ७।२।३] २०
अल्पान्तरम् [जैनेन्द्र० १।३।१००] २३६,६२०
अवध्यादिदर्शनोपेताः [ ] ६१२
अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः [पात० महा० २।२।२४] १२८
अवस्थितानि धर्मादीनि नहि [ ] ४४४
अष्टाभिः अपकर्षैः मध्यमेन [ ] २४०
अस्तित्वमुपलब्धिश्च [ ] १२२

आ

आत्मन्यात्ममनसोः संयोग- [वैशे० ९।१।११] ४४०
आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म [वैशे० ५।१।१] ४४७
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् [वैशे० सू० ३।१।१८] ४६, ५०, ५३
आद्यादित्वात् [जैने० वा० ४।२।४९] २८
आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् [जैनेन्द्र० ४।२।४९] १४७, २३५, २३६, ५८१
आनङ् द्वन्द्वे [जैनेन्द्र० ४।३।१३८] २१८
आरम्भाय प्रसृता यस्मिन् [ ] ४८३
अलिप्तं जतुना काष्ठं [ ] ४७९

इ

इति तत्त्वार्थसूत्राणां [ ] ६५०
इन्द्रियाणि पराण्याहु-[भग० गी० ३।४२] ८३
इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञान- [न्यायसू० १।१।४] ५३

उ

उच्चालदम्मि पादे [प्रवचनसा० ३।१७ क्षेत्र १] ५४०
उत्क्षेपणमवक्षेपण [वैशे० १।१।७] ५०४
उत्पत्तिश्च विनाशश्च [ ] ६४९
उपरिस्थितेर्विशेषः [ ] १६८

ऊ

ऊर्ध्वगौरवधर्माणो [ ] ६४९

ए

एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम् [ ] २४, ३६
एकमेव एकस्य ज्ञानमेकं [ ] ६२
एकादयः प्राग्विंशतेः संख्येयप्रधानाः [ ] १०३
एकार्थमेकमनस्त्वात् [ ] ६२
एगणिगोदसरीरे [पंचसं० १।८४] ६०३
एतेर्णिच्च [उणादि०] ५६८
एरण्डयन्त्रपेलासु [ ] ६४९
एवं तत्त्वपरिज्ञानात् [ ] ६४९

ओ

ओगाढगाढणिचिदो [पञ्चास्ति० गा० ६४] ४५९

औ

औदारिककाययोगः औदारिकमिश्र [षट्खं०] १५३
औदारिकशरीरस्य किञ्चिन्न्यून-[ ] १०६
औपपादिका अनपवर्त्यायुषः [ ] १६६

क

करणाधिकरणयोश्च [जैने० २।४।९९] ४, ५६७

कर्मादानहेतुक्रियाव्युपरतिश्चारित्रम् [ ] ६४
कल्पनापोढं प्रत्यक्षम् [प्रमाणसमु० १।३] ५५
कायमणोवचिगुत्तो [ ] ५८४
कारणमेव तदन्त्यम् [ ] ४९१,४९२,४९३
कार्यलिङ्गं हि कारणम् [आप्तमी० श्लो० ६८] १४७
किञ्चान्यद् यदि तद्बीजं [ ] ४७९
कुलालचक्रदोलाया-[ ] ६४९
कुशलाकुशलं कर्म [आप्तमी० श्लो० ८] ५०४
कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे [पात० महा० १।१।२२] ३१,३२
कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं [६४९
क्रियावत्त्वं द्रव्यस्यैव लक्षणम् [ ] ४६
क्षणिकाः सर्वसंस्काराः[ ] १५

ग

गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ११
गर्भसूच्यां विनष्टायां [ ] ६४९
गुण इति दव्वविधाणं [ ] ५०१
गोषु दुह्यमानासु गतः [ ] ६१५
गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः [पात० महा० ८।३।८२] ३१,३२

घ

घञर्थे कविधाणं स्थानापा-[जैने० वा० २।३।५२] ५३१

च

चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसना [ ] ६५
चर्मणि द्वीपिनं हन्ति [ ] ६१५
जनेरुसिः [उणादि०] ५६८
जले जन्तुः स्थले [जन्तु-[ ] ५१४
ज्ञानावरणीयस्योत्तरोत्तर-[ ] ६१
ज्ञानेन चापवर्गः [सां० का० ४४] ११,१४
ज्वलितिकसन्ताणः [जैने० २।१।११२] ५७

ट

टिदादिः [जैने० १।१।५३] ५२

ण

णहि तस्स तण्णिमित्तो [प्रवचनसा० ३।१७ क्षेत्र २] ५४०
णवदुत्तरसत्तसया [ ] २१९
णिचियुकिञविजृष्टुसुरजो [ ] ६३६
णिच्चिदिरधातुसत्तय [वारसअणु० ३५] १४३
णिद्धस्स णिद्धेण दुराहियेण [छक्खं० वाग० ५।६। २६] ४९९

त

ततः क्षीणचतुःकर्मा [ ] ६४९
ततोऽन्तरायज्ञानघ्न-[ ] ६४९
ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां [ ] ६५०
तत्त्वंभावेन व्याख्यानम् [वैशे० ७।२।२८] ६
तथैव यदि तद्बीज-[ ] ४७९
तदनन्तरमेवोर्ध्व-[ ] ६४९
तदस्मिन् [जैनेन्द्र० ३।२।५८] २२४
तन्वी मनोज्ञा सुरभिः [ ] ६५०
तस्य निवासः [जैने० ३।२।६०] २२४
तस्येदम् [जैनेन्द्र० ३।३।८८] २१४
तादात्म्यादुपयुक्तास्ते [ ] ६५०
तेजोरूपस्पर्शवत् [वैशे० सू० २।१।६] १३३
त्रसा नाम द्वीन्द्रियादारभ्य [षट्खं०] १२७

द

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं [ ] ६४१, ६४७
दिक्कालाकाशानां च [वैशे० द० ५।२।२१, २२] ४३९, ४४७
दुःखजन्मप्रवृत्तिमिथ्याज्ञाना- [न्यायसू० १।१।२] १२
दुगतिग चदु पंचेव [ ] ११४
दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि [जैने० ४।१।७९] २८, ५८५
दृष्टे साग्नि च जाते च [पात० महा० २।४।७] २१२
देवताद्वन्द्वे च [जैने० ४।३।१३९] २१८
द्रव्यं भव्ये [ ] ४३६
दव्यस्य कर्मणो यद्वत् [ ] ६४९
द्रुतायां तपरकरणे [पात० महा० १।१।६९] २३७
द्वन्द्वे सुः [जैने० १।३।९८] २३६, ६२०
द्वयेकयो [पा० सू० १।४।२२] १०३

ध

धर्मेण गमनमूर्ध्वम् [सांख्यका० ४४] ११

न

नित्यकर्महेतुकं निर्वाणम् [ ] १
निमित्तकारणहेतुषु [पात० महा० २।२३] ४९३
निर्वाणं द्विविधम्-सोपधि [ ] ५५
नृलोकतुल्यविष्कम्भा [ ] ६५०

प

पञ्चेन्द्रिया असज्ञिपञ्चेन्द्रिया [षट्खं०] ११
पण्णवणिज्जा भावा [सन्मति० गा० २।१६] ८७
परिणमदि जेण दव्वं [प्रवचनसा० १।८] ११६
पशुवधेन सर्वान् कामानवाप्नोति [ ] ५६२

पञ्चास्तिकायाः [ ] ५३३
पुच्छावसेण भंगा सत्तेव दु [ ] २५३
पुट्ठं सुणेदि सद्दं [ ] ६७
पुण्यकर्मविपाकाच्च [ ] ६५०
पुरुष एवेदं सर्वम् [ऋ० ८।४।१७] २१, ५६४
पुरुषाः पुरुषेष्वेव [ ] ५४४
पुरे वने वा स्वजनेऽजने वा [ ] ५२२
पूर्वार्जितं क्षपयतो [ ] ६४९
पृथिव्यापस्तेजोवायुः [तत्त्वोप० पृ० १] १२५, १४२
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं [प्रमाणसमु० १।३।४] ५३
प्रत्यक्षं तद्भगव-[ ] ६५०
प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र [युक्त्यनु० श्लो० २२] ५७
प्रयत्नायोगपद्यात् [वैशे० ३।२।३] ४७१
प्रसिद्धिवशात् अर्थाध्यवसायः [ ] ५४३

ब

बंधं पडि एयत्तं [ ] ११८
बंधं पडि एक्कत्तं [ ] ६४४
बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ [तत्त्वार्थाधि० ५।३६] ५००
बुद्धिपूर्वा क्रिया दृष्ट्वा [सन्ताना० सि० श्लो० १] २६

भ

भूतियैषां क्रिया सैव [ ] ४७४
भूवदिगृभ्यो णित्रश्चरेर्वृत्ते [उणादि० ४।१७७-७८] ४

म

मनसा मनः परिच्छिद्य [महाबंध पु० २४] ८५
मनुष्येषु मनःपर्यय आविर्भवति [ ] ८६
मरदु व जियदु व जीवो [प्रवचनसा० ३।१७] ५४०
महत्यनेकद्रव्यत्वाद् रूपाच्चो [वैशे० ४।१।६] ४६५
मृगलोहितताम्रलोलजिह्वै-[ ] ५०९
मृल्लेपसङ्ग निर्मोक्षाद् [ ] ६४९

य

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः [मनु० ५।३९] ५६३
यज्ञो हि भूत्यै सर्वस्य [ ] ५६२
यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च [ ] ६४९
यदेतद् द्रविणं नाम [ ] ५३७
युड्व्या बहुलम् [जैने० २।३।९४] ९,६०७
येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि [ ] २४४
येन मूर्तानामुपचयाश्चापचयाश्च [ ] ४८१
योगिनां गुरुनिर्देशाद् [प्रमाणसमु० १।१६] ५४

र

रागादीणमणुप्पा [ ] ५५१
रूपं चत्वारि महाभूतानि [ ] ४४४
रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी [वैशे० सू० २।१।१] १३३
रूपिद्रव्यम्, मूर्तं द्रव्यम् [ ] ४४४

ल

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः [जैने० २।२।१०४] १९०
लभादिभ्यश्च [श० च० २।३।८१] १३०
लिङ्गप्रसिद्धिः प्रामाण्यं [ ] ६५०
लोके चतुर्ष्विहार्थेषु [ ] ६५०
लोके तत्सदृशो ह्यर्थः [ ] ६५०

व

वचनविघातोऽर्थविकल्पो-[न्यायसू० १।२।१०] ३७
वज्रेन्द्राग्र इति [ ] ६२५
वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगतेः [पात० महा०- प्रत्याहा० ५] १३०
वर्षातपाभ्यां किं व्योम्न- [ ] ४५९
वाजिवारणलोहानां [गरुडपु० ११०।१५] ४२
वायुः स्पर्शवान् [वैशे० सू० २।१।४] १३३
वायोराकाशमधिकरणम् [ ] ४५४
विकलादेशो नयाधीनः [ ] २५२
विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम् [ ] ४६६
विपर्ययादिष्यते बन्धः [सां० का० ४४] ११
विपर्ययाद् बन्धः [सां० का० ४४] ३
वियोजयति चासुभिर्न [सिद्ध० द्वा० ३।१६] ५४०
विवक्षितार्थवागङ्गम् [ ] २६०
विशेषणं विशेष्येण [पा० सू० २।१।५७, जैनेन्द्र० १।३।१२] १०३,४३१
विशेषातिदिष्टाः प्रकृतं न बाधन्ते [ ] ३२
व्यक्तमनसा जीवानामर्थं [महाबन्ध] ८५
व्यवस्थातः। शास्त्रसामर्थ्याच्च [वैशे० २।२।२०,२१] ५६३
व्यवस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ [योगभा० ३।१३] ४८०
व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि [पात० महा० प्रत्याह०सू० ६] १८६,४६२

श

शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदै-[वाक्यप० २।२३५] ५७
शुभपगदीण विसोधिए [पंचसं० ४।४।४५] ५०८
शेषकर्मफलापेक्षः [ ] ६४९
श्रमक्लममदव्याधि-[ ] ६५०
श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम् [ ] ५४

ष

षड्द्रव्यसमूहो लोकः [ ] ४५५

षड् द्रव्याणि [ ] ४३६
षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं [अभिध० १।१७] ४५,५५
स
संख्याया अल्पीयस्याः [जैने० १।३।३००
वा०, पा० वा० २।२।३४] १२४, ६२०
संघो गुणसंघादो कम्माण–[भग० आरा०
गा० ७१४] ५२४
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा [ ] १४
संयोगाद् विभागात् शब्दाच्च
[वैशे० २।२।३१] ४७१
संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम् [वैशे०सू० ५।१।७] २६२
संरम्भो द्वादशधा [ ] ५१५
संसारविषयातीतं [ ] ६५०
सकलादेशः प्रमाणाधीनः [ ] २५२
सत्संप्रयोगे पुरुषेन्द्रियाणां [मी० द० १।१।४] ५४
समानस्य तदादेश्च [जैने०वा० ३।३।३५] १८६,२१२
समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दाः
[पात० महा० पस्पशा०] ११९
सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः [ ] १९
सर्वकालं जीवाष्टमध्यप्रदेशाः [ ] ४५१
सर्वथैव सतो नेमौ [ ] १२२
सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम् [पा० सू०
वा० २।२।३५] १०४
सर्वादिः सर्वनाम [जैने० १।१।३५] ५२, १२८
सल्लिङ्गविशेषाद्विशेष्य– [वैशे० सू० १।२।१७] ९६
सवितर्कविचारा हि [अभिध० १।३२] ५५
सर्व्वट्टिदीणमुक्कस्सगो [पंचसं० ४।४।९] ५०७
साधनं कृता [जैने० १।३।२०] २१२, ५५८
सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवाः [ ] २१५
सापेक्षमसमर्थं भवति [पात० महाभा० २।१।१] १३३
सासादनसम्यग्दृष्टिरिति को भावः [षट्खं०] १११
सुखो वह्निः सुखो वायु– [ ] ६५०
सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु [द्वात्रिं० १।३०] ५६३
सुषुप्तावस्थया तुल्यां [ ] ६५०
सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते [ ] ५४१
सो ढः [ ] ६०८
स्त्रियां क्तिः [जैनेन्द्र० २।३।७५; शब्दा०
च० २।३।८०] १३०, ५६६
स्नात वेदसमाप्तौ [ ] ६३६
स्मृतीच्छाद्वेषादिवत् पूर्वा– [ ] ५६
स्यादधस्तिर्यगूर्ध्वं च [ ] ६४९
स्याच्चेद् बीजं परिणतं [ ] ४७८
स्यादेतदशरीरस्य [ ] ६५०
स्वयमेवात्मनात्मानं [ ] ५४१
स्वयम्भूरमणसमुद्रान्ताद्वलम्बित [ ] १६१
स्वप्रतिष्ठमाकाशम्, आकाशप्रतिष्ठं [ ] ४३५
ह
हतं ज्ञानं क्रियाहीनं [ ] १४
हलः [जैनेन्द्र० २।३।१०३] १४०, ५६६
हृतः [जैनेन्द्र० ३।१।६१] २१२, ४३४
नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकारे तथा ह्यर्थगतिः
[पात० महा० ३।१।१२] ४३२

ग्रन्था ग्रन्थकाराश्च

	पृ०	पं०
अकलङ्क ब्रह्म	९९	३२
अनन्तवीर्ययति	१५४	१२
अनुत्तरौपपादिकदशा	७२	२८
	७३	१८
अन्तकृद्दशा	७२	२७
	७३	१५
अर्हत्प्रवचन	५०१	१,५
आर्ष	१११	२३
	११४	१
	१२७	२२
	४३५	३२
उत्तराध्ययन	७८	८
ऋगादि	९०	२१
गौतम	२४२	६
जीवस्थान	७९	२८
	१५३	२५
	१५४	२
	४४२	२१
	६०३	२३
	६०४	२२
तत्त्वार्थवार्तिक	१	२
तत्त्वार्थवार्तिक-व्याख्यानालङ्कार	९९	३१
तत्त्वार्थसूत्र	६५०	१५
प्रश्नव्याकरण	७२	२८
	२४	१
भारतादि	२२	२७
भाष्य	४३६	८
	६५०	१५
योगभङ्ग	१५३	२५
योनिप्राभृत	५३३	१०
लघुहव्वनृपतिवरतनय	९९	३२
विपाकसूत्र	७२	२८
	७४	१
वृत्ति	८०	२
	४४४	४,५
वृत्तिकार	४४४	७
व्याख्याप्रज्ञप्ति	७२	२७
	७३	१०
व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डक	१५३	२८
	१५४	४
	२४५	५
श्रीदत्त	५७	१६
सत्प्ररूपणा	१२७	६
सदादिप्ररूपणा	७९	२९
सिद्धसेन	५७	१७
सूत्रकृत्	७२	२७
	७३	१

भौगोलिकशब्द-सूची

	पृ०	पं०
अ		
अङ्क	१९७	१५
	१९९	११,१५
	२००	७
	२२५	१६
अङ्कप्रभ	१९९	११,१५
अङ्कावती	१७७	९
अञ्जन	१७७	६
	१९९	२९
	२००	७
	२२७	२९
अञ्जनक	१९७	१४
अञ्जनकूट	१७८	६
अञ्जनगिरि	१९८	७
	१९९	२७
अञ्जनमूल	१९७	१५
अञ्जनमूलक	१९९	२९
अतिरक्तकम्बल-शिला	१८०	१७
अनिन्दिता	१७९	२४
अन्तरद्वीप	२०४	१५,२६
अन्तरद्वीपज	२०४	१४
अपरविदेह	१७३	६
	१७५	१९
	१७७	१५
	१८३	१८
अपराजित	१७०	३०
अपराजिता	१७७	९,२८
अयोध्या	१७७	२८
	१८१	२६
अरजा	१७७	२०
अरिष्ट	१९९	२९
अरिष्टपुरी	१७६	१६
अरिष्टा	१७६	१६
अवतंसकूट	१७८	६,११
अवध्या	१७७	२८
अशोका	१७७	२०
अश्मगर्भ	१९७	१४
	१९८	१६,१७
अश्वपुरी	१७७	२०
आ		
आदर्शकूट	१८३	२५
आनन्दकूट	१७३	२५
आनन्दा	११८	२०,२१
इ		
इक्षुवर	१६९	३१
इक्षूद	१६९	३१
इला	१८२	२४
इष्वाकारगिरि	१९५	२५
उ		
उज्ज्वलकूट	१७५	१४
उत्तरकुरु	१६९	१६
	१७३	६
	१७५	५
उत्तरभरत-विजयार्ध	१७१	३०
उत्तरश्रेणि	१७२	३
उत्तरार्धभरतकूट	१७२	११
उत्पलगुल्मा	१७९	२५
उत्पला	१७९	२५
उत्पलोज्ज्वला	१७९	२५
उदक्कुरु	१७३	२४,३१
	१७४	२
उन्मग्नजला	१७१	३२
उन्मत्तजला	१७७	७
ऊ		
ऊर्मिमालिनी	१७७	२५
ए		
एकशिल	१७५	३२
	१७६	८
ऐ		
ऐरावत	१८१	२६,२७
	१८४	५
	१९५	१३
औ		
औत्तरकुरुवक	१९२	२७
क		
कच्छ	१७३	२८,३१
	१७६	१५
कच्छविजय	१७६	५
कच्छविषय	१७६	१८
कच्छकावत्	१७६	१६
कच्छावत्	१७६	६
कज्जलप्रभा	१७९	२६
कज्जला	१७९	२६
कनक	१७५	१४
	१९७	१५
कनकप्रभ	१७९	१०,१३
	१९९	१०,१४
कर्मभूमिज	२०४	१४,२६
कलम्बुक	१९३	१६
काञ्चनकूट	१७५	१४
	१८३	३२
	१८४	५
	१९९	२८
	२००	७
	२२५	१६
काञ्चनाद्रि	१७५	१
	१९५	२२
कालोद	१६९	३०
	१९४	१८,१९
		२०
	२०४	२६
	२२०	२६
किम्पुरुष	१६०	२३
कीर्तिमती	२००	२
कुण्डल	२००	७
कुण्डलनग	१९९	८,१८

	पृ०	पं०
कुण्डलवरद्वीप	१९९	७
कुण्डलवरोद	१९९	२१
कुण्डला	१७७	९
कुमुद	१७७	१९
कुमुदकूट	१७८	६,१०
	२००	४
कुमुदप्रभा	१७९	२८
कुमुदा	१७९	२८
कुरुक्षेत्र	२३	२८
कुलपर्वत	१७१	३
केसरिह्रद	१८६	१२
क्षीरवर	१६९	३०
क्षीरोद	१६९	३१
	१९४	१७
क्षीरोदा	१७७	१८
क्षुद्रहिमवत्	१७२	१९
	१८३	१८
क्षुद्रहिमवान्	१८२	८
क्षेमपुरी	१७६	१६
क्षेमा	१७६	१६,३२

ख

खड्गपुरी	१७७	२८
खड्गा	१७६	१६
खण्डकप्रपातकूट	१७२	११
खण्डकप्रपात-गुहामुख	१८७	२८
खण्डप्रपात	१७१	२८

ग

गगनवल्लभ	१७२	३
गङ्गा	१७१	३०
	१७६	२८
	१७७	२९
	१८४	२४
	१८७	२१
गङ्गाकुण्ड	१७६	२५
गङ्गाकूट	१८७	२३
गन्धमादन	१७३	१७,२४
गन्धमालि	१७३	१७,२५
गन्धर्वगुहा	१७९	१४
गन्धवान्	१८१	१५
गन्धमालि	१७७	२७
गन्धिल	१७७	२७
गम्भीरमालिनी	१७७	२६
गौतमद्वीप	१९४	८
ग्राहावती	१७५	३२

घ

घृतवर	१६९	३१
घृतोद	१६९	३१
	१९४	१८

च

चक्रपुरी	१७७	२८
चन्द्रगुहा	१७९	१५
चारणगुहा	१७९	१५
चित्रकूट	१७५	२७,३२
चित्रप्रभा	२२५	१७
चित्रवज्र	१७९	२०

ज

जम्बूद्वीप	१६९	३०
	२२०	२०
जम्बूवृक्ष	१७४	७,१९
जयन्त	१७०	३०
जयन्ती	१७७	२७

त

तपनीय	१९७	१५
	२२५	१६
तप्तजला	१७७	७
तमिस्र	१७१	२८
तमिस्रगुहाकूट	१७२	११
तमिस्रगुहामुख	१८७	३२
तिगिञ्छह्रद	१८५	२४
	१८६	९
तोयन्धरा	१७९	२४
त्रिकूट	१७७	६

द

दक्षिणश्रेणि	१७२	२
दक्षिणार्धभरत-कूट	१७२	१०
देवकुरु	१७३	६
	१७५	१४,१९, २२,२८
	१९२	२२
देवारण्य	१७७	१,२२
दैवकुरवक	१९२	१९,२७

ध

धातकीखण्ड	१६९	३०
धातकीषण्ड	१९४	२९
	१९५	२८
	१९६	४,१६
	२२०	२४

न

नन्दन	१७८	३
	१७९	९
नन्दनवन	१७९	९,३२
	१८०	१
	१९५	३०
नन्दवती	१९८	१०,१३
नन्दा	१९८	१०,१२
नन्दिघोषा	१९८	१०,१३
नन्दीश्वर	१९८	४
नन्दीश्वरवर	१६९	३१
नन्दीश्वरोद	१६९	३१
नन्दोत्तरा	१९८	१०,३१
नन्द्यावर्त	१९९	२५
	२२५	१७
नरकान्ता	१८३	२५
	१८९	११
नलिन	१७६	७
	१७७	१९
	२००	४
नलिनकूट	१७५	३२
नलिना	१७९	२५
नलिनावर्त	१७६	७
नाग	१७७	२५
नारी	१८३	३१
	१८९	१४
निमग्नजला	१७१	३२
निषध	१७५	२८
	१७९	२०
नील	१७४	३१,३३
	१८१	१२
	१८३	२३,२५
	१८४	१२
नीलकूट	१७८	६
नीलाद्रि	१७३	१९

प

पङ्कावती	१७५	३३
पद्म	१७६	६
	१७७	१९
पद्मकूट	१७५	३२
	१९९	१४
	२००	४
पद्मगुल्मा	१७९	२८
पद्मवत्	१७७	१९
पद्मवरवेदिका	१८३	२३
पद्मह्रद	१८५	२३
पद्मा	१७८	२८
पद्मावती	१७७	१०
पद्मोत्तरकूट	१७७	६,८
पलाशकूट	१७८	६,१०
पाटलिपुत्र	१	१८
	२४८	१८
	५७२	२४
	६२४	४
पाण्डुक	१७८	३
पाण्डुकम्बलशिला	१८०	१७
पाण्डुकवन	१८०	१६
	१९६	२
पाण्डुकशिला	१८०	१५
पाताल	१९३	१५
पुण्डरीक	१८६	१४
पुण्डरीकिणी	१९८	१९
	२००	९
पुष्करमाला	१७९	२४
पुष्करवर	१६९	३०
पुष्करवरोद	२२२	३१
पुष्करार्ध	१९७	७
	२००	२९
पुष्करोद	१५९	३०
	१९३	१८
पुष्कल	१७६	८
पुष्कलावत्	१७६	८
पुष्कलावर्त	१७६	१६
पूर्वविदेह	१७३	६
	१७५	१४,३०
	१८३	१८,२४
पूर्णभद्रकूट	१७२	११
	१७३	३१
प्रभञ्जन	१९७	२३
प्रभाकरी	१७७	९
प्रभास	१७७	१३
प्रवाल	१९७	१५

फ

फेनमालिनी	१७७	२६

ब

बडवामुख	१९३	१६
बाह्यभरत	१९६	२५
ब्रह्मोत्तर	२४७	६

भ

भद्रसालवन	१७८	३,१८
	१८०	३०
भरत	१७१	८,११, १२
	१८२	८,२२, २४
	१९६	४७
	२०५	५
भरतविष्कम्भ	१९५	१८
भरताभ्यन्तर-विष्कम्भ	१९६	२०
भृङ्गनिभा	१७९	२६
भृङ्गा	१७९	२६
भोगमालिनी	१७३	३२

म

मङ्गलावान्	१७५	११,१४
मङ्गलावती	१७७	८
मणिकूट	१८४	३२
	१८४	५
मणिप्रभ	१९१	११
	२००	१४
मत्तजला	१७७	७
मथुरा	२४८	१८
	५७२	२४
	६२८	३
मध्यभरत	१९६	२३
मन्दिर	१७९	१९
	१९९	३३
मन्दरचूलिका	८०	७
	२२५	१७
महाकच्छ	१७६	६,१५
महापद्मह्रद	१८५	२३
	१८६	६
महापाताल	१९३	१२
महापुण्डरीकह्रद	१८६	१३
महापुरी	१७७	२०
महावत्सा	१७७	८
महावप्र	१७७	२७
महाहिमवत्	१७२	१९
महाहिमवान्	१८३	५
	१८४	११
महेन्द्रकूट	१९९	१२
मागध	१७७	१३
माणिकभद्रकूट	१७२	११
माल्यवान्	१७३	२८,३१
	१८१	२३
मेघङ्करी	१७९	२३
मेघमालिनी	१७९	२४
मेघवती	१७९	२३
मेरु	१७३	१६
	१७७	३२
	१८१	६
	१९५	२८

य

यमकाद्रि	१७४	२६

	पृ०	पं०
र		
रक्तकम्बलशिला	१८८	१७
रक्ता	१७७	१०,२१
	१८९	२५
रक्तावती	१८४	५
रक्तोदा	१७७	१०,२१
	१८९	२८
रजत	१७९	२०
	१९७	१५
रजताद्रि	१७१	१६
रत्नसञ्चयावती	१७७	१०
रथनूपुरचक्रवाल	१७२	२
रमणीय	१७७	८
रम्य	१७८	८
रम्यक	१७७	८
	१८१	१२
	१८३	२३,३१
	१९५	१४
रम्यक	१९२	२६
रुक्मि	१८१	१२,२१
	१८३	२८
	१८४	१२
रुचक	१७९	२०
	१८३	१८
	१९७	१४
	१९९	३३
रुचकवरद्वीप	१९९	२२
रुचकवरनग	१९९	२३
रुचकोत्तम	२००	१४
रुचकोत्तर	१९९	३३
रुचिर	२००	८
रूप्यकूल	१८३	३२
रूप्यकूला	१८९	१८
रोचनकूट	१७८	७,११
रोहित्	१८३	५
	१८८	१८
रोहितास्या	१८२	२४
	१८८	७,१४
ल		
लवणोद	१६९	३०
	१९३	१७,१८,
		१९
	१९४	११,१६
	२२०	२२
लवणोदधि	१८७	३०
लाङ्गलावर्त	१७६	७,१५
व		
वक्षारगिरि	१७५	१२
वक्षारपर्वत	१७३	१७
	१७७	११
वज्रकूट	१९७	१५
	१९९	१०
वप्र	१७७	२७
वप्रावत्	१७७	२७
वत्समित्र	१७५	१६
वत्सवत्	१७७	८
वत्सा	१७७	८
वल्गु	१७७	२७
वारुणीवर	१६९	३०
वारुणोद	१६९	३०
वारुण्युद	१९४	१७
विकृतावत्	१७७	१७
विचित्रकूट	१७५	२७
विचित्रा	१७९	२४
विजय	१७०	३०
	१७३	१७,२८
विजयपुरी	१७७	२०
विजया	१७७	१८
	१९८	१५
विजयार्ध	१७१	१५
	१७७	११,२९
	१८१	३०
विजयार्धकूट	१७२	११
विदेह	१७२	३२
	१७३	१,३
	१८३	२३
	१९१	७
	१९५	१३
विद्याधरनगर	१७२	२,३
विनीता	१७१	७
विभङ्गनदी	१७५	३३
विरजा	१७७	२०
वीतशोका	१७७	२०
वृत्तवेदाढ्य	१८१	१७,२३
वैजयन्त	१७०	३०
	२३४	३९
वैजयन्ती	१७७	२८
	१९८	१६
वैडूर्यकूट	१८३	५
वैलम्ब	१९७	२३,२५
वैश्रवण	१७७	६
	१८२	२२
	२२६	२२
	२२७	२३
वैश्रवणकूट	१८२	१२
व्यन्तरश्रेणी	१७२	५
श		
शङ्ख	१७७	१९
शङ्खवरद्वीप	१९९	२१
शङ्खवरोद	१९९	२२
शब्दवान् वृत्त-वेदाढ्य	१७२	३१
शब्दावत्	१७७	१७
शिखण्डिवत्	१८४	२
शिखरिन्	१८१	२१
	१८४	४,१३
शुभा	१७७	१०
श्रीकान्ता	१७९	२७
श्रीचन्द्रा	१७९	२७
श्रीनिलया	१७९	२७
श्रीमहिता	१७९	१७
स		
सरित्	१७७	१९
सागर	१७३	३१
सिंहपुरी	१७७	२०
सिन्धु	१७१	३०
	१७७	२९
	१८२	२४
सिन्धुकुण्ड	१७६	३०
सिन्धुमहानदी	१७६	३१
सिन्धू	१८७	३१
सिन्धूकुण्ड	१८७	३२
सीता	१७३	३१
	१८३	२५
	१८९	८
सीतामहानदी	१४४	२५
सीतोदा	१७५	१९,२२
	१७७	१८,३१
	१८३	१८,२५
	१८८	३२
सुकच्छविजय	१७६	५
सुदर्शन	२००	८
सुदर्शना	१९८	२०,२२
सुपद्म	१७७	१९
सुप्रभ	१९९	११
सुभागा	१७३	३२
सुमेघा	१७९	२३
सुवप्र	१७७	२७
सुवर्णकूला	१८९	२१
सुवत्सु	१७७	२७
सुवत्सा	१७५	१५
	१७७	८
सुसीमा	१७७	९
सेतुबन्ध	१८४	३
सौमनस	१७५	११,१४
	१७८	३
	१८०	२
	१९६	१
	१६९	९
स्वयम्भूरमण	१९४	१४
स्वयम्भूरमणद्वीप	१७०	१
स्वयम्भूरमणोद	१९४	१८,१९,
		२१
ह		
हरि	१७५	१९
हरिकान्ता	१८३	५
	१८८	१९
हरित	१८८	२७
हरिमहाकूट	१७३	३१
हरिवर्ष	१८२	२१
	१८३	६
	१९१	६
	१९२	२१
	१९५	१२
हिमवत्	१८२	२४
	१८४	११
	१९९	१२
हैमवत	१७९	२०
	१८२	८,२२,
		२४
	१८३	५
	१९१	३
	१९५	१२
हैरण्यवत	१८१	१९
	१८३	३०,३२
	१८४	४
	१९२	२६
	१९५	१४
ह्रदावती	१७५	३३

तत्त्वार्थवार्तिकगता विशिष्टाः शब्दाः

	पृ०	पं०
अ		
अकामनिर्जरा	५२२	२६,२८
अकालाध्ययन	५१९	११
अक्रियावाद	५६२	१
अक्षभ्रक्षण	५९७	२७
अक्षरश्रुत	७८	१७
अक्षरश्रुतज्ञान	१०९	१३
अक्षीणमहानस	२०४	१९
अक्षीणमहानस-लब्धिप्राप्त	२०४	११
अखड	१६२	१७
अगम्यावबोधवत्	१६	२३
अग्नि	२१७	८
अग्निकुमार	२१७	६
अग्निजलवत्	६०	२२
अग्निमाणव	२१४	६
अग्निवत्	४	२६
	५	३
अग्निशिख	२१४	६
	२१७	७
अग्निहोत्र	५६४	४
अग्न्याभ	२४३	१४
अग्रायण	७४	११
	७५	१
अघातिका	५८४	२८,३२
अङ्ग	२०२	१४
	५७६	१८
अङ्गप्रविष्ट	८२	२४,२६
अङ्गबाह्य	७८	३
अङ्गारक	२१९	६
अङ्गारकविमान	२१९	२८
अङ्गुल	२०७	३३
अचित्तयोनिक	१४३	१
अच्युत	२२४	२०
	२३३	१५
	२४७	६
अजीव	२५	३३
	२६	२४
	३९	६
अजीवपदार्थ	४३१	४
अजीवविषय	४८७	३३
अजीवशरण	६००	१६,१७
अज्ञान	१०९	८
अञ्जुका	२२५	२८
अटट	२०९	६
अटटाङ्ग	२०९	६
अणिमा	२०२	३४
अणु	४९१	१०,१२
अणुचटन	४८९	६
अण्ड	१४३	३२
अतिकाय	२१४	१०
	२१७	३१
अतिथि	५४८	१७
अतिदुःषमा	१९२	७
अतिबाला	५५४	३५
अद्धा	४३३	२२
अद्धापल्य	२०८	७,२०
अद्धासागरोपम	२०८	२०
अधःप्रापित-पङ्कवत्	१००	१०
अधर्म	४३३	३१
अधर्मास्तिकाय-देशबन्ध	४८७	२२
अधर्मास्तिकाय-प्रदेशबन्ध	४८७	२३
अधर्मास्तिकाय-बन्ध	४८७	२२
अधिकरण	३८	३
	५१३	२२
अधिगतचारित्रार्य	२०१	८,१०
अधिगमसम्यग्दर्शन	२३	३१
अधोगौरवधर्मा	६४९	२९
अनक्षरश्रुत	७८	१७
अनधिगतचारित्रार्य	२०१	८,११
अनन्तभेद	६१८	९
अनन्तरगति	६४६	२९
अनन्तवीर्य	१०६	९
अनन्तानन्त	२०६	३२
अनन्तोपभोग	१०६	६
अनलकायिक	२४२	१९
अनवधृतकाल	६१८	२०
अनवस्था	२६१	२१
अनाकाङ्क्षक्रिया	५१०	९
अनाकार	१२३	१९
अनागतानुत्पत्ति	१२	१
अनात्मभूत	११८	१४
	१९९	११,१२
अनादरार्थश्रवण	५१९	११
अनादि	४८७	२१
	५०३	१०
	६०१	२
अनादिनिधन	६०१	१
अनादिबन्ध	४८८	१५
अनादिमिथ्यादृष्टि	४८८	२३
अनादिसन्ततिबन्धनबद्धत्व	११२	२७
अनाभोगक्रिया	५१०	३
अनाभोगनिक्षेपाधिकरण	५१६	३३
अनावृतनाम	१७४	९
अनित्यलक्षण	४८८	३५
अनित्यनिगोद	१४३	२१
अनिधन	६०१	३
अनिन्द्रिय	५९	१९
	१२९	१९
अनिन्द्रियप्रत्यक्ष	५४	१३
अनिमिषव्रज्यावत्	४६२	२८
अनियत	४८०	१०
अनिवृत्तकरण	५८८	३२
अनिवृत्तबादरसाम्पराय	५९०	१४
अनिस्सृतग्रहण	६३	१८
अनीक	२१३	६
अनुकम्पा	२२	९
अनुक्त	६३	२०
अनुत्तरविमान	२३४	२८
अनुदरा कन्या	५९	२२
	१६१	८
अनुदरावत्	५९	१९
अनुदिश	२२४	३२
	२२५	२
अनुपदेश	२५	३
अनुपस्थापन	६२२	७
अनुपात	५२	२४
अनुभागखण्डन	५८९	९
अनुस्मरण	५५	१९
अनृद्धिप्राप्तार्य	२००	२८
अनेकवाग्विज्ञानविषयत्व	२५०	२२
अनेकशक्तिप्रचितत्व	२५१	१
अनेकान्त	७	२१
	२५	१८
	२६	७
	३०	२९
	३२	३
	५०	३१
	६६	९
	७१	११
	८३	२६
	११७	८
	१३२	१६
	४५२	१
	४५३	१९
	४५९	४
	४६४	८
	४६६	३३
	४७१	६
	४७२	१७
	४९२	२६
	४९६	१५
	५०५	२२
	५०९	९
	५१०	१६
	५६०	१९
अन्त(अनेकार्थ)	१३४	२९
अन्तर	२४१	२३
अन्तर(अनेकार्थ)	४२	५
अन्तरतः	१५५	१
अन्तराय	५१९	१३
	५६७	५
अन्तरिक्ष	२०२	११
अन्तर्धान	२०३	६
अन्त्य	४८८	३१
अन्त्यवासिन्	२१३	१५
अन्ध	१६२	१८
अन्धप्रदीपसंयोगवत्	५०	१७
अन्नं वै प्राणाः	५३७	२२
	५४५	१२
अन्नप्राणवत्	१५२	२३
अन्यत्व	११२	१
अन्यसाधुपरिप्रश्न	६२१	८
अपकृष्ट्या-चार्यमूल	६२२	६
अपध्यान	५४९	७
अपराजित	२३४	३०
अपराजिता	१९८	१६
	१९९	३०
	२००	१८
अपरिस्पन्द	५१२	१६
अपवर्त	१५७	२१
अपहृतसंयम	५९६	३१
अपान	४७३	२२
अपाय	६१	९
अपुरुषकृतित्व	७२	२
अपुण्य	५१८	९
अपूर्वकरण	५८८	३२
अपूर्वकरण-परिणाम	५९०	१०
अपौरुषेय	५४	१०
अप्रणतिवाक्	७५	१७
अप्रतिपाती	८२	४
अप्रतिरूप	२१४	१२
	२१७	३२
अप्रतीघात	२०३	५
अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण	५१६	३२
अप्रमत्तसंयत	५९०	६
अप्रवृत्तकरण	५८८	३०
अप्रशस्त	६२७	३३
अप्रशस्तविहायोगति	५७८	१३
अप्राप्यकारि	६७	२१
	६८	२४
अप्राप्यकारित्व	६७	१२
अबद्धप्रलाप	५१९	१२
अबुद्धिपूर्व	६०३	१
अब्बहुल	१६०	२२
अभक्षवत्	६६	२९
	८१	१३
अब्रह्म	५४३	१७
अभय	७३	१८
अभयदान	१०५	२८
अभव्य	१११	७
	५७१	१९
अभाव	७८	२३
अभावविलक्षणत्व	२५०	१३
अभावसामान्य	२५८	२९
अभाषात्मक	४८५	२७
अभिघातगति	४९०	१०
अभिजित्	२१९	११

	पृ०	पं०
अभिनवशराव-वत्	६७	३
अभिन्नाक्षरदश	६३८	१
अभिहितानवबोध	३०	२६
अभेदवृत्ति	२५३	१८
अभेदोपचार	२५३	१८
अभ्याख्यान	७५	१३
अभ्यासालस्य	५१९	११
अमम	२०९	६
अममाङ्ग	२०९	६
अमला	२२७	१०
अमितगति	२१४	८
	२१७	८
	२२७	१४
अमितवाहन	२१४	८
	२१७	९
अमूढदृष्टिता	५२९	१३
अमृतास्राविन्	२०४	८
अमोघ	१९७	२१
अम्बरीषभर्जन	१६६	१
अम्बष्ठपुत्र	७३	१३
अम्बाम्बरीष	१६५	१४
अयःकुम्भीपाक	१६६	१
अयःपिण्डतूल-निचयवत्	१४८	७
अयःपिण्डे तेजो-ऽनुप्रवेशवत्	१४९	६
अयत्नसाध्य	६४१	१७
अयन	२०९	३
अयस्कान्तोपल	६७	२५
अयस्थूण	७४	८
अयस्थूल	५६२	११
अयुतसिद्ध	४५५	१०
अयोगी	५९०	२४
अरणिनिर्मथनोत्पन्नशुष्कपत्रोपचीयमानेन्धननिचयसमिद्धपाकवत्	८१	१९
अरतिवाक्	७५	१५
अरिष्ट	२४२	२०
अरिष्टयशस्क	२२६	१३
अरुण	२१५	१४
अरुणदेवविहार	१७२	३२
अरूपत्व	११३	३
अर्कतूलराशिवत्	४७०	११
अर्चिप्रभ	२३४	२५
अर्चिमाली	२३४	२४
अर्चिमालिनी	२१९	१६
अर्चिरावर्त	२३४	२६
अर्चिर्मध्य	२३४	२६
अर्चिर्विमान	२३४	२४
अर्चिर्विशिष्ट	२३४	२६
अर्थ	२५७	१७
अर्थ (अनेकार्थ)	४१	१६
अर्थनय	२६१	२
अर्थवचन	६६	१
अर्थवशाद्विभक्ति-परिणामः	४५७	२९
अर्थात् प्रकरणाद्वा लोके सम्प्रत्ययो भवति	३१	३३
अर्थाधिगम्य	२५८	२८
अर्थापत्ति	५१६	८
अर्धनाराचसंहनन	५७७	१०
अर्हद्	७७	२८
अर्हदायतन	१७२	१०
	१८२	२०
अलंभूषा	२००	८
अलोमिका एलका	५७४	१०
अलोकाकाश	४३४	७
अल्पबहुत्व	२४१	२८
अल्पबहुत्वतः	१५६	३
अल्पविद्या	७६	७
अल्पसावद्यकर्मार्य	२०१	६
अवक्रान्त	१६२	१३
अवक्रान्तेन्द्रक	१६८	२
अवगाढरुचि	२०१	१९
अवगाहनगति	४९०	१०
अवग्रह	६०	२
अवधिज्ञान	४४	१६
	७८	२८
अवधृतकाल	६१६	२०
अवमान	२०५	२५
अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः	४५७	२४
अवसर्पिणी	१९१	२८
	२०८	२१
अवाय	६०	६
अविज्ञातफल-रसोपयोग	१८	१
अविपाकनिर्जरा	५८४	६
अविभक्तकर्तृक	८	१७
अविद्या	१२	१५
अशनिघोष	१९७	२०
अशुभकाययोग	५०६	३२
अशुभमनोयोग	५०६	३२
अशुभवाग्योग	५०६	३३
अशुभ श्रुति	५४९	१७
अशोकमन्दिर	२२५	२५
अश्व	२४३	१५
अश्वमुण्ड	५६२	२
अश्वलायन	७४	४
अष्टधा (बन्ध)	५६७	१७
अष्टविधविशुद्ध-लक्षण	५३४	१८
अष्टविधसंयम	५६४	३०
अष्टव्यवहार	७८	१
अष्टशुद्धि	५९७	२,८
अष्टषष्ट्युत्तरशत (मतिज्ञान)	७०	१०
अष्टविंशतिविध (मतिज्ञान)	७०	८
अष्टाङ्गायुर्वेदविद्-भिषक्	१५८	११
असंख्येय	६१८	९
असंख्येयासंख्येय	२०६	३०
असंबद्धप्रलाप	७५	१४
असंयत	१०९	१६
असंयतसम्यग्दृष्टि	५८९	२६

	पृ०	पं०
असंसार	६००	३०
असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन	५७७	११
असम्भ्रान्त	१६२	१२
असम्भ्रान्तेन्द्रक	१६७	२८
असर्वगतत्व	११२	२४
असावद्यकर्मार्य	२०१	७
असि	२०५	६
असिकर्मार्य	२०१	१
असिद्ध	१०९	१८
असिपत्रवन-प्रवेशन	१६६	३
असुर	१६०	२५
	२१६	७
अस्तिकाय	२२२	१५
	४३३	१९
अस्तिनास्तिप्रवाद	७४	११
	७५	४
अस्त्येव जीवः	२५३	२८
अस्मर्यमाणकर्तृक	७२	२
अहङ्कार	५१८	९
अहमिन्द्र	२२३	६
अहोरात्र	२०९	२
आ		
आकाश	४३४	१
आकाशकुसुम	१२१	२६
आकाशगामित्व	२०२	२७
आकृति	१७०	१४
आगम	२९	६,१६
	८५	२
	९०	१२
	११४	१४
	५८१	३२
	६१२	३३
आचार	७२	२६,२८
आचारवस्तु	६३८	२
आचार्य	५१९	१०
आजीवक	२३७	१२
आज्ञानिकवाद	५६२	८
आज्ञानिकमिथ्यादर्शन	५६४	१८
आज्ञारुचि	२०१	१३
आज्ञाविपादिकाक्रिया	५१०	८
आज्ञाव्यापादिका	५११	६
आढक	७८	२१
	२०६	३
आतपन	१६२	१६
आत्मप्रवाद	७४	१२
	७६	२
आत्मभूत	११८	१४
	११९	११,१२
आत्मरक्ष	२१३	१
आत्मरक्षित	२४३	१५
आत्मरूप	२५७	१७
आत्मवधकत्वप्रसङ्ग	५५०	३३
आत्मसिद्धि	११७	२९
	१२३	२
आत्मा	११७	१२
आत्माञ्जन	११७	६
आदर्शमुख	२०४	२३
आदि	९०	१७
आदि (अनेकार्थ)	५२	७
	१२८	२०
	१३५	२९
आदित्य	२२०	२६
	२३४	२५
आदित्यगति	४७७	२०
आदिमान्	४८७	२०
	५०३	११
आदेशवचन	१०२	१९
आधिकरणिकी	५०९	३२
आनत	२२४	१५
आनन	२४७	८
आन्यापोहिक	५५	६
आपेक्षिक	४८८	३१
आभीक्ष्ण्य	५७२	२६
आभियोग्य	२१३	१०
आभियोग्यव्यन्तरदेव	१७२	६
आभ्यन्तरपरिषद्	२२६	३
आमर्शौषधिप्राप्त	२०३	२६
आम्बष्ठि	७४	६
आम्रफलादिवत्	१५८	८
आयतस्वापिता	५१९	१३
आयुष्	५६७	४
	५७५	१२
आयुर्वेद	७७	३१
आर	१६२	१७
आरण	२२४	१८,१९
	२३२	३३
	२४७	८
आरम्भकोपदेश	५४७	१२
आरम्भक्रिया	५१०	११
आरातीयपुरुषशक्त्यपेक्षत्व	३	१८
आर्द्रचर्माश्रित-रेणुवत्	५०८	२२
आर्यसत्यवचन-विरोध	५५१	२२
आर्ष	२१५	५
	२४४	३२
	४३१	१
आर्षउपदेश	६५	२२
आर्हत आगम	१६१	२
आर्हन्त्यन्याय	१२०	६
आलपनबन्ध	४८८	१
आलस्य	५१९	११
आलेपनबन्ध	४८८	२
आलोचनदोष	६२१	१
आवलिका	२०८	३५
आशा	२००	९
आशीविष	१७७	१७
आश्वलायन	५६२	२
	४	४
आस्तिक्य	२२	१०
आस्यविष	२०४	१
आस्याविष	२०३	३१

	पृ०	पं०
आस्रव	२६	२५
आस्रवनिर्देश	३९	१७
आहार	१४०	६
	६०४	१९
आहारक	१५३	१४
आहारकसमुद्घात	७७	१८
आहारपर्याप्ति-नाम	५७९	१३
इ		
इति	६१८	१
इति (अनेकार्थ)	५७	११
इत्थंलक्षण	४८८	३४
इन्द्र	२१२	१६
इन्द्रक	१६२	११
	२२२	३०
इन्द्रगोपवत्	१६०	१
	१८२	३०
इन्द्रदत्त	५६२	११
इन्द्रवीर्य	१५४	१२
इन्द्रादिव्यपदेश-वत्	८	२३
इन्द्रिय	५९	१६
	१२९	१४
	६०३	२९
इन्द्रियपर्याप्तिनाम	५७	९,१४
इन्द्रियप्रत्यनीकत्व	५१९	१३
इरिणाटवी	६२	१७
इलादेवी	२००	५
इषुगति	१३९	५
इष्टकाग्निवत्	१५७	८
इष्टमेवाप्रतर्कितमुपस्थितम्	५७	१
ई		
ईर्यापथक्रिया	५०९	२०
ईर्यापथशुद्धि	५९७	२,१३
ईशवत्	५३	१६
ईशान	२२४	५,६
ईशित्व	२०३	४
ईश्वरैश्वर्यवत्	४६६	३०
ईहा	६०	४

	पृ०	पं०
उ		
उक्त	६४	२१
उग्रतपस्	२०३	८
उच्छ्वास	२०९	१
उज्जिहि	१६२	१४
उज्ज्वलित	१६२	१६
उत्कर	४८९	४
उत्कालिक	७८	७,८
उत्कृष्ट	५९६	३३
उत्कृष्टपरीतानन्त	२०७	१५
उत्कृष्टासंख्येयासंख्येय	२०७	१२
उत्तमस्थानिक	५९८	२६
उत्तरगुणनिवर्तनाधिकरण	५१६	२९
उत्तरार्धभरतदेव	१७२	१४
उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषय	९९	१८
उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्व	९९	१७
उत्पलपत्रशतव्यधनवत्	१६	२४
उत्पाद	१६८	१५
उत्पादपूर्व	७४	११,१४
उत्संज्ञासंज्ञा	२०७	२७
उत्सर्पिणी	१९१	३०
	२०८	२१
उत्सूत्रवाद	५१९	१२
उत्सेध	२०७	३३
उदकव्यतिमिश्रक्षीरव्यपदेशवत्	१०८	१३
उदधिकुमार	१६०	२४
	२१७	६
उदय	१००	१९
	६३०	२८
उदराग्निप्रशमन	५९७	२९
उदीरणोदय	६३१	१५
उद्धारपल्य	२०८	७,१५
उद्भ्रान्त	१६२	१५

	पृ०	पं०
उद्भ्रान्तेन्द्रक	१६७	२५
उन्मान	२०५	२४
	५५४	१४
उपकरणबकुश	६३८	५,७
उपकरणसंयोगाधिकरण	५१७	२
उपकार	२५७	२
उपचार	४५०	४
उपदेशरुचि	२०१	१५
उपपाद	१४०	२९
	२३७	४
उपबृंहण	५२९	१४
उपभोग	१५१	८
	५८१	४
उपभोगलब्धि	१०७	२८
उपमान	७८	१८
उपयोग	११८	११
उपशम	१००	१०
उपशमसम्यग्दृष्टिता	६३५	३५
उपशान्तकषाय	५९०	१९
उपाङ्ग	५७६	१८
उपात्त	५२	२४
उपादान	१३	१३
उपाध्याय	५१९	१०
उपासकाध्ययन	७२	२७
	७३	११
उपेक्षा	५०	८
उपेक्षासंयम	५९६	३१
उरग	२०९	३१
उलूक	७४	४
	५६२	४,५
ऊ		
ऊर्ध्वगतित्व	११३	७
ऊर्ध्वगौरवधर्मा	६४९	२९
ऋ		
ऋजुकायकृतार्थज्ञ	८४	३०
ऋजुमतिमनःपर्यय	८५	१
ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ	८४	३०

	पृ०	पं०
ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ	८४	३०
ऋजुसूत्र	९६	३०
ऋतु	२०९	३
	२२५	१५
ऋतुविमान	२२५	१८
ऋद्धिप्राप्तार्य	२००	२८
	२०१	२१
ऋद्धीश	२२५	१६
ऋषभ	२५	८
	७८	१९
ऋषिदास	७३	१८
ए		
एक	६१६	१८
एकक्षेत्र	८३	२६
एकचत्वारिंशद्विध (सान्निपातिकभाव)	११४	१४
एकत्वविक्रिया	१५२	८
एकत्ववितर्क	६३४	३४
एकादशाङ्गाध्यायिन्	५४९	३३
एकान्तमिथ्यादर्शन	५६४	१७
एकान्तरगति	६४६	२९
एकोरुक	२०४	२४
एडका	१६१	८
एरण्डयन्त्रपेला	६४९	२८
एलापुत्र	७४	८
	५६२	११
एवम्भूत	९९	५
ऐ		
ऐतिकायन	५६२	७
ऐतिह्य	७८	१९
ऐन्द्रदत्त	७४	८
ऐरावत	२२६	१२
ऐरावतनागेन्द्रकुमार	१७५	८
ऐर्यापथिक	५९८	२५
ऐशान	२२४	६
	२२७	७
	२४६	२२

	पृ०	पं०
ओ		
ओषधि	१७६	१७
औ		
औपमन्यव	७४	८
	५६२	११
औषध	५५०	१३
औषधवत्	१०	२४
क		
कंस	२०६	२
कक्खडतादि	१७	१८
कक्खडत्व	३७	२१
कङ्कडुक	५४४	१५
कटकाङ्गदकुण्डलादिविकारवत्	११८	२७
कठ	७४	६
कथामार्ग	४३८	२७
कनकचित्रा	२००	१२
कनकपाषाण	१११	१२
कनकेतरपाषाणवत्	५७१	२७
कपाट	५०६	१०
कपिल	७४	४
	५६२	२,४,५
कमल	२०९	६
कमलाङ्ग	२०९	५
करण	८	१५
कर्तृत्व	११२	३
कर्तृसमवायिनी	४५५	५
कर्म	४८८	२१
कर्म (अनेकार्थ)	५०४	११
कर्मप्रवाद	७४,७६	१२,३
कर्मबन्ध	५६१	५
कर्मभूमि	२०४	३३
कर्मसमवायिनी	४५५	५
कर्मस्थितिक	१०४	२२
कर्मेन्द्रिय	१२९	२४
कर्मोदयकृत	६०३	२७
कल्प	१९१	३३
	५६२	३३

	पृ०	पं०
कल्पना	५५	८
कल्पनापोढ	५५	१२
कल्याणनामधेय	७४	१२
	७७	३०
कवलाहार	१०६	१
कवलहारिन्	५६४	२०
कषाय	९७	१
	१०८	२८
	६०४	७
कषायकुशील	६३६	२७
कषायसमुद्घात	७७	१५
काक	९७	१०
काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः	११०	१३
काचादिवत्	५६३	८
काञ्चनक	१७५	१४
काठ	५६२	७
काणेविद्धि	७४	३
काण्ठेविद्धि	५६२	२
कानना	२००	५
कापिष्ठ	२३०	३५
	२४७	६
कामचर	२४३	१४
कामरूपित्व	२०३	६
काय	४३१	९
	४३३	४,१९
	६०३	३१
कायनिसर्गाधिकरण	५१७	३
कायबलिन्	२०३	२१
काययोग	५०५	१८
कायशुद्धि	५९७	२,६
कायस्थिति	२१०	४
कायिकीक्रिया	५०९	३१
कायोत्सर्ग	५३०	१५
कार्तिक	७३	१८
कार्पासतन्तुवत्	१५२	२६
कार्मण	१३७	६
	१५३	१९
काल	२१४	११

	पृ०	पं०
	२२२	८
	२४१	१९
	२५७	१७
कालतः	१५४	२७
कालत्रैविध्य-सिद्धि	४८२	११
काल (द्विविध)	४८१	३०
	४८२	१
कालपरमाणु	४३३	२४
कालप्रमाण	२०६	१२
काललब्धि	१०४	१९,२१ २२,२५
कालवृद्धि	८२	११
कालसंसार	६०१	६
कालिक	७८	६,७
कालिन्दी	२२५	२८
कालोल	१६२	१५
काव्यगुणदोष-क्रिया	७७	३३
किन्नर	१६०	२३
	२२७	१४
किन्नरेन्द्र	२१७	२८
किल्विषिक	२१३	१४
किष्कम्बलपाल	७३	१३
किष्कु	२०८	५
कीर्ति	१८३	२५
कीलिकासंहनन	५७७	११
कुडव	७८	२२
	२०६	३
कुण्टनयनयष्टि-प्रदीपवत्	४६३	३२
कुतीर्थप्रशंसा	५१९	१४
कुत्सा	५७४	२०
कुथुमि	७४	६
	५६२	७
कुबेर	१७९	१६
कुब्जसंस्थान	५७६	३१
	५७१	३
कुमार	२१६	२०
कुमुद	१९८	२८
	२०९	५
कुमुदाङ्ग	२०९	५
कुल्याजलवत्	४७०	१३
कुशलमूला	६०३	१,२
कुशलशब्दवत्	७०	२१
कुशूल	२०६	२१
कुशूलस्वातन्त्रवत्	८	१९
कूटशाल्मल्यारोहणावतरण	१६५	३१
कृत	९७	१०
कृतप्रणाश	१२४	२१
कृतमालदेव	१७२	१३
कृत्स्न	४८७	२४
कृदौविकायन	७४	६
कृषि	२०५	६
कृषिकर्मार्य	२०१	३
कृषीबलवत्	५९३	५
कृष्ण	९७	१०
	१५७	२७
कृष्णव्यपदेशवत्	१८३	२२
केचित् पोतजा इति पठन्ति	१४४	४
केवल	४४	२८
केवलिसमुद्घात	७७	१८
केवलिसमुद्घातकाल	५०६	१०
केवली	५९०	२१
केशाग्रकोटि	२०७	२९
कोष्ठबुद्धि	२०१	२८
कौक्कल	५६२	२
कौत्कल	७४	३
कौशिक	७४	३
	५६२	२
क्रम	२५२	२३
क्रमण	१९७	२१
क्रमाक्षेप	४८०	९
क्रियमाण	९७	१०
क्रिया	४४६	२
	४५५	४
क्रिया (द्विविधा)	४८१	११
क्रियावाद	४६२	४
क्रियाविशाल	७४	१३
	७८	१
क्रोध	५०९	३१
	५७४	२९
क्लिन्नगुडरेणुश्लेषवत्	१४६	२४
क्लेशवणिज्या	५४९	९
क्षणिकैकान्त	१५	१२
क्षय	१००	१३
क्षायिक	१०५	२९,३०
	१०६	६
क्षायिकसम्यग्दृष्टि	६३६	५
क्षायिकी	६०३	२८
क्षायोपशमिक-चारित्र	१०८	५
क्षायोपशमिक-संयमासंयम	१०८	८
क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व	१०८	३
क्षिप्रग्रहण	६३	१६
क्षीणकषाय	५९०	१९
क्षीणाक्षीणमदशक्ति-कोडवत्	१००	१६
क्षीरास्रविन्	२०४	३
क्षुद्यमानव्रीहितुषकणतन्दुलविवेकवत्	६३६	१
क्षुद्रपात	१९३	२५
क्षेत्र	७६	६
	२४१	७
क्षेत्रतः	१५४	२०
क्षेत्रप्रमाण	२०६	११
क्षेत्रवृद्धि	८३	७
क्षेत्रार्य	२००	३१
क्षेमङ्कर	२४३	१४
क्ष्वेलौषधिप्राप्त	२०३	२६
ख		
खड	१६२	१७
खण्ड	४८९	५

	पृ०	पं०
खरपृथिवीभाग	१६०	२१
खलभाग	६०२	१२
खात् पतिता नो रत्नवृष्टिः	४५	२९
	५७	१
खारी	२०६	४
खे पतत्रिगतिवत्	७९	१२
गङ्गादेवी	१७६	२६
	१८८	१
गज	२२५	९७
गणधर	५८८	४
गणधरत्व	५८०	४,५
गणनामान	२०५	२५
गण्डपाटनवत्	५२२	१
गति	१०८	२३
	२४०	१
	४५९	२२
	६०३	२७
गतिजात्यादिवत्	१७	३
गन्धदेवी	१८४	५
गन्धर्व	१६०	२३
गरिमा	२०३	२
गरुत्मान्	१७५	२५
गर्भ	१४०	२५
गल्व	१५९	१६
	२२५	२५
गव्यूत	२०८	६
गार्ग्य	७४	५
	५६२	५
गीतयशाः	२१४	१०
	२१७	३२
	२२७	१५
गीतरति	२१४	१०
गीतिरति	२१७	३१
गुण (अनेकार्थ)	४९८	१७
गुणगुणिबन्ध	५६६	१२
गुणपुरुषान्तरोपलब्धि	११	१४
गुणप्रत्यय	७८	२९
	१५४	८
गुणश्रेणि	५८९	९
गुणसंक्रम	५८९	९
गुणसन्द्राव	४३९	९
गुणसम्पत्	५९७	२०
गुणस्थान	४४२	२१
	६०३	२३
	६०५	९
गुणिदेश	२५७	१७
गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या	६०३	१३
गुरुगति	४९०	११
गुरूपासना	६२१	६
गृहीतृसिद्धि	१२२	२५
गोचार	५९७	२४
गोत्र	५६७	५
गोत्वगोपिण्डवत्	८९	२३
गोदौ ग्रामः	९८	१८
गोमूत्रिका	१३९	५
गोमेद	१५९	१६
ग्रैवेयक	२२४	२१
घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिवत्	२	११
घन	४८५	३१
घनलोक	२०८	२९
घनाङ्गुल	२०८	२६
घनवात	१६०	१७
घनोदधि	१६०	१७
	२१९	८
घाट	१६२	१४
घातिका	५८४	२८
घोरतपस्	२०३	१६
घोरपराक्रम	२०३	१६
घोरब्रह्मचारिन्	२०३	१७
घ्राण	१३१	१२
घ्राणेन्द्रियवशंगत	६०२	२७
च		
चक्र	२२७	२९
चक्रधर	७७	३०
	१४४	१४
	१६९	४
	१७१	८
	१७५	३१
	५८०	४
चक्रधरत्व	५८०	५
चक्रवर्ती	१७१	३०
चक्षुरिन्द्रिय-विधेयीकृत	६०२	२७
चक्षुर्वत्	६०	१३
चक्षुष्	१३१	१२
चणक	५४४	१५
चतुःषष्टि (गुण)	७७	३२
चतुरशीत्यधिकानि त्रीणि शतानि (मतिज्ञान)	७०	११
चतुरशीतिसहस्रसंख्या	१४३	१५
चतुर्दशजीवस्थान	५९४	७
चतुर्दशपूर्वधर	६३८	२
चतुर्दशपूर्वित्व	२०१	२४
	२०२	९
चतुर्धा (मतिज्ञान)	७०	७
चतुर्भावसंयोग	११५	१६
चतुर्विंशतिविध (मतिज्ञान)	७०	८
चतुर्विंशतिस्तव	५३०	१२
चतुर्विध (बन्ध)	५६९	१५
चतुश्चत्वारिंशत् (मतिज्ञान)	७०	१०
चतुष्पथे रत्नराशिः	६०३	१४
चतुष्प्रदेश	४९४	३
चत्वारि बीजानि	७८	१
चन्दन	१५९	१७
चन्द्र	१७७	२५
	१९९	३३
	२१९	२१
	२२०	२२
	२४९	२५

	पृ०	पं०
चन्द्रमस्	२१९	३
	२२०	२०
चन्द्रा	२२६	१
चन्द्राभ	२४३	१४
चमर	१९८	१३
	२१४	४
	२१६	२७
चातुर्मासिक	५९८	२६
चातुर्विध्य	६१६	२०
चारणत्व	२०२	२७
चारायण	५६२	७
चारित्र	९४	१३
	६१६	१७
चारित्रनिर्देश	४१	५
चारित्रमोह	५६७	४
चारित्रोपयोग	६१८	८
चित्र	१५९	१६
	१७६	५
चित्रपट	१७	२१
चित्रा	२००	२,११
चिलातपुत्र	७३	१९
चूर्ण	४८९	४
चूर्णिका	४८९	५
चूलिका	७४	१०
	१८०	१५
चैत्यवृक्ष	१७८	२९

छ

छन्दस्	५६२	३३
छन्दोविचितिक्रिया	७७	३३
छिन्न	२०२	१९
छेदगति	४९०	१०

ज

जङ्घाचारण	२०२	३०
जगच्छ्रेणी	२०८	२८
जगत्कुसुम	२०८	३
जघन्य	५९६	३४
जघन्ययुक्तानन्त	२०७	१६
जठराग्निवत्	५६५	१५
जतुकर्णि	७४	७
	५६२	१०
जनपदसत्य	७५	२८
जन्मतः	६४६	२३
जम्बूवृक्ष	१६९	२२
जयन्त	२३४	२०
जयन्ती	१९८	१६
	१९९	३०
	२००	१८
जयसेना	२२७	१०
जया	२२७	१०
जरा	१३	१७
जरायु	१४३	३०
जलकान्त	२१४	७
	२१७	८
जलचारण	२०२	२९
जलप्रभ	२१४	७
	२१७	९
जल समवेताग्नि-प्रतापप्रदीप-प्रकाशवत्	५१८	१३
जल्लौषधिप्राप्ता	२०३	२७
जहत्स्वार्था वृत्ति	७०	२१
जाति	१३	१६
जातु	२२६	२
जाङ्गलिकप्रक्रम	७७	३१
जातिसङ्कर	४४२	१७
जातिस्मरण	१०५	१०
जात्यन्धबधिररूप-शब्दवत्	६१	२३
जात्यार्य	२००	३१
जिनबिम्बदर्शन	१०५	११
जिनमहिमावेक्षण	१०५	१४
जिनमातृ	२००	१३
जिनशासनसमुद्र	५६३	१४
जिह्व	१६२	१४
जिह्वेन्द्रियविषय-लोल	६०२	२६
जीव	२५	२७
	२६	१२
	२७	१५
जीव एवास्ति	२५३	२७
जीवन	६००	१६,१७
जीवाजीवविषय	४८७	३३
जीवाधिकरणा-स्रवभेद	५१५	१६
जीवाष्टमध्यप्रदेश	४५१	१३
जैमिनि	७४	७
	५६२	७,१३
ज्ञातृधर्मकथा	७२	२७
	७३	११
ज्ञान	६०४	८
	१	२१
ज्ञाननिर्देश	४०	३१
ज्ञानप्रवाद	७४	१२
	७५	७
ज्ञानाकार	३४	३०
ज्ञानावरणीय	५६७	२
ज्ञानोपयोग	१२४	८
ज्ञायक शरीर	२९	२,१०
ज्ञेयाकार	३४	३०
ज्योतिष	५६२	३३
ज्योतिष्क	२१२	४
	२१८	८
ज्योती	१५९	१६

झ

झष	१६२	१८

त

तत	४८५	३०
तत्त्वार्थ	१९	२३
तत्पुरुष	२१७	२१
तद् गुणसंविज्ञान	१२८	२७
तद्भवमरण	५५०	२०
तद्व्यतिरिक्त	२९	८,११
तनुप्रमादाचार-निबोधन	६२१	५
तनुवात	१६०	१८
तनुवातवलय	७६	२०
तन्त्रान्तरीय	१६०	३०
तपः सर्वार्थसाधनम्	५९९	२२
तपन	१६२	१६
तदनतापि	२४२	१९
तपस्	६१९	३१
तप्त	१६२	१३,१६
तप्ततपस्	२०३	११
तप्तायःपिण्ड	६२९	२५
तप्तायोरसवान	१६५	३१
तप्तेन्द्रक	१६७	३२
तमस्	१४	२४
	१६२	१८
तान्त्रिकी	५९३	३५
तापप्रकाशवत्	१६	३
	२३	८
तार	१६२	१७
तारक	२१९	२
	२४९	३१
निर्यग्गति	४९०	१३
तिर्यग्वणिज्या	५४९	१०
तिलोत्तमादेवगणिका	६१०	१३
तीर्थकर	१८०	२३
	२००	१९
तीर्थकरत्व	१६९	४
तीर्थकरपादमूलसेविन्	६१७	१८
तीर्थोपरोध	५१९	११
तुच्य	२०९	६
	४४०	२९
तुच्याङ्ग	२०९	६
तुला	२०५	३
तृणाग्निवत्	१५७	८
तृतीय	६१६	१६
तृष्णा	१३	१२
तेजस्समुद्घात	७७	१६
तैजस	१५३	१४
तैर्यग्योन	५७५	२२
तैर्यग्योनि	५५४	३५
त्रस	१२६	२५
त्रसघात	५५०	३
त्रसरेणु	२०७	२८
त्रस्त	१६२	१३,१६
त्रस्तेन्द्रक	१६७	३४
त्रायस्त्रिंश	२१३	२०
त्रितयव्यपाय	६००	३१
त्रिप्रदेश	४९४	२
त्रिभावसंयोग	११४	३३
त्रिशिरा	११९	१३
	२००	१२
त्रीणि शतानि षट्-त्रिंशानि (मतिज्ञान)	७०	११
त्रुटिरेणु	२०७	२८

द

दक्षिणार्धभरत-देव	१७२	१३
दग्धतरुपुद्गलतद्-भावापत्ति	६०३	१५
दण्ड	२०८	५
	५०६	१०
दण्डकपाटप्रतर-लोकपूरण	६३५	७
दण्डदण्डवत्	५	१२
दण्डादिवत्	७१	१
दर्शन	६०४	१२
दर्शनक्रिया	५०९	३५
दर्शनमात्सर्य	५१९	१३
दर्शनमोह	५६७	४
दर्शनार्य	२०१	१२
दर्शनावरण	५६७	३
दर्शनोपयोग	१२४	९
दशपूर्वित्व	२०२	८
दशविधसत्यसद्-भाव	७५	२०
दह्यमानस्यापिसुगन्धमुत्सृजतश्चन्दनस्येव	६११	७
दात्रस्य करण-व्यपदेशवत्	९	९
दानलब्धि	१०७	२८
दामयष्टि	२२६	१२
दारुवह्निवत्	१५७	८
दिक्कुमार	१६०	२४
	२१७	६
दिक्कुमारी	२००	२
दिक्कुमारी भोगवती	१७३	२७
दिक्कुमारी महत्तरिका	२००	१६
दिक्स्वस्तिक	१९९	२९
दिगन्तरक्षित	२४३	१४
दिग्गजेन्द्र	१९९	२७
दिवाशयनालस्य	५१९	१४
दिश्	४४	१७
दीक्षिता	५५४	३५
दीप्ततपस्	२०३	१०
दुःषमसुषमा	१९२	४
दुःषमा	१९२	६
दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण	५१६	३२
दृष्टिगौरव	५१९	१३
दृष्टिवाद	७२	१८
दृष्टिविष	२०४	२
दृष्ट्यविष	२०३	३२
देव	१७७	२५
	२११	९
देवच्छन्द	१७८	३४
देवराज	२२५	२४
देवर्षिनिरीक्षण	१०५	१४
देवायुष	५७५	२७
देश	४८७	२४
देशघातिका	५८४	२९,३२
देशघातिस्पर्द्धक	१०६	३०
देशसत्य	७५	२९
देशावधि	७९	१
	८१	२७
द्रव	२८	२२
द्रव्य	६५	२९
	८८	२८
द्रव्यप्रमाण	२०६	१०
द्रव्यबन्ध	१२४	२५

	पृ०	पं०
द्रव्यमनस्	१२५	२०
	४४२	१०
	४७१	३
द्रव्यलिङ्ग	१०९	२
	१५७	३
	६३८	१०
द्रव्यलेश्या	१०९	२२
द्रव्यवाक्	४७०	१
द्रव्यसंवर	५८८	४
द्रव्यार्थिक	९५	३
द्रव्यास्तिक	९४	२६
द्रोण	२०६	३
	६४२	१८
द्वात्रिंशद्विध-(मतिज्ञान)	७०	९
द्वानवत्यधिकशत-(मतिज्ञान)	७०	१०
द्वासप्तति(कला)	७७	३२
द्विधा (आभिनिबोधिक)	७०	७
द्विप्रदेशस्कन्ध	४९४	१
द्विभावसंयोग	११४	१७
द्विविध	६१६	१९
द्विविध (कर्मबन्ध)	५६९	१३
द्विविध (बन्ध)	५६९	१४
द्विविधा (विक्रिया)	१५	७
द्वीपकुमार	१६०	२४
	२१७	६
द्वेधा (करण)	८	१५
द्वे शते अष्टाशीत्युत्तरे (मतिज्ञान)	७०	११

ध

	पृ०	पं०
धरण	२१४	४
	२१६	३६
धरणेन्द्र	२१७	५,११
धर्म	४३३	२९, ५६३ १४
धर्मविशेषसम्बन्ध	२५९	१७
धर्मसमुदाय	२५९	१२
धर्मसामान्यसम्बन्ध	२५९	१४
धर्मास्तिकायदेशबन्ध	४८७	२२
धर्मास्तिकायप्रदेशबन्ध	४८७	२२
धर्मास्तिकायबन्ध	४८७	२१
धर्मोपकरण	५५०	१२
धारणा	६०	८
धृति	२००	१०
ध्वनि	४८६	२२
ध्रुव	६३	२१
ध्रौव्यैकान्त	६८०	१७

न

	पृ०	पं०
नक्षत्र	२१९	४
	२४९	३०
नगरान्तर्गतवेश्मवत्	४६२	२२
नन्दन	१७९	१९
	१९७	२०
	१९९	२९
	२२५	१५
नन्दोत्तर	१९७	२०
नपुंसक	१५७	५
नमि	७३	१२
नय	९४	२१
नयुत	२०९	५
नयुताङ्ग	२०९	५
नर	१५६	११
नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य	५७७	२५
नरसिंहसिंहत्व	२६०	१४
नलिन	२०९	५
	२२५	१५
नलिनाङ्ग	२०९	५
नवकम्बल	३६	५
नवमिका	२००	६
नवैन्द्रेयक नरक	१६३	१५
नाग	२२७	२९
नाग (कुमार)	१६०	२४
नागेन्द्र	१९९	१७
	२१७	२
नागेन्द्रकुमार	१७४	३३
नाम	१३	६
	२८	१४
	५६७	५
नामकर्म	६९	२५
नामरूप	१३	७
नामसत्य	७५	२१
नारकायुष्	५७५	२०
नारद	१८	२१
नाराचसहनन	५७७	१०
नारायण	७४	६
नास्तिक्यपरिग्रह	५१९	१४
निःकाङ्क्षता	५२९	१०
निःशङ्कितत्व	५२९	९
निःसरणात्मक	१५३	१६
निःसृत	६४	२१,२३
निकाय	२११	१३
निकृतिवाक्	७५	१६
निग्रह	५९३	१३
नित्यत्व	११३	५
नित्यत्वैकान्त	१५	८
नित्यनिगोत	१४३	२१
नित्यप्रहसित	१६४	१
नित्यमरण	५५०	२०
नित्यालोक	२००	११
नित्योद्योत	२००	११
निदाघ	१६२	१६
निदान	५४५	३४
नियतकाल	६२४	३५
नियतगति	४९०	१४
नियम	१५	२
निरय	१६२	१२
निरयेन्द्रक	१६७	२०
निरस्तकिट्टधातुपाषाणजात्यकनकवल्लध्यात्मा	६३५	१५

	पृ०	पं०
निरुपधिविशेष	५५	१
निरूपण	५५	१९
निर्ग्रन्थलिङ्ग	६४६	३४
निर्ग्रन्थलिङ्गधर	२३७	१२
निर्जरा	२६	७
	२७	७
निर्जरानिर्देश	४०	१७
निर्देश	३८	२
	२३८	२६
निर्माणरजस	२४३	१४
निर्वाण	५४	२३
निर्विचिकित्सता	५२९	१२
निश्वास	२०९	१
निष्कुटक्षेत्र	१३८	१९
निष्पन्नायःपिण्डवत्	१३२	२१
निष्पन्नायस्तम्भालिङ्गन	१६५	३१
निसर्गक्रिया	५१०	६
निसर्गज	२३	२९
नीलसम्प्रत्ययवत्	५	९
नीलाञ्जना	२२६	१३
नीलोत्पल	४३१	९
नेत्रोत्पादन	५१९	१३
नैगम	९५	१२
नैसर्गिक	२३	१४
	५६१	२९
नोआगम	२९	१८
नोकर्म	४८८	२२
नोकर्मबन्ध	५६१	५
नोसंसार	६००	३०
न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान	५७६	३०
	५७७	१

प

	पृ०	पं०
पक्व	९७	३
पक्ष	२०९	३
पक्षि	२०९	३१
पङ्कबहुल	१६०	२१
पच्यमान	९७	३
पञ्चायती	६१६	८१
पञ्चभावसंयोग	११५	२४
पञ्चविध(बन्ध)	५६९	१५
पञ्चशिरा	१९९	११
पञ्चास्तिकाय	४३१	२१
पण्डितमूर्खवत्	४३९	२८
पदानुसारित्व	२०१	२८
	२०२	१
पदार्थः एकः	२४	२३
पदार्थाः त्रयः	२४	२४
पदार्थौ द्वौ	२४	२४
पद्म	२०९	२५
	२२५	१७
पद्मवत्	१७५	१९
पद्मा	२२५	२७
पद्माङ्क	२०९	५
पद्मावती	२००	५
पद्मोत्तर	१९९	१४
पन्नगेन्द्र	१९७	२४
पर (अनेकार्थ)	१४७	१९
परक्षेत्रसंसार	६०१	६
परमागम	५६२	२५
परमाणु	२०७	२६
परमार्थकाल	४८२	१
परमावगाढरुचि	२०१	२०
परमावधि	७९	१
	८१	२७
परश्वादिवत्	४	२६
परात्मा	३३	२१,२५
पराधिगमहेतु	३३	१२
परिकर्म	७४	१०
	७८	१
परिच्छिन्नोपादानसन्तत्यग्निशिखावत्	८१	२१
परिणाम	१००	२१
	२३८	३१
	५०३	९
परिमृष्टदर्पणतलरूपवत्	६२१	१७
परिव्राजक	२३७	११
परिसर्प	२०९	३१
परीतानन्त	२०६	३२
परीतासंख्येय	२०६	३०
परोक्ष	५२	२४
परोपदेशनिमित्त	५६१	३१
पर्याय	८९	५
	९५	६
पर्यायवत्त्व	११२	२२
पर्यायार्थिक	९५	४
पर्यायास्तिक	९५	२
पर्व	२०९	५
पर्वत	१८	२१
पर्वाङ्ग	२०९	५
पल	२०६	२
पलालादिदाहाभाव	९७	२६
पल्य	२०५	१७
पशुवर्ग	५६३	२४
पांशुतापि	२४२	१८
पाकज	४३९	२२
	५९८	२६
पाणिपुटाहार	५९४	३४
पाणिपुटाहारिन्	५३५	८
पाणिमुक्ता	१३९	५
पाणिरेखावत्	४६६	२५
पाण्डुर	१९९	१७
पाद	२०८	४
पानक	२६०	१६
पापोपदेश	५४९	८
पारञ्चिक	६२२	६,७
पाराशर	७४	७
	५६२	१०
पारिग्राहिकी	५१०	११
पारिणामिक	११०	१९
पारितापिकी	५०९	३२
पारिषद	२१२	२६
पाषाणेषु मणिः	६०३	१६

	पृ०	पं०
पिण्डाभ्यवहार-जीवन	५२४	१२
पिता-पुत्रादि-सम्बन्धवत्	३६	२२
पितृकायिक	२४२	१९
पिपीलिकादिवत्	६५	१४
पिशाच	१६०	२४
पिष्टक	२२५	१७
पिष्टकिण्वोदकादि-व्यवहार	११७	२०
पीठमर्द	२१२	२७
पुण्य	५१८	९
पुद्गल	४३४	१२,२३,४७४ १३
पुनर्वसू	९८	१७
पुमान्	१५७	५
पुरुष	४६	२९
पुलिन्द	२०४	२७
पुष्पक	२२७	२५
पुष्पदन्त	२२७	१५
पुष्पप्रकीर्ण	१६२	११
	२२२	३०
पूरणगलनक्रिया	४३४	१७
पूर्ण	२१४	७
	५०६	१०
पूर्णप्रति	२१७	८
पूर्णभद्र	२१७	३१
पूर्णभद्रदेव	१७२	१३
पूर्व	२०९	४
पूर्वकारण	७०	२९
पूर्वकोटि देशोना	६३५	३
पूर्वगत	७४	१०
पूर्वदोषकथन	६२१	७
पूर्वपूर्वविरुद्ध-महाविषय	९९	१७
पूर्ववदनुमान	७८	१४
पूर्वाङ्ग	२०९	४
पृथक्त्वविक्रिया	१५२	९
पृथक्त्ववितर्क	६३३	२०
पृथक्त्ववितर्क-वीचार	६३४	३०
पृथिवी	१२७	२२,२४, २५
	२००	५
पृथिवीकाय	१२७	२३,२६
पृथिवीकायिक	१२७	२३,२७
पृथिवीजीव	१२७	२३,२८
पृथुतर	१६१	११
पृषोदरादि	४३४	४
पैप्पलाद	७४	६
	५६२	७
पैशुन्य	७५	१३
पोत	१४४	१
पौण्डरीकिणी	१७६	१७
प्रकाशप्रतापवत्	९	२२
प्रकृति	४६	२९
प्रकृतिपुरुषान्तर-परिज्ञान	११	१०
प्रज्ञप्ति	१७२	४
प्रज्ञा	६१४	१९
प्रज्ञाश्रवणत्व	२०२	२४
प्रज्वलित	१६२	१६
प्रणिधानविशेष	३	२२
प्रतर	४८९	५
	५०६	१०
प्रतरलोक	२०८	२८
प्रतरांगुल	२०८	२५
प्रतापप्रकाशसाह-चर्यवत्	५१८	१२
प्रतिक्रमण	५३०	१४
	५९८	२६
प्रतिपात	८५	२०
प्रतिपाती	८२	९
प्रतिबन्ध्यप्रति-बन्धकरूप	२६१	२१
प्रतिबिम्बमात्र-ग्रहण	४८९	११
प्रतिमान	२०५	२५
प्रतिरूप	२१४	१२
प्रतिशलाका	२०६	२५
प्रतिष्ठान	१६२	२०
प्रतिष्ठापनशुद्धिपर	५९७	३२
प्रतिसेवना-कुशील	६३६	२५
प्रतीची	१९८	१६
प्रतीत्यसत्य	७५	२४
प्रतीत्यसमुत्पाद	१३	१८
	४७९	३४
प्रत्यक्ष	५३	४
प्रत्यनीकत्व	५१९	१०
प्रत्यय (अनेकार्थ)	७९	८
	१५१	२७
प्रत्यवेक्षण	५५७	२२
प्रत्याख्यान	५३०	१४
प्रत्याख्यानक्रिया	५१०	१४
प्रत्याख्यान-नामधेय	७४	१२
	७६	५
प्रत्याख्याननाम-धेयपूर्वा-परगत	६१७	१८
प्रत्याख्याना-वरणवत्	५७१	१३
प्रत्युत्पन्नविषय-ग्राहित-यार्पण	६४६	१८
प्रत्येकबुद्धता	२०२	२५
प्रथमानुयोग	७४	१०
प्रदीप	१४	२४
प्रदीपप्रकाशवत्	६४३	३०
प्रदीपवत्	६	२७
	१७	१०
	४९	१८
	१४६	२६
प्रदीपशिखावत्	६२४	३०
प्रदेश	४८७	२४
	४३२	३१
प्रदेशतः	१५५	३१
प्रदेशप्रचय	४३३	४
प्रदेशबन्ध	५८५	३१
प्रदेशवत्व	११३	१

	पृ०	पं०
प्रदेशसंहारविसर्प	४५८	२०,२१
प्रदोष	५०९	३१
प्रबन्ध (त्रिविध)	४८०	७
प्रभङ्कर	२२५	१७
प्रभङ्करा	१९८	१९,२१
प्रभङ्करी	२१९	१७
प्रभञ्जन	२१४	६
	२१७	११
प्रभा	२२७	१०
प्रभावन	५२९	१६
प्रभास	२३४	२४
प्रमत्तसंयत	५९०	१
प्रमाण	२०५	१९
प्रमाणतः	१५४	१५
प्रमाणनिर्माण	५७६	२२
प्रमाणाङ्गुल	२०८	१
प्रमाद	५६५	६
प्रमादाचरित	५४९	१४
प्रमार्जन	५५७	२४
प्रयोगक्रिया	५०९	१८
प्रयोगगति	४९०	९
प्रयोगज	४८५	२९
प्रवचन	५६२	२७
प्रवचनमातृ	६३८	३
प्रवाल	१५९	१६
प्रवीचार	२१४	१६
प्रव्रज्या	१५	२
प्रशंसा	५५२	१३
प्रशम	२२	८
प्रशस्त	६२७	३४
प्रशस्तविहा-योगति	५७८	१३
प्रसंसक्तचित्त	६०२	२३
प्रस्थ	२०६	३
प्रस्फोटित-पक्षरेणु	६०८	६
प्राकाम्य	२०२	४
प्राग्भार	६५०	१
प्राण	२०९	१
	४७३	२०
प्राणत	२२४	१७
	२४७	८
प्राणव्यपरोपण	५१९	१४
प्राणातिपात	५१९	१२
प्राणातिपातिकी	५०९	३३
	५११	५
प्राणापानपर्याप्ति-नाम	५७१	१४
प्राणावाय	७४	१३
	७७	३२
प्राणिवस्य	५६२	१३
प्रात्यायिकीक्रिया	५१०	२
	५११	४
प्रादोषिकी क्रिया	५०९	२२
	५११	२
प्राप्ति	२०३	३
प्राप्यकारि	५१	१८
	६७	२३
प्रायश्चित्त	६२०	२७
प्रायोगिक	४८७	३३
प्रायोगिकी	४८१	१२
प्रेक्षागृह	१७८	२६
	१८२	२२

फ

फल	५०	७,८

ब

बकुल	१५९	१७
बद्ध	९७	१०
बन्ध	२६	२९
	४८७	१६
बन्धनिर्देश	३९	२८
बन्धनबद्धवत्	३	७
बन्धाभावगति	४९०	९
बर्बक	१५९	१७
बलदेव	७७	३०
	१६९	४
	५८०	४
बलभद्र	२२७	२९
बला	१७५	२१
बहु	६२	१२
बहुश्रुतगर्व	५१९	११
बहुश्रुतावमान	५१९	१२
	२४६	५
	४५८	१०
बादरकृष्टिविभाग	६४०	१३
बादरायण	७४	६
	५६२	७,१३
बालतप	५२२	२९
बाहुश्रुत्यप्रचिर-ख्यापयिषा	२१	३०
	२४	१२
बाह्यपरिषद्	२२६	४
बीजबुद्धि	२०१	२८
बीजमान	२०५	२३
बीजरुचि	२०१	१६
बीजवृक्षवत्	१४९	२०
बुद्धि	१८३	३१
बुध	२१९	४
	२४९	२९
बुधविमान	२१९	२७
बृहस्पति	२१९	५
	२४९	२८
बृहस्पतिविमान	२१९	२६
ब्रह्म	२२९	१८
ब्रह्मदत्त	१५७	२६
ब्रह्मलोक	२४७	६
ब्रह्मा	२२५	१०
	६१०	१३
ब्रह्मोत्तर	२३०	४
ब्राह्म	२२४	११
ब्रीहि	१३८	२२
ब्रीहिकोष्ठागार-वत्	५६६	२४

भ

भक्तपानसंयोगाधि-करण	५१७	२
भद्रा	२००	६
भय सप्तविध	५७४	१८
भरणी	२१९	११
भरतक्षत्रिय	१७१	६

	पृ०	पं०
भव	१३	१५
	७८	२९
	७९	६
भवनतापि	२४२	१९
भवनिमित्त	६०१	६
भवनवासी	२१२	३
	२१६	३
भवप्रत्यय	२१२	३
	२०९	१५
भवस्थिति	२१०	४
भव्य	२३	२०
	१११	५
	६०४	१४
भव्यराशि	१११	९
भव्याभव्यत्व	५७१	२७
भस्मार्थचन्दन-दहनम्	६०३	२०
भानु	२२५	२८
भाव	२९	१२,१९
	२४१	२६
भावतः	१५६	२
भावप्रमाण	२०६	१३
भावबन्ध	१२४	२५
भावमनस्	१२५	२१
	४४२	९
	४७१	२
भावलिङ्ग	१०९	२
	१५७	४
	६३८	१०
भावलेश्या	१०९	२२
भाववाक्	४६९	३२
भावशुद्धि	५९९	२,४
भावसंवर	५८८	२
भावसत्य	७५	३१
भावास्तित्वैकान्त	२५५	२८
भावि	२९	८,१०
भाषात्मक	४८५	२३
भाषाद्वादशधा	७५	१२
भाषापर्याप्ति	५७९	१४
भास्करप्रकाशवत्	८१	१८
भास्करप्रभाभिभूतोद्योतखद्योतवत्	६१२	११
भास्करादिवत्	५३	२३
भिक्षा	५५०	१२
भिक्षाशुद्धि	५९७	२,१६
भिषक्	२	१३
भीम	२१४	११
	२१८	१
भीष्म	६४२	१८
भुक्त	९७	१०
भुजिवत्	१०	६
	४७	१५
	७२	२१
भुज्यमान	९७	१०
भूगृहसंवर्द्धितोत्थित	६५	१७
भूत	१६०	२४
भूतपूर्वगति	६४७	७
भूतानन्द	१९८	१९
	२१४	४
	९१७	२
भूतानुग्रहतन्त्रनयविवक्षा	६४६	१९
भूतिकर्म	७७	३१
भैषज्य	९७	१
भोक्तृत्व	११२	१३
भोग	१०६	३
	५८१	३
भोगन्धरी	१७३	२६
भोगलब्धि	१०७	२८
भौम	२०२	१३
भौमोदकरससम्बन्ध	४७९	१६
भ्रम	१६२	१८
भ्रमराहार	५९७	२९
भ्रान्त	१६२	१२
भ्रान्तेन्द्रक	१६७	२२

म

मञ्जूषा	१७६	१७
मणि	१९९	११
मणिग्रहणवत्	२३	१
मण्डूकप्लुति	८२	९
मण्डूकशिखण्डवत्	११९	२०
	१२१	५,२४
मतङ्ग	७३	१२
मति	४४	८
मत्स्यादि	२०९	३१
मत्वर्थीय	८८	८
मदिरापरिणामवत्	५५६	८
मध्यम	५९६	३३
मध्यमपरिषद्	२२६	४
मध्वास्रविन्	२०४	५
मनःपर्यय	४४	१९
	८४	६
	८८	२१
मनःपर्ययदर्शन	५१८	३३
मनःपर्याप्ति	५७९	१४
मनस्	४५	२०
	४४२	९
मनुष्यब्राह्मणवत्	३०	३१
मनुष्यायुष्	५७५	२५
मनोनिसर्गाधिकरण	५१७	४
मनोबलिन्	२०३	१९
मनोयोग	५०५	१७
मरण	१३	१७
	५५०	१७
मरीचिकुमार	७४	४
	५६२	४,५
मरुत्	२४३	१५
मलौषधिप्राप्त	२०३	२८
मषी	२०५	६
मषीकर्मार्य	२०१	२
मसार	१५९	१६
	२२५	२२
मस्तक	२२५	१७
महद्	५१८	९

	पृ०	पं०
महाकाय	२१४	१०
	२१७	३२
महाकाल	२१४	११
	२१७	३३
महाघोष	२१४	७
	२१७	९
महातपस्	२०३	१२
महानिमित्त	७६	६
	२०२	१०
महापुरुष	२१४	१९
	२१७	३२
महाप्रभ	१९९	११,१५
महाभीम	२१४	११
	२१८	२
महाभुज	१९९	१४
महारोहिणी	७६	८
महालता	२०९	७
महालताङ्ग	२०९	६
महाविद्या	७६	८
महाशलाका	२०६	२६
महाशिरा	१९९	१४
महाशुक्र	२३१	२७
	२४७	७
महाहृदय	१९९	१५
महिमा	२०३	२
महेन्द्र	२२८	२६
महेन्द्रध्वज	१७८	३२
महोरग	१६०	२३
मागधप्रमाण	२०६	५
माछपिक	७४	३
माठर	७४	५
	५६२	५
माणव	२१७	८
माणिभद्र	२१७	३२
माणिभद्रदेव	१७२	१३
माण्डलिकवायु	१३७	२९
मातली	२२६	१२
मात्राकालपरिगणन	६२७	१०
माध्यन्दिन	७४	६
	५६२	७
मान	२०५	२२
	५५४	१४
	५७४	३०
मानसप्रत्यक्ष	५५	२६
मानुष	१९७	२१
मानुषोत्तरमनःपर्यय	८५	१६
माया	५४५	३४
	५७४	३१
मायाक्रिया	५१०	१२
मायाचार	६२१	३
मायाप्रवृत्तिक्रिया	५११	५
मार	१६२	१७
मारणान्तिकसमुद्घात	७७	१५
मारुत	२२५	१६
मार्ग	१०	१७
मार्गणा	६०३	२६
मार्गणालक्षण	६०३	२३
मार्गरुचि	२०१	१४
मास	२०९	३
माहेन्द्र	२२४	९
मिथ्यात्व	५७४	४
मिथ्यात्वक्रिया	५०९	१८
मिथ्यादर्शन	१३	२४
	१०९	५
	५४५	३५
मिथ्यादर्शनक्रिया	५१०	१३
मिथ्यादर्शनवाक्	७५	१८
मिथ्यादृष्टि	५८८	१५
मिथ्यानेकान्त	३५	२७
मिथ्यैकान्त	३५	२५
मिथ्योपदेश	५१९	११
मिश्रक	६००	१६,१७
मिश्रकेशी	२००	८
मिश्रयोनि	१४३	३
मुक्त	१२४	२४
मुखमण्डप	१८२	२१
मुख्य	२२२	३
मुख्यमण्डप	१७८	२५
मुण्ड	७४	४
मुहूर्त	२०९	२
मूर्त	४७०	२८
मूर्ति	४४४	२१
मूलकाङ्क	१५९	१६
मूलकारणविप्रतिपत्ति	९३	९
मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण	५१६	२९
मेघ	२२५	१६
मेघविद्युन्मुख	२०४	२२
मोक्ष	१	८
	१०	१५
	११	२९
	२६	९
	२७	११
मोक्षनिर्देश	४०	२२
मोषवाक्	७५	१७
मोह	११	२१
मौद	७४	६
	५६२	७
मौद्गल्यायन	७४	५
	५६२	५
मौनवृत्तिकवत्	३५	१५
म्लेच्छ	२०४	३६

य

यक्ष	१६०	२३
यज्ञ	५६३	१५
यज्ञार्थ	५६३	२१
यतिजनजुगुप्सा	५१९	१४
यत्नसाध्य	६४१	१७
यम	१५	२
	७३	१३
	१७२	६
	१७९	१६
	१९८	१६
	२२६	२७
	२२७	१
यमक	१७४	२६

	पृ०	पं०
यमकायिक	२४२	१९
यवन	२०४	२७
यवमध्य	२०७	३३
यशस्कान्त	१९७	१९
यशस्वदादि	१९७	१८
यशस्वान्	१९७	१९
यशस्विनी	२००	६
यशोधर	१९७	२०
यशोधरा	२००	१
यशोभद्र	२००	४
यष्टिवत्	१५९	१५
याम्यधर्मशास्त्र	४३४	३२
यावज्जीव	६२४	३५
युक्तानन्त	२०६	३२
युक्तासंख्येय	२०६	३०
यूक	२०७	३२
यूपकेसर	१९३	१६
योग	१३७	८
	६०३	३३
योगजधर्मानुग्रह	५५	३
योजन	२०८	६
यौगपद्य	२५२	२५

र

रजत	१७३	३१
	११९	१०
	२००	१४
रजतप्रभ	१९९	११,१४
रज्जुराशिविधि	७६	६
रज्जुविधि	७७	११
रतिवाक्	७५	१४
रत्न	१५९	१७
	१९७	२३
रत्नप्रभा	२१६	२६
	२४८	२६
रत्नवणिजो मणि-दर्शनमिव	६११	१५
रत्नाकरवत्	५६३	३
रथरेणु	२०७	२९
रसदेवी	१८४	५
रसन	१३१	११
रसभाग	६०२	१३
रसमान	२०५	२३
रसाञ्जन	१५९	१६
रसायनवत्	१४	५
	२२	२१
राक्षस	६०	२५
राजकुले सर्वगत चैत्रवत्	५४९	२७
रात्रिन्दिवीय	५९८	२५
रात्रिभोजनविरति	५३४	२८
रामपुत्र	७३	१२
राशिक्रियाविभाग	७८	१
राहुविमान	२१९	२४
रिष्टक	२४२	२०
रुचक	२२५	१६
रुचका	२००	१५
रुचकान्ता	२००	१५
रुचकामा	२००	१५
रुचकोत्तम	२००	१४
रुचिर	२२५	१६
रूढि	१३	७
रूप (अनेकार्थ)	८८	४
	४४४	१२
रूपपरमाणु	१७	१९
	३७	२१
	९३	२८
रूपादिपरिणाम-वत्	१६	१०
रोमश	७४	४
	५६२	२
रोमहर्षिणि	५६२	११
रोरुकेन्द्रक	१६७	२२
रौरुक्	१६२	१२

ल

लक्षण	११९	६
	२०२	१७
	२३९	२५
लक्षणशास्त्र	१०३	१४
लक्ष्मी	१८४	५
लक्ष्मीमती	२००	२
लघिमा	२०३	२
लघुगति	४९०	११
लघुपराक्रम	२२७	१३
लता	२०९	६
लताङ्ग	२०९	६
लब्धि	१५१	३१
लब्ध्यक्षर	६५	२१
लल्लक	१६२	२
लव	२०९	२
लवणतापि	२४२	१८
लवणा	१८८	६
लाङ्गल	२२७	२९
लाङ्गलिका	१३९	५
लान्तव	२२४	१२
	२२५	१०
	२३०	१३
	२४७	६
लाभलब्धि	१०७	२८
लावकादिवत्	५०५	२२
लिक्षा	२०७	३२
लिङ्ग	१०९	१
लिङ्गवत्	८१	२४
लीक	७३	१३
लेश्या	१०९	२२
	६०४	१३
लेश्याकर्म	२३९	२३
लोक	७६	१२
	४५५	२८
	५०६	१०
लोकपाल	२१३	४
लोकप्रतिष्ठा-संस्थान	७६	६
लोकबिन्दुसार	७४	१३
	७८	२
लोकमध्य	७६	१४
लोकस्थानादि-विधि	६०३	५
लोकोत्तर	२०६	९
	६०२	५
लोभ	५७४	३२
	५९६	४
लोलुक	१६२	१५
लोहित	२२५	१६
लोहितार्थ	१५९	१६
	१७३	२५
	१९	१४
	२००	३
	२२५	१७
लौकान्तिक	२४२	११,२४
	२५०	५
लौकिकशुचित्व	६०२	७

व

वज्र	१५९	१६
	२२५	१७
वज्रनाराचसंहनन	५७७	८,९
वज्रप्रभ	१९९	१०
वज्रसिकताकणिकैवदुर्लभा	६०३	१२
वज्रवत्	२२५	१६
वणिक्	२०५	६
वणिक्कर्मार्य	२०१	६
वणिक्स्वप्रियैकपुत्रवत्	१३	२९
वदनमिव दृष्टिविकल	६०३	१९
वधकोपदेश	५४९	११
वध्यघातकभाव	२६१	२५
वध्यघातकादिविवेकाभाव	५६४	१०
वध्यमान	९७	१०
वनक	१६२	१४
वनगज इव वासिताबञ्चितः	५३७	१४
वनमाल	२२७	२९
वन्दना	५३०	१३
वनस्पति चैतन्येस्वापवत्	६७	२४
वयस्य	२१२	२६
वरदान	१७७	१३
वरुण	१७२	६
	१७९	१६
	१९८	१५,२१
	२२७	२२
वरुणकायिक	२४२	१९
वर्ग	१०७	१०
वर्गणा	१०७	९
वर्चस्क	१६२	१७
वर्णादिविकार	४८९	११
वर्दल	१६२	१९
वर्धमान	१९९	२५
वला	१८८	६
वलीक	७३	१३
वल्कल	७४	६
वल्गु	२२५	१५
वशित्व	२०३	५
वशिष्ट	१७५	१४
	२१४	७
	२१७	९
	५६२	१०
वसु	१७	७
	२४३	१५
	५६२	७,१३
वसुन्धरा	२००	२
	२२७	१०
वसुमित्र	२२७	१०
वाक्यशुद्धि	५९८	१
वाग्बलिन्	२०३	२१
वाग्योग	५०५	१५
वाङ्निसर्गाधिकरण	५१७	४
वात (कुमार)	१६०	२४
वातादि विकारवत्	५६८	८
वातेन्द्र	१९७	२५
वात्सल्य	५२९	१५
वादित्व	२०२	२६
वाद्वलि	७४	५
	५६२	५
वान्य	७३	१८
वामनसंस्थान	५७६	३१
	५७७	३
वायुवेगप्रेरित-जलोर्मिवत्	८१	२६
वारिषेण	७३	१९
	१७५	२०
वारुणी	२००	९
वालुकप्रभा	२४८	२८
वाल्मीकि	७४	७
	५६२	१०
वाष्कल	५६२	७
वासुकि	१९९	१५
वासुदेव	७७	३०
	१४४	१४
	१५७	२६
	१६९	४
	१८३	२२
	५८०	४
वाह	२०६	५
विकलादेश	२५२	२६
	२६०	१२
विक्रान्त	१६२	१३
विक्रान्तेन्द्रक	१६८	४
विक्रिया-द्विविधा	१५	८
विग्रह	१३७	४
विग्रहगति	१३६	२९
विचार	५५	१८
विजय	१७५	१९
	२२४	२३
	२३४	२९
विजया	१९९	३०
	२००	१७
विजयार्धगिरि-कुमारदेव	१७२	१३
विज्ञान	१३	३
विडौषधिप्राप्त	२०३	२९
वितत	४८५	३०
विततार्द्रपटशोषवत्	१५८	२१

	पृ०	पं०
वितर्क	५५	१८
वितस्ति	२०८	५
विदारणक्रिया	५१०	७
विद्या	२०५	६
विद्याकर्मार्य	२०१	३
विद्यानुवाद	७४	१२
	७६	७
विद्याधर	१३७	२९
	१९८	२
विद्युत्कुमार	१६०	२४
	२१७	६
विद्युत्कुमारी	२००	१३
विद्युत्प्रभ	१७५	१७,१९, २८
विधा	१३	१९
विधान	३८	३
विनयशुद्धि	५९७	२,६
विपरीत मिथ्या-दर्शन	५६०	१७
विपाकजानिर्जरा	५८४	५
विपुलमति(षोढ़ा)	८५	११
विभक्तकर्तृक	८	१६
विभ्रान्त	१६२	१३
विभ्रान्तेन्द्रक	१६७	३०
विमल	१९९	३३
	२००	११
	२२५	१५
विरोध	२६१	२०
विकृतयोनि	१४३	१४
विवाह	५५४	२१
विशालाक्ष	१९९	६
विशिष्टसामान्य	२५८	३१
	२५९	२,५
विशुद्धि	८५	१९
	८६	१५
विशेष	३	२४
विश्व	२४३	१५
विषय	८६	१५
विषयाभास	५६	११
विस्तारुचि	२०१	१८
विस्रसानिर्जरा	४८१	१३
वीचार	६३४	१३
वीतरागसम्यक्त्व	२२	१२
वीर्यप्रवाद	७४	११
	७५	२
वीर्यलब्धि	१०७	२८
वृक्षवत्	८	६
वृत्तमाल्यदेव	१७२	१३
वृषभेष्ट	२४३	१४
वेणुताली	१९७	२५
	१९८	१८
वेणुदेव	१९७	२४
	१९८	१८
	२१७	४
वेणुधारिन्	२१७	५
वेद	६०५	५
वेदकसम्यग्दृष्टि	६२४	३
वेदना	१३	११
वेदनासमुद्घात	७७	१४
वेदागम	५६२	१७
वेद्य	५६७	३
वेलन्धरनागाधिपति	१९४	३
वैक्रियिक	१५३	१४
वैक्रियिक-समुद्घात	७७	१७
वैजयन्ती	१९८	१६
	१९९	३०
	२००	१८
वैडूर्य	१५९	१६
	१९९	२८
	२००	१४
	२२५	१६
वैतरण्यवतारण	१६६	४
वैनयिक	५६२	११
वैनयिक मिथ्या-दर्शन	५६४	१८
वैमनस्क	१६२	१७
वैमानिक	२१२	४
वैराग्य	१	२२
वैरोचन	१९४	१४
	२१४	४
	२१६	३१
	२३४	२४
वैलम्ब	२१४	६
	२१७	१०
वैश्रवण	१७८	१६,२१
वैश्रवणकायिक	२४२	१९
वैश्रवणदेव	१७२	१४
वैस्रसिकबन्ध	४८७	२१
व्यञ्जन	६६	२७
	२०२	१६
व्यन्तर	२१२	४
	२१७	१५
व्यवहार	९६	२०
व्यवहारपल्य	२०८	७,८
व्यवहाररूप	४८२	१
व्याकरण	५६२	३३
व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः	१३९	२
व्याघ्रभूति	७४	५
	५६२	५
व्यास	७४	८
	५६२	११
व्युत्क्रान्त	१६२	१३
व्युत्क्रान्तेन्द्रक	१६८	१
व्युत्पत्तिमात्र-निमित्त	४५५	२५
व्युत्सर्ग	६२२	५
व्रत	५५०	७

श

शक	२०४	२७
शकुनव्याहत	७७	२९
शकुनिरिव गृहीत-मांसखण्ड	५३७	१८
शक्र	१९८	१३
	२२५	२४
शतज्वाला	१७५	१९
शातार	२२४	१४
	२२५	११
	२३२	१
	२४७	७
शनैश्चर	२१९	६
शबर	२०४	२७
शब्द	९८	१०
	२५९	१७
शब्दनय	२६१	२
शब्दाद्युपलब्धि	१४	१४
शयनासनशुद्धि-पर	५९७	३४
शरीरपर्याप्तिनाम	५७९	१३
शरीरबकुश	६३८	७
शरीरबन्ध	४८८	३
शरीरविषयत्व	४८८	१८
शरीरिबन्ध	४८८	१४
शरीरोपकरण-विभूषणानुवर्तिन्	६३६	२२
शर्कराप्रभा	२४८	२७
शलाका	२०६	२२
शाकुनिक	५६३	१३
शाखाचन्द्रमस्	६८	१२
शातार	२२४	१४
शालिभद्र	७३	१८
शाल्मलि	१७५	२४
शास्त्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते	६२७	१९
शास्त्रपूर्वकज्ञानाधिगम	५१९	१२
शास्त्रविक्रय	५१९	१३
शिलामय	१५९	१७
शिलापुत्रकस्य शरीरं राहोः शिरः	४३२	११
शिल्प	७७	३३
शिल्पकर्मार्य	२०१	४
शिवा	२२५	२८
शिष्याचार्य-सम्बन्ध	३	१९
शीतोष्णयोनि	१४३	८
शुक्र	२१९	५
	२२४	१३
	२२५	१०
	२३१	९
	२४७	७,२७
शुक्रविमान	२१९	२५
शुचित्व	६०२	५
शुभ काययोग	५०७	२
शुभनाम	५८६	७
शुभमनोयोग	५०७	३
शुभवाग्योग	५०७	२
शुभायुष	५८६	६
शुष्ककुड्यपतित-लोष्टवत्	५०८	२४
शूद्रवेदभक्तिवत्	२२	२५
शेषवत्	७८	१५
शौकरिक	५६३	१३
शौक्र	२२४	१२
शौण्डातुरवत्	५३२	५
श्मश्रुमान्	५६२	२
श्यामा	२२५	२८
श्वेता	२२७	१५
श्रद्धाभाव	५१९	११
श्रावक	२३७	१५
श्री	१८२	२४
	२००	९
श्रीमती	२२७	१०
श्रीवृक्ष	१९९	१६,२५
श्रुत	४४	११
	४८	२९
	४९	१
श्रुतज्ञानप्रभेदरूपणा	६५	२१
श्रुतिगम्य	२५८	२७
श्रेणि	७६	६
	१३७	१६
	१६२	११
	२२२	२०
श्रेण्यन्तरसंक्रम	१३८	११
श्रेयस्कर	२४३	१४
	६८	२४
	१३१	१३
	४५१	२५
श्रोत्रेन्द्रिय विषय-सङ्गाकृष्ट-मनस्	६०२	२८
श्लक्ष्णकूला	१८४	५

ष

षट्कर्म	२०५	६
षट्कर्म जीविन्	१७२	४
षट्खण्डाधिपति	१७१	८
षट्त्रिंशद्विध (सान्निपातिकभाव)	११४	१३
	११५	२६,२७
षडायतन	१३	८
षड्द्रव्योपदेश	४४४	८
षड्विंशतिविध-(सान्निपातिकभाव)	११४	१३
षष्टिक	१३८	२२
षोढा (बन्ध)	५६९	१६

स

संक्रम	२३९	५
संक्षेपरुचि	२०१	१७
संख्या	४१	२६
	२४१	३
संख्यातः	१५५	२८
संख्येय प्रमाण	२०६	१६
संख्येय भेद	६१८	८
संग्रह	९५	२६
संघाट	१६२	१४
संचारगति	४९०	१२
संचितनिरोध	१२	१
संज्ञा	१३६	७
	१५३	१२
संज्ञालक्षण प्रयोजनादि	४३२	१
संज्ञासंज्ञैका	२०७	२७
संज्ञास्वालक्षण्यादिभेद	२९	२५
संज्ञित्व	६०४	१८
संज्ञिन्	१३६	९
संज्ञिपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तक	५८१	३१
	५८२	८,१७